

MĀNAVA-DHARMA ŚĀSTRA

27212

[INSTITUTES OF MANU],

WITH THE COMMENTARIES OF

MEDHĀTITHI, SARVAJÑANĀRĀYAṆA, KÚLLÚKA, RĀGHAVĀNANDA, NANDANA, AND RĀMACHANDRA,

AND AN APPENDIX

BY

THE HONORABLE RAO SAHEB

VISHVANĀTH NĀRĀYAṆ MANDLIK, C. S. I.; M. R. A. S.; F. R. G. S.; F. S. S. (LOND.),

ADDITIONAL MEMBER OF COUNCIL OF THE GOVERNOR GENERAL

OF INDIA,

VICE-PRESIDENT, BOMBAY BRANCH R. A. SOCIETY, FELLOW AND SYNDIC OF THE UNIVERSITY OF BOMBAY,

GOVERNMENT PLEADER H. M'S HIGH COURT, BOMBAY,

&c.

॥ नहिसत्यात्परोधर्मः ॥

Trans: "No *Dharma* greater than truth."

Sa 35

Man | Man

Bombay:

PRINTED AND PUBLISHED AT GANPAT KRISHNAJI'S PRESS, BY THE

PROPRIETOR ĀTMARĀM KĀNOBA.

Digitized and Uploaded by: _____

Hari Parshad Das (HPD) S. ŚAKE 1807.

on 05 July 2013.

A. C. 1886.



श्री
मानवधर्मशास्त्रम्

मेधातिथिसर्वज्ञनारायणकुल्लूकराधवानन्दनन्दनरामचन्द्र-
प्रणीतव्याख्याभिःपरिष्कृतं परिशिष्टोपेतं च

नामदार रावसाहेब तथा कम्पेनियन आफ धि स्टार आफ इण्डिया इत्युपपदधारिणा, भारतवर्षीय गव्हर्नरजनरल
कौन्सिलाभिधनीतिशास्त्रव्यवस्थाप्रणेतृमण्डलान्तःपातिना- रायल एशिएटिकसोसायटीरायल
जिओग्राफिकलसोसायटीस्टेटिस्टिकलसोसायटीत्यभिधानां विद्वत्पदं
सभासदाऽऽद्यपर्वदो मुम्बापुरस्थशाखाया उपाध्यक्षेण,

मुम्बापुरगतयुनिव्हर्सिटीनामकसर्वविद्योपचयविचारमुख्यस्थानस्थव्यवस्थापकानां सिण्डिकेटनामकमण्डलान्तर्गतेन,

मुम्बास्थहायकोर्टाभिधन्यायाधिष्ठानगतगवर्मेण्टवकीलसंज्ञकेन

मण्डलिकोपाद्वेन

नारायणसूनुनाविश्वनाथेन

मुम्बापुर्यां

गणपतकृष्णाजीनामकमुद्रायन्त्रालये तदध्यक्षेण आत्मारामकान्होबाभिल्येन मुद्रितम्

प्रकाशितं च

शालिवाहन शाके

१८०७

इसवीसन

१८८६

प्रकरणानुक्रमणिका

पृष्ठम्

| | |
|--|--------|
| प्रस्तावना | १-४ |
| संहिता मेधातिथि-सर्वज्ञनारायण-कुल्लूक-राघवानन्द-नन्दन-रामचन्द्रप्रणीतव्याख्यासमेता । | १-१५४३ |
| प्रथमपरिशिष्टम् | १५४५ |
| १ हेमाद्रिमाधवादिभिर्मनूक्तत्वेन स्वीकृतेषु वचनेषु संप्रत्युपलब्धमुद्रितपुस्तकेष्वनुपलभ्य- | |
| मानानि वचनानि | १५४७ |
| २ बृह्मनुवचनानि | १५५८ |
| ३ बृहन्मनुवचनानि | १५६१ |
| पुस्तकमुद्रणकाले गृहीतावशेषाः पाठभेदाः | १५६३ |
| मेधातिथिः । | १५६३ |
| कुल्लूकः । | १५६९ |
| राघवानन्दः । | १५७७ |
| नन्दनः । | १५८७ |



अथमनुसंहितायाः सूचीपत्रम् अध्यायश्लोकसंख्याक्रमेण

| प्रकरण | श्लोक | प्रकरण | श्लोक | प्रकरण | श्लोक |
|---------------------------------------|-------|--|-------|--|-------|
| प्रथमोऽध्यायः | | | | | |
| भुनोन्नप्रति भृगोरुक्तिः | १ | भृगुरेतच्छास्त्रं युष्माकं कथयिष्यति ५९ | | श्रुतिस्मृत्योः परिचयः | १० |
| मनुमुनयो धर्मपप्रच्छुः | १ | भृगुस्तान्मुनीनुवाच | ६० | नास्तिकनिन्दा | ११ |
| तान्मनुस्वाच | ४ | मन्वन्तरकथनम् | ६१ | चतुर्धा धर्मप्रमाणमाह | १२ |
| जगदुत्पत्तिकथनम् | ५ | अहोरात्रमानादिकथनम् | ६४ | श्रुतिस्मृत्योर्विरोधेश्रुतिर्बलवती १३ | |
| प्रथमजलसृष्टिः | ८ | पिच्यहोरात्रकथनम् | ६६ | श्रुतिद्वैधे उभयप्रमाणम् | १४ |
| ब्रह्मण उत्पत्तिः | ९ | दैवाहोरात्रकथनम् | ६७ | श्रुतिद्वैधे दृष्टान्तमाह | १५ |
| नारायणार्थकथनम् | १० | चतुर्युगप्रमाणम् | ६९ | दशकर्मापेतस्यात्राधिकारः | १६ |
| नारायणात् उत्पत्तिः | १०+१ | दैवयुगप्रमाणम् | ७१ | धर्मानुष्ठानयोग्यदेशानाह | १७ |
| ब्रह्मस्वरूपकथनम् | ११ | ब्राह्माहोरात्रप्रमाणम् | ७२ | ब्रह्मावर्तदेशीयः सदाचारः | १८ |
| स्वर्गभूम्यादिसृष्टिः | १३ | संप्रतिबुद्धः सृष्ट्यर्थं मनो नियुक्ते | ७४ | श्रुतिबलाबलं | १८+१ |
| महदादिक्रमेण जगदुत्पत्तिः | १४ | मनस आकाशप्रादु भावः | ७५ | कुरुक्षेत्रादिब्रह्मर्षिदेशानाह | १९ |
| देवगणादिसृष्टिः | २२ | आकाशाद्वायुप्रादु भावः | ७६ | तद्देशीयब्राह्मणादाचारं शिक्सेत् | २० |
| वेदत्रयसृष्टिः | २३ | वायोस्तेजःप्रादु भावः | ७७ | मध्यदेशमाह | २१ |
| कालादिसृष्टिः | २४ | तेजसोजलजलात्पृथ्वी | ७८ | आर्यावर्तमाह | २२ |
| कामक्रोधादिसृष्टिः | २५ | मन्वन्तरप्रमाणं | ७९ | यज्ञियदेशमाह | २३ |
| धर्माधर्मविवेकः | २६ | सत्यचतुष्पादधर्मः | ८१ | वर्णधर्मादिक्रमाह | २५ |
| मूढमास्थूलाद्युत्पत्तिः | २७ | अन्ययुगे धर्मस्य पादपादहानिः | ८२ | द्विजानां वैदिकमन्त्रैर्गर्भा २६ | |
| कर्मसापेक्षासृष्टिः | २८ | युगे युगे आयुः प्रमाणम् | ८३ | धानादिकं कार्यम् | |
| ब्राह्मणादिसृष्टिः | ३१ | युगे युगे धर्मवैलक्षण्यम् | ८५ | गर्भाधानादेः पापक्षयहेतुत्वमाह २७ | |
| स्त्रीषुरसृष्टिः | ३२ | युगानां वर्णसंज्ञा | ८६+१ | त्वाध्यायदेर्मोक्षहेतुत्वमाह | २८ |
| मनोरुत्पत्तिः | ३३ | ब्राह्मणस्य कर्माह | ८८ | जातकर्माह | २९ |
| मरीच्याद्युत्पत्तिः | ३४ | क्षत्रियकर्माह | ८९ | नामकरणमाह | ३० |
| यक्षगंधर्वाद्युत्प० | ३७ | वैश्यकर्माह | ९० | स्त्रीणां नामकरणमाह | ३३ |
| मेधादिसृष्टिः | ३८ | शूद्रकर्माह | ९१ | निष्क्रमणान् प्राशने | ३४ |
| पशुपक्ष्यादिसृष्टिः | ३९ | ब्राह्मणस्य श्रेष्ठत्वम् | ९२ | अथ चूडाकरणम् | ३५ |
| कृमिकीटाद्युत्पत्तिः | ४० | ब्राह्मणेषु ब्रह्मवेदिनः श्रेष्ठाः | ९७ | अथोपनयनम् | ३६ |
| अथ जरायुजाः | ४३ | एतच्छास्त्रं ब्राह्मणेनाध्येतव्यम् १०३ | | अथोपनयनकालवि० | ३८ |
| अथ ण्डजाः | ४४ | एतच्छास्त्राध्ययनफलम् | १०४ | अथ ब्राह्म्याः | ३९ |
| अथ स्वेदजाः | ४५ | आचारो धर्मप्रधानः | १०८ | कृष्णाजिनादिधारणम् | ४१ |
| अथोद्भिजाः | ४६ | यथार्थानुक्रमणिका | १११ | मौज्यादिधारणम् | ४२ |
| वनस्पतिवृक्षौ | ४७ | | | मौज्यालाभे कुशादिमेखलाकार्या ४३ | |
| गुच्छगूलमौदयः | ४८ | अथ द्वितीयोऽध्यायः | | उपवीतमाह | ४४ |
| एवं सृष्ट्वा ब्रह्मान्तर्हितः | ५१ | धर्मसामान्यलक्षणम् | १ | अथ दण्डाः | ४५ |
| महाप्रलयमाह | ५४ | कामात्मतानिषेधः | २ | अथ भिक्षा | ४९ |
| जीवस्योत्क्रमणमाह | ५५ | व्रतादयः संकल्पजाः | ३ | प्राङ्मुख्यादिकाम्यभोजनफलम् ५२ | |
| कदादेहान्तरं गृह्णाती० | ५६ | अकामस्य न कापि क्रिया | ४ | विशेषनियमात्फलम् | ५२+१ |
| जायतस्वमाभ्यां ब्रह्मा सर्वसृजति ५७ | | धर्मप्रमाणान्याह | ६ | भोजनादावन्ते चाचमनम् | ५३ |
| एतच्छास्त्रप्रचारमाह | ५८ | धर्मस्य वेदमलतामाह | ७ | श्रद्धया अन्नं भुञ्जीत | ५४ |
| | | श्रुतिस्मृत्युदितधर्मानुष्ठानस्य फलम् ९ | | अश्रद्धया भोजननि० | ५५ |

| प्रकरण | श्लोक |
|---|-------|
| भोजने नियमाः | ५६ |
| अति भोजननिषेधः | ५७ |
| ब्राह्मादितीर्थेनाचमननपितृतीर्थेन | ५८ |
| ब्राह्मादितीर्थान्याह | ५९ |
| आचमनविधिः | ६० |
| सव्यापसव्यमाह | ६३ |
| विनष्टे पूर्वदण्डादौ द्वितीयं ग्राह्यम् | ६४ |
| केशान्ताख्यसंस्कारः | ६५ |
| स्त्रीणांसंस्कारमंत्रकम् | ६६ |
| स्त्रीणांवैवाहिकविधिः वैदिकमन्त्रैः | ६७ |
| उपनीतस्य कर्माह | ६९ |
| वेदाध्ययनविधिमाह | ७० |
| गुरुवन्दनविधिः | ७२ |
| गुरोराज्ञयाऽध्ययनविरामौ | ७३ |
| अध्ययनादावन्तेचप्रणवः | ७४ |
| अथप्राणायामः | ७५ |
| प्रणवाद्युत्पत्तिः | ७६ |
| सावित्र्युत्पत्तिः | ७७ |
| सावित्रीजपफलं | ७८ |
| सावित्रीजपाकरणेपा० | ८० |
| प्रणवव्याद्वितिसावित्रीप्रशंसा | ८१ |
| प्रणवप्रशंसा | ८४ |
| मानसजपस्याधिक्यं | ८५ |
| इन्द्रियसंयमः | ८८ |
| अथैकादशेन्द्रियाणि | ८९ |
| इन्द्रियसंयमेनसिद्धिर्नतुभोगैः | ९३ |
| विषयोपेक्षकः श्रेष्ठः | ९४ |
| इन्द्रियसंयमोपायमाह | ९६ |
| कामासक्तस्य यागादयो न फलदाः | ९७ |
| जितेन्द्रियत्वरूपमाह | ९८ |
| एकेन्द्रियासंयमोपनिवार्यः | ९९ |
| इन्द्रियसंयमस्य पुरुषार्थहेतुत्वम् | १०० |
| अथसंध्यात्रयवन्दनम् | १०१ |
| संध्याहीनः शूद्रवत् | १०३ |
| वेदपाठाशक्तौ सावित्रीमात्रजपः | १०४ |
| नित्यकर्मदौ नानाध्यायः | १०५ |
| जपयज्ञफलम् | १०७ |
| समावर्तनान्तं होमादिकर्तव्यम् | १०८ |
| कीदृशः शिष्योऽध्याप्य इत्याह | १०९ |
| अपृष्टवेदनं ब्रूयात् | ११० |
| निषधातिक्रमेदोषः | १११ |
| असच्छिष्याय विद्यानवक्तव्या | ११२ |
| सच्छिष्याय दत्तव्या | ११५ |

| प्रकरण | श्लोक |
|---|-------|
| अध्ययनं विना वेदग्रहणनिषेधः | ११६ |
| अध्यापकानां मान्यत्वमाह | ११७ |
| अविहितवन्दनफलं | ११७+१ |
| अविहिताचरणनिन्दा | ११८ |
| गुरोरभिवादानादौ | ११९ |
| वृद्धाभिवादाने | १२० |
| अभिवादनफलम् | १२१ |
| अभिवादनविधिः | १२२ |
| प्रत्यभिवादाने | १२५ |
| प्रत्यभिवादानाज्ञानेदोषः | १२६ |
| कुशलप्रश्नादौ | १२७ |
| दीक्षितादेर्नामग्रहणनिषेधः | १२८ |
| पररूपादेर्नामग्रहणनिषेधः | १२९ |
| कनिष्ठमातुलादिवन्दननिषेधः | १३० |
| मातृवत्सादयोगुरुस्त्रीवत्पूज्याः | १३१ |
| भातृभार्याद्यभिवादाने | १३२ |
| ज्येष्ठभगिन्याद्यभिवादाने | १३३ |
| पौरसख्यादौ | १३४ |
| दशवर्षोपि ब्राह्मणः क्षत्रियादिभिः पिते- व वन्द्यः | ८३५ |
| वित्तादीनि मान्यत्वकारकानि | १३६ |
| रथारूढादेः पन्थदेयः | १३८ |
| स्नातकस्य पन्थाराज्ञापिदेयः | १३९ |
| अथाचार्यः | १४० |
| अथोपाध्यायः | १४१ |
| अथगुरुः | १४२ |
| अथऋत्विक् | १४३ |
| अध्यापकप्रशंसा | १४४ |
| मात्रादीनामुत्कर्षः | ४४५ |
| आचार्यस्य श्रेष्ठत्वम् | १४६ |
| बालोप्याचार्यः पितेव | १५० |
| अत्र दृष्टान्तमाह | १५१ |
| वर्णक्रमेण ज्ञानादिना ज्यैष्ठ्यम् | १५५ |
| मूर्खनिन्दा | १५७ |
| शिष्याय मधुरावाणीप्रयोक्तव्या | १५९ |
| नरस्य वाङ्मनः संयमफलम् | १६० |
| परद्रोहादिनिषेधः | १६१ |
| परेणावमाने कृतेपि क्षमा कार्या | १६२ |
| अवमन्तुर्दोषफलम् | १६३ |
| अनेन विधिना वेदोऽध्येतव्यः | १६४ |
| वेदाभ्यासस्य श्रेष्ठत्वं | १६६ |
| स्वाध्यायस्तुतिः | १६७ |

| प्रकरण | श्लोक |
|---|-------|
| वेदमनधीत्यवेदाङ्गान्यध्ययननिषेधः | १६८ |
| द्विजत्वनिरूपणार्थमाह | १६९ |
| अनुपनीतस्यानधिकारः | १७१ |
| कृतोपनयनस्य वेदाध्ययनं | १७३ |
| गोदानादौ दण्डादयः | १७४ |
| एतेनियमा अनुष्ठेयाः | १७५ |
| नित्यस्नानादिकर्म | १७६ |
| ब्रह्मचारिनियमाः | १७७ |
| कामाद्रेतः पातनिषेधः | १८० |
| स्वमेतः पाते | १८१ |
| आचार्यार्थजलकुशाद्याहरणं | १८२ |
| वेदयज्ञोपेतगृहाद्विक्षाकर्तव्या | १८३ |
| गुरुकुलादिभिक्षायाम् | १८४ |
| अभिभक्षस्तभिक्षानिषेधः | १८५ |
| सायंप्रातर्होमसमिधः | १८६ |
| होमाद्यकरणे | १८७ |
| एकगृहभिक्षानिषेधः | १८८ |
| भैक्ष्यप्रशंसा | १८८+१ |
| निमन्त्रितस्यैकान्नभो | १८९ |
| क्षत्रियवैश्ययोर्नैकान्नभोजनम् | १९० |
| अध्ययने गुरुहिते च यत्नं कुर्यात् | १९१ |
| गुर्वाज्ञाकारित्वमाह | १९२ |
| गुरौ सुमे शयनादि | १९४ |
| गुर्वाज्ञाकरणप्रकारः | १९५ |
| गुरुसमीपे चांचल्यनि | १९८ |
| गुरोर्नामग्रहणादिकं न कार्यम् | १९९ |
| गुरुनिन्दाश्रवणनिषेधः | २०० |
| गुरुपरिवादकरणफलं | २०१ |
| समीपं गत्वा गुरुं पूजयेत् | २०२ |
| गुर्वादिपरोक्षेनाकेचित्कथयेत् | २०३ |
| यानादौ गुरुणा सहोपवेशने | २०४ |
| परमगुरौ गुरुवद्वृत्तिः | २०५ |
| विद्यागुरुविषये | २०६ |
| गुरुपुत्रविषये | २०७ |
| गुरुस्त्रीविषये | २१० |
| स्त्रीस्वभावकथनं | २१३ |
| मात्रादिभिरेकान्तवासनिषेधः | २१५ |
| युवतीगुरुस्त्रीवन्दने | २१६ |
| गुरुशुश्रूषाफलम् | २१८ |
| ब्रह्मचारिणः प्रकारत्रयमाह | २१९ |
| सूर्योदयास्तकालत्वापि | २२० |

| प्रकरण | श्लोक |
|------------------------------------|-------|
| संयुक्तपासनमवश्यम् | २२२ |
| रुयादेः श्रेयःकरणे | २२३ |
| त्रिवर्गमाह | २२४ |
| पित्राचार्यादयोनोवमन्तव्याः .. | २२५ |
| तेषांशुश्रूषाकरणादौ | २२८ |
| तेषामनादरनिन्दा | २३४ |
| मात्रादिशुश्रूषायाः प्राधान्यम् .. | २३५ |
| नोचादेरपिविद्यादिप्र० | २३८ |
| आपदि क्षत्रियादिश्यभ्येतव्यं { | २४१ |
| तेषांपादप्रक्षालनादिनकार्यम् { | २४१ |
| क्षत्रियादिगुरावतिवासनिषेधः | २४२ |
| यावज्जीवंगुरुशुश्रूषणे | २४३ |
| गुरुदक्षिणादौ | २४५ |
| आचार्ये भूते तत्पुत्रादिसेवनम् | २४७ |
| यावज्जीवंगुरुकुलसेवाफलम् .. | २४९ |

अथनृतीयोऽध्यायः

| | |
|--|----|
| अथब्रह्मचर्याविधिः | १ |
| गृहस्थाश्रमवासमाह | २ |
| गृहीतवेदस्य पित्रादिभिःपूजनं .. | ३ |
| कृतसमावर्तनोविवाहंकुर्यात् .. | ४ |
| असपिण्डाद्याविवाहा | ५ |
| विवाहे निन्दितकुलानि | ६ |
| अथ कन्यादोषाः | ८ |
| कन्यालक्षणम् | १० |
| पुत्रिकाविवाहनिन्दा | ११ |
| सवर्णा स्त्रीप्रशस्ता | १२ |
| चातुर्वर्णस्यभार्यापरिग० | १३ |
| ब्राह्मणक्षत्रयोःशूद्रास्त्रीनिषेधः .. | १४ |
| हीनजातिविवाहनि० | १५ |
| शूद्राविवाहविषये | १६ |
| अष्टौ विवाहप्रकाराः | २० |
| वर्णानां धर्म्यविवाहानाह | २२ |
| पैशाचासुरविवाहनिन्दा | २५ |
| अथब्राह्मणविवाहलक्षणम् | २७ |
| दैवविवाहलक्षणम् | २८ |
| आर्षविवाहलक्षणम् | २९ |
| प्राजापत्यविवाहलक्षणम् | ३० |
| आसुरविवाहलक्षणम् | ३१ |
| गांधर्वविवाहलक्षणम् | ३२ |
| राक्षसविवाहलक्षणम् | ३३ |

| प्रकरण | श्लोक |
|------------------------------------|---------|
| पैशाचविवाहलक्षणम् | ३४ |
| उदकदानाद्ब्राह्मणस्यविवाहः .. | ३५ |
| ब्राह्मादित्रिविवाहफलम् | ३७ |
| निन्दितविवाहे निन्दितप्रजोत्पत्तिः | ४१ |
| सवर्णाविवाहविधिः | ४३ |
| असवर्णाविवाहविधिः | ४४ |
| स्वदारोपगमनकालः | ४५ |
| ऋतुकालावधिः | ४६ |
| दारोपगमेनिन्दितकालाः | ४७ |
| युग्मतिथौ पुत्रोत्पत्तिः | ४८ |
| स्त्रीपुनपुंसकोत्पत्तौ हेतुमाह .. | ४९ |
| वानप्रस्थस्यापि ऋतुगमनमाह | ५० |
| कन्याविक्रये दोषः | ५१ |
| स्त्रोधनग्रहणे दोषः | ५२ |
| वरादस्वपि नगृहीतव्यम् | ५३ |
| कन्यायै धनदानमाह | ५४ |
| वस्त्रालंकारादिना कन्या { | ५५ |
| भूषयितव्या { | ५५ |
| कन्यादिपूजनापूजनफ० | ५६ |
| उत्सवेषु विशेषतःपूज्याः | ५९ |
| दंपत्योःसंतोषफलम् | ६० ६१+१ |
| तेषामसंतोषफलम् | ६१ |
| कुलपकर्षकर्मणि | ६३ |
| कुलोत्कर्षकर्मिह | ६६ |
| पंचमहायज्ञानुष्ठानमाह | ६७ |
| पंचसूना | ६८ |
| पंचयज्ञानुष्ठानंनित्यंकर्तव्यम् .. | ६९ |
| पंचयज्ञानाह | ७० |
| पंचयज्ञाकरणे निन्दा | ७२ |
| पंचयज्ञानांनान्तराण्याह | ७३ |
| अशक्तौ ब्रह्मयज्ञहोमौकर्तव्यौ | ७५ |
| होमादृष्ट्याद्युत्पत्तिः | ७६ |
| गृहस्थाश्रमप्रशंसा | ७७ |
| ऋष्याद्यर्चनमवश्यक० | ८० |
| नित्यश्राद्धमाह | ८२ |
| पित्रर्थब्राह्मणभोजने | ८३ |
| बलिविश्वेदेवकर्माह | ८४ |
| बलिविश्वेदेवफलमाह | ९३ |
| भिक्षादानम् | ९४ |
| भिक्षादानफलम् | ९५ |
| सत्कृत्यभिक्षादिदानम् | ९६ |
| अपात्रदानमफलम् | ९७ |

| प्रकरण | श्लोक |
|-------------------------------------|-------|
| पात्रापात्रदानफलम् | ९८ |
| अतिथिसत्कारे | ९९ |
| अतिथ्यनर्चननिन्दा | १०० |
| प्रियवचनजलासनदानादौ | १०१ |
| अतिथिलक्षणमाह | १०२ |
| परपाकहचित्वनिषेधः | १०४ |
| नातिथिःप्रत्याख्यात० | १०५ |
| अतिथिमभोजयित्वा { | १०६ |
| स्वयनभोक्तव्यम् { | १०६ |
| बहुव्यतिथिषु { | १०७ |
| यथायोग्यपरिचर्या { | १०७ |
| अतिथ्यर्थपुनःपाकेनचलिकर्म | १०८ |
| भोजनार्थकुलगोत्रकथननिषेधः | १०९ |
| ब्राह्मणस्य { | ११० |
| क्षत्रियादयोनातिथयः { | ११० |
| पश्चात्क्षत्रियादानंभोजयेत् | १११ |
| सख्यादानपिसत्कृत्यभोजयेत् | ११३ |
| प्रथमंर्गाभिण्यादयोभोजनोयाः | ११४ |
| गृहस्थस्य प्रथमंभोजननिषेधः | ११५ |
| दम्पत्योःसर्वशेषेभोजनम् | ११६ |
| आत्मार्थपाकनिषेधः | ११८ |
| भोजनदानप्रशंसा | ११८+१ |
| गृहागतराजादिपूजामाह | ११९ |
| राजस्नातकयोःपूजासंकोचमाह | १२० |
| स्त्रियाऽमन्त्रकंबलिहरणकार्यम् | १२१ |
| अथामावास्यायांपार्वणम् | १२२ |
| मांसेनश्राद्धंकर्तव्यम् | १२३ |
| श्राद्धाकरणेदोषः | १२३+१ |
| पार्वणादौभोजनोयब्राह्मण- { | १२५ |
| संख्या { | १२५ |
| ब्राह्मणविस्तारंनकुर्यात् | १२६ |
| पार्वणस्यावश्यक० | १२७ |
| देवपित्रान्निश्रोत्रियायेदेयानि | १२८ |
| श्रोत्रियप्रशंसा | १२९ |
| अमन्त्रब्राह्मणनिषेधः | १३३ |
| ज्ञाननिष्ठादिषुकव्यादिदानम् .. | १३५ |
| श्रोत्रियस्य पुत्रस्य प्रा० | १३६ |
| श्राद्धेमित्रादिभोजननिषेधः | १३८ |
| अविदुषे श्राद्धदानफलम् | १४२ |
| विदुषेदक्षिणादानफलं | १४३ |
| विद्वद्ब्राह्मणाभावे { | १४४ |
| मित्रंभोजयेन्नशत्रुम् { | १४४ |

| प्रकरण | श्लोक |
|--|-------|
| वेदपारगादियत्नेन भोजयेत् .. | १४५ |
| मातामहादीनपिश्राद्धे भोजयेत् .. | १४८ |
| ब्राह्मणपरीक्षणे | १४९ |
| स्तेनपतितादयोनिषि० | १५० |
| अथश्राद्धेनिषिद्धब्रा० | १५१ |
| अध्ययनशून्यब्राणनिन्दा .. | १६८ |
| अपांक्तेयदानेनिषिद्धफलम् .. | १६९ |
| परिवेत्रादिलक्षणमाह | १७१ |
| परिवेदनसंबन्धनाफलमाह .. | १७२ |
| दिधिषूपतिलक्षणमाह | १७३ |
| कुण्डगालकावाह | १७४ |
| कुण्डाशालक्षणं | १७४+१ |
| नयोर्दाननिषेधः | १७५ |
| स्तेनादिर्यथानपश्यतित् } थाब्राह्मणभोजनकार्यं } | १७६ |
| अन्धाद्यसंनिहिते } ब्राह्मणभोजनम् } | १७७ |
| शूद्रयाजकनिषेधः | १७८ |
| शूद्रयाजकप्रतिग्रहनिषेधः .. | १७९ |
| सोमविक्रयादिभो } जनदानेऽनिष्टफलम् } | १८० |
| पङ्क्तिपावनानाह | १८३ |
| ब्राह्मणनिमत्त्रणे | १८७ |
| निमत्त्रितस्य नियमाः | १८८ |
| निमत्त्रणस्वीकृत्याभोजनेदोषः | १९० |
| निमत्त्रितस्य स्त्रीगमने | १९१ |
| क्रोधादिकं भोक्ताकर्त्रा चनकार्यम् | १९२ |
| पितृगणोत्पत्तिः | १९३ |
| पितृणाराजतंपात्रम् | २०२ |
| देवकार्यात्पितृकार्यविशिष्टम् .. | २०३ |
| देवकार्यस्य पितृकार्याङ्गत्वम् | २०४ |
| देवाद्यन्तपितृकार्यम् | २०५ |
| अथश्राद्धदेशाः | २०६ |
| निमत्त्रितानामासनादिदानम् | २०८ |
| गंधपुष्पादिनातेषामर्च० | २०९ |
| तैरनुज्ञातोहोमंकुर्यात् | २१० |
| अग्न्यभावेविप्रस्य पाणौहोमः | २१२ |
| अपूसव्येन अग्नाकरणादि .. | २१४ |
| पिण्डदानादिर्वाधः | २१५ |
| कुशमूले करावघृषणम् | २१६ |
| ऋतुनमस्कारादि | २१७ |
| प्रत्यवनेजनादि | २१८ |
| पित्रादिब्राह्मणभोजयेत् | २१९ |

| प्रकरण | श्लोक |
|--|-------|
| जीवति पितरि पितामहादिपार्वणं | २२० |
| मृतेपितरिजीवतिपितामहेपार्वणम् | २२१ |
| पित्रादिब्राह्मणभोजनविधिः .. | २२३ |
| परिवेषणविधिः | २२४ |
| व्यंजनादिदाने | २२६ |
| रोदनक्रोधादिकंनकार्यम् .. | २२९ |
| विप्रेप्सितव्यंजनादिदानम् .. | २३१ |
| वेदादीन्ब्राह्मणायश्रावयेत् .. | २३२ |
| ब्राह्मणान्परितोषयेत् | २३३ |
| दौहित्रश्राद्धे यत्नतो भोजयेत् | २३४ |
| दौहित्रतिलकृतपाःप्रशस्ताः .. | २३५ |
| उष्णान्नभोजनंहविर्गुणाद्यकथनं | २३६ |
| भोजन उष्णीषादि निषेधः .. | २३८ |
| भोजनकालेब्राह्मणान् चा- ण्डालादयोनपश्येयुः | २३९ |
| श्वदृष्ट्यादिनिषेधः | २४१ |
| तद्देशात् खंजादयोपनेयाः .. | २४२ |
| भिक्षकादिभोजने | २४३ |
| अग्निदग्धान्नदाने | २४४ |
| उच्छेषणंभूमिगतं दासस्यांशः | २४६ |
| सपिण्डनर्पयन्तविश्वेदेवा- दिरहितं श्राद्धम् | २४७ |
| सपिण्डीकरणादूर्ध्वपार्व० .. | २४८ |
| श्राद्धे उच्छिष्टशूद्रायनदेयम् .. | २४९ |
| श्राद्धभोजिनःस्त्रीगमननिषेधः | २५० |
| कृतभोजनान् द्विजानाचामयेत् | २५१ |
| स्वधास्त्विति तेब्रूयुः | २५२ |
| शेषान्नंतदनुज्ञातोविनियुज्जीत | २५३ |
| एकोद्दिष्टादिविधिमाह | २५४ |
| अपराह्णदयः | २५५ |
| श्राद्धविहितान्नादयः | २५७ |
| ब्राह्मणान्विसृज्य वरप्रार्थनम् | २५८ |
| पिण्डान् गवादिभ्योदद्यात् .. | २६० |
| पितामहपिण्डःस्त्रियाभक्षणीयः | २६१ |
| ततोज्ञात्यादीन्भोज० | २६४ |
| अवशिष्टान्नेन गृहबलिःकार्यः | २६५ |
| तिलादयःपितृणामासन्तृमिदाः | २६७ |
| मांसादिविशेषणतृप्तिकालाः .. | २६८ |
| वार्ध्वाणसलक्षणम् | २७१+१ |
| मधुदाने मघादिश्राद्धे | २७३ |
| गजच्छायादौ | २७४ |
| श्रद्धयादानम् | २७५ |
| पितृपक्षे प्रशस्तास्तिथयः .. | २७६ |

| प्रकरण | श्लोक |
|---------------------------------|---------|
| युग्मतिथिनक्षत्रादिप्रशस्तम् .. | २७७ |
| रुष्णपक्षापराह्णप्राश० | २७८ |
| अपसव्यकुशादयः | २७९ |
| रात्रिश्राद्धनिषेधः | २८० |
| तिथिश्राद्धफलानि | २८०+१-६ |
| प्रतिमासंश्राद्धकरणाशक्तौ .. | २८१ |
| साग्नैरग्नौकरणे | २८२ |
| तर्पणफलम् | २८३ |
| पितृणांप्रशंसा | २८४ |
| विधिसामृतभोजने | २८५ |

अथचतुर्थोऽध्यायः

| | |
|----------------------------------|----|
| ब्रह्मचर्यगार्हस्थ्यकालौ | १ |
| शिलोञ्छादिना जीवनम् | २ |
| उचितार्थसंग्रहंकुर्यात् | ३ |
| अनापदि जीवनकर्माह | ४ |
| ऋताद्यर्थकथनम् | ५ |
| क्रियद्धनमर्जयेत्तत्राह | ७ |
| अश्वस्तनिकप्रशंसा | ८ |
| जीवनोपायाः | ९ |
| शिलोञ्छाभ्यांजीवने | १० |
| असञ्जीविकानंकुर्यात् | ११ |
| संतोषस्य प्रशंसा | १२ |
| स्नातकव्रतानि | १३ |
| गीतादिना धनार्जननि० | १५ |
| इन्द्रियार्थासक्तिनिषेधः | १६ |
| वेदार्थविरोधिकर्मत्यागः | १७ |
| वयःकुलानुरुपेणाचरेत् | १८ |
| नित्यंशास्त्राद्यवेक्षणम् | १९ |
| पंचयज्ञान्यथार्थात्तिनत्यजेत् .. | २१ |
| केचिदिन्द्रियसंयमंकुर्वन्ति .. | २२ |
| केचित् वाचा यजन्ति | २३ |
| केचित् ज्ञानेन यजन्ति | २४ |
| संध्याद्वयहोमदर्शपौर्णमासाः | २५ |
| सोमयागादयः | २६ |
| नवान्नीष्टिः | २७ |
| अतिथिपूजनम् | २८ |
| पाषण्ड्याद्यर्चननिषेधः | ३० |
| श्रोत्रयादीन्पूजयेत् | ३१ |
| ब्रह्मचार्यादिभ्योऽन्नदानम् .. | ३२ |
| क्षात्रयादेर्धनग्रहणे | ३३ |

| | | |
|------------------------------------|---------------------------------------|---------------------------------------|
| सति विभवे क्षुधा नसीदेत् .. ३४ | शूद्राय व्रतकथनादिनिषेधः .. ८० | प्रियसन्त्यक्तथनम् .. १३८ |
| शुचिःस्वाध्यायादियुक्तःस्यात् ३५ | शिरःकण्डूयनस्नानादौ .. ८२ | वृथावादंनकुर्यात् .. १३९ |
| दंडकमंडलवादिधारणं .. ३६ | कोपेनशिरःप्रहारकेशग्रहणे .. ८३ | उषःकालादावज्ञातेनसहनगन्तव्यं १४० |
| सूर्यदर्शननिषेधः .. ३७ | तैलेन स्नातस्य पुनस्तैलस्पर्शने ८३ | हीनाज्ञाद्याक्षेपनिषेधः .. १४१ |
| वत्सरज्जुलघने जले प्रतिबिम्ब | अक्षत्रियराजादिप्रतिग्रहे .. ८४ | उच्छिष्टस्पर्शसूर्यादिदर्शने .. १४२ |
| निरीक्षणे दोषः .. ३८ | तैलिकादिप्रतिग्रहनिषेधः .. ८५ | स्वकायेन्द्रियस्पर्शादौ .. १४४ |
| मार्गैगवमृदादीनदक्षिणतःकुर्यात् ३९ | शास्त्रोक्तद्व्यकराजप्रतिग्रहे .. ८७ | मङ्गलाचारयुक्तःस्यात् .. १४५ |
| रजस्वलागमनादिनिषेधः .. ४० | तामिस्राद्यैकविंशतिनरकाः .. ८८ | वेदाध्ययनस्य प्राधान्यम् .. १४६ |
| भार्ययासहभोजनादिनिषेधः .. ४३ | ब्राह्ममूर्ते उत्तिष्ठेत् .. ९२ | अष्टकाश्राद्धाद्यवश्यकार्यम् .. १५० |
| कालविशेषेस्त्रीदर्शननि० .. ४४ | प्रातःकृत्यादि .. ९३ | अग्निगृहदूरतोमूत्राद्युत्सर्गः .. १५१ |
| नग्नस्नानादिनिषेधः .. ४५ | अस्यायुःकीर्त्यादिवर्धकत्वं .. ९४ | पूर्वाह्णे स्नानपूजादि .. १५२ |
| मार्गादौ विष्णुमूत्रादिनि. .. ४६ | श्रावण्याउपाकर्मकालः .. ९५ | पर्वसु देवादिदर्शनम् .. १५३ |
| मूत्रादौ सूर्यादिदर्शननि० .. ४८ | पुष्ये उत्सर्जनकालः .. ९६ | आगतवृद्धादिसत्कारे .. १५४ |
| विष्णुमूत्रोत्सर्गविधिः .. ४९ | रुते उत्सर्जने पक्षिणीनाध्येतव्यम् ९७ | श्रुतिस्मृत्युदिताचारःकार्यः .. १५५ |
| अग्नौ पादप्रतपनादिनिषेधः .. ५३ | ततोवेदंशुक्लेऽङ्गानिरुष्णेपठेत् .. ९८ | आचारफलम् .. १५६ |
| अग्नेर्लघनादिनिषेधः .. ५४ | अस्पृष्टपादनिशान्तेस्वापनिषेधः ९९ | दुराचारनिन्दा .. १५७ |
| संध्याभोजनभूमिलिखनादौ .. ५५ | नित्यंगायत्र्यादिपठेत् .. १०० | आचारप्रशंसा .. १५८ |
| जले मूत्रादिप्रक्षेपनिषेधः .. ५६ | अथानध्यायानाह .. १०१ | परवशकर्मत्यागादौ .. १५९ |
| शून्यगृहस्वापसुप्तेत्यापनादौ .. ५७ | वर्षाकालिकानध्यायमाह .. १०२ | चित्तपारितोषिककर्मकार्यम् .. १६० |
| भोजनादौ दक्षिणपाणिमुद्धाए ५८ | अकालिकानध्यायमाह .. १०३ | आचार्यादिर्हिंसानिषेधः .. १६१ |
| जलार्थिर्नोर्गानवारयेत् .. ५९ | सार्वकालिकानध्यायमाह .. १०५ | नास्तिक्यादिनिषेधः .. १६२ |
| इंद्रधनुर्नदर्शयेत् .. ५९ | सन्ध्यागर्जनादौ .. १०६ | परताडनादिनिषेधः .. १६३ |
| अधार्मिकग्रामवासएकाकीगमने ६० | नगरादौ नित्यानध्यायः .. १०७ | ब्राह्मणताडनोद्योगे .. १६४ |
| शूद्रराज्यवासादिनिषेधः .. ६१ | श्राद्धभोजनग्रहणादौ त्रिरात्रम् ११० | ब्राह्मणताडने .. १६५ |
| अतिभोजनादिनिषेधः .. ६२ | गन्धलेपयुक्तोनाधीयीत .. १११ | ब्राह्मणस्यशोणितोत्पादे .. १६६ |
| अंजलिना जलपानादिनिषेधः ६३ | शयानादयोनाधीयीत .. ११२ | अधार्मिकादीनानंसुखम् .. १७० |
| नृत्यादिनिषेधः .. ६४ | अमावास्यादयोध्ययने निषिद्धाः ११४ | अधर्ममनोननिदध्यात् .. १७१ |
| कांस्येपादप्रक्षालनभिन्नादिभा- | सामध्वनौ सति वेदान्तरंनाधीयीत १२३ | शनैरधर्मफलोत्पत्तिः .. १७२ |
| ण्डेभोजननिषेधः .. ६५ | वेदत्रयदेवताकथनं .. १२४ | शिष्यादिशासने .. १७५ |
| उपानहादिपरधृतंनधारयेत् .. ६६ | गायत्रीजपानन्तरंवेदपाठः .. १२५ | अर्थकामत्यागे .. १७६ |
| अविनीतयानवृषादिनिषेधः .. ६७ | गवाद्यन्तरागमने .. १२६ | पाणिपादचापल्यनिषेधः .. १७७ |
| विनीतिवाहनानि .. ६८ | शुचिदेशे शुचिनाभ्येयं .. १२७ | कुलमार्गगमनम् .. १७८ |
| बालतपादिनिषेधः .. ६९ | ऋतावप्यमावास्यादौ नस्त्रीगम- | ऋत्विगादिभिर्वादिनंकुर्यात् .. १७९ |
| विगर्हकथनादिनिषेधः .. ७२ | नादि .. १२८ | प्रतिग्रहनिन्दा .. १८६ |
| अद्वारेण गृहगमनादौ .. ७३ | रागस्नानाशक्तस्नाननिषेधः .. १२९ | विधिमज्ञात्वा प्रतिग्रहोनकार्यः १८७ |
| अक्षक्रीडादिनिषेधः .. ७४ | गुर्वादिज्ञायालङ्घननिषेधः .. १३० | मुखस्यस्पर्णादिप्रतिग्रहे .. १८८ |
| रात्रौ तिलभोजने नग्नशयने .. ७५ | श्राद्धभोजिनः चतुष्पथगमने १३१ | बैडालव्रतिकादौ दाननिषेधः .. १९२ |
| दुर्गगमनमलदर्शननदीतरणे .. ७६ | रक्तश्लेष्मादौ नतिष्ठेत् .. १३२ | बैडालव्रतिकलक्षणं .. १९५ |
| आर्द्रपादएव भुञ्जीत .. ७७ | शत्रुचोरपरस्त्रीसेवानिषेधः .. १३३ | बकव्रतिकलक्षणं .. १९६ |
| केशभस्मादौ नतिष्ठेत् .. ७८ | परदारनिन्दा .. १३४ | तयोर्निन्दा .. १९७ |
| पतितादिभिर्नसंवसेत् .. ७९ | क्षत्रियसर्पविप्रानावमन्तव्याः १३५ | प्रायश्चित्तेवंचना नकार्या .. १९८ |
| | आत्मावमाननिषेधः .. १३६ | छलेन व्रतचरणे .. १९९ |

| | |
|---------------------------------------|-------|
| छलेन कमण्डलवादिधारणे .. | २०० |
| परकृतपुष्करिण्यादिस्थाने .. | २०१ |
| तदाषपरिहारविधिः .. | २०१+१ |
| अदत्तयानादिभोगनिषेधः .. | २०२ |
| नद्यादिपुष्पान्नकर्तव्यम् .. | २०३ |
| यमनियमौ .. | २०४ |
| अश्रोत्रिययज्ञादि भोजननिषेधः .. | २०५ |
| ऋद्धाद्यन्नकेशादिसंस्पृष्टनभुञ्जीत .. | २०७ |
| रजस्वलास्पृष्टाद्यन्ननिषेधः .. | २०८ |
| गवाघ्रातगणिकाद्यन्नचनिषिद्धम् .. | २०९ |
| अभोज्यानि स्तेनाद्यानि .. | २१० |
| राजाद्यन्नभोजनेमंदफलम् .. | २१८ |
| वर्णक्रमेणान्नसंज्ञा .. | २२१+१ |
| तेषामन्नभोजनेप्रायश्चित्तम् .. | २२२ |
| शूद्रपक्वान्ननिषेधः .. | २२३ |
| ग्रहणेभोजनविधिः .. | २२३+१ |
| कदर्यश्रोत्रियवार्धुषिकान्ने .. | २२४ |
| श्रद्धादत्तवदान्यवार्धुषिकान्ने .. | २२५ |
| श्रद्धया यागादिकंकुर्यात् .. | २२६ |
| श्रद्धादानफलम् .. | २२७ |
| दानापात्राणि .. | २२७+१ |
| जलभूमिदानादिकलम् .. | २२८ |
| वेददानप्रशंसा .. | २३३ |
| काम्यदाने .. | २३४ |
| विधिवद्दानग्रहणयोः .. | २३५ |
| द्विजनिन्दादानकीर्तनादिनिषेधः .. | २३६ |
| अनुतादिकलम् .. | २३७ |
| शनैर्धर्ममनुतिष्ठेत् .. | २३८ |
| धर्मप्रशंसा .. | २३९ |
| उत्कृष्टैः संबन्धः कार्यः नहीनैः .. | २४४ |
| फलमूलादिग्रहणे .. | २४७ |
| दुष्कृतकर्मणोभिक्षाग्रहणम् .. | २४८ |
| भिक्षायाअग्रहणे .. | २४९ |
| अयाचितभिक्षायाम् .. | २५० |
| कुटुबार्थाभिक्षा .. | २५१ |
| स्वार्थसाधुभिक्षा .. | २५२ |
| भोज्यान्नशूद्राः .. | २५३ |
| शूद्रैरात्मनिवेदनंकार्यम् .. | २५४ |
| असत्यकथनेनिन्दा .. | २५५ |
| योग्यपुत्रायकुटुबभारदानम् .. | २५७ |
| ब्रह्मचिन्ता .. | २५८ |
| उक्तस्यफलकथनम् .. | २६० |

अथपंचमोऽध्यायः

| | |
|-----------------------------------|------|
| मनुष्याणांकथंमृत्युरितिप्रश्नः .. | २ |
| मृत्युप्रापकानाह .. | ३ |
| लशुनाद्यभक्ष्याण्याह .. | ५ |
| वृथामांसादिनिषेधः .. | ७ |
| अभक्ष्यक्षीराणि .. | ८ |
| भक्ष्योमायश्चित्तो .. | ८+१ |
| शुक्तेषु दध्यादयोभ .. | १० |
| अथाभक्ष्यपक्षिणः .. | ११ |
| सौनशुष्कमांसादयः .. | १३ |
| ग्राम्यसूकरमत्स्यादयः .. | १४ |
| मत्स्यभक्षणनिन्दा .. | १५ |
| भक्ष्यमत्स्यानाह .. | १६ |
| सर्पवानरादिनिषेधः .. | १७ |
| भक्ष्यपञ्चनखानाह .. | १८ |
| छत्राकादिभक्षणनिषेधः .. | १९ |
| यागार्थपशुहिंसा .. | २२ |
| पर्युषितान्यपिभक्ष्याणि .. | २४ |
| मांसभक्षणे .. | २७ |
| वृथामांसभक्षणनिषेधः .. | ३३ |
| श्राद्धेमांसाभोजने निन्दा .. | ३५ |
| अप्रोक्षितमांसंनभक्ष० .. | ३६ |
| यज्ञार्थवधप्रशंसा .. | ३९ |
| पशुहननकालनियमः .. | ४१ |
| वेदाविहितहिंसानिषेधः .. | ४३ |
| आत्मसुखेच्छया हनने .. | ४५ |
| वधबन्धनंनकर्तव्यम् .. | ४६ |
| मांसवर्जने .. | ४८ |
| अथघातकाः .. | ५१ |
| मांसवर्जनादिकलम् .. | ५३ |
| सपिडानां दशाहाद्यशौचम् .. | ५८ |
| अथसपिण्डता .. | ६० |
| जननाशौचम् .. | ६१ |
| तदशायां वर्ज्यम् .. | ६१+१ |
| जनने मातुरस्पृश्यत्वम् .. | ६२ |
| शुक्रपाते परपूर्वापत्यमरणे .. | ६३ |
| शवस्पर्शे समानोदकमरणे .. | ६४ |
| गुरोर्मरणाशौचम् .. | ६५ |
| गर्भसावे रजस्वलाशुद्धौ .. | ६६ |
| बालाद्यशौचम् .. | ६७ |
| ऊनद्विर्वाषिकस्यभूमिखननम् .. | ६८ |
| नास्याग्निसंस्कारादि .. | ६९ |

| | |
|-----------------------------------|-----|
| बालस्योदकदाननिषेधः .. | ७० |
| सहाध्यायिमरणे .. | ७१ |
| वाग्दत्तह्यशौचम् .. | ७२ |
| हविष्यभक्षणादि .. | ७३ |
| अथविदेशस्याशौचम् .. | ७५ |
| अतिक्रान्ताशौचम् .. | ७६ |
| आचार्यतत्पुत्रादिमरणे .. | ८० |
| श्रोत्रियमातुलादिम .. | ८१ |
| राजाध्यापकादिम .. | ८२ |
| संपूर्णाशौचमाह .. | ८३ |
| आग्निहोत्रार्थस्थानाच्छुद्धिः .. | ८४ |
| स्पर्शनिमित्ताशौचम् .. | ८५ |
| अशुचिदर्शने .. | ८६ |
| मनुष्यास्थिस्पर्शे .. | ८७ |
| ब्रह्मचारी आब्रतसमापनात्प्रेतो | |
| दकदानादि न कुर्यात् .. | ८८ |
| नपतितादीनामुदकदानादि .. | ८९ |
| व्यभिचारिण्यादीनांनोदकदानम् .. | ९० |
| ब्रह्मचारिणःपित्रादि निर्हरणे .. | ९१ |
| शूद्रादीन्दक्षिणादितोनिर्हरेत् .. | ९२ |
| राजादीनामशौचाभावः .. | ९३ |
| राज्ञःसद्यःशौचम् .. | ९४ |
| वज्रादिहतानां सद्यःशौचम् .. | ९५ |
| राज्ञोशौचाभावस्तुतिः .. | ९६ |
| क्षात्रधर्महतस्यसद्यःशौचम् .. | ९८ |
| अशौचान्तकृत्यम् .. | ९९ |
| असपिडाशौचमाह .. | १०० |
| असपिडनिर्हरणे .. | १०१ |
| अशौच्यन्नभक्षणे .. | १०२ |
| निर्हारकानगमने .. | १०३ |
| ब्राह्मणशूद्रैर्ननिर्हारयेत् .. | १०४ |
| ज्ञानादीनिशुद्धिसाधनानि .. | १०५ |
| अर्थशौचप्रशंसा .. | १०६ |
| क्षमादानजपतपांसि शोधकानि .. | १०७ |
| समलनदीस्त्रीद्विजशुद्धौ .. | १०८ |
| गात्रमनसात्मबुद्धिशुद्धौ .. | १०९ |
| द्रव्यशुद्धिमाह .. | ११० |
| सुवर्णादिमणिशुद्धौ .. | १११ |
| घृतादिशय्यादिकाश्शुद्धौ .. | ११५ |
| यज्ञपात्रशुद्धौ .. | ११६ |
| धान्यवस्त्रशुद्धौ .. | ११८ |
| चर्मवंशपात्रशाकफलमूलशुद्धौ .. | ११९ |

| | |
|--------------------------------------|-------|
| कम्बलपटवस्त्रादिशुद्धौ | १२१ |
| तृणकाष्ठागृहमृद्गाण्डशु० .. | १२२ |
| मद्याद्युपहतमृद्गाण्डत्यागः .. | १२३ |
| भूमिशुद्धौ | १२४ |
| पक्षिजग्धगवाघ्रातादौ | १२५ |
| मधलेपयुक्तद्रव्यशुद्धौ | १२६ |
| पवित्राण्याह | १२७ |
| जलशुद्धौ | १२८ |
| नित्यशुद्धानाह | १२९ |
| स्पर्शैर्नित्यशुद्धानि | १३२ |
| मूत्राद्युत्सर्गशुद्धौ | १३४ |
| अथद्वादशमलाः | १३५ |
| मृद्धारिग्रहणेनियमः | १३६ |
| आचमनविधिः | १३९ |
| शुद्धाणांमासिवपनं द्विजोच्छिष्टभो२४० | |
| वित्रुषश्मश्रादिकंनोच्छिष्टम् .. | १४१ |
| मेध्यानि | १४१+१ |
| पादेगंडूषजाबिन्दवःशुद्धाः .. | १४२ |
| द्रव्यहस्तस्योच्छिष्टस्पर्शैः .. | १४३ |
| वमनविरेकमैथुनशुद्धौ | १४४ |
| निद्राक्षुब्धो जनादिशु० | १४५ |
| अथस्नानधर्मानाह | १४६ |
| स्त्रिया स्वातन्त्र्यनकार्यम् | १४७ |
| कस्यवशेतिष्ठेदित्यत्राह | १४८ |
| प्रसन्ना गृहकर्मकुर्यात् | १५० |
| स्वामिशुश्रूषा | १५१ |
| स्वाम्यहेतुमाह | १५२ |
| स्वामिप्रशंसा | १५३ |
| स्त्रीणांपृथक्कुर्यान्न० | १५५ |
| स्वामिनोऽप्रियंनाचरेत् | १५६ |
| मृतपतिकाधर्मः | १५७ |
| प्रपुरुषगमननिन्दा | १६१ |
| पातिव्रत्यफलम् | १६५ |
| भार्यायामृतायांश्रौताग्निना दाहः | १६७ |
| पुनर्दरिग्रहणे | १६८ |
| गृहस्थस्यकालावधिः | १६९ |

अथ षष्ठोऽध्यायः

| | |
|-------------------------------|---|
| वानप्रस्थाश्रममाह | १ |
| सभार्याग्निहोत्रोवने वसेत् .. | ३ |
| फलमूलेन पञ्चयज्ञकरणं | ५ |
| चमचौरजटादिधारणम् | ६ |

| | |
|--|----|
| अतिथिचर्या | ७ |
| वानप्रस्थनियमः | ८ |
| मधुमांसादिवर्जनम् | १४ |
| आश्विने संचितनीवारादित्यागः | १५ |
| कालरुष्टाद्यन्ननिषेधः | १६ |
| अश्मकुट्टादयः | १७ |
| नीवारादिसंचयने | १८ |
| भोजनकालादयः | १९ |
| भूमिपरिवर्तनादि | २२ |
| तपःप्रकारः | २३ |
| देहशोषणम् | २४ |
| अग्निहोत्रसमापनादयः | २५ |
| वृक्षमूलभूशय्यादयः | २६ |
| भिक्षाचरणे | २७ |
| वेदादिपाठः | २९ |
| महाप्रस्थानम् | ३१ |
| परिव्राजककालमाह | ३३ |
| ब्रह्मचर्यादिक्रमेणपरिव्रजेत् .. | ३४ |
| ऋणमशोध्य नपरिव्रजेत् | ३५ |
| पुत्रमनुत्पाद्य नपरिव्रजेत् | ३६ |
| प्राजापत्येष्टिकृत्वापरिव्रजेत् .. | ३८ |
| अभयदानफलम् | ३९ |
| निस्पृहःपरिव्रजेत् | ४१ |
| एकाको मोक्षार्थंचरेत् | ४२ |
| परिव्राजकनियमः | ४३ |
| मुक्तलक्षणम् | ४४ |
| जीवनादिकामनाराहित्यम् | ४५ |
| परिव्राजकाचारः | ४६ |
| भिक्षाग्रहणे | ५० |
| दण्डकमण्डल्वादयः | ५२ |
| भिक्षापात्राणि | ५३ |
| एककालोभिक्षाचरणम् | ५५ |
| भिक्षाकालः | ५६ |
| लाभालाभे हर्षविषादौनकार्यौ | ५७ |
| पूजापूर्वकभिक्षानिवेधः | ५८ |
| इन्द्रियनिग्रहः | ५९ |
| संसारगतिकथनम् | ६१ |
| सुखदुःखयोर्धर्माधर्मौ हेतू .. | ६४ |
| नलिंगमात्रधर्मकारणम् | ६६ |
| भूमिनिरीक्ष्यपर्यटेत् | ६८ |
| क्षुद्रजंतुर्हिंसाप्रायश्चित्तम् | ६९ |
| प्राणायामप्रशंसा | ७० |

| | |
|----------------------------------|----|
| ध्यानयोगेनात्मानं पश्येत् | ७३ |
| ब्रह्मसाक्षात्कारे मुक्तिः | ७४ |
| मोक्षसाधककर्माणि | ७५ |
| देहस्वरूपमाह | ७६ |
| देहत्यागे दृष्टान्तमाह | ७८ |
| प्रियाप्रियेषु पुण्यपात्पयागः .. | ७९ |
| विषयानभिलाषः | ८० |
| आत्मनोऽध्यानम् | ८२ |
| परिव्रज्याफलम् | ८५ |
| वेदसंन्यासिकानां कर्म | ८६ |
| चत्वारः आश्रमाः | ८७ |
| सर्वाश्रमफलम् | ८८ |
| गृहस्थस्य श्रेष्ठत्वम् | ८९ |
| दशविधधर्मः सेवितव्यः | ९१ |
| दशविधधर्मानाह | ९२ |
| दशविधधर्माचरणफलम् | ९३ |
| वेदमेवाभ्यसेत् | ९५ |
| वेदसंन्यासफलम् | ९६ |

अथ सप्तमोऽध्यायः

| | |
|--|----|
| राजधर्मानाह | १ |
| कृतसंस्कारस्य प्रजारक्षणं | २ |
| रक्षार्थमिन्द्राद्यंशाद्रजोत्पत्तिः .. | ३ |
| राजप्रशंसा | ६ |
| राजद्वेषनिन्दा | १२ |
| राजस्थापितधर्मनचालयेत् | १३ |
| दण्डोत्पत्तिः | १४ |
| दण्डप्रणयनम् | १६ |
| दण्डप्रशंसा | १७ |
| अथथादण्डनिषेधः | १९ |
| दण्ड्येषु दण्डाकरणे निन्दा | २० |
| पुनर्दण्डप्रशंसा | २२ |
| दण्डप्रणेता कीदृशइत्यत्राह | २६ |
| अधर्मदण्डे राजादीनां दोषः | २८ |
| मूर्खादीनां न दण्डप्रणयनम् | ३० |
| सत्यसंधादिना दण्डप्रणयनम् | ३१ |
| शत्रुमित्रविप्रादिषु दण्डविधिः | ३२ |
| न्यायवर्तिनो राज्ञः प्रशंसा | ३३ |
| दुर्वृत्तराज्ञो निन्दा | ३४ |
| राजकृत्यनि | ३७ |
| अविनयनिन्दा | ४० |
| अत्र दृष्टान्तमाह | ४१ |
| विनयाद्राज्यादिप्राप्तिदृष्टान्तः .. | ४३ |

| | |
|---|-----|
| विद्याग्रहणम् | ४३ |
| इन्द्रियजयः | ४४ |
| कामक्रोधजव्यसनत्यागः | ४५ |
| कामजदशव्यसनान्याह | ४७ |
| क्रोधजाष्टव्यसनान्याह | ४८ |
| सर्वमूललोभत्यागः | ४९ |
| अतिदुःखदव्यसनानि | ५० |
| व्यसननिन्दा | ५३ |
| अथसचिवाः | ५४ |
| संधिवियहादिचिन्तनम् | ५६ |
| मन्त्रिभिर्विचार्यहितकार्यम् | ५७ |
| ब्राह्मणमन्त्रिणः | ५८ |
| अन्यान्यमात्यान्कुर्यात् | ६० |
| आकरान्तःपुराध्यक्षाः | ६२ |
| दूतादिलक्षणानि | ६३ |
| सेनापत्यादिकार्यम् | ६५ |
| दूतप्रशंसा | ६६ |
| प्रतिराजेप्सितदूतेन जानीयात् | ६७ |
| जांगलदेशाश्रयणे | ६९ |
| अथदुर्गप्रकाराः | ७० |
| अस्त्रान्नादिपूरितदुर्गकुर्यात् | ७५ |
| सुदर्शीभार्यामुद्गहेत् | ७७ |
| पुरोहितादयः | ७८ |
| यज्ञादिकरणम् | ७९ |
| करग्रहणे | ८० |
| अथाध्यक्षाः | ८१ |
| ब्राह्मणानां वृत्तिदानम् | ८२ |
| ब्राह्मणानां वृत्तिदानप्रशंसा | ८३ |
| पात्रदानफलमाह | ८५ |
| संग्रामे आहूतोननिवर्तेत | ८७ |
| संमुखमरणे त्वर्गः | ८९ |
| कृत्यास्त्रादिनिषेधः | ९० |
| संग्रामे अवध्यानाह | ९१ |
| भीतादिहननेदोषः | ९४ |
| संग्रामे पराङ्मुखहतस्य दोषः | ९५ |
| येनयज्जितं तद्धनं तस्यैव | ९६ |
| राज्ञःश्रेष्ठवस्तुदानमित्यादि | ९७ |
| अलब्धलब्धमिच्छेत् | १०१ |
| नित्यमश्वपदाभ्यादिशिक्षा | १०२ |
| नित्यमुद्यतदण्डः स्यात् | १०३ |
| अमात्यादिषुमायानकार्या | १०४ |
| प्रकृतिभेदादिगोपनीयम् | १०५ |

| | |
|---|-------|
| विश्वासनिषेधः | १०५+१ |
| अर्थादिचिन्तनम् | १०६ |
| विजयविरोधिनोवशोकरणम् | १०७ |
| सामदण्डप्रशंसा | १०९ |
| राजरक्षा | ११० |
| प्रजापीडने दोषः | १११ |
| प्रजारक्षणे सुखम् | ११३ |
| ग्रामाधिपत्यादयः | ११४ |
| ग्रामदोषनिवेदनम् | ११६ |
| ग्रामाधिकृतस्य वृत्तिमाह | ११८ |
| ग्राम्यकार्याण्यन्येनकर्तव्यानि | १२० |
| अर्थचिन्तकः | १२१ |
| तच्चरितं स्वयं जानीयात् | १२२ |
| उत्कोचादिग्राहकशासनम् | १२३ |
| प्रेष्यादिवृत्तिकल्पनम् | १२५ |
| वणिक्करग्रहणे | १२६ |
| अल्पाल्पकरग्रहणे | १२९ |
| धान्यादीनां करग्रहणे | १३० |
| श्रोत्रियात्करं न गृहीयात् | १३३ |
| श्रोत्रियवृत्तिकल्पने | १३४ |
| शाकादिव्यवहारिणः स्वल्पकरः | १३७ |
| शिल्प्यादिकर्मकारयेत् | १३८ |
| स्वल्पातिप्रचुरकरग्रहणनिषेधः | १३९ |
| तीक्ष्णमृदुताचरणम् | १४० |
| अमात्येन सहकार्यचिन्तनम् | १४१ |
| दस्युनिग्रहणम् | १४३ |
| सभाप्रवेशनं | १४५ |
| एकान्ते गोप्यमन्त्रणम् | १४७ |
| मन्त्रणकालेरुयाद्य पसारणम् | १४९ |
| धर्मकामादिचिन्तनम् | १५१ |
| दूतसंप्रेषणादयः | १५३ |
| अथ प्रकृतिप्रकाराः | १५६ |
| अरिप्रकृतयः | १५८ |
| अथ षड्गुणाः | १६० |
| संश्यादिप्रकारः | १६२ |
| संधिवियहादिकालाः | १६९ |
| बलिनृपसंश्रयणे | १७५ |
| आत्मानं अधिकं कुर्यात् | १७७ |
| अगामिगुणदोषचिन्ता | १७८ |
| राजरक्षा | १८० |
| अरिराज्ययानविधिः | १८१ |
| शत्रुसेविमित्रादौ सावधानम् | १८६ |

| | |
|--|-----|
| व्यूहकरणे | १८७ |
| जलादौ युद्धप्रकारः | १९२ |
| अग्नीनीकयोग्यानाह | १९३ |
| सैन्यपरीक्षणम् | १९४ |
| परराष्ट्रीडनम् | १९५ |
| परकृतिभेदादि | १९७ |
| उपायाभावेयुध्येत् | २०० |
| जित्वा ब्राह्मणादिपू जन्मप्रजानामभय दानं च | २०१ |
| तद्वश्याय तद्राज्यदाने | २०२ |
| दैवमानुषकर्म | २०५ |
| करग्रहणादि | २०६ |
| मित्रप्रशंसा | २०७ |
| शत्रुगुणाः | २१० |
| उदासीनगुणाः | २११ |
| आत्मार्थभूम्यादित्यागः | २१२ |
| आपदि उपायचिन्तनम् | २१४ |
| अथराज्ञोभोजने | २१६ |
| अन्नादिपरीक्षा | २१७ |
| विहारादौ | २२१ |
| आयुधादिदर्शनम् | २२२ |
| संश्यामुपास्य प्रणिधिचेष्टितादि | २२३ |
| ततोरात्रिभोजनादयः | २२४ |
| अस्वस्थः श्रेष्ठमा तेषु निःक्षिपेत् | २२६ |

अथ अष्टमोऽध्यायः

| | |
|---|----|
| व्यवहारानदिदक्षुः सभाप्रविशेत् | १ |
| कुलशास्त्रादिभिः कार्यपश्येत् | ३ |
| अष्टादशविवादानाह | ४ |
| धर्ममाश्रित्य निर्णयंकुर्यात् | ८ |
| स्वयमशक्तौ विद्वांसं नियुञ्ज्यात् | ९ |
| सन्निभिर्ब्राह्मणैः सह कार्यपश्येत् | १० |
| तत्सभाप्रशंसा | ११ |
| अधर्मे सभासदादोषः | १२ |
| सदसि सत्यमेव वक्तव्यम् | १३ |
| अधर्मवादिशासनम् | १४ |
| धर्मातिक्रमणेदोषः | १५ |
| दुर्व्यवहारे चतुर्णामधर्मः | १८ |
| अर्थप्रत्यर्थिपापे | १९ |
| कार्यदर्शने शूद्रनिषेधः | २० |
| राष्ट्रनास्तिकदुर्भिः क्षादिनिषेधः | २२ |
| लोकपालान्प्रणम्य कार्यदर्शनम् | २३ |
| ब्राह्मणादिक्रमेण कार्यपश्येत् | २४ |

| प्रकरण | श्लोक | प्रकरण | श्लोक | प्रकरण | श्लोक |
|---|-------|---|-------|--------------------------------------|-------|
| स्वरवर्णादिना अर्थ्यादिपरीक्षेत .. २५ | | असत्यकथनफलम् .. ९३ | | कुटुम्बार्थकृतर्णदेयम् .. १६६ | |
| बालधनराज्ञारक्षणीयम् .. २७ | | पुनःसत्यकथनप्रशंसा .. ९६ | | बलरुतं अरुतमेव .. १६८ | |
| वशादिधनरक्षणादि .. २८ | | विषयभेदेनसत्यफलम् .. ९७ | | प्रातिभाव्यादिनिषेधः .. १६९ | |
| तासां धनहारकशासनम् .. २९ | | निन्दितब्राह्मणान् शूद्रवत्पृच्छेत् १०२ | | अयाह्नमर्थनगृहीयात् .. १७० | |
| अस्वामिकधनरक्षणे कालः .. ३० | | विषयभेदेऽसत्यकथनेदोषो न .. १०३ | | ग्राह्यत्यागे दोषः .. १७१ | |
| द्रव्यरूपसङ्ख्यादिकथनम् .. ३१ | | अनृतकथनेप्रायश्चित्तम् .. १०५ | | राज्ञः बलवर्द्धकानि .. १७२ | |
| अकथनेदण्डः .. ३२ | | त्रिपक्षं साक्ष्यकथने पराजयः १०७ | | अधर्मकार्यकरणे दोषः .. १७४ | |
| प्रणष्टद्रव्यात् षड्भागग्रहणम् .. ३३ | | साक्षिभङ्गे .. १०८ | | धर्मेण कार्यकरणम् .. १७५ | |
| चौरघातनम् .. ३४ | | असाक्षिविवादे शपथः .. १०९ | | धनिकेन धनसाधने .. १७६ | |
| निध्यादौ षड्भागग्रहणम् .. ३५ | | वृथाशपथे दोषः .. १११ | | धनाभावे कर्मणा क्रणशोधनम् १७७ | |
| परनिधौ अनृतकथने .. ३६ | | वृथाशपथप्रतिप्रसवमाह .. ११२ | | अथनिक्षेपः .. १७९ | |
| ब्राह्मणनिधिविषये .. ३७ | | विप्रादेः सत्योच्चार्यादिशपथम् .. ११३ | | साक्ष्यभावे निक्षेप निर्णयः .. १८२ | |
| राज्ञा निधिप्राप्त्याधिविप्राय देयम् ३८ | | शपथे शुचिमाह .. ११५ | | निक्षेपदाने .. १८५ | |
| चौरहृतधनराज्ञा दातव्यम् .. ४० | | अथपुनर्वादः .. ११७ | | स्वयं निक्षेपापण्णे .. १८६ | |
| जातिदेशधर्माविरोधेन करणीयम् ४१ | | लोभादिना साक्ष्ये दण्डविशेषः ११८ | | समुद्रनिक्षेपे .. १८८ | |
| राज्ञा विवादात्थाप नादि नकार्यम् ४३ | | दण्डस्य हस्तादिदश स्थानानि १२४ | | चौरादिहृते निक्षेपे .. १८९ | |
| अनुमानेन तत्त्वं निश्चिनुयात् .. ४४ | | अपराधमपेक्ष्य दण्डकरणम् .. १२६ | | निक्षेपापहारे शपथम् .. १९० | |
| सत्यादिना व्यवहारं पश्येत् .. ४५ | | अधर्मदण्डनिन्दा .. १२७ | | निक्षेपापहारादौ दण्डः .. १९१ | |
| सदाचार आचरणीयः .. ४६ | | दण्डविषयये .. १२८ | | छलेन परधनहरणे .. १९३ | |
| ऋणादानम् .. ४७ | | वाग्दण्डधिग्दण्डादि .. १२९ | | निक्षेपे मिथ्याकथने दण्डः .. १९४ | |
| अथहोनाः .. ५३ | | त्रसरेण्वादिपरिमाणान्याह .. १३१ | | निक्षेपदानग्रहणयोः .. १९५ | |
| अभयोक्तुर्दण्डादिः .. ५८ | | प्रथममध्यमोत्तमसाहसाः .. १३८ | | अस्वामिविक्रयः .. १९६ | |
| धनपरिमाणमिथ्या कथने .. ५९ | | ऋणादाने दण्डनियमः .. १३९ | | सागमभोगप्रमाणम् .. २०० | |
| साक्षिविभावनम् .. ६० | | अथवृद्धिः .. १४० | | प्रकाशक्रये मूल्यधनलाभे .. २०२ | |
| अथसाक्षिणः .. ६१ | | आधिस्थले .. १४३ | | संसृष्टवस्तुविक्रये .. २०३ | |
| साक्ष्येनिषिद्धाः .. ६४ | | बलादाधिभोगनिषेधः .. १४४ | | अन्यांकन्यादर्शयित्वा न्याविवाहे २०४ | |
| रूयादीनारूयादयः साक्षिणः .. ६८ | | आधिनिक्षेपादौ .. १४५ | | उन्मत्तादिकन्याविवाहे .. २०५ | |
| वादि साक्षिणः .. ६९ | | धेन्वादौ भोगेपिनस्वत्वहानिः १४६ | | पुरोहितदक्षिणादाने .. २०६ | |
| बालादिसाक्ष्यादौ .. ७० | | धनस्वाम्यनिवृत्त्यवधिः .. १४७ | | अव्वर्वादिदक्षिणा .. २०९ | |
| साहसादौ न साक्षि परीक्षा .. ७२ | | आध्यादयः भोगेन नष्टाः .. १४९ | | संभूयसमुत्थानम् .. २११ | |
| साक्षिद्वये .. ७३ | | त्रिपक्षभुक्ताधिः .. १४९+१ | | दत्तानपक्रिया .. २१२ | |
| साक्षिणः सत्यकथनम् .. ७४ | | बलादाधिभोगेऽर्धवृद्धिः .. १५० | | मृतिस्थले .. २१५ | |
| मिथ्यासाक्ष्ये दोषः .. ७५ | | वृद्धिप्रकाराः .. १५१ | | संविध्यतिक्रमः .. २१८ | |
| श्रुतसाक्षिणः .. ७६ | | पुनर्लेख्यकरणे .. १५४ | | क्रीतानुशयः .. २२२ | |
| एकोपि धर्मवित् साक्षी .. ७७ | | देशकालवृद्धौ .. १५६ | | अनाख्याय दोषवती कन्यादाने २२४ | |
| स्वभावकचने साक्षिणो गृहीयुः .. ७८ | | दर्शनप्रतिभूस्थले .. १५८ | | मिथ्याकन्यादूषणकथने .. २२५ | |
| साक्षिप्रश्ने .. ७९ | | प्रातिभाव्यादिऋणपुत्रैर्न देयम् १५९ | | दूषितकन्यानिन्दा .. २२६ | |
| साक्षिभिः सत्यं वक्तव्यम् .. ८१ | | दानप्रतिभूस्थले .. १६० | | अथसप्तपदी .. २२७ | |
| रहःकृतं कर्म आत्मादिर्जानाति ८४ | | निरादिष्टधने प्रतिभूवि .. १६२ | | अथस्वामिपालविवादः .. २२९ | |
| ब्राह्मणादिसाक्षिप्रश्ने .. ८७ | | कृतव्यवहारासिद्धिः .. १६३ | | क्षीरभृतिः .. २३१ | |
| असत्यकथने दोषः .. ८९ | | | | पालदोषेण नष्टस्थले .. २३२ | |
| सत्यप्रशंसा .. ९२ | | | | | |

| प्रकरण | श्लोक |
|--|-------|
| चोरहते | २३३ |
| शृङ्गादिदर्शनम् | २३४ |
| वृकादिहतस्थले | २३५ |
| सस्यघातकदण्डे | २३७ |
| सीमाविवादः | २४५ |
| सीमावृक्षादयः | २४६ |
| उपच्छन्नानि सीमालिङ्गानि | २४९ |
| योगेन सीमानयेत् | २५२ |
| सीमासाक्षिणः | २५३ |
| साक्ष्युक्तांसीमांबन्धीयात् | २५५ |
| साक्ष्यदानविधिः | २५६ |
| अन्यथाकथनेदण्डः | २५७ |
| साक्ष्यभावे ग्रामसामन्तादयः | २५८ |
| सामन्तानांमृषाकथने दण्डः | २६३ |
| गृहादिहरणेदण्डः | २६४ |
| राजास्वयंसीमानिर्णयंकुर्यात् | २६५ |
| सीमाप्रकाराः | २६५+१ |
| अथवाक्पारुष्यं | २६६ |
| ब्राह्मणाद्याक्रोशे | २६७ |
| समवर्णाक्रोशे | २६९ |
| शूद्रस्य द्विजाक्रोशे | २७० |
| धर्मोपदेशकर्तुः शूद्रस्य दण्डः | २७२ |
| श्रुतदेशजात्याक्षेपे | २७३ |
| काणाद्याक्रोशे | २७४ |
| मात्राद्याक्रोशे | २७५ |
| परस्परपतनीयाक्रोशे | २७६ |
| अथदण्डपारुष्यम् | २७८ |
| शूद्रस्यब्राह्मणादिताडने | २७९ |
| पादादिप्रहारे | २८० |
| महतासहोपवेशने | २८१ |
| निष्ठीवनादौ | २८२ |
| केशग्रहणादौ | २८३ |
| त्वगस्थिभेदादौ | २८४ |
| वनस्पतिच्छेदने | २८५ |
| मनुष्याणां दुःखानुसारेणदण्डः | २८६ |
| समुत्थानव्ययदाने | २८७ |
| द्रव्यहिसायाम् | २८८ |
| चाभिकभाण्डादौ | २८९ |
| यानदिदेशातिवर्तनानि | २९० |
| रथत्वान्यादिदण्डे | २९३ |
| भार्यादिताडने | २९९ |

| प्रकरण | श्लोक |
|---------------------------------------|-------|
| अन्यथाताडने दण्डः | ३०० |
| अथस्तेननिग्रहणे | ३०१ |
| चोरादितोऽभयदानफलम् | ३०३ |
| राजाधर्माधर्मषष्ठांशभागी | ३०४ |
| अरक्षया करग्रहणनिन्दा | ३०७ |
| पापनिग्रहसाधुसंग्रहणे | ३११ |
| बालवृद्धादिषुक्षमा | ३१२ |
| ब्राह्मणसुवर्णस्तेने | ३१४ |
| अशासनैराज्ञोदोषः | ३१६ |
| परपापसंश्लेषणम् | ३१७ |
| राजदण्डेनपापनाशः | ३१८ |
| कूपरज्वादिहरणंपाभेदनंच | ३१९ |
| धान्यादिहरणम् | ३२० |
| सुवर्णादिहरणम् | ३२१ |
| स्त्रीपुरुषादिहरणम् | ३२३ |
| महापश्यादिहरणादा | ३२४ |
| सूत्रकार्पासादिहरणम् | ३२६ |
| हरितधान्यादौ | ३३० |
| निरन्वयसान्वयधान्यादौ | ३३१ |
| स्तेयसाहसमलक्षणम् | ३३२ |
| त्रेताग्रिस्तेये | ३३३ |
| चौरहस्तच्छेदादि | ३३४ |
| पित्रादिदण्डे | ३३५ |
| राज्ञोदण्डे | ३३६ |
| शूद्रादिष्टगुणादिदण्डः | ३३७ |
| अस्तेयान्याह | ३३९ |
| चौरयाजनादौ | ३४० |
| पार्थिवस्थितेक्षुद्रग्रहणे | ३४१ |
| दासाश्वादिहरणादौ | ३४२ |
| अथसाहसम् | ३४४ |
| साहसक्षमानिन्दा | ३४६ |
| द्विजातिःशस्त्रग्रहणकालः | ३४८ |
| आततायिहनने | ३५० |
| आततायिप्रकाराः | ३५०+१ |
| परदारभिमर्षणे दण्डः | ३५२ |
| परस्त्रिया रहःसंभाषणम् | ३५४ |
| स्त्रीसंग्रहणम् | ३५८ |
| भिक्षुकादीनांपरस्त्रीसंभाषणम् | ३६० |
| परस्त्रिया निषिद्धसंभाषणम् | ३६१ |
| नद्यादिस्त्रीषुसंभाषणे नदोषः | ३६२ |
| कन्यादूषणदोषः | ३६४ |

| प्रकरण | श्लोक |
|---|-------|
| अङ्गुलिप्रक्षेपादौ | ३६७ |
| व्यभिचरितस्त्रीजारयोर्दण्डे | ३७१ |
| संवत्सराभिशास्तादौ | ३७३ |
| शूद्रादेरक्षितोत्कृष्टादिगमने | ३७४ |
| ब्राह्मणस्य गुमाविप्रागमने | ३७८ |
| ब्राह्मणस्य नवधदण्डः | ३८० |
| गुमागुमस्त्रीगमने | ३८२ |
| स्तेनादिशून्यराज्यप्रशंसा | ३८६ |
| ऋत्विग्याज्ययोःपरस्परत्यागे | ३८८ |
| मात्रादित्यागे | ३८९ |
| विप्रयोर्वादे राज्ञा नधर्मकथनम् | ३९० |
| अथ अकराः | ३९४ |
| रजकस्य वस्त्रप्रक्षालने | ३९६ |
| तन्तुवायस्य सूत्रहरणे | ३९७ |
| पण्यमूल्यकरणे | ३९८ |
| राज्ञाप्रतिषिद्धानांनिर्हरणे | ३९९ |
| अकालविक्रयादौ | ४०० |
| विदेशविक्रये | ४०१ |
| पण्यानांक्रयविक्रयः | ४०२ |
| तुलादिपरीक्षा | ४०३ |
| अथ तरिशुल्कम् | ४०४ |
| गर्भिण्यादीनानंतरिशुल्कम् | ४०७ |
| नाविकदोषेण वस्तुनाशे | ४०८ |
| वैश्यदेवाणिज्याकरणे | ४१० |
| क्षत्रियवैश्यौनदासकर्माहौ | ४११ |
| शूद्रदासकर्मकारयेत् | ४१३ |
| शूद्रोदास्यान्मुच्यते | ४१४ |
| अथसप्तदशदासप्रकाराः | ४१५ |
| भार्यादासादयोऽधनाः | ४१६ |
| वैश्यशूद्रौ स्वकर्मकारयितव्यौ | ४१८ |
| दिनेदिने आयव्ययनिरीक्षणम् | ४१९ |
| सम्यग्व्यवहारदर्शनफलम् | ४२० |

अथ नवमोऽध्यायः

| | |
|-------------------------------|----|
| अथस्त्रीपुंघर्माः | १ |
| अथस्त्रीरक्षा | २ |
| जायाशब्दार्थकथनम् | ८ |
| स्त्रीरक्षणोपायाः | ११ |
| स्त्रीत्वभावः | १४ |
| स्त्रीणाममन्त्रक्रिया | १८ |

| करण | श्लोक |
|-------------------------------------|-------|
| व्यभिचारप्रायश्चित्तयः | १९ |
| स्त्री त्वामिगुणाभवति | २२ |
| स्त्रीप्रशंसा | २६ |
| अव्यभिचारफलम् | २९ |
| व्यभिचारफलम् | ३० |
| बीजक्षेत्रयोर्बलाबले | ३३ |
| परस्त्रीषु बोजवपननिषेधः .. | ४१ |
| स्त्रीपुंसयोरैकत्वम् | ४५ |
| सकृदंशभागादयः | ४७ |
| क्षेत्रप्राधान्यम् | ४८ |
| अथस्त्रीधर्मः | ५६ |
| भ्रातुःस्त्रीगमनेपातित्यम् | ५७ |
| अथनियोगः | ५९ |
| ननियोगे द्वितीयपुत्रोत्पादनम् | ६० |
| कामतोगमननिषेधः | ६३ |
| नियोगनिन्दा | ६४ |
| वर्णसङ्करकालः | ६६ |
| वाग्दत्ताविषये | ६९ |
| कन्यायाःपुनर्दाननिषेधः | ७१ |
| सम्पदीपूर्वस्त्रीत्यागे | ७२ |
| दोषवतीकन्यादाने | ७३ |
| स्त्रीवृत्तिप्रकल्प्यप्रवसेत् | ७४ |
| प्रेषितभर्तृकानियमाः | ७५ |
| संवत्सरस्त्रियंप्रतीक्षेत | ७७ |
| रोगार्त्तस्वाम्यतिक्रमे : | ७८ |
| कृतीर्वादेर्नस्त्रीत्यागः | ७९ |
| आंधवेदने | ८० |
| स्त्रिया मद्यपाने | ८४ |
| सजात्यास्त्रियाधर्मकार्यनान्यया | ८६ |
| गुणिनेकन्यादानंननिर्गुणाय .. | ८८ |
| . अदानात्पापम् | ८८+१ |
| स्वयंवरकालः | ९० |
| स्वयंवरेपितृदत्तालंकारत्यागः | ९२ |
| ऋतुमतीविवाहे नशुल्कदानम् | ९३ |
| कन्यावरखोर्वयोनियमः | ९४ |
| विवाहस्यावश्यकत्वम् | ९५ |
| गुल्कायावरमरणे | ९७ |
| ऋग्रहणनिषेधः | ९८ |
| ॥कन्यादत्तान्यस्मैदानम् | ९९ |
| सुस्योरव्यभिचारः | १०१ |
| दायभागः | १०३ |

| करण | श्लोक |
|--------------------------------------|-------|
| विभागकालः | १०४ |
| सहावस्थाने ज्येष्ठस्यप्राधान्यम् | १०५ |
| ज्येष्ठप्रशंसा | १०६ |
| अज्येष्ठवृत्तौ ज्येष्ठे | ११० |
| विभागे हेतुमाह | १११ |
| ज्येष्ठादेर्विशोद्धरे | ११२ |
| एकमपिश्रेष्ठज्येष्ठस्य | ११४ |
| दशवस्तुषु समानानोद्धारः | ११५ |
| समभागविषमभागौ | ११६ |
| स्वस्वांशेभ्योभगिन्यै देयम् .. | ११८ |
| विषममजाविकंज्येष्ठस्यैव | ११९ |
| क्षेत्रजेनविभागे | १२० |
| अनेकमातृकेषु ज्यैष्ठ्ये | १२२ |
| जन्मतोज्यैष्ठ्यम् | १२५ |
| पुत्रिकाकरणे | १२७ |
| पुत्रिकायाधनग्राहित्वम् | १३० |
| मातुःस्त्रीधनंदुहितुः | १३१ |
| पुत्रिकापुत्रस्य धनग्राहित्वम् .. | १३२ |
| पुत्रिकौ रसयोर्विभागे | १३४ |
| अपुत्रपुत्रिकाधने | १३५ |
| पुत्रिकायाद्वैविध्यम् | १३६ |
| पौत्रपौत्रयोर्धनविभागः | १३७ |
| पुत्रशब्दार्थः | १३८ |
| पुत्रिकापुत्रकर्तृकश्राद्धे | १४० |
| दत्तकस्यधनग्राहकत्वे | १४१ |
| कामजादेर्नधनग्राहकत्वम् | १४३ |
| क्षेत्रजस्य धनग्राहकत्वे | १४५ |
| अनेकमातृकविभागः | १४९ |
| अनूदशपुत्रस्यभागनिषेधः .. | १५५ |
| सजातीयानेकमातृकविभागे .. | १५६ |
| शूद्रस्य पुत्राणांसमएवभागः .. | १५७ |
| दायादायादबान्धवत्वम् | १५८ |
| कुपुत्रनिन्दा | १६१ |
| औरसक्षेत्रजविभागे | १६२ |
| क्षेत्रजान्तरमौरसोत्पत्तौ | १६३ |
| दत्तकादयोगोत्ररिक्थभागिनः .. | १६५ |
| औरसादिद्वादशपुत्रलक्षणम् .. | १६६ |
| दासीपुत्रस्य समभागित्वे | १७९ |
| क्षेत्रजादयःपुत्रप्रतिनिधयः .. | १८० |
| अथपुत्रित्वातिदेशः | १८२ |
| द्वादशपुत्राणांपूर्वपूर्वश्रेष्ठः .. | १८४ |

| प्रकरण | श्लो |
|---------------------------------|------|
| सपिण्डादयोधनहराः | १८८ |
| ब्राह्मणाधिकारः | १८८ |
| राजाधिकारः | १८९ |
| मृतपतिकानियुक्तापुत्राधिकारः | १९१ |
| औरसपौनर्भवविभागे : | १९५ |
| मातृधनविभागे | १९२ |
| स्त्रीधनान्याह | १९४ |
| सप्रजस्त्रीधनाधिकारिणः | १९५ |
| अप्रजस्त्रीधनाधिकारिणः | १९६ |
| साधारणात्स्त्रीधनंनकुर्यात् .. | १९९ |
| स्त्रोणामलङ्करणमविभाज्यम् .. | २०० |
| अथ अनंशाः | २०१ |
| कृतीर्वादिक्षेत्रजाअंशभागिनः .. | २०३ |
| अविभक्तार्जितधने | २०४ |
| विद्यादिधने | २०६ |
| शक्तस्यांशोपेक्षणे | २०७ |
| अविभाज्यधने | २०८ |
| नष्टोद्धरे : | २०९ |
| संसृष्टधनविभागे | २१० |
| विदेशादिगतस्यनभागलोपः .. | २११ |
| वश्वकोज्येष्ठः अभागः | २१३ |
| विकर्मस्थाधनंनार्हन्ति | २१४ |
| ज्येष्ठस्यासाधारणकरणे | २१४ |
| जीवत्पितृकविभागे | २१५ |
| विभागानन्तरोत्पन्नस्थले | २१६ |
| अनपत्यधनेमातुरधिकारः | २१७ |
| ऋणधनयोःसमविभागः | २१८ |
| अविभाज्यमाह | २१९ |
| अथ द्यूतसमाह्वयः | २२० |
| द्यूतसमाह्वयनिषेधः | २२१ |
| द्यूतसमाह्वयार्थः | २२३ |
| द्यूतादिकारिणांदण्डः | २२४ |
| कितवादीन्देशान्निर्वासयेत् .. | २२५ |
| दण्डदानाशक्तौ | २२९ |
| स्त्रीबालादिदण्डे | २३० |
| नियुक्तस्यकार्यहनने | २३१ |
| कूटशासनबालवधादिकरणे .. | २३२ |
| धर्मकृतव्यवहारंननिवर्तयेत् .. | २३३ |
| अधर्मकृतंनिवर्त्यम् : | २३४ |
| महापातकिनः | २३५ |
| प्रायश्चित्ताकरणे महापातकिदण्डः | २३६ |

| करण | श्लोक |
|-----------------------------------|-------|
| पथश्चित्तकरणेनाङ्ग्याः .. | २४० |
| हापातके ब्राह्मणस्य दण्डः .. | २४१ |
| भत्रियादेर्दण्डः .. | २४२ |
| हापातकिधनग्रहणे .. | २४३ |
| ब्राह्मणपीडनेदण्डः .. | २४८ |
| वध्यमोक्षणे दोषः .. | २४९ |
| राजकण्टकोद्धरणे यत्नंकुर्यात् .. | २५२ |
| आर्यरक्षाफलम् .. | २५३ |
| नस्कराद्यशासनेदोषः .. | २५४ |
| निर्भयराज्यवर्धनम् .. | २५५ |
| प्रकाशाप्रकाशतस्करज्ञानम् .. | २५६ |
| प्रकाशाप्रकाशतस्करानाह .. | २५७ |
| तेषां शासनम् .. | २६२ |
| चौराणां निग्राहको दण्ड एव .. | २६३ |
| तस्करान्वेषणलोपनादर्शने .. | २७० |
| चौराश्रयदायकदण्डः .. | २७१ |
| न्वधर्मच्युतदण्डने .. | २७३ |
| चौराद्युपद्रवे अधावतो दण्डः .. | २७४ |
| राज्ञः कोशहारकादयो दण्ड्याः .. | २७५ |
| सन्धिच्छेदे .. | २७६ |
| ग्रन्थिभेदे .. | २७७ |
| चौरलोपद्वारणादौ .. | २७८ |
| तडागागारभेदे .. | २७९ |
| राजमार्गे मलादित्यागे .. | २८२ |
| मिथ्याचिकित्सने दण्डः .. | २८४ |
| प्रतिमादिभेदे .. | २८५ |
| मार्गानामपवेधादौ .. | २८६ |
| विषमव्यवहारे .. | २८७ |
| बन्धनस्थानं राजमार्गे .. | २८८ |
| प्राकारभेदादौ .. | २८९ |
| अभिचारकर्मणि .. | २९० |
| अबीजविक्रयादौ .. | २९१ |
| स्वर्णकारदण्डने .. | २९२ |
| हलोपकरणहरणे .. | २९३ |
| अथसप्तप्रकृतयः .. | २९४ |
| स्वपरशक्तिवीक्षणम् .. | २९८ |
| कर्मारम्भे .. | २९९ |
| राज्ञायुगत्वकथनम् .. | ३०१ |
| इन्द्रादीनां तिजो नृपो विभर्ति .. | ३०३ |
| स्तेननिग्रहणम् .. | ३१२ |

| प्रकरण | श्लोक |
|--|-------|
| ब्राह्मणनकोपयेत् .. | ३१३ |
| ब्राह्मणप्रशंसा .. | ३१४ |
| ब्रह्मक्षत्रयोः परस्परसाहित्यम् .. | ३२२ |
| पुत्रे राज्यं दत्त्वा रणे प्राणत्यागः .. | ३२३ |
| वैश्यधर्मानाह .. | ३२६ |
| शूद्रधर्मानाह .. | ३३४ |
| अथ दशमोऽध्यायः | |
| अध्यापनं ब्राह्मणस्यैव .. | १ |
| वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः .. | ३ |
| अथ द्विजवर्णकथनम् .. | ४ |
| अथ सजातोऽयः .. | ५ |
| पितृजाति सदृशाः .. | ६ |
| अथ वर्णसङ्कराः .. | ८ |
| अथ ब्राह्म्याः .. | २० |
| ब्राह्म्योत्पन्नादि सङ्कीर्णाः .. | २१ |
| अथोपनेयाः .. | ४१ |
| ते सुकर्मणा उत्कर्षं गच्छन्ति .. | ४२ |
| क्रियालोपात्तृषलत्वंगच्छन्ति .. | ४३ |
| दस्यवः .. | ४५ |
| वर्णसङ्कराणां कर्माण्याह .. | ४७ |
| चण्डालकर्माह .. | ५१ |
| कर्मणा पुरुषज्ञानम् .. | ५७ |
| वर्णसङ्करनिन्दा .. | ५९ |
| एषां विप्राद्यर्थं प्राणत्यागः श्रेष्ठः .. | ६२ |
| साधारणधर्माः .. | ६३ |
| सप्तमे जन्मनि ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च .. | ६४ |
| वर्णसङ्करे श्रेष्ठ्यम् .. | ६७ |
| बीजक्षेत्रयोर्बलाबले .. | ७० |
| षट्कर्माण्याह .. | ७५ |
| ब्राह्मणजीविका .. | ७६ |
| क्षत्रियवैश्यकर्माह .. | ७७ |
| द्विजानां श्रेष्ठकर्माह .. | ८० |
| आपद्धर्ममाह .. | ८१ |
| विक्रये वर्ज्यानि .. | ८६ |
| मांसादिविक्रयफलम् .. | ९२ |
| ज्यायसीवृत्तिनिषेधः .. | ९५ |
| परधर्मजीवननिन्दा .. | ९७ |
| वैश्यशूद्रयोरापद्धर्मः .. | ९८ |
| आपदि विप्रस्य हीनयाचानादि .. | १०२ |
| प्रतिग्रहनिन्दा .. | १०९ |
| याजनाध्यापने द्विजानाम् .. | ११० |
| प्रतिग्रहादिपापनाशे .. | १११ |

| प्रकरण | श्लोक |
|--------------------------------------|-------|
| शिलोश्चक्रजीवने .. | ११२ |
| धनयाचने .. | ११३ |
| समवित्तागमाः .. | ११५ |
| दशजीवनहेतवः .. | ११६ |
| वृद्धिजीवननिषेधः .. | ११७ |
| राज्ञामापद्धर्ममाह .. | ११८ |
| शूद्रस्य आपद्धर्मः .. | १२१ |
| शूद्रस्य ब्राह्मणाराधनं श्रेष्ठम् .. | १२२ |
| शूद्रवृत्तिकल्पनम् .. | १२४ |
| शूद्रस्य नसंस्कारादि .. | १२६ |
| शूद्रस्यामन्त्रकंधर्मकार्यम् .. | १२७ |
| शूद्रस्य धनसंचयनिषेधः .. | १२९ |

अथ एकादशोऽध्यायः

| | |
|---------------------------------------|----|
| स्नातकस्य प्रकाराः .. | १ |
| नवस्नातकेभ्योऽन्नदाने .. | ३ |
| वेदविभ्योदानम् .. | ४ |
| भिक्षया द्वितीयविवाहनिषेधः .. | ५ |
| कुटुम्बब्राह्मणाय दानम् .. | ६ |
| सोमयागाधिकारिणः .. | ७ |
| कुटुम्बाभरणे दोषः .. | ९ |
| यज्ञशेषार्थवैश्यादेर्धनग्रहणम् .. | ११ |
| षडुपवासे आहारग्रहणे .. | १६ |
| ब्रह्मत्वादिहरणनिषेधः .. | १८ |
| असाधुधनं दत्त्वा साधुभ्योदाने .. | १९ |
| यज्ञशिलादिधनप्रशंसा .. | २० |
| यज्ञार्थविप्रस्य स्तेनादौ न दण्डः .. | २१ |
| अधावसन्नस्य वृत्तिकल्पने .. | २२ |
| यज्ञार्थशूद्रभिक्षानिषेधः .. | २४ |
| यज्ञार्थधनं भिक्षुत्वा न रक्षणीयम् .. | २५ |
| देवब्रह्मस्वरुपे .. | २६ |
| सोमयागाशक्तौ वैश्वानरयागः .. | २७ |
| समर्थस्यानुकल्पनिषेधः .. | २८ |
| द्विजस्य स्वशक्त्या वैरिजयः .. | ३१ |
| क्षत्रियादेर्बाहुवोर्येणारिजयः .. | ३४ |
| ब्राह्मणस्यानिष्टं न ब्रूयात् .. | ३५ |
| अल्पविद्यारूपादेर्होतृत्वनिषेधः .. | ३६ |
| अश्वदक्षिणादाने .. | ३७ |
| अल्पदक्षिणयज्ञनिन्दा .. | ३८ |
| अग्निहोत्रिणस्तदकरणे .. | ४० |
| शूद्रामधनेनाग्निहोत्रनिन्दा .. | ४२ |

| प्रकरण | श्लोक |
|--------------------------------------|-------|
| विहिताकरणादौ प्रायश्चित्ती | ४४ |
| कामाकामरुतपापे | ४५ |
| प्रायश्चित्तसंसर्गनिषेधः | ४७ |
| पूर्वपापेनकुष्ठग्रन्थादयः | ४८ |
| प्रायश्चित्तमवश्यकर्तव्यम् | ५३ |
| पञ्चमहापातकान्याह | ५४ |
| ब्रह्महत्यादिसमान्याह | ५५ |
| उपपातकान्याह | ५९ |
| जातिभ्रंशकराण्याह | ६७ |
| सङ्करीकरणान्याह | ६८ |
| अपात्रोकराण्याह | ६९ |
| मलिनोकराण्याह | ७० |
| अथब्रह्मवधप्रायश्चित्तम् | ७२ |
| गर्भात्रेयीक्षत्रवैश्यवधे | ८७ |
| स्त्रीसुहृद्वधनिक्षेपहरणादौ | ८८ |
| अथसुरापानप्रायश्चित्तम् | ९० |
| सुराप्रकाराः | ९३ |
| अथसुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तम् | ९९ |
| गुरुस्त्रीगमनप्रायश्चित्तम् | १०३ |
| गोवधाद्युपपातकप्रायश्चित्तम् | १०८ |
| अवकीर्णप्रायश्चित्तम् | ११८ |
| जातिभ्रंशकरप्रायश्चित्तम् | १२४ |
| सङ्करीकरणादिप्रायश्चित्तम् | १२५ |
| क्षत्रियादिवधप्रायश्चित्तम् | १२६ |
| मार्जारादिवधप्रायश्चित्तम् | १३१ |
| हंसादिवधप्रायश्चित्तम् | १३५ |
| व्यभिचरितस्त्रीवधे | १३८ |
| सर्पादिवधेदानाशक्तौ | १३९ |
| क्षुद्रजन्तुसमूहवधादौ | १४० |
| वृक्षादिछेदनादौ | १४२ |
| अन्नजादिसत्त्ववधे | १४३ |
| अमुख्यसुरापानप्रायश्चित्तम् | १४६ |
| सुराभाण्डस्थजलपाने | १४७ |
| शूद्रोच्छिष्टजलपाने | १४८ |
| सुरागुग्धघ्राणे | १४९ |
| विष्मूत्रसुरासंसृष्टभोजने | १५० |
| पुनःसंस्कारेदण्डादिनिवृत्तिः | १५१ |
| अभोज्यान्नस्त्रीशूद्रोच्छिष्टभक्ष्य- | |
| मांसभक्षणे | १५२ |
| शुक्तादिभक्षणे | १५३ |
| सूकरादिविष्मूत्रभक्षणे | १५४ |

| प्रकरण | श्लोक |
|-----------------------------------|-------|
| शुष्कमूनास्थाज्ञातमांसभक्षणे | १५५ |
| कुक्कटरसूकरादिभक्षणे | १५६ |
| मासिकान्नभक्षणप्रायश्चित्तम् | १५७ |
| ब्रह्मचारिणोमधुमांसादिभक्षणे | १५८ |
| बिडालाद्युच्छिष्टादिभक्षणे | १५९ |
| अभोज्यान्नमुत्तार्यम् | १६० |
| स्वजातीयधान्यादिस्तेये | १६२ |
| मनुष्यादिहरणप्रायश्चित्तम् | १६३ |
| अल्पसारादिव्यवहरणे | १६४ |
| भक्ष्ययानशय्यादिहरणे | १६५ |
| शुष्कान्नगुडादिहरणे | १६६ |
| मणिमुक्ताजटादिहरणे | १६७ |
| कार्पासांशुकादिहरणे | १६८ |
| अगम्यागमनप्रायश्चित्तम् | १७० |
| अमानुषीष्वाद्यासुगमने | १७३ |
| दिवाभैथुनादौ | १७४ |
| चाण्डाल्यादिगमने | १७५ |
| व्यभिचारे स्त्रीणांप्रायश्चित्तम् | १७६ |
| चाण्डालीगमने | १७८ |
| अथपतितसंसर्गप्रायश्चित्तम् | १७९ |
| पतितस्यजीवतएवप्रेतक्रिया | १८२ |
| पतितस्यांशादिनिवृत्तिः | १८५ |
| रुतप्रायश्चित्तसंसर्गः | १८६ |
| पतितस्त्रीणामन्नादिदेयम् | १८८ |
| पतितसंसर्गनिषेधादि | १८९ |
| बालघ्नादित्यागः | १९० |
| ब्राह्म्यवेदत्यक्तप्रायश्चित्तम् | १९१ |
| गर्हिताजितधनत्यागः | १९३ |
| असत्प्रतिग्रहप्रायश्चित्तम् | १९४ |
| रुतप्रायश्चित्तसाम्यं पृच्छेत् | १९५ |
| गोभ्योघासदानम् | १९६ |
| ब्राह्म्यया जनपतितक्रिया- | |
| कृत्यादौ | १९७ |
| वेदशरणागतत्यागे | १९८ |
| श्वादिदंशनप्रायश्चित्तम् | १९९ |
| अपाङ्क्यप्रायश्चित्तम् | २०० |
| उष्ट्रादियानप्रायश्चित्तम् | २०१ |
| जलेजलंविनावामूत्रादित्यागे | २०२ |
| वेदोदितकर्मादित्यागे | २०३ |
| ब्राह्मणस्य त्वंरुते | २०४ |

| प्रकरण | श्लोके |
|------------------------------|--------|
| ब्राह्मणावगुरणे | २०५ |
| अनुक्तप्रायश्चित्तस्थले | २०९ |
| अथप्राजापत्यादिव्रतनिर्णयः | २११ |
| अथव्रताङ्गानि | २२२ |
| पापंनगोपनीयम् | २२७ |
| पापानुतापे | २३० |
| पापावृत्तिनिन्दा | २३२ |
| मनस्तुष्टिपर्यन्ततपःकुर्यात् | २३३ |
| तपःप्रशंसा | २३४ |
| वेदाभ्यासप्रशंसा | २४५ |
| महापातकप्रायश्चित्तम् | २५७ |

अथद्वादशोऽध्यायः

| | |
|-------------------------------|-----|
| अथशुभाशुभकर्मफलम् | ३ |
| कर्मणोमनःप्रवर्तकम् | ४ |
| त्रिविधमानसकर्माणि | ५ |
| चतुर्विधवाचिककर्माणि | ६ |
| त्रिविधशारीरकर्माणि | ७ |
| मनोवाक्यायकर्मभोगेलक्षणफलञ्च | ८ |
| त्रिदण्डपरिचयः | ९ |
| क्षेत्रज्ञपरिचयः | १० |
| जीवात्मपरिचयः | १२ |
| जीवानामानन्त्यम् | १५३ |
| परलोके पञ्चभौतिकशरीरम् | १६ |
| भोगानन्तरमात्मनि लीयते | १७ |
| धर्माधर्मबाहुल्याद्भोगः | २० |
| त्रिविधगुणधनम् | २४ |
| अधिकगुणप्रधानोदेहः | २५ |
| सत्त्वादिलक्षणमाह | २६ |
| सात्त्विकगुणलक्षणम् | ३१ |
| राजसगुणलक्षणम् | ३२ |
| तामसगुणलक्षणम् | ३३ |
| संक्षेपतस्तामसादिलक्षणम् | ३५ |
| गुणत्रयाच्चिविधागतिः | ४० |
| त्रिविधगतिप्रकाराः | ४१ |
| पापेन कुन्तितागतिः | ५२ |
| पापविशेषेण योनिविशेषोत्पत्तिः | ५३ |
| पापप्रावीण्यान्नरकादि | ७४ |
| मोक्षोपायषट्कर्मण्याह | ८३ |
| अत्मज्ञानस्यप्राधान्यम् | ८५ |
| वेदोदितमकर्मणःश्रेष्ठत्वम् | ८६ |

| प्रकरण | श्लोक | प्रकरण | श्लोक |
|----------------------------------|-------|----------------------------------|-------|
| वैदिककर्मद्विविधम् | ८८ | वेदव्यवसायिनः श्रेष्ठत्वम् | १०३ |
| प्रवृत्तिनिवृत्तकर्मफलम् | ९० | तपोविद्याभ्यामोक्षः | १०४ |
| समदर्शनम् | ९१ | प्रत्यक्षानुमानशब्दाः प्रमाणानि | १०५ |
| वेदाभ्यासादौ | ९२ | धर्मज्ञलक्षणम् | १०६ |
| वेदबाह्यस्मृतिनिन्दा | ९५ | अकथितधर्मस्थले | १०८ |
| वेदप्रशंसा | ९७ | अथशिष्टाः | १०९ |
| वेदशास्त्रविदस्य सेनापत्यादि | १०० | धर्ममूलानि | ११०+१ |
| वेदज्ञप्रशंसा | १०१ | मूर्खाणां परिषत्त्वं | ११४ |

| प्रकरण | श्लोक |
|----------------------------------|-------|
| आत्मज्ञानं पृथक्कृत्याह | ११८ |
| वाद्याकाशादीनां लयमाह | १२० |
| आत्मस्वरूपमाह | १२२ |
| आत्मदर्शनमवश्यमनुष्ठेयम् | १२५ |
| मानवशास्त्रप्रशंसा | १२५+१ |
| एतत्संहितापाठफलम् | १२६ |

इति द्वादशोऽध्यायः

प्रस्तावना.

वर्तमानन्यायसभासु व्यवहारोपयोगार्थं शालिवाहनशकस्य १७८६ तमे वर्षे धर्मशास्त्रप्रतिपादकेभ्योबहुग्रन्थेभ्यः सारमुद्धृत्यैकोहिन्दुधर्मशास्त्रनामकोऽल्पप्रबन्धः कैलासवासिनांविद्वद्गुरुजरोपनामकपाण्डुरङ्गोपाध्यायानांसाहाय्येन रचयित्वा प्रकाशितः । कतिपयवर्षेभ्योऽनन्तरं शालिवाहनशकस्य १८०० तमे वर्षे तस्मिन्नेव शास्त्रे द्वितीयं प्रबन्धमहंरचितवान् । तस्मिन् प्रथमयाज्ञवल्क्यस्मृतिव्यवहारमयूखयोर्मूलं संशोध्य मुद्रयित्वा तयोराङ्गभाषायां टिप्पनीसहितमर्थप्रकाशनमकरवम् । तथाच तस्मिंश्चत्वारि परिशिष्टानि समगृह्णां येष्वेकोनविंशतिस्मृतिसापिण्ड्यविवाहदत्तकप्रकरणप्रतिष्ठोत्सर्गाः संक्षेपतोयथामति विवृताः । तथापि सर्वासांस्मृतीनामाद्या मूलभूता च या मनुस्मृतिस्तस्या-उज्जनीवनमयावश्यकर्तव्यमिति बहुकालमनस्यासोत्तदनुरोधेन यत्नोऽप्यकारि । किन्तुवनिभङ्गलोकप्रमादेन प्राचीनपुस्तकानां बहुशोनष्टत्वात्कथमप्यवशिष्टानां बहुशोदीपान्तरंगतत्वाच्च पुस्तकप्रापणे मयाऽनल्पआयासोऽन्वभावि । तथापि नास्त्युद्यमवतां किमप्यसाध्यनामेति श्रद्धाघानः द्रव्यकालव्ययमगणयंस्तत्तत्स्थलेभ्योविद्वत्साहाय्येन पुस्तकानि प्राप्य मुद्रणउद्युक्तोऽभवम् । अनेकटीकायुतमेतादृशंपुस्तकं दृष्टिपथंनावतरतीति मनुस्मृतिप्रख्यापनेऽपूर्वोऽयंयत्नइति वदन् क्षन्तव्योयंजनोदयालुभिर्विद्वद्भिः ।

मुद्रणोपक्रमकाले प्रसिद्धक्षेत्रादिषु निवसतांविदुषांसकाशाद्यानि मानवधर्मशास्त्रपुस्तकानि समादृत्य यथामति मूलेषु ग्रामाणिकपाठान्निश्चित्यायंग्रन्थोमुद्रितस्तानि निर्दिश्यन्ते ।

अ—बंगालस्थएशियाटिकसोसैटिनामकपर्वदः पुस्तकालयात्प्रापितम् । एतत्कुलूकभट्टकृतटीकया सहितंवर्तते ।

क—उज्जनीनगरात्सोरटीबालित्युपधाधारिभीरामभाऊशर्मभिः प्रेषितम् । इदन्तुमूलमेव ।

ख—उज्जनीनगरादाठवलेइत्युपात्तभिर्नानासाहेबइतिनामभिः प्रेषितम् । इदंरामचन्द्रकृतटीकोपेतम् ।

ग, घ, ङ, च, — एतत्पुस्तकचतुष्टयंश्रीप्रयागक्षेत्रान्मुनशीतिप्रसिद्धसंज्ञाधारिभिर्हनुमानप्रसादनामभिः प्रेषितम् । एतन्मूलमेव ।

छ—खण्डवाइतिप्रसिद्धग्रामाद्रावबहादुरइत्युपपदधारिभिः खैरेत्युपनामकबल्लाळ्मजवासुदेवशर्मभिः प्रेषितम् । एतन्मेधातिथिभाष्यसमेतम् ।

ज, झ, {—एतत्पुस्तकद्वयमिरजइत्याख्यनगरान्महाबलोपनामकवामनभट्टैः प्रेषितम् । एतन्मूलमेव ।

ञ—साताराइतिप्रसिद्धनगरसन्निहितयौतेश्वरस्थानाद्विडाख्यशङ्करात्मजरामचन्द्राभिधैः प्रेषितम् । इदमपि मूलमेव

ट, ठ, ड—एतत्पुस्तकत्रितयंपुण्यपत्तनाज्जोशीत्युपनामकबलवन्तरावैः प्रेषितम् । मूलमेव ।

ढ—अहमदाबादनामकनगराच्छेटेसिंहाधारिभिर्बेचरदासाभिधैः प्रेषितम् । मूलमेव

ण—श्रीशम्भुमहादेवक्षेत्रादिन्दापुरस्थजावडेकरोपनामकगोपालात्मजबलवन्तरावैः प्रेषितम् । मूलमेव ।

त—बङ्गालस्थएशियाटिकसोसैटिनामकसभायाः पुस्तकालयात्प्रापितम् । मूलमेव

थ—आर्षेनामकग्रामाल्लिमयेइत्युपनामकधोंडदेवात्मजगोविन्दाभिधैः प्रेषितम् । मूलमेव ।

द—लन्दननगरात्प्रापितम् । मूलमेव ।

घ—कालिकाताराजधान्यामुद्रितम् । कुल्लूकभट्टकृतटीकासमेतम् ।

न—मिरजइत्याख्यनगरान्महाबलोपनामकवामनभट्टैः प्रेषितम् । राघवानन्दकृतटीकासहितम् ।

ब—बडोदाराजधान्याः सकाशाद्वापटोपनामकसदाशिवात्मजवासुदेवैः प्रेषितम् । कुल्लूकभट्टकृतटीकासमेतम् ।

भ—जयपुरइत्याख्यनगराद्विद्याख्यपण्डितलक्ष्मीनाथशास्त्रिभिः प्रेषितम् । राघवानन्दकृतटीकासमेतम् ।

म—मद्रासइत्याख्यस्थानाद्विद्याख्यपण्डितलक्ष्मीनाथशास्त्रिभिः प्रेषितम् । नन्दनकृतटीकायुक्तम् ।

य — पुण्यपत्तनाद्विद्याख्यपण्डितलक्ष्मीनाथशास्त्रिभिः प्रेषितम् । नन्दनकृतटीकायुक्तम् ।
मूलमेव

र—पुण्यपत्तनाद्विद्याख्यपण्डितलक्ष्मीनाथशास्त्रिभिः प्रेषितम् । मूलमेव ।

ल—जयपुरइत्याख्यनगराद्विद्याख्यपण्डितलक्ष्मीनाथशास्त्रिभिः प्रेषितम् । मूलमेव ।

व—इदंतुलसीयम् । सर्वज्ञनारायणटीकासमेतम् ।

श
अथवा } —आष्टेनामकग्रामाल्लिमयेइत्युपाङ्गधोडेदेवात्मजगोविन्दशर्मभिः प्रेषितम् । राघवानन्दकृतटीकासहितम् ।
क्ष

एतानि पुस्तकानि समवलोक्य मूलगतान्पाठभेदानहं निश्चितवान् । तेचटिप्पनीरूपेणप्रदर्शिताः ।

अथ टीकापाठभेदास्तावत्कथ्यन्ते । भट्टमेधातिथिकृतव्याख्यायाः पाठभेदावङ्गलिपिपुस्तकादृहीताः । तेषु कतिपयाऽस्मिन्ग्रन्थेऽधस्ताद्विष्पनीरूपेण दत्ताः । अवशिष्टाश्चान्ते निवेशिताः । इण्डियाआफिसपुस्तकालयप्राप्तादष्टममेधातिथिरितिसंज्ञितपुस्तकादृहीताः कतिपयाः पाठभेदास्तथैव टिप्पनीरूपेण दत्ताः सन्ति ।

कुल्लूकभट्टकृतटीकायाः पाठभेदासंज्ञितपुस्तकादृहीतामूलएव दत्ताः । डाक्टरपिटरसननामभ्योलब्धे पुस्तके दृष्टानि पाठान्तराण्यग्रे दत्तानि सन्ति ।

राघ० २, ३, ४ एषु पाठभेदामूलग्रन्थएव दत्ताः । तथा च द्वितीयराघवानन्दपुस्तकस्यावशिष्टाः पाठास्तथैवपञ्चमपुस्तकस्थाःपाठभेदाश्चास्य ग्रन्थस्यान्ते विनिवेशिताः ।

नन्दनकृतव्याख्यायाः पाठान्तराण्यग्रे नियोजितान्येवसन्ति ।

टीकापुस्तकानि प्रेसोर्मे तदर्थयन्त्रोऽनुपारतएव । अतऊर्ध्वपुस्तकान्तराण्युपलभेय पाठभेदांश्च पश्येयंचेत् तानवश्यमागामिन्यां मुद्रणावृत्तौ दर्शयिष्यामीति दृढमाशासे ।

इदानीं टीकापाठभेदाः केभ्योपुस्तकेभ्यो निश्चितास्तत्कथ्यन्ते । आसुटीकास्वतिप्राचीनामेधातिथिकृता मनुभाष्यनाम्नी टीका वर्तते । तस्याः पुस्तकानि कालिकातावाराणसीन्दूरपुण्यपत्तनमुम्बापुरीलन्दनेभ्यः समानीतानि । तथापि साग्रमेधातिथिभाष्यनाद्याप्युपलब्धमित्येतत्पुस्तकदर्शनाद्यक्तं भविष्यति । अस्यांटीकायांयत्र [] एतादृशंचिह्नंवर्तते तत्र निर्दिष्टाङ्कसंमितावर्णाभ्रष्टाउपलब्धेषु च पुस्तकेषु न कस्मिंश्चिदपि लभ्यन्तइति विभावनीयम् । कालिकातानगर्या एक्षियाटिकसोसैटिनामकपर्वदः पुस्तकसङ्ग्रहालयस्थं (आ आ) इतिसंज्ञकंपुस्तकंख्रिस्तशकस्य १८२५ तमात्संवत्सरात्प्राग्लिखितमिव दृश्यते । तथा तस्यामेव नगर्यासंस्कृतपाठशालायामन्यत्पुस्तकं वर्तते तत्पूर्वपुस्तकादेव प्रतिलिखितमिति तयोस्तुलनया स्पष्टमवभासते । तस्मिन्ग्रन्थेतादृशानि खण्डितस्थलानि सन्ति । तत्पुस्तकद्वयंकस्मात्पुस्तकात्प्रतिलिखितमितिनिर्णेतं सम्प्रति साधनंनोपलभ्यते । मेधातिथिभाष्यपुस्तकानामतीवविरलतया लब्धपुस्तकानां पाठनिश्चयेऽपर्याप्ततया च तस्मि-

न शङ्कास्थानानि कतिचिद्वर्तन्तइतिजानन्नप्यकरणान्मन्दकरणश्रेयइतिन्यायेन यथासंभवंशोधितस्य ग्रन्थस्य मुद्रणम-
मुद्रणाद्वरमिति मनस्यकरवम् । एतद्भाष्यस्योद्दारे यः कोऽपि प्रवत्स्यति तस्य मदीययत्नात्मिकममि साहाय्यं स्याच्चेदात्मा-
नंरुतार्थं मंस्ये । अस्याष्टीकायाः संशोधने विद्वन्मणीनांबोडसोपनामकराजारामशास्त्रिणामतीव साहाय्यं जातम् ।

सर्वज्ञनारायणरुतटीकायास्त्रीणि पुस्तकानि लब्धानि । तेषांसमवलोकनात्प्रस्तुतटीका निश्चिता । तानि यथा
सर्व० १ एतत्त्वकीयंपुरातनटीकापुस्तकंगुर्जरदेशात्संप्राप्तम् । तत्तुप्रायः द्विशतवर्षेभ्योऽपि पुरातनमिति दृश्यते ।

सर्व० २ एतज्जयपुरनगराद्विडोपनामर्भविद्वन्मणिलक्ष्मीनाथशास्त्रिभिर्लेखयित्वा प्रेषितम् ।

सर्व० ३ इदंश्रीकाशीक्षेत्राद्विडोपधानैः कैलासवासिविष्णुशर्मभिः प्रेषितम् । तस्य प्रथमभागोऽतिप्राचीनोवर्तते । सतु-
प्रायस्त्रिशतवर्षेभ्योऽपि पुरातनइति पत्राक्षराभ्यामवभासते । तस्य आद्यानि पञ्चाशत्पत्राणि विनष्टानि । चरमभागो-
नूतनमालेख्य प्रेषितः । एते द्वेअन्त्ये पुस्तके गुर्जरदेशादेव प्रथमतः प्राप्तेइत्यनुमीयते ।

कुङ्कुमरुतटीकायाः पुस्तकपञ्चकं लब्धम् । तद्यथा

कु० १ इदंत्वकीयंपुस्तकंहैगिष्टेइत्युनामकहरशेटात्मजबापूशेटनामभीरामदासात्मजमहन्तमथुरादासनाम्नांपुस्तकादवतार्य
स्वकीयशिलायन्त्रे मुद्रितंशालिवाहनशकाब्दाः १७८० ।

कु० २ वर्णचिन्हितग्रन्थेष्वस्य अ इतिसंज्ञा वर्तते । तस्य उपरि वर्णनं कृतमेव ।

कु० ३ नगरकरेत्युपनामकरावबहादुरदाजीसाहेबनामभिः प्रेषितंतस्यास्मिन्पुस्तके क्वचित्स्थलेषु निवेशः कृतः ।

कु० ४ इदंपुस्तकंएच्टीकोलब्रुकनाम्नाम् । तदिण्डियाआफिसपुस्तकालयाधिकारिभ्यः डाक्टररेनहोल्डरास्टनामभ्य-
उपलब्धम् । एतन्मदीय पुस्तकेन प्रायः सदृशम् ।

कु० ५ मुम्बापुरस्थएल्फिन्स्टननामकपाठशालासंस्कृताभ्यापकेभ्यः डाक्टरपिटरसननामभ्यः प्राप्तम् ।

राघवानन्दरुतटीकायाः पञ्चपुस्तकानि लब्धानि तानि यथा

राघ० १ वर्णचिन्हितपुस्तकेष्वस्य पुस्तकस्य भइतिसंज्ञावर्तते तपदरिवर्णितमेव ।

राघ० २ इदंपुस्तकंबुन्दीश्वरपुस्तकालयात् डाक्टरपिटरसननामभिरानीतंदत्तं च । अस्य प्रायः राघवानन्दप्रथमपुस्तकेनसाद-
श्यंवर्तते । एतत्स्थपाठदर्शनेऽष्टमाध्यायस्य प्रथमश्लोकादारभ्य पञ्चाधिकशतश्लोकपर्यन्तंचतुर्थराघवानन्द इतिसंज्ञा-
प्रमादाइत्ता ।

राघ० ३ संज्ञितग्रन्थेष्वस्य पुस्तकस्य नइतिसंज्ञा वर्तते । अस्य चतुर्थराघवानन्दस्य च बाहुल्येन सादृश्यदेकस्मादेव-
पुस्तकादेतद्वयं लिखितमथैकस्मादन्यलिखितमिति भाति ।

राघ० ४ संज्ञितग्रन्थेष्वस्य पुस्तकस्य शवा क्षवा संज्ञा वर्तते ।

राघ० ५ इदंपुस्तकंकालिकातानगर्याशोभाबाजारवासिभ्योराजाकोमलरुष्णबहादुरनामभ्योन्यायरत्नेत्युपपदधारिभिः प-
ण्डितमहेशचन्द्रनामभिरानीय दत्तम् ।

नन्दनरुतटीकापुस्तकद्वयंलब्धम् । तद्यथा

नं० १ एत्पुस्तकंत्रावणकोरेश्वरैर्महाराजाधिराजरामवर्मभिः प्रेषितम् । तत्तु तैरेव संशोभ्यास्मिन्पुस्तके निवेशनार्थंदत्तम् ।

नं० २ संज्ञितपुस्तकेष्वस्य पुस्तकस्य मइतिसंज्ञा वर्तते । इदंदिवाणबहादुरोपपदधारिभिः आररघुनाथरावैः शर्मण्यदेशे

प्रेषणार्थमत्र प्रहितम् । तत्तु तेषामनुमत्या कंचित्कालमद्वस्तआसीत् । तस्य प्रतिलेखनंकारितम् । एतच्चातिवा शुद्धं वर्तते तथापि यानि कानिचित्पाठान्तराणि ग्राहण्यासंस्तानि गृहीतान्येव ।

रामचन्द्रकृतायाष्टीकायाः पुस्तकान्तरं कुत्रापि प्राप्तम् । संज्ञितग्रन्थेष्वस्य खड्गितिसंज्ञावर्तते । तस्य विशेषः तत्रैव स्पष्टीकृतः । एषा टीकाऽतीवावाचीनापि मनुस्मृतिरद्यापि धर्मशास्त्रेष्वग्रेसरत्वेन गृह्यते परिष्क्रियते चेति दर्शयितु-
मस्मिन्पुस्तके प्रतिनिवेशिता ।

एतद्वीकाषट्कसंपाद्यायं मुद्रणारम्भः कृतः । एतद्विना मानवधर्मशास्त्रव्याख्याः सन्तीति तत्तद्धर्मशास्त्रनिबन्धे-
भ्योऽवगम्यते । ताश्च यथा

| | |
|----------------------|----------------|
| १ श्रीमाधवाचार्यकृता | ५ रुचिदत्तकृता |
| २ धरणीधरकृता | ६ विश्वरूपकृता |
| ३ गोविन्दराजकृता | ७ भोजदेवकृता |
| ४ श्रीधरस्वामिकृता | ८ भारुचिकृता |

हिन्दुधर्मानुयायिसमयाभिज्ञानां मनुस्मृतिविभववर्णनं सर्वथा पुनरुक्तं भवेदिति न किमपि तद्विषयेऽत्रोच्यते । केव-
लमिदं प्रार्थये यन्मदीयमिममारम्भमृजुधियोधर्मशास्त्रविदः परीक्षन्तां तत्रस्थान्दोषांश्च तथा प्रकाशन्तां यथा तन्निरसनेऽहं
समर्थो भवेयम् । अखिलभारतवर्षे हिन्दुधर्मविषयकमज्ञानमनुदिनं वर्धमानमास्तइति पश्यतो मेऽतीव दूयते चेतः । तत्प्रती-
कारार्थं कृतोऽयमल्पः समारम्भो जगत्पूजाय परमात्मने निवेदितो भवत्वित्यलम् ।

फाल्गुनकृष्ण १४ शालिवाहनशके १८०७

विश्वनाथशर्मा.

श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीलक्ष्मीकेशवो जयतः



[स्वयंभुवे नमस्कृत्य ब्रह्मणेऽमिततेजसे ॥ मनुप्रणीतान्विविधान्धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥ १९ ॥]

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः ॥ प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥

(१) मेधातिथिकृतमनुभाष्यम्

श्रीकृष्णाय नमः ॥ वेदान्तवेद्यतत्त्वाय जगन्त्रितयहेतवे । प्रध्वस्ताशेषदोषाय परस्मै ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥ चतुर्भिः पद-
श्लोकैर्विशिष्टकर्तृत्वमनन्यप्रमाणवेद्यपुरुषार्थोपदेशकत्वं चास्य शास्त्रस्य प्रतिपाद्यते प्रतिष्ठार्थम् । प्रतिष्ठिते हि शास्त्रे कर्तृभिः
स्वर्गयशसी प्राप्येते यावत्संसारमनपाधिनी च भवतः शास्त्रं च प्रतिष्ठां लभते । यदि तत्र केचिदध्ययनश्रवणचिन्तनादिषु
प्रवर्तन्ते न च बुद्धिपूर्वव्यवहारिणोऽध्ययनादिष्वनवधृतप्रयोजनाः प्रवर्तितुमर्हन्त्यतः पुरुषार्थसिद्धावुपायपरिज्ञानार्थमिदं-
शास्त्रमारभ्यतइत्येतत्प्रतिपादनार्थं श्लोकचतुष्टयमाचार्यः पपाठ । न च वाच्यमन्तरेणैवादितः प्रयोजनवचनं वक्ष्यमाण-
शास्त्रपौर्वापर्यपर्यालोचनयैवेदंपर्यवस्थायामः किंतत्प्रतिपादनार्थेन यत्नेनेति किंच उक्तमपि प्रयोजनयावत्परस्तान्नावमृष्ट-
तावन्न निश्चीयते नहि सर्वाणि पुरुषवचांस्यर्थेनिश्चयनिमित्तम् नचैषनियमः सर्वत्रप्रयोजनपरिज्ञानपूर्विकैव प्रवृत्तिः
त्वाध्यायाध्ययनेऽतन्निबन्धनायाः प्रवृत्तेर्दर्शनात् । पौरुषेयेष्वपि ग्रन्थेषु नैव सर्वेषु प्रयोजनाभिधानमाद्रियते तथाहि
भगवान्पाणिनिरनुक्तैवप्रयोजनमर्थशब्दानुशासनमिति सूत्रसंदर्भमारभते । अत्रोच्यते । आरम्भेऽनवधृतप्रयोजनानैव
प्रथमतो ग्रन्थमुपाददीरन् । अनुपादानाच्च कुतः शास्त्रं कात्स्न्येन पर्यालोचयेयुः । किंच पौर्वापर्यपर्यालोचनया योऽर्थो-
बुद्धिगोचरमावहति स एवत्वादितः संक्षेपेणोच्यमानः सुग्रहो भवति । तदुक्तम् । इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारण-
मिति । तत्तूक्तमपि न निश्चीयते । पौरुषेयेभ्यो वाक्येभ्योऽर्थनिश्चयाभावात् एवमेवायं पुरुषो वेदेति भवति प्रत्ययोनत्वेवमर्थ-
इति नात्र विवदामहे निश्चयो नास्ति नास्तीति ग्रन्थगौरवप्रसङ्गात् । अर्थसंशयेऽपि प्रवृत्तिसिद्धौ नियतविषयसंशयोत्पत्ति-
नान्तरेण प्रयोजनवचनम् । अनुक्ते हि किमिदं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं काकदन्तपरीक्षादिलक्षणरूपं वेत्यपि संशयः स्यात् ।
अभिहिते तु प्रयोजनेऽयं तावदेव महाश्रेयसः पन्थानंदर्शयामीति । न च मे प्रवृत्तस्य काचित्क्षतिरस्ति भवतु पर्यालो-
चयामीति प्रवृत्तिसिद्धिः । या तु त्वाध्यायाध्ययने प्रवृत्तिः साऽऽचार्यप्रयुक्तस्य न त्वाधिकारप्रतिपत्त्या न हि तदानीं
बालत्वात् त्वाधिकारप्रतिपत्तुमुत्सहते परप्रयुक्त्यैव च प्रवृत्तिसिद्धिः । नाधिकारप्रतिपादनेनापि चावेद्यते । अतस्तत्र प्रवृ-
त्तस्य प्रयोजनमर्थावबोधोऽतश्च प्रवृत्तिः । इह तु योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रममिति गृहीतवेदस्याध्ययनाधिकारः ।
तदानींचाव्युत्पन्नबुद्धित्वात्प्रयोजनमन्विच्छति । भगवतः पुनः पाणिनेरतिसंक्षिप्तानि सूत्राणि नैवार्थान्तराभिधानपरत्वाश-
ङ्का । तत्राकुमारंच यशः पाणिनेः प्रख्यातमिति सुप्रसिद्धप्रयोजनत्वादननुपन्यासः । अयंतु विततो ग्रन्थोऽनेकार्थवादबहुलः
सर्वपुरुषार्थोपयोगी तत्र सुखावबोधार्थं प्रयोजनाभिधाने न किंचित्परिहृणम् । द्वयेच प्रतिपत्तारोन्यायप्रतिसरणाः प्रसिद्धि-
प्रतिसरणाश्च । तत्र मनुर्वै यत्किंचावदत्तद्वेषजमिति ऋचोयजूषि सामानि मन्त्रा आथर्वणाश्च ये संपार्षिभिस्तु यन्त्रोक्तं-

१ अयं श्लोकः क, ख, ग, घ, च, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, न, भ, य, र, ल, चिह्नितेषु पुस्तकेषु दृष्टः ।
तस्य व्याख्यानं सर्वज्ञनारायणराघवानन्दाभ्यां कृतं तृतीयचतुर्थपृष्ठयोः क्रमेण दृष्टव्यम् ॥

* वस्तुतस्तु भाष्यारम्भइदम् ।

तत्सर्वमनुरब्रवीदित्याद्यर्थवादेतिहासपुराणादिभ्यः प्रख्यातप्रभावलोकेतत्प्रसिद्धयैव वा निरूपितमूलपातेन प्रजापतिनैत-
त्प्रणीतमित्येतावतैव श्रोत्रियाः प्रवर्तन्त इति तान्प्रति कर्तृविशेषसंबन्धोऽपि प्रवृत्त्यङ्गम् । अतएवच प्रश्रप्रतिवचनभङ्ग्या
प्रयोजनोपन्यासोमहर्षयः प्रष्टारः प्रजापतिर्वक्ता धर्मलक्षणश्रार्थोऽनं लोकावगम्यः शास्त्रैकगोचरोऽयम् । यत्र महर्षयोऽपि
संशेरतइत्येवंपरादेशोऽपि सतैः पृष्ठइति नाहंपृष्ठइति तथाऽऽत्मनोब्रह्मणोऽलुत्रिमप्रतिमत्वंचेत्येषमादिस्तद्युत्पादनार्थोयुक्तः-
शास्त्रारम्भइति श्लोकचतुष्टयस्य तात्पर्यम् । यथा चानेन पुरुषार्थोपदेशपरता शास्त्रस्योच्यते तथा पदार्थप्रयोजनात्प्र-
तिपादयिष्यामः । तत्र मनुमभिगम्य महर्षयइदंवचनमब्रुवन् धर्मानोवक्तुमर्हसीति सपृष्ठः प्रत्युवाच । श्रूयतामित्येवं प्रश्रप्र-
तिवचने एकार्थप्रतिपादके तात्पर्येण भवतः । अतोधर्माअत्रप्रतिपाद्यन्तइत्युक्तंभवति । धर्मशब्दश्च लोके श्रेयःसाधने
प्रत्यक्षादिभिर्लौकिकैः प्रमाणैः शब्दादितरैरविहिते प्रयुज्यते । अतः सश्रूयतामिति संबन्धे विशिष्टपुरुषार्थसाधनत्वमुक्तं
भवति । मनुर्नाम कश्चित्पुरुषविशेषोऽनेकवेदशाखाध्ययनविज्ञानानुष्ठानसंपन्नः स्मृतिपरंपराप्रसिद्धस्तमभिगम्याभिमुख्येन
तत्समीपंगत्वा व्यापारान्तरत्यागेन यदृच्छया संगम्य । अनेनचाभिगमनप्रयत्नेन पृष्ठ्यमानवस्तुगौरवंवक्तुश्च प्रामाण्यं-
ख्याप्यते । नह्यकुशलः प्रतिवचने यत्नेन पृच्छ्यते । आगत्यैकाग्रमासीनमेकार्थं स्थितमेकाग्रसन्तनत्वत्र ब्रूस्याद्युपवे-
शनमासनमनुपयोगात् । आसनेन स्वस्थवृत्तिता लक्ष्यते । तथाभूतः प्रतिवचनसमर्थोभवति । अभिगम्येति केवलएव म-
नुः कर्मप्रश्रक्रियायास्त्वेकाग्रमासीनमिति विशेषणम् । कुशलप्रश्नानुरूपकथांप्रवृत्त्यादिनैकाग्रमविक्षिप्तमनस्कं ज्ञात्वा प्रश्र-
श्रवणे दत्तावधानमिदंवचनमब्रुवन् । एकाग्रशब्दोरुद्ध्या निश्चलतामाह । प्रत्याहारेण परित्यक्तरागादिदोषसंसर्गस्य विक-
ल्पनिवृत्तौ तत्त्वावबोधचिन्तायामनसः स्थैर्यमेकाग्रता । तथाभूतएव च संहितरूपशब्दादिविषयानवधारणे योग्योभवति
न सदसद्विकल्पयुक्तः । अथवा योगतोऽग्रशब्दीमनसि वर्तते ऽर्थग्रहणेचक्षुरादिभ्योऽग्रगामित्वात् । प्रथमप्रवृत्तियुक्तः
पुरःसरोलोकेऽग्रउच्यते । एकस्मिन्ध्येये ग्राहे वाऽग्रमस्येतिविग्रहोव्यधिकरणानामपि बहुव्रीहिर्गमकत्वात् । अत्रापि
व्याक्षेपनिवृत्तिरैवैकाग्रता । प्रतिपूज्य यथान्यायम् न्यायः शास्त्रविहिता मर्यादा तामनतिक्रम्य यादृशी शास्त्रेणाभिवादो
पासनादिका गुरोः प्रथमोपसर्पणे पूजा विहिता तथा पूजयित्वा भक्त्यादरौ दर्शयित्वा । महर्षयः ऋषिर्वेदस्तदध्ययनवि-
ज्ञानतदर्थानुष्ठानातिशययोगात्पुरुषेऽप्यृषिशब्दः महान्तश्च यऋषयश्च तेषामेव गुणानामत्यन्तातिशयेन महान्तोभवन्ति
यथा युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणामिति अथवा तपोविशेषात्पूजाख्यातिविशेषाद्वा महान्तः । इदंवचनमब्रुवन् उच्यते
ऽनेनेतिवचनंवक्ष्यमाणं द्वितीयश्लोकप्रश्रवाक्यमिति । तदेव प्रत्यासन्नत्वादिति प्रतिनिर्दिशति । येषामपि प्रत्यक्षवस्तु-
प्रतिनिर्देशकइदंशब्दस्तेषामपि बुद्धिस्थत्वात्प्रश्रस्य प्रत्यक्षता । अथवोच्यतइतिवचनंपृष्ठ्यमानंवस्त्वब्रुवन् । वाक्पक्षइदं
वाक्यमुच्चारितवन्तः । कर्मसाधने तु वचनशब्दइदमपृच्छन् । द्विकर्मकश्चतदाब्रूज् । अकथितकर्मणा मनुना तिसृणांक्रि-
याणांमनुःकर्म ॥ १ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणकृतमन्वर्थनिबन्धः

ॐ नमः श्रीमहागणप्रतये ॥ अनेकशाखस्मृतिपारदर्शिसर्वज्ञनारायणनिर्मितेन ॥ मनुस्मृतेरर्थनिबन्धनेन बुधः स्वधर्मेषु
वियंविधत्ते ॥ १ ॥ इहहि श्रुतिभ्यएवातिशयिततपःप्रज्ञाध्ययनप्रकर्षवत्परमाखिलपुरुषार्थसाधनसमधिगमः संभवन्पि
तामांदुरुहविप्रकीर्णार्थतया संभावितैकदेशोत्सादतया च प्रसिद्धपदप्रकरणादिशब्दबोधसाधनोपेतोत्सन्नशाखार्थस्मारक-
स्मृत्यादिसापेक्षएवार्वाचीनानामुदेतीति । निखिलस्य लोकस्य भावितपःप्रज्ञाध्ययनापकर्षविमर्शकारितकरुणापरवशः पर-
मेष्ठो धर्मशास्त्रमेतत्प्रणीय मनुमध्यापयामास । मनुश्च मृगुमध्याप्य तन्मुखेन महर्षीन्ग्राहयामास । ततः पुनः सएव मृगुः

शिष्यान्तरेभ्योमनुनिदेशप्रवृत्तपौरस्त्याध्यापनवृत्तान्तानुकथनपूर्वकं तत्कथयन्लखिलविद्योत्सारद्वारा शास्त्रसंप्रदायाविच्छे-
दाय देवतानमस्कारान्निबन्ध स्वयंभुवे नमस्कृत्येति । स्वव्यापारमात्रगृहीतदेहः स्वयंभूर्ब्रह्मा बृंहकोऽमिततेजा-
अनवच्छिन्नविषयज्ञानः । क्रियाग्रहणं कर्तव्यमिति वचनाच्चतुर्थी । मनुप्रणीतानुमनुनाप्रकाशितान् विविधानुवर्णादिभेदेनैहि-
कसुखमोक्षरूपफलभेदेन च नानाप्रकारान् । धर्मसाधनानि कर्माणि लक्षणया धर्मा इत्युच्यन्ते । शाश्वतानिति कल्पान्तरे-
प्यविच्छिन्नानुष्ठानान् वक्ष्यामीति शास्त्राभिधेयप्रतिज्ञाऽपि । नचास्य ग्रन्थसंदर्भस्य मृगुशोक्तत्वे ततस्तथा सतेनोक्तइत्या-
दिपरोक्षोक्त्यनुपपत्तिः । सर्वस्यैवास्यग्रन्थसंदर्भस्य ब्रह्मणैव प्रणीतत्वात् । तथाच वक्ष्यति इदंशास्त्रं तु कृत्वाऽसाविति ।
शास्त्रकारेणैव त्वसंदर्भएवोच्चकैः कृत्वेत्यभिधानात् । एवंपरोक्त्यनुवादिनोभृगोभूतभाविवृत्तान्तकथनप्रवृत्तस्य ब्रह्मणः त्व-
स्मिन्परोक्षोक्तिर्न संभाविनीति मनुप्रणीतानां त्वप्रणीतेऽपि परोक्षोक्तिः ॥१॥

[अथ प्रकृतं प्रक्रमते मनुमेकाग्रमिति । मननान्मनुः । एकाग्रमविक्षिप्तमनस्कम् । आसीनं त्वस्थतयोपविष्टम् ।
अभिगम्य संमुखतः प्राप्य । महर्षयोमरीच्यादिसंततिप्रभवाः । प्रतिपूज्य प्रत्येकं पूजयित्वा । यथान्याययेन यादृशी
पूजा कर्तव्या तेत तथैव ॥ १ ॥]

(३) कुल्लूकभट्टकृतमन्वर्थमुक्तावली.

श्रीगणेशाय नमः ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ गौडे नन्दनवासिनाम्निमुजनैर्वन्द्येवरेन्द्र्यांकुले श्रीमद्भट्टदिवकरस्य
तनयः कुल्लूकभट्टोऽभवत् । काश्यामुत्तरवाहिजन्हुतनयातीरे समपण्डितैस्तेनेयं क्रियते हिताय विदुषामन्वर्थमुक्तावली ॥ १ ॥
सर्वज्ञस्य मनोरसर्वविदपि व्याख्यामियद्वाङ्मयं युक्त्या तद्वहुभिर्यतो मुनिवरेरेतद्वहु व्यादृतम् । तां व्याख्यामधुना तनैर-
पिकृतां न्याय्यां ब्रुवाणस्य मे भक्त्या मानववाङ्मये भवभिदे भूयादशेषेश्वरः ॥ २ ॥ मीमांसिबहुसेविताऽसि सुवृद्ध-
स्तर्काः समस्ताः स्थ मे वेदान्ताः परमात्मबोधगुरवो यूयमयोपासिताः । जाता व्याकरणानि बालसखितां युष्माभिरभ्य-
र्थये प्रामोऽयं समयो मनुक्तविवृतौ साहाय्यमालम्ब्यताम् ॥ ३ ॥ द्वेषादिदोषरहितस्य सतां हिताय मन्वर्थतत्त्वकथनाय ममो-
द्यतस्य । देवाद्यदि कचिदिह स्वलनंतथापि निस्तारको भवतु मे जगदन्तरात्मा ॥ ४ ॥ मानववृत्तावस्यांज्ञेया व्याख्या
नवा मयोद्दिन्वा । प्राचीना अपि रुचिरा व्याख्यातृणामशेषाणाम् ॥ ५ ॥ मनुमेकाग्रमासीनमित्यादि अत्र महर्षीणां धर्म-
विषयप्रश्ने मनोः श्रूयतामित्युत्तरदानपर्यन्तलोकचतुष्टयेनैतस्य शास्त्रस्य प्रेक्षावत्प्रवृत्त्युपयुक्तानि विषयसंबन्धप्रयोजना-
न्युक्तानि । तत्र धर्म एव विषयः । तेन सहवचनसंदर्भरूपस्य मानवशास्त्रस्य प्रतिपाद्यप्रतिपादकलक्षणः संबन्धः प्रमाणा-
न्तरासन्निरुष्टस्य स्वर्गापवर्गादिसाधनस्य धर्मस्य शास्त्रैकगम्यत्वात् । प्रयोजनं तु स्वर्गापवर्गादि तस्य धर्माधीनत्वात् ।
यद्यपि पत्न्युपगमनादिरूपः कामोऽप्यत्राभिहितस्तथापि ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदेत्यृतुकालादिनियमेन
सोऽपि धर्म एव । एवं चार्थाज्जनमपि ऋतामृताभ्यां जीवेदित्यादिनियमेन धर्म एवेत्यवगन्तव्यम् । मोक्षोपायत्वेनाभिहितस्या-
त्मज्ञानस्यापि धर्मत्वाद्धर्मविषयत्वं मोक्षोपदेशकत्वं चास्य शास्त्रस्योपपन्नम् । पौरुषेयत्वेऽपि मनुवाक्यानामविगीतमहाजन-
परिग्रहाच्छ्रुत्युपग्रहाच्च वेदमूलकतया प्रामाण्यम् । तथाच छान्दोग्यब्राह्मणे श्रूयते मनुर्वै यार्कचिदवदत्तद्वेषजं भेषजता-
यादिति । बृहस्पतिरप्याह वेदार्थोपनिबद्धत्वात्प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम् । मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा विनश्यति ॥
तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च । धर्मार्थमोक्षोपदेष्टा मनुर्व्यान्न दृश्यते । महाभारतेऽप्युक्तम् पुराणं मानवो-
धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् । आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥ विरोधिबौद्धादितर्कैर्न हन्तव्यानि । अनु-
कूलस्तु मीमांसादितर्कः प्रवर्तनीय एव । अतएव वक्ष्यति आर्षधर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना । यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म-

वेद नेतरइति । सकलवेदार्थादिमननान्मनुमहर्षयइदं द्वितीयश्लोकवाक्यरूपमुच्यतेऽनेनेतिवचनमब्रुवन् । श्लोकस्यादौ मनुनिर्देशोमङ्गलार्थः परमात्मनएव संसारस्थितये सार्वज्ञ्यैश्वर्यादिसंपन्नमनुरूपेण प्रादुर्भूतत्वात् तदभिधानस्य मङ्गलातिशयत्वात् । वक्ष्यति हि एनमेकैवदन्त्यर्धिमनुमन्ये प्रजापतिमिति । एकाग्रविषयान्तराव्याक्षिप्तचित्तम् । आसीनसुखोपविष्टमीदृशस्यैवमहर्षिप्रश्रोत्तरदानयोग्यत्वात् । अभिगम्यअभिमुखंगत्वा । महर्षयोमहान्तश्चतःकृषयश्चेतितथा । प्रतिपूज्य पूजयित्वा । यद्वा मनुना पूर्वत्वागतासनदानादिना पूजितास्तस्य पूजाकृत्वेति प्रतिशब्दादुन्नीयते यथान्याययेन न्यायेन विधानेन प्रश्नः कर्तुंयुज्यते प्रणतिभक्तिश्चदातिशयादिना वक्ष्यतिच नापृष्टःकस्यचिद्भुयान्नचान्यायेन पृच्छतइति । अभिगम्य प्रतिपूज्यानुवन्नितिक्रियात्रयेऽपिमनुमित्येवकर्म । अनुवन्नित्यत्राकथितकर्मता ब्रुविधातोर्द्विकर्मकत्वात् ॥ १ ॥

(४) राघवानन्दसरस्वतीकृतमन्वर्थचन्द्रिका.

श्रीगणेशाय नमः ॥ आनन्दमजरं ब्रह्म सर्वानर्थविवर्जितम् ॥ गुरुं च नत्वा रचिता राघवानन्दभिक्षुणा ॥ १ ॥ मन्वर्थकुमुदग्रन्थविकासनपटीयसी । चन्द्रिकास्तु मुदे विद्वद्दयाम्भोधिर्वाधिनी ॥ २ ॥ मृगुणोक्तपदार्थोऽत्र वाक्यार्थमित्ये मया । विविच्यते समासेन श्रुतिन्यायानुसारिणा ॥ ३ ॥ कुल्लूकनारायणसमतानि गोविन्दमेधातिथिद्वयानि ॥ ज्ञात्वा च वेदादिकमाकलय्य मनोर्मनःस्थं प्रकटीकरोमि ॥ ४ ॥ तत्र सर्वेभ्योमुनिवाक्येभ्योऽतिशयेनादत्तव्यमनुवाक्यमित्यत्र श्रुतिस्मृतयः । तद्यथा । यद्यन्मनुरवदत्तद्वेषजं भेषजमिति श्रुतिः (अ) । स्मृतिरपि वेदार्थोपनिबन्धत्वात्प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम् । मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते ॥ तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च । धर्ममोक्षोपदेष्टा तु मनुयावन्न दृश्यतइतिबृहस्पतिः । भारतेऽपि पुराणमानवोधर्मः साङ्गोवेदश्चिकित्सितम् । आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिरिति । चिकित्सितं भिषक्शास्त्रं हेतुभिः प्रतिकूलतर्केन हन्तव्यानि नान्यथयितव्यानि किंतु मीमांसितव्यानि । तथाच वक्ष्यति आर्षधर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना । यस्तर्केणानुसंधत्ते सधर्मवेद नेतरः ॥ तर्केण मीमांसया अतश्च हेतुकस्तर्कोतिभेदेनोपादानंतर्किणः । तथाचाह मीमांसासंज्ञकस्तर्कः सर्ववेदसमुद्भवः । सोतोवेदोरुतांप्राप्तः काष्ठाम्बुलवणात्मवदिति ॥ अतएवात्र यद्वाक्यान्तरमुपादीयते न तत्प्रामाण्यदाढ्याय किंतु व्याख्यानदाढ्याय । अत्रार्षभिः साकं मनोर्यः संवादेवृत्तो निषेकादिप्रशान्तान्तेष्ववान्तरज्ञातिसहितानांचतुर्णां वर्णानामाश्रमाणांच तंमनुवचनमङ्गीकृत्य वक्तुं प्रवृत्ते भगवान्मृगुः स्वयंभुवे नमस्कृत्येति पञ्चभिः । स्वयंभुवे स्वभवनेऽन्यानपेक्षाय स्वयंदासास्तपस्विनइतिवत् अनादयइतियावत् । ब्रह्मणे ब्रूते अमिततेजसेऽमितानि सृष्टिस्थितिसंहरणे तेजांसि सामर्थ्यानि यस्य तस्मै शाश्वतानुवेदोक्तत्वेन नित्यान ॥ १ ॥

[मनुमिति ।] एकाग्रं एकेषु धर्मवक्तृप्रधानेषु अग्रं श्रेष्ठं एकाग्रचित्तं वा । यथान्यायम् । न्यायोऽत्र क्षत्रियेषु ब्राह्मणादीनां नमस्कारः किंतु वाक्पूजा तमनतिक्रम्य पृष्टवन्तइत्यर्थः ॥ १ ॥

(५) नन्दनरुतमनुव्याख्यानम्.

श्रीगणेशाय नमः ॥ मनुमिति मनुः स्वायंभुवस्तथाच वक्ष्यति स्वायंभुवोमनुर्धामानिदं शास्त्रमकल्पयदिति । एकाग्रमवहितम् अनेन वक्ष्यमाणेष्वर्थेषु संदेहराहित्यमभिप्रेतम् । इदं वक्ष्यमाणम् ॥ १ ॥

(६) रामचन्द्ररुतमनुभावाथचन्द्रिका.

ॐ श्रीसिद्धिगणेशाय नमः ॥ गङ्गांगणेशंगरुडाधिरुढंसिद्धेश्वरीसिद्धिसरस्वतींच । नमामि भक्त्या परया च नित्यं

(अ) यद्वै किञ्चनमनुरवदत्तद्वेषजम् ॥

विश्वेश्वरं विश्वविबोधरूपम् ॥ १ ॥ श्रुत्वा कुल्लूक भट्टाच्च दृष्ट्वा चैव मिताक्षराम् । कृता वै रामचन्द्रेण मनुभावाथचन्द्रिका ॥ २ ॥ हनूमानेव जानाति श्रमसागरलङ्घने । तथैव ग्रन्थकर्तैव ग्रन्थकर्तुः परिश्रमम् ॥ ३ ॥ ये केचिदत्रसगुणानपि दूषयन्तः सन्तोऽप्यसन्त इति ते न विचारणीयाः । ये तु प्रगल्भमतयः कृतसारविज्ञालोकेषु ते कृतिमिमामवधारयन्तु ॥ ४ ॥ ऋषीणां समवाये भृगुरुवाच मनुप्रणीतान्स्वायंभुवेन मनुना प्रणीतान्प्रवर्तितान्धर्मान्वक्ष्यामीति । कीदृशान्धर्मान्शाश्वतान्पारंपर्यक्रमागतान् पुनः कीदृशान् विविधान्षड्विधान् तद्यथा वर्णधर्मः १ आश्रमधर्मः २ वर्णाश्रमधर्मः ३ गुणधर्मः ४ निमित्तधर्मः ५ साधारणधर्मश्चेति ६ । तत्र वर्णधर्मः कथ्यते नित्यमद्यं ब्राह्मणो वर्जयेदित्यादिः । आश्रमधर्मः अग्नीन्धनभैक्ष्यचर्यादिः । वर्णाश्रमधर्मः पालाशोदण्डो ब्राह्मणस्येत्येवमादिः । गुणधर्मः शास्त्रीयाभिषेकादिगुणयुक्तस्य राज्ञः प्रजापालनादिः । निमित्तधर्मः विहिताकरणप्रतिषिद्धसेवननिमित्तप्रायश्चित्तम् । साधारणधर्मः अहिंसादिः नहिंस्यात्सर्वाभूतानीति श्रुतेस्तथाशौचाचारांश्च शिक्षयेदित्यादिः । किरुत्वा ब्रह्मणे व्यापकाय नमस्कृत्य । कीदृशो ब्रह्मणे स्वयंभुवे स्वयंभवतीति स्वयंभु तस्मै स्वयंभुवेऽजन्मत्वात् । पुनः कीदृशाय अमिततेजसे परिपूर्णतेजस इत्यर्थः । मनुमिति महर्षयः श्रवणधारणयोग्या एकाग्रमेकान्तआसीनमनुमभिगम्य प्राप्येदं वचनं वक्ष्यमाणलक्षणमब्रुवन्नुक्तवन्तः । किं कृत्वा यथान्यायं प्रतिपूज्य पूजयित्वा यथान्याययेन यादृशी पूजा कर्तुं शक्यते तेन तथेति ॥ १ ॥

भगवन्सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः ॥ (अ) अन्तरप्रभवानां च धर्मान्भोवक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

[जरायुजाण्डजानां च तथासंस्वेदजोद्भिदाम् ॥ भूतग्रामस्य सर्वस्य प्रभवं प्रलयं तथा ॥ १ ॥

आचारांश्चैव सर्वेषां कार्याकार्यविनिर्णयम् ॥ यथाकामं यथायोगं वक्तुमर्हस्यशेषतः ॥ २ ॥ ५५]

(१) मेधातिथिः । ऐश्वर्यौदार्यशोवीर्यादिभगवत्शब्दः सोऽस्यास्तीति मनुः । तेन संबोधनं भगवन्निति । वर्णशब्दश्च तिसृषु ब्राह्मणादिजातिषु वर्तते । सर्वग्रहणं शूद्रावरोधार्थम् । इतरथा महर्षीणां पृष्ठत्वात् । त्रैवर्णिकविषये च प्रश्नः कृतः स्यादन्तरंतन्मध्यद्वयोर्जात्योः संकरादेकाग्रपरिपूर्णा जातिः अन्तरे प्रभवउत्पत्तिर्येषां तेऽन्तरप्रभवाः अनुलोमप्रतिलोममूर्धावसिक्तान्ब्रह्मक्षत्रवैदेहिकादयः । न हि ते मातापित्रोरन्यतरयापि जात्या व्यपदेश्युज्यन्ते ॥ यथा रासभाश्वसंयोगजः खरो न रासभो नाश्वो जात्यन्तरमेव । अतो वर्णग्रहणे नाग्रहणात्पृथगुपादीयन्ते । नन्वनुलोमामातृजातीया इष्यन्ते । नेति ब्रूमः । सदृशानेव तानाहुरिति मातृजातिसदृशास्ते तज्जातीया एव सोऽप्येषां धर्मो वाचनिको न वस्तुस्वभावसिद्धोऽतः प्रमाणांतरगोचरत्वात् धर्मपक्षपतितत्वे शास्त्रोपदेशार्हा एव । प्रतिलोमानामप्यहिंसादयो धर्मावक्ष्यन्ते । यत्तु धर्मादिना इति तद्वतोपवासादिधर्माभावाभिप्रायेण सर्वपुरुषोपकारिता चानेन शास्त्रस्य प्रदक्ष्यते । यथावदर्थे वतिः येन प्रकारेणानुष्ठानमर्हतिदन्तित्यमिदं काम्यमिदं गमिदं प्रधानं द्रव्यं देशकालकर्त्रादि नियमश्च प्रकारोर्हते विषयः । अनुपूर्वशः । आनुपूर्वी क्रमः । येन क्रमेणानुष्ठेयानि सोऽप्युच्यताम् । जातकर्मान्तरं चौडमौजीनिबन्धनेत्यादि यथावदित्यत्र पदार्थविषयं कात्स्न्यमुपासंक्रमस्तुपदार्थो न भवत्यतः पृथगनुपूर्वश इत्युपात्तम् । धर्मशब्दः कर्त्तव्याकर्त्तव्ययोर्विधिप्रतिषेधयोरदृष्टार्थयोस्तद्विषयायांचक्रियायां दृष्टप्रयोगस्तस्य तु किमुभयंपदार्थउतान्यतरत्र गौण इति नायं विचारः क्रियते । ग्रन्थांतरे विस्तरेण कृतत्वा-

(अ) अन्तरप्रभवाणां च ॥ सङ्करप्रभवानां, (क), (घ), (अ), चिन्हितपुस्तकेषु

(x) कामं=कालं (ग), (च) (ख)

(५५) (क), (ख), (ट), (त), अनयोर्व्याख्यानं नन्दनरामचन्द्राभ्यां कृतं षष्ठे पृष्ठे द्रष्टव्यम् ।

दिहानुपयोगाच्च सर्वथा तावदष्टकाः कर्तव्याः न कलंजं भक्षयेदित्यादादष्टकाविषया कर्तव्यता प्रतीयते । कलंजभक्षणाविषयश्च प्रतिषेधः । तदाष्टकाख्यं कर्म धर्मस्तद्विषया वा कर्तव्यतेति फले न विशेषः । धर्मरूपोपदेशाच्च यत्तद्विपरीतमधर्मोसावित्यर्थात्सिध्यति । अतो धर्माधर्मावुभावपि शास्त्रस्य विषय इत्युक्तं भवति । तत्राष्टकाकरणं धर्मो ब्रह्महत्यादिवर्जनं धर्मः । अष्टकानामकरणं धर्मो ब्रह्महत्यायाश्चकरणं धर्मोऽतो धर्माधर्मयोर्विवेकः । अहंसीति सामर्थ्यलक्षणया योग्यतया प्रवचनाधिकारमाचार्यस्याहुः ॥ यतस्त्वं समर्थो धर्मान्वक्तुमतो धिकृतः सन्ध्येष्यसे ब्रूहीति यो यत्राधिकृतस्तत्तेन कर्तव्यमिति सामर्थ्यगम्यं ब्रूहीत्यध्येषणापदमध्याह्नियते । उक्तमदृष्टार्थं व्यापारमात्रेण धर्मशब्दो वर्तते । तत्र यथाष्टकादौ तस्य प्रयोग एव चैत्यवन्दनादावपीति । तत्र कतमे धर्मा अत्रोच्यन्त इति संशये धर्मविशेषप्रतिपादनार्थमुक्तसामर्थ्यप्रतिपादनार्थं च त्वमेक इति ॥ २ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । भगवन्निति । यथावत् यस्य यत्प्रकारो धर्मस्तथा । अनुपूर्वशः ब्राह्मणादिक्रमेण । अन्तरे भवानां च वर्णद्वयसंबन्धवतां प्रतिलोमजादीनाम् ॥ ३ ॥

(३) कुल्लूकभट्टः । किमब्रुवन्नित्यपेक्षायामाह । भगवन्नित्यादि । ऐश्वर्यादीनां भगवद्वोवाचकः । तदुक्तं विष्णुपुराणे । ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भगवतीदृशना ॥ मतुबन्तेन संबोधनं भगवन्निति । वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः सर्वे च ते वर्णाश्चेति सर्ववर्णाः तेषामन्तरप्रभवाणां च संकीर्णजातीनां चापि अनुलोमप्रतिलोमजातानाम् । अम्बष्ठक्षनृकर्णप्रभृतीनां तेषां विजातीयमैथुनसम्भवत्वेन खरतुरगीयसंपर्काज्जाताश्च तदवजात्यन्तरत्वाद्दर्पशब्देनाग्रहणात्पृथक्प्रश्नः । एतेनास्य शास्त्रस्य सर्वोपकारकत्वं दर्शितम् । यथावत् यो धर्मो यस्य वर्णस्य येन प्रकारेणार्हतीत्यनेनाश्रमधर्मादीनामपि प्रश्नः । अनुपूर्वशः क्रमेण जातकर्म तदनु नामधेयमित्यादिना धर्मान्नोऽस्मभ्यं वक्तुमर्हसि सर्वधर्माभिधाने योग्यो भवसि तस्माद्ब्रूहीत्यध्येषणमध्याहार्यम् । यत्तु ब्रह्महत्यादिरूपा धर्मकीर्तनमप्यत्र तत्प्रायश्चित्तविधिरूपधर्मविषयत्वेन न त्वतन्त्रतया ॥ २ ॥

(४) राघवानन्दः । भगवन्पूजायुक्तं ऐश्वर्यादिशालित्वात् ॥ (अ) सर्ववर्णानां विप्रराजन्यवैश्यशूद्राणां यथावत् याथातथ्येन अनुपूर्वशः ब्राह्मणाद्यानुपूर्व्या अन्तरप्रभवानां सङ्करजातानां अनुलोमप्रतिलोमतः धर्मान् निषेकादिमशानान्तान्तेषु कर्तव्यान् भगवत्त्वादेव वक्तुं योग्योसीति नोऽस्मभ्यम् ॥ २ ॥

(५) नन्दनः । न केवलं त्रैवर्णिकानामेव किंतु शूद्राणामपीत्युक्तं सर्वशब्दग्रहणेन । अन्तरप्रभवानां वर्णसंकरजातानाम् । धर्मान्विहितानुष्ठानप्रतिषिद्धवर्जनलक्षणान् ॥ २ ॥

जरायुजेति । भूतग्रामस्य महदादितत्त्वसङ्घस्य । आचाराणामितिकार्याणां विवादपदानाम् । यथाकालमवसरे ग्रामे । यथायोगमुचितोपायेन लक्षणेन प्रतिपदोक्त्या चेति यावत् ॥

(६) रामचन्द्रः । भगवन्निति । तत्र प्रश्नमाह । हे भगवन् सर्ववर्णानां ब्राह्मणक्षत्रियविश्यशूद्राणां यथावत् यथायोगं अनुपूर्वशः अनुक्रमेण नः अस्माकं धर्मान्वक्ष्यमाणलक्षणान् वक्तुमर्हसि च पुनः अन्तरप्रभवानां अनुलोमजातीनां मूर्द्धाभिषिक्तादीनां धर्मान्वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

[प्रश्नान्तरमाह जरायुजेति । द्वाभ्यां युग्मं । सर्वस्य भूतग्रामस्य चतुर्विधानां जरायुजादीनां उत्पत्तिप्रलयनाशवक्तुमर्हसि च

पुनः सर्वेषां ब्राह्मणादीनां तथानुलोमजातीनां आचारान्वक्तुं त्वमर्हसि तथा कार्यस्य उक्तस्य अकार्यस्य च विनिर्णयं वक्तुं अर्हसि यथाक्रमं ब्राह्मणादिवर्णक्रमं क्रमानुसारेण यथायोगं वक्तुमर्हसि ॥]

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः ॥ अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ॥ ३ ॥

(१) मेधातिथिः । त्वमेवैकोऽसहायोऽद्वितीयः सर्वस्य विधानस्य कार्यतत्त्वार्थवित् । विधानं शास्त्रविधीयन्तेऽनेन कर्माणीति तस्य स्वयंभुवो नित्यस्याकृतकस्यापौरुषेयस्य वेदाख्यस्य सर्वस्य प्रत्यक्षाक्षरस्यानुमेयाक्षरस्य चाग्निहोत्रं जुहुयादभयं सहस्रमानवइत्येतया हवनीयोपस्थाने विनियोगः । अष्टकाः कर्तव्या इत्यत्र तु स्मृत्यानुमीयते वेदः । बर्हिर्देवसदनं दामोति लिङ्गादनेन बर्हिर्लुनातीति श्रुतेरनुमानम् । अयं हि मत्त्रोदर्शपूर्णमासप्रकरणे पठितो बर्हिर्लवनं च तत्राप्नातमनेन मत्त्रेण लुनीयादित्येतत् न अस्ति । मत्त्रः पुनारूपाद्बर्हिर्लवनप्रकाशनसमर्थः । प्रकरणात्सामान्यतः सिद्धदर्शपूर्णमाससंबन्धः । स्वसामर्थ्येन तु बर्हिर्लवने प्रयुज्यते । एषा ह्यत्र प्रतीतिः प्रकरणादर्शपूर्णमासावनेन मत्त्रेण कुर्यात्कथमिति यथाशक्त्यादित्यनुक्तापि शक्तिः सर्वत्र सहकारिणी । किंच शक्नोति मत्त्रः कर्तुं बर्हिर्लवनप्रकाशयितुं ततः प्रकरणात्स्वसामर्थ्याच्चा नेन मत्त्रेण बर्हिर्लुनातीति बुद्धौ शब्दआगच्छत्यविकल्पकविज्ञानैः पूर्वशब्दः प्रतीयत इति । सन्बुद्धिस्थः शब्दोऽनुमेयो वेद उच्यते । वेदत्वं च तस्य दर्शपूर्णमासवाक्यमत्त्रवाक्याभ्यां श्रुत्यन्तराभ्यां स्वसामर्थ्येनोत्थापितत्वादितिकुमारिलपक्षः । अथवा विधिर्विधानमनुष्ठानप्रयोजनसंपत्तिस्तस्य स्वयंभुवो नित्यस्यानादिपरंपराया तस्य स्वयंभुवा वेदेन वा प्रतिपाद्यस्य श्रूयमाणाक्षरप्रतिपाद्यस्य प्रतिपन्नसामर्थ्यगम्यस्य च द्विविधो हि वैदिको विधिः । कश्चित्साक्षाच्छब्दप्रतिपाद्यो यथा सौर्यचरुनिर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकाम इति सौर्ये चरौ ब्रह्मवर्चसकामोऽधिक्रियते । तस्य चरो ब्रह्मवर्चसंसाधयत इयमितिकर्तव्यता आग्नेयवदित्यवगमयति । उभयत्रापि चेयं प्रतीतिः शब्दावगममूलत्वात् । शब्दोदयोऽपि शब्दादभिधानतः प्रतीयते । यथाभिधेयप्रतिपत्तितो विशेषस्तु व्यवधानादिकृतो न शब्दतां विहन्ति । यथावा पीस्थमुदकं हस्तेनाभिहतं प्रदेशान्तरमभिहन्ति तदपि हस्तसंयोगेनैवाभिहतं भवति न तु साक्षात् । शर्करारेचककर्मण्याद्यप्रयत्नकृता एवोत्प्लुत्योत्प्लुत्य पाताः । तादृशमेतद्वैकृते कर्मणि विशिष्टेति कर्तव्यतासंबन्धो य एवं विश्वजिता यजेतेत्युत्पत्तिर्नाधिकारशून्यास्तीति स्वर्गकाम इत्यधिकारावगतिः प्रतिपत्तांशसामर्थ्यगम्या । अन्यतो द्वैरूप्ये विधानस्य सर्वस्येति पदं सर्वस्य तात्पर्यमेवं रूपं वेदमूलाः स्मृतय इति ज्ञापयितुम् । द्वितीये चैतद्दर्शयिष्यामः । ननु लिङादिप्रतिपाद्योऽर्थः कर्तव्यतारूपो विधिः । स च सर्वत्र प्रत्यक्षशब्दप्रतिपाद्य एव । तत्र किमुच्यते । द्विविधा हि वैदिको विधिरिति निर्वपेदितिकर्तव्यतावगम्यते । इति कर्तव्यतार्थसामर्थ्यगम्या । उक्तेन प्रकारेण नैष दोषः । निर्वपेद्यजेतेति न केवलेधात्वर्थविषयत्वेऽवगते परिपूर्णा कर्तव्यता भवति । यावदंशान्तराण्यधिकारेति कर्तव्यताप्रयोगरूपाणि नावगतानि । एते रशौर्वततरूपो विधिः प्रतीयते । अतोऽंशरूपाण्यपि विधिः शब्दाभिलप्यत्या न विरुद्धान्येते देवाह अचिन्त्यस्येति । अप्रत्यक्षस्येत्यर्थः । प्रत्यक्षं ह्यनुभूयत इत्युच्यते । न चिन्त्यते न स्मर्यत इति । अप्रमेयस्य कल्प्यस्य प्रायशः स्मृतिवाक्यमूलस्य तद्धि प्रत्यक्षेण प्रमीयते । अतोऽप्रमेयस्येत्युच्यते । अथवाऽप्रमेयस्येत्यतया परिमातुमशक्यस्यातिमहत्वाद्नेकशाखाभेदभिन्नोभेदो न शक्यते सर्वैः प्रमातुम् । अतएवाचिन्त्यस्य यदतिबहु तद्गुर्ग्रहत्वादचिन्त्यमित्युच्यते । यथाच लोके वक्तारो भवन्ति । अन्येषां गतिश्चिन्तयितुमप्येतन्न युज्यत इति । मनः किल सर्वविषयम् । अयं चातिमहत्वात्तस्यापि न विषय इति पदद्वयेन बाह्यन्तःकरणविषयतया महत्त्वस्य । एतेनाचार्यः प्रोत्साह्यते त्वयैव केवलेनैव विधो वेद आगमितो नस्तस्य यः कार्यरूपस्तत्त्वार्थस्तवेत्ति जानीषे कार्यमनुष्ठेयमुच्यते । यत्र पुरुषोऽनुष्ठातृत्वेन विनियुज्यत इदं त्वया कर्तव्यमिदं त्वया न कर्तव्यमित्यग्निहोत्रादि कर्तव्यम् कलञ्जभक्षणादि न कर्तव्यम् । प्रतिषेधोऽप्यनुष्ठानमेव । यद्वा ह्यणवधस्याननु-

ज्ञानतदेव प्रतिषेधस्यानुष्ठानप्रवृत्तिश्चक्रिया निवृत्तिश्चक्रियेति । नहि परिस्पन्दमानसाधनसाध्यमेवानुष्ठानमुच्यते किंताहिं प्राप्ते तद्रूपे तन्निवृत्तिरपि यथाहितसेवीचिरायुरिति । यःप्राप्ते काले भुङ्क्तेऽप्राप्ते न भुङ्क्ते । अभोजनमपि हितमेव । अथवाकार्य-शब्दः प्रदर्शनार्थोविधेः प्रतिषेधस्यच । एतावान्वेदस्य तत्त्वरूपः पारमार्थिकोऽर्थोयस्तुइतिवृत्तसंवर्णनरूपः सोरोदीद्यदरोदी-तदुद्गस्य रुद्रत्वमिति । सन तत्त्वार्थोविध्यन्तरेणैकवाक्यत्वात्प्रशंसापरत्वेन स्वार्थनिष्ठत्वाभावात् । अस्ति ह्यत्र विध्यन्तरम् । तस्माद्बर्हिषिं रजतं न देयमितिसोरोदीदित्यादीनिपुरास्यसंवत्सरद्गृहेरोदनंभवतीत्यन्तानि तदेकवाक्यतापन्नानि बर्हिषि रज-तदाननिन्दया तत्प्रतिषेधंस्तुवन्ति । तदुक्तंसाध्येऽर्थे वेदः प्रमाणं न सिद्धरूपे । अर्थवादानांहि सिद्धरूपोऽर्थो नहि तदर्थस्य कर्तव्यताप्रतीयते । विध्युपदेशपरत्वंच प्रतीयते । यद्विच स्वार्थपराअपि स्युस्तदाविधिपरत्वंव्याह्रयेत । ततश्च प्रतीयमानै-कवाक्यताबोधनेन च संभवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदोऽन्याय्यः । नच साध्यस्य सिद्धार्थपरत्वेनैकवाक्यता घटते । तथाहि । न किंचिद्वेदेनोपदिश्यते कर्तव्यम् । अतश्चाप्रमाणमेव वेदःस्यात् । विध्यर्थता चावगम्यमाना लिङादीनांत्यक्ता स्यात् । तस्मात्कार्यरूपोवेदस्य तत्त्वार्थइतिमनुर्भगवानाह । जैर्मिनिनाप्युक्तम् कार्येऽर्थे वेदःप्रमाणम् । चोदनालक्षणोऽर्थो-धर्मइति । अतश्चनिरवशेषपदार्थपरिज्ञानातिशययोगाद्धर्मप्रवचनसामर्थ्येसिद्धवदुपादायप्रभो इत्यामन्त्रणम् । हेप्रभो धर्मा-भिधानशक्त त्वमनुब्रूहि धर्मानिति । एवमनया त्रिश्लोक्या धर्मानुपपृष्टउत्तरेण श्लोकेन प्रतिजज्ञे ॥ ३ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । त्वमेकइति । स्वयंभुवः प्रजापतेरभिधेयतया संबन्धिनोविधानस्य विधेर्वेदस्याचिन्त्यस्या-तत्कार्यस्याप्रमेयस्य प्रमाणान्तरागोचरस्य कार्यतयानुष्ठेयतया यत्तत्त्वंतात्त्विकोर्भस्तद्वेदितात्वमेवास्येकइत्यर्थः ॥ ३ ॥

(३) कुडूकः । सकलधर्माभिधानयोग्यत्वेहेतुमाह त्वमेकइत्यादि हिशब्दोहेतौ । यस्मात्त्वमेकोऽद्वितीयः । अस्य सर्वस्य प्रत्यक्षश्रुतस्य स्मृत्याद्यनुमेयस्य च विधानस्य विधीयन्तेऽनेनकर्माण्यग्निहोत्रादीनीति विधानंवेदस्तस्य स्वयंभुवोऽपौरुषेयस्याचिन्त्यस्य बहुशाखाविभिन्नत्वादियत्तया परिच्छेत्तुमयोग्यस्य । अप्रमेयस्य मीमांसादिन्यायनिरपे-क्षतयाऽनवगम्यमानप्रमेयस्य । कार्यमनुष्ठेयमग्निष्टोमादि तत्त्वंब्रह्म सत्यंज्ञानमनन्तंब्रह्मेत्यादिवेदान्तवेद्यं तदेवार्थःप्रतिपा-द्यभागस्तंवेत्तीति कार्यतत्त्वार्थवित् । मेधातिथिस्तु कर्ममीमांसावासनया वेदस्य कार्यमेव तत्त्वरूपोऽर्थः स्तंवेत्तीतिकार्य-तत्त्वार्थं विदिति व्याचष्टे तन्न । वेदानांब्रह्मण्यपि प्रामाण्याभ्युपगमान्कार्यमेव तत्त्वरूपोऽर्थः । धर्माधर्मव्यवस्थापन-समर्थत्वात्प्रभोइति संबोधनम् ॥ ३ ॥

(४) राघवानन्दः । त्वमिति । अस्य प्रत्यक्षादिसिद्धस्य सर्वस्य स्मृत्याद्यनुमेयस्य विधीयतेकर्मानेनेति विधानंवेदः तस्यविधानस्याग्निहोत्रादिकर्मकलापबोधकस्येति यावत् स्वयंभुवोऽपौरुषेयस्य ब्रह्मस्वयंभूरिति श्रुतेः । स्वयंभूरेषभगवान्वे-दोगीतस्त्वयापुरा । शिवाद्याऋषिपर्यन्ताःस्मर्तारोऽस्यनकारकाइतिस्मृतेश्च । अचिन्त्यस्य अनेकशाखाभेदभिन्नत्वादियत्त-यापरिच्छेत्तुमशक्यस्य । अप्रमेयस्य दुरधिगमार्थस्य अनेनार्थतोऽप्यचिन्त्यत्वमुक्तम् । कार्यतत्त्वार्थवित् कार्यधर्मः तदेववे-दस्यतात्पर्यविषयत्वात्तत्त्वं तद्वेत्तीति । तथेतिमेधातिथिः । वस्तुतस्तुकार्यधर्मः तत्त्वार्थोब्रह्म तदुभयवेदार्थस्तद्वित् अन्यथा-ज्ञानकाण्डस्य अप्रामाण्यापत्तिः कृत्स्नवेदार्थावित्त्वापत्तेश्च प्रभोइत्युभयकथने सामर्थ्यमुक्तम् ॥ ३ ॥

(५) नन्दनः । विधीयतइति विधानम् । स्वयंभुवा भगवता विहितस्यअचिन्त्यस्य दुर्ज्ञानस्य । अप्रमेयस्यअपर्यन्त-स्य । सर्वस्यप्राणिजातस्य । कार्यधर्मस्तस्यतत्त्वंपारमार्थ्यतस्यार्थःप्रयोजनमभ्युदयसिद्धिरूपंतत्त्वमेकोवेत्सि तेन भवानेव प्रष्टव्योनान्यइति ॥ ३ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्वमिति । एकःअद्वितीयः हिहेत्वर्थः । अस्य विधानस्य सर्वस्य चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य उद्भिदस्वेद-जाण्डजजरायुजस्येत्यर्थः । कार्यतत्त्वार्थवित्त्वेत्तासि हे प्रभो मनो यःप्रभुःसर्वजानातीत्यर्थः । तथा स्वयंभुवोऽपौरुषस्य

कार्यतत्त्वार्थवित् । कीदृशस्य स्वयंभुवः अचिन्त्यस्य वाङ्मनसाभ्यामचिन्त्यप्रभावस्य । पुनः कीदृशस्य अप्रमेयस्य ॥ ३ ॥

सतैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजामहात्मभिः ॥ प्रत्युवाचार्य्यतान्सर्वान्महर्षीञ्छ्रूयतामिति ॥ ४ ॥

(१) मेधातिथिः । समनुरमितौजास्तैर्महर्षिभिर्महात्मभिः पृष्टस्तथा तानप्रत्युवाच श्रूयतामिति । तथा तेन प्रागुक्तेन प्रकारेण । पृष्ठ्यमानवस्तुप्रश्रविधिश्च प्रकारवचने तथाशब्देऽन्तर्भूतः । तेनायमर्थस्तथापृष्टस्तान्धर्मान्पृष्टः प्रत्युवाच । अथवा तथेतिप्रकारमात्रमाचष्टेपृष्टइतिपूर्वश्लोकात्पृच्छ्यमानविशेषोबुद्धौ विपरिवर्ततएव । तेन यत्पृष्टस्तत्प्रत्युवाच श्रूयतामिति प्रश्रप्रतिवचनयोरेककर्मता सिद्धा भवति । तदाच तथाशब्दः श्लोकपूरणार्थः । आद्ये तु व्याख्याने तथाशब्दोप्राप्तैव प्रश्रप्रतिवचनयोरेककर्मता । सम्यक्शब्दः प्रतिवचनविशेषणसम्यक्प्रत्युवाच । प्रसन्नेन मनसा न क्रोधादियोगेन । अमितौजाअक्षीणवाग्विभवोमितमनन्तमोजोवीर्यमभिधानसामर्थ्यमस्येति । महात्मतयामहर्षीणांधर्मशब्दत्वंमहर्षित्वंचाविरुद्धमित्याह महर्षीनिति । परार्थकारी सततमहात्मेत्युच्यते । तेन यद्यपि स्वयंविद्वांसोऽधिगतयाथातथ्या अन्यथा महर्षित्वानुपपत्तेस्तथापि परार्थमपृच्छन् । मनुःप्रख्याततरप्रमाणभावः । एतेनयदुच्यते तल्लोकेनाद्रियते । प्रत्ययतोऽयंसमुपास्यतेऽतः शास्त्रावतारार्थमुपाध्यायीकुर्मः । अस्माभिश्चपृच्छ्यमानःप्रमाणतरीकरिष्यतेऽनेनेति । अतएवाच्यतान्सर्वानित्यर्चनमविरुद्धम् । अन्यथाशिष्यस्योपाध्यायात्कीदृश्येति । अर्चयतेराङ्पूर्वस्यल्यबन्तस्यरूपमार्च्येति । पाठान्तरमर्चयित्वा तानिति । अत्र यथोच्यते । यदिमनुनाऽयंग्रन्थःकृतः परोपदेशो न युक्तः सतैःपृष्टःप्रत्युवाचेत्यहंपृष्टःप्रत्यब्रवमिति न्याय्यम् । अथान्यतरएव ग्रन्थस्य कर्ता मानवव्यपदेशः कथमिति । तदाचाद्यप्रायेण ग्रन्थकाराः स्वमतंपरापदेशेन ब्रुवते । अत्राह अत्र परिहरन्तीत्येवमहंतैः पृष्टइति । योयः पूर्वतरःसप्तप्रमाणतरोलोकेनाभ्युपगम्यते । तत्प्रमाणंबादरायणस्येति । अथवा भृगुश्रोक्ता संहितेत्यमानवीतुस्मृतिरूपनिबद्धेति मानवव्यपदेशः । प्रत्युवाचतान्महर्षीन् किंतद्यदहंपृष्टस्ततःश्रूयतामिति ॥ ४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सतैरिति । सम्यग्विनयाभ्युपेतंयथाभवति । अमितौजा अमितबलः । आर्च्यार्चयित्वा ॥ ४ ॥

(३) कुड्मकः । सतैःपृष्टस्तथा सम्यगित्यादि । समनुस्तैर्महर्षिभिस्तथा तेन प्रकारेण पूर्वोक्तेन न्यायेन प्रणतिभक्तिश्रद्धातिशयादिना पृष्टस्तान्सम्यग्यथातत्त्वंप्रत्युवाच श्रूयतामित्युपक्रम्य । अमितमपरिच्छेद्यमोजःसामर्थ्यज्ञानतत्त्वाभिधानादौ यस्य सतथा । अतएव सर्वज्ञसर्वशक्तितया महर्षीणामपि प्रश्रविषयः । महात्मभिर्महानुभावैः आर्च्य पूजयित्वा आङ्पूर्वस्यार्चतेत्यल्यबन्तस्यरूपमिदम् । धर्मस्याभिधानमपि पूजनपुरःसरमेव कर्तव्यमित्यनेन फलितम् । ननु मनुप्रणीतत्वेऽस्य शास्त्रस्य सपृष्टःप्रत्युवाच इति न युक्तमहंपृष्टोब्रवीमीति युज्यते ऽन्यप्रणीतत्वे च कथंमानवीयसंहितेति । उच्यते प्रायेणाचार्याणामियंशैली यत्त्वाभिप्रायमपि परोपदेशमिव वर्णयन्ति । अतएव कर्माण्यपि जैमिनिःफलार्थत्वादिति जैमिनेरेव सूत्रम् । अतएव तदुपर्यपि बादरायणःसंभवादिति बादरायणस्यैव शारीरकसूत्रम् । अथवा मनूपदिष्टाधर्मास्तच्छिष्येण भृगुणा तदाज्ञयोपनिबद्धाः । अतएव वक्ष्यति एतद्वोऽयंभृगुःशास्त्रंश्रावयिष्यत्यशेषतइत्यतोयुज्यतएव सपृष्टःप्रत्युवाचइति । मनूपदिष्टधर्मोपनिबद्धत्वाच्च मानवीयसंहितेति व्यपदेशः ॥ ४ ॥

(४) राघवानन्दः । तैर्महर्षिभिःपृष्टःसमनुरमितौजा धर्मब्रह्मणोवेदने शक्त आर्च्य संपूज्य श्रूयतामित्याह ॥ ४ ॥

(५) नन्दनः । आर्च्य भवन्तएवसर्वधर्मज्ञा इतिवाचा संभाव्य । आत्मनः प्रवचनादरप्रकर्षार्थमुक्तं श्रूयतामिति ॥ ४ ॥

(६) रामचन्द्रः । सइति तैर्महर्षिभिःसमनुःसम्यग्यथा स्यात्तथा पृष्टःसंस्तान् सर्वान्महर्षीन्प्रति श्रूयतामित्यभ्यर्च्य संपूज्योवाच । कीदृशःमनुःअमितौजाःअमितंओजःप्रभावोयस्यसः ॥ ४ ॥

आसीदिदंतमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ॥ अप्रतर्क्यमविज्ञेयंप्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ ५ ॥

(१) मेधातिथिः । कास्ताऽऽक निपतिताःशास्त्रोक्तनिपतितान् धर्मान्पृष्टस्तानेव वक्तव्यतया प्रतिज्ञाय जगतोव्या-
कृतावस्थावर्णनमप्रकृतमपुरुषार्थं च । सोऽयंसत्योजनप्रवादः आभानपृष्ट कोविदारानाचष्टइति । नचास्मिन्वस्तुनि प्रमाणं-
नचप्रयोजनमित्यतः सर्वेवायमध्यायो नाध्येतव्यः । उच्यते । शास्त्रस्यमहाप्रयोजनत्वमनेनसर्वेण प्रतिपाद्यते । ब्रह्माद्याः
स्थावरपर्यन्ताः संसारगतयोधर्माधर्मनिमित्ता अत्र प्रतिपाद्यन्ते । तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुनेति । वक्ष्यति च । एता-
दृष्टातु जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा । धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मनइति॥ ततश्च निरतिशयैश्वर्यहेतुर्धर्मस्तद्विपरी-
तश्चाधर्मस्तद्रूपपरिज्ञानार्थमिदंशास्त्रमहाप्रयोजनमध्येतव्यमित्यध्यायतात्पर्यम् । सूत्रंत्वत्र मन्त्रार्थवादाः सामान्यतोदष्टं च ।
तथाचमन्त्रः॥ तमआसीत्तमसा गूळहमयेप्रकैतं सलिलं सर्वमाइदंतुच्छेनाभ्वपिहितंयदासीत्तमसस्तन्महिनाजायतैकम् । चन्द्रार्का
भ्यादिषु बाह्याध्यात्मिकेषु महाप्रलये प्रकाशेकेषु नष्टेषु तमएवकेवलमासीत् । तदपि तमः स्थूलरूपतमसा रूढंसंवृत्तम् । न
हि तदानींकश्चिदपि ज्ञाताऽस्ति । अतोज्ञातुरभावान्न कस्यचित्तुज्ञानमस्तीति तमसागूढमुच्यते । अग्रे भूतसृष्टेरवा-
कृषकेतमज्ञातंसर्वं आः आसीदिदंसलिलंसरणधर्मकम् । क्रियावद्यार्त्तिकचिच्छेषावत्तत्सर्वं निश्चेष्टमासीत् । तुच्छेन सूक्ष्मेणा
भूस्थूलमपिहितंप्रकृत्यात्मनि विशेषरूपंलीनमित्यर्थः । एतावता ऽध्याकृतावस्था जगतोद्योतिता । चतुर्थेन पादेना-
द्या सृष्ट्यवस्थोच्यते । तमसस्तन्महिना महत्त्वेननैकंयदासीत्तदजायत विशेषात्मनाऽभिव्यज्यतेस्म । कर्मवशात्पुनः
प्रादुर्बभूवेत्यर्थः । अथवा तस्यामस्थायांतमःकर्मणा महत्त्वेनहिरण्यगर्भआत्मनाऽजायत प्रादुरासीत् । यथावक्ष्यति ततः-
त्वयंभूरिति । सामान्यतोदष्टेन महाप्रलयेऽपि संभाव्यते । यस्य ह्येकदेशे नाशोदष्टस्तस्य सर्वस्यापि नाशोदक्ष्यते । यथा
शालापि क्वचिद्दहमाना दष्टा कदाचित्सर्वोग्रामोदहते । ये च कर्तृपूर्वाभावास्ते सर्वे विनश्वरा गृहप्रासादादयःकर्तृपूर्वचेदं-
जगत्सरित्समुद्रशैलाद्यात्मकम् । अतोऽगृहादिवन्नंद्यतीति संभाव्यते । कर्तृपूर्वतै व न सिद्धेतिचेत्तन्निवेशविशेषवत्त्वादिना
गृहादिवत्सापि साध्यतइत्यादि सामान्यतोदष्टम् । नच प्रमाणसिद्धौ तद्रूपेण वा प्रयतामहे ऽनिदंपरत्वाच्छास्त्रस्य ।
एतद्वियावन्न किंचार्थनिरूपितं तावन्न सम्यगवधार्यते । तथा निरूपणे च तर्कशास्त्रता स्यान्नधर्मशास्त्रता ग्रन्थ-
विस्तरश्च प्रसज्यते । प्रक्रियाबहुलं चेदंसर्वमुपन्यसिष्यते । क्वचित्पौराणी प्रक्रिया क्वचित्सांख्यानम् । नतया ज्ञातयाऽ-
ज्ञातया वा कश्चिद्धर्माधर्मयोर्विशेषइतिनिपुणतया न निरूप्यते । अर्थिताचेत्तत्त्वान्वेष्या पदार्थयोजना । व्याख्यानमात्रं-
त्वध्यायस्योपदिश्यते तदेवकरिष्यामः । तात्पर्यमुपदर्शितमेव । आसीदिदंजगत्तमोभूतं तमइव । भूतशब्दोऽनेकार्थोऽप्युप-
मायांप्रयुक्तोयथा यत्तद्भिन्नेष्वभिन्नंछिन्नेष्वच्छिन्नंसामान्यभूतंसशब्दइतिसामान्यभूतइति सामान्यमिवेत्यर्थः । किंतमसा
जगतः सादृश्यमतआह । अप्रज्ञातंविशेषाणांस्वभावानांविकाराणांप्रकृतावुपलयनादतः प्रत्यक्षेणाज्ञातम् । अनुमानात्तर्हि
ज्ञायेत । तदपिचालक्षणम् । लक्षणंलिङ्गंचिन्हंतदपि तस्यामवस्थायां प्रलीनमेव सर्वविकाराणांविशेषात्मना विनष्टत्वात् ।
अप्रतर्क्ययद्रूपमासीत्कर्तृयितुमपि न तद्रूपतया शक्यम् । तर्कप्रकारमनुमानंनिषेधति । नसामान्यतोदष्टमनुमानमस्ति ।
तद्रूपकावेदकं विशेषतोदष्टमतश्चाविज्ञेयम् । नैवतर्ह्यसीदसदेवाजायतेति प्राप्तमेतन्निषेधति प्रसुप्तमिव सर्वतः । नासतः-
सतउत्पत्तिः । उक्तंच सदेव सोम्येदमग्रआसीत् कथमसतःसजायेतेत्याद्युपनिषत्सु । अतश्च विज्ञेयमवच्छेदविषयैः
प्रमाथैरागमात्तादृशदेव गम्यते । प्रसुप्तमिव जाग्रत्त्वभवत्तांपरित्यज्य संप्रसादावस्था सुषुप्तिर्दृष्टान्तत्वेनोपात्ता यथायमात्मा-
सुषुप्तावस्थायांनिःसंबोधेक्षेत्रध्वस्ताशेषविकल्पआस्ते नचनास्तीतिशक्यते वक्तुं प्रबुद्धस्य सुखमस्वाप्समितिप्रत्य

भिज्ञानदर्शनात् । एवंजगदागमात्सिद्धार्थरूपादाभासानुमानेभ्यश्चतार्किकाणामवसीयते । आसीदिति । वर्तमानातुसावस्थान-
कस्यविज्ञेयेत्यतउक्तमविज्ञेयंसर्वतोऽनैकदेशप्रलयइत्यर्थः ॥ ५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्रच वर्णक्रमेण धर्मकथनस्याकाङ्क्षितत्वात् सर्वदेवसंभवतत्त्वोक्तिज्ञानाद्ब्राह्मणादिवर्णा-
नांपूर्वपूर्वश्रेष्ठ्यप्रतिपादनस्येष्टत्वेन मुखादिविशिष्टस्थानोत्पादनेन च तेषांश्रेष्ठत्वात् तदभिधानार्थशास्त्रप्रणायकब्रह्मोत्पत्ति-
प्रकारंच कथयितुंस्वस्यनिष्पत्तिजननद्वारा तत्पूर्वावस्थांतावदाह आसीदिदमिति । ततःशब्देन गुणैकदेशवाचिना तत्समु-
दायभूता प्रकृतिरुक्ता । जगतश्चोत्पत्तिसंमूढात्मकत्वेन तस्य सुप्रतिपादत्वात् । अप्रज्ञातंप्रत्यक्षागम्यम् । अलक्षणमलिङ्गम् ।
अप्रतर्क्यमतर्कविषयम् । अविज्ञेयंशब्दादिहीनतयाविशेषतोज्ञातुमशक्यम् । अधुनापि शब्दतःप्रतीयमानं यथाप्रतीयते तदाह
प्रसुममिवेति । वासनाकर्मशेषाणां पुरुषाणामवस्थानात्तत्त्वस्वरूपसाम्यम् । सर्वतःसर्वैःप्रकारैः । अतएवोक्तमिवेति ॥ ५ ॥

(३) कुडूकः । श्रूयतामित्युपक्षिप्तमर्थमाह आसीदिदमिति । ननु मुनीनांधर्मविषयप्रश्ने तत्रैवोत्तरंदातुमुचितं त-
त्कोयमप्रस्तुतः प्रलयदशायां कारणलीनस्य जगतःसृष्टिप्रकरणावधारः । अत्र मेधातिथिः समादधे । शास्त्रस्य महाप्रयो-
जनत्वमनेन सर्वेणप्रतिपाद्यते । ब्रह्माद्याःस्थावरपर्यन्ताःसंसारगतयोधर्माधर्मनिमित्ताअत्र प्रतिपाद्यन्ते तमसा बहुरूपेण वे-
ष्टिताःकर्महेतुनेति । वक्ष्यति च । एतादृष्ट्यास्य जीवस्य गतीःस्वेनैव चेतसा । धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदामनइति^१
ततश्च निरतिशयैश्वर्यहेतुर्धर्मस्तद्विपरीतश्चाधर्मस्तद्रूपपरिज्ञानार्थमिदंशास्त्रंमहाप्रयोजनमध्येतद्यमित्याद्यध्यायतात्पर्यमित्य-
न्तेन गोविन्दराजस्यापीदमेव समाधानम् । नैतन्मनोहरम् धर्मत्वरूपप्रश्ने यद्धर्मस्य फलकीर्तनंतदप्यप्रस्तुतम् । धर्मोक्तिमा-
त्राद्धि शास्त्रमर्थवत् । किंच कर्मणांफलनिर्वृत्तिंशंसेत्युक्ते महर्षिभिर्द्वादशे वक्ष्यमाणा सा वक्तुमादौ न युज्यते । इदंतु वदामः
मुनीनांधर्मविषये प्रश्ने जगत्कारणतया ब्रह्मप्रतिपादनंधर्मकथनमेवेति नाप्रस्तुताभिधानम् । आत्मज्ञानस्यापि धर्मरूप-
त्वान्मनुनैव धृतिःक्षमादमोऽस्तेयंशौचमिन्द्रियनिग्रहः धीर्विद्या सत्यमक्रोधोदशकंधर्मलक्षणमिति दशविधधर्माभिधा-
ने विद्याशब्दवाच्यमात्मज्ञानंधर्मत्वेनोक्तम् । महाभारतेऽपि आत्मज्ञानंतितिक्षा च धर्मःसाधारणोऽनृपेत्यात्मज्ञानंधर्म-
त्वेनोक्तम् । याज्ञवल्क्येन तु परमधर्मत्वेन यदाह इज्याचारदमार्हंसादानंस्वाध्यायकर्म च । अयंतु परमोधर्मोऽयद्योगे-
नात्मदर्शनमिति । जगत्कारणत्वंच ब्रह्मलक्षणमतएव ब्रह्ममीमांसायांअथातोब्रह्मजिज्ञासेति सूत्रानन्तरंब्रह्मलक्षणक-
थनाय जन्माद्यस्य यतइति द्वितीयसूत्रंभगवानूवादायःप्रणिनाय अस्य जगतोयतोऽज्जन्मादिसृष्टिस्थितिप्रलयमितिसूत्रा-
र्थः । तथा च श्रुतिः । यतोवाइमानि भूतानि जायन्ते येनजातानिजीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिःसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व ।
तद्वल्लेतिप्राधान्येन जगदुत्पत्तिस्थितिलयनिमित्तोपादानब्रह्मप्रतिपादनमआत्मज्ञानरूपपरमधर्मावगमाय प्रथमाध्यायंकृत्वा
संस्कारादिरूपंधर्मतदङ्गतया द्वितीयाध्यायादिक्रमेण वक्ष्यतीति न कश्चिद्विरोधः । किंच प्रश्नोत्तरवाक्यानामेव स्वरसादयं-
मदुक्तोऽर्थोलभ्यते । तथाहि धर्मे पृष्टे मनुर्ब्रह्म जगतःकारणंभुवन् । आत्मज्ञानंपरंधर्मवित्तेति व्यक्तमुक्तवान् ॥ प्राधा-
न्यात्प्रथमाध्याये साधु तस्यैव कीर्तनम् । धर्मोऽन्यस्तु तदङ्गत्वाद्युक्तोवक्तुमनन्तरम् ॥ इदमित्यध्यक्षेण सर्वस्यप्रतिभा-
समानत्वात् जगन्निर्दिश्यते । इदंजगत्तमोभूतंतमसि स्थितंलीनमासीत्तमःशब्देन गुणवृत्त्या प्रकृतिर्निर्दिश्यते । तमइवतमः।
यथा तमसि लीनाःपदार्थाअध्यक्षेण न प्रकाश्यन्त एवंप्रकृतिलीनाअपि भावानावगम्यन्तइति गुणयोगः । प्रलयकाले
सूक्ष्मरूपतया प्रकृतौलीनमासीदित्यर्थः । तथाच श्रुतिः । तमआसीत्तमसा गूळहमग्रइति । प्रकृतिरपि ब्रह्मात्मनाऽव्या-
कृतासीत् । अतएवाप्रज्ञातमप्रत्यक्षंसकलप्रमाणश्रेष्ठतया प्रत्यक्षगोचरःप्रज्ञातइत्युच्यते तन्न भवतीत्यप्रज्ञातम् अलक्षणमन-

नुमेयं लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं लिङ्गंतदस्य नास्तीति अलक्षणम् अप्रतर्क्यतर्कयितुमशक्यमदानीं वाचकस्थूलशब्दाभावात्तच्छब्दतोऽप्यविज्ञेयम् । एतदेव च प्रमाणत्रयंसतर्कद्वादशाध्याये मनुनाभ्युपगतमद्भुतएवाविज्ञेयमित्यर्थापत्त्याद्यगोचरमिति धरणी-धरस्यापि व्याख्यानम् । न च नासीदेवेति वाच्यंतदानीं श्रुतिसिद्धत्वात् । तथा च श्रूयते तद्देदंतर्ह्यव्याकृतमासीच्छान्दोग्योपनिषच्च सदेव सौम्येदमग्र आसीदिदं जगत्सदेवासीद्ब्रह्मात्मना आसीदित्यर्थः । सच्छब्दो ब्रह्मवाचकः अतएव प्रसुप्तमिव सर्वतः । प्रथमार्थे तसिः स्वकार्याक्षममित्यर्थः ॥ ५ ॥

(४) राघवानन्दः । धर्मोपयोगिचातुर्वर्ण्यस्योत्पत्तिक्रमेणैव प्राधान्याप्राधान्यं मुखतो वक्तुं ब्रह्मज्ञानाय सृष्टेराविद्यकत्वं प्रकटयच्छ्रोतव्यमाह आसीदित्यादि यावत्समाप्ति । इदमिदानीं प्रमाणषट्कजधीयोग्यं जगत्सृष्टेः पूर्वतमोभूतं तमः प्रधाना विद्यातदवच्छिन्नं ब्रह्म तद्भूतं तत्प्राप्तं तत्तादात्म्यगतं न तु तद्यतिरेकेणोपलब्धमासीदितियावत् । तेन शून्यमतं निरात्ममतं च निरस्तमतो ब्रह्ममात्रपरिणतिरिति भास्करमतं परमाणुपादानमतं च निरस्तं स्वात्ममतः स्वीकृतेः । तथा च श्रुतयः सदेवसौम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मैवेदमग्र आसीत् तद्देदंतर्ह्यव्याकृतमासीत् नासदासीन्नोसदासीत्तम आसीत् नैवेह किंचनाग्र आसीत् मृत्युर्नैवेदमावृतमासीदित्यनेनात्र ब्रह्मैवोपक्रान्तं संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिमिति । मध्येऽपि तदेव परासृष्टं ब्रह्मात्ते च एवंयः सर्वभूतेषु पश्यन्नात्मानमात्मना । स सर्वसमतमेत्यब्रह्माभ्येति परंपदमिति ॥ अत्र चाप्रज्ञातमिति कीर्तनादपूर्वता ऽऽद्यन्तमध्ये कथनादभ्यासः परमां गतिमिति फलमिति त्रितयं दर्शितम् । तथा आत्मैवेदेवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् आत्मा हि ज्ञानयत्येषां कर्मयौगं शरीरिणामित्यर्थवादोपपत्ती दर्शिते तस्मादुपक्रमादिषड्विधलिङ्गोपेतं ब्रह्मैवात्र विवक्षितम् । तथा च उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् । अर्थवादोपपत्ती चलिङ्गतात्पर्यनिर्णयइतितच्छेषता धर्मस्य । तथा च श्रुतिः तमेव वेदानुवचने न ब्राह्मणाविविदिषन्ति यज्ञेन दानेनेत्यादि । तथा धर्मेण पापमपनुदतीति श्रुतिः । स्मृतिरपि ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः । सर्वकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यत इत्यादिका । तदर्थं धर्मोपदेशोऽत्रैव सर्वेषु क्रमशस्त्वेत यथाशास्त्रं निषेविताः । यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परंपदमिति । सर्वेऽत्रोक्ता धर्मधीद्वारेणैति शेषोऽन्यथा न तत्र दक्षिणायन्ति नाविद्वांसोऽतपस्विन इति श्रुतेर्बाधः । तथा तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्थाविद्यतेऽयनायेति च । अनेन धीकर्मणोः कार्यकारणपरत्वप्रतीतैस्तयोः समविषमसमुच्चयोऽपि निरस्तः । तथात्रैव । सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न निबध्यते । दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यत इति । तस्माद्ब्रह्मधीशेषता धर्मस्य । धर्मस्तु देहादिस्मृष्टिर्विना नेतीयं सृष्टिद्वारिकासंगतिः शास्त्रस्येति । अप्रज्ञातमनुपलब्धं प्रत्यक्षेण तेन चार्वाकमतं निरस्तम् । अलक्षणं लक्षणमनुमानंतदगम्यं तेन साङ्ख्यमतं निरस्तं तेषां प्रकृतेर्नित्यानुमेयत्वात् । अप्रतर्क्यतर्कवेद्यं तेन नैयायिकमतं निरस्तम् । अविज्ञेयंतदानीमागतः तेन मीमांसकमतं निरस्तम् । तर्ह्यसन्नेत्याह प्रसुप्तमिव सर्वतः सर्वेषां सुप्तिरिव तत्र यथात्मभावं गतस्य विश्वस्य तस्मादेवोत्पत्तिस्तथाह । यथा अग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः प्रभवन्ति सरूपा एव मेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे वेदाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति जायन्ते तथान्यत्रापि मृत्युर्नैवेदमावृतमासीद् कथमसतः सज्जायेत नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत् इत्यादि श्रुतिस्मृति शतेनावगतसत्तत्त्वस्य नासत्त्वम् ॥ ५ ॥

(५) नन्दनः । तत्र सर्वतत्त्वेन सृष्टेः प्रथमं वक्तुमुचितत्वात्तां विवक्षुस्ततः पूर्वस्यां प्रलयावस्थायां जगदवस्थानं तावदाह आसीदिति । सर्वतः सर्वमिदं कार्यजातम् तमोमूलप्रकृतिः तत्तद्भूतकार्यावस्थां विहाय कारणतामधिगतम् । अलक्षणं लक्षणमाकारो धर्मः गन्धरसादिधर्मरहितमिति यावत् । अनेन प्रत्यक्षाविषयत्वमुक्तम् । अप्रतर्क्यमित्यनुमानाविषयत्वमुक्तम् । अविज्ञेयमित्यागमाविषयत्वमुक्तम् । एवं प्रमाणत्रयाऽगोचरत्वात्प्रज्ञातमुपरतक्रियत्वात्प्रसुप्तमिवासीत् ॥ ५ ॥

(६) रामचन्द्रः । आसीदिति । मनुर्वाच इदं विश्वं पूर्वतमोभूतमासीत् । कीदृशं विश्वं नै प्रज्ञातं कैश्चित् न प्रकर्षेण ज्ञातं

नलक्षणं पूर्वापरं वा यस्य तदलक्षणम् पुनः कीदृशं विश्वं अप्रतर्क्यतर्कागोचरं तथाऽविज्ञेयं किमिव सर्वतः प्रसुप्तमिव ॥ ५ ॥

ततः स्वयं भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ॥ महाभूतादिवृत्तौ जाः प्रादुरासीत्तमो नुदः ॥ ६ ॥

(१) मेधातिथिः । तस्यामहारात्र्या अनन्तरं स्वयं भवतीति स्वयंभूः स्वेच्छया कृतशरीरपरिग्रहो न संसार्यात्मवत्कर्म परतन्त्रशरीरग्रहणमस्य । अव्यक्तो ध्यानयोगाभ्यासभावनावर्जितानामप्रकाशः अथवा अव्यक्तमिदमित्येवंपठितव्यम् । इदमव्यक्तावस्थं व्यञ्जयन् स्थूलरूपैर्विकारैः प्रकाशमानयन् । यदिच्छया पुनर्जगत्प्रादुर्भवति प्रादुरासीत् । प्रादुःशब्दः प्राकाश्ये । तमो नुदः तमो महाप्रलयावस्था तां नुदति विनाशयति पुनर्जगत्सृजत्यतस्तमो नुदः । महाभूतानि पृथिव्यादीनि । आदिग्रहणात्तद्गुणाः शब्दादयोगृह्यन्ते तेषु वृत्तं प्राप्तमोजोवीर्यं सृष्टिसामर्थ्यस्य । स एव मुक्तः स्वयमसमर्थानि महाभूतानि जगन्निर्वर्तयितुं यदा तन्तु तेन तत्र शक्तिराधीयते तदा वृत्ताद्यात्मना विक्रियन्ते । ननु प्रकृतिशक्त्यवस्थानि प्रकृतिरूपापन्नानि महाभूतानि जगत्सर्गादौ महाभूतशब्देनाभिप्रेतानि । पाठान्तरं महाभूतानुवृत्तौ जाइति । अनुवृत्तमनुगतमिति प्रागुक्तएवार्थः ॥ ६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तत इति । स्वयंभूर्भगवान् जगज्जननोचितवीर्यवानव्यक्तः प्रत्यक्षागम्यः परमात्मा व्यञ्जयन्निदं महाभूतेन्द्रियप्रकृतिव्यक्तं कुर्वन्नेव प्रादुरासीद्यत्कोऽभवत् । जगतस्तदुपादेयस्य व्यक्तिरेव तद्यत्किर्नान्येत्यर्थः । महाभूतानामादौ सृष्टेरथे वृत्तौ जाः प्रवृत्तबलः सृष्टौ तमो नुदो मोहापनोदकः सृष्टौ प्रलयकालिकतमोऽभिभवेन रजसः प्राबल्यात् ॥ ६ ॥

(३) कुड्डुकः । अथ किमभूदित्याह ततः स्वयंभूर्भगवानित्यादि । ततः प्रलयावसानानन्तरं स्वयंभूः परमात्मा स्वयं भवति स्वेच्छया शरीरपरिग्रहं करोति न त्वितरजीववत्कर्मयत्तदेहः । तथा च श्रुतिः । स एकधा भवति द्विधा भवति । भगवानैश्वर्यादिसंपन्नः । अव्यक्तो बाह्यकरणागोचरो योगाभ्यासावसेय इति यावत् । इदं महाभूतादि आकाशादीनि महाभूतान्यादिग्रहणान्महादीनि च व्यञ्जयन् अव्यक्तावस्थं प्रथमं सूक्ष्मरूपेण ततः स्थूलरूपेण प्रकाशयन् । वृत्तौ जावृत्तमप्रतिहतमुच्यतेऽतएव वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमइत्यत्र वृत्तिरप्रतिघातइति व्याख्यातं जयादित्येन । वृत्तमप्रतिहतमोजः सृष्टिसामर्थ्यस्य स तथा । तमो नुदः प्रकृतिप्रेरकः । तदुक्तं भगवद्गीतायाम् मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरमिति ॥ प्रादुरासीत्प्रकाशितो बभूव । तमो नुदः प्रलयावस्थाध्वंसकइति तु मेधातिथिगोविन्दराजौ ॥ ६ ॥

(४) राघवानन्दः । एवंकारणात्मना लयमुक्त्वा सृष्टिमाह तत इति । ततः प्रलयानन्तरं स्वयंभूः स्वभवनेऽन्यानपेक्षोऽनादिरित्युक्तम् । तस्य सृष्टिसामर्थ्यद्योतयति भगवानिति । उत्पत्तिं च विनाशं च भूतानामागतिं गतिम् । वेत्ति विद्यामविद्यां च सवाच्यो भगवानित्युक्तेः । अव्यक्तः उपनिषच्छब्दातिरिक्तप्रमाणागम्यः । तथा च श्रुतिः । तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामीति व्यञ्जयन् वटकणिकायां स्थितं वटवृक्षं वटकणिकेव इदं । तदा तमोभूतमविद्याद्वाराऽऽत्मन्यन्तर्लीनं व्यञ्जयन् व्यक्तामापादयन् प्रादुरासीत् कार्योन्मुखोऽभूदित्यन्वयः । तथा च श्रुतिः तदात्मानं स्वयमकुरुतेति । तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतइति । कथंभूतः महाभूतादिवृत्तौ जाः महाभूतादिर्महाभूतस्यादिरहङ्कारतत्त्वं तत्र वृत्तसृष्टिकारणसामर्थ्यलक्षणमोजो यस्य सः । तमो नुदः तमोऽभिभवरूपः सत्त्ववृत्तिरीक्षणं कुर्वाणः । तथा च श्रुतिः तदैक्षत ब्रह्मस्यां प्रजायेयेति । एतदेवेक्षणं महत्तत्त्वं बुद्धिर्महानित्युक्तेः ॥ ६ ॥

(५) नन्दनः । विस्तरेण जगत्सृष्टिं वक्ष्यन् सृष्टारं सृज्योपादानं सृज्यं च संक्षिप्य तावदाह तत इति । ततः प्रलयावसाने । स्वयमेव सर्वदा भवतीति स्वयंभूः । भगवाञ्ज्ञानबलैश्वर्यशक्तितेजोरूपः । अव्यक्तो दुर्विज्ञानः । विशेषणत्रयेण परस्य पुंसो नि

त्यत्वंस्वरूपमहिमा चोच्यते । तमोनुदःप्रकृतेः प्रेरकः परिणमयिता । महाभूतादिवृत्तौजास्तद्गुणसंविज्ञानोबहुव्रीहिः । तेषु महाभूतादिषु चतुर्विंशतितत्त्वेषु प्रवृत्तव्रीर्यः । अनयोर्विशेषणयोश्चायमर्थः । चतुर्विंशतितत्त्वानि तदनुप्रविष्टं च भगवद्वीर्यजगदुपादानमिति । इदंकार्यजातं व्यञ्जयन्नाविष्कुर्वन्प्रादुरासीत् । प्रादुर्भावश्चात्रतत्त्वानुप्रविष्टस्य भगवतः शरीरवत्त्वेन व्यक्तीभावः ॥ ६ ॥

(६) रामचन्द्रः । ततइति । ततस्तस्मात्कारणादव्यक्तो भगवानिदं विश्वं व्यञ्जयन् प्रादुरासीद्यतः स्वयंभूः । कीदृशः तमोनुदः प्रकाशकर्ता । पुनः कीदृशः महाभूतादिर्महदादीनि भूतानि तेषामादिः । पुनः कीदृशः वृत्तौजामहदादीनां भूतानामादौ प्रधाने वृत्तौजावृत्तबलः ॥ ६ ॥

योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ॥ सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्भूतौ ॥ ७ ॥

(१) मेधातिथिः । योसाविति सर्वनामभ्यां सामान्यतः प्रसिद्धमिव परब्रह्मोद्दिशति । योऽसौ वेदान्तेष्वन्यासु चाभ्यात्मविद्यावित्तिहासपुराणेषु च प्रसिद्धो वक्ष्यमाणैर्धर्मैः स एष प्रादुरासीदित्यत्रोक्तः स्वयमुद्भवावुद्भूतः शरीरग्रहणं कृतवान् । भातिरनेकार्थत्वादुद्भवे वर्तते । अथवा दीप्त्यर्थे एव स्वयंप्रकाशआसीन्नादित्याद्यालोकापेक्षः । इन्द्रियाणामन्ययोऽतीन्द्रियम् । अव्ययीभावः । अतीन्द्रियग्राह्यः सुप्सुपेति समासः । इन्द्रियाण्यतिक्रम्य गृह्यते न कदाचिदिन्द्रियस्य गोचरः । अन्यदेव तद्योगजज्ञानयेन गृह्यते । अथवेन्द्रियाण्यतिक्रान्तमतीन्द्रियं मन उच्यते । परोक्षत्वादिन्द्रियाणामविषयः । तथा च वैशेषिकायुगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्भनसोलिङ्गमित्यानुमानिकत्वं मनसः प्रतिपन्नास्तेन गृह्यते । तथा च भगवान्च्यासः । नैवासौ चक्षुषा ग्राह्यो न तु शिष्टैरपीन्द्रियैः । मनसा तु प्रयत्नेन गृह्यते सूक्ष्मदर्शिनिरिति ॥ प्रसन्नेन रागादिदोषैरकलुषितेन तदुपासनापरत्वेन लब्धसूक्ष्मदर्शनशक्तिभिः । सूक्ष्मइव सूक्ष्मोऽणुर्न ह्यसावणुस्थूलादिविकल्पानामाश्रयः । सर्वविकल्पातीतो ह्यसौ । उक्तं च । यः सर्वपरिकल्पानामभ्यासेऽप्यनवस्थितः । तर्कागमानुमानेन बहुधा परिकल्पितः । व्यतीतो भेदसंसर्गाद्भावाभावौक्यमाक्रमौ । सत्यानृते च विश्वात्मा सविवेकात्मकाशतइति । सूक्ष्मत्वादव्यक्तः सनातनो व्यक्तत्वाभावेन कानादिनिधनेनैश्वर्येण युक्तो येषामपि कर्मप्राप्यं हैरण्यगर्भपदं तन्मतेपि सनातनत्वं त्यप्यादिमत्वेऽन्तत्वाभावात् । नहि सर्गादिफलभोक्तृत्वावस्था कदाचिदपैति । सर्वाणि भूतानि मया स्रष्टव्यानीत्येवंभावितचित्तोभूतात्मैवं संपन्नः सर्वभूतमय इत्युच्यते । यथामृन्मयो घटो मृद्विकारत्वान्मृद्विरारब्धशरीर एवं यः कश्चित्किंचिदत्यन्तं भावयति स तन्मय इत्युपचारादुच्यते । यथास्त्रीमयो यं पुरुषः ऋङ्मयो यजुर्मय इति । अथवाऽद्वैतदर्शनेनैव चेतनाचेतनानि भूतानि पृथक्चे न सन्ति तस्यैवायं विवर्तः । अतो विवर्तानां भूतमयत्वात्तैश्च तस्याभेदाद्युक्तमेव तन्मयत्वम् । कथं पुनरेकस्य नानारूपविवर्तितोपपत्तिरेकत्वाद्विरोधिनी । उच्यते । एवमाहुर्विवर्तवादिनो यथा समुद्राद्वायुनाभिहिता ऊर्मयः समुत्तिष्ठन्ति ते च न ततोऽभिपद्यन्ते नापिलिप्यन्ते सर्वथाभेदाभेदाभ्यामनिर्वाच्या एवमयं ब्रह्मणो विश्वविवर्तः । अपिशब्दश्चात्र द्रष्टव्यः । स्वरूपे स्थितोऽग्राह्यो विवर्तावस्थायामिन्द्रियग्राह्यः । एवं सूक्ष्मः । अपिशब्दात् स्थूलावस्थायां स्थूलः । अव्यक्तो व्यक्तश्च शाश्वतोऽशाश्वतश्च । भूतमयस्तद्रूपरहितश्च । विवर्तावस्थाभेदेनैव व्याख्येयम् । अचिन्त्यः आश्चर्यरूपः सर्वविलक्षणया शक्त्या योगात् ॥ ७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । योऽसाविति । योऽसौ परमात्मा अतीन्द्रियोऽप्रत्यक्षः अग्राह्योऽधार्यः सूक्ष्मो मनसोऽप्यगो-

१ यग्राह्यः = योऽग्राह्यः (सर्वज्ञनारायणमते)

X सएव = सएष (ख, ग, घ, च, अ, ज झ, ड,)

चरः अव्यक्तोव्यञ्जकशून्यः सनातनोनित्यः सर्वभूतमयः सर्वप्राणिनां तदुपादानवत्त्वात् अचिन्त्यस्तर्कागम्यः सएवपरमा-
त्मैषजगद्रूपेण स्वयमुद्भवाविर्भूतइति । एवंविश्वस्योपादानप्रकृतिशक्तियुक्तः परमात्मैवेति दर्शितम् ॥ ७ ॥

(३) कुट्टकः । योऽसाविति । योऽसाविति सर्वनामद्वयेन सकललोकवेदपुराणेतिहासादिप्रसिद्धं परमात्मानं नि-
र्दिशति । अतीन्द्रियग्राह्यइन्द्रियमतीत्य वर्ततइत्यतीन्द्रियमनस्तद्ग्राह्यइत्यर्थः । यदाहव्यासः । नैवासौ चक्षुषा ग्राह्यो न
च शिष्टैरपीन्द्रियैः । मनसा तु प्रयत्नेन गृह्यते सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ सूक्ष्मो बहिरिन्द्रियागोचरः । अव्यक्तो व्यक्तिरवयवस्तद्रहितः ।
सनातनोनित्यः । सर्वभूतमयः सर्वभूतात्मा अतएवाचिन्त्यः इत्यतया परिच्छेत्तुमशक्यः । सएव स्वयमुद्भौ महदादिकार्यरूप-
तया प्रादुर्बभूव उत्पूर्वोभातिः प्रादुर्भावो वर्तते धातूनामनेकार्थत्वात् ॥ ७ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच योसाविति । अतीन्द्रियश्चासौ ग्राह्यश्चेति न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचेति श्रुतेः । चक्षुषा-
द्यविषयत्वेपि शब्दजन्यलक्षणावृत्तिविषयतया ग्राह्यः सूक्ष्मो निरवयवोऽतएवाव्यक्तः सनातनोनित्यः सर्वभूतमयः सर्व-
भूतानामभिन्ननिमित्तोपादानत्वात् । तथाच जन्माद्यस्य यतइति ब्रह्मलक्षणसूत्रे यतोवाइमानि भूतानि जायन्ते येन
जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासत्त्वं तद्ब्रह्मेति । अभिन्ननिमित्तोपादानब्रह्मलक्षणार्थश्रुतिरुदाहृता
कार्यस्याविद्यकतया कल्प्यत्वात्कारणतयाऽचिन्त्योऽपि विचारासहोऽप्यात्मा पञ्चभूतकारणतांगतइत्याह स्वयंउद्भवा-
विति । प्रादुरासीदित्यस्यानुवादमात्रम् ॥ ७ ॥

(५) नन्दनः । सृष्टौ भगवान्स्वयमेव प्रवर्तते नान्यनियोगेनेत्याह योऽसाविति । संपन्नयोगसंस्कारमनोऽती-
न्द्रियं तेभ्यः । अतीन्द्रियग्राह्यइत्ययमेव साधुः पाठः । सूक्ष्मः अणारेणीयान् । अव्यक्तः दर्शनागोचरः । सनातनः अनादि-
निधनः । योऽसावेवंलोकशास्त्रप्रसिद्धः सएवपरमः पुमान्सर्वभूतमयः प्रपञ्चरूपः स्वयं न कस्यचिन्नियोगेन नापिकर्मवशे
नोद्भौव्यक्तो बभूव । एतदुक्तं भवत्यतीन्द्रियग्राह्यत्वादिगुणयुक्तोऽपि सदसद्विपरीतेन जगदाकारेण स्फुरन्स्वेच्छया विहर-
तीति । नन्वतीन्द्रियग्राह्यत्वादिकल्याणगुणयुक्तस्य तत्प्रतिभट्टप्रपञ्चरूपधारणं किमर्थमिति चोदनायामचिन्त्यइत्युक्तम् ।
अचिन्त्यः दुर्विज्ञानो दुर्निरूपाहीः स्वरप्रवृत्तिः ॥ ७ ॥

(६) रामचन्द्रः । यइति । सएवेश्वरः स्वयमुद्भौ स्वयमुत्पन्नः । योऽसावतीन्द्रियो मनो ग्राह्यइन्द्रियाण्यतिक्रम्य
वर्तते सः । पुनः कीदृशः मनोवाक्कायकर्मभिरग्राह्यः सूक्ष्मः । पुनः कीदृशः अव्यक्तः न व्यक्तोऽव्यक्तः । पुनः कीदृशः
सनातनः लयेऽपि यो वर्तते ॥ ७ ॥

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिद्धक्षुर्विविधाः प्रजाः ॥ अपएव ससर्जादौ तासु बीजं मवासृजत् ॥ ८ ॥

(१) मेधातिथिः । सपूर्वनिर्दिष्टविशेषणैर्हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रइत्यादिभिर्मन्त्रैर्लब्धहिरण्यगर्भाभिधानः । प्रजावि-
विधानानारूपाः सिद्धाः सृष्टिचिह्नानाः उदकमादौ प्रथमं ससर्जोत्पादितवान् । शरीरात्स्वाद्यत्तेन मृहीतं शरीरमद्वैत-
दर्शने । प्रधानमेव । तस्येदं शरीरं तदिच्छानुवर्तित्वात् स्वतः स्वशरीरनिर्माणहेतुत्वाच्च सर्वलोकानां शरीरं किं भौतिकेन व्या-
पारणं कुद्वालस्यनादिना ससर्ज नेत्याह । कथं तर्हीभिध्यायापउत्पद्यन्तामेवमिच्छामात्रेण । अत्रेत्यंचोच्यते ।

(८) भिध्याय = भिध्यायन् (ख, च,)

(१८) बीज = वीर्य (च, ग, क, ख)

(२८) सृजत् = क्षिपत् (क)

पृथिव्यादीनांतदानीमभावादपांसृष्टानांकआधारः। अन्येभ्यइदमुच्यते सधुरपि परमेश्वरस्य गृहीतशरीरस्य कआधारइत्यपि वाच्यम् । अथ विलक्षणैश्वर्यातिशययोगादन्यैव सा कर्तृशक्तिरसङ्गचोद्या प्रकृतधर्मसामान्येनेत्येवमेवपि द्रष्टव्यम् । तासु वीर्यशुक्रमवासृजत् न्यषिञ्चत् ॥ ८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अथ सृष्टिक्रममाह सोभिध्यायेति । शरीराच्छरीरतुल्याच्छक्तिभूतात्प्रधानादुपादानी-
भूतात्सिसृक्षुः प्रजा अपः ससर्ज । बीजाधारतया वीर्यं बीजभूता भूतमात्राः ॥ ८ ॥

(३) कुडूकः । सोभिध्यायेति । सपरमात्मा नानाविधाःप्रजाःसिसृक्षुरभिध्यायापोजायन्तामित्यभिध्यानमात्रे-
णापएव ससर्ज । अभिध्यानपूर्विकांसृष्टिवदतोमनोःप्रकृतिरेवाचेतनाऽस्त्वतन्त्रा परिणमतइत्ययंपक्षोन संमतः किंतु ब्रह्मै-
वाव्याकृतशक्त्यात्मना जगत्कारणमिति त्रिदण्डिवेदान्तसिद्धान्तएवाभिमतःप्रतिभाति । तथा च छान्दोग्योपनिषत्
तदैक्षत बहुस्यांप्रजायेयेति । अतएव शारीरकसूत्रकृता व्यासेन सिद्धान्तितमीक्षतेर्नाशब्दमिति । ईक्षतेरीक्षणश्रवणान्
प्रधानंजगत्कारणम् अशब्दं न विद्यते शब्दः श्रुतिर्यस्य तदशब्दमिति सूत्रार्थः । स्वाच्छरीरादव्याकृतरूपादव्या-
कृतमेव भगवंद्भास्करीयवेदान्तदर्शने प्रकृतिस्तदेव तस्य च शरीरमव्याकृतशब्देन पञ्चभूतबुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियप्राणमनः-
कर्माविद्यावासनाएव सूक्ष्मरूपतया शक्त्यात्मना स्थिताअभिधीयन्तेऽव्याकृतस्य च ब्रह्मणा सह भेदाभेदस्वीकारात् ।
ब्रह्माद्वैतशक्त्यात्मना च ब्रह्म जगद्रूपतया परिणमतइत्युभयमप्युपपद्यते । आदौ स्वकार्यभूमिब्रह्माण्डसृष्टेःप्रागपांसृष्टिश्रे-
यंमहदहङ्कारतन्मात्रक्रमेण बोद्धव्या महाभूतादिव्यञ्जयन्निति पूर्वाभिधानादनन्तरमपि महदादिसृष्टेर्वक्ष्यमाणत्वात् ।
तात्त्वसुबीजंशक्तिरूपमारोपितवान् ॥ ८ ॥

(४) राघवानन्दः । ततोहिरण्यगर्भस्योत्पत्तिमाह सोभिध्यायेति । सईश्वरोऽभिध्याय सृज्यमानसूक्ष्मप्रप-
ञ्चमाभिमुख्येन मायावृत्तिभिरालोच्य स्वादध्यस्ताच्छरीरादवच्छेदकतया शरीरस्थानीयादविद्यातोविचित्रशक्तितोऽपः
मसर्जेत्यन्वयः । आदौ । सृष्टेः । किंकुर्वन् विविधाः स्थावरादिभेदभिन्नाः प्रजाः सिसृक्षुरपोऽपञ्चीकृतपञ्चभूतानि
अप्योमात्राविनाशिन्योदशार्थानांच याःसृताः । ताभिः सार्धमिदंसर्वसंभवत्यनुपूर्वशइत्यत्रोपसंहारे वक्ष्यमाणत्वात्
पूर्वजन्मनि हिरण्यगर्भेण यजमानावस्थेन क्षिमान्यग्रिहोत्रादिसमवायीनि तासु बीजं हिरण्यगर्भोऽहमित्यादिवासनावा-
सितकर्तृत्वाद्यवच्छिन्नचैतन्यमवासृजत्प्रकटतामनयदपञ्चीकृतपञ्चभूततत्कार्यलिङ्गशरीरावच्छिन्नचैतन्यस्य हिरण्यगर्भ-
त्वात् । तथा । तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते । अन्नात्प्राणइति श्रुतेः । अन्नमत्रापञ्चीकृतपञ्चभूतानि तस्मा-
त्प्राणोहिरण्यगर्भोभिजायतइत्यनुषङ्गः ॥ ८ ॥

(५) नन्दनः । तत्त्वसृष्टिसंक्षेपेणोक्त्वा तात्त्विकींसृष्टिविस्तरेण वक्तुमुपक्रमते सइति । सभगवान्स्वाच्छरीराद्वि-
विधाः प्रजाःसिसृक्षुरित्यभिध्यायापः सृष्ट्वा तत्रत्ववीर्यमुक्त्वा तदण्डाकारेण परिणमय्य तत्रहिरण्यगर्भाख्यमात्मनः शरीरसं-
पाद्य तस्मादेवोपादानात् प्रजासृजेयमिति विगणय्येत्यर्थः । आदावण्डादौ वीर्यमण्डपरिमाणानुगुणंशक्तिविशेषमवासृ-
जदुमवानंशेनानुप्राविशदित्यर्थः ॥ ८ ॥

(६) रामचन्द्रः । सइति । ईश्वरोऽभिध्याय ध्यानं कृत्वा कुतःसृष्टिकरोमीति ध्यात्वा स्वात्शरीराद्विविधाःप्र-
जाः सिसृक्षुः सन्नादौ सृष्ट्यादावपएव ससर्ज । तात्त्वसु बीजं चिच्छक्तिमवासृजत् ॥ ८ ॥

तदण्डमभवद्द्वैमसहस्रांशुसमप्रभम् ॥ तस्मिञ्ज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ ९ ॥

(१) भेदातिथिः । प्रथमप्रश्नसर्वतोभवमृद्रूपसंपद्यते । हिरण्यगर्भवीर्यसंयोगात्काठिन्यप्रतिपद्यते । तदण्डसमभवेदित्युच्यते । हेमसहस्रं द्वैमं स्वर्णमयमित्यर्थः । अंशुसामान्यात्तस्य सुवर्णमयस्य । ननु नागमिकोयमर्थो न चात्र इवशब्दः श्रूयते तत्र कथमुपचारतो व्याख्यानमसति प्रमाणान्तरे । उच्यते । वक्ष्यति ताभ्यांशकलाभ्यां तु दिवंभूमिचनिर्ममइति । इयंभूमिर्धृन्मयी न सर्वतः सुवर्णमयीत्यत उपचारआश्रितः । सहस्रांशुरादित्येवमर्थः । अंशवोरश्मयस्तत्तुल्या प्रभा दीप्तिस्तस्याण्डस्य तस्मिन्ण्डे स्वयं ब्रह्मा जातो जज्ञे संभूतः । ब्रह्माहिरण्यगर्भएव । स्वयमिति उक्तार्थम् । योगशक्त्या प्राग्गृहीतं शरीरपरित्यज्यान्तरण्डमनुप्राविशत् । अथाशरीरएवयः ससर्ज ततोऽन्तरण्डं त्वशरीरं जग्राह । अथवाऽन्योयोसावित्यत्र निर्दिष्टः । अन्यश्चायमण्डजो ब्रह्मेति । तथा च वक्ष्यति तद्विमृष्टइति । तेनेश्वरेण सृष्टः । कथं तर्हि स्वयं जज्ञे स्वयंभूतश्च तत्र ब्रह्मोच्यते । नैष दोषः । पितृनाम्ना पुत्रोऽप्यपदिश्यते । आत्मा जज्ञ आत्मन इति । अनिदं परेभ्य आगमेभ्यो लिखितमाचार्येण न चात्राभिनिवेष्टव्यम् । स एव स्वयं जायतामन्योवा तेन सृज्यतामिति न धर्माभिधान उपयुज्यत इत्युक्तम् । सर्वलोकानां पितामह इति संजातस्योपचारतो वास्तवदृष्टत्वात् पितुरपि सकाशादधिकः पितामहः पूज्यः ॥ ९ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । तदण्डमिति । तद्विजयदवसृष्टं तेजः तस्य च तेजोधातून्कटावक्तुमुक्तं सहस्रांशुसमप्रभमिति । तस्मिन्ण्डे ब्रह्मशब्दस्य नानार्थत्वात्सर्वलोकपितामह इत्युक्तम् । पितुरपि तज्जन्यत्वात्पितामहः ॥ ९ ॥

(३) कुट्टुकः । तदण्डमभवद्द्वैममिति । तद्विजयपरमेश्वरेच्छया हैममण्डमभवत् । हैममिव हैमशुद्धिगुणयोगात् न तु हैममेव । तदीयैकशकलेन भूमिनिर्माणस्य वक्ष्यमाणत्वाद्भूमेऽहैमत्वस्य प्रत्यक्षत्वादुपचाराश्रयणम् । सहस्रांशुरादित्यस्तत्तुल्यप्रभं तस्मिन्ण्डे हिरण्यगर्भो जातवान् येन पूर्वजन्मनि हिरण्यगर्भोऽहमस्मीति भेदाभेदभावनया परमेश्वरोपासनाकृता तदीयं लिङ्गशरीरावच्छिन्नजीवमनुप्रविश्य स्वयं परमात्मैव हिरण्यगर्भरूपतया प्रादुर्भूतः । सर्वलोकानां पितामहो जनकः सर्वलोकपितामह इति वा तस्य नाम ॥ ९ ॥

(४) राघवानन्दः । ततो विराड्जज्ञे इत्याह तदिति । तत्पूर्वोपस्थितजलरूपमपञ्चीकृतं पञ्चीकृतपञ्चभूताण्डाकारेणाभवत्परिणनाम सोऽकामयत द्वितीयोऽमात्मा जायेतेत्युपक्रम्य तं जातमभिव्याददातीति श्रुतेः । सहिरण्यगर्भो द्वितीयविषयककामनां कृत्वा तं पुत्रस्थानीयं ब्रह्माण्डं जनयित्वाऽत्तुं मुखमभिव्याददादिति श्रुतेरर्थः । तेन हिरण्यगर्भस्य कार्यविराडिति । हैमबहुलप्रकाशं न तु हैममयं पञ्चीकृतपञ्चभूतमयत्वादण्डस्य । अहंगौर इति मनुष्यदेह आत्माभिमान इव तत्र तच्चैतन्याभिमानो वृत्त इत्याह तस्मिन्नित्यादि । तस्मिन्ण्डे ब्रह्मा विराड्जज्ञेऽभिमानी जातः पञ्चीकृतपञ्चभूताभिमानिनस्तस्यैव चैतन्यस्य विराट्त्वात् । तथा च श्रुतिः आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवानिति । अपञ्चीकृतपञ्चभूतानि ताः सत्यं हिरण्यगर्भं जनयामासुः । सत्यं कर्तुं ब्रह्म विराजं जनयामास । तच्च ब्रह्म कर्तुं प्रजापतिमनुंसच मनुर्देवा ज्ञनयामासेत्यनुषज्यत इति श्रुतेरर्थः । तथा च वार्त्तिकम् । आपो ह्यणुतराः सत्यमसृजन्त इति श्रुतिः । क्रियाविज्ञानशक्त्यात्मा सोति ब्रह्माऽसृजत्परः । विराड् ब्रह्माथ ससृजे मनुदेवं प्रजापतिम् । मनुर्देवा च मनुष्याश्च स्थास्नु कृत्स्नं चरिण्युचेति । क्रियाविज्ञानशक्त्यात्मा हिरण्यगर्भः स्वकार्याद्विराड्ब्रह्मणः परोवर्तत इति परशब्दार्थः ॥ ९ ॥

(९) तस्मिन् = यस्मिन् (ख, च)

(५) नन्दनः । तः जलानुप्रविष्टं भगवद्दीर्यम् । हैमहेममयम् । अतएव हि ब्रह्मा हिरण्यगर्भाख्यस्तस्मिन्लण्डेस्वयमेव भगवान् ब्रह्मस्वरूपधारी जज्ञे ॥ ९ ॥

(६) रामचन्द्रः । तदण्डमिति । तत्तृतीजं हैमं सुवर्णमयं प्रकाशरूपमण्डमभवत् । कीदृशमण्डं सहस्रांशुसमप्रभं तस्मिन्लण्डे स्वयमीश्वरो ब्रह्मा कीदृशो ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ ९ ॥

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ॥ तावदस्यायनं पूर्वतेन नारायणः स्मृतः ॥ १० ॥

[नारायणपरोव्यक्तादण्डमव्यक्तसंभवम् ॥ अण्डस्यान्तस्त्रिभेलोकाः समद्वीपात्रमेदिनी ॥]

(१) मेधातेथिः । यः कुत्रचिन्नारायणशब्देन कर्तृज्ञानशक्तप्रतिशययोगेन जगत्कारणपुरुषतयागमेष्वाप्नातः सोऽयमेव नशब्दभेदादर्थभेदः । ब्रह्मा नारायणो महेश्वर इत्येक एवार्थो नोपासनाकर्मतया भिद्यते । तथा च द्वादशे दर्शयिष्यामः । यथाचैतत्तथोच्यते । आपो नारा इत्यनेन शब्देन प्रोक्ताः । ननु नायं वृद्धव्यवहारेऽथ च न तथा प्रसिद्धोऽत आह आपो वै नरसूनवः । स भवेद्भगवान्नरः पुरुष इति प्रसिद्धः । आपश्च तस्य सूनवोऽपत्यानि । अतस्तानरशब्देनोच्यन्ते । दृष्टो हि पितृशब्दोऽपत्ये वसिष्ठस्यापत्यानि वसिष्ठा भगवतस्तावभ्रुमण्डुलमक इत्यभेदोपचारेण ता आपो नरशब्दवाच्याः । यत्नेन प्रकारेण अस्य प्रजापतेः पूर्वमयनं प्रथमसर्गआश्रयो वा गर्भस्थस्य तेन हेतुना नारायणः स्मृतः । नरा अयनमस्येति नारायण इति ग्रामेन्येषामपि दृश्यत इति दीर्घः पुरुष इति यथा । अथवा सामूहिकोऽण् ॥ १० ॥

(२) सर्वज्ञ नारायणः । आप इति । नारा इति नाम्नाऽऽपः प्रोक्ताः । नरस्य नेतुः परमात्मनो हि सूनवोऽपत्यानि ताः पूर्वसृष्ट्यादावस्य ब्रह्मणस्ता अयनं स्थानं तेन नारायणो ब्रह्मा । यथा विष्णुपुराणे । ब्रह्मा नारायणाख्योऽसौ कल्पादौ भगवान्पुरेति ॥ १० ॥

(३) कुम्भकः । इदानीमागमप्रसिद्धनारायणशब्दार्थनिर्वचनैर्नोक्तमेवार्थं दृश्यति आपो नारा इत्यादि । आपो नाराशब्देनोच्यन्ते । अप्सु नाराशब्दस्याप्रसिद्धेस्तदर्थमाह । यतस्तानराख्यस्य परमात्मनः सूनवोऽपत्यानि । तस्येदमित्यणप्रत्ययः । यद्यप्यणिकृते डीप्रत्ययः प्राप्तस्तथापि छान्दसलक्षणैरपि स्मृतिषु व्यवहारात्सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्त इति पाक्षिको डीप्रत्ययस्तस्याभावपक्षे सामान्यलक्षणप्राप्तेऽपि कृते नारा इति रूपप्रसिद्धिः । आपोऽस्य परमात्मनो ब्रह्मरूपेणावस्थितस्य पूर्वमयनमाश्रय इत्यसौ नारायण इत्यागमेष्वाप्नातः । गोविन्दराजेन तु आपो नारा इति पठितं व्याख्यातं च । नारायण इति प्राप्ते अन्येषामपि दृश्यत इति दीर्घत्वेन नारायण इति रूपम् । अन्ये त्वापो नारा इति पठन्ति ॥ १० ॥

(४) राघवानन्दः । संप्रति तस्यैव जगत्कारणस्य परमेश्वरस्य हिरण्यगर्भान्तर्यामित्वं प्रदर्शयन् नारायणाभिधानमाह । आप इति । अपश्च कृतानि पञ्चभूतानि । नर इति नृनये इति स्मरणादात्मन एव नामान्तरमिति । तत एवात्मन आकाशः संभूत आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्रेऽपोऽद्भ्यः पृथिवीति श्रुतेः । अतएव नरसूनवस्ता आपो यद्यस्मादस्य परमेश्वरस्य हिरण्यगर्भज्जनकालेऽयनमयनमिवाभूवन्ततो नारायणस्ता आश्रित्य तज्जनकत्वात् । अतोऽयनं स्वमहिमप्रतिष्ठितस्या

(१०) तावदस्यायनं पूर्व = अयनं तस्य ताः पूर्वं (ग, ड, न)

(२) अयं (क, ग,) चिह्नितयोः पुस्तकयोः दृश्यते ॥ (ख) पुस्तके टीकायां दृश्यते न मूले ॥

(च) पुस्तके एतच्छ्लोकस्थानेऽयं श्लोक पठितः । सहस्रशीर्षा पुरुषोरुक्मबाहुस्त्वतीन्द्रियः ॥ ब्रह्मानारायणाख्यस्तु सुष्वाप सलिले तदा ॥

आयनान्तरानुपपत्तेः अण्डाभिमानिनारायणइति केचित् । तन्म० । नारायणः परोव्यक्तादण्डमव्यक्तसंभवम् । अण्डस्यान्त-
स्त्वमे लोकाः सप्तद्वीपा च मेदिनीति ब्रह्माण्डपुराणोक्तेः । अव्यक्तादपि परोनारायणः सकथं ब्रह्माण्डमात्राभिमानो
स्यादिति ॥ १० ॥

(५) नन्दनः । अथ भगवतो जलसृष्टिलब्धांसंज्ञासनिर्वचनामाह आपो नारा इति । आपो नारा इति श्रुताः । कुतो नरस्य पुरुषस्य सूनवो भगवता सृष्टा इत्यर्थः । वैशब्दो हेतौ । ताः आपः अस्य नरस्य पूर्वप्रथममयनमनुप्रवेशस्थानमासी-
त्तेन नारायणः स्मृतः ॥ १० ॥

(६) रामचन्द्रः । आपइति । नाराइत्यापः प्रोक्ताः । वै निश्चयेन । आपोनरसूनवो नराख्यस्य परमात्मनो नारा जीवसमूहास्ता आपो यद्यस्मादस्य ईश्वरस्य पूर्वमयनं शयनस्थानमासीत् । तेन नारायणः स्मृतः नारायणः परो व्यक्तात् अण्डस्यान्तास्त्विमे लोकाः सत्पद्मीपा च मेदिनी । पिप्पलंबीजन्यायेनेत्यर्थः ॥ १० ॥

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ॥ तद्विष्टपः सपुरुषोलोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ ११ ॥

(१) मेधातिथिः । कारणमेव न कार्यो न परेच्छाविधेयशरीरः । स्वाभाविकेन महिम्ना युक्तमव्यक्तं नित्ययुक्तमित्यु-
क्त्वा विरुद्धस्य भावाभावरूपधर्मद्वयस्य योग उच्यते । अर्वाद्दर्शनानां तद्विषयाया उपलब्धेरभावात्सत्ताव्यवहारयोग्यत्वादस-
दात्मेत्युच्यते । आगमेभ्यः सर्वस्यास्य तत्कारणत्वावगमात्सदात्मकम् । अतः प्रतिपत्तृत्वभेदादुभयतोऽपि व्यवहारो ब्रह्मण्य-
विरुद्धः । ननु च सर्व एव भावा एवरूपाः स्वेन रूपेण सदात्मकाः पररूपेणासन्तः किमुच्यते ब्रह्मण्यविरुद्ध इति उच्यते अद्वैतद-
र्शनेनैवान्यद्ब्रह्मणः किंचिदस्तीति कितत्परं रयत्तद्रूपं तथाऽभाव इत्युच्यते । तेन विसृष्ट उत्पादितोऽन्तरण्डं निर्मितः पुरुषोलोके ब्रह्मे-
तिकीर्त्यते । योऽसावुग्रतपसां देवासुरमहर्षीणां वरदानार्थं तत्र तत्रोपविष्ट इति महाभारतादौ श्रूयते स एष तेन महापुरुषेण परेण-
ब्रह्मणा प्रथमं विसृष्टः । अन्येतु त्वमेवैक इत्याद्यन्यथा वर्णयन्ति । अस्येति प्रत्यक्षाभिनयने जगन्निर्दिश्यते सर्वस्यास्य जगतो-
यद्विधानं निर्माणं तत्स्वयं भुवः संबन्धेऽचित्यमद्भुतरूपं विचित्रमतिमहदप्रमेयं न शक्यं सर्वेण ज्ञातुम् । तथाऽक्रुषिः । को अद्धा-
वेदक इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टि रिति । किमिदं जगत्सर्वमुपादानमवेक्ष्य जायत उत नैर्माणिकमात्रम् । यद्यबुधस्य
दर्शनं किमीश्वरेच्छाधीनमुत केवलकर्मवशजमुत स्वाभाविकमप्रमेयम् तथा किमहदादि क्रमेणोत्पद्यत उत द्यणुकादि क्रमेणा-
स्य स्वं कार्यं तत्त्वमर्थं च वेत्सि । कार्यमहतोऽहङ्कारो विशेषस्तन्मात्राण्यहंकारस्य तन्मात्राणां विशेषः पञ्चमहाभूतानि । अह-
ङ्कारस्येन्द्रियाण्येकादश । विशेषाणामपि पिण्डीकार्यं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ताः । तेषामपि प्रत्ययात्तत्त्वं स्वभावो यथा महतो मूर्तिमा-
त्रत्वं प्रधानस्य सर्वस्य विकारावस्था महदित्युच्यते । प्रकृतेर्महानिति प्रकृतिः प्रधानमित्येकोऽर्थः । अहङ्कारस्य तत्त्वमस्मि-
न्प्रत्ययमात्रत्वमविशेषाणामविशेषप्रत्ययसंवेद्यत्वमिति । अर्थः प्रयोजनं पुरुषार्थमिदं वस्त्वनेन प्रकारेण पुरुषायोपयुज्यते
इमं चार्थं साधयति । यद्यपि धर्मजिज्ञासमानस्य जगन्निर्माणज्ञता आचार्यसंबन्धिनी न क्वचिदुपकारिणी न च प्रष्टव्या
तथाप्यन्यतो दुर्विज्ञानं महर्षीणां वैषम्याज्जगन्निर्माणमादौ प्रश्राहं भवति । मनो ह्यवचनीयम् । यद्वस्तु प्रमाणषट्कस्याप्यविषयस्तद-
पि त्वमावर्णे चक्षुषा वेत्सि । धर्मः पुनर्वेदगोचरः सोऽवश्यं त्वया विज्ञात इत्येवं प्रकृतविषयैव प्रवक्तृप्रशंसा । एवंस्तुत्या
प्रोत्साहितो जगन्निर्माणमेव तावद्वक्ति आसीदिदमिति । ततः स्वयं भूरिति । प्रधानमेवैतैः शब्दैरभिधीयते । स्वयं भवति
परिणमति विक्रियामेति महदादितत्त्वभावेन । न कश्चिदीश्वरः स्वभावसिद्धोऽस्ति यथेच्छमचेतनं प्रधानमनुवर्तते वस्तु-

स्वभावएवायं तदुत प्रकृतिरूपं प्रधानं पुनर्विक्रियते । यथाक्षरिमचेतनं मण्डकावस्थाभिर्दधीभवति । भगवानिति । स्वव्यापारैश्वरोमहाभूतादिद्वारेण प्रवृत्तः । स्वकार्योत्साहोऽजः सामर्थ्यम् । आदिशब्दः प्रकारे व्यवस्थायातेन महदादिकारणमव्यक्तं भवति । विकारावस्थायांप्रच्युतं प्राग्रूपात्सूक्ष्मभावात्प्रकाशमयंतमोनुदतीत्युच्यते । अर्थशब्दाध्याहारेण वा प्रधाने पुल्लिङ्गनिर्देशः । पुरुषशब्दश्च प्रधानादिषु दृष्टः । तेषामिदं तु समानांपुरुषाणामिति । योऽसाविति पूर्ववत् । सोऽभिध्यायेति । अभिध्यानगुणतोऽचेतनात्प्रधानस्याभिधानासंभवात् । यथा कश्चिदभिध्यायैव कार्यनिवर्तयेदन्यकार्यनिरपेक्षमेव वस्तुत्वाभावेन परिणममानमीश्वरेच्छानपेक्षतयाभिध्यायेत्युच्यते । अपआदौ ससर्ज । महाभूतान्तरापेक्षया तासामादित्वं न तु महदादितत्त्वोत्पत्तेः । वक्ष्यति हि तेषामिदं तु समानामिति । प्रथमतस्त्वोत्पत्तिस्तथा भूतानाम् । तासु वीर्यमिति । वीर्यशक्तिमवाप्तवत् । प्रधानमेव कर्तुं भवति । सर्वतः प्रधानपृथिव्यादिभूतोत्पत्तौ काठिन्यमेति । अण्डरूपसंपद्यते । तदण्डमिति । यथा तत्त्वानि स्त्रीपुरुषसंयोगविनोत्पन्नानि प्रथममेव पूर्वकर्मवशेन ब्रह्माऽपि स्वमहिम्नैवायोनिजंतस्य शरीरदंशमशकादिवत् । तद्विसृष्टस्तेन प्रधानेन विसृष्टस्तन्मयत्वात्तच्छरीरस्य तद्विसृष्टइत्युच्यते । शेषपूर्ववत् । यदत्रार्थतत्त्वंतदस्माभिरुक्तमेव । अर्थवादाप्ते यथाकथंचिद्गुणवादेन नीयन्ते ॥ ११ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । यत्तदिति । कारणविश्वस्य हेतुरव्यक्तं सदानुपलभ्यरूपं नित्यमनाशि सदसदात्मकं वर्तमानावर्तमानात्मकं सर्वस्य तत्रोपादेयत्वेन स्थितेः तेन परमेश्वरेण प्रधानेन च विसृष्टोयः पुरुषः सब्रह्मा कीर्त्यते ॥ ११ ॥

(३) कुतूहकः । यत्तत्कारणमव्यक्तमित्यादि । यत्तदिति सर्वनामभ्यां लोकवेदादिसर्वप्रसिद्धं परमात्मानं निर्दिशति । कारणसर्वोत्पत्तिमतामव्यक्तं बहिरिन्द्रियागोचरं नित्यमुत्पत्तिविनाशरहितं वेदान्तसिद्धत्वात्सत्त्वभावम् । प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वादसत्त्वभावमिव । अथवा सद्भावजातमसदभावस्तथोरात्मभूतम् । तथा च श्रुतिः ऐतदात्म्यमिदं सर्वमिति । तद्विसृष्टस्तेनोत्पादितः सपुरुषः सर्वत्र ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ ११ ॥

(४) राघवानन्दः । हिरण्यगर्भजो हि ब्रह्माभूरादिलोकस्य कारणमिति वक्तुं तदण्डमित्युक्तमनुवदति यदिति द्वाभ्याम् । अपश्चीरुतपञ्चभूतात्मकं मपश्चब्दवाच्यं तदेवाव्यक्तमाविष्णोर्व्यक्तं जातं कार्यतया अतएव हिरण्यगर्भादेः कारणं च सत्पृथिव्यमेज इति त्रयम् । असत्तद्वय्वाकाशौ भूतद्वयं तदुभयात्मकं नित्यं कारणात्मना अमरादेवा इति वद्वा । अन्यथाऽद्वैतश्रुतिविरोधः । तैर्हिरण्यगर्भाच्छेदकैः सूक्ष्मभूतैः पश्चीरुततामापन्नैः सृष्टोजनितः पश्चीरुतपञ्चभूतावच्छिन्नश्चिदात्मापुरुषो विराट् ब्रह्मेति कथ्यतइत्यन्वयः ॥ ११ ॥

(५) नन्दनः । अथाण्डोद्भवस्य संज्ञामाह यदिति । कारणशब्देन भगवानुच्यते सदसदात्मकंसदितिकारणमसदिति प्रकृत्यादिकार्यं प्रपञ्चउभयमात्मादेहोयस्य तथोक्तम् । तद्विसृष्टः तेन कारणाख्येन भगवता सृष्टः पुरुषशब्दोऽयं राजपुरुषशब्दवदधिकारवचनो भगवन्निर्योगकरइत्यर्थः ॥ ११ ॥

(६) रामचन्द्रः । यत्तदिति । यदव्यक्तं कारणं तन्नित्यं ब्रह्म । कीदृशं ब्रह्म । सदसदात्मकं कार्यकारणात्मकं तद्ब्रह्म तद्ब्रह्मणा विसृष्टः विशेषेण सृष्टः सन् सोपुरुषः लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ ११ ॥

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् ॥ स्वयमेवात्मनो ध्यानात् स दण्डमकरोद्विधा ॥ १२ ॥

(१) मेधातिथिः । स भगवान्ब्रह्मा परिवत्सरंसंवत्सरमुषित्वा तस्मिन्नण्डे स्थित उत्पन्नः सर्वज्ञः कथं निर्गच्छेयमिति ध्यातवान् । तदण्डमकरोद्विधा तावता कालेन गर्भः परिपच्यते । अण्डमपि तावत्कालेन भेदजातं परिपाकादतः काकतालीयन्यायेन तदण्डमकरोद्विधेत्युच्यते ॥ १२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तस्मिन्निति । सएव तस्मिन्ण्डे परिवत्सरं वत्सरमभिव्याप्य स्वयमेव द्विधा करोदात्म-
नोभ्यानादात्मसंबन्धिनोधारणाविशेषात् ॥ १२ ॥

(३) कुङ्कुमः । तस्मिन्ण्डे स भगवानित्यादि । तस्मिन्पूर्वोक्तेऽण्डे स ब्रह्मा वक्ष्यमाणब्रह्ममानेन संवत्सरमुषित्वा
स्थित्वाऽऽत्मनैवाण्डं द्विधा भवत्वित्यात्मगतध्यानमात्रेण तदण्डं द्विखण्डं कृतवान् ॥ १२ ॥

(४) राघवानन्दः । तस्मिन्ण्डे ब्रह्माण्डे सञ्चित्वा परिवत्सरं संवत्सरं स्थित्वाऽऽत्मनोभ्यानादहं चिदात्मा देहा-
दिविलक्षणइत्यनुसंधानादण्डं द्विधा भूम्यन्तरिक्षे अकरोदित्यन्वयः ॥ १२ ॥

(५) नन्दनः । परिवत्सरशब्दोऽण्डद्विधाकरणानुगुणपरिमाणकालवचनआत्मनोभ्यानादिदमण्डं द्विधा कृत्य शकला-
भ्यां दिवं भूमितयोर्मध्येऽन्तरिक्षलोकं च करवाणीति विगणय्य स्वयमेवात्मेच्छया न प्राकृतपुरुषवत्पराधीनइत्यर्थः ॥ १२ ॥

(६) रामचन्द्रः । तस्मिन्निति । पञ्चभिराह । सः कर्ता सर्वत्र सम्बध्यते । स भगवानात्मनोभ्यानात्किं कार्यमिति
विचिन्त्य तदण्डं स्वयमेव द्विधा करोत् । किङ्कत्वा तस्मिन्ण्डे परिवत्सरं सहस्रवत्सरमुषित्वा वासं कृत्वा ॥ १२ ॥

ताभ्यां सशकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे । मध्ये व्योमदिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ॥ १३ ॥

[वैकारिकतैजसं च तथा भूतादिमेव च ॥ एकमेव त्रिधा भूतमहानित्येव संस्थितम् ॥ १ ॥

इन्द्रियाणां समस्तानां प्रभवंप्रलयंतथा ॥ *]

(१) मेधातिथिः । शकलमण्डकपाले ताभ्यामण्डकपालाभ्यामुत्तरेण दिवं निर्ममे निर्मितवानधरेण पृथिवी-
मध्ये व्योमाकाशदिशोऽष्टौ च प्रागाद्याः । अवान्तरदिग्भिर्दक्षिणपूर्वादिभिः सहा पांस्थानमन्तरिक्षे समुद्रमाकाशं च पृथिवी-
पातालगता ॥ १३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ताभ्यामिति । शकलाभ्यामधः शकलात्भूमिर्मुख्यशकलादिवम् । शकलस्य लोकावच्छे-
दकतया प्रकृतिताविवक्षया पञ्चमी । व्योमान्तरिक्षलोकं दिशः काशा अष्टौ निर्मितवान् । अपांस्थानं समुद्रम् ॥ १३ ॥

(३) कुङ्कुमः । ताभ्यां सशकलाभ्यांचेत्यादि । शकलं खण्डं ताभ्यामण्डशकलाभ्यामुत्तरेण दिवं स्वर्लोकमधरेण
भूर्लोकमुभयोर्मध्योऽकाशं दिशश्चान्तरालदिग्भिः सह अष्टौ समुद्राख्यमपांस्थानं स्थिरं निर्मितवान् ॥ १३ ॥

(४) राघवानन्दः । ततौ भूरादिचतुर्दशभुवनानां निर्माणमाह ताभ्यामिति । शकलाभ्यां खण्डाभ्यां निर्मम इत्य-
न्वयः । तदण्डं निरवर्तत । तत्संवत्सरस्य मात्रामशयतत्तेनिरभिद्यत तेऽण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम् तद्यद्रजतं-
सेयं पृथिवी यत्सुवर्णं सा द्यौरित्यादिश्रुतेः । मात्रां परिमाणं व्याप्याशयत तस्थौ । अपांस्थानं समुद्राख्यं यद्वास्तेयमुदकं स-
मुद्रइति श्रुतेः । बस्तिर्भूत्रस्थानम् । शाश्वतं स्थिरं द्विपरार्धकालपर्यन्तस्थायित्वात् ॥ १३ ॥

(५) नन्दनः । स ब्रह्मा ताभ्यामखण्डखण्डाभ्यां दिवं स्वर्गालोकं भूमिं सप्तपातालां स्वर्गभूम्योरुर्ध्वोऽवस्थितयो-

(१३) ताभ्यां सशकलाभ्यां = ताभ्यां च शकलाभ्यां (ख)

= ——— मण्डकपालाभ्यां (च)

वपांस्थानं च शाश्वतम् = वपांस्थानमकल्पयत् (ग ,)

* अयं सार्धश्लोकः (क, ग, ट,) चिन्हितेषु पुस्तकेषु दृष्टः ॥

र्मध्ये व्योमान्तरिक्षलोकमष्टौदिशश्च तासु शाश्वतंयावत्प्रलयावस्थानमपांस्थानंसमुद्रांश्चनिर्ममे । एवतावद्ब्रह्मा भगवत्सु-
ष्यनुप्रविष्टतत्त्वसंघातविग्रहोभगवता सृष्टोभगवन्मयउक्तः ॥ १३ ॥

(६) रामचन्द्रः । ताभ्यामिति । सत्रह्मा ताभ्यांशकलाभ्यांखण्डाभ्यादिवस्वर्गभूमिच निर्ममे । तयोः शुकलयोर्मध्ये
व्योम च पुनःअष्टौ दिशः । कीदृशंव्योमशाश्वतमपांजलानांस्थानमास्पदम् ॥ १३ ॥

उद्वबर्ह्यात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम् ॥ मनसश्चाप्यहङ्कारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥ १४ ॥

(१) मेधातिथिः । तत्त्वसृष्टिरिदानीमुच्यते या च यथावयवा पश्चादुक्ताऽर्थात्पूर्वेति तथोक्तम् । तत्प्रधानात्त्व-
स्माद्रूपात्मनउद्धृतवान् । प्रातिलोभ्येनेयंतत्त्वोत्पत्तिरिहोच्यते । मनसःपूर्वमहङ्कारमभिमन्तारमहमित्यभिमानीताहङ्कारस्य
वृत्तिः । ईश्वरंकार्यनिर्वर्तनसमर्थम् ॥ १४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उद्वबर्हेति । आत्मनः स्वस्मादेव त्वस्मिन् सुसूक्ष्मतया स्थितंमनोमहत्तत्त्वमुद्वबर्हं तत्त्वभूत
मुत्पादयामास । अहङ्कारमनांसि परमार्थतोऽभिन्नान्यप्यध्यवसायोभिमानविकल्पव्यापारभेदमात्रभिन्नानीति कथयितुं
तत्र तत्र मुक्तात्मविध्यर्थं ब्रह्मणोमनउक्तं सदसदात्मकं वर्तमानावर्तमानात्मकं तस्मात्मनसो ऽहङ्कारमीश्वरमीशानादिकर्तृ
धर्मवन्तमभिमन्तारंस्वेच्छाभिमननशीलव्यापारधर्मम् ॥ १४ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानीमहदादिक्रमेणैव जगन्निर्माणमिति दर्शयितुंतत्त्वसृष्टिमाह उद्वबर्ह्यात्मनश्चैवेत्यादि । ब्रह्मा-
आत्मनःपरमात्मनःसकाशात्तेन रूपेण मनउद्धृतवान्परमात्मनएव ब्रह्मस्वरूपेणोत्पन्नत्वात्परमात्मनएव च मनःसृष्टिर्वेदान्त-
दर्शनेन प्रधानात् । तथा च श्रुतिः । एतस्माज्जायते प्राणोमनःसर्वेन्द्रियाणि च । खंवायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारि-
णी । मनश्च श्रुतिसिद्धत्वाद्युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिलिङ्गाच्च सदप्रत्यक्षत्वादसदिति । मनसःपूर्वमहङ्कारतत्त्वमहमित्यभिमानी-
ख्यकार्ययुक्तमीश्वरंस्वकार्यकरणक्षमम् ॥ १४ ॥

(४) राघवानन्दः । हिरण्यगर्भसृष्ट्यनन्तरमस्मदादिलिङ्गशरीरजन्म वक्तव्यमासीत् । अपञ्चीकृतभूतकार्य-
त्वात्तस्य तदिदानीमाह उद्वबर्हेति द्वाभ्याम् । उद्वबर्हं जनितवानात्मनःस्वस्माज्जीवस्य भोगार्थंवा । एतस्माज्जायते प्राणो-
मनःसर्वेन्द्रियाणि च । खंवायुर्ज्योतिरापश्च पृथिवी विश्वधारिणीति ॥ तन्मनोऽकुरुत आत्मन्वी स्यामिति श्रुतेः । मनआ-
दिका सर्वासृष्टिस्तस्य सदसदात्मकं तादृशापञ्चीकृतकार्यत्वात् मनसइति मनोवृत्त्यनन्तरभाविन्यौअहङ्कारबुद्धिसंकल्प
अभिमत्य निश्चिनोति इदमित्थमितिनिश्चयात्मिका बुद्धिः । अहङ्कारंविशिनष्टि अभिमन्तारमीश्वरमिति । अभिमन्तारमहङ्गौ-
रइत्याद्यभिमानीनमीश्वरंस्वातन्त्र्यात् सर्वप्रवृत्तेरहङ्काराधीनत्वादीश्वरः न ह्यनहङ्कतिः प्रवर्ततइति ॥ १४ ॥

(५) नन्दनः । इदानींतस्य सर्वभूतानि सिसृक्षतउपादानंश्लोकत्रयेणाह उद्वबर्हेति । आत्मनःआत्मसंबन्धि । सद-
सदात्मकम् प्रकृतिविरुद्धात्मकम् । मनःमहत्तत्त्वम् । तथाचोक्तं मनोमहान्मतिर्ब्रह्मापूर्वबुद्धिःख्यातिरीश्वरइति । मनसोमह-
त्तत्त्वादनन्तरमभिमन्तारमस्मिताप्रत्ययरूपमीश्वरंसर्वकर्मप्रवर्तकमहङ्कारंचोद्वबर्होद्धृतवान् ॥ १४ ॥

(६) रामचन्द्रः । उद्वबर्हेति । सआत्मनःसकाशात्सदसदात्मकंकार्यकारणात्मकंमनउद्वबर्होद्धृतवानाविर-
करोत् । अपि निश्चयेन । मनसःसकाशादहङ्कारमसृजत् । कीदृशमहङ्कारमभिमन्तारमहमस्मीति भावः । पुनः कीदृशम् ।
ईश्वरंसृष्ट्यादिकार्यं प्रभुम् ॥ १४ ॥

महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च ॥ विषयाणां ग्रहीतृणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ॥ १५ ॥

[अविशेषान् विशेषांश्च विषयांश्च पृथग्विधान् ॥+]

(१) मेधानितिः । महानितिसंज्ञायां सांख्यानान्तत्वं प्रसिद्धम् । आत्मानमिति महता सामानाधिकरण्यम् । सर्वपिण्ड-
सृष्टौ च महत्तयानुरूपमत आत्मव्यवहारः । अहङ्कारात्पूर्वपूर्वेण न्यायेन ससर्ज सर्वाणि त्रिगुणानि च । यथानुक्रान्तं-
यथानुक्रम्यते तत्सर्वत्रिगुणसत्त्वरजस्तमांसि गुणाः । क्षेत्रज्ञाः केवलनिर्गुणाः प्राकृतो भागः सर्वः सत्त्वरजस्तमोभयः । पञ्चे-
न्द्रियाणि तेषां निर्देशविषयाणां रूपरसादीनां यथास्त्वं ग्रहीतृणि विज्ञानजनकानि पञ्च श्रोत्रं त्वर्गाद्यादिना वक्ष्यन्ते विशेषेणा
मच शब्दानविषयांश्च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानपृथिव्यादीनि च ॥ १५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । महान्तमेवेति । महान्तं च मनोनाम तत्त्वमात्मानमात्मनो जीवस्यावच्छेदकत्वात्तद्व्यपदेशः ।
सर्वाणि मनोऽहंकारधर्मेण त्रिगुणानि गुणत्रयात्मकानि । प्रकृतानि पञ्चेन्द्रियाणि च शनैः क्रमेणोद्बर्ह विषयग्रहणव्या-
पाराणि च तानि ॥ १५ ॥

(३) कुल्लूकः । महान्तमेव चात्मानमित्यादि । महान्तमिति महदाख्यतत्त्वं महङ्कारात्पूर्वपरमात्मन एवाव्याकृतश-
क्तिरूपप्रकृतिसहितादुद्भूतवान् । आत्मन उत्पन्नत्वादात्मानमात्मोपकारकत्वाद्वा । यान्यभिहितान्याभिधास्यन्ते च ता-
न्युत्पत्तिमन्ति सर्वाणि सत्त्वरजस्तमोगुणयुक्तानि विषयाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां ग्राहकाणि शनैः क्रमेण वेदान्तसिद्धेन
श्रोत्रादीनि द्वितीयाध्यायवक्तव्यानि पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि च शब्दात्पञ्च पाय्वादीनि कर्मेन्द्रियाणि शब्दतन्मात्रादीनि च पञ्चो-
त्पादितवान् । नन्वभिध्यानपूर्वकसृष्ट्यभिधानद्वेदान्तसिद्धान्त एव मनोरभिमत इति प्रागुक्तं तन्न संगच्छते । इदानीं महदादि-
क्रमेण सृष्ट्यभिधानाद्वेदान्तदर्शनेन च परमात्मन एवाकाशादिक्रमेण सृष्टिरुक्ता । तथा च तैत्तिरीयोपनिषत् तस्माद्वा एतस्मा-
दात्मन आकाशः संभूत आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्रेरापोऽद्भ्यः पृथिवीति । उच्यते । प्रकृतितो महदादिक्रमेण सृष्टिरिति-
भगवद्भास्करीयदर्शनेऽप्युपपद्यत इति तद्विदो व्याचक्षते । अव्याकृतमेव प्रकृतिरित्युच्यते तस्य च सृष्ट्युन्मुखत्वं सृष्ट्याद्यकाल-
योगरूपतदेव महत्तत्त्वं ततो बहुस्यामित्यभिमानात्मकेक्षणकालयोगित्वमव्याकृतस्याहंकारतत्त्वम् । तत आकाशादिपञ्च-
भूतसूक्ष्माणि क्रमेणोत्पन्नानि पञ्चतन्मात्राणि ततस्तेभ्य एव स्थूलान्युत्पन्नानि पञ्चमहाभूतानि सूक्ष्मस्थूलक्रमेणैव
कार्योदयदर्शनादिति न विरोधः । अव्याकृतगुणत्वेपि सत्त्वरजस्तमसां सर्वाणि त्रिगुणानीत्युपपद्यते । भवतु वा सत्त्वरज-
स्तमः समतारूपैव मूलप्रकृतिः भवन्तु च तत्त्वान्तराण्येव महदहङ्कारतन्मात्राणि तथापि प्रकृतिर्ब्रह्मणोऽनन्येति मनोः स्वर-
सः । यतो वक्ष्यति सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनीति ॥ तथा । एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना । स सर्वस-
मतामेत्य ब्रह्माभ्येति परंपदमिति ॥ १५ ॥

(४) राघवानन्दः । महान्तमिति । महान्तैरप्यगर्भांस्तु द्विः सर्वव्यष्टिबुद्धिव्यापकत्वादात्मानं महदवच्छिन्नचित्त-
वात्मत्वव्यवहृतेरात्मनः सर्वार्थकारित्वान्महत्त्वमात्मायत्नो धृतिर्बुद्धिरित्याद्यभिधानाद्वा । क्रमवैपरीत्यं वा महान्तसृष्ट्या-
हङ्कारं सृजत् ततो मनोऽसृजदिति । सर्वाणि त्रिगुणादीनि मनआदीनि त्रीणि सर्वाणि कार्याणि त्रिगुणात्मकानीति वा तत्र
गुणशब्दप्रयोगो जडांशश्च प्राधान्यद्योतनार्थः । चकारोऽवधारणार्थः । अस्मिन्नेव महति चित्तमन्तर्गतं किंच विषयाणां ग्रही-
तृणि विषयाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धादीनां ग्रहीतृणि ग्रहणसाधनानि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि शनैः रपञ्ची-

कृतभूतक्रमेण । चकारःकर्मैन्द्रियप्राणवर्गाणां समुच्चयार्थः । व्यष्टिलिङ्गदेहस्य एकोनविंशतित्वादेकोनविंशतिमुखइति-
श्रुतेः ॥ १५ ॥

(५) नन्दनः । महान्तमात्मानंस्थूलमन्तःकरणमनइतियावत् । तत्तत्स्वरूपेण विषयरूपेणेन्द्रियरूपेण च त्रिगुणीभूता
यावस्था तां त्रिगुणानीति तन्मात्राण्युच्यन्ते । तानिच सर्वाणितथा विषयाणां ग्रहीतृणि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि चकारात्
कर्मैन्द्रियाणि पञ्चशनैः क्रमादुद्बर्हेत्यनुवर्तते । अनेन श्लोकद्वयेनैतदुक्तं भवति । आत्मीयानां महदहङ्कारमनस्तन्मात्रज्ञानकर्म
न्द्रियाणामात्मचिदंशप्रवेशेन सर्वभूतपरिणामदर्शनात्स एव भगवानुपादानमिति ॥ १५ ॥

(६) रामचन्द्रः । महान्तमिति । स आत्मानं महान्तमेव महत्त्वरूपं चाकरोत् । च शब्दात्सर्वाण्यहङ्कारादीनि
त्रिगुणानि त्रिगुणात्मकानि राजसाहङ्कारतामसाहङ्कारसात्विकाहङ्काररूपाणि ॥ १५ ॥

तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान् षण्णामप्यमितौजसाम् ॥ सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे ॥ १६ ॥

(१) मेधातिथिः । तेषां षण्णां या आत्ममात्रास्तासु सूक्ष्मानवयवान्सन्निवेश्य सर्वभूतानि निर्ममे । तत्र षट्संख्यया
वक्ष्यमाणानि पञ्चतन्मात्राणि अतिक्रान्तश्चाहङ्कारः प्रतिनिर्दिश्यते । आत्ममात्रास्तेषां स्वविकारस्तन्मात्राणां भूतानि ।
अहङ्कारस्येन्द्रियाणि पृथिव्यादिषु भूतेषु शरीररूपतया तिष्ठन्तु सूक्ष्मानवयवांस्तन्मात्राहङ्कारात् सन्निवेश्य यथास्थानयो-
जनं कृत्वा सर्वभूतानि देवमनुष्यतिर्यक्स्थवावरादीनि निर्ममे । एतदुक्तं भवति । षड्विशेषा अवयवा एकदेशारम्भकाः
सर्वस्य जगतस्तस्य तदारब्धत्वात् सूक्ष्मत्वं तन्मात्रसंज्ञयैव सिद्धम् तानि सन्निवेश्य सन्निहत्य तेषामेवात्ममात्रास्तद्विकाराः ।
भूतेन्द्रियाणि निर्ममे तैश्च पिण्डसृष्टिम् । चकारात्मात्रास्त्वित्यत्र मात्राभिरिति युक्तः पाठः ॥ १६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । तेषामिति । एतस्मादीश्वरात् प्राणमनसेन्द्रियाणां महदहङ्कारमनोरूपप्रकारवतश्चान्तः-
करणस्येत्येवं षण्णां महौ जसां कार्योत्पत्तावतिबलानां सूक्ष्मानवयवानिति । एवंस्वपुत्रादि देहस्य लिङ्गदेहभूतानात्मनः
स्वप्रकाशस्य मात्रास्त्वेषु सन्निवेश्यावच्छेदकत्वेन कल्पयित्वा सर्वभूतानि प्राणिजातानि तटस्थानि ॥ १६ ॥

(३) कुङ्कुमः । तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मानित्यादि । तेषां षण्णां पूर्वोक्ताहङ्कारस्य तन्मात्राणां च ये सूक्ष्मावयवा-
स्तानात्ममात्रासु षण्णां स्वविकारेषु योजयित्वा मनुष्यतिर्यक्स्थवावरादीनि सर्वभूतानि परमात्मा निर्मितवान् । तत्र
तन्मात्राणां विकारः पञ्चमहाभूतानि । अहङ्कारस्येन्द्रियाणि पृथिव्यादिभूतेषु शरीररूपतया परिणतेषु तन्मात्राहङ्कारयो-
जनां कृत्वा सकलस्य कार्यजातस्य निर्माणम् । अतएवामितौजसामनन्तकार्यनिर्माणेनातिवीर्यशालिनाम् ॥ १६ ॥

(४) राघवानन्दः । समष्टिलिङ्गशरीरस्य हिरण्यगर्भायस्योक्तव्यष्टिलिङ्गशरीराणि कार्यमित्यावेदयज्जीवात्म-
नामाविर्भावमाह तेषामिति । तत्र च मनआदिचतुष्टयमनोरूपान्तःकरणेनैकीकृत्य कर्मैन्द्रियाणि प्राणांश्च ज्ञानेन्द्रिय-
त्वेन गृहीतानीति षट्कषण्णामित्युपसंहारात् पूर्वसृष्टेन लिङ्गेन प्राणाद्येन सयुज्यते । तेन युक्तस्य बन्धोर्वै तेन मुक्तस्य
मुक्ततेति ब्रह्माण्डपुराणोक्तेः । पूर्वाष्टकस्य षट्त्वं तर्भाववदेकोनविंशतेरप्यन्तर्भावः । मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृति-
स्थानि कर्षतीति भगवदुक्तेः ॥ षट्त्वं तत्र प्रकृतिगौलकोऽवयवान् कार्यभूतान् दुरदृष्टवशेन परिच्छिन्नत्वात् सूक्ष्मा-
नस्पदाद्यदृश्यरूपान् षण्णां मनआदीनाममितौजसां समष्टिरूपाणां जगन्मण्डलव्यापिनाम् । सर्वएव समाः सर्वो-

(१६) षण्णामप्यमि = षण्मयानमि (ख)

मात्रासु = मात्रास्तु (क)

नन्तइति श्रुतेः । आत्ममात्रास्वपरिच्छिन्नस्यैकस्यात्मनउपाधिवशादवयववत्प्रतीयमानेष्व्वात्मसु ममैवांशोजीवलोके जीवभूतःसनातनइति स्मृतेरंशोनानाव्यपदेशादित्यादिसूत्राच्च तासु मनआदिषडवयवान्सूक्ष्मान्संनिवेश्य तत्तददृष्टवशेनलिङ्ग-
देहात्मनस्तादात्म्याभ्यासंगमयित्वा सर्वभूतानि सर्वाङ्गीवान्निर्ममइत्यन्वयः । लिङ्गशरीरावच्छिन्नानामेव व्यवहर्तृजीव-
त्वात् सप्तमदशकेनैव राशिना युज्यते पृथगिति व्यासोक्तेरुपाध्यवच्छिन्नत्वमेवनिर्माणं वस्तुतः । तथा च श्रुतिः ।
एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा लोकाः सर्वे यस्मात्सर्वाणिभूतानि सर्वेवात्मानोव्युच्चरन्तीति । व्युच्चरन्ति जायन्तइत्यर्थः
॥ १६ ॥

(५) नन्दनः । तच्छब्देन महदहङ्कारमनस्तन्मात्रज्ञानकर्मेन्द्रियाणि परामृश्यन्ते । तत्रोत्तरेषां त्रिगुणज्ञानकर्मेन्द्रि-
याणां वर्गत्रयाभिप्रायेण षण्णामित्युक्तम् । अमितौजसामुपयुज्यमानेष्वप्यवयवेषु दीपवदक्षय्यवीर्याणाम् । अवयवानात्म-
मात्रासु स्वजीवांशेषु सन्निवेश्यात्मकार्यसर्वभूतानि देवमनुष्यादीन्निर्ममे । एतानिसर्वभूतोपादानमित्येतावदेवात्र विवक्षि-
तं न पुनः सृष्टिरित्यवगन्तव्यं द्विधाकृत्वेत्यादिना तस्यावक्ष्यमाणत्वात् ॥ १६ ॥

(६) रामचन्द्रः । तेषामिति तेषां षण्णामिन्द्रियाणां मध्ये षष्ठमनः । अहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राणामवयवानात्ममात्रासु
शब्दादिषडसु विकारेषु संनिवेश्य सर्वाणि भूतानि निर्ममे ॥ १६ ॥

यन्मूर्त्यवयवाःसूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट् ॥ तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिमनीषिणः ॥ १७ ॥

(१) मेधातिथिः । मूर्तिःशरीरतदर्थस्तत्संपादकावयवाःसूक्ष्माःषडुक्तस्वरूपाश्च विशेषाख्यास्तानीमानीन्द्रिया
णि वक्ष्यमाणानि च भूतान्याश्रयन्ति । तस्योत्पत्तेर्भूतान्याश्रयन्तीत्युच्यते । तदाश्रयोत्पत्तिस्तेषाम् । पठितंच पञ्चभ्यः
पञ्चभूतानीतियथेन कारणेनाश्रयन्ति तस्मात्कारणाच्छरीरम् । तस्य प्रधानस्य येयंमूर्तिः शरीरमित्युच्यते । मनीषिणः म-
नीषाबुद्धिस्तद्वन्तः । पण्डिताः । अथवा विपरीतःकर्तृभावः । सूक्ष्माःकर्तारइन्द्रियाणि कर्म । अवयवाश्चेन्द्रियाणामाश्रयभा-
वंप्रतिपद्यमानाआश्रयन्तीत्युच्यते । यथा बहुभिर्भुक्तइति भोजयन्भुक्तइत्युच्यते । अथवाऽनेकार्थत्वाद्धातूनामाश्रय-
न्ति जनयन्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यन्मूर्त्यवयवाइति । यद्यस्मान्मूर्तिभूताल्लिङ्गदेहभूतास्ते ऽवयवाः षट् तस्यात्मनइमानि
स्थूलशरीराणि आश्रयन्तः श्रयणात् स्थूलशरीरमिति ॥ १७ ॥

(३) कुडूकः । यन्मूर्त्यवयवाःसूक्ष्माइत्यादि । यस्मान्मूर्तिःशरीरतत्संपादकावयवाःसूक्ष्मास्तन्मात्राहङ्काररूपाः
षट्स्य ब्रह्मणःसप्रकृतिकस्येमानि वक्ष्यमाणानि भूतानीन्द्रियाणि च पूर्वोक्तानि कार्यत्वेनाश्रयन्तितन्मात्रेभ्योभूतो-
त्पत्तेः अहङ्काराच्चइन्द्रियोत्पत्तेः । तथा च पठन्ति प्रकृतेर्महांस्ततोहङ्कारस्तस्माद्गणश्चषोडशकः तस्मादपि षोडशकात्प-
ञ्चभ्यःपञ्चभूतानि तस्मात्तस्य ब्रह्मणोया मूर्तिःस्वभावस्तांतथापरिणतामिन्द्रियादिशालिर्नीलोकाःशरीरमिति वदन्ति
षडाश्रयणाच्छरीरमिति । शरीरनिर्वचनेनानेन पूर्वोक्तोत्पत्तिक्रमएव दृढीकृतः ॥ १७ ॥

(४) राघवानन्दः । लिङ्गशरीरस्य सृष्टिमुक्त्वा तदवच्छिन्नजीवस्यापि सृष्टिमुक्त्वा स्थूलशरीरसृष्टिवदञ्छरीरपदव्युत्प-
त्तिमाह यदिति । यत्तस्मात् तस्य हिरण्यगर्भस्य मूर्तेरपञ्चीकृतपञ्चभूतात्मकस्य लिङ्गस्य मूर्तेःकायस्य द्वेवावब्रह्मणो-
रूपेमूर्तेचामूर्ते चेति श्रुतेः । अवयवा अवयवप्रायाः सूक्ष्मा अदृश्यरूपाः षट्मनआदयइमानि प्रत्यक्षसिद्धानि पञ्चीकृतपञ्च-

भूतारब्धानि चतुर्विधजरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जरूपाणि स्थूलशरीराणि भोगायतनत्वेनाश्रयन्ति । अतोमूर्तीनां मनआदी-
नामाश्रयत्वाच्छरीरमूर्तिमाहुस्तस्य जीवात्मनः । अतएवेन्द्रियाश्रयंशरीरमिति तार्किका अवयवगतद्रव्यपरिमाणंमूर्तिरिति
मूर्तिलक्षणमाहुः । तेन सर्वःप्रपञ्चोमूर्तिः । श्रुतावमूर्तपदंसूक्ष्मतापरम् ॥ १७ ॥

(५) नन्दनः । हिरण्यगर्भशरीरस्य सर्वभूतोपादानत्वंशरीरशब्दनिर्वचनेनाप्याह यदिति । तस्य ब्रह्मणोमूर्त्यवयवा-
देहांशाः षट्पूर्वोक्तामहदादयः । इमानीतिपूर्वश्लोकोक्तानांपरामर्शः । आश्रयन्ति व्याभुवन्तीति यावत् । तस्माच्छ्रयणाच्छरी-
रमिति तस्य ब्रह्मणोमूर्तिमाहुर्नैरुक्ताः । एतदुक्तंभवति । सर्वभूतान्यंशैरुपादानत्वेन श्रयतोतिहिरण्यगर्भशरीरस्य शरी-
रत्वंनपुनः प्राकृतपुरुषशरीरवच्छीर्यतइति ॥ १७ ॥

(६) रामचन्द्रः । यन्मूर्तीति । यद्यस्मात्कारणात्मूर्तेरहङ्काररूपस्यात्मनोवयवाःसूक्ष्मा अन्यविषया इन्द्रियाणि
• षट्पञ्च तन्मात्राआश्रयन्तीति ॥ १७ ॥

तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः ॥ मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम् ॥ १८ ॥

(१) मेधातिथिः । तेदत्प्रधानंसर्वभूतकृद्वति । अव्ययमविनाशकारणात्मना कथंसर्वाणि भूतानि करोति । य-
तस्तदाविशन्तीमानि । कानि पुनस्तानि । मनःसूक्ष्मैरवयवैः सह तन्मात्रैर्बुद्ध्यहंकारेन्द्रियलक्षणैः । अनन्तरंमहान्ति भूतानि
पृथिव्यमेजोवाय्वाकाशाख्यानि । सहकर्माभिर्धृतिसंहननपक्तिव्यूहावकाशाः पृथिव्यादीनांयथाक्रमं कर्माणि । तत्र धृतिः
कारणसंरणपतनधर्मस्य । एकशोऽवस्थानंसंग्राहकाद्विकीर्णस्य संहननं यथा पांसवोविकीर्णाउदकेन संहन्यन्ते पिण्डीक्रि-
यन्ते । पक्तिरन्वौषधतृणादेस्तेजसः कार्यतया प्रसिद्धा । व्यूहोविन्यासः सन्निवेशः अवकाशोमूर्त्यन्तरेण प्रतिबन्धः । नहि-
यस्मिन्देहे मूर्तिरेका स्थिता तत्र मूर्त्यन्तरस्य स्थानंसुवर्णपिण्डे न कस्य चिदन्तः संभवः । मनोग्रहणंसर्वेन्द्रियप्रद-
र्शनार्थम् । कर्मग्रहणेन च कर्मेन्द्रियाणि वा गृह्यन्ते । अथवा तत्कार्यसूक्ष्मैरवयवैर्युक्तं महान्ति भूतान्यधितिष्ठति
पश्चादित्येवं योजना इन्द्रियाणि च मनःशब्दस्य प्रदर्शनार्थत्वात् ॥ १८ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । तदाविशन्तीति । तदिति लिङ्गशरीरं महान्ति भूतानि स्थूलदेहारम्भकाण्याविशन्ति
सहकर्माभिर्धर्मैरधर्मैश्च धर्माधर्मौ चापि तत्रैव सूक्ष्मतया स्थितौकार्योत्पादार्थमभिव्यक्तौ तदाश्रयतइत्यर्थः । मनश्च
अव्ययाभिव्यक्तिंप्राप्तम् । अवयवैरिवावयवैर्ज्ञानेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनासंस्कारैः सूक्ष्मैर्दुर्विवेकभेदैः सहितंसर्व-
भूतकृत्सर्वप्राण्युपादानीभूतशरीरमव्ययं प्रलयेप्यात्यन्तिकनाशशून्यमाश्रयन्ते ॥ १८ ॥

(३) कुङ्कुमः । तदा विशन्ति भूतानीत्यादि । पूर्वश्लोकेतस्येति प्रकृतंब्रह्मात्र तदिति परामृश्यते । तद्ब्रह्म शब्दा-
दिपञ्चतन्मात्रात्मनावस्थितंमहाभूतान्याकाशादीन्याविशन्ति तेभ्यउत्पद्यन्ते सह कर्मभिः स्वकार्यैः तत्राकाशस्यावकाशदा-
नंकर्म वायोव्यूहंविन्यासरूपतेजसः पाकोऽपांसंग्रहणंपिण्डीकरणरूपंपृथिव्याधारणम् । अहङ्कारात्मनावस्थितंब्रह्म मनआ-
विशन्त्यहङ्कारादुत्पद्यतइत्यर्थः । अवयवैःस्वकार्यैःशुभाशुभसंकल्पसुखदुःखादिरूपैःसूक्ष्मैर्बहिरिन्द्रियागोचरैः सर्वभूतकृत्सर्वो-
त्पत्तिनिमित्तमनोजन्यशुभाशुभकर्मप्रभवत्वाजगतः । अव्ययमविनाशि ॥ १८ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तमर्थसंकलयति तदिति । तत्स्थूलशरीरजातं तत्तददृष्टारुष्टं कर्माभूतंमहान्ति भूतानि
कर्तृणि वेष्टनरूपाण्यारम्भकतया विशन्ति मनश्च जीवोपाधिःसह कर्मभिर्धर्मैरवयवप्रायैरिन्द्रियैश्च सह भोगार्थप्रवि-

शतीत्यनुषज्यते मनुष्योहमित्याद्यभ्यासमनुभवतीत्यर्थः । सर्वभूतकृदिति मनसोविशेषणं तस्यैव कर्तृत्वादिसूचनार्थम् । अव्य-
यञ्ज्ञानातिरिक्तानाक्षयम् ॥ १८ ॥

(५) नन्दनः । हिरण्यगर्भशरीरं तु सर्वभूतानां शरीरोपादानत्वेनोपयुज्यमानमपि न कदाचिदपि क्षीयतइत्याहत
दिति । तत् हिरण्यगर्भशरीरं सूक्ष्मैरवयवैः सर्वभूतकृत् सर्वभूतानि कुर्वाणमन्यक्षय्यावयवयथा भवति तथाऽव्ययं महान्ति
भूतान्यहङ्कारमनस्तन्मात्रज्ञानकर्मेन्द्रियाणि मनश्च महत्तत्त्वंच कर्मभिर्जीवैः सहाविशन्ति ॥ १८ ॥

(६) रामचन्द्रः । तदेति । तस्मिन्काले कर्मभिः सह महान्ति महत्तत्त्वादीनि भूतानि पृथिव्यादीनि अहङ्का-
रात्मनः शरीर आविशन्ति च पुनः षष्ठमनः कर्तृभूतं सूक्ष्मैरवयवैः सह प्रविशति । कीदृशमनः सर्वभूतकृत् । पुनः कीदृशमनः ।
अव्ययं विनाशरहितम् । पुनः कीदृशं वासनात्मकम् ॥ १८ ॥

तेषामिदं तु समानां पुरुषाणां महौजसाम् ॥ सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः संभवत्यव्ययाद्ययम् ॥ १९ ॥

(१) मेधातिथिः । सूक्ष्मात्स्थूलमुत्पद्यते सम्भवति । अव्ययाद्ययमित्येतावति तात्पर्यं न तु षण्णांसमानां वा तत्त्वा-
नां मात्राभ्य इति । चतुर्विंशतितत्त्वानि तानि सृष्टौ सर्वेषां निमित्तम् । अथवा पिण्डसृष्टौ समैव प्रधानं कारणम् । षड्विंशोपा-
सममोमहांस्तेभ्योभूतेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते । तेषु चोत्पन्नेषु पिण्डीभवति शरीरम् । अथ यावत्प्रधानादुपसंभूतसर्वविकारादे-
कीभूताद्ययंबहुधा विप्रकीर्णविश्वरूपं जगदुत्पद्यते किं युगपदेव समस्तैर्विकारैः स्थूलरूपैः प्रधानं विक्रियते । नेत्याह तेषा-
मिदमिति । यादृशः प्रागुक्तः क्रमस्तेनैव प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्रूपस्तु षोडशक इति पुरुषशब्दस्तत्त्वे पुरुषार्थत्वात्प्र-
युक्तः । महौजसां स्वकार्यैर्वीर्यवताम् । अपरिमितविकारहेतुत्वाच्च हत्त्वम् । तेषां याः सूक्ष्मा मूर्तिमात्रा मूर्तिः शरीरं तदर्थमात्रा-
स्ताभ्य इदं भवति । अत उच्यतेऽव्ययाद्ययमिति । काः पुनस्तेषां सूक्ष्मा मात्राः । न हितन्मात्राणामन्यमात्राः संभवन्ति येन ते-
षां सूक्ष्मा मात्रा इति व्यतिरेक उपपद्यते । न तेषां स्वागतमात्रापेक्षत्वम् । किं तर्हि तन्मात्रेभ्यः सूक्ष्मो महान् महतः प्रभुरिति ॥ १९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तेषामिति । अन्तःकरणं पञ्चेन्द्रियाण्यात्ममात्रा च तदवच्छिन्नेति सम । तेषां पुरुषाणां-
पुरुषदेहे सीदतां कार्योत्पादने महाबलानां सूक्ष्माभ्यो लिङ्गमूर्तिरूपाभ्यो मात्राभ्योऽव्ययाच्च प्रकृतेर्व्ययं विनाशि स्थूलदेहरूपं
पकार्यं संभवत्युत्पद्यते ॥ १९ ॥

(३) कुङ्कुमः । तेषामिदं तु समानामित्यादि । तेषां पूर्वप्रकृतीनां महदहङ्कारतन्मात्राणां समसंख्यानां पुरुषादात्मन-
उत्पन्नत्वात् तद्विनिर्गमत्वाच्च पुरुषाणां महौजसां स्वकार्यसंपादनेन वीर्यवतां सूक्ष्मायामूर्तिः । मात्राः शरीरसंपादकभागा-
स्ताभ्य इदं जगन्स्वरं संभवत्यनश्वराद्यत्कार्यतद्विनाशि स्वकारणे लीयते । कारणं तु कार्यापेक्षया स्थिरं परमकारणं तु
ब्रह्म नित्यमुपासनीयमित्येतदर्थं यितुमयमनुवादः ॥ १९ ॥

(४) राघवानन्दः । संप्रति स्थूलभूतगुणान्वक्तुं स्थूलशरीरस्य तत्कार्यत्वमनुवदन्निवाह तेषामिति द्वाभ्याम् ।
इदं स्थूलदेहं पुरुषाणां मनआदिपुरुषान्तानां समानां महौजसां यच्चण्डलव्यापिनां तेषां भोगार्थं सूक्ष्माभ्योऽपञ्चीकृताभ्यो
यामूर्तिमात्राः पञ्चीकृतानि महाभूतानि ताभ्यस्तदिदं स्थूलशरीरं संभवत्युत्पद्यतइत्यन्वयः । अव्ययात् अव्ययं जीवं अतत्य
वच्छिन्नतीति अव्ययात् प्रथमान्तं स्थूलदेहविशेषणम् स्वतश्च व्ययं प्रत्यक्षं विनाशीति ॥ १९ ॥

(५) नन्दनः । यदुक्तं हिरण्यगर्भशरीरादपहृतं महदादितत्त्वतदंशाजीवाश्च सर्वभूतोपादानमिति तदिदं निगमयति
तेषामिति । समानां महदहङ्कारमनस्तन्मात्रज्ञानकर्मेन्द्रियजीवानां पुरत्वेन शरीरत्वेन शरीरतइति महदादीनां पुरुषत्वं पुरेशरत-
इति जीवानाम् । हौजसामक्षयशक्तीनामव्ययाद्ब्रह्मशरीरात्संभूताभ्यः सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः शरीरनिष्पादनक्षमाभ्यो व्य-

यं नृवरमिदं कार्यजातं संभवति । हिरण्यगर्भशरीरस्थाः समतत्त्वमात्राः कार्यजातस्योपादानमित्यर्थः ॥ १९ ॥

(६) रामचन्द्रः । तेषामिति । तेषां समानां पुरुषाणां महदहङ्कारपञ्चतन्मात्राणामवयवामसूक्ष्माः सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेभ्यः । अव्ययादीश्वराद्ययं विश्वं संभवतीति ॥ १९ ॥

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवामोति परःपरः ॥ यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः ॥ २० ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वश्लोके केचिदन्यथा समसंख्यां परिकल्पयन्ति । पञ्चेन्द्रियाणि चक्षुरादीनि वर्गीकृतान्येकीभवन्ति । बोधहेतुतयैकेन धर्मेण योगादेकत्वेन निर्दिश्यन्ते । एकं कर्मेन्द्रियाणि तौ च वर्गद्वित्वाद्बौपुरुषौ भवतः । पञ्चभूतानि भेदेनैव निर्दिष्टानि कार्यवैलक्षण्यात् । तदेवं समपुरुषास्तेषां या मूर्त्यर्थाः सूक्ष्मा मात्रा निर्माणकार्याणि तन्मात्राण्यहङ्कारश्च । अन्यत्समानम् । अतश्च भूतानां पूर्वश्लोके संनिधानादेषामिति तेषां प्रतिनिर्देशः । यद्यपि च व्यवहिते बहूनि च तानि संनिहितानि तथापि यद्द्वयार्थः प्रतिपाद्यते विशिष्टसंख्याकर्तृगुणवत्त्वं तद्भूतानामेव संभवति नान्येषां प्रकृतत्वे सत्यपि । अतोऽयं श्लोकार्थेषां भूतानां यदाद्यन्तवत्तत्त्वस्य यद्रूपं ततो नन्तरं पठितं । तत्तत्पूर्वस्य संबन्धेन गुणं गृह्णाति । गुणशब्देन शब्दादयः पञ्चोच्यन्ते । आद्यत्वं चात्र वक्ष्यमाणया व्यवस्थयाऽऽकाशं जायत इति । गुणत्वं च शब्दादीनां तत्रैव वक्ष्यति । यो य आकाशादिलक्षणोऽर्थो यावतिथः यावतां पूरणः । वतेरियुक् । द्वितीये तृतीये वस्थाने स्थितः स तावद्गुणस्तावन्तो गुणास्तस्य भवन्ति । द्वितीयस्थाने स्थितो द्विगुण इत्यादि परस्पराद्याद्यगुणसंबन्धित्वं प्रथमेऽर्थश्लोक उक्तम् । तत्र यः स्वशब्देन यस्यैव योगुणोऽभिहितस्तस्य शब्दगुणं विदुस्तद्रूपगुणमुच्यत इत्यादि । ततश्च पूर्णगुणावाप्तौ द्वैगुण्यमाकाशं वर्जयित्वा भूतानां प्राप्तमत उक्तं यो यो यावतिथ इति । तेन द्विगुणो वायुस्त्रिगुणं तेजश्चतुर्गुणा आपः पञ्चगुणा भूमिरिति । आद्याद्यस्येति कथम् । आद्यस्याद्यस्येह भवितव्यं । नित्यवीप्सयोरिति द्विवचनेन । यथा परःपर इति । छन्दोभिरविशेषात् स्मृतीनां लुप्तानुगोधाच्चैव पठितम् ॥ २० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आद्याद्यस्येति । तेषामिति योग्यतया महान्ति भूतानीति प्राक्प्रक्रान्तानि महाभूतानि परामृशति । आकाशवायुतेजोजलक्षितिक्रमेणोत्पत्तिस्तत्क्रमेणाद्यस्याद्यस्य पूर्वस्य पूर्वस्य गुणं शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान्यतमरूपं परःपरमोति स्वगुणेन च युज्यत इत्यर्थः यो यो यावतिथो यावत्पूरणः स तावद्गुणः प्रथम एक गुणोऽन्येः क्रमेण आदिगुणा इत्यर्थः ॥ २० ॥

(३) कुल्लूकः । आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामित्यादि । एषामिति पूर्वतरश्लोके तदा विशन्ति भूतानीत्यत्र भूतानां परामर्शः । तेषां चाकाशादिक्रमेणोत्पत्तिक्रमः शब्दादिगुणवत्ता च वक्ष्यते । तत्राद्याद्यस्याकाशादेर्गुणशब्दादिकं वागवादिः परःपरमोति । एतदेव स्पष्टयति यो य इति । एषां मध्ये यो यो यावतां पूरणो यावतिथः वतेरियुक् स स द्वितीयादिः द्वितीयो द्विगुणः तृतीयस्त्रिगुण इत्येवमादिर्मन्वादिभिः स्मृतः । एतेनेतदुक्तं भवति आकाशस्य शब्दो गुणः वायोः शब्दस्पर्शौ तेजसः शब्दस्पर्शरूपाणि अपां शब्दस्पर्शरूपरसाः भूमेः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः । अत्र यद्यपि नित्यवीप्सयोरिति द्विवचनेनाद्यस्याद्यस्येति प्राप्तं तथापि स्मृतीनां छन्दःसमानविषयत्वात्सुपांसुलुगिति प्रथमाद्यस्य सुप्लुक् तेनाद्याद्यस्येति रूपसिद्धिः ॥ २० ॥

(४) राघवानन्दः । अतएव मूर्तिमात्राशब्दवाच्यानां स्थूलपञ्चमहाभूतानां गुणान्संकलयति आद्याद्यस्येति । एषामुक्तानामाकाशादिस्थूलपञ्चमहाभूतानां मध्ये यो यो भूतविशेषो यावतिथो यावतां पूरणः स्मृतो मनीषिभिः स स तावद्गुणः । तेनाकाशाद्वायो द्वितीयतया वायोर्गुणद्वयम् एवमुत्तरत्रापि तेन स्थूलशरीरतावद्गुणोपलब्धिरिति भावः । देहस्य पञ्चात्मकत्वेऽपि पृथिवीमय आपोमयस्तेजोमयो वायुमय आकाशमय इति श्रुतौ तत्तन्मात्रान्यमात्रं विवक्षितम् ॥ २० ॥

(५) नन्दनः । अथपञ्चभूतानांगुणगणसंख्यानप्रसङ्गादाह आद्येति तेषांपञ्चानांपुरुषाणांमध्यआद्याद्यस्य पूर्वपूर्वस्य गुणाःशब्दादिकास्तानेतानपरः परः पुरुषःप्राप्नोति । ततश्च योयोयावतिथोयावतांपुरुषाणांयावत्संख्याकःसतावद्गुणः स्मृतः। एतदुक्तंभवति । आकाशः पुरुषः तस्यैकोगुणः शब्दः । वायुर्द्वितीयस्तस्य द्वौ शब्दस्पर्शौ । तेजस्तृतीयस्तस्य त्रयः शब्द-
स्पर्शरूपाणि । आपश्चतुर्थस्तस्य चत्वारः शब्दस्पर्शरूपरसाः । भूमिःपञ्चमस्तस्य पञ्चशब्दरूपरसगन्धादिति । एवंतावत्स-
र्वभूतानि सिसृक्षतोहिरण्यगर्भस्य त्वशरीरंभूतमित्युक्तम् ॥ २० ॥

(६) रामचन्द्रः । आद्येति । एषांपञ्चमहभूतानाम् । आद्याद्यस्य परःपरमवाप्नोति । तद्यथाआकाशस्य शब्दगुणं वायोः स्पर्शगुणं वायौ शब्दस्पर्शौ भवतः तेजसो रूपगुणं तेजसि शब्दस्पर्शरूपाणि भवन्ति । एवमप्यग्रेऊक्त्यम् । येषां-
पञ्च महाभूतानांयोयोयावतिथो यावत्सङ्ख्यावान् ससतावत्सङ्ख्याकगुणयुक्तः स्मृतः तद्यथाशब्दस्पर्शरूपरसगन्धापञ्च-
गुणापृथ्वीत्यादि ॥ २० ॥

सर्वेषांतु सनामानि कर्माणि च पृथक्पृथक् ॥ वेदशब्देभ्यएवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥ २१ ॥

(१) मेधातिथिः । सप्रजापतिः सर्वेषामर्थानांनामानि चक्रे । यथा कश्चित् पुत्राणांजातानामन्येषांवा संव्यव-
हारार्थकरोति । वृद्धिरादैच् धीश्रीस्त्रीमितिशब्दार्थसंबन्धंकृतवान् गौरश्वः पुरुषइति । कर्माणिच निर्ममे । धर्माधर्माख्या-
न्यदृष्टान्यग्निहोत्रादीनिच । सृष्ट्वाच कर्माणि तत्र संस्थाव्यवस्थाश्चकार । इदंकर्म ब्राह्मणेनैव कर्तव्यं कालेऽमुष्मै च
फलाय । अथवा दृष्टार्थामर्यादा संस्था गोप्रचारइहच प्रदेशेनकर्तव्यउदकं । सस्यसेकार्थममुष्मिन्ग्रामे नदेयं । यावत्त-
स्माद्दामादस्माभिरयमुपकारो न लब्धः । दृष्टानि च कर्माणि निर्ममे । तत्र यान्यदृष्टार्थानि तानि वेदशब्देभ्योवैदिकेभ्यो-
वाक्येभ्यः । ननु सर्वस्य तेनैव सृष्टत्वात्तस्यैवत्वात्तत्तयाद्वेदं ससर्ज कर्मानुष्ठानपरिपालनार्थमित्येवंवक्तव्यं वेदसृष्टिश्च-
वक्ष्यते अग्निवायुरविभ्यश्चेत्यत्रान्तरे । उच्यते । भिन्नमत्रदर्शनम् । केचिदाहुर्न्यस्मिन्कल्पे वेदास्तेनाधीतास्तेच महा-
प्रलयेन प्रलीनाः पुनरन्यस्मिन् कल्पे सुप्रबुद्धवत्सर्वप्रथमंप्रतिभाति त्वमपठितोयथा कस्यचिच्छ्लोकः प्रतिभाति । भाति
च वेदेगौरनुबन्ध्याऽश्वस्तूपरोगोमृगइत्यादिवाक्येभ्यः शब्दानुस्मृतिपूर्वकं झटिति तानर्थानुस्मृत्योत्पद्यमानांश्च पदार्थान्
दृष्ट्वा तस्यार्थस्यायंशब्दः कल्पान्तरे नामासी त्संप्रत्यस्यैवक्रियतामित्युभयंवेदशब्देभ्यएव नामानि कर्माणि च सृष्टवान् ।
अथवा नैववेदाः प्रलीयन्ते महाप्रलयेऽपि । योसौपुरुषः केषांचिदिष्टस्तथावेदाआसते । सएवान्तरण्डं ब्रह्माख्यंपुरुष-
निर्माय वेदानध्यापयामास । एवं स ब्रह्मा वेदशब्देभ्यः सर्वनिर्मितवान् । यदत्रतत्त्वंतदस्माभिरुक्तमेव । अथ पौराणिकी-
प्रक्रियाप्रयुज्यते सास्माभिःप्रदर्श्यतएव । आदौ जगत्सर्गइत्यर्थः । अथवादौ यानि नामान्यनपञ्चगानि न पुनरिदानीं-
तनान्यशक्तिजानि गव्यादीनि पृथक् । यथा शरीरत्वसमुदायरूपंमेवंनिर्ममे । किंतिहि पृथक् ॥ २१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सर्वेषामिति । नामानि ब्राह्मणइत्यादीनि । कर्माणि याजनादीनि । वेदशब्देभ्योऽधिगम्य-
निर्ममेभ्यवस्थापितवान् । पृथग्विभिन्नाःसंस्थाःसंस्थानानि द्विपात्वादीनि ॥ २१ ॥

(३) कुल्लूकः । सर्वेषांतु सनामानित्यादि । सपरमात्माहिरण्यगर्भरूपेणावस्थितःसर्वेषांनामानि गोजातेगौरिति
अश्वजातेरश्वइति । कर्माणि ब्राह्मणस्याध्ययनादीनि क्षत्रियस्य प्रजारक्षादीनि । पृथक्पृथक् यस्य पूर्वकल्पे यान्य-
भूवन् । आदौ सृष्ट्यादौ वेदशब्देभ्यएवावगम्य निर्मितवान् । भगवतां व्यासेनापि वेदमीमांसायांवेदपूर्विकैव जगत्सृष्टिर्यु-
त्पादिता । तथा च शारीरकसूत्रं शब्दइति चेन्नातःप्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । अस्यार्थः देवतानांविग्रहवत्त्वे वैदिके
वत्त्वादिशब्दे देवतावाचिनि विरोधः स्याद्वेदस्यादिमत्त्वप्रसङ्गादिति चेन्नास्तिविरोधः । कस्मादतःशब्दादेव जगतःप्रभवा-

दुत्पत्तेः प्रलयकालेऽपि सूक्ष्मरूपेण परमात्मनि वेदराशिः स्थितः स इह कल्पादौ हिरण्यगर्भस्य परमात्मन एव प्रथमदेहिमूर्तेर्मनस्य व्यवस्थान्तरमनापन्नः सुषुप्तप्रबुद्धस्येव प्रादुर्भवति तेन प्रदीपस्थानीयेन सुरनरतिर्यगादिप्रविभक्तजगदभिधेयमूर्तं निर्ममितीति कथमिदं गम्यते प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । प्रत्यक्षं श्रुतिरनपेक्षत्वात् अनुमानं स्मृतिरनुमीयमानश्रुतिसापेक्षत्वात् । तथा च श्रुतिः एतदिति वै प्रजापतिर्देवानसृजतामृग्रमइति मनुष्यानिन्दवइति पितृस्तिरः पवित्रमिति ग्रहानसवइति स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रमिति सौभगायेत्यन्याः प्रजाः । स्मृतिस्तु सर्वेषां तु सनामानीत्यादिका मन्वादिप्रणीतैव । पृथक् संस्थाश्चेति । लौकिकीश्च व्यवस्थाः कुलालस्य घटनिर्माणं कुविन्दस्य पटनिर्माणमित्यादिकविभागेन निर्मितवान् ॥ २१ ॥

(४) राघवानन्दः । एतदिति । प्रजापतिर्देवानसृजतामृग्रमइति मनुष्यानिन्दवइति पितृस्तिरः पवित्रमिति ग्रहानसवइति स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रं सौभगायेत्येताः प्रजास्तथाभूरिति भूमिमसृजदित्यादि श्रुतिमाश्रित्याह सर्वेषां त्विति । नामानि देवोऽयं मनुष्योऽयं इत्यादीनि कर्माणि यजनयाजनादीनि । पृथक् संस्थाः कुलालस्य कम्बुयीवादि घटनिर्माणं कुविन्दस्य पटनिर्माणं द्विचतुष्पदाद्यादृतीर्वा निर्ममइत्यन्वयः । पुरश्चक्रे द्विपदः पुनश्चक्रे चतुष्पदइति श्रुतेः । पुरः शरीराणि ॥ २१ ॥

(५) नन्दनः । इदानीं तेन सृज्यमानानां भूतविशेषाणां नामकर्मरूपपृथक्करणं कुतस्त्यमित्यपेक्षायामाह सर्वेषामिति । स ब्रह्मणामानि देवामनुष्याः पशवइत्यादीनि कर्माणि देवा एव कुर्वन्तु मनुष्या एव पशव एवमित्यसंस्थाः संस्थानानि रूपाणीति यावत् देवानामेवं संस्था मनुष्याणामेवं पशूनामेवमिति । वेदशब्देभ्यो मन्त्रार्थवादेतिहासादिपर्यालोचनया निर्ममे ॥ २१ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वेषामिति । स ब्रह्मा सर्वेषां प्राणिनां ब्राह्मणादीनां वर्णानां नामान्येवं पृथक् पृथक् निर्ममे । आदौ सृष्ट्यादौ वेदशब्देभ्यो वेदाभ्यासेभ्यः ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्ब्राह्मराज्यः कृतइत्यादिभ्यः श्रुतिभ्यो ज्ञात्वा पृथक् कर्माणि ब्राह्मणादीनां निर्ममे पृथक् संस्थां स्थितिं त्रिलोक्याः संस्थां मर्यादां निर्ममे ॥ २१ ॥

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः ॥ साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम् ॥ २२ ॥

(१) मेघातिथिः । कर्मात्मानः शरीरिणः प्राणिनः कर्मसु तत्परामनुष्या उच्यन्ते । तेषामर्थसिद्धये यज्ञमसृजत् । ये ब्रह्मोपासनास्वभिरताः पुत्रपश्वादिफलार्थिनो द्वैतपक्षाश्रितास्ते कर्मानुष्ठानपरत्वात् कर्मात्मान उच्यन्ते । षष्ठ्यपि तादर्थ्यं ब्रूतइति तदर्थं यज्ञमसृजदिति गम्यते । देवानां च गणं तदर्थमेवासृजत् । तं कर्मात्मानं चेत्ययमदेशे चः पठितः । तस्य देशो देवानामित्यतो नन्तरं यज्ञं ससर्ज । अग्निरग्नीषोमाविन्द्राग्नी इत्यादियज्ञसिद्ध्यर्थं देवानां गणमसृजत् । तथा साध्यानां देवानां गणमित्यनुषज्यते । भेदेनोपादानमहविर्भाक्त्वात्तेषां स्तुतिभाज एव ते केवलम् । यत्र पूर्वं साध्याः सन्ति देवा इति । साध्या वै नाम देवा इति । साध्या वै नाम देवा आसन् । अथवा ब्राह्मणपरिव्राजकवत् । सूक्ष्मं मरुतो रुद्राङ्गिरस इत्येतदपेक्षया साध्यगणः सूक्ष्मः । साध्यग्रहणं चान्यासामप्यहविः संबन्धिनीनां देवतानां वेनोस्तुनीति रित्यादीनां प्रदर्शनार्थम् । अन्ये तु कर्मात्मनां देवानां प्राणिनामिति समानाधिकरणानिमन्यन्ते । कर्माणि आत्मा स्वभावप्रतिलम्भो येषां ते कर्मात्मानः । यागादिकर्मनिवर्तनपरत्वात् प्रधानतया वा कर्मात्मानः । काश्चिद्देवतायागादिकर्मण्येव स्वरूपत इति हासेऽश्रूयन्ते यथेन्द्रो रुद्रो विष्णुरिति । अन्यासां तु याग एव देवतात्वं स्वरूपतः । अक्षायावाणो रथाङ्गानि । नहि यथा भारते इन्द्रादीनां वृत्रादिभिरसुरैर्युद्धादिकर्मऽश्रूयते तथाक्षादीनां वर्ण्यते । अस्ति च सूक्तहविः संबन्धे तेषामपि देवतात्वम् । अक्षाणां प्रावेपामा इति आङ्गाप्रेते वदन्ति । वनस्पतेर्वीङ्मइति रथाङ्गानाम् । अत एव प्राणिनामिति । द्विविधा हि देवताः । प्राणवत्यस्तद्रहिताश्च । यथेन्द्रादयः

पुरुषविग्रहाः प्राणवन्तः पुराणेष्वर्ण्यन्ते । नाक्षादय इतिहासदर्शना । अतश्चायं सर्वः सर्गादिप्रपञ्चः । चशब्दश्चात्र द्रष्टव्यः । प्राणिनामप्राणिनामपि निरुक्तदर्शनेऽपि द्विविधा देवता । अश्वामानोभिन्न इति । शकुनिः कनिक्रददिति । गावआगावो अग्नमिति । एताः प्राणवत्यः । प्राणाउक्ताः । सनातनग्रहणं यज्ञविशेषणं पूर्वकल्पेऽपि यज्ञस्य भावात्प्रवाहनित्यतया नित्यत्वम् ॥ २२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कर्मात्मनामिति । कर्मात्मनां देवदेहेतुरूपकर्मयुक्तात्मनां देवानां ये कर्मणा देवत्वमाप्नुवन्ति तेषां कर्मदेवानां गणमसृजत् । ये तु देवसु तत्वेनाजानदेवास्ते देवैरेव सृज्याः । तथा प्राणिनामन्येषां पितृयक्षादीनां गणं तथा साध्यानां पूर्वकल्पदेवानां गणं यज्ञयज्ञकर्माभिमानिनं पुरुषम् ॥ २२ ॥

(३) कुहूकः । कर्मात्मनां च देवानामित्यादि । स ब्रह्मा देवानां गणमसृजत् । प्राणिनामिन्द्रादीनां कर्मण्यात्मास्वभावो येषां तेषामप्राणिनां च ग्रावादीनां देवानां साध्यानां च देवविशेषाणां समूहं यज्ञं च ज्योतिष्टोमादिकं कल्पान्तरेऽप्यनुमीयमानत्वा नित्यं साध्यानां च गणस्य पृथग्वचनं सूक्ष्मत्वात् ॥ २२ ॥

(४) राघवानन्दः । सर्वभूतानि निर्मम इत्युक्तां सृष्टिं विवृण्वन् विराट्सृष्टिमाह कर्मात्मनामिति दशभिः । कर्मात्मनां कर्मणैव प्राप्तदेवत्वानां ये कर्मणा देवत्वमायान्तीति श्रुतेः । कर्मणो यज्ञादेः स्वरूपनिर्वाहकत्वेन वा अमुकस्यै देवतायै इदं नममेति त्यागोद्देश्यत्वात् प्राणिनां मध्ये सूक्ष्ममस्मदाद्यदृश्यरूपं देवानां गणमसृजत् । तथा साध्यानां गणं यज्ञकर्म सनातनं वैदिकम् कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धीति स्मृतेरवश्यफलदत्वात् ॥ २२ ॥

(५) नन्दनः । अथ लोकतत्त्वप्रवर्तकभाषाभिमानिनीनां देवतानां सृष्टिचतुर्भिः श्लोकैराह कर्मेति । प्राणिनामर्थप्राप्त्यर्थार्जनादीनि स्वभावप्राप्त्याहारनिद्रादीनि च यानि कर्माणि तदभिमानिनो देवाः कर्मात्मानः कर्मनिर्वर्त्य फलाभिमानिनस्तु देवाः साध्यास्तेषामुभयेषां सूक्ष्मसंशयितगणं तथा सनातनमादिकालप्रवाहरूपेण नित्यं यज्ञयज्ञाभिमानिनीं च देवतां सोऽसृजत् ॥ २२ ॥

(६) रामचन्द्रः । कर्मेति ॥ सप्रभुः हिरण्यगर्भः कर्मात्मनां गणमसृजत् च पुनः प्राणिनां गणमसृजत् साध्यानां गणमसृजत् सनातनमविनाशं सूक्ष्ममतीन्द्रियं यज्ञमपूर्वचैवासृजत् ॥ २२ ॥

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ॥ दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं मृग्यजुः सामलक्षणम् ॥ २३ ॥

(१) मेधातिथिः । तिस्र एव देवता अग्निप्रभृतय इति नैरुक्ताः सत्यं प्यभिधाननानात्वे । अतस्ते न दर्शनेन नोच्यते । एताभ्यस्ति सृभ्यो यज्ञसिद्ध्यर्थं यागसंप्रदानत्वात्तासांचतुर्थी । त्रयमृग्यजुः सामलक्षणं ब्रह्म वेदाख्यं दुदोह । द्विकर्मकोऽयं धातुः प्रधानं कर्म त्रयमप्रधानेन द्वितीयेन कर्मणा भवितव्यम् । न च तदस्ति । अतः पञ्चम्येवेयमिति मन्यामहे । अग्न्यादिभ्यो दुदोहाक्षारयदभावयत् । कथं पुनरग्न्यादिभ्यो वर्णात्मा शब्दो मन्त्रवाक्यानि ब्राह्मणवाक्यानि च भवेयुः । किं नोपपद्यते । कः शक्तीरदृष्ट्वा असतीर्वक्तुमर्हति । नाख्यातार्थो विकल्पयितुं युक्तः । पञ्चमी तर्हि किमर्थं दुहियाचीति द्वितीयया भवितव्यम् । किंच दृष्टप्रमाणविरोधी प्राग्वृत्तोऽर्थ उच्यमानो मनसः परितोषमाधत्ते प्रामाणिकानां परित्वतो विरोधः । स्वरूपपरत्वाश्रयणे नैषा मागमाना मृग्वेद एवाग्रेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यादिति । अग्न्यादयोऽपि देवता ऐश्वर्यभाजो निरतिशयशक्तिश्च प्रजापतिस्तत्र कानामनुपपत्तिः । अस्मिन् दर्शने पञ्चम्यपि विवक्ष्या । अतः कारकाणि कथितान्यत्रापादानसंज्ञेत्यपादानविवक्षायां भाष्ये समर्थितानि । अन्यदर्शने कथंचतुर्थी तावद्युक्तैव । अर्थवादाश्चैते तत्र द्वितीयं कर्मात्मैव प्रजापतिरात्मानं दुदोह । दोहनं चाध्यापनं परसंक्रान्तिसामान्येन । अथापि पञ्चमी तत्राप्याग्रेयामन्त्रा आदावृग्वेदेऽतोऽग्रेरजायतेत्यु-

च्यतेयजुर्वेदेऽपिद्वेषत्वोर्जेत्वेति । इदंनतन्मध्यस्थानत्वाद्वायुना वर्षदानेन क्रियते । ऊर्कप्राणः स वायुरेव । अत आदितो-
वायुकार्यसंबन्धाद्वायोरित्युपमा । अथवाध्वर्यवमार्त्विज्यं बहुप्रकाराश्चेष्टाश्च सर्वावायोरित्यनेन सामान्येन वायोर्जन्य
यजुर्वेदस्यानधिकारस्यसामगीत्ययोग्यत्वादुत्तमाध्ययनानि सामान्युत्तमस्थानादित्येति ॥ २३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अग्निवाय्विति । अयं ब्रह्म वेदत्रयंदुदोहान्तर्धृतमाकृष्टवान् ॥ २३ ॥

(३) कुल्लूकः । अग्निवायुरविभ्यस्त्वित्यादि । ब्रह्म ऋग्यजुःसामसंज्ञेवेदत्रयं अग्निवायुरविभ्यआकृष्टवान् सनात-
नंनित्यम् । वेदापौरुषैयत्वपक्षेव मनोरभिमतः । पूर्वकल्पे ये वेदास्तएवपरमात्ममूर्तेर्ब्रह्मणःसर्वज्ञस्य स्मृत्यारूढाः । तानेव
कल्पादौअग्निवायुरविभ्यआचकर्ष । श्रौतश्चायमर्थो न शङ्कनीयः । तथा च श्रुतिः अग्नेर्ऋग्वेदोवायोर्यजुर्वेदआदित्यात्साम-
वेदइति । आकर्षणार्थत्वादुद्दिष्टातोर्नाग्निवायुरवीणामकथितकर्मता किंत्वपादानतैव यज्ञसिद्ध्यर्थत्रयीसंपाद्यत्वात् यज्ञा-
नांआपीनस्थक्षीरवद्विद्यमानानामेव वेदानामभिव्यक्तिप्रदर्शनार्थम् । आकर्षणवाचकोगौणोदुहिःप्रयुक्तः ॥ २३ ॥

(४) राघवानन्दः । अग्निवायुरविभ्यइति । अग्नेर्ऋग्वेदोवायोर्यजुर्वेद आदित्यात्सामवेदइतिश्रुतेः । ब्रह्म वेदंसना-
तनंनित्यं विसदृशक्रमराहित्यात् यथापूर्वमकल्पयदिति श्रुतेः । सुमप्रबुद्धस्येवाविर्भावाच्च यज्ञसिद्ध्यर्थ आध्वर्यवौद्वा-
त्रादिभेदेनैव यज्ञःसिध्यतीति दुदोहादित्यादिद्वाराविश्वकारान्यथा वेदस्यकर्त्रानन्त्यप्रसङ्गात् ॥ २३ ॥

(५) नन्दनः । अग्निवायुरविचसृष्ट्वातेभ्यइत्यर्थः । ब्रह्म वेदाभिमानिर्नादेवतांदुदोह प्रादुष्कृतवान् । तदुक्तंब्रह्मच
ब्राह्मणे ऋग्वेदएवाग्नेरजायत यजुर्वेदोवायो स्सामवेदआदित्यादिति ॥ २३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अग्निरिति । सनातनंब्रह्मत्रयंवेदत्रयमग्निवायुरविभ्यो दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थम् । कोदशंब्रह्म ऋग्यजुःसा-
मलक्षणं अग्नेः सकाशात् ऋग्वेदः वायोः सकाशाच्चजुर्वेदः रवेः सकाशात्सामवेदइति निर्ममे निर्मितवानितिसिद्धम् ॥ २३ ॥

कालंकालविभक्तीश्च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा ॥ सरितःसागराञ्छैलान्समानि विषमाणि च ॥ २४ ॥

(१) मेधातिथिः । धर्मसामान्यादाह । द्रव्यात्मा कालोवैशेषिकाणांक्रियारूपोऽन्येषामादित्यादिगतिप्रतानआवृ-
त्तिमान् । कालविभक्तयोविभागमासर्व्वयनसंवत्सराद्या । नक्षत्राणि कृत्तिकारोहिण्यादीनि । ग्रहाआदित्यादयः । सरितो-
नद्यः । सागराःसमुद्राः । शैलाःपर्वताः । समानि स्थलान्येकरूपाभूभागाः स्वातप्रदरवर्जिताः । विषमाणिआरोहावरोहवन्ति
॥ २४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कालमिति ॥ कालंसामान्यकालात्मानं पुरुषं कालविभक्तीः कालविभागकल्पाद्यभिमा-
निदेवताः नक्षत्राण्यश्विन्यादीनि समानि समवस्थानानि विषमाणि विषमस्थानानि ॥ २४ ॥

(३) कुल्लूकः । कालंकालविभक्तीश्चेत्यादि । अत्रससर्जेत्युत्तरश्लोकवार्तिनी क्रिया संबध्यते । आदित्यादिक्रि-
याप्रचयरूपंकालंकालविभक्तीर्मासर्व्वयनाद्याः नक्षत्राणि कृत्तिकादीनि ग्रहान्सूर्यादीन् सरितोनदीः सागरान्समुद्रान् शैला-
नपर्वतान् समानि समस्थानानि विषमाणि उच्चनीचरूपाणि ॥ २४ ॥

(४) राघवानन्दः । कालमादित्यक्रियाप्रचयं कालविभक्तीर्मासर्व्वयनाद्याः समानि एकाकारसंस्थानानि मनुष्या-
न् विषमाणीति देवादितिरश्चः ॥ २४ ॥

(५) नन्दनः । चन्द्रादित्याश्विन्यादिग्रहनक्षत्रस्पन्दनः सामान्यलक्षणः कालः । कालविभक्तिश्चुटिलवादिरव-
यवः । नक्षत्राणि कृत्तिकादीनि । ससर्जेति वक्ष्यमाणत्वेन संबन्धः । एताआन्तरिक्ष्योदेवताः । सरिदादयोभौम्याः ॥ २४ ॥

(६) रामचन्द्रः । कालमिति । युग्मंसब्रह्माचेमाःप्रजाःसृष्टुमिच्छंस्तदापूर्वमिमांसृष्टिससर्ज कालादिमृष्टिससर्ज

तद्यथापूर्वकालकालात्मकसंवत्सररूपं कालमसृजत् च पुनः कालविभक्तीःकालस्य विभागांश्च षड्भूतून् अयनादींश्च पुनः नक्षत्राणि अश्विन्यादीनि तथा नवग्रहांश्च सूर्यादीन्ससर्ज सरिदादींश्चससर्ज ॥ २४ ॥ २५ ॥

तपोवाचरतिचैव कामंच क्रोधमेव च ॥ सृष्टिससर्ज चैवेमांस्रष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः ॥ २५ ॥

(१) मेधातिथिः । रतिर्मनसः परितोषः । कामोऽभिलाषोमन्मथोवा । अन्यत्प्रसिद्धम् । एवमादिकांसृष्टिससर्जे मामत्रश्लोके पूर्वा च या सृष्टिरुक्ता । इमाःप्रजाःस्रष्टुमिच्छन् देवासुरायक्षराक्षसगन्धर्वाद्यास्तदुपकरणंतदात्मधर्मवच्छरीरधर्मचादावसृजदित्यर्थः । अथ केयंवाचोयुक्तिः सृष्टिससर्जेति यएवार्थःसृष्टिरुक्तवानिति । सर्वेधातवः करोत्यर्थस्यविशेषावच्छिन्नेवर्तन्ते पचति पाकंकरोति यजति यागंकरोति । तत्ररुदन्ताद्विशेषेऽवगतआख्यातगतोधातुः करोत्यर्थमात्रप्रतिपादनपरोभवति । तस्मिन्नपिकुतश्चित्प्रतिपन्ने पुनःप्रतिपादनेऽनुवाददोषोभाभूदिति कालकादिषुतात्पर्यम् । अथवासृज्यमानविशेषाः प्रमाणावच्छिन्ना सृष्टिःसामान्यसृष्टेः कर्म यथा त्वपोषंपुष्टइति ॥ २५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तपइति । तपोऽनशनादि वाचमक्षरादिकां रतिकामसुखं कामंरुयभिलाषं क्रोधद्वेषम् इमांसृष्टितपआदिकामन्यांच पूर्वोक्तांसृष्टिससर्ज इमावर्तमाना प्रजास्तत्तद्वारास्रष्टुमिच्छन् ॥ २५ ॥

(३) कुड्ढकः । तपोऽवाचमित्यादि । तपःप्राजापत्यादि वाचंबाणीं रतिचेतःपरितोषं काममिच्छां क्रोधंचेतो विकारं इमांस्तच्छ्लोकोक्तांपूर्वश्लोकोक्तांच सृष्टिचकार । सृज्यतइति सृष्टिः कर्मणि क्तिन् । इमाःप्रजावक्ष्यमाणादेवादिकाः कर्तुमिच्छन् ॥ २५ ॥

(४) राघवानन्दः । तथान्द्रायणादि वाचंस्मृत्यादिरूपां रतिचेतःपरितोषं कामंरुयाद्यभिलाषं क्रोधमाशदे हंतुम् । सृष्टिमिति सृज्यतेइति सृष्टिः । तपआदेर्विशेषणम् सृष्टिससर्जेति पाकंपचतीति वत् । प्रकृत्यर्थोऽविवक्षितः ॥ २५ ॥

(५) नन्दनः । वाचंसरस्वतीतपःप्रमृतयो भूतधर्माभिमानिन्योदेवता इमाः प्रजाः स्रष्टुमिच्छन्नासादेवमनुष्यादीनांसृष्टिनित्यर्थमित्यर्थः इमांकर्मात्मनामित्यारभ्यानुक्रान्तांसृष्टिससर्ज चकार ॥ २५ ॥

कर्मणां च विवेकार्थधर्माधर्मौ व्यवचयत् ॥ द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाःसुखदुःखादिभिःप्रजाः ॥ २६ ॥

(१) मेधातिथिः । धर्माधर्मौव्यवचयद्विवेकेन पृथग्भावेन व्यवस्थापितवान् अयंधर्मएवायमधर्मएव । ननुच नैवार्यविवेकोऽस्ति सन्तिहि कर्माण्युभयरूपाणि धर्माधर्मात्मकानि यथा द्रुःशबलानि वैदिकानि कर्माणि हिंसासाधनकत्वात् यथाज्योतिष्टोमस्वरूपेण धर्मोहिंसाङ्गत्वात्त्वधर्मइति अतआह कर्मणांतु विवेकाय । कर्मशब्देनात्रप्रयोगः कर्मणामनुष्ठानमुच्यते । सएव पदार्थोऽन्यथाप्रयुज्यमानोविपरीतस्वभावोभवति । धर्मःसन्नधर्मरूपतामापद्यतेऽधर्मोधर्मत्वम् । तथा हिंसैव हिंसाबहिः प्रयुज्यमानाअधर्मः सः नहिंस्यात्सर्वभूतानीतिप्रतिषेधगोचरत्वात् । अन्तर्वैदिकताअग्नीषोमीयेधर्मोविधिलक्षणत्वात् । एवंतयोर्धर्मस्तदेवतु दम्भेनासमर्थो नवाक्रियमाणमधर्मः । एवदेवगमनं स्त्रीणामधर्मोऽगुरुनियुक्तानांपुत्रार्थिनीनांधृताक्ताद्यनुग्रहेणधर्मः । अतः स्वरूपैकत्वेऽपि प्रयोगभेदाद्धर्माधर्मव्यवस्था । एकत्वंच प्रमाणान्तरदृष्ट्यातुस्वरूपभेदएव । अथच कर्मफलेषु कर्मशब्दः कारणे कार्योपचारात् । तेनैतदुक्तंभवति कर्माणित्यवचयत्कर्मफलविभागाय । कः पुनः कर्मणांफलविभागोऽतउक्तंद्वन्द्वैरयोजयत्सुखदुःखादिभिः । धर्मस्यफलंसुखमधर्मस्यदुःखम् । अतउभयकारिणोद्वन्द्वैर्योज्यन्तेधर्मकारित्वात्सुखेनाधर्मकारित्वाद्दुःखेन । द्वन्द्वशब्दोऽयंरूढ्या परस्परविरुद्धेषु पीडाकरेषु वर्ततेशीतो-

ष्णवृष्ट्यातपक्षुत्सौहित्यादिषु । आदिग्रहणंसामान्यविशेषभावेनज्ञेयम् । केवलौ सुखदुःखशब्दौ स्वर्गनरकयोर्वाचिकौ निरतिशयानन्दपरितापवचनौवा । विशेषस्वर्गग्रामपुत्रपश्वदिलाभस्तदपहारश्चादिशब्दस्यविषयः । कर्मणांपूर्वमुत्पत्तिरुक्ताऽनेनेषामेवप्रयोगविभागः फलविभागश्चप्रजापतिनाकृतइतिप्रतिपाद्यविवेकः ॥ २६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कर्मणामिति । कर्मणांकार्याणामकार्येभ्योविवेकार्थधर्माधर्मसाधने कर्मणी व्यवचयत् द्वन्द्वैरन्योन्यविरुद्धरूपतया सदा युग्मतयैव बुद्धिसन्निहितैः सुखदुःखकामक्रोधादिभिः इमाःप्रजाःसृष्टाःअयोजयत् ॥ २६ ॥

(३) कुल्लूकः । कर्मणांचेति । धर्मोयज्ञादिः सच कर्तव्यः अधर्मोब्रह्मवधादिः सनकर्तव्यः इतिकर्मणांविभागाय धर्माधर्मौव्यवेचयत् पृथक्त्वेनाभ्यधात् । धर्मस्य फलंसुखं अधर्मस्य फलंदुःखं धर्माधर्मफलभूतैर्द्वन्द्वैःपरस्परविरुद्धैःसुखदुःखादिभिरिमाःप्रजाःयोजितवान् । आदिग्रहणात् कामक्रोधादिषुभुत्पिपासाशोकमोहादिभिः ॥ २६ ॥

(४) राघवानन्दः । सृज्यमानकारणमाह कर्मणामिति । अस्वमेधादिधर्मकारणंब्राह्मणवधाद्यधर्मकारणमिति कर्तव्याकर्तव्यार्थव्यवेचयत् विवेकेनोक्तवान् । द्वन्द्वैःसुखदुःखाद्यैः ॥ २६ ॥

(५) नन्दनः । इदंकार्यमिदंवर्यमिति ज्ञानंविवेकः । तदर्थं धर्माधर्मौ व्यवचयदसंकीर्णरूपौ कृतवान् । इमाः प्रजाः सुखदुःखादिभिर्द्वन्द्वसृष्टैर्योजितवान् ॥ २६ ॥ २७ ॥

(६) रामचन्द्रः । कर्मणामिति । ब्राह्मणादीनांविवेकाय ब्राह्मणस्य इदंकर्म क्षत्रियस्य इदंकर्मेति विवेकाय धर्माधर्मौ व्यवचयत्युच्चारयत् । च पुनः इमाःप्रजाःद्वन्द्वैःसुखदुःखादिभिःअयोजयत् समयोजयत् ॥ २६ ॥

अण्व्योमात्राविनाशिन्योदशार्धानांतु याःस्मृताः ॥ ताभिःसार्धमिदंसर्वसंभवत्यनुपूर्वशः ॥ २७ ॥

(१) मेधातिथिः । उपसंहारोऽयम् । दशार्धानांपञ्चानांमहाभूतानां या अण्व्यःसूक्ष्मामात्राअवयवास्तन्मात्रा स्ताविनाशिन्यः परिणामधर्मत्वात् स्थौल्यप्रतिपत्याविनाशिन्युच्यन्ते ताभिः सार्धमिदंजगत्सर्वसंभवत्युत्पद्यते । अनुपूर्वशः क्रमेण । सूक्ष्मात्स्थूलंस्थूलात्स्थूलतरम् । यादृशोवाक्रमउक्तःप्राक् ॥ २७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अण्व्यइति । दशार्धानांपञ्चानांभूतानांया अण्व्यःसूक्ष्मामात्राः अवयवाः विनाशिन्यः प्राप्तस्वप्रकृतिलयास्तन्मात्ररूपास्ताभिःसार्धंविश्वंकारणोत्पत्तिक्रमेण संभवति ॥ २७ ॥

(३) कुल्लूकः । अण्व्योमात्राइति । दशार्धानांपञ्चानांमहाभूतानांयाःसूक्ष्माःपञ्चतन्मात्ररूपाविनाशिन्यः पञ्चमहाभूतरूपतया विपरिणामिन्यः ताभिःसहउक्तंवक्ष्यमाणंचेदंसर्वमुत्पद्यते । अनुपूर्वशःक्रमेण सूक्ष्मात्स्थूलंस्थूलात्स्थूलतरमित्यनेन सर्वशक्तेर्ब्रह्मणोमानससृष्टिः कदाचित्तत्त्वनिरेपेक्षास्यादितीमांशङ्कामपनिनीषन्तद्वारेणैवैयंसृष्टिरिति मध्ये पुनःपूर्वोक्तंस्मारितवान् ॥ २७ ॥

(४) राघवानन्दः । अपएव ससर्जादिवित्यत्रोक्ता । अपोऽनुवदनतासां सर्वोपादानत्वमाह अण्व्यइति । दशार्धानांपञ्चानां अपञ्चीकृतानां आपएवेदमग्रआसुरित्याद्यपशब्दत्राच्यानां जगल्लक्षणकार्यं प्रत्युपादानकारणानां अण्व्यः सूक्ष्मामात्राः मीयन्तेअमूः विनाशिन्यः जनितत्वात् ताभिश्च सार्धंइदंचैतन्यं हिरण्यगर्भादिस्थावरपर्यन्तं अनुपूर्वशःहिरण्यगर्भाण्डादिक्रमेण जगद्भूवेत्यर्थः । तत्र ताभ्योऽपञ्चीकृतभूतमात्राभ्योऽन्तःकरणचतुष्टयंइन्द्रियदशकंप्राणपञ्चकंच समष्टिव्यष्टिरूपंपुनस्ताभ्यः पञ्चीकृताभ्यः चतुर्दशभुवनानि ब्रह्माण्डं जरायुजाण्डजंस्वेदजोद्भिज्जचतुर्विधस्थूलशरीरं भोग्यं-

चान्नपानादिकं भवतीति । वेदान्तप्रक्रियातत्रापञ्चीकृतानि परस्पराप्रविष्टानि पञ्चीकृतानि तु पञ्चभूतानि दशधाकृतानि स्वे-
तराविभक्तार्धभागेषु स्वत्वाष्टमांशप्रवेशात् ॥ २७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अण्व्यदिति । दशार्धानां पञ्चतन्मात्राः याः अविनाशिन्यः मात्राः विषयाः ताः मात्राः अण्व्यः सू-
क्ष्माः स्मृताः तु पुनः ताभिः सार्द्धं सर्वे इदं विश्वं अनुपूर्वशः क्रमशः सम्भवति उत्पद्यते ॥ २७ ॥

यंतु कर्मणियस्मिन्सन्ययुङ्क्तप्रथमंप्रभुः ॥ सतदेव स्वयंभेजे सृज्यमानः पुनः पुनः ॥ २८ ॥

(१) मेधातिथिः । अस्यायमर्थः । यद्यपि प्रजापतिरीश्वरो भूतसृष्टौ शक्नोति यथेच्छं प्राणिनः सृष्टुं तथापि
न पूर्वकल्पकृतानि कर्माण्यनपेक्ष्य प्राणिनः सृजति येन यादृशं पुराकल्पे कर्म कृतं तत्कर्माक्षिमायां जातौ तं जनयति
न जात्यन्तरेण भेदेन कर्मणा तत्कलोपभोग्यायां देवमनुष्यादिजातौ जनयति विपरीतेन तिर्यक्प्रेतादिषु । यथैव भूतेन्द्रियगुणाः
कल्पादौ प्रकृतिस्था उद्भवन्ति एवं कर्माण्यपि प्रलये स्वप्रकृतिस्थानि पुनरुद्भवन्ति सर्गादौ । ततः शेषेणेत्येष न्यायस्त-
त्राप्यस्त्येव । यदि तर्हि कर्मापेक्षोत्पत्तिः कप्रजापतेरैश्वर्यमुपयोगि कीदृशं वा सापेक्षस्यैश्वर्यं तस्मिन् सति जगत् उत्पत्तेः । कथ-
मनुपयोगः न तमन्तरेण स्थित्युत्पत्तिप्रलयाः सन्ति नित्यत्वात् तस्य स्वकर्मणि कारणं तदिच्छापि प्रकृतिपरिणामश्च । एतस्याः
कारणसामग्र्या इदं जगदुत्पद्यते तिष्ठति प्रलीयते च । सापेक्षस्याप्यैश्वर्यं न विहन्यते यथेह राजादिरीश्वरो मृत्यादीन् फले-
न योजयेद्देवमेवादिकर्मानुरूपेणैव योजयति न चानीश्वरः । ननु नास्य श्लोकस्यायमर्थः प्रतीयते । किं तर्हि प्रतीयते । विधानुरेव
प्राणिनां कर्मविनियोगे स्मृतं तद्व्ययम् । सयंप्राणिनं प्रथमं सर्गादौ यस्मिन् कर्मणि हिंसात्मके तद्विपरीते वा न्ययुङ्क्त सतदेव कर्म-
भजते करोति न पित्रादेरनुशासनमपेक्ष्य स्वेच्छयान्यथा प्रवर्तते । किं तर्हि प्राक् प्रजापतिनियोगवशात् साधु वा स्वयम-
न्यानुशासननिरपेक्षोऽनुतिष्ठति । सृज्यमानः पुनर्जायमानः कल्पान्तरेऽस्मिन्नेव वा कल्पे प्रजापतिरेव क्षेत्रज्ञांस्तत्कर्तृत्वे-
न नियुङ्क्ते । अतस्तन्नियोगमेवानुवर्तमानाः प्राचीनं शुभमशुभं वा कर्म कुर्वन्ति । तदुक्तम् । कर्तृत्वं प्रतिपद्यन्ते अनीशाः स्वेषु कर्मसु ।
महेश्वरेण प्रेर्यन्ते शुभे वाय दिवा शुभ इति । अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमे-
व वा । उच्यते । एवं सति कर्मफलसंबन्धस्त्यक्तः स्यात् पुरुषकारानर्थक्यं च स्यादग्निहोत्रादिकर्माद्युपदेशो ब्रह्मोपासनाश्च
व्यर्थाः प्रसज्येरन् । य एवं श्वरस्वरूपाऽनभिज्ञास्त एव दृष्टादृष्टार्थेषु कर्मसु प्रवर्तेरन् । ये तु तदधीनं कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च मन्यन्ते
तेषां सर्वत्राप्रवृत्तिप्रसङ्गः । कृतमपि न तत्कर्म फलति अकर्तारोऽपि भोक्ष्यामह इति मन्यमाना उदासीरन् न च व्याधिरिवा-
पथ्याद्विदुषां बलादिच्छोपजायते कर्तृत्व ईश्वरप्रेरणया । अथ कर्मफलसृष्ट्या तदिच्छा निश्चिता अस्मात्कर्मण इदं कर्तृ-
फलं भवतीति । न तर्हि यंतु कर्मणीत्येतदपि शास्त्रादेव नियोगः प्रतिपत्तव्यः । तस्माद्यं पुरुषसंप्रभुः प्रथमं न्ययुङ्क्तानादौ संसारे
प्रथमं वर्तमानापेक्ष्य नियोक्तृत्वं चास्य सर्वभावेषु दिक्कालनिमित्तकारणत्वात् । अन्ये तु व्याचक्षते । जात्यन्तरापन्नस्या-
त्मनो न पूर्वजाति संस्कारापेक्षा अतः स्वभावानुवृत्तिः यं जातिविशेषं यस्मिन् कर्मणि नियुक्तवान् परवधादौ स सिंहादिजातीय-
आत्मा संपन्नो मनुष्यत्वे मार्दवमभ्यस्तमपि हित्वा जातिधर्मं प्रतिपद्यते । अन्ये नानुपदिष्टमपि स्वाभाव्यात् प्रजापतिरुक्तत्वा-
त् कर्माणि बलवन्ति प्रागभ्यासं जात्यन्तरगतस्य विस्मरयन्तीति प्रदर्शितं भवति । एतदेव विस्तारयति ॥ २८ ॥

(२) सर्वज्ञानाराधणः । अणूनां नित्यत्वपक्षं निरस्यति यंत्विति । यं ज्ञातीयं यत्र कर्मण्यन्न भक्षणाद्यशनादिरूपे-
कर्मणि न्ययुङ्क्त सतज्जातीयस्तदेव तज्जातीयं कर्म स्वयंतेनाप्रेरितो भेजे ॥ २८ ॥

(३) कुल्लूकः । यंतुकर्मणीति । सप्रजापतिर्यंजातिविशेषव्याघ्रादिकंयस्याक्रियायांहरिणमारणादिकायांसृष्ट्यादौ नियुक्तवान् सजातिविशेषःपुनःपुनरपि सृज्यमानः स्वकर्मवशेन तदेवाचरितवान् । एतेन प्राणिकर्मसापेक्षप्रजापतेरुत्तमाधमजातिनिर्माणं रागद्वेषाधीनमिति दर्शितम् । अतएव वक्ष्यति यथा 'कर्मतपोयोगात्सृष्टंस्थावरजङ्गममिति ॥ २८ ॥

(४) राघवानन्दः । कर्मपूर्वप्रज्ञयोर्हेतुतामाश्रित्याह यमिति । यंब्राह्मणादिं यस्मिन्याजनादौ तथा यंव्याघ्रादिं यस्मिन्निर्हिसादौ प्रथमंन्ययुङ्क्त सतदेव कर्म त्वयंभेजे । किंभूतः पुनःपुनःसृज्यमानः ॥ २८ ॥

(५) नन्दनः । नकेवलंमुखदुःखादिभिर्द्वन्द्वैः प्रजाब्रह्मा योजितवान्किंतु तद्धेतुभूतैः कर्मभिरपीत्याह यंतु कर्मणीति । प्रभुरीश्वरः प्रथमंगर्भनिषेककाले यंदेहिनं यस्मिन्कर्मण्ययुङ्क्तअयोजयत्सदेही तदेवेश्वरनियुक्तमेव कर्म स्वयंअनन्यापेक्षयाभेजेन केवलमेकस्मिन्नेवजन्मनीश्वरनियुक्तंकर्म देही भजतेऽपितु सर्वस्मिन्नपि जन्मनि तस्मिन्निषेककाले नियुक्तंभजतइत्युक्तं सृज्यमानः पुनः पुनरिति ॥ २८ ॥

(६) रामचन्द्रः । यमिति । सप्रभुःसमर्थःयस्मिन्कर्मणि यंपुरुषप्रथमंप्रथमतः न्ययुङ्क्त संयुक्तमकरोत् पुनःपुनः सृज्यमानःसन्सःजातिविशेषस्तदेव कर्म जन्मान्तरकर्म त्वयंभेजेभजतीत्यर्थइतिसिद्धम् ॥ २८ ॥

हिंसाहिंसे मृदुकूरे धर्माधर्मादितानृते ॥ यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत् ॥ २९ ॥

(१) मेधातिथिः । हिंसंप्रप्राणवियोगकरंसर्पसिंहहस्त्यादि । तद्विपरीतमहिंसंरुपृषतादि । मृदुपेशलमनायासम् । क्रूरकठिनं परदुःखोत्पादनात्मकम् । अन्यत्प्रसिद्धम् । यदेतद्विशःप्रसिद्धंकर्म जातंततोयस्ययदेवअदधात्तवान्कल्पितवान् सप्रजापतिः सर्गे सृष्ट्यादौ पूर्वकर्मानुरूप्यमवेक्ष्य तत्कर्मसंसृष्टः प्राणी स्वयमाविशत्प्रतिपद्यते । भूतकालता न विवक्षिता । आद्यत्वेऽपि जातिधर्मस्यानुपदिष्टस्य त्वयंप्रतिपत्तिदर्शनात् । अत्रदृष्टान्तः ॥ २९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नकेवलं तादृशमेवकर्म किंतुधर्माधर्मसाधने अप्येवमित्याह हिंसाहिंसैरिति । हिंसंकर्मव्याघ्रादेः अहिंसंशशादेः मृदु दुःखाजनकंक्रूरदुःखजनकं धर्माधर्मौ धर्माधर्मसाधने कर्मणी आत्मप्रतिकूले ऋतंसत्यंस्वर्गादिहेतुः अनृतमिथ्या यद्यस्य सोऽदधात् व्यदधात् कर्तव्यतया सर्गे सर्गादौ तत्तज्जातीयंसतज्जातीयःस्वयमीश्वरेच्छांविना प्राविशत्प्राप्नोति ॥ २९ ॥

(३) कुल्लूकः । एतदेव प्रपञ्चयति हिंसाहिंसेत्यादि । हिंसंकर्म सिंहादेःकरिमारणादिकं अहिंसंहरिणादेः मृदु दयाप्रधानंविप्रादेः क्रूरंक्षत्रियादेः धर्मोयथा ब्रह्मचार्यादेःगुरुशुश्रूषादिः अधर्मोयथा तस्यैव मांसमैथुनसेवादिः । ऋतंसत्यं तच्च प्रायेण देवानां अनृतमसत्यंतदपि प्रायेण मनुष्याणां तथा च श्रुतिः सत्यवाचोदेवाअनृतवाचोमनुष्याइति तेषां मध्ये यत्कर्म सप्रजापतिः सर्गादौ यस्याधारयत्सृष्ट्युत्तरकालमपि सतदेव कर्म प्राक्तनादृष्टवशात्स्वयमेव भेजे ॥ २९ ॥

(४) राघवानन्दः । तथाहिंसंहिंसनं अहिंसंतद्विन्नंमृदु मार्दवं क्रूरंक्रौर्यं संविद्याकर्मणीसमन्वारभेते पूर्वप्रज्ञाचेति विद्याविहितादिचतुर्विधंज्ञानपूर्वप्रज्ञा पूर्वानुभूतविषयवासनातंगमनागमनशीलिनंशमाच्चारभेते स्वफलदाने न समनुगच्छतीति श्रुतेरर्थः । स्मृतिरपि । प्रकृतियान्ति भूतानि निग्रहःकिंकरिष्यतीत्यत्र प्रकृतिः पूर्वप्रज्ञास्तनपानादिसंस्कारः ॥ २९ ॥

(५) नन्दनः । एतमेवार्थविशदयति हिंसेति । हिंसाहिंसे मृदु क्रूरेइतिच भावप्रधानोनिर्देशः 'हिंसाहिंसे मार्दवक्रौर्ये

धर्माधर्मावृतानृततेइत्येवमादिषु शुभाशुभेष्वीश्वरोयत्कर्म यस्य देहिनः सर्गे जन्मन्यदधादत्तवांस्तत्तदेही स्वयमेवा-
विशतृकृतवान् ॥ २९ ॥

(६) रामचन्द्रः । हिंसेति जन्मान्तरकर्माह प्राक्तनकर्मत्वभावमाह । सत्रह्मा यस्य पुंसः यत्त्वभावंतत्सर्गे
जन्मकाले तस्य अदधात् तत्त्वभावः स्वयंहिसाहिंसेत्याविशत् । तत्र दृष्टान्तमाह ॥ २९ ॥

यथर्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्तुपर्यये ॥ स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥ ३० ॥

(१) मेधातिथिः । अचेतनाअपियथाभावास्तन्मर्यादयैव व्यवस्थितत्वभावाः एवंचेतनाअपि पुरुषकृतकर्मसहा-
येन प्रजापतिना कृतांमर्यादां नातिक्रामन्ति यस्यांजातौजातास्तदेव कुर्वन्ति नान्यदिच्छन्तोऽपि शक्नुवन्ति कर्तुम् । ऋत-
वोवसन्तादयः त्वलिङ्गानिचिन्हानि पत्रफलकुसुमशीतोष्णवर्षादीनि । पर्यये । यस्यर्तोर्यः पर्यायः त्वकार्यावसरस्तस्मिन् स-
ऋतुस्तंधर्मत्वमेव प्रतिपद्यते नपुरुषप्रयत्नमपेक्षते । चूतमञ्जरीवसन्तेस्वयमेव पुष्यन्ति न मूले सलिलसेकमपेक्षन्ते । एवं-
पुरुषकर्माण्यदृष्टानि । नास्तिसपदार्थो योनिकर्मापेक्षते । तथाहि । वर्षाणांस्वत्वभावोयवृष्टिप्रदोभवतिच । राजदोषाद्राष्ट्रदोषाद्वा
कदाचिदवग्रहः तस्मात्कर्मशक्तिरेवानपसार्या । वृत्तानुरोधादसकृदनुग्रहणम् । अन्ये तु श्लोकत्रयमप्यन्यथा व्या-
चक्षते । कर्मशक्तीनांस्वभावनियमोऽनैनोच्यतइत्याहुः । यत्फलंयस्मिन्कर्मण्याहितंप्रजापतिना सकर्मविशेषः पुनःपुनः
सृज्यमानोऽनुष्ठीयमानः स्वयंतत्फलं भजते ददातीत्यर्थः । तेन यागःकृतोयदा फलिष्यति न तदाकिंचिदपेक्षत इति
प्रतिपादितंभवति । सर्वोहित्वकृतावपि मन्त्रिपुरोहितादिवाक्यमपेक्षते नैवंयागः । दृष्टस्तु व्यापारस्तेनापेक्ष्यते । दृष्टा-
दृष्टकारणद्वयजन्यत्वात्सर्वस्यकार्यस्यादृष्टान्तरापेक्षानिषिध्यतैतदानीम् । कर्माणीष्टानिष्टफलप्रदानि विधिप्रतिषेधविषयाणि
कर्माणि द्विशुद्धाहरति हिंसाहिंसेइति । हिंसाप्रतिषिद्धा । तस्यानरकादिकफलप्रदानंनियमितम् । योब्राह्मणायावगुरेत् यो-
मामकायावगुरेत्तंशतेनयातयादितिवाक्यशेषेभ्यःसा ततः स्वभावान् च्यवते । प्रायश्चित्तेषु विशेषवक्ष्यामः । अहिंसंविहितम् ।
तस्यापिनैष्टफलदानात्स्वभावच्युतिरस्ति । धर्माधर्मयोरेव विशेषायते । विहितकर्म धर्मः प्रतिषिद्धमधर्मस्तथोर्विशेषाः
सत्याऽनृतादयः सत्यंविहितमनृतंप्रतिषिद्धम् । एवंसर्वाणि पूर्वोत्तरपदानि विहितप्रतिषिद्धविशेषप्रदर्शनानि । अव्यभिचरित-
दृष्टकार्यकारणसंबन्धीनि कर्माणि । दृष्टान्तःयथर्तुलिङ्गानीति । शेषसमानम् ॥ ३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यथार्त्वेति । ऋतुलिङ्गानि चूतकुसुमादीनि ऋतोः पूर्वोः पर्ययेऽपगमे स्वयमनादिष्टा-
एव कर्माणि हिंसादीनि ॥ ३० ॥

(३) कुड्मकः । अत्र दृष्टान्तमाह यथार्त्वेति । यथा वसन्तादिऋतवऋतुचिन्हानि चूतमञ्जरीदीनि ऋतुपर्यये
त्वकार्यावसरे स्वयमेवावुवन्ति तथादेहिनोऽपि हिंसादीनि कर्माणि ॥ ३० ॥

(४) राघवानन्दः । तेषामावश्यकफलारम्भकत्वे दृष्टान्तोयथेति । यथर्तुवसन्ताद्यृतुमनतिक्रम्य लिङ्गानिऋतु-
लिङ्गानि वासन्तशारदीयानि फलपुष्पाणिऋतवःवसन्तादयः ऋतुपर्ययेअग्रिमवसन्तादावपि यथा प्रपद्यन्ते तथा त्वत्वक-
र्माणि देहिनः सृष्ट्यन्तरे प्रपद्यन्तइत्यन्वयः ॥ ३० ॥

(५) नन्दनः । तमेवार्थेदृष्टान्तेनस्थापयति यथार्त्वेति । ऋतुलिङ्गानि सहकारमल्लिकाकदम्बकुसुमादीनि स्वा-
नि त्वानि कर्माणि स्वस्य स्वस्येश्वरेण विहितानि ॥ ३० ॥

(६) रामचन्द्रः । यथेति । ऋतवः पर्यये ऋतूनांपर्यये ऋत्वन्तेयथा अन्यर्तुलिङ्गानि स्वयमेवभवन्तिके-
भिदनोद्यमानत्वात् तथा देहिनःप्राणिनः कर्माणि प्राक्तनानि त्वानि त्वानिअभिपद्यन्ते प्रपद्यन्ते ॥ ३० ॥

लोकानां विवृद्धयर्थं मुखबाहूरुपादतः ॥ ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ॥ ३१ ॥

(१) मेधातिथिः । पृथिव्यादीनां लोकानां विवृद्धयर्थं वृद्धिः पुष्टिर्बाहुल्यं वा ब्राह्मणादिषु चतुर्धुवर्णेषु सत्सु त्रयाणां लोकानां वृद्धिः । इतः प्रदानं देवा उपजीवन्ति । चेतनाया गाद्यधिकृता अतस्तैः कर्म कृतमुभौ लोकौ वर्धयति । पुरुष-कर्मप्रचोदिता देवाः । आदित्याज्जायते वृष्टिरिति अस्यापि लोकस्य सृष्टिर्वृद्धिः ब्राह्मणादीन् वर्णान् निरवर्तयन् निर्वर्तितवान् । असृजन् मुखबाहूरुपादतः । यथाक्रमं मुखाद्ब्राह्मणं त्वमुखावयवैर्भ्यो दैव्या शक्त्या निर्मितवान् अद्यतनानां सर्वेषां मिथुनसंप्रयोगद्वारेण तत्त्वेभ्य उत्पत्तिदर्शनात् । परमार्थतः स्तुतिरेषा वर्णानामुत्कर्षापकर्षप्रदर्शनार्थम् । सर्वेषां भूतानां प्रजापतिः श्रेष्ठस्तस्यापि सर्वेषामङ्गानां मुखं ब्राह्मणोऽपि सर्वेषां वर्णानां प्रशस्यतमः । एतेन सामान्येन ब्रह्ममुखादुत्पन्न इत्युच्यते मुखकर्माध्यापनाद्यतिशयाद्वा मुखत इत्युच्यते । क्षत्रियस्यापि बाहुकर्मयुद्धवैश्यस्याप्यूरुकर्मपशुरूपं रक्षतो गोभिश्चरन्तिभिर्भ्रमणस्थलपथवारिपथादिषु वाणिज्यायै गमनम् । शूद्रस्य पादकर्मशुश्रूषा ॥ ३१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । लोकानामिति । मुखादिना मुखेन होमादिना ब्राह्मणं क्षेत्रेण रक्षयेदित्यादिक्रियाभिस्तैस्तैर्वर्णैर्लोकैरक्षणसंवर्तनार्थम् ॥ ३१ ॥

(३) कुड्ढूकः । लोकानां त्विति । भूलोकानां बाहुल्यार्थं मुखबाहूरुपादेभ्यो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रान्यथाक्रमं निर्मितवान् । ब्राह्मणादिभिः सायंप्रातरग्रावाहुतिः प्रक्षिप्ता सूर्यमुपतिष्ठते सूर्याद्वृष्टिर्वृष्टेरन्मन्त्रात्प्रजाबाहुल्यं । वक्ष्यति च अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमित्यादि । दैव्या च शक्त्या अर्थादित्यो ब्राह्मणादिनिर्माणम् । ब्राह्मणोऽपि विशङ्कनीयः श्रुतिसिद्धत्वात् । तथा च श्रुतिः ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीदित्यादि ॥ ३१ ॥

(४) राघवानन्दः । वेदादिष्वधिकारार्थं वर्णानां जनिस्थानकृतश्रेष्ठ्या न्याह लोकानां त्विति । विवृद्धयर्थं स्वधर्मानुष्ठानेन विविधप्रकारवृद्धयर्थं निरवर्तयत् मुखादिभ्यो विप्रादिचतुष्टयं जनितवान् ॥ ३१ ॥

(५) नन्दनः । अथ चातुर्वर्ण्याभिमानिनां देवतानां सृष्टिमाह लोकानामिति । लोकानां प्रजानां विवृद्धयर्थं बाहुल्यार्थं निरवर्तयत् सृष्टवान् । प्रभुरित्यनुवर्तते ॥ ३१ ॥

(६) रामचन्द्रः । मुखबाहूरुपादतः लोकानां विवृद्धयर्थं ब्राह्मणादीन् वर्णान् निरवर्तयत् प्रावर्तयत् ॥ ३१ ॥

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ॥ अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥ ३२ ॥

(१) मेधातिथिः । एषा सृष्टिः साक्षात्परस्य पुरुषस्य । इयंतु ब्रह्मणस्तस्यैवेत्यन्ये । यत्तदन्तरण्डं समुद्रतं शरीरं तद्विधा कृत्वाऽर्धेन पुरुषोऽभवत् पुमान्संपन्नः शुक्रसेकसमर्थोऽर्धेन नारी गौरीश्वरभङ्ग्याऽथवा पृथगेव तानिर्मितवान् । तानिर्माय तस्यां मैथुनेन धर्मेण विराडित्यस्य नाम प्रसिद्धं तं जनितवान् । एतदुच्यते प्रजापतिः स्वां दुहितरमगच्छत् । इदमपि जायापत्योः शरीरमात्रभेदात् सर्वत्र कार्यैष्वविभागात् तदालम्बनं द्वैधकारवचनम् ॥ ३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । द्विधेति । एतच्च प्रजानां मनसा सृष्टिमसृजत् । त्वदेहं द्विधा कृत्वा तदर्धेन पुमान्संपन्नः । अपरार्धेन नारी लोकसृष्टिमुपदेष्टुम् ॥ ३२ ॥

(३) कुड्ढूकः । द्विधा कृत्वेति । स ब्रह्मा निजदेहं द्विखण्डं कृत्वा अर्धेन स्त्री तस्यां मैथुनधर्मेण विराट्संज्ञं पुरुषं निर्मितवान् । श्रुतिश्च ततो विराडजायतेति ॥ ३२ ॥

(१) अथादित्यो = मुखादिभ्यो (अ)

(४) राघवानन्दः । संप्रति मन्वादिद्वारामैथुनजामृष्टिमाह द्विधेति नवभिः । आत्मनोदेहद्विधा कृत्वा स्थिताद-
स्माद्ब्रह्मणः पूर्वार्धावच्छिन्नो जगत्सृष्टिभावितान्तःकरणजीवो मन्वाख्यः पुरुषो भवत् तादृशजीवान्तरमुत्तरार्धावच्छिन्नं
शतरूपाख्या नारी बभूव तस्यां भोग्यत्वेनोपस्थितायां तद्भोक्तृत्वेन तं मन्वाख्यं विराजमयूयुजत्ससृजे विविधराजमान-
त्वात् विराजमिति ससृजे मनुदेवं प्रजापतिरिति वार्तिकोक्तेः । अतः श्रुतिः । सर्वै नैव रमेत्तस्मादेकाकी नरमते सद्वितीयमे
च्छन् सहेतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ सद्ममेवात्मानद्विधा यातयन्ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम् । अतएव भाग-
वतमपि । तस्य कायमभूद्वेधा यत्कायमभिवक्षते । ताभ्यां रूपविभागाभ्यामिथुनसमपद्यत । यस्तु तत्र पुमानसो भून्मनुः
स्वायं भुवः खराट् । स्त्री चासीच्छतरूपाख्या महिष्यस्य महात्मनः । ततो मैथुनधर्मेण प्रजाएधां बभूविरिति ॥ ३२ ॥

(५) नन्दनः । अथ सर्व भूतानां सृष्टिवक्तुमुपक्रमते द्विधा कृत्वेति ॥ ३२ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्विधेति । प्रभुः ब्रह्मात्मनः स्वं त्वं देहद्विधा कृत्वा अर्द्धेन दक्षिणाङ्गे च पुरुषः अभवत् अर्द्धेन
वामाङ्गेन नारी स्त्री अभवत् तस्यां नार्यासं पुरुषः विराजं विराट् पुरुषं स्वायं भुवः संज्ञं मनुमसृजत् उदपादयत् ॥ ३२ ॥

तपस्तप्त्वा ऽसृजयन्तु सस्वयंपुरुषो विराट् ॥ तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥ ३३ ॥

(१) मेधातिथिः । सविराट् तपस्तप्त्वायं पुरुषमसृजत् तं मां वित्ता जानीध्वम् । एवं सृष्टिपरंपरया नात्रवः
किञ्चिदविदितं मम वर्णयितव्यमस्ति । तन्मध्येशुद्धिमात्मन आचष्टे । अस्य सर्वस्य स्रष्टारमनेन सर्वशक्तिमाह । जन्मक-
र्मातिशयवन्तं मां प्रत्यपि तरीकरिष्यतीत्यभिप्रायः निश्चयोत्पत्त्यर्थं चान्यतो ऽवगते ऽपि मनुजन्मनि स्वयमभिधानात् ।
यथा ऽन्यतः श्रुतो ऽपि कश्चित्पृच्छत्येते देवदत्तस्य त्वं पुत्र इति बाढमिति तेनोक्ते निश्चय उपजायते । अभिजनवर्णनं कवी
नामत्रपाकरं सत्यामपि पारंपर्येणामस्तुतौ । द्विजसत्तमा इत्यामन्त्रणम् । सत्तमाः साधुतमाः श्रेष्ठा इति यावत् ॥ ३३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तपस्तप्त्वेति । स्वयमसृजदित्यन्वयः । पुरुषः पुरुषशब्देन श्रुतौ प्रसिद्धः तं मां जानीत अस्य स-
कलस्य परंपरया च स्रष्टारम् ॥ ३३ ॥

(३) कुल्लुकः । तपस्तप्त्वेति । सविराट् तपोविधाय यन्निर्मितवान् तं मां मनुं जानीत । अस्य सर्वस्य जगतः स्रष्टारं भो-
द्विजसत्तमाः । एतेन स्वजन्मोत्कर्षसामर्थ्यातिशयावहितवान् लोकानां प्रत्ययितप्रत्ययार्थम् ॥ ३३ ॥

(४) राघवानन्दः । एतद्यनक्ति तप इति । यं मनुं तमेव मां वित्ता जानीत स्रष्टारं तेषां मरीच्यादीनां स्रष्टृदेहावच्छिन्ना-
नां द्विजसत्तमा द्विजश्रेष्ठाः ॥ ३३ ॥

(५) नन्दनः । न ब्रह्माणमपेक्षितवानित्युक्तं स्वयमिति स्त्रियमपेक्षितवानित्युक्तम् पुरुष इति ॥ ३३ ॥ ॥ ३४ ॥ ॥ ३५ ॥

(६) रामचन्द्रः । तप इति । स पुरुषः विराट् तपस्तप्त्वायं पुरुषमसृजत् हे द्विजसत्तमाः तं मां संवित्ता जानीत । कीदृशं
मां अस्य विश्वस्य स्रष्टारम् ॥ ३३ ॥

अहंप्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् ॥ पतीन् प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ॥ ३४ ॥

(१) मेधातिथिः । अहमसृजमुत्पादितवान् । दशप्रजापतीन् महर्षीन् । आदितः सुदुश्चरं तपः कृत्वा सृष्टुं दुःखेन
तपश्चर्यते ऽतिपीडाकरं बहुकालं च । तान् महर्षीन् नामतो निर्दिशति ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अहमिति । प्रजाः सिसृक्षुर्मरीच्यादिद्वारा आदितः सर्गादौ ॥ ३४ ॥

(३) कुल्लुकः । अहमिति । अहंप्रजाः सृष्टुमिच्छन् सुदुश्चरं तपस्तप्त्वा दशप्रजापतीन् प्रथमं सृष्टवान् तैरपि प्रजानां
सुन्यमानत्वात् ॥ ३४ ॥

(४) राघवानन्दः । अहमपि तथा चक्रेइत्याह अहमिति । महर्षीन् प्रजानांपतीन् दशासृजमित्यन्वयः । आदितः आदौ ॥ ३४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अहमिति प्रजाःसिसृक्षुः अहंप्रजानांपतीन् महर्षीन् आदितः प्रथमतः दशअसृजंसृष्टवान् । मरीच्यादीन् देवनिकायान् देवसमूहान् ॥ ३४ ॥

मरीचिमन्यद्विरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ॥ प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥ ३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मरीचिमिति दशेत्यस्य प्रपञ्चः ॥ ३५ ॥

(३) कुड्ढकः । मरीचिमित्यादि । तएते दश प्रजापतयोनामतो निर्दिष्टाः ॥ ३५ ॥

(४) राघवानन्दः । नामतस्तानिवाह मरीचिमिति । प्राचेतसंदक्षम् ॥ ३५ ॥

एते मनूस्तु समान्यान् सृजन् भूरितेजसः ॥ देवान् देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः ॥ ३६ ॥

(१) मेधातिथिः । एते महर्षयः समान्यान् मनून् सृजन् । अधिकारशब्दोऽयं मनुरिति । मन्वन्तरे यस्य प्रजासर्गे तत्स्थितौ वाऽधिकारउक्तेन प्रकारेण समनुरित्युच्यते । भूरितेजस अमितौजस इति चैकएवार्थः । एकप्रथमान्तसृष्टुर्विशेषणम् । द्वितीयान्तसृष्टव्यानां मन्वादीनां विशेषणम् । ननु देवा ब्रह्मणैव सृष्टाः । सत्यं न सर्वे अपरिमिता हि देवसंघाताः । देवनिकाया हि देवस्थानानि त्वर्गलोक ब्रह्मलोकादीनि ॥ ३६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एत इति । प्रजापतिः सर्गद्वारा परंपरया समान्यान् प्रजापतीन् मनून् मनूनाम्नोऽसृजन् । सावर्णिमनुनाष्टमेन सह स्वायंभुवादयः स्वरोचिषादयः सप्तत्यष्टमव्यवच्छेदार्थम् । तेनाऽन्येपि षण्मनव उपलक्ष्यन्ते । देवानिति । देवान् वत्सादीन् तेषां निकायान् विमानानीति कैचित् नितरां कायोयेषु तानि देवनिकायानि संघचारीणि विश्वादीनीत्यन्ये ॥ ३६ ॥

(३) कुड्ढकः । एते मनूस्त्विति । एते मरीच्यादयो दश भूरितेजसो बहुतेजसोऽन्यान् समापरिमिततेजस्कान् मनून् देवान् ब्रह्मणा सृष्टान् देवनिवासस्थानानि त्वर्गादीन् महर्षींश्च सृष्टवन्तः । मनुशब्दोऽयमधिकारवाची । चतुर्दशसु मन्वन्तरेषु यस्य यत्र सर्गाद्यधिकारः स एतस्मिन्मन्वन्तरे स्वायंभुवस्वारोचिषादिनामभिर्मनुरिति व्यपदिश्यते ॥ ३६ ॥

(४) राघवानन्दः । तेषामपि कृत्यमाह एत इति । एते मरीच्यादयो मनून् मन्वन्तराधिपान् सावर्णिप्रमृतीन् भूरितेजसः भूरीणि एकसप्ततियुगपरिमितः कालंस्तत्रत्यादेवतास्तदिन्द्रो मनुपुत्राऋषयः ईश्वरावतारश्च एते षट्तेजांसि मन्वन्तरपालने सहकारीणि येषां ते तथेति कर्मणो विशेषणम् । देवनिकायान् देवस्थलानि देवभृत्यान्वामहर्षीन् वामदेवादीन् ॥ ३६ ॥

(५) नन्दनः । ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च क्षत्रियश्च क्षत्रिया च वैश्यश्च च वैश्या च शूद्रश्च शूद्राचेत्यष्टौ शास्त्रेषु मानवा उच्यन्ते । एतेषु ब्राह्मणामनुत्वेन मरीच्यादयो मनुनैव हि सृष्टा असृष्टा ब्राह्मणीप्रभृतयः सम शिष्यानेतान्ससृजुः देवान् इन्द्रा दीन् देवनिकायान् मरुद्गणादीन् ॥ ३६ ॥

यक्षरक्षः पिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान् ॥ नागान्सर्पांस्सुपर्णांश्च पितृणां च पृथग्गणान् ॥ ३७ ॥

(१) मेधातिथिः । यक्षादीनां स्वरूपभेदश्चेति हासादिप्रमाणकएव न प्रत्यक्षादीनामन्यतमेन परिच्छिद्यते । तत्र वैश्रवणानुचरायक्षाः । रक्षांसि विभीषणादयः । तेभ्यः क्रूरतराः पिशाचाः अशुचि मरुदेशादिवासिनो निरुष्टाय क्षराक्षसेभ्यः हिंसास्तु सर्वएव । छत्रकरणेन केनचित् प्राणिनां जीवमाकर्षन्त्यदृष्ट्या शक्त्या व्याधींश्च जनयन्तीत्येति हासिकामन्त्रवादिन-

अथ गन्धर्वादेवानुचरागीतनृत्तप्रधानाः । अप्सरसोदेवगणिका उर्वश्याद्याः । असुरादेवशत्रवो वृत्रविरोचनहिरण्याक्षप्रभृतयः । नागावासुकितक्षकादयः । सर्पाः प्रसिद्धाः । सुपर्णाः पक्षिविशेषागरुत्मप्रभृतयः । पितरः सोमपाज्यपादिनामानः त्वस्थाने देववद्वर्तन्ते तेषांगणमसृजन् ॥ ३७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यक्षामणिभद्रादयः । रक्षांसिदैत्यजातिविशेषाः क्रव्यादाः । पिशाचाः पिशुनचेतसोदैत्यजातिभेदा अक्रव्यादादेवसत्त्वाः । नागानामेरुध्वनराकाराः अधःसर्पाकृतयः । सर्पास्तदन्ये फणिधराः । सुपर्णाः गरुडादयः पक्षिभेदाः । पितृणांगणानग्निष्वात्तादीन् ॥ ३७ ॥

(३) कुल्लूकः । यक्षरक्षइति । एतेऽसृजन्निति पूर्वस्यैवानुषङ्गः उत्तरत्र च श्लोकद्वये च । यक्षोवैश्रवणस्तदनुचराश्च रक्षांसि रावणादीनि पिशाचास्तेभ्योऽपकृष्टाः अशुचिभरुदेशनिवासिनः गन्धर्वाश्चित्ररथादयः अप्सरसोर्वश्यादयः असुराविरोचनादयः नागावासुक्यादयः सर्पास्ततोपकृष्टाः अलगर्दादयः सुपर्णागरुडादयः पितृणामाज्यपादीनांगणः समूहः । एषां च भेदइतिहासादिप्रसिद्धो नाभ्यक्षादिगोचरः ॥ ३७ ॥

(४) राघवानन्दः । यक्षेति । यक्षावैश्रवणादयः । रक्षांसि रावणादयः । पिशाचाः पूतिनरमांसाशिनः । गन्धर्वाश्चित्ररथादयः । अप्सरसः उर्वशीप्रभृतयः । असुराः हिरण्याक्षादयस्तान् । नागान्देवाकृतिसफणान् अनन्तादीन् । सुपर्णान् गरुडादीन् । पितृणांपृथग्गणानग्निष्वात्तादीन् ॥ ३७ ॥

(५) नन्दनः । नागाः सौरसेयाः सर्पाः कादवेयाः । तदुक्तं महाभारते सुरसाजनयन्नागान्कद्रूराजस्तुपनगानिति ॥ ३७ ॥

विद्युतोऽशनिमेघांश्च रोहितेन्द्रधनूंषि च ॥ उत्कानिर्घातकेतूंश्च ज्योतींष्युच्चावचानि च ॥ ३८ ॥

(१) मेघातिथिः । मेघोदरदृश्यमध्यमं ज्योतिर्विद्युदुच्यते । यस्यास्तडित्सौदामिनीत्यादयः पर्यायाविशेषाश्रयाः । अशनिः शिलाभूताहिमकणिका सूक्ष्मदृश्यश्च वर्षधारादिवत्पतन्त्योवेगवद्वातप्रेरितः सस्यादिविनाशिन्युच्यन्ते । मेघाभ्रोदकमरुज्योतिःसंघाता आन्तरिक्षाः । रोहितंदण्डकारमन्तरिक्षे नीललोहितरूपंकदाचिदृश्यते । आदित्यमण्डललग्नंकदाचित् । कदाचित्प्रदेशान्तरेपि । तस्यैवविशेष इन्द्रधनुःवक्रत्वं धनुराकारताऽधिकास्य । उत्कासंध्याप्रदोषादौ विसारिप्रभाण्युत्पातेदिक्षु पतन्ति यानि ज्योतींषि दृश्यन्ते । निर्घातः भूम्यन्तरिक्षउत्पातशब्दः । केतवउत्पातेदृश्यमानानि शिखावन्तिज्योतींषि । प्रसिद्धान्यन्यान्यपि ध्रुवागस्त्यारुन्धतीप्रभृतीनि नानाप्रकाराणि ॥ ३८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विद्युतोविद्युदधिष्ठात्रीदेवताम् । एवमुत्तरेषु । रोहितमृज्विन्द्रधनुः । निर्घातोव्योममदुरः । ज्योतींषिनक्षत्रादीनि । उच्चावचानि नानाभेदानि ॥ ३८ ॥

(३) कुल्लूकः । विद्युतइति । मेघेषु दृश्यदीर्घाकारं ज्योतिर्विद्युत् । मेघादेव यज्योतिर्वृक्षादिविनाशकंतदशनिः मेघाः प्रसिद्धाः रोहितंदण्डकारं नानावर्णदिवि दृश्यते यज्योतिस्तदेव वक्रमिन्द्रधनुः । उत्कारेखाकारमन्तरिक्षात्पतज्योतिः । निर्घातोभूम्यन्तरिक्षगतउत्पातध्वनिः । केतवः शिखावन्तिज्योतींषि उत्पातरूपाणि अन्यानि ज्योतींषि ध्रुवागस्त्यादीनि नानाप्रकाराणि ॥ ३८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच विद्युतइति । रोहितंनानाकारदण्डायमानं तदेवेन्द्रधनुः । निर्घातिन्तरिक्षजउत्पातध्वनिः केतवः शिखावन्ति ज्योतीषि । उच्चावचानि ग्रहनक्षत्रताराः ॥ ३८ ॥

(५) नन्दनः । ऋजुदीर्घमिन्द्रायुधं रोहितमिन्द्रायुधंशक्रधनुस्तदेवर्जुरोहितं इत्यमरसिंहेनाभिहितम् । निर्घातः पवनाहतस्य वायोर्वेगोभूतः । तथा च संहितायामुक्तम् पवनः पवनाभिहतो गगनादवनौयदासमापतति भवतितदानिर्घातइति । केतवः सपुच्छनक्षत्राणि । ज्योतीषिनक्षत्राणि ॥ ३८ ॥

किन्नरान्वानरान्मत्स्यान्विबिधांश्चविहङ्गमान् ॥ पशून्मृगान्मनुष्यांश्च व्यालांश्चोभयतोदतः ॥ ३९ ॥

(१) मेधातिथिः । अश्वमुखाः प्राणिनोहिमवदादिपर्वतेषु भवन्तितेकिन्नराः । वानरा मर्कटमुखापुरुषविग्रहाः । विहङ्गमाः पक्षिणः । अजाविकोष्ट्रगर्भादयः पशवः । मृगारूपपृषतादयः । व्यालाः सिंहव्याघ्रादयः । द्वेदन्तपङ्क्रीउत्तराधरे येषांभवतस्तेउभयतोदतः ॥ ३९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । किन्नरानिति । किन्नरानराश्वमूर्तिमिश्रदेहाः । पशून्ग्राम्यारण्यान् । मृगानारण्यचराण्यरण्यासदः । व्यालान्हिसानव्याघ्रादीन् । उभयतोदतः उभयोऽप्रान्तदंष्ट्रावतः ॥ ३९ ॥

(३) कुड्मकः । किन्नरानिति । किन्नराश्वमुखादेवयोनयोनरविग्रहाः । वानराः प्रसिद्धाः । मत्स्यारोहितादयः । विहङ्गमाः पक्षिणः । पशवोगवाद्याः । मृगाहरिणाद्याः । व्यालाः सिंहाद्याः । उभयतोदतः द्वे दन्तपङ्क्रीयेषांउत्तराधरेभवतः ॥ ३९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच किन्नरान् अश्वमुखनराकारान् । विहङ्गमान्पक्षिणः । पशून्गवादीन् । मृगान्हरिणादीन् ग्रामारण्यभेदेनवा । व्यालान् सिंहादीन् । उभयतोदतः उभयतोदन्तपङ्क्तिर्येषांअश्वादीनांतानपि ॥ ३९ ॥

(५) नन्दनः । आस्याधरोत्तरभागयोर्दन्तायेषांतउभयतोदतोगर्भादयः ॥ ३९ ॥

रुमिकीटपतङ्गांश्च यूकामक्षिकमत्कुणम् ॥ सर्वं च दंशमशकंस्थावरंच पृथग्विधम् ॥ ४० ॥

[यथाकर्म यथाकालं यथाप्रज्ञं यथाश्रुतम् ॥ यथायुगंयथादेशं यथावृत्तिं यथाक्रमम् ॥ १०॥]

(१) मेधातिथिः । रुमयोऽत्यन्तसूक्ष्माः प्राणिनः । कीटास्तेभ्यर्दषत्स्थूलाभूमिचराः । पतङ्गाः शलभादयः । स्थावरंवृक्षपर्वतादिः । पृथग्विधंनानाप्रकारम् । क्षुद्रजन्तवइत्येकवद्भावः ॥ ४० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । रुमीति । रुमयोमलादिसंभवाःक्षुद्रजन्तवः । कीटयोनिजाःपिपीलिकादयः । मत्कुणउदंशः स्थावरंवृक्षादि ॥ ४० ॥

(३) कुड्मकः । रुमिकीटिति । कीटाःरुमिभ्यःकिंचित्स्थूलाः । पतङ्गाःशलभाः । यूकादयःप्रसिद्धाः । क्षुद्रजन्तवइत्यनेनएकवद्भावः । स्थावरंवृक्षलतादिभेदेन विविधप्रकारम् ॥ ४० ॥

(४) राघवानन्दः । किंच रुमयः अपादाः सपादाः कीटाः । पतङ्गाःशलभादयः । मत्कुणाउदंशाः । दंशास्तु वनमक्षिकाः । यूकादीनामेकवद्भावः । क्षुद्रजन्तुत्वज्ञापनार्थः असृजन्नित्यन्वयः ॥ ४० ॥

(५) नन्दनः । पतङ्गान् शलभान्ससृजुरित्यनुवर्तते ॥ ४० ॥

× (क, ख, ज)

* यथावृत्तिं=यथोत्पत्तिं (ख)

एवमेतैरिदं सर्वं मनियोगान्महात्मभिः ॥ यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥ ४१ ॥

(१) मेधातिथिः । एवमिति प्रकान्तप्रकारप्रत्ययपरामर्शः । एतैर्महात्मभिर्मरीच्यादिभिः । इदं सर्वं स्थावरजङ्गमं सृष्टम् । यथाकर्म यस्य जन्मान्तरे यादृशं कर्म तदपेक्षं । यस्यां जातौ यस्य तु युक्तमुत्पत्तुं कर्मवशात्स तस्यामेवोत्पादितः । मनियोगान्महाज्ञया । तपोयोगान्महत्कृत्वा तपः । यार्वाक्चिन्महदैश्वर्यं तत्सर्वं तपसा प्राप्यमित्येतदनेनाह ॥ ४१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवमिति । मनियोगात्तज्ज्ञानोपदेशात् आत्मनस्तपोयोगात् यथाकर्मयादगुत्पाद्यानां कर्म तदनुरूपेण ॥ ४१ ॥

(३) कुल्लूकः । एवमेतैरिति । एवमित्युक्तप्रकारेण एतैर्मरीच्यादिभिरिदं सर्वं स्थावरजङ्गमं सृष्टम् । यथाकर्म यस्य जन्तो-
र्यादृशं कर्म तदनुरूपं तस्य देवमनुष्यतिर्यगादियोनिभूत्पादनं मनियोगात्तदज्ञया तपोयोगान्महत्तपः कृत्वा सर्वमैश्वर्यं तपो-
धीनमिति दर्शितम् ॥ ४१ ॥

(४) राघवानन्दः । जङ्गमसृष्टिमुपसंहरन् स्थावरसृष्टिं ब्रुवाणो जरायुजस्वेदजान् प्रतियोगितया भिनत्ति एव-
मिति दशभिः । स्थावरजङ्गमं जङ्गमवत्स्थावरमपि सृष्टमित्यर्थः । आज्ञागुरुणां ह्यवधारणीयेति मानयन्नाह मनियो-
गादिति । मम मनोर्नियोगादाज्ञातः । मरीच्यादिमहात्मभिरित्यनेन महतामप्यकार्यकारित्वं यत्स्थावरादिसृष्टिः ॥ ४१ ॥

(५) नन्दनः । यथाकर्म सृज्यमानप्राणिकृतकर्मानुरूपम् । तपोयोगात्तज्ज्ञानयोगेन सृज्यमानदेहिकर्माणि ज्ञानचक्षु-
षा दृष्ट्वेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । एवमिति । एवं मनियोगात् एतैर्ऋषिभिर्मरीच्यादिभिः तपोयोगात् स्थावरजङ्गमं सृष्टं यथाक-
र्मपूर्वभूत्यादिक्रमेण ॥ ४१ ॥

येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम् ॥ तत्तथा बोधिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि ॥ ४२ ॥

(१) मेधातिथिः । येषां भूतानां यादृशं कर्म त्वभावतो हिंस्रमहिंस्रं वा तद्वत्तथैव कीर्तितम् । इदानीं जन्मक्रमयोगमभि-
धास्यामि । क पुनः कर्म कीर्तितं यत्रेदं यक्षरक्षइत्यादि नामनिर्देशो न कर्मनिर्देशः । उच्यते नामनिर्देशादेव कर्मावगतिः कर्म-
निमित्तत्वादेषां नामप्रतिलम्बस्य । तथाहि यक्षणाद्रक्षणाद्वा यक्षाः । रहसि क्षणनाद्रक्षांसि । पिशिताशनात्पिशाचाः । अद्भ्यः
सृता इत्यप्सरसः । अमृताख्यायाः सुराया अलाभादसुरा इत्याद्यप्यूहम् । जन्मनि क्रमयोगो जरायुजाण्डजा इत्यादि-
वक्ष्यते ॥ ४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । येषां त्विति । यज्जातीयस्य यदध्यापनादि कर्म कीर्तितं विक्षिप्तं तदिहाभिधास्यामि । तथा
जन्मनि क्रमयोगेन क्रमेण यज्जायते येन च जरायादिना युक्तं यज्जायते तच्चाभिधास्यामि ॥ ४२ ॥

(३) कुल्लूकः । येषामित्यादि । येषां पुनर्यादृशं कर्म इह संसारे पूर्वाचार्यैः कथितं यथौषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्प-
लोपगाः ब्राह्मणादीनां चाध्ययनादि कर्म तत्तथैव वीयुष्माकं वक्ष्यामि जन्मादिक्रमयोगं च ॥ ४२ ॥

(४) राघवानन्दः । येषां प्राणिनां जन्मनिमित्तं यादृशं कर्म स्थावराणां कायिकं निषिद्धाचरणं पश्यादीनां वाचनिकं-
देवादीनां कायादिजं पुण्यमनुष्यादीनां उभयमिति इह मनुना कीर्तितं यत्तदभिधास्यामीत्यन्वयः । क्रमयोगं च ब्राह्मणादि-
क्रमेण ॥ ४२ ॥

(५) नन्दनः । अथ वृत्तमर्थवर्तिष्यमाणं च विवेचयति येषामिति । येषांभूतानांयादृशानांयत्प्रकारंपूर्वकृतंकर्म तेषां-
तत्प्रकारंफलमिहसृष्टौभवतीतिवःकीर्तितम् । इदानींजन्मनि क्रमयोगंत्वभिधास्यामि जन्मतारतम्यं च क्रमहेतुकमभि-
धास्यामीत्यर्थः । तच्च तारतम्यंपशवइत्यादिनाश्लोकषट्केणवक्ष्यमाणजरायुजाण्डजस्वेदजोद्विजलक्षणमित्यनुसंधात-
व्यम् ॥ ४२ ॥

(६) रामचन्द्रः । येषामिति । येषांभूतानां चतुर्विधानांयादृशंकर्मैहकीर्तितं तथातत्कर्म वः युष्माकं अभिधा-
स्यामि । च पुनः । जन्मनि क्रमयोगंक्रमानुसारेण कथयिष्यामि ॥ ४२ ॥

पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः ॥ रक्षांसिच पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः ॥ ४३ ॥

(१) मेधातिथिः । एते जरायुजाःजरायुरुल्बंगर्भशय्या तत्रप्रथमंतेसंभवन्ति ततोमुक्ताजायन्ते । एषएतेषांजन्म-
क्रमः । दन्तशब्दसमानार्थोदत्तशब्दोऽन्योस्तीत्युभयतोदतइति प्रथमाबहुवचने रूपंयुज्यते ॥ ४३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तत्र लघुत्वादादौ जन्मक्रममाह पशवश्चेति । एते जरायुजाजरायुसहिताजायन्ते॥४३॥

(३) कुड्मूकः । पशवश्चेति । जरायुर्गर्भावरणचर्म तत्र मनुष्यादयःप्रादुर्भवन्ति पश्चान्मुक्ताजायन्ते । एषामेव जन्म-
क्रमःप्रागुक्तोविवृतः । दन्तशब्दसमानार्थोदच्छब्दःप्रकृत्यन्तरमस्ति तस्येदंप्रथमाबहुवचनेरूपंउभयतोदतइति ॥ ४३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच पशवश्चेति । जरायुरुल्बंगर्भपरिवेष्टनत्वकृततोजाताः पशवइत्याद्यनुवादोजरायुज-
त्वंविधेयम् ॥ ४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । पशवइति । पश्वादिमनुष्यान्ताः जरायुजाः स्मृताः ॥ ४३ ॥

अण्डजाःपक्षिणःसर्पानक्रामत्स्याश्चकच्छपाः॥यानिचैवंप्रकाराणि स्थलजान्यौदकानिच॥४४॥

(१) मेधातिथिः । नक्काः शिशुमारादयः । कच्छपः कूर्मः । यानिचैवंप्रकाराणि रुक्लासादीनि स्थलजानि । एवंरु-
पाण्यौदकानि जलजानि शङ्खादीनि ॥ ४४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अण्डजाइति । एवंप्रकाराणि स्थलजानि नकुलादीनि । औदकानि मण्डूकादीनि । एतां-
न्यण्डयुक्तानि जायन्तइत्यर्थः ॥ ४४ ॥

(३) कुड्मूकः । अण्डजाःपक्षिणइति । अण्डआदौ सम्भवन्ति ततोजायन्तइति एषांजन्मक्रमः । नक्रःकुंभीरः । स्थल-
जानि रुक्लासादीनि । औदकानिशङ्खादीनि ॥ ४४ ॥

(४) राघवानन्दः । एवंपक्षिणइत्याद्यनुवादोऽण्डजत्वंविधेयम् । एवंमशकाद्यनुवादःस्वेदजत्वंविधेयम् । औदजा-
निउदकजातानि ॥ ४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अण्डजाइति । अण्डजाः पक्षिणः । औदकानि जलजातान्यनन्तानि । अण्डजास्मृताः द्विविधाः-
स्थलजाउदकजाः ॥ ४४ ॥

स्वेदजंदंशमशकंयूकामक्षिकमत्कुणम् ॥ ऊष्मणश्चोपजायते यच्चान्यर्त्तिकचिदीदृशम् ॥ ४५ ॥

(१) मेधातिथिः । स्वेदः पार्थिवानांद्रव्याणामग्न्यादित्यादितापसंबन्धादन्तःक्रेदस्ततोजायतेदंशमशकादि । अन्यद-
पियदौदशमत्यन्तसूक्ष्मपुत्तिकापिपीलिकादि यदूष्मणउपजायते । ऊष्मास्वेदएव तद्धेतुर्वर्तापःउपजायन्तेतिवा पाठोयेचान्ये
क्रेचिदीदृशाइति पठितव्यम् ॥ ४५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वेदजमिति । स्वेदस्तेजसोष्णाजलावयवाः । ऊष्मणा ये जायन्ते रुमयः । यच्चा-
न्यदण्डजादिजातौ । ईदृशंवृश्चिकाद्यपि ॥ ४५ ॥

(३) कुङ्कुमः । स्वेदजमिति । स्वेदः पार्थिवद्रव्याणां तापेन क्लेदः ततोदंशमशकादिर्जायते । ऊष्मणश्च स्वेदहेतुतापा-
दपि अन्यतदंशादिसदृशं पुत्तिकापिपीलिकादि जायते ॥ ४५ ॥

(४) राघवानन्दः । एवमशकाद्यनुवादः स्वेदजत्वं विधेयम् । ऊष्मणः स्वेदहेतुतापात् । ईदृशं यूकादितुल्यम् ॥ ४५ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्वेदजमिति । ऊष्मणः सकाशात्स्वेदजदंशादिमत्कुणान्तमुपजायते यच्चान्यत्किञ्चित् ईदृशं स्वे-
दजं स्मृतम् ॥ ४५ ॥

उद्भिजाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः ॥ ओषध्यः फलपाकान्तावद्बहुपुष्पफलोपगाः ॥ ४६ ॥

(१) मेघातिथिः । उद्भेदनमुद्भितभावे किप् । ततो जायन्ते इति उद्भिजाः । उमं बीजं भूमिं च भित्त्वा विदार्य जायन्ते-
वृक्षाः । सर्वे बीजात्काण्डाच्च प्ररोहन्ति जायन्ते मूलस्कन्धादिना दृढीभवन्ति । तथौषध्यः ओषध्य इति युक्तमीकारः-
रुदिकारादिति छान्दसोवा । इदं तासां त्वाभाविकं कर्म पाकान्ताः फलपाकः अन्तो नाश आसामिति । पक्वे फले व्रीह्यादयो-
नश्यन्ति बहुना च पुष्पफलेनोपगताः युक्ता भवन्ति । ओषधीनां वृक्षाणां च यथासंभवमेतद्विशेषणम् ॥ ४६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उद्भिजा इति । भुवमुद्भिद्य जायन्ते इत्युद्भिजाः स्थावरा इत्यस्य प्रपञ्चः । बीजकाण्डेत्या-
दि । बीजप्ररोहिणो ये बीजाज्जायन्ते काण्डप्ररोहिणो ये शाखायारोपिता जायन्ते । फलस्य पाक एवान्तो नाशको यासां ता
ओषध्योपि बहुपुष्पफला उद्भिजा इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

(३) कुङ्कुमः । उद्भिजा इति । उद्भेदनमुद्भित् भावे किप् ततो जायन्ते ऊर्ध्वं बीजं भूमिं च भित्त्वेत्युद्भिजा वृक्षाः ते
च द्विविधाः केचिद्बीजादेव जायन्ते केचित्काण्डात् शाखा एव रोपिता वृक्षतां यायन्ति । इदानीं येषां यादृशं कर्म तदुच्यते ओ-
षध्य इति । ओषध्यो व्रीहियवादयः फलपाकेनैव नश्यन्ति बहुपुष्पफल युक्ताश्च भवन्ति । ओषधि शब्दादेव रुदिकारादक्तिन
इति जीपादीर्घत्वे ओषध्य इति रूपम् ॥ ४६ ॥

(४) राघवानन्दः । उद्भिजाः ऊर्ध्वं भिनन्तीति उद्भिन् तज्जनित्वं विधेयं तत्रापि बीजमुद्भिद्य जातास्तरवः भूमिमु-
द्भिद्य जातास्तृणवृक्षादयः बीजकाण्डप्ररोहिणः प्ररोहोङ्कुरः बीजप्ररोहिणो वटाश्वत्थादयः काण्डाश्छिन्ना अच्छिन्ना वा-
शाखास्तेभ्यः जाताः इक्षुगुड्यादयः बदर्यादयश्च बहूनि पुष्पाणि फलानि च यासां ब्राह्म्यादिजातीनाम् ॥ ४६ ॥

(५) नन्दनः । बीजप्ररोहिण आम्नादयः । काण्डप्ररोहिणः केतक्यादयः । फलपाकान्ताः कदल्यादयः । बहुपुष्प-
फलोपगानिष्पावकादयः ॥ ४६ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वे स्थावरा वृक्षजातयः उद्भिजाः उद्भिजातीयाः एकानि बीजानि जातानि एकानि काण्ड-
रुहाणि वल्ग्यादीनि वटरुहाणि यथा छेदनजातानि लताप्रतानि नीवीरुदित्यमरः ॥ ४६ ॥

अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः ॥ पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः ॥ ४७ ॥

(१) मेघातिथिः । विना पुष्पेण फलं जायते येषां ते वनस्पतयः कथ्यन्ते न वृक्षाः । पुष्पिणः फलिनश्च वृक्षा उभ-
ययोगात्कचिद्वनस्पतयो वृक्षा अपि उच्यन्ते वृक्षाश्च वनस्पतयोऽपि । तत्र विशेषहेतुत्वं दर्शयिष्यामः । वयंतुभूमः । नार्थशब्दा-

र्थसंबन्धविधिर्याकरणस्मृतिवत् । तेननायमर्थोयएवंस्वभावास्तेवनस्पत्यादिशब्दवाच्याः । किंतिहि पुष्पफलानांजन्मोच्यते । तस्य वक्तव्यतयां प्रकृतत्वात्क्रमयोगंतु जन्मनीति द्विधा फलानामुत्पत्तिःअन्तरेणपुष्पाणिजायन्ते पुष्पेभ्यश्च एवंपुष्पाणि वृक्षेभ्यश्च । तेन यद्यप्येवमभिधानंये फलिनस्तेवनस्पतयोज्ञेयास्तथापि प्रकरणसामर्थ्याद्यत्तदोर्व्यत्ययःकर्तव्यः ये वनस्प- तयइति एवंप्रसिद्धास्तेऽपुष्पाः फलवन्तस्तेभ्यः पुष्पमन्तरेण फलानिजायन्तेइतिसामर्थ्याच्चायंक्रमोऽवतिष्ठते । यथावाससा- स्तम्भंपरिवेष्टयेति वाससिपरिधातव्येऽयमर्थोऽस्य भवति स्तम्भेनिधाय वासः परिधापयेति । प्रसिद्धमन्येतदनुद्यते तमसा बहुरूपेणेत्येतत्प्रतिपादयितुम् ॥ ४७ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अपुष्पाइति । ते वनस्पतयउद्भिजाःस्मृताः । उभयतः उभयेन पुष्पफलाभ्याम् ॥ ४७ ॥

(३) कुड्मकः । अपुष्पाइति । नास्य श्लोकस्याभिधानकोषवत्संज्ञासंज्ञिसंबंधिपरत्वमप्रकृतत्वात् । किंतु क्रम- योगंच जन्मनीति प्रकृतंतदर्थमिदमुच्यते । ये वनस्पतयस्तेषांपुष्पमन्तरेणैव फलजन्म इतरेभ्यस्तु पुष्पाणि जायन्ते तेभ्यः- फलानीति एवंवृक्षाउभयरूपाः । प्रथमान्तात्तसिः ॥ ४७ ॥

(४) राघवानन्दः । अपुष्पाः पुष्पंविनैव फलवन्तोये ते वनस्पतयः पुष्पिनःपुष्पपूर्वकाःफलिनः तेउभयेपि- वृक्षाः ॥ ४७ ॥

(५) नन्दनः । अपुष्पाइति । पुष्पैर्विनाफलवन्तउदुम्बरादयोवनस्पतयः पुष्पिणः फलिनश्चूतपनसादयः फलिनः फलग्राहिण उभयत उभयथेत्यर्थः । उभयथेतिसाधुः पाठः ॥ ४७ ॥

गुच्छगुल्मंतु विविधंतथैव तृणजातयः ॥ बीजकाण्डरुहाण्येव प्रतानावल्ल्यएव च ॥ ४८ ॥

(१) मेघातिथिः । याःसंहताभूमेर्बद्धाएकमूलाअनेकमूलाश्चलताउत्तिष्ठन्ति नच वृद्धिमहर्तोप्राप्नुवन्ति तासांसंघातो गुच्छगुल्मशब्दवाच्यः । तृणमूलकादिस्तयोस्तुभेदः । पुष्पवदपुष्पकृतोवान्यावा तृणजातयः कुशशाद्वलशङ्खपुष्पीप्रभृतयः । प्रतानादीर्घाभूमिगतास्तृणप्ररोहाः । वल्ल्योव्रतत्यः भूमेरुत्पत्य वृक्षमन्यंवा कंचित्परिवेष्टयोर्ध्वमारुहन्ति । सर्वमेतत्तद्वृक्ष- वतृबीजकाण्डरुहम् ॥ ४८ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । गुच्छेति । गुच्छोमल्लिकादिः । गुल्मोवंशादिः । प्रतानाश्चैव वल्ल्यश्च वीरुधःपरिकीर्तिताः इत्युत्तरार्धपाठः । वीरुधःकीर्तिताश्चोद्भिजाइत्यर्थः ॥ ४८ ॥

(३) कुड्मकः । गुच्छगुल्मत्विति । मूलतएव यत्र लतासमूहोभवति न च प्रकाण्डानि ते गुच्छामल्लिकादयः । गुल्माएकमूलाःसंघातजाताःशरेक्षुप्रभृतयः तृणजातयःउलपाद्याः । प्रतानास्तन्तुयुक्तास्त्रपुषालाबूप्रभृतयः वल्ल्योगुडूच्यादयः याभूमेर्वृक्षमारोहन्ति एतान्यपिबीजकाण्डरुहाणि । नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्यामिति नपुंसकत्वम् ॥ ४८ ॥

(४) राघवानन्दः । गुच्छाः पृथक्जनिपूर्वकं मिलितामल्लिकाद्याः गुल्माएकमूलाःशरादयः प्रतानाःकूष्माण्डाल- बुप्रभृतयः सांकुशाःवल्ल्योवास्तन्यादयः एतान्यपि बीजकाण्डरुहाणीत्यनुवादः ॥ ४८ ॥

(५) नन्दनः । गुच्छगुल्मं स्तबकवद्गुल्मंशेफालिकादि । प्रतानामल्लिकादयः । वल्ल्यः कारवल्ल्यादयः ॥ ४८ ॥

(४८) रुहाण्येव=रुहश्चैव (ग, च)

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताःकर्महेतुना ॥ अन्तःसंज्ञाभवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥ ४९ ॥

(१) मेधातिथिः । कर्मअधर्माख्यहेतुर्यस्य तमसस्तेन वेष्टिताव्याप्ताः । बहुरूपेण विचित्रदुःखानुभवनिमित्तेन । यद्यपि सर्वत्रिगुणं तथाप्येषांतमउद्रिक्तमपचिते सत्त्वरजसी अतस्तमोबाहुल्यान्नित्यंनिर्वेददुःखादियुक्ताअधर्मफलमनुभवन्तः सुचिरमासते । सत्त्वस्यापि तत्र भावात् कस्यांचिदवस्थायांसुखलेशमपि भुञ्जते । तदाह सुखदुःखसमन्विताइति अन्तः संज्ञाबुद्धिस्तल्लिङ्गस्य बहिर्विहारव्याहारादेः कार्यस्य चेष्टारूपस्याभावादन्तःसंज्ञाउच्यन्ते । अन्यथान्तरेवसर्वः पुरुषश्चेतयते । अथवा यथा मनुष्याः कण्टकादितोदंप्राक्चेतयन्तेनैवस्थावराः तेहि महान्तंप्रतोदंपरशुविदारणादिदुःखसंज्ञामपेक्षन्ते यथा स्वापमदमूर्च्छावस्थागताः प्राणिनः ॥ ४९ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । तमसेति । तमसा गुणेन बहुरूपेण नानाविधेनाल्पबहुत्वादिना कर्महेतुना अधर्मसंभवेन वेष्टिताव्याप्ताः अन्तः संज्ञामानसज्ञानमात्रवन्तः । तदेवोक्तंसुखेनेति । उपलक्षणंज्ञानादेरध्येतत् ॥ ४९ ॥

(३) कुल्लूकः । तमसेति । एते वृक्षादयस्तमोगुणेन विचित्रदुःखफलेनाधर्मकर्महेतुकेन व्याप्ताःअन्तश्चेतन्याभवन्ति । यद्यपि सर्वे चान्तरेव चेतयन्ते तथापि बहिर्व्यापारादिकार्यविरहात्तथा व्यपदिश्यन्ते । त्रिगुणारब्धत्वेपि चैषांतमोगुणबाहुल्यात्तथा व्यपदेशः । अतएव सुखदुःखसमन्विताः । सत्त्वस्यापि भावात् कदाचित्सुखलेशोपि जलधरजनितजलसम्पर्कादेशांजायते ॥ ४९ ॥

(४) राघवानन्दः । स्थाणुमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनइति श्रुतिमाश्रित्याह तमसेति । कर्महेतुना कायिकनिषिद्धाचरणजेनहेतुना शरीरजैः कर्मदोषैःयाति स्थावरतांनर इति वक्ष्यमाणत्वात् । अतोबहुरूपेण स्थावरसृष्टीनामनन्तत्वात् अन्तःसंज्ञाः पेपीयमानस्तिष्ठतीति श्रुतेः तस्मात्प्रश्यन्ति पादपाइति स्मृतेश्च । एतदन्ताः स्थावरान्ताःगतयइति गतिःफलोपभोगार्थगमनम् तयाउत्पत्तिरपि लक्षिता ॥ ४९ ॥

(५) नन्दनः । स्थावराणांचैतन्योपलम्भात्कर्मफलानुभवःकथमित्याशङ्क्य परिहरति तमसेति । एते स्थावरान्ताः ॥ ४९ ॥

(६) रामचन्द्रः । तमसेति । कर्महेतुनाबहुरूपेणएतेउद्भिजाः अन्तःसंज्ञाःसुखदुःखसमन्विताः भवन्ति मोक्षधर्मेप्युक्तंशीतोष्णग्राहिणःभवन्ति ॥ ४९ ॥

एतदन्तास्तु गतयोब्रह्माद्याःसमुदाहृताः ॥ घोरेऽस्मिन्भूतसंसारे नित्यंसततयायिनि ॥ ५० ॥

(१) मेधातिथिः । एषोऽन्तोऽवसानवल्लीगतिर्यासांगतीनांताएतदन्ताः । कृतकर्मफलोपभोगार्थमात्मनस्तच्छरीरसंबन्धोगतिरुच्यते । अस्याः स्थावरात्मिकायागतरेन्या निरुद्धा दुःखबहुला गतिर्नास्ति । ब्रह्मगतेश्चान्याऽऽद्योत्तमागतिरानन्दरूपा नास्ति । एतागतयः शुभाशुभैः कर्मभिर्धर्माधर्माख्यैः प्राप्यन्ते । परब्रह्मावामिस्तु मोक्षलक्षणा केवलानन्दरूपा ज्ञानात् ज्ञानकर्मसमुच्चयाद्वेति वक्ष्यामः । भूतसंसारे भूतानांक्षेत्रज्ञानांसंसारे जन्ममरणप्रबन्धे जात्यन्तरागमने । घोरेप्रमादालस्यवतांभीषणे । इष्टवियोगानिष्टयोगोत्पत्त्या सततंसर्वकालंगमनशालिनि विनाशिन्यसारेऽपि नित्यंघोरे

(४९) अन्तःसंज्ञा=अतःसंज्ञा (क)

=अन्तसंज्ञा (ज, ज, झ, ढ)

सुखदुःख=फलपुष्प (भ, न)

न कदाचिदधोरे । देवादिगतिष्वपिसुचिंस्थित्वा मर्त्यमिति नित्यंघोरः । तदनेन धर्माधर्मनिमित्तत्वसंवर्णनेन संसारस्य शास्त्रस्य महाप्रयोजनता प्रतिपादिता भवति । शास्त्रादि धर्माधर्मयोर्विवेकज्ञानमित्यभ्येतव्यम् ॥ ५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतदन्ताइति । स्थावरान्ताब्रह्माद्यागतयोविधाभवन्त्यस्मिन् भूतानांप्राणिनांसंसारे नित्ये अविच्छिन्नप्रवाहे सततयायिनि सर्वदा नाशशीले । नित्यमिति पाठे नित्यंघोरइत्यन्वयः ॥ ५० ॥

(३) कुम्भूकः । एतदन्ताइति । स्थावरपर्यन्ताब्रह्मोपक्रमागतयउत्पत्तयःकथिताः भूतानांक्षेत्रज्ञानांजन्ममरणप्रबन्धे दुःखबहुलतया भीषणे सदाविनश्वरे ॥ ५० ॥

(४) राघवानन्दः । भूतसंसारेभूतः क्षेत्रज्ञःतस्य संसारे प्रवाहरूपेण नित्यंसततयायिनि अनुवर्तमानं सततं सान्त्वयन्तवनवच्छिन्नमिति यावत् जायस्व श्रियस्वेत्यनुपरमश्रवणात् ॥ ५० ॥

(५) नन्दनः । सृष्टिमपसंहरति एतदिति । गतयस्तत्तत्कर्मफलानुरूपदेहप्राप्तयः । एतदन्ताःस्थावरान्ताः ॥ ५० ॥

(६) रामचन्द्रः । एतदिति । अस्मिन्भूतसंसारे ब्रह्माद्यागतयःएतदन्ताःस्थावरान्ताः पापपुण्यानांगतयःब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ताउदात्तताः । कीदृशेऽस्मिन्घोरे । पुनःकीदृशे नित्यंसततयायिनि गच्छति अनित्यत्वात् ॥ ५० ॥

एवंसर्वसमृद्धेदंमांचाचिन्त्यपराक्रमः ॥ आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालंकालेन पीडयन् ॥ ५१ ॥

(१) मेधातिथिः । एवंकिंचित्साक्षार्किकचित्वजापतिनियोगेन सभगवान् सर्वमिदंजगत्सृष्ट्वोत्पाद्यमांच जगत्स्थितौ नियोज्य स्वेऽन्तरेऽचिन्त्यआश्चर्यरूपोमहान् प्रभावः पराक्रमः सर्वविषयाशक्तिर्यस्य समृष्टाऽन्तर्दधेऽन्तर्धानंकृतवानिच्छागृहीतशरीरंयोगशक्त्योज्झित्वा पुनरप्रकाशःसंवृत्तः । आत्मनीति । यथाऽन्येभावाः प्रकृतावन्तर्धीयन्त एवंसोऽन्यत्रेत्येवं न । किंतर्ह्यात्मन्येव प्रलीनः नहितस्यान्याप्रकृतिरस्ति यत्रान्तर्धीयेत सर्वभूतानांतत्प्रकृतित्वात् । जगत्सर्वव्यापारान्निवृत्तिर्वाऽन्तर्धानम् । भूयः कालंकालेन पीडयन् सृष्ट्वेतच्छ्रियापेक्षः शताद्रष्टव्यः प्रलयकालंसर्गस्थितिकालेन विनाशयन् । भूयः पुनरित्यर्थः । वक्ष्यत्यनन्ताः सर्गसंहाराइति ॥ ५१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवमिति । सोचिन्त्यपराक्रमः प्रलयकाल आत्मन्यन्तर्दधे अन्तर्हितान्धकरोत् । भूयः पुनःपुनः । कालंसृष्टिकालं प्रलयकालेन पीडयन् ॥ ५१ ॥

(३) कुम्भूकः । इत्थंसर्गमभिधाय प्रलयदशमाह एवंसर्वमिति । एवंउक्तप्रकारेण इदंसर्वस्थावरजङ्गमंजगत्सृष्ट्वा सप्रजापतिरचिन्त्यशक्तिरात्मनि शरीरत्यागरूपअन्तर्धानंकृतवान् । सृष्टिकालंप्रलयकालेन नाशयन्प्राणिनांकर्मवशेन पुनःपुनःसर्गप्रलयान्करोतीत्यर्थः ॥ ५१ ॥

(४) राघवानन्दः । तस्य लयसृष्टीत्वापबोधत्वेन निरूपयति एवमिति द्वाभ्याम् । मांचसृष्ट्वेत्यनुषज्यते । आत्मनिहिरण्यगर्भे अन्तर्दधे तिरोहितोभूत् । भूयइति । प्रवाहानादित्वसूचनार्थम् । कालंसर्गकालंकालेन चतुर्युगसहस्रान्तब्राह्मसंज्ञकेन प्रलयकालेन पीडयन्निरोधयन् ॥ ५१ ॥

(५) नन्दनः । एवतावन्महदादिहिरण्यगर्भपर्यन्तायाः सृष्टेर्भगवत्कर्तृत्वंचराचरसृष्टेर्हिरण्यगर्भकर्तृत्वंचोक्तम् । इदानींहिरण्यगर्भमन्वाद्यश्चराचरसृष्टेरपि निमित्तमात्रमेव नसाक्षात्स्रष्टारः साक्षात्स्रष्टा तु सभगवान् । तच्चनकस्यचिदर्थयतीत्याह एवमिति अचिन्त्यपराक्रमोऽप्रमेयशक्तिः । सइति परमप्रकृतस्य भगवतः परामर्शान् तु तत्सृष्टस्य हिरण्यगर्भस्य अचिन्त्यपराक्रमइतिविशेषणेन । योऽसावतीन्द्रियग्राह्यःसूक्ष्मोव्यक्तःसनातनः सर्वभूतमयोऽचिन्त्यइत्यचिन्त्यशब्देन भगवतएव प्रत्यभिज्ञाप्यमानत्वात् । सएव स्रष्टा कालं कालेन प्राणिनांकर्मानुरूपंमुखकालंदुःखकालेन दुःखकालं-

सुखकालेन च पीडयन्भूयोभूयस्तिरस्कुर्वन्नात्मनि स्वस्मिन्तर्दधेस्वरूपं कस्यचिद्दर्शितवानित्यर्थः ॥ ५१ ॥

(६) रामचन्द्रः एवमिति । सईश्वरः इदं विश्वं सर्वं एव सृष्ट्वा मां च सृष्ट्वा आत्मनि भूयः अन्तर्दधे । किं कुर्वन् कालपूर्वकालं कालेनोत्तरकालेन प्रयाणकालेन पीडयन् ॥ ५१ ॥

यदा सदेवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत् ॥ यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥ ५२ ॥

(१) मेधातिथिः । सदेवो यदा जागर्ति यदेतदिच्छतोदंजगदुत्पद्यतामेतां स्थितिं च कालमियन्तलभतामिति तदा चेष्टते । मानसवाचिकभौतिकैर्व्यापारैरान्तरैर्बाह्यैश्च श्वासप्रश्वासाहारविहाररुषियागादिभिर्युक्तं भवति । यदा स्वपिति यदानिवृत्तेच्छो भवति जगत्सर्गस्थितिभ्यां तदा सर्वं निमीलति प्रलयं प्राप्नोति । जागर्यास्वापश्च प्रजापतेरिच्छा प्रवृत्तिनिवृत्ती उच्येते । शान्तात्मत्वं भेदावस्थोपसंहारः ॥ ५२ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । तत्त्वपञ्चयति यदेति । जागर्ति सृष्ट्यर्थं चेष्टते स्वपिति ततो विरमति शान्तात्मानिवृत्तप्रयत्नः ॥ ५२ ॥

(६) कुञ्जकः । अत्र हेतुमाह यदेति । यदा सप्रजापतिर्जागर्ति सृष्टिस्थितीच्छति तदेदं जगच्छ्वासप्रश्वासाहारादिचेष्टां लभते । यदा स्वपिति निवृत्तेच्छो भवति शान्तात्मा उपसंहारमनाः तदेदं जगत्प्रलयते ॥ ५२ ॥

(४) राघवानन्दः । देवोद्योतनात्मकः जागर्ति स्थूलाकाशाद्याकारेण च विवर्तते चेष्टते कर्मकरोति यदा स्वपिति निमीलति न चेष्टते ॥ ५२ ॥

(५) नन्दनः । अथ स्थितिप्रलयकालावाह यदेति । यथा स भगवाञ्जागर्ति देवत्वेन प्रभुत्वेन कुर्वद्रूपो भवति चेष्टते जीवति शान्तात्माऽकुर्वद्रूपः स्वपित्योगेन निद्राति निमीलति न चेष्टते ॥ ५२ ॥

(६) रामचन्द्रः । यदेति । सदेव ईश्वरः यदा जागर्ति तदेदं जगच्चेष्टते उत्पद्यते । यदा शान्तात्मा स स्वपिति । लीनचेष्टो भवति तदा सर्वं जगत् निमीलति लयं प्राप्नोति ॥ ५२ ॥

तस्मिन् स्वपति तु सुस्थे कर्मात्मानः शरीरिणः ॥ स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते मनश्च ग्लानिमुच्छति ॥ ५३ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वव्याख्याश्लोकोऽयं विस्पष्टार्थः । स्वस्थे सुस्थिरे । शान्तात्मवच्छुद्धरूपे स्वात्मन्यवस्थानमौपाधिकभेदनिवृत्तिः । कर्मात्मानः कर्मप्रधानाः संसारिणः क्षेत्रज्ञाः शरीरिणः कर्मसंबन्धेन शरीरसंबन्धानुत्थादेव मुच्यन्ते । तस्मिन् स्वपति शयाने स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते । दान्निवर्तते । शरीरचेष्टानिवृत्तिरेतेनोच्यते । मनश्च ग्लानिमुच्छति । एतेनान्तरव्यापारनिवृत्तिः । अतोबाह्यान्तरव्यापारनिवृत्तिः । अतोबाह्यान्तरव्यापारनिवृत्त्या प्रलयः प्रतिपादितो भवति । ग्लानिर्निरुत्साहः स्वव्यापारेऽशक्ततामुच्छतिप्राप्नोति ॥ ५३ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अस्मिन्निति । स्वस्थे स्वमात्रवेदिनि कर्मात्मानः कर्मसहिता आत्मानः न केवलं कर्माणि कुर्वन्ति मनोपि तेषां वृत्तिशून्यं भवति इत्याह मनश्चेति ॥ ५३ ॥

(३) कुञ्जकः । पूर्वोक्तमेव स्पष्टयति तस्मिन् स्वपतीति । तस्मिन् जापतौ निवृत्तेच्छे सुस्थे उपसंहृतदेहमनोव्यापारे कर्मलब्धदेहाः क्षेत्रज्ञाः स्वकर्मभ्यो देहग्रहणादिभ्यो निवर्तन्ते । मनः सर्वेन्द्रियसहितवृत्तिरहितं भवति ॥ ५३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच तस्मिन्निति । निवर्तन्ते न कर्म कुर्वन्ति ग्लानिं सर्वेन्द्रियसहितमनः निवृत्तव्यापारतामुच्छति स्थूलाकाशाद्यभावेन तदारब्धस्थूलजरायुजादि देहाभावान् आकाशाद्यभावश्च । आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्द-

(५२) निमीलति = प्रलयते (क, च)

गुणंविदुरिति वक्ष्यमाणत्वात् । तस्मिन् हिरण्यगर्भे त्वस्थे त्वस्मिन्नात्मीये कारणे तिष्ठति सति त्वयंविराट् स्वपिति लीयते । स्वपतीति पाठे त्वस्थे हिरण्यगर्भे तस्मिन् स्वपति लीने विराजि सति । व्यधिकरणे समर्थौ । अयमेव दैनंदिनप्रलयो-
वक्ष्यते । तावती रात्रिरित्यादिनात्र हिरण्यगर्भस्य प्रलयइति सिद्धान्तः ॥ ५३ ॥

(५) नन्दनः । तस्मिन् भगवति त्वस्थ आत्मस्थे जगद्व्यापारतत्परते कर्मात्मानोऽनुभवितव्यफलकर्मयुक्तात्मानः
स्वकर्मभ्यस्तदानीं भुज्यमानेभ्यः क्रियमाणेभ्यश्च मनश्च महत्तत्त्वं जगदितियावत् तत्कार्यत्वाजगतो ग्लानिसंकोचप्रलय-
मितियावत् ॥ ५३ ॥

(६) रामचन्द्रः । तु पुनस्तस्मिन् ईश्वरे स्वपति सति कर्मात्मानः शरीरिणः सर्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते । च पुनः मनः-
ग्लानिलयंगच्छति प्राप्नोति ॥ ५३ ॥

युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि ॥ तदायंसर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः ॥ ५४ ॥

(१) मेधातिथिः । यत्तदोर्व्यत्ययेनायं श्लोको व्याख्यातव्यः । अन्यथा पूर्वश्लोकापेक्षयेतरेतराश्रयः प्रसज्येत ।
एतदुक्तं यदा स्वपिति तदा निमीलितसर्व । सुखं स्वपिति निर्वृतः सुखस्वरूपमेव परब्रह्मा न तस्य स्वापावस्था-
यां सुखमन्यदा दुःखम् । स्वापश्च तस्य यादृशः स प्रागुक्त एव निर्वृतिश्च तस्य सर्वकालम् । न ह्यसौ परमात्मा विद्योपप्लव-
तरङ्गैरामृश्यते । केवलं सुखमयस्तस्य सर्वस्य कर्तृत्वं प्रपद्यते । यथाऽयं पुरुष उपरतो गृहकृत्येभ्यः कृतकृत्यतया र्जितं मया धनं-
गृहोपयोगि निरुपद्रवश्चास्मि संवृत्तइत्येवं सुखं स्वपिति निर्वृतो निराशङ्कात्मवाध एव मुपमीयते सावपि । तस्याऽपीदं जगत्
कुटुम्बभूतमिति प्रशंसा । प्रधानविषयो वाऽयं श्लोको वर्णनीयः । तदा प्रधानं स्वपिति । यदा युगपत्सर्वाणि भूतानि तत्र
प्रलीयन्ते तदात्मताकारणरूपतामापद्यन्ते विकारावस्थामुद्गच्छन्ति युगपद्यावन्ति त्रैलोक्योदरवर्तीनि । स्वापश्च परिणाम
निवृत्तिर्न पुनर्ज्ञानोपसंहतिश्चैतस्य प्रधानस्य सुखे चोपचारतोऽचेतनत्वादेव ॥ ५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यदा स्थेदशः स्वापस्तदाह युगपत्त्विति । युगपत् समकाले भुवनचतुष्टयं यदा लीयते तदा-
स्यास्वपतोपि स्वाप उच्यत इत्यर्थः । यदाऽयंसर्वभूतानामात्माधिष्ठानसुखदुःखप्रायवृत्तिजनकरजोगुणविरहेण निर्वृतो
निवृत्ताज्ञानावरणः ॥ ५४ ॥

(३) कृष्णकः । इदानीं महाप्रलयमाह युगपत्त्विति । एकस्मिन्नेव काले यदा तस्मिन्परमात्मनि सर्वभूतानि प्रलयं-
यान्ति तदायंसर्वभूतानामात्मानिर्वृतः निवृत्तजाग्रत्स्वमध्यापारः सुखं स्वपिति सुषुप्तइव भवति । यद्यपि नित्यज्ञानानन्द
स्वरूपे परमात्मनि न सुष्वाप तथापि जीवधर्मोऽयमुपचर्यते ॥ ५४ ॥

(४) राघवानन्दः । हिरण्यगर्भोऽपि न वक्ष्यति इति ज्ञापयन् महाप्रलयमाह युगपदिति । यदा द्विपरार्धकाले युग-
पत् हिरण्यगर्भविराट्भ्यांसह पूर्वोक्ता कर्मात्मानो जीवाः संस्कारमात्रावशेषाः परब्रह्मणि प्रलीयन्ते तदायंसर्वभूतात्मा ईश्वरः
सुखं स्वपिति निर्वृतः सुखं स्वानन्दं निर्वृतः प्राप्तः जगद्व्यापारोपरमः । स्वपित्युपचर्यते त्वस्य स्वापप्रबोधयोरभावात् ॥ ५४ ॥

(५) नन्दनः । प्रलयकाले जीवाः कुञ्च तिष्ठन्ति भगवतश्च किंकृत्यमित्यपेक्षायामाह युगपदिति । सर्वकार्याणो नि-
जोनाशो युगपच्छब्दप्रयोगोक्तः । महात्मनि महावकाशे प्रलीयन्ते । शरीरिण इत्यनुषङ्गः । सर्वे भूतात्मानो जीवा यस्मिन्निति
सर्वभूतात्मा त्वेनान्देन निर्वृतो जगत्कार्यचिन्ताराहित्येन सुखं स्वपिति ॥ ५४ ॥

(६) रामचन्द्रः । युगपदिति । तस्मिन् महात्मनि महत्तत्त्वे युगपत्तदाशरीरिणः प्रलीयन्ते लीना भवन्ति ॥ ५४ ॥

तमोयंतु समाश्रित्य चिरंतिष्ठति सेन्द्रियः ॥ न च स्वंकुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्तितः ॥ ५५ ॥

(१) मेधातिथिः । इदानीं संसारिणः पुरुषस्य मरणं देहान्तर प्राप्तिश्चाभ्यां श्लोकाभ्यां कथ्यते । तमोज्ञान-
निवृत्तिस्तां समाश्रित्य चिरंतिष्ठत्यास्ते सेन्द्रियः नचत्वं कुरुते कर्म श्वासप्रश्वासादिकं तदा मूर्तितः शरीरादुत्क्रामति
गच्छति । ननुच सर्वगतआत्माऽऽकाशवद्विभुस्तस्य कीदृश्युत्क्रान्तिः । कर्मोपाजितशरीरत्यागएवोत्क्रान्तिः न पुनर्मूर्तस्यै-
वार्थस्य देशादेशान्तरगमनम् । अथवा कैश्चिदिष्यते अस्त्यन्यदन्तराभवशरीरं सूक्ष्मं यस्येयमुत्क्रान्तिः । अन्यैस्त्वन्तरा-
भवदेहेनेष्यते । यथाह भगवान्यासः अस्मिन्देहे व्यतीते तु देहमन्यन्नराधिप । इन्द्रियाणि व सन्त्येव तस्मान्ना-
स्त्यन्तराभवः । सांख्याअपि केचिन्नान्तराभवमिच्छन्ति विन्ध्यवासप्रभृतयः । कोयमन्तराभवोनामास्मिञ्छरीरे नष्टे
मातृकुक्ष्यादिस्थानंद्वितीयशरीरग्रहणार्थयावन्न प्राप्ततावदन्तरा निरुपयोगिशरीरमुपजायते सूक्ष्मं यस्य न क्वचित्संयोगो-
नाभ्यादिदाहो न महाभूतैः प्रतिबन्धः । अन्येतु मूर्तिपरमात्मानमाहुः । सर्वात्मरूपः परमात्मा समुद्रस्थानीयस्ततः प्रादुर्भ-
वन्तिजीवाविद्यावशाद्देदमुपयान्तिमहोदधेरिवोर्मयः । तस्य च ततोनिष्क्रामतः पुर्यष्टाकाख्यं लिङ्गमभ्युपगम्यते । धर्मा-
धर्मपूर्वकतवशात्प्रत्येकस्य जीवस्य वासः स्थानीयं सूक्ष्मं शरीरम् । यथापुराणउक्तम् पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाख्येन
सयुज्यते । तेनबद्धस्य वैबन्धोमोक्षोमुक्तस्य तेनतु ॥ ते च प्राणापानव्यानोदानसमानाः पञ्चभूतेन्द्रियवर्ग एवंकर्मै-
न्द्रियवर्गोऽष्टममनइत्येतत्पुर्यष्टकम् । तच्छरीरं नश्यत्यामो क्षावस्थायाः । तदुक्तं संसरति निरूपभोगभावैरधिवा-
सितं लिङ्गम् ॥ ५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रलयप्रसङ्गेन मूर्च्छाश्रित्य अपि दर्शयति यमोयमिति । तमोगुणमाश्रित्य चिरंतिष्ठति तथा
च रजसोभिभूतत्वात्सेन्द्रियोमनःप्रभृतीन्द्रियवानपि न स्वयं कर्मकुरुते तदा मूर्च्छितो भूत्वोत्क्रामति । जीवस्थलिङ्गदेहः
प्रदेशान्तरे तिष्ठति सेयं मूर्च्छैत्युच्यते ॥ ५५ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानीं प्रलयप्रसङ्गेन जीवस्योत्क्रमणमपि श्लोकद्वयेनाह तमोयमिति । अयं जीवस्तमोज्ञाननि-
वृत्तिप्राप्य बहुकालमिन्द्रियादिसहितस्तिष्ठति । नचात्मीयं कर्म श्वासप्रश्वासादिकं करोति तदा मूर्तितः पूर्वदेहादुत्क्रामति
अन्यत्र गच्छति लिङ्गशरीरावच्छिन्नस्य जीवस्य उद्गमात्तदमनमप्युपपद्यते । तथा चोक्तं बृहदारण्यके तमुत्क्रामन्तं प्राणो-
नूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति । प्राणा इन्द्रियाणि ॥ ५५ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रलयप्रसङ्गेन मरणमाह तमइति द्वाभ्याम् । अयं जीवात्मा यदा तमोचैतन्यमाश्रित्य जडत्वं
प्राप्य देहाद्यभ्यां संपरित्यागात् एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्या विद्यां गमयित्वान्यत्र शिवतरं कल्याणतरं रूपं तनुतइति श्रुतेः ।
बहुकालं सेन्द्रियः वागादीन्द्रिययुक्तोपि न च कर्म कुरुते सुषुप्तिवत् श्वासादिकमपि कुतः । यतः मूर्तितः स्थूलशरी-
रात् ॥ ५५ ॥

(५) नन्दनः । अयं भगवांस्तमोमूलप्रकृतिमाश्रित्य यदा चिरं यावत्प्रलयकालं तिष्ठति तदा सेन्द्रियो मूर्तिमान् भवति
जगदाकारेण स्फुरतीत्यर्थः । किंच तमः समाश्रित्यार्थत्वं कर्मदिष्ट्यादिकं यदा न कुरुते तदा मूर्तित उतक्रामति जगदाकारे-
ण न स्फुरतीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

(६) रामचन्द्रः । तमइति । यदा तमः समाश्रित्य सेन्द्रियः सचिरं तिष्ठति त्वंकर्म न कुरुते तदा मूर्तित उतक्रामति
मूर्तितो निर्गत एव भवति ॥ ५५ ॥

- यदाणुमात्रिकोभूत्वा बीजं स्थासु चरिणुच ॥ समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्तिविमुञ्चति ॥ ५६ ॥
- (१) मेधातिथिः । अप्व्यः सूक्ष्मामात्रावयववास्य सोऽणुमात्रिकः । पुर्यष्टकमन्तराभवदेहोवा । स्वभावतएव वाऽऽत्मनः सूक्ष्माः यथोक्तम् स एष आत्माऽन्तर्दृश्येऽणीयानित्यादिबीजं शरीरोत्पत्तिकारणम् । स्थासुवृक्षादिजन्महेतुभूतं चरिणुजङ्गमं समाविशत्यधितिष्ठति प्रतिनिबध्यते यदा संसृष्टः प्राणादिभिस्तदा मूर्तिविमुञ्चत्यावधति शरीरं गृह्णातीत्यर्थः ॥ ५६ ॥
- (२) सर्वज्ञनारायणः । मृतिमाह यदेति । अणुमात्रिको मनसानुभावच्छेदात्तत्तुल्यपरिमाणः संसृष्टोल्लिङ्गदेहेन सहितः स्थासुस्थावरं चरिणु जङ्गमं च बीजरेतः शोणितादि प्रविशति तदा मूर्तिं पूर्वदेहं त्यजति समुत्थुरित्यर्थः ॥ ५६ ॥
- (३) कुड्मकः । कदा देहान्तरं गृह्णातीत्यत आह यदाणुमात्रिक इति । अणुमात्राः पुर्यष्टकरूपा यस्य सोऽणुमात्रिकः । पुर्यष्टकशब्देन । भूतादीन्यष्टावुच्यन्ते । तदुक्तं सनन्देन भूतेन्द्रियमनोबुद्धिवासनाकर्मवायवः अविद्या चाष्टकप्रोक्तं पुर्यष्टपिसत्तमैः । ब्रह्मपुराणेऽप्युक्तम् पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन संयुज्यते । तेन बद्धस्य वैबन्धोभोक्षोमुक्तस्य तेन तु ॥ यदाऽणुमात्रिकोभूत्वासंपद्य स्थासु वृक्षादिहेतुभूतं चरिणु मानुषादिकारणं बीजं प्रविशत्यधितिष्ठति तदा संसृष्टः पुर्यष्टकयुक्तो मूर्तिस्थूलदेहान्तरं कर्मानुरूपं विमुञ्चति गृह्णाति ॥ ५६ ॥
- (४) राघवानन्दः । सदा मरणकाल उत्क्रामति देहान्तरार्थं किंभूतः अणुमात्रिकाः अणवोऽणुतुल्यामात्राः पुर्यष्टकरूपा अवच्छेदत्वेन यस्य चैतन्यस्य संतथा पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन संयुज्यते तेन बद्धस्य बन्धोवै भोक्षोमुक्तस्य मुक्तता । तेन त्वित्युक्तम् । बीजं विद्याकर्मवासनाः भूत्वासंप्राप्य तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञाचेति श्रुतेरुक्तत्वात् । तदनुसारेण सृष्टं स्थावरं जङ्गमं वा विशति वृक्षोहं मनुष्योहमिति अभिमन्यते । संसृष्टः पूर्वादेहेन जन्मनानियुक्तः सन्मुञ्चति च मूर्तिपूर्वमिति ॥ ५६ ॥
- (५) नन्दनः । अथ सृष्टिकालमाह यदेति । अणुमात्रिकं चैतन्यांशीभुयबीजं तत्त्वसंघातं समाविशत्यनुप्रविशति संसृष्टौ सृष्ट्यां मूर्तिजगद्विमुञ्चति सृजति जगदाकारेण स्फुरतीत्यर्थः ॥ ५६ ॥
- (६) रामचन्द्रः । यदेति । देहत्यागो वर्ण्यते । यदा अणुमात्रिकोभूत्वा स्थासु स्थावरेषु चरिणु चरेषु बीजं बीजरूपं समाविशति संसृष्टः संयुक्तः तदा मूर्तिं शरीरं मुञ्चति ॥ ५६ ॥
- एवं स जाग्रत्स्वमाभ्यामिदं सर्वं चराचरम् ॥ संजीवयति चाजस्रं प्रमापयति च अव्ययः ॥ ५७ ॥
- (१) मेधातिथिः । उपसंहारः पूर्वोक्तस्य । आत्मसंबन्धिभ्यां जाग्रत्स्वमाभ्यां चराचरं स्थावरं जङ्गमं जीवयति मारयति च जगत् । अव्ययोऽविनाशी ॥ ५७ ॥
- (२) सर्वज्ञनारायणः । एवमिति । स्वेन जाग्रता स जीवयति स्वीयेन स्वभेनाव्ययोऽविनाशी प्रमापयति मारयति चरमचरं च अजस्रं सर्वदा ॥ ५७ ॥
- (३) कुड्मकः । प्रासङ्गिकं जीवस्योत्क्रमणमभिधाय प्रकृतमुपसंहरति एवं स जाग्रत्स्वमाभ्यामिति । स ब्रह्मा अनेन प्रकारेण स्वीयजाग्रत्स्वमाभ्यामिदं स्थावरजङ्गमं स जीवयति मारयति च । अजस्रं सततम् । अविनाशी अव्ययः ॥ ५७ ॥
- (४) राघवानन्दः । प्रकृतमनुसरति एवमिति । जाग्रत्स्वमाभ्यां दैनंदिनमृष्टिप्रलयाभ्यां प्रमापयति नाशयति स्वमोऽत्र सुषुप्तिः स्वपितीत्युक्तेः ॥ ५७ ॥

(५) नन्दनः । प्रकरणार्थमुपसंहरति एवमिति । जागृदिति पाठः । जागृज्जागरणं सम्प्रदादित्वात्किप् । अजस्रमविच्छेदेन ॥ ५७ ॥

(६) रामचन्द्रः । एवमिति । सईश्वरः जाग्रदवस्थामुस्थितः सन् इदं चराचरं सर्वमेवमजस्रं संजीवयति । स्वमेस्थितः सन् अजस्रमिमं प्रमापयति नाशयति स्वयमव्ययः देशतः कालतश्च ॥ ५७ ॥

इदं शास्त्रं कृत्वा सौ मां मेव स्वयमादितः ॥ विधिवद्ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ॥ ५८ ॥

(१) मेधातिथिः । इह शास्त्रशब्देन स्मार्तौ विधिप्रतिषेधसमूह उच्यते न तु ग्रन्थस्तस्य मनुना कृतत्वात् । तथा हि मानवइति व्यपदेशोऽस्येतरथा हि हिरण्यगर्भइति व्यपदिश्येत । केचित्तु हिरण्यगर्भेनापि कृते ग्रन्थे मनुना बहूनां प्रकाशितत्वात्तेन व्यपदेशोऽयुज्यत एव यथा हिमवति प्रथममुपलभ्यमाना गङ्गाऽन्यतोऽन्युत्पन्ना हैमवतीति व्यपदिश्यते यथा च नित्यदर्शनात्काठकं प्रवचनं कठेन व्यपदिश्यते । सत्त्वग्रन्थेष्वध्येतृष्वध्यापयितृषु च प्रवचनप्रकर्षात्कठेन व्यपदेशः । नारदश्च स्मरति शतसाहस्रोऽयं ग्रन्थः प्रजापतिना कृतस्ततः समन्वादिभिः क्रमेण संक्षिप्तइति । अतोऽन्यकृतत्वेऽपि मानवव्यपदेशेन विरुद्धः । शास्त्रशब्देन ग्रन्थाभिधानमपि शासनरूपाऽर्थप्रतिपादकत्वाद्दृष्टमेव । मामेव ग्राहयामासाहं तेनाध्यापितइत्यर्थः । स्वयमादितो विधिवदित्येभिः पदैरागमस्याविश्रंश उच्यते । ग्रन्थकारेण हि स्वकृतो ग्रन्थोऽयः स्वयमध्याप्यते प्रथमतः मात्रापि न परिहीयते । अन्यस्य हि तस्मादधिगतवतोऽन्यमध्यापयतो नतद्ग्रन्थाविनाशे यत्नो भवति कर्तुरप्यध्यापितपूर्वस्य प्रतिष्ठापितोऽपि मया पूर्वमयं ग्रन्थइति द्वितीयवारं प्रमादालस्यादिना श्रंशः संभाव्यत अत आदितइत्युक्तम् । विधिवच्छिष्योपाध्याययोरनन्यमनस्कतादिगुणोऽवहितचित्तताविधिः । अहं वतिः । मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् मरीच्यादयः प्रसिद्धप्रभावास्तैरप्येतन्मत्सकाशादधीतमित्यात्मनो विशिष्टशिष्यसंबन्धेन सिद्धमौपाध्यायिकं दर्शयन्महर्षीणां शास्त्रमाहात्म्येन च श्रद्धातिशयजनयत्यव्ययनाविरामाय । एवं विधमेतन्महच्छास्त्रं यन्मरीच्यादिभिरप्यधीतम् । एष चेदृशो महात्मा मनुस्तेषामुपाध्यायइति युक्तमेतस्य सकाशाद्विद्वन्महत्त्वमव्ययमिति शास्त्रपरिसमाप्तेर्नोपरमन्ते श्रोतारइत्युभयथापि शास्त्रप्रशंसा ॥ ५८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इदमिति । इदं स्मार्तधर्माधर्मोपादानहानात्मकं न ग्रन्थं शास्त्रं सर्वज्ञो हिरण्यगर्भात् प्राप्य मां भृगुना मानमेव रूपयाऽध्यापयामास । पुनरहं मरीच्यादिदशमुनीन् बहुविशिष्टेभ्यः शिष्येभ्यः आदितः सर्वेभ्यः पूर्वम् ॥ ५८ ॥

(३) कुङ्कुमः । इदं शास्त्रमिति । असौ ब्रह्मा इदं शास्त्रं कृत्वा सृष्ट्यादौ मामेव विधिवच्छास्त्रोक्ताङ्गजातानुष्ठानेनाध्यापितवान् । अहं तु मरीच्यादीनां अध्यापितवान् । ननु ब्रह्मकृतत्वेऽस्य शास्त्रस्य कथं मानवव्यपदेशः । अत्र मेधातिथिः शास्त्रशब्देन शास्त्रार्थो विधिनिषेधसमूह उच्यते तं ब्रह्मा मनुं ग्राहयामास मनुस्तु तत्प्रतिपादकं ग्रन्थं कृतवानिति न विरोधः । अन्ये तु ब्रह्मकृतत्वेऽस्य मनुना प्रथमं मरीच्यादिभ्यः स्वरूपतोऽर्थतश्च प्रकाशितत्वात्मानवव्यपदेशः वेदापौरुषेयत्वेऽपि काठकादि व्यपदेशवत् । इदं तु च्यते ब्रह्मणा शतसाहस्रमिदं धर्मशास्त्रं कृत्वा मनुं अध्यापित आसीत्तस्तेन च स्ववचनेन संक्षिप्य शिष्येभ्यः प्रतिपादितमित्यविरोधः । तथा च नारदः शतसाहस्रोऽयं ग्रन्थ इति स्मरति स्म ॥ ५८ ॥

(४) राघवानन्दः । गुरुपरंपरागतमिदं शास्त्रं न स्वमनीषाकल्पितमित्याह इदमिति । आदितः सृष्ट्यादौ असौ विराट्ब्रह्मा मां मनुं आह मनुं मरीच्यादीन् मुनीन् ग्राहितवानस्मीत्यन्वयः । आदावस्य मनुवक्तृत्वं कर्तृत्वं तु विराजएवेति ध्वनिः ॥ ५८ ॥

(५) नन्दनः । एवंतावज्जगत्सृष्टिप्रलयावुक्तौ इदानींमर्यादानांस्थापनंशास्त्रसंप्रदायोपन्यासद्वारेणस्थितिमप्याह इदमिति । शास्त्रस्य तदा मनसि विपरिवर्तमानत्वादिति परामर्शोयुज्यते ॥ ५८ ॥

(६) रामचन्द्रः । मनुखाच । असावीश्वरइदंशास्त्रं कृत्वामामेवादितः विधिवत्स्वयंयाहयामास । तु पुनः मरी-
च्यादीन्मुनीन्याहयामास याहयतिस्म ॥ ५८ ॥

एतद्वोऽयंभृगुः शास्त्रंश्रावयिष्यत्यशेषतः ॥ एतद्विमत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलंमुनिः ॥ ५९ ॥

(१) मेधातिथिः । एतच्छास्त्रंवीयुष्माकमयंभृगुरशेषतः सर्वंश्रावयिष्यति कर्णपथेनेत्यध्यापयिष्यति व्याख्यास्यतिच । एतच्छास्त्रस्यैतदा प्रत्यवमर्शः । एतच्छास्त्रमेषमुनिरखिलमशेषमत्तोमत्सकाशादधिजगेऽधिगतवाञ्ज्ञातवान् । गुरुमुखाद्विद्यानिष्क्रामतीव शिष्यः प्रतिगृह्णातीवेत्यतोपादाने तस्मिन्तदिति युक्तः । भृगुस्तु महर्षीणांप्रख्याततरस्वभावः । तस्य प्रवक्तृत्वनियोगेनानेकाशेषनिरतिशयविद्याविदामागमनपरंपरयागतमेतच्छास्त्रमितिप्रदर्श्यते । अतश्च केषांचिदयमपि प्रवृत्तिप्रकारोदृश्यते । बहुभ्योमहात्मभ्यः शास्त्रमिदमवतीर्णमिति किमिति नाधीमहइत्यध्ययनादिप्रवृत्त्याभिमुख्यंशास्त्रे जन्यते ॥ ५९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतदिति । अखिलंकृत्स्नम् ॥ ५९ ॥

(३) कुल्लूकः । एतद्वोयमित्यादि । एतच्छास्त्रमयंभृगुः युष्माकमखिलंकथयिष्यति यस्मादेषोऽशेषमेतन्मत्तोऽधी-
तवान् ॥ ५९ ॥

(४) राघवानन्दः । भृगोरपि गुर्वधीनविद्यत्वंसूचयति एतदिति । मत्तोमनोऽधिजगे ज्ञातवान् सर्वमखिलं एते-
नाक्षरमात्रमन्यस्य न त्याज्यमित्यर्थः ॥ ५९ ॥

(५) नन्दनः । अखिलंनिरवशेषम् ॥ ५९ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतदिति । अयंभृगुः एतच्छास्त्रंधर्मशास्त्रंच अशेषतःश्रावयिष्यति मुनिःभृगुःएतत् शास्त्रंसर्वमे-
व अखिलंसरहस्यंमत्तःसकाशात्अधिजगे ज्ञातवान् । गैशब्दे इत्यस्य धातोरूपं अधिजगेये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्थाः ॥ ५९ ॥

ततस्तथा सतेनोक्तोमहर्षिर्मनुना भृगुः ॥ तानब्रवीदृषीन्सर्वान्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥ ६० ॥

(१) मेधातिथिः । समहर्षिर्भृगुस्तेन मनुना तथोक्तएषवःश्रावयिष्यतीति नियुक्तस्ततोऽनन्तरंतानृषीन्ब्रवीच्छ्रूय-
तामिति । प्रीतात्माऽनेकशिष्यसन्निधावहमत्र नियुक्तइति बहुमानेन प्रीतात्मत्वंप्रवक्तृत्वयोग्यतयाज्ञाकरोऽहमनेन संभावि-
तइत्यात्मनि भृगोर्बहुमानः ॥ ६० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ततइति । सभृगुरित्यात्मनि परोक्षत्वारोपेण ॥ ६० ॥

(३) कुल्लूकः । ततस्तथेति । सभृगुर्मनुना तथोक्तोऽयंश्रावयिष्यतीति यस्मादेषोऽधिजगइत्युक्तः ततोऽनन्तरमनेक-
मुनिसन्निधौ गुरुसम्भावनया प्रीतमनास्तानृषीन्प्रत्युवाच श्रूयतामिति ॥ ६० ॥

(४) राघवानन्दः । अध्यापनेपि गुर्वाज्ञावश्यकतामाह ततइति । तान्मनुसमीपे पूर्वोपस्थितान् प्रीतात्मा प्री-
तियुक्तः । एतेमनूश्च समान्यानिन्यनेन सावर्ण्याद्यामनवउक्ताअपरइति विशेषणात् सावर्ण्यादिभ्यः स्वायंभुवाद्याभिन्नाः
अन्यथा मनूनांचतुर्दशत्वंव्याहन्येत ॥ ६० ॥

(५) नन्दनः । तथा तेनोक्तोयुष्मानयंभृगुरेतच्छास्त्रंश्रावयिष्यतीति मनुनोक्तः ॥ ६० ॥

(६) रामचन्द्रः ततइति । मृगुरुवाच मृगुः धर्मानाह । ततःमनुवचनानन्तरं समहर्षिमृगुः तान्सर्वान्ऋषीन्श्रूयतामित्यब्रवीत् । कीदृशःप्रीतात्मा प्रफुल्लितात्मा तथा तेन मनुनोक्तः ॥ ६० ॥

स्वायंभुवस्यास्य मनोःषड्वंश्यामनवोऽपरे ॥ सृष्टवन्तःप्रजाःस्वाःस्वामहात्मानोमहौजसः ॥ ६१ ॥

(१) मेधातिथिः । उपाध्यायोधर्मान्पृष्टोजगदुत्पत्त्यादि वर्णितवान् । तथैवशिष्योऽपि तन्नियुक्तस्तच्छेषमेवं वर्णयितुमारब्धः । अस्येति साक्षात्कारेण मनुष्यवृत्तशक्ति । अस्मदुपाध्यायस्य स्वायंभुवइतिख्यातस्य षडन्येऽपरेमनवोवंश्याएकस्मिन्वंशे कुले जाताः सर्वेवंश्याः । सर्वे हि साक्षाद्ब्रह्मणा सृष्टा इत्येककुलसंभवाद्वंश्याउच्यन्ते । अथवा एकस्मिन्कार्येऽधिकृतावंश्या एककर्मान्वयेन प्राणिनांवंशव्यवहारोभवति । द्वौ मुनी व्याकरणस्यवंश्या तंचैकधर्मदर्शयति सृष्टवन्तःप्रजाः स्वात्वाः इति । मन्वन्तरे मन्वन्तरे यस्य मनोरधिकारः सएव प्रजानांपूर्वमन्वन्तरविनष्टानांसृष्टा पालयिता च । अतोयेन याः प्रजा सृज्यन्ते तास्तस्य स्वाभवन्ति ॥ ६१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वायंभुवस्येति । अस्य वंशभवाः अन्ये षण्मनवोपि स्वाइति अन्येषुपलक्ष्याः पूर्ववत् ॥ ६१ ॥

(३) कुड्मूकः । स्वायंभुवस्येति । ब्रह्मपुत्रस्यास्य मनोःषड्वंशप्रभवाअन्येमनवः एवकार्यकारिणःस्वत्वकाले सृष्टिपालनादावधिकृताःस्वाःस्वाःप्रजाउत्पादितवन्तः ॥ ६१ ॥

(४) राघवानन्दः । एते तु कश्यपवंश्याकिंनामानइत्यपेक्षायामाह स्वायंभुवस्येति त्रिभिः । सृष्टिकरणे तेषांसा-मर्थ्यमाह अमितौजसइति अमितंओजोबलंज्ञानंतपश्च येषांते तथा ॥ ६१ ॥

(५) नन्दनः । स्वयंभुवोभगवतः शिष्यत्वात्स्वायंभुवइदंशास्त्रमित्यनेन भगवतोहि मनुःशिष्यत्वेनोक्तः ॥ ६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अस्य मनोः षट् वंश्याःअपरे मनवश्चासन् ॥ ६१ ॥

स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसोरैवतस्तथा ॥ चाक्षुषश्च महातेजाविवस्वत्सुतएवच ॥ ६२ ॥

(१) मेधातिथिः । तान्मनूनामतोनिर्दिशति । महातेजाइति विशेषणम् । अन्यानि नामानि रूढ्या संबन्धेन वा । विवस्वत्सुतइति समासपदरूपशब्दान्तरंरुष्णसर्पनरसिंहादिशब्दवत् ॥ ६२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वारोचिषइति । विवस्वत्सुतः प्रकृतमन्वन्तराधिपः ॥ ६२ ॥

(३) कुड्मूकः । स्वारोचिषश्चेति । एते भेदेन मनवःषट् नामतोनिर्दिष्टाः ॥ ६२ ॥

(४) राघवानन्दः । तेषांनामापेक्षांपूरयति । स्वारोचिषइत्यादिनामानि । विवस्वत्सुतोयमः ॥ ६२ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्वेति । तेषांमनूनां नामान्याह द्वाभ्यां स्वारोचिषइत्यादिना । विवस्वत्सुतोवैवस्वतः ॥ ६२ ॥

स्वायंभुवाद्याःसप्तैते मनवोभूरितेजसः ॥ स्वेत्वेन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम् ॥ ६३ ॥

[कालप्रमाणंवक्ष्यामि यथावत्तन्निबोधत* ॥]

(१) मेधातिथिः । अत्र सप्त मनवोमया प्रोक्ताः । अन्यत्र चतुर्दशसंपद्यन्ते । स्वे स्वेन्तरेऽवसरे प्रामेऽधिकारकाले

(६२) उत्तमश्च=श्रौतमिश्च (अ, द, घ)

* (ग) ॥ इदमर्थं (क) चिन्हितपुस्तके समतितमश्लोकेपठितम् ।

इति यावत् । उत्पाद्य प्रजा आपुः पालितवन्तः । स्वे स्वेऽन्तरेऽधिकारावसरे यस्य मनोर्यस्मिन्काले प्राप्तः सर्गस्थितिपालनाधिकारः । अन्येत्वन्तरशब्दमासादिशब्दवत्कालविशेषवाचिनमन्यन्ते तदयुक्तम् । मनुशब्दोपसंहितः कालविशेषविषयोमन्वन्तरोनाम कालेनतु केवलइति ॥ ६३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वायंभुवाद्याइति । आपुर्व्याप्तवन्तश्चराचरंतत्सर्वमध्यतिष्ठन्तित्यर्थः ॥ ६३ ॥

(३) कुल्लूकः । स्वायंभुवेति । स्वायंभुवमुखाःसमामी मनवः स्वीयस्वीयाधिकारकालेइदंस्थावरजङ्गममुत्पाद्य पालितवन्तः ॥ ६३ ॥

(४) राघवानन्दः । इदानीं वर्तमानःस्वेस्वेऽन्तरे स्वकीयस्वकीयमन्वन्तरे इदंस्वानुरूपाः प्रजाउत्पाद्य चराचरंसर्वेषापुः रक्षितवन्तः मनुनांस्वायंभुवादीनां नामतएव मन्वन्तराणामपि नामानीति ध्येयम् ॥ ६३ ॥

(५) नन्दनः । अन्तरशब्देन कालविशेषउच्यते । आपुःपान्तिस्म ॥ ६३ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्वरोचिष २ औत्तम ३ तामस ४ रैवत ५ ज्ञाक्षुष ६ वैवस्वत ७ एतेस्वायंभुवाद्याः सप्तमनवः स्वेस्वेऽन्तरे इदं सर्वचराचरमुत्पाद्यापुः अगमन् ॥ ६३ ॥

निमेषादशचाष्टौच काष्ठा त्रिंशत्तुताः कला ॥ त्रिंशत्कलामूहूर्तः स्यादहोरात्रंतु तावतः ॥ ६४ ॥

(१) मेधातिथिः । स्थितिप्रलयकालपरिमाणनिरूपणार्थंज्योतिःशास्त्रगोचरंकालविभागंवक्तुमुपक्रमते । अष्टादश निमेषाः काष्ठानाम कालोभवति । त्रिंशत्काष्ठाः कलात्रिंशत्कलात् । एकोमुहूर्तः स्यात् । तावतःत्रिंशदित्यर्थः । त्रिंशन्मुहूर्तमहोरात्रम् । विद्यादिति क्रियापदमात्हत्य तावदिति द्वितीयाबहुवचनम् ॥ ६४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अथ सृष्टिकालसङ्ख्यार्थकालविभक्तीर्णयति निमेषादिति । अक्षिपद्मद्वयसंयोगहेतुः कर्मनिमेषः । सयदा शीघ्रस्तदपेक्षयापञ्चदशनिमेषाःकाष्ठा पुराणेषूक्ता । अत्रतुमन्दकर्माभिप्रायेणाष्टादशेति । ताःकाष्ठाः त्रिंशत्कला । तावतस्तावन्तःविभक्त्यव्यत्ययात्त्रिंशदित्यर्थः । तावतेतिकचित्पाठः ॥ ६४ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानीमुक्तमन्वन्तरसृष्टिप्रलयादिकालपरिमाणपरिज्ञानायाह निमेषादशचाष्टाविति । अक्षिपद्मः णोःस्वाभाविकस्यउन्मेषस्य सहकारीनिमेषः तेषादशकाष्ठानामकालः त्रिंशच्च काष्ठाःकलासंज्ञकः त्रिंशत्कलाःमूहूर्तख्यः कालःतावत्त्रिंशन्मुहूर्तानहोरात्रंकालंविद्यात् । तावतइति द्वितीयानिर्देशात् विद्यादित्यध्याहारः ॥ ६४ ॥

(४) राघवानन्दः । कालंकालविभक्तीश्चेत्युक्तं सर्गादिज्ञापनार्थंविवृणोति निमेषादिति दशभिः । पद्मणोःस्वाभाविकः कम्पोनिमेषःसच मनुष्याधिकारकं शास्त्रमिति न्यायान्मनुष्यस्यैव देवानांनिमेषाभावाच्च तेषामष्टादशनिमेषैःकाष्ठा स्यात् । काष्ठानांत्रिंशताकलास्यात् कलानांत्रिंशतामुहूर्तः दण्डद्वयम् । तावतोमुहूर्तान्त्रिंशन्मुहूर्तान्अहोरात्रंकालंविद्यादिति शेषः ॥ ६४ ॥

(५) नन्दनः । अथ सृष्टिसंहारो कालतः परिच्छेत्तुंकालपरिमाणविभागंतावन्नवभिः श्लोकैराह निमेषादिति । तावतः तावन्तस्तेमुहूर्ताः ॥ ६४ ॥

(६) रामचन्द्रः । मन्वन्तरस्य परिमाणार्थं कालस्यपरिमाणमाह निमेषेति । अष्टादशनिमेषैःकाष्ठासंज्ञोच्यते ।

(६३) आपुश्च=द्यायुश्च (क, ख, ग)

* स्वाभाविकस्य उन्मेषस्य सहकारी=स्वभाविकःउन्मेषसंकोचः (अ)

तास्तुत्रिशत्काशाःकलात्रिशत्कलात्मकःकालोमुहूर्तःस्यात् । तावतामुहूर्तेन त्रिशदिति त्रिशन्मुहूर्तात्मके न कालेन अहो-
रात्रंस्यात्मानुषाणाम् ॥ ६४ ॥

अहोरात्रे विभजते सूर्योमानुषदैविके ॥ रात्रिःस्वभाय भूतानांचेष्टायै कर्मणामहः ॥ ६५ ॥

(१) मेघातिथिः । अथ कोयनिमेषोनाम । अक्षिपद्मणोर्नैसर्गिककर्मोन्मेषसहचारी । अन्यैस्तु पठितं यावता-
कालेनाविरुतमक्षरमुच्चार्यते सनिमेषः । अहश्च रात्रिश्च तेअहोरात्रे । तयोर्विभागंकरोति । आदित्यउदितआदित्येयावत्त-
दीयारश्मयोदृश्यन्तेतावदहर्व्यवहारः । अस्तमिते तु प्रागुदयाद्रात्रिव्यवहारः । मनुष्यलोके देवलोके वा यत्र तर्ह्यादित्योऽन
व्याप्नोति रश्मिभिस्तत्र कथमयमहोरात्रविभागोविज्ञेयोऽतआह रात्रिःस्वभायेति । स्वयंप्रभेषु भूतेषु नित्यप्रकाशत्वात्कर्म-
चेष्टाकार्यारम्भेण स्वापेन च विभागः । यथैवौषधीनानियतः प्रादुर्भावकालः स्वाभाव्यादेवकर्मचेष्टास्वापावपि कालस्व-
भावतएव नियतौ ॥ ६५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अहोरात्रेइति । सूर्योयथा मानुषमहोरात्रंविभजते तथा दैविकमप्ययनस्य सूर्यगत्यधी-
नत्वात् । पित्र्याहोरात्रस्य तु तिथिनियतत्वेन चन्द्रनियम्यत्वान्न सूर्योनियामकः । मानुषलौकिकइतिकचित्पाठः । तत्र
मानुषलोकसंबन्धिनीइत्यर्थः । यद्यपिलोके तादृगन्धकारादेव रात्रित्वाभिव्यञ्जकस्याभावस्तथापि चेष्टानिवृत्त्यैतथोच्य-
तइत्याह रात्रिरिति । स्वस्याभिर्व्याप्तिर्बाह्यनिवृत्तिरुता स्वमश्चेष्टानिवृत्तिः तदर्थयःकालः सरात्रिः भूतानां कर्मणां-
क्रियाणां चेष्टायै निष्पादनाय ॥ ६५ ॥

(३) कुङ्कुमः । अहोरात्रेइति । मानुषदैवसम्बन्धिनौ दिनरात्रिकालावादित्यःपृथक्करोति । तयोर्मध्ये भूतानां-
स्वभार्थरात्रिर्भवति । कर्मानुष्ठानार्थं च दिनम् ॥ ६५ ॥

(४) राघवानन्दः । एतत्सर्वसूर्यक्रियारुतमित्याह अहोरात्रेइति । मानुषदैविकेइति ब्राह्मपित्र्ययोरप्युपलक्षणम् ।
स्वभाय निर्व्यापाराय । चेष्टायै कर्मणांकर्मानुष्ठानार्थंबहिरिन्द्रियाणांप्रवृत्त्यर्थं वा । भूतानांमनुष्यपितृदेवब्रह्मणाम् ॥ ६५ ॥

(५) नन्दनः । अहोरात्रपरिच्छेदकारणमाह अहोरात्रेइति । मानुषदैविके मनुष्यदेवसंबन्धेअहोरात्रेसूर्यउदया-
स्तमयाभ्यांविभजते । पित्र्यहोरात्रस्याप्युपलक्षणमेतत् ॥ ६५ ॥

(६) रामचन्द्रः । अहरिति । सूर्यः स्वगत्या मानुषदैविके अहोरात्रे अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रेविभजते वि-
भागंकरोति । भूतानांप्राणिनारात्रिःस्वभाय शयनार्थं कर्मणांचेष्टायै कर्मणांक्रियायैअहःसंज्ञः ॥ ६५ ॥

पित्र्ये रात्र्यहनी मासःप्रविभागस्तुपक्षयोः ॥ कर्मचेष्टास्वहःरुक्णःशुक्लःस्वभाय शर्वरी ॥ ६६ ॥

(१) मेघातिथिः । योमनुष्याणांमासः सपितृणामर्हनिशम् । कतरदहः कतमा च रात्रिरिति प्रविभागः इदमहरि-
यंरात्रिरित्येषविभागः । पक्षयोःपञ्चदशरात्रिसंमितयोरर्धमासयोर्व्यवस्थितः पक्षाश्रितइत्यर्थः । एकः पक्षोहरपरोरात्रिस्तयो-
श्च भिन्नत्वभावनियतक्रमत्वाच्च विशेषमाह । अहः रुक्णःपक्षः शुक्लःपक्षः शर्वरी रात्रिः । कर्मचेष्टाभ्यइति युक्तः
पाठोयथा स्वभायेति तादर्थ्यमेवविषयभावेन विवक्षितंवृत्तानुरोधादतःसममी ॥ ६६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पित्र्येइति । पक्षयोःपक्षाभ्यांविभागः कर्मचेष्टासु पितृकर्मार्थं चेष्टासु कर्तव्यासु कृमाः
पक्षोहस्त्वेनहेतुः । एवमुत्तरत्र ॥ ६६ ॥

(३) कुल्लूकः । पित्र्येति । मानुषाणां मासः पितृणामहोरात्रे भवतः । तत्र पक्षद्वयेन विभागः कर्मानुष्ठानाय । पूर्वपक्षोऽहः स्वापार्थं शुक्लपक्षो रात्रिः ॥ ६६ ॥

(४) राघवानन्दः । ततः किमित्यत आह पित्र्येति । प्राधान्यान्निमेषादित्यनेन प्राप्तानां नृणां पञ्चदशाहोरात्रेः पक्षः तयोर्द्वयमासः । सच पित्र्येरात्र्यहनी प्रविभागः पक्षयोः प्रविभक्तयोः पक्षयोर्मध्ये कृष्णोऽहः । सच साधुः कर्मचेष्टासु पितृणां शुक्लपक्षः शर्वरी सच तेषां स्वमायेति तयोर्विभागः । अहरित्यतिदेशोऽयं खलेकाष्टन्यायेन कार्यार्थः । अविरुते तादृशे काष्ठे यथा पशुर्वध्यते तथात्र कृष्णपक्षश्चाद्वादिकं क्रियतेति ॥ ६६ ॥

(५) नन्दनः । अथ पितृणामहोरात्रपरिमाणमाह पित्र्येति । प्रविभाग उच्यते इति शेषः । कर्मचेष्टासु कर्मचेष्टार्थमित्यर्थः । पितृलोके सूर्यः । कृष्णपक्षे न तु शुक्लपक्षे । तस्मात्कृष्णशुक्लपक्षौ पितृणामहोरात्रे तेन पित्र्यकर्मानुष्ठाने कृष्णपक्षः प्रशस्त इति शास्त्रेषूच्यते ॥ ६६ ॥

(६) रामचन्द्रः । पितृणामहोरात्रमाह पित्र्येति । मासः कृष्णादिमासः पित्र्ये पितृणां रात्र्यहनी रात्रिश्च अहश्च रात्र्यहनी च कृष्णशुक्लपक्षयोः प्रविभागः । कर्मचेष्टासु अहः स्मृतः कृष्णपक्षोऽहः स्मृतः शुक्लः शुक्लपक्षः स्वभावात् निद्रायै शर्वरी रात्रिसंज्ञेति ज्ञेयमिति ॥ ६६ ॥

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः ॥ अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्वक्षिणायनम् ॥ ६७ ॥

(१) मेधातिथिः । वर्षमनुष्याणां द्वादशमासास्तदेकमहोरात्रदेवानाम् । तयोश्च विभाग उदगयनदक्षिणाभ्यां तत्रोदीचीं दिशमभिप्रतिष्ठमानस्यादित्यस्य षण्मासा उदगयनं भवति । अयनं गमनमधिष्ठानं वा । तस्यां दिशि षण्मासानादित्य उदति । ततः परावृत्तस्य दक्षिणायनम् । तथा हि दक्षिणां दिशमाक्रम्योदीचीं हित्वा ह्युदयं करोति ॥ ६७ ॥

(२) सर्वज्ञः रायणः । दैवेति । उदगयनात् सूर्यक्रियानिमित्ततोक्तेः सौरमानक्रतुवत्सरस्यैवाहोरात्रत्वं चान्द्रमानेन ॥ ६७ ॥

(३) कुल्लूकः । दैवे रात्र्यहनी वर्षमिति । मानुषाणां वर्षदेवानां रात्रिदिने भवतः । तयोरेकस्य विभागः नराणामुदगयनं देवानामहः । तत्र प्रायेण दैवकर्मणामनुष्ठानं दक्षिणायनं तु रात्रिः ॥ ६७ ॥

(४) राघवानन्दः । तथा दैवेति । नृद्वादशभिर्मासैः वर्षतच्च दैवे रात्र्यहनी तयोर्दगयनं दैवकर्मयज्ञादि प्रवृत्त्यर्थमहः दक्षिणायनं रात्रिरिति विभागः ॥ ६७ ॥

(५) नन्दनः । देवलोके सूर्य उत्तरायणे दृश्यते न तु दक्षिणायने । तस्मादेतदेवानामहोरात्रम् ॥ ६७ ॥

(६) रामचन्द्रः । दैवेति देवानामहः परिमाणमाह । वर्षसंवत्सररूपं कालं देवानां रात्र्यहनी इत्युच्यते पुनस्तयोरात्र्यह्नोः प्रविभागः क्रियते । तत्र विभागे उदगयनं उत्तरायणं देवानामहरुच्यते । दक्षिणायनं रात्रिः स्यात् ॥ ६७ ॥

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः ॥ एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ६८ ॥

(१) मेधातिथिः । ब्रह्मा प्रजानां स्रष्टा तस्य योलोकस्तत्र क्षपाहस्याहोरात्रस्य यत्प्रमाणं युगानां चैतत्समासतः संक्षेपेण निबोधत मत्सकाशाच्छृणुत । एकैकश एकैकस्य युगस्य वक्ष्यमाणस्य प्रकरणस्य पिण्डार्थकथनार्थोऽयं श्लोकः श्रोतृणामवधारणार्थः । तथा च संन्युच्यन्ते निबोधतेति । प्रकृते कालविभागे पुनः प्रतिज्ञाकरणं तत्त्वज्ञापनार्थम् । तेन वक्ष्य-

माणोऽर्थो न शास्त्रारम्भशेषवापि तु धर्मायापि । तथाच वक्ष्यति ब्राह्मपुण्यमर्हविदुरिति । तदेदनाच्च पुण्यंभवतीत्यर्थः ॥ ६८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्राह्मस्येति । क्षपाहस्याहोरात्रस्य । समासतःसंक्षेपतः ॥ ६८ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मस्येति । ब्रह्मणोऽहोरात्रस्य यत्परिमाणंप्रत्येकंयुगानांच कृतादीनांतत्क्रमेण समासतःसंक्षेपतःशृणुत । प्रकृतेपि कालविभागे यद्ब्रह्मणोऽहोरात्रस्य पृथक्प्रतिज्ञानंतत्तदीयज्ञानस्य पुण्यफलज्ञानार्थम् । वक्ष्यति च ब्राह्मपुण्यमर्हविदुरिति । तदेदनात्पुण्यंभवतीत्यर्थः ॥ ६८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच मनुष्यस्य युगानांसत्यत्रेताद्वापरकलिसंज्ञकानांचतुर्णांप्रमाणंतुब्रह्मणः क्षपाहस्यक्षपा-
रात्रिःतया सहअहःक्षपाहः तस्य प्रमाणमिति प्रतिज्ञाद्वयम् । प्रमाणं परिमाणम् ॥ ६८ ॥

(५) नन्दनः । ब्राह्मस्य हैरग्यगर्भस्य प्रमाणंपरिमाणंक्रमशोऽर्थक्रमेण ननिर्दिष्टक्रमेण ॥ ६८ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्रह्मणः दिवसस्य परिमाणं कालमाह ब्राह्मेति । ब्राह्मस्य क्षपाहस्य क्षपा रात्रिः अहःदिवसः
एतयोःयत्प्रमाणं वर्षाणां यत्परिमाणं अहंकथयिष्ये । समासतः कृतादीनांएकैकशःपरिमाणं क्रमशोवक्ष्ये ॥ ६८ ॥

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणांतत्कृतंयुगम् ॥ तस्य तावच्छतीसंध्या संख्यांशश्चतथाविधः॥६९॥

(१) मेधातिथिः । प्रकृतत्वाद्वैविकानि वर्षाणि परिगृह्यन्ते । तथा च युगणकारः इत्येतद्विषयिणीतं । दिव्यया
संख्यया द्विजाः दिव्येनैव प्रमाणेन युगसंख्या प्रकीर्तिता ॥ तानि चत्वारिसहस्राणि कृतयुगंनामकालस्तस्य कृतयुगस्य
तावन्त्येव शतानि चत्वारि संध्या । संध्यांशस्तस्य तथाविधस्तत्परिमाणश्चत्वारिवर्षशतानीत्यर्थः । तत्रातीतस्य कालस्या-
गामिनश्च स्वभावानुवृत्तिः सा संध्या । उभयकालधर्मानुविधानंसंध्यांशोयत्रेष्वपूर्वधर्मानुवृत्तिर्भूयसी भाविनोयुगस्य ॥६९॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चत्वारितीति । देवमानेन चत्वारि सहस्राणि वर्षाः कृतम् । तस्य च चत्वार्येव शतानि-
दैवेन सन्ध्या पूर्वसन्ध्या सन्ध्यांशउत्तरयुगादिसन्ध्याभागतयोत्तरसन्ध्योच्यते सोपितावानेवेत्यर्थः ॥ ६९ ॥

(३) कुल्लूकः । चत्वार्याहुरिति । चत्वारि वर्षसहस्राणि कृतयुगकालंवाद्योवदन्ति तस्य तावद्वर्षशतानि
सन्ध्यासन्ध्यांशश्च भवति । युगस्य पूर्वसन्ध्याउत्तरश्च सन्ध्यांशः । तदुक्तं विष्णुपुराणे तत्प्रमाणैः शतैःसन्ध्यापूर्वा तत्रा-
भिधीयते । सन्ध्यांशकश्च तत्तुल्योयुगस्यानन्तरोहियः ॥ सन्ध्यासन्ध्यांशयोरन्तर्यःकालोमुनिसत्तम । युगाख्यःसतुविज्ञे-
यःकृतत्रेतादि संज्ञकः ॥ वर्षसङ्ख्याचेयंदिव्यमानेन तस्यैवान्तरप्रकृतत्वात् दिव्यैर्वर्षसहस्रैस्तु कृतत्रेतादि संज्ञितम् चतुर्यु-
गंद्वादशभिस्तद्विभागनिबोध म इतिविष्णुपुराणवचनाच्च ॥ ६९ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र सत्ययुगसङ्ख्यामाह चत्वारितीति । कृतंसत्याख्यं वर्षाणांदैवसंवत्सराणांचतुर्युगपरिम-
णेन दैवद्वादशसहस्रस्य न्यूनताप्रामिसन्ध्यासन्ध्यांशाभ्यांपूरयन्नाह तस्येति । तावच्छती चतुःशती सन्ध्यासन्ध्यांशः
सन्ध्ययोःपूर्वापरभागः सतथाविधश्चतुःशतपरिमाणः तेनाष्टशताधिकचतुःसहस्रपरिमितंकृतम् ॥ ६९ ॥

(५) नन्दनः । वर्षाणांदैववर्षाणांसन्ध्यायुगारम्भकालः सन्ध्यांशोयुगावसानकालः ॥ ६९ ॥

(६) रामचन्द्रः । युगानांपरिमाणमाह चत्वारितीति । वर्षाणां चत्वारि सहस्राणि तत्कृतयुगमाहुः । तस्य
कृतयुगस्य सन्ध्या तावती चत्वारिंशत् शतानि भवन्ति तथाविधः तेनप्रकारेण सन्ध्यांशश्च तावती चतुःशतानि
भवन्ति ॥ ६९ ॥

इतरेषु ससंध्येषु ससंख्यांशेषु च त्रिषु ॥ एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ७० ॥

(१) मेधातिथिः । कृतयुगादन्येषु त्रेतादिषु सन्ध्यासन्ध्यांशसहितेषु सहस्राण्येकापायेन वर्तन्ते । हानिरपायः । एकसहस्रंहीनं त्रेतायां कृतयुगात् । एवं त्रेताऽतोद्वापरस्य द्वापरकलेः । एवं च त्रीणि वर्षसहस्राणि त्रेता द्वे द्वापर एककलिरिति भवति । शतानिहीयन्ते सन्ध्यातदंशयोर्विशिष्टोऽहः संधातोयुगाख्यस्तस्य विशेषाः कृतादयः । तावच्छतीति ईकारः स्मर्तव्यः । इह स्मृतिः तावतांशतानां समाहारस्तावच्छब्दस्य बहुगणवतुडतीति वत्वन्तत्वात्संख्यासंज्ञायांसत्यां संख्यापूर्वोद्गिरिति द्विगुसंज्ञायां सत्यां टापोपवादोद्गिरिति झीप् । शतं परिमाणमस्य यत्तदेतेभ्य इति वतुप् । आसर्वनाम्न इत्याकारः । अन्यथा बहुव्रीहौ तावत्तिशतानियस्याः शतशब्दस्याकारान्तत्वादजाद्यतष्टाविति टापाभावितव्यम् । तस्मिन्कृते तावच्छताइति स्यादित्यभिप्रायः ॥ ७० ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । इतरेष्विति । ससंध्येषु ससंख्यांशेषु युगेषु यावन्त्युक्तान्यब्दसङ्ख्यात्वेन शतानि सहस्राणि च तान्येकैकसंख्यापायेनोक्तक्रमादन्ययुगेषु । सहस्रत्रयंशतत्रयं च त्रेतायाः द्वे द्वे द्वापरस्यैकैककलेरित्यर्थः ॥ ७० ॥

(३) कुल्लूकः । इतरेष्विति । अन्येषु त्रेताद्वापरकलियुगेषु सन्ध्यासन्ध्यांशसहितेषु एकहान्या सहस्राणि शतानि च भवन्ति । तेनैव सम्पद्यते । त्रीणि वर्षसहस्राणि त्रेतायुगंतस्य त्रीणि वर्षशतानि सन्ध्यासन्ध्यांशश्च । एवं द्वे वर्षसहस्रे द्वापरः तस्य द्वे वर्षशते सन्ध्या सन्ध्यांशश्च । एवं वर्षसहस्रकलिः तस्यैकवर्षशतं सन्ध्यासन्ध्यांशश्च ॥ ७० ॥

(४) राघवानन्दः । इतरेषु त्रेताद्वापरकलिसंज्ञकेषु एकापायेनेत्ययमर्थः । त्रेताख्ययुगं षट्शताधिकसहस्रत्रितयपरिमितम् । द्वापराख्यं चतुःशताधिकसहस्रपरिमितम् । कलिसंज्ञकं द्विशताधिकसहस्रपरिमितमिति ॥ ७० ॥

(५) नन्दनः । इतरेषु त्रेताद्वापरकलियुगेषु । एकापायेन एकलोपेन ॥ ७० ॥

(६) रामचन्द्रः । इतरेषु त्रेतादिषु त्रिषु सन्ध्येषु सन्ध्यांशेषु सहस्राणि शतानि च एकापायेन एकचरणन्यूनाब्देन प्रवर्तन्ते । तद्यथा त्रेतायुगं त्रीणि सहस्राणि त्रिशतानि पूर्वसन्ध्या तथा सन्ध्यांशश्च त्रिशतानि च द्वापरयुगं द्विसहस्राणि द्विशतानि सन्ध्या तथा सन्ध्यांशः द्विशतानि कलिः कलियुगं एकसहस्रमेकशतसंख्या तथा सन्ध्यांशः एकशतम् ॥ ७० ॥

यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम् ॥ एतद्द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥ ७१ ॥

(१) मेधातिथिः । यदेतदिति लौकिकीवाचोयुक्तिः । समुदायेन प्रक्रान्तोऽर्थः परामृश्यते । यदेतच्चतुर्युगं परिसंख्यातं चत्वारिसहस्राणोत्पादिना निश्चितसंख्यमादौ प्रागस्मादेच्छ्लोकाकस्य चतुर्युगस्य द्वादशभिः सहस्रैर्देवानां युगमुच्यते । द्वादशचतुर्युगसहस्राणि देवयुगं नाम काल इत्यर्थः । सहस्रशब्दात्त्वार्थेऽण् । द्वादशचतुर्युगसहस्राणि परिमाणं यस्मिन्निति विग्रहः ॥ ७१ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । यदेतदिति । एतच्चतुर्युगं द्वादशसाहस्रं द्वादशभिर्वत्सरसहस्रैर्देवैर्भवति । तच्च देवानामेकं युगमुच्यते ॥ ७१ ॥

(३) कुल्लूकः । यदेतदिति । एतस्य श्लोकस्यादौ यदेतन्मानुषं चतुर्युगं परिगणितं एतद्देवानां युगमुच्यते । चतुर्युगशब्देन सन्ध्यासन्ध्यांशयोरप्राप्तिशङ्कायामाह एतद्द्वादशसाहस्रमिति । त्वार्थेऽण् । चतुर्युगैरेव द्वादशसंख्यैर्देवैर्युगमिति तु मेधातिथेर्भ्रमो नादत्तव्यः । मनुनानन्तरं दिव्ययुगसहस्रेण ब्रह्माहस्याप्यभिधानात् विष्णुपुराणे च मानुषचतुर्युगसहस्रेण ब्रह्मा-

हकीर्तनाम्नानुषचतुर्युगेनैव दिव्ययुगानुगमनात् । तथा च विष्णुपुराणम् कृतत्रेताद्वापरंच कलिश्चेति चतुर्युगम् । प्रोच्यते तत्सहस्रं तु ब्रह्मणोदिवसोमुने ॥ ७१ ॥

(४) राघवानन्दः । दैवयुगमाह यदिति । एतानि द्वादशसहस्राणि क्रियापरिच्छेदकानि यस्य ॥ ७१ ॥

(५) नन्दनः । साहस्रं देवानामिति पूर्वोत्तराभ्यां संगच्छते ॥ ७१ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतद्द्वादशसहस्रं द्वादशसहस्रकालो देवानां युगमुच्यते ॥ ७१ ॥

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया ॥ ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिमेव च ॥ ७२ ॥

(१) मेधातिथिः । देवयुगसाहस्रं ब्राह्ममेकमहः । तावती ब्रह्मणो रात्रिर्देवयुगसहस्रमेव । परिसंख्यया संख्यानेन यत्सहस्रमिति संबन्धः । श्लोकपूरणार्थं श्रायमनुवादः । नहसंख्यया सहस्रादिव्यवहारः । हेतौ तृतीया ॥ ७२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दैविकानामिति । रात्रिः प्रलयकालः ॥ ७२ ॥

(३) कुल्लूकः । दैविकानामिति । देवयुगानां सहस्रं ब्राह्मदिनं ज्ञातव्यं सहस्रमेव रात्रिः । परिसंख्ययेति श्लोकपूरणोऽर्थानुवादः ॥ ७२ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्राह्ममहराह । दैविकानां देवमानेन द्वादशसहस्राब्दात्मकानां परिसंख्यया गणनया सहस्रं ब्राह्ममहः । ब्रह्मात्र विराट् तस्य संबन्धितया तावती रात्रिः देवयुगसहस्रपरिमितेत्यर्थः । अतोभिधानं देवे युगसहस्रे द्वे ब्राह्मशतत्वे त्वहोरात्रे मनुष्याणां युगानामष्टौ सहस्राणि । कृतं त्रेताद्वापरंच कलिश्चेति चतुर्युगम् प्रोच्यते तत्सहस्रं तु ब्रह्मणोदिवसं मुने इति विष्णुपुराणोक्तेः ॥ ७२ ॥

(५) नन्दनः । ब्राह्महैरण्यगर्भम् ॥ ७२ ॥

(६) रामचन्द्रः । देवानां युगानां सहस्रसंख्यया ब्राह्ममहः ब्रह्मणः एकं ज्ञेयं रात्रिरेव तावती संख्या युगानां सहस्रसंख्ययारात्रिज्ञातव्या ॥ ७२ ॥

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मपुण्यमहर्विदुः ॥ रात्रिच तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ ७३ ॥

(१) मेधातिथिः । युगसहस्रमन्तोयस्याद्भुतसहस्रान्तम् ये मनुष्या एतज्जानते तेऽहोरात्रविदः । किंतेषामित्यपेक्षायां पुण्यं भवतीति संबन्धः । ब्राह्मस्याहः परिमाणवेदनं पुण्यं मतस्तद्वेदितव्यमिति स्तुत्या विधिप्रतिपत्तिः ॥ ७३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नन्वस्तु ब्रह्मणो दिनव्यवस्था रात्रिव्यवस्था तु कथं सूर्यगत्यादेस्तदवच्छेदकस्याभावादत आह तद्यत इति । ये ब्रह्मलोकनिवासिनः त्वलोकस्थोपाध्यवच्छेदेन ब्राह्ममहर्युगसहस्रपरिसमाप्तं विदुस्ते रात्रिमपि तावतीमेव तथा च त्वलोकस्थोपाधिरेवावच्छेद इत्यर्थः । पूर्वचतुर्मुखापवर्गानन्तरकल्पभाविचतुर्मुखतामृष्टिरुक्ता ॥ ७३ ॥

(३) कुल्लूकः । तद्वै युगेति । युगसहस्रेणान्तःसमाभिर्यस्य तद्ब्राह्ममहस्त्वपरिमाणां च रात्रिये जानन्ति तेऽहोरात्रज्ञा इति स्तुतिरियम् । स्तुत्या च ब्राह्ममहोरात्रज्ञातव्यमिति विधिः परिकल्पते । अतएतत्पुण्यहेतुत्वात्पुण्यमिति विशेषणं कृतम् ॥ ७३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच तद्वा इति । पुण्यं पुण्यं हेतुत्वात् । तद्वै युगेत्यनुवादः । अहोरात्रत्वं विधेयम् ॥ ७३ ॥

(७३) तद्वै युगसहस्रान्तं = तथैव युगसाहस्रम् (क)

= एतयुगसहस्रं तु (ग)

= एतद्युगसहस्रान्तं (ख)

(५) नन्दनः । अथ हिरण्यगर्भाहोरात्रविदांफलमाह तद्वाइति । युगसहस्रान्तं देवयुगसहस्रान्तं स्वपरिमाणविदांपुण्यफलप्रदत्वात्पुण्यतद्ब्राह्ममहस्तावतीरात्रिचये विदुस्ते जनाहोरात्रविदोभवन्ति ब्रह्मलोकं प्राप्य ब्रह्माहोरात्रपरिवृत्तिमनुसंधतइत्यर्थः ॥ ७३ ॥

(६) रामचन्द्रः । दैविकेप्यन्यन्तम् । ते ब्रह्मलोकनिवासिनोजनाः अहोरात्रविदः ब्रह्मणः अहोरात्रं जानन्ति ॥ ७३ ॥
तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते ॥ प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ॥ ७४ ॥

(१) मेधातिथिः । स ब्रह्मा तावतीदीर्घानि शामनुभूय निद्रां प्रतिबुध्यते । ततः पुनर्जगत्सृजति । त्वापो ब्रह्मण उक्त-
रूपः । नक्षसौ प्राकृतपुरुषवत्स्वपिति नित्यं प्रतिबोधात् । तत्र सर्गक्रममाह मनः सदसदात्मकमिति । ननु चापएव स सर्गादा-
वित्युक्तम् । केचिदाहुर्द्विविधः प्रलयः महाप्रलयोऽवान्तरप्रलयश्च । अवान्तरप्रलये ऽयं क्रमः । मनश्चात्र न तत्त्वान्तर्गततस्य
पूर्वमुत्पन्नत्वात् । किं तर्हि प्रजापतिः प्रबुद्धः मनःसर्गाय सृजति नियुङ्क्तइत्यर्थः । द्वितीये तु महाप्रलयपक्षे मनः कारणत्वा-
न्महत्तत्त्वमेव मनस्ततश्च प्रागुक्तं महानिति । पुराणे हि मनो महान्मतिर्बुद्धिर्महत्तत्त्वं च कीर्यते । पर्यायवाचकाः शब्दामहतः
परिकीर्तिता इति ॥ ७४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अथ तस्यैवाहोरात्र्यन्तर्भाविनमवान्तरसृष्टिक्रममाह तस्येति । मनो महान्तं वर्तमानावर्तमान-
वस्तूपादानभूतम् ॥ ७४ ॥

(३) कुङ्कुमः । तस्येति । स ब्रह्मा तस्य पूर्वोक्तस्य स्वीयाहोरात्रस्य समामौ प्रतिबुद्धो भवति । प्रतिबुद्धश्च स्वीय-
मनःसृजति भूर्लोकविषयसृष्टये नियुङ्क्ते न तु जनयति । तस्य महाप्रलयानन्तरं जातत्वादनष्टत्वाच्चावान्तरप्रलये
भूर्लोकविषयमात्रनाशात् सृष्ट्यर्थं मनो नियुक्तिरेव मनःसृष्टिः । तथा च पुराणे श्रूयते मनःसिद्ध्या युक्तं सर्गाय निदधे
पुनरिति । अथवा मनःशब्दोऽयं महत्तत्त्वपरएव । यद्यपि तन्महाप्रलयान्तरमुत्पन्नं महान्तमेव चेत्यादिना सृष्टिरपि तस्योक्ता
तथाप्यनुक्तं भूतानामुत्पत्तिक्रमंतद्गुणांश्च कथयितुं महाप्रलयानन्तरितामेव महदादिसृष्टिं भूतसृष्टिं च हिरण्यगर्भस्यापि ऽपरमा-
र्थत्वात्तत्कर्तृतामनुवदति । एतेनेदमुक्तं भवति । ब्रह्मा महाप्रलयानन्तरितसृष्ट्यादौ परमात्मरूपेण महदादितत्त्वानि जगत्सृष्ट्य-
र्थं सृजति । अतएव शेषे वक्ष्यति इत्येषा सृष्टिरादितइति । अवान्तरप्रलयानन्तरं तु मनःप्रभृतिसृष्ट्यावभिधानक्रमेणैव प्राथ-
म्यमामिरित्येषा सृष्टिरादितइति निष्प्रयोजनोऽनुवादः स्यात् ॥ ७४ ॥

(४) राघवानन्दः । अहोरात्रादिपरिमाणफलमाह तस्येति । अहर्निशस्य अहश्च निशांचेति अहर्निशं तस्य नि-
शायाथन्तइत्यर्थः । प्रतिबुद्धः किंचकारेत्याह प्रतिबुद्धश्चेति । मनो लिङ्गशरीरं तत्तदप्राप्य दृष्टसंयुक्तं सृजति प्रेरयति पुन-
र्भोगाय तन्मनोऽकुरुतात्मन्वीस्यान्तत आपोजायन्तइति श्रुतेः ॥ ७४ ॥

(५) नन्दनः । स भगवांस्तस्य ब्रह्मणोऽहर्निशस्य अङ्गानि शानां चान्ते आयुषोऽन्तइत्यर्थः । नचैवं निशान्तइत्येव वक्त-
व्यम् । प्रसुप्तस्तावन्तं कालमुपरतक्रियो भूत्वा प्रतिबुध्यते पुनः सृष्ट्युन्मुखो भवति । सदसदात्मकं प्रकृतिविकृत्यात्मकम् । अत्र
मनश्शब्देन महदहंकारमनांसि गृह्यन्ते नातिमहत्त्वात् तेषां वैषम्यस्य ॥ ७४ ॥

(६) रामचन्द्रः । तस्येति स ब्रह्मा तस्य सहस्राहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः शयनं करोति निद्राया अन्ते प्रतिबुध्यते
जागर्ति । प्रतिबुद्धः स न सदसदात्मकं कार्यकारणात्मकं मनः सृजति ॥ ७४ ॥

मनःसृष्टिविकुरुते चोद्यमानंसिद्धक्षया ॥ आकाशंजायते तस्मात्तस्य शब्दगुणंविदुः ॥ ७५ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्ताऽप्येषा तत्त्वस्यसृष्टिर्योविशेषोनोक्तस्तत्प्रतिपादनाय पुनरुच्यते ब्रह्मणा चोद्यमानं-
तस्मान्नोदितादाकाशंजायते । तस्याकाशस्य शब्दाख्योगुणोभवति । गुणआश्रितउच्यते । आकाशान्तस्याश्रयोनह्याकाश
विना शब्दस्य संभवः ॥ ७५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मनइति । सृष्टिसृज्यविकुरुते तद्रूपेण विक्रियते । ईश्वरस्य सिसृक्षया प्रेर्यमाणंस्वे-
च्छया तस्मादहंकारतया परिणतात् यद्यद्विशिष्टमेव गम्यते सतस्य गुणइति राजवार्त्तिकम् ॥ ७५ ॥

(३) कुल्लूकः । मनःसृष्टमिति । मनोमहान्सृष्टिकरोति परमात्मनःसृष्टमिच्छया प्रेर्यमाणंतस्मादाकाशमुत्पद्यते । तच्च
पूर्वोक्तानुसारादहङ्कारतन्मात्रक्रमेणाकाशस्य शब्दगुणंविदुर्मन्वादयः ॥ ७५ ॥

(४) राघवानन्दः । लिङ्गशरीराभिव्यक्त्यनन्तरं स्थूलाकारादिसृष्टिः अतआह मनइति । सृष्टेर्मनः कर्तृ चोद्यमा-
नंजीवाद्यहंकारंतसृष्टिस्थूलाकारादि कुरुते हिरण्यगर्भात्रच्छेदकत्वेनापञ्चीकृतानामाकाशादीनांतदानींसत्त्वान् न तेषांप्रजा-
पतिसृष्टत्वमिन्द्रियाणांवा ॥ ७५ ॥

(५) नन्दनः । सिसृक्षया भगवतः ॥ ७५ ॥

(६) रामचन्द्रः । मनइति । सिसृक्षया सृष्टेः शिक्षया नोद्यमानंतामसाहंकारात्मकंमनः सृष्टिविकुरुते करोति तस्मा-
त्तामसाहंकारात्आकाशंआकाशसंज्ञंप्रथमंजायते तस्याकाशस्यगुणंशब्दंविदुः शब्दगुणमाकाशमित्यर्थः ॥ ७५ ॥

आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः ॥ बलवाञ्जायते वायुःसवै स्पर्शगुणोमतः ॥ ७६ ॥

(१) मेधातिथिः । भूतान्द्रूतान्तरस्योत्पत्तिर्नैऽन्यते । महतः सर्वभूतानामुत्पत्त्यभ्युपगमात्तेनैवंव्याख्यायते । आका-
शादनंतरंमहतोविकुर्वाणात्स्पर्शमात्राभावंगताद्वायुर्जायते सर्वगन्धाऽल्लुचीनशुचींश्च वहति । अथचशुचिः पवित्रः । बलवा-
न्काचिच्चलनकृतिश्चेष्टारूपा सा वायुकर्मणः कम्पाक्षेपोर्ध्वाधस्तिर्यग्गमनादिलक्षणा यत्किञ्चिच्चलितंस्पन्दितंत्सर्ववाय्वा-
यत्तमित्येनत्प्रदर्शयितुंबलवानित्युक्तम् । उत्तरत्रापियापञ्चम्यस्तानजन्यथापेक्षाः किंतिर्हि वायोः परतोऽनन्तरमित्येव
योजनीयाः ॥ ७६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आकाशात्त्विति । सर्वगन्धवहइति तदर्थंक्रियोपदर्शनम् ॥ ७६ ॥

(३) कुल्लूकः । आकाशादिति । आकाशात्तुविकारजनकात्सुरभ्यसुरभिगन्धवहःपवित्रोबलवांश्च वायुरुत्पद्यते ।
सच स्पर्शाख्यगुणवान्मन्वादीनांसमतः ॥ ७६ ॥

(४) राघवानन्दः । आद्यार्धस्य गुणत्वेषामित्यत्रोक्तान् भूतगुणान्प्रपञ्चयितुंनान्यनुवदति आकाशमिति सार्ध-
त्रिभिः । आकाशमत्र स्थूलंविकुर्वाणान् कार्याकारेण परिणममानात् । शुचिःपवनः पन्थानश्च विशुद्ध्यन्ति सोमसूर्याशु-
मारुतैरित्युक्तेः ॥ ७६ ॥

(६) रामचन्द्रः । आकाशादिति । आकाशात्तु विकुर्वाणान्द्रूपान्तरंप्राप्तवतः वायुर्जायते सवैवायुः स्पर्श-
गुणोमतः ॥ ७६ ॥

वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम् ॥ ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते ॥ ७७ ॥

(१) मेधातिथिः । विरोचिष्णुभास्वदिति समानार्थेन शब्दद्वयेन स्वपरप्रकाशता प्रतिपाद्यते । स्वयंदीप्तिमत्परंच
भासयति ॥ ७७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तमोनुदमन्धकारविरोधि । भास्वत् परप्रकाशकदीप्तिमत् । ज्योतिस्तेजः ॥ ७७ ॥

(३) कुङ्कुमः । वायोरपीति । वायोरपि तेजोत्पद्यते विरोचिष्णु परप्रकाशकंतमोनाशनं भास्वत्प्रकाशकंतच्च गुण-
रूपमभिधीयते ॥ ७७ ॥

(४) राघवानन्दः । रोचिष्णु परप्रकाशकं अतएव तमोनुदं भास्वत्प्रकाशम् ॥ ७७ ॥

(६) रामचन्द्रः । वायोरिति । विकुर्वाणात् रूपान्तरप्राभवतः सकाशाज्ज्योतिरुत्पद्यते तस्य च ज्योतिषः रूपगुण-
माहुः । अन्यत्सर्वविशेषणं ज्ञातव्यम् ॥ ७७ ॥

ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापोरसगुणाः स्मृताः ॥ अद्भ्योगन्धगुणाभूमिरित्येषा सृष्टिरादितः ॥ ७८ ॥

[परस्परानुप्रवेशाद्वारयन्ति परस्परम् ॥ गुणपूर्वस्य पूर्वस्य धारयन्त्युत्तरोत्तरम् ॥ †]

(१) मेधातिथिः । रसोमधुरादिः सलिलगुणोगन्धः सुरभिरसुरभिश्च सभूमेर्गुणः । तथा च वैशेषिकाः क्षितावेव-
गन्धइत्येते सांसिद्धिका एकैकस्य गुणाः संसर्गात्तु संकीर्यन्ते तदुक्तं यो यथावतिथ इति । एतच्च गुणानुक्त्यनमध्यात्मचिन्ताया-
मुपयुज्यते । उक्तं हि पुराणकारेण दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः । भौतिकास्तु शतपूर्णसहस्रान्वभिमानि-
नः ॥ अहंकारचिन्तकाः । महात्मकाः सहस्राणि दशतिष्ठन्ति विज्वराः । पूर्णशतसहस्रान्तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः । पुरुषं निर्गु-
णंप्राप्य परिसंख्या न विद्यते ॥ ७८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ज्योतिषस्त्विति । रसगुणत्वमात्मा स्वभावो वा यासां तारसगुणात्मिकाः । आदितो वा
न्तरसृष्ट्यादौ । जलभूम्योरर्थक्रियायाः प्रसिद्धत्वेनानभिधानम् ॥ ७८ ॥

(३) कुङ्कुमः । ज्योतिषश्चेति । तेजस आपोत्पद्यन्ते । ताश्च रसगुणयुक्ता अद्भ्योगन्धगुणयुक्ता भूमिरित्येषा महाप्र-
लयानन्तरसृष्ट्यादौ भूतसृष्टिः । तैरेव भूतैरवान्तरप्रलयानन्तरमपि भूरादिलोकत्रयनिर्माणम् ॥ ७८ ॥

(४) राघवानन्दः । आदितः स्थूलब्रह्माण्डसृष्टेः पूर्वम् ॥ ७८ ॥

(५) नन्दनः । गन्धवहा गन्धगुणा । आदितोऽण्डसृष्टेः प्राक् ॥ ७८ ॥

(६) रामचन्द्रः । ज्योतिष इति ज्योतिषस्तु विकुर्वाणात् आपः उत्पद्यन्ते कीदृशः आपः रसगुणात्मकाः रसः
गुणो यासां ताः रसगुणात्मकाः अद्भ्यः सकाशात् भूमिरुत्पन्ना जाता कीदृशी भूमिः गन्धगुणा आदितः प्रथमतः
एवासृष्टिः उदिता ॥ ७८ ॥

[रामचन्द्रः । परस्परेति । महाभूतानां आकाशादीनां परस्परानुप्रवेशात् परस्परम् धारयन्ति । तद्यथा कारणस्य
आकाशस्य कार्यं वायौ प्रवेशः । एवमग्रेऽप्युक्तम् । पूर्वपूर्वस्य उत्तरोत्तरगुणधारयन्ति तद्यथा आकाशस्य शब्दगुणवायोः-
स्पर्शगुणं वायौ शब्दस्पर्शो भवतः तेजसः रूपगुणं तेजसि शब्दस्पर्शरूपाणि भवन्ति । एवमपि अग्रेऽुक्तम् ॥ १ ॥]

यत्पाक् द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् ॥ तदेकसंमतिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ ७९ ॥

(१) मेधातिथिः । एकसंमतिर्दैविकानि युगानि मन्वन्तरं नाम कालः ॥ ७९ ॥

† अयं (ख, ग, अ) चिन्हितपुस्तकेषु दृष्टः ।

(७९) समतिगुणं = समतियुगं (च)

(२) सर्वज्ञनारायणः । यत्प्रागिति । एकसमतिगुणं किंचिदधिकमित्यल्पत्वान्नोक्तम् । मनोरधिकारत्वाभस्यान्तरमेकमनुपालनावच्छिन्नकालइत्यर्थः ॥ ७९ ॥

(३) कुङ्कुमः । यत्प्रागिति । यत्पूर्वद्वादशवर्षसहस्रपरिमाणं सन्ध्यासन्ध्यां सहितं मनुष्याणां चतुर्युगदेवानामेकं युगं मुक्तं तदेकसमतिगुणितं मन्वन्तराख्यः कालइह शास्त्रेऽभिधीयते । तत्रैकस्य मनोः सर्गाद्यधिकारः ॥ ७९ ॥

(४) राघवानन्दः । मन्वन्तरसङ्ख्याख्यापनार्थं पूर्वोक्तमनुवदति यदिति । दैवैकयुगसमतिपरिमितं मन्वन्तरमित्यर्थः ॥ ७९ ॥

(५) नन्दनः । अथ मन्वन्तरकालेन परिच्छिनत्ति यत्प्रागिति । द्वादशसाहस्रं देववर्षाणां गणः ॥ ७९ ॥

(६) रामचन्द्रः । यदिति । तदैविकं युगं एकसमतिगुणं मन्वन्तरसंज्ञकं कालइहोच्यते । परमेष्ठीपितामहइत्यमरः ॥ ७९ ॥

मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च ॥ क्रीडन्निवैतकुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ८० ॥

(१) मेधातिथिः । नैषां संख्याविद्यतइत्यसंख्यानि । ननु चतुर्दशमन्वन्तराणीति संख्या श्रूयते ज्योतिःशास्त्रादौ उच्यते आवृत्त्या ह्यसंख्यानि यथा द्वादशमासाः । सर्गसंहारयोरप्यावृत्तिरनुपरतैव । क्रीडन्निवैतकुरुतइति सुखार्थतया क्रीडातस्य चाप्रकामत्वादानन्दैकरूपत्वाच्च न क्रीडाप्रयुक्तौ सर्गसंहारावतद्वशब्दः प्रयुक्तः अत्र परिहारः सप्रागुक्त एव । लीलायापि कौतुकेनापिलोके राजादीनां प्रवृत्तिर्दृश्यतइति ब्रह्मविदः ॥ ८० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मन्वन्तराणीति । असङ्ख्यान्येकस्मिन्ब्रह्मायुषि क्रीडन्निवेति किमर्थं करोतीति प्रयोजनप्रश्ननिरासार्थम् ॥ ८० ॥

(३) कुङ्कुमः । मन्वन्तराणीति । यद्यपि चतुर्दशमन्वन्तराणि पुराणेषु परिगण्यन्ते तथापि सर्गप्रलयानामानन्त्यादसङ्ख्यानि आवृत्त्यासर्गः संहारश्चासङ्ख्यः । एतत्सर्वक्रीडन्निव प्रजापतिः पुनः पुनः कुरुते । सुखार्थाहि प्रवृत्तिः क्रीडा तस्य चाप्रकामत्वात् सुखार्थतेति इव शब्दः प्रयुक्तः । परमेस्थानेऽनावृत्तलक्षणे तिष्ठतीति परमेष्ठी । प्रयोजनं विना परमात्मनः सृष्ट्यादौ कथं प्रवृत्तिरिति चेत् लीलयाैव एवं स्वभावत्वादित्यर्थः व्याख्यातुरिव करताडनादौ । तथा च शारीरकसूत्रं लोकवत्तलीलकैवल्यम् ॥ ८० ॥

(४) राघवानन्दः । सृष्ट्यादि ब्रह्मणो लीलामात्रमित्याह मन्विति ॥ ८० ॥

(५) नन्दनः । असंख्यानीयतया रहितानि । एतज्जगत् । परमेष्ठी भगवान् । यत्नराहित्यमुक्तं क्रीडन्निवेति स्पष्टम् ॥ ८० ॥

चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे ॥ नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान् प्रतिवर्तते ॥ ८१ ॥

(१) मेधातिथिः । चत्वारः पादायस्य चतुष्पाद्धर्मः । यागादेश्च धर्मत्वात्तस्य चानुष्ठेयत्वभावत्वाद्विग्रहाभावान्नपादशब्दः शरीरावयववचनः किं तर्हि अंशमात्रवचनः । नहि धर्मस्य शरीरमस्ति पुरुषविधं पशुपक्ष्यादिविधं वा । तेन स्वांशैश्चतुर्भिरुपेतश्चतुष्पादुच्यते । तेन योयं धर्मः चतुष्पात्कृतयुग आसीत् यागस्य तावत्प्रयोगावस्थस्य चत्वारो होतृकाः । होता

* सुखार्थतेति=सुखार्थेति (,अ)

ब्रह्मा उद्गाता अर्धयुरिति चत्वारोवर्णाः कर्तारआश्रमा वा सर्वथा यावान्वेदेधर्मोक्तः ससर्वस्तस्मिन्कालेऽशतोपिनहीनः
अविगुणः सर्वोऽनुधीयते । बाहुल्येन चतुःसंख्याः । एवंदानादिष्वपि योज्यम् । दाता द्रव्यं पात्रं भावस्तुतिः अथवा यागदा-
नतपांसि ज्ञानं च । तथा वक्ष्यति तपः परमिति । अथवा धर्मप्रतिपादकं वाक्यं धर्मः । तस्य च चत्वारः पादाः चत्वारिपदजा-
तानि । नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च । तथा चाह चत्वारिवाक्परिमितापदानितानि विदुर्ब्राह्मणाय मनीषिणः । मनस-
ईषिणः समर्थाविद्वांसो धार्मिकाः । अद्यत्वे तु गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति न हि प्रकाशन्ते । तुरीयं भागं वैदिकानां-
मनुष्यावदन्ति । एतदुक्तं भवति किंचिदन्तरितम् । न च काचिद्वेदशाखा । अद्यत्वे तु ब्रह्मन्तरितम् । सत्यं चैव सकलमित्यनु-
षङ्गः । सत्यपि सत्यस्य विहितत्वाद्धर्मत्वे प्राधान्यार्थः पृथगुपदेशः हेत्वर्थे वा । सकलस्य धर्मानुष्ठानस्य सत्यहेतुः । यत्वनृ-
तिनस्ते लोकावर्जनार्थं किंचिदनुतिष्ठन्त्यन्यत्यजन्ति । नाधर्मेण निषिद्धेन मार्गेण कश्चिदागमो विद्या बार्थवानुष्ठातुरुपवर्तत-
आगच्छति युगत्वाभावात् न मनुष्या अधर्मेण विद्यामागमयन्ति नापि धनमर्जयन्ति । विद्याधने धर्मानुष्ठानकारणे तत्परिशुद्धिः
सकलधर्मसद्भावस्य हेतुत्वेन नोच्यते ॥ ८१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चतुष्पादिति । धर्मोहितपोज्ञानयज्ञदानपादचतुष्टयवान् सत्यमूर्धा । अधर्मस्तु चौरिका-
नृतमायाख्यचरणत्रयमात्रात् । यथा चाधर्माभावात्तदा कृते संपूर्ण एव चतुष्पाद्धर्मः । सत्यं चैव सकलं । आगमोर्थागमोना-
धर्मेणोपवर्तते । यत इति साकल्यहेतुः ॥ ८१ ॥

(३) कुल्लुकः । चतुष्पात्सकलो धर्म इति । सत्ययुगे सकलो धर्मश्चतुष्पात्सर्वाङ्गसम्पूर्ण आसीत् । धर्मे मुख्यपादासंभवा-
त् वृषोहि भगवान् धर्म इत्यागमात् वृषत्वेन कीर्तनात् तस्य पादचतुष्टयेन सम्पूर्णसत्त्वात् सत्ययुगेऽपि यज्ञादि धर्माणां सर्वैरङ्गैः-
समग्रत्वात् सम्पूर्णत्वपरोऽयं चतुष्पाच्छब्दः । अथवा तपः परमित्यत्र मनुनैव तपोज्ञानयज्ञदानानां चतुर्धा कीर्तनात् तस्य पाद-
चतुष्टयेन सम्पूर्णत्वात् पादत्वेन निरूपिताः सत्ययुगे समग्रा इत्यर्थः । तथा सत्यं च कृतयुगमासीत् सकलधर्मश्रेष्ठत्वात् सत्यस्य
पृथग्यहङ्गम् । तथा न शास्त्रातिक्रमेण धनविद्यादेरागमउत्पत्तिर्न नुप्यान्प्रतिसम्पद्यते ॥ ८१ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रादौ त्रेतादिषु पादशोधर्मस्य च्हासंवक्तुं सत्ययुगस्य धर्मस्य संपूर्णतां दर्शयति चतुष्पादि-
ति । वृषोहि भगवान् धर्म इत्यागमात् तपोज्ञानयज्ञदानानां पादत्वेन निरूपणम् । अतएवाह सकल इति । कला अवयवाः पाद-
लक्षणाः तप आदयस्तैः सहितः सत्यस्य सकलधर्मवत्त्वेन श्रेष्ठवत्ज्ञापनाय पृथक् निर्देशः । सत्यमिति । अधर्मेण शास्त्रनि-
षेधेन धर्मविद्यादेशागमउत्पत्तिर्न नुप्यान्गच्छतीत्यर्थः ॥ ८१ ॥

(५) नन्दनः । अथोक्तपरिमाणानां कृतादियुगानां स्वभाववर्षाभिः श्लोकैराह चतुष्पादिति । चतुष्पाच्चातुर्वर्ण्याश्रयः ।
सकलः संपूर्णः । सत्यस्य पृथगुपादानं प्राधान्यप्रतिपत्त्यर्थम् । आगमोऽर्थादेः प्राप्तिः । नाधर्मो नागमः कश्चिदिति च पठ-
न्ति । तत्रायमर्थः । नाधर्मो मनुष्यानुपवर्तते । आगमः शास्त्रं स चापिनोपावर्तते । शास्त्रापेक्षा तत्र नास्ति । स्वयमेव धर्मधर्मक-
लं च ते साक्षात् कुर्वन्तीत्ययमेव साधुः पाठ उत्तरश्लोकानुगुण्यात् ॥ ८१ ॥

(६) रामचन्द्रः । चतुरिति । कृते युगे चतुष्पात् चतुश्चरणः सकलः पूर्णः धर्मः सत्यसंज्ञकः अधर्मेण कश्चिदर्थ-
गमः स्वीकारः मनुष्यान्प्रति नोपवर्तते ॥ ८१ ॥

इतरेष्वगमाद्धर्मपादशस्त्ववरोपितः ॥ चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः ॥ ८२ ॥

(१) मेधातिथिः । कृतयुगादन्येषु युगेष्वगमाद्वेदाख्याद्धर्मः पादशः युगेयुगे पादेनावरोपितोऽप्यपनीतः अन्त-
र्हितः तावदेव शाखापुरुषाणां ग्रन्थावधारशक्तिवैकल्याद्योऽप्यद्यत्वे धर्मोऽन्योतिष्ठोमादिः प्रचरति सोऽपि चौर्यादिभिः पाद-

शोहीयते । ऋत्विजांयजमानानांदातृणांसंप्रदानानांचेतैर्दोषैर्युक्तत्वान्नयथाविधिधर्मो निष्पद्यते । फलमतोयथोक्तं न परि-
प्राप्यते तेन धर्मापायहेतुनांचौरिकादीनानयुगैर्यथासंख्यं सर्वेषामद्योपलम्भात् ॥ ८२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इतरेष्विति । त्रेतादिष्वर्थागमार्थात् निषिद्धात्पादशः तपआद्यैकैकपदार्थापचयेनधर्मो
बरोपितः तानेव निषिद्धागमान् धर्मस्य त्रीन्पदार्थान् । चौरिकेति । चौरिकापरत्वापन्हवः । अनृतमिथ्योक्तिः । माया पर-
विप्रलम्भसाधनाचरणम् ॥ ८२ ॥

(३) कुल्लूकः । इतरेष्विति । सत्ययुगादन्येषु त्रेतादिषु आगमात् अधर्मेण धनविद्यादेरर्जनात् तस्यैव पूर्वश्लोके
प्रकृतत्वात् । आगमाद्वेदादिति तु गोविन्दराजोमेधातिथिश्च । धर्मोयागादिः । यथाक्रमंप्रतियुगं पादपादमवरोपितोहीनः
कृतस्तथाधनविद्यार्जितोऽपि योधर्मः प्रचरति सोऽपि चौर्यासत्यल्लभः प्रतियुगं पादशोन्हासाद्यपगच्छति । त्रेतादियुगे
सहचौरिकानृतच्छब्दानां न यथासङ्ख्यं सर्वत्र सर्वेषां दर्शनात् ॥ ८२ ॥

(४) राघवानन्दः । इतरेषु त्रेतादिषु आगमान् चौरिकादेः पादशः अंशेन तपआदिचतुर्णामिति शेषः । अवरोपित-
स्त्याजितः अतएवाह चौरिकेति ॥ ८२ ॥

(५) नन्दनः । इतरेषु त्रेतादिष्वगमाच्छास्त्राद्धर्मोऽध्यवसीयते । स तु धर्मः पादशोऽवरोपितः । धर्माध्यवसायाव-
रोपणमेव धर्मावरोपणमभिप्रेतम् । चौरिकमिति पाठः । चौरिकं चौर्यमनोज्ञातित्वाद्बुद्धम् । द्वितीयोत्रधर्मशब्दो नुष्ठानवचनः ॥ ८२ ॥

(६) रामचन्द्रः । इतरेष्विति । इतरेषु त्रेतादिषु युगेषु अधर्मस्य आगमात् अधर्मात्पादशः एकचरणः धर्मः अव-
रोपितः न्यूनचरणः कृतः । तद्यथा त्रेतायुगे चौरिकारूपेणाधर्मेण धर्मः पादशः अपैति एकचरणन्यूनो भवति । द्वापरे अनृता-
ख्येनाधर्मेण द्वितीयः पादः धर्मस्य अपैति नाशमेति । कलौ मायाख्येनाधर्मेण धर्मस्य तृतीयः पादः नाशमेति ॥ ८२ ॥

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः ॥ कृते त्रेतादिषु शेषामायुर्द्वसति पादशः ॥ ८३ ॥

(१) मेधातिथिः । अधर्मस्य रोगकारणस्याभावादरोगः । रोगो व्याधिः । सर्वे एव चत्वारो वर्णाः सिद्धाभिप्रेतार्थाः ।
अर्थः प्रयोजनम् अथवा सर्वेऽर्थाः सिद्धाः येषां काम्यानां कर्मणां प्रतिबन्धकाभावादध्याक्षेपेणाशेषफलसिद्धिः । चतुर्वर्षशता-
युष इति । ननु सहस्रोऽश्वत्थवर्षशतमजीवदिति परममायुर्वेदे श्रूयते अतएवाहुः वर्षशतशब्दोऽत्र वयोभेद इति पादकः चत्वारि-
वर्षांसि जीवन्तीति । नपरायुषः प्रमीयते नाप्यत्र चतुर्व्ययवयोभिप्रियते । अतएव द्वितीये श्लोकार्धे वयोऽहसतीत्याह । पूर्वत्र
वयसोऽवृद्धानुक्तायामुत्तरत्र तस्यैव श्लासाभिधानोपपत्तिः । पादश इति । नचात्र चतुर्थो भागः पादः किं तर्हि भागमात्रमंशत-
आयुः क्षीयत इत्यर्थः । तथा च केचिद्वालाभ्रियन्ते केचित्तरुणाः केचित्प्रामजरसः परिपूर्णमायुर्दुर्लभम् ॥ ८३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अरोगा इति । सर्वसिद्ध एवार्थोपेक्षितो वा कर्मणां यत्नेन येषां ते सर्वसिद्धार्थाः । बयो-
ऽहसतीत्युपलक्षणम् आरोग्यसिद्धार्थत्वे अपीति ग्राह्यम् ॥ ८३ ॥

(३) कुल्लूकः । अरोगा इति । रोगनिमित्ताधर्माभावादरोगाः सर्वसिद्धकाम्यफलाः प्रतिबन्धकाधर्माभावाच्चतुर्वर्षश-
तायुर्द्वं च त्वाभाविकमधिकायुःशपकधर्मवशादधिकायुषोऽपि भवन्ति । तेन दशवर्षसहस्राणि रामो राज्ञमकारयदित्याद्यविरो-
धः । शतायुर्वेपुरुष इत्यादिश्रुतौ तु शतशब्दो बहुत्वपरः कल्पितो वा । एवंरूपामनुष्याः कृते भवन्ति । त्रेतादिषु पुनः पादपादमा-
युरल्पं भवतीति ॥ ८३ ॥

(४) राघवानन्दः । किमसाध्यं धर्मस्येति साश्चर्यमाह अरोगा इति । सर्वसिद्धार्थाः सर्वे आरम्भाः फलन्ति । चतु-
र्वर्षशतायुष इति शतायुर्वेपुरुष इति श्रुतेः । विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानमिति न्यायेन शतपरिमितं पुरुषादुरेव अधि-

कन्तु तपोविद्यावशात् अतएव दशवर्षसहस्राणि रामोराज्यमकारयदित्यादिसंगतम् । यद्वावर्षशतशब्दोबाल्यादिवयश्चतुष्क-
परः तेन शतान्तएव मियतेइत्यर्थः । न तु कलियुगमधिकृत्य श्रुतेःप्रवृत्तिः तस्याः साधारण्यात् । न्हासवचनंतु तपोविद्या-
राहित्यसूचनपरम् ॥ ८३ ॥

(५) नन्दनः । कृतयुगे पुरुषाणांस्वभावप्राप्तमायुश्चत्वारिवर्षशतानि । यत्पुनरितिहासपुराणेषु तेषांतत्र बहुवर्ष-
साहस्रजीवित्वमुक्तंतत्तु तेषांश्रद्धया साधितमिति वेदितव्यम् । तथाचमहाभारते कृतयुगपुरुषानधिकृत्य समर्थ्यते । याव-
द्यावत्कृता श्रद्धा देहंधारयितुंनृणाम् । तावत्तावदजीवंस्ते नासीद्यमकृतंभयमिति ॥ ८३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अरोगेति । कृतयुगे चतुर्वर्षशतायुषः प्रजाभवन्तित्रेतादिषु युगेषु एषांप्रजानांवयः पादशः इति
तद्यथा त्रेतायुगे प्रजानांआयुः त्रिशतानि द्वापरे युगे प्रजानांआयुर्द्वैशते कलौशतमित्यर्थः ॥ ८३ ॥

वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम् ॥ फलन्त्यनुयुगंलोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥ ८४ ॥

(१) मेधातिथिः । केचिदाहुर्वैदिकैः कर्मभिः सहस्रसंवत्सरादिभिरपेक्षितमायुर्वेदोक्तम् । तदनुयुगंफलति युगानु-
रूपेण संपद्यते न सर्वेषु युगेषु । नाद्यकश्चित्सहस्रसंवत्सरजीवीयःसर्वश्चिरंजीवितिसवर्षशतंतदपरेनाद्रियन्ते यतोदीर्घसन्नेषु
संवत्सरशब्दे दिवसेषुव्यवस्थापिते विधेयान्तरविरोधाद्वाक्यभेदापत्तेः । एषहितत्र ग्रन्थः । पञ्चपञ्चाशत्स्त्रिवृतः संवत्सरा-
इत्यादि । तत्रत्रीण्यहानिगवामयनप्रकृतित्वात्प्रामाणि विशिष्टानुसंख्या पञ्चपञ्चाशत्तद्व्यप्राप्तविधेया । यद्यपरा संवत्सरता
प्रतीयेत वाक्यंभिद्येत तत्रावश्यमन्यतरस्यानुवादआश्रयितव्यः । संवत्सरशब्दः सौरसावनादिमानभेदेन षष्ठ्यधिकशतत्र-
यात्मनोऽहःसंघातादन्यत्रापि दृष्टप्रयोगएवेति । तस्यैवलक्षणया दिवसेष्वनुवादोयुक्तइति । अन्ये तु मन्त्रार्थवादिषु शत-
मिन्शरदोऽन्ति देवाः शतायुर्वै पुरुषः इति । शतशब्दश्च बहुनामसु पठितोबहुत्वंचानवस्थितम् । युगानुरूपेण दीर्घजी-
विनोल्पायुषश्च भवन्ति । यथाश्रुतव्याख्याने तु कलौ सर्वे शतायुषश्च भवन्ति । अथ वायुःकाम्यस्य यानि कर्माणि
नच तत्र प्रमाणश्रुतम् । तत्रानुयुगंपरिमाणंवेद्यम् । आशिषोन्यापिफलविषयावेदशासनाःकाम्यानांकर्मणाम् आयु-
षःकाम्यत्वेपिप्राधान्यात्पृथगुपदेशः । तथाह्याह आयुर्वै परमः कामः । प्रभावोऽलौकिकी शक्तिरणिमादिगुणयोगः
आभशापोवरदानम् । अनुयुगंफलन्तीति सर्वत्र योज्यम् ॥ ८४ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । वेदोक्तमिति । यद्यपि शतायुःपुरुषइति वेदे पठ्यते तदेव चतुर्वर्षशतमेव शतवर्षत्वेनो-
क्तम् । भवति हि वर्षादेः परिमाणोत्कर्षोदेवादिषु तद्विशिष्टमनुष्येष्वपीति ग्राह्यम् । तथा कर्मणामनुष्ठितानामाशिषोपि
यथाकारीयादिभिःफलान्यर्थतानि अनुयुगंयुगानुरूपेण फलन्ति । यथाकृते कारीयादिभिःशीघ्रंमहतीव वृष्टिः न तथा
त्रेतादावित्यर्थः । तथा परमतप आदिजाशक्तिरनुयुगंफलति । कृते तदैव फलत्यन्यदा विलम्बेनेत्यर्थः ॥ ८४ ॥

(३) कुल्लूकः । वेदोक्तमायुरिति । शतायुर्वैपुरुषइत्यादि वेदोक्तमायुः कर्मणांच काम्यानांफलविषयाःप्रार्थना
ब्राह्मणादीनांच शापानुग्रहक्षमत्वादिप्रभावायुगानुरूपेणफलन्ति ॥ ८४ ॥

(४) राघवानन्दः । अतएवाह वेदोक्तमायुरित्यादि । अयमर्थः शतायुर्वै पुरुषइति वेदोक्तमायुः काम्यकर्मणा
माशिषः फलंशरीरिणांशापानुग्रहप्रभावश्चअनुयुगंयुगेयुगे फलतिअसति प्रतिबन्धे सेत्स्यतीत्यर्थः ॥ ८४ ॥

(५) नन्दनः । आयुश्चतुर्वर्षशतादि । आशिषः फलानि । प्रभावः शापानुग्रहादिशक्तिः । अनुयुगंयुगानुरूपेण
पूर्णानिहीनानि हीनतराणि हीनतमानि चभवन्तीत्यर्थः ॥ ८४ ॥

(६) रामचन्द्रः । वेदोक्तमिति । अनुयुगं युगानुरूपं लोके सर्वफलमित्यर्थः ॥ ८४ ॥

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे ॥ अन्ये कलियुगे नृणां युगद्रासानुरूपतः ॥ ८५ ॥

(१) मेधातिथिः । युक्तोऽस्य कालभेदेन पदार्थस्वभावभेदस्योपसंहारः धर्मशब्दो न यागादिवचन एव किं तर्हि पदार्थगुणमात्रे वर्तते । अन्ये पदार्थानां धर्माः प्रतियुगं भवन्ति यथा प्राक्दर्शितम् । यथावसन्तेन्यः पदार्थानां स्वभावोऽन्यो-
ग्रीष्मेन्य एव वर्षास्त्रेव युगेष्वपि । अन्यत्वं चात्र न कारणानां दृष्टकार्यत्यागेन कार्यान्तरजनकत्वमप्यपरिपूर्णस्य कार्यस्यो-
त्पत्तेः शक्तेरपचयात्तदाहुर्युगन्हासानुरूपत इति । द्वासीन्यूनता ॥ ८५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्यइति । युगद्रासस्यानुरूपेण शक्त्यपेक्षया धर्मा अवस्थिता इत्यर्थः ॥ ८५ ॥

(३) कुहूकः । अन्यइति । कृतयुगेऽन्ये धर्मा भवन्ति त्रेतादिष्वपि युगापचयानुरूपेणाधर्मवैलक्षण्यम् ॥ ८५ ॥

(४) राघवानन्दः । अतएवाह । अन्यइति । सकला सकलाभ्यां भिन्ना इति अत आह युगन्हासानुरूपत इति युगा-
न्हासी युगे युगे धर्मन्हासः तदनुसारेण पृथक्कम् न तु शूद्रस्य वेदाध्ययनं विप्रस्य सेवेति भावः ॥ ८५ ॥

(५) नन्दनः । युगन्हासानुरूपतः परेन्ये भवन्तीत्यनुषङ्गः । यथा युगानामादौ धर्मा न तथा मध्ये यथामध्ये न
तथाऽन्त इत्यर्थः ॥ ८५ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्येति । कृतादीनां युगानां धर्माः युगद्रासानुरूपतः भवन्ति तत्राह तपइति । कृते तु मानवा ध-
र्मास्त्रेतायां गौतमाः स्मृताः । द्वापरे शङ्खलिखिताः कलौ पाराशराः स्मृताः ॥ ८५ ॥

तपः परंकृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ॥ द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकंकलौ युगे ॥ ८६ ॥

[ब्राह्मंकृतयुगं प्रोक्तं त्रेतातुक्षत्रियं युगम् ॥ वैश्यो द्वापरमित्याहुः शूद्रः कलियुगः स्मृतः ॥ †]

(१) मेधातिथिः । अयमन्यो युगस्वभावभेदः कथ्यते । तपःप्रभृतीनां वेदे युगभेदेन विधानाभावात्सर्वदा सर्वा-
ण्यनुष्ठेयानि । अयं त्वनुवादो यथा कथंचिदाख्येयः । इतिहासेषु स्वेवं वर्ण्यते । तपःप्रधानं तच्च महाफलम् । दीर्घायुषो रोगव-
र्जितास्तपसि समर्था भवन्त्यनेनाभिप्रायेणोच्यते । ज्ञानमध्यात्मविषयं शरीरक्लेशादन्तर्नियमो नातिदुष्करः । यागे तु न महाक्लेश-
इति द्वापरे यज्ञः प्रधानम् । दाने तु न शरीरक्लेशो नान्तः संयमो न चातीव विद्वत्तोपयुज्यत इति सुसंपादना ॥ ८६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तपइति । परं अभ्यर्हितं तपोऽन्येष्वपि ज्ञानादिषु क्रियमाणेषु तपोज्ञानाशकाद्यतिबले-
रेव शक्यत इति कृते तस्य प्राधान्यम् । त्रेतायां ज्ञानम् मन्दबलतया तपस्य शक्तानां कृतयुगानुष्ठिततपः परिपक्वक-
षायाणां ज्ञाने सामर्थ्यसंभवात् । तत्राप्यशक्तानां होमाद्यल्पव्यापारो यज्ञ एव द्वापरे शक्य इति तत्प्रधानो द्वापरे धर्मः । यज्ञा-
न्बहुव्यापारशून्यतया यज्ञादप्यल्पायाससाध्यं दानमेकंकलौ तपःप्रभृति च शक्यमेवेत्यर्थः ॥ ८६ ॥

(३) कुहूकः । तपःपरमिति । यद्यपि तपःप्रभृतीनि सर्वाणि सर्वयुगेष्वनुष्ठेयानि तथापि सत्ययुगे तपःप्रधानं म-
हाफलमिति ज्ञाप्यते । एवमात्मज्ञानं त्रेतायुगे द्वापरे यज्ञः दानंकलौ ॥ ८६ ॥

(४) राघवानन्दः । सर्वयुगेषु चतुर्णामनुष्ठेयत्वेऽपि प्राधान्येनानुष्ठेयार्थमाह तपइति तपोध्यानं ज्ञानमात्मधीः
शास्त्रधीर्वा ॥ ८६ ॥

(८५) युगद्रासानुरूपतः = तत्तद्धर्मानुरूपतः (४)

† अयं (ख) पुस्तके दृष्टोरामचन्द्रेण व्याख्यातश्च

(५) नन्दनः । धर्मभेदेमेवदर्शयति तपइति । तपः सात्त्विकोनिवृत्तिधर्मः रजस्तमोग्रन्थकर्म तपसस्तत्त्वलक्षण मितिमहाभारतेस्मरणात् । परंश्रधानंज्ञानंनानाशास्त्रविज्ञानम् । यज्ञफलभिसंधियुक्तंयत्कर्मएवशब्दाभ्यांपूर्वपूर्वधर्मानादरः सूचितः ॥ ८६ ॥

रामचन्द्रः । [ब्राह्ममिति । कृतयुगंब्राह्मंशोक्तंसत्त्वगुणसंज्ञमित्यर्थः । त्रेतायुगंक्षत्रियाधिष्ठितंसत्त्वजोगुणमित्यर्थः । द्वापरवैश्यः वैश्याधिष्ठितंरजस्तमोभ्यांयुक्तम् । कलियुगः शूद्रः शूद्राधिष्ठितः तमोगुणरूपः एवंप्रत्येकमाचार्याआहुः ॥ १ ॥]

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुह्यर्थसमहाद्युतिः ॥ मुखबाहूरुपज्जानांपृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥ ८७ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तः कालविभागः । ब्राह्मणादीनांगुणादानींकथ्यन्ते । तत्रायमुपक्रमः । सर्वस्यसर्गस्य सर्वे-
षांलोकानांगुह्यर्थरक्षार्थमहातेजाःप्रजापतिः मुखादिजातानांब्राह्मणादीनांचतुर्णांवर्णानांदृष्टादृष्टार्थानिकर्माण्यकल्पयद्यवस्था-
पितवान् ॥ ८७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । येषांतु यादृशमिति प्राक्प्रतिज्ञातंक्रमते सर्वस्येति । गुह्यर्थंब्राह्मणैर्यज्ञादिद्वारा अन्यैरक्ष-
णादिद्वारा गुहिरक्षांकर्तुं ॥ ८७ ॥

(३) कुल्लूकः । सर्वस्यास्येति । सत्रह्मा महातेजा अस्य सर्गस्यसमग्रस्याग्नौ प्रास्ताहुतिरिति न्यायेन रक्षार्थमुखा-
दिजातानांब्राह्मणादीनांविभागेन कर्माणि दृष्टादृष्टार्थानि निर्मितवान् ॥ ८७ ॥

(४) राघवानन्दः । संश्रुत्यनुवादपुरःसरंप्रतिवर्णव्यवस्थयाधर्मानाह सर्वस्येति पञ्चभिः । सर्वस्य सृज्यमान
प्रपञ्चस्य सत्रह्मा मुखबाहूरुपज्जानांपृथक्कर्माण्यकल्पयदित्यन्वयः । तथाच श्रुतिः ब्राह्मणस्य मुखमासीदित्यादि पद्धत्यां-
शूद्रइति व्यधिकरणनिर्देशोवेदानधिकारसूचनार्थः । अकल्पयदिति यथापूर्वमकल्पयदिति श्रुतिस्मरणार्थः । तेनानादि-
व्यवस्थेति ॥ ८७ ॥

(५) नन्दनः । अथवर्णधर्मनियमोऽपि हिरण्यगर्भेणैव कल्पितस्तस्मादविमर्शमादरोत्रकर्तव्यइत्यभिप्रायेणाहसर्व-
स्येति । हिरण्यगर्भसर्गस्य प्रपञ्चस्य मुखबाहूरुपज्जानांपृथक्कर्माण्यकल्पयदित्यन्वयः । अकल्पयदिति यथापूर्वमकल्पयदिति श्रुतिस्मरणार्थः । तेनानादि-
व्यवस्थेति ॥ ८७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अतःपरंचतुर्वर्णादीनांकर्माण्यहं प्रथमंब्राह्मणस्यधर्ममाह सर्वस्येति । मुखबाहूरुपज्जानांब्राह्मण-
क्षत्रविशूद्राणांकर्माणि पृथक्पृथक्कल्पयत् सकल्पयामास ॥ ८७ ॥

अध्यापनमध्ययनंयजनंयाजनंतथा ॥ दानंप्रतिग्रहंचैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ ८८ ॥

(१) मेधातिथिः । तानीदानींकर्माण्युच्यन्ते ॥ ८८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अध्यापनमिति । अध्यापनंयज्ञादिविद्यानां ब्राह्मणानाम् । स्पष्टमन्यत ॥ ८८ ॥

(३) कुल्लूकः । अध्यापनमिति । अध्यापनादीनामिह सृष्टिप्रकरणे सृष्टिविशेषतयाभिधानंविधिस्तेषामुत्तरत्र भवि-
ष्यति । अध्यापनादीनि षट्कर्माणिब्राह्मणानांकल्पितवान् ॥ ८८ ॥

(४) राघवानन्दः । कर्माण्येवाह अध्यापनमिति । अध्यापनंशिष्येभ्यःप्रतिपादनम् ॥ ८८ ॥

(५) नन्दनः । कानि पुनस्तानिकर्माणीत्यपेक्षायामाह अध्यापनमिति ॥ ८८ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणस्य षट्कर्मण्याह अध्येति । त्वयंअधीयीत शिष्यान्अध्यापयेदित्यर्थः । त्वयंयजेत्अन्या-
न्याजयेत्दानंदद्यात्त्वयंगृण्हीयाच्च ॥ ८८ ॥

प्रजानारक्षणंदानमिज्याध्ययनमेव च ॥ विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्यसमासतः ॥ ८९ ॥

(१) मेधातिथिः । विषयाभिलाषजनकागीतशब्दादयोभावाउच्यन्ते । तत्रादसंगः पुनः पुनरसेवनम् ॥ ८९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रजानामिति । विषयेषुरुयादिषु प्रसक्तिमतिशयेनचित्तस्य निवेशनम् । यद्यपि विद्वा-
देरप्येतदवश्यकार्यं तथापि विद्वादीनांव्यसनैर्नापकर्षण्यएव व्यसनी तस्यैव नाशारोज्ञस्तु व्यसनाकृष्टत्वे राष्ट्रस्यैव विना-
श इत्येतदर्थमत्रोक्तम् ॥ ८९ ॥

(३) कुड्डूकः । प्रजानामिति । प्रजारक्षणादीनि क्षत्रियस्यकर्माणि कल्पितवान् । विषयेषु गीतनृत्यवनितोपभो-
गादिष्वप्रसक्तिस्तेषांपुनरनासेवनं समासतःसंक्षेपेण ॥ ८९ ॥

(४) राघवानन्दः । इज्या यज्ञः । अप्रसक्तिरनासङ्गः ॥ ८९ ॥

(६) रामचन्द्रः । क्षत्रस्य धर्मानाह प्रजेति । प्रजानारक्षणंदानंदज्या यागः अध्ययनंवेदाध्ययनंविषयेअप्रसक्तिम-
नासक्तिसब्रह्माआदिशति ॥ ८९ ॥

पशूनारक्षणंदानमिज्याध्ययनमेव च ॥ वणिकपथंकुसीदंच वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ ९० ॥

(१) मेधातिथिः । वणिकपथः वणिकर्मणा स्थलपथवारिपथादिना धनार्जनमुपयुज्यमानदेशान्तरीयद्रव्यस-
न्निधापनं यस्य राज्ञोविषये वसति । कुसीदंवृद्ध्याधनप्रयोगः ॥ ९० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पशूनामिति । वणिकपथंवाणिज्यम् । कुसीदंवृद्धिजीवनम् । एषु च त्रयाणामपि वर्णानां
इज्याध्ययनदानान्यदृष्टार्थानीतराणि जीविकाः ॥ ९० ॥

(३) कुड्डूकः । पशूनामिति । पशूनांपालनादीनि वैश्यस्य कल्पितवान् । वणिकपथंस्थलजलादिना वाणिज्यं कुसी-
दंवृद्ध्याधनप्रयोगः ॥ ९० ॥

(४) राघवानन्दः । वणिकपथंवाणिज्यम् । कुसीदंलाभेन वित्तवर्धनम् ॥ ९० ॥

(५) नन्दनः । वणिकपथंवाणिज्यार्थंस्थलजलायात्राम् । कुसीदंवार्षिक्यंअकल्पयदित्यनुवर्तते ॥ ९० ॥

(६) रामचन्द्रः । पशूनामिति वैश्यस्य धर्मानाह कुसीदंवृद्धिजीविका ॥ ९० ॥

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुःकर्म समादिशत् ॥ एतेषामेववर्णानांशुश्रूषामनसूयया ॥ ९१ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रभुः प्रजापतिरेकंकर्म शूद्रस्यादिष्टवान्एतेषांब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानांशुश्रूषा त्वया कर्तव्या
ऽनसूययाऽनिन्दया चित्तेनापितदुपरि विषादो न कर्तव्यः । शुश्रूषा परिचर्या तदुपयोगिकर्म करणंशरीरसंवाहनादिचित्ता-
नुपालनम् । एतदृष्टार्थंशूद्रस्यअविधायकत्वाच्चैकमेवेति नदानादयोनिषिध्यन्ते । विधिरेषांकर्मणामुत्तरत्र भविष्यति अतः
स्वरूपविभागेन यागादीनांतत्रैव दर्शयिष्यामः ॥ ९१ ॥

(८९) विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्यसमादिशत् ॥ (न, भ लृ य, ग, क,)

क्षत्रियाणामकल्पयत् ॥ (ख)

(२) सर्वज्ञनारायणः । एकमेवेति । शुश्रूषाऽद्वेषो अशुश्रूष्यमाणेष्वपि द्विजेषु तद्रहितेकस्मिंश्चन ब्राह्मणे क्षत्रिय वैश्ये वा शुश्रूषा परिचरणम् । एतच्चास्य जीविकार्थपारत्रिकं च । अतएवास्यजीविकात्वेन प्रसिद्धेः पारत्रिकत्वेनाध्ययनादेः प्रसङ्गमाशङ्क्यैकमेवेति व्यवच्छिनत्ति ॥ ९१ ॥

(३) कुट्टूकः । एकमेवत्विति । प्रभुर्ब्रह्माशुद्धस्य ब्राह्मणादिवर्णत्रयपरिचर्यात्मकं कर्म निर्मितवान् । एकमेवेति प्राधान्यप्रदर्शनार्थेदानादेरपि तस्य विहितत्वात् । अनसूयया गुणानिन्दया ॥ ९१ ॥

(४) राघवानन्दः । एकमेवेत्यापद्यपि धर्मान्तरव्यावृत्त्यर्थं प्रभुः विराट् अनसूययेत्ययमभिप्रायः द्विजानां वेदाध्ययनाद्युत्कर्षासहिष्णुतया तत्र न प्रवर्तितव्यं वेदमुपशृण्वतः त्रपुजतुभ्यां कर्णपूरणमिति श्रुतेः । प्राणान्तिकप्रायश्चित्तश्रवणादिति भावः ॥ ९१ ॥

(५) नन्दनः । अनसूययाऽनहंकारेण ॥ ९१ ॥

(६) रामचन्द्रः । एकमिति एतेषां चतुर्णां वर्णानां सेवां अनसूयया निष्कपटेनेत्यर्थः ॥ ९१ ॥

ऊर्ध्वनाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः ॥ तस्मान्मेध्यतमत्वस्य मुखमुक्तं स्वयंभुवा ॥ ९२ ॥

(१) मेधातिथिः । आपादान्तान्मेध्यः पुरुषस्तस्य नाभेरूर्ध्वमतिशयेन मेध्यततोऽपि मुखम् । एतच्च स्वयमेव जगत्कारणपुरुषेणोक्तम् ॥ ९२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चतुर्वर्णकार्यमुक्त्वा प्रकृतशास्त्राध्यापकत्वेन ब्राह्मणानियन्तुं तत्प्रशंसां मुपक्रमते ऊर्ध्वनाभेरिति । कृत्स्न एव पुरुषो मेध्यस्त्वस्य नाभेरूर्ध्वं मेध्यतरं तस्मात् अपि मुखं मेध्यतममित्यर्थः ॥ ९२ ॥

(३) कुट्टूकः । इदानीं प्राधान्येन सर्गक्षार्थत्वाद्ब्राह्मणस्य तदुपक्रमधर्माभिधानत्वाच्चास्य शास्त्रस्य ब्राह्मणस्य स्तुतिमाह ऊर्ध्वमिति । सर्वतएव पुरुषो मेध्यः नाभेरूर्ध्वमतिशयेन मेध्यः ततोपि मुखमस्य मेध्यतमं ब्रह्मणोक्तम् ॥ ९२ ॥

(४) राघवानन्दः । इदानीमर्थवादपूर्वकं ब्राह्मणस्यैव श्रेष्ठ्यंहव्यकव्यादिभोक्तृत्वं निध्यादिस्वामित्वमेतच्छास्त्राधिकारित्वं च विधत्ते ऊर्ध्वमिति षोडशभिः ॥ ९२ ॥

(५) नन्दनः । एवंप्रवक्ष्यामि धर्माणां श्रेष्ठ्यतमत्वमुक्तम् । इदानींतत्प्रवचनाधिकारिणां ब्राह्मणानां वैशिष्ट्यं वक्तुमाह ऊर्ध्वमिति । तस्मान्नाभेरूर्ध्वप्रदेशादत्र सामान्येन पुरुषाणां मुखोत्कर्षवचनं ब्राह्मणोत्पत्तिस्थानस्य हिरण्यगर्भस्योत्कर्षस्य प्रतिपत्त्यर्थम् ॥ ९२ ॥

(६) रामचन्द्रः । ऊर्ध्वमिति । नाभेः ऊर्ध्वमेध्यतरः अतिशयेन मेध्यः मेध्यतरः हृदये मध्ये पुरुषः पुरुषसंज्ञकः कीर्तितः सर्वतः वृत्त्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलमिति श्रुतिः । तस्मात् पुरुषाधिष्ठितात् तस्य स्वयंभुवः मुखं मेध्यतमं ज्ञेयम् ॥ ९२ ॥

उत्तमाङ्गोद्भवाज्यैष्ठ्याद्ब्रह्मणश्चैव धारणात् ॥ सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ९३ ॥

(१) मेधातिथिः । ततः किमत आह । उत्तमाङ्गमूर्धा तत उद्भव उत्पत्तिर्ब्राह्मणस्य । ज्यैष्ठ्यासावन्येभ्यो वर्णेभ्यः पूर्वब्रह्मणा सृष्टः । ब्रह्मणो वेदस्य धारणात्तस्य हि सविशेषतद्विहितमतः सर्वस्य जगतोऽस्माद्धेतुत्रयाद्ब्राह्मणः प्रभुः प्रभुरिव । प्रभुर्विनयेनोपसर्पणीयः । तदाज्ञायां च धर्मे स्थातव्यं धर्मतः प्रभुर्धर्मप्रभुरित्यर्थः । आद्यादित्वात्तसिः ॥ ९३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ततः किमत आह उत्तमाङ्गेति । तादृङ्मेध्यतमं ब्रह्ममुखोद्भवत्वात् । तत्रापि प्रथमजन्मरूपात् ज्यैष्ठ्यात् वेदस्य च क्षत्रियाद्यपेक्षायां सम्यक्धारणात् । सर्गस्य सृज्यमानस्य । धर्मतो न बलतः । प्रभुर्यथेष्टविनिर्धोगकारी ॥ ९३ ॥

(३) कुल्लूकः । ततः किमत आह उत्तमाङ्गोद्भव इति । उत्तमाङ्गं मुखंतदुद्भवत्वात् क्षत्रियादिभ्यः पूर्वोत्पन्नत्वा-
दध्यापनव्याख्यानादिना युक्तस्यातिशयेन वेदधारणात् सर्वस्यास्य जगतो धर्मानुशासनेन ब्राह्मणः प्रभुः । संस्कारस्य
विशेषात्तु वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ९३ ॥

(४) राघवानन्दः । तस्मात्ततोपि उत्तमाङ्गं शिरः तदेकदेशो मुखंतदुद्भवत्वाज्ज्यैष्ठ्यात् प्रथमजत्वात् । ब्रह्मवाइदमग्र आ-
सीदिति श्रुतेः । ब्रह्म ब्राह्मणजातिः ब्रह्मणो वेदस्य सर्गस्य सृष्टस्य ब्राह्मणादेः धर्मादौ शास्ता । अन्योन्यंगुरवो विप्रा इत्युक्तेः
विप्रस्यापि विप्रः शास्ता ॥ ९३ ॥

(५) नन्दनः । उत्तमाङ्गं मुखं मेध्यतममित्युक्तत्वाद्ब्रह्मणो वेदस्य धारणादध्यापनात् । धर्मतो न्यायतो हेतोरित्यर्थः
प्रभुः स्वामी ॥ ९३ ॥

(६) रामचन्द्रः । उत्तमाङ्गेति । उत्तमाङ्गात् उद्भवो यस्य स उत्तमाङ्गोद्भवः तस्मात् उत्तमाङ्गोद्भवात् ब्राह्मणोऽस्य मुख-
मासीदिति श्रुतिः ज्यैष्ठ्यात् प्रथमोत्पन्नत्वात् ब्रह्मणः वेदस्य धारणात् अस्य सर्वस्यैव सर्गस्य विश्वस्य ब्राह्मणः धर्मतः
प्रभुः स्मृतः ॥ ९३ ॥

तंहि स्वयंभूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वादितोऽसृजत् ॥ हव्यकव्याभिवाहाय सर्वस्यास्य च गुप्तये ॥ ९४

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्यैव हेतुत्रयस्य विशेषार्थमिदम् । अन्यस्यापि पुरुषस्योत्तमाङ्गं प्रधानम् । तंपुनर्ब्राह्मणं स्वयं-
भूः स्वादास्यान्मुखादसृजत् । तपश्च कृत्वैषोत्तमाङ्गादुत्पत्तिः । ज्यैष्ठ्यमाह आदितः । यद्देवानुद्दिश्य क्रियते तद्धव्यं पि-
तृनुद्दिश्य तत्कव्यंतयोरभिवहनाय देवान्पितॄंश्च प्रति प्रापणाय अभिवाहायेति भावे कृत्यः कथंचिद्दृष्टव्यः सकर्मत्वाद्वहतेः ।
तेन च कर्मणा सर्वस्य त्रैलोक्यस्य गुप्तिः परिपालनं भवति । इतः प्रदानं देवा उपजीवन्ति । ते च शीतोष्णवर्षैरोषधीः पाचय-
न्ति । अतः परस्परपकाराद्गुप्तिः ॥ ९४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्यदप्याह तंहीति । यतः स्वादास्यादादितोऽसृजत्तपस्तप्त्वां अतस्तपैः प्रभावादिपि
प्रभुरसौ न त्वेव मन्ये तपसा सृष्टा इत्यर्थः । हव्यं देवभागः कव्यं पिच्यभागस्तद्रूपं यदभिवाह्यमभिवर्तनीयं तस्मै तदर्थतस्य
देवपितृप्राप्तयेति यावत् । गुप्तये होमजन्यवृष्टिद्वारा ॥ ९४ ॥

(३) कुल्लूकः । कस्योत्तमाङ्गादयमुद्भूत इत्यत आह तंहि स्वयंभूरिति । तं ब्राह्मणं ब्रह्मा आत्मीयमुखात् देवपितृभ्यो ह-
विः कव्ये वहनाय तपः कृत्वा सर्वस्य जगतो रक्षायै च क्षत्रियादिभ्यः प्रथमं सृष्टवान् ॥ ९४ ॥

(४) राघवानन्दः । अभिवाहाय साक्षात् वहनाय देवाद्यर्थं गुप्तये संरक्षणाय च यथा गुप्तं च धनमुत्तरकाले सुखहे-
तुस्तथा ब्राह्मणार्पितमपि । ब्राह्मणो हि निधिर्देव इति वक्ष्यति ॥ ९४ ॥

(५) नन्दनः । नचैषां हेतुना मसिद्धिराशङ्कनीयेत्याह तंहीति । आस्यान्मुखाद्दव्यकव्यातिवाहाय । हव्यं देवक-
व्यं पिच्यमतिवाह्यमतिवाहनं प्रापणं देवान्पितॄंश्च हव्यकव्यादिभ्यः प्रापयितुमितियावत् । अत्र स्वादास्यादित्युत्तमाङ्गोद्-
भवत्वं समर्थ्यते । तपस्तप्त्वेत्यादरातिशयः । आदित इति ज्यैष्ठ्यम् । हव्यकव्यातिवाहायेति वेदधारणम् । अस्य गुप्तयेति प्रपञ्च-
रक्षणम् । गुप्तिश्चाध्यापनया जनप्रतिग्रहैरित्यवगन्तव्यम् । ९४ ॥

(६) रामचन्द्रः । तमिति । स्वयंभूः तपस्तप्त्वा स्वात् आस्यात् मुखात् आदितः तं ब्राह्मणं हव्यकव्याभिवाहाय
असृजत् । हव्यकव्यानां अभिवाहः हव्यकव्याभिवाहः तस्मै हव्यं देवानां कव्यं पितॄणां प्रापकायेत्यर्थः ॥ ९४ ॥

यस्यास्येन सदाश्रन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः ॥ कव्यानि चैव पितरः किंभूतमधिकंततः ॥ ९५ ॥

(१) मेधातिथिः । हव्यादिवहनपूर्वोक्तं दर्शयति । त्रिदिवमोको गृह्येषान्त एव मुच्यन्ते । स्वर्गवासिनो देवाः । ब्राह्मणेन भुक्तमन्नं देवाऽपतिष्ठन्ति श्राद्धे पित्र्यस्य कर्मणोऽङ्गभूतं विश्वेदेवानुद्दिश्य ब्राह्मणभोजनं विहितम् । तदपेक्ष्यैतदुक्तम् । किंभूतमन्यदधिकं श्रेष्ठतस्तस्मादिति । स्वयं विस्मर्यते । देवाः पितरश्चोत्तमस्थानामध्यमस्थानाश्चाप्रत्यक्षान् तेषां भोजनोपायोऽन्योऽस्त्यन्यतो ब्राह्मणभोजनादतो महान् ब्राह्मणः ॥ ९५ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । यस्यास्येनेति । आस्येनाभ्यवहरणसाधनभूतेन ॥ ९५ ॥

(३) कुट्टुकः । पूर्वोक्तहव्यकव्यवहनं स्पष्टयति यस्यास्येनेति । यस्य विप्रस्य मुखेन श्राद्धादौ सर्वदा देवाहव्यानि पितरश्च कव्यानि भुञ्जते ततोऽन्यत्प्रकृष्टतमं भूतं किं भवेत् ॥ ९५ ॥

(४) राघवानन्दः । तमेवाह यस्येति । यस्य ब्राह्मणस्यास्येन मुखेन ब्राह्मण्ये मनुष्येष्विति श्रुतेः । अग्निरिव देव इति शेषः । हव्यानि देवतोद्देश्यानि चरुपुरोडाशादीनि कव्यानि पित्रोद्देश्यानि श्राद्धादीनि किंभूतं जन्तुऽदत्तस्य फलप्रापकं वा ततो विप्रान् ॥ ९५ ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्येति । यस्य ब्राह्मणस्य आस्येन मुखेन देवताः पितरश्च हव्य कव्यानि अश्रन्ति भुञ्जते । ततः ब्राह्मणात् अधिकं किंभूतं प्राणाधिक इत्यर्थः ॥ ९५ ॥

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ॥ बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठानरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ ९६ ॥

(१) मेधातिथिः । पृथिव्यां भावाः स्थावरा वृक्षादयोजङ्गमाः कृमिकीटादयस्ते भूतशब्देनोच्यन्ते । तेषां प्राणिन आहारविहारदिचेष्टासमर्थास्ते श्रेष्ठाः प्राणिनस्ते हि पशुतरं सुखमनुभवन्ति । तेषां बुद्ध्या जीवन्ति हिताहिते विचिन्वन्ति श्वशृगालादयः ते हि घर्मेणोपतप्ताः छाया मुपसर्पन्ति शीतेनार्दिता आतपं निराहारं स्थानं त्यजन्ति । तेषामधिकतरामनुग्यास्तेषां ब्राह्मणा ते हि लोके पूज्यतमाः । न च सर्वेण परिभूयन्ते जातिमात्राश्रयं हि तद्वधे महत्प्रायश्चित्तम् ॥ ९६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । तर्ह्यथा तथा ब्राह्मणः श्रेयानित्यध्ययनादिप्रकर्षोऽप्यर्थ इति नेत्याह भूतानामिति । भूतानामाकांशादिभूतविशेषाणामध्ये प्राणिनः प्राणवन्तः शरीरभूतानि भूतानि तेषां वरः स्वपररूपाणामध्ये वराः बुद्धिजीविनः । स्वबुद्धिरुत चेष्टया स्वहिताचरणक्षमाः श्रेष्ठाः ॥ ९६ ॥

(३) कुट्टुकः । भूतानामिति । भूतारब्धानां स्थावरजङ्गमानां मध्ये प्राणिनः कीटादयः श्रेष्ठाः । कदाचित्सुखलेशान् । तेषामपि बुद्धिजीविनः सार्थनिरर्थदेशोपसर्पणमसर्पणकारिणः पशूनादयः । तेभ्योऽपि मनुष्याः प्रकृष्टज्ञानसंबन्धात् । तेभ्योऽपि ब्राह्मणाः सर्वपूज्यत्वात् अपवर्गाधिकारयोग्यत्वाच्च ॥ ९६ ॥

(४) राघवानन्दः । भूतानां स्थावरजङ्गमानां मध्ये प्राणिनो जङ्गमाः महीरतादिभ्यः श्रेष्ठाः । तेष्वपि बुद्धिजीविनः पशुतिर्यङ्गः । तेषु नराः ॥ ९६ ॥

(५) नन्दनः । न च सर्वत्र ब्राह्मणेषु तुल्यबुद्धिः कर्तव्येति श्लोकाभ्यामाह भूतानामिति । अनयोः पूर्वश्लोको दृष्टान्तार्थः । भूतानां जङ्गमस्थावराणां प्राणिनो जङ्गमाः बुद्धिजीविनः पशूनादयः ॥ ९६ ॥

(६) रामचन्द्रः । भूतानां चराचरादीनां मध्ये प्राणिनः प्राणवन्तः श्रेष्ठाः ॥ ९६ ॥

ब्राह्मणेषु च विद्वांसोविद्वत्सु कृतबुद्धयः ॥ कृतबुद्धिषु कर्तारःकर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥ ९७ ॥

[तेषांनपूजनीयोन्यस्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ तपोविद्याविशेषेण पूजयन्तिपरस्परम् ॥ १ ॥]

[ब्रह्मविद्भ्यः परंभूतं न किंचिदिहविद्यते § ॥]

(१) मेधातिथिः । विदुषांश्रेष्ठ्यमहाफलेषु यागादिष्वधिकारात् । तेषामपि कृतबुद्धयः परिनिष्ठितवेदतत्त्वार्थान्वौद्धादिभिः कलुषीक्रियन्ते । तेषामपिकर्तारः कर्मगामनुष्ठतारः । ते हि विहितकरणात्प्रतिषिद्धासेवनाच्च नोपहन्यन्ते तेषामपि ब्रह्मस्वरूपत्वात्तत्रक्षम्यानन्दः ॥ ९७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विद्वांसःकर्मकाण्डदण्डनीत्यादिवेदितारः । कृतबुद्धयः कुशलाः सम्यक्तत्त्वज्ञाः । कर्तारोविदि त्वानुष्ठतारः । ब्रह्मवादिनोब्रह्मकाण्डार्थं तत्त्वविदः । ब्रह्मवेदिनइति क्वचित्पाठः । अत्र च सर्वत्रपूर्वपूर्वविशेषणवतामेवीत्तरो तत्रविशेषणसंबन्धावैशिष्ट्यमन्यथा ब्राह्मणत्वस्याप्युत्तरेष्वननुवृत्त्यापत्तेः ॥ ९७ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणेषु चेति । ब्राह्मणेषु तु मध्ये विद्वांसोमहाफलज्योतिष्टोमादिकर्माधिकारित्वात् । तेभ्योपि कृतबुद्धयःअनागतेऽपि कृतं मयेति बुद्धिर्येषांशास्त्रोक्तानुष्ठानेषूपेक्ष्यताबुद्धयइत्यर्थः । तेभ्योपि अनुष्ठतारःहिताहितप्राप्तिपरिहारभागित्वात् । तेभ्योपि ब्रह्मविदःमोक्षलाभात् ॥ ९७ ॥

(४) राघवानन्दः । तेष्वपि विद्वांसःयज्ञशास्त्रविदः । तेषु कृतबुद्धयः कृतंकर्तव्यं ब्राह्मणेन मयेदमिति बुद्धिर्येषां तथा आलस्यादिना केवलं न कुर्वन्तीति । तथात्वनिश्चये अनुष्ठतारोये ते कर्तारः । तेष्वपि ब्रह्मविदोब्रह्मतत्त्वज्ञाः श्रेष्ठाइति सर्वत्रानुषज्यते सर्वकर्मणांपारंपर्येण ब्रह्मण्येव तात्पर्येणोपयोगात् सर्वकर्मखिलंपार्थज्ञाने परिसमाप्यतइति भगवदुक्तेः ॥ ९७ ॥

(५) नन्दनः । विद्वांसोवेदविदः । कृतबुद्धयः परिचितवेदार्थाः । कर्तारश्चोदितकर्मकृतः । ब्रह्मवेदिनः परमार्थवेदिनः । एवंवेदता ब्रह्मविद्भिरपि कर्मकर्तव्यमिति सूचितम् । ९७ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणेष्विति । सम्यक्कृता बुद्धिर्येस्ते कृतबुद्धयस्तेषु कृतबुद्धिषु कर्मकर्तारः श्रेष्ठाः । कर्मकर्तृषुब्रह्मवेदिनः श्रेष्ठाः ॥ ९७ ॥

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती ॥ सहि धर्मार्थमुत्पन्नोब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ९८ ॥

(१) मेधातिथिः । विद्वत्तादिगुणसंबन्धिनोब्राह्मणस्य विशेषे दर्शिते जातिमात्रंब्राह्मणंकश्चिदवमन्येत तन्निवृत्त्यर्थमिदमुच्यते । उत्पत्तिरेव गुणानपहाय जन्मैव ब्राह्मणस्य जातिरेव शाश्वतीधर्मस्य मूर्तिः शरीरम् । धर्मार्थमुत्पन्नो द्वितीयेनजन्मनोपनयनेन संस्कृतः सा हि तस्य धर्मार्थोत्पत्तिर्ब्रह्मत्वाय कल्पते संपद्यते । धर्मशरीरमुज्झित्वा परानन्दभाभवतीति श्रुतिः ॥ ९८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उत्पत्तिरिति । याविप्रस्य शरीरोत्पत्तिः साधर्म्यस्य मूर्तिर्मूर्तिवस्था शरीर्यवस्थेति यावत् । शाश्वती चिरस्थायिनी विप्रस्योत्पत्त्या धर्मस्य चिरमुपचयसिद्धेः । तदाहसहीति । धर्मार्थधर्मोत्पादनार्थकिंचान्येभ्योस्यैतदधिकं यथासौ ब्रह्मभूयाय कल्पते मोक्षाय समर्थो न क्षत्रियादयः पारिव्राज्यानाधिकारात् । अतएवोक्तंपुराणे क्षत्रियस्यापि यतिधर्मोविधीयतइति यतिधर्मोयमनियमादिः नतुयतितैव अत्रापि षष्ठाध्याये ब्राह्मणस्येत्युपसंहरिष्यति ९८

(३) कुल्लूकः । उत्पत्तिरेवेति । ब्राह्मणदेहजन्ममात्रमेव धर्मस्य शरीरमविनाशि यस्मादसौधर्मार्थजातः धर्मानुगृहीतात्मज्ञानेन मोक्षायसंपद्यते ॥ ९८ ॥

(४) राघवानन्दः । अत्र हेतुरुत्पत्तिरिति । मूर्तिर्देहइव शाश्वती शश्वत् निरन्तरंधर्महेतुत्वात् ब्रह्मभूयाय ब्रह्मत्वाय मुक्त्यइति यावत् । अन्यथा ब्राह्मण्यावामिर्व्यर्थेवेति भावः ॥ ९८ ॥

(५) नन्दनः । वर्णान्तरेभ्यो ब्राह्मणस्य वैशिष्ट्यं जन्मतएव न संस्कारविशेषतइत्याह उत्पत्तिरिति । उत्पद्यतइत्युत्पत्तिः शरीरम् । कल्पते शक्नोति ॥ ९८ ॥

(६) रामचन्द्रः । उत्पत्तिरिति । विप्रस्य मूर्तिः धर्मस्य मूर्तिरित्यर्थः शाश्वती एषा उत्पत्तिः उदिता । सः ब्राह्मणः ब्रह्मभूयाय ब्रह्मरूपाय कल्पते समर्थो भवेदित्यर्थः ॥ ९८ ॥

ब्राह्मणोजायमानो हि पृथिव्यामधिजायते ॥ ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥ ९९ ॥

(१) मेघातिथिः । सर्वलोकस्योपरि भवति । श्रेष्ठ्यमुपरि भावेनाह । ईश्वरः सर्वभूतानामिति प्रभुत्वं धर्माख्यस्य कोशस्य गुप्तये जायते । द्रव्यसंचयः कोश उपमानाद्धर्मसंचय उच्यते कोश इति ॥ ९९ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । ब्राह्मण इति । जायमान एव पृथिव्यां पृथिव्याधीश्वरो भूत्वा जायते । ननु क्षत्रियादिः । अतोसौ सर्वभूतानामीश्वरः । त्वेच्छया आदेष्टा यतः उपदेशादिद्वारा धर्मस्य रूपं च कोशस्य गुप्तयेऽसौ जनितः ॥ ९९ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मण इति । यस्माद्ब्राह्मणोजायमानः पृथिव्यामधि उपरि भवति श्रेष्ठ इत्यर्थः । सर्वभूतानां धर्मसमूह रक्षायै प्रभुः ब्राह्मणोपदिष्टत्वात् सर्वधर्माणाम् ॥ ९९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच जायमानो जातमात्रः पृथिव्यां वर्तमानो नामाधिक्येन आधिक्यमाह ईश्वर इति । धर्मकोशस्य वेदस्य वेदाद्धर्मो हि निर्वर्ण्य तथा ब्रह्मकर्मोद्भवविद्धीति स्मृतेः ॥ ९९ ॥

(५) नन्दनः । पृथिव्यां पृथिवीजातेष्वधिजायत उपरि जायते सर्वस्माद्विशिष्ट इत्यर्थः । अतएव सर्वभूतानामीश्वरः । धर्मकोशस्य वेदस्य ॥ ९९ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणेति । जायमान उत्पन्नमात्रो ब्राह्मणः पृथिव्यां सर्वभूतानां धर्मकोशस्य धर्म एव भाण्डागारः तस्य गुप्तये रक्षणाय ईश्वरः प्रभुः ॥ ९९ ॥

सर्वस्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचिज्जगतीयतम् ॥ श्रेष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥ १०० ॥

(१) मेघातिथिः । असंतुष्टस्य प्रतिग्रहादिषु पुनः प्रवृत्तौ दुष्कृतितामाशङ्क्य समाधत्ते । सर्वमिदं त्रैलोक्यान्तर्वर्तिघ्नं ब्राह्मणस्य स्वं नात्र प्रतिग्रहो विद्यते प्रभुत्वेनासौ गृह्णाति न प्रतिग्रहीतृ तयेति । प्रशंसैषा न विधिरत एवार्हतिशब्दः । अभिजनोऽभिजातताविशिष्टत्वम् ॥ १०० ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । सर्वत्वमिति । सर्वस्य ब्राह्मणस्य यत्संबन्धित्वं तत् ब्राह्मणस्यैव । एतच्च तस्य हरणे दोषाल्पत्वेनोपचारात् तत्र हेतुः श्रेष्ठ्येनेति । अभिजन उत्पत्तिस्थानं पुण्यरूपम् ॥ १०० ॥

(३) कुल्लूकः । सर्वत्वमिति । यत्किंचिज्जगद्वातधनंत ब्राह्मणस्य स्वमिति स्तुत्योच्यते । स्वमिव स्वं न तु स्वमेव ब्राह्मणस्यापि मनुनास्ते यस्य वक्ष्यमाणत्वात् । तस्माद्ब्रह्ममुखोद्भवेनाभिजनेन श्रेष्ठतया सर्वब्राह्मणोऽर्हति सर्वग्रहणयोग्यो भवत्येव । वै अवधारणे ॥ १०० ॥

(४) राघवानन्दः । अभिजनेन उत्कृष्टस्थानजन्मना ॥ १०० ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वेति । इदं वस्तु यत्किञ्चित्स्वल्पमपि वस्तु जगतीगतं सर्वस्वं ब्राह्मणस्येत्यर्थः । इदं सर्वं विश्वस्याधिपत्यं ब्राह्मणः श्रेष्ठत्वेन अर्हति । अभिजनेन कुलाभिमानेन ॥ १०० ॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ॥ आनृशं स्याद्ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरेजनाः ॥ १०१ ॥

(१) मेधातिथिः । यत्परगृह आतिथ्यादिरूपेण भुङ्क्ते दात्मीयमेव नैवमन्तव्यं परपाकेनेति । स्वं वस्ते याचित्वाऽयाचित्वा वा वस्त्रं लभते नासौ तस्य लाभाय अपितु स्वकृत्याच्छादने विनियोगः । तिष्ठतु तावदात्मोपयोगि गृह्णाति तत्र प्रभूतं यदन्येभ्यो ददाति परकीयं तदपि तस्य नानुचितम् । आनृशं स्वं कारुण्यं तदीयया महासत्त्वतया पृथिव्यां राजानः स्वानि धनान्युपयुञ्जते । अन्यथा यद्यसाविच्छेदहमेतदादाय स्वकार्ये विनियुञ्जीयेति तदा सर्वे निर्धनाः निरुपयोगाः स्युः ॥ १०१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वमेवेति । क्षत्रियादिर्यत्स्वाजितमपि भुङ्क्ते आच्छादयति ददाति च तद्ब्राह्मणस्वमेव । अतस्तद्धनोपभोक्तृत्वात् तस्यासौ भेष्य इव भेष्यो मृत्युः मृत्यु इवेत्यत आह आनृशं स्यादिति । ब्राह्मणस्य करुणया प्राणिनां स्वेच्छया भोग्यत्वं धनस्य विसृष्टत्वात् मुख्याप्रभुतेत्यर्थः ॥ १०१ ॥

(३) कुल्लूकः । स्वमेवेति । यत्परस्याप्यन्नं ब्राह्मणो भुङ्क्ते परस्य च वस्त्रं परिधत्ते परस्य गृहीत्वान्यस्मै ददाति तदपि ब्राह्मणस्य स्वमिव पूर्ववत्स्तुति एव संति ब्राह्मणस्य कारुण्यादन्ये भोजनादि कुर्वन्ति ॥ १०१ ॥

(४) राघवानन्दः । वस्ते परिदधाति वसनादिकं आनृशं स्यादकार्पण्यात् कारुण्याद्वा ॥ १०१ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्वमिति । ब्राह्मणः स्वमेव वस्तु भुङ्क्ते भोजनं करोति । स्वं वस्ते स्ववस्तु स्ववस्त्रं वस्ते आच्छादयति । वस आच्छादने इत्यस्य धातोः रूपम् । ब्राह्मणस्य आनृशं स्यात्कृपा तद्विरेजनाः क्षत्रियादयः भुञ्जते भोगं कुर्वन्त इत्यर्थः ॥ १०१ ॥

तस्य कर्मविवेकार्थं शेषाणामनुपूर्वशः ॥ स्वायं भुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ॥ १०२ ॥

(१) मेधातिथिः । सर्वस्या ब्राह्मणश्रुतेः फलप्रदर्शनार्थं श्लोकोऽयम् । एवं विधमिदं महार्थं शास्त्रं यत्तस्य स्वमहिम्नाऽऽस्त्यन्तिकेन महत्तमस्य ब्राह्मणस्य कर्मविवेकार्थं इमानि कर्माणि कर्तव्यानि मानि वर्ज्याणि एष विवेकस्तदर्थं शेषाणां च क्षत्रियादीनामनुपूर्वशः प्राधान्याद्ब्राह्मणस्यानुषङ्गात् क्षत्रियादीनामिदं शास्त्रमकल्पयत्कृतवान् ॥ १०२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रकृतमाह तस्येति । तस्य ब्राह्मणस्य धर्माधर्मविवेकार्थं शेषाणां क्षत्रियाणां वैश्यानां चानुपूर्वशो ब्राह्मणमुखेन अकल्पयत् ॥ १०२ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानीं प्रकृतब्राह्मणकर्माभिधायकतया शास्त्रप्रशंसां प्रक्रमते तस्य कर्मविवेकार्थमिति । ब्राह्मणस्य कर्मज्ञानार्थं शेषाणां क्षत्रियादीनां च स्वायं भुवो ब्रह्मपुत्रो धीमान् सर्वविषयज्ञानवान्मनुरिदं शास्त्रं विरचितवान् ॥ १०२ ॥

(४) राघवानन्दः । तस्य ब्राह्मणस्य कर्मविवेकार्थं इमानि कर्माणि कर्तव्यानि नेमानीति निर्घोषेण शुद्ध्यर्थं शेषाणां क्षत्रियादीनां च इदं मन्वाख्यं शास्त्रं अकल्पयत् पूर्वसर्गानुरोधात् ॥ १०२ ॥

(५) नन्दनः । स्तेयादिषु पतनदण्डप्रायश्चित्तोपदेशादेवं तावद्ब्राह्मणवैशिष्ट्यमुक्तम् । इदानीं शास्त्रप्रयोजनमाह तस्येति । तस्य ब्राह्मणस्य शेषाणां क्षत्रियादीनां च शास्त्रमकल्पयत्पूर्वं भगवता विस्तरेण कृत्वा ग्राहितं स्वयंकृतं ग्रन्थं संगृहीतवान् । नैवं चेदिदं शास्त्रं कृत्वेत्यनेन विरोधः प्रसज्येत ॥ १०२ ॥

(६) रामचन्द्रः । तस्येति । तस्य ब्राह्मणस्य कर्मविवेकार्थशेषाणां क्षत्रियादीनां कर्मविवेकार्थानुपूर्वशः क्रमेण स्वा-
यंभुवोमनुः इदं शास्त्रं अकल्पयत्कल्पयामासेत्यर्थः ॥ १०२ ॥

विदुषा ब्राह्मणेनैदमध्येतव्यं प्रयत्नतः ॥ शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यङ् नान्येन केन चित् ॥ १०३ ॥

(१) मेधातिथिः । अध्येतव्यं प्रवक्तव्यमित्यर्हेकृत्योऽन विधौ । द्वितीयादध्यायात्मभृतिशास्त्रं प्रवर्तिष्यते । अयं-
ह्यध्यायोऽर्थवादएव नात्र कश्चिद्विधिरस्ति । तेन यथा राजभोजनाः शालयइति शालिस्तुतिर्न राज्ञोऽन्यस्येति तद्भोजन-
निषेधः एवमत्रापि नान्येन केनचिदिति नायं निषेधः केवलं शास्त्रस्तुतिः । सर्वस्मिञ्जगति श्रेष्ठो ब्राह्मणः सर्वशास्त्राणां शा-
स्त्रमिदमतस्तादृशस्य विदुषो ब्राह्मणस्याऽध्ययनप्रवचनार्हेन सामान्येन शक्यते अध्येतुं प्रवक्तुं वा । अतएवाह प्रयत्नतइ-
ति । यावन्महान्प्रयत्न आस्थितो यावन्शास्त्रान्तरैस्तर्कव्याकरणमीमांसादिभिः संस्कृतआत्मातावदेतत्प्रवक्तुं न शक्यते ।
अतएवाध्ययनेन श्रवणं लक्ष्यते । तत्र हि विद्वत्तोपयोगिनी न संपाठे । विधौ ह्यध्ययने विद्वत्ताऽदृष्टायैव स्यान्न च विधौ
श्रवणमध्ययनेन लक्ष्यतइति युक्तं वक्तुं विधेये लक्षणार्थता युक्ता । अर्थवादे तु प्रमाणान्तरानुसारेण गुणवादो न दोषाय ।
तस्मात्रैवार्णिकाधिकारं शास्त्रमेतच्च परस्ताद्विशेषतो वक्ष्यते ॥ १०३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विदुषेति । प्रयत्नतो वक्ष्यमध्येतव्यम् । अन्ययोस्त्वन्निमित्तः । शिष्येभ्यस्तु प्रवचनमन्ये-
न न कर्तव्यं किंतु विप्रेणैव । सम्यक् यथाविधि ॥ १०३ ॥

(३) कुल्लूकः । विदुषेति । एतच्छास्त्राध्ययनफलज्ञेन ब्राह्मणेन एतस्य शास्त्रस्य व्याख्यानाध्यापनोचितं प्रयत्नतो-
ऽध्ययनं कर्तव्यं शिष्येभ्यश्चेद्व्याख्यातव्यं नान्येन क्षत्रियादिना । अध्ययनमात्रं तु व्याख्यानाध्यापनरहितं क्षत्रियवैश्ययो-
रपि निषेधादिश्मशानान्तैरित्यादिना विधास्यते । अनुवादमात्रमेतदिति मेधातिथिमतं तन्मनोहरं द्विजैरध्ययनं ब्राह्मणेनै-
वाध्यापनव्याख्याने इत्यस्यालाभात् । यत्तु अधीयीरंस्त्रयोवर्णा इत्यादि तद्देवविषयमिति वक्ष्यति । विप्रेणैवाध्यापनमिति
विधानेन संभवत्यपि अनुवादत्वमस्येति वृथामेधातिथेर्ग्रहः ॥ १०३ ॥

(४) राघवानन्दः । विदुषाधीतवेदवेदाङ्गेन प्रयत्नतः प्रयत्नेन सम्यक् यथाविधिना नान्येन क्षत्रियादिना । अय-
मर्थः । इदं हि धर्मशास्त्रं धर्मवत्कृत्यं च विप्रस्यैव न राजन्यादेः । तेनात्र विधিনিषेधाभ्यां विप्रएवाधिक्रियते । वैदिकत्वा-
विशेषेपि बृहस्पतिसवइव अध्येतव्यमित्यर्हार्थे नान्येनेति । राजभोजनाः शालयइति वन्नान्येषां निषेधइति मेधातिथिः ॥ १०३ ॥

(५) नन्दनः । अथ शास्त्राध्ययनेऽधिकारिणमाह विदुषेति । विदुषा साङ्गवेदविदा । प्रयत्नत आदरेण । अन्ये-
नाविदुषा ब्राह्मणेन विदुषाऽपि क्षत्रियेणेत्यर्थः ॥ १०३ ॥

(६) रामचन्द्रः । विदुषेति । ब्राह्मणेन इदं धर्मशास्त्रं अशेषतः सम्पूर्णतः प्रयत्नतः अध्येतव्यं सम्यक् ज्ञानेन सम्यक् प्रका-
रेण केनचित् विदुषा शिष्येभ्यः वक्तव्यम् ॥ १०३ ॥

इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः ॥ मनोवाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते ॥ १०४ ॥

(१) मेधातिथिः । एवं संबन्धिद्वारेण ब्राह्मणार्थतया शास्त्रं स्तुत्वाऽधुना साक्षात्स्तौति । इदं शास्त्रं जानानः शंसितव्रतो-
भवतीति परिपूर्णमनियमानुष्ठायी भवति । शास्त्रादननुष्ठाने प्रत्यवायं ज्ञात्वा तद्भयादनुतिष्ठति सर्वान्यमनियमान्यथाशास्त्रं-
सर्वमनुतिष्ठति । अनुतिष्ठन्विहितातिशयमतिषिद्धकर्मजनितैर्दोषैर्न लिप्यते न संबध्यते ॥ १०४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शास्त्रप्रशंसांप्रक्रमते इदमिति । शंसितव्रतः चीर्णव्रतः कर्मजन्यैर्दोषैः पापैर्मनोवाक्या-
यकारणभेदभिन्नैर्न लिप्यते प्रत्यवायज्ञानेन तत्राप्रवृत्तेः ॥ १०४ ॥

३ कुट्टूकः । इदंशास्त्रमिति । इदंशास्त्रं पठन्नेतदीयमर्थं ज्ञात्वा शंसितव्रतोऽनुष्ठितव्रतः मनोवाक्यायसम्भवैः पापैर्न-
संबध्यते ॥ १०४ ॥

(४) राघवानन्दः । शंसितव्रतोऽनुष्ठितव्रतं ब्रह्मचर्यादिव्रतः कर्मदोषैः पापैः ॥ १०४ ॥

(५) नन्दनः । शास्त्राध्ययनस्य फलमाह इदमिति ॥ १०४ ॥

(६) रामचन्द्रः । इदमिति । शंसितव्रतः परिपूर्णव्रतः ब्रह्मचर्ययुक्तः ॥ १०४ ॥

पुनाति पङ्क्तिवंश्यांश्च समसम परावरान् ॥ पृथिवीमपि चैवेमांकुत्स्नामेकोऽपि सोऽर्हति ॥ १०५ ॥

[यथात्रिवेदाध्ययनं धर्मशास्त्रमिदं तथा ॥ अध्येतव्यं ब्राह्मणेन नियतं स्वर्गमिच्छता † ॥ १ ॥]

(१) मेधातिथिः । पङ्क्तिपावनो भवति । विशिष्टानुपूर्वीकः संघातः पङ्क्तिरुच्यते तां पुनाति निर्मलीकरोति । सर्वे
दुष्टास्तत्सन्निधानाददुष्टाः संपद्यन्ते । वंश्यान्स्वकुलसंभूतान्समपरानुपरितनान्पित्रादीनागामिनोऽवराज्जनिष्यमाणान्समुद्र-
मर्यन्तां पृथिवीं प्रतिग्रहीतुमर्हन्ति । धर्मज्ञता हि प्रतिग्रहाधिकारे हेतुरित्यथ सर्वे धर्माज्ञायन्ते ॥ १०५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पुनातीति । पुनाति निष्पापां करोति । पङ्क्तिं एकपङ्क्तिस्थानजनां वंश्यान्स्ववंशे जाता-
न् पूर्वापरान् समसम । पृथिवीमिति विद्यानिमित्तकं दानपात्रत्वमुक्तम् । पृथिवीं भूमात्रमर्हति । किंवा वाच्यमपि चेमां पृथ्वी-
कुत्स्नां सर्वधनपूर्णा मिर्हतीति ॥ १०५ ॥

(३) कुट्टूकः । पुनातीति । इदंशास्त्रमधीयान इत्यनुवर्तते । अपांक्त्योपहृतां पङ्क्तिमानुपूर्व्यानि विष्टजनसमूहं प-
वित्रीकरोति वंशभवांश्च समपरान्पित्रादीन् अवरांश्च पुत्रादीन् पृथिवीमपि सर्वासकलधर्मज्ञतया पात्रत्वेन गृहीतुं योग्यो-
भवति ॥ १०५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच पुनातीति । पङ्क्तिम् । यस्यां पङ्क्तौ भुङ्क्ते पठति वा परावरान्पित्र्यादीन् अवरां पुत्रा-
दीन् विशिष्टसंस्कारवत् कुलजत्वात् कुत्स्नांससागरमेखलां एतच्छास्त्राधिगमेन धर्मज्ञता प्रतिग्रहे हेतुः ॥ १०५ ॥

(५) नन्दनः । शास्त्राध्यायिनो वैशिष्ट्यमाह पुनातीति ॥ १०५ ॥

(६) रामचन्द्रः । पुनातीति । पङ्क्तिवंश्यांश्च वंशभवा वंश्यास्तान् ॥ १०५ ॥

[यथेति । त्रिवेदाध्ययनं त्रयाणां वैदानां अध्ययने यथाफलं भवेत्स्वर्गसाधनं भवेत् । तथा स्वर्गमिच्छता ब्राह्मणेन नियतं इदं-
धर्मशास्त्रं अध्येतव्यम् ॥ १ ॥]

इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धि विवर्धनम् ॥ इदं यशस्य मायुष्यमिदं निःश्रेयसं परम् ॥ १०६ ॥

(१) मेधातिथिः । स्वस्त्यभिप्रेतस्यार्थस्याविनाशोऽयनं प्रापणं स्वस्ति प्राप्यते येन तत्स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमन्येभ्यो-
जपहोमादिभ्यः । नहि शास्त्रमन्तरेण तेषामनुष्ठानसंभवति अतस्तदनुष्ठानहेतुत्वाच्चेष्टमेतत् । अथवा धर्मज्ञानार्थवाक्या-
न्येव श्रेयस्यान्यनुष्ठानं तु क्लेशकरमत उच्यते श्रेष्ठमिति । इदं बुद्धि विवर्धनम् शास्त्रे सासेव्यमाने तदर्थस्य प्रकाशनाद्ग्रन्थि-

प्रमोक्षाद्बुद्धिविवृद्धिः प्रसिद्धैव । इदंयशस्यं धर्मज्ञः संशयानैः पृच्छ्यमानः ख्यातिलभते । यशसो निमित्तंयशस्यं-
विद्वत्तौदार्यादिगुणवत्तया प्रसिद्धिर्यशः । निःश्रेयसदुःखाननुविद्धायाः प्रीतेः स्वर्गापवर्गलक्षणायास्तत्प्राप्तिहेतुकर्मज्ञानहेतु-
त्वानिःश्रेयसपरंश्रेष्ठम् ॥ १०६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । इदंस्वस्त्ययनमिति । स्वस्तिसमृद्धिस्तस्याः अयनंस्थानंश्रेष्ठं धर्मादीनांशस्ततमं निःश्रे-
यसं निश्चितस्य श्रेयसोमोक्षस्य साधनम् ॥ १०६ ॥

(३) कुल्लूकः । इदमिति । अभिप्रेतार्थस्याविनाशःस्वस्ति तस्यायनंप्रापकंएतच्छास्त्रस्याध्ययनं स्वस्त्ययनं
जपहोमादिबोधकत्वाच्च श्रेष्ठस्वस्त्ययनान्तरात्मकंबुद्धिविवर्द्धनमेतच्छास्त्राभ्यासेनाशेषविधिनिषेधपरिज्ञानात् । यशसे हितं
यशस्यंविद्वत्तया ख्यातिलाभात्परंप्रकृतं निःश्रेयसंनिःश्रेयसस्य मोक्षस्योपायोपदेशकत्वात् ॥ १०६ ॥

(४) राघवानन्दः । स्वस्त्ययनंमाङ्गल्यंस्वस्ति अभिप्रेतार्थाविनाशस्यअयनंप्रापणमिति वा । श्रेष्ठ्यंदृष्टादृष्टार्थत्वात् ।
बुद्धिविवर्धनंमबुद्धिःसद्बुद्धिः आयुष्यंपरदारादिसेवाराहित्याददृष्टाकृष्टायुः क्षयाभावात् । निःश्रेयसं संस्काराचारकर्मादिपरंप-
रया तत्त्वज्ञानसाधनम् । परमिति विशेषणात् यस्यैते अष्टाचत्वारिंशत्संस्कारा भवन्ति ब्रह्मणःसायुज्यंसंलोकतांगच्छतीत्या-
द्युक्तेः ॥ १०६ ॥

(५) नन्दनः । शास्त्रप्रसङ्गमाह इदमिति । स्वस्त्ययनंस्वस्तिकल्याणंधर्मइति यावत्तत्प्राप्त्युपायः स्वस्त्ययनम् ।
यशस्यंयशस्करम् । निःश्रेयसमपवर्गनिमित्तम् ॥ १०६ ॥

(६) रामचन्द्रः । इदं धर्मशास्त्रं परमुत्कृष्टं नैःश्रेयसंमोक्षसाधनमित्यर्थः ॥ १०६ ॥

अस्मिन्धर्मोऽखिलेनोक्तोगुणदोषौ च कर्मणाम् ॥ चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः ॥ १०७ ॥

(१) मेधातिथिः । इदानींस्वशास्त्रस्य स्वविषये साकल्येन वृत्तेरन्यनिरपेक्षतामाह । कश्चिद्योनाम धर्मः ससर्वः
शास्त्रेऽस्मिन्कात्स्न्येनाभिहितो न तस्माद्धर्मज्ञानाय शास्त्रान्तरापेक्षा कर्तव्येत्यतिशयोक्तिः स्तुतिः । अस्मिच्छास्त्रे धर्मःस्मा-
तोऽखिलेन निःशेषेणोक्तौ गुणदोषौ च कर्मणामिष्टानिष्टे फले गुणदोषौ कर्मणांयागादिब्रह्महत्यादीनाम् । एवंहि साकल्ये-
भवति यदि कर्मस्वरूपमिति कर्तव्यताफलविशेषः कर्तृविशेषसंबन्धो नित्यकाम्यताविवेकः । एतत्सर्वगुणपदेन प्रतिज्ञातम् ।
धर्मइत्युक्ते कर्मग्रहणंवृत्तपूरणार्थम् । चतुर्णामपि वर्णानामेतदपि साकल्यार्थम् । योनाम कश्चिद्धर्मोऽधिकृतस्तस्य सर्वस्ये-
तो धर्मलाभः । आचारश्चैव शाश्वत आचारप्रमाणको धर्म आचारइत्युक्तः द्वितीये चैनं विवेक्ष्यामः । शाश्वतो वृद्धपरंपरया
नेदानींतनैः प्रवर्तितः ॥ १०७ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अस्मिन्निति । धर्माधर्मसाधनं कर्मगुणदोषौ हिंसादिकर्मणी वैधत्वे गुणवत्त्वम् वैध-
त्वे दोषवत्त्वमिति । आचारःसाक्षाद्धर्ममजनयन्नपि धर्मसाधनाङ्गमाचमनादि ॥ १०७ ॥

(३) कुल्लूकः । अस्मिन्धर्मइति । अस्मिन्कात्स्न्येन धर्मोऽभिहितइति शास्त्रप्रशंसा । कर्मणां च विहितनिषिद्धा-
नामिष्टानिष्टफले वर्णचतुष्टयस्यैव पुरुषधर्मरूपआचारः शाश्वतः पारंपर्यागतः । धर्मत्वेऽप्याचारस्य प्राधान्यख्यापनाय
पृथङ्निर्देशः ॥ १०७ ॥

(४) राघवानन्दः । अखिलेन समग्रेण गुणदोषौ विहितस्य करणं गुणः निषिद्धाचारणं दोषः तदुभयमप्युक्तम् ॥ १०७ ॥

(५) नन्दनः । अत्र कारणमाह अस्मिन्निति । कर्मणां विहितप्रतिषिद्धानां गुणदोषा विष्टं फलं गुणे अनिष्टदोषः । धर्मा-
धिकारनिमित्तं शौचाचमनादिलक्षणः क्रियाविशेषआचारः ॥ १०७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अस्मिन्निति । अस्मिन्धर्मशास्त्रेअखिलेन प्रकारेण धर्मउक्तः । अस्मिन्धर्मशास्त्रे चतुर्णामपिबर्णानांगुणदोषौउक्तौ । शाश्वताःपारम्पर्यक्रमागताःआचाराउक्ताः ॥ १०७ ॥

आचारःपरमोधर्मःश्रुत्युक्तःस्मार्तएवच ॥ तस्मादस्मिन्सदायुक्तोऽनित्यस्यादात्मवान्द्विजः ॥ १०८ ॥

(१) मेधातिथिः । परमः प्रकृष्टोधर्म आचारस्तथा श्रुतौ वेदे यउक्तःस्मार्तः स्मृतिषूक्तस्तस्मादाचारधर्मे नित्ययुक्तःस्यान्नित्यमनुतिष्ठेदात्मवानात्मनोहितमिच्छन् । सर्वस्याऽऽत्मास्त्यतोमनुपा तद्धितपरत्वमुच्यते ॥ १०८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नन्वाचारोयदिनसाक्षाद्धर्महेतुः किमिति कर्तव्यइत्यतआह आचारइति । यद्यप्यसावङ्गमेव न प्रधानतथाप्ययमपि परमोधर्मस्तविनाप्यप्रवृत्तेः । सच श्रुत्युक्तः दीक्षादौ नवनीताभ्यञ्जनादिः आचमनादिःस्मार्तः यद्यप्यसावपिश्रौतस्तथापि श्रुतेःप्रत्यक्षायाः तत्परया भूलोकेऽनध्ययनात्स्मार्ततोक्ता । अस्मिन्नाचारे । सदायुक्तउद्युक्तः । आत्मवानधृतिमान् ॥ १०८ ॥

(३) कुड्डूकः । प्राधान्यमेव स्पष्टयति । आचारइति । युक्तोयत्नवान् आत्महितेच्छुःसर्वस्यात्मास्तीतिआत्मशब्देनआत्महितेच्छा लक्ष्यते ॥ १०८ ॥

(४) राघवानन्दः । आचारहीनं न पुनन्ति वेदा इत्युक्तिमालम्ब्यवेदार्थानुष्ठानहेतुमाचारविधास्यंस्तमेव सप्रमाणकंस्तौति आचारइति त्रिभिः । सदा युक्ताःसर्वदोद्युक्ताः आत्मवान्पारलौकिकात्मतत्त्वज्ञानंतदभावेआचारविश्वसन् प्रकृष्टमनावा ॥ १०८ ॥

(५) नन्दनः । धर्मएवनिःश्रेयससाधनं तस्मात्सएव वक्तव्यः किमाचारेणेतिचेदत्राह आचारइति । श्रुत्युक्तोऽग्निहोत्रहोमादिः स्मार्तोऽष्टकादिः । अस्मिन्त्रये ॥ १०८ ॥

(६) रामचन्द्रः । आचारेति । श्रुत्युक्तःस्मृत्युक्तएवआचारःपरमोधर्मःउक्तः । तस्मात्कारणात् आचारे सदा युक्तःस्याद्विजःनित्यंआत्मवान्भवेत्जितेन्द्रियःभवेत् ॥ १०८ ॥

आचाराद्विच्युतोविप्रो न वेदफलमश्रुते ॥ आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफलभागभवेत् ॥ १०९ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रकारान्तरेणेयमाचारस्तुतिः । आचारात्प्रच्युत आचारहीनो न वेदफलप्राप्नोति । वेदविहितकर्मानुष्ठानफलंवेदफलमित्युक्तम् । समग्राणिवैदिकानि कर्माण्यनुतिष्ठन्त्याचारभ्रष्टेन ततः पुत्रकामादिफलमश्रुतइतिनिन्दा । एषएवार्थोविपर्ययेणोच्यते । आचारेणतुसंयुक्तः सकलफलप्राप्नोति । काम्यानांचात्र यद्वदन्ति संपूर्णवचनादाचारहीनस्याप्यस्ति काम्येभ्यः फलसंबन्धेन कृत्स्नफललाभइति तन्न किंचिदर्थवादत्वादस्य ॥ १०९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आचारादिति । विच्युतःसम्यगकर्ता वेदफलंवैदिककर्मफलंसंपूर्णनाश्रुते व्यङ्गात्तादृक्फलासिद्धेः अतएवाह आचारेणत्विति ॥ १०९ ॥

(३) कुड्डूकः । आचारादिति । आचाराद्विच्युतोविप्रो न वैदिकफलंलभेत् । आचारयुक्तःपुनःसमग्रफलभागभवति ॥ १०९ ॥

(४) राघवानन्दः । आचारात् यथाविध्याचमनादेः ॥ १०९ ॥

(१०८) परमोधर्मः=प्रथमोधर्मः (ख)

सदायुक्तो=समायुक्तो (मेधा०)

(५) नन्दनः । श्रौतस्मार्ताचाराणामादरार्थमेतमेवार्थप्रपञ्चयति आचारादितिद्वाभ्याम् वेदफलं । वेदोक्तफलधर्म-
फलमितियावत् ॥ १०९ ॥

(६) रामचन्द्रः । आचारेति । वेदफलवेदाध्ययननश्रुते नप्राप्नोति ॥ १०९ ॥

एवमाचारतोदृष्ट्वा धर्मस्य मुनयोगतिम् ॥ सर्वस्यतपसोमूलमाचारंजगृहुः परम् ॥ ११० ॥

(१) मेधातिथिः । यावत्किञ्चित्तपः प्राणायाममौनयमनियमरुच्छ्रान्द्रायणानशनादि तस्य सर्वस्य फलप्रसवे
मूलमाचारोऽस्तमेव मुनयस्तपःफलार्थिनोमूलत्वेन कारणतया जगृहुः गृहीतवन्तः । आचारान्दृष्ट्वा धर्मस्यमुनयोगतिंप्राप्ति-
मतिक्लेशकरंतपस्तदाप्याचारहीनस्य न फलतीति श्रुतिः ॥ ११० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गतिंप्राप्तिं तपसः प्रधानस्य धर्मसाधनस्य मूलवृक्षस्येवमूलं प्रधानमङ्गम् ॥ ११० ॥

(३) कुहूकः । एवमिति । उक्तप्रकारेणाचाराद्धर्मप्राप्तिमृषयोबुद्ध्वा तपसश्चान्द्रायणदिःसमग्रस्य कारणमाचा-
रमनुष्ठेयतया गृहीतवन्तः । उत्तरत्र वक्ष्यमाणस्याचारस्य इह स्तुतिःशास्त्रस्तुत्यर्था ॥ ११० ॥

(४) राघवानन्दः । आचारतः आचारानुष्ठानेन शुद्धान्तःकस्मात् धर्मस्य गतिस्वरूपं दृष्ट्वा ज्ञात्वा सर्वस्य तपसो
धर्मस्य आचारोमूलमित्यनुष्ठेयतया जगृहुरित्यन्वयः ॥ ११० ॥

(५) नन्दनः । अथशिष्टपुरुषव्यवहारेण धर्मस्याचाराधीनत्वं द्रष्टव्यमिति एवमिति । यथामुनयस्तात्पर्येणधर्मान्तर-
मुपेक्षितवन्तो न तथा कदाचिदाचारम् । तस्मादाचाराधीनत्वंधर्मस्य दृष्टवन्तइत्यभिप्रायः ॥ ११० ॥

(६) रामचन्द्रः । एवमिति । अस्मिन्धर्मशास्त्रेएतद्वस्तूनांसङ्ग्रहंअष्टभिःकथयिष्ये ॥ ११० ॥

जगतश्च समुत्पत्तिसंस्कारविधिमेवच ॥ व्रतचर्योपचारंच स्नानस्यच परंविधिम् ॥ १११ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तधर्मात्र विशिष्यन्ते । श्रोतृप्रवृत्त्यर्थंचानन्तफलता धर्मस्योक्ता एतदन्तास्त्वित्यादिना ।
तत्रातीन्द्रियोऽयमनन्तोदुष्पारइति मन्वानाअवसीदेयुरतउत्साहजननार्थंशास्त्रार्थसंकलनात्मिकामनुक्रमणीपठति । एताव-
न्त्यत्र वस्तूनि नातिबहूनि शक्यन्तेश्रद्धधानैः पुरुषैर्ज्ञातुमिति संक्षेपोपदिष्टमार्गआक्रम्यमाणोन दुःसहोभवतीति ।
जगतश्च समुत्पत्तिमिति कालपरिमाणंतत्त्वभावभेदौ ब्राह्मणस्तुतिरित्यादि सर्वजगदुत्पत्तावन्तभूतम् । एतच्चार्यवादतत्रो-
क्तंन प्रमेयतया । संस्कारविधिंव्रतचर्योपचारंच गर्भाधानादयः संस्काराः तेषांविधिः कर्तव्यता ब्रह्मचारिणोव्रतचर्यायाउ-
पचारानुष्ठानमितिकर्तव्यता वा । एतद्वितीयाध्यायप्रमेयार्थः । स्नानं गुरुकुलान्निवर्तमानस्य संस्कारविशेषः । दाराणाम-
धिगमनं भार्यासंग्रहः । विवाहानांब्राह्मादीनां तत्राद्युपायानांचलक्षणं स्वरूपाधिगमनेहेतुम् । महायज्ञाः पञ्चवैश्वदेवादयः ।
श्राद्धस्य पितृयज्ञस्य नकल्पोविधिरितिकर्तव्यता । पर्यहणंशाश्वतग्रहणंच वृत्तपूरणार्थम् । एषतृतीयाध्यायार्थः ।
वृत्तीनांजीवनोपायानांधनार्जनात्मकानांभृत्यादीनांचलक्षणं स्नातकस्यसमाप्तवेदाध्ययनस्य गुरुकुलान्निवृत्तस्य व्रतानि ने-
क्षेतोद्यन्तमादित्यमित्यादीनि । एषचतुर्थीऽर्थः । भक्ष्याभक्ष्यपञ्चपञ्चनखाभक्ष्या अभक्ष्यपलाण्डादि शौचकालकृतजन्मा-
दावुदकादिनाच द्रव्यशुद्धिः । स्त्रीधर्मयोगः संबन्धोबाल युवेत्यादि । एतत्पाञ्चमिकम् । तापसाय हितंतापस्यं तपःप्रधान-
स्तापोवानप्रस्थस्तस्यधर्मस्तापस्यं मोक्षः परिव्राजकधर्मः सन्यासश्च तद्विशेषएव सच तत्रैव दर्शयिष्यन्ते । षष्ठाध्यायव-
स्त्वेतत् । राज्ञः पृथिवीपालनाधिकृतस्य प्राप्तिस्वर्यस्य धर्मोऽखिलोदृष्टार्थोऽदृष्टार्थश्च । एषसप्तमाध्यायगोचरः । कार्या-
णामृणादीनांविनिर्णयोत्रिचार्यसंशयच्छेदेनावधारणमनुष्ठेयनिश्चयः । साक्षिणांचप्रश्ने योविधिः प्राधान्यात्पृथङ्निर्देशः । आष्ट-

मिकोऽयमर्थः धर्मःस्त्रीपुंसयोरित्येकादशे स्थितयोः प्रवासवियुक्तयोश्च परस्परवृत्तिः । ऋक्थविभागधर्मः । द्यूततद्विषयो-
विधिः द्यूतशब्देनोक्तः । कण्टकादीनांचोराटविकादीनांशोधनं राष्टान्निरसनोपायः । यद्यपि विभागादिरष्टादशपदान्तर्ग-
तत्वात्कार्याणांचेत्यनेनैवोपादानादृणादानादिवन्नपृथङ्निर्देशोऽध्यायेभदानुपृथङ्निर्देशः । वैश्यशूद्रयोरुपचारः स्वधर्मानु-
ष्ठानम् । एतन्नवमे । संकीर्णानांक्षत्रियवैदेहकादीनांसंभवमुत्पत्ति मापद्धर्मच स्ववृत्त्याऽजीवतांप्राणात्यये योधर्मः । एतद्विंशमे ।
प्रायश्चित्तविधिरेकादशे । संसारगमनंधर्मेण धर्मी लक्ष्यते । संसारी पुरुषात्मा तस्य गमनंदेहद्विहान्तरप्राप्तिरथासंसार-
विषयाः पृथिव्यादयो लोका उच्यन्ते । तत्र गमनपूर्ववन्निविधमुत्तमाधममध्यमकर्मसंभवंशुभाशुभकर्मनिमित्तम् निःश्रेयसं
न केवलंकर्मनिमित्तागतयउक्तायावद्यतः परमन्यच्छ्रेयोनास्ति तदुपायोप्यध्यात्मज्ञानमुक्तम् । कर्मणांच विहितप्रति-
षिद्धानांगुणदोषपरीक्षा ॥ १११ § ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अथ संक्षिप्यशास्त्रवाच्यमर्थजातमाह जगतश्चेति श्लोकेरष्टभिः । जगतः समुत्पत्तिप्रथमे-
ध्यायेउक्तवान् । संस्कारोजातकर्मादिः व्रतचर्या नियमचरणंव्रतिनः । उपचारंगुरोःशिष्यस्य । स्नातकस्यविधिगुरुकुल-
समावृत्तसंस्कारस्य ॥ १११ § ॥

(३) कुम्भूकः । इदानींशिष्यस्य सुखप्रतिपत्तये वक्ष्यमाणार्थानुक्रमणिकामाह जगतश्चसमुत्पत्तिमिति पाषण्ड-
गणधर्माश्चेत्यन्तम् । जगदुत्पत्तिर्यथोक्ता ब्राह्मणस्तुतिश्वसर्गरक्षार्थत्वेन ब्राह्मणस्य शास्त्रस्तुत्यादिकंच सृष्टावेवान्तर्भवति ।
एतत्प्रथमाध्यायप्रमेयम् । संस्काराणांजातकर्मादीनांविधिमनुष्ठानंब्रह्मचारिणोव्रताचरणंउपचारंच गुर्वादीनामभिवादनोपास-
नादि । सर्वोद्बन्धोविभाषयैकवद्भवतिइत्येकवद्भावः । एतद्वितीयाध्यायप्रमेयम् । स्नानंगुरुकुलान्निवर्तमानस्य संस्कारविशेष-
स्तस्य प्रकृष्टविधानम् ॥ १११ § ॥

(४) राघवानन्दः । संप्रति द्वादशभिरध्यायैर्यत्प्रतिपाद्यंतत् संक्षेपतः सुखप्रतिपत्त्यर्थप्रतिजानीते जगतश्चेत्यष्ट-
भिः । समुत्पत्तिप्राप्तिरिदं तमोभूतमित्यादिनोक्तं सृष्ट्यादित्रयमिति । प्राथमिकंसंस्कारविधिजातकर्मादेर्विधानम् । व्रतचर्या-
पचारं ब्रह्मचारिव्रताचरणम् । उपचारंगुर्वादीनांपूजाभिवादानादीनि । द्वैतीयकम् । स्नानस्य समावर्तनाख्यस्य ॥ १११ § ॥

(५) नन्दनः । अथशास्त्रविषयानर्थानध्येतृप्ररोचनार्थंसंक्षेपेणानुक्रमति जगतइति । संस्कारोनिषेकादिः । व्रतच-
र्या ब्रह्मचारिधर्मः । उपचारोगुरुशुश्रूषाम् ॥ १११ § ॥

(६) रामचन्द्रः । जगतइति । प्रथमतःजगदुत्पत्तिसंस्कारविधिम् ॥ १११ § ॥

दाराधिगमनंचैव विवाहानांच लक्षणम् ॥ महायज्ञविधानंचश्राद्धकल्पंचशाश्वतम् ॥ ११२ § ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दाराधिगमनंदाराणांयादृशानां अधिगमनंकार्यम् । विवाहानांब्राह्मादीनाम् । महायज्ञोवै-
श्वदेवादिः । श्राद्धस्यपिच्यस्य कर्मणः कल्पंप्रकारम् ॥ ११२ § ॥

(३) कुम्भूकः । दाराधिगमनमिति । दाराधिगमनंविवाहः तद्विशेषाणंब्राह्मादीनांच लक्षणांमहायज्ञाःपञ्चवैश्वदेवादयः
श्राद्धस्य विधिःशाश्वतःप्रतिसर्गमनादिप्रवाहप्रवृत्त्या नित्यः । षष्टृतीयाध्यायार्थः ॥ ११२ § ॥

§ जगतश्चेत्यादि संसारगमनमित्यन्तनांसमानां श्लोकानां व्याख्या अत्रैव द्रष्टव्या

(४) राघवानन्दः । दाराधिगमनं विवाहः । विवाहानां ब्राह्मादीनां लक्षणमाच्छाद्येत्यादि । महायज्ञविधानं वैश्वदे-
वादयः पञ्चयज्ञास्तेषां विधानमनुष्ठानम् । श्राद्धकल्पं श्राद्धविधिं शाश्वतं प्रवाहानादित इति । तार्तीयके ॥ ११२ ॥

(६) रामचन्द्रः । दारेति । गम्यागम्यदाराणां अधिगमनं प्रार्भिः अष्टविवाहानां लक्षणं पञ्चयज्ञविधानं वैश्वदेवविधानम्
॥ ११२ ॥

वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानि च ॥ भक्ष्याभक्ष्यं च शौचं च द्रव्याणां शुद्धिमेव च ॥ ११३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वृत्तीनां धनार्जनानां प्राणयात्रार्थानाम् । स्नातकस्य स्नातस्य व्रतान्यभ्युदयसाधनान्य-
करणे प्रत्यवायकारीणि । भक्ष्यं दध्याद्यभक्ष्यं लशुनादि । शौचं सूतकादि । शुद्धिं द्रव्याणां तेजसादीनां शुद्धिपा-
विन्यम् ॥ ११३ ॥

(३) कुल्लूकः । वृत्तीनामिति । वृत्तीनां जीवनोपायानां क्रतादीनां लक्षणं स्नातकस्य गृहस्थस्य व्रतानि नियमाः । एत-
च्चतुर्थाध्यायप्रमेयम् । भक्ष्यं दध्यादि अभक्ष्यं लशुनादि शौचं मरणादौ ब्राह्मणादिर्दशाहादिना द्रव्याणां शुद्धिमुदकादिना ॥ ११३ ॥

(४) राघवानन्दः । वृत्तीनां जीवनोपायानां शिलोच्छादिभेदभिन्नानाम् । स्नातकस्य स्नातकादिनवकल्पस्य
व्रतानि नियमाः एतस्माद्ब्राह्मणमेतस्मान्नेति । चार्थिकम् । भक्ष्यं दध्यादि अभक्ष्यं लशुनादि । शौचं मरणादौ दशाहादिना ।
शुद्धिं द्रव्याणां चोदकादिना ॥ ११३ ॥

(५) नन्दनः । वृत्तीनां जीवनानाम् । स्नातकस्य गृहस्थस्य ॥ ११३ ॥

(६) रामचन्द्रः । वृत्तीति । द्रव्याणां वस्तूनां शुद्धिमेव च ॥ ११३ ॥

स्त्रीधर्मयोगं तापस्यं मोक्षं संन्यासमेव च ॥ राज्ञश्च धर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयम् ॥ ११४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्त्रीणां धर्मयोगं धर्मसंयोगं धर्मसंबन्धम् । तापस्यं वानप्रस्थम् । मोक्षं मोक्षहेतुकर्मसंन्या-
सं कर्मफलत्यागम् राज्ञो धर्मधर्मसाधनम् । कार्याणां व्यवहाराणाम् ॥ ११४ ॥

(३) कुल्लूकः । स्त्रीधर्मयोगमिति । स्त्रीणां धर्मयोगं धर्मोपायं एतत्पाञ्चमिकम् । तापस्यं तपसे वानप्रस्थाय हितं तस्य धर्मम् ।
मोक्षहेतुत्वात् मोक्षयति धर्मम् । यतिधर्मं त्वेपि संन्यासस्य पृथगुपदेशः प्राधान्यज्ञापनार्थः । एषषष्ठाध्यायार्थः । राज्ञोभि-
षिक्तस्य सर्वोदष्टादृष्टार्थो धर्मः । एषसप्तमाध्यायार्थः । कार्याणामृणादीनामर्थप्रत्यर्थसमर्पितानां विनिर्णयो विचार्यतत्त्व-
निर्णयः ॥ ११४ ॥

(४) राघवानन्दः । स्त्रीधर्मयोगं स्त्रीनिमित्तकधर्मोपायमिति पाञ्चमिकम् । तापस्यं वानप्रस्थानां धर्मः । मोक्षं-
मोक्षहेतुत्वात् यतिधर्मः यतिधर्मं त्वेपि संन्यासस्य पृथगुपदेशः प्राधान्यख्यापनायेति षष्ठम् । राज्ञोभिषिक्तस्य अखिलं जा-
ङ्गलदेशमित्यादि दृष्टादृष्टार्थमिति साममिकम् । कार्याणामृणादीनाम् ॥ ११४ ॥

(५) नन्दनः । स्त्रीधर्मयोगं स्त्रीधर्मलक्षणम् । तापस्यं वानप्रस्थधर्मः । कार्याणां विवादपदानाम् ॥ ११४ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्त्रीति । कण्टकानां शोधनं चौरप्रायाणां शोधनम् ॥ ११४ ॥

साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मस्त्रीपुंसयोरपि ॥ विभागधर्मं द्यूतं च कण्टकानां च शोधनम् ॥ ११५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्त्रीपुंसयोर्धर्ममन्योन्यकार्यम् । विभागधनविभजनम् । कण्टकानां चौरादीनामुपद्रवहे-
तूनां शोधनं तद्वधज्ञानोपायम् ॥ ११५ ॥

(३) कुल्लूकः साक्षीतिसाक्षिणांच प्रश्रेयद्विधानंव्यवहाराङ्गत्वेपि साक्षिप्रश्रस्य विधाननिर्णयोपायत्वात्पृथङ्निर्देशः । एतदाष्टमिकम् । स्त्रीपुंसयोर्भार्यापत्योः सन्निधावसन्निधौ च धर्मानुष्ठानंऋक्थभागस्य च धर्मम् । यद्यपि ऋक्थभागोपिकार्याणांच विनिर्णयमित्यनेनैव प्राप्तस्तथाप्यध्यायभेदात्पृथङ्निर्देशः । द्यूतविषयोविधिर्द्यूतशब्देनोच्यते कण्टकानांचौरादीनांशोधनंनिरसनम् ॥ ११५ ॥

(४) राघवानन्दः । साक्षिणांव्यवहाराङ्गत्वेपि प्रधानत्वख्यापनार्थं पृथङ्निर्देशइत्याष्टमिकम् । स्त्रीपुंसयोःसन्निधानासन्निधाननिबन्धनधर्मानुष्ठानम् । धनविभागस्य व्यवहाराङ्गत्वेपि अध्यायपृथक्कात्पृथक्त्वनिर्देशः । द्यूतद्विविधम् । कण्टकानांचोराणांशोधनंनिरसनम् ॥ ११५ ॥

(५) नन्दनः । स्त्रीपुंसधर्मोदम्पतिभ्यामन्योन्यस्मिन्कर्तव्यधर्मः ॥ ११५ ॥

वैश्यशूद्रोपचारंच संकीर्णानांच संभवम् ॥ आपद्धर्मंच वर्णानांप्रायश्चित्तिविधितथा ॥ ११६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वैश्यशूद्राभ्यांकार्यमुपचारम् । वर्णस्य संकीर्णानामनुलोमप्रतिलोमानां आपद्धर्ममापदि धर्मोत्पादनविधिम् । प्रायश्चित्तस्याधर्मनिवर्तककर्मणोविधिम् ॥ ११६ ॥

(३) कुल्लूकः । वैश्यशूद्रोपचारंचेति । वैश्यशूद्रोपचारं स्वधर्मानुष्ठानंएतन्नवमे । एवंसङ्कीर्णानां अनुलोमप्रतिलोमजानामुत्पत्तिमापदि च जीविकोपदेशंआपद्धर्मंएतद्विंशमे । प्रायश्चित्तविधिमैकादशे ॥ ११६ ॥

(४) राघवानन्दः । वैश्यशूद्रोपचारंच त्वत्त्वधर्मानुष्ठानमिति नावमिकम् । सङ्कीर्णानामनुलोमप्रतिलोमजानांसंभवमुत्पत्तिम् । आपद्धर्मजीविकान्तराद्युपदेशइति दाशमिकम् । धर्मभिक्षुकादिप्रायश्चित्तविधानमित्यैकादशिकम् ॥ ११६ ॥

(५) नन्दनः । वैश्यशूद्रोपचारंतयोराचारंधर्ममितियावत् ॥ ११६ ॥

(६) रामचन्द्रः । संसारस्य । गमनागमनंत्रिविधंकर्मकायिकवाचिककर्मसंभवंक्ष्ये ॥ ११६ ॥

संसारगमनंचैव त्रिविधंकर्मसंभवम् ॥ निःश्रेयसंकर्मणांच गुणदोषपरीक्षणम् ॥ ११७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संसारोजीवस्य गमनं उत्तमाधममध्यमधर्मसंभवत्वेन त्रिविधम् कर्मणानिःश्रेयससाधनवत्त्वम् । कर्मणामेवगुणदोषयोः पुण्यहेतुत्वपापहेतुत्वयोः परीक्षणम् ॥ ११७ ॥

(३) कुल्लूकः । संसारगमनमिति । संसारगमनदेहान्तरप्राप्तिरूपंउत्तममध्यमाधमभेदेन त्रिविधं शुभाशुभकर्महेतुकम् । निःश्रेयसमात्मज्ञानंसर्वोत्कृष्टमोक्षलक्षणस्यश्रेयोहेतुत्वात् । कर्मणांच विहितनिषिद्धानांगुणदोषपरीक्षणम् ॥ ११७ ॥

(४) राघवानन्दः । संसारगमनंचैव । तिर्यग्योन्यादिप्राप्तिम् उत्तममध्यमाधमभेदेनत्रिविधंकायिकवाचिकमानसिकंचेति निःश्रेयसंतत्त्वज्ञानात् कर्मणांविहितनिषिद्धानामिति द्वादशिकम् ॥ ११७ ॥

(५) नन्दनः । त्रिविधनोवाक्याभेदेन कर्मणानैःश्रेयसंश्रेयोनिःश्रेयसंतत्रभवन्नैःश्रेयसम् । संस्काराणांकर्मणांमध्येप्रकृष्टतरंकर्मैत्यर्थः ॥ ११७ ॥

इतिलक्षणाचार्यात्मजेन श्रीवीरभल्लप्रियसखेन श्रीनन्दनेनविरचिते मानवव्याख्याने प्रथमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

देशधर्माश्चातिधर्मान्कुलधर्माश्च शाश्वतान् ॥ पाषण्डगणधर्माश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान्मनुः ॥ ११८ ॥

(१) मेधातिथिः । तदेव साकल्याभिधानं द्रव्यति । प्रतिनियते देशेऽनुष्ठीयमाना न सर्वस्यां पृथिव्यां

ते दशधर्माः । ब्राह्मणादिजात्याश्रयाजातिधर्माः । कुलधर्माः प्रख्यातवंश प्रवर्तिताः । पाखण्डं प्रतिषिद्धव्रतचर्या । गणः-
संघातो वणिक्कारुकुशीलवादीनाम् । तान्सर्वधर्मान्भगवान्मनुरस्मिच्छास्त्र उक्तवान् ॥ ११८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । देशधर्मास्तत्तद्देशासाधारणधर्मास्तत्र तत्र प्रसङ्गेन न तु कण्ठरवेण । एवंजातिधर्मान्
ब्राह्मणादिजातिधर्मान् । कुलधर्मान् तत्तदसाधारणगोत्रधर्मान् । पाषण्डधर्मान्पाषण्डान् प्रतियेन्यैःकार्याधर्माः तेपाषण्ड-
धर्मास्तथागणधर्मानैगमादिगणधर्मास्तान्प्रति तैर्वाकर्तव्यास्तान् ॥ ११८ ॥

(३) कुल्लूकः । देशधर्मानिति । प्रतिनियतदेशेऽनुष्ठीयमानादेशधर्माः । ब्राह्मणादिजातिनियताजातिधर्माः । कुलविशे-
षाश्रयाःकुलधर्माः । वेदबाह्यागमसमाश्रयाप्रतिषिद्धव्रतचर्यापाषण्डं तद्योगात्पुरुषोपि पाषण्डः तन्निमित्तायेधर्माः पाषण्डिनो
विकर्मस्थानित्यादयःतेषांपृथग्धर्मानभिधानात् । गणःसमूहोवणिगादीनाम् ॥१८॥

(४) राघवानन्दः । देशधर्मान्प्रतिनियतदेशानुष्ठेयहोलिकादिधर्मानिति । जातिधर्मान्ब्राह्मणादिजातिनियतानध्या-
पनादीन् । कुलधर्मादीन्षष्ठेनप्राशनमासीत्यादिकान् । पाखण्डधर्मान्वैदबाह्याचारान् । गणःसंघातस्तद्युक्तानांवणिक्कारुकु-
शीलवादीनांधर्मान् ॥ ११८ ॥

(६) रामचन्द्रः । अस्मिच्छास्त्रेएतेषांवस्तूनांनिर्णयमनुःउक्तवान्पूर्वम् ॥ ११८ ॥

यथेदमुक्तवाञ्छास्त्रपुरा पृष्ठोमनुर्मया ॥ तथेदंयूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत ॥ ११९ ॥

इतिमानवेधर्मशास्त्रेभृगुप्रोक्तायांसंहितायांप्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥ ॥ ७ ॥ श्रीकृष्णाय नमः

(१) मेधातिथिः । तदेव साकल्याभिधानद्रढयति । प्रतिनियते देशेऽनुष्ठीयमाना नसर्वस्यां पृथिव्यान्ते देशधर्मा
ब्राह्मणादिजात्याश्रयाजातिधर्माः । कुलधर्माः प्रख्यातवंशप्रवर्तिताइति पाखण्डप्रतिषिद्ध व्रतचर्याऽऽवाह्य स्मृतिसमाश्रया
स्तत्रये धर्माः । पाखण्डिनोविकर्मस्थानिति । गणोगणःसंघातो वणिक्कारुकुशीलवादीनाम् । तान्सर्वधर्मान्भगवान्मनुरस्मिच्छा-
स्त्रउक्तवान् । यथेदमुक्तवाञ्छास्त्रपुरापृष्ठोमनुर्मया । तथेदंयूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत अवधानार्थः प्रतिबोधः ॥ ११९ ॥
इतिश्रीभट्टमेधातिथिविरचिते मनुभाष्ये प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥ ७ ॥ ॥ ॥ ७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यथेदमिति । यथा येन श्लोकादिनिबन्धनप्रकारेण ॥ ११९ ॥

श्रीनारायणसर्वज्ञकृतावृत्तिर्मनुस्मृतेः । कुनिबन्धकृतव्याख्योमियंदूरे निरस्यति । सर्वज्ञनारायणकृतौ मनुसमस्त
व्यवहारापातनिकानाम् प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

(३) कुल्लूकः । यथेदमिति । पूर्वमया पृष्ठोमनुयथेदंशास्त्रमभिहितवान् तथैवान्यूनानतिरिक्तंमत्सकाशाच्छृणुते-
ति ऋषीणां श्रद्धातिशयार्थंपुनरभिधानम् ॥ १९ ॥ ॥ इतिश्रीकुल्लूकभट्टकृतायामन्वर्थमुक्तावल्यामनुवृत्तौ प्रथमो-
ऽध्यायः ॥ १ ॥

(४) राघवानन्दः । अध्यायमुपसंहरति यथेदमिति ॥ ११९ ॥

॥ इतिश्रीराघवानन्दसरस्वतीविरचितायामन्वर्थचन्द्रिकायांप्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥ ७ ॥ ७

(६) रामचन्द्रः । मत्सकाशाद्भृगुःभृगोःसकाशात्पूयंऋषयोनिबोधत जानीतेति ॥ ११९ ॥

इतिश्रीरामचन्द्रविरचितायांचन्द्रिकायांमानवे धर्मशास्त्रे जगदुत्पत्तिप्रकरणं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

श्री

अथ द्वितीयाध्यायः

विद्वद्भिःसेवितःसद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ॥ हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥ १ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रथमोऽध्यायः शास्त्रप्रतिपाद्यार्थतत्त्वदर्शनार्थोऽनुक्रान्तः । जगत्सृष्ट्यादिवर्णनं च तच्छेषमेव व्याख्यातम् । इदानीं शास्त्रमारभते । तत्र प्रतिज्ञातोर्थोजगत्सर्गादिवर्णनेन व्यवसायाद्विस्मृतइत्यनुसंधानार्थपुनः शिष्यान्प्रति बोधयति । यो धर्मो भवतां शुश्रूषितस्तमिदानीं मयोच्यमानं निबोर्तावहिताभूत्वा शृणुत । प्रथमेऽध्याये पञ्चषाः श्लोकाः प्रयोजनादिप्रतिपादनार्थाः । परिशिष्टमर्थवादरूपम् । तच्चेन्नातिसम्यगवधारितं धर्मपरिज्ञाने महती क्षतिः । इह तु साक्षाद्धर्मउपदिश्यते । ततोऽवधानवद्भिरवधारणीयोऽयमर्थ इति पुनरुपन्यासफलम् । धर्मशब्द उक्तार्थोऽष्टकाद्यनुष्ठानवचनः । बाह्यदर्शनिनस्तु भस्मकपालादि धारणमपि धर्ममन्यन्ते । तन्निवृत्त्यर्थं विद्वद्भिरित्यादीनि विशेषणपदानि । विद्वांसः शास्त्रसंस्कृतमतयः प्रमाण प्रमेयस्वरूपविज्ञानकुशलाः । ते च वेदार्थविदो विद्वांसो नान्ये यतो वेदादन्यत्र धर्मप्रति ये गृहीतप्रामाण्यास्ते विपरीतप्रमाणप्रमेयग्रहणादविद्वांस एव । एतच्च भीमांसातस्तत्त्वतो निश्चीयते । सन्तः साधवः प्रमाणपरिच्छिन्नार्थानुष्ठायिनो हिताहितप्राप्तिपरिहारार्था ययन्तवन्तः । हिताहितं च दृष्टं प्रसिद्धम् । अदृष्टं च विधिप्रतिषेधलक्षणम् । तदनुष्ठानबाह्या असन्त उच्यन्ते । अत उभयमत्रोपात्तं ज्ञानमनुष्ठानं च । विद्यमानतावचनः सच्छब्दो न संभवत्यानर्थक्यात् । यद्धि येन सेव्यते तत्तेन विद्यमानेनैव सेवानुष्ठानशीलता । भूतप्रत्ययेन नादिकालप्रवृत्ततामाह । नायमष्टकादिधर्मोऽद्यत्वे केनचित्प्रवर्तित इतरधर्मवदेतदेव नित्यशब्देन दर्शयति । यावत्संसारमेष धर्मः । बाह्यधर्मस्तु सर्वे पूर्वदुःशीलपुरुषप्रवर्तिताः कथन्तं कालं लब्धावसरा अपि पुनरन्तर्धीयन्ते । नहि व्यामोहो युगसहस्रानुवर्ती भवति । सम्यग्ज्ञानमविद्यया संच्छन्नमपि तत्क्षये निर्मलतामेवैति । न हितस्य निर्मलतया छेदः संभवः इति । अद्वेषरागिभिर्दबाह्यधर्मानुष्ठाने द्वितीयं कारणम् । व्यामोहः पूर्वमुक्तः । अनेन लोभादय उच्यन्ते रागद्वेषग्रहणस्य प्रदर्शनार्थत्वात् । लोभेन मत्ततत्तादिषु प्रवर्तयन्ति । अथवा रागद्वेषयोर्लोभोन्तर्भूतः । आत्मनिये भोगोपयोगासरेण जीवितुमसमर्थालिङ्गधारणादिना जीवन्ति । तदुक्तं भस्मकपालादि धारणं नग्रता काषाये च वाससीबुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति । द्वेषो विपरीतानुष्ठानकारणम् । द्वेषप्रधाना हि नातीव तत्त्वावधारणे समर्था भवन्त्यतोऽधर्ममेव धर्मत्वेनाध्यवस्यन्तीति । अथवा भावपि रागद्वेषौ तत्त्वावधारणे प्रतिबन्धकौ । सत्यामपि कस्यां चिच्छास्त्रवेदनमात्रायां लब्धेऽपि विद्वद्यपदेशे रागद्वेषवत्तया विपरीतानुष्ठानं संभवति । जानाना अपि यथावच्छास्त्रं कस्यचिद्वैष्यस्योपघाताय प्रियस्य चोपकाराय कौटसाक्ष्याद्यधर्मसेवन्ते तेषां विदमूलमेवानुष्ठानमित्यशक्यनिश्चयं कारणांतरस्य रागद्वेषलक्षणस्य संभवादतस्तत्प्रतिषेधः । अत्र चोच्यते सद्भिरिति सच्छब्दः साधुतावचनो वर्णितः । क्रीदशीच साधुता तस्य यदि रागद्वेषाभ्यामधर्मे प्रवृत्तिः संभाव्यते तस्मादद्वेषरागिभिरिति न वक्तव्यम् । एवं तर्हि हेतुत्वेनोच्यते । यतीरागादिर्वर्जिता अतः । सन्तो भवन्ति । रागद्वेषप्रधानत्वाभावश्चात्र प्रतिपाद्यते । न सर्वेण सर्वतद्भावयोग्यावस्थागतस्य हेतोर्निरन्वयमुच्छिद्यते । तथाच श्रुतिः नहवै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्तीति । रागो-

विषयोपभोगगृह्यता तत्प्रतिषेधव्यापारोद्देशः । लोभोमात्सर्यमसाधारण्येन स्पृहा परस्य चैतन्माभूद्विभवोऽप्यस्यापीति । चित्तधर्माएते । अथवा चेतनावत्सुखीसुतमुत्तद्धान्धवादिषु स्नेहोरामः लोभोऽचेतनेष्वपि धनादिषु स्पृहा । तद्दयेन तद्दयशब्देन चित्तमाचष्टे । अनुज्ञानंच तद्दयस्य प्रसादः । एषाहि स्थितिरन्तर्दयवर्तानिबुद्ध्यादितत्त्वानि । यद्यपि बाह्यहिंसाभक्ष्यभक्षणादिषु मूढाधर्मबुद्ध्या प्रवर्तन्ते तथापि तद्दयाक्रोशनतेषांभवति । वैदिके त्वनुष्ठाने परितु-
प्यति मनः । तदस्य सर्वस्यायमर्थः । न मया तादृशो धर्म उच्यते यत्रैते दोषाः सन्ति किंतु य एवंविधैर्महा-
त्मभिरनुष्ठीयते त्वयंच यत्र चित्तंप्रवर्तयति वा । अत आदरातिशय उच्यमानेषु धर्मेषु युक्तः । अथवा तद्दयवेदः । सस-
धीतो भावनारूपेण तद्दयस्थितो तद्दयम् । ततश्च त्रितयमत्रोपात्तम् । यदि तावदविचार्यैव स्वाग्रहात्काचित्प्रवृत्तिः कस्यचि-
त्ताप्यत्रैव युक्ता । एतद्दयेनाभ्यनुज्ञातइत्यनेनोच्यते । अथाप्ययं न्यायो महाजनोयेन गतः सपन्थाइति तदप्यत्रैवा-
स्ति । विद्वांसो ह्यत्र निष्कामाः प्रवृत्तिपूर्वा अनिन्द्याश्च लोके । अथाप्रामाणिकी प्रवृत्तिः सापि वेदप्रामाण्यात्सिद्धैवेति । सर्व-
प्रकारंप्रवृत्त्याभिमुख्यमनेन जन्यते । अन्यत्वे तं लोकं सामान्येन धर्मलक्षणार्थं व्याचक्षते । एवंविधैर्यः सेव्यते स धर्मोऽवगन्त-
व्यः । प्रत्यक्षवेदविहितस्य स्मार्तस्य वाचारतः प्राप्तस्य सर्वस्यैतल्लक्षणं विद्यते । अत्र तु य एतैः सेव्यते तं धर्मं निबोधते-
ति पाठो युक्तः ॥ १ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अथ प्रकृतप्रतिज्ञातं धर्मसाधनमभिधातुमवतारयति । विद्वद्भिर्विद्यावद्भिः सद्भिराचारपरैः
द्वेषः क्रोधानुबन्धो रागो भिलाषानुबन्धः तद्ग्रहितैः सेवितो यो धर्मो धर्महेतुः तथा सेव्यमानोऽपि तद्दयेन शङ्कावतां नाभ्य-
नुज्ञायते चेन्नासौ धर्मोऽत उक्तं तद्दयेनेति । अभ्यनुज्ञातः स्वीकृतः एवंविधो यो धर्मस्तं अस्माच्छास्त्रान्निबोधत । तत्तत्काल-
प्रख्यमानश्रुतिप्रतिपादितोऽपि हि धर्मस्ततएव प्रसिद्धोऽपि दुरुहपदवाक्यार्थसंकीर्णश्रुतिप्रमाणकतया स्मृतिमपेक्षतएवं ॥ १ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रकृष्टपरमात्मज्ञानरूपधर्मज्ञानाय जगत्कारणं ब्रह्म प्रतिपाद्याधुना ब्रह्मज्ञानाङ्गभूतं संस्कारादिरूप-
धर्मप्रतिपादयिषु धर्मसामान्यलक्षणं प्रथममाह विद्वद्भिरिति । विद्वद्भिर्वेदविद्भिः सद्भिर्द्धर्मिकैरागद्वेषशून्यैरनुष्ठितः । तद्दयेना-
भिमुख्येन ज्ञातइत्यनेन श्रेयःसाधनमभिहितम् । तत्र हि स्वरसान्मनोभिमुखीभवति वेदविद्भिर्ज्ञातइति विशेषणोपादान-
सामर्थ्यात् ज्ञातस्य वेदस्यैव श्रेयःसाधनज्ञाने कारणत्वं विवक्षितम् । खड्गधारिणा हतइत्युक्ते धृतखड्गस्यैव हनने प्राधान्य-
मतो वेदप्रमाणकः श्रेयःसाधनधर्मइत्युक्तम् । एवंविधो यो धर्मस्तं निबोधत । उक्तार्थसंग्रहश्च लोकाः । वेदविद्भिर्ज्ञातइति प्रयुञ्जानो वि-
शेषणम् । वेदादेव परिज्ञातो धर्मइत्युक्तवान्मुः ॥ तद्दयेनाभिमुख्येन ज्ञातइत्यपि निर्दिशन् । श्रेयःसाधनमित्याह तत्र ह्यभिमुखं-
मनः ॥ वेदप्रमाणकः श्रेयःसाधनधर्मइत्यतः । मनूक्तमेव मुनयः प्रणिन्युर्धर्मलक्षणम् ॥ अतएव हारीतः अथातो धर्मव्याख्यास्यामः
श्रुतिप्रमाणको धर्मः श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च । भविष्यपुराणे धर्मः श्रेयःसमुद्दिष्टं श्रेयोभ्युदयलक्षणम् । स तु पञ्चवि-
धः प्रोक्तो वेदमूलः सनातनः ॥ अस्य सम्यगनुष्ठानात्त्वर्गो मोक्षश्च जायते । इह लोके सुखैश्वर्यमतुलं च खगाधिप ॥ श्रेयःसाध-
नमित्यर्थः । जैमिनिरपि इदमपि धर्मलक्षणमसूत्रयत् चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मइति । उभयचोदनया लक्ष्यतेऽर्थः श्रेयःसाधनं ज्यो-
तिष्टोमादिः अनर्थः प्रत्यवायसाधनं श्येनादिः तत्र वेदप्रमाणकं श्रेयःसाधनं ज्योतिष्टोमादिधर्मइति सूत्रार्थः । स्मृत्यादयोऽपि वे-
दमूलत्वेनैव धर्मप्रमाणमिति दर्शयिष्यामः । गोविन्दराजस्तु तद्दयेनाभ्यनुज्ञातइत्यन्तःकरणविचिकित्साशून्यइति व्याख्यात-
वान् । तन्मते वेदविद्भिरनुष्ठितः संशयरहितश्च धर्मइति धर्मलक्षणस्यात् । एवं च दृष्टार्थग्रामगमनादिसाधारणं धर्मलक्षणं-
विचक्षणान् श्रद्धते । मेधातिथिस्तु तद्दयेनाभ्यनुज्ञातइति यत्र चित्तंप्रवर्तयतीति व्याख्यायाथवा तद्दयवेदः सस्रधीतो-
भावनारूपेण तद्दयस्थितो तद्दयमित्युच्यतइत्युक्तवान् ॥ १ ॥

(४) राघवानन्दः । एवमाचारतोदृष्टा धर्मस्य मुनयोगतिमित्यनेन पूर्वाध्याये धर्मउपक्षिप्तस्तमनुष्ठानविशेषानुष्ठेयत्वेनाह विद्वद्भिरिति । विद्वद्भिः धर्मबुद्ध्या अनुष्ठेयत्वेन वेदवेदार्थविद्भिः सद्भिः वेदप्रमाणकाग्रिहोत्राद्यनुष्ठानवद्भिः एतेन बौद्धादीनां परजिगीषाकुतूहलादिना वेदतत्त्वार्थविवेचिणो वेदार्थाननुष्ठानत्वेनां शिष्टताव्याख्याता । अद्वेषरागिभिरित्यनेन श्येनयागवामदेव्युपासनादीनां वेदबोधितत्वेऽपि दृष्टार्थतया न धर्मतेति दर्शितम् । तद्दयेनेति शास्त्रद्वेषे सति साधूनां मनस्थतीवेद्योः स धर्मः । तथाच व्यासः वैकल्पिके आत्मनुष्ठिः प्रमाणमिति । तं निबोधतेत्यन्वयः । इति तु कामयमान एतावान्वैकाम इति श्रुतेरत्यन्तकामात्मता निन्दिता ॥ १ ॥

(५) नन्दनः । धर्मो नित्यं सेवितो धर्मत्वेन नित्यमनुष्ठितो न शोकमोहादिना कादाचित्केन निमित्तेन किञ्च तद्दयेनाभ्यनुज्ञात इदमेव श्रेय इति त्वारस्य युक्तेन तद्दयेन स्वीकृतो ननु क्रोशता । एवं भूतो योऽर्थस्तं धर्मव्यवस्यत हे महर्षयो निश्चिनुत । तं धर्मव्यवस्यते तिसाधु पाठः ॥ १ ॥

(६) रामचन्द्रः । विद्वद्भिः सेवितः धर्मः तं धर्मं निबोधत कीदृशैः सद्भिः नित्यं अद्वेषरागिभिः रागद्वेषरहितैः यः धर्मः तद्दयेन अभ्यनुज्ञातः मनसा ज्ञातः ॥ १ ॥

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्यकामता ॥ काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ २ ॥

(१) मेधातिथिः । फलाभिलाषः कर्मप्रवृत्तेर्हेतुस्य सकामात्मा तद्भावः कामात्मता । तत्प्रधानता आत्मशब्देन प्रतिपाद्यते । सान प्रशस्ता निन्दिता अतश्च निन्दया प्रतिषेधानुमानेन न कर्तव्येति प्रतीयते । अर्थात् सौर्यादीनां सर्वेषां काम्यानां निषेधोऽयम् । अथवा किं विशेषेण ब्रूमः सौर्यादीनामिति सर्वमेव क्रियानुष्ठानफलसिद्धार्थं स्वरूपनिष्पत्तये । नच काचन निष्फला क्रिया । यदपि न कुर्वीत वृथा चेष्टामिति भस्मनिहुतं विषयान्तरे देशराजवार्ताद्यन्वेषणं तत्रापि क्रियाफलं विद्यते किंतु प्रधानफलं स्वर्गग्रामादि पुरुषस्य यदृष्टादृष्टयोरुपयुज्यते तदभावाद् वृथा चेष्टेत्युच्यते । अथोच्यते । भवतु क्रियाफलवती तद्विषयेऽभिलाषो न कर्तव्यो वस्तुत्वाभावात्फलं भविष्यति । अत्रापि सौर्यादीनामफलत्वं काम्यमानं फलं ज्ञातं नानिच्छोस्तद्भविष्यतीति । नच लौकिकी प्रवृत्तिर्दृश्यते फलाभिसन्धिनिरपेक्षा । नचात्र विशेषः श्रुतावैदिकेषु कर्मसु फलनाभिसंधेयमिति । तत्र फलवत्सु श्रुतेषु कामनानिषेधादप्रवृत्तौ श्रुतिविरोधः । नित्येषु तु प्राप्तिरेव नास्ति । विशेषानुपादानाच्च लौकिकव्यापारनिवृत्तौ दृष्टविरोधः । तदिदमापतितम् न किञ्चित्केनचित्कर्तव्यं सर्वैस्तूष्णींभूतैः स्थातव्यम् । उच्यते । यत्तावदुक्तं काम्येषु सौर्यादिषु निषेधप्रसङ्ग इति तत्र वक्ष्यति यथा संकल्पितां श्रेहसर्वान् कामान् समभुनक्ति । निषेधे हि कुतः संकल्पः कुतश्च कामावाप्तिः । तदपि विशेषानुपादानाल्लौकिकेऽपि प्रसङ्ग इति । तत्रोपात्त एव विशेषः यो धर्मस्तं निबोधतेति धर्मस्य प्रकृतत्वात् । यदप्युक्तं नित्येषु फलाश्रयणात्फलाभिसन्धेः प्राप्तिरेव नारित किं निषेधेनेति तत्राप्युच्यते । फलाभावात्कश्चित्सम्यक्शास्त्रार्थमजानानो न प्रवर्तते । सौर्यादिषु चाश्रुतफलेषु फलाभिसन्धिपूर्विकां प्रवृत्तिं दृष्ट्वा सामान्यतो दृष्टेन यत्कर्तव्यं तत्फलहेतोः क्रियत इत्यश्रुतमपि फलमभिसंधीतं तन्निवृत्त्यर्थमिदमारभ्यते । यद्यप्ययं न्यायो यत्फलवच्छ्रुतं तत्तथैव कर्तव्यम् यदापि निष्फलमेव कर्तव्यतया शास्त्रेण यावज्जीवादिपदैर्विनैव विन्वजिज्ञायेन फलकल्पनया वगमितं तस्यान्यथानुष्ठाने प्रसङ्ग एव नास्ति तथापि यएतन्त्यायं प्रतिपत्तुमसमर्थः सवचनेन प्रतिपाद्यते । न्यायतः प्रतिपत्तौ हि गौरवम् । वचनात्तु लघीयसीं सुखप्रतिपत्तिरिति सुहृद्भूत्वा प्रमाणसिद्धमर्थमुपदिशति स्म । नचैवेहास्यकामता । कामशब्दोऽयं यद्यपि तच्छ्रयवचनो दृष्टस्तथापि तस्येहासंभवात् कामइच्छाभिलाष इत्यनर्थान्तरम् । तत्र वक्ष्यमाणपर्यालोचनया फलाभिलाषेण-

न सर्वत्र प्रवर्तितमित्ययमर्थःस्थास्यति । परस्तु कामात्मतामिच्छामात्रसंबन्धमात्रपदार्थमन्वानश्चोदयति । नचैवेहास्त्य-
कामतेति । नचेह लोके काचिदकामिनः प्रवृत्तिरस्तीत्यर्थः । आस्तांतावत्कृषिवाणिज्यादि व्युत्पन्नबुद्धिना क्रियमाणम-
यः स्वयवेदाधिगमोवेदाध्ययनंबालः कार्यते पित्रादिना ताड्यमानःसोपि न काममन्तरेणोपपद्यते । अध्ययनंहि शब्दोच्चा-
रणरूपम् । नचोच्चारणमिच्छया विना निर्घातध्वनिवदुत्तिष्ठति । इच्छति चेत्किमिति ताड्यतइति सैव तथेच्छोपजन्यते ।
अभिमतेतु विषये स्वयमुपजायतइत्येतावान्विशेषः । यश्चायंवैदिकोवेदविहितकर्मयोगोदर्शपूर्णमासादिकर्मानुष्ठाने नित्यत्वे-
नावगतः सोपि न प्राप्नोति । नह्यनिच्छतोदेवतोद्देशेन त्वद्रव्य त्यागोपपत्तिः । तस्मात्कामात्मतानिषेधे सर्वश्रौतस्मार्तकर्मनि-
षेधः प्रसक्तइति ॥ २ ॥

(२) सर्वज्ञानाराधणः । धर्ममात्रमभिधेयतया प्रतिज्ञातमत्रावमृशति । कामात्मता रागपरता न प्रशस्ता
आयत्यानाभ्युदयहेतुः कामतः कर्मणि प्रवृत्तौ पुनःपुनर्वासनानुच्छेदे संसारानुच्छेदात् । न चाकामताइहलोकेस्ति ।
संभवत्वादुपपादयतिकाम्योहीति । वेदानामधिगमोध्ययनंकाम्यःकामविषयःकामनोपनिबद्धयजनयाजनादितात्पर्येण
तत्र प्रवृत्तेरध्ययनानन्तरंकर्तव्योपि वैदिकोवेदप्रतिपादितःकर्मयोगःकर्मप्रयोगःकाम्यःकामनाविषयःतद्वाराध्ययनमपित-
थेत्यर्थः ॥ २ ॥

(३) कुतूहकः । कामात्मतेति । फलाभिलाषशीलत्वंपुरुषस्य कामात्मता सा न प्रशस्ता बन्धहेतुत्वात् । स्वर्गादि-
फलाभिलाषेण काम्यानि कर्माण्यनुष्ठीयमानानि पुनर्जन्मने कारणंभवन्ति । नित्यनैमित्तिकानि त्वात्मज्ञानसहकारितया
मोक्षाय कल्पन्ते । न पुनरिच्छामात्रमनेन निषिध्यतेतदाह न चैवेहास्त्यकामतेति । यतोवेदस्वीकरणंवैदिकसकलधर्मसंब-
न्धश्चेच्छाविषयएव ॥ २ ॥

(४) राघवानन्दः । सर्वेषांकर्तव्यस्य तु काममूलता प्रत्यक्षसिद्धा तस्तत्रव्यवस्थामाह कामात्मतेति चतुर्भिः ।
इहेति प्राणिभूमौअतीव फलाभिलाषिता कामात्मता तदभावस्त्वकामता तथार्चिककार्यमित्यपेक्षायामाह वेदाधिगमेति
वेदाधिगमःवेदतदर्थज्ञानंबैदिकवेदप्रमाणकोऽग्निहोत्रादिः चकारात्स्मार्तोपि धर्मपत्नीसंयोगादिःकाम्यः । एतेनैवपुमर्थसि-
द्धेः न सर्वत्र काममूलप्रवृत्तिरितिभावः ॥ २ ॥

(५) नन्दनः । अस्मिञ्छास्त्रेऽनुशिष्यमाणस्य धर्मस्य प्रवृत्तिफलस्यापि निवृत्तिफलत्वंक्रियाविशेषसाध्यमिति च-
तुर्भिः श्लोकैराह कामात्मतेति । चोदितेषु कर्मसु फलाभिसंधिः कामात्मता सा न प्रशस्ता निन्दिता प्रतिषिद्धेतिया-
वत् । न च कर्मणः स्वरूपप्रवृत्तिनिष्कामता प्रशस्तेत्युक्तं नचैवेहाऽस्त्यकामतेति । ईहा प्रवृत्तिः । अत्रहेतुरुक्तः
काम्योहीति । वेदाध्ययनंवेदार्थज्ञानंच वेदाधिगमः कर्मयोगः पञ्चमहायज्ञादिकः काम्यःकामसाध्यःतौकाममन्तरेण-
दुष्करावित्यभिप्रायः ॥ २ ॥

(६) रामचन्द्रः । कामेआत्मा यस्य सः कामात्मनोभावः कामात्मताप्रशस्ता न सकामता ईहाः चेष्टाः प्रशस्ता न
वेदाधिगमः काम्यःवेदानांअधिगमःअध्ययनंकाम्यः कामार्हः च पुनः कर्मयोगः कर्ममार्गः वैदिकः वेदैश्रोक्तः काम्यः
कार्यः ॥ २ ॥

संकल्पमूलःकामोवैयज्ञाःसंकल्पसंभवाः ॥ व्रतानिनियमधर्माश्च सर्वेसंकल्पजाःस्मृताः ॥ ३ ॥

(१) मेघानिधिः । ततश्च यदुक्तंयागस्य कामेन विना नस्वरूपनिष्पत्तिरिति तदनेन विस्पष्टं कृत्वा कथयति ।

संकल्पोयागादीनामूलं कामस्यच । यागादींश्चिकीर्षन्वश्यंसंकल्पकरोति । संकल्पे च क्रियमाणे तत्कारणेन कामेन सं-
निधातव्यमनिष्टेनापि यथा पाकार्थिनोज्वलनं कुर्वतस्तत्समानकारणोद्धमोऽप्यनिष्टो जायते । तत्र नशङ्क्यं यज्ञादयः क-
रिष्यन्ते कामश्च न भविष्यतीति । अथकोयंसंकल्पोनाम यः सर्वक्रियामूलम् । उच्यते । यच्चैतःसंदर्शनं नाम यदनन्तरं-
प्रार्थनाध्यवसायौ क्रमेण भवतः । एते हि मानसाव्यापाराः सर्वक्रियाप्रवृत्तिषु मूलतां प्रतिपद्यन्ते । नहि भौतिकाव्यापारा-
स्तमन्तरेण संभवन्ति । तथाहि प्रथमपदार्थत्वरूपनिरूपणम् । अयंपदार्थइमामर्थक्रियांसाधयतीति यज्ज्ञानंसद्वह संकल्पा-
ऽभिप्रेतः । अनन्तरंप्रार्थना भवति इच्छासैव कामः । कथमहमिदमनेन साधयामीतीच्छायां सत्यामध्यवस्यति करोमीति
निश्चिनोतिसोऽध्यवसायः । ततःसाधनोपादाने बाह्यव्यापारविषये प्रवर्तते । तथाहि बुभुक्षित आदौ भुजिक्रियां पश्यति
ततइच्छति भुञ्जीयेति ततोऽध्यवस्यति व्यापारान्तरेभोविनिवृत्त्य भोजनं करोमीति ततः कर्मकरणस्थानाधिकारिणा-
ह सजीकुरुत रसवर्तिसिचारयतेति । नन्वेवंसति न यज्ञादयः संकल्पमात्राद्भवन्ति अपितु संकल्पप्रार्थनाध्यवसाये-
भ्यः तत्र किमुच्यते यज्ञाः संकल्पसंभवाइति । संकल्पसाध्यकारणत्वाददोषः । अतएवोत्तरत्र नाकामस्य क्रिया काचि-
दृश्यतइति वक्ष्यति । व्रतानि मानसोऽध्यवसायोव्रतमिदमया यावज्जीवंकर्तव्यमिति यद्विहितम् यथा स्नातकव्रतानि ।
यमधर्माः प्रतिषेधरूपाः । आर्हिसादयः कर्तव्येषु प्रवृत्तिर्निषिद्धेभ्योनिवृत्तिर्नान्तरेण संकल्पमस्ति ॥ ३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तथाऽपरमन्याह संकल्पेति । संकल्पएतत्फलमसंपद्यतामिति फलाभिलाषःतन्मूलः
कामःसाक्षात्प्रयत्नहेतुःतत्साधनविषयेच्छा । न चैतावता वैदिककर्मणांकामहेतुकता सिध्यतीत्यतउक्तंयज्ञाइति । यज्ञाः
पाकयज्ञहविर्यज्ञसोमयज्ञजपयज्ञरूपाः । व्रतानि स्नातकव्रतादीनि । यमानिषिद्धाननुष्ठाननियमाः । सर्वे संकल्पजाःसंक-
ल्पाच्चकामइति । सर्वाणि रागजानि रागश्च तद्विरुद्धविषयद्वेषानुबन्धः । ततःकथंधर्मद्वेषिणांविदुषांरागद्वेषराहित्यंसंभवती-
त्याक्षेपतात्पर्यम् ॥ ३ ॥

(३) कुल्लूकः । अत्रोपपत्तिमाह संकल्पमूलइति । अनेनकर्मणेदमिष्टंफलंसाध्यतइत्येवंविषया बुद्धिः संकल्पः ।
तदनन्तरमिष्टसाधनतयावगते तस्मिन्निच्छा जायते तदर्थप्रयत्नंकुरुते चेत्येवंयज्ञाः संकल्पप्रभवाः । व्रतानि यमरूपाश्च
धर्माश्चतुर्थाध्याये वक्ष्यमाणाः । सर्वइत्यनेन पदेनान्येऽपि शास्त्रार्थाः संकल्पादेव जायन्तइच्छामःतरेण तान्यपि न संभव-
न्तीत्यर्थः । गोविन्दराजस्तु व्रतान्यनुष्ठेयरूपाणि यमधर्माः प्रतिषेधार्थकाइत्याह ॥ ३ ॥

(४) राघवानन्दः । सच कामःसंकल्पमूलइत्याह संकल्पमूलइति काम जानामि ते मूलंसंकल्पात्किलजायसे
इत्याद्युक्तेः । संकल्पोनामानेन कर्मणेदंफलंसाध्यमिति निश्चयः । तदनन्तरमिष्टसाधनतयावगते तस्मिन्कर्मणि कामः
तदनन्तरंप्रयत्नइत्येवं यज्ञाःसंकल्पसंभवाइति मनसा संकल्पयति वाचा विलपति कर्मणा चोपपादयतीति श्रुतेः ॥ ३ ॥

(५) नन्दनः । एतदेवप्रपञ्चयतिसंकल्पमूलमिति । संकल्पः कर्मानुष्ठानाध्यवसायः तस्य मूलंकारणंकामः । यज्ञा-
इतिगृहस्थधर्मोल्लेख्यते । व्रतानोति ब्रह्मचारिधर्मः । यमधर्माइतिवानप्रस्थसन्यासिधर्माः ॥ ३ ॥

(६) रामचन्द्रः । कामः इच्छासंकल्पमूलः कामः । संकल्पः कर्म मानसमित्यमरः ॥ ३ ॥

अकामस्य क्रियाकाचिदृश्यते नेह कर्हिचित् ॥ यद्यद्वि कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥ ४ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वेण शास्त्रीये प्रवृत्तिनिवृत्ती संकल्पाधीने व्याख्याते । अनेन लौकिकेषु कर्मसु तदधीन
तोच्यतइति विशेषः । नेह लोके कर्हिचित्कदाचिदपि जाग्रदवस्थायां किञ्चिदनुष्ठेयत्वेनानिच्छतःसंभवति । यत्किञ्चिल्लौकि-
कंवैदिकंवा कुरुते कर्मविहितंप्रतिषिद्धं च तत्सर्वकामस्य चेष्टितम् ॥ ४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । किंचाद्यापि या काचित्क्रिया काममूलैवेत्याह अकामस्येति । कारणप्रोषितंव्यतिरेकमुक्तान्वयमाह यद्यद्दीति ॥ ४ ॥

(३) कुड्मूकः । अत्रैव लौकिकनियमं दर्शयति अकामस्येति । लोके या काचिद्भोजनगमनादिक्रिया साप्यनिच्छतो न कदाचिद्दृश्यते । ततश्च सर्वकर्म लौकिकं वैदिकं च यद्यत्पुरुषः कुरुते तत्तदिच्छाकार्यम् ॥ ४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच प्रवृत्तेः काममूलतामन्वयव्यतिरेकाभ्यामाह अकामस्येति । नात्र प्रमाणयुक्त्यपेक्षेति भावः ॥ ४ ॥

(५) नन्दनः । आश्रमाणां तत्तत्प्रधानत्वाद्यतिरेकान्वयाभ्यामेतदेव निगमयति अकामस्येति ॥ ४ ॥

(६) रामचन्द्रः । कर्हिचित्कदाचित् अकामस्य निष्कामस्य क्रिया न दृश्यते ॥ ४ ॥

तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम् ॥ यथा संकल्पितांश्चेह सर्वान्कामान्समश्नुते ॥ ५ ॥

[असद्वृत्तस्तु कामेषु कामोपहतचेतनः ॥ नरकंसमवाप्नोति तत्फलं न समश्नुते ॥ १ ॥

तस्माच्छ्रुतिस्मृतिप्रोक्तं यथाविध्युपपादितम् ॥ काम्यं कर्मैह भवति श्रेयसे न विपर्ययः* ॥ २ ॥]

(१) मेधातिथिः । हेतुत्वाच्चेष्टितं कामस्यैवेत्युक्तं तदिदमसिद्धं कामात्मता न प्रशस्ता न चानया विना किंचिदनुष्ठानमस्ति अत्र प्रतिविधत्ते । तेषु कामेषु सम्यग्वर्तितव्यम् । कापुनः सम्यग्वृत्तिः यद्यथा श्रुतं तत्तथैवानुष्ठेयं नित्येषु फलानां भिसंधेयम् । अश्रुतत्वात्काम्येषु त्वनिषेधः । तथा तेषां श्रुतत्वात्फलसाधनतयैव तानि विधितो गम्यन्ते । फलानिच्छोस्तदनुष्ठानमश्रुतकारणं स्यात् । नित्येषु फलाभिसंधिर्व्यामोह एव । न ह्यभिसंधिमात्रात्प्रमाणतोऽनवगते फलसाधनत्वे फलमुत्पद्यते । एवं कुर्वन् गच्छति प्रामोत्यमरलोकताम् अमराः देवास्तेषां लोकः स्वर्गः तन्निवासादमरेषु लोकशब्दः स्थानस्थानिनोरभेदात् । मन्त्राः क्रोशन्तीति वत् । तेनायं समासः अमराश्च ते लोकाश्च अमरलोकास्तद्भावः अमरलोकता देवजनत्वं प्राप्नोति देवत्वं प्राप्नोतीत्यर्थः । वृत्तानुरोधादेवमुक्तम् । अथवाऽमरांल्लोकयति पश्यत्यमरलोकः । कर्मण्यणुत्तदन्ताद्भावप्रत्ययः । देवदर्शोऽसंपद्यते । अनेनापि प्रकारेण स्वर्गप्राप्तिरेवोक्ता भवति । अथवाऽमर इव लोकयते लोके । अर्थवादश्चायं नात्र स्वर्गः फलत्वेन विधीयते नित्यानां फलाभावात्काम्यानां च नानाफलश्रवणात् । तेन स्वर्गप्राप्त्या शास्त्रानुष्ठानसंपत्तिरेवोच्यते लक्षणया यदर्थकर्मण्यनुष्ठानं तत्संपद्यत इत्यर्थः । तत्र नित्यानां प्रत्यवायानुत्पत्तिर्विध्यर्थसंपत्तिर्वाप्रयोजनम् । काम्येषु तु यथा संकल्पितान्यथा श्रुतं संकल्पितान्प्रयोगकाले यस्य कर्मणो यत्फलं श्रुतं तत्संकल्पादभिसंधाय मनसा कामयित्वेदमहमतः फलं प्राप्नुयामिति । ततः सर्वान्कामान्काम्यान्तर्धानं समश्नुते प्राप्नोति । अतः परित्यक्ता संकटापत्तिः यतो न सर्वविषयः कामो निषिध्यते किं तर्हि नित्येषु फलाभिलाषलक्षणः । साधनसंपत्तिस्तु काम्यैव । ब्रह्मवादिनस्तु सौर्यादीनां निषेधार्थं कामात्मतेति मन्यन्ते । फलार्थितया क्रियमाणा बन्धात्मका भवन्ति । निष्कामस्तु ब्रह्मार्पणन्यायेन कुर्वन्मुच्यते । तदुक्तं भगवता कृष्णद्वैपायनेन माकर्मफलहेतुभूः । तथा साधनानामकृत्स्नत्वाच्चौर्ख्यात्कर्मकृतस्तथा । फलस्य चाभिसंधानादपवित्रो विधिः स्मृत इति । बहवश्चात्र व्याख्या विकल्पा असारत्वात् न प्रदर्शिताः ॥ ५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तत्र समाधिः तेष्विति । तेषु यज्ञादिषु सम्यक्कामपरतां विहाय केषुचिद्विधैः केषुचित्तत्कालीनपतितावश्यसंपाद्यफलार्थतया वर्तमानोऽमरलोकतां त्रियते यत्र सोमस्तादृशो लोको यत्र तद्भावं मोक्षं गच्छति भगवन्प्राप्तैः फलार्थं कृतैर्यथा संकल्पितान् कामान् काम्यानि फलान्यश्नुते ॥ ५ ॥

(३) कङ्कः । सम्प्रति पूर्वोक्तं फलाभिलाषनिषेधं नियमयति तेषु सम्यग्वर्तमान इति । नात्रेच्छानिषिध्यते किंतु शास्त्रोक्तकर्मसु सम्यग्वृत्तिर्विधीयते । बन्धहेतुफलाभिलाषविना शास्त्रीयकर्मणामनुष्ठानं तेषु सम्यग्वृत्तिः सम्यग्वर्तमानोऽमरलोकतामरधर्मकं ब्रह्म भावं गच्छति मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः । तथा भूतश्च सर्वेश्वरत्वादिहापि लोके सर्वानभिलाषितान् प्राप्नोति । तथा च छान्दोग्ये सयदा पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्तीत्यादि ॥ ५ ॥

(४) राघवानन्दः । ततः किमित्याह तेष्विति । तेषु कर्मसु सम्यगिति अथं कामाद्युपाधि विना प्रवर्तते योनुष्ठाता सोऽमरलोकतां स्वर्गसाक्षात् मुक्तिं वा सत्त्वशुद्धिद्वारेति भावः । इह च मर्त्य लोके कामान् पशुपुत्रादीन् अश्रुते प्राप्नोति । इह संकल्पितान्वा परलोके प्राप्नोति यथा ऋतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवतीति श्रुतेः । ऋतुरत्र संकल्पः ॥ ५ ॥

(५) नन्दनः । फलनैरपेक्ष्येण कर्मानुष्ठायिनः फलातिशयमाह तेष्विति । तेषु वेदाऽधिगमादिषु सम्यग्वर्तमानः समीचीनवर्तमानः । समीचीनवृत्तिर्वचकर्मफलत्यागेन चोदितकर्मानुष्ठानम् । अमरलोकतां शाश्वतलोकान् मुक्तिमित्यर्थः । इहास्मिंल्लोके यथा संकल्पितान् त्वसंकल्पानुरूपान् कामान् भोगान् । केचित्तु वक्ष्यमाणयोर्धर्मप्रवृत्तिनिवृत्त्योः प्रतिपक्षनिराकरणपरत्वेन श्लोकचतुष्टयमिदानीं व्याचक्षते । कामात्मतेतिकामात्मता निषिद्धेष्वपि प्रवर्तकः कामप्रकर्षः न चैवेहास्यकामतेतिकामस्यात्यन्तोच्छेदः प्रतिषिध्यते कार्यवशेन कामस्यावर्जनीयत्वात् अविहितत्वेन सर्वत्र कामो दुस्त्यज इत्यर्थः । काम्योहीत्यर्थेन कारणतोऽपि कामस्यावर्जनीयत्वं प्रतिपाद्यते । संकल्पमूलमिति । सम्यगधिगतं ज्ञानं संकल्पः तत्संभवो यज्ञाद्यनुष्ठानलक्षणः कामोऽपि संकल्पमूलत्वेनावर्जनीयः सिद्ध इत्यर्थः । अकामस्येत्यत्र नास्ति व्याख्या विकल्पः । तेष्विति । सम्यग्वर्तमानः समीचीनकामः समीचीनसंकल्पश्च । अमरलोकतां देवत्वमिति ॥ ५ ॥

(६) रामचन्द्रः । तेषु कर्मसु वर्तमानः अमरलोकतां स्वर्गलोकप्राप्तिं गच्छति काम्यस्य चैष्टितकर्मणश्चेष्टितमित्यर्थः ॥ ५ ॥

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ॥ आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ ६ ॥

(१) मेधातिथिः । कोस्याभिसंबन्धः । यावता धर्मोऽत्र वक्तव्यतया प्रतिज्ञातः स च विधिप्रतिषेधलक्षणः । तत्र न वेदस्य धर्ममूलता विधेया । वेदो धर्ममूलत्वेन ज्ञातव्यो धर्मप्रामाण्य आश्रयणीयः अन्तरेणैवोपदेशं तत्सिद्धेः । नहि मन्वाद्युपदेशसमधिगम्य वेदस्य धर्ममूलत्वमपि त्वबाधितविषयप्रतीतिजनकत्वेनापौरुषेयतया च पुरुषसंसर्गदोषैरपि मिथ्याभिधानाशङ्काभावात् त्वतश्च शब्दस्यादुष्टत्वात्प्रत्यक्षवत्त्वतः प्रामाण्यसिद्धिः । अथोच्यते न्यायतः सिद्धवेदस्य प्रामाण्यमनूद्य मन्वादिस्मृतीनां तन्मूलता वचनेन ज्ञाप्यत इति तदपि न । तत्रापि पूर्वज्ञानसापेक्षत्वात् स्मरणस्य आन्तिविप्रलम्भादीनां महाजनपरिग्रहादिना निरस्तत्वादतीन्द्रियार्थदर्शनमशक्यभावाच्च पुरुषस्य च स्वानुभवसिद्धेर्वैदार्थस्मरणस्य वेदमूलतैवावशिष्यते । नहि वेदविदां कार्यार्थविषये स्मरणं संभवति । वेदस्य च मूलत्वेन मूलान्तरकल्पनायाऽनवसरः । नाप्येतदुच्यते वक्तुं स्मृतिशीले च तद्विदामित्येतदप्यनूद्यते बाह्यस्मृतीनामप्रामाण्याय यतस्तासां न्यायतएव सिद्धमप्रामाण्यम् । नहि शाक्यभोजकक्षणकादीनां वेदसंयोगसंभवायेन तन्मूलतया स्वविषये प्रमाणस्युः स्वयमनभ्युपगमात्तैश्च वेदस्याप्रामाण्याभिधानात्प्रत्यक्षवेदविरुद्धार्थोपदेशाच्च । तत्रासंभवस्तासु स्मृतिषु वेदाध्ययननिषेधात् । सति हि वेदाध्येतृत्वे बुद्धादीनां तन्मूलता स्यान्वेति जायते विचारणा । यत्र तु तत्संबन्धो दूरापेतस्तत्र का तन्मूलता शङ्का । स्वयंच मुलान्तरं स्मृतिपरंपराया तन्मभ्युपगच्छन्ति । पश्याम्यहं भिक्षुकानां दिव्येन चक्षुषा सुगतिं दुर्गतिं च । एवं सर्वे एव बाह्याभोजकपाश्चरान्निकनिर्ग्रन्थानार्थ-

वादपाशुपतप्रभृतयः स्वसिद्धान्तानां प्रणेतृन्पुरुषातिशयान् देवताविशेषांश्च प्रत्यक्षतदर्थदर्शनोऽभ्युपयन्ति । न वेदमूलमपि धर्ममभिमन्यन्ते । प्रत्यक्षेण च वेदेन विरुद्धास्तत्रार्था उपदिश्यन्ते । तथाहि हिंसाचेद्धर्म उच्यते संसारामोचकादिभिः साचात्र प्रत्यक्षतः प्रतिषिद्धा । तथान्यत्र तीर्थस्नानमधर्मोऽभ्युपेयते इह त्वहरहः स्नायात्तीर्थानि सेवेतेति च विधिः । तथा-
 ग्रिष्टोमीयवधः क्वचित्पापहेतुरिष्यते स च ज्योतिष्टोमविधिना विरुद्धः । तथान्ये सर्वानेव यागहोमानात्मा र्थान्संमन्यन्ते देवताभेदविधिभिर्नानादैवत्यास्तेवगमिता अतो विरोधः । येष्याहुर्ग्रहणाग्रहणवदुदितानुदितहोमकालवत्प्रत्यक्षश्रुतिविरोध दर्शनात् स्यात्संभवः शाखान्तरस्योच्छिन्नस्यानुच्छिन्नस्य वा तद्विरुद्धार्थविधिपरस्य । अनन्ता हि वेदशाखास्ताः कथमे-
 कस्य प्रत्यक्षा उत्सादश्च संभवतीति । तत्र स्यात्तादृशी वेदशाखा यस्यामयं नरास्थिपात्रभोजननम्रचर्मादिरुपदिष्टो भवेत् । उच्यते न वयं ब्रूमः वेदविरुद्धार्थोपदेशात्संभव इति । किंतु समकक्षत्वात्तयोर्वैकल्पितप्रयोगयोरव्याघातः । इहतु क-
 ल्प्योवेदेन च प्रत्यक्षविरोधिकल्पनायाश्च वसरः । न च संभवमात्रेण तावता निश्चयः । निश्चितस्तु तद्विरुद्धप्रत्यक्षविधिनि-
 श्चितेन । नवानिश्चितबाध्यते । शाखोत्सादपक्षंचात्रैव श्लोके परस्तात्प्रपञ्चयिष्यामः । सर्वत्र च प्रत्यक्षश्रुतिभिर्मन्वादि स्मृतीनां व्यतिषङ्गः क्वचिन्मन्त्रेण क्वचिद्देवतया क्वचिद्द्रव्यविधिभिः । न च बाह्यास्तु तत्संभवतीति तासामप्रामाण्यम् । एवमा-
 चारस्यापि वेदविद्भिरदृष्टार्थतया चर्यमाणस्य स्मृतिवदेव प्रामाण्यं मूलसंभवात् । असाध्वाचारस्यापि दृष्टकारणादिसंभवादवि-
 दुषांच भ्रान्त्यादिसंभवादप्रामाण्यम् । एवमात्मनस्तुष्टेरपि । यदि च वेदस्मृत्याचाराणामन्वाद्युपदेशसमधिगम्यं प्रामाण्यं मन्वादीनां कथं तत्राप्युपदेशान्तरात् स्मार्तैश्च मनुरब्रवीदित्यादेस्तत्र कथं तस्मादिदं प्रमाणमिदं प्रमाणमिति युक्तित एतदवसेयम् ।
 नोपदेशतस्तथाचायमनर्थकः श्लोकः । एतत्समानरूपा उत्तरेपि । अत्रोच्यते । इह ये धर्मसूत्रकारा अव्युत्पन्नपुरुषव्युत्पा-
 दनार्थपदार्थसंपादनपरतया ग्रन्थसंदर्भानारभन्ते तत्र यथैवाष्टकादीनां विदात्त्वयं कर्तव्यतामवगम्य परावबोधनार्थमुपनिब-
 न्धः । एवं प्रमाणान्तरसिद्धस्य वेदप्रामाण्यदेः सन्तिकेचित्प्रतिपत्तारोये न्यायतस्तत्त्वविवेचनासमर्था ऊहापोहादिरुपबुद्धय-
 भावात् । तान्प्रति न्यायसिद्धोप्यर्थः सुहृदुपदेशवदुपदिश्यते तत्र यन्न्यायतः सिद्धं वेदस्य धर्ममूलत्वं तदेवानेनानुद्यते । वेदो-
 धर्ममूलधर्मस्य मूलत्वेन वेदो विचार्य युक्त्या सिद्धो नात्राप्रामाण्यशङ्का कर्तव्या । भवन्ति च लोके प्रमाणान्तरसिद्धानामर्था-
 नामुपदेशारः । न त्वया जीर्णो भोक्तव्यमजीर्णप्रभवा हि रोगाः । न चैतद्वक्तव्यम् ये न्यायतो वेदस्य धर्ममूलत्वं न शक्नुवन्ति प्र-
 तिपत्तुं ते वचनादपि न प्रत्येप्यन्ति । यतो दृश्यते । यथा मत्वेन प्रसिद्धास्तदीयं वचनमविचार्यैव के चन प्रमाणयन्ति ।
 तदेवं सर्वमिदं प्रकरणं न्यायमूलं न वेदमूलम् । अन्यत्रापि व्यवहारस्मृत्यादौ यत्र न्यायमूलता तत्र यथा वसरं दर्शयिष्यामः ।
 अष्टकादीनां यथा वेदमूलता तथात्रैव निर्दिश्यते । वेदशब्देन गर्गजुः सामानि ब्राह्मणसंहितान्युच्यन्ते । तानि चाध्येतृणां-
 वाक्यान्तरेभ्यः प्रसिद्धभेदान्युपदेशपरंपरासंस्कृता अध्येतारः श्रुत्वेव वेदोयमिति प्रतिपद्यन्ते यथा ब्राह्मणोयमिति । तत्र-
 वाक्यसमूहेऽप्यग्निमीळेऽग्निर्वैदेवानामवमद्व्यादौ संसमिद्युवसेऽथ महाव्रतमित्यन्ते वेदशब्दः प्रयुज्यते तदवयवभूतेषु केव-
 लेषु वाक्येष्वपि । न च ग्रामादि शब्दवद्गौणमुख्यता विद्यते । तत्र समुदायेषु हि वृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्त इत्येष्वन्यायः ।
 ग्रामशब्दो हि प्रसिद्धभूयिष्ठप्रयोगः समुदाय एव ग्रामोदग्ध इत्यादि पदसंबन्धात्तदवयववर्तते । कतिपयशालादाहेपि लौकि-
 काग्रामोदग्ध इति प्रयुज्यते । अथवा तत्रापि समुदायवचन एव । दाहस्त्वेकदेशवर्ती समुदायसंबन्धितया व्यपदिश्यते । अव-
 यवद्वारक एव समुदायस्य क्रियासंबन्धः । एष एव समुदायस्य क्रियासंबन्धो यो वयवानाम् । न ह्यवयवान्परिहाप्य समुदायो द्रष्टुं-
 स्पृष्टुं वाऽशक्यते । व्युत्पाद्यते च वेदशब्दः विदन्त्यनन्यप्रमाणवेद्यधर्मलक्षणमर्थमस्मादिति वेदः । तच्च वेदनमेकैकस्माद्वा-
 क्याद्भवति न यावानृग्वेदादिशब्दवाच्योऽध्यायानुवाकसमूहः । एवं चोदाहरणे जिह्वाच्छेदइत्येकवाक्यविषयोऽप्ययं दण्डः ।

कृत्स्नोधिगन्तव्यइतिकृत्स्नग्रहणंसकलवेदवाक्याध्ययनप्राप्त्यर्थमन्यथाकतिचिद्वाक्यान्यधीत्य कृतीस्यान्पुनःकृत्स्नं वेदमिति । अत्रैतन्निरूपयिष्यामः । सच वेदो बहुधाभिन्नः सहस्रवर्त्मा सामवेदः सात्यमुग्रिणायनीयादि भेदेन । एकशतमध्वर्यूणांकाठकवाजनसनेयकादि भेदेन । एकविंशतिबाहुच्या आश्वलायनैतरेयादि भेदेन । नवधाआथर्वणंभौदकपैप्पलादकादि भेदेन । ननु नैव केचिदाथर्वणवेदमन्यन्ते यतस्त्रयीविद्या ऋचः सामानियजूषीति वेदैरशून्यस्त्रिभिरेतिसूर्यः तथा त्रैवेदिकं व्रतंचरेदित्यादौ न क्वचिदाथर्वणानामन्यस्ति प्रतिषेधश्चश्रूयते तस्मादाथर्वणेन न शंसेदिति अतस्त्रयीबाह्यानाथर्वणिकान्पाषण्डिनः प्रतिजानते तदयुक्तम् । अविगानेन शिष्टानांविद्व्यवहाराच्छ्रुतीरथर्वाङ्गिरसीरित्यत्रापि व्यवहारःश्रुतिर्वेदइत्येकोः । नच वेदशब्दवाच्यताग्निहोत्रादिवाक्यानामपि धर्मप्रामाण्ये कारणं । इतिहासायुर्वेदयोरपि वेदव्यवहारदर्शनादितिहासपुराणपञ्चमवेदानांवेदमिति । कितर्ह्यपौरुषेयत्वेसत्यनुष्ठेयार्थावबोधकत्वाद्विपर्ययाभावाच्च । तच्चाथर्ववेदेऽपि सर्वमस्ति ज्योतिष्टोमादि कर्मणांयजुर्वेदादिष्विव तत्राप्युपदेशात् । अभिचारमूलकर्मदिकर्माणांबाहुल्येन तत्रोपदेशादवेदत्वमिति विभ्रमः । केषांचिदभिचाराहिपरप्राणवियोगफलत्वात्प्रतिषिद्धाः । आथर्वणिकैश्च तएव प्राधान्येनानुष्ठीयन्तेराजपुरोहितैरतस्तेनिन्द्यन्ते । यत्तुवेदरशून्यइत्यादावथर्ववेदस्यानिर्देशइति अर्थवादाएते किंतत्र निर्देशेनानिर्देशेनवा । मन्त्रभेदाभिप्रायंचैतद्वचनं त्रयोवेदास्त्रयी विद्येत्यादि । नहि चतुर्थमन्त्रजातमस्ति ऋग्यजुःसामव्यतिरेकेण प्रेषनिविन्निगदेन्द्रगाथादीनामत्रेवान्तर्भावात् । अथर्ववेदेचर्चएवमन्त्रत्वेन समाम्नाताः । अतः ऋग्वेदएवायमन्त्राभिप्रायेण । यस्तु प्रतिषेधः सविपरीतसाधनः प्राप्तौ सत्यां प्रतिषेधोपपत्तेः । अयंवास्यार्थः । अथर्ववेदाधीतैर्मन्त्रैस्त्रैवेदिककर्म न मिश्रयेत् । वाचः स्तोमेसर्वाऋचः सर्वाणि यजूंषि सर्वाणि सामानि विनियुक्तानि तत्राथर्ववेदाधीतानांप्रतिषेधः । सवेदोविशिष्टः शब्दराशिःरपौरुषेयोमन्त्रब्राह्मणाख्यो नेकशाखाभेदभिन्नो धर्मस्य मूलप्रामाण्यपरिज्ञाने हेतुः कारणमूलम् । तच्च वेदस्मृत्योर्धर्मप्रतिज्ञापकतयैव न निवर्तकतया नचस्थितिहेतुतया वृक्षस्येव । धर्मशब्दश्च प्राग्व्याख्यातः । यत्पुरुषस्य कर्तव्यप्रत्यक्षाद्यवगम्य विलक्षणेन त्वभावेन श्रेयःसाधनंरूपिसेवादि भवति । पुरुषस्यकर्तव्यतस्यच तत्साधनत्वत्वभावोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामवगम्यते । यादृशेन व्यापारेण कृष्यादेर्ब्राह्मणसिद्धिः साऽपि प्रत्यक्षाद्यवगम्यैव । यागादेस्तु साधनत्वत्वेन च रूपेणापूर्वोत्पत्तिव्यवधानादिना तन्न प्रत्यक्षाद्यवगम्यम् । श्रेयश्चाभिलषितस्वर्गप्राप्तादिफलप्राप्तिः सामान्यतः सुखशब्दवाच्या । व्याधिनिर्धनत्वासौख्यनरकादिफलप्राप्तिः सामान्यतोदुःखशब्दवाच्या तत्परिहारश्च । अन्ये तु परमानन्दादि रूपश्रेयः । अयंधर्मोब्राह्मणवाक्येभ्योऽवगम्यतेलिङ्गादियुक्तेभ्यः क्वचिच्चमन्त्रेभ्योपि वसन्तायकपिञ्जलानालाभतइत्येवमादिभ्यः । तत्रकामपदयुक्तानि वाक्यानि फलार्थमनुष्ठानमवगमयन्ति । सौर्यचरुनिर्वपेद्ब्रह्मबर्चसकामोवैश्वदेवीसांघ्रिहिणीनिर्वपेद्भामकामइति । तानि फलमनिच्छता नक्रियन्ते । अन्यानि यावज्जीवादि पदैर्नित्यतयासमर्पितानि तानि न फलहेतोरनुष्ठीयन्ते फलस्यास्याश्रुतत्वात् । नचविश्वजिता यजेतेत्यादिवदश्रुतफलत्वेऽपि फलकल्पनायतोयावज्जीवादिपदैर्विनैव फलेन कर्तव्यतयावगम्यन्ते । तत्राकरणे शास्त्रार्थातिव्रमदोषस्तत्र तत्परिहारार्थतानि क्रियन्ते । प्रतिषेधानामपि ब्राह्मणोऽनहन्तव्यः सुरानमेयेत्येषैववार्त्तानहि फलार्थप्रतिषिद्धवर्जनमपितु प्रत्यवायपरिहारार्थम् । अखिलःकृत्स्नः । नकिंचित्पदवर्णोभात्रावा यन्न धर्माय । अत्रचोदयन्ति । ननुच विध्यर्थवादमन्त्रनामधेयात्मकोवेदोर्ध्वश्च त्वभावइत्युक्तम् । तत्रयुक्तंयद्विधिवाक्यानिधर्मप्रमाणस्युः । तेभ्योहियागादिविषया कर्तव्यता प्रतीयतेअग्निहोत्रंजुहोति दध्राजुहोति यदग्नये च प्रजापतये च सायंजुहोति स्वर्गकामोजुहोतीति । अत्रह्यग्निहोत्राख्यं कर्म कर्तव्यतया प्रतीयते । दध्रेति तत्रैव द्रव्यम् । यदग्नये चेति देवता स्वर्गकामइत्यधिकारः । यत्त्वग्निर्वै सर्वादेवताअग्निरेव दैव्योहोता सदेवानाह्वयति च जुहोति चेत्यादयः । तथा प्रजापतिर्वपामात्मनउदखिददित्यादयो । नतैः किंचित्कर्तव्यमुपदिश्यते केवलंपुरावृत्तम-

न्यद्वा सांप्रतिकं भूतमनुवदन्ति । प्रजापतिना पुरा आत्मनो वपोत्खाता उत्खिदतु मावा उत्खिदतु किमस्माकमेतेन । तथाग्रे-
रपि सर्वदेवतात्मत्वमाग्रेयकर्मण्युपयुज्यते । अग्रिशब्देनोद्देशार्थनिवृत्तेरन्यदेवत्वेऽन्यत्वादग्रेरुद्देश एव नास्ति । आवाहन-
स्यापि वचनान्तरेणाग्रिमग्रआवहेत्यादिना विहितत्वात्सदेवानाह्वयति च जुहोति चेत्यादिरनर्थकः । मन्त्रा अपि न मृत्यु-
रासीदमृतं न तर्हि सुदेवोऽहमपतेदनावृद्धित्यादयो भाववृत्तपरिदेवनादिरूपार्थाभिधायिनः कंधर्मप्रमिमते । तस्मिन्काले न मृत्यु-
र्जातो नाप्यमृतं जीवितं प्राक्सृष्टेर्भूतानामनुत्पन्नत्वान्न कस्यचिज्जीवितमासीन्नापि मृत्युः प्रलये सर्वेषाममृतत्वाद्भवतु वा मृत्यु-
र्भावा न किंचिदेतेन कर्तव्यमुपदिष्टं भवति । एवं सुदेवोऽसौ महापुण्यो देवतुल्यो मनुष्यो योद्यप्रपतेच्छ्रुत्वा आत्मानं क्षिपेदनावृदा-
वृत्तिः प्रत्युज्जीवनं यस्मात्प्रपातान्न भवति । उर्बश्याविप्रलब्धः पुरुरवाः परिदेवयांचक्रे तथा नामधेयमुद्भिदा यजेत बलभिदा
यजेतेत्यादि न कस्यचिदर्थस्य क्रियायाद्रव्यस्य वा विधायकमाख्यातेन क्रियाया विधानादद्रव्यवचनत्वाच्च बलभिदादेः
सोमस्य चाव्यक्तचोदनत्वेन प्रकृतितः प्राप्तत्वान्न क्लेशेन द्रव्यवचनता कल्प्यते । तस्मान्नाग्रायेन धर्म उपदिश्यते । अतः
कथमुच्यते कृत्स्नो वेदो धर्ममूलमिति । उच्यते । अनयैवाशङ्कयाऽखिलग्रहणं कृतं यतः सर्वेषामेतेषां धर्मप्रतिपादनपरत्वम् ।
तथा ह्यर्थवादानैव विधायकभ्यो वाक्येभ्यः पृथगर्थः येन धर्मेन प्रमिमीरन् । विभज्यमानसाकाङ्क्षत्वे विधिपरत्वावगमात्त-
त्परत्वे च सिद्धायामेकवाक्यतायां यथा तदर्थानुगुण्यं प्रतिपद्यन्ते तथा व्याख्येयाः । अतः प्रजापतेर्वपोत्खादनवचनं
स्वार्थनिष्ठं किं तर्हि विधिशेषम् । न च विधेयं द्रव्यगुणाद्यर्थवादेभ्यः प्रतीयत इति प्रकारान्तरेण विधेयार्थस्तावकत्वेन तच्छे-
षतां प्रतिपद्यन्ते । तदपि तत्र प्रतीयत एव । इत्थं नाम पशुयागः कर्तव्यो यदसत्सु पशुषु गत्यन्तराभावात्प्रजापतिनात्मैव-
पशुत्वेन कल्पितो वपा चोत्खिन्ना यतस्तत्सहितान्येव विधायकानि यत्रार्थवादाः सन्ति । यद्यपि तैर्विनापि भवति वि-
ध्यर्थविगतिर्विध्युद्देशादेव वसन्ताय कपिञ्जलानालभत इति तथापि न तेषामानर्थक्यम् । तेषु हि सत्सु न केवलादवगतिः ।
न च केन चित्कृतो वेदो येनोच्यते यथान्यत्र न सन्ति तथात्रापि मा भूवन् । सत्त्वर्थवादेऽप्यस्माभिर्गतिर्वक्तव्या सा चोक्ता ।
न चायमलौकिकोऽर्थो लोकेपि हि स्तुतिपदानि दृश्यन्ते विधिशेषभूतान्येव । यथा मृति दाने प्रवृत्तस्य स्वामिनः कश्चिद्भू-
तकः प्रीत्या चष्टे साधुर्देवदत्तो नित्यसंनिहितः परिचर्याभूमिज्ञस्तत्परश्चेति । अतो विधेयार्थस्तुतिद्वारेणार्थवादा विधायका एव ।
तथा क्वचिदर्थवादादेव विधेयविशेषावगतिर्यथाक्ताः शर्करा उपदधाति । अत्र ह्यञ्जनसाधनं सार्पिस्तैलादि यत्किंचिद्वि-
धिनापेक्षितम् । तेजोवैधृतमित्यर्थवादे घृतस्तुत्या घृतमध्यवसीयते । एवं प्रतितिष्ठन्तिय एतारात्रोरुपयन्तीति रात्रिष्वर्थ-
वादादधिकारावगमस्तस्मादर्थवादा अपि धर्ममूलम् । मन्त्रास्तु केचिद्विधायका एव यथा वसन्ताय कपिञ्जलानिति ।
आधारे देवताविधिमात्रवर्णिक एव । न हि तत्र देवता कर्मोत्पत्तिवाक्ये श्रुता नापि वाक्यान्तरेण विहिता । मन्त्रस्तु
विहितो नियुक्तः इतद्भद्रइत्यादिः । अतोऽस्मान्मन्त्रवर्णादेवताप्रतिपत्तिः । सहस्रशश्च मात्त्रवर्णिका देवताविधयः सन्ति ।
येष्वन्ये क्रियमाणानुवादिनस्तेपि स्मृतिलक्षणं धर्ममेव बुद्धं कुर्वन्तीति । भवति धर्ममूलमनुष्ठेयार्थप्रकाशनेन । नाम त्वाख्या-
तार्थादभिन्नार्थमाख्यातार्थवत्सुप्रसिद्धधर्ममूलभावम् । गुणविधयश्च प्रायशो नामाश्रया एव । शरदिवाजपेयेन यजेत त्वारा-
ज्यकामो वाजपेयेनेति । तस्मात्सिद्धं कृत्स्नस्य वेदस्य धर्ममूलत्वम् । अन्ये तु श्येनादिवाक्यानां धर्मोत्पत्तिमत्त्वाभावं मा-
शङ्कमानानिषेधानां च न लशुनं भक्षयेदित्यादीनामखिलग्रहणं मन्यन्ते । अभिचाराहि श्येनादयो मारणात्मानोर्हि सारूपाः ।
क्रूरत्वाच्च हिंसाया अभिचाराणां च प्रतिषेधादधर्मत्वमतोन कृत्स्नो वेदो धर्ममूलम् । कर्तव्यश्च धर्म उक्तः । ब्रह्महत्यादिश्च
न कर्तव्यः । अतः कथं तद्वाक्यानि धर्ममूलस्युः । किंच येऽपि पशुयागा अग्नीषोमीयादयस्तेपि हिंसासाधकत्वादूरापेतधर्म-
भावाः । हिंसाहि पापमिति सर्वप्रवादेऽप्युपगमः । उक्तं च यत्र प्राणिवधो धर्मः अथर्मस्तत्र कीदृशः । कथं पुनरियमाश-

इहाऽपनुद्यते अखिलग्रहणात् । न ह्यस्यान्यत्प्रयोजनमस्ति । हेतुर्नोक्तइति चेदागमग्रन्थोर्यसिद्धमर्थमाह । हेत्वर्थिनोमीमांसातोविनीयन्ते । अस्माभिर्मुक्तं यथागममात्रेण प्रतिपत्तारस्ताम्येतदुच्यते । विवरणकारास्तु युक्तिलेशमत्र दर्शयन्ति यदुक्तं श्येनादयः प्रतिषिद्धत्वादधर्मइति तत्सत्यम् तथापि प्रतिषिद्धेष्वपि तेषु योऽत्यन्तप्रवृद्धद्वेषो न हिंस्याद्भूतानीत्यतिक्रान्तनिषेधाधिकारस्तस्य ते शत्रुवधलक्षणांप्रीतिमनुष्ठीयमानानिर्बर्तयन्तीत्येतावतांशेन वेदस्य धर्ममूलत्वं श्येनादिवाक्येष्वपि न विहन्यते । निषेधेष्वपि योरागतः प्रवृत्तोहनने स निषेधे नियुज्यते । एतदेव निषेधस्यानुष्ठानं यन्निषिध्यमानस्याननुष्ठानम् । अग्नीषोमीयादौ तु नैव हिंसाप्रतिषेधोस्ति द्वेषलक्षणाया लौकिक्या हिंसाया निषेधेन निषिद्धत्वात् । शास्त्रीया तु विधिलक्षणा न निषेधेन विषयीक्रियते लौकिक्यां चरितार्थत्वान्निषेधस्य । न च सामान्यतोदृष्टेन हिंसात्वाल्लौकिकहिंसावैद्वदिक्याः पापहेतुत्वमापादयितुं शक्यते यतो न हिंसात्वं पापहेतुत्वे कारणं अपितु प्रतिषेधेन विषयीकरणम् । न चात्र प्रतिषेधोऽस्तीत्युक्तम् । कैश्चित् मूलशब्दः कारणपर्यायो व्याख्यायते । धर्मस्य वेदो मूलं प्रतिष्ठा कारणं साक्षात्प्रणाड्या च । स्वाध्यायमधीयीत ऋग्वेदं धारयन् विप्रइत्यादि चोदनासु साक्षादग्निहोत्रादिकर्मस्वरूपज्ञापकतया प्रणाड्या । स्मृतिशीले च तद्विदामनुभूतार्थविषयविज्ञानं स्मृतिरुच्यते । तच्छब्देन वेदः प्रत्यवमृश्यते । तं विदन्ति तद्विदः । वेदार्थविदामिदं कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमिति यत्स्मरणं तदपि प्रमाणम् । ननु च स्मृतिर्न प्रमाणमित्याहुः साहि पूर्वप्रमाणावगतप्रमेयानुवादिनी नाधिकमर्थपरिच्छिनत्तीति वदन्ति । सत्यम् । ये स्मरन्ति तेषामाद्यमेव तत्र शब्दादि प्रमाणं नास्तीति स्मृतिः । अस्माकं तु मन्वादिस्मृतिरेव प्रमाणम् । नहि वयं तामन्तरेणान्यतोदृष्टादिकर्तव्यतामवगच्छामः । तच्च मन्वादीनामीदृशं स्मरणं तत्कृतेभ्यो वाक्येभ्यः स्मृतिपरंपरायातेभ्योऽवसीयते । तस्माच्च स्मरणादनुभूतोऽयमर्थः प्रमाणेन मन्वादिभिरिति निश्चिनुमोयत एते स्मरन्ति । न ह्यननुभूतस्य स्मरणोपपत्तिः । ननु कल्पयित्वा ग्रन्थमुपनिबद्धीयुरननुभूयैव केन चित्प्रमाणेन यथोत्पाद्यवस्तु कथानकं केचन कवयः कथयेयुः । अत्रोच्यते । भवेदेव यद्यत्र कर्तव्यतोपदेशो न स्यात् । कर्तव्यतोपदेशो ह्यनुष्ठानार्थः । न च केन चित्त्वेच्छया कल्पिते बुद्धिपूर्वव्यवहारिणोऽनुष्ठानमर्हन्ति । भ्रान्त्याप्यनुष्ठानसिद्धिरिति चेत्स्यादप्येकस्य भ्रान्तिः सर्वस्य जगतो भ्रान्तिर्यावत्संसारभाविनी चेत्तल्लौकिकी कल्पना । न च संभवति मन्वादीनां वेदमूलत्वे भ्रान्त्यादेरवसरः । अतएव प्रत्यक्षतो मन्वादयो धर्मा न दृश्यन्ति नाभ्युपगम्यन्ते । इन्द्रियैरर्थानां सन्निकर्षं यज्ज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् । न च धर्मस्येन्द्रियैः सन्निकर्षः संभवति तस्य कर्तव्यता स्वभावत्वात् । असिद्धं च कर्तव्यम् सिद्धवस्तुविषयश्च सन्निकर्षः । अनुमानादीनि तदात्वे यद्यप्यसन्तमर्थमवगमयन्ति पिपीलिकाण्डसंचारेण हि भविष्यन्तीं वृष्टिमनुमिमते तथापि न तेभ्यः कर्तव्यतावगतिः । तस्मात्कर्तव्यता स्मरणस्यानुरूपकारणकल्पनायां वेदोपदिश्यते । स च वेदोऽनुमीयमानो मन्वादिभिरुपलब्धः । इदानीमुत्सन्नासा शाखा यस्याममी स्मार्ता धर्मा आसन् । तथा किमेका शाखाऽथ बद्धव्यस्तासु च कश्चिदष्टकादिः कस्यांचिदित्येतदनुमानं प्रवर्तते । अथाद्यत्वे पृथग्यन्तएव ताः शाखाः किंतु विप्रकीर्णास्ते धर्माः कस्यांचिच्छाखायामष्टकादीनां कर्मणामुत्पत्तिः कस्यांचिद्व्यंकचिदेवता क्वचिन्मन्त्रइत्येवं विप्रकीर्णानां मन्वादयो द्वोपसंहारं सुखावबोधार्थं चक्रुः । अथ मन्त्रार्थवादलिङ्गमात्रप्रभवा एते धर्माः । अथायमनादिरनुष्ठेयर्थोऽविच्छिन्नपारंपर्यसंप्रदायायातो वेदवन्नित्युतास्मदादीनामिव मन्वादीनामपि परप्रत्ययानुष्ठानो नित्यानुभेयश्रुतिकइत्येवमादि बहुविकल्पविचारयन्ति विवरणकाराः । एतावांस्तु निर्णयो वैदिकमेतदनुष्ठानं स्मार्तानां वैदिकैर्विधिभिर्व्यतिषङ्गावगमादनुष्ठानतृणां च तदनुष्ठानाद्यतिषङ्गश्च दर्शितः । कचिद्वैदिकमङ्गप्रधानं स्मार्तं कचिदेतदेव विपरीतं कचिदुत्पत्तिः कचिदधिकारः कचिदर्थवादइत्येवं सर्वे एव स्मार्ता वैदिकैर्व्यतिषक्ताः । निपुणतश्चैतन्निर्णीतमस्माभिः स्मृतिविवेके । स्मार्तवैदिकयोर्नित्यं व्यतिषङ्गात्पस्परम् । कर्तव्यं कर्मनो

बापि वियुज्येते न जातुतौ ॥ प्रत्यक्षश्रुति निर्दिष्टयेनुतिष्ठन्ति केचन । तएव यदि कुर्वन्ति तथास्याद्देदमूलता ॥ ग्रामाण्यका-
रणमुख्यंवेदविद्भिः परिग्रहः । तदुक्तं कर्तृसामान्यादनुमानंश्रुतीः प्रति ॥ विशेषनिर्धारणे तु न किञ्चित्प्रमाणंनच
प्रयोजनम् उत्सादोऽपि संभाव्यते दृश्यन्ते हि प्रविरलाभ्येतृका अद्यत्वेपि शाखास्ताभ्यःसंभाव्य भाव्युत्सादाभ्यो
विधिमात्रमर्थवादविरहितमुद्धृत्योपनिबद्धंस्मृतिकारैरिति कैश्चिदभ्युपगम्यते । ब्राह्मणोक्ताविधयस्तेषामुत्सन्नाः पाठाः प्र-
योगादनुमीयन्तइत्यापस्तम्बः । अत्रतुयैवंमहाप्रयोजनाशाखा यस्यां सर्वे स्मार्तागार्हाश्च सर्ववर्णाश्रमधर्माआम्नातास्त-
स्याउपेक्षणमसंभाव्यम् । सर्वाध्येतृणांचोत्सादइत्यादि बह्वदृष्टंप्रकल्प्यम् । विप्रकीर्णानांत्वर्थवादगहनानांक्रत्वर्थपुरुषार्थ-
तया च दुर्विज्ञानानांप्रयोगेन्नयनमभियुक्तानांन्यायतोनिश्चितार्थानांघटते । अस्मिन्स्तु पक्षे विरोधद्वयस्यापि प्रत्यक्षश्रौ-
तत्वादिकल्पेन स्मृतेर्बाधः । सचविशिष्टानांभिप्रेतः । स्मृतिकाराश्च बाधमनुमेयश्रुतिमूलत्वंच प्रतिपन्नाः । एवमप्याह
गौतमः ऐकाश्रम्यत्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्येति । यदि हि मन्वादीनांप्रत्यक्षास्ताः शाखाअभवन्केयंवाचो-
युक्तिर्गार्हस्थ्यस्य प्रत्यक्षविधानादिति । ननुसर्वेवाश्रमाः प्रत्यक्षविधानाः स्वमतमेव चैतद्वैतमेनाचार्यापदेशेनोपदिष्टं-
तस्याश्रमविकल्पमित्याद्युपक्रम्यानेनोपसंहृतत्वात् । मन्त्रार्थवादप्रमाणभावोऽप्यविरुद्धः । यद्यप्यर्थवादविध्युद्देशस्तुतिप-
रा न स्वार्थस्य विधायकास्तथापि केषांचिदन्यपरतैव नोपपद्यते यावत्स्वार्थविषयोविधिर्नावगमितः यथास्तेनोहिर-
ण्यस्यसुरां पिबंश्चेत्यादेःपञ्चाग्निविधिशेषतैवमेतावतैव नोपपद्यते यावद्धिरण्यस्तेयादेःप्रतिषेधोनावगमितः । यएतांविद्या-
मधीते सहिरण्यस्तेयाद्यप्याचरंस्तैश्च संवसन्नपतति अन्यथा तु पततीत्यवगतिरविरुद्धा । अथविध्युद्देशोविधेः प्रतिपा-
दकोनार्थवादइति केनैषा परिभाषा कृता । एतेपतन्ति चत्वारइत्यत्राप्याख्यातश्रवणमस्ति । लिङादयोनसन्तीति चेत्प्र-
तितिष्ठन्तीति रात्रिष्वपि नैवल्लिङ्श्रुतिरस्ति । अथ तत्राधिकाराकाङ्क्षायामेकवाक्यतायां सत्यां पञ्चमलकारादिकल्पनया
विध्यवसायः एवमत्रापि भविष्यति । बहवश्च द्रव्यदेवताविधयोर्यथावादावगम्याः सन्ति । तत्र यस्य विधेः शेषार्थवादास्त-
द्विधिनैव द्रव्यदेवतादिरपेक्षितत्वाद्विशेषसमर्पणमात्रे व्यापारान्तर्गतविशेषावगतिरर्थवादाधीना न दोषाय । इह तु तदसं-
बद्धस्य विध्यन्तरस्येव्यमाणत्वाद्वाक्यभेदापत्तिरतुश्च न प्रकृतिशेषता । तदभावे च तन्मूलाप्रतिषेधावगतिर्नस्यादतश्चा-
क्ताः शर्कराउपदधाति तेजोवै घृतमित्यनेन वैषम्यमित्याहुः । तदसत् । सत्यप्यर्थान्तरत्वे तदेकवाक्यता मूलत्वाद-
स्याऽवगतेर्नास्तिवाक्यभेदाभिचीद्यापत्तिः । मन्त्राः प्रयोगप्रकाशत्वेन रूपदिवावगतास्तस्य प्रयोगस्यान्यतोसिद्धेः प्रका-
शकत्वनिर्वहणाद्य प्रकाश्यंकल्पयन्ति । नवा सतोरुत्पत्त्यधिकारयोः प्रकाशनमष्टकायाःसंभवेतीत्युत्पत्त्यधिका-
रविनियोगप्रयोगबोधकमन्त्राः । एवंमात्रवर्णिकाश्च विधयोप्युपगम्यन्ते यथाघारे देवताविधिश्चतुष्पाद्विधर्मोभ्युपगत-
स्तत्रालपतरांशः श्रुतः सकलैतरांशबोधहेतुस्तथाविधएव विधौसंबन्धग्रहणादिति सर्वथा तावत्संभवति वेदसंयो-
गः । मनुर्बहुभिर्बहुशाखाध्यायिभिः शिष्यैरन्यैश्चओत्रियैः संगतस्तेभ्यः शाखाः श्रुत्वा ग्रन्थंचकार ताश्च मूलत्वेन
प्रदर्श्यग्रन्थंप्रमाणीकृतवान् । एवमन्ये तत्प्रत्ययादनुष्ठानमाहृतवन्तीन मूलोपलम्भे यत्नंकुर्वन्ति । अस्माकंचैतदनुमानम् ।
अतोविरोधे सत्यपि तुल्ये श्रौतत्वेबाधोपपत्तिः । प्रत्यक्षया श्रुत्या प्रयोगसंपत्तौ श्रुत्यन्तरंप्रत्याकाङ्क्षैव नास्ति । यथा
सामिधेनीषु सामदश्यपाञ्चदश्ययोः पाञ्चदश्येन प्रकृतिरविरुद्धा सामदश्यंप्रत्यक्षश्रुतमपि नाकाङ्क्षति । आभिधानिकोऽर्थः
सन्निकृष्यतेऽभिहितार्थाकाङ्क्षावगम्यंप्रत्ययंविप्रकर्षादुर्बलंबाधते । नचैतावताऽग्रामाण्यापत्तिः यथा प्राकृतान्यङ्गानि
विरुतिषु चोदकप्रामाणि वैरुतिकैर्विरुध्यमानामिबाध्यन्ते तद्देव द्रष्टव्यम् । यत्र । संप्रदायविच्छेदस्तत्रच परंपरापत्तिः ।
नहि तत्र कस्यचित्प्रमाणंप्रवृत्तम् । नित्यानुमेयपक्षोऽपि संप्रदायपक्षान्नातीव भिद्यते । मन्वादि स्मरणस्य बयंमूलंपरी-

क्षितुं प्रवृत्ताः । यदिच तेषामप्यसावनुमेयोवेदोवयमिव न ते स्मर्तारः । नच यः पदार्थो न कस्यचित्प्रत्यक्षस्तस्यानुमेयता-
संभवत्यन्वयासंभवात् । क्रियादिषु सामान्यतोऽस्त्येव संबन्धदर्शनम् । यदि वार्थापत्त्यवसेयाः क्रियादयो न चेहान्यथा-
नुपपत्तिरस्ति । तस्मादस्तिमन्वादीनामस्मिन्नर्थे वेदसंबन्धो न पुनरयमेव प्रकार इति निर्धारयितुं शक्यम् । द्वितीयसी कर्तव्य-
तावगतिर्वेदविदां वेदमूलैव युक्ता कल्पयितुं भ्रान्त्यादिमूलेत्यवगत्यनुरूपकारणकल्पना कृता भवति । तत्रोत्सादविप्र-
कीर्णमन्त्रार्थवादेप्रत्यक्षचोदनाकारणानां संभवात्कल्प्यत्वमुपदिश्यते । प्रत्यक्षोऽपि विधिः कचिन्मूलत्वेन दृश्यते न मलवद्वा-
ससा सह संवसेदिति । सचाध्ययने चोपनयने च पठ्यते । तदेतल्लेशतोऽस्माभिरुक्तम् । विस्तरस्तु स्मृतिविवेकाज्ज्ञातव्यः ।
शाखाः काश्चित्समुत्सन्नाः पक्षोनैषमतोमम । पक्षेस्मिन्नप्रमाणहि बह्वदृष्टप्रसज्यते ॥ उपपन्नतरः पक्षो विक्षिप्तानां ततस्ततः ।
उत्पत्त्यादि समाहारः प्रायशो दृश्यते ह्रदः ॥ अनेकशिष्योपाध्यायैः श्रोत्रियैरादृतोपरैः । शक्तेरचयितुं श्रुत्वा शाखांतांतीकुत
श्चन ॥ उपपन्नस्तदानीं च दृष्टमूलैः परिग्रहः । निश्चयोऽस्माकमप्ययं यथा संभवतः स्थितः ॥ प्रयोगद्योतकामन्त्राद्योतनं-
तस्य नामतः । नर्तधिकारोत्पत्तिभ्यां प्रयोगस्यास्ति संभवः ॥ विशिष्टदेवतालाभआधारे मात्त्रवर्णिकः । प्रकाशकत्वान्मन्त्र-
स्य तन्निर्वहणहेतुकः ॥ यासिद्धेरूपएकस्मिन्नरूपान्तरगतिर्भवेत् । नसास्वरूपनाशाय विश्वजित्यधिकारवत् ॥ प्रतिपन्ने
विधौ युक्ततत्संबन्धार्थकल्पनम् । गतिर्मन्त्रार्थवादेभ्यो न दृष्टा चेद्विधेः कचित् ॥ लिङादिगम्यं भगवान्विधिं स्मरति पाणि-
निः । नशक्तास्ते विधिं वक्तुं सिद्धवस्त्वभिधायिनः ॥ व्याख्येयोगुणवादेन योर्थवादादतत्परात् । अर्थोऽधिगन्तुमिष्येत कथं-
स्यात्तस्य सत्यता ॥ भिन्दुर्द्वैक्यं प्रतिष्ठाः साकाङ्क्षारात्रयोयतः । विशेषे तद्वत्ते युक्ता वाक्यशेषावगम्यता ॥ स्तेयादीनां-
निषेधेपि विध्यन्तरगतिर्भूवा । ततश्च वाक्यभेदः स्यान्नोपन्यासस्ततः समः ॥ वाचःस्तोमे प्रयुज्यन्ते सर्वे मन्त्रविधिं श्रुतेः ।
नाष्टकादौ विशेषोस्ति हेतुर्मन्त्रस्य बोधने ॥ विना सामान्यसंबन्धांलिङ्गं च विनियोजकम् । नच नास्त्यस्य संबन्धो विना
प्रकरणादिभिः ॥ परिहारं ब्रुवन्त्यत्र केचित्तन्मूलवादिनः । रात्रिषु प्रतितिष्ठन्तीत्यसत्त्वेवल्लिङ्गादिषु ॥ पञ्चमेन लकारेण तदर्थ-
गतिरिष्यते । पतन्ति न म्लेच्छिताव इत्यादिषु तथा भवेत् ॥ ऋचां विधिर्वाचिस्तोमे सर्वदाशतयीरिति । दशम्योमण्डलेऽभ्य-
स्तावर्जिताः पठिता बहिः ॥ सामान्यसंबन्धकारी समाख्यैवेति गीयते । समाख्यागृह्यमन्त्राणां तेन तेनास्ति कर्मणाम् ॥ पञ्चा-
ग्निविद्याशेषत्वं हिरण्यस्तेन निन्दया । स्तेनो हिरण्यवाक्यस्य न विना तन्निषेधतः ॥ शेषत्वावगमोऽर्थात्तु तदकर्तव्यता
तु या । द्रविष्प्रेषतायाः सा न पुनस्तद्विरोधिनी ॥ नित्यानुमेयपक्षो योवाप्यागमपरंपरा । तयो रन्ध्रप्रवाहत्वं भेदः कश्चिदीक्ष्य-
ते ॥ एवं च सति यागौतमेन प्रत्यक्षविधानता गार्हस्थ्यस्योक्ता सा शब्दस्याव्यवहितव्यापाराभिप्रायेण । श्रवणानन्तरं यो-
र्थः प्रतीयते सप्रत्यक्षः यस्तु प्रतीतेऽर्थे तत्सामर्थ्यपर्यालोचनया गम्यः सविलम्बितत्वात्प्रतिपत्तेर्न प्रत्यक्ष इति सर्वमुपप-
न्नम् । स्मृतिशीले च तद्विदाम् । स्मृतिश्च शीलं च स्मृतिशीले शीलं रागद्वेषप्रहाणमाहुस्तच्च धर्ममूलं वेदस्मृतिवन्नज्ञापक-
तया किंतु निवर्तकत्वेन । रागद्वेषप्रहाणाद्धर्मो निवर्तते । ननु च श्रेयःसाधनं धर्म इत्युक्तम् । रागद्वेषप्रहाणमेव च तत्त्व-
भावम् । तत्रासति व्यतिरेके किमुच्यते रागादिप्रहाणाद्धर्मो निवर्तत इति । उक्तमस्माभिर्धर्मशब्दोऽयं स्मृतिकारैः कदाचि द्वि-
धिनिषेधविषयभूतायां क्रियायां प्रयुज्यते । कदाचित्तदनुष्ठानजन्यआफलप्रदानावस्थायिनिकस्मिंश्चिदर्थे तस्य च सद्भावे
शब्द एव प्रमाणम् । यदिहि यागस्तथाविधवस्त्वनुत्पाद्य विनश्येत्तदा कालान्तरे कुतः फलोत्पत्तिः । तदेतद्वस्तु धर्मशब्दे-
नात्राभिप्रेतं तस्य शीलं मूलमिति न किंचिदनुपपन्नम् । तदभिप्राया एव व्यवहाराः । एक एव मुत्तद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः
इति । क्रियाया अनुष्ठानसमनन्तरमेव नाशात्कुतः कालान्तरान्वयः । अत्र चोद्यते । ननु सर्व एव श्रुतिस्मृतिविहितो
ऽर्थो धर्मस्य मूलं शीलस्यापि तत्रान्तर्भावाद्देनोपादानमनर्थकं विधायिष्यते च इन्द्रियाणां ज्ञेययोगं समातिष्ठेद्विधानिशम ।
यस्मिंज्जिते जितवितौ भवतः पञ्चकौ गणाविति । अयमेव मनसोजयो यो रागद्वेषयोः परित्याग इति वक्ष्यामः । केचिदाहुरा-

दरार्थः पृथगुपदेशः एतद्धि सर्वकर्मणामनुष्ठानउपयुज्यते स्वप्रधानं च अग्निहोत्रादि कर्मवत् । सर्ववर्णधर्मश्चायं सर्वाश्रम-
धर्मश्च तैः सामान्यधर्म लक्षणवसरेऽस्मिन्मुच्यते । वयंतु ब्रूमः समाधिः शीलमुच्यते । तथाहिशीलसमाधाविति धातुषु
पठ्यते । समाधानं च मानसोधर्मः । यच्चेतसोऽन्यविषयव्याक्षेपपरिहारेण शास्त्रार्थनिरूपणप्रवणतातच्छीलमुच्यते । द्वन्द्व-
श्चाय मितरेतरयोगे तेन रपस्परसापेक्षयोः स्मृतिशीलयोः धर्मप्रति प्रामाण्यमेवाभिप्रेतं न पूर्ववन्निर्वर्तकत्वम् । एतदुक्तं भव-
ति । समाधानवती या स्मृतिः सा प्रमाणं न स्मृतिमात्रम् । तेन सत्यपि वेदार्थवित्त्वे यदतत्पराणां स्मरणं तद्धर्ममूलं
श्रान्त्यादि संभवाच्छास्त्रार्थावधानशून्यानाम् । शब्दइह पठ्यते सतद्विदामित्यस्मात्तन्त्रं द्रष्टव्यः वृत्तानुरोधात्त्वेवंपठितः ।
समुच्चयार्थश्चासौ पूर्वप्रकृतस्य च समुच्चेतव्यस्याभावात्तृतीये पादे यत्साधूनामित्युक्तं तत्समुच्चिनोति । अतस्त्रीणि
विशेषणान्यत्राश्रीयन्ते । विदुषामुपाध्यायादागमितविद्यानांतथा तदभ्यासपराणामनुष्ठानपराणांच स्मृतिः प्रमाणम् ।
एतत्सर्वमन्वादिनामासीदिति स्मर्यते । नान्यथा तत्कृतेषु ग्रन्थेषु शिष्टानांपरिग्रहोपपत्तिः । यद्येवंस्पष्टमेव वक्तव्यं मन्वा-
दिवाक्यानि धर्ममूलमिति किमेतेन लक्षणेन । सत्यम् । यः कथंचित्तन्त्रामाण्ये विप्रतिपाद्येत तंप्रति न्यायशास्त्रप्रसिद्धं-
प्रामाण्यहेतुकथनमेतत् । अद्यत्वेऽपि यस्यैतद्धेतुसद्भावः सोऽपि मन्वादिवद्वाक्यवाक्यः स्यात् । तथा चविदुषांप्रायश्चित्ता
द्युपदेशे तथा भूताएव परिषत्त्वेन प्रमाणीभवन्ति एकोपि वेदविद्धर्मयोव्यवस्थेद्विजोत्तमइति । अतएव स्मर्तृपरिगणना
मनुर्विष्णुर्यमोऽङ्गिरादिति निर्मूला । तथा हि पैठीनसिर्बोधायनप्रचेतःप्रभृतयः शिष्टैरेवंरूपाः स्मर्यन्ते न च परिगणनायामन्त-
र्भाविताः सर्वथा यामविगानेन शिष्टाः स्मरन्ति वदन्तिवा । एवंविधैर्गुणैर्युक्तं तेन चैतत्प्रणीतमिति तस्य वाक्यंसत्यपि
पौरुषेयत्वे धर्मे प्रमाणस्यादिति स्मृतिशीले च तद्विदामित्यस्यार्थः । अद्यत्वे य एवंविधैर्गुणैर्युक्तैर्दृष्टेनैव च हेतुना
ग्रन्थमुपनिबन्नीयात्सउत्तरेषांमन्वादिवत्प्रमाणीभवेत् । इदानींतनानांतु यदेव तत्र तस्याम बोधकारणंतदेव तेषामस्तीति
न तद्वाक्यादवगतिः । इदानींतनोहि यावन्मूलं दर्शयति तावन्विद्वांसस्तद्वाक्यंप्रमाणयन्ति । दर्शिते तु मूले प्रमाणीकृते
ग्रन्थे कालान्तरे यदि कथंचिदष्टकादिमूलतुल्यता स्यात्तदा तेषांशिष्टपरिग्रहान्यथानुपपत्त्या तन्मूलानुमानंयुक्तम् । आ-
चारश्चैव साधूनांचशब्देन वेदविदामिति संबध्यते । पदद्वयेन शिष्टत्वंलक्ष्यते । शिष्टानांयआचारः सोपि धर्मे मूलम् ।
आचारोव्यवहारः अनुष्ठानं यत्रश्रुतिस्मृतिवाक्यानि न सन्ति शिष्टाश्च धर्मबुद्ध्यानुतिष्ठन्ति तदपि वैदिकमेव पूर्ववत्प्र-
तिपत्तव्यम् । यथाविवाहादौ कङ्कणबन्धनादि माङ्गलिकत्वेन यत्क्रियते या च कन्यायास्तदहर्षिवाहयिष्यमाणायाः प्रख्या-
तवृक्षयक्षचतुष्पथादि पूजा देशभेदेन तथा चूडासंख्यादेशभेदश्च या चातिथ्यादीनांगुर्वादीनांचानुवृत्तिः प्रियहितवचना-
भिवादनाभ्युत्थानादि रूपा तथा पृश्निस्मृत्तंनृणपाणयोऽधीयते अश्वमेधमश्वंयथासमर्पयन्तः ईदृशआचारः । एषोऽपि हि-
स्वभावभेदेन पुरुषाणांमनः स्वास्थ्यादौःस्थ्यादिभेदेनानेकरूपः प्रतिविशेषमानन्त्यादशक्योग्रन्थेनोपनिबद्धम् । यदेव बहुशः
प्रियेत्युपलक्षितंतदेवावसरान्तरे विपरीतंसंपद्यते । तथा पर्युपासनंगृहस्थेनातिथेः क्रियमाणंकस्यचित्प्रीतिकरंममायंमृत्यव
त्तिष्ठति । अन्यस्त्वन्यथानिर्यन्त्रणया नलभ्यत आसितुंमस्मिन्संनिहितइति पर्युपासनयैव विरज्यति । तत्र सामान्यतःश-
क्यंवेदानुष्ठानं विशेषतः । अष्टकादीनांतु नियतैकरूपसमस्तप्रयोगस्मरणमित्येषस्मृत्याचाराणांभेदः । आत्मनस्तुष्टिरेव
च धर्ममूलमित्यनुषज्यते वेदविदांसाधूनामिति च । अस्याश्चधर्ममूलत्वप्रामाण्येनैवेत्याहुः । यत्र ह्येवंविधानामनुष्ठेयेर्थे-
मनः प्रसीदति द्वेषो न भवति सधर्मः । ननु च यस्य प्रतिषिद्धएवार्थमनः प्रसीदित्सधर्मं प्राप्नोति विहिते च किंकथितं-
स्यात् सन धर्मइति । एवमेतदीदृशानांमहात्मनांमतिमतां महाप्रभावोमनः प्रसादोयेनाधर्मोऽपि धर्मतामेति धर्मश्चाधर्मतां न
रागद्वेषादिदोषवताम् । यथारूपायां यत्किंचिद्व्यं प्रविशति तत्सर्वलवणसात्संपद्यते एवंवेदविदा सहस्रोत्पन्नेन मनः परि-

तोषेण सर्वनिर्मलीक्रियते । अतोयथा प्रतिषिद्धमपि ग्रहणं षोडशिनि विधिनानुष्ठीयमानं न दोषाय । नचात्र ग्रहणवद्विकल्पः । प्रतिषेधात्मात्मतुष्टिचित्तिरेकेणान्यत्र विषये व्यवस्थाप्यन्ते । अथवानैव तेषामधर्मे आत्मापरितुष्यति यथाविषग्नीमेवौषधीं नकुलोदशति नान्याम् अतउच्यते नकुलोयांदांशति सासाविषग्नीति । इह भवन्तश्चाहुः ये वैकल्पिकाः पदार्थास्तेषु यस्मिन्पक्षे मनः प्रसीदति सपक्षआश्रयितव्यः । वक्ष्यति च द्रव्यशुद्धौ श्रयश्चित्तेषु च तस्मिन्स्तावत्तपः कुर्याद्यावत्तुष्टि-करं भवेत् । अथवा योऽश्रद्धधानो नास्तिकतया तस्यानधिकारमाह । नास्तिकस्य हि न वैदिकं कर्म कुर्वतोऽप्यात्मा तुष्यति । अतस्तेन क्रियमाणमपि कर्म निष्फलमेव । अथवा सर्वकर्मविषयो भावप्रसाद उपदिश्यते । अनुष्ठानकाले क्रोधमोहशोकादि-त्यक्ता प्रमुदितेन भाव्यम् । अतश्च शीलवदस्याः सर्वशेषतया धर्ममूलत्वाभिधानम् ॥ ६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवं धर्मव्यवस्थाप्य तत्र प्रमाणान्याह । वेदोऽखिल इति अखिलः सार्थवादः तेषामपि विधितात्पर्यात् सवेदो धर्मस्य मूलप्रमाणम् । यत्र साक्षात्श्रुतिर्नोपलभ्यते तत्र कथं तदुक्तं स्मृतिशीले चेति । वेदविदांया स्मृतिर्वाक्यविशेषविवक्षोत्पादिकार्थविशेषविषय चिन्तातत्प्रभवत्वात् वाक्यमपि स्मृतिः । वेदेनुपलभ्यमाने सा धर्मप्रमाणम् । तस्याप्यनुपलम्भे यत्र वेदविदां बहूनां शीलं चित्तस्य स्वभावप्रवणता सापि धर्मस्य मूलम् । यथा श्रुतिः यद्वै किंचानूचानोभ्युहति तदार्थं वेदयन्तीति । तस्याप्यनुपलम्भउक्तमाचारइति । साधवो वेदार्थसाधनप्रवृत्ताः तेषामाचारः स्वत्व-पूर्वकालीनसाधनुष्ठितस्य प्रतिसंधानमनुष्ठानं तच्च प्रमाणधर्मे लब्धशीलादन्यप्रयुक्तत्वशङ्कारहितानि धारितमूलमि-थ्याप्रसिद्धमूलताशङ्काकलुषितमीषत्प्रत्यवरमिति क्रमार्थः । यत्राचारोऽपि नोपलभ्यते तत्राह आत्मनइति । वक्ष्यति च यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषइति । तदयमर्थः यत्र विषये वेदादिकं धर्मप्रमाणचतुष्टयं सदपि नोपलब्धउत्सादादिव शा-तं तत्र यत्कर्म कुर्वतश्चेतसोऽलाघवापरनामाप्रसादातिशयः तस्य साधकत्वे स एव प्रमाणम् । किंत्वेकपुरुषप्रतिभानतया-स्याः शीलाचाराभ्यां बहुजनप्रतिभानतदनुष्ठानरूपत्वेनान्योन्यसंवादप्राप्तदाढ्याभ्यां किंचिदपकृष्टत्वमिति ॥ ६ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानीं धर्मप्रमाणान्याह वेदोऽखिलो धर्ममूलमिति । वेदः ऋग्यजुः सामाथर्वलक्षणः ससर्वो विध्यर्थ-वादमन्त्रात्मा धर्मे मूलप्रमाणमर्थवादानामपि विध्येकवाक्यतयास्तावकत्वेन धर्मे प्रामाण्यात् । यदाह जैमिनिः विधिनान्वेक-वाक्यत्वात्स्तुत्यर्थे न विधीनां स्युः । मन्त्रार्थवादानामपि विधिवाक्यैकवाक्यतयैव धर्मे प्रामाण्यप्रयोगकाले चानुष्ठेयस्मारक-त्वं वेदस्य च धर्मे प्रामाण्यं यथानुभवकरणत्वरूपं न्यायसिद्धम् । स्मृत्यादीनामपि तन्मूलत्वेनैव प्रामाण्यप्रतिपादनार्थमनू-द्यते । मन्वादीनां च वेदविदां स्मृतिर्धर्मे प्रमाणम् । वेदविदामिति विशेषणीपादानाद्देदमूलत्वेनैव स्मृत्यादीनां प्रामाण्यमभिमतम् । शीलं ब्रह्मण्यतादिरूपम् । तदाह हारीतः ब्रह्मण्यता देवपितृभक्तता सौम्यताऽपरोपतापिताऽनसूयता श्रुताऽपारुण्यं मैत्रता प्रियवादित्वं रुतज्ञता शरण्यता कारुण्यप्रशान्तिश्चेति त्रयोदशविधं शीलम् । गोविन्दराजस्तु शीलं रागद्वेषपरित्यागइ-त्याह । आचारः कम्बलवल्कलाद्याचरणरूपः । साधूनां धार्मिकाणामात्मतुष्टिश्च वैकल्पिकपदार्थविषया धर्मे प्रमाणम् । तदाह † गर्गः । वैकल्पिके आत्मतुष्टिः प्रमाणम् ॥ ६ ॥

(४) राघवानन्दः । अधुना प्रत्यक्षवेदमात्रप्रमितो धर्मइदितु नार्थइत्याह वेदइति चतुर्भिः । अखिलः ऋग्यजुः सामाथर्वानः धर्ममूलधर्मे प्रमाणम् । स्मृतिशीले स्मृतिमन्वाख्याद्या शीलवृत्तचरित्रम् । तद्विदामनुष्ठेयत्वेन वेदार्थविदाम् । ब्रह्मण्यतापितृदेवभक्तता अपरोपतापिता श्रुता अनसूयता अपारुण्यमैत्रता प्रियवादित्वं रुतज्ञता शरण्यता कारुण्यम्



शान्तिरिति त्रयोदशविधशीलमिति हारोतोक्तंवा । अत्र स्मृतिः श्रुत्यविरोधिनी ग्राह्या । तथा च सूत्रं विरोधे त्वनपेक्षस्यादसति ह्यनुमानमिति । प्रत्यक्षश्रुतिविरोधे स्मृत्यादिहेयम् । यथासवोदुम्बरीवेष्टयितव्येति । असति तद्विरोधे अनुमानं यथाष्टकाः कर्तव्या इति स्मृतिवाक्यवेदानुमापकतया मानमित्यर्थः । आचारो विवाहादौ कङ्कणबन्धादिः साधूनाममत्सराणां तुष्टिर्भनसः परिणामविशेषः सोऽपि धर्मे मानमित्यन्वयः ॥ ६ ॥

(५) नन्दनः । अथ धर्मप्रमाणान्युपन्यस्यति वेदइतिजातावेकवचनम् । धर्ममूलधर्मस्य प्रमाणं केवलं विध्यादेश एव धर्मप्रमाणं किंतु मन्त्रार्थवादावपीत्युक्तमखिलइति । तद्विदां वेदार्थविदाम् । स्मृतिर्धर्मशास्त्रेतिहासपुराणानि । शीलं च धर्ममूलं सतसं भावनीयताहेतुः आत्मगुणसंपच्छीलम् । तदुक्तं महाभारते तत्तु कर्म तथा कुर्याद्येन श्लाघ्येत संसदि । शीलं समासेनैतत्ते कथितं कुरुनन्दनेति । अत्रोदाहरणं युधिष्ठिरस्य यक्षरूपधारिणो धर्मात्सोदरानादरेण नकुलजीवितवरणम् । तद्विदामाचारश्चैव धर्ममूलम् । आचारो व्याख्यातः । साधूनां परमधार्मिकाणामात्मनस्तुष्टिर्भनसोऽरुचिः सा च धर्ममूलं प्रमाणान्तरागोचरत्वेन धर्मत्वं प्रति संशयितेष्वर्थेषु योऽर्थो धर्मत्वेन साधूनां मनसे रोचते स धर्म इत्यर्थः ॥ ६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अखिलो वेदो धर्मस्य प्रमाणम् । च पुनः । तद्विदां धर्मविदां स्मृतिशीले स्मृतिश्च शीलं च स्मृतिशीले धर्मस्थमूले भवतः शुचौ तु चरिते शीलमित्यमरः । आचारः सदाचारः साधुतुष्टिरेव साधुतुष्टिकर्ता च पुनः आत्मनः स्वस्य तुष्टिकर्ता ॥ ६ ॥

यः कश्चित्कस्य चिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ॥ स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ ७ ॥

(१) मेधातिथिः । यदुक्तं वेदवित्संबन्धेन स्मृतेः प्रामाण्यंतदनेन प्रकटयति । यः कश्चिद्धर्मो वर्णधर्म आश्रमधर्मः संस्कारधर्मः सामान्यरूपो विशेषरूपश्च कस्यचित् ब्राह्मणादेर्वर्णस्य मनुना परिकीर्तितः स सर्वोऽभिहितो वेदेऽभिहितः प्रतिपादितो यथा चैतत्तथा पूर्वश्लोकोक्तम् । सर्वज्ञानमयो हि सः सर्वेषां ज्ञानानामदृष्टविषयाणां हेतुर्निमित्तं वेदः सर्वज्ञानैर्निर्मित इवेति ज्ञाने तद्विकारत्वमध्यारोप्य मयट्कृतः । यो हि यद्विकारः स तन्मयस्तत्त्वभाव इत्युच्यते । वेदश्च ज्ञानहेतुत्वात्तन्मय इति । यत्कार्यदर्शने कारणं कार्यस्वभावमिति । अथवा सर्वज्ञानाद्धेतोरागतो हेतुमनुष्येभ्य इति मयट्क्रियते ॥ ७ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । यः कश्चिदिति । यः कश्चिदिदानीमनुपलभ्यमान मूलवान् वेदोऽपि कस्यचित्संकीर्णस्यापि सर्वेषां वेदानां यत्तु ज्ञानं तन्मायो हि स इत्यनुधापयेपितस्य स वेदः प्रत्यक्ष एवेत्यर्थः ॥ ७ ॥

(३) कुल्लूकः । वेदादन्येषां वेदमूलत्वेन प्रामाण्येऽभिहितेऽपि मनुस्मृतेः सर्वोत्कर्षज्ञापनाय विशेषेण वेदमूलतामाह यः कश्चिदिति । यः कश्चित्कस्य चिद्ब्राह्मणादेर्मनुना धर्मोक्तः स सर्वो वेदे प्रतिपादितः । यस्मात्सर्वज्ञोऽसौ मनुः । सर्वज्ञतया चोत्सन्नविप्रकीर्णपट्यमानवेदार्थसम्यग्ज्ञात्वा लोकहितायोपनिबद्धवान् । गोविन्दराजस्तु सर्वज्ञानमय इत्यस्य सर्वज्ञानारब्ध इव वेद इति वेदविशेषणतामाह ॥ ७ ॥

(४) राघवानन्दः । सर्वासां स्मृतीनां वेदमूलत्वेऽपि मनुस्मृतेरतिशयमाह य इति । कस्य चित्पुंसः स वेदः सर्वज्ञानमयः सर्वेषां ज्ञानानामदृष्टविषयाणां हेतुतया निर्मितः सर्वविषयज्ञानबलो भगवतः पूर्वपूर्वसर्गसदृशतया कार्यत्वेऽपि सर्वार्थप्रकाशकत्वात् ॥ ७ ॥

(५) नन्दनः । एषु पूर्वपूर्वबलीयः वेदविदां स्मृतिः प्रमाणमित्युक्तम् वेदवित्तमत्वान्मनुना प्रणीतं शास्त्रं स्मृत्यन्तेरभ्यः प्रमाणमित्यभिप्रायेणाह यः कश्चिदिति । सर्वज्ञानमयः सर्ववेदार्थज्ञानप्रकटः ॥ ७ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः कश्चित्धर्मः कस्यचिद्विप्रादेः धर्मः मनुना परिकीर्तितः सः सर्वः धर्मः वेदेऽभिहितः उक्तं सवेदः सर्वज्ञानमयः सर्वज्ञानातीत्यर्थः । यद्वा समनुः सर्वज्ञानमयः ॥ ७ ॥

सर्वतु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ॥ श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै ॥ ८ ॥

(१) मेधातिथिः । सर्वज्ञेयकृतकारुतकशास्त्रगोचरंप्रत्यक्षादिगोचरं समवेक्ष्यैतज्ज्ञानचक्षुषा तर्कव्याकरण-
निरुक्तमीमांसादिविद्यास्थानश्रवणचिन्तनात्मकेन चक्षुरिव चक्षुः शास्त्राभ्यासो ज्ञानस्य कारणत्वसामान्यात् । यथा
चक्षुषा रूपं ज्ञायते एवं शास्त्रेण धर्म इति सामान्यं समवेक्ष्य सम्यग्विचारपूर्वकं निरूप्य श्रुतिप्रमाणतो वेदप्रामाण्येन
धर्मे निविशेत धर्ममनुतिष्ठेत् । सर्वेषु हि शास्त्रेषु सम्यग्ज्ञातेषु वेदप्रामाण्यमेवावतिष्ठते नाज्ञातेषु । तथा हि तानि शास्त्राणि
निपुणत्वेन चिन्तयन्ति न तेषां प्रामाण्ये सम्यग्युक्तिरस्ति वेदे त्वस्तीति निश्चिनोति । सर्वग्रहणं ज्ञेयविशेषणम् । निखिलश-
ब्दश्च समवेक्ष्येति क्रियाविशेषणम् । निखिलं समवेक्ष्य निःशेषेण पूर्वपक्षेण शास्त्रान्तराणां प्रामाण्ये वेदस्य वा प्रामाण्ये याव-
न्त्यः काश्चन युक्तयः प्रतिभासन्ते ताः सर्वाः प्रदर्श्य सिद्धान्तसिद्धैर्हेतुभिर्यथा लक्षणलक्षितैर्निराकृत्य स्वपक्षसाधने चोप-
न्यस्ते वेदप्रामाण्यमवतिष्ठत इति निखिलशब्देन प्रदर्श्यते । तेन तौ निखिलसर्वशब्दौ पर्यायावपि भिन्नविषयत्वान् पुनरुक्तौ ।
स्वग्रहणमनुवादः । यो ह्यन्यस्य धर्मः सोऽन्यस्या धर्म एव ॥ ८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सर्वं त्विति । सम्यगवेक्ष्यालोच्य इदं मानवशास्त्रं एतच्छास्त्रोक्तेन ज्ञानरूपचक्षुषाऽनुपलभ्य-
मानवेदमूलेषु कर्मसु उपलभ्यमानतन्मूलेन च श्रुतेरपि प्रामाण्यतः प्रमाणत्वेन सिद्धेः तदुक्ते स्वधर्मे स्वसंपाद्ये धर्मे निविशेत
नितान्तमन्तर्भवेत् । वैप्रसिद्धौ ॥ ८ ॥

(३) कुम्भूकः । सर्वं त्विति । सर्वं शास्त्रजातं वेदार्थाविगमोचितं ज्ञानं मीमांसाव्याकरणादिकं ज्ञानमेव चक्षुस्तेन निखि-
लं द्विशेषेण पर्यालोच्य वेदप्रामाण्येनानुष्ठेयमवगम्य स्वधर्मेऽवतिष्ठेत् ॥ ८ ॥

(४) राघवानन्दः । ततः किं तत्राह सर्वमिति । ज्ञानचक्षुषा ज्ञायते ऽनेनेति ज्ञानं गुरुः स एव चक्षुस्तेनोपदिष्टमवेक्ष्य
शब्दतोऽर्थतश्चाधीत्येत्यर्थः । इदं मनुशास्त्रं श्रुतिप्रामाण्यतः श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्याभिर्गृहीता तात्पर्यार्थः । विद्वान्
स्वधर्मेऽनुष्ठेये कर्तव्याकर्तव्येति विशेषतः प्रवर्तेत ॥ ८ ॥

(५) नन्दनः । शीलादिभ्यः श्रुतिस्मृतीबलीयस्यावित्यभिप्रायेणाह सर्वमिति । इदं श्रुत्यादिप्रमाणजातम् । निखिलं नि-
रवशेषम् । ज्ञानचक्षुषा बुद्ध्या । श्रुतिप्रामाण्यतः श्रुतिशब्दः स्मृतेरप्युपलक्षणार्थ उत्तरश्लोकानुगुण्याच्छ्रुतिसमत्वाभ्यु-
पगमाच्च ॥ ८ ॥

(६) रामचन्द्रः । इमं निखिलं सर्वधर्मविप्रादीनां धर्मज्ञानचक्षुषा अवक्षेप्य विचार्य विद्वान् श्रुतिप्रामाण्यात् वै निश्चयेन
निविशेत स्वधर्मे प्रविष्टो भवेत् ॥ ८ ॥

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः ॥ इह कीर्तिमवामोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ९ ॥

(१) मेधातिथिः । यो नास्तिकतया वैदिकानि निष्फलानि कर्माणीति व्यामुह्य न तदनुष्ठाने प्रवर्तते तस्य प्रवृत्त्य-
र्थं सुन्दरूत्वेऽष्टफलप्रदर्शनं करोति । तिष्ठन् तावदन्यत्फलं श्रुतौ स्मृतिषु च यदुदितमुक्तं धर्माख्यं कर्म तदनुतिष्ठन्निहासिंल्लोके
यावज्जीवति तावत्कीर्तिप्रशस्यतां पूज्यतां सौभाग्यं लभते न्याय्ये पथि स्थितो महापुण्यो यमिति सर्वेण पूज्यते प्रियश्च सर्व-
स्य भवति । प्रेत्य देहान्तरे यस्मादन्यदुत्तमनास्ति तत्सुखं प्राप्नोति प्रायेण स्वर्गकामस्याधिकारी । निरतिशया च प्रीतिः

स्वर्गस्ततउच्यते अनुत्तममिति । तस्मान्नास्ति कस्यापि दृष्टफलार्थिनोऽत्रैव प्रवृत्तिः प्रयुक्त्येवंपरमेतत् ॥ ९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्रफलमाह श्रुतीति । श्रुतिस्तत्कालोपलभ्या अनुत्तमसुखस्वर्गाख्यं मोक्षाख्यं च । अत्र चशीलादीनामनुक्तिरपकृष्टत्वकथनार्थम् अतएव वक्ष्यमाणस्य श्रुतिस्मृत्यमीमांस्यत्वस्य शीलादावपि प्रसङ्गनिवारयितुं श्रुतिस्मृतिपदार्थौ व्याकर्तव्यौ ॥ ९ ॥

(३) कुल्लूकः । श्रुतिस्मृत्युदितमिति । श्रुतिस्मृत्युदितधर्ममनुतिष्ठन्मानवइह लोके धार्मिकत्वेनानुषङ्गिकींकीर्तिपरलोके च धर्मफलमुत्कृष्टस्वर्गापवर्गादिसुखरूपं प्राप्नोति । अनेन वांस्तवगुणकथने श्रुतिस्मृत्युदितधर्ममनुतिष्ठेदिति विधिः कल्प्यते ॥ ९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच श्रुतीति । अनुत्तमनास्त्युत्तमं यस्मात् । मानवः मनुष्याधिकारकं शास्त्रमिति न्यायात् ॥ ९ ॥

(५) नन्दनः । श्रुतिस्मृत्योस्तुल्यकक्षतां विशदयति श्रुतीति ॥ ९ ॥

(६) रामचन्द्रः । श्रुतिस्मृत्युदितं श्रुतिस्मृतिभ्यां यत्तदुदितं उक्तं धर्ममानवः अनुतिष्ठन् इह लोके प्रेत्य परलोके कीर्ति-सुखमवाप्नोति ॥ ९ ॥

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ॥ ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥ १० ॥

(१) मेधातिथिः । किमिदं शब्दार्थसम्बन्ध स्मरणमभिधानकोशशास्त्रमात्मभूः परमेष्ठीत्यादिवन् धर्मशास्त्रं येनेदमुच्यते श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिरिति उच्यते । इह सदाचारो न श्रुतिर्न स्मृतिर्निबन्धाभावान्निबद्धाक्षराहिस्मृतयः प्रसिद्धाऽतस्तस्य स्मृतित्वमुपपादयति । यत्कार्यं धर्मप्राप्त्यर्थं तद्धर्मशास्त्रं यत्र धर्मः शिष्यते कर्तव्यतया प्रतीयते सा स्मृतिः । निबन्धानिभावप्रयोजक शिष्टसमाचारादपि धर्मस्य कर्तव्यतावगतिः सोऽपि स्मृतिरेव । ततश्च यत्र कस्मैचित्कार्याय स्मृतेरुपादानं तत्र सदाचारोऽपि ग्रहीतव्यः । धर्मशास्त्रं चेत्स्मृतिर्वेदोऽपि सर्वमुख्यं धर्मशासनमिति तस्यापि स्मृतित्वप्रसङ्गस्तन्निवृत्त्यर्थमाह श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः । यत्र श्रूयते धर्मानुशासनशब्दः सा श्रुतिः । यत्र च स्मर्यते सा स्मृतिः । तच्च समाचारेऽप्यस्तीत्यतः सोऽपि स्मृतिरेव । न हि तत्राप्यस्मृतवैदिके शब्दे प्रामाण्यमथवा श्रुतिग्रहणं स्मृतेर्वेदतुल्यत्वार्थात् किंपुनः श्रुतिस्मृत्योः समानकार्ययत्समाचारेऽप्यन्येन प्राप्यते । उच्यते । ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ते श्रुतिस्मृती सर्वेष्वर्थेष्वन्यन्तासंभाव्येष्वपि दृष्टविषयैः प्रमाणैर्यथा तस्मादेवाहिंसा लक्षणात्पदार्थात्कचिदभ्युदयः क्वचित्प्रत्यवायः सुरापानान्नरकः सोमपानात्पापशुद्धिरित्यादौ पक्षप्रतिपक्षगमनेन विचारो न कर्तव्यः । आशङ्क्यपक्षान्तरसंभावनं मीमांसनम् । यथा हिंसा चेत्पापहेतुः स्वरूपाविशेषाद्वैदिक्यपि तथा भवितुमर्हति । अथ वैदिक्यभ्युदयहेतुर्लौकिक्यपि तथा स्यात् । तद्रूपसमानत्वाद्यस्य यद्रूपवेदादवगतं तस्य तद्विपरीतरूपसंभावनमसत्तर्काश्रयैरसम्यग्हेतुभिर्यद्विचारणं तत्सिद्धान्ताभिनिवेशः स इह प्रतिषिध्यते । न पुनरयमर्थो वेदस्याद्यः पूर्वपक्षउतत्विद्यः सिद्धान्तइत्येषामीमांसानिषिध्यते । यतो वक्ष्यति यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मवेद नेतरइति । किंपुनरयमदृष्टार्थमीमांसनप्रतिषेधः नेति ब्रूमः । ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ भावनेन तार्किकप्रमाणानां वेदार्थविपरीतसाधनानामाभासतामाह । ईदृशाहितेषां हेतवो वैदिकी हिंसा पापहेतुः हिंसात्वाल्लौकिकहिंसावत् । तत्र हिंसायां पापहेतुत्वं कुतश्चिदन्यतः प्रमाणात्सिद्धमन्तरेणागमम् । एवं चेन्नास्ति हिंसायाः पापसाधनं सिद्धौ हेतुः यावदागमः प्रामाण्येन नाभ्युपगन्तुः । अभ्युपगते चागमप्रामाण्ये तद्विरुद्धे हेतुर्न युज्यते अप्रामाण्यापत्तेरागमस्य । ततश्चेतरेतरव्यापारः पूर्वप्रामाण्येन परिग्रहः पश्चादप्रामाण्यमिति । सोऽयं स्ववचनविरुद्धः पक्षो नैनं तार्किका अनुमन्यन्ते मम मातावन्ध्येति वदागमविरुद्धश्च । अथोच्यते नैवागमः प्रमाणं क

अतद्विरोधोद्भावनं दूषणम् । अनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः । कारीर्यादिकर्मणां तत्समनन्तरं फलार्थितयाऽनुष्ठीयमानानां नि-
यमतोऽनुष्ठानसमनन्तरं फलप्राप्तिः । कालान्तरे भविष्यतीति चेदुक्तमत्र कृता शरदि कारीरी मृशं शुष्यत्सु शालिषु । वसन्ते
जायते वृष्टिस्तस्यादौ न भवेत्फलमिति । यान्यप्यन्यत्र भाविफलानि ज्योतिष्मोमादीनि तत्रापि निरन्वयविनाशात्कर्मणो-
वृषशते फलं भविष्यतीति निःसंदिग्धवैतानिकव्यवहारोपममेतत् । तस्मादनृतम् । व्याघातः उदिते होतव्यमनुदिते जुहोतो दो-
षः । प्रातःप्रातरनृतं तेवदन्ति पुरोदया जुह्वति येऽग्निहोत्रम् । तथाऽनुदिते होतव्यं यथातिथये प्रदुताय दद्यात्तादृगेतद्य जुहुया
दित्येकत्रोदितहोमो विधीयतेऽनुदितहोमनिन्दया । तदेव विपरीतमन्यत् । तत्रैकः पक्ष आश्रीयतामित्यनध्यवसायः यदे-
वाग्निहोत्राद्ये कस्यां शाखायां विद्यते तदेव शाखान्तरेपि । सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्मैत्यभ्युपगमः । ततश्च पुनरुक्तं तत्रानृतमेव
तत्र भवतीत्येतेनैव पादेन प्रतिपाद्यते । यतो वेदाद्धर्म एव कर्तव्यतामात्रं यागादिविषयनिर्बभौ विभाति गम्यते । न पुनः
कालविशेषः फलस्योत्पत्तावधिकारवाक्येषु कालविशेषाश्रवणाद्विधितो हि फलं भवतीत्येतावद्गम्यते । कालावच्छेदो न विधिः ।
धात्वर्थसंबन्धिनो हि कालविभागाभूतं भविष्यद्वर्तमानाः । न चैतद्धात्वर्थफलं किन्तु वैधम् । धात्वर्थफलं हि तदानीमेव निर्वर्तते ।
देव तोद्देशेन द्रव्यत्यागः हविर्विकारादि यदिकश्चित्कस्यचिदाज्ञाकारो भवति तेन प्रेष्यते गच्छ याहि ग्राममिति स आज्ञा-
संपादने प्रवृत्तः कदाचित्प्रारम्भ एव वेतनफलं लभते कदाचिन्मध्ये कदाचित्कृत आज्ञाविषये समनन्तरमन्येद्युर्वाकाला-
न्तरेऽथवा एवमेतच्छास्त्रफलमनियतकालम् । दिव्यवृष्ट्यादेस्तु स्वाभाव्येन प्रसत्तिमात्रं गम्यते । ननु तदहरेवोत्पत्तिः प्रतिसं-
बन्धकानि च यथा फलस्यैवं विधस्य लोके भवन्ति तथा वेदेषु पुराकृतं दुष्कृतादि । तथा च वेद एवैतद्वर्णयति यदि न
वर्षे तथैव वसेदिति । सर्वस्वादौ तु विवदन्ते नैतत्क्रतुफलम् । अङ्गमेतत्स्मरणम् । क्रतुफलं यः कामयेतानामयः स्वर्गलोक-
मियामिति । यच्चोक्तं हिंसायां लोकवेदयोर्न विशेष इति तत्र शास्त्रावगम्यो हि तस्याऽयं स्वभावो न प्रत्यक्षादिगोचरस्तत्र
च भेदः । रागलक्षणा लौकिकी हिंसा विधिलक्षणाऽलौकिकी हिंसा विधिलक्षणा त्वग्नीषोमीयस्येति महान्भेदः । तस्मान्न-
किंचिद्वेदेऽनृतम् व्याघातं परस्तात्परिहरिष्यति श्लोकेनैव ॥ १० ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । श्रुतिस्त्विति । तुशब्देन शीलादिशब्दव्यवच्छेदः । वैदिति प्रसिद्धतामाह । धर्मशास्त्रप्रा-
धान्येन यत्रानुशासनीयं तद्धर्मशास्त्रम् । अमीमांस्ये तद्विरुद्धतर्कविचारादिभिर्न बाधनीये शीलादिकंतद्विरोधे बाध्यमेवे-
त्यर्थः । निर्बभौ प्रकाशितः ॥ १० ॥

(३) कुल्लूकः । श्रुतिस्त्विति । लोकप्रसिद्धसंज्ञासंज्ञिसम्बन्धानुवादोऽयं श्रुतिस्मृत्योः प्रतिकूलतर्केणामीमांस्यत्ववि-
धानार्थं स्मृतेः श्रुतितुल्यत्वबोधनेनाचारादिभ्यो बलवत्त्वप्रतिपादनार्थं च । तेन स्मृतिविरुद्धाचारो हेय इत्यस्य फलम् । श्रुति-
वेदः मन्वादिशास्त्रं स्मृतिः । तेऽप्येति कुल्लूकैर्न विचारयितव्ये यतस्ताभ्यां निःशेषेण धर्मो निर्बभौ प्रकाशतांगतः ॥ १० ॥

(४) राघवानन्दः । श्रुतिस्मृत्युदितमित्युक्तं तत्र का श्रुतिः का च स्मृतिरित्याकाङ्क्षायामाह श्रुतिस्त्विति ।
धर्मशास्त्रधर्मप्रतिपादकमन्वादि तस्य च कर्तृविशेषात्प्रामाण्यम् । तदाह याज्ञवल्क्यः कर्तारो धर्मशास्त्राणामनुविष्णुर्य
मोङ्गिराः । वसिष्ठश्च संवर्तशातातपपराशराः । आपस्तम्बो शनो व्यासाः कात्यायनबृहस्पती । गौतमः शङ्खलिवित्तौ
हारीतोत्रिहंतथेति । श्रुतिस्मृती सर्वार्थेषु ज्ञातव्येषु अमीमांस्ये प्रतिकूलतर्केण न विचारयितव्ये इति कुल्लूकः तन्न ।
सर्वार्थेषु मीमांस्ये एव इति पाठः । तथा च सर्वार्थेषु ज्ञातव्येषु मीमांस्ये एव धर्मस्यातीव सूक्ष्मत्वात् । यस्तर्केणानुसंधत्ते-

सधर्मवेदनेतरइति । त्रयंसुविदितं ज्ञेयं कार्यसिद्धिमुभीप्सतेति । त्रयंप्रत्यक्षानुमानशब्दाः । मीमांसा हि पूजितविचारवचनेऽ
थातो धर्मजिज्ञासेत्यादि । तत्र जातंतया सुत्यादिषट्कैर्निर्णेतव्ये ऐन्द्रयागार्हपत्यमुपतिष्ठते अस्याः श्रुतेरपि परतावत् ॥ १० ॥

(५) नन्दनः । श्रुतिस्मृत्योस्तुल्यकक्ष्यतामेव प्रकान्तरेणाहश्रुतिस्त्विति ॥ १० ॥

(६) रामचन्द्रः श्रुतिः वेदः स्मृतिर्धर्मशास्त्रं ते श्रुतिस्मृती सर्वार्थेषु सर्वकार्येषु अमीमांसे अविचार्ये । मानविचारणे
इत्यस्य धातोरूपम् । ताभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यां धर्मः निर्बभौ नितरांबभौ ॥ १० ॥

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्विजः ॥ ससाधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ ११ ॥

(१) मेधातिथिः । असत्यप्रामाण्यहेतोर्वेदस्य यो द्विजो हेतुशास्त्राश्रयाद्धेतुशास्त्रं नास्तिकतर्कशास्त्रं बौद्धचार्वाकादि-
शास्त्रं यत्र वेदोऽधर्मायेति पुनः पुनरुद्ध्यते तादृशतर्कमाश्रित्य योऽवज्ञांकुर्याच्छ्रुतौ स्मृतौ च केनचिदकार्यान्नि-
वर्त्येतमैवकार्षीः प्रतिषिद्धं वेदेनेति तमनादृत्य चिकीर्षोत्कनाम वेदे यदि वेदे स्मृतिषु वा प्रतिषिद्धं कृतयोः सम्यक्प्रामाण्य-
मस्तीति कथयेन्मनसा वाविचिन्तयेत्तर्कशास्त्रेषु निबद्धादरीयदि दृश्येत ससाधुभिः शिष्यैर्बहिःकार्यस्तत्तत्कार्येभ्यो-
याजनाध्यापनातिथिसत्कारादिभ्यः । क्रियाविशेषस्थानिर्देशाद्विद्वद्दर्हाभ्यइति गम्यते यतोऽविद्वान्सम्यगसंस्कृतात्मा
तार्किकगन्धितयैव व्यवहरति आसु च क्रियासु विद्वानधिक्रियते । अतएव पूर्वश्लोके विचारदृष्टः प्रतिषिध्यते यतस्त-
दवज्ञानपरतया क्रियते । ननु यतस्तदर्थविशेषजिज्ञासयैवमर्थमेव हेतुमाह नास्तिको वेदनिन्दकः । अतश्च पूर्वपक्षे यो वेदस्या-
प्रामाण्यं ब्रूयान्नासौ नास्तिकः स्यात् । सिद्धान्तदाल्पार्थमेव पूर्वपक्षे हेतुकथनं वेदनिन्दकइति । स्मृतिग्रहणं नरुतंतुल्यत्वे-
नोभयोः प्रकृतत्वादन्तरनिर्देशेनैव सिद्धमुभयस्यापि ग्रहणमित्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यइति । तथा च शीलादिभिस्तदपवादधर्मव्यवस्थैव न स्यात् अतस्तदुभयं विचा-
र्यम् । हेतुशास्त्रं श्रुतिविरोधितर्कशासनम् । बहिष्कार्यः साधुभावात् । सहि नास्तिको नास्ति परलोक इत्येवंच वर्तते । वे-
दानांच निन्दको भवति । अतो बहिष्कार्यइत्यर्थः ॥ ११ ॥

(३) कुल्लूकः । योऽवमन्येतेति । यः पुनस्ते द्वे श्रुतिस्मृती द्विजोऽवमन्येत स शिष्टैर्द्विजानुष्ठेयाध्ययनादिकर्मणो नि-
सार्यः । पूर्वश्लोके सामान्येनामीमांसे इति मीमांसानिषेधादनुकूलमीमांसापि न प्रवर्तनीयेति श्रमो मा भूदिति विशेषयति
हेतुशास्त्राश्रयात् वेदवाक्यमप्रमाणं वाक्यत्वाद् द्विप्रलम्भकवाक्यवदित्यादिप्रतिकूलतर्कविष्टम्भेन चार्वाकादिनास्तिक इव । ना-
स्तिको यतो वेदनिन्दकः ॥ ११ ॥

(४) राघवानन्दः । अतएवाह यइति । अवमन्येत अप्रमाणो यं वेदः स्वर्गकामो यजैतेत्यादिर्भुञ्जानस्तृप्यती-
तिवत्कार्यकारणादष्टेयावाणः श्रुणुतेत्यादेरर्थव्याभिवाराच्चेत्यादि हेतुशास्त्रम् । वेदनिन्दकत्वेन पतितत्वात् सर्वधर्मानधिका-
रित्वमाह बहिष्कार्यइति ॥ ११ ॥

(५) नन्दनः । ते श्रुतिस्मृती । वेदस्मृतिनिन्दकइत्येव वक्तव्ये वेदनिन्दकइत्युक्तं स्मृतैरपि तन्मूलत्वाद् द्वेदत्वाभ्युपग-
मनेनोक्तम् ॥ ११ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः पुरुषः तेऽभे श्रुतिस्मृती हेतुशास्त्राश्रयात् हेतुः तर्कविद्या पाखण्डशास्त्राश्रयात् अवमन्येत सः
साधुभिर्बहिष्कार्यः वेदनिन्दकत्वात् ॥ ११ ॥

(११) योऽवमन्येत ते मूले = योऽवमन्येत ते तूभे । (अ, च, ज, झ, ट, ठ, ड, न, व, भ, य, ल, मेधा०)

वेदःस्मृतिःसदाचारःस्वस्य च प्रियमात्मनः ॥ एतच्चतुर्विधंप्राहुःसाक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

(१) मेधातिथिः । यस्त्वेतमर्थमविदित्वा वेदशब्दस्य विवक्षितार्थत्वमेव मत्वा स्मृतिनिन्दकस्य न बहिष्कारोनेन वेदनिन्दकस्यैव विहितइतिप्रतिपद्येत तंप्रत्याह नात्र कश्चिद्विशेषः वेदनिन्दाप्रतिषेधेन स्मृतिसदाचारात्मतुष्टीनामपि निन्दकस्य बहिष्कारोनेन विहितस्तेषामपि वेदमूलधर्माभिधानमतः स्मृत्यादिनिन्दकोवेदनिन्दकएव । ननु श्लोकद्वयेनार्थः । एवंक्तव्यं । श्रुत्यादीनात्मतुष्ट्यन्तान्हेतुशास्त्राश्रयान्द्विजः । योनिन्देत्सबहिष्कार्यः साधुभिर्नास्तिकत्वतः । उच्यते । नाचार्याग्रन्थगौरवंमन्यन्ते । बुद्धिगौरवंयत्नेन परिहरन्ति तस्मिन्सत्यसम्यगवबोधो धर्मस्य सच पुरुषार्थविहन्ति । भेदनिर्देशेपि हि चोदयेयुर्वेदग्रहणमेवकर्तव्यं सर्वस्य धर्मस्य वैदिकत्वात् तस्माद्विस्पष्टार्थभेदेनोभयनिर्देशः । संक्षिप्तरूचीनांपूर्वश्लोकोऽन्येषांश्लोकद्वयम् । स्वस्य चप्रियमात्मनइत्यनेन प्रागुक्ताऽऽत्मतुष्टिरेवोक्ता । स्वग्रहणंवृत्तपूरणार्थम् । एतत्साक्षाद्धर्मस्य लक्षणनिमित्तं ज्ञापकं न पुनः प्रत्यक्षम् यथानैरुक्तंसाक्षात्कृतधर्माणइति । विधाशब्दःप्रकारवचनः । एकमेव धर्मप्रमाणवेदाख्यं तस्यत्वेते भेदाः स्मृत्यादयः । अन्ये रूपसंहारार्थमिमंश्लोकंव्याचक्षते । समामं धर्मलक्षणप्रकरणमिति पुनः पाठः समामिसूचयति यथा द्विरभ्यासोवेदाङ्गेषुसंस्थाजपेनोपतिष्ठन्तउपतिष्ठन्तइति । तथा च पिण्डीकृतइव प्रागुक्तोऽर्थोऽदिवर्तते । यथानैयायिकाअनित्यः शब्दइतिप्रतिज्ञाय साधनोपन्यासंकृत्वा निगमयन्ति तस्मादनित्यः शब्दइति । प्रायेण चैषा ग्रन्थकाराणारीतिः । तथा महाभाष्यकारोऽपि क्वचित्सूत्रंवार्तिकंवा पठित्वा व्याख्याय पुनः पठति ॥१२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वेदस्मृत्योरेवात्र पुनःपुनरभिधानात् शीलादीनांव्यवच्छेदोमाभूदितिप्रागुक्तानि मूलानि संक्षिप्य दर्शयति वेदइति । सदाचारपदंबहूनां साधूनामपि प्रतिपत्तिविषयतामात्रकृतानुष्ठानपरम् । तेन शीलग्रहः स्वस्य स्वीयस्यात्मनःमनसःप्रियंसाक्षात् साक्षादिव साक्षात्कारइवेत्यर्थः आचारादात्मप्रीतिरपि प्रमाणमेव धर्मे किंतु तयोः नात्यन्तश्रुतिस्मृतिवन्निःशङ्कप्रवृत्तिहेतुतेति च तात्पर्यसंक्षेपः ॥ १२ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानींशीलस्याचारएवान्तर्भावसंभवाद्वेदमूलताएव तत्त्वं न स्मृतिशीलादिप्रकारनियमइति दर्शयितुं चतुर्थां धर्मप्रमाणमाह वेदइति । वेदो धर्मप्रमाणंसकृच्चित्प्रत्यक्षःकचित्स्मृत्यानुमितःइत्येवंतात्पर्यं नतु प्रमाणपरिगणने । अतएव श्रुतिस्मृत्युदितंधर्ममित्यत्र द्वयमेवाभिहितवान् । सदाचारः शिष्टाचारः । स्वस्य चात्मनः प्रियमात्मतुष्टिः ॥ १२ ॥

(४) राघवानन्दः । वेदोऽखिलइत्यत्रोक्तमनुवदंस्तत्रान्येषांसंमतिमाह वेदइति । वेदइत्यत्र पाठक्रमःस्मृतेर्वेदोमूलमिति सूचनार्थः । स्मृतिपूर्वकत्वाद्यन्तरितआचारः । आचारेष्वनुष्ठानप्रत्यक्षम् । कर्तव्यताधीस्तु स्मृतिमूलैव । लोभाद्यसत्त्वे स्वस्य वेदार्थानुष्ठानुःप्रियंरागाद्यनुपहितंतदपि धर्मे प्रमाणमित्यन्वयः । संमतिद्योतयति प्राहुरिति । लक्षणं मानम् ॥ १२ ॥

(५) नन्दनः । धर्मप्रमाणान्युपसंहरतिवेदइति । सदाचारशब्देनात्र शीलस्यापि परिग्रहः । लक्ष्यतेनेनेतिलक्षणंप्रमाणम् ॥ १२ ॥

(६) रामचन्द्रः । वेदः वेदोक्तधर्मः स्मृतिः स्मृत्युक्तधर्मः सदाचारः सतामाचारः आत्मनः स्वस्य यत्प्रियं तद्यथा स्वकीयस्य बन्धोः आत्मनश्च प्रियंयत् । चकारः समुच्चये । आत्मनः प्रियं परदाराभिभर्शानंप्रियंभवेत्चेत्तन्बन्धूनांतत्प्रियं तस्मात्स्वस्यआत्मनः प्रियंएतच्चतुर्विधंधर्मंप्राहुः ॥ १२ ॥

अर्थकामेष्वसत्तानांधर्मज्ञानंविधीयते ॥ धर्मजिज्ञासमानानांप्रमाणंपरमंश्रुतिः ॥ १३ ॥

(१) मेधातिथिः । गोभूमिहिरण्यादिधनमर्थः । तत्रसक्ति स्तात्पर्येण तदर्जनरक्षणार्थंरुषिसेवादिव्यापारकरणम् । कामः स्त्रीसंभोगः तत्रसक्तिर्नित्यतदासेवनं तदङ्गानांचगीतवादित्रादीनाम् । तद्वर्जितानांपुरुषाणांधर्मज्ञानंधर्मावबोधोविधीयते विशेषेणधोयते व्यवस्थितंभवति । धाआधारइत्यस्यैतद्रूपम् । किमर्थंपुनस्तत्र सत्तानांभवति धर्मज्ञानंयावता तेषां यथा लक्षणंतदविरोधिन्यवसरे भोजनादावितिहासश्रवणादन्योपदेशात्समाचाराद्वा शक्नुवन्तिज्ञातुमित्यतआह धर्मजिज्ञासमानानामिति । मुख्यंप्रमाणं धर्मेवेदः सचतैर्नशक्योज्ञातुम् । अत्यन्त दुर्विज्ञानोह्यसौ निगमनिरुक्तव्याकरणतर्कपुराणमीमांसाशास्त्रश्रवणमपेक्षते स्वार्थबोधे । न चेयान्प्रन्थराशिः सर्वव्यापारपरित्यागेन विनाशक्यआसादयितुम् । समाचारेतिहासादेः कतिपयेधर्मावगम्यन्ते । न वेदादिवत्समस्ताङ्गयुक्तोज्योतिष्टोमादिप्रयोगः । अतउक्तंप्रमाणंपरमंश्रुतिः । नतुसमाचारादेः प्रामाण्यापकर्षः तदुक्तं योऽहेरिव धनाद्भीतोमिष्टान्नाच्च विषादिव । राक्षसीभ्यइव स्त्रीभ्यःस विद्यामधिगच्छति । अपरेत्वर्थकामदृष्टफलैषिणउच्यन्ते । तत्र सत्तानांपूजाख्यात्यादिकामानांदृष्टफलार्थतया लोकपक्तिमात्र प्रयोजनानां धर्मज्ञानंधर्मानुष्ठानंविधीयत उपदिश्यते । ज्ञायतेऽस्मिन्निति ज्ञानमनुष्ठानमित्युच्यते । अनुष्ठीयमानोहि धर्मोव्यक्ततरौभवति शास्त्रावगमकातरोऽपिअतोऽनुष्ठानंधर्मज्ञानमुच्यते । अतएतदुक्तंभवति । यद्यपि धर्मानुष्ठानाल्लोकऽपत्त्यादि दृष्टप्रयोजनमुपलक्ष्यते तथापि न तत्सिद्धिपरतया तत्रप्रवर्तितव्यम् । किंतर्हि शास्त्रेण तच्चोदितमिति कृत्वा तथा च प्रवृत्तौ यदि दृष्टमपिभवति भवतु न विचार्यते । तथा च श्रुतिः स्वाध्यायस्य दृष्टफलमनुवदति यशोलोकपक्तिरिति । लोकः पच्यमानश्चतुर्भिरेनंभुनक्ति । अर्चयादानेनाजेयतया चावध्यतयेत्यादि । श्लोकश्चात्र भवति यथेक्षहेतेरिह सेचितंपयस्तृणानिवल्लीरपि च प्रसिञ्चति । तथा नरोधर्मपथेन संचरन्त्यशश्चकामांश्च वसूनि चाश्रुते । ननु च यस्ययः स्वभावोऽवगतः सोऽन्योद्देशेनाप्यनुष्ठीयमानो न स्वभावाच्चयवते करोत्येव तत्कार्यम् यथा विषमौषधोद्देशेनापि पीतंहन्त्येव । अतोदृष्टार्थतयाप्यनुष्ठीयमानानि कर्माणि शास्त्रीयाण्यदृष्टार्थान्यपि भविष्यन्ति । कोभवतोमत्सरोलोकावर्जनहेतुतया न प्रवर्तितव्यमिति येनात्थ- अतआहधर्मजिज्ञासमानानां वेदो धर्म प्रमाणम् । तेन चैतदुक्तं दृष्टफलकामार्थानांदृष्टंभवति । न केवलमदृष्टंभवति । यावत्प्रतिषिद्धसेवनादधर्मोऽपि भवति ॥ १३ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । तत्रापि श्रुतेः साधान्यमाह अर्थेति । धर्मविरोधिनोरर्थकामयोः प्रबन्धेन प्रवृत्तिःस- द्भस्तद्गहितानामेव धर्मज्ञानंविधेयम् । तदीयस्यैव धर्मज्ञानस्य प्रवृत्तिपर्यन्तत्वात्तेषांच परमंप्रमाणं श्रुतिरेव । अतः श्रुतिरे- कवाक्यतयैव स्मृतेरप्यादरणीयतेत्यर्थः ॥ १३ ॥

(३) कुहूकः । अर्थकामेष्विति । अर्थकामेष्वसत्तानामर्थकामलिप्साशून्यानांधर्मोपदेशोऽयम् । येऽत्वर्थकामस- मोहयालोकप्रतिपत्त्यर्थधर्ममनुतिष्ठन्ति न तेषांकर्मफलमित्यर्थः । धर्मैव ज्ञातुमिच्छतांप्रकृष्टंप्रमाणंश्रुतिः । प्रकर्षबोधनेन च श्रुतिस्मृतिविरोधे स्मृत्यर्थोनादरणीयइति भावः । अतएव जाबालः श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी । अविरोधे सदा कार्यस्मार्तवैदिकवत्सता ॥ भविष्यपुराणेऽप्युक्तम् श्रुत्यासह विरोधे तु बाध्यते विषयंविना । जैमिनिरप्याह विरो- धे त्वनपेक्षंस्यादसतिहनुमानकम् । श्रुतिविरोधे स्मृतिवाक्यमनपेक्ष्यमप्रमाणमनादरणीयमसति विरोधे मूलवेदानुमान मित्यर्थः ॥ १३ ॥

(४) राघवानन्दः । संप्रतिअधिकारिणंविशिनष्टि अर्थकामेष्विति । असक्तानांअलोलुपानांतद्यग्राणां धर्मअना-
श्रवासातुधर्मज्ञानंधर्मानुष्ठानंविधीयते कर्तव्यतयाउपदिश्यते । परमंप्रमाणं परंतत्त्वम् ॥ १३ ॥

(५) नन्दनः । यथा धर्मस्य श्रुत्यादीनध्यवसायमूलंतथार्थकामेष्वनतिसक्तिरपोत्यभिप्रायेणाहअर्थेति । प्रमा-
णेषु बलाबलजिज्ञासायामुक्तमुत्तरार्धम् । श्रौतस्मार्तसंनिपाते श्रौतंप्रमाणंबलीयइत्यर्थः ॥ १३ ॥

श्रुतिद्वैधंतु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुक्तौ स्मृतौ॥ उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥ १४ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रागुक्तोव्याघातः परिच्छिद्यते । यत्र श्रुत्योद्वैधंविरुद्धाभिधानंयधर्मोऽयमिति काचिच्छ्रुतिराह
तमेवाधर्ममित्यन्या तत्र उभावपि तौ धर्मावनुष्ठेयौ विकल्पेन । तुल्यबले हि ते श्रुतौ । तत्रयंप्रमाणमियंनेत्यशक्योविवेकः ।
अतएकार्थतुल्यबलविरोधे विकल्पइत्युभावपि तौ धर्मावित्युक्तम् । तत्र समुच्चयः प्राप्नोति । एवमुभौ धर्मौ भवतोऽन्यथा
एकः स्यात् । नेति ब्रूमः । पर्यायेणापि प्रयोगेनोभयशब्दस्य प्रवृत्तिविरोधः न ह्ययंसापेक्ष्यद्वयविषयएव । न्याय्यश्च वि-
कल्पः । यथाऽग्निहोत्राख्यमेकंकर्म तस्य कालत्रयमुपदिष्टंतत्र कर्मप्रधानंकालोगुणः नचैकस्मिन्प्रयोगे कालत्रयसंभवः नच
कालानुरोधेन प्रयोगावृत्तिर्युक्ता नाज्ञानुरोधेन प्रधानमावर्तनीयम् तस्मान्न्याय्योऽयंतुल्यबलविरोधे विकल्पइति न वच-
नादुभावपि हि तौ धर्मौ । ननु च कोभेदस्तत्र धर्मावित्यस्मादेतस्य न कश्चित् । पूर्वेण स्वमतमुपन्यस्तमुत्तेरणान्यैरपि
मनीषिभिरतेदोक्तमिति स्वमतमाचार्यान्तरमतसंवादेन द्रढयति ॥ १४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्रुतिद्वैधमिति । द्वैधंविरुद्धार्थद्वयदर्शकत्वं तस्मिन्व्यवस्था उभौ धर्मौ तत्तच्छास्त्रीय-
परतया विकल्पेनैवा । सम्यगित्यव्ययम् । समीचीनौ मनीषिभिरुक्तौ यतइत्यर्थः ॥ १४ ॥

(३) कुल्लूकः । श्रुतिद्वैधंत्विति । यत्र पुनः श्रुत्योरेव द्वैधंपरस्परविरुद्धार्थप्रतिपादनंतत्र द्वावपि धर्मौ मनुना स्मृतौ
तुल्यबलतया विकल्पानुष्ठानविधानेन च विरोधाभावः । यस्मान्मन्वादिभ्यःपूर्वतरैरपि विद्वद्भिःसम्यक्समीचीनौ द्वावपि तौ
धर्मावुक्तौ समानन्यायतया स्मृत्योरपि विरोधे विकल्पइति प्रकृतोपयोगस्तुल्यबलत्वाविशेषात् । तदाह गौतमः तुल्य-
बलविरोधेविकल्पः ॥ १४ ॥

(४) राघवानन्दः । मातःमातरनृतंते वदति पुरोदयाज्जुह्वति येन्निहोत्रंतथाअतिथये मद्रुताय बलिंहरन्ति यदुदिने
जुहोतीत्यर्थवादोपेतोदिते जुहोतीत्यनुदिते जुहोतीत्यादिश्रुतिमाश्रित्याह श्रुतिद्वैधमिति । द्वाभ्याम् ॥ १४ ॥

(५) रामचन्द्रः । यत्र यस्मिन्कार्ये श्रुतिद्वैधंभवेत्तत्र तस्मिन्कार्येउभौ धर्मौ स्मृतौ उभावपि तौ धर्मौ महर्षिभिः
सम्यगुक्तौ ॥ १४ ॥

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा ॥ सर्वथा वर्तते यज्ञइतीयवैदिकी श्रुतिः ॥ १५ ॥

[श्रुतिपश्यन्तिमुनयःस्मरन्तितुयथास्मृति ॥ तस्मात्प्रमाणंमुनयः प्रमाणंप्रथितंभुवि ॥ १ ॥

धर्मव्यतिक्रमोदृष्टःश्रेष्ठानांसाहसंतथा ॥ तदन्वीक्ष्यप्रयुज्जानाःसीदन्त्यपरधर्मजाः ॥ २ ॥†]

(१) मेधातिथिः । उदाहरणमिदमनन्तरप्रदर्शिते विरोधे । यएते त्रयः कालादितरेतरनिन्दया होमस्य विहि-
ताः तत्रायमर्थः श्रुतिवाक्यानाम् । सर्वथावर्ततेयज्ञः सर्वप्रकारोहोमः प्रवर्तते प्रवर्तनीयइत्यर्थः । या उदितहोमनिन्दा सा

न तत्प्रतिषेधार्था किंतर्हनुदितहोमविध्यार्था । एवमितरत्रापि । तेनायमर्थउक्तोभवति सर्वथा कर्तव्यएतेषांकालानामन्यत-
मस्मिन्काले तत्रयस्मिन्कृतस्तत्र संपूर्णःशास्त्रार्थोभवतीतीयवैदिकी श्रुतिरेवंपरा अस्मिन्त्यर्थेऽस्यास्तात्पर्येन पुनर्निन्द्यमानप्रति-
षेधे । यज्ञोहोमोग्रिहोत्राख्योऽभिप्रेतोयागहोमयोर्यतोनात्यन्तभेदः । देवतामुद्दिश्य द्रव्यस्य स्वत्वत्यागोनेदंमम देवतायाइद-
मिति यागः । एतच्चस्वरूपहोमेऽप्यस्ति । अयंतु विशेषोयष्टव्यस्य होमे प्रक्षेपोऽधिकआरोपण विशेषोऽभ्यादावतोयज्ञश-
ब्देनात्र होमस्याभिधानम् । होमेहेतेकालाःश्रुतावाभ्रातान यागमात्रे । उदितादिशब्दैश्चोदिते होतव्यमित्यादिका श्रुतिरेक-
देशेन लक्ष्यते । येयमुदिते होतव्यनोदितेहोतव्यमिति श्रुतिः सैवंपरेत्येवंप्रयोजना । समयाध्युषितशब्देन समुदायेनैवौषसः
कालउच्यते । अन्येतु पदद्वयमेतदित्याहुः । समयाशब्दः समीपवचनः समीपिनमपेक्षते । उदितानुदितयो । सन्निधानात्तत्र
समीपसंध्याकालः । अध्युषितंरात्रेर्विवासकालोव्युष्टायां रात्रावित्यर्थः । कासु चिच्छ्रुतिष्वेवंपठितंकासुचिदेवमिति श्रुतिवा-
क्यानुकरणमेषा स्मृतिस्तत्राकिंपदद्वयमे तदुतैकमिति ततएवनिर्णयः । अतोविकल्पेनैकंहोमाख्यंकर्मप्रतिकालत्रयेऽपि श्रुति
विधानान्नास्तिविरोधः । सिद्धरूपे हि वस्तुनीतरेतरविरुद्धरूपसमावेशासंभवस्तस्माद्विरोधो नाध्ये साध्यंज्ञनेनापि सिध्य-
त्यनेनापीति एवमवगम्यते । तत्र कुतोविरोधः । एषएवच स्मृतीनांविरुद्धानांविकल्पोन्याय्यः ॥ १५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विरोधमुदाहरति उदितइति । समयाध्युषिते उदयसमीपे यज्ञोग्रिहोत्रहोमः वैदिकी
वेदरूपाश्रुतिःशब्दः एतत्श्रुतिविराधेउक्तं स्मृत्योरप्यन्योन्यविरोधेदृष्टव्यम् ॥ १५ ॥

(३) कुल्लूकः । अत्र दृष्टान्तमाह उदितेऽनुदितेचैवेति । सूर्यनक्षत्रवर्जितःकालःसमयाध्युषितशब्देनउच्यते । उद-
यात्पूर्वमरुणकिरणवानप्रविरलतारकोऽनुदितकालः परस्परविरुद्धकालश्रवणेऽपि सर्वथा विकल्पेनाग्रिहोत्रहोमःप्रवर्तते ।
देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागगुणयोगाद्यज्ञशब्दोऽत्र गौ णः । उदितेहोतव्यमित्यादिका वैदिकी श्रुतिः ॥ १५ ॥

(४) राघवानन्दः । समयाध्युषिते सूर्यनक्षत्ररहिते काले अत्र व्यवस्थित विकल्पोऽधिकारी भेदेन सर्वथा
त्रिष्वपि पक्षेषु होमस्य । नित्यत्वसिद्धिरित्यर्थः । वर्तते कर्तव्यतया ॥ १५ ॥

(५) नन्दनः । अत्रोदाहरणमाह उदितइति । समयाध्युषितेउदितानुदितइत्यर्थः । सूर्यइतिशेषः । अतएव स्मृ-
त्यादिद्वैधेऽपि न्यायोऽवगन्तव्यः ॥ १५ ॥

(६) रामचन्द्रः । श्रुतिद्वैधेदृष्टान्तमाह । उदिते जुहुयात्अनुदितेजुहुयात्तथा समयाध्युषितेउदितसमये जुहुयात्
यज्ञः सर्वथावर्ततइतीयं वैदिकी श्रुतिः । कात्यायनः रात्र्यास्तु षोडशेभागे ग्रहनक्षत्रभूषिते । कालंचानुदितंज्ञात्वा होमंकुर्या
द्विचक्षणः ॥ तथाचप्रातः समये नष्टे नक्षत्रमण्डले । रविर्यावन्नदृश्येतसमयाध्युषितंचतत् ॥ रेखामात्रंच दृश्येत रश्मिभिश्च
समन्वितः । उदितंतविजानीयात्तत्र होमंप्रकल्पयेत् ॥ बौधायनापस्तम्बाश्वलायनप्रमृतिभिर्दितेउदयानन्तरंहोमःकार्यः ।
मध्यंदिनवाजसनेयिभिरनुदितेउदयात्पूर्वहोमःकार्यइत्युक्तम् ॥ १५ ॥

निषेकादिश्मशानान्तोमन्त्रैर्यस्योदितोविधिः॥तस्य शास्त्रेऽधिकारोस्मिज्ज्ञेयोनान्यस्य कस्य
चित् ॥ १६ ॥

(१) मेधातिथिः । विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यमिति पठन्ति सत्कार्यवादः । तत्र तव्यप्रत्ययदर्शनात्कस्यचिद्विधिभ्रा-
न्तिः स्यात्तथा च सति क्षत्रियवैश्ययोर्ध्वयननंविर्ततइत्येतदाशङ्कानिवृत्त्यर्थोऽयंश्लोकः क्षत्रियवैश्ययोः प्रामिंदर्शय-
ति । तथा यथा कामी शूद्रोऽप्यप्रतिषेधादध्येतुंप्रवर्तेत तन्निवृत्त्यर्थमपीत्येवमिमंश्लोकंपूर्वं व्याचक्षिरे । शास्त्रशब्दो-

यमानवग्रन्थवचनः अधिकारोमयैतदनुष्ठेयमित्यवगमः । नच शब्दराशेःसिद्धस्वभावस्यानुष्ठेयत्वावगतिः संभवति । नहि-
द्रव्यमनाश्रित्य क्रियाविशेषसाध्यतयावगम्यते । अतः शास्त्रविषयायां कस्यांचिक्रियायामधिकारइत्यवगम्यते । तत्र-
रुम्भवस्तयस्तावन्विषयतया प्रतीयन्ते । भवसोरभवत्यर्थत्वात् । भवस्तिसंबन्धे ह्ययमर्थः प्रतीयते शास्त्रस्य यद्भवन्त्या-
वसत्ता तामनुतिष्ठेदिति । नचान्यदीयायांसत्तायामन्यस्यानुष्ठानृतत्वसंभवः । करोत्यर्थेऽपि न संभवति पदानानित्यत्वाद्वा-
क्यानांचान्येन कृतत्वात् । अतः शास्त्रसहचारिण्यध्ययनक्रिया प्रतीयते । अतोऽयमर्थउक्तोभवति । शास्त्राध्ययने तस्या-
धिकारः यथैवाध्ययने तथैव तदर्थश्रवणेऽपि । नचादिमत्वान्मानवस्य ग्रन्थस्य कथं तद्विषयोविधिरनादिवेदमूलइति
शक्यते वक्तुम् । उच्यते । यानि कानि च शास्त्रप्रतिपादकानि वाक्यानि न तानि शूद्रेणाध्येयानीति शक्यते । सामान्यतो-
ऽनुमानंयानि वेदवाक्यानि यानि तदर्थव्याख्यानवाक्यानि व्याख्यातृणांतत्प्रतिरूपकाणि तान्यपि प्रवाहनित्यतया-
नित्यान्येव । अनुष्ठानंतु शास्त्रविषयः तत्र चातुर्वर्णस्याधिकारः । नन्वेवंसत्यनुपात्तकर्तृविशेषेषु सामान्यधर्मेण शूद्रस्या-
धिकारप्रसङ्गः । यथा च न भवति तथा च तत्र तत्र कथयिष्यामः । ननु कथमध्ययनावबोधाधिकारनिषेधे कर्मा-
धिकारः नह्यविदितकर्मरूपस्य तदनुष्ठानसंभवः नचाध्ययनमन्तरेण तदर्थवबोधसंभवः नचावैद्योऽधिक्रियते । सत्यम् ।
परोपदेशादपि यावत्तावत्सिध्यति परिज्ञानंयंब्राह्मणमाश्रितः शूद्रोयोवार्थतः प्रवृत्तः सएवंशिक्षयिष्यतीदंरुत्वे दंकुर्विति ।
अतो नकर्मानुष्ठानप्रयुक्ते शूद्रस्याध्ययनवेदने स्त्रीवत्परप्रत्ययादप्यनुष्ठानसिद्धेः यथा स्त्रीणांभर्तृविद्यैव प्रसङ्गादुपकरोति । न
कर्मश्रुतयोविद्यांप्रयुज्यतेतेषामेव स्वप्रत्ययोऽनुष्ठानहेतुर्येषांस्वाध्यायोऽध्येतव्यइति विधिरस्ति पुंसां सच पुंसांत्रैर्वर्णिका-
नांतेषामपि नार्थज्ञानप्रयुक्तेऽध्ययनवेदनेअपितु विधिद्वयप्रयुक्ते आचार्यकरणविधिना स्वाध्यायाध्ययनंविधिना च । निषे-
कोगर्भाधानंसआदिर्यस्य संस्कारकलापस्य सनिषेकादिः गर्भाधानंच विवाहादनन्तरंप्रथमोपगमे विष्णुर्योनिकल्पयत्विति
मन्त्रवत्केषांचि द्विहितं परेषामागर्भग्रहणात्प्रत्युत् । श्मशानमन्तोऽस्येतिश्मशानान्तः । श्मशानशब्देन मृतशरीराणि यत्र
निधीयन्तेतत्स्थानमुच्यते । तच्च साहचर्यात्पेतसंस्कारंपराचीमिष्टिलक्षयति साहिमन्त्रवती न स्थानम् । अनेन च द्वि-
जातयोलक्ष्यन्ते । तेषांहिमन्त्रवन्तःसंस्काराःद्विजातीनामितिनोक्तम् । विचित्राश्लोकानांरुतिः स्वायंभुवस्यास्य मनोः ।
मन्त्रैरुदितउक्तोविधिरितिनायंसंबन्धः । नहिमन्त्राविधिवदन्तिकितर्हिप्रयोगावस्थस्य विधेयस्य स्मारकानविधायकाः ।
तस्मादेवंव्याख्येयंमन्त्रैर्युक्तः समन्त्रकोयेषामयंविधिरिति नान्यस्य कस्य चिदित्यनुवादोद्विजातीनानियतत्वात् । अथवाक-
श्चिन्मन्येत द्विजातीनामयंविहितोऽवश्यकर्तव्यः । शूद्राणांत्वशिष्टीप्रतिषिद्धइति तदा शङ्कानिवृत्त्यर्थमिदमुक्तम् ॥ १६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निषेकोरेतः । सेकःगर्भाधानम् । श्मशानमन्त्येष्टिः । अधिकारोध्ययनेनान्यस्य शूद्रस्य
• संकरस्यवा ॥ १६ ॥

(३) कुल्लूकः । निषेकाद्वितीति । गर्भाधानादिरन्त्येष्टिपर्यन्तोयस्यवर्णस्य मन्त्रैरनुष्ठानकलापउक्तोद्विजातेरित्यर्थः
तस्यास्मिन्मानवधर्मशास्त्रे ऽध्ययनं श्रवणे ऽधिकारो न त्वन्यस्य कस्य चिच्छूद्रादेः । एतच्छास्त्रानुष्ठानंचयथाधिकारं
सर्वैरेवकर्तव्यम् । श्रवचनंत्वस्याध्यापनंव्याख्यानरूपंब्राह्मणकर्तृकमेवेति विदुषा ब्राह्मणेनेत्यत्रव्याख्यातम् ॥ १६ ॥

(४) राघवानन्दः । विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यमित्युक्तंतत्र पतितस्य ब्रह्मबन्धोः प्रकारान्तरेण संपादितवि-
द्यस्य नास्त्यधिकारइत्यभ्यासे नद्रढयन्नाह निषेकादिरिति । यस्य मन्त्रैःसाक्षाद्विधिरनुष्ठेयत्वेनोदितःतस्यैवात्राधिकारः ।
तेन क्षत्रियवैश्ययोः श्रवणाधिकारिता । अब अपर्युदस्ततया त्रैवर्णिकोनिषेकादिद्योग्योविवक्षितःअन्येषांश्मशानान्तत्वाद्य-
भावात् । निषेकोगर्भाधानम् । श्मशानान्तोदाहकालीनान्येष्टिः । अस्मिन्शास्त्रे सर्वेषांहितशासनात् ॥ १६ ॥

(५) नन्दनः । धर्मप्रमाणयोः श्रुतिस्मृत्योरध्ययनाधिकारिणमाहनिषेकेति । मन्त्रैः सहितोविधिः क्रियाकलापः । तस्य त्रैवर्णिकस्य अस्मिन्प्रकृतेशास्त्रे श्रुतिस्मृत्याख्ये अधिकारः अध्ययनाधिकारः । अन्यस्यशूद्रस्य ॥ १६ ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्य पुंसः मन्त्रैर्निषेकादिर्गर्भाधानादिश्मशानान्तःविधिः तस्य पुंसः अस्मिन्शास्त्रे अधिकारो भवेत् कस्य चिदन्यस्य नाधिकारः ॥ १६ ॥

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्दन्तरम् ॥ तदेवनिर्मितदेशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ १७ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तानि धर्म प्रमाणानि विरोधे च विकल्पोऽभिहितोऽधिकारिणश्च सामान्येनोक्ताः । इदानीयेषु योग्यतया धर्मोऽनुष्ठेयतामापद्यते तदेवावर्ण्यन्ते । सरस्वतीनाम नदी अपरा दृषद्वती तयोर्नद्योर्दन्तरं मध्यतं देशं ब्रह्मावर्त इत्यनया संज्ञया प्रचक्षते व्यवहरन्ति शिष्टाः । देवग्रहणमवध्यवधिमतोः स्तुत्यर्थं देवैः सन्निर्मितोऽतः सर्वेभ्यो देशेभ्यः पावनतर इति ॥ १७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उक्तं शिष्टाचारं व्यवस्थापयितुं शिष्टस्य निमित्तान्निवासदेशविशेषानाह सरस्वतीति । दननद्योर्देवैरपि सेव्ययोर्नद्योः देवनिर्मितं देवैरुत्तमदेशतया विहितम् । ब्रह्मावर्तं तदेव तर्तते यत्र स ब्रह्मावर्तः ॥ १७ ॥

(३) कुल्लूकः । सरस्वतीति । धर्मस्य स्वरूपप्रमाणं परिभाषां चोक्तवेदानोर्धर्मानुष्ठानयोग्यदेशानाह । सरस्वतीदृषद्वत्योर्नद्योरुभयोर्मध्यं ब्रह्मावर्तं देशमाहुः । देवनदीदेवनिर्मितशब्दौ नदीदेशप्राशस्त्यार्थौ ॥ १७ ॥

(४) राघवानन्दः । आचारश्च इत्युक्तं तत्र किं देशीयः स आचारः किं प्रमाणकः कस्माद्गुरोः शिक्षणीय इत्यपेक्षां पूरयन्तेषां वसतिनियममाह सरस्वतीति सप्तभिः । देवनिर्मितं देवैर्निर्मितं देवो देवता तदुद्देश्यकयज्ञादि तदर्थं निर्मितं देवैरधिष्ठितं वा ब्रह्मावर्तमित्यपूर्वसंज्ञा ॥ १७ ॥

(५) नन्दनः । पूर्वसतामाचारः प्रमाणमित्युक्तं स पुनः कुत्रत्यानामित्यपेक्षायां वक्तुमारभते सरस्वतीति । अत्र देवसंबन्धवचनं प्रशंसार्थम् । ब्रह्म धर्मः आवृत्तमागतं महर्षीणामत्र प्रतिभातमिति ब्रह्मावर्तः ॥ १७ ॥

(६) रामचन्द्रः । पुण्यदेशानाह । सरस्वतीदृषद्वत्योर्दन्तरं देवनद्योः गङ्गायमुनयोः अन्तरदेशं देवनिर्मितं ब्रह्मावर्तं संज्ञं प्रचक्षते ॥ १७ ॥

तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमगतः ॥ वर्णानां सान्तरालानां ससदाचार उच्यते ॥ १८ ॥

[विरूद्धाच्च विगीताच्च दृष्टार्थादिष्टकारणे ॥ स्मृतिर्न श्रुति मूला स्याद्याचैषा संभवश्रुतिः ॥ ११ ॥ ५५]

(१) मेधातिथिः । अथास्मिन्देशे य आचारस्तस्य प्रामाण्ये किं विद्वत्ता शिष्टता चोपाधिरङ्गीक्रियते अथाविदुषामशिष्टानां च देशोपाधिरेव प्रमाणम् । किं चातः यदि नापेक्ष्यते यत्तदुक्तं आचारश्चैव साधुनामिति विशेषणद्वयमनर्थकम् । नत्वसाध्वाचारस्य धर्ममूलतोपपद्यते वेदसंयोगासंभवात् । अथापेक्ष्यते देशविशेषसंबन्धानुपकारो न हि देशान्तरेऽपिशिष्टसमाचारस्याप्रामाण्यं शक्यते वक्तुम् । उच्यते प्रायिकमेतदभिधानं प्रायोवृत्त्यास्मिन्देशे शिष्टानां संभव इत्युक्तं तस्मिन्देशे य आचारः ससदाचार इति । अन्ये तु देशान्तरे मातुल्लुहितुः परिणयनादेशाचारनिषेधार्थमिदमित्याहुः स्तदयुक्तम् । अविशेषेणैवोक्तदेशकुलजातीनामविरुद्धप्रकल्पयेत् स च विरुद्ध ऊर्ध्वसप्तमामितृबन्धुभ्यो मातृबन्धुभ्यश्च पञ्चमादित्येतेनास्मिन्नपि देशेऽनुपनीतेन सह भोजनादिराचारो नैव धर्मत्वेनेष्यते । न च स्मृतिविरुद्धस्याचारस्य प्रामाण्यसंभवः । श्रुति-

विप्रकर्षादाचारात्स्मृतिरनुभातव्या स्मृतेः श्रुतिः स्मृतिस्त्वव्यवहितमेव श्रुतिमनुमापयति । किंचकारणग्रहाच्चैवमादेराचारस्य रूपवर्तीमातुलकन्यांकामयमानाराजभयादूढवन्तः कन्यागमनदण्डोमाभूदिति । अन्येत्वविद्वांसोयेनास्य पितरोयाता-इत्यस्य यथा श्रुतमर्थगृहीत्वा धर्मोयमितिप्रतिपन्नाः । अपिच । एतास्तिस्मस्तु भार्यार्थं नोपयच्छेतेति प्रायश्चित्तश्रुतमपि भ्रान्तिहेतुराभ्यस्तिस्मृत्योऽन्यानप्रतिषिद्धादिति । यथाचास्य नायमर्थस्तथा वक्ष्यामः । नच दृष्टकारणयोः स्मृत्याचारयोः प्रामाण्यम् । उक्तंचभट्टपादैः विरुद्धाचविगीताच दृष्टार्थादिष्टकारणे । स्मृतिर्नश्रुतिमूलास्याद्याचैषासंभवश्रुतिः ॥ तस्मादेतान्द्विजातयोदेशान्संश्रयेरान्नित्येतद्विधिशेषदेशप्रशंसार्थवादाएते परंपरैव पारंपर्यमन्यस्मादन्यमुपसंक्रामति । तस्मादन्यंततोऽप्यन्यमित्येवंरूपः प्रवाहः परंपराक्रमः तदविच्छेदस्ततआगतः संप्राप्तः संकीर्णयोनयोऽन्तरालाः तत्सहितानां वर्णानाम् ॥ १८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आचार आचर्यमाणोधर्मः पारंपर्यपित्रादिपरंपराक्रमेणागतो न त्वधुनातनेन केनचिदनुष्ठितः । अन्तरालाः संकरजाताः । सदाचारः सद्भिराचीर्णोधर्मइत्युच्यते ॥ १८ ॥

(३) कुल्लूकः । तस्मिन्देशेति । तस्मिन्देशे प्रायेणशिष्टानांसंभवात्तेषांब्राह्मणादिवर्णानांसंकीर्णजातिपर्यन्तानांयथा-आचारःपारम्पर्यक्रमगतोनत्विदानींतनःससदाचारोऽभिधीयते ॥ १८ ॥

(४) राघवानन्दः । तस्मिन्पारंपर्यक्रमप्रमाणआचारःसान्तरालानांअन्तरालःसंकरजातिः तत्सहितानांआन्तेरोऽव्यवहितः किंचिन्यूनोवा ॥ १८ ॥

(५) नन्दनः । सान्तरालानांवर्णसंकरजसहितानांससदाचारः । तस्यधर्मप्रतिप्रामाण्यमित्यर्थः ॥ १८ ॥

(६) रामचन्द्रः । तस्मिन्ब्रह्मावर्तैकदेशे पारंपर्यक्रमगतःयःआचारःसआचारःवर्णानांब्राह्मणादीनांतथाचान्तरालानांवर्णद्वयजातानांअनुलोमप्रतिलोमजातीनांसःसदाचारःईषदुच्यते ॥ १८ ॥

कुरुक्षेत्रंच मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ॥ एषब्रह्मर्षिदेशोवै ब्रह्मावर्तदिनन्तरः ॥ १९ ॥

(१) मेधातिथिः । देशनामधेयान्येतानि कुरुक्षेत्रेसमन्ततंपञ्चकप्रसिद्धंकुरवस्तत्रक्षयंगताःकुरुत वा सुकृतंक्षिप्रमत्रं त्राणंभवतीति व्युत्पत्तिः मत्स्यादयः शब्दाबहुवचनान्ताएव देशवचनाः । ब्रह्मर्षिदेशइति समुदायसंज्ञा । देवनिर्मितोदेशो-ब्रह्मावर्तः देवेभ्यः किंचिन्यूनाब्रह्मर्षयइत्यतोऽयदेशोब्रह्मर्षिसंबन्धाद्ब्रह्मावर्तन्यूनः । तथाचाहब्रह्मावर्तान्तरईषद्भिन्नः तत्रेषदर्थोयथानुष्ठांयवागूपिबेदामयावीतीषदुष्णामुपदिशन्ति । अनन्तरशब्दोवभेदवचनः । नारीपुरुषतोयानमन्तरमहदन्तरमिति-यथा ॥ १९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शूरसेनकाःशूरसेनाख्यनृपतिना निवासत्वेननिर्मिता नामसुरोपलक्षितदेशाः अनन्तरोर्निर्विशेषः ॥ १९ ॥

(३) कुल्लूकः । कुरुक्षेत्रमिति । मत्स्यादिशब्दाबहुवचनान्ताएव देशविशेषवाचकाः पञ्चालाःकान्यकुब्जदेशाः शूरसेनकामथुरादेशाः । एषब्रह्मर्षिदेशोब्रह्मावर्तात्किंचिदूनः ॥ १९ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्रह्मर्षिदेशइत्यपि समाख्या ॥ १९ ॥

(५) नन्दनः । अत्रापि ब्रह्मर्षिसंबन्धवचनंप्रशंसार्थम् । अनन्तरःकिंचिन्यूनः ॥ १९ ॥

(१९) शूरसेनका=रसशूनजाः (क, ख, च,)

(६) रामचन्द्रः । ब्रह्मवर्तादनन्तरः इषन्यूनइत्यर्थः । कुरुक्षेत्रेति । एषः ब्रह्मर्षिदेशः कुरुक्षेत्रादिदेशाः महर्षिणां वासयोग्याभवन्तीत्यर्थः ॥ १९ ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ॥ स्वंस्वंचरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ २० ॥

(१) मेधातिथिः । एतेषु देशेषु कुरुक्षेत्रादिषु प्रसूतस्याग्रजन्मनो ब्राह्मणस्य सकाशात्स्वंस्वंचरित्रमाचारं शिक्षेरन् जिज्ञासेरन् । तस्मिन्देशइत्यनेनैतद्व्याख्यातम् ॥ २० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतत्पदेन ब्रह्मवर्तस्यापि ग्रहणं चरित्रं चरणीयम् ॥ २० ॥

(३) कुल्लूकः । एतद्देशइति । कुरुक्षेत्रादिदेशजातस्य ब्राह्मणस्य सकाशात्सर्वमनुष्या आत्मीयमात्मीयमाचारं शिक्षेरन् ॥ २० ॥

(४) राघवानन्दः । अग्रजन्मनः ब्राह्मणात्चरित्रं चरणमनुष्ठानंधर्मस्य येन तच्चरित्रंधर्मोपदेशमिति यावत् आचारं वा ॥ २० ॥

(५) नन्दनः । अग्रजन्मनः ब्राह्मणस्य शिक्षन्ते अवगच्छन्ति ॥ २० ॥

(६) रामचन्द्रः । एतद्देशप्रसूतस्य महर्षिदेशप्रसूतस्य अग्रजन्मनः सकाशात्पृथिव्यां सर्वमानवाः स्वंस्वंचरित्रमाचारं शिक्षेरन् शिक्षयेयुः ॥ २० ॥

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ययत्प्राग्बिनशनादपि ॥ प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ २१ ॥

(१) मेधातिथिः । उत्तरस्यादिशि हिमवान्पर्वतोदक्षिणस्यां विन्ध्यः बिनशनं सरस्वत्या अन्तर्धानदेशः । प्रयागीगङ्गायमुनयोः संगमः एतान्देशानवधीन्कृत्वा मध्यमध्यदेशनामानं देशं विधात् । नात्युत्कृष्टो नातिनिरुद्धइत्यतोयमध्यदेशो ननु पृथिवीमध्यभवत्वात् ॥ २१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धर्मप्रसंगेन ततोपकृष्टान्यपि देशान्तराणि निवासार्थं दर्शयति । हिमवदिति । बिनशनं यत्र सरस्वती बिनष्टा मध्यः पृथिव्याजघनस्थानीयो देशः ॥ २१ ॥

(३) कुल्लूकः । हिमवदिति उत्तरदक्षिणदिगवस्थितौ हिमवद्विन्ध्यौ पर्वतौ तयोर्यन्मध्यं बिनशनात्सरस्वत्यन्तर्धानदेशाद्यत्पूर्वप्रयागाच्च यत्पश्चिमं समध्यदेशनाम्ना देशः कथितः ॥ २१ ॥

(४) राघवानन्दः । हिमवान् उत्तरत्यः पर्वतोदक्षिणात्यो विन्ध्यः बिनशनात् कुरुक्षेत्रात् प्रयागात् प्रत्यगेव पश्चिमं इति चतुःसीमावच्छिन्नं यदधिकृत्य श्रुतं यागनिर्धोगयुक्तानां वाराणस्यां मृतस्य च । सागतिर्घटिकार्धेन मध्यदेशनिवासिनामिति ॥ २१ ॥

(६) रामचन्द्रः । बिनशनात्प्राक् कुरुक्षेत्रात्प्राक् प्रयागात् प्रत्यक् इयं भूमिः मध्यदेशः मध्यदेशसंज्ञः प्रकीर्तितः ॥ २१ ॥

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ॥ तयोरेवान्तरंगिर्यो रार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥ २२ ॥

(१) मेधातिथिः । आपूर्वसमुद्रादापश्चिमसमुद्राद्योऽन्तरात्पर्वतो देशस्तथा तयोरेव पूर्वश्लोकोपदिष्टयोर्गिर्योः पर्वतयोर्हिमवद्विन्ध्ययोर्दन्तरं मध्यं स आर्यावर्तदेशो बुधैः शिष्टैरुच्यते । आर्यावर्तन्तेतत्र पुनः पुनरुद्भवन्त्याक्रम्याक्रम्यापि न चिरंतत्र म्लेच्छाः स्थातारो भवन्ति । आङ्गवर्मादायां नाभिविधौ तेन समुद्रद्वीपानि नार्यावर्तः एते चतसृषु दिक्षु

देशावधयउपात्ताः । प्राच्यां पूर्वसमुद्रःप्रतीच्यांपश्चिमः । उदग्दक्षिणयोर्हिमवद्विन्ध्यौ एतौ हवधित्वेनोपात्तौ । न तयो-
रार्यावर्तत्वमस्त्यतस्तत्र निवासाभावे प्राग्दमाह ॥ २२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तयोर्हिमवद्विन्ध्ययोःपर्वतयोर्मध्यं आंरात् पापेभ्योगता आर्यास्तस्मिन्नावर्तन्ते भ्रमन्ति
नतु मर्यादायावसन्तीत्यार्यावर्तः ॥ २२ ॥

(३) कुङ्कुमः । आसमुद्रात्त्विति । आपूर्वसमुद्रादापश्चिमसमुद्राद्धिमवद्विन्ध्ययोश्च यन्मध्यंतमार्यावर्तदेशंपण्डिता-
जानन्ति । मर्यादायामयमाङ्गनाभिविधौ तेन समुद्रमध्यद्वीपानानार्यावर्तता । आर्याअत्रावर्तन्ते पुनःपुनरुद्भवन्तीत्या-
र्यावर्तः ॥ २२ ॥

(४) राघवानन्दः । एवंपूर्वपश्चिमसमुद्राभ्यन्तरयोर्विन्ध्यहिमवतोर्मध्यदेशः सआर्यावर्तइत्यर्थः । तयोर्हिमवद्वि-
न्ध्ययोःगिर्योःपर्वतयोः । आङ्गमर्यादायाम् । तेन समुद्रद्वीपानांपर्वतयोश्चनार्यावर्तत्वम् । उक्तार्यावर्तव्याप्योर्मध्यदेशस्त-
द्याप्योब्रह्मर्षिदेशःतद्याप्योब्रह्मावर्तइत्यर्थः ॥ २२ ॥

(५) नन्दनः । आर्याअस्मिन्वर्तन्तइत्यार्यावर्तः । हिमवद्विन्ध्ययोरित्यादिश्लोकद्वयेऽप्येतद्देशप्रसूतस्येति श्लोक-
स्यानुषङ्गः । एतेषुब्रह्मावर्तादिष्वार्यावर्तविषयेपूर्वपूर्वदेशाचारोबलीयानित्यवगन्तव्यम् ॥ २२ ॥

(६) रामचन्द्रः । पूर्वात्आसमुद्रात्पश्चिमात्आसमुद्रात्तयोःगिर्योःहिमवद्विन्ध्ययोः अनन्तरंआर्यावर्तप्रचक्षतेकथ-
यन्ति ॥ २२ ॥

कृष्णसारस्तु चरति मृगोयत्र स्वभावतः ॥ सज्ञेयोयज्ञियोदेशोम्लेच्छदेशस्त्वतःपरः ॥ २३ ॥

(१) मेधातिथिः । कृष्णश्वेतः कृष्णपीतोवा कृष्णसारङ्गोमृगोयत्र चरति निवसति । संभवउत्पत्तिर्यत्र देशे
तस्य स्वभावतो न पुनर्देशान्तरात्प्राशस्त्योपायनादिना निमित्तेनानीतस्य कियन्तमपि कालनिवासःसदेशोयज्ञियोयागार्हो-
बोद्धव्यः । अतः कृष्णमृगचरणात्परोन्योम्लेच्छदेशः म्लेच्छाः प्रसिद्धाः । चातुर्वर्ण्यजात्यपेताः प्रतिलोमजातीयानधि-
कृतामेदान्धशबरपुलिन्दादयः । नचानेन यागाधिकरणताऽस्यदेशस्य विधीयते । समेयजेतेतिवच्चरतीति वर्तमाननिर्देशात् ।
नहियत्रैव चरितुं प्रवृत्तस्तदैव तत्र यागःशक्यः कर्तुं यागस्य हिदेशोऽधिकरणतत्साधनकर्त्रादिकारकाश्रितद्रव्यादिधारण
द्वारेणच द्वयोर्मूर्त्योरैककाले एकदेशे स्थानसंभवः । नच कालान्तरलक्षणा न्याय्या विधौ लक्षणायाअन्याप्यत्वाद्यथो-
क्तंशूर्पाधिकरणे एतद्विक्रियतइत्युच्यतइति ननु च नाभिव्यापकएवाधेयोयेन कर्तुः । धाराभिव्याप्यैवाधिकरणार्थनि-
वृत्तिः स्यात्तिलेषु तैर्लभितवत् । किंतिहि एकदेशसंबन्धिनाप्याधेयेन भवति कृत्स्नस्याधारभावः । प्रासादआस्ते रथम-
धितिष्ठतीति । एवमिह ग्रामनगरसमुदायस्य नदीपर्वतान्ताद्यवधिकस्य देशस्य प्रकृतत्वादेकदेशोऽपि पर्वतारण्यादौ च-
रन्सर्वमाधारी करोति । तेनायमदोषोभूतयोर्नैकदेशः संभवति । उच्यते । नैवात्र यष्टव्यमिति विधिरस्ति जानातेः प-
रोविधायकश्रुतो न यजेः यागस्य तत्रार्हता श्रुता यागार्होऽसौ देशइति । सा च यागार्हता सत्यपि विधौ घटते । एते-
षुदेशेषु यागाङ्गानि दर्भपलाशखदिरादीनि प्रायेण च भवन्ति । अधिकारिणश्च त्रैवर्णिकवैद्याश्च तेष्वेव देशेषु दृश्यन्ते ।
अतएतदवलम्बनोयागार्हतानुवादः । कृत्योपि ज्ञेयइत्यध्यारोपितविध्यर्थोर्जितिलयवाग्वाजुह्यादिति वद्विधिवन्निगदार्थ-
वादएव । यच्चोक्तंम्लेच्छदेशस्त्वतःपरइत्येषोपिप्रायिकोऽनुवादएव । प्रायेण ह्येषु देशेषु म्लेच्छाभवन्ति । नत्वेनेन देशसंब-
न्धेन म्लेच्छावश्यन्ते । स्वतस्तेषांप्रसिद्धेर्ब्राह्मणादि जातिवत् । अथार्थद्वारेणायंशब्दः प्रवृत्तोम्लेच्छानांदेशइति तत्र यदि
कथंचिद्ब्रह्मावर्तादि देशमपि म्लेच्छाआक्रमेयुः तत्रैवावस्थानंकुर्युर्भवेदेवासौम्लेच्छदेशः । तथा यदि कश्चित्क्षत्रियादि जा

तीयोराजा साध्वाचरणोऽम्लेच्छान्पराजयेतचातुर्वर्ण्यवासयेत् म्लेच्छांश्चार्यावर्तइव चाण्डालान्यवस्थापयेत्सोऽपि स्याद्य-
ज्ञियः । यतोऽन भूमिः स्वतोदुष्टा संसर्गाद्विसादुष्यत्यमेध्योपहतेव । अतउक्तदेशव्यतिरेकेणापि सतिसामग्र्ये त्रैवर्णिकेना-
कृष्टमृगचरणेऽपि देशे यष्टव्यमेवतस्मादनुवादोयम् । सज्ञेयोयज्ञियदेशोऽम्लेच्छदेशस्त्वतःपरइत्युत्तरविधिशेषः ॥ २३ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । स्वभावतोऽन त्वन्येननीतः सआर्यावर्तात् बहिर्भूतोऽपि याज्ञिकोयज्ञार्हः अतः परोयो
म्लेच्छानांयज्ञानुष्ठानानर्हाणामेव निवासदेशः एतेनाचारशिक्षानिवास यज्ञानुष्ठानोचितादेशाःक्रमादुक्ताः ॥ २३ ॥

(३) कुड्मूकः । कृष्णसारस्त्विति । कृष्णसारोऽमृगोयत्र स्वभावतोवसति न तु बलादानीतः सयज्ञार्होदेशोऽज्ञातव्यः ।
अन्योऽम्लेच्छदेशोऽन यज्ञार्हइत्यर्थः ॥ २३ ॥

(४) राघवानन्दः । यथा यज्ञस्य दर्शादिकालोऽङ्गंतथा कृष्णसारविशिष्टदेशोऽपीत्याह कृष्णइति । स्वभा-
वतःबलात्कारंविना ॥ २३ ॥

(५) नन्दनः । अथ सर्वदेशेषु यज्ञार्हदेशमाह कृष्णेति । स्वभावतः स्वरम् । अतःपरएभ्योब्रह्मावर्तादिभ्योऽन्यो-
म्लेच्छदेशः । म्लेच्छाहियज्ञानधिकृताः ॥ २३ ॥

(६) रामचन्द्रः । कृष्णसारःमृगःयत्रदेशेस्वभावतःस्वच्छन्दतःचरति विचरति । सदेशःयज्ञियःयष्टुयोग्यः यज्ञार्होऽज्ञे-
यःजानीयात् । ततःपरःअन्यदेशःम्लेच्छदेशोऽच्यते ॥ २३ ॥

एतान्द्विजातयोदेशान्संश्रयेरन्प्रयत्नतः ॥ शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद्वृत्तिकर्षितः ॥ २४ ॥

(१) मेधातिथिः । यदर्थदेशसंज्ञाभेदकथं तमिदानींविधिमाह । एतान्ब्रह्मावर्तादीन्देशान्द्विजातयोदेशान्तरेऽपि जा-
ताआश्रयेरञ्जन्देशान्त्यत्का ब्रह्मावर्तादिदेशसंश्रयणप्रयत्नेन कर्तव्यम् । अत्र केचिदाहुरदृष्टार्थएवायमेतद्देशसंश्रयणविधिः
सत्यपिदेशान्तरेऽप्यधिकारसंभवे एतेषु देशेषु निवासः कर्तव्यः । तत्र कल्पाधिकारत्वे यदि वा गङ्गादितीर्थस्नानवैदितद्देश-
निवासविधिः पावनत्वेन कल्प्यते । यथैव काश्चिदापः पवित्रतराएवंभूमिभागाऽपि केचिदेव पवित्राः । यथोक्तपुराणेषुयदि
वा संश्रयणादेव स्वतन्त्रात्त्वर्गोविश्वजिह्वत्तत्रैतौ द्वावपि पक्षावप्राप्तौ यद्यप्राप्तः संश्रयोविधीयते कल्प्येताप्यधिकारः । तत्र-
चिन्त्यते । कतरःपक्षोयुक्तइति । सत्त्वनित्यकाम्यानामुक्तस्तथानित्योद्देशेवानुष्ठानसंभवादधिकृतानांप्राप्तएव । नक्षेत्तद्देश-
व्यतिरेकेण कृत्स्नधर्मानुष्ठानसम्भवः । तथाहि हिमवति तावत्काश्मीरादौ शीतेनार्दितान बहिः संध्योपासनेऽधिक्रियन्ते ।
नच यथा विधित्वाध्यायसंभवः । प्राग्वोदग्वा ग्रामादुपनिष्क्रम्येति । नहि हेमन्तशिशिरयोरहरहर्नदीस्नानादि संभवः ।
इदमेव च द्विजातयइति वचनलिङ्गनकश्चिदेव देशोऽस्ति म्लेच्छसंबन्धेस्त्वतएव म्लेच्छदेशः । अन्यथा तद्देशसंबन्धान्म्ले-
च्छत्वे कथंद्विजातित्वम् । अथोच्यते न गमनमात्रान्म्लेच्छताऽपितु निवासात्सचानेन प्रतिषिध्यते । तच्च न । संश्रयोऽत्र
श्रुयतेसच देशान्तरे भवतस्तस्यागेनान्यद्देशसंबन्धेन संश्रितस्यैव संश्रयणम् । अन्यथा एवमेवावक्ष्येदतान्देशांस्त्यक्का
नान्यत्र निवसेत् । अथसिद्धेसंश्रयणे तद्वचनमन्यनिवृत्त्यर्थमिति परिसंख्यातथास्यात्तस्याश्च त्रयोदोषाः । अर्थहानिर्ल-
क्ष्यते । एतान्देशानजज्ञादिति नश्रुतार्थसंभवे लक्षणायुक्ता । अतएव न भूतपूर्वगतिस्तस्माद्विद्वन्मिदं देशसंबन्धेन
पुरुषाम्लेच्छाः किंतर्हि पुरुषसंबन्धेन म्लेच्छदेशता । शूद्रस्य द्विजाति शुश्रूषायाविहितत्वात्तद्देशनिवासे सर्वदाप्राप्ते तत्राजी-
वतोदेशान्तरनिवासोऽभ्यनुज्ञायते । यदा बहुकुटुम्बतया शुश्रूषा शक्त्या वा द्विजातीयमाश्रितः । सएनंबिमृयात्तदादे-
शान्तरेसंभवति धनार्जने निवसेत्तत्रापि न म्लेच्छभूयिष्ठे किंतर्ह्ययज्ञिये म्लेच्छावृते यानासनाशनादि क्रियानिमित्तस्य
संसर्गस्यापरिहार्यत्वात्तद्भावापत्तिप्रसङ्गात् । वृत्तिकर्षितोवृत्त्यभावपीडितः वृत्तिरान्मकुटुम्बस्थितिसमर्थधनम् । तदभावे

यत्कर्शनंतत्संबन्धितयोच्यते । यथावर्षकृते सुभिक्षसुभिक्षे वर्षाभावकृतं दुर्भिक्षं वर्षकृतत्वेनव्यपदिश्यते ॥ २४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सर्वे चैते निवासयोग्या इत्याह । एतानिति । म्लेच्छदेशादन्यान् प्रयत्नतोमहता-
प्याघ्रासेन यस्मिन्कस्मिन्म्लेच्छदेशेपि वृत्तिकर्शितानतु त्वस्थः सोपि जीवनसंभवे सदेशेष्वेव निवसेत् द्विजातिषु
वृत्तिकर्शितान् म्लेच्छदेशे संवसेदित्यर्थः ॥ २४ ॥

(३) कुङ्कुकः । एतानिति । अन्यदेशोद्भवा अपि द्विजातीययज्ञार्थत्वाददृष्टार्थत्वाच्चैतान्देशान्प्रयत्नादाश्रयेन ।
शूद्रस्तु वृत्तिपीडितोवृत्त्यर्थमन्यदेशमप्याश्रयेत् ॥ २४ ॥

(४) राघवानन्दः । आश्रयेरनित्यनेनान्यत्र वसतिरयोग्येति भावः । शूद्रस्य वसतेर्न नियम इत्याह शूद्रस्त्व-
ति । वृत्तिकर्शितः वृत्त्यर्थः ॥ २४ ॥

(५) नन्दनः । एतान्ब्रह्मावर्तादीनृक्पुण्यसारस्वैरसंचरितदेशपर्यन्तान्प्रयत्नत आपद्यपि संश्रयेरन्धिवसेयुः । एतेषु च
पूर्वपूर्वदेशः । प्रशस्त इत्यवगन्तव्यम् ॥ २४ ॥

(६) रामचन्द्रः । वृत्तिकर्शितः शूद्रः यस्मिन्कस्मिन्देशे निवसेत् द्विजाः एतान्संश्रयेयुः ॥ २४ ॥

एषा धर्मस्य वोयोनिःसमासेन प्रकीर्तिता ॥ संभवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥

(१) मेधातिथिः । यस्मिन्स्तस्मिन्नित्यनियममाह अतिक्रान्तस्य सर्वस्य ग्रन्थार्थस्य पिण्डार्थकथनमवित्तरणार्थम् ।
योनिः कारणम् । समासेन संक्षेपेण संभवश्चेति प्रथमाध्यायार्थाविमर्शः । अस्य सर्वस्येति जगन्निर्माणबुद्ध्या प्रत्यक्षीकृत्य
निर्दिशति । वर्णानुष्ठयाधर्मावर्णधर्मास्तान्निबोधत विस्तरणेति शेषः । इह पञ्चप्रकारो धर्म इति विवरणकाराः प्रपञ्चयन्ति ।
वर्णधर्म आश्रमधर्मो वर्णाश्रमधर्मो नैमित्तिको गुणधर्मश्चेति । तत्र योजातिमात्रमपेक्ष्य प्रवृत्तौ न वयोविभागेनाश्रमादिकमाश्रय-
ति सवर्णधर्मो यथा ब्राह्मणो न हन्तव्यः । ब्राह्मणेन सुरानपेयेति जातिमात्रस्यान्त्यादुल्लासादेषधर्मः । आश्रमधर्मो यत्र जा-
तिनापेक्ष्यते केवला तदाश्रमप्रतिपत्तिराश्रीयते । यथा ब्रह्मचारिणो ग्रीन्धनभिक्षाचरणे वर्णाश्रमधर्म उभयापेक्षः यथा
मौर्वीज्याक्षत्रियस्येत्यादिना श्रमान्तरे । न च जात्यन्तरस्य धारणमस्या उदाहरणम् । प्रथमोपादानन्तूपनयनधर्मो नाश्रम-
धर्मः । उपनयनवाश्रमार्थनाश्रमधर्मः । नैमित्तिको द्रव्यशुद्ध्यादिः । गुणमाश्रितो गुणधर्मः षड्विपरिहार्यश्चेत्यादि बाहुश्रुत्येन
गुणेनैते धर्मा एवमभिषिक्तस्य क्षत्रियस्य ये धर्मास्तदेतद्वर्णग्रहणेन सर्वगृहीतमिति दर्शितम् । अवान्तरभेदस्तु नेत्येवाव-
तिष्ठते । पुरुषत्वमात्राश्रिता अवर्णधर्मा अपि सन्ति तेऽपि भेदेन वाच्याः स्युः । एवमन्योऽपि भेदोऽप्युक्तः । वर्णग्रहणाच्च
प्रदर्शनार्थनान्तरप्रभवव्युदासार्थपूर्वप्रतिज्ञातत्वात्तदनुवादिनी श्लेषा प्रतिज्ञा ॥ २५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः धर्मस्याचर्यमाणस्य धर्मसाधनस्य कर्मणो वा यो निरुत्पत्तिस्थानं अस्य सर्वस्य प्राणिजा-
तस्य संभवउत्पत्तिः वर्णधर्मास्तत्तद्वर्णनियतान् धर्मान् उपलक्षणं चैतत् अन्तरप्रभवधर्ममाश्रमधर्माश्चेत्यपि ॥ २५ ॥

(३) कुङ्कुकः । एषा धर्मस्येति । एषा युष्माकं धर्मस्य योनिः संक्षेपेणोक्ता । श्रौतिर्ज्ञानिकारणं वेदोऽखिलो धर्म-
मूलमित्यादिनोक्तमित्यर्थः । गोविन्दराजस्त्वहधर्मशब्दोऽपूर्वाख्यात्मकधर्मवर्तत इति विद्वद्भिः सेवित इत्यत्र तत्कारणे-
ऽष्टकादौ वापूर्वाख्यस्य धर्मस्य योनिरितिव्याख्यातवान् । संभवश्चोत्पत्तिर्जगत इत्युक्ता । इदानीं वर्णधर्माञ्छृणुत वर्णधर्म-

शब्दश्च वर्णधर्माश्रमधर्मवर्णाश्रमधर्मगुणधर्मनैमित्तिकधर्माणामुपलक्षकः । ते च भविष्यपुराणोक्ताः । वर्णधर्मः स्मृतस्त्वैकआश्रमाणामतःपरम् । वर्णाश्रमस्त्वृतीयस्तु गौणोनैमित्तिकस्तथा । वर्णत्वमेकमाश्रित्य योधर्मः संप्रवर्तते । वर्णधर्मः सउक्तस्तु यथोपनयनंनृप । यस्त्वाश्रमसमाश्रित्यअधिकारःप्रवर्तते । सखल्वाश्रमधर्मस्तु भिक्षादण्डादिकोयथा । वर्णत्वमाश्रमत्वंच योऽधिकृत्य प्रवर्तते । सवर्णाश्रमधर्मस्तु मौञ्जीया मेखला यथा । योगुणेन प्रवर्तते गुणधर्मः सउच्यते । यथामूर्धाभिषिक्तस्यप्रजानांपरिपालनम् । निमित्तमेकमाश्रित्य योधर्मः संप्रवर्तते । नैमित्तिकः सविज्ञेयः प्रायश्चित्तविधिर्यथा ॥ २५ ॥

(४) राघवानन्दः । वर्तिष्यमाणंवक्तुंवृत्तंनिगमयति एषेति । योनिःकारणम् । श्रुतिस्मृतिसदाचारब्राह्मणोपदेशैर्विना धर्मो न जायतइति भावः । संभवः प्रथमाध्यायोक्तःसर्गः । वर्णधर्मानिति तेन भविष्यपुराणोक्तानांवर्णमाश्रित्ययोधर्मोवर्णधर्मःसउच्यते । यथा विप्रो न हन्तव्यःसुरापेया न च द्विजैः । यस्त्वाश्रमसमाश्रित्यअधिकारःप्रवर्तते ॥ सखल्वाश्रमधर्मस्तुभिक्षादण्डादिकोयथा । वर्णत्वमाश्रमत्वंच योधिकृत्य प्रवर्तते ॥ सवर्णाश्रमधर्मस्तुमौञ्जीयमेखला यथा ॥ योगुणेन समुद्रूतोगुणधर्मःस उच्यते ॥ यथामूर्धाभिषिक्तस्य प्रजानांपरिपालनम् । निमित्तमेकमाश्रित्य योधर्मः संप्रवर्तते ॥ नैमित्तिकः सविज्ञेयः प्रायश्चित्तं विधीयते । इत्यादिवर्णाश्रमगुणनैमित्तिकधर्माणांपञ्चानांसंग्रहः ॥ २५ ॥

(५) नन्दनः । योनिः कारणंपरिज्ञानोपायइति यावत् । संभवश्चास्यसर्वस्येति प्रथमार्थानुभाषणम् ॥ २५ ॥

(६) रामचन्द्रः । युष्माकंएषा धर्मस्य योनिःउत्पत्तिः ज्ञप्तिकारणंप्रकीर्तिता तथा अस्य सर्वस्य विश्वस्य सम्भवः उक्तः ॥ २५ ॥

वैदिकैःकर्मभिःपुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ॥ कार्यःशरीरसंस्कारःपावनःप्रेत्य चेह च ॥ २६ ॥

(१) मेधातिथिः । मन्त्रप्रयोगावैदिककर्माणि । वेदमन्त्रादहोभिप्रेतास्तेषांयान्युच्चारणानि तानि तत्रभवान्यतोऽध्यात्मादित्वाढक् वेदमूलत्वाद्दोषचरितोवैदिकशब्दः । कर्मशब्देन च इतिकर्तव्यतारूपंकर्म गृह्यते । ततश्च कर्मभिर्निषेकादिः संस्कारःकार्यइति साध्यसाधनभेदोपपत्तिः । प्रधानंनिषेकोमन्त्रीच्चारणमितिकर्तव्यतानिषेकोयोनौ शुक्रनिक्षेपः सआदिर्यस्य संस्कारकलापस्य वक्ष्यमाणस्योपनयनपर्यन्तस्यैकवचनशरीरसंस्कारइति समुदायापेक्षम् संस्कारशब्देन च सगुणशरीरनिर्वर्तकमुच्यते । तत्र निषेकाद्यानि विशेषजनकान्येतदेवाह पावनइति पावयति । अशुद्धतामपकर्षति पावनः । प्रेत्य चेह चेति । संस्कृतस्य सर्वत्रदृष्टादृष्टफलेषु कर्मसुकारीरीज्योतिष्टोमादिष्वधिकारादुभयलोकोपकारकत्वमाह । पुण्यैःशुभैर्मगलैरिति यावत् । सौभाग्यमावहन्तिदौर्भाग्यंचापनुदन्तीति पुण्यपावनशब्दयोरर्थभेदः द्विजन्मनामिति शूद्रपर्युदासार्थम् । संस्कार्यनिर्देशश्चायंलक्षणया च त्रैवर्णिकाः प्रतीयन्ते । नहि तदानींद्विजन्मानोभवन्ति ॥ २६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वेदोक्तैःक्रियाविशेषैः पुण्यैः पुण्यसाधनैर्गर्भाधानादिभिः शरीरसंस्कारः शरीरगतातिशयजननंकार्यं इहैहिकफलेषु कर्मसु कर्तव्येषु पावनोनधिकारहेतुःपापनाशकः । एवंप्रेत्येत्यत्रापि तत्र निषेकः पित्रैव कार्यः ततोऽन्यानि कर्माण्यन्येनापि संस्कारश्रुतेर्नित्यत्वस्थितेरन्येनापि करणसंभवाच्च ॥ २६ ॥

(३) कुल्लूकः । वैदिकैरिति । वेदमूलत्वाद्वैदिकैः पुण्यैः शुभैर्मन्त्रयोगादिकर्मभिर्द्विजातीनांगर्भाधानादिशरीरसंस्कारःकर्तव्यः । पावनःपापक्षयहेतुः । प्रेत्य परलोके संस्कृतस्य यागादिफलसम्बन्धात् । इह लोके च वेदाध्ययनाद्यधिकारात् ॥ २६ ॥

(४) राघवानन्दः । निषेकादिसंस्कारस्यैव खादिरादिवदधिकारार्थतास्वतन्त्रफलताचेत्याह वैदिकैरिति ।

वैदिकैः कर्मभिर्वेदमन्त्रप्रयोगैः प्रेत्यचेति संस्कृतस्यैव वैधकर्मद्वारा स्वर्गमोक्षौ इह च वेदाद्यधिकारिता ॥ २६ ॥

(५) नन्दनः । वैदिकैः । श्रौतस्मार्तैः । नकेवलं यस्मिञ्छरीरे संस्कारः कृतस्तस्यैव पावनः किल भविष्य-
तोऽपीत्युक्तं प्रेत्यचपावनइति ॥ २६ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्विजन्मनां ब्राह्मणक्षत्रियविशानिषेकादिः शरीरस्य संस्कारः गर्भादिसंस्कारः मन्त्रैः पुण्यैः कर्मभिः
कार्यः ॥ २६ ॥

गार्भेर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ॥ बैजिकंगार्भिकंचैनोद्विजानामपमृज्यते ॥ २७ ॥

(१) भेदातिथिः । उक्तं संस्कारप्रयोजनं पावनः शरीरसंस्कारः पुण्यश्च तत्र पावनत्वमुच्यते दुष्टस्य दोषापकर्ष-
णम् । कुतः पुनः शरीरस्य दुष्टतेत्याशङ्कयामाह । बैजिकंगार्भिकंचैनइति बीजे भवं बीजनिमित्तं वा बैजिकं एवं गार्भिकम् ।
एनः पापमदृष्टदुःखकारणतस्य बीजगर्भयोर्निमित्तभावादशुचित्वमात्रमिहोच्यते । शुक्रशोणिते पुरुषस्य बीजं ते च स्व-
भावादशुचिनी गर्भाधान्यपि दोषसंक्रान्त्या दुष्टैव । अतस्तन्निमित्तमशुचित्वं पुरुषस्य संस्कारैरपमृज्यतेऽपनुद्यते । तानी-
दानीं कांश्चिन्नामधेयेन कांश्चित्संस्कार्यविशेषोपलक्षितान्कृत्वा निर्दिशति । गार्भेर्होमैः । गर्भे संभूते नार्याः क्रियन्ते । गर्भ-
वाग्रहीतुंगर्भप्रयोजनकत्वाद्गार्भाः । नारी तत्र द्वारमात्रं प्रयोजकस्तु गर्भएवातस्तत्प्रयुक्तत्वाच्च तदर्थाहोमाः पुंसवनसीमन्तो-
न्ययनगर्भाधानानि । होमशब्द उपलक्षणार्थः । कर्ममात्रस्य । नहि गर्भाधानं होम एतेषां च कर्मणां द्रव्यदेवतादिरूपं गृह्यभृति-
भ्योऽवसातव्यम् । यथैव गार्भेर्होमैर्वजातकर्मण्येन संस्कारेण । एवं चौडेन चूडार्थः । चौडः मौञ्जीनिबन्धनमुपनयनम् ।
तत्र हि मुञ्जविकारो मेखला बध्यते । अतस्तेनोपनयनकर्मोपलक्ष्यते । बन्धनमेव निबन्धनं निर्वृत्ते पूरणः जातकर्मादीनि संस्का-
रानामधेयानि कृतद्वन्द्वानि करणविभक्त्या एनोपमार्जनस्य निर्दिश्यन्ते । संस्कारश्च सर्वः संस्कार्यैकार्यान्तरशेषभूते कृ-
तार्थं करिष्यमाणार्थं वा कंचिद्दृष्टमदृष्टं वा विशेषमादधाति ब्रीहीनवहन्तीति । ब्रीहिभिर्यजेतेति यागनिवर्तयिष्यतां तुषकणविप्र-
मोक्षोदष्टो विशेषआदधाति शिरसोऽवतार्य सजं शुचौ देशे निदधातीति । उपभुक्ताया आकीर्णाकारायाः प्रतिपत्तिनियमाद-
दृष्टः सजो विशेषस्तत्रेमे संस्काराः शरीरशुद्ध्यर्थाः श्रुताः न च गन्धाद्यपकर्षणं भृद्धारिसंबन्धादिव शरीरे दृश्यते । तेनेयं ज-
न्मादिकालशुद्धिवददृष्टविशेषा शुद्धिर्वेदितव्या । एतया च शुद्ध्यः पूतः श्रौतस्मार्तैर्बु कर्मस्वधिक्रियते । यथा मन्त्रपूत-
माज्यहोमे लौकिके तु कार्ये द्रव्यशुद्ध्यैव शुद्धिर्यथाज्यस्य भोजनादौ । स्पृश्यताहि कुमारस्याद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्तीत्येता-
वतैव भवति । तथा चाह । न तदुपस्पर्शनादशौचमिति । कथं पुनः कर्मार्थत्वेनेतेषां युक्तमुत्पवनस्याद्यद्वारकंप्रकरणेन वि-
नियोगात् अमीतु बाह्या न कस्यचित्कर्मणः प्रकरणे श्रुताः । अतः पुरुषद्वारिका कर्मार्थता दुर्भणा । न चासति कार्योपयोगे
स्वरूपतः संस्कार एव निर्वर्त्यः । तथासति संस्कारतैव ह्यीयेत प्रधानकर्मता स्यात् । अतश्च कार्यः शरीरसंस्कारइति कु-
मोर्जाते पुरान्यैरालम्भादिति च द्वितीया श्रुतिर्बाध्यते । शत्रूञ्जुहोतीति वद्विनियोगभङ्गः स्यात्तत्र चाधिकारकल्पनेत्यादि-
बह्वसमंजसंप्राप्तेति । उच्यते न वयं श्रुत्या प्रामाण्यापेक्ष्यतादर्थ्यमंगललक्षणब्रूमः । अपितूपकारकत्वं तच्चानङ्गत्वेऽप्युपप-
द्यते । यथा धानविधिः स्वाध्यायाध्ययनविधिश्च । न ह्यत्र श्रुत्यादयः सन्ति । यदाह बनीये जुहोतीत्याह बनीयादयो विनि-
युक्ताः । अलौकिकत्वाच्च तत्स्वरूपस्याधानविधिनैव सिद्धिर्वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीतेति । अत आह बनीयादि निर्वृत्तिद्वारे-
णाधानं क्रतुषूपयुज्यते नचाङ्गम् । अध्ययनविधिरप्यर्थावबोधद्वारेण क्रतूपकारक एव ममी संस्कारा एतत्संस्कृतस्याध्ययन-
विधिनिष्पादितो अध्ययनविध्यर्थस्य विवाहः कृतविवाहस्याधानमाहिताग्नेरधिकारइत्यस्ति संस्कारकार्योपयोगिता बाह्यपुरु-
षसंस्काराणाम् । निषेकग्रहाच्च सर्वत्रापि पितुरधिकारस्तथा च जातकर्मणि मन्त्रः आत्मा वै पुत्रनामासीति । तस्य ह्यपत्यो-

त्पादनमपत्यानुशासनंच विहितम् । ऋणानि त्रीण्यपाकृत्येति । तस्मादनुशिष्टं पुत्रं लोभ्यमाहुरिति अनुशासनंच त्वाधि-
कारप्रतिपादनंतच्च वेदाध्यापनेनार्थावबोधपर्यन्तेन भवतीति वक्ष्यामः । अतएवोभयोपकारकाः संस्कारा अपत्योत्पत्ति-
विधौ पितुर्माणवकस्य च संस्कृतसाध्यासु क्रियासु तस्मात्पितुरधिकारस्तदभावे तत्स्थानापन्नस्य तथा चाह असंस्कृता-
स्तु संस्कार्याभ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैरिति ॥ २७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गर्भे गर्भावस्थायां कतं व्यैर्निषेकादिकर्मभिः तथा होमैरपि सीमन्तकर्मादिनामर्कैर्गर्भे
रेव जातानन्तरकर्तव्यैश्च जातकर्मादिभिः तैश्च बैजिकं पितृगतं तत्तत्पापविशेषदूषितं शुक्रसंभवं पापं तथा गर्भोमातृजस्तदो-
षसंभवं च पापं द्विजानामपनीयते अथोपनयनादिभिः संस्कारैरुपनीतस्य देहशोधनार्थानीत्यर्थः ॥ २७ ॥

(३) कुल्लूकः । कुतः पापसंभवो येनैषां पापक्षयहेतुत्वमत आह गर्भैरिति । ये गर्भशुद्धये क्रियन्ते ते गर्भाः । होम-
ग्रहणमुपलक्षणं गर्भाधानादेरहोमरूपत्वात् । जातस्य यत्कर्म मन्त्रवत्सर्पिः प्राशनादिरूपंत जातकर्म । चौडंचूडाकरणकर्म ।
मौञ्जीनिबन्धनमुपनयनम् । एतैर्बैजिकं प्रतिषिद्धमैथुनसंकल्पादिना च पैतृकरेतो दोषाद्यत्पापं गार्भिकं चाशुचिमातृगर्भवास-
जंतद्विजातीनामपमृज्यते ॥ २७ ॥

(४) राघवानन्दः । शरीरसंस्कारइत्युक्तं तत्र कथंकस्य संस्कारस्तत्राह गर्भैरिति द्वाभ्यां । गर्भधेहि सिनीवाली-
न्यादिमन्त्रोक्तैः गर्भसंस्कारैः गर्भहोमैः सीमन्तोपनयनादिप्रयुक्तैः जातकर्म जातस्य यत्कर्म समन्त्रकंसर्पिः प्राशनादि-
रूपंतत् । चौडंचूडाकर्म । मौञ्जीनिबन्धनं मौञ्जीनिबध्यतेऽनेनेति मौञ्जीनिबन्धनं उपनयनं एतैरेनः पापमपमृज्यते नाशयते न-
श्यतीति यावत् । बैजिकं प्रतिषिद्धमैथुनसंकल्पादिना पैतृकरेतो दोषेणोत्पन्नं । गार्भिकं अशुचिमातृगर्भवासजं मातृवर्षभिचा-
रसंकल्पजं च । यन्मे माता मलुलोभेत्यादिश्रुतेः ॥ २७ ॥

(५) नन्दनः । पित्रादिना कार्यैः संस्कारैरपनेयं पापमाह गर्भैरिति । गर्भैर्निषेकपुंसवनविष्णुबलि सीमन्तोप-
नयनसंबन्धिभिर्जातकर्मचौलमौञ्जीबन्धनैश्च । मौञ्जीबन्धनमुपनयनम् बैजिकं गार्भिकं पितृश्रमातृश्रापराधैः कृतमि-
त्यर्थः ॥ २७ ॥

(६) रामचन्द्रः । गर्भैः गर्भसंस्कारहोमैः शंडामर्कादीनां होमैः जातकर्मभिः चौलमौञ्जीनिबन्धनैरितैः संस्कारै
द्विजानां बैजिकमेनः अपमृज्यते पापनाशमेति बैजिकं शुक्रशोणितसम्बन्धजमित्यर्थः । गोत्रव्याधिसंक्रमनिमित्तम् ॥ २७ ॥

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ॥ महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ २८ ॥

(१) मेधातिथिः । येषु कर्मसु माणवकस्य संस्कारा उपकारकास्तानि दानीमुदाहरणमात्रेण दर्शयति । अध्ययन-
क्रिया स्वाध्यायशब्देनात्राभिप्रेता तस्यास्य विषयनिर्देशस्त्रैविद्येनेति । व्यवधानेऽप्यर्थलक्षणः संबन्धो यस्य येनार्थसंबन्धइ-
ति न्यायेन । अतएव सामानाधिकरण्येऽपि श्रुते विषयविषयिभावो विभक्तिविपरिणामेन । त्रयाणां विद्वानां मध्ययनेनेत्यर्थः ।
त्रयएव वेदाः त्रैविद्यं चातुर्वर्ण्यादिवद्रूपसिद्धिः । अथवा स्वाध्यायेनेति । वेदाध्ययनं त्रैविद्येनेति तदर्थं अवबोधः । व्रतैः सा-
वित्रादिभिर्ब्रह्मचारीकर्तृकैः होमैर्ब्रतादेशनकाले ये क्रियन्ते । यदि वा सायंप्रातः समिद्धिरग्नीन्धनं ब्रह्मचारिणो होमशब्देना-
ग्न्याधारसंबन्धसामान्यादुच्यते । अथ किं समिदाधानं होमो येनैव मुच्यते संबन्धसामान्यादिति न भवतीति ब्रुवन्ति अदनी-
यद्रव्यसाध्यत्वाद्यागहोमयोः । कथं तर्हि सायंप्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतं द्रितइत्युक्तम् । लक्षणया समिदाधानं होमशब्दे-
नोच्यते । यथैव हूयमानं द्रव्यमग्नौ प्रक्षिप्यते । एवं समिन्धनार्थाः समिधोऽप्यतएतेन सामान्येन समिन्धनमेव होमइत्युच्य-
ते । उत्पत्तिवाक्ये हि समिधमादध्वादिति श्रुतम् । जुहुयात्ताभिरग्निमित्यनुवादो यमन्यार्थइति परस्ताद्वक्ष्यामः । न चानुवा-

दे लक्षणादोषः । इदं तु युक्त्यन्मेध्यमात्रद्रव्यसाध्यौ यागहोमौ । तथाच सति बद्ध्यश्चोदनायथार्थाभवन्ति । यथा सूक्तवा-
केन प्रस्तरं प्रहरतीति । तत्र हि प्रस्तरं द्रव्यमाहुर्हरतिचयजति । अथ वचनादसौ तादृश एव यागः । दर्भाश्चाप्यदनीयाः के-
षांचित् । कथं शाकलहोमे । तत्रापि हि शकलान्यभ्यादधातीत्युत्पत्तिरिति चेद्ब्रह्मयज्ञे कागतिः । ग्रहेभ्य एकैकस्यैसमिधोजु-
हुयादर्कादीनां अतोयत्र जुहुंयादिति देवतासंबन्धश्च काष्ठादेरपि श्रुतउत्पत्तिवाक्ये सोपि होम एव । इज्यया देवर्षितर्पणेन ।
एषतावदुपनीतस्य ब्रह्मचर्ये क्रियाकलापः । इदानीं गृहस्थधर्माः । सुतैरपत्योत्पत्तिविधिना महायज्ञैः । पञ्चभिर्ब्रह्मयज्ञादि-
भिः । यज्ञैः श्रौतैर्ज्योतिष्टोमादिभिः ननु यद्येषां कर्मणां किंचित्प्रयोजनं स्यात्तदा तदधिकारयोग्यतोत्पत्त्यर्थाबाह्याः संस्कारा-
अर्थवन्तः स्युः । अत आह ब्राह्मीयं क्रियते तनुः । ब्रह्म परमात्मा कारणपुरुषः तस्येयं संबन्धिनी तनुः शरीरमेतैः श्रौतस्मा-
तैः सर्वैः कर्मभिः क्रियते । ब्रह्मसंबन्धिता च तद्भावापत्तिलक्षणा सहि परः पुरुषार्थः । संबन्धान्तराणि सर्वस्य कस्यचि-
त्कारणत्वेन सिद्धत्वान्नाभिलषितव्यानि । ततो मोक्षप्राप्तिरुक्ता भवति । ब्राह्मीत्यनेन तनुशब्देन च तदधिष्ठाता पुरुषो ल-
क्ष्यते । तस्य हेतुः शरीरद्वारकाः संस्काराः तस्यैव च मोक्षप्राप्तिः शरीरस्य पञ्चतापत्तेः । अन्ये त्वाहुर्ब्रह्मत्वप्राप्तौ योग्या
क्रियते । नहि कर्मभिरेव केवलैर्ब्रह्मत्वप्राप्तिः प्रज्ञानकर्मसमुच्चयात्किल मोक्षः एतैस्तु संस्कृतआत्मोपासनात्तदधिक्रियते ।
तथा च श्रुतिः य एतदक्षरं गार्ग्यं विदित्वा यजते जुहोति तपस्तप्यते अधीते ददात्यन्तवदेवास्य तद्भवतीति । ननु च नैते-
षां कर्मणां ब्रह्मप्राप्तिः फलं श्रुतम् । तथा हि नित्यानि तावदश्रुतफलान्येव कल्पनायां च पौरुषेयत्वं यावज्जीवादिपदैश्च नित्यता-
या अवगमितत्वाद्भिस्त्वजिन्यायोऽपि नास्त्यथास्मादेव वचनादेतत्फलत्वमिति । यदुच्येत मोक्षार्थिनः तदाधिकारः स्यात्तथा
च नित्यत्वहानिस्ततश्च श्रुतिविरोधः । निष्फलं न कश्चिदनुतिष्ठति तत्रानर्थक्यमिति चेत् कामनानुष्ठानात्प्रमाणस्य प्रमेयाव-
गतिरर्थः साचेत्कृताजातमर्थवत्त्वम् । अस्ति चात्र कर्तव्यतावगतिः सत्यां च तस्यामकरणे शास्त्रार्थातिक्रमस्ततश्च प्रत्यवाय-
ईदृश एवार्थैर्लिङ्गादीनां बृद्धव्यवहारे व्युत्पत्तिः । यो हि मृत्यादिः कर्तव्यं न करोति कस्यचिदाज्ञातुः सवेतनार्थीवेतनं न लभते ।
यदिवा प्रत्यवायेन योज्यते । तत्र फलस्याश्रुतत्वान्न फलानुत्पत्तिः प्रत्यवायः । अपितु दुःखेन योजनं नित्येषु । एवं सर्वपु-
रुषाधिकारो नित्यः समर्थितो भवति । तस्मान्न नित्यानां किंचित्फलम् काम्यानां त्वन्यदेव फलं न मोक्षः श्रुतत्वात्तत्र कथ-
मेतत्सर्वकर्मनुष्ठानसाध्यः परः पुरुषार्थ इति । अतएव कैश्चिदर्थवादोऽयमिति व्याख्यायते । संस्कारविधिः स्तुत्यर्थः ।
अत्र च ब्राह्मीयमिति यत्किंचिदालम्बनमाश्रित्य गुणवादेन नीयते । ब्रह्म वेदस्तदुच्चारणार्हा तत्कर्माधिकारिणी च । यत्त-
र्हि गौतमेनोक्तम् । चत्वारिंशत्संस्कारा इति । तत्कथं तत्र हि सोमसंस्थाऽपि संस्कारत्वेनोक्ता न च प्रधानकर्मणां संस्कार-
त्वोपपत्तिः । नाप्येतदर्थवादतया शक्यं व्याख्यातुमविशेषत्वात् । तत्राप्यात्मगुणशेषसंस्कारत्वाध्यारोपेण स्तुतिः । एवमि-
हापि संस्कारैः संस्कारान् समानीकृत्य तुल्यफलताध्यारोपेण संस्काराणामवश्यकर्तव्यतामाचष्टे तथाच संस्कारप्रकरण-
ान्नोत्कृष्यते स्तुतिः क्रियत इति च वर्तमानापदेशो न विधिविभक्तिस्तत्र कुतो ब्रह्मप्राप्तिः फलवावगमः । नचात्र कर्माणि विधी-
यन्ते येनाधिकाराकाङ्क्षायां सत्यपि वर्तमाननिर्देशे रात्रिसत्रे प्रतिष्ठावत्फलनिर्देशः स्यात् । तस्मात्संस्कारस्तुत्यर्थमेव स-
र्वमेतदुच्यते । येऽपि विभागेन वर्णयन्ति नित्यानां ब्रह्मप्राप्तिफलं काम्यानां तु यथा श्रुतमेव तदप्यप्रमाणं सर्वस्यार्थवा-
दत्वात्तदन्तरेण च फलं नित्येष्वनुष्ठानसिद्धेः । प्रतिपादितत्वात्तदुक्तं कामात्मता न प्रशस्तेति ॥ २८ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । उपनयनानन्तरं क्रियमाणेन स्वाध्यायेन ब्रतैः स्वाध्यायसमयमारभ्य कर्तव्यैः सायंप्रा-
तरंग्रिसमिन्धनादिभिः स्नातकव्रतादिभिश्च होमैरुपाकरणोत्सर्जनहोमैः त्रैविद्येन षट्त्रिंशद्वद्वचर्यवेदत्रयाध्ययनार्थं गुरु-

कुलवासेन त्रैविद्येन स्वाध्यायेनेति व्यस्तपदसंबन्धः इज्यया पाकयज्ञेन हविर्यज्ञैः सुतैः पुत्रोत्पादनेन महायज्ञैः ब्रह्मयज्ञाद्यैः पञ्चभिर्ब्रह्मयज्ञादिभिः सामयज्ञैः इयमेतस्मिन्लोके या तनुर्देहः स ब्राह्मी ब्रह्मप्राप्तियोग्याक्रियते अपारुतर्णत्रयस्य मोक्षोपायेधिकारात् ॥ २८ ॥

(३) कुल्लूकः । वेदाध्ययनेन ब्रतैर्मधुमांसादिब्रजनात्मकैः होमैः सायंप्रातर्होमैश्च त्रैविद्याख्येन च व्रतेष्वप्राधान्यादस्य पृथगुपन्यासः । इज्यया ब्रह्मचर्यावस्थायां देवर्षिपितृतर्पणरूपया गृहस्थावस्थायां पुत्रोत्पादनेन महायज्ञैः पञ्चभिर्ब्रह्मयज्ञादिभिः । यज्ञैर्ज्योतिष्टोमादिभिः । ब्राह्मी ब्रह्मप्राप्तियोग्येतनुस्तन्ववच्छिन्नआत्माक्रियते कर्मसहकृतब्रह्मज्ञानेन मोक्षावाप्तेः ॥ २८ ॥

(४) राघवानन्दः । स्वाध्यायेन वेदाध्ययनेन ब्रतैर्मधुमांसादिब्रजनात्मकैः होमैः । सायंप्रातःसमिदाधानैः । त्रैविद्येन षट्त्रिंशदांशकाख्यादिव्रतेन । इज्यया ब्रह्मचारिक्रियमाणदेवर्षिपितृतर्पणरूपया । सुतैः पुत्रोत्पादनैः । एकवाक्योपात्तत्वेन षांत्वाष्ट्रपालीवतं जुहोतीति वतसमुच्चयः । महायज्ञैः वैश्वदेवादिपञ्चभिः । यज्ञैर्ज्योतिष्टोमादिभिः । ब्राह्मी ब्रह्मप्राप्तियोग्या तनुः क्रियत इत्यन्वयः ॥ २८ ॥

(५) नन्दनः । अथोत्तरेषां संस्काराणां फलविशेषमाह स्वाध्यायेनेति स्वाध्यायेन वेदाध्ययनेन । ब्रतैः प्राजापत्यादिभिः । होमैः समिदाधानादिभिर्नित्यनैमित्तिकैः । त्रैविद्यावेदेति त्रैविद्यस्तस्य भावस्त्रैविद्यं वेदत्रयार्थज्ञानमिति यावत् । इज्यया रमातेन पाकयज्ञेन सुतशब्देन समावर्तनं विवाहश्चोपचर्यते । महायज्ञैर्देवर्षिपितृमनुष्यभूतब्रह्मयज्ञैर्गन्धाधानादिभिः । ब्राह्मी ब्रह्मप्राप्त्यर्हा ॥ २८ ॥

(६) रामचन्द्रः । वेदाध्ययनेन ब्रतैः होमैः त्रैविधेन वेदत्रयोक्तकर्मणा श्रुतैः पुत्रोत्पत्तिभिः एतैर्धर्मैः ब्राह्मी ब्रह्मप्राप्तियोग्या इत्येतनुः क्रियते ॥ २८ ॥

प्राङ्गाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ॥ मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥ २९ ॥

(१) मेधातिथिः । वर्धनं छेदं जातकर्मैति कर्मनामधेयमेतत् । रूपं चास्य गृह्यस्मृतिभ्यो ज्ञातव्यं कस्य पुनः कर्मणो जातकर्मैति नाम तदर्थमुक्तं प्राशनं हिरण्यमधुसर्पिषाम् । अस्येति दारकं व्यपदिशन्ति । कर्मवाऽस्य जातकर्मण इदं प्रधानम् । यन्मन्त्रवत्प्राशनमिति । समन्त्रकर्मत्वेण कर्तव्यमित्यर्थः मन्त्रस्य चेहानुक्तत्वात् । सर्वस्मृतीनां चैकार्थ्याद्यदन्त्यत्रोक्तं तदत्रापि प्रतीयते तेन गृह्यस्मृतिषु ये मन्त्रा उपात्तास्तैर्मन्त्रवदिति द्रष्टव्यम् । यदि गृह्यस्मृतयोऽपेक्षन्ते द्रष्टव्यनिर्देशोऽपि न कर्तव्यः । एवं हि तत्र पठ्यते । सर्पिर्मधुनी हिरण्यनिकाषं हिरण्येन प्राशयेत् । प्रातर्ददामि मधुनो घृतस्येति । किञ्च बह्व्यो गृह्यस्मृतयो भिन्नाश्च प्रतिगृह्यं मन्त्राः । अन्यापि भिन्नेति कर्तव्यता तत्र काऽऽश्रीयतामिति न विद्मः । अभ्र चरणसमाख्या न्यामिका भविष्यति व्यर्थं स्तर्हि जातकर्माद्युपदेशस्तत एव सिद्धेः । कठानां गृह्यं बह्वचमाश्वलायनानां च गृह्यमिति यद्येन समाख्यायते सतदुक्तमनुष्ठस्यतीति । उच्यते । दृष्टादिनिर्देशेन सुस्पष्टकर्मैकत्वमिति प्रतीयते । तथा हिरण्यभिज्ञा सिद्धिः । तदेवेतन्नामधेयकंचेदं कर्मातस्तदेवेदमिति भूयसा दृष्टं द्रुणयोगेन प्रत्यभिज्ञायते । सति चैकत्वे यदङ्गं जातं च चिन्तोक्तं तदनिबद्धमन्यत आनेतव्यम् यथा सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्म एवं सर्वस्मृतिप्रत्ययमपि । यत्तु बहुत्वादृष्टेस्मृतीनां काऽऽश्रीयतामित्यनध्यवसायः । सर्वासांप्राप्त्या विशेषादेकार्थानां च विकल्पः । भिन्नार्थानां समुच्चयः । चरणसमाख्यातुनैव नियामिका यतो न समाख्यायता पुरुषस्य नियतः संबन्धः गोत्रप्रवरवत् । यैव शाखायेनाधीता स एव तथा समाख्यायते कठो बह्वच इति । न चाध्ययने नियमोऽस्त्यनेनेयं शाखाऽध्येतव्येति । अनेकशाखाध्ययनमप्यस्ति वेदानधीत्येति तत्र त्रैविद्याध्यायिनः सर्वेऽप्यपदेशाः

प्रवर्तन्ते । केच्युः कठो बद्धश्चेति तत्रावश्यं विकल्प आस्थेय एकशाखाध्यायिनस्तु यद्दृश्यया शाखाया समाख्यायते तदुक्तमेव तस्य युक्तं कर्तुम् । एषहि तदुक्तमेव शक्नोति कर्तुं तच्छाखामन्त्रा एव तेनाधीताः शक्नोति तान्प्रयोक्तुं तमेव वावृत्तं वेद वेदने च कर्मानुष्ठानार्थं वेदाध्ययनं येन तावतो मन्त्रान्कर्मोपयोगिनोऽध्येष्यत इत्युच्यते । स्वाध्यायं विधिवशेन वेदाध्ययनं अनधीतवेदस्य नाधिकारो न कर्मप्रयुक्तमध्ययनम् । अत इयं समाख्या मन्त्रविशेषविनियोगनिमित्तैव कठानां गृह्यवाजसने यिनां गृह्यमिति । यस्यां शाखायां ये मन्त्रा अधीतास्ते यत्र बाहुल्येन विनियुक्तास्तद्गृह्यं तथा समाख्यायते । प्रमाणं गृह्यस्मृतिः सा कठानामियमिति व्यपदिश्य माना बद्धचानामपि स्वार्थावगमनं करोत्येव कर्तव्यता वेदस्य स्वार्थस्मृतीनां च । अवगतायां च कर्तव्यतायां कर्तृविशेषश्रावणे स्वाधिकारो न स्यादथा च तनूनपाति प्रयाजे वसिष्ठानां निषेधाद्वा पतितम् । न चेह द्वयमप्यस्ति । न च शक्यं कल्पयितुं नहि कठानां बाहुल्यं न प्रमाणं बद्धचानां वा कठकं यतोऽय एव कठः स एवाकठोऽस्ति तच्छाखाध्यायेन । गोत्रं तु नियतमित्यसमान एवार्थः । त्वसूत्रं यः परित्यज्य परसूत्रेण वर्तत इति । यद्येतदस्ति तदेव क तर्हि स्वकं यदधीतं तदर्थः शक्योऽनुष्ठानुं । तेन स्वाधीतां शाखामतिक्रम्य पित्रा अधीतशाखा कर्माणि कुर्यात्तद्गृह्यं च समाश्रयेन्न तस्य शाखात्यागदोषः पित्रादीनां वा शाखात्यागः यैर्माणवकः क्रमाधीतां शाखां नाध्यापितः माणवकस्यात्र दोषो नास्ति यदा मृतपितृकोजा बालवदयं बालः स्वयमाचार्यमाश्रयेत्तदा येनास्य पितरो याता इत्यनेन शास्त्रेण सैवाध्येतुं युक्ता स्यात् । अथात्मशाखाध्ययनं न संभवति तदा स्वशाखात्यागः । अतः स्थितमिदं सर्वसर्वासु स्मृतिषु जातकर्माद्युपदिश्यते तत्र भिन्नार्थं मङ्गजातं समुच्चीयते विरुद्धं विकल्प्यते समानार्थं च । पुंस इति स्त्रीनपुंसकव्यावृत्त्यर्थम् । अन्ये त्वविवक्षितं पुमर्थमन्यन्ते । द्विजन्मनामिति सामान्येन त्रैवर्णिकानां संस्कार्यत्वेन प्रकृतत्वात्संस्कार्यश्च प्रधानमुद्देशो न च प्रधाने लिङ्गसंख्यादिविशेषणं विवक्ष्यते । ग्रहं समाधीति सत्यप्येकवचने सर्वे ग्रहाः संभृज्यन्ते । ज्वरितं ज्वरमुक्तं च दिनान्ते भोजयेन्नरमिति नार्या अपि ज्वरिताया एष एव भोजनकालस्तथा च प्राप्तप्रतिषेधस्त्रीणाममन्त्रिका तु कार्या इयं स्त्रीणामावृत्तिरिति नपुंसकानां च पाणिग्रहणदर्शनं यद्यर्थतानुदरैः स्यात्कृषीबादीनामिति तत्रोच्यते । नायं पुंशब्दो मनुष्यजातिवचनो न रशब्दवद्येन विभक्तिवाच्यलिङ्गं न विवक्ष्येत एषहि सर्वस्वस्थावरमूर्तामूर्तगतलिङ्गविशेषप्रसरूपमां चष्टे । प्रातिपदिकार्थोऽत्र लिङ्गविभक्तिवाच्यस्यार्थस्य विवक्षाविवक्षे युज्येते यतो न विभक्तेर्वचनभेदैकप्रयोजनं कर्माद्यर्थान्तराभिधानेनाप्यर्थवत्त्वात् । इह त्वविवक्षायामानर्थक्यमेव प्राप्नोति पुंसपदस्य यथा तत्रैव ग्रहप्रातिपदिकार्थो विवक्ष्यते । वाक्यानर्थक्यपरिहाराय । अथोच्येत न प्रत्ययार्थमात्रस्य विवक्षा कृत्स्नोऽपि पदार्थ उपदिश्यमानविशेषणं न विवक्ष्यते । यथा यस्योभयंहविरिति सत्यप्युभयपदश्रावणे द्विपयसौरन्यतरावृत्तावपि तदेव प्रायश्चित्तं न विवक्षित उभयशब्दः । अत्र केचित्परिहारमाहुः नैतत्तेन समानं नहि हविरर्थः । पञ्चशरावो हर्षिर्विनाशं हि नैमित्तिकोधिकारः । इहतु माणवकार्था एव संस्काराः । एषत्वप्रयोजको विशेषः वाक्यभेदभयाद्विशेषणविवक्षा नेष्यते । तादर्थ्येऽपि वाक्यभेदे नैवापैति तस्मादयं परिहारः एतदेवोत्पत्तिवाक्यं जातकर्मणो वैदिकैः कर्मभिरित्येतदुपक्रमंतत्र पुमानेव संस्कार्यतया निर्दिष्टस्तदविवक्षायां वाक्यानर्थक्यं यथा तत्रैव हविःपदं विवक्ष्यते । यद्येवं शूद्रस्यापि प्राप्तिर्जातिविशेषानिर्देशान्न प्राप्स्यति मन्त्रसाध्यत्वात् । अथवा द्विजन्मनामिति वाक्यशेषः को भविष्यति न च तदानीं विधेयार्थविषयत्वेन निर्दिष्टे येन तत एव संस्कार्यवगतौ पुंस इत्येतदुभयपदविवक्षितमाशङ्क्येत स्त्रीणां त्वप्राप्तेऽपि विधानमुपपद्यते कृषीवस्यापि दारदर्शनं वातरेतायः कृषीवोभयव्यञ्जनो प्रवृत्तेन्द्रियो वा बहुप्रकारव्यावृत्तिकरं जातकर्मादिसंस्कारकालेऽपरिच्छेद्यत्वाच्छक्यप्रतीकारत्वाच्च न च योननियतो धर्मः सोधिकारं व्यावर्तयति यथाऽद्रव्यत्वं न ह्यद्रव्यनियतं जातिवद्ययवाद्रव्यः सोऽपि द्रव्यवान्भवति । चिरमधनो भूत्वा भवत्यन्धमहाधनः ईदृशस्यैव पदस्य वधेपलाजलभारकशुद्धिः स-

हसंस्कृतोपनीतः शान्त्यै न कस्यचित्तिष्ठति । अतः स्थितं पुंसामेवैते संस्कारा एभिर्विधीयन्ते । विध्यन्तरेण स्त्रीणाममन्त्र-
काः न पुंसकस्य नैव सन्तीती ॥ २९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वर्धनं छेदनं जातकर्म तन्नामकं कर्म मन्त्रवन्मेध्यं ते देव सवितेत्यादि मन्त्रयुक्तं यद्वि-
रण्यसंसृष्टानां मधुसर्पिषां अस्य शिशोः प्राशनं तदपि प्रागेव नाभिच्छेदात् एतच्च गृहसूत्रेषु जातकर्म जातसाक्षादिव एत-
दङ्गमनुर्मन्यते पुंसो न न पुंसकस्य स्त्रीणां तु वक्ष्यते ॥ २९ ॥

(३) कुल्लूकः । नाभिच्छेदनात्प्राक्पुरुषस्य जातकर्माख्यः संस्कारः क्रियते तदा चास्य स्वगृहोक्तमन्त्रैः स्वर्णमधुघृ-
तानां प्राशनम् ॥ २९ ॥

(४) राघवानन्दः । जातकर्मान्नां प्राशनचौडोपनयनानां योग्यकालं दर्शयन् स्वरूपमाह । प्रागिति । दशभिः । ना-
भिर्वर्धनात् नाभिच्छेदात् । वृधुच्छेदनइत्यस्य धातोरूपम् । मन्त्रवत्प्राशनमेव सुवर्णादेरस्य जातस्य । द्विजातेः कर्म ।
जातकर्म ॥ २९ ॥

(५) नन्दनः । अथ जातकर्मणः कालं स्वरूपं चाह प्रागिति । वर्धनं छेदनम् ॥ २९ ॥

(६) रामचन्द्रः । नाभिर्वर्धनात्प्राक्कालच्छेदात्प्राक्पूर्वजातकर्म विधीयते जातकर्मणि हिरण्यमधुसर्पिर्भिः अस्य
कुमारस्य मन्त्रवत्तन्त्रपूर्वकं प्राशनं कार्यम् ॥ २९ ॥

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत् ॥ पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ ३० ॥

(१) मेधातिथिः । दशम्यां तिथौ द्वादश्यां वास्य दारकस्य नामधेयं कुर्वीत । णिजर्थो न विवक्षितः तथाच गृहसं-
शम्यामुत्थाप्य पिता नामकरोतीति नामैव नामधेयेन शब्देन कार्येणाहूयते तन्नाम प्राङ्गाभिर्वर्धनादिति जातकर्मणः प्रकृ-
तत्वाज्जन्मनः प्रभृति दशमीद्वादश्यां गृह्येते न चन्द्रतिथी । इह केचिद्दशमीग्रहणमाशौचनिवृत्तिरित्युपलक्षणा र्थवर्णयन्ति अतीता-
यामिति चाध्याहारः दशम्यामतीतायां ब्राह्मणस्य द्वादश्यां क्षत्रियस्य पञ्चदश्यां वैश्यस्येति । तदयुक्तं लक्षणायां प्रमाणाभावा-
ज्जातकर्मवदाशौचेऽपि करिष्यते यदि तु ब्राह्मणभोजनं विहितं क्वचित् तदा युक्तलक्षणा । यदि दशमीद्वादश्यां वक्ष्यमाणगुणयुक्ते
भवतः तदा तयोः कर्तव्यमथन तदाऽन्यस्मिन्नपि पुण्ये हनि पुण्यान्यहानि द्वितीयापञ्चम्यादीनि पुण्यं प्रशस्तं न वमीचतुर्द-
श्यादयोरिक्तास्तिथय अपुण्याः मुहूर्तो लग्नं कुंभादि तस्मिन् पुण्ये पापग्रहैरनधिष्ठिते गुरुभ्यां च दृश्यमाने लग्नशुद्धिर्ज्योतिषा-
दवगम्यते । नक्षत्रे च गुणयुक्ते । नक्षत्रं श्रविष्ठादि तद्यस्मिन् हनिगुणयुक्तं भवति नक्षत्रगुणाश्च क्रूरग्रहपापग्रहविष्टिपातविव-
र्जितं वा शब्दः समुच्चये । तेन प्रशस्तायां तिथौ नक्षत्रे च शुद्धे लग्नइत्युपदिष्टं भवति । समुच्चयश्च ज्योतिषावगम्यः । अयं च
परमार्थः दशमीद्वादशीभ्यामर्वाङ्गं कर्तव्यम् । उत्तरकालं च यदहर्नक्षत्रलग्नं परिशुद्धं तदहरेव कर्तव्यम् ॥ ३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नाम्नो व्यवस्थापनं दशम्यां तिथौ द्वादश्यां वा कारयेत् । स्वयं करणाशक्तावन्येनापि इत्ये-
तदर्थं कारयेदित्युक्तम् । मम नाम प्रथमं जातवेदः पिता माता च दधतुरिति मन्त्रलिङ्गात्पित्रोरेव मुख्यत्वेनाधिकारात् तत्र च-
तिथिन्हासवृद्धयोरपि दशमतिथौ वैव नामधेयं न दशमे हन्ये वेवेयेतदर्थं स्त्रीलिङ्गानिर्देशः क्वचिद्वा त्रिविषेण तया स्त्री-
लिङ्गत्वम् । तथा चाहोरात्रोपलक्षणं मित्याहुः । पुण्ये मङ्गलयोग्ये वा यत्र कापि तिथौ तादृशे वा मुहूर्ते लग्ने नक्षत्रे मात्रे
वा ज्योतिषोक्तगुणवतीति पक्षत्रयं पूर्वोक्तपक्षद्वयासंभवे ॥ ३० ॥

(३) कुल्लूकः । जातकर्मेति पूर्वश्लोके जन्मनः प्रस्तुतत्वाज्जन्मापेक्षयैव दशमे द्वादशे वाऽहन्यस्य शिशोर्नामधेय-
स्वयमसंभवे कारयेत् । अथवा ऽशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्मविधीयत इति शङ्खवचनाद्दशमेऽहन्यतीतेऽकादशाह इति व्या-

ख्येयम् । तत्राप्यकरणे प्रशस्ते तिथौ प्रशस्तएव मुहूर्ते नक्षत्रे च गुणवत्येव ज्योतिषावगते कर्तव्यम् । वा शब्दोऽवधारणे ॥ ३० ॥

(४) राघवानन्दः । नामेति दशम्यामिति पूर्वाशौचनिवृत्तिपरम् । आशौचेतु व्यतिक्रान्तेनामकर्म विधीयतइति शङ्खोक्तः । सामीप्येसममीवा । अहन्येकादशे नामेति याज्ञवल्क्यः । एकादशेहन्यपिनामकुर्यादिति श्रुतेः । द्वादशीपदं प्राशस्त्यपरमतएवाह । पुण्यमित्यादि ॥ ३० ॥

(५) नन्दनः । दशम्यांद्वादश्यांतिथौ जन्मदिनादशमे द्वादशे वादिनइत्यर्थः । पुण्येमुहूर्तेइत्यन्वयः ॥ ३० ॥

(६) रामचन्द्रः । रात्रौकर्माधिकारोनास्ति तेन कारणेन एकादशेऽहनि नामधेयनामकर्मकारयेत् । दशमदिवसे वा द्वादशेऽह्निवाकारयेत् कार्यव्ययतया द्वादशेऽह्नि नामकरणं यदा न जातंतदा मुहूर्ते पुण्येऽह्निगुणान्विते नक्षत्रेज्योतिर्विदादिष्टे काले शुक्रास्तादिर्वाजिते काले नामधेयकार्यम् विष्णुपुराणवचनात् ततस्तु नामकुर्वीत पितैवदशमेहनीत्यादि वाक्यम् । शङ्खः दशमेहनि सूतिकांपूर्वसध्यतः उत्थाप्य रुशरान्नस्य पिण्डवर्द्धननाम कर्म कार्यमितिवा ॥ ३० ॥

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम् ॥ वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥ ३१ ॥

(१) मेधातिथिः । इदानीं यादृशनामकर्तव्यंतनियमयतिस्वरूपतोर्यतश्च तत्र स्वरूपमवधारयिष्यन्नाहमङ्गलाय हितंतत्र वा साधुमङ्गल्यमिति व्युत्पत्तिः । अभिमतस्यार्थस्य चिरजीवित्वबहुधनादेर्दृष्टादृष्टसुखफलस्य सिद्धिमङ्गलं । तदभिधानमेव शब्दाभ्यर्हितत्वंसाधुत्वंचेति तद्धितसिद्धिःनाभिप्रेतार्थसिद्धिप्रतिपादनमेव विवक्षितं । किंतिहं यथाशास्यते तद्वचनेनैव सिद्धिसमासाद्यायुःसिद्धिर्धनसिद्धिःपुत्रलाभइत्यादेः प्रतीयते । तद्धिताद्वा हितनिमित्तप्रयोजनार्थीयात् तत्र गृह्येतद्धितान्तंप्रतिषिद्धं कृतंकुर्यान्न तद्धितमिति । समासेपि पदद्वयैकार्थीभावस्तत्र बह्वक्षरप्रयोगप्रसंगोयतोवक्ष्यति शर्मवद्ब्राह्मणस्येत्युपपदनियमतत्र चतुरक्षरे व्यक्षरे वा नाम्नि शर्मशब्दे चोपपदे पञ्चाक्षरं षडक्षरं नाम भवति तच्च प्रतिषिद्धं षडक्षरचतुरक्षरं वा कुर्यादिति तेन यद्यत्किंचित्प्रायेण सर्वस्याभिलषणीयमर्हितंपुत्रपशुग्रामकन्याधनादि तद्वचनाः शब्दानामधेयत्वेनविनियोक्तव्याः शर्मान्तास्तेन गोशर्मा धनशर्मा हिरण्यशर्मा कल्याणशर्मा मङ्गल्यशर्मैत्यादिशब्दपरिग्रहः सिद्धोभवति । अथवा मङ्गलं धर्मस्तत्साधनं मङ्गल्यं नामकृतमत्पुनर्धर्मसाधनं नाम यएते देवताशब्दाः इन्द्रोऽग्निर्वायुः तथा ऋषिशब्दावसवोविश्वामित्रोमेधातिथिस्तेषामपि धर्मसाधनमस्ति ऋषींस्तर्पयेत्पुण्यकृतो मनसा ध्यायेदिति देवतानामृषीणांच द्विजानांपुण्यकर्मणां प्रातःप्रबुद्धः श्रीकामो नरो नामानि कीर्तयेदिति मङ्गल्यग्रहणाच्च यदप्रशस्तं यमोमृत्युरित्यादितन्निरस्यते यच्चानर्थकं डिङ्थादियदृच्छानिमित्तं क्षत्रियस्य बलान्वितं बलसंयुक्तं बलवाचि अन्वयः संबन्धशब्दः चार्थेन संबन्धः प्रतिपादकभावएव । सामर्थ्यतयेन येन प्रतिपाद्यते तादृशनाम क्षत्रियस्य कर्तव्यं शत्रुतपः दुर्योधनः प्रजापालइत्यादिविभागेन च नामनिर्देशो जातिबलचिह्नं एवं वैश्यस्य धनसंयुक्तं चान्न पर्यायाएव गृह्यन्ते धनं वित्तं स्वापतेयमिति किंतिह्येन प्रकारेण प्रतिपत्तिः यदिवा धनादि शब्दप्रयोगादर्शसंबन्धाद्वा धनकर्मा महाधनः गोमान्धान्यग्रहइत्येवं सर्वत्र द्रष्टव्यं तथा चान्वितादिशब्दप्रयोगो बलान्वितं धनसंयुक्तमिति । इतरथा एवमेवावक्ष्यद्वलनामानि कुर्यादिति । त्वबलाद्वलार्थवाचिनामानन्त्याच्च पुरुषव्यक्तीनांदुःखवधाने भेदे व्यवहारोच्छेदएव स्यात् । शूद्रस्य जुगुप्सितं रूपणकोदीनः शबरकइत्यादिस्वल्पत्वाद्बलार्थवाचिनामानन्त्याच्च ॥ ३१ ॥

(३१) वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥ (ख, ट, ठ)

— शूद्रस्य प्रेण्यसंयुतम् ॥ (क, त, थ,)

(च, ग,) एतयोः पुस्तकयोः द्वावपि पाठौ दृश्येते ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मङ्गलवत् भद्रमित्यादि राज्ञः क्षत्रस्य बलसमन्वितं उदयवीरइत्यादि धनसंयुक्तं धन करइत्यादि जुगुप्सितं पाण्डुरित्यादि ॥ ३१ ॥

(३) कुट्टुकः । ब्राह्मणादीनां यथाक्रमं मङ्गलबलधननिन्दावाचकानि शुभबलवसुदीनादीनि नामानि कर्तव्यानि ॥ ३१ ॥

(४) राघवानन्दः । मङ्गल्यं मङ्गलदं श्रवणेन बलान्वितं बलसूचकं धनसूचकं धनवत्ख्यापकं जुगुप्सितां द्विजदास-
द्विजगुप्तरूपम् ॥ ३१ ॥

(५) नन्दनः । मङ्गल्यं विष्णुमित्रादि । बलान्वितं परंतपादि । धनसंयुक्तं निधिपालादि । जुगुप्सितं पैलवकादि ।
अत्र नामधेयमित्यनुकर्षः । कारयेत्पिताऽन्यो वा तत्स्थानीयः ॥ ३१ ॥

(६) रामचन्द्रः । मङ्गल्यमिति । नामकरणं त्रिभिराह ब्राह्मणस्य नाम माङ्गल्यं शर्मान्तस्यात्तद्यथा विष्णुशर्मैति
नाम । क्षत्रियस्य नाम रक्षासमन्वितं बलान्वितं नाम तद्यथा नृसिंहवर्मेति । वैश्यस्य नाम पुष्टिवृद्धिसमन्वितं कुर्यात्
धनपतिरिति नाम शूद्रस्य नाम प्रेय्यसंयुक्तं कुर्यात् तद्यथा कृष्णदासेति नाम ॥ ३१ । ३२ ॥

शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञोरक्षासमन्वितम् ॥ वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेय्यसंयुतम् ॥ ३२ ॥

(१) मेधातिथिः । अत्र स्वरूपग्रहणं पाठानुक्रमश्चादौ मङ्गल्यमेते शर्मशब्दाः । तथाचोदाहृतं । क्षत्रियादिनाम्नां तु
नैतत्संभवति रक्षाशब्दस्य स्त्रीलिङ्गस्य श्रवणात्पुंसां सामानाधिकरण्यानुपपत्तेः तस्मादेकोपक्रमत्वात्समाचाराच्च सर्वत्रार्थ-
ग्रहणं वाक्यभेदाच्च समुच्चयः यन्मङ्गल्यंतच्छर्मार्थवच्छर्मशरणमाश्रयः । सुखंचार्थग्रहणात्त्वामिदं भवभूत्यादिशब्दप-
रिग्रहः इन्द्रत्वामीन्द्राश्रयः इन्द्रावतोपि तदाश्रयता प्रतीयते एवं सर्वत्रोन्नेयम् । अथ कोयं हेतुर्वाक्यभेदात्समुच्चयइति ।
ब्रीहिभिर्भजेत यवैर्यजेतेति किंन समुच्चयइति । उच्यते । लिङ्गदर्शनमात्रमेतत्पौरुषेयत्वात् । ग्रन्थस्य विकल्पेऽभि-
प्रेतमङ्गल्यं शर्मवद्वेति लाघवादवक्ष्यत् । वाक्यभेदे हि द्विराख्यातोच्चारणंतदुभयवति रक्षा परिपालनं पुष्टिवृद्धिगुप्तिश्च । गोवृ-
द्धोधनगुप्तइति । प्रेय्योदासो ब्राह्मणदासो देवदासो ब्राह्मणाश्रितो देवताश्रितइति ॥ ३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवं नामान्युक्त्वा तत्रेदमिति नित्यान्वितानि पदान्याह शर्मवदिति । अन्ते शर्मपदवत्
रक्षासमन्वितं यतिरित्यादिवत् पुष्टिसंयुक्तं आप्योगोभीत्यादि धनबाहुल्यख्यातं प्रेय्यपदवत् प्रेय्यसंयुक्तं दासादि-
पदवत् ॥ ३२ ॥

(३) कुट्टुकः । इदानीमुपपदनियमार्थमाह शर्मवद्ब्राह्मणस्येति । एषां यथाक्रमं शर्मरक्षापुष्टिप्रेय्यवाचकानि कर्तव्या-
नि शर्मवर्मभूतिदासादीन्युपपदानि कार्याणि । उदाहरणानि तु शुभशर्मा बलवर्मा वसुभूतिः दीनदास इति । तथा च यमः
शर्म देवश्च विप्रस्य वर्म त्राता च भूभुजः । भूतिदत्तश्च वैश्यस्य दासः शूद्रस्य कारयेत् । विष्णुपुराणेऽप्युक्तं शर्मवद्ब्राह्मणस्यो-
क्तवर्मेति क्षत्रसंयुतम् गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः ॥ ३२ ॥

(४) राघवानन्दः । एतान्येवोत्तरपदत्वेन वर्णानुरूपव्यवस्थित्या समाचारान्निगमयति शर्मवदिति यथाह यमः ।
शर्मदवश्च विप्रस्य वर्मत्राता च भूभुजः । भूतिदत्तश्च वैश्यस्य दासः शूद्रस्य कारयेदिति भूतिपदं पुष्टेरुपलक्षणम् । एतेन पूर्वपदे
नियमाभावः । द्यक्षरंचतुरक्षरं वा नामकुर्यादिति स्मृतेः । मङ्गलादिसूचकं देवादीनां हर्षादिनामकार्यशर्मादिपदत्वर्थपरं तेन
शर्मशरणमित्यादीति मेधातिथिः ॥ ३२ ॥

(३२) प्रेय्यसंयुतम् = प्रेय्यसंयुतम् (अ, द)

राज्ञोरक्षासमन्वितम् = राज्ञोवर्मसमन्वितम् (ब)

(५) नन्दनः । प्रकारान्तरमाहशर्मेति । शर्मवत्सुखवत्सुखप्रकाशनसमर्थमित्यर्थः । एवमुत्तरत्र । यथासुमतिःसुमन्तुरित्यादि । रक्षासमन्वितं धृतराष्ट्रादि । पुष्टिःसमृद्धिस्तेनसंयुक्तम् । तेनधनसंयुक्तमित्यनेननपुनरुक्तिः । यथासीरभद्रादि । प्रेक्ष्यसंयुतं पशुसखादि । अन्ये तु शर्मादीनांशब्दपरत्वमेवमन्यन्ते । नत्वर्थपरत्वम् ॥ ३२ ॥

स्त्रीणांसुखोद्यमक्रूरंविस्पष्टार्थमनोहरम् ॥ मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ॥ ३३ ॥

(१) मेधातिथिः । पुंसइत्यधिकृतत्वास्त्रीणामप्रामौ नियम्यते । सुखेनोद्यते सुखोद्यंस्त्रीबालैरपि यत्सुखेनोच्चारयितुं शक्यते तत्स्त्रीणानाम कर्तव्यं बाहुल्येन स्त्रीणांस्त्रिभिर्बालैश्च व्यवहारस्तेषांच स्वकारणसौष्ठवाभावान्न सर्वसंस्कृतंशब्दमुच्चारयितुंशक्तिरस्ति । अतोविशेषेणोपदिश्यते तत्पुंसामसुखोद्यमभ्यनुज्ञायते । उदाहरणंमङ्गलदेवीचारुदती सुवदनेत्यादि प्रत्युदाहरणंशर्मिष्ठा सुभ्रिल्लङ्गीति । अक्रूरमक्रूरार्थवाची क्रूरार्थावाचिक्रूरार्थडाकिनीपरुषेति । विस्पष्टार्थयस्यार्थोव्याख्यानगम्यो न भवति श्रुतएव विदुषामविदुषांवार्थप्रतीतिकरोत्य विस्पष्टार्थयथा कामनिधाकारीषगन्ध्येति । कामस्य निधेयनिधा तथा कामस्तत्रैव तिष्ठतीति । एवंयावन्व्याख्यातंतावन्नावगम्यते । एवंकारीषगन्धेर्दुहिताकारीषगन्ध्येति व्याख्यानमपेक्ष्यते मनोहरंचित्ताल्हादकरंश्रेयसीविपरीतंतु कालाक्षी शर्मवती रुद्रवतीतिमङ्गलंविपरीतमभागा मंदभागेति दीर्घोवर्णोन्तेयस्य विपरीतंशरत् आशिषंवदतीत्याशीर्वादमभिधानशब्दः तयोर्विशेषणसमासस्तद्यस्मिन्नास्ति विद्यते तदाशीर्वादाभिधानवत्सपुत्राबहुपुत्राकुलत्वाहिकेति एतेस्तथाआशीर्विषयाविपरीताअप्रशस्ता अलक्षणेति । अथमङ्गलस्याशीर्वादस्य च कोविशेषः । न कश्चिद्वृत्तपूरणार्थं तु भेदेनोपादानम् ॥ ३३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सुखोद्यंदुरुच्चारक्षररहितं अक्रूरं हिंसादितीक्ष्णार्थशून्यं विस्पष्टार्थशीघ्रेणार्थप्रत्यायकं मनोहरंप्रीतिजनकार्यवत् मङ्गल्यंशुभहेतुत्वसूचकं दीर्घवर्णान्तमीकाराद्यन्तं आशीर्वादाभिधानवत् । आशीर्वादाभिधायिप्रत्ययादियुक्तं यशोदेत्यादि स्त्रीणां अत्रचनरूपसमुच्चये तात्पर्यं किंचैकद्विरूपवत्त्वे ॥ ३३ ॥

(३) कुल्लूकः । स्त्रीणामिति । सुखोच्चार्यमक्रूरार्थवाचिव्यक्तभिधेयंमनःप्रीतिजननंमङ्गलवाचिदीर्घस्वरान्तंआशीर्वाचकेनाभिधानेन शब्देनोपेतंस्त्रीणानाम कर्तव्यंयथा यशोदादेवीति ॥ ३३ ॥

(४) राघवानन्दः । सुखोद्यंअनायासोच्चार्यमक्रूरंप्रीतिजनकंशर्मदायशोदेत्यादि ॥ ३३ ॥

(५) नन्दनः । सुखोद्यंसुखेन वदितुमीरयितुंशक्यंयशोदादि । अक्रूरंसुमित्रादि । विस्पष्टार्थचित्राङ्गदादि । मनोहरंचारुमत्यादि । मङ्गल्यंकल्याणादि । दीर्घवर्णान्तंसुमङ्गलादि । आशीर्वादाभिधानवत्आशीर्वाचकशब्दयुक्तंसुभद्रादि । अत्रापि नामधेयस्यादित्यनुकर्षः ॥ ३३ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्त्रीणामिति । स्त्रीणांकन्यानांनाम सुखोद्यमिति । सुखेनोच्चारणीयमित्यर्थः अक्रूरंक्रूरत्वरहितमिति ॥ ३३ ॥

चतुर्थे मासि कर्त्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ॥ षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले ॥ ३४ ॥

(१) मेधातिथिः । जन्मचतुर्थमासे ग्रहाद्वहिर्निष्क्रमणमादित्यदर्शनं शिशोर्बालस्य कर्त्तव्यम् । त्रीन्मासान् गर्भगृह एव वासयेत् । शिशुग्रहणंशूद्रस्यापि प्राप्स्यर्थं । एवंषष्ठे मास्यप्यन्नप्राशनं पञ्चमासान्क्षीराहारएव । यद्वा कुलेदारकस्य श्रेयस्यंमङ्गल्यंपूतना शकुनिकैकवृक्षोपहारादि प्रसिद्धकालविशेषे वा तत्कर्त्तव्यंभयंच संस्कार शेषः तेन नामधेयमुक्त-

लक्षणव्यतिरेकेणापि यथा कुलधर्मलभ्यते । इन्द्रत्वामी इन्द्रशर्मा इन्द्रभूमि इन्द्रघोष इन्द्ररात इन्द्रविष्णु इन्द्रदेव इन्द्रज्यो-
ति इन्द्रयशा इत्यादि कुलभेदेनोपपन्नं भवति ॥ ३४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । जन्मदिनाच्चतुर्थे गृहात् प्रसवगृहात् । जन्मदिनादेव षष्ठे मास्यन्नप्राशनं यच्च गृह्योक्त-
विधानवदन्नभक्षणम् । यद्वेष्टमिति । अयनमपि यत्कर्णवेधादिदृष्टमपेक्षितमनिर्दिष्टकालं कर्म यच्च मङ्गलं शुभं करं शिशूनां
कुले तेषु तेषु कुलेष्वसाधारणं कर्म तदपि षष्ठ्येवेत्यर्थः ॥ ३४ ॥

(३) कुट्टूकः । चतुर्थे मासीति । चतुर्थे मासे बालस्य जन्मगृहान्निष्क्रमणमादित्यदर्शनार्थं कार्यम् । अन्नप्राशनं-
च षष्ठे मासे ऽथवा कुलधर्मत्वेन यन्मङ्गलमिष्टं तत्कर्तव्यं तेनोक्तकालादन्यकालेपि निष्क्रमणम् । तथा च यमः ततस्तृतीये
कर्तव्यमासि सूर्यस्य दर्शनम् । सकलसंस्कारेष्वैश्वर्यं तेन नाम्नाशर्मादिकमप्युपपदं कुलाचारेण कर्तव्यम् ॥ ३४ ॥

(४) राघवानन्दः । निष्क्रमणं सूर्यावलोकनार्थम् । ततस्तृतीये कर्तव्यमासि सूर्यस्य दर्शनमिति यमोक्तेः तृतीयं
चतुर्थोपलक्षणं इष्टं कुलधर्मतया ॥ ३४ ॥

(५) नन्दनः । निष्क्रमणं गृहाच्चन्द्रादित्यदर्शनम् । अयमपि कश्चित्संस्कारविशेषः । कुले कुलधर्मानुसारे-
णेत्यर्थः ॥ ३४ ॥

(६) रामचन्द्रः । कुले त्वकुले यद्वा इष्टं मङ्गलं चूडावतंकुलाचारमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः ॥ प्रथमेव तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥ ३५ ॥

(१) मेधातिथिः । चूडा शिखा तदर्थं कर्म चूडाकर्म केषु चिन्मूर्धदेशेषु केशानां स्थापनं रचना विशेषश्चैतच्चूडा-
कर्मोच्यते । प्रथमवर्षे तृतीये वा ग्रहसौस्थित्या विकल्पः श्रुतिनोदनादित्यनुवादस्तन्मूलतयैव प्रामाण्यस्योक्तत्वात् । अथ-
वा श्रुतिशब्देन न विध्याय कान्येव वाक्यान् युच्यन्ते । किं तर्हि मन्त्रास्ते च चूडाकर्मव्यञ्जनादिवददृष्टं प्रकाशयन्ति यत्क्षुरेण
मार्जयेतेत्यादि तेन समन्त्रकमेतत्कर्मेत्युक्तं भवति विशेषापेक्षायां गार्होविधिरङ्गीक्रियते । अतः शूद्रस्य नायंसंस्कारः
द्विजातिग्रहणाच्च अनियतकालं तु केशवपनं शूद्रस्यार्थं प्राप्तं न निवार्यते ॥ ३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सर्वेषां द्विजातीनां न विप्रस्यैव धर्मतः कुलधर्मानुसारेण शिखाकरणं प्रथमे तृतीये-
वाव्दे कर्तव्यं सुते मन्त्ररूपायाश्चोदनालिङ्गतायाः प्रवर्तत्वात् मन्त्रश्च यत्र बाणाः संपतन्ति कुमारविशिखा इवेति । बाण-
वत्संपतनयोग्यता तृतीयएव संभवति इति कुमारपदेनाभिधाने ततः प्रागवस्थापि विज्ञायेतेति विशिष्टा विशिष्टशिखा इति
विशेषेण रुतमिति ॥ ३५ ॥

(३) कुट्टूकः । चूडाकर्म इति । चूडाकरणं प्रथमे वर्षे तृतीये वा द्विजातीनां धर्मतो धर्मार्थं कार्यं श्रुतिचोदनात् ।
यत्र बाणाः संपतन्ति कुमारविशिखा इवेति मन्त्रलिङ्गात् कुलधर्मानुसारेणायं व्यवस्थितविकल्पः । अतएवाश्वलायनगृह्यम् ।
तृतीये वर्षे चौलं यथा कुलधर्मं वा ॥ ३५ ॥

(४) राघवानन्दः । चूडाकर्म केषु चिन्मूर्धदेशेषु केशानां स्थापनविशेषः । तृतीये वर्षे चौलमित्याश्वलायनोक्तेः ।
श्रुतिचोदनात् । यत्र बाणाः संपतन्ति कुमारविशिखा इवेति श्रुतेः । सशिखेतेषां छेदनम् ॥ ३५ ॥

(५) नन्दनः । चूडा शिखा । द्विजातिग्रहणेन शूद्रस्य पर्युदासः । धर्मतः कुलधर्मतः । चूडानिवेशदेशविशेषश्च गोत्र-

विशेषेण स्मर्यते दक्षिणतश्चूडा वसिष्ठानां वामतोभारद्वाजानामुभयतः काश्यपानामिति । चूडाकर्मण्यादरातिशयप्रकाशयति श्रुतिचोदनादिति । श्रूयतेहि । कुमारविशिखाइवेति ॥ ३५ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वेषां द्विजातीनां धर्मतः चूडाकर्मप्रथमेऽब्दे कार्यं श्रुतिनोदनात् तृतीयवर्षे कुर्यात् ॥ ३५ ॥

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ॥ गर्भादिकादशे राज्ञो गर्भात्तुद्वादशे विशः ॥ ३६ ॥

(१) मेधातिथिः । गर्भस्थस्य यः संवत्सरस्तत आरभ्यते योष्टमोदः गर्भशब्दे साहचर्यात्संवत्सरोलक्ष्यते नहि मुख्यया वृत्त्या गर्भस्य संवत्सरोष्टमइति व्यपदेशं लभते तस्मिन् नौपनायनं ब्राह्मणस्य कुर्वीत । उपनयनमेवोपनायनं स्वारिथिकोऽणान्येषामपि दृश्यत इत्युत्तरपदस्य दीर्घः छांदसत्वाद्बोभयपदवृत्तिः उपनयनमिति हि एष संस्कारो वेदविदां गृह्यस्मृतिषु प्रसिद्धो मौञ्जीबन्धनापरपर्यायः । उपनीयते समीपं प्राप्यते येनाचार्यस्य स्वाध्यायाध्ययनार्थं कुड्यं कटं वा कर्तुं तदुपनयनं । विशिष्टस्य संस्कारकर्मणो नाम धेयमेतत् । गर्भादिकादशे राज्ञः । गर्भात्प्रभृति गर्भाद्वा परोय एकादशोद्विंशतः क्षत्रियस्य कर्तव्यम् । राजशब्दोऽयं क्षत्रियजातिवचनो नाभिषेकादिगुणयोगमपेक्षते ग्रन्थेषु तथा प्रयोगदर्शनाद्ब्राह्मणादिजातिशब्दसाहचर्याच्च गुणविधिषु च क्षत्रियशब्ददर्शनात्क्षत्रियस्य तु मौर्वीति यस्तु राजशब्दस्य क्षत्रियादन्यत्र जनपदेश्वरे वैश्यादौ प्रयोगः । सगौणइति वक्ष्यामः मुख्ये चासति गौणस्य ग्रहणम् । तथाच गृह्यकारः । अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयने देकादशे क्षत्रियं द्वादशे वैश्यमिति । भगवांश्च पाणिनिः एवमेव प्रतिपन्नो राज्ञः कर्म राज्यं इति राज्यशब्दस्य राज्यशब्दप्रतिप्रकृतित्वं ब्रुवन्नेव जनपदेश्वर्येण राजशब्दार्थप्रसिद्धिमाह । एवं गर्भात्तु द्वादशेऽब्दे विशः वैश्यस्य ॥ ३६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तन्मातुर्गर्भग्रहणदिनादष्टमे तत्रापि उपनयनं पित्रा कार्यमसंभवे न्येनापि कारयितव्यमित्येतदर्थमुपनयनमिति प्रयोजनव्यापारः पित्रादीनां दार्शितः राज्ञः कर्तव्यः ॥ ३६ ॥

(३) कुल्लूकः । गर्भाष्टमइति । गर्भवर्षादष्टमे वर्षे ब्राह्मणस्योपनायनं कर्तव्यम् । उपनयनमेवोपनायनमन्येषामपि दृश्यतइति दीर्घः । गर्भादिकादशे क्षत्रियस्य गर्भद्वादशे वैश्यस्य ॥ ३६ ॥

(५) नन्दनः । नामधेयादिषु जन्मारभ्यकालसंख्योक्ता उपनयने सामाभूदिति गर्भग्रहणम् । गर्भशब्देन च गर्भसहचरितोऽब्दोऽपि विवक्षितः । गर्भाष्टमे गर्भादारभ्याष्टमे । उपनयनमेवोपनायनम् । उपनयनात्पूर्वमेव जन्मतएव ब्राह्मण्यमस्तीति सूचितम् ब्राह्मणस्येत्यब्दसंख्यानियमस्यायमभिप्रायः ब्रह्मक्षत्रविशां गायत्र्यैष्टुभजा गतैश्छन्दोभिः । सहजत्वं श्रूयते तैरेव तेषामुपनयनम् तस्मादुपनयनाब्दा अपि स्वस्वच्छन्दोऽक्षरसमसंख्या भवितुमर्हन्तीति ॥ ३६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अतः परं द्विजानां उपनयनकालमाह ब्राह्मणस्योपनयनं गर्भाष्टमेऽब्दे गर्भाष्टमे वर्षे उपनयनं कार्यं राज्ञः गर्भात्तुद्वादशे वर्षे वा कर्तव्यम् । वैश्यस्य गर्भात्तुद्वादशे वर्षे जन्मद्वादशे वा वर्ष इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ॥ राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ ३७ ॥

(१) मेधातिथिः । पितृधर्मेणापत्यं व्यादिशति ब्रह्मवर्चसी मे पुत्रः स्यादिति पुत्रकामनया पुत्रोऽप्यपदिष्टस्तत्कामस्येति पुत्रस्य बालत्वान्नैव विधा कामना संभवति । न नुचैव मन्युरुतात्कर्मण अन्यस्य फलेऽभ्युपगम्यमानेऽकृताभ्यागमदोषापत्तिः । अकाम्यमानं च फलं भवत्येतदप्युक्तान्तशब्दप्रमाणन्यायमर्यादयोच्यते । नैष दोषः श्येनवदेतद्भविष्यति श्येनमभिचरन्करोत्यभिचर्यमाणश्च त्रियते । अथोन्यते कामिन एवैतत्फलं शत्रुमरणं हि यजमानः कामयते तदेव

चामोतीति नाकर्तृगामिता फलस्य । अत्रापि विशिष्टपुत्रवत्तालक्षणमुपनेतुरेवफलं यथा पुत्रस्यारोग्येण पितुः प्रीतिः एवं ब्रह्मवर्चसेनाप्यतोऽधिकृतस्य कर्तुश्च पितुरेव तत्फल मन्वयानुसारीहि शास्त्रार्थविषयाइहच पुत्रस्य फलकामेनैवकर्तृव्यमित्यन्वयः प्रतीयते । नच यथाश्रुतान्वयापरोर्किंचनप्रमाणमस्ति । एतेन पितुरौर्ध्वदेहिकः पुत्रकृतउपकारोव्याख्यातस्तत्रापिहि पुत्रः कर्ता पितृमिश्रं फलंतथाच लिङ्गमात्मावै पुत्रनामासीति । पित्रैव हि तावत्श्राद्धमात्मसंप्रदानकंवस्तुतः कृतमेव येनाप्यन्त्योत्पादनमेवमर्थमेवकृतं । यथा सर्वस्वारे मृतस्यार्भकावमानाद्ये पराश्रपदार्थास्तेष्वपि यजमानस्यैव कर्तृत्वब्राह्मणाः संस्थापयतयज्ञमिति प्रैषेण दक्षिणाभिर्वरणेन वा प्रयोगसमामावृत्तिर्जाविनियोक्तृत्वादेवमिहापि तादर्थ्येन पुत्रस्योत्पादनाद्यत्श्राद्धादिकंपित्रर्थक्रियते पित्रैव तत्कृतं भवति अध्ययनविज्ञानसंपन्नब्रह्मवर्चसंबलंसामर्थ्यमाभ्यन्तरं ब्राह्मचोत्साहशक्तिर्महाप्राणताचेतदाभ्यन्तरं बाह्यं च हस्त्यश्वरथपदातिकोशसंपत्तदुक्तं वांग्म्युच्चयसांयौगिकानां वार्थानामिति । ईहाचेष्टा बहुना धनेन कृषिवाणिज्यादिव्यवहारः सर्वत्र गर्भादिसंख्याच वर्षाणां गर्भादिति ह्यनुवर्तते ॥ ३७ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । सुततपः प्रभृतिभिरुत्कर्षौ ब्रह्मवर्चसं पञ्चमेजन्मत आरभ्य बलार्थिनः सामर्थ्यातिशयार्थिनः ईहाकृप्यादावुद्यमः तदतिशयार्थिनः अत्र बालस्य तादृक्कामनाया असंभवेपि तत्पित्रादिकामनाया एव तदीयत्वोपचारेणोपनयन सामानाधिकरण्यात् एतादृक्कामस्य पुत्रस्येत्यधिकरणे षष्ठीवा ॥ ३७ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्रह्मवर्चसकामस्येति । वेदाध्ययनतदर्थज्ञानादि प्रकर्षकृतं तेजो ब्रह्मवर्चसंतत्कामस्य ब्राह्मणस्य गर्भपञ्चमे वर्षे उपनयनं कार्यम् क्षत्रियस्य हस्त्यश्वादि राज्यबलार्थिनो गर्भषष्ठे वैश्यस्य बहुकृप्यादि चेष्टार्थिनो गर्भाष्टमे गर्भवर्षाणामेव प्रकृतत्वात् । यद्यपि बालस्य कामना न संभवति तथापि तत्पितुरेव तद्रतफलकामना तस्मिन्नुपचर्यते ॥ ३७ ॥

(४) राघवानन्दः ब्रह्मवर्चसकामस्येति । ब्रह्मवर्चसंवृत्तत्वाध्यायनिमित्तं तेजः बलार्थिनः बलं हस्त्यश्वादि शारीरं वा । ईहार्थिनः ईहाकृप्यादि चेष्टा । अत्र फलं एकस्य तूभयत्वं संयोगपृथक्कामिति न्यायेन । अस्यार्थः एकस्य कर्मण उभयार्थे वचनद्वयेन श्रुतेः । फलसाधनाभेदइत्यर्थः ॥ ३७ ॥

(५) नन्दनः । ब्रह्मतेजो ब्रह्मवर्चसं पञ्चमे गर्भात्पञ्चमेऽवदे ॥ ३७ ॥

(६) रामचन्द्रः । विप्रस्य पञ्चमे वा वर्षे कार्यं राज्ञः षष्ठे वा वैश्यस्य अर्थार्थिनः अष्टमे वा वर्षे कार्यम् ॥ ३७ ॥

आषोडशाष्टाह्मणस्य सावित्री नातिवर्त्तते ॥ आद्वाविंशाक्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विंशः ॥ ३८ ॥

(१) मेधातिथिः । एवतावन्मुख्यकाम्यावुपनयनकालावुक्ते । इदानीं पितुरभावे व्याध्यादिना वा कथंचिदनुपनीते माणवके कालातिपत्तावनुपनेयता प्राप्ता सत्यपि कालस्याङ्गत्वे तदभावेऽधिकारनिवृत्ते यथा सायंप्रातः कालातिपत्तावग्रिहोत्रस्याकरणे । अतो विहितकालव्यतिरेकेण प्रतिप्रसवार्थमिदमारभ्यते यावत्षोडशंवर्षगर्भादारभ्य तावद्ब्राह्मणस्योपनयनार्हता न निवर्तते । सावित्रीषाब्देन तदनुवचनसाधनमुपनयनाख्यं कर्म लक्ष्यते नातिवर्त्तते नातिक्रान्तकालं भवतीत्यर्थः । एवमाद्वाविंशाक्षत्रबन्धोः क्षत्रियजातियस्येत्यर्थः बन्धुषाब्देऽयं चित्कुत्सायां प्रवर्तते । यत्त्वं कथंचेच्छ ब्रह्मबन्धाविति ज्ञातिवचनो यथा ग्रामताजनताचैव बन्धुता च सहायता महेन्द्रस्याप्यगम्यासौ भूमिभागभुजांकुतः । द्रव्यवचनो जात्यन्ताच्छ बन्धुनीति च तत्र पूर्वयोरर्थयोरसंभवात्तृतीयोर्थो गृह्यते । द्वाविंशतेः पूरणोद्वाविंशोब्दः तद्धितार्थः । आचतुर्विंशतेर्विंशः प्राप्नोष्यन्न पूरणप्रत्य-

योवृत्तानुरोधान्कृतः प्रतीयतेतुतदर्थः । नहि समुदायविषयायाश्चतुर्विंशतिसंख्यायाअवधित्वेन संभवःतदवयवस्तु चतुर्विंशोभवति संवत्सरोवधिः । आङ्मभिबिधौ व्याचक्षते लिङ्गदर्शनंचोदाहरन्ति गायत्र्या ब्राह्मणमुपनयीत त्रिष्टुभा राजन्यजगत्या वैश्यमित्येतेषांच छंदसामियता कालेन द्वौ पादौ पूर्यते । तावन्तकालंबलवन्ति नत्यजन्ति स्वाश्रयभूतान्वर्णान् । तृतीये तु पादेऽप्रक्रांतेगतरसान्यतिवयांसि न्यूनसामर्थ्यानि भवन्ति समामिमुपयान्ति यथा पञ्चाशतास्थविरोमनुष्यइत्यतश्चनैतेन वयमुपासितानीति त्यजन्ति तंवर्णततो न गायत्रोब्राह्मणो न त्रैष्टुभोराजन्यो न जागतोवैश्यइति । सविता देवता यस्याऋचः सा सावित्री सा च गायत्रीद्रष्टव्या । प्रदर्शिता गृह्याच्चएवंक्षत्रियस्य त्रिष्टुप् सावित्री आऋणेनेति वैश्यस्य जगती ॥ विश्वारूपाणीति ॥ ३८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यथोक्तसमयउपनयनाशक्तौ षोडशाब्द समामिपर्यन्तं ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते नातिक्रान्तकालाभवति । आङ्त्राभिबिधौ तच्छब्दः पादाक्षरवदब्दसमवाय उपनयनमिति हारांतवचने गायत्री त्रिष्टुब्जगतीनां क्रमात् ब्राह्मणादिवर्णसंबन्धिनां छन्दसांपादाक्षरसङ्ख्यै रवैरुपनयनस्य विधेरुख्यासंभवे च तद्वैगुण्यस्य काले युक्तत्वे क्षत्रबन्धोःक्षत्रजातेः ॥ ३८ ॥

(३) कुहूकः । आषोडशादिति । अभिविधावाङ् ब्राह्मणक्षत्रियविशामुक्ताष्टमैकादशद्वादशवर्षद्वैगुण्यस्य विवक्षितत्वात् । षोडशवर्षपर्यन्तंब्राह्मणस्य सावित्र्यर्थेवचनमुपनयनंनातिक्रान्तकालंभवति । क्षत्रियस्य द्वाविंशतिवर्षपर्यन्तं वैश्यस्य चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तम् । अत्र मर्यादायामाङ्केचिद्याख्यापयन्ति यमवचनदर्शनात् । तथा च यमः पतिता यस्य सावित्रीदशवर्षाणिपञ्च च । ब्राह्मणस्य विशेषेण तथा राजन्यवैश्ययोः ॥ प्रायश्चित्तं भवेदेषांप्रोवाच वदतांवरः । विवस्वतः सुतःश्रीमान्यमोधर्मार्थतत्त्ववित् ॥ सशिखंवपनंकृत्वा व्रतंकुर्यात्समाहितः । हविष्यंभोजयेदन्नंब्राह्मणान्सप्तपञ्चवा ॥ ३८ ॥

(४) राघवानन्दः । उपनयनस्थोत्तरावधिद्योतयन्सार्थवादतैःसह संसर्गनिषेधति आषोडशादितित्रिभिः । आङ्त्रमर्यादायां गर्भादित्यनुवर्तते नातिवर्तते अतिक्रान्तता सती प्रायश्चित्तंविनाअधिकारित्वेन सावित्रोपतितान्प्रतिसावित्री नाधिगच्छति । पतिता यस्य सावित्री दशवर्षाणि पञ्चचेत्युपक्रम्य । सशिखंवपनंकृत्वा व्रतंकुर्यात्समाहितः । हविष्यंभोजयेदन्नंब्राह्मणान्सप्त पञ्च चेति । यमोक्तप्रायश्चित्तम् ॥ ३८ ॥

(५) नन्दनः । आषोडशाब्दात्आकारोऽत्राभिविधिवचनः मुख्यकल्पसंख्याद्वैगुण्यात्सावित्रीप्रधानत्वादुपनयनस्य सावित्रीतितस्य भेदोपचारनिर्देशः । क्षत्रबन्धोः क्षत्रियस्येति । यावच्चतुर्विंशतेराचतुर्विंशात् ॥ ३८ ॥

(६) रामचन्द्रः । उपनयनार्थकार्यव्यग्रतया त्वस्य त्वस्य कालातिक्रमोभवेच्चेत्तर्हि किंकर्तव्यतत्राह । ब्राह्मणस्य षोडशवर्षपर्यन्तंऔपनायनिकः कालः क्षत्रियस्यद्वाविंशतिवर्षपर्यन्तं विशश्चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्त उपनयनकालः । अतः सावित्रीपतितोभवेत् ॥ ३८ ॥

अत ऊर्ध्वंत्रयोप्येते यथाकालमसंस्कृताः ॥ सावित्रीपतिताव्रात्याभवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥ ३९ ॥

(१) मेधातिथिः । अस्मात्कालादूर्ध्वपरेण त्रयोप्येते वर्णाः ब्राह्मणादयोयथाकालंयस्योपनयनकालसूत्रानुकल्पिकेभ्यसंस्कृताअकृतोपनयनाः सावित्री पतिता । उपनयनभ्रष्टाभवन्तिव्रात्याश्च संज्ञयाऽऽर्थैः शिष्टैः विगर्हिताः निदिताः व्रात्यसंज्ञाव्यवहारप्रसिद्ध्यर्थोयंश्लोकः । अनुपनेयत्वंतु पूर्वेण च सिद्धमुक्तमार्यैर्निन्दितइति ॥ ३९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यथाकालं षोडशादवक् सावित्री पतिताः कालातिक्रमेण सावित्र्या अपगताः ब्राह्म्या ब्राह्म्यसंज्ञाः संज्ञात्वोत्तरव्यवहारोपयुक्ताः आर्याः पापेभ्यः आराद्रताः ॥ ३९ ॥

(३) कुड्मकः । अत ऊर्ध्वमिति । एते ब्राह्मणादयो यथाकालं योयस्यानुकल्पिकोऽप्युपनयनकालोक्तः षोडशवर्षादिपर्यन्तं तत्रासंस्कृतास्तदूर्ध्वं सावित्री पतिता उपनयनहीनाः शिष्टगार्हिता ब्राह्म्यसंज्ञा भवन्ति । संज्ञाप्रयोजनं च ब्राह्म्यानां याजनं कृत्वेत्यादिनाव्यवहारसिद्धिः ॥ ३९ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्राह्म्या इत्यपूर्वसंज्ञा ॥ ३९ ॥

(५) नन्दनः । अतः षोडशाब्दादिभ्यः असंस्कृता अनुपनीताः सावित्री पतिताः । सावित्र्युपदेशहीनाः । ब्राह्म्याः ब्राह्म्यनामानः ॥ ३९ ॥

(६) रामचन्द्रः । पितैवोपनयेत्पुत्रांस्तदभावे पितामहः । तदभावे पितृव्यः स्यात्तदभावे तु सोदरः ॥ कालातिक्रमे प्रायश्चित्तमाह अत ऊर्ध्वं षोडशवर्षादूर्ध्वं एते द्विजाः संस्कारहीनाः शूद्रप्राया भवन्ति । अकृतप्रायश्चित्तमाह योगीश्वरः । ब्राह्म्यस्तोमात्क्रतोः ब्राह्म्यस्तोमसंज्ञात्क्रतो र्यज्ञादित्यादिना कृते तु । वात्यस्तोमयज्ञ उपनयनाधिकारो भवत्येव ॥ ३९ ॥

नैतैरपूतैर्विधिवदाप्यपि हि कर्हिचित् ॥ ब्राह्मण्यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद्ब्राह्मणैः सह ॥ ४० ॥

(१) मेधातिथिः । कापुनरेषां निन्देत्याह । एतैर्ब्राह्मणैरपूतैरकृतप्रायश्चित्तैर्विधिवद्वा दशो विधिः । प्रायश्चित्ते शास्त्रेणोपदिष्टः तान्श्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रानित्याप्यपि हि कर्हिचित्कस्यांचिदप्यापदि न संबन्धानाचरेत्कुर्यात्तैः सह किं सर्वसंबन्धनिषेधो नेत्याह । ब्राह्मण्यौनांश्च । ब्रह्मवेदः । तन्निमित्तान्संबन्धान्याजनाध्यापनप्रतिग्रहान् । न ते याज्याः न याजकाः कर्तव्याः एवं नाध्याप्या नैतेभ्योऽध्येतव्यवेदार्थविदुषः प्रतिग्रहाधिकारादेषोपि ब्राह्मणसंबन्धो भवति । यौनः संबन्धः कन्यायादानादाने । ब्राह्मणग्रहणं प्रदर्शनार्थम् । अस्माच्च दोषदर्शनाद्ब्राह्म्यता परिहारार्थं पितुरभावोपि व्युत्पन्नबुद्धिनामाणवकेनाप्यात्मनात्मोपनाययितव्य इति प्रतीयते । तथाच । श्रुतिः सत्यकामो जाबालः सहहरिद्रुमंतं गौतममियाय ब्रह्मचर्यं भवति वक्ष्यामीति स्वयमाचार्यमभ्यर्थितवानुपनयनार्थम् ॥ ४० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विधिवशं ब्राह्म्या होमादिना येन पूतास्तैः ब्राह्मणैर्वैदिकानां ध्यापनादिसंबन्धान् यौनान्कन्यादानप्रतिग्रहरूपान् ब्राह्मण इति वचनं क्षत्रादेस्तत्संबन्धे तादृक्दोषाभावकथनार्थं ब्राह्मणैरित्यपि पाठे तद्दोषाधिक्योपदर्शनार्थं तदिति ग्राह्यम् ॥ ४० ॥

(३) कुड्मकः । नैतैरिति । एतैरपूतैर्ब्राह्मणैर्यथाविधि प्रायश्चित्तमकृतवद्भिः सहापत्कालेऽपि कदाचिदध्यापनकन्यादानादीन्संबन्धान् ब्राह्मणानुतिष्ठेत् ॥ ४० ॥

(४) राघवानन्दः । ब्राह्मणब्रह्म वेदस्तन्निमित्तकान् अध्ययनाध्यापनादीन् यौनान् ब्राह्मण्यौनां विवाहान् ॥ ४० ॥

(५) नन्दनः । अपूतैरकृतप्रायश्चित्तैः । ब्राह्मणअध्ययनाध्यापनादीन् यौनान्कन्यादानप्रतिग्रहादीन् । अत्र ब्राह्मणशब्दस्त्रैर्वर्णिकवचन एतच्छब्देन प्रकृतवर्णत्रयपरामर्शनासामानाधिकरण्यावगमात् ॥ ४० ॥

(६) रामचन्द्रः । आपद्यपि कर्हिचिदपूतैः अकृतप्रायश्चित्तैः एतैः त्रिभिर्वर्णैः सह ब्राह्मणः ब्राह्मणसंबन्धान् नाचरेत्वेदाध्ययनसंबन्धान् न कारयेत् च । पुनः यौनान् योनिस्संबन्धान् विवाहादीन् एतैः अकृतप्रायश्चित्तैः सह न आचरेत् न वर्तयेत् ॥ ४० ॥

कार्णरौरवबास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः ॥ वसीरन्मानुपूर्वेण शाणक्षौमाविकानि च ॥ ४१ ॥

(१) मेधातिथिः । कृष्णशब्दोद्यपि कृष्णगुणयुक्तवस्तमात्रे वर्तते कृष्णा गौः कृष्णः कम्बल इति तथापीह स्मृत्यन्तरादौरवसाहचर्याच्च मृगएव प्रतीयते रुरुर्मृगजातिविशेषः वस्तुः छागः सर्वत्र विकारेऽवयवेवा तद्धितः । कृष्णाजिनं ब्राह्मणोरुचर्मक्षत्रियोवैश्यश्छागचर्म वसीरन्नाच्छादयेयुः शणक्षुमोर्णास्तत्र कृता नि च वस्त्राणि । च शब्दः समुच्चये । तत्रानुत्तरीयाणि शाणादीनि चर्माण्युत्तरीयाण्यौचित्यात्कौपीनाच्छादनानि च वस्त्राण्यानुपूर्व्येण नैकैकस्य सर्वैरभिसंबन्धोनापिव्युत्क्रमेण । प्रथमस्य ब्रह्मचारिणः प्रथमेन चर्मणा वस्त्रेणच संबन्धोद्वितीयस्य द्वितीयस्थानस्थेन । तथाच दर्शितं । ननु चान्तरेणापि वचनलोकतएवैतत्सिद्धं चूर्णिताक्षिमदग्धानां वज्जानिलद्भुताशनैरिति यथाक्रमसंबन्धप्रतिपत्तिः चूर्णिता वज्रेणाक्षिमानिलेन दग्धाऽग्निनेति । उच्यते भवेदेवं यदि भेदेन निर्देशस्यात्समसङ्ख्यात्वं च । इहतु ब्रह्मचारिण इत्येकशब्दोपादानात्क्रमोवगम्यते त्रयश्च ब्रह्मचारिणः षडनुदेशिनः स्त्रीणि चर्माणि वस्त्राणि । आनुपूर्वग्रहेण तु सति वाक्यान्तरोपात्तः क्रम आश्रीयते । तथाच चर्मभिः संबध्यपुनर्ब्रह्मचारिपदमावर्त्यवासोभिः संबध्यते । ततः संख्यासाम्यसिद्धिः । ईदृशएव विषये भगवता पाणिनि ना यत्नः कृतो यथासंख्यमनुदेशः समानामिति ॥ ४१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कृष्णः कृष्णोमृगः तस्य चर्माद्यैरुत्पादितं रौरवंरुरोः वास्तंछागस्य एतानि चर्माणि विप्रादयः क्रमाद्वसीरन्नुत्तरीयाणि कुर्युः अजिनं त्वेवोत्तरमित्यापस्तम्बवचनात् । तथाशाणातसीमेषरोमसूत्र कृतानि वासांसि क्रमाद्वसीरन् अर्थादधः षण्णां विधेयानां त्रिषु यथाक्रमभावभ्रमनिरासार्थमानुपूर्वेणेति त्रिषु त्रिषु क्रम इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

(३) कुड्डूकः । कार्ण इति विशेषानभिधानेऽपि मृगविशेषोरुसाहचर्यात् हारिणमैण्यं वा कार्णं वा ब्राह्मणस्येत्यापस्तम्बवचनाच्च कृष्णमृगो गृह्यते । कृष्णमृगरुच्छागचर्माणि ब्रह्मचारिण उत्तरीयाणि वसीरन् चर्माण्युत्तरीयाणीति गृह्यवचनात् । तथाशाणक्षुमा मेषलोमभवान्यधोवसनानि ब्राह्मणादयः क्रमेण परिदधीरन् ॥ ४१ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्राह्मणादीनां ब्रह्मचारिनियतवस्त्रमेखलायज्ञोपवीतदण्डानुपादानपरिमाणसहितानाह कार्णंति सप्तभिः । कार्णं कृष्णं हरिणं संबंधिहारिणं ऐण्यं वा कृष्णं ब्राह्मणस्येति आपस्तम्बस्मरणात् । रुरुर्व्याघ्रः रुरुर्खबिलकृदिति क्रमदीपिकायाम् वस्तोऽजः एतान्युत्तरीयाणि शाणादीनि वसनानि तत्र शाणं शणसूत्रनिर्मितं क्षौमं क्षुमा एरण्डपर्यायः आविकं अविर्मेषस्तल्लोमजं अत्र यथासङ्ख्यं विवक्षितम् ॥ ४१ ॥

(५) नन्दनः । कृष्णः कृष्णमृगः रुरुः पृषतमृगः वस्तश्छागविशेषः । तः संबन्धीनिकार्षारौरवबास्तानि । शाणविकारः शाणम् क्षुमाऽतसी । तद्विकारः क्षौमं अविश्छागविशेषो रक्तवर्णः तद्रोमकृतमाविकम् । चर्माण्युत्तरीयाणि शाणादीन्यन्तरीयाणीति विवेकः ॥ ४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणस्य कार्णाजिनसंज्ञं चर्म धार्यं । क्षत्रस्य रौरवंरुरुजातीयमृगस्य चर्म रौरवाजिनंधार्यं । वैश्यस्य ब्रह्मचारिणः वास्तं अजाजिनंधार्यं आनुपूर्व्येण ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यैः एतानि चर्माणि शाणक्षौमाविकानि पक्षान्तरे पूर्वेषामप्यभवे वसीरन्नाच्छादयेयुः । शणस्य इदं शाणं क्षुमा अतसी तस्य इदं क्षौमं ॥ ४१ ॥

मौञ्जीत्रिवत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला ॥ क्षत्रियस्य तु मौर्वीज्या वैश्यस्य
शाणतान्तवी ॥ ४२ ॥

(१) मेधातिथिः । मुञ्जस्तृणजातिस्तद्विकारो मौञ्जीसा ब्राह्मणस्य मेखला रशना कर्तव्या मध्यबन्धनी त्रिवृत्त्रिगुणा

समा नक्वचित्सूक्ष्मा न क्वचित्सूक्ष्मतरा किंताहंसर्वतएव समा श्लक्ष्णा तनुत्वगुणयुक्ता परिघृष्टा च । क्षत्रियस्य पुनर्ज्या धनुर्गुणाः साकदाचिच्चर्ममयी भवति कदाचित्तृणमयी भङ्गोमादिरज्जुर्वा तदर्थमाह । मौर्वीति तथा धनुषोवतारितया श्रोणी-
बन्धः कर्तव्यः यद्यपि त्रिवृत्तादिर्गुणोमेखला मात्राश्रितोमौर्ज्याएव तथापि ज्यायाः स्वरूपनाशप्रसंगान्भवति । शणतन्तुवि-
कारः शणतान्तवी छांदसत्वादुत्तरपदवृद्धिः अथवाकेवलात्तन्तुशब्दात्तद्धिते कृते तदन्तस्य शणैः संबन्धः । शणानांतान्त-
वीति । विकृतोर्विकारः शणतान्तवी ॥ प्रकृतिसंबन्धितयाव्यपदिश्यते । गव्यघृतदेवदत्तस्य पौत्रइति तंतुः सूत्रंशणमौर्ज्यो-
वत्कर्तव्या । गृहकारैर्वैश्यमेखलाया स्त्रिवृत्तादिधर्मः सुस्पष्टएवोक्तः ॥ ४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मौर्जीमुञ्जत्वकृता त्रिवृत त्रिगुणवलिता समामध्येनिम्नोन्नतशून्या श्लक्ष्णा मृदुस्पर्शा मौर्वीनामौषधिभेदकतावाधनुषि गुणत्वेनापिता अतएवास्यां त्रिवृतेतिनान्वितं ज्यात्वापगमापत्तेः शणतन्तुकृतायांतु त्रिवृत्वमन्वीयतेऽविरोधात् ॥ ४२ ॥

(३) कुल्लूकः । मौर्जीति । मुञ्जमयी त्रिगुणासमगुणत्रयनिर्मिता सुखस्पर्शा ब्राह्मणस्य मेखला कर्तव्या क्षत्रियस्य मूर्वामयी ज्याधनुर्गुणरूपा मेखला । अतोऽज्यात्वविनाशापत्तेस्त्रिवृत्वंनास्तीति मेधातिथिगोविन्दराजौ । वैश्यस्य शणसूत्रमयी । अत्रत्रैगुण्यमनुवर्ततएव त्रिगुणाः प्रदक्षिणामेखलाइति सामान्येन प्रचेतसा त्रैगुण्याभिधानात् ॥ ४२ ॥

(४) राघवानन्दः । मौर्जीति मुञ्जः शरत्वक्त्रिवृतत्रिगुणासमा गुणगतान्यूनातिरिक्तपरिमाणा श्लक्ष्णामृद्धीमौर्वी ज्या मूर्वातृणविशेषः तद्विकृतिः ज्याया धनुषः सैव त्रिगुणा प्रदक्षिणा मेखला भवतीति प्रचेतसोवचनात् मेखलात्रयं तुल्यत्रयाणाम् ॥ ४२ ॥

(५) नन्दनः । त्रिवृत त्रिवृदुणासमा सगुणा श्लक्ष्णा परिघर्षणेन सुखस्पर्शा मूर्वायाविकारोमौर्वीतिज्याविशेषणम् ॥ ४२ ॥

(६) रामचन्द्रः । मुञ्जोद्भवामौर्जीत्रिवृतमेखला समा ग्रन्थिरहिता ब्राह्मणस्य कार्या । क्षत्रियस्य मौर्वीज्या मेखला कार्या । मुरस्तृणविशेषः मुरोद्भवामौर्वीज्या मेखला कार्या । वैश्यस्य शणतान्तवतृणस्य वा मेखलातन्तोःसूत्रस्य वा मेखला कार्या । शणतान्तवमिश्रिता वा कार्या ॥ ४२ ॥

मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तकबल्वजैः ॥ त्रिवृता ग्रन्थिनैके नत्रिभिःपञ्चभिरेव वा ॥ ४३ ॥

(१) मेधातिथिः । आदिशब्द लोपमत्रस्मरन्ति । मुञ्जालाभइति कर्तव्याइति च बहुवचनमुपपन्नतरंभिन्नजाति-
संबन्धितया सुव्यक्तोमेखलाभेदः एकजातिसंबन्धित्वेतुकेवलव्यक्तिभेदालम्बनंबहुवचनंस्यात् । विप्रस्येति च प्रकृतस्य बहुवचनेन परिणामः कर्तव्यः विकल्पश्चैकविषयत्वे स्यात् नच संभवत्यां गतौ विकल्पोयुक्तः तेन मुञ्जालाभेकौशी । कौश्याऽभावेऽश्मन्तकेनशाणानांबल्वजैस्तृणौषधिवचनात्कुशादयः प्रतिनिधिनियमश्चायंकुशाद्यभावेऽप्यन्यन्मुञ्जादिसदृशमु-
पादेयंत्रिवृता ग्रन्थिनैकेन । नायंग्रन्थिसंख्याभेदोवर्णभेदेन । अपि तु प्रत्येकंविकल्पः । कुशादिमेखलास्वप्ययंग्रन्थिभेदो-
धर्मभेदश्चोद्यमानः स्मृत्यन्तरसमाचारस्यानित्यत्वेपि द्रष्टव्यः ॥ ४३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अश्मन्तकाइतिउत्पत्तिः मुञ्जालाभइति विशेषनिर्देशात् मौर्वीशाण्यलाभे क्षत्रियवैश्याभ्यां अन्यःतत्सदृशः प्रतिनिधिः वाचनिकएवोपादेयः केचित्तु प्रतिनिधौ त्रित्वदर्शनात् वर्णक्रमेणान्वयमाहुः । तथा च मुञ्जालाभइत्यादिपदंलुप्तंद्रष्टव्यं सा च मौर्जी त्रिगुणवलिता त्रिवृता कटौ त्रिवर्षेणेन धार्यात्रिभिरपि च वेष्टनैरेकोग्रन्थिः त्रयो-
वा पञ्च वा वाशब्दोविप्रादिक्रमेणान्वयनिरासार्थः । केचित्प्रवरसङ्ख्याव्यवस्थया ग्रन्थिविकल्प इत्याहुः एतच्च प्रति

निधिसंनिधिपात्रेपि मुख्येनाप्यन्वितं तत्रापि ग्रन्थ्यादेरपेक्षितत्वात् वित्तस्य दैव्योपग्रन्थिर्माविशसइति ग्रन्थिरुत्वेति मौघामेव लौगाक्षिस्मरणाच्च ॥ ४३ ॥

(३) कुल्लूकः । मुञ्जालाभेति । कर्तव्याइति बहुवचननिर्देशाद्ब्रह्मचारित्रयस्य प्रकृतत्वान्मुख्यालाभेतिष्वप्यपेक्षायाः समत्वात् । कौशादीनांच तिसृणांविधानान्मुञ्जाद्यलाभइति बोद्धव्यम् । कर्तव्याइति बहुवचनमुपपन्नतरं भिन्नजातिसंबन्धितयेति ब्रुवाणस्य मेधातिथेरपिबहुवचनपाठः संमतः मुञ्जाद्यलाभे ब्राह्मणादीनांत्रयाणांयथाक्रमंकुशादिभित्स्त्वविशेषैर्मैखलाःकार्याः । त्रिगुणेनैकग्रन्थिनायुक्तास्त्रिभिर्वापञ्चभिर्वा । अत्र च वाशब्दनिर्देशाद्ग्रन्थीनां न विप्रादिभिः क्रमेणसंबन्धः किंतु सर्वत्र यथाकुलाचारविकल्पः । ग्रन्थिभेदश्चायंमुख्यामुख्यापेक्षासंभवाद्ब्रह्मीत्यः ॥ ४३ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तमुख्यालाभे यथासङ्ख्यं प्रतिनिधीनाह मुञ्जेति मुञ्जस्य मुञ्जाद्यस्य अलाभे मुञ्जादिवेषीकामिति श्रुतेः मुञ्जं अश्मन्तको मालवतृणमिति नारायणसर्वज्ञः बल्वजइति बगई इतिप्रसिद्धतृणं वा शब्दोत्र यादृच्छि कार्यः तेन खले चालनीन्यायात् ग्रन्थीनांविप्रादिषु न क्रमनियमः यथा कुलाचारव्यवस्था ॥ ४३ ॥

(५) नन्दनः । मुञ्जाग्रहणंमूर्वाशणतन्वोरप्युपलक्षणम् । कुशादयोविप्रादीनांयथासंख्यम् । अश्मन्तकंदारुविशेषः बल्वजस्तृणविशेषः । अञ्जमेखलेत्यनुषज्यते । मेखलानांमुख्यानामनुकल्पोक्तानांचग्रन्थिविकल्पउत्तरार्धेनोक्तः । त्रिवृतात्रिगुणेन । एकेन ग्रन्थिना त्रिभिर्ग्रन्थिभिः पञ्चभिर्वोपलक्षिता । त्रयाणांवर्णानानियमेन ग्रन्थिविकल्पोऽयमुक्तः । नात्रयथासंख्यंवाशब्देन सर्वेषामेकविषयत्वावगमात् ॥ ४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । मुञ्जालाभे ब्राह्मणस्य कुशैःकार्या मेखला । क्षत्रियस्य अश्मन्तकःतृणविशेषस्तस्य वा मेखला कार्या । वैश्यस्य बल्वजैःवा मेखला कार्या । एकेन त्रिवृता मौञ्जी कार्या त्रिभिर्वाग्रन्थिभिःत्रिवृता कार्या पञ्चभिर्ग्रन्थिभिः त्रिवृता वा कार्या ॥ ४३ ॥

कार्पासमुपवीतंस्याद्विप्रस्यौर्ध्ववृत्तंत्रिवृत् ॥ शणसूत्रमयंराज्ञोवैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥ ४४ ॥

(१) मेघातिथिः । उपवीतशब्देन वासोविन्यासविशेषउच्यते । वक्ष्यत्युत्तृते दक्षिणे पाणाविति तच्च धर्म मात्रं तस्य नकार्पासता संभवत्यतोर्ध्वेण यर्मी लक्ष्यतेयस्यासौविन्यासस्तत्कार्पासमुच्यते । अर्शआदित्वाद्वा मत्वर्थीयोकारः कर्तव्यः।उपवीतवदुपवीतमिति । ऊर्ध्ववृत्तंऊर्ध्वादिशंप्रतिवर्त्यते वेष्ट्यते त्रिवृत्त्रिगुणंकर्तनिकाभ्योलब्धसूत्रभावस्यत्रिगुणीकृतवेदमूर्धनि वर्तनंविधीयते । संहृत्य तन्तुत्रयमूर्ध्वेष्टनैव रज्ज्वाकारंरुक्त्वातेनोपवीतंकुर्यात्साचरज्जुरैव धारयितव्यातिसःपञ्चसप्तवा यज्ञसंबन्धाद्धितद्यज्ञोपवीताख्यालभते । यज्ञार्थोयमुद्यतइति भक्त्योपचर्यते तत्रेष्टिपशुसोमानांयज्ञरूपतयैकत्वादेकतन्तुकंक्रियते । अग्नित्रयसाध्यत्वादहीनैकाहसत्रभिदाक्षत्रितन्तुकंसीमसंस्थानांसप्तसंख्यत्वात्सप्तवा तन्तवः त्रीणिसवना नित्रिसंध्येनेति पञ्चसूत्राभावेपि पटादिनापि कर्तव्यम् । स्मृत्यन्तरएवमुक्तं । अविकौ मेषस्तस्य सूत्रंतेन कृतंआविकसूत्रिकंअध्यात्मादित्वाट्ठकृतव्यः । अविकसूत्रिकमिति वा पठितव्यंतत्र च मत्वर्थीयेठना रूपसिद्धिः ॥ ४४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उपवीतं ब्रह्मसूत्रं त्रिवृत् त्रिसूत्रकं तच्चोर्ध्ववृत्तंप्रदक्षिणवलितं तान्यपि सूत्राणि त्रिभिः सूत्रैः कृतानीति स्मृत्यन्तरसिद्धं तानि चाप्रदक्षिणवलितानि सामर्थ्यात् आविकेन सूत्रेण कृतमाविकसूत्रम् ॥ ४४ ॥

(३) कुल्लूकः । कार्पासमिति । यदीयविन्यासविशेषस्योपवीतसंज्ञांवक्ष्यति तद्धर्मब्राह्मणस्य कार्पासंक्षत्रियस्य शणसूत्रमयंवैश्यस्य मेषलोमनिर्मितम् । त्रिवृदिति त्रिगुणंरुक्त्वा ऊर्ध्ववृत्तंदक्षिणावर्तितं एतच्चसर्वत्रसंबध्यते यद्यपि

गुणत्रयमेवोर्ध्ववृत्तमनुनोक्तं तथापि तन्निगुणोरुक्त्य त्रिगुणं कार्यम् । तदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे । ऊर्ध्ववृत्तं त्रिगुणं तन्त्रयमधोवृत्तम् । त्रिवृत्तं चोपवीतं स्यात्तस्यैकोऽग्रन्थिरिष्यते । देवलोप्याह यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्राणि नवतन्त्रवः ॥ ४४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच कार्पासमिति ऊर्ध्ववृत्तपूर्वऊर्ध्वाकारेण वृत्तत्रिगुणितं यत्सूत्रं अधोवृत्तं त्रिवृत्तदेव त्रिवृत्कार्यम् । तदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे ऊर्ध्ववृत्तं त्रिवृत्तं त्रयमधोवृत्तम् । त्रिवृत्तं चोपवीतं स्यात्तस्यैकोऽग्रन्थिरिष्यत इति ॥ अतो नवगुणं प्राप्तम् । तथा च देवलः यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्राणि नवतन्त्रव इति । कार्पासवत्तृणसूत्रादावपि ज्ञेयम् ॥ ४४ ॥

(५) नन्दनः । कार्पासं कार्पासविकारः कार्पाससूत्रमिति यावत् । ऊर्ध्ववृत्तं सव्यहस्ततले विन्यस्य दक्षिणहस्ततले चोर्ध्वमार्वात्तन्मूर्ध्ववृत्तं त्रिवृत्तं दत्तं च शणाविकसूत्रयोरपि प्रत्येकं विशेषणे । आविकसूत्रिकं अविभवं आविकं रोमेति यावत् । सूत्रिकं सूत्रनिर्मितमविरोमसूत्रनिर्मितमित्यर्थः ॥ ४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । विप्रस्य उपवीतं कार्पासं स्यात् । कार्पाससूत्रस्येत्यर्थः । त्रिवृत्तं ऊर्ध्ववृत्तं त्रयं तन्त्रिवृत्तजातं तत्तदधः सकाशात् तत्तन्त्रवगुणं ऊर्ध्वकार्यं उदीच्यानां मतम् । अथ दक्षिणात्यानां मतम् । पूर्वतन्त्रत्रयं अधोवृत्तं अधः सकाशात् उर्ध्वकार्यं तन्त्रिवृत्तं ऊर्ध्वनवगुणं अधः कार्यम् ॥ ४४ ॥

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटरवादि रौ ॥ पैलवौ दुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥ ४५ ॥

(१) मेघातिथिः । सत्यपि द्वन्द्वनिर्देशे गुणविधिष्वेकत्वश्रवणात्केशान्तक इति प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमिति च विकल्पितमेकदण्डधारणं प्रतीयते बैल्वः पालाशो ब्राह्मणस्य दण्ड इति गृह्ये गौतमीये चैकदण्डग्रहणमेवोक्तम् । इह केवला दण्डसत्ता श्रूयते ॥ दण्डानर्हन्ति दण्डग्रहाणते ब्रह्मचारिणां योग्याः कस्यां क्रियायां इत्येतदत्र चोक्तं उत्तरत्र भविष्यति प्रतिगृह्येप्सितमिति । तस्मिंश्च ग्रहणे दण्डस्योपायत्वा द्विवक्षितमेकत्वमत इह द्विवचननिर्देशो देवश्चेद्वर्षेद्वहवः कृषिकुर्युरिति यथा प्रामाण्यवादः बिल्वपलाशवद्वृक्षदिपीलुदुम्बरवृक्षजातिविशेषनामधेयानि । बिल्वस्य विकारो वयवो वा बैल्वः । एवं सर्वत्र दर्शनार्थाश्चैते यज्ञियावा सर्वेषामिति वचनात् । एतान् दण्डान्वक्ष्यमाणे कार्ये अर्हन्ति । धर्मतः शास्त्रतः ॥ ४५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धर्मतः कुलशीलानुरोधेन द्वयोर्द्वयोरन्यतरो बिल्वादिर्यस्य कुले यः परिगृहीत इत्यर्थः । अतएवात्र न विकल्पोऽसर्वगोपि न द्विद्विदण्डसमुच्चयः शङ्क्यः प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमिति वक्ष्यमाणत्वात् औदुम्बरः काष्ठसाहचर्यान् ताश्रमयः ॥ ४५ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मण इति । यद्यपि द्वन्द्वनिर्देशेन समुच्चयावगमाद्धारणमपि समुचितस्यैव प्राप्तं तथापि केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्य इति तथा प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमिति विधावेकत्वस्य विवक्षितत्वात् । बैल्वः पालाशो वा दण्ड इति वासिष्ठे विकल्पदर्शनात् । एकस्यैव दण्डस्य धारणविकल्पितयोरैकब्राह्मणसंबन्धात् समुच्चयो द्वन्द्वेनानूद्यते ब्राह्मणादयो विकल्पेन द्वौ द्वौ दण्डौ वक्ष्यमाणकार्ये कर्तुमर्हन्ति ॥ ४५ ॥

(४) राघवानन्दः । तेषां दण्डानां विधत्ते ब्राह्मण इति । बैल्वपालाशावित्यादिषु द्वन्द्वसाहित्यबोधनेपि विकल्पः । वक्ष्यति प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमिति विधेयगतैकवचननिर्देशात् । बैल्वः पालाशो वा ब्राह्मणदण्डः इति वासिष्ठे विकल्पदर्शनाच्च ॥ ४५ ॥

(५) नन्दनः । अत्र द्वन्द्वनिर्देशेऽपि दण्डानां विकल्प एव विवक्षितः प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमित्येकवचननिर्देशे न वक्ष्यमाणत्वात् । पैल्वलआश्वत्थः । धर्मतः समानधर्मयोगादित्यर्थः । ब्राह्मणो बैल्वदण्डं धर्मतोऽर्हत्युभयोरपि ब्रह्मवर्चससंबन्धसामान्यात् । ब्रह्मवर्चसाधिकरणं ब्राह्मणः । बैल्वस्तु ब्रह्मवर्चसविकारः असौ वाऽऽदित्यो यतोऽजायत ततो बिल्व उदक्षित-

सयोन्येवब्रह्मवर्चसमवरुद्धेइतिश्रुतेः । ब्राह्मणः पालाशंचार्हत्युभयोर्गायत्रत्वात्गायत्रोवै ब्राह्मणः गायत्रः पर्णइति श्रूयते । वाटदण्डक्षत्रियोधर्मतोऽर्हत्युभयोरेकवर्णत्वात् । तदुक्तमैतरेयब्राह्मणेक्षत्रंवाएतद्वनस्पतीनांयन्यग्रोधः क्षत्रवै-
राजस्यइति । क्षत्रियः खादिरंचार्हति धर्मतउभयोर्बलिष्ठत्वसामान्यात् । वैश्यः पैलपलदण्डधर्मतोऽर्हत्यश्वत्थवैश्ययोरोजः
संबन्धसामान्यात् मरुतोवाएतदोजोयदश्वत्थः । मरुतोवैदेवानांविशइतिहिश्रुतेः । वैश्यऔदुम्बरंचार्हतिधर्मतउभयोर-
पि पशुसंबन्धसामान्यात् पशुपालोवैश्यः प्रसिद्धः पशुविकारउदुम्बरः ऊर्कपशवइतिश्रुतेः । पैलवेतिपाठे समानधर्मयो-
गोन्वेष्टव्यः पीलौगुडफलः संसीत्यमरः ॥ ४५ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्विजानांदण्डानाह । ब्राह्मणस्य बैल्वपालाशौ भवनः पालाशस्याभावेबिल्वःबिल्ववृक्षस्य दण्डः-
कार्यः । राज्ञःवाटखादिरौ वटवृक्षस्य वा खदिरवृक्षस्य वा दण्डः । वैश्यस्य पैलवः । पीलुवृक्षोद्भवोवा दण्डःउदुम्बरवृक्ष-
जोवा दण्डः । एतान्धर्मतःधारयितुमर्हन्ति ॥ ४५ ॥

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः ॥ ललाटसंमितोराज्ञः स्यात्तु नासान्तिको
विशः ॥ ४६ ॥

(१) मेधातिथिः । आकारविशेषवचनोदण्डशब्दः दीर्घकाण्डसम्मितायामंदण्डइत्युच्यते । कियत्तस्य दैर्घ्यमित्यपे-
क्षायामाह केशान्तगच्छति प्राप्नोति केशान्तगोमूर्ध्वप्रमाणः पादाग्रादारभ्य मूर्द्धावधिः केशान्तगः केशावाऽन्तोऽस्ये-
ति केशान्तकः समासान्तःककारः प्रमाणतः प्रमाणेनानेन युक्तोदण्डः कार्यः कारयितव्योब्राह्मणस्याचार्येण ललाटसंमितः
ललाटान्तमितः ललाटान्तप्रमाणः ललाटमात्रे चतुरङ्गुलेन मीयमानस्य दण्डशब्दवाच्यत्वाभावादेवंव्याख्यायते पादाग्रादा-
रभ्य यावल्ललाटान्तप्राप्तः । एवंविशोवैश्यस्य नासान्तगइति ॥ ४६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । केशाएवान्तोद्वच्छेदोयस्य ललाटेपरिस्थकेशपर्यन्तइत्यर्थः ललाटसंमितो ललाटा-
दधोमितः ॥ ४६ ॥

(३) कुङ्कुमः । केशललाटनासिकापर्यन्तपरिमाण क्रमेणब्राह्मणादीनांदण्डाः कर्तव्याः ॥ ४६ ॥

(४) राघवानन्दः । दण्डानांपरिमाणमाह केशेति । केशान्तगइति मेधातिथिः । केशान्तश्च मूर्धावधिःब्रह्मरन्ध्र-
मिति यावत् । केशान्तिकइति पाठेपि सएवार्थः ॥ ४६ ॥

(५) नन्दनः । ललाटसंमितः ललाटान्तिकः ॥ ४६ ॥

(६) रामचन्द्रः । दण्डस्य प्रमाणमाह । ब्राह्मणस्य दण्डःप्रमाणतःकेशान्तिकःकार्यः । राज्ञः दण्डःललाटसंमितः-
ललाटपर्यन्तउक्तः । विशःवैश्यस्यदण्डः नासान्तिकःनासिकापर्यन्तस्यात् ॥ ४६ ॥

ऋजवस्तेतु सर्वेस्युरव्रणाःसौम्यदर्शनाः ॥ अनुद्वेगकरानृणांसित्वचोनग्निदूषिताः ॥ ४७ ॥

(१) मेधातिथिः । ऋजवः अवक्राः सर्वे इत्यनुवादः प्रकृतत्वाविशेषात् । अव्रणाअच्छिद्राः सौम्यंप्रियंकरं दर्शन
मेषान्ते सौम्यदर्शनाः वर्णपरिशुद्धाः । अकण्टकिताश्च अनुद्वेगकराः नैतैःकश्चिदुद्वेजयितव्यः श्वा वा मनुष्योवा नृणामिति
प्रदर्शनार्थः । सत्त्व च अतष्टाः अनग्निदूषिताः वैद्युतेन दावोत्थेन वाऽस्पृष्टाः ॥ ४७ ॥

(४६) केशान्तिको=केशान्तगो (मेधा) । एवं नासान्तगइति ।

(२) सर्वज्ञनारायणः । अव्रणामध्ये काष्ठभागे छेदशून्याः सौम्यदर्शनाभयहेतवः अनुद्वेगकरानिम्नितादि-
दोषेणाधृत्यहेतवः नाग्निदूषिता अग्निसंबन्धेन भ्रष्टपूर्वरूपाः ॥ ४७ ॥

(३) कुल्लुकः । ते दण्डाव्रणाअक्षताः शोभनदर्शनाः सवलकला अग्निदाहरहिता भवेयुः ॥ ४७ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच ऋजवदति ऋजुताऽवक्रता अव्रणाः छिद्ररहिता अनुद्वेगकरा नातिस्थूलाः ॥ ४७ ॥

(५) नन्दनः । ते दण्डाः ॥ ४७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अग्निदूषिता दण्डा न कार्याः न व्रणाः ॥ ४७ ॥

प्रतिगृह्येप्सितंदण्डमुपस्थायच भास्करम् ॥ प्रदक्षिणंपरीत्याग्निचरेद्वैक्षं यथाविधि ॥ ४८ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रावृतेषु चर्मसु मेखलाबन्धनं कर्तव्यम् । आवध्यमेखलामुपनयनं कर्तव्यं कृतेचोपवीते दण्डग्र-
हणंदण्डं गृहीत्वा भास्कर आदित्य उपस्थेयः अभिमुखं स्थित्वाऽऽदित्यदैवतैरभिधानमादित्यस्य कर्तव्यं गृह्यान्मन्त्रावगमः
अन्या चेति कर्तव्यता ततएव यत्सर्वसाधारणं तदिहोच्यते प्रदक्षिणंपरीत्य सर्वतो गत्वाग्निचरेत्कुर्यात् । भैक्षं भिक्षाणां समूहो-
भैक्षंतच्चेद्याचेत यथाविधीति वक्ष्यमाणविध्यनुवादः भिक्षाशब्देन स्वल्पपरिमाणं भक्ताद्युच्यते ॥ ४८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ईप्सितं उपनयनकाल एव नियतत्वेन परिगृहीतजातीयं मध्ये विजातीयं ग्रहणनि-
षेधार्थमेतत् उपस्थाय सौरैर्मन्त्रैः परीत्य वेष्टयित्वा त्रयमप्येतत्तु भिक्षाङ्गं यथाविधिवक्ष्यमाणविधिना ॥ ४८ ॥

(३) कुल्लुकः । न च तैः प्राणिजातमुद्वेजनैयमित्याह प्रतिगृह्येप्सितमिति । उक्तलक्षणं प्राप्तुमिष्टंदण्डं गृहीत्वाऽऽ-
दित्याभिमुखं स्थित्वाग्निप्रदक्षिणीकृत्य यथाविधि भैक्षं याचैत् ॥ ४८ ॥

(४) राघवानन्दः । भास्करोपस्थानं भिक्षायाः पूर्वकालेपीत्याह उपस्थायेति । परीत्याग्निं अग्निपरिक्रम्य प्रद-
क्षिणं यथास्यात्तथा न सव्यापसव्येन भिक्षेत भैक्षं भिक्षासमूहः ॥ ४८ ॥

(५) नन्दनः । वैकल्पिकयोरीप्सितम् । भिक्षैव भैक्षं भिक्षायाश्चाचरेत्कुर्यात् । ब्रह्मचारीतिशेषः । केचिदेत-
द्वैक्षाचरणमुपनयनाङ्गमादुरन्येतु नित्यम् । नित्यपक्षे भास्करोपस्थानमग्निप्रदक्षिणंचान्हिककर्मापलक्षणम् ॥ ४८ ॥

(६) रामचन्द्रः । ईप्सितंदण्डं यथोक्तंदण्डं गृह्य भास्करमुपस्थाय कस्य ब्रह्मचारिण इति उपस्थाय अग्निप्रदक्षिणंप-
रीत्य कृत्वा यथा विधिवद्वैक्षं चरेत् ॥ ४८ ॥

भवत्पूर्वचरेद्वैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः ॥ भवन्मध्यंतु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥ ४९ ॥

(१) मेधातिथिः । भिक्षा प्रार्थनावाक्यमत्र वैश्यव्देनोच्यते । तस्य हि भवच्छब्दपूर्वता संभवति । भक्तदेरनस्य
स्त्रीणांच प्रथमं भिक्षमाणतयोपदेशात्प्रार्थनायां च प्रार्थ्यमानस्य संबोध्यत्वात्संबुद्धिविभक्त्यन्तः स्त्रीलिङ्गो भवच्छब्दः प्रयो-
क्तव्यः क्रमएव चात्रादृष्टाऽर्थोनियम्यते यथार्थं शब्दप्रयोगो भवति भिक्षादेहीति कुतः पुनः संस्कृतशब्दार्थलाभः याव-
नास्त्रियः संबोध्यन्तेताश्च संस्कृतं नावबुध्यन्ते । नित्यमुपनयनंतस्य च शब्दोच्चारणमङ्गत्वेनोक्तमिति नित्याश्चापभ्रंशाः
न तैर्नित्यस्य संयोग उपपद्यते । तथैव च शिष्टाअसाधुरुपश्रुत्यैकदेशसादृश्येन साधून्संस्मृत्यार्थप्रतियन्त्यसाधुरनुमानेन
वाचक इति दर्शनेन गाशब्दो हि सादृश्याद्गोशब्दमनुमापयति । ततोर्थज्ञतिपत्तैर्वस्त्रियः सादृश्यादसाधुभ्यः साधून्तुप-
नसंबन्धात्समृत्वातेभ्योर्थप्रत्येप्यन्ति । त्वल्पाक्षरंचैतत्पदत्रयं सर्वत्र प्रसिद्धं स्त्रीभिरपि सुज्ञानं । एवं भवन्मध्यं क्षत्रियः भिक्षां-
भवति देहीति । तथा वैश्यो भवच्छब्द उत्तरमस्येति भवदुत्तरं वाक्यं समासार्थः । उपनीत इति भूतप्रत्ययनिर्देशादान्वहिके
पिवृत्त्यर्थं भैक्षचरणेऽयमेव विधिरिति दर्शयति । एषोक्तो हि द्विजातीनामौपनायनिक इत्यत्रोपनयनमकरणमुपसंहरन्नु-

पनयनाङ्गस्यापि भैक्ष्यस्यायमेव विधिरित्याह । अन्यथाकरणादुपनयनाङ्गमेवेतत्स्याद्यदिवा न प्रत्ययसामर्थ्यात्प्रकरणं-
बाधित्वा वृत्त्यर्थएव भैक्ष्यउपनीयमानस्यतदङ्गयद्वैभ्यश्चाहरहर्वृत्त्यर्थतत्र सर्वत्रायं धर्मः ॥ ४९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चरदिति याञ्चालक्षयति । अतःकर्मभिर्भैक्षमिति तेन भिक्षां देहीति वाक्यरचनार्थसि-
द्धा तस्य वाक्यस्यादिमध्यान्तेषु वर्णक्रमेण सगौरवसंबोधनार्थं भवत्पदकार्यमिति विधियुते तच्च संबुद्ध्यन्ते सामर्थ्यात्
स्त्रीप्रत्ययवच्च तासामेव भिक्षाप्रार्थनविषयतया विधानात् तेन भवति भिक्षां देहीत्यादि प्रार्थनावाक्यम् ॥ ४९ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणो भवति भिक्षां देहीति भवच्छब्दपूर्वभिक्षायाचनवाक्यमुच्चारयेत् । क्षत्रियो भिक्षां भवति देहीति
भवन्मध्यं । वैश्यो भिक्षां देहि भवतीति भवदुत्तरम् ॥ ४९ ॥

(४) राघवानन्दः । माथमिकभिक्षाङ्गभूतसंबोधनपदस्य स्थाननियमयनूतदात्रीराहृद्वाभ्यां । भवत्पूर्वमिति ।
भवति भिक्षां देहि भिक्षां भवति देहि भिक्षां देहि भवतीत्येवंप्रयोगः ॥ ४९ ॥

(५) नन्दनः । यथाविधीतयदुक्तं तदाह भवदिति । भवच्छब्दमुपनयनाङ्गत्वेनोक्तोप्ययं भिक्षाचरणविधिः सार्व-
त्रिकः प्रत्येतत्त्वः ॥ ४९ ॥

(६) रामचन्द्रः । उपवीतो द्विजोत्तमः कृतयः ञ्जोपवीतः भवत्पूर्वभैक्ष्यंचरेत् । राजन्यः भवन्मध्यंचरेत् । वैश्यः भवदुत्त-
रं भैक्ष्यं कार्यं । तद्यथा ब्राह्मणः ॐ भवति भिक्षां देहीति उच्चरेत् । क्षत्रियः भिक्षां भवति देहीति उच्चरेत् । भिक्षां देहि भवती
त्येवं वर्णक्रमेण ज्ञेयम् ॥ ४९ ॥

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम् ॥ भिक्षेत भिक्षां प्रथमं याचैनं नावमानयेत् ॥ ५० ॥

(१) मेधातिथिः । मात्रादयः शब्दाः प्रसिद्धार्थाः निजासोदर्यायाचैनं विमानयेत् । विमानना अवज्ञानं नदीयतइति
प्रत्याख्यानं । तथा च गृह्यं । अप्रत्याख्यायिनमग्रे भिक्षेताप्रत्याख्यायिर्नावेति । तदेव हि मुख्यंप्राथम्यं यदुपनीयमानस्या
हरहस्तु न विमानना भयमाश्रयणीयम् ॥ ५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवंच गुरोःकुले न भिक्षेतेत्यादिर्वैक्ष्यमाणनिषेधस्यापवादः अतस्तत्रापि गुरुपदमाचार्य
परमेव तेन पितुराचार्यपरत्वेपि तद्गृहभिक्षणं न निषिद्धं निजांसोदरीं भिक्षेत याचेत प्रथमतो भिक्षारम्भेनित्यं याचैनमि-
त्यवशिष्टेपि स्त्रीलिङ्गनिर्देशात् स्त्रीष्वेव भैक्षचरणम् ॥ ५० ॥

(३) कुल्लूकः । उपनयनाङ्गभूतां भिक्षां प्रथमं मातरं भगिनीं वा मातुर्वा भगिनींसोदरां याचेत् । याचैनं ब्रह्मचा-
रिणंप्रत्याख्यानेन नावमानयेत् पूर्वासंभवउत्तरापरिग्रहः ॥ ५० ॥

(४) राघवानन्दः । अप्रत्याख्यायिर्नाचाग्रे भिक्षेतेति गृह्योक्तेः । अतो मातं प्रथमं भिक्षेत निजांसोदरां याचैनं
विमानयेत् नतिरस्क्रियात् । विमानितो बालो ब्रह्मचर्यव्रते शुद्धः स्यादिति भावः ॥ ५० ॥

(५) नन्दनः । पूर्वस्त्रियमेवानुमत्तय भिक्षेत न पुमांसमित्याह मातरमिति । विमानना प्रत्याख्यानम् भिक्षानि-
यमोऽयं प्रथमभिक्षाविषयः । देवयज्ञैरहीनानामित्यादिना द्वितीयादौ नियमवंक्ष्यति ॥ ५० ॥

(६) रामचन्द्रः । निजां भगिनीं भिक्षां भिक्षेत याचेत् य एवं ब्रह्मचारिणं न विमानयेत् न अवमानयेत् ॥ ५० ॥

समादृत्य तु तद्भैक्षं यावदन्नममायया ॥ निवेद्य गुरवेश्रीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥ ५१ ॥

(१) मेधातिथिः । समादृत्येति शब्दो बह्वीभ्य आहरणं दर्शयति । नैकस्याः सकाशाद्बहुव्योपहीतव्याः । तदिति

(५१) यावदन्नं = यावदर्थं (मेधा०)

यस्यानन्तरंशब्दसंनिधिर्वृत्यर्थस्य नप्राकरणिकस्योपनयनाङ्गस्य । तस्यहिगृह्यकारै रनुप्रवचनीयं श्रपयेदिति विहितं न भोजनंतिष्ठेदहः शेषमितिच कृतप्रातराशस्य चोपनयनं अतो नोपनयनाङ्गंभैक्षभोजनं । यावदर्थं यावता भैक्ष्येण तृष्णा-
ख्यप्रयोजननिवृत्तिः न बहुभिक्षितव्यममाययानिवेद्य गुरवे न कदन्नेन संस्कृतमन्नं प्रच्छाद्य कदन्नंगुरोः प्रकाशयेत् । तदन्नं किल एषनग्रहीष्यतीत्यनया बुद्ध्यानिवेदनमिदंप्राप्तमिति प्रकटीकरणम् । अगृहीते गुरुणानुज्ञातोनाश्रीयात् । कथंपुन-
र्निवेदनमदृष्टसंस्कारार्थमेव न भवतीतिहासप्रामाण्यात् तथाच भगवान्च्यासः । स्त्रितकूपाख्याने गुरुणा गृहीतमिति दर्शित-
वान् । अनुज्ञातोभुञ्जीतेति यत्कचिच्छूयते । आचम्य प्राङ्मुखः आचमनेप्राङ्मुखतेयमानन्तर्यादिति केचित्तदयुक्तम् । प्रागुद-
ङ्मुखइत्याचमनेदिङ्मियमोभविष्यति तस्माद्भोजने नैवसंबन्धः शुचिश्चाण्डालादि दर्शनमशुचिदेशाक्रमनिषीवनादिकृता-
चमनस्य भोजनकालेऽनेन निर्वाह्यते ॥ ५१ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । यावदर्थंयावत् स्वोपयुक्तांअमायया प्रतारणाद्यकृत्वा निवेद्य उपदर्श्यप्राङ्मुखआचम्येति भोजनाङ्गाचमनउदङ्मुखतानिवृत्तिः न तु प्राङ्मुखोश्रीयादित्यर्थः तद्यच्चात्राचमनंनित्यतःप्राङ्मुखत्वंच विधीयतइत्याहुः शुचिःकृतसम्यक्शौचो नाप्रयतः गृहस्थस्य भोजने प्राक्प्रत्यङ्मुखतारूपदिङ्मियमः स्मृत्यन्तरसिद्धोमनोरप्यभिमतएव तस्यापि श्रुतिमूलत्वात् तथा च तादृङ्मियमोब्रह्मचारिणो नास्तीत्येतदर्थः ॥ ५१ ॥

(३) कुङ्कुमः । तद्भैक्ष्यंबहुभ्यआहृत्य यावदन्नंतृप्तिमात्रोचितंगुरवे निवेद्य निवेदनंकृत्वा ऽमायया न कदन्नेन सदन्नंप्रच्छाद्यैवमेतदुत्तर्यहीष्यतीत्यादिमायाव्यतिरेकेण तदनुज्ञातआचमनंकृत्वा शुचिःसन्भुञ्जीत प्राङ्मुखः ॥ ५१ ॥

(४) राघवानन्दः सायंतनादिसंचयपुरःसरंगुरवे निवेद्यैव भुञ्जीतेत्यादिनियममाह समाहृत्येति अमायया नि-
वेद्य जुषदन्नेन सदलंप्रस्थायान्यत्र स्थापयित्वा वा किंचिन्निवेदयेदिति । अष्टौग्रासामुनेःप्रोक्ताःषोडशारण्यवासिनः । द्वा-
त्रिंशन्तु गृहस्थस्य यथेष्टंब्रह्मचारिणइति ॥ ग्रासनियमाभावपरं नतु बहुवारपरंततउक्तंयावदर्थंयावतोदरपरिपूर्तिस्तथान्ना-
द्यादन्नंतथान्तरेति वक्ष्यति तेन भोजनद्वयम् ॥ ५१ ॥

(५) नन्दनः । भैक्षाभिक्षासमूहम् । यावदर्थंयावन्मृष्टाशनम् । अमायया रागद्वेषपरित्यागेन । गुरवे निवेद्य गुरुम-
नुज्ञाप्येत्यर्थः । गुरुनिवेदनंचभिक्षासंस्कारार्थम् ॥ ५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । यावदर्थंयावत्अर्थप्रयोजनंततुभैक्ष्यंअन्नंसमाहृत्यआनीयअमायया गुरवे निवेद्य तदाज्ञया गुरोः-
आज्ञयाऽऽचम्य प्राङ्मुखःसन्नश्रीयात् ॥ ५१ ॥

आयुष्यंप्राङ्मुखोभुङ्क्षेयशस्यंदक्षिणामुखः ॥ श्रियंप्रत्यङ्मुखोभुङ्क्षेत्क्रतंभुङ्क्षेद्युदङ्मुखः ॥ ५२ ॥

[सायंप्रातर्द्विजातीना मशनंसंस्मृतिनोदितम् ॥ नान्तरेभोजनंकुर्यादग्निहोत्रसमोविधिः ॥ १ ॥ +]

(१) मेधातिथिः । निष्कामस्य प्राङ्मुखस्य भोजनंविहितंनित्यतयेदानींकाम्याविधयउच्यन्ते । आयुषे हितं-
आयुष्यंप्राङ्मुखोभुङ्क्षेदिति । यदि तद्भोजनादायुः प्राप्यते ततआयुष्यंतद्भवति तेनायमर्थः संपद्यते । आयुष्कामः प्राङ्मुखो
भुञ्जीतअधिकारद्वयंप्राच्यानित्यंकाम्यंच । आयुष्कामः फलमभिसंदधीतइतरस्तु न तथेति यथा नित्यमग्निहोत्रंस्वर्गकामस्य
चा सकृत्प्रयोगात्तन्नेण फलकामस्य नित्योप्यधिकारोनिवर्तते । एवंयशः कामोदक्षिणामुख इमे काम्याएवविधयः । श्रि-
यमिच्छन्श्रियं नकयजन्ताच्छता कृतः श्रियैर्हितंवा श्रियमिति मकारान्तः पाठः । आयुष्यादिवत्प्राण्यङ्गत्वात्स्वार्थं भुजिर्व-
र्तते यथार्तंभुङ्क्षेदिति श्रियंभोजनात्प्राप्नोतीति तथा च द्वितीयान्तः पाठः श्रियमिति । तादर्थ्यं वाचतुर्थी श्रियै प्रत्यगिति । ऋतं-

† (ख, ट) । परंतु (ग) पुस्तके स्मृतिनोदितमित्यस्यस्थानेश्रुतिनोदितमिति वर्तते ।

सत्यंयज्ञश्च तत्फलंवा स्वर्गः स्वर्गकामउदङ्मुखोभुञ्जीत । अन्तरेणापि विधिप्रत्ययमप्राप्तत्वाद्विध्यर्थावगतिः पञ्चमलकारादिकल्पनया । एवमेतद्विग्विभागेन भोजनफलविशेषार्थं । विदिग्भोजनन्तर्वर्धप्राप्तं नित्येन प्राङ्मुखतानियमेनोपपद्यते । अयंच काम्योविधिर्नब्रह्मचारिणएव भैक्ष्यभोजनविषयोऽपि तुगृहस्थादीनामपि भोजनमात्राश्रितः तथा चाश्रीयादितिप्रकृते भुंक्त-इत्याख्यातान्तरनिर्देशोल्लिङ्गमितरथाश्रीयादिति यतोनिःसंदिग्धा प्रकृतविषयता प्रतीयते । तदेवनिरदैक्ष्यत् । भुङ्क्तेति तु निर्देशे किंप्रकृतएवार्थःशब्दान्तरेण निर्दिष्टउतशब्दार्थतया भोजनमात्रमिति संदेहआख्यातावृत्तावर्थान्तरावगतिर्नप्रकृतप्रत्यभिज्ञानमेव । यत्तु विधिप्रत्ययाभावादर्थवादएवायंपूर्वशेषइति चोक्तः परिहारवचनानि त्वपूर्वत्वादिति नच पूर्वैकवाक्यता हेतुर्विभज्यमानसाकाङ्क्षत्वादिरस्ति । यद्यप्युत्तरेषांचैतदवरोधीत्यनेनातिदेशेन ब्रह्मचारिधर्मोपि पुरुषमात्रविषयः स्यात्फलंतु नस्याद्गुणकामनायां हि नातिदेशात्प्रवृत्तिमनुमन्यते । गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत् । खादिरंवीर्यकामस्येति विकृतिषु नेष्यते कैश्चित् ॥ ५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सर्वासुदिक्षुफलानिदर्शयति आयुष्यमिति । यत्भुंक्ते तदायुष्यमायुषोहितमिति योज्यं यदुदङ्मुखोभुंक्ते तत्श्रियंभुक्तइत्यावर्तनीयं एवमृतमित्यत्रापि ऋतंयज्ञःसत्यंवा ॥ ५२ ॥

(३) कुड्मूकः । इदानींकाम्यभोजनमाह आयुष्यमिति । आयुषे हितमन्त्रप्राङ्मुखोभुङ्क्ते आयुःकामःप्राङ्मुखोभुङ्क्तेत्यर्थः । यशसे हितंदक्षिणामुखः श्रियमिच्छन्प्रत्यङ्मुखः ऋतंसत्यंतत्फलमिच्छन्नुदङ्मुखोभुञ्जीत ॥ ५२ ॥

(४) राघवानन्दः । प्राङ्मुखइत्युक्तंतत्र गोदोहनन्यायेन गुणफलंविधास्यन्नाह । आयुष्यमिति । चमसेनापःप्रणयेद्गोदोहनेन पशुकामस्यइत्यत्र श्रुतौ यथा चमसमुपलक्षणीकृत्य गोदोहनप्रवेशेन पशुफलमेवंभोजनमाश्रित्य प्राङ्मुखत्वमुपलक्षणीकृत्य दक्षिणामुखादिप्रवेशोयथोक्तफलाय आयुष्यमायुषेहितंतेनायुःकामःप्राङ्मुखोश्रीयादिति । एवमन्येन श्रियं श्रियमिच्छन् ऋतंसत्यमिच्छन् विदिग्भोजनंतुप्राङ्मुखत्वनियमेन निरस्तम् ॥ ५२ ॥

(५) नन्दनः । अथकाम्यभोजनविधिमाहआयुष्यमिति । प्राङ्मुखोयदन्नंभुङ्क्तेतदायुष्यंतदायुष्करमित्यर्थः । दक्षिणामुखोयद्भुङ्क्तेतद्यशस्यंयशस्करमित्यर्थः । पश्चान्मुखोयद्भुङ्क्तेतच्छ्रियंश्रीकरमित्यर्थः । उदङ्मुखोयद्भुङ्क्तेतद्वृत्तिनिमित्तंसत्यवादित्वनिमित्तमित्यर्थः ॥ ५२ ॥

(६) रामचन्द्रः । ऋतंसत्यंउदङ्मुखःसन्भुंक्ते । एतद्भोज्यंकाम्यपरम् ॥ ५२ ॥

[रामचन्द्रः । सायमिति अन्तरेदिवसमध्येभोजनं न कुर्यात् अग्निहोत्रसमोविधिः ॥ १ ॥]

उपस्पृश्य द्विजोनित्यमन्नमद्यात्समाहितः॥ भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यग्द्विः खानि च संस्पृशेत्॥५३॥

(१) मेधातिथिः । आचमनोपस्पृशतिशब्दौ समानार्थौशुद्ध्यर्थसंस्कारविशेषवचनौ शिष्टव्यवहारादवगम्येते यद्युपस्पृशतिरर्थान्तरे पठितश्चमिरप्यदनमात्रे तथापि विशेषएव सोपसर्गयोः प्रयोगदर्शनात्तदर्थतैव प्रतीयते । स्पृशेः सामान्यविषयत्वेऽपि प्रयोगोनियामकोगडिर्वदनैकदेशे पठ्यते । सच कपोलएव गण्डइति प्रयुज्यते । नैकदेशान्तरे पुण्यसिद्धयौ नक्षत्रमात्रे पठ्येते विशेषे च वर्तते । धाम्याशब्दः सामिधेनीमात्रे पठ्यते । आवापिकीषु च वर्तते । अतोपएवाचम्येत्यर्थः । सएवोपस्पृश्येति सचपरस्ताद्विधायिष्यते । सामानाधिकरण्यंचानयोर्दृश्यते नित्यकालमुपस्पृशेदित्यभिधाय त्रिराचमेदित्याहातःसमानार्थउक्तेप्याचम्येति भोजनार्थतयाऽऽचमने पुनर्वचनमानन्तर्यार्थमनन्तरमेवभुञ्जीत न व्यापारान्तरेण व्यवदधीत । तथा च भगवान्यासः पञ्चाद्रौभुञ्जतेनित्यंतेषु वत्स्याम्यहंहरेः॥ श्रीः किलैवमाह । द्वौ हस्तौ द्वौचपादावास्यंच एषापंचार्द्रतायाचोपस्पर्शनानन्तरंभुञ्जानस्य भवति न विलम्बमानस्य । इहापि वक्ष्यत्यार्द्रपादस्तु भुञ्जीतेति स्नातकव्रतेषु

तस्यापौनरुक्त्यं वक्ष्यामः। नित्यग्रहणंप्रकरणाद्ब्रह्मचारीधर्मभोजनतामाविज्ञायि भोजनमात्रधर्मोयथास्यादुपदेशतएव। अत्र द्विजग्रहणंभोक्तृमात्रधर्मार्थचाहुः नित्यग्रहणंचानुवादनंते सम्यगन्यन्ते। यदिद्विजशब्दः प्रकृते ब्रह्मचारिणि न समाविशे-
न्तदा स्यादपि। यदा तु तस्याप्येतदभिधानंतदा नान्तरेण नित्यग्रहणंप्रकरणबाधोपलभ्यते समाहितः भुज्यमानंद्रव्यत्वा-
त्मशक्तिंचावेक्षमाणोन्यचेतस्कस्यहि गुरुविरुद्धवादादिवर्जनं स्वात्म भोजनंच नस्याद्भुक्ता चोपस्पृशेत् स्नेहादिलेपापनयन-
द्रव्यशुद्धावुक्तं कृते तस्मिन्भुक्तवतइदमाचमनंविधीयते। अत्र केचिन्न्यन्तेशुद्ध्यर्थमेकमाचमनंसुस्वाशुत्वा च भुक्त्वाचेति।
अनेनादृष्टार्थद्वितीयकर्तव्यम्। एवंच पश्यतेआचान्तःपुनराचमेदिति। एतत्पञ्चमे स्थापयिष्यामः सम्यगिति वैधतामाच-
नपदार्थस्यानुवदति यादृशोविधिरुक्तस्तंसर्वमनुतिष्ठेदद्भिः खानिचसंस्पृशेत् खानि छिद्राणि शीर्षण्यानि ननु चैतदुक्तमेव
खानि चैव स्पृशेदद्विरिति। आत्मशिरसोर्व्यावृत्त्यर्थमिति केचित्। यदा शुचिःसन्नभोजनार्थतयैवाचामति। येषांच भो-
जनोत्तरकालमेकंशुद्ध्यर्थमाचमनमपरमदृष्टार्थतत्रादृष्टार्थात्मशिरसी नस्पृश्येते शुद्ध्यर्थतु तादृशमुत्पन्नंतस्य संपूर्णाङ्गस्यप्र-
योगोवक्ष्यते शौचेप्सुःसर्वदाचामेदिति यदिवा विधिप्रत्यभिज्ञानार्थशास्त्रीयमेतदाचमनं नलौकिकमिति। ज्ञानाङ्गविशेषसंबन्ध-
स्यतदङ्गिनिर्देशेतदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञानसिद्धिः। अतश्च यत्राचामेदिति श्रुतं तत्र नयस्य कस्यचिद्रव्यस्य भक्षणमात्रंप्रती-
यते किंतिहि शास्त्रीयस्यसंस्कारस्य सपरिकरस्येति यदुक्तंतर्द्दशितंभवति ॥ ५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः। समाहितः वैश्वानरोपासनादिरूपचित्तसमाधिमान् भुक्त्वाचोपस्पृशेदाचामेत् तथाप्रा-
णादि क्रियाशक्त्यधिष्ठानदेवतानामाप्यायनस्यप्राणाहुतिभिः कृतत्वात् बुद्धिशून्यात्मकबुद्धीन्द्रियाधिष्ठानदेवतानां आ-
प्यायनार्थं खानि बुद्धीन्द्रियाधिष्ठानछिद्राण्यद्भिः सहितेन हस्तेनोपस्पृशेदित्याचमनाङ्गं स्वस्पर्शनादन्यत् भोजनाङ्गमेत-
द्विहितं आचमनाङ्गंतु वक्ष्यति। एतच्चोपस्पृशेत्यादि गृहस्थादीनामपीति कथयितुं नित्यमित्युक्तं सर्वदायावज्जीविमि-
त्यर्थः ॥ ५३ ॥

(३) कुट्टूकः। निवेद्यगुरवेऽश्रीयादाचम्येति यद्यपि भोजनात्प्रागाचमनंविहितंतथाप्यद्भिःखानि च संस्पृशे-
दिति गुणविधानार्थोऽनुवादः। नित्यंब्रह्मचर्यानन्तरमपि द्विजआचम्यानंभुञ्जीत। समाहितोऽनन्यमनाः। भुक्त्वा
चाचामेदिति सम्यग्यथाशास्त्रेन। प्रक्षाल्य हस्तौ पादौ च त्रिःपिबेदम्बुवीक्षितंइत्यादि दक्षाद्युक्तमपि संगृह्णा-
ति। जलेन खानीन्द्रियाणि षष्टिद्राणिच स्पृशेत्। तानि च शिरःस्थानि घ्राणचक्षुःश्रोत्रादीनि ग्रहीतव्यानि। खानि
चोपस्पृशेच्छीर्षण्यानीति गोतमवचनात्। उपस्पर्शनंकृत्वा खानि संस्पृशेदिति पृथग्विधानात् त्रिरवभक्षणमात्रमाचमनं-
स्वस्पर्शनादिकमितिकर्तव्यता इति दर्शितम् ॥ ५३ ॥

(४) राघवानन्दः। आचम्येत्युक्तंतदनुष्ठानंज्ञापयन्तत्करणकालंभोजननियमंसार्ववादंचाह उपस्पृशेदिति द-
शभिः। उपस्पृशेदाचामेत् वामहस्तस्थाभिरद्भिःसम्यक्क्यथाशास्त्रंखानि शीर्षण्यानीन्द्रियाणि चकाराद्धृदयशिरसी ॥ ५३ ॥

(५) नन्दनः। उपस्पृश्याचम्य नित्यमाश्रमान्तरेऽपि। समाहितोऽनन्यपरः। खानि नेत्रादीनि। अद्भिः
सह ॥ ५३ ॥

(६) रामचन्द्रः। द्विजः अपउपस्पृश्य आचम्य अन्नं अद्या दक्षयेत्। भुक्त्यनन्तरंअपउपस्पृशेत्आचामेत् अ-
द्भिःजलैःखानि छिद्राणि मुखनासिकादीनि संस्पृशेत् ॥ ५३ ॥

पूजयेदशनंनित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन् ॥ दृष्ट्वा तृप्येत् प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥ ५४ ॥

(१) मेधातिथिः। अश्वतइत्यशनंभक्तसत्कुपूपाद्युच्यते। तदशनार्थमानीतंदेवतारूपेण पश्येत्। एषा वै परमा-

देवता यदन्नन्तस्य सर्वेषां । भूतानांसृष्टत्वेन स्थितिहेतुतया च यदर्शनंसास्य पूजा । अथवा प्राणार्थत्वेन भावनंध्यानं-
यजन्मतदर्थत्वंसंपूजयतिमांसदेति नमस्कारादिना वा प्रणम्य ग्रहणंपूजा । अद्याच्चैतदकुत्सयन् । कदन्तया दुःसंस्कारो-
पग्रहणेन वा कुत्साहेतु संभवे नान्नकुत्सयेत् । किमिदमश्र्यते । अरुचिकरंधातुवैषम्यजनकमित्येवमादिनाभिधानेन
नाक्षिपेत् । यदि तु तद्रूपंभवति तदा नाद्यान्नकुत्सयन्द्यादृष्टैव दृष्ट्येत् । पुत्ररूयादिसंदर्शनेन चिरप्रवासंप्रत्यागतइव तुष्येत
प्रीयेत प्रसीदेच्च निमित्तान्तरजमपि कालुष्यमन्नदर्शनेन हित्वा मनःप्रसादमाश्रयेत् । प्रतिनन्देच्च समृद्ध्याशंसनंप्रतिनन्दनं
नित्ययुक्ताण्ये नस्यामेत्यादरोपदर्शनमभिनन्दनंसर्वशः सर्वदा । अन्यतरस्यामिति व्यवस्थितविभाषाविज्ञानात्समम्यर्थे
शसकृत्वः । सर्वदेति वा पठितव्यम् ॥ ५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पितुनुस्तोषमित्यादिमत्तैरत्र स्तुतिः पूजाअकुत्सयन् विरसमेतदन्नमित्याद्यन्नवदन् दृष्ट्ये-
त्सन्तोषंकुर्यात् प्रसीदेदुतान्न द्वेषोपि पूर्वतदेतन्निवर्तयेत् प्रतिनन्देत् प्रीतिद्योतकवचनान्युच्चारयेत् ॥ ५४ ॥

(३) कुड्मकः । सर्वदाऽन्नपूजयेत् प्राणार्थत्वेन ध्यायेत् । तदुक्तमादिपुराणे अन्नंविष्णुः स्वयंप्राहइत्यनुवृत्तौ ।
प्राणार्थं मांसदाध्यायेत्समांसपूजयेत्सदा । अनिन्दंश्चैतदद्यात्तुदृष्ट्यादृष्ट्येत्प्रसीदेच्चैति ॥ हेतुवन्तरमपि खेदमन्नदर्शनेन त्यजेत्
प्रतिनन्देत् । नित्यमस्माकमेतदस्त्वित्यभिधायवन्दनंप्रतिनन्दनम् । तदुक्तमादिपुराणे अन्नंदृष्ट्याप्रणम्यादौ प्राञ्जलिःकथये-
त्ततः । अस्माकंनित्यमस्त्वेतदिति भक्त्या स्तुवन्नमेत् ॥ सर्वशःसर्वमन्नम् ॥ ५४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचपूजयेदितिअश्रयतइत्यशनमन्नंपूजयेद्ब्रह्मदृष्ट्यापश्येत्अकुत्सयन्अनिन्दयन्तदृष्ट्येत् अ-
होप्राणवृत्तिर्भविष्यतीति प्रसीदेत् तत्काले प्रकारान्तरोपस्थितंखेदंत्यजेत्अभिनन्देत्नित्यमेस्यादिति ॥ ५४ ॥

(५) नन्दनः । नित्यमाश्रमान्तरेऽपिपूजयेद्देवतामिव सत्कुर्यात् । प्रसीदेदन्यस्मै कुपितोऽपि । सर्वदाअभोजनस-
मयेऽपि ॥ ५४ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रथमनित्यंअशनंअन्नंपूजयेत् । एतत् अन्नंअकुत्सयन् अद्याद्भक्षयेत् अन्नं । दृष्ट्या दृष्ट्येत्प्रसीदेत्
प्रसन्नोभवेत् ॥ ५४ ॥

पूजितंशशनंनित्यंबलमूर्जं च यच्छति ॥ अपूजितंतु तद्भुक्तमुभयंनाशयेदिदम् ॥ ५५ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वविधिशेषोयमर्थवादोनतु फलविधिः फलविधोहिकाम्योयंविधिः स्यादूर्जकामस्य बलका-
मस्य च ततश्चनित्यशब्दोनोपपद्येत पूजितंशशनं नित्यमिति अतोयंयावज्जीविकः प्राङ्मुखतावंनियमः । अपूजितंभुक्तंशु-
भयंनाशयेद्बलमूर्जंच बलंसामर्थ्यमनाद्यासेन भारोद्यमनादिशक्तता रुशस्याप्यूर्जमहाप्राणताऽङ्गोपचयः महाकायोमहा-
बलश्चभवति ॥ ५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बलंसामर्थ्यं ऊर्जं मुत्साहं ॥ ५५ ॥

(३) कुड्मकः । पूजितमिति । यस्मात्पूजितमन्नसामर्थ्यवैर्यंच ददात्यपूजितंपुनरेतदुभयंनाशयति तस्मात्सर्वदा-
ऽन्नंपूजयेदिति पूर्वैकैकवाक्यतापन्नमिदंफलश्रवणम् । सन्ध्यावन्दनादावुपात्तदुरितक्षयवन्नित्यंकामनाविषयत्वेनापि
नित्यश्रुतिरविहतानित्यश्रुतिविरोधात् । फलश्रवणंस्तुत्यर्थमिति तु मेधातिथिगोन्विदराजौ ॥ ५५ ॥

(४) राघवानन्दः । पूजिताशनेदृष्टफलमाह पूजितमिति । बलंदैहिकंऊर्जंअप्रयत्नोपस्थितानंव्यतिरेकेदोष-
माह अपूजितमिति । भक्तंभुज्यतइतिअन्नंउभयंबलमूर्जंच ॥ ५५ ॥

(५) नन्दनः । पूजाकुत्सनयोरर्थवादमाह पूजितमिति । तत्रापि भक्तमित्यपकृत्य संबध्यते । नित्यमचलं शाश्वतम् । बलमूर्जमुत्साहम् । उभयमिदं बलं चोर्जं च ॥ ५५ ॥

(६) रामचन्द्रः । पूजितं संस्कृतं अन्नं बलं ऊर्जं प्रभावं नित्यच्छति । अपूजितं अन्नं यद्भुक्तं इदं तु उभयं बलं ओजः नाशयेत् ॥ ५५ ॥

नोच्छिष्टं कस्य चिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तराऽन्नचैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः कचिद्व्रजेत् ॥ ५६ ॥

(१) मेधातिथिः । पात्रीस्थमन्नमास्यस्पर्शदूषितमुच्छिष्टमुच्यते तन्न कस्यचिद्दद्यादनेनैव सिद्धे स्नातकव्रतेषु यः शूद्रविषयः प्रतिषेधः स तत्रैव निरूपयिष्यते चतुर्थ्यां ग्रामायां षष्ठीसंबन्धमात्रनिषेधार्थायेऽपि दत्तमिदमस्मभ्यमिति न विदुस्तेषामपि भोजनाय प्रकल्पं श्वबिडालादीनाम् । न ह्यत्र ददात्यर्थः परिपूर्णस्त्वन्ननिवृत्तिमात्रं दातुः । परस्य सत्त्वापत्तिर्नास्ति । अन्तराशब्दो मध्यवचनः । द्वौ भोजनकालौ सायं प्रातश्च ततो न्यस्मिन्काले न भुञ्जीत । अथवा व्यवधाने नान्तराशब्दः त्यक्तभो-
नव्यापारः क्रियान्तरेण व्यवधीय पुनस्तदेव प्राक्पात्रगृहीतं न भुञ्जीत । स्पृष्ट्यन्तरे तु विशेषः पठ्यते । उत्थानाचमनव्या-
पेतमिति केचित्तु विच्छेदमन्तरमाचक्षते । सव्येन पाणिना पात्रमन्वालय्य दक्षिणेनावदाय प्राणायामस्य जुहोतीति श्रूयते ।
तत्र यः सव्येन पात्रस्यानुग्रहस्तदनन्तरं न चैवात्यशनमिति मात्रमशनं कुर्यात् एतच्चानारोग्यकारणं गुरुविरुद्धादीनां प्रदर्शना-
र्थं हेतूपदेशात्मात्राशितायाश्चायुर्वेदादतिमात्रता बोद्धव्या । यावदशितमन्नमुदरपूरनं करोति सम्यग्जीर्यति तावदशितव्यम् ।
त्रयः कुक्षेर्भागाध्यर्धमन्नस्य भार्गवपानस्य भागो दोषसंचाराय । अन्यथा नारोग्यं न चोच्छिष्टः कचिद्व्रजेदतश्चोच्छिष्ट-
मपनीय शुचित्वमापादिते तस्मिन्नेव देशाच्चान्तव्यम् ॥ ५६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नोच्छिष्टमिति । उच्छिष्टं पात्रोच्छेषणं एतदन्नमन्तरासायं प्रातरन्तरातयोर्मध्ये नाद्यात् ॥
अनशनं शक्त्यन्तरादन्नादधिकशासनं कचिदुच्छिष्टासन्निकर्षानिकर्षादन्यत्र ॥ ५६ ॥

(३) कुल्लूकः । भुक्तावशेषकस्य चिन्तदद्यात् । चतुर्थ्यां ग्रामायां संबन्धमात्रविवक्षया षष्ठी । अनेनैव सामान्यनिषे-
धेन शूद्रस्याप्युच्छिष्टदानं निषेधे सिद्धे नोच्छिष्टं हविष्कृतमिति शूद्रगोचरनिषेधश्चातुर्थः स्नातकव्रतत्वार्थः । दिवासा-
यं भोजनयोश्च मध्ये न भुञ्जीत वारद्वयेऽप्यतिभोजनं न कुर्यान्नातिसौहित्यमाचरेदिति चातुर्थ्यस्नातकव्रतार्थम् । उच्छिष्टः-
सन्नकचिन्न गच्छेत् ॥ ५६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचनेति । उच्छिष्टं भुक्तावशिष्टं कस्यचिदिति संबन्धिसामान्यप्रयोगात् शूद्रादेरपि निषे-
धो ब्रह्मचारिविषयः । यत्तु वक्ष्यति उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानिवसनानि चेति तत् स्वदासविषयं । चातुर्थिकं तु । नो-
च्छिष्टं न बहिष्कृतमिति शूद्रसामान्यविषयमिति भेदः । अन्तरामभ्यान्हसायान्हकालीनयोर्भोजनयोर्मध्ये नाद्याद्ब्रह्मचार्य-
पि सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं देवनिर्मितमिति भोजनद्वित्वप्राप्तेः ॥ ५६ ॥

(५) नन्दनः । एतदुच्छिष्टमन्तरा भोजनमध्ये भोक्तव्योच्छिष्टमाचार्यपित्रादिभिर्दत्तं नाद्यात् ॥ ५६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अथान्तरा भोजनमध्ये एतदुच्छिष्टं नाद्यात् न भक्षयेत् । अत्यशनं बहुभोजनं कुर्यात् शरीरस्यारो-
ग्यार्थत्वात् उच्छिष्टः सन्नकचिन्न व्रजेत् न गच्छेदिति ॥ ५६ ॥

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ॥ अपुण्यं लोकविद्विष्टं स्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ ५७ ॥

(१) मेधातिथिः । दृष्टमूलतानत्यशनप्रतिषेधस्याचष्टे । अनारोग्यं व्याध्युत्पत्तिर्ज्वरोदरादिपीडा विषूचिकादिना

जीवितनाश अनायुष्यंसर्वतएवात्मानंगोपायेदिति शरीरपरिरक्षादि व्यतिक्रमादस्वर्ग्यनरकप्राप्तिः स्वर्गाभावेन प्रतिपद्यते । अपुण्यंदौर्भाग्यकरं लोकविद्विष्टं बहु भोजितया निन्द्यते तस्मात्कारणादत्यशनं परिबर्जयेन्न कुर्यात् ॥ ५७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । रोगजनकत्वादानायुष्यं ततएव स्वविहितकर्माशक्तिस्तुत्वादस्वर्ग्यं अपुण्यं च अपुण्यं पापतद्धेतुरपुण्यं लोकविद्विष्टं बह्वयमश्नातीति प्रसिद्धेर्लोकद्वेषकरत्वात् मृत्यूपरोधसंभवाच्च ॥ ५७ ॥

(३) कुल्लूकः । अतिभोजने दोषमाह अनारोग्यमिति । अरोगोरोगाभावस्तस्मैहितमारोग्यं । आयुषेहितमायुष्यं यस्मादतिभोजनमनारोग्यमनायुष्यं च भवत्यजीर्णजनकत्वेन रोगमरणहेतुत्वात् । अस्वर्ग्यं च स्वर्गहेतुयागादिविरोधित्वात् । अपुण्यमितरपुण्यप्रतिपक्षत्वात् । लोकविद्विष्टं बहु भोजितया लोकैर्निन्दनात् । तस्मात्तन्न कुर्यात् ॥ ५७ ॥

(४) राघवानन्दः । अत्यशनमतीव निन्दितमिति दृष्टादृष्टार्थतामाह अनारोग्यमिति । अनारोग्यं बह्वाशिनो विषूचिकादिरोगदर्शनात् अनायुष्यं अजीर्णेन धातुक्षयात् बहुतरभोजनउदरगरिष्णाकाम्यनित्यानधिकृतत्वेन स्वर्गपुण्ये न स्यातां लोकविद्विष्टमयं बहु भोजी लुब्ध इत्यादिद्वेषविषयमिति भावः ॥ ५७ ॥

(५) नन्दनः । अनारोग्यमनारोग्यकरं तस्मादानायुष्यं नियमादिक्रमहेतुत्वादपुण्यं तस्मादस्वर्ग्यम् ॥ ५७ ॥

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत् ॥ कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन ॥ ५८ ॥

(१) मेधातिथिः । तीर्थशब्देन पवित्रमुदकाधिकरणमुच्यते । तारणाय पापप्रमोचनाय च तिष्ठतीति तीर्थं । कचित्तुतरन्त्यनेनेति तीर्थमुदकावतरणमार्गः । इह तूदकाधारकरतलैकदेश उच्यते स्तुत्या वा तीर्थशब्दप्रयोगेन हि तत्र नित्यस्था आपस्तेनोपस्पृशेदाचामेद्ब्राह्मेणेत्येतदपि स्तुत्यर्थमेव ब्रह्मा देवतास्येति न हि तीर्थस्य देवता भवत्ययागरूपत्वाद मंत्रत्वाच्च यागरूपतां च केन चिद्धर्मेण शुद्धिहेतुत्वादिनाभ्यारोप्य देवता तद्धितः नित्यकालशौचार्थं कमङ्गिच कः प्रजापतिः स देवतास्येति कायं एवं त्रिदशा देवतास्येति त्रैदशिकं त्रिदशशब्दाद्देवताणिरुक्ते स्वार्थकः देवतात्वं च पूर्ववत् । एभिस्तीर्थैरुपस्पृशेद्विप्रग्रहणमविवक्षितं यतः क्षत्रियादीनां विशेषं वक्ष्यति । न चासत्यां सामान्यतः प्राप्तौ विशेषविधानमुपपद्यते कण्ठगाभिस्तु भूमिपइत्यादि न पित्र्येण पितृदैवत्येन कदाचिदपि स्फोटपिटकादिना ब्राह्मादितीर्थेष्वयोग्यतामायातेष्वपि ननु चाविधानवदेव पित्र्यस्याप्राप्तिरस्त्यत्राशंका पितृतीर्थज्ञापनार्थतावत्पित्र्यं तयोरवश्यं वक्तव्यं न च तस्येह कार्यनिर्दिश्यते कार्या कांक्षायां प्रकृतत्वात्तेन कार्येण संबन्धआशंक्येताद्यपुनः प्रतिषेधे सति पित्र्यमिति समाख्ययैव कार्यावगतिरुदकतर्पणादि पितृकर्म एतेन तीर्थेन कर्तव्यं । एवं स्तुतिरन्वयिनी भवति श्रुतिनोदितत्वाच्च ब्राह्मादीनां तदभावे प्राप्ताशंकानिवृत्यर्थयुक्तमस्याभिधानम् ॥ ५८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पूर्वविहितस्याचमनस्य प्रकारमाह ब्राह्मेणेति । नित्यकालगार्हस्थ्यदिकलेपि कथंचित्तत्रब्रणादिनाचमनासंभवे कायत्रैदशिकाभ्यां तयोरन्यतरेणेत्यर्थः । कायंप्रजापत्यं । तयोरपि व्रणादि दूषत्वे तीर्थेनैवाचमेन्न तु तीर्थसाम्यात् पित्र्येण तदर्थं न पित्र्येणेत्युक्तं विप्रइति प्राधान्यादुक्तं शुद्धवैश्ययोरप्याचमनविधिः तस्य चेति कर्तव्यतापेक्षत्वात् ॥ ५८ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मेणेति । ब्राह्मादि संज्ञेयं शास्त्रे संव्यवहारार्था स्तुत्यर्था च न तु मुख्यं ब्रह्मदेवताकत्वं संभवत्ययागरूपत्वात् । तीर्थशब्दोऽपि पावनगुणयोगाद्ब्राह्मेण तीर्थेन सर्वदा विप्रादिराचामेत् । कः प्रजापतिस्तदीयस्तस्येदमित्यण् इकारश्चान्तादेशः । त्रैदशिको देवस्ताभ्यां वा पित्र्येण तु तीर्थेन न कदाचिदाचामेदप्रसिद्धत्वात् ॥ ५८ ॥

(४) राघवानन्दः । आचमनाङ्गतीर्थान्याह ब्राह्मेणेति । कायेतिकः प्रजापतिः तस्येदं तथा त्रैदशिकं त्रिदशादेवास्तेषामिदं उपस्पृशेदाचामेत् ॥ ५८ ॥

(५) नन्दनः । भोजनस्याद्यन्तयोरुपस्पर्शनं विहितं तत्प्रकारो नोक्तस्तमिदानीमाह ब्राह्मेणेति । ब्राह्मेण हिरण्यगर्भदेवत्येन तदभावे कायेन कः प्रजापतिः दक्षः तद्देवत्यं कायं तदभावे त्रैदशिकेन त्रिदशदेवत्येन । कुतोऽयं विकल्पनाभ्युपगमः देवतातारतम्यवतीर्थतारतम्यस्यापि प्रतीयमानत्वेन तुल्यविकल्पत्वसंभवात् । अत्र देवतासंबन्धेन तीर्थवचनं प्ररोचनार्थम् ॥ ५८ ॥

(६) रामचन्द्रः । विप्रः ब्राह्मेण तीर्थेन नित्यकालपादप्रक्षालनपूर्वकं अपस्पृशेत् आचामेत् । कायत्रैदशिकाभ्यां वा कायेन देवेन तीर्थेन वा पिच्येण कदाचन न पितृतीर्थेन कदाचिदपि नाचामेत् ॥ ५८ ॥

अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते ॥ कायमङ्गुलिमूले ग्रे दैवं पिच्यं तयोरधः ॥ ५९ ॥

(१) मेधातिथिः । अङ्गुष्ठस्य मूलमधोभागः । तस्य तलप्रदेशो ब्राह्मं तीर्थं । हस्ताभ्यन्तरं तलमाह महारिखांतमभिमुखमात्मनो ब्राह्मं हस्तमध्ये अङ्गुलीनां मूले दण्डरेखाया ऊर्ध्वकायमये अङ्गुलीनां देवमुपसर्जनीभूतोऽपि मूले अङ्गुलिशब्दः सापेक्षत्वादग्रशब्दस्य संबध्यते पिच्यं तयोरधः । अत्रापि गुणीभूतस्याङ्गुलीशब्दस्याङ्गुष्ठस्य च संबन्धः प्रदेशिनी चात्राङ्गुलिर्विवक्षिता । तयोरधः अन्तरं पिच्यं स्मृत्यन्तरशिष्टप्रसिद्धिसामर्थ्यादेवं व्याख्यायते यथा श्रुतान्वयासंभवात् तथा च शंखः अङ्गुष्ठस्याधरतः मागयायाश्च रेखाया ब्राह्मं तीर्थं प्रदेशिन्यङ्गुष्ठयोरन्तरापिच्यं कनिष्ठान्तरलयोः कायपूर्वेणाग्रमङ्गुलीनां दैविकमिति ॥ ५९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतच्च ब्राह्मणस्य दक्षिणहस्ते पञ्चतीर्थानि इति प्रचेतसस्मृतेर्दक्षिणएवाङ्गुष्ठमूलस्थल इति करस्याधोभागमध्यमभिपैति ब्राह्मं ब्रह्मदेवतं एवं कायादौ काये अङ्गुलिपदं कनिष्ठापरं कनिष्ठादेशिनीति याज्ञवल्क्यवचनात् । अग्रइत्यङ्गुलीपदमन्वीयते तच्च सर्वाङ्गुलिपरमग्रं करस्य वेति वचनात् तयोरित्यत्राङ्गुष्ठाङ्गुल्यौ भट्टते तत्र चाङ्गुलीतर्जनीदेशिनी याज्ञवल्क्यवचनात् तथा च तयोरिव इति द्वयोरधोमूलं द्वयोर्मध्यभागे ग्राह्यम् ॥ ५९ ॥

(३) कुल्लुकः । ब्राह्मादितोर्थान्याह अङ्गुष्ठमूलस्येति । अङ्गुष्ठमूलस्याधोभागे ब्राह्मं कनिष्ठाङ्गुलिमूले कायमङ्गुलीनामये दैवमङ्गुष्ठप्रदेशिन्योर्मध्ये पिच्यं तीर्थं मन्वादय आहुः । यद्यपि कायमङ्गुलिमूले तयोरध इत्यत्र चाङ्गुलिमात्रं श्रुतं तथापि स्मृत्यन्तराद्विशेषपरिग्रहः । तथा च याज्ञवल्क्यः । कनिष्ठादेशिन्यङ्गुष्ठमूलान्यग्रं करस्य च । प्रजापतिपितृब्रह्मदेवतीर्थान्यनुक्रमात् ॥ ५९ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्राह्मेणेत्याद्युक्तं तल्लक्षणान्याह अङ्गुष्ठेत्यादिना । अङ्गुलिमूले कनिष्ठिकाङ्गुलिमूले । अग्रे साङ्गुष्ठानामङ्गुलीनां तयोरङ्गुष्ठप्रदेशिन्योः । तथा च याज्ञवल्क्यः । कनिष्ठादेशिन्यङ्गुष्ठमूलान्यग्रं करस्य तु । प्रजापतिपितृब्रह्मदेवतीर्थान्यनुक्रमादिति ॥ ५९ ॥

(५) नन्दनः । तानि पुनस्तीर्थानि कुत्रत्यानीत्यपेक्षायामाह अङ्गुष्ठेति । अङ्गुष्ठमूलस्य तले हस्ततलमूलमध्ये या रेखा तस्यामूले ब्राह्मं तीर्थम् । अङ्गुलिमूलं नाम तलमध्यप्रदेशः तत्र हि मूलमङ्गुलीनां च तृणां तत्र कायमये तलस्याग्रेऽङ्गुलीनां च तृणां प्रथमपर्वणि देवं तीर्थम् । तयोरङ्गुष्ठाङ्गुल्योरधः तर्जन्यङ्गुष्ठयोर्मध्यमित्यर्थः । तत्र पिच्यं तीर्थमेवं व्याख्यातं स्मृत्यन्तरेऽसंगच्छते ॥ ५९ ॥

(६) रामचन्द्रः । तत्तीर्थमाह अङ्गुष्ठस्य तले ब्राह्मं ब्राह्मसंज्ञं तीर्थं प्रचक्षते । कनिष्ठिकायां मूलं कायं प्रजापतिं संज्ञं तीर्थमाहुः । अङ्गुल्यग्रे दैवसंज्ञं तीर्थं भवति तयोरधः पिच्यं पितृसंज्ञं तीर्थं भवतीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

त्रिराचामेदपःपूर्वद्विःप्रमृज्यात्ततोमुखम् ॥ खानि चैव स्पृशेदद्विरात्मानंशिरएव च ॥ ६० ॥

(१) मेधातिथिः । अन्यतमेन तीर्थेन त्रिरपउदकमाचामेदास्येन जठरं प्रवेशयेत्ततउदकभक्षणान्तरंद्विरभ्यासेन मुखमोष्ठद्वयंपरिमृज्यादोष्ठश्लिष्टानामुदकावयवानांसोदकेन हस्तेनापनयनंप्रमार्जनमत्र कुतः पुनर्हस्तेनेति समाचारात्तीर्थाधिकाराद्वातीर्थेनैवाद्भिरिति चोत्तरत्र श्रुतमत्राप्यपकृष्यते । दृष्टार्थत्वाच्च प्रमार्जनस्य मुखशब्दएकदेशे यथोक्ते वर्तते । खानि छिद्राणि चोपस्पृशेदद्विर्हस्तगृहीताभिः स्पर्शनमेवोपस्पर्शनंमुखस्य च प्रकृतत्वान्मुख्यानामेव खानामेषस्पर्शनविधिः गौतमस्याह । खानि चोपस्पृशेच्छीर्षण्यान्यात्मानमिति तद्वदयं नाभिवा निर्दिशति । उपनिषत्सुहिंसन्तर्द्वयमात्मानंपश्येदिति कथ्यते । अतोत्तद्वदयस्यायंस्पर्शः क्षेत्रज्ञस्यात्मनोविभोः । अमूर्तस्य न स्पर्शसंभवः नाभिमालभेतेति क्वचित्स्मर्यते तेन नाभिमन्यामहे शिरःप्रसिद्धंस्पृतीनांचैकार्थ्यादामणिबन्धात्पाणीप्रक्षाल्येत्येवमादित्भ्यते तथाऽशब्दकरणंवाङ्मयमः पादाभ्युक्षणं महाभारते प्रक्षालनमपि पादयोर्दिशितम् ॥ ६० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आचमनप्रयोगस्वरूपमाह त्रिरिति । आचामेतपि वेदुक्तीर्थेन मुखंमुखरन्ध्रंसल्लोमकोष्ठोपरिद्विः प्रमृज्यात् । खानीन्द्रियाणि सजलेन पाणिनास्पृशेदद्विरिति वचनादार्द्रत्वेपि पुनःपुनर्जलमुपादायस्पर्शःकार्य इत्युक्तं । आत्मानमिति तत्स्थानं तद्वदयम् ॥ ६० ॥

(३) कुङ्कुमः । सामान्येनोपदिष्टस्याचमनस्यानुष्ठानक्रममाह त्रिराचामेदिति । पूर्वब्राह्मादितीर्थेनै जलगण्डूषत्रयंपिबेत् । अनन्तरंसंवृत्यौष्ठाधरौ वारद्वयमङ्गुष्ठमूलेन संमृज्यात् संवृत्याङ्गुष्ठमूलेन द्विःप्रमृज्यात्ततोमुखमितिदक्षेण विशेषाभिधानात् । खानि चेन्द्रियाणि जलेन स्पृशेन्मुखस्य सन्निधानान्मुखखान्येव । गौतमोऽप्याह । खानि चोपस्पृशेच्छीर्षण्यानि तद्वदयन्त्योतिःपुरुषइत्युपनिषत्सु तद्वदयदेशत्वेनात्मनः श्रवणादात्मानंतद्वदयंशिरश्चाद्विरेव स्पृशेत् ॥ ६० ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रसङ्ख्यामाह त्रिरिति । प्रमृज्यादितिओष्ठश्लिष्टानामुदकावयवानांसोदकेन हस्तेनापनयनमिति मेधातिथिः । खानि शीर्षण्यानि इन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रनासिकाःआत्मानंतद्वदयंउक्तानुवादप्रायोयम् ॥ ६० ॥

(५) नन्दनः । मुखमास्यमोष्ठावितियावत् । अद्भिःसह । आत्मानंतद्वदयम् ॥ ६० ॥

(६) रामचन्द्रः । अपःपूर्वत्रिवारंआचामेत् । ततआचमनानन्तरंमुखद्विःप्रमृज्यअद्भिःखानि मुखादीनिछिद्राणि स्पृशेत् । च पुनःआत्मानंतद्वदयंशिरएव स्पृशेत् ॥ ६० ॥

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित् ॥ शौचेप्सुःसर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः ॥ ६१ ॥

(१) मेधातिथिः । उष्णशब्दः वाथोपलक्षणार्थः तथा हि पृथ्यतअश्रुताभिरद्भिरिति । एवंच ग्रीष्मोष्मतप्ताः स्वभावोष्णाश्च न प्रतिषिध्यन्ते । फेनग्रहणंबुद्बुदानामपिप्रदर्शनार्थं । पठितंच हीनाभिः फेनबुद्बुदैरितितीर्थेन धर्मविदिति वृत्तपूरणमेवं शौचमाप्तुमिच्छुः शौचेप्सुः शुद्धिकामइत्यर्थः नान्यथा शुद्धोभवति सर्वदा न प्रकरणाद्भोजनएव किंतिहि नेतरोविष्मूत्रादिशुद्धिष्वप्यपांभक्षणे कर्मत्वान्तृतीयानिर्देशोन भक्षमाणानामेवायंधर्मोऽपितु करणभूतानामपि पादाभ्युक्षणादौ । वयंतु ब्रूमोभक्षणेऽपि कर्णमेवापोनहि तासामाचमनंसंस्कारः । एकान्तेशुचौदेशएकान्तेहि जनैरनाकीर्णः प्रायेण शुचिर्भवति प्रागुदङ्मुखः । मुखशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । प्राङ्मुखउदङ्मुखोवा । एवंहि गौतमेन पठितम् । विग्रहश्चैवंकर्तव्यः प्रागुदङ्मुखमस्येति । नायंद्वेद्वर्गर्भोबहुव्रीहिरपि तु बहुव्रीहिरेव । द्वेद्वर्गतायां समाहारे समासात्तेनाकारेण भवितव्यमितरेतरयोगोपि नैव । नहि युगपदुभयदिङ्मुखता संभवति तत्र कश्चिदाचमनभागः प्राङ्मुखेन कर्तव्यः कश्चिदुदङ्मुखेने-

त्यापतति । नचैकदेशआचमनं नच दिगर्थउपादेयोयेन परस्परापेक्षे संबध्येयातां नापि दक्षिणपूर्वादिवत्प्रागुदकशब्दोपरा-
जितायादिशोवाचकत्वेन प्रसिद्धोयेन दिक्समासबहुव्रीहिर्ज्ञायते । तस्मान्नायंवृत्यन्तरगर्भोबहुव्रीहिरतोविकल्पः । उदात्तत्वं च
स्मृत्यन्तरे प्राङ्मुखउदङ्मुखोवा शौचमारभेतेति । यथाबृहद्रथन्तरसाम षडहइति केषु चिदहरहः सुबृहत् केषुचिद्रथन्तरं-
नत्वेकस्मिन्नहनि समस्तोभयसामत्वम् ॥ ६१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अमृताभिरिति शङ्खस्मृतेराग्निं न मौढ्यं निषिद्धं एकान्ते कंचिदस्पृशन् प्रागुदङ्मुखः प्रा-
ङ्मुखउदङ्मुखोवा ॥ ६१ ॥

(३) कुङ्कुमः । अनुष्णाभिरिति । अनुष्णीकृताभिः फेनवर्जिताभिर्ब्राह्मादितीर्थेन शौचमिच्छन्नेकान्तेजनैरना-
कीर्णं शुचिदेशइत्यर्थः । प्राङ्मुखउदङ्मुखोवा सर्वदाचामेत् । आपस्तम्बेन तमाभिश्च कारणादित्यभिधानाद्याध्यादि-
कारणव्यतिरेकेण नाचामेत् । व्याध्यादौ तु उष्णीकृताभिरप्याचमने दोषाभावः । तीर्थव्यतिरेकेणाचमने शौचाभावइति
दर्शयितुमुक्तस्यापितीर्थस्य पुनर्वचनम् ॥ ६१ ॥

(४) राघवानन्दः । अपोविशिनष्टि । अनुष्णेति । तीर्थेन ब्राह्मेणेत्युक्तेन शौचेऽसुःशुचितामिच्छुःप्रागुदङ्मुखः प्र-
त्येकंविशिष्टं च तज्जलावधिधत्ते त्दिति ॥ ६१ ॥

(५) नन्दनः । अनुष्णाभिरनग्नतमाभिः । तीर्थेन मुख्यानुकल्पेषु यथासंभवमन्यतमेन । एकान्ते शुद्धे देशे । प्रा-
गुदङ्मुखईशानदिङ्मुखः प्राङ्मुखोवा । अत्राचमनकल्पेनक्तं सर्वधर्मशास्त्रान्तरेषु विद्यादित्यभिप्रायेणोक्तं धर्मविदिति ॥ ६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । धर्मविद्ब्राह्मेनअद्भिः एकान्तेएकाग्रचित्तः सप्तसर्वदाआचामेत् । प्राङ्मुखोवाउदङ्मुखोवा ॥ ६१ ॥

तद्वाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तुभूमिपः ॥ वैश्योद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ॥ ६२ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तमाचमनं तीर्थेनापांभक्षणं परिमाणंतु नोक्तमतस्तदवधारणार्थमाह । तदयंगच्छन्तिप्राभु-
वंति तद्वाः अन्येष्वपि दृश्यतइति गमेर्दः त्वयस्यत्दिति योगविभागाद्भृददेशः पूयते पवित्रतांप्राप्त्यशुचित्वंव्यावर्तते
स्पर्शईषदूनचुलुकमात्रप्रमाणः । कण्ठगाभिस्ताभिः । कण्ठमात्रव्यापिनीभिः भूमिपः क्षत्रियः भूमेराधिपत्यंक्षत्रियस्य विहि-
तंतेन प्रसिद्धेन कर्मणा क्षत्रियजातिर्लक्ष्यते । आधिपत्यविवक्षायां राजधर्मेष्वेवावक्ष्यत् । वैश्यः प्राशिताभिरन्तरास्य
प्रवेशिताभिः कण्ठमप्राप्ताअपि शुद्धिहेतवोवैश्यस्य शूद्रः स्पृष्टाभिरन्तत अन्तेनेत्याद्यादित्वात्तृतीयार्थे तंसिः । अन्तशब्दोऽयं-
समीपवचनोस्त्युदकान्तैगतउदकसमीपमिति गम्यते । अस्त्यवयववचनोवस्त्रान्तोवसनान्तइत्युभयत्रापि वर्तमानः संबन्ध्य-
न्तरमपेक्ष्यते । अस्य समीपंकस्य वावयवइति तत्रेह्येन स्थानेन वर्णान्तराणामाचमनंविहितंतीर्थेजिह्वोष्ठे नचतदन्ते-
नेति प्रतीयते समीपवचनस्तु नसंभाव्यः विधीयमानस्याचमनस्य तत्साध्यत्वासंभवात्स्पर्शोपि प्राशनमस्ति जिह्वोष्ठे नहि
स्पृश्यमानस्य रसात्वादनमवयवंभावि तत्र वैश्यपरिमाणात्किञ्चिन्न्यूनतात्रविवक्षिता जिह्वामूलंयावद्वैश्यस्य जिह्वाग्रंशूद्रस्य
द्रवत्वादुदकस्यापरिहार्योऽवध्यतिक्रम अवध्य प्राप्तौ त्वशुद्धिः सर्वश्रायंतीर्थविभागोदक्षिणहस्तस्योपस्पर्शने हस्तस्यौ-
चित्यादक्षिणाचारतायाश्च पुरुषधर्मतया विहितत्वादेवमर्थमेव चास्मिन्वधाविदमुच्यते ॥ ६२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तद्वाः तदयप्राप्ताः यावत्य आपोतदयप्राप्तियोग्यास्ताभिः पीत्वा यावद्दयप्राप्तिस्ताव-
त्प्रतिक्षणं गण्डूषान्तरपातमित्यर्थात्सिद्धं प्राशिताभिर्वत्क्रवित्रप्रवेशमात्रेण अन्ततोमुखप्रान्तभागेनोष्ठौ न स्पृष्टाभिः संबद्धा
भिरित्यर्थः ॥ ६२ ॥

(३) कुल्लूकः । तद्वाभिरित्याचमनजलपरिमाणमाह । ब्राह्मणोऽदयमामिनीभिः । क्षत्रियः कण्ठगामिनीभिर्वैश्यो-
न्तरास्यप्रविष्टाभिः । कण्ठमग्रामाभिरपिशूद्रोऽज्जिह्वैष्ठान्तेनापिस्पृष्टाभिरद्भिः प्रूतो भवति । अन्तत इति तृतीयार्थे तसिः ॥ ६२ ॥

(४) राघवानन्दः । प्राशिताभिः तालुगाभिः अन्ततो जिह्वाग्रेण शूद्र इति स्त्रीणामुपलक्षणम् । शुष्येरं स्त्री च शूद्रश्च ।
सकृत्स्पृष्टाभि रन्तत इति याज्ञवल्क्यवचनात् । अनेनैव जलपरिमाणमपि प्राप्तम् ॥ ६२ ॥

(५) नन्दनः । प्राशिताभिर्जिह्वागताभिः । अन्ततो ऽन्तेनास्यान्तेनौष्ठेनेत्यर्थः ॥ ६२ ॥

(६) रामचन्द्रः । विप्रः तद्वाभिः अद्भिः पूयते । भूमिपः कण्ठगामिभिः अद्भिः पूयते । प्राशिताभिः अद्भिः तालुगताभिः वै-
श्यः पूयते । स्त्री च शूद्रश्च अन्ततः वर्णान्ततः स्पृष्टाभिः अद्भिः पूयते ॥ ६२ ॥

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः ॥ सव्ये प्राचीनआवीती निवीती कण्ठसज्जने ॥ ६३ ॥

(१) मेधातिथिः । ननु च लोकतः सिद्धाः पदार्थाधर्मशास्त्रेऽप्याश्रीयन्ते न पदार्थसंविज्ञानार्थानि मन्वादिवाक्यानि
व्याकरणाभिधानकाण्डस्मृतिवत् । उक्तमस्माभिर्योनातिप्रसिद्धोऽर्थस्तत्चेष्टक्षयन्ति किमुपालम्भमर्हन्ति अस्ति चात्र किञ्चि-
त्प्रयोजनमन्यदप्याचमनक्रममुच्यमानमुपसंग्रहानादिकमाचमनाङ्गं यथा विज्ञायते । यद्यप्युपवीतधारणं ब्रतार्थतया पुरुषार्थ-
तया वा सर्वदा प्राप्तं तथापि तेन विनाचमनं परिपूर्णमेव स्यात् असत्यस्मिन्वचने ब्रते वैगुण्यं पुरुषदोषश्च स्यात् । अथ पुनरन्त-
रेणोपवीतमाचमनं कृतमप्यकृतसमं दोषश्च स्यादप्यशुचिना कृतमपांभक्षणमिति कथं पुनः केवलस्योपवीतस्यैवाचमनाङ्गता
यावतान्यदप्यत्र निर्दिष्टप्राचीनावीति च उच्यते । प्राचीनावीतं त्वशब्देनैव पित्र्ये कर्मणि विहितं तत्रार्थवत्तायामुपयातायां
नारुतार्थेनोपवीतेन विकल्पितमर्हति निवीतमप्यभिचारेऽर्थवत् । यद्यप्यत्र निवीतस्य विनियोगो नास्ति तथापि स्मृतीनां चै-
कार्थादन्यत्र यो विनियोगः स्तेनेहाप्यर्थवत्ता भवत्येव पाणिग्रहणं बाहुपलक्षणार्थमुद्धृतबाहुयत्तोलोक उपवीतीत्युच्यते । सार्व-
कालिकं चोपवीतं वक्ष्यामः । नच केवलपाणावुद्धृत उपवीतीत्येव उद्धृते प्राचीनावीती समासपदानामधेयम समासस्तु वृत्तानु-
रोधितया कण्ठसज्जने कण्ठे सज्जनसङ्गः स्थापनं यदा वस्त्रस्य सूत्रस्य वान्यतरोपि बाहु रद्धियते तदा निवीती भवति ॥ ६३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उद्धृत इति । उद्धृते ब्रह्मसूत्रोपरिस्थिते अर्थात्सव्ये अधस्थे सव्ये उद्धृते अर्थादन्य-
स्मिन् अधस्थे प्राचीनावीती प्राणावित्युभयत्र बाहुपरं कण्ठसद्भावे कण्ठमावेष्ट्य । बाहुद्वयोपरि उपवीतसङ्गे अर्थात्
पुरतो लम्बमानेऽत्र चोपवीति प्रदेशात् ततः स्मारितं कार्पासमुपवीतमित्यत्र स्थितं उपवीतमुद्धरणादिप्रतियोगितय
ग्राह्यम् ॥ ६३ ॥

(३) कुल्लूकः । उद्धृते इत्याचमनाङ्गतामुपवीतस्य दर्शयितुमुपवीतलक्षणं ततः प्रसङ्गेन प्राचीनावीतीत्यादिलक्षणमाह ।
दक्षिणे पाणावुद्धृते वामस्कन्धस्थिते दक्षिणस्कन्धावलम्बे यज्ञसूत्रे वस्त्रे चोपवीती द्विजः कथ्यते । वामपाणावुद्धृते दक्षि-
णस्कन्धस्थिते वामस्कन्धावलम्बे प्राचीनावीती भण्यते । सव्ये प्राचीनआवीतीति छन्दो नुरोधादुक्तं । तथा च गोभि-
लः दक्षिणं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय सव्येऽपि प्रतिष्ठापयति दक्षिणस्कन्धमवलम्बनं भवत्येवं यज्ञोपवीती भवति सव्यं बाहु-
मुद्धृत्य शिरोऽवधाय दक्षिणं सव्येऽपि प्रतिष्ठापयति सव्यं कक्षमवलम्बनं भवत्येवं प्राचीनावीती भवति निवीती कण्ठसज्जन इति शिरो-
वधाय दक्षिणपाण्यादावप्यनुद्धृते कण्ठादेव सज्जनं क्रजुपालम्बे यज्ञसूत्रे वस्त्रे च निवीती भवति ॥ ६३ ॥

(४) राघवानन्दः । अयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मणः स्यादिति श्रुतेः । यज्ञोपवीतं परम्पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् ।

आयुष्यमग्न्यप्रतिमुञ्च शुभ्रयज्ञोपवीतंबलमस्तु ते जइति मन्त्रलिङ्गात् । यदुपव्ययते देवलक्ष्ममेवतत्कुरुते । त्रिवृत्सूत्रं-
त्यजेद्विद्वान्बहिःसूत्रं त्यजेदुधइति श्रुतेर्यज्ञोपवीतिना आचान्तोदकेन कृत्यमिति गौभिलस्मरणात् । विशिखोव्युपवीतश्च
यत्करोति न तत्कृतमित्यादिस्मृतेश्च । नित्यवत्प्राप्तयज्ञसूत्रानुवादेन तत्तत्कर्मनियतोपवीतत्वादेर्लक्षणमाह । उद्धतेति ।
उपवीतं देवानां निवीतं मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितृणामिति श्रुतेर्दक्षिणंबाहुमुद्धृत्य सव्येऽसेऽप्रतिष्ठापयति दक्षिणं कक्षमवलम्बं-
भवति एवं यज्ञोपवीतीत्यादिस्मृतेश्च अतएवाभिधानं । उपवीतं यज्ञसूत्रं मोद्धते दक्षिणे करे । प्राचीनावीतमन्यस्मिन्निवीतं-
कंठलंबितमिति ॥ यज्ञोपवीतमाश्रित्य त्रितयविधिरिति सद्योपवीतिना भाव्यमिति बाधित्वानिवीतत्वादेः प्रवेशइति-
केचित् ॥ ६३ ॥

(५) नन्दनः । कथं सन्निवेशमुपवीतमित्यपेक्षायामाह उद्धतइति । सूत्रस्य ग्रीवासज्जने निवीतमितिसंज्ञा तद-
दस्यास्तीति निवीती । निवीतस्य मध्येर्दक्षिणे पाणावुद्धते यः सन्निवेशविशेषः तदुपवीतं नाम तदस्यास्तीत्युपवीती । सव्ये
पाणावुद्धते तु यः सन्निवेशविशेषस्तत्प्राचीनावीतं नाम । तदस्यास्तीति प्राचीनावीती । अत्र प्राचीनावीतनिवीतयोरुपन्यासः
प्रासङ्गिकः । इमं श्लोकमुपरिष्ठादश श्लोकानतीत्य पठन्ति तल्लेखकजनप्रमादादित्यवगंतव्यम् ॥ ६३ ॥

मेखलामजिनंदण्डमुपवीतंकमण्डलम् ॥ अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत् ॥ ६४ ॥

(१) मेधातिथिः । विनष्टानामप्सु प्रासनमन्येषां च ग्रहणमत्र विधीयते । प्रासनग्रहणयोः पौर्वापर्ययथा श्रुतेमे-
वास्माच्च पुनरुपादानान्नेषामुपनयनाङ्गतैव तदङ्गत्वे हि तत्प्रयोगापवर्गितैव स्यात् । किंतर्हि यावद्ब्रह्मचर्यधारणं च अथ किमु-
पनयनकाल एव प्राक्कर्मनिष्पत्तेः । देवान्मानुषाद्वा प्रतिबलाद्विनष्टानां प्रतिपत्तिर्न संभवति प्रयोगसमाप्त्यर्थं च पुनरुपादानं यथा
कपालस्य येनैव मुच्यत अस्मात्पुनरुपादानाद्धारणमनुमीयते । उच्यते । ग्रहणं तावदण्डस्य चोदितं मेखलाया बन्धनन्तत्र
सूत्रस्य विन्यासस्तावदुपनयनाङ्गत्वेनावश्यकर्तव्यं । कृते तस्मिन्कृतः शास्त्रार्थः उत्तरकालं किंतैर्नष्टैर्नष्टैर्वाऽङ्गनाशे च प्रतिपत्ति-
विशेषः कर्मोपकारको भवति । न च तेषां किंच न कार्यमाभ्यातयेन तत्सिद्ध्यर्थं विशिष्टेकाले वाचनिकमुपादानमकृतत्वाच्च का-
र्यस्य तत्प्रयुक्तं पुनरुपादानमर्थसिद्धमुच्यते । तस्मात्प्रतिपत्तिविधानादुपादानवचनाच्च धारणमङ्गं न च प्रयोगापवर्गि यतः
कमण्डलुनोपनयनोत्तरकालानुवर्तिना तुल्यवन्निर्देशात्तेषामप्युत्तरत्रानुवृत्तिः प्रतीयते । सा च व्रताङ्गमतउभयार्थमेखलाद-
ष्टः प्रकरणादुपनयनार्था निवृत्ते चोपनयने दर्शनाद्यावद्ब्रह्मचर्यभाविनः कमण्डलुना चोदकार्थः कर्तव्योऽस्मादेव प्रतिपत्तिविधा-
नादन्यथा यदा कमण्डलुस्तदेयं प्रतिपत्तिरिति पाक्षिकत्वं स्यात्तत्र दण्डधारणं प्रतिगृह्य दण्डं भिक्षां चरेदिति क्रमाद्वैद्यचर्याङ्ग-
त्वमेव प्राप्तं समाचारादभैक्षेऽर्थेऽपि भ्रमणं भवत्येव । नतु सर्वदैव करतलधृतदण्डस्य स्थानासनशयनभोजनादीनि तथा च-
त्वाध्याये ब्रह्मांजलिं वक्ष्यति मन्त्रवदित्युपनयनविधिना ग्रहणमनुवदति तत्र च मेखलायामन्त्रो न दण्डस्य ॥ ६४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रासनमादौ ततोऽन्यग्रहणं पूर्वपरिग्रहकालप्रयुक्तं मन्त्रैः कमण्डलावपि बौधायनेन मन्त्रः
पठितः ॥ ६४ ॥

(३) कुल्लूकः । मेखलामिति । मेखलादीनि विनष्टानि भिन्नानि छिन्नानि च जले प्रक्षिप्यान्त्यानि त्वस्वगृह्यो-
क्तमन्त्रैर्गृह्णीयात् ॥ ६४ ॥

(४) राघवानन्दः । जीर्णोपवीतमप्सु प्रास्य नूतनं ग्राह्यमिति अप्सु प्रास्येति चात्वाले कृष्णविषाणां प्रास्यतीति वत्
प्रतिपत्तिः मन्त्रवदिति क्रियाविशेषणं स्वगृह्योक्तेन मन्त्रेण गृह्णीयादित्यर्थः ॥ ६४ ॥

(५) नन्दनः । पूर्वमजिनमेखलादीनिधार्यत्वेनोक्तानि इदानींतद्विनाशे किंकर्तव्यमित्याहमेखलामिति । अत्रसूत्रमेवोपवीतिशब्देनोच्यते न संनिवेशविशेषः । विनष्टानि जीर्णानिध्वस्तानिवा । कमण्डलुधारणस्य पूर्वमविहितत्वान्मेखलादिवदवश्यंभावोनाभिप्रेतइत्यवगन्तव्यम् ॥ ६४ ॥

(६) रामचन्द्रः । विनष्टानि । मेखलादीनिअप्सुप्रास्य विनिक्षिप्यअन्यानिनूतनानि मन्त्रवत्मन्त्रपूर्वकंगृह्णीयात् ॥ ६४ ॥

केशान्तःषोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ॥ राजन्यबंधोद्वाविंशे वैश्यस्य द्वाधिके ततः ॥ ६५ ॥

(१) मेधातिथिः । केशान्तोनाम संस्कारः सगर्भषोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य कर्तव्यः । तस्य च स्वरूपपरिज्ञाने गृहमेव शरणं द्वे वर्षेऽधिके यस्य द्वाविंशस्तस्य तस्मिन्द्वाधिके द्वाविंशेऽथवा कालमात्रमन्यपदार्थः ततोद्वाविंशाद्वर्षादधिके काले वैश्यस्येति द्विशब्दस्य च वर्षाण्येव संख्येयानि प्रकृतानि हि तानि ॥ ६५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सर्वान्केशान्वापयन्तइति क्वचित् गृहे विकल्पेन गोदान कर्मणि सर्वकेशवपनविधेस्तेनोपलक्षणेन गोदानकर्मकेशान्त उच्यते केशानामन्तोत्रेति व्युत्पत्त्या ॥ ६५ ॥

(३) कुल्लूकः । केशान्ताख्योगृहोक्तसंस्कारोर्गर्भादिसंख्यावर्षाणामिति बौधायनवचनाद्गर्भषोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य गर्भद्वाविंशे वैश्यस्य ततोद्वाधिकेगर्भचतुर्विंशे कर्तव्यः ॥ ६५ ॥

(४) राघवानन्दः । गृहोक्तसंस्कारविशेषस्य कालमाह । केशान्तइति षोडशइत्यागर्भात् । तथा च बौधायनः । केशान्ताख्यःस्वगृहोक्तःसंस्कारोर्गर्भादिसंख्यावर्षाणामिति द्वाधिके ततश्चतुर्विंशतिवर्षेऽतदेव पुनर्गोदानाख्यं कर्म ॥ ६५ ॥

(५) नन्दनः । षोडशे जन्मनारभ्य । ततोद्वाधिके चतुर्विंशे ॥ ६५ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्विजानां गोदानाख्यं कर्म हि । ब्राह्मणस्य केशान्तःसंस्कारः गोदानाख्यं कर्मेत्यर्थः । षोडशे वर्षे विधीयते । क्षत्रियस्य द्वाविंशे वर्षे केशान्तसंस्कारः कार्यः । वैश्यस्य द्वाधिके द्वाभ्यां अधिके चतुर्विंशे वर्षे केशान्तं कर्म ॥ ६५ ॥

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामाष्टदशेषतः ॥ संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥ ६६ ॥

(१) मेधातिथिः । इयमावृद्धिशेषतस्त्रीणाममन्त्रिका कार्या जातकर्मण आरभ्येयं संस्काराणामावृत्तिपरिपाटी सेतिकर्तव्यता कः संस्कारकलापइति यावत् । संस्कारार्थं शुद्ध्यर्थं शरीरस्य पौलमेव स्त्रीणामपि प्रयोजनमाह । यथा कालं यस्मिन्काले यः संस्कारउक्तस्तं कालमनतिक्रम्य पदार्थानतिवृत्तौ यथासादृश्येऽध्ययीभावः । एवंक्रमेण द्रष्टव्यम् । मन्त्रमात्ररहिताया आवृत्तो विहितत्वादयथाकालक्रमप्राप्तिरेव नास्तीत्यतो निषेधो नित्यानुवादो वृत्तपूरणार्थः । एतावद्विवक्षितं स्त्रीणांचैते अमन्त्रिका इति ॥ ६६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्राङ्गानाभिवर्धनात्पुंसइत्यनुवर्ततेऽतः स्त्रीणामप्राप्तौ विधिः इयमावृत्तातकर्मादि क्रियापरिपाटी गर्भाधानादेस्तत्पूर्वकर्मणः स्त्रीत्वानिश्चयेनामन्त्रकत्वायोगात् अशेषतः सकलाङ्गवती संस्कारार्थं बैजिकगार्भिकदोषद्वत्याक्रत्वाद्यधिकारसिद्ध्यर्थं यथाकालं दशभ्यानामधेयमित्यादिकालेपि कार्या संभवेन्येनापि स्वकाले च कर्तुं शक्तानां कालान्तरेपि नामकरणादीनां यथोक्तक्रमेणैवानुष्ठानमित्येतदर्थं यथाक्रममित्युक्तम् । अत्र शूद्रस्य विशेषानभिधानात् नामकरणगुणविधेश्च स्त्रीणामेवामन्त्रकं सर्वकार्यमिति गम्यते ॥ ६६ ॥

(३) कुल्लूकः । अमन्त्रिकेति । इयमावृद्धयं जातकर्मादि क्रियाकलापः समयउक्तकालक्रमेण शरीरसंस्कारार्थं स्त्रीणाममन्त्रकः कार्यः ॥ ६६ ॥

(४) राघवानन्दः । तेषु स्त्रीणां विशेषमाह । अमन्त्रिकात्विति द्वाभ्याम् । आवृतजातकर्मादिक्रियाकलापपरिपाटो-
अमन्त्रिकाअत्रो पयुक्ताहोमास्तु समन्त्रकाएव ॥ ६६ ॥

(५) नन्दनः । एवंतावज्जातकर्मादयः संस्काराः पुंसामुक्ताः स्त्रीणामप्येतानमन्त्रकानतिदिशतिअमन्त्रकेति ।
आवृतप्रयोगः क्रियेतियावत् ॥ ६६ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्त्रीणांकन्यानां आवृतजातकर्मादिक्रिया मधानक्रिया अमन्त्रिका कर्तव्या आविवाहंशरी-
रस्य संस्कारार्थं यथाकालंकालानुसारेण ॥ ६६ ॥

वैवाहिकोविधिःस्त्रीणांसंस्कारोवैदिकःस्मृतः ॥ पतिसेवा गुरौ वासोगृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥ ६७ ॥

[अग्निहोत्रस्य शुश्रूषा सायमुद्रासमेव च ॥ कार्यं पत्न्या प्रतिदिनं इतिकर्मच वैदिकम् ॥ १ ॥ †]

(१) मेधातिथिः । पूर्वेणावृद्धचनेन जातकर्मादिवदुपनयनेऽप्यमन्त्रके प्राप्ते तदापत्तिवचनंविवाहस्य तन्निवृत्त्यर्थ-
मारभ्यते । वेदग्रहणार्थोवैदिकः संस्कारउपनयनाख्योयः सस्त्रीणांवैवाहिकोविधिः । विवाहे भवोविवाहविषयोविवाहसा-
ध्यःअतोविवाहस्योपनयनस्थाने विहितत्वात्तस्य निवृत्तिर्यदि विवाहस्तत्कार्यकरोहन्त प्राप्तवेदाध्ययनप्राप्ता च व्रतचर्योप-
नयनं नाम भाभूद्वदुभयमपि निवर्तयति । पतिसेवा गुरौ वासः पतियत्सेवतउपचरत्याराधयति सएवास्या गुरौ वसतिः
गुरौ वसत्याऽध्ययनंकर्तव्यं च आस्या गुरौ वासोस्त्यतः कुतोध्ययनं गृहार्थोगृहकृत्यानि रन्धनपारिणक्षप्रत्यवेक्षणादीनि यानि
नवमेवक्ष्यन्तेऽर्थस्य संग्रहे चैनामित्यादि सायंप्रातर्ब्रह्मचारिणोयत्समिदाधानंतदेवास्या गृहकृत्यमग्निप्रक्रियया च यावान्यम
नियमसमूहोब्रह्मचारिणः ससर्वउपलक्ष्यते । एवंचैतदुक्तंविवाहस्योपनयनापत्यंयथैवमनुष्योपनयनात्प्रभृतिश्रौताःस्मार्ता-
आचारप्राप्ताश्च विधयोभवन्ति प्राकृतः कामचारवादभक्षत्वमेवंस्त्रीणांप्राग्विवाहात्कामचारः परस्मात्श्रौतस्मार्तेष्वधिकारएवं-
वा पदयोजना विवाहएव स्त्रीणांवैदिकः संस्कारउपनयनमनुपनयनेऽपि विवाहे भक्त्योपनयनत्वमुच्यते । किंतदुपनयनेन
विवाहस्य साम्यंयेनास्य तद्यपदेशअतआहपतिसेवेत्यादि ॥ ६७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उपनयनंतु न कार्यतासां विवाहसंस्कारस्य तत्स्थानीयत्वादित्यर्थः । वैदिकोवे-
दाधिगमार्थउपनयनरूपः धर्मातिदेशार्थं तदङ्गसंपादनोक्तापतिसेवेति यथा गुरुशुश्रूषा व्रतिनस्तेनैव प्रकारेण स्त्रियापतिः
शुश्रूष्यः । यथाचाप्रमादेनाश्रुपचरणंतत्र यथागृहार्थेषु गृहप्रयोजनेषु पाकादिष्वप्रमत्तया भाव्यमित्यर्थः । परिष्क्रिया
परिचर्या शूद्रस्य तु द्विजसेवैव गुरौ वासइति ग्राह्यम् ॥ ६७ ॥

(३) कुड्मूकः । अनेनोपनयनेऽपि प्राप्ते विशेषमाह वैवाहिकइति । विवाहविधिरेव स्त्रीणांवैदिकःसंस्कारउपनय-
नाख्योमन्वादिभिःस्मृतः । पतिसेवैव गुरुकुले वासोवेदाध्ययनरूपः । गृहकृत्यमेवसायंप्रातःसमिद्धोमरूपोऽग्निपरिच-
र्या । तस्माद्विवाहदेरुपनयनस्थाने विधानादुपनयनादेर्निवृत्तिरिति ॥ ६७ ॥

(४) राघवानन्दः । वैवाहिकोवक्ष्यमाणविवाहसंबन्धीसंस्कारःउपनयनसंस्कारस्थानीयः । तेन तन्निवृत्तिः वैदि-

(६७) संस्कारो वैदिकःस्मृतः=औपनायनिकः स्मृतः (४)

(६७) गृहार्थोग्निपरिक्रिया=गृहार्थोग्निपरिग्रहः (क)

=गृहार्थोग्निपरिक्रिया (ख, ग)

† (ख)

कः वेदमन्त्रकृतः विवाहस्तु । समन्त्रकइत्युक्तेः । तासांपतिसेवैव गुरुकुलवासतया विधीयते । अकरणेप्रत्यवायस्मरणात् । करणे च स्तुतिस्मरणात् । एवंगृहार्थोगृहकृत्यमेव सायंप्रानःसमिद्धोमरुपाग्निपरिचर्या ॥ ६७ ॥

(५) नन्दनः । उपनयनान्तंतासांसमन्त्रकं तच्चविवाहएवेत्याह वैवाहिकइति । संस्कारउपनयनम् । वैदिकः समन्त्रकः । तत्रगुरुकुलवासोऽग्निकार्यंचोत्तरार्धेनोक्तम् । गृहार्थः गृहकार्यम् । अग्निपरिक्रियाऽग्निपरिचर्या । विवाहस्योपनयनत्वप्रतिपादनंतत ऊर्ध्वकामचारवादभक्षादिवर्जनार्थम् ॥ ६७ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्त्रीणांसंस्कारः वैवाहिकोविधिः वैदिकःवेदमन्त्रैःस्थितः स्त्रीधर्मानाह पतिसेवा गुरौ वासः गुरोः आचार्यस्यसमीपेवासः । कार्यःअग्नेः परिक्रिया गृहार्थे पाकनिमित्तम् ॥ ६७ ॥

[रामचन्द्रः । अग्निहोत्रस्येति स्त्रीभिः । अग्निहोत्रस्य शुश्रूषा कार्या सायंकालेउद्वासंवैदिकं अधिकर्म प्रतिदिनं पत्न्या कार्यम् ॥ १ ॥]

एषप्रोक्तोद्विजातीनामौपनायनिकोविधिः ॥ उत्पत्तिव्यञ्जकःपुण्यःकर्मयोगंनिबोधत ॥ ६८ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रकरणोपसंहारः । एतावदुपनयनप्रकरणम् । अत्रयदुक्तंतत्सर्वमुपनयनार्थम् । ननु केशान्तोप्येवंप्राप्नोति नानिवृत्तउपनयने स्वकाले तस्य विधानात् प्रकरणेऽपि पठितस्य वाक्यादन्यार्थता भवति । तथा च केशान्तः समावृत्तस्यापि कैश्चिदिष्यते । उपनयने भवऔपनायनिकउत्तरपदस्य दीर्घत्वं । पूर्ववदुत्पत्तिस्तन्मातापित्रोः सकाशाज्जन्मतांव्यनक्ति प्रकाशयति । सगुणतां करोतीत्युत्पत्तिव्यञ्जकः जातोप्यजातसमोऽनुपनीतोधिकाराभावान् । अतोयंविधिरुत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यइत्युक्तार्थमुपनीतस्य येन कर्मणा योगः संबन्धोधिकारोयत्तेनोपनीतेन कर्तव्यंतदीदानींवक्ष्यमाणंनिबोधत ॥ ६८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उपनयनसंबन्धःउत्पत्तेर्द्वितीयस्याद्विजत्वरूपायाव्यञ्जकोजनकः कर्मयोगमुपनेयस्य कर्मणासंबन्धम् ॥ ६८ ॥

(३) कुल्लूकः । एषइति । औपनायनिकइत्यनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः । अयंद्विजातीनामुपनयनसंबन्धी कर्मकलापउक्तः । उत्पत्तेर्द्वितीयजन्मनोव्यञ्जकः ॥ ६८ ॥

(४) राघवानन्दः । वर्तमानकर्मयोगंवक्तुंवृत्तंकीर्तयति एषइति । औपनायनिकउपनयनसंबन्धीउपनयनपर्यन्तोवाउपनीतस्य येन कर्मणा योगस्तंतुत्पत्तिव्यञ्जकउत्पत्तेर्द्वितीयजन्मनो व्यञ्जकःपुण्यस्तत्पदः ॥ ६८ ॥

(५) नन्दनः । उत्पत्तिव्यञ्जकोमातापितृजन्मविशेषकः उपनयनस्य संस्कारान्तरेभ्यः प्रधानसंस्कारत्वंप्रतिपादितं पुण्यइति कर्मयोगंकर्माभ्यासंशौचाचारादिषुकौशलम् अत्रापिद्विजातीनामित्यनुकर्षः कर्मयोग्यमितिचपठन्ति ॥ ६८ ॥

(६) रामचन्द्रः । अतः कर्मयोगंनिबोधत ॥ ६८ ॥

उपनीय गुरुःशिष्यंशिक्षयेच्छौचमादितः ॥ आचारमग्निकार्यंच सन्ध्योपासनमेव च ॥ ६९ ॥

(१) मेधातिथिः । शिक्षयेद्युत्पादयेच्छौचमादितः । अदित इति वचनेनाचारादिभ्यः प्रागुपदेशः शौचस्येष्यते । किंतर्ह्यनियतक्रमकाः परस्परमेते केवलमुपनयनानन्तरंरतादेशनंवक्ष्यति । आदिष्टवेदव्रतस्य च वेदाध्ययनमतोग्रीन्धनसं-

ध्योपासनयोः समन्त्रकत्वादकृतेव्रतादेशे मन्त्रोच्चारणमप्रामंविधीयते शौचंचानियतकालतदवश्यंतदहरेवोपदेष्टव्यमेवमाचारोपि । अतइदमादितइति वचनमादरार्थं न प्रथमोपदेश्यतांशौचस्य विधत्ते । शौचमेकालिङ्गइत्याद्याचमनान्तम् । आचारोगुर्वादीनांप्रत्युत्थानासनदानाभिवादानादिभिः । अग्निकार्यमध्याधानकार्यसमिन् समिन्धनं संध्यायामादित्यस्योपासनंतत्त्वरूपभावनंसंध्यायाउपासनंएवंवा पूर्वोसंध्यामित्यादि । एषव्रतधर्मः ॥ ६९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शौचंमृज्जलपरिमाणनियमादिविशिष्टं आदितःपूर्वआचारं अभिवादानादि अग्निकार्यं समिदाधानं सन्ध्योपासनं सन्ध्यात्रयस्याचरणम् ॥ ६९ ॥

(३) कुङ्कुमः । इदानीमुपनीतस्य येन कर्मणायोगस्तंशृणुतेत्याह उपनीय गुरुरिति । गुरुः शिष्यमुपनीय प्रथममेकालिङ्गेगुदेतिसइत्यादिवक्ष्यमाणंशौचंस्नानाचमनाद्याचारमग्नौसायंप्रातःसमिद्धोमानुष्ठानंसमन्त्रकसन्ध्योपासनविधिंचशिक्षयेत् ॥ ६९ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रादौ गुरुशिक्षणीयमाह उपनीयेति । शिष्यमिति लिङ्गसङ्ख्येअविवक्षिते अष्टवर्षब्राह्मणमुपनयीतेत्यादिश्रुतेर्जातिवत्पशुमालभेतेतिवत्विधेयगतत्वात्पूर्वामेरेकवाक्योपात्तत्वाच्च । अतोवक्ष्यति । अध्येष्यमाणइत्येकवचनान्तंशौचंवक्ष्यतेएकालिङ्गइत्यादिभिःअग्निकार्यंअग्नौ सायंप्रातःसमिद्धोमानुष्ठानम् ॥ ६९ ॥

(५) नन्दनः । शौचंहस्तपादादिप्रक्षालनम् । आचारमाचमनादिकम् ॥ ६९ ॥

अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तोयथाशास्त्रमुदङ्मुखः॥ब्रह्माञ्जलिरुतोध्याप्योलघुवासाजितेन्द्रियः ॥ ७० ॥

(१) मेधातिथिः । अध्ययनधर्मानिदानीमाह । प्रत्यासन्ने भविष्यति लृडयंद्रष्टव्यः । अध्ययने प्रवर्तमान अध्ययनमारभमाण अध्येतुमिच्छन्निति यावत् । उदङ्मुखोध्याप्यः गौतमीये तु प्राङ्मुखोवा शिष्यः प्रत्यङ्मुखआचार्यइति आचान्तोयथाशास्त्रमिति प्रागुक्तमाचमनविधिंस्मारयति ब्रह्माञ्जलिः रुतोयेनेति । आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वान्निष्ठान्तस्य परनिपातः । ब्रह्माञ्जलिरुदिति वा पाठः । लघुवासाधौतवासाः प्रक्षालनेन लघुनी वाससी भवतः । अतोलघुत्वेन वाससः शुद्धिरक्ष्यते । अथवायंरोमादिस्थूलवसनः चित्तव्याक्षेपताड्यमानोन प्रहारवेदयेत्तत्तश्च न युक्तः पठेत् । अपनीयमाने तु वाससि गुरोःखेदः स्यात् । निरावरणे च काये रज्वादिना ताड्यमानोमहर्ताबालोवेदनामनुभवेदतोदृष्टार्थंलघुवासस्त्वम् । जितानि नियमितानीन्द्रियाण्युभयान्यपि येन सजितेन्द्रियः नइततस्ततोवीक्षेत यार्त्किचिन्शृणुयादध्ययनेऽवहितोभवेदित्युक्तंभवति ॥ ७० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यथाशास्त्रमाचान्तः उदङ्मुखःशिष्यः प्राङ्मुखेनाध्याप्यो ब्रह्माञ्जलिरुतः रुतब्रह्माञ्जलिः लघुवासाः त्वल्पवासाः जितेन्द्रियोनन्यमनाः ॥ ७० ॥

(३) कुङ्कुमः । अध्येष्यमाणइति । अध्ययनंकरिष्यमाणः शिष्योयथाशास्त्रंरुताचमनउत्तराभिमुखःरुताञ्जलिःपवित्रवस्त्रःरुतेन्द्रियसंयमोगुरुणा अध्याप्यः प्राङ्मुखोदक्षिणतःशिष्यउदङ्मुखोवेति गोतमवचनात्प्राङ्मुखस्याप्यध्ययनम् । ब्रह्माञ्जलिरुतइति वाहिताग्न्यादिष्वित्यनेन रुतशब्दस्य परनिपातः ॥ ७० ॥

(४) राघवानन्दः । शिष्यस्य वेदग्रहणनियममाह अध्येष्यमाणइति त्रिभिः । लघुवासा गुरुतोलघुवासाःपवित्रवासावाएवंविघ्नएवाध्याप्यः ॥ ७० ॥

(५) नन्दनः । अथाध्ययननियमानाहअध्येष्यमाणमिति । यथाशास्त्रमाचान्तः प्राङ्मुखस्य गुरोर्दक्षिणतउदङ्मुखःआसीनः । अध्याप्योगुरुणा ब्रह्मचारी लघुवासाअनुल्बणवस्त्रः । ब्रह्माञ्जलिरुतः रुतब्रह्माञ्जलिः ॥ ७० ॥

(६) रामचन्द्रः । पूर्वं आचान्तः यथाशास्त्रं । यथावेदं उदङ्मुखं अभ्येक्ष्यमाणः शिष्यः ब्रह्माञ्जलिः कृतः सन् अभ्यास्यः ॥ ७० ॥

ब्रह्मारम्भेवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा ॥ संहृत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥ ७१ ॥

(१) मेधातिथिः । ब्रह्मशब्दोऽयमनेकार्थोऽप्यभ्ययनाधिकारादेव वेदवचनः प्रतीयते । तस्मादरम्भे निमित्तसमर्थे-
षा । अभ्ययनाधिकारादेव च तद्विषयाऽभ्ययनक्रिया तस्यायमारम्भः प्रथमावृत्तिः पुरुषस्य तत्रेदं पादग्रहणं वेदस्य तु या-
न्याद्यक्षराण्यग्निमीळेद्वेषेत्वा अग्रयाहीति न सोत्रारम्भ उच्यते । नहि तस्य निमित्तभावः संभावितः नित्यत्वात् । कादा-
चित्कंहि निमित्तं भवति तेनैतदुक्तं भवति । वेदाभ्ययनमस्मिन्मानो गुरोः पादसंग्रहणं कुर्यात्कृत्वा ततः स्वाध्यायाक्षराण्यु-
च्चारयेन् पुनः प्रवृत्ताभ्ययनक्रियाः पादौ गृह्णीयात् । ननु चाद्य क्रियाक्षण आरम्भः सच निमित्तं विद्यमानस्य च निमित्तत्वं-
युक्तं जीवनस्येव । अत्र गेहदाहाद्यतीतमपि निमित्तं तत्र तथैव श्रवणम् । तस्मात्सहप्रयोग एवाभ्ययनपादोपसंग्रहणयोर्-
युक्तः । उच्यते । अभ्यापनाभ्यवसाय आरम्भ उच्यते । नाद्यः क्रियाक्षणः यदैव गुरुरधीष्वेत्याह तदैवाभ्यवस्यति माणवकः ।
अतस्तदनन्तरं पादोपग्रह उपकारप्रवृत्तस्य गुरोश्चित्तप्रसादनमेतत् यथा लोके कश्चिदुपकारप्रवृत्तं सभाजयति वाचा ननु बयवम-
स्मात्पापान्मोचिता इति । अनक्षरा चैयमध्येषणोपसन्नाः स्माभ्ययनायेति । नहि गुरुरूपरोऽभ्योऽध्यापयति केवलमुपसदनम-
स्य कर्तव्यं संबोधार्थमवसरोऽभ्ययनस्येति । अतः कृतोपसदनस्य वेदाक्षरोच्चारणमपि च संहृत्य हस्तावध्येतव्यमित्युच्य-
ते । तत्राधीयानः पादोपसंग्रहणविधिमतिक्रमेत् । अवसानं समाप्तिरभ्ययनादुपरमः यद्यपि ब्रह्मशब्द आरम्भे गुणभूतस्तथा-
प्यवसानस्य सापेक्षत्वात् सन्निहितत्वाद्ब्रह्मपदेनैव संबन्धः प्रयते । अन्यस्याश्रुतत्वात्सदाग्रहणमन्वहं भाविप्रयोगारम्भावसान-
योरेषविधिर्यथास्यादितरथा यएव व्रतादेशानन्तरो मुख्यप्रारम्भः तत्रैव स्यात् । अथान्वारम्भणीया दर्शपूर्णमासारम्भे चो-
दितोऽय एवाधानानन्तरभावी दर्शपूर्णमासप्रयोगारम्भः तत्रैव भवति । न मासिकप्रयोगारम्भे । न मासिकप्रयोगारम्भे प्रातः
प्रातरारभ्य यावदान्हिकं न निवृत्तं प्रपाठकद्वयमात्रपरिमाणं तावदेकैव साभ्ययनक्रियेत्यन्तरा कथंचिद्विच्छेदेऽपि पुनः प्रवृत्ताना-
रम्भशब्दवाच्यतास्तीति न पुनः पादोपसदनं क्रियते । स्मृत्यन्तरे च पठ्यते पादोपग्रहणं गुरोः प्रातरन्वहमिति । संहृत्य
संलग्नौ संश्लिष्टौ परस्परं कृत्वाऽध्येयं कच्छपकर्ण इति यः संनिवेशो हस्तयोः प्रसिद्धस्तथा कर्तव्यः सहि ब्रह्माञ्जलिः ।
पदार्थकथनमेतत् ॥ ७१ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । सदाप्रत्यहं संहृत्य हस्तौ हस्ततले संमील्य ॥ ७१ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्रह्मारम्भेवसाने चेति । वेदाभ्ययनस्यारम्भे कर्तव्ये समापने च कृते गुरोः पादोपसंग्रहणं कर्तव्यं
हस्तौ संहृत्य संश्लिष्टौ कृत्वाऽध्येतव्यं स एव ब्रह्माञ्जलिः स्मृत इति पूर्वश्लोकोक्तब्रह्माञ्जलिशब्दार्थव्याकारः ॥ ७१ ॥

(४) राघवाञ्जन्दः । किंच ब्रह्मेति । ब्रह्मारम्भे वेदस्याभ्ययनसमाप्त्योर्ब्रह्माञ्जलिकृत इत्युक्तं तद्वृक्षणमाह संहृत्येति ।
अञ्जलिर्ब्रह्म कदलीपुष्पाकारः ॥ ७१ ॥

(५) नन्दनः । ब्रह्माञ्जलिर्वक्ष्यति ब्रह्मारम्भ इति । सदा अहरहः । ग्राह्यौ ब्रह्मचारिणा ॥ ७१ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्रह्मारम्भे वेदारम्भे तथा वेदावसाने गुरोः पादौ ग्राह्यौ भवतः । हस्तौ संहृत्य संयोज्य अ-
ध्येयं सहि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥ ७१ ॥

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसङ्ग्रहणंगुरोः ॥ सव्येन सव्यः स्पृष्टव्यो दक्षिणे न च दक्षिणः ॥ ७२ ॥

(१) मेधातिथिः । यदुपसंग्रहणपूर्वश्लोके गुरोरुक्तंतद्यस्तपाणिना कार्यं कीदृशः पुनः पाण्योव्यत्यासः कर्तव्य-
इत्यत आह । सव्येन हस्तेन सव्यः पादस्पृष्टव्यः स्पर्शः कर्तव्योनतु चिरनिपीडयासितव्यं । एष च व्यत्यासो युगपदितरेतर-
दिक्संचारेण हस्तयोर्भवति अग्रतः स्थितेन संमुखेन गुरोरुपसंग्रहणं कर्तव्यम् । तत्र वामो दक्षिणमार्गं नीयते दक्षिणे वाम-
मित्येवं सव्येन सव्यः स्पृष्टो भवति दक्षिणे न च दक्षिण इत्येष पाणि व्यत्यासः अन्येतु विन्यस्तपाणिनेति पठन्ति । स्पर्शादेव
च विन्यासे सिद्धे नाग्रितमायः पिण्डस्पर्शनवद्वाहभयादङ्गुल्यग्रमात्रेण स्पर्शनं न कर्तव्यमपितु हस्तौ विन्यसितव्यौ निधातव्यौ-
पीडनंतु पीडाकरं निषिद्धमिति वर्णयन्ति ॥ ७२ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । उपसंग्रहणप्रकारमाह व्यत्यस्तेति । व्यत्यस्तौ दक्षिणोत्तरौ त्वस्तिकाकारेण संहतौ
पाणी यस्य एवं चार्थादाभिमुख्येनाभिवादाने सव्येन हस्तेन सव्यस्य पादस्य स्पर्शः प्राप्तः तथापि यत्र पर्यङ्कबन्धादिवशात्
व्यत्यस्त पाद एवास्ते गुरुः तत्र पाणि व्यत्यासो न कार्यः तथा सन्ध्यायामात्माभिवादाने सव्येन हस्तेन सव्यस्य पादस्य
स्पर्शः स्पर्शार्थत्वात् व्यत्यासस्य इत्येतदर्थं सव्येन सव्य इत्युक्तम् ॥ ७२ ॥

(३) कुल्लूकः । व्यत्यस्तपाणिनेति । पादोपसंग्रहणं कार्यमित्यनन्तरमुक्तंतद्यस्तपाणिना कार्यमिति विधीयते ।
कीदृशो व्यत्यासः कार्य इत्यत आह सव्येन पाणिना सव्यः पादो दक्षिणेन पाणिना दक्षिणः पादः गुरोः स्पृष्टव्यः । उत्तानहस्ता-
भ्यां चेदं पादयोः स्पर्शनं कार्यम् । यदाह पैठीनसिः उत्तानाभ्यां हस्ताभ्यां दक्षिणेन दक्षिणं सव्यं सव्येन पादावभिवादयेत् ।
दक्षिणोपरिभावेन व्यत्यासो वायं शिष्टसमाचारात् ॥ ७२ ॥

(४) राघवानन्दः । गुरोः पादौ ग्राह्यावित्युक्तं तत्प्रकारमाह व्यत्यस्तेति । उपसंग्रहणं पादयोरिति शेषः एत-
द्धनक्ति सव्येनेति सव्येन स्वस्य वामहस्तेन सव्योगुरोः पाद एवमुत्तरत्रनायंक्रमः तथा च पैठीनसिः । उत्ताना-
भ्यां दक्षिणं दक्षिणेन सव्यं सव्येन पादावभिवादयेदिति ॥ ७२ ॥

(५) नन्दनः । कथं ग्राह्यौ पादावित्यपेक्षायामाह व्यत्यस्तेति । उपसंग्रहणं गुरुपादस्पर्शः । अस्य व्याख्यानमुत्तरा-
धम् । सव्येन पाणिना सव्यः पादः स्पृष्टव्यः ॥ ७२ ॥

अध्येष्यमाणंतु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः ॥ अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोस्त्विति चारमेत् ॥ ७३ ॥

(१) मेधातिथिः । अध्येष्यमाणमित्यादीनि प्राग्याख्यातानि पदानि गुरोरयं नियोगः । गुरोर्यदा माणवकोभ्या-
पयितुमभिलषितस्तदाधीष्वभो इत्यामन्त्रयितव्यः । अनामन्त्रितेन न गुरुः खेदयितव्य उपदिशानुवाकमिति । उक्तंच ।
आहूतश्चाप्यधीयीतेति विरामोस्त्वित्येतं शब्दं समुच्चार्यारमेत् न निवर्तेत । कः गुरुरेव । प्रथमान्तं निर्देशात् । अथवा गुरुणो-
त्सृष्टो निवर्तेत । न स्वेच्छया एवं च तदाख्यायते । यदा गुरुर्विरामोस्त्विति ब्रूयात्तदा विरमेद्ब्रह्मचारी । अन्ये त्वध्येतृमा-
त्रस्य शिष्याणामुपाध्यायस्य च उपरमणकाले धर्ममिममिच्छन्ति । तथा च स्मृत्यन्तरम् । त्वाध्यायमधीत्य विरमणकाले
प्रदेशिन्या पृथिवीमालभ्य स्वस्तीति ब्रूयाद्विस्पृष्टमिति सामसु विरामः परमास्वक्षुभारमस्त्वथर्वसु । अतन्द्रित अनलसः ।
तन्द्राऽऽलस्यंतद्योगात्पुरुषस्तन्द्रित इत्युच्यते त्यक्कालस्य मतन्द्रितः । अनुवादश्चायं नात्र तन्द्राश्रमः न त्वियमाशङ्का कर्तव्या ।
यतन्द्रितस्तस्यायं विधाः । आलस्यवतस्त्वन्यः ॥ ७३ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अध्ययनार्थं शिष्यो गुरुमधीप्तेति ब्रूयात् स्वाध्यायान्ते विरामोऽस्त्विति ब्रूयात् । अत्र पाठे अधीप्तेत्यन्तर्भावित्यर्थं शिष्येण गुरुं प्रति वाच्यम् । अध्येष्यमाणान्तु गुरुरिति कचित्पाठः । तत्र गुरुणा तद्वाच्यम् ॥ ७३ ॥

(३) कुल्लूकः । अध्येष्यमाणमिति । अध्ययनं करिष्यमाणं शिष्यं सर्वदाऽनलसो गुरुरधीप्त्व भो इति प्रथमं वदेत् । शेषे विरामोऽस्त्वित्यभिधाय विरमेन्निवर्तेत ॥ ७३ ॥

(४) राघवानन्दः । गुरुशिष्ययोर्नियममाह अध्येष्यमाणं त्विति त्रिभिः । अध्येष्यमाणं शिष्यं अधीप्त्व भो इति ब्रूयात् तथा विरामोऽस्त्विति विरामोऽस्त्वित्युक्तेः आरमेत् निवर्तेताध्ययनात् शिष्य इति शेषः ॥ ७३ ॥

(५) नन्दनः । अधीप्तेति प्रार्थनायां लकारः विधेरत्रायुक्तत्वात् । ब्रूयात् ब्रह्मचारी ॥ ७३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अतन्द्रितः गुरुः अध्येष्यमाणं शिष्यं भो शिष्य अधीप्त्व इति ब्रूयात् अन्यत्र क्रीडातः विरामः अस्तु इति वारयेत् ॥ ७३ ॥

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ॥ स्रवत्यऽनोङ्कृतं पूर्वपरस्ताच्च विशीर्यति ॥ ७४ ॥

(१) मेधातिथिः । अत्रापि पूर्वोक्तेन न्यायेन ब्रह्मण आदावन्ते च प्रणवं कुर्यात् । ब्रह्मविषयाया अध्ययनक्रियाया इति द्रष्टव्यम् । प्रणवशब्दोऽङ्कारविषयस्तथा वक्ष्यति स्रवत्यनोङ्कृतमिति । सर्वदा ग्रहणमध्ययनविधिमात्रधर्मो यथास्यादितरथा प्रकरणाद्ग्रहणार्थ एव ब्रह्मचारिणः स्यात् । अस्मिन्स्तु सतियोष्यविस्मरणार्थो यच्चारहरहः स्वाध्यायमधीयीतेति गृहस्थादीनां तत्र सर्वत्र सिद्धं भवति । संध्याजपादौ तु त्वशब्देन विधास्यति । एतदक्षरमेनां चेति । नचायं वेदधर्मो येन यत्र कुत्रचिद्वैदिकवाक्योच्चारणमारभेत तत्र प्रामुयादतो होममन्त्रजपशास्त्रानुवचनयाज्यादीनामारम्भेनास्ति प्रणवो न्यत्राप्युदाहरणार्थं वैदिकवाक्यव्याहारे तस्मात्स्थितं प्राकरणिकत्वाध्यायाध्ययनविधिधर्मार्थं सर्वदा ग्रहणम् । प्रणवप्रयोगस्यान्वाहिकारम्भार्थता तु नित्यकालग्रहणानुवृत्त्यैव सिद्धा । अस्यार्थवादः स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वप्रारम्भानोङ्कृतं ब्रह्म स्रवति अङ्गमिति कृतं अङ्गशब्देन संस्कृतं । साधनं कृतेति समासः । अथवा अङ्कृतमित्युच्चारितो यस्मिन् ब्रह्मणि तदोङ्कृतं सुखादित्वात्परनिपातः परस्ताच्च समामौ चकारेणानोङ्कृतमिति संबध्यते । स्रवति विशीर्यत इत्युभाभ्यामपि नैष्कल्यमध्ययनस्य प्रतिपाद्यते । अधीतं ब्रह्म यस्मिन्कर्मणि विनियुज्येत तन्निष्फलं भवतीति निन्दार्थवादश्च पाकार्थनिषिक्तस्याप्राप्तपाकक्षीरादेरवच्छिद्रिते भाजने यद्वस्ततो विक्षेपः प्रक्षरणं तत्स्रवतीत्युच्यते तच्च पाकस्य पिण्डीभूतस्य भोग्यतां प्राप्तस्य यो विनाशः स विशरणम् ॥ ७४ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । आदावन्ते च प्रणवं कुर्यादुपादद्यात् सर्वदा ब्रह्मयज्ञादावपि पूर्वप्राग्गृहीतं स्रवति नश्यति परस्तात् गृहीष्यमाणं विशीर्यते ग्रहणकाले एव सम्यक् न गृह्यते ॥ ७४ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्रह्मणः प्रणवमिति । ब्रह्मणो वेदस्याध्ययनारम्भेऽध्ययनसमामौ चोद्गारं कुर्यात् । यस्मात्पूर्वयस्योद्गारेण कृतस्तत्स्रवति शनैः शनैर्नश्यति यस्य पुरस्तान्न कृतस्तद्विशीर्यत्यवस्थितिमेव न लभते ॥ ७४ ॥

(४) राघवानन्दः । अङ्काराद्यन्तमध्ययनं नियमयति ब्रह्मण इति । ब्रह्मणो वेदस्य पूर्वमनोङ्कृतं ब्रह्म स्रवति च्यवते स्वरवर्णतः विशीर्यते । यदप्यधीतं तदपि विस्मृतं स्यादिति प्रणवोच्चारणार्थवादः ॥ ७४ ॥

(५) नन्दनः । ब्रह्मणो वेदस्याध्येतव्यप्रदेशस्यादावन्ते च सर्वदा सदा आश्रमान्तरेऽपि आद्यन्तयोरनोङ्कृतं ब्रह्म । ब्रह्मगीतमदृष्टसाधनं परम् ॥ ७४ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्रह्मणः वेदस्यारम्भे अध्ययनारम्भे सदा प्रणवं कुर्यात् । अनोङ्कृतं पूर्ववेदः स्रवति अङ्कारं उच्चरति परस्तादध्ययनात् पश्चादध्ययनद्विदः विशीर्यते विस्मरणं यातीत्यर्थः ॥ ७४ ॥

प्राकूलान्पर्युपासीनःपवित्रैश्चैव पावितः ॥ प्राणायामैस्त्रिभिःपूतस्ततःॐकारमर्हति ॥ ७५ ॥

(१) मेधातिथिः । कूलशब्दोदभाप्रवचनः तान्पर्युपासीनः तेषु प्रागग्रेषु दर्भेषूपविष्टइत्यर्थः । अधिशीङ्स्थासामिति स्थाआआसामित्याङ्प्रश्लेषात्कर्मत्वंपरि उपआआसीनइतीहाभ्याङ्श्लिष्टनिर्दिष्टोद्भव्यः पर्युपशब्दावनर्थकौ । पवित्रैर्दर्भैरेवेमादितः शुचित्वमापादितः । अधमर्षणादिषु मन्त्रोनेह पवित्रशब्देनोच्यते । ब्रह्मचारिणस्तदानीमनधीतत्वात्तेषां च दर्भाः स्वसत्तामात्रेण काश्चिच्छ्रियामकुर्वतः पावने करणंभवन्तीति । अवान्तरव्यापारापेक्षया स्मृत्यन्तरे प्राणोपस्पर्शनंप्रतीयते । आह च गौतमः । प्राणोपस्पर्शनंदर्भैः प्राकूलेष्वासनंच प्राणायामैस्त्रिभिः पूतःमुखनासिकासंचारी वायुः प्राणस्तस्यायामोनिरोधः शरीरे धारणंबहिर्निष्क्रमणनिषेधः तस्यस्मृत्यन्तरे धारणकालस्य मानंसमाम्नातं । मन्त्रानुस्मरणंच प्रतिप्रणवसंयुक्तांगायत्रीशिरसा सह । त्रिर्जपेदायतप्राणःप्राणायामः सउच्यते ॥ वसिष्ठेन भगवता महाव्याहृतयोप्युक्ताः मन्त्रावसानएव निरोधावधिरन्यस्यानाम्नातत्वात्सर्वस्मृतीनांचासति विरोधएकार्थत्वादिहाप्येवमेवानुष्ठानम् । नन्वेवमितरेतराश्रयः स्यादकृतेषु प्राणायामेषुओंकारेणकर्तव्येन चोक्तारेण विना प्राणायामोनिवर्तते । नैषदोषः । त्रिर्जपेदिति प्राणायामेषुमानसव्यापारेणोंकारस्य स्मरणमुच्यते । नहिनिर्द्वप्राणस्य शब्दोच्चारणंसंभवति । यद्यपि जपः कश्चिद्वाग्व्यापारसाध्योभवति । स्वाध्यायाध्ययनेतु पुनरुच्चारणंविवक्षितं । अध्ययनक्रियायाएवंरूपत्वाच्छब्दक्रियायां धातुः श्रोत्र ग्राह्यशब्देन केवलेन मनसा गृह्यते । न चायमोंकारधर्मोयेनान्यत्रापि तस्मिन्नुच्चार्यमाणेऽपि प्रसज्येत । उक्तंच स्वाध्यायारम्भेकर्तव्यइत्योंकारधर्मत्वे हि लौकिकेषु वाक्येष्वमिति ब्रूमइत्यादिषु प्रसज्येत । गौतमेन तुपठितम् । प्राणायामस्त्रयः पञ्चदशमात्रादिति मात्राशब्देन चाविकृतस्य स्वरस्याकारादिर्यावान्कालः सउच्यते तत्र विरोधात्स्मृत्यन्तरोक्तः कालोनास्ति नच मन्त्रस्मरणंतत्रानोंकारापिप्राणायामाः सन्तीति नेतरेतराश्रयदोषापत्तिः । ततःॐकारमर्हतिकर्तुमिति शेषः यदा यंसमुदायएवरूढिरूपेण प्रणववचनः यदातुकरणंकारः ॐमित्येतस्यकारउच्चारणमोङ्कारस्तदानीस्ति पदान्तरापेक्षा । प्रणवशब्देन कर्तव्यतामुक्त्वाओंकारमित्यनुवदत्यतएताविकार्यौ । तथा च दर्शितम् ॥ ७५ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । प्राकूलानि कूलमग्रं प्रागग्रेषु दर्भेषूपरि वेष्टयित्वा स्थितेष्वपासीनः पवित्रैर्दर्भैः पावितः । यथा गौतमः प्राणोपस्पर्शनंदर्भैरिति प्राणाइन्द्रियाणि प्राणदेशोद्दयं वा प्राणायामैरिति प्राणायामास्त्रयःपञ्च दशमात्रादिति गौतमः । ॐकारंब्रह्मणआदिभूतम् ॥ ७५ ॥

(३) कुक्षूकः । प्राकूलानिति । प्राकूलान्प्रागग्रान्दर्भान्ध्यासीनः पवित्रैःकुशैः करद्वयस्थैः पवित्रीकृतः प्राणायामास्त्रयःपञ्चदशमात्रादिति गौतमस्मरणात् पञ्चदशमात्रैस्त्रिभिः प्राणायामैः प्रयतोऽकारादिलघ्वक्षरकालश्च मात्रा ततोऽध्ययनार्थमोङ्कारमर्हति ॥ ७५ ॥

(४) राघवानन्दः किंच प्रागिति । प्राकूलान्प्रागग्रान् कुशानिति शेषः । पवित्रैर्हस्तद्वयस्थैतकुशैः ॥ ७५ ॥

(५) नन्दनः । प्राकूलान्कुशान्परि प्रागग्रेषु पवित्रैर्मन्त्रप्रोक्षणादिभिः । ओङ्कारमोङ्कारोच्चारमर्हति प्राप्नोति । एषविधिः प्रथमाध्ययनपरः सर्वदेतिवचनाभावात् ॥ ७५ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्राकूलान्कुशान्गृहीत्वा गुरुपर्युपासीत पवित्रैःकुशैःपावितः त्रिभिःप्राणायामैःपूतोभवेत् ओंकारोच्चारणार्थसः अर्हति ॥ ७५ ॥

अकारंचाप्युकारंच मकारंच प्रजापतिः ॥ वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुवःस्वरितीति च ॥ ७६ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्य विधेरर्थवादः । अक्षरत्रयसमाहाररूपं अकारस्तत्रैकैकस्य व्युत्पत्तिमाह । वेदत्रया-
त्रिभ्योवेदेभ्यः निरदुहदुद्धृतवान्यथा दध्नुधृतमुद्भिष्यते । न केवलमक्षरत्रयं यावदिदमपरं भूर्भुवःस्वरिति ॥ ७६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रणवस्य प्रकृतस्तुतौ कार्यायांव्यादतिगायत्र्योः स्तुतिस्तयोरप्यादौ जपार्थां अकार-
मात्रजपस्तु प्रागुक्तस्तदसंभवे निरदुहदुद्धृतवान् इतीति । इतीति द्वयेन प्रकारद्वयाभिधानेन भूर्भुवः स्वरित्येवं प्रकाराव्याद-
तयः संगृहीताः ॥ ७६ ॥

(३) कुङ्कुमः । अकारंचेति । एतदक्षरमेतांचेति वक्ष्यति तस्यायंशेषः । अकारमुकारंमकारंच प्रणवावयवभूतं-
ब्रह्म वेदत्रयाद्यग्यजुःसामलक्षणाद्भूर्भुवःस्वरिति व्यादतित्रयंच क्रमेण निरदुहदुद्धृतवान् ॥ ७६ ॥

(४) राघवानन्दः । प्राणायामपूतस्यैव प्रणवोच्चारणाधिकारइत्युक्तेस्तदङ्गायत्रीप्रणवव्यादतिसंयुक्तं ज्ञापयन्
आदौ प्रणवस्य वेदत्रयसारतामाह अकारंचेति द्वाभ्यां । वेदत्रयात् ऋग्यजुःसामभ्यः निरदुहदुद्धृतवान् दध्नुधृत-
नवनीतम् ॥ ७६ ॥

(५) नन्दनः । वेदग्रहणारम्भे व्यादतित्रयसावित्र्योरपि ग्रंथोज्यतांश्लोकद्वयेनाह अकारमिति । निरदुहन्निश्च-
कर्ष । अस्यानन्तरं द्वितीयस्येति करणस्यान्वयः पश्चात् भूर्भुवःस्वरितिचेत्यन्वयः । ततोऽयमर्थः इति एवं यथाऽकारादीन्वर्णा-
न्निरदुहदेवं भूर्भुवःस्वरितिच निरदुहदिति ॥ ७६ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रजापतिः अकारं ऋग्वेदाददुहत् उकारंच यजुर्वेदाददुहत् । मकारंसामवेदाददुहत् । ऋग्वेदा-
द्भूः अदुहत् । यजुर्वेदात् भुवः । सामतः स्वरिति अदुहत् । तिस्रः व्यादतयः भवन्ति ॥ ७६ ॥

त्रिभ्यएव तु वेदेभ्यः पादंपादमदुहत् ॥ तदित्यृचोस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥ ७७ ॥

(१) मेधातिथिः । अयंतत्सवितुर्वरेण्यमित्येतस्याः गायत्र्या उत्पत्त्यर्थवादो विधानार्थः । पूर्वश्लोके चार्थवादो देव-
व्यादतीनामपि विधानम् । क्रमस्तु पाठावगम्यः वक्ष्यति च । एतदक्षरमेतांच जपन्त्यादतिपूर्विकामिति । अदुहदुद्धृतवा-
निति । यद्यपि तदित्येतत्प्रतीकेन तत्सवितुर्वर्णीमह इति वा शक्यते लक्षायतुं न तु सा त्रिपदेति । त्रिपदैव याज्ञा त्रिपदाचैव
सावित्रीति कश्यपादयोपि प्रजापतयः सन्त्यतो विशिनष्टि । परमेष्ठीति हिरण्यगर्भः सहि परमे स्थानेऽनावृत्तिलक्षणे स्थित
आदरातिशयार्थे चैतत्सावित्र्याः साक्षात्कलेयं सर्वमुखेन प्रजापतिना वेदेभ्यः समुद्धृतेति ॥ ७७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अदुहदुहत्सारप्राप्त्यर्थमारुहवान् सावित्र्याः सावित्रीति निरुपपदेन पठनरूढा तत्सवि-
तुर्वरेण्यमिति गृह्यते न तत्सवितुर्वर्णीमह इत्यादयः ॥ ७७ ॥

(३) कुङ्कुमः । त्रिभ्यएवेति । तथा त्रिभ्यएव वेदेभ्य ऋग्यजुःसामभ्यस्तदित्यृच इति प्रतीकेनानूदितायाः सा-
वित्र्याः पादंपादमिति त्रीन्पादान् ब्रह्माचकर्ष । परमेस्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठी ॥ ७७ ॥

(४) राघवानन्दः । तेभ्यो गायत्र्यास्त्रीन्पादान्दुहदित्याह त्रिभ्य इति । तदित्यृचः तत्सवितुर्गत्याद्यायाऋचः परमेष्ठी
हिरण्यगर्भः आपोज्योतिरित्यादिशिरोपि ज्ञेयं । सव्यादतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह । त्रिः पठेदायते प्राणः प्राणायामः
स उच्यते इति श्रुतेः । गायत्रीं शिरसा सार्धं जपेद्यादतिपूर्विकां । प्रतिप्रणवसंयुक्तां त्रिरयं प्राणसंयम इति याज्ञवल्क्योक्तेश्च ॥
गायत्रीत्युपलक्षणं त्रिष्टुब्जगत्योः संवत्सरे षण्मास्ये चतुर्विंशत्यहे द्वादशाहे षडहे त्र्यहे वा सद्यः श्लेषगायत्रीं ब्राह्मणायानुब्रू-

यादाग्नेयोवै ब्राह्मणइति श्रुतेः । त्रिष्टुभंराजन्यस्य जगतीवैश्वस्य सर्वेषांवागायत्रीमिति त्रिष्टुभंक्षत्रियाय त्रिष्टुप्लुन्दस्कां तथावैश्वस्य प्रजापतिदृष्टांजगतीछन्दस्कांसवितृदेवत्यांरुक्मपाशविमोचनेउखासंभरणे विनियुक्तांविश्वरूपाणि प्रतिभुञ्चते कविः प्रासावीन्द्रद्रद्विपदे चतुष्पदे विनाकमख्यत्सविता वरेण्योनुप्रयाणमुषसोविराजति॥ इत्येतामृचंप्रब्रूयात् बृहस्पतिदृष्टस-
वितृदेवत्यादेवसवितः प्रसुव यज्ञंप्रसुव यज्ञपतिंभगाय दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचमद्यः स्वदा-
तिनः स्वाहाजपेत्वाज्यविनियुक्ताम् ॥ ७७ ॥

(५) नन्दनः । तदितितत्सवितुरितिसावित्र्याः सवितृदेवत्यायाऋचोऽदूदुहदंधुक्षत् । तस्माद्वेदत्रयसारत्वाद्यात्-
तित्रयसावित्र्यौ वेदारम्भे प्रयोज्येति ॥ ७७ ॥

(६) रामचन्द्रः । तस्मात् कारणात् अस्याःसावित्र्याऋचःइति निश्चितं त्रिभ्यएव वेदेभ्यः पादं पादं
अदुहत् ॥ ७७ ॥

एतदक्षरमेतांच जपन्व्याहृतिपूर्विकाम् ॥ संध्ययोर्वेदविद्विप्रोवेदपुण्येन युज्यते ॥ ७८ ॥

(१) मेधातिथिः । सत्यपि स्वाध्यायविधिप्रकरणैकवाक्यात्संध्याजपविधिरयंतत्र गायत्र्याऽनुवादः प्रणवव्याहृ-
तीनामप्राप्तविधिअत्र कश्चिदाह । नायंसंध्याविधिप्रकरणात् विधिर्हिभवन्नब्रह्मचारिणः स्यात्तस्य प्रकृतत्वात् । नच तस्य
संभवतीहहि वेदविदित्युच्यते । नच तस्य प्रथमोपनीतस्य वेदवित्त्वमस्त्यपिच फलमत्र श्रूयते । वेदपुण्येन युज्यते ।
नित्यस्य संध्योपासनविधिः न फलार्थः नचैतद्विद्वः किमिदंवेदपुण्यंनामफलंयेनयोगोयंजपउच्यते।यदि तावद्वेदाध्ययनत्वा-
द्यत्पुण्यमभिप्रेतंतदवामिर्वेदपुण्येनयोगोभिप्रेतस्तत्रयस्तावदयंप्रकृतः स्वाध्यायविधिस्तस्य नार्थावबोधादते किंचित्फलम-
स्त्यश्रुतत्वाद्गृह्णत्वाच्चार्यावबोधस्य कल्पनापि नास्ति । यश्च गृहस्थादीनांविधिरहरहः स्वाध्यायमधीर्यतीति सोपि नित्यएव
यत्तत्रफलश्रवणं पयोदधिघृतमंध्विति सौर्धवादएव तस्मान्नायंविधिः विधौ हि सर्वमेतद्विवक्षितव्यं यदात्वयमर्थवादस्तदा
जपन्निति प्रकृतमध्ययनमुच्यते वेदपुण्येनेत्येतदपि यथाकथंचिन्नीयते । अत्रोच्यते वाक्येन प्रकरणंबाध्यतइत्युक्तमेव ।
यतएव वेदवित्पदं संध्यापदंचन प्रकृतविषयतयाभ्येति ततएवान्यत्रायंविधिः संध्ययोरेतत्रयंजपेदित्येतावांविधिः वेद-
वित्पदमनुवविष्यते गृहस्थादीनांवेदवित्त्वस्यसंभवाद्ब्रह्मचारिणोवेदवित्त्वं संभवतीति चेत्किंतदीयेन संभवेन यथा प्राप्तानु-
वादे हि सचाश्रमिणामधिकारः कर्तृविशेषणेहि वेदवित्पदे ब्रह्मचारिणोनाधिकारः स्यात्कथंपुनरस्यानुवादः वाक्यभेदप्रस-
ङ्गात् । विधौ संध्याविधौ प्राप्ते प्रणवव्याहृतयस्तावदप्राप्तास्तत्रविधातव्या तत्रयद्यपरंवेदविदिविधीयते तदा वाक्यभेदः
स्यात् प्राप्ते हि कर्मणि नानेकार्थविधानंसंभवति प्रणवव्याहृतिनांतु नानुवादः संभवति । तेनायमत्र वाक्यार्थः संध्ययो-
र्यत्सावित्रीजपेदित्युक्तं तत्रायमपरोगुणः प्रणवव्याहृतीपूर्विकांतांजपेत् । विप्रग्रहणंच तदा प्रदर्शनार्थमेव । यदप्युक्तं फल-
मत्रश्रूयते नित्यश्चायंविधिः संध्यायाः कोनामायंविरोधः नित्यएव तस्मिन्गुणे कामोभविष्यति । प्रणवव्याहृतीगुणकात्त-
स्मादिदंफलमिति । यथा गोदोहनप्रणयनकादग्निहोत्रात्पशवः फलं । गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेदिति वाक्यसामर्थ्येन
अभ्येतुश्चैतदुक्तं न त्वयंकाम्योविधिः स्मृत्यन्तरे हिनित्यएवायंविधिः स्पष्टएवोक्तोगायत्रीशिरसासार्धंजपद्याहृतिपूर्विका-
मिति । फलानामवगमोभवतैवोक्तः । अयंस्वर्थोवेदपुण्येनेति वेदे यत्संध्योपासनात्पुण्यमुक्तं तेनत्रिकमेतजपन्युज्यते न
केवलंगायत्री । पुण्यंच धर्मः वेदमूलत्वात्स्मृतीनांस्मृत्युक्तमपि वेदपुण्यतया व्यपदिश्यते वेदस्य पुण्यंवेदपुण्यंकिंच
वेदस्यपुण्यंयत्नेन प्रतिपाद्यते पठ्यमानाद्वेदाद्यज्यायते तदपि शक्यते तस्येति वक्तुम् किंत्वसाधारणत्वात्प्रतिपाद्यमेव
युक्तंन्यपदेष्टुंनोत्पाद्यंयागादयोधर्ममुत्पादयन्ति। प्रतिपादकस्तु वेदएव येन्यन्त्यस्य पादस्य सामर्थ्यमाहुः । यदुक्तंनित्यत्वा-

ध्यायइति तत्र संध्यायां त्रिकजपादेव कृतार्था भवन्तीति तदप्यसत् । एवं सति तेन विधिना विकल्पेत । तत्र च पाक्षिको नित्यस्वाध्यायताया बाधः स्यात् । नचाबाधे संभवति बाधोभ्युपगंतव्यः । एतदक्षरमित्योकारस्य प्रतिनिर्देशः । ननु च नैतदे-
कमक्षरद्वे वा त्रीणि वा उच्यते । अक्षरशब्देन केवलं स्वर उच्यते । व्यञ्जनसंयोगश्च तत्रेह यादृशः प्रकृतः तादृशस्याभिधा-
नम् । एतां च तत्सवितुर्वरेण्यमिति सावित्रीं व्यान्दतयः पूर्वायस्यास्तां व्यान्दती पूर्वाङ्कां तिस्रः प्रकृता एव ता व्यान्दतयोगृह्यन्ते
प्रकृतपरत्वादस्य न सप्त सत्यान्ताः ॥ ७८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रसंगादन्यदप्येतैः कार्यमाह एतदिति । वेदविदिति वेदाध्ययनवान् ननु गायत्रीमात्रसरो-
पीति श्रुतिदर्शनादनधीत वेदोपि वेदपुण्येन कृत्स्नवेदाध्ययनफलेन ॥ ७८ ॥

(३) कृच्छुकः । यतएवमतएतदक्षरमिति । एतदक्षरमोङ्काररूपमेतां च त्रिपदां सावित्रीं व्यान्दति त्रयपूर्विकां संध्याकाले
जपन्वेदज्ञो विप्रादिर्वेदत्रयाध्ययनपुण्येन युक्तो भवति । अतः संध्याकाले प्रणवव्यान्दति त्रयोपेतां सावित्रीं जपेदिति विधिः
कल्प्यते ॥ ७८ ॥

(४) राघवानन्दः । संध्यास्याजपार्थमानुपूर्वी प्रदर्शयति एतदिति । एतदक्षरं ओंकाराक्षरं एतां तत्सवितुरित्यादिप्रचोदं
यादित्यन्तां भूर्भुवः स्वरिति व्यान्दतयः प्रणवात्परस्मिन्पूर्वं च व्यान्दतयोऽस्यानदित्यादिकायाः तामित्यर्थः वेदपुण्येन वेदत्र-
याध्ययनजतुल्यपुण्येन ॥ ७८ ॥

(५) नन्दनः । अथ प्रणवव्यान्दतिसावित्रीणां माहात्म्यं प्रसङ्गादाह एतदिति । अक्षरं प्रणवम् । एतां सावित्रीम् ।
विप्रशब्दोऽत्र त्रयवैश्ययोऽप्युपलक्षणार्थः । वेदविद्वेदविदः पुण्येन युज्यते वेदत्रयार्थविदो वेदत्रयजपिनश्च यत्फलं तदह-
भतइत्यर्थः ॥ ७८ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतदक्षरमोकारं एतां त्रिपदां व्यान्दति पूर्विकां संध्यायोजपन्तदा वेद पुण्येन वेदाध्ययनजन्य-
पुण्येन युज्यते ॥ ७८ ॥

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतन्निकं द्विजः ॥ महतोऽप्येन सोमासा च्वचेवाऽर्हि विमुच्यते ॥ ७९ ॥

(१) मेधातिथिः । बहिरित्यनावृतो देश उच्यते तेनैतदुक्तं भवति । ग्रामनगराभ्यां बहिररण्ये नदीपुलिनादौ सहस्र-
वारानभ्यस्याऽऽवर्त्य ननु कृत्वमुचोप्यावृत्तिः प्रतिपाद्यते । अभ्यस्येत्यनेनापि तत्र पौनरुक्त्यं । सामान्यविशेषभावादो-
षः । अभ्यस्येत्यनेन सामान्यतोभ्यास उक्तस्तत्र विशेषापेक्षायां सहस्रकृत्वेति न च कृत्वमुजंतादेवोभ्याऽवगतिस्तस्य
क्रिया विशेषापेक्षत्वात् । नहि देवदत्तः पञ्चकृत्वो न्हइत्युक्ते यावद्भुङ्क्तेति तेनोच्यते तावद्वाक्यार्थः समाप्यते । ननु चा-
भ्यस्येत्यनेनापि न काचिद्विशिष्टाक्रियोपात्ता सत्यं जपः प्रकृतस्तमभ्यस्येति प्रतीयते । आवृत्तिः पौनःपुन्येन सेवाम-
हतोऽप्येनसः महत्पापं च ब्रह्महत्यादि । ततोपि मुच्यते किंपुनरुपपातकेभ्यः अपिः संभावने न समुच्ये भेदोपादानेन समु-
च्यवागमोयथा देवदत्तस्यात्र प्रभुत्वं यज्ञदत्तस्यापीह न तथा निर्देशः केभ्यः पुनरुपपातकेभ्योऽयं मोक्ष उच्यते । गोवधादी-
न्युपपातकानि तानि च प्रतिपापमाप्नातप्रायश्चित्तानि सरहस्यानि यानि वा संवेत्ति न कृतान्यनुक्तपरिहाराण्यवश्यं भा-
वितया च ज्ञायते । कृतानीति । तेषामपि नित्यानि संध्योपासनादीन्यपनोदकानि । यदि चैतत्प्रायश्चित्तं स्मृतां तत्रैवाव-
क्ष्यत् । जपेद्वै नियताहारः त्रिवेदेस्य संहितामिति चेत्प्रायश्चित्ते चास्मिन्प्रायश्चित्तकरणमेवानर्थकं स्यात् । कोहि दे-
ववशप्राप्तो जपमात्रसाध्यानिष्कृतिं हित्वा कृच्छ्रेषु शरीरप्राणहरेष्वभ्यवस्येत् । उक्तं च । अर्के चेन्मधुविन्देत् किमर्थं पर्वतं-
ब्रजेत् । इष्टस्यार्थस्य संप्राप्तौ कोविद्वान्यत्नमाचरेत् ॥ तथा पणलभ्यं हि न प्राज्ञः क्रीणाति दशभिः पणैरिति । न च प्रकृतेनै-

कवाक्यताबीजं किंचिद्विभज्यमानसापेक्षत्वाद्यस्ति येन तच्छेषतयार्थवाद उच्यते अत्रोच्यते । विधिरेवायं पापप्रमोचनार्थ-
 एवायं प्रयोगः । यत्तूक्तं विषमशिष्टैर्विकल्पो न सिध्यतीति जपप्रायश्चित्तएवास्मिन् विकल्पार्थो भविष्यति । अघमर्षणादि-
 भिः सर्वपापापनोदनमुक्तं तेनास्य विकल्पअघमर्षणे हि व्यहमपवास उक्तः । इहाश्रमेव मासिकेन प्रयोगेण शुध्यति ।
 ततो न दूरविप्ररुष्टे न तपसा समीयते येन विषमशिष्टता स्यात् । अथवा पूर्वकृतस्यैनसः शुद्धिरेषा ग्रहादौ स्थित्यादी-
 सूचिते दैवे दोषे तस्मान्मोक्षअनिष्टमेन उच्यते । तस्मान्मुच्यते तत्फलननसंबध्यत इत्यर्थः । त्वचेवाहिर्जीर्णया त्वचा-
 मुक्तः सर्पेयथा भवति निरवशेषेण पापनाश एतेन प्रतिपाद्यते । यतुदौश्र्यादिमूचितं पूर्वकृतमशुभं तत्र स्मृत्यन्तरे प्राय-
 श्चित्तमाप्नातं बहु तत्प्रायश्चित्तेष्वेव निदर्शयिष्यामः । एतदेवाभिप्रेत्योक्तं । जपतां जुह्वातां चैव विनिपातो न दृश्यते इति ॥ ७९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायण । बहिर्ग्रामात् त्रिकं प्रणवव्याहृति गायत्रीरूपं महतो ब्रह्महत्यादेरपि अबुद्धिपूर्वकृतव्रात्य
 ब्राह्मणवधादिरूपात् मासात्कालमात्रात् त्वचेत्यादिदृष्टान्तोदाहृतिरन्तिकदाढ्यार्थः ॥ ७९ ॥

(३) कुल्लूकः । सहस्रकृत्व इति सन्ध्यायामन्यत्र काल एतत्प्रकृतं प्रणवव्याहृति त्रयसावित्र्यात्मकं त्रिकं ग्रामाद्बहिर्-
 दीतीरारण्यादौ सहस्रावृत्तिजपित्वामहतोऽपि पापात्सर्पद्वकञ्चुकान्मुच्यते । तस्मात्पापक्षयार्थमिदं जपनीयमित्यप्रकर-
 णेऽपिलाघवार्थमुक्तम् । अन्यत्रैतत्त्रयोच्चारणमपि पुनः कर्तव्यं स्यात् ॥ ७९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच तस्याजपविशेषे फलविशेषमाह सहस्रेति । त्रिकं प्रणववादित्रयं बहिः ग्रामात् न धरण्या-
 दौ त्वचः कञ्चुकात् उवपमानार्थः त्वचेवेति क्वचित् महतो ब्रह्महत्यादेः तस्मात्सर्वपापक्षयकामेनैषा जपनीयेति भावः ॥ ७९ ॥

(५) नन्दनः । बहिः सन्ध्याभ्यामन्यस्मिन्कालेऽपि ग्रामाद्बहिरिति वा ॥ ७९ ॥

(६) रामचन्द्रः । तु पुनः जलाद्बहिर्गत्वा एतत्त्रिकं त्रिपदां सहस्रकृत्वः सहस्रसङ्ख्यां जपित्वामहतोऽपि एनसः पापात् मा-
 सात्मासपर्यन्तात् विमुच्यते ॥ ७९ ॥

एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया ॥ ब्रह्मक्षत्रियविद्यो निर्गर्हणायाति साधुषु ॥ ८० ॥

(१) मेधातिथिः । एतया सावित्र्या विसंयुक्तोहीनसंध्योपासनस्त्यक्तत्वाध्यायश्च गर्हणानिन्दां साधुषु विशिष्टेषु या-
 ति । प्राप्नोति । कीदृशीं गर्हणां प्राप्नोत्यत आह । काले च क्रियया स्वया कालआषोडशादित्यस्मिन्वियुक्ते मते निन्द्यते । एवमुप-
 नीतोऽपि स्वाध्यायारम्भयोग्यः सावित्रीवर्जितो ब्राह्मण एव भवति त्रयाणां साधारणी स्वक्रिया सह निर्दिष्टा साचोपनयनमेव
 कालशब्दश्चैव मर्थवान् । अध्ययनादिस्वकर्मविवक्षायामेतावदेव वाच्यं स्यात् । यत्क्रिया या स्वयेति योनिशब्दो जन्मपर्यायो
 जात्यर्थगमयति विप्रादिजातीय इत्यर्थः । अर्थवादोऽयं ब्राह्मणप्रायश्चित्तार्थः ॥ ८० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विसंयुक्तो वियुक्तः स्वया कृतया अग्निहोत्रादिकया गर्हणानिन्दां ग्रहणमिति पाठे ग्रहणं-
 परिग्रहं तत्रापि संयुक्त इत्यकारप्रत्ययेण पाठः ॥ ८० ॥

(३) कुल्लूकः । एतयर्चेति । सन्ध्यायामन्यत्र समयः क्वचित् यथा सावित्र्या वियुक्तस्त्यक्त सावित्रीजपः स्वकीयया क्रि-
 यया सायं प्रातर्होमादिरूपया स्वकाले त्यक्तो ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्योऽपि सज्जनेषु निन्दां गच्छति तस्मात्स्वकाले सावित्री-
 जपस्वक्रियां च न त्यजेत् ॥ ८० ॥

(४) राघवानन्दः । एतद्वैमुख्ये दोषमाह एतयेति । एतया कृत्वा तत्सवितुरित्यादिकया विसंयुक्तः परित्यक्तः
 क्रियया सन्ध्याग्निहोत्रादिकया च गर्हणानिन्द्यताम् ॥ ८० ॥

(५) नन्दनः । एतयर्चा प्रणवव्याहृतिपूर्वया सावित्र्या विसंयुक्तः काले च क्रियया त्वयेत्युपन्यासोदष्टान्तार्थः । यथासन्ध्योपासनादिस्वकर्मणावियुक्तस्तथेति । गर्हणायाति साधुषु दोषभूयिष्ठत्वात्साधुभिस्त्याज्यइत्यर्थः । अपरेतु-
मन्यन्तेएतयर्चा विसंयुक्तोऽनुपनीतअतएव तत्तत्कालविहितस्वकर्मरहितोविप्रक्षत्रियविड्योनिजातोऽपि सत्सु त्याज्यतां-
यातीति ॥ ८० ॥

(६) रामचन्द्रः । एतयाक्रचा गायत्र्या विसंयुक्तः विरहितः काले जपकाले च पुनः स्वया क्रियया सायंप्रात-
र्होमादिक्रियया विसंयुक्तःरहितःविप्रक्षत्रियविड्योनिः साधुषु गर्हणायाति ॥ ८० ॥

ओंकारपूर्विकास्तिस्रोमहाव्याहृतयोऽव्ययाः ॥ त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयंब्रह्मणोमुखम् ॥ ८१ ॥

(१) मेधातिथिः । ओंकारःपूर्वोपासांतओंकारपूर्विकाः । महाव्याहृतयः प्रकृताएव भूर्भुवःस्वरित्येते शब्दाअभिधी-
यन्ते । अव्ययाअविनाशिन्यः फलस्य दीर्घकालत्वादेवमुच्यते । अन्यथा सर्वएव शब्दानित्यादिति विशेषणमनर्थकम् । त्रि-
पदातत्सवितुरित्येषा सावित्री ब्रह्मणोमुखं । आद्यत्वान्मुखव्यपदेशअतश्चारम्भअध्येयमेतदित्यस्यैवार्थवादः । अथवा मुखं-
द्वारमुपायोब्रह्मप्राप्तिरनेन भवतितदेवाह ॥ ८१ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । ब्रह्मणोवेदस्य मुखं ततस्तदारभ्य एतन्नयजपःकार्यइत्यर्थः ॥ ८१ ॥

(३) कुङ्कुमः । ओंकारपूर्विकेति ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रोव्याहृतयोभूर्भुवःस्वरित्येताअक्षरब्रह्मावामिफलत्वेनाव्ययाः
त्रिपदा च सावित्रीब्रह्मणोवेदस्य मुखमाद्यं तत्पूर्वकवेदाध्ययनारम्भान् । अथवा ब्रह्मणः परमात्मनः प्राप्तेर्द्वारमेतद-
ध्ययनजपादिना निष्पापस्य ब्रह्मज्ञानप्रकर्षण मोक्षावाप्तेः ॥ ८१ ॥

(४) राघवानन्दः । मुमुक्षुणांतदेव शरणमित्याह ओमिति । अव्ययां अव्ययफलदात्रीं ब्रह्मणःपरंब्रह्मणःमुखंप्रा-
प्सुपायंवेदस्य प्रधानभूतंवा ॥ ८१ ॥

(५) नन्दनः । ब्रह्मणोवेदस्य मुखंशरीरम् । तथा च सामुद्रिकवचनंमुखमर्धशरीरस्येति । अथवाब्रह्मणोमुखंवे-
दाधिगमनद्वारम् ॥ ८१ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रिपदा चैव सावित्री ब्रह्मणोवेदस्य मुखंआद्यंतत्पूर्वकवेदाध्ययनंविज्ञेयं ओंकारपूर्विकामहा
व्याहृतयःतिस्रःअव्ययाःतद्यथा ओंभूः ओंभुवः ओंस्वरितित्रयः व्याहृतयःअथवा ब्रह्मणःपरमात्मनःप्राप्तःमुखंद्वारंएतद-
ध्ययनजपादिना ॥ ८१ ॥

योऽधीतेऽहन्यहन्येतांत्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ॥ सब्रह्मपरमभ्येति वायुभूतःस्वमूर्तिमान् ॥ ८२ ॥

(१) मेधातिथिः । आकाशइव सर्वव्यापंविभुः संपद्यते स्वमूर्तिः ख स्वभाववान् ननु मूर्तिःशरीरमाकाशस्य शरी-
राभावात् । अथ किमिदंब्रह्म यद्रूपापत्तिरुच्यते । परमात्माऽऽनन्दरूपः यस्येमे क्षेत्रज्ञाः पवनजवोद्धतस्य वारिगशेरिदो-
र्मयः । ते यथा प्रशान्तावस्थे तस्मिन्तद्रूपाभवन्ति । एवममीतद्रूपाआत्मानः संपद्यन्ते । विशेषतश्च सर्वमेतद्वादशे वक्ष्यते ।
अध्ययनमिदंगायत्र्याश्रोदितेन जपोन चावृत्तिगणनास्ति । अतन्द्रितइतिवचनाद्बहुकृत्वः करणंप्रतीयते । सकृत्प्रयोगे हि
नास्ति तन्द्राशङ्कामोक्षार्थनोयंविधिः ॥ ८२ ॥

(८२) स्वमूर्तिमान्=त्वमूर्तिमान् (ज, झ,)

(२) सर्वज्ञनारायणः । वायुभूतोऽप्रतिहतगतिः खमूर्तिमानशुद्धः ॥ ८२ ॥

(३) कुल्लूकः । अतएवाह योऽधीतइति । यः प्रत्यहमनलसः सन्सावित्रीप्रणवव्यादृतियुक्तावर्षत्रयमधीते सपरंब्रह्माभिमुखेन गच्छति सवायुभूतोवायुरिवकामचारी जायते खंब्रह्मतदेवास्य मूर्तिरिति खमूर्तिमान्भवति शरीरस्यापिनाशान् ब्रह्मैवसंपद्यते ॥ ८२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच यदिति । अधीते अभ्यस्यति संख्यापूर्वोक्तैव वायुभूतः वायुर्वैगौतमततसूत्रमित्यादिश्रुते-
हिरण्यगर्भपदवीं प्राप्य खमूर्तिमान् आकाशवद्देहाद्यनवच्छिन्नः ब्रह्म भवेदिति क्रममुक्तिरित्यर्थः ॥ ८२ ॥

(५) नन्दनः । एतांप्रणवव्यादृतिपूर्विकांसावित्रीम् । अतन्द्रितः शक्तौ सत्यां न कदाचिदप्यनन्यपरः । वायुभूतः सर्वव्यापी । खमूर्तिमान् लेपरहितः । परंब्रह्माप्येति परस्मिन्ब्रह्मणि लीयते ॥ ८२ ॥

(६) रामचन्द्रः । अहनिअहनि प्रत्यहं एतां त्रिपदीयः अधीते त्रीणि वर्षाणि त्रिवर्षपर्यन्तंसंपुष्टः परंब्रह्म अभ्येति ब्रह्मत्वं एति वायुभूतः वायुरूपः खमूर्तिमान् अमूर्तित्वात् ॥ ८२ ॥

एकाक्षरंपरंब्रह्मप्राणायामाः परंतपः ॥ सावित्र्यास्तु परंनास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते ॥ ८३ ॥

(१) मेधातिथिः । ॐकार एकाक्षरंतत्परंब्रह्म । ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वात् । तज्जपतदर्थं भावनया ब्रह्मप्राप्तेरेवमुच्यते । ॐमिति ब्रह्माभिधानम् । एवं ह्यहुस्तस्य वाचकः प्रणवइति तत्परंपरुष्टंकुतोऽभ्याभ्यो ब्रह्मोपासनाभ्योऽन्नंब्रह्मेत्युपासीता दित्यो ब्रह्मेत्येति शब्द इति एवमाद्याभ्युपासनाभ्यः ॐकारोपासनाप्रकृत्यते । अध्ययनादेव तत्प्राप्त्यभिधानान् । शब्दस्यैव च ब्रह्मत्वेन श्रवणात् । शब्दब्रह्मणि निष्णातः परंब्रह्माधिगच्छतीति । सर्वोत्सर्थावागव्यवहारानतीतो वाचश्च सर्वस्या ॐकारो मूलं तथाच श्रुतिस्तद्यथाशङ्कुना सर्वाणि पत्राणि संतृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक् संतृण्णा ॐकार एवेदं सर्वमिति । अन्तर्द्धानमनुस्मृतिः आश्रयभावापत्तिर्वीकथं पुनः सर्वावागोङ्कारेण संतृण्णा वैदिक्यास्तावदोङ्कारपूर्वकत्वमुक्तम् । लौकिक्या अपि तदादीनि वाक्यानि स्युरित्यापस्तम्बवचनात् उपनिषद्भाष्ये चैतदन्यथा व्याख्यातं तत्त्विहानुपयोगान्नप्रदर्शितम् । प्राणायामशब्द आचमनवद्विशिष्टैककर्तव्यताके प्राणनिरोधे वर्तते । परंतपश्चाद्रायणादिभ्यः किंपुनस्तस्य श्रेष्ठ्यं भक्तिरेषा सावित्र्याः परमन्ब्रह्मज्ञानंनास्ति । एषामिति प्रशंसा मौनात्सत्यं विशिष्यते । मौनं वाङ्मयमउच्यते तस्य च नियमउच्यते । यत्फलं ते नियमउच्यते । यत्फलंततोधिकंसत्यवचनात्प्राप्यते सत्यवचने विध्यर्थोपि तथानुष्ठितो भवति । मौने तु केवलमनृतप्रतिषेधानुष्ठानमेव । अर्थवादोऽयं श्लोकः ॥ ८३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । परंब्रह्म परमो वेदः प्राणायामसत्ययोः प्रसङ्गात् श्रुतेः परं जप्यंनास्ति सत्यं विशिष्यते । उभयत्रानृतानविधानसाम्येपि सत्याभिधाननियमाधिक्यात् ॥ ८३ ॥

(३) कुल्लूकः । एकाक्षरमिति । एकाक्षरमोङ्कारः परंब्रह्म परंब्रह्मावाप्तिहेतुत्वादोङ्कारस्य जपेन तदर्थस्य च परंब्रह्मणो भावनया तदवाप्तेः । प्राणायामाः सप्रणवसव्यादृतिसशिरस्कगायत्रीभिस्त्रिरावृत्तिभिः कृताश्चान्द्रायणादिभ्योऽपि परंतपः । प्राणायामा इति बहुवचननिर्देशात् त्रयोऽवश्यकर्तव्या इत्युक्तम् । सावित्र्याः प्रकृष्टमन्यमन्त्रजातंनास्ति । मौनादपि सत्यं वाग्विशिष्यते । एषांचतुर्णांस्तुत्या चत्वार्येतान्युपासनीयानीति विधिः कल्प्यते । धरणीधरेण तु । एकाक्षरंपरंब्रह्मप्राणायामपरंतपइति पठितं व्याख्यातं च एकाक्षरंपरं यस्य तदेकाक्षरपरं एवं प्राणायामपरमिति मेधातिथिप्रभृतिभिर्बुद्धैरलिखितं यतः लिखनात्पाठान्तरंतत्र स्वतन्त्रो धरणीधरः ॥ ८३ ॥

(४) राघवानन्दः । संप्रति मुमुक्षूणांसनिपत्योपकारकाणि ब्रुवन्त्रीक्षादिसाध्यहिंसात्मकानि कर्माणि निन्दति एकाक्षरमितिद्वाभ्याम् । एकाक्षरं प्रणवः परंब्रह्मतदभिधायकत्वात् तस्य वाचकः प्रणव इति पातञ्जलोक्तेः । परंतपः शरीरशोषणपापनाशकत्वसाध्यात्प्राणायामेन पातकमित्युक्तेः अत आह मौनात्सत्यमिति । मौनात् तूष्णींभावात्सत्यं प्रणवादिजपः उपक्रमोपसंहाराभ्यां जप एव तात्पर्यात् ॥ ८३ ॥

(५) नन्दनः । शास्त्रान्तरेषु ब्रह्मप्राप्तेरुपायः समाधिरित्युक्तं तस्मादपि प्रणवादित्रिकजपो विशिष्टतर इत्याह एकाक्षरमिति । एकाक्षरं प्रणवः परंब्रह्मब्रह्मस्वरूपत्वात् । तथाहि ब्रह्मनन्दिवाक्यं ओमित्यात्मेति । प्रतीम इति । तथा चोपनिषद्युक्तं ओमिति ब्रह्मेति । प्राणायामशब्देन व्यावृत्तयो लक्ष्यन्ते । ताः खलवातमितोः प्राणानायम्य रेचयतः प्रजापतेरास्याद्रेचकशब्दरूपानिर्गताः । तथाहि श्रुतिः सचतुर्होत्रात्प्यतसोऽताम्यत् । सभूरिति व्याहरत् सद्वितीयमतप्यत । सोऽताम्यत् सभुवै इति व्याहरत् सतृतीयमतप्यत सोऽताम्यत् ससुवरिति व्याहरदिति । परमतपः साधनत्वात् परमतपः । मौनं तूष्णींभावः समस्तेन्द्रियोपरतिः समाधिरित्यावत् । सत्यं जपः सत्यरूपत्वात् । एतदुक्तं भवति प्रणवः परंब्रह्मस्वरूपं व्यावृत्तयः परमतपः साधनभूताः सावित्र्या विशिष्टं न कश्चिदस्ति तस्मात्तेषां जपः समाधेरपि विशिष्यत इति ॥ ८३ ॥

(६) रामचन्द्रः । एकाक्षरं परंब्रह्म ओंकाररूपं परंब्रह्मप्राणायामाः प्राणसंयमाः परं उत्कृष्टतपः सावित्र्याः जपात्परं नास्ति । मौनात्सत्यं विशिष्यते । प्रलापरहितं मौनं प्रलापोनर्थकं वचः इत्यमरः ॥ ८३ ॥

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोति यजति क्रियाः ॥ अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ॥ ८४ ॥

(१) मेधातिथिः । यावन्तः केचन वैदिकाहोमाग्निहोत्रादयो ये च यागाज्योतिष्टोमादयः ते सर्वे क्षरन्तिन परिपूर्णफला भवन्ति । फलं वा तदियं स्रवत्याशु विनश्यति अक्षरत्वे तदोकाराख्यमक्षरं ज्ञेयमक्षयफलं । ब्रह्मीभूतस्य न पुनः संसारापत्तिः अतोक्षयफलत्वादक्षरमुच्यते । एकोक्षरशब्द उद्देश्यः । संज्ञाशब्दो द्वितीयो यौगिकः क्रियाशब्दः ब्रह्मैव तदेव प्रजापतिश्चोद्धार एव । स्तुतिरेषा जुहोति यजतीति धातुनिर्देशस्तयोः क्रियाप्रतिपाद्यार्थायागहोमाः । व्यक्त्यपेक्षं बहुत्वं । अथवा धात्वर्थनिर्देश एवायं जुहोति यजतीति क्रियास्तद्यतिरिक्तादानाद्याद्वंद्वश्चायं जुहोति यजतीति च क्रियाश्च होमयागौ प्राधान्यात्पृथगुपादीयेते । अथ युक्ताऽँकारस्य स्तुतिः । केवलस्यापि जपविधानार्थेति केचित् नहि प्रकृतविधिशेषतैवात्र पुनः परामर्शाभावात् । वैश्वानरे हृष्टत्वादीनां यदष्टाकपालो भवति । गायत्र्या चैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति यन्मव कपालस्त्रिवृतैवास्मिन्तेजोदधातीति । सर्वत्र वैश्वानरपदापेक्षया तदेकवाक्यत्वे संभवति न वाक्यभेदकल्पनया विध्यन्तरसंभव इह त्वक्षरं ज्ञेयमिति । न पूर्वापेक्षानापि सावित्र्यादीनां पुनः परामर्शोऽस्ति । अतः स्वपदार्थैरेव वाक्यार्थपरिसमाप्तेर्नान्यशेषता । ज्ञेयमित्यत्र कृत्योविधायकः ब्रह्मपदेन च संबन्धाद्ब्रह्मरूपतया ज्ञेयमुपास्यं भावनीयं भाव्यमाने च तस्मिन्मानसजपउक्तो भवति ॥ ८४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विनाशिफलाः शिष्टधातुस्वरूपनिर्देशे विहितोपि शिष्टैरर्थनिर्देशेपि प्रयुज्यते । जुहोतिरुपविष्टहोमः । यजतिस्तिष्ठहोमः । अक्षरमोँकारोक्षरमविनाशिफलं ब्रह्मा परमात्मा निराकारोपासने साकारोपासने तु तदीयरूपशक्तिः प्रजापतिरोंकारार्थभूतौ अक्षरौ उपासकानामनाशिफलदौ ॥ ८४ ॥

(३) कुल्लूकः । क्षरन्तीति । सर्वावेदविहिताहोमयागादिरूपाः क्रियाः स्वरूपतः फलतश्च विनश्यन्ति । अक्षरं तु

(८४) दुष्करं = त्वक्षरं (क, ख, ग, घ, च, मेधा०)

प्रणवरूपमक्षयं ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वात् । फलद्वारेणाक्षरं ब्रह्मीभावस्याविनाशात्कथमस्य ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वमत आह ब्रह्मैवेति । चशब्दोद्देशे । यस्मात्प्रजानामधिपतिर्यद्वत् तदेवायमोङ्कारः स्वरूपतो ब्रह्मप्रतिपादकत्वेन चास्य ब्रह्मत्वं उभयथापि ब्रह्मत्वेन प्रतिपादकत्वेन वायमुपासितो जपकाले मोक्षहेतुरनेन दर्शितम् ॥ ८४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यतः क्षरन्ति हिरण्यगर्भपदस्यासाधकत्वान्न तत्र दक्षिणा यंतीति श्रुतेः । दक्षिणा अग्निहोत्रादिपराः अतएवाक्षरमित्यादि अक्षरं अविनाशि तदेव ब्रह्म प्रजापतिर्हिरण्यगर्भश्च एतद्वै सत्यकामः परं चापरं च यदोङ्कार इति श्रुतेः परापरब्रह्मप्राप्त्युपायत्वात् ॥ ८४ ॥

(५) नन्दनः । क्षरन्ति स्वरूपतः फलतश्च नश्यन्ति । अक्षरं प्रणवादित्रिकं न क्षरं विनश्वरफलं न भवति । ब्रह्मा परमात्मलक्षणः । प्रजापतिर्मुख्यः । अकारोऽत्र दृष्टान्तार्थः । प्रणवादित्रिकवाच्यपरमात्मा यथा न क्षरति तद्वत्तद्वाचकं प्रणवादित्रिकमपीति । श्रौतस्मार्तानिकर्माणि न क्षरफलानि प्रणवादिकस्य स्वरूपतोऽर्थतश्चानश्वरत्वात् । तज्जपफलमप्यनश्वरमित्यभिप्रायः ॥ ८४ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्ववैदिक्यः जुहोति अग्निष्टोमादिना यजति वैश्वदेवादिकं जुहोति इत्यादिक्रियाः क्षरन्ति स्रवन्ति अक्षरं ओङ्कारं अक्षरं अविनाशिरूपज्ञेयं प्रजापतिः ब्रह्म ब्रह्मैव वेदस्वरूपमेव ज्ञेयम् ॥ ८४ ॥

विधियज्ञाजपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ॥ उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥ ८५ ॥

(१) मेधातिथिः । विधिविषयो यज्ञो विधियज्ञो ज्योतिष्टोमादिर्यत्कर्म यजेतेति चोदितं ब्राह्मेन व्यापारेण ऋत्विगादिसर्वाङ्गसंपत्त्या क्रियते सविधियज्ञ इहोच्यते । जपस्तु न यज्ञः । प्रशंसया यज्ञ उपचारेणोच्यते । अतो नासौ विधियज्ञः सविशिष्टः प्रकृष्टः श्रेष्ठो यज्ञो ज्योतिष्टोमादिर्दशभिर्गुणैः महाफलत्वमेतेन जपस्योच्यते । यदेव यागात्फलं तदेव बहुतरजपात्प्राप्यते न च यागेभ्यः श्रौतेभ्यो जपस्याधिकफलत्वं युक्तं तथाहि सति कः शरीरधनपरिक्षयरूपेषु यागेष्वध्यवस्येत् । तस्मात्प्रशंसैषा पूर्णाहुत्या सर्वान्कामानवाप्नोतीति तव । एतावदस्यार्थस्तदेव स्वर्गादिफलमवाप्यते । किंतु लोकवत्प्रयत्नविशेषात् । फलपरिमाणविशेषो विशेषित्वात् । यज्ञस्य स्वर्गग्रामपुत्रपशवादिस्य यज्ञस्य यत्फलं तत्तज्जपात्प्राप्यते । उपांशुः शतगुणः यदन्योनश्शृणोति समीपस्थोऽपि सहस्रगुणः साहस्रो मानसोऽप्यपारमात्रेण यश्चिन्त्यते जपमात्रविषय उपांशुत्वादिगुणः प्रकृतस्य योधीतेत्यनेन विच्छेदात्तेन यः प्रायश्चित्तादौ जपोयः शान्तिकोयश्चाभ्युदयिकः सर्वत्रैते गुणाः सहस्रमस्यास्तीति साहस्रः गुणानां प्रकृतत्वात् सहस्रगुणसद्भावात् प्रतीयते । गुणशब्दश्चावयववचनः फलभूमा च संबन्धादवगम्यते ॥ ८५ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । विधियज्ञो वेदोभूयसाग्रन्थेन विहितो यज्ञोऽग्निष्टोमादिर्दर्शपूर्णमासादिश्च जपयज्ञ उच्चैरपि क्रियमाणो दशगुणफलः अक्षराणां व्यक्तत्वस्यान्योन्यसंश्लिष्टज्ञाने रूपस्यैव जपत्वात् । उपांशुः पराश्रवणीयशब्दोच्चारणमानसः स्वस्यापि मनोमात्रग्राह्याक्षरः साहस्रः सहस्रगुणो विधियज्ञादेव ॥ ८५ ॥

(३) कुल्लूकः । विधियज्ञादिति । विधिविषयो यज्ञो विधियज्ञो दर्शपूर्णमासादिस्तस्मात्प्रकृतानां प्रणवादीनां जपयज्ञो दशगुणाधिकः । सोऽप्युपांशुश्चेदनुष्ठितस्तदा शतगुणाधिकः । यत्समीपस्थोऽपि परोऽनश्शृणोति तदुपांशु । मानसस्तु जपः सहस्रगुणाधिकः यत्र जिह्वैष्ठमनागपि न चलति समानसः ॥ ८५ ॥

(४) राघवानन्दः । जपस्य श्रेयस्त्वं प्रदर्शयन्तु द्विशेषे फलभूमानमाह विधीति । विधियज्ञादग्निहोत्रादेः जपयज्ञो वाचिकः दशभिर्गुणैर्विशिष्टो दशगुणफलदः स एव उपांशुत्वेनानुष्ठितः शतगुणफलदः । उपांशुरिति यत्समीपस्थोऽनश्शृणोति

स एव मानस ईषदपिजिह्वोच्चारणरहितः । ननु । न कर्मणामनारंभानैष्कर्म्यपुरुषोऽश्रुते इत्यादेः कागतिरिति चेत्तत्राह । कर्मजडान्प्रति ॥ ८५ ॥

(५) नन्दनः । यत एवमतोयज्ञान्तरेभ्योजपयज्ञोविशिष्टतर इति श्लोकद्वयेनाह विधियज्ञादिति । विधियज्ञादग्निहोत्रादेर्जपयज्ञोदर्शाभिर्गुणैर्विशिष्टः साधनवैगुण्यदोषराहित्यात् । उपांशुजपयज्ञोविधियज्ञाच्छतगुणः । मनसोजपयज्ञोविधियज्ञात्साहस्रसहस्रगुणः ॥ ८५ ॥

(६) रामचन्द्रः । जपयज्ञः जपरूपोयज्ञः विधियज्ञात्अग्निष्टोमादियज्ञात्तदशभिर्गुणैः विशिष्टउत्कृष्टः उपांशुः किञ्चित्श्रवणयोग्यः उपांशुः जपः शतगुणः स्यात् मानसोजपः सहस्रगुणः स्मृतः ॥ ८५ ॥

ये पाकयज्ञाश्चत्वारोविधियज्ञसमन्विताः ॥ सर्वेते जपयज्ञस्य कलांनार्हन्ति षोडशीम् ॥ ८६

(१) मेधातिथिः । महायज्ञाः पाकयज्ञा उच्यन्ते । ब्रह्मयज्ञं वर्जयित्वा चत्वारोयज्ञा भवन्ति । विधियज्ञा उक्तास्तैः समन्विताः । सहिताः कलामंशं षोडशीं नार्हन्ति । षोडशेन भागेन न समाभवन्ति । अथवार्हतिः प्राप्पङ्गेमूल्यपणने वर्तते ॥ अर्हशब्दात्किंपकृत्वा अर्हन्ति रूपम् ॥ ८६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अस्तुतावद्विधियज्ञमात्रमान्यैरपि यज्ञैर्मिलितस्य जपयज्ञस्य साम्यमित्याह । यइति चत्वारोये देवभूतमनुष्यपितृयज्ञरूपाः ब्रह्मयज्ञस्य जपयज्ञप्रवेशादपाकयज्ञत्वाच्च विधियज्ञोऽग्निष्टोमादिः षोडशीकलां भागं नार्हन्ति मूल्यार्थं न लभन्ते ॥ ८६ ॥

(३) कुल्लूकः । ये पाकयज्ञा इति । ब्रह्मयज्ञादन्ये ये पञ्च महायज्ञान्तर्गता वैश्वदेवहोमबलिकर्मनित्यश्राद्धातिथिभोजनात्मकाश्चत्वारः पाकयज्ञा विधियज्ञादर्शपौर्णमासादयस्तैः सहिता जपयज्ञस्य षोडशीमपिकलां प्राप्नुवन्ति जपयज्ञस्य षोडशांशेनापि न समाइत्यर्थः ॥ ८६ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्कार्यमन्तःकरणशुद्धिरपि जपसाध्येत्याह यइति द्वाभ्याम् । पाकयज्ञावक्ष्यमाणाः विधियज्ञादर्शपौर्णमासादयः ॥ ८६ ॥

(५) नन्दनः । पाकयज्ञशब्दोऽत्राल्पवचनः । चत्वारो देवपितृमनुष्यभूतभेदात् ॥ ८६ ॥

(६) रामचन्द्रः । ये चत्वारः पाकयज्ञाः वैश्वदेवादयः विधियज्ञसमन्विताः अग्निहोत्रादियज्ञसमन्विताः सर्वे जपयज्ञस्य षोडशीकलांनार्हन्ति ॥ ८६ ॥

जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणोनात्र संशयः ॥ कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ ८७ ॥

(१) मेधातिथिः । जप्येनैव सिद्धिकाम्यफलावामि ब्रह्मप्राप्तिं वा प्राप्नुयात् नात्र तद्विशङ्का कर्तव्या यज्योतिष्टोमादिभ्यो महाप्रयासेभ्यो भावनाभ्यश्च यत्लब्धयन्तजपेन कथं सिध्यतीति सिद्ध्यत्येव । कुर्यादन्यन्नित्यं ज्योतिष्टोमादि । अथवा तदपि न कुर्याद्यतो मैत्रो ब्राह्मण उच्यते । मित्रमेव मैत्रं सर्वभूतमैत्रीरतेन ब्राह्मणेन भवितव्यम् । अग्निषोमीयपशुहिंसायां च कुतो मैत्री । अयमर्थवाद एव । न पुनः पश्वङ्गकर्मप्रतिषेधः पूर्वशेषत्वावगतेः प्रत्यक्षश्रुतिविहितत्वाच्च तेषामतिक्रान्तोजपविधिः ॥ ८७ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । संसिध्येन्मोक्षं लभेत । तद्विरोधेनान्यन्न कुर्यादित्युपक्रम्य स्वासिद्धान्तमाह न कुर्यादिति । मैत्रो हिंसो विधियज्ञानां बीजपश्वादि हिंसयैवावृत्तिरित्यर्थः ॥ ८७ ॥

(३) कुहूकः । जप्येनैवेति । ब्राह्मणोजप्येनैव निःसन्देहांसिद्धिलभते मोक्षप्राप्तियोग्योभवति । अन्यद्वैदिकयागादिकं करोतु न करोतु वा यत्मान्यैत्रोब्राह्मणोब्रह्मणःसंबन्धीब्रह्मणिलीयतइत्यागमेषूच्यते । मित्रमेव मैत्रः स्वार्थेऽण् । यागादिषु पशुबीनादिवधान् सर्वप्राणिप्रियतासंभवति । तस्माद्यागादिना विनापि प्रणवादिजपनिष्ठोनिस्तरतीति जपप्रशंसा न तु यागादीनानिषेधस्तेषामपिशाल्मीयत्वात् ॥ ८७ ॥

(४) राघवानन्दः । जप्येन मन्त्राणांजपेन संसिध्येदन्तःकरणशुद्धिलभेत धर्मेण पापमपनुदतीति महतोऽप्येनसोमासात्वचेवाहर्हिर्विमुच्यतइति । जपतोनास्ति पातकमिति श्रुतेः । स्मृतिःयांअन्यद्यागादिकंमैत्रःमित्रःसूर्यःतद्देवत्यःगायत्र्युपासकः अथवा प्राणिमात्रप्रियःअणूस्वार्थिकःब्राह्मणोब्रह्मनिष्ठःकृतसाक्षात्कारउच्यते खमूर्तिमानित्युक्तम् । स ब्रह्मणः केनस्थाद्येनस्यादित्यादिश्रुतेः ॥ ८७ ॥

(५) मन्दनः । ब्राह्मणस्य विशेषेण जपः परमो धर्म इत्याह जप्येनेति । संसिध्येन्मुक्तो भवति । अन्यत्कर्म कुर्यान्न वा कुर्यात् । अत्रहेतुर्मेत्रोब्राह्मणइति । सर्वानुकूल्यं मैत्रो तद्वान् मैत्रः । अतो हि सानुबन्धिनो विधियज्ञा ब्राह्मणस्य जपयज्ञो विशिष्टतरइति ॥ ८७ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणः गायत्र्या जाप्येनैव संसिध्येत् अन्यजपादिकं कुर्याद्वा न वा कुर्यात् ब्राह्मणः मैत्रः अहिंसः उच्यते ॥ ८७ ॥

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ॥ संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥ ८८ ॥

(१) मेधातिथिः । इन्द्रियाणां संयमे यत्नमातिष्ठेदित्येतावा उल्लासार्थः परिशिष्टोर्थवादः । आसंध्योपासनविधेः संयमः प्रतिषिद्धेषु विषयेषु प्रवृत्तिपरिहारो प्रतिषिद्धेष्वप्यतिसक्तिर्वर्जनं तत्र प्रतिषिद्धपरिहारस्तैरेव प्रतिषेधैः सिद्धः । अप्रतिषिद्धेष्वप्यतिसक्तिनिषेधार्थोऽयं श्लोकसंघातः एतदेवाह विचरतां विषयेषु स्वातन्त्र्येण वस्तुशक्त्या प्रवर्तमानानामपहारिषु विषयेष्वपहरन्त्याकर्षन्त्यात्मसात्कुर्वन्ति । पारतन्त्र्यमापादयन्ति । पुरुषानपहारिणो विषयामनोहराय उच्यन्ते तत्र विचरतां विधिविशेषेण चरतां यदीन्द्रियाणि विशेषेण न चरेयुरपरिहारिणोऽपि तदा विषयाः किंकुर्षुः भवन्तु वा निरङ्कुशानीन्द्रियाणि यदि विषयाः प्रत्याख्यायिकास्तथापि सुसंयमः पुरुषेणात्मा यतस्तूभयं सापराधमतो यत्न आस्थेयो दुर्नियमानि हेतानि नियन्तेव वाजिनां यन्तासारथिरश्वानां यथा रथयुक्तानां स्वभावतो विचलनशीलानां संयमे नियमे यत्नं करोति न तदानीच्छया उन्मार्गेण वहन्ति । विधेयतांतस्य भजन्त एव मिन्द्रियाणि विधेयीकर्तव्यानि ॥ ८८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । जप्ये अवश्योपसंहार्यमङ्गं दर्शयति इन्द्रियाणामित्यादिना । अपहारिष्विन्द्रियावकर्षकेषु यन्तेवेत्येकाग्रतार्थं दृष्टान्तः ॥ ८८ ॥

(३) कुहूकः । इदानीं सर्ववर्णानुष्ठेयं सकलपुरुषार्थोपयुक्तमिन्द्रियसंयममाह इन्द्रियाणामिति । इन्द्रियाणां विषयेष्वपहरणशौलेषु वर्तमानानां क्षयित्वादिविषयदोषाज्ज्ञानसंयमे यत्नं कुर्यात्सारथिरिव रथनि युक्तानामश्वानाम् ॥ ८८ ॥

(४) राघवानन्दः । अनुपसन्देतेन्द्रियाणां जपोऽपि न फलायेति तदर्थं प्रत्याहारमाह । इन्द्रियाणामिति । अपहारिषु इन्द्रियाणि स्वप्रवणं कर्तुं शौलेषु यन्ताश्वनियमनसारथिरिव संयमनं कुर्यात् ॥ ८८ ॥

(५) मन्दनः । एवतावद्ब्रह्मचारिणो वेदाध्ययनधर्मा उक्ताः असङ्गात्मणव व्यावृत्तिसावित्रीमाहात्म्यं चोक्तं इदानीं तस्येन्द्रियसंयममाह इन्द्रियाणामिति । अपहारिष्विन्द्रियापहारिषु ॥ ८८ ॥

(६) रामचन्द्रः । अपहारिषु हरणशीलेषु विषयेषु विचरतां इन्द्रियाणां संयमे यत्नं आतिष्ठेत् विद्वान् कश्चिदपि वाजिनं यन्तेव ॥ ८८ ॥

एकादशेन्द्रियाण्याहुयानि पूर्वे मनीषिणः ॥ तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ८९ ॥

(१) मेधातिथिः । संख्यानिर्देशोऽयं प्रमाणान्तरगम्योऽन्येन पदार्थः सौहार्देन तु व्युत्पाद्यते । तानि पूर्वे मनीषिण आहुः । परस्तान्नामतः कर्मतश्च वक्ष्यामि । आनुपूर्व्यमनाकुलता पूर्वग्रहणान्नेयं तार्किकैरेव व्यवस्था कल्पिता । किंतु पूर्वेषामप्याचार्याणां स्थितैव । एताम जानतो नागमिक इति लोकैरपि हस्यते । इत्यतोऽयं वेदितव्याः प्रसिद्धाः पदार्था व्याख्याताश्च प्राक् ॥ ८९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नियमान्दर्शयति एकादशेति । यथावत् स्वस्वप्रकारवत्तया ॥ ८९ ॥

(३) कुट्टुकः । एकादशेति । पूर्वपण्डितायान्येकादशेन्द्रियाण्याहुस्तान्यर्वाचां शिक्षार्थं सर्वाणि कर्मतो नाम तश्च क्रमाद्वक्ष्यामि ॥ ८९ ॥

(४) राघवानन्दः । तानि कतीत्यपेक्षायामाह एकेति । पूर्वे ब्रह्मादयः आनुपूर्वशः श्रोत्रादिक्रमेण ॥ ८९ ॥

(६) रामचन्द्रः । इन्द्रियाणामुत्पत्तिमाह । यानि एकादशेन्द्रियाणि पूर्वे मनीषिण आहुः । तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि अनुपूर्वशः ॥ ८९ ॥

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ॥ पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता ॥ ९० ॥

(१) मेधातिथिः । श्रोत्रादीनि प्रसिद्धान्यधिष्ठानभेदाच्चक्षुषी इति द्विवचनमन्यत्र तदाधारायाः शक्तेरेकत्वादेकवचनं । उपस्थः शुक्रोत्सर्जनः पुंसो जवस्तदाधारश्च स्त्रियाः । द्वन्द्वनिर्दिष्टयोः प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः वाक्ताल्वादि शब्दाभिव्यञ्जकः शरीरावयववचनः नाम निर्देशोऽयम् ॥ ९० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । जिह्वा रसना वागभिधानशक्तिरास्यगता त्वक् चक्षुश्च त्वक्चक्षुषी आधारभेदेपीन्द्रियशक्तेरेकत्वात् आधारत्वेऽपि चक्षुराद्येकैकमिन्द्रियम् करौ पादावित्याधारापेक्षद्वित्वम् ॥ ९० ॥

(३) कुट्टुकः । श्रोत्रमिति । तेष्वेकादशसु श्रोत्रादीनि दशैतानि बहिरिन्द्रियाणि नामतो निर्दिष्टानि । पायूपस्थं हस्तपादमिति द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानामिति । प्राण्यङ्गद्वन्द्वत्वादेकवद्भावः ॥ ९० ॥

(४) राघवानन्दः । तेषां स्वरूपं संख्यां कार्यं चाह श्रोत्रमिति त्रिभिः । स्वरूपं श्रोत्रमित्यादि सङ्ख्यां पञ्चेत्यादिः कार्यधीकर्मजनकता एषां मध्ये त्वगुणेन संकल्पेनोभयात्मकमुभयगुणभेदके यस्मिन् मनसि जिते गणौ धोन्द्रियकर्मिन्द्रियात्मकौ ॥ ९० ॥

(५) नन्दनः । त्वक् चक्षुषी इति द्वन्द्वसमासः ॥ ९० ॥

(६) रामचन्द्रः । श्रोत्रं श्रवणं त्वक् चक्षुषी नेत्रे जिह्वा पञ्चमी नासिका पायुर्गुदं उपस्थं गुह्येन्द्रियं हस्तौ पादौ एते पञ्च एषां एकादशेन्द्रियाणां मध्ये पञ्च श्रोत्रादीनि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि पाय्वादीनि पञ्च कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥ ९० ॥

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादी न्यनुपूर्वशः ॥ कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रवक्षते ॥ ९१ ॥

(१) मेधातिथिः । कार्यमिदानीं मेषामाह स्वरूपाऽवधारणार्थं । न हितानि प्रत्यक्षानि बुद्धीन्द्रियाणि जनकानि कार्य-

कारणानि । कार्यकारणसंबन्धे षष्ठी श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशआदिशब्दस्य प्रकारार्थतामाविज्ञायीति । अनुपूर्वशः क्रमेणेत्यर्थः । क्रमश्च सन्निवेशापेक्षोभवत्यतः पूर्वश्लोकोक्ता व्यवस्थाऽऽश्रीयते । कर्मेन्द्रियाणि परिस्पन्दात्मकमत्र कर्म विवक्षितम् ॥ ९१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शब्दादिज्ञानजननरूपाणि बुद्धीन्द्रियाणि उत्सर्गादिक्रियारूपाणि कर्मेन्द्रियाणि ॥ ९१ ॥

(३) कुट्टुकः । बुद्धीन्द्रियाणीति । एषादशानामध्ये श्रोत्रादीनिपञ्चक्रमोक्तानि बुद्धेः करणत्वात्बुद्धीन्द्रियाणि । पाप्वादीनि चोत्सर्गादिकर्मकरणत्वात्कर्मेन्द्रियाणि तद्विदोवदन्ति ॥ ९१ ॥

(५) नन्दनः । बुद्धीन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि ॥ ९१ ॥

एकादशमनोज्ञेयस्वगुणेनोभयात्मकं ॥ यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतःपञ्चकौ गणौ ॥ ९२ ॥

(१) मेधातिथिः । एकादशसंख्यापूरकमनइन्द्रियाणांस्वगुणोमनसः संकल्पः तेनोभयंशुभमशुभंवासंकल्प्यते । अथवाबुद्धीन्द्रियेषु कर्मेन्द्रियेषु स्वविषयप्रवृत्तौ संकल्पमूलत्वादुभयात्मकमुच्यते । तस्मिञ्जिते एतौ बुद्धीन्द्रियवर्गः कर्मेन्द्रियवर्गश्च पञ्चकौ प्राक्प्रदर्शितपरिमाणौजितौ भवतः ॥ ९२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वगुणेन बुद्धिकर्मजनकत्वेन उभयात्मकं बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपं यस्मिन्जितइति प्राधान्यकथनपञ्चकौपञ्चभिःपरिमितौ बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियवर्गौ ॥ ९२ ॥

(३) कुट्टुकः । एकादशमिति । एकादशसंख्यापूरकं च मनोरूपमंतरिन्द्रियंज्ञातव्यम् । स्वगुणेन संकल्परूपेणोभयरूपेन्द्रियगणप्रवर्तकस्वरूपम् । अतएव यस्मिन्मनसि जित उभावपिपञ्चकौबुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियगणौजितौ भवतः पञ्चकाविति तदस्यपरिमाणमित्यनुवृत्तौ । सङ्ख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेष्वितिपञ्चसंख्यापरिमितसंघार्थकः ॥ ९२ ॥

(५) नन्दनः । बुद्धिकर्मोत्पादनसामर्थ्यलक्षणसंकल्पस्वगुणस्तेनोभयात्मकं कर्मेन्द्रियात्मकं च । यस्मिञ्जिते-उभयात्मके मनसि जिते । पञ्चकौ ज्ञानकर्मेन्द्रियात्मकौ ॥ ९२ ॥

(६) रामचन्द्रः । मनः एकादशेन्द्रियंज्ञेयस्वगुणेन उभयात्मकंज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपंयस्मिन्मनसि जितेएतौ पञ्चकौ भवतः ॥ ९२ ॥

इन्द्रियाणांप्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ॥ सन्नियम्य तु तान्येव ततःसिद्धिनियच्छति ॥ ९३ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रसङ्गस्तत्परता तेन हेतुभूतेन दृष्टमदृष्टं च ऋच्छति प्राप्नोति । नात्र संशयोनिश्चितमेतत् । संनियम्य तानीन्द्रियाणि ततः सिद्धिमभिप्रेतार्थावामिश्रौतस्मार्तकर्मणामनुष्ठानफलनिःशेषं गच्छतिप्राप्नोति ॥ ९३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रसङ्गेन विषयेषु संगेन दोषपापंऋच्छति प्राप्नोति तेषानियमनात् सिद्धिमोक्षंनियच्छति लभते ॥ ९३ ॥

(३) कुट्टुकः । मनोधर्मसंकल्पमूलत्वादिन्द्रियाणांप्रायेण प्रवृत्तेःकिमर्थमिन्द्रियनिग्रहःकर्तव्यइत्यतआह इन्द्रियाणामिति । यस्मादिन्द्रियाणांविषयेषु प्रसक्त्या दृष्टादृष्टं च दोषनिःसंदेहंप्राप्नोति तान्येव पुनरिन्द्रियाणि सम्यङ्नियम्य सिद्धिमोक्षादिपुरुषार्थयोग्यतारूपां लभते । तस्मादिन्द्रियसंयमंकुर्यादिति शेषः ॥ ९३ ॥

(४) राघवानन्दः । अनुपसंहारे दोषकीर्तयन्तत्करणे फलमाह इन्द्रियाणामिति । प्रसङ्गेनेन्द्रियार्थेष्वभिषक्त्यादोषसंसाराख्यंसिद्धिमनःशुद्धिद्वारा मोक्षाख्यांतथा च गीता सिद्धिप्राप्नोयथा ब्रह्म तथाप्नोतिनिबोधमइति ॥ ९३ ॥

(५) नन्दनः । प्रसङ्गेन विषयेषु निरङ्कुशया प्रवृत्त्या ॥ ९३ ॥

(६) रामचन्द्रः । पुरुषः इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन संयोगेन दोषं कच्छति प्राप्नोति । असंशयं तानि इन्द्रियाणि सन्नियम्य जित्वा सिद्धिं नियच्छति प्राप्नोति ॥ ९३ ॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ॥ हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्धते ॥ ९४ ॥

(१) मेधातिथिः । तिष्ठतु तावद्विषयाभिलाषः शास्त्रोपदेशान्नक्रियते । किंतु दृष्टमेव सुखं तावन्निवृत्तेर्भवति । तथा हि सेव्यमाना विषया अपि अधिकं गर्ह्यमुत्पादयन्त्युदरं भुक्तवतस्तमस्याति सौहित्यमपि गतवतो भवति । तदयमसीद्वा किमिति न शक्नोमि अन्यद्भोक्तुमशक्त्या तु न प्रवर्तते । ततो नैषां भोगेन शक्यानिवृत्तिर्न कदाचित्कामोभिलाषः कामानां काम्यमानानां स्पृहणीयानामर्थानामुपभोगेन सेवया शाम्यति निवर्तते । भूयोऽधिकतरं वर्धते । हविषा घृतेन कृष्णवर्त्माग्निरिव दुःखरूप-
श्चाभिलाषोऽनुपभुक्तरसस्यत्वभिलाषानुत्पत्तिस्तत्त्वप्रसङ्गानमेतत् । उक्तञ्च यत्पृथिव्यां ब्रीहियवंहिरण्यं पशवस्त्रियः । नालमे-
कस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत् ॥ ९४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रसंगे जातेऽपि भुक्तभोग्यतया स्वयं निर्वर्त्यत इत्यपि नाशङ्क्यमित्याह न जात्विति । कामइच्छा कामानां भोगानां कृष्णवर्त्मैर्युचितपदव्यासः ॥ ९४ ॥

(३) कुल्लूकः । किमिन्द्रियसंयमेन विषयोपभोगादेरलब्धकामो निवर्त्यतीत्याशङ्क्याह न जात्विति । न कदाचित्कामोऽभिलाषः काम्यन्तइति । कामाविषयास्तेषामुपभोगेन निवर्तते किंतु घृतेनाग्निरिवाधिकाधिकतममेव वर्धते । प्राप्तभोगस्यापि प्रतिदिनं तदधिकभोगवाञ्छादर्शनात् । अतएव विष्णुपुराणे ययातिवाक्यम् यत्पृथिव्यां ब्रीहियवंहिर-
ण्यं पशवः स्त्रियः । एकस्यापि न पर्याप्तं तदित्यतिवृषंत्यजेत् ॥ तथा पूर्णवर्षसहस्रं मे विषयासक्तचेतसः । तथाप्यनुदिन-
नृणां यत्तेष्वेव हि जायते ॥ ९४ ॥

(४) राघवानन्दः । ननु भोगे सति स्वयमेव उपरमेयुस्तानि किमुपसंहारेणेत्यत आह । नेति । कामोभिलाषः कामानां काम्यं तेषामुपभोगः साक्षात्करणं तेन शान्तिर्दूरे अपि तु वर्धतएवेत्याह । हविषेति । कृष्णवर्त्माग्निः । तथा च विष्णुपुराणं ययातिवाक्यम् । यत्पृथिव्यां ब्रीहियवंहिरण्यं पशवः स्त्रियः ॥ एकस्यापि न पर्याप्तं तदित्यतिवृषंत्यजेत् ॥ अतिवृषं अतिनृ-
णांमित्यर्थः ॥ तथा पूर्णवर्षसहस्रं मे विषयासक्तचेतसः । तथाप्यनुदिनं नृणां ममैतेष्वेव जायते ॥ इत्यादि ॥ ९४ ॥

(५) नन्दनः । तत्पुनर्भोजनेन क्षुधइव विषयोपभोगेन कामस्य निवृत्तिर्नैव्यतइत्यत्राह न जात्विति । कामानां विषयाणां । हविषा आज्येन ॥ ९४ ॥

(६) रामचन्द्रः । काम्यन्तइतिकामाः तेषां कामानां उपभोगेन जातु कामः न शाम्यति ॥ ९४ ॥

यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलान्स्यजेत् ॥ प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥ ९५ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वोक्तहेतुत्वेनोपजीव्यायनिगमः श्लोकः पठितो यदा सेवया वर्धते कामः अतो य एतान्कामान्कामी सर्वान्प्राप्नुयात्सेवेतानेकमण्डलेश्वरेव तरुणो यश्चैतान्स्यजति केवलानीषदपि न स्पृशति नैष्ठिक एव वालस्तयोर्धः प्रापको भोक्ता तस्मात्स विशिष्यते । अतिशयेन श्रेष्ठो भवति । यः परित्यजेदिति । एतच्चात्मप्रत्यक्षम् ॥ ९५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । केवलान् कृत्स्नान् विशिष्यते विशिष्टफलत्वात् ॥ ९५ ॥

(३) कुल्लूकः । यश्चैतानिति । य एतान्सर्वान्विषयान्प्राप्नुयाद्यश्चैतान्कामानुपेक्षते तयोर्विषयोपेक्षकः श्रेयांस्तस्मा-

त्सर्वकामप्राप्तेस्तदुपेक्षा प्रशंस्या । तथाहि विषयलोलुपस्य तत्साधनाद्युत्पादने कष्टसंभवोविपत्तौ च क्लेशातिशयोक्तु विषयविरसस्य ॥ ९५ ॥

(४) राघवानन्दः । कृतभोगादकृतभोगोजनः श्रेष्ठइत्याह यश्चैतानिति । प्राप्नुयात् भुञ्जीत् केवलानिन्द्रियसम्बन्धानुसर्वकामानां विषयाणां प्रापणात् भोगात् ॥ ९५ ॥

(५) नन्दनः । यतएवंततोविषयाणां भोगात्यागएव श्रेयानित्याह यश्चैतानिति । यइत्यसाधुः पाठः । एतान्कामान् प्राप्नुयाद्भुञ्जीत् । केवलान्कृत्स्नान् । तयोः प्राप्तित्यागयोः प्रापणात्प्राप्तेस्त्यागोविशिष्यते विषयत्यागे विनाशनिमित्तदुःखस्पर्शाभावात् ॥ ९५ ॥

(६) राघचन्द्रः । यः पुरुषः एतान्सर्वान् प्राप्नुयात् यः पुरुषः एतान्कामान् केवलानत्यजेत् सर्वकामानां प्रापणात् प्राप्तिं कामानां सर्वकामनापरित्यागोविशिष्यते ॥ ९५ ॥

न तथैतानि शक्यन्ते संनियंतुमसेवया ॥ विषयेषु प्रजुष्टानि यथाज्ञानेन नित्यशः ॥ ९६ ॥

(१) मेधातिथिः । यद्येवमरण्यवासएव तर्हि प्राप्तेनहि तत्र विषयासंनिधीयन्ते । असंनिहिताश्च न सेविष्यन्ते तदर्थमाह न सेवया इन्द्रियाणि नियन्तव्यानीति । अथोच्यते । निःसुखः स्यादिति हि स्मरन्ति । असंनिहिताश्च न सेविष्यन्ते तदर्थमाह नासेवया इन्द्रियाणि नियन्तव्यानीति पूर्वाण्हमध्यंदिनापराण्हानफलाङ्कुर्याद्यथाशक्तिधर्मार्थकामेभ्यः नच शरीरधारणमसेवया भवति किंतु गर्द्धनिषेधोयमुच्यते । सच गर्द्धः सत्यापि सेवया ज्ञानेन विषयगतदोषज्ञानेन । अस्थिस्थूणास्त्रायुतमित्यादि शास्त्रोक्तेन स्वसंविदा च विपाकविरसतया किंविपाकफलमेवादोषभावनया वैराग्याभ्यासेन क्रमेण स्पृहा निवर्तते । ननु सहसैवत्यक्तुं शक्यते कर्तुं नित्यशः नित्यकालं ज्ञानविशेषणमेतत् । प्रदुष्टानि प्रवृत्तानि दोषत्वात् । प्रदुष्टान्येव प्रवृत्तान्युच्यन्ते । अयमंशस्तत्र तत्र नित्यः अनुपूर्वशः सर्वशः । पूर्वशइति व्यासमनुप्रमृतिभिर्महामुनिभिः प्रयुज्यते । तस्य साधुत्वे यत्नः कर्तव्यः तत्र शस्त्रविधावेकवचनाच्च वीप्सायामिति पठ्यते तत्र वीप्सार्थः कथंचित्द्योतयितव्यः अथेतु शसस्तिष्ठत्यर्थस्य किंपिरूपवर्णयन्ति । क्रियाविशेषणचैतत् नपुंसकं नित्यस्थितेन ज्ञानेनेत्यर्थः ॥ ९६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । न चैवमुपभोगमात्रेणेन्द्रियजयमिति ग्राह्यमित्याह न तथेति । एतानीन्द्रियाणि विषयेषु वर्तमानानि पूर्वपूर्वजन्मसंस्कारवशात् प्रदुष्टानि दोषजनकानि ज्ञानेनात्मनः शरीरादिव्यतिरिक्तस्य ज्ञानेन विषयदोषभावेन च नित्यम् ॥ ९६ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानीमिन्द्रियसंयमोपायमाह न तथेति । एतानीन्द्रियाणि विषयेषु प्रसक्तानि तथा नासेवया विषयसन्निधिवर्जनरूपया नियन्तुं न शक्यन्तेदुर्निवारत्वात् । यथा सर्वदा विषयाणां क्षयित्वादोषज्ञानेन शरीरस्य चास्थिस्थूलमित्यादिवक्ष्यमाणदोषचिन्तनेन तस्माद्विषयदोषज्ञानादिना बहिरिन्द्रियाणि मनश्च नियच्छेत् ॥ ९६ ॥

(४) राघवानन्दः । बलादिन्द्रियसंबन्धे कउपायस्तत्राह न तथेति । एतानीन्द्रियाणि असेवया शुष्कवैराग्येण तत्रहेतुः प्रदुष्टानि प्रकर्षणबहुकालसेवया प्रसक्तानि ज्ञानेन क्षयिष्णुत्वादिदोषदृष्ट्या तत्त्वज्ञानेन वा तदुक्तम् । विषयाविनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः । रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्ततइति ॥ निराहारस्य इन्द्रियैर्विषयानसेविनः रसोरागः सोपि परं ब्रह्मदृष्टवतो निवर्ततइति गीतार्थः ॥ ९६ ॥

(५) नन्दनः । तर्हि विषयत्यागएवसंयमोपायोनान्यद्व्यत्राह नतथेति ॥ ९६ ॥

(६) रामचन्द्रः । कामानां असेवया तानिन्द्रियाणि विषयेषु संनियन्तुं तथा न शक्यन्ते कीदृशानि । प्रदुष्टानि प्रकर्षेण दुष्टानि यथा ज्ञानेन ज्ञानमार्गेण नित्यशः नियन्तुंशक्यन्ते ॥ ९६ ॥

वेदास्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि चान विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ ९७ ॥

(१) मेधातिथिः । अयमत्रविधिरेव । वेदास्तद्विषयमध्ययनजपादित्यागोदानलक्षणया अथवाऽप्रतिषिद्धस्यापि मधुमांसभक्षणादेर्निवृत्तिः फलदेत्यनेन वर्जनविप्रदुष्टोभावश्चित्तस्य तस्य सिद्धिं न गच्छति फलसाधकानि न भवन्ति । कस्मिंश्चिदपि काले । अतोनुष्ठानकालेनाभिप्रेतादिगतमानसंभवितादयम् । शक्यं तर्हि सर्वैतरविकल्पतिरस्कारेण कर्मणि मनआधेयं अर्गहित कर्मसु विषयचिन्तात्यागोनेन वाक्येन विहितस्तदभावे कर्मनैष्फल्यस्यात् । एषहि भावदोषोयत्कर्मानुष्ठानेप्रवृत्तस्य तत्परतात्यागेनव्यसनेषु मनोवधानम् ॥ ९७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वेदाः अध्ययनानि त्यागाः दानानि नियमाः स्नातकव्रतादीनि तपांसि कृच्छ्रादीनि विप्रदुष्टभावस्य विषयप्रसक्तौ ॥ ९७ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मादनियमितमनोविकारस्य हेतुः स्यादतआह वेदाइति । वेदाध्ययनदानयज्ञनियमतपांसि भोगादिविषयसेवासंकल्पशीलिनो न कदाचित्फलसिद्धये प्रभवन्ति ॥ ९७ ॥

(४) राघवानन्दः । अतएवात्मानात्मविवेकशून्यस्य न केपि शोधकाइत्याह वेदाइति । वेदाअभ्यस्यमानाः त्यागाः संन्यासादानवानियमः शौचसंतोषादयः तपांसि कृच्छ्रादीनि एतेअनुष्ठीयमानाअपि विप्रदुष्टभावस्य रुयादिष्वत्यासक्तस्य ॥ ९७ ॥

(५) नन्दनः । ज्ञानेन विषयेषु दोषदर्शनेन न केवलब्रह्मचारिणामेवायमिन्द्रियसंयमोदोषावहः किंतु सर्वाश्रमिणामित्यभिप्रायेणाह वेदाइति । वेदाइत्यनेनब्रह्मचारिधर्मालक्ष्यन्तेयज्ञाइति । गार्हस्थ्यधर्माः । त्यागाइतिसंन्यासधर्माः । तपांसीति वानप्रस्थधर्माः । विप्रदुष्टभावस्य कामक्रोधादिदूषितचित्तस्य । भावदोषाणामिन्द्रियासंयमहेतुत्वादिन्द्रियसंयमः कर्तव्यइति भावः ॥ ९७ ॥

(६) रामचन्द्रः । दुष्टभावस्य वेदाः सिद्धिं कर्हिचित् न गच्छन्ति वेदावेदाध्ययनानि । त्यागाः दानानि ॥ ९७ ॥

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च योनरः ॥ न तृप्यति ग्लायति वा सविज्ञेयोजिते

न्द्रियः ॥ ९८ ॥

(१) मेधातिथिः । श्रुत्वावंशगीतादिष्वर्निर्त्वं ब्रह्मस्पतिरित्यादिवचनं श्रुत्वा न तृप्यति रूक्षं परुषा क्रोशवाचः श्रुत्वा न ग्लायति न मनोदुःखं भजति ग्लानिः खेदः स्पृष्ट्वा राङ्गवकौशेयादिवस्त्रं अजलोमकुतपश्चसमत्वेनानुभवति । एवं सुषेतरुणीजननटप्रेक्षासु शत्रुदर्शने च समः बहुघृतं क्षीरषष्टिकान्कोद्रवांश्च समं भोजने देवदारुतैलं कर्पूरादि च तुल्यजिघ्रस्तथाकर्तव्यम् । यथा केवलैर्मानसैः सुखदुःखैर्न स्पृश्यते । एवमेतैर्जितानीन्द्रियाणि भवन्ति नत्वप्रवृत्त्यैवइत्यपर्यंतः संयमः आश्रयणीयः ॥ ९८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ग्लायति दुःखितो भवति ॥ ९८ ॥

(३) कुल्लूकः । जितेन्द्रियस्य स्वरूपमाह श्रुत्वेति । स्तुतिवाक्यं निन्दावाक्यं च श्रुत्वा सुखस्पर्शं दुःख-

(९८) चयोनरः = शुभाशुभं (४)

स्पर्शमेषकम्बलादि स्पृष्टा । सुरुपंकुरुपंच दृष्टा । स्वाद्वत्वादुच भुक्ता । सुरभिमसुरभिच घ्रात्वा । यस्य न हर्षविषादौ सजितेन्द्रियोज्ञातव्यः ॥ ९८ ॥

(४) राघवानन्दः । तर्हि विषयाभोगे मृतिरेव तत्राह श्रुत्वेति । भोगो नप्रतिबन्धकः किंत्वासक्तिः तदुक्तम् पश्यन्शृण्वन्स्पृशन्इत्यादीन्द्रियार्थेषुवर्ततइति धारयन्नित्यन्तंभगवता कृष्णेन ॥ ९८ ॥

(५) नन्दनः । इदानीमिन्द्रियसंयमस्वरूपतोविविनक्ति श्रुत्वेति । श्रुत्वाइष्टमनिष्टं च । एवमुत्तरत्र । तदप्यतिमनसा ग्लायति विषादतीष्ठानिष्टविषयसंसर्गे । मनोविकारराहित्यमिन्द्रियसंयमइत्यभिप्रायः ॥ ९८ ॥

(६) रामचन्द्रः । यःनरःविषयानश्रुत्वा न तदप्यति न ग्लापयति सः जितेन्द्रियः ग्लैहर्षे इत्यस्यधातोरुपम ॥ ९८ ॥

इन्द्रियाणांतुसर्वेषांयद्येकंक्षरतीन्द्रियम् ॥ तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेःपादा दिवोदकम् ॥ ९९ ॥

(१) मेधातिथिः । ननु च ब्रह्मचारिणास्त्रीसंबन्धोयत्नेन वर्ज्यः संस्कृतभिक्षालाभस्तु किमिति निषिध्यते अत आह निर्धारणे षष्ठी एकमेव यदीन्द्रियंक्षरति । स्वातन्त्र्येण स्वविषयेवर्तमानंननिवार्यते । ततोस्यक्षरति प्रज्ञाधैर्यमिन्द्रियान्तरविषयमपि दृति श्लागादिचर्मोदकाद्याहरणभाजनंतस्य संवृतेष्वपीतरेषु यद्येकस्मादुदकपादात्स्रवति सर्वैरिच्यते । ज्ञानाभ्याससंभृतधैर्यसम्यक्ज्ञानमेव वा विषयगृभृतयातद्रतमानसस्य न तत्त्वतोयुक्तिशास्त्रगम्याअर्थाः सम्यक् प्रतिभासन्ते ॥ ९९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्षरति विषये सज्यते क्षरति प्रज्ञासर्वाबहिः संबध्यते दृतेर्जलसेकार्थंरुतस्य चर्मभाण्डस्य जलनिर्गमार्थंक्रान्ते अनेकसच्छिद्रधारारूपपादवतः एकेनापि पादेन यथासर्वजलसेकोभवतीत्यर्थः ॥ ९९ ॥

(३) कुल्लूकः । एकेन्द्रियासंयमोऽपि निवार्यत इत्याह इन्द्रियाणांत्विति । सर्वेषामिन्द्रियाणांमध्ये यद्येकमपीन्द्रियंविषयप्रवणंभवति ततोऽस्य विषयपरस्येन्द्रियान्तरैरपि तत्त्वज्ञानंक्षरति न व्यवतिष्ठते चर्मनिर्मितोदकपात्रादिवैकेनापि छिद्रेण सर्वस्थानस्थमेवोदकं न व्यवतिष्ठते ॥ ९९ ॥

(४) राघवानन्दः । संयतेन्द्रियस्य सिद्धिहेतुतोक्ता तत्र सर्वेषां अप्रवृत्तावप्येकस्यप्रवृत्तौ कोदोषस्तत्राह । इन्द्रियाणांत्विति । सर्वेषामिन्द्रियाणांमध्ये याकिंचिक्क्षरतिइन्द्रियविषयप्रवणंस्यात् प्रज्ञाधैर्यतेनैव क्षरति दृतेश्चर्ममयोदकपात्रस्य पादात्छिद्रात्सर्वउदकंक्रमशोनश्यति तथा च विषयेन्द्रियसंयोगान्मनः क्षुभ्यति नान्यथा । अत्र गीता । इन्द्रियाणां हि चरतांयन्मनोनुविधीयते । तदस्य हरति प्रज्ञांवायुर्नावगिवाभसि इति ॥ मनः सहकृतंयदिन्द्रियंचक्षुरादि तद्धरतीति गीतार्थः । एवंप्रसक्तंइन्द्रियमात्रंप्रज्ञांहरतीतिभावः ॥ ९९ ॥

(५) नन्दनः । सर्वेन्द्रियाणांयुगपदेव संयमः कार्यः एकस्यासंयमेतदितरसंयमवैयर्थ्यादित्याह इन्द्रियाणामिति । प्रज्ञाक्षरति विषयपरा भवति ॥ ९९ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वेषांइन्द्रियाणांमध्ये यद्येकं इन्द्रियंक्षरति स्रवति तेन कारणेन अस्य पुंसःप्रज्ञाक्षरति । दृतेःपादादुदकमिव दृतिःचर्मकोशः ॥ ९९ ॥

(९९) पादा=पात्रा (अ)

इन्द्रियाणांतुसर्वेषां=इन्द्रियाणांनुचरतां (मेधा०)

तेनास्यक्षरति=ततोस्यक्षरति (मेधा०)

वशेरुत्वेन्द्रियग्रामसंयम्य च मनस्तथा ॥ सर्वान्संसाधये दर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुं ॥ १०० ॥

(१) मेधातिथिः । उपसंहरति सत्यपीन्द्रियत्वे मनसः प्राधान्यात्पृथगुपादानग्रामः संघातः विधेहि रुत्येन्द्रियाणि तथा मनः सर्वानर्थान्श्रौतस्मार्तकर्मसाध्यान्संसाधयेन्निष्पादयेत्तनुंशरीरमक्षिण्वन्पीडयन्योगतः । युक्त्या सहसाकस्य-चित्कठिनासनरुष्णाजिनादिप्रावरणपीडा भवति सुकुमारत्वात्प्रकृतेस्तदर्थमिदमुच्यते । येषांशुशीलितं सुसंस्कृतं भोजनं मृदु-शय्यादि नतैः सहसा तत्त्यक्तव्यमपि तु क्रमेण साम्यमानेतव्यंतद्विपरीतयोगः क्रमेण प्रवृत्तिरुच्यते । तत्र च योगतोवशीरुत्वेति संबन्धः यथा स्थानमेव वा योगतइति योजनीयम् । युक्त्या कुचितातः शरीरं नाप नयेत् । यदुचितं शरीरस्य न तद्विदितं निवर्तयेत्तात्पर्यं वा योगस्तृतीयायोगस्तृतीयार्थं तसिः तात्पर्येण शरीरं रक्षेत् ॥ १०० ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । इन्द्रियग्रामं ब्राह्मं सर्वान् अर्थान् स्वर्गादीनपि योगतोपेक्षितदेवतादि ध्यानतो न चेन्द्रियसंयममात्रात्तनुं देहमक्षिण्वन्पीडयन्पि ॥ १०० ॥

(३) कुल्लूकः । इन्द्रियसंयमस्य सर्वपुरुषार्थहेतुतां दर्शयति वशेरुत्वेति । बहिरिन्द्रियगणमायतं कृत्वा मनश्च संयम्य सर्वान्पुरुषार्थान्सम्यक्साधयेत् योगतउपायेन स्वदेहमपीडयन्त्यः सहजसुखी संस्कृतान्नादिकं भुङ्क्ते सक्रमेण तंत्यजेत् ॥ १०० ॥

(४) राघवानन्दः । प्रकरणार्थनिगमयन्तस्य पुमर्थपर्यवसायितामाह वशीति । अर्थान्धर्मादीन् अक्षिण्वन् अपीडयन्योगतः योगोपायेन अवर्जनीयविषयसेवयेति यावत् ॥ १०० ॥

(५) नन्दनः । इन्द्रियसंयमफलमाह वशइति । योगतोयोगेन समाधिलक्षणेन । अर्थान्पुरुषार्थान् । संसाधयेत्-सम्यक्साधयितुं शक्नुयात् । तनुमक्षिण्वंस्तपोभिः शरीरमपीडयन् ॥ १०० ॥

(६) रामचन्द्रः । इन्द्रियग्रामं वशेरुत्वा तथा मनः संनियम्य सर्वान् अर्थान्साधयेत् । योगतः योगाभ्यासतः तनुं देहं अक्षिण्वन्क्षीणमकुर्वन्इति ॥ १०० ॥

पूर्वासंध्याजपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात् ॥ पश्चिमांतुसमासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ १०१ ॥

(१) मेधातिथिः । संमुखे प्रातः पूर्वासंध्याऽऽदित्यास्तमये पश्चिमा तांतिष्ठेत्पन्सावित्रीमासनादुत्थाय निवृत्तगतिरेकत्र देशे स्यात् । सावित्रीउक्तैव तत्सवितुर्वरेण्यमिति तस्यास्मनुवादाऽंकारादिविधिः श्लोके संध्याजपार्थमेतदक्षरमेतां चेति । आऽर्कदर्शनादिति यावद्भगवानादित्योदष्टोजपस्थानयोरयमेव विनिर्देशः । ननु किमविधिनाऽर्कोदयएव संध्यानिवर्तते । तथाहि न सर्वतमः क्षीणं नापि परिपूर्णः प्रकाशएषा संध्याउक्तं च दिवि प्रकाशो भुवि चान्धकारः कालः ससावित्रइति प्रदिष्टः निरुक्तेषु क्तमधोभागः सावित्रइति । पशुसमाम्नाये विज्ञायते कस्मात्सामान्यादधस्ताद्रामो धस्तात्कृष्णइति । आदित्योदये च सर्वतस्तमो निवर्तते । उभयधर्मानिवृत्तौ च संध्यारात्रिधर्मेऽहर्धर्मे च । अत्यन्तसंयोगे चैषा द्वितीया संध्यामिति । तेन यावत्संध्याकालं तिष्ठेदित्युक्तं भवति ततः परं स्वातंत्र्यस्थितमेव । केचिदाहुर्नैवेयमन्यन्तसंयोगे द्वितीया किं तर्हि कालश्चाकर्मकाणां कर्मसंज्ञो भवतीति चार्तिककारस्तत्र कर्मणि द्वितीयेत्येव द्वितीया । यन्तु कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगइति । तद्यत्र क्रियावाची शब्देन प्रयुज्यते । क्रोशंकुटिला नदी सर्वरात्रं कल्याणी उभयत्र च सकर्मको धातुर्मासमधीयतइति सत्यंतस्य विषयइह पुनः संध्यां तिष्ठेदिति तिष्ठतिरं कर्मकअतो विधिनिर्देशः कृत्स्नसंध्याप्राप्त्यर्थं स्थानासनयोः कर्तव्यः आरम्भकालस्त्वह नोक्तः संध्याशब्देनैव समर्पितत्वात् । यएव हि संध्याकालस्यारम्भः सएव तद्विधेः

श्रोत्रियस्यापि नहिपूर्णमास्यादि कालवद्दीर्घः संध्याकालो यदि विलम्बः स्यादुर्लक्षो ह्यसावति सूक्ष्मत्वात्कालान्तरयोरिव नामोन्नासावलक्ष्यपौर्वापर्यावधिनिवासोन्हश्च अतिशीघ्रगतिर्भगवान्भास्करस्तस्य यथा निर्भुक्तेराशौ राक्ष्यन्तरसंक्रमणं तु त्रुटिमात्रकालमिच्छन्ति ज्योतिषिकाः । एवं दिवसारम्भावसानयोरप्युदयास्तमयौ प्रागुदयाद्वात्रिरुदिते ह अनेन च नास्ति संध्याऽऽदित्योदयेनैव रात्रिविरामात् । अतएवोदयास्तमयसमीपयोरनुष्ठानप्रवृत्तिः स्पष्टे च सूर्ये नक्षत्रेषु च निवृत्तिर्यतोयदयन्तकालमुपास्ते तेनावस्यमुख्येकाले विधिनिर्वर्तितो भवति अतएव चयावान्सावित्रः कालः सेह संध्याभिप्रेता न ज्योतिःशास्त्रगणिता सा चोक्ता पुरस्ताद्यद्येवं येषामयमेवाग्निहोत्रकालस्तेषां संध्याविधेरभावः प्रसक्तः । केयं परिनोदना श्रौतेन त्सा-र्तस्य बाधो युक्त एव गृह्याग्निहोमेन विकल्पितं नैव चात्र विरोधस्तिष्ठतापि शक्यं होतुमासीनेन च ननु च न केवले स्थानासने संध्योर्विहिते किंतु त्रिकजपोपि तच्च सावित्रीजपन्कथं होममन्त्रमुच्चारयेत् । अस्तु जपस्य बाधः प्रधाने तावत्स्थानासनेन विरुध्येते । गुणलोपे च मुख्यस्येत्यनेन न्यायेन जपस्याङ्गत्वाद्बाधो युक्तस्तयोश्च प्रधानत्वं साक्षाद्विधिसंबन्धात्तिष्ठेदासीतवेति च । जपस्य तु गुणत्वं शत्रन्तत्वाज्जपतेर्लक्षणत्वावगमात् । अधिकारसंबन्धश्च स्थानासनयोरेव । नतिष्ठतितुयः पूर्वा तथा तिष्ठन्नैशमे नोव्यपोहतीति यत्तु केनचिदुक्तं तिष्ठतिरत्र गुणः प्रधानं जपकर्म ततो हि फलमश्रौमेति । तत्रोच्यते नैवायं कामिनोधिकारः कुतः फलश्रवणं यत्तु प्रमाणवादवाक्ये वेदपुण्येन युज्यत इति फलानुवादभ्रमः सतत्रैव निर्णयितस्तस्मात्स्थानासने प्रधाने । अथवाग्निहोत्रिणः सकृत्सावित्रीजपिष्यन्ति त्रिरावर्तयिष्यन्ति वा । न तावताग्निहोत्रस्य कालातिपत्तिः अश्रुत् सायं विनिर्मुक्त इति न तावता विनिहन्यते । अश्रुत्शब्दः चिरकालवचनस्तावता च कृतः संध्यार्थो भवति । अर्कदर्शनपर्यन्तता ह्यङ्गमेवोदितहोमिनां कृतसंध्यानामेवाग्निहोत्रहोमः । गौतमेन तु सज्योतिषा ज्योतिषो दर्शनादिति । सूत्रस्यार्थः एतावान्कालः संध्योच्यते न वाप्यङ्गंतत्रैतावतिकाले नास्त्यावृत्तिः यथा पौर्णमास्यां यजेतेति न कालानुरोधेन । कर्मणा आवृत्तिः तथा पूर्वासंध्यासनक्षत्रां पश्चिमां सदिवाकरामिति । तदपि काललक्षणं एतावान्काल इह संध्याशब्देनोच्यते । तत्र सांध्योविधिरनुष्ठेयस्तत्रेयतिसंध्याशब्दवाच्ये काले च मुहूर्तमात्रे यदि त्रिचतुरासु कालकलासु स्थानासनजपान्कुर्यात् । संपन्न एव विध्यर्थः न ह्यत्र कृत्स्नकालव्याप्तिः श्रुता मनोरिव सर्वथाग्निहोत्रसंध्याविधीसमानकालावपि शक्यावनुष्ठानं सदाशब्देनित्यतामाह । उभयसंध्याशेषः आसीत् आसनमूर्ध्वतावस्थानमुपविष्टो भवेत् । ऋक्षं नक्षत्रमातद्विभावनात् । आर्कदर्शनादिति य आकारः स इहानुपक्तव्यः सम्यक्शब्दो दर्शनविभावनयोर्विशेषणं सम्यग्यदा परिपूर्णमण्डल आदित्यो भवति नक्षत्राणि च भास्वन्ति स्वभासायुक्तानि नादित्यतेजोभिभूतानि ॥ १०१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तिष्ठे दूर्ध्वं स्तिष्ठे जपनसंध्यां पूर्वामत्यन्तसंयोगेन समासीतोपविशेत् । असम्यक् ऋक्षाणां विभावनादर्शनाद्विवेकेन बहूनां प्रकाशनात् । अत्र तिष्ठन्नासीनो जपेदिति प्रत्यस्य व्यत्ययो बोद्धव्यः । जपस्य प्राधान्यात् । तथा च यजुर्वेदब्राह्मणे अथातः संध्योपासनविधिं व्याख्यास्याम इत्युपक्रम्य पूर्वागायत्रीजपेदष्टकृत्व इत्यादि । अतएव जपस्य कर्मणि सावित्रीलभ्यते । एतदक्षरमेतांचेत्युक्तत्वाच्च ॥ १०१ ॥

(३) कुङ्कुमः । पूर्वासंध्यामिति । पूर्वासंध्यां पश्चिमामिति च कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे द्वितीया । प्रथमसंध्यां सूर्यदर्शनपर्यन्तं सावित्रीजपस्तिष्ठेदासनादुत्थाय निवृत्तगतिरेकत्र देशे कुर्यात् । पश्चिमांतु संध्यां सावित्रीजपसम्यङ्क्षत्रदर्शनपर्यन्तमुपविष्टः स्यात् । अत्र च फलवत्त्वाज्जपः प्रधानम् । स्थानासनत्वं गेफलवत्सन्निधावफलंतदङ्गमितिन्यायात् । संध्योर्वेदविधिष्वेवेदपुण्येन युज्यते । सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य इति च पूर्वजपात्फलमुक्तम् । मेधातिथिस्तु स्थानासनयोरेव प्राधान्यमाह । संध्याकालश्च मुहूर्तमात्रंतदाह योगी याज्ञवल्क्यः न्हासवृद्धीतुसततं दिवसानां यथाक्रमम् । संध्या मुहूर्तमात्रं तु न्हासे वृद्धौ च सा स्मृता ॥ १०१ ॥

(४) राघवानन्दः । सन्ध्योर्वेदविदित्युक्तं तच्च कियन्तकालं व्याप्य कर्तव्यमिति प्रकारं लक्षणं वाह पूर्वामिति । सन्ध्यां व्याप्य जपनू ऊर्ध्वं तिष्ठेत् आसीनो भवेदिति विधिस्तत्रैवावधेरेषेक्षणात् । जपे तु सङ्ख्यैव नियम्यते न तु कालः । सहस्रपरमां देवीं शतमध्यां दशावरामित्युक्ते राकं दर्शनात् संपूर्णार्कदर्शनमभिव्याप्य तद्दर्शनं यावत्सम्यगक्षविभावनात्सम्यक्कक्षं सम्यगृक्षं तस्य विभावनप्रकाशः तावदध्यासीत उपविश्य जपेदित्यर्थः । ङासवृद्धी तु सततं दिवसानां यथाक्रमं । सन्ध्यामुहूर्तमात्रं तु ङासे वृद्धौ च संस्थितेति योगियाज्ञवल्क्योक्तं दण्डद्वयसन्ध्या ॥ १०१ ॥

(५) नन्दनः । अथ कर्मान्तरमाह पूर्वामिति । आर्क्षविभावनात् आर्क्षक्षविभावनादिति पदच्छेदः । आ नक्षत्रदर्शनात् ॥ १०१ ॥

(६) रामचन्द्रः । सन्ध्योपासनविधिमाह । पूर्वासन्ध्यां सावित्रीं जपन् आर्कदर्शनात्सूर्यदर्शनपर्यन्तं तिष्ठेत् । पश्चिमां सन्ध्यां समासीनः आर्क्षविभावनात् नक्षत्रदर्शनपर्यन्तं गायत्रीं जपं तिष्ठेत् ॥ १०१ ॥

पूर्वासन्ध्यां जपं तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति ॥ पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥ १०२ ॥

(१) मेधातिथिः । अयमत्राधिकार उच्यते । एनः प्रतिषिद्धसेवनाज्जातो दोषस्तत्पुत्रो ह्यपनुदति । निशि भवन्नैशं रात्रौ कृतम् । एवं मलमेनः शब्देन समानार्थम् । न च सर्वस्य दिवाकृतस्य नैशिकस्य चैतन्प्रायश्चित्तं तथा सति रुच्छ्राद्युपेदशः प्रायश्चित्तविशेषोऽनर्थकः स्यात् । अर्के चेन्मधुविन्देत् किमर्थं पर्वतं व्रजेदिति लौकिकात्मवादात् । किं तर्हि यदसेवितं कृतमशक्यपरिहारमनाम्नात् प्रायश्चित्तविशेषं लघोय एनस्तदपैति यदा सुप्तस्य हस्तचारशय्यापरिवर्तनादिना सूक्ष्मप्राणिवधोगुह्याङ्गकण्डूकर्षणेनाकस्मात्स्पृशेदिति प्रतिषिद्धम् । लालाश्रवादिना चाशुचित्वमेतत्कालकृताशौचस्यावस्थाने प्रतिषिद्धसेवनादि । एतदभिप्रायमेवेदं सर्वदेवाशुचिर्ज्ञेयः सन्ध्योपासनवर्जित इति । न चानित्यत्वापत्तिरेवं विधस्य दोषस्य सर्वदा भावात् । दिवा च पथि गच्छन्नन्यस्त्रीमुखसंधान संपन्नं तज्जन्यचित्तविकारोन्मीलने क्रुद्धाञ्जलसंभाषणे तत्संभ्याविधी अपनुदतः ॥ १०२ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । जपं तिष्ठन् तिष्ठजपन् मलं पापं मलिनीकरणरूपं । एतच्च सायमर्कदर्शनकालं प्रातश्च नक्षत्रदर्शनकालं आरभ्य कार्यसंज्योतिषो दर्शनादिति गोतमोक्तेः ॥ १०२ ॥

(३) कुञ्जकः । पूर्वसंभ्यामिति । पूर्वसंभ्यायां तिष्ठजपं कुर्वाणो निशासंचितं पापं नाशयति । पश्चिमसंभ्यायां तूपविष्टो जपं कुर्वन् दिवार्जितं पापं निहन्ति तत्रापि जपात्फलमुक्तम् । एतच्चाज्ञानादिकृतपापविषयम् । अतएव याज्ञवल्क्यः दिवा वा यदि वा रात्रौ यदज्ञानकृतं भवेत् त्रिकालसंभ्याकरणात् सर्वविप्रणश्यति ॥ १०२ ॥

(४) राघवानन्दः । खादिरन्यायेनाह नैशमिति । निशाकृतं एनः पापं मलमपि पापं यथा खादिरं पशुं वज्राति खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वीतेति वचनद्वयेनैक एव खादिरो यूप उभयार्थः एवं सन्ध्यापोति न्यायार्थः ॥ १०२ ॥

(६) रामचन्द्रः । पूर्वसंभ्यां गायत्रीं जपं तिष्ठन् निशायां भवन्नैशं एनः पापं व्यपोहति नाशयति । सायंसंभ्यां कुर्वाणः दिवा कृतं पापं मलं हन्ति ॥ १०२ ॥

न तिष्ठति तु यः पूर्वानोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ॥ स शूद्रवद्वहिष्कार्यः सर्वस्माद्विजकर्मणः ॥ १०३ ॥

(१०३) न तिष्ठति तु यः पूर्वानोपास्ते यश्च पश्चिमाम् (क, ग)

(१) मेधातिथिः । अनेनाननुष्ठानप्रत्यवायंवदन्नित्यतामेव समर्थयति । यः प्रातः संध्यायां नोर्ध्वआस्ते न च पश्चिमायामुपविष्टोभवति सशूद्रनुल्योवेदितव्यः । सर्वस्माद्विजातिकर्मणः आतिथ्यादिसत्कारसंप्रदानादितोबहिष्कार्योऽपनोद्यः । अतः शूद्रसमानतानिरासार्थन्नित्यममुष्येया संध्या । इदमधिकारवाक्यम् । अत्र च स्थानासनएवोपपत्तेर्जपेयस्य चाधिकारसंबन्धस्तत्प्रधानमन्यत्तत्संबन्धमङ्गम् ॥ १०३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । न तिष्ठति तिष्ठञ्जपतीत्यर्थः । एवमुपास्तइत्यत्रापि ॥ १०३ ॥

(३) कुट्टुकः । न तिष्ठतीति । यः पुनः पूर्वसंध्यां ननु तिष्ठति पश्चिमांतु नोपास्ते तत्तत्कालविहितं जपादि न करोतीत्यर्थः । सशूद्रइव सर्वस्माद्विजातिकर्मणोऽतिथिसत्कारादेरपि बाह्यकार्यः । अनेनैव प्रत्यवायेन संध्योपासनस्य नित्यताक्ता । नित्यत्वेऽपि सर्वदापेक्षितपापक्षयस्य फलत्वमविरुद्धम् ॥ १०३ ॥

(४) राघवानन्दः । सन्ध्याकरणे दोषमाहनेति । शूद्रवदिति तदकरणेऽनधिकारितैव तत्पूर्वकत्वात्सर्वकर्मणाम् ॥ १०३ ॥

(५) नन्दनः । स्थानासनयोरकरणेप्रत्यवायमाह । न तिष्ठतीति ॥ १०३ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः पुरुषः पूर्वापश्चिमांसन्ध्यां न उपास्ते न करोति सः सर्वस्मात्तद्विजकर्मणः सकाशाद्विद्वद्विर्बहिष्कार्यः निष्काशनीयः ॥ १०३ ॥

अपांसमीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः ॥ सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः ॥ १०४ ॥

(१) मेधातिथिः । अयमपरः स्वाध्यायविधिः प्रकरणान्तरे श्रुतत्वात्पूर्वस्मात्प्रकरणान्निवृत्ते । बहिर्गामान्निर्जनो देशारण्यंतद्रत्वा प्राप्यापांसमीपे नदीवाध्यादिस्थाने तदभावे कमण्डलवादिभाजनस्थानामपि नियतः शुचिर्यत्नवान्वा समाहितः परित्यक्तचित्तव्याक्षेपः सावित्रीमप्यधीयीत यदि बहुसूक्तानुवाकाध्यायादि कयाचित्कार्यातिपत्त्या नशक्यते । नैत्यकं विधिमास्थितः नित्यएवानैत्यकः नित्योयं विधिरित्येवं स्थितप्रज्ञः ग्रहणार्थश्च स्वाध्यायाध्ययनविधिः प्रकृतिरयं विचारः संस्तदीयाद्वर्मानुगृह्णाति तेन ब्रह्मणः प्रणवंप्राकूलानित्यादिधर्मो भवति । अन्येतु विधिर्विधाप्रकारइति कर्तव्यतेत्यादि चक्षते नित्ये ब्रह्मचारिणावश्यकर्तव्ये साध्यायाध्ययनविधेति कर्तव्यता तामाश्रितः । अस्य तु विधेस्तदा नित्यत्वं ब्रह्मसंज्ञं हि तत्स्मृतमित्यादिवाक्येभ्यो वसातव्यम् । आद्यमेव व्याख्यानं युक्तरूपं दृश्यते । नहि विधिशब्दः प्रकारवचनतया प्रसिद्धो यदि च नैत्यकशब्देन ब्रह्मचारिणो विधिरुच्यते । तदा नैत्यकेनास्त्यनध्यायइत्यत्रापि नैत्यकशब्देन तस्यैवाभिधानं स्यात्तत्तश्चानध्यायनिषेधस्तत्रैव न प्रसज्येत ॥ १०४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अथ ब्रह्मयज्ञविधिमाह अपामिति । नियतः शुचिः नैत्यकं विधिं ब्रह्मयज्ञविधिं ब्रह्मयज्ञेन यक्ष्यमाणइत्यादिना श्रुतावुक्तं । आरण्यं ग्रामाद्वहिः सावित्रीमपीत्यन्याध्ययनाशक्तावुपाकरणाद्वा पूर्वमगृहीतवेदस्य ब्रह्मचारिणो नुकल्पः । आदिक्रमेण स्वशाखायानित्यं पाठो मुख्यो ब्रह्मयज्ञः । समाहितो न्यचेताः ॥ १०४ ॥

(३) कुट्टुकः । अपांसमीपइति । ब्रह्मयज्ञरूपमिदं बहुवेदाध्ययनाशक्तौ सावित्रीमात्राध्ययनमपि विधीयते । अरण्यादिनिर्जनदेशंगत्वादिजलसमीपे नियतेन्द्रियः समाहितोऽनन्यमनानैत्यकं विधिं ब्रह्मयज्ञरूपमास्थितो नुतिष्ठामुः सावित्रेमपि प्रणवयादतित्रययुतां यथोक्तमधीयीत ॥ १०४ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र प्रशस्तस्थानमाह अपामिति । नैत्यकं ब्रह्मयज्ञरूपं समाहितोऽनन्यमनः सावित्रीमपीति अनधीतसूक्तान्तरस्य ब्रह्मयज्ञार्थं । विशिष्टो यमपरो विधिरिति मेधातिथिः ॥ १०४ ॥

(५) नन्दनः । प्रथमं ब्रह्मयज्ञमाह अपामिति । नियतसमाहितशब्दाभ्यां कर्मज्ञानेन्द्रियसंयमावुक्तौ । नित्यमेव नैमित्तिकं अनेनाहरहः कर्तव्यत्वमुक्तं विधिब्रह्मयज्ञेन यक्ष्यमाणः प्राच्यान्दिशोत्यनुवाकेनोक्तं । अधीयोत स्वाध्यायनकेवलं स्वाध्यायिकमेवाधीयोत । किन्तु सावित्रीमपि । श्लोकस्यास्य ब्रह्मयज्ञविषयत्वम् ॥ १०४ ॥

(६) रामचन्द्रः । युग्मं अपामिति । नैत्यकं विधिं आस्थितः सन् पात्रानिकटे नियतः सावित्रीञ्जपेत् । गत्वारण्यं समाहितः सन् पुरुषादिकृतः सन् सम्यगधीयोत अध्ययनं कुर्वीत ॥ १०४ ॥

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ॥ नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥ १०५ ॥

(१) मेधातिथिः । उपकरणमुपकारकं वेदाङ्गकल्पसूत्रनिरुक्ताद्युच्यते । तस्मिन्पठ्यमानेऽनध्यायेऽप्यनुरोधआदरोनास्ति । अनध्याये होममन्त्रेषु चैव ह्यनध्यायानादरणीया अनध्यायेष्वध्येतव्यम् । न निरोधइति वा पाठः । निवृत्तिरनध्यायेष्वध्ययनस्य नास्ति । यद्यप्यध्ययनविधिधर्मोऽनध्यायेष्वनध्ययनं अध्ययनविधिश्च स्वाध्यायविषयः स्वाध्यायश्च वेदो न च वेदशब्दवाच्यान्यङ्गानि तथापि वेदवाक्यमिश्रत्वबुद्धिः स्यादिति स्पष्टार्थमुच्यते । दृष्टान्तोवायं वेदाङ्गेष्विव वेदेष्वनध्यायो नास्ति । होममन्त्रेष्वग्निहोत्रहोमे ये मन्त्रा अन्यस्मिन्वासावित्रादिशान्तिहोमे । एतच्च प्रदर्शनार्थम् शश्वज्जपप्रैषादिमन्त्राणां कर्माङ्गानां वैदिकं वाक्योच्चारणमात्रधर्मोऽनध्यायानध्ययनस्वाध्यायनविधिप्रयुक्तइति मन्यमानो होमादिमन्त्रेषु चतुर्दश्यादिष्वनुच्चारणं प्रपद्येत यः स न्यायसिद्धेनार्थेनानुद्यमानेन प्रतिबोध्यते । स्वाध्यायाध्ययनविधिप्रयुक्तमनध्यायानुक्रमणं वेदधर्मस्ततो नास्तिकर्माङ्गमन्त्रेष्वनध्यायः । नैत्यके स्वाध्याये पूर्वेण वाक्येन सर्वाश्रमिणां विहिते नित्ये स्वाध्यायविधौ ॥ १०५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वेदोपकरणे व्याकरणाद्यङ्गे नैत्यके स्वाध्याये ब्रह्मयज्ञे होममन्त्रेषु काम्यकर्माङ्गेष्वपि अनध्यायेनध्ययनदिनेनानध्ययनानुरोधः । अन्यत्र भवत्वनध्यायाभावः ॥ १०५ ॥

(३) कुल्लूकः । वेदोपकरणइति । वेदोपकरणे वेदाङ्गे शिक्षादौ नैत्यके नित्यानुष्ठेये च स्वाध्याये ब्रह्मयज्ञरूपे होममन्त्रेषु चानध्यायादरोनास्ति ॥ १०५ ॥

(४) राघवानन्दः । अहन्यहनोत्युक्तं अष्टकापौर्णमास्यावित्यादौ कागतिरिति चेत्तत्र पर्युदासाधिकरणन्यायेनाह वेदोपकरणइति । वेदोपकरणे शिक्षादिवेदाङ्गे नैत्यके ब्रह्मयज्ञादिरूपे गुरुमुखात्प्रथमाध्ययने वा तएव स्नानकप्रकरणएवानध्याये गणितस्तस्याध्ययनस्य काम्यत्वात् अनुरोधे अपेक्षा अङ्गादेर्नास्ति तथा च सूत्रम् । कामं वेदाङ्गानीति । काममिच्छा तद्वशात् वेदाङ्गाध्ययनमिति जैमिनिसूत्रार्थः । यजतिषु । ये यजामहे कुर्यान्नानुयाजेष्विति तत्र यथा अनुयाजवर्जितेषु यागेषु ये यजामहकरणं तद्वदत्रापि अनध्यायेष्वङ्गादिपाठइति न्यायार्थः ॥ १०५ ॥

(५) नन्दनः । सावित्रीग्रहणेन ज्ञापितं चात्र ब्रह्मयज्ञे ग्रहणाध्ययनइवानध्यायकालइत्याह वेदोपकरणइति । वेदोपकरणे वेदाङ्गे तत्र प्रविधाभावात् होममन्त्रेषु विधिबलाच्च यथानध्यायानुरोधो नास्ति एव नैमित्तिकेऽप्येत्यर्थः ॥ १०५ ॥

(६) रामचन्द्रः । वेदोपकरणे उपाकर्मकरणे ॥ १०५ ॥

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तस्मृतं ॥ ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥ १०६ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वविधिशेषोयमर्थवादः । एतेन हेतुना नैत्यकेनास्त्यनध्यायो यतो ब्रह्मसत्रं तस्मृतं सततप्रवृत्तं सत्रं यथा सहस्रसंवत्सरादिसत्रं कदाचिच्छिद्यतइत्यतः सत्रमेवमिदमपि ब्रह्माध्ययननिर्वर्त्य ब्रह्मसत्रत्वाच्च न कदाहिच्छेद्यमस्ति । विच्छेदे हि सत्रत्वं न स्यात् । सत्रत्वमिदानीं रूपकभङ्ग्या योजयति । ब्रह्माध्ययनमाहुतिहुतमन्यत्सत्रं सोमाहुत्या-

हूयते । जुहोतिरनिवृत्तौ वर्तते । अनेकार्थात्वाद्धातूनां ब्रह्मशब्देन तद्विषयाध्ययनक्रिया लक्ष्यते । ब्रह्माध्ययनमाहुतिरिवोपमितं व्याघ्रादिभिरितिसमासः । अनध्याये यदध्ययनं तेन वषट्कृतं तथा याज्यान्तं विच्छेदो वषट्कारेण क्रियत एवंचतुर्दश्याद्यनध्यायाध्ययनं वषट्कारस्थानीयम् । वषट्शब्देन वौषट्शब्दो लक्ष्यते तेन कृतं युक्तं संस्कृतं साधनं कृतेति समासः ॥ १०६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । त्वाध्यायरूपे तु ब्रह्मयज्ञे कथमेवमध्ययनविरोधित्वादनध्यायस्येत्यत आह नैत्यक इति । ब्रह्मणा वेदेन सत्रं संतन्यमाना क्रियायतेतः क्रियासंतत्यविच्छेदार्थं नानध्यायानुरोधः कित्वेकां वचमेकं वा यजुरेकवा सामाहरेदित्यापस्तम्बवचनादनुसंधानमत्राल्पमणीयोनृषेयं एतदर्थमपि चैतद्धोममन्त्रादेः पृथक्कृत्यं पुनरुक्तम् । अत्र चानध्यायानामनुरोधाभिधानात् स्नातकव्रतकरणेध्यापकं प्रति कथितानामनध्यायानामध्ययनकारिणं ब्रह्मचारिणं प्रत्यन्वयोपेक्षितः । तेन विधिलिखनेनाध्यापकस्याध्ययनप्रवृत्तावध्ययेना नाध्येतव्यमिति लभ्यते । ब्रह्मसत्रमित्यत्र गुणयोगेन सत्रशब्दस्य प्रवृत्त्यायोगेन तां वक्तुं गवामयनादिसत्रसाम्यमस्याह । ब्रह्माहुतीति । वेदरूपाया आहुतेर्होतव्यस्य हुतं होमोयत्र तंपुण्यहेतुं त्वाध्यायं यथा च सत्रे वषट्कारो होममन्त्रस्तथात्रापि अनध्यायो नध्ययननिमित्तं मेघनिर्घातशब्दादि वषट्कारस्थानीयम् । यदाहापस्तम्बः ब्रह्मयज्ञो हवा एषयः त्वाध्यायतस्यैते वषट्काराय तस्तनयतीत्यादि ॥ १०६ ॥

(३) कुड्मूकः । नैत्यक इति पूर्वोक्तनैत्यकत्वाध्यायस्यायमनुवादः । नैत्यके जपयज्ञेऽनध्यायो नास्ति यतः सततं भवत्वात् । ब्रह्मसत्रं तन्मन्वादिभिः स्मृतं ब्रह्मैवाहुतिर्ब्रह्माहुतिर्हविस्तस्याहुतं अनध्यायाध्ययनमध्ययनरूपमनध्यायवषट्कृतमपि पुण्यमेव भवति ॥ १०६ ॥

(४) राघवानन्दः । अर्थवादेनोक्तमर्थद्रष्टव्यं नैत्यक इति । ब्रह्मसत्रं सततं भवत्वात् ब्रह्मैवाहुतिस्तस्याहुतं होमरूपाध्ययनं सोमाहुतिस्थानीयं अनध्यायवषट्कृते अनध्यायाध्ययनं वषडिति याज्यासमापकवौषट्स्थानीयं तेन कृतं संस्कृतं ब्रह्मसत्रमितिरूपकं पुण्यं पुण्यदं । नापो हेदश्रिषु क्रिया इति होमे नास्त्यनध्याय आवश्यकत्वात् । तथा मात्यहिकजपेपीति भावः ॥ १०६ ॥

(५) नन्दनः । उक्तमेवार्थहेतुन्यासेन स्थिरीकरोति नैत्यक इति । नैतिके त्वाध्यायेनास्त्यनध्यायः कुतः ब्रह्मैवाहुतिर्ब्रह्माहुतिः वेदव्याहुतिरित्यावत् । सायस्मिन्सत्रे हुतात् ब्रह्माहुतिरुतं अनध्यायकाले एव वषट्कृतं यस्य तदनध्यायवषट्कृतं श्रूयते हतस्य वा एतस्य यज्ञस्य मेघो हविर्धानमित्यादि अधीयत इत्यध्यायो याज्यापुरोनुवाक्यादिः । वषट्कृतं वषट्कारः । ताभ्यां रहितमनध्यायवषट्कृतं । तत् ब्रह्मसत्रं वेदसत्रं सत्रशब्देनैरर्तयणदीर्घकालानुष्ठेयत्वाभिप्रेतास्तत्तानैत्यकेनास्त्यनध्याय इत्यर्थः । संवत्सरमपि ब्रह्मयज्ञं कुर्वत सर्वपुरुषार्थलाभः यावज्जीवं कुर्वतः किंपुनरित्यभिप्रायेणाह । यस्स्वाध्यायमिति । त्वाध्यायं ब्रह्मयज्ञविषयमदमदमात्रमप्येष्टत्वाध्यायः । पयोधर्मशुचिसामान्यात् । मेदः अर्घ्यपुष्टिहेतुत्वसामान्यात् । घृतसाम्यं स्नेहसारूप्यात् । मधुरसः नानारसैक्यात् क्षरति । दुग्धे केचिदपांसमीष इत्यादि श्लोकचतुष्टयेन गृहीतत्वाध्यायस्यानित्याध्ययनमुक्तमिति व्याचक्षते ॥ १०६ ॥

(६) रामचन्द्रः । नित्यत्वाध्याये अनध्यायः अध्ययनस्य अनुरोधेन भवेत् च पुनः होममन्त्रेषु मन्त्रैश्चारेषु अनध्यायो न भवेत् नित्यकर्मणि अनध्यायो नास्ति ततः अध्ययनं ब्रह्मसत्रं ब्रह्मयज्ञस्मृतः ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यं ब्रह्मण आहुतिहुतं ब्रह्माहुतिहुतं वेदाहुतिहुतमित्यर्थः ब्रह्मणारुवेणाहुतिहुतं मतिवार्थः अनध्याये वषट्कृतं पुण्यं भवति ॥ १०६ ॥

यः स्वध्यायमधीतेऽद्विविधिना नियतः शुचिः ॥ तस्य नित्यं क्षरं त्येष पयोदधिघृतं मधु ॥ १०७ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रकृतविधिशेषोयम् । सच नित्यः समधिगतः नित्ये च फलश्रवणमर्थवादो न च विधिविभक्तिर्वि-

द्यते येनैकस्य तूभयत्वेसंयोग पृथक्कमित्यनेन न्यायेनाधिकारान्तरहेतुः प्रयपभृतिः स्यात् । लब्धे च नित्येऽधिकारे रात्रिसत्रन्यायोपि नास्ति येन पयआदीनि निष्कलत्वेन कल्पेरन् । तस्मादर्थवादएवायम् । अधीयानस्य लोकपत्त्या प्रतिग्रहादिना गोलाभात्पयः प्रभृतेः प्रक्षरणानुवादस्यालम्बनम् । त्वाध्यायवेदमधीतेवदंसवत्सरविधिना प्राक्कूलाध्यासनेन नियतः संयन्तेन्द्रियः शुचिः स्नानादिना तस्य पुरुषस्य नित्यं यावज्जीवं क्षरति स्रवति ददाति । एषः त्वाध्यायः पयोदधीति । अन्येतु धर्मार्थकाममोक्षात्पयआदिभिः शब्दैरभिहितात्मन्यन्ते । पयः शुद्धि सामान्याद्धर्मः दधिपुष्टिहेतुत्वादर्थः । स्नेहसामान्याद्वृत्तकामः सर्वरसैक्यान्मधुमोक्षः । यावान्कश्चन पुरुषार्थः ससर्वोवेदाध्ययनात्सवत्सरैव प्राप्यते किंपुनर्बहुना कालेनार्थवादत्वात्पयआदिशब्दानां कोर्थायुक्तइति नाभिनिवेष्टव्यम् ॥ १०७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यावज्जीवाध्ययनेनियतेप्यव्दमात्रेणैवलभ्यं फलमाहयइति । नियतइन्द्रियप्रत्याहारवान् पयःस्वेतवर्णसारूप्याद्धर्मः तद्भवत्वादर्थोदधि तदुभयप्रभवत्वात्तद्वृत्तकामः मध्विति परमात्मनातद्विषयतया ब्रह्मविद्यायामधुशब्दप्रयोगः । अथातौ सवामधुप्रवोचदिति ॥ १०७ ॥

(३) कुड्मूकः । यः त्वाध्यायमिति । अव्दमित्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया । योवर्षमप्येकं त्वाध्यायमहरहर्विहिताङ्गयुक्तं नियतेन्द्रियश्रयतोजपति तस्यैव त्वाध्यायोजपयज्ञः । क्षीरादीनि क्षरति क्षीरादिभिर्देवान्पितृंश्च प्रीणाति ते च प्रीताः सवर्कामैर्जपयज्ञकारिणस्तर्पयन्तीत्यर्थः । अतएव याज्ञवल्क्यः मधुना पयसा चैव सदेवांस्तर्पयेद्विजः । पितृन्मधुघृताभ्यांच ऋचोधीति हि योऽन्वहमित्युपक्रम्य चतुर्णामिव वेदानांपुराणानांच जपस्य देवपितृवृत्तिफलमुक्त्वा शेषे तेतृमास्तर्पयन्त्येनं सर्वकामफलैः शुभैरित्युक्तवान् ॥ १०७ ॥

(४) राघवानन्दः । अध्ययनस्य गुणफलमाह । यइति । विधिना प्राक्कूलानित्युक्तेनक्षरन्तिपित्रादीनां तृप्तिमिति । तदुक्तं याज्ञवल्क्येन । मधुना पयसा चैव सदेवांस्तर्पयेद्विजः । पितृन्मधुघृताभ्यांच ऋचोधीति तु योऽन्वहम् ॥ ईदृशः त्वाध्यायः गोदोहनविशिष्टापः प्रणयनं यथापशुसाधनंतथायमुक्तफलसाधनमिति अर्थवादोयमिति मेधातिथिः । तन्मन्त्रार्थवादत्वे परपदार्थापत्तिः स्वपदार्थत्यागइति मीमांसामुद्राभङ्गः अन्यथा गोदोहमप्यर्थवादः स्यात् ॥ १०७ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः पुरुषः अव्दपर्यन्तं त्वाध्यायं अधीते करोति तस्य नित्यं एषः त्वाध्यायः पयोदधिघृतमधु क्षरति स्रवति ददातीत्यर्थः । धर्मार्थकाममोक्षाः पयोरूपोद्धर्मः । दधिरूपोऽर्थः घृतरूपः कामः । मधुरूपोऽमोक्षः ॥ १०७ ॥

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधः शय्यांगुरोर्हितम् ॥ आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनोद्विजः ॥ १०८ ॥

मेधातिथिः । सायंप्रातः समिद्धिरग्रेरादीपनमग्नीन्धनम् । अपर्यंकारोहणमधः शय्या नतु स्थण्डिलशायित्वमेव । गुरवे हितमुदकुम्भाद्याहरणं शुश्रूषणलक्षणम् । यत्तु तदुपकारकरणंतयावज्जीविकम् । एतदाब्रह्मचर्यसमाप्तेर्गुरुकुलनिवृत्तिलक्षणान् स्नानात्कर्तव्यं त्वाध्यायाध्ययनविध्यर्थत्वात् । ब्रह्मचर्यस्य तद्धर्माणांच यावद्ब्रह्मणमनुवृत्तिस्तन्निवृत्त्या च निवृत्तिः सिद्धैवेति । अग्नीन्धनादीनांपुनर्वचनं तद्यतिरिक्तस्यातिक्रान्तस्य धर्मकलापस्योत्तरेषामप्याश्रमिणामनुष्ठानार्थम् । तथाच गौतमः उत्तरेषांचैतदविरोधादिति । अथैवं कस्मान्न भवत्येते यावद्ब्रह्मचर्यभाविनोऽप्ये पुनरवागपि निवर्तन्तर्हात स्मृत्यन्तरमात्रदर्शितप्रधानकालानुवर्तिनश्च नियमाद्व्येषन्यायः सत्यां गतौ बाधितः स्यात् । गुरवे हितमिति हितयोगे चतुर्थी न्याय्यातद्वक्ष्यति ॥ १०८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । समिदाधानमिन्धनं अधः शय्या खट्वाद्युपरिशयनत्यागः गुरोर्हितंतत्परिचर्याएतश्चैतेषां ब्रह्मयज्ञसन्ध्योपासनादिवत् समावर्तनाद्धूर्ध्वमप्यनुष्ठानप्रसंगवारयितुमुक्तम् । अतएव गौतमः उत्तरेषांचैतदविरोधीति ॥ १०८ ॥

(३) कुल्लुकः । अग्नीन्धनमिति सायंप्रातःसमिद्धोर्मभिक्षासमूहाहरणमखट्टाशयनरूपामधःशय्यां न तुस्थण्डिलशायित्वमेवगुरोरुदककुम्भाद्याहरणरूपं हितं कृतोपनयनो ब्रह्मचारी समावर्तनपर्यन्तं कुर्यात् ॥ १०८ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्रह्मचारिणोऽवश्यकर्तव्यमाह अग्नीन्धनमिति अग्नीन्धनं सायंप्रातः समिद्धोर्मः अधःशय्यां खट्टाद्यनारुढतां कुर्यात् समावर्तनपर्यन्तमित्यन्वयः ॥ १०८ ॥

(५) नन्दनः । अथ ब्रह्मचारिप्रकरणोक्तानां केषांचिद्धर्माणामुत्तरांशमेवप्यनुवृत्तिप्रदर्शनार्थं केषांचिन्नियममाह अग्नीन्धनमिति । अग्नीन्धनादीनां यावत् ब्रह्मचर्यकालभावित्वं प्रधानवशवर्तित्वात् गुणानां सिद्धिं सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः अग्नीन्धनादिभ्यो न्येषां यावज्जीवकालप्रयोगइति । गुरोर्हितं उदकुम्भाहरणादि अन्यस्य यावज्जीवकालत्वात् ॥ १०८ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्रह्मचारिधर्मानाह कृतोपनयनो द्विजः समावर्तनपर्यन्तं अग्निं अग्निशुश्रूषां कुर्यात् इन्धनं गुरोः इन्धनानयनं गुरोर्हितं कुर्यात् ॥ १०८ ॥

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः ॥ आमः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः ॥ १०९ ॥

(१) मेधातिथिः । सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यतइति तत्र कीदृशाय विद्यादातव्याइति पात्रलक्षणार्थः श्लोकः ब्रह्मचारिधर्मप्रसङ्गेनाध्यापनविधिरयमुच्यते । आचार्यस्य पुत्रः शुश्रूषा परिचर्या गृहोपयोगिशक्तितः कर्मकरणं शरीरसंवाहनं च ज्ञानादयः कश्चिद्बन्धुः आचार्यस्य न विदितः शिष्येण कथंचिच्छिक्षितोऽर्थकामकलाविषयो धर्मविषयो वा विद्याविनिमयेनेदमध्यापनम् । धार्मिकः अग्निहोत्रादिकर्मानुष्ठानप्रधानः शुचिर्मुद्गारिशुद्धार्थशुद्धश्च । गोबलीवर्दवत्पदत्रयस्य पुनरुक्तं धार्मिकः शुचिः साधुरिति । आमसुहृद्बन्धवादिः प्रत्यासन्नः शक्तः ग्रहणधारणसमर्थः स्वः पुत्रः उपनीतश्च पूर्वः अन्योपनीता अप्यध्याप्याः । ननु च धर्मतइत्युच्यते एतैरध्यापितैर्धर्मो भवति अर्थदश्च दृष्टेनोपकरोति तत्र कुतोऽदृष्टकल्पना केनोक्तं कल्पमिति श्रुते का कल्पना साक्षादेव हि श्रुतमध्याप्या दशधर्मतइति । उपाध्यायस्त्वाह धर्मशास्त्रव्यवस्थोच्यते । एतैरध्यापितैर्धर्मातिक्रमो न भवति न पुनरर्थदः अध्यापिते विद्यादानलक्षणे धर्मो भवति ॥ १०९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शुश्रूषुः कृतचर्यः । धार्मिको धर्मानुष्ठानशीलः । शुचिः शुद्धभावः । आमो बन्धुः । शक्तो ग्रहणधारणादिशक्तिमान् । अर्थदः परिभाषाविना पूर्वधनेन कृतोपकारः । साधुरार्जवोपेतः । स्वो ज्ञातिः । धर्मतो धर्मार्थमुद्दिश्य न तु भविष्यदर्थं शुश्रूषादिना ॥ १०९ ॥

(३) कुल्लुकः । कीदृशः शिष्योऽध्याप्य इत्याह आचार्यपुत्रइति । आचार्यपुत्रः परिचारको ज्ञानान्तरदाता धर्मविन्मुद्गार्यादिषु शुचिः बन्धुः ग्रहणधारणसमर्थः धनदाताहितेच्छुः ज्ञातिः दशैते धर्मोऽध्याप्याः ॥ १०९ ॥

(४) राघवानन्दः । विद्यादानपात्राण्याह आचार्यपुत्रइति । ज्ञानदः अथवा विद्यया विद्येत्युक्तत्वात् धार्मिकः लाभानुपजीव्यधर्मार्थयः पठति शुचिरलुब्धः आमो बन्धुः । शक्तो वेदतदर्थं विचारणादौ अर्थद उत्तरकाले स्वो ज्ञातिः ॥ १०९ ॥

(५) नन्दनः । इदानीं गुरोरध्यापनयोग्यान् संगादाह आचार्येति । शक्तः ग्रहणधारणादौ गुरुकार्येषु वा समर्थः । स्व ज्ञातिः धर्मतः न्यायतः ॥ १०९ ॥

(६) रामचन्द्रः । आचार्यपुत्रादि एते । दश धर्मतः स्वः पुत्रादिः स्वाध्याप्याः अध्ययनयोग्या भवन्ति ॥ १०९ ॥

नापृष्टः कस्यचिद्भूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ॥ जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥ ११० ॥

(१) मेधातिथिः । अधीयानेनानुपसन्नेन यदि नाशितमपाक्षरं विस्तरं वाऽधीतं तदाऽपृष्टेन न वक्तव्यम् । नाशितं त्वयैव मेतत्पठितव्यमिति शिष्यस्य त्वपृच्छतोपि वक्तव्यम् । पृच्छमानोऽपि यद्यन्यायेन पृच्छति तथापि न वक्तव्यम् । प्रश्नपूर्वकमस्मिन्वस्तुनि मे संदेहस्तदुपदेष्टुमर्हसीति शिष्यधर्मेण प्रश्नान्यायेन । अन्यथा तु जानन्नपि जडवन्मूक इव लोके वर्तेताऽऽचरेदज्ञ इव तूष्णीमासीत् । शास्त्रविषयो यमपृष्टसंदेहापनयननिषेधः । व्यवहारे तु वक्ष्यति नियुक्तो वा नियुक्तो वा धर्मज्ञो वक्तुमर्हतीति । अन्ये त्वविशेषेण च्छन्ति ॥ ११० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एभ्यस्त्वन्यस्यापृष्टो न ब्रूयात् न चान्याये न परिहासादिना पृच्छतः ॥ ११० ॥

(३) कुल्लूकः । नापृष्ट इति यद्यन्येनाल्पाक्षरं विस्तरं वाऽधीतं तस्य तत्त्वं वदेत् शिष्यस्य त्वपृच्छतोऽपि वक्तव्यम् । भक्तिश्रद्धादिप्रश्नधर्मोल्लङ्घनमन्यायस्ते न पृच्छतौ न ब्रूयात् जानन्नपि हि प्राज्ञोलोके मूक इव व्यवहरेत् ॥ ११० ॥

(४) राघवानन्दः । सार्थवादानि पात्राण्याह नापृष्ट इति षड्विः । अन्यायेन यथाविधिनमस्कारादिरहितेन पृच्छतस्तत्र प्रति न ब्रूयादिति । जानन्नपि तत्र तत्र समर्थोऽपि लोके अपात्रे जडवन्मूकवत्स्यात् ॥ ११० ॥

(५) नन्दनः । पुनरत्र कः न्याय इत्यपेक्षायामाह नापृष्ट इति । दशानामेतेषां मध्ये कस्यचिदप्रश्ने न्यायवर्जिते प्रश्ने च जानन्नपि जडवत् भवेत् ॥ ११० ॥

(६) रामचन्द्रः । अपृष्टः सनूकस्य चित्तुन ब्रूयात् अन्यायेन पृच्छतः कस्य चित् न ब्रूयात् मेधावी जानन्नपि जडवल्लोक आचरेत् ॥ ११० ॥

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति ॥ तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति ॥ १११ ॥

(१) मेधातिथिः । अस्य प्रतिषेधस्यातिक्रमे दोषमाह अधर्मेण पृष्टो न्यायपृष्टश्च यः प्रब्रवीति एवमेतद्युक्तं मध्ये तुमिति यश्च पृच्छति तावुभावपि श्रियते अप्राप्तकालौ । अथैको व्यतिक्रमकारी स एव श्रियते । यद्यन्यायेन पृष्टो न वक्ति तदा प्रष्टव वाऽथ प्रतिवक्ति तदोभावपि । अनेनान्यायप्रश्ने दोषदर्शने न प्रष्टुर्न्याय्यः प्रश्नविधिः । विद्वेषं वा द्वेष्यतां लोके प्राप्नोति ॥ १११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अधर्मेण यथोक्तस्वाध्यायनविधिविना । प्रैति श्रियते विद्वेषमन्यतरस्यान्यतरोधिगच्छति ॥ १११ ॥

(३) कुल्लूकः । उक्तप्रतिषेधद्वयातिक्रमे दोषमाह अधर्मेणेति । अधर्मेण पृष्टोऽपि यो यस्य वदति यश्चान्यायेन यं पृच्छति तयोरन्यतरो व्यतिक्रमकारी श्रियते विद्वेषं वा तेन सह गच्छति ॥ १११ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तातिक्रमेऽनर्थमाह अधर्मेणेति । अधर्मेण पृष्ट इति शेषः । प्राह अधर्मेण च पृच्छति यः तयोर्मध्ये अन्यतरः व्यतिक्रमकारी प्रैति श्रियते फलाच्चयते ॥ १११ ॥

(५) नन्दनः । न्यायवर्जिते प्रश्ने प्रवचने च दोषमाह अधर्मेणेति । प्राह वचनं करोति प्रैति श्रियते ॥ १११ ॥

(६) रामचन्द्रः । अधर्मेणेति द्वाभ्यामाह । यः ब्रह्माचारी अधर्मेण अनृतेन प्राह यः अधर्मेण पृच्छति तयोर्मध्ये अन्यतरः एकः प्रैति मृत्युं एति यदि जीवेत्तु विद्वेषं अधिगच्छति ॥ १११ ॥

(११०) लोक आचरेत् = लोकमाचरेत् (न, ल, य, र,)

(१११) बाधि = चाधि (न, ब, ल, भ,)

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा ॥ तत्र विद्या न वक्तव्या शुभंबीजमिवोषरे ॥ ११२ ॥

(१) मेधातिथिः । यदुक्तमध्याप्यादशधर्मतइति तस्यैवायंप्रकारान्तरेण संक्षेपतः प्रतिनिर्देशोनापूर्वार्थाऽभिधानम् । प्रकृतानुवादत्वादर्थशब्दउपकारमात्रलक्षणाऽपरोद्गष्ट्यः विद्याविनिमयेनापि पूर्वमध्ययनस्योक्तत्वात् । तद्विधाऽध्यापनाऽनुरूपामहति महती स्वल्पे स्वल्पेति तत्रविद्या विद्यतेज्ञायते स्या सर्वोऽर्थइति साविद्यापात्रोऽर्थावबोधश्च । अनुपकारी नाऽध्याप्योन चास्यार्थविवरणकर्तव्यम् । उषरोभूमिभागउच्यते यस्मिन्निखिलेपिमृत्तिकादोषाद्बीजं प्ररोहति शुभंश्रेष्ठं ब्रीह्यादिकं लाङ्गलादिनोप्यते । एवंविद्यापि क्षेत्रे ह्युमा महाफला भवति । नचैतन्मन्तव्यम् । अर्थमादाय यदध्यापनंसा भृतिः नहि पणपरिमाणसंभाषणपूर्विका तत्र प्रवृत्तिः यदेयद्धदासि तदैतदध्यापयामीति । एतद्भूतेरूपम् । न पुनरर्थोपकार गन्धमात्रेण । यत्तु न पूर्वोक्तचिदुर्वे उपकुर्वीतेति नासौ पूर्वोपकारप्रतिषेधः किंतुसास्यतावश्यमाज्ञप्तेन गुर्वर्थोयथा शक्तिसं-पाद्यः तच्छेषएव प्रतिषेधोन पृथग्वाच्यः ॥ ११२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धर्मः उक्तेषु दशसु । अर्थःपरिभाषाविना भविष्यदर्थसंभावना । शुश्रूषा परिचर्या । सापि तद्विधाध्ययनस्य यादृशमभ्यर्हितत्वंतदनुरूपा ऊषरे लवणभूमौ ११२ ॥

(३) कुल्लूकः । धर्मार्थाविति यस्मिञ्छिष्येऽध्यापिते धर्मार्थौ न भवतः परिचर्या वा ऽध्ययनानुरूपा तत्र विद्या-नार्पणीयासुष्ठुब्रीह्यादिबीजमिवोषरे यत्र बीजमुमंन प्ररोहति सउषरः । न चार्थग्रहणे भृतकाध्यापकत्वमाशङ्कनीयंयद्येताव-न्महं दीयते तदैतावदध्यापयामीति नियमाभावान् ॥ ११२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच धर्मार्थाविति । तद्विधा विद्यादानानुरूपाऊषरेक्षारभूमौ तत्रोमंयथानाङ्कुरयति तथा तादृशे धर्मार्थादयो न स्युरिति ॥ ११२ ॥

(५) नन्दनः । तद्विधा गृह्यविद्यानुरूपा ॥ ११२ ॥

(६) रामचन्द्रः । यत्र ब्रह्मचारिणधर्मार्थौ न स्यातां धर्मश्च अर्थश्च धर्मार्थौ न भवतः च पुनः तद्विधा शुश्रूषा गुरु-योग्या शुश्रूषा न स्यात् तत्र तस्मिन्ब्रह्मचारिणि विद्या न वक्तव्या ज्ञानं च न वक्तव्यमित्यर्थः । ऊषरे भूमौ शुभंबीजमिव निष्फलं भवतीत्यर्थः ॥ ११२ ॥

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना ॥ आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥ ११३ ॥

(१) मेधातिथिः । समंशब्दः सहार्थः । अप्रतिपादितया स्वदेहएवजर्जरिततया युक्तं ब्रह्मवादिनोवेदाध्यायिनोमरणं पुनरपात्रे प्रतिपादनमनेन च ज्ञायते । अध्यापनमप्यधीतवेदेनावश्यकर्तव्यं न केवलंवृत्त्यर्थम् । नापि वार्थादिदानवत्फल कामस्यैवाधिकारः । तथा च श्रुतिः योहिविद्यामधीत्यार्थिने न ब्रूयात्सकार्यहा स्यात् श्रेयसोद्धारमपावृणुयादध्यापयेन्म-हदेतद्यशस्यंवाचोधिकारंकवयोवदन्ति अस्मिन्योगेसर्वमिदंप्रतिष्ठितम् य एवंविदुरमृतास्तेभवन्ति । सकार्यहास्यादित्य-नेनानध्यापनेदोषमनुवदन्तीतिश्रुतिरेवावश्यकर्तव्यतांज्ञापयति । इरिणे पूर्वोक्तंप्रयोजनत्रयाभावोयत्राऽऽपद्यपि हि घोरायां कष्टायामपि कष्टाआपदुक्तशिष्याभावः । एतच्चावश्यकर्तव्ये सत्युपपद्यतेनित्यत्वे हि मुख्याभावे प्रतिनिधिशिष्योपादाने नाध्यापननिवृत्तिः प्राप्ता । ब्रीह्यभाववन्नीवारैरतोस्यामवस्थायामध्यापनाधिकारनिवृत्तिरेव यथोक्तलक्षणातिथ्यभावेऽति-थिपूजानिवृत्तिः वपेदिति लक्षणयाबीजधर्मेणाध्यापनमुच्यते । बीजं किल क्षेत्रोमं बहुफलं भवत्येवविद्याऽपि । येतु धनाभा-वनिमित्तामापदमाचक्षते अत्यन्तदुर्गतेनापि नेरिणेवमव्येति वरंश्रियता । सर्वतएवात्मानंगोपायेदिति नैषविधिरतिक्ता-

न्तोभवति । सत्यपि तथाविधाध्यापने वृत्त्युपाये तदेतदयुक्तं अर्थदोर्नैवेरिणं पूर्वोक्तानुवादत्वादिरिणशब्दस्य । यदि वार्थदोषि न भवति कथमापदि तत्र प्रवृत्तिः संभाव्यते या निषिध्यते ॥ ११३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्रह्मवादिना वेदवादिना घोरायामापदि दुर्भिक्षादौ अर्थकामनया इरिणे ऊषरेविद्यासन्तानानुपालनास्मर्थे ॥ ११३ ॥

(३) कुहूकः । विद्ययेति । विद्ययैव सहेवेदाध्यापकेन वरंमर्त्यं नतु सर्वथाध्यापनयोग्यशिष्याभावेचापान्नयैव तांप्रतिपादयेत् । तथा छान्दोग्यब्राह्मणम् विद्यया सार्धंभ्रियेत नविद्यामूषरे वपेत् ॥ ११३ ॥

(४) राघवानन्दः । अयोग्येअदानंश्रेयइत्याह विद्ययैवेति । ब्रह्मवादिना वेदानध्यापयितुमिच्छता घोरायां वृत्त्यभावेन मृत्युपर्यवसितायांफललोभात् कस्यचिदूषरेपि शुभञ्जजारोपणंभ्रामंतन्निरासायाह न त्वेनामिति । इरिणेउक्तोषरेपुतांविद्याम् । अयमर्थः कङ्कुबीजादेरल्पतयाअन्यतोनुपकारकत्वंविद्याया स्वतएव पारायणादिनोपकारकत्वम् ॥ ११३ ॥

(५) नन्दनः । इरिणेऊषरेधर्मार्थशुश्रूषाहीने पुरुषइतियावतनवपेत् न ब्रूयात् ॥ ११३ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्रह्मवादिना कामंअतिशयेन विद्ययैव सर्वविद्यासंयुक्तंमर्त्यमरणं कर्तव्यम् । आपद्यपि घोरायांएनांविद्यांइरिणेऊषरेनवपेत् न दध्यात् ॥ ११३ ॥

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिष्टेऽस्मिरक्ष माम्॥असूयकाय मांमादास्तथा स्यांवीर्यवत्तमा॥ ११४ ॥

(१) मेधातिथिः । अयमप्यर्थवादएव । विद्या मूर्तिमती कंचिदुपाध्यायमागत्याह प्रोक्तवतीशेवधिर्निधिस्तवास्मिरक्षमां । का पुनस्तेरक्षा । असूयकाय कुत्साकराय निन्दकाय मांमाऽदाःनिन्दकंमाध्यापय तथा चैवमहंवीर्यवत्तमाऽतिशयेन तव कार्यकरी भवामि । वीर्यकार्यनिवृत्तौ सामर्थ्यातिशयः । शेवधिष्टेस्मीति कृतवत्त्वंपठितंतच्छान्दसप्रयोगाऽनुकरणम् ॥ ११४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विद्याह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मांशेवधिष्टेहमस्मि । असूयकायानृजवेयताय नमाब्रूयावीर्यवती तथास्याम् । यमेव विद्याशुचिमप्रमत्तं मेधाविनंब्रह्मचर्योपपन्नम् यस्तेन द्रुष्टेत्कतमच्चनाहतस्मै माब्रूयानिधिपाय ब्रह्मन्निति श्रुतिवाक्यद्वयंवाक्यान्तररचनयाप्रबध्यास्मिन्नर्थे प्रमाणमाह विद्येति । शेवधिर्निधिः ॥ ११४ ॥

(३) कुहूकः । अस्यानुवादमाह विद्याब्राह्मणमिति । विद्याधिष्ठात्री देवता कंचिदध्यापकंब्राह्मणमागत्यैवमवदन् तवाहंनिधिर्स्मिमांरक्षासूयकादिदोषवते नमांवेदेः । तथा सत्यतिशयेन वीर्यवती भूयासम् । तथाच छान्दोग्यब्राह्मणम् विद्या हवै ब्राह्मणमाजगाम तवाहमस्मि त्वंमांपालयानर्हतेमानिने नैव मादागोपायमांश्रेयसी तथाऽहमस्मीति॥११४॥

(४) राघवानन्दः । अत्रहेतुर्विद्येति । शेवधिर्निधिःतदसूययाविद्याकुण्ठता स्यात् । अदाने वीर्यवत्तमा वीर्यातिशयवतीअपात्रदाने तु दुरदृष्टजनकतयाअध्ययनोक्तफलाजनिका । आदाने तु तज्जनिकेतिभावः ॥ ११४ ॥

(५) नन्दनः । उक्तमेवार्थमर्थवादेनस्थिरीकरोतिविद्येति । शेवधिरित्यादिउत्तरश्लोकच्चविद्यायावचनम् । शेवधिः निधिः । असूयकायअपात्रभूताय । तथा पात्रदत्ता ॥ ११४ ॥

(६) रामचन्द्रः । विद्या ब्राह्मणमित्याह । शेवधिःतेअस्मि शेवधिःनिधिःते तवास्मि यथा शेवधिः रक्षति तथा मांत्वरक्ष मांअसूयकाय असूयायुक्तयमांमादामादेहीति । तथा वीर्यवती प्रभाववती अहंस्यामिति । निधिर्नाशेवधिरित्यमरः ॥ ११४ ॥

यमेवतु शुचिंविद्यानियतं ब्रह्मचारिणम् ॥ तस्मै मांब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥ ११५ ॥

(१) मेधातिथिः । यं शिष्यं शुचिं जानीयानियतं संयतेन्द्रियं यत्नः परं ब्रह्मचारिणं तस्मै मांब्रूहि यो हि निधिपाति रक्षति यतो सावप्रमादी न प्रमाद्यति न स्खलति । तत्परत्वाच्छक्तमार्थदादीनां सर्वशिष्याणामेतद्गुणसंयोगे देयेत्यस्मादर्थ-
वादाद्रम्यते ॥ ११५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नियतं निश्चयवन्तम् । ब्रह्मचारिणमच्युतब्रह्मचर्यम् ॥ ११५ ॥

(३) कुल्लूकः । यमिति । यमेव पुनः शिष्यं शुचिं नियतेन्द्रियं ब्रह्मचारिणं जानासि तस्मै विद्यारूपनिधिरक्षकाय प्रमादरहिताय मां वद ॥ ११५ ॥

(४) राघवानन्दः । दानपात्रमाह यमिति । यं नियतं उक्तनियमवन्तं विद्यात् जानीयात् । निधिपायनिधिविद्यापातुं-
शीलायाप्रमादिनेऽकुत्सिताय ब्रूहि ॥ ११५ ॥

(५) नन्दनः । विद्यात्जानीयात् निधिपायविद्यानिधिपालाय पात्रे प्रदानं रक्षणमत्राभिप्रेतम् । विप्रशब्दोऽत्रक्ष-
त्रियवैश्ययोरेष्यपलक्षणार्थः ॥ ११५ ॥

(६) रामचन्द्रः । यं ब्रह्मचारिणं शुचिं विद्यात् नियतं तस्मै ब्रह्मचारिणे मांब्रूहि कीदृशाय निधिपाय निधिपाति-
तिनिधिपः तस्मै अप्रमादिने प्रमादशून्याय । प्रमादोऽनवधानता इत्यमरः । यथा निधिपाति तथा मां यः पाति रक्षति
तस्मै ॥ ११५ ॥

ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवामुयात् ॥ स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥ ११६ ॥

(१) मेधातिथिः । यो भ्यासार्थमधीयानस्यान्यं चोद्दिश्यैवं व्याचक्षाणस्य तत्संनिकर्षमन्य आगत्य तद्ब्रह्मापूर्व-
गृहीयात्संदेहं वापनुदेत्तस्यैष दोष उच्यते । यावदनुज्ञामसौ न दाप्यते यथैते त्वत्सकाशादधीयत एव मन्यहमन्यधीयीये-
त्यनुज्ञातुमर्हसीति लब्धानुज्ञां शिक्षेत । अन्यथा तु यद्ब्रह्माध्ययनं न स्तेयमिव सोध्येतानेन ब्रह्मचौर्येण संयुक्तो नरकं महाया-
तनास्थानं प्राप्नोति । अधीयानादिति पञ्चमी आख्यातोपयोग इति । अपायस्य वा गम्यमानत्वाद्ब्रह्म संध्येतुर्निष्क्रामतीव ।
ल्यब्लोपेवा कर्मणि । अधीयानं श्रुत्वाऽऽप्नोति शिक्षते ॥ ११६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अवामुयात् अभ्यस्येत् ॥ ११६ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्रह्मेति । यः पुनरभ्यासार्थमधीयानादन्यं वा कंचिदध्यापयतस्तदनुमतिरहितं वेदं गृह्णाति स वेद-
स्तेययुक्तो नरकगच्छति तस्मादेतन्न कर्तव्यम् ॥ ११६ ॥

(४) राघवानन्दः । गुरोरननुज्ञाया विद्यानग्राहेत्याह ब्रह्मेति । ब्रह्म वेदं अधीयानादन्यस्मात्तदर्थोच्चरितं निय-
तस्तत्रस्थो अवामुयात् । स्वीकुर्यात्स ब्रह्मस्तेयीति ॥ ११६ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः ब्रह्मचारी गुरोः अननुज्ञातं अनध्यापितं अधीयानात् ब्रह्मवेदं प्राप्नुयात् सः ब्रह्मस्तेयसंयुक्तः
वेदस्तेयसंयुक्तः नरकं प्रतिपद्यते ॥ ११६ ॥

लौकिकं वैदिकं वापि तथा ध्यात्मिकमेव च ॥ आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥ ११७ ॥

[जन्मप्रभृति यत्किञ्चिच्चेतसा धर्ममाचरेत् ॥ तत्सर्वं विफलं ज्ञेयमेकहस्ताभिवादानात् * ॥ १॥]

(१) मेधातिथिः । अतिक्रान्तंप्रासङ्गिकम् । अभिवादनविधिरिदानींप्रक्रम्यते । लोके भवलौकिकंलोकाचारशिक्षण-
मथवागीतवादित्रकलानांज्ञानंवात्स्यायनविशाखिकलाविषयग्रन्थज्ञानंवा । वैदिकंविधिनोदितं । वेदवेदाङ्गस्मृतिविषयाऽध्या-
त्मिकविद्याऽऽत्मोपनिषद्विद्याऽऽत्मोपचाराद्वा शरीरस्य वैदिकमेतज्ज्ञानंयतः शिक्षेत तंपूर्वमुपदेष्टारंपुरुषमभिवादयेत् । प्रथम-
संगमे यदाशीःप्रयोगार्थंवक्ष्यमाणस्वरूपेण प्रयोगेण शब्देन संमुखीकरणंसोऽभिवादयतेरर्थः । पूर्वमिति प्रथमेतेनासौ संबो-
ध्येन पुनस्तदीयंवचनमपेक्षितव्यंतदाहि प्रत्यभिवादयिताऽभिवादयेदित्यनेनैव सिद्धत्वात् । पूर्वशब्दोऽनर्थकइति चेत्तन्न
सति ह्यस्मिन्नयमर्थोलभ्यते धातूपसर्गार्थपर्यालोचनया ह्याभिमुख्येन वदनमात्रंप्रतीयते । अन्येनापि संबोधितस्य भवत्येव ।
ये तु पूर्वस्वयोगिगुरुभ्यइति व्याचक्षते तदप्रकृतसंशब्दितमित्युपेक्ष्यम् ॥ ११७ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । लौकिकमौषधनीत्यादिविषयम् । वैदिकंयज्ञादिकर्मकाण्डविषयम् । आध्यात्मिकमात्मवि-
षयम् । तंपूर्वमभिवादयेदाचार्यादिष्वसत्सु । अत्रापि ज्ञानप्रकर्षाधिक्यापेक्षया प्राथम्यमूह्यम् यथा आद्यापेक्षया द्वितीयस्य
तदपेक्षया तृतीयस्य अभिवादानादिरूपम् ॥ ११७ ॥

(३) कुहूकः । लौकिकमिति । लौकिकमर्थशास्त्रादिज्ञानंवैदिकंवेदार्थज्ञानमाध्यात्मिकंब्रह्मज्ञानंयस्मात्तु गृह्णाति
तंबहुमान्यमध्ये स्थितंप्रथममभिवादयेत् । लौकिकादिज्ञानदातृणामेव त्रयाणांसमवाये यथोत्तरमान्यत्वम् ॥ ११७ ॥

(४) राघवानन्दः । नमस्कारस्य विद्याग्रहणे पूर्वाङ्गत्वंभ्रामंपूर्वनोक्तंतत्र बहुवक्तव्यत्वादिदानींतदाहलौकिक-
मिति समदशभिः । लौकिकंकृषिचित्रादिविषयं स्मार्तंवा वैदिकंअग्निहोत्रादिप्रतिपादकंआध्यात्मिकमात्मानात्मविवेकविष-
यकज्ञानंतद्भेदुशास्त्रादि ॥ ११७ ॥

(५) नन्दनः । नियमान्तरमाहलौकिकमिति । लौकिकंअर्थशास्त्रादिविषयम् । वैदिकंकर्मविषयम् । आध्यात्मिकमा-
त्मविषयम् । आध्यात्मिकविषयस्यज्ञानस्यवैदिकत्वेपिपृथगुपादानंगतस्यश्रद्धेयतरत्वप्रतिपत्त्यर्थम् । तस्यापिप्रयोजनंज्ञान-
प्रदानं सन्निपातेह्याध्यात्मिकज्ञानप्रदस्यपूर्वाभिवादनीयत्वज्ञापनंपूर्वज्ञानग्रहणं । स्वयोनिगुरुभ्यःआशोर्वचनार्थोनमस्का-
रोभिवादनंविद्याहीनोपिवृत्तवानभिवाद्यः ॥ ११७ ॥

(६) रामचन्द्रः । यतः सकाशात्लौकिकादिज्ञानं आददीत स्वीकुर्यात् तंज्ञानोपदेष्टारं पूर्वं अभिवादयेत् ॥ ११७ ॥

सावित्रीमात्रसारोपि वरंविप्रःसुयन्त्रितः ॥ नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥ ११८ ॥

(१) मेधातिथिः । अभिवादानाद्याचारविधेः स्तुतिरियम् । सावित्रीमात्रंसारंप्रधानंयस्य सएवमुच्यते । सावित्रीमात्रा-
ध्ययनोवरंश्रेष्ठेविप्रोयदि सुयन्त्रितांभवति शास्त्रनिगृहीतात्माऽयन्त्रितस्त्रिवेदोपि बहुशास्त्रविदपि सर्वमश्नाति लोकाचारगर्हि-
तंसाक्षादप्रतिषिद्धमपि । एवंसर्वविक्रयी । प्रदर्शनार्थाविशानविक्रयवन्त्यस्यापि प्रतिषिद्धस्य । एतदुक्तंभवति । यथान्यनि-
यमंत्यागोनिन्द्यते एवंप्रत्युत्थानादित्यागादपि । अथ कथंवरंविप्रइति यावता वरोविप्रइति भवितव्यम् । केचिदाहुः
सामान्योपक्रमस्य विशेषस्याभिधानात् । वरमेतत् किंतद्यत्सुयन्त्रितोविप्रइति । अन्ये त्वाहुराविष्टलिङ्गोवरशब्दोनपुंसक-
लिङ्गोप्यस्ति ॥ ११८ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अनेन वृत्तहीनं बहुतरविद्यापेक्षयापि वृत्तंवदल्पविद्यास्वीकार्येतिप्रसंगादाह । वेदस्यैकांशा-
खामधीत्य सावित्रीमात्रंसारत्वेनोपादायतज्जपादि मात्रपरोपि सुयन्त्रितोवृत्तस्थः श्रेयान् न त्रिवेदोपि वेदत्रयाध्ययनजपा-
दिमानपि । अयन्त्रितः सर्वाशी सर्वविक्रयीति ॥ ११८ ॥

(३) कुल्लूकः । सावित्रीति । सावित्रीमात्रवेत्ताऽपि वरं सुयन्त्रितः शास्त्रनियमितो विप्रादिर्मान्यः नायन्त्रितो वेदत्रयवेत्ताऽपि निषिद्धभोजनादिशीलः प्रतिषिद्धविक्रेता च । एतच्च प्रदर्शनमात्रं सुयन्त्रितशब्देन विधिनिषेधनिष्ठत्वस्य विवक्षितत्वात् ॥ ११८ ॥

(४) राघवानन्दः । ननु तथाविधः अवेदविच्चेतकथं नमस्यस्तत्राह सावित्रीति । सुयन्त्रितः असत्प्रतिग्रहनिषिद्धरसादिविक्रयपराङ्मुखः अयन्त्रितो भिन्नमर्यादः सर्वाशी सर्वैः अतुंशीलः सर्वविक्रेतुंशीलः सर्वविक्रयी त्रिवेदो वेदत्रयवेत्तापि नाभिवाद्यः प्रकरणात् ॥ ११८ ॥

(५) नन्दनः । न तु विद्यावानपि वृत्तहीन इत्यभिप्रायेणाह सावित्रीति । सुयन्त्रितः अनुल्लङ्घितशास्त्रमार्गः । विप्रः द्विजः ॥ ११८ ॥

(६) रामचन्द्रः । सुयन्त्रितः वशीकृतचित्तः विप्रः सावित्रीमात्रसारोपिवरं उत्कृष्टो भवति । न यन्त्रितः अयन्त्रितः न वशीकृतचित्तः सन् त्रिवेदोपि त्रिवेदाध्यायी तु सर्वाशी सर्वविक्रयी वरं न उत्कृष्टो भवति ॥ ११८ ॥

शय्यासनैः ध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत् ॥ शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥ ११९ ॥

(१) मेधातिथिः । शय्याचासनंचेति जातिरप्राणिनामिति द्वन्द्वैकवद्भावस्तस्मिन् श्रेयसा विद्याद्यधिकेन गुर्वादिना च न समाविशेन्न सहासीत । किं सर्वस्मिन्नेव नेत्याह । अध्याचरिते कल्पिते शय्यात्वेनासनत्वेन च । यत्तु शिलाफलकादिस्तत्र न दोषः । वक्ष्यति च आसीद्गुणसार्धमिति तस्यैवायमनुवादः । अन्ये व्याचक्षत अध्याचरिते अधिष्ठितइति । न समाविशेत्तत्रोत्तरकालमपि न केवलं सहासनप्रतिषेधः सहि वक्ष्यमाणेनैव सिद्धः । विधौ च संभवति नानुवादो युक्तः । ततश्च केचिदाचारतो भेदं व्याचक्षते । यद्गुरोरसाधारण्येन शय्यात्वेनासनत्वेन च विज्ञातं तत्र गुरुः शेते । आस्ते च तत्र शिष्यः प्रत्यक्षं परोक्षं नोपविशेद्यत्र तु कथंचिदेते क्रिये गुरुणा कृते तत्र गुरोरप्रत्यक्षं प्रतिषेधः । ईदृशमेवाध्याचरितमुच्यते । न त्वस्वामिसंबन्धेन यदधिष्ठानं शय्यासनस्थस्य च यदि श्रेयानागच्छति तदा तत उत्थायाभिवादनं कर्तव्यम् । यत्तु यानासनस्थइति तद्गुरुविषयमवरोहणम् । शय्यासनत्याग एव भूमिष्ठेन कर्तव्य इति तस्यार्थः । इदं त्वगुरोः श्रेयसः प्रत्युत्थानमासनस्थस्यैव संभवति ॥ ११९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शय्यासनं यद्गुर्वादिना अध्याचरितं उपभुक्तं तत्र न समाविशेत् नोपवेशनादिकुर्यादित्यर्थः । एतं श्रेयांसं प्रत्युत्थाय तत्संमुखं उत्थाय ॥ ११९ ॥

(३) कुल्लूकः । शय्येति । शय्याचासनंच शय्यासनम् । जातिरप्राणिनामिति द्वन्द्वैकवद्भावः । तस्मिन् ङ्ग्रेयसा विद्याद्यधिकेन गुरुणा चाध्याचरिते साधारण्येन स्वीकृते च तत्कालमपि नासीत् । त्वयंच शय्यासनस्थो गुरावागत उत्थायाभिवादनं कुर्यात् ॥ ११९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच शय्येति । श्रेयसा गुरुणा अध्याचरिते स्वीकृते वक्ष्यमाणकदाचित्तुष्टयातिरिक्तेन समाविशेन्नाधितिष्ठेत् एनं गुरुं प्रत्युत्थाय शय्यादेरित्यर्थः ॥ ११९ ॥

(५) नन्दनः । श्रेयसा गुर्वादिना आचरिते परिगृहीते परिगृहीतयोः शय्यासनयोरधि उपरि न समाचरेत् नोपविशेत् न संविशेच्च ॥ ११९ ॥

(११९) ऽध्याचरिते = ऽध्याचरितो (ग, घ, च,) (परंतु क, ख) चिन्हितेषु ते इति दृश्यते ॥

(६) रामचन्द्रः । अध्याचरितेअधिष्ठिते शय्यायांआसने च श्रेयसा पुरुषेण सह न समाविशेत् नउपविशेत् स्व-
यंशय्यासनस्थश्चेत् प्रत्युत्थायआसनात् उत्थायएनंज्ञानदंअभिवादयेत् ॥ ११९ ॥

ऊर्ध्वप्राणायुक्कामन्ति यूनःस्थविरआयति ॥ प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यांपुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥ १२० ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्यार्थवादः । स्थविरे वृद्धवयस्ययत्यागच्छति यूनस्तरुणस्योर्ध्वप्राणाः जीवितहेतवो-
ऽन्तर्मरुत ऊर्ध्वमास्याद्दहिर्निष्क्रामन्ति अपानवृत्तिपरित्यज्य जीवविच्छेदंचिकीर्षन्ति । प्रत्युत्थाय यदभिवादनंक्रियतेतेन
यथा पूर्वजीवितस्थेमे कल्पते प्रतिपद्यते प्रत्युज्जीवति ॥ १२० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अप्रत्युत्थानमनायुष्यमित्यर्थः । आयत्यागच्छत्यप्रत्युत्थिते । पुनःशब्दस्तुशब्दार्थे न
त्वभ्यावृत्त्यर्थे । प्रतिपद्यते प्राप्नोति । सप्राणएव भवत्यनुक्रमणात् ॥ १२० ॥

(३) कुल्लूकः । अस्यार्थवादमाह ऊर्ध्वमिति । यस्माद्यूनोऽल्पवयसोवयोविद्यादिना स्थविरआयत्यागच्छति सति
प्राणाऊर्ध्वमुक्कामन्ति देहाद्दहिर्निर्गन्तुमिच्छन्ति तान्वृद्धस्य प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यांपुनःसुस्थान्करोति । तस्माद्वृद्धस्य प्रत्यु-
त्थायाभिवादनंकुर्यात् ॥ १२० ॥

(४) राघवानन्दः । यतोहिस्थविरे गुणाधिकेआयति सतिऊर्ध्वनिष्क्रामन्तिदेहाद्दहिर्गताइवभवन्तिप्रत्युत्थानंसमंप्र-
तिगुरुंप्रत्यभिवादनंताभ्यांताननुक्रान्तानपि प्राणान्प्रतिपद्यते । पुनरित्यन्वयः ॥ १२० ॥

(५) नन्दनः । अभिवादनविधेरर्थवादंश्लोकद्वयेनाह ऊर्ध्वमिति । यूनःबालस्यस्थविरेस्वस्माद्वयसागुणेनवाधि-
केआयतिआगच्छति ॥ १२० ॥

(६) रामचन्द्रः । पुनःप्राणाःस्थविरे आयतिसतिआगच्छतिसतिऊर्ध्वदद्यात्तुऊर्ध्वउक्कामन्तिऊर्ध्वगच्छन्तियःप्र-
त्युत्थानाभिवादाभ्यांउत्थानंच अभिवादनंच कृत्वा तान् हृदयस्थान् च पुनःप्रतिपद्यते स्वस्थानस्थिताःप्राणाभवन्ती-
त्यर्थः ॥ १२० ॥

अभिवादनशीलस्य नित्यंवृद्धोपसेविनः ॥ चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम् ॥ १२१ ॥

(१) मेधातिथिः । सर्वानेव प्रति पूर्वाभिभाषिता यथार्हाभिवादनशीलता न पुनरभिवादनशब्दोच्चारणमेव शीलश-
ब्देन प्रयोजनापेक्षाभावउच्यते । नित्यंवृद्धानुपसेवते प्रियवचनादिना यथाशक्त्या ह्युपकारेण चाराधयते तस्य चत्वारि-
संप्रवर्धन्ते । आयुर्धर्मोऽमुत्र स्वर्गादिफलपादपः । यशोबले च प्रागुक्ते । अर्थवादोप्ययंफलावगमहेतुः ॥ १२१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नित्यंवृद्धोपसेविनोवृद्धानांसमीपे स्थित्वा माननाद्यांतत्सेवांकुर्वतः ॥ १२१ ॥

(३) कुल्लूकः । इतश्च फलमाह अभिवादनशीलस्येति । उत्थाय सर्वदावृद्धाभिवादनशीलस्यवृद्धसेविनश्चायुःप्रज्ञाय-
शोबलानि चत्वारि सम्यक्प्रकर्षेण वर्धन्ते ॥ १२१ ॥

(४) राघवानन्दः । न केवलमेवंअपितुअभीति । प्रज्ञाबुद्धिः । विद्येति क्वचित्पाठः ॥ १२१ ॥

(५) नन्दनः । वृद्धोपसेविनःवृद्धानभिवादेनैवसेवमानस्येत्यर्थः ॥ १२१ ॥

(१) रामचन्द्रः । नित्यंवृद्धोपसेविनःतस्यचत्वारिवर्धन्ते । आयुःप्रज्ञायशोबलंकीदृशस्य तस्यअभिवादनशी-
लस्य ॥ १२१ ॥

अभिवादात्परंविप्रोज्यायांसमभिवादयन् ॥ असौ नामाहमस्मीति त्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥ १२२ ॥

(१) मेधातिथिः । येन शब्देन परः संबोध्यते आशिषंप्रति प्रयोज्यते कुशलप्रश्रवा कार्यते सोभिवादः । अस्मादभिवादादभिवादप्रतिपादकाच्छब्दात्परमव्यवहितपूर्वशब्दमुच्चारयेत् । असौ नामाहमस्मीत्यसाविति सर्वनाम सर्वविशेषप्रतिपादकमभिमुखीकरणार्थोयमीदृशः शब्दप्रयोगः मया त्वमभिवाद्यसआशीर्वादार्थमभिमुखीक्रियसे ततोऽध्येषणामवगम्य प्रत्यभिवादमाशीर्दानादिकर्तुमारभते । नच सामान्यवाचिना सर्वनाम्ना प्रयोज्यमानेनैतदुक्तं भवतीदं नामधेयेन मयाभिवाद्यसइत्यतोऽध्येषणामेवबुध्य कस्याशिषंप्रयुङ्गाम् । अपि च त्वनामपरिकीर्तयेदिति श्रुतम् । तत्रासौ देवदत्तनामाहमित्युक्तेनाभिवादनंप्रतिपद्येत । असावित्येतस्य पदस्यानर्थक्यादर्थानवसायः । स्मृत्यन्तरतत्त्रेणापि व्यवहरन्ति च सूत्रकाराः । यथा पाणिनिः कर्मणिद्वितीयादिशब्दैः इहाप्यसाविति त्वं नामातिदिशतेति यज्ञसूत्रेपि परिभाषितम् । यद्येवं त्वं नामेत्यनेनैव सिद्धेऽसौ नामेत्यनर्थकम् । नाम शब्दप्रयोगार्थकं त्वं नाम कीर्तयेदिदं नामाहमिति । अनेन स्वरूपेणाहमस्मीति समानार्थत्वाद्विकल्पमन्यन्ते । अत्र श्लोकएतावदभिवादनवाक्यस्य रूपसिद्धम् अभिवादये देवदत्तनामाहं भो । उत्तरेण श्लोकेन भो रित्येतद्विधास्यते । ज्यायांसमिति वचनात्समहीनानामप्यभिवादनमस्ति नत्वयंप्रकारः ज्यायोविषयत्वादस्य ॥ १२२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः अभिवादनं आशीरभिवादनं करिष्यन्तंपादोपसंग्रहतदर्थवाक्योच्चारणाभ्यां प्रयोजनत्वाभिवादादभिवादनव्यापारप्रकाशकादभिवादयइति शब्दात्परं अनन्तरं त्वं नाम कीर्तयेदमुकशर्मनामाहमस्मीति । असाविति सविभक्तिकनामनिर्देशादमुकशर्मैत्यपि सविभक्तिकं कार्यम् । ज्यायांसमिति वदन् ज्यायानेवाभिवाद्यइति कथयति । इह प्रत्यभिवादनश्लोके च विप्रपदं द्विजोपलक्षणम् ॥ १२२ ॥

(३) कुल्लूकः । संप्रत्यभिवादनविधिमाह अभिवादात्परमिति । वृद्धमभिवादयन्विप्रादिरभिवादात्परमभिवादयइति शब्दोच्चारणान्तरममुकनामाहमस्मीति त्वं नाम परिकीर्तयेत् । अतो नामशब्दस्य विशेषपरत्वात् त्वनामविशेषोच्चारणान्तरमभिवादनवाक्ये नामशब्दोऽपि प्रयोज्यइति मेधातिथिगोविन्दराजयोरभिधानमप्रमाणम् । अतएव गोतमः त्वनामप्रोच्याहमभिवादयइत्यभिवादेत् । साङ्ख्यायनोऽप्यसावहं भो इत्यात्मनो नामादिशेदित्युक्तवान् । यदि च नामशब्दश्रवणात्तस्य प्रयोगस्तदाऽकारश्चास्य नाम्नोन्तइत्यभिधानात्प्रत्यभिवादनवाक्येनामशब्दोच्चारणस्यात् । न च तत्कस्य चित्संमतम् ॥ १२२ ॥

(४) राघवानन्दः । अभिवादाने पदनियममाह अभीति । येन शब्देन परः संबोध्यते आशिषंप्रतिप्रयोज्यते कुशलप्रश्रवा कार्यते सोभिवादः एतदर्थं कान् अभिवादान् अभिवादयेइत्यस्मात्परमसौ देवदत्तनामाहमस्मीति ज्यायांसं अभिवादयन्ममस्कुर्वन् ब्रूयात् । गौतमोप्याह स्वनामप्रयुक्त्याभिवादयेदिति ॥ १२२ ॥

(५) नन्दनः । अभिवादनप्रकारमाह अभिवादादिति । ज्यायांसमभिवादयन्विप्रोद्विजः अभिवादात्परं अभिवादयइति शब्दादुपरि अदः शब्देन तत्त्वनामवानुपादीयते अभिवादये देवदत्तो नामाहमस्मीति ब्रूयादित्यर्थः ॥ १२२ ॥

(६) रामचन्द्रः । विप्रः ज्यायांसं दृष्ट्वा अभिवादात्परं केवलं अभिवादानात्परं ऊर्ध्वं वा पूर्वं अभिवादयेत् असौ नामाहं अस्मिइति परिकीर्तयेत् ॥ १२२ ॥

नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते ॥ तान्प्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात् स्त्रियः सर्वास्तथैव च ॥ १२३ ॥

(१) मेधातिथिः । वित्ताद्याधिक्येनाविदुषांपि यथाविध्यभिवाद्यतायां प्राप्तायां तं निवृत्त्यर्थमिदम् । ये केचिद्विद्वांसो नामधेयस्य संस्कृतस्योच्चारितस्याभिवादमभिवाद्यार्थमभिवादिता एतेन वयमित्यवैयाकरणान जानते संस्कृतनाव-

बुध्यन्ते तान्प्राज्ञोनारीश्चाभिवाद्याः । एतेन संस्कृतमुच्यमानं प्रतिपद्यते । तत्र विध्येकदेशं त्वनामग्रहणं हित्वाऽभिवादयेह-
मित्येतावदेव ब्रूयात्तदपि चेन्नावबुध्यन्ते लौकिकेनापभ्रंशेनाप्यभिवाद्याइत्येवमर्थप्राज्ञग्रहणम् । तदीयामबोधशक्तिं ज्ञात्वो-
हितव्योऽभिवादप्रयोगो नोपदेशएवादर्थव्यः । स्त्रियोप्येवमेव । सर्वग्रहणंगुरूपत्नीनां संस्कृतप्रयोगज्ञानामपि । अन्येतु यउपना-
मिकया प्रसिद्धो वनमालीवर्णइति । पितृकृतं यत्तस्य नाम तन्न प्रसिद्धं यत्प्रसिद्धं न तन्नामेत्यतोऽसौ त्वनामकीर्तयेत् । अन्ये-
तु प्रत्यभिवादं न जानतइति वर्णयन्ति । प्रत्यभिवादे शूद्रइति नामान्तेऽप्युतो विहितः । तं येन विदुस्तेष्वहमित्येव वाच्यम् ।
व्याकरणप्रयोजनोपन्यासप्रसङ्गेन चैतन्महाभाष्यकारेण प्रदर्शितम् । अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नोप्ये न श्रुतिविदुः । कामंते-
षु तु विप्रोप्य स्त्रीष्विवायमहंवदेत् । स्मृत्यन्तरसामर्थ्यादेवायमभिवादशब्दः प्रत्यभिवादे वर्ततइत्याहुः । यदि चैतदेवं
व्याख्यायते तदा नाभिवाद्यः सविदुषेति सर्वेण सर्वमभिवादप्रतिषेधआश्रीयमाणे यमहंवदेदिति स्मृत्यन्तरविरोधः ।
अस्मिन्स्त्वेवं व्याख्याते सप्रतिषेधः स्तुत्यालम्बनो न विधायकएतदर्थानुसारितया नोयते ॥ १२३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नामधेयस्याभिवादनवाक्यार्थसंस्कृतानभिज्ञत्वादिवधर्मशास्त्राज्ञानेन च ये न जान ते प्र-
त्यभिवादनत्वाद्यत्वं वक्ष्यति । तत्र नाभिवाद्यइति पादोपसंग्रहनिषेधपरम् । मात्रादिष्वहमिति ब्रूयादिति विधानादभिवा-
दनवाक्यरूपशब्दमात्रस्यैव तत्सजातीयस्य निवृत्तिः पादोपसंग्रहणनिवृत्तिः ॥ १२३ ॥

(३) कुल्लूकः । नामधेयस्येति । नामधेयस्योच्चारितस्य सतोयेकेचिदभिवाद्याः संस्कृतानभिज्ञतयाभिवादनम-
भिवादार्थं न जानन्तितान्प्रत्यभिवादानेऽप्यसमर्थत्वात्प्राज्ञइत्यभिवाद्यशक्तिविज्ञोभिवादयिताऽभिवादयेहमित्येवं ब्रूयात् ।
स्त्रियः सर्वास्तथैव ब्रूयात् ॥ १२३ ॥

(४) राघवानन्दः । येनमस्यास्तेयदिनामधेयस्योक्ताभिवादस्य अभिवादं अभिवादार्थं न जानते तान्ममस्येअह-
मित्येव ब्रूयान्नाधिकम् ॥ १२३ ॥

(६) रामचन्द्रः । तथैव सर्वाः स्त्रियः अहंइति ब्रूयुः ॥ १२३ ॥

भोःशब्दं कीर्तयेदन्ते त्वस्य नाम्नोऽभिवादाने ॥ नाम्नां स्वरूपभावो हि भोभावऋषिभिः स्मृतः ॥ १२४ ॥

(१) मेघातिथिः । त्वस्य नाम्नोन्ते भोःशब्दं कीर्तयेत् । त्वग्रहणमभिवाद्यमानप्रतिषेधार्थम् । परिशिष्टोर्थवादः ।
न च नामाक्षराणामेवान्तेऽपि तु ततः परेषामहमस्मीति । एषहि तत्रेति करणप्रयोगावधारणार्थमेवमेव प्रयोक्तव्यः । अपि
च देवदत्तोभोअहमिति दुःशिष्टे प्रयोगे विलम्बितायां प्रतिपत्तौ सन्मुखीभावः चिरेण स्यात्तत्र कार्यविरोधः । व्यवहितसंज्ञ-
न्धे कश्चिन्नैवावधानवान्स्यात् । स्वरूपभावः स्वरूपस्य सत्ताऽथवाभिवाद्यनाम्नां स्वरूपे भवति तत्स्थाने भवत्यतस्तन्नामनि-
वृत्तिः । भावसाधनः कर्तृसाधनोवा भावशब्दः स्वरूपभावइति समन्वयोवा पठितव्यः । भोभावो भोइत्येतस्य यद्भवन्नय-
त्स्वरूपं तन्नाम्नां स्वरूपम् । यथैव नामगृहीत्वा कस्यचित्संबोधनं क्रियते देवदत्तश्रूयतामित्येवं भोः शब्दोऽप्यामन्त्रितविभ-
क्त्यन्तः संबोधनार्थैव ऋषिभिः स्मर्यते ॥ १२४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अभिवादनवाक्यशेषमाह भोःशब्दमिति । त्वस्य नाम्नःस्वनामवद्वाक्यस्याभिवादये
असौनामाहमस्मीत्यस्यान्ते भोःशब्दोनाम्नां स्वीयानां स्वरूपभावः स्वरूपस्य संबोध्यं प्रति प्राप्तिहेतुः भोः शब्देन हि बो-
धितोसावस्य नामबुध्यतइत्यर्थः । भूधातुः प्राप्त्यर्थः । भो भावइति पाठे भोःशब्दस्य भावः सत्तेत्यर्थः ॥ १२४ ॥

(३) कुल्लूकः । भोःशब्दसिति । अभिवादाने यन्नाम प्रयुक्तं तस्यान्ते भोःशब्दं कीर्तयेदभिवाद्यसंबोधनार्थम् ।

अतएवाह नाम्नामिति । भोइत्यस्य योभावः सत्ता सोऽभिवाद्यनाम्नांस्वरूपभावऋषिभिः स्मृतस्तस्मादेवमभिवादनवाक्यमभिवादये शुभशर्माहमस्मि भोः ॥ १२४ ॥

(४) राघवानन्दः । अभिवादाने कर्तव्ये यन्नाम प्रयुक्तं तस्यान्ते भोःशब्दकीर्तयेदित्यन्वयः । भोःशब्दप्रयोगे हेतुः नाम्नामिति । अभिवाद्यस्य नाम्नांस्वरूपभावे भोभावो भोइत्यनुशिष्टस्तेन भोइत्यवश्यं प्रयुज्यते अभिमुखीकरणाय तथा- असौ नामाहमस्मि भोः । अतएव साङ्ख्यन्यायनः असावहं भोः इत्यात्मनो नामादिब्रयादिति ॥ १२४ ॥

(५) नन्दनः । ततः किं ब्रूयात् भोःशब्दमिति । अभिवादाने अभिवाद्येत्यत्र शब्देन स्थितस्येत्यर्थः । देवदत्तो नामाहमस्मी- ति प्रयुक्तस्य स्वनाम्नोन्ते भोःशब्दकीर्तयेत् । अभिवाद्यस्य नाम्नासंबोधयितुं अयुक्तत्वात् भोःशब्देन संबोधयेत् । पूज्यं हि भोः शब्दो नामधेयवत् संबोधयतीत्युक्तं नामस्वरूपभावो हि भोभाव इति । भोभावः भोशब्दसत्तानाम्नांस्वरूपभावः नाम्नांस्वरूपसत्ता । समस्तनामधेयकार्यकारणशब्दो भोःशब्द इत्यर्थः । केचिदिमं श्लोकं नामधेयस्य ये केचिदित्यस्य श्लोकस्यानन्तरं पठन्ति तल्लेखकप्रमादकृतम् * ॥ १२४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अभिवादनं त्वस्य नाम्नः अन्ते भोःशब्दकीर्तयेत् । भो भावः नाम्नांस्वरूपभावः ऋषिभिः स्मृतः अमु- कशर्माहमभिवादये इत्यर्थः ॥ १२४ ॥

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादाने ॥ अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः ॥ १२५ ॥

(१) मेधातिथिः । अभिवादाने कृते प्रत्यभिवादः पित्राऽभिवादयिता एवं वाच्य आयुष्मान्भवसौम्येति । इति शब्दः प्रकारे । आयुष्मानेधि दीर्घायुर्भूयाश्चिरजीवेत्येवमादिशब्दपरिग्रहः शिष्टाचारप्रसिद्धो भवति । अकारश्चास्य प्रत्यभिवाद्यस्य यन्नाम तदन्ते योऽकारः स प्लुतः कर्तव्यः । प्लुत इति त्रिमात्रस्य संज्ञा । अकारग्रहणमिकारादीनामपि प्रदर्शनार्थम् । अजपेक्षमेव चान्तत्वं द्रष्टव्यम् व्यञ्जनान्तस्यापि योन्यः स्वरस्तस्य भवति । पूर्वाक्षर एव प्लुत भाविनोऽकारस्य विशेषणमेतत् । अक्षरमत्र व्यञ्जनं तत्र पूर्वस्मिन् यस्मिन् श्लिष्टः स एव मुच्यते । एतदुक्तं भवति पूर्व एव नाङ्गन्तुरकारः प्लुतः कर्तव्यः किं तर्हि य एव नाम्नि विद्यते स एव श्रावयितव्यः । सर्वचैतदेवं व्याख्यानं भगवत पाणिनेः स्पृशति । सामर्थ्येन शब्दार्थप्रयोगे च मन्वादिभ्योऽधिकतरः प्रामाण्ये भगवान्पाणिनिः । स च प्रत्यभिवादे शृद्धे टेः प्लुतिस्मरति टिशब्देन योन्योच्तदादिशब्दरूपमुच्यते । विप्रग्रहणमविवक्षितं क्षत्रियादीनामप्येष एव विधिः स्मृत्यन्तरसमाचारो ह्येवमेव स्थितो न चैषां विध्यन्तरमस्ति । अत्रोदाहरणमायुष्मान्देवदत्त व्यञ्जनान्तस्यायुष्मानेधि सोमशर्मन् ॥ १२५ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अभिवादाने कृते अभिवादयिता वाच्य इत्यर्थः । अकार इति आयुष्मान्भव सौम्येति । वाक्यान्ते स्याभिवादकस्य नामवाच्यममुकशर्मन्निति । तस्य चान्ते अकारो वाच्यः तस्य च पूर्वाक्षरः पूर्वमक्षरम् । लिङ्गव्यत्ययश्छान्दसः । स प्लुतो वाच्यः । नकारस्य व्यवहितपूर्वत्वे भिव्यञ्जनस्य प्लुतत्वायोगात् । शर्मन्नित्यत्रान्त्योकार एव पूर्वपदेनोक्त इति । तस्यैव प्लुतता एवं क्षत्रियादेः शर्मस्थाने वर्मादिपदम् । पूर्वाक्षरप्लुत इति क्वचित्पाठः । तत्र पूर्वमक्षरं प्लुतमस्येति सुस्थमेव ॥ १२५ ॥

(३) कुल्लूकः । आयुष्मानिति अभिवादाने कृते प्रत्यभिवादयित्राऽभिवादकोविप्राद्यायुष्मान्भव सौम्येति वाच्यः । अस्य चाभिवादकस्य यन्नाम तस्यान्ते योऽकारादिः स्वरोनाम्नामकारान्तत्वनियमाभावात्सप्तुतः कार्यः । स्वरापेक्षं चेदकारान्तत्वं व्यञ्जनान्तेऽपि नास्ति संभवति । पूर्वनामगतमक्षरं संश्लिष्ट्यस्य सपूर्वाक्षरस्तेन नागन्तुरपठ्य चाकारादिः स्वः स्तुतः कार्यः । एतच्च वाक्यस्य टेः स्तुत उदात्त इत्यस्यानुवृत्तौ प्रत्यभिवादेऽशूद्र इति स्तुतं स्मरन्पाणिनिः स्फुटमुक्तवान् । व्याख्यातं च वृत्तिरुता वामनेन ऐरिति किं व्यञ्जनान्तस्यैव टेः स्तुतो यथा स्यादिति । तस्मादोदशं प्रत्यभिवादनवाक्यमायुष्मान्भव सौम्य शुभशर्मन् । एवं क्षत्रियस्य बलवर्मन् एवं वैश्यस्य वसुभूते । स्तुतो राजन्याविशावेति कात्यायनवचनात् क्षत्रियवैश्ययोः पक्षे स्तुतो न भवति । शूद्रस्य स्तुतो न कार्यः अशूद्र इति पाणिनिवचनात् । स्त्रियामपि निषेध इति कात्यायनवचनात् स्त्रियामपि प्रत्यभिवादनवाक्ये न स्तुतः । गोविन्दराजस्तु ब्राह्मणस्य नास्ति शर्मोपपदनित्यं प्रागभिधाय प्रत्यभिवादनवाक्य-आयुष्मान्भव सौम्य भद्र इति निरुपपदोदाहरणसोपपदोदाहरणानभिज्ञत्वमेव निजज्ञापयति । धरणीधरोऽपि आयुष्मान्भव सौम्येति संबुद्धिविभक्त्यन्तं मनुवचनं पश्यन्त्यस्य संबुद्धिप्रथमैकवचनान्तं ममुकशर्मैऽत्युदाहरन्विचक्षणैरुपेक्षणीयं एव ॥ १२५ ॥

(४) राघवानन्दः । विप्रकर्तृकेभिवादाने सोभिवादयिता विप्रआयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यः प्रत्यभिवादनीयोऽभिवाद्येनेति वाक्यार्थः । आयुष्मानिति चिरं जीवेत्यादेरुपलक्षणम् । अकारश्चेति अकारादिस्वरः अस्याभिवादकस्य नाम्नोन्ते अमुकशर्मन् नित्यादेरन्ते वर्तमानो यः सप्तुतः प्रत्यभिवादकेन वाच्यः । वाक्यस्य टेः स्तुत उदात्तः इत्यनुवृत्ते प्रत्यभिवादेऽशूद्र इति हि सूत्रम् । अस्यार्थः । वाक्ये वर्तमानादित्यस्वरः स्तुतः स्यात्त्रिमात्रः स्यादुदात्तश्च शूद्रवर्जयित्वा इति । पूर्वाक्षरश्च नकारस्य पूर्वपूर्वमश्रुत इत्यक्षरः अक्षरं ब्रह्मवर्णयोरित्यभिधानविरोधोऽन्यथा अकारादेर्देवभृत्योः पूर्वत्वाभावेऽपि राहोः शिरोवदुपचारात् अन्तत्वं स्वरापेक्षमिति न व्यञ्जनान्तेऽपि स्यात्तथा च वसिष्ठः । आमन्त्रिते योन्यः स्वरः सप्तुयते सन्ध्यक्षरमप्रगृह्य । अथ भावं चापद्यते पूर्वनामगतमक्षरं संश्लिष्ट्यस्य सपूर्वाक्षरः तेनागन्तुरपठ्य वा अकारादिस्वरः स्तुतो न कार्य इति मेधातिथिः । तथा च आयुष्मान्भव सौम्य अमुकशर्मन् निति प्रयोगः । अमुकवर्मन् अमुकभूपते भो राजन्याविशावेति स्मरणात् क्षत्रियवैश्ययोस्तु वैकल्पिकः । तस्मादत्र विप्र इत्युपलक्षणम् । गोविन्दराजस्तु एवं प्रयुक्ते । अमुकशर्मन्नायुष्मान्भव इति । धरणीधरस्त्वायुष्मान्भव सौम्यामुकशर्मन्ति । तत्सर्वमनूक्त आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्र इत्यानुपूर्व्या विरुद्धम् ॥ १२५ ॥

(५) नन्दनः । आयुष्मानिति अभिवादाने कृते सति विप्रो द्विजः वाच्यः ज्यायसा कनीयान् । अस्य कनीयसो नाम्नोन्ते पूर्वाक्षरः स्तुतः अत्राक्षरशब्देन स्वरो विवक्षितः व्यञ्जनस्य स्तुता संभवात् । यस्मादकारात् पूर्वमक्षरं स्तुतं भवति सपूर्वाक्षरः स्तुतः अकारश्च वाच्यः आयुष्मान्भव सौम्य देवदत्ताद्य इति वाच्यः इति यावत् ॥ १२५ ॥

(६) रामचन्द्रः । अस्य नाम्नः अन्ते अकारः पूर्वाक्षरः स्तुतः वाच्यः । तद्यथा अमुकशर्माहं अमुकनामाहमित्यर्थः १२५ योनवेत्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम् ॥ नाभिवाद्यः सविदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥ १२६ ॥

(१) मेधातिथिः । योन वेत्ति प्रत्यभिवादनमित्येव वाच्यमभिवादस्येत्यतिरिच्यते न संगच्छते नैवमभिवादस्यानुरूपं प्रत्यभिवादनमित्येवं योजना क्रियते । येन सनामोच्चार्याभिवादनं कृतं तस्य नामान्ते स्तुतिः कर्तव्या यस्त्वहं भो इत्येवमभिवादेन तस्य नाम्नोच्चारणं नापि स्तुतिरिति नाभिवाद्य इत्यभिवादनशब्दोच्चारणप्रतिषेधः । यथा विहितमभिवादनं कर्तव्यम् न पुनरहं भो इत्यादि तस्य प्राग्दर्शितत्वात् । यथा शूद्र इति च दृष्टान्ते नैतदेव ज्ञायते शूद्रस्यापि वृद्धवयसोऽभिवाद्यत्वं पूर्वाभिभाष्यत्वमिष्यते । विदुषेति पादपूरणार्थम् ॥ १२६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अभिवादनस्य कृतस्य यत्प्रत्यभिवादनं अभिवादनप्रतियोगिवाक्यम् ॥ १२६ ॥

(३) कुल्लूकः । योनवेत्तीति । योविप्रोऽभिवादनस्यानुरूपप्रत्यभिवादनं जानात्यसावभिवादनविदुषाऽपि स्वनामोच्चारणाद्युक्तविधिना शूद्र इव नाभिवाद्यः । अभिवादेयहमिति शब्दोच्चारणमात्रं चरणग्रहणादिशून्यमनिषिद्धं प्रागुक्तत्वात् ॥ १२६ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रत्यभिवादानाज्ञाने कथमित्यत्राह । यइति । नाभिवाद्यइति यथाशास्त्रं नमस्यः तत्र हेतुः यथाशूद्रइति । गायत्रीमात्रसारइत्यनेन तादृशांतदज्ञानामपि नमस्यतोक्तेः निन्दार्थवादमात्रं वा ॥ १२६ ॥

(५) नन्दनः । योनवेत्तीति विप्रः द्विजः अभिवादस्य अभिवादवाक्यस्य प्रत्याभिवादनवाक्यं यथाशूद्रइति । निन्दापरमेतत्तत्त्वकथनं निषेधशेषत्वावगमात् बहुप्रमाणान्तरविरोधाच्चेति । प्रत्यभिवादनमजानन्मुक्तिं कर्तव्यमित्यपेक्षायामाह नामधेयस्येति । नामधेयस्य अभिवादनवाक्यस्य अभिवादनं प्रत्यभिवादनवाक्यं अहमिति ब्रूयात् न स्वनामेति ॥ १२६ ॥

ब्राह्मणकुशलं पृच्छेत् क्षत्रवन्धुमनामयम् ॥ वैश्यक्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥ १२७ ॥

(१) मेधातिथिः । कृताभिवादनप्रत्यभिवादनयोः सौहार्दे प्राप्ते जिज्ञासाप्रश्ने जातिभेदाश्रयः शब्दनियमोऽयमिष्यते । प्रष्टव्यानां जातिनियमोऽयं प्रष्टव्याम् । नात्यन्तभिन्नार्थत्वाच्च एतेषां स्वरूपनियमोऽयं विधीयते । आरोग्यानामयशब्दौ समानार्थाविवक्षेमकुशलशब्दावपि नात्यन्तभिन्नौ । कुशलशब्दोऽयमपि प्रावीण्यवचनस्तथापीह संयोगिनामर्थानां शरीराणां चानपाये वर्तते । एतेऽवश्यं प्रयोक्तव्या अन्येषामपि यथाप्रतिभंविशेषे जिज्ञासयाऽप्रतिषेधः । तथा महाभारते कस्मिंश्चिदध्याये दर्शितम् । केचिदिह समागम्येति लिङ्गान् गुर्वादिविषयोऽयं प्रश्नः किं तर्हि सवयसामेव । अभिगमनं हि गुरौ विहितं यद्वच्छया समागमः । अभिगमनेऽपि समागमोऽस्तीति यत्किंचिदेतत् ॥ १२७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अथ यो नाभिवाद्यस्त्रिवर्षपूर्वत्वादिगुणरहितः । तत्र दृष्टे यत्कार्यं तदाह ब्राह्मणमिति । ब्राह्मणादीनां त्वस्वजातीये दृष्टे त्वस्व जात्युक्तं तथा त्वस्वावरजातीये तत्तज्जात्युक्तं न चेतदवरजातेरुक्तमिति कुशलं पृच्छेत् । कुशलं किं भवतो मुकस्येति पृच्छेदित्यर्थः । एवं सर्वत्र केचित्प्रत्यभिवादानाभिधानानन्तरमभिवादेनैतत्प्रष्टव्यमित्याहुः ॥ १२७ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणमिति । समागम्य समागमे कृतेऽभिवादकमवरवयस्कंसमानवयस्कमनभिवादकमपि ब्राह्मणकुशलं क्षत्रियमनामयं वैश्यक्षेमं शूद्रमारोग्यं पृच्छेत् । अतएवापस्तम्बः कुशलमवरवयसंसमानवयसं वा विप्रं पृच्छेदनामयं क्षत्रियं क्षेमं वैश्यमारोग्यं शूद्रम् । अवरवयसमभिवादकं वयस्य मनभिवादकमपीति मन्वर्थमेवापस्तम्बः स्फुटयति स्म । गोविन्दराजस्तु प्रकरणात्प्रत्यभिवादकस्यैव कुशलादिप्रश्नामाह तन्नाभिवादकेन सह समागमस्यानुप्राप्तत्वात् समागम्येति निष्प्रयोजनानुवादप्रसङ्गात् । अतः कुशलक्षेमशब्दयोरनामयारोग्यपदयोश्च समानार्थत्वाच्छब्दविशेषोच्चारणमेव विवक्षितम् ॥ १२७ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव प्राप्तिक्रमप्रश्नकारमाह ब्राह्मणमिति । ब्राह्मणादिदर्शनादौ किंचिद्वक्तव्यमिति प्राप्तं तन्नियमादृष्टार्थशब्दविशेषोच्चारणमर्थपौनरुक्त्येपि ॥ १२७ ॥

(५) नन्दनः । अथ समानैरवरैश्च समागमे वक्तव्यमित्याह ब्राह्मणमिति । समागम्येति ब्राह्मणादिभिः प्रत्येकं संबन्ध्यते । कुशलं त्वाध्यायादौ क्षेमं क्षत्रवन्धुं क्षत्रियमिति यावत् । अनामयं शरीरकुटुम्बराष्ट्रेषु सुखं क्षेमं कृष्यादिष्वनाशं आरोग्यं शुश्रूषायां शरीरपाटवम् ॥ १२७ ॥

अवाच्योदीक्षितोनाम्ना यवीयानपि योभवेत्॥भो भवत्पूर्वकत्वेन मभिभाषेत धर्मवित्॥ १२८॥

(१) मेधातिथिः । प्रत्यभिवादनकालान्यत्र च दीक्षितोज्योतिष्टोमादिषु दीक्षणीयातः प्रभृत्याऽऽवभृथान्नाम्ना न वाच्यस्तस्य यन्नामधेयतन्त्रोच्चारयितव्यम् । यवीयान्कनीयानचिरकालजातः । अपिशब्दात्ज्येष्ठस्यादीक्षितस्यापि नामग्रहणनिषेधोऽनुमीयते । तथाच गौतमः नाम गोत्रे गुरोः समानतो निर्दिशेत् । मानः पूजातत्पूर्वकनाम ग्रहीतव्यं तत्रैवरोजनार्दनमिश्रइति । कथं तर्हि दीक्षितेनकार्यार्थसंभाषः कर्तव्यः भो भवत्पूर्वकंभोः शब्दपूर्वप्रयुज्यैर्नदीक्षितमभिभाषेत दीक्षितयजमानादिशब्दैर्यौगिकैः । नतु भोः शब्दपूर्वकनामग्रहणमभ्यनुज्ञायते । भोभवच्छब्दः पूर्वोयस्याभिभाषणस्य तदेवमुक्ते द्वयोश्चैतयोः शब्दयोरेकत्र वाक्ये प्रयोगाभावाद्यवस्थां व्याचक्षते । यदा तेन सह संभाषणं भवति तदाऽऽमन्त्रितविभक्त्यन्तेन भोः शब्देन संबोध्यः । यदा तु तदीयगुणारव्यानंपरोक्षकरोति तत्र भवता दीक्षितेनैव कृतं तत्र भवानेव करोतीत्येवंप्रयोक्तव्यम् । भवदिति च प्रातिपदिकमात्रमुपात्तं तथा विभक्त्या संबन्धमुपैतितदन्तर्प्रयोक्तव्यम् ॥ १२८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कुशलप्रश्नादावपि यावद्दीक्षासमामिस्तावन्नाम दीक्षितस्य न ग्राह्यम् । दीक्षितेत्येव संबोधनम् । तस्य तत्रापि भोः शब्दभवच्छब्दान्यतरपूर्वकमभिभाषेत संबोधयेत् ॥ १२८ ॥

(३) कुम्भूकः । अवाच्यइति । प्रत्यभिवादनकालेऽन्यदा च दीक्षणीयातः प्रभृत्यावभृथस्नानात्कनिष्ठोऽपि दीक्षितोनाम्ना न वाच्यः । किंतु भोभवच्छब्दपूर्वकं दीक्षितादिशब्दैरुत्कर्षाभिधायिभिरेव धार्मिकोऽभिभाषेत । भोदीक्षितइदंकुरु भवता यजमानेन इदं क्रियतामिति ॥ १२८ ॥

(४) राघवानन्दः । दीक्षितादिषु विशेषमाह । दीक्षितः सोमयागादिषु अभिवादानादिके कार्ये निजनाम्नाऽवाच्यः किंतु भोः दीक्षितं किं करोति भवान् कुत्र गच्छतीत्यादि ॥ १२८ ॥

(५) नन्दनः । दीक्षितः सोमयाजी । भोः शब्दो भवच्छब्दश्च यस्याभिभाषणस्य पूर्वो तत् भो भवत्पूर्वकम् । सन्निधौ भोः शब्दः यथा भो यजमानेति । असन्निधौ भवच्छब्दः यथा तत्र भवान्यजमानइति ॥ १२८ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः यवीयानपि दीक्षितः नाम्ना अवाच्यो भवेत् भो अमुकशर्मन् इति भवत्पूर्वकं एतं दीक्षितं धर्मवित् अभिभाषेत ॥ १२८ ॥

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसंबन्धा च यो नितः ॥ तांब्रूयाद्भवती त्येवं सुभगे भगिनीति च ॥ १२९ ॥

(१) मेधातिथिः । अर्थप्रयुक्तं संभाषणं स्त्रिया सह यदा भवति तदैवं कर्तव्यम् । यातावत्परस्य पत्नी सा भवति सुभगे अथवा भवति भगिनी । भवच्छब्दो र्यस्त्री प्रत्ययान्तः संबुद्धौ कृतस्त्वः । भवतीत्यत्रेति करणं पदार्थविपर्यासकत्वरूपपरंबोधयति सुभगे भगिनीत्यत्र प्रकारे । ब्रूयादित्यधिकाराच्छब्दस्वरूपग्रहणं सिद्धम् । आकार्यतायांचमातर्यशस्त्रि कनीयमीचदुहितरायुष्मतीत्येवमादिभिः शब्दैः संभाष्या । पत्नीग्रहणात्कन्यायानैषविधिः । असंबन्धाच यो नितः मातृपक्षपितृपक्षाभ्यां । यां ज्ञातिवन्तागता मातुलदुहित्रादिस्तासामन्यविधिवक्ष्यति ज्ञातिसंबन्धयोषितइति । ननु च नैवैतत्सिद्धमस्योत्सर्गस्यान्यत्र चरितार्थत्वात्किमसंबन्धाचेत्यनेन । नात्र पौनरुक्त्योद्भावेन यतितव्यं पद्यग्रन्थोऽयम् ॥ १२९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । असंबद्धो नितः स्त्रोत्पत्तिस्थानेन मात्रापित्रा च समंब्रूयात् । अभिवादाय तु भगिनी

(१२९) भगिनीति च (ग, ढ, ज)

— वा (क, ख, घ, च, ज, झ,)

त्यादिभिर्नामभिः । स्वपत्नीव्यवच्छेदस्य गार्हस्थ्येव संभवादत्र प्रकरणे तद्व्यवच्छेदं कुर्वन् गुर्वभिवन्दनादिविधयः स्नात-
कादिषु संभविनस्तै रनुष्ठेयाइति ज्ञापयति ॥ १२९ ॥

(३) कुल्लूकः । परपत्नीत्विति । या स्त्री परपत्नीभवति असंबन्धा च योनितइति स्वस्मादिर्भवतिता मनुपयुक्तसं-
भाषणकाले भवति सुभगे भगिनीति वा वेदेत् । परपत्नीग्रहणात्कन्यायानैषविधिः । त्वसुःकन्यादेस्त्वायुष्मत्यादिपदैरभि-
भाषणम् ॥ १२९ ॥

(४) राघवानन्दः । अर्थप्रयुक्तपरस्त्रिया सह संभाषणमाह परेति । योनितोअसंबन्धाउभयलक्षणसंबन्धहीनाः
सुभगेइत्यादि ब्रूयादित्यन्वयः । स्त्रीति वक्तव्ये परपत्नीया स्त्रीति त्वस्त्रीव्यतिरेकनिश्चयार्थम् ॥ १२९ ॥

(५) नन्दनः । योनितोसम्बन्धामाता पितृसबन्धरहिता । व्यवस्थितविषयोयविकल्पः । तांज्यायसीभवतीतिसमानां
सुभगेइतियवीयसीभगिनीतिब्रूयात् ॥ १२९ ॥

(६) रामचन्द्रः । या स्त्री परपत्नी स्यात् । तु पुनः । योनितःअसम्बन्धातांयस्याः संबन्धोनास्ति तांस्त्रियंभवति सु-
भगेइत्येवंवा भगिनीइति वा ब्रूयात् ॥ १२९ ॥

मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजोगुरुन् ॥ असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः ॥ १३० ॥

(१) मेधातिथिः । गुरुनिति वचननिर्देशान्नयएवात्र गुरुरुक्तः सएव गृह्यते किंताहिं गौतमीयइव सामान्यशब्दो-
वित्तादिज्येष्ठवचनः । तान्यवीयसोभागिनेयादेःस्वययोपेक्षया हीनवयसः । असावहमिति त्वनामनिर्दिश्यते । तत्परश्चाहं-
शब्दोऽभ्य नुज्ञायते । एतच्च प्रत्युत्थायागतानां कर्तव्यम् । अभिवादाने भोःशब्दप्रयोगो निषिध्यते । उक्तंच गौतमीये प्रत्यु
थानमभिवाद्यइति ॥ १३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गुरुनुपाध्यायान् । असावहमित्यत्रासौपदस्थाने त्वनाम प्रत्युत्थाय कीर्तयेत् । यवीयस-
स्तत्तद्वयःसमुचिताभिवादानेन ॥ १३० ॥

(३) कुल्लूकः । मातुलांश्चेति । मातुलादीनागतान्कनिष्ठानासनादुत्थायासावहमिति वदेन्नाभिवादयेत् । असाविति
त्वनामनिर्देशः । भूयिष्ठाःखलु गुरवइत्युपक्रम्य ज्ञानवृद्धतपोवृद्धयोरपि हारीतेन गुरुत्वकीर्तनात्तयोश्च कनिष्ठयोरपि
संभवात्तद्विषयोऽयंगुरुशब्दः ॥ १३० ॥

(४) राघवानन्दः । गुरुनिति ज्ञानवृद्धतपोवृद्धयोरुपलक्षणंयविष्ठाःखलु गुरवइत्यादिहारीतवचनात् । असावहमिति
त्वनामनिर्देशःयवीयसोपि कनिष्ठान्मातुलादीनित्यर्थः ॥ १३० ॥

(५) नन्दनः । श्वशुरानृत्विजइत्यनेनास्यप्रकरणस्यसर्वाश्रमसाधारणत्वंसूचितम् । गुरुन्आचार्यादीन् । असाव-
हमितिब्रूयात्तदेवदत्तोहमितिब्रूयात् नाभिवादयेत् ॥ १३० ॥

(६) रामचन्द्रः । यवीयसः कनिष्ठःमातुलादीन्प्रत्युत्थायअसौअहंनमस्करोमिइति ब्रूयात् ॥ १३० ॥

मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा ॥ संपूज्या गुरुपत्नीवत्समास्ता गुरुभार्यया ॥ १३१ ॥

(१) मेधातिथिः । एताश्च गुरुपत्नीवत्संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादानासनदानादिभिः । गुरुपत्नीवदित्यनेनैव सिद्धे-
समास्ताइति वचनमन्यदप्याज्ञादिगुरुपत्नीकार्यकदाचिदनुजानाति । इतरथा प्रकरणात्संपूज्याइत्यभिवादनविषयमेव स्यात् ।
पलितवयसश्चस्त्रियः स्मर्यन्ते । कनीयसीनामप्येषएवाभिवादनविधिः ॥ १३१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । समास्ताइति । तदाक्रोशादिना गुरुभार्याक्रोशादिदोषार्थम् ॥ १३१ ॥

(३) कुड्डूकः । मातृष्वसेति । मातृष्वस्त्रादयो गुरुपत्नीवत्प्रत्युत्थानाभिवादानासनदानादिभिः संपूज्याः । अभिवादनप्रकरणादभिवादनमेव संपूजनं विज्ञायतइति । समास्ताइत्यवोचत् । गुरुभार्यासमानत्वात्प्रत्युत्थानादिकमपि कार्यमित्यर्थः ॥ १३१ ॥

(४) राघवानन्दः । संपूज्याः प्रत्युत्थानादिभिः गुरुपत्नीति । गुरुरत्र ब्रह्मदस्तस्य पत्नी तत्र हेतुः समास्ताइति ॥ १३१ ॥

(५) नन्दनः । भ्रातृभार्येति भ्रातृभार्यासौदरज्येष्ठभ्रातृभार्या उपसंग्राह्या पादौ स्तृष्ट्वा नमस्कार्य्या । विप्रोष्य-प्रोषितागमने सतीत्यर्थः । ज्ञातिसम्बन्धयोषितइत्यत्रापि सवर्णशब्दो नुषज्यते ॥ १३१ ॥

(६) रामचन्द्रः । गुरुभार्यया सह गुरुणां ज्येष्ठानां भार्या गुरुभार्या तथा गुरुभार्यया सह । एताः समास्तामातृष्वस्त्राद्या नमस्करणीया भवन्ति गुरुपत्नीवत् विशेषेण संपूज्या भवन्ति ॥ १३१ ॥

भ्रातृभार्योपसंग्राह्या सवर्णाह्न्यह्न्यपि ॥ विप्रोष्यतूपसंग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धयोषितः ॥ १३२ ॥

(१) मेधातिथिः । भ्रातृज्येष्ठस्येति द्रष्टव्यम् । उपसंग्राह्या पादयोरभिवाद्या । सवर्णा समानजातीया । क्षत्रियादिस्त्रीणां तु ज्ञातिसम्बन्धधर्मो भ्रातृभार्याणामपि । विप्रोष्यज्ञातिसम्बन्धयोषितः । विप्रोष्य प्रवासात्प्रत्यागतेन । नहि प्रोषितस्योपसंग्रहणसंभवः । ज्ञातयः पितृपक्षाः पितृव्यादयः सम्बन्धिनो मातृपक्षाः श्वशुरादयश्च तेषां ज्येष्ठानां याः स्त्रियः पूजारूपत्वादुपसंग्रहणस्य । न कनीयांसः पूजामर्हन्ति ॥ १३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भ्रातृभार्या ज्येष्ठा उपसंग्राह्या अभिवाद्या । विप्रोष्य प्रवासं कृत्वा । ज्ञातिस्त्रियः सपिण्डस्त्रियः सम्बन्धिस्त्रियः । एतास्वपि ज्येष्ठास्त्वैतत् ॥ १३२ ॥

(३) कुड्डूकः । भ्रातृभार्येति । भ्रातुः सजातीया भार्या ज्येष्ठा पूजाप्रकरणादुपसंग्राह्या पादयोरभिवाद्या । अह्न्यहनि प्रत्यहमेव । अपिरेवार्थे । ज्ञातयः पितृपक्षाः पितृव्यादयः सम्बन्धिनो मातृपक्षाः श्वशुरादयश्च तेषां पत्न्यः पुनर्विप्रोष्य प्रवासात् प्रत्यागतेनैवाभिवाद्याः न तु प्रत्यहं नियमः ॥ १३२ ॥

(४) राघवानन्दः । स्ववर्णाः स्वस्वजातयः विप्रोष्य प्रवासं कृत्वोपसंग्राह्याः । पादयोरिति शेषः । ज्ञातिसम्बन्धीति ज्ञातीनां स्वगोत्रजानां सम्बन्धिनानां मातुलानां च ज्येष्ठानां योषितः ॥ १३२ ॥

(६) रामचन्द्रः । भ्रातृभार्याः सवर्णा अहनि अहनि नित्यं उपसङ्ग्राह्याः । तथा ज्ञातिसम्बन्धिन्यो योषितः विप्रोष्य प्रवासादागत्य उपसङ्ग्राह्याः ॥ १३२ ॥

पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि ॥ मातृवद्वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्योगरीयसी ॥ १३३ ॥

(१) मेधातिथिः । पितुश्च या भगिनी मातुश्च या भगिनी तस्यां स्वसरि चात्मीयायां ज्येष्ठायां भगिन्यां मातृवद्वृत्तिरतिदिश्यते । ननु च मातृष्वसुः पितृष्वसुश्चायमुक्तएव धर्मो मातृष्वसा मातुलानीत्यत्र । अथोच्यते तत्र गुरुपत्नीवदित्युक्तं इह तु मातृवद्वृत्तिरित्युच्यतइति नैषभेदः तुल्याहि गुरुपत्न्यां मातरि च वृत्तिः । केचिदाहुः माता ताभ्योगरीयसीत्येतद्वक्तुमनूद्यते भगिन्योः पितुर्मातुश्च गरीयस्त्वम् । यदा माता ज्ञाददांति श्वश्रादयश्च तदा मातुराज्ञाक्रियते न तासाम् । न चैतद्वाच्यमेतदपि सिद्धं माता गौरवेणातिरिच्यतइत्यर्थवादत्वात्तस्य । अन्येतु गुरुपत्न्यामातुश्च वृत्तिभेदमन्यन्ते । गुरुपत्न्याः पूजाज्ञाद्याव-

श्यकम् । मातुस्तु शैशवात्वात्सल्येनान्यथात्वमपि । लालनात्तत्रोभयापदेशान्मातृत्वसुः पितृत्वसुश्च व्यवस्था । शैशवे लालनं-
तुल्यमेव स्वस्यांस्वसरि । अतीतशैशवस्य तु गुरुपत्नीवत्संपूज्यत्वमिति । नचानेनैवेतत्सिध्यति असति हि वाक्यद्वये मातृव-
द्वृत्तिरित्येतावता प्राकरणीकीअभिवादननिवृत्तिरेव विज्ञायेत ॥ १३३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वसरिस्वस्यांमातृवद्वृत्तिवर्तनं मातरि यथावृत्तवर्तनमन्मदानांदिना पोषणं आतिष्ठेत्
अनुतिष्ठेत् । अत्रपितृमातृत्वसृसाहचर्यात् स्वज्येष्ठश्चशुराभिवादनमपि सिद्धम् । माताताभ्यइति तेन तासामुपकारे क्रियमाणे
यदि मातुरनिष्ठस्यात् तदा न कार्यमित्युक्तंभवति ॥ १३३ ॥

(३) कुल्लूकः । पितुर्भगिन्यामिति । पितुर्मातुश्च भगिन्यांज्येष्ठायांचात्मनोभगिन्यांमातृवद्वृत्तिमातिष्ठेत् । माता
पुनस्ताभ्योगुरुतमा । ननु मातृत्वसा मातुलानीत्यनेनैव गुरुपत्नीवत्पूज्यत्वमुक्तं किमधिकमनेन बोध्यते । उच्यते इदमेव
माता ताभ्योगरीयसीति । तेन पितृत्वस्नानुज्ञायांदत्तायांमात्रा च विरोधे मातुराज्ञानुष्ठेयेति । अथवा पूर्वपितृत्वस्नादे-
र्मातृत्वपूज्यत्वमुक्तम् । अनेनतु स्नेहादिवृत्तिरप्यतिदिश्यतइत्यपुनरुक्तिः ॥ १३३ ॥

(४) राघवानन्दः । ज्यायस्यांज्येष्ठायांस्वसरिभगिन्यांएतासांसमवाये तासांकनीयस्यपिमातैव पूर्वमस्ये-
त्याहमातेत्यादि ॥ १३३ ॥

(५) नन्दनः । पितुश्चमातुश्च । ज्यायस्यांभगिन्यामात्मनोज्यायस्यांस्वसर्भपिचमातृवद्वृत्तिपादोपसंग्रहणादिकां-
आतिष्ठेत् कुर्यात् । आज्ञाकरणादौमाताताभ्योगरीयसी । मातृत्वसामातुलानीत्यादिश्लोकेमातृत्वसृपितृत्वस्रोपादानंकनी-
योविषयमिति विवेक्तव्यम् ॥ १३३ ॥

(६) रामचन्द्रः । पितुर्भगिन्यां मातुश्च भगिन्यां ज्यायस्यांज्येष्ठायांस्वसर्यपि भगिन्यामपि ॥ १३३ ॥

दशाब्दरित्यंपौरसख्यपञ्चाब्दाख्यंकलाभृताम् ॥ ज्याब्दपूर्वश्रोत्रियाणांस्वल्पेनापि

स्वयोनिषु ॥ १३४ ॥

(१) मेधातिथिः । अथ पुनः स्नेहवृत्तिरितिदिश्यते उक्तपूर्वप्राणाद्युक्तामन्ति यूनः स्थविरआयतीति तत्र क्रिय-
द्विर्वर्षैः स्थाविर्यभवति । लोके हि शिरः पालित्ये स्थविरव्यवहारस्तन्निरूपणार्थमिदम् । दशभिर्वर्षैर्जन्मनोऽधिकैरपि
पौराणांसख्यमाख्यायते । तेन दशवर्षाधिकोज्येष्ठोभवत्यपि तु मित्रवद्यवहर्तव्योयथोक्तंभी भवन्निति वयस्येति । दशभ्यो-
वर्धभ्यऊर्ध्वज्येष्ठः । आख्यानमाख्यादशाब्दाआख्यायस्य सख्यस्यत्रिपदोबहुव्रीहिः । आख्यानिमित्तत्वाद्दशर्षाणांसामाना-
धिकरण्यनिमित्तनिमित्तिनोर्भेदस्याविवक्षितत्वात् । एतावांश्च समासान्तभूतोर्थोयः पूर्वजोदशवर्षाणांयावत्ससखैव भवति ।
पुरे भवाः पौरातिषाम् । पुरग्रहणंप्रदर्शनार्थम् । ग्रामवासिनामपि एषएव न्यायः । ये केचिदेकस्मिन्ग्रामे सन्तितान्यः
कश्चित्परस्परप्रत्यासत्तिहेतुर्विद्यते ते सखायः । ये तु कलांकांचन बिभ्रति शिल्पगीतवाद्यादिकांतेषांपञ्चवर्षाणि योधिकः
ससखा ततऊर्ध्वज्येष्ठः । त्रयोऽब्दाः पूर्वं यस्य तच्छ्रोत्रियाणांसख्यम् । अल्पेनापि कालेन स्वयोनिष्वेकवश्येषु कति-
चिदहानि योधिकः सज्येष्ठः । कियान्पुनः स्वल्पकालःन तावदब्दःअब्दपूर्वमिति निर्दिश्याल्पेनेत्युच्यमानस्ततोऽन्युनः प्र-
तीयते । एकवचननिर्देशाच्च न वर्षद्वयनाप्येकोऽब्दः स्वल्पेनेति विशेषणानुपपत्तेः । परिच्छिन्नपरिमाणोऽब्दवाच्योर्थस्त-
स्याहोरात्रमात्रेण न्यूनस्य नाब्दत्वमस्ति । तस्मादल्पेनेति कालसामान्यमपेक्षते । संवत्सरादवरश्च तस्य विशेषः । अ-
पिशब्दश्चैवशब्दस्यार्थे द्रष्टव्यः । अल्पेनैव कालेन सख्यंबहुना तुज्येष्ठत्वमेव । एतच्च समानगुणानांसमानजातीयानांच

द्रष्टव्यम् । एतेन लौकिकस्थविरलक्षणं निर्वर्तितसापेक्षिकमाश्रितम् । अन्येतुव्याचक्षते नानेन स्थविरत्वं लक्ष्यते किं तर्हि सखित्वमेव यथा श्रुतार्थत्यागेन स्थनिरलक्षणं स्यात् इयता कालेन सखापरतस्तु ज्येष्ठ इति अयं च श्लोकार्थः एकत्र पुर-
वसन्ति दशवर्षाणि यावत्तानि मित्राणि कलाश्चतुःषष्टिस्तद्विदांसंगत्या पञ्चभिर्वर्षैः स्वयोनिषु स्वल्पेनापि च कालेन सह
वसतामित्रत्वमेव अतश्च न सर्वो वयसा तुल्यो वयस्यः किं तर्हि एतदेव समानवयस्त्वैवैलक्षणम् । युक्तमेतत्किंतूत्तरश्लोकां
विरुध्यते । तत्र हि जातेः प्राधान्यं न वयसः । यदि चात्रेयता कालेन ज्यैष्ठ्यमुक्तं भवति तदा विजातीयानामप्याशङ्क्य-
मानं न निवर्त्यत इति युक्तम् । पूर्वं च व्याखातार आद्यमेव व्याख्यानं मन्यन्ते ॥ १३४ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । दशाब्दपर्यन्तमाख्यायते कथ्यते पौराणां सख्यं पौराणां पुरवासिनां अन्योन्यं दशाब्दादु-
र्ध्वमेव ज्येष्ठपत्यतायामभिवादनमित्यर्थः । पञ्चाब्दपर्यन्तं कलाभृतां कलागीतादिकारिणां चारणानाम् । त्र्यब्दपूर्वमित्यत्र
त्रिवर्षपूर्वः श्रोत्रियोभिवादनमर्हतीति स्मृत्यन्तरात् । अभिवादनं व्यवहितमप्यन्वीयते । त्रिभ्यो वदेभ्यः पूर्वमेव जातस्याभि-
वाद्यत्वमित्यर्थः । त्र्यब्दपूर्वस्य त्र्यब्दपूर्वकालोत्पन्नतया ज्येष्ठस्तद्विषयत्वादभिधानमपि त्र्यब्दपूर्वम् । एवं स्वयोनिषु स्वसमान-
योनिषु ज्ञातिबन्धुस्वल्पेनापि कालेन दिनैकपूर्वकत्वेनापि ज्येष्ठतायामभिवादनमित्यर्थः । तदुक्तम् वयस्यः समानेह नि-
जात इति ॥ १३४ ॥

(३) कुट्टूकः । दशाब्दाख्यमिति । दशाब्दाख्यपौरसख्यम् । अयमर्थः एकपुरवासि-
नां वक्ष्यमाणविद्यादिगुणरहितानामेकस्य दशभिरवदैर्ज्येष्ठत्वे सत्यपि सख्यमाख्यायते । पुरग्रहणं प्रदर्शनार्थम् । तेनैकग्रामा-
दिनिवासिनामपि स्यात् । गीतादिकलाभिज्ञानां पञ्चवर्षपर्यन्तं सख्यम् । श्रोत्रियाणां त्र्यब्दपर्यन्तम् । सपिण्डेष्वत्यन्ताल्पेनैव
कालेन सह सख्यम् । अपिरेवार्थः । सर्वत्रोक्तकालादूर्ध्वज्येष्ठव्यवहारः ॥ १३४ ॥

(४) राघवानन्दः । नमस्कारमसङ्गेन मान्यत्वे कारणमाह । दशाब्दाख्यमिति चतुर्भिः । एकपुरवासिनां विद्यागुण-
हीनत्वेपि दशाब्दाख्यं वयसां स्थित्या वा दशवर्षाधिक्यं अभ्युत्थानाख्यमान्यत्वे कारणम् । पुरग्रहणं ग्रामाद्युपलक्षणम् ।
तथापञ्चाब्दाख्यं गीतादिकलावतां कलाग्रहणापेक्षया स्वयोनिषु पितृव्यतत्पुत्रादिषु स्वल्पेन वयसा ॥ १३४ ॥

(५) नन्दनः । अत्र पौरशब्देन समानदेशवासिनो लक्ष्यन्ते । सख्यशब्देनाऽलिङ्गनादिकं । पौरैरन्योन्यं सख्यं दशा-
ब्दाख्यं कर्तव्यं स्यात् दशभिः शब्दैराख्याव्यपदेशो यस्य तद्दशाब्दाख्यम् । ननु किमुक्तं भवतीति चेत् एकपुरवासिनः सवर्णलक्ष्य-
माणलक्षणाद्विदशवर्षान्तरालजन्मानश्चैतैस्समेत्यसख्यमेव कर्तव्यम् । अल्पेनापि स्वयोनिषु स्वल्पेनापि सख्यं स्यात् । ज्ञात-
य एकवर्षान्तरालाद्विदशवर्षान्तरालाभृतां शिल्पविद्यावेदिनां पञ्चवर्षान्तरालजन्मानां सख्यमेव कर्तव्यं तैरन्योन्यं समेत्येत्यर्थः । श्रो-
त्रियाणां त्र्यब्दपूर्वसख्यं स्यात् । त्र्यब्दपूर्वसख्यं निमित्तम् । श्रोत्रियास्त्रिवर्षान्तरालजन्मानश्चेत् तैश्चापि समेत्यसख्यमेव
कर्तव्यम् । एवमुक्तं भवति । दशपञ्चयेकवर्षाधिक्ये श्रेष्ठ्यमेव प्रतिपत्तव्यमिति ॥ १३४ ॥

(६) रामचन्द्रः । पौरसख्यं पौराणां एकपुरनिवासिनां विद्यादिगुणरहितानां सख्यं दशाब्दाख्यं दशवर्षिकसख्यं विद्वा-
सास्पदं कलाभृतां काव्यनाटकादिज्ञातृणां पञ्चाब्दाख्यं पञ्चवर्षिकं सख्यं श्रोत्रियाणां त्र्यब्दपूर्वकं सख्यम् । स्वयोनिषु स्वबन्धुषु-
अल्पेनापि नमस्कारार्हत्वं सख्यं कार्यं व्यवहरणम् ॥ १३४ ॥

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपं ॥ पिता पुत्रौ विज्ञानीयाद्ब्राह्मणस्तु तयोः पिता ॥ १३५ ॥

(१) मेधातिथिः दशवर्षाणि । जातस्य यस्य स भवति दशवर्षः । परिच्छेदकः कालः तस्य परिच्छेद्यो ब्राह्मणः श्रु-
तः । न च तस्योच्चनीचतादिकांश्यादिवा कालेन परिमाणं शक्यम् । किं तर्हि तदीया काचित्क्रिया सा च जन्मनः प्रभृति नि-

त्यसमवायिनी प्राणधारणलक्षणैव । एवंशतवर्षमिति । पितापुत्रौ तौ द्रष्टव्यौ । तयोः संप्रधार्यमाणयोर्ब्राह्मणः पिता । चिरवृद्धेनापि क्षत्रियेण स्वरूपवर्षोपि ब्राह्मणः प्रत्युत्थायाभिवाद्यश्चेति प्रकरणार्थः ॥ १३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अतस्तादृशब्राह्मणतादृक् क्षत्रियोभिवादयेदित्यर्थः । एवंक्षत्रियाद्यपेक्षया वैश्यादीनामप्युन्नेयम् । तथा वैश्यस्य च शूद्रस्य च शतवर्षातिरिक्तज्येष्ठतायामपि विप्रापेक्षं पुत्रत्वमित्यर्थादुक्तम् ॥ १३५ ॥

(३) कुल्लुकः । ब्राह्मणमिति । दशवर्षब्राह्मणं शतवर्षपुनः क्षत्रियं पितापुत्रौ जानीयात् । तयोर्मध्ये दशवर्षोऽपि ब्राह्मणएव क्षत्रियस्य शतवर्षस्यापि पिता तस्मात्पितृवदसौ तस्य मान्यः ॥ १३५ ॥

(४) राघवानन्दः । पितेति । पितृवन्मानार्हः ॥ १३५ ॥

(५) नन्दनः । वर्णज्यैष्ठ्यवयोज्यैष्ठ्ययोर्वर्णज्यैष्ठ्यमान्यतानिभित्तमित्याह ब्राह्मणमिति । अत्र ब्राह्मणक्षत्रियशब्दावुक्तृष्टापरुष्टवर्णोपलक्षणार्थौ । अन्योन्यमपिमान्यतानिभित्तानि ॥ १३५ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणं दशवर्षं । दशवार्षिकः ब्राह्मणः शतवर्षीयक्षत्रियः तस्य क्षत्रियस्य ब्राह्मणः पूज्यः । पितृरूपं ब्राह्मणं पुत्ररूपं क्षत्रियं जानीयात् । तयोः क्षत्रियवैश्ययोः ब्राह्मणः पिता पितृस्थानीय इत्यर्थः ॥ १३५ ॥

वित्तबन्धुर्यः कर्मविद्या भवति पञ्चमी ॥ एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥ १३६ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तं जातेरुत्कर्षहेतुत्वं हीनजातीयेनोत्तमजातीयः पूज्यः । इदानीं समानजातीयानां य अभिवादनादिपूजाहेतवस्तेषां बलाबलमुच्यते । तत्र वयसः पुनरभिधानं बलाबलार्थम् । वित्तादिसंबन्धोत्र सर्वत्र पूजाहेतुः । वित्तवत्त्वं बन्धुमत्त्वं मानस्थानमित्ययमत्रार्थः । विशिष्टता बन्धुतैव पितृव्यमातुलादिरूपता मानकारणं बन्धुमान्यो बन्धुबन्धुः स पूज्यः वयः प्रकृष्टमिति ज्ञेयम् । ईदृश एव चार्थे प्रायेणायं प्रयुज्यते । पित्रा पुत्रो वयःस्थोपि सततं वाच्य एव स इति । यावच्च वयः पूजाहेतुः तदुक्तमेव दशाव्दाख्यमिति । कर्मश्रौतं स्मार्तं तदनुष्ठानपरता विद्या सान्ता सोपकरणवेदार्थज्ञानम् । ननु विद्वान्यजते विद्वान्याजयतीत्यविद्यस्य कर्मानुष्ठानानधिकाराद्विद्यया विना कथं कर्मणां मानहेतुता । नैष दोषः प्रकर्षोत्राभिप्रेतः । अतिशयवती विद्या मानहेतुः । स्वरूपविद्यस्याप्यनुष्ठानोपपत्तिः । यो यावज्ज्ञानाति सतावत्यधिक्रियते । न विद्याया वाचनिकमधिकारहेतुत्वमपि तु सामर्थ्यलक्षणम् । अविदितकर्म स्वरूपोऽस्यैवैद्यस्तिर्यक्कर्माकाधिक्रियतां शक्यं ह्यनेन कतिचित्स्मृतिवाक्यान्पुपश्रुत्य जपतपस्यनुष्ठानम् । अग्निहोत्रादिकर्मणां तु वेदवाक्यावबोध उपकरोति । तत्रापि यो यावज्ज्ञानाति सतावत्यधिक्रियते । अग्निहोत्रवाक्यानां योर्थवेत्ति सतत्राधिक्रियते । ऋत्वन्तरज्ञानं तत्रोपकारकम् । अथोच्यते वेदः रुत्सोधिगन्तव्य इति रुत्सवेदविषयो यं विधिरवबोधपर्यन्तस्तत्र रुत्सस्य वेदस्यावबोधे कर्तव्ये कुतो यं प्रतिभागावबोधसंभवो येनोच्यते योऽग्निहोत्रवाक्यस्यार्थवेत्ति वाक्यान्तरार्थमविद्वानप्यधिक्रियत इति । अत्रोच्यते । एकशाखाध्ययनं तावदवश्यं कर्तव्यं तत्र येनैकशाखाधीता तस्याश्चार्थो वधृतः सोऽनवधृतशाखान्तरार्थोऽधिक्रियते । ननु च सर्वत्रैक एव शास्त्रार्थो यद्दिनामपदवर्णानुपूर्वीभेदः शास्त्ररूपत्वं भिन्नं पदार्थन्यायव्युत्पत्त्यावावबोधः न च प्रतिशाखं पदार्थाभिद्यन्ते नापि न्यायस्तत्र येनैव हेतुनैकस्याः शाखाया अर्थो विधार्यते शाखान्तरेऽप्यसावस्ति न व्युत्पत्त्यन्तरमपेक्षते तत्र यद्येका शाखावगता सर्वा एवावगता भवन्ति । सत्यम् । यान्येकस्यामग्निहोत्रादीन्युपदिष्टानि तेषां शाखान्तरेऽप्युपदिश्यमानानां भूद्भेदः । किंतु कस्यांचिच्छाखायां कानि चित्कर्माणि नैवोपदिश्यन्ते यथा बाह्वृचे आश्वलायनके दर्शपूर्णमासौ श्येनादिरेष एवाभिचारिकः । अन्ये च सोमयाग वाजपेय बृहस्पतिसवादयः तत्र यत्तच्छाखाधीनमग्निहोत्रज्योतिष्टोमादि तत्राधिक्रियते शाखान्तरत्वनधीतमश्रुतकथं तद्विदितानि कर्माण्यतच्छाख्याखायीवेतु । न चैते सोमयागानित्याः येनाननुष्ठानप्रत्यवायभयात्परिज्ञानाय शाखान्तरमन्विष्यते । आधानं तु यद्यपि

तत्र न पठितं तत्राप्युद्धराहवनीयमित्याहवनीयस्य विधानं लोकात्तदर्थमनवबुध्यमानः कोयमाहवनीयस्याधानमिति शा-
खान्तरमन्विष्यति । ततः शाखान्तरेपठ्यमानमाधानप्रकरणं सर्वपर्यालोचयति । एवमाभावात्स्येन वा हविषेष्टापोर्णमासेन वेति
श्रुत्वा क्रीडशमनयोः कर्मणोरूपमिति तथैव शाखान्तरंगवेषयते । एवमन्यदपि यत्काम्यं नित्यं चानुष्ठेयं तस्य यत्किंचिदङ्गजातं
तत्र नाम्नातं माध्वर्यवमौद्गात्रं वा तत्परिज्ञाय तथैव शाखान्तराद्भिद्यते । यत्तु शाखान्तराधीतमनुष्ठेयं तस्य न वेदनसंभवः ।
अनेकशाखाध्यायिनस्तु तदर्थपरस्य सर्वमेतत्प्रत्यक्षमिति । अस्तीदृशीविद्यामन्तरेणापि कर्मानुष्ठानं अथवा ईषद्युत्पत्त्यापि
संभवत्यनुष्ठानं यस्य तु निर्मला विद्या व्याख्येयानि विद्यास्थानानि तस्य विद्यामान्यतत्स्थानं गरीयइति द्वयोर्द्वयोः संप्रधारणे-
ऽयमियमुत्पत्त्ययः । चतुर्दशविद्यास्थानज्ञः पङ्गवन्धनिर्धनादिरनधिकृतोपि विद्ययैव पूज्यते । तेषां विरोधे बलाबलमाह गरी-
योयद्यदुत्तरम् । एकस्य वित्तमन्यस्य बहुबन्धुता तत्र वित्तवतो बन्धुमान्मान्यः यस्माच्च यत्परंतत्तस्मात्तरंगुरु । यथा बन्धो-
र्वयः ततः पूर्वस्मादपि वित्तात्तदुरुसिद्धम् । अतउपपन्नं श्रुतं सर्वभ्योगरीयस्तन्मूलत्वाद्धर्मस्येति गौतमवचनम् । गरीयइति
कथं प्रकर्षप्रत्ययोपावता नैव पूर्वस्य गुरुत्वम् यदि हि द्वे रूपिणी तत्रोत्तरीयस्य गरीयस्त्वमस्ति तर्हि पूर्वापेक्षया वित्तस्य
नास्तीति चेत्समुदाये सामान्येन गुरुत्वेपेक्षिते अपरस्य प्रकर्षविवक्षायां युज्यतर्ह्यसुम् । मानः पूजा तस्य स्थानं कारणम् ।
मानस्थानानीति वा पठेन्तर्भूतभावार्थोद्गृह्यः मान्यत्वस्थानानि मान्यत्वकारणानि ॥ १३६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मान्यस्थानानि यदपेक्षया यत्र वित्ताद्युत्कर्षस्तत्र मान्यताकारणमिति यथाशतवि-
त्तापेक्षया सहस्रवित्तोमान्यः । न तु देहदीर्घत्वादेरिवाधिक्येपि न मान्यत्विनिमित्ता । अर्थेषु पञ्चसु पूर्वापेक्षया उत्तरोत्तरं-
गरीयोमाननाहेतुः । बन्धवः ज्ञातयः । कर्म यागादिविधावेतदर्थज्ञानम् । एतच्च सवर्णेष्वन्योन्यम् । न तु वर्णापकर्षेषूत्कर्ष-
हेतुत्वमेषाम् ॥ १३६ ॥

(३) कुल्लूकः । वित्तं न्यायार्जितं धनं बन्धुः पितृव्यादिः वयोऽधिकवयस्कृता कर्म श्रौतं स्मार्तं च विद्या वेदार्थतत्त्व-
ज्ञानं एतानि पञ्च मान्यत्वकारणानि । एषां मध्ये यद्यदुत्तरंतत्पूर्वस्माच्छ्रेष्ठमिति बहुमान्यमेलके बलाबलमुक्तम् ॥ १३६ ॥

(४) राघवानन्दः । विजातीयानामुत्कर्षमुक्त्वा सजातीयानां तमाह वित्तमिति । वित्तधनं न्यायार्जितम् । बन्धुः पि-
तृव्यादिः । कर्मश्रौतं स्मार्तं च । विद्यावेदार्थतत्त्वज्ञानम् । यदुत्तरमिति । तादृशधनवतो बन्धुमान्मान्यः बन्धुमतो वयोधिकस्त-
तोपि कर्मांततोपि विद्यावानइति । एवं त्रिषु विप्रादिषु भूयांसि गुणवन्तीति बहवोगुणायत्रेत्यर्थः । तेनायमर्थः वित्तबन्धुयुक्तौ-
वयोधिकान्मानार्हः एवं वित्तादित्रययुक्कर्मवतः वित्तादिचतुष्टययुक्तविद्यावतइति ॥ १३६ ॥

(५) नन्दनः । तेषां बलाबलं चाह वित्तमिति । बन्धुः कुलम् । कर्मयज्ञदानादि । मान्यस्थानानि मान्यमानपूजास्था-
नानि पूजानिमित्तानि । एतेषु यद्यदुत्तरंतत्पूर्वस्मात्पूर्वस्मात्गरीयोमान्यस्थानम् ॥ १३६ ॥

(६) रामचन्द्रः । वित्तं वित्तवन्तं स्वबन्धुवयः वयसाधिक्यं सुकर्मकर्तारं विद्यापञ्चमी भवति एतानि मान्यस्थानानि
पूज्यस्थानानि । यत्तत्तत्तत्तरंगरीयः पूज्यं भवतीत्यर्थः । पञ्चानां वित्तादीनां यत्र पूर्वमप्येकं भवति स उत्तरस्मादपि मान्यः तेन
वित्तबन्धुयुक्तो वयोधिकात्मान्यः । एवं वित्तादिगुणत्रययुक्तः कर्मतः वित्तादिचतुष्टययुक्तः विदुषो मान्यः । गुणवतितद्गत् ॥ १३६ ॥

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च ॥ यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशर्मागतः ॥ १३७ ॥

(१) मेधातिथिः । एकैकगुणसंबन्धे परस्य ज्यायस्त्वमुक्तम् । यत्रेदानीं द्वौ पूर्वावेकस्य भवतोऽपरस्यैकः परइति
तत्र कथमित्यत आह । पञ्चानामेतेषां मान्यस्थानानां यत्र भूयांसि बहून्यसर्वाणि तत्र परत्वमादत्तव्यम् । एकस्य वित्त-

बन्धू देऽन्यो वृद्धवयास्तत्रपूर्वं बाधके सत्यपि बहुत्वे यदि न श्रेष्ठानि भवन्ति । एकैकस्यात्युत्कृष्टतदा साम्यं न पुनः पर-
बाधकत्वं गरीयः एकापेक्षया चरितार्थत्वात् । यदितु भूयांसि गुणवन्त्यत्युत्कृष्टानि तदा साम्येऽपि संख्यया परेषां-
पूर्वाणि परैश्च सम संख्यानि तदा न पूर्वतरतया बाध्यबाधकभावः किं तर्हि सामान्यमेव । ननु च यत्र गुणवन्ति स्युः
सोऽत्र मानार्ह इत्यभिधानेन समसंख्यस्यापि पूर्वस्यवा बाधकत्वमेव युक्तम् । नैवं तुल्यत्वे गुणानामेतस्य चरितार्थ-
त्वात् । यथैकोऽपि विद्यावानपरोऽपि तयोः स्य गुणवती प्रकृष्टा विद्या सप्रशस्यते । एवं सर्वत्र त्रिषुवर्णेषु ब्राह्मण-
क्षत्रिय वैश्येषु यद्येते गुणाभूयांसः प्रकृष्टाश्च क्षत्रियस्यापि भवन्ति तदा ही । न गुणेन ब्राह्मणेन जात्युत्कृष्टेनापि क्षत्रियः
पूज्यः । एवं क्षत्रियेण वैश्यः । एवं त्रिभिरपि द्विजातिभिः शूद्रोऽपि दशमीमितः दशमी । अन्त्यावस्थोच्यते । अत्यन्तवार्धको-
पलक्षणमेतत् । एवं च वित्तबन्धू शूद्रस्य माने हेतूत्रैवार्णिकान्प्रति दशमीग्रहणात् । न कर्मविद्येतुनैव तस्य संभवतोऽनधिका-
रात् । भूयांसीत्याधिक्यमात्रं विवक्षितं बहुत्वसंख्यैव । तेन द्विविषयतापि सिद्धा भवति । न ह्ययं संख्यावाच्येव बहुशब्द-
न्यत्र प्रमाणमस्ति भूयः शब्दश्चायं बहुशब्दः । आधिक्ये च तत्रतत्र दृष्टः प्रयोगः । भूयांश्चात्र परिहारो भूयसाऽभ्युदयेन
योक्ष्यइति प्रत्ययार्थबहुत्वमपि न विवक्षितम् । जात्याख्यायां हेतुबहुवचनम् । विवक्षायां हि एकस्य गुणवतो मानहे-
तुत्वं स्यात्ततश्च पूर्वाऽवगतिर्बाध्यते । शूद्रोऽपि दशमीमित्यत्र च केवलस्यैव वयसः प्रकर्षे मानहेतुत्वं ब्रुवन् विवक्षादर्श-
यति । समाचारश्चैवमेव ॥ १३७ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । पञ्चानामध्ये वित्तादीन्येकैकसजातीयानि ब्राह्मणादिवर्णत्रये यत्र गुणवन्ति भूत्वा भूयां-
सि समानार्हः न तु निर्गुणः तद्भूयस्त्वे । यथाप्रतिग्रहार्जिताल्पधनादपि न वृद्ध्यार्जितबहुधनः श्रेयानित्येवमन्यत्राप्युन्नेयम् ।
यथा शूद्रोऽपि दशमीमवस्थांगतो न वतिवर्षादूर्ध्वं वित्तादिचतुष्टयबाहुल्ये शूद्रान्तराणां द्विजातीयानां च मान्यः । चकारादिव-
ञ्चनाभावएव चास्य द्विर्मान्यता । विद्या तु तस्य न संभवत्येवेति ॥ १३७ ॥

(३) कुल्लूकः । त्रिषु वर्णेषु ब्राह्मणादिषु पञ्चानां वित्तादीनां मध्ये यत्र पुरुषे पूर्वमप्यनेकं भवति स एवोत्तरत्मादपि
मान्यः । तेन वित्तबन्धुयुक्तो वयोधिकान्मान्यः । एवं वित्तादित्रययुक्तः कर्मवतो मान्यः । वित्तादिचतुष्टययुक्तो विदुषो मान्यः
गुणवन्ति चेति प्रकर्षवन्ति तेन द्वयोरेव विद्यादिसत्त्वे प्रकर्षो मानहेतुः । शूद्रोऽपि दशमीमवस्थानवत्यधिकांगतो द्विजन्मनाम-
पि मानार्हः । शतवर्षाणां दशधाविभागे दशम्यवस्था नवत्यधिका भवति ॥ १३७ ॥

(४) राघवानन्दः । दशमींगतः नवत्यूर्ध्ववयोगतः ॥ १३७ ॥

(५) नन्दनः । पञ्चानां वित्तादीनां मध्ये त्रिषु वर्णेषु यस्मिन् भूयांसि वित्तबन्धुवयांसि स्युः यस्मिन्वा गुणवन्ति-
गरीयांसि विद्याकर्मवयांसि स्युः स वित्तबन्धुवयोर्युक्तो वित्तबन्धुवयोहीनादत्र लोके मानार्हः । एवं विद्याकर्मवयोर्युक्तो विद्या-
कर्मवयोहीनाच्छूद्रोऽपि वित्तादिमांश्चतद्वन्मानार्हः स चेद्दशमीमवस्थांगतः । अनेन वयसानवत्या ऊर्ध्वं शूद्रस्य वयोज्यैः च मिति-
सूचितम् ॥ १३७ ॥

(६) रामचन्द्रः । वित्तबन्धादीनां पञ्चानां मध्ये त्रिषु वर्णेषु गुणवन्ति भूयांसि बहूनि यत्र स्युः ते च मानार्हा भवन्ति । तद्य-
था त्रिषु वर्णेषु यदि ब्राह्मणा बहवः सन्ति तर्हि ये गुणिनः भवन्ति ते मानार्हा भवन्तीत्यर्थः । बहवः क्षत्रियाः सन्ति ते चैतेषां क्षत्रियाणां म-
ध्ये ये गुणिनः भवन्ति ते मानार्हा भवन्तीत्यर्थः । बहवः वैश्याः सन्ति तेषां मध्ये गुणिनः भवन्ति ते मानार्हा भवन्तीत्यर्थः । शूद्रोऽपि द-
शमींगतः वृद्धत्वंगतः सन् मानार्हः पूजार्हः स्यादित्यर्थः ॥ १३७ ॥

चक्रिणोदशमीस्थस्य रोगिणो भारिणःस्त्रियाः॥स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्थादेयोवरस्य च॥ १३८॥

(१) मेधातिथिः । अयमन्यः पूजाप्रकारः प्रासङ्गिकउच्यते । चक्री रथिकोगन्यादियानाधिरूढस्तस्यपन्था देयः । येन भूमिभागेन ग्रामादिदेशान्तरंगम्यते सपद्धतिः पन्थाउच्यते । तत्र यदि पृष्ठतः संमुखतोवा रथिकआगच्छेत्तदा तद्भूमनोपरोधिनः पथि प्रदेशात्पदातिरपक्रमेत् । दशमीस्थोऽत्यन्तपरिणतवयाः । रोगीव्याधिनात्यन्तपीडितः । भारी गृहीतव्रीह्यादिगुरुद्रव्यः सोऽपियथोपसर्तुमशक्तोऽनुग्राहः स्त्रियाअनपेक्ष्य जातिगुणभर्तृसंबन्धान्स्त्रीत्वमात्रेणैव । राजा च विषयेश्वरोत्राभिप्रेतो न क्षत्रियएव । तथा चोत्तरत्र पार्थिवग्रहणेन निगमने पृथिव्याईश्वरः पार्थिवः । ननु चोपक्रमे राजशब्दश्रवणाद्वाक्यान्तरगतः पार्थिवशब्दस्तत्परएव युक्तः । राजशब्दोहि क्षत्रियजातिवचनोविज्ञातः सतावदनुपजातविरोधित्वादुपक्रमगतोमुख्यार्थोग्राहः । बलादिवाक्ये तु तत्सापेक्षक्षत्रियजातिविहितेन धर्मेण पृथिवीपालनाख्येन पार्थिवशब्दस्यप्रयोगसंभवेन जात्यन्तरविषयत्वमयुक्तम् । अत्रोच्यते । मान्यतात्र श्रुता स्नातकोनृपमानभागीति । तत्र क्षत्रियजातीयमात्रान्मान्यत्वंस्नातकस्य सिद्धमेव ब्राह्मणदशवर्षमिति । तत्र हि भूमिपशब्दः क्षत्रियजातिमात्रोपलक्षणार्थइत्युक्तम् । उपलक्षगत्वाच्च राजजातेः क्षत्रियस्यापि प्रजेश्वरस्यायंधर्मोविज्ञायते । वरोविवाहाय । प्रवृत्तः एतेषांपन्थादेयः त्यागमात्रंच ददातीत्यर्थः । त्यागश्च पथोऽपसरणमतएव चतुर्थी न कृता ॥ १३८॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चक्रिणः शाकटिकादेः । दशमीस्थस्य दशमभागायुः शेषस्य । रोगिणोऽत्यन्तार्त्तस्य । भारिणोभारंवहतः । स्नातकस्य विद्याव्रतस्नातस्य । राज्ञोभिषिक्तस्य । वरस्य विवाहार्थंगच्छतः । पन्थादेयोपसृत्य स्वयंगन्तव्यमित्यर्थः । केचिद्वरस्य श्रेष्ठस्यादरेण पन्थादेयइत्यस्यार्थः । तथाच योयदपेक्षया जातिगुणादिनोत्कृष्टस्तस्य वर्त्मदानमिति लभ्यते । अत्र च माननार्थं वर्त्मदानं स्नातकपार्थिववराणांवृद्धादीनांत्वपसाराशक्ततया करुणया तत्रापि । वरापेक्षयानृपतिस्नातकयोर्मन्यता ॥ १३८ ॥

(३) कुल्लूकः । अयमपि पूजाप्रकारः प्रसङ्गादुच्यते चक्रिणइति । चक्रयुक्तरथादियानारूढस्य नवत्यधिकवयसोरोगार्त्तस्य भारपीडितस्य स्त्रिया अचिरनिवृत्तसमावर्तनस्य देशाधिपस्य विवाहाय प्रस्थितस्य पन्थास्त्यक्तव्यः । त्यागार्थत्वाच्च ददातेर्न चतुर्थी ॥ १३८ ॥

(४) राघवानन्दः । ज्येष्ठवस्यमान्यत्वकारणप्रसङ्गेनान्यदप्याह चक्रिणइति द्वाभ्याम् । चक्रिणः रथकारारूढस्य । स्नातकस्य तद्व्रतधारिणः । भारिणोभाराक्रान्तस्य । वरस्य कन्यामुद्बोद्धुंप्रस्थितस्य । एतेभ्यः पन्थादेयइत्यन्वयः ॥ १३८॥

(५) नन्दनः । अथुमार्गप्रदानार्हानाह चक्रिणइति । चक्रंरथाद्युपलक्षणम् । तेनयोगच्छतिसचक्री । तस्यनिगुणस्यापिपन्थादेयः । एवंदशमीस्थस्य वृद्धतरस्य । भारिणोभारवाहस्य । स्नातकस्य गृहस्थस्य ब्राह्मणस्य । वरस्य श्रेष्ठस्य ॥ १३८ ॥

(६) रामचन्द्रः । चक्रिणइति । दशमीस्थस्यचक्रिणः वृद्धस्य चक्रिणःतैलिकस्य पन्थादेयः । भारिणःभाराक्रान्तस्य । रोगिणःरोगाक्रान्तस्य स्त्रियाः स्नातकस्यच राज्ञश्च पुनःवरस्यच विद्यास्नातकःव्रतस्नातकोवातस्य । एतेषांपन्थादेयः । वरोविवाहयोग्यः ॥ १३८ ॥

तेषांतु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ ॥ राजस्नातकयोश्चैव स्नातकोनृपमानभाक् ॥ १३९॥

(१) मेधातिथिः । तेषांतु समवेतानामेकत्र संनिपतितानांमान्यौ स्नातकपार्थिवौ । प्रकृतेन पथोदानेन नृपमान-

भाक्नृपस्य सकाशान्मानंभजते लभते । षष्ठी निर्धारणे । चक्रयादीनां त्वन्योन्यविकल्पः सच शक्त्यपेक्षः ॥ १३९ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । तयोऽप्यन्यापेक्षया स्नातकोमान्यइत्याह तेषां त्विति । स्नातकएवेत्यन्वयः । तथाच वर्त्म-
दानसामर्थ्ये यस्य योमान्यस्तेन न तस्य वर्त्मदेय मिति लभ्यते ॥ १३९ ॥

(३) कुड्डूकः । तेषामेकत्र मिलितानां देशाधिपस्नातकौ मान्यौ । राजस्नातकयोरपि स्नातकएव राजापेक्षया मान्यः ।
अतो राजशब्दोऽत्र पूर्वश्लोके न केवलजातिवचनः क्षत्रियजात्यपेक्षया ब्राह्मणं दशवर्षत्वित्यनेन ब्राह्मणमात्रस्य मान्य-
त्वाभिधानात्स्नातकग्रहणवैयर्थ्यात् ॥ १३९ ॥

(४) राघवानन्दः । तेषां समवायेत्वाह स्नातकोनृपमानभागिति । राजकर्तृमानभागिति पूर्वपितापुत्रौ विप्रक्षत्रि-
यावित्युक्तौ तेनात्र युगपदुपस्थित्यादिनिमित्तपूजादि विप्रस्य ॥ १३९ ॥

(५) नन्दनः । समवेतानां मार्गसंगतानाम् । मान्यौ मार्गदानेन । नृपमानभाक्नृपदत्तमानभाक् ॥ १३९ ॥

(६) रामचन्द्रः । समवेतानां तेषां चक्रयादीनां स्नातकपार्थिवौ मान्यौ भवतः । राजस्नातकयोर्मध्ये नृपस्य मानभा-
क्स्नातकः भवत्येव । स्नातकः पूज्यइत्यर्थः ॥ १३९ ॥

उपनीय तु यः शिष्यवेदमध्यापयेद्विजः ॥ सकल्पसरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ १४० ॥

(१) मेधातिथिः । आचार्यादिशब्दानामेवार्थनिरूपणार्थमिदमारभ्यते । सोपचारो हिलोके एषां प्रयोगो नच शब्दार्थ-
संबन्धस्य स्मर्तृभिराचार्यपाणिनिप्रभृतिभिरेतन्निरूपितम् । इयं चाचार्यपदार्थस्मृतिर्व्यवहारमूलान् वेदमूला पाणिन्यादिस्मृ-
तिवत् । न ह्यत्र किंचित्कर्तव्यमुपदिश्यते । अस्य शब्दस्यायमर्थ इति सिद्धरूपोऽयमर्थो न साध्यरूपः । उपनीयोपनयनं कृत्वा-
यो वेदमध्यापयति ग्राहयति स आचार्यः । ग्रहणं चात्राध्येत्रन्तरनिरपेक्षवाक्यानुपूर्वीस्मरणम् । कल्पशब्दः सर्वाङ्गप्रदर्शनार्थः ।
रहस्यमुपनिषदः । यद्यपि तेऽपि वेदशब्देनैव गृहीतास्तथापि द्वितीयस्तेषां व्यपदेशोऽस्ति । वेदान्ता इत्यन्तशब्दसमीपवचनम-
न्यमानोनैते वेदा इति मन्येतास्ततश्चाङ्गानिवृत्त्यर्थं रहस्यं ग्रहणम् । अन्ये तु रहस्यं वेदार्थवर्णयन्ति तेन न स्वरूपग्रहणमा-
त्रादाचार्यकनिष्पत्तिः अपि तु तद्याख्यानसहितात् । तथा चाभिधानकोशेभिहितं विवृणोति च मन्त्रार्थानाचार्यः सोभिधी-
यत इति । मन्त्रग्रहणं वेदवाक्योपलक्षणार्थम् । अस्मिंश्च व्याख्यानेऽर्थावबोधोप्याचार्यकरणविधिप्रयुक्तः स्यान्न केवलं संपाठ-
मात्रम् । ततश्च सर्वेण सर्वस्वाध्यायविधिरनुष्ठापकः स्यात् । अस्तु परप्रयुक्तेऽप्यनुष्ठाने स्वाध्यायविधेरब्रह्मचारिणः स्वार्थसिद्धिः
यदा तर्हि काम्यत्वादाचार्यकरणविधेराचार्यो न प्रवर्तते तदा स्वाध्यायविध्यर्थानुष्ठानं न प्राप्नोति । ततश्च न नित्यस्वाध्याय
विधिः स्यात् । नच रहस्यशब्दो वेदार्थवचनतया प्रसिद्धस्तस्मात्पूर्वमेव रहस्यग्रहणस्य प्रयोजनं प्राधान्याद्वा पृथगुपादानम् ।
यत्तु विवृणोति मन्त्रार्थानित्यस्मृतिरेवैषा मन्त्रशब्दस्योपलक्षणत्वे प्रमाणाभावात्तस्मात्प्राधान्याभावात्प्रामाण्यस्य विधेरप्रयोजकत्वम् ।
अतो वेदस्वरूपग्रहणे माणवकस्य जात आचार्यकरणविधिनिवृत्तिः ॥ १४० ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । संकल्पमित्येकदेशेन षडङ्गोपलक्षणम् । सरहस्यं अत्यन्तगुह्यतदर्थव्याख्यासहितं न तूप-
निषद्भागोरहस्यवेदपदादेव तल्लाभात् ॥ १४० ॥

(३) कुड्डूकः । आचार्यादिशब्दार्थमाह उपनीयेति । तैः शङ्खैरिह शास्त्रे प्रायो व्यवहारात् । यो ब्राह्मणः शिष्यमुप-
नीय कल्पग्रहस्यसहितां वेदशाखां सर्वां मध्यापयति तमाचार्यपूर्वं मुनयो वदन्ति । कल्पो यज्ञविद्या । रहस्यमुपनिषत् ।
वेदत्वेऽप्युपनिषदां प्राधान्यविवक्षया पृथङ्निर्देशः ॥ १४० ॥

(४) राघवीनन्दः । आचार्यपुत्रइत्युक्तं तत्र क आचार्यइत्यपेक्षायांतल्लक्षणं उपाध्यायादिसप्रतियोगिकंसार्थवादंच ब्रूते उपनीयेति अष्टादशभिः । सकल्पं यज्ञविद्यासहितं सरहस्यमुपनिषदुक्तोपासनासहितम् ॥ १४० ॥

(५) नन्दनः । अथगुणानांतरतम्यं वक्ष्यंस्तेषां क्रियाविशेषैः संज्ञाविशेषांश्चतुर्भिः श्लोकैराह उपनीयेति । सकल्प-सकर्मविद्यम् । सरहस्यं साध्यात्मविद्यम् ॥ १४० ॥

(६) रामचन्द्रः । उपनीयेति । सद्भिः उपनीय शिष्यं वेदं अध्यापयेत् । च पुनः । सरहस्यं सकल्पं शिक्षा कल्प-व्याकरणादिसहितं अध्यापयेत् यस्तं आचार्यं प्रचक्षते सरहस्यंतदर्थं वाक्यसहितमित्यर्थः ॥ १४० ॥

एकदेशंतु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ॥ यो ध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ १४१ ॥

(१) मेधातिथिः । वेदस्यैकदेशो मन्त्रः ब्राह्मणं वा । वेदवर्जितानि वा केवलान्यङ्गान्येव यो ध्यापयति तथा सर्व-मपि वेदम् । वृत्त्यर्थजीविकार्थम् नाचार्यकरणविधिवशेन स उपाध्यायो नाचार्यः । अन्ये नोपनीतयः कृत्स्नमपि वेदं ध्यापय-ति नासावाचार्यः । उपनीयापि यः कृत्स्नं वेदं नाध्यापयति सोऽपि नाचार्यः । यद्येवमेकदेशग्रहणमुपाध्यायलक्षणे कृतमा-चार्यलक्षण उपनयनग्रहणं यस्तर्ह्यनुपनेता कृत्स्नवेदाध्यापकश्च तस्य किंलक्षणं नासावाचार्यो नाप्युपाध्यायः ॥ न चापि नामान्तरंतस्य श्रुतम् । उच्यते । अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्येत्यनेन गुरुरसावाचार्यान्वून उपाध्यायादप्यधिकः । अपि पुनः शब्दौ पादपूर्णाथौ ॥ १४१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एकदेशं वेदस्य वेदाङ्गमात्रं वा धर्मार्थमध्यापयति अपरिभाषितवृत्त्यभिसंधानेन वा कृत्स्न-मपि वेदमध्यापयति स उपाध्याय इत्यर्थः । यो ध्यापयतीत्यावृत्त्या योज्यम् । तेन सामान्यतो वृत्त्यर्थं वेदाध्यापनं लभ्यते १४१

(३) कुल्लूकः । वेदस्यैकदेशं मन्त्रं ब्राह्मणं च वेदरहितानि व्याकरणादीन्यङ्गानि यो वृत्त्यर्थमध्यापयति स उपा-ध्याय उच्यते ॥ १४१ ॥

(४) राघवानन्दः । एकदेशं शाखामात्रं मन्त्रब्राह्मणं वा । वेदाङ्गानि शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । षट् एतानि वृत्त्यर्थं यो ध्यापयति स उपाध्यायः ॥ १४१ ॥

(५) नन्दनः । एकदेशं मन्त्रमात्रं ब्राह्मणमात्रं वा । वृत्त्यर्थं धर्मार्थं जीवनार्थम् ॥ १४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । मन्त्रब्राह्मणयोः एकदेशः ॥ १४१ ॥

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ॥ संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरु उच्यते ॥ १४२ ॥

(१) मेधातिथिः । निषेकग्रहणात्पितुरयं गुरुत्वोपदेशः । निषेकोरेतः सेकः स आदिर्येषां कर्मणाम् । आदिग्रहणात्सर्वे संस्कारा गृह्यन्ते । तानि यः करोत्यन्नेन च यः संभावयति संवर्धयति । चैवेनमिति वा पाठः । अर्थस्तु स एव अन्नेनैव संभा-वनोपपत्तेः । अर्थान्तरनिर्देशः एनं कुमारं । ननु चान्वादेशः न चेह कुमारस्य पूर्वमुपदेशः । नैवं कस्यान्यस्य निषेकादीनि क्रियन्ते तानियत्करोति सामर्थ्यादपि निर्देशो न निर्देशतएव । एवमाभ्यां गुणाभ्यां हीनः केवलजनकत्वेऽपि तैव भवति न गुरुः । न चै-वं मन्तव्यमसति गुरुत्वे नासौ मान्यः सर्वप्रथममसावेव मान्यः । तथा च भगवान् व्यासः प्रभुः शरीरप्रभवः प्रियकृत्पाणदोगुरुः । हितानामुपदेष्टा च प्रत्यक्षदैवतं पितेति ॥ विप्रग्रहणं प्रदर्शनार्थम् ॥ १४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गर्भाधानादि कर्म उपनयनान्तं करोत्यन्नेन च पुष्पाति यः स गुरुरिति पितैवोक्तः । तदे-कदेशमात्रकरणे तु पितृत्वमात्रम् ॥ १४२ ॥

(३) कुल्लूकः । निषेकोगर्भाधानम् । तेन पितुरयंगुरुत्वोपदेशः । गर्भाधानादीनि संस्कारकर्माणि पितुरुपदिष्टानि यथाशास्त्र्यः करोत्यन्नेन च संवर्धयति सविभोगुरुच्यते ॥ १४२ ॥

(४) राघवानन्दः । गर्भाधानं योनौ रेतोनिषेक इति । विप्रपदमुपलक्षणं संस्कारस्य द्विजातिमात्रनियतत्वात् । संभावयति पुष्पाति निषेकातिरिक्तसंस्काराकर्तृत्वेऽपि पिता गुरुः । तथा च व्यासः प्रभुः शरीरप्रभवः प्रियकृत्माणदोगुरुः । हितानामुपदेष्टा च मत्स्यक्षंदैवतपतेति ॥ प्रभुः कार्याकार्यनियोक्ता शरीरस्य प्रभवउत्पत्तिर्यस्मात्सङ्ग्यर्थः ॥ १४२ ॥

(५) नन्दनः । निषेकादीनि कर्माणि यः करोति नोपनयनाभ्यापने । संभावयति पोषयति ॥ १४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । गर्भाधानादिनिषेकादीनि कर्माणि यथाविधियः करोतिसगुरुच्यते । अन्नेन अन्नप्राशनेन यः अन्नदानेन प्राशयति स उच्यते ॥ १४२ ॥

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान् ॥ यः करोति वृत्तोयस्य सतस्य त्विगिहोच्यते ॥ १४३ ॥

(१) मेधातिथिः । आहवनीयादीनामग्नीनामुत्पादककर्माग्न्याधेयमुच्यते । वसन्ते ब्राह्मणोग्रीनादधीतेति विहितम् । पाकयज्ञादर्शपूर्णमासादयः । अग्निष्टोमादयो मखाः सोमयागः । मखशब्दः ऋतुपर्यायः । एतानि कर्माण्यस्य यः करोति स तस्य त्विगित्युच्यते । यस्य तस्येति शब्दौ संबन्धितां दर्शयतः । यस्यैवैतानि कर्माणि करोति तस्यैवासावृत्तिगुच्यते नान्यस्य । सर्व- एत आचार्यादयः सम्बन्धिशब्दाः । वृत्तः प्रार्थितः शास्त्रीयेण विधिना कृतवरणः । मान्यताप्रसङ्गाद्विक्त्संज्ञोपदेशो न हि ब्रह्मचारिधर्मेषु ऋत्विजामवसरः ॥ १४३ ॥

(२) सर्वज्ञानाराणयः । पाकयज्ञानपकहविः संपाद्यान् हविर्यज्ञान् दर्शपूर्णमासादीन् । एतच्चैकदेशकरणेऽपि । तथा च प्रयोगमभ्येकृत्विगशक्तावनुप्रविष्टस्यापि ऋत्विक्त्वस्यात् अत उक्तं वृत्त इति ॥ १४३ ॥

(३) कुल्लूकः । आहवनीयाद्यग्न्युत्पादककर्माग्न्याधेयमष्टकादीन्पाकयज्ञानग्निष्टोमादीन्यज्ञानकृतवरणोयस्य करोति सतस्य त्विगिह शास्त्रेऽभिधीयते । ब्रह्मचारिधर्मेष्वनुपयुक्तमप्यृत्विग्लक्षणमाचार्यादिवद्विजोऽपि मान्यत्वं दर्शयितुं प्रसङ्गादुक्तम् ॥ १४३ ॥

(४) राघवानन्दः । अग्न्याधेयं आहवनीयाद्युत्पादकं कर्म । पाकयज्ञानष्टकादर्शादीनि । मखानित्यग्निष्टोमादः विशेषणम् । यस्य वृत्तः वरणः गतः सन् । आचार्यादिकृत्विगन्ताः संबन्धिशब्दास्तेन यस्यैते संबन्धिनस्तस्यैवैतानि कुर्यान् न्यस्येति भावः ॥ १४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अग्न्याधेयं अग्निहोत्रं पाकयज्ञानवल्ग्वैश्वदेवादीन् अग्निहोत्रसंज्ञकान्मखान्यस्य वृत्तः सन्यः करोति सतस्य ऋत्विक् इह गुरुच्यते ॥ १४३ ॥

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ॥ समाता सपिता ज्ञेयस्तं द्रुक्ष्येकदा च न ॥ १४४ ॥

(१) मेधातिथिः । आचार्यादिवत्पूज्य इत्यस्मिन्वधौ तल्लक्षणमुच्यते य उभौ श्रवणौ ब्रह्मणा वेदाभ्यापनेनावृणोति समाता सपिता ज्ञेयः । नेदमभ्यापकस्य मातापितृशब्दवाच्यताविधानम् । आचार्यादिशब्दवत्प्रसिद्धार्थो हि पितृमातृशब्दौ जनकः पिता जननी माता उपचारेणाभ्यापकस्तुत्यर्थं प्रयुज्येते यथा गौर्वाहीक इति । लोके ह्यत्यन्तोपकारकौ मातापितरौ प्रथितौ तौ हितं जनयतो भक्तादिना च पुष्पातिः त्वशरीरानपेक्षमपि पुत्रहिते प्रवर्तते अतोमहोपकारकत्वात्ताभ्यामुपाध्या- दः स्तूयते । यो विद्यायामुपकरोति स सर्वोपकारकेभ्यः श्रेयान् अवितथं क्रियाविशेषणमेतत् । अवितथेन सत्येन ब्रह्मणा-

ऽनक्षरविस्वरवर्णितेन तन्न द्रुष्येत । अपकारोद्गोहस्तदुपरिवज्ज्ञानं च कदाचन निष्पन्नमपि ग्रन्थग्रहणे तदुत्तरकालमपि न द्रुष्येत । तथाच निरुक्तकारः अध्यापिताये गुरुन्नाद्रियन्ते विभावाचा मनसा कर्मणा वा नाद्रियन्ते अवज्ञां कुर्वन्ति यथैव ते शिष्यान् गुरोर्भोजनीयाः न भोगाय कल्पन्ते तथैव तान् भुनक्ति । श्रुतं तत्पाठान्तरमावृणोति । अर्थकणौ भिनन्ति विध्यतीत्युपमयाध्यापनमेवोच्यते । अविद्धकर्णः किल सस्मृतो नरः श्रुतं न यस्य श्रुतिगोचरंगतमिति । सर्वाध्यापकानामाचार्योपाध्यायगुरुणामयंकृतविद्यस्यापि द्रोहप्रतिषेधः ॥ १४४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र ऋत्विगपेक्षयोपाध्यायापेक्षया च वेदोपाध्यायाचार्यो मान्यतरावित्याह यआवृणोतीति । यआवृणोत्यवितथेन कर्णाविदुःखं कुर्वन्मृतसंप्रयच्छन् तमन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुष्येत्कृतमच्च नाहेति श्रुतेरयमर्थो निबद्धः । आवृणोति सूच्या सूत्रेणैव कुसुमविद्यया श्रोत्रं संश्लेषयति अङ्कारेण सर्ववाक्संतृणतीत्यादिश्रुतिषु तृदिधातौरेवमर्थत्वेन प्रसिद्धेः । अवितथमभिध्यात्वेन । ब्रह्मणा वेदेन । समाता पिता मातेव पितेवेत्यर्थः ॥ १४४ ॥

(३) कुम्भकः । यउभौ कर्णावितथमिति वर्णस्वरवैगुण्यरहितेन सत्यरूपेण वेदरूपेण वेदेनापूरयति समाता पिता च ज्ञेयः महोपकारकत्वगुणयोगात् । अयमध्यापको मातापितृशब्दाच्चस्तन्नामकुर्यान् । कदाचनेति गृहीते वेदे ॥ १४४ ॥

(४) राघवानन्दः । मुख्याचार्यस्य सर्वोत्कृष्टत्वात्तस्य मनसाप्यनिष्ठं नाचरणीयमिति औत्सुक्यादाह यदिति । अवितथं वर्णस्वरवैगुण्यरहितं ब्रह्मणा वेदेन श्रवणौ कर्णौ आवृणोति सरहस्यादिवेदमध्यापयतीत्यर्थः ॥ १४४ ॥

(५) नन्दनः । तथ्येन वेदेनेत्यर्थः । आवृणोति विविक्तीकरोति । कदाचन कृतार्थोपीत्यर्थः ॥ १४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्रह्मणा वेदेन उभौ श्रवणौ अवितथं सत्यं आवृणोति आच्छादयति यः गायत्र्युपदेशं समये करोतीत्यर्थः समावृत्तुल्यो ज्ञेयः स पितृतुल्यो ज्ञेयः । गायत्र्युपदेशं कदाचन न द्रुष्यात् ॥ १४४ ॥

उपाध्यायान्दशाचार्याचार्याणां शतं पिता ॥ सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ १४५ ॥

(१) मेधातिथिः । स्तुत्यक्रमेण प्रकृष्टपूर्वविधानम् । उपाध्यायाच्छ्रेष्ठ आचार्यस्तस्मात्पिता ततोऽपि मातेति दशादि-संख्यानिर्देशः स्तुतिमात्रम् । पूर्वस्मात् पूर्वस्मात्परस्य परस्यातिशयो विवक्षितं अतएव सहस्रं पितुरिति वचनम् । उपाध्यायान्दशातिरिच्यते । दशभ्युपाध्यायेभ्योऽधिकः । कथं पुनरत्र द्वितीया । अतिरयं कर्मप्रवचनीयः । उपाध्यायानतिक्रम्यातिरिच्यते गौरवेण सातिशयेन युज्यते । अथवाऽऽधिक्यमतिरेकः तद्धेतुकेऽभिभवे धातुर्वर्तते । गौरवाधिक्येनोपाध्यायानभिभवति । अतिरिच्यत इति कर्मकर्तरि द्वितीया चाविरुद्धा दुहियाच्योर्बहुलं सकर्मकयोरिति बहुलग्रहणात् । ननु चानन्तरमेव वक्ष्यति ग्रीयान्ब्राह्मणः पितेति । इह चाचार्यात्पितुराधिक्यमुच्यते तदितरेतरव्याहतम् । नैष दोषः । इहाचार्यो-नैरुक्तदर्शनेनाध्यापकः संस्कारमात्रेणाचारोपदेशमात्रेण चाभिप्रेत आचार्य आचारं ग्राहयतीति । नचैष नियमः स्वशास्त्रसिद्धाभिरिव संज्ञाभिर्यवहारः । गुरुशब्दो ह्यत्र पितरि परिभाषितः आचार्ये च तत्र तत्र प्रयुज्यते । तेन स्वल्पोपकारादुपनयनमात्रकरादाचार्याहकादध्यापनरहितादिदं पितुर्ज्यायस्त्वम् । अस्मिंश्च क्रमे विवक्षिते समवाय एतेषां माता प्रथमं वन्द्या ततः पिता तत आचार्यस्तत उपाध्यायः ॥ १४५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दशोपाध्यायापि अतिरिच्य तत्तद्विषयेषु कर्तव्येण धर्मेण तत्तद्विषये कर्तव्ये

(१४५) न्द=ह (ल, भ, ब, न)

पितृन्माता=पितृमाता (— ” —————)

हेतुभूते न दशगुणपूजादिगौरवंकुर्यादित्यर्थः । अतिरतिक्रमणइति कर्मप्रवचनीयत्वेनोपाध्यायानिति द्वितीया । एवमुत्तरेषु आचार्यशतात्पितोत्कृष्टोयद्युपनेता ब्रह्मणि सहस्रं सहस्रगुणं पितुः सकाशान्मातातिरिच्यते तदपेक्षया बहुदुःखानुभवात् ॥ १४५ ॥

(३) कुल्लूकः । दशोपाध्यायानपेक्ष्याचार्य आचार्यशतमपेक्ष्य पिता सहस्रपितृनपेक्ष्य माता गौरवेणातिरिक्ता भवति । अत्रोपनयनपूर्वकसावित्रीमात्राध्यापयिताऽऽचार्योऽभिप्रेतस्तमपेक्ष्य पितुरुत्कर्षः । उत्पादकब्रह्मदात्रोरित्यनेन मुख्याचार्यस्य पितरमपेक्ष्यउत्कर्षवक्ष्यतीत्यविरोधः ॥ १४५ ॥

(४) राघवानन्दः । अत्र हेतुरुपाध्यायानिति । उपाध्यायान्दशापेक्ष्यदशसूपाध्यायेषुयावत्पूजादितत्सर्वमेकोऽप्याचार्योर्हतीत्येवमुत्तरत्र ॥ १४५ ॥

(५) नन्दनः । अथगुरूणां तारतम्यमाह उपाध्यायानिति । सहस्रं तु पितुरिति पाठः । गौरवेण गुरुरारोपकारकारणेन ॥ १४५ ॥

(६) रामचन्द्रः । उपाध्यायात्दशगुणः आचार्यः श्रेष्ठः उच्यते आचार्याणां मध्ये शतं शतगुणः श्रेष्ठः पिता भवति । एवं पितुः सहस्रगुणितं मातापूजार्हा गौरवेण श्रेष्ठा उच्यते ॥ १४५ ॥

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता ॥ ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ १४६ ॥

(१) मेधातिथिः । मुख्याचार्यसन्निधौ पितरि च संस्कर्तरिसन्निहिते तत्र क्रमः अत आह । उत्पादको जनकः ब्रह्मदाताऽध्यापकः तौ द्वावपि पितरौ तयोः पित्रोर्गरीयान्पिता यो ब्रह्मदः । अतः पित्राचार्यसमवाये आचार्यः प्रथममभिवाद्यः । अत्र हेतुरूपमर्थवादमाह । ब्रह्मजन्म हि ब्रह्मग्रहणार्थं जन्म ब्रह्मजन्म शाकपार्थिवादित्वात्समासः । अस्मिन्समासे उपनयनं ब्रह्मजन्म । अथवा ब्रह्मग्रहणमेव जन्म । तद्विप्रस्य शाश्वतं नित्यं प्रेत्योपकारकमिह चोपकारकम् ॥ १४६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । केवलोत्पत्तिमात्रकारिणः पितुर्ब्रह्मपिता सावित्र्यामुत्पादयिता गरीयान् प्रेत्यमोक्षसाधनपर्यन्तयोग्यतापादकत्वादिह च सर्वकर्माधिकारापादकत्वात् । शाश्वतं चिरकालस्थायिफलम् क्वचित्ब्रह्मदात्रोरिति पाठः ॥ १४६ ॥

(३) कुल्लूकः । जनकाचार्यो द्वावपि पितरौ जन्मदानृत्वात् तयोराचार्यः पिता गुरुरतः यस्माद्विप्रस्य ब्रह्मग्रहणार्थं जन्मोपनयनजन्म संस्काररूपं परलोकइहलोके च शाश्वतं नित्यं ब्रह्मप्राप्तिफलकत्वात् ॥ १४६ ॥

(४) राघवानन्दः । आचार्याणां उपनयनपूर्वकं साङ्गवेदाध्यापयितृणां गार्भाधानादिदृष्टोपकारकतया पित्रोर्गरीयस्त्वेपि दृष्टादृष्टार्थतया आचार्य एव क्षेम्यो गरीयानित्याह उत्पादकेति । गरीयान्ब्रह्मदः पितेत्यत्र हेतुः ब्रह्मजन्मेति उपनीतस्यैव वेदस्वीकृतिद्वारेण कर्माधिकारिता तद्वारा च स्वर्गाद्यवामिः । शश्वद्ब्रह्मावामिहेतुत्वाच्छाश्वतमिति भावः ॥ १४६ ॥

(५) नन्दनः । अथ ब्रह्मचारिणां पितुरप्याचार्यो गरीयानित्याह उत्पादकेति । उत्पादकः जनयिता पिता ब्रह्मपिता आचार्यः । तयोर्ब्रह्मदः पिता गरीयान् । अत्र हेतुरुत्तरार्धेनोक्तः । ब्रह्मजन्म उपनयनजन्योऽतिशयः । विप्रस्य द्विजस्य । शाश्वतं जन्मान्तरेष्वप्यनुवृत्तम् ॥ १४६ ॥

(६) रामचन्द्रः । उत्पादकश्च ब्रह्मदाता च उत्पादकब्रह्मदातारौ तयोः उत्पादकब्रह्मदात्रोर्मध्ये ब्रह्मदः पिता वेदाध्यापकरूपः गायत्र्युपदेष्टा पिता गरीयान् श्रेष्ठो भवतीत्यर्थः । विप्रस्य ब्रह्मजन्म प्रेत्य परलोके इह च लोके शाश्वतं गायत्र्युपदेशेन यजन्मततः शाश्वतमित्यर्थः ॥ १४६ ॥

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतोमिथः ॥ संभूतितस्य तांविद्याद्यद्योनावभिजायते ॥ १४७ ॥

(१) मेधातिथिः । श्लोकद्वयमर्थवादः । मातापितरौ यदेनंदारकमुत्पादयतोजनयतो मिथोरहसि परस्परंतत्कामाद्देतोर्मन्मथपरवशौ संभूतितस्य तांविद्यात् । तस्य दारकस्य संभवोत्पत्तिर्यद्योनौ मातृकुक्षावभिजायतेऽङ्गप्रत्यङ्गानि लभते । संभवश्च येषांभावानां ते तथैव विनश्यन्ति अतः कितेन संभवेन यस्यानन्तरभाववीविनाशः ॥ १४७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कामसिद्धेरपि तत्रोद्देशात् कामादित्युक्तम् । संभूतिजन्ममात्रम् ॥ १४७ ॥

(३) कुल्लूकः । मातापितरौ यदेनंबालकंकामवशेनान्योन्यमुत्पादयतः संभवमात्रंतत्तस्य पश्वादिसाधारणम् । यद्योनौ मातृकुक्षावभिजायतेऽङ्गप्रत्यङ्गानि लभते ॥ १४७ ॥

(४) राघवानन्दः । पितुरुत्पादकत्वमन्यथा सिद्धमित्याह कामादिति त्रिभिः । कामान्मन्मथवशात्संभूतिपश्वादिसाधारणीयद्यतोयोनिषुअभिजायतेअभितःपूर्वजातोप्युत्तरत्रापि जायते रतिसुखार्थप्रवृत्तयोर्मातापित्रोःदुःखैकहेतुजनिहेतुत्वाद्धिक्धिकृतजन्मेत्याशयः ॥ १४७ ॥

(५) नन्दनः । मातापितरौ यदेनंद्विजमुत्पादयतस्तन्मिथः कामादन्योन्यरागात्प्रवृत्तनास्योपकर्तुंकिंचिद्विजोयद्योनावभिजायते तस्यद्विजस्यतांसंभूतितदभिजननंविद्यात्विचिष्यात् । विविच्यमानासासंभूतिसत्याजरामरणयुक्तानिर्णीयतइत्यर्थः । उत्तरश्लोकानुगुण्यादेवंव्याख्यातम् ॥ १४७ ॥

(६) रामचन्द्रः । यत्पुत्रोऽभिजायते तांसंभूतिविद्यात्पुत्रः पुत्रोऽभिजायते ॥ १४७ ॥

आचार्यस्त्वस्य यांजातिविधिवद्वेदपारगः॥उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा ॥ १४८॥

(१) मेधातिथिः । आचार्यानुयत्तस्य जन्म तदविनाशि । गृहीते वेदेऽवगते च तदर्थैकमानुष्ठानात्त्वर्गापवर्गप्राप्तिरित्यस्य सर्वस्याचार्यमूलत्वात्संश्रेष्ठः । यांजातिमुत्पादयति यसंस्कारमुपनयनाख्यं द्वितीयजन्मेतिजन्मसंस्तुतिनिर्वर्तयति सावित्र्या तदनुवचनेन साजातिः सत्या साऽजरामरा । यद्यप्येते ऽभिन्नार्थाः शब्दास्तथापीहोपनयनाख्यस्य जन्मनोमातृजन्मनः सकाशाद्गुणातिशयविवक्षायां प्रयुक्ताः । नहि जराभृत्यप्राणिनामिव जातेः संभवतः । अविनाशित्वं त्वेकेनैव शब्देन शक्यते प्रतिपादयितुम् । नच तत्प्रतिपाद्यते वेदपारगआचार्योयांजातिविधिवत्सावित्र्या उपनयनाङ्गकलापेन सावित्रीशब्दस्य तल्लक्षणत्वात् उत्पादयति सा श्रेयसीति पदयोजना । जातिर्जन्म ॥ १४८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यज्जातीयजन्मगौरवेण धर्मेण तत्तद्विषये कर्तव्येन हेतुभूतेन विधिवदुपनयनविधिना सावित्र्या मातृभूतया सासत्या सत्यलोकप्राप्तिहेतुः अजराअजरत्वंदेवत्वं तत्प्राप्तिहेतुत्वात् अमराअमृतत्वस्य मोक्षत्वस्यहेतुः ॥ १४८ ॥

(३) कुल्लूकः । आचार्यःपुनर्वेदज्ञोऽस्य माणवकस्य यांजातियजन्म विधिवत्सावित्र्येति साङ्गोपनयपूर्वकसावित्र्यनुवचनेनोत्पादयति सा जातिःसत्याऽजरामरा ब्रह्मप्राप्तिफलत्वादुपनयनपूर्वकस्य वेदाध्ययनतदर्थज्ञानानुष्ठानैर्निष्कामस्य मोक्षलाभात् ॥ १४८ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्रह्मजन्मब्रह्मसावित्रीतद्ग्रहणमेव जन्म ब्रह्मग्रहणयोग्यंवा ब्रह्मजन्मनःपुनःप्रायेण न जायतएवेत्याह आचार्यइति । अस्यमाणवकस्य सावित्र्या सकलरहस्यसावित्र्युपदेशेन सासत्येत्यादितादृशस्य समानज-

न्मानुष्ठितकर्मजशुद्ध्याविरक्तस्य मुक्तयुपपत्तेरिति तमेतंवेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति तथा परीक्ष्य लोकांकर्मचि-
नब्राह्मणोनिर्वेदमायांनास्त्यकृतःकृतेन सत्यंज्ञानमनन्तब्रह्म ब्रह्म वेदब्रह्मैव भवतितदात्मानमेवावेदअहंब्रह्मास्मीति
श्रुतेः ॥ १४८ ॥

(५) नन्दनः । आचार्याज्जन्म नैवविधमित्याहआचार्यस्त्विति । जार्तिजन्म । सत्याहितनियता । तस्मात्स्थि-
रमेतत्तरीयानब्रह्मदः पितेति ॥ १४८ ॥

(६) रामचन्द्रः । आचार्यःसावित्र्युपदेशात् तस्यतां जार्तिउत्पादयति साजातिःसत्या नित्यासा अजरा जातिः
अमराजातिर्भवत्येव ॥ १४८ ॥

अल्पंवा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः॥ तमपीह गुरुंविद्या च्छ्रुतोपक्रियया तया ॥ १४९ ॥

(१) मेधातिथिः । यउपाध्यायो यस्य माणवकस्योपकरोति श्रुतस्य श्रुतेनेत्यर्थः । अल्पंवा बहुवाक्रियाविशेष-
णमेतत् । तमपि स्वल्पश्रुतोपकारिणंगुरुंविद्यात् । एवंतु योजना ज्यायसी । यस्य श्रुतस्य सामानाधिकरण्यवेदविषयस्य वेदाङ्ग-
विषयस्य वा शास्त्रन्तरविषयस्य तर्ककलाशास्त्रस्य यदल्पंबहुवा तेनोपकरोतीत्यध्याहारः । श्रुतंच तदुपक्रिया चासौ श्रुतो-
पक्रिया तया उपकारक्रियया तद्धेतुत्वाच्छ्रुतमुपक्रियेति सामानाधिकरण्यम् । गुरुवृत्तिस्तत्रकर्तव्या तद्यपदेशोवा तत्राचार्या-
दिशब्दवत्स्मर्यते ॥ १४९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कचिदुरुराज्ञानीयो गुरुरनुगन्तव्यइत्यादौ गुरुपदमध्यापकमात्रवाचि श्रूयते । तदर्थंगुरुसं-
ज्ञायानानार्थतामाह अल्पंवेति । यस्य श्रुतस्य शाब्दज्ञानस्यांशे यउपकरोति । अतिशयमापादयतीत्यर्थः ॥ १४९ ॥

(३) कुल्लूकः । श्रुतस्य श्रुतेनेत्यर्थः । उपाध्यायोयस्य शिष्यस्याल्पंवा बहुवा कृत्वा श्रुतेनोपकरोति तमपीह
शास्त्रे तस्य गुरुंजानीयात् । श्रुतमेवोपक्रिया तया श्रुतोपक्रियया ॥ १४९ ॥

(४) राघवानन्दः । वेदार्थोपदेष्टृत्वंगुरुत्वे हेतुर्नतु वयोबाहुल्यादीत्याह सार्थवादंदशभिः । अल्पमितियस्ययं-
प्रति श्रुतस्य वेदस्य श्रुतेन वेदशास्त्रतर्कव्याकरणकलादिकेन तदर्थेनाल्पमप्युपकरोति यस्तंगुरुंविद्यादित्यर्थः । श्रुतमेवोप-
क्रियाउपकारस्तया ॥ १४९ ॥

(५) नन्दनः । आचार्यगरीयस्त्वमेवोक्तंप्रकारान्तरेणप्रतिपादयति अल्पंवेति । अल्पविद्याप्रदमपिगुरुंविद्यात्बहु-
विद्याप्रदंकिंपुनरित्यभिप्रायः ॥ १४९ ॥

(६) रामचन्द्रः । यःयस्य श्रुतस्य अध्ययनस्यअल्पंवा बहु वाउपकरोतिउपकारयेत् तमपिइह गुरुंविद्यात् ।
तया श्रुतोपक्रियया श्रुतंअध्यापनंतस्यउपकारेणेत्यर्थः ॥ १४९ ॥

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्त्ता स्वधर्मस्य च शासिता ॥ बालोपि विप्रो वृद्धस्य पिता

भवति धर्मतः ॥ १५० ॥

(१) मेधातिथिः । ब्रह्मग्रहणार्थजन्म ब्राह्ममुपनयनंतस्य कर्त्ता स्वधर्मस्य शासिता उपदेष्टा वेदार्थव्याख्यानेन
सतादृशोबालोपि ब्राह्मणोवृद्धज्येष्ठस्य तर्ककलाशास्त्रस्यवायदल्पंवा बहुवा तेन पिता भवति पितृतुल्या तत्रवृत्तिः कर्तव्या
ज्येष्ठेनापि । कथंपुनः कनीयाज्येष्ठमुपनयते अष्टमे तद्युपनयनंयावच्च नाधीतश्रुतवेदस्तावन्नाचार्यकरणविधावधिक्रियते
एवंतर्हि नोपनयनमत्र ब्रह्म जन्म किंतर्हि स्वाध्यायग्रहणमेव तस्य कर्त्ताध्यापयिता । स्वधर्मस्य वेदार्थस्य शासिता

व्याख्याता पिता भवति धर्मतः पितृधर्मास्तत्र कर्तव्याः । धर्मतइति धर्मनिमित्ततत्र पितृत्वम् । नच ते धर्माध्यापक व्याख्याशैः पितृसंबन्धिनः सिद्धाः सन्ति । अतोविधीयते ब्राह्मणवत्क्षत्रिये वर्तितव्यमिति ॥ १५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्रह्म वेदस्तस्याध्ययनेन यस्तद्विशिष्टस्वरूपलाभः सब्राह्मजन्म तस्य यःकर्ता । न त्वेते नोपनेतृत्वमिष्टं बालोपीत्यनेन विरोधात् कथायामध्यापयामासेत्यभिधानाच्च । योवास्वधर्मशासिता बालोल्पवयाः । वृद्धस्याधिकवयसः ॥ १५० ॥

(३) कुट्टूकः । ब्रह्मश्रवणार्थजन्म ब्राह्ममुपयनयनंस्वधर्मस्य शासिता वेदार्थव्याख्याता तादृशोऽपि बालोवृद्धस्य ज्येष्ठस्य पिता भवति धर्मतइति पितृधर्मास्तस्मिन्नुष्ठातव्याः ॥ १५० ॥

(४) राघवानन्दः । ब्राह्मणस्य ब्रह्मग्रहणयोग्यस्यउपनयनाभावेन पितृमानृतोजन्मसत्त्वेपि शूद्रादेरिवानधिका-
रातृधर्मस्य शासितोपदेष्टा च बालोपि पिता स्याद्धर्मतोधर्मशास्त्रप्रामाण्यात् ॥ १५० ॥

(५) नन्दनः । ब्राह्मणस्यवैदिकस्यजन्मनः उपनयनस्यकर्तापिता भवति पितृकल्पोभवति गुरुतरोभव-
तीत्यर्थः ॥ १५० ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणस्यजन्मनःकर्ता वेदाध्यापकःच पुनःस्वधर्मस्य शासिताउपदेष्टा बालोपि विप्रःवृद्धस्य शिष्यस्य धर्मतःपिता भवति ॥ १५० ॥

अध्यापयामास पितृन्शिशुरांगिरसः कविः ॥ पुत्रकाइति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥ १५१ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्य पितृवद्वृत्तिविधेरर्थवादोऽयं परकृतिनामा । अङ्गिरसः पुत्रः कविर्नाम शिशुर्बालः पितृ-
ल्यान्पितृव्यमातुलतत्पुत्रादीनधिकवयसोऽध्यापयाश्चकाराध्यापितवान् । सचाव्हाननिमित्तेषु तान्पुत्रकाआगच्छतइत्याजु-
ज्ञानेन परिगृह्यतान्स्वीकृत्य शिष्यान्कृत्वा ॥ १५१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पितृन् अग्निष्वात्तादीन् । कविः कविनामा । ज्ञानेनोपदेशेन । परिगृह्य शिष्यतां नी-
त्वा ॥ १५१ ॥

(३) कुट्टूकः । प्रकृतानुरूपार्थवादमाह अध्यापयामासेति । अङ्गिरसः पुत्रोबालः कविर्विद्वान्पितृन्गौणान्पितृव्य-
तत्पुत्रादीनधिकवयसोऽध्यापितवान् । तान्ज्ञानेन परिगृह्य शिष्यान्कृत्वा पुत्रकाइतिआजुहावइति । ह इत्यव्ययंपुरावृ-
त्तसूचनार्थम् ॥ १५१ ॥

(४) राघवानन्दः । अत्रेतिहासमाह अध्यापयामासेति । आङ्गिरसः अङ्गिरसः पुत्रः कविः क्रान्तदर्शी ज्ञानेन
तद्धेतुना वेदाध्यापनेन परिगृह्यशिष्यतां नीत्वा ॥ १५१ ॥

(५) नन्दनः । मन्त्रदस्यबालस्यापि पितृत्वमवस्थापयितुमितिहासंश्लोकत्रयेणोदाहरति अध्यापयामासेति ।
परिगृह्यआहूय ॥ १५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । शिशुः आङ्गिरसः कविः पितृन् अध्यापयामासतान्पितृन्ज्ञानेन ज्ञानोपदेशेन परिगृह्य स्वीकृत्य
हे पुत्रकाइत्युवाच ॥ १५१ ॥

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः ॥ देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥ १५२ ॥

(१) मेधातिथिः । ते पित्रादिस्थानीया पुत्रकाइत्याव्हानेनागतमन्यवउत्पन्नक्रोधास्तमर्थंपुत्रशब्दाव्हानेनैवान्पृष्ट-

वन्तअनेन बालेन वयमेवमाहूयामहे किमेतद्युक्तंतेदेवाः पृष्टाः सन्तः सर्वे समवायंरुतवन्तः समेत्य ऐकमन्यंस्थापयित्वै-
तान्कवेः पितृनूचुरुक्तवन्तोऽन्याप्यंयुक्तंवीयुष्मान् शिशुरुक्तवान् ॥ १५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तमर्थंकिमेतदस्य युक्तं वेति ॥ १५२ ॥

(३) कुल्लूकः । ते तमर्थमपृच्छन्तेति तेपितृतुल्याः पुत्रकाइत्युक्ताअनेन जातक्रोधाः पुत्रकशब्दार्थदेवान्पृष्टवन्तः ।
देवाश्च पृष्टामिलित्वाएतानवोचन्युष्मान्यच्छिशुःपुत्रशब्देनोक्तवान्तद्युक्तम् ॥ १५२ ॥

(४) राघवानन्दः । ते पितरस्तमर्थपुत्रकाइति शब्दार्थआगतमन्यवःपुत्रकाइत्याह्वानेन जातमन्यवोमन्युंप्राप्ताः
एतान्पितृन् ॥ १५२ ॥

(६) रामचन्द्रः । ते पितरःआगतमन्यवःदेवान्प्रतिअर्थपुत्रमित्यस्यार्थअपृच्छन्त । देवास्तान्समेत्यइतिऊचुःवः-
यष्माकंशिशुःउक्तवान्यत्तदपि योग्यमित्यर्थः ॥ १५२ ॥

अज्ञोभवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ॥ अज्ञंहि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदा ॥ १५३ ॥

(१) मेधातिथिः । यस्मान्न च वयसात्त्वल्पेन बालोभवति किंतर्ह्यज्ञोमूर्खोवृद्धोपि यः । मन्त्रदउपलक्षणम् ।
मन्त्रान्वेदान्योददात्यध्यापयति विवृणोति च सपिता भवति । वै शब्दआगमान्तरसूचकः । देवानाप्यषआगमः पुराण-
एव । तथा चैतिसूचकःपरोपदेशआहुरिति । अज्ञंमूर्खंबालमित्याहुरस्मत्पूर्वेषु । पितेति मन्त्रदम् । इतिकरणंस्वरूप-
परतांबोधयति यतः परतः श्रूयते । बालइत्येतेन शब्देनाज्ञमात्रः । अतश्च बालशब्दाद्वितीयायाअभावः छान्दोग्ये
शैशवब्राह्मणमेतद्वस्तुतः स्मृतिकारेण वर्णितम् ॥ १५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अज्ञंहीतिप्रसिद्धताभिधानंदाढ्यार्थम् ॥ १५३ ॥

(३) कुल्लूकः । अज्ञइति । वैशब्दोऽवधारणे अज्ञएव बालोभवति न त्वल्पवयाः । मन्त्रदः पिता भवति ।
मन्त्रग्रहणवेदोपलक्षणार्थम् । योवेदमध्यापयति व्याचष्टे सपिता ॥ १५३ ॥

(४) राघवानन्दः । न्याय्यत्वेहेतुःअज्ञइत्यादि । बालःसंस्कार्यत्वात्पिता मन्त्रप्रदानेन संस्कारकत्वात् । पितेति
नद्वितीया । इतिपरत्वाभावात् ॥ १५३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अज्ञःशुद्धापशब्दज्ञानरहितः वैअवधारणार्थः बालएव भवति । सएव बालःमन्त्रतःमन्त्रोपदेशात्
ज्ञानोपदेशात्पिता भवति तथा हि निश्चयेन अज्ञंबालं आहुः । मन्त्रदउपदेष्टापितेत्येव ज्ञेयमिति ॥ १५३ ॥

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ॥ ऋषयश्चक्रिरे धर्मयोनूचान सनोमहान् ॥ १५४ ॥

(१) मेधातिथिः । इयमपराध्यापकप्रशंसा । हायनशब्दः संवत्सरपर्यायः । न बहुभिर्वर्षैः परिणतवयामहान्पू-
ज्योभवति न पलितैः केशश्मश्रुरोमभिः शुक्लैर्न वित्तेन बहुना न बन्धुभिः प्रागुक्तानि मान्यस्थानान्यापद्यन्ते । समुदि-
तैर्न महान्भवति किंतर्हि एकयैव विद्यया । यस्मादृषयश्चक्रिरे ऋषिदर्शनान्निःशेषवेदार्थदर्शिनोनिश्चित्येमंधमव्यवस्था-
पितवन्तः । योनूचानः अनुवचनमध्यापनंकृत्स्नाङ्गस्य वेदस्य सनोस्माकंमहाञ्छ्रेष्ठः । करोति व्यवस्थापने वर्तते नाभूतज-
नने ॥ १५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । हायनैर्वर्षैः बहुभिर्गतैरिति तद्वत्सरकर्तव्यसोमयागादिकमबाहुल्यमुक्तम् । पलितैरिति वयोबाहुल्यम् । अनूचानः साङ्गवेदाध्येता ॥ १५४ ॥

(३) कुष्ठूकः । अत्रैवहेतुमाह यस्मात्पूर्वैऽपि मुनयो ऽङ्गबालमित्यूचुः मन्त्रदं च पितेत्येवानुवन्नित्याह न हाय-
नैरिति । न. बहुभिर्वर्षैर्न केशश्मश्रुलोमभिः शुक्लैर्न बहुना धनेन न पितृव्यत्वादिभिर्बन्धुभावैः समुदितैरप्येतैर्न महत्त्वं भवति
किंवृषय इमं धर्मं कृतवन्तः । यः साङ्गवेदाध्येता सोऽस्माकं महानुसंमतः ॥ १५४ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रार्थे ऋष्युक्तिः प्रमाणमित्याह न हायनैरिति । हायनैरवदैर्वयोबाहुल्येन जरारुतकेशपा-
लित्यैकेशधावल्यैर्वा बन्धुभिः पुत्रपौत्राद्यैर्वा एतैर्व्यस्तसमस्ततया वाधिक्ये न महत्त्वं किं तर्हि यः अनूचानः साङ्गवेदाध्येता तस्ये-
व महत्त्वमित्याह ऋषय इत्यादिना । धर्ममयं धर्म इति निर्णयं स्तुतिमात्रं वा ॥ १५४ ॥

(५) नन्दनः । श्रेष्ठ्यकारणवैदुष्यमित्याह न हेति । हायनैः वयोभिः । पलितैः वार्द्धकैः । बन्धुभिः कुलेन ।
धर्मश्रेष्ठ्यापादकं न्यायमनूचानः वेदवित् । नः अस्माकम् । ब्राह्मणानां मध्ये महान्विशिष्टः ॥ १५४ ॥

(६) रामचन्द्रः । बहुभिः गतहायनैः पलितैः केशैः न च सच्चरित्रैः न बन्धुभिः श्रेष्ठतां याति । यः अनूचानः वेदपारगः सः-
नः अस्माकं मते महानुश्रेष्ठः इति । धर्मः ऋषयः चक्रिरे इत्यर्थः ॥ १५४ ॥

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ॥ वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥ १५५ ॥

(१) मेधातिथिः । अयमप्यर्थवाद एव । यदुक्तं वित्तादिभ्यः समुदितेभ्यः केवलापि विद्या ज्यायसीति तदेव सप्रप-
ञ्चमनेन निर्दिश्यते । ब्राह्मणानां ज्ञानेन ज्यैष्ठ्यं वित्तादिभिः क्षत्रियाणां वीर्यतः वीर्यद्रव्यस्य कौशलं दृढप्राणता च वैश्या-
नां धान्यधनतः । धान्यस्य पृथगुपादानाद्धनशब्दो हिरण्यादिवचनः ब्राह्मणपरिव्राजकवत् । बहुधने वैश्यः सज्येष्ठः । आद्या-
दित्वात्तृतीयार्थे तसिः । हेतौ तृतीया ॥ १५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ज्ञानतो ज्ञानाधिक्येन ॥ १५५ ॥

(३) कुष्ठूकः । ब्राह्मणानां विद्यया क्षत्रियाणां पुनर्वीर्येण वैश्यानां धान्यवस्त्रादिधनेन शूद्राणामेव पूर्वजन्मना
श्रेष्ठत्वम् । सर्वत्र तृतीयार्थे तसिः ॥ १५५ ॥

(४) राघवानन्दः । विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यमिति वदंस्तत्प्रतियोगितया ऽन्येषामपि तदाह विप्राणामिति ।
ज्ञान इत्यादि चतुर्ष्वपि तृतीयार्थे तसिः । वीर्यतः शस्त्रकौशलेन केनापि धनविद्यादिमत्त्वेऽपि शूद्रस्य जन्मनैवेत्यवधार-
णार्थः ॥ १५५ ॥

(५) नन्दनः । ब्राह्मणानां ज्ञानत एव श्रेष्ठ्यं क्षत्रियादीनां तु निमित्तान्तरादित्याह विप्राणामिति । जन्मतः वयस्तः ।
क्षत्रियादीनामुपन्यासो दृष्टान्तार्थः ॥ १५५ ॥

न तेन दृढो भवति येनास्य पलितं शिरः ॥ यो वै युवाप्यधीयास्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ १५६ ॥

(१) मेधातिथिः । न तेन दृढ उच्यते येनास्य पलितं धवलं शिरः शिरःस्थाः केशाः । कथं तर्हि यो वै युवापि तरुणो-
ऽपि अथ चाधीते तं देवाः स्थविरं विदुः ब्रुवते देवाः किल सर्वस्य वेदितार इति प्रशंसा ॥ १५६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्थविरं स्थविरपदवाच्यम् । येन वयोबाहुल्यादिना हेतुना ॥ १५६ ॥

(३) कुहूकः । न तेन वृद्धो भवति येनास्य शुक्लकेशशिरः किंतु युवाऽपि सन्विद्वांस्तदेवाः स्थविरं जानन्ति ॥ १५६ ॥

(४) राघवानन्दः । अत्रार्थे देवसंमतिमग्याह न तेनेति । शिरसः पालित्यं पक्वकेशतात्वकशैथिल्यं वा । अधीयानो-
अध्ययनोद्यतोऽपि किमुताधीतवेदः ॥ १५६ ॥

(५) नन्दनः । उक्तमर्थं निगमयति नेति ॥ १५६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अस्य शिरः येन वयसा पलितं भवेत्तेन वयसा वृद्धो न भवतीत्यर्थः ॥ १५६ ॥

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ॥ यश्च विप्रो न धीयानस्त्रयस्ते नाम विभ्रति ॥ १५७ ॥

(१) मेधातिथिः । इयमध्ययनाभ्येतृस्तुतिः । काष्ठमयो दारुणो यः क्रियते क्रकचादिना हस्त्याकृतिः स यथा नि-
ष्फलो न हस्तिकार्यराज्ञां शत्रुवधादि करोति एवं यो ब्राह्मणो नाधीते सकाष्ठतुल्यो न क्वचिदधिकारी । चर्ममयो मृगः चर्मविकारो-
न्योऽपि यो मृगः स निष्फलो नाखेटकादिकार्यं करोति । त्रयस्ते नाम मात्रं विभ्रति न तस्यार्थम् ॥ १५७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । काष्ठमयो हस्तीति लेशतोऽपि तदन्वयाभावः चर्ममये मृगे लेशतोऽन्वयासंभवात् नाम-
मात्रं विभ्रति । अतो यद्विप्रे कार्यं तदनधीयानेन कुर्यादित्यर्थः ॥ १५७ ॥

(३) कुहूकः । यथा काष्ठघाटतो हस्ती यथा चर्मनिर्मितो मृगः यश्च विप्रो नाधीति त्रयस्ते नाम मात्रं दधति । न
तु हस्त्यादिकार्यशत्रुवधादिकं कर्तुं क्षमन्ते ॥ १५७ ॥

(४) राघवानन्दः । अनधीयानस्य दानापात्रत्वं वदन्तं स दृष्टान्तं निन्दति यथेति द्वाभ्याम् । काष्ठमयः कृत्रिमः
नाम विभ्रति मृगइत्यादि नाम धियन्ते न तु ते मृगादयः तत्कार्याकारित्वात् ॥ १५७ ॥

(५) नन्दनः । अनधीयाननिन्दामधीयानप्रशंसार्थं प्रसङ्गादाह येति । नाम विभ्रति नामैव विभ्रति ब्राह्मणशब्देनैव-
विभ्रति न तस्य प्रवृत्तिनिमित्तमित्यर्थः ॥ १५७ ॥

(६) रामचन्द्रः । विप्रः यथा चर्ममयो मृगः तथा अनधीयानः नाम केवलं विभ्रतीत्यर्थः ॥ १५७ ॥

यथा षण्ढो फलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला ॥ यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रो नृचो

फलः ॥ १५८ ॥

(१) मेधातिथिः । षण्ढेन पुंसक उभयव्यञ्जनोऽशक्तः स्त्रीगमने यथा स्त्रीष्वफलः यथा गौर्गवि स्त्रीगौः स्त्रीगव्यां एवं
तथा विप्रोऽनृचोऽनधीयानोऽफलः ॥ १५८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । षण्ढेन पुंसकं । गौरिति गवीति च स्त्रीलिङ्गेपदे । अज्ञेस्थावरादौ अफलं दानं प्रत्युपकाराद्य-
भावात् । अनृचोऽवेदः ऋक्पदवेदोपलक्षणं अफलो दातुः फलाहेतुः ॥ १५८ ॥

(३) कुहूकः । यथा नपुंसकं स्त्रीषु निष्फलं यथा च स्त्री गवी गव्यामेव निष्फला यथा चाज्ञे दानफलं तथा
ब्राह्मणोऽप्यनधीयानो निष्फलः श्रौतस्मार्तकर्मनर्हतया तत्फलरहितः ॥ १५८ ॥

(४) राघवानन्दः । यथा षण्ढेन पुंसकः दृष्टादृष्टकार्यशून्यः गौः स्त्रीगवान्तरंगवि वत्सोत्पादनयोग्यायां फलमण्डकोश-
स्तच्छून्यो वा तथा अनृचः वेदशून्यः देयद्रव्यादि फलाजनकत्वात् । ब्राह्मणस्येत्यादि न वश्लोका अध्ययनस्तुत्यर्थाः ॥ १५८ ॥

(५) नन्दनः । ब्राह्मण्येनावप्यं फलमनधीयानस्य न सिध्यतीत्याह यथा षण्ढ इति । गौरित्यपहृतपुंभावो बलीवर्दोऽ-
भिप्रेतः । अफल इति पाठः ॥ १५८ ॥

(६) रामचन्द्रः । षण्डःस्त्रीषु यथाअफलः भवत्येवंयथागविगौःसंयोगे विफला भवति यथाअङ्गैर्मूर्खैर्दत्तदानंअफलंभवति निष्फलमित्यर्थःतथा अनृचःविप्रःअफलःभवतिऋद्ध्यात्रमपि नाधीयानइत्यर्थः ॥ १५८ ॥

अहिंसयैव भूतानांकार्यंश्रेयोनुशासनम्॥वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता॥१५९॥

(१) मेधातिथिः । समाष्टश्लोकाःअध्येतृवेदित्रोःप्रशंसार्थाअति क्रान्ताः । इदानीमश्रद्धस्य शिष्यस्याधीयानस्येतत्ततश्चित्तंव्याक्षिप्यते । अध्यापयितुः क्रोधोत्पत्तौ ताडनपरुषभाषणाद्यमत्यर्थप्राप्तंनिषिध्यते । अहिंसयाअताडनेन भूतानांभार्यापुत्रदासशिष्यसोदर्याणांश्रेयोर्थमनुशासनंकार्यम् । भूतग्रहणान्माशिष्यस्यैव विज्ञायि । दृष्टादृष्टफलावाप्तिःश्रेयः तदर्थमनुशासनमग्रन्थकोवोपदेशः शास्त्राध्यापनव्याख्यानेवा । यथा संभव मतिताडनंक्रोशनंचात्र प्रतिषिध्यते । ईषत्ताडनंत्वभ्यनुज्ञातमेव रज्ज्वा वेणुदलेन वेति । कथंतर्हि मार्गेऽस्थाप्याः । वाक्चैव मधुरा सान्त्वपूर्विका प्रियया वाचा श्लक्ष्णया नोच्चैरुद्धतेनकाकरुक्षेण त्वरेण प्रियेणापि अधीष्वपुत्रक मा चित्तमन्यत्राबद्धाः श्रद्धया समापय शीघ्रंप्राठकंतत्क्षणंविहरिष्यसि शिशुभिः सवयोभिः । यस्तुन तथा श्रद्धामुपैति तस्योक्तोविधिः वेणुदलेनेति । प्रयोज्यावक्तव्याधर्ममिच्छता । एवंसातिशयोध्यापनधर्मोभवति ॥ १५९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अहिंसयाताडनाद्यकुर्वतः उपदेशत्वेन मधुरार्थतः श्लक्ष्णामृदुः शब्दतः अतः शिष्योऽपि । नाकस्मात्ताड्योनाप्रियंवाच्यइत्यर्थः । रज्ज्वा वेणुदलेन वेति त्ववश्यानुशासनीयपुत्रादिविषयम् ॥ १५९ ॥

(३) कुल्लूकः । भूतानांशिष्याणांप्रकरणाच्छ्रेयोऽर्थमनुशासनमनतिहिंसया कर्तव्यंरज्ज्वा वेणुदलेन वेत्यहिंसायाः अभ्यनुज्ञानात् । वाणी मधुरा प्रीतिजननी श्लक्ष्णया नोच्चैरुच्यते सा शिष्यशिक्षायै धर्मबुद्धिमिच्छता प्रयोक्तव्या ॥१५९॥

(४) राघवानन्दः । वाङ्मनसयोःशुद्धौ गुरोःशिष्यस्य वेदाध्ययनंसाधु तत्रादौ गुरुं शिक्षयति अहिंसयैवेति त्रिभिः । भूतानांशिष्याणांप्रकरणात्हिंसात्रोपकोसलवद्बहुकालव्यापि दुःखंउत्तंकादिवदक्षिणादानंवाअद्रोहस्यवक्ष्यमाणत्वात् । श्रेयोनुशासनंश्रेयःपुमर्थचतुष्टयसाधनत्वात्वेदाध्यापनस्य तस्यानुशासनंदानंमधुराप्रतिजननीअतएव श्लक्ष्णामृद्धीधर्ममिच्छता । अनुद्वेगकरंवाक्यंसत्यंप्रियहितंच यत् । त्वाध्यायाभ्यसनंचैववाङ्मयंतपउच्यते ॥ इतिस्मृतेः । शिष्यानुग्रहोवाधर्मः । तमिच्छता ॥ १५९ ॥

(५) नन्दनः । अथब्रह्मचारिणानियमान्तरमाह अहिंसयेति । श्रेयोऽनुशासनमाहिंसया सहैव धर्ममभीप्सताकार्यमहिंसाश्रेयोऽनुशासनंकुर्यादितियावत् । अथवाहिंसायुक्तंश्रेयोऽनुशासनंकुर्यादिति ॥ १५९ ॥

(६) रामचन्द्रः । भूतानांप्राणिनांअहिंसयैव श्रेयःकार्यइति वा श्रेयोवेदःतस्य वेदस्यानुशासनंधर्ममिच्छता पुंसावाक्मधुराश्लक्ष्णा प्रयोज्या ॥ १५९ ॥

यस्य वाङ्मनसे शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ॥ स वै सर्वमनामोति वेदान्तोपगतंफलम् ॥१६०॥

(१) मेधातिथिः । यस्याध्यापयितुरन्यस्य वासंक्षोभहेतौ सति वाङ्मनसी शुद्धे न कालुष्यं गच्छतः सम्यग्गुप्ते चोत्पन्नेपि कालुष्ये न परद्रोहव्यवसायोन च तत्पीडार्थः कर्मरम्भएतत्सम्यग्गोपनंवाङ्मनसयोः । सर्वदा ग्रहणंपुरुषमात्रधर्मार्थनाध्यापयितुरेव । अध्यापनकाले सवै सर्वमवामोति । वेदान्तावेदसिद्धान्ताः सिद्धशब्दस्यात्यन्तंसिद्धइति सिद्धे शब्दार्थसंबन्धइत्यत्रात्यन्तशब्दस्येव लोपः । वैदिकेषु वाक्येषु यः सिद्धान्तोव्यवस्थितार्थोऽस्य कर्मणइदंफलमित्युपगतअभ्यु-

पगतोवेदविद्भिस्तत्फलं सर्वमाप्नोति । एवं च वदता वाङ्मनस संयमस्यानेन वाक्येन ऋतुषु पुरुषोभयधर्मतोक्ता भवति । केवलपुरुषधर्मातिक्रमे हसति ऋतुवैगुण्येऽसंयतोपि वाङ्मनसाभ्यां किमिति कृत्स्नफलं न प्राप्नोति येनोच्यते संयमी सर्वमाप्नोतीति । अन्ये तु वेदान्तात्रहस्यब्राह्मणान्याचक्षते तेषु यदभ्युपगतं फलं नित्यानां कर्मणां निष्फलानां च यमनियमानां तत्फलं ब्रह्मप्राप्तिलक्षणं सर्वमाप्नोति । कथं पुनर्नित्यानि ब्रह्मप्राप्त्यर्थानीति चेदस्ति केषांचिद्दर्शनम् । अथवा वेदस्यान्तोऽध्यापनसमाप्तिस्ततोयत्फलमाचार्यकरणविधिस्तत्प्राप्नोति । एवं तु व्याख्यानेऽध्यापनविध्यर्थतैव स्यात् ॥ १६० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वक्ष्यमाणपूर्वोक्तवाङ्माधुर्यादिस्तुतिः यस्येति । वाक्शुद्धिर्माधुर्यादि । मनः शुद्धिरक्रोधादि । वाचोगुप्तारक्षा अनृतादिनिवर्तनात् मनसो निष्ठध्यानादिनिवर्तनात् । वेदान्तादुपगतं अधिगतं मोक्षाख्यम् ॥ १६० ॥

(३) कुङ्कुमः । इदानीं पुरुषमात्रस्य फलधर्मवाङ्मनःसंयममाह नाध्यापयितुरेव । यस्य वाङ्मनश्चोभयं शुद्धं भवति । वागनृतादिभिरदुष्टा मनश्च रागद्वेषादिभिरदूषितं भवति एते वाङ्मनसी निषिद्धविषयप्रकरणे सर्वदा यस्य पुंसः सुरक्षिते भवतः स वेदान्तेऽवगतं सर्वफलं सर्वज्ञत्वं सर्वेशानादिरूपं मोक्षलाभादवाप्नोति ॥ १६० ॥

(४) राघवानन्दः । यन्मनसाध्यायति तद्वाचा विलपतीति श्रुतेः तत्कारणस्य मनसोपि शुद्धिः कार्येत्याह । यस्येति यस्य गुरोः संक्षोभहेतौ सति क्रोधरागद्वेषानभिभवत्वं मनसः शुद्धिः वाचः शुद्धिरुक्तागुमे असत्यादितोरक्षिते प्रकर्षेण सर्वात्मकं वेदान्तोपगतं ब्रह्म वागिति दृष्टान्ततया वाच इव मनसः शुद्धिः कार्येति भावः ॥ १६० ॥

(५) नन्दनः । वाचः शुद्धिरसत्यादिवर्जनं मनसो रागादिवर्जनम् । सम्यग्गुप्ति स्तत्राप्रमत्तत्वम् । सर्वदाऽऽश्रमान्तरेपि वेदान्तोपगतं वेदान्तो वेदाध्ययनसमाप्तिः तेनोपगतं परिपूर्णवेदाध्ययनोपलभ्यमित्यर्थः ॥ १६० ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्य पुंसः वाङ्मनसे शुद्धे भवतः । च पुनः । सम्यक्गुप्ते रक्षिते व्यर्थालापरहिते इत्यर्थः सः वेदान्तोपगतं फलं वेदे उक्तं फलं सर्वमाप्नोति ॥ १६० ॥

नरुन्तुदः स्यादात्तोपि न परद्रोहकर्मधीः ॥ ययास्योद्विजते वाचा मालोक्यान्तामुदीरयेत् ॥ १६१ ॥

(१) मेधातिथिः । अयमपरः पुरुषार्थमात्रधर्मः । अरुंषि मर्माणि तुदति व्यथयतीत्यरुन्तुदो मर्मस्पर्शानीर्वाचोऽत्यन्तो द्वेजनकरीराक्रोशवाचो यो वदति । आर्तः पीडितोऽपि परेण न तादृशमप्रियं भाषेत । तथा परद्रोहः परापकारः तदर्थं कर्म तद्धीश्च न कर्तव्या । अथवा परद्रोहश्चासौ कर्म च तत्र धीः बुद्धिरपि न कर्तव्या । यया वाचा नर्मप्रयुक्तयापि परउद्विजते अथ च तांवाचं नोदीरयेत् वाक्यैकदेशमपि तादृशं नोच्चारयेद्यत एकदेशादर्थप्रकरणादिनार्थान्तरसूचनं प्रतीयते । यतः सावागलोक्यात्स्वर्गादिलोकप्राप्तिप्रतिबन्धिनी ॥ १६१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वाङ्मनसयोः शुद्धतां विवृणोति नरुन्तुद इति । अरुन्तुदो दोषरूपप्रणस्य वाचा प्रकाशनेन तोदकः । परद्रोहो हिंसा तत्कर्म मनसाध्यायतीति परद्रोहकर्मधीः । दोषप्रकाशकत्वाभावेपि यत् श्रुत्वा परस्योद्वेगो यथावर्षशतान्ते अवश्यं भवतो मृत्यादितथालोक्याम् ऽलोकहितां तांवाचं नोदीरयेत् ॥ १६१ ॥

(३) कुङ्कुमः । अयमपि पुरुषमात्रस्यैव धर्मो नाध्यापकस्य आर्तः पीडितोऽपि नरुन्तुदः स्यान् । मर्मपीडाकरं तत्त्वदूषणमुदाहरेत् । तथा परस्य द्रोहोऽपकारस्तदर्थं कर्म बुद्धिश्च न कर्तव्या । तथा यया वाचास्य परोव्यथते तां मर्मस्पृशमथालोक्यांस्वर्गादिप्राप्तिविरोधिनीं न वेदत् ॥ १६१ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव हेतुतया व्यतिरेकमाह नारुतुदइति । आर्तोरोगादिना शिष्यकृतापराधेन वा न परद्रोहकर्मधीः परस्य द्रोहः पीडातस्यै यत्कर्म अभिशापादिस्तत्रधीर्मतिर्यस्यसः तथा न स्यात् । अलोक्यांस्वर्गादिलोकानर्हान्तांतादर्शानोदीरयेन्नोच्चारयेत् ॥ १६१ ॥

(५) नन्दनः । यतएवमतः नारुतुदइति । अरुतुदः परमर्मप्रकाशनः अलोक्यांअस्वर्ग्याम् ॥ १६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । आत्तोऽपि सन्नरुतुदोनस्यात् । अरुतुदः स्याद्यथकइत्यमरः । परद्रोही न भवेत् । यया वाचाउ-
द्विजेते अलोक्यांलोककर्मरहितां न उदीरयेत् न वदेदिति ॥ १६१ ॥

संमानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ॥ अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ १६२ ॥

(१) मेधातिथिः । भिक्षमाणस्य ब्रह्मचारिणोगृहे वोपाध्यायस्य जीविकयाऽध्यापयतो यत्र संमानं न स्यान्तेन चित्तसंक्षोभमाददीतापि तु संमानादेवोद्विजेत पूजयैव दीयमानं बहु मन्येत । अमृतमिवाकाङ्क्षेदभिलषेदवमानमवज्ञांसर्व-
दा उत्कण्ठा सामान्यात् । अधीता त्वर्थमाकाङ्क्षेत् । आरोप्य षष्ठी कृता । ननु चानर्चितमभोज्यं सत्यं चित्तसंक्षोभप्रतिषे-
धार्थमेतत् न तु तादृशस्य भोज्यतोच्यते । संमानावमानयोः समेन भवितव्यं पुनरवमानं प्रार्थनीयम् । ब्रह्मचारिणस्त्ववमत-
मपि भिक्षाऽऽदानम् न चायं प्रतिग्रहो योऽर्चितं प्रतिगृह्णातीत्येतस्य येन विषयः स्यात् ॥ १६२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतच्च सर्वमत्यन्तावमतेनापि न कार्यमित्याह संमानादिति । अवमानस्य अमृतस्येवालप-
मप्यंशमित्यर्थः ॥ १६२ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणः संमानाद्विषादिव सर्वदोद्विजेत संमाने प्रीतिं न कुर्यात् । अमृतस्येव सर्वस्मादलोकादवमाना-
स्याकाङ्क्षेत् । अवमाने परेण रुतेऽपि क्षमवांस्तत्र खेदं न कुर्यात् । मानावमानद्वन्द्वसहिष्णुत्वमनेन विधीयते ॥ १६२ ॥

(४) राघवानन्दः । दैवाद्गुरोर्वाङ्मानसस्खलने शिष्यं शिक्षयति संमानादिति । विषादिविषयवदुद्वेगे हेतुत्वाल्लोकाव-
र्जनस्य अमृतं यथा अमरत्वहेतुत्वादाकांक्षितं अवमानोपि श्रेयोहेतुत्वात्तथा अनेन गुरोरत्यागेदोषानध्ययनाद्यनर्थः ॥ १६२ ॥

(५) नन्दनः । सर्वदा आश्रमान्तरेऽपि ॥ १६२ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वदा अवमानस्य प्राप्तिं आकाङ्क्षेत अमृतस्येव प्राप्तिं यथा आकाङ्क्षन्ति तथा ॥ १६२ ॥

सुखं स्वमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते ॥ सुखं चरति लोके स्मिन् न वमन्ता विनश्यति ॥ १६३ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्य विधेरर्थवादोयं फलदर्शनार्थः । योऽवमानान्नुभ्यति स सुखं शेते अन्यथा द्वेषेण दहमा-
नो न कथंचिन्निद्रालभते प्रतिबुद्धश्च तच्चिन्तापरो न सुखं विन्दति । उत्थितश्च शयनात्कार्येषु सुखं चरति ॥ १६३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सुखं शेते तत्कृतसंमानज्ञानाहितप्रत्युपकारचिन्ताविधुरत्वाभावात् । न त्वेवं स्वयमपि
परस्याभ्युदयातिसंबन्धिना अवमानं कुर्यादित्याह अवमन्तेति ॥ १६३ ॥

(३) कुल्लूकः । अवमानसहिष्णुत्वे हेतुमाह । यस्मादवमाने परेण रुते तत्र खेदमकुर्वाणः सुखं निद्राति । अन्य-
था वमानदुःखेन दहमानः कथंचिन्निद्रालभते कथंच सुखं प्रतिबुध्यते प्रतिबुद्धश्च कथंच सुखं कार्येषु चरति । अवमानकर्ता तेन पापेन
विनश्यति ॥ १६३ ॥

(१६२) सम्मानाद्ब्राह्मणो विद्वानुद्विजेत विषादिव । (मेधा०)

(४) राघवानन्दः । देवादपि तदुत्पत्तौ गुणमेवाह । सुखं सवमतइति । अवमतःतिरस्कृतःसंमाननाभावाज्जननारहितःअथवाअवमतःखण्डितमानःस्वविवेकबुद्ध्याससुखंशेते निद्रातिअन्यथाअवमानदुःखैर्ददृशमानोननिद्राति अतएव सुखंनप्रतिबुध्यते सम्यगनिद्रितत्वात्सुखंचरति स्वेष्टसाधनेषु प्रवर्ततेअवमतस्त्ववमानासहिष्णुःकिंचित्कर्तुंनक्षमतइत्यनुभवसिद्धम् ॥ १६३ ॥

(५) नन्दनः । अत्रहेतुमाह सुखमिति । क्षममाणोऽवमतोदृष्टादृष्टभयाभावात्सुखंशेते । अवमन्ता विनश्यति राजदण्डेन यमदण्डेन वा ॥ १६३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अवमतःतिरस्कृतःसःब्राह्मणःसुखंशेते । यः अवमन्तातिरस्कारंकर्ता सःपुरुषःविनश्यति ॥१६३॥

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजःशनैः ॥ गुरौ वसन्सञ्चिनुयाद्ब्रह्माधिगमिकंतपः ॥ १६४ ॥

(१) मेधातिथिः । संस्कृतात्मोपनीतोद्विजोऽनेन क्रमयोगेन तपः संचिनुयात् । अध्येष्यमाणइत्यतआरभ्य यद्ब्रह्मचारिणः कर्तव्यमुक्तंतस्य तेनेति प्रत्यवमर्शः । अनेन विधिसंधातेन क्रमयोगेन क्रमेणानुशीयमानेन तपआत्मसंस्कारनिष्कल्मषत्वलक्षणं यथा तपसा चान्द्रायणादिना निष्कल्मषत्वंभवत्येवमनेनापि वेदग्रहणार्थं यमनियमसमूहेन अतः संचिनुयात् शनैरत्वरयार्जयेच्च वर्धयेच्च । क्रमः परिपाटीदं कृत्वेदं कर्तव्यमोऽकारपूर्विकाइत्यादिस्तेनयोगः संबन्धोयस्यानुष्ठानस्येति यावत् । ब्रह्मणः आधिगमिकमधिगमार्थम् । अध्ययनबोधावधिगमः ॥१६४॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धर्मानुक्त्वोपसंहरति अनेनेति । क्रमयोगेन क्रमिकेणोद्योगेन यत्नेन संस्कृतात्मा शोधितात्मा शनैरत्वरितः संचिनुयात्वेदाधिगमरूपंतपः ॥ १६४ ॥

(३) कण्डूकः । अनेनक्रमकथितोपायेन जातकर्मादिनोपनयनपर्यन्तेन संस्कृतोद्विजोगुरुकुले वसञ्छन्नैरत्वरया वेदग्रहणार्थंतपोऽभिहिताभिधास्यमाननियमकलापरूपमनुतिष्ठेत् । विध्यन्तरसिद्धस्याप्ययमनुवादोऽध्ययनाङ्गत्वबोधनाय ॥ १६४ ॥

(४) राघवानन्दः । एवंसशिक्षितःशिष्यःकिंकुर्यात्तत्राह अनेनेति । संस्कृतात्मोपनीतःअनेनाव्यवहितोक्तेन क्रमयोगेन तपःसंचिनुयात् द्विजस्त्रैवर्णिकः तपोब्रह्मचर्यादि ब्रह्माधिगमिकंवेदप्राप्नुयायम् ॥ १६४ ॥

(५) नन्दनः । उक्तानांब्रह्मचारिधर्माणामध्ययनाङ्गतामाह अनेनेति । अनेनोक्तेनब्रह्माधिगमिकंवेदाधिगमिकम् । स्वार्थेतद्धितः । वेदाधिगमस्यतपस्त्ववचनंप्रशंसार्थम् ॥ १६४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनेन क्रमयोगेन अनेन प्रक्रमेण संस्कृतात्माद्विजःगुरौ वसन्तपःसञ्चिनुयात् सङ्ग्रहंकुर्यादित्यर्थः । कीदृशंतपःब्रह्माधिगमिकंब्रह्मणःवेदस्यअधिगमिकंप्राप्तिसाधन मित्यर्थः ॥ १६४ ॥

तपोविशेषैर्विविधैर्ब्रतैश्च विधिचोदितैः ॥ वेदःकृत्स्नोधिगन्तव्यःसरहस्योद्विजन्मना ॥ १६५ ॥

(१) मेधातिथिः । तपोविशेषैः कृत्स्नान्द्रायणादिभिर्विविधैर्बहुप्रकारैरेकाहारचतुर्थकालाहारादिभिरभिक्षिप्वता शरीरं ब्रतैश्चोपनिषदमहानाम्निकादिभिर्विधिनोदितैर्गृहस्मृतिष्वाभ्यातैरनुशीयमानैर्वेदः कृत्स्नोधिगन्तव्यः । ये तु पूर्वश्लोके तपःशब्दोब्रह्मचारिधर्मं प्रयुक्तइहापि तपोविशेषास्तएवाभिप्रेताइत्याहुर्नते सम्यङ्प्रन्यन्ते ब्रतशब्देनैव तेषां संगृहीतत्वात् । ब्रतमिति हि शास्त्रतोऽनियमउच्यते । सामान्यशब्दत्वाच्च ब्रतशब्दस्य महानाम्निकादीनामपि ग्रहणसिद्धिः । तस्मात्तपांस्युपवा-

(१६५) विधिचोदितैः = श्रुतिचोदितैः (१)

सादीन्यभिप्रेतानि । इह केचिद्वेदइत्यत्रैकवचनं विवक्षितं मन्यन्ते । यद्यपि त्व्यप्रत्ययनिर्देशाद्विनियोगतो वेदस्य प्राधान्यं सं-
स्कार्यतया प्रतीयते तथापि विधितो वस्तुतश्चार्थावबोधे गुणभावएवं । गुणे च संविवक्षितेऽर्थावबोधपर्यन्तो ह्ययं वेदविषयो मा-
णवक्रस्य व्यापारो विधिवृत्तपर्यालोचनयाऽवसीयते । अयं ह्यत्र विध्यर्थो धीतेन वेदेनार्थावबोधं कुर्यान्न संस्कार्यत्वमन्यथा
निर्वहति । सर्वो हि कार्यान्तरे शेषभूतः संस्क्रियते । वेदस्य च दृष्टमेव कार्यमधीतस्य त्वार्थावबोधजनकत्वमन्यथा सक्तं जु-
होतीति वत्प्राधान्यं श्रुतमप्युत्सृज्येत । धातुरन्यवबोधार्थं एव । अधिगमनं हि ज्ञानमुच्यते । सर्वे गत्यर्थाज्ञानार्थादिति स्मृतम् ।
स्वरूपग्रहणं च वेदस्य प्रागेव विहितं संहृत्य हस्तावध्येयमित्यादिना । तस्यैवार्थग्रहणपर्यन्ततानेन प्रतिपाद्यते । विवक्षा-
मेव मत्वाऽनेकवेदाध्ययनमप्राप्तं प्रतिप्रसविष्यते वेदानधीत्येति । यद्यन्येन वेदाध्ययनमस्ति कैकत्वविवक्षोपयुज्यते । बा-
ढमपयुज्यते । एकस्यामेव शाखायामधीतायां त्वाभ्यायोध्येतव्यइति विध्यर्थनिवृत्तिः । इच्छा तस्त्वेनैकवेदाध्ययनं यदि न
विधिचोदितं कउन्मत्तोदन्तकलशिकयाऽऽत्मानं क्लेशयिष्यति । अस्त्येवात्र विध्यन्तरं वेदानधीत्येति तच्च फलकामस्य फलं
च स्वर्गः । अथास्य विधेर्वाक्यशेषे किञ्चिदाप्नोत्यते । घृतकुल्यादयोऽन्यद्वा ततस्तदेव भवितुमर्हति ब्रह्मचारिणो हि वि-
धिरर्थावबोधविषयो दृष्टप्रयोजनश्च । अवबोधस्य कर्मानुष्ठानोपयोगादर्थदर्शनाद्विदुषः कर्मण्यधिकारोदकैकवेदाध्ययनमदृ-
ष्टायैव अन्यैश्च वेदाध्ययनेनैव त्वाभ्यायविधिनिवृत्तेरसति धर्माय विधौ वेदानधीत्येत्यादिवचनमनर्थकमेव स्यात् । तत्रो-
च्यते । कथमयं पक्षः संगच्छेत यावतैकोऽयं विधिर्वेदोऽधिगन्तव्यइति । सचेत्संस्कारविधित्वादृष्टकर्मनुष्ठानोपयोगाच्च नादृ-
ष्टार्थः कल्प्यते तदनेकवेदाध्ययनेऽपि तुल्यम् । तत्रापि ह्ययं प्रकारोऽस्त्येव वैरूप्यं च स्यात् । कचिदाधानविधिवदवबोधद्वार-
ेण नित्यकाम्यकर्मसंबन्धः क्लृप्त्वासाक्षात्फलार्थेति । अथ मतं वेदानधीत्येति विध्यन्तरमेतन्न वाचार्यकरणविधिप्रयोज्य-
तत्फलकामएवात्राधिक्रियतइति तदसत् । नचैतद्विध्यन्तरं प्रकृतस्यैव विधेरसत्यां संख्याविवक्षायां पञ्चषट्समादिशाखाध्य-
यनं यावच्छक्तिप्राप्तं त्रयं नियमयति । न चाधीयीतेति विधिरत्र श्रूयते अपितु गृहस्थाश्रममावसेदित्येवमत्र विधिः । यदपि
संख्यायाविवक्षितत्वमुक्तं तदत्यन्तासंबद्धम् । विनियोगतो हि संख्याविवक्षानोपपादनतः । सच विनियोगः त्वाभ्यायार्थ-
मध्ययनमाह नार्थेन गुणभावेन द्वितीयान्ताभ्यामवगतं प्राधान्यमपैति । एवं ह्यश्रीयमाणे ग्रहेभ्येकत्वं विवक्ष्येत ग्रहसमाप्तीति ।
प्रधानभूतस्यापि हितस्य संमार्गप्रत्यस्त्येव साधनभावो न त्वसौ शब्देनाभिधीयते । तथा ग्रहैर्जुहोतीति होमेपि गुणभावः ।
तस्मादभिधानविनियोगाभ्यां प्राधान्यं त्वाभ्यायस्य । सति च प्राधान्ये न विवक्षितमेकत्वम् । हन्त तर्हि यद्येकेनापि वेदेन
गृहीतेन निर्वर्तेत त्वाभ्यायविध्यर्थो वक्तव्यमनेकवेदाध्ययनप्रयोजनम् । तृतीये वक्ष्यामः । ननु यद्यवबोधपर्यन्तोऽर्थविधिस्त-
दा गृहीतेऽपि स्वरूपतो वेदे यावदर्थवबोधो न जातस्तावदन्तरा मधुमांसादियमनियमानुष्ठानमव्यावृत्तं स्यात् तत्र कोदोषः ।
शिष्टसमाचारविरोधः । नहि शिष्टाधीतं वेदे तदर्थमुपशृण्वन्तोपि मधुमांसादिवर्जयन्ति । नैष दोषः । अस्ति हि स्मृत्यन्तरं-
वेदमधीत्य स्नायादिति । तत्राधीत्येति पाठमात्रमुच्यते । स्नायादिति च त्वकालत्वाभ्यायविध्यङ्ग्यमनियमनिवृत्तिर्लक्ष्यते य-
थैव मधुमांसे प्रतिषिद्धे एवं स्नानमपि तत्र स्नानमनुज्ञाय मानं साहचर्यान्मधुमांसादीन्यपि तुल्यप्रकरणत्वादानुजानाति । स्त्री-
संप्रयोगस्तु वचनान्तरेणाविश्रुतब्रह्मचर्यइति प्रतिषिद्धः । तद्यतिक्रमे च न त्वाभ्यायविधेरर्थावबोधकाले किञ्चित्परिही-
णम् । नहि तस्यामवस्थायां तदङ्गसर्वेषां नियमानां ग्रहणान्तत्वात् । पुरुषार्थस्त्वयं प्रतिषेधः । अतएव कथंचिद्विप्रवे-
नावकीर्णप्रायश्चित्तम् । अथ व्रतस्थस्य हिरेतः सेको विकारो न च व्रतस्थश्चान्द्रायणादिनानेनोपपातक प्रायश्चित्तेनाधि-
क्रियते । किंपुनः स्नायादिति लक्षणत्वे कारणमुच्यते । न तावदिदं स्नानमग्निः शरीरक्षालनरूपमदृष्टार्थत्वप्रस-
ङ्गात् ब्रह्मचारिनियमानां चावध्यपेक्षत्वादस्य चावधिसमर्पकत्वेनापेक्षितार्थविधिनोपपत्तेः । न पुनरेवैषामवध्यन्तरापे-

क्षा । त्वाध्यायविध्यर्थाहितेऽतस्तन्निवृत्तिरेव तेषामवधिः । तस्य चनिवृत्तिर्विषयनिवृत्त्या । अध्ययनं च तस्य विषयस्तन्निवृत्तिः प्रत्यक्षैव । सत्यं यद्यस्य श्रुतविषयनिष्ठतैव स्यात् । अश्रुतोप्यस्य विषयः फलभूतोर्थाधिगमोपि संस्कारविधित्वान्यथाऽनुपपत्त्या विषयतामापन्नोयतः श्रुताध्ययननिष्ठत्वे विधित्वमेवास्य व्याह्रन्येत । विधेर्हि त्वार्थानुष्ठापकत्वरूपम् त्वार्थश्च कार्यकारणेतिकर्तव्यतात्मकः तच्च विध्यर्थव्यतिरेकेण नान्यत्किञ्चिन्कार्यकरणविषयएकपदोपादानोः । अधीयीतेत्यध्ययनादिधात्वर्थावच्छिन्नोभावार्थः यमनियमानुष्ठानमिति कर्तव्यता । न तत्र तावदस्यविधेः त्वार्थानुष्ठापकत्वसंभवः यतोविषयानुष्ठानद्वारिकासर्वाविधीनां त्वार्थानुष्ठानसंपत्तिः । तस्यास्य विषयानुष्ठानं विध्यन्तरवशादेव सिद्धम् । आचार्यस्य हि विधिरस्ति उपनीय शिष्यं वेदमध्यापयेदिति । नचाध्यापनमन्तरेणाध्ययनसिद्धिः । अत आचार्यः स्वविधिसंपत्त्यर्थमध्ययने माणवकं प्रवर्तयति त्वयंच ज्ञात्वानाचार्येणाप्रवर्तितस्यानुष्ठानसंभवः । अतोऽवश्यमाचार्यविधिप्रयुक्तता एषितव्या । तत्प्रयुक्तत्वे संति सिद्धमनुष्ठानमिति न त्वाध्यायाध्ययने माणवकस्याविधिना कश्चिदर्थः । अतः प्रयोक्तृत्वासंभवात्कीदृशी विधिरूपतास्य विधेः स्वरूपनाशे प्रसक्ते सप्रकारोन्विष्यते । यथास्य प्रयोक्तृत्वं लभ्यते तत्र निश्चितस्तावदयंसंस्कारविधिः । नच निष्फलः संस्कारोऽध्ययने सतियादशस्य तादशस्यार्थबन्धस्य दर्शनात्तस्य च सकलतत्कर्मानुष्ठानोपयोगित्वात् । अतः श्रुताध्ययनविषयसंबन्धावबोधकर्तव्यतातोविधिः प्रतीयते यद्यपि चवस्तुत्वाभावेन वाक्यग्रहणसमनन्तरमवबोधो जायते नतु निश्चितरूपो भवति । अतोयेन प्रकारेण निश्चयो भवति तस्मिन्शे विधेः प्रयोक्तृत्वनिश्चयविचार्यसंशयादिव्युदासेन भवति । नच विचारोऽन्यतः प्राप्तो नाचार्यविधेः तस्याध्ययनमात्रेण निवृत्तेः । नापि दृष्टकार्यप्रयुक्तः किंविचारमन्तरेण पुरुषस्य नसिध्येद्यदर्थं प्रवर्तते तदच्छ्रया ग्रामादिकामस्येव विचारोऽपि प्राप्त इति चेत् । एवं तस्मिन्नियतत्वात्पुरुषेच्छायाः कश्चिन्निविचारयेत् । यदि विचारयेद्वाध्ययनसमनन्तरमतोस्यांशस्याप्राप्तत्वाद्यावदप्राप्तविधेर्विषयइत्यस्ति विधेर्व्यापारः तस्मादध्ययनस्यान्यतः प्राप्तत्वात्तत्संबन्धस्यावबोधस्यानिश्चितरूपस्य वस्तुत्वाभावेनोत्पत्तेस्तादशस्य न कचिदर्थवत्त्वात्सत्यपि तस्मिन्संस्कारकत्वानिर्व्यूढे निश्चितस्यैव फलवत्कर्माऽनुष्ठानोपयोगित्वानिश्चयस्य विचारसाध्यत्वात्तस्य च नियतकालावश्यकर्तव्यताप्राप्तेस्तन्निवृत्त्यर्थं विचारपर्यवसायी विधिरयमवतिष्ठते । अतोभवत्याकाङ्क्षानियमानां किंश्रुताध्ययनपर्यवसानावधिरुताक्षिमनिश्चितावबोधजननार्थविचारपर्यवसानः । अतोस्यामपेक्षायाम् वेदमधीत्य स्नायादित्यनेनावधिसमर्पणक्रियते । तत्र प्रकृतस्यापेक्षायाश्चाविशेषाद्युक्तालक्षणा । ननु किमिदमुच्यतेऽश्रुतोवबोधः यावताधिगन्तव्यइति श्रूयतएव वेदे स्मृतिषु चान्यासु वेदमधीते त्वाध्यायोऽध्येतव्यइति च पठ्यते मानव्या अपि स्मृतेरेतत्स्मृतिमूलत्वादभिनार्थतैवा आक्षिमावबोधाभिप्रायोयमधिगमोयदि वा स्वरूपग्रहणमेवाधिगमः अवबोधपयन्तता तु तेनैव न्यायेन लभ्यते नच विसमञ्जसमेकोयंविधिस्तस्य च विषयांशः कश्चिदाचार्यविधिना प्रयुज्यतेकस्य चिदशस्य सएव प्रयोजकइति वैरूप्यम् । किमत्रानुपपन्नमर्थभूतस्यैवावगमात् । यत्तूक्तमनेकवेदाध्ययनमदृष्टार्थयुक्तमिति तस्य षट्त्रिंशदाब्दिकमित्यत्र परिहारं वक्ष्यामः । वेदशब्दो मन्त्रब्राह्मणवाक्यसमुदायात्मिकांशाखामाचष्टे । तदवयवेऽपि वाक्ये वेदशब्दस्य प्रयोगदर्शनात् तदाशङ्कानिवृत्त्यर्थः कृत्स्नशब्दः । यद्यप्येकस्मिन्वाक्येधीते वाक्यान्तरस्यापि वेदशब्दवाच्यत्वादेव निवृत्तमध्ययनसंस्कारकर्मत्वाद्ग्रहणवत्तथापि विस्पष्टार्थकृत्स्नग्रहणम् । अन्येत्वङ्गविषयंकृत्स्नशब्दं वर्णयन्ति । वेदशब्दोक्तपरिमाणस्य वाक्यसमुदायस्य वाचकस्तत्र ऋद्धात्रेणापि न्यूनेन त्वाध्यायोऽधीतो भवति । तस्मात्कृत्स्नशब्दोऽध्ययनप्राप्त्यर्थः । तथाच स्मृत्यन्तरं ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोध्येयइति । ननु यो वेदः सकृत्सुइत्येतदत्र प्रतीयते नचाङ्गानि वेदशब्दवाच्यानि तत्र कुतौङ्गे साहित्यं यावेषा स्मृतिः षडङ्गे वैदोध्येयइति तत्र त्वशब्देनाङ्गान्युपात्तानि । इहतु वेदविशेषणत्वात्कृत्स्नशब्द-

स्यकथमिवाङ्गानि गृहेरन् । उच्यते । स्वाध्यायोध्येतव्यइति मूलैर्वैषा स्मृतिः सा चा वबोधपर्यन्ता व्यवस्थापिता अवबोधश्च नान्तरेणाङ्गानि कल्पतइत्यर्थसिद्धमङ्गानामुपादानम् अतोनिगमनिरुक्तव्याकरणमीमांसावेदनमपि विध्याक्षिप्तम् । एवमर्थमङ्गानामुपादानमङ्गीकृत्य कृत्स्नशब्दोद्योतकत्वेन युक्तउपादातुम् । तत्र यथाऽऽरम्भकाणि पुरुषस्य हस्तपादादीन्यगाङ्गान्युच्यन्ते । नैववेदस्य निरुक्तादीन्यारम्भकाणि । अथ च भक्त्याङ्गत्वेन वेदस्योच्यन्ते न किल तैर्विना वेदःस्वार्थाय प्रभवत्यतोङ्गानीवाध्यासोऽत्र । एवमध्यारोपितवेदत्वेन कृत्स्नशब्दनोपपद्यते । सरहस्य इति रहस्यमुपनिषदः सत्यपि वेदत्वे प्राधान्यात्पृथगुपादानम् ॥ १६५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तपोविशेषैः प्राणायामादिभिर्ब्रतैःसावित्र्यादिभिः तत्तच्छाखाभागाध्ययनाङ्गभूतैः वेदएकशाखासूत्रभूतमन्त्रब्राह्मणसमुदायः सकृत्सः षडङ्गसहितोध्येतव्यइत्यर्थः । सरहस्योनिगूढवेदार्थसहितः ॥ १६५ ॥

(३) कुड्मूकः । अध्ययनाङ्गत्वमेव स्पष्टयति तपोविशेषैरिति । तपोविशेषैर्नियमकलापैर्विविधैर्बहुप्रकारैश्च अध्येष्यमाणस्वाचान्तइत्यादिनोक्तैः सेवेत । इमांस्तु नियमानित्यादिभिर्वक्ष्यमाणैरपि ब्रतैश्चोपनिषन्महानाम्निकादिभिर्विधिदेशितैः त्वगृह्यविहितैःसमग्रवेदोमन्त्रब्राह्मणात्मकः सोपनिषत्कोप्यध्येतव्यः । रहस्यमुपनिषदः । प्राधान्यख्यापनाय पृथङ्निर्देशः ॥ १६५ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव नैतदचीर्णव्रतोद्योतेइत्यादिश्रुतिप्रमाणयति तपइति । तथाहि मुण्डकमधीयानःशिरस्यगारपात्रंविभर्ति कश्चित्तथा कारीरीमधीयानोभूमिभोजनंकरोति अश्वमेधमधीयानोअश्वस्य घासं प्रयच्छति । तपोविशेषैर्विधिचोदितैःस्वस्वगृहोक्तैः । सरहस्यःरहस्यनामोपासनादि तद्युक्तः ॥१६५॥

(५) नन्दनः । अङ्गान्तराण्याह तपइति । ब्रतैः प्राजापत्यादिभिः कर्माधिकृत्यप्रवृत्तः शब्दराशिविशेषोवेदः ज्ञानमधिकृत्यतुरहस्यम् कृत्स्नःसाङ्गः अध्येतुरेकवेदाध्ययनेन कृतार्थता स्यादित्येकवचनेनसूचितम् ॥ १६५ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्विजन्मना सरहस्यःवेदःकृत्स्नः अधिगन्तव्यःतपसःविशेषैर्ब्रतैर्विविधैःविविधशास्त्रोदितैः ॥ १६५॥ वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः ॥ वेदाभ्यासोहि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ १६६॥

(१) मेधातिथिः । प्रकृतशेषतया प्राप्तएव ग्रहणार्थोभ्यासोनूद्यते स्तुत्यर्थेन पुनर्विध्यन्तरम् । सदा शब्दोग्रहणकालापेक्षएव । तपःशब्दः शरीरक्लेशजननेष्वाहारनिरोधादिषु वर्तते । इहतु तज्जन्यात्मसंस्कारोवराभिशापादिसामर्थ्यलक्षणयोच्यते । ततस्तपस्तप्स्यंस्तपसाऽर्जयितुमिच्छन्नर्जनाङ्गे संतापे धातुर्वर्तते । कर्मकर्तृत्वस्याविवक्षितत्वात्परस्मैपदम् । हेतुरुपोद्वितीयश्लोकार्थवादः वेदाभ्यासोहि यावत्किञ्चित्प्रकृष्टतपः ततः परंश्रेष्ठवेदाभ्यासस्तत्तुल्यफलतामारोप्य स्तूयते ॥ १६६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सदा आश्रमान्तरेपि वेदमेव तपःस्थानेभ्यस्येद्ब्राह्मणः न तु तद्विरोधि तपोपि कुर्यात् । पुनर्विप्रस्येति पदद्विजोत्तमपदस्योपलक्षणार्थं शङ्कानिवृत्त्यर्थम् ॥ १६६ ॥

(३) कुड्मूकः । यत्र नियमानामङ्गत्वमुक्तंतत्कृत्स्नस्वाध्यायाध्ययनमनेन विधत्ते । तपस्तप्स्यंश्चरिष्यन्दिजोवेदमेव ग्रहणार्थमावर्तयेत् । तस्माद्देदाभ्यासएव विप्रदेरिहलोके प्रकृष्टतपोमुनिभिरभिधीयते ॥ १६६ ॥

(४) राघवानन्दः । सत्यंवद धर्मचर स्वाध्यायान्माप्रमदः इत्यादिश्रुतिब्रह्मचारिप्रकरणगतांप्रमाणयति वेदेति । अभ्यसेच्छब्दतोऽर्थतश्चावर्तयेत् तप्स्यन्तमुमिच्छन् तपःस्थाने वेदाध्ययनमेवकुर्यादिति ॥ १६६ ॥

(५) नन्दनः । ब्राह्मणस्य वेदजपएवतपोनान्यदितिप्रसङ्गादाहवेदमिति । तपस्तप्स्यंस्तपएवपरमनिःश्रेयसकरमितिपश्यन् । सदाआश्रमान्तरेऽपि । इहवेदेउच्यते । तपोहिस्वाध्यायइतिश्रूयते । हिहेतौ ॥ १६६ ॥

आहैव सनखाग्रेभ्यः परमंतप्यते तपः॥ यः स्रग्व्यपि द्विजोधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम्॥ १६७॥

(१) मेधातिथिः । अयमपरोवाजसनेयकत्वाभ्यायविधिब्राह्मणेऽर्थवादानुवादः । आनखाग्रेभ्य एवेति संबन्धः । ह-
शब्देतिह सूचकः । परमशब्दात्तपसः प्रकर्षे प्रतिपन्ने नखाग्रग्रहणं प्रकृष्टस्यापि प्रकर्षमाह । नखाग्राणि निर्जीवानि तान्यपि
तपसाऽनेन व्याप्यन्ते । तपोहि कृच्छ्रादिकं नखाग्राणामव्यापकत्वान्निःशेषफलप्रदम् । इदं तु तान्यपि व्याप्नोतीति प्रशंसा ।
तप्यते तप इति । तपस्तपः सकर्मकस्यैवेति यगात्मनेपदे । यः स्रग्व्यपि । स्रगस्यास्तीति स्रग्वी कृतकुसुमदामा पुरुष उ-
च्यते । अनेन च ब्रह्मचारिनियमत्यागदर्शयति । परित्यज्यापि ब्रह्मचारिधर्मान् यदि शक्तितोयावच्छक्नोति त्वल्पमन्यन्व-
हं प्रत्यहं वेदमधीते सोपि प्रकृष्टेन पुरुषार्थेन युज्यते । स्तुतिरियं पुनर्नियमत्यागेऽध्ययनमुच्यते ॥ १६७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । हेति प्रसिद्धौ । आङ्गभिर्विधौ । आनखाग्रेभ्योऽपि नखाग्रैस्तपश्चरतीत्यर्थः । स्रग्व्यपीति
अलंकृतोपि रागवानपीत्यर्थः ॥ १६७ ॥

(३) कुहूकः । स्वाध्यायाध्ययनस्तुतिरियम् । हशब्दः परमशब्दविहितस्यापि प्रकर्षस्य सूचकः स द्विजआ-
नखाग्रेभ्य एव चरणनखपर्यन्तं सर्वदेहव्यापकमेव प्रकृष्टतमं तपस्तप्यते । यः स्रग्व्यपि कुसुममालाधार्यपि प्रत्यहं यथाश-
क्तिस्वाध्यायमधीते । स्रग्व्यपीत्यनेन वेदाध्ययनाय ब्रह्मचारिनियमत्यागमपि स्तुत्यर्थं दर्शयति । तप्यते इति तपस्तपः-
कर्मकस्यैवेति यगात्मनेपदे भवतः ॥ १६७ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैवेतिह प्रमाणयति आहैवेति । छन्दसि व्यवहिताश्चेति सूत्रादाङ्गनखेन संबन्धादानखाग्रेभ्यो-
देहव्यापि तपः । हशब्देतिह सूच्यते । स्रग्वीमाली विषयासक्तोपीति यावत् तपां विधाने स्रग्वीत्याद्यसमञ्जसमतो वेदा-
भ्यासेतान्पर्यम् ॥ १६७ ॥

(५) नन्दनः । उक्तमेवार्थवादेन स्थिरीकरोति आहैवेति । आह इति पदच्छेदः । मूर्ध्वआरभ्य पदनखाग्रेभ्यः कृत्स्ने-
न शरीरेणेति यावत् ॥ १६७ ॥

(६) रामचन्द्रः । समनुः । नखाअग्रामुख्यायेषां नखाग्राः तेभ्यः नखाग्रेभ्यः ऋषिभ्य आह ऋषिस्वाध्यायम-
न्वहं शक्तितः अधीतेयः परमंतपः तप्यते कर्म कर्तरि ॥ १६७ ॥

यो नधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ॥ स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ १६८ ॥

(१) मेधातिथिः । येषां तावत्कृत्स्नशब्दो द्वपरिग्रहार्थं तेषामनियतक्रमेऽध्ययने प्राप्ते क्रमो नियम्यते । प्रथमं-
वेदोध्ये तव्यस्ततोऽङ्गानि । येषां तु वेदस्यैवार्थं कल्प्याशङ्कानिवृत्त्यर्थं तेषां त्रैविद्यं त्रतानन्तरं वेदस्यैव प्राप्तमध्ययनमगृहीतेपि
तस्मिन् अध्ययनमभ्यनुज्ञायते । यो द्विजो वेदमधीत्यान्यत्र शास्त्रे द्वेषु तर्कशास्त्रग्रन्थेषु वा श्रममभियोगातिशयं कुरुते स जीवन्ने-
व शूद्रत्वमाप्नोति । आशु क्षिप्रम् । सान्वयः पुत्रपौत्रादिसंतत्यासह । श्रमो यत्नातिशयस्तन्निषेधा योगात्तत्समामौ यथावस-
रमन्यान्यपि विद्यास्थानानि पठ्यन्ते । शूद्रत्वप्राप्तिवचनं निन्दातिशयः । द्विज इति वचनादुपनीतस्यायं क्रमनियमः । प्राक्-
चोपनयनादङ्गाध्ययनमनिषिद्धं शिक्षाव्याकरणादियद्वेदवाक्यैर्मिश्रितम् । ननु च स्वाध्यायविधिनाङ्गान्याक्षिप्यन्ते तं च
विधिमाचार्यप्रयुक्तो माणवकोऽनुतिष्ठति प्रागुपनयनादसत्याचार्यं कुतोऽङ्गाध्ययनसंभवः । नैष दोषः । तस्मादनुशिष्टपु-
त्रं त्योक्त्यमाहुरिति पित्रा यः संस्कर्तव्यः स पुनर्प्रागुपनयनाद्याकरणाद्यध्यापयिष्यति ॥ १६८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनधीत्यानभ्यस्य । अन्यत्र शास्त्रे ॥ १६८ ॥

(३) कुल्लूकः । योद्विजोवेदमनधीत्यान्यत्रार्थशास्त्रादौ श्रमयन्वातिशयंकरोति सजीवन्नेव पुत्रपौत्रादिसहितः शीघ्रंशूद्रत्वंगच्छति । वेदमनधीत्यापि स्मृतिवेदाङ्गाध्ययने विरोधाभावः । अतएव शङ्कलिखितौ । न वेदमनधीत्यान्यां विद्यामधीयीतान्यत्र वेदाङ्गस्मृतिभ्यः ॥ १६८ ॥

(४) राघवानन्दः । अध्ययनस्यावश्यकत्वेऽर्थवादमाह यइति । अन्यत्र तर्कव्याकरणादौ गुरुमुखादनधीतस्य वेदस्य कर्मानधिकाराच्छूद्रत्वम् । सान्वयःपुत्राद्यन्वितः । मेधातिथिस्तु द्विजस्याद्वै शूद्रापरिणयनंउपनीतस्य प्रथमतो-
व्याकरणाद्यध्ययने शूद्रत्वमिति अर्थावबोधकमस्य वेदाध्ययनमिति श्रुतेः । अयमर्थवादो नित्यकर्माकरणे पर्यव-
सितः ॥ १६८ ॥

(५) नन्दनः । आर्यपक्षपरोऽपि वेदमनधीत्यविद्यान्तरमभ्यस्यतोब्रह्मचारिणोदोषमाह यइति । अन्यत्र विद्यान्तरे शूद्रतांयाति वेदानध्ययनसामान्याद्विजातिशयोमध्ययनस्तुत्यर्थः ॥ १६८ ॥

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयंमौञ्जिबन्धने ॥ तृतीयंयज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥ १६९ ॥

(१) मेधातिथिः । द्विजातीनांतत्र तत्राधिकारः श्रुतस्तत्राचार्यादिशब्दवत्सुदृढत्वात्तदर्थनिरूपणार्थमाह । मातुः सकाशादग्रे आदावधिजननंजन्मपुरुषस्य द्वितीयंमौञ्जिबन्धने उपनयने । इत्यापोर्बहुलमिति ह्रस्वः । तृतीयंज्योतिष्टोमादिय-
ज्ञदीक्षायाम् । दीक्षापिजन्मत्वेन श्रूयते पुनर्वारंतद्विजोगर्भकुर्वन्ति यद्दीक्षयन्तीति । त्रीणि जन्मानि द्विजस्य श्रुतिनोदि-
तानि । नन्वेवंसन्ति त्रिजः प्राप्नोति । अस्तु । द्विजव्यपदेशे तावदुपनयनंनिमित्तं तद्यपदेनिबन्धनश्च श्रौतस्मार्तसामयिकाचा-
रिक कर्माधिकारः । प्रथमतृतीयजन्माभिधानंद्वितीयजन्म स्तुत्यर्थं सर्वजन्म श्रेष्ठतत् । अदीक्षितोहि यज्ञएव नाधिक्रियते
अनुपनीतस्तु न कचिदेव । अन्येत्वाद्यत्वसामान्यादाधानंयज्ञदीक्षांमन्यन्ते । तस्यापि जन्मसंभवोस्ति अजातएवासौयो-
ऽग्नीन्नाधत्तइति ॥ १६९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मातुः अधिमातर्याधारभूतायां मौञ्जिबन्धने सावित्र्याः यज्ञदीक्षायांदीक्षातः द्विजस्य
द्विजतांप्राप्तस्य तत्तृतीयजन्म ॥ १६९ ॥

(३) कुल्लूकः । द्विजानांतत्र तत्राधिकारश्रुतेर्द्विजत्वनिरूपणार्थमाह मातुरग्रेइति । मातुः सकाशादादौ पुरुषस्य
जन्म द्वितीयंमौञ्जिबन्धनेउपनयने । इत्यापोःसंज्ञाछंदसोर्बहुलमितिह्रस्वः । तृतीयंज्योतिष्टोमादि यज्ञदीक्षायांवेदश्रवणात् ।
तथा च श्रुतिः पुनर्वायद्विजोयज्ञियंकुर्वन्ति यद्दीक्षयन्तीति । प्रथमद्वितीयतृतीयजन्मकथनंचेदद्वितीयजन्मस्तुत्यर्थं
द्विजस्यैव यज्ञदीक्षायामप्यधिकारात् ॥ १६९ ॥

(४) राघवानन्दः । अधीतवेदस्य जन्मद्वयमनुवदन्ज्योतिष्टोमादियज्ञस्यावश्यकत्वंतृतीयजन्मत्वेनाह मातु-
रिति । मातुरधिजननंजन्ममौञ्जिबन्धने द्वितीयंतन्निमित्तंयावज्जीवमग्निहोत्रंजुहुयादिति श्रुतेः । वसन्तेवसन्ते ज्योतिषा य-
जेतेति । प्रतिसंवत्सरंसोमइतिस्मृतेश्च । तेषामावश्यकत्वेन दीक्षायाअप्यावश्यकत्वात् पुनर्जायिरन्मृत्विजोगर्भकुर्वन्तिदी-
क्षयन्ति इत्यादिश्रुतेर्दीक्षाया जन्मान्तरहेतुत्वश्रवणात्अतएवाह श्रुतिचोदनात् ॥ १६९ ॥

(५) नन्दनः । इदानीमुपनीतस्यैव वेदाध्ययनेऽधिकारो नान्यस्येतिविवक्षन्पुनयनस्यजननकल्पतांतावदाह
मातुरिति । मौञ्जिबन्धनेउपनयने । ह्रस्वोऽत्रवृत्तिभङ्गपरिहारार्थः । प्रथमतृतीययोर्जन्मनोरुपन्यासोदृष्टान्तार्थः ॥ १६९ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्विजत्वमाह मातुरिति । मातुःसकाशात्अग्रेअधिजननंजन्म द्वितीयंजन्म मौञ्जिबन्धने भवति ।
यज्ञदीक्षायांतृतीयजन्म द्विजस्य विधिनोदनाद्भवतीत्यर्थः ॥ १६९ ॥

तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम् । तत्रास्य माता सावित्रीपितात्वाचार्य उच्यते ॥ १७० ॥

(१) मेधातिथिः । तत्रैतेषु द्विजन्मसु सदेतद्ब्रह्मजन्म उपनयनमौञ्जीबन्धनचिह्नितमेखलाबन्धनेनोपलक्षितम् । तत्रस्य माता सावित्रीतया ह्यनूक्त्या तन्निष्पन्नं भवति । अनेन च सावित्र्यनुवचनमुपनयने प्रधानं दर्शयति । तदर्थं ह्यसौ समीपमानीयतेपिताऽऽचार्यः । मातापितृनिवर्त्यजन्म । अतोरूपकभङ्ग्या तत्राप्याचार्यसावित्र्यौ मातापितरावुक्तौ ॥ १७० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यद्ब्राह्मणे वेदात्सावित्रीरूपाजन्ममौञ्जीबन्धनेनोपनयनकर्मणा चिह्नितमुन्नेयम् ॥ १७० ॥

(३) कुल्लूकः । तत्रेति तेषु त्रिषु जन्मसु मध्ये यदेतद्ब्रह्मग्रहणार्थजन्म उपनयनसंस्काररूपमेखलाबन्धनोपलक्षितं तत्रास्य माणवकस्य सावित्री माताऽऽचार्यश्चपिता मातृपितृसंपाद्यत्वाजन्मनः ॥ १७० ॥

(४) राघवानन्दः । ब्रह्मदस्य पितुः जनयितव्ये परत्वापेक्षां पूरयन् मौञ्जीबन्धनदीक्षा लक्षणजन्मद्वयकारणत्वादेव पितृतः श्रेष्ठ्यमाह तत्रेति त्रिभिः । तत्र द्वितीये जन्मन्युपनयनारूपे तृतीये यज्ञजन्मनि दीक्षाप्रसूः ऋत्विक्पितेत्युक्तः ॥ १७० ॥

(५) नन्दनः । तेषु त्रिषु जन्मसु मध्ये ब्रह्मजन्मोपनयनम् ॥ १७० ॥

(६) रामचन्द्रः । यत्र द्विजानां मध्ये अस्य द्विजस्य ब्रह्मजन्मब्राह्मणवेदस्य सकाशात् जन्मबन्धनचिह्नितं तत्र जन्मनि अस्य सावित्री माता पिता आचार्य उच्यते ॥ १७० ॥

वेदप्रदानादाचार्यं पितरंपरिचक्षते ॥ न ह्यस्मिन् युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जीबन्धनात् ॥ १७१ ॥

(१) मेधातिथिः । मौञ्जीबन्धनचिह्नितमित्युक्तम् । तत्र रज्वासज्जनादाचार्यः पितृवन्मान्यः स्यात्तदर्थमुच्यते वेदप्रदानादाचार्यपितरंपरिचक्षते कृत्स्नवेदाध्यापनान्नोपनयनाद्भूतसावित्र्यनुवाचनमात्रादेव । प्रदानं स्वीकारोत्पादनं वेदाक्षरोच्चारणे माणवकस्य । यद्येवं यावन्नाचार्येण पितृत्वं प्राप्तं तावन् माणवको द्वितीयजन्म समश्नुते । अप्राप्तद्विजभावश्च प्रागिवोपनयनात्कामचारः स्यादत आह न ह्यस्मिन्माद्भौञ्जीबन्धनादस्य माणवकस्य किञ्चित्कर्म श्रौतस्मार्तमाचारप्रतिष्ठं वाऽदृष्टार्थं प्रयुज्यते न तत्राधिक्रियते । उपनयनसमनन्तरमेव सर्वैर्हि जातिपुरुषधर्मे रधिक्रियते । नन्ववैद्यत्वात्तस्यामवस्थायां कथमधिक्रियतां एतदर्थमेवोक्तं गुरौ शिष्यश्च याज्यश्चेति । आचार्येणासौ शिक्षयितव्यः । तदुक्तं शौचाचारांश्च शिक्षयेत् । यथा च गौतमः उपनयनादिनियमइति । आचार्यस्य तु वेदसमापनान्तो व्यापारः ॥ १७१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पितामातेति निरुक्तं तत्कथमाचार्यस्तथेत्यत आह वेदप्रदानादिति । प्रत्यवायनिवर्तनं हि रक्षणं तच्चाचार्येणापि वेदानधिगमजन्यप्रत्यवायरक्षणात् कृतमिति भवत्यसौ पितेत्यर्थः । प्रत्यवायमाह न ह्यस्मिन्निति । अस्मिन्बाले ॥ १७१ ॥

(३) कुल्लूकः । वेदाध्यापनादाचार्यपितरं मन्वादयो वदन्ति । पितृवन्महोपकारफलात् गौणपितृत्वम् । महोपकारमेव दर्शयति न ह्यस्मिन्निति । यस्मादस्मिन्माणवके प्रागुपनयनार्त्तिकचित्कर्म श्रौतं स्मार्तं च न संबध्यते न तत्राधिक्रियत इत्यर्थः ॥ १७१ ॥

(४) राघवानन्दः । अस्मिन्नुपनीते बाले न युज्यते अदृष्टार्थं कर्तृत्वेनेति शेषः ॥ १७१ ॥

(५) नन्दनः । अथ आचार्यस्य पितृत्वे हेतुमाह वेदेति । वेदप्रदानात्सावित्रीप्रदानात् । सर्वैर्हि वेदाः सावित्री । उपनयनारूपजन्मप्रदानादितियावत् । उपनयनस्योत्पादनसाधर्म्यकथनं तत्कर्तुराचार्यस्य पितृत्वोपपादनार्थमुत्तरार्धेनोपपादितम् । तत्रायमर्थः । अजातस्य यथा न किञ्चिदस्ति कर्म कर्मणः शरीरसापेक्षत्वादेव मनुपनीतस्यापि विहितं कर्म नास्ति ।

जातस्यतु यथास्तिकर्मैवमुपनीतस्यापि विहितं कर्मास्ति । तेनैवमुपनयनस्योत्पादनसाधर्म्यात्तत्कर्तुराचार्यस्य पितृत्वमुपपन्न-
मिति ॥ १७१ ॥

(६) रामचन्द्रः । वेदप्रदानात्वेदस्य अभ्यापनात् आचार्यपितरं पितृतुल्यं प्रचक्षते । अस्य द्विजस्य आमौज्जीबन्ध-
नात्किंचित्कर्म कर्तव्यं विद्यते विना यज्ञोपवीतं कर्माहानं भवन्तीत्यर्थः ॥ १७१ ॥

नाभिव्याहारयेद्ब्रह्म स्वधानिनयनादृते ॥ शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ॥ १७२ ॥

(१) मेधातिथिः । आमौज्जीबन्धनादित्यनुवर्तते । यदि वा यावद्वेदे न जायत इत्यर्थवादतोऽवधिपरिनिश्चयः ब्रह्म
वेदस्तन्नोच्चारयेत् । पितुरयमुपदेशः यथामद्यपानादिभ्योरक्षते तथा वेदाक्षरोच्चारणात् । केचित्त्विममेव ब्रह्माभिव्याहार
निषेधं प्रागुपनयनाद्याकरणाद्यङ्गाध्ययने ज्ञापकं वर्णयन्ति । णिजर्थव्याचक्षते पित्रा न वाचनीयः बाल्या तु कानिचि-
द्व्यक्तानि वेदवाक्यानि स्वयंपठतो न दोषः । एतत्तु न युक्तं स्मृत्यन्तरे हि प्रचक्षते न ब्रह्माभिव्याहरेदिति । अर्थवादे च
श्रुतं शूद्रेण हि समस्तावदिति । यथा शूद्रो दुष्यति तद्वदयमपीत्युक्तं भवति । स्वधाशब्देन पितृभ्यः कल्पितमन्नमिहोच्यते ।
अथवा पित्र्यं कर्म स्वधाशब्देनोच्यते । तन्निनीयते त्यज्यते प्राप्यते येन मन्त्रेण स स्वधानिनयनः । शुन्धन्तां पितर इत्या-
दिस्तं वर्जयित्वा न्यमन्त्रो नोच्चारयितव्यः । अनुपनीतेनोदकदाननवश्राद्धादिपितुः कर्तव्यमित्यस्मादेव प्रतीयते । पार्वणश्रा-
द्धादौ त्वग्निमत्त्वाभावादनधिकारः पिण्डान्वाहार्यकं हि तद्वक्ष्यते । तृतीये चैतन्निपुणमुपपादयिष्यामः ॥ १७२ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । धर्मकर्मसाधनंतपः प्रभृतितदेवकुत इत्याह । नाभिव्याहारयेदिति । ब्रह्म वेदम् । स्वधा-
शब्देनापो निनीयन्तेति त्वधानिनयनं श्राद्धं तत्र मन्त्रोच्चारणमनुपनीतेनापि कार्यमेव ततो न्यविषये वेदोच्चारणं कारये-
दिति । श्राद्धेनवश्राद्धादौ वेदोच्चारणमनुज्ञातम् । एतच्च कर्त्रन्तरासंभवे शूद्रेण हीत्यन्य विषये वेदोच्चारणे तादृशप्राय-
श्चित्तलाभार्थम् । वेदे साविष्याम ॥ १७२ ॥

(३) कुल्लूकः । आमौज्जीबन्धनादित्यनु वर्तते प्रागुपनयनाद्वेदो नोच्चारयेत् । स्वधाशब्देन श्राद्धमुच्यते निनी-
यते निष्पाद्यते येन मन्त्रजातेन तद्वर्जयित्वा मृतपितृकोनवश्राद्धादौ मन्त्रं नोच्चारयेत् । तद्यतिरिक्तं वेदोदाहरेत् यस्मा-
द्यावद्वेदे न जायते तावदसौ शूद्रेण तुल्यः ॥ १७२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच वेदग्रहणयोग्यतासंपादकजन्मयावन्न जायते तावन्नाभिव्याहारयेत् न अभ्यापयेत्
ब्रह्म वेदम् । स्वधाश्राद्धं तन्नीयते निष्पाद्यते येन मन्त्रजातेन तद्वर्जयित्वा । तेनानुपनीतस्य पितुरौर्ध्वदेहिके अस्त्यधिकार-
इति । शूद्रेण हि समः वेदं यथा शूद्रं वाचयति किंतु तूष्णीं कर्ता करोति शूद्रोऽमन्त्रेण गृह्यत इति स्मृतेः एवमस्य तदति-
रिक्तवेदावाचकत्वात् ॥ १७२ ॥

(५) नन्दनः । यतएवं तस्मादनुपनीतं तन्नाभिव्याहारयेद्ब्रह्म पिता तत्समो वा । स्वधा निनयनात् स्वधानिनयनमन्त्रवत्
पितृकर्ममन्त्रादिति यावत् । हि हेतौ । वेदे साविष्याम ॥ १७२ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्रह्म वेदं न अभिव्याहरेत् न वेदस्य उच्चारणं कुर्यात् । प्रेतकर्मणः स्वधानिनयनादृते अकृतोपनयन-

(१७२) स्वधानिनयनादृते (ग, च)

—निर्वपनादृते (ख)

स्य द्विजस्य पित्रोर्मरणं भवेत् चेत्तर्हि स्वधोच्चारणं कर्तव्यं प्रेतकर्म करणीयम् । यावद्देदेन जायते वेदस्य सकाशात्तज्जन्म न भवेत्तावत्तद्गृहप्रायो भवेत् ॥ १७२ ॥

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते ॥ ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥ १७३ ॥

(१) मेधातिथिः । उपनीय गुरुः शिष्यमित्यनेन शौचाचाराध्ययनानां क्रमोक्तः । अतश्च तेनैव क्रमेण पठेत् । उपनयनानन्तरमध्ययने प्राप्ते क्रमान्तरार्थमिदमारभ्यते । उपनीतस्य त्रैविद्यादिव्रतं च कर्तव्यम् । ततः स्वाध्यायोध्येतव्यः । कृतोपनयनस्य ब्रह्मचारिणो व्रतादेशनमिष्यते क्रियते चाचार्यैः । शास्त्रवशेनैव मिष्यते । अतश्च कर्तव्यतैर्वैषणा प्रतिपाद्यते । ततो ब्रह्मणो वेदस्य ग्रहणं क्रमेणानेन विधिपूर्वकमित्यर्थवादः श्लोकपूरणार्थः ॥ १७३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । व्रतादेशनं मधुमांसभक्षणादिनियमोपदेशः । यद्वा व्रतं यच्च भक्षणादि आदेशनं चान्द्रायणादिप्रायश्चित्तोपदेश इति विभज्य व्याख्येयम् । क्रमेणानन्तरमध्ययनस्य पूर्वमध्ययनेन ॥ १७३ ॥

(३) कुल्लुकः । यस्मादस्य माणवकस्य समिधमाधेहि दिवा मा त्वाप्सीरित्यादि व्रतादेशनं वेदस्याध्ययनं मन्त्रब्राह्मणक्रमेणाध्येष्यमाणस्त्वाचान्त इत्यादि विधिपूर्वकमुपनीतस्योपदिश्यते तस्मादुपनयनात्पूर्वं न वेदमुदाहरेत् ॥ १७३ ॥

(४) राघवानन्दः । संप्रति ब्राह्मणादिब्रह्मचारिणः प्रजापत्युक्तव्रताद्यनुवादेन नियमानाह कृतोपनयनस्येति समदशभिः । व्रतादेशनं त्रैविद्यादिब्रततोपदेशो गुरुणा कार्यः ततो वेदाध्ययनं ततश्चोपनीयगुरुरित्युक्तक्रमो बाध्यते इति मेधातिथिः । उपनीयेत्येव वेदशब्दोत्र गायत्रीपर इति न क्रमविरोधः ॥ १७३ ॥

(५) नन्दनः । उपनयमानान्तरमध्ययने प्राप्ते क्रमो विधीयते कृतेति । व्रतादेशनं व्रतानां प्राजापत्यादीनामुपदेशक्रमेण वेदाध्यायिनामाचारेण ॥ १७३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अस्य द्विजस्य कृतोपनयनस्य व्रतादेशनं व्रताचरणं इष्यते । ब्रह्मणः वेदस्य ग्रहणं क्रमेण क्रमक्यजुःसामक्रमेण विधिपूर्वकं ग्राह्यम् ॥ १७३ ॥

यद्यस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं या च मेखला ॥ योदण्डो यच्च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि ॥ १७४ ॥

(१) मेधातिथिः । गृह्यकारैर्व्रतनामधेयकानि कर्माण्युपदिष्टानि संवत्सरं वेदभागं वार्किचिज्जिघृक्षत इयं व्रतचर्या योयमनियमसमूहस्तत्र पूर्वव्रतसमामौ व्रतान्तरारम्भे उपनयने ये विधयस्तादृश एव व्रतादेशेषु । अथ प्रागुपात्तानां का प्रतिपत्तिः । अप्सु प्रासनम् । ननु च तदुक्तं प्रागुपात्तानां विनष्टानां का प्रतिपत्तिः । विनाशे शास्त्रनोदितं चैषां कार्यमन्योपादानाच्च तेषां निवृत्तिः । यच्चर्मयस्य ब्रह्मचारिणो विहितं यथा कार्ण्यब्राह्मणस्य रौरवंक्षत्रियस्येति । एवं दण्डादिष्वपि द्रष्टव्यं तस्य व्रतेष्वपि कृतत्वात् । व्रतशब्दो व्रतादेशे वर्तते ॥ १७४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । व्रतेषु चान्द्रायणेषु गार्हस्थ्येषु चान्द्रायणादिव्रतेषु एतत्पञ्चकं तत्त्ववर्णोक्तं ग्राह्यमित्यर्थः । कचिद्देवाध्ययनाद्भवतेषु सावित्र्यादिष्वविनष्टान्यपि पूर्वाणि जले त्यक्त्वा तृतीयान्यन्यानुपादेयानीत्यस्यार्थमाहुः ॥ १७४ ॥

(३) कुल्लुकः । यस्य ब्रह्मचारिणो यानि चर्मसूत्रमेखलादण्डवस्त्राण्युपनयकाले गृहेण विहितानि गोदानादि व्रतेष्वपि तान्येव नवानि कर्तव्यानि ॥ १७४ ॥

(४) राघवानन्दः । व्रतेषु षट्त्रिंशदाब्दिकादि वेदव्रतेषु काम्येषु वेदग्रहणतात्पर्यं नृतेषु वा ॥ १७४ ॥

(५) नन्दनः । अथ कानिचिद्व्रतानि व्रतप्रसङ्गादाह यद्यस्येति । यस्य ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य वैश्यस्य वा यच्चर्म-
काष्णरीरैववास्तादि । एतेनयत्सूत्रमित्यादिव्याख्यातम् । पुराणानि चर्मादीनि समुत्सृज्यान्यानि नवानि चर्मादीनि
व्रतेषु धार्याणीत्यर्थः ॥ १७४ ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्य ब्राह्मणस्य वा क्षत्रियस्य वा वैश्यस्य वा यत्सूत्रं यज्ञोपवीतं च चर्म विहितं या च मेख-
ला स्थितायः इण्डः यत् वसनं तत्तत्तदस्येद्विजव्रतेष्वपि ॥ १७४ ॥

सेवेतेमांस्तु नियमान् ब्रह्मचारी गुरौ वसन् ॥ सन्नियम्येन्द्रियग्रामंतपोदृढ्यर्थमात्मनः ॥ १७५ ॥

(१) मेधातिथिः । वक्ष्यमाणस्य यमनियमसमूहस्य पृथक्प्रकरणत्वेन श्लोकोयंगौरवख्यापनार्थः । एवं तु य-
त्पूर्वमुक्तं तदवश्यकर्तव्यमिदं तु ततो गुरुतरमनुशीयमानं महते फलाय । ब्रह्मचारिग्रहणं प्रकरणान्तरत्वेनातद्धर्माशङ्क्याऽनुसं-
धानार्थम् । यदि ब्रह्मचारिधर्म एवाऽऽसीत् किंतु तर्हीदमुच्यते प्रकरणान्तरमिति । पूर्वेष्वप्येतेषामतिशयात्समानधर्मत्वादेतावता
वैलक्ष्येन प्रकरणान्तरत्वव्यवहारः । परिशिष्टानि पदानि श्लोकपूरणार्थतयानूद्यन्ते । सेवेत अनुतिष्ठेत । इमान्वक्ष्यमाणान्-
न । बुद्धौ संनिहितत्वादिदमनिर्दिश्यन्ते । गुरौ वसन्गुरुसमीपे विद्याध्ययनार्थं वसन् । नियमानाह । सन्नियम्येन्द्रियग्रामं-
प्रागुक्तेन मार्गेण तपोवृद्ध्यर्थं भ्यायविध्यनुष्ठानजन्यात्मसंस्कारार्थम् ॥ १७५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इमान्वक्ष्यमाणान् ॥ १७५ ॥

(३) कुल्लुकः । ब्रह्मचारी गुरुसमीपे वसन्निन्द्रियसंयमं कृत्वात्मगतादृष्टवृद्ध्यर्थमिमान्नियमाननुतिष्ठेत् ॥ १७५ ॥

(४) राघवानन्दः । इमान्वक्ष्यमाणान् ॥ १७५ ॥

(५) नन्दनः । इमान्वक्ष्यमाणान् ॥ १७५ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्रह्मचारी गुरौ वसन्गुरोः समीपे वसन् इमान्नियमान्सेवेत कुर्यात् ॥ १७५ ॥

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् ॥ देवताभ्यर्चनंचैव समिदाधानमेव च ॥ १७६ ॥

(१) मेधातिथिः । तानीदानीं प्रतिज्ञातान्पूर्वेण नियमानाह । प्रत्यहं स्नात्वा शुचिः स्नानेनापनीताशुचिभावो देवर्षि-
पितृतर्पणंकुर्यात् । यदि पुनर्न शुचिः तदावश्यं स्नायात् । शुचिग्रहणेन शुद्धिहेतुतया त्रस्नानस्योपदिष्टत्वात् स्नातकव्रतवत्त-
दनुष्ठेयम् । अतएव स्मृत्यन्तरे च स्नानप्रतिषिद्धसं प्रतिषेधोऽप्युदा स्नानस्य प्रसाधनलक्षणस्य । गौतमेन तु स्नानमेवं विहितं दण्ड-
वाप्सु परिप्लवते । मलापकर्षणं करनिघर्षणादिना न कर्तव्यम् । अस्यामेभ्यादिसंसर्गेण यत्स्वेदं ज्वररोगेणुसंयोगादिसहजं म-
लं तदशुचित्वमापादयति तद्धिनियतरूपमेव । तथा च ब्राह्मणं किं नुमलं किमजिनं किमुश्मश्रूणि किंतपइति । धर्मसाधनतामेवं-
विधस्य मलधारणस्य दर्शयति । कथंपुनः स्नानस्य शौचार्थता प्रतीयते । न पुनः स्नातः शुचिश्चोभयविशिष्टो देवकार्ये विनियु-
ज्यते । स्नातस्याशुचित्वाभावात्कृतशौचाचमनादेः स्नानविधानात्स्नात्वाचाचान्तः पुनराचामेदिति च स्नातस्यापि शुचिरित्ये-
तावता यादृशी शुद्धिस्तस्यां विज्ञायमानायां स्नानमपि सति निमित्ते प्राप्तं पुनरुच्यते । स्मृत्यन्तरंचेदस्य शुचित्वे निमित्ते प्रति-
षेधार्थम् । तथा च वेदमधीत्य स्नायादिति समाप्ते त्वाध्यायविधौ प्रतिप्रसविष्यति । कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् उदकदानं देवादि-
भ्योगृहस्थधर्मेषु यदुक्तं तादृशमेव प्रतीयते तर्पणशब्दसाहचर्यात् । यदेव तर्पयत्यद्भिरिति तथा देवताभ्यर्चयतीति गृहकारैरु-
दकसाधनोयं विधिरुक्तः । उदकतर्पणमिति चैतत्संविज्ञायते । ते देवा गृहकारैः पठिता अधिप्रजापतिब्रह्मेत्यादयः । तेषांच तर्पणं
न सौहित्योत्पादनं किं तर्हि तदुद्देशेनोदकाञ्जलिप्रक्षेपः । अतो यमुदकद्रव्यकोयाग एवोक्तो भवति । न हन्यथा देवतात्वं भवति ।

यागसंप्रदानं हि सेति स्मर्यते न तृप्तेः कर्त्री । एतावद्धि देवतालक्षणम् । सूक्तभाजो हविर्भाजश्च देवताः तत्र सूक्तं स्तुत्यतया भजन्ते हविः संप्रदानतया । तत्प्यत्वेन चोदकदानसंप्रदानतामेव गुणवृत्त्या वक्ति । गुर्वादिसंप्रदानंगवादिना तदुद्दिश्यमानं स्वाम्येन प्रतीयते । देवताऽपि संप्रदानमतः संप्रदानत्वसाम्यात्प्यन्तीत्युच्यते । यदि देवतानृभ्यर्थमेतत्स्यात्तदा संस्कारकर्मादकतर्पणं स्यात् । नच देवतानां संस्कार्यत्वोपपत्तिः नहि ताः कचिदुपयुक्ता उपयोक्ष्यन्ते वा न वा कृताः करिष्यमाणकार्यस्य संस्कारतोपपत्तिः । ऋषयो येयस्यार्षेयाः यथा पराशराणां वाशिष्ठशक्तपाराशर्येति । मृह्यकारैस्तु मन्त्रदशऋषयस्तर्पणीयत्वेनोक्ताः मधुच्छन्दोगृत्समदो विश्वामित्र इति । अविशेषाभिधानादृषिशब्दस्योभयेऽपि प्राप्ताः विशेषस्मृतिवत्तत्तदुद्दिश्य स्मृतेस्तएव ग्रहीतुं न्याय्याः । पितरः पूर्वप्रेताः पितृपितामहाः सपिण्डाः समानोदकाश्च । पितृणां तर्पणं तर्पणमेव । एतच्च श्राद्धविधौ प्रत्यक्षेण वक्ष्यते । देवताभ्यर्चनं अत्र केचिच्चिरन्तनाविचारयांचक्रुः का एता देवतानाम यासामिदमभ्यर्चनमुच्यते यदि तावच्चित्रपुस्तकन्यस्तः चतुर्भुजो वज्रहस्त इत्याद्याः प्रतिकृतय इति लौकिका व्यवहरन्ति अतो गौणस्तत्र देवता व्यवहारः अथ याः सूक्तहविः संबन्धिन्यो वैदिकीभ्यश्चोदनाभ्यो मन्त्रवाक्येभ्यश्चावगम्यन्ते शब्दार्थसंबन्धविदश्च स्मरन्ति अग्निः अग्नीषोमौ मित्रावरुणौ इन्द्रो विष्णुरिति यद्येवं तत्क्रियासंबन्धितयैव तेषां देवतात्वं नार्थसंबन्धितया तत्रापि यस्यैव हविषोया देवता तेन चोदिता तस्यैव सा भवति तथा ह्याग्नेयोऽष्टाकपाल इत्याग्नेये देवता पुरोडाशे न सौर्ये चरौ अयंच तेषां निर्णयः मुख्यासंभवाद्गौणस्यैव ग्रहणं न्याय्यं समाचाराच्च अतः प्रतिमानाभैर्वैतत्पूजाविधानम् । यच्चात्र तत्त्वं तद्वत्तदेव देवत्व इत्यत्र वक्ष्यामः । समिदाधानं सायंप्रातरग्नौ दारुशकलप्रक्षेपणम् ॥ १७६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अवगाहनेन स्नात्वा मार्जनादिना वा शुचिर्भूत्वा । आदिष्टीनोदकं कुर्यादिति तु प्रेततर्पणपरम् । देवतानामर्चनं पुष्पाद्यैः ॥ १७६ ॥

(३) कुङ्कुमः । प्रत्यहं स्नात्वा देवर्षिपितृभ्य उदकदानं प्रतिमादिषु हरिहरादिदेवपूजनं सायंप्रातश्च समिद्धो मं कुर्यात् । यस्तु गौतमीये स्नाननिषेधो ब्रह्मचारिणः ससुखस्नानविषयः । अतएव बौधायनः नाप्सु श्लाघमानः स्नायात् । विष्णुनात्र कालद्वयमभिषेकाधिकार्यकरणमप्सु दण्डवन्मज्जनमिति ब्रुवाणेन वारद्वयं स्नानमुपदिष्टम् ॥ १७६ ॥

(४) राघवानन्दः । नित्यं स्नात्वेत्यादिकान् । समिदाधानमग्राविति शेषः ॥ १७६ ॥

(५) नन्दनः । तानेव नियमानाह नित्यमिति । आश्रमान्तरेऽपि तर्पणार्चनयोः करणार्थं नित्यग्रहणम् । समिदाधानस्य पुनर्ग्रहणमादरातिशयार्थम् ॥ १७६ ॥

(६) रामचन्द्रः । समिदाधानं अग्नौ आधानं स्थापनं कर्तव्यम् ॥ १७६ ॥

वर्जयेन्मधुमांसंच गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः ॥ शुक्लानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥ १७७ ॥

(१) मेधातिथिः । मधुसारघम् । माध्वीकस्य तु मद्यत्वात्प्रागप्युपनयनात्प्रतिषेधो नित्यं मद्यं ब्राह्मणो वर्जयेदिति । मांसं श्रोक्षिताद्यपि । गन्धशब्देन सुरभित्वातिशययुक्तानि कर्पूरागरुप्रमृतीनि द्रव्याणि सबन्धिलक्षणया प्रतिषिध्यन्ते । तेषामनुलेपनाद्युपभोगप्रतिषेधः । गन्धस्तु स्वदेशान्निर्गत आगच्छतीत्यशक्यो निषेद्धं तत्रान्याकस्मिकस्याप्यप्रतीषेधात् । भोगेच्छया त्वगरुधूपादौ दोष एव । अत उपाध्यायेन चन्दनवृक्षादिच्छेदने नियुक्तस्य तद्वन्धस्याग्राणे वस्तुस्वभावत उत्पद्यमाने न दोषः । माल्यसाहचर्याच्चेदशो गन्धः प्रतीयते । यस्तु नेदशो हृदयोऽन्मादकरः कुष्ठघृतपूतिदार्वादिगन्धस्तस्य प्रतिषेधः । माल्यं कुसुमग्रथि-

तम् । रसामधुराम्लादयः । ननु च नीरसस्य भोज्यत्वासंभवात्प्राणवृत्तिरेव न स्यात् । सत्यम् उद्विक्तरसाः केवलागुडादयो निषिध्यन्ते । संस्कारकरणे द्रव्यान्तर्गतानामपि प्रतिषेधः । अथ चात्यन्तमसंस्कृतस्यानस्य उक्तिप्रतिषेधोऽयम् । यथोक्तम् यो हेरिव धनाद्भीतो मिष्टान्नाच्च विषादिव । राक्षसीभ्यव स्त्रीभ्यः सविद्यामधिगच्छतीति । अन्येतु शृङ्गारादीन्मन्यन्ते । नाटकादिप्रेक्षणैः काव्यश्रवणेन वा रसपुष्टिर्न वक्तव्या । अन्येषां तु दर्शनमिद्वामलकादीनां योन्तर्द्रवरूपोदकवत्सरसस्तस्य निष्पीडितस्य प्रतिषेधोऽप्युक्तस्तदन्तर्गतस्य । तच्चैतदयुक्तं न हि रसशब्दोऽव्यप्यर्थः प्रसिद्धः । यत्र च यस्योचितमुपभोगान्तत्वं तदेव तस्य निषिध्यते । तेन मधुमांसयोर्भोजने प्रतिषेधोऽपि दर्शनस्पर्शनयोः । गन्धमाल्यस्यापि शरीरमण्डनाभिमानतयोपादानं निषिध्यते न तु कथंचिद्वस्तुना ग्रहणम् । एवं स्त्रियोर्मैथुनसंबन्धेन । तदाशङ्क्यैव च प्रेक्षणालम्भौ निषेत्स्यति । तथा च गौतमः स्त्रीप्रेक्षणालम्भे मैथुनशङ्कया भिति । शुक्तानि प्राप्तास्वरसानि केवलात्परिवासाद्द्रव्यान्तरसंसर्गाद्वाऽम्लतामापन्नानि । तेषां च द्विजातिधर्मत्वादेव सिद्धः प्रतिषेधः पुनर्ग्रहणं गौणशुक्तपरिग्रहणार्थम् । तेन रुक्षपरुषावाचो निषिद्धा भवन्ति । यदुक्तं गौतमेन शुक्तावाच इति । तदिदं सर्वग्रहणं चास्यैवार्थस्याविष्करणार्थम् । रसशुक्तान्यनूद्य सर्वाणीति विधीयते । ततो गौणपरिग्रहः सिद्धो भवति यत्वेवं व्याचक्षते । शुक्तशब्देन रसप्रतिषेधः सर्वशब्देन मानसानि वचांसि तद्वदप्रष्टव्याः अर्थप्रतिषिद्धानां प्रतिषेधार्थं सर्वग्रहणं कस्मान्न भवति । तथा सति च दध्यादेः शुक्तीभूतस्य प्रतिषेधः प्राप्नोति । यदितु प्राप्तिमाश्रित्य पुनः प्रतिषेधउक्तार्थो व्याख्यायते तथा सति न कश्चिदोषः । प्राणिनां मशकमक्षिकादीनां बाल्यादिसने प्राप्ते यत्नतः परिहारार्थं पुनः प्रतिषेधः । स्वाध्यायविध्यङ्गत्वार्थो वा । न केवलं हिंसायां पुरुषार्थः प्रतिषेधाति क्रमो यावत् स्वाध्यायविध्यार्थाति क्रमोऽपि । शुक्तादिष्वप्येवं कस्मान्न कल्प्यत इति चेदस्ति तत्र विषयान्तरे सावकाशत्वमेकरूपस्य विषयस्य व्यर्थत्वं सति गत्यन्तरे गरीयः ॥ १७७ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । वर्जयेन्नोपयुज्यते । माल्यं पुष्पं । रसात्कटारसाः गुणादयः शृङ्गारादय इत्यन्ये । सर्वाणि शुक्तानि दध्यादीन्यपि । शुक्तमिति शुक्तमनम्लं कालवशेन द्रव्यान्तरयोगेन वाऽम्लतांगतम् । न त्वत्र शुक्तवागपि ग्राह्या प्रवृत्तिनिमित्तं भेदात् ॥ १७७ ॥

(३) कुड्मूकः । क्षौद्रमांसं च न खादेत् गन्धं च कर्पूरचन्दनकस्तूरिकादिवर्जयेत् । एषां च गन्धानां यथा संभवं भक्षणमनुलेपनं च निषिद्धं माल्यं च न धारयेत् । उद्विक्तरसांश्च गुडादीन् खादेत् । स्त्रियश्च नोपेयात् । यानि त्वभावतो मधुरादिरसानि कालवशेनोदकवासादिना चाम्लयन्ति तानि शुक्तानि न खादेत् । प्राणिनां हिंसां कुर्यात् ॥ १७७ ॥

(४) राघवानन्दः । मधुसारघम् । रसान् रेतोवृद्धिहेतुदुग्धादीन् स्त्रियः भोगविषयत्वेन । शुक्तानीति त्वरसतो मधुराणि कालवशेन अम्लतां यान्ति यानि तानीति ॥ १७७ ॥

(५) नन्दनः । रसान्धृततैलादीन् । कालातिपत्या त्वरसं परित्यज्य रसान्तरमापन्नानि शुक्तानि ॥ १७७ ॥

(६) रामचन्द्रः । मध्वादि वर्जयेत् स्त्रियः भोगार्थं वर्जयेत् सर्वप्राणिनां हिंसनं वर्जयेत् । शुक्लद्रव्यान्तरसंयोगात् अमृतामापन्नानि निष्ठुरवचनानि वा ॥ १७७ ॥

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् ॥ कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥ १७८ ॥

(१) मेधातिथिः । घृततैलादिना स्नेहेन शिरः शरीरप्रक्षणमभ्यङ्गः । अञ्जनं चाक्ष्णोः । अक्षिग्रहणं वृत्तपूरणार्थम् । अनयोश्चापि देहमण्डनार्थतया प्रतिषेधो नौषधार्थतया गन्धमाल्यादिसाहचर्यात् । उपानहौ चर्मपादुके न केवलं चत्रधारणं च स्वहस्तेन परहस्तेन बोभयस्यापि निषेधः । कामो मन्मथस्य स्त्रीप्रतिषेधादेव सिद्धः । क्रोधो रोषः । लोभो मोहः । अहंकार

ममकारौ चित्तधर्मावेते । नर्तनंप्राकृतपुरुषाणां हर्षाय गात्रविक्षेपोभरतादिदृष्टाभिनयप्रयोगश्च । गीतंषड्जादिस्वरप्रदर्शनंवा-
दित्रंवीणावंशादिभिः स्वरवच्छब्दकरणपणवमृदङ्गाद्यभिघातश्च तालानुवृत्त्या ॥ १७८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अभ्यङ्गतैलादिप्रक्षगम् । स्त्रियइति स्त्रोसंन्वधोनिषिद्धः । कामशब्देन त्वत्र तदभिलाषोनि-
षिध्यते ॥ १७८ ॥

(३) कुहूकः । तैलादिना शिरःसहितदेहमर्दनलक्षगंकजलादिभिश्च चक्षुषोरञ्जनपादुकायाश्छत्रस्य च धारणं-
कामंमैथुनातिरिक्तविषयाभिलाषातिशयं मैथुनस्य स्त्रियइत्यनेनैवनिषिद्धत्वात् क्रोधलोभनृत्यगतोत्रो णापगवादिर्वर्ज-
येत् ॥ १७८ ॥

(४) राघवानन्दः । अभ्यङ्गतैलादिनोन्मर्दनम् । कामोधनाभिलाषः ॥ १७८ ॥

(५) नन्दनः । अत्र वर्जयेदित्यनुवर्तते ॥ १७८ ॥

(६) रामचन्द्रः । अभ्यङ्गतैलादिना अङ्गोरञ्जनकंकजलादिना वर्जयेत् । उपानतृच्छत्रधारणं कामादि वर्ज-
येत् ॥ १७८ ॥

यूतंच जनवादंच परिवादंतथानृतम् ॥ स्त्रीणांच प्रेक्षणालम्भमुपघातंपरस्य च ॥ १७९ ॥

(१) मेधातिथिः । यूतमक्षक्रीडा । समाव्हयः कुक्कुटादिभिः प्रतिषिद्धोयूतशब्दस्यसामान्यशब्दत्वात् । जनैर्वादः
अकारणेन लौकिकेष्वर्थेषु वाक्कलहः । देशवार्ताद्यन्वेषणप्रश्नोवा परिवादः । असूयया परदोषकथनमनृतमन्यथा दृष्टमन्य-
था च श्रुतं यदन्यथोच्यते । सर्वत्र वर्जयेदित्यनुषङ्गाद्वितीया । स्त्रीणांच प्रेक्षणालम्भौ अवयवसंस्थाननिरूपणंप्रेक्षणमिदम-
स्याः शोभतेङ्गमिदंनेति आलम्भआलिङ्गनमैथुनशङ्कायां चैतौ प्रतिषिध्येते बालस्य यथातथम् । परस्योपघातोपकारः
कस्यांचिदर्थसिद्धौ प्रतिबन्धः कन्यालाभादौ पृथ्यमानेन प्रयोगस्याप्ययोगत्वंनवक्तव्यम् । तूष्णीमासितव्यम नृतप्रतिषे-
धान् ॥ १७९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । जनवादंवार्तादिकथनं स्त्रीणांमातृतुल्याभ्योऽन्यासामकामतोपि प्रेक्षणमालम्भंच उप-
घातंमनोदुःखकरणम् ॥ १७९ ॥

(३) कुहूकः । अक्षक्रीडाः जनैःसह निरर्थकवाक्कलहंपरस्य दोषवादंमृषाभिधानंस्त्रीणांच मैथुनेच्छयासानुरागे-
णप्रेक्षणालिङ्गनंपरस्य चापकारंवर्जयेत् ॥ १७९ ॥

(४) राघवानन्दः । जनवादनिरर्थकवाक्कलहम् । स्त्रीणामितिइदमस्याःसौकुमार्यमिन्यादिसरागेक्षणस्पर्शने । उपघातं
अपकारंमनोवचोभिः हिंसातुकार्येनेति भेदः ॥ १७९ ॥

(५) नन्दनः । प्रेक्षणालम्भंरागयुक्ते दर्शनस्पर्शने । उपघातंदोहम् ॥ १७९ ॥

(६) रामचन्द्रः । यूतादि स्त्रीणांप्रेक्षणं तथाभ्यङ्गं आलिङ्गनं परस्यअन्यस्यअपघातं मनोदुःखकारणं वर्ज-
येत् ॥ १७९ ॥

एकः शयीत सर्वत्र न रेतःस्कन्दयेत्कचित् ॥ कामाद्वि स्कन्दयन्रेतोहिनस्ति व्रतमात्मनः ॥ १८० ॥

(१) मेधातिथिः । एकः शयीतसर्वत्र नरेतः स्कन्दयेत्कचित् । अयोनावपि यौनौ स्त्रीप्रतिषेधादेव सिद्धत्वादत्रार्थ-
वादः । कामाद्विस्कन्दयन् इच्छात्रकामः हस्तव्यापारादिनाऽयोनौ मैथुनेन च रेतः शुक्रंस्कन्दयन्क्षरयन्हिनस्ति नाशय-
ति ब्रह्मचर्यव्रतमात्मनः ॥ १८० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एकोन द्वितीयेन सहैकशय्यायाम् । सर्वत्र जनाकीर्णेपि क्वचिद्भूम्यादावपि न स्कन्दयेत् । कामतः स्कन्दयन् कामतस्तु स्त्रियं दृष्ट्वापि स्कन्दनेन व्रतहानिः । व्रतं हिनस्त्यतः पुनरुपनयनं तस्येत्यर्थः ॥ १८० ॥

(३) कुट्टूकः । सर्वत्र नोचशय्यादावेकाकी शयनं कुर्यात् । इच्छया न स्वशुक्रं पातयेद्यस्मादिच्छया स्वमेहनाच्छुक्रं पातयन् स्वकीयव्रतं नाशयति व्रतलोपे चावकीर्णिप्रायश्चित्तं कुर्यात् ॥ १८० ॥

(४) राघवानन्दः । न स्कन्दयेत्स्वेच्छया न पातयेत् । क्वचिदयोनावपि । कामादिति प्रायश्चित्तार्थमनुवादः अवकीर्णा नैर्ऋतगर्दभालम्भनं कुर्यादिति स्मृतेः ॥ १८० ॥

(५) नन्दनः । सर्वत्र मातृपितृसमीपे । हिहेतौ । व्रतं ब्रह्मचर्यम् । हिनस्ति हन्त्येव ॥ १८० ॥

(६) रामचन्द्रः । एकः शयीत स्त्रिया सह न शयीत रेतः क्वचित् न स्कन्दयेत् न पातयेत् । तद्यथा अयोनी च वियोनी च पशुयोनी तथाविधः ॥ १८० ॥

स्वमे सिद्धा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः ॥ स्नात्वाऽर्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥ १८१ ॥

(१) मेधातिथिः । कामाद्रतलोपोनावकीर्णिप्रायश्चित्तमकामात्त्विदमाह । स्वमग्रहणमविवक्षितमकामतइत्येतदेव देव निमित्तम् । नहि स्वमे कामसंभवः अतोयद्यसुप्तस्यापि कथंचिदनिच्छया स्वमलासृगवयववत्पक्षरति शुक्रं तत्राप्येतदेव प्रायश्चित्तम् । अकामतोरेतः सिक्त्वेदंप्रायश्चित्तं कुर्यादित्येतत्तृचं जपेत् ॥ १८१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अकामतः स्त्रियमनुभ्यायापि सुप्तः सकृद्रन्धपुष्पादिनार्चयित्वा त्रिजपेत् । अत्र प्रायश्चित्तोक्तिः प्रसङ्गात् । एतच्चान्येषामपि वनस्थादीनां ब्रह्मचर्यनियमप्रवृत्तानाम् ॥ १८१ ॥

(३) कुट्टूकः । ब्रह्मचारी स्वमादावनिच्छया रेतः सिद्धा कृतस्नानश्चन्दनाद्यनुलेपनपुष्पधूपादिभिः सूर्यमभ्यर्च्य पुनर्मामेत्विन्द्रियमित्येतामृचं वारत्रयं पठेत् । इदमत्र प्रायश्चित्तम् ॥ १८१ ॥

(४) राघवानन्दः । ऋचं पुनर्मामेत्विन्द्रियमित्येताम् ॥ १८१ ॥

(५) नन्दनः । अकामतोहि रेतः स्कन्दने प्रायश्चित्तप्रकरणउक्तमप्यत्रादरातिशयार्थमाह स्वमे इति ॥ १८१ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्रह्मचारी द्विजः स्वमे शुक्रं अकामतः सिद्धा शुक्रं पातयेत्चेत्पूर्वस्नात्वा अर्कं अर्घ्यं दत्वा त्रिः त्रिवारं पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥ १८१ ॥

उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान् ॥ आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत् ॥ १८२ ॥

(१) मेधातिथिः । यावद्भिरर्थः प्रयोजनमुपाध्यायस्य सिध्यति तावदुदकुम्भादिआहरेत् । प्रदर्शनार्थंचैतत् । अन्यदपि गृहेपयोगि यदगर्हितं कर्म तत्कुर्याद्गर्हितं गुरुव्यतिरेकेणोच्छिष्टापमार्जनादिन कारयितव्यइत्येवमर्थोऽयं श्लोकः यतः सामान्येन शुश्रूषागुरौ विहिता । यावानर्थेषामिति विग्रहः । भैक्षं चाहरहश्चरेत्सिद्धमन्नमत्यन्ताल्पयात्राविषयं भैक्षमत्रोच्यते । नैकान्नादि प्रतिषेधेऽन्नशब्दोपादानादन्नप्रतीयते । समादृत्य भैक्षं निवेद्या श्रीयादिति सामाधिकरण्यात्सिद्धान्तप्रतिपत्तिः । शुष्के हस्ते भिक्षिते कुतस्तस्याशनम् । समादृतस्य गुरुगृहे पच्यमानस्य भैक्षप्रकृतिता स्यान्न भैक्षता । प्रसिद्ध्या चेद्दशमेव भैक्षमुच्यते । अहरहः ननु भैक्षणं वर्तयेन्नित्यमित्येतस्मादेव सिद्धमहरहश्चरणं सिध्यति । वृत्तिविधानार्थं नित्यग्रहणम् । पर्युषितेनापि घृतादिस्नेहसंयुक्तेन स्याद्वृत्तिस्तदर्थमिदमहरहं भिक्षित्वा शितव्यम् । न पुनरेकस्मिन् हनि भिक्षितमपरेद्युः परिवास्य यत्किञ्चिस्नेहयुक्तमिति प्रतिप्रसवेन भुञ्जीत ॥ १८२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गोशक्तगोमयम् । यावदर्थानि यावता तद्विनासाभ्यसिद्धिः । अहरहर्नदिनद्वयार्थम् ॥ १८२ ॥

(३) कुङ्कुमः । जलकलशपुष्पगोमयमृत्तिकाकुशान्यावदर्थानि यावद्भिः प्रयोजनान्याचार्यस्य तावन्त्याचार्या-
र्थमाहरेत् । अतएव उदकुम्भमित्यत्र एकत्वमप्यविवक्षितं प्रदर्शनंचैतत् । अन्यदप्याचार्योपयुक्तमुपहरेद्भैक्षं च मत्स्यहम-
र्जयेत् ॥ १८२ ॥

(४) राघवानन्दः । गोशक्तगोमयम् । यावदर्थानि प्रयोजनोपयुक्तानि नाधिकानीति ॥ १८२ ॥

(५) नन्दनः । यावदर्थानि यावत्प्रयोजनानि । अहरहर्भैक्षंचरेत्नापरेद्युरर्थपूर्वेद्युः ॥ १८२ ॥

(६) रामचन्द्रः । गोशक्तगवांशक्तगोमयं यावदर्थं यावत्प्रयोजनंचाहरेत् आनयेत् । अहरहः भैक्षंचरेत् ॥ १८२ ॥

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु ॥ ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥ १८३ ॥

(१) मेधातिथिः । येभ्यो भैक्षमासादयितव्यं तान्वक्ति । वेदयज्ञैश्च यअहीना वेदाभ्ययनेन संयुक्ताः यज्ञानां च स-
त्यधिकारे कर्तारअहीनाऽवर्जितास्तदुपेताइति यावत् । स्वकर्मसु च प्रशस्ताः येषां यज्ञेधिकारो नास्त्यन्यस्मिन् शस्ते कर्मणि
तत्पराः । अथ वा स्वकर्मप्रशस्तास्तु उच्यन्ते ये स्ववृत्तावेव संतुष्टान् वार्द्धुषिकारिष्वप्युपजीविनस्तेषां गृहेभ्यो भैक्षमाहरेद्याचि-
त्वागृहीयात्प्रयतः शुचिः । अन्वहमित्यनुवादः ॥ १८३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रशस्तानां लब्धोत्कर्षाणां स्वकर्मसु ब्रह्मचारिकर्मसु ॥ १८३ ॥

(३) कुङ्कुमः । वेदयज्ञैश्चात्यक्तानां स्वकर्मसु दक्षाणां गृहेभ्यः प्रत्यहं ब्रह्मचारी सिद्धान्तभिक्षासमूहमाहरेत् ॥ १८३ ॥

(४) राघवानन्दः । येभ्यो भैक्ष्यमाहार्यतानाह वेदेति । प्रशस्तानां दक्षाणां स्वकर्मसु ॥ १८३ ॥

(५) नन्दनः । अथ भैक्षेऽप्यादाननियममाह वेदयज्ञैरिति । प्रयतो वाङ्मनश्चक्षुर्भिः ॥ १८३ ॥

(६) रामचन्द्रः । वेदयज्ञैः अहीनानां हीनानां पूर्णानां स्वकर्मसु स्वकर्मसु प्रसक्तानां गृहेभ्यः अन्वहं प्रत्यहं प्रत्य-
क्षः सन्न ब्रह्मचारी भैक्ष्यं आहरेत् ॥ १८३ ॥

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु ॥ अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वपूर्वविवर्जयेत् ॥ १८४ ॥

(१) मेधातिथिः । सत्यप्येतद्गुणयोगे गुरुगृहे न भिक्षेत । पूर्वकुलवंशस्ततो गुरोर्ये पितृव्यादयस्तेभ्योपि न ग्रहीतव्यम् ।
ज्ञातयो ब्रह्मचारिणः पितृपक्षास्तेषां कुले बन्धुषु च मातृपक्षेषु मातुलादिषु नैव मभिसं बन्धः कर्तव्यो गुरुज्ञात्यादिष्विति यतो-
गुरोः कुलइति कुलशब्देनैव तेषां संगृहीतत्वात् । कुतस्तर्हि भिक्षेत । एतद्व्यतिरेकेणान्यगेहेभ्यः अलाभेऽसंभवेऽन्यगेहानां
सर्वेष्वपि ग्रामोगुरुज्ञातिबन्धुभिर्यामो भवत्यन्ये नैव संतौ वान्न न ददति । एतेष्वपि गृहेषु भिक्षितव्यमन्याभावे प्रथमं बन्धुं
भिक्षेत तदभावे ज्ञातिं तदभावे गुरुकुलम् ॥ १८४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गुरोराचार्यस्य पितुः कुलस्य मातरंचेत्यत्रानुज्ञानात् अतएव स्वसादिभ्योन्येषामेव बन्धू-
नानिवासः ज्ञाति सपिण्डस्तस्य कुले तथा बन्धुषु तदन्यसमानयोनिषु अन्यगेहानां निषिद्धान्यगृहाणां पूर्वपूर्वमुक्तेषु
त्रिषु ॥ १८४ ॥

(३) कुङ्कुमः । आचार्यस्य सपिण्डेषु बन्धुषु च मातुलादिषु न भिक्षेत । तद्गृहव्यतिरिक्तभिक्षायोग्यगृहाभावे
चोक्तेभ्यः पूर्वपूर्ववर्जयेत् । ततश्च प्रथमं बन्धुं भिक्षेत तत्रालाभे ज्ञातीं तत्रालाभे गुरोरपि ज्ञातीं न भिक्षेत ॥ १८४ ॥

(१८३) प्रशस्तानां = प्रसक्तानां (४)

(४) राघवानन्दः । भिक्षाहरणे प्रतिषिद्धानाहगुरोरिति । तस्योद्दिग्धेतुत्वात्तदुरदृष्टाशङ्कयायस्मै देयंततो ग्राह्यमिति न्यायविरोधात्तत्तातिकुलबन्धुषु स्नेहादसादिदानहेतोः बन्धुषु मातुलादिषु । अलाभे इत्यादिः गुरुत्यागे तात्पर्यम् ॥ १८४ ॥

(५) नन्दनः । बन्धुषु मातृष्वसृपितृष्वसृबन्धुषु । अन्यगेहानामलाभे भिक्षाऽलाभे गेहानामलाभे वा पूर्वपूर्ववर्जयेत् । अयमर्थः अन्यगेहालाभे बन्धुषु भिक्षेत तदलाभे तत्तातिकुले तदलाभे गुरुकुल इति । अत्र पूर्वार्धेन मुख्यकल्प उक्त उत्तरार्धेनापत्कल्प इति विवेकः ॥ १८४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्यगृहाणां अलाभे पूर्वविवर्जयेत् ॥ १८४ ॥

सर्वे वापि चरेद्ग्रामपूर्वोक्तानामसंभवे ॥ नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥ १८५ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वोक्तानां वेदयज्ञैरहीनानामसंभवे सर्वग्राममनपेक्षवर्णविभागविचरेत् भ्राम्ये जीवनार्थके-
कलमभिशस्तान्कृतपाकत्वेन प्रसिद्धानदृष्टपातकानपि वर्जयित्वा । तथा च गौतमः सार्ववर्णिकं भैक्षचरणमभिश-
स्तपतितवर्जम् । नियम्य वाचं भिक्षावाक्यं वर्जयित्वाऽऽभैक्षलाभादन्यां वाचं नोच्चरेत् ॥ १८५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पूर्वोक्तानां देवयज्ञादीनां संपूर्णभिक्षादात्त्वासंभवे नियम्य वाग्यमपरांतदर्थभाषां प्रयतोऽ
शुच्याद्यस्पर्शां । अभिशस्तानिति पतितशूद्रयोरप्युपलक्षणम् ॥ १८५ ॥

(३) कुम्भूकः । पूर्ववेदयज्ञैरहीनानामित्यनेनोक्तानामसंभवे सर्वे वा ग्राममुक्तगुणरहितमपि शुचिर्मौनी भिक्षेत ।
महापातकाद्यभिशस्तांस्त्यजेत् ॥ १८५ ॥

(४) राघवानन्दः । पूर्वोक्तानां वेदयज्ञैरहीनानां असंभवः स्वरूपतो द्रव्यतश्च । अभिशस्तान्महापातकित्वादिनासंदि-
ग्धान् ॥ १८५ ॥

(५) नन्दनः । आपद्यप्यभिशस्तानां प्रतिषेधः कृतः पतितानां दण्डापूर्पिकया ॥ १८५ ॥

(६) रामचन्द्रः । पूर्वोक्तानामसंभवे सर्वग्रामं भिक्षार्थं विचरेत् । मौनपूर्वकं वर्जनमाह । अभिशस्तान्पतितान्-
वर्जयेत् ॥ १८५ ॥

दूरादाहृत्य समिधः संनिदध्याद्विहायसि ॥ सायंप्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥ १८६ ॥

(१) मेधातिथिः । दूरग्रहणमपरिगृहीतदेशोपलक्षणार्थम् । ग्रामात्किल दूरमरणं न च तत्र कस्यचित्परिग्रहः ।
अनुपलक्षणे हि दूरार्थं कियद्दूरमित्यन्वस्थितः शास्त्रार्थः स्यात् । आहृत्याऽऽनीय संनिदध्यात्स्थापयेत् । विहायसि गृह-
स्योपरि नहि निरालम्बनेन्तरिक्षे निधानं संभवति । ताभिः सायंप्रातर्जुहुयात् । आहरणं तु तात्कालिकमन्यदा वेष्टया विहा-
यसनिधानमदृष्टार्थमिन्याहुः । अन्येतु ब्रुवते संप्रत्यानीयमानं वृक्षादारुआर्द्रं भवतीति गृहस्योपरि अन्यस्य वा प्रकारादे-
स्ततएवाव गन्तव्यम् ॥ १८६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दूरात्ग्राम्याशुचिशङ्काशून्यादेशात् । विहायसि मठादौ ॥ १८६ ॥

(३) कुम्भूकः । दूराद्दिग्भ्यः परिगृहीतवृक्षेभ्यः समिधानीयाकाशे धारणऽशक्तः पटलादौ स्थापयेत् । ताभिश्च
समिद्धिः सायंप्रातरनले होमं कुर्यात् ॥ १८६ ॥

(४) राघवानन्दः । दूराद्देशादेः । विहायसि भूम्यतिरिक्तशुचिदेशे । ताभिः समिद्धिः ॥ १८६ ॥

(५) नन्दनः । नियमान्तरमाह दूरादिति । दूराद्विप्रकृष्टप्रदेशात् । रजत्खलादिस्पर्शभूमिर्हजन्तुसंक्रान्तिश्चमाभुदि-
त्युक्तंसन्निदध्याद्विहायसीति । विहायस्याकाशेसन्निदध्यात्तूरज्वादिष्ववलम्बयेत् ॥ १८६ ॥

(६) रामचन्द्रः । समिधःदूरात्आढृत्यआनीय विहायसिआकाशे गृहादिकेउच्चप्रदेशे मण्डपादौ संनिदध्यात्स्था-
पयेत् । पुंस्याकाशविहायसीत्यमरः । ताभिःसमिद्भिः अग्निंसायंसंभ्याकाले प्रातःप्रातःकाले जुहुयात् ॥ १८६ ॥

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम् ॥ अनातुरः समरात्रमवकीर्णिव्रतंचरेत् ॥ १८७ ॥

(१) मेधातिथिः । अग्नीन्धनभैक्षचरणे नैरन्तर्येण समरात्रं समाहमकृत्वानियम्यविच्छिद्येते कालोनियतस्तुतयोरपि ।
अनातुरस्याव्याधितस्य सतोऽवकीर्णिव्रतं नाम प्रायश्चित्तमेकादशे वक्ष्यमाणस्वरूपंचरेत्कुर्यात् । देशगुरुत्वख्यापनार्थत्वेत-
दत्र प्रायश्चित्तमेव । स्मृत्यन्तरे ह्यत्राल्पमन्यत्प्रायश्चित्तमुक्तमाज्यहोमःसवितुर्वारेतस्यास्यामिति । इहापि च लिङ्ग-
यदि प्रायश्चित्तमिदमभविष्यत्तदा स्त्रीगमनमिवावकीर्णिमायश्चित्तप्रकरणे निमित्तत्वेनापठिष्यत् । येतु व्याचक्षते समरात्र-
मेतदुभयमवश्यकर्तव्यमकरणात्तत्र दोषः कृतसमरात्रस्य तु परसोक्रियायां न दोषस्तानि च समाहानि प्राथम्यादुपनयना-
त्प्रभृतिगृह्यते तदेतदयुक्तं आसमावर्तनात्कुर्यादिति विरोधात् । उपरितनानन्तरश्लोकविरोधाच्च ॥ १८७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भैक्षतिरिक्तानानौपयोगः । समिदाधानाकरणेनेत्यर्थः । एतच्चउभयोःसमुच्चितयोः
समरात्रमकरणे अवकीर्णिव्रतमेकादशे वक्ष्यमाणम् अनातुरइत्यमापदुलक्षणम् । आपदितुरोगादावदोषः । अन्यतरा-
तिक्रमैकाहाद्यतिक्रमयोस्तु गौतमोक्तःक्रमादाज्यहोमः समिद्वयहोमश्च ॥ १८७ ॥

(३) कुल्लूकः । भिक्षाहारसायंप्रातःसमिद्धोममरोगौनैरन्तर्येणसमरात्रमकृत्वा लुप्तव्रतोभवति । ततश्चावकीर्णिमाय-
श्चित्तंकुर्यात् ॥ १८७ ॥

(४) राघवानन्दः । उपदिष्टाकरणे दोषमाहअकृत्वेति । असमिध्यअप्रज्वालय होमार्थम् । अवकीर्णिव्रतंनैर्ऋतंगर्द-
मालम्भनम् ॥ १८७ ॥

(५) नन्दनः । अथभिक्षाकरणाग्निकार्ययोरवश्यकर्तव्यतांतदकरणे प्रायश्चित्तोपदेशेन प्रकाशयति अकृत्वेति ।
उभयोः समुदितयोरकरणे प्रायश्चित्तमेतत् । चकारेण समुच्चयावगमात् । समरात्रमिति निमित्तयोरनैमित्तिकस्य च कालोप-
देशः स्मृत्यन्तरानुगुण्यात् । तथाच गौतमः अग्नीन्धनभैक्षचरणेसमरात्रमकृत्वाऽऽज्यहोमइति । अग्निन्धनधिकारेबृहस्पतिः
अवकीर्णिव्रतंकुर्यात्समरात्रमसंशयमिति ॥ १८७ ॥

(६) रामचन्द्रः । पावकंअसमिध्यअग्निअनुपास्य भैक्षचरणंअकृत्वाएकस्य गृहे भुक्तासमरात्रपर्यन्तंअनातुरः
सनसःअवकीर्णी भवेत् । अवकीर्णीक्षतव्रतइत्यमरः । तदा प्रायःपवित्रतार्थयदुक्तंव्रतंतच्चरेत् ॥ १८७ ॥

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यनैकान्नादी भवेद्व्रती ॥ भैक्षेण व्रतिनोऽतिरूपवाससमा स्मृता ॥ १८८ ॥

[न भैक्ष्यं परपाकःस्यात् न च भैक्ष्यं प्रतिग्रहः ॥ सोमपानं सभंभैक्ष्यं तस्माद्भैक्षेणवर्तं येत् ॥ १ ॥

भैक्ष्यस्यागमशुद्धस्य प्रोक्षितस्य द्रुतस्य च ॥ यांस्तस्य यस्ते यासांस्ते तस्य क्रतुभिः समाः* ॥ २ ॥]

* (क, ख, ज, ङ, ट, ह, ल,) । (च) चिन्हित पुस्तके इमौ श्लोकौ टीकायांस्तः । परंतु तेषां स्थानं मूलमेवेति
भाति ।

(१) मेधातिथि । ननु च भैक्षमहरहश्चरेदिति श्रुतमेवैतत् । एवं हि भैक्षचर्या दृष्टार्था भवति उक्तं च निवेद्य गुरवे-
श्रीयादिति । न च तदशनं भैक्षसंस्कारः येन वृत्त्यर्थः स्यात् । केचिदाद्भुरनुद्यते नैकान्नादीभवेद्वतीति वक्तुमेतदप्यसत्
भैक्षशब्देनैवैकान्नादनस्य निषेधात् । भिक्षाणांसमूहो भैक्षमुच्यते । ततः कुत एकान्नादनमिति स्तस्य पित्र्येभ्यनुज्ञानार्थं सर्वमे-
तदनुद्यते । भैक्षेण वर्तयेदात्मानं भैक्षभोजनेन पालयेत् जीवितस्थितिं कुर्यान्नैकस्य संबन्धिः अन्नमद्यान्नैकभिक्षान्नं भुञ्जीत । न
पुनरियमाशङ्क्य कर्तव्यानैकत्वाभिकं भुञ्जीत पि तु बहुत्वाभिकमविभक्तभ्रातृसंबन्ध्येकस्यान्नमेकं वाऽन्नमेकान्नं तदिति भुङ्क्ते-
कान्नादी । व्रती ब्रह्मचारी प्रकरणादेव लब्धः श्लोक रूपाथो व्रतिशब्दोर्थवादः । भैक्षेणैव केवलेन व्रतिनो यावृत्तिः शरीरे धा-
रणमुपवासतुल्यफला सा वृत्तिः स्मर्यते ॥ १८८ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । वर्तयेत् जीवेत् । नैकान्नादी एकस्यान्नेनैकदिनक्षपणकृतभैक्षेणेति नित्यत्वेऽपि भैक्षस्य नि-
त्योपवासफलहेतुरित्यर्थः । प्रोषितस्य प्रवासादागतस्य ॥ १८८ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्रह्मचारी नैकान्नमद्यात्किंतु बहुगृहादृतभिक्षासमूहेन प्रत्यहं जीवेत् यस्माद्भिक्षासमूहेन
ब्रह्मचारिणो वृत्तिरुपवासतुल्या मुनिभिः स्मृता ॥ १८८ ॥

(४) राघवानन्दः । नैकान्नादी नैकमात्रस्यान्नं गृह्णीयात् । उपवाससमादिति परपाकरुचिर्न स्यादनिन्द्यामन्त्रणादृतइति
यत्परपक्वान्नाशने पापं तन्न स्यात्संन्यासी ब्रह्मचारी च पक्वान्नामिनावुभौ इत्युक्तेः । स्तुतिरिति मेधातिथिः ॥ १८८ ॥

(५) नन्दनः । एकान्नाशनं प्रतिषेधति भैक्षेणेति ॥ १८८ ॥

(६) रामचन्द्रः । भैक्षेणान्येन नित्यं वर्तयेत् व्रती ब्रह्मचारी नैकान्नादी भवेत् । एकस्यान्नं न भक्षयेदिति एकं चा-
न्नं न भक्षयेत् इत्यर्थः । व्रतिनः ब्रह्मचारिणः वृत्तिः भैक्षेण भैक्षान्नेन वृत्तिः प्राणवृत्तिः उपवाससमास्मृता ॥ १८८ ॥

[रामचन्द्रः । न भैक्ष्यमिति । परपाकरुचिर्न स्यात् इति याज्ञवल्क्यः । भैक्षं भिक्षान्नं परपाकः न स्यात् । भैक्ष्यं-
भिक्षान्नं प्रतिग्रहो न भवति प्रतिग्रहस्तु निषेधः आगमशुद्धस्य प्रतिग्रहशुद्धस्य प्रोक्षितस्य द्रुतस्य च द्रुतशेषस्य च भै-
क्षस्य यान्प्रासान् ग्रसते ते प्रासाक्रानुभिः समाभवन्ति ॥ १-२ ॥]

व्रतवद्देवदैवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्षिवत् ॥ काममभ्यर्थितो श्रीयाद्व्रतमस्य न लुप्यते ॥ १८९ ॥

(१) मेधातिथिः । अयमपवादो निमित्तविशेषे भैक्षवृत्त्युपदेशस्य । देवदैवत्ये देवोद्देशेन ब्राह्मणभोजने क्रियमाणे
पित्र्ये च पितृनुद्दिश्याभ्यर्थितोऽध्येषितः काममेकान्नमश्रीयात् ननु स्वयं याचेत । तस्य व्रतवद्रतविरुद्धमधुमांसं सर्वाजितमित्यर्थः ।
व्रतवद्विषय इति च शब्दद्वयेनैकएवार्थोच्यते न पुनर्ग्रामारण्ययोः कर्मभेदेन व्यवस्था । वृत्तानुरोधान्तु द्विरभिधानम् । ऋषिर्वै-
खानसस्तदशनाभ्यनुज्ञाने मांसमपि ब्रह्मचारिणो नुज्ञातं स्यात्तस्य हि वैष्णवमप्युपभुञ्जीतेति मांसाशनमप्यस्ति । देवादेवताय-
स्य तद्देवदेवत्यं तच्चामिहोत्रदर्शपूर्णमासादिषु दैवेषु कर्मसु ब्राह्मणभोजनमाप्नातम् । आयहायण्यादिषु त्वान्नातं ब्राह्मणभो-
जयित्वा स्वस्त्ययनं वाचयेदिति । तत्रेयमनुज्ञा । अन्येतु समम्यादावादित्यादिदेवोद्देशेन यत्क्रियते ब्राह्मणभोजनं तद्देवदेवत्यं
मप्यन्ते तदसत् । नहि भुजेर्देवतासंबन्धोऽस्त्ययागसाधनत्वात्तस्य । नतूद्देशमात्रं देवता । उपाध्यायाय गां ददाति ग्रहं संपार्शी-
त्युपाध्याये ग्रहेऽपि प्रसंज्ञात् । भुजेर्हि प्रत्यक्षो भोक्त्वासंबन्धः आदित्यस्तु न कारकं न चोद्देश्यो ग्रहवत् न तदर्थं भोजनम् । द्वि-
तीया हि भोक्त्वर्थतां ज्ञापयति नादित्यार्थतम् । न चैतच्छ्रुतिनोदितमादित्याद्युद्देशेन ब्राह्मणभोजयेदिति । समाचाराद्विधिः
कल्प्यत इति चेन्न तस्योपलभ्यमानमूलत्वादस्ति हि मूलं बाह्याः स्मृतयः । तत्र तर्हि ब्राह्मणभोजनेन देवताः प्रीणयेदिति शा-
स्त्रार्थः । न चायमर्थः शक्यः कल्पयितुं नहि देवताप्रीतिप्रधानः शास्त्रार्थः किं तर्हि विध्यर्थप्रधानः । न चास्मिन्विध्यर्थआदि-

त्यादीनादेवताभिमतानांविषयद्वारकः संबन्धोनाप्यधिकारद्वारकः । नहि भेदनादिवन्निमित्तानापि पश्वादिवत्त्वसंबन्धितया काम्यते । अभोग्यरूपत्वात् । अथ तद्वतातुष्टिः काम्यते साप्यात्मसिद्धौप्रमाणान्तरमपेक्षते नच तदस्ति न ह्यादित्यादितुष्टिः प्रत्यक्षादिसिद्धा पश्वादिवद्येन काम्येन परोष्टिविधिनायुज्येत । अथतु मत्प्रभुरिति स्वाभिप्रेतेन फलेन योजयिष्यतीति । एतदपि प्रमाणाभावादुपेक्षणीयम् । नचास्मिन्नर्थेविधिः प्रमाणं सहि ज्ञातस्यानुष्ठातृविशेषणस्य त्वसंबन्धितया पुरुषंनियुक्ते न पुनः काम्यमानस्य सद्भावमवगमयति । प्रमाणान्तरावगतहि काम्यमनुष्ठातृविशेषणमनुष्ठातृसंबन्धीति विधिः प्रमाणंभिमीते । अथायंयागस्तस्य च भोजनंप्रतिपत्तिर्भवतुयदिशिष्ट समाचारः । भोजनंतावन्न देवतासंबन्धिसाक्षादिति न साध्यम् । यागव्यवहितस्तु संबन्धोन निवार्यते । नचात्र यागबुद्ध्या प्रवर्तते किंतर्हि ब्राह्मणेषु भोजितेषु देवता तुष्यतीति । अन्यतो न देवता भोजनकारकं न कारकविशेषणम् । ततो न विषयो नहि संबन्धः । उद्देश्यत्वमप्यादित्यादीनां नास्ति । भोजने हि स उद्दिश्यते यस्मै भोजनं दीयते तच्च ब्राह्मणेभ्यः । नचोद्देश्यमात्रं देवता उपाध्यायाय गां ददाति ग्रहं समाह्वीति ग्रहोपाध्याययोरपि प्रसङ्गात् । ननु च पित्र्ये कथं ब्राह्मणभोजनं तत्रापि हि न पितरौ देवताः स्युः नच होमस्य पित्र्यदेवतान्तरश्रवणात् आदित्यादिप्रीतेरिव पितृप्रीतेः प्रमाणान्तरासिद्धत्वान्नविधेः संबन्धः साध्यतया । अत्र वदन्ति सिद्धा ह्यत्रापितृप्रीतिरात्मनामविनाशित्वात्पितरः सिद्धास्तेषांचशरीरसंबन्धः क्रियते । कर्माख्ये प्राधान्यमुपाध्यायाय गां ददाति तद्भोजनं ह्यत्र प्रधानम् । तस्य हि फलं श्रुतं भो जयन्पुष्कलं फलमाप्नोति । तच्च फलं पितृणां तस्य तृप्तिः स्यादिति तृप्तिश्च प्रीतिमात्रं न मनुष्याणामिव भुजि क्रिया फलं सौहित्यलक्षणमुत्पद्यते । काचित्पितृणां प्रीतिः त्वकर्मवशतो यत्र तत्र जातावुत्पन्नानाम् । प्रीतिमात्रवचनो यंधातुः सौहित्यंतु विशेषः सप्रमाणान्तरावसेयः । न चात्रेतच्चोदनीयपुत्रः कर्ता कथं कर्तृगामिफलं हीमानि कर्माणि वैदिकानि परस्परकर्मादीनीतिन्यायविदो वदन्ति । यतः पितर एवात्राधिकारिणः कर्तारश्च । अपत्योत्पादनेनैव सर्वमेतत्पितृभिः कृतं एवमर्थमेवासावुत्पादितो दृष्टादृष्टमुपकारं करिष्यतीति । ततश्च यथा सर्वस्वारेऽभावादौ चरकालिकेष्वङ्गेषु ब्राह्मणाः संस्थापयतमे यज्ञमिति प्रैष्यं मृतस्य कर्तृत्वमेवमत्रापि द्रष्टव्यम् । एतावान्विशेषः सूत्राधिकारान्तरप्रयुक्तः जीविकार्थिनोभृतिपरिक्रीताः कृत्विजः कर्तारः । इह तु तद्विधिप्रयुक्त एव पुत्रः यथैवापत्यत्तिविधिप्रयुक्तस्य पुत्रार्थेषु पितुः संस्कारेष्वधिकारानुशासनपर्यन्तत्वात् तस्य विधेः एवंपित्रर्थे आद्धादौ पुत्रस्य तथैव जीविनः पितुर्ब्रह्मैतु मातापितरावित्यवश्यं कर्तव्यम् । एवं दृष्टान्तगतस्तस्यापि । न चायं वैश्वानरवत्काम्योधिकारः वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते तस्मिन् जात एताभिर्द्विनिर्वपति पूत एव स तेजस्य न्नाद इन्द्रियवानह भवतीति । एवमादिपुत्रफलार्थिनोधिकारः पितुर्वैश्वानरे न चूडादिष्विवावश्यकः । इह तु पित्र्यमानि धनात्कार्यमिति यावज्जीविकालात्कर्तुं वैदिकं फलमित्येतदन्यथा परिक्रियते । यथैव वैश्वानरविशिष्टपुत्रवत्ता लक्षणं पितुरेव फलं नाकर्तृगामिता फलस्य एवमिहापि पुत्रस्यैव तत्फलं या पितुः प्रीतिरुभयथा पितृकर्तृगामिता फलस्य न विरुध्यते । अपत्योत्पादनेनैवैनतादस्य फलस्येष्टत्वात् । पितृणामपि नाकामितफलावृत्तिः यदि न आद्धेन पितरो देवताः कथं तर्हि पित्र्यमेतत्कर्मेति देवतातद्धितः । अनुद्देश्यत्वसामान्यादिति वदामः । युष्मदुपकारार्थमिदं ब्राह्मणभोजनमिति पितर उपादिश्यन्ते । पिण्डपितृयज्ञे तु पितरो देवता एव न आद्धे पितृणां देवतात्वं मन्यन्ते । यत्तु ब्राह्मणाभोज्यन्ते तद्यथाग्नौ होमाज्यपुरोडाशादीनां द्रव्यदानस्य । तादृशमे तत् । तथा च ब्राह्मणाः पितृत्वमापद्यन्त अतोऽन्नपरिवेषणकाले पितर एवोद्देश्या युष्मभ्य मिदं नममेति । ब्राह्मणा स्त्वावनीयस्थानीयाः एतावान्विशेषो यदा हवनीये हविः प्रक्षिप्यते ब्राह्मणानां तु सन्निधाप्यते ते तुत्स्यमुपाददंत इति । नच यागो न देवतार्थः स्वाहाकारं स्विष्टरुदादिषु दर्शनात् । अतो यागोपि सन् आद्धकर्मपित्र्यर्थं भविष्यति पितृणां देवतात्वं फलभावित्वं निरोत्स्यते । तृतीये किंचिदनुक्तमेव तत्संबद्धं वक्ष्यामः । तस्मान्नादित्यादयो ब्राह्मणभोजने । देवता इति स्थितम् ।

ननु चाव्यापकमेतदपि लक्षणम् यागउद्देश्यदेवतैस्त्यन्तरेणापि यागसंबन्धे देवताव्यहारदर्शनात् । देवतानां च पूजनं देव-
तान्यभिगच्छेदिति न यागो नाप्याभिमुख्येन गगनं पादविहारात्मकं देवताः प्रतिसंभवति । नैष दोषः । यत्र देवताचोदना
तत्रैतत्पूजाविधानं भविष्यति वैश्वदेवदेवतास्वग्निरहोत्रादिसंबन्धिनी णुवा । ननु चैवमपि नोपपद्यते नहि देवतायाः पूज्य-
त्वं संभवति स्वरूपहानिप्रसङ्गात् । पूजाकर्मत्वेपि यागसंप्रदानता स्यात् । उक्तं न क्रियान्तरस्य किञ्चिद्भवतीति शक्ति-
र्हि कारकं सा च प्रतिक्रियं विभिद्यते । कार्यावगम्यत्वाच्च तस्यायावत्कार्यभेदो न्याय्यः । अतो यत्संप्रदानमेव न तस्य कर्मा-
पत्तिः । कथं तर्हि पाचकाय देहि पचेः कर्ता ददातेः संप्रदानम् । शरैः क्षताङ्गः प्रियया कटाक्षैर्निरीक्ष्यमाणो विवशो ज-
गाम । उक्तोत्र परिहारः । शक्तिशक्तिमतोर्भेदस्यौपचारिकत्वात्सिद्धं ब्रजति भुक्त्वेति । तस्माद्यदि पूजाविषयमेतन्न देवता-
लाभः अथ देवता आदित्यादयोन पूजाविधिः । नहि देवतायां सिद्धायामुद्दिश्य पूजाविधीयते न ह्यादित्यादीनां देवतासा-
मान्यशब्दो गोशब्दवच्छागमेषायादीनाम् । अत्रोच्यते । सत्यं नादित्यादयः स्वरूपतो देवताः संबन्धिशब्दोऽयं विधित एव
नार्थो वगन्तव्यो यस्य हविषश्चोद्यते सा तस्य देवतेति स एवाग्निराग्नेयादन्यत्र न देवतेत्युक्तम् । किंतु न पूजाविधिः पूज्यमा-
नमन्तरेण संभवति । देवताश्च पूज्यत्वेन श्रुतास्तत्र यदि देवतार्थं मुख्येन पूजा संभवति तदा याग एव पूजाविज्ञेया ।
तस्य चारूपत्वादसति द्रव्यदेवताश्रवणे पूर्वाह्न कालविध्यर्थोऽयमनुवादो विज्ञेयः । अतः पूर्वाह्ने देवतानि कर्तव्यानीत्यु-
क्तं भवति । किमुच्यते । देवता न श्रूयते यावता न साक्षाद्देवताशब्दोऽस्ति नायं सामान्यवचनो देवतार्थः । या सामान्यत्र
देवतात्वं दृष्टं तासां मेतत्पूजाविधानम् । तेनाग्निरादित्योरुद्गच्छेद्विष्णुः सरस्वतीत्येवमादयः पूज्याः । पूजार्थं च घूपदीपमा-
ल्योपहारादीनां निवेदनम् । तत्राग्नेस्तावत्साक्षात्संबन्धस्तच्चादित्यस्य दूरदेशवर्तित्वाच्छुचावकाशेतदुद्देशेन गन्धादिप्रक्षे-
पः । इन्द्रादीनां स्वरूपस्याप्रत्यक्षत्वादिन्द्रादिशब्दोद्देशेनैव तथा विधानम् । यद्यपि पूज्यमानप्रधाना पूजा तथापि हि
पूज्यमानानां कार्यान्तरशेषाभावे पूजैव कर्तव्यतया विज्ञायते । द्रव्यप्रधाने हि न विधिविषयत्वसंभवः स्तानि द्वैधं गुणप्रधा-
नभूतानि यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यत इति न्यायात्स्तुतिशास्त्रादिवत् । यथानस्तुतिः स्तुत्यार्था एव भिन्नमपि पूज्यान पूज्यार्था । स्तौ-
ति शंसत्योर्निर्देशानास्तीति चेत् अत्रोक्तं द्वितीया सत्तुषु दर्शनात् । एवमृदंगादेवतंप्रदक्षिणानि कुर्वीतेति दक्षिणाचारताविधी-
यते । दक्षिणेन दैवानि कर्माणि कर्तव्यानि । नहि मृदादितदेवतायादक्षिणेन मार्गेण स्थानम मूर्तत्वात् । युज्यते एवं दैवता-
न्यभिगच्छेदिति । पादविहारव्यापारेण देवतासमीपप्राप्त्यसंभवाद्गमेश्च ज्ञानार्थत्वादभिगमनं स्मरणार्थं किं विशिष्यते । देवताअ-
भिगच्छेत्कर्मकाले मनसा ध्यायेच्चित्तव्याक्षेपतामाकुलताख्यां परिहरेदित्यर्थः । तथा चोपलभ्यमानमूलैवेयं स्मृतिर्भवति ।
यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेदिति । ननु चैतदप्युद्देश्यत्वादन्यथानुपपत्तेः प्राप्तमेव सव्याक्षेपस्याकुलस्य
च संभवाददोषः । एवं देवस्वं देवपशवो देवद्रव्यमित्यादयो व्यवहारास्तादर्थ्येनोपकल्पितेषु पशवादिषु द्रष्टव्याः । दण्डाधिकारे
तु प्रतिकृतिविषयमेव देवताव्यवहारमिच्छन्ति । अन्यथा व्यवस्था भङ्गः स्यात् । कल्पितदेवतारूपाणां प्रतिकृतीनां कल्पिते
नैव स्वत्वाभिभावेन यत्संबन्धिदेवब्राह्मणराज्ञांतु द्रव्यं विज्ञेयमुत्तममित्यादिषु देवद्रव्यं नहि देवतानां स्वत्वामिभावोऽस्ति मुख्या-
र्थसंभवाद्गौण एवार्थो ग्राह्यः । कः पुनरत्र गौणोर्थः कार्यप्रसाधयेय एवाग्निर्माणवक इत्यादिषु नैवं शुक्लोमाणवके तद्गुणदर्श-
नात् । सर्वत्र हि साधारणगुणयोगाद्गौणार्थावगतिस्ते च गुणाः प्रत्यक्षाद्यवसेयाः । इह तु देवतार्थस्य कार्यावगम्यत्वात्कार्यं
तः स्वरूपविशेषानवगमात्कुतः प्रकृतिषु साधारणगुणावसायः । अत्रोच्यते । मन्त्रार्थवादेषु तथा विधिरूपश्रवणात्तेषां च गुण-
वादेन व्याख्यानम् । तन्मूलमपश्यन्तो यथाश्रुतार्थग्राहिणस्ताद्रूप्यमिन्द्रादिषु प्रतिपाद्यमानाः प्रकृतिषु सादृश्यमपश्यन्तीति
युक्तैव गौणता । यत्तु श्राद्ध एव वैश्वदेवब्राह्मणभोजनं देवदेवत्वमाचक्षते तेषां पिश्याङ्गत्वात् । तस्य पिश्याग्रहणेन गृहीतत्वा-

दनर्थकं पुनर्वचनम् । सामान्यशब्दत्वाच्च ऋतोर्विशेषावगतिसाहचर्यादिति वद्यदि चपिच्यशब्देन ग्रहणं भवेद्गोबलीवद-
न्यायोपिसतिविषयभेदे भवति ॥ १८९ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । व्रतमधुमांसाद्यभक्षणनियमस्तद्युक्तमृषिवत् वानप्रस्थवदिति मुन्यन्नाशनम् भिषैति ।
देवदेवत्ये विश्वेदेवदेवता यत्र तत्रपिच्येवाअत्यन्ताभ्यर्थनयोपरुद्धोऽश्रीयात् अकामानुमतौ । कामं अतएवोक्तम् । व्रतम-
स्य न लुप्यते न प्रत्यावर्तते । प्रत्यवायस्तु स्यादेव तदर्थप्राणायामादि कुर्यात् । पिच्यस्य समभिव्याहारेण देवकर्मप्रतीति-
रितरदैवव्यवच्छेदः । अथ पिच्ये कर्मणीत्यन्वयः । अथेति च पिच्यकर्मणो देवापेक्षया विशेषद्योतनार्थम् । तेन दैविकान्न-
भोजनात् पिच्यान्नभोजनस्याधिकं पापहेतुता सूच्यते । देवदैवत्यपदसमभिव्याहाराच्च वैश्वदेविकश्राद्धाशने व्रतलो-
पएव । एतदपि निरन्तरं समरात्रं क्रियमाणं गौतमोक्तप्रायश्चित्तेनैव शोध्यते ॥ १८९ ॥

(३) कुङ्कुमः । पूर्वनिषिद्धस्यैकान्नभोजनस्यायं प्रतिप्रसवः । देवदैवत्ये कर्मणि देवतोद्देशेनाभ्यर्थितो ब्रह्मचारी-
व्रतवदिति व्रतविरुद्धमधुमांसादिवर्जितमेकस्याप्यन्नं यथेप्सितं भुञ्जीत । अथपिनुद्देशेनाभ्यर्थितो भवति तदर्पयतिः सम्यग्दर्श-
नसंपन्नत्वात्सद्व मधुमांसवर्जितमेकस्याप्यन्नं यथेप्सितं भुञ्जीतेतिस एवार्थो वैदग्ध्येनोक्तः । तथापि भैक्षवृत्तिनियमरूपं व्रतमस्य
लुप्तं न भवति । याज्ञवल्क्योऽपि श्राद्धेभ्यर्थितस्यैकान्नभोजनमाह ब्रह्मचर्ये स्थितो नैकमन्नमद्यादनापदि । ब्राह्मणः
काममश्रीयाच्छ्राद्धे व्रतमपीडयन्निति । विश्वरूपेण तु व्रतमस्य न लुप्यत इति पश्यता ब्रह्मचारिणो मांसभक्षणमनेन
मनुवचनेन विधीयत इति व्याख्यातम् ॥ १८९ ॥

(४) राघवानन्दः । देवदैवत्ये आग्रयण्यादिषु तत्र ब्राह्मणं भोजयित्वा स्वस्त्ययनं वाचयितेत्युक्तेरिति मेधातिथि-
स्तन्न कर्माङ्गत्वात्तस्य किंतु मार्कण्डेयोक्तविष्ण्वादिश्राद्धे तत्र श्राद्धभेदाः नित्यं नैमित्तिकं काम्यं यद्विश्राद्धं सपिण्डनम् । पा-
र्वर्णवेति विज्ञेयं गोष्ठ्यां शुद्धयर्थमष्टकम् ॥ कर्माङ्गं नवमं प्रोक्तं दैविकं दशमं स्मृतमिति विश्वामित्रोक्तः ॥ नैमित्तिकमेवोद्दिष्टम् ।
तत्रैकान्नमद्यात् व्रतवन्मधुमांसवर्जमश्रीयात् तथापि त्रेऋषिवर्षे सम्यग्दर्शनसंपन्नत्वेपि मधुमांसयोर्वर्जनात् अथवा ऋषिर्मुनिः
संन्यासीति तद्वदात्वादनासक्तौषधवदशनमाचरेदिति संन्यासप्रकरणं श्रुतेः । एवं देवाद्यर्थेभ्यर्थितो व्रतलोपनं प्रामोतीत्याह
कामभिति । तदुक्तं याज्ञवल्क्येन ब्रह्मचर्ये स्थितो नैकमन्नमद्यादनापदि । ब्राह्मणः काममश्रीयाच्छ्राद्धं व्रतमपीडयन्निति ॥ १८९ ॥

(५) नन्दनः । प्रतिषिद्धमेकान्नाशनं प्रतिप्रस्तौति व्रतइति मधुमांसादिवर्जनमभिप्रेतम् । ऋषिवदित्यल्पवन्त्या-
शनम् ॥ १८९ ॥

(६) रामचन्द्रः । देवदैवत्ये कर्मणि विश्वदैवकर्मणि अभ्यर्थितः सन्निमित्तितः सकामं अश्रीयात् भोजनं कुर्यात् ।
व्रतवत् ब्रह्मचारी व्रतं पिच्ये कर्मणि ऋषिवत् अश्रीयात् । अस्य ब्रह्मचारिणः व्रतं न लुप्यते लोपनं यातीत्यर्थः ॥ १८९ ॥

ब्राह्मणस्यैव कर्मेतदुपदिष्टं मनीषिभिः ॥ राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते ॥ १९० ॥

(१) मेधातिथिः । यदेतदेकान्नभोजनकर्मादिष्टमेतद्ब्राह्मणस्यैव मनीषिभिर्विद्वद्भिर्वेदादुपलभ्योपदिष्टं क्षत्रियवैश्य-
योस्तु नैतदिच्छन्ति न कदाचित्तयोरभैक्षभोजनम् । ननु च श्राद्धभोजने ब्राह्मणानामेवाधिकारो ये तत्र भोजनीयाः स्युर्ये
च वर्ज्याद्विजोत्तमाः अर्हत्तमाय विप्रायेति वचनाद्ब्राह्मणस्यैव प्रतिग्रहाधिकारस्तत्र कुतोऽयं प्रतिषेधो राजन्यवैश्ययोरिति प्रतिप्र-
सवश्चायं नापूर्वविधेः प्राप्तिरव्यपेक्षाश्च प्रतिषेधा भवन्ति । उच्यते । भुक्तवतां ब्राह्मणानामेव शिष्टस्यान्नस्य प्रतिपत्तिराभ्याता
ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेदिति । न च तत्र जात्यपेक्षायस्य ज्ञातिः सतेन भोजयितव्यः । न च तत्र क्षत्रियादयः प्रतिगृह्योततया
संबन्ध्यन्ते अपितु ज्ञातयः । अतोऽस्याः प्राप्तेः प्रतिषेधः ॥ १९० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतत्कर्मश्राद्धानाशनम् । केचित्त्वेतत्पदेनैकानाशनमात्रपरामर्श इत्याहुः ॥ १९० ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणक्षत्रियविशान्नयाणामेव ब्रह्मचारिणाभैक्षाचरणविधानाद्वतवदित्यनेन तदपवादरूपमेकान्न-
भोजनमुपदिष्टम् । क्षत्रियवैश्ययोरपि पुनरुक्तेन पर्युदस्यते । तदेकान्नभोजनरूपं कर्म तद्ब्राह्मणस्यैव वेदार्थविद्भिर्विहितम् ।
क्षत्रियवैश्ययोः पुनर्नचैतत्कर्मेति ब्रूते ॥ १९० ॥

(४) राघवानन्दः । एतत्कर्मनिमित्ततभोजनं राजन्यवैश्ययोर्ब्रह्मचारित्वेपि श्राद्धादिषु माश्रीयादित्याहुः राज-
न्येति ॥ १९० ॥

(५) नन्दनः । ब्रह्मचारिप्रकरणविषयत्वात्क्षत्रियवैश्ययोरयं विधिः प्राप्तः प्रतिषिध्यते ब्राह्मणस्यैवेति । कर्म पूर्व-
श्लोकोक्तम् ॥ १९० ॥

(६) रामचन्द्रः । एतत्कर्म दैवपितृरूपं कर्म नियत्तत्राब्राह्मणस्यैव मनीषिभिः उपदिष्टम् । एवं राजन्यवैश्ययोर्ब्रतिनोः-
एतद्वैव कर्मणि पित्र्ये कर्मणि निमित्तत्वं विधीयते ॥ १९० ॥

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा ॥ कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥ १९१ ॥

(१) मेघातिथिः । नोदितो गुरुणाऽनियुक्तोऽपि कुर्यादध्ययने योगं यत्नम् । ननु चाहूतो धीत इत्युक्तं कथमनोदितस्य
योग उच्यते । गृहीतवेदैकदेशस्य परिशेषकगुणार्थमेतदुच्यते । न तत्राचार्यनियोगोपेक्षितव्यः । एवमाचार्याय हितं यदुद-
कुम्भाहरणादिश्रान्तसंवाहनादितदप्यनियुक्तेन कर्तव्यम् ॥ १९१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । योगमुद्यमम् । यत्नमिति क्वचित्पाठः । अचोदितोपि गृहीतवेदभागाभ्यासं कर्तुं स्वत एव शक्नो-
तीति न तत्र गुर्वपेक्षा ॥ १९१ ॥

(३) कुल्लूकः । आचार्येण प्रेरितो न प्रेरितो वा स्वयमेव प्रत्यहमध्ययने गुरुहितेषु चोद्योगं कुर्यात् ॥ १९१ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच चोदित इति । कुर्यात्तद्योगं उपायम् ॥ १९१ ॥

(५) नन्दनः । योगमभ्यासम् ॥ १९१ ॥

शरीरंचैव वाचंच बुद्धीन्द्रियमनांसि च ॥ नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखं ॥ १९२ ॥

(१) मेघातिथिः । कुतश्चिदागतो गुरोर्मुखं वीक्षमाणस्तिष्ठेन्नोपविशेन्नियम्य च शरीरं पादहस्तचालनहस्तितानि न कु-
र्यान्किंचिच्चिद्वदेत् । अनुपयोगिबुद्धीन्द्रियाणि नियच्छेत् । यदाश्चर्यरूपं किंचिद्गुरुसकाशे न तत्पुनः पुनर्भावेत् । श्रीत्रादीन्य-
पि । चक्षुर्नियमस्तु गुरुवत्प्रवेक्षणादेव सिद्धः । मनश्च नियच्छेच्छास्त्रीयान्विकल्पान् गृहकुशलाधारम्भान् मनसा वर्जयेत् ।
उक्तस्तु संयमे यत्नमिति शक्तिप्रतिषेधार्थः । सप्रतिषेधः गुरुसन्निधौ त्वल्पोपीन्द्रियाणामप्रतिषिद्धेपि विषये प्रसरणे देयः ।
प्राञ्जलिरुर्ध्वरुतकरकपोलः ॥ १९२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शरीरनियमो वृथा चेष्टा बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च मनश्च नियम्य त्वत्त्वविषयव्यावृत्तानि कृत्वा
गुरुसमीपावस्थाने सर्वदैतद्विधेयं विशेषतः स्वाध्यायकाले ॥ १९२ ॥

(३) कुल्लूकः । देहवाग्बुद्धीन्द्रियमनांसि नियम्य कृताञ्जलिर्गुरुमुखं पश्यंस्तिष्ठेन्नोपविशेत् ॥ १९२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच शरीरमिति । प्राप्ते गुरौ तथा भूतस्तिष्ठन्मुखं निरीक्षमाण इत्यभ्ययनकाल इति शेषः ॥ १९२ ॥

(५) नन्दनः । बुद्धिरभ्यवसायात्मिका मनः संशयात्मिका ॥ १९२ ॥

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयतः ॥ आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखंगुरोः ॥ १९३ ॥

(१) मेधातिथिः । न केवलं सूत्रकात्पाणिरुद्धतव्योऽपितुर्वाससोऽपि । नित्यग्रहणं नतिष्ठत एवायं पाण्डुरो नाप्यध्ययनवेलायम् । किं तर्हि ततोऽन्यत्रापि । साध्वाचारः साध्वनिन्द्यः आचारो वाग्व्यवहारादिः कार्यः । अश्लीलादिभाषणमसंनिधानेपि गुरोर्नित्यग्रहणान्नकर्तव्यम् । सुसंवृतः वाङ्मनश्चक्षुर्भिः नियतात्मा त्वल्पोपि दोषस्तं परिहरेत् । अनावृतोलोक उच्यते यो यथा कामी तद्विपरीतः सुसंवृतः । अन्येतु मन्यन्ते वस्त्रेणाच्छादितशरीरोगुरुसंनिधौ भवेत् नोत्तरीयमवतारयेदेवं तिष्ठेत् । यदा तु गुरुणाऽस्यतामित्युक्त एतेन शब्देन भ्रूविक्षेपादिना वाविधेः प्रतिपादनार्थत्वात् प्रतिपादनं च न शब्दव्यापार एव तदाऽऽसीतोपविशेत् । अभिमुखः संमुखः ॥ १९३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उद्धृतपाणिः उत्तरीयबहिरुपरिस्थदक्षिणबाहुः साध्वाचारोगुर्वनुगमनादिविशिष्टाचारकारी सुसंयतो च पलचित्तः उक्तोगुरुणा अभिमुखं दर्शनविषये ॥ १९३ ॥

(३) कुल्लूकः । सततमुत्तरीयाद्वहिष्कृतदक्षिणबाहुः शोभनाचारो वस्त्रावृतदेह आस्यतामिति गुरुणोक्तः सन्गुरोरभिमुखं यथा भवति तथाऽऽसीत् ॥ १९३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच नित्यमिति । उद्धृतपाणिः वस्त्रादिभ्यो विकसितदक्षिणपाणिः सुसंवृतः वस्त्रावृतदेहः प्रोक्तो गुरुणेति शेषः ॥ १९३ ॥

(५) नन्दनः । नित्यमाश्रमान्तरेऽन्युद्धृतपाणिः स्यात् वस्त्रादिभिराच्छादितदक्षिणपाणिः स्यात् ॥ १९३ ॥

(६) रामचन्द्रः । नित्यं उद्धृतपाणिः स्यात् पठनसमये उद्धृतपाणिः स्यात् साध्वाचारः साधुयथा स्यात् तथा आचारवान् भवेत् । सुसंयतः यतचित्तः सन्व्रतमपीडयन्नित्यर्थः । आस्यतां उपविश्यतामिति गुरुणा चोदितः सन्गुरोरभिमुखं आसीत् उपविशेदित्यर्थः ॥ १९३ ॥

हीनान्वस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसंनिधौ ॥ उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमंचैव संविशेत् ॥ १९४ ॥

(१) मेधातिथिः । हीनं न्यूनमन्नं भुञ्जीत गुरुसंनिधौ । न्यूनता च परिमाणतः कचित्कचित्संस्कारतः । यदि संस्कृतमाज्यघटितक्षीरादिव्यञ्जनं भिक्षातो लब्धं स्यात्तदा यदि गुरुणा तादृशमन्नं भुक्तं स्यादिककाले च गुरुणा सह भोजने यदि गुरोस्तादृशमन्नं गृहे न सिद्धं स्यात्तदा तत्तेन नाशितव्यम् । अथ गुरोरपि तादृशमन्नं स्यात्तदाऽपचयः कर्तव्यः । वस्त्रं यदि गुरोरौर्णस्यात्तदा न कार्पासादिशिष्येण प्रावरीतव्यं । वेषाभरणमण्डनादिः सोऽपि हीनः । सर्वदा ब्रह्मचर्यात्परोऽपि । अतएव वेषग्रहणम् । न च ब्रह्मचारिणो मण्डनमिष्यते । उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य शय्यायारात्र्युपरमे आसनाद्वा उत्थानावसरं बुद्ध्वा प्रथमं पूर्वगुरोर्त्तिष्ठेत् । चरमं पश्चात्त्वापकाले सुप्ते गुरौ संविशेच्छय्यां समाश्रयेदासने चोपविशेत् ॥ १९४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । हीनमपकृष्टं गुरुभोग्यान्वस्त्रः गुरुवेषेभ्यः त्वस्य वस्त्रादेर्हीनत्वम् । उत्तिष्ठेत्शयनात् । संविशेत्शयीत ॥ १९४ ॥

(३) कुल्लूकः । सर्वदा गुरुसमीपे गुर्वपेक्षया त्ववरुष्टान्वस्त्रप्रसाधनो भवेत् । गुरोश्च प्रथमं रात्रिशेषशयनादुत्तिष्ठेत्प्रदोषे च गुरौ सुप्ते पश्चाच्छयीत ॥ १९४ ॥

(४) राघवानन्दः । हीनान्वस्त्रवेषः अपकृष्टान्नादिर्गुरुतः प्रथमं गुरुत्थानात्पूर्वचरमंगुरुसंवेशनादुत्तरं संविशेत्शयीत ॥ १९४ ॥

(५) नन्दनः । सर्वदा आश्रमान्तरेऽपि सन्निधाविति विशेषणादसन्निधावदोषः ॥ १९४ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वदा गुरुसंनिधौ हीनान्नवल्लवेषः स्यात्गुरोः स्वरूपात्हीनः अन्नवल्लवेषो यस्य सः हीनान्नवल्लवेषः अस्य गुरोः प्रबोधनात्पूर्व उत्तिष्ठेत् चरमं तस्मात्संविशेत् सुप्त्यात् ॥ १९४ ॥

प्रतिश्रवणसम्भाषे शयानो न समाचरेत् ॥ नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन् पराङ्मुखः ॥ १९५ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रतिश्रवणमाहूयमानस्य कार्ये नियुज्यमानस्य गुरुसंबन्धिवचनाकर्णनम् । संभाषा गुरुणा सहोक्तिप्रत्युत्तिकरणम् । तेषां प्रतिश्रवणसंभाषे । शयानः स्वस्वस्तरे निक्षिप्तगात्रो न समाचरेन्न कुर्यात् । नासीन आसने चोपविष्टः न भुञ्जानः न तिष्ठन्नेकस्मिन्नेव देशेऽविचलन् पूर्वस्थितः न पुनः पराङ्मुखः यस्यां गुरुर्दृश्यते ततः परावृत्य स्थितो न कुर्यात् ॥ १९५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रतिश्रवणमाज्ञास्वीकारः ॥ १९५ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रतिश्रवणमाज्ञाङ्गीकरणसंभाषणं च गुरोः शय्यायां सुप्त आसनोपविष्टो भुञ्जानस्तिष्ठन्विमुखश्च न कुर्यात् ॥ १९५ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रतिश्रवणसंभाषे आज्ञाङ्गीकरणसंभाषणे नासीनः पीठादिषु न तिष्ठन् दूरत इति शेषः न पराङ्मुखः गुरुं पृष्ठतः कृत्वा ॥ १९५ ॥

(५) नन्दनः । प्रतिश्रवणमात्मानं प्रति गुरुणा प्रयुज्यमानस्य वाक्यस्याश्रवणम् । प्रतिसंभाषा गुरुं प्रति वाक्यम् ॥ १९५ ॥

(६) रामचन्द्रः । शयानः शिष्यः प्रतिश्रवणसमभाषे न समाचरेत् प्रतिश्रवणं च समभाषा च प्रतिश्रवणसमभाषे प्रतिश्रवणं विनयसंभाषा वचनं न गुरुं समाचरेत् ॥ १९५ ॥

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः ॥ प्रत्युद्रम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्भावंस्तु धावतः ॥ १९६ ॥

(१) मेधातिथिः । कथं तर्हि । आसीनो यदा ज्ञाददति तदा स्थित आसनादुत्थाय प्रतिश्रवणसंभाषे कुर्यात् । अभिगच्छंस्तु तिष्ठतः तिष्ठन् गुरुर्यदा दिशति तदा अभिगच्छंस्तदभिमुखः कतिचित्पदानि गत्वा आ व्रजत आगच्छतः प्रत्युद्रम्याभिमुखमेव गत्वा प्रतिराभिमुख्ये धावतो वेगेन गच्छतः पश्चाद्भावन् ॥ १९६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यथा समाचरेत्तदाह आसीनस्येति । अभिगच्छन्संमुखमार्गच्छन् ॥ १९६ ॥

(३) कुल्लूकः । कथं तर्हि कुर्यात्तदाह आसीनस्येति । आसनोपविष्टस्य गुरोराज्ञाददतः स्वयमासनादुत्थितस्तिष्ठतो गुरोरादिशतस्तदभिमुखं कतिचित्पदानि गत्वा यथा गुरुरागच्छति * तथान्यभिमुखं गत्वा यदा तु गुरुर्धावन्नादिशति तदा तस्य पश्चाद्भावन् प्रतिश्रवणसंभाषे कुर्यात् ॥ १९६ ॥

(४) राघवानन्दः । आसीनो यदा जातस्तदा स्थित आसनादुत्थितः अभिगच्छन्कतिचित्पदानि प्रत्युद्रम्य आसनादेरुत्थितः तत्तत्क्रियां कुर्वन् प्रतिश्रवणसंभाषणे कुर्यात् गुरोरित्यन्वयः ॥ १९६ ॥

† यथा=यदा (अ)

* तथा=तदा (अ)

(५) नन्दनः । प्रतिश्रवणसंभाषेकथंकुर्यादित्यपेक्षायामाह आसीनस्येति । कुर्यात्प्रतिश्रवणसंभाषेइत्येव । अभिगच्छंस्तुगच्छतइतिपाठः ॥ १९६ ॥

(६) रामचन्द्रः । आसीनस्य गुरोःस्थितःशिष्यःअभिवादंकुर्यात्ततिष्ठतःगुरोःअभिगच्छनसम्मुखःसन्ममःस्कुर्यात् । आव्रजतःआगच्छतःप्रत्युद्गम्य नमस्कारंकुर्यात् । गुरोर्धावितः पश्चाद्भावेत् ॥ १९६ ॥

पराङ्मुखस्याभिमुखोदूरस्थस्येत्य चान्तिकम् ॥ प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः॥ १९७॥

(१) मेधातिथिः । तथा पराङ्मुखस्य गुरोः संमुखोपविष्टः शिष्योऽपि गुरुःपरावृत्य कथंचित्स्थितः प्रेष्यति तांदिशंगत्वाऽभिमुखीभूय पूर्वोक्तकर्तव्यम् । दूरस्थस्य समीपंअन्तिकंएत्याऽऽगत्य प्राप्यासीनस्यापि शयानस्य प्रणम्य प्रवृद्धोभूत्वा गात्राण्यवनमय्य निदेशे निकटे तिष्ठतोऽपि प्रणम्यैव यत्रागुक्तमभिगच्छन्ति ॥ १९७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निदेशेधः स्थानान्नीचे निम्नेदेशे गतादौ तिष्ठतः प्रणम्य कुर्यादित्यन्वयः । निदेशे निकटे देशेइत्यन्ये ॥ १९७ ॥

(३) कुल्लूकः । तथा पराङ्मुखस्येति । पराङ्मुखस्य वा दिशतः संमुखस्थोदूरस्थस्य गुरोः समीपमागत्य शयानस्य गुरोःप्रणम्य प्रवृद्धोभूत्वा निदेशे निकटे ऽवतिष्ठतोऽगुरोरादिशतः प्रवृद्धीभूयैव प्रतिश्रवणसंभाषेकुर्यात् ॥ १९७ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच पराङ्गिति । पराङ्मुखस्यगुरोःअभिमुखःसन्दूरस्थस्य गुरोरन्तिकमेत्यगत्वा निदेशेनिकटदेशे तिष्ठतोऽगुरोःप्रणम्यशयानस्य । गुरोःनिदेशे समीपेप्रतिश्रवणादिकंकुर्यादित्यनुषज्यते । उक्तपदार्थजातमतिशयविनयसूचनार्थम् ॥ १९७ ॥

(५) नन्दनः । प्रणम्य प्रवणीभूत्वा । विदेशे विनते देशे श्वभ्रादौ ॥ १९७ ॥

(६) रामचन्द्रः । पराङ्मुखस्य गुरोःअभिमुखस्तिष्ठेत् । दूरस्थस्य गुरोःअन्तिकंसमीपंएत्यागत्य तिष्ठेत् । शयानस्य गुरोःपृष्ठतःचरणौप्रणम्य निदेशेचैव तिष्ठति गुरोर्निदेशे तिष्ठेदित्यर्थः ॥ १९७ ॥

नीचंशय्यासनंचास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ ॥ गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनोभवेत् ॥ १९८ ॥

(१) मेधातिथिः । नीचमनुन्नतं गुरुशय्याद्यपेक्षया च नीचत्वम् । नित्यग्रहणाद्भ्रूल्लचर्यादुत्तरकालमपि गुरोश्च दृष्टिगोचरेनास्थातव्यम् । गुरुः पश्यति तत्र न यथेष्टमासीत् पादप्रसारणाङ्गनिषङ्गादिना । आसनग्रहणंचेष्टामात्रोपलक्षणार्थम् । यथेष्टचेष्टेन भवेत् ॥ १९८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र शय्यानीचत्वाभिधानात् अधःशय्यामिति प्रागुक्तंखट्वाङ्गध्वंशय्यानिषेधपरं न भूशयनपरम् । यथेष्टासनः पर्यङ्कबन्धादिना केवलंचरणाद्युपपदशून्यम् ॥ १९८ ॥

(३) कुल्लूकः । गुरुसमीपेचास्य गुरुशय्यासनपेक्षयानीचे एव शय्यासने नित्यं स्याताम् । यत्र च देशे समासीनगुरुः पश्यति न तत्र यथेष्टचेष्टां चरणप्रसारादिकांकुर्यात् ॥ १९८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच नीचमिति । अस्य शिष्यस्यनीचमित्यादिनिषेधार्थः न यथेष्टासनःकृतपर्यङ्कबन्धः ॥ १९८ ॥

(५) नन्दनः । सर्वदानित्यमुत्तराश्रमेऽपि ॥ १९८ ॥

(६) रामचन्द्रः । नीचंशय्यासनंचित्यस्यात् अस्य शिष्यस्य गुरुसन्निधौ ॥ १९८ ॥

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ॥ न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥ १९९ ॥

[परोक्षंसत्कृपापूर्वप्रत्यक्षंनकथंचन ॥ दुष्टानुचारीच गुरोरिहवामुत्रचेत्यधः ॥ * १ ॥]

(१) मेधातिथिः । नोदाहरेन्नोच्चारयेदस्य गुरोर्नाम केवलमुपाध्यायाचार्यभट्टाद्युपपदरहितंपरोक्षमपि । न चैवास्यानुकुर्वीत सदृशंनकुर्यान्नाल्यकारइव गतिः एवमस्मद्गुरुरपक्रामति भाषितंद्रुतविलम्बितमभ्यमत्वादिचेष्टितंएवंभुंक्तेएव मुष्णीषंबध्नाति एवंपरिवर्ततइत्यादि । उपहासबुद्ध्या यमनुकरणप्रतिषेधः ॥ १९९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नोदाहरेत् परोक्षमपि प्रत्यक्षं तुतद्युक्तमपि नोदाहरेदित्यर्थः । गतिभाषिते चेष्टितंच हस्तचालनादिना नानु कुर्वीत परिहासबुद्ध्या तत्सदृशंगत्यादि न कुर्यात् ॥ १९९ ॥

(३) कुल्लूकः । अस्य गुरोःपरोक्षमप्युपाध्यायाचायादिपूजावचनोपपदशून्यंनाम नोच्चारयेत् । न तु गुरोर्गमनभाषितचेष्टितान्यनुकुर्वीत गुरुगमनादिसदृशान्यात्मनोगमनादीन्युपहासबुद्ध्या न कुर्वीत ॥ १९९ ॥

(४) राघवानन्दः । केवलंभगवच्छब्दादिशून्यंनानुकुर्वीतेति अनुकरणंतादृशगत्यादिकरणंचेष्टितंकरचालनादि तत्करणे परिहासादिप्रतीत्या क्रोधादिसंभावना स्यात् ॥ १९९ ॥

(५) नन्दनः । केवलंतत्रभवदादिशब्दरहितम् । चेष्टितंहस्तमुद्रादिकम् ॥ १९९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अस्य गुरोःगतिभाषितचेष्टितं नानु कुर्वीत न कुर्यात् ॥ १९९ ॥

गुरोर्यत्र परीवादोनिन्दावापि प्रवर्तते ॥ कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यंवा ततोऽन्यतः ॥ २०० ॥

(१) मेधातिथिः । यत्र देशे दुर्जनसंपाते गुरोः परीवादः संभूतदोषानुकथनंनिन्दा अविद्यमानानांदोषाणामभिधानंप्रवर्तते तत्र कर्णौ पिधातव्यावङ्गुल्यादिना संवरीतव्यौ ततः प्रदेशाद्वाऽन्यत्र गन्तव्यम् ॥ २०० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । परीवादोवास्तवदोषोक्तिः । निन्दा त्व सदोषोक्तिः ॥ २०० ॥

(३) कुल्लूकः । विद्यमानदोषस्याभिधानंपरीवादःअविद्यमानदोषाभिधानंनिन्दा । यत्र देशेगुरोःपरी वादोनिन्दाच वर्तते तत्र स्थितेन शिष्येण कर्णौहस्तादिना तिरोधातव्यौ तस्माद्वा देशाद्देशान्तंगन्तव्यम् ॥ २०० ॥

(४) राघवानन्दः । किंच गुरोरिति । परीवादोअविद्यमानदोषाभिधानेपिधातव्यावाच्छादितव्यौ ॥ २०० ॥

(५) नन्दनः । परीवादोबुद्धिपूर्वदोषः । निन्दाव्यङ्गतादिः ॥ २०० ॥

परीवादात्तवरोभवति श्वा वै भवति निन्दकः॥परिभोक्ता रुमिर्भवति कीटोभवति मत्सरी २०१॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वप्रतिषेधे शेषोयमर्थवादः । अतएवंव्याख्येयंपरीवादाच्छ्रुत्वा स्वरोभवति हेतौल्यप्लोपे वाकर्मणि पञ्चमी । परीवादंश्रुत्वा निन्दकोनिन्दाश्रावीउपचारान्निन्दकउच्यते । तथा संस्कर्ताविधातकः श्रवणनिषेधादेव साक्षात्करणनिषेधसिद्धिपरिभोक्ता योगुरुमुपजीवतिकुसृत्यानुवर्तते । मत्सरीगुरुसमृद्धिमभ्युच्चयनंसहतेऽन्तर्दहते । अनयोरप्राप्तत्वादपूर्वोविधिः । परीवादपरीवादयोर्धजमनुष्ये बहुलमिति दीर्घत्वादीर्घत्वे ॥ २०१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । परीवादात्स्वयंक्रियमाणात् । एवमुत्तरेषु । परिभोक्ता उत्तमवस्तूनांलब्धानां तदननुज्ञया भोक्ता । मत्सरी तदुणासहिष्णुः । कीटःरुमिरीषदुपचितः ॥ २०१ ॥

+ अयंश्लोकः (च) चिन्हित पुस्तके १९९ श्लोकस्य पूर्वाद्धात् पश्चाद्दृश्यते ॥

(३) कुङ्कुमः । इदानीं शिष्यकर्तृकपरीवादकृतफलमाह परीवादादिति । गुरोः परीवादाच्छिष्योभूतः सरोभवति । गुरोर्निन्दकः कुङ्कुरोभवति । परिभोक्ताऽनुचितेन गुरुधनेनोपजीवकः रुमिर्भवति । मत्सरी गुरोरुत्कर्षासहनः कीटोभवति । कीटः रुमिभ्यः किञ्चित् स्थूलोभवति ॥ २०१ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च परिवादादेशिष्यकर्तृकत्वे प्रत्यवायमाह परिवादादिति । परकृतपरिवादश्रवणे वा परिभोक्ताऽनुचितगुरुधनाद्युपजीवी रुमिरपदः । सपदः कीटः । मत्सरी गुरुगुणासहिष्णुः ॥ २०१ ॥

(५) नन्दनः । परिवादी परिवादप्रयोगी । परिभोक्ता गुरोर्भोगादधिकभोगभोगी ॥ २०१ ॥

(६) रामचन्द्रः । गुरोः परिवादात्स्वरोर्गर्दभोभवेत् । श्वाभवति निन्दकः गुरोः परिभोक्ता गुरुधनोपभोगी रुमिः स्यात् । गुरोर्मत्सरकारी कीटोभवेदिति ॥ २०१ ॥

दूरस्थो नार्चयेदेनं क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः ॥ यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ॥ २०२ ॥

(१) मेधातिथिः । अत्र परप्रेषणेन गन्धमाल्यादेरर्पणप्रतिषिध्यते । स्वयंकृते परेण च कारितेतुल्यकर्तृत्वप्रयोजकेषु कर्तृत्वस्मरणादित्येतया बुद्ध्या प्राप्ते परमुखेनार्चने प्रतिषेधः । अशक्तौ ग्रामान्तरस्थस्य न दोषः ग्रामान्तरगच्छत्युपाध्याये भवानभिवादयतां सगत्वा मातुलमभिवादयत इत्यादिव्यवहारदर्शनात् । न क्रुद्धः गुरौ क्रोधसंभवादप्यनिमित्तेषु क्रोधे पूजाकाले तत्त्यागेनायं प्रसादोभिधीयते । क्रुद्धमित्यन्ये पठन्ति । नान्तिके समीपे स्त्रियाः कामिन्याः स्थितं गुर्वाराधनपरत्वाच्छुश्रूषाकलापस्येन चित्तखेदआशङ्क्यते सन्निविध्यते अतस्त्रिया इत्येवं व्याख्यातम् । यानंगच्छ्यादि आसनं पीठिकामञ्चादि ततोवरुह्यावतीर्याभिवादयेत् । शय्यासनस्थ इत्यत्रासनादुत्थानमुक्तमनेनावरोहणं विधीयते मञ्चाद्वासनादुत्थानमनवरोहतोपि संभवति अवरोहणं तर्हि अनुत्थितस्य च न संभवत्यतो नैनैव सिद्धेशय्यासनेत्यत्रासनग्रहणमनर्थकम् । नानर्थक्यं यदि शिष्यः पराङ्मुखः प्रत्यग्देशादागतं गुरुं मन्येत तदासनस्थ एव संभ्रमपरावृत्तस्तदभिमुखीभूत उत्तिष्ठेन्न तूत्थायाभिपरावर्तेत तथा ह्युत्थानक्रियया संमुखीभवनं व्यवधीयेत ततः कुप्येद्गुरुः । पराङ्मुखस्योत्तिष्ठतो गुरुरेवमपि मन्येत नायं ममाभ्युत्थितो निमित्तान्तरकृतमेवास्याभ्युत्थानं तस्मादर्थवदुभयत्राप्यासनग्रहणम् ॥ २०२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दूरस्थः परहस्तप्रेषितप्रणामबुद्ध्यादिना नार्चयेत् । क्रुद्धः क्रोधनिषेधाप्रतिसंधाने दैवादुत्पन्नक्रोधः न स्त्रियाः अन्तिके स्त्रिया सहैकान्त आसीनमभिवादादिना नार्चयेत् । पूर्वयानासनस्थेन प्रत्युत्थानाभिवादनमुक्तम् । विशेषो विधीयत इत्यत्र यानस्थेनैव प्रत्युत्थानमभिवादनं च कार्यमिति प्रसङ्गेन विशेषमाह यानासनस्थ इति । ते प्रत्युत्थानाभिवादाने अवरुह्यैव कार्ये इत्यत्र विशेष इत्यर्थः ॥ २०२ ॥

(३) कुङ्कुमः । दूरस्थः शिष्योऽन्यं नियुज्य माल्यवस्त्रादिना गुरुं नार्चयेत् । स्वयंगमनाशक्तौ त्वदोषः । क्रुद्धः कामिनीसमीपे च स्थितं स्वयमपि नार्चयेत् । यानासनस्थश्च शिष्यो यानासनादवतीर्य गुरुमभिवादयेत् । यानासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायेत्यनेन यानासनादुत्थानं विहितमनेन तु यानासनत्याग इत्यपुनरुक्तिः ॥ २०२ ॥

(४) राघवानन्दः । एनं गुरुत् । क्रुद्धः स्वयम् । स्त्रिया गुरोः । अवरुह्य भूमौ ॥ २०२ ॥

(५) नन्दनः । दूरस्थो नार्चयेदेनं गन्धमाल्यादिप्रेषणेन नार्चयेत् किंतु स्वयमेवार्चयेदित्यर्थः । क्रुद्धोऽन्यस्मै । स्त्रिया गुरुपत्या अन्तिके रहसि पत्या सहितमित्यर्थः ॥ २०२ ॥

(६) रामचन्द्रः । एनं गुरुं दूरस्थः सन्नवस्त्रादिना नार्चयेत् । तथा क्रुद्धः सन्न पुजयेदित्यर्थः । तथा स्त्रियाः अन्तिके समीपे नार्चयेत् । यानासनस्थः सन्न भूमौ अवरुह्य एनं गुरुं अभिवादयेत् ॥ २०२ ॥

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह ॥ असंश्रवे चैव गुरोर्न किञ्चिदपि कीर्तयेत् ॥ २०३ ॥

(१) मेधातिथिः । यस्यांदिशि गुरुर्व्यवस्थितस्ततोदेशाद्यदाबायुः शिष्यदेशमागच्छति शिष्यदेशाद्गुरुदेशं ते प्रतिवातानुवाते । एकंप्रतिवातमपरमनुवातम् । तदपेक्षया गुरुणा सह नासीत अपितु तिर्यग्वातसेवी गुरोर्भवेत् । अविद्यमानः संश्रवोयत्र तस्मिन्संश्रवेन किञ्चिदपि गुरुगतमन्यगतंवा कीर्तयेत् । यत्र गुरुर्व्यक्तंनशृणोति ओष्ठसंचलनादिनाशिष्यसं-
म्बन्धिनाजानाति किञ्चिदयमेतेन संभाषते तन्न कीर्तयेत् ॥ २०३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गुरुणा सहासीनोगुरोरभिमुखवातवहनस्थाने नासीतद्रप्सादिनिर्गमसंभवात् । नानुवाते तत्पृष्ठभागगतवातवहनस्थानेएतदुदीरितशब्दस्य तेनाश्रवणात् । एवमन्यत्राप्येतादृशि देशे न किञ्चिद्वाच्यमित्याह असंश्रवइति । संश्रवस्तदुक्तश्रवणार्हो देशः ॥ २०३ ॥

(३) कुङ्कुमः । प्रतिगतोभिमुखीभूतः शिष्यस्तदा गुरुदेशाच्छिष्यदेशमागच्छति सप्रतिवातः । यः शिष्यदेशाद्गुरुदेशमागच्छति । सोऽनुवातः । तत्र गुरुणा समनासीत । तथा ऽविद्यमानःसंश्रवो तस्मिन्संश्रवे गुरुर्वत्र न शृणोतीत्यर्थः । तत्रः गुरुगतमन्यगतंवा न किञ्चित्कथयेत् ॥ २०३ ॥

(४) राघवानन्दः । गुरुदेशाच्छिष्यंअनुगच्छन्वायुःप्रतिवातः । अनुवातःशिष्यदेशाद्गुरुमनुगच्छन् । तस्मिन्संश्रवे यत्रगुरुर्न शृणोतीत्यर्थः ॥ २०३ ॥

(५) नन्दनः । प्रतिवातेपुरतोनासीत अनुवातेपृष्ठतः । पार्श्ववातयोरप्युपलक्षणमेतत् । यथा त्वशरीरस्पृष्टोवातो-
ननस्पृशेत्तथासीतेति । असंश्रवेअश्रवणायोग्ये देशे ॥ २०३ ॥

(६) रामचन्द्रः । गुरोःप्रतिवातेअभिमुखे च पुनःअनुवाते गुरुणासहनासीतनउपविशेत् । गुरोःसंश्रवे निकटेचैव किञ्चिदपि न कीर्तयेत् ॥ २०३ ॥

गोश्वोष्ट्रयानप्रासादस्रस्तरेषु कटेषु च ॥ आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥ २०४ ॥

(१) मेधातिथिः । यानशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । गोश्वोष्ट्रैर्युक्तयानगोश्वोष्ट्रयानम् । दधिघटादिवत्समासे युक्तशब्दस्य लोपः । केवलेषु तु अश्वपृष्ठादिष्वारोहणंनस्ति । यदि त्वत्तत्रोयानशब्दोविज्ञायेत तदा स्यादप्यनुज्ञा । समाचारात्तु कादाचित्कमनुज्ञानंदश्यते । प्रासादउपरिगृहादीनांया भूमिस्तस्यांगृहादिभूमिवत्सिद्धंसहासनंप्रस्तरः । दर्भा दितृणाकीर्णआस्तरः कटःनतुशरवीरणादिकृतः प्रसिद्धः । शिलागिरिशिखरादावन्यत्र वा फलकंदारुमयमासनंपोतवर्तादि । नौर्जलतरणसंभवः । तेन पोतादावपि सिद्धंभवति ॥२०४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गोश्वोष्ट्रयुक्ते याने रथादौ स्रस्तरे तृणसंचये कटेषु तृणादिनिर्मितेषु बृहदासनेषु फलके-
काष्ठपट्टे एतद्धस्त्यादेरपि प्रकीर्णयानस्योपलक्षणम् । अत्रासीतेति वचनमन्यत्र शय्यादौ सहासननिषेधार्थम् ॥ २०४ ॥

(३) कुङ्कुमः । यानशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । बलीवर्दयाने घोटकप्रयुक्तेयानउष्ट्रयुक्तयाने रथंकाष्ठादौ-
प्रासादोपरिस्रस्तरे कटे च तृणादिनिर्मिते शिलायांफलकेच दारुघटितदीर्घासने नौकायांच गुरुणासहासीत ॥ २०४ ॥

(४) राघवानन्दः । तेषांत्वयासने न प्रश्वसितव्यमितिश्रुतेः पर्युदासमाहगोश्वेति । गवादियुक्तेषु शकटेषु तद्गोषु वाप्रासादेदेवभूभुजांगृहे संस्तरे ऊर्णान्तत्वादिकृतेषु कटेषु तृणलतादिनिर्मितेषुफलकंदारुघटितविस्तीर्णासनम् ॥ २०४ ॥

(५) नन्दनः । प्रतिषिद्धस्य गुरुसहासनस्य प्रत्युद्धारः क्रियते गोश्वेति । गोश्वोष्ट्रयुक्तं यानं गोश्वोष्ट्रयानम् । सस्तर-
स्तृणादिसमूहः ॥ २०४ ॥

(६) रामचन्द्रः । सस्तरेषु तृणसञ्चयेषु । शिलाफलके शिलामण्डले ॥ २०४ ॥

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ॥ न चानिसृष्टोगुरुणा स्वान्गुरुनभिवादयेत् ॥ २०५ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्ता गुरुवृत्तिरिदानीमन्यत्रातिदिश्यते । अध्ययनधर्मत्वात्सर्वस्यास्यगुरुरत्राचार्योविज्ञेयः ।
तस्य योगुरुस्तस्मिन्सन्निहिते गुरुवद्वृत्तित्वम् । सन्निहितइति न तद्ग्रहगमनमभिवादनार्थकर्तव्यम् । गुरुगृहे वसन्गुरुणा-
ऽनिसृष्टोअननुज्ञातः स्वान्गुरुन्मातापितृप्रभृतीन्नाभिवादयितुं गच्छेन्नपुनर्गुरुगृहे थितस्य यदि स्वे गुरुवआगच्छन्ति तदा तद-
भिवादाने गुर्वज्ञाऽपेक्षितव्या । कुतएतत् मातापित्रोरत्यन्तमान्यत्वात्पितृव्यमातुलादीनामप्यभिवादनप्रवृत्तस्य न कश्चिद्गु-
रुवृत्तेर्विघ्नः । आराधनार्थं एवायं सर्वः प्रयासः । मातापितृगुरुसंनिपाते कः क्रमोभिवादनस्येत्युक्तं सर्वमहतीमाता । पित्रा-
चार्ययोस्तु विकल्पः यतः पितृत्वाभ्यारोपेणाचार्यस्य गौरवंविहितमतः पिताश्रेष्ठः यतश्चोक्तं गरीयान्ब्रह्मदः पितेति ततआ-
चार्यः अतोऽयं विकल्पः ॥ २०५ ॥

(२०) सर्वज्ञनारायणः । गुरुवत् गुरुतुल्यांवृत्तिम् । अत्र गुरुशब्दोगौरवविषययावदुपाध्यायादिपरः । नचेति ।
आचार्यगृहे वसन्गुरुणाआचार्येणानिसृष्टोअननुज्ञातो नस्वान्गुरुन्मान्यानुपाध्यायादीन् अभिवादयेत् ॥ २०५ ॥

(३) कुङ्कुमः । आचार्यस्याचार्येसन्निहित आचार्यइव तस्मिन्नप्यभिवादानादिकांवृत्तिमनुतिष्ठेत् । तथा गुरुगृहे
वसन्निष्ठप्यआचार्येणानियुक्तो न स्वान्गुरुन्मातृपितृव्यादीन् अभिवादयेत् ॥ २०५ ॥

(४) राघवानन्दः । वृत्तिमभिवादानादि । गुरोः गुरौ गुरोराचार्यं कुर्यात् । गुरुणा ब्रह्मदात्रा । स्वान्गुरुन्पित्रादीन्
॥ २०५ ॥

(५) नन्दनः । गुरोराचार्यस्य । अनिसृष्टोअननुज्ञातः । स्वान्गुरुन्पित्र्यादीन्मातापितृभ्यामन्यत्रपितृव्यादीनित्यन्ये २०५

(६) रामचन्द्रः । गुरुणाअनिसृष्टःअनाज्ञमःस्वान् । गुरुन्पितृभ्रात्रादीन्अभिवादयेत् ॥ २०५ ॥

विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु ॥ प्रतिषेधस्तु चाधर्मान्हितंचोपदिशत्स्वपि ॥ २०६ ॥

(१) मेधातिथिः । अयमप्यतिदेशः । आचार्यादन्ये उपाध्यायादयोविद्यागुरवः तेष्वेवमेववर्तितव्यंशरीरंचैवेत्यादिकृ-
त्या । स्वयोनिषु ज्येष्ठभ्रातृपितृव्यादिषु । नित्यावृत्तिर्गुरुवृत्तिः । विद्यागुरुणांत्वाचार्यव्यतिरेकेण यावद्विद्याग्रहणम् । अधर्मा-
दकार्यात्परदारगमनादेः प्रतिषेधस्तु वयस्येष्वपि अभ्यन्तरगत्यारूढतयाऽकार्यचिकीर्षन्यःसुहृदादिस्तमाकेशग्रहणान्मित्रम-
कार्येभ्योनिवर्तयेदिति । तस्मिन्समहीनवयस्केपि गुरुवद्वृत्तित्वम् । हितंचविधिरूपमग्रंथकमुपदिशत्सु अथवा हितस्यो-
पदेशारोभिजनाउच्यन्ते ॥ २०६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विद्याग्रहणनिमित्तगुरुष्वेवैतत् अनुमतिप्रतीक्षणम् । स्वयोनिषु तु पितृमातुलादिषु गुरुषु
नित्या वृत्तिरनुज्ञाविनाप्यभिवादानादिप्रवृत्तिः । तथा अधर्मेष्वेनसि क्रियमाणे अयमधर्मो न कार्य इदधर्मसाधनंहितंकार्य-
मित्यादिपारलौकिकोपदेशकारिष्वप्येतत् । एवमेतदनुमत्यैवाभिवादानादीति व्यवहितान्वयः ॥ २०६ ॥

(३) कुङ्कुमः । । आचार्यव्यतिरिक्ताउपाध्यायाविद्यागुरवः । तेष्वेतदेवेति । सामान्योपक्रमः । किंतदाचार्यइव
नित्या सार्वकालिकी वृत्तिर्विधेया । तथा स्वयोनिष्वपि पितृव्यादिषु तद्वृत्तिः । अधर्मान्निषेधस्तु धर्मतत्त्वंचोपदिशत्सु
गुरुवद्वृत्तित्वम् ॥ २०६ ॥

(४) राघवानन्दः । अतिदेशार्थमुपदेशमुपसंहरतिविद्येति । विद्यागुरुष्वतिरिक्तेषु स्वयानिषु पितृव्यादिषु । नित्यावृत्तिरभ्यासः । प्रतिषेधस्तु अधर्मान्वितिकेषु हितंचोपदिशत्सु हितंदष्टोपकारम् ॥ २०६ ॥

(५) नन्दनः । विद्यागुरुष्वर्थाव्यतिरिक्तेषु । स्वयानिषु मातापितृव्यतिरिक्तेषु । उपकारसंनिकर्षविप्रकर्षापेक्षया तेषु तारतम्यंकल्पनीयम् ॥ २०६ ॥

(६) रामचन्द्रः । विद्यागुरुषु एषैव वृत्तिः नित्या कार्या विद्याभ्यापकेषु गुरुषु इत्यर्थः । स्वयानिषु स्वसंबन्धिषु एषैव वृत्तिः कार्या अधर्मात्प्रतिषेधस्तु सत्सु एते देव वृत्तिः । हितंचोपदिशत्सु अपि एषैव वृत्तिः कार्या ॥ २०६ ॥

श्रेयस्सु गुरुवद्वृत्तिरित्यमेव समाचरेत् ॥ गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ॥ २०७ ॥

(१) मेधातिथिः । श्रेयांस आत्मापेक्षया वित्तवयोविद्याद्यतिशययुक्ताः तेषु गुरुवद्वृत्तिरित्यथासंभवमभिवादनप्रत्युत्थानादि सर्वदैव समाचरेत् । बहवोत्र शब्दागतार्थाः प्रयुज्यन्ते । तेषां वृत्तवशात्प्रयोगीनदुष्यति । श्रेयस्त्वित्यावद्वक्तव्यं गुरुवदित्याक्षिप्यते वृत्तिमित्यादिश्राप्तमेव तदेतत्सर्वस्मिन्नेवास्मिन्नर्थे स्वयमुत्प्रेक्ष्यम् । गुरुपुत्रे तथाचार्ये । आचार्यग्रहणेनाभ्यापकत्वं लक्षते यद्यसन्निहिते गुरौ तत्पुत्रोभ्यापयति कतिचिदहानि तदा तस्मिन्गुरुवद्वृत्तिः । पाठान्तरं गुरुपुत्रेष्वर्थाचार्ये । आचार्यशब्दो गुणवद्ब्राह्मणजातिवचनः शूद्राचार्यो चर्मणि व्यायच्छेतेतयोराचार्यवर्णजापयन्तीति प्रयोगदर्शनात् । नच सर्वस्मिन्गुरुपुत्रेवृत्तिरेषा विधीयते । गुरोश्चैव स्वबन्धुषु स्वग्रहणंगुरुवंशस्यार्थं गुरुवंशसंबन्धितैवात्र निमित्तं न वयोविद्याद्यपेक्ष्यते ॥ २०७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अतिशयविद्यादिप्रकर्षवत्स्वगुरुष्वपि गुरुवद्वृत्तिमभिवादानादि गुरुपुत्रेषु ज्येष्ठेषु आर्येषु अपापेषु । आरात्पापेभ्यो गता आर्याः । एतच्च सबर्णाधिकवर्णेष्वेव । गुरोः स्वेषु जातिषु बन्धुषु चैवं वृत्तिः । सयानिषु चैवं वृत्तिः ॥ २०७ ॥

(३) कुल्लूकः । श्रेयस्सु विद्यातपःसमृद्धेः । आर्येष्विति गुरुपुत्रविशेषणम् । समानजातिगुरुपुत्रेषु गुरोश्च ज्ञातिष्वपि पितृव्यादिषु सर्वदा गुरुवद्वृत्तिमनुतिष्ठेत् । गुरुपुत्रश्चात्र शिष्याधिकवयाश्च बोद्धव्यः शिष्यबालसमानवयसामनन्तरं शिष्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् ॥ २०७ ॥

(४) राघवानन्दः । श्रेयस्सु विद्यातपःसमृद्धेः । गुरुवन्नमस्कारोत्थानादि ॥ २०७ ॥

(५) नन्दनः । श्रेयस्सु अवदातयोनिविद्याकर्मसु । आर्येषु सदृक्तेषु निर्दोषेषु । गुरुपुत्रविशेषणमेतत् । स्वबन्धुषु ज्ञातिसंबन्धिषु ॥ २०७ ॥

(६) रामचन्द्रः । श्रेयस्सु ज्येष्ठेषु विद्यां प्रकाशयत्सु वा । गुरुपुत्रे तथाचार्ये गुरोर्बन्धुषु च एतेषु गुरुवद्वृत्तिरित्यमेव समाचरेत् ॥ २०७ ॥

बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि ॥ अध्यापयन् गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति ॥ २०८ ॥

(१) मेधातिथिः । ये न पठन्ति गुरुपुत्रविशेषणार्थं पूर्वत्राचार्यग्रहणं तेषामभ्यापयितरि गुणवति समानजातीये सर्वगुरुवृत्तिः प्राप्ताऽनेन विप्रोपेणावत्स्याप्यते । अध्यापयन् गुरुसुतो गुरुवन्मानं पूजामर्हति नानाभ्यापयन् । ननु च विद्याग्रहणनिमित्तत्वादुर्वृत्तिरभ्यापयद्गुरुपुत्रेऽप्यभ्यापयितरि प्रामैव शैशवब्राह्मणनिदर्शनात्कनीयसोपि सिद्धेत्यतो बालः समानजन्मवैश्येवमर्थमपि न वक्तव्यम् । सत्यम् । यो वेदं वेदैकदेशं वाभ्यापयति तस्यानाचार्यस्याप्येषा वृत्तिरुक्ता । अयंतु न ग्राहकः केवलंकतिचिदहान्यहर्भागं वाभ्यापयति अतोनाचार्यो नोपाध्याय इत्यप्राप्तौ विधिरयम् । अस्मादेव वचना-

दन्यस्य भग्नमन्त्रादे रभ्यापकस्य न सर्वा गुरुवृत्तिः कर्तव्येति विज्ञायते । ये च पूर्वत्राचार्यशब्दं पठन्ति तेषामुत्तरार्थमिदम-
नूद्यते । उत्सादनंचेति वक्ष्यति । शिष्योवा यज्ञकर्मणि यज्ञकर्मग्रहणप्रदर्शनार्थकचिदङ्गेवेदैकदेशे मन्त्रभागे कस्मिंश्चिद्वा-
ह्यणभागे वा तथापि गुरुवत्पूज्यः यदितु गुरुपुत्रः । तस्मादनेन प्रकारेण कांचिद्विद्यां शिक्षेत तदा तेन तस्मिन्गुरुवृद्धति-
तव्यमित्युक्तमेवमर्थवादत्वादस्यारम्भस्य । ये तु व्याचक्षते अभ्यापयन्तित्यनेनाभ्यापनसामर्थ्यलक्ष्यते अभ्यापनसमर्थ-
श्चेदभ्यापयतुमावाभ्यापयेत् गृहीतवेदश्चेद्गुरुवद्वष्टव्यः तेषां शाब्दमेतद्व्याख्यानं सत्यं भवति । शतालक्षणार्थः तत्तु क्रियायाः
लक्षणहेत्वोः क्रियाया इति । क्रियाचात्र श्रुता । गुरुवन्मानमर्हति ॥ २०८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बालोल्पवयाः । समानजन्मा सवयाः । यज्ञकर्मविषयकग्रन्थकल्पोपदर्शनेनाङ्गोपलक्ष-
णम् । तत्राङ्गजाते पुर्वयद्यप्यस्य गुरुमुतः शिष्यस्तथापि गुरुमुते गुरोः कार्यान्तरादिव्यासकौ वेदमभ्यापयन् तत्काले
गुरुवन्मान्यः । यदितु सोपि एतदधीतवेदएवास्य शिष्यो न तदैवम् ॥ २०८ ॥

(३) कुल्लूकः । कनिष्ठः सवयावा ज्येष्ठोपि वा शिष्योऽभ्यापयन् अभ्यापनसमर्थो गृहीतवेदइत्यर्थः । स यज्ञकर्म-
प्यूतिगनृत्विग्वा यज्ञदर्शनार्थमागतो गुरुवत्पूजामर्हति ॥ २०८ ॥

(४) राघवानन्दः । अभ्यापयन् गृहीतवेदत्वेन तत्र समर्थः यज्ञकर्मणि शिष्योपि ब्रह्मचारिणः ततोभ्येताय यज्ञकर्मद-
र्शनार्थमागतः । द्वितीयोवाशब्दो गुणानादरे । सर्वदानमानार्हः सः ॥ २०८ ॥

(५) नन्दनः । यज्ञकर्मणि यज्ञादिषु कार्यान्तरेषु आचार्येयज्ञादिकर्मपरवशे आचार्यस्थानीयोऽभ्यापयन् बालो-
ऽवरवयः स्थोवा समानजन्मा समानवयस्थोवा विद्यान्तरेषु शिष्योवा गुरुमुतो गुरुवन्मानमर्हति ॥ २०८ ॥

(६) रामचन्द्रः । यज्ञकर्मणि ऋत्विजः बालाः गुरुवत्मानं अर्हन्ति । समानजन्मावाव्रते गुरुवन्मानमर्हति । गुरुमुतः
गुरुवन्मानमर्हति । यः अभ्यापयन्सः गुरुवन्मानमर्हतीत्यर्थः ॥ २०८ ॥

उत्सादनंच गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने ॥ न कुर्याद्गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ॥ २०९ ॥

(१) मेधातिथिः । अभ्यक्तस्योद्धर्तनमुत्सादनं कुर्यात् गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनं प्रक्षालनम् । अस्मादेव प्रतिषे-
धादुरावेतदनुक्तमपि कर्तव्यतया प्रतीयते । यदा तु गुरुपुत्रएव गुरुः संपद्यते कृत्स्नवेदाभ्यापनोपयोगितया तदा त्वनिमित्तं-
तत्रोच्छिष्टभोजनाद्यस्तितदनेन प्रतिषिध्यते । आतिदेशिकस्यानेन निषेधो नौपदेशिकस्य ॥ २०९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उत्सादनमुद्धर्तनम् । गुरुपुत्रस्य पूर्वश्लोकोक्तलक्षणवतः । अवनेजनं क्षालनम् । अर्थादिभिवा-
दनमपि निषिद्धमेव ॥ २०९ ॥

(३) कुल्लूकः । आचार्यवदित्यविशेषेण पूजायां प्राप्तायां विशेषमाह । उत्सादनमिति । गात्राणामुत्सादनमुद्धर्तन-
मुच्छिष्टस्य भक्षणं पादयोश्च प्रक्षालनं गुरुपुत्रस्य न कुर्यात् ॥ २०९ ॥

(४) राघवानन्दः । पूजाङ्गत्वेन प्रामं परिच्छेद इति । उत्सादनं गात्रमलानां त्याजनम् । अवनेजनं पादक्षालनम् ।
एतेन गुरोश्छिष्टं भोज्यम् ॥ २०९ ॥

(५) नन्दनः । अथ गुणवति गुरुपुत्रे गुरुवृत्तीनां प्राप्तानामपवादमाह उत्सादनमिति । अनेनैव ज्ञापितं गुरोर्उत्सादनादी-
निकार्याणीति ॥ २०९ ॥

(६) रामचन्द्रः । गात्राणां उत्सादनं अङ्गवस्त्रादिना न कुर्यात् स्नापनोच्छिष्टभोजने पादयोः अवनेजनं गुरुपुत्रस्य
न कुर्यात् कोर्थः गुरुपुत्रात् एतानि वस्तूनि न कारयेत् । हेत्वर्थेष्वङ्गीक्षेया । गुरुपुत्राच्च इति वा पाठः ॥ २०९ ॥

गुरुवत्प्रतिपूज्याःस्युःसवर्णागुरुर्योषितः ॥ असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः ॥ २१० ॥

(१) मेधातिथिः । गुरुर्योषितोगुरुपत्न्यः सवर्णाः समानजातीयाः गुरुवत्प्रतिपूज्याआज्ञाकरणादिना । असवर्णास्तु केवलैः प्रत्युत्थानाभिवादनैः । बहुवचनादाद्यर्थोत्रान्तर्भवति तेन हि प्रियहितादिगत्याद्यननुकरणाद्यन्यतिदिश्यते ॥ २१० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सवर्णाः शिष्यस्य गुरुर्योषितआचार्योपाध्यायविनृविनृव्यादिपत्न्यः । अभिवादनमसावह-
मित्युक्ता ॥ २१० ॥

(३) कुल्लूकः । सवर्णागुरुपत्न्योगुरुवदाज्ञाकरणादिना पूज्याभवेयुः । असवर्णाः पुनः केवलप्रत्युत्थानाभिवाद-
नैः ॥ २१० ॥

(४) राघवानन्दः । किंच गुरुवदिति । सवर्णाःसमानजातीयाः ॥ २१० ॥

(५) नन्दनः । गुरौया वृत्तिरुक्ता तथा सवर्णागुरुर्योषितः प्रतिपूज्याः । असवर्णास्तु प्रत्युत्थानाभिवादनार्दिभिः
पूज्याः । एतदुक्तंभवति । ब्राह्मणेन क्षत्रियवैश्यशूद्राश्च गुरुपत्न्यः प्रत्युत्थानेन पूज्याः नाभिवादेन एवक्षत्रियेणवैश्या-
शूद्रे वैश्येनशूद्राच । किंच क्षत्रियेणब्राह्मणी वैश्येन क्षत्रियाब्राह्मण्यौच प्रत्युत्थानाभिवादनैः पूज्याइति ॥ २१० ॥

(६) रामचन्द्रः । तथा असवर्णयोषितःप्रत्युत्थानाभिवादनैः संपूज्याः ॥ २१० ॥

अभ्यञ्जनंस्नापनंच गात्रोत्सादनमेव च ॥ गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानचि प्रसाधनम् ॥ २११ ॥

(१) मेधातिथिः । घृततैलादिनाकेशकायोपदेहनमभ्यञ्जनम् । गात्राणामुत्सादनमुद्वर्तनंकार्यसामान्यात्पादधावन-
मपि । सर्वथा शरीरस्पर्शसाध्या या काचिदनुवृत्तिः सा सर्वा प्रतिषिध्यते । वक्ष्यति यहेतुंत्वभावएषनारीणामिति । केशा-
नांच प्रसाधनंविन्यासरचनादिकरणंकुंकुमसिंदूरादिनासीमन्तोत्थापनम् । प्रदर्शनार्थंचैतदुक्तंतेन देहप्रसाधनमपि चन्दनानु-
लेपनानि निषिध्यन्ते ॥ २११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अभ्यञ्जनंस्नेहप्रक्षणम् ॥ २११ ॥

(३) कुल्लूकः । तैलादिना देहाभ्यङ्गं स्नापनंगात्राणांचोद्वर्तनंकेशानांच मालादिनाप्रसाधनमेतानि गुरुपत्न्या न
कर्तव्यानि । केशानामिति प्रदर्शनमात्रार्थम् । देहस्यापि चन्दनादिना प्रसाधनं न कुर्यात् ॥ २११ ॥

(४) राघवानन्दः । गुरुवत्तासामभ्यञ्जनादिप्राप्ते निराकरणमाहअभ्यञ्जनमिति । प्रसाधनंकेशसंस्कारः ॥ २११ ॥

(६) रामचन्द्रः । गुरुपत्नी शरीरस्यअभ्यञ्जनतैलाभ्यङ्गादीनि संस्कारादीनि न कुर्यात् ॥ २११ ॥

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः ॥ पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥ २१२ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्णविंशतिवर्षेण तरुणेनेत्यर्थः । बालस्या षोडशाद्वर्षाददोषः । पूर्णानिर्विंशतिवर्षाणि यस्य सएव
मुच्यते । अयंन्यायोयौवनोद्वेदोपलक्षणार्थः । अतएवाह गुणदोषौ विजानता कामजे सुखदुःखे गुणदोषावभिप्रेतौ स्त्रीगतौ
च स्वाकृतिदुराकृतिलक्षणौ धैर्यचापले वा । सर्वथाऽतन्त्राविंशतिसंख्या ॥ २१२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पूर्णविंशतिवर्षेणेति यौवनोपलक्षणमिति ज्ञापयितुमुक्तम् । गुणदोषाविति स्त्रीणांस्पर्-
शनाद्रागोत्पत्तिदोषं व्यवधाने तद्ब्रह्मचर्यादच्युतिगुणंजानता । पादयोरिति निषेधात्पादस्पर्शनमात्रं कार्यम् भूमावेव-
त्वभिवादनमिति वक्ष्यति ॥ २१२ ॥

(३) कुङ्कुमः । युवती गुरुपत्नी पादयोरुपसंगृहाभिवादनदोषगुणज्ञेन यूना ना भिवाद्या । पूर्णविंशतिवर्षत्वयौवनप्रदर्शनार्थम् । बालस्य पादयोरभिवादनमनिषिद्धम् । यूनस्तु भुमावभिवादनं वक्ष्यति ॥ २१२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच पूर्णविंशतिवर्षेण ब्रह्मचारिणा गुणदोषौ गुणश्च शुश्रूषयादोषश्च स्पर्शनेतौ विज्ञानता गुणबुद्ध्या प्रवर्तमानस्य स्पर्शदर्शनादिना वा गुरुद्रोहेदोषइति भावः ॥ २१२ ॥

(५) नन्दनः । पादयोर्नाभिवाद्या ॥ २१२ ॥

(६) रामचन्द्रः । गुरुपत्नी युवती पादयोः स्पृष्टा नाभिवाद्या पूर्णविंशतिवर्षेण शिष्येण गुणदोषौ विज्ञानता ॥ २१२ ॥ स्वभावएषनारीणां नराणामिह दूषणम् ॥ अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ॥ २१३ ॥

(१) मेधातिथिः । एषा प्रकृतिः स्त्रीणां यन्नराणां धैर्यव्यावर्तसङ्गान् हि स्त्रियः पुरुषान्त्रताच्चावयेयुः । अतोऽर्थान्त्वस्माद्धेतोर्न प्रमाद्यन्ति दूरतएव स्त्रियः परिहरन्ति । प्रमादः स्पर्शादिकरणं वस्तुत्वभावोयं यत्तरुणी स्पृष्टा कामकृतचित्तसंक्षोभं जनयति । तत्र चित्तसंक्षोभोऽपि प्रतिषिद्धः तिष्ठतु तावदपरोग्राम्यधर्मसंरम्भः । प्रमदाः स्त्रियः ॥ २१३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दोषस्फुटयित्वभावइति । स्वभावएषस्त्रीणामनिच्छन्तीनामपि दर्शनेन रागेण दुष्यन्तीति नराणां दूषणं पुरुषेषु दोषापादकत्वं नारीणां स्वभावः । न प्रमाद्यन्ति तदनीक्षणादौ कार्येणाप्रमत्ता भवन्ति ॥ २१३ ॥

(३) कुङ्कुमः । स्त्रीणामयं स्वभावः यदिह शृंगारचेष्टया व्यामोहं पुरुषाणां दूषणम् । अतोऽर्थादस्माद्धेतोः पण्डिताः स्त्रीषु न प्रमत्ता भवन्ति ॥ २१३ ॥

(४) राघवानन्दः । दूषणं शृङ्गारचेष्टया व्यामोहनम् यतः अतोऽर्थादपरिहार्यकार्यवशादपि साक्षान्न प्रमाद्यन्ति स्पर्शादिना प्रमत्तान् भवन्ति ॥ २१३ ॥

(५) नन्दनः । अन्यज्जनाविप्रतिषेधकारणं श्लोकद्वयेनाह स्वभावइति । यन्नराणां दूषणं एषनारीणां स्वभावः । अतोऽर्थेऽतदर्थम् ॥ २१३ ॥

(६) रामचन्द्रः । नारीणां एषः स्वभावः इह दूषणं । अतोऽर्थात् अतः कारणात् प्रमदासु विपश्चितः न प्रमाद्यन्ति न प्रमादं गच्छन्तीत्यर्थः ॥ २१३ ॥

अविद्वांसमलंलोके विद्वांसमपि वा पुनः ॥ प्रमदाद्युत्पत्त्यनेतुकामक्रोधवशानुगम् ॥ २१४ ॥

(१) मेधातिथिः । न चैतन्मन्तव्यं नियमितानि येन चिरमिन्द्रियाण्यतिगुरुपातकगुरुदारेषु दुष्टेन भावेन प्रेक्षणं भवीति य एवं वेद तस्य न दोषः पादस्पर्शादाविति । यत एवं विधानमपि दोषान्योजानीते यो वा न किंचिज्जानीते तौ स्त्रीविषये समानौ यतो नात्र विद्वत्ता प्रभवति । शक्नुवन्ति स्त्रियः सर्वमुख्यममार्गलोकशास्त्रविरुद्धविषयनेतुं प्रापयितुं कामक्रोधवशानुगं सन्तम् । कामक्रोधाभ्यां संबध्यत इत्यर्थः । अवस्थाविशेषोपलक्षणार्थं चैतत् । अत्यन्तबालं अत्यन्तवृद्धं च प्राप्नोति प्रकर्षणं च वर्जयित्वा येन निरन्वयमुत्थिताः संसारपुरुषधर्मास्तद्यतिरेकेण न कश्चित्पुरुषोस्ति य स्त्रीभिर्नारुण्यते । अयः कान्तेनेव लोहः । न चात्र स्त्रीणां प्रभविष्णुता वस्तुत्वाभावात्तरुणीजनदर्शने पुंसामुन्मथ्यते चित्तविशेषतो ब्रह्मचारिणाम् ॥ २१४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अलंसमर्थाः । उत्पत्त्यनेनेतुं कामक्रोधवशानुगमेव मान्यम् ॥ २१४ ॥

(३) कुङ्कुमः । विद्वानहंजितेन्द्रियइति बुद्ध्या न स्त्रीसन्निधिर्विधेयः । यस्मादविद्वांसं विद्वांसमपि वा पुनः पुरुषेदेहधर्मात्कामक्रोधवशानुयायिनं स्त्रियुत्पत्त्यनेतुंसमर्थाः ॥ २१४ ॥

(४) राघवानन्दः । अलंसमर्थाउत्पथनेतुंप्रमदाइत्यन्वयः । तत्र हेतुःकामक्रोधवशानुगमिति क्रोधेन वशीभूतमिव जनाःकामेन वशीभूतंप्रमदाइति वार्थः । तदुक्तंज्ञानवासिष्ठे । रोगार्तिरङ्गना तृष्णा गम्भीरमपि मानवम् । उत्तानतांनयन्त्याशुसूर्याशवइवाम्बुजमिति ॥ २१४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अविद्वांसमूर्खं पुनः विद्वांसमपिप्रमदाउत्पथनेतुंसमर्था भवन्तीत्यर्थः । कीदृशंपुरुषंकामक्रोधवशानुगं परवशमित्यर्थः ॥ २१४ ॥

मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनोभवेत् ॥ बलवानिन्द्रियग्रामोविद्वांसमपि कर्षति ॥ २१५ ॥

(१) मेधातिथिः । अतो विविक्तासनः निर्जनेशून्ये गृहादौ नासीत् नापि निः शङ्कमङ्गस्पर्शादिति कुर्यात् । अतिचपलोहीन्द्रियसंघातोविद्वांसमपि शास्त्रनिगृहीतात्मानमपि कर्षति हरति परतन्त्रीकरोति ॥ २१५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मात्रेत्यादौसहेत्यभ्याहार्यम् । विविक्तासनएकान्तआसीनः ॥ २१५ ॥

(३) कुङ्कुमः । अतआह मात्रेति । मात्रा भगिन्या दुहित्रा निर्जनगृहादौ नासीत् । यतोऽतिबलइन्द्रियगणः शास्त्रनियमितात्मानमपि पुरुषं परवशं करोति ॥ २१५ ॥

(४) राघवानन्दः । तासांदोषमनुस्मरन्नाहमात्रेति । विविक्तविगतान्यजनंतत्रैताभिर्नासीतेति तत्र हेतुर्बलवानिति । अहोबलवानिन्द्रियग्रामोयतोमातृदुहित्रोस्त्रिशद्वत्सरान्तरेपिपुत्रादेर्मैथुनादिसंभावना तत्रान्यासुकाकथेति ॥ २१५ ॥

(५) नन्दनः । यतएवंततो याभिः स्त्रीभिरुत्पथनीतोनिरतिशयदोषयुक्तोभवति तासांसंनिकर्षोवर्जनीयइत्याह मात्रेति । जितेन्द्रियस्यमेमात्रादिभिः विविक्तासनांकेंदूषणंकरिष्यतीतिन मन्तव्ययेनबलवानिन्द्रियग्रामोविद्वांसमपिकर्षति ॥ २१५ ॥

(६) रामचन्द्रः । नविविक्तासनोभवेत् । विविक्तःपूतविजनइत्यर्थः ॥ २१५ ॥

कामंतु गुरुपत्नीनांयुवतीनांयुवा भुवि ॥ विधिवद्वन्दनंकुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥ २१६ ॥

(१) मेधातिथिः । काममित्यरुचिसूचयति । उत्तरेण चैतत्संबध्यते विप्रोप्यपादग्रहणमिति । भुवि तु पादवन्दनमिष्यतएव युवतीनांयुवा द्वयोर्यूनोरयंविधिः यदिबालोब्रह्मचारी वृद्धा वा गुरुपत्नी तदा पादोपसंग्रहणमविरुद्धम् । असावहमिति प्रागुक्तस्यविधेरेनुवादः । विधिवदिति व्यस्तपाणिना ॥ २१६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भुवि नपादयोः । विधिवत्पाणिभ्यांव्यस्ताभ्यां तथाचोक्तंसव्येनसव्यइति ॥ २१६ ॥

(३) कुङ्कुमः । कामंतुगुरुपत्नीनांयुवतीनांस्वयमपि युवा यथोक्तविधिनाभिवादये ऽमुकर्माहंभोरितिब्रुवन्पादग्रहणंविना यथेष्टमभिवादनंकुर्यात् ॥ २१६ ॥

(४) राघवानन्दः । एवंचेद्गुरुपत्न्यवन्दनंप्राप्तंत्राहकाममिति । भुवि तदग्रभूमौ विधिवत्बाहुभ्यांसह जानुभ्यांशिरसा वचसाधियेति विनापादग्रहणमित्यर्थः ॥ २१६ ॥

(५) नन्दनः । युवतिषु गुरुपत्नीषु पूजार्थपादग्रहणं नकुर्वीत कथंतर्हि पूजा कर्तव्येत्याह कामंत्विति । भुविवन्दनंकुर्यान्नपादौस्पृष्ट्वा । असावहंदेवदत्तोहम् । काममितिवचनादकरणेपि नदोषइतिसूचितम् ॥ २१६ ॥

(६) रामचन्द्रः । कामंअतिशयेन युवतीनाम् गुरुपत्नीनांयुवतीनां युवासन् भुवि स्पृष्ट्वा विधिवद्वन्दनंकुर्यात् । असौ अहमिति ब्रुवन् ॥ २१६ ॥

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम् ॥ गुरुदारेषु कुर्वीत सतांधर्ममनुस्मरन् ॥ २१७ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रवासादेत्य पादयोर्ग्रहणसंख्येन सख्यइति । अन्वहमहन्त्यहनि । अभिवादनं भूमौ । सतांशिष्टानां-
एषधर्मआचारइत्यनुस्मरन् ॥ २१७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र विप्रोष्य प्रवासादेत्य पादग्रहणं तत्पूर्वकमभिवादनम् । अन्वहंत्वभिवादनमात्रं
वृद्धानामपि न पादग्रहणम् । गुरुदारेष्वाचार्यादिभार्यासु न तु मातरि । सतांवृत्तमिति । रागोत्पत्त्यसंभावनायामप्येषएव
आचारइत्यर्थः ॥ २१७ ॥

(३) कुट्टुकः । प्रवासादागत्य सख्येन सख्यंदक्षिणेन दक्षिणमित्युक्तविधिना पादग्रहणंप्रत्यहं च भूमावभिवादनं च
गुरुपत्नीषु युवाकुर्यात् । शिष्टानायममाचारइति जानन्तु ॥ २१७ ॥

(४) राघवानन्दः । विप्रोष्य प्रवासंकृत्वा । अन्यदा अभिवादनमात्रम् । सतांशिष्टानामयमाचारइति स्मरन् ॥ २१७ ॥

(५) नन्दनः । प्रोषितः प्रत्यागतः । अन्वहं भुव्यभिवादनम् । सतांधर्ममनुस्मरन् एषसतामाचारइत्यर्थः ॥ २१७ ॥

(६) रामचन्द्रः । विप्रोष्य प्रवासादागत्य गुरुपादेषु पादग्रहणंकुर्यात् किंकुर्वन्सतां धर्मस्मरन् ॥ २१७ ॥

यथा खननखनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ॥ तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ २१८ ॥

(१) मेधातिथिः । सर्वस्य शुश्रूषाविधेः फलमिदं गुर्वाराधनद्वारेण स्वाध्यायविध्यर्थता । यथा कश्चिन्मनुष्यः ख-
नित्रेण कुदालादिना भूमिखननवारिप्रामोति नाक्लेशेन एवमयं विद्यांगुरुगतां शुश्रूषुः गुरुसेवापरोधिगच्छति ॥ २१८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यथावारि प्रामोति कुदालादिना खनन अक्लेशेन तथा विद्यां शुश्रूषुः क्रमेणाधिग-
च्छतीति दृष्टान्तार्थः ॥ २१८ ॥

(३) कुट्टुकः । उक्तस्य शुश्रूषाविधेः फलमाह । यथा कश्चिन्मनुष्यः खनित्रेण भूमिखननप्रामोत्येवंगुरुस्थितां-
विद्यांगुरुसेवापरः शिष्यः प्रामोति ॥ २१८ ॥

(४) राघवानन्दः । गुरुशुश्रूषैव विद्याप्राप्तौ कारणमाहयथेति । खननस्त्रिद्वार्थदारयन् । वारिकूपादिजम् ॥ २१८ ॥

(५) नन्दनः । एवं प्रतिपादितांगुरुवृत्तिफलोपपादनेन निगमयति यथा खननमिति ॥ २१८ ॥

(६) रामचन्द्रः । वारिजलयथा अधिगच्छति तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरित्यर्थः । अधिगच्छति ॥ २१८ ॥

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथ वा स्याच्छिरवाजटः ॥ नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्
कचित् ॥ २१९ ॥

(१) मेधातिथिः । मुण्डः सर्वतः केशवपनंकारयेत् । जटिलो वा जटाः परस्परमत्यन्तमितरेतरसंलग्नकेशाः तद्वाज-
टिलः । शिखैश्च वा जटा यस्य जटाकारां शिखां धारयेत् परिशिष्टे मुण्डः तथा च कुर्याद्यथा ग्रामे स्थितस्य सूर्यो नाभिनिम्लो-
चेन्नास्तंगच्छेत् । ग्रामग्रहणं नगरस्यापि प्रदर्शनार्थम् । अस्तमयसमयमरण्ये संभावयेत् । एवं ग्रामे नाभ्युदियादुदयोपि सूर्य-
स्य यथारण्यस्थस्य ब्रह्मचारिणो भवति तथा कुर्यात् । एनंप्रकृतं ब्रह्मचारिणम् । अन्येतु ग्रामशब्दग्राम्येषु धर्मेषु स्वापादि-
षु वर्तमानं न निम्लोचेदित्येवमर्थवर्णयन्ति तथा च उत्तरत्र शयानमित्याह ततोयंसंध्ययोः स्वप्नप्रतिषेधो नारण्ये तत्कालाव-
स्थानं बालो हि ब्रह्मचारी विभीषात् गौतमेन तु बहिः संध्यत्वं परतो गोदानादुक्तं गोदानव्रतं च षोडशवर्षं तदा च प्राप्तः शक्रो-
त्थरण्ये संध्यामुपासितुम् ॥ २१९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मुण्डः मुण्डितसर्वकेशः । जटिलोजटीकृतसर्वकेशः । शिखाजटः शिखामात्रंजटीकृतमन्य-
न्मुण्डितमित्यर्थः । एवं ब्रह्मचारिणं अभिमुखीकृत्य ग्रामे न निम्लोचेदस्तमियात् सन्ध्यार्थमरण्यंगतएवास्मिन्स्तमियादित्यर्थः ।
एवंनाभ्युदियादित्यपि ॥ २१९ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्रह्मचारिणः प्रकारत्रयमाह । मुण्डितमस्तकः शिरःकेशोजटावान्वाशिखैव वा जटा जाता यस्य
वापरे शिरःकेशामुण्डिताः तथा वा भवेत् । एनंब्रह्मचारिणं क्वचिद्ग्रामे निद्राणमुत्तरत्र शयनमिति दर्शनात्सूर्योनाभिनिम्लोचे-
नास्तमियात् ॥ २१९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यतमुण्डइति । मुण्डः केशरहितमस्तकः यत्र बाणाः संपतन्ति कुमारविशिखाइवेत्युक्तेः ।
जटिलः जटायुक्तः । शिखाजटः शिखामात्रंजटायस्यसइति । शाखाभेदेन नैनमिति । ग्रामइत्युपलक्षणंगरादेर्वसत्यनुकूलत्वात् ।
एनंब्रह्मचारिणं शयानमभिलक्षीकृत्य निम्लोचेदस्तंगच्छेत्तथा नोदियादुदयनासादयेत्सूर्यः ॥ २१९ ॥

(५) नन्दनः । नियमान्तरमाह मुण्डोवेति । ग्रामशब्देनलौकिककर्मलक्ष्यते । तत्रसक्तमेतन्तत्रसक्तेऽस्मिन्ब्रह्मचारिण-
निम्लोचेदस्तमियात् । क्वचिद्ग्रामान्तरेऽपि ॥ २१९ ॥

(६) रामचन्द्रः । युग्यं मुण्डइति । ग्रामे ग्राममध्ये एनंब्रह्मचारिणं अभिलक्ष्यसूर्यः न निम्लोचेत् नास्तंगच्छे-
दित्यर्थः । क्वचित् न अभ्युदयात् नोत्तिष्ठेत् ॥ २१९ ॥

तंचेदभ्युदियात्सूर्यः शयानंकामचारतः ॥ निम्लोचेद्वाप्यविज्ञानाज्जपन्मुपवसेद्दिनम् ॥ २२० ॥

(१) मेधातिथिः । अत्रेदंप्रायश्चित्तंचरेत् । ब्रह्मचारिणं शयानं निद्रावगतमभ्युदियात्स्वेनोदयेनाभिव्यामदोषंकुर्या-
त् । प्रातरतिक्रमे दिनं जपोपवासौ रात्रौ तु भोजनं पश्चिमातिक्रमे तु रात्रौ जपोपवासौ प्रातर्भोजनमिति । दिनशब्दः प्रदर्श-
नार्थः । गौतमवचनंचान्युदाहरन्ति तिष्ठेदहरभुञ्जानोभ्यस्तमितश्च रात्रिजपन्सावित्रीमिति तदयुक्तम् । उभयत्रापि दिवैव
प्रायश्चित्तं युक्तं दिनशब्दस्य प्रदर्शनार्थत्वे प्रमाणाभावात् । नह्यस्य तत्सापेक्षस्य स्वार्थप्रतिपादनं निरपेक्षंचैतत्तस्माद्विकल्पो-
युक्तः । तत्र यस्य सर्वारात्रिजाग्रतो न व्याधिः प्रवर्तते स रात्रौ जपिष्यति अन्यस्तु दिवैव । जपश्च गौतमवचनात्साविध्या-
एव । नन्वत्र कथंगौतमः प्रमाणीक्रियते । उच्यते सापेक्षमिदं वाक्यं जपेदिति । जपनीयस्यानिर्देशात्सत्यामपेक्षायां श्रुत्यन्त-
राद्युक्ताविशेषावगतिः । इहतु कालस्य निर्देशो नास्ति कालान्तरंप्रत्यपेक्षेति न गौतमोपेक्षते अथवा संध्यातिक्रमे प्राय-
श्चिताभिधानात्सावित्रीजपः सिद्धएव । युक्तंच साविध्यास्तु परं नास्तीति कामकारतः ज्ञात्वैव संध्याकाले यः स्वपित्यज्ञा-
नाच्चिरमुप्तस्य संध्याकालोऽयं वर्तत इत्यनयबोधोऽविज्ञानम् । एतदुक्तं भवति इच्छया प्रमादकृते चातिक्रमेण तदेव प्रायश्चित्तं यः
पुनरभ्युदितानस्तमितसंध्यामतिक्रामति तस्य प्रायश्चित्तमभोजनं नित्यानां कर्मणां समतिक्रमइति । अथवा यः कामकारेण
शास्त्रातिक्रमणं करोति तस्य तदविज्ञानमेव ॥ २२० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शयानमित्यकृतसंभ्यतामुपलक्षयति । कामकारतो ज्ञानेन कामनया वा अविज्ञानादका-
मतश्चेत्यपि तेन ज्ञानतोऽज्ञानतोवा एतदेव प्रायश्चित्तमित्यर्थः । जपन्नित्यत्रानादेशे तु सावित्रीति सावित्र्येव जप्या ।
अभ्युदितो दिनमभिनिर्मुक्तो रात्रिमिति त्रिवेकः । अभ्युदितो हरभुञ्जानो अभ्यस्तमितश्च रात्रिं जपन्सावित्रीमिति
स्मृतेः ॥ २२० ॥

(३) कुल्लूकः । अत्र प्रायश्चित्तमाह तंचेदिति । तंचैत्कामतो निद्राणं निद्रोपवशत्वेन सूर्योऽभ्युदियादस्तमियात्तदा
सावित्रीजपन्मुपवसन् रात्रौ भुञ्जीत । अभिनिर्मुक्तस्योत्तरेऽहन्युपवासजपौ । अभिरभागइति कर्मप्रवच-

नीयसंज्ञा । ततःकर्मप्रवचनीययुक्तेद्वितीया । सावित्रीजपंतु गोतमवचनात् । तदाह गोतमः सूर्याभ्युदितोब्रह्मचारी तिष्ठे-
दहरभुञ्जानोऽभ्यस्तमितश्च रात्रिजपन्सावित्रीम् । ननु गोतमवचनात्सूर्याभ्युदितस्यैवदिनाभोजनजपानुक्तौअभ्यस्तमित-
स्य तु रात्र्यभोजनजपौ । नैतत् अपेक्षायांव्याख्यासंदेहे वा मुन्यन्तरविवृतमन्वर्थमन्वयमाह । नतु स्फुटमन्वर्थस्पृत्य-
न्तरदर्शनादन्यथाकुर्मः । अतएव जपापेक्षायांगोतमवचनात्सावित्रीजपोभ्युपेयएव । नतूभयत्र स्फुटमनूक्तंदिनोपवासजपाव-
पाकुर्मः । तस्मादभ्यस्तमितस्य मानवगोतमोऽप्रायश्चित्तविकल्पः ॥ २२० ॥

(४) राघवानन्दः । देवाद्यद्येवंस्यात्तत्राह । तंचेति । कामकारतोअनातुरत्वात् इच्छया शयानं जपन्सावित्रीमिति-
शेषः । उपवसेद्विनमिति अभ्युदितेअहरभोजनंरात्रौ भुक्तिः अस्तमिते तु रात्रौ जपःसूर्योदयपर्यंतसूर्याभ्युदितोब्रह्मचारीतिष्ठे-
त्तदहरभुञ्जानोऽस्तमितश्च रात्रिजपन्सावित्रीमिति गोतमवचनात् । उपोषणं सज्योतिःपरं नासायमुपवसेदितिविधि-
स्मरणात् ॥ २२० ॥

(५) नन्दनः । अवज्ञानाज्ज्ञात्वोपेक्षणात् । एवंवचनादशक्यज्ञानादिषुप्रायश्चिताभावः सूचितः ॥ २२० ॥

(६) रामचन्द्रः । तत्राहतमिति । तंब्रह्मचारिणंशयानं कामकारतः इच्छातःसूर्यश्चेदभ्युदियात् उदयेत तंशयानं-
सूर्यः निम्लोचेद स्तंगच्छेत् अविज्ञानात् जपन् गायत्रीजपन् दिनंदिवसं उपवसेत् ॥ २२० ॥

सूर्येण स्रग्भिनिर्मुक्तः शयानोभ्युदितश्च यः ॥ प्रायश्चित्तमकुर्वाणोयुक्तः स्यान्महत्तैनसा ॥ २२१ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वप्रायश्चित्तविधेरयमर्थवादः । निम्लोचनेनाभिदुष्टः अभिनिर्मुक्तः । एवमभ्युदितः प्राय-
श्चित्तपूर्वोक्तंनकरोति तदा महता पापेन संबध्यते न स्वल्पेन । नरकादिदुःखोपभोगनिमित्तमदृष्टपापमुच्यते ॥ २२१ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । महत्तैनसाव्रतवैगुण्यकारिणा ॥ २२१ ॥

(३) कुल्लूकः । अस्य तु प्रायश्चित्तविधेरर्थवाद माह सूर्येणेति । यस्मात्सूर्येणाभिनिर्मुक्तोऽभ्युदितश्च निद्राणः प्राय-
श्चित्तमकुर्वन्महता पापेन युक्तोनरकंगच्छति । तस्माद्यथोक्तप्रायश्चित्तंकुर्यात् ॥ २२१ ॥

(४) राघवानन्दः । तदकरणे दोषमाह । सूर्येणेति । हि यतोब्रह्मचारी भूत्वा शयानएव सूर्येणाभिनिर्मुक्तस्तं-
विहाय सूर्योस्तंगतइति तथासूर्येणोदयतअभिनःशयानंउदितःउदयेन व्यामः ब्रह्मचारीशयानस्य यस्य सूर्यरश्मिनासंयोग-
वियोगौ स्तइति भावः । सचेदुक्तप्रायश्चित्तमकुर्वाणएवंतिष्ठेदेनसा पापेन महतायुक्तःस्यादिति पूर्वपापस्यावश्यकलभा-
गिति ॥ २२१ ॥

(५) नन्दनः । अवश्यकर्तव्यतामस्यप्रायश्चित्तस्याह सूर्येणेति ॥ २२१ ॥

(६) रामचन्द्रः । सूर्येण सह शयानःअभिनिर्मुक्तः सूर्यः अस्तंगतःशयानःसन् अभ्युदितःउदितःभवेत्तदाप्राय-
श्चित्तंअकुर्वाणः महत्तैनसा पापेन युक्तःस्यात् ॥ २२१ ॥

आचम्य प्रयतोनित्यमुभे संध्ये समाहितः ॥ शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥ २२२ ॥

(१) मेधातिथिः । एवमहान्दोषोऽभ्युदयनिम्लोचनयोस्तस्मादाचम्य प्रयतस्तत्परः समाहितः परित्तचित्त-
तत्कर्माविज्ञेयः शुचौ देशे जपञ्जप्यंप्रणवव्याहृतिसावित्र्याख्यमुपासीत । उभे संध्येसंध्ययोरेवात्रोपास्यत्वमुपासनंच तत्र
भावविशेषः । अथवोभे संध्ये प्रत्युपासीत भगवन्तंसवितारंमन्त्रोहितदेवत्वोऽतस्तमेवोपासीत । संततसकलविकल्पस्तद्गतैक-
मनाभवेत् । प्रागुक्तस्यविधेः शेषोऽनुवादः उपासनंकेवलंविधेयम् । अन्ये तु शुचौ देशइत्येतद्विध्यर्थोयंश्लोकइत्याहुस्तेषां-
पौनरुक्त्यम् । सर्वस्यैव कर्तव्यस्य शुचिना कर्मकर्तव्यमिति विहितमशुचिदेशसंबन्धेच का शुचिता ॥ २२२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रयतः शुचिः सन्धेउपासीत सेवेत । प्रयतत्वंशुचिदेशवित्थर्थं विहितसन्ध्योपासना
नुवादः ॥ २२२ ॥

(३) कुल्लुकः । यस्मादुक्तप्रकारेण संध्यातिक्रमे महत्पापमतः आचम्येति । आचम्य पवित्रो नित्यमनन्यमनाः
शुचिदेशे सावित्रीजपन्तु मे सन्ध्य विधिवदुपासीत ॥ २२२ ॥

(४) राघवानन्दः । यतः शयानस्य महत्पापवत्त्वे सन्ध्याकरणमेव हेतुरत आह आचम्येति । जप्यंगायत्र्याख्यं-
विधिवदुपासीत । तद्देवतामित्यर्थः ॥ २२२ ॥

(५) नन्दनः । अथोक्तमपिसंध्याकृत्यमादरार्थप्रसङ्गादाह आचम्येति । नित्यमाश्रमान्तरेऽपि । यथाविधिप्रात-
स्तिष्ठेत्सायमासीतेति ॥ २२२ ॥

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किंचित्समाचरेत् ॥ तत्सर्वमाचरेद्युक्तोयत्र वास्य रमेन्मनः ॥ २२३ ॥

(१) मेधातिथिः । यदि स्त्री आचार्यानी अवरजः कनीयानाचार्यादुपलभ्य श्रेयोकर्मादिना त्रिवर्गसमाचरेत्तत्सर्व-
माचरेत् । संभवति हि तयोस्तदाचार्यसंपर्कात्परिज्ञानम् । शूद्रावाऽऽचारजनक अवरजः सयद्युपदिशेदेवं पायुलिङ्गौमृद्वारिणा
प्रक्षाल्येते निपुणौ हस्तौ प्रक्षालय विस्मृतस्ते मृद्वारिक्रमः स्वदीयआचार्योऽसकृच्चया पायुप्रक्षालने जलंददता दृष्टपूर्वः मृ-
द्भिः शौचं करोति ततोमृद्भिरित्येवमादिसमाचरेत्समाचाराद्युत्पाद्योपदिशेत् । तथा आचार्यानी आचमनं शिक्षयेत्तत्सर्वमाचरेद्यु-
क्तः श्रद्धया न स्त्रीशूद्राचरितमित्यवजानीतः । समाचरेदिति च समाचारपूर्वकउपदिशेवात्राभिप्रेतः । वक्ष्यति च धर्मशौचं-
समंयानि सर्वतइति । आचार्येणैव कदाचिदादिष्टं भवति ब्राह्मणि आचमय पुत्रस्थानीयमेतंतथा विधिपूर्वच ब्रूयादस्य मूत्र-
पुरीषशुद्ध्यर्थमृद्वारिणी देये इति तत्र तदीय वचनमनुष्ठेयमेवंमृदोमृदहाणएवमद्भिः प्रक्षालयेदिति । अथवा गुरुगृहाल्लोहोपल-
जलशुद्ध्यादिः स्त्रीशूद्राभ्यां समाचार्यमाणः प्रमाणीकर्तव्यः एतावदाचारस्य स्त्रीशूद्रसंबन्धिनः प्रामाण्यार्थोयंश्लोकोऽनु-
ज्यते । ननु सर्वस्याचारस्यावेदवित्संबन्धिनः प्रामाण्यं घटते अयुक्तमेतन्नहि त्वल्पोप्याचार अवेदविदांप्रमाणीभवति । अ-
थास्ति मूलवेदवित्संबन्धः एवतर्हि प्रमाणंशूद्रग्रहणे न । नचैवविधे विषये स्त्रीशूद्राचारस्य प्रामाण्यमभिप्रेतम् । तथा हि
सतिप्रामाण्याभिधानप्रकरणएवावक्ष्यत् । तस्माच्छ्रेयः पदार्थनिरूपणार्थोयमुपोहःतइति परमार्थः । यद्वाचार्यवचसांप्रामा-
ण्यानुवादोयम् । स्त्रीशूद्रावपि ब्रूयातांतदप्यनुष्ठानंयुक्तं किंपुनराचार्योपदिष्टम् । यत्र चास्यरमेत्परितुष्येन्मन एतदप्यात्मन-
स्तुष्टिरित्यत्र व्याख्यातम् । सर्वथा नास्य श्लोकस्यातीव प्रयोजनमस्ति ॥ २२३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अवरजःशूद्रः । श्रेयः साधनं श्रुतिस्मृत्यविरुद्धंयदाचरेत् तत्स्वयंप्रयत्नवानाचरेत् । तथा
धर्मसाधनत्वेन पौरुषेयवाक्यादवगते यात्राविरुद्धस्य कर्तुमनोरतिः ॥ २२३ ॥

(३) कुल्लुकः । यदि स्त्रीशूद्रोवा किंचिच्छ्रेयोऽनुतिष्ठति तत्सर्वयुक्तोऽनुतिष्ठेत् । यत्र च शास्त्रानिषिद्धे मनोऽस्य
तुष्यति तदपि कुर्यात् ॥ २२३ ॥

(४) राघवानन्दः । शास्त्राविरुद्धस्त्रीबालाद्याचरितंदृष्टादृष्टश्रेयःसाधनमभ्याचरणीयमित्याह यदीति । अवरजःकनी-
यानिति मेधातिथिः । तत्र स्त्रीसमभिव्याहारात् शूद्रःशास्त्राविरुद्धे कर्मणि रमेत्तोषमागच्छेत् ॥ २२३ ॥

(५) नन्दनः । शास्त्राविरुद्धमनुपदिष्टम् पिश्रेयोऽलोकाप्रसिद्धमाचरितव्यमित्याह यदिस्त्रीति । अवरजः शूद्रः । यत्र
वास्य रमेन्मनः सर्वमाचरितुमशक्तोयत्रास्यमनसोरतिरस्ति तदाचरेत् ॥ २२३ ॥

(६) रामचन्द्रः । यदि स्त्री श्रेयःधर्मं किञ्चित्समाचरेत् तद्धर्मसर्वयुक्तः सन् आचरेत् स्वयं यदि । अवरजः लघुः किञ्चित् श्रेयः धर्मसमाचरेत् तत् आचरेत् यत्रयस्मिन्धर्मे मनः रमेतत् धर्मं समाचरेद्वा ॥ २२३ ॥

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थो धर्मएव च ॥ अर्थएवेह वा श्रेयस्त्रिवर्गइति तु स्थितिः ॥ २२४ ॥

(१) भेदातिथिः । यत्प्रशस्यं यदाचर्यमाणं दृष्टादृष्टे नोपहन्ति यच्छ्रेयोभूलोकउच्यते किंपुनस्तदिति सुदृढत्वाच्चाचष्टे । नायं वेदमूलोर्थो नाचार्यादिशब्दवत्पदार्थं कथनम् । किंति हि श्रेयोर्थो सर्वः पुरुषः प्रवर्तते । तत्रेदमुच्यते । इदं श्रेयः एतदर्थेयत्नः कर्तव्यः । तत्रमतान्तराणि तावदुपन्यस्यति । केषांचिन्मतं धर्मार्थो श्रेयः । धर्मः शास्त्रविहितौ विधिप्रतिषेधौ । अर्थो गोभूमिहिरण्यादिः । एतदेव श्रेयः एतदधीनत्वात्पुरुषप्रीतेः । अपरं मतं कामार्थाविति । कामस्तावन्मुख्यएव पुरुषार्थः प्रीतिरूपत्वात् । पुरुषप्रीतिर्हि श्रेयः अर्थोपि तत्साधनत्वात् । एवं हि चार्वाका आहुः कामएवैकः पुरुषार्थस्तस्य साधनमर्थः धर्मोपि यद्यस्ति धर्मएव सर्वेभ्यः श्रेयान्सर्वस्य तन्मूलत्वाच्च । उक्तंच धर्मार्थश्चकामश्चेति । अर्थतएव वणिजः प्रयोगजीविनः । सिद्धान्तस्तु त्रिवर्गइति तु स्थितिः । अतो धर्माविरोधिनावर्थकामावपि सेवितव्यौ न तद्विरोधिनौ । तथा च गौतमः । न पूर्वार्हमध्यंदिनापराह्णानफलात्कुर्यात् यथा शक्तिधर्मार्थकामैरिति । ज्ञात्मको वर्गस्त्रिवर्गः त्रिषु समुदितेष्वयंरुढः ॥ २२४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र प्रसंगेन पुरुषार्थनिरूपयति धर्मार्थाविति । धर्मार्थयोरेव प्रयत्नसंभवात् । धर्मस्याप्यर्थद्वारा कामहेतुत्वेनैवोपादेयत्वं । तेन कामस्ततः साक्षात् न हेतुरर्थश्च हेतुरित्यन्ये धर्मस्य सर्वमूलत्वात् धर्मएवेत्यन्ये । इह लोकेथेव कामहेतुतया श्रेयानित्यन्ये स्वमतमाह । त्रिवर्गइति । अन्योन्यवादिकथितयुक्तिभिस्त्रयाणां पुरुषार्था नावर्गः समूहः श्रेयः मोक्षार्थिनो विरलप्रचारत्वेनात्र मोक्षो न गणितः ॥ २२४ ॥

(३) कुल्लूकः । श्रेयएव हि धर्मार्थो तद्दर्शयति धर्मार्थाविति । धर्मार्थो श्रेयोऽभिधीयते कामहेतुत्वादिति केचिदाचार्यामन्यन्ते अन्ये त्वर्थकामौ सुखहेतुत्वाच्छ्रेयोऽभिधीयते । धर्मएवेत्यपरे अर्थकामयोरप्युपायत्वात् । अर्थएवेह लोके श्रेयइत्यन्ये धर्मकामयोरपि साधनत्वात् । संप्रतिस्वमतमाह । धर्मार्थकामात्मकः परस्पराविरुद्धस्त्रिवर्गएव पुरुषार्थतया श्रेयइति विनिश्चयः । एवंच बुभुक्षून्त्युपदेशो न मुमुक्षून्मुमुक्षूणां तु मोक्षएव श्रेयइति षष्ठे वक्ष्यते ॥ २२४ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र किं श्रेयइत्यपेक्षायां मतभेदेन पूरयति धर्मेति । स्थितिः शास्त्रमर्यादा मौक्षरूपश्रेयसावश्यकमाणात्वात् । श्रेयःसोपाधिकसुखं तदुपायो धर्मार्थाविति केचित् । कामार्थावित्यपरे कामः शब्दादिविषयोः अर्थो धनमिति तत्तद्वयं श्रेयइति केचित् धर्मः पारत्रिकसुखोपायः ऐहिकसुखोपायोऽर्थः श्रेयःस्वमतं तु श्रेयो धर्मार्थकामात्मकस्त्रिवर्गइति ॥ २२४ ॥

(५) नन्दनः । पुनरत्र श्रेयः शब्देन विवक्षितोऽर्थइत्यत्राह धर्मार्थाविति । कैश्चिद्धर्मार्थोऽश्रेयउच्येते कैश्चित्कामार्थोऽश्विधर्मएव कैश्चिदर्थएव । परस्पराविरुद्धस्त्रिवर्गः । स्थितिः सिद्धान्तः । विरोधेतुल्यबलाबलंवक्ष्यति । कामएव श्रेयो धर्मकामौवा श्रेयइतिसंभवतोरपि पक्षयोर्हेयत्वमनुपन्यासादेव सूचितम् ॥ २२४ ॥

(६) रामचन्द्रः । धर्मार्थो श्रेयः उच्यते । कस्यचिन्मते यदा कामार्थो धर्मएव वा कस्यचिन्मते अर्थ इव इह भवेत् श्रेयः इति त्रिवर्गस्थितिः ॥ २२४ ॥

आचार्यश्च पिताचैव माता भ्राता च पूर्वजः ॥ नार्त्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥ २२५ ॥

(१) मेधातिथिः । अन्योपि न कश्चिदवमन्तव्यः एते पुनर्विशेषतः प्रायश्चिताधिक्यमत्रेत्यर्थः । आर्त्तेनतैः पीडितेनाप्यवमानमवज्ञा प्राप्तायाः पूजाया अकरणं न्यकारश्चानादराख्यः । ब्राह्मणग्रहणं पूरणार्थम् ॥ २२५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः आर्त्तेन तैः पीडितेन ॥ २२५ ॥

(३) कुल्लूकः । आचार्यो जनको जननी च भ्राता च सगर्भो ज्येष्ठः पीडितेनाप्यमी नावमाननीयाः विशेषतो ब्राह्मणेन यस्मात् ॥ २२५ ॥

(४) राघवानन्दः । आचार्यादीनामनवज्ञाशुश्रूषयोरावश्यकत्वं विदधत्तान् ब्रह्मदृष्टिर्त्कर्षादितिन्यायेन देवतालोकादिदृष्ट्यामहीकर्तुमनुवदति । आचार्यश्चेत्यष्टभिः । आचार्यादिषु ब्रह्मदृष्टिः कार्या तेषामुत्कर्षावाप्त्यै इति न्यायार्थः ॥ २२५ ॥

(५) नन्दनः । अत्रहेतुमाह आचार्यइति । ब्रह्मणो वेदस्य मूर्तिराधाराधेययोरपि नाभावसामान्यात् ॥ २२५ ॥

(६) रामचन्द्रः । एते आचार्यादयः आर्त्तेनापि पुंसां नावमन्तव्याः न तिरस्कारणीयाः ब्राह्मणेन विशेषतः नावमन्तव्याः ॥ २२५ ॥

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ॥ माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥ २२६ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्यायमर्थवादः । यत्परब्रह्मवेदान्तोपनिषत्प्रसिद्धं तस्याचार्यो मूर्तिः शरीरं मूर्तिरिव मूर्तिः प्रजापतेर्हिरण्यगर्भस्य पिता येयं पृथिवी सैव माता भारसहत्वसामान्यात् । भ्राता च त्वः सोदर्यः । आत्मनः क्षेत्रज्ञस्येति प्रशंसा । एते सर्वदेवतारूपाः महत्त्वयुक्ता अवमता नन्ति प्रसादिता अभिप्रेतैः कामैर्योजयन्ति । एवं तत्समाचार्यादय इति स्तुतिः ॥ २२६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्रह्मणः हिरण्यगर्भस्य मूर्तिर्देहान्तरम् । वेदोपदेशकत्वसामान्यात् । प्रजापतेर्मनोः सृष्टिकर्तृत्वसामान्यात् । पृथिव्या मूर्तिः आधारत्वसामान्यात् । भ्राता त्वः सोदरः आत्मनो मूर्तिरेकसृष्टत्वात् ॥ २२६ ॥

(३) कुल्लूकः । आचार्यो वेदान्तोदितस्य ब्रह्मणः परमात्मनो मूर्तिः शरीरं पिता हिरण्यगर्भस्य माता च धारणात् पृथिवी मूर्तिः भ्राता च त्वः सगर्भः क्षेत्रज्ञस्य तस्माद्देवतारूपा एतानावमन्तव्याः ॥ २२६ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र कः कस्य मूर्तिरित्यपेक्षां पूरयति । आचार्यइति । ब्रह्मणः परमात्मनो मूर्तिर्भूर्च्छितावयवतया शरीरं प्रजापतेर्हिरण्यगर्भस्य । अथवा ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य प्रजापतेर्विराजः । मातुरिव पृथिव्या धारकत्वादात्मनः क्षेत्रज्ञस्य त्वासमार्गेभ्यु ॥ २२६ ॥

(५) नन्दनः । नियमान्तरमाह आचार्यश्चेति ॥ २२६ ॥

(६) रामचन्द्रः । आचार्यः ब्रह्मणः परमात्मनः मूर्तिर्वा वेदस्य मूर्तिर्वा ज्ञेयः प्रजापतेः हिरण्यगर्भस्य परमेष्ठिनः मूर्तिः भ्राता त्वमूर्तिः आत्मनः मूर्तिः ज्ञेया ॥ २२६ ॥

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम् ॥ न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥ २२७ ॥

(१) मेधातिथिः । भूतार्थानुवादेनेयमपराप्रशंसा । क्लेशांदुःखं माता च पिता च नृणामपत्यानां संभवे गर्भात्प्रभृति यावद्दशमाद्वर्षात् । न्यातुः क्लेशः गर्भधारणं प्रसवः प्राणहरः स्त्रीणां जातस्य च संवरणयोगः क्लेशः ससर्वस्य त्वयंसंवेद्यः

पितुरप्युपनयनात्प्रभृत्यावेदार्थव्याख्यानात् । संभवशब्देनात्र गर्भाधानमुच्यते तद्धिनक्लेशावहंकिंताहि तदुत्तरकालभा-
विन्यस्ताः क्रियास्ताहि क्लेशसाध्याः । न तस्य क्लेशस्य निष्कृतिरानृण्यप्रत्युपकारसमत्वंशक्यंकर्तुवर्षशतैर्जन्मभिर्बहुभिः
किंपुनरेकेन जन्मना । असंख्यधनदानेन महत्या वापदउद्धरणेन मातापित्रोर्निष्कृतिरिति ॥ २२७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रत्युपकारार्थमुच्यते मातापित्रोरतिशयेन हितकार्यमित्याह यमिति । संभवे जन्म-
निसति । तत्पोषणादिना निष्कृतिः कृतप्रकृतिः ॥ २२७ ॥

(३) कुड्डूकः । नृणामपत्यानांसंभवे गर्भाधाने सत्यनन्तरंयंक्लेशमातापितरौ सहेते तस्य वर्षशतैरप्यनेकैर-
पि जन्मभिरानृण्यकर्तुमशक्यम् । मातुस्तावत्कुशौ धारणदुःखंप्रसववेदनातिशयोजातस्य रक्षणवर्धनकष्टंच पितुरधिका-
न्येवरक्षासंवर्धनदुःखमुपनयनात्प्रभृतिवेदतदङ्गभ्यापनादि क्लेशातिशयइति सर्वसिद्धंतस्मात् ॥ २२७ ॥

(४) राघवानन्दः । मातापित्रोःक्लेशंस्मारयन्तयोःशुश्रूषादरमाह । यमिति पितुरपिगर्भाधानसंस्कृतिपोषणाद्यैः
क्लेशोस्तीति वभावनीयम् । सम्यक्लोक्यतापर्यंत पुत्रमनुशिष्टलोक्यमिति श्रुतेःनिष्कृतिरानृण्यं ॥ २२७ ॥

(५) नन्दनः । मातापित्रोर्विशेषमाह यमातेति । संभवेवृद्धौ । नृणांपुत्राणाम् । निष्कृतिः प्रत्युपकारः ॥ २२७ ॥

(६) रामचन्द्रः । सम्भवे उत्पत्तौ ॥ २२७ ॥

तयोर्नित्यंप्रियंकुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा ॥ तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपःसर्वसमाप्यते ॥ २२८ ॥

(१) मेघातिथिः । तस्मात्तत्तयोर्मातापित्रोराचार्यस्य च सर्वदा यावज्जीवंयत्प्रियंतेषांतत्कुर्यान्नसकृद्विस्त्रिंवा कृत्वा
कृती भवेत् । तेष्वेवाचार्यादिषुत्रिषु पुरुषेषु भक्त्याराधितेषु तपः सर्वबहून्वर्षगणांश्चान्द्रायणादितपस्तप्त्वा यत्फलंप्राप्यते
तत्तत्परितोषादेव लभ्यतइति ॥ २२८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतत्कर्तव्यमित्याह तयोरिति । आचार्यस्य चाभ्यापनोपकारनिष्कृत्यर्थम् । चका-
राद्भ्रातुरपि ज्येष्ठस्यात्मतुल्यत्वात् । तेषुहि त्रिष्विति । त्रयाणामवश्याराध्यत्वात्तपः सम्यक्प्राप्यते तच्छुश्रूषायाएव सर्वा-
तशायिरूपत्वात् ॥ २२८ ॥

(३) कुड्डूकः । तयोर्मातापित्रोः प्रत्यहमाचार्यस्य च सर्वदाप्रीतिमुत्पादयेत् । यस्मान्तेष्वेव त्रिषु प्रीतेषु सर्वतपश्चा-
न्द्रायणादिकं फलद्वारेण सम्यक्प्राप्यते । मात्रादित्रयतुष्ट्यैव सर्वस्य तपसःफलंप्राप्यतइत्यादि ॥ २२८ ॥

(४) राघवानन्दः । आचार्यस्यानन्यशरणत्वे तयोस्त्वि तद्ग्राणीयतामाह आचार्यस्येति । त्रिषु मातृपित्राचार्येषु ।
तपःसर्वमिति तपःकृच्छ्रचान्द्रायणादि क्लेशाय योवा शुश्रूषुरिति शेषः तस्य सर्वतपःसाध्यत्वात् ॥ २२८ ॥

(५) नन्दनः । यतएवंतस्मात्तयोर्नित्यंप्रियंकुर्यादिति । नित्यंयावज्जीवम् । सर्वदाऽऽप्यपि । हिहेतौ । सर्वसर्वा-
श्रमसाध्यम् ॥ २२८ ॥

(६) रामचन्द्रः । तयोः पित्रोः प्रियं नित्यं कुर्यात् । चकारात् ज्येष्ठमातुःच पुनःआचार्यस्य प्रियंसर्वदा । ते
ष्वेव त्रिषु मातृपित्राचार्येषु त्रिषु तुष्टेषु सत्सु सर्वपूर्णं । तपःसमाप्यते ॥ २२८ ॥

तेषांत्रयाणांशुश्रूषा परमंतपउच्यते ॥ न तैरभ्यननुज्ञातोधर्ममन्यंसमाचरेत् ॥ २२९ ॥

(१) मेघातिथिः । कथंपुनस्तपः फलमतपसा मात्रादिशुश्रूषया एतच्च सर्वोत्तमतपोयत्तेषांपादसेवनंतैरननुज्ञातो-

(२२९) नतैरभ्यननुज्ञातो=नैतरेनभ्यननुज्ञातो (न, ब, भ, य, र, ल) ।

माणवकः धर्ममन्यतस्तेषां विरोधिनतीर्थस्नानादिरूपं व्रतोपवासादिव शरीरशोषणया तेषां चित्तवेदकरम् । ज्योतिष्टोमानुष्ठाने-
प्यनुज्ञा ग्रहीतव्या । यत्ते मनःप्रतिषेधकृतो (?) महारम्भेषु चकर्मसु बहुधनव्ययायाससाध्येषु व्यापृच्छय माताच मत्त-
मत्या भवेयुः (?) नित्यकर्माऽनुष्ठाने त्वाज्ञानो कारिणी ॥ २२९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यतस्तच्छुश्रूषया परमतपस्तेषां शुश्रूषाया असंभवएव तैरनुज्ञातो न्यधर्मकुर्यात् ॥ २२९ ॥

(३) कुल्लूकः । तेषां मातापित्राचार्याणां परिचर्या सर्वतपोमयं श्रेष्ठमितएव सर्वतपःफलप्राप्तेर्यद्यन्यमपि धर्मकथं-
चित्करोति तदप्येतन्नयानुमतिव्यतिरेकेण न कुर्यात् ॥ २२९ ॥

(४) राघवानन्दः । अननुज्ञातः प्रतिषिद्धः अप्रतिषिद्धं कृत्वा निवेदयेदिति वक्ष्यति ॥ २२९ ॥

(६) रामचन्द्रः । तेषां त्रयाणां आचार्यपितृमातृणां तैस्त्रिभिः अनभ्यनुज्ञातः अन्यैर्धर्म न समाचरेत् ॥ २२९ ॥

तएव हि त्रयो लोकास्तएव त्रय आश्रमाः ॥ तएव हि त्रयो वेदास्तएवोक्तास्त्रयोऽग्रयः ॥ २३० ॥

(१) मेधातिथिः । कार्यकारणयोरभेदादेव मुच्यते त्रयाणां लोकानां प्राप्तिहेतुत्वात् तएव त्रयो लोका उच्यन्ते । तएव
च त्रयः प्रथमा ब्रह्मचर्यादन्ये त्रय आश्रमाः गार्हस्थ्यदिभिस्त्रिभिराश्रमैर्यत्फलं प्राप्यते तत्तैस्त्रिभिस्तुष्टैः तएव त्रयो वेदा-
वेदत्रयजपतुल्यफलत्वात् । तएव त्रयोऽग्रय अग्निसाध्यकर्मनुष्ठानफलावाप्तेस्तच्छुश्रूषातः । एषापि प्रशंसैव ॥ २३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । त्रयो लोकाः पृथिव्यन्तरिक्षब्रह्मलोकाः आश्रमाः ब्रह्मचर्यगार्हस्थ्यवानप्रस्थाख्याः । तत्पा-
लनतुल्यफलत्वात् तच्छुश्रूषायाः एवं वेदवाग्नित्वोपचारस्तदध्ययन तदाधानलभ्यकर्मफलस्यैतच्छुश्रूषाया सिद्धेः ॥ २३० ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मान्न एव मातापित्राचार्यास्त्रयो लोकालोकत्रयप्राप्तिहेतुत्वात् कारणे कार्योपचारः । तएव ब्रह्मच-
र्यादिभावत्रयरूपा आश्रमा गार्हस्थ्यद्याश्रमत्रयप्रदायकत्वात् । तएव त्रयो वेदा वेदत्रयजपफलोपायत्वात् । तएव हि त्रयोऽ-
ग्रयोऽभिहितास्त्रेतासंपाद्यज्ञादिफलदातृत्वात् ॥ २३० ॥

(४) राघवानन्दः । किंच तएवेति । लोकास्तत्र लोकावामिहेतुत्वात् ॥ २३० ॥

(५) नन्दनः । तएव त्रयो लोका अयं लोकौ माताजन्मभूमित्वसामान्यात् । अन्तरिक्षलोकः पिता सेककर्तृत्वसामा-
न्यात् । स्वर्गलोक आचार्यस्तत्प्राप्सुपायापदेशकत्वात् । तएव त्रय आश्रमाः । ब्रह्मचर्याश्रमो माता तत्र हि द्वितीयजन्म । गा-
र्हस्थ्यश्रमः पिता भोगप्रदत्वसामान्यात् । सन्यासाश्रम आचार्यो ब्रह्मलोकप्रापकत्वसामान्यात् । वानप्रस्थाश्रमस्य तु सदार-
त्वपक्षे पूर्वाश्रमसाधर्म्याददारत्वपक्षउत्तराश्रमसाधर्म्याच्चोभयोरन्यतरत्रान्तर्भावः । तएव हि त्रयो वेदाः । ऋग्वेदो माता ऋ-
चो हि स्त्रियः ताभ्यो हि शरीराण्यजायन्ते ऋग्भ्यो जातां सर्वशोमूर्तिमाहुरिति श्रुतेः । यजुर्वेदः पिता विधायकत्वसामान्यात् ।
सामवेद आचार्यो ब्रह्मयोनित्वसामान्यात् । तथा हि श्रूयते सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिरिति ॥ २३० ॥

(६) रामचन्द्रः । तएव हि आचार्यादयः त्रयो लोकाः त्रिलोकस्वरूपाः पूज्या इत्यर्थः । एवं अग्रेष्वुक्तम् ॥ २३० ॥

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः ॥ गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥ २३१ ॥

(१) मेधातिथिः । केनचित्सामान्येनायं पित्रादीनां गार्हपत्यादिव्यपदेशः । साग्नित्रेता आधानाग्नित्रेता या गरीयसी
महाफला । त्राणं त्राणार्थमिताश्रमात्रेता इति शब्दव्युत्पत्तिः ॥ २३१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र त्रयोऽग्रय इत्येतत्प्रपञ्चयति पितेति । गार्हपत्यः प्राथमिकत्वात् दक्षिणाग्निः पित्राचा-
र्यपिक्षया लोपयोगात् आहवनीयो बहुपयोगत्वात् सैवाग्नित्रेता अन्यस्यास्त्रेता या गरीयसी मान्यतमा ॥ २३१ ॥

(३) कुल्लूकः । वैशब्दोऽवधारणे । पितैव गार्हपत्योऽग्निः मातादक्षिणाग्निः आचार्यआहवनीयः सेयमग्नित्रेता श्रेष्ठतरास्तुत्यर्थत्वाच्चास्य न वस्तुविरोधोऽत्र भावनीयः ॥ २३१ ॥

(४) राघवानन्दः । अग्रयइत्युक्तंतद्यनक्ति पितेति । स्तुतिः निरग्नि कस्या होत्रफलावाप्सर्थवा । सेयमग्नित्रेतागार्हपत्यादित्रितयंगरीयः एवंपिताऋग्वेदो माता यजुर्वेदः आचार्यः सामवेदः ऋग्वेदोगार्हपत्यः पृथिवी ब्रह्मवेत्यादिश्रुतौऋग्वेदगार्हपत्ययोः साहचर्यात् । ऋग्वेदगार्हपत्याभ्योर्दृष्टिः पितरिविधीयते । एवंमातरि यजुर्वेददक्षिणाभ्योः । आचार्ये सामवेदाहवनीययोः ॥ २३१ ॥

(५) नन्दनः । तएवोक्तास्त्रयोऽग्रयइतियदुक्तंत्रायंविभागक्रमइत्यत्राह पितावाइति । गार्हपत्योऽग्निः पितास्मि-
ल्लोके भोगप्रदत्वसामान्यात् तथाहिब्राह्मणं त्वदितंतोकायतनयायपितुं पचेति । दक्षिणोऽग्निर्माता अन्नमेवास्मै श्रद्धधतीति श्रु-
तेः । आहवनीयआचार्येऽमुष्मिल्लोके भोगप्रदत्वसामान्यात् । तथाहि श्रुतिः अमुष्मिन्नाहवनीयइति ॥ २३१ ॥

(६) रामचन्द्रः । पिता गार्हपत्याग्निरूपः । माता दक्षिणाग्निरूपा । गुरुः आहवनीयाग्निरूपः । सोमः अग्नित्रेता त्रयाणांसमूहः त्रेता । गरीयसी पूज्या ॥ २३१ ॥

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान्विजयेद्गृही ॥ दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्विव मोदते ॥ २३२ ॥

(१) मेधातिथिः । एतेष्वप्रमाद्यन्नाराधनेऽस्वलन् । तथा च तदाराधनार्त्तल्लोकाञ्जयेत्स्वीकुर्यादाधिपत्यमाप्नुयात् गृही । गृहस्थावस्थस्य हि पुत्रस्यपित्रादीनांतत्कृतमाराधनमुपयुज्यते । तदा हि तौ वृद्धौ भवतः । दीप्यमानः शोभमानः प्रकाशमानोवा स्वेन वपुषा स्वेनैव तैजसा देववदादित्यवद्विव लोके मोदते ॥ २३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अप्रमाद्यन्नप्रमत्तः शुश्रूषमाणः । गृही गृहस्थः । अपीत्यध्याहार्यम् ॥ २३२ ॥

(३) कुल्लूकः । त्रिष्विति । एतेषु त्रिषु प्रमादमकुर्वन्नब्रह्मचारीतावज्जयत्येव । गृहस्थोऽपि त्रींल्लोकान्विजयते । संज्ञापूर्वकस्यात्मनेपदविधेरनित्यत्वान्न विपरभ्यांजेरित्यात्मनेपदम् । त्रींल्लोकान्विजयेदिति त्रिष्वधिपत्यंप्रामोति । तथा स्ववपुषा प्रकाशमानः सूर्यादिदेववद्विव दृष्टो भवति ॥ २३२ ॥

(४) राघवानन्दः । अप्रमाद्यन्निति च्छेदः । दीप्यमानः परानद्योतयन्निति त्वर्गे ॥ २३२ ॥

(५) नन्दनः । न केवलंब्रह्मचारिणामयंधर्मः किंतूत्तरषोमपीतिप्रदर्शितं गृहीति ॥ २३२ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रिषु एतेषु अप्रमाद्यन् सावधानतया तिष्ठन् त्रीन् लोकान् गृही सञ्जयेत् ॥ २३२ ॥

इमंलोकंमातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ॥ गुरुशुश्रूषया त्वेवंब्रह्मलोकंसमश्नुते ॥ २३३ ॥

(१) मेधातिथिः । अयंलोकः पृथिवी भारसहत्वात्तुल्यामातापृथिव्या । पितृभक्त्या । मध्यमोलोकोन्तरिक्षंप्रजाप-
तिः पितोक्तः मध्यमस्थानश्च प्रजापतिर्नैरुक्तनाम् सहि वर्षकर्मणांप्रजानांपाता वा पालयिता वा । ब्रह्मलोकमादित्यलोकम्
आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः लोकः स्थानविशेषस्तमश्नुते प्रामोति । अर्थवादाएते तत्र नाभिनिवेष्टव्यम् । नच लोकाधिपत्यकाम-
स्य तदाराधनाधिकारः । नायंकाम्योविधिः । पितृत्वमेवात्र निमित्तमकरणे शास्त्रातिक्रमः ॥ २३३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मध्यमं भूलोकादूर्ध्वं ब्रह्मलोकादधः ॥ २३३ ॥

(३) कुङ्कुमः । इमं भूर्लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या मध्यममन्तरिक्षमाचार्यभक्त्या तु हिरण्यगर्भलोकमेव प्राप्नोति ॥ २३३ ॥

(४) राघवानन्दः । त्रीनलोकान्विजयेदित्युक्तं केन कंजयतीत्यपेक्षायामाह इममिति । इमं भूर्लोकं मध्यमं भुवर्लोकं आचार्यो ब्रह्मलोके शब्दित्युक्ते ब्रह्मलोकम् ॥ २३३ ॥

(६) रामचन्द्रः । इममिति इमं लोकं भूर्लोकं मध्यमं स्वर्लोकं गुरुशुश्रूषया ब्रह्मलोकं एवममुना प्रकारेण त्रीन लोकान्समश्नुते प्राप्नोति ॥ २३३ ॥

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ॥ अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ २३४ ॥

(१) मेधातिथिः । आदृताः सत्कृताः । आदृतवचनेन प्रत्युपकारपरत्वं लक्ष्यते यो ह्यादृतो भवति स परितुष्टः प्रत्युपकाराय यतते । अथवा दृतः परितुष्ट उच्यते । धर्मस्य चानन्त्यात्परितोषाऽनुपपत्तेः फलदानोत्सुकत्वं लक्ष्यते । सर्वाणि तस्य कर्माण्याशु फलदायीनि भवन्ति । यस्यैते त्रय आदृताः शुश्रूषया परितुष्टाः एतैस्त्वनाराधितैर्यत्फलकामेना किंचिच्छ्रियते शुभं कर्म तत्सर्वं निष्फलम् । सर्वाः क्रियाः सर्वाणि श्रौतस्मार्तानि कर्माणि । अर्थवादोऽयं पुरुषार्थो ह्याराधनविधिस्तदतिक्रमे पुरुषः प्रत्यवयन्महता पापेन कर्मोपार्जिते पीष्टफलभोगे प्रतिबध्यते । अत उच्यते सर्वास्तस्या फलाः क्रिया इति ॥ २३४ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । सर्वधर्मा यागाद्याः । आदृताः आदरेण कृताः । अफला अल्पफलाः ॥ २३४ ॥

(३) कुङ्कुमः । यस्यैते त्रयो मातृपित्राचार्य आदृताः सत्कृतास्तस्य सर्वे धर्माः फलदा भवन्ति । यस्यैते त्रयोऽनादृतास्तस्य सर्वाणि श्रौतस्मार्तकर्माणि निष्फलानि भवन्ति ॥ २३४ ॥

(४) राघवानन्दः । पुनरपि त्रयाणां शुश्रूषास्तुतिनिन्दाभ्यां विधत्ते सर्व इति द्वाभ्यां । आदृता आदरेण वृताः स्युः अफलाः क्रियाः तदा चरितं पुण्यमात्रं निष्फलमित्यर्थः ॥ २३४ ॥

(६) रामचन्द्रः । एते त्रय आचार्यादयः यस्य पुंसः आदृताः मानार्हा भवन्ति तस्य सर्वे धर्माः आदृता भवन्ति तद्यथा तेन पुंसा सर्वे धर्मा आदृता इत्यर्थः । यस्य एते त्रयः अनादृताः भवन्ति तस्य सर्वाः क्रियाः अफला भवन्ति इत्यर्थः ॥ २३४ ॥

यावन्नयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् ॥ तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः ॥ २३५ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तार्थोऽयं श्लोकः । नान्यं समाचरेद्दृष्टमदृष्टं तदनुज्ञानमन्तरेणेत्युक्तम् । तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात् । प्रियहिते रतः प्रियं च हितं च तदा यत्प्रीतिकरं तत्प्रियं यत्पालनं तद्धितम् ॥ २३५ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । नान्यत् तच्छुश्रूषाविरोध्याचरेत् । हितमप्रियमप्युदकं शुद्धं ॥ २३५ ॥

(३) कुङ्कुमः । ते त्रयो यावज्जीवन्ति तावदन्यं धर्मत्वात् त्र्येण नानुतिष्ठेत् । तदनुज्ञया तु धर्मानुष्ठानं प्राविहितमेव किंतु तेष्वेव प्रत्यहं प्रियहितपरः शुश्रूषांतर्दर्थे प्रीतिसाधनं । प्रियं भेषजपानादिवत् । आयत्यामिष्टसाधनं हितम् ॥ २३५ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रियहिते इह प्रीतिसाधनं प्रियं । आयत्यामिष्टसाधनं हितमिति ॥ २३५ ॥

(५) नन्दनः । नित्यं यावज्जीवम् ॥ २३५ ॥

(२३५) नान्यं = नान्यत् (ल, र) । (क, ग, घ, च, ख,) एतेषु पुस्तकेषु नान्यं एवोहि पाठः । परंतु नान्यं गृहीत्वा नान्यं समाश्रयेत् ईदृशः श्लोकः अपेक्षितः । नान्यं समाचरेत् इत्थं असंगतं इति भाति ।

(६) रामचन्द्रः । त्रयः यावज्जीवेयुस्तावदन्यधर्मानि समाचरेत् ॥ २३५ ॥

तेषामनुपरोधेन पारव्ययद्यदाचरेत् ॥ तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥ २३६ ॥

(१) मेधातिथिः । परत्र जन्मान्तरे यस्य फलं भुज्यते तत्पारव्यम् । छान्दसंरूपमेतत् । शुश्रूषाया अविरोधेनान्ययं धर्मसमाचरेत्तन्निवेदयेत्तेभ्यस्तान्ज्ञापयेत् । अनुपरोधग्रहणमेवमर्थकृतम् । यत्तेषां विरोधि तत्तैर्नाज्ञापयितव्यम् । कश्चिद्वज्रप्रकृतिरभ्यर्थमान आत्मपरोऽधर्ममवगणम्यानुजानाति तन्निवृत्त्यर्थमेतत् । मनोवचनकर्मभिर्न निवेदनमदृष्टार्थमपितु यादृशमनुज्ञानं तादृशमेव कर्मणा दर्शयेत् । अथाचैवं संबन्धः कर्तव्यः मनोवचनकर्मभिः पारव्ययद्यदाचरेत्तन्निवेदयेत्तेभ्य इति ॥ २३६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । तेषां मनुपरोधेन दुःखाजननेन पारव्यं परलोकार्थं निवेदयेत् तेषां एतत्फलं तेषामस्त्विति मनसा वचनेन च कर्मणा हस्तोदकादिदानेन निवेदयेत् । यद्वा मनोवचनकर्मभिर्यदाचरेदित्यन्वयः । परसंबन्धस्य तथैव सिद्धेः । न त्वत्र निवेदनं ज्ञापनमात्रम् । यत्किंचिद्धर्मसंयुक्तमाचरामि युधिष्ठिर । मातापित्रोर्गुरुश्वैव तत्सर्वं विस्मृजाम्यहम् ॥ इतीतिहासे दर्शनात् ॥ २३६ ॥

(३) कुल्लूकः । तेषां शुश्रूषाया अविरोधेन तदनुज्ञातो यद्यन्मनोवचनकर्मभिः परलोकफलं कर्मानुष्ठितं तन्मयैतदनुष्ठितमिति पश्चात्तेभ्यो निवेदयेत् ॥ २३६ ॥

(४) राघवानन्दः । धर्ममाचरेदित्युक्तं अप्रतिषिद्धः स सन्त्यदाचरेत् तन्निवेदयेदेवेत्याह तेषामिति । अनुपरोधेनापीडया पारव्यं परलोकफलकं मनोवचनकर्मभिरित्युभयत्राचरणे निवेदने च संबध्यते ॥ २३६ ॥

(५) नन्दनः । पारव्यं परलोकहितम् ॥ २३६ ॥

(६) रामचन्द्रः । तेषां त्रयाणामनुपरोधेन यत्पारव्यं परलौकिकं धर्मं तेभ्यः त्रिभ्यः मनोवाक्यकर्मभिः निवेदयेत् ॥ २३६ ॥

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यंहि पुरुषस्य समाप्यते ॥ एषधर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्यउच्यते ॥ २३७ ॥

(१) मेधातिथिः । इतिशब्दः समाप्तिवचनः कात्स्न्यं गमयति । यत्किंचन पुरुषस्य कर्तव्यं यावान्कश्चन पुरुषार्थः स एतेष्वारविधेः समाप्यते परिपूर्णमनुष्ठितो भवति । एषधर्मः परः श्रेष्ठः साक्षात्त्वेन । अन्यश्चाग्निहोत्रादिरूपधर्मः प्रतिहारस्थानीयोन साक्षाद्राजवदिति प्रशंसा । अवमान प्रतिषेधः । प्रियहितकरणं तद्विरोधिनः कर्तव्यस्याननुष्ठानमविरोधिनोप्यननुज्ञातस्य च परिशिष्टः श्लोकसंघातोऽर्थवादः ॥ २३७ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । कृत्यंकृत्यप्रकारः । साक्षादभितर्षितफलः । अन्योयज्ञादिस्तेषु जीवत्सु उपधर्मः ॥ २३७ ॥

(३) कुल्लूकः । इतिशब्दः कात्स्न्यं । हिशब्दो हेतौ । यस्मादेतेषु त्रिषु शुश्रूषितेषु पुरुषस्य सर्वश्रौतस्मार्तकर्तव्यसंपूर्णमनुष्ठितं भवति । तत्फलावाप्तेस्तस्मादेव श्रेष्ठो धर्मः साक्षात्सर्वपुरुषार्थसाधनः । अन्यस्त्वग्निहोत्रादि प्रतिनियतस्वर्गादिहेतुरूपधर्मोऽजघन्यधर्म इति शुश्रूषास्तुतिः ॥ २३७ ॥

(४) राघवानन्दः । एतदाचरणेनैव कृतकृत्यो भवतीत्याह त्रिष्विति । अन्यस्तद्भिन्नोयः स उपधर्मोऽन्यधर्मोऽधर्मः पाषण्डधर्मोऽत्रा ॥ २३७ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतेषु त्रिषु पुरुषस्य इतिकृत्यंहि समाप्यते । अन्यतः उपधर्मः पाषण्डधर्म इत्यर्थः ॥ २३७ ॥

श्रद्धाधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ॥ अन्त्यादपि परं धर्मस्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ २३८ ॥

(१) मेधातिथिः । श्रद्धाधानास्तिव्योपगृहीतान्तरात्माऽभियुक्तोयः शिष्यः सशुभां विद्यां न्यायशास्त्रादितर्कविद्यामथवा या शोभते केवलं सा विशदकाव्यभरतादिविद्याविभूषिता मन्त्रविद्यावा न धर्मोपयोगिनी तामवरादपि हीनजातीयादप्याददीत शिक्षेत । नन्वत्र शुभा वेदविद्या वेदितव्या आपदि विधिर्भविष्यति अनापदि तु नैवेद्यते । या च शुभा शाश्वती माया कुहकादिवातां क्वचित् । अन्त्यश्चाण्डालस्तस्मादपि यः परो धर्मः श्रुतिरस्मृत्यपेक्षया परो न्योलौकिकः । धर्मशब्दो व्यवस्थायामपि प्रयुज्यते । एषोत्र धर्म इति यदि चण्डालोपि ब्रूते । अत्र प्रदेशे माचिरंस्थामावास्मिन् भसि स्नासीरेषोत्र ग्रामीणानां धर्मोराज्ञाकृतावा मर्यादेति । न चैवं मन्तव्यमुपाध्यायवचनं मया कर्तव्यं धिक्चाण्डालं योमानियुङ्क्तेति । न पुनरियं बुद्धिः कर्तव्या परो धर्मो ब्रह्मतत्त्वज्ञानं न हि चण्डालादेस्तत्परिज्ञानं संभवेदर्थवित्त्वाभावात् । न चान्यतस्तत्संभवनं हि वृश्चिकमन्त्राक्षरवद्ब्रह्मोपदेशोऽस्ति । स्त्रीरत्नमिव स्त्रोचासौ रत्नं च तदिति वा उपमितं व्याघ्रादिभिः विशेषणं विशेष्येणेति वा । यदा यत्किंचिदुत्कृष्टं वस्तु तद्वत्प्रमुच्यते तदा विशेषणमिति । अथ तु मरकतपद्मरागादीन्येव रत्नशब्दवाच्यान्युत्कर्षसामान्यादन्यत्र प्रयोगस्तदोपमितमिति । या स्त्री संस्थानलावण्यातिशयवती अथ धान्यबहुधनमुतादिशुभलक्षणा सा दुष्कुलाद्धीनक्रियादेरप्यन्या । अब्राह्मणादित्यस्य विवेरयमपवादोऽलाभेन तु प्रदर्शितः ॥ २३८ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । शुभावैदिकीं अवरात्बलात् श्रद्धाधानो बाल्यादिना तत्राश्रद्धानकार्येत्यर्थः । अन्त्यात् शुद्रादपि परं धर्ममाचरतो धिगम्य गृह्णीयात् । अत्रानेकानुदृष्टान्तान् लोकव्यवहारसिद्धानाह स्त्रीरत्नमित्यादि । लुप्तोपमार्थमेतत् सर्वं ॥ २३८ ॥

(३) कुल्लूकः । श्रद्धायुक्तः शुभां दृष्टशक्तिगारुडादिविद्यामवराच्छूद्रादपि गृह्णीयात् । अन्त्यश्चाण्डालस्तस्मादपि जातिस्मरादेर्विहितयोगप्रकर्षात् । दुष्कृतशेषोपभोगार्थमवामचाण्डालजन्मतः परं धर्मोऽप्युपायमात्मज्ञानमाददीत । तथा ऽज्ञानमेवोपक्रम्य मोक्षधर्मे प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणाक्षत्रियादौ श्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्ष्णं श्रद्धातव्यं । श्रद्धाधानेन नित्यं न श्रद्धिं न प्रति जन्ममृत्युविशेषता । मेधातिथिस्तु श्रुतिस्मृत्यपेक्षया परो धर्मो लौकिको धर्मशब्दो व्यवस्थायामपि युज्यते । यदि चाण्डालोप्यत्र प्रदेशे माचिरंस्थामावास्मिन् भसि स्नायादिति वदति तमपि धर्ममनुतिष्ठेत् । प्रागल्भ्या लौकिकं वस्तु परं धर्ममिति ब्रुवन् । चित्रं तथापि सर्वत्र श्लाघ्यो मेधातिथिः सताम् । स्त्रीरत्नं आत्मापेक्षयानि दुष्कुलादपि परिणेतुं स्वीकुर्यात् ॥ २३८ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्राह्मणगुर्वभावे क्षत्रियादपि वेदोग्राह्य इति वदन् दाने दोषमाह । श्रद्धाधान इति चतुर्भिः । शुभां दृष्टशक्तिगारुडादिविद्यां धर्मलौकिकं सौख्यं धात् ॥ २३८ ॥

(५) नन्दनः । विद्याधर्मस्त्रियो विशिष्टाभेदविशिष्टादप्युपादानादवश्यं उपादेया इत्याह श्रद्धाधान इति ॥ २३८ ॥

(६) रामचन्द्रः । श्रद्धाधानः पुरुषः अधर्मादपि प्रातिलोभ्यादपि परां दुष्कृतां विद्यां अधीयीत स्वीकुर्यात् परं धर्मं अन्त्यादपि शुद्रादपि गृह्णीयात् ॥ २३८ ॥

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ॥ अमित्रादपि सहृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ॥ २३९ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वइमौ चापद्य ब्राह्मणादप्यभ्येतव्यमित्यस्य विधेः शेषः । अनेन लोकप्रवादोदृष्टं क्रियते । एवं हि लौकिका आहुः असतस्तदुपादेयं विषेपि यदमृतं ब्राह्मणमेव यथा हंस उदकात् क्षीरं गृह्णाति रसायनेषु केषु चिद्विषं इत्ये-

तदभिप्रत्योक्तम् । बालोपि यत्किंचिदकस्मात्सुभाषितंमाङ्गलिकंप्रस्थानादौ वक्ति तत्प्राप्तम् । अमित्रादेरपि सतां यद्वृत्तं-
शिष्टाचारः । न द्वेषस्तेनैतदाचरितमिति न्यायात्सिद्धतरोयं दृष्टान्तः । अमेध्यादपि काञ्चनं सुवर्णमसदाश्रयात्प्राप्यते तथा गृह-
ते तद्वद्ब्राह्मणादध्ययनमिति ॥ २३९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अमृतममरणहेतुरसायनसाधनं सत्त्वं । सुभाषितं यात्रादौ शकुनत्वेन । शौचं वृत्तम् ॥ २३९ ॥

(३) कुड्मूकः । विषयममृतसंयुक्तं भवति तदा विषमपसार्य तस्मादमृतं प्राप्तम् । बालादपि हितवचनं प्राप्तम् । शत्रुतोऽपि सज्जनवृत्तम् । अमेध्यादपि सुवर्णादिकं ग्रहीतव्यम् ॥ २३९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच विषाद्विषयमादमृतमिति । दृष्टान्तार्थो विधेयार्थो वा । सुभाषितं मागच्छाग्रे कूपइति हितो-
पदेशंसदृशं सुचरितं धर्मवा ॥ २३९ ॥

(५) नन्दनः । एतदेव दृष्टान्तेनोपपादयति विषादिति ॥ २३९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अमृतं जीवनं अमेध्यात्काञ्चनम् ॥ २३९ ॥

स्त्रियोरत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ॥ विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः २४०

(१) मेधातिथिः । रत्नानि मणयः शम्बरपुलिन्दादिभ्योऽप्युपात्ताः शुद्धास्तद्वद्विद्याद्यपीति । शिल्पानि च वि-
चित्रपत्रच्छेद्यादीन्यदुष्टान्यगर्हितानि चैलनिर्णोजनपटजनकबन्धनादीनि सर्वतो जातिविशेषमनपेक्ष्य समादेयानि स्वीकर्त-
व्यानि निश्चितातिथैर्यभावेः । विषादप्यमृतमित्येवमादिभिरनेकवाक्याद्वा समानप्रक्रमत्वेन सर्वएतेर्थवादाः ॥ २४० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अदुष्टानि शिल्पानि लिप्यादीनि तु शस्त्रनिर्माणादीनि एषपूर्वेषामेव किंचिदधिको-
न्योपसंहारः ॥ २४० ॥

(३) कुड्मूकः । अत्ररूपादीनामुक्तानामपि दृष्टान्तत्वेनोपादानं यथा रूपादयो निरुष्टकुलादिभ्योगृह्यन्ते । तथा
न्यान्यपि हितानि चित्रलिखनादीनि सर्वतः प्रतिग्रहीतव्यानि ॥ २४० ॥

(४) राघवानन्दः । रूपादिसमस्वभावशुद्धानि नोपादानतोदुष्टानीत्याहस्त्रियइति । सोमः शौचं ददौ तासां गन्धर्वा-
श्च शुभांगिरं । पावकः सर्वमेव्यत्वं मेध्यावैयोषितः सदा इत्युक्तेः ॥ स्त्रीरत्नं सर्वदौ शुद्धमेव कूटकार्पापणादिव्यावृत्त्यर्थमाह अ-
दुष्टानीति तेषामुद्वेकप्राप्तप्रकृतित्वेन स्तेयादिरूपत्वात् ॥ २४० ॥

(५) नन्दनः । उक्तमेवार्थपुनः प्रकारान्तरेण स्थिरीकरोति स्त्रियइति ॥ २४० ॥

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते ॥ अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनंगुरोः ॥ २४१ ॥

(१) मेधातिथिः । अयं तत्रविधिः । आपन्नब्राह्मणभ्यापकभावः । आपदः काल आपत्कालः । आपदित्येव
सिद्धे कालग्रहणं वृत्तपूरणार्थम् । पाठान्तरमापत्कल्पइति कल्पनंकल्प आपदैषांकल्पना विधीयते उपदिश्यते । यदाचार्यः
प्रारब्धाभ्यापनः प्रायश्चित्तेनान्येनवा निमित्तेन शिष्यं हित्वा देशान्तरं व्रजेत् नच ब्राह्मणोन्योभ्यापकस्तस्मिन्देशे लभ्यते
बालत्वाद्दूरदेशगमनमशक्यंतदा ब्राह्मणः क्षत्रियात्तदभावे वैश्यादध्ययनं प्रकृतत्वात् । वेदः कृत्स्नइति वेदग्रहणं विधीयते ।

(२४०) विविधानि = अदुष्टानि (मे०)

(२४०) विविधानि च शिल्पानि = शिल्पानि चाप्यदुष्टानि (न, ब, भ, य, र, ल)

यद्यप्यत्राब्राह्मणशब्दोब्राह्मणजातेरन्यत्र जातित्रये वर्तमानं पुरुषत्वमाचष्टे तथापि नेहशूद्रस्य ग्रहणं तस्याध्यापनाधिकाराभावात् । सत्यध्ययनेऽध्यापकत्वम् । अथशास्त्रातिक्रमेण शूद्रस्याप्यधीतवेदत्वस्य संभवः क्षत्रियवैश्ययोराध्यापकत्वस्येव । तदपि न यतोधारणे शरीरभेदस्तस्याभ्यासः नचेदमहत्वान्महदेतदाचार्यकमनुमीयते निन्दितकर्माभ्यासे पतनात्तत्संसर्गाच्च ब्रह्मचारिणाम् किंतु दुष्टतास्यानिषेधात् तुल्यदोषइति चेदस्त्यत्र विशेषः । यत्र दण्डप्रायश्चित्ते गुरुणी तत्र महादोषता । स्वल्पयोस्तु स्वल्पदोषता । नच क्षत्रियवैश्ययोराध्यापने महती दण्डप्रायश्चित्ते शूद्रस्येव । किंच द्वे निन्दिते कर्मण्यध्ययनमध्यापनं च । क्षत्रियवैश्ययोस्त्वेकमेव । निषिद्धाध्यापनसंसर्गस्त्वेनेनैवानुज्ञातोनासौदोषकरः । निषिद्धाध्ययनेन तु शूद्रेण संसर्गे न किंचित्प्रमाणमस्ति । अनुव्रज्या च शुश्रूषा न वन्दनपादप्रक्षालनादि शुश्रूषाप्रतिषेधार्थमनुव्रज्यैव शुश्रूषा नान्येति । यावदध्ययनंयावद्ब्रह्मणम् ॥ २४१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अब्राह्मणात् क्षत्रियाद्वैश्याद्वा आपत्कल्पे आपदः प्रकुम्भौ ब्राह्मणाभावे तस्य च यावदध्ययनमनुगमएव शुश्रूषणाभिवादानादि । अतएवंविधेर्ब्राह्मणशिष्यशुश्रूषाङ्गीकाराध्यापनाभ्यां न क्षत्रियवैश्ययोरापदि दोषः । एतच्चोपकुर्वाणस्या नैष्ठिकस्यापि तस्याप्यध्ययनार्थित्वाविशेषात् ॥ २४१ ॥

(३) कुम्भूकः । अब्राह्मणादिति । ब्राह्मणादन्योयोद्विजः क्षत्रियस्तदभावे वैश्यो वा तस्मादध्ययनमापत्काले ब्राह्मणाध्यापकासम्भवे ब्रह्मचारिणोविधीयते । अनुव्रज्यादिरूपा गुरोः शुश्रूषा यावदध्ययनंतावत्कार्या । गुरुपादप्रक्षालनोच्छिष्टप्राशनादिरूपा शुश्रूषा प्रशस्ता सा न कार्या । तदर्थमनुव्रज्याचेति विशेषितम् । गुरुत्वमपि यावदध्ययनमेवक्षत्रियस्याह व्यासः । मत्तदः क्षत्रियोविप्रैःशुश्रूषानुगमादिना । प्राप्तविद्योब्राह्मणस्तु पुनस्तस्य गुरुःस्मृतः ॥ ब्रह्मचारित्वे नैष्ठिकस्याप्यब्राह्मणादध्ययनंप्रसक्तंप्रतिषेधयति ॥ २४१ ॥

(४) राघवानन्दः । अब्राह्मणाद्यधीतवेदस्योत्तरकालंतच्छुश्रूषाद्यभावमाह अब्राह्मणादितिद्वाभ्यां । न ब्राह्मणाद्वैश्यात्क्षत्रियाद्वा आपदि इत्युपलक्षणं यतःब्राह्मणेष्वसंभाव्यमानाराजन्याद्वैवानरविद्यागृहीतामूर्धातेव्यपतिष्यद्यन्मानागमिष्यइति तथापंचाग्नविद्याचेत्यस्ति श्रुत्याख्यायिका ॥ २४१ ॥

(५) नन्दनः । अब्राह्मणात् क्षत्रियवैश्याभ्यामपि ॥ २४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । आपत्काले अब्राह्मणात् क्षत्रियादेःसकाशादध्ययनं विधीयते । यावद्गुरोःसमीपेअध्ययनंक्षत्रियादेःगुरोःअनुव्रज्यतावत्शुश्रूषाकार्या ॥ २४१ ॥

नाब्राह्मणे गुरौ शिष्योवासमात्यन्तिकंवसेत् ॥ ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम् ॥ २४२ ॥

(१) मेधातिथिः । अब्राह्मणे गुरौ वासोऽध्ययनाय पूर्वोक्तोन्नैष्ठिकस्यापि प्राप्तोविशेषे निषिध्यते । आत्यन्तिकंवासंयावज्जीविकंन वसेन्नकुर्वात् । वासंवसेदिति सामान्यविशेषभावाद्वासंवसेदिति संबन्धः कल्प्यः गुरुविषयोवासस्तंवसेत् । समासाध्ययनोऽन्यत्र गच्छेत् । ननु चाध्ययनमात्रमनुज्ञातमात्यन्तिकस्य वासस्य कुतः प्राप्तिः । नैषदोषः । गुरौ तस्य वासउक्तः अध्यापयिता च गुरुःकृतः अतोभवत्याशङ्क्यब्राह्मणे वाननूचाने । अर्वाशब्दोऽप्यर्थः । ब्राह्मणोपि यद्यनूचानोवृत्ताभिजनसंपन्नोन भवति नच व्याख्यानाध्ययनशीलोऽनुवचनेनैतेपि गुणालक्ष्यन्ते यतो ननुवक्तव्यार्थाभावादेवावासः सिद्धः गतिरत्रसुखातिशयप्राप्तिर्विवक्षिता अनुत्तमा यस्याअन्योत्तमानास्ति तांकाङ्क्षन्परमात्मानन्दरूपमोक्षम् ॥ २४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तथाच क्षत्रियादावपि गुरौ यावज्जीवनिवासंप्रसक्तौ इदमाह न ब्राह्मणइति । नात्य-

न्तिकनैष्ठिकाभिमोक्तम् । ब्राह्मणेपि साङ्ख्यवेदपाठानध्येतरि न नैष्ठिकवासं वसेत् । किंतु यावदध्ययनं अधीत्य वैश्वानरपरिचर्य-
या क्षपयेदिति स्मृत्यन्तरात्सिद्धम् ॥ २४२ ॥

(३) कुल्लूकः । आत्यन्तिकं वासं यावज्जीविकं ब्रह्मचर्यं क्षत्रियादिके गुरौ ब्राह्मणे साङ्ख्यवेदानध्येतर्यनुत्तमांगतिमो-
क्षलक्षणाभिच्छिच्छिष्यो नावतिष्ठेत् ॥ २४२ ॥

(४) राघवानन्दः । अननूचाने सांख्यवेदानध्येतरि आत्यन्तिकं यावज्जीवं न वसेत् किंतु यावदध्ययनं तावद्दसेत्-
इत्यन्वयः ॥ २४२ ॥

(५) नन्दनः । आत्यन्तिकं वासं नैष्ठिकं ब्रह्मचर्यं वसेत्कुर्यात् ॥ २४२ ॥

(६) रामचन्द्रः । शिष्यः अब्राह्मणे गुरौ आत्यन्तिकं वासं न वसेत् यावज्जीवं न वसेदित्यर्थः । नैष्ठिकं ब्रह्मचर्यं
न वसेदित्यर्थः नानूचाने उत्तमांगतिकांक्षन् वसेदित्यर्थः ॥ २४२ ॥

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत् गुरोः कुले ॥ युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात् ॥ २४३ ॥

(१) मेधातिथिः । अत्यन्तं भवमात्यन्तिकं वासं गुरोः कुले नैष्ठिकं ब्रह्मचर्यं यदि रोचयेत्तदा युक्तस्तत्परः परिचरे-
देनं गुरुमाशरीरस्य विमोक्षणात्पाताद्यावच्छरीरं ध्रियत इत्यर्थः ॥ २४३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नैष्ठिकस्याधिकं कर्तव्यमाह यदित्येति । यदि आत्यन्तिकं तत्र जन्मनि तत्र गृहवासात्या-
गेन युक्तः प्रयत्नवान् परिचरेत् शुश्रूषेत् एवं गुरुं ब्रह्मचारी आचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तगतिमिच्छन् आचार्यकुले समा-
सादयेदित्येतत् श्रुतिमूलत्वाच्चास्य नक्तृणादिस्मृतिभिर्विरोधः ॥ २४३ ॥

(३) कुल्लूकः । यदि तु गुरोः कुले नैष्ठिकं ब्रह्मचर्यात्मकमात्यन्तिकं वासमिच्छेत्तदा यावज्जीवनमुद्युक्तो गुरुं-
शुश्रूषयेत् ॥ २४३ ॥

(४) राघवानन्दः । संप्रति नैष्ठिकं ब्रह्मचारिणो धर्मसार्थवादमाह यदीति द्वाभ्यां । युक्तो जितेन्द्रियः आशरीरविमो-
क्षणात् ॥ २४३ ॥

(५) नन्दनः । गुरोर्ब्राह्मणस्यानूचानस्य ॥ २४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । गुरोः कुले यदि आत्यन्तिकं वासं रोचयेत् एनं गुरुं आशरीरविमोक्षणात् शरीरत्यागपर्यन्तं
परिचरेत् ॥ २४३ ॥

आसमाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम् ॥ सगच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्यः शाश्वतम् ॥ २४४ ॥

(१) मेधातिथिः । नैष्ठिकं ब्रह्मचर्यस्य फलविधिरयम् । शरीरस्य समामिर्जीवितत्यागः । आततः कालाद्यो गुरुं-
शुश्रूषते परिचरति सगच्छति विप्रो ब्रह्मणः सद्यः सदनं स्थानं शाश्वतं पुनः संसारं प्रतिपद्यत इति यावत् । अञ्जसाऽऽङ्घ्रि-
मार्गेण न गत्यन्तरेण तिर्यक्त्वेन मनुष्यादिजन्मना व्यवधीयते । ब्रह्मशब्देन चेति सहादर्शने देवविशेषश्च चतुर्वक्त्रस्तस्य
सद्यः स्थानविशेषोऽपि विद्यते वेदान्तवादिनां तु ब्रह्म परमात्मा तस्य सद्यस्त्वरूपमेव तद्भावापत्तिः ॥ २४४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । फलमाह आसमाप्तेरिति । अञ्जसा शीघ्रं ब्राह्मणो हिरण्यगर्भस्य शाश्वतमविच्युतम् ॥ २४४ ॥

(३) कुल्लूकः । अस्य फलमाह आसमाप्तेरिति । समामिः शरीरस्य जीवनत्यागः । तत्पर्यन्तं योगं परिचरति सतत्त्व-
तो ब्रह्मणः सद्यस्त्वरूपमविनाशिनामिति ब्रह्मणि लीयत इत्यर्थः ॥ २४४ ॥

(४) राघवानन्दः । शुश्रूषोस्तस्यैवमेवानूचानंविप्रसन्नस्थानंशाश्वतंद्विपरार्थकालस्थायित्वात् । अज्जसा तत्त्व-
तो न स्तुतिमात्रं ब्रह्मचर्येण विन्देदिति श्रुतेः विन्देत्प्रामुष्यात्ब्रह्मलोकमिति शेषः ॥ २४४ ॥

न पूर्वगुरवे किंचिदुपकुर्वीत धर्मवित् ॥ स्नास्यंस्तु गुरुणाज्ञप्तःशक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥ २४५ ॥

(१) मेधातिथिः । नैष्ठिकस्यायंगुरवेऽर्घदानं प्रतिषिध्यते । स्नास्यतो गुर्वर्थविधानात् न च नैष्ठिकस्य स्नानमस्ति
प्रकृतम् । नैष्ठिक एव उपकुर्वाणस्य तु उपनयनात्प्रभृति यावत्स्नानमस्त्येव सति संभवे यथा शक्त्या दानपूर्वस्नानादुरवे किं-
चिदुपकुर्वीत दद्याद्दत्तात्यर्थं धातुः सोपसर्गोऽतश्च त्वसाध्याचतुर्थी । अथवा क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यमिति । ततः संप्रदान-
त्वधर्मवित्पदमनुवादः । स्नास्यंस्तु स्नानकाले प्राप्ते गुरुणा आदिष्टममुमर्थमाहरेतितः शक्त्या यावन्तं शक्नोति तावन्तं गुर्व-
र्थगुरोरिदं गुर्वर्थं गुरोरेन प्रयोजनं तमाहरेदुपनयेत् । नन्वेयं नैष्ठिकस्य गुर्वर्थकरणप्रतिषेधः । न ह्येते द्वे वाक्ये एकेन प्रतिषेधः
अपरेण गुर्वर्थविधिः । स्नाने गुर्वर्थोऽवश्यं कर्तव्यमित्ययं विधिः प्रतिषेध उपकारप्रतिषेधे च सर्वशुश्रूषाविधिरनर्थकः स्यात् ।
न च दानमेवोपकारोयेन धनोपकार एव निषिध्येत नान्यः प्रियहितादिः । अर्थवादत्वे त्वयथार्थता न दोषः । गम्यते चात्रैक-
वाक्यता ॥ २४५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अध्ययनात्प्राक्गुरवे नोपकुर्वीताध्ययनाभिसंबन्धना न किंचिदद्यात् । एतत्तन्नैष्ठिको-
पकुर्वाणकयोस्तुल्यम् । अन्यथा भृतकाध्ययनप्रामिप्रसंगात् । अत्रप्रसंगादुपकुर्वाणस्य दक्षिणादानकालोक्तः स्नास्यं
स्त्विति गुरुणाज्ञप्तः स्नास्यन्शक्त्या गुरुर्वर्थमाहरेत् ॥ २४५ ॥

(३) कुल्लूकः । उपकुर्वाणस्यायं विधिः नैष्ठिकस्य स्नानासंभवात् । गुरुदक्षिणादानं धर्मज्ञो ब्रह्मचारी स्नानात्पूर्वं
किंचिद्वेवस्त्रादिधनं गुरवेनावश्यं दद्यात् । यदि तु यदृच्छा तोलभते तदा गुरवे दद्यादेव अतएव स्नानात्पूर्वं गुरवे दानमा
हापस्तम्बः । यदन्यानि द्रव्याणि यथालाभमुपहरति दक्षिणा एव ताः स एव ब्रह्मचारिणो यज्ञो नित्यव्रतमिति ।
स्नास्यन्पुनर्गुरुणा दत्ताज्ञो यथाशक्ति धनिनं याचित्वापि प्रतिग्रहादिनापि गुरवेऽर्थमाहृत्यावश्यं दद्यात् ॥ २४५ ॥

(४) राघवानन्दः । स्नास्यन्समावर्तमाख्यस्नानं करिष्यन् । उपकुर्वाणस्य दक्षिणादानेनैव समाभिन्नुवन् तस्याः काल
माह नेति द्वाभ्यां । नोपकुर्वीत धनेनेति शेषः ॥ २४५ ॥

(५) नन्दनः । उपकुर्वाणं प्रत्याह न पूर्वमिति । स्नास्यन्समावर्तिष्यमाणः ॥ २४५ ॥

(६) रामचन्द्रः । धर्मवित् गुरवे किंचित्पूर्वं कुर्वीत दक्षिणा न दातव्या गुरुणाज्ञप्तः दत्ताज्ञः स्नास्यन् ब्रह्मचर्या-
न्तं स्नानं कुर्वन् शक्त्या गुर्वर्थं दक्षिणां दद्यात् ॥ २४५ ॥

क्षेत्रं हिरण्यंगामश्वं छत्रोपानहमासनम् ॥ धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥ २४६ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तमुद्दिष्टं गुर्वर्थं कुर्यात्तत्र न सर्वकर्तव्यमित्येवमर्थोऽयं लोकः । यदि गुरुर्विरुद्धमादिशेत् अमुष्य
स्त्रियमाहरेति सर्वत्वं वा देहीति तन्न कर्तव्यम् । किं तर्हि क्षेत्रं धान्यानां भवनभूमिः क्षेत्रमुच्यते । हिरण्यसुवर्णम् वा शब्दो
विकल्पाथौ न समुदितानि देयानि । अन्ततः अन्याभावे छत्रोपानहमपि । द्वन्द्वनिर्देशात्साहित्यदानम् । वासांसीति सर्वत्र
संख्यानविवक्षिता । प्रीतिमाहरन्निति एतदाहरेदिति पूर्वसंबन्धः । प्रीतिमाहरेदिति वा पाठे अत्रैव क्रियापरिसमाप्तिः ।

(२४५) आवहेत्=आहरेत् आहरन्वा (मे०)

(२४६) मासनम्=मन्ततः (मे०)

प्रीतिमावहेदिति वा प्रीतिमुत्पादयेद्धान्याद्याहरेत् । स्वतन्त्रैव वा प्रीतिराहार्यतयोच्यते । ततश्च द्रव्योपदेशस्य दर्शनार्थता सिद्धा भवति । अन्यदपि यदेवंविधंप्रीतिजनकं मणिमुक्ताप्रवालहस्त्यश्वगच्छीरथादि तदपि देयमिति गम्यते । तथा च गौतमो विद्यान्तेगुरुमर्थे ननिमन्त्याहरेद्यदि स्यादात्मीयं शक्त्यागतं तदा दद्यान्नावेद्यास्त्रादिनार्जयेत् ॥ २४६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । तदेवाह । क्षेत्रमिति । अन्ततः पूर्वाल्भे प्रीतिप्रीतिहेतुं धान्यादावप्यन्ततइति यथायोगमनुषज्जनीयम् ॥ २४६ ॥

(३) कुल्लूकः । किंतत्तदाहक्षेत्रमिति । शक्त्या गुर्वर्थमाहरेदित्युक्तत्वात्क्षेत्रहिरण्यादिकं यथासामर्थ्यविकल्पितं समुदितं वा गुरवे दत्त्वा तत्प्रीतिमर्जयेत् । विकल्पपक्षे चांततोऽन्यासंभवे छत्रोपानहमपि दद्यात्तद्वन्निर्देशात् । समुदितदानं प्रदर्शनार्थंचैतत्संभवेऽन्यदपि दद्यात् । अतएव लघुहारीतः एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत् । पृथिव्यानां स्ति तद्भव्यं यद्दत्त्वाचानृणी भवेत् ॥ असंभवेशाकमपि दद्यात् ॥ २४६ ॥

(४) राघवानन्दः । अंततः पूर्वेषामशक्तौ धान्याद्युत्तराहरणमित्यर्थः दक्षिणाया अदृष्टार्थत्वं मीमांसास्तत्र केस्थापितम् । अतआह प्रीतिमिति प्रीत्यर्थमित्यर्थः ॥ २४६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्ततः व्रतान्ततः गुरवे प्रीतिं आवहन् छत्रादिकं दद्यात् ॥ २४६ ॥

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते ॥ गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ॥ २४७ ॥

(१) मेधातिथिः । नैष्ठिकस्यायमुपदेशः । असत्याचार्ये तत्पुत्रे श्रोत्रियत्वादिगुणयुक्ते गुरुपत्न्यामाचार्याभ्यां वा सपिण्डे वा गुरोरेव वसेत्तत्र च गुरुवद्वृत्तिमाचरेद्भैक्षनिवेदनादि सर्वैक्यार्थम् । दारशब्दो बहुवचनान्तो भार्यावचनो वैयाकरणैः स्मर्यते । स्मृतिकारास्त्वेकवचनान्तमपि प्रयुज्जते । धर्मप्रथासयत्ने दारे नान्यांकुर्वीतेति ॥ २४७ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । प्रकृतनैष्ठिकधर्ममाह आचार्यइति । गुरुपुत्रे गुणान्विते अनूचाने गुरुसपिण्डे वा तादृश एव गुरुदारे तु गुणान्विते प्रमीतपतिकाधर्मचारिणि गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् । तच्छुश्रूषया तद्देहवसेत् ॥ २४७ ॥

(३) कुल्लूकः । नैष्ठिकस्यायमुपदेशः । आचार्ये मृते तत्सुते विद्यादिगुणयुक्ते तदभावे गुरुपत्न्यां तदभावे गुरोः सपिण्डे पितृव्यादौ गुरुवच्छुश्रूषामनुतिष्ठेत् ॥ २४७ ॥

(४) राघवानन्दः । यस्तु शुश्रूषते गुरुमित्युक्तं तस्यासत्वे कागतिस्तन्माह आचार्येति द्विधा । गुरुवद्वृत्तुल्यां वृत्तिसुखादिकां ॥ २४७ ॥

(५) नन्दनः । अथ नैष्ठिकं प्रत्याह आचार्यइति । सपिण्डे गुरुसपिण्डे ॥ २४७ ॥

(६) रामचन्द्रः । खलुइति निश्चयेन आचार्ये प्रेते मृते सति गुणान्विते गुरुपुत्रे गुरुवत् वृत्तिं आचरेत् । यद्वा गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ॥ २४७ ॥

एतेष्वविद्यमानेषु स्थानासनविहारवान् ॥ प्रयुक्ता नोऽग्निशुश्रूषांसाधयेद्देहमात्मनः ॥ २४८ ॥

(१) मेधातिथिः । अविद्यमानता सर्वेषामभावः यदिवा गुणहीनता । एतेष्वसत्स्वग्निशुश्रूषांप्रयुज्जीताग्निशरणोपलेपनमग्निन्धनमाचार्यवत्सन्निधानं नियमादुक्तवदहोरात्रासनमेषां अग्नेः शुश्रूषैतांकुर्वन्देहं साधयेत् शरीरं क्षपयेद्यथान्धश्चक्षुष्मानुच्यत एव साधयेदिति । स्थानासनविविहारः तद्वान्न कदाचिदासीत् एवं विहरेत् । अन्येतु मन्यन्ते स्थानाय स्वस्तिकादिना यदासनं ध्यानकाले तत्स्थानासनं विहारोऽन्योभिक्षाचराणादिः ॥ २४८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्थानं ऊर्ध्वावस्थानं नियतं । आसनमुपवेशनं नियमेन विहारो भ्रमणमित्येतैस्तपोविशेष्यहणमभिप्रेति साधयेत्तपःसिद्धिकुर्यात् ॥ २४८ ॥

(३) कुल्लूकः । एतेषु त्रिष्वविद्यमानेषु सततमाचार्यस्यैवाग्रेः समीपे स्थानासनविहारैः सायंप्रातरादौ समिद्धोमादिना चाग्रेः शुश्रूषां कुर्वन्नात्मनो देहमात्मदेहावच्छिन्नं जीवं ब्रह्मप्राप्तियोग्यं साधयेत् ॥ २४८ ॥

(४) राघवानन्दः । स्थानासनविहारवान् अग्रेः गुरोरिति वाशेषः । स्थानासनादिसमीपगमनादिनामहीकुर्यात् । देहं ब्रह्मलोकगमनपर्यन्तम् ॥ २४८ ॥

(५) नन्दनः । स्थानासनाभ्यां विहारः कालयापनं तदस्यास्तीति स्थानासनविहारवान् ॥ २४८ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतेषु गुरुपुत्रेषु अविद्यमानेषु स्थानासनविहारं वान्भवेत् तद्यथा गुरोः स्थाने आसने उपविश्य वसेत् अग्निशुश्रूषां गुरोर्वा प्रयुजानः कुर्यात् आत्मनः स्वस्य देहं साधयेदित्यर्थः ॥ २४८ ॥

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः ॥ स गच्छत्युत्तमस्थानं चेहाजायते पुनः ॥ २४९ ॥

इति मनुस्मृतौ द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

(१) मेधातिथिः । एवमिति नैष्ठिकवृत्तिप्रत्यवमृशति । एवं यो ब्रह्मचर्यं चरत्यविप्लुतः अस्खलः स प्राप्नोत्युत्तमं स्थानं धाम परमात्मप्राप्तिलक्षणम् । न चेह पुनर्जायते न संसारमापद्यते ब्रह्मरूपं संपद्यत इति ॥ २४९ ॥

मान्याकापि मनुस्मृतिस्तदुचिता व्याख्या हि मेधातिथेः सालुभैवविधेर्वशात्कचिदपि प्राप्यंन यत्पुस्तकम् । क्षोणीन्द्रोमदनः सहारणसुतो देशान्तरादात्तैर्जीर्णोद्धारमचीकरत्तत इतस्तत्पुस्तकैर्लेखितैः ॥ इति मनुभाष्ये मेधातिथीये द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥ ॥ ७३ ॥ ॥ ७३ ॥ ॥ ७३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवं नैष्ठिकधर्मेण । विप्रपदं विप्रस्यैव नैष्ठिकधर्मो नान्येषामित्येतदर्थम् । अविप्लुतः अभग्नव्रतः । ब्रह्मलोकं प्रागुक्तं प्राप्योत्तमं स्थानं मोक्षास्पदं गच्छत्यतएव नेह संसारे पुनराजायत इति ॥ २४९ ॥

सर्वज्ञश्रीनारायणकृतौ मन्वर्थविवृतौ ब्रह्मचर्याश्रमविधानं नाम द्वितीयोऽध्यायः २

(३) कुल्लूकः । आसमाग्रेः शरीरस्येत्यनेन याज्जीवमाचार्यशुश्रूषायामोक्षलक्षणं फलम् । इदानीमाचार्ये मृतेऽपि एवमित्यनेनानन्तरोक्तविधिनाचार्यपुत्रादीनामग्निरपर्यन्तानां शुश्रूषको यो नैष्ठिकब्रह्मचर्यमखण्डितव्रतोऽनुतिष्ठति स उत्तमं स्थानं ब्रह्मण्यांतकसलक्षणं प्राप्नोति न चेह संसारे कर्मवशादुत्पत्तिलभते ॥ २४९ ॥

इति मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥ ॥ ७३ ॥ ॥ ७३ ॥

(४) राघवानन्दः । एतेष्वामाचार्यादिषु नैष्ठिकस्य ब्रह्मसद्यप्राप्तिरित्युपसंहरति एवमिति । अविप्लुतब्रह्मचर्यः अप्रच्युतव्रतः । इहेति विशेषणात्मानवान्तरे जायते यदि तत्र श्रवणादिरुतंतदामुच्यते । तथा च स्मृतिः ब्रह्मणा सहते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परंपदमिति । प्रतिसंचरे प्रलये कृतात्मानः कृतसाक्षात्काराः ॥ २४९ ॥

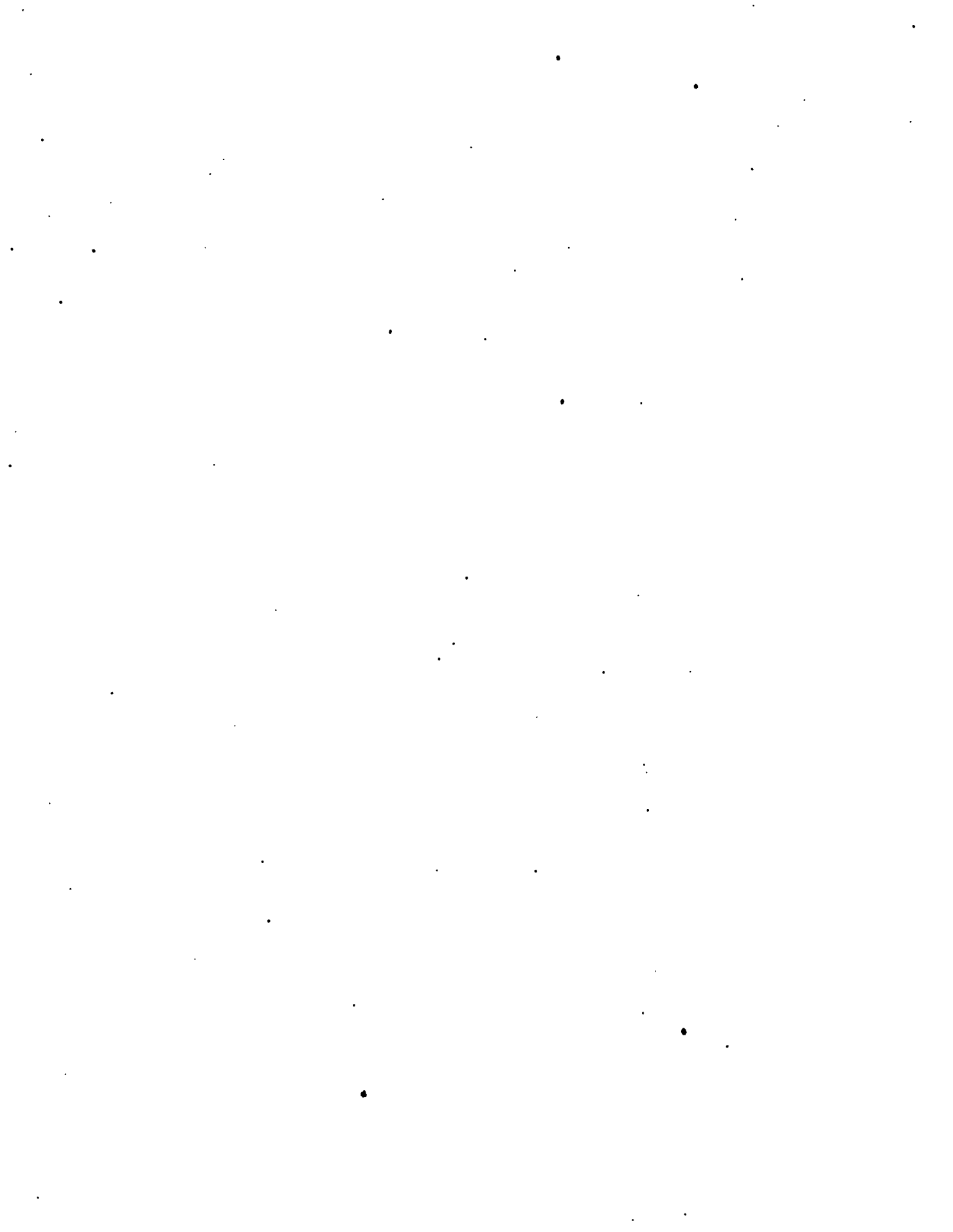
इति श्रीराघवानन्दविरचितायां मन्वर्थचन्द्रिकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

(५) नन्दनः । अथोपकुर्वाणं प्रत्याह एवमिति । अविप्लुतः अस्कन्धरेतस्कः ॥ २४९ ॥

इति वीरमल्लप्रियसखेन श्रीनन्दनेन विरचिते मानवव्याख्याने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥ ७३ ७३ ७३

(६) रामचन्द्रः । विप्रः अविप्लुतः अस्खलितब्रह्मचर्यः य एवं चरति स उत्तमं स्थानं गच्छति पुनः इह न जायते ॥ २४९ ॥

॥ इति मनुस्मृतिभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥



॥ श्री ॥

अथ तृतीयाध्यायः



षट्त्रिंशदाब्दिकचर्यगुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ॥ तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ १ ॥

(१) मेधातिथिः । द्विविधो ब्रह्मचारी पूर्वत्र प्रतिपादितो नैष्ठिक उपकुर्वाणश्चेति । आसमाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषणे गुरुमिन्त्यनेन नैष्ठिक ब्रह्मचर्यमुक्तम् । आसमावर्तनादिति पक्षान्तरमपि सूचितम् । तत्र नैष्ठिकस्य नामधेयप्रतिलम्भेनैव निमित्तवतावधिशेषः सुगमितः । निष्ठांसमाभिगच्छति नैष्ठिकः । श्रुत्यैव कालो विहित आसमाप्तेरिति । उपकुर्वाणस्यानेन क्रमयोगेन तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्य इति संख्याया अविवक्षोक्ता । अविवक्षायां चैकद्वित्रिचतुःपञ्चषट्समादिशाखाध्ययनं तथा शक्तिप्राप्तं निमित्तमभ्यस्यते । त्रैवेदिकं व्रतं चर्यं त्रयाणां वेदानां समाहारस्त्रिवेदी तद्ग्रहणप्रयोजनं त्रैवेदिकं । ग्रहणक्रिया वृत्तावन्तर्भवति वेदाधिगमस्य प्राग्विहितत्वात् । व्रतं ब्रह्मचारिधर्मकलापः । चर्यं चरितव्यम् । कृत्यो विधौ । एवमाहरणादीनां ग्रहणान्ततायां प्रामाण्यामाह षट्त्रिंशदाब्दिकमिति । गृहीतेऽपि वेदे कालः पूरयितव्यः । यदित्वाध्यायाध्ययनविध्यर्थो धर्मस्तस्य च स्वाध्यायविधेर्यहणे निवृत्तिः किमर्थात् हि द्वादशवार्षिकी ग्रहणोक्तकालं व्रतचर्यानुवृत्तिः । अत्यल्पमिदमुच्यते । दर्शपूर्णमासादिष्वप्याग्नेयादियागैर्भ्यः पराञ्चि यान्यङ्गानि तत्राप्येतद्वक्तव्यं समस्ताङ्गानुष्ठानेष्वमत्रादुपकारकाङ्गयुक्ताद्विशिष्टक्रमकाद्विध्यर्थसंपद्यगतायां परिचोदनाशब्दादेव विधिसंबन्धोपगमोयतः । अथ महतो लघीयांस्तदर्धिकपादिकग्रहणावधयः पक्षाः सन्ति तेषु सत्सुकः खलु महाप्रयासमतिचिरकालं तावद्वादशवार्षिकं व्रतचरणमाद्रियेतेति चेत्फलभूमार्थिनोऽङ्गभूयस्त्वमनुष्ठास्यन्ति । तदुक्तं प्रयत्नविशेषात्फलविशेषेण भवितव्यमिति । ननु च नार्थावबोधो दृष्टे ग्रहणद्वारेण स्वाध्यायाध्ययनस्य किंचिदपरं फलमस्ति । एवंसाहुः न तस्याध्ययनमात्रं तत्र भवन्तो याज्ञिकाः फलं समामनन्तीति । तथा दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनं नामेति । तस्य न च कश्चिद्विशेषो दृश्यते । यद्येवं ग्रहणकालेऽप्यन्तरेण व्रतधर्मानुष्ठानं ग्रहणदर्शनानुष्ठानप्रसङ्गः । कश्चैवमाह अर्थावबोधार्थः स्वाध्यायविधिरिति । स्वाध्यायविधिः स्वार्थेव । नान्यस्यान्यार्थतायां प्रमाणमस्ति । अर्थावबोधो हि ग्रहणे सति वस्तुस्वतो वृत्तउत्पद्यते न विधितः । स्वर्गादिफलार्थिनोऽयं विधिः । एतदपि कथं भविष्यति । कातर्हीयं वाचोयुक्तिः फलविशेषेणेति । एषा वाचोयुक्तिः संस्कारविधिस्तावदयं स्वाध्यायप्रधानस्तस्य स्वाध्याये कर्मण्युत्पन्नत्वात् । संस्कारविधयश्च न साक्षादधिकारमर्हन्ति किंतु संस्कार्यद्वारेण साधिकारविध्यन्तरमनुप्रविशन्ति । यथा ब्रीहिमवहन्तीति दर्शपूर्णमासाधिकारविषयाग्नेयादियागसाधनभूतपुरोडाशप्रकृतिब्रीहितुषकणविप्रमोचनादिसंस्कारद्वारेण दर्शपूर्णमासापूर्वसंबन्धमनुभवति । अवघातो न तन्निरपेक्षः । स एव कर्तव्यतया प्रतीयते । एवमिह वेदस्य संस्कार्यत्वमन्यत्राशेषभूतस्य निर्वहति । दृष्टत्वाध्यायाध्ययनानन्तरमर्थावबोधः । अत इदमध्ययनामर्थावबोधपर्यन्तमवघात इव तण्डुलनिष्पत्तिपर्यन्तम् । एतावांस्तु विशेषः प्रकरणेऽधीतत्वादवघातोऽज्ञातिलब्धाधिकारविध्यन्तरसंबन्धः । अयं त्वनारभ्याधीतत्वादवबोधपर्यवसायी सकलफलकर्मानुष्ठानोपयोगितया गम्यमानोऽधिकारः । तत्र विध्यर्थनिवृत्तिरेव फलविशेषोऽभिप्रेतः । विधेर्हि पुरुषार्थत्वं व्युत्पन्नावगमं तत्साक्षाद्भवतु वा परम्परया वेतिन विशेषः । गम्यमानाधिकारत्वाच्च स्व-

तत्र एवायंविधिः । स्वात्मानमनुष्ठापयति यद्यपि नित्यकामश्रुतिष्वर्थावबोध उपयुज्यते । येत्वर्थावबोधद्वारेण ज्योतिष्टोमा-
दिविध्येककार्यत्वमिच्छन्ति तत्फलस्यैव च प्रयत्नविशेषादतिशयमाहुस्तेषामाचार्यकरणविधिना किमपराद्धयेन महता यत्ने
न तदेककार्यता निषिध्यते । अप्रमाण्यंवेदस्य भवतीति चेदस्तु न प्रयोजनवशेन युक्तिसामर्थ्यायातोऽर्थो हातुं शक्यते । यु-
क्तिस्तु युक्त्यन्तरेण बलीयसा बाध्यते । आचार्यकरणविध्येककार्यत्वे त्वस्य विधिरूपतैव हीयते स्वार्थस्याविवक्षितत्वात् । त-
त्तुल्यं ज्योतिष्टोमाद्यनुप्रवेशेपि । यदा तु स्वतन्त्रोऽयं विधिः स्वार्थानुष्ठापकस्तत्समानस्कन्धस्तदा स्वयमेवेति कर्तव्यतया युक्तो-
ऽनुष्ठीयते । तत्र ये विकल्पिताः कल्पालवीयां सो गरीयां सश्च तेषां लघोयसा सिद्धे गरीयसामनुष्ठानं विध्यर्थे एव विशेषमावह-
ति यथा धाने एकादेयातिस्त्रोदेयाद्वादशदशवेत्यादि । अनुष्ठिते चास्मिन्विधौ स्वसामर्थ्याच्छ्रुतौ वा भवतु प्रतीयमानो वा क-
ल्पो वा प्रमाणभेदोऽयं न संबन्धभेदः सर्वथोभयतः स्पर्शतो न मुच्यामहे यद्यस्य विधिः स्वार्थानुष्ठापको ज्योतिष्टोमाद्युपका-
रं कत्वम् । ननु किमिदं पूर्वापरविरुद्धं प्रलप्यते प्रागुक्तं न साक्षात्संस्कारविधयोऽधिकारसंबन्धिनः इदानीं तु स्वतन्त्र एवायं विधिः
स्वार्थानुष्ठापक इति । अथवा विशेषश्रुतेनान्वयिनानां संबध्यते गम्यमानस्त्वधिकारः संस्कारविधीनामप्यविरुद्ध इति नायं वि-
शेषो यस्य विधिप्रयुक्तमनुष्ठानमर्थावबोधं शङ्क्यते । पाठमात्रस्याचार्यविधिप्रयुक्तत्वात्संस्कारविधीनामधिकारसंबन्धोऽ-
भ्युपगतः स्यात् । अथ विध्यन्तरोपकारकत्वात्तत्प्रयुक्तमनुष्ठानं तथा सत्यधिकृतस्याध्ययनस्यानधीतवेदस्याधिकारः । त-
दा च शूद्रस्याधिकारो दुर्निवारः । न चाध्ययनानन्तरं वेदार्थश्रवणं प्राप्नोति । यदैव हि यदृच्छ्या कुतश्चिदधिगतं भवति
ज्योतिष्टोमनामकर्मवैदिकं स्वर्गफलमिति तदैव तदिति कर्तव्यतां शिक्षेत् । तत्काल एव च तदुपयोगिनो मन्त्रान्याजमानानधीयी-
त अत्र केचिदाश्रयिन्यायेन परिहरन्ति यथैव हि त्विष्टुदादय उभयरूपाः संस्कारार्थकर्मतया एवं स्वाध्यायाध्ययनमप्य-
भिधानविनियोगानुसारितया क्रियाफलावबोधदर्शनेन च संस्कारकर्मफलवत्कर्मार्थकर्म । अतः साधिकारत्वसिद्धिः । कः पुन-
रधिकारी । उपनीतस्त्रैविर्णिको माणवक इति ब्रूमः । ब्रह्मचारिधर्मेषु हेतदाभ्यायते लिङ्गादयो ह्यविना भूतनियोज्यार्थविध्यर्थ-
प्रतिपादकास्तत्र विशेषाकाङ्क्षायां कचिच्छब्दसमर्पितो विशेषो भवति । स्वर्गकामो यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति । कचिदश्रुतोऽ-
प्यन्विताभिधानसामर्थ्यबलेन कल्प्यो विश्वजिदादिषु कचित्प्रकरणाद्वास्तु सामर्थ्याद्धिध्यन्तरपर्यालोचनयापि च प्रतीयते ।
तदेतदिह सर्वमस्ति । प्रकृतो ब्रह्मचारी वस्तु सामर्थ्येन चार्थावबोध उपजायते स च सर्वविधिषूपयुज्यते विदुषोऽधिकारात् । त-
दिदमपरे न शृण्वन्ति । संस्कारविधित्वेनैवास्य प्रतीयमानाधिकारता । यतः संस्कारकर्माणि संस्कारार्थतया नुष्ठीयन्ते ।
यदि च संस्कार्ये न दृश्येत विशेषस्ततः सक्तुवत्संस्काररूपता हीयेत । अस्ति चात्र फलवत्कर्मावबोधलक्षणो विशेषः । यत्तु
त्विष्टुदादिवदिति तत्प्रकृतिप्रत्ययविज्ञानागम्यत्वरूपहानितया युक्तोभयरूपता । तस्मात्स्थितं स्वतन्त्रोऽयं विधिर्माणवकस्ये-
ति । अतश्च स्वतएवानुष्ठेयो नावघातादिवद्दर्शपूर्णमासाद्यधिकारनियोगक्षेपेण एवमनेकवेदाध्ययनमपि द्रष्टव्यम् । तत्रापि-
क्षेकेन वेदेन निर्वृत्ते विध्यर्थे किमित्यनेकवेदाध्ययनं फलभूमातुं युज्यते । फलं च पूर्ववन्तु वाक्यशेषाधीतं पयोदध्यादि ।
एवं स्थित एकवेदाध्यायिनः स्वशाखानधीतानां मन्त्राणां कर्मोपयोगिनां कर्मानुष्ठानकाले सामर्थ्यात्तदाक्षिप्तमध्ययनमनुज्ञातं भवति ।
यद्यप्यधीतवेदस्याधिकारेऽधीत इति । अन्ये तु ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदो ध्येय इति निष्कारण इत्येतस्याधिकार-
पदतामन्यन्ते । निष्कारणः कारणं प्रयोजनमनुद्दिश्य नित्यकर्मवत्कर्तव्यं न ह्यस्याधिकारसमर्पकत्वमन्तरेण विषयद्वारेण
क्रियाकारकतद्विशेषणत्वादिनान्वयः संभवति तस्मात्सत्यपि संस्कारविधित्वे गम्यमानाधिकारत्वं श्रूयमाणाधिकारत्वं वाऽवि-
रुद्धम् । अपरे तु संस्कारविधित्वादनधिकारतामेव ज्यायसीमन्यन्ते । अनुष्ठानविशेषलाभार्थोऽधिकार उपास्यते । स चेह
संस्कार्यविशेषदर्शनादेव सिद्धः । संस्कारविधयः प्रयोजनापेक्षया । क्रियाफलमेवात्र विधिसाध्यं तच्च कर्मस्थं ग्रहणलक्षणं-

दृश्यतएवाविरुद्धम् । अश्रुते विभागे स्मृत्यन्तराद्विभागावगतिः प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं द्वादशाब्दानीति । केपुनरत्र त्रयोवेदाभिभे-
ताः ऋग्वेदोयजुर्वेदः सामवेद इति । अथ किं नाथर्वणो वेद इति चेत्तत् पृथग्वाक्यम् । अथ तु ग्रहणान्तिकमेवेचेत्येतन्मै-
कं वाक्यं तन्नास्ति गृहीते वेदे व्रतनिवृत्तिः । कएवमाह किं त्वत्रयथाश्रुतं संस्कार्यत्वनिबर्हणायां अर्थावबोधनिष्ठतया-
तस्य विधेरनुष्ठानलाभः । अवबोधो हि सकलकर्मानुष्ठानोपयोगीति । आथर्वणश्चाभिचाराद्युपदेशबहुलः । तस्मान्ज्यो-
तिष्टोमं दिकर्माणि विधीयन्ते । नापि तेषां किंचिदङ्गत्रयैव हौत्राध्वर्यवौ द्वात्रादिसकलतदङ्गपरिसमाप्तिः । प्रधानोत्पत्तिविधय-
श्च त्रयाणामेव ज्योतिष्टोमादीनां सन्ति । ब्रह्मत्वमपि त्रयाणामेव विद्यते । त्रिशब्दश्च संख्यावचनः । न च संख्याशब्दाः किं-
चिद्धर्ममेकमनपेक्ष्य प्रवर्तन्ते । अतो येषामेवेह कार्योपदेशपरता तएव त्रिशब्देनाभिगदितुं शक्यन्ते । न चाथर्वणस्य त-
त्कार्यानुप्रवेशः । न तत्र प्रधानविधयो ज्योतिष्टोमादीनां नान्निविधयः । श्येनादिष्वभिचारयज्ञेषु तएव त्विजः सैवान्यापीति-
कर्तव्यता । विशेषोऽपि यः सोऽपि त्रय्यामेवोपदिष्टः । अतः ऋग्यजुषाभूक्तसामाभ्यां चैकत्रकर्मणि समावेशाभावात् त्रिवेदी-
व्यपदेशानुपपत्तेराथर्वणस्येह ग्रहणं स्वाध्यायशब्दवाच्यत्वात्त्वध्ययनविधेस्तद्विषयत्वमविरुद्धम् । तर्द्धिकं षट् त्रिशत्संख्या
प्रत्यवमृश्यते ततोऽर्धमष्टादशवर्षाणि । अत्रापि विभागकल्पनाषड्वर्षाणि अत्रापि पादिकं पादश्चतुर्भागभागिनी सैव संख्या
न्मन्वर्षाणि चतुर्थो भागः । प्रतिवेदं त्रीणि । कथं पुनस्त्रिभिर्वर्षैर्वेदः शक्यो ग्रहीतुं असमाप्तग्रहणस्य च व्रतनिवृत्तौ व्रतस्मात्-
कव्यपदेशो भवति कश्चिन्मेधावितमः । अपर आह न ग्रहणस्वरूपप्रयुक्ताधर्माः किं तर्हि तद्विषयेण विधिना प्रयुज्यन्ते त-
त्रापि निवृत्ते ग्रहणे यदि कानिचिद्दहानि नियमानुपालनमध्ययनकाले क्रियते तावत्सम्पाद्यतएव शास्त्रार्थः भवेत्स्वाध्याय
विध्यर्थं तावत्तैवाङ्गकलापानुष्ठानम् । असमाप्तग्रहणस्य तद्व्रतनिवृत्तौ व्रतस्मात्कव्यपदेशः । अतः कालविशेषविधानं-
युक्तम् । त्रिभिर्वर्षैः विना न व्रतस्मात्को भवति तद्यद्यपि स्नानवेदसमाप्ताविति केचित् स्मरन्ति तथापि तदर्थं व्रतसमाप्तावपि
प्रयोगउपचाराद्युक्तएव । तदयुक्तम् । सत्यपि विधिप्रयुक्तयावदध्ययनभावितैव व्रतानां युक्ता । अध्ययनसंयोगेन हि
तानि चोद्यन्ते यावदध्ययनं भवति वचनादेव हि त्रिसांवत्सरी व्रतचर्या प्रागपि ग्रहणाद्यद्येतत्पृथग्वाक्यम् अथ तु ग्रहणान्ति-
कमेवेत्येकं वाक्यं ततो नास्त्यगृहीते वेदे व्रतनिवृत्तिः । एवकारेणैवमेव पक्षमनुमन्यन्ते । यदि नास्त्यगृहीते वेदे तन्नि-
वृत्तिः कथं तर्हि व्रतस्मात्को वेदस्मात्क इति भेदेन व्यपदेशः । चतुर्थे व्यक्ष्यामः । षट् त्रिशदब्दाः समाहृताः षट् त्रिशदब्दं तत्र भ-
वंषाट् त्रिशदब्दिकम् । एवं त्रैवेदिकम् । तदर्थपरिमाणंतर्द्धिकम् । एवं पादिकं ग्रहणान्तिकमिति सर्वत्र अतः इति ठनाविति
मत्वर्थीयः । न तु यस्य यत्परिमाणंतत्तस्यास्तीति शक्यतेऽपेक्षुम् ॥ १ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । क्रमप्राप्तगार्हस्थ्यश्रमधर्मप्रक्रमते । षट् त्रिशदाब्दिकमिति । षट् त्रिशद्वर्षं निर्वर्त्य वेदत्रया-
ध्ययनार्थं व्रतं ब्रह्मचर्याश्रमनियतधर्मरूपं चर्यं चरणीयम् । नियमेनाधीतवीर्यवत्तरं भवतीति श्रुतेः एकदेशस्यापि व्रतेनाध्य-
यने प्राशस्त्यात् । अशक्तस्य तर्द्धिकं अष्टादशाब्दिकं वा नवाब्दिकमिति त्रिः प्रकारं व्रतस्नानं केवलविद्यास्नानं कर्तुमिच्छ-
तो ग्रहणान्तिकम् । अथादुभयनिष्पत्तौ विद्याव्रतस्नानसिद्धिरिति स्फुटत्वान्नोक्तम् । आथर्वणिकस्य तु त्रयीनिष्कर्षत्वात्-
एतद्व्रतेनैव व्रतसिद्धिरिति मन्तव्यम् ॥ १ ॥

(३) कुल्लूकः । पूर्वत्रासमाप्तेः शरीरस्येत्यनेन नैष्ठिकब्रह्मचर्यमुक्तम् । न तत्रावध्यपेक्षा आसमावर्तनादित्यनेन चो-
पकुर्वाणकस्य सावधिब्रह्मचर्यमुक्तम् । अतस्तस्यैव गार्हस्थ्यधिकारः । तत्र कियदवधिविधौ ब्रह्मचर्यं तस्य गार्हस्थ्यमित्य-
पेक्षायामाह षट् त्रिशदाब्दिकमिति । त्रयोवेदाः ऋग्यजुः सामाख्यास्तेषां समाहरः त्रिवेदी तद्विषयं व्रतं स्वगृहोक्तनियमसमूहं रूपं-

षट्त्रिंशद्वर्षावदुरुकुले चरितव्यं षट्त्रिंशदाब्दिकमिति षट्त्रिंशदब्दशब्दात्कालादृष्टम् । अस्मिन्पक्षे समस्यादश्रुतत्वादिति न्यायेन प्रतिवेदशाखंद्वादशवर्षाणि व्रतचरणम् । तर्दाधिकमष्टादशवर्षाणि तत्र प्रतिवेदशाखंष्टम् । पादिकं नववर्षाणि तत्र प्रतिवेदशाखं त्रीणि यावता कालेनोक्तावधेरूर्ध्वमधोवा वेदान्गृह्णाति तावत्कालं वा व्रताचरणम् । विषमशिष्टत्वेऽपि पक्षाणामेकादेयास्तिस्त्रोदेयाः षड्देया इति वनियमफलेन्यूनापेक्षो विकल्पः । तथाच श्रुतिः नियमेनाधीतवीर्यवत्तरं भवतीति । ग्रहणान्तिकपक्षसंदर्शनात्पूर्वोक्तपक्षत्रये ग्रहणादूर्ध्वमपि व्रतानुष्ठानमवगम्यते । अथर्ववेदस्य गर्वेदांशत्वेऽप्युग्वेदं यजुर्वेदं सामवेदमथर्वाणंचतुर्थमिति स्थान्दोग्योपनिषदि चतुर्थवेदत्वेन कीर्तनात् अङ्गानि वेदाश्चत्वार इति विष्णुपुराणादिवाक्येषु च पृथङ्निर्देशाच्चतुर्थवेदत्वेऽपि प्रायेणाभिचाराद्यर्थत्वात् यज्ञविद्यायामनुपयोगाच्चानिर्देशः । तथा हि ऋग्वेदेनैव हौत्रं कुर्वन् यजुर्वेदेनाध्वर्यवं सामवेदेनौद्गात्रं यदेव त्रय्यै विद्यायै सूक्ततेन ब्रह्मत्वमिति श्रुतेः स्त्रीसंपाद्यत्वं ज्ञानां ज्ञायते । अयंच मानवस्त्रैवेदिकव्रतचर्याविधिर्नाथर्ववेदव्रतचर्यानिषेधयति तत्परत्वे वाक्यभेदप्रसङ्गाच्छ्रुत्यन्तरे वेदमात्रे व्रतश्रवणाच्च । यदाह योगियाज्ञवल्क्यः प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं द्वादशाब्दानि पञ्चवा ॥ १ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्रह्मचर्येणैव निष्ठांसमाप्तिमरणं गतोनैष्ठिक इति समाख्ययैव गार्हस्थ्यनिवृत्तिः सिद्धा । उपकुर्वाणस्य गार्हस्थ्यं तद्ब्रह्मचर्यस्य कालविकल्पंचाह षट्त्रिंशदिति द्वाभ्यां । वेदार्थानुष्ठाने स एव मुख्याधिकारीति । मानुपूर्ववेदादीत्युक्तमधुना मेयंवक्तव्यमिति मानमेययोः संगतिः । त्रैवेदिकं त्रयाणां वेदानां समाहारस्त्रिवेदी तद्ग्रहणप्रयोजनं त्रैवेदिकं व्रतं विशेष्यं । षट्त्रिंशत्संवत्सरैरदृष्टार्थैर्वेदत्रयस्य सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्मेति न्यायात् शाखात्रयस्याध्ययनमवश्यंभावीति मेधागतवैजात्यात्तर्दाधिकमष्टादशवर्षसाध्यं पादिकं नववर्षसाध्यं समस्यादश्रुतत्वादित्यादिन्यायेन वा प्रतिशाखं स्वतन्त्रमदृष्टार्थगृहीतेऽपि वेदे व्रतमिति विशेषणम् । तथाच द्वादशषट्त्रीणि वर्षाणि वेदव्रताचरणं अतएवोक्तम् । तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैरिति । दुर्मेधसो नियमव्यावृत्तिमाह ग्रहणान्तिकमेव वेति एतद्व्रतजातं निर्विघ्नताध्ययनसमाप्त्यर्थमिति भट्टपादाः ॥ १ ॥

(५) नन्दनः । एवं प्रतिपादितस्य ब्रह्मचर्यस्याध्येतृसामर्थ्यानुरूपान्कालविकल्पानाह षट्त्रिंशदिति । षट्त्रिंशदब्दानां समाहारः षट्त्रिंशदब्दं तत्र भवं षट्त्रिंशदाब्दिकम् । त्रैवेदिकमिति पदमप्येवम् । कृत्स्नवेदसंग्रहणार्थं त्रिशब्दः । पञ्चपाण्डवाइत्यत्र पञ्चशब्दवत् । मन्त्रत्रैविध्यनिबन्धनं हि वेदानां त्रित्वम् । तेन चतुर्थोऽपि वेदमन्त्रो मन्त्रात्मा त्रिशब्देन संगृह्यते । व्रतंचर्यचरितव्यम् । तर्दाधिकमष्टादशाब्दाः । एवं पादिकं ग्रहणान्तिकम् ॥ १ ॥

(६) रामचन्द्रः । अतः परं गृहस्थाश्रममारभते । गुरौ समीपे षट्त्रिंशदाब्दिकं षट्त्रिंशद्वर्षपर्यन्तं कुर्याच्च यत्र त्रयाणां वेदानां समाहारस्त्रिवेदी तद्ग्रहणप्रयोजनं त्रैवेदिकं व्रतंचरित्रं द्वादशाब्दिकं षट्षट्षपर्यन्तं वा व्रतं ब्रह्मचर्यंचरेत् । ग्रहणादिमेव वा व्रतंचरेत् । गृहणक्रिया व्रतेऽन्तर्भवति वेदाधिगमस्य प्राग्विहितत्वात् ॥ १ ॥

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ॥ अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥ २ ॥

(१) मेधातिथिः । त्रैवेदिकमध्ययनमुक्तम् । एकद्विवेदाध्ययनमप्राप्तं विकल्प्यते । वेदशब्दः शाखावचनो व्याख्यातः । तिस्रः शाखा अधीयीत द्वे एकैर्वैकैकस्माद्वेदान् वेकस्मादेव । त्रयी त्रिविधेति पठ्यते । अधीत्य गृहीत्वा वेदमुक्त्या व्रतचर्यया गृहस्थाश्रममावसेत् । गृहस्थाश्रमस्य स्वरूपं वक्ष्यति उद्देहेतद्विजोभार्यामित्यादि । आवसेदनुतिष्ठेत् । अने-

कार्थाधातवः । कृतदारपरिग्रहोऽहोऽह्या गृहस्थउच्यते । गृहशब्दोदारवचनस्तत्रतिष्ठति । आङ्मर्यादायांवर्तते तस्य योविहितपदार्थसमूहोविधिनिषेधात्मकः सआश्रमशब्देनोच्यते यथोपनीतस्य ब्रह्मचर्याश्रम आसमावर्तनात्कृतविवाहस्य गार्हस्थ्यमिति । अविश्रुतमखण्डितब्रह्मचर्यस्त्रीसंयोगनिवृत्तिर्यस्य सएवमुच्यते । वाक्यभेदश्चात्रद्रष्टव्यः । आख्यातव्यवहारेणाविश्रुतब्रह्मचर्योभवेद्गृहस्थाश्रमचप्रतिपद्यते । एकवाक्यतायां कदाचनविश्रुते गार्हस्थ्यधिकारएवहीयेत अथ पुनः पुरुषार्थतया विधानेन तदतिक्रमे प्रायश्चित्तेन युज्यते नत्वधिकारी भवति अधीत्यावसेदिति च पौर्वापर्यमात्रंविश्वक्षितम् । नाध्ययनसमनंतरभाविता विवाहस्य यत्कार्यात्पौर्वापर्यविधानादानन्तर्येन शब्दार्थः । अतश्चाध्यायाध्ययनविवाहयोरन्तराले व्याकरणादिशास्त्रश्रवणवेदार्थज्ञानार्थलभ्यते विद्वानेवहिगार्हस्थ्येऽधिक्रियते । यथानाध्ययनविधौ मूर्खोयद्यपित्राल्यावस्थायातिर्यक्समानधर्मास्त्वमधिकारप्रतिपत्तुमसमर्थस्तथापि पित्राचार्येण वाऽनुष्ठाप्यते । वस्तुतस्तयोरेवाधिकारोऽपत्यानुशासने पितुरधिकारोऽपत्योत्पत्तिविधौ तावताभिनिर्वर्त्यत्वात् । अनुशासनंच विधिनिषेधाधिकारद्वयप्रतिपादनम् । तत्र यत्प्रतिपाद्यमानोऽपिनावबुध्यते तदन्धइव हस्तग्राहिकया कार्यते । यथाग्निसंस्पर्शकूपादिपाताद्वाहस्तावष्टम्भोधार्यतएवमदृष्टादपि मद्यपानादेर्यथावानिच्छन्नौषधदानादौ प्रवर्तते एवंशास्त्रीयेष्वपि पदार्थेषु यदा त्वीषद्युत्पन्नस्तदैव नियुज्यतइदमिदंकर्तुमर्हसीति । एवंसत्यधीतवेदोमाणवकः पित्राचार्येणैवैवंप्रबोधयितव्योगृहीतवानसि वेदंत्वमिदानींतदर्थजिज्ञासायामधिक्रियसे ततस्तदङ्गानि श्रोतुमर्हसीति । एतावता पितुरपत्योत्पादनाधिकारनिवृत्तिः । तदुक्तं कियतापुनरुत्पादितोभवतियावतास्वयमधिगतकृत्योभवतीति । अतःस्थितमेतत् नाधीत्यैवविवाहोयावद्वेदार्थोनाधिगतः । एवंच पदयोजना कर्तव्या अधीत्याध्ययने निवृत्तेऽप्यविश्रुतब्रह्मचर्यःस्यात् । प्रामायांच निवृत्तौ पुनर्वचनंनियमान्तराणामधुमांसवर्जनादीनानिनिवृत्तिपरम् । तेन यावदध्ययनंतावत्सर्वं नियमानुष्ठातव्याः । समाप्तेत्वध्ययनेऽर्थावबोधकाले स्त्रीनिवृत्तिरेव । ब्रह्मचर्यशब्दोयद्यपिब्रह्मग्रहणार्थयद्व्रतग्रहणंतत्र व्युत्पाद्यते तथापि स्त्रीनिवृत्तिपरएवास्य तत्रप्रयोगइति दर्शयिष्यामः । यथाक्रमं यएवाध्येतृणां पाठक्रमः प्रसिद्धस्तेनैव प्रथमंचतुःषष्टिस्ततोब्राह्मणं पितृपितामहाद्यभिजनप्रबन्धोपक्रमंभवति । नहीदृशेऽर्थेवक्तारो न कुलेन न शीलेन न क्रमेणेति । एतेनचैतत्प्रतिपादितंभवति याएव पित्रादिभिः शाखाधीतासापि नत्याज्येति ॥ २ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । विद्यास्नानपक्षे शक्त्यपेक्षोविकल्पः । यथाक्रमंवेदत्रयाध्ययनपक्षेऽङ्गवेदादिक्रमेणैवावेदाध्ययने तु यच्छास्त्रीयसंस्कारैः संस्कृतस्तस्याएवादावध्ययनमित्यर्थः ॥ २ ॥

(३) कुट्टुकः । वेदशब्दोऽयंभिन्नवेदशाखापरः । त्वशाखाध्ययनपूर्वकवेदशाखात्रयंद्वयमेकांवा शाखामन्त्रब्राह्मणक्रमेणाधीत्य । गृहस्थाश्रमंगृहस्थविहितकर्मकलापरूपमनुतिष्ठेत् । कृतदारपरिग्रहोऽहोऽह्यः गृहशब्दस्य दारवचनत्वात् । अविश्रुतब्रह्मचर्यइति पूर्वविहितस्त्रीसंयोगमधुमांसभक्षणवर्जनरूपब्रह्मचर्यानुवादोऽयं प्रकृष्टाध्ययनाङ्गत्वख्यापनार्थः । पुरुषशक्त्यपेक्षश्रायमेकद्वित्रिशाखाध्ययनविकल्पः । यद्यपि व्रतानि वेदाध्ययनंच नित्यवदुपदिशता मनुनोभयस्मात्तकएव श्रेष्ठत्वादभिहितस्तथापि स्मृत्यन्तरादन्यस्मात्तकोपि बोद्धव्यः । तदाह हारीतः त्रयःस्मात्तकाभवन्ति विद्यास्नातकोव्रतस्नातकोविद्याव्रतस्नातकश्चेति । यः सामान्य वेदमसामान्य व्रतानि समावर्ततेसविद्यास्नातकः । यः सामान्य व्रतान्यसामान्यवेदंसमावर्तते सव्रतस्नातकः । उभयंसामान्य समावर्तते यः सविद्याव्रतस्नातकः । याज्ञवल्क्योऽप्याह वेदंव्रतानि वा पारंतीत्वा ह्युभयमेव वेति ॥ २ ॥

(४) राघवानन्दः । शाखामन्त्राध्ययनमवश्यंभावीति त्रिंशदधिकैकादशशतशाखानांवेदचतुष्टयपरिमाणत्वात् पु-

रुषायुषमध्यैत्येतुमशक्यत्वाद्देवशब्दः शाखापरः । सर्वशाखाप्रत्ययमेककर्मैति न्यायात् सर्वशाखाविधित्वंचसिद्धमध्ये-
तृभेदतइति भट्टस्वरसात् । अन्यथैकैकस्य संपूर्णवेदाध्ययने पुनरनुवादएव । वेदाध्ययनविधिरध्यापनाङ्गमिति गुरुः । अ-
र्थावबोधाङ्गमिति भट्टाः । अक्षरावामिपरमिति वेदान्तिप्रभृतयः । एतन्मतमेवसाधु । योनधीत्येत्यादिनिन्दार्थवादेनाध्यय-
नस्य नित्यतावगमात्तत्र ऋग्वेदेन हौत्रं कुर्यात् । यजुर्वेदेनाध्वर्यवम् । सामवेदेनौद्गात्रम् । सदैवतंतथैव विद्यया सूक्तमध्या-
त्रम्येवेति स्मृतेः । तेन ब्रह्मत्वमित्यतोवेदत्रयसाध्यत्वान्सर्वकर्मणामतो न प्रवेशोऽथर्ववेदस्य अतएव वेदोनधीत्येति यथाक्रमं
त्वशाखानुक्रमेण । अविप्रुतब्रह्मचर्यः अक्षतब्रह्मचर्यः ॥ २ ॥

(६) रामचन्द्रः । तद्यथा वेदेति । गृहस्थः अविप्रुतब्रह्मचर्योऽस्वलितब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् । किं कृत्वा
वेदशब्दः शाखावयवे व्याख्यातः । वेदान्वेदौ वा वेदं वा यथाक्रमं शाखाक्रमेणाधीत्य ॥ २ ॥

तंप्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरंपितुः ॥ स्रग्विणंतल्पआसीनमर्हयेत्यथमंगवा ॥ ३ ॥

(१) मेधातिथिः । तंब्रह्मदायहरंप्रथमंगवार्ययेत् ब्रह्मच दायश्च ते उभे हरति त्वीकरोतीति ब्रह्मदायहरः ।
दीयतइति दायो धनं ब्रह्मवेदोहरणमधिगमः । गृहीतवेदः पित्रा कृतविभागो गार्हस्थ्यं प्रतिपद्यते निर्धनस्यानधिकारात् । यदितु
पिता निर्धनस्तदासांतानिकतया धनमर्जयित्वा विवाहयेत् । अन्येतु ब्रह्मवेदायो ब्रह्मदायइति पूर्वोक्तविध्यनुवादं मन्यन्ते-
पितुरिति । ननु चाचार्यस्य माणवकाध्यापनेऽधिकार उक्तः किमिदमुच्यते पितुर्ब्रह्मदायहरमिति । उच्यते यस्य पिता विद्य-
ते तस्य स एवाचार्यः । अभावे पितुरशक्तौ वान्यस्याधिकारः । आचार्यान्तरोपादानेन पितुरधिकारो निवर्तते एव त्वयं वा-
ध्यापयत्यन्योपादाने न वेति न विशेषः । यदप्याहुर्वरोदक्षिणेऽप्युपनयने नित्यवद्दक्षिणा आनात्परकर्तृकत्वमेवेति तद-
सत् । उपनयस्य स्रयं विधिः वरोदक्षिणेति । उपनेता च पिता वाचार्यो वा तौ द्वावपि त्वाधिकारप्रवृत्तौ नात्यन्तरमपेक्षेते
आनमनार्थं हि दक्षिणादानम् । नचाधिकारान्तरतः प्रवृत्तस्यानतिरुपयुज्यते । तेनायं दक्षिणाशब्द आनमनार्थाभावादर्थोद्धिर-
ण्यदानवददृष्टार्थदानोपलक्षणार्थो विज्ञेयः । पित्रैव चासौ तावता धनेन त्वामी कर्तव्योयेन वरदानमस्य संपद्यते । अ-
थायमाग्रहो नानत्यर्थादानादृते दक्षिणाशब्दस्योपपत्तिः । नवा मुख्ये सति लक्षणान्याप्येति । एवताहं यस्य पिता न तत्स्था-
नीयो नाचार्यः स यदात्मानमुपनयेत् सत्यकामवत्तद्विषयो दक्षिणाविधिर्भविष्यति । तस्यापि चेष्टपेतशैशवस्यात्मसंस्कारा-
यास्त्येवाधिकारइति प्रतिपादितम् । तस्मादुभयथा पितुरधिकारः । त्वयमुपनयमानस्यान्यमाचार्यमुपाददानस्य वा प्रती-
तमभिमुखीभूतं गृहाश्रमप्रतिपत्तौ नतु नैष्ठिकं समामाध्ययनविध्यर्थमपि ग्रामप्रतिपत्तौ । स्रग्विणं यावन्तः केचन गृह-
कारैर्मधुपर्ककर्मणि धर्मा आम्नातास्तेषां दर्शनार्थमेतत् । तल्पआसीनं महार्हपर्यङ्कशयनोपविष्टम् । गवा मधुपर्केण । मधु-
पर्केऽसौ विधिः पाक्षिक आम्नातः । अतोगोशब्देन तत्साधनकर्मशेषोलक्ष्यते अर्हयेत् पूजयेत् । अधिकारात् पिताचार्यो-
वा । प्रथमपूर्वविवाहात् । पूजाधिकारार्हेशयानंप्रतीतं स्वधर्मेणेत्यनुवादः । त्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं त्वधर्मेण चार्हयेदिति सं-
बन्धे न विशेषः ॥ ३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्रह्मवेदं प्रतीतं प्राप्नोन्तं अधिगतवन्तमिति यावत् । दायहरं वित्तहरं पितुः पितृकृत्प्र-
हणाहम् । अनैष्ठिकमिति यावत् । प्रथमं यस्य गृहेऽसावुपस्थितः सान्तानिकत्वेनार्थार्थितया सगवार्ययेत् इति गोशब्दस्तत्स-
हचरितमधुपर्कपरः । स्रग्विणं तल्पआसीनमिति । माल्यासनविशेषाभ्यामर्चाभिप्रेता । तल्पे तूलिकादिमिति शम्भारूप
आसने ॥ ३ ॥

(३) कुल्लूकः । तंब्रह्मचारिधर्मानुष्ठानेन ख्यातम् । दीयतइति दायः ब्रह्मैव दायो ब्रह्मदायः तंहरतीति ब्रह्मदायह-

रंपितुः । पितृतो गृहीतवेदमित्यर्थः । पितृतोऽध्ययनमुख्यमुक्तं पितुरभावआचार्यादेरप्यधीतवेदं मालयात्कृतमुत्कृष्टशयनोप-
विष्टगोसाधनमधुपर्केण पिताऽऽचार्योवा विवाहात्पथमंपूजयेत् ॥ ३ ॥

(४) राघवानन्दः । तं ब्रह्मचारिणं प्रतीतं स्वधर्मानुष्ठानेन ख्यातं । ब्रह्मदायहरंपितुः पितृतो गृहीतवेदम् । अथवा
स्वधर्मेणैव ब्रह्म वेदं प्रतीतं प्राप्तवन्तम् । पितुर्दायहरं नैष्ठिकव्यावृत्त्यर्थं पितुर्दायहरमित्युक्तं पितृतोऽध्ययनस्यानावश्यक-
त्वात् । स्रग्विणंसमलङ्कृतं । तल्पे शय्यायांगवा गोमता मधुपर्केण पिता आचार्योवा अर्हयेत् पूजयेत् ॥ ३ ॥

(५) नन्दनः । पितुः सकाशाद्ब्रह्मदायहरं ब्रह्म वेदस्तदर्थदायोदानंदक्षिणा ब्रह्मदायस्तं हरतीति ब्रह्मदायहरंपितुः
सकाशाद्गुरुदक्षिणां गृहीत्वा गुरवे दत्तवन्तमित्यर्थः । प्रतीतं प्रतिगतं ब्रह्मचर्यान्निवृत्तमितियावत् । स्रक्शब्दः सर्वालंकाराणा-
मुपलक्षणम् । गोशब्दोऽम्बादीनाम् । अर्हयेत्कन्याप्रदो गृहीत्वा ॥ ३ ॥

(६) रामचन्द्रः । तं प्रथमं पूजयेत् कीदृशं गुरुं स्वधर्मेण ख्यातं । पुनः कीदृशं ब्रह्मदायहरं ब्रह्मैव वेद एव धनयस्य त-
स्य दाय अंशः तस्य हरं हरति स्वीकरोति तं । पुनः कीदृशं स्रग्विणं । पुनः कीदृशं तल्पमासीनमासनस्थम् ॥ ३ ॥

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ॥ उद्धहेत द्विजो भार्यासवर्णालक्षणान्विताम् ॥ ४ ॥

(१) मेधातिथिः । सत्यामपि वेदव्रतसमामौ गुरुणानुज्ञातः स्नायात् । स्नानशब्देन गृहोक्तसंस्कारविशेषो लक्ष्यते
ब्रह्मचारिधर्माविधिः । यथा चात्र लक्षणा तथा प्राग्व्याख्यातम् । तदहरेव गृहकारोक्तं कश्चिन्मधुपर्कपूजाविहितसंस्कार-
प्राप्त्य समावृत्तौ गुरुकुलात्पितृगृहं प्रत्यागतइत्यनुवादः । उद्धहेतयेति द्विधिशेषमेतत्सर्वप्राप्तमेव । नतु समावर्तनं विवाहाङ्गम् ।
तेनयः पितृगृह एवाधीतवेदस्तस्य समावृत्तस्य संभवत्येव विवाहः । केचित्समावर्तनं विवाहाङ्गं स्नानमन्यन्ते । क्त्वाश्रुत्या
भेदप्रतिपत्तिरिति चेदेवं तर्हि समावर्तनं विवाहाङ्गं स्नानसंस्कारं वक्ष्यति सविशेषं हि तत्र स्नानमाभ्यासमेव स्नातकेनेत्यादि ।
अथवा यमनियमत्यागाभिप्रायं समावृत्तिवचनम् । समावृत्तः प्राक्तनीमेवावस्थानियमरहितां प्रतिपन्नइत्यर्थः । विशेषाभिप्राय-
नियमत्यागवचनम् । ब्रह्मचारिणो हि सातिशया यमनियमानतथोत्तरेषाम् । यथाविधीतस्वधर्मेणेति वत् । उद्धहेत द्विजो-
भार्या उद्धहेत इति विवाहविधिः संस्कारकर्मविवाहो भार्यामिति द्वितीया निर्देशात् । नच प्राग्विवाहाद्भार्या सिद्धास्ति यस्या विवा-
हसंस्कारः क्रियते न च क्षुषद्वाज्रनसंस्कारः । किं तर्हि निवर्त्यते विवाहेन । यथा यूपं छिनत्तीति छेदनादयः संस्कारा यस्य
क्रियन्ते स यूपः एवं विवाहेनैव भार्या भवतीति विवाहशब्देन पाणिग्रहणमुच्यते तच्चात्र प्रधानम् । एवं हि स्मरन्ति विवाहनं
दारकर्म पाणिग्रहणमिति । इहापि वक्ष्यति पाणिग्रहणसंस्कार इति लाजहोमाद्यङ्गम् । तच्च गृहसादखिलं ज्ञातव्यम् । नोद्धहे-
त्कपिलांकन्यामितिकन्याग्रहणात्कन्याया अयं संस्कारो न स्त्रीमात्रस्य । कन्याशब्दश्चात्र प्रकरणेऽप्रवृत्तपुंसंप्रयोगायां योषिति
वर्तत इति वक्ष्यामः । सवर्णांसमानजातीयाम् । लक्षणान्विताम् । लक्षणानि अवैधव्यप्रजाधनसूचकानि वर्णरेखातिलकादिचि-
न्हानि ज्योतिःशास्त्रावगम्यानि तैरन्वितां युक्तां शुभलक्षणान्वितामित्यर्थः । यद्यप्यनिष्टसूचकमपि लक्षणं भवति किंतु सूचकै-
रेव शास्त्रैस्तादृशीं विवाहयेत् अतः प्रशस्तलक्षणालक्षणवती द्रष्टव्या । अभिप्रेतसूचक एव लक्षणशब्दो लोके प्रयुज्यते । सलक्ष्णो-
ऽयं पुरुषः सलक्षणा स्त्रीति या शुभलक्षणासैव मुच्यते तत्राधिकारचिन्ता कर्तव्या संस्कारविधित्वादेवाधानवदनुष्ठानलाभात्
यथैव साधानमाहवनीयादिद्वारेण नित्यकाम्यकर्मोपयोगि तद्वाहवनीयादिनिवृत्त्यर्थमनुष्ठीयते एवं विवाहोऽपि भार्या-
निर्वर्तकत्वेन दृष्टादृष्टपुरुषार्थोपयोगित्वात् । तथा हि खेदात्पुंसः स्त्रीमात्रविषयार्थप्रवृत्तौ प्रसक्तायां कन्यापरदारनिषेधात्त्वदा-
रेषु कामिनः खेदनिवृत्तिः सहधर्मश्चरितव्यः इति तथा सह सर्वधर्मेष्वधिकाराददृष्टपुरुषार्थसिद्धिस्तदधीना अत्र केचिन्पी-
मांसन्तेराणिणः । पूर्वोक्तेन प्रकारेण दृष्टसिद्धयर्थं विवाहं स्वतः कुर्वन्ति तेषां च कृतविवाहानां संभवेत्सद्विजातिकर्मविधित्वेन

कर्मानुष्ठानसिद्ध्यर्थो विवाहः । यस्य कथंचित्स्त्रीनिष्ठा निवृत्तान तस्य विवाहः । असति विवाहे कर्मानधिकारादनधिकृतस्य-
चाननुष्ठाने दोषाभावात्पुरुषार्थानुष्ठानान्यनुतिष्ठतो नाश्रमिणोप्यवस्थानमविरुद्धम् । तदेतदसत् यथैव कामः पुरुषार्थस्तथैव
धर्मोऽपि पुरुषार्थत्वे प्रयोजकः । सर्वोऽपि पुरुषार्थसिद्ध्यर्थं प्रवर्तते । यदि चैतदेवं स्यात्संवत्सरमनाश्रमो भूत्वेत्यादि नोपपद्येते-
ति । निपुणंचैतदाश्रमविकल्पावसरे षष्ठे निर्णेष्यामः ॥ ४ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । गुरुणेत्यादिना व्रतंतत्कर्तव्यं संक्षिप्योक्तम् । स्नात्वा व्रतविद्यासमापननिमित्तवैधर्म्य-
स्नानं गुरुकुल एव कृत्वा समावृत्तः गुरुगृहात्पितृगृहानागतः । यथाविधि स्वगृहोक्तहोमादिकर्मपूर्वकं स्नात्वेत्यन्वयः । लक्ष-
णमत्रेधव्यादिचिह्नम् ॥ ४ ॥

(३) कुट्टुकः । गुरुणा दत्तानुज्ञः स्वगृहोक्तविधिना कृतस्नानसमावर्तनः समानवर्णां शुभलक्षणां कन्यां विवहेत् ॥ ४ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रकृतमुपसंहरति गुरुणेति द्वाभ्यां । समावृत्तः समावर्तनमौज्जीत्यागप्रक्रिया गृहोक्ता तथा
युक्तः । द्विजश्चैवार्णिकः सवर्णां समानजातिं । लक्षणां वितां वक्ष्यमाणगुणां दुर्लक्षणादीनां च ॥ ४ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्विजः सवर्णां लक्षणां वितां भार्यां मुद्दहेत् । कोटशो द्विजः समावृत्तो गुरुकुलादागतः किं कृत्वा
गुरुणाऽनुमत आज्ञप्तः सन् स्नात्वा ॥ ४ ॥

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ॥ सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ ५ ॥

(१) मैथुनातिथिः । यादृशी कन्या वोढव्या तामिदानीं दर्शयति । मातुर्याऽसपिण्डा पितुश्च याऽसगोत्रा सा दारकर्मणि
प्रशस्ता । सपिण्डग्रहणं मातृबन्धूपलक्षणार्थम् । मातुर्हि सापिण्ड्यं स्त्रीणां स्मृत्यन्तरे तृतीयपुरुषावधि । ननु त्रिभ्य ऊर्ध्वमातृब-
न्धुभ्यो विवाह इष्यते । किं तर्हि पञ्चमादूर्ध्वम् । एव हि गौतमः पठति । ऊर्ध्वं सप्तमात्पितृबन्धुभ्यो मातृबन्धुभ्यः पञ्चमादिति । ते-
न यथाश्रुति समन्वयाभावात्सापिण्ड्याभावः स्मृत्यन्तरवशेन मातृसंबन्धितया व्याकरणीयः । तेनैव मुक्तं स्यात् मातुरन्वयजा
या न भवति अवधिश्च गौतमीय एव तेन मातामहीमातामहयोर्यान्वये जाता सा पुत्रसंततेर्बन्धवसामोप्यात्पञ्चमीयावन् विवा-
हयितव्या । अतो मातृत्वसूतदुहितृणां प्रमातामहोऽसंततिजानां च सर्वासां प्रतिषेधो बन्धुत्वाविशेषात् । असगोत्रा च या पितुः गोत्रं-
वसिष्ठमृगुगर्गादिवंशः स्मर्यते । समानगोत्रावसिष्ठान वसिष्ठैर्विवहन्ते न गर्गागर्गैः । वासिष्ठे तु मातृसगोत्राया अपि प्रतिषेधः ।
परिणीय सगोत्रांतु समानप्रवरांतथा । कृत्वा तस्याः समुत्सर्गं द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥ मातुलस्य सुतांचैव मातृगोत्रांतथैव
च ॥ गौतमेन तु पठ्यते असमानप्रवरैर्विवाह इति । तत्र गोत्रसमत्वे ऽसत्यपि प्रवरभेदश्चेद्युज्यते विवाहः । यतः स्मृत्यन्तरे स्नु-
भयं निषिध्यते असमानार्षगोत्रजामिति । आर्षप्रवरइत्येकोऽर्थः कथं पुनर्गोत्रभेदे समानार्षयत्वम् । किमिति न भवति यदि-
स्मर्यते श्रुतिस्मृतिप्रमाणकोऽयमर्थो न प्रत्यक्षगोचरो येन विरोधः स्यात् । पुनरमी प्रवरानाम् । अत्यल्पमिदमुच्यते इदमपि व-
क्तव्यं किं पुनरेतद्ब्राह्मणत्वं नाम तथा कतरदेतद्गोत्रं नाम । यथैव समाने पुरुषत्वे ब्राह्मणत्वादिविशेषः एवं समाने ब्राह्मणत्वे
वसिष्ठादिगोत्रभेदः प्रतिगोत्रं च समानार्षयाणि । यस्यैतद्गोत्रं तस्य तैः शब्दैः प्रवराश्रयणं कर्तव्यम् । एवं विवाहनिषेधेऽपि ।
स्मरन्ति च सूत्रकारा गोत्रभेदसंबन्धेन प्रवरानयस्यैतद्गोत्रं तस्यैव प्रवरा इति । गोत्रभेदस्तु तद्गोत्रजैरेव स्मर्यते वयं पराशरावय-
मुपमन्यव इति । यद्यपि गोत्रवत्प्रवरानपि स्मरन्ति तथापि बहुत्वात् कदाचिद्विस्मरेयुरिति गोत्रमुपलक्षणीकृत्य प्रवरस्मृतिरूपनि-
बद्धा । गोत्रं तु स्मरन्ति । न च तस्य किंचिदुपलक्षणमस्ति य एवं रूपस्तस्येदं गोत्रमिति । एतावत्तत्र स्मरणम् । यावद्गोत्रं संततिः-
समानजातीयत्वम् । एष च गोत्रप्रवरभेदः ब्राह्मणराजन्यविशाम् । तथा हि कल्पसूत्रकारः पौरोहित्याद्राजन्यवैश्ययोरिति ।
यद्यपि गोत्रविशेषव्यपदेशे सति प्राप्तप्रतिषेधेनापि प्रवराधिकारे वचनमिदमुपपद्यते किंतु न तेषां गोत्रस्मरणमस्ति । कस्त-

(५) निमैथुने = प्यमैथुनी (मे०)

हि क्षत्रियवैश्ययोर्विवाहेषु बन्धूनामवधेर्नियमः । उच्यते । सर्ववर्णविषयमेतत् ऊर्ध्वसममातृपितृबन्धुभ्य इति । इहाप्य-
सगोत्राचशब्दादसपिण्डा । तथाचानुवर्त्यमानः सपिण्डशब्दः पूर्ववद्वन्धुसंबन्धोपलक्षणार्थः । तेन पितृष्वसुरन्वयस्त्रीणाम-
न्यासांच प्रपितामहसंततिस्त्रीणामासममातृपुरुषात्प्रतिषेधः सिद्धो भवति । सममपुरुषावधयः सपिण्डाः स्मर्यन्ते । अन्येतुगोत्रवं-
शमाहुः । नतत्रावध्यपेक्षा यावदेतज्ज्ञायते वयमेकवंशा इति तावदविवाहः । अस्मिन्पि पक्षे असपिण्डाचेत्यनुवर्तते तेनपृ-
र्ववन्पितृष्वसादिदुहितृणांप्रतिषेधः । अस्मिन्स्तु पक्षे समानार्षगोत्राणां प्रतिषेधो दुर्लभः । नहितत्रैतस्ति वयमेकवंश्या इति ।
उच्यते । ऐतिहासिकेन तद्दर्शनेन समर्थयन्ते । तत्र हि वर्णयन्ति ऋषिर्वसिष्ठादिराद्योवंशस्य कर्ता तद्गोत्रास्ततः प्रसृताः
प्रवरा इति तत्पुत्रपौत्रास्तपोविद्याद्यतिशयगुणयोगेन प्रख्याततमाः स्मृत्यन्तरादिष्वेव नियमः । इदं त्वन्निरूप्यं यदेतत्स-
मानप्रवरैरितितत्र नामधेयतस्तावत्समानत्वं न संख्यातः । नामधेयसमानत्वे च किं यत्र सर्वाण्येव समानानि तत्र प्रतिषेध उतै-
कस्मिन्पि समाने तत्र यदि समुदितानां प्रवरत्वं तत्र समानेकस्मिन्श्चिद्भिन्नेऽन्यस्मिन् अन्यः समुदायः संजात इत्यसमानप्रव-
रत्वाच्च प्रतिषेधः । एवंचोपमन्यूनां पराशराणां च स्याद्विवाहः भिन्नतयोर्गोत्रम् । एक उपमन्यवः अपरे पराशराः पूर्वेण च
न्यायेन प्रवरभेदः । उपमन्यूनां वासिष्ठभारद्वाजैकपादिति प्रवराः । पराशराणां वासिष्ठगार्ग्यपाराशर्येति अथैकैकस्य
प्रवरत्वमेकस्मिन्पि समानप्रतिषेधः । तद्यथा माषानभोक्तव्यामिश्रा अपि न भुज्यन्ते किंपुनरत्रयुक्तम् एकैकस्य प्रवर-
त्वम् । तथा हि सामानाधिकरण्यं दृश्यते एकवृणीते द्वौ वृणीते त्रीन्वृणीत इति प्रतिपन्न एकः । तत्साम्ये न्याहैषामविवाह इति ।
द्विजातिग्रहणमुपलक्षणार्थम् । शूद्रस्यापि आसममातृपितृतः इत्याद्यस्ति । दारकरणं दारक्रिया दारकर्म तत्र प्रशस्ता प्रशंसया-
विहितेत्यर्थः । मैथुनी मिथुने भवा मैथुनी न मैथुनी अमैथुनी । पितुरिति संबध्यते । पितृबीजादेवोत्पन्ना जातमात्रा ।
नियोगो विहितस्तत उत्पन्ना या नास्ति पूर्वोक्तविशेषणोर्निषेधः । अतः पृथङ्निषिध्यते अमैथुनीतिततो नियोगोत्पन्ना कामतो न
विवाहाः मैथुनीत्वात् । अन्येतु अमैथुने इति पठन्ति । धर्मार्थे दारकर्मणि प्रशस्ता न मैथुने स्तुतिश्चैयं प्रतिषेधः । ईदृशी
योढासा सत्यपि मैथुने धर्मार्थेव भवति ॥ ५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । समान एकः पिण्डो जनको येषां ते सपिण्डाश्चेनात्र ग्राह्याः । तथाच साक्षात्परं परया वा
योमातृजनकपिण्डो देहस्ततो येषां जन्म ते मातुः सपिण्डा इति । मातुः पञ्चमातृ परतोर्वाक्षिष्ठादिष्वपि विवाहनिषेधप्रसक्तौ
स्मृत्यन्तरान्नियमः । यथा याज्ञवल्क्यः । पञ्चमातृसममादूर्ध्वमातृतः पितृतस्तथेति । अस्यार्थः । मातृतः परस्यामवरस्यांच
मातृतसहिततत्सपिण्डधारायां पञ्चमादूर्ध्वपरतः स्त्रियमुद्गहेदिति । एवंच मातुः पूर्वं ये चत्वार उत्तरोत्तरक्रमेण सपिण्डास्तथा
तत्सन्तानेऽप्यर्वाचीनाः प्रत्येकं चत्वारश्चत्वारस्तथा मातृतोर्वागपि चत्वारस्तत्सन्तानभूताश्च प्रत्येकं चत्वारः सपिण्डास्तद-
न्तर्भूता कन्या न विवाहेति सिद्ध्यति । एवंपितृतः सममादित्यत्रापि व्याख्येयम् । मनुना ह्यसगोत्रा च यापितुरिति चका-
रात् असपिण्डाचेत्यनुकृष्टम् । तथा च तत्रापि अवध्यपेक्षायां याज्ञवल्क्यवचनादेव नियमः । तेन यथा मातृतसपिण्डेषु
पञ्चसङ्ख्यावधेस्तथा पितृतसपिण्डेषु समसङ्ख्येति । यत्तु स्मृत्यन्तरे मातृतः पञ्चमी पितृतः सममीमुद्गहेदित्युक्तं तन्मातापितरौ
विहाय गणनयेति ग्राह्यम् । एतच्च याज्ञवल्क्यवचनार्थेन मातुः पञ्चमादूर्ध्वपितुश्च सममादूर्ध्वविवाहत्वं मातृसगोत्रत्वाभाव-
एवेत्यसगोत्रेत्यनेन दर्शितम् । अतएव च सपिण्डपदस्यैकपिण्डप्रभवपरतानतुजातिपरता ज्ञातीनां सगोत्रपदेनैवलाभान्
तथाच सपिण्डपदेन मातापित्रोर्येमातुलादयस्तेऽपि लभ्यन्ते । अत्र च पितृसगोत्रमात्रे विवाहनिषेधार्थमसगोत्रा च या
पितुरिति श्रुतितः पित्रासहागोत्रपदस्य पितुरन्वयो दर्शितः । मातृपक्षे तु यद्यप्यसपिण्डाच यामातुरिति चकारेणासगोत्रत्वा-
कर्षणात्पितृपक्ष इव सामान्यतो मातुः सगोत्रमात्रे विवाहनिषेधः प्राप्तस्तथापि स्मृत्यन्तरे । मातुः सगोत्रामप्येक नेच्छन्त्युद्वा-

हकर्मणि । जन्मनाम्नोरविज्ञानउद्वहेदविशङ्कित इत्यभिधानात् ॥ यावदस्मिन्मातृकुलजादेस्तन्नाम्नोस्यां जन्मेति ज्ञायते । तावन्मातृसगोत्राणामविवाहत्वम् । तदूर्ध्वं तु न दोषइति । अत्र हि स्मृतिवाक्ये पूर्वार्धेन सामान्यतो मातृसगोत्राया अविवाहत्वमतान्तरमाशङ्क्य जन्मनाम्नोरित्युत्तरार्धेत्वमतमुक्तमिति मातुःकन्यात्वसमये सगोत्रांमातामहसगोत्रामित्यर्थः । दारकर्मणि भार्यासाध्ययज्ञादिकर्मणिनिमित्ते विवाहकर्तुं प्रशस्ता । अनिन्दिता तथा मैथुने स्त्रीपुंससाधारणसाध्ये सुरतकर्मण्यपि सैव प्रशस्ताऽनिन्दिता । यद्यप्येतदपि दारकर्मैव तथा पृथक्ग्रहणं विधिलङ्घनेन परदारप्रवृत्तस्यापि मातृसपिण्डादिगमने ऽधिकप्रायश्चित्तार्थः । द्विजातीनामिति तत्रप्राधान्याद्भुक्तं शूद्रस्यापि तत्परित्यागेनैवोद्वाहः । वरस्य कन्यकायाश्च यस्मात्सन्तानभेदस्तेन सह यत्र न सपिण्डता तत्रैव विवाहमिति दर्शयितुं मातापित्रोर्गोत्रसपिण्डवर्णनमिति नैकत्र निवृत्तौ विवोढुमाशङ्क्येवं दर्शयितुम् ॥ ५ ॥

(३) कुल्लूकः । मातुर्या सपिण्डा न भवति । सममपुरुषपर्यन्तसपिण्डतांवक्ष्यति सपिण्डता तु पुरुषे सममे विनिवर्ततइति । तेन मातामहादिवंशजा जाया न भवतीत्यर्थः । च शब्दान्मातृसगोत्रापि मातृवंशपरंपराजन्मनाम्नोःप्रत्यभिज्ञाने सति न विवाहा तदितरा तु मातृसगोत्रा विवाहेति संगृहीतम् । तथा च व्यासः सगोत्रांमातुरप्येके नेच्छन्त्युद्वाहकर्मणि । जन्मनाम्नोरविज्ञानउद्वहेदविशङ्कितः ॥ यत्तु मेधातिथिनां वशिष्ठनाम्ना मातृसगोत्रानिषेधवचनं लिखितम् । परिणीय सगोत्रांतु समानप्रवरांतथा । तस्यांरुत्वा समुत्सर्गद्विजश्चान्द्रायणंचरेत् ॥ मातुलस्य सुतांचैव मातृगोत्रांतथैव चेति । तदपि मातृवंशजन्मनामपरिज्ञानविषयमेव । असगोत्रा च यापितुरिति पितुर्या सगोत्रा न भवति चकारात् पितृसपिण्डापि पितृव्यादिसन्ततिभवा या न भवतीत्यर्थः । सा द्विजातीनांदारत्वसंपादके विवाहे प्रशस्ता मैथुनसाध्ये अग्न्याधानकर्मपुत्रोत्पादनादौचेति ॥ ५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच असपिण्डेति । असपिण्डा । सपिण्डता तु पुरुषे सममे निवर्ततइति । तेन मातामहकुलजा न स्यात् । चकारान्मातृसगोत्रा च । जन्मनाम्नोर्विज्ञानेत्याज्यानान्यथा । तथाच । व्यासः । सगोत्रांमातुरप्येके नेच्छन्त्युद्वाहकर्मणि । जन्मनाम्नोरविज्ञानेउद्वहेदविशङ्कितइति । वसिष्ठादिस्मृतिरपि एतदनुरोधेन नेया । ऊरुविजहीतामित्यादिश्रुत्युक्तापत्योत्पादकर्मणि मैथुने मिथुनसाध्येअग्न्याधानादौ च ॥ ५ ॥

(५) नन्दनः । सवर्णात्वपि नियममाह असपिण्डेति । सपिण्डतांवक्ष्यतिसामपौरुषी सपिण्डतातुपुरुषेसममेविनिवर्ततइति । अमैथुनीअक्षतयोनिः ॥ ५ ॥

(६) रामचन्द्रः । अथ विवाहार्हमाह पञ्चमादिति युग्मेन । मातृतःमातुःसन्ताने पञ्चमादूर्ध्वतथापितृतःपितुःसन्ताने सममादूर्ध्वमातुःसन्ताने असपिण्डाचशब्दान्मातुरसगोत्रा पितुःसन्ताने असगोत्रा ॥ ५ ॥

महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः ॥ स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

(१) मेधातिथिः । वक्ष्यमाणस्यप्रतिषेधस्यनिन्दार्थवादोऽयम् । समृद्धिः संपत्तिः । धनविभवः । महान्त्यपिप्रकृष्टान्यपि । धनविशेषणार्थमाह गोजाविधनधान्यतः तृतीयार्थे तसिः । गोजाविधनेनचधान्येनच धनग्रहणंगोजादीनांविशेषणार्थम् । धनरूपाये गोजादयः कूरसंपन्नताहि धान्यम् । स्त्रीसंबन्धोविवाहः स्त्रीप्राप्त्यर्थसंबन्धः स्त्रीसंबन्धः ॥ ६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धनंसुवर्णादि । एतेन गुणान्तरवद्वित्तवत्तयापि विवाहतेति दर्शनम् ॥ ६ ॥

(१) पितृव्यादि=पितृव्वत्सादि (अ)

(३) कुड्मूकः । उत्कृष्टान्यपि गवादिभिः समृद्धान्यपीमानि दशकुलानि विवाहे त्यजेत् ॥ ६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच भार्यामित्यनेन प्राप्तानि कन्यात्पादककुलानि वर्जनीयतयाह महान्तीतिद्वाभ्यां । धान्यतः धान्यादिभिः समृद्धानियुक्तानि । अविमेषः । स्त्रीसंबन्धे स्त्रीकर्मकविवाहे ॥ ६ ॥

(५) नन्दनः । एतानिवक्ष्यमाणानि ॥ ६ ॥

(६) रामचन्द्रः । साद्विजातीनांब्राह्मणक्षत्रियविशामैथुने दारकर्मणि अग्न्याधानादिधर्मपुत्रार्थं दारकर्मणि च प्रशस्ता सापिण्ड्येन रहिता एकःपिण्डोदेहोयस्याःसासपिण्डा न सपिण्डा असपिण्डा । पञ्चमात्सममादूर्ध्वसापिण्ड्यं निवर्तत इत्यर्थः । चतुर्थी मुद्रहेत्कन्यां पञ्चमोन तु पञ्चमी चतुर्थः पञ्चमीनोद्बहेदित्यर्थः । वर्ज्यान्याह महान्तीति मोजाविधनधान्यतःसमृद्धानि महान्त्यपि अग्न्याधान सहितान्यपि स्त्रीसंबन्धे दशैतानि वर्जयेत् ॥ ६ ॥

हीनक्रियंनिष्पुरुषंनिश्छन्दोरोमशार्शसम् ॥ क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्चित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥ ७ ॥

(१) मेधातिथिः । हीनास्त्यक्ताःक्रियायस्मिन् कुले जातकर्मादयः । संस्कारानक्रियन्ते नित्याश्च पञ्चयज्ञादयः । निष्पुरुष स्त्रीप्रसु यत्र प्रायेण कन्याजायन्ते न पुमांसः । निश्छन्दः वेदाध्ययनवर्जितम् । रोमशार्शसम् द्वद्वैकवद्भावेन कुलद्वयनिर्दिष्टम् बहुदीर्घैर्बाह्यादिषु लोमभिर्युतम् अर्शसि गुदेन्द्रियगतान्यधिमांसनिबद्धानि तानिहिरोगरूपत्वात्पीडाकराणि । क्षयोराजयक्ष्माव्याधिः । आमयावीमंदाग्रियस्यभुक्तमन्नसम्यग्रजीर्यति । अपस्मारःस्मृतिभ्रंशाद्युपघातकृत् । श्वित्रं शरीरगता च्छेदवती श्वेतता कुष्ठप्रसिद्धम् । सर्वएते व्याधिविशेषवचनाः शब्दारोमशादारभ्य मत्वर्थीयप्रत्ययान्तानिर्दिष्टाः । पूर्वैर्व्याख्यातृभिर्दृष्टमूलतास्य प्रतिषेधस्य वर्णिता । मातुः कुलेद्विपदोनुहरन्ति । ततोहीनक्रियादीनांया प्रजा साऽपि तच्छीला स्यात् । व्याधयश्चसंक्रामन्ति । एवंहि वैद्यके पठ्यते सर्वसंक्रामिणोरोगावर्जयित्वा प्रवाहिकाम् ॥ ७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निश्छन्दोनिर्वेदं । आमयोऽग्निमान्द्यं कुष्ठमांसादिक्लेदं कायौदुम्बरादि । हीनक्रियंकुलं यत्र प्रायस्तादृशाएव । एवमुत्तरत्र हीनक्रियमित्यादीनि कुलानि पञ्चविंशोक्तानि । यथा कुष्ठादिकुलानि पञ्चेत्येवंदशकुलानीति योजनीम् ॥ ७ ॥

(३) कुड्मूकः । तानिकामीत्याह हीनक्रियमिति । जातकर्मादिक्रियारहितंस्त्रीजनकंवेदाध्यापनशून्यंबहुदीर्घरोमान्वितमर्शोनामव्याधियुक्तम् क्षयोराजयक्ष्मामन्दानलपस्मारिश्चित्रिकुष्ठयुक्तानांच कुलानि वर्जयेदिति पूर्वक्रियासंबन्धः । दृष्टमूलताचास्य प्रतिषेधस्य मातुलवदुत्पन्नाअनुवहन्ते । तेन हीनक्रियादिकुलात्परिगीतायांसंततिरपि तादृशी स्यात् । व्याधयः सञ्चारिणइति वैद्यकाःपठन्ति । सर्वसंक्रामिणोरोगावर्जयित्वा प्रवाहिकामिति । अवेदमूला कथमियंप्रमाणमितिचेन्न । दृष्टार्थतयैव प्रामाण्यसंभवात् । तदुक्तं भविष्यपुराणे । सर्वाएतावेदमूलादृष्टार्थाः परिदृत्य तु । मीमांसाभाष्यकारेणापि स्मृत्यधिकरणेऽभिहितम् येदृष्टार्थास्तेतत्प्रमाणं ये त्वदृष्टार्थास्तेषुवैदिकशब्दानुमानमिति ॥ ७ ॥

(४) राघवानन्दः । हीनक्रियंपित्रादेर्जातकर्मादिराहित्यं यत्र । निष्पुरुषं स्त्रीजननप्रधानं । निश्छन्दोवेदाध्ययनशून्यं । रोमशं बहुदीर्घरोमयुक्तं । अर्शसं अर्शोरोगयुक्तं । क्षयोराजयक्ष्मा कासः तद्युक्तं । आमयावि नित्यमन्दानलयुक्तं । अपस्मारोवायुविशेषस्तद्युक्तं । श्वित्रि श्वेतत्वग्विशेषयुक्तम् ॥ ७ ॥

(५) नन्दनः । हीनक्रियंश्रौतस्मार्ताचारहीनम् । निष्पुरुषंस्त्रीशेषम् । तद्वर्जयेत् । कुतः संतत्यभावानुसारान् । निश्छन्दोनिर्वध्यवनम् । रोमशरोमबहुलम् । तद्वर्जयेत् । कुतः निर्ऋतिरूपत्वात् । तथाहिश्रुतिःनिर्ऋत्यै विरुतदेहरूपरोम-

शपशुमालभेत साहस्यः स्वातनुरिति अशोस्यास्तीत्यर्शसंतद्वर्जयेत् । कुतः व्याधिसंक्रान्तिभयात् एतेन क्षयादीनि व्याख्या-
तानि । क्षयि क्षयरोगयुक्तं । आमयामहोदरादयः । तद्युक्तमामयावि । कुलानीतिव्यस्तम् । चकारः प्रत्येकंसंबध्यते ॥ ७ ॥

(६) रामचन्द्रः । तानि दश कुलान्याह हीनक्रियमिति जातकर्मादिसंस्कार पञ्चयज्ञरहितं कुलं निष्पुरुषं नि-
श्छंदोनिर्गतश्छन्दोवेदोयस्मात्तन्निच्छन्दः । रोमशार्शसंअशोरोगोवर्ततेयत्रतदर्शसंकुलं । गुह्ये रोमरूपत्वात् रोमसहितं । यत्र
क्षय आमयोवा कुलमपस्मारिचित्रकुष्ठि एतानि कुलानि वर्जयेत् ॥ ७ ॥

नोद्वहेत्कपिलांकन्यानाधिकाङ्गीनरोगिणीम् ॥ नालोमिकांनातिलोमां न वाचाटांनपिङ्गलाम् ॥ ८ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वः कुलाश्रयः प्रतिषेधः । अयंतु त्वरूपाश्रयः । यस्या असुवर्णाः कनकवर्णावा केशाः सा
कपिला । अधिकाङ्गीषडङ्गुलिः । रोगिणीबहुरोगा दुष्प्रतिकारव्याधिगृहीताच । भूमीणिर्मत्वर्थीयोनिमित्तयोगेवा । अलोमिका
अकेशा । लोमानिकेशाअप्युच्यन्ते । बाहुमध्येजङ्गद्वयेवासर्वलोमामभावः । वाचाला त्वल्पएव वक्तव्ये बहुलंपरुषच
भाषते । पिङ्गला अक्षिरोगेण मण्डलाक्षीकपिलपिङ्गलाक्षीवा ॥ ८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । न रोगिणीस्त्वतःक्षयादिव्याधिमती । पूर्वकुले तेषांप्रायिकत्वेन कन्यानांसंभावनामात्रेणा-
विवाहतोक्ता । अत्र तु तस्यांतन्निश्चयेनेति विशेषः । पिङ्गलाभामरक्तगौरवर्णाम् ॥ ८ ॥

(३) कुङ्कुमः । कुलाश्रयप्रतिषेधमभिधाय कन्यात्वरूपाश्रयप्रतिषेधमाह नोद्वहेदिति । कपिलकेशानित्यव्याधिता-
मविद्यमानलोमांप्रचुरलोमांबहुपरुषभाषिणीं पिङ्गलाक्षींकन्यानांपयच्छेत् ॥ ८ ॥

(४) राघवानन्दः । वर्जनार्थं कन्यां विशिनष्टि नेति द्वाभ्यां । कपिलांकपिलकेशां वर्णतोवा । नाधिकाङ्गी
षडङ्गुलादिकां । न्यूनाङ्गीचतुरङ्गुलादिकां । न वाचाटां न बहुभाषिणीं । न पिङ्गलां चक्षुषोः मार्जारचक्षुषीमित्यर्थः ॥ ८ ॥

(५) नन्दनः । कपिलांकेशाक्षिभिः त्वचाचपिङ्गलाम् ॥ ८ ॥

(६) रामचन्द्रः । कनकवर्णाः केशायास्याः सातां । कपिलांच कन्यां नोद्वहेत् एतादृश्यः नोद्वहाः कपिलादि-
पिङ्गलान्ताः । वाचाटां परुषभाषिणीम् ॥ ८ ॥

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ॥ न पक्ष्यहिप्रेष्यमाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥ ९ ॥

[नातिस्थूलां नातिकृशां न दीर्घां नातिवामनाम् ॥ वयोऽधिकां नाद्वहीनां न सेवेत्कलहप्रि
याम् ॥]

(१) मेधातिथिः । ऋक्षंनक्षत्रंतन्नामिकाआर्द्राज्येष्ठाइत्यादि । वृक्षनाम्नींशिशपाआमलकीति । नदीगङ्गायमुना-
तन्नाम्नी । ऋक्षाणि च वृक्षाश्च नद्यश्चेतिद्वन्द्वः तासांनामानीति षष्ठीसमासः । ततोद्वितीयेन नामशब्देनोत्तरपदलोपोसमासः ।
अन्त्यनामिकाबर्बरीशबरीत्यादि । पर्वताविन्ध्यमलयादयः पूर्ववत्समासात्कप्रत्ययः । पक्षिनाम्नीशुकीसारिका । अहिः
सर्पस्तन्नाम्नी व्यालीभुजङ्गी । प्रेष्या दासी चेटी वाली । बिभीषणं नाम भयजनकं डाकिनीराक्षसी ॥ ९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्त्यश्चाण्डालादिः तज्जातिनाम्नीं चाण्डालीत्यादिनाम्नीं । पर्वतनामिकांविन्ध्याहिमे-
त्यादिनाम्नीं । प्रेष्यनाम्नीं दासीत्यादिनाम्नीं । भीषणं नाम चामुण्डेत्यादि ॥ ९ ॥

+ अयं (क, ग, अ, ल,) चिन्हितेषुमूले । (च) चिन्हितपुस्तके टीकायां वर्तते ।

(३) कुङ्कुमः । ऋक्षं नक्षत्रं तन्नामिका माद्रारिवतीत्यादिकामेवंतरुनदीम्लेच्छपर्वतपक्षिसर्पदासभयानकनामिकां कन्यानां द्वहेत् ॥ ९ ॥

(४) राघवानन्दः । नक्षवृक्षेति । तारा अश्विनो आमलकी हरीतकी नदीदृषद्वर्तइत्यादिनाम्नीम् । अन्योम्लेच्छतेन यवनी म्लेच्छेति । पर्वतनामिकां शिलामयी । पक्षिगण्डा । अहिः पन्नगी । प्रेष्या अमुकदासी । भीषणनामिकां उपेत्यादिकाम् ॥ ९ ॥

(५) नन्दनः । ऋक्षनाम्नी आर्द्रेत्यादि । वृक्षनाम्नी शिशपेत्यादि । नदीनाम्नी गङ्गेत्यादि । अन्यनाम्नी मातङ्गीत्यादि । पर्वतनाम्नी विन्धेत्यादि । पक्षिनाम्नी शुकीत्यादि । अहिनाम्नी नागीत्यादि । प्रेष्यनाम्नी दासीत्यादि । भीषणनाम्नी हिडिम्बेत्यादि । अदृष्टार्थोऽयं निषेधः ॥ ९ ॥

(६) रामचन्द्रः । ऋक्षनाम्नीं नक्षत्रनाम्नीं विवाहयेत् । अन्यजनाम्नीं पर्वतनाम्नीं च नो द्वहेत् । विभीषणनाम्नीं भयानकनाम्नीं विवाहयेत् ॥ ९ ॥

अव्यङ्गाङ्गी सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ॥ तनुलोमकेशदशनामृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥ १० ॥

(१) मेधातिथिः । अव्यङ्गान्यङ्गानि यस्या सैवमुच्यते । अव्यङ्गशब्दोऽवैकल्यवचनः प्रवीणोदारदिशब्दवचयपि व्युत्पाद्यते विकलान्यङ्गानि यस्येति अतश्चाङ्गशब्दस्य द्वितीयस्यावयविनिशक्ततौचित्येन संस्थानस्य परिपूर्णता साऽव्यङ्गशब्देनोच्यते । सौम्यमधुरनामस्त्रीणां सुखोद्यमत्रदर्शितम् । हंसइवारणइवगच्छति यादृशी हंसानां हस्तिनां च विलासवती मन्थरागतिर्यस्याः । तनुशब्दो नाल्पवचनः किं तर्ह्यनुपरिभावे वर्तते तन्वङ्गीसोच्यते नातिस्थूला नातिकृशेति मृदूनि सुस्पर्शाकठिनापरुषाण्यङ्गानि यस्याः सा तामुद्वहेत्स्त्रियं कन्याधिकारात्कन्याम् । यद्येवं नालोमिकामित्यादिप्रतिषेधोऽनर्थकोऽस्मादेव विधानात् यानैवंरूपा तस्या अविवाह्यता सिद्धा सत्यमेव एकएवार्थोद्वाभ्यां विधिमुखेन प्रतिषेधमुखेन चोद्यमानस्तु स्पष्टो बुध्यते । कन्याशब्दश्चात्र प्रकरणादननुभूतसंभोगासु स्त्रीषु प्रवर्तते । तथा च वसिष्ठः अस्पृष्टमैथुनांसदृशीं भार्यां विन्देतेति । न चान्येन संस्कृतान्येन पुनः संस्कर्तुं शक्या कृतस्य करणाभावात् । अतश्चोदाया अप्रवृत्तभर्तृसंयोगायाः कथंचित्त्वैरिणीत्वे भर्तृप्रवासादिनानान्येन विवाहोऽस्ति सत्यपि कन्यात्वे । तथा चेदशीवसिष्ठोक्तिर्मध्येपठिता । अन्यत्राप्युक्तमनन्यपूर्वाय वीर्यसीं भ्रातृमतीं स्त्रियमुद्वहेतेति ॥ १० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अव्यङ्गाङ्गीं अङ्गेष्वपि यस्यानव्यङ्गत्वं अङ्गाङ्गेष्वपि न स्वादिषु यस्यावैकल्यं नास्तीत्यर्थः । तथा विभीषणनामत्वाभावेऽपि सौम्यशान्तनाम यस्याः सा विवाह्याः । तथा विभीषणनामनिषेधः प्रत्यवायाधिक्यार्थः । तनवः सूक्ष्माः केशाः शिरोरुहाः । अत्र येषु दृष्टविरोधित्वं दोषाणां तेषु सत्त्वपि विवाहे भार्यात्वासिद्धिर्यत्र दृष्टविरोधादर्शनं तद्दोषवत्या विवाहे भार्यात्वमेव न सिद्ध्यतीति कश्चित् तत्तु प्रमाणाभावात् नक्षत्रनामत्वादावपि भार्यात्वासिद्धिप्रसंगेन व्यवहारविरोधाच्चायुक्तम् । केवलनिषेधादृष्टे विरोधशून्ये दोषेषु परिणेतुः ऋषोत्पत्तिमात्रमनुमन्तुं युक्तमिति ॥ १० ॥

(३) कुङ्कुमः । अविकलाङ्गीमधुरसुखोद्यनाम्नीं हंसगजरुचिरगमनामनतिस्थूललोमकेशदशनां कीमलाङ्गीं कन्यामुद्वहेत् ॥ १० ॥

(४) राघवानन्दः । उद्वहनयोग्यामाह । अव्यङ्गेति । न्यूनाधिककुब्जाद्यङ्गरहिता । सौम्यनाम्नीं शशिनीचन्द्र-

(१०) तनुलोम = तन्वोष्ठ (मेधा०)

केत्यादिनाम्नी । हंसवारणगामिनीं हंसवत् वारणोहस्ती तद्गमनशीलां । अत्र विधिनिषेधौ अभ्युदयानभ्युदयफलौ ॥ १० ॥

(५) नन्दनः । अङ्गशब्दोवयवेशरीरेच ॥ १० ॥

(६) रामचन्द्रः । एतादृशीउद्गहेत् । अव्यङ्गाङ्गी अव्यङ्गमङ्गयस्याः सा तां । सौम्यनाम्नीसौम्यनाम यस्याः सा तां अछिन्नाङ्गीमित्यर्थः ॥ १० ॥

यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वा पिता ॥ नोपयच्छेत्तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥ ११ ॥

(१) मेधातिथिः । यस्याभ्रातानास्ति तां न विवहेत्पुत्रिकाधर्मशङ्कया पुत्रिकात्वशङ्कया पुत्रिकाधर्मः कदाचिदस्याः कृतो भवेत्पित्रेत्यनयाशङ्कया । अनेन संदेहेन कथंचेयं शङ्का भवति यदि न विज्ञायेत पिता देशान्तरे प्रोषितो भूतो वा सा च मात्रा पितृसपिण्डैर्वादीयते । प्रामकालापि पितर्यसंनिहित एतैरपि दातव्येति स्मर्यते । स्मृतिचोत्तरतो दर्शयिष्यामः । पितरि तु संविज्ञायमाने नास्ति पुत्रिकात्वशङ्का सह स्वयमेवाह कृता वा न कृतावेति । वाशब्दश्चेच्छब्दार्थे द्रष्टव्यः । यदि पिता न विज्ञायेत तदा कन्यका न वोढव्या । अन्येतु स्वतन्त्रमेतत्प्रतिषेधद्वयमाचक्षते । यद्यपि पिता न विज्ञायते अनेनेयं जातेति गूढोत्पन्नायाः प्रतिषेधः । एवं च संबन्धः यस्याभ्राता नास्ति तां पुत्रिकात्वशङ्कया नोपयच्छेत् । न विज्ञायत इत्यत्र पुत्रिकाशङ्कयेत्येतन्न संबध्यते । अस्मिन्प्रकरणे यत्र नास्ति दृष्टगतः प्रतिषेधः यथा असपिण्डाचेत्यत्र श्लोके । तदतिक्रमे विवाहस्वरूपानिर्वृत्तिरेव । अतः सगोत्रादिविवाहः कृतोऽप्यकृत एव विध्यवगमरूपत्वादाधानवद्विवाहस्य विध्यतिक्रमरूपादवगमात् । यथा धानविधौ यातिकचिदङ्गनज्ञातं तदभावे नाहवनीयादिनिर्वृत्तः एवमसगोत्रादिकायां भार्यात्वम् तस्मात्त्याज्यैव कृता तादृशसंस्कारप्रतिरूपिकापि । तत्र भवन्तो वसिष्ठादयः प्रायश्चित्तमपि स्मरन्ति तादृशविवाहे यद्यपि कर्मण एव तदङ्गप्रतिषेधातिक्रमे वैगुण्यं न साक्षात्पुरुषस्य दोषः । तथापि वाचनिकं प्रायश्चित्तम् । अथवा सगोत्रागमनं निषिद्धम् । तदर्थे व्यापारे प्रवर्तमाने यदुक्तं तत्प्रायश्चित्तं भवेत् । यस्तु हीनक्रियादिप्रतिषेधस्तस्य दृष्टदर्शनमूलत्वान्निवर्तते विवाहः भवत्यसौ भार्या नास्ति तस्यास्त्यागः । एवमर्थ एव महान्त्यपीति पूर्वस्मात्प्रतिषेधाद्भेदः स्तवनार्थं पठितः । एवमेव च शिष्टसमाचारः । कदाचित्कपिलादिरूपामुपयच्छति न सगोत्राम् ॥ ११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । न भवेन्नोत्पद्येत न विज्ञायेत कुलप्रवृत्तादिना प्रसिद्धिः सन्तत्यन्तराभावेनापरिभाषितपुत्रिकाशङ्कया आद्यायान विवाहः । द्वितीयस्या अधर्मशङ्कया ब्राह्मकन्यादिपरिणयकृतपापशङ्कयेति क्रमादन्वयः । अत्र पितेति विशेषोक्तेर्मातुरविज्ञानेपि न तादृशो दोष इत्युपदर्शितम् ॥ ११ ॥

(३) कुल्लुकः । अत्र विधिनिषेधयोरभिधानमनिषिद्धविहितकन्यापरिणयनमभ्युदयार्थमिति दर्शयितुमाह यस्या इति । यस्याः पुनर्भ्राता नास्ति तां पुत्रिकाशङ्कया नोद्गहेत् । यदपत्यं भवेदस्यास्तन्मम स्यात्त्वधाकरमित्यभिसंधानमात्रादपि पुत्रिका भवति अभिसंधिमात्रात्पुत्रिकेत्येक इति । गोतमस्मरणात् । यस्यावा विशेषेण पिता न विज्ञायतेऽनेनेयमुत्पन्नेति तामपि नोद्गहेत् । अत्र च पुत्रिकाधर्मशङ्कयेति न योजनीयमिति केचित् । गोविन्दराजस्त्वाह भिन्नपितृकयोरप्येकमातृकयोर्भ्रातृत्वप्रसिद्धेः सभ्रातृत्वेषु यस्याविशेषेण पिता न विज्ञायते तामपि पुत्रिकाशङ्कयैव नोद्गहेदिति । मेधातिथिस्तु एकमेव मंपक्षमाह । यस्यास्तु भ्राता नास्ति तां पुत्रिकाशङ्कया नोपयच्छेत् पिता चेन्न विज्ञायते प्रोषितो भूतो वा वा शब्दश्चेदर्थे पितरि तु विद्यमाने तदीयवाक्यादेव पुत्रिकात्वाभावमवगम्या भ्रातृकापि वोढव्येति । अस्माकं तु विकल्पस्वरसादिदं प्रतिभाति यस्याविशेषेण पिता न विज्ञायते ताममिजारजत्वेनाधर्मशङ्कया नोद्गहेत् । अत्र च पक्षे पुत्रिकाधर्मशङ्कयेति पुत्रिकाधर्मश्च

तयोः शङ्का पुत्रिकाधर्मशङ्कातयेति यथासंख्येयोजनीयम् । अत्र च प्रकरणे सगोत्रापरिणयने सगोत्रांचेदमत्योपयच्छे-
न्मातृवदेनाविश्रयादितपरित्यागश्रवणात्परिणीय सगोत्रांचेति प्रायश्चित्तश्रवणाच्च तत्र तत्समभिव्याहृते च मातृसपिण्डा-
परिणयनादौ भार्यात्वमेव न भवति भार्याशब्दस्याहवनीयादिवत्संस्कारवचनत्वात् । येषांपुनर्दृष्टगुणदोषमूलके विधिनिषे-
धाभिधाने यथाहीनक्रियमितिन तदतिक्रमे भार्यात्वाभावः । अतएव मनुना महान्त्यपि सप्तृदानीत्यादि पृथक्करणं कृतम्
एतन्मध्यपतितश्च नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीमित्यादिप्रतिषेधोपि न भार्यात्वाभावफलकः किंत्वत्र शास्त्रातिक्रमात्प्रायश्चित्तमा-
त्रम् ॥ ११ ॥

(४) राघवानन्दः । पुनरयोग्यातामाह यस्यास्त्विति । न ज्ञायते पिता प्रसिद्धितोद्दयतोवा तत्र हेतुः पुत्रिकेति ।
पुत्रिकात्वेन मनसानियुक्ता अथवानिः शङ्काप्राज्ञातपितृकत्वेन जारजमद्यपजाद्यधर्मशङ्कयेति । पुत्रिका च अधर्मश्च तयोः-
शङ्कायावा ॥ ११ ॥

(५) नन्दनः । अपुत्रेणपित्रा जनिष्यमाणानांदुहितृपुत्राणांस्वसंतानसंकल्पः पुत्रिकाधर्मः । भ्रातुरभावएवपुत्रिका-
धर्मशङ्का भवति सति पुत्रे पुत्रिकाधर्मस्य शास्त्रैरननुमतत्वेनाकिंचित्करत्वात् । ज्ञाते पितरि तु जातापिपुत्रिकाधर्मशङ्का
कथंचिन्निवर्तयितुंशक्यते । नपुनरज्ञाते । तेनोक्तंनविज्ञायेत द्वा पितेति ॥ ११ ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्याः कन्यायाः भ्राता न भवेत् पितावा न विज्ञायते तांकन्यांप्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया
नोपयच्छेन्नोद्धेत् ॥ ११ ॥

सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि ॥ कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशोऽवराः ॥ १२ ॥

(१) मेधातिथिः । उद्धेत द्विजोभार्यामिति सत्यपि द्वितीयानिर्देशे भार्यायाः प्रधानत्वे च गुणकर्मत्वे विवाहस्य
विवक्षितमेकत्वम् अनुद्देश्यगतत्वात् । यथायूपल्लिनतीति । यस्यान्यतः स्वरूपमवगतंतस्यान्यत्रकार्यान्तरविधानार्थमनूद्य-
मानस्य यथावगतस्वरूपस्यैवानुवादोभवतियथाग्रहसंमार्ष्टिति । पूर्वावगतिसापेक्षत्वादनुवादस्य । निज्ञातसंख्याकाह्रिग्रहाद-
शएतानध्वर्युः प्रातः सवने ग्रहान्गृह्णातीत्यादिवाक्यैः । कार्यंचावगतंग्रहैर्जुहोतीति । अतोवगत्यन्तरापेक्षत्वाद्ग्रहशब्दस्य न
विवक्ष्यते संख्या । इहतु भार्यालक्षणोऽर्थो नान्यतः सिद्धोऽस्मादेव वाक्यादवगन्तव्योऽतोयथाश्रुति प्रतीयते प्रातिपदिकार्थ-
वत्संख्यापि विवक्षतेति । प्रश्नमे चैतद्विस्तरस्तर्केण वक्ष्यते । स्थितार्यासंख्याविवक्षायां द्वितीयस्याः कृतेऽपि पाणिग्रहणे
न भार्यात्वं यथासत्यावहनीये न द्वितीयआहवनीयः । इष्यते च क्वचिन्निमित्ते भार्यान्तरपरिग्रहस्तदर्थमिदमारभ्यते । एत-
देवाभिप्रेत्य गौतमीयेपठितम् प्रजासंपन्नेदारैरनान्यांकुर्वीत अन्यतरापायेतु कुर्वीतेति । सवर्णा समानजातीया सातावदग्रे प्र-
थमतोऽकृतविजातीयदारपरिग्रहस्य प्रशस्ता । कृते सवर्णाविवाहे यदितस्यांकथंचित्प्रीतिर्न भवति कृतावपत्त्यार्थोऽप्यपारो न
निष्पद्यते । तदाकामहेतुकायांप्रवृत्ताविमावक्ष्यमाणाः सवर्णावराः श्रेष्ठाः शास्त्रान्तु ज्ञातव्याः । अतएकत्वस्य सवर्णनियमस्य
चायमपवादः । ननुच सवर्णाविवाहे पारतन्त्र्यंप्रतीयते नसवर्णायाबहुत्वं एकत्वसंख्यातिक्रमस्तावत्प्रतीयते । असवर्णा-
भ्यनुज्ञानेनाप्यतिक्रान्तंचेत्कः सवर्णायानिषेधकः । तथा गौतमेनाविशेषणैव पठितम् अन्यतरापायेतु कुर्वीतेति । उत्तर-
श्लोके साचत्वाचेतिसवर्णाविवाहेऽस्ति ॥ १२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अग्रे प्रथमं सवर्णैर्विदारकर्मणि प्रशस्ता श्रेयोहेतुः । नासवर्णा तादृक् श्रेयोर्भित्वाभावेन तु
कामतः प्रवृत्तौ क्रमशोऽथवा पूर्वं इमाः वराः श्रेष्ठाः ॥ १२ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणक्षत्रियवश्यानांप्रथमे विवाहे कर्तव्ये सवर्णा श्रेष्ठा भवति । कामतः पुनर्विवाहे प्रवृत्तानामेतावक्ष्यमाणाआनुलोम्येन श्रेष्ठाभवेयुः ॥ १२ ॥

(४) राघवानन्दः । त्रैवर्णिकस्य सवर्णावर्णभेदेनोद्वाहस्यानेकत्वात्क्रमाकाङ्क्षायांतप्राह सवर्णेति । दारकर्मणिदारसाध्ये अपत्योत्पत्तौ धर्मादौ च । इमाः साचेत्यादिना वक्ष्यमाणास्तिस्रः । अवरानिरुष्टाः अग्रेकृतसवर्णायामरुचावाह कामतइति न क्रमवैपरीत्यपरम् ॥ १२ ॥

(५) नन्दनः । सवर्णोद्वाहनियमेन प्रतिषिद्धमसवर्णोद्वाहमधिकारिविशेषेण प्रतिजानाति सवर्णेति । क्रमशः अग्रे सवर्णा प्रशस्ता तदन्वनन्तरा तदन्वेकान्तरा तदनुद्यन्तरेत्यर्थः । अवराःहीनवर्णाः । इमावक्ष्यमाणाः ॥ १२ ॥

(६) रामचन्द्रः । अग्रे प्रथमतः द्विजातीनांसवर्णा दारकर्मणि प्रशस्ता । कामतःप्रवृत्तानांक्रमशः अवराःहीनाः-इमावक्ष्यमाणालक्षणाःस्युः ॥१२ ॥

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृतेः । ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥ १३ ॥

(१) मेधातिथिः । वर्णभेदेऽसतिसवर्णानियमोयथैवब्राह्मणस्य क्षत्रियादिस्रियोभवन्तिएवंशूद्रस्य जातिन्यूना-रजकतक्षकादिस्रियः प्राप्ताः । अतः सवर्णेयमुच्यते । उत्कृष्टजातीयातु पूर्वत्र क्रमग्रहणादप्रामा । साचशूद्रास्वाचवैश्यावैश्यस्यतेचवैश्याशूद्रेस्वाचराजन्यस्य एवमग्रजन्मनोब्राह्मणस्यक्रमेण निर्देशे कर्तव्ये शूद्रक्रमेण निर्देशः पूर्वोक्तमेवार्थ-उपोदलयतियदुक्तं विकल्पआनुपूर्व्येण नावश्यंसमुच्चयः ॥ १३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तदाह शूद्रैवेति । स्वा स्वजातीया ॥ १३ ॥

(३) कुल्लूकः । शूद्रस्य शूद्रैव भार्याभवति । नतूत्कृष्टावैश्यादयस्तिष्ठतः । वैश्यस्य च शूद्रा वैश्याच भार्यामन्वादिभिः स्मृता । क्षत्रियस्य वैश्या शूद्रेक्षत्रियाच । ब्राह्मणस्य क्षत्रिया वैश्या शूद्रा ब्राह्मणी च । वसिष्ठोऽपि शूद्रामन्येके-मन्त्रवर्जमिति द्विजातीनामन्त्रवर्जितंशूद्राविवाहमाह ॥ १३ ॥

(४) राघवानन्दः । शूद्रस्यापि तथात्वे रागतः ग्रामे परिचष्टे । शूद्रैवेति । सा शूद्रा स्वा वैश्या । तेचशूद्रावैश्येच स्वा क्षत्रियाचतिसोराज्ञः । ताश्च शूद्रावैश्याक्षत्रियाः स्वाच ब्राह्मणी अग्रजन्मनो ब्राह्मणस्य ॥ १३ ॥

(५) नन्दनः । एवकारेण केवलशूद्रभार्यत्वं शूद्रस्यैव नान्यस्येति सूचितम् । त्वशब्दग्रहणेन सवर्णयामूढायामेवासवर्णावोढ्येतिप्रत्येकंनिर्देशेननोत्तरा वोढ्येति ॥ १३ ॥

(६) रामचन्द्रः । शूद्रस्य शूद्रैव भार्या । विशःवैश्यस्य सा शूद्री स्वा वैश्या स्मृतेऽुक्ते । राज्ञः क्षत्रिया वैश्या शूद्राच । अग्रजन्मनो ब्राह्मणस्य तास्तिष्ठतः क्षत्रिया वैश्या शूद्रा च एतास्तिष्ठाः स्वाच ब्राह्मणी ज्ञेया ॥ १३ ॥

न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः ॥ कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते ॥ १४ ॥

(१) मेधातिथिः । यद्यप्यन्यन्तरूपवती शूद्रा विप्रराजन्यौचवीरप्रकृती दशमीमपि दशमश्रुवीयातांतथापि शूद्रा-नाधिवोढारौ अत्रार्थवादः । कस्मिंश्चिदपिवृत्तान्ते न कचिदितिहासोपाख्यानेऽप्युपदिश्यते वर्ण्यते । आपदि गरीयस्याम-धिकायामापदि पूर्वत्रानुज्ञाताऽनेनप्रतिषिद्धा अतोविकल्पः । ननु च शास्त्रलक्षणयोरेकविषयसंनिपाते षोडशग्रहणायग्रहणव-द्विकल्पोयुक्तोनतुरागलक्षणायाः प्रवृत्तेर्निषेधेन । नच शूद्रा शास्त्रलक्षणा केवलंरागतस्तत्रप्रवृत्तिरप्रतिषिद्धेति पूर्वशास्त्रस्या-र्थः । निषेधस्तु शास्त्रलक्षणइत्यविवाहैव शूद्रा । एतेदेवाभिप्रेत्य याज्ञवल्क्येन पठितं यदुच्यतेद्विजातीनांशूद्रादारोपसंग्रहः ।

नतन्मममर्तमिति । अत्रोच्यते । सर्वत्रोपदेशानर्थकतयैव विकल्प आश्रीयते यदिचात्यन्तमेव शूद्राप्रतिषेधः स्यात्तदा क्षत्रियवैश्ये एव प्रतिप्रसूयेयानाम् । आपद्यभ्यनुज्ञाने प्रतिप्रसवशास्त्रमयं च प्रतिषेधोद्वयमपि व्यर्थं स्यात्सवर्णाया नियमेन सिद्धत्वात् । तदिदमनुज्ञातं प्रतिषेधश्चात्स्वविरुध्यमाने विकल्पते ननु च विकल्पे कामचारस्तस्य च प्रतिप्रसवतएव सिद्धः प्रतिषेधोवक्तव्योनैव । न यथाकामतः क्षत्रियावैश्ययोर्विवाहएवंशूद्राया अन्यत्रापदोगरीयः स्यात् । इदं तु प्रतिपत्तुं युक्तं यत्सवर्णानियमेनासवर्णानिवृत्तेरर्थतः कृतायाः पुनः शूद्रानिवृत्तिरसवर्णानिवृत्तेरन्वित्यत्वं ज्ञापयति । अनित्यत्वेचापि सवर्णाया अलाभे वा भवति चायमवगमः शूद्रानवोढव्या इतरे तु वोढव्ये ॥ १४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र शूद्राविवाहेन केवलमसवर्णविवाहदोषः । किंतु दोषान्तरमपीत्याह न ब्राह्मणेति । आपद्यपि दुर्भिक्षादौ शूद्राविवाहेन धनलाभान्निस्तारसंभवेपीत्यर्थः । वृत्तान्ते प्रस्तावे यथा भार्यान्तरोद्वाहासंभवेन संतानविच्छेदस्तदापीत्यर्थः । उपदिश्यते अनुज्ञायते ॥ १४ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणस्य क्षत्रिययोर्गार्हस्थ्यमिच्छतोः सर्वथा सवर्णालाभे कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्त इतिहासाख्यानेऽपि शूद्रभार्या नाभिधीयते । पूर्वसवर्णानुक्रमेणानुलोम्येन विवाहाद्यनुज्ञानादयं निषेधः प्रातिलोम्येन विवाहविषयो वोढव्यः । ब्राह्मणक्षत्रियग्रहणं चेदं दोषभूयस्त्वार्थमनन्तरं द्विजातय इति बहुवचनाद्वैश्यगोचरनिषेधस्यापि वक्ष्यमाणत्वात् ॥ १४ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्राह्मणादित्रयाणां रागतः शूद्रोद्वाहमनूय ब्राह्मणक्षत्रिययोर्निषेधति नेतिहाभ्यां । वृत्तान्ते इतिहासादौ ॥ १४ ॥

(५) नन्दनः । अथ ब्रह्मक्षत्रियाभ्यां सवर्णायां प्रथममुद्बोद्धुमशक्यायामसवर्णापिवोढव्या न कदाचिदपि प्रथमं शूद्रेत्याह न ब्राह्मणेति । आपत्सवर्णाया अनन्तराया वाप्यलाभः । वृत्तान्ते वृत्तमाचारो धर्म इति यावत् अन्तः निर्णयः धर्मशास्त्र इत्यर्थः । भार्या नोपदिश्यते भार्यात्वेन नोपदिश्यते । किन्तु काम्यत्वेनेत्यर्थः ॥ १४ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणक्षत्रिययोः तिष्ठतोः । आपद्यपि त्ववर्णाया अलाभेपि शूद्रा भार्या नोपदिश्यत इत्यर्थः ॥ १४ ॥

हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्बुहन्तो द्विजातयः ॥ कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम् ॥ १५ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्य प्रतिषेधस्य शेषोऽयं निन्दार्थवादः । हीनजातिः शूद्रैव तस्याएव प्रकृतत्वात् । ससन्तानानि शूद्रतामिति निगमनात् एतं द्विजातयः मोहाद्धनलोभजादिविवेकात् कामनिमित्तत्वाद्वा कुलानि शूद्रतांगमयन्ति । तस्यांजाताः पुत्राः शूद्राभवन्त्येवं तत्पुत्रपौत्रा इति । अत उच्यते ससन्तानानिति । संतानोऽपत्योत्पत्तिप्रबन्धः पुत्रपौत्रादिः ॥ १५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । हीनजातिशूद्रां । कुलानि पित्रादिरूपाणि ससन्तानानि ब्राह्मणीजातत्त्वपुत्रादीनि वृषलतानयन्तीति सर्वसाधारणोद्बोद्धव्यः ॥ १५ ॥

(३) कुल्लूकः । सवर्णामपि परिणीय हीनजातिशूद्रां शास्त्राविवेकात् परिणयन्तो ब्रह्मक्षत्रियवैश्यास्तत्रोत्पन्नपुत्रपौत्रादिक्रमेण कुलान्येव ससन्तानानि शूद्रतांगमयन्ति अत्र द्विजातय इति बहुवचननिर्देशान्निन्द्यावैश्यस्यापि निषेधः कल्प्यते । ब्राह्मणक्षत्रिययोस्तु पूर्वत्रैव निषेधकल्पनात्तन्निन्दामात्रार्थतैव ॥ १५ ॥

(४) राघवानन्दः । हीनजातिशूद्रां । तदुत्पन्नपुत्रपौत्रादिना शूद्रतानयन्तीति कुल्लूकः । मेधातिथिस्तु सर्वत्रोपदेशानर्थक्यादिकल्प इति । केचिदिमं निषेधं क्रमवैपरीत्यमिति व्याचक्षते तन्न वक्ष्यमाणमतभेदेनोपपत्तेः ॥ १५ ॥

(५) नन्दनः । न केवलंब्राह्मणक्षत्रिययोरेवनिषेधः किन्तुवैश्यस्यापीतिसूचयितुमर्थवादमाह हीनेति । हीनजाति-
संस्कारहीनोत्पत्तिशूद्राद्विजातयोमत्तसंस्कारयुक्ताः स्त्रियमुद्रहन्तः प्रथमभार्यात्वेनोद्रहन्तस्तस्यामुत्पन्नेनापत्येनकुलंसंत-
तिशूद्रतांजातकर्मदिसंस्कारहीनतामाशुनयन्ति ॥ १५ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्विजातयोहीनजातिस्त्रियमोहादज्ञानादुद्रहन्तःकुलानि सन्तानानि शूद्रत्वरूपतामाशुशीघ्रंनयन्ति
॥ १५ ॥

शूद्रावेदीपतत्यत्रे रतथ्यतनयस्य च ॥ शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतयाभृगोः ॥ १६ ॥

१) मेधातिथिः । शूद्राविन्दति परिणयति शूद्रावेदी सपतति पतितइव । अत्रिरुतथ्यस्य तनयः पुत्रस्तयोरेतन्मतमि-
त्युपस्करः अयंतावदर्धश्लोकः पूर्वप्रतिषेधशेषः । शौनकस्यसुतोत्पत्त्याशास्त्रान्तरमिदम् । अभ्यनुज्ञायशूद्रायामृतावुपगम-
ननिषेधतिसुतोत्पत्तिर्नृत्तौयुग्मासु रात्रिषु भवतिऋतौशूद्रानगच्छेदित्यर्थः । तदपत्यतयाभृगोः इदमपिस्मृत्यन्तरम् तान्ये-
व शूद्रोत्पन्नान्यपत्यानि यस्य सतदपत्यःतद्भावस्तदपत्यता । भृगोरेतन्मतंऋतावप्युपपन्नतरासु जातापत्यउपेयात् ।
पतितत्ववचनंचात्रनिन्दैव नत्वस्य पतितधर्मता पतितस्योदकमित्यादि । एतच्चवक्ष्यामः ॥ १६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अथ गोत्रविशेषनियतदोषमाह शूद्रावेदीति । शूद्रावेदी शूद्रापरिणता अत्रेःसंज्ञकस्य
मुनेर्मते सन्तत्यनुत्पत्त्यापि पतति द्विजातिकर्मभ्योहानिःपतनमिति । गौतमोक्तपातित्ययोगी भवति । उतथ्यतनयोगौ-
तमस्तद्वोत्रजस्येति सुतोत्पत्त्येत्यनेन व्यवहितेनान्वितम् । शौनकस्येत्यपि तदपत्यतयेत्यनेनान्वितम् । तेन गौतमगो-
त्रस्य पुत्रोत्पत्त्या शौनकभृग्वादीनांतु पौत्रोत्पत्त्या शूद्रतुल्यत्वहेतुर्द्विजातिधर्महानिरूपपातित्यमित्यर्थः । एतच्च तत्तत्गोत्र-
कर्तृणांतेन तेन प्रकारेण पूर्वपातित्यस्योत्पन्नत्वान्नैरेव नियमितम् । अएतव भविष्ये शूद्रामारोप्यशय्यांतुपतितोत्रिर्बभूवह ।
उतथ्यःपुत्रजननात्पतितत्वमवाप्तवान् ॥ पुत्रस्य पुत्रमासाद्य शौनकःशूद्रतांगतः । भृग्वादयोप्येवमेव पतितत्वमवाप्तुः ॥
अत्र च भृग्वादयइत्यादिपदादत्रिगौतमव्यतिरिक्तानांसर्वेषांप्रहणं केचिच्चात्रेस्तनयस्येति षष्ठ्यर्थव्याचक्षते । एवमुत्तरेष्वपि
तनु व्याख्यानंव्यवस्थितार्थानभिधानेन शूद्रावेदनस्यादोषत्वमापादयन्निषेधविध्यानर्थक्यस्य प्रसंजकतया हेयमेव ॥ १६ ॥

(३) कुल्लूकः । शूद्राविन्दति परिणयतीति शूद्रावेदी सपतति पतितइव भवतीदमत्रेर्मतमुतथ्यतनयस्य गौतम-
स्यच । अत्र्यादिग्रहणमादरार्थम् । एतद्ब्राह्मणविषयम् । शूद्रायांसुतोत्पत्त्या पततीति शौनकस्य मतमेतत्क्षत्रियविषय-
म् । शूद्रातसुतोत्पत्त्या पततीति भृगोर्मतमेतद्वैश्यविषयम् । एतस्य महर्षिमतत्रयस्य व्यवस्थासंभवे विसदृशपतनविक-
ल्पायोगात् । मेधातिथिगोविन्दराजयोस्तु मतं शूद्रावेदी पततीति पूर्वोक्तशूद्राविवाहनिषेधविशेषः सुतोत्पत्त्या पततीति
देवाज्जातशूद्राविवाह ऋतौनोपेयादितिविधानार्थमृतुकालगमने सुतोत्पत्तेः । तदपत्यतयेति तु तान्येव शूद्रोत्पन्ना
न्यपत्यानि यस्य सतदपत्यस्तस्य भावस्तदपत्यता तथा पतति एतेनेदमुक्तंऋतावुपयनितरासु जातापत्यउपेयात् ॥ १६ ॥

(४) राघवानन्दः । तदेवमतभेदेनाह शूद्रावेदीति । शूद्राविन्दते परिणयते इति शूद्रावेदी अत्रेः उतथ्यतनयस्य
गौतमस्य च मते विवाहमात्रेण पतति । शौनकस्य तु मते सुतोत्पत्त्या । अतएव देवाज्जातशूद्राविवाहे ऋतौ नोपेयादिति
वचनं संगतं । ततएवर्तुतः शूद्रायांजातमपत्य सामान्यंचास्य अतइदमपि वक्ष्यमाणंसंगच्छते । जनयित्वा सुतंतस्यां
ब्राह्मण्यादेवहीयतइति । तदपत्यतया शूद्रापत्यापत्यत्वेनेति भृगोर्मतं । उदिसानुदितहामवत् विप्रराजन्यविशांयथाक्रम-
व्यवस्थितसंबन्धइति केचित् । तन्न उत्तरत्र विप्रविषयएव निन्दार्थवादानांदष्टे ॥ १६ ॥

(५) नन्दनः । अत्रमतान्तराण्युपन्यस्य स्वमतसिद्धान्तयति शूद्रावेदीति शूद्राभार्यात्वेनविन्दतीति शूद्रावेदी तेनप-

ततीत्यत्रेह्यतनयस्यचमतम् । शूद्रामूढवानप्युतथ्यतनयोगौतमः । शूद्रायांसुतोत्पादनेनपतति न पुनस्तस्याउद्धहनेनेति शौनकस्यमतम् । शूद्रामूढवानपितस्यांसुतोत्पत्तिभयादतौतांनोपेयादित्वर्थः । तदपत्यतयाभृगोरित्येतत्त्वमतम् कुतः भृगुमुखेनशास्त्रस्यास्यप्रोच्यमानत्वात् । तदपत्यतया तस्यांशूद्रायामेवापत्यंयस्य सतदपत्यः तस्य भावः तदपत्यता । तथापततीतिभृगोर्ममतम् । शूद्रापत्यैश्चकेवलैरिति वक्ष्यति । रामोद्विर्नाभिभाषतइत्युक्तिवदत्रास्मच्छब्दरहितापिस्वमतप्रकाशनपरिंभृगोरित्युक्तिः ॥ १६ ॥

(६) रामचन्द्रः । शूद्रांविन्दति परिणयति शूद्रावेदी पतति पतितइव भवति । चपुनः उतथ्यतनयस्य दीर्घतमसः मते शूद्रावेदीशूद्रायाः परिणेतो द्विजः पतति । एतद्ब्राह्मणविषयंअर्धश्लोकःपूर्वप्रतिषेधः । शेषःशौनकशास्त्रान्तरमिति ज्ञायते । शौनकस्यमते सुतोत्पत्त्या पतति शूद्रएव केवलमपत्यम् । यद्वा सएवापत्यंतदपत्यंसएव मुख्यः पुत्रएव तत्क्षत्रियविषयम् । भृगोर्मते तदपत्यतया पौत्रोत्पत्त्या ब्राह्मण्यादिपुत्रस्याभावात्पूर्वोक्तशूद्रस्य विवाहनिषेधशेषः । सुतोत्पत्त्या पतति दैवात्शूद्राविवाहे ऋतौ नोपेयादिति विधानार्थंऋतुकालागमने सुतोत्पत्तिंशूद्रेकेवलमपत्यं । एतद्वैश्यविषयम् ॥ १६ ॥

शूद्रांशयनमारोप्य ब्राह्मणोयात्यधोगतिम् ॥ जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥ १७ ॥

(१) मेधातिथिः । अर्थवादोऽयम् यदि पुत्रमुत्पादयति तस्यांततोब्राह्मण्यादेव हीयते । अपत्यस्याब्राह्मणत्वमिति निन्दैव । सुतमितिच पुल्लिङ्गनिर्देशात्सुतोत्पत्तेरित्यत्रसमानसंहितत्वेपि पुत्रोत्पत्तिरेवाभिप्रेता तथाचदर्शितंयुगमारात्रयो वर्ज्याइति ॥ १७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रसंगादधिविन्नायामपि शूद्रायामैथुने दोषमाह शूद्रामिति । आरोप्येति कारणेन कार्यमैथुनमुक्तम् । अधोगतिं नरकं । ब्राह्मण्यात् ब्राह्मणकर्मणः ॥ १७ ॥

(३) कुल्लूकः । सवर्णमपरिणीय दैवात्स्नेहाद्वा शूद्रापरिणेतुब्राह्मणस्य शयननिषेधोयंनिन्दया निषेधस्मृत्यनुमानात् शूद्रांगत्वा ब्राह्मणोनरकंगच्छति । जनयित्वा सुतंतस्यामित्यृतुकालगमननिषेधपरम् । ब्राह्मण्यादेव हीयतइति दोषभूयस्त्वार्थम् ॥ १७ ॥

(४) राघवानन्दः । तानेवाह शूद्रामिति त्रिभिः ॥ १७ ॥

(५) नन्दनः । केवलशूद्रभार्यत्वंतदपत्यत्वंच ब्राह्मणस्यदोषातिशयावहमित्याह शूद्रामिति । शयनमारोप्यकेवलशूद्रामूढेत्यर्थः । तस्यांकेवलशूद्रायाम् ॥ १७ ॥

दैवपिच्यतिथेयानि तत्प्रधानानि यस्य तु ॥ नाश्रन्ति पितृदेवास्तत्र च स्वर्गं सगच्छति ॥ १८ ॥

(१) मेधातिथिः । सार्वकालिकोऽयंनिषेधः । यदि कथंचिच्छूद्रापिच्युत्सतेतदैतानि कर्माणि तत्प्रधानानि नकर्तव्यानि । नच तथा सह त्रैवर्णिकस्त्रीवद्धर्मैधिकारोऽस्तीत्यर्थः । भार्यात्वादधिकारे प्राप्ते निषेधोऽयम् । अतःस्वधर्मे धनं विनियुञ्जानस्य न तदीयानुज्ञोपयुज्यते यथा द्विजातिस्त्रीणाम् । अन्यत्र त्वर्थकामयोः साप्यनतिचरणीयैव प्रेष्यावत्तकर्मोपयोगोननिषिध्यते श्राद्धादाववहननादिकार्ये तत्र न दोषः स्यात् । परिवेषणादि न कारयितव्या । तत्रदैवं कर्म दर्शपूर्णमासादि देवतोद्देशेन च ब्राह्मणभोजनंन्रतवदित्यत्रयथाव्याख्यातम् । पिच्यंश्राद्धोदकतर्पणादि । आतिथेयमतिथेराराधनं भोजनपाद्यादि ननु च सजात्या स्थितयाऽत्यये नास्त्येव प्रतिषेधः । नैव स्थितयेति तत्र श्रूयते । ऋतुमत्यां सवर्णायां

कथंचिद्वाऽसंनिहितायांप्राप्नोति क्षत्रियावैश्यवत् । अपिच नासावधिकारेप्रतिषेधः । किंतिहं आज्यावेक्षणादौ । पत्न्यावेक्षितमाज्यं भवतीत्यङ्गत्वेनोपादीयते । पत्नीत्यत्र ऋत्वर्थेषु यया कयाचिदुपात्तया सिद्धिरनियमेन प्राप्ता । यथा बच्चीषु सवर्णासु ययाकयाचित्सवर्णया क्रियते एवमसवर्णयापि माकारीत्येवमर्थोऽसौ प्रतिषेधः । प्राधान्यमधिकारित्वात् । नाश्रन्ति पितृदेवास्तमिति कर्मनैष्कल्यमाह । नच स्वर्गसगच्छति यद्यन्यतिथिरश्राति तत्फलंस्वर्गादि नभवतीतिस्वर्गग्रहणमतिथिपूजाफलोपलक्षणार्थम् । अनुवादश्चधन्यं यशस्यमित्यादि ॥ १८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यदुक्तंकस्मिंश्चिदपि वृत्तान्तइतिदोषकथनेन स्पष्टयितुमाह देवेति । तत्प्रधानानि भार्यान्तराभावात् । न च स्वर्गमित्यातिथेयविषये दोषउक्तः । तत्र नादन्त्यतिथयइत्यभिधानयोगात् ॥ १८ ॥

(३) कुल्लूकः । यदि कथंचित्सवर्णानुक्रमेणाक्रमेणवाशूद्रापि परिणीयते तदा भार्यात्वेन प्रसक्तानि तत्कर्तृकानि दैवैत्यनेननिषिध्यन्ते । दैवहोमादि पित्र्यंश्राद्धादि आतिथेयमतिथिभोजनादि एतानि यस्य शूद्रासम्पाद्यानि तद्धव्यंकव्यंपितृदेवानाश्रन्ति न च तेनातिथ्येन सगृही स्वर्गयाति । यस्तु तत्कारयेन्मोहात्सजात्यास्थितयान्ययेति सवर्णायांसन्निहितायानिषेधंवक्ष्यति अयंत्वसन्निहितायामपीत्यपुनरुक्तिः ॥ १८ ॥

(४) राघवानन्दः । दैवहोमादि । पित्र्यंश्राद्धादि । शूद्रास्तत्सुताश्च प्रधानतया येषुतानीति नच स्वर्गं ब्राह्मण्याभावेन स्वर्गसाधनकर्माभावात् ॥ १८ ॥

(५) नन्दनः । एतमेवार्थंविशदयतिदैवेति । यस्यद्विजस्यतत्प्रधानानि शूद्राप्रधानानि तस्यतत्प्रदेयंपित्र्यमातिथेयंच देयम् । पितृदेवानादन्तिनाश्रन्ति । आतिथेयस्यापि देवपित्र्यत्वादुक्तंपितृदेवाइति । ततश्चस्वर्गंनगच्छति । नब्राह्मणक्षत्रिययोरित्यारभ्य यदिदंशूद्राभार्यत्वंनिषिध्यते तत्केवलशूद्राभार्यत्वविषयमितितत्प्रधानानीत्यनेनस्पष्टीकृतम् । नहि त्रैवर्णिकस्य तत्स्त्रीभार्यस्यदैवपित्र्यातिथेयानि शूद्राप्रधानानिभवन्तीतिच ॥ १८ ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्य पुंसस्तस्यामुख्यतया प्रधानानि कृतानि दैवपित्र्यातिथेयादीन्येतानि पितरोदेवाश्च नादन्ति न भक्षयन्ति च पुनः सोऽपि पुमान्स्वर्गं न गच्छति ॥ १८ ॥

वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च ॥ तस्यांचैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥ १९ ॥

(१) मेधातिथिः । अर्थवादोऽयम् । वृषल्याः फेनोवृषलीफेनोवत्क्रासवः सपीतोयेन पलाण्डुभक्षितादिवत्परनिपातः । पाठान्तरे वृषलीपीतफेनस्यपीतः फेनोयस्येतिविग्रहः वृषल्या पीतफेनः तृतीयेतियोगविभागात्समासः पीतःफेनोवाऽनेनेतिविग्रहेवृषल्याइति षष्ठीसमासः । अर्थस्तुसर्ववृत्तिष्वेकएव । संप्रयुज्यमानयोरधरपरिचुम्बनाद्यवश्यंभावि तेनच सहचारिणा धर्मेण मैथुनसंबन्धोलक्ष्यते । प्रकरणाच्च विवाहप्रतिषेधशेषोऽयं न पृथग्वाक्यम् । तत्त्वेहिचुम्बनादिवर्जनियोगधर्मोबहुमतः स्यात् । तस्माद्गच्छञ्छूद्रांचुम्बनादिपरिफेनेन न किंचिच्छास्त्रार्थमनुतिष्ठति । तस्यांचैवप्रसूतस्य ऋतौतुगच्छतइत्यर्थः । निष्कृतिःशुद्धिर्नास्तिइतिनिन्दातिशयोयम् ।

यतःसंभवएवात्रकैश्चित्सप्तमीपञ्चम्यौनानुज्ञातेसप्तमीपञ्चमीचैव मातृतः पितृतस्तथेति अन्यैस्तुऊर्ध्वसप्तमात्पञ्चमाच्च तत्र विकल्पलभ्यमाना पञ्चमी न विवाहा असंभवे तु न दोषः ॥ १९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वृषलीफेनपीतस्य पीतवृषलीमुखफेनस्य । निःश्वासोवृषल्याएव । एतेन प्रधानमैथुनाभावेपि

(२) दैवैत्यनेन=दैवादीनि (अ)

प्राप्याङ्गमात्रेण दोषउक्तः । प्रसूतस्योत्पन्नापत्यस्य निष्कृतिर्निस्तारः । पापात् न विधीयते नानुमतोविना प्रायश्चित्त-
मित्यर्थः ॥ १९ ॥

(३) कुड्डूकः । वृषलीफेनोऽधररसःसपीतोयेन सवृषलीफेनपीतः । वाहिताग्न्यादिष्वित्यनेनसमासः । अनेन शूद्रा-
याअधररसपानंनिषिध्यते । निःश्वासोपहतस्य चेति तया सहैकशय्यादौ शयननिषेधः तस्यांजातापत्यस्य शुद्धिर्नोप-
दिश्यतइत्यृतुकालगमननिषेधानुवादः ॥ १९ ॥

(४) राघवानन्दः किंच वृषलीफेनपीतस्य शूद्राधरसुधापायिनः चुम्बनेन भोगकाले । तन्निःश्वासेनोपहतं
स्पृष्टंशरीरंयस्य तस्य । प्रसूतस्य स्वयमेवापत्यतया जातस्य । निष्कृतिः शुद्धिः । ऐहिकामुष्मिकयोःकर्मणोर्नाधिकारइति
भावः ॥ १९ ॥

(५) नन्दनः । उत्तंनिगमयति वृषलीति । वृषलीफेनपीतस्यपीतवृषलीलालाजलस्य । वृषलीभोगोपलक्षणमेतत् ।
प्रसूतस्यजातापत्यस्यद्विजस्य । निष्कृतिः प्रायश्चित्तम् । एवकारेणत्रैवार्णिकस्त्रियामप्रसूतस्य शूद्रायामेव प्रसूतस्य प्राय-
श्चित्ताभावइतिसूचितम् ॥ १९ ॥

(६) रामचन्द्रः । वृषलीफेनपीतस्य रतिसमये शूद्रायाअधरपानस्य च पुनर्निःश्वासोपहतस्य तया सहैकशय्या-
निषेधः । तस्यांवृषल्यांप्रसूतस्य जातस्य निष्कृतिर्न विद्यते । सवर्णामपरिणीय दैवाच्छूद्रापरिणेतुर्ब्राह्मणस्य निषेधः । ऋ-
तुकालगमननिषेधानुवादः । आत्मा वै जायते पुत्रइति श्रुतेः ॥ १९ ॥

चतुर्णामपि वर्णानांप्रेत्य चेह हिताहितान् ॥ अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत ॥ २० ॥

(१) मेधातिथिः । वक्ष्यमाणस्य संक्षेपोपन्यासः । हिताश्चाहिताश्च केचिद्धिताः केचिन्न । अष्टावितिसंख्यानिर्दे-
शः । समासःसंक्षेपः । स्त्रीसंस्कारार्थाविवाहाः स्त्रीविवाहाः । कःपुनरेवंविवाहोनाम उपायतः प्रामाया दारकरणार्थः संस्का-
रःसेतिकर्तव्यताङ्कःसमर्पिदर्शनपर्यन्तो पाणिग्रहणलक्षणः ॥ २० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । हिताहितान् हितानहितान् । तत्र केचित्सर्वेभ्यो वर्णेभ्योहिताः केचिदहिताः । केचित्
कस्मैचिदेव तादृशाइतिवक्ष्यति ॥ २० ॥

(३) कुड्डूकः । चतुर्णामपिवर्णानांब्राह्मणादीनांपरलोकइहलोके च कांश्चिद्धितान्कांश्चिदहितानिमानभिधास्य-
मानानष्टौ संक्षेपेण भार्याप्राप्तिहेतून्विवाहाञ्छृणुत ॥ २० ॥

(४) राघवानन्दः । विप्रादीनां तानेवोद्वाहानष्टसङ्ख्याकान् ब्राह्मादीनाह चतुर्णामपीति द्वाभ्यां । हिताहितान्त्वर्ग-
नरकसाधनात् स्त्रीविवाहान् स्त्रीकर्मकान् । अनेन स्वयंवरविवाहोनाष्टसु गण्यतइतिभावः ॥ २० ॥

(५) नन्दनः । अथविवाहभेदानाह चतुर्णामिति । यथाविवाहइह प्रेत्य च हितानत्रहितान्विपरीते ॥ २० ॥

(६) रामचन्द्रः । चतुर्णवर्णानांप्रेत्य इहलोकेचहिताहितानिमांस्त्रीविवाहानष्टौ निबोधत ॥ २० ॥

ब्राह्मोदैवस्तथैवार्थः प्राजापत्यस्तथासुरः ॥ गान्धर्वोराक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोधमः ॥ २१ ॥

(१) मेधातिथिः । संख्यायाष्टौव्युद्दिष्टानां नामधेयानीमानि । अधमग्रहणपैशाचस्यनिन्दार्थम् ॥ २१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । येन विवाहेनोत्पन्नया संतत्या ब्रह्मलोकप्राप्तिः सब्राह्मः । एवंदैवोपि ॥ २१ ॥

(३) कुल्लूकः । त एते नामतो निर्दिश्यन्ते । ब्राह्मराक्षसादिसंज्ञाचेयं शास्त्रसंव्यवहारार्था स्तुतिनिन्दाप्रदर्शनार्था-
च । ब्रह्मण इवायं ब्राह्मः । रक्षस इवायं राक्षसः । न तु ब्रह्मादिदेवतात्वं विवाहानां संभवति । पैशाचस्याधमत्वाभिधानं-
निन्दातिशयार्थम् ॥ २१ ॥

(४) राघवानन्दः । तेषां संज्ञामाह ब्राह्म इत्यादि ॥ २१ ॥

(५) नन्दनः । आर्षात्प्राजापत्यस्य श्रेष्ठ्यं फलतो वक्ष्यति । वृत्तभङ्गभयात्क्रमभङ्गः ॥ २१ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मसंज्ञः १ दैवसंज्ञः २ आर्षसंज्ञः ३ प्राजापतिसंज्ञः ४ आसुरसंज्ञः ५ गान्धर्वसंज्ञः ६ राक्ष-
ससंज्ञः ७ पैशाचसंज्ञः ८ उक्तेष्वेतेष्वष्टमोऽधमः ॥ २१ ॥

यो यस्य धर्म्यो वर्णस्य गुणदोषौ च यस्य यौ ॥ तद्वः सर्वप्रवक्ष्यामि प्रसवे च गुणागुणान् ॥ २२ ॥

(१) मेधातिथिः । धर्मादनपेतो धर्म्यः शास्त्रविहित इत्यर्थः । यस्य च विवाहस्य यौगुणदोषौ इष्टानिष्टफलहेतुत्वा-
द्रुणदोषौ । प्रसवेऽपत्यजन्मनि । गुणागुणाः अगुणोदोषः । वोढुरेव स्वर्गनरकादिलक्षणौ गुणदोषौ तत्प्रयोजनमर्थात्त्वर्गा-
दिकम् ॥ २२ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । धर्म्याः धर्मादनपेताः । गुणदोषौ विवाहमात्रेण प्रसूतिविनापि तच्च प्रशस्तत्वाप्रशस्तत्वा-
भिधानादर्थोदभिहितमिति विशेषतो नोक्तम् । प्रसवे सन्ततौ ॥ २२ ॥

(३) कुल्लूकः । धर्मादनपेतो धर्म्यः । यो विवाहो धर्म्यो यस्य विवाहस्य यौगुणदोषा विष्टानिष्टफले तत्तद्विवाहोत्पन्ना-
पत्येषु ये गुणागुणास्तत्सर्वयुष्माकंप्रकर्षेणाभिधास्यामि । वक्ष्यमाणानुकीर्तनमिदं शिष्याणां सुखग्रहणार्थम् ॥ २२ ॥

(४) राघवानन्दः । यस्य वर्णस्य विप्रदेर्यो विवाहो यावत्संद्ध्यो विहितो यस्मिंश्च यो दोषस्तन्ब्रूते य इति पञ्चभिः ।
यस्य विवाहस्य प्रसवे तदुदितापत्ये ॥ २२ ॥

(५) नन्दनः । यो विवाहो यस्य वर्णस्य धर्म्यो यस्य विवाहस्य यौ च गुणदोषौ । प्रसवे पुत्रे ॥ २२ ॥

(६) रामचन्द्रः । यो यस्य वर्णस्य विवाहो धर्म्यो धर्माहः यस्य वर्णस्य यौ गुणदोषौ भवतस्तद्युष्माकमृषीणां-
सन्ततौ प्रसवे गुणागुणौ वक्ष्यामि पुत्रोत्पादन इत्यर्थः ॥ २२ ॥

षडानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान् ॥ विट्शूद्रयोस्तु तानेव विद्याद्धर्म्यान् राक्षसान् ॥ २३ ॥

(१) मेधातिथिः । गतार्थमपि भूयः प्रतिपत्तये कथयन्ति । षड्विवाहा ब्राह्मणस्यानुपूर्व्योद्देशक्रमेण । क्षत्रस्य । क्ष-
त्रियबचनः क्षत्रशब्दः । तस्य चतुरोऽवरानुपरितनानासुरगान्धर्वराक्षसपैशाचान्विद्यात् । वैश्यशूद्रयोस्तानेव रा-
क्षसान् राक्षसं वर्जयित्वा ॥ २३ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । गान्धर्वान्ताविप्रस्य षट् धर्म्या धर्मादनपेताः । प्रशस्तत्वाद्याश्चत्वार इति वक्ष्यति । अ-
वरानन्याश्चतुरः । तत्र पैशाचस्य शूद्रेष्वपि निन्दितत्वात्प्राजापत्यादयश्चत्वारो ग्राह्याः । तानेव चतुरस्तेषु तु मध्ये न
राक्षसमिति व्युदासात् । त्रयः प्राजापत्यासुरगान्धर्वाः शिष्यन्ते ॥ २३ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणस्य ब्राह्मादिक्रमेण षट् । क्षत्रियस्यावरानुपरितनानासुरादींश्चतुरः । विट्शूद्रयोस्तु तानेव-
राक्षसं वर्जितानासुरगान्धर्वपैशाचान्धर्मादनपेताञ्जानीयात् ॥ २३ ॥

(४) राघवानन्दः । षडिति गान्धर्वपर्यन्तान् । अवरानासुरादिपिशाचान्तान् चतुरःतानेवासुरादीन् राक्षसं वर्जयित्वा तानासुरगन्धर्वपैशाचान् । तेन विदूश्शूद्रयोस्त्रीन् ॥ २३ ॥

(५) नन्दनः । ब्राह्मादीन् षड्विवाहान्विप्रस्य धर्म्यान् विद्यात् अपरान् पाशात्यानासुरादीन् क्षत्रियस्य तानेव पाशात्यानेव राक्षसं वर्जयित्वा विदूश्शूद्रयोः ॥ २३ ॥

(६) रामचन्द्रः । विप्रस्य षट् विवाहा आनुपूर्व्येण क्रमेणोक्ताः । क्षत्रस्यावरानासुरादींश्चतुरो विवाहान्विदूश्शूद्रयोस्तानेव चतुरोऽवरानासुरादीन् धर्म्यान् विद्यात् । न राक्षसान् तद्यथा ब्राह्म्यः १ दैवः २ आर्षः ३ प्रजापत्यः ४ आसुरः ५ गान्धर्वः ६ षट् विप्रस्य विवाहाः ७ क्षत्रस्य चतुरः आसुरः १ गान्धर्वः २ राक्षसः ३ पैशाचः ४ ॥ २३ ॥

चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान् प्रशस्तान् कवयो विदुः ॥ राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ॥ २४ ॥

(१) मेधातिथिः । आसुरगान्धर्वयोरयं निषेधो ब्राह्मणस्य पुनर्ब्राह्मादिविधानेन । एवं क्षत्रियस्य राक्षस एवैकोनगान्धर्वासुरौ । आसुर एव वैश्यशूद्रयोः । विहितप्रतिषिद्धानां विकल्पः । ततश्च नित्यवद्विहितभावे विकल्पिते प्रवृत्तिः । यस्य च यो विहितः सतद्विवाहाभावमनपेक्ष्य प्रथमत एव यदि विहितप्रतिषिद्धेषु प्रवर्तेत तत्र पुरुषो दुष्येदपत्यं चानभिप्रेतमुत्पद्येतेति शास्त्रकारेण दर्शितं प्रसवे च गुणा गुणान्त्यादिना न तु सपिण्डादिपरिणयनविवाहस्वरूपा निवृत्तिः ॥ २४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रशस्तानुत्तमसन्ततिहेतुतया । अत्र ब्राह्मणस्य चत्वार इति प्रथमः कल्पः । षडित्यनुकल्पः । एकं क्षत्रियस्य राक्षस एक इति कल्पः । सप्राजापत्याद्याश्चत्वार इत्यनुकल्पः । एवं वैश्यशूद्रयोर्ज्ञेयम् ॥ २४ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणस्य मथमपठितान् ब्राह्मादींश्चतुरः । क्षत्रियस्य राक्षसमेकमेव । वैश्यशूद्रयोरासुरं । एताञ्छ्रेष्ठाऽज्ञातारोजानन्ति । अतएव ब्राह्मणादिवासुरादीनां पूर्वविहितानामप्यत्राप्युपादानं जघन्यत्वज्ञापनार्थम् । तेन प्रशस्तविवाहासंभवे जघन्यस्यापि परिग्रह इति दर्शितम् । एवमुत्तरत्रापि विगर्हितपरित्यागो बोद्धव्यः ॥ २४ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव प्रशस्तानाह चतुर इति । चतुरः प्राजापत्यान्तान् । कवयः क्रान्तदर्शिनः । एकं प्रधानं प्रशस्तम् । एवमासुरं वैश्यशूद्रयोः प्रशस्तमित्यर्थः ॥ २४ ॥

(५) नन्दनः । चतुर इति । मतान्तरमिति ॥ २४ ॥

(६) रामचन्द्रः । तत्र विशेषमाह चतुर इति । ब्राह्मणस्य चतुर आद्यान् विवाहान् कवयो विदुः । ब्राह्मदैवार्षप्राजापत्यसंज्ञा इति । क्षत्रस्यैकं राक्षससंज्ञं वैश्यशूद्रयोरासुरमेकमिति ॥ २४ ॥

पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वाव धर्म्यौ स्मृता विह ॥ पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन ॥ २५ ॥

(१) मेधातिथिः । क्षत्रियादिविषयेयं स्मृतिर्न ब्राह्मणविषयाराक्षसे विरोधात् । नहि वधभेदेन ब्राह्मणः कर्तुमर्हति अस्याचरणस्य क्षत्रियादिविषयतयोपपत्तेः । पञ्चानां तु विवाहानां प्राजापत्यात्प्रभृति तयोर्विवाहौ धर्म्यौ । द्वौ न कर्तव्यौ पैशाचश्चासुरश्च प्राजापत्यः क्षत्रियादीनामप्राप्तोऽपि विधीयते । राक्षसोऽपि वैश्यशूद्रयोः आसुरपैशाचयोः प्रतिषेधः इयमत्र व्यवस्था ब्राह्मणस्य षड्विवाहास्तत्र ब्राह्मणसर्वतः श्रेष्ठस्ततोऽन्यूनौ दैवप्राजापत्यौ ताभ्यामप्यार्षस्ततोऽपि गान्धर्वस्ततोऽप्यासुरः । येषामयं श्लोको ब्राह्मणविषयोपि तेषां राक्षसोपि ब्राह्मणस्य क्षत्रियवृत्ताववस्थितस्य भवति विकर्मस्थस्यापि वधभेदनाभ्यां प्रायश्चित्तीयतो राक्षसो न विवाह इति ते मन्यन्ते । तद्ब्राह्मणस्य श्रेष्ठ्यं फलेनैव दर्शितम् । निषेधाभावेन चेतरेषां त्रयाणां न्यूनता फलापचयवचनादेव । आसुरस्य पुनर्वैश्यशूद्रयोर्विधानेन परिसंख्या ब्राह्मणक्षत्रिययोः प्रतीयते । षडिति च विधानम् । अतो विकल्पः सचव्य-

वस्थयाइतरासंभवेन तस्याश्रयणंतुल्यम् । विकल्पोहित्रीहियववदनेकविवाहविधानेन च समुच्चयासंभवादेवसिद्धः । सति वा संभवेक्रियेत चेत्तथापि धर्मापत्ययोन्यूनफलोऽसौ अथ क्षत्रियस्य राक्षसोमुख्यश्चतुर्भिः श्लोकैरविकल्पेन विधानात् । चतुरइत्यनेनासुरगान्धर्वपैशाचापिराक्षसंक्षत्रियस्यैकमित्यनेनेन प्रतिषिद्धाः । अतोविकल्पितानमुख्याः । प्रकृतापेक्षत्वाच्चराक्षसैकविधिः । प्राजापत्ये नास्ति परिसंख्यानम् । अतः प्राजापत्योऽपि क्षत्रियस्य राक्षसतुल्यः । एवंवैश्यशूद्रयोरपि प्राजापत्योऽनित्यवदाम्नातोऽनप्रतिषिद्धः । आसुरपैशाचौ तु तयोर्विहितप्रतिषिद्धौ । राक्षसोऽप्यराक्षसानित्यनेन प्रतिषिद्धः त्रयोधर्म्या इत्यनेन विहितः । ब्राह्मणस्य पैशाचोऽनैवास्ति । क्षत्रियादीनांब्राह्मणैवापि इति स्थितम् ॥ २५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आपत्कल्पं ब्राह्मणस्याह पञ्चानामिति । क्षत्रस्य चतुरोवरानित्युपक्रान्ताः प्राजापत्यादयः पञ्च तेषामपि मध्ये त्रयोधर्म्याविप्रस्य । अत्र ह्यासुरस्य वैश्यशूद्रयोरेव मुख्यत्वात् । पैशाचस्य च सर्वेषां निन्दितत्वात् । आपद्यनन्तरं क्षत्रवर्णमुख्यधर्माश्रयणस्य युक्तत्वाद्वाक्षसोयुक्तोऽसुरपैशाचाविति तात्पर्यम् ॥ २५ ॥

(३) कल्लूकः । इह पैशाचप्रतिषेधादुपरितनानांपञ्चानांप्राजापत्यादीनांग्रहणम् । तेषु मध्ये प्राजापत्यगान्धर्वराक्षसास्त्रयोधर्मादिनपेतास्तत्र प्राजापत्यः क्षत्रियादीनामप्राप्तो विधीयते । ब्राह्मणस्य विहितत्वादनूद्यते । गान्धर्वस्य च चतुर्णामेव प्राप्तत्वादनूवादः । राक्षसोऽपि वैश्यशूद्रयोर्विधीयते । ब्राह्मणस्य क्षत्रियवृत्त्यवस्थितस्याप्यासुरपैशाचौ न कर्तव्यौ । कदाचनेत्यविशेषाच्चतुर्णामेव निषिध्यते । अत्रयं वर्णप्रति यस्य विवाहस्य विधिनिषेधौ तस्य तं प्रति विकल्पः सच विहितासंभवे बोद्धव्यः ॥ २५ ॥

(४) राघवानन्दः । पञ्चानांप्राजापत्यादीनां मध्ये त्रयोधर्म्याधर्मादिनपेताः । प्राजापत्यगान्धर्वराक्षसायथोक्तालाभे विप्रक्षत्रिययोरपि द्वावधर्म्यो धर्मादिपेतौ पैशाचासुरौ न कार्याविति तात्पर्यम् । तत्र क्षत्रियवृत्तिस्थस्य विप्रस्य राक्षसः । आसुरपैशाचौ शूद्रविशोर्विकल्पितौ । ब्राह्मणस्तु ब्राह्मणस्यैवेति भावः ॥ २५ ॥

(५) नन्दनः । मतान्तरमाह पञ्चानामिति । पाश्चात्यानांग्रहणं पैशाचश्चासुरश्चैवेति लिङ्गात् । पञ्चानांप्राजापत्यादीनां मध्ये त्रयः प्राजापत्यगान्धर्वराक्षसाधर्म्याः । पिशाचाश्चासुरश्चैव द्वावधर्म्यौ । ततश्चतौ न कर्तव्यौ कथञ्चन आपद्यपिन कर्तव्याविति । अत्र कर्तृविशेषानिर्देशादस्य मतस्य सर्ववर्णसाधारणत्वम् गम्यते । इह कविषु मध्ये ॥ २५ ॥

(६) रामचन्द्रः । पञ्चानां विवाहानां मध्ये त्रयोधर्माः प्राजापत्यासुरगान्धर्वराक्षसपैशाचाः ५ एतेषु पञ्चसु मध्ये त्रयोधर्म्याः । प्राजापत्यासुरगान्धर्वसंज्ञास्त्रयोधर्माः ३ द्वावधर्म्योऽराक्षसपैशाचसंज्ञौ । वर्णक्रममाह । प्राजापत्यं क्षत्रियादीनामप्राप्तो विधीयते ब्राह्मणस्याभिहितत्वादनूद्यते गान्धर्वस्य तु चतुर्णामेव प्राप्तत्वादनूवादः । राक्षसोऽपि वैश्यशूद्रयोर्विधीयते ब्राह्मणस्य तु क्षत्रियवृत्त्यवस्थितस्यासुरपैशाचौ न कर्तव्यौ ॥ २५ ॥

पृथक्पृथक्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ । गान्धर्वोऽराक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ॥ २६ ॥

(१) मेधातिथिः । पृथक्पृथगित्यनुवादः पूर्वेणैव सिद्धत्वात् । मिश्राविति विधीयते निरपेक्षया इतरेषां गान्धर्वराक्षसयोर्विहितत्वात् । ग्रीहियववदप्राप्ते मिश्रणवचनमिदम् । ग्रीहिर्भिर्यजेत यवैर्वैत्येकयागप्रयोगविषयत्वेनेते रतरानपेक्षद्रव्यविधानाद्विकल्पो न मिश्रीभावः । मिश्रीभावे हि न ग्रीहिशास्त्रार्थोऽनुष्ठितः स्यान्न च यवशास्त्रार्थः । एवमिहैकस्यांकन्यायां स्वीकर्तव्यायां युगपदुपायद्वयमप्राप्तं विधीयते । तस्य विषयो यदा पितृगेहे कन्या तत्रस्थेन कुमारेण कथंचिद्दृष्टिगोचरापनेन दूती संस्तुतेन इतरापि तथैव परवती न च संयोगं लभते तदा वरेण संविदं कृत्वा नयामामितोयेन केनचिदुपायेनेत्यात्मानं नाययति सच शक्त्यतिशयाद्धत्वा छित्त्वा चेत्येवं हरति तदेच्छयान्योन्यसंयोगइत्येतदप्यस्ति गान्धर्वरूपं हत्वा छित्त्वे-

ति च राक्षसरूपम् । तावेतौ विवाहौ क्षत्रियस्यैव भवतः । धर्म्यौ क्षत्रियस्यतौ पूर्वचोदितावित्यनुवादः । अन्येत्वाहुः यः क्षत्रियो बहुविवाहान्कुरुते सकांचिद्गान्धर्वेण विवाहेन परिणयते कांचिद्राक्षसेनेत्येषमिश्रपक्षः अथवा सर्वाएवान्यतरेणेति पृथक्पृथक् अनेनचैतज्ज्ञायते । क्षत्रियस्यानयोरेवानियमेन प्रवृत्तिः प्राजापत्यादीनांतुयएवप्रथमंरुतस्तेनैवान्यापि विवाहा ॥ २६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । क्षत्रियस्य कल्पानुकल्पावुक्त्वाऽधुनापत्कल्पमाहपृथगिति । पृथगसंकीर्णो मिश्रौ संकीर्णो । यथा प्रथमंगान्धर्वेण परिगृह्य तद्वन्धुषुविरोधप्रवृत्तेषु युद्धेन हरणम् । अत्र मिश्रावित्यापत्कल्पः । पृथगितित्वनुकल्पानुवादमात्रमसंकीर्णात्संकीर्णस्य निन्दितत्वप्रदर्शनार्थम् । तेन वर्णान्तराणामप्यसंकीर्णविवाहासंभवे आपदि संकीर्णस्यापि करणमिति दर्शितम् । पैशाचस्य तु कैश्चिदप्यकरणीयस्य विवाहगणमध्ये गणनम् वैश्यशूद्रयोरापदि तस्यापि प्राप्त्यर्थमिति ग्राह्यम् । मातृतः पितृतो वोभयोरेकस्य कूटस्थेन सह सपिण्डतासद्भावे विवाहासंभव एवेत्येतत्प्रदर्शयितुंवा ॥ २६ ॥

(३) कुड्डूकः । पृथक्पृथगिति प्राप्तत्वादनुद्यते । मिश्राविति विधीयते । पृथक्पृथग्विमिश्रौ वा पूर्वविहितौ गान्धर्वराक्षसौ क्षत्रस्य धर्मो मन्वादिभिः स्मृतौ । यदा स्त्रीपुंसयोरन्योन्यानुरागपूर्वकसंवादेन परिणेता युद्धादिना विजित्यतामुद्गहेत्तदा गान्धर्वराक्षसौ मिश्रौ भवतः ॥ २६ ॥

(४) राघवानन्दः । राक्षसंक्षत्रियस्येत्युक्तत्वादनुवादोमिश्राविति । वरकन्ययोः पूर्वपरस्परसंवादे सति परिपन्थिनोविजित्योद्गहनात्तौगान्धर्वराक्षसौ मिश्रौ भवतः । यथारुक्मिण्याविवाहः ॥ २६ ॥

(५) नन्दनः । पृथक्पृथग्वाकेवलोवागान्धर्वः केवलोवाराक्षसइत्यर्थः । केवलोगान्धर्वोयथा दुष्यन्तशकुन्तलयोः । केवलोराक्षसोयथाविचित्रवीर्याम्बिकयोः । मिश्रोयथा फाल्गुनसुभद्रयोः । पूर्वचोदितौपूर्वोर्विहितौ । अनेनमतान्तरमिदमित्यवगम्यते ॥ २६ ॥

(६) रामचन्द्रः । क्षत्रियस्य विवाहमाह पृथगिति । विवाहौ पूर्वचोदितौ कार्यौ पृथक् २ गान्धर्वोवाविवाहः मिश्रौ वा गान्धर्वराक्षसौक्षत्रस्य धर्म्यौ तौस्मृतौ । आसुरोद्गविणादानात् गान्धर्वःसमयान्मिथः । राक्षसोयुद्धहरणात्पैशाचःकन्यकाच्छलादिति याज्ञवल्क्यः ॥ २६ ॥

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्॥आहूय दानं कन्यायाब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः॥ २ ७॥

(१) मेधातिथिः । इदानींस्वरूपमेतेषामाह । आच्छाद्येतिआच्छादनविशेषोऽभिप्रेतः अन्यस्यौचित्येनैव प्राप्तत्वात् । उत्कृष्टेनाच्छादनेन यथादेशंयथासंभवंयथायोग्येन वाससा परिधाप्य । अर्हयित्वा अनेनालंकरणकटककणिकादिना प्रीतिविशेषसत्कारविशेषैरर्चनंरुत्वा । एतेनाच्छादनार्हणेन कन्यायावरस्य चान्यतरसंबन्धे प्रमाणाभावाद्भयोपयोगःकार्यः । श्रुतशीलवते अन्येपिस्मृत्यन्तरोक्तावरगुणादृष्टव्याः युवा धीमाञ्जनप्रियः यन्नात्परीक्षितःपुंस्त्वइति । स्वयंप्रागयाचितः स्वपुरुषप्रेषणैराहूयान्तिकदेशमानाम्यवरं यद्दानं स ब्राह्मो धर्मोविवाहः । अविशेषश्चनोऽपि धर्मशब्दः पूर्वापेक्षितत्वादस्यतत्परएवद्रष्टव्यः । अयाचितलाभोभ्यर्हणापूर्वकोब्राह्मोविवाह इतिलक्षणार्थः । ननुचेदमयुक्तंस्त्रीस्वीकारार्थोविवाहइति यावद्विवाहपर्यन्तंचैतद्दानम् । नाकृते विवाहे दानार्थनिवृत्तिः । सहि तस्याःप्रतिग्रहकालः । नचासति परिग्रहे दानंपरिसमाप्यते न त्वत्त्वनिवृत्तिमात्रंदानंपरस्वत्वापत्तिपर्यन्तंहितम् । तथाच वक्ष्यति तेषांतु निष्ठा विज्ञेया विद्वद्भिः सममेप्रदेइति । एवंविवाहकालएव कन्यादातव्या तथाच गृहकारस्तस्मिन्नेव काले ब्राह्मविवाहेकाण्डिकधर्मन्दर्शयति ।

यत्तु प्राश्विवाहादानंतदुपसंवादनवाचनमात्रम् । नहि तस्मिन्क्रियमाणेऽभिप्रेतकालेऽवश्यंविवाहनिवृत्तिः कश्चित्प्रागनिरूपिते नदद्यादपिदितरोवा कदाचिन् प्रतिगृह्णीयात् तस्मात्प्राग्विवाहादुपसंवादः कर्तव्यः । तदा त्वयेयं देया मया चेयं वोढव्येति यथैवान्तःक्रतुः सोऽपक्रियोऽचोदिततत्सिद्धार्थोऽर्थाद्विहितक्रियते । येतु मन्यन्ते यथैवगवादेर्द्रव्यस्यादृष्टार्थतया दीयमानस्य मत्तपूर्वकेण प्रतिग्रहेण दानमपिनिर्वर्तते तेनैवेदमुक्तं ददातिषुचैवंधर्मैष्विति । एवंचेह प्रतिग्रहमत्तस्थानीयोविवाहइति । तथाचउपयमनंविवाहइत्येकोऽर्थः । उपयमनंच स्वकरणम् । एवंहस्म भगवान्पाणिनिः स्मरति उपाद्यमःस्वकरणइति । अतोविवाहः कन्यास्वीकारार्थः । तदयुक्तम् । स्वीकृतायाविवाहो भार्याकरणार्थः । नानेनकर्मणा प्रतिगृह्णीयादिति विधिरस्ति । नचवैवाहिकामत्तप्रतिग्रहप्रकारकाः यथादेवस्वत्वाप्रतिगृह्णामीति मत्ताः । यत्तुस्वकरणइति तन्न विरुद्धम् । विवाहस्याप्यस्ति स्वकरणरूपता । दानेन स्वत्वमात्रे प्रतिपन्ने विवाहेन विशिष्टं स्वत्वंक्रियते । नेयंगवादिद्रव्यवत्स्वंयथेष्ट विनियोज्यतया अपितुजायात्वेन । विशिष्टएवहि स्वस्वामिभावोजायापतिलक्षणसंबन्धः । तथाचदर्शयिष्यति । मङ्गलार्थं स्वस्त्वयनं.....विवाहेषु प्रदानंस्वाम्यकारणमिति ॥ २७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आच्छाद्य वाससाकन्यां । एतेन यथाशक्त्यलंकरणमुपलक्षितम् । अर्चयित्वा वरं मधुपर्केण स्वयमर्हयित्वा महाप्रयुक्तिमात्रेण । शीलमविपरीतचेष्टा । आहूयनतु वराभ्यर्थनयां ॥ २७ ॥

(३) कुल्लूकः । आच्छादनमात्रस्यैवौचित्यप्राप्तत्वात्सविशेषवाससा कन्या वरावाच्छाद्यालंकारादिना च पूजयित्वा विद्याचारवन्तमप्रार्थकवरमानीय तस्मै कन्यादानं ब्राह्मोविवाहोमन्वादिभिरुक्तः ॥ २७ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तविवाहानां लक्षणान्याह आच्छाद्येति । वासोलङ्काराभ्यांकन्यामाच्छाद्य अर्चयित्वा च वरमिति ब्राह्मे च धनादिभिरभिसन्धित्वा ब्राह्मः धर्मो धर्मैकहेतुत्वात् एवमुत्तरत्र ॥ २७ ॥

(५) नन्दनः । अथ ब्राह्मादीनां लक्षणान्यष्टभिः श्लोकैराह आच्छाद्येति । आच्छाद्य कन्यां परिधाय भूषणादिभिः श्राद्ध्यित्वा श्रुतिशीलवते श्रुतवेदशास्त्रपरिज्ञानशीलतदर्थानुष्ठानतद्वेते वराय कन्या पित्रा स्वयमेव वरमाहूय तस्मै वराय कन्यायाय दानं स ब्राह्मो धर्मः । धर्मसाधनत्वाद् विवाह एव धर्मशब्देनात्रोच्यते । ब्रह्मशब्दोऽत्र धर्मवचनः । धर्मातिशययुक्तत्वाद् ब्राह्मत्वम् ॥ २७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अष्टानां विवाहानां स्वरूपमाह आच्छाद्येति । वस्त्रैराच्छाद्य परिधाय अर्हयित्वा आभरणाद्यलङ्कृतां कृत्वा श्रुतिशीलवते वराय स्वयमाहूय कन्याया दानं दीयते स ब्राह्मसंज्ञो विवाहो धर्म्यः प्रकीर्तितः । ब्राह्मो विवाह आहूय दीयते शक्त्यलं कृता । तज्जः पुनात्युभयतः पुरुषानेकविंशतिमिति याज्ञवल्क्यः ॥ उभयतः मातृतः पितृतः ॥ २७ ॥

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ॥ अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥ २८ ॥

(१) मेधातिथिः । वितते प्रारब्धे तच्चे ज्योतिष्टोमादौ यज्ञे तत्कर्मकारिणः ऋत्विजेऽध्वर्यवे सुतायादुहितुर्दानम् । अलंकृत्येत्यनुवादः कन्यादानस्यैव स्वरूपत्वात् । आच्छाद्यालं कृतां विवाहयेदितिसामान्योऽयं विधिः । ननु गौश्वश्रवाश्वतरश्चेत्याद्यृत्विग्भ्यो दक्षिणात्वेन श्रुतम् न क्वचित्कन्यादानं ऋत्वर्थतया चोदितम् । किमत्र ऋत्वर्थतया नवृत्ते यज्ञः ऋत्विजे यां ददाति सदैवो विवाहः । अस्ति चोपकारगन्धस्तदीयकरणम् । अकर्मोद्देशेनापि दीयमानं तत्कर्मकरणप्रवृत्तस्य जनयत्येवानुमानविशेषम् । एतावतोपकारसंबन्धेन ब्राह्मादैवो न्यूनः ॥ २८ ॥

(५) सर्वज्ञनारायणः । यज्ञे यज्ञमभ्ये ऋत्विजे दानं स्वयज्ञस्य सम्यङ्निष्पत्त्यभिसंधानेन सुतादानमुभयस्यापि

लक्षणस्य पितापुत्रीमनुक्रमेदित्यादिविधिनो ब्राह्मण इव दानवाक्यमुच्चार्यम् । एवं दीक्षितो न ददातीति दाननिषेधः । एतदन्यदानविषय इति ग्राह्यम् ॥ २८ ॥

(३) कुल्लूकः । ज्योतिष्टोमादियज्ञे प्रारब्धे यथाविध्यृत्विजे कर्मकर्त्रेऽलंकृत्य कन्यादानं दैवं विवाहं मनुजो ब्रूवते ॥ २८ ॥

(४) राघवानन्दः । वितते कर्तव्यतया प्रारब्धे । अलङ्कृत्येत्यनुवादः । अलङ्कृतां विवाहयेदिति सामान्योक्तेः । दैवं देवकर्मसंबन्धित्वात् देवोद्देश्यत्वाद्वा ॥ २८ ॥

(५) नन्दनः । सुतामलंकृत्य यद्दानं तदैवं धर्मविदुः । देवकार्याधिकृताय दानात्तस्य दैवत्वम् ॥ २८ ॥

(६) रामचन्द्रः । वितते विस्तीर्णयज्ञेऽऋत्विजे सम्यक्कर्म कुर्वते अलङ्कृत्य सुतादानं कन्यादानं क्रियते तदैवं दैवसंज्ञं विवाहं धर्म्यं प्रचक्षते ॥ २८ ॥

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ॥ कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ २९ ॥

(१) मेधातिथिः । स्त्रीगवीपुङ्गवश्च मिथुनम् । एकं द्वे वा वरादृहीत्वा कन्यायादानमार्षो धर्मः । धर्मत इति धर्म एवायं नात्र विक्रयबुद्धिः कर्तव्या उच्चनीचर्णापाकरणाभावादित्यभिप्रायः ॥ २९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गोमिथुनं स्त्रीपुंसौ द्वे वा मिथुने धर्मत आदाय । आर्षोऽयं धर्म इति बुद्ध्यनतुलोभेनादानं वेतनकल्पार्थमेव न तु स्वार्थं । तच्च कुलधर्मबुद्ध्यैव विधिवदिति वाक्यमुच्चार्येत्यर्थः । अलंकरणं तु कन्यायानात्रास्ति तत्र विशेषविधेरेव लाभान् ॥ २९ ॥

(३) कुल्लूकः । स्त्री गवी पुंगौश्च गोमिथुनं तदेकं द्वे वा वराद्धर्मतो धर्मार्थयागादिसिद्धये कन्यायैवादातुं न तु शुल्कबुद्ध्या गृहीत्वा यद्यथाशास्त्रं कन्यादानं स आर्षो विवाहो विधीयते ॥ २९ ॥

(४) राघवानन्दः । आर्षलक्षयति एकमिति । गोयुगं स्त्रीपुंसौ मिथुनं द्वे इति स्त्रीपुंगोचतुष्टयं वराद्वरगृहादादाय कन्यायाः सौन्दर्यादिगुणदोषानपेक्ष्य नियतपणत्वेन गृहीत्वा । पूर्वमृषिभिराचरितत्वादार्षम् । ऋषिगताविति धातोरेवं गतागतिकत्वाद्वा । धर्म एवायं नात्र व्यतिक्रम इति मेधोक्तेः । तत्राल्पं वा बहुवेति विक्रयस्तावदेव त्विति मनूक्तेः ॥ २९ ॥

(५) नन्दनः । धर्मत आदाय धर्मार्थमादाय नार्थार्थत्वं कन्याप्रदानमार्षो धर्मः विक्रयदोषभयादृषिभिरनुक्तवेतनैरेव विद्यादीयते शुश्रूषादिकं शिष्यात् किञ्चिदादीयते च । आर्षेऽपि कन्या दीयते । वरात्किञ्चिदादीयते च । तेन दानादानसामान्येनास्यार्षत्वम् ॥ २९ ॥

(६) रामचन्द्रः । वरादेकं गोमिथुनमादाय स्वीकृत्य द्वे वा गृहीत्वा । धर्मतः धर्मार्थयागादिसिद्ध्यर्थं विधिवत्कन्याप्रदानं क्रियते स आर्षसंज्ञः धर्म्यो धर्माहो विवाह उच्यते । आदायार्षस्तु गोद्वयमिति याज्ञवल्क्यः ॥ २९ ॥

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च ॥ कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ ३० ॥

(१) मेधातिथिः । सहधर्मो युवाभ्यां कर्तव्य इति वचनेन परिभाषां कृत्वा नियम्य यद्दानं स प्राजापत्यः । धर्मग्रहणमुपलक्षणार्थम् । धर्मचार्थे च कामे च तुल्ययोगक्षेमेति मिथोऽस्य परिभाषावचनस्यार्थः । धर्मशब्दा एवोच्चार्यते सहधर्मश्चर्यतामिति न तु धर्मार्थकामाः सहेति सतु धर्मशब्दः स्मृत्यन्तरवशादर्थकामयोरुपलक्षणार्थो व्याख्यातः । यथेनानातिचरति

धर्मार्थकामेषु तदातुभ्यमियं दीयत इति कृतसंवित्कायाभ्युपगततदर्थाय विवाहकाले । यद्दानं तत्रैवं समुच्चारयितव्यं सहधर्मचर-
तामिति अर्थकामयोरभिप्रेतेऽपि सहत्वे तदप्रकृतत्वादनुच्चारणम् । तथा च गौतमः प्राजापत्ये सहधर्मचरतामिति मन्त्रः मन्त्रग्रहणे-
न चैतद्दर्शयत्यधिकृतरूपमेव प्रयोक्तव्यं मन्त्रवत् । नहि महासत्त्वानामर्थकामविषये सहितत्वं परिभाषितं युक्तम् गम्यते तु स्मृत्यन्त-
रेभ्यः । अनयैव संविदा दोषेणास्य न्यूनता अस्ति स त्रदातुर्वरादुपकारलिप्सा । शब्देनैतद्वचनं वाच्यते । न पुनरयं दातुरेव व-
चननियमः । अनुभाष्येत्यनेनैव सिद्धत्वाद्वाचेत्यनर्थकं स्यात् अनुभाषणे वा गिन्द्रियस्य साधनत्वात् । तथा च गृह्यकारः ।
एतद्वः सत्यमित्युक्ता वरं वाचयेदेतन्नः सत्यमिति । अनुशब्दश्च प्रामाथ्यस्यैव वाचा निश्चयमाह ॥ ३० ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । उभावेव न तु भार्यान्तरेणापि सहेति । अनुभाष्य नियम्य । अभ्यर्च्य मधुपर्केण ।
एतच्चैतादृक्परिभाषणेन दृष्ट्वार्थाभिसंधिनिमित्ततया कन्यालंकाररहिततया च ब्राह्मदैवाभ्यां हीनमार्षाच्चोत्कृष्टमन्त्रा-
र्थग्रहणाभावात्कन्यानुकंपामात्रकत्वाच्च परिभाषणस्य । अतएव । आर्षोद्वाजः सुत इति फलेभ्योऽधिक्यं वक्ष्यते । दैवे तु यद्य-
पि यज्ञसिद्धयभिसन्धिरस्त्येव । तथापि धर्मसिद्धयर्थं प्रवृत्तस्यास्य धर्महेतुतया आर्षप्राजापत्याभ्यामुत्तमत्वम् । प्राजापत्ये
कन्यासुखाभिसंधिना परिणयनान्तरनिषेधे तात्पर्यादभिसंधेर्धर्मार्थतैवेति ॥ ३० ॥

(३) कुल्लूकः । सहयुवां धर्मं कुरुतमिति सुताप्रदानकाले बचसा पूर्वनियम्यार्चयित्वा यत्कन्यादानं सप्राजापत्यो-
विवाहः स्मृतः ॥ ३० ॥

(४) राघवानन्दः । प्रदानकाले वचसा धर्मचरतामिति पूर्वनियम्य अभ्यर्च्य सत्कृत्य गन्धादिना कन्यावरावि-
तिशेषः । वस्त्रादेरनावश्यकत्वाद्वास्त्रादेर्भेदः । प्रजामात्रोद्देश्यत्वात् प्रजापतिदेवत्याद्वा प्राजापत्यः ॥ ३० ॥

(५) नन्दनः । उभयैव सहधर्मचरतं । न पृथगिति वाचानुभाष्य अहंगृहस्थाश्रमस्थ एव धर्मचरिष्यामि । नान्याश्रम-
स्थ इति वरं प्रतिश्राव्येत्यर्थः । यदिसहधर्मचरणानुभाषणमात्रमेवात्र विवक्ष्यते । ततो दैवविवाहात्प्राजापत्यस्य न्यूनता वक्ष्य-
माणानोपपद्येत । अभ्यर्च्यवरमिति शेषः । यत्कन्याप्रदानं । सप्राजापत्यो विधिः विधीयत इति विधिः विवाह उच्यते गार्ह-
स्थ्यप्राधान्य निबन्धनं प्राजापत्यत्वं गार्हस्थ्यप्रधानो हि प्रजापतिः ॥ ३० ॥

(६) रामचन्द्रः । उभौ स्त्रीपुरुषौ सहधर्मचरत इति वाचा । अनुभाष्योक्त्वा अभ्यर्च्याल्लङ्कृत्य कन्याप्रदानं क्रियते-
प्राजापत्यविधिः स्मृतः प्राजापत्यसंज्ञः विवाह उक्तः ॥ ३० ॥

ज्ञातिभ्योऽद्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तिः ॥ कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥ ३१ ॥

(१) मेधातिथिः । ज्ञातिभ्यः कन्याया एव पित्रादिभ्यः कन्यायै स्त्रीधनं दत्त्वा कन्याया आप्रदानं मानयनमासुरो वि-
वाहः । स्वाच्छंदात्स्वेच्छातो न शास्त्रतोऽन्यथाऽद्भेदमाह । तत्र हि शास्त्रं नियामकमस्ति । एकंगो मिथुनमिति । इह तु कन्या-
यारूपसौभाग्यादिगुणापेक्षं चन्दः ॥ ३१ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । शक्तिः न तु एकंगो मिथुनादिनियतं द्रविणम् । कन्याया आप्रदानं आदानं स्वाच्छन्द्यान्तत्वा
र्षद्वाक्यादिना विधितः । अत्र ज्ञातिभ्य इति वचनात् माता पित्रन्यज्ञातिभ्योऽर्थदाने नासुरत्वम् । तथा कन्यायै चैवेति
समुचितं व्युच्चितं वाग्राहं तदर्थमेवैवकारः । तेन कन्याया एव च यद्वत्त्वा परिणयनं सोप्यासुर इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

(३) कुल्लूकः । कन्याया ज्ञातिभ्यः पित्रादिभ्यः कन्यायै यद्यथा शक्ति धनं दत्त्वा कन्याया आप्रदानं आदानं स्वीकारः-
स्वाच्छन्द्यात्स्वेच्छया न त्वार्षद्वशास्त्रीयधनज्ञातिपरिमाणनियमेन स आसुरो विवाह उच्यते ॥ ३१ ॥

(४) राघवानन्दः । आसुरं लक्षयति ज्ञातिभ्य इति । ज्ञातिभ्यः कन्यायाः पित्रादिभ्यः द्रविणं धनं । पणसङ्ख्या-

नियमं व्यवच्छिन्नति शक्तिरिति । कन्याप्रदानं तत्स्वीकारः स्वाच्छन्द्यात् स्वेषामिच्छया । असुः प्राणस्तं राति रमयति वा । असुरं धनं व्ययितव्यत्वेन यस्यास्तीत्यासुरः । धर्मशब्दोत्र विरोधिलक्षणया ॥ ३१ ॥

(५) नन्दनः । कन्यायाज्ञातिभ्यः स्वशक्तितोऽभ्यर्थितवते वराय स्वाच्छन्द्याल्लोकशास्त्रमर्यादातिलङ्घनेन कन्याप्रदानं स आसुरोऽधर्म्यः । परवित्तापहारस्वाच्छन्द्यनिबन्धनमासुरत्वम् । असुराह्स्वाच्छन्द्येन परवित्तमपहरन्ति ॥ ३१ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्रविणं द्रव्यं ज्ञातिभ्यो दत्त्वा कन्यायै वा दत्त्वा शक्तिः । एतादृश्याः कन्यायाः प्रदानं स्वच्छन्दात्वेच्छातः आसुरसंज्ञो विवाहः अधर्म उच्यते । आसुरो द्रविणादानादिति याज्ञवल्क्यः ॥ ३१ ॥

इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ॥ गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः ॥ ३२ ॥

(१) मेधातिथिः । इच्छया च वरस्य कुमार्याश्च ग्रीत्या परस्परसंयोग एकप्रदेशे संगमनम् । तस्येयं निन्दामैथुन्यः कामसंभवः मिथुनप्रयोजनो मैथुनः । तस्मैहितो मैथुन्यः । एष एवार्थो विस्पष्टीकृतः कामसंभव इति । संभवत्यस्मादितिसंभवः कामः संभवोऽस्येति ॥ ३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मैथुन्यो मैथुनमात्रोद्देशप्रवृत्तः प्रथमं यतः कामसंभवः पश्चात्तु होमादिना भार्यात्वसिद्धौ धर्मार्थतापि तस्य भवति । तथाहि सर्वेष्वेव द्विजातिविवाहेषु होमादिनैव भार्यात्वसिद्धिः । यद्वक्ष्यति पाणिग्रहणि-कामान्नानियतदारलक्षणम् । तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सममे पद इति ॥ तथाच देवलः । गान्धर्वादि विवाहेषु पुनर्वै-वाहिको विधिः । कर्तव्यस्तु त्रिभिर्वर्णैः समयेनाग्निसाक्षिक इति ॥ तथा शौनक परिशिष्टे विशेषोऽप्युक्तः । गान्धर्वासुरपैशाचा विवाहाराक्षसश्रयः । पूर्वपरिणयस्तेषां पश्चाद्धोमो विधीयत इति ॥ ३२ ॥

(३) कुल्लूकः । कन्याया वरस्य चान्योन्यानुरागेण यः परस्परसंयोग आलिङ्गनादिरूपः स गान्धर्वो ज्ञातव्यः । संभवत्यस्मादितिसंभवः । यस्मात्कन्यावरयोरभिलाषादसौ संभवत्यतएव मैथुन्यो मैथुनाय हितः । सर्वविवाहानामेव मैथुनत्वेन यदस्य मैथुनत्वाभिधानं तत्सत्यपि मैथुने न विरोध इति प्रदर्शनार्थम् ॥ ३२ ॥

(४) राघवानन्दः । गान्धर्वलक्षयति । मैथुन्यः मिथुनाय हितः । कामसंभवः तयोः काम इच्छा ततएव भवति । नान्तरीयिका पुत्रोत्पत्तिः गान्धर्वः गन्धर्वैराचरितत्वात् ॥ ३२ ॥

(५) नन्दनः । मिथुने सार्धुहितो वा मैथुन्यः मैथुनपर्यन्त इत्यर्थः । कामसंभवः भोगसंभवः नार्थलोभादिसंभवः । कन्यायावरस्येच्छयान्योन्यसंयोगः स गान्धर्वो विधिः गान्धर्वत्वमस्य विधेः । कामपरत्वनिबन्धनं गन्धर्वाहिकामपराः । स्त्री कामावै गन्धर्वा इति श्रुतेः । स्मरति च भगवान्वाल्मीकिः तीक्ष्णकामास्तु गन्धर्वा इति ॥ ३२ ॥

(६) रामचन्द्रः । कन्याया वरस्य च द्वयोरिच्छया अन्योन्यसंयोगः संभोगः भवेत्स विवाहो गान्धर्वसंज्ञो विज्ञेयः । मैथुन्यो मैथुनार्हः कामसंभवः अन्योन्यकामात्संभवो यस्य सः गान्धर्वः समयान्मिथ इति योगी ॥ ३२ ॥

हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ॥ प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ३३ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रसह्याभिभूय कन्यापक्षाद्वलात्कारेण कन्यायाहरणं राक्षसो विवाह इत्येतावदत्र विवक्षितम् । हत्वेत्याद्यनुवादः प्रसह्यापजिहीर्षतो यदि कश्चित्प्रतिबन्धो वर्तते तदा प्राप्तमेव हननादि हन्तुः शक्त्यतिशयं ज्ञात्वा स्वात्मभयादुपेक्षेरस्तदा भवत्येव राक्षसो न वधाद्यवश्यकर्तव्यम् । हत्वा दण्डकाष्ठादिना ताडयित्वा । छित्त्वा खड्गादिप्रहारेणाङ्गानि खण्ड-शः कृत्वा । भित्त्वा प्राकारपुरदुर्गादि । क्रोशन्तीं रुदतीं कन्यामनिच्छाम । अयं गान्धर्वादिशेषः । अनाथाऽपन्हिये परित्राय-ध्वमित्याद्युच्चैः शब्दकरणं क्रोशनम् । रोदनमश्रुकणमोक्षः । उद्धितायाः स्त्रिया धर्मार्थम् ॥ ३३ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । हत्वा विरोधिनः । छित्वा तेषांब्राह्मणपदादि । भित्वा प्राकारादि । एतत्कन्याबन्धुविरोधस्योपलक्षणम् । क्रोशन्तीं रुदन्तीमिति कन्यानिच्छोपलक्षणम् । गृहादिति प्राधिकं । प्रसह्य बलादिति । चोरिकानयनव्युदासः । चौरिकायांतुवधादिकरणेपि पैशाचत्वम् ॥ ३३ ॥

(३) कुहूकः । प्रसह्य बलात्कारेण कन्यायाहरणं राक्षसो विवाह इत्येव लक्षणम् । यदा तु हर्तुः शक्त्यतिशयं ज्ञात्वा पित्रादिभिरुपेक्ष्यते तदानावश्यकं हननादि । यदि कन्यापक्षः प्रतिपक्षतां याति तदा हननादिकमपि कर्तव्यमित्यर्थप्राममनूयते । कन्यापक्षान्विनाशयतेषामङ्गच्छेदं कृत्वा प्राकारादीन् भित्त्वा हापितभ्रातरनाथाहं हिय इति वदन्तीमश्रुणिमुञ्चन्तीं यत्कन्यां गृहादपहरत्यनेन कन्याया अनिच्छोक्ता गान्धर्वा द्विवेकार्थम् ॥ ३३ ॥

(४) राघवानन्दः । राक्षसमाह हत्वेति । प्रसह्य बलात्कारेण कन्याहरणं राक्षसः । राक्षसामयस्वभावो विधिः प्रकारो वा । हत्वेत्याद्युपलक्षणं तदभावे बलाद्धरणेपि स्यात् । तत्र हत्वेति दण्डपातेन । छित्वेति खड्गेन । भित्वेति शरेण ॥ ३३ ॥

(५) नन्दनः । विवाहनिरोधकान् हत्वा छित्त्वा भित्वा च कन्यां प्रसह्य परिभूय यद्धरणं सराक्षसो विधिः । हिंसाप्रधान्यात् राक्षसत्वं हिंसाप्रधाना हि राक्षसाः ॥ ३३ ॥

(६) रामचन्द्रः । हत्वा ज्ञातिप्रतिबन्धकान् । छित्वा कपायदीन् । भित्वा गृहादीन् । क्रोशन्तीं रुदन्तीं । गृहात्प्रसह्य कन्याहरणं क्रियते यत्र तत्र राक्षसो विधिरुच्यते राक्षससंज्ञो विवाह उच्यते । राक्षसो युद्धहरणादिति योगीश्वरः ॥ ३३ ॥

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहोयत्रोपगच्छति ॥ सपापिष्ठो विवाहानां पैशाचः प्रथितो धमः ॥ ३४ ॥

(१) मेधातिथिः । राक्षसपैशाचयोरनिच्छा तुल्या । राक्षसे । हननं । पैशाचे वञ्चनम् । सुप्तां निद्रयामिभूताम् । मत्तां क्षीबां मद्यपरवशम् । प्रमत्तां वातसंक्षोभेण नष्टचेतनाम् । रहोऽप्रकाशमुपगच्छति मैथुन धर्मे प्रवर्तते सपैशाचो विवाहः सर्वविवाहानां पापिष्ठः पापहेतुर्धर्मापत्यं न ततः संपद्यते । इह गान्धर्वराक्षसपैशाचानां प्रकृतविवाहसामानाधिकरण्यात्संयोगहरणोपगमा एव पाणिग्रहणसंस्कारनिरपेक्षा विवाहा इति मन्यन्ते । तेषां ब्राह्मादिष्वपि दानविवाहयोः सामानाधिकरण्यात्संस्कारो विनिवर्तते । यथाच न निवर्तते तथा दर्शितम् । लक्षणया विवाहप्रयोजनदाने विवाहशब्दः । गान्धर्वे तु भगवता कृष्णद्वैपायनेन दुष्यन्तशकुन्तलासंगमने वर्णितमनग्रिकममन्त्रकमिति । तद्दर्शनेन पाणिग्रहणसंस्कारोऽस्ति वर्जितस्तु पैशाचे । पुनर्विवदन्ते मुख्यचोपगमनं च कन्यात्वमपैतिसंस्कारैस्तद्विनिवर्तनात् । अतश्च पाणिग्रहणकामन्त्राः कन्यात्वेव प्रतिष्ठिताः इति प्रतिषेधस्याप्रवृत्तेरस्त्येवमन्त्रवत्संस्कारसंबन्धः । सच प्रतिषेधः कृतः संस्कारप्रतिषेधार्थः । सा हि मन्त्रैः संस्कृतत्वाद्यपगतकन्याभावे । अतएव भवतु प्रथममुपगमस्ततोऽकन्यादोषो नास्ति । तथाच कानीनः कर्ण इति दर्शनम् । यदि तु पुरुषप्रयोगेण कन्यात्वमपेयात्कथमियं वाचोयुक्तिः कन्यायाः पुत्रः कानीन इति । अथ त्वसंस्कृता कन्योच्यते ततो युक्तं कर्णादयो ह्यनूढायाः पुत्रा इति मुखेऽभ्युपगमने कन्याया अपत्योत्पत्तेः संभवः । वर्ण्यते चेति हासादिषु तथा भूताया विवाहः । अथ मद्यमदादिना निर्वृत्तेरतिसंबन्धे किमर्थः संस्कार इति । अत्रोच्यते यद्यपि स्त्रीपुंसधर्मो निवृत्तोऽति क्रान्तश्च कन्यागमनप्रतिषेधस्तथापि तथा सहाधिकारार्थं पुनश्च गमने कन्यागमनमाभूदिति तदर्थसंस्कारकरणम् । कन्यागमनप्रतिषेधाति क्रमसंबन्धेन पुरुषार्थतयाऽपि निन्द्यते विवाहोऽयं तदयुक्तम् यतोऽयं लोके कन्याशब्दः पुंसाऽसंप्रयुक्तां स्त्रियमाचष्टेन संस्कारभावसापेक्षाम् । अकृतसंस्कारा अपि पुरुषैः क्षतयोनयोनकन्या इति व्यवहियन्ते । तासांचवेशश्रितानां गमने न कन्यागमनदोषः ।

(३४) पैशाचः प्रथितो धमः = पैशाचश्चाष्टमो धम इति बहुषु पुस्तकेषु पठितम् ।

यद्यपिकुमारीकन्याशब्दौप्रथमवयोवचनाविष्येते तथापि विवाहविधानुपभुक्तपूर्वमिवस्त्रियमाचक्षते । तथाच कुमारवे शधारिणींनानातिप्रकाशप्रवृत्तपुंसंप्रयोगांभार्यात्वेनार्थयमानोन्यैरवबोध्यते नैषाकुमारीनष्टोऽस्याः कौमारोभावः संस्कारपरिलोपश्च स्यात्तर्भाधानंहि मन्त्रवत्कर्तव्यविष्णुर्योनिकल्पयत्विति क्लृप्त्याश्चाकल्पनमशक्यम् । तत्रायथाथोमन्त्रप्रयोगः स्यात् । न चानूढायाः पैशाचधर्मेमन्त्रप्रयोगः उढायास्तच्छ्रवणात् । पैशाचवर्जमन्येषु विवाहेषु तत्कल्पयितुंयुक्तमविशेषश्रवणात् । तस्मान्मुख्योपगमपक्षएवमादयोबहवोदोषा प्राप्नुवन्ति । अतआलिङ्गनोपगूहनपरिचुम्बनादिषूपगमनार्थेषु व्यापारेषु साहचर्यात्तादर्थ्याच्चोपपूर्वोर्गमिर्द्रष्टव्यः । यत्तु कानीनः पुत्रइति तत्रमुख्यार्थासंभवाल्लक्षणया संस्कारभावप्रतिपत्तिः । यत्तु । संस्कारदर्शनंतत्तु क्वचिदेव । यद्यपि या गर्भिणी संस्क्रियतेज्ञाताऽपि चेति तत्र यएवोपगन्ता सएव संस्कर्ता । नत्वसौ पैशाचोविवाहःपैशाचे हि येनैव समुपभुक्ता यस्माएवदीयते । सएवैनांसंस्करोतीति । गर्भिण्यास्तु संस्कारोवाचनिकः । एतच्च सर्वनिपुणतरंपुनर्नवमे वक्ष्यते । अपरेमन्यन्तेसत्यमुख्यमुपगमनममुख्यत्वे तु गमनप्रतिषेधानुपपत्तिरित्यदि हि मुख्य मुपगमस्तदा सएव विवाहोऽन्यस्यानन्तरोक्तेनन्यायेनाभावात् । ततश्च नास्ति तस्य प्रतिषेधस्य विषयोयतद्वच्छया गान्धर्वोहठाद्राक्षसोऽन्यथापैशाचः । नचान्यः प्रकारोऽस्ति येन सर्वविषयप्रतिषेधः स्यात् । अस्ति त्वस्य विषयःयत्र हठाद्रहसिगमनंया वा पितृभ्यांदीयते न चोपसंस्क्रियते । न चासौ तेषामपिगान्धर्वःकन्येच्छायाअभावात् । अतएव भर्तुरपि नकन्यागामित्वं विषयान्तरस्य संभवात् । तस्मात्क्षतयोन्याःसंस्कारनिषेधाद्ब्राह्मादिवदुपायत्वात्तद्वच्च विवाहशब्दोपपत्तेःप्रकरणसामर्थ्याद्गौणएवोपगमार्थः । एषांचभेदःअप्रार्थितोपनतोभूमिहिरण्यादिवद्ब्राह्मः । ऋत्विक्केन विशेषेण दैवः गोमिथुनेनार्षः । याश्चयाऽयाश्चया वा सहोभौ चरतांधर्ममिति वचनव्यवस्थया प्राजापत्यः । शेषाःसुबोधभेदाः । ब्राह्मादीनामिदमर्थेतद्धितः । ब्रह्मादिसम्बन्धिताचस्तुत्यारोप्यते । एवंसर्वेषु । पैशाचःपिशाचानामयं युक्तइतिनिन्दा ॥ ३४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सुमामित्यादिकन्यानिच्छोपलक्षणम् । मत्तांमद्येन । प्रमत्तां अन्यचित्तांक्रीडादिना । उपगच्छति नयति वा प्रथितः पापिष्ठः पापिष्ठतया प्रसिद्धः । अत्र च पुत्रिकाविधिविवाहोनवमोन्यएव । एवमनन्तर्भावात् । अत्र तु तदपरिगणनं तत्संवोदुः प्रयोजनाभावात् एकापत्यादौ नियमेन तु दाने द्वितीयाद्यपत्यं वोदुरेव भवति । तदाच तस्य धर्माभिसन्धिकृतत्वसाम्यादार्षत्वमेवेति ॥ ३४ ॥

(३) कुल्लूकः । निद्राभिभूतांमद्यमदविह्वलांशीलसंरक्षणेन रहितांविजनदेशे यत्र विवाहेमैथुनधर्मेण प्रवर्तते सपापहेतुर्विवाहानांमध्ये ऽधमः पैशाचः ख्यातः ॥ ३४ ॥

(४) राघवानन्दः । पैशाचमाह सुमामिति । मत्तां मद्यमदविह्वलाम् । प्रमत्तां शीलरक्षणे अनवहिताम् । मात्राद्यशिक्षितत्वेन । रहसि विजने देशउपगच्छति मैथुनमाचरति सपापिष्ठः । पापहेतुत्वात्तद्विवाहस्य पैशाचः पिशाचःप्रेतस्तादाचरितत्वात् ॥ ३४ ॥

(५) नन्दनः । सुमांकन्याम् । यत्रयदितियावत् । सपैशाचोविवाहः । सुममत्तप्रमत्तकन्याभोगिनिबन्धनपिशाचत्वम् । पिशाचाहिसुममत्तप्रमत्तानांविशन्ति ॥ ३४ ॥

(६) रामचन्द्रः । पैशाचविवाहमाह सुमामिति । यत्र रहःयस्मिन्नरहसि एकान्तस्थाने मत्तांमद्यादिना प्रमत्तांवा अनवहितांसुमांकन्या मुपगच्छति भोगेन प्रामोति विवाहानांमध्ये स पैशाचो विवाहः । पापिष्ठः पापजनकः प्रथितः प्रसिद्धः अष्टमः । पैशाचःकन्यकाच्छलादिति योगीश्वरः ॥ ३४ ॥

अद्भिरेव द्विजाभ्याणांकन्यादानंविशिष्यते ॥ इतरेषांतु वर्णानामितरेतरकाम्यया ॥ ३५ ॥

(१) मेधातिथिः । द्विजाभ्याणांब्राह्मणानांकन्यादानंकन्याददतामद्भिरेव दानंशस्यते । ब्राह्मणाय यदा कन्या-
ददाति तदाद्भिरेवदद्यात् । कथंपुनरापोदानकरणम् । नहि ताभिर्विनादानमस्ति अद्भिर्वाच्यंनमेपूर्वभिक्षादानंददातिवै एवं-
धर्मेष्वितिनियमात् । अथवा अद्भिरेवेत्यवधारणेनार्षासुरप्राजापत्यानपवदति । तत्र हि न केवला आपः कारणं गोमिथुना-
दिद्रव्यग्रहणमपिसंविद्यवस्थाच । तेनैतदुक्तंभवति यथागोहिरण्यादिद्रव्यंदीयतेनकिंचित्परिभाष्यते इयंगौस्त्वयैवंसंवा-
हनीयेदृशानि तृणान्यपि देयानिएवंकन्यापिदेयानदुहितृलेहेन जामाता परिभाषणंकारयितव्यः । नच तस्माद्धनंग्रही-
तव्यमिति । क्षत्रियादीनांतुयदिकन्यावरयोः परस्परमभिलाषोभवतितदादानंकर्तव्यंनेतरथाब्रह्मविवाहवत् । अन्ये तु
व्याचक्षते धनंवा गृहीत्वाद्भिरेवेत्येषइतरेतरकाम्यार्थः । अस्मिन्पक्षे ब्राह्मणस्य सर्वविषयता ज्ञापिता भवति ॥ ३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रदानं स्वाम्यकारकमिति वचनात् क्षत्रियादिभ्योपि दानप्रसक्तौविशेषमाह अद्भिरेवेति ।
अद्भिर्वाच्यकन्यादानंतत् द्विजाभ्याणांविश्राणामेव तेषामेव प्रतिग्रहसंभवात् इतरेषांत्वप्रतिग्राहकत्वात् । कन्याज्ञातिभिः
कन्यायावा सहान्योन्येच्छामात्रेणविनापिदानाद्विवाहसिद्धिरित्यर्थः । काम्या कामना एतच्च लक्षणं यथोक्तविध्यर्थ-
निष्पत्तिमात्रेणेति तु ग्राह्यम् । राक्षसेऽन्योन्येच्छाभावात् ॥ ३५ ॥

(३) कुल्लूकः । उदकदानपूर्वकमेव ब्राह्मणानांकन्यादानंप्रशस्तंक्षत्रियादीनांपुनर्विनाप्युदकंपरस्परेच्छया वाङ्मा-
त्रेणापि कन्यादानंभवति । उदकपूर्वकमपीत्यनियमः ॥ ३५ ॥

(४) राघवानन्दः । संप्रति तत्तद्दानप्रकारमाह अद्भिरिति । अद्भिरेवेत्यवधारणंनार्षादिव्यावृत्त्यर्थः । न तत्र
केवलमापः गवादेरपि प्रवेशात् । विनाप्युदकंवाङ्मात्रेणापि ॥ ३५ ॥

(५) नन्दनः । अथकन्याप्रदानमाह अद्भिरिति । इतरेतरकाम्यया परस्परेच्छया । गान्धर्वादिषुनायंविधिः प्र-
दानाभावात् ॥ ३५ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्विजाभ्याणां ब्राह्मणक्षत्रियविशां कन्याप्रदानमद्भिरेव जलैरेव जल पूर्वं प्रशस्यते । इतरेषां-
वर्णानामनुलोमप्रतिलोमजातीनां इतरेतरकाम्यया परस्परेच्छया कन्याप्रदानम् ॥ ३५ ॥

योयस्यैषांविवाहानां मनुना कीर्तितोगुणः ॥ सर्वशृणुत तं विप्राः सर्वं कीर्तयतोमम ॥ ३६ ॥

(१) मेधातिथिः । यदुक्तंगुणदोषौच यस्ययावितितत्स्मारयति । बहवोवक्तव्यतया प्रतिज्ञातास्तत्रवक्ष्यमाणैः
श्लोकैरयमर्थउच्यतइतिविशेषज्ञानार्थयुक्तः पुनरुपन्यासः । एषांविवाहानामिति निर्धारणे षष्ठी । एवंविवाहानांयस्य वि-
वाहस्य योगुणः कीर्तितआचार्येण मनुना सर्वशृणुत तंगुणंविप्राभृर्गुर्महर्षीनामन्त्रयते । सम्यगवैपरीत्येनानाकुलंकीर्तयतः
कथयतः ॥ ३६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गुणः पुत्रोत्पत्तिद्वारा ॥ ३६ ॥

(३) कुल्लूकः । यद्यपिगुणदोषौ च यस्य याविति गुणाभिधानमपि प्रतिज्ञातमेव तथापि बहूनामर्थानांतत्र
वक्तव्यतया प्रतिज्ञातत्वाद्विशेषज्ञापनार्थः पुनरुपन्यासः । एषांविवाहानामिति निर्धारणेषष्ठी एषांमध्ये यस्य विवाहस्य
योगुणोमनुना कथितस्तत्सर्वं हे विप्राः मम कथयतः शृणुत ॥ ३६ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रसवे च गुणागुणानित्युक्तंतद्गुणानाह यइतित्रिभिः । मम मत्तः ॥ ३६ ॥

(५) नन्दनः । एषांविवाहानांमध्ये यस्य विवाहस्ययोगुणः फलम् ॥ ३६ ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्य वर्णस्य येषां विवाहानां यो गुणः कीर्तितः हेविप्रास्तं सर्वगुणममं कीर्तयतः सम्यक्-
शृणुत ॥ ३६ ॥

दश पूर्वान्परान्वंश्यानात्मानंचैकविंशकम् ॥ ब्राह्मीपुत्रः सुरुतकृन्मोचयत्येनसःपितृन् ॥ ३७ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वं वंश्याः पितृपितामहादयः । अपरे पुत्रपौत्रादयः । तान्मोचयत्येनसोनरकादियत्तनाभ्य-
उद्धरति । ब्राह्मेन विवाहेनऊढातस्यांयोजातः पुत्रः ससुरुतकृत्पुण्यरुद्यदि भवति । पितृन्परलोकगतान् पितृशब्दोऽयंप्रेत-
पर्यायः नहि पुत्रादिसंततेरन्यथा पितृव्यपदेशसंभवः । दशशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते पूर्वापरशब्दाभ्यां एकविंशकमि-
तिनिदेशात् । अर्थवादश्चायम् । तेनागताननुत्पन्नान्कथंमोचयतीति नवाच्यम् । पूर्वेषांत्वपत्यरुतेन शुभेन आद्धादिना भ-
वत्येव पापान्मोक्षइतिआद्धाधिकारे कथयिष्यते । अतोदशापरानेनसोमोचयतीत्येतदुक्तंभवति । दशपुरुषायस्मिन्कुलेऽ-
पापाजायन्तइत्यालम्बनम् ॥ ३७ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अत्र ब्राह्मीपदेन कन्यायाबुद्धिस्थत्वात्तस्याः पित्रादयःप्रथमसंबन्धितया पूर्वपदेनो-
च्यन्ते । अपरपदेन तु पश्चात्संबन्धितया कन्यायाभर्तृश्वशुरादयः । तेन मातामहप्रभृतीन्दशदश च पितृप्रभृतीनात्मा-
नंच ब्राह्मीपुत्रः पूर्वजन्मरुतदुर्ब्राह्मणत्वहेतोरेनसस्तारयतीत्यर्थः । यथा देवलः । दातुःप्रतिग्रहीतुश्च पुनात्यासप्तमंकुलमि-
ति । याज्ञवल्क्योपि तज्जःपुनात्युभयइत्याह । ब्राह्मी ब्रह्मविवाहोढा । सुरुतकृदिति दुष्कृतकारित्वे तस्यनैतत्फलमस्तीत्य-
र्थः त्रिधाच-पुत्रः । औरसः पुत्रिकापुत्रः क्षेत्रजइति । तत्र औरसपुत्रमधिकृत्यैतत्फलमुक्तं । पुत्रिकायांतोन्यूनं । ततोपि
क्षेत्रजे पुत्रे फलमित्येवमन्यत्राप्युन्नेयम् ॥ ३७ ॥

(३) कुल्लूकः । दशपूर्वान्पित्रादीन्वंश्यान्परान्पुत्रादीन्दशात्मानंचैकविंशकंब्राह्मविवाहोढापुत्रोयदि सुरुतकृद्भवति
तदापापान्मोचयति पित्रादीन्परकादुद्धरति । पुत्रादयश्च तस्य कुले निष्पापाजायन्तइति मोचनाथस्तेषामनुत्पत्तेः पापध्वं-
सस्याशक्यत्वात् ॥ ३७ ॥

(४) राघवानन्दः । वंश्यान् स्ववंशजातान् । परान् पुत्रादीन् । तद्वंश्यानांपापायोगित्वंसूचितम् । सुरुतकृत्
आद्धादिकर्ता चेन् प्रजातमात्रेणेति ध्वनिः ॥ ३७ ॥

(५) नन्दनः । ब्राह्मी ब्राह्मविवाहोढा ॥ ३७ ॥

(६) रामचन्द्रः । पितृतः दशपूर्वान्वंश्यान्दशापरानेकविंशकमात्मानं ब्राह्मणीपुत्रःब्राह्मविवाहोत्पन्नः पुत्रः सुरुत-
कृत् सुरुतं करोतीति सुरुतकृत् सुरुतोत्पादकः सन्पितृनेनसःपापान्मोचयेत् ॥ ३७ ॥

दैवोढाजः सुतश्चैव सप्त सप्त परावरान् ॥ आर्षोढाजःसुतस्त्रीस्त्रीन् षट् षट् कायोढजः सुतः ॥ ३८ ॥

(१) मेधातिथिः । दैवेन विधिनोढा दैवोढा तस्यांजातोदैवोढाजः । सुतःपुत्रः कः प्रजापतिः सदेवता यस्यविवाहस्य-
सयः संस्कार कर्मणि ग्रहणलक्षणेऽसत्येव देवतासंबन्धे प्रजापतेर्देवतात्वमध्यारोप्यते भक्त्या । यदपितत्रप्राजापत्ययो-
गोस्ति सतुविवाहादिसाधारण्येनकायव्यपदेशे कारणम् । आसुरादिषु च न काचिद्भतिः स्यात् । न ह्यासुरेभ्योविवाहेभ्यो-
योगोऽस्ति । कायोढजइतिह्रस्वत्वं ङ्यापोःसंज्ञाच्छन्दसोर्बहुलमिति । ननुच यद्यन्यूनफलंतत्पश्चात्निर्दिष्टतत्रार्षस्य
प्राजापत्यात्पश्चादभिधानंयुक्तम् । अस्त्यत्र कारणयेनाधिकफलस्य प्राजापत्यस्य । पश्चान्निर्देशः पश्चानांतु त्रयोधर्म्या-
इत्यत्र प्राजापत्यस्य ग्रहणमिष्यतेइतरथार्षस्य स्यात् ॥ ३८ ॥

(३७) मोचयत्येनसः=मोचये देनस इति बहुषु प्राचोन पुस्तकेषु मुद्रितपुस्तकेषुच पठितम् ।

(२) सर्वज्ञनारायणः । दैवादिषु तु तादृग्विवाहोढस्त्री जातपुत्रिका पुत्रानादाय फलमुक्तं दैवोढजासुतइत्यादिना दैवविवाहेन याऊढ तस्यांया पुत्रिका जाता तस्याःपुत्रइत्यर्थः । अर्थाच्च तत्राप्यैरसे ततोधिकफलं क्षेत्रजेत्त्वल्पमित्यु-
न्येयम् । कायःप्राजापत्यः अत्र च स्मृत्यन्तरेष्वधिकपुरुषपावनोक्तिरभिसन्धिश्चुभ्यादिनोपपाद्या । आसुरादिषु तु विवाहेषु
जाताःपितृमात्रस्य पुन्नामनरकतारकहेतवोनान्येषांपावयितारइत्यर्थसिद्धित्वान्नोक्तम् ॥ ३८ ॥

(३) कुडूकः । दैवविवाहोढायाः पुत्रः सपरान्पित्रादीन्समावरान्पुत्रादींश्च । आर्षविवाहोढायाः पुत्रस्त्रीन्पित्रादींस्त्रींश्च-
पुत्रादीन् । प्राजापत्यविवाहोढायाः पुत्रः षट्पित्रादीन्षट्पुत्रादीन् । आत्मानंचैनसोमोचयतीति पूर्वस्यैव सर्वत्रानुषङ्गः ।
कायोढजइति । इत्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलमिति द्रष्टव्यम् । ब्राह्माद्यष्टविवाहोद्देशक्रमानुसारेणमन्त्रफलस्यार्षस्येह बहु-
फलप्राजापत्यात्पूर्वाभिधानम् । ब्राह्मादिविवाहोद्देशश्लोकएव कथमयंक्रमइतिचेत्पञ्चानांतु त्रयोधर्म्याइत्यत्र प्राजापत्यग्रह-
णार्थम् । अन्यथात्वार्षस्यैव ग्रहणंस्यात् ॥ ३८ ॥

(४) राघवानन्दः । दैवोढजः दैवविवाहाज्जातः । त्रीनिति । गोशुल्कग्रहणापराधात् । कायोढजः कस्यप्राजापते-
रयंविवाहः । कायोढस्तस्माज्जातः प्राजापत्यजइत्यर्थः ॥ ३८ ॥

(५) नन्दनः । कायोढजः प्राजापत्येनोढायाः सुतः । ह्रस्वोवृत्तभङ्गपरिहारार्थः ॥ ३८ ॥

(६) रामचन्द्रः । दैवोढजःसुतः दैवविवाहोत्पन्नःसुतः समावरान् पूर्वोश्चेत्यर्थः । चतुर्दशपुरुषान्पवित्रयतीत्य-
र्थः । आर्षोढजःसुतः आर्षविवाहोत्पन्नःसुतस्त्रीन्पूर्वांश्चश्यांस्त्रीन्परान्वंश्यान्पुनाति । कायोढजःसुतःप्राजापत्यविवा-
होत्पन्नःसुतःषट्पूर्वांश्चश्यान्सहात्मनेति योगीश्वरः ॥ ३८ ॥

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः ॥ ब्रह्मवर्चसिनःपुत्राजायन्ते शिष्टसंमताः ॥ ३९ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रसवेचगुणागुणानित्युक्तंदिदमनुपूर्वशआनुपूर्व्येणेत्यस्मिन्नर्थेस्मृतिकारैः प्रयुज्यते । श्रुताध्यय-
नविज्ञानसंपत्तिनिमित्तेच पूजाख्याति ब्रह्मवर्चसंतदन्तोब्रह्मवर्चसिनः । इन्नन्तोऽयम् । शिष्टानांसंमता अनुमताअगर्हा-
अद्विष्टाःप्रियाइतियावद्यतश्चामन्यर्थत्वान्मतिबुद्धीत्यस्याविषयत्वेन केनच पूजायामित्येतेन नास्ति समासप्रतिषेधः । सं-
बन्धसामान्यविवक्षायांच षष्ठी ॥ ३९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्राह्मणस्य चत्वार आद्याः प्रशस्ताउक्तास्तदुपपादयति ब्राह्मादिष्विति । अनुपूर्वशः तत्त-
द्विवाहा पकर्षक्रमेणापठ्यमाणगुणाः ॥ ३९ ॥

(३) कुडूकः । प्रसवेचगुणागुणानिति यदुक्तंतदुच्यते । ब्राह्मादिषु चतुर्षु विवाहेषु क्रमावस्थितेषु श्रुताध्ययन-
सम्पत्तिकतेजोयुक्ताः पुत्राः शिष्टप्रियाजायन्ते । प्रियार्थत्वाच्च संमतशब्दस्य केन च पूजायामिति न षष्ठीसमासप्रतिषेधः ।
सम्बन्धसामान्यविषयाषष्ठीयंसमस्यते ॥ ३९ ॥

(४) राघवानन्दः । तेष्वेव गुणान्तरमाहब्राह्मादिष्विति द्वाभ्यां । ब्रह्मवर्चसिनः वेदाध्ययनजवीर्ययुक्ताः ॥ ३९ ॥

(६) रामचन्द्रः । चतुर्षु ब्राह्मादिषु विवाहेषु अनुपूर्वशः ब्राह्म दैवार्षप्राजापत्येषु चतुर्ष्वेव विवाहेषु पुत्राब्रह्मवर्च-
सिनो जायन्ते ॥ ३९ ॥

रूपसत्त्वगुणोपेताधनवन्नोयशस्विनः ॥ पर्याप्तभोगाधर्मिष्ठाजीवन्ति च शतंसमाः ॥ ४० ॥

(१) मेधातिथिः । रूपमनोहरारुतिःसत्त्वंनाम गुणोद्वादशे वक्ष्यते ताभ्यामुपेतायुक्ताः । आढ्याधनवन्तः ।

श्रुतशौर्यादिगुणयुक्ततया ख्याताः यशस्विनः । पर्याप्तभोगाः स्रगनुलेपनगीतवाद्यादिभिः सुखसाधनैरविकलैर्नित्ययुक्ताः । सुखसाधनैः पूर्वोक्तैरवियोगोभोगः सपर्याप्तोऽक्षतः समग्रोयेषांते पर्याप्तभोगाः । धर्मानुष्ठानतत्परार्थमिष्टाः । धर्मशब्दः केषांचिद्गुणवचनः । अतो गुणवचनादित्यातिशायिकः । शतंवर्षाणिजीवन्ति ॥ ४० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सत्त्वगुणाः सात्त्विकाधर्माज्ञानादयः । पर्याप्तभोगाः प्राप्तकृत्स्नभोगाः ॥ ४० ॥

(३) कुल्लूकः । रूपमनोहराकृतिः सत्त्वंद्वादशाध्याये वक्ष्यमाणगुणादयादयः । तैर्युक्ताधनिनः । ख्यातिमन्तो-
यथेप्सितवस्त्रस्रग्गन्धलेपनादि भोगशालिनो धार्मिकाश्च पुत्रा जायन्ते इति पूर्वमनुवर्तते शतं च वर्षाणि जीवन्ति ॥ ४० ॥

(४) राघवानन्दः । सत्त्वगुणाद्वादशाध्याये वक्ष्यमाणाः । रूपसौन्दर्यं सत्त्वंबलं वा पर्याप्तभोगा इति भोगिनः । भोग्योपस्थितावपि दुष्कृतिनां न भोगसिद्धिः ॥ ४० ॥

(५) नन्दनः । ब्राह्मादिषु चतुर्षु विवाहेष्वामुष्मिकफलप्रत्येकमुक्तम् इदानीमैहिकं च समुदायेफलं श्लोकद्वयेनाह
ब्राह्मादिष्विति । सत्त्वगुणोपेताः सात्त्विकाः । पर्याप्तभोगाः पूर्वसुखभोगाः ॥ ४० ॥

(६) रामचन्द्रः । एतादृशाः भवन्ति पर्याप्तभोगधर्मिष्ठाः ॥ ४० ॥

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ॥ जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥ ४१ ॥

(१) मेधातिथिः । ब्राह्मादिव्यतिरिक्तेषु गान्धर्वादिविवाहेषु नृशंसमनृतचवदन्ति नृशंसानृतवादिनः । नृशंसमानृत-
भगिन्यादावश्लीलाक्रोशवचनम् । अनृतप्रसिद्धम् । नृशंसंचानृतचनृशंसानृते तद्वेदितुंशीलमेषामिति शब्दव्युत्पत्तिः । ब्र-
ह्मधर्मो वेदधर्मो वेदार्थस्तं द्विषन्ति निन्दति वा न श्रद्धते वा । अतएव दुर्विवाहेष्विति निन्दा ॥ ४१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शिष्टेष्वनुशिष्टेषु । अपदिष्टेष्विति यावत् । नृशंसोहिंस्रः ॥ ४१ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मादिभ्यश्चतुर्भ्योऽन्येष्वामुरादिषु चतुर्षु विवाहेषु क्रूरकर्माणो मृषावादिनो वेदद्वेषिणो यागादिधर्म-
द्वेषिणः पुत्रा जायन्ते ॥ ४१ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्राह्मदैवतार्थप्राजापत्यभिन्नेषु दोषानाह इतरेष्विति । शिष्टेष्ववशिष्टेषु । नृशंसाः क्रूराः । तत्क-
र्माणो वा । ब्रह्म वेदः । ब्राह्मणजातिर्वा । धर्मश्चाग्निहोत्रादिस्तद्विषयः ॥ ४१ ॥

(५) नन्दनः । इतरेष्ववशिष्टेष्वप्रशस्तेषूपविवाहेषु । नृशंसानृतवादिनः पुरुषवादिनः । ब्रह्मद्विषः ब्राह्मणद्विषः । अ-
ननुज्ञातविवाहविषये निन्दा । इतरथा हि क्षत्रियादिषु गान्धर्वराक्षसाद्युपशासनानर्थक्यप्रसङ्गः ॥ ४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । शिष्टेष्वितरेषु चतुर्षु विवाहेषु नृशंसानृतवादिनः । ब्रह्मधर्मद्विषः । सुता जायन्ते आसुरगान्धर्व-
राक्षसपैशाचेषु चतुर्ष्विति ॥ ४१ ॥

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा । अनिन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत् ॥ ४२ ॥

(१) मेधातिथिः । समासतो विवाहानां फलप्रदर्शनमेतत् । येयस्य विवाहाविहितास्तेऽनिन्दितास्ते रूढानां या प्रजा
पुत्रादिलक्षणा साऽनिन्द्या भवति प्रशस्येत्यर्थः । निन्दितैः प्रतिषिद्धैः । निन्दिता गर्हिता । तस्माद्दुःखभागिनी प्रजामाभूदिति-
निन्द्यान्विवर्जयेत् ॥ ४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यद्दर्शस्य योविवाहोविहितः सोनिन्दितः । निन्दितोऽन्यः । एवंसवर्णाविहितविवाहे केवलं प्रजानिन्द्याभवति । भार्यात्वं तु सिद्ध्यत्येवेति कथितम् ॥ ४२ ॥

(३) कुल्लूकः । संक्षेपेण विवाहानां फलकथनमिदम् । अगर्हितैर्भार्याप्रामिहेतुभिर्विवाहैर्गर्हिता मनुष्याणां संततिर्भवति । गर्हितैस्तु गर्हिता तस्माद्गर्हितविवाहान् कुर्यात् ॥ ४२ ॥

(४) राघवानन्दः । नगिरागिरेति न्यायेन निन्दितविवाहानिषेधति अनिन्दितैरिति । ऐरं कृत्वोद्गायतीति विधौ य आत्मानं गिलेदित्याद्यर्थवादस्तथा अनिन्दितविवाहः कार्य इत्यत्र निन्दितविवाहनिषेधोऽर्थवादः ॥ ४२ ॥

(५) नन्दनः । उक्तमेवार्थं संक्षिप्य दर्शयति अनिन्दितैरिति ॥ ४२ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैः अनिन्द्या स्तुत्या प्रजा भवति पुत्राभवन्तीत्यर्थः । आसुरादिनिन्दितैर्विवाहैर्निन्दिता प्रजा भवति नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवाहान्वर्जयेत् ॥ ४२ ॥

पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते ॥ असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्राहकर्मणि ॥ ४३ ॥

(१) मेधातिथिः । पाणिग्रहणं नाम गृह्यकारोक्तः संस्कारः सवर्णासु समानजातीयासूक्ष्मानासूपदिश्यते शास्त्रेण विधीयते कर्तव्यतया प्रतिपाद्यते । असवर्णासु यदुद्राहकर्म तत्रायं वक्ष्यमाणो विधिर्ज्ञेयः ॥ ४३ ॥

२) सर्वज्ञनारायणः । सवर्णास्त्विति सामान्योक्त्या शूद्राणामप्यग्निसाक्षिकमन्त्रकंपाणिग्रहणमात्रं कर्तव्यत्वेनाभिमतम् ॥ ४३ ॥

(३) कुल्लूकः । समानजातीयासु गृह्यमाणासु हस्तग्रहणलक्षणः संस्कारो गृह्यादिशास्त्रेण विधीयते । विजातीयासु पुनरुत्समानासु विवाहकर्मणि पाणिग्रहणस्थानेऽयमनन्तरश्लोके वक्ष्यमाणो विधिर्ज्ञेयः ॥ ४३ ॥

(४) राघवानन्दः । असवर्णासु पाणिग्रहणाभावेन प्रकारान्तरं वक्तुं सवर्णास्त्वेव गृह्णामि ते सौभगत्वायेति पाणिग्रहणं विधत्ते पाणीति द्वाभ्यां । अयं वक्ष्यमाणः शरद्व्यादिः ॥ ४३ ॥

(५) नन्दनः । अथ विवाहाङ्गविशेषमाह पाणिग्रहणेति । करेण करस्य ग्रहणं पाणिग्रहणम् । पाणिग्रहणमेव संस्कारः पाणिग्रहणसंस्कारः । अयं वक्ष्यमाणः ॥ ४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । पाणीति । सवर्णासु स्त्रीषु पाणिग्रहणसंस्कार उपदिश्यते । तद्यथा ब्राह्मणस्य ब्राह्मण्याः पाणिग्रहणमिति स्ववर्णास्त्वित्यर्थः । असवर्णासु स्त्रीषु विवाहेषु ब्राह्मणस्यऽयं विधिरुद्राहकर्मणि ज्ञेयः ॥ ४३ ॥

शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया ॥ वसनस्य दशग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने ॥ ४४ ॥

(१) मेधातिथिः । ब्राह्मणेनोत्समानया क्षत्रियया शरो ब्राह्मणपाणिपरिगृहीतो ग्राह्यः पाणिग्रहणस्थाने शरस्य विधानात् । प्रतोदो बलीवर्दानामायासः क्रियते येन वाह्यमानाः पीडयन्ते हस्तिनामिवाङ्कुशः । वसनस्य वस्त्रस्य दशा ग्राह्या शूद्रया उत्कृष्टजातीयैर्ब्राह्मणादिवर्णैर्वेदने विवाहे ॥ ४४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्षत्रियाधृतं शरं वैश्यया च धृतं प्रतोदं पाणिग्रहणमन्त्रैर्वीरोगृहीयात् । शूद्राविवाहे तु शूद्रा वरस्य वसनाञ्चलममन्त्रिकं गृहीयात् । शूद्रामप्येके मन्त्रवर्जमिति स्मृतेः । उत्कृष्टः स्ववर्णोत्कृष्टवर्णः । एतेन क्षत्रियेण वैश्यायाः शूद्रायाश्च वैश्येन च शूद्राविवाहेऽयमेव क्रम इति कथितम् ॥ ४४ ॥

(३) कुल्लूकः । क्षत्रियया पाणिग्रहणस्थाने ब्राह्मणविवाहे ब्राह्मणहस्तपरिगृहीतकाण्डैकदेशोग्राह्यः । वैश्यया-

ब्राह्मणक्षत्रियविवाहे ब्राह्मणक्षत्रियावधृतप्रतोदैकदेशोग्राह्यः । शूद्रया पुनर्द्विजातित्रयविवाहे प्रावृतवसनदशाग्राह्या ॥४४॥

(४) राघवानन्दः । शरः पाणिना क्षत्रियया गृहीतोयस्तं पाणिस्थानीयं विप्रोगृहीयान् तु विप्रहस्तस्थः शरः । क्षत्रियविषयइतिकन्यापाणिस्थाने शरस्य विधानात् । अन्यथामन्त्रलिङ्गविरोधः । अतः क्षत्रियया शरोब्राह्मण्या पाणिः परिगृहीतो ग्राह्यः इति मेधातिथेः प्रलापः । एवं प्रतोदादिषु प्रतोदोबलीवर्दादिचालनसाधनः । उत्कृष्टवेदने द्विजादिकर्तृक विवाहे ॥ ४४ ॥

(५) नन्दनः । वर्णोत्कृष्टस्य वेदने सवर्णादुत्तरोत्तरस्य वर्णस्य लाभे विवाह इति यावत् ॥ ४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । तद्यथा उत्कृष्टवेदने विप्रस्य वेदने विवाहे क्षत्रियया शरो ग्राह्यः । विप्रस्य वेदने वैश्यया प्रतोदोग्राह्यः । विप्रस्य वेदने शूद्रया वसनस्य वस्त्रस्य दशा ग्राह्या । वेदने त्वयजन्मन इति योगीश्वरः । एवं क्षत्रस्य वेदने वैश्यया प्रतोदोग्राह्यः । पुनरेवं वैश्यस्य वेदने शूद्रया वसनस्य दशा ग्राह्या ॥ ४४ ॥

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा ॥ पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्वतोरतिकाम्यया ॥ ४५ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तो विवाहः तस्मिन्निवृत्तसमुपयाते दारत्वे तदहरेवेच्छयोपगमे प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थमिदमारभ्यते । न विवाहसमनन्तरं तदहरेव गच्छेत् किं तर्हि ऋतुकालं प्रतीक्षत । गृहकारैस्तु अत ऊर्ध्वमक्षारलवणाशिनौ ब्रह्मचारिणावधः-शायिनौ स्यातां त्रिरात्रं द्वादशरात्रं संवत्सरं वेति पठितम् । तत्र सत्यपि संवत्सरस्यान्तरापतितऋतौ गमनं नास्ति । एवमस्मात्कालादूर्ध्वं मसत्यृतौ गमनं नास्ति । एवमेते स्मृती अविरोधिन्यौ भवतः । त्रिरात्रादीनां तु विकल्पः अत्यन्तरागपीडितयोर्गमनं धैर्यवतोस्तु ब्रह्मचर्यम् । ऋतुर्नाम स्त्रीणां शोणितदर्शनोपलक्षितः शरीरावस्थाविशेषो गर्भग्रहणसमर्थः काल उच्यते । उपलक्षणत्वाच्च दर्शनस्य निवृत्तेऽस्मिन्वक्ष्यमाणकालानुवर्तमानत्वेव तस्य कालऋतुकालः साहचर्याद्वा काल एव ऋतुः । तथाच समानाधिकरणसमासः । ऋतुकालेऽभिगन्तुं व्रतमस्येत्यृतुकालाभिगामी । व्रते इति णिनिः यथा स्थण्डिलशायी अ-आद्धभोजीति । स्याद्भवेदित्यर्थः । यद्यन्यस्ति पराविधिविभक्तिस्तथाप्युपगमव्यापारं विदधाति । अभिगामी स्यादभि-गच्छेदित्यर्थः । न ह्यनुपगच्छन् अभिगामी भवति । कीदृशं पुनरेतद्व्रतं किमृतावभिगन्तव्यमेवाथ तवैव गन्तव्यमिति । एतदुक्तं भव-ति किमयं नियम उत परिसंख्येति । ननु च व्रतमिति शास्त्रतो नियम उच्यते तत्रैव चायं णिनिः अतः परिसंख्या कथमा-शङ्क्यते उच्यते । परिसंख्यायामपि शास्त्रीयत्वं नियमरूपता च विद्यत इति दर्शयिष्यामः । कस्तर्ह्यनयो विशेषः । विधिविशेषो नियमः । अथ विधिः कः यः शब्दः कर्तव्यता बोधकः अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इति । न ह्यग्निहोत्रस्यैतद्वचनमन्तरेणान्यतः कुतश्चित्कर्तव्यतावगमः । नियमः पुनर्यत्रादृष्टसिद्ध्यर्थस्य वचनमन्तरेण पाक्षिकी प्राप्तिः यथा समे यजेतेति । दर्शपौर्णमासा-दियागविधानादेशमात्रमाक्षिप्तम् । न हि कश्चिद्देशमनाश्रित्य यागप्रयोगः संभवति । द्विविधश्च देशः समो विषमश्च । तत्र यदा तावत्समे यजेत तदैतद्वचनमनुवाद एव । यदा त्विच्छायानिरङ्कुशत्वाद्विषमे यियक्षति तदैतद्वचनं समदेशं विदधदर्थवत् । विहिते समे विषमस्यानाश्रयणमविधानात् । एतत्सामर्थ्यात् निवृत्तिः । विधिनिबन्धने ह्यनुष्ठाने किमित्यविहितं क्रियेत तत्करणे हि न यथाचोदितानुष्ठानसिद्धिः । इदं चात्र स्मार्तमुदाहरणम् । प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत भुञ्जानस्य यदृच्छया यांकांचिद्दिशमाश्रित्य भोजनं प्राप्तं तत्र कदाचित्प्राची कदाचिदतरायाकाचित्प्राप्ता तत्र यदा प्राची न तदेतरा यदेतरा न तदा प्राचीति । तत्राप्रामिपक्षे विध्यर्थवचनं प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीतेति तत्रातिक्रमाच्छास्त्रार्थजहाति । एवमिह यदृच्छयो-पगमनमृतावनुपगमनपक्षे विधीयमानमुपगमनमनुष्ठीयमानं शास्त्रातिक्रमकारितां जनयेत् । यथाऽन्ये शास्त्रविहितार्था अति-

क्रम्यमाणाः प्रायश्चित्तहेतवो भवन्ति तथानुगमनम् । अथर्तावनृतौ च गमने रागतः प्राप्तेवचनमृतावुपेयादिति । तदैवं-
वचनं भृग्यते ऋतावोपेयादनृतौ न गच्छेत् । अथपञ्चपञ्चनखाभक्ष्यादिति क्षुत्प्रतिघातेनार्थेनशशकादिष्वपि पञ्चनखेषु भ-
क्ष्यता प्रसक्ता तद्यतिरिक्तेष्वपि वानरादिषु । नचतत्र पर्यायेणैव प्रवृत्तिः । युगपत्तत्रचान्यत्रच प्रसक्तौ पञ्चपञ्चनखाभ-
क्ष्यादिति वचनमितरपरिसंख्यानार्थपरिसंपद्यते । एवमिहपरिसंख्येति । ननु च परिसंख्यादोषत्रयवतीमाचक्षते । त्रयोहि
तत्रदोषाः प्रादुःष्युः स्वार्थत्यागः परार्थकल्पनाप्राप्तबाधश्च । पञ्चपञ्चनखाभक्ष्यादिति यदान्वयतः पञ्चनखविषयं भक्षणं प्रती-
यते तदा तत्त्यक्तं भवतितद्व्यतिरिक्तनिषेधपरत्वाद्वाक्यस्य । अश्रुतश्च निषेधोऽतः परार्थकल्पना । अर्थित्वाच्च सर्वविषयं
भक्षणं यत्प्राप्तं तस्य बाधः । एवमेतेन परिसंख्यायां त्रयोदोषाः नैतत्सारम् । सत्यर्थित्वेश्रुत्यर्थसंभवे वाक्यस्यानर्थक्यमा-
भूदित्येतत्परता नविरुद्धा । विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति । तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ । परिसंख्या नखिष्विव ॥ किं-
पुनरत्रयुक्तं तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्यालक्षणस्य विद्यमानत्वात्परिसंख्येति । ऋतावपि गमनं प्राप्तमनृतावपि नतु यदर्थौ
तदानृताविति । यथासत्यर्थित्वे भोजनं तत्र नियमोऽश्राद्धम् नपुनराहारत्यागेन श्राद्धमेव भुञ्जान आस्ते । एवमिह सतिखेदे
यद्गमनं तत्र नियमोऽनृतौ न गच्छेदित्यवगच्छति । अर्थित्वाच्च गमने प्रसक्ते कालविधानपरतैव युक्ता वाक्यस्य । अन्यथा
ऽनारब्धोऽर्थ उपदिष्टः स्यात् । किंचापत्योत्पत्तिविधेः कृतविवाहस्यानुष्ठेयत्वादृतौ च तत्संभवात्प्राप्तमेव गमनम् । उत्पन्न-
पुत्रस्य च न द्वितीयपुत्रोत्पादनं वैधम् । अपत्यमुत्पादयेदित्येकत्वविवक्षायां विध्यर्थनिवृत्तेः । नच गमनमेवादृष्टार्थतया श-
क्यविधातुम् संस्कारविधित्वादधिकारग्रहणात्कल्पनायाश्च शक्यत्वादपत्योत्पत्तिविध्याक्षेपादृतौ गमनस्य । यदि चात्रर्तावु-
पेयादितितदनृतुप्रतिषेधार्थम् । तत्रानुवादः परंपरिसंख्या । तत्र ह्यर्थान्तरलक्षणयाप्यर्थवत्ता भवति । एवं कृत्वा गौतमीयेनावि-
प्रतिपत्तिः । एवं तत्रोक्तं ऋतावुपेयात्सर्वत्र वा प्रतिषिद्धवर्जमिति । सर्वत्र वेत्येष विकल्पः कामचारानुज्ञानार्थः । न पुनः
सर्वदत्तावनृतौ च नियमोपपत्तिः ॥ यदि च पूर्वत्रर्तावुपेयादितिनियमः सर्वत्रवेत्यत्रापि स एवोपेयादित्यनुप्रयुज्यमानशब्दो निय-
मार्थः प्राप्नोति एकप्रक्रमत्वात्तर्हि स एव शब्दः पुनरनुच्चार्यमाणो भिन्नार्थो भवितुं युक्तः । नच तर्तोरन्यत्र नियमार्थतोपपद्यते ।
तस्मादृतौ गमनवचनमनृतौ प्रतिषेधार्थम् । तत्रानुत्पन्नपुत्रस्य विध्यन्तरान्नियम एव । उत्पन्नपुत्रस्तु यथाकामी । अनृतौ प्र-
तिषिद्धे गमने भार्येच्छया पुनः प्रतिप्रसूयते पर्ववर्जं व्रजे चैनांतद्व्रत इति तदिति भार्यायाः प्रत्यवमर्शः । तच्चित्तग्रहणं व्रत-
मस्येति तद्व्रतः । रतिकाम्यया विनाप्यपत्यार्थेनोत्पन्नपुत्रः ऋतावनुत्पन्नपुत्रो वानृतौ सुरतसंभोगेच्छया तद्व्रत एनां व्रजेनात्मे-
च्छयेत्यर्थः । अथवा तच्छब्दोरतिकाम्ययेत्यत्रापेक्ष्यते । स्मृतिशास्त्रत्वादस्य । तद्व्रतिकांम्यया पर्ववर्जमन्यत्रापि व्रजेत-
तत्रैवाकारश्लेषोद्गृह्यः । अरतिकाम्यया आत्मन इति शेषः । यथा तु व्याख्यातं तथा नाकंचिदत्राप्रश्लेषेणापि तच्छब्दस्य
समासोपसर्जनस्यासंबन्धेन । पर्वाणि वक्ष्यति । अमावास्यामष्टमी च पौर्णमासी चतुर्दशीमिति । स्वदारेषु निरतः स्यात्त-
न्यीति भावनापरः । अथवा स्वदारेष्वेवरमते न परदारान्नमयेदिति परदारप्रतिषेधः । सदा यावज्जीवमेतद्व्रतं परिपालनीयम् ।
अतः स्थितमेतस्त्रीणि वाक्यान्यत्र ऋतुकालाभिगामी स्यादित्येतदेकम् अनुत्पन्नपुत्रस्य नियमानुवादरूपद्वितीयम् भार्या-
प्रयुक्तस्य पर्ववर्जमृतावनृतौ च न सुरतेच्छया स्वदारनिरत इति तृतीयम् । एषांचपदयोजना ऋतुकालाभिगामी स्यादपत्यार्थम्
रतिकाम्यया तु तद्व्रत एनां व्रजेत् स्वदारनिरतश्च स्यात् ॥ ४५ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । ऋतुकालमात्राभिगमने चेत्यसंपत्तौ स्वदारनिरत इति पक्षान्तरम् । तत्र च पर्ववर्जमिति
विशेषउक्तः । तद्व्रतः पर्ववर्जस्वदारगमनमात्रगृहीतव्रतः रतिकाम्यया स्वस्य भोगार्थितया ननु तादृग्धर्मलाभस्तत्रे-
त्यर्थः ॥ ४५ ॥

(३) कुल्लूकः । ऋतुर्नामशोणितदर्शनोपलक्षितो गर्भधारणयोग्यः स्त्रीणामवस्थाविशेषः । तत्कालाभिगामी स्यादित्ययं नियमविधिः न तु परिसंख्या स्वार्थहानिपरार्थकल्पनाप्राप्तबाधात्मकदोषत्रयदुष्टत्वात् । ऋतुकालेऽपि रागतः पक्षेगमनप्राप्तौ यस्मिन्पक्षे प्राप्तिस्तत्रविधिः समेयजेतेतिवत् । अतएव ऋतावगमनेदोषमाह पराशरः ऋतुस्मातांतु यो भार्यासंनिधौ नोपगच्छति । घोरायां ब्रह्महत्यायां पतते नात्र संशयः । अनुत्पन्नपुत्रस्य चायं नियमः । ब्राह्मणो ह वै जायमानस्त्रिमिर्ऋणैर्ऋणवा जायते यज्ञेन देवेभ्यः प्रजयापितृभ्यः स्वाध्यायेनार्षिभ्य इत्येतत्प्रत्यक्षश्रुतिमूलत्वेऽस्य संभवति । मूलान्तरकल्पनस्यायुक्तत्वात् । तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवेस्त्रियमिति च वक्ष्यति ततोऽप्येतच्छ्रुतिमूलत्वमवगम्यते । पुत्रोत्पादनशास्त्रस्य चैकपुत्रोत्पादनेनैव चरितार्थत्वात्कामजानितरान्विदुरिति दर्शनादजातपुत्रस्यैव नियमः । दशास्यां पुत्रानाधेहीति मन्त्रस्तु बहुपुत्रप्रशंसापरः जातपुत्रस्याप्युत्कालगमननियमो न दशास्वेवावतिष्ठते त्वदारान्निरतः सदेति नित्यं त्वदारसंतुष्टः स्यान्नान्यभार्याभुपगच्छेदिति विधानात्परिसंख्यैव वाक्यानर्थक्यात्त्वदारगमनस्य प्रशस्तत्वात् । ऋतावगमने दोषाश्रवणाच्च न नियमविधिः । पर्ववर्जं व्रजेच्चैनामिति । पर्वण्यमावास्यादीनि वक्ष्यन्ते । तानि वर्जयित्वा भार्या प्रीतिव्रतं तस्य सतद्रतोऽनृतावप्युपेयात् । अतएव रतिकांम्यया न तु पुत्रोत्पादनशास्त्रबुद्ध्या तस्माद्विधित्रयमिदम् । ऋतावुपेयादेव । अन्यभार्या नोपगच्छेत् । अनृतावपि भार्याप्रीतये गच्छेदिति । अत्र च गौतमः ऋतावुपेयादनृतौ च पर्ववर्जम् । याज्ञवल्क्योऽप्याह । यथाकामी भवेद्वापि स्त्रीणां वरमनुस्मरन् । पर्ववर्जमित्यृतावनृतौ चोभयत्र संबध्यते ॥ ४५ ॥

(४) राघवानन्दः । तस्यैव कृतदारस्य नियमवदन्नादौ स्त्रीविषयं तमाह । ऋतुकालेति षड्विः । तद्वतः भार्याप्रीतिव्रतं तस्य अतएवाह रतिकांम्यया ॥ ४५ ॥

(५) नन्दनः । कृतोद्वाहस्य स्त्रियं प्रति नियममाह ऋतुकालेति । ऋतुर्नाम गर्भग्रहणक्षमः स्त्रीणामवस्थाविशेषः । सदेतिसर्वत्र संबध्यते । तस्यायमर्थः । सदनुत्कालाभिगामी स्यान्न कदाचिदप्युत्कालं लङ्घयेत् । व्रतेणिनिप्रत्ययः । सदा त्वदारान्निरतः स्यात् न कदाचित् स्त्रियन्तरं गच्छेत् । अनृतुकालेऽपि रतिकांम्यया भोगेच्छया तद्वत्तया भार्यायां प्रार्थितश्चेत् । पर्ववर्जं सदा गच्छेत् । न कदाचिद्व्रतिप्रार्थनां लङ्घयेदिति ॥ ४५ ॥

(६) रामचन्द्रः । सदा त्वदारान्निरतः सन्तुत्कालाभिगामी स्यादिति वचनात्परदारनिषेधः । एनां स्त्रियं पर्ववर्जं व्रजेच्छेत् । ततस्तस्यास्तच्चित्तग्रहणं व्रतमस्येति तद्वतः । रतिकांम्यया नित्यं गच्छेदित्यर्थः । यथाकामी भवेद्वापि स्त्रीणां वरमनुस्मरन्ति योगीश्वरः । इन्द्रदत्तवरमित्यर्थः ॥ ४५ ॥

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ॥ चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्भिर्गर्हितैः ॥ ४६ ॥

(१) मेधातिथिः । ऋतुलक्षणार्थं श्लोकोऽयम् । वैद्यकादिशास्त्रावगम्योऽयमर्थो न विधिमूल एव । एवं युग्मासु पुत्रा इत्येतावपि श्लोकौ । षोडशरात्रयस्ताः स्त्रीणां मासिमासि । स्वाभाविकऋतुः । प्रमाणान्तरमूलत्वाच्चाश्रुतमपि मासिमासीति गम्यते । स्वभावे भवः स्वाभाविकः स्वस्थप्रकृतीनां यो भवति व्याध्यादिना कस्याश्चित्प्राप्तकालोऽपि निवर्तते घृततिलाद्यौषधोपयोगेन रतिवशेन चाकालेऽपि संवर्तते । अतः स्वाभाविकऋतुस्तारात्रय उच्यन्ते । चतुर्भिरितरैः चत्वार्यहानि यानि सद्भिर्विगर्हितानि प्रतिषिद्धस्त्रीस्पर्शसंभाषणादीनि तानि च प्रथमशोणितदर्शनात्प्रभृतिअहर्ग्रहणं च सर्वाहोरात्रोपलक्षणार्थं तैः सह ॥ ४६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वाभाविकः स्त्रीस्वभावनियतः कस्याश्चित्त्वाधिक्यमपि व्याध्यादिना शोणिताधिक्येन भवतीत्यर्थः । इतरैरजःकालीनैश्चतुर्भिः सहेति वदन्वशिष्टान्यहानि द्वादशेति दर्शयति रात्रयइति वचनमुपगमयोग्यद्वादशाहोरात्रेषु रात्रावेव गमनं दिवेति कथयितुं । अहोभिरिति त्वहोरात्रोपलक्षणम् ॥ ४६ ॥

(३) कुल्लूकः । अत्र रात्र्यहः शब्दावहोरात्रपरौ शोणितदर्शनात्प्रभृतिस्त्रीसंपर्कगमनादौ शिष्टनिन्दितैश्चतुर्भिरन्यैरहोरात्रैः सह षोडशाहोरात्रा मासिमासि स्त्रीणामृतुः स्वभावे भवः स्वाभाविकः । व्याध्यादिना तु न्यूनाधिककालोऽपि भवति ॥ ४६ ॥

(४) राघवानन्दः । ऋतोरवधिमाह ऋतुरिति । स्वाभाविकः औत्सर्गिकः रोगभोगादिना न्यूनाधिकसंभवात् । शोणितोपलक्षितशरीरावस्थाविशेषोगर्भग्रहणसमर्थं ऋतुस्तदर्शनात् । सद्भिर्गर्हितैश्चतुर्भिरहोरात्रैः सहअविगर्हिता द्वादशरात्रयइति षोडश । स्त्रीकृतभार्यस्य तदहस्तस्यांगमनप्रसक्तौ ऋत्ववधिकरणत्रिरात्रादिपालनार्थम् । तथाचाश्वलायनसूत्रम् । अत ऊर्ध्वमक्षारालवणाशिनौ स्यातां त्रिरात्रं द्वादशरात्रं संवत्सरं वेति ॥ ४६ ॥

(५) नन्दनः । कः पुनः स्त्रीणामृतुकालइत्यपेक्षायामाह ऋतुरिति । सद्भिर्गर्हितैरितरैश्चतुर्भिरहोभिः सार्धगमने प्रतिषिद्धैः प्रथमैश्चतुर्भिः रात्रैः सहप्रथमाश्चतस्रः पञ्चम्यादयो द्वादशइत्येवं षोडशरात्रयः । षोडशाहोरात्राः । स्वाभाविको न व्याध्यादिनिमित्तादुत्पन्नः स्त्रीणामृतुर्भवति ॥ ४६ ॥

(६) रामचन्द्रः । तत्रविशेषमाह ऋतुस्त्विति । स्त्रीणां गर्भाधानयोग्यावस्थोपलक्षितः कालऋतुः स्वाभाविकः षोडशरात्रयः स्मृतारजोदर्शनदिवसादारभ्य षोडशाहोरात्रयः सद्भिर्विगर्हितैः चतुर्भिः सार्धैरहोर्द्वादशभिरहोभिः सार्धमित्यर्थः ॥ ४६ ॥

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या ॥ त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दशरात्रयः ॥ ४७ ॥

(१) मेधातिथिः । तासां रात्रीणां या आद्याः प्रथमशोणितदर्शनाच्चतस्रस्तानि निन्दिताः न तत्र गमनमस्ति । तिसृषु तावत्स्पर्शोऽपि नास्त्यशुचित्वात् । चतुर्थ्या तु स्नातायावशिष्टवचनात्सत्यपि शुचित्वेरतिसंभोगो नास्ति चतसृणां गर्हितत्ववचनात् । याचैकादशी या च त्रयोदशी साऽपि निन्दिता । एवं प्रतिषिद्धगमने ऋतुदर्शनात्प्रभृत्येकादशी त्रयोदशौ गृह्येते । न चन्द्रतिथी । तासामिति निर्धारणविषयत्वेन रात्रीणां संबन्धात्समानजातीयश्च निर्धार्यतया प्रतीयते कृष्णा गवांसपन्नक्षरिति । षड्रात्रगमनप्रतिषेधोऽयमदृष्टार्थः । शेषाः प्रशस्ता दशरात्रयः । षण्णां प्रतिषेधादशसु प्राशस्त्यंसिद्धमेवानूद्यते ॥ ४७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एकादशी त्रयोदशीति षोडशदिनसमुदायापेक्षया । प्रशस्ता अनिन्दिताः ॥ ४७ ॥

(३) कुल्लूकः । तासां पुनः षोडशानां रात्रीणां शोणितदर्शनात्प्रभृत्याद्याश्चतस्रो रात्रय एकादशी त्रयोदशी च रात्रिर्गमने निन्दिता । अविशिष्टा दशरात्रयः प्रशस्ता भवेयुः ॥ ४७ ॥

(४) राघवानन्दः । वर्ज्यमाह तासामिति । सन्धिरार्षः ॥ एकादशी तु दशदिनापेक्षया तथा त्रयोदशी च दशदिनान्यवशिष्टानि ॥ ४७ ॥

(५) नन्दनः । तासु षोडशसु प्रशस्तारात्रीराह तासामिति । तासां षोडशानां रात्रीणां मध्ये आद्याश्चतस्रो रात्रय एकादशी त्रयोदशी च रात्रिर्निन्दिता इति । शेषा दशरात्रयः प्रशस्ताः ॥ ४७ ॥

(६) रामचन्द्रः । तासां षोडशरात्रोणां मध्ये आद्याश्चतस्रः निन्दिता पुनरेकादशरात्रिर्निन्दिता एकादशदिवसस्येत्यर्थः । तथा त्रयोदशी रात्रिर्निन्दिता शेषा दशरात्रयः प्रशस्ता उक्ताः ॥ ४७ ॥

युग्मासु पुत्राजायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ॥ तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदातवे स्त्रियम् ॥ ४८ ॥

(१) मेधातिथिः । तासु दशसु यायुग्मारात्रयः षष्ठ्यष्टमी दशमीद्वादशीचतुर्दशी षोडशी तासूपगच्छतः पुत्राजायन्ते । युग्मासु पुत्रार्थीसंविशेदातवेस्त्रियम् । अयुग्मासु स्त्रियोदुहितरस्तस्मात्पुत्रोत्पत्तिसिद्ध्यर्थं युग्मासु संविशेद्भजेत मैथुनधर्मेणस्त्रियमातवे । अनुवादोयम् । अयमपि नियमएवानुत्पन्नपुत्रस्यायुग्मास्त्वगमनम् ॥ ४८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । युग्मासु षष्ठ्यादिरात्रिषु पुत्राजायन्ते । संविशेदुपगच्छेत् ॥ ४८ ॥

(३) कुल्लूकः । पूर्वोक्तास्त्वपि दशसु षष्ठ्यष्टम्याद्यासु रात्रिषु गमने पुत्राउत्पद्यन्ते । अयुग्मासु पञ्चमीसप्तम्यादिषु दुहितरः । अतः पुत्रार्थीयुग्मास्त्वृत्कालेभार्यागच्छेत् ॥ ४८ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव मासंगिकदृष्टफलमाह युग्मास्त्विति । स्त्रियोऽयुग्मास्त्वितिच्छेदः । विशेन्निविष्टमनागच्छेत् । अन्यथाङ्गवैकल्यादिस्यादपत्यस्य ॥ ४८ ॥

(५) नन्दनः । प्रशस्तासुरात्रिषु दशसु संवेशनेफलमाह युग्मास्त्विति । संविशेत्संगच्छेत् ॥ ४८ ॥

(६) रामचन्द्रः । दशरात्रीणांमध्ये युग्मासु रात्रिषु गच्छेतःपुत्राजायन्ते । अयुग्मासु रात्रिषु गच्छतःस्त्रियःकन्याभवन्ति । तस्मात्कारणात्पुत्रार्थी आतवेकालेयुग्मासु स्त्रियंसंविशेद्गच्छेत् रात्रियहणंदिनसप्ततिषेधार्थम् ॥ ४८ ॥

पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः ॥ समेऽपुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥ ४९ ॥

(१) मेधातिथिः । शुक्रंवीर्यं पुरुषस्यरेतः स्त्रियाःशोणितम् । उक्तं भगवता वसिष्ठेन । शुक्रशोणितसंभवः पुरुषइति । स्त्रीबीजाधिकेपुम्बीजेऽयुग्मास्त्वपि पुत्रोजायते युग्मास्त्वपि स्त्रीबीजस्याधिक्येकन्यैव । अयुग्मास्त्वपि रात्रिषु पुत्रार्थिनो गमनानुष्ठानार्थमेतत् । यदा परिपुष्टमात्मानं वृष्याहारयोगेन अधिकवीर्यमन्येत स्त्रियाश्च कथंचिदपचयंतदापुत्रार्थीगच्छेदित्युपदिष्टं भवति । आधिक्यंचात्र न परिमाणतः किंतर्हि सारतः । समेऽपुमानमिश्रीकृते पुंस्त्रियौ । अपुमान्पुंसकमिति केचित्साभ्यइतिपठन्ति । उभयोःसाम्ये पुमानेव पुंस्त्रियौ वा गर्भधान्यायदा वायुर्द्रवरूपत्वात्संसृष्टेशुक्रशोणितेसमंविभजतएकत्र भागमन्यत्र तावेदेव तदा यमौ जायेते तत्र समेविभागेऽपि स्त्रीबीजाधिक्येस्त्री पुम्बीजाधिक्ये पुमान् । क्षीणे बीजेसारतः विपर्ययोऽग्रहणं गर्भस्यनपुंसकोत्पत्तिर्वा ॥ ४९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र व्यभिचारोद्देश्यतेतेन तत्र कारणमाह पुमानिति । स्त्रियाः शुक्रे शोणिततांगते । समेऽपुमान्पुंसकम् । पुंस्त्रियौ यमौ । एतच्चोभयोरतिवृद्धबहुशुक्रत्वेपि तदपेक्षया पुंसोधिकशुक्रत्वेपुमांसौ । स्त्रियाअधिकशुक्रत्वे स्त्रियावित्यपि ग्राह्यम् । क्षीणेनयोः शुक्ररोगादिना क्षीणे स्वभावतोवालपे विपर्ययोऽपत्यानुपपत्तिः ॥ ४९ ॥

(३) कुल्लूकः । पुमानिति । पुंसोबीजेऽधिकेऽयुग्मास्त्वपि पुत्रोजायते स्त्रीबीजेऽधिकेयुग्मास्त्वपि दुहितैव । अतोवृष्याहारादिना निजबीजाधिक्यंभार्यायाश्चाहारलाघवादिना बीजाल्पत्वमवगम्य युग्मास्त्वपि पुत्रार्थिनागन्तव्यमिति दर्शितम् । स्त्रीपुंसयोस्तु बीजसाम्येऽपुमान्पुंसकंजायते पुंस्त्रियाविति यमौ च । निःसारेऽल्पेचोभयोरेवबीजे गर्भस्यासंभवः ॥ ४९ ॥

(४) राघवानन्दः । पुमानिति युग्मास्त्वपि भवत्यधिके रजसिस्त्रीभवेदधिके स्त्रियाइति रजसीतिशेषः । अपुमान्पुंसकं पुंस्त्रियौ पुमांसौ स्त्रियौ स्त्रिपुमांसौ चेति स्वरसतोदृष्टत्वात् । क्षीणे निःसारे अल्पे च विपर्ययोऽपत्याभावः ॥ ४९ ॥

(५) नन्दनः । समेअपुमानितिपदच्छेदः । अपुमान्पुंसकः । पुमांश्चस्त्रीचपुस्त्रियौ । क्षीणेसारतः । अल्पेपरिमाणतः विपर्ययः अनुत्पत्तिः । यतएवमतः पुत्रार्थिनातामुपवासयता स्वयंसौहित्ययुक्तेनस्वशुक्राधिक्येयत्नः कार्यइत्यभिप्रायः ॥ ४९ ॥

(६) रामचन्द्रः । पुंसःपुरुषस्याधिके शुक्रे पुमान्पुत्रोभवति । स्त्रियारजोधिके स्त्री कन्या भवति रजःशुक्रसमेपुमान्पुंसकःषण्डोभवति वा पुस्त्रियौ भवतः । यमौ कन्यापुत्रौ । पुमानेवरूपाकारः । क्षीणे वा शुक्रे अल्पेवारजसि विपर्ययःगर्भस्यासंभवअनुत्पत्तिः ॥ ४९ ॥

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियोरात्रिषु वर्जयन् ॥ ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥ ५० ॥

(१) मेधातिथिः । निन्द्यासु षट्स्वन्यासुचानिन्द्यास्वप्यष्टासु रात्रिषु स्त्रियोवर्जयन्परिहरन्दे रात्रीअवशिष्टे यदि गच्छति पर्ववर्जतदा ब्रह्मचार्येव भवति ब्रह्मचर्यफलप्राप्नोति । यत्रतत्राश्रमेवसन् अर्थवादोऽयम् । नतुवानप्रस्थाद्याश्रमेषु रात्र्यभ्यनुज्ञा जितेन्द्रियत्वविधानात्सर्वाश्रमेषु गार्हस्थादन्येषु वीप्सायाश्चार्थवादतयाप्युपपत्तेः । एताश्च रात्रयोवर्ज्यान् क्रमेणैव किर्ताहि यथेच्छया पर्ववर्जगमनं यथा न भवति तथा रात्रिद्वयमभ्यनुज्ञायते । किंपुनर्ब्रह्मचर्यस्यफलविशेषाश्रवणात्स्वर्गः । क्वचित्तु श्रूयते । न ब्रह्मचारी प्रत्यवैतीति । स्वल्पैरतिक्रमैर्नदुष्यतीति ॥ ५० ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । प्राक् निन्दितत्वेनोक्तासु षट्सु रात्रिषु तथान्यासु प्रशस्ततयोक्तानामपि दशानांमध्येअष्टासु स्त्रियोवर्जयन्स्मिन्तुषोडशकमध्ये रात्रिद्वयमेवोपगच्छन्तित्यर्थः । यत्र तत्रेति वचनात् । गार्हस्थ्येइव सपत्नीकवानप्रस्थेपि ऋतुगमनमस्तीति गम्यते । अन्यथा गार्हस्थ्येपीत्येवावक्ष्यत् ॥ ५० ॥

(३) कुट्टूकः । निन्द्यासुपूर्वोक्तासु षट्सु रात्रिष्वन्यासु च निन्द्यास्वपि यासु कासुचिदष्टासु स्त्रियोवर्जयन्दे रात्री अवशिष्टे । पर्ववर्जिते व्रजन्स्वण्डितब्रह्मचार्येव भवति । यत्रतत्राश्रमे वसन्नितिवानप्रस्थापेक्षया । तस्य हि भार्यायासहगमनपक्षऋतुगमनंप्रसक्तम् । न च वनस्थभार्यायाऋतुर्नभवतीति वाच्यम् । वनंपञ्चाशतोव्रजेदितिर्वैषेरेकगुणांभार्यामुद्गहेन्निगुणः पुमानित्यादि शास्त्रपर्यालोचनया तत्संभवात् । मेधातिथिस्तु यत्र तत्राश्रमे वसन्नित्यनुवादमात्रंगृहस्थेतराश्रमत्रयेजितेन्द्रियत्वविधानाद्रात्रिद्वयाभ्यनुज्ञानासंभवादित्याह गोविन्दराजस्तूत्पन्नविनष्टपुत्रस्याश्रमान्तरस्थस्यापीच्छया पुत्रार्थंरात्रिद्वयगमने दोषाभावाप्रतिपादनार्थमेतत् । यत्र तत्राश्रमेवसन्नितिवचनात्पुत्रार्थी संविशेदिति च प्रस्तुतत्वात्पुत्रस्य च महोपकारकत्वादित्याह हन्तगोविन्दराजे न विशेषमविवृण्वता । व्यक्तमङ्गीकृतमृतौस्वदारसुरतंयतेः ॥ ५० ॥

(४) राघवानन्दः । निन्दिताएकादशी त्रयोदशी आद्याश्चतस्रइति षट्सु अष्टासु च अनिन्दितासु निशासुएवं रात्रिद्वयमवशिष्यते तयोर्गच्छन्ब्रह्मचार्येव भवतीत्यर्थवादइति मेधातिथिः । गोविन्दराजस्तु ऋतावुपेयादेव अन्यभार्यान् व्रजेत् अनृतावपि भार्याप्रीतये व्रजेदिति । पर्ववर्जमित्युभयत्र संबध्यते । अतएव गौतमः । ऋतावुपेयादनृतौ च प्रतिषिद्धवर्जः । याज्ञवल्क्योपि । यथाकामीभवेद्वापि स्त्रीणांवरमनुस्मरन् । सन्तत्यभावेआश्रमान्तरयोः कुटीचकवानप्रस्थयोरपि यत्र तत्राश्रमे वसन्निति त्वरसावतादशदिनद्वये गमनंयुक्तम् । तद्विनद्वयमष्टमी वा चतुर्दशीमित्याद्यपूर्वोक्तेरिति पञ्चाशदुत्तरंवन्प्रतिभार्यायासह गमनविधानेन स्त्रियाःपुत्रोत्पादनयोग्यकालत्वात्पुत्रार्थी संविशेदातवे स्त्रियमिति साधारण्याच्च यत्तु गृहस्थएवैषांयोनिरिति गोतमसूत्रं व्याख्यातंच हरदत्तेनेत्येषामपत्यचण्डालइति तदप्राप्तपत्नीविषयम् । स्वपत्न्यां दोषोऽन्यथायत्र तत्रेति मनुवचनविरोधः । कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाइति श्रीकृष्णोक्तेः । नाप्यर्थवादोद्रव्यसंस्काराद्वा

कर्मत्वेव सति । गृहस्थानां तु । दिनषट्कंप्रशस्तम् । तदुक्तं याज्ञवल्क्येन । षोडशर्तुर्निशास्त्रोणां तासु युग्मासु संविशेत् । ब्रह्मचार्येव पर्वाण्याद्याश्चतस्रश्च वर्जयेदिति ॥ ५० ॥

(५) नन्दनः । निन्द्याः प्रथमाश्चतस्र एकादशी त्रयोदशी च तासु अष्टासु चान्यासु स्त्रीजनननिमित्तप्रतिनिषिद्धास्त्वयुग्मासु पञ्चमी सप्तमी नवमी पञ्चदशी प्रभृतिषु प्रजाफलरहितासु चतसृषु चेत्यर्थः । एकविंशी प्रभृतीनामृतोरकालत्वादष्टास्त्वित्युक्तम् । यत्र तत्राश्रमे गृहस्थाश्रमे वसन्नपि । एवमुद्बोद्धुर्नयमउक्तः ॥ ५० ॥

(६) रामचन्द्रः । निन्द्यास्त्वान्यासु अयुग्मासु रात्रिषु स्त्रियो वर्जयेदित्यर्थः । अवशिष्टासु गच्छन् ब्रह्मचारी भवति । यत्र तत्राश्रमे वसन् ब्रह्मचार्येव भवति भवेदित्यर्थः । अयमर्थवादो न तु वानप्रस्थाद्याश्रमेषु गार्हस्थ्ये दान्येषु स्त्रियागमनम् ॥ ५० ॥

न कन्यायाः पिता विद्वान्गृहीयाच्छुल्कमणवपि ॥ गृहं शुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोपत्यविक्रयी ५१

(१) मेधातिथिः । आसुरे शुल्कप्रतिषेधोऽयं उत्तरत्र कन्यार्थसंग्रहोपादानात् । विद्वान्ग्रहणदोषज्ञः । कन्यापिता स्वल्पमन्यर्थधनं गृह्णीयात् । गृह्णानोऽपत्यविक्रयदोषेण युज्यते । कः पुनरेषः शुल्को नाम आभाषणपूर्ववरादृहीतम् । यत्र तूच्चनीचपणो भवति कन्यागुणापेक्षमूल्यव्यवस्थासक्य एव । इहतुमहागुणाया अपि कन्यायाः स्वल्पं धनमनाभाषणपूर्ववाग्रहणम् । न विक्रयस्यैष धर्म इत्यतीविक्रयाध्यारोपेण निन्द्यते ॥ ५१ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । लोभेन लोभात् । न त्वार्थधर्मबुद्ध्या ॥ ५१ ॥

(३) कुल्लूकः । कन्यायाः पिता धनग्रहणदोषज्ञोऽल्पमपि धनं कन्यादाननिमित्तकं न गृह्णीयात् । यस्मा लोभेन तद्गृह्णन् उपत्यविक्रयी भवति ॥ ५१ ॥

(४) राघवानन्दः । आर्षासुरोद्वाहयोः शुल्कदानमुक्तं तत्त्वमतेन दूषयति नेति त्रिभिः । शुल्कं कन्यामूल्यम् । लोभेन तत्कुर्वन् उपत्यविक्रयी उपपातकी स्यात् । गोवध इत्यपत्यविक्रयस्य उपपातकत्वेन आम्नात् ॥ ५१ ॥

(५) नन्दनः । अथ कन्याप्रदातुर्नियममाह न कन्याया इति ॥ ५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । लोभेन शुल्कं गृह्णन्नरोऽपत्यविक्रयी स्यात् । अपत्यविक्रयपापभूतमवतीत्यर्थः ॥ ५१ ॥

स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः ॥ नारीयानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम् ॥ ५२ ॥

(१) मेधातिथिः । स्त्रीनिमित्तानि धनानि कन्यादाने वराद्यानि गृह्यन्ते । पूर्वस्यैव शेषः । ये बान्धवाः पित्रादयः मोहादुपजीवन्ति यथोक्तं ज्ञातिभ्योऽद्रविणदत्त्वेति । सुवर्णरजतादिधनम् । नारीयानानि यानामश्ववादि वस्त्रवैताबन्धात्रमपि न जानूपजीवनीयं वासीयानादिकिं पुनर्बहु । उपजीवतां फलमाचष्टे ते ते पापाः शास्त्रप्रतिषिद्धसमाचरणादधोगतिं नरकं यान्ति । अथवा स्त्रीधनानीति नवमे दर्शयिष्यति । तानिये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः पिता तत्पक्षाश्च भर्ता भर्तृपक्षाश्च । एवं यानाद्येवं वस्त्रं स्त्रीणाम् बुद्धौ संनिधानाच्छब्दः संनिधिः कल्प्यते यथा राजपुरुषः कस्य राज्ञ इति ॥ ५२ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । स्त्रीधनानि स्त्रीदाननिमित्तेन प्राप्तानि धनानि । एवं नारीयानानीत्यत्रापि ॥ ५२ ॥

(३) कुल्लूकः । कन्यादाननिमित्तकं शुल्कग्रहणनिषेधसंज्ञानवमाभ्यायाभिधेयस्त्रीधनग्रहणनिषेधोऽयम् । ये बा-

न्धवाः पतिपित्रादयः कलत्रदुहित्रादिधनानि गृह्णन्ति नारीस्त्रीयानान्यश्वादीनि वस्त्रंचेतिप्रदर्शनार्थम् सर्वमेवधनं
ग्राह्यम् तेगृह्णानाः पापकारिणोनरकंगच्छन्ति ॥ ५२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच स्त्रीति । स्त्रीधनानीति कैमुत्यन्यायेन प्रासंगिकं । बान्धवाः पतिपुत्रादयः । नारीयाना-
नीतिकन्यायै चैव शक्तितद्व्युक्तत्वात् विभवेसतीति शेषः ॥ ५२ ॥

(५) नन्दनः । नकेवलंकन्यायाः पितुरेवायंशुल्कग्रहणप्रतिषेधः किन्तु बान्धवानामपीत्याह स्त्रीधनानीति । स्त्री-
निमित्तानि धनानि स्त्रीधनानि कन्यादानलब्धानीति यावत् । नारी शुल्करूपेण गृहीता दासी ॥ ५२ ॥

(६) रामचन्द्रः । नार्याः कन्याया यानानिनारीयानानि सुवर्णरजतादिधनं मोहात् सेवन्ते नार्या वस्त्रंवा ते पापा-
अधोगर्तियान्ति ॥ ५२ ॥

आर्षे गोमिथुनंशुल्कंकेचिदाहुर्मृषैव तत् ॥ अल्पोप्येवंमहान्वापि विक्रयस्तावदेव सः ॥ ५३ ॥

(१) मेधातिथिः । स्त्रीगवी च पुंगवश्च गोमिथुनम् । केचिदाहुरेतदादेयमिति मनोस्तु मतंमृषैव तत् मिथ्या नादेय-
मित्यर्थः । अल्पोऽप्येवम् अल्पसाधनोऽल्पः एवमहान्भवति तावानेव विक्रयः ॥ ५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शुल्कंशुल्कत्वेन पित्रैव ग्राह्यम् । न कन्यया तेन लोभादपितस्य ग्रहणे दोषाभावइति
केचिदाहुः । तन्मृषाऽसत्यम् । यावताऽल्पस्यापि मूल्यस्य लोभेन ग्रहणे विक्रयएव स्यान्न च विनालोभंवैधतग्रहणंसं-
भवति । विधेरभावादित्यर्थः ॥ ५३ ॥

(३) कुल्लूकः । आर्षे विवाहे गोमिथुनंशुल्कंवरारुहमिति केचिदाचार्यावदन्ति तत्पुनरसत्यंयत्मादल्पमूल्यसाध्यत्वा-
दल्पोवा भवतु बहुमूल्यसाध्यत्वान्महान्वाभवतु सतावद्विक्रयोभवत्येव । यत्पुनरेकंगोमिथुनमितिपूर्वमुक्तंतत्परमतमितिगोवि-
न्दराजः तदयुक्तम् । मनुमते लक्षणमार्षस्य न स्यादेव वराद्रोगमिथुनग्रहणपूर्वककन्यादानस्यैवार्षविवाहलक्षणत्वात् । मन्वभि-
मतमन्यदेवार्षलक्षणमेकंगोमिथुनमिति परमतमिति चेत् एकंगोमिथुनंहेचैत्येतत्परमतंयदि तदामनुमतेनार्षलक्षणंकिंतदुच्य-
ताम् । अष्टौविवाहान्कथयन्तार्षादासंततेर्गुणान् । मनुः किंचमतेनार्षलक्षणंवक्तुमक्षमः मेधातिथिस्तु पूर्वापरविरोधोपन्यासनिरा-
समेव न कृतवान् । तस्मादस्माभिरित्थंख्याख्यायते आर्षेविवाहे गोमिथुनंशुल्कमुत्कोचरूपमिति केचिदार्चायावदन्ति मनोस्तु
मतनेदं शास्त्रनिषमितजातिसंख्याकंग्रहणं न शुल्करूपंशुल्कत्वेमूल्याल्पत्वमहत्वेऽनुपयोगिनीविक्रयएव तदास्यात् । किंत्वा-
र्षविवाहसंपत्त्याअवश्यकर्तव्ययागादिसिद्धये कन्यायै वा दातुंशास्त्रीयंधर्मार्थमेवगृह्यते । अतएवार्षलक्षणंश्लोकेवरादादायधर्म
तदितिधर्मतौधर्मार्थमिति तस्यार्थः । भोगलोभेन तु धनग्रहणं शुल्करूपमशास्त्रीयम् । अतएव गृह्यहउल्लेखंहि लोभेनेति
निन्दामुक्तवान् । तस्मात्पौर्वापर्यपर्यालोचनादार्षे धर्मार्थगोमिथुनग्राहं न तु भोगार्थमिति मनुना स्वमतमनुवर्णितम् ॥ ५३ ॥

(४) राघवानन्दः । आर्षे गोमिथुनंयच्छुल्कं । अल्पत्वमहत्त्वयोरप्रयोजकत्वेन तावतैव विक्रयादिति केचिदाचा-
र्याआहुस्तन्मृषैव । आर्षलक्षणे धर्मतद्व्युक्तेरिति शास्त्राक्तं विरुद्धं न भवतीत्यर्थः । मेधातिथिस्तु । पूर्वापरविरुद्धएव-
त्याह । अतोगोमिथुनद्वयस्य धर्मार्थतैव । ततोतिरेके विक्रयः । इच्छाविक्रये न्यूनाधिक्यं प्रयोजकं अन्यथोद्वाहानाम-
वृथात्वविरोधः । नियमविधौ च दुरदृष्टादृष्टेरिति तदयम् ॥ ५३ ॥

(५) नन्दनः । गोमिथुनंशुल्कमाहुरनुजानते तन्मृषा तदयुक्तम् । अल्पोवा महान्वा द्रव्यलोभादादाने शुल्कस्य वि-
क्रयएव तस्मादयुक्तमिति ॥ ५३ ॥

(६) रामचन्द्रः । आर्षसंज्ञे विवाहे गोमिथुनशुल्कंकेचिदाहुस्तन्मृषैव मिथ्यैव अल्पोवा शुल्को महान्वा शुल्क-
स्तावानेव सविक्रयसंज्ञः ॥ ५३ ॥

यासांनाददते शुल्कंज्ञातयो न सविक्रयः ॥ अर्हणंतत्कुमारीणामानृशंस्यंच केवलम् ॥ ५४ ॥

(१) मेधातिथिः । किंवराद्धनाधिगमोविक्रयोभवति नेति ब्रूमः । ज्ञातयः कन्यायामधिकृताः स्वार्थमाददते गृह्ण-
न्ति तदा सविक्रयः । अर्हणंकन्यार्थेधनग्रहणं कन्यानांतदर्हणंपूजनंभवति । बहुमानः कन्यानामात्मनि भवति । ईदृश्यो-
वयंयद्धनंदत्वा विवाहसामहे । अन्यत्रापि पूज्याभवन्ति सुभगाएताइति । आभरणादि वा तेन धनेन कर्तव्यमतोऽभ्यर्हि-
ताः शोभावत्योभवन्ति । आनृशंस्यमपापत्वंकेवलं स्वल्पोऽप्यधर्मगन्धोऽस्ति । अतोऽनेनार्थवादेन कन्यार्थेधनग्रहणं-
विधीयते ॥ ५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यदात्वार्षे कन्यायै गोमिथुनंतथाअनुरागोत्पत्त्यर्थंकन्यायै भूषणादि स्वेच्छया विवाहा-
त्यागेव वरोददाति ज्ञातयस्तु वित्तं गृह्णन्ति तदा ज्ञातीनांविक्रयदोषोनास्ति । यावता कुमारीणांपूजार्थंतद्दानंतथाआ-
नृशंस्यंकरुणारूपंतद्वित्तदानंवरेण स्वेच्छया कृतमतोज्ञातीनांदोषकरमित्यर्थः । यद्वा यत्राददतेतत्कुमारीणां पूजनमा-
नृशंस्यं करुणाप्रवृत्तिजन्यपुण्यहेतुश्चेति व्याख्यातं । आसुरस्तु विवाहः कन्यायाअलंकारस्य विवाहात्पूर्वदाने भवत्येव
तल्लक्षणयोगादितिग्राह्यम् ॥ ५४ ॥

(३) कुल्लूकः । आर्षे गोमिथुनंशुल्कमित्युक्तम् इदानींकन्यार्थमपि धनस्य दानं शुल्कमित्याह यासामिति ।
यासांकन्यानांप्रीत्यावरेणदीयमानंधनं पित्रादयो न गृह्णन्ति किंतु कन्ययै समर्पयन्ति सोऽपि न विक्रयः । यस्मात्कुमारी-
णांपूजनंतदानृशंस्यमर्हिसकत्वंकेवलंतदनुकम्पारूपम् ॥ ५४ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव व्यतिरेकमाह यासामिति । यच्च कन्यायै चैव शक्तिरित्युक्तं तदपि न शुल्कमि-
त्याह अर्हणमिति । आनृशंस्यं वक्ष्यमाणस्त्री क्रूरत्वनिवृत्त्यर्थम् ॥ ५४ ॥

(५) नन्दनः । कन्यायाभूषणाच्छादनार्थंवराद्धनादानं दोषावहमित्याह यासामिति । यासांकन्यानाम् । आद-
दते उपजीवन्ति । केवलंनिश्चितम् ॥ ५४ ॥

(६) रामचन्द्रः । यासांनारीणां ज्ञातयःशुल्कंनाददते विक्रयसंज्ञो न भवति । आनृशंस्यमपापत्वंकरुणा-
रूपम् ॥ ५४ ॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवैस्तथा ॥ पूज्याभूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ५५ ॥

(१) मेधातिथिः । न केवलंवराय दातव्यंकन्याबन्धुभिरपि तु तैरपिदातव्यम् । पितृभिः साहचर्यात्पितृशब्दः
पितामहपितृव्यादिषु वर्तते । ततोबहुवचनंव्यक्त्यपेक्षंवा बहुवचनम् । एवंपतिभिः श्वशुरादिभिर्यत्नयपेक्षंवा । देवराः
पत्युर्भ्रातरः । पूज्याःपुत्रजन्माद्युत्सवेषु निमज्जनपूर्वकमानाश्रयबहुमानमादरेण भोजनादिना पूज्याः । भूषयितव्यावस्त्राद्यलं-
कारेणाङ्गलेपनादिभिर्मण्डयितव्याः । अत्रफलं बहुकल्याणमीप्सुभिःकल्याणंकमनीयंपुत्रधनादिसंपदरोगताऽपरिभवइत्या-
दिवहुशब्दात्सर्वमीप्सुभिरामुमिच्छुभिः प्राप्नुकामैः । फलार्थोविधिरयम् ॥ ५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अर्हणस्यकर्तव्यतांप्रश्नयति पितृभिरिति । कन्याव्यक्तिभेदापेक्षयाबहुवचनम् । पूज्याः
सम्मानादिना ॥ ५५ ॥

(३) कुङ्कुमः । न केवलं विवाहकाले वरेण दत्तं धनं समर्पणीयं किंतु तदुत्तरकालमपि पित्रादिभिरप्येताभोजनादिना पूजयितव्याः वस्त्रालंकारादिना भूषयितव्याश्च बहुधनादिसंपदं प्राप्नुकामैः ॥ ५५ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रसंगात्प्रकारान्तरेण तासामर्हणमाह पितृभिरिति । पूज्याः सत्कर्तव्यावाचा । भूषयितव्या वस्त्रालङ्कारादिभिः । भर्त्रा भार्यापि संतोषिता कल्याणदा भवति । बहुकल्याणमीप्सुभिरपर्याप्तमङ्गलाकाङ्क्षिभिः ॥ ५५ ॥

(५) नन्दनः । उक्तंचैतत्पञ्चभिः श्लोकैः समर्थयति पितृभिरिति ॥ ५५ ॥

(६) रामचन्द्रः । पितृभिरुभयत्र पूज्याः भोजनादिना ॥ ५५ ॥

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ॥ यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥ ५६ ॥

(१) मेधातिथिः । देवतारमन्ते तुष्यन्ति प्रसीदन्ति । प्रसन्नाश्च त्वामिन एवाभिप्रेतेन फलेन योजयन्ति । यत्र तु न पूज्यन्ते तत्र सर्वाः क्रियाः यागहोमदानाद्यादेवताराधनबुद्ध्या चोपहारादयोयाः क्रियन्तेऽफलास्तादृश्यार्थवादः ॥ ५६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अफलाः मन्दफलाः ॥ ५६ ॥

(३) कुङ्कुमः । यत्र कुले पित्रादिभिः स्त्रियः पूज्यन्ते तत्र देवताः प्रसीदन्ति । यत्र पुनरेतानपूज्यन्ते तत्र देवताप्रसादाभावाद्यागादिक्रियाः सर्वा निष्फलाभवन्तीति निन्दार्थवादः ॥ ५६ ॥

(४) राघवानन्दः । तासांपूजनमेवाह यत्रैतिपञ्चभिः । देवतालक्ष्म्यादयः कलहशून्यत्वात् अफलाः क्रियाः । यत्कर्तव्यं तदनयासहेति वचनात् तासांसाहित्यबोधनेन नित्यमपरितोषादश्रद्धारुतत्वेन फलराहित्यमिति ॥ ५६ ॥

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ॥ न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥ ५७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । जामयः कुलस्त्रियः । तत्कुलंकुटुम्बसमुदायः ॥ ५७ ॥

(३) कुङ्कुमः । जामिः स्वसृकुलस्त्रियोरित्याभित्याभिधानिकाः । यस्मिन्कुले भगिनी गृहपतिसंवर्धनीयसन्निहितसपिण्डस्त्रियश्च पत्नीदुहितृसुषाद्याः परितापादिनादुःखिन्यो भवन्ति तत्कुलं शीघ्रनिर्धनी भवति दैवराजादिना च पीड्यते । यत्रैतान शोचन्ति तदनादिना नित्यंवृद्धिमेति । मेधातिथिगोविन्दराजौ तु न वोढादुहितृसुषाद्याजामयइत्याहतुः ॥ ५७ ॥

(४) राघवानन्दः । जामयः भ्रातृपत्नीत्वसृपत्नीदुहितृसुषाद्याः सभर्तृकाः परिभवादिना दुःखिताः शोचन्ति अश्रूणि मुञ्चन्ति । व्यतिरेके गुणमाह नेति तत्कुलम् ॥ ५७ ॥

(५) नन्दनः । जामयः स्वसारः ॥ ५७ ॥

(६) रामचन्द्रः । यत्र यस्मिन्कुलएता जामयौ न शोचन्ति तत्कुलं हि निश्चयेन सर्वदा वर्द्धते ॥ ५७ ॥

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ॥ तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥ ५८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गेहानि स्थानानि ॥ ५८ ॥

(३) कुङ्कुमः । यानि गेहानि भगिनीपत्नीदुहितृसुषाद्या अपूजिताः सत्योऽभिशापन्तीदमनिष्टमेषामस्त्विति तान्यभिचारहतानि धनपश्वादिसहितानि नश्यन्ति ॥ ५८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच जामयइति कृत्या अभिचारास्ताभिर्हतानीव ॥ ५८ ॥

(५) नन्दनः । कृत्याऽभिचारक्रिया ॥ ५८ ॥

तस्मादेताः सदा पूज्याभूषणाच्छादनाशनैः ॥ भूतिकामैर्नैर्नित्यंसत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ५९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उत्सवेषु विवाहादिषु । सत्कारेण वाचिकप्रशंसया । सत्कारेष्विति पाठे इतरेषां संमाने प्रकृतइत्यर्थः ॥ ५९ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मादेवंतस्मात्कारणादेताभूषणाच्छादनाशनैर्नित्यंसत्कारेषु कौमुद्यादिषूत्सवेषूपनयनादिषु समृद्धि-
कामैर्नृभिः सदा पूजनीयाः ॥ ५९ ॥

(४) राघवानन्दनः । तस्मादेताजामयोभूतिकामैरैश्वर्यकाङ्क्षिभिः । सत्कारेषु बान्धवादीनांपूजासूत्सवेषु विवाहा-
दिषु ॥ ५९ ॥

(५) नन्दनः । उक्तमर्थनिगमयतितस्मादिति । यतएवमतःकन्यायाभूषणाद्यर्थवराद्धनादानमविरुद्धम् ॥ ५९ ॥

(६) रामचन्द्रः । सत्कारेषुस्वसृकुलस्त्रीणां उत्सवेषु कौमुद्यादिषु विवाहादिषु ॥ ५९ ॥

सन्तुष्टोभार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ॥ यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ ६० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कुले गृहे ॥ ६० ॥

(३) कुल्लूकः । भार्यया भर्त्रा इति हेतौ तृतीया यत्र कुले भार्यया भर्ता प्रीतोभवति रुयन्तराभिलाषादिकंन करो-
ति भार्याच स्वामिना प्रीता भवति तस्मिन्कुले चिरंश्रेयोभवति । कुलग्रहणान्न केवलंभार्यापतीएवंपुत्रपौत्रादिसंततिः श्रेयो-
भागिनी भवति ॥ ६० ॥

(४) राघवानन्दः । संप्रति, दम्पत्योःस्नेहमलङ्करोति । संतुष्टइति त्रिभिः । भर्त्रा भार्या संतोषिता यस्मिन् तत्र
कुले एतत्तयोःसंतोषरूपम् ॥ ६० ॥

(५) नन्दनः । भूषणाच्छादनादिभिः स्त्रीणांपूज्यत्वे हेत्वन्तरंश्लोकत्रयेणाह संतुष्टइति ॥ ६० ॥

(६) रामचन्द्रः । संतुष्टोभार्ययाभर्ता रुयन्तराभिलाषी न । हेतौ तृतीया । यस्मिन्कुलएतदानुकूल्यं तत्र तस्मिन्कुले
कल्याणंवर्धते ॥ ६० ॥

यदिहि स्त्री न रोचेत पुमासं न प्रमोदयेत् ॥ अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते ॥ ६१ ॥

[यदाभर्ताच भार्याच परस्परवशानुगौ ॥ तदाधर्मार्थकामानां त्रयाणामपि संगतम् ॥]

(२) सर्वज्ञनारायणः । नरोचेत पुरुषस्य नाभिलाषं जनयति । प्रजननं संततिः ॥ ६१ ॥

(३) कुल्लूकः । दीप्त्यर्थोत्ररुचिः । यदिस्त्रीवस्त्राभरणादिना शोभाजनकेन दीप्तिमती न स्यात्तदास्वामिनंपुनर्न हर्षये-
देव हिशब्दोऽवधारणे अप्रहर्षात्पुनः स्वामिनः प्रजननंगर्भधारणं संपद्यते ॥ ६१ ॥

(४) राघवानन्दः । स्त्री न रोचेत भर्त्रे इति शेषः । प्रजनः पुत्रः । अरुच्या तस्यामगमनात् ॥ ६१ ॥

(५) नन्दनः । न रोचेत पुंसे ॥ ६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । हिनिश्चये स्त्री यदि न रोचेत स्त्री पुमांसं प्रमोदयेत् पुंसोऽप्रमोदात्प्रजनं जननंप्रवर्तते ॥ ६१ ॥

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् ॥ तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ६२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । रोचमानायां भूषणादिना दीप्यमानायाम् । रोचते शोभते ॥ ६२ ॥

(३) कुल्लूकः । स्त्रियां भण्डनादिना कान्तिमत्यां भर्तृस्नेहविषयतया परपुरुषसंपर्कविरहात्तत्कुलं दीप्तं भवति । तस्यां पुनररोचमानायां भर्तृविद्विष्टतया नरान्तरसंपर्कात्सकलमेव कुलं मलिनं भवति ॥ ६२ ॥

(४) राघवानन्दः । अत्रार्थवादः स्त्रियामिति । सर्वप्रजनप्रमोदादि ॥ ६२ ॥

(५) नन्दनः । स्त्रियां पुंसे रोचमानायां सर्वतत्कुलं जगते रोचते । यतएवं तस्मादपि कन्या भूषयितव्या । भूषणार्थज्ञातिभिर्वराद्धनादानं न दोषावहमिति स्थितम् ॥ ६२ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्त्रियां रोचमानायां सक्तायां भूषणादिना दीप्यमानायां कुलं रोचते उज्ज्वलं भवति ॥ ६२ ॥

कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च ॥ कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ ६३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कुत्सितैर्विवाहैः स्ववर्णनिषिद्धैः क्रियालोपैः कर्तव्यतानाचरणैः । ब्राह्मणानामतिक्रमेणादिक्षेपादिना एतैर्विनश्यन्ति कुलतां त्यजन्ति ॥ ६३ ॥

(३) कुल्लूकः । आसुरादिविवाहैर्यथावर्णनिषिद्धैर्जातकर्मादिक्रियालोपैर्वेदापाठेन ब्राह्मणापूजनेन प्रख्यातकुलान्यपकर्षगच्छन्ति ॥ ६३ ॥

(४) राघवानन्दः । शुल्कदानेन उद्वाहनिन्दनं प्रकृतं तत्रैव प्रासंगिकमाह कुविवाहैरिति त्रिभिः । आसुरराक्षसादिविवाहैः । क्रियालोपैश्च क्रिया जातकर्मादि । ब्राह्मणानामतिक्रमेण तिरस्कारादिना । अकुलतां अप्रशस्तकुलताम् ॥ ६३ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रिभिः कुविवाहैरासुरादिभिः ॥ ६३ ॥

शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः ॥ गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया ॥ ६४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शिल्पादिभिस्तु कुलान्यकुलतामल्पकुलतां यान्ति । यानि च मत्ततो वेदतो हीनान्यल्पवेदाध्येतृणि । शिल्पेन शिल्पजीवनेन व्यवहारेण ऋणदानादिजीविकया । शूद्रापत्यैः केवलैः कृत्स्नैः सवर्णविवाहे सत्यपि शूद्रापत्यमात्रोत्पत्त्या । गोभिर्गोरूपैरश्वैरश्वरूपैर्यानैः ॥ ६४ ॥

(३) कुल्लूकः । चित्रकर्मादिशिल्पेन कल्या धनप्रयोगात्मकव्यवहारेण केवलशूद्रापत्येन गवाश्वरथक्रयविक्रयादिना कृषिराजसेवाभ्यां कुलानि विनश्यन्तीत्युत्तरेण संबन्धः ॥ ६४ ॥

(४) राघवानन्दः । शिल्पेन चित्रकर्मादिना । व्यवहारेण क्रयविक्रयक्रणादिदानेन । शूद्रापत्यैरिति पूर्वनिषेधानुवादः । स्वपुत्राभावाद्दासदासीपुत्रैर्वा । केवलशब्दप्रयोगात् गोभिरित्यादिभिर्विक्रीतैः अनुपयुक्तैर्वा । कृष्या केवलया । राजोपसेवया सततमिति शेषः ॥ ६४ ॥

(५) नन्दनः । प्रशस्तानिन्दिताश्च विवाहा उक्ताः । तेषु निन्द्यान केवलमुद्बोद्धरेव दोषावहाः किंतु तत्कुलविनाशहेतवश्चेत्याह कुविवाहैरिति । क्रियालोपेनादयो दृष्टान्तार्थाः वेदानध्ययनेषु दुष्टकरमिति प्रसङ्गाच्छ्लोकद्वयेनाह शिल्पेनेति । शिल्पेन छत्रादिनिर्माणेन । व्यवहारेण वाणिज्येन । केवलैस्त्रैवर्णकस्त्रीपुत्ररहितैः । यानैर्यानि भूतैर्गवामुष्टाणांचयानभूतानामाशेहणेनेत्यर्थः ॥ ६४ ॥

(६) रामचन्द्रः । शिल्पेन व्यवहारेण धनप्रयोगेण शूद्रापत्यैश्च शूद्रायामपत्योत्पादनैः गोभिर्गवांविक्रयणादिभिः ॥ ६४ ॥

अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्मणाम्॥कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः॥ ६५

(३) कुल्लुकः । अयाज्यब्राह्म्यादियाजनैः कर्मणां श्रौतस्मार्तादीनां नास्तिक्येन शास्त्रीयफलवत्कर्मसु फलाभावबुद्धिर्नास्तिक्यम् वेदाध्ययनशून्यानि कुलानि क्षिप्रमपकर्षगच्छन्ति । अत्र च विवाहप्रकरणे विवाहनिन्दाप्रसङ्गेन क्रियालोपादयोनिन्दिताः । निन्दया चैतन् कर्तव्यमिति सर्वत्रनिषेधः कल्प्यते ॥ ६५ ॥

(४) राघवानन्दः । नास्तिक्येनाश्रद्धया । कर्मणां श्रौतस्मार्तानां त्यागेन । मन्त्रतः आवश्यककर्मोपयुक्तगायत्र्यादि मन्त्रैर्हीनानि ॥ ६५ ॥

(५) नन्दनः । कर्मणानास्तिक्येन पुण्यपापफलाभावनिश्चयेन । एतैः शिल्पादिभिः । कुलानि मन्त्रातोहीनानि चेदकुलतांयान्ति नतुमन्त्रयुक्तानीति ॥ ६५ ॥

(६) रामचन्द्रः । यानि कुलानि मन्त्रतो वेदतः । हीनानि ॥ ६५ ॥

मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि ॥ कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः॥ ६६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्रमन्त्रपाठसमृद्धौ दोषान्तराणामपि मन्दताभवतीत्याह मन्त्रतस्त्विति । कुलसंख्यां कुलगणनांयान्ति कर्षन्ति आकर्षन्ति ॥ ६६ ॥

(३) कुल्लुकः । इदानीं क्रियालोपादिगतप्रासङ्गिककुलनिन्दानुप्रसक्त्या कुलोत्कर्षमाह मन्त्रेति । यद्यपि धनेन कुलमिति लोकेप्रसिद्धं तथाप्यल्पधनान्यपि कुलानि वेदाध्ययनतदर्थज्ञानानुष्ठानप्रसक्तान्युत्कृष्टकुलगणनायांगण्यन्ते महतीतुल्यातिमर्जयन्ति ॥ ६६ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तवैपरीत्ये गुणमाह मन्त्रतस्त्विति । समृद्धानिमन्त्रतदर्थज्ञानादियुक्तमिति । कुलसङ्ख्यामहत्कुलत्वेन सङ्ख्यायन्ते । अनियत्तां कर्षन्ति अर्जयन्ति ॥ ६६ ॥

(५) नन्दनः । यतएवंततोमन्त्रसमृद्धावादरः कर्तव्यइत्यभिप्रायेणाह मन्त्रतस्त्विति ॥ ६६ ॥

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृहसंकर्म यथाविधि ॥ पञ्चयज्ञविधानं च पक्त्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥ ६७ ॥

(१) मेधातिथिः । कृतो विवाहो यस्मिन्नग्नौ तत्र कुर्वीत गृहसंकर्म । अग्निसाध्यमष्टकापार्वणश्राद्धहोमादि गृहस्मृतिकारैरुक्तम् । पञ्चयज्ञावक्ष्यमाणस्तेषां विधानमनुष्ठानम् । तस्मिन्नेवाग्नौ यद्यप्यविशेषेण पञ्चयज्ञविधानमित्युक्तं तथापि वैश्वदेवहोमोऽग्निसाध्यः । उदकतर्पणादौ तु न किञ्चिदग्निना कार्यम् । कथं तर्हि निर्देशोऽग्नौ पञ्चयज्ञविधानं कार्यमिति । केचिदाहुरेकापिसममी विषयभेदाद्भिद्यते । तस्मात्पञ्चयज्ञकदेशे पञ्चयज्ञशब्दः प्रयुक्तः । अथवा पञ्चयज्ञविधानमित्यत्राग्राविति न संबध्यते । वैश्वदेवहोमस्य पूर्वगैवाग्न्यधिकरणस्य सिद्धत्वात् । एवं संबन्धः क्रियते गृही तु पञ्चयज्ञविधानं कुर्यात् अग्नौ तु वैवाहिके गृहधर्मपक्त्तिचान्वाहिकीमग्रावित्यपेक्ष्यते । गृहशब्दोदारवचनः गृही तु सत्कृतदारपरिग्रहे भायाद्वितीयइदमिदं कुर्यादिति । विवाहे चाग्निः कैश्चिद्गृहकारैररणिनिर्मन्थनादाधातव्य इत्युक्तम् अपरैर्यतः कुतश्चिद्दीप्यमानमानीयहोतव्यमिति । अनेन तस्मिन्गृहमिति वचनेन धारणमग्नैरर्थादुक्तं भवति । अत्र केचिदाहुः शूद्रस्यापि वैवाहिकाग्निधारणमस्ति तस्यापि पाकयज्ञाधिकारान् । न चात्र जातिविशेषउपात्तः केवलगृहीति श्रुतम् शूद्रोऽपि गृही

तस्यापिदारपरिग्रहस्योक्तत्वात् । एतदेवान्यत्रपठितं कर्म स्मार्तविवाहाग्रौकुर्वीत प्रत्यहंगृहीति । अत्रोच्यते । गृहसंकर्म वैवाहिकेग्राविति श्रुतम् । नच गृहसं नाम किञ्चित्कर्मास्ति । तत्र गृहस्मृतिकारोक्तंगृहमिति लक्षणया मन्तव्यम् । गृहकारैश्च त्रैवर्णिकानामेव कर्माग्रातं नशूद्रस्य उक्तानि वैतानिकानि गृहाणि वक्ष्याम इति । उक्तानुकीर्तनस्य एतदेव प्रयोजनं येषामेव वैतानिकेष्वधिकारस्तेषामेव गृहेष्विति । न पुनर्यथान्यैर्व्याख्यातं तद्धर्मप्राप्त्यर्थं । तादर्थ्यं हि विवाहिते तस्याग्निहोत्रेण प्रादुष्करणहोमकालौ व्याख्याताविति नावक्ष्यत् । न च गृहे भवं गृहमिति युक्तम् । शालावचनो गृहशब्दो-
दारवचनो वा । न तावत्कस्यचित्कर्मणः शालाऽधिकरणत्वेन विशेषतः समाम्नाता यद्गृहमित्यनूद्य गृहिणो विधीयते । यदपि गृहसंस्कारकं वास्तुपरीक्षादि तदपि त्रैवर्णिकानामेव नशूद्रस्य अथ दारवचनस्तत्रापि गृहीत्यनेनैव गतत्वान्ना कि-
ञ्चित् । यद्यपि स्मृत्यन्तरं कर्म स्मार्तविवाहाग्रौ कुर्वीत प्रत्यहंगृही दायकालाद्वे वापि श्रौतवैतानिकाग्निष्विति । अत्रा-
पि किञ्चित् स्मार्तमिति विशेषानुपादानादन्यसापेक्षतैव नहि सर्वमग्रौ स्मार्तकर्म संभवति । न च होमविषयत्वे प्रमाणमस्ति न ह्यवश्यमन्यधिकरण एव होमः । तस्माद्गृहकारोक्तंगृहमिति वक्तव्यम् । एते हि स्मृती गृहकारविहितं कर्मानुवदतः । तथा च कुतः शूद्रस्याग्निपरिग्रहः । किञ्च श्रौतवैतानिकाग्निष्विति अपरंतत्राग्रायते तत्र अवश्यमयत्रैवर्णिकविषय एषितव्यः । स एव पूर्वत्र चातुर्वर्ण्यपरउत्तरत्र त्रैवर्णिकपरइत्येकस्य शब्दस्य तात्पर्यभेदोऽभ्युपगतः स्यात् । नचाऽभेदे संभवति भेदोन्याप्यः । अन्वहं भवाऽऽन्वहिकी । प्रतिदिवसं यः पाको भुक्त्यर्थः स तस्मिन्नेवाग्रौ कर्तव्यः ॥ ६७ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । वैवाहिके यत्राग्रौ लाजहोमः कृतस्तस्मिन् गार्हगृहोक्तं विवाहोत्तरकालीनं त्वकीयं कर्म नित्यनैमित्तिकशान्तिकपौष्टिकरूपम् । पञ्चयज्ञविधानं गार्हत्वेपि पृथगुक्तं । प्रवसताऋत्विगादिभिर्गृह्याग्रावेव तत्कर्तव्य-
मित्येतदर्थं । पञ्चयज्ञपदवैश्वदेवमात्रपरम् । पक्तिं त्वान्पाकं । गृही गृहे निवसन् ॥ ६७ ॥

(३) कुल्लूकः । विवाहप्रकरणमतिक्रान्तम् । इदानीं वैवाहिकाग्रौ संपाद्य महायज्ञविधानं चेति वक्तव्यतया मतिज्ञातं-
महायज्ञाद्यनुष्ठानमाह वैवाहिक इति । विवाहे भवो वैवाहिकः । आध्यात्मिकादित्वाद्वा । तस्मिन् अग्रौ गृहोक्तं कर्म सायंप्रातर्हो-
माष्टकादि यथाशास्त्रमग्निसंपाद्यं च पञ्चमहायज्ञान्तर्गतवैश्वदेवाद्यनुष्ठानं प्रतिदिनसंपाद्यं च पाकंगृहस्थः कुर्यात् ॥ ६७ ॥

(४) राघवानन्दः । विवाहस्य प्रासंगिकमुक्त्वा यदुद्दिश्य कृतंतदाह वैवाहिक इति । विवाहकाले भवो वैवाहिकः
आवसथ्याख्यः तस्मिन् । गृहं सायंप्रातर्होमाष्टकापार्वणश्राद्धादिहोमं च । विवाहोत्तरकालीनो भिन्नः श्रौतः जातपुत्रः कृ-
ष्णकेशो ग्रीनादधीतेति श्रुतेः । पञ्चयज्ञानांतर्षणादीनां यदेकदेशो वैश्वदेवाख्यस्तस्यैव विधानमनुष्ठानाख्यं तदग्रौ कुर्वीत ।
पक्तिं पाकं । अन्वाहिकीं प्रतिदिननिष्पाद्याम् ॥ ६७ ॥

(५) नन्दनः । अथ गृहस्थधर्मः प्रस्तूयते वैवाहिक इति । विवाहोयस्मिन्कृतः स वैवाहिकोऽग्निरौपासनाग्निः गार्हक-
माक्षतहोमपाकयज्ञादिकम् । भूतमनुष्यब्रह्मयज्ञानामग्नौ करणमग्निसमीपे करणम् ॥ ६७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अथ वैश्वदेवविधिः । वैवाहिकेऽग्नौ गार्हगार्हसंज्ञकं यथा विधिं कुर्वीत कुर्यात् । पञ्चयज्ञ-
विधानं च वैश्वदेवसंज्ञकुर्यात् पक्तिं त्वान्पाकंगृहधर्मपक्तिं । अन्वाहिकीं प्रतिदिवसंगृही कुर्यात् ॥ ६७ ॥

पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ॥ कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु बाहयन् ॥ ६८ ॥

(१) मेधातिथिः । पञ्चयज्ञविधेरधिकारनिर्देशोऽयम् । सूना इव सूनाः । मांसविक्रयार्थं पशुवधस्थानमापणादयो वा-
मांसस्योत्पादकतयानुष्ठीयमानाः पापहेतव एवंचुल्यादयोऽपि पापहेतुत्वादभ्यारोपेण सूनासमाः । नहि तेषां शास्त्रप्रतिषेधः

साक्षात् नापि सामान्यः कश्चित्प्रतिषेधोऽस्ति । नहि तापघाताय कस्यचिन् स्पृहास्यात् । न काचित्त्साध्यक्रिया दृश्यते या वचनान्तरेण निषिद्धा । नचास्मादेव वचनात्प्रतिषेधानुमानं उत्तरेणैकवाक्यतावगमात् । प्रतिषेधपरत्वे वाक्यभेदः स्यात् । किंचैतत्पदार्थस्याध्यामर्थक्रियापदार्थान्तरेण साधयेत्तस्याः प्रामिम् । पञ्चयज्ञानां न च लक्षणान्युक्तानि । येन तत्समानकार्यस्यान्यस्यापि प्रतिषेधउच्यते योवा परकीयमन्नमद्यान्द्यादावुदकार्थं कुर्यान्नतस्यैते यज्ञाः स्युः । यदिच चुल्ल्यादीनां निषेधोभिप्रेतः स्यात्तदाप्रतिषेधार्थं यमेवपदमधीयीत किमनुमानेन । त्वशब्दाद्वलीयसी प्रतिपत्तिः । प्रायश्चित्तार्थत्वे त्वेकादशेऽभिधानं युक्तं निषेधैरेवाननुष्ठानमेवस्यात् । अपरिहार्यत्वाच्च चुल्ल्यादीनामशक्यो निषेधः । असति च निषेधे कुतः प्रायश्चित्तम् । तस्मान् दोषविधातार्थं पञ्चमहायज्ञाः । किंतर्हि नित्यसंबन्धेषु चुल्ल्यादिधारणेऽपि तद्दोषः तन्निष्कृत्यर्थतया नित्यार्थतयानित्यत्वं यज्ञानामाह बध्यते आदिवर्णवेत्येतदन्तोष्ठ्यं पठ्यते । हन्यते दुष्कृतेन शरीरधनादिना नाशयते । संबध्यते वा पापेन । परतन्त्रीकरणं वा भ्रष्टातेरर्थः । वाहयन् त्वकार्यं व्यापरणं वाहनम् यस्य चुल्ल्यादेर्यदौचित्यप्राप्तं त्वसाध्यं कार्यं तत्ताभिः कुर्वन्वाहयन् नित्युच्यते । चुल्ली पाकस्थानं भ्राष्ट्रादि । पेषणी दृषदुपलोवा । उपस्करो गृहोपयोगिभाण्डं कुण्डकटाहादि । कण्डनी ययात्रीहादि कण्ड्यते । कुम्भोजलाधारः ॥ ६८ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । सूनाः प्राणिघातस्थानानि । चुल्ली पाकेन । माषादिबीजानां, प्ररोहशक्तिप्रतिबद्धजीवनत्यागहेतुत्वात् । एवं पेषणी पेषणशिला पेषणेन । उपकिरत्यशुद्धानीति उपस्करोक्स्करहेतुः । समार्जनी भूयिष्ठपिपीलिकादिर्हिंसाहेतुः । कण्डन्यूलूखलं वितुषीकरणम् । उदकुम्भोजलाशयस्थजन्तूनामुद्धरणेन घातनात् । बध्यते पापेन निबध्यते वाहयन् प्रवर्तयन् ॥ ६८ ॥

(३) कुल्लूकः । पशुवधस्थानं सूना । सूना इव सूना हिंसास्थानगुणयोगाच्चुल्ल्यादयः पञ्च गृहस्थस्य हिंसाबीजानि हिंसास्थानानि चुल्ल्युद्वाहनी पेषणी दृषदुपलात्मिकोपस्करो गृहोपकरणकुण्डसमार्जन्यादिः । कण्डन्यूलूखलमुसले । उदकुम्भोजलाधारकलशः याः त्वकार्यं योजयन् पापेन संबध्यते ॥ ६८ ॥

(४) सद्यवानन्दः । यदुद्दिश्य पञ्चयज्ञास्तन्नामसङ्ख्यामाह पञ्चसूनेति द्वाभ्यां । सूना हिंसा तद्योगाच्चुल्ल्यादयः । तत्रोखा चुल्ली तथा पेषणी सपुत्राशिला । उपस्करः समार्जन्यादिः । कण्डनी उलूखलमुसलादि । उदकुम्भोजलपूर्णकलशादिः । वाहयन् त्वकार्येणैतायोजयन् बध्यते संबध्यते । प्राणिवधेनेति शेषः । बध्यते जन्तुरिति वा ॥ ६८ ॥

(५) नन्दनः । होमाभावात्पञ्चमहायज्ञानामवश्यकर्तव्यत्वे कारणं लोकद्वयेनाह पञ्चेति । सृजन्तेऽस्मिन् प्राणिन इति सूना हिंसास्थानमिति यावत् । वाहयन् प्रवर्तयन् बध्यते पापेन ॥ ६८ ॥

(६) रामचन्द्रः । गृहस्थस्य पञ्चसूनाः प्रत्यहं चुल्लीचुल्लिः पेषणी पिष्टपेषणी कण्डनी मुसलोलूखलस्थानं । उदकुम्भकुम्भस्थानं । उपस्करः शूर्पादिः । याः सूनावाहयन् प्रवर्तयन् । बध्यते । एतानि वाहयन् विप्रोबध्यते तु मुहुर्मुहुरितियमः ॥ ६८ ॥

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ॥ पञ्च कृत्वा महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥ ६९ ॥

(१) मेधातिथिः । तासांचुल्ल्यादीनां सूनानां निष्कृत्यर्थं तदुत्पन्नदोषनिर्यातनार्थं क्रमेणाधिलेपनंचुल्ल्यास्तक्षणापेष-

(६९) चुल्ल्यादिस्थानानाम्=चुल्ल्यादिसूनानाम् (अ)

प्यादित्येवमादिक्रमः । महर्षिभिः क्लृप्ताः कर्तव्यतया स्मृताः पञ्चमहायज्ञाः प्रत्यहंगृहमेधिनांगृहस्थानाम् । गृहमेधिशब्दो गृहस्थाश्रमे वर्तते । प्रत्यहमिति । अनुपादानात्कालविशेषस्य यावज्जीवमिति प्रतीयते । अतश्च नित्यत्वसिद्धिः । महायज्ञादतिकर्मनामधेयमेतत् ॥ ६९ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । क्रमेण चुल्ल्यादिसूनानामध्यापनादीनि निष्कृत्यर्थानि ॥ ६९ ॥

(३) कुल्लूकः । तासांचुल्ल्यादिस्थानानां यथाक्रमनिष्कृत्यर्थमुत्पन्नपापनाशार्थंगृहस्थानांपञ्चमहायज्ञाः प्रतिदिनमन्वादिभिरनुष्ठेयतया स्मृताः । एवंच निष्कृत्यर्थमित्यभिधानाद्विज्ञासास्थानत्वेन च कोर्तनात्सूनानादोषैर्न लिप्यतइति वक्ष्यमाणत्वात्पञ्चसूनानां पापहेतुकत्वं पञ्चयज्ञानांच तत्पापनाशकत्वमवगम्यते । प्रत्यहमित्यभिधानात्प्रतिदिनंतत्पापक्षयस्यापेक्षितत्वात्सन्ध्यावन्दनादिवन्नित्यत्वमपिन विरुध्यते ॥ ६९ ॥

(४) राघवानन्दः । क्रमेण यथासंख्यं संख्यानतिक्रमेण । निष्कृत्यर्थं तत्तदुत्पन्नपापनाशार्थं । गृहमेधिनां मेधा गृहोत्पन्ना हिंसा तथा युक्तानां क्लृप्ताः कर्तव्यतयेति शेषः ॥ ६९ ॥

(५) नन्दनः । तासांसूनानांहिंसानामित्यर्थः ॥ ६९ ॥

(६) रामचन्द्रः । तासांपञ्चसूनानांसर्वासां क्रमेण महर्षिभिर्निष्कृत्यर्थं प्रायश्चित्तार्थंपञ्चयज्ञाः क्लृप्ताः कथिताः गृहमेधिनां प्रत्यहं अहरहः कुर्यादित्यर्थः ॥ ६९ ॥

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ॥ होमो देवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ ७० ॥

(१) मेधातिथिः । एषामयं स्वरूपविधिः । अध्यापनशब्देनाध्ययनमपि गृह्यते येन जपो हुतइत्यत्र वक्ष्यति । न च जपोपि शिष्यान्पेक्षते सामान्येन श्रुतत्वाध्यायेनार्षिभ्य इत्युणावेदं श्रुतौ । अत उभे अध्यापनाध्ययने यथासंभवं ब्रह्मयज्ञः । तर्पणमन्नाद्येनोदकेन वेति वक्ष्यति । होमो वक्ष्यमाणाभ्यो देवताभ्योग्रौ बलिः शिष्टउलूखलादौ च स भौतः । भूतादिदेवतास्येति भौतः नामधेयमेतत्कर्मविशेषस्य दिवाचारिभ्यो भूतेभ्य इति हि तत्र बलिहरणं भूतशब्देन विहितम् । साहचर्यात्सर्वेषु कर्मगणो भूतयज्ञशब्देनोच्यते । यथाचातुर्मास्येष्वेकं हविर्वैश्वदेवमामिक्षा रुत्समेव च पर्ववैश्वदेवेन यजेतेति । बलिशब्दो न ग्रिहो मे वर्तते । देव्या बलिरिति स्मरन्ति । अतिथीनां पूजनमाराधनं नृयज्ञः । ननु च स्वाध्यायः कथं यज्ञो न हि तत्र देवता इज्यन्ते नापि श्रुयन्ते । केवलं वेदाक्षराण्यविवक्षितार्थान्युच्चार्यन्ते । उक्तं चाग्रायशब्दाभ्यां सेके चिदाहुरनर्थकानीति । संत्यम । स्तुत्यां यज्ञशब्दो महच्छब्दश्च । अतिथिपूजायामिति चोक्तो यज्ञशब्दः । यद्यप्यतिथेर्देवतात्वं संभवति । तथाप्युत्पत्तौ भोजयेत्पूजयेदिति च श्रुतं नातिथिभ्यो यजेतेति । यथापुरुषराजायत्कर्म वा इति । एते पञ्चयज्ञा न युगपत्प्रयोज्याः एकाधिकारासंबन्धात्पृथगधिकारश्रवणात् । एकाधिकारसंबन्धत्वे त्रिषु चतुर्षु वा कृतेषु न किञ्चित्कृतं स्याद्यावत्कृतम् । न च यथाग्नेयाग्नीषोमीयोपांशुयाजानां दर्शपूर्णमासयागानामेकद्यनुष्ठानेनाधिकारसिद्धिर्यथात्रैव वैश्वदेवहोमेस्त्रिष्टुक्कृतानां देवतानां कस्याश्चिदन्तराये न होमाधिकारनिवृत्तिः । एकैकस्य चात्राधिकारः श्रुतः । स्वाध्यायेन नित्ययुक्तः स्यात् । दैवे च नित्ययुक्तः स्यादित्यधिकारपदानुषङ्गेण पृथक्प्रयोगः । आतिथ्येचाधिकारान्तरं श्रुतं धन्यं यशस्यमिति । तत्र चत्वारः स्वाधोनाः । आतिथ्यंतु संहितेऽतिथौ । न चातिथिर्न मन्त्रयितव्यः । आतिथ्यभावात्स्वयमुपस्थितोऽतिथिर्भवतीति वक्ष्यामः । तस्मात्पञ्चानामन्यतमानुष्ठाने इतरेषामननुष्ठानाद्यदिनाम प्रत्यवेयाननु कृतमकृतं भवति । अतोऽनग्निकत्वाद्द्वैश्वदेवेऽनधिकृतस्य स्वाध्यायोदकतर्पणादौ भवत्येवाधिकारः । अग्निपरिग्रहस्य च स्मृत्यन्तरे कालान्तरस्यापि श्रुतत्वान्नावश्यं विवाहएव परिग्रहः । एवं हि स्मृतिः भार्यादिरग्निर्दायादिवैति । ननु चारुतविवाहस्य दायकालमाधानं भविष्यति । भं-

वतिहेतदेवम् यथाऽऽधानविधिः स्वार्थः स्यात् अग्र्यर्थत्वाधानम् अग्रिश्च कर्मार्थः कर्माणि च भार्याद्वितीयस्य न केवलस्य श्रुतानि । यद्यपि कैश्चिद्रक्षकारैः परमेष्ठिप्राणाग्रिमाधाय श्राद्धं कुर्यादित्युक्तं भवति तदपि सभार्यस्यैव स एवास्य दायकालः । न चानग्रिकस्य श्राद्धं नास्ति अनुपनीतस्यापि हेतद्विहितमन्यत्रस्वधानिनयनादिति । न च तस्याधानमस्ति विदुषोऽधिकारादिदानां चाविद्यत्वात् । श्राद्धं तु वचनान्निषादस्थपतिवद्यथाशक्तिकार्यमिति । पितृव्यादिनाग्रिपरिग्रहे तु विदुषां संभवान्नावैद्यस्याधिकारः । अथ श्राद्धप्रकरण एवाग्न्याधानं विहितं तदा तदङ्गत्वेनाधाय निष्पन्ने श्राद्धे परित्यागो भविष्यति । केचित्तु स्मृत्यन्तरमुदाहरन्ति लौकिकेऽप्यग्नौ वैश्वदेवहोमः कर्तव्यः शुष्कान्नैरपरे ॥ ७० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अध्ययनस्य ब्रह्मचारिप्रकरणे विहितत्वादध्यापनमपि ब्रह्मयज्ञस्तत्रापि त्वध्ययनस्य संभवादिति दर्शयितुमुक्तम् । तर्पणं पितृणां जलेनान्नेन वा । होमो देवो यज्ञः ॥ ७० ॥

(३) कुड्डूकः । अध्यापनशब्देनाध्ययनमपि गृह्यते जपोऽहुतमिति वक्ष्यमाणत्वात् । अतोऽध्यापनमध्ययनं च ब्रह्मयज्ञः । अन्नाद्येनोदकेन वेतितर्पणं वक्ष्यति सपितृयज्ञः । अग्नौ होमो वक्ष्यमाणो देवयज्ञः । भूतबलिभूतयज्ञः । अतिथिपूजनं मनुष्ययज्ञः । अध्यापनादिषु यज्ञशब्दो महच्छब्दश्च स्तुत्यर्थगौणः ॥ ७० ॥

(४) राघवानन्दः । तान्सलक्षणान् महायज्ञानाह । अध्यापनं अध्ययनं च लक्षणया वेदाभ्यासस्यैव नित्यत्वात् । होमो गृह्याग्नौ बलिः भूतोद्देशेन उलूखलादौ होम इति मेधातिथिः ॥ ७० ॥

(५) नन्दनः । के पुनस्ते महायज्ञा इत्यपेक्षायामाह अध्यापनमिति । अध्ययनमेवाध्यापनम् । तर्पणं श्राद्धादीनामप्युपलक्षणम् ॥ ७० ॥

(६) रामचन्द्रः । पञ्चयज्ञानाह अध्यापनमिति । अध्यापनं ब्रह्मयज्ञसंज्ञं । तर्पणं जलान्नैः । पितृयज्ञसंज्ञः । होमः अन्वहं देवः । लोकबलिः भूतयज्ञः । अतिथिपूजनं नृयज्ञसंज्ञः ॥ ७० ॥

पञ्चैतान्यो महायज्ञान् हापयति शक्तितः ॥ सगृहेऽपि वसन्नित्यंसूनादोषैर्न लिप्यते ॥ ७१ ॥

(१) मेधातिथिः । नित्यत्वमत्राभिधीयते । अन्यदनूद्यते । विगुणा अप्येते यथाशक्ति कर्तव्याः । एतदपि नित्यत्वात् प्राप्तमेव तस्माद्यथासंभवं शक्तिरिति । आद्यादित्वात्तसिः । हापयतीति प्रकृत्यर्थ एव णिजर्थस्याविवक्षितत्वात् । अथवा हननं हा संपदादित्वात्किं प तामापयतीति ण्यदामोतेः कर्तरि क्तिप् तदन्तात्प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे णिच । न हापयति नत्यजेदित्यर्थः ॥ स्वगृहे वसन्नवश्यभाविनीषु सूनासु न तत्पापेन संबध्यत इति प्रशंसा ॥ ७१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । न हापयति न त्यजति ॥ ७१ ॥

(३) कुड्डूकः । शक्तिरित्येतद्विधानार्थोयमनुवादः । अनुकल्पेनापि यथासम्भवमेते कर्तव्याः । हापयतीति प्रकृत्यर्थ एव च्छान्दसत्वाणिच् । जहातीत्यर्थः ॥ ७१ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तानां स्तुतिनिन्दाभ्यां नित्यत्वख्यापनार्थमाह पञ्चैतानिति द्वाभ्यां । न हापयति नत्यजति ॥ ७१ ॥

(५) नन्दनः । उक्तार्थोपसंहारार्थः श्लोकः पञ्चैतानिति । न हापयति न परित्यजति । नित्यं गृहे वसन्नप्यवर्जनीयाः ॥ ७१ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतान्पञ्च महायज्ञान्योगृही न हापयति न त्यजति सः गृहेऽपि वसन्नित्यं पञ्चसूनादोषैर्न लिप्यते ॥ ७१ ॥

देवतातिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः ॥ न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न सजीवति ॥ ७२ ॥

(१) मेधातिथिः । अननुष्ठाननिन्दया प्रकृतविधिस्तुतिः । केचिच्चतुर्थ्यां पठन्ति देवतातिथिभृत्येभ्यः पितृभ्यश्चात्मने तथा । न निर्वपति पञ्चभ्य इति । निर्वापोऽत्र दानं तादर्थ्योपकल्पनमात्रम् । तत्संबन्धेन प्रधानत्वाच्चतुर्थ्यायुक्ता । एतेभ्योयः प्रत्यहं ददात्युच्छ्वसन्नपि प्राणन्नपि श्वासप्रश्वासवानपि न जीवति मृतएव जीवितफलाभावात् । भृत्याश्चात्र वृद्धौ मातापितराविति श्लोको निर्दिष्टावेदितव्याः न दासाः कर्मनिमित्तत्वात्तेभ्योदानस्य । अथवा गर्भदासादयो वार्द्धके कर्मस्वशक्ता अपि नियमतोलक्ष्यन्ते । भरणं जीर्णगवादीनामवश्यमिति विभागे वक्ष्यामः उक्तंच गौतमेन भर्तव्यस्तेन क्षीणवृत्तिः । देवताभ्यश्च निर्वापोऽग्नौ होमः स्थण्डिले च बलिहरणं तु वैश्वदेवेभ्यो दर्शपूर्णमासदेवताभ्य इति च वाग्रयेत्वा जुष्टनिर्वपामीतिसंबन्धादन्यः को वाऽस्ति निर्वापः । अतो देवताग्रहणेन गृहीतत्वाद्भृत्यानां पृथगुपादानम् । आत्मग्रहणं दृष्टान्तः यथात्मनो भोजनेन विना नास्ति जीवितं तदर्थमन्नोपयोगोऽवश्यं भावी जीवितस्येष्टविषयत्वात्सर्वतएवात्मानं गोपायेदिति विधेश्च । एवं देवतादिभ्योपीति ॥ ७२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । देवतानां देवयज्ञेन न निर्वपति न ददाति । भृत्यानां भूतानां । आत्मनो ब्रह्मयज्ञेन न निर्वपति न ददाति । नात्मानं तत्फलं बंधिनं करोति तस्य त्वाभ्युदयसाधनत्वादिति एवं पञ्चयज्ञा उक्ताः ॥ ७२ ॥

(३) कुङ्कुमः । देवताशब्देन भूतानामपि ग्रहणं । तेषामपि बलिहरणे देवतारूपत्वात् । भृत्या वृद्धमातापित्रादयोऽवश्यं संवर्धनीयाः सर्वतएवात्मानं गोपायेदिति श्रुत्यात्मपोषणमप्यवश्यं कर्तव्यम् । देवतादीनां पञ्चानां योऽन्नं न ददाति स भृत्यसन्नपि जीवितकार्याकरणान्न जीवतीति निन्द्यावश्यकर्तव्यता बोध्यते ॥ ७२ ॥

(४) राघवानन्दः । भृत्यानां भूतानां बलि । आत्मनश्चाध्ययनमिति शेषः । न निर्वपति नैतेभ्यो ददाति । भस्मादिवत् श्वसज्जीवन्नपि न जीवति जीवनोचितकार्याभावात् ॥ ७२ ॥

(५) नन्दनः । अर्थप्राप्ताः पञ्चसूना अकुर्वन्पि पञ्चमहायज्ञानामवश्यकर्तव्यत्वे कारणान्तरमाह देवतेति । देवतातिथिभूतानामिति पाठः । आत्मा ब्रह्मेति पर्यायस्तस्य निर्वापः पृथक्करणं प्रदानं यजनमिति यावत् । आत्मयज्ञो हि ब्रह्मयज्ञः तथा हि ब्राह्मणं तस्य वा एतस्य ब्रह्मयज्ञस्य वागेव जुहुर्मन उपपञ्चभुर्धुवामेधास्तुवः सत्यमवभृथः स्वर्गलोक उदयनीय इति ॥ ७२ ॥

(६) रामचन्द्रः । देवताशब्देनाव ग्रहणं भूतानां एतेषां पञ्चानां यो न निर्वपति स उच्छ्वसन्न जीवति मृतक इत्यर्थः ॥ ७२ ॥

अद्भुतं च द्रुतं चैव तथा प्रदुतमेव च ॥ ब्राह्म्यं द्रुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान्प्रचक्षते ॥ ७३ ॥

(१) मेधातिथिः । एतैः शब्दैः कस्यां चिद्देवशाखायामेतेषां विधानम् । अतः श्रुतिमूलतां पञ्चयज्ञविधानस्य दर्शयितुं तत्प्रसिद्ध्या पुनर्निर्दिशति । यश्चाद्भुतादिशब्दैरुद्दिश्य तत्प्रकरणेन कश्चिद्दर्शो विहित इति नोक्तः सोऽपि ग्रहीतव्य इति संज्ञान्तरनिर्देशो द्वितीयप्रयोजनम् । यथा ब्रह्मयज्ञशब्दोद्वाहं परिक्रियेत्यादि ॥ ७३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अद्भुतं चेत्यादि पञ्चयज्ञानां श्रौतसंज्ञान्तरम् ॥ ७३ ॥

(३) कुङ्कुमः । नामभेदेऽपि वाक्यभेद इति दर्शयितुं पञ्चमहायज्ञानां मुन्यन्तरकृतान्यद्भुतादीनि संज्ञान्तराण्यभिधेयानि तानि स्वयं व्याचष्टे ॥ ७३ ॥

(४) राघवानन्दः । एतानेव शास्त्रान्तरप्रणीतनामभेदेन कीर्तयति अहुतंचेति । संज्ञाभेदेऽपि न पदार्थभेदइत्याह पञ्चयज्ञानिति ॥ ७३ ॥

(५) नन्दनः । शास्त्रान्तरेषु विहितान्यहुतादीनि पञ्चमहायज्ञानामेव नामान्तराणि न कर्मान्तराणामित्यभिप्रायेणाह अहुतमिति ॥ ७३ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्वाभ्यामाह अहुतमिति । अहुतं प्रहुतं ब्राह्म्यं हुतं प्राशितंच युक्तान्पञ्चयज्ञान्चक्षते ॥ ७३ ॥ जपोऽहुतोहुतोहोमःप्रहुतोभौतिकोबलिः ॥ ब्राह्म्यंहुतंद्विजाग्यार्चा प्राशितंपितृतर्पणम् ॥ ७४ ॥

(१) मेधातिथिः । योऽयमहुतोनाम यज्ञउक्तःसजपोवेदितव्यः । स्वाध्यायेनार्चयेदधीनिति श्रवणाद्वेदाध्ययनं जपार्थः । यद्वा मानसे व्यापारे स्मरणम् । उभयत्रापि जपतिःपठ्यते व्यक्तायांवाचि मानसेचेति । अग्नौ होमोहुतम् । भूतबलिः प्रहुतम् । यद्ययंहोमस्तथाप्यग्नौ बाहुल्येन होमानांप्रसिद्धेभूतयज्ञोहोमइत्याशङ्कायांप्रहुतइत्युक्तम् । प्रकर्षेणासौहोमइतिस्तुत्या । द्विजानांब्राह्मणानामर्चाब्राह्मणहुतम् । आतिथ्यकर्मद्विजाग्यार्चा ॥ ७४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । जपोऽहुतोहोमाभावात् । हुतो होमात् प्रहुतःप्रगतहुतःप्रेतिप्रगतार्थे । ब्रह्मणि ब्राह्मणे हुतं ब्राह्मं । प्रकर्षेण विप्रैरश्यतेत्रेति प्राशितम् ॥ ७४ ॥

(३) कुल्लूकः । अहुतशब्देन ब्रह्मयज्ञाख्योजपउच्यते हुतशब्देन देवयज्ञाख्योहोमः । प्रहुतशब्देन भूतयज्ञाख्योभूतबलिः । ब्राह्म्यहुतशब्देन मनुष्ययज्ञाख्योब्राह्मणश्रेष्ठस्यार्चा । प्राशितशब्देन पितृयज्ञाख्यनित्यश्राद्धम् ॥ ७४ ॥

(४) राघवानन्दः । एतद्यनक्ति जपइति । अहुतइति च्छेदः । योयंपूर्वमहुतमित्युक्तः सजपः स्वाध्यायोवेदितव्य इत्यन्वयः । एवमुत्तरत्र । ब्राह्मं ब्रह्म ब्राह्मणज्ञातिस्तस्येदं तस्यैवातिथित्वात् ब्राह्मं हुतं तच्च द्विजाग्यार्चेत्यन्वयः । पितृतर्पणं नित्यश्राद्धस्याप्युपलक्षणम् ॥ ७४ ॥

(५) नन्दनः । तेषांतथात्वंदर्शयति जपोऽहुतइति । जपोब्रह्मयज्ञःसोऽहुतसंज्ञः । होमोहुतसंज्ञः । भौतिकोबलिभूतयज्ञः । द्विजाग्यार्चा मनुष्ययज्ञः सब्रह्महुतसंज्ञः । पितृतर्पणपितृयज्ञः सप्राशितसंज्ञः ॥ ७४ ॥

(६) रामचन्द्रः । गायत्रीजपः अहुतसंज्ञः । हुतंदैवः होमः । भूतबलिःप्रहुतसंज्ञः । विप्रार्चा ब्रह्महुतं । पितृतर्पणं नित्यश्राद्धं प्राशितसंज्ञम् ॥ ७४ ॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्देवे चैवेह कर्मणि ॥ दैवकर्मणि युक्तोहि विभर्तीदंचराचरम् ॥ ७५ ॥

(१) मेधातिथिः । यदुक्तंपञ्चसु महायज्ञेष्वेकैकस्मिन्पृथगधिकारोऽसमुदायएकोधिकारइति तदनेन प्रकटीकरोति । यदा दारिद्र्यादिदोषादन्यतोवा कारणात्कथंचिदसंपत्तौ नातिथ्यादिपूजाघटते ततः स्वाध्याये नियुक्तेन भवितव्यम् । दैवकर्मणि वैश्वदेवदेवताभ्योग्नौहोमोदैवकर्म । भूतयज्ञपितृयज्ञयोः सत्यपि दैवत्वे प्रकरणादग्रावेव होमोदैवमुच्यते । अत्रार्थवादमाह । दैवकर्मणि युक्तःतत्परोविभर्तिधारयति चराचरंस्थावरंजङ्गमंच सर्वस्य जगतः स्थितेर्हेतुर्भवतोत्यर्थः ॥ ७५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पंचयज्ञांशर्कावाह स्वाध्यायइति । दैवे होमेकर्मणि विभर्ति ॥ ७५ ॥

(३) कुल्लूकः । यदि दारिद्र्यादिदोषेणातिथिभोजनादिकंकर्तुं न क्षमते तदाब्रह्मयज्ञे नित्ययुक्तोभवेदैवकर्मण्यग्नौहोमेच । होमस्य स्तुतिमाह । यतोदैवकर्मपरदंस्थावरजङ्गमंधारयति ॥ ७५ ॥

(४) राघवानन्दः । दारिद्र्यवशात् पञ्चानामशक्तौ द्वयमावश्यकमित्याह स्वाध्यायइति । दैवे होमे देवकर्मणः फलतिशयार्थं तत्स्तौति । देवइति ॥ ७५ ॥

(५) नन्दनः । एतेषु महायज्ञेषु ब्रह्मदेवयज्ञयोरप्रमत्ततरेण भवितव्यमित्याह स्वाध्यायइति । स्वाध्याये ब्रह्मयज्ञे । पञ्चमहायज्ञेषु मध्ये ब्रह्मयज्ञदेवयज्ञयोरवश्यकर्तव्ययोर्द्वयोरपि देवयज्ञेविशेषउत्तरार्धेनोक्तः ॥ ७५ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्वाध्याये वेदाध्ययने नित्ययुक्तः स्यादैवे पञ्चसु यज्ञेषुइह कर्मणि युक्तः स्यात्तदैवे कर्मणि युक्तः स्यात् । दैवे कर्मणि युक्तः सन्निदं चराचरं बिभर्ति ॥ ७५ ॥

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ॥ आदित्याज्जायते वृष्टिर्दृष्टेरन्नंततः प्रजाः ॥ ७६ ॥

(१) मेधातिथिः । कथंपुनरग्न्याहुत्यासर्वस्य जगतः स्थितिर्भवतीत्यतआह । अग्नौ यजमानेन प्रास्ताक्षिमाऽऽहुतिर्हूयमानं चरुपुरोडाशाद्युच्यते । आदित्यमदृश्येन रूपेण प्राप्नोति । सर्वरसानामाहर्तादित्योऽत आहुतिरसस्यादित्यप्राप्तिरुच्यते । अतः सरसआदित्यरश्मिषुकालेन परिपक्वोवृष्टिरूपेण जायते । ततोऽन्नं व्रीह्यादि ततः प्रजाः सर्वप्राणिनः । एवमग्नौ जुह्वत्सर्वजगदनुग्रहे वर्तते यजमानः । पूर्वस्य विधेः शेषोऽयं न पुनर्यथाश्रुतार्थनिष्ठः । तत्त्वे हि । वृष्टिकामस्याधिकारः स्यात् न च तच्छ्रुतस्य प्रकृतशेषतयान्वयसंभवेन कल्पनाया अवसरः ॥ ७६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अग्नौ प्रास्ताहुतिरिति वक्ष्यमाणक्रमेणाग्न्यादित्ययोरन्योन्यतेजः संबन्धादग्निगताहुत्या आदित्याप्यायनंतस्माच्चाप्यायितावृष्टिः ॥ ७६ ॥

(३) कुड्मूकः । कुतएतदित्याह अग्राविति । यजमानेनाग्रावाहुतिः सम्यक्क्षिमारसाहरणकारित्वादादित्यस्यादित्यं प्राप्नोति । सचाहुतिरसआदित्यावृष्टिरूपेण जायते । ततोऽन्नं तदुपभोगेन जायन्ते प्रजाः ॥ ७६ ॥

(४) राघवानन्दः । बिभर्तीदमित्युक्तं तदेव कुतस्तत्राह अग्राविति । अधिकारिणा अग्नौ हुताहुतिः सूक्ष्मात्मना आदित्यमुपतिष्ठते इत्याहुत्यपूर्वसाध्यं जगदिति भावः ॥ ७६ ॥

• (५) नन्दनः । कथंबिभर्तीत्यपेक्षायामाह अग्राविति । प्रास्ता प्रक्षिमा ॥ ७६ ॥

(६) रामचन्द्रः । सम्यगग्नौ प्रास्ताप्रक्षिमा आहुतिरादित्यमुपतिष्ठते संतुष्टादादित्यात् वृष्टिर्जायते । वृष्टेरन्नं भवति । ततः अन्नादन्नभक्षणात्प्रजाजायन्ते ॥ ७६ ॥

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ॥ तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वआश्रमाः ॥ ७७ ॥
[यथानदीनदाः सर्वे समुद्रे यान्ति संस्थितिम् ॥ एवमाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ [†]]

(१) मेधातिथिः । अपरेण प्रकारेण महायज्ञानामवश्यकर्तव्यतां दर्शयति । वायुः प्राणस्तमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति न ह्यप्राणस्य जीवितमस्ति प्राणधारणमेव जीवनम् । जन्तुशब्दः प्राणिमात्रवचनः । सर्वग्रहणं देवर्षीणामप्यतिशययुक्तानां वाष्वायन्तमेव जीवनं एवं गृहस्थः प्राणतुल्यः सर्वाश्रमिणाम् । अतः सर्वोपजीवनीयेन भवितव्यमिति विध्यर्थः । इतरग्रहणाद्यपि गृहस्थादन्यआश्रमिणः प्रतीयन्ते तथापि न गृहस्थप्रतिषेधार्थमेतत् स्नातकस्य हि विशेषेणातिथ्यादिदानं विहितम् । तस्मादितरग्रहणं गृहस्थाश्रमतुल्यतार्थम् । नच श्रूयते नात्मनात्मनि वर्तन्ते शरीरकुटुम्बस्थितिं प्राप्नुवन्ति इतरे चतआश्रमा इतराश्रमा इति समासः ॥ ७७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वायुं प्राणमन्नादिपाकविहरणादिहेतुम् ॥ ७७ ॥

(३) कुड्मूकः । यथा प्राणाख्यवाय्वाश्रयेण सर्वप्राणिनोजीवन्ति तथा गृहस्थाश्रयेण सर्वाश्रमिणो निर्वहन्ति ॥ ७८ ॥

(४) राघवानन्दः । यथा वै क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते । एवं सर्वाणि भूतानि अग्निहोत्रमुपासत इति श्रुत्या अत्राग्निहोत्रोपलक्षितं गृहस्थाश्रमप्राकरणिकत्वात्स्तौति यथेति । वायुं प्राणं । तद्वत्तन्मिक्षोपजीवित्वात् ब्रह्मचारिसंन्यासिनाम् । वानप्रस्थस्याविरक्तस्य पूर्वगृहस्थविद्याद्युपयोगित्वात् विरक्तस्य तु गृहमेधिषु चेत्यादि वक्ष्यमाणरीत्या गृहस्थोपजीवित्वाच्च ॥ ७७ ॥

(५) नन्दनः । अधिकारिप्रशंसाद्वारेण पञ्चमहायज्ञानामेव प्रशंसांश्लोकाभ्यामाह यथेति । वर्तन्ते जीवन्ति ॥ ७७ ॥

(६) रामचन्द्रः । यथासर्वजन्तवः इतरआश्रमा आश्रित्य वर्तन्ते ॥ ७७ ॥

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनानेन चान्वहम् ॥ गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमोगृही ॥ ७८ ॥

(१) मेधातिथिः । यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेन वेदार्थव्याख्यानजन्म्येनानेन च धार्यन्त उपरि क्रियन्ते गृहस्थेन तस्माज्ज्येष्ठः श्रेष्ठ आश्रमोगृहम् । गृहीति पाठे बहुव्रीहिः । गृहमिति पाठे विशेषणसमासो ज्येष्ठाश्रम इति । अत्रापि गृहस्थैरेवेत्यौचित्यानुवादो न वानप्रस्थादीनामध्यापनादिप्रतिषेधः । वानप्रस्थस्य तावद्विहितमेतत् तानेव महायज्ञानिर्वपेदिति । प्रव्रजितस्य यद्यपि हिंसानुग्रहयो नारम्भ इत्यनुग्रहः प्रतिषिद्धस्तथापि वेदार्थव्याख्यानं भिक्षुशाले विहितम् । ज्ञानवैराग्यभावताभ्यासातिशयविधानाच्च तयोर्नातिप्रयत्नो वेदार्थव्याख्याने । ब्रह्मचारिणस्त्वार्थलोपान्नाध्यापकत्वं भैक्षवृत्त्युपदेशाच्च कुतोऽनदानम् । अतो गृहस्थानामेव प्रायेण तत्संभवादेव मुक्तं गृहस्थैरेव ॥ ७८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतदेव व्युत्पादयति यस्मादिति । गृहस्थस्यैवाध्यापनाधिकारात्त्रयोपि ज्ञानेन । वनस्थस्यापि भिक्षाश्रमोपदेशात् । त्रयोप्यन्तेन च धार्यन्त इत्यर्थः । ज्येष्ठो गुरुतया पोषकतया च ॥ ७८ ॥

(३) कुड्मूकः । गृहस्थः प्राणतुल्यः सर्वाश्रमिणामित्युक्तं तदेवोपपादयति यस्मादिति । यस्माद्गृहस्थव्यतिरिक्तास्त्रयोऽप्याश्रमिणो वेदार्थव्याख्यानान्नदानाभ्यानि त्यं गृहस्थैरेवोपक्रियते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमोगृहस्थः ज्येष्ठ आश्रमो यस्य स तथेति बहुव्रीहिः ॥ ७८ ॥

(४) राघवानन्दः । तमेव पुनः श्रेष्ठत्वेन स्तौति यस्मादिति । ज्ञानेन वेदविद्योपादानेन । त्रयोपि ब्रह्मचारिवानप्रस्थसंन्यासिनः । श्रेष्ठ इति ज्येष्ठ इति वाऽतिशयोक्तिः सर्वान्नाधिकारार्थांश्चैषां परस्परपकारकता निरस्ता ॥ ७८ ॥

(५) नन्दनः । ज्ञानेन ज्ञानप्रदानेनाध्यापनेनेति यावत् । अनेन ज्ञाप्यते गृहस्थादेवानापद्यन्तेत्यमिति ॥ ७८ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्तेन ज्ञानेन वेदार्थव्याख्यानं यस्मात्कारणात्त्रयोऽप्याश्रमिणः अन्वहं गृहस्थैरेव धार्यन्ते तस्मात्कारणाद्गृही गृहस्थाश्रमो ज्येष्ठाश्रम उच्यते ॥ ७८ ॥

ससंधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ॥ सुखंचेहेच्छतानित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥ ७९ ॥

(१) मेधातिथिः । सगृहाश्रमः । प्रयत्नेन सत्कार्योऽनुष्ठेयोऽक्षयस्वर्गकामेनेह च सुखमिच्छता । अत्यन्तशब्दो नित्यतां गमयति । य आश्रमोऽधार्योऽक्षयं धारयितुं दुर्बलेन्द्रियैः । एतदुक्तं भवति यतः स्त्रीसंभोगसुसंस्कृतभोजनादि गृहस्थस्यावश्यं भावि ततश्चेन्द्रियाणां विषयसक्तौ दोषेण किमुच्यते । प्रयत्नेन आश्रमान्तरेभ्यो धारयितव्यः । अत्रापि महानिन्द्रि-

यसंयमः । अनृतौ न गन्तव्यं परदारान गन्तव्याः शेषान्नं भोक्तव्यं विषयसंनिधाने योनियमः सदुष्करः । स्वर्गमक्षयमिति नानेनसर्वेषांगृहस्थकर्मणांस्वर्गफलतोच्यते केषांचिन्नित्यत्वात्केषांचित्फलान्तरश्रवणात् । येऽप्यश्रुतफलाः स्वर्गफलतया कल्प्यन्ते तेषामपि केवलानामनुवादे न कश्चिद्विशेषणे हेतुः । तस्माद्विहिताभिप्रेतफलानुवादोऽयम् । नचाधिकारान्तरमिदं तेषामेव यावज्जीविकंस्वर्गकामस्येतिच शक्यंवक्तुं सुखंचेहेच्छतेत्यविधेयेन तुल्यत्वावगमात् । नहीहसुखकामेनेतरच्छक्यं कर्मफलतया ज्ञातुंविशेषस्यानिर्देशात् । सर्वा हि प्रीतिर्ग्रामपुत्रादिलाभैर्विशेषैरवच्छिन्नाप्रतीयते । अनवच्छेदेनप्रीतिमात्रं चेत्स्वर्गएव । नच तस्यैहिकत्वम् । तस्मादृष्टसुखामिकामानुवादोऽयम् । अनिकेताह्यन्यआश्रमिणोवृक्षमूलनिकेतनाः परगृहवासिनोदुःखमासते । तस्मादयमनुवादः ॥ ७९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अक्षयंचिरभोग्यं । अधार्योधारयितुमशक्यः ॥ ७९ ॥

(३) कुल्लूकः । यतएवमतः सगृहस्थाश्रमः स्वर्गसुखमिच्छता अनन्तमिव चिरस्थायित्वादिहलोके च स्त्रीसंभोगत्वाद्वन्नादिभोजनसुखंसन्ततमिच्छता प्रयत्नेनानुष्ठेयः । योऽसंयतेन्द्रियैर्धारयितुं न शक्यते ॥ ७९ ॥

(४) राघवानन्दः । अतएव गार्हस्थ्यश्रमे यत्न आस्थेयइत्याह सइति । संगार्हस्थ्यधर्मः संधार्योऽनुष्ठेयः । अक्षय्यमिच्छता यत्कर्तव्यं तदनया सहेत्युक्ते । इहच सुखंरूपधीनमित्यनुभवसिद्धम् । अधार्यइतिच्छेदः । दुर्बलेन्द्रियैः असंयतेन्द्रियैः ॥ ७९ ॥

(५) नन्दनः । यत एवतस्मादृहस्थाश्रमएवधार्योनाश्रमान्तराणि पञ्चयज्ञरहितानीत्यभिप्रायेणाह सइति । प्रयत्नेनाप्यपि ॥ ७९ ॥

(६) रामचन्द्रः । सगृहस्थाश्रमःप्रयत्नेनाक्षयंस्वर्गमिच्छता संधार्यः अत्यन्तसुखमिहेच्छता संधार्यः यो गृहस्थाश्रमोदुर्बलेन्द्रियैर्धार्यः धारयितुं न योग्य इत्यर्थः ॥ ७९ ॥

ऋषयः पितरोदेवाभूतान्यतिथयस्तथा ॥ आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यंविजानता ॥ ८० ॥

(१) मेधातिथिः । तत्तुल्ययाऽयमप्यनुवादएव । एतेकुटुम्बिभ्योगृहिभ्यः सकाशादर्थयन्ते । आदित्सतआत्मोपकारलिप्ताऽऽशासनमाकाङ्क्षाम् । अतस्तेभ्योदेवादभ्यःकार्यकर्तव्यंविहितहोमादि । विजानता शास्त्रस्थितिम् । कुटुम्बदाराः प्राकृतपुरुषेणापियामहायासोपनिबद्धा सान युक्ता विफलीकर्तुंकिंपुनर्देवतास्तुतिः ॥ ८० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कुटुम्बिभ्योगृहिभ्यःआशासते । तत्र ऋषयः त्वत्त्वदृष्टवेदभागस्वाध्यायेनात्मनः सुखोत्पत्तिकाक्षन्ते । तेभ्यस्तानुद्दिश्य ॥ ८० ॥

(३) कुल्लूकः । एते गृहस्थेभ्यःसकाशात्पार्थयन्ते अतः शास्त्रज्ञेनतेभ्यः कर्तव्यम् ॥ ८० ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तानर्थवादपुरःसरंपञ्चयज्ञोपजीवकानाह ऋषयइतित्रिभिः । आशासते वेदाध्ययनश्राद्धादिकमाकांक्षन्ते । कुटुम्बिभ्यः गृहस्थेभ्यः । आशासानेभ्यस्तेभ्योविजानता गृहस्थेन कार्यकर्तव्यं । यत्तूत्तरश्लोकेवक्ष्यमाणवेदाध्ययनादि ॥ ८० ॥

(५) नन्दनः । अथ पञ्चमहायज्ञानामेवावश्यकर्तव्यत्वे कारणान्तरमाह ऋषयइति । विजानता कुटुम्बिना । तेभ्यःऋष्यादिभ्यः । कार्यं कर्तव्यमिति ॥ ८० ॥

(६) रामचन्द्रः । ऋषयः पितरः देवाः । भूतानि अतिथयः तथा तेभ्यः कुटुम्बिभ्यःगृहिभ्यः । सकाशादाशासते सुखमभिलषन्ति विजानता पुंसां शास्त्रस्थितिं तेभ्यः कार्यं कारणीयमित्यर्थः ॥ ८० ॥

स्वाध्यायेनार्चयेत्तृष्णीहोमैर्देवान्यथाविधि ॥ पितृञ्छ्राद्धैश्च नूननैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥ ८१ ॥

(१) मेधातिथिः । स्वाध्यायमधीयीतेति यएवार्थः । सएव स्वाध्यायेनार्चयेदृषीनिति भवति श्राद्धादरेण पाद्या-
र्घमाल्यानुलेपनेन । अत्रोच्यते स्तुतिवचनं चेदम् नचोभयोरपि स्वाध्याय ऋषिपूजयोःकरणम् । अग्न्यादिदेवतास्ताव-
कामन्त्राऋषीनभिष्टुवन्ति । तस्मात्प्रशंसामात्रमृषीन्स्वाध्यायेनार्चयेदिति ॥ ८१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भूतानिबलिहोमभागित्वेन देवताभूतानामपिबलिभागितया भूतपदाभिधेयत्वात् बलि-
कर्मणि देवतोद्देशेनकर्तव्यम् ॥ ८१ ॥

(३) कुष्ठूकः । किंतत्तदाह स्वाध्यायेनेति । नानाप्रकारत्वादर्चनस्य स्वाध्यायादेरर्चनार्थत्वमुचितम् । महायज्ञा-
न्तर्गतैः स्वाध्यायादिभिर्ऋषिदेवपित्रतिथिभूतानियथाशास्त्रं पूजयेत् ॥ ८१ ॥

(४) राघवानन्दः । तदेवसंप्रदानकमाहस्वाध्यायेनेति । अर्चयेत्प्रीणयेत् । श्राद्धेनेति तर्पणस्याप्युपलक्षणम् ।
बलिकर्मणा भूतेभ्योदत्तेनानेन ॥ ८१ ॥

(५) नन्दनः । किंकर्तव्यमित्यपेक्षायामाह स्वाध्यायेनेति ॥ ८१ ॥

(६) रामचन्द्रः । श्राद्धेनपितृन्नूननै स्तर्पयेत् बलिकर्मणाभूतानि प्रीणयेदित्यर्थः ॥ ८१ ॥

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ॥ पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ ८२ ॥

(१) मेधातिथिः । दद्यात्कुर्यात् । अहरहः प्रतिदिवसम् । श्राद्धं नाम्नाधर्मातिदेशः । श्राद्धं नाम पित्र्यंकर्माभावा-
स्यायांविहितम् । तदीयेतिकर्तव्यताश्राद्धमित्यनेन नाम्नाऽतिदिश्यते । अन्नाद्येनेति तिलैर्ब्रीहियवैरित्यादेरनुवादोऽयम् ।
उत्तरत्रविवक्षितार्थोदकेनेति पयःक्षीरम् ॥ ८२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्राद्धं श्रद्धयापितृकर्म अन्नाद्येन श्रद्धयोत्सृष्टेन तथोदकेन अन्नाद्यवदुष्टेनेति मुख्यक-
ल्पानुकल्पौ । परेत्वनुकल्पाः पयसा जलेन तर्पणकाले दत्तेन संपादनं । तथा अन्नाभावे मूलैः फलैर्वा श्राद्धदत्तैरिति ।
केचित्तु अन्नाद्याभावे उदकफलमूलक्षीराणामन्यतमेन नित्यश्राद्धकर्तव्यमित्यस्यार्थमाहुः । पितृभ्यः प्रीति मिति तत्प्रीति-
हेतोर्विहितस्यैव मूलस्य फलस्य वाग्रहणार्थम् ॥ ८२ ॥

(३) कुष्ठूकः । तत्र पितृयज्ञंतावदाह कुर्यादिति । प्रत्यहंयथासंभवंश्राद्धंकुर्यात् । श्राद्धशब्दोऽयंकर्मविधिवाक्यव-
र्ती । कौण्डपायिनामयनीयाग्निहोत्रशब्दवद्दृश्यमाणपार्वणश्राद्धधर्मातिदेशार्थः । अन्नाद्येनेति तिलैर्ब्रीहिभियंवैरित्यादेरु-
पादानम् । पयःक्षीरम् ॥ ८२ ॥

(४) राघवानन्दः । अहरहः श्राद्धं नित्यश्राद्धम् । यदनः पुरुषोराजन् तदन्नाः पितृदेवताइति न्यायमाश्रित्या-
ह उदकेनेत्यादि । पयोदुग्धं प्रीतिं श्रद्धामावहन् ॥ ८२ ॥

(५) नन्दनः । पितृञ्छ्राद्धेनेत्येतत्प्रपञ्चयति कुर्यादिति । अन्नाद्येन मुख्यकल्पउक्तः उदकेनाधमः पयोमूलफले-
र्मध्यमइति विवेकः ॥ ८२ ॥

(८२) कुर्यादहं=दद्यादहं (मे०)

(६) रामचन्द्रः । अथ नित्यश्राद्धमारभ्यते दद्यादिति । अहरहःश्राद्धं अन्नाद्येन उदकेन च अन्नाभावे पयसा वा मूलफलैर्वापि किंकुर्वन्प्रीतिमावहन् ॥ ८२ ॥

एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयज्ञिके ॥ नचैवात्राशयेत्कंचिद्वैश्वदेवंप्रति द्विजम् ॥ ८३ ॥

(१) मेधातिथिः । श्राद्धशब्देन विधानात्सर्वस्मिंस्तद्विधाने ग्रामे कश्चिदितिकर्तव्यताभागो निवर्त्यते । नचैवात्राशयेत्किंचित् नात्रान्वाहिकेश्राद्धे वैश्वदेवंप्रति विश्वान्नेवानुद्दिश्यद्विजभोजनम् । अत्र केचिदाहुः ग्रामे भोजनआशयेदिति पुनर्वचनमपूर्वत्वमस्य दर्शयति । तेनैतावदेवैतच्छ्राद्धं पितृनुद्दिश्य ब्राह्मणएकोभोज्यते नत्वदन्या काचिदर्घमात्रादिहोमाद्येति कर्तव्यताऽस्ति । ब्रह्मचर्यस्वाध्यायनिषेधइत्येवमादि न भवति । एकमप्याशयेद्विप्रम् त्रयाणानियमादकैकमुभयत्रेत्यस्या विधित्वादग्रामएकोविधीयते । एकमपि भोजयेत्सति संभवे बहूनपि पित्रर्थं पितृत्प्यर्थम् । पाञ्चयज्ञिकं पञ्चयज्ञभवं पाञ्चयज्ञिकं तदन्तर्गतम् । पाञ्चयज्ञिकशब्दः श्राद्धे प्रयुक्तः । पाञ्चयज्ञिकंतर्पणम् । तेन तर्पणभोजनयोः समुच्चयः । अस्य तु विकल्पो भविष्यति यदेव तर्पयत्यग्निरिति ॥ ८३ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । एकमपीति पित्रार्थकैकोद्देशेनैकैकंब्राह्मणं भोजयेदिति पार्वणवत्प्राममेव । तावता ब्राह्मणभोजनासंभवेपित्रर्थं पित्रार्थपाञ्चयज्ञिये पञ्चयज्ञिके संबन्धि श्राद्धेन चैवेति । अत्र नित्यश्राद्धे ब्राह्मणासंभवेपि वैश्वदेवस्थाने द्विजनाशयेदिति विश्वेषां देवानां नित्यश्राद्धप्रीणनं नास्तीति दर्शितम् ॥ ८३ ॥

(३) ऋद्धूकः । पितृप्रयोजने पञ्चयज्ञान्तर्गत एकमपि ब्राह्मणं भोजयेत् । अपिशब्दात्संभवे बहूनपि । पार्वणधर्मग्रहणाच्च वैश्वदेवब्राह्मणभोजनप्रामावाह न कंचिद्वैश्वदेवार्थंब्राह्मणमत्र भोजयेत् ॥ ८३ ॥

(४) राघवानन्दः । श्राद्धं हि ब्राह्मणभोजनात्मकं तत्र कति ब्राह्मणाभोजनीया इत्यपेक्षायामाह एकमिति । पाञ्चयज्ञिके पञ्चयज्ञान्तर्गते नित्ये श्राद्धे । आशयेत् भोजयेत् पार्वणधर्मत्वादस्य देवब्राह्मणमसक्तौ निषेधति न चेति ॥ ८३ ॥

(५) नन्दनः । अत्र पितृयज्ञाद्युक्तेषु मध्ये वैश्वदेवंप्रति वैश्वदेवहोमः स्यात् । द्विजं किंचिदप्यम्भं भोजयेत् । अन्यद्विरुत्पाद्य भोजयेदित्यर्थः ॥ ८३ ॥

(६) रामचन्द्रः । पाञ्चयज्ञिये कर्मणि चैकं विप्रं पितृत्प्यर्थमाशयेत् भोजयेत् । अथ वैश्वदेविकंचद्विजवैश्वदेवं नाशयेन्न भोजयेत् । एकं न भोजयेदित्यर्थः । किंतु युग्मम् ॥ ८३ ॥

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येष्टौ विधिपूर्वकम् ॥ आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥ ८४ ॥

(१) मेधातिथिः । विश्वेदेवाथं वैश्वदेवः पाकउच्यते । सर्वार्थो वैश्वदेवेशब्दाऽपि संप्रदानमात्रोपलक्षणार्थः । तेनातिव्याद्यर्थता युक्ता भवति । सिद्धस्य होममाभ्यो वक्ष्यमाणाभ्यो देवताभ्यः कुर्यात् । सिद्धशब्देन देवतोद्देशेन देवस्य त्वेति मन्त्रवन्निर्वापो न कर्तव्य इति दर्शयति । केवलं सर्वार्थनिष्पन्नपाकेन होमादि कर्तव्यमिति विध्यर्थः । गृह्येष्टौ विधिहोमादिकरणनिर्देशविधिपूर्वकं समाचारप्राप्तं परिसमूहं न पर्युक्षणादिरूपामितिकर्तव्यतामाह । ब्राह्मणशब्दश्चैवर्णिकाधिकारप्रदर्शनार्थः । अन्वहं नित्यमित्यर्थः । देवताग्रहणं स्वाहाकारमाप्त्यर्थम् । षष्ठीनिर्देशादग्रेरिवमिति प्रयोगः स्यात् । देवताशब्देन तु स्वाहाकारेण वा देवेभ्यो हविः संप्रदीयत इति याज्यान्ते पुनर्वषट्कारस्य विधानात् । स्मार्तहोमेत्वभावः । स्वाहाकारस्तु सर्वत्र । तस्मिंश्च सत्यग्रथे स्वाहेति प्रयोगः ॥ ८४ ॥

(८३) पित्रर्थे पाञ्चयज्ञिके = पित्रर्थे पाञ्चयज्ञिकं (मे०)

(२) सर्वज्ञनारायणः । नित्यश्राद्धमुक्त्वा वैश्वदेवाभिधानादयमेव क्रियाक्रमो मनोरपेक्षित इति लक्ष्यते । वैश्वदेवस्य विश्वदेवयोग्यस्य क्षारलवणादिव्यतिरिक्तस्यान्नस्य । गृह्ये वैवाहिकेऽग्नौ सिद्धस्येत्यन्वयः । तत्र होमस्य पूर्वमेव विहितत्वात् ॥ ८४ ॥

(३) कुल्लूकः । विश्वदेवार्थः सर्वदेवतार्थो वैश्वदेवस्तस्य पक्कस्यान्नस्यावसथ्याग्नौ त्वगृह्यविहितपर्युक्षणादीनि कर्तव्यतापूर्वकमाभ्योवक्ष्यमाणदेवताभ्यो ब्राह्मणः प्रत्यहंहोमं कुर्यात् ब्राह्मणग्रहणं द्विजातिप्रदर्शनार्थं त्रयाणां प्रकृतत्वात् ॥ ८४ ॥

(४) राघवानन्दः । सम्प्रति वैश्वदेवविधिमाह वैश्वदेवेति नवभिः । सिद्धस्य पक्कस्य । हविष्यस्येति शेषः । आभ्यो वक्ष्यमाणभ्यः । ब्राह्मणो द्विजातिः ॥ ८४ ॥

(५) नन्दनः । कथं पुनर्वैश्वदेवः कर्तव्य इत्यपेक्षायामाह वैश्वदेवस्येति । वैश्वदेवस्य सिद्धस्य सर्वदेवार्थ-पक्कस्यान्नस्य ब्राह्मणः द्विजः ॥ ८४ ॥

(६) रामचन्द्रः । सिद्धस्यान्नस्य वैश्वदेवस्य वैश्वदेवार्थस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकं आभ्यो देवताभ्यः । ब्राह्मणो होमं कुर्यात् ॥ ८४ ॥

अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः ॥ विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च ॥ ८५ ॥

(१) मेधातिथिः । आदावित्यनुवादः । पाठक्रमेणैवाग्रेऽदौ सिद्धत्वात् पृथगाहुती । तयोश्च समस्तयोरग्नीषोमाभ्यामिति विश्वेभ्यो देवेभ्य इति प्रयोगः । एकैवाहुतिर्धन्वन्तरये स्वाहा ॥ ८५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । समस्तयोरग्नीषोमयोः । अत्र च सर्वत्र चतुर्थ्यर्थे षष्ठीनिर्देशे तु चतुर्थ्येव कार्या ॥ ८५ ॥

(३) कुल्लूकः । वचनद्वयं त्वाहाकारप्रदानहोम इति कात्यायनस्मरणादादावग्रये त्वाहा सोमाय त्वाहेति निरपेक्ष-देवताकंहोमद्वयं कृत्वाग्नीषोमाभ्यां त्वाहेति समस्तदेवताकंहोमं कुर्यात्ततो विश्वेभ्यो देवेभ्यो धन्वन्तरये ॥ ८५ ॥

(४) राघवानन्दः । अग्रेऽतिरिक्तादिषष्ठी चतुर्थ्यर्थः । तयोरग्नीषोमयोः । त्वाहाकारप्रधानो होम इति कात्यायनोक्ते-रयं प्रयोगः । अग्रये त्वाहा एवं सोमायाग्नीषोमाभ्यां विश्वेभ्यो देवेभ्यो धन्वन्तरये ॥ ८५ ॥

(५) नन्दनः । अग्रयणे सोमस्य सोमाय तयोः समस्तयोरग्नीषोमाभ्यां विश्वेषां देवानां विश्वेभ्यो देवेभ्यः ॥ ८५ ॥

(६) रामचन्द्रः । आदौ प्रथमतः । अग्नेः सोमस्याहुति जुहुयात् । अग्रये त्वाहा १ सोमाय त्वाहा २ अग्नीषोमाभ्यां त्वाहा ३ विश्वेषां चैव देवानां विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ४ धन्वन्तरय एव च धन्वन्तरये स्वाहा ५ ॥ ८५ ॥

कुट्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च ॥ सहद्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः ॥ ८६ ॥

(१) मेधातिथिः । सहद्यावापृथिव्योः द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहेति । तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः स्विष्टकृदिति गुणपदम-ग्रिश्च गुणी स्मृत्यन्तरेऽग्रये स्विष्टकृत इति वचनात्सर्वहोमेष्वेव चाग्नानात् । अन्तत इति पाठान्तिद्धे वचनं स्मृत्यन्तरेधिकार-माहुतीनामाग्नानात्सति समुच्चये प्राक्स्विष्टकृत आवापः कर्तव्य इति दर्शयितुम् । ननु चैकत्वाद्धोमस्य देवताविकल्पो युक्तः । कुतः पुनरेकत्वं होमस्य । इयमेव होमानामुत्पत्तिः अग्नेः सोमस्य चेत्यादि । तत्र चोत्पत्तावेव देवताविशेषणावरुद्धत्वाद्भि-न्ना एव होमाः प्रतीयन्ते ॥ ८६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सहएकाहुतिर्द्यावापृथिव्योः । स्विष्टकृत इत्यत्राग्रय इति प्रथमं विशेष्यपदं प्रक्षेप्यम् ॥ ८६ ॥

(३) कुल्लूकः । कुल्ला अनुमत्यै प्रजापतये द्यावापृथिवीभ्यामग्नये स्विष्टकृतइत्येवंस्वाहाकारान्तान्होमान्कुर्यात् । श्रुत्यन्तरेष्वग्निविशेषणत्वेन स्विष्टकृतोविधानात्केवलंस्विष्टकृन्निर्देशोऽप्यग्निविशेषणत्वेनैव प्रयोगः । पाठादेवान्तत्वे सिद्धे स्विष्टकृतेऽन्ततइत्यभिधानंस्मृत्यन्तरीयहोमसमुच्चयेऽप्यन्तत्वज्ञापनार्थम् ॥ ८६ ॥

(४) राघवानन्दः । कुल्लै अनुमत्यै प्रजापतये द्यावापृथिवीभ्यामग्नये स्विष्टकृते इतिपाठक्रमादेवान्तत्वेप्राप्ते अन्त-
पदंस्मृत्यन्तरहोमसमुच्चयेनस्विष्टकृतोन्तत्वज्ञापनार्थम् । सहेति द्यावापृथिवीभ्यामेकप्रयोगसूचनार्थंबहुवेगृहे इन्द्रायेत्या-
दिप्रयोग दर्शनात् ॥ ८६ ॥

(५) नन्दनः । सह द्यावापृथिव्योः समस्ताभ्यांद्यावापृथिवीभ्याम् ॥ ८६ ॥

(६) रामचन्द्रः । कुल्लै अमायै । स्वाहा ६ । पौर्णमास्यैऽनुमत्यै स्वाहा ७ । प्रजापतयेस्वाहा ८ । द्यावापृथिवीभ्यां
स्वाहा ९ । ततःस्विष्टकृते स्वाहा १० ॥ ८६ ॥

एवंसम्यग्यविर्हृत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम् ॥ इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्योर्बलिहरेत् ॥ ८७ ॥

(१) मेधातिथिः । सम्यगनन्यचित्ततया देवताध्यानपरएवमेताभ्योदेवताभ्योऽग्नौ हुत्वा ततः सर्वासु दिक्षुयथासं-
ख्यंप्रदक्षिणं प्रथमं प्राच्यांततोदक्षिणस्यांइत्येषप्रदक्षिणावर्तमिन्द्रःअन्तकः अप्पतिःइन्दुःप्रतिदिवसम् । अपरश्चाह अहर्वि-
भागिन्दुरित्यदि नैतेन शब्देन बलिहरणंस्यात्कथमिन्द्रोर्हविर्भाक्त्वम् बलिहरणंच होमएवेतिव्याख्यातम् । वृत्तभङ्गभ-
याच्चात्रन शब्दस्य रूप विवक्षेति स्मृत्यन्तरोपात्तैरेव शब्दैरुद्देशः कर्तव्यः । सानुगेभ्यः अनुगाअनुचरास्तत्पुरुषास्तथाचे-
न्द्रपुरुषेभ्यइत्यादिप्रयोगः ॥ ८७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । हविर्हविष्यम् । इन्द्रादीनांचतुर्णामध्येएकैकस्मै प्रदक्षिणं पूर्वाद्येकैकदिशि सानुगेभ्यः
॥ ८७ ॥

(३) कुल्लूकः । एवमुक्तप्रकारेण सम्यगनन्यचित्तोदेवताध्यानपरएव होमान्कृत्वा सर्वासु प्राच्यादिषु दिक्षु प्रदक्षि-
णमिन्द्रादिभ्यः सपुरुषेभ्योर्बलिहरेत् । तथा प्राच्यामिन्द्रायनमः इन्द्रापुरुषेभ्योनमः । दक्षिणस्यां यमाय नमः यमपुरुषे
भ्योनमः । पश्चिमायां वरुणाय नमः वरुणपुरुषेभ्योनमः । उत्तरस्यां सोमाय नमः सोमपुरुषेभ्योनमः । यद्यपि शब्दावग-
म्यत्वादेवतात्वस्यान्तकाप्पतीन्दुशब्दैरेवोद्देशोयुक्तस्तथापि बहुचानुष्ठानसंवादाद्बहुचगृहे च यमाय यमपुरुषेभ्यः वरुणा-
यवरुणपुरुषेभ्यः सोमाय सोमपुरुषेभ्यइति प्रतिदिशमिति पाठाद्यथोक्तएव प्रयोगः ॥ ८७ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच इन्द्रेति । इन्द्राय इन्द्रपुरुषेभ्यः प्राच्याम् । अन्तकोत्र यमः यमाय यमपुरुषेभ्यइति द-
क्षिणस्याम् । अप्पतिर्वरुणः । एवं वरुणाय वरुणपुरुषेभ्यइति पश्चिमायाम् । उत्तरस्यां सोमाय सोमपुरुषेभ्यइति पश्चदशा-
हुतयः । शूद्रपक्षे नमोन्ताः । नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान् हापयेदिति स्मरणात् ॥ ८७ ॥

(५) नन्दनः । इन्द्राय सानुगाय स्वाहेति पूर्वस्यांदिशि । अन्तकायसानुगायेतिदक्षिणस्याम् । अप्पतये सानुगाये-
तिप्रतीच्याम् । इन्दवेसानुगायेत्युत्तरस्यामिति । सर्वदिक्षु प्रदक्षिणक्रमेण बलिहरेत्कुर्यात् ॥ ८७ ॥

(६) रामचन्द्रः । एवंप्रकारेण सम्यक् हुत्वा बहिर्मण्डलात्बहिरेतन्मण्डलंसर्वदिक्षु प्रदक्षिणंमण्डलंकुर्यात् । इन्द्राय
स्वाहा इन्द्रपुरुषाय स्वाहा इतिपूर्वे । अन्तकाय स्वाहा यमपुरुषाय स्वाहा इतिदक्षिणे । अप्पतये वरुणाय स्वाहा वरुण-
पुरुषाय स्वाहा इतिपश्चिमे । इन्दवे स्वाहा इन्द्रपुरुषाय स्वाहा इतिउत्तरे । बलिहरेत्तदद्यात् ॥ ८७ ॥

मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि ॥ वनस्पतिभ्य इत्येवं मुसलोलूखले हरेत् ॥ ८८ ॥

(१) मेधातिथिः । अत्रेति करणः स्वरूपविवक्षार्थः । अप्स्वित्यधिकरणम् । अद्भ्य इति देवतानिर्देशः । वनस्पतिभ्य इति मुसलोलूखले । द्वन्द्वैकवद्भावेन विकल्पितमाधारद्वयम् । निर्देशगुणवृत्त्या प्रधानभूतताया आहुतेरावृत्तिर्युक्ता । न च मुसलोलूखलस्यैकीकृतस्याहुतिसंबन्धः शक्यः कर्तुं पृथक्त्वस्य तत्राप्युपलम्भात् । नहि क्षीरोदकवदनयोर्व्यामिश्रणसंभवः । तत्र यद्यलूखले क्रियते न तत्र होमः कृतः । अथोलूखलेन मुसलेन च भागश आहुतिः संभवति नियतपरिमाणत्वात् । द्वन्द्वनिर्देशोऽत्र संयुक्तयोरन्यतरत्र होमोयुक्तः ॥ ८८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । द्वारि गृहद्वारि । अप्स्वपस्थापनस्थाने मुसलोलूखले मुसलउलूखलं निधाय तत्रेत्यर्थः ॥ ८८ ॥

(३) कुड्डूकः । इतिशब्दः स्वरूपविवक्षार्थः । मरुद्भ्यो नम इति द्वारे बलिं दद्याजलेऽद्भ्य इति । मुसलोलूखल इति । द्वन्द्वनिर्देशात् सहयुक्तयोरन्यतरत्र वनस्पतिभ्य इति बलिं दद्यात् गुणानुरोधेन प्रधानबलिकर्मावृत्तेरन्याम्यात्वात् ॥ ८८ ॥

(४) राघवानन्दः । मुसलोलूखल इति द्वन्द्वनिर्देशाद् वनस्पतीनामेकं स्थानम् ॥ ८८ ॥

(५) नन्दनः । द्वारि गृहद्वारे । अप्सु दधानी समीपे । मुसलोलूखले । मुसलोलूखलस्थान इत्यर्थः ॥ ८८ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्वारिमण्डलद्वारि मरुद्भ्यः स्वाहा इति । करणशब्दरूपविवक्षार्थः । अप्सु उदकस्थापनस्थाने अद्भ्यः स्वाहा वनस्पतिभ्यः स्वाहा मुसलोलूखले हरेत् । स्थापयेदिति केचित् ॥ ८८ ॥

उच्छीर्षके श्रियै कुर्याद्ब्रह्मकाल्यै च पादतः ॥ ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत् ॥ ८९ ॥

(१) मेधातिथिः । उच्छीर्षकं प्रसिद्धदेवताशरणशीर्षस्थानं तत्र श्रियै बलिं कुर्यात् । पादतः अधोभागे । गृहस्थभद्रकाल्यै । तस्या अपि स्थानद्वारस्य पूर्वभागे । अन्य उच्छीर्षकं गृहस्थशयनस्य शिरोभागमाहुः पादौ चास्याधोभागम् । तेन खट्वादावयं होमो भूयदेशे वा । गृहस्थशयनस्थाने ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां सत्यपि द्वन्द्वनिर्देशे पृथगेते आहुती ब्रह्मणे वास्तोष्पतय इति । यत्र तूभयदेवतात्वमग्रीषोमवत्तत्र सहग्रहणं समस्तग्रहणं वा करोति । तयोश्चैव समस्तयोः सहद्यावापृथिव्योश्चेति अप्रसिद्धसाहचर्यात् । वास्तुगृहं तन्मध्ये ॥ ८९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उच्छीर्षके शय्यादेशस्य शिरस्थाने । एवं पादतः । ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां मिलिताभ्याम् ॥ ८९ ॥

(३) कुड्डूकः । वास्तुपुरुषस्य शिरः प्रदेश उत्तरपूर्वस्यां दिशि श्रियै बलिं दद्यात् । तस्यैव पाददेशे दक्षिणपश्चिमायां दिशि भद्रकाल्यै । अन्येतु उच्छीर्षकं गृहस्थशयनस्य शिरः स्थानभूभागं पादत इति तस्यैव चरणभूयदेशमाहुः । ब्रह्मणे वास्तोष्पतय इति गृहमध्ये । द्वन्द्वनिर्देशेऽपि ब्रह्म वास्तोष्पत्योः पृथगेव देवतात्वम् । यत्र द्वन्द्वे मिलितस्य देवतात्वमपेक्षितं तत्र सहादिशब्दं करोति यथा सहद्यावापृथिव्योश्चेति ॥ ८९ ॥

(४) राघवानन्दः । उच्छीर्षके वास्तुपुरुषस्य शिरः प्रदेशे उत्तरपूर्वस्यां दिशि । पादत इति नैर्ऋत्यां । गृहस्थशयनस्य शिरः पादयोरित्यपरं तत्तुच्छं । शयनस्थाननियतत्वात् उत्तरत्र वास्तुश्रवणात् । ब्रह्मणे वास्तोष्पतये च ॥ ८९ ॥

(५) नन्दनः । उच्छीर्षकेशिर उपधानस्थाने । पादतः पादोपधानस्थाने । ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां ब्रह्मणे वास्तोष्पतय इति सहेतिवचनाभावात् । वास्तुमध्ये गृहमध्ये ॥ ८९ ॥

(६) रामचन्द्रः । उच्छीर्षके शय्यादेशमस्तकस्थाने पूर्वे श्रियै स्वाहा कुर्यात् । तु पुनः पादतः पश्चिमतो

भद्रकाल्यै जुहुयात् । ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यांब्रह्मजज्ञानमिति वास्तोष्पतेरिति द्वाभ्यांवास्तुमण्डलमध्ये त्वाहाबलिहरे-
दद्यात् ॥ ८९ ॥

विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्योबलिमाकाशउत्क्षिपेत् ॥ दिवाचरेभ्योभूतेभ्योनक्तंचारिभ्यएव च ॥ ९० ॥

(१) मेधातिथिः । चशब्दादेकैवेयमाहुतिः । विश्वेभ्योदेवेभ्यइतिगृहाकाशे गृहानिष्क्रम्य वा । दिवादिव्याचा-
रिभ्योनक्तंनक्तंचारिभ्यः । भूतेभ्यइत्यनुषज्यते । केचिदेतेआहुती सायंप्रातर्विभागेनाहुर्दिवाचारिभ्यइतितदयुक्तम् । साय-
ममत्तहोमंवक्ष्यति । एतेन मत्तप्रतिषेधेन शब्दोद्देश्यता माभून्मानसस्तूद्देशः केननिवार्यते । नच तेन विना होमासिद्धिः ।
एतदेव तु वक्तव्यंरुतोऽयंविभागावगमोगृह्यकारैरेवेतिचेदस्तु ॥ ९० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विश्वेषांदेवानांभूमावेव । दिवाचारिभ्योदिवा नक्तंचारिभ्योनक्तं बलिमाकाशमुत्क्षिपे-
दित्यन्वयः ॥ ९० ॥

(३) कुल्लूकः । विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यइति शब्दादेकेयमाहुतिः । विश्वेभ्योदेवेभ्योनमइति गृहाकाशेबलिंदद्यात् ।
दिवाचरेभ्योभूतेभ्यइति दिवा नक्तंचारिभ्यइति नक्तम् । बह्वचगृह्यदर्शनादियंव्यवस्था ॥ ९० ॥

(४) राघवानन्दः । आकाशे अन्तरिक्षे । क्षिपेदूर्ध्वंक्षिपेत् ॥ ९० ॥

(५) नन्दनः । दिवाचरेभ्योदिवा नक्तंचारिभ्योनक्तम् ॥ ९० ॥

(६) रामचन्द्रः । विश्वेभ्योदेवेभ्यआकाशऊर्ध्वंबलिंक्षिपेत् । तथादिवाचरादीनामूर्ध्वंबलिंक्षिपेत् ॥ ९० ॥

पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये ॥ पितृभ्योबलिशेषंतु सर्वदक्षिणतोहरेत् ॥ ९१ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वयोराहुत्योःशेषोऽयम् । आधारविधानार्थमाद्योऽर्धश्लोकः आवासकस्योपरिय आवा-
सस्तत्पृष्ठवास्तु एकशालायाअप्युपरिभागः । तत्रबलिंकुर्वीत दिवाचारिभ्योनक्तंचारिभ्यश्च । सर्वान् भूतये तादर्थ्येच-
तुर्थी न संप्रदाने होमाद्यश्रुतत्वादलिशब्दस्य पूर्वशेषत्वादाधारापेक्षत्वाच्च पूर्वयोराहुत्योः । नक्चिदपि वैश्वदेवे सर्वा-
न्भूतिर्देवतात्वेन स्पृत्यन्तरेश्रुतातस्मादयमस्यार्थः । सर्वेषामन्नानांकृष्णमैतच्चकर्तव्यमेतस्मिन्बलिहरणे कृते सर्वाण्य-
न्नानि भवन्ति । अवयवप्रसिद्ध्यात्वार्थावगमउपपद्यमाने समुदायार्थकल्पनमयुक्तम् । देवतापेक्षया वा दृष्टः कश्चिदर्थः
कल्पयितव्यः । बलिशेषं शेषग्रहणात्पात्रे समुद्धृत्य ततोहोमः कर्तव्यः । ननुस्थालीस्थादेव बलिदानानि ग्रहीतव्यानि ।
दक्षिणतः दक्षिणस्यांदिशि तदभिमुखइतियावत् । सर्वं यावन्मत्तगृहीतम् ॥ ९१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सर्वानुभूतिरुपश्रुतिस्तस्यै पृष्ठेवास्तुनि गृहवास्तुपृष्ठभागे । सर्वान्भूतय इति क्वचित्पाठ-
स्तत्र तत्पदवाच्यैव देवता ॥ ९१ ॥

(३) कुल्लूकः । गृहस्योपरियदृहंतत्पृष्ठवास्तुबलिंदातुः पृष्ठदेशे भूभागे वा तत्र सर्वात्मभूतये नमइत्येवबलिंदद्यात् ।
उक्तबलिदानावशिष्टं सर्वमन्नं दक्षिणस्यांदिशि दक्षिणामुखः स्वधापितृभ्यइति बलिहरेत् । प्राचीनावीतिना चायंबलिर्देयः
स्वधापितृभ्यइति प्राचीनावीतीशेषं दक्षिणामुखोनिनयेदिति बह्वचगृह्यवचनात् ॥ ९१ ॥

(४) राघवानन्दः । पृष्ठवास्तुनि वायव्यकोणे सएव वास्तोःपृष्ठदेशः । गृहस्योपरि यदुच्चंतस्मिन्निति केचित् ।

(९१) बलिं सर्वात्मभूतये = बलिं सर्वान्भूतये (ज, झ, ढ मेधा०)

सर्वात्मभूतमेत्वाहेति शेषंसर्वमन्नं पितृभ्यः स्वधेति प्राचीनावीती हरेत् दद्यात् । शेषंदक्षिणानिनयेदिति बह्वचगृहोक्तेः । तथैव दिशि दक्षिणस्याम् ॥ ९१ ॥

(५) नन्दनः । पृष्ठवास्तुनि बहिर्वास्त्वित्यर्थः । सर्वात्मभूतये सर्वभूततृप्त्यर्थम् ॥ ९१ ॥

(६) रामचन्द्रः । पृष्ठे गृहपृष्ठभागे । तादर्थ्येचतुर्थी न संपदाने । सर्वान्भूतयेऽप्येवार्थाय बलिं कुर्वीत । बलिशेषं पितृभ्यः सर्वंदक्षिणतो हरेत् कुर्यात् ॥ ९१ ॥

शुनांच पतितानांच श्वपचां पापरोगिणाम् ॥ वायसानां रुमीणांच शनकैर्निर्वपेद्भुवि ॥ ९२ ॥

(१) मेधातिथिः । अन्नं पात्रे समुद्धृत्य । श्वादीनामुपकाराय भुवि निःक्षिपेत् । पापरोगिणः कुष्ठक्षम्यामयाद्यादयः । वयांसि पक्षिणः । शनकैर्भूम्युत्थितरजसायथा न संसृज्यते । भूयहणं पात्रप्रतिषेधाय किं तर्हि श्वपचपतितकुष्ठिभ्योन हस्ते दातव्यम् । उपकारविधानंचेदम् । अतएव षष्ठ्याऽयं श्लोकः । पठ्यते न चतुर्थ्यन्तेन पक्षिणां तादृग्देशे विधातव्यं यत्राविभ्यतः श्वादयः खादन्ति । रुमीणामितितादृशे यत्र तेषां संभवः ॥ ९२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतच्च वैश्वदेवार्थोद्धृतादन्नादन्येन तच्छेषस्य सर्वस्य पितृभ्यः प्रतिपादितत्वात् । तत्काले च श्वादीनामन्नार्थिनामागमनएव शनैर्भुविदानम् । पतिताः पातकिनः प्रायश्चित्तीयभैक्षाचरणकर्तारः । श्वपचामिति चाण्डालादिसंकरजात्युपलक्षणम् ॥ पापरोगिणः कुष्ठ्यादयः । रुमीणां पिपीलिकादीनां शनकैर्यथानोपघातो भवेत् ॥ ९२ ॥

(३) कुड्ढूकः । अन्यदन्नं पात्रे समुद्धृत्य श्वपतितादिभ्यः शनकैर्यथा रजसा न संसृज्यते तथा भुवि दद्यात् । पापरोगीकुष्ठीक्षयरोगीवा ॥ ९२ ॥

(४) राघवानन्दः । अन्नान्तरमादाय पापरोगिणां कुष्ठक्षयादियुक्तानां । निर्वपेत् दद्यात् । ग्रन्थान्तरस्वरसाच्चतुर्दशबलीनामेव नित्यत्वम् ॥ ९२ ॥

(५) नन्दनः । शुनां श्वभ्यः । एवमुत्तरत्रापि । शनकैरशिशिलमित्यर्थः ॥ ९२ ॥

(६) रामचन्द्रः । श्वादीनां शनकैर्भुवि निक्षिपेत् ॥ ९२ ॥

एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति ॥ सगच्छति परं स्थानं तेजोमूर्तिपथर्जुना ॥ ९३ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्योपसंहारः । सर्वग्रहणादन्येषामपि मृगकुक्कुटमार्जारदीनां ग्रामे संभवतामन्नेनोपकर्तव्यम् । अर्चति रनुग्रहे न पूजायां श्वादीनां तदसंभवात् । अवज्ञानप्रतिषेधार्थं चैव मुपात्तं नानुगृह्णातीति पठितम् । परं स्थानं धाम ब्रह्मप्राप्तिः । पथर्जुना न संसारयोनीर्बह्वीर्भ्राम्यति । किंपुनरेतत्फलविधानं नेति ब्रूमः । नित्योऽयं विधिरित्युक्तम् । नित्ये च फलश्रवणमर्थवादः । न ह्यत्र विधिः श्रूयते । गच्छतीति वर्तमानापदेशोऽयम् । तेजोमूर्तिः केवलतजःशरीरः न पाञ्चभौतिकं शरीरमभिसंभव्यते बोधस्वभावएव भवति निष्कल्मषता वानेन लक्ष्यते शुद्धप्रकृतिर्भवतीत्यर्थः । भूतानुकम्पनंचेदम् । असति शास्त्रातिक्रमे पापसंबन्धस्याभावाच्छुद्धता युक्ता । इतरथा पापस्य मलरूपत्वान्न तेजोमूर्तिः । असति च पापे परं धाम श्रेष्ठमदुःखरूपं भावोतीत्येवं युक्तमेव ॥ ९३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । परं स्थानं ब्रह्मलोकं । तेजोमूर्तिर्हिरण्यगर्भदेहः । ऋजुना पथा अचिरादिमार्गेण ॥ ९३ ॥

(३) कुड्ढूकः । एवमुक्तप्रकारेण यः सर्वभूतान्यन्नदानादिना नित्यं पूजयति स परं स्थानं ब्रह्मात्मकं तेजोमूर्तिप्रका-

(९३) तेजोमूर्तिः=तेजोमूर्तिः (मे०)

शमवक्रेण वर्त्मनाचिरादिमार्गेण प्राप्नोति ब्रह्मणि लीयते इत्यर्थः । ज्ञानकर्मभ्यांभोक्षप्राप्तेः । तेजोमूर्तिरिति सविसर्गपाठे प्रकृष्टब्रह्मबोधस्वभावोभूत्वेतिव्याख्या ॥ ९३ ॥

(४) राघवानन्दः । सार्थवादंबलिमुपसंहरति एवमिति । परंभुवर्लोकात् ऋजुना अवक्रेण । उत्तरमार्गेणेति केचित् । तन्न विद्याकर्मसाध्यत्वात्तस्य । किंतुधूममार्गेणात्र संवत्सराप्रवेशादजुत्वंस्तुतिः । अथयद्मे ग्रामे दृष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति । तथाकर्मणा पितृलोके न तत्र दक्षिणायनिनो विद्वांसंस्तपस्विन इत्यादि श्रुतेर्विरोधः । ब्राह्मणइत्युपलक्षणमन्येषाम् । यद्वा ब्राह्मणो ब्रह्मबुभूषुःनित्यकर्मणा शुद्धिद्वारा चातुर्वर्ण्यमोक्षहेतुत्वात् । तथाऋजुनेति भूतार्थवादः ॥ ९३ ॥

(५) नन्दनः । बलिहरणफलमाह एवमिति । ब्राह्मणःद्विजः ॥ ९३ ॥

(६) रामचन्द्रः । एवंयो ब्राह्मणःसर्वभूतानि नित्यमर्चयति पूजयति सतेजोमूर्तिःसन् ऋजुना यथा अर्चिरादिमार्गेण परंस्थानंधाम गच्छति ॥ ९३ ॥

कृत्वैतद्वलिकर्मैवमतिथिपूर्वमाशयेत् ॥ भिक्षांच भिक्षवे दद्याद्विधिवद्ब्रह्मचारिणे ॥ ९४ ॥

(१) मेधातिथिः । अतिथिलक्षणंवक्ष्यति । तमभ्यागतंसन्तंपूर्वमाशयेद्भोजयेत् । सर्वभोक्तृभ्योगृहसंनिहितेभ्यःभिक्षांभिक्षवे च याचमानाय दद्यात् । भिक्षाशब्देन स्वल्पपरिमाणमन्नदानमुच्यते । उक्तं हि प्रसूतिर्भिक्षा अन्तःपुरप्रसिद्धचैतत् । ब्रह्मचारिणे विधिवत् अन्यस्मा अपि पाखण्डादिरूपाय भिक्षवेनविधिवद्दातव्या । ब्रह्मचारिणे तु विधिवत्स्वस्तिवाचनपूर्वभिक्षादानमित्येषविधिः । अथवा भिक्षुः परिव्राड्ब्रह्मचारी प्रथमाश्रमी चशब्दश्चास्थाने वृत्तानुरोधात् ब्रह्मचारिणे चेति पठितव्यम् । एवंतु वानप्रस्थाय न दानंस्यात् । तस्माद्भिक्षइतिभिक्षुस्तस्यैवविशेषणंब्रह्मचारिग्रहणम् । तेन त्रिभ्योऽप्याश्रमिभ्योभिक्षादानंनियमतोऽनुज्ञातंभवति । पाखण्डादीनांतु पतितादिवत्सर्वग्रहणेन भिक्षोपकारोयथाशक्तिविहितएव ॥ ९४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पूर्वमात्मनः । भिक्षवेयतये ॥ ९४ ॥

(३) कुल्लूकः । एवमुक्तप्रकारेणै तद्वलिकर्म कृत्वा गृहभोक्तृभ्यः पूर्वमतिथिभोजयेत् । भिक्षवे परिव्राजे ब्रह्मचारिणे प्रथमाश्रमिणे च विधिवत्स्वस्तिवाच्यभिक्षादानमप्यूर्ध्वमिति गौतमाद्युक्तविधिना भिक्षांदद्यात् । ग्रासप्रमाणा च भिक्षा भवति ग्रासमात्रा भवेद्भिक्षेति शातातपवचनात् । सम्भवेत्वधिकमपि देयम् ॥ ९४ ॥

(४) राघवानन्दः । अधुना बलिमनुवदन् नृयज्ञविधेः कालमाह कृत्वैति । पूर्वस्वभोजनात् ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थोभिक्षुरिति स्मरणात् भिक्षुः सन्यासी तस्मै ब्रह्मचारिणे च विधिवत् ग्रासमात्राभवेद्भिक्षेति शातातपोक्ते स्तत्परिमाणदानस्यावश्यकत्वात् ॥ ९४ ॥

(५) नन्दनः । अथ मनुष्ययज्ञंप्रपञ्चयति कृत्वैतदिति । विधिवत्स्वस्तिवाचयित्वेत्यर्थः ॥ ९४ ॥

यत्पुण्यफलमामोति गांदत्वा विधिवद्गुरोः ॥ तत्पुण्यफलमामोति भिक्षांदत्वा द्विजोगृही ॥ ९५ ॥

(१) मेधातिथिः । नित्यंभक्तदानमर्थिने शक्तितोदातव्यम् । इदंत्वधिकारान्तरम् । यद्गुरवे गांदत्वा फलमामोति तद्भिक्षांदत्वा गोव्रतस्याविशिष्टमिति । स्मृत्यन्तरे सर्वफलता पापप्रमोचनार्थताऽपि गोदानस्य श्रुता यावतामलोपकाराणां

(९५) वद्गुरो=वदगोः (नन्दनः)

महोपकारैः फलसाम्यमुच्यते तेषांलोकवत्परिमाणतः फलविशेषोऽवगन्तव्यः प्राप्यतेतदेवफलम् । नतुचिरकालमावाच्यो-
ह्ययन्त्यायः । पणलभ्यं हि तत्प्राज्ञः क्रीणाति दशभिः पणैरितिसमानफलत्वेमहाप्रयासानर्थक्यंप्राप्नोति । अगुर्यथाविधी-
तिकेचित्पठन्ति । तत्रनजल्पवचनोद्गष्टव्योऽल्पगुरिति पुण्यधर्मस्तस्यफलम् ॥ ९५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पुण्यरूपफलपुण्यफलं ॥ ९५ ॥

(३) कुल्लूकः । गुरवे गां दत्त्वा विधिवत्त्वर्णशृङ्गिकादिविधानेन यत्फलंप्राप्नोति तद्रहस्थोविधिना भिक्षादानात्प्रा-
प्नोति ॥ ९५ ॥

(४) राघवानन्दः । भिक्षादाने अतिशयफलमाह यदिति । द्विजइति त्रैवर्णिकः । तेषां पक्वान्नस्य ग्राह्यत्वात् ॥ ९५ ॥

(५) नन्दनः । अगोः गोहीनाय ॥ ९५ ॥

भिक्षामप्युदपात्रं वा सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥ वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥ ९६ ॥

(१) मेधातिथिः । अथविधिवदित्युक्तंसोऽयंविधिरुच्यते । अप्रकृतस्योदपात्रस्यश्रवणंसर्वदानृणां भिक्षादान-
स्यैवेतिदर्शयितुम् । सत्कृत्य पूजयित्वा । विधिः पूर्वोच्यस्य दानस्य तद्विधिपूर्वकम् । पूर्वशब्दः कारणवचनः । शास्त्रनि-
मित्तकमेतदित्यर्थः । इतिकर्तव्यतावाविधिः सापूर्वकर्तव्या । वेदस्यतत्त्वार्थः पारमार्थिकोनिःसंशयोऽर्थस्तवेति तस्मै ब्रा-
ह्मणायोपपादयेद्दद्यात् । ब्राह्मणायेतिजातिनियमः । विदुषइतिगुणनियमः । तेन यत्किंचिद्वातव्यंतब्राह्मणाय तस्मै च
वेदार्थविदे पूजापूर्वकमित्यर्थः ॥ ९६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वेदस्य तत्त्वार्थोवास्तवार्थोब्रह्म तद्विदुषे ॥ ९६ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रचुरान्नाभावे ग्रासप्रमाणांभिक्षामपिव्यञ्जनादिना सत्कृत्य तदभावे जलपूर्णपात्रमपि फलपुष्पा-
दिना सत्कृत्य तत्त्वतोवेदतदर्थज्ञानवते ब्राह्मणाय स्वस्तिवाच्येत्यादिविधिपूर्वकंदद्यात् ॥ ९६ ॥

(४) राघवानन्दः । विशिष्टपात्रे तस्यावश्यकत्वमाह भिक्षामिति । सत्कृत्य पञ्चग्रासाभावे ग्रासमात्रमपि
व्यञ्जनैः संस्कृत्य देयम् । तदभावे उदकमात्रं वा फलादिभिः सत्कृत्य वेदतत्त्वार्थविदुषे वेदस्य तत्त्वार्थोवाधाप्रतियोगि
ब्रह्म तद्विदे । तदुक्तम् । एकोपि ब्रह्मविद्भुङ्क्ते जगत्तर्पयतेखिलम् । तस्माद्ब्रह्मविदे देयंयदस्ति वसु किंचनेति ॥ ९६ ॥

(५) नन्दनः । अनुकल्पमाह भिक्षामिति ॥ ९६ ॥

(६) रामचन्द्रः । उपपादयेत् अयाचितंदद्यात् ॥ ९६ ॥

नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम् ॥ भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहाद्वृत्तानि दानृभिः ॥ ९७ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वेण यादृशे देयंतत्पात्रमुक्तम् । अनेनापात्रे ददतः प्रतिषेधः । नश्यन्ति निष्फलानि भव-
न्ति हव्यानि । देवतोद्देशेन यानि ब्राह्मणभोजनादीनि क्रियन्ते । पिण्यकर्माद्भूतान्यन्यानि कव्यानि श्राद्धानि भस्मभूतेषु-
भस्मतांप्राप्ताभस्मभूता । उपमाने वा भूतशब्दः भस्मानीव यथाकाष्ठभूतइति । किंपुनर्भस्मनासाम्यंयथा तन्नकचिदुपयु-
ज्यतेऽवकरूपमपोहमेवमीदृशोब्राह्मणः क्रियाभ्योऽपोहितव्यइति तात्पर्यार्थः । नराणामविजानतानश्यन्तीतिसंदन्धः ।
मोहाद्वृत्तानि दानृभिः । अविजानतांमोहादितिचानुवादः । यच्छास्त्रेणापोहितंतन्मोहादेव क्रियते ॥ ९७ ॥

(९७) भस्मीभूते=भस्मभूते (मे०)

(२) सर्वज्ञनारायणः । हव्यं देवार्थमन्नं कव्यं पित्रर्थं । अविजानतां पात्रगुणदोषौ । भस्मभूतेषु प्रकाशगुणशक्ति-
शून्येषु । मोहात् भ्रमात् ॥ ९७ ॥

(३) कुल्लूकः । मोहाद्यत्पात्रानभिज्ञतया देवपित्रुद्देशेनान्नानि वेदाध्ययनतदर्थज्ञानानुष्ठानतेजःशून्यतया भस्मरूपे-
ष्विव पात्रेषु दत्तानि दातृभिर्निष्फलानि भवन्ति ॥ ९७ ॥

(४) राघवानन्दः । विद्वत्प्रशंसार्थमन्यनिन्दामाह नश्यन्तीति । फलमदत्त्वा नश्यन्ति । अविजानतां पात्रमिति
शेषः । भस्मीभूतेषु वेदतदर्थज्ञानशून्यतया तादृशफलाजनकत्वानिन्दामात्रम् । अतादृशेष्वपिदेयम् अन्यथा अन्नस्य क्षु-
धितपात्रमिति वचनविरोधः ॥ ९७ ॥

(५) नन्दनः । अविजानतांदातृणांहव्यकव्यानि नश्यन्ति । भस्मीभूतेषु निस्तैजस्केषु ॥ ९७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अविजानतांमूर्खाणांनराणां मोहात् दातृभिर्दानशीलैर्दत्तानि भस्मीभूतेषु विप्रेषु वेदाध्ययनत-
दर्थज्ञानरहितेषु भस्मतुल्येषु विप्रेषु दत्तानि हव्यकव्यानि विनश्यन्ति ॥ ९७ ॥

विद्यातपःसमृद्धेषु हुतंविप्रमुखाग्निषु ॥ निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्बिषात् ॥ ९८ ॥

[अनर्हते यद्वदाति न ददाति यदर्हते ॥ अर्हानर्हापरिज्ञानाद्धनी धर्मान्निहीयते * ॥ १ ॥

काले न्यायागतंपात्रे विधिवत्पतिपादितम् ॥ ददाति परमंसौख्यमिहलोके परत्र च ॥ २ ॥

प्रतिग्रहेण शुद्धेन शस्त्रेण क्रयविक्रयात् ॥ यथाक्रमं द्विजातीनांधनंन्यायादुपागतम् ॥ ३ ॥ ५५] .

(१) मेधातिथिः । कीदृशाः पुनरभस्मभूतास्तानाह । विद्यातपोभ्यांसमृद्धास्तद्यतिरिक्ता भस्मभूताः । समृद्धिरति-
शयिनी संपत्तिः । बहुविद्यया महता च तपसा युक्ताएवमुच्यन्ते । समुदायसंबन्धिनी अपि विद्यातपसी संबन्धिसंबन्धा-
दवयवभूतमुखैः सामानाधिकरण्यप्रतिपद्येते । विप्राणामुखान्यग्रयइत्यत्र व्याघ्रादेराकृतिगणत्वात्समासः । यथाग्नौहुतंकल-
वद्भस्मनिहुतंनिष्फलमेवमीदृशंभोजनंब्राह्मणमुखनिक्षिप्तंहुतमिति भोजनमेव स्तुत्योच्यते । यागहोमादि महाफलतयाप्रसि-
द्धम् । अतः प्रख्याततमगुणेनाप्रख्यातमुपमीयते । निस्तारयतिदुर्गात् दुर्गव्याधिशत्रुराजपीडादि ततोनिस्तारयति रक्षति
न तेन संमृश्यते । महतश्च पापात्परलोकेऽपि नरकादिगतेस्त्रायते । न केवलमाभ्युदयिककर्मैवपात्रविषयम् । प्रायश्चित्ता-
र्धमपितदुणायैव दातव्यम् ॥ ९८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विप्रेषु मुखानिविप्रमुख्यानितद्रूपेष्वग्निषु मुखशब्दोऽयंमुख्यार्थेऽपि पठ्यते । वच्चार्थत्वंतुतपः
समृद्धेर्वित्ययोगाद्धेयं । दुर्गात् इहलौकिकदुःखहेतोःपापात् । महतःकिल्बिषात् पारलौकिकदुःखहेतोः ॥ ९८ ॥

(३) कुल्लूकः । विद्यातपस्तेजःसंपन्नविप्राणामुखानि होमाधिकरणत्वेनाग्नितया निरूपितानि हव्यकव्यादिप्र-
क्षिप्तमिहलोके दुस्तराद्याधिशत्रुराजपीडादिभयान्महतश्च पापादमुत्र नरकात्रायते ॥ ९८ ॥

(४) राघवानन्दः । तस्माद्विद्वत्सुदेयमिति निगमयति विवेति विप्राणामुखान्येवाहवनीयाद्यग्रयः । तेषु विप्रमु-
खाग्निषु परंपरया विद्यादियुक्तेषु हुतंतदुद्दिश्य दत्तमन्नादि तारयतीत्यन्वयः । दुर्गादापद्रवात् महतः । अन्नादेर्भ्रूणहा-
मार्ष्टीति वक्ष्यमाणत्वात् ॥ ९८ ॥

(६) रामचन्द्रः । विप्रस्य मुखमेवाग्निस्तेषु विप्रमुखाग्निषु । कीदृशेषु मुखेषु विद्यातपोभिःसमृद्धेषु ॥ ९८ ॥

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ॥ अन्नंचैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥ ९९ ॥

(१) मेधातिथिः । संप्राप्ताय स्वयमुपस्थिताय नतुनिमत्त्रिताय । नहिनिमत्त्रितोतिथिर्भवति । प्राप्तिदेशंच वक्ष्य-
ति । भार्यायत्राग्रयोऽपिवेति । आसनोदके दद्यात् पादधावनोपयोगिप्रथममुदकंततआसनंभोजनंच । यथा शक्तिसंस्कृत्ये-
त्यन्विशेषगमः । सविशेषमन्नंसंस्कृत्य दद्याद्भोजयेत् । विधिपूर्वकं विधिः पूर्वोयस्मिन्दाने तदेव मुच्यते । विधिः शास्त्रत-
त्पूर्वनिमित्तंप्रमाणमित्यर्थः ॥ ९९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उदकं पादप्रक्षालनार्थं । विधिपूर्वकं आपस्तम्बोक्तातिथ्यधर्मेण । तत्र ह्यग्निरिव ज्वल-
न्तिथिरभ्यागच्छतीत्यादिना ब्रीहियवान्यतरनिर्वापपाकादिरूपमातिथ्यमुक्तं ॥ ९९ ॥

(३) कुड्मुकः । स्वयमागतायत्वतिथये आसनपादप्रक्षालनाद्युदकंयथासम्भवंव्यञ्जनादिभिःसत्कृतंचान्मासनावस-
थावित्यादिवक्ष्यमाणविधिपूर्वकंदद्यात् ॥ ९९ ॥

(४) राघवानन्दः । आतिथ्यस्य नित्यत्वमनुवदंस्तदकरणे प्रत्यवायमाह संप्राप्तायेति । संप्राप्ताय गृहमाग-
ताय ॥ ९९ ॥

(५) नन्दनः । अतिथिपूजाप्रकारमाह संप्राप्तायेति ॥ ९९ ॥

शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुद्धतः ॥ सर्वसुकृतमादत्ते ब्राह्मणो नर्चितो वसन् ॥ १०० ॥

(१) मेधातिथिः । अत्यन्तदरिद्रस्याप्यतिथिपूजाव्यतिक्रमो न युक्तः । शिलान्केदारलवनशेषानुञ्छतउच्चिन्वतः-
एतच्चवृत्तिसंकोचोपलक्षणार्थम् । पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः अनेनशास्त्रानुष्ठानसंपन्नोऽत्यन्तदरिद्रश्च यद्यतिथिमागतं पूजयत्य-
न्नदानादिना तदातदनुष्ठानंसंवृत्तिसंयमो निष्फलतामेति । ततश्चसर्वसुकृतंपुण्यमादत्तेअतिथिर्गृह्णाति निष्फलीकुरुते । अन-
र्चितो वसन् तस्मादर्चयेदिति विध्यर्थः । वसन्नितिलिङ्गात्सायमागतेविधिरयम् । पञ्चाग्रयस्त्रेता गृह्यःसम्यक् । अथ कोऽयं-
सम्योनामाग्निः । एवंहस्माद्गुः ग्रामान्तरे प्रोषितस्य यत्र लौकिकपाकः क्रियते महासाधनस्य बहुवेश्मसु योगृहागारादेव
शीतापनोदार्थंविहिष्यते ससम्यः । होमस्तर्हि तत्र कः यावता तस्मिन्गृहानोतिनियमः । अस्मादेव वचनात् वैश्वदेवहोमः
प्रोषितस्य लौकिकेऽप्यस्तीति मन्यन्ते । ब्रीहियवैः शुष्कधान्यैर्यत्रलेलिहानं सुसमिद्धंपश्येत्तत्राभिजुहुयादितिस्मृतिवचन-
मुदाहरन्ति । इहभवन्तस्त्वाद्गुः उपनिषत्सु पञ्चाग्निविद्योक्ता तत्र तेषां कल्पिताग्निरूपाणि तद्रूपेण यदुपासनंयच्चवेदनंसहोम-
इति कल्प्यते सा हि सर्वश्रौतेभ्यः कर्मभ्योऽतिशयफलेष्यते एवंहि तत्राग्न्यायते स्तेनोहिरण्यस्य सुरापिबन्धगुरोस्तल्पमाव-
सनब्रह्महाच तेषतन्ति चत्वारः संसर्गाश्च । पञ्चानामपि यत्फलं तदतिथ्यावाराधितेऽविमुखीकुरुते नश्यतीतिप्रशंसातिशयेनाव-
श्यकर्तव्यतां दर्शयति । यद्यपि प्रातराशेप्यतिथिभोजननियमः सायंतु तद्यतिक्रमे प्रायश्चित्ताधिक्यम् । यथाशक्तीतिपूर्वश्लो-
केऽन्विषयं येमन्यन्ते तएवमाहुर्नयथाशक्त्यतिथयःपूजयितव्या एकोद्भौ बहव इति ॥ १०० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शिलान्सस्यमञ्जरीरुञ्छत आरुण्यगृह्णत इति हि वृत्तिसंकोचेन तपश्चर्योक्ता । अति-
थित्वेनागतोऽनर्चितो वसन्नन्यत्रापि ॥ १०० ॥

(३) कुड्मूकः । लूनकेदारशेषधान्यानि शिलस्तानपि उच्चिन्वतोवृत्तिसंयमान्वितस्य त्रेतावसथ्यःसम्यश्चेतिपञ्चाग्र-
यःसम्योनामाग्निःशीतापनोदाद्यर्थयस्तत्र प्रणीयते पञ्चस्वप्निषु होमंकुर्वाणस्य सर्ववृत्तिसंकोचोपञ्चाग्निहोमार्जितपुण्यमन-
र्चितोऽतिथिर्वसंगृह्णाति । अनया च निन्दयातिथ्यनर्चनस्यनित्यतागम्यते ॥ १०० ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैवार्थवादमाह शिलामिति । केदारे अवशिष्टधान्यं शिला तान्युच्छतः आधानं कुर्वतः ।
सम्यावसथ्याहवनीयगार्हपत्यदक्षिणाग्निसंज्ञकान् पञ्चाग्नीन् जुह्वतस्तस्यसुकृतंयदुत्पन्नं तत्सर्वमादत्ते आत्मसात्करोति
अनर्चितो वक्ष्यमाणतृणाद्यैरपि ॥ १०० ॥

(५) नन्दनः । अतिथिपूजामकुर्वतोनिन्दामाह शिलानपीति । ब्रीहिकणिशानि शिलास्तानुच्छत उपाददतः शि-
लेन जीवतइत्यर्थः । अनेनैवं ज्ञायते शिलवृत्तित्वंपञ्चाग्निवंचप्रशस्ततरमिति ॥ १०० ॥

(६) रामचन्द्रः । शिलांशिलावृत्ति उच्छतःकुर्वतः । नित्यंपञ्चाग्नीन्जुह्वतःबलिवैश्वदेवादीन्कुर्वतः एतादृशस्य गृहे-
अनर्चितःविप्रःरात्रौ वसन्सर्वसुकृतं आदत्ते स्वीकुर्यात् ॥ १०० ॥

तृणानि भूमिरुदकंवाक्कतुर्थी च सूत्रता ॥ एतान्यपि सतांगेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ १०१ ॥

(१) मेधातिथिः । यदि दारिद्र्यात्सायमन्नदानं घटते तदा नैवमन्तव्यमन्नदानमतिथेर्भोजनंतच्चमेनास्तीतिकिमनेन
मदृहेप्रविष्टेनेति । यतोऽशक्तस्यतृणादिदानेनाप्यतिथिपूजाविधिः समुच्यते । अथवानायंविधिर्भोजनएवपर्यवस्यति ।
किंतिर्हि निवस्यतः शयनावि दातव्यम् । तृणग्रहणंस्मृतरोपलक्षणार्थम् । भूमिरासनशयनविहारस्थानम् । सूत्रतवाक्-
प्रियहितवचनंकथाप्रस्तावादि वा । एतान्यप्यन्नाभावे सतामागतस्यातिथेर्नोच्छिद्यन्ते किंतु दीयन्ते सर्वकालम् ॥ १०१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तृणानि शयनार्थानि भूमिस्तदास्तरणार्था । सूत्रता प्रिया वाक् । नोच्छिद्यन्ते
ननदीयन्ते ॥ १०१ ॥

(३) कुड्मूकः । अन्नासंभवे पुनस्तृणविश्रामभूमिपादप्रक्षालनाद्यर्थजलप्रियवचनान्यपि धार्मिकगृहेष्वतिथ्यर्थन
कदाचिदुच्छिद्यन्ते । अवश्यदेयानीति विधीयते । तृणग्रहणंशयनीयोपलक्षणार्थम् ॥ १०१ ॥

(४) राघवानन्दः । अन्नदानाशक्तौ प्रतिनिधितया प्रकारान्तरमाह तृणानीति । सूत्रेतिविशेषणादन्नसंपत्तौ मिथ्या
विनयोऽन कार्यः । नोच्छिद्यन्ते प्रायशोगृहे नविनाभावीनीत्यर्थः ॥ १०१ ॥

(५) नन्दनः । मुख्यकल्पाभावेऽतिथिरनुकल्पेनाप्यर्चनीयइत्यभिप्रायेणाह तृणानीति । तृणान्यासनाभावे भू-
मिः शयनाभावे । उदकंपादाभ्यञ्जनाभावे । सूत्रता कल्याणी वागन्नाभावे ॥ १०१ ॥

एकरात्रंतु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः ॥ अनित्यं हि स्थितोयस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥ १०२ ॥

(१) मेधातिथिः । नातिप्रसिद्धोलोकेतिथिशब्दार्थइति तदर्थलक्षणमाह । एकरात्रंवसतःपरगृहेऽतिथित्वम् ।
तच्च ब्राह्मणस्य नजात्यन्तरेद्वितीयेन्हि पूजाविधौ कामचारोऽभ्युदयविशेषार्थिनस्तदधिकारोननैयमिकः । तथाचापस्तम्भः
एकरात्रिवासयेत्पार्थिवान्लोकानभिजयतिद्वितीयामान्तरिक्षांस्वृतीयांदिव्यानितिफलकामस्य द्वितीयादिरात्रिष्वधिकारंदर्श-
यति । अत्रैव निर्वचनंदाढ्यार्थमाह । अनित्यं हि स्थितिःतिष्ठतेरतिपूर्वस्यायंशब्दः । औणादिकैःकथंचिद्युत्पत्तिः ॥ १०२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तस्मात् द्वितीयदिनवासे तस्य नातिथित्वमित्यर्थः । अनित्यस्थितइत्यत्रार्थेऽतिथि-
पदनिपात्यतइत्यर्थः ॥ १०२ ॥

(३) कुङ्कुमः । अप्रसिद्धत्वादतिथिलक्षणमाह एकेति । एकरात्रमेव परगृहे निवसन्नब्राह्मणोतिथिर्भवति । अनि-
त्यावस्थानान्नविद्यते द्वितीयातिथिरस्येति अतिथिरुच्यते ॥ १०२ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तातिथेरलक्षणमाह एकरात्रमिति । एकरात्रमभिव्याप्य वसन्नब्राह्मणएवातिथिः वासाय-
न विद्यते द्वितीया तिथिर्यस्येति सोऽतिथिः । सर्वत्र ब्राह्मणपदग्रहणात् क्षत्रियादयो नातिथयः ॥ १०२ ॥

(५) नन्दनः । कालतोऽतिथिनियममाह एकेति । एकरात्रवसन्नपि ब्राह्मणश्चेदतिथिर्न क्षत्रियादिः । अत्रहेतु-
मतिथिशब्दनिर्वचनेनाह । अनित्यशब्दादकारमिकारंतकारंचादायस्थितशब्दात्कारमिकारंचादायसन्निवेश्यातिथिरित्यु-
च्यते ॥ १०२ ॥

नैकग्रामीणमतिथिविप्रंसांगतिकंतथा ॥ उपस्थितंगृहे विद्याद्वार्या यत्राग्नयोऽपि वा ॥ १०३ ॥

(१) मेधातिथिः । एकस्मिन्ग्रामे योवसतिवैश्वदेवकालोपस्थितोनातिथिः सांगतिकःसहाध्यायी । सख्युरन्यस्त-
स्यद्युत्तरत्र विधिर्भविष्यति वैश्यशूद्रौसखाचेति । योऽपि सर्वेण संगच्छते विचित्रपरिहासकथादिभिः सांगतिकशब्देनयुक्तः
प्रतिषेद्धं प्रागदृष्टपूर्वोऽपि नच गृहस्थस्य प्रोषितस्यास्य सर्वलक्षणलक्षितोऽप्यतिथिः । किंताहिउपस्थितंगृहे विद्यात् यत्त-
स्यानित्यस्थानम् । यदुच्यते प्रोषितस्यापि भार्यायत्राग्नयश्च । तत्रासंनिहितस्यापि गृहस्थस्य भवत्येवातिथिः । अतो-
यथासंविधायाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिषु प्रवसति तद्वदतिथयेऽपिसंविधातव्यम् । वाशब्दात्त्वेवंप्रतीयते भार्याग्निभिःसह
यदा प्रवासस्तदाभवत्येव ग्रामान्तरस्थस्याप्यतिथिः । असंनिहितस्यापि गृहे भार्याग्निषु सत्सु ततश्च यदि भार्याया सह
प्रवसेदग्नयश्च गृहएवभवेयुस्तदा नातिथिपूजानियमइति । वाशब्दउपस्थितंगृहेविद्यादित्येतदपेक्षया न परस्परापेक्षया-
भार्यामाग्नीनाम् ॥ १०३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एकग्रामीणमेकग्रामे चिरनिवासिनम् । सांगतिकं संगतिः संबन्धः तत्पुरस्कारेणागत-
म् । तथा यत्र यस्य प्रवासिनोपि भार्या अग्नयोवा सह गच्छन्ति तदन्यतमं स्वे गृहउपस्थितमागतमप्यतिथिं न विद्या
न्नातिथिधर्मेणार्चयेत् । अग्नयोपिवेति वचनादभार्यस्याप्यग्नयः संभवन्तीति गम्यते । श्रूयते च श्रुतावपत्नीकोप्यग्निहो-
त्रमाहरेदिति ॥ १०३ ॥

(३) कुङ्कुमः । एकग्रामनिवासिनंलोकेषु विचित्रपरिहासकथादिभिःसंगत्या वृत्त्यर्थिनंभार्याग्नियुक्तोगृहे वैश्वदेव-
कालोपस्थितमपि नातिथिविद्यात् । एतेन भार्याग्निरहितस्य प्रवासिनोनातिथित्वमिति बोधितम् ॥ १०३ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव व्यतिरेकमाह नैकेति । विप्रमप्येकग्रामवासिनं । सांगतिकं विचित्रविद्येतिहा-
सकथाभिः संगत्या प्रत्यर्थिनं । भार्याग्नियुक्ते गृहेउपस्थितमतिथिविद्यात् । अतएव भार्याग्निरहितस्य नातिथ्यक्ता-
यंतावश्यकेति गतिस्थानकल्पोवा तेन भार्यायाःसत्वमावश्यकम् ॥ १०३ ॥

(५) नन्दनः । देशतोऽतिथिनियममाह नैकेति । अतिथिलक्षणयुक्तमप्येकग्रामवासिनंतथासांगतिकंसंगतेन चरन्तं क्वचिदतिथित्वेन संगतपूर्वमिति यावत्तनातिथिविद्यात् । यत्र स्वकीयेपरकीयेवा गृहे भार्याग्रयोऽपि सन्ति तत्रोपस्थितमतिथिविद्यात् नान्यविप्रोषिताग्रिभार्यस्याभ्याशमागतम् ॥ १०३ ॥

(६) रामचन्द्रः । एकग्रामीणं विप्रंगृह उपस्थितं वैश्वदेवसमये प्राप्तमतिथिं न विद्यात्तथा सांगतिकंसहाभ्यायी चित्रकथाभिः सह संगच्छते तमतिथिं न विद्यात् । गृहमागतमपीत्यर्थः यत्र भार्या वाऽग्रयोऽपि वा वर्तन्ते तत्रागतम् ॥ १०३ ॥

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः ॥ तेन ते प्रेत्य पशुतांब्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥ १०४ ॥

[परपाकान्पुष्टस्य सततंगृहमेधिनः ॥ दत्तमिष्टंतपोऽधीतं यस्यान्नंतस्य तद्भवेत् ॥ १ ॥] ॥ ५ ॥

(१) मेधातिथिः । उपासनंतदभ्यासः । यो ब्राह्मणोऽनयैव बुद्ध्या तत्रतन्नोपतिष्ठेत् यथातिथिरवश्यं भोजनं भेत तस्येयं निन्दा । यस्तच्छूलः परस्थसंबन्धिनं पाकमन्नमुपास्ते न तु कदाचित्तेन कर्मणा प्रेत्य पशुतांबलीवर्दादिजातिं ब्रजति प्राप्नोति । अन्नादिदायिनस्तद्गृहे दन्तितांगर्दभतामश्वतांवाप्राप्नोति । गृहस्थस्येषदोषोत्पन्नस्थालीपाकस्य ॥ १०४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उपासते आमन्त्रणं विनाऽतिथिधर्मेण ॥ १०४ ॥

(३) कुल्लूकः । अतिथिप्रकरणादातिथ्यलोभेन ये गृहस्थाः ग्रामान्तराणि गत्वा परान्नं सेवन्ते ते निषिद्धपरान्नदोषानभिज्ञाः । तेन परान्नभोजनेन जन्मान्तरे अन्नादिदायिनां पशुतांब्रजन्ति । तस्मादिदं कुर्यादिति निषेधः कल्प्यते ॥ १०४ ॥

(४) राघवानन्दः । गृहस्थो भूत्वा आतिथ्यलोभेनातिथिर्न स्यादित्याह उपासतइति । उपासनं तात्पर्येण प्रवृत्तिः । अबुद्धयः पशुत्वप्राप्तिमविद्वांसः । दातारः श्लाघ्या इत्याह पशुतामित्यादि । तेनातिथ्यलोभमात्रेण ॥ १०४ ॥

(५) नन्दनः । इदानीमतिथिप्रसङ्गाद्गृहस्थानामतिथिरूपेण परपाकभोजनप्रतिषेधार्थं निन्दार्थवादमाह उपासतइति । उपासते परपाकं परेषांपक्वानाम् । तेन परपाकोपासनेन । तस्मात्परपाकभोजनप्रसक्तिर्न कार्येति ॥ १०४ ॥

(६) रामचन्द्रः । उपासते तेन कारणेन अन्नाद्यदातृणां ते प्रेत्य पशुतांगर्दभतांब्रजन्ति ॥ १०४ ॥

[परपाकेति । इष्टं यागादि दत्तदानं अधीतं वेदाध्ययनं । एतज्जन्यपुण्यं यस्यान्नं भक्षयति]

अप्रणोद्योतिथिः सायं सूर्योदोगृहमेधिना ॥ काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नंगृहे वसेत् ॥ १०५ ॥

(१) मेधातिथिः । सायंकालोऽस्तमयादिप्रदोषांतस्तस्यावेलायामतिथिरागतोऽप्रणोद्यः अप्रत्याख्येयो भोजनशयनासनादिभिः प्रतिपूज्यः । केन गृहमेधिना मेधोयज्ञः गृहमेधोमहायज्ञानामियमाख्या तत्राधिकारी गृहमेधी गृहस्थ इति यावत् । सूर्योदइत्यर्थवादः । सूर्येणोदः प्रापितः दैवोपनीतत्वादवश्यं पूजार्हकाले द्वितीये वैश्वदेवकाले वा सायं भोजने निवृत्तेऽपि नास्य गृहस्थस्यानश्नंगृहे वसेत् । यदि शेषमस्तितन्निवेदनीयं न चेद्दि पाकः कर्तव्यः ॥ १०५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अप्रणोद्योऽनिराकार्यः । सूर्येणोदोद्वेहमधिष्ठाय सूर्यश्चरति ससूर्योदः । स च सायं य आगच्छति स भवति । अतएव श्रुतविषहवै स एकातिथिरित्येकशब्देन सूर्यपराभ्युदयैकातिथित्वं तस्योक्त्वा तस्मादाहुर्न

सायमतिथिमपनुद्येत्युपसंहृतं । तत्काले अतिथिबाहुल्याभावादेकातिथित्वम् । गृहधर्मएव मेधोयज्ञोऽस्येति गृहमेधी गृहस्थः । काले वैश्वदेवान्ते ॥ १०५ ॥

(३) कुड्डूकः । सूर्योऽस्तमिते गृहस्थेनातिथिर्न प्रत्याख्येयः । सूर्योऽस्तमितः प्रापितोरात्रौ त्वगृहगमनाशक्तेः । द्वितीयवैश्वदेवकाले प्राप्तोऽकाले वा सायंभोजने निवृत्तेऽपि नास्य गृहेऽतिथिरनश्वसेदवश्यमस्मै भोजनं देयम् । प्रत्याख्याने प्रायश्चित्तगौरवार्थोऽयमारम्भः । अतएव विष्णुपुराणे दिवा तिथौ तु विमुखे गते यत्पातकं नृप । तदेवाष्टगुणं प्रोक्तं सूर्योऽदे विमुखे गते । गोविन्दराजस्तुप्रतिषिद्धातिथिप्रतिप्रसवार्थत्वमस्याह ॥ १०५ ॥

(४) राघवानन्दः । अतिथिमुपवदंस्तस्यापरिहार्यकालमाह अप्रणोद्यइति । अप्रणोद्यः अप्रत्याख्येयः । यतः सूर्योदः । अस्तंगच्छता सूर्येण प्रापितः । अतोविप्रकृष्टस्वगृहे गमनाशक्तो नानदन्वसेदित्याह कालेति । अकाले सायंभोजननिवृत्तौ । कालइवाकालेपि नानदन्वसेदिति वा ॥ १०५ ॥

(५) नन्दनः । सायन्तनातिथिर्विशेषेण नोपेक्षणीयइत्याह अप्रणोद्यइति । सूर्योदः सूर्येण प्रापितोऽस्तंगच्छतासूर्येण देशान्तरगमनाशक्तिमापाद्य प्रापितइत्यर्थः । गृहमेधाः पञ्चमहायज्ञास्तद्वाङ्गृहमेधी तेन । अप्रणोद्योऽप्रेषणीयः । काले वैश्वदेवानन्तरकाले । अकाले । वैश्वदेवात्पूर्वस्मिन्काले त्वभोजनादुत्तरस्मिन्काले ॥ १०५ ॥

(६) रामचन्द्रः । कीदृशोतिथिः । सूर्योदः देहमधिष्ठाय सूर्यश्चरति ससूर्योदः । सूर्येणानीतइत्यर्थः । गृहमेधिना गृहस्थेन गृहमेधोमहायज्ञः तेन गृहस्थेन कालेद्वितीयवैश्वदेवकाले प्राप्तः । अकाले वा सायंभोजनाभावे प्राप्तः । अनश्नन्सन्तस्य गृहस्थस्य गृहे न वसेत् ॥ १०५ ॥

न वै स्वयंतदश्नीयादतिथियन् भोजयेत् ॥ धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यवातिथिपूजनम् ॥ १०६ ॥

(१) मेधातिथिः । सूपघृतदधिशर्करादियदुत्कृष्टमन्नं तत्स्वयं न श्रीयदातिथौ संनिहिते यावत्तस्मै न दत्तम् । यत्तु यवागूरसकटुकादितदनिच्छते न देयम् । तादृशमदत्तमश्रुतो न दोषः । सर्वथा न । संस्कृतमन्नं स्वयंभोक्तव्यं कदन्नमतिथिर्न भोजनीयइत्येवंपरमेतत् । धनाय हितं धनस्य निमित्तंचेति धन्यम् । एवं यशस्यादयः शब्दाः । अर्थवादोऽयं नित्यत्वादतिथिभोजनस्य सति संनिधानेऽतिथेः पूर्वशेषत्वाच्च । स्तुतिव्हेनान्वये संभवति नाधिकरणान्तरकल्पना युक्ता ॥ १०६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धन्यं धनहेतुः ॥ १०६ ॥

(३) कुड्डूकः । यद्वृत्तदध्याद्युत्कृष्टमतिथिर्न प्रत्याचष्टेतस्माददत्त्वा न त्वयंभोक्तव्यम् । धनाय हितं धनस्य निमित्तं वा धन्यम् । एवं यशस्यादयोऽपि शब्दाः । अतिथिभोजनफलकश्च न मिदम् । न चानावश्यकतापत्तिः । सर्वसुकृतमादत्तइत्यादिदोषश्रवणात् ॥ १०६ ॥

(४) राघवानन्दः । आतिथ्यस्य फलवादमुपवदंस्तत्कर्तुर्नियमं सार्थवादमाह नेति । तन्मधुरादि । धन्यं धनाय हितं । एवमुत्तरत्र धन्यादि चतुष्टयस्य महाफलत्वेनाव्याजेनातिथ्यकार्यमिति भावः ॥ १०६ ॥

(५) नन्दनः । नियमान्तरमाह वाइति । अतिथिपूजनं स्वभोज्येन कृतम् ॥ १०६ ॥

(१०६) वा=चा (अ)

पूजनम्=भोजनम् (ल, ब, न, म, र)

(६) रामचन्द्रः । तदैश्वर्यं स्वयंश्रीयात् । ततः किंयदन्नमतिथिनं भोजयेत् । आतिथिभोजनस्य फलमाह । अतिथिभोजनं यशस्यं आयुष्यं त्वर्ग्यं भवति ॥ १०६ ॥

आसनावसथौ शय्यामनुब्रज्यामुपासनम् ॥ उत्तमेषूत्तमंकुर्याद्धीने हीनं समं समम् ॥ १०७ ॥

(१) मेधातिथिः । बहुष्वतिथिषु युगपदुपस्थितेष्वितरेतरंसमहीनज्यायस्त्वासनादिप्रकल्पनंगुणापेक्षेन विशेषेण । आसनंबृहत्यादि । आवसथं विश्रामभूमिः । शय्याखट्वादि । अनुब्रज्या गच्छतोऽनुगमनम् । उपासनंतत्समीपे कथाप्रस्तावेन संनिधानम् एतदुत्तमेषूत्तमम् । दूरमनुब्रज्यत उत्तमः नातिदूरं मध्यमः कतिचिदित्पदानि हीनः ॥ १०७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उपासनं तत्समीपउपवेशनम् । हीनेति मन्दगुणे । समे नात्युत्कृष्टापकृष्टगुणे समं नात्युत्कृष्टापकृष्टम् ॥ १०७ ॥

(३) कुड्मूकः । आसनं पीठं चर्म वा । आवसथो विश्रामस्थानम् । शय्या खट्वादि । अनुब्रज्या गच्छतोऽनुगमनम् । उपासना परिचर्या । एतत्सर्वंबहुष्वतिथिषु युगपदुपस्थितेष्वितरेतरापेक्षयोत्कृष्टापकृष्टमध्यमंकुर्यात् । न पुनः सर्वेषां समम् ॥ १०७ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव प्रकारभेदमाह आसनेति । आवसथोत्र गृहं । आतिथ्यस्य ब्राह्मणेभ्येव नियमनात् गुणादिनोत्तमादि नियमः ॥ १०७ ॥

(५) नन्दनः । अतिथीनां तारतम्येन पूजातारतम्यंकर्तव्यमित्याह आसनेति । उत्तमेऽतिथीवुत्तमहीनत्वापेक्षया ॥ १०७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अतिथिसेवामाह आसनेति । आसनावसथौ आसनंच आवसथंगृहंच शय्यांच पुनरनुब्रजनं । एतदतिथेः उपासनंपूजनंकुर्यात् । हीनेहीनंकुर्यात् । समे समंकुर्यात् ॥ १०७ ॥

वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत् ॥ तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत् ॥ १०८ ॥

(१) मेधातिथिः । सर्वार्थमन्नं वैश्वदेवशब्देनोच्यते । तस्मिन्निष्पन्ने भुक्तवत्सु सर्वेषु निःशेषितेऽन्ने यद्यन्योऽतिथिरागच्छेत्तस्मै दद्यात्पुनः पक्वान्नं न तु तस्मात्पाकबलिं हरेत् । अग्रावपि होमोनेष्यते न केवलं बलिहरणम् यतः सायंप्रातःपाकहोमो बलिहरणम् । न चान्तरालिके । तथाच वक्ष्यति सायंत्यन्नस्येति । एवंच यद्यप्यसकृदह्नः पक्वेत्तथापि न प्रतिपाकं वैश्वदेवमावर्तेत् । यथाशक्ति संस्कारविशेषेणेतरथा वा ॥ १०८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वैश्वदेवे होममात्रे । अन्योद्वितीयोपि । अन्नंबल्यर्थोपकृष्टमपि न बलिं हरेदन्नान्तराभावे एतेन मनुष्ययज्ञस्य भूतयज्ञापेक्षयाऽभ्यर्हिततोक्ता ॥ १०८ ॥

(३) कुड्मूकः । अन्यशब्दनिर्देशादतिथिभोजनपर्यन्तं वैश्वदेवे कृते यद्यपरो तिथिरागच्छेत्तदा तदर्थपुनः पाकं कृत्वा तस्यान्नं दद्यात् । बलिहरणंततो नात्र कुर्यात् । बलिनिषेधादन्नसंस्काराभावो वैश्वदेवस्यावगम्यते । अन्नसंस्कारपक्षे कथमसंस्कृतान्नं भोजनमनुजानीयात् ॥ १०८ ॥

(४) राघवानन्दः । अकालइत्युक्तं तत्र कथं तन्नोपवासस्तत्राह वैश्वदेवेति । वैश्वदेवपूर्वकंदम्पत्योर्भोजने निवृत्ते इति ज्ञेयम् । अन्यथा तदन्नेनातिथिभोजने त्वार्थ एव पाकः स्यादत एव त्वपाकसंस्कारार्थो वैश्वदेवो नात्ममात्रसंस्कारार्थः । यथाशक्ति पक्त्वा ॥ १०८ ॥

(५) नन्दनः । वैश्वदेवे निर्वृत्ते सिद्धेऽग्नौ यस्मिन्नन्नेवैश्वदेवहोमादिकं कृतं तस्मिन्निःशेषं भुक्त इत्यर्थः । अन्नं पुनः साधितम् । पुनः साधितस्यान्नस्य संस्कारार्थं नर्बलिहरेत् ॥ १०८ ॥

(६) रामचन्द्रः । पाकं कृत्वा नन्दयात् । पुनर्बलिहरेत् । वैश्वदेवं न कुर्यात् ॥ १०८ ॥

न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत् ॥ भोजनार्थं हि ते शंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः ॥ १०९ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रासङ्गिकोऽतिथेरयमुपदेशः । भोजनार्थं तत्कुलीनोऽमुष्य पुत्रोऽस्मीति न निवेदयेन्न कथयेत् । स्वे कुलगोत्रे आत्मीयं कुलं पितृपितामहाद्यभिजनो गोत्रं गर्गभार्गवादिनामधेयं वा । गोत्रस्वलितं नामान्तरविवक्षायां यन्मानान्तरमुदाह्रियते तदुच्यते । अध्ययनमपि स्मृत्यन्तरप्रतिषिद्धं तदपि न निवेद्यम् । अस्यार्थवादः भोजनार्थं भोजनं लिप्से प्रख्यातकुलजातित्वादित्यनेनार्थेन हेतुना कुलगोत्रेशंसन्वान्ताशी वान्तमुद्गीर्णमश्रातिनिगिरतीत्येवमुच्यते बुधैः ॥ १०९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कुलं तद्विशिष्टदेशस्थानोत्पन्नत्वं । भोजनार्थ इति पुनरभिधानं धनार्थमभिधाने दोषाभावज्ञापनार्थं वान्ताशी वान्ताशन प्रायश्चित्तार्हत्वात् ॥ १०९ ॥

(३) कुल्लूकः । भोजनलभार्थं ब्राह्मणः स्वकुलगोत्रे न निवेदयेत् । यस्माद्भोजनार्थं ते कथयन्मुद्गीर्णाशीति पण्डितैः कथ्यते ॥ १०९ ॥

(४) राघवानन्दः । आतिथ्यभोक्तुर्नियममाह नेति । स्वे स्वकीये । तत्कृतौ निन्दामाह भोजनार्थमिति । ते कुलगोत्रे निवेदयित्वा वान्तभक्षणतुल्यपापी स्यादिति भावः ॥ १०९ ॥

(५) नन्दनः । अतिथिप्रत्याह न भोजनार्थमिति । विप्रोऽतिथिभूतः । वान्ताशी सहि कुलगोत्रे । उद्गीयन्मिश्राति ॥ १०९ ॥

(६) रामचन्द्रः । विप्रः स्वे स्वकीये कुलगोत्रे भोजनार्थं वा स्वप्रशंसां न निवेदयेत् । ते कुलगोत्रे भोजनार्थं प्रशंसन्बुधैर्वान्ताशीत्युच्यते ॥ १०९ ॥

न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते ॥ वैश्यशूद्रौ सखा चैव ज्ञातयोगुरुरेव च ॥ ११० ॥

(१) मेधातिथिः । क्षत्रियो ब्राह्मणस्याध्वनीनोऽपि प्रथमभोजनकाल उपस्थितोऽपि नातिथिः । अतो न तस्मै नियमतो देयम् । एवं वैश्यशूद्राभ्यामपि । सखिज्ञाती आत्मसमे नातिथी । गुरुः प्रभुवदुपचर्यः निवेद्य वचनक्रियत्युक्तम् ॥ ११० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्राह्मणस्य नातिथिः । सवर्णानां तु भवत्येव सखामित्रं । ज्ञातयः संबन्धिनः । गुरुः पिता ॥ ११० ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणस्य क्षत्रियादयोऽतिथयोन भवन्ति । क्षत्रियादीनां ब्राह्मणस्योत्कृष्टजातित्वान्मित्रज्ञातीनामात्मसंबन्धादुरोः प्रभुत्वात् । अनेनैव न्यायेन क्षत्रियस्योत्कृष्टो ब्राह्मणः सजातीयश्च क्षत्रियोऽतिथिः स्यान्नापकृष्टौ वैश्यशूद्रौ । एवं वैश्यस्यापि द्विजातयोऽतिथयोन शूद्रः ॥ ११० ॥

(४) राघवानन्दः । अतिथिर्ब्राह्मण इत्युक्तं तद्यतिरेकं प्रासङ्गिकमनुवदति न ब्राह्मणस्येति । गृह इति विशेषणादरण्ये सर्वे अतिथयः अनन्यशरणत्वात् ॥ ११० ॥

(५) नन्दनः । इदानीमतिथ्यपवादमाह नब्राह्मणस्येति । तुशब्दोऽत्रावधारणार्थः । ब्राह्मणस्यैवातिथयो राजन्यवैश्य-
शूद्राः । क्षत्रियादीनां तु वर्णोत्कृष्टाः सर्वणातिथयो भवन्त्येव । सखाचातिथिर्ज्ञातियोगुरुश्च ॥ ११० ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणस्य गृहे राजन्योऽतिथिर्नोच्यते च पुनर्वैश्यशूद्रौ सखा च गुरुरपि एते अतिथयो-
न ॥ ११० ॥

यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियोगृहमाव्रजेत् ॥ भुक्तवत्सु च विप्रेषु कामंतमपि भोजयेत् ॥ १११ ॥

(१) मेधातिथिः । तत्रातिथेर्धर्मः क्षीणपथ्योदनत्वं परग्रामवासो भोजनकालोपस्थानम् । तादृशेन रूपेण यदि क्ष-
त्रियोगृहमागतो भवति तदा तमपि भोजयेत् । भोजनवचनादन्या परिचर्या निवर्तते । प्रियहितवचनं त्वविशेषेण गृहाभ्या-
गतस्य विहितम् । अयंच तस्य भोजनकालः भुक्तवत्सु विप्रेषु ब्राह्मणेष्वतिथिषु वा गृहसंनिहितेषु प्रथमं भोजिषु ततः सभो-
जयितव्यः । काममिति नियमाभावमाह । काम्योऽयं विधिर्न नित्यइत्यर्थः । कामश्चानिर्दिष्टः विशेषफलेषु स्वर्गः । यदि वा-
धन्यं यशस्यमित्याद्यत्र संबन्धनीयम् ॥ १११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अतिथिधर्मेण वैश्वदेवान्ते । काममिच्छया न त्ववश्यम् ॥ १११ ॥

(३) कुट्टूकः । यदि ग्रामान्तरागतत्वादतिथिकालोपस्थितत्वादतिथिधर्मेण क्षत्रियो विप्रगृहमागच्छेत्तदा विप्रगृहो-
पस्थितविप्रेषु रुतभोजनेषु स्थितेष्विच्छातस्तमपि भोजयेत् ॥ १११ ॥

(४) राघवानन्दः । तद्धर्मेण क्षत्रियाद्युपस्थितौ का गतिस्तेषु संभवप्रकारमाह यदीति त्रिभिः । अतिथिधर्मेणेति
युक्तार्थे तृतीया । एकरात्रमित्यादिविशेषणविशिष्टः । कामं यथेष्टम् ॥ १११ ॥

(५) नन्दनः । राजन्यादिष्वतिथिधर्मेणागतेषु कर्तव्यं श्लोकद्वयेनाह यदित्विति । अतिथिधर्मोऽदृष्टपूर्वत्वम् ।
काममिति वचनादनावश्यकता सूचिता ॥ १११ ॥

(६) रामचन्द्रः । अतिथित्वेनातिथिलक्षणधर्मेण यदा क्षत्रियः क्षीणवृत्तिः परग्रामवासः गृहमाव्रजेदागच्छेत् ।
विप्रेषु भुक्तवत्सु कामंतं क्षत्रियमपि पश्चाद्भोजयेत् ॥ १११ ॥

वैश्यशूद्रावपि प्राप्नौ कुटुम्बेतिथिधर्मिणौ ॥ भोजयेत्सह भृत्यैस्तावानृशंस्यंप्रयोजयन् ॥ ११२ ॥

(१) मेधातिथिः । अतिथेर्धर्मोतिथिधर्मः । सययोरस्ति तावतिथिधर्मिणौ । अतिथिधर्मश्च प्राग्व्याख्यातः । कु-
टुम्बगृहंतत्र प्राप्तावागतौ वैश्यशूद्रावपि भोजयेत् । क्षत्रियवत्तयोस्तु भोजनकालः क्षत्रियकालात्परेण यत आह भोजयेत्स-
हभृत्यैस्तौ । भृत्या अत्र दासा उच्यन्ते । तेषांच भोजनकालो भुक्तवत्स्वतिथिज्ञातिबान्धवेषु सर्वेष्वङ्गदम्पतिभ्याम् ।
सहशब्द एककालतामात्रलक्षणार्थः । आनृशस्यं कारुण्यमनुकम्पांप्रयोजयन् प्रमाणीकुर्वन्नाश्रयन्नितियावत् । अनेन पूज्य-
तां वारयति अनुग्रहोऽनुकम्प्योऽनेन पूज्यः । अनुकम्प्येषु यदि च शक्यतेऽनुग्रहः कर्तुं ततः क्रियतेऽभ्युदयार्थेना तत्त्व-
करणादतिथेरतिक्रमः । एतदुक्तं भवति यादृशोऽतिथिभोजनादुत्कृष्टो धर्मोऽनुकम्प्यानुग्रहान् तादृशस्ततो निरुद्धः ॥ ११२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कुटुम्बे कुटुम्बवतिगृहे न तु प्रवासे । भृत्यैर्भृत्यद्वारा भोजयेत् सह तुल्योपचारौ । क्ष-
त्रियेत्वधिकोपचारार्थं पृथगुक्तिः । आनृशंस्यमर्हिसतां । करुणांप्रयोजनं चातिथ्यतिक्रमदोषभयात् ॥ ११२ ॥

(३) कुटूहकः । यदि वैश्यशूद्रावपि ब्राह्मणस्य कुटुम्बे गृहे ग्रामाग्रामान्तरादागतत्वाद्यतिथिधर्मशालिनौ तदा-
तावपि क्षत्रियभोजनकालात्परतोदम्पतीभोजनात्पूर्वदासभोजनकालेऽनुकम्पामाश्रयन्भोजयेत् ॥ ११२ ॥

(४) राघवानन्दः । कुटुम्बे गृहे । आनृशंस्यं दीयतामिति कार्पण्यं प्रकटयन् ॥ ११२ ॥

(५) नन्दनः । कुटुम्बेभार्यायाम् । सहभृत्यैःस्वभृत्यैःसह भोजनकालइत्यर्थः । आनृशंस्यंप्रकल्पयन् अनृशं
स्यार्थं मनुकम्पार्थमितियावत् ॥ ११२ ॥

(६) रामचन्द्रः । अपि निश्चयेन वैश्यशूद्रौ चेत्यामौ कुटुम्बे गृहे अतिथिधर्मिणौ तौ वैश्यशूद्रौ भोजनकाले
स्वभृत्यैःसह भोजयेत् ॥ ११२ ॥

इतरानपि सख्यादीन्संप्रीत्या गृहमागतान् ॥ प्रकृत्यान्नंयथाशक्ति भोजयेत्सह भार्याया ॥ ११३ ॥

(१) मेधातिथिः । सखामित्रंसआदिर्येषाम् । आदिशब्दः प्रकारे ज्ञातिबन्धुसंगतसहाध्यायिप्रभृतीन्गृह्णातिगुरु-
वर्जम् संप्रीत्यागतान् अतिथेर्धर्मस्य प्रकृतत्वान्निषेधार्थंसंप्रीतिग्रहणम् । तान्भोजयेत् । प्रकृत्य प्रकर्षेणान्नंरुत्वासंस्कृ-
त्य । यथाशक्तीतिउपलक्षणार्थःशक्तिशब्दः । यावतीशक्तिर्यादृशंचयोऽर्हति तमुद्दिश्य तादृशएवसंस्कारः कर्तव्यः ।
भार्याया सह योभोक्तृभोजनकालःसएव भार्यायाअपि पृथक्तस्याभोजनकालस्याभावात् । एवंह्युक्तमवशिष्टंतुदम्पती-
इति । महाभारते पत्युरुर्ध्वंभार्यायाभोजनंदर्शितद्रौपदीसत्यभामासंवादे द्रौपद्या स्त्रीधर्मान्कथयन्त्योक्तं सर्वेषु पतिषु भुक्त-
वत्सु शेषान्नमश्रामि । पतिशेषान्नभोजनंस्त्रीणांधर्मः । तस्मान्न भार्याभोजनकाले सख्यादीनांभोजनंविधीयते । नान्येक-
पात्राशनसहार्थः किंताहि नैकाकिनस्तेभोजयितव्याः अपितु भार्याऽपि तत्र भुज्जीत । ततश्चावशिष्टंतुदम्पतीतितदत्र
बाध्यते । यदि कश्चिदभ्यर्हितः प्रतीक्षकःस्यादन्योवा न भुज्जीत तदाभार्यातद्देशेभुज्जीत । एवंसौहार्दप्रकाशितंभविष्यति
॥ ११३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सख्यादीन्पूर्वोक्तांस्तत्कृत्य संस्कृत्य भार्याया परिवेषणकर्त्र्या ॥ ११३ ॥

(३) कुटूहकः । उक्तभोजनकाले क्षत्रियादिव्यतिरिक्तान्सखिसहाध्यायिप्रभृतीन्संप्रीत्या गृहमागतान् नत्वतिथि-
भावेन तस्य प्रतिषेधात् यथाशक्ति प्रकृष्टमन्नंरुत्वा भार्यायाभोजनकाले भोजयेत् । गृहस्थस्यापि सएव भोजनकालः
अवशिष्टंतुदम्पतीति ब्रह्ममाणत्वात् । आत्मनासहेति वक्तव्ये वचनवैचित्र्यमाचार्यस्य गुरोस्तु भोजनकालानभिधानंप्र-
भुत्वेन स्वाधीनकालत्वात् ॥ ११३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच गृहदारादिषु भुक्तवत्सु प्रकृत्य संपाद्य अन्नं अत्रसहभार्ययेति भार्याभोजनंप्रतिप-
त्तिकर्म ॥ ११३ ॥

(५) नन्दनः । प्रकृत्य तत्प्राधान्यं प्रकाशयेति यावत् । सहभार्याभार्यासहितः स्वयंभोजयेत् । नान्यंनियु-
ज्जीत ॥ ११३ ॥

(६) रामचन्द्रः । इतरानप्यागतान्सख्यादीन्भोजयेत् । तस्मात्प्रकृत्यान्नंप्रकर्षेणान्नंरुत्वा भार्याया सह सहेतिस-
मानोपचारे सहशब्दः । तैःसह स्वयंभार्यायासह दम्पत्योःशेषभोजनम् ॥ ११३ ॥

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणोर्गर्भिणीः स्त्रियः॥अतिथिभ्योऽथैवैतान्भोजयेदविचारयन् ॥ ११४ ॥

(११४) कुमारीश्च=कुमारांश्च (ज, झ, ढ,) (११४) भ्योऽथैवैतान्=भ्योन्वगेवैतान् (मे०)

(१) मेधातिथिः । सुवासिन्योवध्वोनवोढास्त्रियः स्नुषादुहितरश्च । अन्येतु जीवच्छशुराजीवत्पितृकाश्च प्रसूता अपि सुवासिन्युच्यन्ते इत्याहुः । अतिथिभ्योन्वगेवैताननुगतानेव भोजयेत्प्रारब्धभोजनेष्वेवातिथिषु तत्समकालं भोजयेत् । अन्येत्वग्रइति पठन्ति अविचारयन् कथमतिथिष्वभोजितेषु बालाभुञ्जत इत्येवं विचिकित्सा न कर्तव्या ॥ ११४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्ववासिनी दत्ता वा स्त्री पितृगृहस्थास्त्रेषु ज्ञातिषु वसतीति । कुमाराः पञ्चवर्षन्यूनाः । अन्वगये । याज्ञवल्क्ये बालादीन् भोजयित्वातिथिभोजनोक्तेः । कचिदग्रइत्येव पाठः ॥ ११४ ॥

(३) कुल्लूकः । सुवासिन्योनवोढाः स्त्रियः स्नुषादुहितरश्च ताः कुमारीर्गर्भिणीश्चातिथिभ्योग्रे पूर्वमेवातिथिभ्यो भोजयेत् कथमतिथिष्वभोजितेषु भोजनमेषामिति विचारमकुर्वन् । मेधातिथिस्त्वन्वगेवेति पठित्वानुगतानेवैतान् भोजयेदतिथिसमकालमिति व्याख्यायान्येतु अग्रइति पठन्तीत्युक्तवान् ॥ ११४ ॥

(४) राघवानन्दः । न वै स्वयं तदश्रीयादित्यत्रातिथिभोजनपूर्वप्राप्तं तत्र प्रतिप्रसवमाह सुवासिनीमिति । सुवासिनीं नवोढां स्नुषां तादृशीदुहितरं वा । तदर्थमतिथौ प्रश्नोपि नास्तीत्याह अविचारयन्ति ॥ ११४ ॥

(५) नन्दनः । सख्यादिभ्यः पूर्वभोजनीयानाह सुवासिनीरिति । सुवासिनीः त्वसृः ॥ ११४ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्ववासिन्यादीनेतानतिथ्यादिभ्योग्रएवाविचारयन् भोजयेत् ॥ ११४ ॥

अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वभुङ्क्तेऽविचक्षणः ॥ स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ॥ ११५ ॥

(१) मेधातिथिः । एतेभ्योऽतिथ्यादिभ्योभृत्यपर्यन्तेभ्योभोजनमदत्त्वा पूर्वप्रथममविचक्षणः शास्त्रार्थमजानानो भुङ्क्तेऽश्वगृध्रैरद्यते प्रेतः । तांजग्धिमात्मनस्तैः खादनं न जानाति । एवं हि समन्यते मूढमतिरत्राहमेव भुञ्जे एवं तु न बुध्यते यद्विदंश्चानगतस्वशरीरस्य श्वगृध्रैरदनम् । तत्फलत्वादेव मुच्यते ॥ ११५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतेभ्यः स्ववासिन्यादिभ्योतिथिभ्यश्च । श्वगृध्रैर्जग्धिभक्षणं । एतदोषकृतं परलोकै ॥ ११५ ॥

(३) कुल्लूकः । एतेभ्योऽतिथ्यादिभ्योभृत्यपर्यन्तेभ्योऽन्नमदत्त्वा व्यतिक्रमभोजनदोषमजानन्त्यः पूर्वभुङ्क्ते । समरणानन्तरं श्वगृध्रैरात्मनोभक्षणं न जानाति । व्यतिक्रमस्येदं फलमिति वचनवैदग्ध्येनोक्तम् ॥ ११५ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तवैपरीत्ये नियहं चाह अदत्त्वेति । अदत्त्वा अदापयित्वा भुङ्क्ते । अविचक्षणइतिच्छेदः । जग्धि भोजनं । स इत्यतिथिविशेषणं तस्यैव प्रथमं भोजनस्य प्राप्तेः ॥ ११५ ॥

(५) नन्दनः । एतेभ्योऽतिथिसखिसुवासिन्यादिभ्यः । अविचक्षणइतिपदसन्धिः जग्धिभक्षणम् । भुञ्जानो भोजनादित्यर्थः ॥ ११५ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतेभ्योऽतिथिभ्योऽदत्त्वा पूर्वयः भुङ्क्ते भुञ्जानः सन्नात्मनः शरीरप्रेततः श्वगृध्रैर्जग्धिभोजनं न जानाति । अविचक्षणः स्वार्थमजानानः ॥ ११५ ॥

भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्त्रेषु भृत्येषु चैव हि ॥ भुञ्जीयातां ततः पश्चादेष शिष्टं तु दम्पती ॥ ११६ ॥

(१) मेधातिथिः । विप्राअतिथयः त्वाजात्यादयः । तेषु कृतभोजनेषु तदवशिष्टं दम्पती जायापती अश्रीयाताम् । पश्चात्कदाचित्तेभ्यः कल्पयित्वा शिष्टव्यपदेशे सत्यादौ भोजनस्यान्तर्दर्थमुक्तं पश्चादिति । दम्पत्योर्भोजनकालविधानार्थमर्थश्लोकोऽनुवादः ॥ ११६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विप्रेष्वतिथिषु । त्वेषु ज्ञात्यादिषु त्वसंबन्धिषु । भृत्येषु पोष्येषु ॥ ११६ ॥

(३) कुड्मूकः । विप्रेष्वतिथिषु त्वेषु ज्ञातिषु भृत्येषु दासादिषु कृतभोजनेषु ततोऽन्नादवशिष्टभार्यापती पश्चादश्रीयाताम् ॥ ११६ ॥

(४) राघवानन्दः । भोजनस्य रागतः प्राप्तत्वात् तत्कालविधिमाश्रित्य दम्पत्योस्तद्विशेषमाह भुक्तवत्त्विति । विप्रेषु अतिथिपर्यन्तेषु । त्वेषु ज्ञातिषु । भृत्येषु गर्भदासादिष्विति मेधातिथिः । नात्रोच्छिष्टाशङ्केत्याह पश्चादिति ॥ ११६ ॥

(५) नन्दनः । अथदम्पत्योर्भोजनकालमाह भुक्तवत्त्विति । त्वेषु गर्भदासादिषु भृत्येषु वैतनिकेषु ॥ ११६ ॥

देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितृगृह्याश्च देवताः ॥ पूजयित्वा ततः पश्चाद्गृहस्थः शेषभुग्भवेत् ॥ ११७ ॥

(१) मेधातिथिः । अनुवादमात्रमिदं पूर्वस्य पञ्चयज्ञानुष्ठानविधेर्गृहस्थभोजनकालस्य च अन्येतद्वर्तान्तरविधानमपि वर्णयन्ति । पूर्वत्र जायापत्योरेककालमवशिष्टं भोजनं विहितम् । अनेन क्रिया अपोह्य पुंस एव विधीयते । ततश्च पूर्वभृत्येभ्यः प्राक्पत्युभार्या भुञ्जीत । एवं च कृत्वा भोजयेत् । एतदप्युपलभ्यति इतरथा तैः सह भार्या न भुञ्जतित्यर्थकल्पनायां तथाश्रुतपदान्वयभङ्गः स्यात् । यत्तु महाभारते दर्शनं दर्शनमेव विधानं विकल्पयिष्यते तदयुक्तमनुवादत्वादस्य न च गृहस्थइत्येकवचनविरोधः सहाधिकाराज्जायापत्योः तत्र च सहार्थस्य प्राधान्यान् द्विवचनापत्तिः यथा ब्राह्मणोऽग्नीनादधीतेति सत्यपि भार्याया सह अधिकारि नैकवचनं विरुध्यते । तत्कस्य हेतोः एकोहि तत्र प्रधानमपरो गुणभूतः न च गुणः संख्यामुपजनयितुं शक्नोति अतः प्रधानस्यैकसंख्यत्वात् सत्यपि पत्युर्थानुप्रवेश एकवचनमेव युक्तम् । एकएव गृहस्थशब्दः पत्न्यां वर्तते । स च सह विवक्षायाम् । सा चै कबुद्धिविषयत्वेन प्रधानयोगुणयोर्वा । तस्मान्न पत्न्याः प्राक्पुंसो भोजनम् । अतः स्थितमनुवादोऽयं प्रतिपत्तिदाढ्याय । येऽपि गृह्याश्च देवताः पूजयेदित्यर्थवादवचनं देवतापदमत्वा पूजयेदितिसंबन्धादौघमेवार्चाविधित्वं समर्थयन्ते नहि मुख्यस्य देवतार्थस्य पूज्यत्वसंभवो यजिस्तुतिसम्बन्धेनैव देवतात्वस्य मुख्यत्वात् तथा च गृह्या इत्याह गृहे भवागृह्यास्ताश्च प्रतिकृतय एव नहि यागसंप्रदानभूतानां गृहसंबन्धितासिद्धिः तेषामपि देवतार्थगौणोऽपि पूजार्थः । कुत एतद्गृहस्थस्य यागव्यास्तागृह्या इत्युपपद्यते ॥ ११७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गृह्यादेवताः भूतानि ॥ ११७ ॥

(३) कुड्मूकः । गृह्याश्च देवता इत्यनेन भूतयज्ञोक्तः पञ्चयज्ञानुष्ठानस्यावशिष्टं तु दम्पतीत्यनेन शेषभोजनस्य च विहितत्वात् । वक्ष्यमाणदोषकथनार्थोऽयमनुवादः । अथवा देवानित्यनेनैव भूतयज्ञस्यापिसंग्रहः । गृहे भवागृह्यादेवताः पूजयित्वेति वासुदेवादिप्रतिकृतिपूजाविधानार्थत्वमस्य ॥ ११७ ॥

(४) राघवानन्दः । एतदेव सार्थवादं प्रमाणयति देवानिति द्वाभ्यां । गृहे भवागृह्यादेवाः श्रीवास्तुदेवादयः भूतानि वा । एतेन वास्तुभूतबलिरुक्तः ॥ ११७ ॥

(५) नन्दनः । गृहस्थेन यज्ञशिष्टाशनं भोक्तव्यमित्याह । देवानृषीनिति ॥ ११७ ॥

(६) रामचन्द्रः । गृह्याश्च देवताः पूर्वगृहस्थएव देवादीन् पूजयित्वा गृहस्थः पश्चाच्छेषभुग्भवति ॥ ११७ ॥

अयं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् ॥ यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥ ११८ ॥

[यद्यदिष्टमंलोके यच्चास्य दयितं गृहे ॥ तत्तद्गुणवते देयं तदेवाक्षयमिच्छता ॥ १ ॥]

(१) मेधातिथिः । पापं केवलं स भुङ्क्ते ददये निधत्ते गृह्णाति नान्नस्य मात्रामपि यः पचेत्पाकं कारयेदात्मकारणादात्मा-

नमुद्दिश्य क्षुधितोऽहमिदं वामहं रोचत इति तदेव पच्यताम् । तस्मादनातुरेण नात्मार्थमन्नं मृषापचनीयम् । आतुरस्य तु शरीरधारणं येनोपायेन भवति विध्यन्तेरेणातिक्रमेणापि तस्याश्रयणं युक्तम् सर्वतएवात्मानं गोपायेदिति वचनात् एवं केचिदस्यार्थमाहुः एतदयुक्तं स्मृतिविरोधात् ॥ ११८ ॥

[(१) मेधातिथिः । एवं ह्यह । दयितमिष्टं स्पृहणीयम् । यदि च न पच्येत कुतस्तादृशस्य दानसंभवस्तस्मादयमस्यार्थः । तदुद्देशस्तावन्नित्यस्य पाकस्य नैवं विद्यते सुदृढत्वजनादिष्वागतेषु तदुद्देशः । अन्यथा त्वनुद्दिष्टविशेषपाकअतिव्यादिभ्यो दानं विधीयते । तेनैतदुक्तं भवति यएतेभ्योऽदत्त्वा भुङ्क्ते तस्यायं दोषः । अथवा सर्वस्मिन्नतिथ्यादिभिर्भुक्तेनात्मार्थं पुनः पाकः कर्तव्यः । तथाच वसिष्ठः शेषदम्पती भुञ्जीयाताम् सर्वोपयोगे न पुनः पाकः । यज्ञशिष्टाश्विनपूर्वस्य शेषभोजनस्य प्रशंसैव । यज्ञोज्योतिष्ठोमादिः । शिष्टमुपयुक्तशेषं तस्य चैतद्दर्शनम् । तत्तुल्यफलं यत्सतां शास्त्रानुष्ठानपराणां गृहस्थानामतिव्यादिभुक्तशिष्टं विधीयते ॥ १. ॥]

(२) सर्वज्ञनारायणः । अघं पापहेतुं । आत्मकारणादात्ममात्रकारणात् । एतदन्नं सतां यज्ञशिष्टाशनं पञ्चमहायज्ञावशिष्टत्वेनाशनीयं विधीयते वेदे ॥ ११८ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्त्वात्मार्थमेवान्नं पक्त्वा भुङ्क्ते देवादिभ्यो न ददाति स पापहेतुत्वात् पापमेव केवलं भुङ्क्ते नान्नम् । तथाच श्रुतिः । केवलं घोभवति केवलादीति यस्माद्यदेव पाकयज्ञावशिष्टमशनमन्नमन्यत् एतदेव साधूनामन्नमुपदिश्यते इति ॥ ११८ ॥

(४) राघवानन्दः । आत्मकारणात् त्वभोगहेतोः इज्यते अयमिति देवातिथ्यादिर्यज्ञः । सतां साधूनां । अन्नं अशनीयं विधीयते अन्नस्य रागविषयत्वेऽपि एवं प्रकारकं विधौ विषयः ॥ ११८ ॥

(५) नन्दनः । अयज्ञशिष्टाशनं दोषाशनमशास्त्रविहितत्वादित्याह अघमिति । यज्ञशिष्टं पञ्चमहायज्ञशिष्टम् ॥ ११८ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः पच्यत्वात्मकारणात् स केवलमघं भुङ्क्ते । यज्ञशिष्टाशनं पाकयज्ञोज्योतिष्ठोमादिशिष्टान्नं सतामेतदन्नं अशनाय योग्यं विधीयते ॥ ११८ ॥

राजर्त्विक्स्नातकगुरुन्प्रियश्वशुरमातुलान् ॥ अर्हयेन्मधुपर्केण परिसंवत्सरात्पुनः ॥ ११९ ॥

(१) मेधातिथिः । अतिथिपूजाप्रसङ्गेनान्येषामपि केषांचित्पूज्यानां गृहागतानां पूजाविशेषो विधीयते । राजाऽभिषिक्तो न क्षत्रियमात्रम् अतिमहतीक्ष्णापूजा न तां सर्वः क्षत्रियोऽर्हति न हि स्नातकगुरुभ्यां तस्य सहोपदेशो युक्तः । पूजासाम्यं गुरुणा न तस्य युक्तं लिङ्गदर्शनाच्च । तद्यथैवान्यो मनुष्यराज आगत इत्यातिथ्येष्टिब्राह्मणं गोवधो मधुपर्कविधावुक्तो गोघ्नोऽतिथिरिति पुरुषराजविषयं दर्शयति । तेन क्षत्रियेऽक्षत्रिये वा जनपदेश्वरे पूजेयं प्रयोक्तव्या । शूद्रे तु नास्ति । मत्त्रवत्त्वम् । ननु च शूद्रस्य मत्त्रोच्चारणं निषिद्धं न पुनः शूद्रसंप्रदानके कर्मणि ब्राह्मणादीनाम् । नैष दोषः । अर्घाणामपि भूतेभ्यस्त्वेत्यादि मत्त्रोच्चारणमस्ति । ननु च महाभारते शूद्रकर्तृकमपि मधुपर्ककर्म श्रूयते तदहं मासनं चैव यथावत्प्रत्यवेदयत् । मधुपर्कचगांचैव तस्मै भगवते भगवते त्वयम् भगवते वासुदेवाय विदुरइति तत्साधने दधनि भक्त्या मधुपर्कशब्दः प्रयुक्तः । तादर्थ्यात्तच्छब्दो भवति । आयुष्यमिति राजशब्दस्तावज्ज्ञानपदेश्वरवचनो न क्षत्रियमात्रे वर्तते । प्रियोजामातेत्याहुः । स्नातकोविद्याव्रताभ्यामुभाभ्यां अन्यथा र्त्विगुरवः । सर्वे स्नातका एव । आश्रमान्तरस्थानां भैक्षचर्या विहिता न त्वतिथिधर्मेण भो-

जनम् । अथवाऽचिरनिर्वृत्तवेदाध्ययनः स्नातकोगृह्यते । एतानर्हयेत्पूजयेत् । मधुपर्कशब्दः कर्मनामधेयम् । गृह्यान्स्य स्वरूपावगमः । परिसंवत्सरानितिराजादिपूज्यविशेषणम् परिगतोऽतिक्रान्तः । संवत्सरोयेषांतान् । यदिसंवत्सरेऽतीतआगच्छन्ति तदामधुपर्कार्हाअर्वाङ्केचिदेवव्याचक्षते । यदिसंवत्सरादर्वागागच्छन्ति । तदातीतेऽपि संवत्सरे प्रथमपूजायाः । पुनर्लभतेपूजाम् । अन्येत्वाहुः । सांवत्सरिकी तेषांपूजा नयावदागमनम् । अस्मिन्पक्षेऽर्वागागमनं पूजाप्रतिबन्धकम् । पाठान्तरंपरिसंवत्सरादिति । यावदेवसंवत्सरंतावत्परिसंवत्सरात्तत ऊर्ध्वपुनः पूज्यादित्यर्थः ॥ ११९ ॥

२) सर्वज्ञनारायणः । राजा स्वदेशनृपतिः क्षत्रियः स्नातकोविद्याव्रतस्नातकः गुरुराचार्यः उपाध्यायोवा प्रियोमित्रं । परिसंवत्सरात्संवत्सरंविहायातिवाहं संवत्सरादूर्ध्वस्वगृहागमने पुनर्मधुपर्केणार्हयेत् । संवत्सरमध्ये तु नावृत्त्यामधुपर्कः ॥ ११९ ॥

(३) कुट्टुकः । अतिथिपूजाप्रसङ्गेन राजादीनामपि गृहागतानांपूजाविशेषमाह राजेति । राज्याभिषिक्तः क्षत्रियोराजा । ऋत्विग्यज्ञेयेन यस्यार्विज्यंरुतम् । स्नातकोविद्याव्रताभ्याम् । प्रियोजामाता । राजादीनेतान्गृहागतान्सम गृह्योक्तेन मधुपर्काख्येन कर्मणा पूजयेत् । परिसंवत्सरादितिसंवत्सरंवर्जयित्वा तदूर्ध्वगृहागतान्पुनर्मधुपर्केण पूजयेत् । पञ्चम्यपाङ्परिभिरिति सूत्रेण वर्जनार्थपरियोगेनेयंपञ्चमी । अतएवैतत्सूत्रव्याख्याने जयादित्येनोक्तं अपेन साहचर्यात्परेवर्जनार्थस्य ग्रहणमिति । मेधातिथिस्तु परिसंवत्सरानिति पठित्वा परिगतोऽतिक्रान्तः संवत्सरोयेषांतान्पूजयेदिति व्याख्यातवान् उभयत्रापि पाठे संवत्सरमध्यागमनेन मधुपर्कार्हाता ॥ ११९ ॥

(४) राघवानन्दः । गृहागतानां पूजाप्रकारं कथयंस्तत्कालविशेषमाह राजेति । स्नातकोनवोढापतिः । प्रियोजामाता । परिसंवत्सरात्तदूर्ध्वपूजयेदित्यन्वयः । तदभ्यन्तरे मधुपर्केण नार्हणम् ॥ ११९ ॥

(५) नन्दनः । अथमधुपर्कार्हानाह राजात्विगिति । स्नातको गृहस्थः । प्रियः सखा । परिगतःसंवत्सरोयेषातिपरिसंवत्सराः परिसंवत्सराश्चतआगताश्चेतिपरिसंवत्सरागताः ॥ ११९ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रियःजामाता स्नातकोविद्यास्नातकः व्रतस्नातकोवा तान्प्रति संवत्सरात्पुनःपुनर्मधुपर्केणार्हयेत् । संवत्सरमध्यागमने नमधुपर्कार्हा भवन्तीत्यर्थः । परिसंवत्सरेतिपाठे परिशब्दोवर्जनार्थ इति ॥ ११९ ॥

राजां च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्मण्युपस्थितौ ॥ मधुपर्केण संपूज्यौ न त्वयज्ञ इतिस्थितिः ॥ १२० ॥

(१) मेधातिथिः । यज्ञनिमित्तेऽर्वागपि संवत्सरात्प्राप्त्यर्थोयमिति केचित् अन्ये तु पूर्वस्यैवराजश्रोत्रिययोरुपसंहारमाहुः । अनुपसंहारे हि नत्वयज्ञइतिनोपपद्यते । अत्र श्रोत्रियोयः स्नातकः प्रागुक्तो यदिवाऋत्विगेव तस्य हि यज्ञकर्मणिप्रारिप्स्यमानेगोर्मधुपर्कदानंविहितम् । यद्यप्यसकृत्संवत्सरस्य सोमेन यजेत रुताध्याएवैनंयाजयेयुः एवंक्रममूलैषा स्मृतिर्भविष्यति । इतरथा कल्प्येतमूलम् । अन्ये तु सर्वानृत्विगादीऽल्लोत्रियशब्देन दृष्टान्मन्यन्ते । तथा चाविशेषेण गौतमेन पठितम् ऋत्विक्स्वशुरपितृमातुलानामुपस्थाने मधुपर्कइत्युक्तायज्ञविवाहयोरर्वागिति पठितवान् । अतश्च सर्वेषामेवाध्यायानांयज्ञे निर्मितेऽर्वागपि संवत्सरादर्वार्हाता स्यात् । न त्वयज्ञइतिच प्रतिषेधोऽर्वाक्संवत्सरान्लोर्ध्वमित्येवंनेयः इह द्वितीये पदिऽनैकधापाठप्रतिपत्तिः । केचित्पठन्ति । तते यज्ञउपस्थिताविति तेषामयमर्थः तते प्रारब्धे यज्ञे यदि प्राप्तौ भवतो निमज्ज्यानीतौ तदेयंमधुपर्कक्रियातयोर्नपुनः प्रारभ्यमाणे एषपक्षः कैश्चिदूष्यते दीक्षितस्य सर्वदानप्रतिषेधान्मधुपर्कदानमनुज्ञायमानंतद्विरुद्धंस्यात् नच शक्यंवक्तुं दानमेतन्नभवत्यर्हयेदिनोदनात् । पूजैषा विधीयते यतोऽस्तिमधुपर्कदधिदानमांसभोजनादिदानंच । अथोच्यते त्वयमेवतत्परकीयंभुज्यतइति एवंसति स्तेयदोषः स्याद्वचनान्ने-

तिचेदस्त्येव तर्हिददात्यर्थः चोदितंचदददितिमधुपर्कंचदद्यादिति तस्माद्विरुद्धदीक्षितोनददात्यनेन स्याद्विरोधोयदि य-
ज्ञशब्दः सोमयागेभ्येव वर्तते । दर्शपूर्णमासादयोपि यागास्तद्विषयोयंविधिर्भविष्यति नैतद्युक्तम् । एवंसति समाचारवि-
रोधः । नहि शिष्टाः सोमयागेभ्योऽन्यत्र कचिदध्यायमधुपर्कमाहरन्ति । आचारोवेदादरः । अतोऽयमेवपाठोयुक्तः यज्ञ-
कर्मण्युपस्थितइति । प्रारभ्यमाणयज्ञआगतंशिष्टामधुपर्केणपूयजन्ति न प्रवृत्तयज्ञाः । अतश्चैतदपि न विचारयामः सामा-
न्यतः । प्राप्तस्य दानस्य भवतु निवृत्तिर्न पुनस्तद्विषयतयैव श्रुतस्य । यज्ञश्चासौकर्मचतयज्ञकर्म तस्मिन्नुपस्थिते
प्राप्ते ॥ १२० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र राजान्यदेशनृपतिः क्षत्रियएव श्रोत्रियोविद्यामात्रस्नातः । एतौ संवत्सरादूर्ध्वमपि
यज्ञकर्मण्येवोपस्थितौ मधुपर्काहौ न त्वेवमेवेति स्थितिर्नियमः ॥ १२० ॥

(३) कुट्टूकः । राजस्नातकयोः पूजासंकोचार्थमाह राजेति । राजस्नातकौ संवत्सरादूर्ध्वमपि यज्ञकर्मण्येव प्रा-
प्तौ मधुपर्केण पूजनीयौ नतु यज्ञव्यतिरेकेण जामात्रादयस्तुसंवत्सरादूर्ध्वं यज्ञविनापि मधुपर्काहः संवत्सरमध्ये तु सर्वेषां-
यज्ञविवाहयोरेव मधुपर्कः । तदाह गौतमः ऋत्विगाचार्यश्चशुरपितृव्यमातुलादीनामुपस्थाने मधुपर्कः संवत्सरे पुनर्यज्ञ-
विवाहयोरर्वाग्राज्ञः श्रोत्रियस्यच ॥ १२० ॥

(४) राघवानन्दः । तेष्वेव विशेषमाह राजाचेति । अनयोर्यज्ञकर्मण्यागमनेसंवत्सरेपि मधुपर्कः । तथा च गौत-
मः ऋत्विगाचार्यश्चशुरमातुलादीनामुपस्थाने मधुपर्कः संवत्सरे पुनर्यज्ञविवाहयोरर्वाक्राज्ञः श्रोत्रियस्य चेति । अर्वाक् सं-
वत्सरात् । श्रोत्रियोत्र पूर्वोक्तः स्नातकः ॥ १२० ॥

(५) नन्दनः । स्थितिः सिद्धान्तः ॥ १२० ॥

(६) रामचन्द्रः । च पुनः राजा ग्रामादागतः सन् श्रोत्रियः यज्ञकर्मणि दर्शपूर्णमासस्यापि वा संवत्सरादूर्ध्वमुप-
स्थितौ प्राप्तौ मधुपर्केण संपूज्यो भवतः । अयज्ञकाले अनिमत्त्रितौ नपूज्यौ । इति स्थितिर्मर्यादा ॥ १२० ॥

सायंत्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमंत्रं बलिहरेत् ॥ वैश्वदेवं हि नामैतत्सायंप्रातर्विधीयते ॥ १२१ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तः प्रथमः इदानीं द्वितीयः पाकउच्यते । सायंदिनान्तः प्रदोषस्तत्र सिद्धस्यान्नस्य सर्वः पा-
कयज्ञयोविधिरावर्तनीयो ब्रह्मयज्ञपितृयज्ञवर्जम् । ननु च बलिहरेदित्येतावच्छ्रुतम् । बलिहरणंच प्रसिद्ध्या भूतयज्ञएव
तत्र कुतोऽग्नौ होमोऽतिथ्यादिदानंच । अथ वैश्वदेवं हि नामैतदिति वैश्वदेवशब्दः सर्वार्थतांप्रतिपादयति विश्वेषां देवाना-
मिदं विधीयते सायंप्रातर्यादशंप्रातस्तादृशमेव सायमेतदर्थमेव प्रातःशब्दः अन्यथा प्रातर्विहितमेव किमनेन सायंप्रातर्विधीयते ।
एवंतर्हि ब्रह्मयज्ञपितृयज्ञावपिकर्तव्यौ । उच्यते अन्नस्य सिद्धस्येति वचनाद्यदन्नसाध्यंतदेवकर्तव्यम् नत्वध्ययनसाध्यो ब्रह्म-
यज्ञो नाप्युदकसाध्यं तर्पणम् । एवंच संबन्धः क्रियते सिद्धस्यान्नस्य बलिहरेत् । एतद्वैश्वदेवाख्यं कर्मान्नस्य सिद्धस्योभयोः
कालयोर्विधीयते । अन्नशब्दाद्वैश्वदेवशब्दाच्चैवं व्याख्यायते । अमत्त्रं मत्त्रशब्देन देवतोद्देशशब्दान्नं स्वाहाकारान्तोऽग्नये-
स्वाहेत्येवमादि निषिध्यते । न ह्यन्ये मत्त्रा वैश्वदेवे विनियुक्तास्तेषु मत्त्रत्वंप्रशंसयोच्यते । ननु स्वाध्याये पठितानां मत्त्रत्वम-
स्ति स्वाध्यायैकदेशः कश्चिदग्न्यजुः सामात्मको वेदाध्यायिभिर्मत्त्र इति व्यवहियते व्यवहारतश्च पदार्थावगमनयैः शब्दैर्बलि-
हरणादि क्रियते ते कुत्रचित्पठ्यन्ते केवलमग्न्यादिभ्यो देवेभ्यो होमं कुर्यादिति श्रुतेः स्वाहाकारेण वा वषट्कारेण वा देवेभ्यो ह-
विः संप्रदीयत इति वाक्यान्तरेण सर्वहोमेषु स्वाहाकारो विहितो याज्यान्ते वषट्कारो नियमितो याज्यायां वषट्करोतीति ।

स्वाहाकारशब्दयोगे चतुर्थी स्मर्यते अतोयागोदेवतायाउद्देश्यत्वात् उद्देश्यत्वंच देवतायाः शब्दावगम्यरूपत्वात् शब्देनैवोचितत्वादियंघटना क्रियतेअग्रयेस्वाहेत्यादि यद्येवंतेषांनिषेधः कथंताहि यागनिर्वृत्तिः नहि तुभ्यमिदं न मदीयमिति यावदुद्देशोनरुतस्तावद्यागस्वरूपनिर्वृत्तिः । नहि त्यागः केवलोयागउद्देशशून्यः । सत्यम् शब्देर्निषिद्धेभनसोद्देशदेवतायाः पत्नीकरिष्यति यथाशूद्रोनमस्कारमुच्चारयति । नमस्कारेणप्रत्याम्नातः शूद्रस्यमंत्रइतिनमस्कारोऽनुज्ञातोस्यनदेवतापदम् । नच देवतायाविनियोगसिद्धिरित्युक्तम् । इहभवन्तस्त्वाहुः स्वाहाकारोनमस्कारेण प्रत्याम्नातः शूद्रस्य देवतापदंत्वनिषिद्धम् । अथ सायंवैश्वदेवहोमे कः कर्ता उक्तंपन्थेव संनिधानाद्वलिहरणवदमन्त्रकंकरिष्यतीति ॥ १२१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र वैश्वदेवहोमेपत्याकृते नक्तंचरेभ्यइतिवैकस्मिन्बलौ दत्ते दैवसिकबल्यन्तरस्थाने पत्न्याअमन्त्रकैकबलिदानमुक्तम् । वैश्वदेवंहीति । वैश्वदेवं विश्वेदेवाः सर्वे देवाइन्द्रादयोविश्वेदेवान्तास्तेभ्यःकार्यं बलिकर्म सायंप्रातर्विधीयते न तु ब्रह्मयज्ञपितृयज्ञयोरिवास्यापि दिवैव क्रियाऽतःसायं पन्थैव नक्तंचरव्यतिरिक्तभूतयज्ञस्थाने देवतामनसोद्दिश्य कार्यमेतदित्यर्थः ॥ १२१ ॥

(३) कुल्लूकः । दिनान्तेसिद्धस्यान्त्यपन्थमन्त्रंबलिहरणंकुर्यात् । इन्द्राय नमइति मन्त्रपाठवर्जम् । मानसस्तुदेवतोद्देशेन निषिध्यते । यतएतद्वैश्वदेवंनामानसाभ्यंहोमबलिदानातिथिभोजनात्मकंतत्सायंप्रातर्गृहस्थस्योपदिश्यते ॥ १२१ ॥

(४) राघवानन्दः । वैश्वदेवस्य सिद्धस्येत्यत्र बलिकर्मत्वावच्छेदेऽधिकारित्वेन प्राप्तंपतिपर्युदस्यति सायमिति । तथाच देवतामनसैवोद्दिश्येत्याह पन्थमन्त्रमिति । सायंबलिर्मास्तिवति चेन्नेत्याह । वैश्वदेवइति ॥ १२१ ॥

(६) रामचन्द्रः । सिद्धस्यान्त्यस्य सायंसंध्याकाले पत्नी अमन्त्रवद्वलिहरेद्द्यात् । बलिहरणंभूतयज्ञः । विश्वेषां देवानामिदंकर्म वैश्वदेवंनामैतत्सायंकाले प्रातःकालेपिविधीयते । इति नित्यश्राद्धम् ॥ १२१ ॥

पितृयज्ञंतु निर्वर्त्य विप्रश्चेन्दुक्षयेऽग्निमान्॥पिण्डान्वाहार्यकंश्राद्धंकुर्यान्मासानुमासिकम्॥१२२॥

(१) मेधातिथिः । वैश्वदेविकाद्वैकल्पिकाच्छ्राद्धान्नित्यमिदंश्राद्धान्तरमुच्यते । तस्यायंकालनिर्देशः । चन्द्रक्षयेऽभावास्यायां तत्रापि नयस्यांकस्यांचन वेलायां किंताहि पितृयज्ञनिर्वर्त्य श्रुतोयः पिण्डपितृयज्ञस्तंरुत्वा । एवंच यस्तस्यकालः सएवास्यापि लभ्यते । तदुक्तमभावास्यायामपराणहे पिण्डपितृयज्ञइति अनाहिताग्नेरप्यौपासनयोगोऽस्त्येव । तथाचाह एवमनाहिताग्निर्नित्ये श्रपयित्वेत्यादि अग्निमान् वैवाहिकेनाग्निना तद्वान्दायकालात्तदेन वा विप्रग्रहणमविवक्षितम् । क्षत्रियवैश्ययोरपीष्यते । एवंस्मृत्यन्तरेषु इदंविशेषणोक्तंपिण्डान्वाहार्यकमिति । नामधेयमिदमस्य श्राद्धस्य पिण्डानामनुपश्रादाह्नियतेऽनुष्ठीयते । तत्पिण्डान्वाहार्यकंभवति । मासश्चानुमासश्च तयोर्भवंमासानुमासिकम् । मासानुमासशब्दसमुदायोमासगतावीप्सामाचष्टे । मासि मासि कर्तव्यमित्युक्तंभवति । अतश्च नित्यतासिद्धिः । यद्यप्यनुमासशब्दाद्वीप्सावगतिर्भवति मासशब्दोऽतिरिच्यते तथापि पद्यग्रन्थेगौरवंनाद्रियते । श्राद्धमित्येतदपिनामैव । कुर्यादिति विधिः ॥ १२२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पितृयज्ञंपिण्डपितृयज्ञं अग्निमान् । स्मार्तेन श्रौतेन वा । पिण्डेभ्योल्लिपकांमात्रा मन्वाद्धत्य ब्राह्मणाअत्र श्राद्धे भोज्यन्तइति पिण्डान्वाहार्यकं मासानुमासात् कर्तव्यात्पिण्डपितृयज्ञादनुमासिकं मासि मासि कार्यपितृकृत्यंमासानुमासिकमितिप्रसंगाच्चवहारानुगुणंनामद्वयमुक्तम् । विप्रइति क्षत्रियवैश्यकार्यस्य पिण्डपितृयज्ञात्प्रागपि क-

रणे न दोषइत्येतदर्थम् । अतएव उत्तरश्लोके तदामिषेणेति आमिषनियमोक्तिरपि क्षत्रियवैश्यविषयैव । अतएव हि श्लोका-
न्तरप्रयत्नोविप्रपदस्य तत्रान्वयोमाभूदिति । अतएव च पुलस्त्यः मुन्यन्ब्राह्मणस्योक्तं मांसं क्षत्रियवैश्ययोरित्याह ॥ १२२ ॥

(३) कुसूकः । आद्धकल्पं च शाश्वतमित्युक्तमणि कायांप्रतिज्ञातं आद्धकल्पमुपक्रमते पितृयज्ञमिति । साग्रिमा-
वास्यायांपिण्डपितृयज्ञाख्यं कर्म कृत्वा आद्धंकुर्यात् । पितृयज्ञपिण्डानामनु पश्चादाह्वयतइति । पिण्डान्वाहार्यकं आद्धं मा-
सानुमासिकं मासश्चानुमासश्चतयोर्भवंप्रतिमासं कर्तव्यमित्यर्थः । अनेनास्य नित्यत्वमुक्तम् । विप्रग्रहणं द्विजातिपरं । त्रया
णांप्रकृतत्वात् ॥ १२२ ॥

(४) राघवानन्दः । आद्धकल्पं च शाश्वतमित्युक्तम् । तत्र साग्निकस्य कृत्यान्तरमाह पितृयज्ञं त्विति । पितृयज्ञं
सायान्हे पिण्डपितृयज्ञैश्चरन्तीति श्रुत्युक्तं कर्म । चन्द्रक्षये चन्द्रारम्भककलानां क्षयाक्रान्तान्यकलायाममावास्यायां निर्व-
र्त्य कृत्वा । सर्वआद्धप्रकृतिपार्वणश्राद्धस्य पिण्डपितृयज्ञानन्तरभावित्वं नाम्ना प्रथयति पिण्डान्वाहार्यकमिति । पिण्डं
पिण्डपितृयज्ञं तदनु आहार्यं कर्तव्यता यस्य तत् । मासानुमासिकं मासमासंप्रति साध्यम् ॥ १२२ ॥

(५) नन्दनः । एवमहरहः कर्तव्यत्वेन पञ्चमहायज्ञा उक्ताः । इदानींप्रतिमासममावास्यायां कर्तव्यस्य मासिकाख्य-
स्य श्राद्धस्य विधिमुपदिदिक्षन्नाहिताग्नेस्तत्र विशेषतावदाह पितृयज्ञमिति । अग्रिमानाहिताग्निः । विप्रो द्विजः । चन्द्र-
क्षयेऽमावास्यायाम् । पितृयज्ञं श्रौतंपितृपिण्डपितृयज्ञं निर्वर्त्य । पिण्डान्वाहार्यकम् । पितृयज्ञदत्तानांपिण्डानामनुपश्चादा-
हार्यप्रयोज्यम् आहार्यमेवाहार्यकम् । मासानुमासिकम् । प्रतिमासिकंकुर्यात् ॥ १२२ ॥

(६) रामचन्द्रः । अथ आद्धप्रकरणम् । अग्रिमान् विप्रः चन्द्रक्षये अमायां पितृयज्ञपिण्डान्निर्वर्त्य समाम्य मासानुमा-
सिकं पिण्डान्वाहार्यकं त्वपिण्डानां पश्चात् आह्वयतेऽनुष्ठीयते तत्पिण्डान्वाहार्यकं आद्धंकुर्यात् । मासानुमासिकं च ॥ १२२ ॥

पितृणां मासिकं आद्धमन्वाहार्यं विदुर्बुधाः ॥ तच्चाभिषेण कर्तव्यं प्रशस्तेन प्रयत्नतः ॥ १२३ ॥

[ननिर्वपतियः श्राद्धं प्रमीतपितृको द्विजः ॥ इन्दुक्षये मासि मासि प्रायश्चित्ती भवेत्तु सः §]

(१) मेधातिथिः । अन्वाहार्यदर्शपौर्णमासयोः श्रौतयोर्दक्षिणार्त्विजाम् । यदेतन्मासिकं आद्धममावास्यायामेतत्पि-
तृणामन्वाहार्यम् । यथान्वाहार्येणार्त्विजः प्रीयन्ते तद्वत्पितरः श्राद्धेन । एतेन पितृवर्थांश्चाद्धस्याह । यथाग्न्यादिदेवतार्थो-
दर्शादियाग एवं आद्धं पितरः किं तर्हि तदुपकारार्थमेव आद्धम् । तथाच पितृणामिति षष्ठी । केवले हि देवतात्वे चतुर्थ्या-
विरहायोगः । पक्षे पाठान्तरमर्थान्तरं च पिण्डानां मासिकमिति । अन्वाहार्यं विदुर्बुधाः अनेनापि पितृयज्ञवदस्य कर्तव्यतो-
च्यते । न त्विदमङ्गम् । तदेतदामिषेण मासेन कर्तव्यम् । प्रशस्तेनाप्रतिषिद्धेन विशेषविहितेन वा द्वौ मासौ मत्स्यमासेने-
ति यद्वक्ष्यति । अयं च मुख्यः कल्पः तदभावे दधिघृतपयोऽपूपादि विधायिष्यते । मांसं च व्यञ्जनं भक्तादिभोज्यस्य । न पु-
नरेतदेव केवलं भोज्यं येन वक्ष्यति गुणांश्च सूपशाकाद्यांस्तथायावन्तश्चैव यैश्चान्नैरिति । किंपुनः श्राद्धे होमब्राह्मणभोजनपि-
ण्डनिर्वपणादीनि कर्माणि सर्वाण्येव समप्रधानानि आद्धशब्दवाच्यान्युत किंचिदङ्गमत्र किंचित्प्रधानम् । उच्यते आद्धं-
भोजयेच्छ्राद्धं भुक्तमनेनेति सामानाधिकरण्याद्ब्राह्मणभोजनं मुख्यं प्रतीयते ॥ १२३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पिण्डानामिति । पिण्डपितृयज्ञियपिण्डानामनुपश्चादाहार्यं यच्छ्राद्धं तन्मासिकम् । मासि

(१२३) प्रयत्नः = समतन्तः इति केषुचित्पुस्तकेषु । (१२३) पितृणां = पिण्डानां (नं)

§ (ख,) रामचन्द्रेण व्याख्यातः

मासि कर्तव्यत्वान्मासिकसंज्ञमपि विदुः । प्रशस्तेन आद्धयोग्येन । एवं च आद्धान्तरेषु नामिषनियमइति दर्शितम् ॥१२३॥

(३) कुल्लूकः । इदानीनामनिर्वचनेनोक्तमेव पितृयज्ञानन्तर्यद्रव्यति पितृणामिति । इदंमासिकं प्रतिमासभवं आद्ध-
यस्मात्पितृयज्ञपिण्डानामनुपश्वादाह्नियते तेन पिण्डान्वाहार्यकमिदं पिण्डताजानन्ति । ततोयुक्तं पितृयज्ञानन्तर्यमस्य । तच्चा-
मिषेण वक्ष्यमाणमांसेन प्रशस्तेन मनोहरेण पूतिगन्धादिरहितेन प्रयत्नतः कर्तव्यम् । पिण्डानां मासिकं आद्धमिति वा पाठः पि-
ण्डानां पितृयज्ञपिण्डानाम् । शेषंतुल्यम् ॥ १२३ ॥

(४) राघवानन्दः । अत्रादौ वक्ष्यमाणपिण्डकल्पस्तदनु विप्रभोजनकल्पः इदं त्वग्निमतोजीवत्पितृकस्यापि तेन
स्वकंपितर माशयेदिति वक्ष्यमाणसंगच्छते । पार्वणे तु विप्रभोजनानन्तरं पिण्डकल्पउच्छिष्टसंनिधौ चैतत्परस्तात्पिण्ड-
मिष्यतइति । मेधातिथिस्तएतदेवानुवदन् तत्र कर्तव्यविधत्ते पितृणामिति । प्रशस्तेन पाठीनरोहितावाद्यावित्यादिवक्ष्यमा-
णेन ॥ १२३ ॥

(५) नन्दनः । मासिकाख्यस्य आद्धस्यैवाऽयं प्रयोगविधिर्नान्यस्येत्याह पिण्डानामिति । मासिकमेव आद्धं पिण्डा-
नामन्वाहार्यपश्चात्प्रयोज्यं विदुर्बुधानापरम् । तस्य द्रव्यविशेषउत्तरार्धेनोक्तः । आमिषेण मांसेन । प्रशस्तेन वक्ष्यतया-
विहितेन ॥ १२३ ॥

(६) रामचन्द्रः । पितृणां पितृपक्षपिण्डानां मासिकं आद्धं बुधाः अन्वाहार्यसंज्ञं विदुः । अन्वाहार्यं पितृयज्ञपिण्डानाम-
नुपश्वादाह्नियते तत्पिण्डान्वाहार्यकं । तत् आद्धं प्रशस्तेनामिषेणाप्रतिषेधेन कर्तव्यं । द्वौ मासौ मत्स्यमांसेनेति वचनात् ॥ १२३ ॥

[रामचन्द्रः । नेति । प्रसीतपितृः मातृकोयः आद्धं न निर्वपति न करोति । मासिमासि इन्दुक्षये अमायां स प्रायश्चित्ती
भवेत् ॥ १ ॥]

तत्र ये भोजनीयाः स्युर्ये च वर्ज्याद्विजोत्तमाः ॥ यावन्तश्चैव यैश्चानैस्तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः
॥ १२४ ॥

(१) मेधातिथिः । तथाचाह तत्र तस्मिञ्छाद्धे ये द्विजोत्तमा ब्राह्मणाभोजनीया ये च परिहर्तव्या यावन्तो-
यत्संख्याकादौ दैवइत्यादि यैश्चानैस्तैर्ब्रीहियवैरित्यादि तदेतत्सर्वमिदानीं वक्ष्यामि तच्छृणुत । एतदत्र प्राधान्येन
संपाद्यम् एतेन विना आद्धं कृतं भवति । अन्यच्च यच्चाङ्गजातमारादुपकारकं सन्निपत्योपकारकं वा तस्मिन्संपन्ने आद्धं
न कृतं भवति । सगुणतन्मस्यात् । अतएतेषां प्राधान्यख्यापनार्थं पुनरुपन्यासः ॥ १२४ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । द्विजसत्तमाइति शृगुणा मुनीनांसंबोधनम् । प्रयत्नतइति क्वचित्पाठः । द्विजोत्तमाः ।
द्विजेषु त्तमवर्णा ब्राह्मणाइति यावत् ॥ १२४ ॥

(३) कुल्लूकः । तस्मिञ्छाद्धे ये भोजनीया ये च त्याग्या यत्संख्याकायैश्चानैस्तत्सर्वं प्रवक्ष्यामि ॥ १२४ ॥

(४) राघवानन्दः । एकमन्याशये द्विप्रमित्यत्रैकत्वविशिष्टब्राह्मणमात्रं प्राप्तं । आद्धविशेषे तत्प्रत्याचक्षाणः प्रतिजा-
नीते तत्रेति । तत्र पिण्डपितृयज्ञे पार्वणशाद्धे च । ये यत्स्वरूपाः । यावन्तः सङ्ख्ययायैर्मुन्यन्नाद्यैरित्यर्थः ॥ १२४ ॥

(६) रामचन्द्रः । तत्र आद्धे ये भोजनीया भोजनार्हाः स्युः यावन्तोयत्सङ्ख्याका ब्राह्मणाः यैरनैः संस्कार्यास्ता-
नशेषतः प्रवक्ष्यामि ॥ १२४ ॥

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनैकैकमुभयत्र वा ॥ भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्जेत विस्तरे ॥ १२५ ॥

(१) मेधातिथिः । यद्यपि प्रतिज्ञातस्य वस्तुनस्तेनैव क्रमेण विशेषकथनं युक्तं तथापीह स्वल्पवक्तव्य-

त्वाद्भोजनीयाइतिप्रासंपरित्यज्यसंख्यानिर्देशोऽने न क्रियते । देवानुद्दिश्य द्वौब्राह्मणौ भोजयेत् । पितृणांकृत्ये त्रीनु-
भयत्र वा दैवएकंपित्र्येचैकं यद्यपिपित्र्यइत्यत्रपितुरिदमितिपितृशब्देन देवताचोदना तथापि पितृपितामहप्रपितामहा
उद्देश्याः । तत्रैकैकस्यैकैकं भोजयेत् । नत्वेवैकं सर्वेभ्यः पृथक्पृथक्देवतात्वात् । उक्तंच गृह्यकारेण नत्वेवैकंसर्वेषांपिण्डैर्व्या-
ख्यातमिति । यथैकः पिण्डः सर्वेभ्योननिरूप्यते तथैव ब्राह्मणोऽपिनभोज्यतइत्यर्थः । इहापिबुध्यते । निमन्त्रयेत्यवरा-
निति । भोजनार्थमेव तन्निमन्त्रणंनानुष्ठानार्थम् । अतश्च पितृकृत्ये त्रींस्त्रीनितिद्रष्टव्यम् । तथाचाह नचावरान्भोजयेदिति
एवंच कृत्वैकैकमपिपितृणांसमित्येतदप्येवमेवद्रष्टव्यमेकैकस्यैकैकमिति । अपिच नैवात्रैकैकमुभयत्रेत्येतद्विधीयते । वि-
स्तरप्रतिषेधार्थोऽयमनुवादः । यथा विषंभक्ष्य माचास्य गृहे भुङ्क्तेति यद्येवंद्वौदैवइत्येषोऽपि विधिर्नस्यादस्याप्यन्यार्थतयो-
पपत्तेः । अथायंविधिरप्राप्तत्वादेकैकमित्येषोऽपि कस्मान्नभवति । अत्राह माभूद्वयोरैकोऽपि विधिः । कुतस्तर्हि संख्या-
वगमोनिमन्त्रयेत् रुच्यवरानिति । ननु तत्रदैवग्रहणंनस्ति स्मृत्यन्तरात्तर्हि संख्यावगमः अयुजोवायथोत्साहमितिउगमादै-
वइति । यदि वायंसंख्याविधिः स्याद्विस्तरप्राप्तभावात्प्रतिषेधोऽनर्थकः । तस्माद्यावद्भिर्ब्राह्मणेर्भोजितैर्विस्तरे येदोषा-
स्ते न भवन्ति । अत्राह माभूद्वयोरैकोपि तावन्तोभोजनीयाः । पित्र्येऽयुग्माः दैवतुद्वावेव अतिसमृद्धोऽप्यत्यर्थमाक्योऽपि ।
न प्रवर्तेत विस्तरे । नचायमदृष्टार्थोविस्तरप्रतिषेधः ॥ १२५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । त्रीन्पित्रादित्रयार्थंक्रमात्एकैकमिति पित्रादित्रयोद्देशेनैकः वैश्वदेवार्थंचैकमिति । एवंयदा
त्रयःपित्रर्थं तदा वैश्वदेवेऽपि द्वावेवेति नियतम् । विस्तरे स्मृत्यन्तरोक्ते एकैकार्थंत्रयस्त्रयइत्यादौ ॥ १२५ ॥

(३) कुड्मूकः । अत्र यद्यप्युद्देशक्रमेण ये भोजनीयाइति वक्तुमुचितंतथाप्यल्पवक्तव्यत्वाद्ब्राह्मणसंख्यामाह द्वा-
विति । देवश्राद्धेद्वौ ब्राह्मणौ पितृपितामहप्रपिताहानांत्रीन्ब्राह्मणानथवा दैवएकंपित्रादित्रिके चैकंब्राह्मणंभोजयेत् । उक्ता-
तिरिक्तभोजनसमर्थोऽपि नाधिकभोजनेषु प्रवर्तेत । मेधातिथिस्त्वाह । पितृकृत्ये त्रीनिति पितृस्त्रीन्ब्राह्मणान्पितामहस्य
त्रीन्ब्राह्मणान्प्रपितामहस्य त्रीन्ब्राह्मणान्भोजयेत् । एकैकमुभयत्रवेति दैवएकंपित्रादित्रयस्य चैकैकम् । नत्वेकंपित्रादि-
त्रयस्य नत्वेवैकंसर्वेषांपिण्डैर्व्याख्यातमित्याश्वलायनगृह्यविरोधात् । यथैकः पिण्डः पित्रादित्रयस्य न निरूप्यते तथैको-
ब्राह्मणो न भोजयितव्यइत्यर्थः । तस्मान्पित्रादित्रयस्यैकंब्राह्मणभोजनं तदसत् । गृह्यकारेणैव नत्वेवैकं सर्वेषांपिण्डै-
र्व्याख्यातमिति पठित्वा काममनाद्येइत्यभिहितम् । अस्यार्थः बहुपित्रादिदेवताकश्राद्धानामाद्यंसपिण्डीकरणमभिमतंतद्य-
तिरिक्तश्राद्धे काममेकः पित्रादीनांब्राह्मणइत्यर्थः । अथवाऽनाद्येऽदनीयद्रव्याभावएकोऽहि भोजयितव्यः । उभयत्रापि
व्याख्याने पार्वणादौ पित्रादित्रयस्यैकंब्राह्मणभोजनं गृह्यकृतैवोक्तम् । वसिष्ठोपि यद्यैकंभोजयेच्छ्राद्धे दैवतत्रकथंभवे-
त् । अन्नंपात्रे समुद्धृत्य सर्वस्य प्रकृतस्यचदेवतायतने कृत्वायथाविधि प्रवर्तयेत् । प्रास्येदन्नंतदग्नौवादद्याद्वाब्रह्मचारिण-
इति । सर्वेभ्यएकंब्राह्मणभोजनमाह । तस्माद्यथोक्तैवव्याख्या प्रथमे वावशब्दइत्यनेन विस्तरइति प्राप्ते छन्दःसमान-
त्वात्स्मृतीनांसर्वे विधयश्छन्दसिविकल्पन्ते इति विस्तरइतिरूपम् ॥ १२५ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रतिज्ञांव्याकरोति द्वाविति । पितृकृत्ये पितृद्देश्यककृत्ये । त्रीन् पितृपितामहप्रपितामहान् ।
प्रत्येकंतान्प्रतित्रींस्त्रीनिति मेधातिथिः । तेन नव । अथवा पितृकृत्यावच्छेदे त्रीन् । तदुक्तम् । यथैकःपिण्डः सर्वेभ्योन
निरूप्यते । तथैवैकंब्राह्मणोपि न भोजनीयः । मातामहानामप्येवं श्राद्धंकुर्याद्विचक्षणइत्युक्तेः । एवंमातामहपक्षे दैवे पि-

ये च श्रद्धया पितृद्देशेन द्रव्यत्यागं ब्राह्मणस्वीकारपर्यन्तं श्राद्धं । अन्यत्र भाक्तमतः आमावासिकश्राद्धं सर्वश्राद्धप्रकृतिः बहुद्रव्यसंपत्तिमानपि बहुब्राह्मणादि न कुर्यादित्याह । नेति ॥ १२५ ॥

(५) नन्दनः । यावन्तइत्येतद्विवृणोति द्वैदैवइति । विस्तरे संख्याभूयस्त्वे ॥ १२५ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणसङ्ख्यामाह द्वाविति दैवे विश्वेदेवनिमित्तद्वौ विप्रौ पितृकृत्ये त्रीन् पित्रादिस्थाने त्रयस्त्रयः विप्राङ्ग्रेयाः । एकैकमुभयत्र वा पितृणां एकमेकं वा । विश्वेषां देवानां वा एकं एकं ब्राह्मणं भोजयेत् । विस्तरे न प्रसज्येत ये च द्विजावर्ज्यास्युर्वर्जयेत्तान् उक्तान् भोजयेद्विप्रदोषास्ते न भवन्ति ॥ १२५ ॥

सत्क्रियादेशकालौ च शौचं ब्राह्मणसंपदः ॥ पञ्चैतान्विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम् ॥ १२६ ॥

(१) मेधातिथिः । किं तर्हि एतान् दोषानापादयति । विस्तारो नेष्यते । यदि तु शक्यन्ते सत्क्रियादय उपपादयितुं तदा यथोत्साहं सत्क्रियाऽन्नसंस्कारविशेषः । देशोदक्षिणप्रवणादिरवकाशेषु चोक्षेष्वावितवक्ष्यमाणः । कालः अपराहो मध्याह्नाच्चलिते सूर्यइति । शौचमात्मब्राह्मणप्रेष्यगतम् । ब्राह्मणानां संपत् गुणवद्ब्राह्मणलाभः । एते गुणा अवयवसंपादाः । ते च विस्तरेण नश्यन्ति । विस्तारो वैगुण्यम् । ब्राह्मण बहुत्वे चासौ प्रसज्यति । तस्मान्नेहेत न कुर्यात् ॥ १२६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सत्क्रियां पूजां ब्राह्मणानां देशः शुचिः । कालोऽमावास्यादिः । शौचं दातृग्रहीत्रोः । ब्राह्मणसंपदं ब्राह्मणगुणान् । तदुपवेशमाना देशप्राप्तेस्तावद्ब्राह्मणार्चानुरोधेन कालप्राप्तेः श्राद्धासंभवाद्देशकालौ हन्तीत्युक्तं । तस्मान्नेहेतेऽतिवदत्सत्क्रियादिसंभवे बहुत्वं प्रशस्तमिति दर्शयति । अतएव नवावरान् भोजयेदिति गौतमः ॥ १२६ ॥

(३) कुल्लूकः । सत्क्रियां ब्राह्मणस्य पूजादेशं दक्षिणप्रवणत्वादिवक्ष्यमाणं कालमपराहं शौचं श्राद्धकर्तृभोक्तृब्राह्मणप्रेष्यगतं गुणवद्ब्राह्मणालाभं च ब्राह्मणविस्तारो नाशयति । तस्माद्ब्राह्मणविस्तारं न कुर्यादिति सत्क्रियादिविरोधतो ब्राह्मणविस्तारनिषेधात् सत्क्रियादिसंभवे पित्रादेरेकैकस्यापि ब्राह्मणत्रयाभ्यनुज्ञानम् । अतएव गौतमः नवावरान् भोजयेदयुजोवायथोत्साहम् । बहुचगृहकारोऽपि अथातः पार्वणश्राद्धे काम्य आभ्युदयिक एकोद्दिष्टे ब्राह्मणानित्युपक्रम्य एकैकमेकैकस्य द्वौ द्वौ त्रींस्त्रीन्वा वृद्धौ फलभूयस्त्वमित्याह द्वौ द्वावित्याभ्युदयिकश्राद्धविषयं स्मृत्यन्तरेषु तथाविधानादत्राप्याभ्युदयिकमित्युपक्रमाच्च ॥ १२६ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव निन्दार्थवादमाह सत्क्रियामिति । सत्क्रियां ब्राह्मणपूजां । देशं दक्षिणप्रवणादि । कालं अपराह्णादि । शौचं तत्कर्तृभोक्तोः स्नानादि । ब्राह्मणसंपत् गुणवद्विप्रलाभः । एतान् पञ्च विस्तरः उक्तानां बाहुल्यं हन्तीति योजना ॥ १२६ ॥

(६) रामचन्द्रः । सत्क्रियाऽन्नसंस्कारविशेषः । देशोदक्षिणाप्रवणं । कालः कुतुपादिः । शौचं आत्मब्राह्मणगतं । यद्वा मृत्तिकागोमयभस्मादिगृहोपस्करशुद्धिः । ब्राह्मणसंपदं ब्राह्मणसमूहं । श्राद्धे विस्तरो बाहुल्यं एतां सत्क्रियादिपञ्च हन्ति नाशयति तस्य विस्तरं नेहेत न कुर्यात् । विस्तरं ब्राह्मणानां बाहुल्यम् ॥ १२६ ॥

प्रथिता प्रेतकृत्यैषा पित्र्यं नाम विधुक्षये ॥ तस्मिन् युक्तस्यैति नित्यं प्रेतकृत्यैव लौकिकी ॥ १२७ ॥

(१) मेधातिथिः । न यथा दैवानि कर्माण्यदेवतार्थान्येव पित्र्यं नाम तत्कर्मैतत् । विधुक्षये तस्मिन् युक्तस्यैति नित्यं प्रेतकृत्यैवलौकिकी न यथा दैवानि कर्माणि किं तर्हि प्रथिता ख्याता वेदविदाम् । प्रेतकृत्या प्रेतोपक्रिया । विधुक्षये विधुश्चन्द्रस्तस्यक्षये । अमावास्यातिथिक्षयइति पाठान्तरम् । विधुक्षयइति तु पाठो निर्दुष्टः । एवं हि तत्र योजनम् । पित्र्यं नाम वि-

धिचोदितं कर्म क्षये गृहेतस्मिन् कर्मणि । पित्र्येयुक्तस्य तत्परस्य नित्यकर्तृरुपतिष्ठते । प्रेतकृत्यैव तस्यापि प्रेतस्य कृत्योपकारः श्राद्धादि पुत्रैः क्रियते । पुत्रपौत्रादिसंतत्यविच्छेदः श्राद्धफलमनेन प्रकारेण प्रतिपद्यते । न च तत्फलकामस्याधिकारो नित्यत्वस्य प्रतिपादितत्वात् । अन्ये त्वधिकारान्तरमिदं संतत्यविच्छेदकामस्येच्छन्ति । लौकिकीयं कर्तव्यतास्मार्तेत्यर्थः ॥ १२७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एषा या प्रेतमुद्दिश्य क्रिया प्रेतक्रिया क्षये चन्द्रस्यविधोःविहिता कार्यत्वेन पित्र्यं नाम पितृसंज्ञया प्रसिद्धं तस्मिन् युक्तस्यैव पुंसो नित्यमिह कर्मभूमौ लौकिकी विशिष्टलोकप्राप्तिनिमित्ताप्रेतकृत्या नित्यश्राद्धरूपा एति आगच्छति तदधिकारे सति तत्कर्तुरेव नित्यश्राद्धेऽधिकारो नान्यस्येत्यर्थः । क्वचित्प्रेतकृत्यैव लौकिकीऽति पाठः । तत्र तस्मिन् युक्तस्यैवेत्यन्वयः । केचिदत्र श्राद्धउद्युक्तस्य लौकिकी प्रेतकृत्या परायति निवर्तते तदकरणेऽपि प्रत्यवायाभावइत्यस्यार्थमाहुः ॥ १२७ ॥

(३) कुल्लूकः । यदेतत्पित्र्यं कर्म श्राद्धरूपं प्रथममियं प्रख्याताप्रेतकृत्यापित्रुपकारार्था क्रिया । प्रकर्षेण इतः प्रेतः पितृलोकस्थ एवोच्यते । विधुक्षयेऽमावास्यायां तस्मिन् पित्र्ये कर्मणि युक्तस्येतत्परस्य लौकिकी स्मार्तिकी प्रेतकृत्या पित्रुपकारार्था क्रिया गुणवत्पुत्रपौत्रधनादिफलप्रबन्धरूपेण कर्तारमुपतिष्ठते तस्मादिदं कर्तव्यम् । गोविन्दराजेन तु विधिः क्षयइति पठितं व्याख्यातं च । योऽयं नामविधिः पित्र्यं कर्मेति । क्षये चन्द्रक्षये गृहे वातदसांप्रदायिकम् । मेधातिथिप्रभृतिभिर्गोविन्दराजादपि वृद्धतरैरनभ्युपेतत्वात्क्षयइति संबन्धकेशाच्च ॥ १२७ ॥

(४) राघवानन्दः । श्राद्धस्य संज्ञान्तरं कुर्वन्तत्कर्तुरानृण्यमाह प्रथितेति । प्रथिता प्रख्याताप्रेतकृत्या पित्रुपकारार्था क्रिया । विधुक्षये अमावास्यायां लौकिकी स्मार्ता । तस्मिन् युक्तस्य श्राद्धधानस्य नित्यं पुत्रपौत्रादिफलप्रबन्धेन श्राद्धधानं कर्तारंप्रत्येतीत्यर्थः ॥ १२७ ॥

(५) नन्दनः । विस्तरवर्जने कारणान्तरमप्यस्तीत्यभिप्रायेणाह प्रथितेति । विधुक्षये चन्द्रक्षये । यत्पित्र्यं नाम कर्म क्रियते साक्षेपप्रेतकृत्येति प्रथिता लोके प्रसिद्धा । प्रेताः पितृपितामहादयस्तदर्थक्रिया प्रेतकृत्या प्रेतनिःश्रेयसकरी क्रियेति यावत् । लौकिकी लोकविदिता सैषा प्रेतकृत्या । तस्मिन् विस्तरे सति । युक्तस्य सावधानस्य श्राद्धधानस्येति यावत् । इह विधुक्षये नित्यं प्रतिमासमेत्यागच्छति कर्तव्यत्वेनोपतिष्ठते ह्यस्मात् । किमुक्तं भवति अमावास्यायां श्राद्धप्रेतवृत्तिहेतुरिति प्रसिद्धम् । तच्च यदा कदाचिन्नक्रियते किंतु प्रतिमासमनतिपातनीयमेव प्रतिमासविस्तरेण प्रसक्तिरतिपातकदाचिदापादयेत् । तस्माद्विस्तरेण न प्रसज्येतेति ॥ १२७ ॥

(६) रामचन्द्रः । एषा प्रेतकृतिः पितृक्रियाकर्म विधुक्षये अमायांप्रथिता प्रसिद्धा तस्मिन् न्वाहार्यके पित्र्ये कर्मणि नित्यं युक्तस्य पुंसः इष्टश्राद्धे कर्मणि लौकिकक्रिया प्रेतकृत्या मृतस्य सत्कारः श्राद्धपुत्रादिभिर्दत्ताकृतकृत्यतामेति प्राप्नोति । प्रेतकृत्येषेति वा पाठः ॥ १२७ ॥

श्रोत्रियायैव देयानि हव्यकव्यानि दानृभिः ॥ अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम् ॥ १२८ ॥

(१) मेधातिथिः । श्रोत्रियः छांदसः कृत्स्नमंत्रब्राह्मणिकांशांशां अधीतेयस्तस्मै हव्यानि श्राद्धांगभोजनानि विश्वान्देवानुद्दिश्य यानि विहितानि तानि देयानि । कव्यानि पितृम्यउद्दिश्य यानि भोजनानि । अर्हत्तमाय अर्हता पूज्यता योग्यता च । महाकुलीनः पूज्यते महाकुले जातो विद्यावृत्तसंपन्नश्च तस्मै दत्तं श्राद्धादन्यदपि महाफलं । एवं चाश्रोत्रियाय दानं निष्फलं । अश्रोत्रियाय अभिजनविद्यादिगुणरहिताय त्वल्पफलमर्हत्तमाय महाफलं ॥ १२८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । हव्यं वैश्वदेविकमन्नं । कव्यं पित्र्यं । अर्हत्तमाय वृत्तसंपन्नादपि पूज्याय श्रोत्रियाय ॥ १२८ ॥

(३) कुड्मूकः । छन्दोमात्राध्यायी श्रोत्रियस्तस्मै दैवपित्र्यान्नानि यत्नतोदेयानि । अर्हत्तमाय श्रुताचाराभिजनानिः पूज्यतमाय तस्मै दत्तमहाफलंभवति ॥ १२८ ॥

(४) राघवानन्दः । यावन्तइत्युक्त्वा ये भोजनीया इत्युक्तं तानाह श्रोत्रियायेति । वेदाध्यायी श्रोत्रियः । हव्यं होमउत्तराप्रतिपत्तिर्यस्य तदुपलक्षितं देवदेयं । कव्यं कवेः पुत्राहविष्मन्तः श्राद्धदेवास्तदुपलक्षितं पितृदेयं । श्रोत्रियएव श्रुताचारादिसंपन्नोर्हत्तमः ॥ १२८ ॥

(५) नन्दनः । येभोजनीया स्युर्येवर्ज्याइतियदुक्तं तच्छ्लोकद्वयेन विवृणोति श्रोत्रियायेति । तत्र हव्यग्रहणंप्रासङ्गिकं श्राद्धाङ्गवैश्वदेवविषयंवा । अर्हत्तमायपूज्यतमाय ॥ १२८ ॥

एकैकमपि विद्वांसंदैवे पित्र्ये च भोजयेत् ॥ पुष्कलंफलमामोति नामंत्रज्ञान्बहूनपि ॥ १२९ ॥

(१) मेधातिथिः । यदुक्तमर्हत्तमायेतितद्दर्शयति । विद्वांसमेकमपिभोजयेत् । पुष्कलंफलमामोति । विद्वत्ताचव्याख्याता । वेदार्थवेदनंयतआह नामंत्रज्ञान्बहूनपि मंत्रग्रहणंवेदोपलक्षणार्थं असंभवेपंचानांवेदविदुषामेकैकमपिविद्वांसंभोजयेदितिविध्यर्थः । पुष्कलंपुष्टंविपुलं ॥ १२९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विद्वांसंवेदज्ञम् ॥ १२९ ॥

(३) कुड्मूकः । दैवपित्र्ययोरेकैकमपि वेदतत्त्वविदंब्राह्मणंभोजयेत् । तदापि विशिष्टंश्राद्धफलंप्राप्नोति नत्वविदुषोऽबहूनपि एवंच फलश्रवणाद्ब्राह्मणभोजनमेवप्रधानं पिण्डदानादिकं त्वङ्गमिति गोविन्दराजः । वयंतुपिनुद्देशेनद्रव्यत्यागं ब्राह्मणस्वीकारपर्यन्तं श्राद्धशब्दवाच्यं प्रधानं ब्रूमः । तदेव मनुना पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यादिति विहितं । आपस्तम्बेन तु मन्वर्थस्यैव व्याख्यातत्वात् । तदाह आपस्तम्बः तथैतन्मनुः श्राद्धशब्दं कर्मप्रोवाच प्रजानिः श्रेयसार्थं तत्र पितरो देवता ब्राह्मणस्त्वाहवनीयार्थं मासिमास्यपरपक्षस्यापराहः श्रेयानिति । श्राद्धशब्दं श्राद्धमिति शब्दोवाचकोयस्यतत्तथा ब्राह्मणस्त्वाहवनीयार्थं आहवनीयवच्यं तद्रव्यप्रतिपत्तिस्थानत्वात्पितरो देवता इति नियतपितृदेवताकत्वाच्च श्राद्धस्य । देवताश्राद्धादौ श्राद्धशब्दस्तु तद्धर्मप्राप्त्यर्थो गौणः कौण्डपायिनामयनइवाग्निहोत्रशब्दः । पुष्कलंफलंप्राप्नोति इति तु पुष्टतरफलार्थिनो गुणफलविधिः । सभोजनस्याङ्गत्वेऽपि तदाभ्रयोनविरुद्धः आपस्तम्बोभ्यधाच्छ्राद्धं कर्मैतत्पितृदेवतम् । मन्वर्थकथयंस्तस्मान्नेदं ब्राह्मणभोजनम् ॥ १२९ ॥

(४) राघवानन्दः । एवंविधानामसंपत्तावेकोपि महाफलदइत्याह एकैकमिति । विद्वांसं गायत्र्यर्थविदमित्युक्तं । विदुषअलाभे प्रतित्रिकं व्यावर्तयति नत्वेकैकमिति भावः । अमन्त्रज्ञानविदुषः ॥ १२९ ॥

(६) रामचन्द्रः । बहूनपि । अमन्त्रज्ञानं वेदाध्ययनरहितानइत्यर्थः ॥ १२९ ॥

दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम् ॥ तीर्थं तद्व्यकव्यानां प्रदाने सोतिथिः स्मृतः ॥ १३० ॥

(१) मेधातिथिः । नवेदपारगइत्येवभोजयितव्यः । किं तर्हि दूरात्परीक्षेत निपुणतोमातापितृवंशद्वयपरिशुद्धिज्ञानं यथोक्तं येमातृतः पितृतश्चदशपूरुषं समनुष्ठितविद्यातपोभ्यां पुण्यैश्चकर्मभिः येषामुभयतो ब्राह्मण्यनिर्णयेयुरित्येषा दूरात्परीक्षा । तथातत्त्वतोध्ययनविज्ञानकर्मनुष्ठानवेदनं च । वेदस्यपारगः समाभिगः वेदपारगः नवेदसंहितांब्राह्मणमात्रं वा पठन् हर्षो-

भवति । अस्मादेवदर्शनान्श्रोत्रियशब्देन वेदैकदेशमप्यधीयानउच्यतइतिगम्यते । तीर्थतद्धव्यकव्यानांतीर्थमिवतीर्थं येनोदकंप्रहीतुमवतरंतितत्तीर्थं तेनयथामार्गेणोदकार्थिनोगच्छंतउदकंलभंते एवंतादृशेनब्राह्मणेनहव्यकव्यानिपितृन्गच्छंतीतिप्रशंसा । अन्यस्मिन्नपि दृष्टापूर्तदानेनब्राह्मणोयथातिथिर्यथातिथयेस्वयमुपस्थितायनिर्विचिकित्संदीयते दत्तमहाफलं । एवमीदृशायब्राह्मणायहव्यकव्येनिर्विचिकित्संदातव्ये महाफलेभवतः ॥ १३० ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । दूरादूरग्रामस्थमपि परीक्षेतानुसंदध्यात् । तीर्थमवतरणवर्त्म सोतिथिःस्मृतइति प्रसंगादवेदज्ञस्य वैश्वदेवान्तागतस्यापि अतिथित्वाभावउक्तः । यत्तुनपृच्छेद्भोत्रचरणमिति स्मृत्यन्तरउक्तम् तत्साक्षात्प्रश्ननिषेधार्थं । नतुप्रकारान्तरेणापि तदज्ञाननिषेधे तात्पर्यम् ॥ १३० ॥

(३) कुड्डूकः । दूरादेव पितृपितामहाद्यभिजनशुद्धिनिरूपणेन कृत्स्नशाखाध्यायिनंब्राह्मणंपरीक्षेत । यस्मात्तथाविधोब्राह्मणोहव्यादीनांतीर्थपात्रंप्रदाने । सोतिथिरेवमहाफलप्राप्तेर्हेतुत्वात् ॥ १३० ॥

(४) राघवानन्दः । छन्दोमात्राध्यायी पितृपितामहतः संभावित दोषेन ग्राह्यइत्याह । दूरादितिपरीक्षेत परीक्षणं दोषाभावोपलक्षिताचारादेरीक्षणम् । तीर्थं पात्रं तत्र हव्यंचतुरवत्तंजुहोतीति । कव्यं कविर्नाम पितृणां जनकस्तस्मै । अर्हति कविरुपलक्षणं । मरीच्यादीनाम् । तस्यैव कार्यान्तरार्थं । धर्मान्तरमाह सइति प्रदाने श्राद्धस्येति शेषःएतेनातिथ्यर्चाफलमप्यसूचि ॥ १३० ॥

(५) नन्दनः । यतएवंतस्माद्विद्वानेवान्वेक्ष्यइत्याह दूरादिति । दूरादेव पात्रपरिग्रहकालात्पूर्वमेवविद्यादिभिः परीक्षेतेत्यर्थः । तीर्थउत्तमपात्रम् । सोऽतिथिरतिथितुल्यः भोजनस्य पात्रंहतिथिः । तेनायमपिभोजनस्यपात्रमित्यर्थः । अथवाऽतिथिशब्देन कालोलक्ष्यते । यस्यतिथिर्नविद्यते सोऽतिथिः । तस्यार्हत्तमस्य पात्रस्य हव्यकव्यप्रदानकालः प्रतिपालयितव्योनास्तीत्यर्थः । तथाचमहाभारते श्राद्धस्य ब्राह्मणः कालइति ॥ १३० ॥

(६) रामचन्द्रः । दूरादेव ब्राह्मणं वेदपारंगंपरीक्षेत पितृपितामहपूर्वकं । देवलः पुरुषत्रयविरख्यातंश्राद्धे विप्रंनियोजयेत् । कीदृशं ब्राह्मणं तस्य श्राद्धस्य संबन्धीनि हव्यकव्यानि तेषां तद्धव्यानांप्रदानेतीर्थम् । तीर्थमुदकावतरणमार्गः । यथातीर्थेनोदकंप्राप्यते तथा तादृशैर्ब्राह्मणैर्हव्यकव्यानि पितृन्गच्छन्तीति प्रशंसा । स ब्राह्मणअतिथिः स्मृतः अतिथितुल्यः ॥ १३० ॥

सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुंजते ॥ एकस्तान्मन्त्रवित्प्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः ॥ १३१ ॥

(१) मेधातिथिः । अनृचांअनृगर्थविदांउपलक्षणंक्रचोयतोनृचानांप्राप्तिरेवनास्तिश्रोत्रियायैवेतिनियमात् । सभासांतःछांदसत्वान्नकृतःवृत्तानुरोधाच्चएवंहिपठंति । अपिमार्षमर्षंकुर्यान्नतुल्लंघोविचालयेदिति । अथवाअनृचाइतिप्रथमाबहुवचनं । अनृचाःसहस्रंयथाभुञ्जतइतिसंबन्धः । यथासहस्रंगावइति । एकःप्रीतस्तर्पितोभोजितोमन्त्रविद्वेदार्थवित्सर्वस्तान्अनृचानर्हति स्वीकरोति । तैरभेदमापद्यते अभेदेच यत्तेषुसहस्रेषुभोजितेषुफलंतदेकस्मिन्नवाप्य पतेइत्यवगतिरुत्पद्यते । निन्देयमविदुषोविद्वद्विध्यर्था नपुनःसहस्रसंख्यातानामेकस्यचसमफलत्वमुच्यते । विदुषांविधानादविदुषांप्राप्तिरेवनास्ति अथाप्यस्तिविदुषिश्रोत्रियायैवेत्यनेनपाक्षिकीअविदुषोपिप्राप्तिराशंक्यते तथापिविस्तरस्यप्रतिषेधोमाभूदित्यतोयथाश्रुतार्थसंभवः ॥ १३१ ॥

(१) रेव=रिव (अ)

(१३१) सहस्रं हि=सहस्राणि (ब, र)

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनृचाममत्त्राणां यत्र येषु हव्यकव्येषु तान् तानि हव्यकव्यानि लिङ्गव्यत्ययच्छान्दसः । युक्तो नियुक्तः । धर्मत औचित्येन ॥ १३१ ॥

(३) कुड्मूकः । यत्र श्राद्धे ब्राह्मणानामवेदविदां दशलक्षाणि भुञ्जते तत्रैको वेदविद्भोजनेन परितुष्टो धर्मतो धर्मोत्पादनेन तान्सर्वानर्हति स्वीकर्तुं योग्यो भवति । तद्भोजनजन्यं फलं जनयतीत्यर्थः । छान्दसत्वादेकवचनम् । अथवा बहुवचनानां स्थाने सहस्रमिति मनोरभिमतम् । गोविन्दराजस्त्वाह सहस्रं गच्छन्तु भूतानीति वेदे ॥ १३१ ॥

(४) राघवानन्दः । श्राद्धे वेदपारगं विदधत्फलतः अनृचां दशलक्षतस्तस्याधिक्यमाह सहस्रमिति । अर्हति दशलक्ष ब्राह्मणभोजनजन्यफलदइत्यर्थः । धर्मतः अदृष्टबलतः प्रीतः श्राद्धेन तुष्टः ॥ १३१ ॥

(५) नन्दनः । इदानीमविद्वद्विदुषो वैषम्यमुक्त्वा र्थावादास्थापनमाह सहस्राणीति । यत्र हव्यकव्यदानकर्मणि । अनृचाममत्त्रविदाम् । सहस्राणां सहस्राणि भुञ्जते । मत्त्रविद्वेदार्थवित् । भुङ्क्ते चेति विपरिणामः । तत्र तान् भुक्तवतः सर्वानृचः समत्त्रविद्धर्मतोऽर्हति । तस्य तेषां भोजनं फलतस्तुल्यमित्यर्थः । पात्रे खलु दात्रास्वमलं भृज्यते तच्च शुद्धे तस्मिञ्छक्यते प्रमादुर्नत्वशुद्धइति १३१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनृचां अनृचपाठानां यत्सहस्रेषु भोजितेषु फलं तदेकस्मिन् न वाप्यते ॥ १३१ ॥

ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि कव्यानि च हवींषि च ॥ न हि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरेणैव शुध्यतः ॥ १३२

(१) मेधातिथिः । ज्ञानेन विद्यया उत्कृष्टा अधिका तैर्भ्यो देयानि कव्यानि । तैर्यदर्थं श्राद्धमारब्धं संदीमान् तमायः पिण्डान्यमपुरुषैराश्रयते । अयमसौ हस्तरुधिरदिग्धोपमार्थः रुधिरदिग्धौ रुधिरेणोपभृज्यमानावधिकतरं रज्येते । न निर्मलौ भवतः । एवमविद्वान्ब्राह्मणः भोज्यमानः पितृन्धोनयतितरां पाठान्तरं प्रेत्येति भोक्तुरेव प्रेत्यता । नाविदुषादैव पित्र्ययोर्भोक्तव्यम् ॥ १३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । न हि श्राद्धाकरणजन्यप्रत्यवायित्वमवेदज्ञताप्रत्यवाययुक्तविप्रभोजनेन शुध्यतीत्यर्थः १३२

(३) कुड्मूकः । विद्ययोत्कृष्टेभ्यो हव्यानि कव्यानि च देयानि न मूर्खेभ्यः । अर्थान्तरन्यासो नामालङ्कारः । न हि रक्ताक्तौ हस्तौ रक्तेनैव विशुद्धौ भवतः किंतु विमलजलेन एवमूर्खभोजनेन जनितदोषं न मूर्ख एव भोजितोपहन्ति किंतु विद्वान् ॥ १३२ ॥

(४) राघवानन्दः । अनृचां फलराहित्यं दृष्टान्तेन वदन् वेदज्ञमनुवदति ज्ञानेति । ज्ञानं वेदार्थज्ञानमुत्कृष्टं यस्य तस्मै । कव्यानि पितृदेयानि हवींषि देवदेयानि असृग्दिग्धौ रुधिरलिमौ रुधिरेण न शुध्यत एवमज्ञोऽफलदइति भावः ॥ १३२ ॥

(५) नन्दनः । दृष्टान्तेन सूचयन्नाह ज्ञानेति ॥ १३२ ॥

(६) रामचन्द्रः । ज्ञानोत्कृष्टाय विप्राय कव्यानि पितृणां देयानि हवींषि देवानां देयानि । असृग्दिग्धौ असृक्स्पृष्टौ हस्तौ रुधिरेण नैव शुध्यतः । रुधिरेणैव प्रक्षालितं शुध्यतीत्यर्थः ॥ १३२ ॥

यावतो यसते यासान् हव्यकव्येष्वमन्त्रवित् ॥ तावतो यसते प्रेत्य दीप्तशूलर्ष्ययोगुडान् ॥ १३३ ॥

(१३३) दीप्तशूलर्ष्ययोगुडान् = दीप्ताञ्जुलर्ष्ययोगुडान् (क, घ, च, ज, झ, ढ)

= दीमान्स्थूलानयोगुडान् (ख, ग, ज)

(१) मेधातिथिः । सत्यपिपकरणेवाक्याद्भोक्तुरयंदोषानुवादः । तथाचोक्तं तस्मादविद्वान्बिभ्रियान् यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहादिति । शूलर्ष्ययोआयुधविशेषेअयोलगुडःआयसःपिण्डः व्यासदर्शनात्तुभोजयितुरयंदोषोभोक्तुः नपितृणांनतावनृतानामन्यकृतेनप्रतिषेधातिक्रमेणदोषसंबन्धोयुक्तः कृताभ्यागमादिदोषापत्तेः यदिहिपुत्रेणतादृशोब्राह्मणोभोजितःकोपराधोमृतानांननुचोपकारोऽपिपुत्रकृतःपितृणांअनेनन्यायेननप्राप्नोति । नप्राप्तुयाद्यदितादर्थ्येनश्राद्धादिनोदितंस्यात् । इहतुनास्तिचोदना पितुरुपकारकामिनैवकर्तव्यंस्यात् श्येनवत् । यत्तुतावतोग्रसतेप्रेतइतितद्भोजयितृसंबन्धेप्युपपद्यते । यस्यब्राह्मणईदृशःश्राद्धंभुङ्केसइदंफलमाप्नोतिइतियुक्तःसंबन्धः । प्राकरणिकश्चायंअविद्वद्भोजनप्रतिषेधस्तदतिक्रमणेकर्मवैगुण्यंतद्वैगुण्येचश्राद्धाधिकारान्निवृत्तिरेषदोषः । पितृणांश्राद्धोपकारालाभःततोपिविध्यतिक्रमेपुत्रस्ययुक्तःप्रत्यवायः किंतुहितद्भवतोव्यासस्यवचनं । ग्रसतेयावतःपिण्डान्यस्यवैहविषोविदः । ग्रसतेतावतःशूलान्गत्वावैवस्वतक्षयं ॥ १३३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतेनामन्त्रज्ञस्य भोक्तुरपि प्रत्यवायितोक्ता । ऋष्टिः खड्गः अयोगुडोलोहगुडकः ॥ १३३ ॥

(३) कुल्लूकः । अविद्वन्निन्दया विद्वदानमेवोक्तं वक्रोक्त्यास्तौति यावतइति । यत्सङ्गकान्प्रासान्हव्यकव्येष्वेदविद्वद्भुङ्के तत्सङ्ख्याकानेव प्रकृतश्राद्धकर्ता ज्वलितशूलर्ष्याख्यायुधलोहपिण्डान्ग्रसते । श्राद्धकर्तुरेवेदमविद्वदानफलकथनम् । तथाच व्यासः । ग्रसते यावतः पिण्डान् यस्यवै हविषोऽनृचः । ग्रसते तावतः शूलान्गत्वा वैवस्वतक्षयम् ॥ १३३ ॥

(४) राघवानन्दः । न केवल मेवं प्रत्यवायोपि स्यादित्याह यावतइति । यावतोयावत्सङ्ख्याकान् पिण्डाकारान् ग्रासान् । अमन्त्रविद्वेदाध्यायी भुङ्के तावतः शूलर्ष्ययोगुडान् शूलकारा ऋष्टिरस्त्रं तथा युक्तान् लोहमयान् गुडान् गुडपिण्डाकारान् ग्रासान् तावतः तावत्सङ्ख्याकान् प्रेत्य श्राद्धकर्तैति शेषः । तथा व्यासः ग्रसते यावतः पिण्डान् यस्य वै हविषोऽनृचः । ग्रसते तावतः शूलान् गत्वा वैवस्वतक्षयमिति ॥ यत्तदोर्नित्यसंबन्धात् ॥ १३३ ॥

(५) नन्दनः । न केवलंभोजयित्रैव भोजने ज्ञानहीनो वर्जनीयःकिन्तुज्ञानहीनेनापिस्वयमेव सुतरांभोजनंवर्जनीयमित्याह । यावतइति । दीमानग्निमयान् । अयोगुडान्गुडोद्विमुखंफलंशरायम् ॥ १३३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अमन्त्रविद्विप्रःवेदाध्ययनरहितः । हव्यकव्येषु यावतःपिण्डान्ग्रसते ग्रासान् यावतोग्रसते । तावतःदीमान्शूलान् अयोगुडान् अयोलगुडान्ग्रसते । यस्य ब्राह्मणईदृशः श्राद्धोभुङ्के सइदंफलमाप्नोतीतिवा । अविद्वान्भोजने प्रतिषिद्धः ॥ १३३ ॥

ज्ञाननिष्ठाद्विजाः केचित्तपोनिष्ठास्तथापरे ॥ तपःस्वाध्यायनिष्ठाश्च कर्मनिष्ठास्तथापरे ॥ १३४ ॥

(१) मेधातिथिः । सर्वगुणेश्वोविद्याप्रशंसितुंगुणविभागकथनप्रशंसाचविदुषेदानार्था । ज्ञानेविद्यायांनिष्ठा । प्रकर्षोयेषांतेज्ञाननिष्ठाः ज्ञानाधिकारिणः गमकत्वाद्यधिकरणानामपिबहुव्रीहिःभृशमभ्यस्तवेदार्थास्तत्पराएवमुच्यन्ते । एवंसर्वत्रनिष्ठान्तेषुद्रष्टव्यं । तपश्चस्वाध्यायश्चेतिद्वन्द्वगर्भाबहुव्रीहिः तपांसिचान्द्रायणादीनिस्वाध्यायोवेदाध्ययनं कर्माण्यग्निहोत्रादीनि । सर्वएतेगुणाःसर्वेषुसमुच्चिताइतिद्रष्टव्याः । नहिएकगुणःसद्भावइतरगुणहीनस्यपात्रतामापादयति किंतुकस्यचित्कोपिप्रकर्षउच्यते । यथाचनिष्ठाशब्दःसमाप्तिवचनःप्रकर्षलक्षयति तस्मिन्निष्ठस्तत्परउच्यते सर्वगुणसद्भावेपिपयितत्रप्रकर्षोस्त्येवगुणाःमध्यमाःतथाचभवत्येवपात्रंअप्रकृष्टेत्वेकस्मिन्सर्वगुणसद्भावेपिपात्रतांलभते । समुच्चयश्चव्याख्यायते तेनज्ञानरहितस्यकर्मानुष्ठानसद्भावइत्युक्तंद्वितीये । अन्यैस्तुज्ञाननिष्ठपरिव्राजकोव्याख्यायते । तस्यहिआत्मज्ञानाभ्यासः कर्मन्यासेनविशेषतोविहितः तपोनिष्ठोवानप्रस्थःसहितापसइत्याख्यायते । ग्रीष्मेपञ्चतपास्तुस्यादिति । तपःस्वाध्यायनि-

ज्ञाः ब्रह्मचारिणः कर्मनिष्ठा गृहस्थाः अतश्चनाश्रमिणो निषिध्यन्ते । तथाच पौराणिकाः चातुराश्रम्यवासेभ्यः श्राद्धं नैव प्रयोजयेत् ॥ १३४ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । ज्ञानमात्मज्ञानं तन्निष्ठा यतयः । तपश्चान्द्रायणादि तन्निष्ठा वनस्थाः । तपोगुरुशुश्रूषादि स्वाध्यायोवेदाध्ययनं तन्निष्ठा ब्रह्मचारिणः । कर्म यज्ञादि तन्निष्ठा गृहस्थाः । अत्राश्रमिवाचि यतय इति पदव्यागेन ज्ञाननिष्ठादिपदेन तदभिधानमाश्रमान्तरवर्तिनां ज्ञाननिष्ठत्वादिगुणवतां प्राप्स्यर्थम् । एतेन वानप्रस्थानां श्राद्धभोजनं गम्यते ॥ १३४ ॥

(३) कुड्डूकः । केचिदात्मज्ञानपरा ब्राह्मणा भवन्ति । अन्ये प्राजापत्यादितपः प्रधानाः । अपरे तपोध्ययननिरताः । इतरे यागादिपराः ॥ १३४ ॥

(४) राघवानन्दः । ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि कव्यानि च हवींषि चेत्युक्तम् । तत्रैव व्यवस्थितविषयार्थतत्पात्राण्यनुवदन्व्यवस्थितिमाह ज्ञाननिष्ठा इति द्वाभ्यां । ज्ञानमध्यात्मं तपश्चान्द्रायणादि स्वाध्यायोवेदाभ्यासः । कर्माग्निहोत्रादि तन्निष्ठास्तदेकशरणाः ॥ १३४ ॥

(५) नन्दनः । हव्यकव्ययोः पात्रविशेषे नियमवक्तुं पात्रवैविध्यं तावदाह ज्ञानेति । ज्ञाननिष्ठाः अध्यात्मज्ञानिनः । तपोनिष्ठाः रुच्छ्रचान्द्रायणादिप्रधानाः । स्वाध्यायज्ञाननिष्ठा मन्त्रब्राह्मणार्थविदः कर्मनिष्ठायाज्ञिकाः ॥ १३४ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्वाभ्यामाह ज्ञाननिष्ठा इति । ज्ञाननिष्ठाः संन्यासिनः । तपोनिष्ठाः वानप्रस्थाः । तपः स्वाध्यायनिष्ठा ब्रह्मचारिणः । कर्मनिष्ठाः गृहस्थाः ॥ १३४ ॥

ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः ॥ हव्यानि तु यथान्यायं सर्वेष्वेव चतुर्वर्षि ॥ १३५ ॥

(१) मेधातिथिः । गुणविभागे प्रयोजनमाह । कव्यानि पितृनुद्दिश्य यद्दीयते तत्कव्यं । तानि ज्ञाननिष्ठेषु प्रतिष्ठाप्यानि प्रदेयानीत्यर्थः । यत्नवचनात्तदभावे चतुर्वर्षिहव्यवत् पित्र्ये ज्ञाननिष्ठाः पात्रतमाः । उक्तं हि पात्राणामपि तत्पात्रं इति । अन्नदानमविशेषेण चतुर्भ्योऽपि इति श्लोकार्थः । न्यायः शास्त्रीयो विधिः ॥ १३५ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । किंतु वन्याहारेणैव तत्कर्तव्यमिति यत्नत इत्यसंभवेऽपीत्यर्थः ॥ १३५ ॥

(३) कुड्डूकः । ततः किमत आह ज्ञानेति । ज्ञानप्रधानेभ्योऽपि विध्यर्थानि यत्नाद्वा तव्यानि । देवान् नानि पुनर्न्यायावधृतार्थशास्त्रानुसारेण चतुर्भ्योऽपि ॥ १३५ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रतिष्ठाप्यानि देयानि । यथान्यायं पूर्वपूर्वालाभे उत्तरोत्तरस्य ग्राह्येति ॥ १३५ ॥

(६) रामचन्द्रः । ज्ञाननिष्ठेषु ज्ञाननिष्ठादिषु सर्वेषु चतुर्षु यत्नतः कव्यानि हव्यानि च यथान्यायं यथाक्रमं प्रतिष्ठाप्यानि देयानीत्यर्थः ॥ १३५ ॥

अश्रोत्रियः पिता यस्य पुत्रः स्याद्वेदपारगः ॥ अश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात्पिता स्याद्वेदपारगः ॥ १३६ ॥

(१) मेधातिथिः । संशयोपन्यासार्थः श्लोकः ॥ १३६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अश्रोत्रियोऽनधीतवेदः ॥ १३६ ॥

(३) कुड्डूकः । योऽश्रोत्रियपितृकः स्वयंच अश्रोत्रियः यः श्रोत्रियपितृकः स्वयं वाऽश्रोत्रियः ॥ १३६ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव शास्त्रिकं विशेषमाह अश्रोत्रिय इति द्वाभ्यां । वेदपारगः शाखाभ्यायी ॥ १३६ ॥

(१) **मैघातिथिः ।** सत्यामेवश्रोत्रियत्वादिपूर्वगुणसंपदि मैत्र्यादिनिमित्तेन प्रतिषेधोयं । मित्रसमानसुखदुःखं आत्मनिर्विशेषं नश्चाद्धे भोजयेत् । घनैरन्यैरस्य मित्रस्य स्वीकारो मैत्रीकरणं । अविच्छेदोवा मैत्र्युपकार इत्यावत् । न केवलं मित्रं भोजयेत् । यावदरिशत्रुमपि । नारिन्मित्रं यं विद्याद्यन्नररोगानेक्षेण चान्यः कश्चित्संबंधो यत्र प्रीतिनिमित्ताकार्यार्थं तां शंक्यते अरिमित्रयोः प्रदर्शनार्थत्वात्तथासंबंधाशंक्यैव मातामहादयोऽनुकल्पपक्षोक्ताः । शत्रावपि मैत्रीकरणार्थं दानसंभवाय नापदि मैत्रीकरणमिति संग्रहः । अरिग्रहणं कर्तव्यं विस्पष्टार्थं भविष्यति ॥ १३८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मित्रमिति सौजन्यरूपमैत्रसिद्ध्यर्थमित्यर्थः । नारिमित्यनेनवैरिणोश्चाद्धभोजनीयतानि-
षिद्धा नमित्रमितिमैत्रीनिमित्तकत्वाभावोप्यग्निसाक्षिककृतवैधमैत्री कर्मणोऽप्यस्य ॥ १३८ ॥

(३) कुल्लूकः । आद्धे न मित्रंभोजयेत् । धनान्तरैरस्य मैत्री संपादनीया न शत्रुं न च मित्रं यज्जानीयात्तन्ब्राह्मणं-
आद्धे भोजयेत् ॥ १३८ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्प्रतियोगिनं निवेद्यन्नाह नेति । अस्य मित्रस्यधनैः आद्धद्रव्यव्यतिरिक्तैः संग्रहोमित्रता-
संपादनम् । व्यतिरेकमुक्तान्वयमाह यमिति द्विजं विप्रं ब्राह्मणाश्चाहवनीयार्थइत्युक्तेः ॥ १३८ ॥

(५) नन्दनः । धनैःकार्योऽस्यसंग्रहः । धनैस्तत्संग्रहणीयमित्रेन आद्धेन । एवंवचनादसंग्रहीतार्थस्य गुणवत्ता-
मात्रहेतुकस्य मित्रभोजनस्यानुज्ञानमर्थात्सिद्धम् ॥ १३८ ॥

(६) रामचन्द्रः । वर्ज्यानाह नेति । मित्रंआद्धे न भोजयेत् । यस्यधनैःसंग्रहः कार्यः वार्षिकः तस्य आद्धेऽधि-
कारोनास्ति । अरिशत्रुमित्रवायंविद्यात्तद्विजंआद्धे न भोजयेत् ॥ १३८ ॥

यस्य मित्रप्रधानानि आद्धानि च हवींषि चातस्य प्रेत्य फलं नास्ति आद्धेषु च हविःषु च ॥ १३९ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्यप्रतिषेधस्यार्थवादोयं । मित्रशब्दोयंभावप्रधानः । मित्रप्रधानानिमैत्रीप्रधानानितेनोभयो-
रपिमित्रयोऽशेषः देवतोद्देशेनदानमदृष्टार्थंवा केवलयोर्ब्राह्मणयोर्भोजनंहवींषिदितिलक्ष्यते । प्रेत्यफलं नास्ति ननुचासमान-
कर्तृत्वात्कार्यानुत्पत्तिः प्रायेणकर्तापुरुषः आद्धकृत्तायानञ्चार्थोपहितायाः फलंकेचिदाहुः प्रेत्येतिशब्दान्तरं परलोकवचनंनिय-
तसंज्ञं । अथप्रायेणापिफलंकर्तृतस्यफलंप्रेत्यप्रकर्षेणनिकटं आप्नापिनभवति न भोग्यतांयाति ॥ १३९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मित्रप्रधानानि सन्त्युद्देशप्रवृत्तानि । हवींषि यज्ञाः ॥ १३९ ॥

(३) कुल्लूकः । मित्रशब्दोऽयंभावप्रधानः । यस्य मैत्री प्रधानानि हव्यकव्यानि तस्य पारलौकिकफलं नभव-
तीति फलभावकथनपरमिदम् । प्रेत्येति परलोकइत्यर्थे शब्दान्तरमव्ययमिदं नतु त्कान्तम् । तेनासमानकर्तृकत्वे कथं-
त्वेति नाशङ्कनीयम् ॥ १३९ ॥

(४) राघवानन्दः । मित्रभोजने निन्दामाह यस्येति । हवींषि देवतायै देयानि ननु आद्धस्य फलमेव नास्ति कथं-
तदभावोक्तिरिति चेत् । आयुःप्रजांधनंविद्यांस्वर्गमोक्षंसुखानि च । प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीतानृणां पितामहाइति ॥ याज्ञ-
वल्क्योक्तेरायुरादिकंफलमस्तीत्यर्थः ॥ १३९ ॥

(५) नन्दनः । न केवलंआद्धएवमित्रंवर्जनीयंकिंतुदैवेऽपीत्याह यस्येति । मित्रप्रधानानि मैत्रफलप्रधानानि ।
गुणवत्ताप्रधानानि । हवींषि दैवानिकर्माणि ॥ १३९ ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्य पुंसः आद्धानि मित्रप्रधानानि तस्य पुंसःप्रेत्य आद्धेषु हवनीयेषु च फलं नास्ति ॥ १३९ ॥
यः संगतानि कुरुते मोहाच्छ्राद्धेन मानवः ॥ सस्वर्गाच्च्यवते लोकाच्छ्राद्धमित्रोद्विजाधमः ॥ १४० ॥

(१) मेधातिथिः । संगतानि मित्रभावाद्यः कुरुते आद्धेनमोहात् आद्धार्थमजानतः सस्वर्गाच्च्यवते नप्राप्नोतिस्वर्ग-
मित्यर्थः । असंबन्धसामान्यात्च्यवतइत्युच्यते यथाप्राप्तःस्वर्गतश्च्युतःस्वर्गेणनसंबध्यतेएवमयमपि । अनेनचआद्धफलाप्रा-
प्तिरेवकथ्यते सर्वशेषताहितथाभवति । आद्धमित्रःआद्धमित्रमस्येतिमित्रलाभहेतुत्वात् । आद्धमेवमित्रमतोबहुव्रीहिःद्विजा-

नामधमः द्विजग्रहणप्रदर्शनार्थं शूद्रेणापिन मित्राणि भोजनीयानि । ननु चाब्राह्मण्यादेव शूद्रस्य मित्रत्वमस्ति किं नैषापरिभाषाकृता । शूद्रस्य ब्राह्मणैर्मित्रैर्न भवितव्यं । समान जातीयानामेव मित्रव्यवहारो नोत्तमजातीयानां हीनजातीयैः सहेति चेत् । एतदपि न एवं ह्यहं श्वेतकेतुर्हवा आरुणेयः । अस्ति मे पञ्चालेषु क्षत्रियो मित्रमिति किंच संबन्धोपलक्षणार्थं च मित्रप्रतिषेधो व्याख्यातः । भवन्ति च शूद्रस्य ब्राह्मणा अर्थसंबन्धिनः पारशवस्य ज्ञातयोपि ॥ १४० ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । आद्धमित्रः आद्धोत्पादित मैत्रः ॥ १४० ॥

(३) कुड्डूकः । स्वर्गफलं आद्धस्य दर्शयितुं पूर्वोक्तफलभावमेव विशेषेण कथयति यदिति । यो मनुष्यः संगतानि मित्रभावं शास्त्रानभिज्ञया । आद्धेन कुरुते आद्धमेव मित्रलाभहेतुत्वान्मित्रं त्रयस्य स आद्धमित्रो द्विजापसदः । स स्वर्गलोकाच्च्यवते तं न भ्रामोतीत्यर्थः । आद्धस्यापि स्वर्गफलत्वमाह याज्ञवल्क्यः । आयुः प्रजाधनं विद्यां स्वर्गमोक्षं सुखानि च । प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीतानां पितामहाः ॥ १४० ॥

(४) राघवानन्दः । न केवलं फलं नाप्नोति प्रत्युतानर्थं चर्छेदित्याह यदिति । संगतानि मित्रभावं कुरुते संपादयति । आद्धेन आद्धीयद्रव्येणैव मित्राणां लाभो यस्य स आद्धमित्रः । द्विजाधमश्चातुर्वर्ण्यः ॥ १४० ॥

(५) नन्दनः । मित्रस्य हव्येषु परिग्रहो दोषवत्तर इत्याह यदिति । संगतानि संश्लेषान् । स्वर्गाद्धमन्तराजितादपि ॥ १४० ॥

(६) रामचन्द्रः । यः मानवः आद्धेन मोहात् संगतानि मित्रभावं गतानि कुरुते सः स्वर्गलोकाच्च्यवते । आद्धे मित्रं त्रयस्य सः आद्धमित्रः स द्विजाधमः ॥ १४० ॥

संभोजनी साभिहिता पैशाची दक्षिणा द्विजैः ॥ इहैवास्ते तु सा लोके गौरन्धेवैकवेश्मनि ॥ १४१ ॥

(१) मेधातिथिः । संशब्दः सहा र्थैव वर्तते सह भुज्यते यया सा संभोजनी मैत्र्या हि सह भोजनं प्रवर्तते । गोष्ठी भोजनं वा संभोजनमिष्यते । पिशाचानामयं धर्मो यत् आद्धे मित्रसङ्घः । स्थयाः पुरुषाः पिशाचाः सा दक्षिणा इहैव लोके आस्ते नामुत्र फलं दातुं समर्था गौर्यथान्धैकस्मिन्नेव गृहे तिष्ठति । एवमियं दक्षिणा इहैवास्ते मित्रजना र्थैव भवति । न पितृभ्य उपकारार्थाय प्रभवति दानं दक्षिणा ॥ १४१ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । संभोजनीयसंगत्यर्थं भोजनसंबन्धिनी दक्षिणा दानं । पैशाची पिशाचगामिनी । इहैव न पितृलोकं याति ॥ १४१ ॥

(३) कुड्डूकः । सा दक्षिणा दानक्रिया संभोजनी सह भुज्यते यया सा संभोजनी गोष्ठी बहुपुरुषभोजनान्तिका । पिशाचधर्मत्वात् पैशाची मन्वादिभिरुक्ता । सा च मैत्रीप्रयोजनकत्वात् परलोकफले हलोक एवास्ते यथाऽन्धा गौरैकस्मिन्नेव गृहे तिष्ठति न गृहान्तरगमनक्षमा ॥ १४१ ॥

(४) राघवानन्दः । न प्रसज्येत विस्तर इत्युक्तस्तत्रैव परिषदि दत्तमदत्तमिति श्रुतिमाश्रित्याह संभोजनीति । सह बहुभिर्भोज्यतया सा संभोजनी । पिशाचानां बहुभिः सह भोजनस्य प्रसिद्धत्वादस्यापि तथात्वमित्याह । पैशाची दक्षिणा दक्षिणाप्रवणादिसाध्यतया आद्धक्रिया आद्धस्य प्रकृतत्वात् इह लोके स्थितौ दृष्टान्तः । गौरन्धेति एषा यथा एकवेश्मन्येवावस्थिता गृहान्तरं न याति तद्वत्पारलौकिकं फलमददती इहैव यशो र्थे तिष्ठतीति भावः ॥ १४१ ॥

(५) नन्दनः । सा दक्षिणा तन्मित्राद्धम् । संभोजनी संभोजनरूपा । बहूनामेकत्र भोजनं संभोजनम् । पैशाची-

पिशाचैरुपभोग्येतिद्विजैरभिहिता । इहैवास्ते इहलोकेभिन्नमेव सासंगृह्णाति नामुत्र पितृन् । अन्यत्र गमनाशक्तौ दृष्टान्त-
उक्तः गौरन्धेवैकवेश्मनोति ॥ १४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । सह भुज्यते यया सा संभोजनी मित्रद्विजे पैशाची दक्षिणाअभिहिताउक्ता । पिशाचानुप-
तिष्ठतीत्यर्थः । केवलंएकवेश्मनिअन्धगौरिव सा दक्षिणा भोजनी दक्षिणा इहलोकेअत्रार्थेआस्ते । परत्र पितृभ्योनोप-
तिष्ठतइत्यर्थः । पिशाचानामयंधर्मोयःश्राद्धेमित्रसंग्रहः ॥ १४१ ॥

यथेरिणे बीजमुष्वा न वप्ता लभते फलम् ॥ तथाऽनृचे हविर्दत्त्वा न दाता लभते फलम् ॥ १४२ ॥

(१) मेधातिथिः । ईरिणऊषरं । यस्मिन्क्षेत्रेभूमिदोषात्बीजमुपनचोद्वृच्छति तदिरिणं यत्रवप्तानकर्षकोलभतेफलम् ।
एवमनृचे वेदाध्ययनरहिते हविर्देवंपिच्यंचदत्त्वा न लभतेफलं । अनृचइतिसमम्यंतंक्रचोवेदोपलक्षणार्थम् ॥ १४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ईरिणऊषरे हविर्देवंपिच्यंवा ॥ १४२ ॥

(३) कुड्डूकः । ईरिणमूषरदेशोयत्र बीजमुपनं प्ररोहति तत्र यथा बीजमुष्वा कर्षकोन फलंप्राप्तोत्येवमविदुषे श्रा-
द्धदानफलंदातानं प्राप्नोतीति ॥ १४२ ॥

(४) राघवानन्दः । अविदुषे दानं न देयमिति सदृष्टान्तमाह यथेति । ईरिणऊषरे देशे वप्ता क्षेत्रे बीजक्षेप्ता अनृचे
वेदशून्ये हविरितिकव्यस्याप्युपलक्षणम् ॥ १४२ ॥

(५) नन्दनः । इदानींहल्येषु मित्रश्रोत्रिययोरश्रोत्रियोर्वर्जनीयोनमित्रमित्याह यथेरिणइति ॥ १४२ ॥

(६) रामचन्द्रः । यथेरिणऊषरेउष्वाफलंबीजनं लभते तथा अनृचेअनधीयानाय हविर्दत्त्वा दाता फलं
लभते ॥ १४२ ॥

दातृन्प्रतिग्रहीतृन्श्च कुरुते फलभागिनः ॥ विदुषे दक्षिणां दत्त्वा विधिवत्प्रेत्य चेह च ॥ १४३ ॥

(१) मेधातिथिः । विदुषेयादक्षिणादीयते सादातृन्फलभागिनःकुरुते इति युक्तं प्रतिग्रहीतारस्तु कतरत्फलं-
भुज्जते यदितावददृष्टं तदयुक्तंअनोदितत्वात्प्रतिग्रहस्यदृष्टफललाभेनप्रवृत्तेः । अथदृष्टं तदविदुषोपिदृश्यते । सत्यंप्रशंसैर्षाई-
दशमेतद्विदुषेदानंयत्प्रतिग्रहीताप्यदृष्टफलभागभवेत् । सत्यपिदृष्टे । किंपुनर्दातेतिप्रेत्यस्वर्गइहकीर्तिर्यथाशास्त्रमनुतिष्ठतीति
जनैःसाधुवादीयते विधिवदित्यनुवादोददातिचैवधर्म्येष्विति ॥ १४३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दातृन्प्रेत्य फलभागिनः । इह प्रतिग्रहीतृन् । अनृचांतु इह भोगसंभावेपि प्रत्यवायोदर्क-
त्वात्फलंसदप्यसंदेवेति तात्पर्यम् ॥ १४३ ॥

(३) कुड्डूकः । वेदतत्त्वविदे यथाशास्त्रंदत्तमैहिकामुष्मिकफलभागिनोदातृन्करोति । ऐहिकंफलंयथाशास्त्रानुष्ठानेन
लोकेख्यातिरूपमानुषद्विकमिति मेधातिथिगोविन्दराजौ । वयंत्वायुरादिकमेवैहिकफलंभूमः । आयुः प्रजांधनंविद्यामित्या-
द्यैहिकामुष्मिकादिफलत्वेनापि श्राद्धस्य याज्ञवल्क्यादिभिरुक्तत्वात् । प्रतिग्रहीतृन्श्च श्राद्धलब्धधनानुष्ठितयागादिफलं पर-
लोके सफलान्कुरुते अन्यायार्जितधनानुष्ठितयागादेरफलप्रदत्वात् । इह लोके न्यायार्जितधनारब्धकृष्यादिफलातिशयला-
भात्सफलान्कुरुते ॥ १४३ ॥

(४) राघवानन्दः । विदुषेतु देयमित्याह दातृनिति । विदुषे वेदार्थविदे दक्षिणाश्राद्धेदीयमाना दातृन् श्राद्धकर्तृन्
प्रतिग्रहीतृन् श्राद्धदेश्यान् । उक्तफलेन फलभागिनःकुरुतइत्यन्वयः । वाक्यार्थानुरोधेन पदार्थत्यागस्योचितत्वात् दक्षि-
णाशब्देन श्राद्धान्नभोजनं । दृष्टफलत्वादिति भावः ॥ १४३ ॥

(५) नन्दनः । यतएवं तस्मान्मित्रायापि विदुषेहव्यानिदातव्यानि नकदाचिदप्यविदुषइत्याह दातृनिति । तस्मान्मित्रेभ्योऽश्रोत्रियोवर्जनीयइत्यभिप्रायः ॥ १४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । विधिवद्विदुषे दत्ता दक्षिणा प्रेत्य परलोके इह चेहलोके दातृन्प्रतिग्रहीतृश्च फलभागिनः कुरुते ॥ १४३ ॥

कामंश्चाद्धेऽर्चयेन्मित्रं नाभिरूपमपि त्वरिं ॥ द्विषता हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम् ॥ १४४ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । मित्रं सोपकारं इहैव लाभसंभवात् अकामानुमतो कामं तेनान्यासे भवेपिमित्रस्य कथचिदनुज्ञोक्ता । अभिरूपमुक्ताभिमतरूपशालिनम् ॥ १४४ ॥

(३) कृष्णः । वरं विद्वद्ब्राह्मणाभावे गुणर्वान्मित्रं भोजयेन्न तु विद्वांसमपि शत्रुं । यतः शत्रुणा श्राद्धं भुक्तं परलोके निष्फलं भवति । यथोक्तपात्रासंभवे मित्रप्रतिप्रसवार्थमिदम् ॥ १४४ ॥

(४) राघवानन्दः । पात्रान्तरालाभे प्रतिप्रसवमाह काममिति । अभिरूपं गुणवन्तम् । रिपोः पात्रत्वाभावे हेतुः । द्विषतेति । अरिणा भुक्तं केवलं निष्फलं अपित्वयशस्करमित्याह हीति मित्रभोजने यशोदृश्यते ॥ १४४ ॥

(५) नन्दनः । श्राद्धेऽप्यरिमित्रयोररिरेवर्जनीयतरइत्याह काममिति । अभिरूपं विद्वांसम् । हविःशब्दोऽयं सामर्थ्यात्कव्यवचनः ॥ १४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । कामं ऐच्छिकं श्राद्धे मित्रमर्चयेत् । अग्निश्चयेन अभिरूपं योग्यं गुणसंपन्नमग्निं शत्रुना चर्चयेत् हि निश्चयेन । द्विषता शत्रुणा भुक्तं हविः दातुः प्रेत्य निष्फलं भवति ॥ १४४ ॥

यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बहुचं वेदपारगम् ॥ शाखान्तगमथाध्वर्युच्छन्दोगंतु समाप्तिकम् ॥ १४५ ॥

(१) मेधातिथिः । वेदपारगशाखांतगसमाप्तिकाः शब्दाएकार्थाः । समन्त्रब्राह्मणिकायाः कृत्स्नायाः शाखायाअध्येतृनाचक्षते । नमन्त्रसहितायामपि ब्राह्मणस्य । तदेकदेशस्य च वेदैकशाखाध्यायिनोपि श्रोत्रिया उच्यन्ते । अतस्तनिवृत्य र्थमुक्तं । श्रोत्रियाय देयमिति । श्रोत्रियश्च वेदाध्यायी वेदशब्दश्च समन्त्रब्राह्मणिकां शाखामाचष्टे । तदेकदेशमपि याकृत्सशाखातत्रध्यायीकथं गृहेतेत्येवमर्थमिदं । ननु चाश्रमिणो भोजयितव्या इत्युक्तं तत्रानधीतसकलशाध्यायानां नैवागार्हस्थाद्याश्रमसंभवः । एवं ह्युक्तं वेदः कृत्सोधिगंतव्यइति ब्रह्मचारिणस्तर्हि प्रक्रांतवेदाध्ययनस्य असमाप्तिगस्यापि स्यात् वेदपारगशाखांतगसमाप्तिकशब्दैरैकार्थैः कात्स्न्यं सर्वैरेव प्रतिपाद्यते । एकेनैव सिद्धे वृत्तानुरोधान्नानारूपैकार्थानेकशब्दोच्चारणं । वेदानां पारंगच्छति । शाखा अंतःसमाप्तिरस्यास्तीति समाप्तिकः । अध्वर्युर्जुर्वेदशाखाध्यायीनायमृत्विग्विशेषवचनोऽध्वर्युशब्दः आध्वर्यवः प्रवचनमुच्यते तदध्ययनसंबन्धात् पुरुषोऽध्वर्युः छन्दोगः सामवेदाध्यायीस्मृत्यन्तरे त्रिसाहस्रविद्यः समाप्तिक उक्तस्तत्र सहस्रशब्दः सहस्रगति संबंधात् सामवेदे वर्तते तस्याइमाः साहस्र्यस्ति ससाहस्र्यः विद्यायस्य त्रिसाहस्रः ताण्डवमौक्तिक्यं सामगानमिति सहस्रवर्त्मनः सामवेदस्य तस्य तिस्रो विधाः दाशतयीचतुःषष्टिर्ब्राह्मणचंबाङ्ग्यं अन्येत्वाथर्वणिकनिषेधार्थमिमं श्लोकं मन्यते कारुर्यात् विवक्षा यामे तदेवावक्ष्यत् अधीते वेदशाखांतः कृत्स्नांतं भोजयेद्विजमिति । ननु चाथर्वणिकनिषेधेऽप्येतत्समानं तत्रापि शक्यमेवं वक्तुं तन्निषेधे प्रायेण न भोज्य आथर्वणिक इत्येवमेवावक्ष्यत् । त्वशब्देन निषेधप्रतिपत्तिर्लाघवं च नैतदेवं किमन्यविधानेनान्यनिषेधो वगम्यते त्वशब्देनानिषेधो विचित्राद्धर्मोपदेशस्य कृतिर्मनोः ॥ १४५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वेदपारगमेकवेदसंबन्धिपूर्णेकशाखाध्यायिनम् । शाखान्तगमिन्यस्याप्ययमर्थः । अध्वर्यु-
यजुर्वेदिनं सामागिकं शाखापारगं । सामागिमिति कचित्पाठः ॥ १४५ ॥

(३) कुल्लूकः । श्रोत्रियायैवदेयानीत्यनेनछन्दोमात्राध्यायिनि श्रोत्रियशब्दप्रयोगात्तदाश्रयणमावश्यकमुक्तम् ।
इदानींत्वधिकफलार्थमत्रब्राह्मणात्मकरुत्सशाखाध्यायिनिश्रोत्रियेदानमाह यत्नेनेति । ऋग्वेदिनंमत्रब्राह्मणात्मकशा-
खाध्यायिनंयत्नतोभोजयेत् तथाविधमेवयजुर्वेदिनम् । वेदस्यपारंगच्छतीतिवेदपारगः । शाखायाअन्तंगच्छतीति शाखा-
न्तगः । सामागिरस्यास्तीति सामागिकः । सर्वैरेव शब्दैर्मत्रब्राह्मणात्मकरुत्सशाखाध्येताभिहितः ॥ १४५ ॥

(४) राघवानन्दः । श्राद्धभोक्तृषु नियममाह यत्नेनेति । बह्वचं ऋग्वेदमन्त्राध्यायिनं । शाखातिगं शाखाध्या-
यिन् तमेवअध्वर्यु यजुर्वेदिनं । सामगं छन्दोगं सामागिं मत्रब्राह्मणोपनिषदन्तगं अथर्ववेदविन्निवृत्त्यर्थविशेषणानी-
ति केचित् ॥ १४५ ॥

(५) नन्दनः । पूर्वश्रोत्रियाएवपात्रमित्युक्तम् इदानींतेषुविशेषमाह यत्नेनेति । वेदपारगं एकस्याऋग्वेदशाखा-
याःपारगम् । एतेनशाखान्तगंसामागिमितिपदद्वयमिह व्याख्यातम् । अध्वर्युर्यजुर्वेदाध्यायी ॥ १४५ ॥

(६) रामचन्द्रः । बह्वचंऋग्वेदाध्यायिनं वेदपारगं यत्नेन भोजयेत् । शाखान्तगंस्वशाखापारगंवा । अथाध्वर्युय-
जुर्वेदाध्यापकंवा । छन्दोगंसामशाखाध्यायिनंवा । सामागिंस्वशाखापारगमित्यर्थः ॥ १४५ ॥

एषामन्यतमोयस्य भुञ्जीत श्राद्धमर्चितः ॥ पितृणांतस्य तृप्तिः स्याच्छाश्वती सामपौरुषी ॥ १४६ ॥

(१) मेधातिथिः । कश्चिन्मन्येतपितृकृत्येत्रीनित्युक्तम् । पूर्वश्लोकेचनानाशाखाध्यायिनउपात्ताः । तत्रसब्रह्मचा-
रिणानास्तिप्रामिरिति तदाशङ्काविवृत्यर्थेइदमेषांत्रयाणांत्रैनिद्यानामन्यतमोभोजनीयः । एतदुक्तंभवति । समानशाखाध्या-
यिनोनानाशाखाध्यायिनोवाभोजनीयाः । अर्चितः पूजितः प्रार्थितअर्घादिनासामपौरुषीअनुशक्तिकादेराकृतगणत्वादुभयप-
दवृद्धिः । कालमहत्वोपलक्षणार्थंचैतत् दीर्घकालपितृणांतृप्तिर्भवति । यावत्सप्तपुरुषाआगामिनः पुत्रपौत्रादयोजाताजनिष्य-
न्तेवा तावत्तथाविधब्राह्मणादानात्पितरस्तृप्यन्ति । शाश्वतीनान्तराविच्छिद्यपुनरुद्भवति । किंपुनः सर्वदास्थितैव ॥ १४६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शाश्वती चिरस्थायिनी सामपौरुषी पिण्डतत्तल्लेपभागितया सप्तपुरुषपर्यन्तगामिनी
॥ १४६ ॥

(३) कुल्लूकः । तद्भोजनेऽधिकफलमाह एषामिति । एषांसंपूर्णशाखाध्यायिनांबह्वचादीनामध्यादन्यतमोयस्य-
सम्यक्पूजितः । सञ्ज्ञाद्धेभुङ्केतस्यपुत्रादिसप्तपुरुषाणांशाश्वऽत्यविच्छिन्नापितृणांतृप्तिः स्यात् । सामपौरुषीत्यनुशक्तिकादि-
त्वादुभयपदवृद्धिः तस्यचारुतिगणत्वात् ॥ १४६ ॥

(४) राघवानन्दः । एतत्रयाणांभोजने पितृतृप्तिविशेषमाह एषामिति । अर्चितःश्राद्धादौशाश्वतं अनवच्छिन्नंशता-
युर्वे पुरुषइति श्रुतेः । काललक्षणासमशतवर्षपर्यन्ता सामपौरुषीत्येवंसर्वत्र । आगामिसप्तपुरुषपर्यन्तेति मेधातिथिः ॥ १४६ ॥

(५) नन्दनः । एषांबह्वचादीनाम् । सामपौरुषी शाश्वती तृप्तिः स्यात् सप्तपुरुषाणांसदातनी तृप्तिःस्यादित्यर्थः ।
सप्तपुरुषायमेनोक्ताः त्रयः पूर्वेपराश्चै व हात्मा तत्रैव सप्तमः । तेसप्तपुरुषाः सर्वैतदन्तमुपभुञ्जतइति ॥ १४६ ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्य श्राद्धेषांश्रोत्रियाणामन्यतमोभुञ्जीत तस्य पितृणांशाश्वतीतृप्तिःस्यात् । सामपौरुषी
सप्तपुरुषपर्यन्तेत्यर्थः ॥ १४६ ॥

एषवै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः ॥ अनुकल्पस्त्वयंज्ञेयः सदा सद्भिरनुष्ठितः ॥ १४७ ॥

(१) मेधातिथिः । पितृयज्ञमित्यारभ्यविंशतिमात्राश्लोकातिक्रान्तास्तत्रैव नार्थोभिहितअमावास्यायांश्राद्धं कर्तव्यं । श्रोत्रियोविद्वान्साधुचरणः प्रत्याख्याताभिजनश्रोत्रियापत्यंअसंबन्धीभोजनीयः परिशिष्टं सर्वमर्थवादार्थं । एषोनन्तरोक्तः प्रथमोमुख्यः कल्पोविधिः श्राद्धेयदसंबन्धिनेदीयते । अयंतुवक्ष्यमाणोनुकल्पोज्ञेयः । मुख्यभावेयोनुशीयते प्रतिनिधिन्यायेन सोनुकल्पउच्यते । सदेत्यादिस्तुत्यर्थः ॥ १४७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रथमः कल्पोमुख्यःपक्षः ॥ १४७ ॥

(३) कुल्लूकः । हव्यकव्ययोरुभयोरेव प्रदाने यदसंबन्धिश्रोत्रियादिभ्योदीयतइत्ययंमुख्यः कल्पउक्तः । अयंतु मुख्याभावे वक्ष्यमाणोऽनुकल्पोज्ञातव्यः सर्वदा साधुभिरनुष्ठितः ॥ १४७ ॥

(४) राघवानन्दः । कल्पान्तरंवदन्नुक्तमनुवदति एषइति । प्रथमोमुख्यः । अनुकल्पएवामभावप्रयुक्तः प्रतिनिधिः ॥ १४७ ॥

(५) नन्दनः । एषइत्युक्तस्यपरामर्शः अयमिति वक्ष्यमाणस्य । अनुकल्पोऽपि प्रशस्तएवेत्युक्तम् । यः सदा सद्भिरनुष्ठितइति ॥ १४७ ॥

(६) रामचन्द्रः । हव्यकव्ययोःप्रदाने एषःप्रथमःकल्पःउक्तः । अयंअनुकल्पो वक्ष्यमाणलक्षणः । सदा सद्भिरनुष्ठितः ॥ १४७ ॥

मातामहंमातुलंच स्वस्त्रीयं श्वशुरं गुरुम् ॥ दौहित्रं विट्पतिं बन्धुमृत्विग्याज्यौ च भोजयेत् ॥ १४८ ॥

(१) मेधातिथिः । स्वस्त्रीयोभगिन्याःपुत्रो विट्पतिर्जामाता प्रजावचनत्वात्विट्शब्दस्य । अतिथिरन्यःसहिसर्वविशांपतिः गृहाभ्यागतोलेकेविट्शब्देनोच्यते । बन्धुःशालसगोत्रादिः ॥ १४८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गुरुमाचार्यं । विट्पतिं जामातरं । बन्धुं मातुलपुत्रादिम् ॥ १४८ ॥

(३) कुल्लूकः । स्वस्त्रीयोभागिनेयः । गुरुर्विद्यागुरुराचार्यादिः । विट्दुहिता तस्याः पतिर्विट्पतिर्जामाता । बन्धुर्मातृष्वसृपितृष्वसृपुत्रादिः । एतान्मातामहादीन्दशमुख्यश्रोत्रियाद्यसंभवे भोजयेत् ॥ १४८ ॥

(४) राघवानन्दः । तमेवाह मातामहमिति स्वस्त्रीयं भागिनेयं । दौहित्रं दुहितुरपत्यं । विट्पतिंजामातरं । बन्धुमातृष्वसृपुत्रादिकम् ॥ १४८ ॥

(५) नन्दनः । विशः प्रजायाः पतिरितिविट्पतिर्जामाता ॥ १४८ ॥

(६) रामचन्द्रः । यमातामहादयःप्रसिद्धाः विट्पतिं पितृगृहे कन्या तस्याःपतिर्विट्पतिं भागिनीपतिमित्यर्थः । ऋत्विक्प्रसिद्धः । याज्यःशिष्यः बन्धुःशालसगोत्रादिः । एतान्भोजयेत् ॥ १४८ ॥

न ब्राह्मणं परीक्षेत देवे कर्मणि धर्मवित् ॥ पित्र्ये कर्मणि तु प्राप्ते परीक्षेत प्रयत्नतः ॥ १४९ ॥

[तेषामन्ये पङ्क्तिदूष्यास्तथान्ये पङ्क्तिपावनाः॥अपाङ्क्त्यान्प्रवश्यामि कव्यान्हान्द्विजाधमान्॥ १॥*]

* (क) (ख) चिन्हितपुस्तकयोर्दृष्टोरामचन्द्रेण व्याख्यातश्च ।

(१) मेधातिथिः । नायदैवेकर्मणिब्राह्मणपरीक्षाप्रतिषेधः किंतिहि काणश्लीपद्यादीनांकदाचिदैवेभ्यनुज्ञानार्थः । पित्र्येकर्मणिश्राद्धकालेप्राप्तेपरीक्षांयत्नेनकुर्यात् । नदैवेकदाचिद्वक्ष्यमाणानपिभोजयेत् । येचाभ्यनुज्ञायन्ते तान्दर्शयिष्यामः । अग्रेतुवक्ष्यमाणस्यप्रतिषेधप्रकरणस्ययत्नतोवर्जनार्थं काणादिवर्जनार्थं उपक्रममात्रंश्लोको नतुकाणादीनादैवेभ्यनुज्ञानार्थः ॥ १४९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । न परीक्षेत दोषगुणौ सूक्ष्मेक्षिकया नावश्यमन्वेष्टौ । दैवे वैश्वदेविके तत्रापि स्तेनवृत्तिवादिक्वक्ष्यमाणमवश्यंपरीक्ष्यं । हव्यकव्ययोरित्यभिधानात् ॥ १४९ ॥

(३) कुल्लुकः । धर्मज्ञोदैवश्राद्धे भोजनार्थं न ब्राह्मणंयत्नतःपरीक्षेत लोकप्रसिद्धिमात्रेणासौ साधुतया भोजयितव्यः । पित्र्ये पुनः कर्मण्युपस्थिते पितृपितामहाद्यभिजनपरीक्षाकर्तव्येति प्रयत्नतः शब्दस्यार्थः ॥ १४९ ॥

(४) राघवानन्दः । पैत्रे ब्राह्मणपरीक्षामनुवदन्दैवे तदभावमाह नेति । दैवेदेवपक्षे देवतादेये श्राद्धे वा ॥ १४९ ॥

(५) नन्दनः । प्रयत्नतइति दैवेऽप्यवकृष्ययोजनीयम् । दैवे कर्मणि प्रयत्नतोनपरीक्षेत अनेन किंचित्परीक्षणमप्रतिषिद्धमित्यवगन्तव्यम् ॥ १४९ ॥

(६) रामचन्द्रः । पितृकर्मणि प्राप्ते ब्राह्मणान्प्रयत्नतःपरीक्षेत् ॥ १४९ ॥

[रामचन्द्रः । यथेति । ये पङ्क्तिःसन्दूष्याःपङ्क्तिःसन्दूषणकर्तारः ॥ १ ॥]

ये स्तेनपतितकृषीवाये च नास्तिकवृत्तयः ॥ तान्हव्यकव्ययोर्विप्राननर्हान्मनुरब्रवीत् ॥ १५० ॥

(१) मेधातिथिः । स्तेनःचौरः पतितःपञ्चानांमहापातकानांअन्यतमस्यकर्ता । कृषीबोनपुंसकः उभयव्यञ्जनोगतरे ताः षडश । नास्तिकालोकायतिकादयः नास्तिकदन्तानास्तिहुतंनास्तिपरलोकइतिर्योस्थितप्रज्ञास्तेषांवृत्तिराचारः । अश्रद्धा-
नानास्तिकवृत्तिर्येषांतेनास्तिकवृत्तयः उत्तरपदलोपीसमासः नास्तिकाइत्येवसिद्धेवृत्तिद्वयसमाश्रयणंश्लोकपूरणार्थः । अथ-
वा नास्तिकोवृत्तिर्जीवनंयेषांतेवमुच्यन्ते तान्हव्यकव्ययोर्दैवपित्र्येचअनर्हान्मनुरब्रवीत् । मनुप्रतिषेधादरार्थं मनुग्रहणम्
सर्वधर्माणामनुनोक्तत्वात् ॥ १५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्तेनाअल्पस्तेयवृत्तयः । पतितास्त्यक्तस्त्ववर्णधर्मतया पतिततुल्याः । कृषीबाःषण्डाः । ना-
स्तिकवृत्तयोनास्तिकर्मफलमित्यभिमानिनः ॥ १५० ॥

(३) कुल्लुकः । स्तेनश्चौरः । सच सुवर्णचोरादन्यःतस्य पतितशब्देनैव ग्रहणात् । पतितोमहापातकी । कृषीबोनपुं-
नकः । नास्तिकवृत्तिर्नास्ति परलोकइत्येवंवृत्तिः प्रवर्तनंयस्य । एतान्दैवपितृकृत्ययोरुभयोरेवायोग्यान्मनुरब्रवीदिति ।
मनुग्रहणंनिषेधादरार्थं । सर्वधर्माणामेव मनुनोक्तत्वात् ॥ १५० ॥

(४) राघवानन्दः । परीक्षामाह यइति सप्तदशभिः । स्तेनाश्चौराः । पतिताः पातित्यहेतवोवक्ष्यन्ते कृषीवानपुं-
सकाः । कृत्रिमाकृत्रिमभेदेन द्विधा नास्तिकवृत्तयः । नास्ति कं परलोकमुखं इति वृत्तिर्वाङ्मानसयोर्येषांते हव्यकव्य-
योरिति विषयसप्तमी । अनर्हान् नपात्रभूतान् । हव्यं देवदेयं कव्यं पितृदेयमित्युक्तम् ॥ १५० ॥

(५) नन्दनः । स्तेनाअत्र । त्वर्णादन्यस्य द्रव्यस्यापहतारः । कृषीबाः षण्डाः । त्वयमास्तिकाअपि नास्तिकेभ्यो-
वृत्तिर्जीवनंयेषामिति तथोक्तअश्रद्धाणावा ॥ १५० ॥

(६) रामचन्द्रः । हव्यकव्ययोःये स्तेनादयस्ताननर्हान्मनुरब्रवीत् । स्तेनाःसुवर्णव्यतिरिक्तचौराः ॥ १५० ॥

जटिलंचानधीयानंदुर्बलंकितवंतथा ॥ याजयन्ति च ये पूगांस्तांश्च श्राद्धे न भोजयेत् ॥ १५१ ॥

(१) मेधातिथिः । जटिलोब्रह्मचारीतस्यह्यंकेशविशेषः पाक्षिकविहितोमुण्डोवाजटिलोवास्यादिति उपलक्षणं-जटाब्रह्मचारिणस्ततोमुण्डोपिप्रतिषिध्यते । तस्यचानधीयानस्यप्राप्तिरेवनास्ति प्रक्रान्ताध्ययनः । अनधीतवेदः अगृहीतवेदश्चेत्प्रापुयात् । ननुचवेदपारगइतिवचनात्कुतः प्रक्रान्ताध्ययनस्यप्राप्तिः । एवंतर्हिअधीतवेदोप्यस्वीकृतवेदोनधीयानोभिप्रेतः । व्रतस्थमित्यनेनवादौहितत्रैवाव्रतत्रनाध्ययनमितिकश्चिन्मन्येतदर्थमिदंअनधीयानस्य प्रतिषेधाद्विदुषस्तस्याधिकारोस्तीत्यवगम्यते । दुर्बलः स्वलितः लोहितकेशोवा विकेशेन्द्रियोवा तस्यचहि निर्वचनंकुर्वन्ति दुर्वाशाह्वलेनाप्यलंतस्यावासोभवतीति सहिदुर्वयैवप्राव्रियते लज्जयाचवाससानाभावे तावन्मात्रेणापिदधातिशेफं । कितवोद्यूतकारः । याजयन्तिचयेपूगान् संधान् ब्रात्यस्तोमादिभिर्ब्रात्यानांहि संहितानां यागोविधिप्रतिषिद्धंचतद्याजनं ब्रात्यानांयाजनेकृत्वेतिक्रमशः प्रत्येकमपिबहून्याजयति बहुकृत्वआर्त्विज्यंकरोति सोऽपिनभोज्यः । तथाचवसिष्ठः यश्चापिबहुयाज्यः स्यात्तयश्चोपनयतेबहूनि । केचिदाहुः श्राद्धग्रहणात्पिच्यएवैषांप्रतिषेधो नतुदैवे तदयुक्तं तदपिश्राद्धांगमेवाश्राद्धशब्देनयुक्तंवक्तुं ॥ १५१ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । जटिलंब्रह्मचारिणं । मन्त्रमनधीयानमध्ययनाद्विरतं । दुर्बलोदुश्कर्मा शिपिविष्टइति यावत् । कितवोद्यूतरसिकः । पूगान्समूहान् याजयन्तीत्यनेन याजकाविवक्षिताः । तत्र ह्यनेके यजमानाभवन्ति सत्रे तु यजमानत्वादृत्विजामदोषः ॥ १५१ ॥

(३) कुल्लूकः । जटिलोब्रह्मचारी । मुण्डोवा जटिलोवास्यादित्युक्तब्रह्मचार्युपलक्षणत्वाजटिलत्वस्यमुण्डोऽपि निषिध्यते । अनधीयानवेदाध्ययनरहितंयस्योपनयनमात्रंकृतं न वेदादेशः । तेनास्वीकृतवेदस्यापि ब्रह्मचारिणोवेदाध्ययनकर्तुरभ्यनुज्ञानार्थोऽयंनिषेधः । अतः श्रोत्रियायैव देयानीति ब्रह्मचारीतरविषयम् । दुर्बलोदुश्कर्मा । मेधातिथिस्तु दुर्बालमिति पठित्वा स्वलतिलोहितकेशोवा दुश्कर्मावेत्यर्थत्रयमुक्तवान् । कितवोद्युतकृत् पूगयाजकाबहुयाजकाः । पूगः क्रमुकवृन्दयोरित्याभिधानिकाः । अतएव वसिष्ठः । यश्चापि बहुयाज्यः स्याद्यश्चोपनयते बहूनि । ताञ्छ्राद्धेन भोजयेदिति न दैवेनिषेधः । यत्रोभयत्रनिषेधोमनोरभिमतः तत्र ह्यव्यकव्यग्रहणमुभयत्रेति वा करोति ॥ १५१ ॥

(४) राघवानन्दः । जटिलं ब्रह्मचारिणं अनधीयानं वेदाध्ययनरहितं । दुर्बलं दुश्कर्माणं दुर्बलं कपिलकेशमिति मेधातिथिः । कितवंच्युतरतं । पूगान्बहून् श्रेणीर्वा ॥ १५१ ॥

(५) नन्दनः । जटिलंब्रह्मचारिणम् । तस्य विशेषणमनधीयानमिति । दुर्बलंदुश्कर्माणम् । कितवंच्युतकारकम् । पूगान् गणान् श्राद्धेनिषेधाद्दैवेऽनुज्ञानमर्थात्सिद्धम् ॥ १५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । जटिलो ब्रह्मचारी । सभोजने प्रतिषिध्यते । दुर्बलंदुःखेन बलिनमिति । दुर्वर्णमिति पाठे दुर्वर्णदुश्कर्माणमित्यर्थः । पूगाःश्रेणयः । एतान्श्राद्धे न भोजयेत् ॥ १५१ ॥

चिकित्सकान्देवलकान्मांसविक्रयिणस्तथा॥विपणेन च जीवन्तोवर्ज्याः स्युर्हव्यकव्ययोः॥ १५२ ॥

(१) मेधातिथिः । भिषजः चिकित्सकाः देवलकाः प्रतिमापरिचारकाः । आजीवनसंबन्धेनैतौप्रतिषिध्यन्ते धर्मार्थत्वेतुचिकित्सकदेवलकत्वयोरदोषः । मांसविक्रयिणः सौनिकाः द्वितीयान्तपाठेपूर्वश्लोकादाख्यातानुषङ्गः । विपणेन जीवन्तः प्रतिषिद्धेनपणेन । दशमाध्यायेवक्ष्यन्ते तेनजीवन्ति तेवर्ज्या उभयत्र मांसविक्रयिणस्तुधर्मार्थमपि निषिध्यन्ते । यस्यकेनचिन्मांसमुपहतं । अन्यस्यनतेनार्थः । उपहतमांसस्यघृतेनहोमोपयोगिनासमांसघृतेनविनिर्मितीते भवत्यसौ

धमार्थो विनिमयो विक्रयशब्दवाच्यता विनिमयस्यापि भवतीत्यत ईदृशा धर्मार्थमांसविक्रयिणोऽपि प्रतिषिध्यन्ते ॥ १५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चिकित्सकान् भिषग्ब्रूतान् । देवलकान् धनार्थं देवार्चकान् । विपणेन पण्यवीथ्यां विक्रेयप्रसारणेन जीवन्तः ॥ १५२ ॥

(३) कुष्ठूकः । चिकित्सको भिषक् । देवलः प्रतिमापरिचारकः । वर्तनार्थत्वेनैतत्कर्मकुर्वतोऽयं निषेधो न तु धर्मार्थम् । देवकोशोपभोजी च नाम्ना देवलको भवेदिति देवलवचनात् । मांसविक्रयिणः सरुदपि । सद्यः पतति मांसेनेतिलिङ्गात् । विपणेनेति । विपणोऽवणिज्या तथा जीवन्तः । हव्यकव्ययोरित्यभिधानाद्देवे पिच्ये चैते त्याज्याः ॥ १५२ ॥

(४) राघवानन्दः । देवलकाः देवकोशोपजीवी च नाम्ना देवलको भवेदिति देवलवचननिर्णीताः । मांसविक्रयिणः सरुदपि सद्यः पतति मांसेनेति वचनात् । विपणेन वाणिज्येन । वर्ज्याः पात्रत्वेनेति शेषः ॥ १५२ ॥

(५) नन्दनः । देवकोशोपजीवी तु नाम्ना देवलको भवेदिति स्मृत्यन्तरवचनम् । मांसविक्रयादन्येनापि जीविनो वर्ज्याः प्रतिषिद्धाः । क्षीरादिद्रव्यं तद्विक्रयो विपणस्तेन जीवन्तः ॥ १५२ ॥

(६) रामचन्द्रः । चिकित्सकादयो हव्यकव्ययोः प्रदाने वर्ज्याः स्युः । धर्मार्थं तु चिकित्सकदेवलयोर्दोषाभावः । विपणेन जीवन्तः निन्द्यपण्येन जीवन्तः ॥ १५२ ॥

प्रेष्योग्रामस्य राज्ञश्च कुनखी श्यावदन्तकः ॥ प्रतिरोद्धा गुरोश्चैव त्यक्ताग्निर्वार्धुषिस्तथा ॥ १५३ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रेष्य आज्ञाकरः ग्रामेण यो यत्र कुत्रचित् कार्येण प्रेष्यते एव राजप्रेष्यः । कुनखी श्यावदन्तकः । प्रतिरोद्धा गुरोर्वाक्व्यवहारेऽन्यत्र च यो गुरोः प्रतिबन्धे प्रातिकूल्ये च वर्तते । त्यक्ताग्निस्त्रेतावसथ्ययोरन्यतरस्यापि । वार्धुषिः सत्यन्यस्मिन् जीविकोपाये वृद्धिजीविकः । वृद्धिस्तु योक्ता धान्यानां वार्धुषित्वं तदुच्यते इति यत्स्मरणं तत्त्वपरिक्रियायामेव । वैयाकरणाहि वृद्धिजीविनो धान्यादन्यत्र वार्धुषिशब्दं स्मरन्ति ते च शब्दार्थस्मरणे प्रमाणान्तराभियोगवशात् ॥ १५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रेष्यो धनार्थमादिष्टकारी । श्यावदन्तकः कपिशवर्णदन्तः । प्रतिरोद्धा विरोधी । त्यक्ताग्निस्त्यक्ताहितत्रेताग्निः । वार्धुषिर्वृद्धिजीवी ॥ १५३ ॥

(३) कुष्ठूकः । श्रुतिग्रहणपूर्वकं ग्रामाणां राज्ञश्चाज्ञाकारी । कुत्सितनखरुष्णदन्तगुरुप्रतिकूलाचरणशीलत्यक्तश्रोतस्मार्ताग्निकलोपजीविनश्च हव्यकव्ययोर्वर्ज्या इति पूर्वस्यैवानुपपन्नोत्तरत्र च ॥ १५३ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रेष्य इति । ग्रामस्य राज्ञो वा । श्यावदन्तकः श्यामाः स्वतएवैकद्वित्रादन्तायस्य सः । प्रतिरोद्धा गुरोः प्रतिकूलाचरणः । त्यक्ताग्निः विधितः स्वीकृताग्निः अविधितस्त्यक्ता । वार्धुषिर्वृद्धिमात्रोपजीवी ॥ १५३ ॥

(५) नन्दनः । पूर्वजन्मनि स्वर्णचोरेत्वात् कुनखिनः प्रतिषेधः । मुरापानाच्छ्यावदन्तस्य प्रतिषेधः । प्रतिरोद्धा प्रतिकूलकः । समर्थं पण्यमादाय महार्घयः प्रयच्छति । सर्वैवार्धुषिको नाम यश्च वृद्ध्या प्रयोजयेत् ॥ यश्च निन्द्यतरं जीवन्मशंसत्यात्मनो गुणान् । सच वार्धुषिको नाम ब्रह्मवादिषु गार्हते इति यमवचनम् ॥ वर्जनीया इति वक्ष्यति ॥ १५३ ॥

(६) रामचन्द्रः । वर्ज्यानाह प्रेष्य इति । ग्रामस्य प्रेष्यः प्रेषकः राज्ञः । गुरोः प्रतिरोद्धा गुरोः प्रतिकूलः । त्यक्ताग्निः अग्नित्यागी त्रेतावसथ्ययोः त्यागी । वृद्धोपजीवी वार्धुषिः । वृद्ध्या जीवी तु वार्धुषिरित्यमरः ॥ १५३ ॥

यक्ष्मी च पशुपालश्च परिवेत्ता निराकृतिः ॥ ब्रह्मद्विद् परिवित्तिश्च गणाभ्यन्तर एव च ॥ १५४ ॥

(१) मेधातिथिः । यक्ष्मी व्याधितः राजयक्ष्मगृहीत इत्यन्ये । पशुपालः यष्टिहस्तस्तद्वृत्तिजीवनः । निराकृतिः सत्यधिकारे महायज्ञानुष्ठानरहितः । अद्यत्वेऽप्यनुपजीव्यः । अनद्या निराकृतिरुच्यते । एवं हि शतपथे योनदेवानर्चति न पितृन्-

मनुष्यानि । यैस्तु पृथगे अस्वाध्यायश्रुतधर्मेन निराकृतिरुदाहृत इति न तेश्चार्थसंबन्धविदस्ततस्तस्येहाप्रामिरेव श्रोत्रियनियमात् । निराकृतादेवादीनां निराकृतिरिति धात्वर्थानुगमोऽस्ति । धर्मधर्मिणोश्चाभेदविवक्षायां क्तिनापि प्रयोग उपपन्न इति पूर्वोक्तं धातुरपर्वजेन वर्तते । निराकृता अपवर्जिता उच्यन्ते । भोजनानि निराकृता अधिकारानि निराकृता इति । अवर्जनं चाकृतिः । सानिर्गतात्मोऽदिति निराकृतिः । संस्थानं चाकृतिस्तथा च कुत्सायां निर्दृष्टव्योदुराकृतिर्निषिध्यते । आह चावाग्रूपवयः शीलसंपन्नो वाक्संपन्नो वाङ्मयी पटुवाग्निन्द्रियश्च बहुजिह्वो न भोज्याः । रूपसंपन्नमनोहरावयवसंपन्नयुवम्योदानं प्रथमं प्रतिवयस इत्येक इति संज्ञाशब्दो वाच्यः । ब्रह्मद्विद्ब्राह्मणानां वेदस्य वा द्वेष्टा ब्रह्मशब्दस्योभयार्थवाचित्वात् ब्रह्मज्ञो ब्राह्मणः स्मृत इति । गणः-सङ्घः सहैकया क्रियया जीवन्ति ये ते गणशब्दवाच्यास्तदन्तर्गताश्चानुर्विच ब्राह्मणाः परिवेत्तु परिविच्ची वक्ष्यमाणस्वरूपौ ॥ १५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पशुपालो वृत्त्यर्थं । निराकृतिरस्वाध्यायः । ब्रह्मब्राह्मणस्तद्विद् । गणाभ्यन्तरो गणानां नेता ग्रामणीरितियावत् । गणानामाधिपत्येन देशान्तरप्रापयितार्थलोभेनेति वा ॥ १५४ ॥

(३) कुल्लूकः । यक्ष्मी क्षयरोगी । पशुपालो वृत्त्यर्थतया च्छागमेषादिपोषकः । परिवेत्तु परिविच्ची वक्ष्यमाणलक्षणौ । निराकृतिः पञ्चमहायज्ञानुष्ठानरहितः । तथा च च्छन्दोगपरिशिष्टं । निराकर्ताऽमरादीनां सविज्ञेयो निराकृतिः । ब्रह्मद्विद्ब्राह्मणादीनां द्वेष्टा । गणाभ्यन्तरो गणार्थोऽपसृष्टसंबन्धिधनाद्युपजीवी ॥ १५४ ॥

(४) राघवानन्दः । यक्ष्मी कासविशेषयुक्तः । पशुपालस्तदेकजीवी । परिविच्ची वक्ष्यते । निराकृतिः पञ्चयज्ञानुष्ठानहीनः । ब्रह्मद्विद् वेदविप्रयोर्द्वेष्टा । गणाभ्यन्तरः गणार्थोऽपसृष्टधनाद्युपजीवी ॥ १५४ ॥

(५) नन्दनः । यक्ष्मी क्षयरोगी तस्य पूर्वजन्मनि ब्रह्महन्त्वात्प्रतिषेधः । वृत्त्यर्थयः पशून्पालयति स पशुपालः । परिवेत्ता रं वक्ष्यति । अधीत्य विस्मृते वेदे भवेद्विप्रो निराकृतिरिति देवलः ॥ आधाय योऽग्निमालस्याद्वादीनैर्भरिष्ठवान् । निराकर्ता मरादीनां सविज्ञेयो निराकृतिरिति कात्यायनः ॥ ब्रह्मद्विद् ब्राह्मणद्वेषी परिविच्ची वक्ष्यति गणाभ्यन्तरो गणप्रधानो गणस्य नेतेति यावत् ॥ १५४ ॥

(६) रामचन्द्रः । यक्ष्मरोगी । परिवेत्ता ज्येष्ठे अकृतदारे सति कनीयान्दारानग्रीन्गृह्णाति स परिवेत्ता । ज्येष्ठस्तु परिविच्ची । निराकृतिः महायज्ञानुष्ठानरहितः देवादीनां निराकर्ता च । ब्रह्मद्विद्ब्राह्मणानां वेदस्य वा द्वेष्टा वेदविस्मरणशीलो वा । गणाभ्यन्तरः गणवाहः । क्रियया जीवन्ति एते गणशब्दवाच्याः । तदभ्यन्तरगताः ॥ १५४ ॥

कुशीलवोऽवकीर्णी च वृषलीपतिरेव च ॥ पौनर्भवश्च काणश्च यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ १५५ ॥

(१) मेधातिथिः । चारणनटनर्तकगायनादयः कुशीलवाः । अवकीर्णी विप्रुतब्रह्मचर्यो वृषलीशूद्रातस्याः पतिः अप्रत्यक्षन्यायं च मन्यन्ते । वृषल्या एव च यः यस्य द्विजातिभार्यानास्ति कुत एतत्प्रकरणान्तरे विगर्हिताचारसंग्रहं श्रूयते एतां विगर्हिताचारानिति शूद्रा विवाहश्च सर्वेषामनुज्ञातत्वात् न गार्हितः स च कृतसजातो यापरिणयनस्यानुज्ञातः । अतो सत्यां सजातो यायां वृषल्या भर्ता प्रतिषिध्यते । तत्र पौनर्भवः पुनर्भूः । पुनरुद्भावं वक्ष्यति नवमेध्याये पत्यावापस्तित्यक्तेति । काण एकेनाक्षणाविकलः । यस्य च उपपतिर्जायाजारो वस्थितायां भार्यायामस्ति उपेक्षयान्द्व्यते । तदुक्तं अन्नादेभूणहामार्ष्टपत्यौ भार्यापचारिणीति ॥ १५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कुशीलवोनटवृत्तिः । अवकीर्णीव्रतमध्ये स्खलितब्रह्मचर्यः । पुनर्भूपुत्रः पौनर्भवः । गृहे-
भाययाम् ॥ १५५ ॥

(३) कुल्लूकः । कुशीलवोनर्तनवृत्तिः । अवकीर्णी स्त्रीसंपर्काद्भिषुतब्रह्मचर्यः प्रथमाश्रमी यतिश्च । वृषलीपतिः
सवर्णामपरिणीयकृतशूद्राविवाहः । पौनर्भवः पुनर्भूपुत्रोवक्ष्यमाणः । उपपतियस्यं जायाजारोगृहेस्ति ॥ १५५ ॥

(४) राघवानन्दः । कुशीलवोनर्तकवृत्तिः । अवकीर्णी स्त्रीसंपर्काद्भिषुतब्रह्मचर्यः । वृषलीपतिः सवर्णामपरिणीय
कृतशूद्राविवाहः । पौनर्भवः पुनर्भूपुत्रः । यस्योपपतिः स्वजायाजारः । गृहइत्यनेननान्यत्र तथा दूषणमितिभावः ॥ १५५ ॥

(५) नन्दनः । कुशीलवोगायकः । गूढलिङ्ग्यवकीर्णीस्याद्यश्च भग्नव्रतस्तथेतिदेवलः ॥ वृषलीपतिः अनूढत्रैवर्णिक-
स्त्रीकः केवलशूद्रापतिः । काणस्य पूर्वजन्मनि परनेत्रोत्पाटकत्वात्प्रतिषेधः । परदाराभिसंयोगात्पुरुषोजारुच्यते । सएवो-
पपतिर्ज्ञेयोयः सदासंवसेदृह इतिदेवलः ॥ १५५ ॥

(६) रामचन्द्रः । कुशीलवो नटनर्तकः । अवकीर्णी क्षत्रव्रतः । पौनर्भवः पुनर्भवाज्जातः । परपूर्वापतिः पुनर्भूः ।
काणः एकाक्षी । यस्य गृहे चोपपतिः जारः । एते वज्याः ॥ १५५ ॥

भृतकाध्यापकोयश्च भृतकाध्यापितस्तथा ॥ शूद्रशिष्योगुरुश्चैव वाग्दुष्टः कुण्डगोलकौ ॥ १५६ ॥

(१) मेधातिथिः । भृतकाध्यापकः भृतकः सन्त्योस्थितो ध्यापकः भृतकइतियदीयद्दासिवेदमध्यापयामीति यः
प्रवर्तते पणेन सभृतकाध्यापकः । एषाहिभृतिः प्रसिद्धा कायवाहादिषुयस्त्वियताधनेनेयदध्यापयामीतिननिश्चित्यवचनव्यव-
स्थयापूर्वमध्यापयति लभतेचाध्यापनार्थं नासौभृतकाध्यापकः । अनिरूपितपरिमाणपूर्वचार्यवादेविहितमध्यापनं । एवं-
भृतकाध्यापितः योव्युत्पन्नाबुद्धिः सत्यकामवत्स्वयंभृतिदत्वाधीतेसएवमुच्यते यस्तुपित्रादिनाभृतिदत्वा उपाध्यायन्तराभा-
वेध्याप्यते । नतस्यविगर्हिताचारत्वं बालोहिपित्रांप्रतिषिद्धेभ्योनिवर्तनीयः । एतदुक्तंगुरौशिष्यश्चयाज्यश्चेति । शूद्रस्यशि-
ष्योव्याकरणादिविद्यासुगुरुश्चशूद्रस्यैव । उपसर्जनीभूतस्यापिसंबन्धस्मृतिशास्त्रत्वात्गर्हिताचारत्वस्यसर्वशेषत्वात्गुरुत्वंच-
गर्हितंनान्यत् । वाचादुष्टः परुषानृतभाषी । अभिशस्तइत्यन्ये कुण्डगोलकौ ॥ १५६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भृतकोभृत्यापरिक्रीतः । सएवाध्यापकोयस्य सभृतकाध्यापकः । एवमध्यापितोपि ।
गुरुश्चैव शूद्रस्येत्यनुषङ्गः । वाग्दुष्टः परुषवादी । १५६ ॥

(३) कुल्लूकः । भृतिर्वेतनं तद्वाही भृतकः सन्त्योध्यापकः सतथाएवंभृतकाध्यापितः । शूद्रशिष्योव्याकरणादौ
गुरुश्च तस्यैव । वाग्दुष्टः परुषभाषीअभिशस्तइत्यन्ये । कुण्डगोलकौ वक्ष्यमाणौ ॥ १५६ ॥

(४) राघवानन्दः । भृतकाध्यापकः भृतिगृहीत्वैव योध्यापयति सभृतकाध्यापकः । भृतेन शिष्यपुष्टेनगुरुणा
योध्यापितः सभृतकाध्यापितः । कःकुत्सितार्थे शूद्रशिष्यः शूद्रस्य शिष्यः । गुरुः शूद्रस्येति शेषः । वाग्दुष्टः परुषभाषी ।
कुण्डगोलकौ वक्ष्यमाणौ ॥ १५६ ॥

(५) नन्दनः । भृतकः भृतिभुक् । अत्र देवलः भृतकाध्यापितोयश्चभृतकाध्यापकश्चयः । तावुभौ पतितौ ज्ञेयो-
त्वाध्यायक्रयविक्रयादिति ॥ गुरुः शूद्रगुरुः । कुण्डगोलकौवक्ष्यति ॥ १५६ ॥

(६) रामचन्द्रः । भृतकाध्यापकः वेतनादानेन योऽध्यापयते सः । यःभृतकाध्यापितः अभ्येता । शूद्रःशिष्योय-
स्य सःवाएतादशोगुरुः । कुण्डगोलकौ । पत्यौजीवति कुण्डस्तु भृते भर्तरि गोलकः ॥ १५६ ॥

अकारणपरित्यक्ता मातापित्रोर्गुरोस्तथा ॥ ब्राह्मैर्योनैश्च सम्बन्धैः संयोगं पतितैर्गतः ॥ १५७ ॥

(१) मेधातिथिः । असतिकारणेयः परित्यजतिमातरं पितरं आचार्यं च । गुरुशब्दः सामान्यशब्दत्वाद्वाध्यायेपिवर्तते । यत्तु तथासतिपितापितृग्रहणं न कर्तव्यं स्यात् गुरुत्वादेव सिद्धेरत आचार्य एवेह गुरुरिति व्याचक्षते तदयुक्तं । असतिमातापितृग्रहणे गुरुशब्दः पितर्यैव कृत्रिमाकृत्रिमन्यायेन प्रवर्तते । पृथगुपादाने तु शास्त्रान्तरवदाचार्यश्रेष्ठो गुरुणामिति सामान्यशब्दता सिद्धा भवति । परित्यागकारणं च तज्जेत् पितरं राजघातकमित्यादि मातापित्रोः परित्यागस्तत्पादसेवायाः शुश्रूषादेः अकरणं तदारधने अतत्परत्वं गुरोरेवमेव । अध्यापनसमर्थे व्यापयितरि च तत्त्यागेनान्यत्राध्ययनं पतितैः संयोगंगतः संबन्धकृतवान् ब्राह्मैर्याजनाध्यापनादिभिर्योनैः कन्यादानादिभिः । ननु च पतितत्वादेवासौवर्ज्यः । केचिदाहुः संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् । नार्वागयं प्रतिषेधः । अथ केयं वाचोयुक्तिः संयोगंगत इति । नात्र संबन्धशब्दो वै शेषिकादिप्रसिध्या संयोगादिवचनः कित् हि क्रियैवात्र संबन्धहेतुत्वात् संबन्धशब्देनोच्यते याजनादिलक्षणे संयोगशब्दश्च संबन्धमात्रमुपलक्षयति ॥ १५७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अकारणात्पातित्यं विना । गुरोराचार्यस्य ब्राह्मैरध्ययनाध्यापनैः । योनैर्योनिसम्बन्धैर्वैवाहिकैः । पतितैः सावित्रीपतितैः ब्राह्मैः ॥ १५७ ॥

(३) कुल्लूकः । मातुः पितुर्गुरुणां च परित्यागकारणं विना त्यक्ता शुश्रूषादेरकर्ता । पतितैश्चाध्ययनकन्यादानादिभिः संबन्धैः संपर्कंगतः । पतितत्वादेवास्य निषेध इति चेन्न संवत्सरात्पादिदं भविष्यति संवत्सरेण पततीति वक्ष्यमाणत्वात् ॥ १५७ ॥

(४) राघवानन्दः । अकारणं पतितादिप्रयोजकजात्यन्तरादीन् विना गुर्वीनां परित्यक्ता संयोगं पतितैर्गतः संयोगं विद्याग्रहणकन्याग्रहणरूपं । तदुत्तरत्र संवत्सरेण पतित इति स्वयमेव वक्ष्यमाणत्वात् पूर्वपतितापेक्षया अन्यः भाविपातित्ययुक्तः । अतो न पुनरुक्तिः ॥ १५७ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मैः संबन्धैः संयोगंगतः । वेदाध्ययनसंबन्धैः संयोगंगतः । तथा योनैर्वैवाहसंबन्धैः संयोगंगतः ॥ १५७ ॥

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी ॥ समुद्रयायी बन्दी च तैलिकः कूटकारकः ॥ १५८ ॥

(१) मेधातिथिः । अगारस्य गृहस्य दग्ध्वा गरं ददातीति दर्शनार्थं च गरग्रहणं विषादीनामपि । कुण्डस्य अन्नमश्नाति एवं गोलकस्य प्रदर्शनार्थत्वात् कुण्डस्य । सोमं विक्रीणीते ओषधिः सोमस्तं यो विक्रीणीते यागार्थमौषधार्थं वा । अन्येतु सोमसाधनान्ज्योतिष्टोमादियगानाहुः । तेषां च विक्रयो यद्यपि न संभवति अमूर्तत्वात् । क्रियायास्तथाप्यविदुषामेवं विधस्याचारस्य दर्शनादयं प्रतिषेधः । दृश्यन्ते स विद्वांस एव दन्तो यन्मया सुरुतं कृतं तत्ते स्त्विति शपथेन विहितं सुरुतेन साधितान् स्वैरिति तथा च यांचरात्री मजायेथायांचप्रेतासि तद्भुज्यन्तरेणैषा पूर्तते लोकं सुरुतमायुः प्रजां वृज्जियं यदि मे द्रुह्युरिति । यथैव शपथा एव दानविक्रयादावपि वाचायः करोति सवर्ज्यते । अकार्यता दृशानां शपथदानविक्रयादीनां चाक्रियमाणानामनुमीयते । समुद्र उद्धिस्तं यो याति । बन्दीस्तुतिपाठकः । तैलिकः तिलादीनां पेष्टा । कूटकारकः साक्ष्येष्वनृतवादी ॥ १५८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गरदो विषदो विप्रव्यतिरिक्तानाम् । कुण्डाशी कुण्डं षष्टिः पलानि तावत्परिमाणतण्डुलान् भोजी । समुद्रयायी नौकया समुद्रसंचारी । बन्दीस्तुतिपाठकः । तैलिकः तिलयन्त्रप्रवर्तकः । कूटं छद्मतत्कारकः ॥ १५८ ॥

(३) कुडूकः । गृहदाहकः मरणहेतुद्रव्यस्य दाता । कुण्डस्य वक्ष्यमाणस्य योन्ममश्राति प्रदर्शनार्थत्वात् कुण्डस्य गोलकस्यापि ग्रहणम् । अतएव देवलः । अमृते जारजः कुण्डो मृते भर्तरि गोलकः । यस्तयोरन्ममश्राति सकुण्डाशीति कथ्यते ॥ सोमलताविक्रेता । समुद्रे यो वहिनादिना द्वीपान्तरंगच्छति । बन्दी स्तुतिपाठकः । तैलार्थतिलादिबीजानां पेष्टा । साक्षिवादे कूटस्य मृषावादस्य कर्ता ॥ १५८ ॥

(४) राघवानन्दः । अगरदाही अगरोगृहं । कुण्डाशी कुण्डस्यान्मभोजी बन्हाशीवा । भीमः कुण्डाशीति स्मरणात् । सोमविक्रयी सोमोत्र लताविशेषः । समुद्रयायी वहिनादिना द्वीपान्तरगन्ता । बन्दी स्तुतिवृत्तिः । तैलिकः तैलार्थं तिलादीनां पेष्टा । कूटकारकः कूटसाक्षी भूम्यर्थमिथ्याभाषी ॥ १५८ ॥

(५) नन्दनः । अगरदाही सङ्ग्रेयः प्रेतदग्ध्वा धनेनयः । सचाप्यगारदाहीस्याद्विद्वेषाद्वेस्मदाहकः ॥ अमृते जारजः कुण्डो मृते भर्तरि गोलकः । यस्तयोरन्ममश्राति सकुण्डाशीति कीर्त्यत इति देवलः ॥ कूटकारकः तुल्यमानलेखादिषु वञ्चनाकरः ॥ १५८ ॥

(६) रामचन्द्रः । कुण्डाशी यस्त्रिपलतण्डुलान्मभोक्ता । बन्दी कारागृहस्थितः स्तुतिपाठको वा अनृतपाठकः । तलिकः तैलविक्रयी । कूटकारकः । अगरदाही गृहदाहकारी । सोमलताविक्रयी शूद्रयाजी शूद्रयोयाजयति ॥ १५८ ॥

पित्रा विवदमानश्च कितवो मद्यपस्तथा ॥ पापरोग्यभिशास्तश्च दाम्भिकोरसविक्रयी ॥ १५९ ॥

(१) मेधातिथिः । पित्रायो विवदते परुषं भाषते । राजकुले व्यवहरतीति पूर्वपक्षोत्तरपक्षभंग्या भागादिनिमित्तं । तथाच गौतमः । पित्रा कामेन विरक्तानिति । प्रतिरोद्धागुरोरित्यनेनैतत्कथं पुनरुक्तमुच्यते । अन्यः प्रतिरोधः अन्यश्च विवादः यत्किञ्चित्गुरोरभिप्रेतं वस्तुकथमिदं सिध्येदिति तत्र संबन्धकथनं प्रतिरोधः न्याय्येपि वस्तुनितदिच्छाप्रतिघातः । प्रतिरोधत्वं प्रतिरोद्धेति । तत्र पाठान्तरम् । आभिमुख्येन हिंसाहस्तादिना गुरोः प्रीतिरोद्धाच पेदादिदानेन अन्यस्मिन्पक्षे स्थितमन्वत्वं विवादस्य । कितवो द्यूतस्य कारयिता सभिकः यस्तु स्वयं देवितासप्रागेव निषिद्धः । केकरमन्ये पठन्ति । केकरो मद्यपइतिस चर्वालितप्रेक्षी अभ्यर्थदृष्टिः कतिर मन्ये सचशुकपक्षतारकः । मद्यपः सुराया अन्यस्यारिष्टादेर्मद्यस्य पातासुरापः । पतितत्वेनैव निरस्तः पापरोगीकुक्षी सहिलेकेऽत्यन्तनिन्द्यः पापरोगीत्यभिधातुं युक्तः । अस्मादेव च प्रतिषेधात् यदमीत्यत्र न सर्वो व्याधिर्गृहीतो गृह्यते । कस्तर्हि क्षयीयदि हि सर्वो गृह्यते तेनैव सिद्धत्वात् पापरोगीतिना करिष्यत अभिशास्तः पातकोऽपातकयोः कर्तेतिलोके प्रसिद्धः । असत्यपि कर्तृकत्वं निश्चये । दाम्भिकः छान्नाधर्मवदतिलोकपङ्क्यर्थनकर्तव्यमिति कृत्वा करोति रसविक्रयी विषस्य विक्रेता । तस्यैतदभिधानं । उपांशुर्विधरसदः सत्रीत्यादि विषदोरसदुच्यते ॥ १५९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पित्रा धनार्थं विवदमानः । कितवः वृत्त्युद्देशविना द्यूतकारी । केकरइति क्वचित्पाठे वक्रदृष्टिरित्यर्थः । मद्यं द्राक्षादिमद्यं । पापरोगः कुष्ठभगन्दरादिनिन्दितरोगः । अभिशास्तो वचनीयेन युक्तः । दाम्भिको दम्भेन कर्मचारी । रसागुडादयः एतेनाविक्रय्यमुपलक्षितम् ॥ १५९ ॥

(३) कुडूकः । पित्रा सह शास्त्रार्थं लौकिके वा वस्तुनि निरर्थं यो विवदते । कितवोयः स्वयं देवितुमनभिज्ञः स्वार्थं परान्देवयति न स्वयं देविता तस्योक्तत्वात् । न च सभिकः तस्य द्यूतवृत्तिपदेनाभिधास्यमानत्वात् । केकरइति पाठे तिर्यग्दृष्टिः । सुराव्यतिरिक्तमद्यपाता । कुक्षी । अनिर्णीतेऽपि तस्मिन्महापातकादौ जाताभिशापः । छान्नाधर्मकारी । रसविक्रेता ॥ १५९ ॥

(१५९) कितवः=केकरः (च)

(४) राघवानन्दः । पित्राविवदमानस्तद्विवादे शास्त्रीये लौकिके वा रतः । कितवीयः स्वार्थेन परान्देवयते । यः सुरातिरिक्तपायी मद्यपः । सुरापस्य पतितत्वात् विप्रप्रकरणात् । पापरोगी कुष्ठादियुक्तः । अभिशस्तः आशङ्कितमहापातकः । दाम्भिकोत्र छन्दना धर्माचरणयस्य । रसविक्रयी रसोगोरसादिः ॥ १५९ ॥

(५) नन्दनः । अयंकितवोवञ्चकः । केचित्पुनरुक्तिभयात् । केकरोमद्यमस्तथेति पठन्ति केकरः आकेकरतारनेत्रः । तस्यक्रूरनेत्रत्वात्प्रतिषेधः । मद्यपीमदकरद्रव्याणांतालासवादीनांपाता । सुरापस्तु पतितप्रतिषेधेनोक्तः । मधुमेहमन्दरादयः पापरोगस्थाः । दाम्भिको धर्मध्वजः । रसविक्रयी विप्रविक्रयी ॥ १५९ ॥

(६) रामचन्द्रः । पापरोगी दीर्घरोगी । अभिशस्तः कलङ्कीत्यर्थः ॥ १५९ ॥

धनुःशराणां कर्ता च यश्चाग्नेदिधिषूपतिः ॥ मित्रधुग्यूतवृत्तिश्च पुत्राचार्यस्तथैव च ॥ १६० ॥

(१) मेधातिथिः । धनुः शरांश्चयः शिल्पीवकरोति यश्चाग्नेदिधिषूपतिः । दिधिषूशब्दः काकाक्षिवदुभयेन संबध्यते । स्मृतिशास्त्रत्वाच्चेदशः संबन्धोलभ्यते । लेखालोष्टादयोपि स्मृत्यर्थसंकल्पतो भवन्ति चार्थकाराः । अतएतन्वाच्यं कथमेकशब्दः समासान्तर्गतोद्वाभ्यां भिन्नप्रस्थानाभ्यां अभिसंबध्येत इति । गौतमेन हि द्वयं प्रतिषिद्धं ब्रह्मपिसंबन्धभेदलिङ्गं । द्विपदः समासो न अग्नेदिधिषूपतिर्नामकश्चिदस्ति एतौ च वक्ष्यमाणलक्षणौ मित्रधुग्यूतवृत्तिश्च मित्रस्ययः कार्योपघाते वर्तते । द्यूतज्ञः द्यूतवृत्तिर्जीविकायस्य । ननु कितवो मद्यप इत्यत्रोक्तमेव नावश्यं द्यूतवृत्तिरेव द्यूतस्य प्रयोजकः । किं तर्हि यः स्वयं देवितुं न जानाति । गुरुभयाद्वा न दीव्यति व्यसनी तु दैवैः शप्ततयान्यदेवयति तदर्थो द्वितीयः कितवशब्दः अथवा नृतस्त्रीकद्यूतसभास्थाणवो द्यूतवृत्तयः । पुत्राचार्यो व्यापको यस्य मुख्यमाचार्यत्वं न पुत्रे संभवति ॥ १६० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । द्यूतवृत्तिर्जीविकार्थं द्यूतकृत् । पुत्र एव यस्याचार्यो धर्मोपदेश सपुत्राचार्यः ॥ १६० ॥

(३) कुल्लुकः । धनूषि शरांश्चयः करोति । ज्येष्ठायां सोदरभगिन्यामनूढायां कनिष्ठा विवाहेन दीयते साग्नेदिधिषूपतिस्तस्याः पतिः । तथा च लोकाक्षिः । ज्येष्ठायां यद्वनूढायां कन्यायामुत्तरेऽनुजा । सा चाग्नेदिधिषूज्ञेया पूर्वा तु दिधिषूः स्मृता ॥ गोविन्दराजस्तु भ्रातुर्मृतस्य भार्यायामित्यनेनाग्ने दिधिषूपतिरेव वृत्तिवशादग्नेपदलोपेन दिधिषूपतिरिति मनुना वक्ष्यते सद्दृष्टव्यम् । मित्रधुग्यो मित्रस्यापकारे वर्तते । द्यूतवृत्तिः सभिकः । पुत्रेणाध्यापितः पिता मुख्येन पुत्राचार्यत्वासंभवात् ॥ १६० ॥

(४) राघवानन्दः । धनुःशराणां धनुषःशराणां च । अग्ने दिधिषूपतिः दिधिषूर्लक्ष्यते तस्याः पतिः । द्यूतमुपजीव्य यस्य स द्यूतवृत्तिः । केकर इति पाठेतिर्यक् दृष्टिः । पुत्राचार्यः पुत्रेणाध्यापितः ॥ १६० ॥

(५) नन्दनः । ज्येष्ठायां स्यादनुढायामूढायाग्नेदिधिषूः स्मृता । द्यूतेन जीवनं यस्य स द्यूतवृत्तिः ॥ १६० ॥

(६) रामचन्द्रः । धनुःशराणां कर्ता चकाराद्विक्रयी च । य अग्नेदिधिषूपतिः पुनर्भवाः पतिः । द्विस्तस्याः दिधिषू पतिरित्यमरः । पुत्र आचार्यो यस्य सपुत्राचार्यः ॥ १६० ॥

भ्रामरी गण्डमाली च श्वित्र्यथो पिशुनस्तथा ॥ उन्मत्तोऽन्धश्च व्रज्याः स्युर्वेदनिन्दका एव च ॥ १६१ ॥

(१) मेधातिथिः । व्याधिविशेषवचनात्ते भ्रामरी अपह्मारी । गण्डमाली कपोलेकण्ठे पिमालाकारा जायन्ते । श्वित्र्यः श्वेतकुष्ठः । पिशुनः परमर्मप्रकाशकः कर्णेजपः । उन्मत्तः अनवस्थितचित्तो धातुः संक्षोभेण पिशाचगृहीतः । यत्किंचन वादी यत्किंच-

चित्तकारी । अन्धःचक्षुर्विकलः । वेदनिन्दकः ननु च ब्रह्मद्विशब्देनैव ब्रह्मशब्दस्यानर्थकत्वात् वेदनिन्दको गृहीत एव । नैव मन्य-
निन्दा अन्ये द्विषः चित्तघर्मे द्विषः तदुपर्यप्रीतिशब्देन कुत्सनं निन्दा ॥ १६१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भ्रामरी अपस्मारी । गण्डमालाव्याधिभेदः ॥ १६१ ॥

(३) कुम्भकः । अपस्मारी । गण्डमालाख्यव्याध्युपेतः । श्वेतकुष्ठयुक्तः । दुर्जनः । उन्मादवान् । अचक्षुः । वेद-
निन्दाकरः ॥ १६१ ॥

(४) राघवानन्दः । भ्रामरी अपस्मारी । गण्डमालीगले गण्डयुतः । शिवत्री श्वेतकुष्ठयुक्तः । पिशुनः प्रच्छन्नदोषा-
ख्यायी । वेदनिन्दकः धिक्शब्दादिवादेन वेदकुत्सकः ॥ १६१ ॥

(५) नन्दनः । भ्रामरी अपस्मारी । गण्डमाली उपचित उद्धूतो मांसपिण्डो गण्डशब्देनोच्यते । तस्य मालेव लम्बमान-
त्वान्मालात्वम् तद्वान्गण्डमाली ॥ १६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । भ्रामरी अपस्मारी गण्डमाला कपोलकण्ठेऽपिठकमालाकारा जायते ॥ १६१ ॥

हस्तिगोश्वोष्ट्रदमको नक्षत्रैर्यश्च जीवति ॥ पक्षिणां पोषको यश्च युद्धाचार्यस्तथैव च ॥ १६२ ॥

(१) मेधातिथिः । हस्त्यादीनां नेता दमकः । गतिशिक्षयितानक्षत्रैर्यश्च जीवति नक्षत्रशब्देन ज्योतिःशारूढं दृश्यते ते-
न जीवति ज्योतिषिकः । पक्षिणां श्येनादीनामाखेयार्थपोषयिता । युद्धाचार्यो धनुर्वेदोपदेशकः ॥ १६२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । हस्त्यादीनां दमकस्तद्दमनेन जीवनः । नक्षत्रैर्ज्योतिषवृत्त्या । युद्धाचार्यः शस्त्रनियुद्धाद्यु-
पायोपदेश ॥ १६२ ॥

(३) कुम्भकः । हस्तिगवाश्वोष्ट्राणां विनेता । नक्षत्रशब्देन ज्योतिःशारूढमुपलक्ष्यते तेन यो वर्तते । पक्षिणां पञ्जरसं-
जातानां क्रीडाव्यर्थपोषिता । युद्धार्थमायुधविद्योपदेशकः ॥ १६२ ॥

(४) राघवानन्दः । वृत्त्यर्थं हस्त्यादीनां दमनकः शिक्षकः । नक्षत्रैर्ज्योतिःशारूढैरेव । पक्षिणां पञ्जरस्थानां क्रीडाव्यर्थ-
विक्रयार्थं वा पोषकः । युद्धाचार्यः युद्धार्थमायुधविद्योपदेशकः तद्वारा विप्रवधादिसंभवात् ॥ १६२ ॥

(५) नन्दनः । दमकः शिक्षकः । पक्षिणः पोषयति सपक्षिणां पोषकः ॥ १६२ ॥

(६) रामचन्द्रः । हस्तिगोश्वोष्ट्रादीन् दमयतीति दमकः ॥ १६२ ॥

स्रोतसांभेदको यश्च तेषां चावरणे रतः ॥ गृहसंवेशको दूतो वृक्षारोपक एव च ॥ १६३ ॥

(१) मेधातिथिः । स्रोतांसि उदकागमाः तेषां भेदकः सेतुभिश्चादेशान्तरे व्रीह्यादिसेकार्थं नयति । तेषां च स्रोतसामाव-
रणेरतः आवरणं आच्छादनं यतः प्रदेशादुदकमुद्भवति तत् स्थगयति । गृहाणां संनिवेशोपदेशकः वास्तुविद्याजीवी स्थपतिः
सूत्रधारादिः । नत्वात्मनो गृहाणां संनिवेशयिता । दूतोरान्नाप्रेष्योदासवद्विनियोज्यः दूतस्तु मन्धिविग्रहादावेव प्रेष्यते । वृक्षा-
नारोपयति मूल्यनं धर्मार्थं तु न दोषः । अविगर्हिताचारत्वाद्बहिर्हितं वृक्षारोपणं दशाश्रवापीनरकं नयाति ॥ १६३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्रोतसांभेदकः स्रोतोनिरोधकः । सेतुभेदकत्वं देशिक इति पाठे जलशिरायाः स्रोतस उप-
देष्टव्यर्थः । तेषां स्रोतसां प्रवर्तमानानां । गृहसंवेशको वृत्त्यर्थं गृहनिर्माता । दूतो दूत्यवृत्तिः । वृक्षारोपको वृत्त्यर्थम् ॥ १६३ ॥

(३) कुम्भकः । प्रवहजलानां सेतुभेदादिना देशान्तरे नेता । तेषां मेवावरणकर्ता निजगतिप्रतिबन्धकः । गृहसंनिवेशो-

पदेशकोवास्तुविद्योपजीवी । दूतोरारज्यामप्रेष्यव्यतिरिक्तोऽपि । वृक्षरोपयिता वेतनग्रहणेन । न तु धर्मार्थं पञ्चाभरोपी नरकंनयातीति विधानात् ॥ १६३ ॥

(४) राघवानन्दः । स्रोतसां नद्यादीनांविमार्गप्रापयिता । आवरणेरतः निजगति प्रतिबन्धकश्च । गृहसंवेशकोवास्तुविद्योपजीवी । दूतोरारजैकनियतप्रेष्यः । वृक्षारोपकःश्रुतिमादाय न तु धर्मार्थं पञ्चाभवापी नरकं न पश्येदित्युक्तेः॥१६३॥

(५) नन्दनः । स्रोतसांभेदकः स्रोतसांभञ्जकः । तेषामावरणेरतः प्रजोपयोगार्हमार्गगमननिरोधतत्परः । स्रोतसांदर्शकस्तथेतिवा पठन्ति । स्रोतसांजलोद्भवस्थानानामुपदेष्टा । गृहसंनिवेशकोवृत्त्यर्थं गृहाणांनिर्माता । वृक्षारोहको वृक्षारणामारोढा ॥ १६३ ॥

(६) रामचन्द्रः । तेषांवा आचरणे रतः । गृहसंवेशकः । वृक्षारोपयति मूल्येन वृक्षारोपकः ॥ १६३ ॥

श्वक्रीडी श्येनजीवी च कन्यादूषकएव च ॥ हिंस्रोवृषलवृत्तिश्च गणानांचैव याजकः ॥ १६४ ॥

(१) मेघातिथिः । श्वभिःक्रीडतिश्वक्रीडी क्रीडार्थंशुनोविभर्तिस्येनैर्जावतिक्रयविक्रयादिना प्रागुक्तपक्षिणांपोषकः पञ्जरादिसंस्थितानांधारयिता । कन्यामकन्यायःकरोति सकन्यादूषकः । हिंसः स्वभावक्रूरःवधरतः । वृषलवृत्तिः शूद्रेभ्यः सेवादिनायोजीवति । वृषलपुत्रइतिपाठान्तरंकेवलाएववृषलाःपुत्रायस्यशूद्रापत्यैश्चकेवलैरितिगर्हिताचारः । गणानांदेवानांच याजकः गणयागाः प्रसिद्धाः ॥ १६४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्वक्रीडी श्वभिः क्रीडन् । कन्यादूषकः कन्यायाअङ्गुल्यादिनाऽकन्यात्वांपादकः । वृषलएव पुत्रोस्य सतु वृषलपुत्रः । गणानामनेकेषांक्रमेण ॥ १६४ ॥

(३) कुड्मूकः । क्रीडार्थंशुनःपोषयति श्येनैर्जावति क्रयविक्रयादिना । कन्याभिगन्ता । हिंसारतः । शूद्रोपकुम्भवृत्तिः । वृषलपुत्रइति पाठान्तरम् । वृषला एव केवलाः पुत्रायस्येत्यर्थः । विनायकादि गणयागरुत् ॥ १६४ ॥

(४) राघवानन्दः । श्वक्रीडी क्रीडार्थंशुनःपोषा । श्येनजीवी श्येनेनान्यपक्षिणोघातयित्वा व्यवहारी । पक्षिपोषकस्य निन्दितत्वेपि अधिकदूषणार्थवा । कन्यादूषकः । अङ्गुल्यादिना योनिविदारकः अथवा तस्याःपरिवादीकुमारीगन्तुरूपपातकित्वोक्तेर्दण्डप्रायश्चित्तापाङ्ग्यादिभेदेनकुमार्यादूषकाणांपुनरुक्ताद्यभावोभ्येयः । वृषलवृत्तिः वृषलावकुम्भवृत्तिः वृषलोपजीवी वा वृषलपुत्रइति पाठान्तरं वृषलाएव केवलाः पुत्राः पुत्रस्थानीया वायस्य सतथा । गणानां विनायकानां बहुयाजकस्योक्तत्वात् । बहूनामुपनेता वा यश्चोपनयते बहूनिति निन्दितत्वात् ॥ १६४ ॥

(५) नन्दनः । श्वभिः क्रीडतीतिश्वक्रीडी । वृषलएव पुत्रोयस्य सवृषलपुत्रः । गणानाञ्चैवयाजकः नानाजातीयाः अनियतवृत्तयः संहतागणास्तेषांयाजकोयाजयिता ॥ १६४ ॥

(६) रामचन्द्रः । वृषलपुत्रः । निर्धर्मोवृषलोऽज्ञेयस्तत्सुतोवृषलात्मजः ॥ च पुनःगणानांयाजकएवंविनायकादिगणयाजकः सर्वेषांयाजकोवा ॥ १६४ ॥

आचारहीनः क्लीबश्च नित्यंयाचनकस्तथा॥रुषिजीवी श्लीपदी च सद्भिर्निन्दितएव च॥१६५॥

(१) मेघातिथिः । आचारो गृहाभ्यागतानांपूजादिप्रयुक्तोलौकिकसमाचारः तेनवर्जितः । क्लीबोऽल्पसत्वः भयोत्साहः कर्तव्येषु । याचनकः सदैवयोयाचतेयश्चापरानुद्वेजयति । वस्तुस्वभावोयंयाच्ययाच्यमानोद्वेजनं । नन्दादिभ्योयुः

स्वार्थकः । कृषिजीवीस्वयंकृतया कृष्या जीवति सति चोपायान्तरे अस्वयंकृतयापि । श्लोपदी एकः पादो महान्यस्य । सद्भिर्निन्दितः दुर्भगः विनापि दोषेण सतां द्वेष्यः ॥ १६५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्लीबोधर्मोद्यमशून्यः । नित्यं याचनको याचकः । सद्भिर्विनिन्दितोऽकारणेपि ॥ १६५ ॥

(३) कुड्डूकः । गुर्वतिथिप्रत्युत्थानाद्याचारवर्जितः । क्लीबोधर्मकृत्यादौ निरुत्साहः नपुंसकस्योक्तत्वात् । नित्यं याचनेन परोद्वेजकः । स्वयंकृतया कृष्या योजीवति वृत्त्यन्तरेपि वा संभवत्यस्वयंकृतयापि । श्लोपदीव्याधिनास्थूलचरणः । केनापि निमित्तेन साधूनां निन्दाविषयः ॥ १६५ ॥

(४) राघवानन्दः । क्लीबोधर्मोद्यनुत्साही नपुंसकस्योक्तत्वात् । नित्यं याचनकः स्वस्तनादिषु सत्त्वपि । कृषिजीवी स्वयंकृतकृष्या जीवति । श्लोपदी व्याधिकृतस्थूलपदः । अशिष्टोयमिति निन्दितः ॥ १६५ ॥

(५) नन्दनः । क्लीबउपहतशुकः पुरुषः ॥ १६५ ॥

(६) रामचन्द्रः । क्लीबः धर्मोत्साहरहितः । कृषिजीवी कृषिकृत् । श्लोपदीपदे महती यस्य सहि । सद्भिर्निन्दितो दुर्भगः ॥ १६५ ॥

औरभिको माहिषिकः परपूर्वापतिस्तथा ॥ प्रेतनिर्यातकश्चैव वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥ १६६ ॥

(१) मेधातिथिः । उरभ्रामेषास्तैश्चरतिक्रयविक्रयादिनाव्यवहरति तद्धनप्रधानो वा एवमाहिषिकः । परः पूर्वोयस्याः तस्याः पतिः भर्ता । या अन्यस्मै दत्ता अन्येन वा ऊढा तां पुनः यः संस्करोति पुनर्भवति भर्ता पौनर्भवो नरो भर्ता साविति शास्त्रेण । प्रेतान्योनिर्यापयति वहति एते यत्नतो वर्जनीयाः ॥ १६६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । औरभिको मेषपोषकः । माहिषिको महिषपोषकः । परपूर्वाप्रागन्यस्मै दत्ता तस्याः पतिः परिणेतुः । प्रेतनिर्यातको वृत्त्यर्थं प्रेतवाहः ॥ १६६ ॥

(३) कुड्डूकः । मेषमहिषजीवनः । परपूर्वापुनर्भूस्तस्याः पतिः । प्रेतनिर्हारको धनग्रहणेन न तु धर्मार्थं । एतद्वै परमंतपोयत्प्रेतमरण्यहरन्तीति अवश्यश्रुत्या विहितत्वात् ॥ १६६ ॥

(४) राघवानन्दः । औरभिको मेषजीवी । माहिषिकोपि तथा । परपूर्वा पुनर्भूः तस्याः पतिः अस्याः पुत्रः पौनर्भवोऽक्तः । प्रेतनिर्यातकः धनग्रहणेन मृतनिर्हारकः ॥ १६६ ॥

(५) नन्दनः । उरभ्रामेषास्तैर्योजीवति स औरभिकः । एतेन माहिषिको व्याख्यातः । प्रेतनिर्यातको वृत्त्यर्थं शवनिर्हारकः । प्रयत्नतः आपद्यपि ॥ १६६ ॥

(६) रामचन्द्रः । औरभिक मेषपालकः महिषपालको वा । परपूर्वापतिः परपूर्वापुनर्भूस्तस्याः पतिः । प्रेतनिर्यातकः प्रेतलोभेन निर्यातयति प्रेतवाहक इत्यर्थः ॥ १६६ ॥

एतान्विर्गहिताचारानपाङ्केयान् द्विजाधमान् ॥ द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्जयेत् ॥ १६७ ॥

(१) मेधातिथिः । विर्गहितो निन्दितः आचारः कर्मानुष्ठानमेषामिति । काणादयः पूर्वदोषलिङ्गेन स्तेनादयो नुभूयमानदोषाः प्रत्यक्षादिना । उभयत्र देवे पिब्ये च वर्जयेत् परिहरेत् । अपाङ्के याः पङ्क्तिनाहन्ति । भवार्थं दृक्कर्तव्यः । अनर्ह-

(१६६) औरभिको=औरभिकः (ख, ग, घ, च)

* हरन्तीति अवश्यश्रुत्या=हरन्तीति श्रुत्या (अ)

त्वमेवपङ्गावभवनप्रतीयते । अन्यैर्ब्राह्मणैः सह भोजनं नार्हन्ति । अतएवपङ्क्तिदूषका उच्यन्ते तैः सहोपविष्टा अन्येपिदूषिता भवन्ति ॥ १६७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतानन्यांश्च विगर्हिताचारान् । अपङ्क्त्यानिर्देषांपङ्गावपि न भोक्तव्यमित्यर्थः उभयत्र दैवे पित्र्ये च ॥ १६७ ॥

(३) कुल्लूकः । एतान्स्तेनादीनिन्दिताचारान्काणादींश्चपूर्वजन्मार्जितनिन्दितकर्मशेषलब्धकाणादिभावान्साधुभिः । सहैकत्रभोजनाद्यनर्हान्ब्राह्मणापसदान्ब्राह्मणश्रेष्ठः शास्त्रज्ञोदैवेपित्र्ये च त्यजेत् ॥ १६७ ॥

(४) राघवानन्दः । उपसंहरति एतानिति । उभयत्र दैवे पित्र्ये च । प्रवरः द्विजातिश्रेष्ठोविप्रः ॥ १६७ ॥

(५) नन्दनः । द्विजातिप्रवरविद्वच्छब्दौवर्जयितृप्रशंसापरौ । उभयत्रदैवपित्र्योः ॥ १६७ ॥

(६) रामचन्द्रः । उभयत्रदैवे पित्र्ये हव्यकव्यादिषुअपीतिनिश्चये ॥ १६७ ॥

ब्राह्मणस्त्वनधीयानस्तृणाग्निरिव शाम्यति ॥ तस्मै हव्यं न दातव्यं नहि भस्मनि हूयते ॥ १६८ ॥

(१) मेधातिथिः । यथैतेस्तेनादयःपङ्क्तिदूषकाः एवमनधीयानस्तत्तुल्यदोषइत्येवमर्थपुनर्वचनं । अन्येतुव्याचक्षते अधीयानानांकाणादीनामसतिवर्तमानेविगर्हिताचारत्वेदैवेकदाचित्प्राप्त्यर्थमनधीयानोब्राह्मणोवर्ज्यः । यस्तुअधीतेतस्मै हव्यंकिमिति नदीयते एवमर्थमेवात्रहव्यग्रहणं । अनधीयानः केवलवर्ज्योयेचदृश्यमानगर्हिताचारा अतस्तेउभयत्रप्रतिषिद्धास्तेदैवेपित्र्येचवर्ज्याः । अन्येतुपित्र्येएव तथाचवसिष्ठः । अथचेन्मन्त्रविद्युक्तः शारीरैःपङ्क्तिदूषणैः । अद्व्यन्तंयमः प्राहपङ्क्तिपावनएवसइति ॥ तृणाग्निरिवशाम्यतीति । तृणाग्निर्यथानशक्नोतिहवींषिपकुंहुतमात्रेणहविषाशाम्यति तद्वत् । नचयस्मिन्नग्नौहुतंनभस्मीभवतिनतत्रहोमात्फलं । एवंहिश्रूयते असमिद्धेनहोतव्यमग्निर्वैसर्वादेवताइति । एवमनधीयानोब्राह्मणस्तृणाग्नितुल्यः एतदेवाह नहिभस्मनिहूयतइति यथातृणाग्निः प्रायोभस्मोभवतिनतत्रहूयते एवंतादृशोब्राह्मणोभोज्यते ॥ १६८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तृणाग्नि रिवेत्यल्पफलहेतुतोक्ता । भस्मनि तृणाग्निभस्मनि ॥ १६८ ॥

(३) कुल्लूकः । तृणाग्निर्यथा न हविर्दहनसमर्थोहविषि प्रक्षिप्ते शाम्यति निष्फलस्तत्र होमः एवंवैदाग्निशून्योब्राह्मणस्तृणाग्निसमस्तस्मै देवोद्देशेन त्यक्तंहविर्न दातव्यं यतोभस्मनि न हूयते । श्रोत्रियायैव दैयानीत्यनेनैवानधीयानस्यापि प्रतिषेधसिद्धौ स्तेनादिवत्पङ्क्तिदूषकत्वज्ञापनार्थपुनर्वचनम् । अन्येतु दैवे अनधीयानएव वर्जनीयः । अधीयानस्तु काणादिरपि शारीरदोषयुक्तोग्राह्यइति एतदर्थपुनर्वचनम् । अतएव वसिष्ठः । अथ चेन्मन्त्रविद्युक्तः शारीरैः पङ्क्तिदूषणैः । अद्व्यन्तंयमः प्राह पङ्क्तिपावनएवसः ॥ शारीरैः काणत्वादिभिर्न तुस्वयमुत्पाद्यैस्तेनत्वादिभिः ॥ १६८ ॥

(४) राघवानन्दः । दैवे तु ब्राह्मणपरोक्षाभावेपि वेदविद्यापेक्षितेत्याह ब्राह्मणइति । अनधीयानोवेदरहितः । शाम्यति वेदतेजोरहितत्वात् । हव्यं कव्योपलक्षणम् ॥ १६८ ॥

(५) नन्दनः । उभयत्र श्रोत्रियत्वमादरणीयमित्याह ब्राह्मणइति । हव्यमिति कव्यस्याप्युपलक्षणम् ॥ १६८ ॥

(६) रामचन्द्रः । तृणाग्निर्यथा शाम्यति तथा अनधीयानो द्विजःशाम्यति । तस्मै द्विजायान्नं दातव्यं । नहि भस्मनि हूयते तृणाग्निर्यथाहविर्दग्धुं न शक्नोति हुतमात्रेण शाम्यति तथाअस्मिन्नग्नौ हुतं न भस्मीभवति । वेदाध्यनरहितोभस्मतुल्योद्विजोभवतीत्यर्थः ॥ १६८ ॥

अपाङ्कदाने योदातुर्भवत्यूर्ध्वफलोदयः ॥ दैवे हविषि पित्र्ये वा तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १६९ ॥

(१) मेधातिथिः । अस्यप्रतिषेधविधिःफलमाह । पङ्क्यामर्हन्तीतिपङ्क्याः नपङ्क्याःअपङ्क्याःदण्डादिदर्शनादू-
पसिद्धिः तेभ्योदानेयःफलोदयःफलोत्पत्तिर्भवति । दातुस्तत्सर्वमिदानींब्रवीम्यवहिताभवथेति ॥ १६९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अपाङ्कदानेअपाङ्केभ्योदानेरुते ॥ १६९ ॥

(३) कुट्टूकः । पङ्क्तिभोजनानर्हब्राह्मणाय दैवे हविषि पित्र्ये वा दत्ते दातुर्योदानादूर्ध्वफलोदयस्तमशेषमभिधा-
स्यामि ॥ १६९ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रतिज्ञान्तरंप्रतिजानीते अपाङ्क्येति । अपाङ्क्याः विप्रभोजनपङ्क्तौ प्रवेशानर्हाः ऊर्ध्वपरलोके ।
फलोदयोविरुद्धफलप्राप्तिः ॥ १६९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अपाङ्कदाने अपाङ्केयानांपुंसांदाने दातुर्यः फलोदय ऊर्ध्वपरलोक भवेत्तदशेषतःफलवक्ष्यामि
दैवे पित्र्ये वा कर्मणि ॥ १६९ ॥

अब्रतैर्यद्विजैर्भुक्तं परिवेत्तादिभिस्तथा ॥ अपाङ्केयैर्यदन्यैश्च तद्वैरक्षांसि भुञ्जते ॥ १७० ॥

(१) मेधातिथिः । अवृताःअसंयताः शास्त्राचारवर्जिताः । परिवेत्प्रभृतयीयद्यपिशास्त्रबाह्यास्तथापिभेदेनस्मरणा-
र्थदोषगुरुत्वार्थवाक्यन्ते । अन्येचापाङ्केयाः काणश्लीपदादयः तैर्यदनंभुक्तंश्राद्धे भवतितद्रक्षांसिदेवद्विषोभुञ्जते । नपितरः-
प्रेताःअतोनिष्फलंतच्छ्राद्धंभवतीत्युक्तंभवति । रक्षोयहणमर्थवादः ॥ १७० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अब्रतैररुतस्मात्कादिप्रतैःअन्यैरपाङ्केयैः । स्मृत्यन्तरोक्तैः ॥ १७० ॥

(३) कुट्टूकः । वेदग्रहणार्थंव्रतरहितैस्तथा परिवेत्तादिभिरन्यैश्चापाङ्केयैः स्तेनादिभिर्यद्व्यभुक्तंतद्रक्षांसि भु-
ञ्जते । निष्फलंतच्छ्राद्धंभवतीत्यर्थः ॥ १७० ॥

(४) राघवानन्दः । तदेवाह । अब्रतैः वेदार्थव्रतरहितैः । अपाङ्केयैः परिवेत्तादिभिः । यदन्यैस्तत्सदृशैः काणाद्यैः ।
तस्मात्पाङ्केयारक्षोघ्नाइति भावः । अतएव वसिष्ठः । अथचेन्मन्त्रविद्युक्तःशरीरैःपङ्क्तिदूषणैः । अदूष्यस्तंयमःप्राहपङ्क्तिपाव-
नएवसइति ॥ १७० ॥

(५) नन्दनः । रक्षांसि भुञ्जते न देवानापिपितरः । तेन तन्निष्फलमित्यभिप्रायः ॥ १७० ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्यैरपाङ्केयैः ॥ १७० ॥

दाराग्निहोत्रसंयोगंकुरुते योऽग्रजे स्थिते ॥ परिवेत्ता सविज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः ॥ १७१ ॥

(१) मेधातिथिः । अग्रेआदौजातःअग्रजःसोदर्योभ्रातोच्यते । एवंहिपठ्यते ॥ पितृव्यपुत्रानसापत्नान्परनारी-
सुतांस्तथा । दाराग्निहोत्रसंयोगेनदोषःपरिवेदनेइति । अत्रसोदर्योग्रजःतीर्त्तस्थितेरुतदाराग्निसंयोगेतिष्ठति प्रकृतव्यापा-
रनिवृत्तौप्रयुक्तःअग्निहोत्रशब्दःकर्मशब्दोपि तदर्थस्याधानेवर्ततेस्मृत्यन्तरेविशेषःपठ्यते । उन्मत्तःक्लिबपीकुक्षीपतितः
स्त्रीवएवच । राजसूक्ष्माग्रयावीचनयोग्यः स्यात्प्रतीक्षितुं ॥ एतदप्यनधिकारोपलक्षणार्थं । अतश्चपङ्कावपिगृह्यते कालविशे-
षोधिकोव्यपेक्षते । तथाचस्मृतिः । अष्टौवर्षाण्युदीक्षेत्षडित्येकइति एषाचवर्षसंख्यायदाकर्तव्यान्प्राप्तमविवाहकालइतः

(१६९) अपाङ्कदाने=अपाङ्क्यप्रदानि (ख)

=अपाङ्क्यदाने (क, ग, घ, ब, भ, र, ल)

प्रभृतिपृष्ठव्याविवाहकालश्चाध्यायविधिनवृत्तिः । ननुचप्रोषिताधिकारेतत्पठितं भर्तरिप्रोषितेयःस्त्रीणां प्रघासकालस्तमु-
पक्रम्यभ्रातरीत्यादिपठितं । सत्यंवाक्यान्तरेप्रोषितशब्दस्यप्रत्यक्षःसंबन्धोवगतःवाक्यान्तरेतुसंबन्धेप्रमाणंनक्तव्यं नचत-
दस्ति यथास्वरितेमाधिकारइति नचात्रतच्छब्दोस्ति । नचतदपेक्षयाविनैवतस्यवाक्यस्यापरिपूर्णत्वंसिद्धेनचाविशेषेणा-
ग्निशब्देनस्मार्तस्याप्यग्रेग्रहणंकृतं । केचित्पितर्यप्यकृताधानेविधिमिच्छन्ति । अग्रजशब्दस्ययौगिकत्वात् पिताप्यग्रजो-
भवतीति । यद्यप्येवमन्योपियोग्रजस्तत्राप्येवंप्राप्नोति । नचायमग्रजानुजव्यवहारः पितापुत्रयोर्विद्यते । स्मृत्यन्तरेतु-
पठ्यते । भ्रातरिचैवंज्यायसीति । परिवृत्तिः पूर्वजोज्येष्ठः ॥ १७१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । परिवेत्तादिपदानि व्याचष्टे दाराग्निहोत्रेति । दाराग्निहोत्रयोरन्यतरस्य संयोगं संबन्धम् ।
स्थिते अकृते अग्निहोत्रपदं लक्षणयान्नेताग्रिपरम् । आधाने च ज्येष्ठानुमतिविना कृतेपरिवेत्ता नतदनुमत्या ॥ १७१ ॥

(३) कुल्लूकः । अप्रसिद्धत्वात्परिवेत्तादिलक्षणमाह दारेति । अग्निहोत्रशब्दोऽयमग्निहोत्राद्याधानपरःयःसहोदरे
ज्येष्ठे भ्रातर्यनूढेऽनधिके च दारपरिग्रहंश्रौतस्मार्ताग्निहरणंच कुरुते सपरिवेत्ता ज्येष्ठश्च परिवृत्तिर्भवति ॥ १७१ ॥

(४) राघवानन्दः । परिवेत्तुपरिवित्योर्लक्षणमाह दारेति । परिवेत्ता परि ज्येष्ठं त्यक्त्वा आदौ वेत्ता कन्याग्र्योर्लब्धा ।
यः पूर्वजोज्येष्ठः सपरिवृत्तिः ॥ १७१ ॥

(५) नन्दनः । अथ परिवेत्तादिशब्दानामपाङ्गानुक्रमेणोद्दिष्टानांलोकविषयतांपरिजिहीर्षस्तेषामर्थमाह । दारेति
॥ १७१ ॥

(६) रामचन्द्रः । यअग्रजे स्थिते सति दाराग्निहोत्रंकुरुते स्वीकुर्यात्सपरिवेत्ता विज्ञेयः । पूर्वजो ज्येष्ठःपरिवि-
त्तिसंज्ञोभवति ॥ १७१ ॥

परिवृत्तिः परिवेत्ता यया च परिविद्यते ॥ सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः ॥ १७२ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रसंगात्परिवेदनसंबन्धिनामन्येषामपिदोषदर्शनद्वारेणनिषेधंकरोति । निषेधपरिवर्जितःपरि-
भूतोवा वेदनेनपरिवृत्तिः परिवर्ज्यश्रेष्ठंकरोतिवेदनंपरिवेत्ता । ययाकन्ययापरिविद्यते सर्वेतेनरकंयान्ति । दातायाजक-
श्चयेषांनरकगामिनांपञ्चमोदाताकन्यायापकृतत्वात्पित्रादिः । याजकोविवाहेयः करोतिहोमं योवातत्रोपदेष्टा अथवातेषामेव-
परिवेत्तुपरिवृत्तितत्कन्यादातृणां ज्योतिष्टोमादीनामपि यज्ञानामृत्तिकृतस्माज्येष्ठेन तथा कर्तव्यं यथास्यकनीयसोभ्रातुर्वि-
वाहे विघ्नकर्तृत्वंनभवति । कनीयसापिकालप्रतीक्षाद्वादशाष्टषड्वर्षादिविषयाकर्तव्या । कन्ययापितादृशायन्मांदातुनदेयं ।
दातृयाजकौपञ्चमौयेषामितिद्वन्द्वगर्भोबहुब्रूहिः ॥ १७२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यया कन्यया दाता कन्यायाः याजकस्तत्र ब्रह्मत्वेनार्तिव्यकारी दातृसहितो याजकः
पञ्चमोयेषांते दातृयाजकपञ्चमाः । याजकोऽत्रपरिवेत्तुर्दर्शपूर्णमासयागेष्वतिव्यत्येके ॥ १७२ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रसङ्गात्परिवेदनसंबन्धिनांपञ्चानामन्यनिष्ठफलमाह परीति । परिवृत्तिःपरिवेत्ता च यया च कन्यया
परिवेदनंक्रियते कन्याप्रदाता याजकश्च तद्विवाहहोमकर्ता सपञ्चमोयेषांते सर्वे नरकंव्रजन्ति ॥ १७२ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव प्रासंगिकंदोषमाह परिवृत्तिरिति । यया स्त्रिया । परिवेदनं विवाहः ॥ १७२ ॥

(५) नन्दनः । परिवेदनसंबन्धिनोऽपि वर्जनीयाइत्यभिप्रायेणाह परिवृत्तिरिति । दातृसहितोयाजकः पञ्चमोये-
षांतेदातृयाजकपञ्चमाः ॥ १७२ ॥

(६) रामचन्द्रः । परिवित्तिः लघुपरिवित्ता यया स्त्रिया सह परिविद्यते । याजकोविवाहकर्ता आचार्यः पञ्चमः । ते सर्वे नरकं यान्ति गच्छन्तीत्यर्थः ॥ १७२ ॥

भ्रातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः ॥ धर्मेणापि नियुक्तायां सङ्गोदधिषूपतिः ॥ १७३ ॥

(१) मेधातिथिः । नियोगधर्मेण प्रवृत्तो भ्रातुर्मृतस्य तद्भार्यायां गमने योनुरागतः प्रीतिभावात् कामतः नियोगधर्माति-
क्रमेण स रुत्सरुदृतावित्येवं विधिं हित्वा इच्छानुरागंगाढालिङ्गनं परिचुम्बनादिकुर्यादसरुद्धाप्रवर्तेत चेतसा विक्रियेत कामि-
नीप्रेमदृष्टिबन्धवचनादिलिङ्गेनानुरागित्वेन विभावितोदधिषूपतिर्विद्यः । अप्रेदिधिषूपलक्षणं तु स्मृत्यन्तरात् ज्ञेयं । जीवत्यग्रे
दिधिषूपतिरिति केचित्तु नैवायं समाप्ताये श्लोकोस्तीत्याहुः अपरिपूर्णलिङ्गं ब्रुवते । द्वयस्य लक्षणे कर्तव्ये न पूर्वकारिणामेक-
स्योपपद्यते । स्मृत्यन्तरे चैतदुभयं लक्ष्यते । परपूर्वापतिं धीरावदन्ति दिधिषूपतिं । यस्त्वग्रे दिधिषूर्विपः सैव यस्य कुटुम्बिनी ॥
न त्विह सम्भवति परपूर्वापतेः पृथगेव निषिद्धत्वात् । तस्मादन्यो दिधिषूपतिः ॥ १७३ ॥

(२) सर्वज्ञानाराधणः । धर्मेण प्रथमं नियुक्तायां पश्चाद्योऽनुरज्येत अपिशब्दाद्वागमात्रेणाऽपि दिधिषूपतिरग्रे दिषू-
पतिः । एवं च तस्या अपि स्त्रिया दिधिषूरग्रे दिधिषूर्वेति नामोक्तं भवति ॥ १७३ ॥

(३) कुट्टुकः । मृतस्य भ्रातुर्वक्ष्यमाणनियोगधर्मेणापि नियुक्तायां भार्यायां स रुत्सरुदृतावृतावित्यादिविधिं हित्वा
कामेनानुरागं भावयेदाश्लेषचुम्बनादि कुर्यादसरुद्धा प्रवर्तेत स दिधिषूपतिर्ज्ञातव्यः । अतः श्राद्धनिषिद्धपात्रमव्यपाठाद-
स्यापि हव्यकव्यपात्रयोर्निषेधः कल्पनीयः ॥ १७३ ॥

(४) राघवानन्दः । दिधिषूपतिरित्युक्तस्य लक्षणमाह भ्रातुरिति । अनुरज्येत स्तनालिङ्गनादिना । नियुक्तायां पु-
त्रार्थमपि । ज्येष्ठया यद्यनूदायां कन्या योद्वाहते नुजा । सा चाग्रे दिधिषूर्ज्ञेया पूर्वा तु दिधिषूः स्मृतेति ॥ तयोः पतिर्वा । गो-
विन्दराजस्तु वृत्तवशादग्रे पदलोपादयमेवाग्रे दिधिषूपतिरिति ॥ १७३ ॥

(५) नन्दनः । अनिर्दिष्टस्य दिधिषूपतिशब्दस्यार्थकथनेन दिधिषूपतेरप्यपाङ्गेयत्वं गम्यते ॥ १७३ ॥

(६) रामचन्द्रः । मृतस्य भ्रातुर्भार्यायां कामतो योऽनुरज्येत अनुरक्तो भवेत् । धर्मेणापि नियुक्तायामाज्ञमायां स दि-
धिषूपतिर्ज्ञेयः । यथा व्यासं धृतराष्ट्रपाण्डुजनकत्वात् परपूर्वापतिं धीरावदन्ति दिधिषूपतिरिति ज्ञेयः ॥ १७३ ॥

परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ ॥ पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान्मृते भर्तरि गोलकः ॥ १७४ ॥

[उत्पन्नयो रधर्मेण हव्यकव्ये च नैत्यके ॥ यस्तयोरन्ममश्नाति सकुण्डाशी द्विजः स्मृतः ॥ १७५ ॥]

(१) मेधातिथिः । पत्यौ जीवति तद्गृहे स्थितायां तद्भार्यायां गूढोत्पन्नः भङ्ग्या उपपत्तिर्वेनवा पत्युः क्षमया जायते सो-
न्यजातः कुण्ड उच्यते । मृते तु गोलकः । एतावन् नियुक्तासुतावितिकेचित् । तदयुक्तं । तयोरब्राह्मण्यादेवाप्राप्तिस्तस्मान्नियोगो-
त्पन्नौ कुण्डगोलकौ कथं पुनरनियुक्तासुतयोरब्राह्मण्यमितरयोस्तु ब्राह्मण्यं जातिलक्षणे पत्नीग्रहणात् । संबन्धिशब्दश्च पत्नी-
शब्दो भर्तृशब्दवत् । यज्ञसंयोगेन पत्नीशब्दो व्युत्पाद्यते न चान्यदीयया भार्यायां सहान्यस्य यज्ञाधिकारः यद्येवं नियोगोत्पन्नयो-
रपि समानन्यायत्वान्नैव ब्राह्मण्यं दशमएतन्निर्णयामः । मा भूद्भानियुक्तानियुक्तासुतयोः कस्यचिदपि ब्राह्मण्यं । न नूक्तमस-

तिब्राह्मण्येप्राप्त्यभावात्प्रतिषेधानुपपत्तिः । पतितेप्रतिषेधादेव एतद्भविष्यति द्विजातिकर्मभ्योहानिःपतनं द्विजातिकर्मत्वेस-
तिश्राद्धभोजनस्य कुतःपतितेप्रामिराम्नायतेचप्रतिषेधोयेस्तेनपतिताइति ॥ १७४ ॥

(३) कुल्लूकः । परदारेषु कुण्डगोलकाख्यौ द्वौ सुतावुत्पद्येते । तत्र जीवत्पतिकायामुत्पन्नः कुण्डोमृतपतिकायां-
च गोलकः ॥ १७४ ॥

(४) राघवानन्दः । कुण्डगोलकौ लक्षयति परदरिष्विति । परजातत्वेन व्यक्तः गर्भः कुण्डः । अनियुक्तयोःस्त्रि-
योः अयमेव गूढोत्पन्नइति वा ॥ १७४ ॥

(५) नन्दनः । सवर्णोत्पत्ताविमेषंज्ञे ॥ १७४ ॥

तौ तु जातौ परक्षेत्रे प्राणिनौ प्रेत्य चेह च॥दत्तानि हव्यकव्यानि नाशयेते प्रदायिनाम्॥१७५॥

(१) मेधातिथिः । जात्याख्यायामितिवहुवचनंप्राणिनइति ब्राह्मण्यादिव्यपदेशमवजानतेप्राणिनइत्येवंव्यपदेशा-
न्तरमर्हन्ति अतस्ते नाशयन्ति हव्यकव्यानि निष्फलीकुर्वन्ति प्रदायिनांदातृणांपरिवित्रादीनांलोकेनातिप्रसिद्धत्वात् शब्दै-
श्चास्यस्मृतत्वाद्यवस्थार्थलक्षणप्रणयनम् ॥ १७५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । द्वौसुतौ जीविनौप्रेत्य परलोके भोग्यानि हव्यकव्यानिहव्यकव्यफलानि नाशयेते । इह
लोके भोग्यानि शान्त्यादिफलानि । यद्यपियाङ्गवल्क्येन सवर्णभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातइत्युक्ता विन्नास्वेष-
विधिः स्मृतइति विवाहितसवर्णस्त्रीजातानामेव सजातितोक्ता । तथापि कुण्डगोलकयोरविन्नस्त्रीजनितत्वेऽपि ब्राह्मण-
ब्राह्मणीजन्मनोरेतयोः श्राद्धपात्रतानिषेधाद्ब्राह्मण्यंगम्यतइत्येके नैत्यपरे ॥ १७५ ॥

(३) कुल्लूकः । तेपरभार्यायांजाताःकुण्डाद्यादृष्टानुपयोगात्प्राणिनइति व्यपदिष्टाः । प्राणिनौ ब्राह्मणत्वेपि तत्कार्या-
भावात्प्रेत्य फलाभावात्परलोके चानुषङ्गिककीर्त्यादिफलाभावाद्दत्तानि हव्यकव्यानि प्रेत्य फलाभावादिह कीर्तेरभा-
वान्नाशयेते नाशयतः । प्रदायिभिर्दत्तानि हव्यकव्यानि निष्फलानिकुर्वन्ति ॥ १७५ ॥

(४) राघवानन्दः । अनयोः प्रासङ्गिकंदोषमाह तेत्विति । अत्र बहुत्वपूर्णार्थदिधिषूपतेः पुत्रस्य ग्रहणं । द्विव-
चनपाठस्तु कचित्ताविति ॥ १७५ ॥

(६) रामचन्द्रः । तौ तु कुण्डगोलकौ परक्षेत्रे जातौ प्राणिनाविहलोके प्रेत्यपरलोके प्रदायिनांदातृणांदत्तानि
हव्यकव्यानि नाशयेते ॥ १७५ ॥

अपाङ्ग्योयावतः पाङ्ग्यान् भुञ्जानाननुपश्यति॥तावतां फलंतत्र दाता प्राप्नोति बालिशः॥१७६॥

(१) मेधातिथिः । पङ्क्तिमर्हतीतिपङ्क्त्यः सद्भिरेकत्रासनभोजनाद्यर्हतापङ्क्त्यानां तदभावादपङ्क्त्योयावतः पङ्क्त्या
न्विद्वत्तपस्विश्रोत्रियान्भुञ्जानाननुपश्यति तावतां नतत्रपितृवृत्त्याख्यंफलंभवति । अतस्तेनादयः श्राद्धंकुर्वताततः प्रदेशादप-
सारणीयाः बालिशोमूर्खः ॥ १७६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अपाङ्ग्योन्धादिभ्योऽन्यस्तेषु संख्याविशेषस्योक्तत्वात् ॥ १७६ ॥

(३) कुल्लूकः । सद्भिःसहैकपङ्क्त्याभोजनानर्हः स्तेनादिर्यत्संख्याभोजनाहान्पश्यति तावत्संख्यानांभोजनस्य
फलंतत्र श्राद्धे दाता न प्राप्नोति बालिशोऽज्ञः । अतस्तेनादिर्यथा न पश्यति तथाकर्तव्यम् ॥ १७६ ॥

(४) राघवानन्दः । अपाङ्ग्यैरित्युक्तं तत्र केऽपाङ्ग्याः कियत्फलंनाशयन्तीत्यपेक्षायामाह अपाङ्ग्यइति त्रिभिः ।
बालिशः पङ्क्त्यामपाङ्ग्यप्रवेशात् ॥ १७६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अपाङ्कः द्विजः यावतः संख्याकान्पाङ्क्यान्भुञ्जानाननुपश्यति दाता तत्र तावतांतावत्संख्याकानां भुञ्जतांफलं प्राप्नोति बालिशोमूर्खः ॥ १७६ ॥

वीक्ष्यान्धोनवतेः काणः षष्ठेः श्वित्री शतस्य तु ॥ पापरोगी सहस्रस्य दातुर्नाशयते फलम् ॥ १७७ ॥

(१) मेधातिथिः । ननुचान्धस्यकुतोदर्शनंतदुच्यतेवीक्ष्यान्धोनवतेरिति सत्यं तत्प्रदेशसंनिधानमनेनलक्ष्यते । यावान्देशश्चक्षुष्मतोदष्टिगोचरस्तावतोदेशादनावृतान्धो विवासनीयः । काणः षष्ठेर्नात्रायमर्थोऽत ऊर्ध्वं भोज्यादिति केवलं सङ्ख्यापचयेन दोषलाघवं प्रायश्चित्तविशेषार्थं ज्ञाप्यते । श्वित्रीकुक्षीभण्यते । पापरोगीप्रसिद्धः ॥ १७७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्धोनवते ब्राह्मणानां तत्पङ्क्तिस्थितानाम् । चतुर्थ्यर्थे षष्ठी तेभ्योदानस्ययत्फलं दातुस्तन्नाशयति । काणादयस्तु षष्ठिप्रभृतीन्वीक्ष्यतद्दानफलं दातुर्नाशयन्ति वीक्ष्येति वीक्षणार्हदेशस्थं त्वमुपलक्षितम् । अतएवान्धोऽपि वीक्ष्येत्यस्यान्वयोन विरुद्ध इति केचित् । एवं संपृशतीत्यत्रापि संस्पर्शयोग्यदेशस्थितता लक्ष्यते भोजनसमये संस्पर्शाभावात् । अन्यदापि स्पर्शस्यानियतत्वान्नियतदोषत्वानुपपत्तेः ॥ १७७ ॥

(३) कुल्लूकः । अन्धस्य वीक्षणासंभवाद्दीक्षणयोग्यदेशसन्निहितोऽसौ पाङ्क्यानां नवतेर्भोजनफलं नाशयति एवं काणः षष्ठेः श्वेतकुक्षी शतस्य पापरोगी रोगराजोपहतः सहस्रस्य इत्यन्धादिसन्निधिनिरासार्थं वचनं गुरुलघुसंख्याभिधानं चेहसंख्योपचये दोषगौरवं तत्र च प्रायश्चित्तगौरवमिति दर्शयितुम् ॥ १७७ ॥

(४) राघवानन्दः । कथं नाशयतीत्यपेक्षायामाह वीक्ष्येति । वीक्षणयोग्यदेशसन्निहितोऽसौ नवतेः पाङ्क्यानामपि भोजनजं फलं दातुः प्राप्तिरयोग्यमन्धोनाशयतीत्येवमुत्तरत्र ॥ १७७ ॥

(५) नन्दनः । न केवलमपाङ्क्योदानएव वर्जनीयः किंतु भुञ्जानानां दर्शनेऽपीत्याह अपाङ्क्य इति । तत्र भोजने । भोजयितुरपरीक्षणदोषेण बालिशत्वम् । वीक्ष्य अन्येन वीक्ष्यमाण इत्यर्थः नवतेर्भुञ्जानानां दातुर्दानफलम् ॥ १७७ ॥

(६) रामचन्द्रः । तत्र हि वीक्ष्येति । अन्धोदर्शनयोग्यस्थलेन वीक्ष्य दृष्ट्वा भुञ्जतां नवतिसङ्ख्याकानां द्विजानां फलं नाशयेत् । काणः वीक्ष्य दृष्ट्वा भुञ्जतां द्विजानां षष्ठिसङ्ख्याकानां फलं नाशयते । श्वित्री कुक्षी भुञ्जतां शतसङ्ख्याकानां द्विजानां फलं नाशयते । पापरोगी वीक्ष्य भुञ्जतां द्विजानां सहस्रसङ्ख्याकानां फलं नाशयते ॥ १७७ ॥

यावतः संपृशेद्वै ब्राह्मणाञ्छूद्रयाजकः ॥ तावतां न भवेद्दातुः फलं दानस्य पौर्तिकम् ॥ १७८ ॥

(१) मेधातिथिः । यावतो ब्राह्मणान् संपृशत्यद्वैः पङ्क्तिगतः अत्राप्यद्वयस्य स्पर्शनं न विवक्षितं किंतर्हि पूर्ववत्तद्देशसंनिधिः । पौर्तिकं फलं पूर्तं भवं पौर्तिकं बहिर्वेदिदानाद्यत्फलं तत्पौर्तिकम् ॥ १७८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तावतस्तावद्वयोदानस्य फलं पौर्तिकमित्यैष्टिकस्याप्युपलक्षणम् । शूद्रयाजकस्य श्राद्धासनसोमयाजनकन्यादानमतीवनिरस्तमिति ॥ १७८ ॥

(३) कुल्लूकः । शूद्रस्य यज्ञादावृत्तिग्यावत्संख्यान्ब्राह्मणान् संपृशत्यासनेषूपकृतेष्वित्यासनभेदस्य वक्ष्यमाणत्वात्मुख्यस्पर्शासंभवे यावतां श्राद्धभोजनापङ्कावुपविशति तावतां संबन्धिपौर्तिकं फलं श्राद्धीयं दत्तुं भवति । तावतां पौर्तिकं फलं बहिर्वेदिदानाच्च यत्फलं तन्न भवतीति मेधातिथिगोविन्दराजौ । अतस्तथैव निन्दया निषिद्धगणापठितस्यापिशूद्रयाजकस्य भोजननिषेधः कल्प्यते ॥ १७८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच यावत इति । श्राद्धभोजनकाले परस्परं स्पर्शाभावात् शूद्रयाजकस्य पङ्क्तौ प्रवेशाभावपरं शूद्रयाजकस्पर्शयोग्यदेशपरं वा । पौर्तिकं श्राद्धीयम् ॥ १७८ ॥

(५) नन्दनः । ब्राह्मणानपङ्क्तिस्थान् । पूर्वश्राद्धादि तत्र भवंपौर्तिकम् ॥ १७८ ॥

(६) रामचन्द्रः । शूद्रयाजकोशूद्रयज्ञकर्ता यावतोब्राह्मणानङ्गैः संस्पृशति । तावतांदातुर्दानस्य फलं भवेत् ॥ १७८ ॥

वेदविच्चापि विप्रोऽस्य लोभात्कृत्वा प्रतिग्रहम् ॥ विनाशं व्रजति क्षिप्रमामपात्रमिवाम्भसि ॥ १७९ ॥

(१) मेघानिधिः । प्रसङ्गाच्छूद्रयाजकस्याप्रतिग्राह्यतानेन कथ्यते । वेदविदपि यदितस्य शूद्रयाजकस्य संबन्धिनो-
द्रव्यस्य प्रतिग्रहं करोति । लोभादित्यनुवादः । सोपि विनाशं व्रजति । अभिलषितेनार्थेन विद्युज्यते धनपुत्रपशुशरीरादिना किं-
पुनरवेदवित् । वेदविदः किल प्रतिग्रहेनातीव दोष इति वक्ष्यति । आमपात्रमपक्वं शरावादिभाजनं । अम्भसि जले क्षिप्तम् ॥ १७९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वेदविच्चापीति प्रसङ्गादुक्तम् । वेदविदपि किमुतान्यः । अस्य शूद्रयाजकस्य । केचिद-
स्येति शूद्रस्य परामर्श इत्याहुः । तदसमञ्जसम् । शूद्रस्य तत्राधिकाराभावप्रयोगात्पौनरुक्त्यं स्यात् । तस्मात्तद्याजकस्ये-
त्यस्येति पदम् । आमपात्रमामं मृत्पात्रम् ॥ १७९ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रसङ्गाच्च शूद्रयाजकप्रतिग्रहं निषेधयति । लाघवार्थमन्यत्र निषेधकरणे शूद्रयाजकशब्दोच्चारणं-
कर्तव्यं स्यात् वेदेति । वेदज्ञोऽपि ब्राह्मणः शूद्रयाजकस्य लोभात्प्रतिग्रहं कृत्वा शीघ्रं शरीरादिना विनाशं गच्छति । सुतरा-
मवेदवित् अपक्वमृन्मयशरावादिकमिवोदके ॥ १७९ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रसङ्गिकं शूद्रयाजकप्रतिग्रहं निषेधति वेदविदिति कैमुत्यर्थः । आमपात्रमपक्वघटादि ॥ १७९ ॥

(५) नन्दनः । न केवलं शूद्रयाजकः प्रदाने वर्जनीयः किंतु प्रतिग्रहेऽपीति प्रसङ्गादाह वेदेति ॥ १७९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अस्य शूद्रयाजकस्य वेदविद्विप्रः लोभात्प्रतिग्रहं कृत्वा सः वेदविद्विप्रः क्षिप्रं विनाशं व्रजति अम्भ-
सि जले आमपात्रमिवेत्यर्थः ॥ १७९ ॥

सोमविक्रयिणे विष्ठा भिषजे पूयशोणितं ॥ नष्टदेवलके दत्तमप्रतिष्ठन्तु वार्धुषौ ॥ १८० ॥

(१) मेघानिधिः । तस्यां जातौ जायते यत्र विष्ठास्वभोजनं भवत्येवं भिषजे नष्टं निष्फलं उद्देगकरं वा । नष्टं हि द्व्यं उद्दे-
गं जनयति । अविद्यमाना प्रतिष्ठा स्थितिरित्येतदप्रतिष्ठं नानारूपैः शब्दैरेवं विधस्य दानस्य नैष्फल्यं कर्तुं श्रद्धासंबन्धः प्रतिपाद्यते
नष्टमप्रतिष्ठमिति नानयोरर्थाभेदशङ्काकार्या कार्यविभेदान् ॥ १८० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सोमविक्रयिणे यद्दत्तं तद्विष्ठावद्देवैः पितृभिश्च त्यज्यत इत्यर्थः । एवमुत्तरेषु । अप्रतिष्ठं देवा-
दिसमीपानवस्थायि वार्धुषौ वार्धुषये । नष्टं देवादिभिरदृश्यम् ॥ १८० ॥

(३) कुल्लूकः । सोमविक्रयिणे यद्दत्तं दातुं भोजनार्थं विष्ठा संपद्यते । जन्मान्तरे विष्ठाभोजनां जातौ जायत इत्य-
र्थः । इतरेष्वपूयशोणितेपि व्याख्येयम् । नष्टनाशभागितया निष्फलं विवक्षितम् । अप्रतिष्ठमनाश्रयतया निष्फलमेव ॥ १८० ॥

(४) राघवानन्दः । सोमविक्रयादिना भुक्तश्राद्धीयस्य विरुद्धफलं वाचनिकमाह सोमविक्रयिण इति त्रिभिः । दा-
तुरुपक्रमात्तस्यैव जन्मान्तरे भोजनार्थं विष्ठाद्युपस्थापकम् । सोमविक्रय्यादिभ्यो दत्तमन्नादि अप्रतिष्ठं उक्तवक्ष्यमाण काला-
स्थापि । देवलके वार्धुषिक इत्यत्र चतुर्थ्यर्थे सममी ॥ १८० ॥

(५) नन्दनः । प्रकृतमेवानुसरति सोमेति । अप्रतिष्ठमविद्यमानं भवति ॥ १८० ॥

(६) रामचन्द्रः । सोमविक्रयिणे द्विजाय दत्तं पूयशोणितं भवति । देवलके द्विजे दत्तं नष्टं भवति । वार्धुषिर्बुभ्योप-
जीवीतस्मिन्दत्तमप्रतिष्ठं भवति । नोपतिष्ठेत् ॥ १८० ॥

यत्तु वाणिजके दत्तनेह नामुत्रं तद्भवेत् ॥ भस्मनीव द्रुतं हव्यं तथा पौनर्भवे द्विजे ॥ १८१ ॥

(१) मेधातिथिः । अयमपि पूर्ववत् व्याख्येयः । वाणिजकस्य भोजनं निषिद्धं । नतद्देशसंनिधिः । नह्यथा पूर्ववत् वीक्ष्येति दृष्टिगोचरे देशे लक्षणया संनिधिस्तद्वदिह तादृशं किंचिन्निबन्धनमस्ति । पौनर्भवो न वमेव दृश्यते ॥ १८१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नेह तद्भवेत् कीर्त्यादिहेतुरपि ॥ १८१ ॥

(३) कुल्लूकः । वाणिजकाय यदत्तं श्राद्धे तन्नेहानुषङ्गिककीर्त्यादिफलाय नापि पारलौकिकफलाय भवति । पुनर्भूपुत्राय यदत्तं तद्भस्मद्रुतहविः समं निष्फलमित्यर्थः ॥ १८१ ॥

(४) राघवानन्दः । वणिक्मौनर्भवयोरपि न देयमित्याह यत्त्विति । नेह निन्दास्पदत्वाद्यशोपि नेति भावः । एतेषु न देयमिति तात्पर्यार्थः ॥ १८१ ॥

(५) नन्दनः । वाणिजके वणिक्वृत्तौ ॥ १८१ ॥

(६) रामचन्द्रः । वाणिजके वणिक्वृत्तिस्थिते द्विजे यत्तु दत्तं इह लोके अमुत्र परलोके तन्न भवेत् न फलतीत्यर्थः । पुनर्भुवः सकाशाद्भवति पौनर्भवस्तस्मिन् द्विजे दत्तं द्रुतं कारितं हव्यं भस्मनीव भवति । द्रुतं हव्यं भस्मनि यथा निष्फलं भवति तथा ॥ १८१ ॥

इतरेषु त्वपाङ्ग्येषु यथोद्दिष्टेष्वसाधुषु ॥ मेदोऽसृङ्मांसमज्जास्थि वदन्त्यन्मनीषिणः ॥ १८२ ॥

(१) मेधातिथिः । यस्मिन् पाङ्ग्यदानफलप्रदर्शनप्रकरणे पठिताः अन्धादयस्तेभ्यो न्येस्तेनादयः प्रतिकाण्डोद्दिष्टास्तेषु यथोद्दिष्टेषु भोजितेषु दातुरिमान्युपतिष्ठन्ते । मेदोऽसृङ्मांसादीनि तादृशजातौ जायते यत्रैतदाहारो भवति कृमिक्रव्यातगृधादिजाताविति मनीषिणो वेदविदो वदन्ति । सर्वस्यायमर्थः अपाङ्ग्येषु भोजितेषु श्राद्धाधिकारो न कृतो भवत्यकरणे च विध्यतिक्रमदोषोऽवश्यभावी नित्यत्वादस्य विधेः ॥ १८२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यथोद्दिष्टेष्वसाधुषु तत्तत्स्थानोक्तेष्वपाङ्ग्यव्यतिरिक्तेष्वपि निन्दितकर्मसु दत्तम् । अन्मित्युपलक्षणं मन्यस्यापि ॥ १८२ ॥

(३) कुल्लूकः । इतरेभ्यो विशेषेणानुक्तफलेभ्यः पङ्क्तिभोजनानर्ह्येभ्यः स्तेनादिभ्यो यथा कीर्तितेभ्यो यदत्तमन्तर्दातुर्भोजनार्थमेदोरुधिरमांसमज्जास्थि भवतीति पण्डिता वदन्ति । अत्रापि जन्मान्तरे मेदशोणितादिभुजांजातिषु जायन्त इत्यर्थः ॥ १८२ ॥

(४) राघवानन्दः । मेदो वसा । अस्थि गोरसः । मज्जांश्रीयादिति श्रुतेः ॥ १८२ ॥

(५) नन्दनः । अत्रापि दत्तमित्यनुषज्यते ॥ १८२ ॥

(६) रामचन्द्रः । इतरेष्वनुलोमप्रतिलोमजेषु दत्तं हव्यं कव्यमन्ममेदोरूपं भवति । अपाङ्ग्येष्वसृङ्मांसरूपं भवति । यथोद्दिष्टेषु वर्जितेषु यदत्तं तन्मज्जारूपं भवति । असाधुषु यदत्तं तदस्थिवद्भवति । एवमनीषिणो वदन्ति मेदोऽसृङ्मांसादीनि । तादृशजातौ जायते यत्रैतदाहारो भवति ॥ १८२ ॥

अपाङ्ग्योपहता पङ्क्तिः पाव्यते यैर्द्विजोत्तमैः ॥ तान्निबोधत कार्त्स्न्येन द्विजाभ्यान्प

ङ्किपावनान् ॥ १८३ ॥

(१) मेधातिथिः । अपाङ्ग्यैः पूर्वोक्तैः उपहता दूषिता पङ्क्तिः परिषद्यैर्ब्राह्मणैः पाव्यते निर्दोषाक्रियते । तान्वक्ष्यमाणै-

श्लोकैः श्रुतिः शेषेण ब्रवीमि । अर्थवादरूपाण्यन्यानि पदानि । यथैवैकत्र भुञ्जानो दुष्टो दूषयति । अदुष्टाः पङ्क्तिपावना गुणातिशयादन्यथा मपि दोषानपनुदन्तीत्यस्यार्थः । न चानेनापाङ्क्यानां भोजनमनुज्ञाप्यते । किं तर्हि पङ्क्तिपावनोऽवश्यमन्वेषितव्यः । तस्मिन्लब्धेयद्यत्नेन अतिनिपुणतः परीक्षितास्त्रिपुरुषं यावत् । तथापि न चेदुपलभ्यमानदोषावृथापि भोजयितव्या इत्येवमर्थः पङ्क्तिपावनोपदेशः ॥ १८३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अपाङ्क्योपहता अज्ञायमानदोषाऽपाङ्क्योपहता द्विजोत्तमैर्ब्राह्मणैः द्विजाभ्यान्विप्रमुख्यान्पङ्क्तिपावनसंज्ञान् ॥ १८३ ॥

(३) कुल्लूकः । एकपङ्क्त्युपविष्टस्तेनादिदूषिता पङ्क्तिर्यैर्ब्राह्मणैः पवित्रीक्रियते । तान्पवित्रीकारकान्ब्राह्मणानशेषेण शृणुत । निषेधादेकपङ्क्तिभोजनासंभवेऽपि स्तेनादीनारहस्यकृताज्ञातदोषविषयत्वेन साधकताऽस्य वचनस्य ॥ १८३ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तदोषेषु प्रायश्चित्तं पङ्क्तिपावना एवेति प्रतिजानीते अपाङ्केति । यैः पाव्यते तान् अतएव समाख्यापङ्क्तिपावनानिति । तान्निबोधतेत्यन्वयः ॥ १८३ ॥

(५) नन्दनः । अपाङ्क्योपहता अज्ञानादापद्विषयाद्वापरिगृहीतेनापाङ्क्येनोपहता ॥ १८३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अपाङ्क्यैर्द्विजैरुपहतादूषिता पङ्क्तिर्यैर्द्विजैः पाव्यते निर्दोषीक्रियते तान्द्विजाभ्यान्पङ्क्तिपावनांकात्स्न्येन निबोधत ॥ १८३ ॥

अग्न्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च ॥ श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाः पङ्क्तिपावनाः ॥ १८४ ॥

(१) मेधातिथिः । अग्न्याः उत्तमाः सर्वसंशयप्रभेदननिषुणाः । स्वीकृतवेदाः । सर्वेषु प्रवचनेषु अग्न्याः । इत्येवंप्रोच्यते व्याख्यायते यैर्वेदार्थप्रवचनान्यङ्गानि षडङ्गवेदोद्यैरभ्यस्तोभ्यस्यते वा श्रोत्रियान्वये जाताः पितृपितामहादयो येषां तादृशा एव । ननु चेदृशा एव भोज्यतया विहितास्तत्र कोतिशयोने दानीं पङ्क्तिपावनत्वमुच्यते । किंचिद्विद्वद्भ्योदानं सति श्रोत्रियत्वे विहितं । न चेहविद्वत्तोपात्ता । न च तया पङ्क्तिपावनत्वोपपत्तिः । गुणविशेषापेक्षहि पङ्क्तिपावनत्वं न गुणापचये युक्तम् । तस्माद्विद्वदभावे केवलश्रोत्रियायदानार्थमेतत् । असति विदुषि श्रोत्रियाय दानं मुख्यमेव न गौणमित्युक्तं भवति न बहुवचनं व्यक्त्यपेक्षं । चकारः समुच्चये ॥ १८४ ॥

(४) सर्वज्ञनारायणः । अग्न्याः मुख्याः अध्यापकानां मध्ये सर्वेषु वेदेषु न यत्र कचिदेकस्मिन्वेद इत्यर्थः । एवं सर्वप्रवचनेषु । सर्ववेदार्थनिर्वचनेषु श्रोत्रियान्वयजावेदाध्यतृकुलजाः ॥ १८४ ॥

(३) कुल्लूकः । सर्वेषु वेदेषु चतुर्ष्वपि अग्न्याः श्रेष्ठाः सम्यग्गृहीतवेदाः ब्राह्मणाः पङ्क्तिपावनाः । अतएव यमः । पङ्क्तिपावनगणनायां चतुर्वेदविदेचैवेति पठितवान् । तथा प्रकर्षेणैव उच्यते वेदार्थेऽभिरिति प्रवचनान्यङ्गानि तेष्वप्यग्न्याः षडङ्गविदस्ते च चतुर्वेदिनोपि पङ्क्तिपावनाः । न्यायविच्च षडङ्गविदिति पङ्क्तिपावनमध्ये यमेन पृथक्पठितत्वात् । तथा छन्दसां शुद्धदशपुरुषइत्युशनोवचनादशपुरुषपर्यन्तमविच्छिन्नवेदसंप्रदायवंशजाः पङ्क्तिपावनाः १८४ ॥

(४) राघवानन्दः । पङ्क्तिपावनानलक्षयति अग्न्या इति त्रिभिः । अग्न्याः सर्वसंशयव्युदासेन वेदाभ्यायिनः । सर्वप्रवचनेष्विति प्रवचननाम वेदार्थव्याख्यावं षडङ्गानि तत्रापि कुशलाः तथा श्रोत्रियान्वयजाः छन्दसां शुद्धदशपुरुषपर्यन्तान्वयजाः ॥ १८४ ॥

(५) नन्दनः । पूर्वेषां पात्रत्वमुक्तम् । इदानीं पङ्क्तिपावनत्वमित्युपनरुक्तिः ॥ १८४ ॥

(६) रामचन्द्रः । पङ्क्तिपावनानाह अग्न्यादिति । सर्वेषु वेदेषु ऋग्वेदादिषु अस्वल्लिताध्ययनक्षमाअग्न्याः । च पुनःसर्वप्रवचनेषु षडङ्गाध्यापनेषु शिक्षाकल्पोव्याकरणानिरुक्तिश्छन्दोज्योतिरिति षडङ्गानि एषांअध्यापनेषु अर्थनिर्वचनेष्वितिपाठः । वेदार्थविचारज्ञेषु अग्न्यामुख्याज्ञेयाःच पुनःश्रोत्रियान्वयजाः श्रोत्रियाणामन्वये वंशे जाताः । एते पङ्क्तिपावनाज्ञेयाः ॥ १८४ ॥

त्रिणाचिकेतःपञ्चाग्निसुपर्णःषडङ्गवित् ॥ ब्रह्मदेयात्मसन्तानोज्येष्ठसाममेव च ॥ १८५ ॥

(१) मेधातिथिः । त्रिणाचिकेताख्योवेदभागोऽध्वर्यूणां । पीतोदका जग्धतृणा इत्यादिस्तदध्ययनसंबन्धात्पुरुषोत्रत्रिणाचिकेतउच्यते । अन्येचत्रिणाचिकेतमधीयानानयेनाधीतंनाचिकेतचरितंसत्रिणाचिकेतः । अत्रापिलक्षणयैवपुरुषउच्यतेनचैवंमन्तव्यंतावन्मात्रेणपङ्क्तिपावनत्वं किंतर्हिसतिश्रोत्रियत्वादिगुणयोगेऽधिकोयंगुणोदृष्टव्यःपङ्क्तिपावनहेतुतया । पञ्चाग्निविद्यानामार्थवेदस्योपनिषद्याम्नायते । स्तेनोहिरण्यस्येत्यादिस्यःफलंतदध्ययनसंबन्धात्पुरुषोपिपञ्चाग्निःपूर्ववत् । अन्येतुपञ्चाग्नयोयत्रत्रयस्त्रेताग्रयःसभ्यावसथ्यौचद्वौ पञ्चाग्निस्तत्रसभ्योनामयोमहासाधनस्यशीतापनोदार्थमेवबहुषुदेशेषुव्यवह्रियते । त्रिसुपर्णोमन्त्रस्तैत्तिरीयकेबाह्व्ये च येब्राह्मणास्त्रिसुपर्णपठन्तीत्यादिः । षडङ्गवेदस्तंवेत्तीतिषडङ्गवित् । ब्राह्मधर्मेणआहूयदानेनयादत्तात्तस्याऽनुसन्तानस्ततोजातः । ज्येष्ठसामगश्चज्येष्ठदोहानिआरण्यकेसामानि तानिगायति स एवमुच्यते । अत्रापिसामगानेनतद्वतचरणेनवापुरुषइत्युच्यते ॥ १८५ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । उशनह्वै वाजश्रवसः सर्ववेदसंदावित्यादिः योऽनुवाकः कठश्रुतौ पठ्यमानः नचिकेतोर्नाम्नोमुनिपुत्रस्य प्रश्नत्रयविषये प्रोच्यतइति व्युत्पत्त्या त्रिणाचिकेतस्तत्प्राठतदर्थज्ञानाभ्यांब्राह्मणोपि त्रिणाचिकेतः । पञ्चाग्निरुपनिषत्पठ्यमानपञ्चाग्निविद्यावित् । केचित्तु तैत्तिरीयशाखोक्तगार्हपत्यदक्षिणाभ्याहवनीयसभ्यावसथ्यरूपश्रौताग्निरपञ्चकवान्पञ्चाग्निरित्याहुः । त्रिसुपर्णः तैत्तिरीयशाखापठितस्य ब्रह्ममेतुमामित्यादेः येब्राह्मणास्त्रिसुपर्णपठन्ति तेसोमग्रामुवन्ति आसहासत्पङ्क्तिपुनन्तीत्यन्तस्यानुवाकत्रयस्यार्थतोयन्थतश्चाध्येता । षडङ्गवित् शिक्षाकल्पादिवेदाङ्गषट्कस्यार्थवित् । ब्रह्मदेया ब्राह्मविवाहेन दत्तात्तस्याऽनुसन्तानस्तत्सन्ततिः । अनुपदं ब्रह्मदेयैव यत्परंपरायां भार्येत्येतदर्थम् । ज्येष्ठसामगो ज्येष्ठसाम्नः सततगाता ॥ १८५ ॥

(३) कुहूकः । त्रिणाचिकेतःअध्वर्युवेदभागःतद्वतंच तद्योगात्पुरुषोपि त्रिणाचिकेतःपञ्चाग्निरिहोत्री । तथाच हारीतः । पवनःपावनस्त्रेता यस्य पञ्चाग्नयोगृहे । सायंप्रातःप्रदीप्यन्ते सविप्रःपङ्क्तिपावनः॥ पवनआवसथ्याग्निः पावनःसभ्योग्निः शीतापनोदार्थमेवबहुषुदेशेष्वपि विधीयते । त्रिसुपर्णोबहुचावेदभागः तद्वतंच तद्योगात्पुरुषोपि त्रिसुपर्णः । षडङ्गानि शिक्षादीनि योऽध्याचष्टे सषडङ्गवित् सर्वप्रवचनेन षडङ्गाध्येतोक्तः । ब्रह्मदेया ब्राह्मविवाहोढा तस्याआत्मसन्तानःपुत्रः । ज्येष्ठसामानि आरण्यके गीयन्ति तेषांगाता एते षट्विज्ञेयाःपङ्क्तिपावनाइत्युत्तरश्लोकेन संबन्धः ॥ १८५ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्रह्मपुराणे आचिकेतीति योविश्वंतृणवत्सर्वनिःस्पृहः । त्रिणाचिकेतःसगृही रागद्वेषविमत्सरइति ॥ अथवा त्रिणाचिकेतःत्रिणाचिकेतोवेदभागःतद्योगात्तवैव नाम्ना भवितायमग्निरिति नाचिकेतसंप्रत्युक्तेः । सोमिश्चितोयेन सवा त्रिणाचिकेतः । पञ्चाग्निःपचनःपावनस्त्रेता यस्य पञ्चाग्नयोगृहे । सायंप्रातः प्रदीप्यन्तेसविप्रःपङ्क्तिपावनइति हारीतोक्तेः ॥ तत्र पचनोग्निरावसथ्याख्यः । पावनः सभ्यः । त्रेता गार्हपत्योदक्षिणाग्निराहवनीयश्चेति । पञ्चाग्निरसौवावल्लोकोगौतमाग्निरित्यादिपञ्चाग्निविद्याविदितिमेधातिथिः । त्रिसुपर्णः पितरःसप्तपूर्वेचयज्वानोभूरिदक्षिणाः । यस्येदशोमा-

तृवंशस्त्रिसुपर्णां सः स्मृत इति ॥ बहुचांवेदभागविद्धा । षडङ्गवित् शिक्षादीनांवेत्ता । ब्रह्मदेयात्मसन्तानो ब्रह्मविवाही षात्मजः । ज्येष्ठ सामगः आरण्यकेगीयमानज्येष्ठसामगाता । आज्यदोहानि गायार्तयः सज्येष्ठसामग इति मेधातिथिः ॥ १८५ ॥

(५) नन्दनः । उशन्ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसन्दंदावित्यादिभिस्त्रिभिर्नुवाकैर्विहितानां नाचिकेतः संज्ञानामग्नीनां चेता वेदिता वा त्रिणाचिकेतः । पञ्चाग्निर्गार्हपत्याद्यग्नित्रयस्य सभ्यावसथ्ययोश्चाधाता । ब्रह्ममेतुमाभित्यादयस्त्रयोनुवाकाः प्रत्येकं त्रिसुपर्णसंज्ञाः तांस्त्रीनेकं वा योऽधीते स त्रिसुपर्णः । ब्रह्मदेयात्मसन्तानो ब्रह्मविवाहो षाद्याः सुतः । ज्येष्ठसामेतितलवकाराणां प्रसिद्धिः । उदुत्यं चित्रमित्येतयोर्गीतं तद्गायी ज्येष्ठसामगः ॥ १८५ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रिणाचिकेतः यजुर्वेदैकदेशे तद्रताचरणेन तदध्यायी त्रिणाचिकेतः । तैत्तिरीयशाखायां प्रसिद्धः । पञ्चाग्निः सभ्यावसथ्यौ दक्षिणाग्नयस्त्रयोयस्य सन्ति स पञ्चाग्निः । त्रिसुपर्णो गुरुत्मानिति श्रुतिः त्रिसुपर्णानुवाकत्रयस्याध्येता तदुपासनाभिज्ञश्च । तैत्तिरीयशाखायां षडङ्गवेत्ता । षडङ्गो वेद उच्यत इत्यमरः । ब्रह्मदेयात्मसन्तानः ब्रह्म विद-उत्पन्नः च पुनः ज्येष्ठसामगः सामविशेषः तद्रताचरणेन यस्तदधीते सः ज्येष्ठसामग उच्यते ॥ १८५ ॥

वेदार्थवित्प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः ॥ शतायुश्चैव विज्ञेया ब्राह्मणाः पङ्क्तिपावनाः ॥ १८६ ॥

(१) मेधातिथिः । वेदस्यार्थं जानाति ननु च षडङ्गविदुक्त एव । अङ्गैर्विना स्वयमप्यूहति प्रज्ञया यः सहवेदार्थवित्प्रवक्तः अथवा तस्यैवायमनुवादः । पुनः पुनः क्रियते तावदर्थं ज्ञानेन विना सत्यप्यन्यगुणयोगे आद्धानर्हाः । प्रवक्ता व्याख्याता वेदार्थस्यैव । ब्रह्मचारी । सहस्रदः । अविशेषाद्दाने गवांसहस्रं यो दत्तवान् इदं च युक्तं सहस्रशब्दस्य बहुनामत्वात् बहुयोददाति उदारो वेत्यर्थः । नहि गवांसंख्येयत्वे प्रमाणमस्ति । वेदेषु गवो वै यज्ञस्य मातर इति । अविशेषनोदनायां गावः प्रतीयन्ते । शतायुर्वृद्धवयाः । सहिपरिपक्वकषायतया पावनत्वमश्रुते शतमायुरस्येति शतायुः । केभ्योदानं प्रथमं पितृभ्य इत्येक इति । एवमर्थमेव च ब्रह्मचारिग्रहणमिह व्याचक्षते । सहिपूर्ववया भवति ॥ १८६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । वेदार्थवित् प्रागुक्तेभ्योन्यस्यापि वेदस्यैकदेशस्यार्थवित् प्रवक्ता तदर्थं व्याख्याता । सहस्रं गोसहस्रं तस्य दाता । शतायुः पूर्णशतवर्षः ॥ १८६ ॥

(३) कुरुकः । अनधीत्यापि वेदाङ्गानि गुरुपदेशाधिगतवेदार्थः । प्रवक्ता वेदार्थस्यैव । ब्रह्मचारी प्रथमाश्रमी । सहस्रद इति देयविशेषानुपादाने पि गवो वै यज्ञस्य मातर इत्यादि विशेषप्रवृत्तश्रुतिदर्शनात् गोसहस्रदाता बहुप्रदोवा । शतायुः शतवर्षवयाः । श्रोत्रियायैव देयानीति नियमात्सति श्रोत्रियत्वे उक्तगुणयोगात् पङ्क्तिपावनत्वम् ॥ १८६ ॥

(४) राघवानन्दः । वेदार्थवित् अङ्गाध्ययनं विना गुरुपदेशत इति केचित् । वस्तुतस्तु उपक्रमादिषड्भिर्लिङ्गैर्वेदार्थज्ञाता ब्रह्मवित् । एकोपि ब्रह्मविद्भुङ्क्ते जगत्तर्पयते खिलम् । तस्माद्ब्रह्मविदे देयं यदस्ति वसु किंच नेत्युक्तत्वात् ॥ प्रवक्ता वेदार्थस्य । सहस्रदः गोसहस्रदाता शतायुः विमंत्वे सति शतवर्षजीवी ॥ १८६ ॥

(५) नन्दनः । प्रवक्ताऽध्यापकः । ब्रह्मचान्यृतुकालाभिगामी । निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियोरात्रिषु वर्जयन् ब्रह्मचार्यैव भवतीत्युक्तत्वात् । ऊर्ध्वरेता ऋतुकालगामी तत्त्वविच्च पङ्क्तिपावना इति स्मृत्यन्तरम् । सहस्रदः सहस्रस्य ब्राह्मणानां भोजनदाता सहस्रसुवर्णानां वा ॥ १८६ ॥

(६) रामचन्द्रः । वेदार्थवित् । च पुनः प्रवक्ता वेदशास्त्रार्थवक्ता । ब्रह्मचारी प्रसिद्धः । सहस्रदः गोसहस्रदः । सहस्राणामनुदोवा । च पुनः शतायुरेव चिरं जीवीत्यर्थः । एते पङ्क्तिपावनाविज्ञेयाः ॥ १८६ ॥

पूर्वेद्युरपरेद्युर्वा श्राद्धकर्मण्युपस्थिते ॥ निमन्त्रयेत च्यवरान्सम्यग्विप्रान्यथोदितान् ॥ १८७ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तायादशाब्राह्मणाभोजनीया इदानीमन्येतिकर्तव्यतोच्यते । पूर्वेद्युर्यदहःश्राद्धकर्तव्यममायां-
त्रयोदश्यांवा ततःपूर्वस्मिन्हनिचतुर्दश्यांद्वादश्यांवाश्वःश्राद्धकर्तव्ये ब्राह्मणान्निमन्त्रयेत् । अपरेद्युस्तदहरेववा । विकल्प-
श्चावधिनियमापेक्षः यःशक्नोतिनियमान्पालयितुंसपूर्वेद्युःअशक्तस्तदहरेवअधिकनियमानुपालनाच्चमहाफलं निमन्त्रणेक-
र्तव्येअध्येषणपूर्वकंव्यापारणमभ्युपगमनंवा । त्रयोऽवरायेषांतेच्यवराः । यद्यत्यन्तन्यूनास्तदात्रयः । शक्तौत्वयुजोयथो-
त्साहमित्युक्तं । अवशिष्टःपदसंघातःश्लोकपूरणार्थः । उपस्थितेप्राप्ते यथोदितान्यथोक्तान् ॥ १८७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अपरेद्युरपरस्मिन्हनि पूर्वेद्युरनिमन्त्रणे निश्चितपूर्वदिनब्रह्मचर्यस्य निमन्त्रणं एकोदैव-
कःपिच्यएकोमातामहस्थानइति पक्षस्त्रिपक्षः सोवरोनूचानोयेषांते च्यवराः अशक्तावयं कल्पः । शक्तौ त्वतोधिकाग्राह्या-
इत्यर्थः । सम्यक्विधिना ॥ १८७ ॥

(३) कुल्लूकः । श्राद्धकर्मणि प्राप्ते श्राद्धाहात्पूर्वदिने तदसंभवे श्राद्धदिनएवोक्तलक्षणान्ब्राह्मणान्सम्यगतिस-
त्कृत्यनिमन्त्रयेत् । त्रयोवरान्यूनायेषांते च्यवराः न तु तानेव एकैकभोजनस्याप्युक्तत्वात् ॥ १८७ ॥

(४) राघवानन्दः । श्राद्धप्रकारत्वान्निमन्त्रितस्य नियमान्वक्तुंनिमन्त्रणाङ्ककालमाह पूर्वेद्युरिति । पूर्वेद्युः श्राद्ध-
दिनात्पूर्वदिनेअपरेद्युः श्राद्धदिने । च्यवरान् त्रयोअवरानिरुष्टायत्र तान् । न तु तानेव एकैकमपीत्युक्तेः । यथोदितान-
यथाइत्यादिनोक्तान् ॥ १८७ ॥

(५) नन्दमः । अथ पात्रत्वेन परिगृहीतानान्निमन्त्रणकालमाह पूर्वेद्युरिति । पूर्वेद्युः श्राद्धदिनात्पूर्वस्मिन्हनि अप-
रेद्युः श्राद्धदिने ॥ १८७ ॥

(६) । रामचन्द्रः । श्राद्धे कर्मणि उपस्थितेसति प्राप्तेसति पूर्वेद्युःरात्रौ वा अपरेद्युस्तद्धिने वा यथोदितांरुच्यवरान्
त्रयोवरान्यूनाएषांच्यवरा एतान् निमन्त्रयेत् ॥ १८७ ॥

निमन्त्रितोद्विजः पिच्ये नियतात्मा भवेत्सदा॥न च छन्दांस्यधीयीत यस्य श्राद्धं च तद्भवेत्॥१८८॥

(१) मेधातिथिः । पिच्येश्राद्धेनिमन्त्रितोनियतात्माभवेत् । संयतात्मा ब्रह्मचर्यपरिरक्षन् अन्यांश्चयमनियमाना-
तिष्ठेत् । स्नातकव्रतादीन्पुरुषव्रतानानृत्यगीतादिप्रतिषेधानांकर्माङ्गताविधीयते । तथाकर्तव्यं श्राद्धरुता यथासौब्राह्मण-
निमन्त्रणात् प्रभृतिसंयतेन्द्रियोभवति अन्यथाश्राद्धदुष्येत नचछन्दांसिवेदाननाधीतनचवेदाक्षरोच्चारणमध्ययनंनिषिध्य-
ते । जपस्तुसन्ध्योपासनादावप्रतिषिद्धः । यस्यतत्कर्तव्यंश्राद्धंभवेत् । पिच्येश्राद्धेनिमन्त्रितवनियतात्माभवेत् । संयता-
त्माचसोपिनियतात्माभवेदितिपदयोजना । अतोभोक्तुः कर्तुंश्चनिमन्त्रणात्प्रभृतितुल्योनियमोनध्ययनंच ॥१८८॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पिच्यइत्युपलक्षणं दैवेपि । नियतात्मा क्रोधकामाशुचित्वशून्यः । छन्दांसि वेदान् । यस्य
कर्तुः श्राद्धकार्ये ॥ १८८ ॥

(३) कुल्लूकः । श्राद्धे निमन्त्रितोब्राह्मणोनिमन्त्रणादारभ्य श्राद्धाहोरात्रयावमैथुननिवृत्तिसंयमनियमवानुस्यात्
अवश्यकर्तव्यजपादिवर्जवेदाध्ययनंच न कुर्यात् श्राद्धकर्तापि तथैव स्यात् ॥ १८८ ॥

(४) राघवानन्दः । नियममाह निमन्त्रितइति चतुर्भिः । नियतात्मा मैथुनादिनिवृत्तिमान् । अक्रोधनैःशौचपरैः

सततं ब्रह्मचारिभिः । भवितव्यं भवद्भिश्च मया च श्राद्धकारिणेति मन्त्रलिङ्गात् श्राद्धकर्तापि तथा स्यात् । तदहरभ्ययनफलं श्राद्धोद्देश्यगामीत्याह यस्येति ॥ १८८ ॥

(५) नन्दनः । नियतात्मा नियतेन्द्रियः । यः श्राद्धे निमन्त्रितो भवेद्यः श्राद्धं करोति स च नियतात्मा भवेत् न चाधीयीत च्छन्दांसि ॥ १८८ ॥

(६) रामचन्द्रः । पित्र्ये कर्मणि निमन्त्रितः सदा द्विजोनियतात्मा भवेत् । च पुनश्छन्दांसि नाधीयीत । च पुनः यस्य गृहे श्राद्धं सततं द्रुताचरणो भवेत् । जितेन्द्रिय अध्ययनरहितः ॥ १८८ ॥

निमन्त्रितान् हि पितरुपतिष्ठन्ति तान् द्विजान् ॥ वायुवच्चानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते ॥ १८९ ॥

मेधातिथिः । निमन्त्रितेन नियतात्मना भवितव्यमित्यस्य विधेरर्थवादोऽयं । यस्मान्निमन्त्रितान् ब्राह्मणान् अदृश्ये-
मरूपेण पितरुपतिष्ठन्ति तच्छरीरमनुप्रविशन्ति । यथा भूतग्रहाविष्टं वायवोऽनुगच्छन्ति । यथा वायुप्रमाणः पुरुषो गच्छत्यनुग-
च्छति तं गच्छन्तं प्राणो जहाति । एवं पितरो वायुभूता भवन्ति । तथासीनान् ब्राह्मणानुपासते । गच्छत्स्वनुगच्छन्ति उपविष्टे-
भूतं प्रविशन्ति निमन्त्रिता द्विजाः पितरूपा भवन्तीत्यर्थः । तस्मान्नस्वतन्त्रैर्निमन्त्रितैर्भवितव्यम् ॥ १८९ ॥

(१) सर्वज्ञनारायणः । निमन्त्रितान् । हित्युक्तविधिशेषः । उपतिष्ठन्ति तिष्ठन्तु तत्समीपे तिष्ठन्ति । अनुगच्छ-
न्ति निमन्त्रितेन साकम् ॥ १८९ ॥

(३) कुङ्कुमः । पूर्वनियमविधेरयमनुवादः यस्मात्तान् ब्राह्मणान् निमन्त्रितान् दृश्यरूपेण पितरो धितिष्ठन्ति । प्राणवायु-
वद्वच्छतोऽनुगच्छन्ति तथोपविष्टेषु तेषु समीप उपविशन्ति । तस्मान्नियता भवेयुः ॥ १८९ ॥

(४) राघवानन्दः । अनुगच्छन्ति निमन्त्रितान् द्विजान् आसीनांस्तान् उपासते समीपे तिष्ठन्ति ॥ १८९ ॥

(५) नन्दनः । निमन्त्रितानां नियतात्मत्वाभ्ययनयोः कारणमाह निमन्त्रितानिति । वायुभूता वायुवद्वापिनो निम-
न्त्रितान् ब्राह्मणान् पितरुपतिष्ठन्ति तेषां समीपे तिष्ठन्ति गच्छतोऽनुगच्छन्ति तथासीनानुपासते । यत्कर्म निमन्त्रिताः कुर्वन्ति
तत्पितरोऽपि कुर्वन्ति तस्मादनियतात्मत्वमभ्ययनायासित्वंच वर्जनीयमित्यभिप्रायः ॥ १८९ ॥

(६) रामचन्द्रः । वायुभूताः पितरः द्विजाननुगच्छन्ति ॥ १८९ ॥

केतितस्तु यथान्यायं हव्यकव्ये द्विजोत्तमः ॥ कथंचिदप्यतिक्रामन् पापः सूकरतां व्रजेत् ॥ १९० ॥

(१) मेधातिथिः केतित उपनिमन्त्रितः । हव्यकव्येदैवेपि न्येच । अङ्गीकृत्य निमन्त्रणं मभ्युषगम्य श्राद्धभोजनं ।
यदि कथंचिदतिक्रामति भोजनकाले न संविधीयते ब्रह्मचर्यचनरक्षति तदा सूकरतां गच्छति । स ब्राह्मणः कथंचित्कामाद्दि-
स्मृत्यवा । यथान्यायमिति वृत्तपूर्णं । अन्येत्वाहुः प्रार्थ्यमानस्यानभ्युपगम एवातिक्रमः । तथाच श्राद्धकल्पे उक्तं । अ-
निन्दितेनामन्त्रितो नातिक्रामेदिति तच्चायुक्तं । लिप्सया प्रवृत्तिः श्राद्धे न पुनः शास्त्रतः । तत्र सत्यालिप्सायां यदिनाङ्गीकरोति-
तदा को दोषः । १९० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । केतितो निमन्त्रितः । कथंचिदन्य निमन्त्रणादिनापि अतिक्रामन् तस्य गृहेन श्रन् ॥ १९० ॥

(३) कुङ्कुमः । हव्यकव्ये यथाशास्त्रं निमन्त्रितो ब्राह्मणः स्वीकृत्य केनापि प्रकारेण भोजनमकुर्वाणः तेन पापेन
जन्मान्तरे सूकरो भवति ॥ १९० ॥

(४) राघवानन्दः । अत आह केतित इति । केतितो निमन्त्रितः । अतिक्रामन् मैथुनादिनिषिद्धाचरणेन निमन्त्रणं-
स्वीकृत्य परित्यजन्वेति केतित इत्युपलक्षणं निमन्त्रयितुः । केतनं कारयित्वा तु योतिपातयते द्विजः । ब्रह्महृत्यामवाभोति

शूद्रयो नौ च जायते ॥ एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते नियतंशंसितव्रतः । यतिचान्द्रायणं चोर्त्वा ततः पापात्ममुच्यत इति यमोक्तेः ॥ १९० ॥

(५) नन्दनः । केतितो निमत्तितः । कथंचिद्धेतुनाऽहेतुनेत्यर्थः । हव्यकव्येऽतिक्रामच्छ्राद्धपरित्यागं कुर्वन्नित्यर्थः ॥ १९० ॥

(६) रामचन्द्रः । निमत्तितो द्विजः कथंचिदपि विषयानतिक्रामन्विषयैराक्रान्तः स पापः शूकरतां व्रजेत् ॥ १९० ॥

आमन्त्रितस्तु यः श्राद्धे वृषल्या सह मोदते ॥ दातुर्यदुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वप्रतिपद्यते ॥ १९१ ॥

(१) मेधातिथिः । वृषलीशब्दः स्त्रीमात्रोपलक्षणार्थः सामान्येन ब्रह्मचर्यस्य विधानात् । अतो ब्राह्मण्यपि वृषल्येव । वृषस्यन्ती चालयति भर्तारमिति यौगिकत्वं दर्शयति अतो यमर्थः । भोजनमङ्गीकृत्य तदाहर्षात्स्त्रिया सह मोदते रमते तथा सह सुरतसंभोगेच्छया संलापालिङ्गनाद्यपियोजनयति तस्यायं दोषः । दातुः श्राद्धस्य कर्तुः यदुष्कृतं पापं किञ्चित्तत्सर्वतस्मिन्सङ्गमति । अदृष्टफलयोगमात्रमनेन निर्दिश्यते । अन्यथा यत्र दाता पुण्यकृतं तत्र न कश्चिद्दोषः स्यात् । मोदनं हर्षोत्पत्तिः तेन संलापालिङ्गनाद्यपि न कर्तव्यम् ॥ १९१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वृषल्या शूद्रया मोदते रत्यनुगुणं चुम्बनादिकर्माणि कुरुते । ब्राह्मण्या तु सह न तादृशो दोष इति तात्पर्यम् । दातुर्यावदुष्कृतं तावत् न तु तदेवान्यकृतस्यान्यत्राप्रतिसंक्रमात् ॥ १९१ ॥

(३) कुड्मूकः । नियतात्मा भवेत्सदित्यनेन मैथुननिषेधे कृतेपि वृषलीगमनस्याधिकदोषज्ञापनायाह आमन्त्रितस्त्विति । वृषली शूद्रा तत्र मूढत्वात् श्राद्धे निमत्तितः सन्त्यो वृषल्या सार्धं स्त्रीपुंसधर्मेण सुरतादिना रमते सदातुर्यत्पापं तत्प्राप्नोति पापोत्पत्तिमात्रं विवक्षितम् । अन्यथा दातरि अपापे पापं जायते । न चेदं दातुः प्रायश्चित्ततया विहितयेनासौ पापान्मुच्यते । मेधातिथिगोविन्दराजौ तु सामान्येन ब्रह्मचर्यस्य विधानात् वृषस्यन्ती च पलयति भर्तारमिति योगाश्रयणेन श्राद्धभोक्तुरुद्धा ब्राह्मण्यपि वृषल्यभिमतान्नेत्याहुतः ॥ १९१ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च आमन्त्रित इति वृषस्यन्ती भर्तारं वृषली ब्राह्मण्यपीति ॥ १९१ ॥

(५) नन्दनः । वृषल्या स्वभार्यया शूद्रया वृषलीगमनमुत्तरासामन्युपलक्षणम् ॥ १९१ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्विजः श्राद्धे आमन्त्रितः सन् वृषल्या सह रात्रौ मोदते दातुः श्राद्धकर्तुः यदुष्कृतं पापं तत्सर्वप्रतिपद्यते ॥ १९१ ॥

अक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः ॥ न्यस्तशस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्वदेवताः ॥ १९२ ॥

(१) मेधातिथिः । अक्रोधनाः क्रोधवर्जिताः शौचपराः शौचं शुद्धतामृद्धारिभ्यां प्रायश्चित्तेनान्तःशुभ्यावा । सततं शुद्धेर्विशेषणं । तेन निष्ठीवनादावाचमनादितत्क्षणमेव कर्तव्यं । ब्रह्मचारिणः स्त्रीसंभोगं परिहरति । न्यस्तशस्त्राः न्यस्तं त्यक्तं शस्त्रयैः शस्त्रग्रहणं दण्डपारुष्यौपलक्षणार्थं महाभागाः औदार्यधनित्वादिगुणयोगो महाभागाः । यन् एवं विधं पितृणारूपं ब्राह्मणानां विशन्ति अतस्तैस्तद्रूपधारिभिर्भवितव्यमित्यर्थवादेनायमर्थो विधीयते । पूर्वपूर्वदेवताः पितरो नाम कल्पान्तरे तेप्येते देवता एवेति स्तुतिः । पूर्वकालं पितृणामर्चनीयत्वात् पूर्वग्रहणम् ॥ १९२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अक्रोधना इत्यादिना यादृशाः पितरस्तादृशैर्ब्राह्मणैर्दात्रा च भवितव्यमिति दर्शितम् । पूर्वदेवताः देवताभ्योपि पूर्वभूताः ॥ १९२ ॥

(३) कुल्लूकः । क्रोधरहिताबहिःशौचंमृद्वारिभ्यामन्तःशौचंरागद्वेषादित्यागस्तद्युक्ताःसर्वदास्त्रीसंयोगादिशून्याः
त्यक्तयुद्धाःदयाद्यष्टगुणयोगोमहाभागता तद्वन्तःअनादिदेवतारूपाः, पितरस्तस्मात्क्रोधादिरहितेन भोक्ताकर्त्रा च भवित-
व्यम् ॥ १९२ ॥

(४) राघवानन्दः । पितृणांविशिष्टजन्मख्यापनार्थतानूविशिषन्नुपचारनियमेन सहोत्पत्तिप्रतिजानीते । अक्रोध-
नाइति द्वाभ्यां । शौचपराः शुद्धमानसाः । न्यस्तशस्त्राः त्यक्तयुद्धाः । महान्प्रयोभागोयेषांते । पूर्वदेवतादेवतानां-
पूर्वतनाः ॥ १९२ ॥

(५) नन्दनः । पितरोनाम केचिदेवताविशेषा न प्रेताः पितृपितामहादय इत्याह अक्रोधनाइति । न्यस्तशस्त्रास्त्यक्त-
हिंसाः । महाभागाः महात्मानः । पूर्वदेवताः देवताभ्यःपूर्व ॥ १९२ ॥

(६) रामचन्द्रः । पितृणांस्वरूपमाह अक्रोधनाइति । अक्रोधनादयः पितरःपूर्वदेवताः ॥ १९२ ॥

यस्मादुत्पत्तिरेतेषां सर्वेषामप्यशेषतः ॥ ये च यैरुपचर्याः स्युर्नियमैस्तान्निबोधत ॥ १९३ ॥

(१) मेधातिथिः । यएतेषांपितृणामुत्पत्तिर्यैचपितरोयैरुपचर्याब्राह्मणेनसोमपाः क्षत्रियेणहविष्मन्तः इत्यादितत्स-
र्वमप्यशेषतइदानीमुच्यमानंनिबोधत बुध्यध्वं । नियमैरित्यनुवादः । पूर्वमेवविहितत्वात्नियतात्माभवेदिति । बहुवचनं-
बहुत्वानियमानाम् ॥ १९३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यस्माद्येभ्यउत्पत्तिः । यैः साध्यादिभिः । यैश्च नियमैरुपचर्याः ॥ १९३ ॥

(३) कुल्लूकः । एषांसर्वेषांपितृणांयस्मादुत्पत्तिर्यै च पितरोयैर्ब्राह्मणादिभिर्यैर्नियमैःशास्त्रोक्तकर्मभिरुपचरणीया-
भवेयुःतान्साकल्येन शृणुत ॥ १९३ ॥

(४) राघवानन्दः । ये यत्प्रभावाये यत्स्वरूपाः सोमसदइत्याद्यायैः साध्यादिभिरर्च्यार्यैरजतपात्रमुन्यन्का-
लशाकाद्यैर्नियमैःदेवपूर्वत्वव्रतचर्यादिभिर्वा उपचर्याः पूज्याःस्युस्तान्निबोधतेत्यन्वयः ॥ १९३ ॥

(५) नन्दनः । ये पितरोयैर्यज्ञविशेषैर्यैः नियमैः करणैः उपचर्याः पूज्यास्तान्नियमविशेषान्पितृंश्च निबोधत ॥ १९३ ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्मात्कारणादेतेषांसर्वेषांपितृणामुत्पत्तिः । अशेषतो निबोधत । च पुनः ये पितरो यैर्देवादिभि
नियमैरुपचर्याःसेव्याःस्युस्तान्निबोधत ॥ १९३ ॥

मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः ॥ तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ॥ १९४ ॥

मेधातिथिः । हिरण्यगर्भःप्रजापतिः तस्यपुत्रोर्हैरण्यगर्भोमनुः । तथाचोक्तंप्रथमाध्याये । एवंसर्वसमृद्धेदमांचेति ।
तस्यमनोर्येमरीच्यादयःपुत्राः अभ्यङ्गिरसावित्यादयस्तेषामृषीणांयेपुत्रास्तएतेपितृगणाः । ननुचपित्रदयःसर्वस्यात्मीयपि-
तरः एवंहिचोदितःपित्रेपितामहायप्रपितामहायपिण्डान्निर्वपेत् । तथाअत ऊर्ध्वंपुत्रास्त्रिभ्योदद्युरिति । तत्रकिमिदमुच्यते ऋ-
षीणांपुत्राःपितरः सोमपानामविप्राणामितिनचवचनविकल्पःशक्यःप्रतिपत्तुं सोमपेभ्योदद्यात्पितृपितामहेभ्योवेति । यतउ-
त्पत्तौपुत्रेणकर्तव्यमितिश्रूयते । संबन्धिश्चशब्दश्चपुत्रशब्दः । तथापितायस्यतुवृत्तःस्यादिति । तस्माद्वक्तव्योस्यप्रकरणस्यार्थ-
उच्यते । स्तुतिरियंपूर्वविधिशेषभूता । नात्रतेषांसंप्रदानताश्रुता । ननुचोपचर्याइतिविधिरस्ति । नायंचरतिः सामान्य-
क्रियारूपौविधिविषयोभविष्यतुमर्हति । उपचारोनामकश्चिद्दानयागादिवर्द्धेदेनप्रतीयते । प्रायेणान्वयंकरोति । यत्संनिहितक्रि-
यापरतयाप्रयुज्यते संनिहितंचश्राद्धं तत्रवसिष्ठसंप्रदानकंविवहितंनशक्यंपुनर्विधातुं विधेयत्वेननसन्धिरस्ति । असंनि-

हितस्यनचरतिर्वाचकः योपिलोकेगुरवउपचर्याइतिप्रयोगस्तत्रापिशुश्रूषालक्षणार्थः . पादधावनादिःप्रतीयते सोपियथोदितानांपितृणांसंभवति प्रकृत्यैकवाक्यतयावार्थवच्चोपपत्तेर्नार्थान्तरकल्पनापिसंभवति । यदिचसोमपादयोयथावर्णाश्राद्धेदेवतात्वेनाभिप्रेताःस्युस्ततोभिजनवर्णनमनुपयोगिस्तावकत्वेतुसर्वमुत्पद्यते । यःकश्चित्पितृद्वेषात्पित्र्येकर्मण्युपहतबुद्धिरनादरवान्त्स्यात्तस्यप्रवृत्त्यर्थमिदमारभ्यते । मैवंमंस्थाःमृतमनुष्यरूपाःपितरोयेननतर्पिताःश्राद्धेकंदोषंकरिष्यन्ति । तर्पितावाकंगुणमिति । यतएतेमहाप्रभावाःसर्वस्यजगतःप्रभुर्हिरण्यगर्भस्तस्यपुत्रोमनुः तस्यैतेपौत्राअतएवऋषीणांचेत्युच्यते । नमनोर्येकेचिदन्येपुत्राः किंतर्हिऋषयस्तेचप्रथितप्रभावा ऋषयश्चप्रथितप्रभावामरीच्यादयः तेषांपुत्राःपितरोबहुविधाश्चप्रतिपत्तारोयएतादृशेभ्योर्थवादवाक्येभ्यःप्रवर्तन्तेतराम् येचव्याचक्षते । सोमपादिदृष्टिः पितृषुकर्तव्येति तेषामाभावादुपेक्षणीयाः नहियथादित्येब्रह्मदृष्टिः समुद्दिश्यते एवमिहतादृशंकिंचनास्ति । येष्याहुः गृहीत्वागोत्रनामनीपितृभ्योदद्यादिति तच्चैतद्गोत्रंसोमपाःइत्यादिवर्णभेदेन । तदप्ययुक्तं । नामनिर्देशोयंनगोत्रनिर्देशः सोमपानामितिश्रवणात् गोत्रनामधेयत्वेतिनामशब्दउत्पद्यतएवेतिचेत् । एवंतर्हिगोत्रनिर्देशोवैयधिकरण्यस्यात् । पितृणांसोमपागोत्रमिति नतुपितरः सोमपाइति । अथाभेदोपचारेणगोत्रसन्तानव्यपदेशोदृष्टइत्युच्यते । यथाबभ्रुर्मन्दुरिति । अत्रोच्यते । इदमिहनिरूप्यंकिमेतद्गोत्रंनामआदिपुरुषःसंज्ञाकारी विद्यावित्तशौर्यौदार्यादिगुणयोगिनख्याततमो येनकुलंव्यपदिश्यते पुत्रिकानुलिङ्गाइति एवंतर्हिसर्वेषामेवब्राह्मणादीनामवान्तरगोत्रभेदाःसन्तीतिस्मरन्तिच । यादृशंपुरुषंतत्सन्तानजाःपुरुषावयममुष्यकुलेजाताइत्येतत्स्वैनैवव्यपदेशोयुक्तः । नहिसोमपावयमितिकश्चिद्गोत्रत्वेनसोमपान्स्मरतियथाभृगुर्गंगालवान्ब्राह्मणानांचतैरेवगोत्रव्यपदेशोयुक्तः । तानिहिमुख्यानिगोत्राणिरूढिरूपेणतत्रगोत्रशब्दःप्रवर्तते । नहितेषांगोत्रत्वेएतल्लक्षणमस्ति । आदिपुरुषःसंज्ञाकारीगोत्रमिति अनादित्वादेतद्गोत्राणांब्राह्मणादिजातिवत् । नहिपराशरजन्मत ऊर्ध्वपाराशरव्यपदेशः । केषांचिद्ब्राह्मणानामेवंसतिआदिमत्तावेदस्यप्रसज्यते । नित्यत्वादत्रव्यपदेशस्योदकर्तृणादैतदेवगोत्रंश्रयितव्यं येतुसंज्ञाकारिणस्तेननित्याःइदानींतनानित्याइत्येवंभवत्यनित्यानांसोमपानामुपादानवैदिकेकर्मणियुक्तं । अतोब्राह्मणैर्यथागोत्रगार्ग्यायगर्गगोत्रायावात्स्वधाइदंवनमोस्त्विति एवमादिशब्देनोद्देशंरुत्वा ततोनामोच्चार्यदानादिकर्तव्यं । क्षत्रियादीनांनैतादृशोगोत्रव्यवहारोविद्यते । नहियथाब्राह्मणोगोत्रंनियतंस्मरति एवंक्षत्रियादयः तस्मात्तेषांलौकिकमेवगोत्रंआदिपुरुषः संज्ञाकारीख्याततमइति । अतस्तेनगोत्रेणश्राद्धादौव्यपदिश्यन्ते । आदिमत्तापिनामधेयेनैव नतुतेषांक्षत्रियाणांहविर्भुगित्यादिगोत्रतयाश्राद्धादौव्यपदेशमर्हन्ति । येष्याहुर्ज्ञातपित्रादिनामकास्तेषामेतैःशब्दैःश्राद्धादिबोधनेसोमपानाङ्ग्यामिसोमपेभ्यःस्वधेति एतदपिनसम्यक् उत्काहिनामान्यविद्वांस्ततःपितामहप्रपितामहेतियथाचार्यवादतयानप्रकृतशेषत्वेनार्थवत्तालभ्येततएवकल्पाआश्रियेरन् नत्वेकवाक्यतयाव्ययेसंभवति वाक्यभेदकल्पनेनार्थोन्याय्यः ॥ १९४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मनोर्विराजस्तथा तस्यैव मनोर्ये मरीच्यादयः सुतास्तेषांऋषीणांच पुत्राः पितृगणाः पितृशब्दवाच्याः सङ्घाः ॥ १९४ ॥

(३) कुल्लुकः । हिरण्यगर्भापत्यस्य मनोर्ये मरीच्यादयःपुत्राःपूर्वमुक्ताःमरीचिरभ्यद्विरसावित्यादिना तेषामृषीणांसर्वेषांसोमपादयःपितृगणाःपुत्रामन्वादिभिःस्मृताः ॥ १९४ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रादौ विशिष्टादुत्पत्तिप्रकारमाह मनोरिति । हिरण्यगर्भापत्यस्य मनोः । पितृगणाः सोमसदादयः । अहंपजाःसिसृक्षुस्त्वित्यत्रोक्तमरीच्यादयःऋषयः ॥ १९४ ॥

(५) नन्दनः । हिरण्यगर्भस्यहिरण्यगर्भगोत्रापत्यस्य । ऋषीणांपुत्रा इति प्राचुर्याभिप्रायमेतत् । तेन विराट्सुताइत्यनेन न विरोधः ॥ १९४ ॥

(६) रामचन्द्रः । हिरण्यगर्भः प्रजापतिस्तस्य पुत्रो हिरण्यगर्भो मनुस्तस्य पुत्राये मरीच्यादयः ऋषयस्तेषां मरीच्यादीनामृषीणांपुत्राः पितृगणाः स्मृता उक्ताः ॥ १९४ ॥

विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः ॥ अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचालोक

विश्रुताः ॥ १९५ ॥

(१) मेधातिथिः । श्रद्धार्थवादा अमीश्लोकाः अशेषेणैकवाक्यत्वात् न हि साध्यानां पितरः श्रद्धासंप्रदामं शिष्यन्ते । देवतात्वात् साध्यानां च देवतानां कर्मत्वधिकारो न नियोज्यत्वाभावात् । न हि देवतानि योक्तुं शक्यते देवतात्वहानिप्रसंगात् अधिकारे सति प्रतिपत्तव्यं कर्तृत्वं । कर्तृत्वे च कुतः संप्रदानभावः न चान्यदेवतारूपं । विराजः सुताः विराट्सुताः सोमसदो नाम ते साध्यानां पितरः ईदृशमेव पित्र्यं कर्मावश्यकर्तव्यं । यत्साध्याः सर्वे देवाः कृतं करणीयाः अपि पितृन चरन्ति । अग्नौ पक्कं चरुपुरोडाशादिकं अदन्त्यतः अग्निष्वात्ता देवतानां मिन्द्राभ्यादीनां पितरः मरीचेर्जाता मारीचाः लोकविश्रुताः प्रसिद्धाः ॥ १९५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र सोमसदो मनोर्विराजः पुत्राः साध्यैः श्रद्धे पूज्याः । इतरे तु वक्ष्यमाणामनुपुत्रपुत्राः ॥ १९५ ॥

(३) कुल्लूकः । विराट्सुताः सोमसदो नाम साध्यानां पितरः अग्निष्वात्ता मरीचेः पुत्रालोकविख्याता देवानां पितरः ॥ १९५ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र के किनामानः के कस्माज्जाताः केषां च के पितरः कैर्वा के अर्च्या इत्यपेक्षायामाह विराडिति पञ्चभिः । विराट्सुता इति जन्मसोमसद इति नामानि साध्यानां पितर इति तेषां माराध्याः एवमग्निष्वात्तानां मतः मरीचेरपत्यानि जन्मतः देवानां पितरः आराध्या इति शेषः ॥ १९५ ॥

(५) नन्दनः । प्रसूतौ विशेषश्लोकत्रयेणाह विराट्सुता इति । हिरण्यगर्भस्य मनोः पिता विराट् । साध्यानां पितरः साध्यैर्यष्टव्याः पितरः ॥ १९५ ॥

(६) रामचन्द्रः । विराट्सुताः सोमपुत्राः सोमलोकनिवासिनः । साध्यानां पूर्वकल्पाधिकारिणां देवानां पितरः स्मृताः । मरीच्योत्पन्नः मारीच्यः । अग्निष्वात्तसंज्ञाः पितरः । लोकविश्रुताः प्रसिद्धाः ॥ १९५ ॥

दैत्यदानवयक्षाणां गन्धर्वो रगरक्षसाम् ॥ सुपर्णकिन्नराणां च स्मृता बर्हिषदो त्रिजाः ॥ १९६ ॥

(१) मेधातिथिः । सर्वएते दैत्यादयः शास्त्रानधिकृताः अर्थवादार्थं संकीर्त्यन्ते तेषां च स्वरूपमिति हासप्रसिद्धं । सुपर्णापक्षिविशेषाः किन्नरा अश्वमुखास्तिर्यश्चः एवंविधमेतत्पित्र्यं कर्म । यदैत्यदानवरक्षांसि यज्ञविध्वंसकराण्यपि नातिवर्तन्ते तथा तिर्यश्चोप्यसंज्ञा स्मृतिकाः । अत्रेर्जाता बर्हिषदो नाम ॥ १९६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्रिजा अत्रिपुत्राः ॥ १९६ ॥

(३) कुल्लूकः । दैत्यादीनां प्रथमाध्यायोदितभेदानामत्रिपुत्रा बर्हिषदो नाम पितरः स्मृताः ॥ १९६ ॥

(४) राघवानन्दः । एवदैत्याद्यष्टानां । बर्हिषदः मनोः पुत्राः ॥ १९६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अत्रिजा बर्हिषदसंज्ञाः पितरो दैत्यादीनां पूज्याः स्मृताः ॥ १९६ ॥

सोमपानाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः॥वैश्यानामाज्यपानाम शूद्राणां तु सुकालिनः॥१९७॥

(१) मेधातिथिः । उक्तार्थः प्रागेवायंश्लोकः सोमपिबन्तिज्योतिष्टोमादिदेवतास्विन्द्रादयः हविर्भुजश्चरुपुरोडाशादिदेवताआज्यपाआधारावाज्यभागप्रयाजादिदेवताः सुकालिनः । कालयन्ति अपवर्जयन्तिकर्मेतिसुकालिनः । कर्मापवर्गहोमदेवताअयाश्चाग्नेस्यनभिश्चस्तौश्चेत्यादिविहिताः ॥ १९७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विप्राणांपितरइत्यन्वयः ॥ १९७ ॥

(३) कुल्लूकः । सोमेति । ब्राह्मणप्रभृतीनांचतुर्णां वर्णानांसोमपाप्रभृतयश्चत्वारः पितरः स्मृताः ॥ १९७ ॥

(४) राघवानन्दः । सोमपाः नामतः विप्राणां पितरः आराध्याः । हविर्भुजनामानःक्षत्रियाणांपितरः आराध्याइतिशेषः । तथा वैश्यानां पितरआज्यपाः नामतः । वसिष्ठपुत्राःशूद्राणांपितरइति संक्षेपः ॥ १९७ ॥

(६) रामचन्द्रः । सोमपानाम पितरःलोकेविप्राणांपूज्याःस्मृताः । हविर्भुजसंज्ञाःपितरःक्षत्रियाणांपूज्याःस्मृताः । आज्यपानाम पितरवैश्यानांसुकालिनसंज्ञाःशूद्राणांपूज्याःस्मृताः ॥ १९७ ॥

सोमपास्तु कवेः पुत्राहविष्मन्तोद्भिरःसुताः॥ पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रावसिष्ठस्य सुकालिनः॥१९८॥

(१) मेधातिथिः । हविर्भुजएवहविष्मन्तः । कविर्भुगुःकाव्यंवदन्मुशानसमितिस्मरन्तिभर्गवंचयथैतादेवताऋषीणांपुत्राएवंत्वदीयाश्चापिपितरोदेवतारूपाएवेतिमावमंस्थाः ॥ १९८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । हविष्मन्तोहविर्भुजः । कवेर्भृगोः ॥ १९८ ॥

(३) कुल्लूकः । कवेर्भृगोः सोमपाः पुत्राहविर्भुजएव हविष्मन्तः । अद्भिरसःपुत्राः आज्यपाःपुलस्त्यसुताः । सुकालिनोवसिष्ठसुताः ॥ १९८ ॥

(४) राघवानन्दः । सोमपादिचतुर्णांजनकानाह सोमेति । हविष्मन्तोहविर्भुजः ॥ १९८ ॥

(५) नन्दनः । सोमपादयः केषांपुत्राइत्यपेक्षायामाह सोमपास्त्विति । कवेर्भृगोः । हविष्मन्तइतिहविर्भुजांनामान्तरम् ॥ १९८ ॥

(६) रामचन्द्रः । सोमपानाम कवेर्भृगोःपुत्राः । हविष्मन्तसंज्ञाःपितरअद्भिरःसुताः । पुलस्त्यस्य पुत्राआज्यपानामसंज्ञाःपितरः । वसिष्ठस्य पुत्राःकालिनसंज्ञाःपितरोभवन्ति ॥ १९८ ॥

अग्निदग्धानग्निदग्धान्काव्यान्बर्हिषदस्तथा ॥ अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव

निर्दिशेत् ॥ १९९ ॥

[अग्निष्वात्ताद्भुतैस्तृताः सोमपास्तुतिभिस्तथा ॥ पिण्डैर्बर्हिषदः प्रीताः प्रेतसुद्विजभोजने॥१॥*]

(१) मेधातिथिः । अनग्निदग्धःसोमःनह्यग्निनातस्यपाकोस्ति तेनयादेवताइज्यन्तेताअप्यनग्निदग्धाः समृद्धास्तदृणतउच्यन्ते । एवमग्निदग्धानिचरुपुरोडाशादीनिहवींषि अग्निनापच्यन्ते । तैर्यादेवताइज्यन्तेताअग्निदग्धाः पूर्ववदेवमभिसंबन्धः क्रियते येअग्निदग्धाउच्यन्ते तानग्निदग्धानिर्दिशेत् । येअनग्निदग्धास्तान्सोमपानेवनिर्दिशेत् । एवंकाव्यान्बर्हिषदइतिकवेः-

(१९८) पुलस्त्यस्य=पुलस्त्यस्य (मेधा०)

(१९९) बर्हिषदस्तथा=बर्हिषदोत्रिजान् (मेधा०)

पुत्राःकाव्यास्तेचसोमपास्तुकवेःपुत्राइत्युक्ताबर्हिषदोऽत्रिजा उक्ताः। मायमेवकारोयथादेशंद्रष्टव्यः तथाह्ययमर्थःस्यात्। विप्राणामेवेतिपितरोनक्षत्रियादीनां। तच्चप्रागुक्तेनविरुध्यते नचैतेवर्णभेदेनपितृत्वेनोक्ताः। येनतस्मादाच्छिद्यब्राह्मणादिसंबन्धिनःपितृत्वेनोक्ता येनतेषामुच्यन्ते तस्मादपकृष्यएवकारोग्रिष्वात्तास्तेचसोम्यानेवनिर्दिशेदित्येवंसंबन्धनीयः। विप्रग्रहणमनुवादत्वात्क्षत्रियादिप्रदर्शनार्थं। एवंनामानश्चैतेपितरोवेदेश्रूयन्ते। अग्रिष्वात्ताःपितरोयेग्रिदग्धायेअनग्रिदग्धाइतितान्मन्त्रानुदाहृत्यविवृणोति। अथचैवंसंबन्धःक्रियते यएतैःशब्दैःपितरुच्यन्ते तान्विप्राणामेवनिर्दिशेत् स्वपितृन्। नचशब्दभेदेनार्थभेदशङ्काकर्तव्याविप्रग्रहणमधिकार्युपलक्षणार्थंप्राधान्यात् प्रधानेनह्युपलक्षणंभवति राजागच्छतीति ॥ १९९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः। अग्रिदग्धादीनपि विप्राणामेव पितृनिर्दिशेत्। अत्र काव्यपदं दृष्टान्तोपदर्शकम्। यथा कवेर्भृगोःपुत्राविप्राणांतथाबर्हिषदोगन्धर्वादिपितरस्तथा सोम्याः सोमसदः साध्यपितरोअग्रिष्वात्ताश्च देवपितरोन्येचाग्रिदग्धाऽनग्रिदग्धवत् काव्यनामानस्त्रयःपितरोनिर्दिष्टसंबन्धिनोविप्राणामेवार्चनीयाः। न तु क्षत्रियादीनामिति। सदृशानांवर्णान्तराणामेव कारणव्यवच्छेदो न तु गन्धर्वादीनांयेषांवात्राग्रिदग्धादीनां त्रयाणांजनकानोक्तास्ते मरीच्यत्रिभृग्वद्विरः पुलस्त्यवसिष्ठव्यतिरिक्तानांपुलहादीनामनुसृतानां पुत्रा इति ग्राह्यम्। अत्र सोमपाइति सोमपानकारिण इत्युच्यन्ते ते च ऊमावैपितरःप्रातः सवनऊर्वामाध्यन्दिने काव्यास्तृतीयसवनइति श्रुतावुक्ताः सोमसदः। सोम्याइति स्तुतेभ्योन्येपि सोमयागे शस्त्रमध्यशंसनीयपिच्यमिवोभयभागिनः। एवंबर्हिषदोदर्शादीष्टिषुतत्तद्भागवन्तः। एवमन्येष्वपि निरुक्तिः पुराणादिदर्शनेनोन्नेया ॥ १९९ ॥

(३) कुल्लूकः। अग्रिदग्धानग्रिदग्धकाव्यबर्हिषदग्रिष्वात्तसौम्याख्यान्परान्पितृन्विप्राणामेव जानीयात् ॥ १९९ ॥

(४) राघवानन्दः। तत्रैव विशेषान्तरमाह अग्रिदग्धेति। कविपुत्रानग्रिदग्धादीन् अपरानुबर्हिषदः। अग्रिष्वात्ताः। सोमपाः पितरोविप्राणामेवजानीयात् सोमपानामेव नामभेदाअग्रिदग्धेत्यादीनीतिमेधातिथिः ॥ १९९ ॥

(५) नन्दनः। नकंवलंसोमपाएव ब्राह्मणैर्यष्टव्याः। किंतु सर्वेऽपिते। सोमसदादय इत्याह अग्नीति। अग्रिदग्धाइत्यादीनि समानांपितृगणानां नामान्तराणि। तत्र काव्याइति सोमपानामुपादानंतेषांकविपुत्रत्वात्। बर्हिषदोऽग्रिष्वात्ताश्च त्वनाम्नैवोपात्ताः ॥ १९९ ॥

(६) रामचन्द्रः। अनग्रिदग्धान्काव्यान्काव्यनाम्नःपितृन्बर्हिषदसंज्ञान्अग्रिष्वात्तसंज्ञान्सौम्यान्सोमसंज्ञान्एतान्वितृगणान्विप्राणामेव निर्दिशेत् ॥ १९९ ॥

यएते तु गणामुख्याः पितृणां परिकीर्तिताः ॥ तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥ २०० ॥

(१) मेधातिथिः। एतेतुमुख्यागणाःसोमपादयःपितृणां तेषामपिपुत्रपौत्राःअनन्ताविद्यन्ते तेपिपितरएव। अस्मान्निमवचनदेतद्भ्रम्यते। नसोमपादयउद्देश्या यदिहितेषामपिपुत्रपौत्राःपितरस्तेषुउद्देश्यास्युर्नचतेषांकिंचिन्नामधेयमास्मात्तं तस्मादर्थवादतैवावसीयते। गवाश्वप्रभृतित्वात्पुत्रपौत्रमित्येकवद्भावः। अनन्तकमपरिमितं स्वार्थकः ॥ २०० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः। तेषांपुत्रपौत्रमनन्तकंतस्य च त्वस्वपित्रर्थकाएवार्चकाः ॥ २०० ॥

(३) कुल्लूकः। यएते प्रधानभूताःपितृगणाउक्तास्तेषामपीह जगति पितरएव पुत्रपौत्राअनन्ताविज्ञेयाः। पुत्रपौत्रमिति गवाश्वप्रभृतीनिचेत्येकवद्भावः। एतच्छ्लोकसूचिताएव वरोवरेण्यइत्यादयोऽन्येऽपि पितृगणामार्कण्डेयादिपुराणादिषु श्रूयन्ते ॥ २०० ॥

(४) राघवानन्दः। पूर्वदेवताइत्युक्तंतनुसाधुवादमात्रमित्याह यइतिद्वाम्यां ॥ २०० ॥

(५) नन्दनः । इदानीं तेषां पितृत्वमुपपादयति य एते त्विति । इह जगति अनन्तकमपर्यन्तं सर्वमित्यर्थः । यत्प्राणि-
जातं तत्तेषां पितृगणानां पुत्रपौत्रिकं विज्ञेयम् । तेनोपपन्नं तेषां पितृत्वमित्यभिप्रायः ॥ २०० ॥

ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः ॥ देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ॥ २०१ ॥

(१) मेधातिथिः । नपिच्यं कर्मदैवात्कर्मणो न्यूनं द्रष्टव्यं अपितु तदेव प्रधानतमं । यतो जन्मज्येष्ठाः पितरो देवानां ।
तथा हि ऋषिभ्यः पितर उत्पन्नाः पितृभ्यो देवा इत्येषः सृष्टिक्रमः । देवेभ्यो न्यत्सर्वं जगत् चरं जंगमं स्थासु स्थावरं अनुपूर्वशः
प्रथमेभ्योऽयमुक्तः क्रमः । अतिक्रान्तोर्थवादसंपातः ॥ २०१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चरं जङ्गमम् । स्थाणु स्थावरम् ॥ २०१ ॥

(३) कुल्लूकः । ऋषिभ्यो मरीच्यादिभ्योऽयमुक्तक्रमेण पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवा जाताः देवेभ्यश्च जङ्गमस्था-
वरं जगत्क्रमेण जातं तस्मात्सोमपादिप्रभवत्वात्त्वपितृपितामहपितामहानामेषां श्राद्धे पूजनीयाः । सोमपादयोऽपि पूजिताः
सन्तः श्राद्धफलदानाय कल्पन्त इति प्रकृतश्च पित्रादिश्राद्धस्तुत्यर्थोऽयं सोमपादिपितृगणोपन्यासः । अथवाऽऽवाहनकाले
निजपित्रादयो ब्राह्मणादिभिः सोमपादिरूपेण ध्येया एव व्यवस्थाज्ञानमनुष्ठानपरता च स्यात् ॥ २०१ ॥

(४) राघवानन्दः । ऋषिभ्यो हिरण्यगर्भमरीच्यत्रिकव्याङ्गिरः पुलस्त्यवसिष्ठेभ्यः । पितरः सोमसत्प्रभृतयः ।
स्थाणु स्थावरम् ॥ २०१ ॥

(५) नन्दनः । एतदेव विशदयति ऋषिभ्य इति । ऋषिभ्यो मरीच्यादिभ्यः । ननु प्रेताः पितृपितामहादयः श्राद्धै-
स्तर्प्यन्त इति लोकशास्त्रप्रसिद्धम् । अत्र सोमपादित्युक्तम् तस्माद्विरुद्धमिदम् । न विरुद्धमिदम् यथा ब्राह्मणतृप्ता पितृतृप्ति-
रवंपितृतृप्ताप्रेतपितृपितामहादितृभ्योपपत्तेरिति ॥ २०१ ॥

राजतैर्भाजनैरेषामथो वा राजतान्वितैः ॥ वार्यपि श्रद्धया दत्तमक्षया योपकल्पते ॥ २०२ ॥

(१) मेधातिथिः । राजतानि च भाजनानि रूप्यमयानि पात्राणि तदभावे रजतान्वितैः दारुमयानि ताम्रमयानि सौ-
वर्णेन वारौप्येणैकदेशयुक्तानि कर्तव्यानि । एतच्च पात्रं देयं घृतमध्वादिव्यञ्जनसोहित्याक्षिप्तं पात्रं तत्रैयं रूप्यमयताविधीयते
पात्रेयश्च पिण्डनिर्वपणादितद्धस्ताभ्यामेव कर्तव्यं । यदप्युदकनिनयनं पिण्डेष्ववने जनादि च तदपि हस्ताभ्यामेवाऽपसव्ये-
न हस्तेनेति वचनात् । तत्तूदकतर्पणमान्वहिकं तदपि हस्तेनापसव्येन सव्येन वा कर्तव्यं । इदं हि श्राद्धप्रकरणे पठितं तं प्राकर-
णिकस्य कर्मणो गम्य नारभ्याधीतम् । तत्रैव वचनमस्ति भवतु वादस्यादृष्टये वृष्टये ब्राह्मणानिति । तथा कश्चिन्मधुररसप्रियो-
ऽपरोक्षाररसप्रियस्तत्र भक्ष्यं भोज्यं च विविधं पानानि सुखभीणि चेति बहुषु पानकेषु सत्सु यद्यन्यानुरोधेन । वार्यपि । अपिशब्दः
पात्रप्रशंसां सूचयति । तिष्ठतु वा तत्संस्कृतभोजनदानं वारिमात्रमपि यदिरूप्यपात्रेण दीयते तद्रूप्यगुणसंबन्धादक्षयं भवति अ-
क्षया योपकल्पते । अक्षयतृप्तिहेतुर्भवतीत्यर्थः । श्रद्धयेति सर्वदानेषु विहितत्वाद् अनुवादः ॥ २०२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । रजतान्वितैः रजतलेपरजितैः । अक्षय्यमक्षीणता ॥ २०२ ॥

(३) कुल्लूकः । एषां पितृणां रूप्यमयपात्रैरूप्ययुक्तैर्वा ताम्रादिपात्रैर्जलमपि श्रद्धया दत्तमक्षयमुत्पद्यते । किंपु-
नः प्रशस्तपायसादीति ॥ २०२ ॥

(२०१) पितृभ्यो देवमानवाः = पितृभ्यो देवदानवाः (क, ख, ग, घ, च, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, मेधा०)

(४) राघवानन्दः । उपचारैरित्युक्तं तत्रार्थवादमाह राजतैरिति । रजतान्वितैः रजतयुक्तैः पात्रान्तरैः ॥ २०२ ॥

(५) नन्दनः । रजतान्वितैः रजतमिश्रैः ॥ २०२ ॥

(६) रामचन्द्रः । पितृणां पात्राण्याह राजतैरिति । एषां पितृणां राजतैरजतैर्भाजनैः पात्रैः रजतान्वितैर्वा । क्रियाः कार्याः कर्तव्याः । आद्धसमये दत्तं वारि अक्षय्यायानत्यायोपकल्पते उपतिष्ठत इत्यर्थः ॥ २०२ ॥

देवकार्याद्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते ॥ देवं हि पितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनं स्मृतम् ॥ २०३ ॥

(१) मेधातिथिः । देवानुद्दिश्य यत्क्रियते तदैव कार्यं ततः पितृकार्यं विशिष्यते विशेषेण कर्तव्यमुपदिश्यते । अनेन पित्र्यस्य प्राधान्यमाह । देवं तत्राङ्गकर्मैत्युक्तं भवति । अङ्गकर्मतामेव स्पष्टयति । देवं हि यद्वाङ्मणभोजनं । तत्पितृकार्यस्याप्यायनं वृद्धिकरं नत्ततः प्रधानं पित्र्यस्यैव पोषकम् ॥ २०३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । देवकार्याद्वैश्वदेविककर्मणः । द्विजातीनां विशिष्यते तैर्यज्ञादिभिर्देवताप्यायनसंभवात् । शूद्राणां तु आद्धे दैवमपि तद्वदभ्यर्हितं । प्रकारान्तरेण तदाप्यायनस्य तेष्वसंभवात् । पितृकार्यस्याप्यायनं तस्य संवर्धनकारितया पूर्वमङ्गत्वेन स्मृतमतो देवात्पित्र्यभाग एव शौचविप्रगुणाद्यनुसंधानाधिक्रयविधेयमित्यर्थः ॥ २०३ ॥

(३) कुङ्कुमः । देवानुद्दिश्य यत्क्रियते तदैव कार्यम् । ततः पितृकार्यं द्विजातीनां विशेषेण कर्तव्यमुपदिश्यते । अनेन पितृआद्धस्य प्राधान्यं देवं तत्राङ्गमित्याह । एतदेव स्पष्टयति । यतो दैवकर्म पितृकृत्यस्य पूर्वसदाप्यायनं परिपूरकं स्मृतम् ॥ २०३ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र पितृकार्यस्य प्रासङ्गिकस्य अङ्गित्वमनुवदन् देवस्य तत्प्रति पूर्वोत्तराङ्गत्वं नियमयन्माह देवकार्यादिति । देवं देवसंबन्धि । आप्यायनं पर्युक्षणादि ॥ २०३ ॥

(५) नन्दनः । अथ पित्र्यस्याङ्गत्वेन दैवं विधित्सन् देवात्पित्र्यस्य वैशिष्यमाह देवेति । आप्यायनं प्राबल्यकरणम् । हि हेतौ ॥ २०३ ॥

(६) रामचन्द्रः । वीरसिंहप्रकाशे अर्घपात्राण्याह बाष्कलः । सौवर्णरौप्यताम्राणां तदभावे च तर्पणं । अष्टाङ्गुलं भवेत्पात्रं पितृणां रजतं शुभं । दशाङ्गुलं तु देवानां सौवर्णताम्रमेव च ॥ २०३ ॥

तेषामारक्षभूतन्तु पूर्वं दैवं नियोजयेत् ॥ रक्षांसि हि विलुम्पन्ति आद्धमारक्षवर्जितम् ॥ २०४ ॥

(१) मेधातिथिः । रक्षैव आरक्षंतत्प्राप्तं आरक्षभूतं आरक्षार्थमित्युक्तं भवति । उपमायां वा भूतशब्दः यदा तुरक्षार्थं अतः पूर्वदैवं ब्राह्मणं नियोजयेत् निमज्जयेत् आसने चोपवेशयेत् । अपरोर्थवादः रक्षांसि अदृश्यानि कानिचित्सत्त्वानि इति हासे । क्रियाविप्रलुम्पन्ति आच्छिन्दन्ति पितृभ्यः आद्धं । केपुनर्देवा उद्देश्या गृह्णतावद्विश्वान् देवान् हवामह इति मन्त्रस्य विनियोगाद्विश्वे देवाः प्रतीयन्ते । पुराणेत्युक्तं विश्वे देवा इति श्रुतिरिति ॥ २०४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तेषां पितृणामारक्षः । समन्ततोरक्षाहेतुः ॥ २०४ ॥

(३) कुङ्कुमः । आरक्षोरक्षातेषां पितृणां रक्षाभूतदैवं विश्वे देवब्राह्मणं पूर्वं निमज्जयेत् यस्माद्रक्षावर्जितं आद्धं रक्षसा आच्छिन्दन्ति ॥ २०४ ॥

(२०३) श्रुतम् = स्मृतम् (मेधा०) ।

(२०४) रक्षांसि हि विलुम्पन्ति = रक्षांसि विप्रलुम्पन्ति (क, ख, ग, घ, च)

(४) राघवानन्दनः । एतत्पूर्वकरणे दृष्टफलमाह । तेषामिति आरक्षदेवकृतं तद्वाजितंश्राद्धरक्षांसिलुम्पन्ति । न्य-
स्तशस्त्रत्वात्वरक्षणेऽप्यसमर्थत्वात् ॥ २०४ ॥

(५) नन्दनः । यतएवदैवंपूर्वकुर्यादित्याह तेषामिति । तेषापितृणाम् । हिहेतौ । आरक्षभूतं रक्षाकरम् ॥ २०४ ॥

(६) रामचन्द्रः । तेषापितृणां देवपूर्वमारक्षभूतं सर्वत्र रक्षायुक्तंश्राद्धयोजयेत् । रक्षैव रक्षस्तमाक्षंश्राद्धंनियोजयेत्
आरक्षंवाजितंदेववर्जितं श्राद्धं रक्षांसि विप्रलुम्पन्ति अपहृताअसुरारक्षांसीति मन्त्रेण तिलयवान्गृहीत्वा रक्षांकुर्यात् ॥ २०४ ॥

दैवाद्यन्तं तदीहेत पित्राद्यन्तं तद्भवेत् ॥ पित्राद्यन्तं वीहमानः क्षिप्रं नश्यति सान्वयः ॥ २०५ ॥

(१) मेधातिथिः । आदिश्च अन्तश्च आन्धतौ देवौ आद्यन्तावस्येति दैवाद्यन्तम् दैवेन कर्मणा आदिरुपक्रमः श्राद्ध-
स्य कर्तव्यः । अतश्च निमन्त्रणं देवानां पूर्वकर्तव्यं अंतःसमामिः । विसर्जितेषु पित्र्येषु ब्राह्मणेषु पश्चाद्देवानां विसर्जनं कर्तव्यं ।
गन्धादिदाने पिदैवोपक्रमतां मन्यन्ते । न तु तेषां पदार्थानां दैवेनोपक्रमसमाप्ती संभवतः आवृत्तिप्रसङ्गात् प्रयोगधर्मश्चायं दैवाद्य-
न्तता । दैवपूर्वकर्तव्यं यतएव पदार्थधर्मः पदार्थानां तु गन्धमाल्यादीनां दैवोपक्रमता प्रावृत्तिकेनैव क्रमेण सिध्यति । निमन्त्रणं
तावदैवपूर्वकर्तव्यं । यतएव प्रथमं पदार्थं आरब्धस्ततएवाग्न्येषामारंभो युक्तः पदार्थः पदार्थान्तरारम्भं नियच्छति । यतस्तदुक्तं
प्रकृत्याकृतकालानां गुणानां तदुपक्रमादिति पदार्थधर्मः । तच्छ्राद्धकर्माहेतुकुर्यात् परिशिष्टोर्थवादः । पित्राद्यन्तं तद्भवेत् ।
दैवाद्यन्तत्वस्य विहितत्वात् न पित्राद्यन्तप्रतिषेधोऽर्थवादतया लौकिकवाक्यवन्नेयः । लोके हि किंचिद्विधायतद्विपरीतमप्राप्त-
मपि निषेधति । क्रिया हि द्वयं विनयति नाद्रव्यमिति । क्षिप्रं नश्यति सान्वयः संतानाफलप्रदर्शनरूपोऽयं निन्दार्थवादः । अतश्च-
सर्वपरिवेषणादिदैवपूर्वकं यत्तन्तराभक्ताद्युपनयनं पिपासतांचपानादिदानं तद्यस्यैवेच्छाप्रथममुपजाता तस्माद्वैवोपनेतव्यं अ-
नर्थिनस्तदनुरोधेनोपनीयमाने प्रधानविधिबाधः स्याद्वर्ष्येत् ब्राह्मणानिति तथा कश्चिन्मधुरसप्रियो परोऽम्लरससात्म्यस्तत्र भ-
क्ष्यं भोज्यं च विविधपानानि सुरभीणि चेति बहुषु पानकेषु सत्सु यद्यन्यनुरोधेन अन्यत्र रससात्म्यमापादयेत्ततो व्याधिरस्य जनि-
तः स्यात् ॥ तस्मादुपक्रमः समानो देवादिः ॥ २०५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । देवतानामादौ निमन्त्रणं तथावत्सर्वपदार्थेषु दैवपूर्वेयु दैवादिता । दैवान्तता तु पितृन्विस्तृ-
ज्य देवानां विसर्जनात् । ईहमानश्चेष्टमानः । नश्यति रक्षोभिः श्राद्धविघातेन पितृशापात् ॥ २०५ ॥

(३) कुल्लूकः । यतएवमतस्तच्छ्राद्धदैवाद्यन्तं दैवे कर्मणि आद्यन्तावारम्भावसाने यस्य तन्तथा एतेनेदमुक्तं । निम-
न्त्रणादिसर्वदैवपूर्वविसर्जनं तु देवानां शेषे । अतएव देवः । यत्तत्र क्रियते कर्म पैवृके ब्राह्मणान्प्रति । तत्सर्वतत्र कर्त-
व्यं वैश्वदेविकपूर्वकम् । न तु तच्छ्राद्धं पितृपक्रममावसानम् पित्राद्यन्तं तदनुतिष्ठन्सन्तानः शीघ्रं विनश्यति ॥ २०५ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्पित्र्यं ईहेत कुर्यात् तु तदैवं पित्र्याद्यन्तम् । क्षिप्रं प्रणश्यतीति भूतार्थवादः ॥ २०५ ॥

(५) नन्दनः । न केवलं श्राद्धस्य दैवमादौ कार्यं किन्त्वन्तेऽपीत्याह । दैवेति । ततः श्राद्धम् । ईहेत कुर्वीत ॥ २०५ ॥

(६) रामचन्द्रः । तच्छ्राद्धदैवाद्यन्तमाहेत कुर्यात् । तद्यथा दैवादिपूर्वदेवानां आवाहनं विश्वेदेवा आगच्छन्त्विति वा-
च्येत् । अन्ते श्राद्धान्ते उपतिष्ठन्तु पितरः सव्येन विश्वेदेवैः सहेति एवं दैवाद्यन्तं तच्छ्राद्धं पित्राद्यन्तं न भवेन्न कुर्यात् ॥ २०५ ॥

शुचिं देशं विविक्तं च गोमयेनोपलेपयेत् ॥ दक्षिणाप्रवणं चैव प्रयत्नेनोपपादयेत् ॥ २०६ ॥

(१) मेधातिथिः । शुचिर्भस्मास्थिकपालकाद्यनुपहतः । विविक्तो विस्तीर्णो बहुभिर्जनैरनाकीर्णः दक्षिणाप्रवणो
दक्षिणस्यां दिश्य वनतस्तादृशं देशं यत्नेन संपादयेत् । स्वभावतश्चेत्तादृशो न लभ्यते तथा कर्तव्यं यथास्वव्यापारेण संपादयेत् ।
तंच गोशकृतोपलेपयेत् । मृदादयो निवर्तन्ते । गोमयेनोपलेपनियमात् ॥ २०६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विविक्तमेकान्तम् । उपलेपयेत् शूद्रोमयादिना दक्षिणाप्रवणमुपपादयेत् संपादयेत् ॥२०६॥

(३) कुल्लूकः । अस्थ्यङ्गाराद्यनुपहतदेशनिर्जनंच गोमयेनोपलेपयेत् । दक्षिणादिगवनतंच प्रयत्नतःसंपादयेत् ॥ २०६ ॥

(६) राघवान्दः । देशनियमसार्थवादमाह शुचीति द्वाभ्यां । दक्षिणाप्रवणंदक्षिणनिम्नताम् ॥ २०६ ॥

(५) नन्दनः । अथ श्राद्धस्य देशमाह शुचिमिति । विविक्तं विजनम् ॥ २०६ ॥

(६) रामचन्द्रः । भूमिशुद्धिमाह शुचिमिति तत्रगोमयादिना लिप्ते दक्षिणाप्रवणे दक्षिणतोऽवनते निम्नप्रदेशे आह्वानकार्यम् ॥ २०६ ॥

अवकाशेषु चोक्षेषु नदीतीरेषु चैव हि ॥ विविक्तेषु च तुष्यन्ति दत्तेन पितरः सदा ॥२०७॥

(१) मेधातिथिः । अवकाशोदेशः चोक्षाः त्वभावशुचयोमनःप्रसादजनकाअरण्यादयः । जलतीराणि सरित्समीपपुलिनादीनि विविक्तेषुविजनेषु तीर्थेषुच । विध्यन्तरमिदमतश्चगोमयोपलेपनमितिनियमोनास्ति । उपपादयेदितिवचनात् । यत्रसंपाद्यंशुचित्वंतत्रासौनियमःत्वभावातःशुचिषुदृष्टमद्भिर्नार्णक्तमित्येतावतैवयोग्यता । एतेषुदेशेषुदत्तेनकृतेनश्राद्धेनातितुष्टाःपितरोभवन्तीति ॥ २०७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अवकाशेषु स्तम्भाद्यसंकीर्णदेशेषु चोक्षेषु शुद्धेषु ॥ २०७ ॥

(३) कुल्लूकः । चोक्षाःत्वभावशुचयोऽरण्यादिप्रदेशास्तेषु नद्यादितरेषु तथानिर्जनप्रदेशेषु दत्तेन श्राद्धादिना सर्वदापितरस्तुष्यन्ति ॥ २०७ ॥

(४) राघवान्दः । अवकाशेषु त्वभावेन जनता वर्जितेषु चोक्षेषु मनोहरेषु तथान्यत्राहचोक्षःशुचौ तथा दक्षइति ॥ २०७ ॥

(५) नन्दनः । चोक्षेषु रमणीयेषु ॥ २०७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अवकाशेषु असंकीर्णस्थानेषु उक्षेषुउच्चस्थानेषु विविक्तेषु विजनेषु अरण्यादिषु जलतीरेषुएतादृशेषु ते पिण्डेन पितरः सदा तुष्यन्ति सन्तुष्टाभवन्तीत्यर्थः ॥ २०७ ॥

आसनेषूपकृतेषु बर्हिष्मत्सु पृथक् पृथक् ॥ उपस्पृष्टोदकान्सम्यग्विप्रांस्तानुपवेशयेत् ॥२०८॥

(१) मेधातिथिः । उपकृतेषुकल्पितेषुविन्यस्तेषुपृथक्पृथक् । विभागेनैवमासनंदीर्घधौतफलकादिसर्वेभ्योदद्यात् परस्परंयथानस्पृशन्ति । तथोपवेशनीयाइति । पृथगग्रहणं । बर्हिष्मत्सु दर्भविष्टरास्तीर्णेषु उपस्पृष्टोदकान्स्नातान्कृताचमनविधींश्च तान्पूर्वनिमन्त्रितानुपवेशयेत् ॥ २०८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बर्हिष्मत्सु कुशवत्सु उपस्पृष्टोदकान् स्नातात् ॥ २०८ ॥

(३) कुल्लूकः । तत्र च देशेआसनेषु पृथक्पृथक्विन्यस्तेषु सकुशेषु प्रागामन्त्रितब्राह्मणान्सम्यक्कृतस्नानाचमनानुपवेशयेत् अत्र देवब्राह्मणासने कुशद्वयंपित्रासनेषु च प्रत्येकंदक्षिणाग्रएकः कुशोदेयः । तदाह देवलः । ये चात्र विश्वेदेवानांविप्राःपूर्वनिमन्त्रिताः । प्राङ्मुखान्यासनान्येषांद्विदर्भोपहतानि च ॥ दक्षिणामुखयुक्तानि पितृणामासनानि च । दक्षिणाग्रैकदर्भाणि प्रोक्षितानि तिलोदकैः ॥ दक्षिणामुखयुक्तानि दक्षिणाग्राणि अग्रकाण्डमूलपेक्षया ॥ २०८ ॥

(१) मेधातिथिः । अनुलिमेषुसग्विषु सुरभिधूपाज्जिग्रत्सु अर्घोदकमुपनेतव्यं । तेनहितेप्रार्थिताअनुजानीरन् । ततश्चाग्नौकरवाणिकरिष्ये । इतिचेत्येवमादीनिप्रश्रवाकथानिलभ्यन्ते । अनुज्ञावाक्यमपि तेनैवसहपवित्रांस्तिलानपि पवित्रशब्दोदभेषूवर्तते तेषांब्राह्मणानामुदकमानीयदत्त्वा तैरनुज्ञातोऽग्नौहोमंकुर्यात् । ब्राह्मणैरनुज्ञातःकुर्यादितिसंबन्धः । सहसर्वेयुगपदनुज्ञाद्व्युः । अनुज्ञापनवाक्यमपिसामर्थ्यप्राप्तं । सर्वंचैतत्साधुभिःशब्दैःकर्तव्यं । प्रदर्शितंचैतत्शृङ्गारैरग्नौ-
करवाणिकरिष्यइतिचानुज्ञापयेदोर्कवित्येवंब्रूयुः ॥ २१० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तेषां यद्गन्धादिदानात्प्रागर्घ्यदत्तं तच्छेषजलं । तिलांस्तत्रत्यान । पवित्राणि च कुशान्दिद-
लान्यानिचैकत्र स्थाने कृत्वा संस्वानसमवनीयं न्युब्जपात्रं कृत्वेत्यर्थः । ब्राह्मणैश्च सह सहितैरनुतज्ञातः ॥ २१० ॥

(३) कुल्लूकः । तेषां ब्राह्मणानामर्घ्योदकपवित्रतिलान्संमिश्रान्कृत्वा तैर्ब्राह्मणैः सहानुज्ञातोऽग्नौ वक्ष्यमाणं होमं कु-
र्यात् । अनुज्ञासामर्थ्याच्च प्रार्थनापि पूर्वकर्त्तव्या । साच त्वगृहानुसारेण करवाणि करिष्यइत्यादिका । अनुज्ञापि ओमि-
त्येवंरूपा कुरुष्वेति वा ॥ २१० ॥

(४) राघवानन्दः । आनीय दत्त्वा उदकं अर्घ्यार्थं पवित्रं स्यात्कुशद्वयं तद्युक्तं तिलान् । ब्राह्मणैः कुरुष्वेत्यनु-
ज्ञातः ॥ २१० ॥

(५) नन्दनः । उदकं शुद्धोदकम् । आनीय दत्त्वा तिलोदकं चानीय । ब्राह्मणोद्विजः । सहाम्यनुज्ञातोऽग्नौ कुर्याज्जु-
हुयात् ॥ २१० ॥

(६) रामचन्द्रः । अग्नौ करणं द्वाभ्यामाह तेषामिति । तेषां पितृणां अर्थे विप्राणां समीपे उदकं शिष्टोदकं आनीय सप-
वित्रान् पवित्रसहितान् तिलानादाय ब्राह्मणानपीच्छेत् ॥ २१० ॥

अग्नेः सोमयमाभ्यांच कृत्वाऽप्यायनमादितः ॥ हविर्दानेन विधिवत्पश्चात्संतर्पयेत्पितॄन् ॥ २११ ॥

(१) मेधातिथिः । यदग्नौ कर्त्तव्यं तदुच्यते । अग्नेः चतुर्थ्यर्थे षष्ठी अग्निरेकादेवता । सोमयमाभ्यामिति द्वन्द्वस्य-
देवतात्वं अग्नीषोमवत् । अनयोर्देवतयोरादित आप्यायनं हविर्दानेन कृत्वा पश्चात्संतर्पयेत्पितॄन् । पिण्डनिर्वपणं ब्राह्मण-
भोजनं च कुर्यादित्यर्थः । गृह्णेत्यन्यादेवताः येषां गृह्णनास्ति तेषामिदं देवतावचनं । आप्यायनं षोडशं हविषा देवतापुण्यन्तीत्य-
र्थवादः ॥ २११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अग्नेः अग्नये कव्यवाहनाय सोमाय पितृमते यमायाद्विरत्नवति तिस्र आहुतयः ।
हविर्दानेन होमरूपेण कृत्वाऽप्यायनमित्यन्वयः ॥ २११ ॥

(३) कुल्लूकः । अग्नेः सोमयमयोश्च विधिवत्पर्युक्षणादिपूर्वं हविर्दानेन ग्रीणनमादौ कृत्वा पश्चादन्नादिना पितृस्तर्प-
येत् । सोमयमयोः द्वन्द्वनिर्देशोऽपि पृथगेव देवतात्वं सहादिशब्दप्रयोगाभावात् । यत्र साहित्यं विवक्षितं तत्र सहादिशब्दकरो-
तीत्युक्तं प्राक् ॥ २११ ॥

(४) राघवानन्दः । आदितः आदौ । सोमयमाभ्यामिति द्वन्द्वेनैव देवतात्वं अग्नीषोमवत् । हविर्दानेन । पर्युक्ष-
णादिना ॥ २११ ॥

(५) नन्दनः । आप्यायनं तृप्तिर्होममितियावत् । हविर्दानेनान्नहोमेन ॥ २११ ॥

(६) रामचन्द्रः । अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहा सोमयमाभ्यां एवमादितः प्रथमतः आप्या-
यनं कृत्वा । तत्राह । मार्कण्डेयः । आहिताग्निस्तु जुहुयादक्षिणाग्नौ समाहितः । अनाहिताग्निस्त्वौपासने अश्वभावेऽव-
सथ्याश्वभावे द्विजेऽप्सुवा ततः पश्चात् अग्नौ करणानन्तरं पितृन्पितृपितामहप्रपितामहस्थानेषु उपविष्टान् द्विजान् हविर्दानेन-
हविष्यान्नादानेन विधिवत्संतर्पयेत् । भोजयेदित्यर्थः । पवित्रलक्षणमाह । अनन्तर्गर्भकं सायंकौशं द्विदलमेव च । प्रादेशमात्रं-
विज्ञेयं पवित्रं यत्र कुत्र चित् ॥ २११ ॥ २१२ ॥

अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत् ॥ योऽग्निरग्निः सद्भिजोविप्रैर्मन्त्रदर्शभिरुच्यते ॥ २१२ ॥

(१) मेधातिथिः । स्मार्तस्यवैवाहिकस्यदायादेर्वाअग्नेरभावेविधिरयमुच्यते । लौकिकस्यतु पितृयज्ञनिषेधात्भावाभावावचिन्त्यौ नपैतृयज्ञियोहोमोलौकिकेग्रावितिवक्ष्यति । कथंपुनस्तस्याग्नेरभावः प्रोषितस्याग्निनाविनाद्रव्यब्राह्मणदेशसंपत्तौच श्राद्धकालउक्तोनामावास्यैव । तत्रप्रोषितेनसपङ्क्तिपावनः प्रामोद्व्यंवाकालशाकादितत्रायंविधिरुच्यते । ननुचप्रोषितस्यकथंश्राद्धाधिकारः यदित्वावद्भार्याप्रवसतीअग्निनापितत्रैवसन्निधातव्यं । यतो नोभाभ्यामग्नेर्विरहइष्यते । भार्ययाजमानेनच । एवंहिअयते नागिरन्तरितव्यः प्रवसतामिति । अथकेवलएवगृहस्थः प्रवसेत्तदाभवेदग्न्यभावः किन्तुमध्यकत्वादितस्यसहाधिकारस्यभार्यायामसंनिहितायां तदिच्छायाअभावात् । कथंसाधारणस्यश्राद्धेविनियोगः । साधारणेहिद्रव्येअन्यतरानिच्छायांत्यागएवसंवर्तते । अथोच्यते तीर्थेष्वपिश्राद्धकरणमनेनन्यायेनप्रामोति । तत्रेमानिवचनानिविरुध्यन्ते । पुष्करेवक्ष्यंश्राद्धंतपश्चैवमहाफलं । महोदधौप्रभासेचतद्वेदेविनिर्दिशेत् ॥ इतिनैषदोषः । भार्ययासहतीर्थयात्रांगच्छतः साग्निकस्योपपत्त्यन्ते । इहतुभार्ययासहप्रवासस्तदानास्त्यग्नेरभावः । अथकेवलस्यतदाभार्येच्छायाअपरिज्ञानादनधिकाराउच्यन्ते । प्रवसन्भार्यामनुज्ञापयति धर्मायविनियोगंद्रव्यस्यकरिष्यामीति तत्प्रामानुजोधिकरिष्यते । प्राक्चोपनयादसत्यग्निपरिग्रहेविधिरयंभविष्यति । अस्तित्चानुपनीतस्यश्राद्धाधिकारः स्वधानिनयनादितिदर्शितं । स्मार्तस्यचप्राग्विवाहात् पितृमरणादावग्न्यभावः । ननुचपरमेष्ठिमरणेअपरिग्रहः काठकेपठ्यते । कृतदारस्यासौद्रष्टव्येन स्मार्तकमात्रस्य द्वौहिकालौस्मार्तकस्याग्नेर्विहितौ भार्याविवाहे । तत्रयेनविवाहकालेनपरिगृहीतोऽग्निः पित्राविभक्तत्वात् । ज्येष्ठेनवासहवसता । आतृणांमविभक्ता तामेकोधर्मः प्रवर्ततेति । अनेनतस्यासौद्रितीयःकालः । दायकालाद्वेत्वापीति । एषएवदायकालोयदापिताअभियतेतदपेक्षमेवैतत् । शुचिर्भूतःपितृभ्योदद्यात् । भ्राष्ट्रयोहाग्निमानीयप्रतिजागृयादिति । नचेदग्न्याधानंश्राद्धाङ्गं तदासतितदर्वाग्न्यस्योत्पत्तिःश्राद्धंवावर्तते । नचाप्यत्यागोस्त्येषऔपसदोऽग्निस्तस्मिन्पाकयज्ञइतिपठ्यते । नचपाकयज्ञेप्यभार्यस्याधिकारः । पत्न्यवेक्षितमाज्यंभवति । व्रतंचपत्न्युपेयादितिदर्शपूर्णमासयोःश्रूयते । नचयदापत्नीतदैतत्प्रतोपायनाज्यावेक्षणेपत्नीकर्तृकेभविष्यतइतिशक्यमवकल्पयितुं नित्यवदाम्नानात् । तत्रौपसदोऽग्निरित्येषविधिर्होतव्यःप्रामोति ननुचनपितृमरणमेवदायकालः । एवंहिपठ्यते । सपिण्डीकरणंकृत्वाविभजेरन् ततःसुताइतिविभागस्यायंकालो नदायस्याविभागेपिनायंनियमोयतोधर्मात्पृथक्क्रियेते पठ्यते । तस्याश्वधर्मत्वंविभक्तानांपृथक्पृथक्श्राद्धकरणेनातिथ्यादिपूजयाच । ततश्चनवश्राद्धंसहदद्युतिरित्यादीनिवाक्यानि समामविद्याविषयाणि । ईषद्विप्रोरागोद्रेकास्वदारनियमातिश्रमिषमितिरुतविवाहः प्रक्रान्तवेदार्थप्रवणस्तस्यसंवत्सरमात्रेणविद्यासमामाविदमुच्यते सपिण्डीकरणंकृत्वाविभजेरन्निति । तदामृतभार्यस्यपुनर्दारांश्चिकीर्षतआदारप्राप्तेर्भवत्यग्नेरभावः । सर्वथापत्न्यासहयष्टव्यमित्यस्तित्ववचनेसति नाकृतविवाहस्याग्निपरिग्रहः । एवंस्थितेअग्नेरभावे आहुतीब्राह्मणस्यहस्तेप्रक्षिपेत् । कस्यब्राह्मणस्यएवनिमन्त्रितास्तेषामन्यतमस्य दैवउपवेशितस्यान्यस्यवानिमन्त्रितस्यार्थवादोयोऽग्निरिदंतिमन्त्रार्थितः संमतश्चेदर्थविद्भिः ॥ २१२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अग्न्यभावऔपासनाभावे पाणावग्नितीर्थेहस्तमध्यस्थउपपादयेदाहुतीःसंपादयेत् ॥ २१२ ॥

(३) कुड्मूकः ! अग्न्यभावे पुनर्ब्राह्मणहस्तएवोक्ताहुतित्रयंदद्यात् । यस्माद्यएवाग्निः सएव ब्राह्मणइति वेदविद्भिर्ब्राह्मणैरुक्तः । अग्न्यभावश्चानुपनीतस्य संभवति । उपनीतस्य समावृत्तस्य च पाणिग्रहणात्पूर्वं मृतभार्यस्य वा ॥ २१२ ॥

(४) राघवानन्दः । पाणावेवाहुतित्रयंदद्यात् । पाण्यास्योहिद्विजःस्मृतइत्युक्तिमाश्रित्याह यदिति ॥ २१२ ॥

(५) नन्दनः । उपपादयेदद्यात् । एषवाअग्निर्वैश्वानरोयद्ब्राह्मणइतिमन्त्रदर्शभिरुच्यते ॥ २१२ ॥

अक्रोधनान्मुप्रसादान्वदन्त्येतान् पुरातनान् ॥ लोकस्याप्यायने युक्तान् श्राद्धदेवान् द्विजो
त्तमान् ॥ २१३ ॥

(१) मेधातिथिः । अयमर्थवादएव । ब्राह्मणानां देवतारूपत्वं संपादयति अग्निर्देवता तत्र हुतं तन्मुखेन देवता अश्र-
न्ति ब्राह्मणोऽप्येवं रूपतद्वस्तेऽपि क्षिप्तं देवता अश्रन्त्येव किंपुनर्देवतानां रूपं येन ब्राह्मणोऽपि देवतारूप उच्यते । अत आह अक्रो-
धनानिति वेदं ब्रुवते तदर्थं दर्शयति य एवं स्वभावा ब्राह्मणास्ते आज्याहुती प्रक्षेप्ये । अन्ये त्वाहुः पूर्वत्राक्रोधना इत्यादिना-
पितृनुद्दिश्य निमत्त्रितानां स्तुत्यानामक्रोधनादिर्भो विहितः । अनेन देवनिमत्त्रितानामिति विशेषः तथा चाह श्राद्धे देवानिति ।
पुरातनान्मुनय एव वदन्ति द्वितीयान्तो वा पठितव्यः । पुरातनानेतान् देवान् साध्यदेवानस्मिन्कल्पे समुत्पन्नान् लोकस्याप्यायने-
युक्तान् एवं श्राद्धं भुञ्जते तत्र नैव मन्तव्यं । दृष्टसुखार्थिनो लोभात् स्वार्थे प्रवर्तन्ते तत्र किमित्येषां पूजा क्रियते । यत आप्यायय-
न्ति लोकं । पृथिवीमन्तरिक्षं दिवं चातो नैषामवञ्जा कर्तव्या ॥ २१३ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अक्रोधनत्वादिगुणवत्त्वे सत्ये ते श्राद्धे देवता भवन्तीत्यर्थः । मुप्रसादान् लपायासेन
प्रसाद्यान् पुरातनान् सर्वेभ्यो यजान् । यज्ञादिना लोकाप्यायने युक्तान् । श्राद्धदेवान् श्राद्धसंबन्धिना न्नस्य पितृन् प्रति
नेतृन् अतोऽग्निर्यथा हव्यं वहति तथा ब्राह्मणा अपीत्यर्थः । गत्यर्थाद्दीव्यतेऽर्प्यन्तात् देव शब्दव्युत्पत्तिरत्र ॥ २१३ ॥

(३) कुड्ढकः । क्रोधशून्यान् मुप्रसादान् प्रसन्नमुखान् प्रवाहानादितया पुरातनान् अग्नौ प्रास्ताहुतिरिति न्यायेन लो-
कवृद्धय उद्युक्तान् श्राद्धपात्रभूतान् मन्वादयो वदन्ति । तस्माद्देवतुल्यत्वाच्छ्राद्धब्राह्मणस्य तद्वस्ते दातव्यमिति पूर्वविध्यनुवा-
दः ॥ २१३ ॥

(४) राघवानन्दः । पुरातनान् चिरन्तनान् प्रवाहानादितया पुरापूर्वतन्यते दीयते येभ्यस्तान्वा । आप्या-
यने दातारो वो भिवर्धन्तामित्याद्याशिषा । श्राद्धदेवान् श्राद्धोद्देश्यपात्रभूतान् ॥ २१३ ॥

(५) नन्दनः । यस्मिन् हूयते सोऽग्निरेव न केवलं ब्राह्मणः किंतु येभ्यो हूयते ते पितरोऽपि ब्राह्मणा इत्याह अक्रोध-
ना इति । श्राद्धदेवान् पितृन् । द्विजोत्तमान् पुरातनान् वदन्ति । तेन च ब्राह्मणस्य पाणाविवोपपादनं युक्तमित्यभिप्रायः
॥ २१३ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतादृशान् पुरातनान् पितृरूपां द्विजोत्तमान् श्राद्धदेवान् श्राद्धप्रापकान् । एवं वदन्ति ॥ १२३ ॥

अपसव्यमग्नौ कृत्वा सर्वमावृत्य विक्रमम् ॥ अपसव्येन हस्तेन निर्वपेदुदकं भुवि ॥ २१४ ॥

(१) मेधातिथिः । अग्नौ यत्कर्तव्यं अग्नये स्त्रुधानमिति आहुतिप्रक्षेपलक्षणाकार्यं तदपसव्यं । दक्षिणेन हस्तेन कर्त-
व्यं न सव्येन नोभाभ्यां उभयोर्हस्तयोर्मुक्तमिति निषेधात् हस्तद्वयसंयोगेन कर्तव्यता शङ्कयामपसव्येनेत्युक्तमिति केचित् ।
इदं त्वयुक्तं या अग्रावाहुतयो हूयन्ते । तासां च याऽवृत्परिक्रमस्तस्यापसव्यता विधियते । दक्षिणासंस्था आहुतीः कुर्यात् नोद-
कसंस्थाः । यथा देवे दव्यात्रा हविर्भिस्तु कारयितव्यं नोदीच्यां किं तर्हि दक्षिणाभिमुखं यथोदकं पिच्येणतीर्थेन कार्यते । सर्वग्र-
हणादन्यदपि परिवेषणाद्यपसव्यमेव कर्तव्यमपसव्येन हस्तेनोदकं निर्वपेत् । शनैरिति वा पाठः । अत्रार्थः अन्यथाराजतैर्भाज-
नैरित्यनेन राजतभाजनप्राप्तये सव्यहस्तविधिः । आवृत्तिरावृत् ॥ २१४ ॥

(२१४) सर्वमावृत्य विक्रमम् = सर्वमावृत्परिक्रमम् (क, ख, ग, घ, च, ज, झ, ञ, ट, ड, ढ, त, थ, ब, भ, य, र, ल, मेधा०) ।

(२) सर्वज्ञनारायणः । अपसव्यं प्राचीनावीतेन एतच्चाग्न्यादीनां देवताभूतत्वाद्यज्ञोपवीतप्राप्तौ प्राचीनावीतविधानम् । आवृत्परिक्रमकर्मक्रमं अपसव्येन पितृतीर्थेन उदकं पिण्डदानस्थाने ॥ २१४ ॥

(३) कुङ्कुमः । अग्नौ पर्युक्षणाद्यङ्गमुक्तं अग्नौ करणहोमानुष्ठानक्रममपसव्यं दक्षिणसंस्थं कृत्वा ततोऽपसव्येन दक्षिणहस्तेन पिण्डाधारभूतायां भुव्युदकं क्षिपेत् ॥ २१४ ॥

(४) राघवानन्दः । अग्नौ पर्युक्षणाद्यङ्गमुक्तमग्नौ करणहोमानुष्ठानक्रमं सर्वमावृत्परिक्रमं परिपाटीक्रमं । अपसव्यं दक्षिणसंस्थं कृत्वा अपसव्येन दक्षिणहस्तेन भुवि पिण्डाधारभूतायाम् । उदकं निर्वपेत् निःक्षिपेत् ॥ २१४ ॥

(५) नन्दनः । पितृकार्ये हस्तमुद्रायालक्षणमाह अपसव्यमिति । हस्ताभिमुखं दक्षिणहस्ततलमपसव्यम् ॥ ११४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अग्नौ अपसव्यं कृत्वा यज्ञोपवीतं प्राचीनावीतं कृत्वा सर्वमावृत्परिक्रमं दक्षिणं परिक्रम्य अपसव्येन हस्तेन भुवि उदकं निर्वपेत् । वामहस्तं तु सव्यं स्यादपसव्यं तु दक्षिणम् ॥ २१४ ॥

त्रींस्तु तस्माद्धविःशेषात्पिण्डान्कृत्वा समाहितः ॥ औदकेनैव विधिना निर्वपेद्दक्षिणा

मुखः ॥ २१५ ॥

(१) मेधातिथिः । यत्तद्धोमार्थपात्रे गृहीतमन्नं तस्माद्धुतशिष्टान् त्रीन् पिण्डान् कृत्वा दक्षिणस्यां दिशि मुखं कृत्वा निर्वपेत् । दर्भेषु पितृनुद्दिश्य प्रक्षिपेत् । संहतं द्रव्यं पिण्डशब्देनोचते । तेन विशदमन्नं न दातव्यं । औदकेन औदको विधीर्यः समन्तरमेवोक्तः अपसव्येनेत्यादि । अत्रेदं संदिश्यते किं यत्तदन्नं ब्राह्मणभोजनार्थं साधितं ततोऽप्युद्धृत्य हविः संस्कारः कर्तव्यः । ततः पृथक् चरुसाधनाय इति । किं परिमाणं च तद्धविरिति । न ह्यत्र चतुरोऽमुष्ठीनित्यादि परिमाणसंभवः विचारितमेतत् विशेषाश्रवणात् । कामचारः परिमाणं यावता अर्थसिद्धिर्भवति । औदकविध्यतिदेशाच्च हस्तेनापसव्येन पिण्डनिर्वपणं न राजतैः पात्रैः । समाहितग्रहणं वृत्तपूरणं वृत्तपूरणार्थम् ॥ २१५ ॥

(६) सर्वज्ञनारायणः । हविःशेषात् हुतशेषादुद्धरणपात्रस्थादन्नस्थालीस्थाच्च औदकेन विधिना यथोदकं पितृतीर्थेन नीतं तथेत्यर्थः । अत्र च उदकनिनयनं भूमौ कृत्वा तदुपरि कुशानास्तीर्य तेषु दर्भेषु पिण्डदानमिति ग्राह्यम् । तेषु दर्भेष्विति वक्ष्यमाणत्वात् ॥ २१५ ॥

(३) कुङ्कुमः । तस्मादग्न्यादिहोमादुद्धृतादन्नादुद्धृतावशिष्टान् त्रीन् पिण्डान्कृत्वा औदकेनैव विधिना दक्षिणहस्तेन समाहितोऽनन्यमना दक्षिणमुखस्तेषु दर्भेष्विति वक्ष्यमाणत्वाद्दर्भेषु दद्यात् ॥ २१५ ॥

(४) राघवानन्दः । तस्मादग्नौ कृताद्धविःशेषात् त्रीन् पिण्डान् कृत्वा समाहितोऽनन्यमनाः । औदकेनैव विधिना दक्षिणहस्तेन ॥ २१५ ॥

(५) नन्दनः । हविःशेषादन्नात् । औदकेनैव विधिना अपसव्येन हस्तेनेत्यर्थः ॥ २१५ ॥

(६) रामचन्द्रः । तस्मात्तद्धविःशेषादन्नात् समाहितः सन्पितृपिण्डान्कृत्वा दक्षिणामुखः सः औदकेन विधिना अपसव्येन जलदानविधिना अपसव्येन पितृतीर्थेन निर्वपेत् दद्यात् । हविष्यं ग्राह्यं । तद्यथा । ब्रीहिशालिल्यवगोधूममुद्रमाषमुन्यन्नकालशाकं एलाशुण्ठिमरीचिहिङ्गुशर्कराकर्पूरसैन्धवं सामभरं नालिकेर एकदा बदरगव्यपयोदधिघृतपायसप्रभृति स्मृत्यन्तरं प्रसिद्धं वेदितव्यम् ॥ २१५ ॥

न्युप्य पिण्डांस्ततस्तांस्तु प्रयतोविधिपूर्वकम् ॥ तेषु दर्भेषु तं हस्तं निमृज्याल्लेपभागिनाम् ॥ २१६ ॥

(१) मेधातिथिः । न्युप्यत्वा दर्भेषुतान्पिण्डान्ततहस्तंनिमृज्याद्दर्भेषुतेषुयेष्वेवपिण्डनिर्वपणंरुतं स्मृत्यन्तरदर्शनात् दर्भमूलेषुमार्जनम् । अपरेचनहस्तसंलग्नस्थान्नस्योदकस्यवादर्भेषुसंश्लेषणं यदिकिंचिदपिहस्तेसंश्लिष्येत्तथापिहस्तंदर्भेषुनिमृज्यादेव । नक्षेत्प्रतिपत्तिकर्मेव । येनासत्तिवचनप्रयोजनेनक्रियते । नेहश्रूयते हस्तलग्ननिमृज्यते किंतर्हिहस्तमेव । ननुचलेपभागिनामितिश्रूयते तत्रासतिलेपेनप्राप्नोति अतःकिमुच्यतेयदिनकिंचिदापहस्तेसंश्लिष्येत्तथापिकर्तव्यमिति । उच्यतेसाक्षात्मूर्तमन्नं कदाचिन्नश्लिष्यति पिण्डेष्वनुवर्त्यमानेषुअन्नरसऊष्मावसंपर्कात्तहस्तेसएवलेपउच्यते । लेपभागिनामितिषष्ठी । निमार्जनस्यतत्संबन्धितामाह । नचलेपभागिनःप्रत्यक्षदृश्याःसन्तिथेषांस्वस्वाम्यादिसंबन्धोलेपस्यक्रियेत । तस्माल्लेपभागिनामयंभागोस्त्वितिमनसाध्यायेत् । शब्देनवोद्दिशेत् अन्येतुप्रपितामहात्पूर्वेपितरस्तान्लेपभागिनआहुः । अस्मिन्दर्शनेप्रपितामहपित्रेप्रपितामहपितामहायेत्यादिभिःशब्दैरुद्देशःकर्तव्योऽसतितन्नामवेदने । हस्तमित्येकवचननिर्देशादेकेनापसव्येनहस्तेनपिण्डनिर्वपणंदर्शयति । प्रयतइत्याद्यनुवादोविहितत्वात् । विधिपूर्वकमितिशास्त्रान्तरदृष्टविधिपरिगृह्णाति । गन्धमाल्यधूपाच्छादनसिद्धोपहारैःपिण्डनिर्वपेदितिशङ्कः । यस्त्विहविधिःश्रुतःसस्वमतेनैवोक्तइतिविधिपूर्वकमित्येतदनर्थकं तस्माच्छास्त्रान्तरविध्युपसंहारार्थंविधिपूर्वकमितिवचनम् ॥ २१६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । लेपभागिनां लेपभागिनोबुद्धप्रपितामहादीनुद्दिश्येत्यर्थः ॥ २१६ ॥

(३) कुल्लूकः । विधिपूर्वकंस्वगृहोक्तविधिना दर्भेषु तान्पिण्डान्त्वा दर्भमूलेषु करावधर्षणमिति विष्णुवचनाच्च तेषु दर्भेषु मूलदेशे हस्तंनिर्लेपंकुर्यात्प्रपितामहपित्रादीनांत्रयाणालेपभुजांतृमये ॥ २१६ ॥

(४) राघवानन्दः । न्युप्य दत्त्वा । विधिपूर्वकंस्वगृहोक्तेन विधानेन । लेपभागिनांपित्रादित्रयाणां तृमये । दर्भमूलेषु करावधर्षणमिति विष्णुवचनाद्धस्तंनिमृज्यात् ॥ २१६ ॥

(५) नन्दनः । तेषु दर्भेषु येषु पिण्डान्युष्माः अनेनैव ज्ञाप्यते दर्भेषूदकनिनयनंपिण्डनिर्वपणंच कार्यमिति । लेपभागिनांपितामहात्परेषांत्रयाणाम् ॥ २१६ ॥

(६) रामचन्द्रः । न्युप्यनितरां उप्यस्थापयित्वातान् । ततःस्थापनानन्तरंहस्तंनिमृज्यादङ्गुल्यादिना प्रक्षालयेत् । लेपभागिनां तेषु दर्भेषु दर्भमूलेषु तत्प्रक्षालयान्नंदद्यात् । चतुर्थाल्लेपभागिनइतिवचनात् ॥ २१६ ॥

आचम्योदक्परावृत्य चिरायम्य शनैरसून् ॥ षड्भक्तूंश्च नमस्कुर्यात्पितृनेव च मन्त्रवित् ॥ २१७ ॥

(१) मेधातिथिः । दर्भेषुपिण्डान्दत्त्वोदीचींदिशंपरावर्तेत । सव्येनमार्गेण स्मृत्यन्तरेहिसव्यावृद्धदक्परावृत्येतिपठ्यते । उत्तराभिमुखःस्थित्वाआचामेत् । आचम्यत्रीनृणाणायामान्कुर्यात् । असून्प्राणानायम्य सन्निरुध्यइत्येव । गायत्रीशिरसाइत्यादिविधिर्नास्ति । शनैर्यथानातिपीडाभवति तथाचाह । यथावाक्यंप्राणानासिकातदभिमुखएवसकृन्ममस्कुर्वात् । वसन्तायनमइत्यादिपितृश्चनमस्कुर्वात् । मन्त्रवतृनमोवःपितरइत्यादिनामन्त्रेण । पितृणांनमस्कारःपिण्डाभिमुखेनकर्तव्यः । अभिषर्वावृत्येतिहिस्मृत्यन्तरम् ॥ २१७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उदगुदङ्मुखः परावृत्यावृत्य त्रिस्तूर्णांप्राणानायम्य । नमोवः पितरोरसायेत्यादिमन्त्रेण रसादिसंज्ञान् वर्षादीनृतून्मस्कुर्वात् पितृनेवेति नमोवःपितरोरसायेत्यादौ पितृणामप्युद्दिष्टत्वात्तेऽपि नमस्कार्या इत्युक्तम् ॥ २१७ ॥

(३) कुल्लूकः । अनन्तरमुपस्पृश्योदङ्मुखोभूत्वा यथाशक्ति प्राणायामत्रयंकृत्वा वसन्तायनमस्तुभ्यमित्यादिना

षड्कृतून्मस्कुर्यात्पितृंश्च नमोवःपितरइत्यादिमन्त्रमुक्तमद्भिःपर्यावृत्त्येति गृह्यदर्शनादक्षिणामुखेनमस्कुर्यात् ॥ २१७ ॥

(४) राघवानन्दः । उदक्परावृत्य उदङ्मुखोभूत्वा । त्रिराचम्य असून् प्राणान् प्राणायामत्रयंकृत्वा । षड्कृतून् मन्त्रवित् । वसन्तेति मन्त्रेणपितृन् नमोवइति मन्त्रेण ॥ २१७ ॥

(५) नन्दनः । असूनायम्य प्राणायामंकृत्वा । मन्त्रवत् नमोवःपितरइत्यादिमन्त्रयुक्तम् । पितृनेव पित्रात्मकानेव ॥ २१७ ॥

(६) रामचन्द्रः । ततोदर्भेषुपिण्डं दत्त्वा उदक्परावृत्य उदगुदीर्चीदिशंपरावर्तेत । तत्पदक्षिणावृत्योदङ्मुखःस्थित्वा आचम्यासून्प्राणान् शनैःत्रिरायम्य प्राणानायम्य त्रिःप्राणायामान्कृत्वा षड्कृतून्मस्कृत्य मन्त्रविद्ब्राह्मणःकर्ता पितृन्पितृब्राह्मणान्मस्कुर्यात् । नमोवःपितरइति ॥ २१७ ॥

उदकंनिनयेच्छेषंशनैः पिण्डान्तिके पुनः ॥ अवजिघ्रेच्च तान्पिण्डान्यथान्युमान्समाहितः ॥ २१८ ॥

(१) मेधातिथिः । यतएवपात्रादुदकेनप्राक्पिण्डदानाद्दर्भेषूदकनिनयनंकृतं ततएवपुननिनयनं पिण्डान्तिकेपिण्डसमीपिकर्तव्यमिति । शेषग्रहणंप्रतिप्रत्यर्थं तस्योदकस्य । तथाहि शेषशब्दउपपन्नोभवति । अतश्चकर्थाच्चित्तस्याभावेनास्तिपुननिनयनं । गृह्येतुनित्यंनिनयनमित्युक्तं । अवजिघ्रेच्चतान् पिण्डान् अवघ्राणंगन्धोपलब्धिः । गृह्येतु चरोःप्राणभक्षणंभक्षयेदित्युक्तम् । यथान्युमान्नियतक्रमेणिरुमान् पित्रेपितामहायप्रपितामहायेति । समाहितइतिश्लोकपूरणम् ॥ २१८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शेषपूर्वनिनीतोदकशेषंतद्वत्पिण्डान्तिकेदर्भेषु स्थानत्रये पुनर्निनयेत् । एवंब्राह्मणभोजनात्प्राक्पिण्डनिर्वपणमुक्तम् । अत्र पक्षे होमपिण्डदाने प्रधाने विप्रभोजनेनतुशेषप्रतिपत्तिः । यदात्रवक्ष्यमाणक्रमेण भोजनानन्तरंपिण्डदानं तदाहोमब्राह्मणभोजनयोः प्रधान्यं । पिण्डदानंतु शेष प्रतिपत्तिरिति ॥ २१८ ॥

(३) कुड्मूकः । पिण्डदानात्पूर्वपिण्डाधारदेशदत्तोदकशेषमुदकपात्रस्थंप्रतिपिण्डसमीपे देशे क्रमेण पुनरुत्सृजेत् । तांश्च पिण्डान्यथान्युमान्येनैव क्रमेण दत्तास्तेनैव क्रमेणावजिघ्रेत्समाहितोऽनन्यमनाः ॥ २१८ ॥

(४) राघवानन्दः । शेषं पिण्डभूमिक्षिमावशेषं । निनयेदद्यात् यथान्युमान् येन क्रमेण दत्तान् ॥ २१८ ॥

(५) नन्दनः । शनैरत्वरया । यथान्युमान्निवपनानुक्रमेणेत्यर्थः ॥ २१८ ॥

(६) रामचन्द्रः । पुनः पिण्डान्तिके पिण्डसमीपे उदकंशनैःनिर्वपेत् दद्यात् । अक्षयोदकमिति उपतिष्ठतां यथान्युमान्दत्तान्पिण्डान् समाहितःसन् उत्थाप्यावजिघ्रेत् ॥ २१८ ॥

पिण्डेभ्यस्त्वल्पिकांमात्रांसमादायानुपूर्वशः ॥ तानेव विप्रानासीनान्विधिवत्पूर्वमाशयेत् ॥ २१९ ॥

(१) मेधातिथिः । अत्यन्ताल्पिकामात्राववयवो भागस्तमेवयोब्राह्मणोयंपितरमुद्दिश्य उपवेशितः तदीयात्पिण्डात्किंचिन्मात्रंसएवाशयितव्यः । अनुपूर्वशइत्युक्तार्थं इहतच्छब्दात्प्रकृतपरामर्शकादग्न्यभावइत्यत्र न प्रकृतवचनैरेवापूर्वमन्यस्माददनीयात् ॥ २१९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्रापक्षे कर्तव्यान्तरमाह पिण्डेभ्यइति । पिण्डेभ्यःसकाशात् मात्रामवयवं अनुपूर्वशः पित्रादिक्रमात् । तानेव पित्र्यान्तु वैश्वदेविकान् विधिवदाचमनादिपूर्वकं । पूर्वभोजनात् धियमाणे जीवति पूर्वेषां ततः पूर्वेषांत्रयाणां एतच्च सुतस्य साधित्वेपिण्डपितृयज्ञस्य तदनन्तरंच पार्वणस्यावश्यकंकर्तव्यत्वात् । तस्यपितरि जीवति क्रियाप्रकारउक्तः ॥ २१९ ॥

(३) कुल्लूकः । अल्पिकेत्यन्नाल्पमात्रा अवयवभागाः पिण्डेषूपमानल्पभागान्पिण्डक्रमेणैव गृहीत्वा तेनैव पित्रादिब्राह्मणान्भोजनकाले भोजनात्पूर्वभोजयेत् । विधिवत्पिण्डानुष्ठानवत्पितरमुद्दिश्य यः पिण्डोदत्तस्तदवयवंपितृब्राह्मणं भोजयेत् । एवंपितामहप्रपितामहपिण्डयोरपि ॥ २१९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच पिण्डेभ्यस्तेभ्यः । अल्पिकांमात्रां किंचित् । आशयेत् भोजयेत् ॥ २१९ ॥

(५) नन्दनः । मात्रामंशान् ॥ २१९ ॥

(६) रामचन्द्रः । पिण्डेभ्यः पिण्डसकाशेभ्योल्पिकांमात्रामन्त्रसमादाय यथानुपूर्वशः तानेवाभ्यर्चितानेव विप्रान् विधिवत्पूर्वमाशयेत् । भोजयेत् इत्यर्थः ॥ २१९ ॥

ध्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत् ॥ विप्रवद्वापि तंश्राद्धे स्वकंपितरमाशयेत् ॥ २२० ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तंपितृभ्यःपिण्डान्निर्वपेदिति कएतेपितरोनामनैकार्थोहिपितृशब्दोजनयितरिवर्तते जनकः पितेतिसंबन्धिशब्दोद्दिश्यते । पूर्वप्रमीताःपित्रादयोन्येचसंबन्धिनःप्रेताःपितरुच्यन्ते । तथाच नमोवः पितरइत्यादिमन्त्राबहुवचनान्ताः समर्थनिगदाभवन्ति । अतएवस्त्रीश्राद्धेनोक्षन्ते । नमस्तेमातर्नमस्तेपितामहीत्यादिनक्रियते । अतएकोद्दिष्टेसंख्योहःक्रियते नप्रातिपदिकोहः । तथाचसूत्रकारः । एकवचनानुहतेत्यादि । नमस्तेपितरित्येवमूहः क्रियते । योभ्रातुःपितामहादेर्वाएकोद्दिष्टं करोति सचैवमूहति । नमस्तेपितामह नमस्तेपितृव्येत्यादि । पितृव्यादीनामनपत्यानांश्राद्धंविहितं । योयतआददीत सतस्मैदद्यादितिदेवंताविशेषवचनोप्यस्तिपितृशब्दः । कूटस्थानित्यार्थेवर्तते निरुक्तकारोहिदैवतमध्यस्थानपितृनुसमामनति । मरुतःरुद्राक्षभृतःपितरइति । एवमनेकार्थेपितृशब्देविशेषावधारणार्थमाह ध्रियमाणेजीवति पितरिसति पूर्वेषापितामहप्रपितामहतत्पितृणांनिर्वपेन्नयाणां बहुवचननिर्देशात् । तथाचगृह्ये येभ्यःपितादद्यात्तेभ्यः पुत्रोदद्यात्पितापुत्रौचेदाहिताश्रीस्यातामिति । ननुच न चतुर्थेपिण्डो गच्छतीत्याहुः सत्यंनैवाश्रयतुर्थः पिण्डोदीयते । पक्षान्तरमाह विप्रवद्वायथाब्राह्मणनिमन्त्रणापूर्वकंब्रह्मचारिणोनिषमवंतश्चपूज्यन्तेतथैवजीवत्पितृकेणपिताभोजनीयःश्राद्धं श्राद्धार्थमन्त्रश्राद्धं । अत्रचपितृत्वमेव भोज्यत्वेकारणं नजातिगुणावपेक्ष्यौ । एवंसाहुः पितृप्रीत्यर्थंश्राद्धं । तत्रमृतस्यप्रीतौकर्तव्यायांकोजीवतिपितरिभावोयेनासौनभोजयेत् । स्वकमित्यनुवादः संबन्धिशब्दत्वादेर्वासिद्धेः । भोजनमत्रपितृभ्योहितंपिण्डनिर्वपणंतुदर्भेषुपितृणांकर्तव्यमेतत्तद्विरोधात् । यदिहिपात्रस्थानीयादर्भास्तदाजीवतःपितुःस्वाम्योत्पत्तौअल्पिकांमात्रामाशयेदिति नयुज्यते । जीवतोहित्वमिच्छाविनियोज्यं नच तस्मिन्पिण्डेअनादिदानमुपपद्यते अर्धजरतीयप्रसङ्गात् । नह्यत्राज्जनादिसंस्कृतेन पितुःकिंचित्प्रयोजनमस्ति तस्माददृष्टार्थमज्जनादिदानं । अज्जनादिरहितंतु कदाचिदात्मनःपितुःपरस्यवा भोजनयोग्यंभवतीत्येवमर्धजरतीयं । तस्मादस्मिन्पक्षेपिण्डनिर्वपणंद्वयोः पितामहप्रपितामहयोः । गृहकारास्तुस्मरन्ति जीवत्पितृकस्यनपिण्डपितृयज्ञोनश्राद्धंकिंतर्हिअनारम्भएवतस्यकर्मणोहोमान्ततावा ॥ २२० ॥

(४) सर्वज्ञनारायणः । विप्रवदिति । अत्र पक्षे पितृस्थाने पितृपितरमुपवेशयेतरयोरर्थे द्वौ विप्रवपुपवेशयेत् । तयोरेव पितर्यपि सर्वमर्घ्यादि विदध्यादित्यर्थः ॥ २२० ॥

(३) कुल्लूकः । ध्रियमाणे जीवति पितरि मृतानांपितामहादित्रयाणांश्राद्धंकर्तव्यम् । अथवा पितृविप्रस्थाने तमेव स्वपितरंभोजयेत् । पितामहप्रपितामहयोश्च ब्राह्मणौ भोजयेत्पिण्डद्वयंच दद्यात् ॥ २२० ॥

(४) राघवानन्दः । ध्रियमाणे जीवति । पूर्वेषां वृद्धप्रपितामहस्य पितामहप्रपितामहयोःब्राह्मणद्वयंचकुर्यात् । पितृस्थाने स्वकंपितरमित्यन्वयः ॥ २२० ॥

(५) नन्दनः । जीवति पितरि पिण्डनिवापः कथं कर्तव्य इत्यपेक्षायामाह । ध्रियमाण इति ध्रियमाणे जीवति । पितृशब्दः पितामहप्रपितामहयोरप्युपलक्षणम् । पूर्वेषामेव येभ्यः पिता दद्यात्तेषामेवेत्यर्थः । निर्वपेत्पिण्डान् । कल्पान्तरमुत्तरार्धेनोक्तम् । विप्रवन्निमस्त्रितविप्रवत् ॥ २२० ॥

(६) रामचन्द्रः । जीवत्पितृकं प्रत्याह ध्रियमाण इति । पितरि ध्रियमाणे जीवति सति पूर्वेषां पितृणां पिण्डान्निर्वपेत् दद्यात् । आभ्युदयिकश्राद्धे तस्वकंपितरविप्रवद्भोजयेद्वा । येभ्य एव पिता दद्यात्तेभ्यो दद्यात्स्वयं सुत इति न्यायात् २२०

पिता यस्य निवृत्तः स्याज्जीवेच्चापि पितामहः ॥ पितुः सनामं सङ्कीर्त्य कीर्तयेत्पिता-

महम् ॥ २२१ ॥

(१) मेधातिथिः । पितुर्नामसंकीर्तनेन तदीयावाहनपिण्डदानब्राह्मणभोजनानिलक्ष्यन्ते । कीर्तयेत्प्रपितामहं । जीवतेपितामहायनदद्यात् । किं तर्हिततः पूर्वाभ्यां पितुः पितृभ्यो निपृणीयादिति स्मरन्ति ॥ २२१ ॥

(१) सर्वज्ञनारायणः । निवृत्तो मृतः । जीवेद्वापीति वाशब्दश्चार्थः कीर्तयेत् । प्रपितामहं प्रपितामहनाम कीर्तयेत् । नामकीर्तनेन श्राद्धं प्रवर्तयेदित्युक्तं भवति ॥ २२१ ॥

(३) कुड्मूकः । नामकीर्तनमत्र श्राद्धोपलक्षणार्थः । पितृजीवनापेक्षोऽयं वाशब्दः । यस्य पुनः पिता मृतः स्यात्पितामहे जीवति सपितृप्रपितामहयोः श्राद्धं कुर्यात् । गोविन्दराजस्तु । यस्य पितृप्रपितामहौ मृतौ स्यातां सपित्रे पिण्डनिधाय पितामहात्परं द्वाभ्यां दद्यादिति विष्णुवचनात् प्रपितामहतत्पितृभ्यां दद्यादिति व्याख्यातवान् ॥ २२१ ॥

(४) राघवानन्दः । यस्य पिता वृत्तो मृतः पितामहश्च जीवति सपितृप्रपितामहयोः श्राद्धं कुर्यात् ॥ २२१ ॥

(५) नन्दनः । वृत्तो मृतः ॥ २२१ ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्य पिता वृत्तः स्यात् मृतः स्यात् । पितामहो जीवेद्वा ॥ २२१ ॥

पितामहो वा तच्छ्राद्धं भुञ्जीतेत्यब्रवीन्मनुः ॥ कामं वा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत् ॥ २२२ ॥

(१) मेधातिथिः । यथा जीवत्पिता भोज्यते तद्वत्पितामहोऽपि अनुज्ञां पितामहात्प्राप्य समाचरेत् । स्वयं च परतोऽहोर्दद्यात् प्रपितामहाय एकस्मा एव वा एष कामं स्वयमित्यनयोरर्थः ॥ २२२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । जीवत्पितुः पितृभोजनवत् । तच्छ्राद्धं पितामहश्राद्धार्थमन्नादि । कामं वेति पितामहानुज्ञया स्वयंपौत्रः समाचरेत् त्रिपुरुषं श्राद्धमाचरेत् । तेन पितुः प्रपितामहवृद्धप्रपितामहयोश्च श्राद्धं कुर्यादिति लभ्यते ॥ २२२ ॥

(३) कुड्मूकः । यथा जीवत्पिता भोज्यस्तथा पितामहोऽपि पितामहब्राह्मणस्थाने भोज्यः । पितृप्रपितामहयोश्च ब्राह्मणभोजनं पिण्डदानं च कुर्यात् । यथा वा जीवता पितामहेन त्वमेव यथारुचि कुर्विति दत्तानुज्ञः स्वरुच्या पितामहं वा भोजयेत् । पितृप्रपितामहयोर्वा श्राद्धद्वयं कुर्यादिति विष्णुवचनात्पितृप्रपितामहवृद्धप्रपितामहानां श्राद्धत्रयं कुर्यात् ॥ २२२ ॥

(४) राघवानन्दः । श्राद्धं पितामहोऽपेक्षकं । पितामह एव भुञ्जीत । समनुज्ञातः पितामहेन दत्तानुज्ञः स्वयंवृद्धप्रपितामहान्तानां दद्यात् । यस्य पितृप्रपितामहौ मृतौ सपित्रे पिण्डनिधाय पितामहात्परं द्वाभ्यां दद्यादिति विष्णुवचनात् प्रपितामहतत्पितृभ्यां दद्यात् ॥ २२२ ॥

(२२२) समनुज्ञातः = तदनुज्ञातः (ल, ब,)

(५) ननन्दः । पितुः पितामहस्य वा भोजनपक्षेद्वयोरेव पिण्डदानं पिण्डदानस्थाने भोजनविधानात् । पितुः स्वनामसंकीर्त्यकीर्तयेत्पितामहमित्यस्मिन्पक्षे तु प्रपितामहपित्रेपिण्डं दद्यात् कुतः त्रिषुपिण्डः प्रवर्तत इति नियमात् । पक्षान्तरमुत्तरार्धेनोक्तम् । तदनुज्ञातः पितामहानुज्ञातः । युक्तसमाचरणं चात्र पितामहस्यापि पिण्डदानं समस्तपिण्डविलोपो वा कुतः पक्षान्तरस्यासंभवात् ॥ २२२ ॥

(६) रामचन्द्रः । तत्प्राग्दे पितामहो वा भुञ्जीत इति मनुरब्रवीत् । वापक्षान्तरे । तदनुज्ञातः पितृपितामहाभ्यामनुज्ञातः कामं स्वयमेव समाचरेत् ॥ २२२ ॥

तेषां दत्त्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकम् ॥ तत्पिण्डाग्रं प्रयच्छेत् स्वधैषामस्त्विति ब्रुवन् ॥ २२३ ॥

(१) मेधातिथिः । यदुक्तं पिण्डेभ्यः स्वल्पिकां मात्रामाशयेदितितस्यायं कालविधिर्देशविधिश्च । अग्रदेशात्पिण्डस्य मात्रा आदातव्या । दर्भान्तिलोदकं च दत्त्वा तदनन्तरं पिण्डभागं प्रयच्छेत् स्वधैषामिति ब्रुवन् । एषामपि सर्वनाम्नाविशेषनामानि गृह्यन्ते एवं च संबन्धः क्रियते तेषां यानि नामानि तान्युच्चार्य स्वधास्त्विति ब्रूयादतः स्वधाशब्दयोगे चतुर्थ्या निर्देशः कर्तव्यः स्वधादेव दत्तायास्तु स्वधायज्ञदत्तायास्त्विति । एवं व्याख्यायमाने शास्त्रान्तरविरोधो न भवति ॥ २२३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रकृतं कर्मक्रममाह तेषां दत्त्वेति । सपवित्रं सकुशं तिलोदकं दत्त्वेति पिण्डदान इव तदवयवप्रतिपादनाङ्गपाणाववनेजनं विहितम् । पिण्डाग्रं पिण्डेभ्यो लपमात्रा । एषामिति संक्षिप्योक्तम् । पितुः पितामहस्येत्यादितु पृथगेव कार्यम् । वचनाच्च स्वधायोगेपि षष्ठी २२३ ॥

(३) कुल्लूकः । पिण्डेभ्यस्वल्पिकां मात्रामिति यदुक्तं तस्यायं कालविधिः प्रदेयविधिश्च तेषां ब्राह्मणानां हस्तेषु सदर्थतिलोदकं दत्त्वा तदिति पूर्वनिर्दिष्टं पिण्डाग्रं पित्रे स्वधास्त्वित्येवमादि ब्रुवन् पित्रादिब्राह्मणेभ्यस्त्रिभ्यः क्रमेण दद्यात् ॥ २२३ ॥

(५) राघवानन्दः । पिण्डेभ्यः स्वल्पिकां मात्रामिति यदुक्तं तस्य कालविधिस्तत्पिण्डाग्रमिति । स्वधैषां पित्रे स्वधास्तु । पितामहाय स्वधास्त्वित्यादि ॥ २२३ ॥

(५) नन्दनः । विधिवदाशयेदित्युक्तम् कः पुनरस्य विधिरित्याह तेषामिति । तेषाम् एतेषां पितृणाम् ॥ २२३ ॥

(६) रामचन्द्रः । तेषां ब्राह्मणानां हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकं दत्त्वा पिण्डाग्रं पिण्डशेषं एषां पितृणां स्वधास्त्विति ब्रुवन्प्रक्षिपेत् दद्यात् ॥ २२३ ॥

पाणिभ्यां तूपसंगृह्य स्वयमन्नस्य वर्द्धितम् ॥ विप्रान्तिके पितृन् ध्यायन् शनकैरुपनिक्षि

पेत् ॥ २२४ ॥

(१) मेधातिथिः । उभाभ्यां हस्ताभ्यां स्वयंगृहीत्वा अन्नस्य वर्द्धितं अन्नेन पूर्णं भाजनं विप्रान्तिकेरसवत्यगारादीनां यत्र ब्राह्मणा भोज्यन्ते तस्मिन्देशे उपनिक्षिपेत् । ब्राह्मणानां समीपे स्थापयेत् । अन्येतु व्याचक्षते वर्द्धितं परिवर्तुलमन्नमुच्यते तद्विप्रान्तिके पितृन् ध्यायन् तुभ्यमिदमिति ध्यात्वानि क्षिपेद्यथा विकिरं तदयुक्तं उपनीय सर्वपरिवेषयेदिति वक्ष्यति अतः परिवेषणार्थं प्रदेशान्तरादानीय तस्योपनिक्षेपोऽयम् ॥ २४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वर्द्धितं पात्रान्तरे कृत्वा पत्न्यादिभिरानीतम् । विप्रान्तिके तत्पात्रसमीपे उपरि निक्षिपेत् स्थापयेत् ॥ २२४ ॥

(३) कुड्डूकः । अन्नस्येति तृतीयाथैषष्टी । वर्धितपूर्णपिठरादिपात्रं स्वयंपाणिभ्यांगृहीत्वा पितृंश्च चिन्तयन्नरसवत्य-
गारादानीय ब्राह्मणानांसमीपे परिवेषणार्थमत्वरया स्थापयेत् ॥ २२४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच पाणिभ्यामिति । अन्नस्य च वर्धितं अन्नपूर्णपात्रं पिठरादि । पाकगृहादानीय परि-
वेषणार्थं स्थापयेत् ॥ २२४ ॥

(५) नन्दनः । अथपरिवेषणप्रकारमाह पाणिभ्यामिति । वर्धितं राशीकृतम् । शनकैरत्वरया ॥ २२४ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्वयं अन्नस्य वर्धितं । अन्नपूर्णं भाजनं स्वयंपाणिभ्यामुपसंगृह्य विप्रान्तिके समीपे पितृन्
भ्यामन् शनकैरुपनिक्षिपेत् स्थापयेत् । यथाऽविकृतम् ॥ २२४ ॥

उभयोर्हस्तयोर्मुक्तं यदन्नमुपनीयते ॥ तद्विप्रलुम्पन्त्यसुराः सहसा दुष्टचेतसः ॥ २२५ ॥

(१) मेघातिथिः । द्वाभ्यांहस्ताभ्यामन्नमुपनेतव्यं परिवेष्टव्यं नचैकेनेति । परिवेषणमुपनयनमेव । ततस्तत्राप्ययमे-
वधर्मः पूर्वोक्तः तस्यार्थवादः । उभाभ्यांहस्ताभ्यां मुक्तं वर्जितमपरिगृहीतं यदन्नमुपनीयते परिवेषणार्थं तद्विप्रलुम्पन्ति
विनाशयन्त्यसुराः । सहसाबलेन दुष्टचेतसः पापात्मानः असुरादेव द्विषः । उभयोरित्यधिकरणे सप्तमी । मुक्तमारुष्टमस्थितं भव-
न्ति च प्रतिषेधोपसन्धानेपिकारकविभक्तयः । ग्रामानागच्छत्यासनेनोपविशति त्रिरात्रमुपवसति वसेरर्थस्येति ॥ २२५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उभयोर्हस्तयोर्मुक्ताभ्यांहस्ताभ्यां । तस्मान्नैकेन पाणिनोपनेयमित्यर्थः ॥ २२५ ॥

(३) कुड्डूकः । अधिकरणसप्तमीयं । उभयोः करयोर्मुक्तमस्थितं यदन्नं ब्राह्मणान्तिकमानीयते तदसुरादुष्टबुद्धय-
आच्छिन्दन्ति । तस्मान्नैकहस्तेनानीय परिवेष्टव्यम् ॥ २२५ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्परिवेषणनैकहस्तेनेत्याह उभयोरिति । हस्तयोर्मुक्तं हस्ताभ्यांवियुक्तं एकेन हस्तेन
दीयमानम् विलुम्पन्ति हरन्ति ॥ २२५ ॥

(५) नन्दनः । यतएवं तस्मादेकहस्तेनान्नोपनेयमिति ॥ २२५ ॥

(६) रामचन्द्रः । उभयोर्द्वाभ्यांहस्ताभ्यामुक्तं वर्जितमपरिगृहीतं यदन्नमुपनीयते परिवेषणान्तं तदन्नमसुरा
विप्रलुम्पन्ति सहसा दुष्टचेतसः ॥ २२५ ॥

गुणांश्च सूपशाकाद्यान् पयोदधिघृतं मधु ॥ विन्यसेत्पयतः पूर्वं भूमावेव समाहितः ॥ २२६ ॥

(१) मेघातिथिः । गुणान्व्यञ्जनानि एषामेतत्प्रदर्शनार्थमुत्तरः प्रपञ्चः । सूपशाकाद्यान् विन्यसेद्भूमावेवोपयच्छेत
न दारुमयेफलकादौ ॥ २२६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गुणान् व्यञ्जनानि । सूपशब्दः शाकेतरव्यञ्जनपरोत्र ॥ २२६ ॥

(३) कुड्डूकः । गुणान्व्यञ्जनानि अन्नापेक्षयाऽप्राधान्याद्गुणयुक्तान् वा । सूपशाकाद्यान्पयतः शुचिः समाहितो-
ऽन्नन्यमनाः सम्यग्यथा न विशीर्यन्ति तथा भूमावेव स्वपात्रस्थाने स्थापयेन् दारुफलकादौ ॥ २२६ ॥

(५) राघवानन्दः । किंच उपकरणानि पात्रान्तरे शनैर्भूमावेव देयानीत्याह गुणांश्चेति त्रिभिः । अन्नेरुचिसाध-
नं गुणानुपकरणादीनि कालशाकमांसादीनि ॥ २२६ ॥

(५) नन्दनः । गुणान्व्यञ्जनानि ॥ २२६ ॥

(६) रामचन्द्रः । गुणान्व्यञ्जनानि च पुनः शाकाद्यान् दारुमयफलकादौ भूमावेव समाहितः सन्विन्यसेव स्थापयेत् । भूमौ स्थापयित्वा परिवेषयेदित्यर्थः ॥ २२६ ॥

भक्ष्यं भोज्यं च विविधं मूलानि च फलानि च । तृद्यानि चैव मांसानि पानानि सुरभीणि च ॥ २२७ ॥

(१) मेधातिथिः । धानाशष्कुल्यादयो भक्ष्याः खरविशदमभ्यवहरणीयं हि भक्ष्यमित्युच्यते । भोज्यं घृतपूपादि ॥ २२७ ॥

(१) सर्वज्ञानारायणः । भक्ष्यं लड्डुकादि । भोज्यं मोदनादि । पानानि पेयानि ॥ २२७ ॥

(३) कुल्लूकः । भक्ष्यं खरविशदमभ्यवहरणीयं मोदकादि । भोज्यं पायसादि । नानाप्रकारफलमूलानि तृद्यस्य प्रियाणि मांसानि पानानि सुगन्धीनि भूमावेव विन्यसेदिति पूर्वेण संबन्धः ॥ २२७ ॥

(४) राघवानन्दः । भक्ष्यं धानाशष्कुल्यादि भोज्यं घृतपूपादि । तृद्यानि मनोज्ञानि दृष्ट्या । सुरभीणि सुगन्धीनि ॥ २२७ ॥

(५) नन्दनः । भक्ष्यादीन्येतानि स्वातन्त्र्येण भोज्यानि नोपदेशत्वेन ॥ २२७ ॥

(६) रामचन्द्रः । तृद्यानि प्रियाणि पानानि सुरभीणि कर्पूरादिसंयुतानि ॥ २२७ ॥

उपनीय तु तत्सर्वं शनकैः सुसमाहितः ॥ परिवेषयेत् प्रयतो गुणान्सर्वान् प्रचोदयन् ॥ २२८ ॥

(१) मेधातिथिः । उपनीयविप्रान्तिके सर्वमेतद्द्वौक्यित्वा ततः परिवेषयेत् । भुज्यधिकरणोपादानमावर्जनं । भुज्यान्तस्य परिवेषणं यद्यप्यन्तिकदेशआपेक्षिकः तथापि तेषामन्तिके निधातव्यं । यथा भुज्यानामुच्छेषणेन न संसृज्यते । गुणान् भक्ष्यभोज्यादेर्द्रव्यस्य ये गुणा अम्लत्वादयस्तान् प्रणोदयमान इदमम्लमिदमधुरमिदं स्वाण्डवमित्येवमावेदिते तेषां यद्गोचरे तत्तद्व्यादितिवक्ष्यमाणेन संबन्धः । शनकैरित्याद्यनुवादः श्लोकपूरणार्थः ॥ २२८ ॥

(१) सर्वज्ञानारायणः । उपनीयैकत्र समीपेव स्थाप्य परिवेषयेत् भोजनपात्रे दद्यात् । गुणान्व्यञ्जनानि प्रचोदयन् । भोक्तुं द्विजान् प्रेरयन् ॥ २२८ ॥

(३) कुल्लूकः । एतत्सर्वमन्नादिकं ब्राह्मणसमीपमानीय प्रयतः शुचिः अनन्यमनाः क्रमेण परिवेषयेत् इदमधुरमिदमम्लमित्येवंमाधुर्यादिगुणान्कथयन् ॥ २२८ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रचोदयन् इदमधुरमिदं कीदृगिति ख्यापयन् प्रयतोऽप्रमत्तः ॥ २२८ ॥

(५) नन्दनः । प्रचोदयन् भुज्यानेषु सूक्ष्माकादीन् गुणान् प्रेरयन् प्रयच्छन्ति यावत् । परिवेषयेत् भोजयेत् ॥ २२८ ॥

(६) रामचन्द्रः । तत्सर्वं भक्ष्यं भोज्यं उपनीयानीय समाहितः सन् परिवेषयेत् । प्रयतः सर्वान् ब्राह्मणान् गुणान्व्यञ्जनानि द्रव्यस्यैव गुणा अल्पत्वादयस्तान् वचनेन प्रणोदयन् प्रेरयन् ॥ २२८ ॥

नास्त्रमापातयेज्जातु न कुप्येन्नानृतं वदेत् ॥ न पादेन स्पृशेदन्नं न चैतदवधूनयेत् ॥ २२९ ॥

(१) मेधातिथिः । अस्त्रं अश्वरोदनं तन्पातयेन्न कुर्यात् । प्रायेण प्रेतश्चाद्वादाविष्टविद्योगजेन दुःखानुस्मरणेनाश्रुपातो जायते तस्य निषेधः । आनन्दाश्रुणस्त्वकस्मात्पततो न दोषः । न जातुकदाचिदप्यश्रुविमोचनं कुर्यात् । न कुप्येत्क्रोधं न गृणीयात् । अनृतवदनस्य पुरुषार्थतयानिषिद्धस्य कर्मार्थोपनिषेधः । न पादेन स्पृशेदन्नमुच्छिष्टमनुच्छिष्टं च । न चैतदन्नमवधूनयेदवकम्पयेत् । हस्तादिनोत्क्षिप्य पुनर्न विक्षिपेत् । अन्येतुद्याचक्षते वाससाधूल्याद्यपनयनार्थं यदवधूननं न तदन्नस्योपरि कर्तव्यम् ॥ २२९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नास्मापातयेदित्यादयोभोक्तुर्नियमाः । असमश्रु । नचैतदवधूनयेत् पात्रस्थंहस्तेनोद्धृत्य तत्र न पुनःपुनः क्षिपेत् ॥ २२९ ॥

(३) कुहूकः । रोदनक्रोधमृषाभाषणानि न कुर्यात् । पादेन चालं न स्पृशेत् । न चोत्क्षिप्योत्क्षिप्यान्पात्रे क्षिपेत् । पुरुषार्थतया प्रतिषिद्धयोरपि क्रोधानृतयोः श्राद्धाङ्गत्वज्ञापनार्थोऽयंनिषेधः ॥ २२९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचैतत्पञ्चकंन कुर्यादित्याह नेति । तदन्नं । अवधूनयेत् । उत्क्षिप्योत्क्षिप्य न स्थापयेत् ॥ २२९ ॥

(५) नन्दनः । पित्रादिस्मरणेन नास्मापातयेत् । परिवेषयिताऽन्नंनावधूनयेन्नावजानीयान्नावकिरेद्वा ॥ २२९ ॥

(६) रामचन्द्रः । श्राद्धकर्ता जातुकदाचित् अश्रुनपातयेत् रोदनं नकुर्यात् । तथा न कुप्येन्न क्रोधंकुर्यात् अनृतंन वेदेत् अन्नंपादेन नस्पृशेत् । एवमन्नंनावधूनयेत् तत्र हस्तंवा न कम्पयेत् ॥ २२९ ॥

असंगमयति प्रेतान्कोपोरीनृतंशुनः ॥ पादस्पर्शस्तु रक्षांसि दुष्कृतीनवधूननम् ॥ २३० ॥

(१) मेधातिथिः । अस्यार्थवादः । अश्रुविमोचनक्रियमाणंप्रेतान्गमयति प्रापयति श्राद्धं । नपितृणामुपकारकंभवति प्रेताश्चात्रपिशाचवद्भूतविशेषाविवक्षिताः नत्वसपिण्डीकृताःसम्प्रतिमृताः । रक्षांसिभूतप्रेतवत्अवगन्तव्यानि । अरयः प्रसिद्धाः तथादुष्कृतीन्दुष्कृताचरणान्पातकिनः ॥ २३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रेतान्पिशाचान् । अरीन्यजमानस्य मृतान्शत्रून् । दुष्कृतीन्दुष्कृतीन्पितृणांरक्षिणः ॥ २३० ॥

(३) कुहूकः । अश्रुक्रियमाणंप्रेतान्भूतवेषान्श्राद्धान्प्रापयति न पितृणामुपकारकंभवति । क्रोधः शत्रून् । मृषावादः कुकुरान् । पादस्पर्शोन्नस्य राक्षसान् । अवधूननंपापकारिणः । तस्मान्न रोदनादि कुर्यात् ॥ २३० ॥

(४) राघवानन्दः । न चाश्रित्युक्तं तत्करणेदोषमाह असमिति । असंचक्षुर्जलं क्रियमाणमिति शेषः । गमयति श्राद्धीयद्रव्यं प्रेतादिभ्यःप्रापयति । एवमुत्तरत्र । अरीन् शत्रून् दुष्कृतीन्पितृणांरक्षिणः । श्राद्धीयद्रव्यंपितृणामुपकारकमितिवार्थः । तस्माद्धर्षाश्रूणि न कुर्यादिति भावः ॥ २३० ॥

(५) नन्दनः । असंबाष्पः । तदन्नंप्रेतान्पिशाचान्गमयति न पितृन् ॥ २३० ॥

(६) रामचन्द्रः । तत्र दोषमाह गमयतीति । अश्रु प्रेतान्प्रत्यन्नंगमयति प्रापयति कोपोरीन्प्रत्यन्नंगमयति प्रापयति । अवधूननंतिरस्करणंवाअवधूननं वस्त्रव्यञ्जनेन वा अवधूननंदुष्कृतीन्पितृणां गमयति प्रापयति ॥ २३० ॥

यद्यद्रोचेत विप्रेभ्यस्तत्तद्दद्यादमत्सरः ॥ ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात्पितृणामेतदीप्सितम् ॥ २३१ ॥

(१) मेधातिथिः । यद्यदन्नंव्यञ्जनंनपानंचाभिलषेयुस्तत्तदमत्सरः अलुब्धोदद्यात् मत्सरइतिलोभनाम । रोचेत प्रीतिंजनयेत् । ब्रह्मोद्याब्रह्मणिवेदे याउद्यन्ते कथ्यन्ते ताब्रह्मोद्या देवासुरयुद्धं वृत्रवधःसरमादृत्यमित्याद्याः अथवा कःस्विदेकाकीचरतीत्यादि । ब्रह्मोद्यंचकथाइतिवापाठः तत्प्रधानमन्त्रार्थनिरूपणाद्याःकथाःसंलापालौकिकैः शब्दैः पितृणामेतदीप्सितमभिलषितमित्यर्थवादः ॥ २३१ ॥

(१) सर्वज्ञनारायणः । अमत्सरोऽक्रोधः । ब्रह्मोद्या । आभ्यात्मिकीः कथादातैव कुर्यात् ॥ २३१ ॥

(३) कुल्लूकः । यद्यद्विप्राणामीप्सितंअन्नंव्यञ्जनादि तत्तदमत्सरोदद्यात् । परमात्मनिरूपणपराःकथाश्च कुर्यात् । यतः पितृणामेतदपेक्षितम् ॥ २३१ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रकृतमनुस्मरति यदिति । यच्छाकादिकं । अमत्सरः अयंबहुभोजीत्यादिमात्सर्यरहितः । ब्रह्मोद्याःपरमात्मनिरूपिकाः कथाः । भृगुर्वै वारुणिः । वरुणपितरं इत्यादिकाः ॥ २३१ ॥

(५) नन्दनः । अमत्सरोऽरूपणइति यावत् । ब्रह्मोद्यावेदप्रतिपाद्याः कथाः । कःस्विदेकाकीचरति सूर्यएकाकीचर-
तोत्याद्याः ॥ २३१ ॥

(६) रामचन्द्रः । यद्यत् अन्नंवा रसोवा रोचेत तत्तदमत्सरः सन्दद्यात् । ब्राह्मणाविदेयाःउच्यन्तेता ब्रह्मोद्याः
कथाःकुर्याच्छुभाःदेवासुरादियुद्धादि ब्रह्मेष्टवदन्ति । कश्चिदेकाकी चरति कउस्विज्जायते पुनः । किंस्विद्धिमस्य भेषजं ।
किंस्विदावपनमहदिति । प्रत्याह । सूर्यएकाकी चरति । चन्द्रमाजायते पुनः अग्निर्हिमस्य भेषजं । भूमिरावपनमहदि-
त्याद्याः कथाःपितृसूक्तानीत्यर्थः ॥ २३१ ॥

स्वाध्यायंश्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि ॥ आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि-
खिलानि च ॥ २३२ ॥

(१) मेधातिथिः । स्वाध्यायोवेदः । मन्वादियन्था धर्मशास्त्राणि । आख्यानानि सौपर्णमैत्रावरुणादीनि । बाह्व-
च्येपठ्यन्ते । इतिहासामहाभारतादयः । पुराणानि व्यासादिप्रणीतानि सृष्ट्यादिवर्णनरूपाणि । खिलानि श्रीसूक्त-
महानाम्निकादीनि ॥ २३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वाध्यायंवेदभागंपावमान्यादिमन्त्रान् । आख्यानानि ब्राह्मणभागस्थाःकथाः । इतिहा-
सोमहाभारतं । खिलानि तत्कालपठ्यमानशाखास्थवेदभागान् ॥ २३२ ॥

(३) कुल्लूकः । स्वाध्यायंवेदं । मानवादीनि धर्मशास्त्राणि । आख्यानानि सौपर्णमैत्रावरुणादीनि । इतिहासान्महा-
भारतादीन् । पुराणानि ब्रह्मपुराणादीनि । खिलानि श्रीसूक्तशिवसङ्कल्पादीनि । श्राद्धे ब्राह्मणाञ्छ्रावयेत् ॥ २३२ ॥

(४) राघवानन्दः । स्वाध्यायं उशन्हवै वाजश्रवसइत्यादिकरुवल्यादिकम् । धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि । आख्या-
नानि सौपर्णमैत्रावरुणानि । इतिहासान् महाभारतादीन् । खिलानि श्रीसूक्तशिवसङ्कल्पादीनि ॥ २३२ ॥

(५) नन्दनः । आख्यानानि कंसवधादीनि । इतिहासा महाभारतादयः । खिलानि हरिवंशादीनि ॥ २३२ ॥

(६) रामचन्द्रः । पित्र्यं स्वाध्यायं पित्र्यसूक्तं ब्राह्मणान् श्रावयेत् पितृसूक्तमाह । पितृभ्यःस्वधाविभ्यःस्वधानमः ।
पितामहेभ्यइत्यादि च पुनः धर्मशास्त्राणि श्रावयेत् ॥ २३२ ॥

हर्षयेद्ब्राह्मणांस्तुष्टोभोजयेच्च शनैः शनैः ॥ अन्नाद्येनासकृच्चैतान्गुणैश्च परिचोदयेत् ॥ २३३ ॥

(१) मेधातिथिः । सत्यपिनिमित्ते नत्वंदुःखंकेनचित्प्रकारेण दीर्घोच्छ्वासदिना प्रकटयेदपि दृष्टवत्स्यात्
ब्राह्मणान्हर्षयेत् । गीतादिनापरियुक्तेन अविरुद्धेनवा प्रसंगागतेनपरिहासेन स्वाध्यायेपठ्यमानेचिरंकश्चिदुद्वेजयेत् ।
तदाततोविरम्याख्यानकगीतादिनाचरमयेत् । शनैर्भोजयेत् । कतिचिद्वासाग्रहीतव्याहृतत्सम्यक्भोजनमित्येवमादिभिः
प्रियवचनैर्भोजयेत् । शनैर्नसंरंभेणब्रूयात् । अन्नाद्येनपायसादिना । गुणैश्चव्यञ्जनैर्दानार्थमुद्यतै रसवत्तयायोजयन्भोजना-

र्थमुत्साहयेत् । स्वाद्याइमाःशङ्कुल्यःसुरसेयंक्षीरिणीति पात्रस्थमेवमादिहस्तगृहीतकृत्वा पुरस्थितःपुनःपुनर्ब्रूयादित्येषाप-
रिनोदना ॥ २३३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्नाद्येनोदनेनाद्येन भक्तादिना । गुणैर्व्यञ्जकैः कथितैः प्रेरयेद्भोक्तुम् ॥ २३३ ॥

(३) कुल्लूकः । स्वयंदृष्टोभूत्वा प्रियवचनादिभिर्ब्राह्मणान् परितोषयेत् । अन्नंचात्वरया भोजयेत् । मिष्टान्नेन पाय-
सादिभिः पायसमिदंस्वादुमोदकोयंदृष्टोभूत्वागृह्यतामित्यादिगुणाभिधानैःपुनर्ब्राह्मणान्प्रेरयेत् ॥ २३३ ॥

(३) राघवानन्दः । अन्नाद्येन उक्तपायसाद्येन । गुणैरप्रधानैः परिकीर्तयेत् । मधुरादिगुणानितिशेषः ॥ २३३ ॥

(५) नन्दनः । परिचोदयेत् इदमन्नमयमुपदंशश्च । पुनरपि भवद्भिर्भोक्तव्यमितिवदेदित्यर्थः ॥ २३३ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणान्दुर्षयन् तुष्टःसन् । शनैःशनैर्भोजयेत् । अन्नाद्येनैतान्ब्राह्मणान् गुणैर्व्यञ्जनैःपरिवेषये-
त् ॥ २३३ ॥

व्रतस्थमपि दौहित्रं श्राद्धे यत्नेन भोजयेत् ॥ कुतपंचासने दद्यान्निलैश्च विकिरेन्महीम् ॥ २३४ ॥

(१) मेधातिथिः । अनुकल्पपक्षेदौहित्रस्ययत्नेनभोज्यतोच्यते । कुतपोऽजलोमसूत्रैःकम्बलाकारःपटः । उदीच्ये-
षुकम्बलइतिभसिद्धः । तंआसनंदद्यात् नदौहित्रपक्षे किंतिर्हिअन्यदापियतोवक्ष्यति त्रीणिश्राद्धेपवित्राणीति श्राद्धमात्र-
विषयत्वात् । तिलैश्चावकिरेत् । तिलांश्चमह्यंभुविनिक्षिपेत् ॥ २३४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । व्रतस्थं ब्रह्मचारिणं । एतेनानुकल्पमध्ये दौहित्रस्य श्रेष्ठतोक्ता । अपीत्यरुचौ । तेन
गृहस्थसंभवे ब्रह्मचारिणाममुख्यता दर्शिता । कुतपोनेपालकम्बलः ॥ २३४ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्रह्मचारिणमपि दौहित्रंश्राद्धे प्रयत्नतोभोजयेत् । अपिशब्दादब्रह्मचारिणमपिआनुकल्पिकमध्यप-
ठितस्यापि ब्रह्मचारिणोयत्नवचनाच्छ्रेष्ठत्वंकथयति । नेपालकबलंचासने दद्यात् दौहित्रमन्तरेणापि तिलांश्चश्राद्धभूमौवि-
किरेत् ॥ २३४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच व्रतस्थमिति । व्रतस्थं ब्रह्मचारिणं अपिशब्दोऽन्यसंग्रहार्थः । तेन स्वस्तीयाविक्रजामातृ-
श्वशुरमातुलाः । त्रीणांचिकेतदौहित्रशिष्यसम्बन्धिवान्धवा इतियाज्ञवल्क्येनोक्तेः । कुतपनेपालकम्बलं । विकिरेत् दिक्षु
विक्षिपेत् ॥ २३४ ॥

(६) रामचन्द्रः । कुतपं नेपालकमासनंदद्यात् तिलैश्च महींविकिरेत् ॥ २३४ ॥

त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः ॥ त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधम-

त्वराम् ॥ २३५ ॥

(१) मेधातिथिः । पवित्राणिपावनानिसाधुत्वसंपादकानि आद्यश्लोकार्थानुवादः । उत्तरस्तुविधेयार्थः । शौच-
मशुचिसंसर्गपरिहारः । प्रमादाद्वाजातस्याशुचित्वस्यमृद्वार्यादिना यथाशास्त्रंशुद्धिः । अत्वरंविश्रब्धंभोजनाद्यनुष्ठानम् ॥ २३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उक्तस्यप्रपञ्चःत्रीणीति । प्रशंसन्ति अङ्गतया प्रशस्तानीति वदन्ति शौचं शुचित्वं कर्तृ-
भोक्तृद्रव्याणाम् ॥ २३५ ॥

(३) कुल्लूकः । पूर्वोक्तान्येव त्रीणि दौहित्रादीनि श्राद्धे पवित्राणीति ज्ञाप्यन्ते त्रीणि च शौचादीनि प्रशंस-
न्ति ॥ २३५ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव प्रशस्तान्याह त्रीणीति । अत्र श्राद्धे अत्वर विशेषतःकर्तुम् ॥ २३५ ॥

(५) नन्दनः । कर्तव्यान्तरमाह व्रतस्थमिति । व्रतस्थं ब्रह्मचारिणम् । नायन्निष्ठाचिकेतादीनामिव दौहित्रस्य भोजने विधिः किंतु श्राद्धाङ्गत्वेन कुतः पात्रनियमप्रकरणे दौहित्रस्यानुकल्पत्ववचनादुत्तरयोर्विध्योः श्राद्धाङ्गत्वावगमाच्च । कुतपदंभम् ॥ २३५ ॥

(६) रामचन्द्रः । कुतुपः कुतुपकालोवा । दौहित्रः खड्गपात्रः दौहित्रोवा । दौहित्रमिति पाठः । दौहित्रं तोषयेत् त्रीण्यत्र श्राद्धे प्रशंसन्ति । शौचं मृद्वारिणा । अक्रोधनं । अत्वरामशीघ्रं त्वराराहित्यमित्यर्थः ॥ २३५ ॥

अत्युष्णं सर्वमन्नं स्याद्भुञ्जीरं स्ते च वाग्यताः ॥ न च द्विजातयो ब्रूयुर्दात्रा पृष्टाहविर्गुणान् ॥ २३६ ॥

(१) मेधातिथिः । उष्णमेवात्युष्णं अतिगतउष्णमिति प्रपतितपर्णः प्रपर्ण इति यथा सर्वमन्नं गुणाश्च । यस्योष्णस्य भोजनमुचितं तत्रैवेदमुष्णताविधानं न तु दध्योदनादियत्तदुष्णं अप्रीतिकरं व्याधिजनकं च । तत्र हर्षयेद्ब्राह्मणानिति विरुध्यते । उष्णभोजनविधानाच्च न सकृत्सर्वमन्नं परिवेष्टव्यं । तथा हि बहु भोजिनः शीतं भवेदन्नं तस्माद्भुक्ते पुनर्दद्यान्न च भुञ्जानेभ्य उच्छिष्टदानत्वात् दानमयुक्तमिति वाच्यं । भोजनविधौ रविरूप एव । आतृमेर्भोजयितुं व्यापारो न स त्रौदनादिप्रतिग्रहात्तया संबध्यते । अतएव न तत्र प्रतिग्रहमन्त्रोदनादिषु प्रयुज्यते । वाग्यताः वाक् यता नियमितायैः छान्दसः परनिपातः वाचावायताः साधनं कृते तिसमासः । कर्तृवचनश्चतुर्थादयतशब्दः व्यापारनिषेधो नियमनं वाचश्च व्यापारः शब्दोच्चारणं तत्प्रतिषेधः क्रियते व्यक्ताव्यक्तशब्दोच्चारणनकर्तव्यं हविषोगुणानचवक्तव्याः । इष्टैः सद्भिर्भुञ्जानैर्दात्रेण विवक्षितमिति स्मरन्ति । ननु वाङ्मयमादेवैतत्सिद्धं सत्यमपि भयादिनापि न कर्तव्यं ब्रूविः प्रतिपादने वर्तते । ब्रूयुरिति न शब्दोच्चारणमेव ॥ २३६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्युष्णमभिमतोऽंशं हविषोगुणान मिष्टत्वादीन् दात्रादृष्टा अपि ॥ २३६ ॥

(३) कुड्डूकः । उष्णमेवात्युष्णं यस्योष्णस्यान्नादेर्भोजनमुचितं तदुष्णं दद्यात् न तु फलाद्यपि अतएव शङ्कः । उष्णमन्नं द्विजातिभ्यः श्रद्धया विनिवेदयेत् अन्यत्र फलमूलेभ्यः पानकेभ्यश्च पण्डितः ॥ संयतवाचश्च ब्राह्मणा अश्रीयुः । किमिदं स्वाह्स्वादुवेति दात्राऽन्नादिगुणान् पृष्टां वक्त्राद्यभिनयेनापि न ब्रूयुः । वाग्यतस्यात्रैव विधानात् ॥ २३६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच अत्युष्णमिति । सर्वमन्नमुपकरणं चेति न ब्रूयुः । अभिनयेनापि न ज्ञापयेयुः वाग्यसा इति मौनस्य प्राप्तत्वात् ॥ २३६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अत्युष्णं कृष्णं सर्वमन्नं स्यात् । वाग्यताः भुञ्जीरन् दात्रा पृष्टान्हविर्गुणान् हविष्यान्नस्य गुणान् द्विजातयो न ब्रूयुः ॥ २३६ ॥

यावदुष्णं भवत्यन्नं यावदश्रन्ति वाग्यताः ॥ पितरस्तावदश्रन्ति यावन्नोक्ताहविर्गुणाः ॥ २३७ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्वविधेरर्थवादोऽयं । ऊष्मा औष्ण्यम् ॥ २३७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अस्य प्रपञ्चः । यावदुष्णेति । यावदुष्णमन्नमित्यर्थः ॥ २३७ ॥

(३) कुड्डूकः । यावदन्ने उष्णता भवति यावच्च मौनिनो भुञ्जते यावच्च हविर्गुणानोच्यन्ते तावत्पितरोऽश्रन्तीति पूर्वोक्तस्यैवार्थस्य प्रशंसा ॥ २३७ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तघोत्कृष्टहविर्गुणानभिधानयोरर्थवादमाह यावदिति । नोक्ताः श्राद्धं भुञ्जानैः ॥ २३७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्ने यावदूष्मा भवति यावद्वाग्यता अश्रन्ति तावत्पितरोऽश्रन्ति यावत्हविर्गुणानोक्ताः ॥ २३७ ॥

यद्वेष्टितशिराभुङ्क्ते यद्भुङ्क्ते दक्षिणामुखः ॥ सोपानत्कश्च यद्भुङ्क्ते द्वै रक्षांसि भुङ्क्ते ॥ २३८ ॥

(१) मेधातिथिः । वेष्टितमुष्णीषादिना । उदीच्याहि शाटकैः शिरोवेष्टयन्ति । यत्तु व्याचक्षते चूडाकारैरपिकेशैर्वेष्टितशिराभवतीति न ते युक्तिवादिनः । केशास्ते वेष्टयन्ते न शिरोनचकेशा एव शिरः शिरस्थाहिते न हितत्रवेष्टनव्यवहारो लोके । दक्षिणाभिमुखस्य दोषवचनात् त्वल्पे प्रदेशे दक्षिणे तरदिग्भिमुखस्यापि भोजनमनुजानाति । अत उदङ्मुखानां विधाने कुतो दक्षिणस्याः प्राप्तिः प्राक्पित्रादेस्तु न निषेधः । उपानहौ चर्ममयौ पादत्राणं अन्येतु चर्मपादुके उपानहाविति व्याचक्षते । रक्षांसि भुङ्क्ते न पितर इति निन्दा ॥ २३८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वेष्टितशिराः सोष्णीषः ॥ २३८ ॥

(३) कुङ्कुकः । वस्त्रादिवेष्टितशिरायदन्तं भुङ्क्ते तथा दक्षिणामुखः सपादुकश्च तद्वाक्षसा भुङ्क्ते । न पितरस्तस्मादेवं रूपं न कर्तव्यम् ॥ २३८ ॥

(४) राघवानन्दः । अथेदानीं भोजनकाले वर्ज्यं प्रदर्शयंस्तत्करणे दोषमाह यदिति । वेष्टितशिराः वस्त्रादिना उपानत्काष्ठपादुका यस्य दक्षिणामुख इति त्वनियमप्रशात् यद्भुङ्क्ते तादृशो न पात्रमिति भावः ॥ २३८ ॥

(६) रामचन्द्रः । ह्यभ्यामाह यद्वेष्टितशिरा इति । वेष्टितशिराः चूडाकारैः केशैर्वेष्टितशिराभवति । चर्मपादुके उपानहादिसामीप्ये निषिद्धम् ॥ २३८ ॥

चाण्डालश्च वराहश्च कुक्कुटः श्वा तथैव च ॥ रजस्वला च षण्ढश्च नेक्षेरन्नश्रतो द्विजान् ॥ २३९ ॥

(१) मेधातिथिः । वराहः शूकरः सच ग्राम्यः श्वसन्निधानतो नेक्षेरन्नित्यद्यपि श्रुतम् । तथापि तत्प्रदेशसन्निधिमेव शिष्टानामनुमन्यन्ते तथा च घ्राणेन शूकर इत्यादिक्रियान्तरमर्थवादेन श्रूयते । न चानीक्षमाणस्य घ्राणसंभवति । सन्निहितानां तु स्वरूपानुवादोऽयं । सूकरो विजिघ्रति । कुक्कुटः पक्षानुद्बुनोति । तस्मात्परिश्रिते दद्यादिति विधिप्रयोजनमेतदोषाभावेऽपरिश्रितेऽपि दद्यात् । षण्ढो न पुंसकम् ॥ २३९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वराहो ग्राम्यः षण्ढः क्लीबः ॥ २३९ ॥

(३) कुङ्कुकः । चाण्डालग्राम्यसूकरकुक्कुटकुक्कुरोदकयानपुंसकायथा ब्राह्मणान् भोजनकाले न पश्येयुस्तथा कार्यम् ॥ २३९ ॥

(४) राघवानन्दः । श्राद्धभोजनं प्रति चण्डालादिदर्शनं निषेधति चण्डालश्चेति । वराहः सूकरः । रजस्वलरजोरक्तयोनिमिश्रितं तद्वती । षण्ढः न पुंसकः । अश्रतो भुञ्जानान् ॥ २३९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अश्रतो द्विजान् चाण्डालादयो नेक्षेरन्नपश्येयुः ॥ २३९ ॥

होमे प्रदाने भोज्ये च यदेभिरभिवीक्ष्यते ॥ दैवे कर्मणि पित्र्ये वा तद्गच्छत्यथ तथम् ॥ २४० ॥

(१) मेधातिथिः । होमे अग्निहोत्रादौ शान्त्यादिहोमे वा । प्रदाने गोहिरण्यादिद्रव्यविषये । अभ्युदयार्थं भोज्ये ब्राह्मणाय त्रधर्माय भोज्यन्ते । दैवे हविषि दर्शपौर्णमासादौ । पित्र्ये श्राद्धे यदभिवीक्ष्यते क्रियमाणमात्रं कर्म तद्गच्छत्यथ तथं । यदर्थं क्रियते तद्विपरीतं भावयति । यद्यपि श्राद्धप्रकरणं तथापि वाक्यादन्यत्रापि होमादावयं प्रतिषेधः ॥ २४० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रदाने सुवर्णादिदाने । दैवे हविषि पित्र्ये च हविषि । यदभिवीक्ष्यते अयथा तथयेभ्योदत्तं तेभ्योन्यत्र गच्छति ॥ २४० ॥

(२४०) कर्मणि = हविषि (न, व, भ, य, र, ल)

(३) कुङ्कुः । यस्मात् होमेऽग्निहोत्रादौ प्रदाने गोहिरण्यादौ भोज्ये त्वाम्बुदयार्थब्राह्मणभोजने दैवे हविषि दर्श-
पूर्णमासादौ पित्र्ये आद्धादौ यदेभिर्वाक्ष्यते क्रियमाणकर्मतत्त्वर्थक्रियते तन्न साधयति ॥ २४० ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव प्राप्तद्विकक्षिपन्नर्थवादमाह होमइति । प्रदाने ब्राह्मणोद्देश्यकान्नदाने भोज्ये स्वयंकृते
एभिश्चण्डालादिषद्भिः । हविषिदैवे पित्र्ये आद्धादौ यथादत्तं तदनुरूपं फलतीति यथातथं तद्विन्नमयथातथं । विफ-
लम् ॥ २४० ॥

(५) नन्दनः । अयथातथं व्यर्थम् ॥ २४० ॥

(६) रामचन्द्रः । होमे शान्त्यादिहोमे । गोहिरण्यादिप्रदाने भोज्येऽभ्युदयार्थभोजने होमदानं भोज्यं यदेभिः
चण्डालादिभिर्वाक्ष्यते । दैवे वैश्वदेवे हविषि दर्शपूर्णमासादौ पित्र्ये कर्मणि वा अयथानथा गच्छति वृथा गच्छती
त्यर्थः ॥ २४० ॥

घ्राणेन सूकरोहन्ति पक्षवातेन कुक्कुटः ॥ श्वा तु दृष्टिनिपातेन स्पर्शेनावरवर्णजः ॥ २४१ ॥

(१) मेधातिथिः । पक्षकृतेन वायुना कुक्कुटोहन्ति व्याख्यानमेतत् । तावतिदेशे निवारणीयमेषां संनिधानं याव-
निस्थिताः पश्यन्ति । अवरवर्णजश्चण्डालः जडप्रकृतिवत् । स्पर्शद्वयश्च प्रकृतक्रियापरानव्यवक्षितत्वरूपा इति व्याख्यातं ।
अतो वद्यमेतच्चण्डालस्य सामान्यतः स्पर्शप्रतिषेधादसत्यां प्राप्ते प्रतिषेधानर्थक्यम् । अतः शूद्रोऽवरवर्णजस्तस्य च द्विजातिश्चाद्ध-
स्पर्शनिषेधो नात्मीये इति विवक्षितेऽपि नान्नपानादिस्पर्शदोषोऽयमुच्यते किं तर्हि यो देशः परिगृहीतो न दीपुलिनादिरपरिश्रितस्तस्य-
स्पर्शे तस्य हि वाय्वादित्यादिना शुद्धिरुक्ता । अतः सत्यां प्राप्ते युक्तः प्रतिषेधः ॥ २४१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । घ्राणेन तदन्नगन्धोपलब्ध्या । पक्षवातेन तद्देशमुक्तेन । दृष्टिनिपातेन कर्तुर्द्विजानां वा शू-
द्रस्पर्शेन अपक्वानामपि आद्धद्रव्याणाम् । अवरवर्णजः शूद्रः ॥ २४१ ॥

(३) कुङ्कुः । सूकरस्तदन्नादेर्गन्धघ्रात्वा कर्मनिष्फलं करोति । तस्मादन्नघ्राणयोग्यदेशान्निरसनीयः । कुक्कुटः
पक्षवातेन सोऽपि पक्षपवनयोग्यदेशादपगमनीयः । श्वा दर्शनेन शुनोन्नादिदर्शनं निषिद्धमतिदोषभूयस्त्वज्ञापनार्थं पुनरभि-
हितम् । अथवा दृष्टिनिपातेनेति आद्धकर्तृभोक्तृणां दृष्टिनिपातविषयत्वेन अवरवर्णः शूद्रस्तस्माज्जातोऽवरवर्णजः शूद्रएव
असावन्नादिस्पर्शेन द्विजातिश्चाद्धनिष्फल्यतिऽऽ ॥ २४१ ॥

(४) राघवानन्दः । कोवा केन किं फलं विफल्यतीत्याकांक्षायामाह घ्राणेति । घ्राणेनेति त्रयं देशलक्षकं तेन
तावत्तद्देशात्तानपसारयेत् । अवरवर्णजश्चण्डालः । ब्राह्मण्यामवरवर्णात् शूद्रात् जातः पूर्वोक्तपरिशेषाच्च ॥ २४१ ॥

(५) नन्दनः । अवरवर्णः शूद्रः । तेन ब्राह्मण्यां जात इत्यवरवर्णजश्चण्डालः ॥ २४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । आद्धद्रूषकान्याह घ्राणेनेति द्वाभ्यम् । सूकरः हव्यं कव्यं च घ्राणेन हन्ति नाशयति । अवरवर्ण-
जः शूद्रस्पर्शेन दूषयति । द्विजातिश्चाद्धविषये ॥ २४१ ॥

खञ्जो वा यदि वा काणो दातुः प्रेष्योऽपि वा भवेत् । हीनातिरिक्तगात्रो वा तमप्यपनयेत्पुनः ॥ २४२ ॥

(५५) (नात्मीयमावश्यकत्वात्) (अ) चिन्हितपुस्तके अधिकवर्तते ।

(२४२) खञ्जः=षण्डः (ग, न, भ)

(१) मेधातिथिः । प्रेप्योभृतकः । अपिशब्दादन्योपियदृष्टयासंनिहितोबान्धवादिरपनेयस्तस्मान्प्रदेशादपसारयेत् । खंजोगतिविकलः अजङ्गमादिहीनातिरिक्तगात्रः षण्डः कुण्डः खण्डः श्लोपश्चादिः ॥ २४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पूर्वश्लोके च श्ववराहकुङ्कुयानां दृष्टिपातादिभिरपि दूषकत्वमुक्तं प्रेप्योपि श्राद्धार्थप्रेषणकार्यपि । हीनातिरिक्तगात्रश्चक्षुःपादाभ्यामन्यत्रापि ॥ २४२ ॥

(३) क्लृप्तकः । यदि गतिविकलः काणोवा दातुर्दासः शूद्रस्तस्यैव प्रेप्यत्वविधानात् अपिशब्दादन्योपि शूद्रान्यनाधिकाङ्गुल्यादिर्वा स्यात्तदा तमपि ततः श्राद्धदेशादपसारयेत् ॥ २४२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच खञ्जइति । प्रेप्यो विप्रोपि खञ्जादिपञ्चानां रजस्वलाषण्डयोश्च स्पर्शदृष्टिसाधारणो दोषोऽतः श्राद्धस्थलादङ्गहीनादीनिःसारयेदिति भावः । अपिशब्दादन्योपिशूद्रः ॥ २४२ ॥

(५) नन्दनः । खञ्जोविकलपादः । दातुः श्राद्धकर्तुः । हीनगात्रो वामनः अतिरिक्तगात्रोऽत्यन्तदीर्घगात्रः । अवधवोवागात्रम् । ततः श्राद्धक्रियास्थानात् ॥ २४२ ॥

(६) रामचन्द्रः । दातुः प्रेप्योवा हीनगात्रः अतिरिक्तगात्रः गात्राधिकोवा तमपि पुरुषततः श्राद्धादपनयेत् दूरीकुर्यादित्यर्थः । खञ्जतीति खञ्जः । काणोनेत्रविकलः ॥ २४२ ॥

ब्राह्मणं भिक्षुकं वापि भोजनार्थमुपस्थितम् ॥ ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः शक्तितः प्रतिपूजयेत् ॥ २४३ ॥

(१) मेधातिथिः । अतिथित्वेनागतं ब्राह्मणं भिक्षुकं भिक्षार्थिनं ब्राह्मणमपि भोजनप्रवृत्तौ ब्राह्मणैरनुज्ञातः शक्त्या पूजयेत् । भोजनेन भिक्षादानेन वा युक्तार्थतयार्चयेत् यतः सपाकस्तदहस्तदर्थएव ॥ २४३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्राह्मणं गृहिणं । भिक्षुकं यार्तिं व्रतिनं वा । अन्नार्थमुपस्थितम् ॥ २४३ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणमतिथिरूपं अन्यथा भक्षणशीलं भोजनार्थं तत्कालोपस्थितं श्राद्धपात्रब्राह्मणैरनुज्ञातो यथाशक्त्यन्नभोजनेन भिक्षादानेन चार्हयेत् ॥ २४३ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रासङ्गिकमाह ब्राह्मणमिति । भिक्षुकं संन्यासिनं । ब्राह्मणैः श्राद्धनिमन्त्रितैः ॥ २४३ ॥

(५) नन्दनः । ब्राह्मणैः श्राद्धभोक्तृभिः ॥ २४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । श्राद्धकाले ब्राह्मणं वा गृहस्थं वा भिक्षुकं वा भोजनार्थमुपस्थितं तैः निमन्त्रितैर्द्विजैरनुज्ञातः सन् शक्तितः पूजयेत् भोजयेत् ॥ २४३ ॥

सार्वर्णिकमन्नाद्यंसन्नीयाप्लाव्य वारिणा ॥ समुत्सृजेद्भुक्तवतामग्रतो विकिरन् भुवि ॥ २४४ ॥

(१) मेधातिथिः । वर्णशब्दः प्रकारेद्रष्टव्यः । सर्वप्रकारैर्व्यञ्जनैरुपेतमन्नाद्यं । सन्नीय एकीकृत्य वारिणा आप्लाव्य भुक्तवतां तृमानां तृमास इति वचनान्तरं अग्रतः समुत्सृजेत् विकिरन् नैकस्मिन्नेव देशे किं तां हविशीर्णं भुवि । न पात्रेषु भूमावपि न शुद्धायां किं तां हव्यं दध्नेषु विकिरति सर्वात्रैवाविकिरं कुर्यादिति शङ्कः । असंस्कृतप्रमीतानां त्यागिनां कुलयोपतां । उच्छिष्टं भागधेयं स्याद्दर्भेषु विकिरश्च ॥ नास्य कार्योऽयि संस्कार इत्यत्रिर्वर्षा असंस्कृतास्तेषां प्रमीतानां पात्रस्थं उच्छिष्टं दर्भेषु विकिरश्च तेषां भागधेयम् । भागधेयशब्देनोच्येते । न हितेषां श्राद्धोपकारो नास्ति त्यागिनां गुणादीनां अथवा कुलयोपितां कु-

(२४४) विकिरन्=विचरन् (मेधा०)

लस्त्रीणामदृष्टदोषाणां भार्याणांत्यक्तरः स्वतन्त्राः अन्येतुकुलयोषितामित्यस्मिन्नूढाः कन्याः कुलयोषित इति व्याचक्षते । अत-
उच्छिष्टं तेभ्य उद्देष्टव्यं । न च वाच्यमपवित्रमुच्छिष्टं कथं भागधेयेन कल्पतामिति वचनान्नास्त्यपवित्रता सोमोच्छिष्टवत् ॥ २४४ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । सार्ववर्णिकं सर्वव्यञ्जनसहितं । वर्णव्यञ्जनं । अन्नभोदनमाद्यं फलादि सन्नीयैकीकृत्य
विकिरन्विक्षिप्तं कुर्वन् समुत्सृजेत् भुव्यास्तीर्णकुशायां दर्भेषु विकिरश्च यद्युत्तरत्र दर्शनात् ॥ २४४ ॥

(३) कुट्टूकः । वर्णशब्दः प्रकारवाची । सर्वप्रकारकमन्नादिकं व्यञ्जनादिभिरेकीकृत्योदकेनाप्लावयित्वा कृत-
भोजनानां ब्राह्मणानां पुरतो भूमौ दर्भेषु विकिरश्च यदिति वक्ष्यमाणत्वाद्दर्भोपरि निक्षिपेत्त्यजेत् ॥ २४४ ॥

(४) राघवानन्दः । श्राद्धस्योत्तराह्णमाह सार्ववर्णिकमिति त्रिभिः । वर्णशब्दः प्रकारे तेनार्घ्यादिसर्वप्रकारमन्न-
मिति । सन्नीयव्यञ्जनादिरुपकृत्य विकिरन् बहुदेशव्यापि यथास्यात्तथोत्सृजेत् ॥ २४४ ॥

(५) नन्दनः । अथ भुक्तवत्सु ब्राह्मणेषु कर्तव्यमाह सार्वेति । सन्नीय व्यञ्जनैः संयोज्य । सार्ववर्णिकं सर्ववर्णविहित-
मन्नोत्सर्गस्येदं प्रयोजनमुक्तम् । सर्ववर्णहितार्थमुत्सृजेदित्यर्थः ॥ २४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्नाद्यं वस्तु सार्ववर्णिकं सर्वव्यञ्जनसहितं वारिणा आप्लाव्य प्रोक्ष्य सन्नीय मिश्रयित्वा भुक्तव-
तामपतो भुवि विकिरान्नं समुत्सृजेत् एकस्मिन्देशे विकिरान् भुवि न पात्रेषु ॥ ४४ ॥

असंस्कृतप्रमीतानां त्यागिनां कुलयोषिताम् ॥ उच्छिष्टं भागधेयं स्याद्दर्भेषु विकिरश्च यः ॥ २४५ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । त्यागिनां प्राणत्यागिनामविधिना कुलयोषितामपत्यादि शून्यानां । उच्छिष्टं विप्रैर्भाण्डेषु
त्यक्तं भागधेयं भागः ॥ २४५ ॥

(३) कुट्टूकः । नास्य कार्योऽसंस्कार इति निषेधात् संस्कारानर्हं बालानां तथा कुलस्त्रीणामदृष्टदोषाणां ये त्यक्तर-
स्तेषां पात्रस्थमुच्छिष्टं दर्भेषु च यो विकिरः स भागः स्यात् । अन्ये तु त्यागिनामिति गुर्वादित्यागिनां कुलयोषितामिति स्वात-
न्येण तु कुलयोषितामनूढकन्यानामिति व्याचक्षते । गोविन्दराजस्तु त्यागिनां कुलयोषितामिति सामान्योपक्रममादिदं विशे-
षाभिधानं संस्कृतं भक्षादितिवत्ततः स्वकुलं त्यक्त्वा गतानां कुलस्त्रीणामित्याह ॥ २४५ ॥

(४) राघवानन्दः । तदुद्देश्यानाह असंस्कृतेति । असंस्कृतप्रमीतानां मृतत्वेन संस्काररहितानां अत्रिर्वर्षाणां
निरपराधं गुर्वादित्यागिनां । एतेनैषां संस्काराभावो ध्वनितः । कुलयोषितां अनूढकन्यकानां कुलदानामिति गोविन्दराजः ।
उच्छिष्टं पात्रस्थं भागधेयं भागः । विकिरोविक्षिप्तानानि तान्यपि भागस्तेषामिति ॥ २४५ ॥

(५) नन्दनः । असंस्कृतप्रमीतानामनुपनीतमृतानाम् । त्यागिनां सन्यासिनाम् । भागधेयं भागः । दर्भेषु विकिरे-
च्चयत्तद्भागधेयं स्यात् । यत एव तस्मात्किञ्चिदुच्छेपयेद्दर्भेषु विकिरेदिति ॥ २४५ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रिवर्षन्यूनानामसंस्कृतादीनां उच्छिष्टं भागधेयं स्यात् यः दर्भेषु विकिरः भागधेयं स्यात् । अ-
स्मिन्द्वाधाश्च येऽन्नादाये सदायाः कुले मम । भूमौ दत्तेन तृप्यन्तु तृप्तायान्तु परांगतिम् ॥ त्यागिनां अविधिना प्राणत्यागिनां
स्वकुलं त्यक्तानां वा यो विकिर एतादृशानां पुंसां भागधेयं स्यात् । च पुनरुच्छिष्टं भागधेयं स्यात् । कुलयोषितां पत्यादिरहितानां
संबन्धे षष्ठी । दर्भेषु विकिरः भागधेयं स्यात् ॥ २४५ ॥

उच्छेषणं भूमिगतमजिह्मस्याशठस्य च ॥ दासवर्गस्य तत्पिच्ये भागधेयं प्रचक्षते ॥ २४६ ॥

(१) मेधातिथिः । पात्रस्थस्य पूर्वैर्गणप्रतिपत्तिरुक्ता । भूमौ निपतितस्योच्छिष्टस्य दासवर्गार्थतानेन कथ्यते ।

अजिह्वीकुटिलः । अशठःअनलसः । तादृशस्यदासवर्गस्य सभागः तस्मात् प्रभूतंदातव्यं येनभूमौभुञ्जानस्यपततीति॥२४६॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यत्तुच्छिष्टैरेवभूमौत्यक्तं तत्राह उच्छेषणमिति । जिह्वोऽलसः । शठोवक्रगतिः ॥ २४६ ॥

(३) कुड्डूकः । उच्छिष्टंयद्भूमिगतंतदाससमूहस्यावक्रस्यानलसस्याकुटिलस्य च पित्र्येऽश्राद्धकर्मणि भागधेयंमन्वादयोवदन्ति ॥ २४६ ॥

(४) राघवानन्दः । भूमिगतस्य प्रतिपत्तिमाह । उच्छेषणमिति । उच्छेषणं उच्छिष्टं अजिह्वस्याकुटिलस्येति विशेषणात् कुटिलस्य न किञ्चित् । दासवर्गस्य गर्भदासादिसमूहस्य पित्र्येऽश्राद्धकर्मणि प्रचक्षते वदन्ति मन्वादयः ॥ २४६ ॥

(५) नन्दनः । उच्छेषणंयदितिशेषः । अजिह्वस्यजोः । अशठस्यानृशंसस्य । यतएवंतस्मात्किञ्चिदुच्छिष्टं भूमिगतंकुर्यादिति ॥ २४६ ॥

(६) रामचन्द्रः । उच्छेषणमुच्छिष्टं सारशेषंभूमिगतमनंदासवर्गस्य । पित्र्ये पितृकार्ये तंतु भागधेयं प्रचक्षते । कीदृशस्य दासवर्गस्य अजिह्वस्य च पुनरशठस्य अनलसस्य ॥ २४६ ॥

आसपिण्डक्रियाकर्म द्विजातेः संस्थितस्य तु ॥ अदैवं भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकंतु निर्वपेत् ॥ २४७ ॥

(१) मेधातिथिः । संस्थितस्यद्विजातेरसपिण्डक्रियाकर्म प्रथममृतस्यासहपिण्डकरणाख्यंकर्मकर्तव्यं । सहपिण्डदानंपूर्वाभ्यानंकर्तव्यं कथंतर्हिर्कर्तव्यं पिण्डमेकंचनिर्वपेदिति । चशब्दएवशब्दस्यार्थे तस्माएवप्रेतायैकंपिण्डंनिर्वपेत् । ब्राह्मणोहितस्माएवभोजयितव्यः । स्मृत्यन्तरेअन्यापीतिकर्तव्यता वैशेषीस्मर्यते । आवाहनाग्नौकरणरहितमिति । अग्नौकरणशब्देनचात्राग्नौकरिष्यइत्यनुज्ञापनंप्रतिषिध्यते न पुनर्होमः । तथाहिगृह्ये प्रेतश्राद्धमेवाधिकृत्यहोमआग्रायते । यस्मिंश्चकालेकर्मकर्तव्यं यावन्तंचकालंस्मृत्यन्तरादन्वेष्टव्यं । आद्यमेकादशेऽहनि । मृताहेपिचकर्तव्यं प्रतिमांसंतुवत्सरं । प्रतिसंवत्सरंचैवश्राद्धंवैमासिकार्थवदिति । तथाचकाठके । एवंसांवत्सरिकमिति एकादशग्रहणंचाशौचनिवृत्त्युपलक्षणार्थं । यतः शुचिर्भूतः पितृभ्योदद्यादितिश्रूयते । संवत्सरान्तेहिंसपिण्डोकरणंगृहकाराःस्मरन्ति । एतच्चश्राद्धमेकोद्दिष्टतदङ्गभूतंचनिर्वपणं । यत्तुश्रौतेपितृभ्योदद्यादिति वचनात् । पितृपितामहायप्रपितामहायचेति अरुतेसपिण्डीकरणेनेहदानंयुक्तं नहिस्मृत्याश्रुतिर्बाधितुंशक्यतइति ॥ २४७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्रान्तरेएकोद्दिष्टश्राद्धेविशेषमाह असपिण्डेति । असपिण्डक्रियाकर्मक्रीतसपिण्डीकरणक्रियायांदाशयांश्राद्धकर्मद्विजातेः संस्थितस्यानुष्ठेयं तत्र चादैवं वैश्वदेवहीनं विप्रमेकं भोजयेत् । इतराङ्गानुष्ठानक्रमः कालश्च स्मृत्यन्तरसिद्धोऽग्राहः ॥ २४७ ॥

(३) कुड्डूकः । मर्यादायामाङ् नाभिविधौ सपिण्डीकरणश्राद्धपर्यन्तमचिरमृतस्य द्विजातेश्च वैश्वदेवब्राह्मणभोजनरहितंश्राद्धार्थमन्नंब्राह्मणंभोजयेदेकंच पिण्डंदद्यात् । अस्य च श्राद्धस्यानुष्ठानं एकोद्दिष्टदैवहीनमेकार्थेकपवित्रकर्म । आवाहनाग्नौकरणरहितंरूपसव्यवदिति याज्ञवल्क्यादिस्मृतिष्ववगन्तव्यम् ॥ २४७ ॥

(२४७) आसपिण्ड=असपिण्ड (क, ख, ग, च)

(४) राघवानन्दः । एकोद्दिष्टस्य पार्वणविकृतितया सर्वधर्मप्राप्तौ यथागृहमेधीये दर्शविकृतावपि आज्यभागौ यजेतेति तयोरैवानुष्ठानं नान्यस्येति वचनात् तन्न्यायेनाह आसपिण्डेतिद्वाभ्यां । सपिण्डीकरणपर्यन्तम् मर्यादायामाह । संस्थितस्यासन्नमृतस्य एकपिण्डं एकब्राह्मणभोजनदैवहोतृनां एकाध्वैकपवित्रं आवाहनाग्नौकरणरहितं स्मृत्यन्तरादवगन्तव्यम् । तच्च यावज्जीवं । मृतेहनि तु कर्तव्यं प्रतिमासं तुवत्सरं । प्रतिसंवत्सरे चैव माद्यमेकादशेहनीति स्मृतेः ॥ २४७ ॥

(५) नन्दनः । असपिण्डीकृतपितृकस्य श्राद्धे विशेषमाह आसपिण्डेति । आसपिण्डक्रियाकर्मआसपिण्डक्रियायामनुष्ठानंसपिण्डीकरणात्माकर्तव्यं श्राद्धकर्मेति यावत् । उच्यतइतिशेषः ॥ २४७ ॥

(६) रामचन्द्रः । संस्थितस्य मृतस्य द्विजाते असपिण्डक्रिया सपिण्डकरणव्यतिरिक्तं कर्म । अदैवंवैश्वदेवरहितंश्राद्धंभोजयेत् च पुनः एकं पिण्डंनिर्वपेत् । एकोद्दिष्टमित्यर्थः ॥ २४७ ॥

सहपिण्डक्रियायां तु कृतायामस्य धर्मतः ॥ अनयैवावृता कार्यं पिण्डनिर्वपणं सुतैः ॥ २४८ ॥

(१) मेधातिथिः । यदातुसपिण्डीकरणंरुतंभवति तदाअनयैवावृतापार्वणश्राद्धविधिनात्रिभ्योदद्यात् आवृदितिकर्तव्यता नसपिण्डीकरणश्राद्धदैवपूर्वनियोजयेत् । पितृनावाहयेत् । अत्रपुनःप्रेतं पितरश्चात्र प्राक्सपिण्डीकृताः पितृवर्गमनुप्रवेशिताःपितामहादयउच्यन्ते । तानाशयेत् । तत्रपुनःशब्दस्तेष्वेवब्राह्मणेषु प्रेतआवाहयितव्यः । तत्रहिसर्वैस्तैःसहसंसर्गस्तस्यसंसृजनायचतत्कर्म । यदपिविष्णुनापठितं । प्रेतायब्राह्मणान्भोजयेत् प्रेतपित्रे प्रेतपितामहाय प्रेतप्रपितामहायेति । अत्रापिनैवंश्रूयते पृथक्भोजयेदिति । तत्रयथाबहुदैवत्यंहविर्बन्द्हीदैवताउद्दिश्यसकृदेकंहूयते एवंब्राह्मणोपिविद्वानुद्दिश्यभोज्येतेति न किंचिदनुपपन्नं । तथाहिसहवचनगृहीतंभवति पित्र्येचनयुग्माभोजिताभवन्ति । यथाएकैकमुभयत्रवेति येषांविधिस्तन्मतेएकःसर्वोद्देशेनभोज्यते । एवमेतद्रष्टव्यं । नन्वेवंसतिपितृकृत्ये त्रीनिति सर्वदेवसहोद्देशःप्राप्नोति एकैकस्मिन्ब्राह्मणेसर्वउद्देश्येनतत्रापिनपृथक्ग्रहणमस्ति कथंनस्ति गृहेहिपठ्यते नन्वेवैकं सर्वेषांपिण्डैर्व्याख्यातं । किंच प्रेतपात्रपितृपात्रेषुसेचयेदर्थमित्याह तत्रकृतासन्नपात्राभावेप्रेतपात्रोदकस्यकुसुमापात्रादधदानं यद्वितावत्समीलितास्तदयुक्तं पितामहादेस्तत्कल्पितंनपितुर्नचान्यार्थकल्पितादित्यन्यार्थतायुक्ता । अथकृत्वार्धदानंनपश्चात्संनयनंकुर्यात् । तदाकृत्वार्धदानंतदर्थसंनयनस्यस्वतंत्रार्धार्थप्रसेचयेदिति विरुध्येतवचनं । उक्तेनात्रप्रकारेण नकश्चनविरोधः । अथकोयंप्रेतोनाम प्रपितामहायपिण्डःसपिण्डीकरणादूर्ध्वनदीयते यतस्तेष्वेवानुप्रविष्टः । तथाचस्मृतिः । यःसपिण्डीकृतप्रेतंपृथक्पिण्डेनयोजयेत् । विधिघ्नस्तेनभवतिपितृहाचोपजायते ॥ इति पृथगेवहितस्मैनिरूप्यते । नत्वेकःसर्वेभ्य इति । मन्त्राश्चएतमेवार्थमभिवदन्ति येसमाना इत्यादयः । अत्रोच्यते । नायंप्रेतशब्दोदयतःक्रियायोगेनवर्तते । रुद्धिरियंमृतप्रेतइदानींप्रेतउच्यते नहिदूरमध्वानंगतःप्रेतउच्यते । अस्तिचक्रियायोगः अविशेषेणपूर्वप्रेतइदानींप्रेतेच । तथाचश्रुतिः । प्रयन्नेवास्माल्लोकाद्येसमाना इति । अचिरमरणेप्रेतप्रयोगंदर्शयति । प्रेतायान्दिनत्रयमितिसद्यःसंस्थितमधिकृत्य । यत्पृथक्पिण्डेनेति अस्यायमर्थः सपिण्डीकरणादूर्ध्वमेकोद्दिष्टंनकर्तव्यं यदायदाश्राद्धंनदातदात्रिभ्यःमृताहनिपितृभ्यस्त्रिभ्यएवकर्तव्यं नैकस्माएवपित्रे तथाअनयैवावृताकार्यमितिपार्वणश्राद्धेकर्तव्यतावातिदिश्यते ननुचानयैवेतिप्रकृतपरामर्शाःप्रतीयन्ते सन्निहितवचनत्वात्सर्वनाम्नां सन्निहितैकोद्दिष्टविधिः । नैवं यदिहिकृतेपिसपिण्डीकरणे एकस्यै-

वक्रियेत तदाभेदनिर्देशएवनोपपद्यते तुशब्दश्चप्रकृतायामितिकर्तव्यतायांभेदसूचयति । असपिण्डक्रियायामेषविधिः । सहपिण्डक्रियायां पुनःकृतायां नायमन्तव्यइति । अतोव्यवहिताऽपिबुद्धिस्थत्वात्पार्वणतातिदिश्यते । किंचकृतेसपिण्डीकरणे यदैकोद्दिष्टस्यात्कर्तव्यं तदात्रिभ्योनमितिअमावास्यायामितिकेचित् । कोविशेषस्तत्रापिसहपिण्डक्रियामित्येवमर्थःकिनास्ति । नचमानवशास्त्रे कालान्तरमृताहे प्रतिसंवत्सरंचेत्यादि प्रतीतं येनतद्विषयमेतद्याख्यायते अतोविशेषात्सर्वत्रैकोद्दिष्टानिप्राप्नुवन्ति । तत्रमहाभारतवचनंविरुध्येत । तीर्थानिप्रकृत्योक्तं । श्राद्धेनतर्पयामाससवैपूर्वपितामहानिति । यदपिस्मृत्यन्तरंप्रतिसंवत्सरंचैवश्राद्धवैमासिकार्थवत् । तत्रापिमासिकशब्देनामावास्यामेवश्राद्धमुच्यते सर्वश्राद्धानांतस्यप्रकृतित्वात् । तत्रहिधर्माःसमाम्नाताः । नतुप्रतिमासंतुसंवत्सरमिति । एतन्मासिकशब्देनाभिधातुंयुक्तं नहिस्यविशिष्टाःकेचिद्धर्माःसमाम्नाता यैर्भिद्येत । एकोद्दिष्टत्वाद्यमेकादशे क्षत्रियस्यत्रयोदशे इत्याद्यत्रापिविद्यते । अतो नैकोद्दिष्टमासिकशब्देनाभिधातुंयुक्तं । मासकालसंबन्धाद्धितन्मासिकमुच्यते । नचतस्यमासेनैवसंबन्धः । कालान्तरेणापिसंबन्धस्यदर्शितत्वात् । शुचिर्भूतःपितृभ्योदद्यादितिमासादूर्ध्वमपिकरणान्मासेचाकरणान्मासिकशब्देनतस्याभिधानं । अमावास्यायास्तत्प्राप्तौमासिकशब्दश्रवणात्पिण्डानांमासिकश्राद्धमिति नियतत्वात्कालान्तरसंयोगस्याभावाद्धर्मवत्त्वाच्च युक्तस्तदीयधर्मातिदेशःआमश्राद्धमपि पार्वणप्रकृतिक्रमेव तत्प्रकृतित्वेचत्रिभ्योदानेप्राप्ते एकोद्दिष्टताविधीयते । यदपि याज्ञवल्क्यवचनं । मृताहनिनितुर्कृत्यंप्रतिमासंतुवत्सरं । प्रतिसंवत्सरंचैवमाद्यमेकादशेहनि ॥ तत्राप्येवमेतादृशीतिकर्तव्यताउच्यते । तत्रापिहमावास्यामेवप्रकृतत्वेनावगतं अतोनामासकालयोगेपि एकोद्दिष्टे तदीयधर्मातिदेशोऽन्यत्रयुक्तः । भिक्षुकोभिक्षुकाद्याचते सोपियतोऽन्यस्यविकारः । किंच एकमेवश्राद्धंतस्मान्मासिकमेवश्राद्धं तस्मान्मासिकशब्दस्यैकोद्दिष्टविशेषविषयतायांप्रमाणमस्ति । याज्ञवल्क्येऽप्येवमिति । यद्यनन्तरावमर्शःतदासपिण्डीकरणेतिकर्तव्यतातिदेशःप्राप्नोति । तदनन्तरंहेतच्छ्रुतं । एतत्सपिण्डीकरणमितिपठित्वावाक्सपिण्डीकरणादितिच ततोऽनन्तरमुक्तंमृताहनीत्यादितस्मात्सन्निधानमकारणीकृत्यधर्मवत्त्वेनामावास्यास्यैवमितिनिर्देशः । मन्त्राश्चात्मत्पक्षमेवसुतरामवद्योतयन्ति । संसृज्यध्वं पूर्वेःपितृभिःसहेति पूर्वेःपितृभिःसहवर्तमानाउच्यन्ते । संसृज्यध्वमितिबहुवचनंपूजायां । तथाचनिरुक्तकारः । एताउत्याउषसइति । एतास्ताउषासइत्येकस्याएवपूजनार्थंबहुवचनमिति । अथसंसृज्यध्वमितियेषुपिण्डेषुनिक्षिप्यन्ते तउच्यन्तेयश्चनिक्षिप्यतेबहुवचनेनपूर्ववत्पूर्वेभिःपितृभिरिति । एवंचपूर्वेभिरित्येवमेवबहुवचनंप्रायोगिकंभविष्यति । इतरथासंसृज्यध्वमितिनिक्षिप्यमाणपिण्डाभिधानेउभयत्रबहुवचनमयथार्थकल्प्यमितितदेतदपिनाकेचिद्यतएकैकेनपिण्डेनपिण्डांशःसंसृज्यतेचतुर्थपिण्डमुत्सृज्य त्रैधंरुत्वा पिण्डेषुनिदध्यादिति अतोऽनैवात्रयुगपदधिकरणवचनतास्ति येनबहुवचनमवकल्पेत । एकैकाभिधानेनकुतआन्वयिकंसंसृज्यध्वमितिबहुवचनं परोक्षाभिधानंनकल्प्यते । पूर्वेभिरितिनिक्षिप्यमाणपिण्डवचनाच्चनएभिरितिनिर्देशोयुक्तस्यात् । नचायमन्त्रोविधायकोयेनतदर्थनिर्णयेप्रयतामहेअभिधायकोयं अभिधानंचगुणविनियोगतोविनियोगश्चसंसर्जनंनप्रकाशयति । संख्यात्रनविनियुक्ता नप्रकाशामा संभवमात्रेणान्वीयते तस्मान्मन्त्रात्पूर्वप्रतिपत्तिः । येऽप्याहुश्चतुर्थःशब्दः पूर्वतरउपपद्यते पिताहप्रथमः तदपेक्षयाप्रपितामहात्पूर्वश्चतुर्थइति । एतदपिचसम्यक्पूर्वेषांपिण्डान्निधायचतुर्णांपूर्णश्चतुर्थःप्रेतपिण्डएवभवति । पित्रुपक्रमंचेदंश्राद्धंनप्रेतोपक्रमं । एवंद्युच्यतेपितृनावाहयेत्पुनःप्रेतंननिर्दिशेदित्यथायप्रेतायप्रथमःपिण्डस्ततस्तत्पित्रेइत्यादिक्रमः । तस्यापिकृतोयन्नियमः । यएवासौचतुर्थस्तस्यैवेदंत्रैधंकरणंपिण्डेषुनिधानंविधीयते । एतावद्धितद्वाच्यंचतुर्थपिण्डमुत्सृजे त्रैधंरुत्वेति । तत्रानन्तर्याहुत्सृजतिनासंबन्धश्चतुर्थपिण्डमित्यनयोःप्रतीयते त्रैधंरुत्वेत्यत्रतुकरस्येदंत्रैधंकरणमित्यपेक्षायां सन्निहितःपिण्डःसंबन्ध्यते । तावतैवनिराकांक्षीकृतेवाक्येचतुर्थमित्यस्यसंबन्धेनाकि-

चित्प्रमाणमस्ति । तत्रयस्यकस्यविभागेप्राप्तेऽस्मृत्यन्तरान्निर्णयः । निरूप्यचतुरःपिण्डान्पिण्डदःप्रतिनामतः । येसमानादिति-
 द्वाभ्यामाद्यंतुविभजेन्निधेति॥ आद्यत्वंदानाभिप्रायेण नपुनरादिपुरुषसंबन्धात् । तथाहिप्रपितामहादिःस्यात्पितामहात्पूर्वःपि-
 तामहोपिपितुःपूर्वइत्यनवस्थानादप्रतिपत्तिः । दातुंनियतक्रमतोव्यवस्थितमादित्वं । एवंच चतुर्थमितिपदेनविशिष्टेपिण्डेक्रि-
 यात्रयेपिस्मृत्यन्तरवशाद्दानक्रमेणैवाद्यस्यविभागोयुक्तः । अतोयदुक्तंकाठके । पूर्वप्रेतस्येष्टोविभागःप्रतीयतइतिकासावस्ये-
 ष्टता । यच्चोक्तं । अतएवतस्मैअदानंयतएववासावन्तर्भावितः तत्राकिंचिद्वचनान्दीयते । नचतुर्थपिण्डोऽगच्छतीति तथात्रि-
 षुपिण्डःप्रवर्तते । इतियत्त्वयंस्वरुतःपाठः । पुनःप्रेतंननिर्दिशेदिति व्याख्यातं । अन्तर्भाविते पूर्वप्रेतेपुनर्दानंनिषेधति नै-
 वायंपाठोस्ति प्रतिषेधार्थंयोनपठ्यते समुच्चयार्थोयश्चकारःपठ्यते । सत्यपिवातत्रपठेचसपिण्डीकृतमित्यत्रपृथक्पिण्डप्रति-
 षेधस्ययागतिरुक्तसैवात्रवेदितव्या । यानितु वाक्यानि । सपिण्डीकरणादूर्ध्वप्रतिसंवत्सरंसुतः । एकोद्दिष्टंतु कुर्वीतपित्रोरन्य-
 त्रपार्वणं ॥ पार्वणमित्यादीनि यद्यनंतानिवाक्यानि सन्ति तदा किममावास्यायां नाम घोषणिकया । नचैतानि वाक्यानि शिष्टप-
 रिगृहीता सुप्रसिद्धा सुस्मृतिषु का सुचिदुपलभ्यन्ते तस्मान्न किंचिद्विशेषेल्लिङ्गमस्ति येन पूर्वप्रेतपिण्डान्निधीयत इति प्रतिपद्येमहि ।
 तस्मात्समाचारो न त्याज्यः । अयमेव पक्षो युक्तियुक्त इति दर्शितः । तस्मान्मतभेदेनापच्छेदतः पूर्वप्रेतनिधानपक्षोपन्यासः केषां
 चित् । असपिण्डीक्रियाकर्म द्विजातेः संस्थितस्य ॥ अदैवं भोजयेत्प्राङ्पिण्डमेकं च निर्वपेत् ॥ सपिण्डीकरणं मृते पितरि जी-
 वति पितामहे पाक्षिकं ज्ञेयम् । यदा न जीवन्तमतिक्रम्य ददातीत्येवंनाश्रीयते । यदा तु स एषाग्रतास्यादिति पक्षस्तदा
 पितामहमतिक्रम्य पूर्वं संसर्जनीयः । एवन्तु पुत्रस्यापि मृतस्य पित्रा विकल्पेनैव कर्तव्यमेव मनपत्यभार्यामरणे जीवन्मा-
 तृकस्यैष एव विधिः प्रमत्तानामितरे कुर्वीरस्ताश्च तेषामिति सुतैरपत्यैरित्यर्थः । यद्यपि सुतग्रहणंतत्स्थानापन्नानामन्ये-
 षामपि ग्रहणं । यदि त्वशब्देन नास्ति निषेधः ॥ २४८ ॥

(२) सर्वज्ञानाराधणः । धर्मतो धर्मैरङ्गैः सह अनया वृता पार्वणप्रयोगेण सुतैरौरसक्षेत्रजपुत्रिकापुत्रैः ॥ २४८ ॥

(३) कुड्मूकः । अस्येति यस्येदमेकोद्दिष्टं विहितं तस्य धर्मतः त्वगृह्यादिविधिना सपिण्डीकरणश्राद्धे कृते अनयैवावृ-
 ता उक्तामावास्याश्राद्धेतिकर्तव्यतया पिण्डनिर्वपणं पार्वणविधिना श्राद्धं पुत्रैः सर्वत्र मृताहादौ कर्तव्यम् । नन्वनयैवावृताइ-
 त्यनेन प्रकृतमेकोद्दिष्टमेव हि किमिति न परामृश्यते । उच्यते । तर्हि सपिण्डीकरणात्पूर्वमेकोद्दिष्टं सपिण्डीकरणे कृते
 पुनः अनयैवावृता इति भेदनिर्देशो न स्यात् ततोमावास्येतिकर्तव्यतैव प्रतीयते ॥ २४८ ॥

(४) राघवानन्दः । तस्यैव विशेषमाहसहेति । धर्मतः त्वगृह्यादिविधिना सहपिण्डक्रियायां कृतायामिति । सातुगन्धो-
 दकतिलैर्विश्रकुर्यात् पात्रचतुष्टयं अर्घ्यार्थं पितृपात्रेषु भेतपात्रं प्रसेचयेत् । ये समानादिति द्वाभ्यां । शेषं पूर्ववदाचरेत् ।
 एतत् सपिण्डीकरणमिति याज्ञवल्क्यः । अनयैकोर्घ्य इत्यादिकया आवृता परिपाख्या । तदुक्तम् । सपिण्डीकरणादूर्ध्व-
 प्रतिसंवत्सरं पुनः । एकोद्दिष्टं कुर्वीत पित्रोरन्यत्र पार्वणमिति ॥ पार्वणे तु पार्वणपरिपाटीति ॥ २४८ ॥

(५) नन्दनः । सहपिण्डक्रियायां सपिण्डीकरणे । आवृता क्रियया । अनयोक्तेन मासिश्राद्धे प्रयोगेणेत्यर्थः ॥ २४८ ॥

(६) रामचन्द्रः । सहपिण्डक्रियायां कृतायां तु अस्य द्विजस्य धर्मतः अनयैव पार्वणरूपया आवृता परिपाख्या
 सुतैरौरसादिभिः पिण्डनिर्वपणकार्यम् ॥ २४८ ॥

श्राद्धं भुक्त्वा य उच्छिष्टं दृषलाय प्रयच्छति ॥ समूढो नरकं याति कालं सूत्रमवाक्शिराः ॥ २४९ ॥

(१) मेधातिथिः । यद्यपि श्राद्धभुजो दोषग्रहणं तथापि कर्तुरयमुपदेशः । तेन तथा कर्तव्यं यथा न प्रयच्छति क-
 त्विद्विप्रमवत् । दृषलः शूद्रः । अवाक्शिरा ऊर्ध्वपादः । मरुत एव सपिण्डीकरणमाविष्क्रीयतीति श्राद्धग्रहणम् ॥ २४९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आद्धभुक्तेत्यादिश्लोकद्वयं सर्व आद्धसङ्कतोर्निषेधविधिः । उच्छिष्टं पात्रस्थम् ॥ २४९ ॥

(३) कुल्लूकः । आश्रितशूद्रायउच्छिष्टदानप्रसक्तावयनिषेधः । आद्धभोजनोच्छिष्टयःशूद्राय ददाति समूर्खः काल-
सूत्रं नाम नरकमधोमुखं गच्छति ॥ २४९ ॥

(४) राघवानन्दः । आद्धभुजउत्तरकालीननियममाह आद्धमिति । संश्राद्धभोक्ता । अवाक्शिराअधोमुखः ॥ २४९ ॥

(५) नन्दनः । अथभुक्तवतां वर्जनीयं श्लोकद्वयेनाह ॥ २४९ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः आद्धभुक्ता वृषलाय शूद्रायोच्छिष्टं प्रयच्छति सकालसूत्रं नरकम् अवाक्शिराअधोमुखः सन्या-
ति ॥ २४९ ॥

आद्धभुगृषलीतल्पं तदहर्योधिगच्छति ॥ तस्याः पुरीषे तं मासं पितरस्तस्य शेरते ॥ २५० ॥

(१) मेधातिथिः । वृषली स्त्रीमात्रोपलक्षणार्थमेतदित्याहुः निरुक्तं कुर्वन्ति वृषस्यन्ती चलयति भर्तारमिति वृषली ।
सा च ब्राह्मणीः अन्यावा सर्वा निषिध्यते । तथा च स्मृत्यन्तरं तदहर्ब्रह्मचारी स्यान्नियतइति । तल्पशब्देन मै-
थुनयोगो भण्यते । न शयनारोहणप्रतिषेधएव । अहर्ग्रहणमहोरात्रलक्षणापरम् । रात्रावपि निषेधः स्यात् । पुरीषइति
निन्दार्थवादो निवृत्त्यर्थः । पितरस्तस्य आद्धभुजः । अयमपि पूर्ववद्वचनीयः । इदं तु युक्तं यदुभयोर्नियमइति । नै-
मित्तिकोयं भोक्तृधर्मः । आद्धभोजने निमित्ते विधीयते । प्रकरणार्थश्च कर्मार्थोपि ॥ २५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वृषलीतल्पं शूद्रयाधिष्ठितां शय्यां तदहस्तदहोरात्रे ॥ २५० ॥

(३) कुल्लूकः । वृषलीशब्दोत्र स्त्रीपरइत्याहुः । निरुक्तं च कुर्वन्ति । वृषस्यन्ती चपलयति भर्तारमिति वृषली ।
ब्राह्मणस्य परिणीता ब्राह्मण्यपि वृषलीति । आद्धभुक्ता तदहोरात्रेयः स्त्रीसंप्रयोगं करोति तस्य पितरस्तस्याः पुरीषे मासं
शेरतइति निवृत्त्यर्था निन्दा ॥ २५० ॥

(४) राघवानन्दः । वृषलीतिपदं स्त्रीमात्रपरं । वृषस्यन्ती या पतिभर्तारमिति व्युत्पत्तेः । तं मासमिति कालकर्मा-
सादनमासाख्यं तस्यावृषल्याः पुरीषेपितरः तस्य आद्धभोक्तुरिति शेषः ॥ २५० ॥

(६) रामचन्द्रः । तस्याः पुरीषे च वृषल्यापुरीषे । तं मासं तस्य आद्धभोक्तुः पितरं शेरते ॥ २५० ॥

पृष्ठा स्वदितमित्येवं तृप्तानाचामयेत्ततः ॥ आचान्तांश्चानुजानीयादभिभोरम्यतामिति ॥ २५१ ॥

(१) मेधातिथिः । आचमनिकमन्त्रपानंदत्वा प्रष्टव्याः । स्वदितमित्यनेन शब्देन स्मृत्यन्तराच्चान्त्रपरिगृह्य प्र-
श्रयंकर्तव्यः । भवति हि कस्यचिदयं स्वभावो यद्यसंनिहितमन्नं सत्यपि तदभिलाषे यन्मन्त्रणया त्रंभृग्यते । संनिहितं गृह्णाति ।
ज्ञात्वा च तृप्ताः स्वदितमित्यनेन शब्देन बृंहणीयाः । वक्ष्यति च पिच्ये स्वदितमिति ॥ २५१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पृष्ठास्वदितमित्याद्येकोद्दिष्टविषये विशेषाभिधानम् तृप्तास्थेति । स्मृत्यन्तरप्रसिद्धा-
द्धान्तरीयप्रश्नस्थाने स्वदितमिति प्रश्नः । विसर्जने चाभिरम्यतामिति । अभितइति छन्दो नुरोधात् ॥ २५१ ॥

(३) कुल्लूकः । तृप्तान् ब्राह्मणान् बुद्ध्वा स्वदितमिति पृष्ठा तेषामाचमनं कारयेत् । कृताचमनांश्च भो इति संबोध्या
भिरम्यतामिति ब्रूयादभितइति पाठे भित्तुभयतइह वां स्वगृहे वास्यतामित्यर्थः ॥ २५१ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रकृतं आद्धसमापनाद्वाह पृष्ठेति द्वाभ्यां । तृप्तान् भूरिभोजनेन । स्वदितमिति पृष्ठानुजानीया-

दित्यन्वयः । तैरपि सुखदितमित्यभिधेयम् । अभिरम्यतां यत्र कापिसुखेनास्यतांभोः ब्राह्मणाः पात्रभोजिनः इत्यनुजानीयादनुज्ञादद्यात् ॥ २५१ ॥

(५) नन्दनः । स्वदतेऽपि भवद्भ्योभोज्यजातमिदमितिपृष्ट्वा । अभितोरम्यतामस्मिन्स्थानआस्यतांसुखमिति ॥ २५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । तृप्तास्थइति पृच्छति तृप्तास्मइति तं ब्रूयुः । स्वदितमिति पृच्छति सुखदितमिति ब्रूयुः । तत आचामयेत् आचान्तांस्ताननुजानीयात् अनुज्ञादद्यात् । अभिरम्यतांस्वेच्छया । अभिरतास्मइति ॥ २५१ ॥

स्वधास्त्वित्येव तं ब्रूयुर्ब्राह्मणास्तदनन्तरम् ॥ स्वधाकारः परा ह्याशीः सर्वेषु पितृकर्मसु ॥ २५२ ॥

(१) मेधातिथिः । भुक्तवद्भिर्गृहगमनाभ्यनुज्ञातैरनन्तरं स्वधेति वाच्यं । स्वधाकारः स्वधाशब्दोच्चारणम् । प्रकृष्टाआशीः पितृकार्येषु सर्वेषु पक्वान्नापक्वान्नाश्राद्धेषु ॥ २५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तत्रस्वधास्त्विति तैः प्रतिवक्तव्यम् । स्वधाकारः स्वधोच्चारणं पराह्याशीः पितृणामिष्टार्थोक्तिः । अत्रसर्वेष्वित्यभिधानात् । एतत्स्मृतिविहितं पार्वणेऽप्येतदेव तृप्तिप्रश्नादि कार्यमित्येके ॥ २५२ ॥

(३) कुल्लूकः । अनुज्ञानानन्तरं ब्राह्मणाः श्राद्धकर्तारं स्वधास्तुइति ब्रूयुः । यस्मात्सर्वेषु श्राद्धतर्पणादिपितृकर्मसु स्वधाशब्दोच्चारणं प्रकृष्टाआशीः ॥ २५२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच स्वधेति तं श्राद्धकर्तारं ब्राह्मणाः स्वधेति ब्रूयुः । किमिति स्वधेति ब्रूयुस्तत्राह स्वधाकारइति । स्वधोच्चारणं प्रकृष्टाशीर्यतः ॥ २५२ ॥

(६) रामचन्द्रः । ते स्वधाइति ब्रूयुः । स्वधोच्यतां अस्तु स्वधा । स्वधाकारः पितृकर्मसु परा ह्याशीः ॥ २५२ ॥

ततोभुक्तवतां तेषामन्नशेषं निवेदयेत् ॥ यथा ब्रूयुस्तथा कुर्यादनुज्ञातस्ततोद्विजैः ॥ २५३ ॥

(१) मेधातिथिः । भुक्तमन्नं तेभ्योनिवेदयितव्यं । प्रष्टव्यास्तेदमस्तीति यथा ब्रूयुस्तथा कुर्यादनुज्ञातोऽननुज्ञातेन नान्यत्र विनियोक्तव्यम् ॥ २५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ततोभुक्तवतामित्यादि प्रकृतपार्वणविषयम् ॥ २५३ ॥

(३) कुल्लूकः । स्वधाशब्दोच्चारणानन्तरं रुतभोजनानां ब्राह्मणानां शेषमन्नमप्यस्तीत्यवशिष्टमन्नं निवेदयेत् तैर्ब्राह्मणैरिदमन्नेनान्नेन क्रियतामित्यनुज्ञातोयथा ते ब्रूयुस्तथान्नशेषविनियोगंकुर्यात् ॥ २५३ ॥

(४) राघवानन्दः । तेषांचाज्ञापालनीयेत्याह ततइति । तैः श्राद्धभोजिभिः । इष्टेभ्योविनियुज्यतामित्यनुज्ञातः ॥ २५३ ॥

(६) रामचन्द्रः । ततः तेषां भुक्तवतामन्नशेषं निवेदयेत् । तैर्द्विजैर्यदनुज्ञातं यथा ब्रूयुस्तथा कुर्यात् तद्यथा अन्नशेषः किंक्रियतां तदाज्ञायथा इष्टैः सह भुज्यतां इति ॥ २५३ ॥

पिन्धे स्वदितमित्येव वाच्यं गोष्ठे तु सुश्रुतम् ॥ संपन्नमित्यभ्युदये दैवे रुचितमित्यपि ॥ २५४ ॥

(१) मेधातिथिः । अन्येनापि तत्कालोचितोपस्थितेनैवमेभिः शब्दैः मोदयितव्यः । अन्यस्त्वाह । अनुज्ञापनमंतैः शब्दैर्भोजनादिप्रवृत्तैः कर्तव्यम् । गोष्ठेगोषुतिष्ठन्तीप्वेकत्रदेशेऽनुश्रुतमिति वाच्यम् । अंस्त्विति सर्वत्र प्रतीयते । दैवेरुचिरं रुचितमिति वा ॥ २५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पिन्धे एकोद्विष्टे पार्वणेऽपि वा । स्वदतइति क्वचित्पाठः । तत्रागुक्तेन स्वदितमित्यनेन विकल्पितं ज्ञेयं । गोष्ठे गोमङ्गलार्थं । गोष्ठे ब्रह्मणभोजने तृप्तेषु विषेषु सुश्रुतमिति वाच्यम् । सुश्रुतमिति शोभनं श्रवणं । गवा-

मस्त्वितितस्यार्थः। सुश्रितमिति क्वचित्पाठः। अभ्युदये विवाहादौ विप्रभोजने । दैवै वैश्वदेविके रोचितमिति । रुचितमिति क्वचित्पाठः ॥ २५४ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानीं प्रसंगाच्छ्राद्धान्तरेषु विशेषविधिमाह पित्र्यइति । पित्र्ये निरपेक्षपितृमातृदेवताकणकोद्दिष्ट-
श्राद्धे तृमिश्रार्थस्त्वदितमिति वाच्यम् । तथा च गोभिलसाङ्गन्यायिनौ । त्वदितमिति तृमिश्रः । मेधातिथिगोविन्दराजौ
तु श्राद्धकालागतेनान्येनापि त्वदितमित्येव कर्तव्यमिति व्याचक्षतुः । श्राद्धे त्वदितमित्येतद्वाच्यमन्येन केनचित् । नानु-
रुद्धमिदं विद्वद्द्वैतश्रद्धधीमहि ॥ गोष्ठे गोष्ठिश्राद्धे सुश्रुतमिति वाच्यम् । गोष्ठ्यां शुद्ध्यर्थमष्टममिति द्वादशविधश्राद्धगणनायां-
गोष्ठीश्राद्धमपि विश्वामित्रेण पठितम् । अभ्युदये वृद्धिश्राद्धे संपन्नमिति वाच्यम् । दैवे देवतोद्देशेन श्राद्धे रुचितमिति
वचनीयम् । दैवश्राद्धं तु भविष्यपुराणोक्तम् । देवानुद्दिश्य यच्छ्राद्धं तत्तु दैविकमुच्यते । हविष्येण विशिष्टेन समम्या-
दिषु यत्नतः ॥ २५४ ॥

(४) राघवानन्दः । त्वदितमित्यादेः पदस्य व्यवस्थित्यर्थमाह पित्र्यइति । पित्र्ये पार्वणे तस्यैव प्रकृतत्वात् । गोष्ठे
विश्वामित्रपठितगणकृतश्राद्धे गोष्ठ्यां यत्क्रियते श्राद्धं गोष्ठीश्राद्धं तदुच्यते । तस्य सत्रस्येव फलं प्रत्येकगामि गणस्याचेत-
नत्वेन गणिनिष्ठत्वात्फलस्य । अभ्युदये वृद्धिश्राद्धे दैवे ॥ देवानुद्दिश्य यच्छ्राद्धं तत्तु दैविकमुच्यते । हविष्येण विशिष्टेन सम-
म्यादिषु यद्भवेदिति ॥ भविष्योक्तं । गोमयशुद्धिवत्त्वदितमित्यादौ वाचनिकं तेन न कवितादर इति ॥ २५४ ॥

(५) नन्दनः । त्वदितइति पृष्ठाऽऽचामयेदित्युक्तम् । अयमेव प्रश्नादिर्युक्तइत्युपपादयति । पित्र्यइति ॥ २५४ ॥

(६) रामचन्द्रः । पित्र्ये एकोद्दिष्टे त्वदितमित्येव वाच्यं गोष्ठेषु सुश्रुतं अन्नादि अधिकं शुद्धिसंपन्नं वा अभ्यु-
दये दैवे रोचितं यथा रोचितम् ॥ २५४ ॥

अपराहस्तथा दर्भावास्तुसंपादनं तिलाः ॥ सृष्टिर्मृष्टिर्द्विजाश्चाद्याः श्राद्धकर्मसु सम्पदः ॥ २५५ ॥

(१) मेधातिथिः । अपराण्हे श्राद्धकर्तव्यं श्राद्धकर्मसु संपदः संपादयितव्याः । अन्यानि वस्तूनि । अवशिष्टाविधाने-
त्यपराण्हे अतः सर्वश्राद्धेषु । एवं हि स्मृत्यन्तरं । पूर्वाण्हे दैविकं कार्यमपराह्णेतुपैतृकं । एकोद्दिष्टं तु मध्याह्ने प्रातर्वृद्धिनिमित्त-
कमिति ॥ वास्तु वेश्म तथा संपादनं यन्मार्जनं सुधादिना भित्तीनां । गोमयेन भूमेरुपलेपनं । दक्षिणाप्रवणताच्च सृष्टिर्विसर्गः
अकार्पण्येनान्नव्यञ्जनदानं मृष्टिर्मार्जनं । अन्नसंस्कारविशेषः । अन्येतुव्याचक्षते संपदेषां विभवशक्तिर्न त्वेतैर्विना अकरणम्
॥ २५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अपराण्हे न्हो द्विभागस्य द्वितीयो भागः । वास्तुसंपादनं दक्षिणाप्रवणत्वादिना । सृष्टिः
त्वादुबहुतरान्नोत्पादनं । मृष्टिरन्नादीनां शुद्धत्वं । संपदः फलोत्कर्षहेतवः ॥ २५५ ॥

(३) कुल्लूकः । अमावास्याश्राद्धस्य प्रकृतत्वात्तद्विषयो यमपराह्णकालः । प्रातर्वृद्धिनिमित्तकमित्यादिना वृद्धिश्रा-
द्धादौ स्मृत्यन्तरे प्रातःकालादिविधानात् । विष्टराद्यर्थादर्भाः । गोमयादिना श्राद्धदेशसंशोधनम् । तिलाश्च त्रिकिरणाद्यर्थाः ।
सृष्टिरकार्पण्येनान्नादिविसर्गः । मृष्टिरन्नादेश्च संस्कारविशेषः । पङ्क्तिपावनादयश्च ब्राह्मणाः । एताः श्राद्धे संपत्तय इत्यभिधा-
नादङ्गान्तरापेक्षं प्रकृत्वमेषां बोधितम् ॥ २५५ ॥

(४) राघवानन्दः । पार्वणस्य कालविदधदुक्तचोक्षादिधर्मात्प्रारयति अपराण्हे इति । पूर्वाह्णवै देवानामपराह्णः

(२५५) सृष्टिः=तुष्टिः (ल)

पितृणां । तथा प्रातर्हि मातृकं श्राद्धं पूर्वाह्णे दैविकं स्मृतं । एकोद्दिष्टं तु मध्याह्णे सायान्हे पार्वणं स्मृतम् ॥ इत्यादि श्रवणात् मातृकमन्वष्टकाश्राद्धं वास्तुसंपादनं । गोमयादिना स्थललेपनं । सृष्टिरकार्पण्येनान्नादेस्त्यागः । सृष्टिरन्नादेः संस्कारः । अग्न्याः पङ्क्तिपावनाः । संपदः साधनानि ॥ २५५ ॥

(५) नन्दनः । अथ श्राद्धसम्पदोऽपि प्रसङ्गदाह अमेति । वास्तुसम्पादनं रमणीयमद्देशस्वीकारः । सृष्टिः सर्जनम् दानमित्यर्थः । सृष्टिः शुद्धिः ॥ २५५ ॥

(६) रामचन्द्रः । श्राद्धकर्मसु संपद आह अपराह इति । अपराहः । तथा दर्भाः । वास्तुसंपादनं गोमयेनोपलेपनं दक्षिणाप्रवणं । तिलाः सृष्टिर्विसर्गः अकार्पण्येनान्वयजनदानं । सृष्टिः पात्राणां शुद्धिः । अग्न्याः द्विजाः ब्राह्मणाः सर्ववेदेषु श्रेष्ठाः ॥ २५५ ॥

दर्भाः पवित्रं पूर्वाह्णे हविष्याणि च सर्वशः ॥ पवित्रं यच्च पूर्वोक्तं विज्ञेया हव्यसंपदः ॥ २५६ ॥

(१) मेधातिथिः । दर्भाः प्रसिद्धाः । पवित्रमन्त्राः । हविषेहितानि योग्यानि हविष्याण्युत्तरश्लोके तानि वक्ष्यन्ते । पवित्रपावनं शुच्याचारता यच्चोक्तं पूर्वोक्तं वा वास्तुसंपादनं सृष्टिर्षष्टिर्ब्राह्मणाश्च श्रेष्ठाः श्रुतशीलसंपन्नाः हव्यसंपदः हव्यं देवतोद्देशेन यागादि ब्राह्मणभोजनं च । हव्यशब्दः कर्मदैविकमुपलक्षयति ॥ २५६ ॥

(२) सर्वज्ञ नारायणः । पवित्रं पावनान्तरं यवजलादि । पूर्वाह्णे ह्योद्दिष्टभागस्य प्रथमभागः । हविष्याणि मुन्यन्नादीनि । यच्च पूर्वोक्तं पित्र्यकर्मण्युक्तं । पवित्रं पावनं । सृष्टिर्द्विजाग्न्याश्च । हव्यं वैश्वदेविकं कर्मलक्षणया । एवं च श्राद्धे दैवकर्मणो नुरोधार्थं कुतपे प्रारम्भः । पित्र्यस्य च प्रधानत्वात् । अपराह्णे नुष्ठानसमाप्तिरिति गम्यते । तदा दायैव च श्राद्धे कुतपः प्रशंसा । तत्रापि पितृयज्ञं तु निर्वर्त्येत्यभिधानादपराह्णप्रामौ श्राद्धप्रयोगमव्ययं प्रधानकर्मणः प्राक्पिण्डपितृयज्ञानुष्ठानम् ॥ २५६ ॥

(३) कुड्डूकः । पवित्रमन्त्राः पूर्वाह्णः कालः हविष्याणि मुन्यन्नादीनि सर्वाणि च यच्च पवित्रपावनं वास्तुसंपादनादि पूर्वमुक्तम् । एताश्च देवार्थस्य कर्मणः समृद्धयः । हव्यशब्दो दैवकर्मोपलक्षणार्थः ॥ २५६ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्प्रतियोगितया दैवकालं विदधदपूर्वधर्मान् विधत्ते दर्भा इति । उदगयने पूर्वपक्षे प्रागावर्तनादहः कालं विद्यादिति गोभिलसूत्रात् । पवित्रमन्त्रं । पुनः पवित्रपदं अविगीतब्राह्मणविषयम् ॥ २५६ ॥

(५) नन्दनः । हव्यसम्पदोऽपि प्रसङ्गदाह दर्भा इति । शक्तिः पवित्राणि सूक्तानि जप्यानि । पूर्वोक्तं पवित्रदेशादयः ॥ २५६ ॥

(६) रामचन्द्रः । पवित्रमन्त्राः यच्च पवित्रपूर्वोक्तं सृष्ट्यादि हव्यसंपदः हव्यकर्मणिसंपदः एताः उक्ताः दर्भादयः ॥ २५६ ॥

मुन्यन्नानि पयः सोमो मांसं यच्चानुपस्कृतम् ॥ अक्षारलवणं चैव प्रकृत्या हविरुच्यते ॥ २५७ ॥

(१) मेधातिथिः । मुनिर्वानप्रस्थस्तस्यान्नानि आरण्यानि नीवारादीनि । एतच्च प्रदर्शनं ग्राम्याणामपि ब्रीह्यादीनां । तथावाचीने श्लोके सर्वग्रहणं । उत्तरत्र च । हविर्यच्चिररात्रायेति प्रक्रम्यतिलैर्ब्रीहियवैर्माषैरिति ग्राम्याणामप्यनुक्रमणं । पयः क्षीरं तद्विकारा अपि दध्यादयोगृह्यन्ते स्मृतिसमाचाराभ्यां । सोमः ओषधिविशेषः । अनुपस्कृतमधिकृतमप्रतिषिद्धम् । सूना मांसाद्यनुपस्कृतम् । अक्षारलवणम् । अन्नसंदिहते । किं द्वन्द्वगर्भं हि वृत्तिद्वयमाश्रयणीयम् । प्रतिपदं च नञः संबन्धो भेद-

स्तद्गुरुभवेति प्रकृत्या हविरनाश्रितविशेषेण तद्विज्ञेयं हविष्येण वर्तते । हविष्यात्प्रातराशान्दुङ्गत्यादि सामान्यचोद-
नासु तद्विष्यंज्ञेयम् ॥ २५७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मुन्यन्नान्यकृष्टपच्यानि श्यामाकनीवारादीनि । पयइति सविकारग्रहणात् दुग्धदधिघृता-
नां ग्रहणम् । सोमः सोमलता अनुपस्कृतं मरीचादिना स्वादान्तरमप्रापितम् । अक्षारलवणं बिडादेः क्षारादन्यल्लवणं सामुद्रं
सैन्धवंवा । प्रकृत्या स्वभावेन स्थितं । वस्त्वन्तरामिश्रितं । सर्वमेतद्विर्ह्वयम् ॥ २५७ ॥

(३) कुड्डूकः । मुनेर्वानप्रस्थस्यान्नानि नीवारादीनि । पयःक्षीरं । सोमलतारसः । अनुपस्कृतमविकृतं पूतिगन्धा-
दिरहितं मांसम् । अक्षारलवणमकृत्रिमलवणं सैन्धवादि एतत्स्वभावतो हविर्मन्वादिभिरभिधीयते ॥ २५७ ॥

(४) राघवानन्दः । हविष्याणीत्युक्तं व्याचष्टे मुन्यन्नानीति । नीवारादीनि । गव्यंपयः । सोमः सोमलतारसः ।
मांसं वार्धीणसादेः । अनुपस्कृतमविकृतं पूतिगन्धादिरहितमिति यावत् । प्रकृत्या स्वभावतः अनुक्ते विशेषे ॥ २५७ ॥

(५) नन्दनः । अनुपस्कृतं लौकिकसंस्कारसंस्कृतम् । प्रकृत्या हविः स्वभावरसेन युक्तं हविरुच्यते विद्वद्भिः
॥ २५७ ॥

(६) रामचन्द्रः । पयः क्षीरं सोमलतारसः मांसं अनुपस्कृतमप्रतिषिद्धं हविष्यादिसंस्कृतं अक्षारलवणं सैन्ध-
वादि एते प्रकृत्या स्वभावेन हविर्हविष्यान्मुच्यन्ते ॥ २५७ ॥

विसृज्य ब्राह्मणांस्तांस्तु नियतोबाग्यतः शुचिः ॥ दक्षिणां दिशमाकांक्षन्त्याचेतेमान्वरा

न्पितृन् ॥ २५८ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रासङ्गिकः पूर्वश्लोकः । इदानीं प्रकृतशेषमेवाह विसृज्यानुज्ञाय यथा सुखविहारे ब्राह्मणां-
स्तां प्रभुक्तवतः । अनन्तरं दक्षिणां दिशमीक्षमाण इमान् वरानभिलषितार्थान्पितृन्प्राथयेत् स्वपितृभ्यायेत् युष्मासु प्रसन्नेष्वि-
दंनः संपाद्यतामित्येवं याचितव्यम् ॥ २५८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रयतो नन्यमनाः । आकांक्षन् साभिलाषं पश्यन् । इमान् वक्ष्यमाणान् । वरानभीष्टार्थान् ।
पितृन् याचेत ॥ २५८ ॥

(३) कुड्डूकः । तान् ब्राह्मणान्विसृज्या नन्यमनाः मौनी पवित्रो दक्षिणां दिशं वीक्षमाण एतान् वक्ष्यमाणान् अभिलषिता-
नर्थान् पितृन्प्राथयेत् ॥ २५८ ॥

(४) राघवानन्दः । आद्वस्योत्तराङ्गमाशीरिति ख्यापयन् तत्क्रममाह विसृज्येति । नियतोऽनन्यमनाः । आका-
ङ्क्षन् लोकयन् । इमान् दात्रादिपञ्चकान् पितृन्पति ॥ २५८ ॥

(५) नन्दनः । आकाङ्क्षणमाभिमुख्यम् । इमान् वक्ष्यमाणान् ॥ २५८ ॥

(६) रामचन्द्रः । विसृज्य तान् ब्राह्मणान् नियतः शुचिः बाग्यतः सन्दक्षिणां दिशं आकांक्षन् साभिलाषं पश्यन्पितृनि-
मान् वरान्प्राप्त्यलक्षणान् याचेत ॥ २५८ ॥

दातारोनोभिवर्द्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च ॥ श्रद्धा च नोमाव्यगमद्वहुधेयं च नोस्त्विति ॥ २५९॥

[अन्नंचनोबहुभवेदतिथींश्च लभेमहि ॥ याचितारश्च नः सन्तु माचयाचिष्म कंचन ॥१॥ *

श्राद्धभुक् पुनरश्नाति तदहुर्योद्विजाधमः॥ प्रयाति शूकरी योनिं कृमिर्वा नात्र संशयः ॥२॥ ५५]

(१) मेधातिथिः । केपुनस्तेवरायाचितव्याइत्यत आह मन्त्रवदयंश्लोकः पठितव्यः ॥ २५९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । देयंबहु भवतु दानप्रधानाःस्यामेत्यर्थः ॥ २५९ ॥

(३) कुल्लूकः । अस्मत्कुले दातारःपुरुषावर्द्धन्ताम् । वेदाश्चाध्ययनाभ्यापनतदर्थबोधतदर्थयागाद्यनुष्ठानैर्वृद्धिमाभुवन्तुपुत्रपौत्रादिकंच वर्द्धताम् । वेदार्थश्रद्धाचास्मत्कुले न व्यपैतु । दातव्यंच धनादिकंबहु भवतु ॥ २५९ ॥

(४) राघवानन्दः । नः अस्मत्कुले वेदाः स्वाध्यायेनानवच्छिन्नाभवन्तु । सन्ततिः पुत्रपौत्रादिः वर्धतामित्यनुषङ्गःकिंच श्रद्धा माव्यगमत् माऽपैतु ॥ २५९ ॥

[राघवानन्दः । किंच अन्नमिति नः अस्मान्प्रति याचितारोयाचकाः सन्तु आद्यान्तु । माचयाचिष्मकंचन न कंचनप्रति याचनानामकुर्मः ॥१॥]

(६) रामचन्द्रः । अस्माकं दातारः अभिवर्द्धन्तां वेदावर्द्धन्ताम् सन्ततिरेवच पुनः सन्तत्यवर्द्धन्तां नः अस्माकं श्राद्ध मा व्यगमत् अस्माकं बहुदेयम् अस्तु इति ॥ २५९ ॥

[रामचन्द्रः । अन्नमिति । कंचन मास्म याचिष्मकंचन न याचेमइत्यर्थः ॥१॥]

एवं निर्वपणं कृत्वा पिण्डांस्तांस्तदनन्तरम् ॥ गां विप्रमज्जमग्निं वा प्राशयेदप्सु वा क्षिपेत् ॥ २६० ॥

(१) मेधातिथिः । तदनन्तरं वरयाचनानन्तरं पिण्डान्पितृभ्योनिरुमान्गवादीन्प्राशयेत् । अग्नौ प्रक्षिपेत् । प्राशनं प्राशयेदितिपाठान्तरम् ॥ २६० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवं पूर्वोक्तविधिना वरान्माचित्वातदनन्तरंप्राशनानन्तरं पिण्डानानिर्वपणंकृत्वा तान्पिण्डान्गवादन्यतरमाशयेदप्सु वा निक्षिपेदिति वैशिष्टकालिकंपिण्डनिर्वपणंप्रतिपत्तिविशेषसहितं दर्शितम् । विप्रंश्राद्धिभ्योन्यम् ॥ २६० ॥

(३) कुल्लूकः । एवमुक्तप्रकारेण पिण्डानांप्रदानंकृत्वा प्रकृतवरयाचनानन्तरंतान्पिण्डान्गांब्राह्मणंछागंवा भोजयेत् । अग्नौ जले वा क्षिपेत् ॥ २६० ॥

(४) राघवानन्दः । प्रकृतंश्राद्धमुपसंहरन्पिण्डस्योत्तरप्रतिपत्तिस्थानान्ग्राह एवमिति । अजं छागं अग्निं गार्हपत्यादिम् ॥ २६० ॥

(५) नन्दनः । एवमिति पिण्डनिर्वपणप्रकारस्य पूर्वोक्तस्यपरामर्शः । पूर्वोक्तेन प्रयोगेण ब्राह्मणंभोजनानन्तरंपिण्डनिर्वापणंकृत्वेत्यर्थः ॥ २६० ॥

(६) रामचन्द्रः । एवंपिण्डनिर्वपणंकृत्वा तदनन्तरंतान्पिण्डान् गांप्राशयेदक्ष्णं कारयेत् । विप्रंवा अजंवा प्राशयेत् अग्निंवाअग्निमध्येवा प्रक्षिपेत् । अप्सु वा क्षिपेत् ॥ २६० ॥

* (क, ख, ग, ज, झ, अ, ण)

५५ (ग) चिह्नितपुस्तके ।

पिण्डनिर्वपणं केचित्पुरस्तादेव कुर्वते ॥ वयोभिः खादयन्त्यन्ये प्रक्षिपन्त्यनलेप्सु वा ॥ २६१ ॥

(१) मेधातिथिः । ब्राह्मणभोजनात्पुरस्तात्केचित्कुर्वन्ति वयोभिः खादयन्त्यन्येऽधिकेयं पूर्वस्मात्प्रतिपत्तिः । अनलोभिः । पूर्वोक्तमेवानुदितं । उच्छिष्टसन्निधौ चैतत्पुरस्तात्पिण्डदानमिष्यते ॥ २६१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नन्वेवं भोजनात् प्राक्पिण्डनिर्वपणं पूर्वोक्तविरुध्यत इत्यत आह पिण्डनिर्वपणमिति । ये पुरस्तात् ब्राह्मणभोजनात् कुर्वते ते वयोभिरित्यादिप्रतिपत्तित्रयस्यान्यतरं कुर्वन्ति ॥ २६१ ॥

(३) कुड्ढकः । पिण्डप्रदानं केचिदाचार्याः ब्राह्मणभोजनानन्तरं कुर्वन्ते । अन्ये पक्षिभिः पिण्डान् खादयन्ति । इयं च पक्षिभोजनरूपा प्रतिपत्तिरद्भ्युदकप्रक्षेपयोर्वैकल्पिकीति दर्शयितुमुक्तयोरप्यभिधानम् ॥ २६१ ॥

(४) राघवानन्दः । पार्वणविषये स्वमते पिण्डदानमादाविति स्पष्टयन्मतान्तरमाह केचिदिति । परस्ताद्विप्रभोजनानन्तरं । तस्य मतभेदेन प्रतिपत्तिस्थानान्याह वयोभिरित्यधिकं प्रतिपत्तिस्थलम् । मेधातिथिस्तु । पुरस्तादिति पठित्वा व्याख्याति भोजनात्पुरस्तात्कृते ब्राह्मणभोजने हविः कुर्वन्तीति उच्छिष्टसंनिधावेतत्पिण्डदानमिष्यत इति हेतुचष्टे अतो वयोभिः खादयन्ति केचिदिति संबन्धः साधीयान् । प्रक्षेपे विकल्पो न तु पिण्डदान इति सुष्ठुक्तम् ॥ २६१ ॥

(५) नन्दनः । पक्षान्तरमाह पिण्डेति । पुरस्तादेव कुर्वते न पश्चादिति । प्रतिपत्तावपि पिण्डानां प्रकारान्तरमुत्तरार्धेनोक्तम् ॥ २६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । केचित् पिण्डनिर्वपणं पुरस्तादेव कुर्वन्ते वयोभिः पक्षिभिः खादयन्ति । अन्ये अनले वा प्रक्षिपन्ति ॥ २६१ ॥

पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा ॥ मध्यमं तु ततः पिण्डमद्यात्सम्यक्सुतार्थिनी ॥ २६२ ॥

(१) मेधातिथिः । आद्यन्तयोः पिण्डयोरेषा प्रतिपत्तिः । मध्यमन्तु ततस्तेषां पिण्डानां यो मध्यमः तं धर्मपत्नी पुत्रार्थिनी अद्यात् । या न कामार्थामूढा पतिरेव मया परिचरणीयो मनसापि व्यभिचारो न कर्तव्य इति यस्यानियमः सा पतिव्रता । पितृभक्तिः पितृपूजने श्रद्धादिकर्मणितत्परा श्रद्धावती प्रयत्नेन तदाराधनादौ प्रवर्तते । सम्यगद्यादाचमनादिविधिना नियमेन च ॥ २६२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धर्मपत्नी सवर्णा सम्यक् मन्त्रवत् यदि सुतार्थिनी तदाऽद्यात् ॥ २६२ ॥

(३) कुड्ढकः । धर्मार्थकामेषु मनोवाकायकर्मभिः पतिरेव मया परिचरणीय इति व्रतं यस्याः सा पतिव्रता । धर्मपत्नी सवर्णा प्रथमोदा श्रद्धाक्रियाणां श्रद्धाशालिनी पुत्रार्थिनी तेषां पिण्डानां मध्यमं पितामहपिण्डं भक्षयेत् । सम्यगाधत्त पितरोगर्भमित्यादिश्लोक्तमन्त्रेण ॥ २६२ ॥

(४) राघवानन्दः । गोदोहन्यायेन पिण्डमाश्रित्य दृष्टफलं किंचिद्विधत्ते पतिव्रतेति द्वाभ्यां । पतिव्रता धर्मार्थकामेषु मनोवाकायकर्मभिः पतिरेव परिचरणीय इति व्रतं यस्याः सा मध्यमं पितामहपिण्डं । सम्यगितिसम्यक् । आधत्त पितरोगर्भमित्यादिमन्त्रोपलक्षणार्थम् ॥ २६२ ॥

(६) रामचन्द्रः । पतिव्रता धर्मपत्नी मध्यमं पिण्डं सुतार्थिनी अद्यात् । सम्यक् मन्त्रवत् ॥ २६२ ॥

आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोभेधासमन्वितम् ॥ धनवन्तं प्रजावन्तं सात्त्विकं धार्मिकं तथा ॥ २६३ ॥

(१) मेधातिथिः । भक्षयित्वा तु तं पिण्डं सुतं पुत्रं सुते जनयति । मेधाग्रहणशक्तता तया समन्वितं युक्तम् । सत्त्वं नाम गुणः साङ्ग्येषु प्रसिद्धः । धैर्योत्साहादिद्योत्यस्तद्युक्तम् ॥ २६३ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । सात्त्विकं सत्त्वगुणसंपन्नम् ॥ २६३ ॥

(३) कुल्लूकः । तेन पिण्डभक्षणेन दीर्घायुषं कीर्तिधारणात्मकबुद्धियुक्तं धनपुत्रादिसन्ततिधर्मानुष्ठानसत्त्वाख्यगुणान्वितं पुत्रं जनयति ॥ २६३ ॥

(४) राघवानन्दः । सात्त्विकमिति धार्मिकत्वेऽपि कामनानिवृत्त्यर्थं सात्त्विकधर्मरतत्वा ॥ २६३ ॥

(६) रामचन्द्रः । आयुर्यशोभेधासमन्वितं । एतादृशं सुतं सूते ॥ २६३ ॥

प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत् ॥ ज्ञातिभ्यः सत्कृतं दत्त्वा बान्धवानपि भोजयेत् ॥ २६४ ॥

(१) मेधातिथिः । पिण्डेषु प्रतिपादितेषु तौ हस्तौ प्रक्षालयेत् । ततः आचमनविधिं कुर्यात् । ज्ञातिभ्यो दद्यात् । तेभ्यः सत्कृतं दत्त्वा बान्धवेभ्योऽपि दद्यात् । ज्ञातीन् प्रैति गच्छति प्रामोतीति ज्ञातिप्रायं कुर्यात् । ज्ञातयः सगोत्रामातृश्वशुरपक्षाबान्धवाः । अत्र चोच्यते यदुक्तं यथा ब्रूयुस्तथा कुर्यादिति यदितैरुक्तं गृहान् स्मदीयाने तदन्वप्राप्यतामिति तदा वैश्वदेवहोमादीनां कागतिः । पाकान्तरं कर्तव्यम् अथवा ऽदृष्टार्थमेवान् शेषनिवेदनं नित्यवदाग्रायते । शेषमन्मन्युक्ते ऽदृष्टेभ्य इति ब्रूयुरिति पाक्षिकं चैतत्स्याद्यदिते गृह्णीयुः ॥ २६४ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । ज्ञातिप्रायं ज्ञातिभिः सपिण्डैर्बहुभिर्भुक्तमन्मन्यथा भवति तथा प्रकल्पयेत् कुर्यात् । बान्धवान्मातुलादीन् संबन्धिनः ॥ २६४ ॥

(३) कुल्लूकः । तदनु हस्तौ प्रक्षाल्य ज्ञातिप्रायमन्मन्य कुर्यात् । ज्ञातीन् प्रैति गच्छतीति ज्ञातिप्रायम् । कर्मण्यण् । ज्ञातीन् भोजयेदित्यर्थः । तेभ्यः पूजापूर्वकमन्मन्यत्वा मातृपक्षानपि सार्हणं भोजयेत् ॥ २६४ ॥

(४) राघवानन्दः । शूद्रादिव्यावृत्त्यर्थमुक्तं सृष्टेः पात्रमाह प्रक्षालयेति । ज्ञातिप्रायं ज्ञातीन् प्रैति प्रीणाति गच्छतीति वा ज्ञातिभ्यो देयमिति । राक्षसं तद्भवेच्छ्राद्धं दशयत्रन मुञ्जत इति स्मृतेः । बान्धवान् मातृपक्षान् ॥ २६४ ॥

(५) नन्दनः । पिण्डप्रतिपत्त्यनन्तरं कर्तव्यमाह प्रक्षालयेति । ज्ञातिप्रायं ज्ञातिबाहुल्यम् । प्रकल्पयेदापादयेत् ज्ञातीन् संघातयेदित्यर्थः । ज्ञातिबान्धवान् सम्बन्ध्यादीन् ॥ २६४ ॥

(६) रामचन्द्रः । ज्ञातिभ्यः भोज्यं सत्कृतं प्रकल्पयेत् । ज्ञातिभ्येति गच्छति प्रामोतीति प्रायं कुर्वति तत्तज्ज्ञातिभ्यो दद्यात् । ज्ञातिभ्यो दत्त्वा पश्चाद्बान्धवानपि पूजयेत् ॥ २६४ ॥

उच्छेषणं तु तत्तिष्ठेद्यावद्विप्राविसर्जिताः ॥ ततो गृहबलिं कुर्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ २६५ ॥

(१) मेधातिथिः । भुज्जानानां यत्किञ्चिद्भुज्यधिकरणपात्रसंलग्नं भूमिपतितं च तत्र तस्माद्देशादवमार्ष्टव्यं यावद्ब्राह्मणाननिष्क्रान्ताः । ततो गृहबलिं निष्पन्ने श्राद्धकर्मण्यनन्तरं वैश्वदेवहोमान्वाहिकातिथ्यादिभोजनं कर्तव्यम् । बलिशब्दस्य प्रदर्शनार्थत्वात् । अन्येतु भूतस्य यज्ञएव बलिशब्देन प्रसिद्धतरस्तथाग्रौ होमो न प्राग्विरुध्यत इत्याहुः । न चैतद्वाच्यं पिण्डे कर्मणि प्रारब्धे कथं कर्मान्तरस्य तदन्तः करणम् । यथैव पूर्वेषु निमित्ततेषु ब्राह्मणेषु सायं प्रातर्होमकरणं गृहकल्मेशाद्भूतस्य वि-

सद्धमेवं वैश्वदेवहोमोऽप्यौपसदाग्रिकः तेन भूतयज्ञात्पराश्वः पदार्थाउत्क्रम्यन्ते नार्वाश्वः अत्रोच्यते यदि प्रागशौवैश्वदेव-
होमः क्रियते ततःश्राद्धानन्तरंबलिहरणं तथासति देवयज्ञभूतयज्ञौव्यवधीयेतां । ततश्च क्रमोपरोधो नच वैश्वदेवस्य
कालबाधः क्रियते । पितृश्राद्धकालहानेः । तस्मात्सर्वमहायज्ञानुष्ठानंश्राद्धादौत्तरकालिकम् ॥ २६५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विसर्जितास्तत्र यावन्निष्ठन्तीति तिष्ठेदित्येतस्य वचनपरिणामेनानुषङ्गः । गृहबलिमिति
वैश्वदेवस्याप्युपलक्षणम् ॥ २६५ ॥

(३) कुल्लूकः । तद्ब्राह्मणोच्छिष्टंतावत्कालंतिष्ठेद्यावद्ब्राह्मणानां विसर्जनं ब्राह्मणेषु तु निर्गतेषु मार्ष्टव्यमित्यर्थः । ततः
संपन्ने श्राद्धकर्षणि वैश्वदेवबलिहोमकर्मनित्यश्राद्धातिथिभोजनानि कर्तव्यानि बलिशब्दस्य प्रदर्शनार्थत्वात् । अतएव
मत्स्यपुराणे । निवृत्त्यप्रतिपत्त्यर्थपर्युक्ष्याग्रिच मत्त्रवित् ॥ वैश्वदेवप्रकुर्वीत नैत्यकंविधिमेवचेति ॥ २६५ ॥

(४) राघवानन्दः । उच्छिष्टस्थितिकालविशेषंविदधैश्वदेवादेः श्राद्धोत्तरत्वमाह उच्छेषणमिति । तथाचमा-
त्स्यम् । निवृत्त्यप्रतिपत्त्यर्थपर्युक्ष्याग्रिसमन्वितम् । वैश्वदेवप्रकुर्वीत नैत्यकंबलिकर्म चेति ॥ अत्रोमेधातिथिः तस्मात्सर्वम-
हायज्ञानुष्ठानंश्राद्धादुत्तरकालिकमिति । उच्छेषणं ब्राह्मणोच्छिष्टम् ॥ २६५ ॥

(५) नन्दनः । गृहबलिवैश्वदेवहोमभूतबल्यात्मकम् ॥ २६५ ॥

(६) रामचन्द्रः । तावदुच्छेषणमुच्छिष्टंतिष्ठेत् यावद्विप्राविर्जिताः । विसर्जयेदित्यर्थः ॥ २६५ ॥

हविर्यच्चिररात्राय यच्चानन्त्याय कल्प्यते ॥ पितृभ्योविधिवद्वत्तं तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २६६ ॥

(१) मेधातिथिः । चिररात्रशब्दोदीर्घकालवचनः । यच्चानन्त्यायकेनचिद्वचनंनैवैतदुभयंब्रवीमोतिप्रणिधानार्थमु-
च्यते कल्पते अतइत्यभ्याहार्यम् ॥ २६६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चिररात्राय मासदिद्वादशवर्षपर्यन्तानेककालतृप्तये । आनन्त्यायानन्त्याय कालाय तद-
ध्वमपितृमये ॥ २६६ ॥

(३) कुल्लूकः । यैश्चान्नैरिति पूर्वमुक्तमपि व्यवधानादबुद्धिस्थंशिष्यसुखमतिपक्षये पुनर्वक्तव्यतया प्रतिजानीते ह-
विरिति । चिररात्रायपदमव्ययं चिरकालवाचि । अतएव चिरायचिररात्रायचिरस्यावाश्विसर्थकत्रइत्यभिधानिकाः ।
यद्यद्विःपितृभ्योयथाविधिवद्वत्तंचिरकालतृप्तये अनन्ततृप्तये च संपद्यते । तन्निःशेषेणाभिधास्यामि ॥ २६६ ॥

(४) राघवानन्दः । खादिरन्यायेन श्राद्धाद्बुद्ध्यं विदधत्फलं प्रतिजानीते हविरिति । चिररात्रिव्याप्तातीव सुखा-
येति वाक्यार्थः ॥ २६६ ॥

(५) नन्दनः । चिररात्रायेति कालदैर्घ्यम् । आनन्त्यायेति हविषोऽक्षय्यत्वम् ॥ २६६ ॥

(६) रामचन्द्रः । यन्हविः चिररात्राय बहुकालपर्यन्ताय तदानन्त्याय कल्पते भवति पितृभ्यो यद्विधिवद्वत्तं तद-
शेषतः प्रवक्ष्यामि ॥ २६६ ॥

तिलैर्ब्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन वा ॥ दत्तेन मासं तृप्यन्ति विधिवत्पितरोनृणाम् ॥ २६७ ॥

(१) मेधातिथिः । तिलादिग्रहणनेतरधान्यपरिसंख्यानार्थमपितृन्नामंफलविशेषप्रदर्शनार्थम् । एतैर्विधिवदनैरपि-
मासंतीर्यन्ते । विधिवत्पितरोनृणामित्याद्यनुवादपदानि वृत्तपूरणार्थानि ॥ २६७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मूलफलेन स्मृत्यन्तरे श्राद्धीयत्वेनोक्तेन ॥ २६७ ॥

(३) कुङ्कूकः । तिलधान्ययवमाषजलमूलफलानामन्यतमेन यथाशास्त्रं श्रद्धया दत्तेन मनुष्याणां मासं पितरस्तृप्यन्ति ।
रुष्णामाषास्तिलाश्चैव श्रेष्ठाः स्युर्यवशालयइति ॥ वायुपुराणवचनान्माषैरिति रुष्णामाषाबोद्धव्याः ॥ २६७ ॥

(४) राघवानन्दः । तदेवाह तिलैरिति नवभिः तिलमाषयोः रुष्णत्वं विवक्षितम् । रुष्णामाषास्तिलाश्चैव श्रेष्ठाः स्यु-
र्यवशालयइति वराहपुराणोक्तेः ॥ अद्भिः नवोदकैः । विधिवद्दत्तै रित्यन्वयः । मासमित्यादि कालकर्म ॥ २६७ ॥

(५) नन्दनः । दत्तेन श्राद्धेनेति शेषः ॥ २६७ ॥

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान् हारिणेन तु ॥ औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनाथ पञ्च वै ॥ २६८ ॥

(१) मेधातिथिः । उरभ्रामेषाः । शकुनयआरण्याः कुङ्कुटाद्याः । मत्स्याः पाठीनाद्याः ॥ २६८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मत्स्यः पाठीनादिः । उरभ्रामेषः । शाकुनेन भक्ष्यपक्षिमांसेन ॥ २६८ ॥

(३) कुङ्कूकः । पाठीनादिमत्स्यानां मांसेन द्वौ मासौ पितरः प्रीयन्तइति पूर्वेण संबन्धः । त्रीन्मासान् हारिणेन मांसेन ।
चतुरो मेषमांसेन पञ्चद्विजातिभक्ष्यपक्षिमांसेन ॥ २६८ ॥

(४) राघवानन्दः । मत्स्यमांसेन पाठीनादिमत्स्यानां मांसेन मांसपदं शल्ककण्टकदग्धादिव्यावृत्त्यर्थं । हारिणेन
हारिणमांसेन औरभ्रेण मेषमांसेन शाकुनेन निषिद्धेतरपक्षिमांसेन इह श्राद्धे दत्तेनेत्यन्वयः ॥ २६८ ॥

(५) नन्दनः । हारिणेन हरिणमांसेन । हरिणः रुष्णमृगः । औरभ्रेणोरभ्रमांसेन उरभ्रामेषः ॥ २६८ ॥

(६) रामचन्द्रः । औरभ्रेण मांसेन मेषस्य मांसेन चतुरो मासान् तृप्तिर्भवति ॥ २६८ ॥

षण्मासांश्छागमांसेन पार्षतेन च सप्त वै ॥ अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु ॥ २६९ ॥

[अष्टावैणेयमांसेन पार्षतेनाथ सप्त वै ॥ अष्टावैणेयमांसेन रौरवेण नवैव तु ॥ १ ॥] (मेधा०)

(१) मेधातिथिः । रुरुषृतैणामृगजातिविशेषवचनाः । रौरवेण पार्षतेन । ऐणेयेति विकारेतद्धितः ॥ २६९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पृषतो बिन्दुमान्मृगः । एणो हरिणभेदः । रुरुर्मृगभेदः ॥ २६९ ॥

(३) कुङ्कूकः । षण्मासांश्छागमांसेन । प्रियन्ते पृषतश्चित्रमृगस्तन्मांसेन सप्त । एणमांसेनाष्टौ । रुरुमांसेन नव ।
एणरुरुहरिणजातिविशेषौ ॥ २६९ ॥

(४) राघवानन्दः । पार्षतेन चित्रमृगमांसेन एणोरुरुश्च मृगजातिविशेषौ ॥ २६९ ॥

(५) नन्दनः । रुरुः रुष्णसारः ॥ २६९ ॥

(६) रामचन्द्रः । पार्षतेन चित्रकेन मृगेण पृषत्संज्ञस्य मृगस्य मांसेन एणसंज्ञस्य मांसेन । रौरवेण रुरोर्मांसेन २६९

दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः ॥ शशकूर्मयोस्तु मांसेन मासानेकादशैव तु ॥ २७० ॥

(१) मेधातिथिः । वराहश्चारण्यसूकरः ॥ २७० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कूर्मः कच्छपः ॥ २७० ॥

(३) कुङ्कूकः । दशेति । दशमासानारण्यसूकरमहिषमांसैस्तृप्यन्ति । एकादशशशकच्छपमांसेन ॥ २७० ॥

(५) नन्दनः । वराहमहिषौ वन्यौ ॥ २७० ॥

संवत्सरे तु गव्येन पयसा पायसेन च ॥ वार्धीणसस्य मांसेन तृमिर्द्वादशवार्षिकी ॥ २७१ ॥

[त्रिपिबं त्विन्द्रिय क्षीणमजापूर्वानुगामिनम् ॥ त्वैवार्धीणसंविद्यात् वृद्धं शुक्लमजापतिम् ॥ १ ॥]*

(१) मेधातिथिः । श्रुतानुमितयोः श्रुतसंबन्धस्य बलीयस्त्वाद्व्येन पयसेति संबन्धोनमांसेन प्राकरणिकेन । अन्येतु चशब्दंसमुच्चयार्थीयं पठित्वा व्याख्यानयन्ति मांसेन गव्येन पयसापायसेन वा । पयोविकारः पायसंदध्यादि पयःसंस्कृतओदनः प्रसिद्धः वार्धीणसोजरच्छागः । एवंहिनिगमेषुपठ्यते त्रिपिबं त्विन्द्रियक्षीणं श्वेतंवृद्धमजापतिम् । वार्धीणसंतु तं प्राहुर्याज्ञिकाः पितृकर्मणि ॥ पिबतोयस्य त्रीणि जलं स्पृशन्ति कर्णौ जिह्वा च त्रिभिः पिबतीति त्रिपिबः । यत्तु शब्देन गोमांसभक्षणप्रायश्चित्तमाभ्यातंतन्मधुपर्काष्टकाश्राद्धेभ्योन्यग्रज्ज्ञेयम् ॥ २७१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गव्येन गोसंबन्धिना पयसा न समांसेन गोपयसा सिद्धेनौदनेन । वार्धीणसो निगमउक्तः । कृष्णप्रीवोरक्तशिराः श्वेतपक्षो विहङ्गमः ॥ २७१ ॥

(३) कुल्लूकः । वर्षपुनर्गोभवक्षीरेण तत्साधितौदनेन च तुष्यन्ति । तत्रैव पायसशब्दप्रसिद्धेः । वार्धीणसस्य मांसे नद्वादशवर्षपर्यन्तं पितृकर्मभवति । वार्धीणसश्च निगमे व्याख्यातः । त्रिपिबं त्विन्द्रियक्षीणं श्वेतंवृद्धमजापतिम् । वार्धीणसंतु तं प्राहुर्याज्ञिकाः पितृकर्मणि ॥ नद्यादौ पयः पिबतोयस्य त्रीणि जलं स्पृशन्ति कर्णौ जिह्वा च त्रिभिः पिबतीति त्रिपिबः ॥ २७१

(४) राघवानन्दः । गव्येन मांसेन पयसा गोदुग्धेन तत्साध्येनौदनेन वार्धीणसेनेति । त्रिपिबं त्विन्द्रियक्षीणं श्वेतंवृद्धमजापतिम् । वार्धीणसंतु तं प्राहुर्याज्ञिकायज्ञकर्मणीति ॥ जिह्वया कर्णाभ्यामपः पिबतीति त्रिपिबः लम्बकर्णवृद्धछागो वार्धीणस इति स्मृतः ॥ २७१ ॥

(५) नन्दनः । वार्धीणसो महान्खड्गपृगः ॥ २७१ ॥

(६) रामचन्द्रः । वार्धीणसस्य वृषस्य छागस्य पक्षिविशेषस्य मांसेन द्वादश वार्षिकी तृमिः स्यात् ॥ २७१ ॥

कालशाकं महाशल्काः खड्गलोहामिषं मधु ॥ आनन्त्यायैव कल्प्यन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः ॥ २७२ ॥

(१) मेधातिथिः । कालशाकं विशिष्टशाकं प्रसिद्धम् । कृष्णवास्तुकभेदे वा यथा महाशल्का उच्यन्ते । अन्येतु मत्स्यान्सशल्कानाहुः । खड्गो गण्डकः लोहः कृष्णः छागः सर्वरक्तश्च । तथापुराणं । कृष्णः छागस्तथारक्तः आनन्त्यायैव कल्पते । लोहशब्दो लक्षणयुक्ते छागे वर्तते । अथः कृष्णान्ताग्रलोहितउभयत्रापि लोहशब्दः प्रयुज्यते । यद्यपि चैषवर्णो मिषादिष्वपि संभवति तथापि स्मृत्यन्तरप्रसिद्ध्या छाग एव गृह्यत इति व्याचक्षते । अन्येतु शकुनिर्लोहितपृष्ठः नामैकदेशेन देवदत्तोदत्त इति वत्पतिपद्येतेत्याहुः । समाचारश्चोभयत्रान्यन्वेष्टव्यः मधुमाक्षिकं सर्वत्राप्रतीत्यतिशयोत्पत्तिर्विवक्षिता नतु यथाश्रुत एव कालः तथाहि द्वादशवर्षाण्यकरणस्यात्तन्निर्वृध्येत । पिष्यमानि धनात्कार्यमिति ॥ २७२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सर्वशः सर्वाणि ॥ २७२ ॥

(३) कुल्लूकः । कालशाकाख्यं शाकं महाशल्काः सशल्का इति मेधातिथिः । मत्स्यविशेषा इति युज्यन्ते महाशल्कलिनो मत्स्या इति वचनात् । खड्गो गण्डकः लोहो लोहितवर्णः छाग एव छागेन सर्वलोहेनानन्त्यमिति पैठीनसि वचनात्तयोरामिषं मधुमाक्षिकं मुन्यन्नानि नीवारादीनि आरण्यानि सर्वाणि एतान्यनन्ततृमये संपद्यन्ते ॥ २७२ ॥

* (ल) । (ब) चिन्हितपुस्तके स एव श्लोकः दोकायां दृश्यते

(४) राघवानन्दः । महाशिल्का । महाशिल्किनो मत्स्याइति यमवचनात् ज्ञेयाइति केचित् शल्यकाइति मेधातिथिः । खड्गोण्डइति ख्यातः । लोहोलोहितच्छागः । सर्वलोहेनानन्यमिति पैठीनसिवचनात् ॥ २७२ ॥

(५) नन्दनः । कालशाकः रुष्णनिम्बः । महाशल्कोमत्स्यविशेषः ॥ २७२ ॥

(६) रामचन्द्रः । चैवकः चित्रुकश्चैव कालशाकः प्रकीर्तितः । महाशल्यमत्स्यखण्डखड्गमांसं लोहामिषरक्तच्छागभवंवालोहशब्दोरक्तवर्णतः ॥ २७२ ॥

यत्किञ्चिन्मधुनामिश्रं प्रदद्यात्तु त्रयोदशीम् ॥ तदप्यक्षयमेव स्याद्वर्षासु च मघासु च ॥ २७३ ॥

(१) मेधातिथिः । यत्किञ्चिदन्नंमधुनासंयुक्तम् । त्रयोदश्यांवर्षासुचमघासुचाधिकमिति । तदाचतदक्षयमेव ऋतुनक्षत्रतिथीनांचसमुच्चयः । आपस्तम्बवचनात्तुवर्षासुत्रयोदश्यष्टमीदशमीष्वपि । मघासुचान्तरेणाविवक्षा । एवंहस्माहमघासुचाधिकमिति ॥ २७३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यत्किञ्चित्पायसादन्यदपि चतुर्मासऋतुव्यवस्थया । वर्षासु मघासु मघानक्षत्रे त्रयोदशीं त्रयोदश्यामितिसमुच्चिते तात्पर्यं । चकारद्वयस्यान्योन्यंसमुच्चयार्थत्वात् ॥ २७३ ॥

(३) कुङ्कुमः । ऋतुनक्षत्रतिथीनामयंसमुच्चयः । यत्किञ्चिदित्यप्रसिद्धं । मधुसंयुक्तं वर्षाकाले मघात्रयोदश्यादीयते तदन्यक्षयमेव भवति । त्रयोदश्याधिकरणत्वेपीप्सितत्वविवक्षया प्राप्येत्यध्याहाराद्वा द्वितीया ॥ २७३ ॥

(४) राघवानन्दः । द्रव्यानुवादेन कालविधत्ते यदितिद्वाभ्यां । संदिग्धेषु वाक्यशेषादितिन्यायेनाञ्जनद्रव्यघृतमिति यावत् अपि न इत्यादिवाक्यशेषबलाज्जितिलन्यायाच्च त्रयोदशीविधिः अन्यथा वाक्यभेदात् वर्षास्वित्यादेस्तद्रुणत्वं न च वैपरीत्यं तिथेरेव प्राधान्यात् । अरुणन्यायाद्वा विशिष्टविधिः । वर्षावच्छिन्नमघानक्षत्राद्यन्वयादविरुद्धसाधनानांसमुच्चयएव युक्तः । अतएव मेधातिथिः । प्रकृतांत्रयोदशीं वर्षादि गुणयुक्तामधिकृत्योच्यते इति बहुवचनप्रात्याब्दिकसूचनार्थं मनपेक्षत्वात् यथापयसाग्निहोत्रं जुहोतीति पयोहोमपरे वाक्येर्जातिलयवाग्वाजुहोतीत्याद्यर्थवादः एवं त्रयोदशीश्राद्धप्रशंसापरमन्यत्सर्वमितिन्यायार्थः ॥ २७३ ॥

(५) नन्दनः । सर्वस्मिन्नपिकालेभवत्वक्षयम् । वर्षासु माघपदेमांसे मघासु माघमांसे । अनयोर्मासयोर्यत्किञ्चिद्बहुलत्रयोदश्यादन्ततदन्यक्षयम् ॥ २७३ ॥

अपि नः सकुले जायाद्योमोदद्यात्त्रयोदशीं ॥ पायसंमधुसार्पिर्भ्यां प्राक्छाये कुञ्जरस्य च ॥ २७४ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रकृतांत्रयोदशींवर्षादिगुणयुक्तामधिकृत्येदमुच्यते । एवंपितरंआशांसते । अस्माकंकुलेभूयात्सतादशीजायताउत्कृष्टगुणः प्रागुक्तायांत्रयोदश्यामन्नभ्यंदद्यात्पायसंमधुसार्पिःसंयुक्तं । तथाकुञ्जरस्यहस्तिनः प्राक्छायेप्राच्यादिशिगतायांछायायां अपराणहेतरे कालइत्यर्थः शेषेऽहनिहस्तिनोदीर्घाप्राचीच्छायाभवति । प्राक्छायांइतिवापाठः । छायायांहिब्राह्मणाभोज्यन्ते । अग्रिमंकर्तुमनुयद्यल्पत्वाच्छायायानंसंभवति तद्देशान्तरं । तत्समीपेकर्तव्यम् । अङ्गत्वात्संसितसंभवेतत्सर्वांगोपेतप्रधानंहस्तिच्छायायामेव । यन्नुल्काचक्षते राहूपरांगोहस्तिच्छायोच्यतेहस्तीवैभूत्वास्वर्भानुरासुरिरादित्येतमसाविध्यदिति । तदयुक्तं तत्रहिगौणोहस्तिशब्दप्रयोगः स्मृत्यन्तरैच पृथगेव हस्तिच्छाया ग्रहोपरागादाभ्राताहस्तिच्छाया ग्रहणचन्द्रसूर्ययोरिति ॥ २७४ ॥

(२७४) अपिनःसकुलेजायात्=अपिनःसकुलेभूयात् (ञ, झ, ञ, ठ, ड, ढ)

(२) सर्वज्ञनारायणः । अपि न इति पितृगाथानुकीर्तनम् । पायसे फलबाहुल्यार्थं । त्रयोदशीं त्रयोदश्यां वर्षासु मघासु मघानक्षत्रे चेत्यपि । तथा कुञ्जरस्य हस्तिनः प्राक्छाये प्राग्गामिन्यां छायायां अपराण्हे गजस्य छायायामित्यर्थः ॥ २७४ ॥

(३) कुङ्कुमः । वर्षासु मघायुक्तत्रयोदशी पूर्वोक्ता विवक्षिता । तत्रापि प्रौष्ठपद्यामतीतायां मघायुक्तां त्रयोदशीम् । प्राप्य आर्द्धहि कर्तव्यं मधुना पायसेन च ॥ इति शङ्खवचनात् । भाद्रकृष्णत्रयोदशी पूर्वत्रेह च गृह्यते । पितरः किलैवमाशासते-अपि नाम तथाविधः कश्चिदस्माकंकुले भूयात् । योऽस्मभ्यंप्रकृतायां त्रयोदश्यां तथातिथ्यन्तरेऽपि हस्तिनः पूर्वादिशंगतायां छायायां मधुघृतसंयुक्तपायसं दद्यात् । न तु त्रयोदशी हस्तिच्छायायोः समुच्चयः । यथाह विष्णुः । अपि जायेत सोऽस्माकंकुले कश्चिन्नरोत्तमः । प्रावृट्काले सिते पक्षे त्रयोदश्यां समाहितः ॥ मधुप्लुतेन यः आर्द्धपायसेन समाचरेत् । कार्तिकसकलं वापि प्राक्छाये कुञ्जरस्य च ॥ २७४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच अपीति पितर आशासते अपि संभाव्यते । सोऽस्माकंकुले जायाद्योनोऽस्मभ्यं दद्यादिति अपि जायेत सोऽस्माकंकुले कश्चिन्नरोत्तमः । प्रावृट्काले सिते पक्षे त्रयोदश्यां समाहितः ॥ मधुप्लुतेन यः आर्द्धपायसेन समाचरेदिति विष्णुक्तेः ॥ प्राक्छाये कुञ्जरस्येति विध्यन्तरं प्रागिति निर्देशात् । कुञ्जरस्यैव छाया विवक्षिता न तु योगविशेषः । कर्णव्यजनवीजितमिति वाक्यान्तराच्चेति । अपराण्हे तस्य प्राच्यां छाया स्यात् ॥ २७४ ॥

(५) नन्दनः । अयं श्लोकः पितृगीतः ॥ २७४ ॥

(६) रामचन्द्रः । पितर ऊचुः नः अस्माकंकुले शंभूयात् । त्रयोदशीं त्रयोदश्यां नः अस्माकं मधुसंमिश्रं किंचिद् दद्यात् । पायसं मधुसर्पिर्भ्यामिश्रं कुञ्जरस्य प्राक्छाये आशासते । अस्माकंकुले भूयादिति वदन्ति । दद्यात् प्राक्पूर्वस्यां दिशि गतायां छायायां अपराण्हे । तत्र श्रीपतिराह । कृष्णे पक्षे त्रयोदश्यां मघासिन्धुकरेरविः । यदा तदा गजछाया आर्द्धपुण्यैरवाप्यते ॥ २७४ ॥

यद्यद् ददाति विधिवत्सम्यक् श्रद्धासमन्वितः ॥ तत्तत्पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥ २७५ ॥

(१) मेधातिथिः । यद्यदिति वीप्सायां अप्रतिषिद्धं सर्वमन्नमनुजानाति विधिवत्सम्यक् शब्दावनुवादः श्रद्धासमन्वित इत्येतदत्र विधीयते । श्रद्धया दातव्यं तथा दत्तमनन्तमक्षयं भवति पितॄणां परलोके । अनन्तमिति वा कालावधिनिषेधः । अक्षयमिति मात्रयाव्ययाभावमाह । सर्वकालं भवति प्रभूतं च ॥ २७५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यद्यद्धे भवन्नाद्यपि ददाति मघात्रयोदश्यामेव । विधिवत् सम्यग्विधिना आनन्त्यमतिकालस्थायि अक्षयमनल्यतां गतम् ॥ २७५ ॥

(३) कुङ्कुमः । यद्यदिति वीप्सायाम् । सर्वमन्नमप्रतिषिद्धं यथाशास्त्रं सम्यग्यूपश्रद्धायुक्तः पितृभ्यो ददाति तदनन्तकं सर्वकालमक्षयमनपचितं परलोके पितॄन्मये भवति । अतस्तत्फलार्थिना श्रद्धया देयमिति विधीयते ॥ २७५ ॥

(४) राघवानन्दः । श्रद्धाच्च प्रत्ययविशेषोपि श्रद्धा इति मित्याह यदिति । श्रद्धा हि पितरः सन्ति अस्ति च तेषां श्रद्धेन वृत्तिरिति ज्ञानं तयान्वितस्तद्व्यक्तः आनन्त्यं नानाप्रकारं अक्षयमविनाशि कल्पस्थायीति यावत् ॥ २७५ ॥

(६) रामचन्द्रः । यद्यत् विधिवत्पितॄणां ददाति तत्तत्पितॄणां आनन्त्यमक्षयं भवति ॥ २७५ ॥

रुष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम् ॥ आद्धे प्रशस्तास्तिथयोयथैतान तथेतराः ॥ २७६ ॥

(१) मेधातिथिः । दशम्यादीनांवचनात्फलातिशयोत्पत्तिः अन्यास्वपितु सत्यांशद्वायांकर्तव्यंचतुर्दश्यांतु निषेध एव ॥ २७६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अमावास्याश्राद्धमवश्यंपितृमित्राहुल्यार्थतायां तु रुष्णपक्षे दिनान्तरेऽपि कार्यं तत्रापि दशम्यादिदिनचतुष्टयमधिकफलमित्यर्थः । चतुर्दशीवर्जनमशस्त्रहतानां । यथाचेति विशिष्यतइति वचनात् । अपरपक्षेऽपराणहेचा संभवे पूर्वपक्षे पूर्वाणहे च कार्यमिति लभ्यते ॥ २७६ ॥

(३) कुङ्कुमः । रुष्णपक्षे दशमीमारभ्यचतुर्दशीत्यक्त्वा आद्धे यथा तिथयः श्रेष्ठमहाफलान तथैतदन्याः प्रतिपदादयः ॥ २७६ ॥

(४) राघवानन्दः । आद्धस्य प्रशस्तान्तिथीनाह रुष्णपक्षइति । एकांचतुर्दशीं वर्जयित्वा अमान्ताः पञ्चेतराः प्रतिपदादिनवम्यन्तानव प्रशस्ताः तास्वपि आद्धकार्यं । तदुक्तं याज्ञवल्क्येन । कन्यांकन्यावेदिनश्च पशून्मुख्यान्सुतानपि । द्यूतं कर्षिच वाणिज्यं द्विशफैकशफांस्तथा ॥ ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रान् स्वर्णरूप्येसकुप्यके । ज्ञातिश्रेष्ठ्यंसर्वकामा नाप्नोति आद्धदः सदा ॥ प्रतिपत्प्रभृतिष्वेकां वर्जयित्वा चतुर्दशीं । शस्त्रेण तु हताये वै तेभ्यस्तत्र प्रदीयते इति ॥ २७६ ॥

(५) नन्दनः । अनेन पूर्वपक्षपूर्वाह्नयोरपि आद्धकर्तव्यमिति सूचितम् ॥ २७६ ॥

(६) रामचन्द्रः । आद्धे प्रशस्तास्तिथय एताः । तथैतरान् ॥ २७६ ॥

युक्षु कुर्वन्दिनक्षेषु सर्वान्कामान्समश्नुते ॥ अयुक्षु तु पितृन्सर्वान्प्रजां प्राप्नोति पुष्कलाम् ॥ २७७ ॥

(१) मेधातिथिः । युज्जिदिनानि द्वितीयाचतुर्थ्यादीनि । ऋक्षेनक्षत्रं तानि भरण्यादीनि युज्जिभवन्ति । प्रतिपत्तृतीयापञ्चमीसप्तमीनवम्यास्तिथयोऽयुजउच्यन्ते द्वितीयाचतुर्थीषष्ठ्यष्टमीदशम्योयुजः एवमेकादश्युक्प्रभृतौ द्रष्टव्यं नक्षत्रेष्वपि । सर्वान्कामान् तेचकामा इति हासपुराणयोर्भेदेनोपात्ताः पुष्कलां प्रजां । धनविद्याबलपुरुषैः पुष्टा पुष्कला ॥ २७७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । युक्षु युग्मेषु दिनेषु तिथिषु द्वितीयाचतुर्थ्यादिषु ऋक्षेषु युक्षुरोहिण्यार्द्रादिषु अयुक्षु प्रतिपदादिषु कृत्तिकादिषु च ॥ २७७ ॥

(३) कुङ्कुमः । दिनशब्दोऽत्र तिथिपरः । युक्षुयुग्मास्तु तिथिषु द्वितीयाचतुर्थ्यादिषु युष्मन्क्षत्रेषु भरणीरोहिण्यादिषु आद्धकुर्वन्सर्वाभिलषितान्प्राप्नोति । अयुग्मास्तु तिथिषु प्रतिपत्तृतीयाप्रभृतिष्वयुग्मेषु च नक्षत्रेष्वश्विनीकृत्तिकादिषु आद्धेन पितृपूजयन्पुत्रादिसन्तर्तिलभते पुष्कलां धनविद्यापरिपुष्टाम् ॥ २७७ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव युग्मायुग्म भेदेन फलमाह युद्विति । युक्षु युग्मेषु दिनपदं तिथिपरं तेन द्वितीयाचतुर्थ्यादयः । नक्षत्राणि भरणीरोहिण्यादीनि युग्मानि तेष्वित्यर्थः । पुष्कलां प्रशस्तां सर्वान्कामानिति पूर्वधृतयाज्ञवल्क्यवचनात्क्षेयम् ॥ २७७ ॥

(५) नन्दनः । युक्षु युग्मेषु । दिनशब्देन सूर्यवारादीनां ग्रहणम् । ऋक्षशब्देन च कृत्तिकादीनाम् । कुर्वन्कुलाद्धमिति शेषः ॥ २७७ ॥

(२७७) सर्वान्=अर्चन् (ज, झ, ञ, ढ)

(६) रामचन्द्रः । युक्षु युग्मासु द्वितीयादितिथिषु दिनर्क्षेषु भरण्यादिषु यः श्राद्धं कुर्वन् सः सर्वान्कामान् अश्नुते प्राप्नोति । अयुक्षु अयुग्मासु प्रतिपदश्विन्यादिषु नक्षत्रेषु यः पितृनर्चयन् स पुष्कलांबहुप्रजांसन्तति प्राप्नोति ॥ २७७ ॥

यथाचैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद्विशिष्यते ॥ तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णादपराह्णो विशिष्यते ॥ २७८ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वपक्षः शुक्लपक्षः अपरः कृष्णपक्षः चैत्रसिताद्यामासा इति । यथा श्राद्धस्य शुक्लपक्षात् कृष्णपक्षो विशिष्यते प्रकृष्टफलदो भवति । तथा पूर्वाह्णादपराह्णो विशेषवचनात् । पूर्वाह्णेऽपि कदाचित्कर्तव्यमेवेति प्रतीयते । ननु च प्रसिद्धेन दृष्टान्तेन भवितव्यं । न चापरपक्षस्य पूर्वपक्षाच्छ्राद्धं प्रति विशेष उक्तः । केचिदाहुः कृष्णपक्षे दशम्यादावित्येतस्मात्प्रतीयते । एवं तु ब्रूमः वचनानित्वपूर्वत्वादित्यनेन न्यायेनाप्रसिद्धस्य दृष्टान्ततास्तीति विधिरपि दृष्टान्तवचनादेव शक्यो वगन्तुम् ॥ २७८ ॥

(३) कुल्लूकः । चैत्रसिताद्यामासा इति ज्योतिःशास्त्रविधानाच्छुक्लपक्षोपक्रमत्वान्मासानामपरः पक्षः कृष्णपक्षः स यथा शुक्लपक्षाच्छ्राद्धस्य संबन्धी विशिष्टफलदो भवति एवं पूर्वार्धदिवसादुत्तरार्धदिवसः प्रकृष्टफलो विशिष्यत इति वचनात्पूर्वाह्णेऽपि श्राद्धकर्तव्यतां बोधयति । ननु शुक्लपक्षादनुक्तोत्कर्षस्यापरपक्षस्य कथं दृष्टान्तता प्रसिद्धो हि दृष्टान्तो भवति । उच्यते । कृष्णपक्षे दशम्यादावित्यत्रैव विशिष्टविधावुत्कर्षाभिधानात् ॥ २७८ ॥

(४) राघवानन्दः । कृष्णपक्ष इत्युक्तं तत्रैवार्थवादमाह यथेति । अपरपक्ष इति दृष्टान्तार्थः । पूर्वपक्षात् शुक्लपक्षात् ॥ २७८ ॥

(६) रामचन्द्रः । पूर्वपक्षात् शुक्लपक्षात् यथाऽपरपक्षो विशिष्यते तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णकालादपराह्णकालो विशिष्यते । अपराह्णः पितृणामिति श्रुतेः । आषाढ्याः पञ्चमः पक्षः आषाढीमवर्धित्वा परः पक्षः कृष्णपक्षस्य अश्विनस्य ॥ २७८ ॥

प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमन्तर्द्विणा ॥ पित्र्यमानिधनात्कार्यं विधिवद्दर्भपाणिना ॥ २७९ ॥

(१) मेधातिथिः । यत्किंचित्पित्र्यं तत्र कर्मण्ययं विधिः । पदार्थाः प्राग्व्याख्याताः । अतर्द्विणा अनलसेन श्रद्धा-
नेनेतियावत् । आनिधनादामरणाद्यावज्जीविकोयं विधिरित्यर्थः । दर्भपाणिना । तदुक्तं दर्भाः पवित्रमिति तद्ग्रथितशीर्ष-
कं दर्भमयं पवित्रमुच्यते ॥ २७९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अपसव्यमप्रादक्षिण्येन तेन पित्रादिविप्राणां प्रागपवर्गोपवेशनमप्रदक्षिणकर्मकरणार्थ-
मित्यादिलभ्यते । आनिधनादासमाप्तेः । पित्र्यप्राचीनावीत्यादिना कार्यं । न तु तन्मध्यपतितं देवमपि विधिवदन्यूना-
धिकाङ्गम् ॥ २७९ ॥

(३) कुल्लूकः । दक्षिणसंस्थितयज्ञोपवीतेनानलसेन दर्भहस्तेनापसव्यं पितृतीर्थेन यथाशास्त्रं सर्वपितृसंबन्धिकर्मा-
निधनादासमाप्तेः कर्तव्यम् । आनिधनाद्यावज्जीवमिति मेधातिथिगोविन्दराजौ ॥ २७९ ॥

(४) राघवानन्दः । श्राद्धाद्व्रतया कार्यान्तरविधत्ते प्राचीनावीतीति । अपसव्यं पितृतीर्थतर्जन्यङ्गुष्ठयोर्मध्यं । अत-
र्द्विणा अनलसेन । आनिधनादासमाप्तेर्विधिवद्यथाशास्त्रं ॥ २७९ ॥

(५) नन्दनः । नियमान्तराण्याह प्राचीति । आनिधनादासमाप्तेः ॥ २७९ ॥

रात्रौ श्राद्धंन कुर्वीत राक्षसी कीर्तिता हि सा ॥ सन्ध्ययोरुभयोश्चैव सूर्ये चैवाचिरोदिते ॥ २८० ॥
 [कुर्वन् प्रतिपदि श्राद्धंस्वरूपां लभते प्रजाम् ॥ कन्यकाश्च द्वितीयायां तृतीयायांतु वाजिनः ॥ १ ॥
 पशून् क्षुद्रांश्चतुर्थ्यांतु पञ्चम्यां शोभनान्सुतान् ॥ षष्ठ्यांदूतमवाप्नोति सप्तम्यांलभते कृषिम् ॥ २ ॥
 अष्टम्यामपिवाणिज्यंलभते श्राद्धदोनरः ॥ नवम्यां वै चैकशफान् दशम्यां द्वि ॥ ३ ॥
 एकादश्यांतथा रौप्यंब्रह्मवर्चस्विनः सुतान् ॥ द्वादश्यांजातरूपंच रजतं कुप्यमेव च ॥ ४ ॥

ज्ञातिश्रेष्ठयंत्रयोदश्यां चतुर्दश्यांतु कुप्रजाः ॥ प्रीयन्ते पितरश्चास्य ये च शस्त्रहृता रणे ॥ ५ ॥ §
 पक्षाद्यादिषु निर्दिष्टा न्विपुला न्मनसः प्रियान् ॥ श्राद्धदः पञ्चदश्यांच सर्वाङ्कामान्समश्नुते ॥ ६ ॥]

(१) मेघातिथिः । ननुचापराण्हविधानात्कुतोरात्र्यादिषुप्राप्तिः । अथमतंविशेषवचनेनान्यत्राप्यस्तीतिज्ञापितं । सत्यं । पूर्वाण्हादपराण्होविशिष्यतइति यदपेक्षंविशेषवचनं तत्रैवास्तीतिसामान्यज्ञानं प्रवर्तते तेनपूर्वाण्हएवकदाचित्तस्यान्यउत्तरकालइतिकेचिदाहुः । ग्रहणंचन्द्रसूर्ययोरिति चन्द्रग्रहादिषुरात्र्यादावपिप्राप्तस्तन्निषेधार्थं । अतश्चसन्ध्यायांचन्द्रसूर्ययोरुपरागेणरात्रौचन्द्रग्रहणेप्रतिषेधाविधानाद्विकल्पः । अन्येत्वाहुः मध्याह्नकालः पूर्वाह्णपराह्णमन्यस्तत्राप्येतेनप्रतिषेधेन कर्तव्यमितिज्ञाप्यते । सूर्येचैवपूर्वाह्नकालत्वात्प्रथमोदिते सूर्येप्रतिषेधः । राक्षसीत्यर्थवादः ॥ २८० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । रात्रौ श्राद्धमितिनिषेधात्पार्वणादेर्नित्यस्यापराह्णेऽसंभवे पूर्वाण्हेऽपि करणमनुमतम् । अतएवापराह्णेविशिष्यतइत्युक्तम् । एवंच दिवा नित्यश्राद्धस्यैवावदकरणे लोपएवेति दर्शितम् । सूर्येचिरोदिते सङ्गवाख्यषण्मुहूर्तमध्ये ॥ २८० ॥

(३) कुहूकः । रात्रौ श्राद्धंन कर्त्तव्यम् यस्माच्छ्राद्धविनाशनगुणयोगाद्राक्षसी मन्वादिभिरसौ कथिता । सन्ध्ययोश्च न कुर्यादादित्येचाचिरोदिते । अचिरोदितादित्यकालश्चापेक्षायांत्रिमुहूर्तःप्रातःकालोप्राह्णः । यथोक्तंविष्णुपुराणे । रेखाप्रभृत्यथादित्ये त्रिमुहूर्तंगेतरवौ । प्रातस्ततःस्मृतःकांलोभागःसोऽस्तु पञ्चमः ॥ अपराह्णस्य श्राद्धाद्वतया विधानात्कथमयमप्रसक्तप्रतिषेधइति चेत् । नायंप्रतिषेधः । सहि रागप्राप्तस्य वा स्यात्प्रतिषेधः । नात्ररागतो नित्यस्य दर्शश्राद्धस्य प्राप्तत्वात्प्रतिषेधः । षोडशग्रहणाग्रहणवद्विकल्पःस्यात् तस्मात्पर्युदासोयम् रात्र्यादिपर्युदस्तेतरकाले श्राद्धंकुर्यात् अनुयाजेतरयजतिषु ये यजामहइति मन्त्रवत् । अपराह्णविधिश्च प्राशस्त्यार्थः । अतएवोक्तम् । यथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णपराह्णेविशिष्यतइति ॥ २८० ॥

(४) राघवानन्दः । श्राद्धस्यसंपदः स्युरित्युक्तंतस्य प्राशस्त्यंघोतयन् पर्युदासन्त्यायेन रात्र्यादिचतुष्टयातिरिक्तकाले कुर्यादनुयाजव्यतिरिक्तयजतिवत् यजतिषुयेयजामहं करोति नानुयाजेषु इत्यादिवदित्याह रात्राविति । अचिरोदिते प्रथमोदिते । अपराह्णे विशिष्यतइति प्राशस्त्यस्मृतेः । षष्टिदण्डात्मिकायांतिथौ प्राप्तायां निषेधःसार्थकइतिभावः ॥ २८० ॥

+ वाजिनः=बन्दिनः (६) पुस्तके । अन्येषु वाजिन इत्येव ।

॥ ३ ॥ द्विखुरान्=द्विशफान् (६) पुस्तके । अन्येषु द्विखुरान् इत्येव ।

§ (क, ख, ग, ङ)

(६) रामचन्द्रः । सूर्ये अचिरोदिते प्रथमोदिते सैद्धवे काले वा ॥ २८० ॥

[रामचन्द्रः । शाकलः युवानस्तु प्रियन्ते त्रकामोद्रेकेणवै द्विजाः । तेषांश्राद्धंचतुर्दश्यांनान्येषांतु कदाचन । अस्यार्थःअन्येषांज्वरादिना मृतानांचतुर्दश्यांश्राद्धंन कार्यं किंतु तन्निधा । वाष्कलः । कामाग्निना च दहन्ते ये युवानःकदाचन । तेषांहिपितृपिण्डश्च भूतायामपि निर्वपेत् । स्त्रीणामप्येवमेकंस्यात्कामासक्तागतासवाः । तासांश्राद्धंहि भूतायांप्रसूत्या मरणंयदि ॥ ५ ॥]

[रामचन्द्रः । पक्षेति । पक्षाद्यादिषु पक्षादिःआदिर्यासांताःपक्षाद्यादयः तासु पक्षाद्यादिषु प्रतिपदाद्यासु पञ्चदश्यां अमायां श्राद्धदःसर्वांकामानवामोति ॥ ६ ॥]

अनेन विधिना श्राद्धंत्रिरब्दस्येह निर्वपेत् ॥ हेमन्तग्रीष्मवर्षासु पाञ्चयज्ञिकमन्वहम् ॥ २८१ ॥

(१) मेघातिथिः । पूर्वोक्तेनविधिनाइतिकर्तव्यताकलापेन पूर्वोद्युर्निमत्तृणादिभिः संवत्सरस्यत्रिः श्राद्धंकुर्वीत । केषुमासेष्वित्यतआह हेमन्तग्रीष्मवर्षासु मासानुमासिकमित्यस्यत्रिः संवत्सरविधिवैकल्पिकः । पाञ्चयज्ञिकः पञ्चमहायज्ञमध्येयःपठितःसोन्वहंकर्तव्यः । अस्यचप्राचीनावीत्यपसव्योदङ्मुखब्राह्मणभोजनमित्येतावत्येवेतिकर्तव्यता । एवमर्थमेव पुनरुपन्यासः । एवंत्रिः संवत्सरविधिरनाहिताग्नेरित्येवंपूर्वोव्याचक्षते प्रमाणंतुतएवविदन्ति ॥ २८१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । त्रिरितित्रिरपीत्यर्थः । एतच्च प्रतिमासमसंभवे । संभवेतु प्रतिमासमेव मासिमासि पितृभ्यः क्रियतइतिश्रुतेः । हेमन्तग्रीष्मवर्षात्विति चतुर्मासतुर्पक्षमाश्रित्योक्तम् । एवंच मत्स्यपुराणे । अनेन विधिना श्राद्धंत्रिरब्दस्येह निर्वपेत् । कन्याकुम्भवृषस्थेऽर्के रुष्णपक्षेषु सर्वदेत्युक्तत्वात् ॥ त्रिःकरणेएतेष्वेव मासेष्वमास्यायां तत्करणमितिलभ्यते । त्रिसंवत्सरविधिरनाहिताग्नेरित्येवंपूर्वो व्याचक्षते प्रमाणंतु तएव विदन्तीति । अश्विविरहिणामेवेत्यपरे । पाञ्चयज्ञिकं पञ्चमहायज्ञपतितं तदन्वहमेव कार्यमशक्तावुदकादिनापि इहेति हेमन्तादिषु त्रिःसंवत्सरविधिःपूर्वैःकल्पितः । पाञ्चयज्ञिकोऽनित्यइति ॥ २८१ ॥

(३) कुङ्कुमः । कुर्यान्मासानुमासिकमिति प्रतिमासंश्राद्धंविहितं तदसंभवे विधिरयंचतुर्भिर्मासैर्ऋतुरेकः एकस्त्वृतुःसंवत्सरइतीमंपक्षमाश्रित्योच्यते । अनेनोक्तविधानेन संवत्सरमध्ये त्रीनवारानुहेमन्तग्रीष्मवर्षासु श्राद्धंकर्तव्यम् । तच्च समयाचारात्कुम्भवृषकन्यास्थेऽर्केपञ्चमहायज्ञान्तर्गतंचएकमप्याशयेद्विप्रमित्यनेन विहितंप्रत्यहंतुकुर्यादिति पूर्वोक्तदार्ढ्यार्थम् ॥ २८१ ॥

(४) राघवानन्दः । कुर्यान्मासानुमासिकमिति प्रतिमासं प्रत्यब्दंच ग्रामंश्राद्धमशक्तौ संकुचति अनेनेति । अब्दस्य हेमन्तादित्रिवशं कुर्यादिति त्रिषु संवत्सरमाश्रित्यैतत् पाञ्चयज्ञिकं एकमप्याशयेद्विप्रमित्यादि विहितं पञ्चयज्ञान्तर्गतंश्राद्धं । अन्वहंप्रतिदिनं निर्वपेदित्यन्वयः ॥ २८१ ॥

(५) नन्दनः । इहामावास्यायांत्रिरवश्यंनिर्वपेत् न न्यूनम् ॥ २८१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अब्दस्य मध्ये त्रिवारंहेमन्तग्रीष्मवर्षासु श्राद्धंनिर्वपेत् । पञ्चयज्ञीयंश्राद्धं अन्वहंप्रत्यहं कुर्यात् । अयनेसंवत्सरस्य विधिरनाहिताग्नेः ॥ २८१ ॥

न पैतृयज्ञियोहोमोलौकिकेऽग्नौ विधीयते ॥ न दर्शेन विना श्राद्धमाहिताग्नेर्द्विजन्मनः ॥ २८२ ॥

(१) मेघातिथिः । पितृयज्ञाद्भूतोहोमःपैतृयज्ञिकःसलौकिकेस्मार्तेऽग्नौविधीयते । शास्त्रेणकर्तव्यतयानचोच्यते । तस्माच्चिःसंवत्सरस्यानाहिताग्निनाकर्तव्यं । यद्यपित्रिःरुतमपिभवत्येवरुतंलौकिकेऽग्नौ । तथापिसंवत्सरापेक्षया अरुतमे-

वतद्भवति । प्रस्थभोजनोहिन्यूनेभुक्तेऽभुक्तइत्यर्थवादतया पूर्वशेषमिदं पूर्वव्याचक्षते । इदं त्वयुक्तं । यदिलौकिकोऽग्निर्विवाहादावपरिगृहीतस्तस्मिन् आद्धाङ्गभूतो होमो न कर्तव्य इत्युच्यते होमप्रतिषेधेन च तद्यतिरिक्तमन्यत्कर्मकर्तव्यमित्युक्तं भवति । इतरथा परिगृहीताऽन्यपि पार्वणश्राद्धाङ्गत्वेन विधानादनग्निकस्य श्राद्धानधिकार एव स्यात् । यथान्धस्याऽज्याऽवक्षणाशक्त्या न दर्शपौर्णमासयोरधिकारः । अस्मिंस्तु सतिसाग्निकस्य होमवत् श्राद्धमनग्निकस्य तद्वर्जितमपि ज्ञापितं भवति । तथा चाग्न्यभाव इत्यस्यायमेव विषयः । येष्वप्याचक्षते पिण्डपितृयज्ञः पितृयज्ञोभिप्रेतः तत्र यो होमः स लौकिके स्मार्तेऽग्नौ नास्ति तेपिनयुक्तमाहुः । अस्त्वेवमनाहिताग्नेर्नित्यत्वेन श्रयित्वा जुहुयादित्यादि । न दर्शेन विना श्राद्धं ग्रहोपरागादावाहिताग्नेः प्रतिषेध इत्याहुः । एतत्तु समाचारविरुद्धं । अन्येतु पठन्ति न विना दर्श इत्यस्यानाहिताग्निनामासानुमासिकं कर्तव्यं । नास्य त्रिःसंवत्सरविधिः । नैवायं पाठो स्तीत्यन्ये । कस्तर्ह्यस्यार्थः । दार्शान् आद्धादन्यदाहिताग्नेर्मघाश्राद्धादि न नियमेन भवतीति दर्शमेव तस्य नियतं । अनाहिताग्नेस्तु हेमन्तादिविहितान्यपि नियतानीति ॥ २८२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निरग्नीनां विशिनष्ट्यपि च न पितृयज्ञिक इति । पितृयज्ञश्राद्धसंबन्धि होमोलौकिके ग्राम्ये न किंतु वैवाहिक एव । तदभावे ब्राह्मणकरादौ । आहिताग्नेर्यच्छ्राद्धमाहिताग्निकर्तृकतन् दर्शेन विनाऽस्ति । अतो दशम्यादिष्वपि यत्करणमुक्तं तदनाहितत्रेताग्निमपेक्ष्य श्राद्धं पार्वणं प्रकृतत्वात् । प्रतिसांवत्सरिकादित्वन्यदपि कार्यमेव ॥ २८२ ॥

(३) कुल्लूकः । अग्नेः सोमयमाभ्यां चेत्यनेन विहितपितृयज्ञाङ्गभूतो होमो लौकिके श्रौतस्मार्तव्यतिरिक्ताग्नौ शास्त्रेण विधीयते । तस्मान्न लौकिकाग्नावग्नौ करणहोमः कर्तव्यः । निरग्निना तु अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावित्यभिधानाद्विप्रपाण्यादौ करणीयः । आहिताग्नेर्द्विजस्य नामावास्याव्यतिरेकेण रुष्णपक्षे दशम्यादौ श्राद्धं विधीयते । मृताहश्राद्धं तु नियतत्वात् रुष्णपक्षेऽपि तिष्ठन्तरे न निषिध्यते ॥ २८२ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र विशेषान्तरमाह नेति । लौकिके विवाहादौ । अपरिगृहीते श्राद्धाङ्गहोमो न कर्तव्य इति निषेधादन्यत्कर्तव्यमिति मेधातिथिः । स्मार्ताग्नौ आवसथ्याख्ये श्रौते च कर्तव्यः अग्नीशानयमाभ्यां स्वाहेत्यादिको होमः न दर्शेनेति आहिताग्नेः अमावासिकैकोद्दिष्टद्वयमिति भावः ॥ २८२ ॥

(५) नन्दनः । अथ पित्र्येषु गृह्याग्नौ होमः कार्यो न लौकिकाग्नावित्याह नेति । अत्र पितृयज्ञशब्देन मासिकश्राद्धमुच्यते । अधिकारात् लौकिकाग्नौ न विधीयते । किंतु गृह्याग्नावेव विधीयत इत्यर्थः । केचित्तु पितृयज्ञशब्दस्य पिण्डपितृयज्ञ एव निरूढत्वात्तस्यैव लौकिकाग्नौ निषेध इति मन्यन्ते । अनाहिताग्नेरयमासि श्राद्धकल्पः न पुनराहिताग्ने रपीत्युक्तम् उत्तरार्द्धेन । आहिताग्नेः पितृयज्ञानुनिर्वर्त्येत्यादिना श्लोकद्वयेनोक्त एव मासिकश्राद्धकल्पः कर्तव्यः नाधिक इत्यर्थः ॥ २८२ ॥

(६) रामचन्द्रः । लौकिकाग्नौ अस्मार्तेऽग्नौ पैतृयज्ञयः अग्नौ करणहोमः विधीयते आहिताग्नेरग्निहोत्रिणः द्विजन्मनः दर्शेन विना श्राद्धं । दर्शे चाधिकारो नान्यतिथौ ॥ २८२ ॥

यदेव तर्पयत्यग्निः पितृन् स्मत्वा द्विजोत्तमः ॥ तेनैव कृत्स्नमामोति पितृयज्ञक्रियाफलम् ॥ २८३ ॥

(१) मेधातिथिः । पात्रयाज्ञिकं यच्छ्राद्धं अहरहरित्युक्तं तस्य वैकल्पिकत्वमनेनोच्यते । उदकतर्पणं यत्क्रियते स्मत्वा तेनैव पितृयज्ञक्रियाफलं प्राप्नोति । यदुक्तमेकमप्याशयेदित्यस्यानास्ति नियमेन कर्तव्यता उदकतर्पणमवश्यं कर्तव्यम् ॥ २८३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अब्दस्य त्रिरपिपार्वणश्राद्धकरणेऽशक्तस्यानुकल्पमाह यदेवेति । पितृयज्ञः पार्वणाख्यः ॥ २८३ ॥

(३) कुङ्कुमः । पाञ्चयज्ञिकश्राद्धासंभवे विधिरयम् । यत्र स्नानानन्तरमुदकतर्पणद्विजः करोति तेनैव सर्वनित्य-
श्राद्धफलप्राप्नोति । द्विजोत्तमपदद्विजपरम् ॥ २८३ ॥

(४) राघवानन्दः । सर्वाशक्तौ तर्पणस्य सर्वार्थकत्वमावश्यकत्वं च गृहमेधीये आज्यभागौ यजतीतिवदित्याह
यदेवेति । मेधातिथिस्तूदकतर्पणं नित्यश्राद्धस्य वैकल्पिकमित्याह ॥ २८३ ॥

(५) नन्दनः । अथ ब्राह्मणभोजनात्मकमपि श्राद्धमाहिताग्निनावश्यकार्थं तत्फलस्यान्यतः सिद्धत्वादित्याह यदे-
ति । तेनाहिताग्नेः कल्पनीया व्यवस्था । पिण्डपितृयज्ञेन वापितृपूजाब्राह्मणभोजनान्तेन विधिनावेति ॥ २८३ ॥

वसून्वदन्ति तु पितृन् रुद्रांश्चैव पितामहान् ॥ प्रपितामहांस्तथादित्यान् श्रुतिरेषासनातनी ॥ २८४ ॥

(१) मेधातिथिः । पितृद्वेषादप्रवर्तमानस्यप्रवृत्त्यर्थमिदं । त्रिस्थानावस्थाद्यादेवताः पितरोऽपि एव पिण्डभाजः अतो-
देवतात्वेनैते द्रष्टव्याः श्रुतिरेषाश्रूयते एतद्वेदेतु अतः पुरातनी नित्यत्वाद्देवस्य ॥ २८४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पित्रादीनां नरकादिषु स्थितौ श्राद्धफलदायित्वासंभवात् कथं काम्यश्राद्धीयफलसिद्धिरि-
त्याशंक्याह वसून्वदन्तीति । पुरातनो इदानीमपठ्यमाना एतेन स्वपित्रादीनुद्दिश्यापि कृतं श्राद्धं वत्सादीनपि देवांस्तर्पयति
ते च वृत्ताः फलददतीत्युक्तम् ॥ २८४ ॥

(३) कुङ्कुमः । यत्प्रात्पित्रादयो वत्सादय इति । एषामनादिभूताश्रुतिरस्ति अतः पितृन् वत्साख्यदेवान् पितामहान् रुद्रान्-
पितामहानादित्यान् वत्सादयो वदन्ति ततश्च सिद्धबोधनत्रैयर्थ्याच्छ्राद्धे पित्रादयो वत्सादिरूपेण ध्येया इति विधिः कल्प्यते ।
अतएव पैठीनसिः । य एवं विद्वान् पितृन् यजते वसवोरुद्रा आदित्याश्चास्य प्रीता भवन्ति । मेधातिथिगोविन्दराजौ तु । पितृद्वेषा-
न्नास्ति कया द्वायः पितृकर्मणि न प्रवर्तते तं प्रत्येतत्प्रवर्तनार्थं देवतात्वाभ्यारोपेण पितृणां स्तुतिवचनम् ॥ २८४ ॥

(६) राघवानन्दः । तर्पणेनैव सर्वमामोतीत्यस्यार्थवादः वसूनि निति । पित्रादित्रयतर्पणेन वसुरुद्रादित्यास्तर्पिता भ-
वन्तीति भावः ॥ २८४ ॥

(५) नन्दनः । अथ पित्रादिषु देवताविशेषात्मकत्वप्रतिपत्तिश्राद्धफलातिशयमाह वसूनि निति ॥ २८४ ॥

(६) रामचन्द्रः । पितृपितामहप्रपितामहान् वसुरुद्रादित्यस्वरूपान् वदन्ति । एषाश्रुतिः सनातनी । तथा हे-
पितः वसुरूप हे पितामह रुद्ररूप हे प्रपितामह आदित्यरूप ॥ २८४ ॥

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वामृतभोजनः ॥ विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथामृतम् ॥ २८५ ॥

(१) मेधातिथिः । आद्येन श्लोकपादेनातिथ्यादिभुक्तशिष्टस्यान्नस्य यज्ञोपविहितं तदनूद्यते माङ्गलिकतयामङ्ग-
लावसानि शास्त्राणि प्रथन्ते । पित्र्यादैवं कर्मशस्ततरं । यज्ञशेषं । अनेन ज्योतिष्टोमादिहविःशेषस्य भोजनं विघसस्य तुल्यत-
योच्यते । उत्तरेणार्थश्लोकेन सौहार्दमेव । तस्य वेदार्थव्याख्यानं । कस्यां चिच्छाखायाभाभ्यां शब्दाभ्यां विधानदृष्टमतीत्या-
मोहं निवर्तयति । विघसमभ्रातीति विघसाशी । अमृतं भोजनमस्येत्यमृतभोजनः । मृत्युशेषं मृत्युभुक्तशिष्टमिति द्रष्टव्यं ।
भुक्तशेषमिति पाठसामर्थ्यादतिथ्यादिभुक्तमिति द्रष्टव्यं । अन्यन्तु प्रकृतत्वाच्छ्राद्धभुक्तशेषमिति द्रष्टव्यं । तथा च स्मृत्यन्तरं भु-
ञ्जीत पितृसेवितमिति । श्राद्धाङ्गचैतद्भोजनं केचिदाहुः । अन्येतु पुरुषार्थो भोजननियमो यमित्याहुः । वसून्वदन्तीत्यनेनैव-
श्राद्धप्रकरणस्याप्रवृत्तत्वात् । यज्ञशेषं यज्ञोपयुक्तद्रव्यशेषमिति द्रष्टव्यम् ॥ २८५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भुक्तशेषमतिथ्यादिभुक्तशेषं । यज्ञशेषवैश्वदेवाख्ययज्ञशिष्टम् ॥ २८५ ॥

(३) कुल्लूकः । सर्वदा विधसंभोजनः स्यात्सर्वदा चामृतभोजनो भवेत् । विधसामृतपदयोरप्रसिद्धत्वादर्थव्याकुरुते । विप्रदिभुक्तशेषविधसउच्यते । दर्शपौर्णमासादियज्ञशिष्टपुरोडाशाद्यमृतम् सामान्याभिधानेपि प्रकृतत्वाच्छ्राद्धे विप्रभुक्तशेषभोजनार्थोयंविधिः । अतएव भुज्जीतातिथिसंयुक्तः सर्वपितृनिषेवितमिति स्मृत्यन्तरम् । अतिथ्यादिविशेषभोजनत्ववशिष्टं तु दम्पतीइत्यनेनैव विहितं तस्यैव यज्ञशेषतुल्यत्वापादनेन स्तुत्यर्थपुनर्वचनमिति तु गोविन्दराजव्याख्यानमनुष्ठानविशेषानर्हमप्राकरणिकंच ॥ २८५ ॥

(४) राघवानन्दः । देवानतिथींश्च पूजयित्वैव भोक्तव्यमिति नियमयति विधसाशीति । विधसामृतयोर्लक्षणमाहविधसंत्विति । भुक्तशेषमतिथ्यादिभुक्तावशिष्टं । गृहस्थः शेषभुग्भवेदित्युक्तेः ॥ २८५ ॥

(५) नन्दनः । उक्तेन प्रकारेण देवतातिथिभृत्यशेषगृहस्थेन भोक्तव्यमित्याह विधसाशीति । यज्ञशेषपञ्चमहायज्ञशेषम् ॥ २८५ ॥

(६) रामचन्द्रः । विधसंभुक्तशेषंश्चाहभुक्तावशेषं पञ्चयज्ञशेषं अमृतंभवतीत्यर्थः ॥ २८५ ॥

एतद्वोऽभिहितंसर्वविधानं पाञ्चयज्ञिकम् ॥ द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ॥ २८६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे ऋगुप्रोक्तायां संहितायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ ॥ ७ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वहिंष्यवहितस्य पाञ्चयज्ञिकमिति महायज्ञविधेरुपसंहारोमाङ्गलिकतयैव उत्तरेण श्लोकार्धेन वक्ष्यमाणाध्यायार्थैकदेशोपन्यासोपगतेचोक्तप्रयोजनानि । द्विजातिमुख्या ब्राह्मणास्तेषां वृत्तयोजीविकाः कर्माणि द्विजातीनां वामुख्यवृत्तय इति । उत्तरत्रैव दर्शयिष्याम इति प्रसिद्धम् ॥ २८६ ॥ मान्याकापि मनुस्मृतिस्तदुचिता व्याख्या हि मेधातिथेः सालुमैव विधेर्वशात्कचिदपि प्राप्यनयत्पुस्तकम् ॥ क्षोणीन्द्रोमदनः सहारणसुतो देशान्तरादादृतैर्जाणोद्धारमचीकरत्तत इतस्तत्पुस्तकैर्लेखितैः ॥ १ ॥ शुभंभवतु ॥ इति श्रीमद्वीरस्वामिसूनुर्भट्टमेधातिथिस्वामिनः कृतौ मनुभाष्ये तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पाञ्चयज्ञिकं तत्र प्रसंगात्पार्वणस्य चेत्यपि द्रष्टव्यम् । द्विजाति मुख्याः ब्राह्मणाः । तेषां वृत्तयो जीवनोपायास्तेषां विधानम् ॥ २८६ ॥ श्रीनारायणसर्वज्ञवृत्तिसंदर्शितान्वयाः । मनुस्मृतिगिरांचार्थमधिगच्छन्तुसूरयः । इति सर्वज्ञश्रीनारायणकृतौ मन्वर्थविवृतौ विवाहश्राद्धाधिकारो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ ॥ ७ ॥

(३) कुल्लूकः । इदं पञ्चयज्ञभवनुष्ठानं सर्वयुष्माकमुक्तम् पार्वणश्राद्धव्यवहितैरपि पञ्चयज्ञैरुपसंहारस्तेषामभ्याहितत्वज्ञापनार्थः मङ्गलार्थ इति तु मेधातिथिगोविन्दराजौ । इदानीं द्विजानां मुख्यो ब्राह्मणस्तस्य वृत्तीनामृतादीनामनुष्ठानं श्रूयतामिति वक्ष्यमाणाध्यायैकदेशोपन्यासः ॥ २८६ ॥ ॥ इति वारेन्द्रनन्दनवास्नीयभट्टदिवाकरात्मजश्रीकुल्लूकभट्टविरचितायां मन्वर्थमुक्तावल्यां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ ॥ ७ ॥ ॥ ७ ॥

(४) राघवानन्दः । वृत्तमुपसंहरन्वर्तिष्यमाणं प्रतिजानीते एतदिति । द्विजातिषु मुख्या ब्राह्मणश्रेष्ठास्तेषां वृत्तयो जीविकास्तासामनुष्ठानम् ॥ २८६ ॥ ॥ इति मनुस्मृतौ तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ ॥ ७ ॥ ॥ ७ ॥

(५) नन्दनः । द्विजाति मुख्याः ब्राह्मणास्तेषां वृत्तयोऽर्थप्राप्त्युपायाः । इति शब्दोवाक्यसमामौ ॥ २८६ ॥ ॥ इति मानवव्याख्याने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ ॥ ७ ॥ ॥ ७ ॥

(६) रामचन्द्रः । यत्नदिति । द्विजातीनां ब्राह्मणक्षत्रियविशां एतेषां पृथक् पृथक् मुख्यवृत्तीनां विधानं लक्षणं श्रूयतामिति ॥ २८६ ॥ ॥ श्राद्धप्रकरणं तृतीयम् ॥ ३ ॥ ॥ ७ ॥ ॥ ७ ॥

॥ श्री ॥

॥ श्रीगणेशायनमः ॥

॥ अथ चतुर्थाध्यायप्रारम्भः ॥

चतुर्थमायुषोभागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः ॥ द्वितीयमायुषोभागं कृतदारोगृहे वसेत् ॥ १ ॥

(१) मेधातिथिः । संक्षेपेणातिक्रान्तस्याध्यायद्वयस्यार्थकथयत्यनुस्मरणाय । गार्हस्थ्यधर्मस्यायं वृत्तिविधिरिति-
द्वितीयं श्लोकप्रयोजनं । अनियतपरिमाणत्वादायुषश्चतुर्थभागव्यवस्थाविधानमाश्रमिणामनुपपन्नमतः श्लोकोयं विहिताश्र-
मकालानुवादार्थः । यद्यपि च शतायुर्वैपुरुषइत्येतदपेक्षया कथंचिदुपपद्येतापि तथापि स्वप्रकरणे ग्रहणान्तिकमिति
अवध्यन्तरस्य ब्रह्मचर्यविहितत्वात् । गृहस्थस्तु यदापश्येदिति गार्हस्थ्येपि कालान्तरप्रतिपत्तेरनुवादतैवानुमीयते ।
चतुर्थमाद्यमायुषोभागं जन्मापेक्षमाद्यत्वं गुरौ उषित्वा ब्रह्मचर्यं कृत्वा ततोद्वितीयं चतुर्थमायुषोभागं कृतविवाहो गृहे-
वसेत् । गृहस्थाश्रममनुतिष्ठेत् । तत्रवसेत् ॥ १ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ॐ नमोमहागणपतये नमः । चतुर्थमायुषोभागमिति । यावदायुः पुंसस्तस्य चतुर्थभागः
आद्योयावत्समाप्यते तावदित्यर्थः । एतच्च षट्त्रिंशदाब्दिकाद्युक्तपक्षैः सह वैकल्पिकम् । गुराविति । ब्रह्मचर्याश्रमइ-
त्यर्थः । द्वितीयं आद्यचतुर्थभागान्तरचतुर्थभागम् ॥ १ ॥

(३) कुड्मकः । आद्वकल्पानन्तरं वृत्तीनां रक्षणं चैवेति वृत्तिषु व्यक्ततया प्रतिज्ञातासु वृत्त्यधीनत्वाद्गार्हस्थ्यस्यानन्त-
रं वक्तव्यासु ब्रह्मचर्यपूर्वकमेव गार्हस्थ्यं तत्रैव वक्ष्यमाणानुवृत्तय इति दर्शयितुं ब्रह्मचर्यकालं गार्हस्थ्यकालं चात्र वदति । चतु-
र्थमिति । चतुर्थमायुषोभागमाद्यमित्युक्तं ब्रह्मचर्यकालोपलक्षणार्थम् । अनियतपरिमाणत्वादायुषश्चतुर्थभागस्य दुर्ज्ञानत्वात्
न च शतायुर्वैपुरुषइति श्रुतेः पञ्चाविंशतिवर्षपरत्वम् । षट्त्रिंशदाब्दिकं ब्रह्मचर्यमित्यादिविरोधात् । आश्रमसमुच्चयपक्षमा-
श्रितो ब्राह्मणउक्तब्रह्मचर्यकालं जन्मापेक्षयाद्यथाशक्ति गुरुकुले स्थित्वा द्वितीयमायुषश्चतुर्थभागं गृहस्थाश्रममनुतिष्ठेत् ।
गृहस्थस्तु यदापश्येदित्यनियतत्वाद्द्वितीयमायुषोभागमित्यपि गार्हस्थ्यकालमेव ॥ १ ॥

(४) राघवानन्दः । चतुर्थभागं पञ्चाविंशतिवत्सरान् शतायुर्वैपुरुषइति श्रुतेः । ब्रह्मचर्यमुषित्वा समाप्येति ब्रह्म-
चर्यसमाप्य गृहीभवेत् गृहीभूत्वा वनीभवेदिति श्रुतेः तत्र शाब्दीसङ्कतिः ॥ १ ॥

(५) नन्दनः । एवं पञ्चमहायज्ञविधानमुक्तम् । इदानीं पूर्वाध्यायान्ते प्रतिज्ञातं गृहस्थस्य ब्राह्मणस्य वृत्त्युपायं विव-
क्षंस्तस्य गार्हस्थ्यस्य कालं तावत्तवयसा विभजन्नाह चतुर्थमिति । आयुषोवर्षशतपरिमाणस्याद्यश्चतुर्भाग उपनयनात्प्राक्सम-
वर्षाणि पश्चादष्टादश इत्येवं पञ्चाविंशतिवर्षकपूर्वोक्तेषु षट्त्रिंशदाब्दिकादिषु कल्पेष्वाश्रमसमुच्चयानुष्ठाने समीचीनस्तदधि-

* भागमाद्यमित्युक्तं=भागमित्युक्तं (अ)

काराख्योऽयंकल्पः सामर्थ्याद्रम्यते । न ह्यनुपनीतस्य गुरुकुलवासो भवति । गुरावुषित्वा द्वितीयमायुषश्चतुर्थभागं कृतदारो-
गृहे वसेत् । ब्रह्मचर्यकालस्य पुनरुपन्यासो गार्हस्थ्यस्य कालविवक्षार्थः ॥ १ ॥

(६) रामचन्द्रः । अथ गृहस्थधर्मानाह । आयुषः आद्यं चतुर्भागं पञ्चविंशति वर्षपर्यन्तं गुरौ गुरुसमीपे उ-
षित्वा वासं कृत्वा वेदाध्ययनं कृत्वा । आयुषो द्वितीयभागं प्राप्य कृतदारः सन् वसेत् ॥ १ ॥

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ॥ या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रोजीवेदनापदि ॥ २ ॥

(१) मेधातिथिः । देहिदेहीति याच्यमानस्य यः परस्य चित्तविकारः स्वेदात्मको जायते स द्रोहो भिप्रेतो न पुनर्हि सैव
तस्याः सर्वसामान्येनैव प्रतिषेधात् । अल्पद्रोहेणेति । याश्च याविना यदि न वर्त्तते तदा स्वल्पं याचितव्यं एषोऽल्पद्रोहो-
यावृत्तिर्जीवनोपायः रुषिसेवादि । यस्यां वृत्तौ परस्य पीडा न भवति सा आश्रयितव्या । सामान्योपदेशोऽयं समास्थाय
आश्रित्य जीवेत् । आपदि दशमे विधिर्भविष्यति । अस्माच्चोपदेशाद्वक्ष्यमाणाभ्यइत्यादिवृत्तिर्भवतीति गम्यते । अन्यथा-
वक्ष्यमाणविशेषनिष्ठत्वसामान्यैरस्योपदेशस्यानर्थक्यमेव स्यात् । तेन च याजनाभ्यापने कुसीदं अमृतादिमध्ये अपठितम-
पिलभ्यते । अल्पीयसी या उच्छ्वृत्तिर्गृहीता असौ ह्यल्पद्रोहः । तथा च गौतमः रुषिवाणिज्ये वा स्वयं कृते कुसीदं च । जीवनं
मात्रोऽयं विधिर्धनसंचयस्तु वक्ष्यमाणैरेव नियतैः कर्मभिः ॥ २ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अद्रोहेण दुःखानुत्पादनेन अल्पद्रोहेण अद्रोहेण वृत्त्यसंभवे जीवेदनापदीत्यापदि बहु-
द्रोहामपि वृत्तिकुर्यादित्यर्थः ॥ २ ॥

(३) कुल्लूकः । परस्यापीडा शिलोच्छ्वायाचितादिरद्रोहः । ईषत्पीडायाचितादिरल्पद्रोहः । न तु हि सैव द्रोहस्तस्यानि-
षिद्धत्वात् । अद्रोहेण तदसंभवेऽल्पद्रोहेण यावृत्तिर्जीवनोपायस्तदाश्रयणेन भार्यादिभृत्यपञ्चयज्ञानुष्ठानयुक्तो ब्राह्मणो न तु
क्षत्रियादिरनापदि जीवेत् । आपदि दशमे विधिर्भविष्यति । अयंच सामान्योपदेशो याजनाभ्यापनविशुद्धप्रतिग्रहादिसङ्ग्र-
हार्थः । वक्ष्यमाणार्तादिविशेषमात्रनिष्ठत्वे संकुचितस्वरसत्त्वहानिरनधिकारार्थत्वं याजनादेर्वृत्तिप्रकरणानिवेशश्च स्यात्तया-
पि जीवेत् ॥ २ ॥

(४) राघवानन्दः । तद्धर्मानाह अद्रोहेण शिलोच्छ्वाभ्यां । अल्पद्रोहेण अल्पयाचितेन देहिदेहीति याचने चित्त-
क्षोभो द्रोहः । अनापदि सुभिक्षादौ ॥ २ ॥

(५) नन्दनः । वृत्युपायेषु वक्ष्यमाणेषु नियमं श्लोकद्वयेनाह अद्रोहेणेति । विहितयाऽपि वृत्त्या हिंसारहितया जी-
वेत्तदशक्तौ हिंसाबाहुल्यरहितया वेति ॥ २ ॥

(६) रामचन्द्रः । भूतानां अद्रोहेणैव दुःखानुत्पादनेन या वृत्तिस्तां वृत्तिसमास्थाय अनापदि जीवेत् विप्रः
अल्पद्रोहेण स्वल्पं याचितव्यं अल्पद्रोहेण या वृत्तिर्वा ॥ २ ॥

यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः ॥ अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम् ॥ ३ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वेणान्वाहिकजीवनविधावुपायउक्तोनेन धनसञ्चयेनियमउपदिश्यते । स्वैः कर्मभिः धनसंचयं-
कुर्यात् । तानि च कर्माण्युत्तरत्र वक्ष्यन्ते । संचयप्रयोजनमाह । यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं न भोगाय धनसंचयक्लेशः कर्तव्यः ।
किं तर्हि यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं । आत्मकुटुंबस्थितिर्यात्रातत्परिमाणं यात्रामात्रं तस्य प्रसिद्धिर्निष्पत्तिः तदर्थस्तत्प्रयोजनं नि-
त्यकर्मनिवृत्तिरात्मस्थितावेवान्तर्भूतानि न ह्यकुर्वत आत्मस्थितिः । आह च न निर्वपति पञ्चानामुल्लूखनसजीवति । अथ वा स-

त्यपिशाल्मीयत्वेयत्रलोकेगर्हते तद्वर्ज्यमेव । यथानरस्य महाकुलीनस्य भुक्तविभवस्य निष्ठकुलात्प्राप्तश्रीकातुसमान-
जातीयादपि प्रतिग्रहादिना केनचिदुपायेन जीवनम् अक्लेशेनशरीरस्य सेवावाणिज्यमहाक्लेशे दूराश्वगमनादिना तादृशे
नकर्तव्ये संचयो राशीकृतपरिरक्षणम् ॥ ३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्राणयात्रा प्राणधारणस्त्वैःप्रतिग्रहादिभिरगर्हितैरसत्प्रतिग्रहादिरहितैः । अक्लेशेनायासा-
नुत्पादनेन शरीरस्य त्वदेहस्य धनस्य संचयसंग्रहम् ॥ ३ ॥

(३) कुड्मूकः । यात्रा प्राणस्थितिः । शास्त्रीयकुटुंबसंवर्धननित्यकर्मानुष्ठानपूर्वकप्राणस्थितिमात्रार्थं न भोगार्थं
त्वसंबन्धितया शास्त्रविहितार्जनरूपैः कर्मभिर्ऋतादिवक्ष्यमाणैः कायक्लेशविनाऽर्थसंग्रहंकुर्यात् ॥ ३ ॥

(४) राघवानन्दः । त्वकुटुम्बवर्धननित्यकर्मानुष्ठानपुरःसरंप्राणस्थितिर्यात्रा तत्परिमाणं तावत्पर्यन्तमात्रं तस्याः
प्रसिद्ध्यर्थं नतु भोगार्थम् न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्नसजीवतीत्युक्तेः । पञ्चानामपि योभर्ता न सप्रकृतिमानुषह-
त्युक्तेः ॥ ३ ॥

(५) नन्दनः । लौकिकवैदिकानामवश्यकर्तव्यानांकर्मणानिर्वृत्तिर्यात्रा तावन्मात्रलाभार्थं न ततोधिकम् । परपीडा-
वदात्मपीडाप्यविहिता वर्जनीयेति ज्ञापितमक्लेशेनशरीरस्येति ॥ ३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अगर्हितैः स्वैः कर्मभिः । शरीरस्याक्लेशेन धनसंचयं धनसंग्रहं कुर्वीत । प्राणयात्रा प्राण-
धारणमात्रं यथा भवे तथा कुर्यात् ॥ ३ ॥

ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा ॥ सत्यामृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥ ४ ॥

(१) मेधातिथिः । तानिकर्माणि नामतस्तावदाह । नाम्नैवकेषांचित् स्थितिःप्रतीयते प्रयोजनंवाप्रशस्ताभावेनिन्दि-
तेषुप्रवृत्तिः । तत्र मृतप्रमृते अत्यन्तनिन्दिते । ततोपि सत्यामृतं यतआह तेनैववापि जीव्यतइति । अपिशब्दोऽरुचिस्त-
वनार्थः । नामतोनिर्दिश्यस्वरूपतोव्याचष्टे ॥ ४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ऋतामृताभ्यामित्युक्तेनामृतेन वेत्यर्थः । सत्यामृताभ्यांतद्वयोपलक्षितेन वाणिज्येने-
त्यर्थः ॥ ४ ॥

(३) कुड्मूकः । कैः कर्मभिरित्यत्राह ऋतामृताभ्यामिति । अनापदीत्यनुवर्तते । ऋतादिभिरनापदि जीवेत् । से-
वया त्वनापदि कदापि न वर्तेत ॥ ४ ॥

(४) राघवानन्दः । अद्रोहाल्पद्रोहौ नाम्नैव स्पष्टयन्नगर्हितानि कर्माणि त्वयंव्याचष्टे ऋतेति ॥ ४ ॥

(५) नन्दनः । अथ वृत्त्युपायान्नियमयति ऋतेति । पूर्वपूर्वालाभे परःपरआस्थेयइति ॥ ४ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्वाभ्यामाह ऋतेति । ऋतामृताभ्यां वा जीवेत् अमृतवृत्त्यावा मृतेन वृत्त्या वा प्रमृतवृत्त्या वा
सत्यामृताभ्यांवा श्ववृत्त्या कथंचन नजीवेत् ॥ ४ ॥

ऋतमुच्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ॥ मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥ ५ ॥

(१) मेधातिथिः । उच्छश्च शिलश्च उच्छशिलं तद्वत्ज्ञेयं । सत्यव्रततुल्यं क्षेत्रालूनस्यव्रीह्यादेर्गृहं खलंवा
नीयमानस्य यःपुलाकःपतितःत्वामिनोऽनपेक्षितस्तस्योच्चयनमुच्छस्तइत्यम । नतत्रेयंबुद्धिराधेया । परकीयमेतन्नगृह्णामी-
ति । एवंच स्वत्वात्परिभ्रष्टस्यलूनस्यालूनस्यवानेकप्ररोहवतोग्रहणंशिलः अमृतस्यादयाचितं । अत्यन्तप्रीतिकरत्वात् ।
मृतमिदयाचितं भैक्षमिति । याचितमित्येवसिद्धे भैक्षशब्देन सामूहिकतद्धितान्तेन बहवोयाचितव्यादित्युच्यते । नैकः-

कदर्थनीयस्तदुक्तमल्पद्रोहेणेति प्रायेणच भैक्षशब्दस्य भैक्षस्यात्मविशुद्ध्यर्थमित्येवमादौ सिद्धान्तविषये प्रयोगसिद्धेः सामान्यविषयार्थयाचितशब्दोपादानं । तेन नेदं सिद्धान्तभिक्षणमेव । अग्रिमतः पराग्रिपकेन वैश्वदेवादिविरोधात् । नचेदं भोजनार्थमेव भिक्षणं किं तर्हि स्थित्यर्थं स्थितिश्च न भोजनमात्रसाध्या गृहस्थस्य किं तर्हि यत्किंचिद्गृहोपयोगि अतएवोदकपरिधानाद्यपि भिक्षितव्यं । गृहोपकरणंच स्थाल्यपिधानादि । ब्रह्मचारिणस्तु भोजनकाले विधिनापाकासंभवा-
नियमतः सिद्धान्तविषयं भैक्ष्यं प्रतीयते । भिक्षाशब्दश्चायं भिद्यमाणद्रव्यगतं परिमाणमप्याचष्टे । भिक्षामात्रं न ददाति याचि-
तः । प्रसूतिमात्रं भिक्षेति तेन गौहिरण्यादिभिक्षणं न प्रसूतशब्देनाभ्यनुज्ञायते । प्रतिग्रहाद्यर्थायाश्चेति । ननु भैक्षग्रहणमपि प्रतिग्रहएव । नैव ग्रहणमात्रं प्रतिग्रहः । विशिष्टएव स्वीकारे प्रतिपूर्वो गृह्णाति वर्तते । तेन न स्वीकारमात्रे प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रतिग्रहप्रत्यवर इति । अदृष्टबुध्यादीयमानं मत्तपूर्वगृह्णतः प्रतिग्रहो भवति । नच भैक्षे देवस्यत्वादिमत्तोच्चारणमस्ति । नच ग्रीत्यादिना दानग्रहणेन च तत्र प्रतिग्रहव्यवहारः । अतः प्रतिग्रहादर्थान्तरमेवेदमृतामृतशब्दाभिधेयं । अतश्च नात्रया-
च्यमानस्य अयाच्यमानस्यवा महासत्त्वतया उपकारान्तरापेक्षा जायते येन वा ददतो जात्याद्यपेक्षा युक्तिमता प्रतिग्राह-
स्यैव करुणया च प्रदीयमानं गृह्णतो न प्रतिग्रहः । ननु च करुणया दानमदृष्टायैव नेति ब्रूमः नच तत्र दानधर्मः किं तर्हि क-
रुणाभ्यासात्परोपकाराद्वा । तत्र यथाहितोपदेशादावनुग्राहस्य यथाविधिजात्यादिनापेक्षते । तद्वत्करुणयादाने । तथाच
शिष्टानैव विधेदाने वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायेत्येतदनु रूढ्यन्ते । अतएवाब्राह्मणा अपि दैन्यमापन्नाः परेण दत्तं गृह्णाना-
न ब्राह्मणवृत्तं प्रतिग्रहमाश्रिता भवन्ति । स्थितमेतत् । प्रतिग्रहे यद्यपि याचितायाचितपूर्वकत्वं विद्यते । तथापि न तेनैवामृता-
मृतशब्दार्थः । विषयान्तरस्य दर्शितत्वात् । याजनाभ्यापनयोरप्येतद्रूपमस्ति । कश्चिद्याजित्वायाजकत्वं लभते । कश्चित्प्रा-
र्यते । एवमभ्यापने योज्यं । अतो यावता काचिद्वृत्तिर्यात्रायासादैन्यावहत्वात् मरणमिवेति मृतशब्देनाभिधीयते । कर्षणं तु-
मरणादपि पापीयः । लाङ्गलाकर्षणं हि भारवाहत्वं तच्च खलजनपदकर्म ॥ ५ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । उच्छोवा शिलोवा उच्छशिलं तत्रोच्छोरभ्यादिपतितैकैकबीजग्रहणं । शिलंसस्य मञ्जरी-
तदुपलक्षितं शिलक्षेत्रभूपरित्यक्तैकैकसस्य मञ्जरीग्रहणं । उभयमृतं सस्यलोकप्राप्तिहेतुत्वात् । अयाचितं यात्रां विनाऽन्यतो-
लब्धं । अमृतमन्यार्हसनात् । याचितस्य भैक्षमिति नामान्तरं तन्मृतं परदुःखोत्पादनेन हिंसाहेतुत्वात् । रुषिः प्रमृतं प्रकर्षेण
प्राणिनां मारकत्वात् । सत्यानृतं एकदेशमभ्याभिधाननियमात् । अत्र याजनाभ्यापनप्रतिग्रहैर्लाभोऽपि याचितोऽयाचितो वा
भवतीति मृतामृतयोरेवान्तर्भूतत्वात् न पृथगुक्तः । तथात्र द्विजातिमुख्यवृत्तीनामित्युपक्रम्य रुषिवाणिज्ययोरभिधानान्ना-
योरापदि वर्णान्तरावृत्तितया ब्राह्मणैरनुष्ठानं किं तु स्ववृत्तितयैव । तथाच क्षत्रियवृत्त्यपेक्षयानानयोरुत्कृष्टत्वम् । कुसीद-
पाशुपाल्ये तु वैश्यवृत्तितया क्षत्रवृत्तेरप्यपकृष्ट इति ग्राह्यम् । क्वचित्तत्रापि शब्दात्कुसीदमपि ग्राह्यमतएव गौतमः । रुषि-
वाणिज्ये वा स्वयंकृते कुसीद्वेति ब्राह्मणमधिकृत्याह । सूत्रे विभागपूर्ववृत्तिद्वयासंभवेत्यन्तापि कुसीदाश्रयणमित्येतदर्थं
मित्याहुः ॥ ५ ॥

(३) कुड्ढूकः । अप्रसिद्धत्वादतादीनि ध्याचष्टे ऋतमिति । अबाधितस्थानेषु पथि वा क्षेत्रेषु वाऽप्रतिहतावका-
शेषु यत्र यत्रौषधयो विद्यन्ते तत्र तत्राङ्गुलिभ्यामैकैककणं समुच्चयित्वेति बौधायनदर्शनादेकैकधान्यादिगुडकोच्चयनमुच्छः ।
मञ्जर्यात्मकानेकधान्योच्चयनं शिलः उच्छश्च शिलश्चेत्येकवद्भावः । तत्सत्यसमानफलत्वादतमित्युच्यते । अयाचितोप-
स्थितममृतमिव सुखहेतुत्वादमृतम् । पार्थित्यं पुनर्भैक्षं भिक्षासमूहं रूपं मरणसमपीडाजननान्मृतं । एतच्च साग्रे गृहस्थस्य भै-
क्षमपकृतं दुल्लिखितं तु सिद्धान्तं पराग्रिपकेन स्वाग्नौ होमाभावात् । कर्षणं च भूमिगतप्रचुरप्राणिमरणनिमित्तत्वाद्बुद्धुः-
स्वफलकं प्रकर्षेण मृतमिव प्रमृतम् ॥ ५ ॥

(४) राघवानन्दः । ऋतादीनामप्रसिद्धत्वात्तत्कथंज्ञेयं तत्राह ऋतेति द्वाभ्यां । आपणादर्धान्यादीनामेकैकशो-
ग्रहणमुच्छं शिल् लूनक्षेत्रादेरेनेकधान्यादिकमञ्जर्याग्रहणमिति द्वयं ऋतंचसूनृतावाणीत्युक्तेस्तदनुद्वेजकत्वात्तद्वयम् ।
अमृतं अयाचितस्यामृतवदयत्नोपस्थित्या तृमिहेतुत्वात् । भैक्ष्यं देहिदेहीति चित्तभेत्तृत्वान्मृतम् ॥ ५ ॥

(५) नन्दनः । ऋतादीनांस्वरूपंश्लोकद्वयेन व्याचष्टे ऋतमिति । उच्छश्चशीलश्चोच्छशिलम् । उच्छोधान्यश्चा-
दानम् । कणिशाद्यर्जनंशिलमितिस्मृत्यन्तरम् ॥ ५ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतद्वृत्तीनांलक्षणमाह । ऋतमिति । ऋतसंज्ञम् ॥ ५ ॥

सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते ॥ सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

(१) मेघातिथिः । नैवमतव्यं सत्यानृतोभयरूपता शास्त्रेण वाणिज्येभ्यनुज्ञायेतइति किंतिहिं वस्तुत्वभाववादोयं
लोभग्रहणमेवानृतंजीव्यतइविवचनाद्वाणिज्याजीवनायैव नधनसंचयाय सेवाश्ववृत्तिर्यथाहिंश्वप्रेर्यते । कृच्छ्रेणचलभते
तथा च सेवकः सेवाप्रेष्यत्वं यत्रकुत्रचित्कर्मणि प्रेष्यते उचितेनुचितेवा ससेवकः । अतउत्कृष्टेनायुधकर्मादिना येराजा-
नमुपसर्पन्ति तेनश्ववृत्तयः ॥ ६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्ववृत्तिः शुनइव वृत्तिः तांपरिवर्जयेत् । प्राणरक्षामात्रस्यानृतः संभवे तदभावे तु तामपि-
ब्राह्मणः कुर्यादित्येतदर्थं ब्राह्मणवृत्ते र्भ्येभिधानम् । अत्र चोत्तरोत्तरापेक्षया पूर्वापूर्वा वृत्तिःश्रेष्ठेति वक्ष्यति ॥ ६ ॥

(३) कुड्डूकः । प्रायेण सत्यानृतव्यवहारसाध्यत्वात्सत्यानृतंवाणिज्यम् । नतुवाणिज्ये शास्त्रेण सत्यानृताभ्यनुज्ञानं
तेनचैवापिजीव्यत इतिच शब्देन वाणिज्यसमशिष्टत्वात्कुसीदमपिशृण्वते । पूर्वश्लोकोक्ताकृषिरेतच्छ्लोकेच वाणिज्यकुसीदे-
अनापदीत्यनुवृत्तेरस्वयंकृतान्येतानि बोद्धव्यानि । यथाहगौतमः । कृषिवाणिज्ये स्वयंचाकृतेकुसीदंच सेवा तु दीनदृष्टि-
दर्शनस्वामितर्जननीचक्रियादिधर्मयोगाच्छुनइव वृत्तिरतःश्ववृत्तिरुक्ता । तस्मात्तांप्रकृतो ब्राह्मणस्त्यजेत् ॥ ६ ॥

(४) राघवानन्दः । सत्यानृतं सत्यं स्तीयंद्रव्यं परकीयमनृतं तदात्मकत्वाद्वाणिज्यस्य । सेवा श्ववृत्तिः उन्नि-
द्रादिसमगुणः सारमेयस्तद्वृत्तिः दुःखात्मिकामनुष्यसेवेत्यनुभवसिद्धम् । आपदनापद्वेदेन ऋतादिव्यवस्था ॥ ६ ॥

(५) नन्दनः । उच्छशिलादीनामृतादिसंज्ञाव्यवहारोवृत्तीनांतत्संज्ञानुरूपगुणदोषतारतम्यप्रतिपत्त्यर्थः ॥ ६ ॥

(६) रामचन्द्रः । सत्यानृतं सत्यंच अनृतंच सत्यानृतं वाणिज्यं श्ववृत्तिःसेवा कष्टेन युद्धादिना आख्याता
तस्मात्तांसेवांपरिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

कुसूलधान्यकोवा स्यात्कुम्भीधान्यकएव वा ॥ त्र्यहैहिकोवापि भवेदश्वस्तनिकएव वा ॥ ७ ॥

[सद्यः प्रक्षालिको वा स्यात् माससञ्चयिकोपि वा ॥ षण्मासनिचयोवापि समानिचय

एववा ॥ १ ॥ +

(१) मेघातिथिः । उक्तआत्मकुटुम्बस्थित्यै धनसंचयः कार्योंनभोगायक्लेशआश्रयणीयः । तनु किमन्वहमर्जनीयं
उतैकदैवचिरकालपर्याप्तमितिनोक्तं । तत्रकालविलंबार्थमिदमारभ्यते कुसूलेधान्यमस्येतिगमकत्वाद्द्वयधिकरणोबहुव्रीहिः ।

(७) कुसूलधान्यको = कुसूलधान्यको (मे०)

(+) (८)

पाठान्तरं कुसूलधान्यकइति । कुसूलपरिमितंधान्यं कुसूलधान्यं तदस्यास्तीति मत्वथायइकशब्दः धान्याधिकरणमिष्ट-
कादिरुतंकुसूलः कोष्ठइतिचोच्यते । तेनचात्रापरिमाणंलक्ष्यते । तत्रयावन्मातितावत्संचेतव्यम् । न पुनराधारनियमो-
ऽस्ति । कुसूलेचमहापरिग्रहणस्यापिबहुभृत्यबन्धुदारदासपुत्रगवाश्ववादिमतोऽपियावता सांवत्सरीस्थितिर्भवति । तावद-
नुज्ञायते । यतोवक्ष्यति । यस्यत्रैवार्षिकंभक्तमिति धान्यग्रहणमप्यविवक्षितम् । सुवर्णरूप्याद्यपि तावत्याः स्थितेः पर्या-
प्तमर्जयतोदोषः । सर्वथाधिकंततोनार्जनीयमितिवाक्यार्थः । कुम्भीउष्ट्रिका । षण्मासिकोनिचयएतेनप्रतिपाद्यतइतिस्म-
रन्ति । ग्रहमैहिकमस्येतिग्रहमैहिकःकुटुम्बस्य नित्यकर्माथं च भक्तचयंकरोति यः सग्रहमैहिकः श्वोभवंश्वस्तनंभक्तं-
तदस्यास्तीतिपूर्ववत् । मत्वर्थीयंकृत्वा नञ् समासः कर्तव्यः सद्यस्तात्कालिकोभवेत्तदहरार्जितंव्ययीकर्तव्यम् ॥ ७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तत्र ऋताष्ट्रेषु तत्तद्व्याश्रितातिरिक्तफलार्थिनांसंचयनियममाह कुसूलेति । कुसूलधा-
न्योवर्षषण्मासत्रिमासमासानामन्यतरकालतः कुटुम्बभोजनपर्याप्तधान्यवान्कुसूलधान्यवान् । कुम्भीधान्यःषडहःपर्याप्तधा-
न्यवान्कुम्भस्थधान्यवान् । ग्रहार्थमीहा चेष्टा यस्य सग्रहमैहिकः । श्वस्तनजीवनपर्याप्ता यस्य वृत्तिर्न भवति सोऽश्व-
स्तनिकः । एकदिनमात्रपर्याप्तधान्यवान् ॥ ७ ॥

(३) कुम्भकः । कुसूलोब्रीह्यगारंस्यादित्याभिधानिकाः । इष्टकादिनिर्मितागारधान्यसंचयोभवेत् । अत्रकालविशे-
षापेक्षायां यस्यत्रैवार्षिकंभक्तंपर्याप्तंभृत्यवृत्तये । अधिकंवापि विद्येत ससोमंपातुमर्हतीति ॥ मनूक्तएवकालोप्राप्तः । तेन नि-
त्यनैमित्तिकधर्मकृत्यपोष्यवर्गसहितस्य गृहिणोयावता धान्यादिधनेन वर्षत्रयस्तमधिकंवा निर्वाहोभवति तावद्धनः कुसूल-
धान्यकउच्यते । वर्षनिर्वाहोचितधान्यादिधनः कुम्भीधान्यः । प्राक्सौमिकीः क्रियाः कुर्याद्यस्यान्वार्षिकंभवेदिति या-
ज्ञवल्क्येन गृहस्थस्य वार्षिकसंचयाभ्यनुज्ञानात् । मनुरपि यदा वानप्रस्थस्यैवसमानिचयएववेत्यनेनसमानिचयंवक्ष्य-
ति । तदपेक्षयाबहुपोष्यवर्गस्य गृहिणः समुचितः संवत्सरसंचयः । मेधातिथिस्तु यावता धान्यादिधनेन बहुभृत्यदारादि-
मतस्त्रिसंवत्सरस्थितिर्भवति तावत्सुवर्णादिधनवानपि कुसूलधान्यइत्यभिधाय कुम्भीउष्ट्रिकाषण्मासिकधान्यादिनिचयः
कुम्भीधान्यकइति व्याख्यातवान् । गोविन्दराजस्तुकुसूलधान्यकइत्येतद्याचक्ष्यकोष्ठप्रमाणधान्यसंचयोवास्याद्वादशाह-
मात्रपर्याप्तधनःकुम्भीधान्यकइत्येतद्याचष्टे । उष्ट्रिकाप्रमाणधान्यादिसंचयोवाषडहमात्रपर्याप्तधनः । द्वादशाहंकुसूलेन वृ-
त्तिःकुम्भ्या दिनानि षट् । इमाममूलंगोविन्दराजोक्तिनानुरन्महे । ईहा चेष्टा तस्यांभवमैहिकंग्रहपर्याप्तमैहिकंधनंयस्य
सग्रहमैहिकः तथावास्यात् । दिनत्रयनिर्वाहोचितधनमित्यर्थः । श्वोभवंश्वस्तनंभक्तंतदस्यातीति मत्वर्थीयमिकंकृत्वा
नञ्समासः तथावाभवेत् ॥ ७ ॥

(४) राघवानन्दः । तेष्वेव यदि कुटुम्बाद्यर्थं संचयी स्यात्तत्कथं तत्राह कुसूलेति । कुसूलोब्रीह्यगारंस्यादित्यभि-
धानादिष्टकादिनिर्मितागारम् । कुम्भीधान्यकः कुम्भी उष्ट्रिका तथा परिमितं धान्यंयस्य सः । षण्मासिकधान्यसंचयइति
मेधातिथिः भार्यासहितमात्रत्वेन द्विजस्य वानप्रस्थस्य समानिचयएव वेति वक्ष्यमाणत्वात्समानिचयेपि न दोषइति ।
ग्रहमैहिकइतिईहा चेष्टा तथा पर्याप्तंयत्तदैहिकं तादृशदिनत्रयं व्याप्य भोज्यंयस्येत्यर्थः । ग्रहमैहिकंकुटुम्बार्थमीहांकरोति
यःसग्रहमैहिक इति मेधातिथिः । श्वस्तनंपरदिनभोज्यं तेनापि न जीवती त्यश्वस्तनिकः । द्वादशदिनभोज्यं कुसूलं षट्-
दिनभोज्यंकुम्भीति गोविन्दः ॥ ७ ॥

(५) मन्दनः । एवंप्रवृत्तेरुपायानियमिताः । इदानीमुपेयमपि नियमयति कुसूलेति । कुसूलात्किंचिन्म्यूना धानी

कुम्भीति कल्पनीयम् । द्वयोरहोरैहिकमिहभोग्यं वस्तु यस्यास्तिसद्यहैहिकः । श्वोभोग्यं वस्तु श्वस्तनंतद्वा न श्वस्तनिकः ॥ ७ ॥

(६) रामचन्द्रः । कुशूलं मृत्तिकाकोष्ठकं कुम्भी उष्ट्रिका । कुशूलधान्यकोवा स्यात् । कुम्भीधान्योवा स्यात् । स्वकुटुम्बपोषणे द्वादशाहमात्रपर्यामानः कुशब्दो धान्याधिकरणं शूलः कोष्ठः कुशूलधान्यः । स्वकुटुम्बपोषणे पर्यामानो वर्षपर्यन्तं सकुम्भीधान्यः उष्ट्रिका प्रमाणसञ्चयपरः श्वहपर्यामानमस्यास्तीति श्वहैहिकः श्वोभवंधान्यादि श्वस्तनं न विद्यते श्वस्तनं यस्यासौ अश्वस्तनिक एव वा भवेत् ॥ ७ ॥

चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम् ॥ ज्यायान्परः परोज्ञेयो धर्मतोलोकजित्तमः ॥ ८ ॥

(१) मेधातिथिः । अस्य विकल्पस्य व्यवस्थामाह । योयः स्वल्पकालसंचयः ससधर्मैर्ज्यायानधिकः । धर्माधिक्याच्च फलाधिक्यं भवति । लोकजित्तमः । लोकाञ्जयत्याधिपत्येनावतिष्ठते । भोग्यतया स्वीकरोति । प्रकर्षविवक्षायां तमः । अविशेषोपादानाल्लोकः स्वर्गः प्रतीयते । तेनेयमत्र व्यवस्थामहापरिग्रहो यो बह्वपत्योऽग्रामपुत्रोऽसंविभक्तपुत्रः अकृतकन्या-विवाहश्च सकुशूलधान्यकः । यस्तु परिणतवयाः ग्रामपुत्रः कृतकरणः स यावच्छर्ममेति तावदितरां कल्पानां श्रयेत् ॥ ८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चतुर्णामपीत्यपिशब्देन पूर्वोक्तानां षण्णां वृत्तीनामपि मध्ये संकुचिता वृत्तिमपेक्ष्य संकुचिता ज्यायसीति परशब्दोत्र संकोचलब्धोत्कर्षवृत्तिपरः । तेनात्र चतुष्के परः परः षट्सु तत्पूर्वइति ग्राह्यम् ॥ ८ ॥

(३) कुल्लूकः । एषां चतुर्णामपि कुशूलधान्यकादीनां ब्राह्मणानां गृहस्थानां मध्ये योयः शेषे पठितः स श्रेष्ठो ज्ञातव्यः । यतोऽसौ वृत्तिसंकोचधर्मेण स्वर्गादिलोकजित्तमो भवति ॥ ८ ॥

(४) राघवानन्दः । अत्र ऋतादयः षडुपायाः तेन जीवन्मृत्युक्तत्वात् कुशूलादयश्च त्वारुपायास्तेष्वेव श्रेष्ठत्विनिर्धारणमाह चतुर्णामिति । कुशूलादिचतुष्टयसंचयिनामेषां कुटुम्बाल्पबहुत्वाद्यपेक्षया कुशूलधान्यकादीनामर्थवादः श्रेयानित्वादि ॥ ८ ॥

(५) नन्दनः । चतुर्णां कुशूलधान्यादीनाम् ॥ ८ ॥

(६) रामचन्द्रः । तेषां चतुर्णां कुशूलधान्यकादीनां मध्ये परः परः ज्यायान् उत्कृष्टः ज्ञेयः ॥ ८ ॥

षट्कर्मैको भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्तते ॥ द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति ॥ ९ ॥

(१) मेधातिथिः । एषां कुशूलधान्यकादीनां गृहस्थानामेकः षट्कर्म भवति । यो महापरिग्रहः प्रागुक्तस्तस्य षड्वृत्तिकर्माणि भवन्ति । कानि पुनस्तानि उच्छशिलायाचितयाचितलाभरुषिवाणि ज्याध्यापनयाजनप्रतिग्रहाः याचितायाचितग्रहणादन्तर्भवन्ति । बहुकुटुम्बको नित्यकर्मसंपत्त्यर्थं च सर्वावृत्तीः समुच्चिताः कुर्यात् । रुषिवाणि ज्येऽपि येऽप्यध्यापनमध्ययनमित्यादीनि प्रथमाध्यायपठितानि षट्कर्माणि व्याचक्षते तेषां प्रकरणविरोधो निष्प्रयोजनं वाऽध्ययनादीनामुपादानमन्यत्रैव तेषां विहितत्वात् । अन्यो द्वितीयः कुम्भीधान्यस्त्रिभिः प्रवर्तते । प्रोऽनर्थको यावद्धर्तते तावत्प्रवर्तत इति वर्तनचरितिसंपत्तिः प्रकृतानां च यानिकानि चित्कृषिवाणि ज्ये विहाय प्रशस्ततरो हि पूर्वस्मात्कुम्भीधान्यको यतो वक्ष्यति सावृत्तिः स द्विर्गहिता । गोरक्षकान्वाणिजिकानिति । यदप्युक्तं गौतमेन रुषिवाणि ज्ये वाऽस्वयंकृते कुसीदचेत्यनापद्येव तत्राप्यस्वयंकरणपक्षे दोषोऽस्त्येव लघीयांस्तु भविष्यति । द्वाभ्यामेकः अत्रापि याचितलाभवर्जयित्वा त्रयाणां यथासंभवं द्वे गृह्येते अयाचितमपितावदृश्यते यावन्न्यहपर्याप्तम् । चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति । ब्रह्मसत्रं शिलोच्छयोरन्यतरावृत्तिः । सततभवत्वात्सत्रमिव न तदहः परिसमापनीयावृत्तिरतः सत्रमित्युच्यते अहंरहं नित्यमनुष्ठानात् । ब्रह्मशब्दो ब्राह्मणपर्यायस्तेषामिदं सत्रम् ।

अस्माद्ब्रह्मशब्दात्पूर्वोऽयं वृत्तिप्रपञ्चो ब्राह्मणविषय एव विज्ञेयः । क्षत्रियादीनां तु तत्र वक्ष्यति । कथं पुनः शिलोच्छ्रवत्त्याजीवनं संभवति यावता शरद्रीष्मयोरेव क्षेत्रे खले वा शिलपुलाकपातसंभवः । अथोच्यते ग्रीष्मेभ्योग्रीष्माणि शारदानि शारदेभ्योऽर्जयिष्यतीति षण्मासिकवृत्तिरेव स्यान्नाश्वस्तनिकः । अथान्यथापि संभवतियावतस्तावतो ब्रीह्यादेः कथंचित्पतितस्योपादानम् । सत्यम् न तद्भोजनाय पर्याप्तम् । संचिन्वानो यदा पर्याप्तं प्राप्स्यति चेदशिष्यति पञ्चाहाद्यसंभवात् तथा च महाभारते शिलोच्छ्रवृत्तिः पक्षान्ताशने वर्ण्यते । सोऽयमस्यामवस्थायां गृहस्थस्तापसः संवृत्त इति चेत् । किं त्वेवमप्यश्वस्तनिकत्वं विरुध्यते । यथोपयादस्थितिकस्तदा स्यान्नाश्वस्तनिकः । अश्वस्तनिको ह्युच्यते अहन्यहन्यर्जयति यात्रिकं तदहरेव च व्यथीकरोति । न द्वितीये हि स्थापयति । यदि च न प्रत्यहं शिलोच्छ्रवृत्तेर्भोजनं निवर्तते । कुतोऽश्वस्तनिको भवेत् । कथंच तथा विधस्यजीवनं पुत्रदारभरणंच । अतएव केचिन्निभिरन्यः प्रवर्तत इत्यत आरभ्यान्यथा व्याचक्षते । त्रिभिर्याजनाभ्यापनप्रतिग्रहैर्द्वाभ्यां प्रतिग्रहः प्रत्यवर इति प्रतिग्रहव्युदासेन याजनाभ्यापने प्रतिग्रहेते ब्रह्मसत्रमभ्यापनं तद्विवृत्तये पर्याप्तम् यत्तु वर्तयंश्च शिलोच्छ्राभ्यामिति सचतुष्टयव्यतिरिक्तोऽन्य एव । अत्रोच्यते । यः शिलपरिमाणान्दशद्वादशान्यवान् ब्रीह्यान्वाबहुभ्य आदत्ते यावदेकाहयात्रिकं स शिलवृत्तिः । यस्त्वेकैकं यात्रार्थमाहरति । स उच्छ्रवृत्तिः स्मृत्यन्तरेऽयं ज्यायान्वरवृत्तिरुक्तः । अतश्च सार्वकालिकमप्युपपद्यते । न च वैश्वदेवादि क्रियाविरोधस्तत्र पुत्रदाराणामभरणभेदश्च याचितभैक्षादत्यन्ताल्पग्रहणात् ॥ ९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पूर्वहि ऋतामृतमृताख्यं वृत्तित्रयमनापदि । अन्यत्तु त्रयमापदीति दर्शितम् । यत्तु सेवारूपं नृपे भैक्ष्यमापत्तौ जीवनानि त्विति याज्ञवल्क्येनोक्तं तत्सिद्धान्तभैक्ष्यविषयम् । तेषु कुसूलधान्यादिचतुष्टयमध्य एकः कुसूलधान्यः । षट्कर्मा याजनाभ्यापनप्रतिग्रहाहि मृतामृतभेदेन द्विविधाः सन्तः षट्भवन्ति तैः समुदितैर्वर्तते । अन्यः कुम्भीधान्यः । त्रिभिरमृतभेदभूतैः याजनादिभिस्त्रिभिः । अन्यरूपहैहिकोद्वाभ्यां शिलोच्छ्राभ्यां । चतुर्थोऽश्वस्तनवृत्तिः ब्रह्मसत्रेण ब्रह्मलोकप्राप्तिहेतुना सत्रं यागस्तत्तुल्यफलतया सत्रेणोच्छ्रयग्रहणेन जीवति ॥ ९ ॥

(३) कुसूलकः । एषां गृहस्थानामध्ये कश्चिद्गृहस्थो यो बहुपोष्यवर्गः स प्रकृतैर्ऋतायाचितभैक्षरुषिवाणिज्यैः पञ्चभिस्तेन चैवेत्यनेनैव च शब्दसमुच्चितेन कुसीदेनेत्येवं षड्विधैः कर्मभिः षट्कर्मा भवति षड्विरेतैर्जीवति । रुषिवाणिज्यकुसीदान्येतान्यस्वयंकृतानि गौतमोक्तानीत्युक्तम् । अन्यः पुनस्ततोऽल्पपरिकरः । त्रिभिर्याजनाभ्यापनप्रतिग्रहैर्द्वाहेणेत्येतच्छ्लोकसंगृहीहीतैः प्रवर्तते । प्रशब्दोऽनर्थको वर्तत इत्यर्थः । अपरः पुनः प्रतिग्रहः प्रत्यवर इति वक्ष्यमाणत्वात् तत्परित्यागेन द्वाभ्यां याजनाभ्यापनाभ्यां प्रवर्तते । उक्तत्रयापेक्षया चतुर्थः पुनर्ब्रह्मसत्रेणाभ्यापनेन जीवति । मेधातिथिस्तु । एषां कुसूलधान्यकादीनां भ्यादेकः कुसूलधान्यकः प्रकृतैरुच्छ्रशिलायाचितरुषिवाणिज्यैः षट्कर्मा भवति षड्विर्जीवति अन्यो द्वितीयः कुम्भीधान्यकः रुषिवाणिज्ययोर्निन्दितत्वात् तत्त्याग उच्छ्रशिलयाचितायाचितानां भ्यादिच्छातस्त्रिभिर्वर्तते । एकरूपहैहिको याचितलाभं विहायोच्छ्रशिलयाचितानां भ्यादिच्छया द्वाभ्यां वर्तते । चतुर्थः पुनरश्वस्तनिको ब्रह्मसत्रेण जीवति । ब्रह्मसत्रशिलोच्छ्रयोरन्यतरा वृत्तिः । ब्रह्मणो ब्राह्मणस्य सततं भवत्वात् सत्रमित्याह ॥ ९ ॥

(४) राघवानन्दः । एषां कुसूलधान्यकादीनां भ्यां बहुपरिकरः कुसूलधान्यकः षडुच्छ्रादिकर्मास्यादित्याह षट्कर्मैक इति । कुम्भीधान्यकस्तु मध्यमपरिकरः रुषिवाणिज्ये यात्राविहायान्यैस्त्रिभिर्जीवेत् श्रेष्ठत्वात् । ग्रहैहिकोद्वाभ्यां शिलोच्छ्राभ्यां श्रेष्ठतरत्वात् । अश्वस्तनिकस्त्वयाचितेनैकेन श्रेष्ठतमत्वात् । ऋतामृताभ्यां जीवेदिति जीविकोपक्रमादुक्त्यस्तु शिलोच्छ्राभ्यामित्युपसंहाराच्चेति जीविकालिङ्गात्प्रकरणाच्चेति केचित् । परेत्वाहुः षडिति यजनयाजनाभ्ययनाभ्यापनदानप्रतिग्रहाः षडस्य सन्तीति षट्कर्मैति कर्मशब्दप्रयोगात् । त्रिभिर्याजनाभ्यापनप्रतिग्रहैः । द्वाभ्यां याजनाभ्यापनाभ्यां ।

प्रतिग्रहप्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयइति प्रतिग्रहस्य निन्दितत्वाच्चतुर्थोऽध्यापनशीलः साहस्य कृतकृत्येति वक्ष्यमाणत्वादिति । चतुर्थस्त्वध्यापनरतः एतेषु प्रकृष्टः ब्रह्मवेदस्तदेव सत्रं त्वाध्यायप्रवचनाभ्यां प्रमदितव्यमिति श्रुतेः । सत्रवदावश्यकत्वबहुकालव्यापित्वाभ्यां स एवस्तूयते ॥ ९ ॥

(५) नन्दनः । एवंतावदुपेयपरिमाणतश्चातुर्विध्यंगृहमेधिनामुक्तम् इदानीमुपायपरिमाणतोऽप्याह षडिति । एषांचतुर्णामध्य एकः षट्कर्मा भवति । षड्विब्राह्मणनियतैर्याजनाध्यापनप्रतिग्रहैस्त्रैवर्णिकनियतैः प्रमृतसत्यानृतकुसीदैश्चार्थसञ्चये प्रवृत्तइत्यर्थः । त्रिभिर्याजनाध्यापनप्रतिग्रहैः । द्वाभ्यां याजनाध्यापनाभ्याम् । प्रतिग्रहः प्रत्यवरइति निन्दितत्वात्प्रतिग्रहोवर्जनीयइत्यर्थः । ब्रह्मसत्रेणाध्यापनेन चतुर्थोजीवति । तस्य षट्कर्माद्यपेक्षयाचतुर्थशब्देन ग्रहणम् नतु पूर्वश्लोके निर्दिष्टस्याश्वस्तनिकस्य ॥ ९ ॥

(६) रामचन्द्रः । वर्णानां वृत्तिमाह । एषां कुशूलधान्यकादीनां मध्ये एकः ब्राह्मणः षट्कर्मा उञ्छशिलायाचितयाचितकर्षण-वाणिज्य सेवावृत्तिर्भवेत् । प्रतिग्रहादीनिवा षट्कर्माणि क्षत्रियस्त्रिभिरभ्ययनदानयजनादिभिः । वैश्यः द्वाभ्यां वृत्तिभ्यांगोरक्षावाणिज्याभ्यां जीवेत् । चतुर्थः शूद्रः स्वस्य ब्रह्मसत्रेण ब्राह्मणानां वा त्रैवर्णिकानां वा सेवारूपवृत्त्या जीवति । शूद्रस्तु द्विजसेवया इति योगी । षट्कर्माणि ज्ञाभ्ययनदानं याजन मध्यापनं प्रतिग्रहश्चेति ॥ ९ ॥

वर्तयंश्च शिलोञ्छाभ्यामग्निहोत्रपरायणः ॥ इष्टीः पार्वयनान्तीयाः केवलानिर्वपेत्सदा ॥ १० ॥

(१) मेधातिथिः । पर्वचायनान्तश्च तयोर्भवाः पार्वयनान्तीयाः । स्वार्थकमणंकृत्वावृद्धाच्छः कर्तव्यः । पर्वेष्टिर्दर्शपूर्णमासौ अयनान्ते च यज्ञआग्रयणाख्यः । केवलग्रहणात्काभ्या इष्टयोनिषिध्यन्ते । वैश्वदेवहोमबलिहरणेऽपि तस्य नान्वहं भवतः । नहि तस्य सर्वदा तावद्धनं भवति । अतः केवलग्रहणमहायज्ञनिवृत्तिः । ननु चाग्निहोत्रमपि तत्तस्य नैव भवति । तदपि द्रव्यसाध्यमेव । पक्षहोमान्होष्यति । भार्याभरणंकथमिति चेत्सापितां वृत्तिमाश्रयिष्यति । यदा च भार्याव्रतमेतद्धारयितुमशक्ता तदा भर्तुरपि नास्त्यधिकारः । अथ चान्द्रायणादिषु प्रवृत्तस्य कथं भार्याया जीवनमिति चेदचोद्यमेतद्विद्यमानत्वात् । अतिथ्यादिशिष्टमशिष्यतइतितु वैश्वदेवहोमाभावात् । विद्यमानेऽपि स्त्रीधने न भोजनं युक्तमुभयोर्विधसाशित्वविधानात् । अतस्त्रीधनेन वैश्वदेवं करिष्यति धर्मकार्ये नुज्ञानात्स्त्रीधनग्रहणस्य । नैवम् अस्यामवस्थायामग्निहोत्रमात्रं धर्मो न वैश्वदेवहोमः भवतुवा । यस्यास्तर्हि धनं नास्ति कथं जीवतु तस्माद्यस्यासमर्था भार्या नासौ शिलोञ्छवृत्तावधिक्रियते । वतयन्तात्मानं जीवयन् ॥ १० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इष्टीः केवल इष्टीरेव दर्शपूर्णमास्योपर्वणोरन्ते समीपे प्रतिपदि कार्येपर्वान्ते ये इष्टी दर्शपूर्णमासाख्ये तथाऽयनान्ताया अयनान्तकार्या आग्रयणेष्टयः । अन्तशब्दोत्र सामीप्यार्थः । आग्रयणेष्टिर्हि यवैरुत्तरायणे श्यामाकैर्ब्राह्मिश्च दक्षिणायने क्रियतइत्ययनान्तीया भवन्ति एता एव कुर्यान्तु चातुर्मास्यपशुसोमादि । अत्राग्निहोत्रपरायणइति निर्वपेत्सदेति वचनात् । त्रेताग्निमतएव शिलोञ्छयोरधिकारो गम्यते शिलानप्युञ्छतइत्यत्र तूभयाभिधानंवृत्तिसंकोचधर्मान्तरसंभवयोरुपदर्शनार्थम् ॥ १० ॥

(३) कुड्मकः । शिलोञ्छाभ्यां जीवन्धनसाध्यकर्मान्तरानुष्ठानासामर्थ्यादग्निहोत्रनिष्ठ एव स्यात् । पार्वयनान्तीयाश्च इष्टीः केवला अनुतिष्ठेत् । पर्वच अयनं च पर्वायने तयोरन्तस्तत्र भवाददर्शपौर्णमासाग्रयणात्मिकाः ॥ १० ॥

(४) राघवानन्दः । प्रकृतमाह वर्तयन्निति चतुर्भिः । पार्वयनान्तीयाः पर्वणीः दर्शपूर्णमासयोर्भवाः तथा अयनान्ते भवाश्च इष्टीः केवलाः पशुसोमादिर्वर्जिताः ॥ १० ॥

(५) नन्दनः । अथ शिलोञ्छवृत्तेराहिताग्नेर्नियममाह वर्तयंस्त्विति । शिलोञ्छेन चोभाभ्यांवर्तयन् जीवन्मग्निहोत्रपरायणः सदासायंप्रातरग्निहोत्रं जुहुयात् पर्वचायनंच पर्वायने तयोरन्तः पर्वयनान्तः तत्रभवाः पार्वयनान्तीयाः दर्शपूर्णमासाग्रयणलक्षणाः केवलाफलरहिता इष्टीर्निर्वपेत्कुर्यान्नततोऽधिकं श्रौतकर्म कुर्यात् । तावन्मात्रसिद्धये द्रव्यमर्जयितव्यं नाधिकमित्यभिप्रायः ॥ १० ॥

(६) रामचन्द्रः । शिलोञ्छाभ्यांवर्तयन् शाल्यादिक्षेत्रे नियते पशुयाग प्रतिपदिष्टी रित्यर्थः ॥ १० ॥

न लोकवृत्तंवर्तेत वृत्तिहेतोः कथंचन ॥ अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद्ब्राह्मणजीविकाम् ॥ ११ ॥

मेधातिथिः । लोकवृत्तं नामोच्यते येन प्राकृतजनोऽल्पसत्त्वो वर्तते दम्भेनासत्प्रियाख्यानेन च त्वं विष्णुस्त्वं ब्रह्मा जयजीवेति तथा विचित्रपरिहासकथाभिः । वृत्तिहेतोर्जीविकार्थतया न कर्तव्यमेतत् । यस्तु नर्मशीलस्तस्य न दोषः । अजिह्माम् यस्यान्यच्च हृदयेऽन्यच्च बहिः सजिह्म उच्यते द्वेषमत्सरात्मा दर्शयत्यग्रियंवदताम् । अशठाम् । अग्निहोत्रकर्मानुष्ठानं लोकावर्जनेन प्रतिग्रहादिलाभार्थं न शास्त्रार्थश्रद्धानतया कुर्यात्सशठः । आत्मधर्मत्वेपि जैह्वयशास्त्रयोर्जीविकाप्यभेदोपचाराद्यपदिश्यते अजिह्मामशठां शुद्धामिति । शुद्धिर्वृत्त्यन्तरेणामिश्रीकरणपूर्वदोषद्वयेन च एकपदलभ्योऽप्ययमर्थो वृत्तानुरोधाद्गोबलीवर्दवद्बहुपदैः प्रतिपाद्यते । अथ कथं ब्राह्मणजीविकां जीवेदिति द्वितीया यावता जीवति रकर्मकः । कथंचैकस्यैव धातोरेकत्र द्विप्रयोगः न हि भवति गमनं गच्छेदिति । साध्यसाधनभाव उच्यते । सामान्यविशेषभावात्साध्यसाधनभावो न विरुद्धः यथाश्वपोषपुष्टइति । अनुष्ठानाद्वेवर्तनार्थे जीवति वर्तते । तेन सकर्मकत्वमिति न दोषः । जीवेज्जीवंतार्थमनुतिष्ठेत् ॥ ११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । लोकवृत्तं वृत्त्यर्थतया प्रायशो यदाचरति स्वगुणानुख्यापनानुरूपवेषधारणादिकं लोकस्तत्र वर्तेत न वर्तयेत् । अजिह्मामवक्राशयतया लभ्यां । अशठां परवञ्चनरहितां शुद्धां पतितादिसंबन्धशून्यां ब्राह्मणजीविकां क्षत्रियवैश्यजीविकाम् ॥ ११ ॥

(३) कुङ्कुमः । लोकवृत्तमसत्प्रियाख्याने विचित्रपरिहासकथादिकं जीविकार्थं न कुर्यात् । अजिह्मां मृषात्मगुणार्थाभिधानादिपापरहिताम् । अशठां दम्भादिव्याजशून्याम् । शुद्धां वैश्यादिवृत्तेरसंकीर्णां ब्राह्मणजीविकामनुतिष्ठेत् । अनेकार्थत्वाद्दानूनामनुष्ठानार्थोऽयं जीवति रिति सकर्मकता ॥ ११ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच न लोकेति । लोकवृत्तं मिथ्यालापादि । अजिह्मां दम्भव्याजादिशून्यां । अशठां अवैश्यादिवृत्तिम् ॥ ११ ॥

(५) नन्दनः । अज्ञो जनो लोकस्तस्य वृत्तं जैह्वयशास्त्रान्वितं । तन्न वर्तेत न कुर्यात् । कथञ्चन आपद्यपि । अजिह्मामृजुम् । अशठामनृशंसां अतएव शुद्धां ब्राह्मणजीविकां ब्राह्मणस्य विहितां वृत्तिं जीवेत्कुर्यात् ॥ ११ ॥

(६) रामचन्द्रः । लोकवृत्तं न वर्तेत लोकानुकरणं न वर्तेत अजिह्मां अवक्राशयां अशठां परवञ्चनरहितां पतितादिसंबन्धशून्यां । एतादृशां जीविकां ब्राह्मणजीवेत् ॥ ११ ॥

संतोषं परमास्थाय सुखार्थं संयतो भवेत् ॥ संतोषमूलं हिसुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥ १२ ॥

(१) मेधातिथिः । अ्यहैहिकाश्वस्तनवृत्तिदाढ्यार्थं प्रसंख्यानमिदमाह । सन्तोष आश्रयितव्यो न बहूनामुपजीव्यः-

स्यामिति । याश्चादिक्लेशआस्थेयः सुखार्थी संयतो भवेत् । संयतो यात्रिकाद्धनादधिकेनाभिलाषः । सन्तोषो मेनस्विनां सुखमूलं दुःखस्य मूलं विपर्ययः । असन्तोषो महद्दुःखं दैर्घ्यं अभिलषिते वस्तुन्यसंपत्तिस्तस्मात्सन्तोषमाश्रयेत् ॥ १२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संयतोऽसद्वृत्तिनिवृत्तः । सुखं संतोषो मूलं यस्य स तथा दुःखस्य मूलं विपर्ययोऽसन्तोषः । शिलेच्छादावसंतुष्टस्य तद्वृत्तित्यागसंभवाद्ब्रतवृत्तिनियमनिर्वाहहेतुः संतोषः कार्यतया दर्शितः ॥ १२ ॥

(३) कुड्मूकः । यथा संभवभृत्यात्मप्राणधारणावश्यकपञ्चयज्ञाद्यनुष्ठानमात्रोचितधनानधिकास्पृहा संतोषः तमतिशयितमालम्ब्य प्रचुरधनार्जने संयमं कुर्यात् । यतः संतोषहेतुकमिति सुखं परत्र चाव्यग्रस्य विहितानुष्ठानात्स्वर्गादिसुखम् । विपर्ययस्त्वसन्तोषो दुःखमूलं बहुधनार्जनप्रयासेन प्रचुरदुःखादसंपत्तौ विपत्तौ च क्लेशात् ॥ १२ ॥

(४) राघवानन्दः । दुःखमूलं दुःखस्य मूलं । विपर्ययोऽसन्तोषः ॥ १२ ॥

(५) नन्दनः । संकुचितवृत्तित्वं सुखहेतुरित्यभिप्रायेणाह संतोषमिति । एतावताऽलमिति बुद्धिः संतोषः । संयतः भोगविस्तारप्रसङ्गोपरतः । संतोषमूलमिति बहुव्रीहिः । दुःखमूलमिति तत्पुरुषः । विपर्ययोऽसन्तोषः ॥ १२ ॥

(६) रामचन्द्रः । च्यहैहिका श्वस्तनदाढ्यार्थप्रसङ्गान्मिदमाह संतोषेति । विपर्ययः असन्तोषः दुःखमूलः ॥ १२ ॥

अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातकोद्विजः ॥ स्वर्गायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि

धारयेत् ॥ १३ ॥

(१) मेधातिथिः । वृत्तिविषयो विधिर्वृत्तिशब्देनोक्तः । तेनान्यतमयेति तदपेक्षमेकजीवितं अन्यतमेन निवृत्तिविधानात् । अतो वृत्तिसमुच्चयजीवनः । पितृधनं प्राप्तवतश्च व्रताधिकारो न युज्यते । अन्यथा एकवृत्तिजीवन एव स्यात् । व्रतानीमानि मानसः सङ्कल्पो व्रतमुच्यते । शास्त्रविहितमिदं मया कर्तव्यमिदं वानकर्तव्यमित्येवं स्वर्गायुष्ययशस्यानि व्रतधारणफलानि केचिदाहुः । अतश्चैतत्फलार्थिनो व्रतेष्वधिकारस्तदयुक्तं अनित्यत्वमेवं सति प्रसज्येत तत्रोत्तरश्लोके नित्यग्रहणं बाध्यते । श्रुतौ चैषानित्यताज्ञापिता यावत् हि न सा युक्ता भवतीति । न च स्वर्गादीनां काम्यत्वे नान्वये नाधिकृतविशेषणत्वं प्रतिपद्येरन् ॥ १३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वृत्त्येत्यत्रैकत्वं विवक्षितं । तेन ऋतामृतादिवृत्तिषु यदायां परिगृह्णाति तदा तथैव जीवेदिति निर्दिष्टतमम् । प्रतिग्रहाध्यापनयाजनानि तु तेन रूपेणात्र न निर्दिष्टानीति तेषां सांकर्येऽप्यदोषः । व्रतानि नियमान् । इमानि वक्ष्यमाणानि ॥ १३ ॥

(३) कुड्मूकः । अबहुभृत्यैकवृत्त्या निर्वाहसंभवे सत्यन्यतमयेति विधीयते बहुभृत्यस्यान्संभवे षट्कर्मेको भवत्येषामिति विहितत्वात् । अथ वैकवाक्यतावगमाद्ब्रतविधायकत्वाच्चान्यतमया वृत्त्येत्यनुवादकत्वादेकत्वमविवक्षितम् । उक्तवृत्तीनामन्यतमया वृत्त्या जीवं स्नातको ब्राह्मण इमानि वक्ष्यमाणानि यथासंभवं स्वर्गायुष्ययशसां हितानि व्रतानि कुर्यात् । इदं मया कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमित्येवं विधिसंकल्पविशेषाद्ब्रतम् ॥ १३ ॥

(४) राघवानन्दः । अन्यतमया शिलादीनां मध्ये एकया । स्नातको नवोदापतिः वोढुका मोवा । इमानि वक्ष्यमाणानि । स्वर्गाय हितं स्वर्ग्यम् । एवमायुष्यादि ॥ १३ ॥

(५) नन्दनः । उक्तमुपसंख्यार्थान्तरं प्रस्तौति अत इति । अत आसां वृत्तीनां मध्ये । इमानि वक्ष्यमाणानि ॥ १३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्यतमया वृत्त्या इयं मयाकर्तव्येति एकया वृत्त्या द्विजः जीवेत् । तथा एतानि व्रतानि नियमान् धारयेत् वक्ष्यमाणलक्षणानि ॥ १३ ॥

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादितन्द्रितः ॥ तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ १४ ॥

(१) मेधातिथिः । वेदमूलत्वात्स्मृतीनां वेदोदितमिति श्रूयते । स्वकंकर्मवक्ष्यमाणो व्रतसमूहः । विहितत्वात् स्वकमित्युच्यते । नित्यं कुर्यात् । यावज्जीवं अतन्द्रितोऽनलसः एतद्व्रतधारणं कुर्वन् यथाशक्ति अनेन सत्यांशक्तौ यथासंभवमनुष्ठानमाह तदुक्तं मनसा वा तत्समप्रमाचारमनुपालयन् । परमां गतिं ब्रह्मत्वप्राप्तिरूपाम् ॥ १४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वकं स्वाश्रमवर्णोक्तं । कुर्याद्यथाशक्ति ॥ १४ ॥

(३) कुल्लूकः । वेदोक्तं स्मार्तमपि वेदमूलत्वाद् वेदोक्तमेव । स्वकं स्वाश्रमोक्तं यावज्जीवमतन्द्रितोऽनलसः कुर्यात् । हि हंतौ । यस्मात्तत्कुर्वन् यथासामर्थ्यं परमां गतिं मोक्षलक्षणं प्राप्नोति । नित्यकर्मनुष्ठानात्पापक्षये सति निष्पापान्तःकरणेन ब्रह्मसाक्षात्काराच्चोक्षावाप्तेः । तदुक्तं मोक्षधर्मे । ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः । तत्रादर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ आत्मन्यन्तःकरणे ॥ १४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच वेदेति । वेदोदितं स्वशाखोक्तं स्मार्तं च । परमां गतिं सत्वशुद्धिद्वारा ॥ १४ ॥

(५) नन्दनः । व्रतविधेर्वक्ष्यमाणस्य वैदिकत्वं वक्ष्यमाणफलं चाह । वेदेति । वेदोदितवेदमूलतया स्मृत्युदितम् ॥ १४ ॥

(६) रामचन्द्रः । वेदोदितं स्वकंकर्म स्वाश्रमोचितं कर्म कुर्यात् ॥ १४ ॥

नेहेतार्थान्प्रसङ्गेन न विरुद्धेन कर्मणा ॥ न विद्यमानेष्वर्थेषु नात्यामपि यतस्ततः ॥ १५ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रसज्येत यत्र पुरुषः सहिप्रसङ्गोभिप्रेतो गीतवादित्रादिस्तत्र हिरागिणः सज्जतीव अतो गीतवादित्रादिभिरर्थान्धनानि नेहेत नार्जयेत् । विरुद्धकर्मप्रतिषिद्धशास्त्रेण अकुलोचितं च न च पित्राद्यागतेषु धनेषु कल्प्यमानेषु स्थितिसमर्थेषु अन्यानि चेत् । नात्या आपद्यपि यतस्ततः प्रसङ्गसत्प्रतिग्रहेण प्रवर्तितव्यमेकस्यापद्यप्यनुज्ञास्यति ॥ १५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रसङ्गेन प्रकृष्टप्रसङ्गेनात्यन्ततत्परतया नेहेतोद्यमेन न साधयेत् । अर्थान् धनानि विरुद्धेन धर्मविरुद्धेन कल्पमानेषु सत्सु आत्यामापदि यतस्ततः पतितादेः ॥ १५ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रसज्यते यत्र पुरुषः सप्रसङ्गो गीतवादित्रादिः तेनार्थान् नार्जयेत् नापि शास्त्रनिषिद्धेन कर्मणाऽयाज्ययाजनादिना च । न च विद्यमानेषु धनेषु न चाप्यविद्यमानेष्वपि प्रकारान्तरसंभवे यतस्ततः पतितादिभ्योऽपि ॥ १५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच नेति । प्रसङ्गोत्र गीतनृत्यादिः प्रसज्यतेऽत्रेति व्युत्पत्त्या । न कल्पमानेषु धनेषु विद्यमानेषु विरुद्धेन कर्मणा नेहेत अविद्यमानेष्वपि प्रकारान्तरसंभवे वा । आर्तौ अन्नकष्टादौ वा यतस्ततः पतितादिभ्यो न गृह्णीयात् ॥ १५ ॥

(५) नन्दनः । प्रसङ्गेनातिप्रवृत्त्या । विरुद्धेन कर्मणा निषिद्धेन नृत्यगीतादिना । न कल्पमानेष्वर्थेषु वृत्तिहेतौ सत्युपायान्तरं नाश्रयेदित्यर्थः । आर्त्यामपि आपद्यपि । यतस्ततः पुरुषादप्रतिग्राह्यात् ॥ १५ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रसङ्गेन अतिप्रसङ्गेन । अर्थान् नेहेत नेच्छेत् । विरुद्धेन कर्मणा अयाज्ययाजनादिना ।

(१५) नविद्यमानेष्वर्थेषु नात्यामपि यतस्ततः = न कल्पमानेष्वर्थेषु नात्यादपि यतस्ततः ॥ (क, च, द, न, ब, म, य, र, ल)

अर्थान्नेहेत अन्यमपि अर्थे नेहेत इतस्ततः अविहिताचारात् पतितात् नेहेत कल्प्यमानेषु विद्यमानेषु अर्थेषु नेहेत ॥ १५ ॥

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः ॥ अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा सन्निवर्त्तयेत् ॥ १६ ॥

(१) मेधातिथिः । इन्द्रियाणामर्थारूपरसादयः एतेषु न प्रसज्येत सक्तिमत्यंतसिवांकुर्यात् । मनोहरायु-
वतयः वंशगीतत्वादवद्रसः कर्पूरादिगन्धः रागवत्स्पर्शः एतेष्विषयास्तान्नात्यन्तसेवेत । कामतः कामप्रधानतया
सर्वेषु अयाचितोपमं तेष्वपि नित्यसेवी स्यात् । अतिप्रसक्तिश्चैवैषानिवृत्त्युपायोनेन कथ्यते । न हि वस्तुप्रसक्तिर्निवर्त्तितुं
शक्या मनसा तु प्रतिपक्षभावनयानिवर्त्य आदौ तावदुरूपपादकत्वं उपस्थितेष्वपि भुक्तपूर्वेषु क्षणविरसता स्वभावश्च
विनाशित्वं शास्त्रनिषेधाच्च सङ्गस्य नरकापातइत्येवमादिचिन्तयेत् । यथोक्तं न तथैतानि शक्यन्त इति ॥ १६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रसज्येत सातिशयेन प्रवर्तेत न कामतो धर्मतस्त्वृत्तुगमनादौ प्रवर्तेतैव अतिप्रसक्तिं नित्यन्तु-
मशक्यां प्रवृत्तिम् ॥ १६ ॥

(३) कुङ्कुमः । इन्द्रियाणामर्थारूपरसगन्धस्पर्शादयस्तेषु निषिद्धेष्वपि त्वदारसुरतादिषु न प्रसज्येत । नातिप्रस-
क्तिमत्यन्तसेवनात्मिकांकुर्यात् । कामत उपभोगार्थम् । अतिप्रसक्तिर्निवृत्त्युपायमाह । अतिप्रसक्तिं चैतेषामिति । विषयाणा-
मस्थिरत्वस्वर्गापवर्गात्मकश्रेयोविरोधित्वादिभावनया मनसा सम्यङ्निवर्त्तयेत् ॥ १६ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च इन्द्रियार्थेष्विति । शब्दाद्यानन्दान्तेषु सर्वेषु दशसु नात्यासक्तिंकुर्यात् ॥ १६ ॥

(५) नन्दनः । त्वदारविषयेष्वप्यतिप्रसक्तिसंनिवर्त्तयेत् ॥ १६ ॥

(६) रामचन्द्रः । इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु एतेषां इन्द्रियाणां प्रसक्तिसंनिवर्त्तयेत् ॥ १६ ॥

सर्वान्परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः ॥ यथा तथा यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ १७ ॥

(१) मेधातिथिः । ये वै ह्यस्यास्य विरोधिनोऽर्थान् त्यन्तेऽस्वरगृहोपसर्पणरूपलोकयात्रादयस्तान्सर्वान्परित्यजेत् । कथं तर्हि
भृत्यात्मपोषणमित्याशङ्क्याह । यथा तथा केनाप्युपायेन स्वाध्यायाविरोधिना भृत्यात्मानौ जीवयन् यस्मात्सास्य स्ना-
तकस्य कृतकृत्यता कृतार्थता । यन्नित्यत्वाध्यायीयथाकथंचित्कुटुम्बकं जीवयतीति ॥ १७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यापयन् क्षपयन् स्वाध्यायंकुर्यादिति शेषः । सा स्वाध्यायक्रिया कृतान्बन्धानि कृत्यान्-
नुभवन्तीति कृतकृत्यता ॥ १७ ॥

(३) कुङ्कुमः । वेदार्थविरोधिनोऽर्थान् त्यन्तेऽस्वरगृहोपसर्पणरूपलोकयात्रादयस्तान्सर्वान्परित्यजेत् । कथं तर्हि
भृत्यात्मपोषणमित्याशङ्क्याह । यथा तथा केनाप्युपायेन स्वाध्यायाविरोधिना भृत्यात्मानौ जीवयन् यस्मात्सास्य स्ना-
तकस्य कृतकृत्यता कृतार्थता यन्नित्यत्वाध्यायपरता ॥ १७ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च सर्वानिति । शिलादीन्याजनादींश्च अध्यापयंत्स्वाध्यायविरोधिनस्त्यजेदित्यन्वयः । य-
था तथा येन तेन जीवनं साधयन् वेदाध्ययनंकुर्यात् । सा वेदाध्ययनस्य याकाचिजीविका कृतकृत्यता कृतं समापितमावश्य-
कं यथा ॥ १७ ॥

(५) नन्दनः । कस्मात्पुनरेतदेवमुच्यतइत्यतआह सर्वानिति । यथातथा यापयन्यथाकथञ्चित्प्राणयात्रांकुर्वन् । अस्यपुरुषस्यसा हि कृतकृत्यता । यन्नित्यत्वाध्यायत्वम् ॥ १७ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्वाध्यायविरोधिनः वेदाध्ययनविरोधिनः । यथा तथा आपदि अध्यापयन् ॥ १७ ॥

वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च ॥ वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन्विचरेदिह ॥ १८ ॥

(१) मेधातिथिः । वयसइतिसारूप्यापेक्षाषष्ठी वेषवाक्बुद्धीतिसमाहारेन्द्रः । सारूप्यमितित्वार्थेऽन्यज्ञतेनायमर्थोभवति । वयंआद्युचितावेषादयःकर्तव्याः । सारूप्यमौचित्यमन्यस्याकृत्यादेःसादृश्यासंभवात् । वेषःकेशाभरणादिविन्यासः । तत्रप्रथमेवयसिखण्डकः । यौवनेकौन्तलादिधारणं । वार्धकेजटागुण्डनादि वयोनुरूपावाक् । एवंबुद्धिस्त्रिवर्गानुष्ठानधारणं प्रथमंनीयते केवलंधर्मप्रधानकर्मानुरूपोवेषः अर्थानुरूपतः । तेनहिभबितव्यंकलानुरूपेण दशनरागधम्मिल्लादि उद्धतमपि नउद्धत्यमावहति । तदुक्तं अस्यलोकव्यवहारोविषयइति । एतदुक्तंभवति । नायंविध्यर्थः अपरैर्निश्चितार्थत्वात् । लोकव्यवहारमूलस्त्वयमनुवादः । एवंवर्तमानोलोकवृत्तानुवर्तीभवति । नलोकद्वेष्यतामेति ॥ १८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वयसोबाल्यादेः । कर्मणोयागादेः । अर्थस्य धनस्य । श्रुतस्य शास्त्रज्ञानस्य । अभिजनस्य कुलस्य । वेषः सारूप्यतत्प्रकर्षनिकर्षोचितवेषधारणं । वाक्सारूप्यंतदनुरूपभाषणं । बुद्धिसारूप्यं तदनुरूपआत्मन्युत्कर्षप्रत्ययः । विचरेच्चेष्टेत इहलोके वयः कर्माद्यननुरूपं वेषादि न कार्यमित्यत्र तात्पर्यम् ॥ १८ ॥

(३) कुल्लूकः । वयसः क्रियायाधनस्य श्रुतस्य कुलस्यानुरूपेण वेषवाग्बुद्धीराचरँल्लोके प्रवर्तेत । यथा यौवने स्रग्गन्धलेपनादिधारणत्रिवर्गानुसारीवाग्बुद्धिश्च एवंकर्मादिष्वप्युन्नेयम् ॥ १८ ॥

(४) राघवानन्दः । वेषवाग्बुद्धीति समाहारैकवचनम् । वयआदेःस्वानुरूप्यं वयआद्युचितावेषादयः कर्तव्याः । तेन यौवनादिमान्कामी धर्माच । तथासत्कर्मा विनीतः । धनीदानशीलः । विद्वान् सदुपदेश । कुलीनः सलज्ज इत्यादि । वयसइत्यादिपञ्चकस्य कामाद्यूहम् । अथवा वयोबाल्यादि । कर्म क्रिया । अर्थःधनं । श्रुतं विद्या । अभिजनः कुलं । तदनुरूपव्यवहारमात्रं न विधिः तेन बाल्ये शिखण्डकं यौवने कुन्तलादि वार्धके जटादि तथा कलभाषणं परिहासः सदुपदेशः बुद्धेरचाञ्चल्यं बुद्धिपरिपाकश्चेति ॥ १८ ॥

(५) नन्दनः । वेषवाग्बुद्धिसारूप्यंवेषवयःप्रभृतीनामानुरूप्यम् ॥ १८ ॥

(६) रामचन्द्रः । यथाविषयं कर्मआचरन् विचरेत्श्रुतस्य शास्त्रस्य यथा अभिजनस्य च यथा कौलीनस्य विषयं यथा वेषवाक् बुद्धिसारूप्यं आचरन् विचरेत् ॥ १८ ॥

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ॥ नित्यंशास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥ १९ ॥

(१) मेधातिथिः । बुद्धिवृद्धिकराणीतिहासपुराणानितर्कशास्त्राणिबार्हस्पत्योशनसादीनि हितानिउपकारकाणिदृष्टार्थानिवैद्यकज्योतिषादीनि अर्थशास्त्रस्यपृथगुपदेशात् । वैदिकानिगमावेदार्थज्ञानहेतवोनिगमनिरुक्तव्याकरणमीमांसा-रूढिग्रहणेत्वदृष्टार्थतास्यात् ॥ १९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धन्यानि धनकारणानि हितानि दुःखनिवर्तकानि शास्त्राणि विद्यास्थानानि निगमान्-व्याख्यानानि निगम्यतेऽभिरर्थइति व्युत्पत्त्या । वैदिकान्वेदस्य सम्बन्धिनः ॥ १९ ॥

(३) कुल्लूकः । वेदाविरुद्धानि शीघ्रंबुद्धिवृद्धिजनकानि व्याकरणमीमांसास्मृतिपुराणन्यायादीनि शास्त्राणि तथा

धन्यानि धनाय हितान्यर्थशास्त्राणि बार्हस्पत्यौशनसादीनि तथाहितानि दृष्टोपकारकाणि वैद्यकज्योतिषादीनि तथा पर्यायकथनेन वेदार्थावबोधकानिगमाख्यांश्च ग्रन्थानित्यं पर्यालोचयेत् ॥ १९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच बुद्धीति त्रिवर्गेषु बुद्धिवृद्धिकराणि नीतिशास्त्राणि । धन्यानि धनोपायान् । निगमान् पुराणादीन् निगमनिघण्टुव्याकरणादींश्च । वैदिकान् वेदार्थावबोधानुकूलान् ॥ १९ ॥

(५) नन्दनः । शास्त्राणि धर्मशास्त्रादीनि । शास्त्रापेक्षणप्रयोजनत्वेनोक्तानिबुद्धिवृद्धिकराणीत्यादीनि । निगम्यन्ते निश्चीयन्त एभिर्वेदार्थाइतिनिगमावेदाङ्गानि ॥ १९ ॥

(६) रामचन्द्रः । नित्यंशास्त्राणि अवेक्षेत कीदृशानि शास्त्राणि धन्यानि दुःखनिवर्तकानि विचारयेत् च पुनः वैदिकान् निगमान् व्याख्यानानि ॥ १९ ॥

यथायथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ॥ तथातथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ २० ॥

[शास्त्रस्य पारंगत्वा तु भूयोभूयस्तदभ्यसेत् ॥ तच्छास्त्रंशबलंकुर्यान्न चाधीत्य त्यजेत्पुनः ॥ १॥^१]

(१) मेधातिथिः । समधिगमो विनिवेशः । अभ्यासइति यावद्विजानाति विशेषेणजानाति । प्रत्यक्षंचैतदभ्यस्यमानेग्रन्थेपिद्विच्यतइति । तदाविज्ञानंचास्यरोचते । उज्ज्वलंभवतीत्यर्थः । पूर्वस्याःस्मृतेर्मूलकथनमेतत् । रुचेरनभिलाषार्थत्वादुच्यर्थानामितिसंप्रदानत्वाभावः ॥ २० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विजानाति विविच्य जानाति यानि तु प्रागेव विज्ञातानि तेषु विज्ञानं विवेकज्ञानमस्य रोचते दीप्यते स्वोत्कर्षप्रकाशकं भवति ॥ २० ॥

(३) कुट्टूकः । यस्माद्यथा पुरुषः शास्त्रं सम्यगभ्यस्यति तथा तथा विशेषेण जानाति शास्त्रान्तरविषयमपि चास्यविज्ञानंरोचतउज्ज्वलंभवति । दीप्त्यर्थत्वादुचेरभिलाषार्थत्वाभावादुच्यर्थानांप्रीयमाणइति न संप्रदानसंज्ञा ॥ २० ॥

(४) राघवानन्दः । रोचते उज्ज्वलंस्यात् ब्रह्मपक्षपातिनः ॥ २० ॥

(५) नन्दनः । शास्त्रावेक्षणस्य प्रयोजनान्तरमप्याह । यथेति । विजानाति विशिष्टज्ञानयुक्तोभवेति । अस्य रोचते अस्मै त्वदते ॥ २० ॥

(६) रामचन्द्रः । विज्ञानं विवेकज्ञानम् ॥ २० ॥

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा ॥ नृत्यज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥ २१ ॥

(१) मेधातिथिः । तृतीयाध्यायेविहितानांमहायज्ञानामनुवादोविशेषाभिधानार्थः । सचविशेषउत्तरत्रवक्ष्यते अनीहमानाइति । अन्येतुमन्यन्ते । व्रताधिकारेपुनर्वचनंनियमसिद्ध्यर्थं । तेनेदशःसङ्कल्पःकर्तव्यो यावद्बार्हस्पत्यमयामहायज्ञानहापयितव्याः । नत्वियमाशंकाकर्तव्याद्विर्वचनंद्विविधानार्थं । नह्यत्रविधिःश्रूयते । केवलंनहापयेदित्युच्यते । नित्यत्वाच्चहानिःप्रामैव अतो विहितप्रत्यभिज्ञानतःकश्चित्कर्मभेदेहेतुरस्ति । यथाशक्तिपक्वान्नेनग्रासेनवामूलफलैर्वा ॥ २१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ऋषियज्ञंब्रह्मयज्ञम् । एषांवेदोदितत्वेन ग्राहावपि पुनर्वचनमवतारणार्थं । तच्चोत्तरश्लोकैः प्रकारान्तरेणापि तत्संपादनकथनार्थम् ॥ २१ ॥

(३) कुल्लूकः । स्वाध्यायादीन्पञ्चयज्ञान्यथाशक्ति न त्यजेत् । तृतीयाध्यायविहितानामपि पञ्चयज्ञानामिह निर्देशउत्तरत्र विशेषविधानार्थः स्नातकव्रतत्वबोधनार्थश्च ॥ २१ ॥

(४) राघवानन्दः । वेदाध्ययनहोमबल्यतिथितर्पणानि ऋषियज्ञादिपदवाच्यानि तृतीयाध्यायोक्तानि । पुनर्वचनमेतेषामादरार्थं । न हापयेत् न त्यजेत् ॥ २१ ॥

(५) नन्दनः । उक्तानपि महायज्ञान्पुनरादरातिशयार्थमाह ऋषीति । ऋषियज्ञं ब्रह्मयज्ञम् ॥ २१ ॥

(६) रामचन्द्रः । ऋषियज्ञं वेदाध्ययनम् । देवयज्ञं होमं । भूतयज्ञं भूतेभ्योबलिं । नृत्यज्ञं अतिथिसत्कारं । पितृयज्ञं श्राद्धं । यथाशक्ति नहापयेत् ॥ २१ ॥

एतानेके महायज्ञान्यज्ञशास्त्रविदोजनाः ॥ अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥ २२ ॥

(१) मेधातिथिः । एतान्महायज्ञान् एके यज्ञशास्त्रविदो गृहस्था इन्द्रियेष्वेव जुह्वति । संपादयन्ति । कसमेपुनस्ते अनीहमाना ये न चेच्छन्ति धनं त्यक्तगृहव्यापारदेहसान्यासिकादयः । शिलोच्छ्वृत्तेरप्येवंविधमिच्छन्ति पङ्गवादीनां च । तेषांहिदारकरणं वक्ष्यति । यथार्थतातदारैः स्यादिति । नचैतेषां पञ्चयज्ञाधिकारः । अद्रव्यत्वाद्भरणमात्रं तेलभन्ते । नाधिकं कर्मानुष्ठानार्थमपि । जुहोतिः करोत्यर्थनिर्वर्त्यतां लक्षयति । नहि क्रियाविशेषो यागः क्रियाविशेषस्य होमस्य कर्मतां प्रतिपद्यते । नहि भवति पचति पाकमिति भवति तु पाकं करोति यागं करोतीति सामान्यविषया कांक्षास्तु क्रियाद्रव्यकर्माणिसाधनीकुर्वन्ति । इच्छति भोक्तुं शक्नोति भोक्तुं जानाति भोक्तुं दृष्टश्च विशेषः सामान्यलक्षणार्थः । अयंगौः पदादृष्टव्य इति । एवं च होमं केचिदिन्द्रियेषु तत्सङ्गममेव व्याचक्षते अपरेषां प्राणसंवादोपनिषदियद्यद्भक्तं प्रथमभागच्छेतद्दोमीयं सायं प्रथमाहुतिं जुहुयात्प्राणायत्वाहेत्यादिना । अन्येतु य एवोत्तरश्लोके उपासनाविधिरुक्तः स एवायं होमः । तथा च तयोरेकवाक्यता प्रतीयते । ननु चोत्तरत्र वाचिप्राणानेन्द्रियं नैष दोषः । आध्यात्मिकत्वोपलक्षणार्थमिन्द्रियग्रहणं । बाह्यसाधनसाध्यतानास्तीत्येतदत्र विवक्षितं ॥ २२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यज्ञशास्त्रविद इति प्रशस्तमहायज्ञेभ्यः एषामुत्कर्षकथनार्थम् । अनीहमाना अचेष्टमानाः । इन्द्रियेष्विवति पञ्चानां बुद्धीन्द्रियाणां विषयेभ्यः प्रत्याहारान्कुर्वन्तो विषयाणामिन्द्रियेषु प्रवेशनात्पञ्चमहायज्ञान्संपादयन्तीत्यर्थः ॥ २२ ॥

(३) कुल्लूकः । कइति एके गृहस्थाबाह्यान्तरयज्ञानुष्ठानशास्त्रज्ञा एतान्पञ्चमहायज्ञान्ब्रह्मज्ञानप्रकर्षाद्बहिरचेष्टमाना पञ्चसु बुद्धीन्द्रियेष्वेव पञ्चरूपज्ञानादिसंयमं कुर्वन्तः संपादयन्ति । यज्ञानां होमत्वानुपपत्तेः संपादनार्थं जुहोतिः ॥ २२ ॥

(४) राघवानन्दः । एतान्महायज्ञान्वैश्वदेवादपञ्चयज्ञान् इन्द्रियव्यापाररूपत्वादेव तेषां तान्येवेन्द्रियेषु जुह्वति । कथं भूताः अनीहमानाः बाह्येन्द्रियव्यापाररहिताः । एके मुख्याः । शब्दादीन्विषयानन्यइन्द्रियाग्निषु जुह्वतीत्युक्तेः । इन्द्रियग्राह्यतां न आत्मग्राह्यतां कृत्वा तिष्ठन्तीत्यर्थः । इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इत्युक्तेश्च ॥ २२ ॥

(५) नन्दनः । अथाकर्मकृतामात्मरतीनामपि यज्ञाः कर्तव्या भवन्ति । किंपुनरन्येषामित्यभिप्रायेण श्लोकत्रयमारभ्यते एतानिति । यज्ञशास्त्रविदः शास्त्रेषु यजमानावश्यकर्तव्यव्यवदन्तः । अनीहमाना अकर्मकृतः । एतान्महायज्ञानिन्द्रियेष्वेव सततं यावज्जीवं जुह्वतिकुर्वन्ति इन्द्रियाण्यग्नीन्परिकल्प्य तैराहृतान् विषयान्हविष्येन कल्पयन्तीत्यर्थः ॥ २२ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतान् महायज्ञान् । एके जनाः अनीहमानाः योगिनः । सततं इन्द्रियेषु जुह्वति ॥ २२ ॥

वाच्येके जुहुति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा ॥ वाचि प्राणे च पश्यन्तोयज्ञनिर्वृत्तिमक्षयाम् ॥२३॥

(१) मेधातिथिः । यदायं पुरुषउच्छ्रसिति तदैवमनेनध्यातव्यं । वाचंप्राणंजुहोमीति । भाषणेनचवाचिप्राणं-जुहोति । एतावतैवपञ्चयज्ञानिर्वृत्ताभवन्ति । यदिनित्याः फलायतेनवक्तव्याः आत्मयज्ञाश्चात्राधिक्रियन्ते विहितो-हयमर्थः । पञ्चाङ्गुपासनासु उपनिषत्सु कौषीतकी ब्राह्मणेविस्तरेण । अक्षयंकलतःअपुनरावृत्तिफलत्वात् ॥ २३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एकेतु प्राणायामंस्वाध्यायंच कुर्वन्तस्तान्संपादयन्तीत्याह वाच्येकइति । वाचि प्राणंजु-ह्वतीतिस्वाध्यायोदर्शितः । स्वाध्यायकाले प्राणवृत्तेर्वाचि विलयात् । प्राणे वाचमिति प्राणायामः । तत्रवाग्वृत्तेः प्राणे विल-यात् तथा तैत्तिरीयोपनिषत् । तद्यत्रैतदधीते वा भाषतेवावाचि तदा प्राणोभवतीति तथाच अथ यत्तूष्णींवा भवति स्वपिति वा प्राणे तदा वाग्भवतीति तथाएतद्वस्मवै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः कावयेषाकिमर्थावयमध्येष्यामहे किमर्थावयवैवक्ष्या-महे वाचिहि प्राणंजुहुमः प्राणे वाचमिति । अध्येष्यामहे यज्ञसंबन्धिशस्त्रस्तोत्रपाठानकरिष्यामइत्यर्थः । तथा कौषीतकि-ब्राह्मणम् । यावद्वै पुरुषःप्राणिति न तदाभाषते वाचंतदा प्राणे जुहोति यदा भाषते न तदा प्राणिति प्राणंतदा वाचि जुहोति तएते अनन्ते आहुती जाग्रत्स्वपंश्चजुहोत्यथवा अन्याआहुतयोनवत्यस्ताः कर्ममग्न्योहि भवन्ति एवंहस्मवैसन्तःपूर्ववि-द्वांसोऽग्निहोत्रंजुहवाञ्चक्रुरिति । वाचि प्राणे चान्योन्यं होमाभ्यांपञ्चयज्ञनिर्वृत्तिपश्यन्तः । अक्षयामनाशिकलाम् ॥ २३ ॥

(३) कुड्मूकः । एके गृहस्थाब्रह्मविदोवाचि प्राणवायौ च यज्ञनिर्वृत्तिमक्षयफलांजानन्तः सततंवाचि प्राणंच जुह-ति । वाचंच प्राणे । भाषमाणेन चवाचि प्राणंजुहोतीति । अभाषमाणेनोच्छ्रसता प्राणे वाचंजुहोमीति व्याख्यातव्यमित्यनेन विधीयते । यथाकौषीतकिरहस्यब्राह्मणम् यावद्वैपुरुषोभाषते न तावत्प्राणितुंशक्नोति प्राणंतदा वाचि जुहोति यावद्वि पुरुषःप्राणिति न तावद्वाषितुंशक्नोति वाचंतदा प्राणे जुहोति एतेऽनन्तेअमृते आहुती जाग्रत्स्वपंश्चसततंजुहोति । अथवा-ऽन्याआहुतयोऽनन्तरन्यस्ताः कर्ममग्न्योहि भवन्त्येवंहि तस्यैतत्पूर्वं विद्वांसोऽग्निहोत्रंजुहवांचक्रुरिति ॥ २३ ॥

(४) राघवानन्दः वाचि वाक्कारणे अपाने प्राणं वाचं तत्कारणमपानं प्राणे । अपाने जुहतिप्राणंप्राणेपानं तथापर-इत्युक्तेः । तयोर्निरोधनेन पापक्षयलक्षणसर्वकर्मफलनिवृत्तेः । अथवा हवनप्रकारमाह वाचीति । तथाच कौषीतकी श्रुतिः । अथातः सायंप्रातर्दर्शनमांतरमग्निहोत्रमितिवाचक्षते यावद्वै पुरुषोभासते न तावत्प्राणितुं शक्नोति प्राणंतदा वाचि जुहो-ति यावद्वै पुरुषः प्राणिति न तावद्वाषितुंशक्नोति वाचंतदा प्राणे जुहोति एतेअमृतेअनन्ते आहुतीजाग्रत्स्वपंश्चसत-तंजुहोति अथवा अन्या आहुतयेतिवत्यस्ताः कर्ममग्न्यइति । अक्षयमपुनरावृत्तिफलत्वात् ॥२३॥

(५) नन्दनः । लोके खलु वाक्प्राणयोरेकतरस्मिन्प्रवृत्ते निलीनमन्यतरं पश्यामः । तत्रप्रवृत्तमग्निनिलीनंहविः क-ल्पयन्तीत्यर्थः । प्रवृत्तस्याग्निवत्कल्पनं निलीनस्य हविष्कल्पनंच हविष्यग्निप्रवर्ततेऽग्नौहविलीयतइति । अत्रकौषीतकि-ब्राह्मणं यावद्वैपुरुषोभाषते । नतावत्प्राणितुंशक्नोति । प्राणंतदा वाचि जुहोति । यावद्वै पुरुषः प्राणितिनतावद्वाषितुंशक्नो-ति । वाचंतदा प्राणे जुहोति । एतेअनन्तेअमृते जाग्रत्स्वपंश्चसततंजुहोतीति । उत्तरार्धेन कारणमुच्यते । वाचि प्राणे च मन्त्रे चेष्टायांच । यज्ञनिर्वृत्तिं यज्ञानांनिष्पत्तिम् । अक्षयामक्षयकलाम् । ये श्रौतस्मार्तायज्ञाः प्रसिद्धास्ते खल्वपिवाक्प्राणा-निर्वर्त्याइति पश्यन्तीत्यर्थः । तथाच मन्त्रवर्णः वाचिस्वाहावातेधास्वाहेति ॥ २३ ॥

(६) रामचन्द्रः । वाच्येके स्वाध्यायसमये प्राणं प्राणवायुं । प्राणे प्राणायामसमये वाचंवाग्निन्द्रियं भाषमाणे

जुहति । नववर्षाणि प्राणं जुहोमीति । एतावतैव पञ्चयज्ञानिर्वृत्ता भवन्ति । पञ्चाभ्युपासना गौणी । च पुनः वाचि प्राणे यज्ञनिर्वृत्तिसामग्रीं अक्षयां सदा पश्यन्तः ॥ २३ ॥

ज्ञानेनैवापरे विप्रायजन्त्येतैर्मखैः सदा ॥ ज्ञानमूलां क्रियामेषां पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषा ॥ २४ ॥

(१) मेधातिथिः । तैर्मखैः प्रकृतैर्महायज्ञैर्यजन्ते तद्विषयमधिकारं निष्पादयन्ति अतोर्थभेदाद्यजन्ते यज्ञैरितिसाध्यसाधकभावोपपत्तिः । यथाग्निष्टोमयाजीति कथं पुनर्ज्ञानेन यागनिर्वृतिदेवतोद्देशेन द्रव्यत्यागात्मको यागो न च ज्ञानमेवं रूपं । उच्यते यजन्त इति यागकार्यनिवृत्तिरत्राभिप्रेता । यदि ज्ञानात्कार्यनिवृत्तिः किमर्थं तर्हि कर्मणामनुष्ठानं न ह्यविषयकमनुष्ठानसंभवः । अथेयं बुद्धिर्यउचैनमेवं वेदेति । ज्ञानस्यापि फलसाधनत्वेन आश्रयणात् । कृतं कर्मानुष्ठानेनेति तदसत् अन्यशेषतया तस्यार्थवादत्वात् । अत्रोच्यते उक्तमस्माभिरनीहमाना आत्मज्ञानेऽधिक्रियन्ते तएव ज्ञानिनोऽपि भित्तानकर्मानुष्ठानवेद्मिनः तेषां विदसं न्यासिकतया गृहे अवतिष्ठमानानां महायज्ञानां भावनेयमुच्यते । हव्यसाध्यानां च महायज्ञानां आत्मज्ञानसंपादनमेव मुच्यते । त्वाध्यायोदकतर्पणयोस्तु कर्मसाध्यतामेव षष्ठे दृश्यते । अत्र कारणरूपमर्थवादमाह । ज्ञानमूलान् ज्ञानमूलं यस्याः क्रियायाः सर्वस्य कर्मानुष्ठानस्य ज्ञानमूलं न ह्यविद्वान्ना किंचिदनुष्ठातुं शक्नोति तदुक्तं विद्वान्याजयेदिति । पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषा । ज्ञानं चक्षुरिव यथा चक्षुषारूपं गृह्यते एवं ज्ञानात् ज्ञायते न तत्तत्ज्ञानं वेद एवाभिप्रेतः ॥ २४ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । ज्ञानेन धारणाध्यानसमाधानान्यतमेन ज्ञानमूलां ज्ञानकारणिकां ज्ञानचक्षुषा वेदार्थज्ञानमयेन चक्षुषा पश्यन्तः ॥ २४ ॥

(३) कुल्लूकः । अपरे विप्रा ब्रह्मनिष्ठाः सर्वथा ब्रह्मज्ञानेनैवैतैर्मखैर्यजन्ति एतांश्च यज्ञाननुतिष्ठन्ति । कथमेतदित्याह । ज्ञानं ब्रह्म सत्यं ज्ञानमनन्तेत्यादि श्रुतिषु प्रसिद्धं ज्ञानमूलमेषां ज्ञानानां क्रियामुत्पत्तिजानन्तः ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं चक्षुरिव चक्षुः ज्ञानचक्षुषोऽपि निषदा सर्वैरुल्लिख्य ब्रह्म तज्जलानित्यादिकया पञ्चयज्ञानपि ब्रह्मोत्पत्तिकाले ब्रह्मात्मकान् ध्यायन्तः संपादयन्ति पञ्चयज्ञफलमश्नुवन्त्येति । श्लोकत्रयेण ब्रह्मनिष्ठानां वेदसंन्यासिनां गृहस्थानामपीविधयः ॥ २४ ॥

(४) राघवानन्दः । स विषयाणीन्द्रियाणि नात्मातिरिक्तानीति विज्ञानेन । द्रव्यसाध्यानां महायज्ञानां संपादनमात्मनि । सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे । आत्मसंयमयोगाग्नौ जुहति ज्ञानदीपित इत्युक्तेः । मखैः पञ्चयज्ञैः । ज्ञानयज्ञं प्रशंसति ज्ञानमूलमिति । श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परंतपेत्युक्तेः ॥ एषामिन्द्रियाणां क्रिया व्यापारः ज्ञानं चैतन्यमूलं प्रकृतिर्हेतुर्यस्याः अचेतनानां चेतनाधिष्ठानमृते प्रवृत्त्यनुपपत्तेरिति । ज्ञायतेनेनेति ज्ञानं वेदनतेन नाविद्वा नधिक्रियते ज्ञानचक्षुषा । सर्वे मखावेदसाध्या इति मेधातिथिः ॥ २४ ॥

(५) नन्दनः । ज्ञानेन संकल्पमयेन । सदा यावज्जीवम् । उत्तरार्धेन कारणमुच्यते । या क्रिया यज्ञात्मिकाऽनुमीयते तस्या ज्ञानमेव मूलम् । ज्ञानाभावेऽनुष्ठानप्रसङ्गादिति । ज्ञानचक्षुषा बुद्ध्या पश्यन्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥

(६) रामचन्द्रः । ज्ञानेनैवापरे विप्राः तैर्मखैः पञ्चमहायज्ञैः यजन्ते । एषां योगिनां । ज्ञानमूलां क्रियां ज्ञानचक्षुषा पश्यन्तः ज्ञानं मूलं यस्याः क्रियायाः सर्वस्य कर्मानुष्ठानस्य ॥ २४ ॥

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते युनिशोः सदा ॥ दर्शने चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ॥ २५ ॥

(१) मेधातिथिः । अग्निहोत्रादयः शब्दाः श्रुतौ गृहस्थमृतिषु च कर्मविशेषवचनतया प्रसिद्धाः सेतिकर्तव्यताकाः तत्र विहिताः तेषामयमनुवादो न त्वत्रापूर्वविधिः रूपवचनात् केवलं होमविषयाकर्तव्यताश्रुता । न द्रव्यं न देवता । अग्निहोत्रादिना-

मधेयंच विशेषाकांक्षंतःशास्त्रान्तरावगतविशेषवचनतैवप्रतीयते । यद्येवं तत एवकर्तव्यतावगमादनर्थकमिदं वेदसं-
न्यासिकानां अकृतोपासनानां संवादनाथं । यथैव वाच्येकेजुह्वतिप्राणंज्ञानेनैवेतिचपञ्चमहायज्ञाःसंपाद्यन्ते । तद्वदेतद-
पीति कश्चायमुपालम्भः किमर्थपुनर्वचनमिति । सर्वश्रुतीनांस्मृतीनांच यदेकदेशेभिहितं तस्यैवान्यत्रपुनर्वचनस्यचोद्य-
स्यापत्तेः । उक्तश्चसामान्यतःपरिहारः प्रतिपत्तिभेदान्नपौनरुक्त्यमिति । यथाप्रतिपत्तिभेदादिन्द्रियभेदोनैकेनचक्षुषा सर्वे-
द्रष्टुंशक्नुवन्ति बहूनीन्द्रियाणि प्रयोजनवन्ति । एवंशाखाभेदःस्मृतिभेदश्च । अथोच्यते कस्माद्रूपाद्वचनमिति एषोपिन-
दोषः प्रतिशाखमतिकर्तव्यतायाभेदः कस्याभिधानंक्रियतां । सर्वाभिधानेगौरवंएकतराभिधाने अन्यतरपरित्यागः तद-
पिचोद्यमेव । उक्तंचानुवादोयं नविधिः । विधौहिचोद्यमेतत्स्यान् अन्यत्रविहितं किमर्थपुनर्विधानमिति । आद्यन्ते-
द्युनिशोर्नात्रयथासंख्यं किंतिह दिवआदौनिशायाश्चादौ एवंदिवोन्तेनिशायाश्चान्तइति । सायंप्रातःकालावेतेन परिगृह्येते
तत्रोदितहोमिनांअहरादौअनुदितहोमिनांनिशान्ते । द्विशब्दोदिवसपर्यायः । सदायावज्जीवं सायंप्रातर्होमःकर्तव्यः । दर्शेन
यजेतेत्यत्राध्याहर्तव्यं दर्शनयजेत् । नहितत्रोत्पत्तौजुहुयादित्यस्ति किंतिहदर्शनयजेतेति तदनुवादश्चायंअतएवाध्या-
हारःक्रियते । अतएवअविशेषश्रमणेपि अर्धमासान्तर्द्वारं रुष्णपक्षान्तेदर्शः । शुक्लान्तेपौर्णमासः । तथाचश्रुतिः । दर्शंचदर्श-
नयजेत् पूर्णमास्यांपूर्णमासेनयजेतेति ॥ २५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आद्यन्तेद्युनिशोर्दिवसस्यादावन्ते च तथा रात्रेरादावन्तेचेत्यर्थः । तथाचोद्धरणादिहोमा-
त्तत्प्रयोगेणोभयोर्दिनरात्रयोराद्यन्तव्यामिरित्युदितहोममादाय कालोर्दशितः ॥ २५ ॥

(३) कुट्टूकः । उदितहोमपक्षे दिनस्यादौ निशायाश्चादौ अनुदितहोमपक्षे दिनस्यान्ते निशायाश्चान्ते यद्वोदित-
होमपक्षे दिनस्यादौ दिनान्तेच अनुदितहोमपक्षे निशादौ निशान्तेचामिहोत्रंकुर्यात् रुष्णपक्षार्धमासान्ते दर्शाख्येन क-
र्मणा शुक्लपक्षार्धेच पौर्णमासाख्येन यजेत् ॥ २५ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमनुसरति अश्रीति । आद्यन्ते सन्ध्याद्वयेद्युनिशोर्दिवसस्यादौ दिन-
स्यान्तेउदितहोमिनामाश्वलायनादीनाम् । निशायाआदौ निशायाअन्ते च साङ्ख्यायनादीनामनुदितहोमिनाम् । दर्श-
नार्धमासान्तेअमायां पौर्णमास्यांपौर्णमासेनदर्शपूर्णमासाभ्यांयजेतेतिश्रुतेः ॥ २५ ॥

(५) नन्दनः । अथाहिताग्रेरसंकुचितवृत्तेर्वृत्तान्याह अग्निहोत्रमिति । द्युनिशोःअहोरात्रयोः । आद्यन्ते सायंप्रात-
श्च । सदा विहितकालानतिक्रमेणअर्धमासान्ते पक्षयोरन्तेपर्वणोरितियावत् । अत्रयजेतेत्यध्याहार्यम् ॥ २५ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्युनिशोः आद्यन्ते प्रातःसायंकाले । अग्निहोत्रं जुहुयात् ॥ दर्शेन दर्शसंज्ञेन कालेन । मा-
सान्ते अमायां । पौर्णमास्येन कालेन ॥ २५ ॥

सस्यान्ते नवसस्येष्ट्या तथर्त्तन्ते द्विजोऽध्वरैः ॥ पशुना त्वयनस्यादौ समान्ते सौमिकैर्मखैः ॥ २६ ॥

(१) मेधातिथिः । सस्यशब्दोब्रीह्यादिधान्यवचनः । तस्यान्तःक्षयः । पूर्वसस्येषुक्षीणेषुनवसस्येष्व्यायजेत आग्र-
यणेनेत्यर्थः । नचात्रपूर्वसस्यक्षयआग्रयणनिमित्तं । नापिनवसस्यागमः किंतिह अकृताग्रयणस्य नवान्नाशनप्रतिषि-
द्धं येनाहनानिष्ठानवान्नमद्यादिति अतो नवसस्यभक्षणमाग्रयणेनेत्यर्थः । तेनयजेतेतिव्याचक्षते । आग्निस्तुपक्षेपूर्वसस्या-
भावात् । नवसस्यस्यभावादन्यतोवा असत्यांचाशिशिक्षायांनियमतआग्रयणंप्राप्नोति । अथेदंसस्यांतइतिनवोत्पत्त्युपलक्ष-

(२६) पशुनात्वयनस्यादौ=पशुना हयनान्ते तु (मेधा०)

णं तदानिष्टाभक्षणं प्राप्नोति । तस्माद्वेदेतेवाक्ये । नानिष्टाश्रीयादित्येकं सस्यान्तर्द्वितीयं सस्यान्तर्ग्रहणेन च सस्योत्पत्तिरेवाभिप्रेतानियतत्वात्तस्यानिमित्तस्योपपत्तिः । क्षयस्त्वनियतो धनिनां हि त्रैवार्षिकान्यपि धान्यान्यत्र प्रवर्तन्ते । अतएव सूत्रकारः सस्यं नाश्रीयादग्निहोत्रमहुत्वेति । तथा यदा वर्षस्य तृप्तस्यादथाग्रयणेन यजेतेति । तथेदमपरं शरदिनवान्ममिति कालविशेषविधायकं तत्रयस्य पूर्वसस्यक्षयो नास्ति सशरदमाद्रियते । इतरस्तु न । एवमुभयोरर्थवत्ता च भवति इतरथा एवमेवाचक्षते । नवसस्योत्पत्तौ नवसस्येष्ट्या यजेतेति । यतस्त्वाह । नानिष्टानवसस्येष्ट्या न चान्नमश्रीयादिति । तेन उत्पन्नेष्वपि नवसस्येषु विद्यमानस्य अस्ति शरत्पतिपालनं । नवसस्योत्पत्तिनिमित्तत्वाच्च असत्यामपि नवान्नाशनेच्छायां नियमतः । आग्रयणं क्रत्वन्ते ऋतुः संवत्सर इति दर्शनेन चातुर्मास्यानामेतत्करणमुच्यते । अध्वरशब्देन तान्येवाभिप्रेतानि । अयनयोरादीनायनान्ते ते च द्वे अयने दक्षिणमुत्तरं च तत्र पशुयागः कर्तव्यो द्विः संवत्सरस्य । सूत्रकारस्त्वाह । षण्मास्यः सांवत्सरो वेति । समान्ते समाशब्दः संवत्सरपर्यायस्तस्य चान्तःसमाप्तिः शिशिरे । न च तत्रेदं सौमिकयागविधानं किं तर्हि गते तस्मिन्वसन्त आगते । तथा च श्रुतिः वसन्ते वसन्ते ज्योतिषाय जेतेति । एतावन्ति नित्यानि कर्माणि तानियथा कर्तव्यं चेदसन्त्यासिकेनापि संपाद्यानीति सर्वस्य तात्पर्यम् ॥ २६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । सस्यान्ते ब्रीहियवश्यामाकसस्य समीपकाले शरदादौ नवसस्येष्ट्याग्रयणेष्ट्या क्रत्वन्ते शीतोष्णवर्षत्वं अन्ते अध्वरैः चातुर्मास्यैः । अयनयोरादावादिदिनयोः अपरान्तर्द्विः क्वचित्पाठः । समान्ते वर्षसमाप्तिनन्तरं वसन्तेशिशिरान्तत्वाद् वर्षस्य ॥ २६ ॥

(३) कुड्मूकः । पूर्वाजितधान्यादिसस्ये समाप्ते शरदि नवानामिति सूत्रकारवचनादसमाप्तेषु पूर्वसस्ये नवसस्योत्पत्तावाग्रयणेन यजेत । सस्यक्षयस्यानियतत्वाद्धनिनां बहुहायनजीवनोचितधान्यसंभवाच्च सस्यान्तर्ग्रहणाच्च नवसस्योत्पत्तिरेवाभिप्रेतानियतत्वात्तस्याः प्रत्यब्दनिमित्तत्वोत्पत्तेः । ऋतुसंवत्सरइत्येतन्मताश्रयणेन चत्वारश्चत्वारो मासाः क्रतवस्तदन्तेऽध्वरैश्चातुर्मासाख्यैर्यागैर्यजेत अयनयोरुत्तरदक्षिणयोरादौ पशुना यजेत पशुबन्धाख्यं यागमनुतिष्ठेत् ज्योतिःशास्त्रे चैत्रशुक्लप्रतिपदादिवर्षगणनाच्छिशिरेण समाप्ते वर्षे वसन्ते सोमरससाध्यैरग्निष्टोमादियागैर्यजेत ॥ २६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच सस्यान्तर्द्विः । नवसस्येष्टिरिति असमाप्तेषु पूर्वसस्ये नवोत्पत्तौ आग्रयणेन यजेत । क्रत्वन्तेऽतोरन्ते अध्वरैश्चातुर्मास्याख्यैर्वैश्वदेवरूपप्रघाससाकमेधशुनासीरसंज्ञैर्यागैः । पशुना पशुबन्धेन यागेन । सौमिकैः सोमरससाध्यैर्ज्योतिष्टोमाख्यैः ॥ २६ ॥

(५) नन्दनः । सस्यान्ते सस्यानां श्यामाकादीनामन्ते पाककाले नवसस्येष्ट्या आग्रयणेन । अध्वरैः सोमचातुर्मास्यैः । पशुना निरुद्धपशुबन्धेन । समान्ते संवत्सरान्ते । सौमिकैः सोमवद्भिः । अत्रापि यजेतेति शेषः ॥ २६ ॥

(६) रामचन्द्रः । सस्यान्ते सस्यच्छेदे सस्यादौ सस्योत्पत्तौ अध्वरैश्चातुर्मास्यैः । अन्ते चातुर्मास्यान्ते उदगयने दक्षिणायनस्यान्ते पशुना पशुयागः कर्तव्यः । समान्ते संवत्सरान्ते सौमिकैर्मसैः सोमयागसंज्ञैः । यस्मिन् यज्ञे सोमपानं क्रियते सः ॥ २६ ॥

नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान्द्विजः ॥ नवान्नमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजी

विषुः ॥ २७ ॥

(१) मेघातिथिः । अग्निमानाहिताग्निरत्राभिप्रेतो ब्रताधिकारात् तस्य होमस्य याजुर्वेदिकं ब्रतं । नानिष्ट्वा पशुना-

मांसंसमश्रीयान्नाग्रयणेननवान्नमिति । नियमानुपालनेफलमाह । दीर्घमायुर्जिजीविषुः । आयुःशब्देनप्रबन्धवत्यः प्राणा-
पानवृत्तयउच्यन्ते । द्वितीयाचसत्यपिजीवतेरकर्मकत्वेपिइषिक्रियापेक्षयासन्नन्तोपिधातुरिच्छायांवर्तते यद्यपिदर्शनदृष्टेः
कर्मप्रकृत्यर्थोनबाह्यमिच्छावेद्यमाणंप्रतिगुणभूताप्रकृतिप्रत्ययौप्रत्ययार्थसहब्रुवतइति सन्नन्तादन्यत्रापि । अस्मिन्पिदर्शने-
आयुःशब्देनकालोलक्षयिष्यते । दीर्घकालजीवनमिच्छन् । तत्रकालभावावध्वतव्या कर्मसंज्ञासकर्मणामितिकर्मत्वं । एषचा-
हिताग्नेःपशुबन्धेनियमः आग्रयणेपि । गृह्णाग्निमतोपि गृह्णस्मृतिषुनियमतआग्रयणंविहितं । यच्चेदंशरदिनवान्नमितितत्
ब्रीहिश्यामाकयोर्नयवानां । नवसस्यमात्रेणसस्येष्टियागोनचमाषमुद्रादिना यतइदंशास्त्रान्तरसापेक्षंनस्वतोविधायकमि-
त्युक्तं । शास्त्रान्तरेषुचब्रीहिश्यामाकयवैराग्रयणेष्टिर्विहिता । किंत्वन्यदपिसस्यंनशितव्यमकृतायामाग्रयणेष्टौ । यदुक्त-
मविशेषेणसस्यंनशनीयादिति तन्निषेधेह्यभिप्रेते इयदेवावश्यदाग्रयणंब्रीहिश्यामाकयवानानाश्रीयादग्निहोत्रमहुत्वेति ।
एवंसूत्रकारेणपठितं । आग्रयणंब्रीहिश्यामाकयवानांसस्यंनश्रीयादग्निहोत्रमहुत्वेति । अतोयंसस्यशब्दोनप्रतिनियत-
विषयएव ॥ २७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नानिष्टेति एतेन एवश्यामाकब्रीहिभक्षणाभावे आग्रयणस्य मांसभक्षणे च पशुया-
गस्याकरणेपि न दोषइतिदर्शितं । तद्भक्षणनिमित्तकत्वोपदर्शनात् ॥ २७ ॥

(३) कुल्लूकः । आहिताग्निर्द्विजोदीर्घमायुर्जीवितुमिच्छन्नाग्रयणमकृत्वा नवान्नं भक्षयेत् । न च पशुयागमकृ-
त्वा मांसमश्रीयात् ॥ २७ ॥

(४) राघवानन्दः । नवसस्येष्टिपशुबन्धयोरर्थवादेन तयोरावश्यकत्वमाह नेतिद्वाभ्यां । नवान्नं मांसंच नाद्या
त् ॥ २७ ॥

(५) नन्दनः । आग्रयणपशुबन्धयोरवश्यकर्तव्यतांप्रसङ्गादाह नानिष्टेति । अग्निमानाहिताग्निः ॥ २७ ॥

(६) रामचन्द्रः । नादिष्टेति नवसस्ये सति अग्निमान् द्विजः पशुना पशुयागेनानिष्ट्वापशून् अकृत्वा नवान्नं नाद्यात्
तथा मांसंनाद्यात् दीर्घमायुर्जिजीविषुः अकृत्वा नाद्यात् ॥ २७ ॥

नवेनानर्चितास्यस्य पशुहव्येन चाग्रयः ॥ प्राणानेवान्तुमिच्छन्ति नवान्नामिषगार्धिनः ॥ २८ ॥

(१) मेधातिथिः । नित्यतामैवसमर्थयते । अकरणदोषदर्शनं नवेनसस्येनअनर्चिताअकृतहोमाअग्रयोस्याहिताग्नेः
प्राणानेवान्तुमिच्छन्ति । भक्षयितुंगार्धिनःगर्धंअभिलाषातिशयः तदस्यास्तीतिमत्वर्थीयइति ॥ २८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नवेन चान्नेनअस्याआग्रयणपशुयागावकृत्वा नवान्नमांसभक्षिणः पशुहव्येन पशुरू-
पहविषागर्धोभिलाषः ॥ २८ ॥

(३) कुल्लूकः । दोषकथयन्ननित्यतामनयोराह । यत्त्वान्नवेन पशुवदामेनानर्चिताअकृतयागाअग्रयोनवान्नमांसा-
भिलाषिणोऽस्याहिताग्नेःप्राणानेवाग्निहोत्रिणःखादितुमिच्छन्ति । गर्धोऽभिलाषातिशयः । गृधेर्धजन्तस्यरूपम् । सोऽस्या-
स्तीतिगर्धा । मत्वर्थीयइति ॥ २८ ॥

(४) राघवानन्दः । नवेन नवसस्येष्ट्या नार्चिताः नवान्नामिषगार्धिनोअग्रयः । अन्तुमिच्छन्तीत्यर्थः ॥ २८ ॥

(५) नन्दनः । अभयजमानस्य दोषमाह नवेनेति ॥ २८ ॥

आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा ॥ नास्य कश्चिद्वसेद्रेहे शक्तितोऽर्चितोऽतिथिः ॥ २९ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तमिदमुत्तरार्थमनूयते । न कश्चिदतिथिरर्चितोगृहेवसेत् । सर्वोतिथिरर्चितोगृहेवसनीयः । शक्तितएकोद्बोद्धवोयावन्तः शक्यन्ते र्चयितुं सर्वे आसनादिभिरर्चनीयाः । अर्चापूर्वकमेतदेभ्यो वसतां प्रकल्पनाय न तु सर्वेण सर्वमासनाशनशय्यानां सत्त्वनिवृत्तिरुच्यते । भक्त्यूषमांसान्नाज्याशनासंभवे पृथगुपादानात् मूलफलं दातव्यम् ॥ २९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अशनमशनीयम् ॥ २९ ॥

(३) कुड्मूकः । यथाशक्त्यासनभोजनादिभिरर्चितोऽतिथिरस्य गृहस्थस्य गृहे न वसेत् । अनेन शक्तितोऽतिथिं पूजयेदित्युक्तमप्युत्तरार्थमनूयते ॥ २९ ॥

४) राघवानन्दः । उक्तापि अतिथेः पूजा आवश्यकत्वात् पुनरपितामाह आसनेति । यथाशक्त्या । आसनभोजनशय्यादिभिरर्चितः अतिथिः अस्य गृहस्थस्य गृहे न वसेत् । अनेन शक्तितोतिथिं मर्चयेदित्युक्तमपि उत्तरार्थेनानूयते ॥ २९ ॥

(५) नन्दनः । उक्तमप्यातिथ्यमादरातिशयार्थमाह आसनेति ॥ २९ ॥

(६) रामचन्द्रः । आसनादिभिरर्चितः । अतिथिः कस्य चिद्रेहे न वसेत् ॥ २९ ॥

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् बैडालव्रतिकाञ्छठान् ॥ हेतुकान् बकवृत्तान्श्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ ३० ॥

(१) मेधातिथिः । अत्र वसेदिति लिङ्गात्सायमातिथ्यप्रतिषेधोऽयं पाषण्ड्यादीनामित्याहुः । तदयुक्तं अर्चनीयता न निवार्यते । न तु सर्वेण सर्वभक्त्यवदानमेवोच्यते । दिवापि भुञ्जानानां कतिचित् क्षणावास उपपद्यत एव अतो न लिङ्गसायं कालस्य वसेदिति । तत्र पाषण्डिनो बाह्यलिङ्गिनो रक्तपटनग्रचरकादयः । विकर्मस्थाना अत्रानापदिषेवर्णान्तरवृत्त्या जीवन्तियथा ब्राह्मणः क्षत्रवृत्त्या क्षत्रियो वैश्यवृत्त्येत्यादि बैडालव्रतिका दाम्भिका ये च लोकावर्जनार्थं अग्निहोत्राद्यनुतिष्ठन्ति । इति मृहादिलिप्सा महदिति । न शास्त्रचोदितत्वेन स्वधर्मतया शठयेषामन्यत्तद्दयेन्यद्वाचि उपकारकस्य चित्प्रतिज्ञाय कर्तव्यतया अवधीरयन्ति न कुर्वन्ति हेतुकानास्तिका नास्ति परलोको नास्ति दत्तनास्ति द्रुतं इत्येवं स्थितप्रज्ञाः बकवृत्तयः दाम्भिका एव ईषद्भेदभिन्नाः भेदः परस्परं दर्शयिष्यते । वाङ्मात्रेणापि तिष्ठतुतावदासनादिदानं पूजापूर्वकं स्वागतमास्यतामत्रेत्येवमाद्यपि न वक्तव्याः । अन्नदानं श्वपचादिवदिष्यते तथा च भगवान् रुष्णद्वैपायनो न्नदानमेवाधिकृत्य स्मरति स्म । न पृच्छेज्जन्मनश्रुतमिति । नात्र पात्रगवेषणा कर्तव्येत्यर्थः ॥ ३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पाषण्डिनो बोद्धादीन् । पाषण्डदर्शनान्तःपातिनः । विकर्मस्थाना श्रमस्थानप्याश्रमधर्महीनान् । शठान् वक्रद्वयान् । हेतुकानां श्रमिणोऽपि हेतुमात्रेण वेदविरुद्धेन परलोकसाधनोन्नायकान् नार्चयेत् । क्षुधितेभ्यस्त्वन्नं शक्तौ दद्यादेव ॥ ३० ॥

(३) कुड्मूकः । पाषण्डिनो वेदबाह्यव्रतलिङ्गधारिणः शाक्यभिक्षुकक्षपणकादयः । विकर्मस्थाः प्रतिषिद्धवृत्तिजीविनः । बैडालव्रतिकबकवृत्तीवक्ष्यमाणलक्षणौ । शठवेदेष्वश्रद्धानाः । हेतुका वेदविरोधितर्कव्यवहारिणः । एतान्तिथिका लोपस्थितान् वाङ्मात्रेणापि न पूजयेत् । पूजारहितेऽन्नदानमात्रं तु शक्तितोऽपचमानेभ्य इत्यनुज्ञातमेव ॥ ३० ॥

(४) राघवानन्दः । आतिथ्यादिलक्षणमुक्तं एतेषु विप्रैष्वपि आतिथ्यं नास्तीत्याह पाषण्डिन इति । वेदब्राह्मणव्रतलिङ्गधारिणः पाषण्डिनः । ते च भिक्षुक्षणकादयः । प्रतिषिद्धवृत्तिजीविनः विकर्मस्थाः । वेदार्थेष्वश्रद्धानाः । शठाः प्रसिद्धाः । अत्रैव करिष्यमाणलक्षणावैडालव्रतिकादयस्त्रयः । हेतुकोवेदविरुद्धतर्कः ॥ ३० ॥

(५) नन्दनः । अवैदिकाः पाषण्डिनः । विकर्मस्थानिन्दिताचाराः । वैडालव्रतिकान्बकवृत्तिंश्च वक्ष्यति । हेतुकाः वेदशास्त्रविरुद्धतर्कशास्त्रपराः ॥ ३० ॥

(६) रामचन्द्रः । पाषण्डादीन् वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् । युक्तिबलेन सर्वत्र संशयकरो हेतुकः तान् । बकवत् वृत्तिवर्तनयस्य सः ॥ ३० ॥

वेदविद्याव्रतस्नाताञ्छ्रोत्रियान् गृहमेधिनः ॥ पूजयेद्भव्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत् ॥ ३१ ॥

(१) मेधातिथिः । वेदश्च विद्या च व्रतानि च तैः स्नातास्तत्र परिसमाभिगताः विविधा स्नातका गृह्यन्ते । तत्र वेदस्नातका अधीतवेदाः विद्यास्नातका विद्यार्थजिज्ञासितवन्तः । विद्यासन्निधाना द्वेदविषयैव गृह्यन्ते । तस्या एव वस्तुतो विद्यात्वं । व्रतानि षट्त्रिंशदाब्दिकमित्यादीनि । सत्यामपि वेदतदर्थजिज्ञासा समाप्तौ न तावद्व्येव स्नानं किं तर्हि षट्त्रिंशदब्दादिकालः पूरयितव्यः इति पक्षोऽप्यस्ति । अन्येतु येन धीत्यैव वेदवर्षत्रयात् स्नानं ते व्रतस्नातका इत्याचक्षते । अनधीतवेदस्य कुतः स्नानमित्यपेक्षायां ननु च श्रोत्रियग्रहणं किमर्थं स्नातकत्वेनैव सिद्धत्वात् । अतिशयार्थेन वेदाभ्यासरता गृह्यन्ते । श्रोत्रिया गृहमेधिनो गृहस्थानानेन भिक्षुतापसब्रह्मचारिणामपूजनीयत्वमुच्यते । किं तर्हि भैक्ष्यभोजित्वात्तेषां नातिथित्वसंभवः । ब्रह्मचारिणो गुरुगृहात्तापसस्य च वनान्यान्यत्रवासः प्रव्रजितस्यापि भैक्षार्थाग्राममियादिति न ग्रामेवासः । अतो न्येषामाश्रमिणां गृहादन्यत्रवासात्कथंचित्सम्भवेऽपि प्रायिकमेतद्गृहमेधिन इति । हव्येन कव्येन दैवकर्मणि शान्त्यादौ पित्र्येवाश्राद्धे त एव पूज्याः विपरीताः अस्नातकाः वर्ज्याः पूर्वोक्तदोषाभावेऽपि ॥ ३१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वेदविद्यायां प्रमायां व्रते च रुतेऽनन्तरं स्नातां तस्मात् वृत्तान्तांस्तदनन्तरमेव स्वगृहमागतान् पूजयेत् । तथा गृहे वसतोऽपि श्रोत्रियान् वेदविदो हव्यकव्येन हव्यकव्यसंबन्धिकर्मणा विपरीतान् विद्याव्रतं विना स्नातान् गृहिणश्चाश्रोत्रियान् ॥ ३१ ॥

(३) कुम्भकः । वेदविद्याव्रतस्नातानिति विद्यास्नातकव्रतस्नातको भयस्नातकास्त्रयोऽपि गृह्यन्ते यथाह हारीतः । यः समाप्य वेदानसमाप्य व्रतानि समावर्तते स विद्यास्नातकः । यः समाप्य व्रतान्यसमाप्य वेदानसमावर्तते स व्रतस्नातकः । उभयं समाप्य यः समावर्तते स विद्याव्रतस्नातकः । यद्यपि स्नातकधर्मत्वेनैव स्नातकमात्रप्राप्तिस्तथापि श्रोत्रियत्वं विवक्षितम् तान् स्नातकाञ्छ्रोत्रियान् हव्यकव्येन पूजयेद्विपरीतान् पुनर्वर्जयेत् ॥ ३१ ॥

(४) राघवानन्दः । एतांस्त्वर्चयेद्वेत्याह वेदेति । वेदः स्वशाखा । विद्या तर्कव्याकरणादि । व्रतं षट्त्रिंशद्वर्षादिब्रह्मचर्यं तेषु स्नातान् पारगान् । विपरीतान् पाषण्डादीन् ॥ ३१ ॥

शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना ॥ संविभागश्च भूतेभ्यः कर्तव्योऽनुपरोधतः ॥ ३२ ॥

(१) मेधातिथिः । अपचमाना ब्रह्मचारिपरिव्राजका इत्याहुः । तदुक्तं मृताय नित्यवदानं विहितमेव । भिक्षां च भिक्षवेदद्यादिति । तस्माद्येदरिद्राभैक्षजीवनाश्च पाषण्ड्यादयः तेभ्यः शक्तितो दातव्यं । यावद्भयः शक्यते यावच्च पच्यते पचिक्रियाविरहनिमित्तत्वाच्च सिद्धान्नदानमेवेदं । संविभागश्च अन्येनापि धनेन परिधानौषधाद्युपयोगिना संविभागः कर्तव्यः ।

कश्चिदंशोदातव्यः सर्वभूतेभ्यः । भूतशब्दोयचेतनात्मकजगदाचष्टे । यथागायत्रीवाइदंसर्वभूतमिति । अचेतनानांचेतन-
वदुपकारार्थतया संविभागानुपपत्तेः चेतनावत्त्वेवावतिष्ठते । अतश्चप्ररोहधर्मकाश्चेतनावन्तइतिदर्शने वृक्षादीनामपिजल-
सेकाद्यर्थोपधनसंविभागःकर्तव्यः । बह्वर्थीयंभूतशब्दः । कश्चित्प्राधान्येवर्तते भूतमियं ब्राह्मण्यस्मिन्गृहे । कश्चित्पैशाच-
वचनोभूतोपसृष्टइति । कश्चिद्विपरीतेर्थेवर्तते भूतमाहेति । कश्चिदतिक्रान्तकालवचनोभूतोधात्वर्थइति । कश्चिदेवताविशे-
षेभूतेभ्योबलिरिति । कश्चिच्चेतनावन्मात्रवचनोनाहिंस्याद्भूतानीति । कश्चित्प्राप्तिवचनोमहद्भूतश्चन्द्रमाइति । कश्चिदुपमायां-
वर्तते यथाकाव्यभूतइति । कश्चिदुत्पत्तिवचनो यथादेवदत्तस्थपुत्रोभूतइति । इहतुयःपदार्थस्तद्याख्यानं भूतेभ्यइति
तादर्थ्येचतुर्थी । अनुपरोधतः आत्मकुटुम्बपीडायथानभवति तत्पर्याप्तस्थापयित्वा अधिकेनसंविभागःकर्तव्यः । तदु-
क्तं श्रुत्यानामनुपरोधेनेति ॥ ३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अपचमानेभ्योब्रह्मचार्यादिभ्यः प्राण्यन्तरेभ्यः एवेत्यर्थः । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । अनुपरो-
धतःकुटुम्बोपरोधविना ॥ ३२ ॥

(३) कुटुम्बकः । अपचमानाब्रह्मचारिपरिव्राजकाः पाषण्डादयः । ब्रह्मचारिपरिव्राजकानामुक्तंमन्यन्दानंपचमा-
नापेक्षयातिशयार्थं स्नातकव्रतत्वार्थंच पुनरुच्यते । मेधातिथिगोविन्दराजौतु भिक्षां च भिक्षवेदद्याद्विधिवद्ब्रह्मचारिणइति
ब्रह्मचारिपरिव्राजकयोर्भुक्त्वात्पाषण्ड्यादिविषयत्वमेवास्य वचनस्येत्युच्यते । त्वकुटुम्बानुरोधेन वृक्षादिपर्यन्तप्राणि-
भ्योऽपि जलादिनापि विभागः कर्तव्यः ॥ ३२ ॥

(४) राघवानन्दः । सन्यास्यादिभ्यः स्वाऽपीडयैव दातव्यमित्याह शक्तितइति । सन्यासिब्रह्मचारिविरक्तवानप्रस्थे-
भ्योऽपचमानेभ्यः । यतिश्च ब्रह्मचारी च पक्वान्स्वामिनावुभौ । तयोरन्नमदत्त्वा तु भुक्त्वा चान्द्रायणचरेदित्युक्तेः ॥ जला-
दिना संतोषः संविभागःभूतानामनुपरोधतः अपीडया ॥ ३२ ॥

(५) नन्दनः । अपचमानेभ्योब्रह्मचारिसन्यासिभ्यः भूतानांश्वचाण्डालादीनामनुपरोधतः त्वकुटुम्बाविरोधेन॥३२॥

(६) रामचन्द्रः । अयाचमानेभ्यःब्रह्मचारिसन्यासिभ्यःभूतेभ्यः प्राणिभ्यःशक्तितोयावत्सिद्धान्तादेतत्संविभागस्ता-
वत्कर्तव्यः । अनुपरोधतः कुटुम्बस्य पीडा यथा न भवेत् गृहमेधिना तथा दातव्यम् ॥ ३२ ॥

राजतोधनमन्विच्छेत्संसीदन्स्नातकः क्षुधा ॥ याज्यान्तेवासिनोर्वापि न त्वन्यतइति स्थितिः॥३३॥

(१) मेधातिथिः । राजग्रहणमाढ्यवर्णोपलक्षणार्थम् । तथाचवक्ष्यति । सीदद्भिः । कुप्यमिच्छद्भिर्धनंवापृथिवीप-
तिः । याच्यस्यादिति । तेनराजशब्दःक्षत्रियजातौमुख्यः तथापिशालान्तरपर्यालोचनया जनपदेश्वरवचनइतिगम्यते । ज-
नपदेश्वराहिवहुधना भवन्ति तेनैतदुक्तं भवतियेत्यन्तसम्पन्नागोजाविधनधान्यैस्तेभ्यःप्रतिग्रहीतव्यम् । तथासत्यद्रोहेणेत्ये-
तदादत्तंभवति आढ्याहिददतोनातीवपीड्यन्ते । त्वरूपधनेभ्यस्तुपरिगृह्यतो दोषःस्यात् । मुख्यार्थवृत्तौचराजशब्देब्राह्मणा-
दिभ्यःप्रतिग्रहःप्रतिषिध्यते । तत्रसर्वस्मृतिविरोधःस्यात् । स्मृत्यन्तरेहिपठ्यते । आददीतप्रशस्तद्विजातिभ्यःशुश्रूषोःशूद्रा-
दपक्वान्मितिप्रतिषेधेपि नराज्ञःप्रतीगृह्णीयादितिराजशब्दोजनपदेश्वरवचनएव । किंचनक्षत्रियस्यतत्रप्रतिषेधः अरा-
जन्यप्रसूतितइतिवचनात् । अतएव नक्षत्रियजातीयात्तत्रतन्निषेधस्तथासत्यराजन्यप्रसूतितइतिनवक्तव्यस्यात् । नक्षराज-
न्यप्रसूतितःक्षत्रियाभवन्ति । तेनेयमत्रव्यवस्था क्षत्रियाद्राज्ञोयथाशास्त्रवार्तिनःप्रतिग्रहःकर्तव्यः । अन्यस्मात्पुनर्नरैर्कवि-
शत्यायोगः । याज्यान्तेवासिनोःधनापेक्षाषष्ठी । तसंतोवापठितव्यः क्रियानिमित्तत्वादेतयोःशब्दयोर्याजनाध्यापनाभ्यांजीवे-
दित्युक्तंभवति । अन्येत्वाहुरन्येषांउपपातकप्राप्तिश्चौर्यादीनांचोपायानांनिषिद्धत्वात् । ईश्वरमाराध्यजीवेत्प्रीतिदायेन

स्वस्तिवाचनकेनवा नचायंसेवकः सावृत्तिर्निषिद्धा । एवंरुतोपकारादयाजयन्पियाज्यादाददीत वृत्तेपिसंबन्धेरुत्थोवर्ततइ-
ति संसीदन्निति । पित्रादिधनेसति नकर्तव्यं । तदुक्तं नकल्पमानेष्वर्थेषुतस्यैवायमनुवादः । नचायमापद्धर्मः नहवसादआप-
त्किंतर्हिअर्जितधनाभावः । आपत्तुविहितोपायाभावोधनक्षयश्च । सत्यपिधान्यधनवत्त्वेअन्नपरिक्षयेदुर्भिक्षादावातिथ्यस-
न्निहितान्नता । नक्षुत्पीडितस्यापत् । अक्षुधितस्यापिधनाभावादवसादइत्येषएतयोर्विशेषः । नत्वन्यतःस्वल्पधनादनुपका-
र्यातृगृह्णीयात् ॥ ३३ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अन्विच्छेदनुगम्येच्छेत् । स्नातकोगृहस्थः । एतेनात्यन्ताभ्यर्थनया धनार्जनमेभ्यस्त्रि-
भ्यएवेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

(३) कुल्लूकः । न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितइतिनिषेधाद्राजशब्दोऽत्र क्षत्रियनृपतिपरः । स्नातकःक्षुधाऽ-
वसीदन्दिजातिप्रतिग्रहस्य संभवेऽपि यथाशास्त्रवर्तिनः क्षत्रियाद्राज्ञोयाज्यशिष्याभ्यांवा प्रथमंधनमभिलषेत् । राज्ञोम-
हाधनत्वेन पीडाविरहात् । याज्यशिष्ययोश्च रुतोपकारतया प्रत्युपकारप्रवणत्वात् । तदसंभवे त्वन्यस्मादपि द्विजाद्धन-
माददीत । तदभावे तु सर्वतःप्रतिगृह्णीयादित्यापद्धर्मवक्ष्यति । एवंचानापदि प्रथमंक्षत्रियनृपयाज्यशिष्येभ्यःप्रतिग्रहनिय-
मार्थवचनम् । अतएवाह न त्वन्यतइति । स्थितिःशास्त्रमर्यादा । न च संसीदन्नित्यभिधानादापद्धर्मविषयत्वमस्यवाच्यम्
अव्यभिचारादनापत्प्रकरणात् । संसीदन्नित्यस्य चोपात्तधनाभावपरत्वात् । नच धनाभावमात्रमापत् किंतु तस्मिन्सति वि-
हितोपायासंभवात् । अन्यथा सद्यःप्रक्षालकोऽप्यापइतिःस्यात् । यदि चापद्विषयत्वमस्य भवेत्तदा नत्वन्यतइत्यनेन सर्व-
तःप्रतिगृह्णीयादिति विरुध्येत । यच्चापत्प्रकरणे सीदद्भिःकुप्यमिच्छद्भिर्धनंवा पृथिवीपतिः । याच्यःस्यादित्युक्तं तच्छूद्र-
नृपविषयमेवंराजादिप्रतिग्रहासंभवे ॥ ३३ ॥

(४) राघवानन्दः । स्नातकस्य धनोपायानाह राजतइति । अन्तेवासिनः शिष्याः अन्यतःशूद्रादेः ॥ ३३ ॥

(५) नन्दनः । राजतोऽभिजाताच्छास्त्रानुसारिणोगुणवतोरारज्ञः क्षुधा संसीदन्स्नातकोन्मन्विच्छेत्प्रतिगृह्णीयात् ।
याज्यान्तेवासिभ्यामन्यतः प्रतिग्राह्यात् ॥ ३३ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्नातकः वेदस्नातकः विद्यास्नातकः व्रतस्नातकोवा । क्षुधा संसीदन् राजतः रुताभिषेकात्
राज्ञः अन्विच्छेत् धनं इच्छेत् प्रतिग्रहं कुर्यात् क्षत्रियस्य प्रतिषेधः याज्यः यस्य यज्ञंकारितवान् तस्मात् । अन्तेवासा शि-
ष्यस्तस्मात् । अन्यतःसकाशात् धनंनेच्छेत् ॥ ३३ ॥

न सीदेत्स्नातकोविप्रः क्षुधा शक्तः कथंचन ॥ न जीर्णमलवद्वासाभवेच्च विभवे सति ॥ ३४ ॥

(१) मेधातिथिः । यदिनकुतश्चिद्धनार्थाद्यापाराद्याह्न्येत तथापिनतदैवापद्धर्मानाश्रयेत् । किंतर्हिपुनरुपपद्यते ।
तदुक्तमावृत्योःश्रियमन्विच्छेदिति । अतश्चयदिकथंचित्कृषतोवर्षाद्यभावेनसस्यनाशोभवेन्नेयतात्यागेनसहसैवपरपिण्डोप-
जीवनायाश्चापरेणभवितव्यं सत्यायुक्तैर्जीर्णैर्मलिनेचवाससी धनविभवेसतिनेष्यते ॥ ३४ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । क्षुधा न सीदेत् । शक्तोर्जनसमर्थः । जीर्णंनुटितम् ॥ ३४ ॥

(३) कुल्लूकः । विद्यादियोगात्प्रतिग्रहशक्तोऽपि स्नातकोब्राह्मणउत्तरराजप्रतिग्रहादिलाभे सति न क्षुधावसन्नो-
भवेत् । नच धनेसंभवति जीर्णैर्मलिने च वाससी बिभृयात् ॥ ३४ ॥

(३४) क्षुधाशक्तः=क्षुधासक्तः (मेधा०)

(४) राघवानन्दः । तेन नातीव कष्टेन वर्तितव्यमित्याह नसीदेदिति । क्षुधासक्तः तादृशस्य धर्मे अविश्वा-
सप्रसङ्गात् । विभवे सति अजीर्णशुक्लाम्बरः स्यात् ॥ ३४ ॥

(५) नन्दनः । नसीदेद्विभवे सति शक्तोभोजनसमर्थो लोभात्क्षुधा नावसीदित् मृष्टमश्रीयदेव ॥ ३४ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्नातकोविप्रः क्षुधा न सीदित् । कीदृशोविप्रः शक्तः विद्यया परिपूर्णः ॥ ३४ ॥

कूटकेशनखश्मश्रुदान्तः शुक्लाम्बरः शुचिः ॥ स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च ॥ ३५ ॥

(१) मेधातिथिः । कल्पनच्छेदनदन्तवाससइत्येतदपेक्षंचैतत्कल्पननियमतः । अतएवशुचिरित्याह । दीर्घकेशस्यहि
स्नानादिषुक्लेशसाध्यत्वात् । अलसः स्यात्तथाशुचित्वप्रसङ्गः । यदितुकेशादिप्रसृतोऽपिस्नानपरः स्यान्नैवधारणदुष्येत् । दा-
न्तःदर्पवर्जितः । शुचिःअर्थेषुश्रुतिनिमित्तैर्भृद्धार्याचमनादिभिश्च । वेदाध्ययनेचनित्याभियुक्तः । उक्तोप्ययमर्थआदरार्थःपुनः-
पुनरुच्यते । आत्महितानिव्याधेःप्रतीकारादिनाअजीर्णातिवेलगुरुविदाहिभोजनवर्जनादीनि ॥ ३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । रुतं कर्तर्यादिकर्तनेन ह्रस्वतांतीतं तेन स्नातकस्य क्षुरेण मुण्डनमवैधमित्युक्तम् ।
अतएवापस्तम्बः । न समावृत्तावपेरन्नन्यत्र विहारादिति । विहारस्तेताग्निविहारसंपाद्योदर्शादिः उपलक्षणंचैतत् । पितृ-
मरणादेरिति । केशाशिरोरुहाः । दान्तस्तपःक्लेशसहिष्णुः नित्यंयुक्तो नित्योद्युक्तः । आत्महितेष्वहारलाघवादिषु ॥ ३५ ॥

(३) कुड्मूकः । कल्पनच्छेदनलूनकेशनखश्मश्रुस्तपःक्लेशसहोदान्तः शुक्लवासाबाह्याभ्यन्तरशौचसंपन्नोवेदाभ्या
सयुक्तऔषधोपयोगादिना चात्महितपरः स्यात् ॥ ३५ ॥

(४) राघवानन्दः । अस्य सार्थवादानि व्रतान्याह आध्यायपरिसमाप्तेः कृमेत्यादिना । कृमाश्छिन्नाः शिखावर्ज-
यित्वा केशादयोयस्य सः । आत्महितेषु औषधादिषु ॥ ३५ ॥

(६) रामचन्द्रः । कृमाः रुक्ताः केशनखानि श्मश्रूणि यस्य सः कूटकेशनखश्मश्रुः तथा योगीश्वरः नीच
केशश्मश्रुनखः शुचिरिति । शुचिरन्तर्बहिश्च आत्महितेषु लज्वाहारादिषु ॥ ३५ ॥

वैणवी धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् ॥ यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले ॥ ३६ ॥

(१) मेधातिथिः । यज्ञोपवीतकुण्डलयोर्धारणं शरीरसंयोगः । अस्थचयस्मिन्नेसमुचितः सन्निवेशः सतत्रैवविनियो-
जनीयः । यथाकुण्डलंकर्णयोरुपवीतंकायइतिकर्णाभरणस्यकुण्डलाख्यत्वात् । कण्ठसक्तस्यसूत्रस्यदक्षिणबाहूद्धारणे-
नोपवीतत्वात् । दृष्टप्रयोजनत्वाच्चयष्ट्यादिनासर्वदाङ्गसङ्गः । तथाहियष्टिधारणंश्रान्तस्यावलंबनार्थंसंमुत्सागतघातकगवा-
दिनिवारणार्थंच । उद्धृतोदकेनशौचस्यविहितत्वात् । आचारापेक्षयाकमण्डलुर्नियम्यते । सचतुल्यकार्यत्वात् कलशादी-
न्निवर्तयति नकुण्डलकटकादीन् । अतश्चपुरीषनिमित्तस्योदकशोभ्याशुचित्वापनोदार्थं सोदकत्वंकमण्डलीः उक्तंच । मुहू-
तमपिशक्तिविषयेनाशुचितिष्ठेदिति । शक्तिविषयइति । यदिपूर्वगृहीतमुदकमुपयुक्तमन्यथाप्राप्तमशुचित्वनिमित्तंच श्लेष्मनि-
ष्ठीवनाद्युत्पन्नं तत्रोदकालाभादशुचिस्वस्थानेनदोषः । तथाचमूत्रपुरीषविसंसेनान्वदयति । विनाद्भिरप्सुतर्पेतशारीरंसंनिषे-
ध्यतु । सचैलोबहिराप्नुयेति शुचिश्चमृत्यन्तरे प्रतिपदमाभ्रातः । एवंहस्माह भगवान्वसिष्ठः अप्सुपाणौचक्राठेचकथितः-
पावकःशुचिः । तस्मादुदकपाणिभ्यांपरिमृज्यकमण्डलुं ॥ पर्यग्निकरणहोममनुराहप्रजापतिः । कृत्वाचावश्यकार्याणिआ-
चामेच्छौचवित्तमः ॥ बौधायनेनोक्तं । अथकमण्डलुंधार्यमित्युपक्रम्य । तस्माच्छौचततःकृत्वापरिमृज्यकमण्डलुं । पर्यग्निक-
रणंसेतयद्वस्तुपरिमार्जनं ॥ तथा कमण्डलुंपरिहरेत्पूर्वावस्थोप्यशौचतः । नचैनंकुत्सयेद्विद्वान्शङ्केनचदूषयेत् ॥ आकार-

विशेषनिमित्तश्चायंशब्दोनजातिमाद्रियते । अतोमृन्मयस्यसौवर्णस्यराजतस्यवाणैवशुद्धिर्नप्रकृतिजातिसंबन्धिनी । मूत्रा-
दिस्पृशैतुप्रकृतिजातिशुद्धिरवधेया हस्तमार्जनंतूच्छिष्टपुरुषसंस्पर्शाद्यशुचित्वात् । तथाचगौतमः क्वचिच्छौचार्थसंनिधाये-
त्याह । अतइहापिसंनिधानमेवाभिप्रेतं नत्वात्मनाग्रहणं वेदोदर्भमुष्टिस्तस्यचप्राणोपस्पर्शनंदर्भैरित्यादिप्रयोजनं । अत-
श्चादृष्टार्थानांसार्वकालिकशरीरसंबन्धोदृष्टार्थानांतु संनिर्धानित्यप्रयोजनंवस्तुग्रहणमिति । शुभेदर्शनीयेआकारतःताप्ले-
दकषैश्वसुवर्णशुद्ध्या ॥ ३६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यष्टिदण्डं । सोदकं नरिक्तं । यज्ञोपवीतमित्येकत्वमविवक्षितं । स्नातकंप्रति यज्ञोपवीते
हे यष्टिरिति विधानात् । वेदमैष्टिकवेदप्रतिकर्तितकुशमर्यायष्टिस्थां । शुभे निर्मले ॥ ३६ ॥

(३) कुड्मूकः । वेणुदण्डमुदकसहितंच कमण्डलुम् । यज्ञोपवीतंकुशमुष्टिशोभनेचसौवर्णकुण्डले धारयेत् ॥ ३६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच वैणवीमिति । वैणवीमित्यादिपञ्चकंयथायोगंदृष्टादृष्टार्थं । कमण्डलुं काष्ठभवंजलपात्रं ।
वेदोत्र कुशमुष्टिः वेदंरुत्वा वेदिकरोतीतिश्रुतेः । रुक्मं सुवर्णं शुभे दर्शनीये ॥ ३६ ॥

(५) नन्दनः । वेदंदर्भपुञ्जम् ॥ ३६ ॥

(६) रामचन्द्रः । यज्ञोपवीतंधारयेत् वेदं दर्भमुष्टिं धारयेत् च पुनः शुभेरौक्मे कुण्डले धारयेत् ॥ ३६ ॥

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तंयान्तंकदाचन ॥ नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यंनभसोगतम् ॥ ३७ ॥

(१) मेधातिथिः । उपसृष्टोग्रहोपरक्तः । उदकेप्रतिबिम्बितोवारिस्थः । नभःअन्तरिक्षंतस्यमध्यगतंपश्येन्नमध्या-
न्हकाले ॥ ३७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उपसृष्टंराहुणा गृहीतं । स्नानार्थं तद्दर्शने तुसकृन् दोषः दृष्ट्वा स्नायादिति विधानात् ।
वारिस्थंजलप्रतिबिम्बितं मध्यगतंमध्यान्हकाले ॥ ३७ ॥

(३) कुड्मूकः । उद्यन्तमस्तंयन्तंच सूर्यबिम्बंसंपूर्णनेक्षेत । उपसृष्टोग्रहोपरक्तम् वक्त्राद्युपसर्गयुक्तंच वारिस्थंजल-
प्रतिबिम्बितम् नभोमध्यगतंमध्यदिनसमये ॥ ३७ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच नेति । आदित्येक्षणमुदयादिपञ्चस्थलेषु समावर्तनपर्यन्तंनकार्यमिति संकल्पंब्रह्मचा-
रीकुर्यादित्यर्थः । अथब्रह्मचारिणोव्रतमिति कल्पसूत्रकारेण धृतत्वात् । पर्युदासविधिरेवायंअतएव दर्शादग्नीषोमीयमन्त्र-
स्येवस्नातकप्रकरणात्उत्कर्षइति । उपसृष्टंराहुणा न मध्यंनभसोगतं अभिजिदाख्यम् । स्नातकस्य निषेधमात्रं तेषु दर्शने-
मुख्यब्रह्मचारिणोव्रतच्युति रिति भेदः । भास्करालोकनाऽशीलेति ब्रह्मचारिप्रकरणे याज्ञवल्क्योक्तेः ॥ ३७ ॥

(५) नन्दनः । उपसृष्टंराहुग्रस्तम् ॥ ३७ ॥

(६) रामचन्द्रः । उदयंप्राप्तं आदित्यं नेक्षेत नपश्येत् । उपसृष्टं राहुग्रस्तं वारिस्थंच पुनः नभसो मध्ये गतं
आदित्यं नेक्षेत ॥ ३७ ॥

न लङ्घयेद्वत्सतन्त्रीम् न प्रधावेच्च वर्षति ॥ न चोदके निरीक्षेत स्वरूपमिति धारणा ॥ ३८ ॥

(१) मेधातिथिः । वत्सबन्धनाथारिजुर्वत्सतन्त्री वत्सपङ्क्तिर्वा तांनलङ्घयेन्नापक्रामेत् । तथाचगौतमः । नोपरिव-
त्सतन्त्रीगच्छेत् । स्वरूपंशरीरसंस्थानं स्वग्रहणात्परस्वरूपप्रेक्षणं नपर्युदस्यते । इतिधारणा । एषनिश्चयःशास्त्रेषु ॥ ३८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वत्सतर्त्री गोवत्सबन्धनदाम वर्षति त्वोपरि मेघे । धारणानिश्चयः ॥ ३८ ॥

(३) कुङ्कुमः । वत्सबन्धनरज्जुं लङ्घयेत् वर्षति मेघे न धावेत् न च त्वदेहप्रतिबिम्बं जले निरीक्षेतेति शास्त्रे निश्चयः ॥ ३८ ॥

(४) राघवानन्दः । वत्सतर्त्री तद्वन्धनरज्जुं । स्वरूपं त्वदेहम् ॥ ३८ ॥

(६) रामचन्द्रः । वत्सतर्त्री वत्सबन्धनरज्जुं न लङ्घयेत् च पुनः वर्षति सति न प्रधावेत् । च पुनः उदके स्वरूपं प्रतिबिम्बं न निरीक्षेत । इति धारणा मर्यादा ॥ ३८ ॥

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम् ॥ प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥ ३९ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रस्थितस्याभिमुखागतामृदादीन् प्रत्ययविधिः । मृदादयो येन दक्षिणो हस्तः तेन कर्तव्याः । उद्धृता च मृदेव कर्तव्या । एवं हि शास्त्रान्तरं प्रस्थानाधिकारे पठति । प्रदक्षिणमावर्तेति दैवतं पटादिलिखितं अर्चा । गौतमस्तु देवतायतनानि सप्रदक्षिणमनुवर्तेतेति पठति । लोकप्रसिध्या चतुर्भुजमार्तेण्डागारादिदेवतायतनं विज्ञेयं । यज्ञगृहाणि चेति वक्ष्यति । मधुघृतमहावर्यान् सारधं मङ्गल्यमध्यपाठाच्च । प्रज्ञाता वनस्पतयो महाप्रमाणाः प्रसिद्धा वनस्पतयो महावृक्षाः प्रमाणतः पुष्पकलातिशयतो वा प्रसिद्धा उदुम्बरादयः । ऊर्वा उदुम्बर इत्यर्थवादः । ये तु गुणाधिकान् प्रज्ञातानां च क्षते ते निर्मूलप्रसिद्धिमात्रप्रमाणका उपेक्षणीयाः ॥ ३९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मृदमुद्धृत्य स्थापितां दैवतदेवतार्चनं । प्रदक्षिणानि कुर्वीत तान् दक्षिणपार्श्वे कृत्वा गच्छेत् । प्रज्ञातान् प्रसिद्धान् । ग्रामादिषु प्रधानवृक्षान् ॥ ३९ ॥

(३) कुङ्कुमः । प्रस्थितः सन् संमुखावस्थितानुद्धृतमृत्तिकागोपाषाणादिदेवताब्राह्मणघृतक्षौद्रचतुष्पथमहाप्रमाणज्ञातवृक्षान् दक्षिणहस्तमार्गेण कुर्यात् । प्रदक्षिणानीति न पुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्यामिति न पुंसकत्वम् ॥ ३९ ॥

(४) राघवानन्दः । मृदं पुञ्जीकृत्य स्थापिताम् । दैवतं ग्रामाध्यक्षादेवता । प्रज्ञातान् प्रमाणसिद्धान् प्रदक्षिणानि कुर्वीत पथि प्रस्थित इति शेषः ॥ ३९ ॥

(५) नन्दनः । मृदपरैरानीयमानां मृत्फूटं वा । दैवतं देवताप्रतिमा । प्रज्ञातान् प्रसिद्धान् ॥ ३९ ॥

(६) रामचन्द्रः । मृदज्ञादीनि प्रदक्षिणानि कुर्वीत कुर्यात् ॥ ३९ ॥

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने ॥ समानशयने चैव न शयीत तथा सह ॥ ४० ॥

(१) मेधातिथिः । प्रमत्तः कामशरैः पीडितोऽपि । आर्तवस्त्रीलिङ्गशोणितं मांसमांसप्रसिद्धं तद्दर्शने न गच्छेत् । एकस्यां च शय्यायां तथा सह न शयीत स्पर्शनिषेधादेव तत्प्रसिद्धमिति चेन्नायं प्रतिषेधः । व्रतमिदं प्रायश्चित्तभेदश्च ॥ ४० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रमत्तोऽपि कामार्तोऽपि ॥ ४० ॥

(३) कुङ्कुमः । प्रमत्तः कामार्तोऽपि रजोदर्शने निषिद्धस्पर्शदिमन्त्रये स्त्रियं नोपगच्छेत् । स्पर्शनिषेधेनैव तासामाद्याश्च तत्सद्वृत्तिनिषेधसिद्धौ प्रायश्चित्तगौरवार्थं स्नातकव्रतत्वार्थं पुनरारम्भः । न चागच्छन्नपि तथा सहैकशय्यायां सुष्यात् ॥ ४० ॥

(४) राघवानन्दः । उदक्यागमनं हि लोकद्वयविनाशकमित्याह नोपगच्छेदिति । स्त्रीभिर्गमनेच्छाभावेऽपि न शयीत स्पर्शाशङ्कया । पात्रे चोदकीति तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरेत् अञ्जलिना वापि वेदिति श्रुतेः । अञ्जलिनोदकसंबन्धादिति ॥ ४० ॥

(५) नन्दनः । प्रसक्तः प्रकर्षेण कामपीडितः ॥ ४० ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रसक्तोपि आर्तवदर्शने ऋतुमतींस्त्रियंनोपगच्छेत् तथाऋतुमत्या सह समानशयने एकशय्यायानं शयीत ॥ ४० ॥

रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य द्युपगच्छतः ॥ प्रज्ञा तेजोबलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥ ४१ ॥

(१) मेधातिथिः । रजःपूर्वोक्तमार्तवं अभिप्लुतांतेनसंबद्धां । पूर्वस्यार्थवादः ॥ ४१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तेजोब्रह्मवर्चसम् ॥ ४१ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्माद्रजस्वलांस्त्रियंपुरुषस्योपगच्छतः प्रज्ञावीर्यबलचक्षुरायूषि नश्यन्ति तस्मात्तानोपगच्छेत् ॥ ४१ ॥

(४) राघवानन्दः । यस्मात्तेजोवेदजंप्रहीयते ॥ ४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । रजसाभिप्लुतां नारीं ऋतुमतीं । तेजःप्रज्ञादि प्रहीयते ॥ ४१ ॥

तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभितप्लुताम् ॥ प्रज्ञा तेजोबलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते ॥ ४२ ॥

(१) मेधातिथिः । वृद्धिवचनंस्तुतिरेव ॥ ४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तांविवर्जयतइति मांसाद्यभक्षणद्व निवृत्तिरत्रापि फलवतीति दर्शितम् ॥ ४२ ॥

(३) कुल्लूकः । तांतु रजस्वलामगच्छतस्तस्य प्रज्ञादयोवर्धन्ते तस्मात्तानोपेयात् ॥ ४२ ॥

(४) राघवानन्दः । श्रुतेऽपि निषेधे तात्पर्यतदकुर्वतः प्रजावृत्त्याद्यदर्शनात् । रजसां ऋतुकालजन्योनिरक्तेनआप्लुतां युक्ताम् ॥ ४२ ॥

(६) रामचन्द्रः । तां रजसाभिप्लुतां वर्जयतस्तस्य प्रज्ञादिकंवर्धते ॥ ४२ ॥

नाश्रीयाद्भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्रमीमाक्षुवतीं जृम्भमाणां वा न चासीनां यथासुखम् ॥ ४३ ॥

(१) मेधातिथिः । नित्यमास्थंशुचिस्त्रीणामिति शुचित्ववचनंस्त्रीशूद्रोच्छिष्टमितिचप्रतिषेधद्वयमपिविषयाविभागेनव्यवस्थितं । तत्रशुचित्ववचनं स्त्रियश्चरतिसंसर्गइतिस्मृत्यन्तरदर्शनेनरतिस्त्रीविषयविज्ञायते । अतःप्रतिषेधोपिपरिशेष्यादरतिस्त्रीषु मातृभगिन्यादिषुदृष्टव्यः । यतोरतिर्नेहप्रीतिमात्रंकिंतर्हिभग्नमथनिमित्तोभावविशेषइतिशङ्कारपूर्वकोभिलाषादिरूपः । अतस्तद्युक्तासुशुचित्वं विपरीतासुप्रतिषेधः । रतिनिमित्तार्थतयाभार्ययासहभोजनेप्राप्तेवचनमिदमारभ्यते । नाश्रीयाद्भार्ययासार्धमिति । अथसंसर्गग्रहणेनवृषस्यतोसंप्रयोगविशेषःकथ्यते । तदानींपरिचुम्बनदिवशुचित्वमितिनास्तिभार्ययासहभोजनप्राप्तिः । तत्रेदंपुनर्वचनंनतज्ञापनार्थम् । ततश्चयावज्जीविकःसंकल्पःकर्तव्योयथाभार्ययासहभोजनंनभवति । एतच्चसहभोजनमेकाधिकरणमेककालदेशं नअर्थविषयतयाचोद्यतइतिगत्वोच्छिष्टेप्रतिषेधगतार्थशङ्केति । सपुनरयमीदृशःसहार्थविशेषःप्रमाणान्तरतःस्मृत्यन्तरमाचारादेशेशब्दार्थोऽन्यापेक्षितमात्रं । तथाचेतरानपि सख्यादीन्भोजयेत्सहभार्ययेति । नात्रैकाधिकरणताभुजेरवगम्यते । किंतर्हिभार्ययासमानदेशताभोक्तुःसमानकालतावा अन्येत्वन्यदुच्छिष्टमिति व्याचक्षते भुक्तोद्भिन्नतमुच्छिष्टमेकस्यांतुपत्त्यांएकस्मिन्कार्येसहभोजनं । एवंपुनर्याख्यायमानेशूद्रेणसहभोजनंप्रतिषिद्धंस्यात् । प्रतिषिद्धिश्चत्यक्ताभवेत् । अस्यसंस्पर्शादुच्छिष्टव्यवहारःसहभोजनेनापितेष्वस्ति । केचित्तुसमानदेशकालमे-

(४२) प्रज्ञातेजोबलंचक्षु=प्रज्ञालक्ष्मोर्यशश्चक्षु (ज, ट, ठ, य)

वभोजनं प्रतिषिद्धं दृष्टार्थत्वादुपदेशस्येति । पुंसां स्वभावभेदात् कश्चिद्बहुभोजिन्या न तु स्येत् अन्यः खलपभोजिन्या मपि विश्रं-
भयतीति छान्दनावर्तते । मम पुरतः खलपमश्नाति इति । तथा सदृशा एव मन्येपि नियमाः । नैनामीक्षेत चाश्रती पश्यतां हि भुञ्जाना-
विवृतास्य तयारूपविकारेण भर्त्रे नरोचेत । क्षवथुः शिरस्थेन वायुना पूर्यमाणायानासिकायाः शब्दस्तत्रापि वक्त्रवैकृत्यात् प्रीति-
र्न स्यात् । जृम्भमाणास्येन विलम्बितं वा योरुच्छ्वसनसङ्गप्रत्यङ्गप्रसारणं वा तदप्येवमेव यथा सुखं चासीना अनवग्रथितकेशी भमौ-
निपतितगात्री वा ॥ ४३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सार्धमेकपात्रे क्षुवर्ती क्षुतं कुर्वती आसीनां यथा सुखं देहसंवरणादि शून्याम् ॥ ४३ ॥

(३) कुल्लूकः । भार्यया सहैकपात्रे नाश्रीयत् । एनां च भुञ्जानां क्षुतं जृम्भां च कुर्वती यथा सुखं निर्यत्त्रणप्रदेशाव-
स्थितां च नेक्षेत ॥ ४३ ॥

(४) राघवानन्दः । स्वभार्याविषयेपि नाश्रीयदित्यादि नवकं निषेधति नेति द्वाभ्यां । क्षुवर्ती क्षुतं कुर्वतीम् । रहस्य-
देशे आसीनाम् ॥ ४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । भार्यया सार्धं नाश्रीयत् स्त्रियं अश्नन्तीम् भोजनं कुर्वती नेक्षेत क्षुतं कुर्वती यथा सुखं आसीनाने
क्षेत ॥ ४३ ॥

नाञ्जयतीं स्वके नेत्रे न चाभ्यक्तामनादृताम् ॥ न पश्येत्प्रसवन्तीं च तेजस्कामो द्विजोत्तमः ॥ ४४ ॥

[उपेत्य स्नातको विद्वान्नेक्षेन्न ग्रां परस्त्रियम् । सरहस्यं च संवादं परस्त्रीषु विवर्जयेत् ॥ १ ॥ †]

(१) मेधातिथिः । परस्याञ्जयन्तीं शोभत एव अनावृतां अपावृतवसनां अवगुणितामेव हि विशेषेण स्पृहयन्तीं निर्वसना-
ङ्गीं निपुणतरं वक्ष्यमाणानां सर्वतः सर्वासु संस्थानां भवतीति निरम्बरावेक्षणीया । तेजस्कामः तेजःवर्णोऽज्वलता उत्साहप्रयो-
गश्च ॥ ४४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तैलाद्यभ्यक्तामनावृतां पश्येदावृतायां त्वदोषः । प्रसवन्तीं पुत्रं पाययन्तीम् ॥ ४४ ॥

(३) कुल्लूकः । तथा स्वनेत्रयोरञ्जनं कुर्वती तैलाद्यभ्यक्तां अनावृतां स्तनावरणरहितान्तु न ग्राह्यम् । न ग्रां नेक्षेत च स्त्रि-
यमिति वक्ष्यमाणत्वात् । अपत्यं च प्रसवन्तीं ब्राह्मणो न निरीक्षेत ॥ ४४ ॥

(४) राघवानन्दः । अभ्यक्तां तैलादिना अनावृतां अदर्शनीयदेशान्मुक्तवस्त्रां । निषेधस्य दृष्टफलं एतेषु वैरूप्यदर्श-
नेन वैराग्यसंभावनयानिवृत्तिः ॥ ४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । नेति तेजस्कामो द्विजः अञ्जयन्तीं स्वके नेत्रे नेक्षेत । अभ्यक्तां तैलाभ्यक्तां अनावृतां वस्त्रैः
प्रसवन्तीं पुत्रं स्तनं पाययन्तीं नेक्षेत ॥ ४४ ॥

[रामचन्द्रः । उपेत्येति उपेत्य स्नातकः विद्वान्ग्रां परस्त्रियं नेक्षेत ॥]

नान्नमद्यादेकवासा न नग्नः स्नानमाचरेत् ॥ न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे ॥ ४५ ॥

(१) मेधातिथिः । सत्यपियज्ञोपवीतेनित्यानुगतत्वात्तस्य अनाच्छादकत्वादुपनयनविभेदेनोपदेशात् एकवासाअ-
न्योन्यच्छादकाद्वितीयवासाभोजनकाले स्यात् । न मूत्रं मूत्रग्रहणमत्रोत्सर्गस्योपलक्षणार्थं । पथिरध्यायांगोव्रजे । येन यत्र वागा-
वश्ररितुं व्रजन्ति ॥ ४५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एकवासानग्नोवा नान्नमद्यान् च स्नायादित्यर्थः । नमूत्रमिति विष्टाविसर्गस्यापि निषेधः न्यायसामान्यात् । एवंमेहतइत्यत्रापि ॥ ४५ ॥

(३) कुङ्कः । एकवस्त्रोनान्नभुञ्जीत । उपस्थाच्छादनवासोरहितो न स्नायात् । मूत्रग्रहणमपःकायमलविसर्गोपलक्षणार्थम् । तेन मूत्रपुरीषे वर्त्मनि भस्मनि गोष्ठे च न कुर्यात् ॥ ४५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच नेति । मूत्रपदं पुरीषस्याप्युपलक्षणं अमेध्यत्वाविशेषात् ॥ ४५ ॥

(६) रामचन्द्रः । एकवासा अन्नं नाद्यात् न भक्षयेत् ॥ ४५ ॥

न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते ॥ न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ॥ ४६ ॥

(१) मेधातिथिः । चित्यां अग्न्यर्थदृष्टकाकूटेपर्वतग्रहणं अरण्योद्यानोपलक्षणार्थं तथाहिविशेषप्रतिषेधो भविष्यति । पर्वतमस्तकइतिसामान्येन च इति प्रतिषेधः । पर्वतवासिनाममेहनप्रसङ्गः । वल्मीकः रुमिकृतो मृत्तिकासञ्चयः ॥ ४६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । न पर्वते पर्वतोपत्यकायां न जीर्णदेवायतनइति जीर्णे शीर्णप्राकारादौ तथा देवतायतने चेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

(३) कुङ्कः । तथा फालकृष्टे क्षेत्रादाबुदकेऽग्न्यर्थकृतेष्टकाचये पर्वते चिरंतनदेवतागारे रुमिकृतमृत्तिकाचये च विण्मूत्रोत्सर्गं कदाचन कुर्यात् ॥ ४६ ॥

(४) राघवानन्दः । चित्यां अग्निदग्धेष्टकाचये श्मशाननिषेधेन शवदाहंचितेर्निषेधात् । वल्मीकस्य सदासत्त्वेन कदाचनेत्युक्तम् ॥ ४६ ॥

(६) रामचन्द्रः । फालकृष्टे हलोकृष्टे क्षेत्रेमूत्रपुरीषे न कुर्यात् ॥ ४६ ॥

न ससत्त्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः ॥ न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके ॥ ४७ ॥

(१) मेधातिथिः । न गच्छन्नापि संस्थितः । गच्छतस्तिष्ठतश्च प्रतिषेधादासीनस्याभ्यनुज्ञानं । न चासनेन द्यास्तीरे नदीजलेन संसर्गशङ्कायत्र भवति तथा सन्नपर्वतस्य मस्तकशृङ्गम् ॥ ४७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्थितउत्थितः । आसाद्यात्यन्तासन्नं कृत्वा पर्वतमस्तके अधित्यकायां । अफालकृष्टइत्यादिश्लोकद्वयं कैश्चिन्नलिखितम् ॥ ४७ ॥

(३) कुङ्कः । तथा सप्राणिषु बिलेषु न व्रजन्न चोत्थितो न नदीतटमाश्रित्य नापि पर्वतशृङ्गे मूत्रपुरीषे कुर्यात् पर्वतनिषेधादेव तच्छृङ्गनिषेधे सिद्धे पुनः पर्वतशृङ्गनिषेधस्तदितरपर्वते विकल्पार्थः तत्रेच्छाविकल्पस्यान्यथापि प्राप्तौ सामान्यनिषेधवैयर्थ्याद्यवस्थितोऽत्र विकल्पः अत्यन्तार्तस्य पर्वते न दोषः ॥ ४७ ॥

(४) राघवानन्दः । न ससत्त्वेषु प्राणियुक्तेषु । स्थितः । ऊर्ध्वमिति शेषः । पर्वतवासिनां तत्त्यागासंभवेन पर्वतमस्तकग्रहणमत्यन्तनिषेधार्थम् ॥ ४७ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्वाभ्यामाह नेति ससत्त्वेषु सजीवेषु गर्तेषु विण्मूत्रस्य विसर्जनं न कुर्यात् ॥ ४७ ॥

वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाः ॥ न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ॥ ४८ ॥

(१) मेधातिथिः । संमुखीनत्वाद्वाय्वादीनामङ्गविप्रेक्षितेनापि नमूत्रयन्पश्येत् । वायोश्चारूपत्वाद्दर्शनं तत्प्रेरितवर्णलो-

ष्टादिभ्रमणादवसेयं । वाक्यचक्रेत्वयंप्रतिषेधोविप्रयुक्तः । सर्वतोहिवायुर्वाति ॥ ४८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वाय्वग्निविप्रमित्यादिना तत्संमुखतयाऽवश्यकर्मनिषेधः । वायुं पश्यन् प्रत्यक्षीकुर्वन् संमुखगच्छद्वातत्स्थानइत्यर्थः ॥ ४८ ॥

(३) कुङ्कुमः । वायुमग्निब्राह्मणसूर्यजलंगांच पश्यन् कदापि मूत्रपुरीषोत्सर्गंकुर्यात् । वायोरूपत्वेनदर्शनासंभवे वात्या प्रेरिततृणकाष्ठादिनिषेधोऽयम् ॥ ४८ ॥

(४) राघवानन्दः । वाय्वादिगवान्तानृषट्पश्यन् मेहेतेत्यन्वयः ॥ ४८ ॥

तिरस्कृत्योच्चरेत्काष्ठलोष्ठपत्रतृणादिना ॥ नियम्य प्रयतोवाचं संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः ॥ ४९ ॥

(१) मेधातिथिः । अस्यार्थवादः । तिरस्कृत्यान्तर्धायकाष्ठादितदुपरिमूत्रयेत् । आवरणंतिरस्कारः काष्ठादिभिर्भूमिच्छादयित्वोच्चरेत् । तृतीयान्तपाठस्तदास्पष्टपरः काष्ठैःपत्रेणतृणेनवाभ्युच्चरेत् । मूत्रपुरीषंचोत्सृजेत् । नियमोविधानं । प्रयतः अनुच्छिष्टःसंवीताङ्गःआच्छादितशरीरःअवगुण्ठितःशिरःप्रावृत्य । अन्यत्रोक्तं कर्णस्थब्रह्मसूत्रेतिमूत्रोच्चारमुत्सर्गत्यागम् ॥ ४९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तिरस्कृत्य भूम्याच्छादनंकृत्वा नियम्यवाचं मौनी प्रयतःशुचिःसंवीताङ्गोवस्त्रावृताङ्गः । अवगुण्ठितः प्रच्छादितशिराः ॥ ४९ ॥

(३) कुङ्कुमः । अन्तर्धाय काष्ठादिना भूमिमवागनुच्छिष्टःप्रच्छादिताङ्गोऽवगुण्ठितशिरामूत्रपुरीषोत्सर्गंकुर्यात् । शुष्कैस्तृणैर्वा काष्ठैर्वा पर्णैर्वेणुदलेन वा । मृन्मयैर्भाजनैर्वापि अन्तर्धाय वसुंधरामितिवायुपुराणवचनात् । शुष्कानि काष्ठपत्रतृणानि ज्ञेयानि ॥ ४९ ॥

(४) राघवानन्दः । विण्मूत्रयोस्त्यागस्यरागतः प्राप्तिमनूद्य तत्रेतिकर्तव्यतामाह । तिरस्कृत्येतितित्रिभिः तिरस्कृत्य काष्ठादिभिरन्तर्धाय । संवीताङ्गसंवृतकरचरणः । अवगुण्ठितोवस्त्राद्याच्छादितः ॥ ४९ ॥

(५) नन्दनः । तिरःशब्देनात्र तिरोधानसाधनंविश्वितम् । काष्ठंतिरस्कृत्यकाष्ठभूमेस्तिरोधानसाधनंकृत्वेत्यर्थः । उच्चारः पुरीषोत्सर्जनं । मूत्रस्याप्युपलक्षणमेतत् ॥ ४९ ॥

(६) रामचन्द्रः । पुरीषोत्सर्गमाह तिरस्कृत्येति । काष्ठंवा पत्रं लोष्ठं तृणानि वा तिरस्कृत्य प्रसार्य उच्चरेत् पुरीषंकुर्यात् वाचंनियम्य संवीताङ्गः अवगुण्ठिताङ्गः शिरोवेष्टनंकुर्यात् ॥ ४९ ॥

मूत्रोच्चारसमुत्सर्गदिवा कुर्यादुदङ्मुखः ॥ दक्षिणामुखोरात्रौ सन्ध्ययोश्च यथा दिवा ॥ ५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अतःसन्ध्ययोश्च यथादिवेतिचतुर्थपादस्थाने स्वस्थोऽनाशायचेतसइतिक्वचिःपाठः । चेतसोबुद्धेरनाशाय ॥ ५० ॥

(३) कुङ्कुमः । मूत्रपुरीषोत्सर्गमहनि सन्ध्ययोश्चोत्तराभिमुखोरात्रौ चेदक्षिणामुखःकुर्यात् । धरणीधरस्तु स्वस्थोऽनाशाय चेतसइति चतुर्थपादं पठित्वा चेतसोबुद्धेरनाशायेतित्याख्यातवान् । परंपरीयमाम्नायंहित्वा विद्वद्भिरादृतम् । पाठान्तरंयश्चयन्मुधेह धरणीधरः ॥ ५० ॥

(४) राघवानन्दः । उत्सर्गमलत्यागः ॥ ५० ॥

(५) नन्दनः । अनेन दिङ्नियमेन सूर्यादिज्योतिषामाभिमुख्यमस्मिन्कर्मणि निवार्यते ॥ ५० ॥

(६) रामचन्द्रः । सन्ध्ययोर्यथा दिवा उदङ्मुखः कुर्यात् ॥ ५० ॥

छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः ॥ यथासुखमुखः कुर्यात्प्राणबाधाजयेषु च ॥ ५१ ॥

(१) मेधातिथिः । छायाकुड्यकपाटादिभिः । सूर्यरश्मीनामावरणं । अन्धकारः मेघधूमिकास्वभानुरात्रिभूतो ज्योतिरन्तरायो यथासुखमुखमस्येति यथाहि प्रादुर्गुणं भवति तस्यामेवोच्चरेत् । यत्र दिग्भागोनज्ञायते अन्धकारे तत्रायं विधिः प्राणाबाधः प्राणपूजा भयचौरादिकृतं केचिदिमंश्लोकमस्मिन्ध्याये नाधीयते ॥ ५१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । छायायां गृहमेघादि छायायां अन्धकारे महान्धकारे प्राणाबाधे तदकरणे व्याध्युत्पन्नौ मुखनियमस्य वासंभवे एवंभये चौरादिभये एषु चतुर्षु रात्रावहनि च न मुखनियमोस्तोत्यर्थः ॥ ५१ ॥

(३) कुल्लूकः । रात्रौ छायायामन्धकारे वाऽहनि छायायां नीहाराद्यन्धकारे वा दिग्विशेषाज्ञाने सति चौरव्याघ्रादिकृतप्राणविनाशभयेषु च यथेप्सितमुखोमूत्रपुरीषे कुर्यात् ॥ ५१ ॥

(४) राघवानन्दः । छायायां छायोपजीववृक्षस्य । प्राणबाधे व्याघ्रादिकृतभये ॥ ५१ ॥

(५) नन्दनः । यत इदमाह छायायामिति । छायायां मूत्रपुरीषयोः कर्मवर्जयेदिति स्मृत्यन्तरे दर्शनात् । छायाशब्देन वर्जनीयो दुर्दिनपर्वतादिना महता व्यवधाने सूर्यस्य दिवा तिरोभावो विवक्षितः । अन्धकारशब्देन रात्रौ ज्योतिषाम् । कुर्यान्मूत्रोच्चारसमुत्सर्गमित्येव ॥ ५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । छायायां गृहमेघादि छायायां प्राणबाधभयेषु च यथासुखं कुर्यात् ॥ ५१ ॥

प्रत्यग्निप्रतिसूर्यं च प्रतिसोमोदकद्विजान् ॥ प्रतिगां प्रतिवातं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः ॥ ५२ ॥

(१) मेधातिथिः । अस्यार्थवादः । ननु चोदङ्मुखस्य मेहनविधानात् पूर्वस्यामुदयाच्च सूर्यस्य कुतस्तदाभिमुख्यं भवेद्येन प्रति सूर्यं निषिध्यते । अर्थवादोयं । नान्तरिक्षेन दिवीतिवत् । अथ वोदगयने उदीचीं दिशमाक्रमेत । स्यात्संभवः प्रकृतविषयो वा प्रतिषेधः । प्रतिसन्ध्यमिति पठन्ति तदयुक्तं सन्ध्ययोश्च यथादिवेत्यनुज्ञानाद्देगधारणस्यात्यन्तनिषिद्धत्वात् । तस्मात्प्रतिवातमिति पठितव्यं । पूर्वशेषोयं मेहतः शत्रुस्तस्तन्तोवामेहतः पुरुषस्य मेहनाद्वा ॥ ५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रत्यग्रीत्यादिना अभ्यादीनपृष्ठभागे कृत्वा मेहनं निषिद्धम् प्रत्यग्निअग्निप्रातिकूल्येन एवमुत्तरेषु । द्विजो ब्राह्मणः । प्रतिगु गां पृष्ठे कृत्वा । क्वचित्प्रतिसन्ध्यमिति पाठः । तत्र सन्ध्योदये पूर्वतोस्तमये पश्चिमे भवतीति व्यवस्थया व्याख्या ॥ ५२ ॥

(३) कुल्लूकः । वाय्वग्निविप्रमित्यनेन मेहतोऽग्न्यादीनां दर्शनं निषिद्धम् । अनेन त्वपश्यतोऽपि संमुखीनत्वं निषिध्यते । अग्निसूर्यचन्द्रजलब्राह्मणगोवाताभिमुखं मूत्रपुरीषे कुर्वतः प्रज्ञा नश्यति तस्मादेतन्नकर्तव्यम् । प्रतिवातमित्यस्य स्थाने प्रतिसन्ध्यमित्यन्ये पठन्ति ॥ ५२ ॥

(४) राघवानन्दः । वाय्वग्निविप्रेत्युक्तं वाय्वादिदर्शननिषेधानुवादेन तत्करणे दोषमाह प्रत्यग्निमिति । प्रतिरत्र लक्षणे । वातं नृणादिसहितं वात्यारूपं तस्यैव दृष्टियोग्यत्वात् एतान्भिमुखं कृत्वा मेहतो मूत्रपुरीषे समुत्सृजतः प्रज्ञानश्यतीत्यन्वयः । सोमोत्र लता ॥ ५२ ॥

(५) नन्दनः । एतदेव व्यतिरेकेणोपपादयति प्रत्यग्निमिति । अभ्यादीनामाभिमुख्ये कथितो दोषो न तेषां तिरोभाव इत्यभिप्रायः । मेहनमुच्चारस्याप्युपलक्षणम् ॥ ५२ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रतिगुं गोः अभिमुखं । प्रतिवातं वायोरभिमुखं । मेहतः भूत्रादि कुर्वतः । प्रज्ञा बुद्धिर्नश्यति ॥ ५२ ॥
नाग्निमुखेनोपधमेन्नग्नानिक्षेत च स्त्रियम् ॥ नामेध्यं प्रक्षिपेदग्नौ न च पादौ प्रतापयेत् ॥ ५३ ॥

(१) मेधातिथिः । धवित्रादिनाग्निर्धर्माव्यः । नग्नानिक्षेतस्त्रियम् अन्यत्रमैथुनादिति स्मृत्यन्तरं । नामेध्यं मेध्यो-
यज्ञस्तदर्थमेध्यं अमेध्यं यदयज्ञीयं पलाण्डुमूत्रपुरीषादि तन्नाग्नौ क्षिपेत् । उत्क्षिप्य साक्षादग्नौ न तापयेत् अवच्छाद्य तापयि-
त्वात्वेदाद्यर्थमग्नितापनमदोषः ॥ ५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मुखेन नलिकाद्यनन्तरितेन । न नग्नान्स्त्रियमीक्षेतान्यत्र मैथुनादिति गृह्यम् । अमेध्यं मललशु-
नादि ॥ ५३ ॥

(३) कुट्टूकः । नाग्निमुखेन धर्माव्यः किंतिर्हि व्यजनादिना । न नग्नान्स्त्रियमीक्षेत मैथुनादन्यत्रेति सांख्यायनदर्श-
नान्मैथुनव्यतिरेकेण नग्नान्स्त्रियं पश्येत् । अमेध्यं मूत्रपुरीषादिकं नाग्नौ क्षिपेत् । न च पादौ प्रतापयेत् । प्रशब्दादग्नौ पादावु-
त्क्षिप्य साक्षान् प्रतापयेत् । वस्त्रादितापस्वेदेऽविरोधः ॥ ५३ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रत्यग्निमिति प्रसंगेनाग्निविषये नियमान्तराण्याह नाग्निमिति द्वाभ्यां । व्यजनादिना धर्माव्यो लौ-
किकाग्निः वैदिकाग्निस्तु मुखेनैवेत्यर्थः । स्त्रियमिति । तत्रापि मैथुनादन्यत्रेति साङ्ख्यायनगृह्यदर्शनात्तदतिरिक्तकाले ॥ ५३ ॥

(५) नन्दनः । अग्निलौकिकाग्निश्चैताग्निश्चोपधमेत् । मुखाद्देशोऽभिजायत इति वचनात् । स्त्रियं स्वभार्या परभार्या च ।
अमेध्यमशुद्धं वस्तु ॥ ५३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अथाग्निविधिमाह नाग्निमिति । मुखेन नलिकाद्यमृते अग्निं न धमेत् अग्नौ पादौ न प्रतापयेत् ॥ ५३ ॥

अधस्तान्नोपदध्याच्च न चैनमजिलङ्घयेत् ॥ न चैनं पादतः कुर्यान्न प्राणाबाधमाचरेत् ॥ ५४ ॥

(१) मेधातिथिः । खट्वास्थः अधस्तावद्वन्निधानीन कुर्यात् । उपधानं स्थानं अवलङ्घनमुत्प्लुत्य गमनं । पादतः-
अप्लुतस्य पादौ येन कुर्यात्प्राणाबाधं प्राणपीडाकरमतिश्रमवेगागमनादिनाचरेत् ॥ ५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अधस्तात् खारुढखट्वादेः नोपदध्यादग्निं अवलङ्घयेदधः कृत्वा लङ्घयेत् । प्राणाबाधरोगादि
हेतुमत्यन्तायासादि ॥ ५४ ॥

(३) कुट्टूकः । खट्वादिभ्योऽधस्तादङ्कारशकल्यादिकेन कुर्यात् । न चाग्निमुत्प्लुत्य गच्छेत् । न च सुप्तः पाददेशेऽग्निं-
स्थापयेत् न च प्राणपीडाकरं कर्म कुर्यात् ॥ ५४ ॥

(४) राघवानन्दः । अधः खट्वादेः नोपदध्यान् स्थापयेत् । पादतः पाददेशे । प्राणाबाधं प्राणिहिंसां न कुर्यात् ।
न हि स्यात्सर्वाभूतान्यन्यत्रतीर्थेभ्य इति श्रुतेः अग्निसाध्यं प्राणिवधं वा प्रकरणात् ॥ ५४ ॥

(५) नन्दनः । पादतः पादप्रसारणापदेशेन । न प्राणाबाधमाचरेदात्मनः परस्य च पीडां न कुर्यात् ॥ ५४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अधस्तान्नोपदध्यात् पृष्ठस्याधस्तान्नाग्निदध्यात् । एनं अग्निं न लङ्घयेत् । अग्निं पादतः पा-
दस्याधस्तान् कुर्यात् न प्राणबाधमाचरेत् रोगादिहेतुभूतप्राणबाधं नाचरेत् ॥ ५४ ॥

नाश्रीयात्संधिवेलायां न गच्छेन्नापि संविशेत् ॥ न चैव प्रलिखेद्भूर्मि नात्मनोपहरेत्स्वजम् ॥ ५५ ॥

(१) मेधातिथिः । सन्ध्याकालः सन्धिवेला संवेशनं स्वापः स्वाध्यायनिषेत्स्यति स्मृत्यन्तरेस्त्रीसंबन्धोपि प्रतिषि-

द्धः । चत्वार्यैवतुकर्माणिसन्ध्याकालेतुवर्जयेत् । आहारमैथुननिद्रांतथासंपाठमेवच ॥ नचैवप्रलिखेत्प्रकर्षणलेखनंविदारण-
भूमेर्निषिध्यते । नतुवर्तिकादिनाक्षरविन्धासः नात्मनोपहरेत्सजं ग्रथितानिपुष्पाणिसक् तां स्वयंकणेशिरसिवा प्रधृतां
म्लानतयागुरुत्वेनवात्मनोनव्यपनयेत् । अर्थादन्येनापनयेदित्युक्तंभवति । सर्वेष्वप्यसन्ध्यायांविधिरितिकेचित् ॥ ५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सन्धिःसन्ध्या । गच्छेदध्वानं । संविशेत् शयीत सन्ध्यायां । प्रलिखेदुत्तिकरेत् नान्यदपि
अपहरेत्अपनयेत् आत्मनःशिरस्तःसजम् ॥ ५५ ॥

(३) कुल्लूकः । सन्ध्याकाले भोजनंग्रामान्तरगमनंनिद्रांच न कुर्यात् । नच रेखादिना भूमिमुल्लिखेत् । नच मालां-
धृतांस्वयमेवापनयेत् अर्थादन्येनापनयेदित्युक्तम् ॥ ५५ ॥

(४) राघवानन्दः । भोजनादिनिषिद्धकालमाह । सन्धिवेलायां त्रिसन्ध्यादौ न गच्छेत् स्त्रियमपि नसंविशेन्मत्स्यपे-
न्नापहरेत् स्वयमितिशेषः ॥ ५५ ॥

(५) नन्दनः । नात्मनोपहरेत्सजमात्मार्थेसजंमालांस्वयंनहरेत् ॥ ५५ ॥

(६) रामचन्द्रः । सन्धिवेलायां सन्ध्यायां नाश्रीयात् । न भोजनं कुर्यात् सन्ध्यायां न गच्छेत् सन्ध्यायां सं-
विशेत् । भूमिं पादनखेन नालिखेत् । आत्मनाशिरसः सजंनोपहरेत् ॥ ५५ ॥

नाप्सु मूत्रं पुरीषंवा शीवनं वा समुत्सृजेत् ॥ अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा ॥ ५६ ॥

(१) मेधातिथिः । लोहितंरुधिरं विषाणीतिबहुवचनं रुत्रिमारुत्रिमभेदेनस्थावरजङ्गमभेदेनरागादिप्रकारभेदेन
वा ॥ ५६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अमेध्यैर्विषादिभिर्लिप्तं काष्ठादि अन्यद्वालशुनादि । लोहितपदंमलान्तरलक्षणम् । विषा-
णि परैर्जलस्योदपानार्थम् ॥ ५६ ॥

(३) कुल्लूकः । मूत्रपुरीषंश्लेष्माणंमूत्राद्यमेध्यलिप्तमन्यद्वा भुक्तोच्छिष्टाद्यमेध्यंरुधिरंविषाणि च रुत्रिमारुत्रिम-
भेदभिन्नानि न जले प्रक्षिपेत् ॥ ५६ ॥

(४) राघवानन्दः । आपो वै सर्वादेवताइतिश्रुतेस्तामाश्रित्याप्सुमूत्रादिसमर्कनकार्यमित्याह नेति । निशीवनं मुखरसं
श्लेष्माणंवा अमेध्यलिप्तं वस्त्रादि अन्यत् भुक्तोच्छिष्टादि ॥ ५६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अप्सु जलमध्ये मूत्रादिकंन समुत्सृजेत् । अमेध्यंविषादिलिप्तंलोहितं रुधिरं विषाणि वा
अप्सु नक्षिपेत् ॥ ५६ ॥

नैकः सुप्याच्छून्यगेहे श्रेयांसं न प्रबोधयेत् ॥ नोदक्ययाभिभाषेत यज्ञं गच्छेन् चारुतः ॥ ५७ ॥

[एकः स्वादु न भुञ्जीत स्वार्थमेकोन चिन्तयेत् ॥ एकोन गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृत्यात् ॥ १ ॥] +

(१) मेधातिथिः । शून्यंगृह्यत्रनकश्चित्प्रतिवसति । नश्रेयांसंकनीयान्वृत्तादिभिर्ज्येष्ठमिदंतेयुक्तमिदमयुक्तमितिहेतू-
पदेशादिना नप्रेबाधयेत् । उदक्यारजस्वलातयासहसंभाषणंनकुर्यात् । यज्ञंगच्छेन्चारुतः यज्ञभूमिमनिमन्त्रितो नगच्छेद्-
र्शनायतुकाममितिगौतमः । अतोयज्ञभोजनादिप्रतिषेधोऽयमवृत्तस्य ॥ ५७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्रेयांसंस्वतोऽप्येष्टनिद्राणं बोधयेत् । शयानमतिक्रिन्वाठः । तत्र यंकंचिन्निद्राणमित्यर्थः । अवृतोयजमानेनानासन्नितः प्रसर्पकदक्षिणादिलोभेन न गच्छेत् । अत्र धर्मदर्शनाय तु कामं गच्छेदिति गौतमः ॥ ५७ ॥

(३) कुङ्कुमः । उत्सन्नजनवासगेहे नैकः शयीत वित्तविद्यादिभिरधिकं सुप्तं प्रबोधयेत् । रजस्वल्या संभाषणं कुर्यात् । यज्ञचारुतवरणोऽनृत्विङ्ग गच्छेत् दर्शनायेच्छयागच्छेत् । दर्शनार्थकाममिति गौतमवचनात् ॥ ५७ ॥

(४) राघवानन्दः । दुर्भिक्ष्यं हास्मै भवति यमेष न प्रतिपद्यत इति श्रुतेः यमिति यमिन्द्रियदेशं प्रतिपद्यत आत्मा तदु-
श्रिक्लित्संभवतीति श्रुतेरर्थोतः शयानं न प्रबोधयेत् मृत्वद्वाससा न संवदेदिति श्रुतिमाश्रित्याह नोदक्ययेति उदक्यया
रजस्वल्या ऋत्विक् सन् अवृतोऽनाहृतः अध्वरं न गच्छेत् ॥ ५७ ॥

(५) नन्दनः । श्रेयांसं पूज्यं सुप्तमनापि न प्रबोधयेत् । न यज्ञमप्रयतोऽज्ञेत् आर्त्विज्यमकरिष्यन्नवृतो यज्ञशालां न गच्छेत् ॥ ५७ ॥

(६) रामचन्द्रः । शयानं श्रेयांसं श्रेष्ठं वयोधिकं न प्रबोधयेत् उदक्यया रजस्वल्या नाभिभाषेत । आवृतः
बहुवस्त्राणि परिधाय यज्ञं न गच्छेत् ॥ ५७ ॥

अभ्यगारे गवां गोष्ठे ब्राह्मणानां च सन्निधौ ॥ स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ॥ ५८ ॥

(१) मेधातिथिः । गोष्ठशब्दोऽयं निवासवचनः समासप्रतिरूपकालः शब्दान्तरं ब्राह्मणानामिति बहुवचनं विवक्षितं । पा-
णिग्रहणं बाहुपलक्षणार्थं । भोजने आत्मकर्तृके ॥ ५८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गवां गोष्ठेति गोष्ठपदस्य समुदायमात्रार्थतामभिप्रेत्य गवामिति विशेषणम् । उद्धरेत् उत्तरी
याद्वहिः पाणिहस्तं कुर्यात् ॥ ५८ ॥

(३) कुङ्कुमः । अग्निगृहे गवां निवासे ब्राह्मणानां गवांसमीपे स्वाध्यायभोजनकालयोश्च दक्षिणपाणिं सबाहुं वासस-
उद्धरेद्वहिष्कुर्यात् ॥ ५८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचाश्रीति । अग्न्यागारादिपञ्चसु पाणिमुद्धरेत् वस्त्रादेर्बहिष्कुर्यात् ॥ ५८ ॥

(५) नन्दनः । दक्षिणं बाहुमुद्धरेद्यज्ञोपवीती स्यादित्यर्थः । दक्षिणं बाहुमुद्धरते वधत्ते सव्यमिति यज्ञोपवीतमिति
हि श्रूयते ॥ ५८ ॥

(६) रामचन्द्रः । अग्न्यागारादिस्थाने दक्षिणपाणिं उत्तरीयाद्वहिः उद्धरेत् ॥ ५८ ॥

न वारयेद्वां धयन्तीं न चाचक्षीत कस्यचित् ॥ न दिवीन्द्रायुधं दृष्ट्वा कस्यचिद्दर्शयेद्बुधः ॥ ५९ ॥

(१) मेधातिथिः । गामात्मीयां परकीयां वापि वन्तीं मपः पयोवानवारयेत् । न चान्यस्मै कथयेत् । प्राग्दोहकालादयं
विधिः । दोहकाले तु प्रसवणीं विहितं । स्त्रीलिङ्गनिर्देशात् पुंस्त्वनिवारणेन निषेधः । इन्द्रायुधं शक्रधनुर्विज्ञानच्छायेति याका
स्मरिषुकथ्यते । दिवोत्यनुवादः । केचित्तु पर्वतादिस्थस्य दर्शनेन दोष इत्याहुस्तदर्थं दिवीति ॥ ५९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गां धयन्तीं जलपिबन्तीम् ॥ ५९ ॥

(३) कुङ्कुमः । गां जलक्षीरं वा पिबन्तीं निवारयेत् दोहानार्थवारणादन्यत्र निषेधः । नापि परकीयक्षीरादि पिब-
न्तीतस्य कथयेत् । न चेन्द्रधनुराकाशे दृष्ट्वा निषिद्धदर्शनदोषज्ञः कस्यचिद्दर्शयेत् ॥ ५९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच नेति । धयन्तीं वत्सं पाययन्तीं नाचक्षीत न कथयेत् । इन्द्रायुधं शक्रधनुः दिवीति व्यर्थ
म् ॥ ५९ ॥

(५) नन्दनः । धयन्तीपिवन्तीजलंस्तन्यं च दिवीतिविशेषणाज्जले न दोषइतिसूचितम् ॥ ५९ ॥

(६) रामचन्द्रः । धयन्तीपिवन्तीगां न निवारयेत् न चाचक्षीत न प्रकथयेत् ॥ ५९ ॥

नाधार्मिके वसेद्ग्रामे न व्याधिबहुले भृशम् ॥ नैकः प्रपद्येताध्वानं न चिरं पर्वते वसेत् ॥ ६० ॥

(१) मेधातिथिः । अधार्मिकाः पातकोपपातकिनोयत्रबाहुल्येन वसन्ति सग्रामस्तत्संबन्धाधार्मिकइत्युच्यते तन्नवसेत् । ग्रामग्रहणनिवासदेशोपलक्षणार्थः । तेननगरेपिप्रतिषेधः । व्याधिबहुलोऽनूपोदेशो व्याधिबहुलेजाङ्गलदेशे नवसेत् । यत्रदैवदोषाद्याधयः प्रवृत्तास्तदेशंत्यजेत् । एकः असहायोनाध्वानंप्रपद्येत ॥ ६० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अधार्मिके धर्मविरोधिनि कलिङ्गादिदेशमध्ये । प्रपद्येत संचरेत् ॥ ६० ॥

(३) कुड्मूकः । अधार्मिकइत्यनेन यत्राधार्मिकावसन्ति न तत्र वासोयुक्तः । यत्रवा निन्दितदुश्चिकित्सितव्याधिपीडिताबह्वोजनास्तत्र भृशमत्यर्थवासोन युक्तः । पन्थानमेकः कदापि न गच्छेत् पर्वतेच दीर्घकालं नवसेत् ॥ ६० ॥

(४) राघवानन्दः । नजनमियान्त्वान्तमियादिति श्रुतिमाश्रित्याह नाधार्मिकइतिद्वाभ्यां । ग्रामइति वसतियोग्यपरं कार्यवशाद्याधिबहुले भृशं बहुकालम् ॥ ६० ॥

(६) रामचन्द्रः । अधार्मिके देशेअङ्गवङ्गादिदेशे न वसेत् ॥ ६० ॥

न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते ॥ न पाषण्डिगणाक्रान्ते नोपसृष्टेऽन्यजैर्नृभिः ॥ ६१ ॥

(१) मेधातिथिः । नृपतिजनपदैश्वर्यराज्यं । योजनपदः शूद्रवशवर्तीतन्नवसेत् । मन्त्रिसंनपतिदण्डकारिकाद्याः समप्रकृतयोराज्यं यत्रसर्वाःशूद्रजातीयाः तन्ननिवासनिषेधोयं । ननुचनाधार्मिकेवसेदित्यनेनैवतत्सिद्धमधार्मिकजनावृतइति नैषदोषःपूर्वप्रतिषेधोयत्रतेनिवसन्ति । अयंपुनरन्यत्रापिनिवसतोऽन्यत्रसन्निहितायदिभवन्तितथापितत्रप्रदेशेनवसितव्यं । तथाचावृतग्रहणमत्रयःप्रदेशएतैरावृतोनतत्रस्थातव्यं । एवंपाषण्डिजनैर्यथाक्रान्तोदेशः यद्यप्यधार्मिकास्तेवेदबाह्यत्वात्तथापितेषांधर्मबुद्धिरितिभेदेननिर्देशः । अन्यैरुपसृष्टेसंबद्धे अथवा उपतप्तउपसृष्टेयथावाहीकामेच्छैः ॥ ६१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अधार्मिकजनैःपतितादिभिरावृते । उपसृष्टेसंमिश्रिते ॥ ६१ ॥

(३) कुड्मूकः । यत्र देशे शूद्रोराजा तत्र न वसेत् । अधार्मिकजनैश्च बाह्यतः परिवृते ग्रामादौ न वसेदित्यपुनरुक्तिः । पाषण्डिभिश्च वेदबाह्यलिङ्गधारिभिर्वशीकृते चाण्डालादिभिश्चान्त्यजैरुपद्रुते न वसेत् ॥ ६१ ॥

(४) राघवानन्दः । अधार्मिकाश्चण्डालाद्यास्तैर्बाह्याभ्यन्तरतः सर्वदावृते । पाषण्डावैदिकव्रतस्थास्तैराक्रान्ते तत्रधर्मस्यकर्तुमशक्यत्वात् । उपसृष्टमन्तरान्तरा प्रवेशोऽन्त्यजकृतोयत्र तस्मिन् न जनमधार्मिकमियात् नान्तैराक्रान्तं देशंच नेयान्गच्छेदिति श्रुतेरर्थः ॥ ६१ ॥

(५) नन्दनः । क्षत्रियराज्येऽपिनाधार्मिकजनावृते । उपसृष्टे आवासिते उपद्रुते वा ॥ ६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । पाषण्डिजनैराक्रान्तं आकीर्णं न वसेत् । अन्यजैर्नृभिः सह उपसृष्टे मिलिते न वसेत् ॥ ६१ ॥

न भुञ्जीतोद्धृतस्नेहं नातिसौहित्यमाचरेत् ॥ नातिप्रगे नातिसायं न सायं प्रातराशितः ॥ ६२ ॥

(१) मेधातिथिः । उपनीतःस्नेहोयस्यसनाशितव्यः पिण्याक्यूषमांसानितस्यक्रतुपर्युषितानांपयोविकाराणांप्रतिप्र-

(६२) नसायंप्रातराशितः=नातिमर्ष्यादिनेस्थिते (ख)

सर्वकरिष्यति । तत्रकिलाद्यपेक्षयैवबहुवचनं साक्षाद्विकारोद्दिश्येव । तन्मात्रप्रसवेभिप्रेतेदधियहणमेवाकरिष्यत् । तेनाविधानार्थः नहिदध्नः पर्युषितत्वमस्तितस्मादुदश्वित्तत्रकिलादिकानांपयोविकाराणानांयप्रतिषेधः । नातिसौहित्यंनृभिर्नकुर्यात् । तत्रकुक्षेर्भागः । एकोह्यन्नस्यअपरोहिद्रुतस्योदकादेः अपरोदोषसंचरणार्थइत्येवंभोक्तव्यमिति नतत्कार्यं । अतिप्रगे प्राणहेप्रथमोदितएवसूर्येनभुञ्जीत । प्रहरेअतीतेरुशानांपूर्वाह्नेइतरेषांमध्याह्ने । नातिसायं अस्तमयसमयेभुञ्जीत । नसायंभुञ्जन्प्रातराशितस्तृप्तस्तस्मात्साकांक्षमशितव्यंकालद्वयेपि । तदुक्तं सायंप्रातर्मनुष्याणामशनदेवनिर्मितमिति । यदितुप्रातस्तृप्तःस्यात्सायंनभुञ्जीत अथवैवंध्याख्यायते नसायंप्रातराशितःस्यात्उभयोरन्नकालयोर्नतृष्येत् । तथाचयाज्ञवल्क्यः सायमीषद्भोजनमाह ॥ ६२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उद्धृतस्नेहंपिण्याकादि तत्रेतु वचनाददोषः । अतिसौहित्यमत्यशनं । नातिप्रगेनातिप्रातः सङ्गवे नातिसायमस्तमयानन्तरं । यदि प्रातराशितोभुक्तवांस्तदा नसायं सायमेव भुञ्जीत ॥ ६२ ॥

(३) कुड्मूकः । उद्धृतस्नेहंपिण्याकादि न भुञ्जीत । अतिनृमिवारद्वयेऽपि न कुर्यात् । जठरंपूरयेदर्धमन्नैर्भागजलेन च । वायोः संचरणार्थंतु चतुर्थमवशेषयेदित्यादिविष्णुपुराणवचनात् । सूर्योदयकाले सूर्यास्तमये भोजनं न कुर्यात् । प्रातराशितोऽतितृप्तःसायंन भुञ्जीत ॥ ६२ ॥

(४) राघवानन्दः । भोजनस्यापि रागप्राप्तत्वेन तदाश्रित्य तद्विशेषनिषेधति न भुञ्जीतेति । उद्धृतस्नेहं तिलपिण्याकादि । सौहित्यं सुहिततामतीवसिग्धताम् । जठरंपूरयेदर्धमन्नैर्भागजलेनतु । वायोःसंचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेदितिपुराणोक्तेः । प्रगे प्रातः प्रातराशितः अतितृप्तः सायंन भुञ्जीत ॥ ६२ ॥

(५) नन्दनः । उद्धृतस्नेहंपिण्याकादि । अतिसौहित्यमत्यन्तसंपन्नभोजनम् । अतिप्रगेऽपररात्रे । अतिसायंअर्धरात्रे । नसायंप्रातराशितोरात्रावन्हि वा द्विर्न भुञ्जीतेत्यर्थः ॥ ६२ ॥

(६) रामचन्द्रः । उद्धृतस्नेहंउद्धृतसारंन भुञ्जीत । अतिसौहित्यं अत्यशनं नाचरेत् । अतिप्रगे सङ्गवे न भुञ्जीत नातिसायं नक्षत्रदर्शनपर्यन्तं न भुञ्जीत । प्रातर्भुक्तानसायं भुञ्जीत । सायंकालादनन्तरं भुञ्जीतेत्यर्थः ॥ ६२ ॥

न कुर्वीत वृथाचेष्टां न वार्यञ्जलिना पिबेत् ॥ नोत्सङ्गे भक्षयेद्भक्ष्यान्न जातु स्यात्कुतूहली ॥ ६३ ॥

(१) मेधातिथिः । वृथाचेष्टादृष्टादृष्टयोर्व्यापारयोरनुपकारः । यथाइतरदेशादिवार्तापरत्वं । संहतौपाणीअञ्जलिः तेनोदकंनपिबेत् । वारियहणात्क्षीरादीनामप्रतिषेधः । न उत्सङ्गेभक्ष्याधानाशक्कुल्यादयस्तानुत्सङ्गैर्ऊर्वोरुपरिभक्षयेत् । भक्ष्यग्रहणात्फलानामपिप्रतिषेधः । सक्तोदनादेस्तुनिरुपसेचनीयस्यानदनीयत्वादुत्सङ्गेप्राप्तिरेवनास्ति । कुतूहलं असतिप्रयोजनेकिमेतत्स्यादितिनिश्चयेअत्यर्थमुत्कलिका नजातु कदाचित् ॥ ६३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वृथाचेष्टांवृथाटनादि । उत्सङ्गेउत्सङ्गस्थान् । कुतूहली सर्वत्राश्चर्यं प्रत्ययवान् ॥ ६३ ॥

(३) कुड्मूकः । दृष्टादृष्टार्थशून्यंव्यापारंन कुर्यात् । अञ्जलिना च जलंन पिबेत् ऊर्वोरुपरि विन्यस्य मोदकादीन् भक्षयेत् । असति प्रयोजने किमेतदितिजिज्ञासा कुतूहलं तन्नकदाचित् कुर्यात् ॥ ६३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच नेति । वृथा दृष्टादृष्टादिशून्यां सरट्दन्तान्वेषणादिवद्राजादिजिज्ञासया कुतूहली न स्यात् । उत्सङ्गे क्रोडे स्थापयित्वेति ॥ ६३ ॥

(५) नन्दनः । उत्सङ्गे निधायेतिशेषः । ६३ ॥

(६) रामचन्द्रः । वृथाचेष्टादृष्टादृष्टयोः व्यापारयोरनुपकारः न कुर्वीत । जातु कदाचिदपि कुतूहली परिहासी न भवेत् ॥ ६३ ॥

न नृत्येदथवा गायेन् वादित्राणि वादयेत् ॥ नास्फोटयेन् च क्ष्वेडेन् च रक्तोविरावयेत् ॥ ६४ ॥

(१) मेधातिथिः । नर्तनंगात्रविक्षेपविशेषः लोकप्रसिद्ध एव गायनं षड्जादिस्वरतः शब्दस्य करणं । लौकिकस्य चायं प्रतिषेधो न वैदिकस्य विहितत्वात् । वादित्राणि वीणावंशमृदङ्गादीनि तेषां स्वयं कर्तृकं वादनं प्रतिषिध्यते । वादकैस्तु वाद्यमानानां मयं प्रतिषेधो न । नहि ण्यन्तादयं गिजन्त इति प्रमाणमस्ति । आस्फोटनं करमर्दास्फोटनादि पाणिना भूमौ बहु निर्घातः स शब्दः क्ष्वेडेति । अव्यक्तदन्तैः शब्दकरणं क्ष्वेडनिकेति प्रसिद्धा । वल्गनं अन्योरागीपरितुष्टो न विरोधयेत् । विरोधं न कुर्यात् । पीडिते न निषेधः घञन्ताणि च कर्तव्यः ॥ ६४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आस्फोटयेदं सताडनेन शब्दं कुर्यात् । क्ष्वेडेत् सिंहनादनं कुर्यात् । रक्तोरागोद्रेकात् विरावयेत् विकृतं शब्दं कुर्यात् । त्वार्थे णिच् । रक्तोपि रागयेदिति क्वचित्पाठः । तत्र स्वयं यत्र रक्तस्तत्रान्यमपि रागिणं कुर्यादित्यर्थः ॥ ६४ ॥

(३) कुल्लूकः । अशस्त्रीयाणि नृत्यगीतवाद्यानि नाचरेत् । पाणिना बाहौ ध्वनिरूपमास्फोटनं कुर्यात् अव्यक्तदन्तशब्दात्मकं क्ष्वेडनं कुर्यात् । न च सानुरागो रासभादि रावंकुर्यात् ॥ ६४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच शास्त्राप्रतिपादितानि नृत्यादीनि नाचरेदित्याह न नृत्येदिति । पाणिना बाहुपर्वणि स्फोटनं क्ष्वेडनं अव्यक्तदन्तशब्दात्मकं विषादिभिर्वाक्रीडातन् कुर्यादित्यर्थः । विरावोत्र रासभादिशब्दस्तं न कुर्यादित्यर्थः ॥ ६४ ॥

(५) नन्दनः । स्फोटोऽङ्गुलिपर्वभङ्गजातः शब्दः । क्ष्वेडोऽङ्गुल्यास्यसंयोगजातः । संरक्तोपिकामपरवशोऽपि मैथुनादिषु न रावयेन् कपोतकूजितादिशब्दं कुर्यात् ॥ ६४ ॥

(६) रामचन्द्रः । च पुनः न क्ष्वेडेत् अव्यक्त शब्दकरणं ऋडित् । च पुनः रक्तः स्त्रिया सह विकृतशब्दं न रावयेत् ॥ ६४ ॥

न पादौ धावयेत्कांस्ये कदाचिदपि भाजने ॥ न भिन्नभाण्डे भुञ्जीत न भावप्रतिदूषिते ॥ ६५ ॥

(१) मेधातिथिः । कांस्ये भाजने पादौ न प्रक्षालयेत् । भिन्नभाण्डे एकदेशभिन्नेपि सर्वभिन्नेष्वर्थतएव प्रतिषेधः । पत्रपुटकादीनां तु भिन्नभाण्डाव्यवहारात् छिद्रितानामपि न दोषः । भावः अन्तर्हृदयाभिप्रायः यत्र मनो न परितुष्यति । शब्ददुष्टे वा एतदृहादौ तत्रापि नैवं भावप्रसादो भवति ॥ ६५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कांस्ये कांस्यमये पात्रे भिन्नभाण्डे कांस्ये मार्तिके दारवे वा । भावतो दूषिते दुष्टत्वशङ्कास्पदे ॥ ६५ ॥

(३) कुल्लूकः । कांस्यपात्रे कदाचित्पादौ न प्रक्षालयेत् ताभ्ररजतसुवर्णानां भिन्नमभिन्नं वेति न दोष इति पैठीनसिवचनादेतदतिरिक्तं भिन्नभाण्डे न भोजनं कुर्यात् । यत्र मनो विचिकित्सति तद्भावदुष्टं न तत्र भुञ्जीत ॥ ६५ ॥

(४) राघवानन्दः । धावयेत्प्रक्षालयेत् भाजने भोजनपात्र इति स्वतन्त्रं वा । ताभ्ररजतसुवर्णानां भिन्नमभिन्नं वेति न दोष इति पैठीनसिवचनादतिरिक्तं परं भिन्नभाण्ड इति । यत्र मनो विचिकित्सति तद्भावदुष्टं तत्रापि नाद्यात् ॥ ६५ ॥

(६४) विरावयेत्=विरोधयेत् (मे०)

(६) नन्दनः । भावप्रतिदूषितेऽदृष्टे भाण्डे ॥ ६५ ॥

(६) रामचन्द्रः । भिन्नभाण्डे स्फुटितकांस्यभाजने न भुञ्जीत । भावप्रतिदूषिते भाण्डे न भुञ्जीत ॥ ६५ ॥

उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत् ॥ उपवीतमलङ्कारं स्रजं करकमेव च ॥ ६६ ॥

(१) मेधातिथिः । पित्रादिभ्योऽन्यैर्धृतं न धारयेत् । निर्णिज्याशक्ताविति गौतमः । करकः कमण्डलुस्तस्य पित्रादिषु तस्यापिधारणसमाचारविरुद्धं संबन्धिरूपोऽसाविष्यते । यस्यैव संबन्धितस्यैव शुचिर्नान्यस्य । अलङ्कारोदन्तवल्यादिः करकादिभिरल्पाभैः साहचर्यात् । मणिमुक्तादेस्तु न निषेध इति केचित् ॥ ६६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । करकं मृत्कमण्डलुं । धृतं परिगृहीतम् ॥ ६६ ॥

(३) कुल्लूकः । उपानहस्रयज्ञोपवीतालङ्कारपुष्पमालाकमण्डलून्परोपभुक्तान् धारयेत् ॥ ६६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचोपेति । करकं कमण्डलुं जायापत्यं कमण्डलुरिति स्मृतेः । उपवीतादिष्वप्यन्यैः धृतमुपभुक्तं न धारयेदित्यर्थः ॥ ६६ ॥

(५) नन्दनः । करकं कमण्डलुम् ॥ ६६ ॥

(६) रामचन्द्रः । च पुनः करकमेव अन्यस्य जलपात्रं न धारयेत् ॥ ६६ ॥

नाविनीतैर्ब्रजेदुर्यैनं च क्षुद्याधिपीडितैः ॥ न भिन्नशृङ्गाक्षिखुरैर्न वालधिविरूपितैः ॥ ६७ ॥

(१) मेधातिथिः । अविनीता अदान्तागावोश्वाश्चतुरादयः । धुर्याधुरं वहन्ति युज्यन्ते । गच्छयादेरुपलक्षणं च ग्रहणं अनियुक्तैरपि धुरिकेवलैरदान्तैः । अविनीता अदान्ताः गमनं नेष्यते । भिन्नं भग्नं शृङ्गं अनडुहः तस्यैव शृङ्गसंभवो नाश्वादेर्वालिधः पुच्छस्तेन विरूपिताः छिन्नपुच्छादयः तादृशेन नयायात् । आरोग्यमेव स्मृत्यन्तरे प्रसिद्धम् ॥ ६७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धुर्यैः शकटादिवाहकैः । गवादिभिरविनीतैः रदान्तैः क्षुत्पीडितैर्व्याधिपीडितैश्च वालधिभिः पुच्छैः विरूपितैश्छेदादिना ॥ ६७ ॥

(३) कुल्लूकः । अश्वगजादिभिर्वाहनैरदमितैः क्षुधा व्याधिना च पीडितैर्भिन्नशृङ्गाक्षिखुरैश्छिन्नवालधिभिश्च न यायात् ॥ ६७ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यत् । धुर्यैरश्वादिभिरदमितैर्न गच्छेत् । वालधिविरूपितैः वालधिः पुच्छं तच्छून्यैः ॥ ६७ ॥

(५) नन्दनः । धुर्यैर्बलीवर्दादिभिस्तद्युक्तैर्वा यानैः क्षुद्याधिपीडितैः क्षुत्पीडितैर्व्याधिपीडितैर्वा । वालधिविरूपितैश्छिन्नवालधिभिरित्यर्थः ॥ ६७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अविनीतैः धुर्यैः अश्वैर्वा वृषैर्वा न ब्रजेत् । च पुनः क्षुद्याधिपीडितैः न ब्रजेत् ॥ ६७ ॥

विनीतैस्तु ब्रजेन्नित्यमाशुर्गलक्षणान्वितैः ॥ वर्णरूपोपसंपन्नैः प्रतोदेनातुदन्भृशम् ॥ ६८ ॥

(१) मेधातिथिः । दृष्यमाना अपिकेचिद्दिनयनसंगृह्णन्ति तदर्थमाह विनीतैरिति । सशिक्षितैराशुगैः क्षिप्रगामिभिरलक्षणान्वितैः प्रशस्तावर्तादियुक्तैर्न शून्यमस्तकादिभिर्वर्णरूपयुक्तैः शोभनेन वर्णेन कर्णशोभादिनारूपेण संस्थानविशेषेण शोभनत्वं च लक्षणविद्यातो ज्ञातव्यं । भृशमक्षिपन् अपीडयन् पुनः पुनः प्रतोदेन अङ्कुशादिना अत्यन्तं उद्वेक्ष्यमाणा विघटयन्ति ॥ ६८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वर्णोऽस्वादिशास्त्रेकथितः शुक्लादिः । एवंपरुषमाकारभेदः । भृशमतिशयेनातुदन्व्यथ-
यन् ॥ ६८ ॥

(३) कुल्लूकः । दमितैः शीघ्रगामिभिः शुभसूचकलक्षणोपेतैः शोभनवर्णैर्मनोज्ञाकृतिभिः प्रतोदेनात्यर्थमपीडयन्ग-
च्छेत् ॥ ६८ ॥

(४) राघवानन्दः । योग्यानाह विनीतैरिति । लक्षणान्वितैः लक्षणानि वाहगुणाः । शीघ्रगैः । प्रतोदेन सूक्ष्मलो-
हाघदण्डेन तुदन् व्यथयन् ॥ ६८ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रतोदेन प्रतुदन् आशुगैः । शीघ्रगैरित्यर्थः ॥ ६८ ॥

बालातपः प्रेतधूमोवर्ज्यं जिह्नं तथासनम् ॥ न छिन्द्यान्खलोमानि दन्तैर्नोत्पाटयेन्खान् ॥ ६९ ॥

[श्रीकामोवर्जये नित्यं मृन्मये चैव भोजनम् ॥[†]]

(१) मेधातिथिः । प्रथमोदितेसवितरिमुहूर्तत्रयंबालातपव्यपदेशः । प्रेतधूमोदह्यमानस्यशवस्ययः । आसनंजिह्नं-
छिद्रितंभग्नं एतद्वर्ज्यं । नखानिरोमाणिचनच्छिन्द्यात्स्वयंव्यसनेन अतिप्रवृद्धानितुनापितेनकारयेत् । दन्तैश्चनखानोत्पाटये-
त्प्रवृद्धानपि । अन्येत्वेवमभिसंबध्नन्ति । नछिन्द्यान्खरोमाणिदन्तैरिति । नखांश्चदन्तेनापिनपातयेत् । नखभङ्गेयोजनासु-
हिकामिन्योनानानखानदारयन्ति ॥ ६९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बालातपः सङ्खवकालातपः । शरदि पुनःसंशुक्षणादादित्यस्य बाल्यं तदातपोबालातपइत्य-
न्ये । न छिन्द्यात्स्वयम् ॥ ६९ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रथमोदितादित्यतापोबालातपःसच मुहूर्तत्रयंयावदितिमेधातिथिः कन्यार्कातपइत्यन्ये । प्रेतधू-
मोदह्यमानशवधूमः । भयासनंच एतानि वर्जनोयानि । नखानि च रोमाणि च प्रवृद्धानि न छिन्द्यादन्तैश्च नखानोत्पा-
टयेत् ॥ ६९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचैतान्वर्जयेदित्याह बालेति । बाला कन्याराशिः तत्रत्यातपः । शरद्रौद्रनगृहीयादिति स्मृतेः ।
मुहूर्तत्रयव्यापिप्रातःकालोनसूर्यातपोवा बालातपः वर्ज्यइत्यनुषङ्गः । न छिन्द्यात्स्वयमितिशेषः ॥ ६९ ॥

(५) नन्दनः । नछिन्द्याद्गपनकालादन्यत्र ॥ ६९ ॥

(६) रामचन्द्रः । नखरोमाणि दन्तैर्न छिन्द्यात् ॥ ६९ ॥

न मृल्लोष्ठं च मृद्रीयान् छिन्द्यात्करजैस्तृणम् ॥ न कर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम् ॥ ७० ॥

(१) मेधातिथिः । विमर्दनंखण्डशःकरणं लोष्ठस्यमृत्संबन्धिनःकेचित्तुमृदोलोष्ठस्यसुधादिसंबन्धिनोपिमृदश्चमर्दनं ।
उत्तुक्षिप्योक्षिप्यपातनं हस्तेनसंहननं वा एतच्चमर्दनंयत्किंचनकारितयाप्राप्तंनिषिध्यते । ननुशौचाद्यर्थेप्रयोजनेनिष्फलग्रह-
णंस्वपुरस्तादप्रकर्षात् । तेनैवसिद्धेप्रायश्चित्तविशेषार्थःपुनरारम्भः । करजानखाः नकर्म । ननुचनकुर्वीतवृथाचेष्टामित्यनेनैव-
निष्फलंकर्म । अत्राहुः । चेष्टाभौतिकोव्यापारः । इहतुसामान्यस्यपर्युदासः । तेनमनोराज्यादिकल्पापरिहरणीयाः ।

† (ख, ग) चिन्हितपुस्तकद्वये श्लोकमध्ये अयंपाठोदृश्यते । व्यवहारेपिर्दृशआचारः ॥

आयतिरागामीकालः । यस्मात्कर्मणागामिनिकालेऽसुखदुःखमुत्पद्यते । यथाअजीर्णभोजनकुटुम्बभृतिमचिन्तयित्वामहतो-
धनस्यव्ययश्चतनकुर्यात् ॥ ७० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मृदंकर्दमादि लोष्ठं च मृल्लोष्ठं । करजैर्नखैः । कर्मफलवत्तयाश्रुतं कारीपादि निष्फलं फलसं-
कल्पशून्यं कुर्यात् । वृथाचेष्टा तु प्रागेव निषिद्धा । आयत्यामुत्तरकालेऽसुखोदयं दृष्टोपि ॥ ७० ॥

(३) कुल्लूकः । नाकारणं मृल्लोष्ठं मृद्वीयात्तृणानि च न छिन्द्यादिति आपस्तम्बवचनानिष्प्रयोजनं मृल्लोष्ठमर्दनं न खैश्च
तृणच्छेदनं कुर्यात् । ननु न कुर्वीत वृथाचेष्टामित्यनेनैवास्यापि प्रतिषेधसिद्धौ दोषभूयस्त्वं प्रायश्चित्तगौरवं च दर्शयितुं वि-
शेषेण निषेधः । अतएवात्रानन्तरं लोष्ठमर्दंति निन्द्यति । दृष्टादृष्टफलशून्यं च कर्म न कुर्यात् । ननु न कुर्वीत वृथाचेष्टामित्य-
नेन पुनरुक्तिः । उच्यते देहव्यापारश्चेष्टा सवृथाचेष्टाशब्देन निषिद्धः अनेन तु निष्फलं मनोयासादिसंकल्पात्मकं कर्म मानसं-
निषिध्यते । यच्चायत्यामागामिकाले कर्मासुखावहम् । यथाऽजीर्णे भोजनादि तदपि न कुर्यात् ॥ ७० ॥

(४) राघवानन्दः । वृथा लोष्ठमर्दी न स्यादित्याह नेति । करजैर्नखैः । कर्म निष्फलं मानासिद्धं न कुर्वीत । आय-
त्यामुत्तरकालेऽसुखोदयं सुखफलशून्यं प्रारम्भकर्ममात्रस्य दुःखफलत्वात् ॥ ७० ॥

(५) नन्दनः । मृद्वीयाद्धस्तेन । निष्फलमिति निश्चितम् । आयत्यांकालान्तरे । असुखोदयमिति निश्चितं च कर्म न
कुर्यात् ॥ ७० ॥

(६) रामचन्द्रः । आयत्यामुत्तरकाले यदसुखं कर्म तन्न कुर्यात् ॥ ७० ॥

लोष्ठमर्दी तृणच्छेदी नखरवादी च योनरः ॥ सविनाशं व्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च ॥ ७१ ॥

(१) मेधातिथिः । अत्रार्थवादः अस्मादेव केवलाल्लोष्ठग्रहणात् पूर्वोक्तमृल्लोष्ठमिति षष्ठीसमासो विज्ञायते उभयप्राधान्ये-
हि मृल्लोष्ठं लोष्ठ इव अत्राकरिष्यता तस्यैव हस्तेन सुमर्दत्वात्माप्तः पर्युदासः । सुधायास्तुकाठिन्याद्यन्तसाध्यं मर्दनं तत्रैवासतिप्रयो-
जने प्राप्तं मृल्लोष्ठमर्दनं तु हस्तेन पुरुषाणां स्वभावतः केषांचित्प्राप्तौ तस्य पर्युदासः । तृणच्छेदी प्रकृतो दन्तैर्नखान्खादति सूचकः
पिशुनः कर्णेजपः यः परस्य दोषानसतः सतोवापरोक्षं व्याख्यापयति । अशुचिरुक्तार्थः । विनाशमाशु व्रजति । न यथान्या-
नि वैदिकान्यनियतकालानि फलानि एवमेतत् । किं हि हिंसावैजन्मनि अचिराद्भनादिनाविधोगोविनाशः ॥ ७१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । लोष्ठमर्दनादेः प्राङ्निषिद्धस्य दृष्टदोषात्सिद्धफलतामाह लोष्ठमर्दंति । नखखादीदन्तैर्नखो-
त्पाटकः । बहुदुःखकारी सूचकः परापकारहेतुवाक्यप्रयोक्ता । अशुचिर्बाह्याभ्यन्तरशौचशून्यः ॥ ७१ ॥

(३) कुल्लूकः । लोष्ठमर्दयित्वा तृणच्छेत्ता नखखादिता च योमनुष्यः तथा सूचकः खलोयः परस्य दोषानसतः सतोवा
ख्यापयति बाह्याभ्यन्तरशौचरहितः शीघ्रमेतै देहधनादिना विनश्यन्ति ॥ ७१ ॥

(४) राघवानन्दः । लोष्ठमर्दादीनूय दृष्टफलमाह लोष्ठमर्दंति । सूचकः खलः ॥ ७१ ॥

(५) नन्दनः । सूचकः पिशुनः ॥ ७१ ॥

(६) रामचन्द्रः । सूचकः परापकारहेतुवाक्यप्रयोक्ता ॥ ७१ ॥

न विगृह्य कथां कुर्याद्बहिर्मास्यं न धारयेत् ॥ गवां च यानं पृष्ठेन सर्वथैव विगर्हितम् ॥ ७२ ॥

(१) मेधातिथिः । अभिनिवेशेन पणवन्धादिनायल्लौकिकेषु शास्त्रेषु वार्थेष्वितरेतरं जल्पनमहो पुरुषिकायासाविगृह्यक-
था । बहिर्मास्यं वाससो बहिः कण्ठस्थां सजं वासस्त्वा दयेत् । तथा च समाचारः । अपरे बहिरित्यनोवृतादशु उच्यते । तत्र नगररक्ष्या-

दैनप्रकटमाल्योभ्राम्येदित्पाहुः । अथवाबहिर्गन्धबहिर्माल्यंयस्यगन्धोनातिसवेद्यते । एवंस्मृत्यन्तरं । नागन्धांस्रजंधारये-
दन्यत्रहिरण्मय्यादिति । गवांचपृष्ठेयानपर्याणविनासाक्षाद्रवारोहणंप्रतिषिध्यते । सर्वथेतिपर्याणादान्तरायेपिगच्छ्यादिमु-
क्तेऽपृष्ठयानत्वादप्रतिषेधः ॥ ७२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विगृह्यनैवदेयमिति परकथामाच्छिद्य । बहिर्माल्यशिखावेष्टनेन । गवांपृष्ठेन सर्वथातिग-
र्हितं रथादियोजनेन तु गोभिर्यानिगर्हितमात्रंनत्वत्यन्तम् ॥ ७२ ॥

(३) कुल्लूकः । नचाभिनिवेशेन कथांशास्त्रीयेष्वर्थेषु लौकिकेषु वा कुर्यात् । केशकलापाद्बहिर्माल्यं धारयेत् ।
गवांच पृष्ठेनयानसर्वथेतिप्रवेण्यादिव्यवधानेनान्यधर्माविहम् । पृष्ठेनेत्याभिधानादाकृष्टशकटादिना न दोषः ॥ ७२ ॥

(४) राघवानन्दः । विगृह्य विग्रहंरुत्वापरकथांप्रच्छाद्यच । बहिर्माल्यकेशकलापाद्बहिर्मांलर्हेपुष्पम् । गवांपृष्ठेन
केवलेनेत्यन्वयः ॥ ७२ ॥

(५) नन्दनः । विगृह्य कथांविरोधपूर्वकवाक्यम् । गवांपृष्ठेन यानं गोपृष्ठमारुह्य यानम् ॥ ७२ ॥

(६) रामचन्द्रः । विगृह्य प्राणबन्धादिवालौकिकेषु शास्त्रेषु कथांन कुर्यात् विध्यन्ते गवांपृष्ठे वृषभानांपृष्ठे स-
र्वपुण्यानांविनाशात् गवारोहणंप्रविगर्हितं । तथैवबहिर्माल्यं धारयेत् ॥ ७२ ॥

अद्वारेण च नातीयाद्ग्रामं वा वेश्म वा द्यतम् ॥ रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ७३ ॥

(१) मेधातिथिः । आवृतस्यवाटपरिक्षेपादिना ग्रामस्यअद्वारप्रवेशप्रतिषेधः । अनावृतस्यतुद्वारवतोपियथा-
कामम् ॥ ७३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अद्वारेण सर्वसाधारणद्वाख्यतिरेकेण गुप्तद्वारादिना नातीयान् प्रविशेच्च । वृतंसंवृतंस्वयं
हरेत्हस्तेन ॥ ७३ ॥

(३) कुल्लूकः । प्राकाराद्यावृतंगृहं च द्वारव्यतिरिक्तप्रदेशेन प्राकारादिलङ्घनंरुत्वा न विशेत् । रात्रौ च वृक्षमूलाव-
स्थानंदूरतस्त्यजेत् ॥ ७३ ॥

(४) राघवानन्दः । नातीयात् न गच्छेत् प्राकाराद्युल्लङ्घनेन ॥ ७३ ॥

(६) रामचन्द्रः । ग्रामं वा वेश्म वा वृतंवेष्टितंअद्वारेण नातीयात् नविशेदित्यर्थः ॥ ७३ ॥

नाक्षैः क्रीडेत्कदाचित्तु स्वयं नोपानहौ हरेत् ॥ शयनस्थोन भुञ्जीत न पाणिस्थं न चासने ॥ ७४ ॥

(१) मेधातिथिः । अन्तरेणापिग्लहंपरिहासेननाक्षैर्दाव्येदिति । कदाचिद्ग्रहणंशलाकादीनामपिदर्शनार्थं । तेनसर्वस्य
द्युतस्यप्रतिषेधः । स्वयंचर्मपादत्राणमुपानहौ तेआत्मनाहस्तेनदण्डादिनावगृहीत्वा देशान्तरंनयत् । आत्मीययोश्चायं-
प्रतिषेधः । स्वयमितिप्रकृतत्वात्तेनगुर्वादिसंबन्धिन्योरनिषेधः । शयनेखट्वादौ उपविश्यनभुञ्जीत पाणौचकवलंस्थापयित्वा
भाजनाद्यनन्तरितेनआसने अन्नंस्थापयित्वाआनन्तर्याद्भोज्यस्यप्रतिनिर्देशेनभोक्तुः ॥ ७४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । न पाणिस्थं वामपाणिस्थं पाणिनिहितभाण्डादिस्थितं च । आसने पीठदौ स्थितम् ॥ ७४ ॥

(३) कुल्लूकः । ग्लहंविनाकदाचिदपि परिहासेनापि नाक्षादिभिः क्रीडयेत् । स्वयमित्यभिधानादात्मोपानहौ पाद-
व्यतिरिक्तेन हस्तादिना देशान्तरं नयेत् । शय्याद्यवस्थितश्च न भुञ्जीत । हस्ते च प्रभूतमन्नंरुत्वा क्रमेण न खादयेत् ।
आसने भोजनपात्रनिधाय न भुञ्जीत ॥ ७४ ॥

(४) राघवानन्दः । कदाचिदिति ब्राह्मणादेर्धूतप्रतिपदादावपि प्रसक्तिवारणार्थम् । ग्लहंविनाप्यक्षैर्न क्रीडितेति मेधातिथिः । नउपानहाविति द्वित्वंविवक्षितम् । आसने स्थापितमपि ॥ ७४ ॥

(५) नन्दनः । पाणिस्थमन्नं पाण्यन्तरेण न भुञ्जीत ॥ ७४ ॥

(६) रामचन्द्रः । नाक्षैःक्रीडेत । अक्षग्रहणं शलाकादिना विभवे सति क्रीडेदिति । स्वयंउपानहौ न हरेत् । हस्तेन नानयेदित्यर्थः । दण्डादिना आनयेत् ॥ ७४ ॥

सर्वं च तिलसंबद्धं नाद्यादस्तमिते रवौ ॥ न च नम्रः शयीतेह न चोच्छिष्टः कचिद्व्रजेत् ॥ ७५ ॥

(१) मेधातिथिः । अस्तमितेआदित्ये प्रतिलक्षणेकर्मप्रवचनीयत्वात्द्वितीया । नचोच्छिष्टः ननुचब्रह्मचर्यधर्मेवेत्प्रतिषिद्धं । पुरुषधर्मताचतस्यज्ञापिता नतादर्थ्यमेव सत्यं व्रतरूपताज्ञापनार्थउपदेशोयं । तेनयावज्जीविकःसङ्कल्पःकर्तव्यः ॥ ७५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तिलसंबद्धंतिलप्रकृतिकं तैलाद्यपि अस्तमयं प्रति तदनन्तरं उच्छिष्टो मूत्रादिकरणेनाशनेनवा न शयीतेत्यर्थः ॥ ७५ ॥

(३) कुल्लूकः । यत्किंचित्तिलसंमिश्रंकसरमोदकादि तदस्तमितेऽर्के नाद्यात् । उपस्थाच्छादनवासोरहितोनेहलोकेसुप्यात् । उच्छिष्टस्तु नान्यतोगच्छेत् ॥ ७५ ॥

(४) राघवानन्दः । तिलसंबद्धं कसरमोदकादि । अस्तमितेऽस्तंगते सवितरि इह भूमावपि न संविशेत् न शयीत उच्छिष्टः कृतभोजनोनाद्यान्तः ॥ ७५ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वतिलसंबद्धंअस्तमितेसति व्रती नाद्यात् न भक्षयेत् ॥ ७५ ॥

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत् ॥ आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥ ७६ ॥

(१) मेधातिथिः । आदिकर्मणिविधिमिमंसमाचरेत् । आर्द्रपादोभोजनमाचरेत् । नत्वावृमेःपादौसिचन्नासीत संविशेत् शयनेगात्राणिनावक्षिपेत् । संवेशनंशयनेगात्रसंयोजनं । अस्यफलमाह दीर्घमायुरिति । नायमायुष्कामस्यविधिः । किर्तिर्हिपूर्ववन्तित्यः । आयुरनुवादस्त्वर्थवादएव ॥ ७६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संविशेत् शयीत ॥ ७६ ॥

(३) कुल्लूकः । जलार्द्रपादोभोजनमाचरेत् । नार्द्रपादःसुप्यात् । यत्सादार्द्रपादोभुञ्जानःशतायुर्भवति ॥ ७६ ॥

(४) राघवानन्दः । दृष्टार्थविधिनिषेधावाह आर्द्रेति । न संविशेन्न शयीत ॥ ७६ ॥

(६) रामचन्द्रः । आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत भोजनंकुर्यात् । आर्द्रपादः कदाचन न शयीत शयनं न कुर्यात् । पञ्चाद्रौभोजनंचरेत् ॥ ७६ ॥

अचक्षुर्विषयं दुर्गं न प्रपद्येत कर्हिचित् ॥ न विष्मूत्रमुदीक्षेत न बाहुभ्यां नदीं तरेत् ॥ ७७ ॥

(१) मेधातिथिः । दुर्गदुर्गारोहपर्वतादितरुगुल्मलतागहनंचारण्यंतन्प्रपद्येत । नाक्रामेन्नगच्छेदचक्षुर्विषयं सर्पचौरादेरन्तर्हितस्य भावाशङ्क्या । चक्षुर्ग्रहणमागमादेरपिप्रमाणस्यलक्षणं । नविष्मूत्रंउदीक्षणंवर्णादिनानिरूपणंच चिरकालप्रेक्षणानिभवन्तिइति । अतएवतन्मकर्तव्यं दैवात्कचिद्दृश्यमाने नदोषः । नदीबाहुतरणंचत्वस्थस्यनिषिध्यते । नवृकभये ॥ ७७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दुर्गदुर्गत्वेन श्रुतमचक्षुर्विषयं स्वयमदृष्टं प्रपद्येत न गच्छेत् । विष्णुत्रयं परकीयं । बाहुभ्यां नदीमिति विवक्षितं बाहुना जलान्तरे पितरणस्य दृष्टविरोधित्वात् ॥ ७७ ॥

(३) कुङ्कुमः । तरुगुल्मलतागहनत्वेनाचक्षुर्गोचरमरण्यादिदेशं दुर्गनाक्रमेत् सर्पचौरादेरन्तर्हितस्य संभवात् । पुरीषं मूत्रं च न निरीक्षेत् । बाहुभ्यां च नदी न तरेत् ॥ ७७ ॥

(४) राघवानन्दः । दुर्गं तृणाद्याच्छिन्नं कूपतडागादि अतएवाहाचक्षुर्विषयं । विष्णुत्रयं स्वकीयं तत्पर्यालोचनबुद्ध्या नक्षेत् ॥ ७७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अचक्षुर्विषयं देशं दुर्गं वा दुर्गारोहणं न प्रपद्येत ॥ ७७ ॥

अधितिष्ठेन्न केशांस्तु न भस्मास्थिकपालिकाः ॥ न कार्पासास्थि न तुषान्दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥ ७८ ॥

(१) मेधातिथिः । कपालिकाः भग्नस्य शकलानि दीर्घमायुः व्याख्याता द्वितीया ॥ ७८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कपालिका घटाद्यंशः । कार्पासस्यास्थिबीजम् ॥ ७८ ॥

(३) कुङ्कुमः । दीर्घमायुर्जीवितुमिच्छुः केशादीन्नाधिरोहेत् । भग्नमृण्मयभाजनशकलानिकपालिकाः ॥ ७८ ॥

(४) राघवानन्दः । कपालिका भग्नघटादेः । कार्पासास्थि तद्बीजनाधितिष्ठेत् तेषु अधिशीङ्स्थासां कर्मैति समर्थे द्वितीया ॥ ७८ ॥

(५) नन्दनः । अधितिष्ठेत्पदा । कपालिका भिन्नमृद्भाण्डशकलान् ॥ ७८ ॥

(६) रामचन्द्रः । केशमध्ये दीर्घमायुर्जिजीविषुः नाधितिष्ठेदित्यपि ज्ञेयम् ॥ ७८ ॥

न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुलकसैः ॥ न मूर्खैर्न अवलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥ ७९ ॥

[न कृतघ्नैरनुद्युक्तैर्न महापातकान्वितैः । न दस्युभिर्नाशुचिभिर्नामित्रैश्च कदाचन*]

(१) मेधातिथिः । ननु च नाधार्मिकजनावृतेनोपसृष्टेन्त्यजैरिति चोक्तमेवैतत् । नेति ब्रूमः तत्र निवासः प्रतिषिद्धः इहतुसंवासः । यत्र ग्रामे ते वसन्ति न तत्र वस्तव्यं गृहस्थित्येति । तत्रोक्तं संवासस्तुतैः सह संव्यवहारोदानग्रहणादिभिर्मैत्रीकरणं तद्गृहसमीपे च वासोऽपि एकतः स्त्रायोपजीवनमित्यादि । आवृतग्रहणाच्च तत्र बाहुल्यं गम्यते । यस्मिन् ग्रामे भूयांसस्ते तथा समीपेऽपि न वस्तव्यमिति तस्यार्थ इह त्वबाहुल्येऽपि समीपवासादि प्रतिषिध्यत इत्येषा विवेकः । पुलकसानिषादाः शूद्रायां जाता अन्त्यामेदप्रभृतयो म्लेच्छा अन्त्यावसायीति निषादरूपां चण्डालाज्जातो वक्ष्यते । निषादरूपां चण्डालादित्यादि । अवलिप्तमदोद्धताः धनादिना गर्विताः ॥ ७९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संवसेदेकगृहे अवलिप्तैर्गर्वितैः । अन्त्यैः कैवर्ताद्यैः । अन्त्यावसायिभिः सूतमागधाद्यैः ॥ ७९ ॥

(३) कुङ्कुमः । पतितादिभिर्ग्रामान्तरवासिभिरपि सह न संवसेत् । एकतरुच्छायादौ न समीपे वसेत् । अतो नाधार्मिके वसेन्नाम इत्यतो भेदः । निषादाच्छूद्रायां जातः पुलकसः । वक्ष्यति च । जातो निषादाच्छूद्रायां जात्या भर्वात् पुलकस इति । अवलिप्ता धनादिमदगर्विताः । अन्त्या अन्त्यजारजकादयः । अन्त्यावसायिर्नो निषादोरूपां चण्डालाज्जाताः वक्ष्यति च निषादस्त्री तु चाण्डालात्पुत्रमन्त्यावसायिनम् ॥ ७९ ॥

(४) राघवानन्दः । ग्रामवासनिषेधस्योक्तत्वादेकसमैकवृक्षच्छायादौ न वसेदित्यर्थः । पुलकसैः निषादाच्छूद्रायां-
जातैः । अवलिप्तैः । धनादिगर्वितैः । अन्यैरजकादिभिः । अन्त्यावसायिभिः निषाद्यांचण्डालाजातैः सह वार्ताकलहादि-
संभावनयाअधर्मोत्पत्तेरितिभावः ॥ ७९ ॥

(५) नन्दनः । पुलकसःशूद्रेण क्षत्रियायांजातः । अन्त्यादर्शनस्पर्शनायोग्याः प्रतिलोमजाः । अन्त्यावसायिनः
श्वपाकादयः ॥ ७९ ॥

(६) रामचन्द्रः । पतितैः सह न संविशेत् । चाण्डालैः ब्राह्मण्यांशूद्राजाताः चाण्डालास्तैः सह न संविशेत् अ-
न्त्यैः कैवर्तादिभिः । अन्त्यावसायिभिः सूतमागधादिभिः । एतैर्जातिभेदैः सह न संवसेत् अन्त्यभेदाः । रजकश्चर्मकारश्च
नलेबुरुडएवच । कैवर्तमेदभिल्लाश्चसमैतेअन्त्यजाःस्मृताः । अस्यार्थः । बुरुडःशूर्पकारः इति जातिसंज्ञा ॥ ७९ ॥

न शूद्राय मतिंदद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम् ॥ न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् ॥ ८० ॥

[अन्तरा ब्राह्मणं कृत्वा प्रायश्चित्तं समादिशेत् ॥] +

(१) मेधातिथिः । शूद्रस्यदृष्टादृष्टविषये हिताहितोपदेशोन कर्तव्यः । शूद्रस्यमर्त्तित्वं कर्तव्यमितियावत् ।
वृत्त्यर्थश्चायंनिषेधः । सौहार्दादिनानुनदोषः । भवन्ति हि शूद्राः कुलमित्राणि मैत्र्याचावश्यंहितमुपदिश्यते । अनुज्ञाता-
च सर्ववर्णो ब्राह्मणस्य मैत्री मैत्रोब्राह्मणउच्यते । ये तु व्याचक्षतेऽपृच्छतोनाब्रूयादित्युपन्यस्य युक्तंशास्त्रान्तरसि-
द्धत्वात् । नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयादिति तदयुक्तम् । तत्र हि स्वाध्यायविषयंस्वरवर्णगतमन्यत्वमसंगतंवाकुर्वतोविनाशितं-
त्वयेत्यादावपृष्टेन नवक्तव्यम् । यथाचामी नाध्याप्यादित्यस्मिन्प्रसङ्गइदमुक्तेनापृष्टोब्रूयादिति । अशिष्यस्यापृच्छतो-
विस्वरंव्यक्षरंवापशतोनाकिंचिद्वक्तव्यमिति तस्यार्थः । नोच्छिष्टमिति उच्छिष्टशब्दोऽयंभुजिनिमित्तेऽप्राशस्त्येवर्ततेकृतमूत्रपु-
रीषोप्यनाचान्तउच्छिष्टउच्यते । यथा वक्ष्यामो न स्पृशेत्पाणिनोच्छिष्टः । बाहुल्येनोच्छिष्टमयोगोभुजिसंबन्धेनभुजानस्य
ह्यन्तरास्यसंस्पर्शेन बहिरन्तःस्थितस्योच्छिष्टत्वंभवति । तथा च श्मश्रूणि गतान्यास्यमितिश्मश्रुभ्योन्यदास्यानुप्रवि-
ष्टमुच्छिष्टंकरोतीति ज्ञापयति । अतश्च भोक्तुर्भुज्यमानस्य पात्रादेरधिकरणस्यचोच्छिष्टव्यवहारः । कचिच्चायंउपयुक्ते-
तरवचनोऽपि । हविरुच्छिष्टंदक्षिणेति । तत्र समाचारात्पात्रगृहीतमुच्छिष्टपुरुषसंबन्धमीषद्भुक्तमुच्छिष्टमुच्यते । यदपि-
विशदमोदनादिपात्रस्थमस्पृष्टमपि भोक्ता तदपिसंबन्धात्समाचारतःपरिह्रियते । तत्रोच्छिष्टमपिदातव्यम् । नोच्छिष्टमिति-
विधिप्रतिषेधावेकविषयावृताभृतशूद्रव्यवस्थया हविःशेषभेदेन वा विकल्पेते । अथवास्थालीस्थमतिध्यादिभुक्तशिष्टं-
तन्न शूद्रायदातव्यम् । तत्रोच्यते । जीर्णवसनसाहचर्याच्चैतदेवप्रतिपत्तुंयुक्तम् । उपयुक्तेतरवचनत्वाच्चशिषेरुपसर्गस्य तद-
र्थानुगुण्येन वर्तनाद्धविरुच्छिष्टंदक्षिणेतिवत्प्रयोगोप्यविरुद्धएव । तयोःस्मृत्योरविरोधोभविष्यति । यद्यपि रुद्ध्याऽऽच-
मनार्हाःप्रायोऽत्र वचने दृश्यन्ते । यन्तु वैश्यवच्छौचकल्पश्चेतितद्दासशूद्रविषयम् ॥ भुक्तोऽज्ज्ञतमेव प्रतीयतइति दर्श-
यिष्यामः । नहविष्कृतम् हविषे कृतंहविरर्थंकल्पितंबहुवचनःसमासस्तादर्थ्येनोपकल्पितप्रतिषेधात् । दण्डापूपिकया
यत्र हविर्गन्धोऽस्ति तत्सर्वप्रतिषिध्यते । तेन हविरर्भितया संकल्पितस्य हविषः प्रवृत्तस्य हविःशेषस्याभुक्तोऽज्ज्ञत-
स्य हविषः प्रतिषेधः सिद्धोभवेत् । तथाच कृतमिति करोतिः क्रियासामान्यवचनःप्रयुक्तःहविरर्थयत्कृतंसंकल्पितंव-
चनंतेनोच्छिष्टस्यापि यावत्प्राकृतेन संकल्पेन हविष्कृतव्यपदेशोन यथावत्सर्वावस्थस्य प्रतिषेधोविज्ञायते । अन्यैस्तु-

हविर्मिश्रं हविष्कृतमिति व्याख्यातम् । संसृष्टप्रतिषेधाच्च केवलस्यापि प्रतिषेधः । विप्रसंसृष्टप्रतिषेधे विप्रस्येवेत्युक्तम् । कथं-
 पुनः संसृष्टप्रतिषेधे केवलप्रतिषेधः । केवलप्रतिषेधेनाप्रधानः कदाचित्संसृष्टप्रतिषेधः शक्यते वक्तुम् । यत्र संसृष्टावपि
 पृथक्त्वेन प्रतिभासेते यत्र वा चक्षुषः प्रतिभासमाने रूपे रसादिना तत्प्रयोगो भवति तत्रापि भवत्येव तदाश्रयो व्यवहारः ।
 यथासुरादिसंपृक्तानां सुपक्वपिण्डेष्वन्तर्हितेऽपि सुरादिरूपे रसे तत्प्रत्ययादस्त्येव सुरापानप्रायश्चित्तम् । ननु चैवमप्यद्रव-
 रूपत्वात्पिण्डीभिरकतापन्नायाः सुरापानपानोपपत्तिः । नैष दोषः । प्रायिकेणौचित्यानुवादेन पानमुपादीयते । अभ्यवहा-
 र एव तु निषिध्यते । यथा च भक्ष्या भक्ष्यप्रकरणमेतत् । भक्षणं चाभ्यवहारमात्रं तस्य विशेषः पानखादनचर्वणादयः । गन्धस्य
 पुनरनाश्रयस्याप्युपलब्धेर्न ततो द्रव्यसद्भावावगमः दूरस्थेऽपि कर्पूरादौ गन्ध उपलभ्यते । सूक्ष्मद्रव्यावयवावगमकल्पनायां
 द्रव्यस्य परिमाणावयवः स्यात् । यत्र तु संसृष्टयोरेकीभावो न चान्यस्तत्प्रत्ययोन न तत्र केवलाश्रयौ विधिप्रतिषेधौ प्रवर्तितुमर्हतः ।
 यथा क्षीरपातव्यमिति संमिश्रितयोः क्षीरोदकयोः पीतयोर्न क्षीरं भवति नोदकं द्रव्यान्तरत्वात् । अन्यद्दि तत्र रूपमन्यश्च रसो-
 संस्थानादितत्प्रत्ययहेतुरस्तीति द्रव्यान्तरं तत् । यद्येवं मद्योदके सह पीते यदि भवेतां तदा मद्यपानप्रायश्चित्तं न प्राप्नोति । द्रव्या-
 न्तरत्वात् । नैष दोषः अभिभवति रसान्तरागमिदं तत्करसवत् । ततो रसप्रत्यभिज्ञानाद्भवत्येव तत्प्रायश्चित्तम् । यत्र तु बहुदकं-
 त्वल्पं मद्यादि तत्र संसर्गप्रायश्चित्तमपि निपुणमेकादशेनिरूपयिष्यामः । तस्मात्केवलाश्रयः प्रतिषेध आस्कन्देदपि संसर्गम्
 यथामाषानभोक्तव्या इति मिश्रा अपि न युज्यन्ते । संसर्गाश्रयस्तु केन हेतुनाऽसंसृष्टे वर्तेत । गङ्गायमुनयोः संगमाज्जलमानये-
 त्युक्ते न केवलाया गङ्गाया आनयति न यमुनायाः । समाचार एवेति चेत् समाचार एवोदाहर्तव्यः । न चास्योपदिशेद्धर्मः । ननु
 च न शूद्रायेत्यविशेषेण दृष्टादृष्टविषयमतिदानप्रतिषेधाद्धर्मोपदेशनिषेधोऽपि सिद्ध एव । सत्यम् पुनर्वचनं शेषार्थम् । ततः प्राय-
 श्चित्तोपदेशोऽनुज्ञातो भवति । शरणागतं परित्यज्येत्यत्र चैतद्दर्शयिष्यामः । अन्येतु पार्वणाश्राद्धपाकयज्ञादिष्वितिकर्तव्यतां-
 शिक्षयेत् पाचकत्वादिरूपेणेत्याहुः । अत्र चोदयन्ति यदि धर्मोपदेशः शूद्रस्य निषिध्यते कुतस्तर्हि धर्मवित्त्वम् । अ-
 विदुषश्च नानुष्ठानसंभवस्ततः शूद्रानुष्ठानकृद् धर्मशास्त्रानर्थक्यम् । अचोद्यमेतत् । अतिक्रान्तनिषेधस्य लिप्सा ब्राह्मणस्य-
 चोपदेष्टृत्वसंभवात् । नहि ब्रह्महत्या सर्वस्वदानचोदनाप्रतिग्रहं प्रयुङ्क्ते संभवति लिप्सा प्रयोक्त्री न चास्ति वचनं प्रब्रूयादित-
 रेभ्यश्चेति वृत्त्युपायप्राप्तौ अतएव प्रकृतं सर्वेषां ब्राह्मणो विद्यादृत्युपायान्यथाविधि । प्रब्रूयादितरेभ्यश्चेति । यस्त्वाश्रित-
 शूद्रस्तस्यावश्यमुपदेशः कर्तव्यः । अविदुषा विधिप्रतिषेधाधिकृतक्रमात्संवासा निषिद्धः नमूखैर्न वलिमैश्चेति । यत्तु
 व्याचक्षते धर्मशास्त्रोपदेशस्तदर्थव्याख्यानं वानेन निषिध्यते शास्त्रद्वयेन न वास्योपदिशेदिति एकेन शास्त्राभ्ययनपरेणा-
 र्थव्याख्यानम् । अग्रन्थकस्तूपदेशो न केनचिन्निषिद्धः तेषामेवं वदतां तस्य शास्त्रविचार इति सिद्धत्वात् पुनरुक्तम् । इदं तु
 बहुयुक्तं व्याकरणादौ धर्मावबोधार्थं शास्त्रधर्मशब्दः । तद्धि न धर्मशास्त्रमतीन्द्रियार्थमिति प्रतिषेधानुपदेशाद्भवति तु धर्मशा-
 स्त्रावबोधार्थम् । शक्नोति हि वैयाकरणः पदार्थानुसारेण गहनं वाक्यार्थमुन्नेतुम् । धर्मशास्त्रत्वाच्च तस्य शास्त्रइत्यने-
 नागतत्वात् पृथगुच्यते । युक्तमेतत् यदि कश्चिन् ब्रूयात्प्रधानेऽनधिकृतस्य कुतोक्तेषु प्राप्तिरिति । वेदस्मृतिशास्त्रे च प्रधा-
 ने न च तत्र शूद्रस्याधिकारः । मचास्य व्रतमादिशेत् व्रतशब्देन रुद्धाण्युच्यन्ते एतैर्व्रतैरिति प्रयोगदर्शनात् । तान्यभ्युदय-
 कामस्य नोपदिशेत् । प्रायश्चित्तार्थतयान्विष्यत एवोपदेशः । स्नातकव्रतानां प्राप्तिरेव नास्ति अस्नातकत्वात् । एवंसावित्रादी-
 नामप्यभ्ययनाभावादभ्ययनं चोपनयनाभावादुपनयनं च तद्विधौ जातित्रयश्रवणात् ॥ ८० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मर्तिदण्डनीतिशास्त्रादिविषयां । उच्छिष्टं भाण्डत्यक्तं । अहविष्कृतं यत आकृष्य द्रुतं-
 हविस्तं पुरोडाशादिहविःशेषं । धर्मधर्मसाधनव्रतं प्रायश्चित्तम् ॥ ८० ॥

(३) कुड्डूकः । शूद्राय मर्तिदृष्टार्थोपदेशं दद्यात् धर्मोपदेशस्य पृथङ्निर्देशात् । अदासशूद्रायोच्छिष्टं दद्यात् दासगोचरतयोच्छिष्टमन्नं दातव्यमिति वक्ष्यमाणत्वाददोषः । द्विजोच्छिष्टं च भोजनमिति भोक्तुर्विधिर्दातुर्च्छिष्टदाननिषेधेपि यथासंभवलब्धविषयः । हविष्कृतमिति यस्यैकदेशोद्भुतः सहविः शेषेण दातव्यः । धर्मोपदेशेन शूद्रस्य कर्तव्यः व्रतं चास्य प्रार्थश्चत्तृपसाक्षान्नोपदिशेत् किंतु ब्राह्मणमध्ये कृत्वा तदुपदेशव्यवधानात् । यथाहाङ्गिराः तथा शूद्रं समासाद्य सदाधर्मपुरःसरम् । अन्तरा ब्राह्मणं कृत्वा प्रायश्चित्तं समादिशेत् ॥ प्रायश्चित्तमिति सकलधर्मोपदेशस्योपलक्षणार्थम् ॥ ८० ॥

(४) राघवानन्दः । मर्ति दृष्टार्थबुद्धिः । हविष्कृतं द्रुतावशिष्टं । व्रतं प्रायश्चित्तं । एतद्ब्राह्मणमन्तरावाधिकृत्योपदिशेत् । श्रावयेच्चतुरोवर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रत इत्युक्तेः । अन्यथा तेषां धर्माद्यननुष्ठानापत्तिः । अस्य शूद्रस्य साक्षादिति शेषः ॥ ८० ॥

(५) नन्दनः । मर्तिपरेणाविज्ञातमुपायम् । भोजनपात्रस्थमुच्छिष्टमन्नं न तु स्थाल्यादिस्थितम् । हविष्कृतं हविष्टेन कल्पितमृत्विग्भिर्भक्षितशिष्टं पुरोडाशादिकम् । धर्मश्रौतस्मार्तादिकम् । व्रतं स्नातकव्रतादि न मर्तिदद्यादित्येव सिद्धे धर्मनोपदिशेदिति पुनर्निषेधो दोषातिशयप्रकाशनार्थः ॥ ८० ॥

(६) रामचन्द्रः । शूद्राय मर्ति सन्मर्ति नीतिशाल्मादि विषयां न दद्यात् । उच्छिष्टं अतिथेः भुक्तोच्छिष्टं हविष्कृतं देवनिमित्तं पुरोडाशादि शूद्राय न । च पुनः अस्य शूद्रस्य व्रतं प्रायश्चित्तमापदि ॥ ८० ॥

यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे यश्चैवादिशति व्रतम् ॥ सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति ॥ ८१ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्य प्रतिषेधस्य निन्दार्थवादः । तेनैव सहेति । उभयोर्दोषमाह । शृण्वतः श्रावयतश्च मज्जत्यवगाहते तत्प्राप्नोतीति यावत् ॥ ८१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तमो नरकं सह तेनैव गच्छति यदि शूद्रोऽपि पापान्तरेण तल्लोकगामी । अन्यथा तूपदेशैव याति ॥ ८१ ॥

(३) कुड्डूकः । यस्माद्योऽस्य शूद्रस्य धर्मब्रूते यश्च प्रायश्चित्तमुपदिशति स तेन शूद्रेणैव सहासंवृताख्यं तमो गहनं नरकं प्रविशति । पञ्चसु पूर्वोक्तेषु द्वयोर्दोषकथनं प्रायश्चित्तगौरवार्थम् ॥ ८१ ॥

(४) राघवानन्दः । विपक्षे दण्डमाह यदिति । असंवृतं नाम तमो नरकं तेन शूद्रेण सह मज्जत्येवेत्यन्वयः ॥ ८१ ॥

(५) नन्दनः । अत्र निन्दार्थवादमाह यदिति । अस्य शूद्रस्य । तेन शूद्रेण ॥ ८१ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः अस्य शूद्रस्य धर्ममाचष्टे यः व्रतं दिशति स असंवृतं नाम तमः नरकं तेनैव सह मज्जति ॥ ८१ ॥

न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः ॥ न स्पृशेच्चैनदुच्छिष्टेन च स्नायाद्विना ततः ॥ ८२ ॥

(१) मेधातिथिः । संहताभ्यां संश्लिष्टाभ्यामितरेतरसंसृष्टाभ्यां युगपद्वाभ्यां प्रतिषेधः । पाणिभ्यामिति बाहू संहतौ निषेधति । आत्मन इति न परस्य । अतश्चान्येन संहताभ्यां कण्डूयतो न दोषः । शिरोग्रहणात् पृष्ठादावदोषः । न स्पृशेच्चैव शिरोहस्तेनात्मनोऽन्यहस्तेन वाऽवयवेनेतिकेचित् । तत्र पाणिभ्यामिति प्रकृतत्वात् । न च स्नायाच्छिरसा विना । नित्यनैमित्तिकयोः स्नानयोरयं विधिः । ननु स्निग्धस्य लौकिके स्नाने कुत एतत् । स्नानविधिनैकवाक्यत्वात् । विहितस्नानापेक्षा प्रत्यासत्त्या युक्तिमतिलोके तु विधेरभावादप्राप्तिः । स्नातिश्चायं सर्वाङ्गसंबन्धिनिसलिलगोमूत्रादिप्रक्षालने वर्तते शिरोवार्जने च तत्र चण्डालादिस्पर्शने शिरोवार्जितमपि यदृच्छाप्रसक्तं निवार्यते । न च स्नायाद्विना ततः अस्ति च लौकिकमशिरस्कर्मपि स्नानं येन शिरः स्नानं शिरः स्नातस्तु तैलेनेति ॥ ८२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संहताभ्यांसंयुक्ताभ्यां एतच्छिरः । ततःशिरसोविना शिरोवर्जितागैर्न स्नायादित्यर्थः । अशिरस्कं भवेत्स्नानं स्नानाशक्तौ तु कर्मिणामित्यन्यत्रोक्तं ॥ तेनायंसशिरःस्नानशक्तविषयो निषेधः ॥ ८२ ॥

(३) कुड्डूकः । संश्लिष्टाभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनःशिरः । उच्छिष्टः स्वशिरोन स्पृशेत् । शिरसा विनोन्मज्जन-
व्यतिरेकेण नित्यनैमित्तिकस्नाने न कुर्यात् दृष्टार्थं शिरोव्यतिरिक्तगात्रप्रक्षालने न दोषः । स्नानशक्तस्य चायं निषेधः
अशक्तस्य तु । अशिरस्कं भवेत्स्नानं स्नानाशक्तौ तु कर्मिणामिति जात्रालिना विहितमेव ॥ ८२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचनेति एतच्छिरः । ततः शिरसःशिरोवर्जं न स्नायात् शक्तस्यायं निषेधः । न त्वशक्त-
स्य । अशिरस्कं भवेत्स्नानं स्नानाशक्तौ तु कर्मिणां । आर्द्रेण वाससा वापिर्देहिकं मार्जनं विदुरिति याज्ञवल्क्योक्तेः ॥ ८२ ॥

(५) नन्दनः । आत्मग्रहणात्परस्याप्रतिषेधः शिरोग्रहणादवयवान्तराणाम् । एतच्छिरः । असंहताभ्यामप्युच्छि-
ष्टेन स्पृशेत् । ततःशिरसोविनान च स स्नायात् । नित्यनैमित्तिकयोः कर्मणोरदृष्टार्थस्नानविषयमेतत् ॥ ८२ ॥

(६) रामचन्द्रः । उच्छिष्टः सन् एतत् शिरः न स्पृशेदित्यर्थः ॥ ८२ ॥

केशग्रहान्प्रहारांश्च शिरस्येतान्विवर्जयेत् ॥ शिरःस्नातश्च तैलेन नाङ्गं किंचिदपि स्पृशेत् ॥ ८३ ॥

(१) मेधातिथिः । आत्मनः परस्यैव विशेषेण केचिदिच्छन्ति । अन्येत्वात्मन इति प्रकृतमभिसंबध्नन्ति । क्रो-
धनिमित्तश्चायं प्रतिषेधः । सुरतसंभोगे तु कामिन्याः केशग्रहः सननिषिध्यते । शिरःस्नानक्षालितमनेनेति राजदन्तादेरा-
कृतिगणत्वात्परनिपातः । शिरःस्नातइति बाहुल्येन समासः । नाङ्गमात्मीयम् ॥ ८३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । केशग्रहान्परिण शिरःकेशग्रहणप्रहारान् शिरसि स्वयमपि शिरःस्नातः सन् स्वाङ्ग-
मन्यदपि तैलेन न स्पृशेत् । न अक्षयेत् । एतच्च तद्विषय एव न रात्राविति शिष्टाचारात् ॥ ८३ ॥

(३) कुड्डूकः । कोपेन केशग्रहप्रहारौ शिरसि वर्जयेत् । कोपनिमित्तत्वाच्चात्मनः परस्य च प्रतिषेधः । अतएव
सुरतसमये कामिनीकेशग्रहस्यानिषेधः । सशिरस्कस्नातश्च तैलेन न किंचिदप्यङ्गं स्पृशेत् । अथवा तैलेनेति काकाक्षिवदुभ-
यत्र संबध्यते तैलेन शिरःस्नातः तैलेन पुनः किंचिदप्यङ्गं न स्पृशेत् अतोरात्रौ शिष्टानामतैलशिरःस्नातानां तैलेन पादाभ्य-
ङ्गसमाचरणमविरुद्धम् ॥ ८३ ॥

(४) राघवानन्दः । केशग्रहानिति शिरस्येव केशपदमुक्तधम्मिल्लपरं क्रुद्धः सन्निति शेषः । अतः सुरतसमये कामिनी-
केशप्रदेशग्रहे न दोषः । शिरःस्नातस्तु शिरसितैलं दत्त्वा नान्येष्वङ्गेषु तद्व्यादिति केचित् । वस्तुतस्तु कृतशिरस्नानस्तैलाभ्य-
क्तो न स्यात् । तैलस्नाने स्नानशब्दस्य भाक्तत्वात् । युगपत्सर्वाङ्गीणजलसंबन्धस्य तत्वात्स्पर्शनस्य करणापेक्षत्वाच्च ।
दाक्षिणात्यानां मातुलकन्यापरिणयवत् रात्रौ गौडीयानां पादाभ्यङ्गो देशाचारः ॥ ८३ ॥

(५) नन्दनः । शिरःस्नातः कृतकेशवापनः ॥ ८३ ॥

न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितः ॥ सूनाचक्रध्वजवतां वेशेनैव च जीवताम् ॥ ८४ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तं राजतो धनमन्विच्छेदिति । राजशब्दश्चायं क्षत्रियजातावक्षत्रियेऽपि जनपदेश्वरे दृष्टप्रयोगो
ब्राह्मणानां राज्यमिति । तत्र प्रतिग्रहविधौ तन्निषेधे च जनपदेश्वरवचनो गृह्यते येनाह अराजन्यप्रसूतितइति । जनपदैश्व-
र्यं हि सर्ववर्णसंभवि लिप्सया । अतो विशेष्यते । राजन्याः क्षत्रियाद्यस्य प्रसूतिरुत्पत्तिर्नास्ति । तस्माद्वाङ्मोजनपदेश्वरान्

गृहीयात् । क्षत्रियादपि लुब्धादुच्छास्त्रवर्तिनोवक्ष्यमाणेन प्रतिषेधेन । सूनापशुमारणसंज्ञकपूर्वकेणमांसक्रयेणयोजीव-
तिससूनावान् । खटिकइतिलोके प्रसिद्धः । ध्वजी मद्यपण्यस्तत्क्रयविक्रयजीवी । वेशःपण्यवृत्तिस्तयायोजीवतिस्त्री-
वापुमान्वा ॥ ८४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । राज्ञोजनपदपालकस्य अराजन्यप्रसूतेर्विप्रादेः । सूनेतिदशमहाप्राणिवधस्थानंसूना
तत्त्ववर्तकःसूनावान् तिलनिष्पीडकश्चक्रवान् शौण्डिकःसुराध्वजवत्तया ध्वजवान् वेशेनाङ्गोपस्कारेण जीवन्वेश्याजनः ।
एषामपि न ग्राह्यमापद्यपि ॥ ८४ ॥

(३) कुल्लूकः । राजन्यशब्दःक्षत्रियवचनः । अक्षत्रियप्रसूतस्य राज्ञोधनंनप्रतिगृहीयात् राजतोधनमन्विच्छे-
दित्युक्तंतस्यायंविशेषउक्तः । सूनाचक्रध्वजवतामिति सूनावतांचक्रवतांध्वजवतांच । सूना प्राणिवधस्थानंतद्यस्यास्तीति
ससूनावान्पशुमाणरपूर्वकमांसविक्रयजीवी । चक्रवान्बीजवधविक्रयजीवी तैलिकः । ध्वजवान्मद्यविक्रयजीवी शौण्डिकः ।
वेशःपण्यस्त्रियाभृतिस्तयायोजीवति स्त्रीपुमान्वा सवेशवान् । एतेषांच न प्रतिगृहीयात् ॥ ८४ ॥

(४) राघवानन्दः । राजतोधनमन्विच्छेदिति सीदत्कुटुम्बस्य राजप्रतिग्रहस्योक्तत्वात् प्रजापालनकर्तरिअतज्जातौ
राजपदंभाक्तमिति मोमांसास्तबके स्थापितं अतोतज्जातेःप्रतिग्रहोनिषिद्धइतिसार्थवादमाहनेतिअष्टभिः । सूना स्वयंनिहत्य
मांसविक्रयः । चक्रंतिलादिपेषणं । ध्वजोमद्यंतद्वतां । वेशः संभोगार्थंस्त्रीपुंसयोर्भृतिः ॥ ८४ ॥

(५) नन्दनः । राजतोधनमन्विच्छेदिति यदुक्तंतत्र नियममाह नेति । राज्ञोऽपत्यंराजन्यः क्षत्रियइतियावत् । त-
स्मात्प्रसूतिर्यस्यसराजन्यप्रसूतिः । अराजन्यप्रसूतितोऽराजन्यप्रसूतेः । षष्ठ्यर्थेतसिर्द्रष्टव्यः । तस्यद्रव्यंनप्रतिगृहीयात् ।
सूनाचक्रध्वजवताम् सूना हिंसातद्धान्सूनावान् चक्रंतैलयच्छं तद्धान्श्चक्रवान् । सुरायाउत्पादकःसुराध्वजस्तद्धान्ध्वजवान्
सुराकारीत्यर्थः । वेशोवेश्याकर्म ॥ ८४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अराजन्यप्रसूतितः न राजवंशोद्भवः तस्य अक्षत्रवंशप्रसूतितः राज्ञः सकाशात् प्रतिग्रहं न
गृहीयात् । सूनी हिंसकः । चक्री तैलिकः । ध्वजी मद्यकर्ता । एतेषां वेशेनैवजीवतांप्रतिग्रहं न च गृहीयात् ॥ ८४ ॥

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमोध्वजः ॥ दशध्वजसमोवेशो दशवेशसमोनृपः ॥ ८५ ॥

(१) मेधातिथिः । उत्तरस्योत्तरस्य दोषगुरुत्वज्ञापनार्थमेतत् । आपद्युपायोवक्ष्यते ॥ ८५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दशसूनासमं तावत्पापयुक्तं । सूनादिपदानि तद्वल्लक्षकानि वेश्यातु त्वपदेनैवोपात्ता
तत्रापि वेशइति पठन्ति । नृपोऽराजन्यप्रसूतिस्तत्प्रक्रमात् । एवंराजेत्यत्रापि ॥ ८५ ॥

(३) कुल्लूकः । गोविन्दराजस्तु दशवेश्यासमोनृपइतिपठति । मेधातिथिप्रभृतयःप्राञ्चोदशवेशसमोनृपइतिपठन्ति ।
सूनादिशब्दैस्तद्धानुपलक्ष्यते । दशसूनावत्सु यावान्दोषस्तावानेकस्मिंश्चक्रवति तैलिके । यावान्दशसु तैलिकेषु दोषःतावा-
नेकध्वजवति शौण्डिके । यावान्दशसु ध्वजवत्सु दोषस्तावानेकत्र वंशवति । यावान्दशसु वेशवत्सु दोषस्तावानेकत्र रा-
जनि उत्तरोत्तरनिन्दाचेयंपूर्वदातृसंभवे सत्युत्तरवर्जनार्थमपेक्षया योज्यते ॥ ८५ ॥

(४) राघवनन्दः । एतेषांसौनिकादिचतुर्णामपि प्रतिग्रहो न कार्यः दोषवत्वेन्येतेषांनाराजन्यनृपतुल्यतेत्याह दशेति ।
सूनायादोषप्रायश्चित्तार्थसंकरीकरणंस्त्रोद्भूतेभाणामित्युक्तं । तद्दशगुणश्चक्रिणि तद्दशगुणःशौण्डिके तद्दशगुणोवेश्यायां ।

(८५) दशध्वजसमोवेशोदशवेशसमोनृपः=दशध्वजसमा वेश्यादश वेश्यासमोनृपः (ज, झ, ट, ठ, ड, ढ)

तद्वशगुणोत्पत्तिरिति आपदिपूर्वपूर्वालिभउत्तरोत्तरस्य धनं ग्राह्यमिति तात्पर्यं उत्तरोत्तरस्य दोषाधिक्यात् । गोविन्दराजस्तु दशवेश्यासम इति पठति ॥ ८५ ॥

(५) नन्दनः । एतेषां तारतम्यमाह दशेति । नृपः अराजन्यप्रसूतिरिति विभक्तिपरिणमम्यानुषज्यते । राजनिन्दा-
र्थो दशसूनादीनामुपन्यास इति केचित् ॥ ८५ ॥

(६) रामचन्द्रः । चक्री तैलिकः दशसूनासमः ॥ ८५ ॥

दशसूनासहस्राणि योवाहयति सौनिकः ॥ तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः ॥ ८६ ॥

(१) मेधातिथिः । सूनया चरति सौनिकः । वाहयति स्वार्थसाधने व्यापारयति । घोरः भीषणो यं नरकादिहेतुत्वात्
अवयुत्यवादेन राजप्रतिग्रहे निन्दा ॥ ८६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दशसूनासहस्राणीत्युक्तार्थसङ्केपः ॥ ८६ ॥

(३) कुड्डूकः । सूनया चरतीति सौनिकः । एवं संकलनया यत्सौनिको दशसहस्राणि स्वार्थं व्यापादयति तेन तुल्यो-
राजा मन्वादिभिः स्मृतः । तस्मात्तस्य प्रतिग्रहो नरकहेतुत्वाद्भयानकः क्षत्रियस्यापि च ॥ ८६ ॥

(४) राघवानन्दः । सूनया चरति सौनिकः । एवं संकलनया यानि सूना दशसहस्राणि वाहयति स्वार्थं व्या-
पारयति यः स सौनिकः तेन तुल्यो राजा अराजन्यस्तस्य प्रतिग्रहो घोरो भीषणः ॥ ८६ ॥

(५) नन्दनः । वाहयति प्रवर्तयति राजा अराजन्यप्रसूतिरित्येव ॥ ८६ ॥

(६) रामचन्द्रः । दशेति । दश सूनासहस्राणि यः वाहयति तेन तुल्यः स्मृतो राजा सौनिकः । सूना प्राणिहिंसा
अराजन्यप्रसूतितः राज्ञः प्रतिग्रहो घोरः ॥ ८६ ॥

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः ॥ स पर्यायेण यातीमान् नरकानेकविंशतिम् ॥ ८७ ॥

(१) मेधातिथिः । लुब्धआदानशीलः सामन्तकादिभ्यः श्रुतशीलं च विज्ञायेत्यादि । उच्छास्त्रवर्ती शास्त्रमतिक्रम्य
व्यवहरति । असदृष्टपरस्त्रीहरणादिना पर्यायेणैकत्र फलमनुभूयान्मत्र गच्छति । नरकशब्दो निरतिशयदुःखवचनः ।
केवलदुःखश्रवणार्थापत्या वा देशविशेषवचनः । एकविंशतिसंख्याऽर्थवादः ॥ ८७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । राज्ञो राजन्यजातीयस्यापि लुब्धस्य वा शास्त्रविरुद्धाचरणशीलस्य वा यो गृह्णाति
तस्य वक्ष्यमाणो दोषः । पर्यायेण क्रमेण ॥ ८७ ॥

(३) कुड्डूकः । यो राज्ञः रूपणस्य शास्त्रोल्ङ्घनेन प्रवर्तमानस्य प्रतिग्रहं करोति स क्रमेणैतान् वक्ष्यमाणैकविंश-
तिनरकान् गच्छति ॥ ८७ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तदूषणमाह यो राज्ञ इत्यनुवादमात्रं घोरनरकसंबन्धाय । लुब्धस्य परधनगर्धिनः रूपण-
स्य वा । एकविंशतिनरकलक्षणं मार्कण्डेयपुराणोक्तं ज्ञेयम् । याति भोगाय गच्छतीत्यर्थः ॥ ८७ ॥

(५) नन्दनः । राजन्यप्रसूतेरपि लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनो धनप्रतिग्रहे दोषमाह यदिति । इमान् वक्ष्यमाणान् ॥ ८७ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतादृशस्य राज्ञः यः प्रतिग्रहं गृह्णाति सः पर्यायेण क्रमेण इमान् एकविंशतिनरकान् याति ॥ ८७ ॥

तामिस्रमन्धतामिस्रमहाराौरवरौरवौ ॥ नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च ॥ ८८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नरकमितिकालसूत्रविशेषणम् ॥ ८८ ॥

(३) कुड्मूकः । पूर्वश्लोके सामान्यतोनरकानिमानेकविंशतिमित्युक्तमिदानींतानेव नामतो निर्दिशति तामिस्रमिति त्रिभिः । एतेषां नरकाणां स्वरूपं मार्कण्डेयपुराणादिषु विस्तरेणोक्तं तत्रैवावगन्तव्यम् ॥ ८८ ॥ ८९ ॥ ९० ॥

(५) नन्दनः । नरकानाह तामिस्रमिति ॥ ८८ ॥

(६) रामचन्द्रः । नरकाणां नामान्याह तामिस्रमिति त्रिभिः ॥ ८८ ॥

संजीवनं महावीचिं तपनं संप्रतापनम् ॥ संहतं च सकाकोलं कुड्मलं प्रतिमूर्तिकम् ॥ ८९ ॥

लोहशङ्कु मृजीषं च पन्थानं शात्मलीनदीम् ॥ असिपत्रघनं चैव लोहदारकमेव च ॥ ९० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पन्थानं सदा वर्त्मवहनेन श्रमहेतुं नदीवैतरणी । लोहचारकं यत्र तमलोहोपरि-
गम्यते । तामिस्रादयोन्धःसंज्ञानरकभेदाः ॥ ९० ॥

एतद्विद्वन्तो विद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः ॥ न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति प्रेत्य श्रेयोऽभिकांक्षिणः ॥ ९१ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्य प्रतिग्रहनिषेधविधेरुपसंहारः । राज्ञः प्रतिग्रहो विविधदुःखनरकादिहेतुरिति जानन्तो-
विद्वांसो ब्राह्मणान् राज्ञः प्रतिगृह्णीयुः । प्रेत्य भवान्तरे । श्रेयः कल्याणम् । येकांक्षन्ति कामयन्ते । प्रेत्येति तु ल्यबन्तप्रति-
रूपकं शब्दान्तरम् । ब्रह्मवेदस्तवदन्ति पठन्ति । विद्वद्ग्रहणं ब्रह्मवादिग्रहणं च दुःखातिशयदर्शनार्थम् । तेषां चातीव प्रतिग्र-
हादोषः । वक्ष्यति तस्मादपि विद्वान्बिभीयादिति ॥ ९१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विद्वांसो वेदार्थज्ञाः ब्रह्मवादिनो वेदाभ्येतारः राज्ञो राजमात्रस्य लुब्धत्वादिदोषा-
शङ्कया ॥ ९१ ॥

(३) कुड्मूकः । प्रतिग्रहो विविधनरकहेतुरिति जानन्तो ब्राह्मणा धर्मशास्त्रपुराणादिविदो वेदाभ्यायिनो जन्मान्तरे श्रेयः-
कामवन्तो न राज्ञः प्रतिगृह्णीयुः विदुषो हि प्रतिग्रहेनातीव दोषः । यतो वक्ष्यति तस्माद्विद्वान्बिभीयादिति । तेषामपि नि-
षिद्धो राजप्रतिग्रहः प्रचुरप्रत्यवायफलक इति दर्शयितुं विद्वद्ग्रहणं ब्रह्मवादिग्रहणं च ॥ ९१ ॥

(४) राघवानन्दः । एतदुक्तं नरकसाधनत्वं । विद्वांसो धर्मशास्त्रपुराणादिविदः । ब्रह्मवादिनो वेदार्थनिपुणा अपि
प्रेत्य श्रेयोभिकांक्षिणः अराजन्यप्रसूते राज्ञो न प्रतिगृह्णन्तीत्यर्थः ॥ ९१ ॥

(५) नन्दनः । उक्तं निगमयति एतदिति । एतदेकविंशतिनरकपतनम् । राज्ञः क्षत्रियस्याक्षत्रियस्य च लुब्धस्यो-
च्छास्त्रवर्तिनः ॥ ९१ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्रह्म वेदं वदन्ति ते ब्रह्मवादिनः एतत् नरकस्वरूपं विदन्तः जानन्तः । राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति । की-
दृशा ब्राह्मणाः प्रेत्य परलोके श्रेयोभिकांक्षिणः ॥ ९१ ॥

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ॥ कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च ॥ ९२ ॥

(१) मेधातिथिः । त्रियामा रात्रिस्तस्याः पश्चिमो ब्राह्मो मुहूर्तस्तत्र निद्रां त्यजेत् । विबुद्धश्च तस्मिन्काले धर्मार्था-
वनुचिन्तयेत् । यस्मिंश्च धर्मआसेव्यमाने यादृशः शरीरक्लेशो भवति तमपि चिन्तयेत् । स्वल्पश्चेद्धर्मो महान्तं कायक्लेशं जनयति

(८९) कुड्मलं प्रतिमूर्तिकम् = कुड्मलं पूतिमूर्तिकम् (क, ख, ग, घ, च, ण, अ, इ)

संहतम् = संघातम् (ल, न, ब, य, र, भ)

योधर्मान्तरविरोधी तंपरिहरेत् । अर्थोऽपि सेवादिरतिक्लेशकरः । सोऽपि वर्ज्यः । सर्वतएवात्मानं गोपायेदिति । अनिश्चितं न किंचित्कुर्यात् । न च मनोराज्यादिविकल्पान्कुर्यात् । स्वभावो ह्ययंपुरुषाणामसति बाह्ये व्यापारे मनसोविकल्पाः परद्रव्याभिलाषादिरूपाः समद्भवन्ति । तन्निवृत्त्यर्थमिदंपुरुषार्थम् । तस्यावेलायां साध्यसाधनभावेन चिन्त्योवेदस्य तत्त्वार्थः । रहस्यमात्मज्ञानंचिन्तयेद्वेदान्तविधिनाऽभ्यस्येत् । अथवा कर्मकाण्डेऽपि योवेदस्तस्यार्थस्तन्निरूपयेत् । अयंविधिरयमर्थइदं कर्मैवं रूपमियमत्र देवतेदं द्रव्यमयमत्र अधिकारीयमितिकर्तव्यतेत्यादिस्वबुद्ध्यानिश्चिनुयात् । व्याख्यातृणां मतभेदाद्धेतून्निरूपयेदस्य सम्यग्ज्ञानमस्य भ्रान्तिरिति ॥ ९२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्राह्मोमुहूर्तउषःकालः । धर्मार्थौ धर्मार्थसाधने अनुचिन्तयेद्ब्रह्मपोहाभ्यांविचित्रं निर्धारयेत् । एतद्वागिणः कार्यमुक्तं । विरक्तस्य चाह कायक्लेशानिति तन्मूलांस्तथा वेदस्य तत्त्वतात्पर्यविषयमर्थब्रह्म ॥ ९२ ॥

(३) कुङ्कुमः । ब्राह्मोमुहूर्तौरात्रेः पश्चिमोयामः ब्राह्मी भारती तत्प्रबोधहेतुत्वात् । मुहूर्तशब्दोऽत्र कालमात्रवचनः । तत्र बुध्येत । दक्षेणापि प्रदोषपश्चिमौ यामौ वेदाभ्यासेन तौ नयेत् । यामद्वयं शयानो हि ब्रह्मभूयाय कल्पतइति ब्रुवता ॥ तत्र प्रबोधोऽभ्यनुज्ञातः । गोविन्दराजस्तु रात्रेः पश्चिमे मुहूर्ते बुध्येतेत्याह । धर्मार्थौ च परस्परविरोधेनानुष्ठानार्थमवधारयेत् । तथा धर्मार्थाजनेहेतून्कायक्लेशान्निरूपयेत् । यदि महान्कायक्लेशोऽल्पौ च धर्मार्थौ वा तदा तंपरिहरेत् । वेदस्य तत्त्वार्थब्रह्मकर्मात्मकं निश्चिनुयात्तस्मिन्समये बुद्धिप्रकाशात् ॥ ९२ ॥

(४) राघवानन्दः । स्नातकस्य कृत्यंप्रतिजानीते ब्राह्मेति रात्रेः पश्चिमोयामो ब्राह्ममुहूर्तः ब्राह्मी भारती तत्प्रबोधहेतुत्वात् । मुहूर्तशब्दोऽत्र कालमात्रवचनः तत्र बुध्येत । दक्षेणापि प्रदोषपश्चिमौ यामौ वेदाभ्यासेन तौ नयेत् । यामद्वयं शयानो हि ब्रह्मभूयाय कल्पतइति ब्रुवता तत्र बोधोऽभ्यनुज्ञातः । गोविन्दराजस्तुरात्रेः पश्चिमे मुहूर्ते बुध्येतेति तन्मूलान् धर्मार्थाश्रयहेतून् । तत्रापि स्वल्पफलब्रह्मायासांस्त्यजेदित्यर्थः । वेदतत्त्वार्थं ब्रह्म चिन्तयेदिति भावः ॥ ९२ ॥

(५) नन्दनः । अथसंक्षेपतोनित्यकर्तव्यमाह ब्राह्मइति । ब्राह्मोमुहूर्तो रात्रेः पश्चिमोयामः ॥ ९२ ॥

(६) रामचन्द्रः । तन्मूलान्धर्मार्थमूलान् कायक्लेशान् चिन्तयेत् । तत्त्वार्थमेव चिन्तयेत् ॥ ९२ ॥

उत्थायां वश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः ॥ पूर्वा सन्ध्यां जपं स्तिष्ठेत्स्वकाले चापरां चिरम् ॥ ९३ ॥

(१) मेधातिथिः । अनन्तरंप्रभातायां शयनं रात्रौ जह्यात् । आवश्यकं मूत्रविट्यागः । प्रायेण तस्यावेलायां पुरुषस्तंकुर्वीत । तत्र आवश्यकस्त्याग उच्यते मुखदन्तधावनादिश्च तं कृत्वा कृतशौचः एकालिङ्गेत्यादिविधिनाऽऽचान्तः । समाहितो विकल्पान्तरतिरस्कारेण सन्ध्यां तिष्ठेत् । जपन्सावित्रीं भगवतिसवितरि मनौदध्याच्चिरं । अर्कदर्शनावधिः कालोक्तः सन्ध्यासमयः । ततोऽप्यधिककालं जपेदायुः कामइत्येवमर्थमयंप्रागुक्तः सान्ध्योविधिरन्तर्हितः । अपरांचसन्ध्यांस्वकाले अस्तमयसमयादारभ्य तारकोदयादूर्ध्वमपि ॥ ९३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आवश्यकं मूत्रत्यागादि । जपं स्तिष्ठेदिति षड्जपेदित्यर्थः । स्वकाले स्वीये अपरांसायन्तर्नीचिरमिति पूर्वसन्ध्यातोधिकजपकरणमुक्तं । एतच्चासीनेनेति ब्रह्मचारिप्रकरण उक्तमेव ॥ ९३ ॥

(३) कुङ्कुमः । ततउषःकाले शय्याया उत्थाय सति वेगे मूत्रपुरीषोत्सर्गं कृत्वा अत्र कृतवक्ष्यमाणशौचोऽनन्यमनाः पूर्वासन्ध्यांचिरगायत्रीजपंकुर्वन्वर्तेतार्कदर्शनात् । अयंविधिः प्रातः सन्ध्यायामुक्तः । उदयादूर्ध्वमपि जपेदायुरादिकामइति विधानार्थोयमारम्भः । अपरामपि सन्ध्यांस्वकाले प्रारभ्य तारकोदयादूर्ध्वमपि जपन्नासीत् ॥ ९३ ॥

(४) राघवानन्दः । उत्थाय शय्यातः । विष्मूत्रोत्सर्गादिकमाचरेदित्यावश्यकम् । कृतशौचः एकालिङ्गेत्यादिना । समाहितआचान्तःपूर्वामासूर्योदयाज्जपंस्तिष्ठेत् । अपरां सायन्तनीं स्वकाले तारकोदयादूर्ध्वमपि जपन्नासीतेतिचिरं सम्यगृक्षविभावनादित्यत्रोक्तम् ॥ ९३ ॥

(५) नन्दनः । स्वकालेऽर्धास्तमितभास्करे । चिरमासीतेत्यध्याहार्यम् ॥ ९३ ॥

(६) रामचन्द्रः । उत्थाय आवश्यकं मूत्रपुरीषादि कृत्वा । कृतशौचः पूर्वोसन्ध्यां गायत्रीं जपन् स्व काले सूर्योदयपर्यन्तं तिष्ठेत् । अपरां सायंकाले चिरं तिष्ठेत् । मक्षत्रदर्शनपर्यन्तं जपंस्तिष्ठेत् । आतारकोदयात् ॥ ९३ ॥

ऋषयोदीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवामुयुः ॥ प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ ९४ ॥

(१) मेघातिथिः । यदर्थोऽयं पुनर्विधिस्तद्दर्शयति । आयुरादिफलकामोदीर्घकालसन्ध्याजपंकुर्यात् । सत्यपि नित्यत्वे दैर्घ्याद्गुणात्फलमिदं अनग्निकस्योषितस्यैतत्संभवति । अन्यस्य त्वग्निहोत्रकालोपरोधोदीर्घसन्ध्याविधिसंपादनात् । दीर्घसन्ध्यागुणत उच्यते । सन्ध्यासहचरितेजपादिविधौ सन्ध्याशब्दो वर्तते । दीर्घासन्ध्यैषामिति बहुव्रीहिः । ऋषियहणमर्थवादः ॥ ९४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अवायुरवामुवन् । यशः परैः स्वगुणानां ज्ञानं कीर्तिस्तेषां परैः कीर्तनम् ॥ ९४ ॥

(३) कुल्लूकः । आयुरादिकामाधिकारोऽयमिति दर्शयन्नाह ऋषय इति । सन्ध्याशब्दोऽत्र सन्ध्यानुष्ठेयजपादिपरः यस्मादृषयोदीर्घसन्ध्यानुष्ठानाद्दीर्घमायुर्जावन्तः प्रज्ञायशोऽमृतां च कीर्तिमध्ययनादिसंपन्नं यशश्च प्राप्नुयुः तस्मादायुरादिकामश्विरसन्ध्यामुपासीत ॥ ९४ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रार्थवादमाह ऋषय इति । दीर्घसन्ध्यत्वात्सन्ध्याशब्दोऽत्रानुष्ठितजपसङ्ख्यापरः सहस्रपरमामित्युक्तेः ॥ ९४ ॥

(५) नन्दनः । सन्ध्योपासनं प्रशंसति ऋषय इति । दानधर्मकृताख्यातिर्यशः । त्यागकृताकीर्तिः ॥ ९४ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रज्ञादिसर्वं अवापुः ॥ ९४ ॥

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाप्युपाकृत्य यथाविधि ॥ युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान्विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥ ९५ ॥

(१) मेघातिथिः । श्रावणयुक्ता पौर्णमासी श्रावणी । एवं प्रौष्ठपदी । तत्रोपाकृत्योपाकर्माख्यं कर्म कृत्वा यथाविध्यधीयीत । प्राक्कूलानित्यादिप्रागुक्तो विधिः स्मर्यते । युक्तस्तत्परः । छन्दांसि वेदान् । छन्दः शब्दोऽयं वेदवचनो गायत्र्यादिवचनस्तेन ब्राह्मणादीनप्यधीयानस्यैव परमविधिः । उभयत्रापि चायं युक्त एव प्रत्ययाविशेषात् । अयं विकल्पोऽयवस्थितः । छन्दोगाः प्रौष्ठपद्यामुपाकुर्वन्ति बह्वचाअध्वर्यवः श्रावण्याम् ॥ ९५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्रावणस्य पूर्णिमाश्रावणी । भाद्रपदस्य प्रौष्ठपदी उपाकृत्य वेदमारभ्य यथाविधि गृहोक्तविधिना युक्तः सर्वदा युक्तः । अध्यापयेदिति वाच्ये अधीयीतेति अध्येतुं ब्रह्मचारिणोऽप्ययमेवाध्ययनकाल इति दर्शयितुमुक्तम् । अध्ययनपदेन वाच्याध्यापनमपि गृह्यते न त्वध्यापनपदेनाध्ययनमिति स्नातकप्रकरणे त्वस्याभिधानं । उपाकर्मात्सर्गहोमयोराचार्यस्योपासने करणार्थम् । अर्धपञ्चमान् पञ्चमस्यार्धेन सहितांश्चतुरो मासान् । श्रावण्यांचेत् ॥ ९५ ॥

(३) कुल्लूकः । श्रावणस्य पौर्णमास्यां भाद्रपदस्य वा स्वगृहानुसारेणोपाकर्माख्यं कर्म कृत्वा सार्धांश्चतुरो मासान् ब्राह्मणउद्युक्तो वेदानधीयीत ॥ ९५ ॥

(४) राघवानन्दः । आवण्यां भाद्रपदपौर्णमास्यांवा स्वगृहानुसारेण उपाकर्म कृत्वा छन्दांसिमन्त्रब्राह्मणादीनि छन्दःशब्दस्यात्र वेदवचनत्वात् सार्धचतुरोमासानधीयीत ॥ ९५ ॥

(५) नन्दनः । इदानीमुपाकरणविधिमाह आवण्यामिति । अवणेनयुक्तापौर्णमासीआवणी । तथाप्रौष्ठपदनक्षत्रयुक्ताप्रौष्ठपदी । अथछन्दांसिमन्त्रान्गायत्रीजगत्यादिरूपान् उभयत्रार्धपञ्चमान् ॥ व्यवस्थितविषयोऽयं विकल्पः ॥ ९५ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्वाभ्यामाह आवण्यामिति । यथाविधि स्वगृहोक्तविधिना उपाकृत्य वेदमारभ्य उपाकरणसंज्ञकर्म कृत्वा आवण्यां प्रौष्ठपद्यांवा छन्दोगाः प्रौष्ठपद्यांबद्ध्वा अन्वयवः आवण्यां कुर्युः विप्रः अर्धपञ्चमोमासोऽग्रे येषांसार्धचतुष्टयानित्यर्थः अधीयीत पठेत् ॥ ९५ ॥

पुष्ये तु च्छन्दसां कुर्याद्विहिरुत्सर्जनं द्विजः ॥ माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ॥ ९६ ॥

(१) मेधातिथिः । अर्धपञ्चमेषु मासेषु गतेषु यः पुष्यो नक्षत्रंतत्रोत्सर्जनं कर्तव्यम् । उत्सर्गोक्तकर्म गृह्यकारेणाम्नातम् । बहिरित्यनावृतेदेशे । अनयोरुपाकर्मोत्सर्गयोर्गृह्यात्स्वरूपज्ञातव्यम् ॥ ९६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तिष्ये पौषमासे पुष्यर्क्षे भाद्र्यांचेन्माघस्य शुक्लप्रतिपदिशुक्लः शुक्लः पक्षः । प्रथमेहनि प्रतिपदि एवं च दर्शान्तोमासो मनोरपेक्षितइति गम्यते । उत्सर्जनं निरन्तरवेदाध्ययनत्यागार्थकर्म ॥ ९६ ॥

(३) कुल्लूकः । ततः पक्षाधिकेषु चतुर्षु मासेषु यः पुष्यस्तत्र ग्रामाद्विहर्गत्वा स्वगृहानुसारेणोत्सर्गख्यं कर्म कुर्यात् । अथवा माघशुक्लस्य प्रथमेहनि पूर्वाह्णे कुर्यात् । माघशुक्ले च विधिः प्रौष्ठपद्यां येनोपाकर्म न कृतं तद्विषयः ॥ ९६ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र मासे यः पुष्यो नक्षत्रंतत्र स्वगृहानुसारेण ग्रामाद्विहर्गत्वा उत्सर्गख्यं कर्म कुर्यात् शुक्लस्य पक्षस्येति शेषः । प्रथमेहनि प्रतिपदि ॥ ९६ ॥

(५) नन्दनः । बहिर्यामाच्छन्दसामुपाकृतानामुत्सर्जनमुत्सर्जनख्यं कर्म । प्रथमेऽहनि प्रथमायां तिथौ । पुष्येऽन्वयूणां माघे च्छन्दोगानाम् ॥ ९६ ॥

(६) रामचन्द्रः । बहिः ग्रामाद्विहः । अर्धपञ्चमेषु गतेषु पुष्ये नक्षत्रे पौर्णिमायां छन्दसां वेदानां उत्सर्जनं वेदसमार्धं द्विजः कुर्यात् ॥ ९६ ॥

यथाशास्त्रं तु कृत्वैवमुत्सर्गच्छन्दसांबहिः ॥ विरमेत्पक्षिणीं रात्रिं तदेवैकमहर्निशम् ॥ ९७ ॥

(१) मेधातिथिः । उत्सर्गकृत्वा द्वेअहनीरात्रिरित्यन्तनाधीयीत तदहर्निशं द्वितीयं चाहरेव न रात्रिरित्येतावन्तं कालं विरमेन्नाधीयीत । उभयतोहः पक्षारात्रिः पक्षिणी । तद्वा यस्मिन् हन्युत्सर्गः कृतस्तदहः सैव च रात्रिः । अनध्याये द्वितीयस्मिन् हन्यध्येतव्यम् । आद्ये तु पक्षे द्वितीयमहरनध्यायोरात्रौ त्वध्ययनमुच्यते ॥ ९७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आगामिवर्तमानाहर्गुक्तायां निशि पक्षिणीत्यमरः ॥ पक्षिणीं रात्रिमुत्तरदिवसास्तपर्यन्तं विरमेदध्यापनात् । तदेकमहर्निशं यस्मिन् हनि उत्सर्गकृतः तिष्यमाधोत्सर्गयोः क्रमादध्ययनपक्षद्वयान्वयः ॥ ९७ ॥

(३) कुल्लूकः । एवमुक्तशास्त्रानुसारेण ग्रामाद्विहच्छन्दसामुत्सर्गख्यं कर्म कृत्वा पक्षिणीं रात्रिविरमेन्नाधीयीत । द्वे दिने पूर्वापरे पक्षाविव यस्यामध्यवर्तिन्यारात्रे सा पक्षिणी रात्रिः । अस्मिन्पक्षे तूत्सर्गाहो रात्रे द्वितीयदिने चान्हि नाध्ये-

(९७) तदेवैकमहर्निशम् = तद्वाप्येकमहर्निशम् (क, ख, ग, घ, च, म)

तव्यं द्वितीयरात्रौ त्वध्येतव्यम् । अथवा तमेवैकमुत्सर्गाहोरात्रमनभ्यायंकुर्यात् । विद्यानैपुण्यकामप्रत्ययमहोरात्रानभ्याय-
विधिः ॥ ९७ ॥

(४) राघवानन्दः । विरमेत् नाधीयीत पक्षिणी अहर्द्वययुतारात्रिः । तथाचामरः । आगामिवर्तमानहर्द्युक्तायां-
निशि पक्षिणीति । यद्वा यस्मिन्नहनि उत्सर्गः कृतस्तदहस्तांरात्रिं च विरमेदित्यनुषज्यते ॥ ९७ ॥

(५) नन्दनः । आगामिवर्तमानहर्द्युक्तायां निशि पक्षिणीत्यमरः । विरमेद्देदाध्ययनात् ॥ ९७ ॥

(६) रामचन्द्रः । यथाशास्त्रं यथाविधि छन्दांसि वेदानां उत्सर्गबहिः कृत्वा पक्षिणीं रात्रिं विरमेत् ॥ ९७ ॥

अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत् ॥ वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु संपठेत् ॥ ९८ ॥

(१) मेधातिथिः । अतोऽस्मादुत्सर्गकर्मणः कृतादूर्ध्वपरतः शुक्लपक्षेषु छन्दांसि मन्त्रब्राह्मणसमुदायात्मकान्वेदा-
न्यठेत् । अङ्गानि शिक्षयेत्सूत्रव्याकरणादीनि कृष्णपक्षेषु संपठेत् ॥ ९८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । छन्दांसि वेदान् ॥ ९८ ॥

(३) कुल्लूकः । उत्सर्गानध्ययनादूर्ध्वमन्त्रब्राह्मणात्मकं वेदं शुक्लपक्षेषु संयतः पठेत् । सर्वाणि तु वेदाङ्गादीनि शि-
क्षाव्याकरणादीनि कृष्णपक्षेषु पठेत् ॥ ९८ ॥

(४) राघवानन्दः । शुक्लेषु द्वितीयादित्रयोदश्यन्तासु शुक्लपक्षतिथिषु वेदावेदाङ्गानीति वेदाङ्गानि शिक्षाकल्पोव्या-
करणानिरुक्तं छन्दोज्योतिषमिति षट् । तदुक्तं छन्दःपादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते । ज्योतिषामयनचक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमु-
च्यते । शिक्षाघ्राणं तु वेदस्य मुखव्याकरणं स्मृतम् ॥ ९८ ॥

(५) नन्दनः । अत ऊर्ध्वमुत्सर्गादूर्ध्वम् ॥ ९८ ॥

(६) रामचन्द्रः । अत ऊर्ध्वं उत्सर्गान्तरं । शुक्लेषु पक्षेषु छन्दांसि पठेत् वेदाङ्गानि कृष्णपक्षेषु पठेत् शिक्षा-
कल्पादीनि ॥ ९८ ॥

नाविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसन्निधौ ॥ न निशान्ते परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत् ॥ ९९ ॥

(१) मेधातिथिः । यत्र वर्णस्वराभिव्यक्तिः स्फुटा न भवति तदविस्पष्टम् । तच्च द्रुतायां वृत्तौ प्रायेण भवति ।
निशान्ते पश्चिमरात्रिभागे । सुमोत्थितो यदाधीयीत पुनः श्राम्येत्तदा न शयीत न निशान्ते । परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य
शयीत तु एव युक्तः पाठः ॥ ९९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शूद्रसन्निधौ न च जनानां बहूनां सन्निधौ निशान्ते ब्रह्माधीत्य परिश्रान्तोऽपि न स्वपेदि-
त्यन्वयः ॥ ९९ ॥

(३) कुल्लूकः । स्वरवर्णाद्यभिव्यक्तिशून्यं शूद्रसन्निधौ च नाधीयीत । तथा रात्रेः पश्चिमे यामे सुमोत्थितो वेदमधी-
त्य श्रान्तो न पुनः स्वप्यात् ॥ ९९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच नेति निशान्ते पश्चिमे यामे ब्रह्माधीत्य अन्ते श्रान्तः पुनर्न स्वपेत् ॥ ९९ ॥

(५) नन्दनः । ब्रह्माधीत्य परिश्रान्तः परिश्रान्तात्माऽपि ॥ ९९ ॥

(६) रामचन्द्रः । शूद्रजनसमूहसन्निधौ नाधीयीत । अविस्पष्टं वेदं नाधीयीत निशान्ते निशाग्रान्ते ब्रह्म वेदं
अधीत्य पठित्वा परिश्रान्तः सन् पुनः न स्वपेत् ॥ ९९ ॥

यथोदितेन विधिना नित्यं छन्दस्कृतं पठेत् ॥ ब्रह्मच्छन्दस्कृतं चैव द्विजोयुक्तो ह्यनापदि ॥ १०० ॥

(१) मेधातिथिः । छन्दांसि गायत्र्यादीन्यभिप्रेतानि तैः कृतं युक्तं ब्रह्मवर्त्म । अनकार्थत्वात्करोतेरयमत्रार्थो-
व्याख्यायते । यथागोमयान्कुर्वितिसंहारे पृष्ठं कुर्वित्युन्मर्दने एवमत्र युजेरर्थे वर्तते । ब्रह्मचछन्दश्च ब्रह्मच्छन्दसी ताभ्यां
युक्तं ब्रह्मच्छन्दस्कृतम् । यजूषि गायत्र्यादियुक्ताश्च मन्त्राः । एकस्मिन्नेवावस्थानके पठन्ति । न यथाबाहुच्येच्छान्दोग्ये-
च विभागेनैकस्मिन्ग्रन्थे मन्त्रा अन्यत्र ब्राह्मणम् । एवं प्रकारभेदाद्देवानामेवं युक्तमिति पूर्वं व्याख्यातवन्तः । यथोदितेन पूर्वो-
विधिरनापद्युपसंहियते । आपदि अध्यापकस्यासंनिधानं बहुदेवताविभागमपेक्षमाणस्य तत्रागुणवतः । सहविस्मृत्य-
स्यात् । तस्मान्नापद्ययं विभागो नादरणीयः ॥ १०० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्रह्म ब्राह्मणं तत्र वेदत्वाविशेषेभ्योपत्काल एकदेशमात्राध्ययने कर्तव्ये छन्दस्कृतमेव
विधिना गुरुकुलवासादिपूर्वकं पठेत् । न तु ब्राह्मणभागं । मन्त्राणां साक्षात्कर्माङ्गतयान्तरङ्गत्वात् । यथा विधिगृहीतानामेव
च विनियोगार्हत्वात् । ब्राह्मणं तूपदेशमात्रार्थत्वाद्दहिरङ्गम् । अतो नियमेनाधीतादप्यर्थप्रतिपत्तिविरोधः । अनापदितु कृत्स्न-
स्य वेदस्य नियमेनाभ्येतव्यत्वात् । ब्रह्मच्छन्दस्कृतं युक्त उद्युक्तो नियमेनैव पठेदित्यर्थः । यदप्यनध्ययनादिकमध्ये तु ब्रह्मचा-
रिणः प्रकरणे वक्तुं युक्तं । कथंचित्सन्ध्यादिवत्सातकव्रतत्वमप्याविष्कर्तुमत्र संक्षेपतः पुनरुच्यते । तथापि गहनत्वादस्यार्थ-
स्य ब्रह्मचारिणश्चाव्युत्पन्नत्वात्सातक एव ज्ञातुमेतच्छ्रौतीति दर्शयितुमत्रैवोक्तं । सन्ध्याशौचादिकं त्वस्यापि तत्काल एव
वेद्यमित्याशयेन तत्रोक्तम् ॥ १०० ॥

(३) कुल्लूकः । यथोक्तविधिना नित्यं छन्दस्कृतं गायत्र्यादिछन्दोयुक्तं मन्त्रमात्रं पठेत् मन्त्राणामेव कर्मान्तरङ्गत्वात् ।
अनापदि सम्यक्करणादौ सति ब्रह्म ब्राह्मणं मन्त्रजातं च यथोक्तविधिना युक्तः सन्दिजः पठेत् ॥ १०० ॥

(४) राघवानन्दः । ब्रह्मात्र वेदः । कृतं गायत्र्यादिछन्दोयुक्तं मन्त्रजातं । अनापदि धारणशक्तौ ॥ १०० ॥

(५) नन्दनः । उपसंहरति यथेति । यथोदितेन विधिनाऽर्धपञ्चमासान्पठेदित्युक्तेन विधिना । छन्दस्कृतं गायत्र्या-
दिछन्दोनुगतं मन्त्रभागम् । नित्यमापद्यनापदि च । अनापदि ब्राह्मणभागं छन्दस्कृतं चोभयं पठेत् । एतदुपाकृत्याध्ययनं
स्नातानामेवेति प्रकरणसामर्थ्याद्विज्ञेयं ब्रह्मचारिणमित्यभिधानाच्च ॥ १०० ॥

(६) रामचन्द्रः । छन्दस्कृतं मन्त्रभागं पठेत् ब्रह्मब्राह्मणं छन्दस्कृतं मन्त्रभागसहितं पठेत् ब्राह्मच्छन्दस्कृतं ब्रा-
ह्मणभागं पठेत् ब्रह्मच्छन्दसी ताभ्यां युक्तं अनापदि युक्तः नियमवान् द्विजः ॥ १०० ॥

इमान्नित्यमनध्यायानधीयानो विवर्जयेत् ॥ अध्यापनं च कुर्वाणः शिष्याणां विधिपूर्व-

कम् ॥ १०१ ॥

(१) मेधातिथिः । इमान्वक्ष्यमाणाननध्यायानधीयानो विवर्जयेत् । अध्यापनं च कुर्वाणः अध्यापनग्रहणमनधीय-
तो ग्रहणार्थमभ्यासार्थं च । नित्यम् नोत्सर्गादेव प्रभृति किं तर्हर्धपञ्चमेव पिमासेषु पाकर्मणः प्रभृति । शिष्याणाम् अनुवादः ॥ १०१

(२) सर्वज्ञनारायणः । अधीयानो गुरोः । स्वतो वा पठन् ॥ १०१ ॥

(३) कुल्लूकः । इमान्वक्ष्यमाणाननध्यायान्सर्वथा यथोक्तविधिनाऽधीयानः शिष्या अध्यापनं च कुर्वाणो गुरुर्वर्जयेत् ॥ १०१

(४) राघवानन्दः । इमान्वक्ष्यमाणान् ॥ १०१ ॥

(५) नन्दनः । इमान्वक्ष्यमाणान् । नित्यं ब्रह्मचर्याश्रमेऽपीत्यर्थः ॥ १०१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अथ अनध्यायानाह इमानिति । इमान् वक्ष्यमाणलक्षणान् अनध्यायान् । द्विजः । विसर्जयेत् कीदृशः विधिपूर्वकं शिष्याणामध्यापनं कुर्वाणः ॥ १०१ ॥

कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा पांसुसमूहने ॥ एतौ वर्षास्वनध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते ॥ १०२ ॥

(१) मेधातिथिः । अनिलोवायुः । वेगेन वाति वायौ वाय्वन्तरसंघर्षाद्वातिः श्रूयते यत्र सकर्णश्रवोवायुः । कर्णाभ्यां श्रूयते यः सकर्णश्रवः । साधनं कृते तिसमासः । अवस्थाविशेषोपलक्षणार्थं कर्णग्रहणम् । श्रूयते कर्णाभ्यामेव । तेन यदैवायुशब्दः श्रूयते । तदानाभ्येत्यमम् । पांसून्समूहति पांसून्समाहरति पांसुसमूहनः । पांसुर्धूलिः । उपलक्षणंचैतत् । तथाभूतस्य वायोर्वा यतस्ततश्च वृष्टे देवे यदि वायुरीदृशोवाति तावत्कालेऽनध्यायः । अध्यायज्ञा अध्यापनविधिज्ञाः ॥ १०२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । रात्रौ श्रवणोद्देशकशब्दकारिणि दिवा च पांसुसमूहनसमर्थवेगवति वायौ वात्यनध्यायः सच वक्ष्यमाणाऽकालिकरूपः । एतावेतावेव नतु वक्ष्यमाणानि विद्युत्स्तनितादीनि । अध्यायज्ञाः अध्ययनधर्मज्ञाः ॥ १०२ ॥

(३) कुम्भूकः । रात्रौ कर्णश्रवणयोग्यशब्दजनके वायौ वाति । गोविन्दराजस्तु कर्णाभ्यामेव श्रवणोपपत्तेरतिशयविवक्षया कर्णश्रवणव्युत्पन्नं तेनातिशब्दवति वायौ वातीत्यभिहितवान् । दिवा च धूलिपटलोत्सारणसमर्थं वायौ वहति एतौ वर्षाकालेऽनध्यायौ तात्कालिकावध्यापनविधिज्ञामुनयः कथयन्ति ॥ १०२ ॥

(४) राघवानन्दः । कर्णश्रवणयोग्यशब्दजनके वायाविति केचित् । कर्णाच्छब्दं श्रावयति व्यावर्तयतीति प्रतिकूले महावायाविति रात्रौ नाधीयीत । तथादिवापि पांसुसमूहने पांसून्समूहयति वर्तुलीकुर्वति वायौचन ग्रीष्मादिषु तत्र वायुक्रतुपांसूनां सातत्यात् । अध्यायज्ञाः अध्यापनविधिज्ञाः मन्वादयइति ॥ १०२ ॥

(५) नन्दनः । कर्णश्रवेऽशब्दे । पांसुसमूहने पांसुसमुत्थापने ॥ १०२ ॥

(६) रामचन्द्रः । दिवा पांसुसमूहने पांशूत्कर्षे । रात्रौ अनिले कर्णश्रवे श्रवणोद्देशकशब्दकारिणि काले वर्षासु एतौ अनध्यायौ । अध्यायज्ञाः अध्यापनधर्मज्ञाः ॥ १०२ ॥

विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोत्कानां च संप्लवे ॥ आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत् ॥ १०३ ॥

(१) मेधातिथिः । विद्युत्तडित् । स्तनितं गर्जितम् । इन्द्रनिर्देशाद्युपदेतेषु समुच्चितेष्वनध्यायः । महोत्का दिवः पततां ज्योतिषां प्रभास्तासां संप्लवोऽमुत्र च पतनम् । आकालिकशब्दो निमित्तकालादारभ्यान्येद्युर्वित्सएवकालः स उच्यते । मनुग्रहणं श्लोकपूर्णार्थम् विकल्पार्थमन्ये ॥ १०३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विद्युदादित्रयस्य सन्ध्याकालादन्यदा संप्लवे मिलितानां त्रयाणामुत्पत्तौ तथा महोत्कानां संप्लवे विद्युदाद्यन्यतरेण सह युगपत्पाते आकालिकं यत्र काले निमित्तमुत्पन्नं दिनान्तरैरत्कालोत्पत्तिपर्यन्तम् । एतच्च वर्षाव्यतिरिक्तकाल एव ॥ १०३ ॥

(३) कुम्भूकः । विद्युद्गर्जितवर्षेषु इन्द्रनिर्देशाद्युपपत्तिषु महतीनां चोत्कानां संप्लवइतस्तः पाते सति । आकालिकमित्युत्पत्तिनिमित्तकालादारभ्यापरेद्युर्वित्सएव कालस्तावत्पर्यन्तमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत् ॥ १०३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच नैमित्तिकमनध्यायमाह । विद्युदिति द्वाभ्यां इन्द्रनिर्देशाद्युपपत्तिपातेषु विद्युदादिषु आकालिकं निमित्तकालादारभ्य परेद्युस्तावन्तकालं वर्षात्वपि ॥ १०३ ॥

(५) नन्दनः । वर्षास्वित्यनुषज्यते । विद्युदादिप्रादुर्भावकालादारभ्यनाडिकाषष्टिकालः । तत्र भवमाकालिकमन-
ध्यायंविद्यात् । येयमुक्ताविद्युदादिप्रवृत्तिः सासन्ध्ययोश्चेदाकालिकानध्यायनिमित्तंभवति ॥ १०३ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतेषु आकालिकं कालं मर्यादीकृत्येत्याकालिकं तावत्कालपर्यन्तं अनध्यायः ॥ १०३ ॥

एतांस्त्वभ्युदितान्विद्याद्यदा प्रादुष्कृताग्निषु ॥ तदा विद्यादनध्यायमनृतौ चाभ्रदर्शने ॥ १०४ ॥

(१) मेघातिथिः । नायमनध्यायोयस्यांकस्यांचन वेलायामुपजातेष्वेतेषु किंताहिं प्रादुष्कृताग्निषु सन्ध्याकालइत्य-
र्थः । तदा ह्यग्रयोजुहूषयानियमतः प्रादुष्क्रियन्ते । प्रादुःशब्दः प्राकाश्ये । अनृतौऋतुर्वर्षास्ताभ्योन्यःशरदादिः । तत्रवा-
भ्रदर्शने प्रादुष्कृताग्निष्वित्यपेक्ष्यते ॥ १०४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यउक्तकालिकोनध्यायस्तं तदैव विद्याद्यानेतान्विद्युदादीनत्रीन् संस्तुतान्महोल्काअसं-
स्तुताः । प्रादुष्कृताग्निषु उद्धृताग्निहोत्रेषु कालेष्वभ्युदितानुत्पन्नान् विद्यादुपलभेत । तथानृतौ वर्षातो नृतावभ्रदर्शने वृष्टिहेतुमे-
घदर्शने आकालिकोनध्यायः सोपि प्रादुष्कृताग्निकालएव ॥ १०४ ॥

(३) कुञ्जकः । एतान्विद्युदादीनयदाहोमार्थंप्रकटीकृताग्निकालेषु सन्ध्याक्षणेयुगपदुत्पन्नाजानीयात् । तदानध्या-
यंवर्षासु कुर्यान् सर्वदा तथाऽनृतौ प्रादुष्कृताग्निकालेषु मेघदर्शनमात्रे सत्यनध्यायोन वर्षासु ॥ १०४ ॥

(४) राघवानन्दः । एतान्विद्युदादीनसन्ध्याकालेष्वेव विजानीयाद्यदातदापरेद्युरपि तावत्कालपर्यन्तमनध्यायनंकु-
र्यान् यदाकदाचिद्विद्युदादीनांसमुच्चयइत्याह एतानिति । प्रादुष्कृताग्निषु प्रादुष्कृतःप्रकटीकृतोहोमार्थमग्निर्येषु सन्ध्याकाले-
ष्वित्यर्थः । अनृतौ वर्षाभ्योन्यत्राभ्रदर्शनेच ॥ १०४ ॥

(५) नन्दनः । अन्यदा चेन्नेत्याह एतांस्त्विति । प्रादुष्कृताग्निषु विद्वत्तेष्वग्निषु सन्ध्ययोरितियावत् । एतान्विद्युदा-
दीन्यदाप्रादुष्कृतान्विद्यात्पश्येत्तदाऽऽकालिकमनध्यायंविद्यात् । अनृतौवर्षातुर्व्यतिरिक्तेचर्तौ । अभ्रसंज्ञव आकालिकमन-
ध्यायंविद्यात् ॥ १०४ ॥

(६) रामचन्द्रः । एताननध्यायान् अभ्युदितसंज्ञान् यदा प्रादुष्कृताग्निषु उद्धृताग्निहोत्रकालेषु प्रजागरिताग्निषु-
तदा अनध्यायंविद्यात् । अनृतौ अकाले अभ्रदर्शने अनध्यायम् ॥ १०४ ॥

निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने ॥ एतानाकालिकान्विद्यादनध्यायानृतावपि ॥ १०५ ॥

(१) मेघातिथिः । निर्घातआन्तरिक्षउत्पातध्वनिः । ज्योतिषांचन्द्रादित्यगुरुप्रभृतीनांउपसर्जनंपरिवेष्टणमितरेत-
रपीडनंच । ऋतावपि अपिग्रहणंवर्षासु किल नोत्पातागण्यन्तइत्यभिप्रायेण ॥ १०५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उपसर्जनेउपसर्जनहेतौ विकारे युद्धच्छिद्रादौ एतान्निर्घातादीन् ऋतौ वर्षास्वपि एतच्चा-
प्रादुष्कृतेष्वप्यग्निषु वाक्यान्तरोपात्तत्वात् ॥ १०५ ॥

(३) कुञ्जकः । अन्तरिक्षभवोत्पातध्वनौ भूकम्पे सूर्यचन्द्रतारागणानांचोपसर्गसत्यनध्यायानिमानाकालिकाज्जा-
नीयात् । आकालिकशब्दार्थोव्याकृतएव । ऋतावपिवर्षासु किलभूकम्पादयोर्न दोषावहाइत्यभिप्रायेणार्तावपीत्युक्तम् ।
अपिशब्दादन्यत्रापि ॥ १०५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यदित्याह निर्घातइति त्रिभिः । निर्घाते अनभ्रगर्जिते । उपसर्जनेसूर्याद्युपरागे । एतान्
निर्घातादीन् आकालिकान् तेषांकालानियमात् । इदमपि निर्घातादिघटितमाकालिकंऋतावपिवर्षास्वपि । ऋतावपी-
त्यनुवादमात्रम् ॥ १०५ ॥

(५) नन्दनः । उपसर्जनउपप्लवे । वैवर्ण्यचलनादावपिशब्दादनृतावपीति गम्यते ॥ १०५ ॥

(६) रामचन्द्रः । ज्योतिषां चन्द्रादित्यगुरुप्रभृतीनां उपसर्जने उपसर्गहेतुभूते ग्रहयुद्धे । परिवेषणे अन्योन्यपी-
डेन ॥ १०५ ॥

प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु विद्युत्स्तनितनिःस्वने ॥ सज्योतिः स्यादनध्यायः शेषे रात्रौ यथा दिवा ॥ १०६ ॥

(१) मेधातिथिः । त्रिसंनिपाते पूर्वेणाकालिकमुक्तम् । अनेनद्वयोः । सन्निपातेऽपिसज्योतिरुच्यते । स्तनितंच
तनिःस्वनश्चासौस्तनितनिःस्वनः । विद्युच्चस्तनितनिःस्वनश्चविद्युत्स्तनितनिःस्वनम् । समाहारद्वन्द्वः । तस्मिन्सन्ध्यायामुपजा-
ते द्वये सज्योतिरनध्यायः । सूर्योऽज्योतिः दिवा । नक्तमग्निर्ज्योतिः । प्रातःसन्ध्यायामुत्पन्नेदिवैवानध्यायोरात्रौ तु नास्ति ।
एवंपश्चिमसन्ध्यायां रात्रावनध्यायोऽनप्रातरध्ययनदोषः । विद्युत्स्तनितवर्षाणां त्रयाणां प्रकृतानां विद्युत्स्तनितयोर्विभज्य निर्द-
शोभवति । वर्षाः शेषस्तस्मिन्स्मृत्युत्तरे दृश्यमाने पूर्वोक्तआकालिकोऽनध्यायः । प्रसिद्धतरज्योतिर्द्योमादि तदपेक्षयोक्तं य-
थादिवातथारात्रावपि । शेषमिति पाठः । शेषं हूयमानमहरनध्यायहेतुर्भवतीति । अथ कस्मान्नैवमुक्तं शेषत्वाकालिकं स्मृत-
मिति विचित्राश्लोकानां कतिर्मनोः ॥ १०६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रादुष्कृताग्निकाले च विद्युत्सहिते स्तनितनिःस्वने वृष्टिशून्ये सज्योतिर्यदि प्रातस्तदायाव-
दादित्यदर्शनं । यदि सायंतदा यावन्नक्षत्रस्थितिः शेषे प्रागुक्ते वक्ष्यमाणे चानध्यायनिमित्ते सति यथा दिवा आकालिका-
दिनियतोऽनध्यायस्तथा रात्रावपि निमित्तपाते ग्राह्यः । एतच्च दिवसस्थवाध्ययनमुख्यकालत्वात् रात्रौ निमित्तपातेऽपि ना-
ध्ययनशङ्कानिरासार्थमुक्तं शेषमिति क्वचित्पाठः । तत्राप्येवंज्ञेयम् ॥ १०६ ॥

(३) कुल्लूकः । होमार्थप्रकाशितेष्वग्निषु सन्ध्यायां यदा विद्युद्गर्जितशब्दाविव भवतोऽनु वर्षतदा सज्योतिरनध्यायः
स्यात् नाकालिकः तत्र यदि प्रातः सन्ध्यायां विद्युद्गर्जितशब्दौ तदा यावत्सूर्यज्योतिस्तावदनध्यायोऽनध्यायोऽनध्यायः यदि सा-
यंसन्ध्यायांतौ स्यातां तदा यावन्नक्षत्रज्योतिस्तावदनध्यायोऽनध्यायोऽनध्यायः रात्रौ स्तनितविद्युद्वर्षेष्वतित्रयाणां पूर्वोक्तानां
शेषे वर्षाख्ये त्रितये जाते यथा दिवानध्यायस्तथा रात्रावप्यहोरात्र एवेत्यर्थः ॥ १०६ ॥

(४) राघवानन्दः । सन्ध्यायां विद्युच्छब्दयोरेव सन्निपातो निमित्तान्तरमित्या ह प्रादुरिति । सज्योतिः । यदि प्रातः
सन्ध्यायां विद्युत्स्तनितशब्दौ तदा यावत्सूर्यस्तिष्ठति तावदनध्यायः । शेषे सायंतदा रात्रौ यथा दिवा सज्योतिस्तथेत्यर्थः
॥ १०६ ॥

(५) नन्दनः । प्रादुष्कृतेष्वग्निषु सन्ध्याकालयोरित्यर्थः । विद्युत्स्तनितनिःस्वने रात्रौ तथा दिवा च सज्योतिर्नक्षत्र-
सूर्यसहितं रात्र्यङ्गोः शेषमनध्यायः स्यात् । सन्ध्याकालाभ्यामुत्तरमेघतिरोधानाभावेऽपि यथाऽनध्यायः स्यादित्युक्तं स-
ज्योतिरिति । विद्युत्स्तनितवर्षेष्वित्यादिश्लोकोक्तस्तनितशब्दोऽनध्यायगर्जितविषयः । अस्मिन् श्लोके स्तनितग्रहणं महागर्जित-
विषयमित्यपुनरुक्तिः ॥ १०६ ॥

(६) रामचन्द्रः । सज्योतिः तावत्कालपर्यन्तं अनध्यायः स्यात् । प्रातरारभ्यानध्यायः यथा दिवा तथा रात्रौ
सायंसन्ध्यामारभ्य रात्रावनध्यायः । शेषे तात्कालिकः ॥ १०६ ॥

नित्यानध्यायएव स्याद्ग्रामेषु नगरेषु च ॥ धर्मनैपुण्यकामानां पूतिगन्धे च सर्वदा ॥ १०७ ॥

(१) मेधातिथिः । निपुणधर्मयैकामयन्तेते ग्रामनगरयोर्नाधीयीरन् । धर्मशब्दश्च स्वर्गादौ धर्मफले वर्तते । यदिवाऽ-
धर्मेणाननुवेधो धर्मस्य नैपुण्यं तेन सुपरिपूर्णो विध्यर्थोऽनुष्ठितो भवति । अतश्चाशक्तस्यानुज्ञानं भवति । पूतिगन्धः कुत्सितगन्ध-
स्तस्मिन्नासिकापथंगच्छत्यनध्यायः । सर्वशः सर्वस्मिन्शवगन्धेऽपि ॥ १०७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । व्रतपारणमात्रेण विद्यामसमाप्त्यैव यः स्नास्यति स धर्मनैपुण्यकामः । विद्यानिरपेक्षब्रह्मचा-
रिधर्ममात्रानुरोधकत्वात् । यस्तु विद्यांसमाप्त्यैव व्रतमसमाप्त्यैव स्नास्यति स विद्यानैपुण्यकामः । तत्राद्यस्य ग्रामादिमध्येऽन-
ध्यायो नित्यमत्राध्ययनसंभवेऽपि यस्तु द्वितीयस्तस्य न तत्रानध्यायः तत्परित्यागे तस्य विद्याधिगमनियमानिष्पत्तेः ।
नगरेषु चेति खेटखर्वदिसंग्रहार्थश्चाकारः । पूतिगन्धेतूपलभ्यमाने सर्वशः सर्वेषां विद्यानैपुण्यकामानामपीत्यर्थः ॥ १०७ ॥

(३) कुल्लूकः । नैपुण्यविषयो धर्मातिशयार्थिनो ग्रामनगरयोः सर्वदानध्यायः स्यात् । कुत्सितगन्धे च सर्वस्मिन्नपि
गम्यमाने धर्मनैपुण्यकामप्रत्ययं विद्यानध्यायोपदेशो विद्यानैपुण्यकामस्य कदाचिदध्ययनमनुजानाति ये शिष्याः के-
चिद्दृहीतवेदाध्ययनजन्मादृष्टेच्छवस्ते धर्मनैपुण्यकामाः केचित्प्रथमाध्येतारो विद्यातिशयमात्रार्थिनस्ते विद्यानैपुण्य-
कामाः ॥ १०७ ॥

(४) राघवानन्दः । अध्यापनं हि प्रत्यवायपरिहारार्थं कर्माङ्गबोधनार्थं धर्मार्थवेदरक्षार्थं च तत्राद्यमुपनीतमात्र-
कृत्यं द्वितीयमुपकुर्वाणस्य विद्यानिपुण्यकामानामस्वाध्यायीन विद्यतइति उक्तेः कामवेदाङ्गानीति न्यायाच्चतृतीयं स्नातक-
स्य । चतुर्थं तु त्रयाणामेव ब्राह्मोद्भूततेति निन्दाश्रवणात् स्वाध्याये चैव नित्यकइति च तत्र धर्मकामानां विशेषमाह नित्या-
नध्यायइति त्रिभिः । ग्रामनगरयोः पूतिगन्धेवानध्यायः एवमग्रामेऽनुरोधेति इत्यादिप्रयोगात् फलार्थिनामेतेषु नाध्यय-
नमित्यन्वयः ॥ १०७ ॥

(५) नन्दनः । धर्मनैपुण्यकामानामित्यनेनात्राध्ययने दोषमात्रं सूचितं ॥ १०७ ॥

(६) रामचन्द्रः । धर्मनैपुण्यकामानां धर्मराद्धस्वर्गादौ धर्मकाले च नैपुण्यं कामयन्ते तेषां धर्मनैपुण्यकामानां
निपुणधर्मज्ञात्वा तत्र स्थितानां ग्रामेषु च पुनः नगरेषु नित्यमनध्यायएव स्यात् । एतद्व्रतस्नातकविषयम् ॥ १०७ ॥

अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलस्य च सन्निधौ ॥ अनध्यायोरुद्यमाने समवाये जनस्य च ॥ १०८ ॥

(१) मेधातिथिः । अन्तर्गतः शवो यस्मिन् ग्राममध्ये स्थिता यावन्न निर्दतः । वृषलस्य नात्र शूद्रो वृषलस्तस्य प्रागे-
व निषिद्धत्वात् । न शूद्रजनसंनिधाविति किं तर्हि तत्प्रायिकेणाधर्मेणार्थमिच्छन्त्येते । तेन यः पापाचारस्तत्संनिधा-
नाच्च तेन निषेधः । रुद्यमाने रुदनशब्दे सति । भावमात्रिरुद्यमानशब्दः । समवायोजनस्य यत्र बहुवोजनाः कार्यार्थमेक-
त्रसंघटिता भवन्ति तादृशे देशे नाध्येयम् । अथवा जनस्य समवाये रुद्यमाने रुदतीत्यर्थः । बहुषुरुदत्सु प्रतिषेधः । छा-
न्दसं कर्तार्यात्मनेपदम् ॥ १०८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्तः स्थितेऽन्तस्थानगते भूम्युपरि भागसंयुक्ते ग्रामे गतपदं ग्राममध्ये निवातस्य नानध्या-
यहेतुत्वेत्येतदर्थम् । एतद्येषां ग्रामेध्ययनमिति स्तद्विषयम् । वृषलस्याचारशून्यस्य न शूद्रमात्रस्य शूद्रसंनिधौ पुरा निषेधोक्ते
स्तत्संनिधौ श्रवणयोग्यदेशे रुद्यमाने जनैः रोदनश्रवणइत्यर्थः । समवाये बहुतरसंपाद्यमेलके ॥ १०८ ॥

(१०७) सर्वदा = सर्वशः (मे) ०

(१०८) रुद्यमाने = रुध्यमाने (नन्दनः)

(३) कुल्लूकः । अन्तर्गतः शवोयस्मिन्ग्रामे ज्ञायते तत्र । वृषलोऽधार्मिकस्तस्य सन्निधौ न तु शूद्रः तस्य न शूद्रजनसन्निधाविति निषेधात् । रुद्यमाने रोदनध्वनौ । भावेलकारः । कार्यान्तरार्थबहुजनमेलके सत्यनध्यायः ॥ १०८ ॥

(४) राघवानन्दः । अन्तर्गतशवे अन्तर्गतत्वेन ज्ञातः शवोयस्मिन् वृषलोत्राधार्मिकः न शूद्रजनसन्निधाविति निषेधोक्तैः । रुद्यमान इति भावसाधनं रोदने सति क्रियमाणे वा । जनानां समवाये निमित्तान्तरवशाज्जनानां मेलनं समवायस्तस्मिन् ॥ १०८ ॥

(५) नन्दनः । अन्तर्गतशवेऽन्तर्मनुष्यशवयुक्ते । पूर्वेण ग्रामानध्याये सिद्धे पुनरन्तर्गतशवे ग्राम इति निषेधो दोषातिशयख्यापनार्थः । वृषलस्याधार्मिकस्य । रुद्यमाने राजपुरुषलुण्ठाकादिभिर्ग्रामे समवाये संभवे ॥ १०८ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्तःशवे ग्रामे अनध्यायः स्यात् च पुनः वृषलस्य धर्मछेदकस्य सन्निधौ अनध्यायः । च पुनः जनस्य समवाये रुद्यमाने अनध्यायः ॥ १०८ ॥

उदके मध्यरात्रे च विष्णुत्रयस्य विसर्जने ॥ उच्छिष्टः श्राद्धभुक्चैव मनसापि न चिन्तयेत्

॥ १०९ ॥

(१) मेघातिथिः । चतुर्मुहूर्तोऽर्धरात्रः सैव महानिशा प्रथमादर्धरात्राद्वैमुहूर्तावुत्तराद्वै उदके नदीतडागादिस्थः । अन्तर्जले जपस्त्वनध्यायरूपत्वादधमर्षणादिर्न निषिध्यते । उदयइत्यन्ये पठन्ति । प्रथमोदयकाले सूर्यस्यानध्यायः । उच्छिष्टोभुजिसंबन्धेनाकृताचमनोयावत् । कृतमूत्रपुरीषोऽपि प्रागाचमनादुच्छिष्ट उच्यते एव । आचमनार्हप्रत्ययमात्रवचनइत्यन्ये । तेन कृतनिष्ठीवनादिरपि गृह्यते । मनसाऽपि नान्यत्राध्याये मनसा चिन्तनमभ्यनुज्ञायते । किंतीह दोषगौरवार्थमेतेषां निमित्तानाम् ॥ १०९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उदके जलमध्ये मध्यरात्रे रात्रेर्मध्यमदण्डदशकमध्ये विष्णुत्रये विद्यायां मूत्रे वा बिषये विसर्जने त्यागे चकारादेतसि उच्छिष्टभक्षणात् श्राद्धभुक्तदन्तभुक् । अत्र मनसा चिन्तनस्य निषेधात् अन्यत्र मानसोच्चारणे दोषाभावो गम्यते ॥ १०९ ॥

(३) कुल्लूकः । उदकमध्ये मध्यरात्रे च मुहूर्तचतुष्टये च निशायांच चतुर्मुहूर्तमिति गौतमस्मरणात् । गोविन्दराजस्तु सन्निधिमध्यप्रहरद्वयइत्युक्तवान् । तथा मूत्रपुरीषोत्सर्गकालेऽन्नभोजनादिना चोच्छिष्टो निमित्तत्रणसमयादारभ्य श्राद्धभोजनाहोरात्रं यावन्मनसापि वेदनं चिन्तयेत् ॥ १०९ ॥

(४) राघवानन्दः । निषेधादर्थपुनः श्राद्धभुग्ग्रहणं न चिन्तयेद्वेदमिति शेषः ॥ १०९ ॥

(५) नन्दनः । पूर्वार्धेऽनध्यायइत्यनुषज्यते । चिन्तयेदित्यत्र ब्रह्मेति परस्मादपकृत्यते । मनसेत्यत्र वचनादन्यस्य मनसा चिन्तनमभ्यनुज्ञातमिति गम्यते ॥ १०९ ॥

प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेको द्विष्टस्य केतनम् ॥ अहं न कीर्तयेद्ब्रह्म राज्ञोराहोश्च सूतके ॥ ११० ॥

(१) मेघातिथिः । एकउद्दिश्यते यस्मिन्स्तदेको द्विष्टनवश्राद्धम् । तत्र निकेतनं निमित्तत्रणं प्रतिगृह्य अङ्गीकृत्य अहमनध्याय आमन्त्रणात्प्रभृति एवं राजाचन्द्रमास्तस्य सूतकं राहुं प्रत्यमृतस्रवणं च शब्दात्सूर्यस्य च । अथवा जनपदेश्वरस्य राज्ञः सूतकं पुत्रजन्तोत्सवः । राज्ञोः सूतकं चन्द्रसूर्ययोरुपरागः ग्रहणमिति प्रसिद्धम् ॥ ११० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एको द्विष्टनिकेतनं प्रेतश्राद्धामन्त्रणं प्रतिगृह्य तदा मन्त्रणादि अहं राज्ञश्चन्द्रस्य राज्ञोः सकाशात् । सूतके प्रसवेराहुच्छायाभिभूतस्य पुनरुद्भवे राज्ञोश्चेति चकारो भिन्नक्रमो राज्ञश्चेत्यर्थः । तेन यदितरराहुसूतक-

स्य सूर्यग्रहाभिधानस्य सङ्ग्रहार्थः । न तु राज्ञःसूतकइत्यत्र नृपमरणइत्युच्यते तन्मरणे श्रोत्रिये त्वहः कृत्स्नमित्याशौच-
स्य वक्ष्यमाणत्वात् ॥ ११० ॥

(३) कुल्लूकः । एकएवोद्दिश्यते यत्र श्राद्धे तदेकोद्दिष्टंनवश्राद्धंतकेतनंनिमन्त्रणंगृहीत्वा निमन्त्रणादारभ्य क्षत्रि-
यस्य जनपदेश्वरस्य पुत्रजन्मादिसूतके । राहोश्च सूतकंचन्द्रसूर्योपरागःतत्र त्रिरात्रवेदनाधीयीत ॥ ११० ॥

(४) राघवानन्दः । कालसङ्ख्यामार्ह प्रतिगृहेति । केतनं निमन्त्रणं । नवश्राद्धमत्रैकोद्दिष्टं । राज्ञःसूतकेपुत्रा-
द्युत्पत्तौराज्ञोराहोश्चसूतके चकारात्समुच्चयइतिकेचित् ॥ ११० ॥

(५) नन्दनः । विद्वानविद्वानप्येकोद्दिष्टस्य नवश्राद्धस्य केत्यते निमन्त्रयते ऽनेनेति केतनंद्रव्यंप्रतिगृह्यहं ब्रह्म
न कीर्तयेत् । राज्ञःसूतके पुत्रजन्मनिराहोःसूतकेग्रहणमुक्तौ च ब्रह्म च्यहंनकीर्तयेदिति ॥ ११० ॥

(६) रामचन्द्रः । एकोद्दिष्टस्य केतनं नवश्राद्धनिमन्त्रणंप्रतिगृह्य च्यहं ब्रह्म न कीर्तयेत् । अनध्यायः
स्यात् ॥ ११० ॥

यावदेकानुदिष्टस्य गन्धोलेपश्च तिष्ठति ॥ विप्रस्य विदुषोदेहे तावद्ब्रह्म न कीर्तयेत् ॥ १११ ॥

(१) मेधातिथिः । एकमनुदिश्यआमश्राद्धंतस्ययाबच्छ्राद्धरुतोगन्धलेपौतिष्ठतस्तावदनध्यायः । पूर्वस्मादिधौ-
विध्यन्तरम् । द्वितीयस्मिन्महनि रुतस्नानोऽपनीततद्गन्धोऽध्ययनार्हः । उपलक्षणंचैतदसतोरपि गन्धलेपयोर्यावद्भुक्तमन्नं-
न जीर्णतावन्नाधीयीत । विदुषइति तस्यैव श्राद्धभोजनाधिकारमनुवदति ॥ १११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एकानुदिष्टस्यैकोद्दिष्टगन्धोलेपश्च तत्र दत्तस्यचन्दनादेस्तिष्ठति तत्त्र्यहार्द्धमपि विदुष-
इतिज्ञानेन काममभिप्रैति अकामेत्वदोषइत्यर्थः ॥ १११ ॥

(३) कुल्लूकः । यावदेकस्यैकानुदिष्टस्यउच्छिष्टस्य सकुंकुमादेर्गन्धोलेपश्च ब्राह्मणस्य शास्त्रविदोदेहे तिष्ठति ताव-
न्त्यहोरात्राण्यूर्ध्वमपिवेदनाधीयीत ॥ १११ ॥

(४) राघवानन्दः । निमित्तान्तरमाह यावदिति । एकस्माअनुदिष्टस्योच्छिष्टस्यैकानुदिष्टस्य । तावत्त्र्यहार्द्धम-
पिवेदनाधीयीत ॥ १११ ॥

(५) नन्दनः । एकानुदिष्टस्यैकोद्दिष्टस्य स्नेहस्तैलादिकः । गन्धश्चन्दनादिकः । विदुषः विदुषोपि ॥ १११ ॥

(६) रामचन्द्रः । तावद्ब्रह्म वेदं न कीर्तयेत् अनध्यायः स्यात् ॥ १११ ॥

शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसक्थिकाम् ॥ नाधीयीतामिषं जग्ध्वा सूतकान्नाद्यमेव च ॥ ११२ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रसारितपादः पादारोपितपादोवा खट्वासनादौ वा संहतपादः । अवसक्थिकावस्त्रादिना
जान्वोर्मध्यस्यचबन्धः । आमिषंमांसम् । सूतकग्रहणंशावाशौचादेरपि प्रदर्शनार्थम् ॥ ११२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रौढपादआसनारूढपादः । अवसक्थिकापर्यङ्कबन्धनम् । आमिषंजगध्वातद्दिने सूतकान्ना-
द्यं सूतकिसंबन्ध्यन्नम् । एतच्चानध्ययनमप्रायश्चित्तकरणात् ॥ ११२ ॥

(३) कुल्लूकः । शय्यायांपतिताङ्कआसनारूढपादःरुतावसक्थिकोवा मांसंजग्ध्वा जननमरणाशौचिनांचान्नंभुक्त्वा
नाधीयीत ॥ ११२ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्पञ्चकमध्ययनविरोधीत्याह शयानइति पृष्ठजानुद्वयव्यापीबन्धः । आवसक्थिका । सूतकपदं मृतकोपलक्षकंअशुचित्वाविशेषात् ॥ ११२ ॥

(५) नन्दनः । पादस्योपरिनिहितः पादोयस्यसप्रौढपादः । वस्त्रादिनाकृतपादबन्धोऽवसक्थिकः ॥ ११२ ॥

(६) रामचन्द्रः । अवसक्थिकं कृत्वा न ब्राह्मणः अधीयीत ॥ ११२ ॥

नीहारे बाणशब्दे च सन्ध्ययोरेव चोभयोः ॥ अमावास्याचतुर्दश्योः पौर्णमास्यष्टकासु च॥ ११३ ॥

(१) मेधातिथिः । नीहारोदिङ्गोहोधूमिकेत्यनर्थान्तरम् । बाणपरजोवृताइवयेन दिशः क्रियन्ते । बाणशब्दःशरनिर्घोषः । दन्त्योष्ठ्यमन्येपठन्ति व्याचक्षते च वीणावाणइति महाव्रतोहे प्रयोगोदृश्यते । शततत्त्वीकोभवतिवीणावितत्त्वीतिच । चतुर्दश्यांउभयोरपि पक्षयोः । अष्टकाश्च सर्वाअष्टम्यः स्मृत्यन्तरसमाचाराभ्याम् । अन्येत्वष्टमीष्वित्येवंपठन्ति ॥ ११३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नीहारे सर्वतोधूमिकावृते । बाणशब्दे बाणभोक्षशिक्षादेशाद्युत्पन्ने अमावास्यादिशब्दास्तत्तिथिकालमात्रपराः । तत्र शुक्लकृष्णप्रतिपदोरपि दर्शपूर्णमासमेलकत्वाच्चन्द्रस्यामावास्यापौर्णमासी पदाभ्यांग्रहणम् । अष्टकाष्टमी ॥ ११३ ॥

(३) कुल्लूकः । नीहारे धूलिकायाम् बाणशब्दे शरध्वनौ । बाणोवीणाविशेषइत्यन्ये प्रातःसायंसन्ध्ययोरमावास्याचतुर्दशीपौर्णमास्यष्टमीषु नाधीयीत । अष्टकासूत्तरत्र निषेधात्पौर्णमास्यादिमाहचर्यादष्टकाशब्दोऽष्टमीतिथिपरः ॥ ११३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच नीति । नीहारे व्यापिनि । बाणशब्दे शरादिध्वनौबाणोवीणेति वा ॥ ११३ ॥

(५) नन्दनः । अष्टकास्वष्टमीषु । अत्र नाधीयीतेत्यनुषङ्गः ११३ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्वाभ्यामाह बाणशब्दे वंशशब्दे अनंभ्यायः अष्टकाश्चतस्रः ॥ ११३ ॥

अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी॥ ब्रह्माष्टकापौर्णमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत्॥ ११४ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्यार्थवादोऽनित्यार्थः । तेन यत्र नित्यत्वज्ञापकं किंचित्सविकल्पतेऽनभ्यायः । वक्ष्यति च द्वावेववर्जयेत्नित्यमिति । ताः परिवर्जयेत् अध्ययनक्रियातः ॥ ११४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अमावास्या तत्र पाठेन ब्रह्म वेदं हन्ति ॥ ११४ ॥

(३) कुल्लूकः । विशेषदोषमाह अमावास्येति । यस्मादमावास्या गुरुहन्ति शिष्यंहन्ति चतुर्दशी वेदं चाष्टमीपौर्णमास्यौ विस्मरयतस्तस्मात्ताअध्ययनाभ्यापनयोःपरित्यजेत् ॥ ११४ ॥

(४) राघवानन्दः । तिथौ निषेधति अमेति । अष्टकासु चतसृषु तत्ररुढेस्तिथिसंनिधेर्दुर्बलत्वेन न तिथिपरता अतोअमाष्टकासुनाधीयीतेत्यनुषज्यते । तत्रार्थवादमाहअष्टेति । ब्रह्मात्र वेदस्तद्धीतंनश्यतीतिभावः ॥ ११४ ॥

(५) नन्दनः । ब्रह्म वेदवीर्यहन्ति ॥ ११४ ॥

(६) रामचन्द्रः । वेदंहन्ति विस्मरणं प्रापयति ॥ ११४ ॥

पांसुवर्षे दिशां दाहे गोमायुविरुते तथा ॥ श्वखरोष्ट्रे च रुवति पङ्क्तौ च न पठेद्विजः ॥ ११५ ॥

(१) मेधातिथिः । गोमायुः शृगालःतस्यविरुतंशब्दकरणंश्वखरोष्ट्राणांपङ्क्त्यवस्थितानांशब्दकुर्वतामनभ्यायः । एकैकस्यसमानजातीयपङ्क्तौ ॥ ११५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गोमायुःसृगालः । पङ्कौ श्वखरादिपङ्क्तिमध्ये केचिदपाङ्क्यपङ्कावित्याहुः । केचित्तु पङ्क्तीभूय नाध्येतव्यमित्यस्यार्थमित्याहुः ॥ ११५ ॥

(३) कुल्लूकः । धूलोर्वेषे दिशांदाहे सृगालकुक्कुरगर्दभोष्ठेषु च रुवत्सु पङ्कौ चोपविश्य प्रकृतत्वात्सृगालश्वखरादीनामेव ब्राह्मणो न पठेत् ॥ ११५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचपांसुवर्षे रजसापूर्णे पूर्वपांसुसमूहनइतिचक्रवातोक्तेः । दिशांदाहे दिग्दाहइति प्रसिद्धे । गोमायुरुदिनेगोमायोःशृगालविशेषस्य विरुद्धरुतौ । स्वाभाविकविरुद्धारावेखरादीनांतेषांपङ्कौ प्रविश्यचजनसमूहे निषेधस्योक्तत्वान् ॥ ११५ ॥

(५) नन्दनः । ब्रह्मेतिशेषः । ११५ ॥

नाधीयीत श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोब्रजेपि वा ॥ वसित्वा मैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च ॥ ११६ ॥

(१) मेधातिथिः । अन्तः शब्दः सामीप्यवचनःश्मशानसमीपे ग्रामसमीपेच । गोब्रजेगावोयत्रचरितुंब्रजन्तिगोष्ठेवागोब्रजः । स्त्रीसंप्रयोगकाले यत्प्रावृत्तं वासस्तदेव प्रावृत्य नाधीयीत । मैथुनशब्दः साहचर्यात्तत्कालप्रवृत्ते वाससि वर्तते । श्राद्धिकंश्राद्धनिमित्तंशुक्लान्नाद्यमपि गृहीत्वा नाधीयीत ॥ ११६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्मशानान्तेश्मशानसमीपे ग्रामान्ते ग्रामस्यान्ते समीपे तत्र विष्टाद्यशुचिलेपसंभवात् । गोब्रजे गवांमध्ये । मैथुनंवासोयत्परिधाय मैथुनंरुतम् । एतेषु यावन्निमित्तानुवृत्यनध्यायइत्यर्थसिद्धत्वान्नोक्तम् । श्राद्धिकं प्रेतश्राद्धव्यतिरिक्तश्राद्धसंबन्ध्यन्नदक्षिणादि प्रतिगृह्य तद्दिनेऽनध्यायः ॥ ११६ ॥

(३) कुल्लूकः । श्मशानसमीपे ग्रामसमीपे गोष्ठे च मैथुनसमयधृतवासः परिधाय श्राद्धीयंच सिद्धान्नादिप्रतिगृह्य नाधीयीत ॥ ११६ ॥

(४) राघवानन्दः । श्मशानान्तइत्याहअन्तपदं सामीप्ये । मैथुनसमये धृतवस्त्रंमैथुनंवासः । श्राद्धिकं सिद्धान्नादिकमेकोद्दिष्टातिरिक्तम् ॥ ११६ ॥

(५) नन्दनः । श्मशानान्तेश्मशानसमीपे । गोब्रजे घोषे मैथुनंमैथुनसंबन्धि । प्रतिगृह्य स्वीकृत्य ॥ ११६ ॥

(६) रामचन्द्रः । मैथुनंवासः मैथुनसंबन्धिवासः वस्त्रं परिधाय । श्राद्धिकं वस्तु प्रतिगृह्य अनध्यायः स्यात् ॥ ११६ ॥

प्राणि वा यदिवाःप्राणि यत्किंचिच्छ्राद्धिकं भवेत् ॥ तदालभ्याप्यनध्यायः पाण्यास्योहि

द्विजः स्मृतः ॥ ११७ ॥

(१) मेधातिथिः । श्राद्धनिमित्तं दीयमानं भक्तादिश्राद्धिकमिति प्रसिद्धं तन्निवृत्त्यर्थमिदमुच्यते । न केवलं ब्रीहितण्डुलादिप्रतिग्रहएव श्राद्धेऽनध्यायहेतुः । यावदन्त्यदपि प्राणि वा गवादि तथाऽप्राणिवासोयुगादि तदप्यालभ्य प्रतिग्रहकाले हस्तेन स्पृष्ट्वा नाधीयीत यतस्तदेव तस्य भोजनम् । पाणिरिवास्थमस्येति पाण्यास्यः । श्राद्धे भोजनं तन्निमित्तंच द्रव्यग्रहणंतुल्यमिति दर्शयति ॥ ११७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्राणि पश्वादि । अप्राण्यन्नादि । आदिकं आद्धसंबन्धि । आलभ्य प्रतिग्रहार्थं स्पृष्ट्वापि । एतेनापदि सामान्यतउत्सृज्य प्रतिपादनमात्रं आदिकद्रव्यस्य कृतं । तद्ग्रहणेऽपि तद्दिनेऽनध्यायइत्युक्तम् । पाण्यास्य-
इति यथा भुक्त्वा दुष्यति तथा हस्तेन गृहीत्वापि । यथाहस्य मुखेऽग्नस्तथा पाणावपीति तयोः साम्यम् ॥ ११७ ॥

(३) कुङ्कः । आदिकमन्नादिभुक्त्वा तावदनध्यायोभवतीत्युक्तम् । प्राणि वा गवाश्वाद्यप्राणि वा वस्त्रमाल्यादि
प्रतिग्रहकाले हस्तेन गृहीत्वाऽनध्यायोभवति यस्मात्प्राणिरेवास्यमस्येतिपाण्यास्योहि ब्राह्मणः स्मृतः ॥ ११७ ॥

(४) राघवानन्दः । अतएवाहप्राणीति । प्राणिगवाश्वादिअप्राणिहिरण्यवस्त्रादिकंतत्प्रतिग्रहकाले आलभ्यस्पृष्ट्वा
स्थितस्यानध्यायः तत्र हेतुः पाण्यास्यः तेनास्य दुष्टत्वाद्देदोच्चारणमयुक्तम् एकाहमितिशेषः ॥ ११७ ॥

(५) नन्दनः । आदिकं । प्रतिगृह्यचेत्येतत्पञ्चयति प्राणिनेति । आलभ्यदत्तंप्राणिना स्पृष्ट्वा । प्रतिग्रहएवभोज-
नमित्युक्तं पाण्यास्योहीति ॥ ११७ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्राणी पश्वादिः । अप्राणि वस्त्रादि यत्किञ्चित् आद्धादिकं भवेत् तत् आदिकं आलभ्य प्रा-
प्य अनध्यायः । प्राणिरेव आस्यंस्य सः पाण्यास्यः द्विजः । अग्रिमान् स्मृतः ॥ ११७ ॥

चौरैरुपप्लुते ग्रामे संभ्रमे चाग्निकारिते ॥ आकालिकमनध्यायं विद्यात्सर्वाद्भुतेषु च ॥ ११८ ॥

(१) मेधातिथिः । उपप्लुतउपद्रुतः यत्र बहवश्चौराग्रामेघातार्थपतन्ति तत्र नाभ्येयम् । संभ्रमे यत्राग्निना
संभ्रमोभयंजन्यते गेहदाहादिप्रवृत्तेनादग्धेऽपि गेहदावाकालिकोनऽध्यायः । प्रवृत्तिकालादारभ्य यावदन्येद्युः स एव का-
लः । अन्येषु चाद्भुतेषूत्पातेषु दिव्यभौमान्तरिक्षेषु शिलाप्लवादिषु दिवाऽदर्शनादिषु ॥ ११८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उपप्लुते आकुलिते अग्निकारितेग्निदाहशङ्कया । संभ्रमे भये एषु आदिकप्रतिग्रहादिषु
पञ्चत्वाकालिकं यावद्दिनान्तरीयतत्कालप्राप्तिः । सर्वाद्भुतेषु तन्दुलोत्पतनाद्युत्पातेषु दण्डलोष्ठताडनाद्युत्पातेषु ॥ ११८ ॥

(३) कुङ्कः । चौरैरुपप्लुते ग्रामे गृहादिदाहादिरुते भये दिव्यान्तरिक्षभौमेषु चाद्भुतेषूत्पातेष्वकाकालिकमनध्यायं-
जानीयात् ॥ ११८ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्चचौरैत्यादि त्रिष्वप्याकालिकं निमित्तकालादारभ्य परेद्युस्तावत्कालपर्यन्तम् । सर्वाद्भुते-
षूत्पातेषु ॥ ११८ ॥

(५) नन्दनः । सर्वाद्भुतेषु दिव्यान्तरिक्षभौमेषूत्पातेषु ॥ ११८ ॥

(६) रामचन्द्रः । आकालिकं दिनान्तरे तावत्कालपर्यन्तं अनध्यायः स्यात् ॥ १८ ॥

उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षेपणं स्मृतम् ॥ अष्टकासु त्वहोरात्रमृत्वन्तासु च रात्रिषु ॥ ११९ ॥

(१) मेधातिथिः । उत्सर्गेपक्षिण्यहोरात्रं च पूर्वमुक्तम् । अनेनत्रिरात्रेण विकल्प्यते । उपाकर्मण्यपूर्वोविधिः । अष्ट-
काऊर्ध्वमाग्रहायण्यास्तमिस्रपक्षेष्टम्यस्तिस्रश्चतस्रोवा । यद्यपि सर्वास्वष्टमीष्वहोरात्रमुक्तंतथापि नित्यार्थोयमारभ्योयुक्त-
एव । विकल्पश्च सर्वत्रास्मिन्मकरणेरुतार्थत्वापेक्षः । ऋत्वन्तासुअहोरात्रमित्यनुषज्यते षडृतवः । तेषांयत्रपूर्वोनिवर्तते-
परश्च प्रवर्तते तत्रानध्यायः । रात्रिग्रहणमुपलक्षणार्थम् ॥ ११९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । त्रिरात्रंक्षेपणमिति मुख्यः कल्पः । तावद्विलम्बेनाध्ययनविरोधसंभवे चोत्सर्गेविरमेत्पक्षि-

(१) मेधातिथिः । विवादः क्रोशपूर्वकोच्याक्रोशः । कलहोदण्डादिनेतेरतरताडनम् । सेना हस्त्यश्वरथपादातम् । सङ्हरः सङ्ग्रामः । असङ्घरेऽपि सेनास्थस्य निषेधः । भुक्तमात्रं यावदाद्र्पाणिरिति स्मृत्यन्तरम् । अजीर्णपूर्वेद्युर्भुक्तमपरेद्युर्हरणितमुच्यते । वमनप्रसिद्धम् । शुक्तकउद्गारेऽसत्यप्यजीर्णे तदहरपरेद्युर्वा ॥ १२१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विवादे ऋणदानादिविप्रतिपत्तिशब्दश्रवणे । कलहेऽन्योन्यापेक्षशब्दश्रवणे । सेनायामध्ये । सङ्करेयुद्धमध्ये । भुक्तमात्रे यावदार्द्रपाणिः । अजीर्णेजीर्णताकालेऽप्यन्नस्याजीर्णं शुक्तके जीर्णेऽप्यन्नेर्चितादिनाम्लोद्गारे ॥ १२१ ॥

(३) कुल्लूकः । विवादे वाक्कलहे कलहेदण्डादण्ड्यादौ सेनायामप्रवृत्तयुद्धायां सङ्करे युद्धे भोजनानन्तरं च यावदार्द्रहस्तो यावदार्द्रपाणिरितिवसिष्ठस्मरणात् तथाऽजीर्णेऽन्ने वमनं च कृत्वाऽम्लोद्गारे च न पठेत् ॥ १२१ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच विवादाद्यष्टसु नाधीयीतेत्यनुषज्यतइत्याह नेति । विवादे वाक्कृते । कलहे दण्डादिजे । सङ्करे युद्धे । वमित्वा उदीर्य च भुक्तान् । शुक्तके अम्लोद्गारे ॥ १२१ ॥

(५) नन्दनः । वाग्युद्धविवादः । अङ्गयुद्धकलहः । शस्त्रयुद्धसङ्करः । समवायेजनस्यचेतिसिद्धेजनसंमर्देदोषातिशयप्रकाशनार्थसेनाग्रहणम् । सेनायामित्येव सिद्धेयुद्धे द्वयोरपियुद्धसंभवेदिति सङ्करग्रहणम् । शुक्तकेशूक्तस्यान्नस्य घातयाप्तस्य गन्धरसाविभावे । नाधीयीतेत्यनुवर्तते ॥ १२१ ॥

(६) रामचन्द्रः । वमित्वा छर्दि कृत्वा नाधीयीत ॥ १२१ ॥

अतिथिं चाननुज्ञाप्य मारुते वाति वा भृशम् ॥ रुधिरे च स्मृते गात्राच्छ्लेणे च परिक्षते ॥ १२२ ॥

(१) मेधातिथिः । अतिथिग्रहणं शिष्टोपलक्षणार्थम् । अनित्यागमनः शिष्टश्चातिथिस्तस्मिन्गृहआगतेऽसावभ्येतव्यमधीमहदितिनानुज्ञातोऽधीयीत । तथा च स्मृत्यन्तरं शिष्टेचगृहमागतइति । मारुते वायौ वाति वेगेन । ननुकर्णश्रवइत्याद्युक्तमेव । सत्यम् ततोऽधिकतरे ततोवर्षाभ्योन्यत्र वाति प्रतिषेधः । अथवाति परिशुष्यति वातस्यशोषणार्थत्वात् । मारुतग्रहणं चवातमात्रोपलक्षणार्थम् । अध्ययनश्रमेणधातुषुक्षीयमाणेष्वन्यनध्यायः । मारुते वर्धमानं विधायिन्यध्येतरीतिभिन्नसंबन्धे व्यधिकरणसमन्वौ । रुधिरे जलौकादिना परिरुतेऽथवा शस्त्रेणचपरिक्षते शरीरेरुधिरेरुते । गात्रादिवाक्येनैकवाक्यता ॥ १२२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अतिथिमभ्यर्हितमभ्यागतं । अतिवायति गृहादिभङ्गकारिणि चातिवाति वर्षाभ्योन्यत्रापि । शस्त्रेणक्षते । तथा गण्डादावपि रुधिरे स्मृते यावत्तद्विरामता तावदनध्यायकालः ॥ १२२ ॥

(३) कुल्लूकः । अध्ययनं करोमीतियावदतिथिरनुज्ञापितो न भवति मारुते चात्यर्थं वाति रुधिरे च गात्रात्स्मृते रुधिरस्तावन्विनाऽपि शस्त्रेण क्षतमात्रेऽपि नाऽधीयीत ॥ १२२ ॥

(४) राघवानन्दः । भृशमत्यर्थं वाति मारुतइत्यन्वयः । रुधिरदर्शनाभावेऽपि शस्त्रेण परिक्षते । एतच्चतुर्विपि नाधीयीतेत्यनुषज्यते ॥ १२२ ॥

(५) नन्दनः । परिक्षते गात्रइतिशेषः । नाधीयीतेत्येव ॥ १२२ ॥

(६) रामचन्द्रः । अतिथिन् अनुज्ञाप्य अधीयीत । च पुनः शस्त्रेण परिक्षते अशुद्धे शुष्के ॥ १२२ ॥

सामध्वनावृग्यजुषी नाधीयीत कदाचन ॥ वेदस्याधीत्य वाप्यन्तमारण्यकमधीत्य च ॥ १२३ ॥

(१) मेधातिथिः । ऋचोयजुषि सामध्वनौ श्रूयमाणे नाधीयीत । ऋग्वेदयजुर्वेदब्राह्मणयोरप्रतिषेधः । पञ्चविंशे च श्रूयमाणऋग्यजुषयोरप्ययं प्रतिषेधः । वेदस्यान्तोयत्र वेदः समाप्तिमुपैति मन्त्रान्तो ब्राह्मणान्तश्च । आरण्यको नाम वेदैकदेशस्तमधीत्यान्योन्यन्थो नाध्येतव्यः ॥ १२३ ॥

(२) सर्वज्ञनाशयणः । सामध्वनौ श्रूयमाणे । वेदस्यान्तषड्वाक्यमधीत्य सर्ववेदानध्यायः आरण्यकमरण्येऽ-
ध्येतव्यं वेदभागमधीत्याग्रतोऽन्यत्राध्येतव्येऽनध्यायः ॥ १२३ ॥

(३) कुल्लूकः । सामध्वनौ च श्रूयमाणेऽग्न्यजुषोः कदाचिदध्ययनं कुर्यात् । वेदं च समाप्य चारण्यकारण्यं च वेदै-
कदेशमधीत्य तदहोरात्रे वेदान्तरं नाधीयीत ॥ १२३ ॥

(४) राघवानन्दः । सामध्वनौ श्रूयमाणे सति । अधीत्य चान्तं अध्यायं समाप्य । आरण्यकमधीत्यग्रन्था-
न्तरं नाध्येतव्यमिति शेषः ॥ १२३ ॥

(५) नन्दनः । सामध्वनौ सामगाने । सामाधीत्यतत्क्षणएवर्ग्यजुषीनाधीयीत । कदाचन आपद्यपि । अध्यायका-
लेऽपि वेदस्यान्तमुपनिषदमारण्यकमाश्वकेतुकंचाधीत्य तत् क्षणएवर्ग्यजुषीनाधीयीत ॥ १२३ ॥

(६) रामचन्द्रः । सामध्वनौ सति ऋग्यजुषी नाधीयीत च पुनः वेदस्य अन्तं अधीत्य च पुनः आरण्यकं अ-
धीत्य आरण्यकाध्यायं अधीत्य अनध्यायः ॥ १२३ ॥

ऋग्वेदो देवदेवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः ॥ सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः ॥ १२४ ॥

(१) मेधातिथिः । सामगीतध्वनावृग्यजुषस्यानध्यायउक्तः । तत्रायमर्थवादः । देवादेवता अस्य देवदेवत्यो देवता-
स्तुतिपरइत्यर्थः । ऋचः प्रायेण स्तुतिप्रधानाः । अतउक्तं देवदेवत्यइति । मनुष्याणां कर्मप्रधानत्वाद्यजुर्वेदे च कर्मणां बा-
हुल्योपदेशादेतेन साम्येन यजुर्वेदो मानुषइत्युच्यते । मानुषशब्दो मनुष्यजातिवचनः । अभेदाध्यासाद्यजुर्वेदो मानुषइत्युक्तम् ।
पित्र्यः पितृभ्योहितः । पितरो वा देवता अस्येति यथा कथंचिपितृशब्दसंबन्धेन श्रूयते । त्रयो लोकास्तेषां त्रय एवाधिष्ठातारः
दिवो देवता भूमेर्मनुष्या अन्तरिक्षस्य पितर एवं त्रयो वेदाः । द्वयोर्देवमनुष्यसंबन्धोक्तत्वात्पारिशेष्यात्पित्र्यः सामवेदः । तस्याशु-
चिर्ध्वनिः । नात्र तदीयस्य ध्वनेरशुचित्वं परमार्थतो विज्ञेयम् । किं तर्हि यथाऽशुचिसंनिधाने नाध्येतव्यम् । एतत्संनिधान-
तिसामान्यमशुचित्वा लम्बनम् । अयंचाध्ययनविधौ प्रकरणात्सामिग्रीयमानः ऋग्यजुषप्रतिषेधो न यज्ञप्रयोगे ॥ १२४ ॥

(२) सर्वज्ञनाशयणः । सामध्वनावित्युक्तस्यास्योपादनमृग्वेदो देवदेवत्यइति । देवा अधिष्ठात्री देवता अस्येति-
देवदेवत्यः । तस्मात्पितृसंबन्धिनां देवसंबन्धिनां चापेक्षया अशुचित्वस्य कर्मादिषु दृष्टत्वात् ॥ १२४ ॥

(३) कुल्लूकः । सामगानश्रुतावृग्यजुषोरनध्यायउक्तस्तस्यायमनुवादः । ऋग्वेदो देवदेवता अस्येति देवदेवत्यः ।
यजुर्वेदो मानुषो मानुषदेवता कत्वात्प्रायेण मानुषकर्मापदेशाद्मानुषः । सामवेदः पितृदेवता कत्वात् पित्र्यः पितृकर्म कत्वाजलोप-
स्पर्शनं स्मरन्ति । तस्मात्तस्याशुचिरिव ध्वनिः न त्वशुचिरेव । अतस्तस्मिञ्छ्रूयमाणः ऋग्यजुषी नाधीयीत ॥ १२४ ॥

(४) राघवानन्दः । सामध्वनेरशुचित्वमाह ऋगिति । देवादेवता अस्येति देवदेवत्यः । अशुचिरिति अशुचिरिव-
पितृपक्षपातित्वात् न त्वशुचिरेव वेदध्वनेरशुचित्वाभावात् वचनात् पितृदेवता कत्वाच्च ऋग्यजुषीनाध्येतव्यइति भावः ॥ १२४ ॥

(५) नन्दनः । सामध्वनावृग्यजुषोरनध्यायेऽर्थवादमाह ऋग्वेदइति । पितृकर्मानुष्ठायिनोऽपामुपस्पर्शनं स्मरणात् ।
श्राद्धकर्तृप्रतिग्रहीत्रोरध्ययननिषेधाच्च पित्र्यस्याशुचित्वमुपपन्नम् । सामवेदश्चापि पित्र्यस्तस्मात्तस्य ध्वनेरशुचिः । तेन
सामाधीत्य तत्क्षणमेवर्ग्यजुषीनाधीयीतेति ॥ १२४ ॥

एतद्विदन्तो विद्वांसस्त्रयीनिष्कर्षमन्वहम् ॥ क्रमतः पूर्वमभ्यस्य पश्चाद्देवमधीयते ॥ १२५ ॥

(१२५) एतद्विदन्तः = एतं विदित्वा (नन्दनः)

(१) मेधातिथिः । एतन्निलोक्याधिष्ठातृसंबन्धित्वमृगवेदोदेवदैवत्यइत्यादिविदन्तोविद्वांसः प्राज्ञास्त्रयानिष्कर्ष-
सारभूतपूर्वमभ्यस्य प्रणवव्यात्तिसावित्राख्यमुक्तेन क्रमेण पश्चाद्देवमधीयतेपठन्ति । तेन त्रयोलोकास्तिसोदेवताएतन्नि-
काध्ययनेन परिगृहीताभवन्ति । उक्तोऽप्ययमर्थोद्वितीयेऽध्यायेपुनरुच्यते । यथाऽनध्यायेषु पठ्यते । तथा त्रयीनिष्क-
र्षे प्रागनधीते ॥ १२५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । त्रयीनिष्कर्षे त्रय्यास्तत्त्वंवेदत्रयउत्तरापेक्षया पूर्वस्य श्रेष्ठताम् । ऋगादिषुयत्पूर्वं तद-
भ्यस्यक्रमशः उत्तरोत्तरक्रमेण पश्चाद्देवतदनन्तरवेदम् । एवंच यजुर्वेदीयसामवेदीयविधिना संस्कृतेनापिऋग्वेदाध्ययनपू-
र्वकं ऋग्यजुषामध्ययनपूर्वकं च स्ववेदाध्ययनकार्यमित्यत्रापेक्षितम् । एतच्चेनेकशाखाध्ययनपक्षेएकशाखाध्ययनपक्षे-
तु स्वशाखाध्ययनमात्रमिति ग्राह्यम् ॥ १२५ ॥

(३) कुल्लूकः । एतद्देवत्रयस्य देवमनुष्यपितृदेवताकत्वंजानन्तः शास्त्रज्ञास्त्रयीनिष्कर्षसारोद्धृतंप्रणवव्यात्तिसावि-
त्र्यात्मकंप्रणवव्यात्तिसावित्रीः क्रमेण पूर्वमधीत्य पश्चाद्देवाध्ययनं कुर्युः । द्वितीयाध्यायोक्तोप्ययमर्थः पुनरनध्यायप्र-
करणेऽभिहितः यथैते यथोक्तानध्यायाएवंप्रणवव्यात्तिसावित्रीष्वपठितास्वनध्यायइतिदर्शयितुंशिष्यस्याध्यापनमेवक-
र्तव्यमितिस्नातकव्रतत्वावगमार्थं च ॥ १२५ ॥

(४) राघवानन्दः । एतत्पठनमाह एतदिति । त्रय्यानिष्कर्षसारभूतबीजभूतंवा प्रणवव्यात्तिसावित्रीः ॥ १२५ ॥

(५) नन्दनः । एवंचसति कथमध्येतव्यमित्यपेक्षायामाह एतमिति । एतत्रयीनिष्कर्षदेवमानुषपितृयात्मकंपृथक्-
भावं विदित्वा विद्वांसः पूर्ववेदविदः पूर्वमादावृग्वेदमभ्यस्याधीत्य पश्चात्क्रमशोऽन्वहमधीयते । एकस्मिन्दिनऋचोऽधीत्य-
परस्मिन्यजुषिपरस्मिन्सामान्यधीयतेत्यर्थः । विद्वद्भिः कृतमन्यैरपिकर्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ १२५ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रयी वेदत्रयी निष्कर्षेऽन्वेषणं प्रत्यहंकुर्यात् एतद्विद्वांसः विदन्तः जानन्तः पश्चात् अनन्तरं
वेदंत्वकीयं अधीते ॥ १२५ ॥

पशुमण्डूकमार्जारश्वसर्पनकुलाखुभिः ॥ अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥ १२६ ॥

(१) मेधातिथिः । अन्तरागमनेऽध्याप्याध्यापकयोर्मध्येनाधीयानानांवा । अहर्निशमहोरात्रम् । गौतमे तु च्यहमु-
पवासोविप्रवासश्चोक्तः । श्मशानाध्ययने च एतदेव । अत्रविकल्पोविज्ञेयः ॥ १२६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पशुः छागः । अन्तराध्यापकाध्येत्रोः ॥ १२६ ॥

(३) कुल्लूकः । पशुर्गवादिः मण्डूकबिडालकुक्कुरसर्पनकुलमूषिकैः शिष्योपाध्याययोर्मध्यागमनेऽनध्यायमहोरात्रं-
जानीयात् ॥ १२६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच पश्वादिभिः सप्तभिरन्तरागमनेऽनध्यायइत्याह पश्विति । पशुर्गवादिः ॥ १२६ ॥

(५) नन्दनः । पशुशब्देनात्र ग्राम्याश्चारण्याश्च पशवउच्यन्ते । पशुना यजेतेत्यत्रापि नित्यवदुपादानाच्छागएवे-
त्यपरे ॥ १२६ ॥

(६) रामचन्द्रः । पशुः छागः । गुरुशिष्ययोः पश्वादीनामन्तरागमने अहर्निशं अनध्यायः ॥ १२६ ॥

द्वावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः ॥ स्वाध्यायभूर्म चाशुद्धामात्मानं चाशुचि द्विजः ॥ १२७ ॥

(१) मेधातिथिः । नित्यग्रहणात्पूर्वत्रानध्यायानां विकल्पः । तत्रापि येषां नित्यत्वमात्रं तत्पदं दर्शितमेव । यत्र नि-
त्यग्रहणमर्थवादोवायथाअमावास्यागुरुहन्तीति भूमेश्चाशुद्धिरस्थिभगलिङ्गादिकामेध्यादिसंसर्गः । आत्मनस्तुपञ्चमेव-

क्ष्यते । यद्यप्यध्ययनविधिप्रकरणेतावनभ्यासौ तथापिनैत्यके भवतः । नह्यशुचिरधिक्रियते तथाचब्राह्मणं तस्य-
वा एतस्ययज्ञस्य द्वावनभ्यासौयदात्माशुचिर्यदेशइति ब्रह्मयज्ञश्च नित्योजपः ॥ १२७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वक्ष्यमाणौद्वावेववर्जयेत्नित्यंनित्यकर्तव्ये ब्रह्मयज्ञे । अतएव श्रुतौ तस्यवाएतस्य ब्रह्म-
यज्ञस्यद्वावनभ्यासौयदात्माशुचिर्यदेशइत्युक्तम् । अत्र नाधीयीतेतिनिषेधे अध्यापनमपि निषिद्धं तत्रापि वेदोच्चा-
रणरूपाध्ययनसंभवात् ॥ १२७ ॥

(३) कुल्लूकः । संप्रतिविद्यनैपुण्यकामंप्रतिपूर्वोक्तानभ्यायविकल्पार्थमाह द्वावेवेति । स्वाभ्यायभूर्मैचोच्छिष्टाद्यमे-
भ्योपहतां । आत्मानंच यथोक्तशौचरहितमिति द्वावेवानभ्यासौनित्यंप्रयत्नतोवर्जयेत् नतु पूर्वोक्तान् । तेषामपि यत्र नि-
त्यग्रहणमनुवादोवा नित्यत्वख्यापकोवाऽस्ति तानपि नित्यंवर्जयेत् । अन्यत्र विकल्पः ॥ १२७ ॥

(४) राघवानन्दः । पर्युदासाधिकरणन्यायेनभूम्यात्माशुद्धित्थितिरिक्तेषु निषिद्धेषु नित्याध्ययनकर्तव्यमिति प्रदर्श-
नार्थम् द्वावेवेति । वेदरक्षाहेतुत्वात्तस्य वेदोपकरणेचैव स्वाभ्यायेचैव नैत्यकइत्युक्तत्वात् । अष्टकासु त्वहोरात्रमिति यद्य-
प्यत्रस्वाभ्यायविचारःप्रकरणात्स्नातकस्यतथापि अधीयानइति लिङ्गात्प्रथमाध्यायनेप्यङ्गमतःप्राथमिकाध्यायनमपि मनु-
क्तसर्ववर्जनपुरःसरमितिभावः । इत्यनभ्यायप्रकरणम् ॥ १२७ ॥

(५) नन्दनः नित्यमापद्यपि । अनेनान्येषामनभ्यायनिमित्तानामापद्यनुज्ञासूचिता ॥ १२७ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्विजः द्वावेव विवर्जयेत् । अशुद्धां भूमिं । च पुनः आत्मानमशुचिम् ॥ १२७ ॥

अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ॥ ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातकोद्विजः ॥ १२८ ॥

[षष्ठ्यष्टम्यौ त्वरमावास्या मुभयत्र चतुर्दशीम् ॥ वर्जयेत्पौर्णमासींच तैले मांसे भगे क्षुरे ॥ ११ ॥]

(१) मेधातिथिः । ब्रह्मचारी भवेद्ब्रह्मचारिधर्मोमैथुननिवृत्तिरतिदिश्यते नपुनर्भिक्षाचरणादिः । अप्यृतावितिसं-
बन्धात्तदेवप्रथमंलदयमागच्छति । अन्ये त मधुमांसनिवृत्तिमपीच्छन्त्येतेष्वहःसु । तत्र स्मृत्यन्तरमुदाहार्यम् । षष्ठ्यष्टमीम-
मावास्यामुभयत्र चतुर्दशीम् । वर्जयेत्पौर्णमासींचतैलेमांसेभगे क्षुरे ॥ अन्येत्वाहुर्ब्रह्मचारीतिविशिष्टाश्रमिणोनामधेयमे-
तत् । अतआश्रमान्तरवर्तिनिगृहस्थादौ प्रयुज्यमानेवेदग्रहणार्थधर्मलक्षणयाऽतिदेशार्थोभवति । ब्रह्मचारीभवेत् परश-
ब्दोहि परत्र प्रयुज्यमानोवत्यर्थगमयति । सर्वेषु ब्रह्मचारिधर्मेषु प्राप्तेष्वग्नीधनभैक्ष्यचरणादयः । आसमावर्तनात्कुर्यादि-
तिवचनात् । गृहस्थः शेषभुगितिचप्रत्यक्षे विनिवर्तन्ते । केवलमधुमांसमैथुनप्रतिषेधमात्रमितिदिश्यतइति । प्रसिद्धस्तु
ब्रह्मचारिभब्दोमैथुननिवृत्तावेवेतिर्यात्किंचिदेतत् ॥ १२८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्रह्मचारीमैथुनरहितः ॥ १२८ ॥

(३) कुल्लूकः । अमावास्यादिष्वृतावपि स्नातकोद्विजो न स्त्रियमुपगच्छेत् । पर्ववर्जब्रजेचैनामित्यनेनैव निषेधसि-
द्धौ स्नातकव्रतलोपप्रायश्चित्तार्थमिहपुनर्वर्जनम् ॥ १२८ ॥

(४) राघवानन्दः । अमावास्यामित्यत्र कालकर्म तेनैतेषु स्त्रियमृतावपि न गच्छेत् पर्ववर्जब्रजेचैनामित्यादिना
निषेधस्य प्राप्तत्वेपि स्नातकव्रतलोपार्थपुनर्ग्रहणं । ऋताविति लिङ्गात् ब्रह्मचारीति पदमैथुननिवृत्तिमात्रपरम् ॥ १२८ ॥

(५) नन्दनः । अथस्नातकस्यव्रतान्तराण्याह अमेति ॥ १२८ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्नातकोद्विजः अमावास्यादिषु नित्यंऋतावपि ब्रह्मचारी भवेत् ॥ १२८ ॥

[रामचन्द्रः । षष्ठीति तैले तैलाभ्यङ्गे मांसभक्षणे भगे सुरते क्षुरे श्मश्र्वादिक्रियायां वर्जयेत् ॥ ११ ॥]

न स्नानमाचरेद्भुक्ता नातुरो न महानिशि ॥ न वासोभिः सहा जलं नाविज्ञाते जलाशये ॥ १२९ ॥

(१) मेधातिथिः । नित्यस्य स्नानस्य भुक्तवतः प्राप्त्यभावान्नायं प्रतिषेधः । स्मृत्यन्तरे हि स्नानं महायज्ञाः शेषभोजनमित्यर्थक्रमः श्रुतः । न चण्डालस्पर्शनादिनिमित्तकस्यापि नाशुचिक्षणमपि तिष्ठेदिति विरोधात् । अतश्चण्डालक्षणस्य धर्माद्यपनोदहेतोरयं प्रतिषेधः । आतुरो व्याधिगृहीतः तस्य सर्वप्रकारस्नानप्रतिषेधोऽशुचित्वेऽपि सर्वतएवात्मानं गोपायेदिति । का तर्हि तस्य शुद्धिर्मार्जनं मन्त्रवत्प्रोक्षणं वस्त्रत्याग एवमादिकर्तव्यं महानिशा मुन्युक्त उभयतोऽर्धरात्रिकः । ये तु महती निशा यस्मिन्काले हेमन्तादाविति व्याचक्षते तेषां माघफाल्गुनयोः प्रातःस्नानविधिविरोधादप्यव्याख्यानम् । नापि हैमन्तिकीषु रात्रिषु निषेध इति प्रमाणमस्ति द्वितीयस्य निशाशब्दस्याभावात् । वासोभिरतिसामर्थ्यलक्षणे शीतादौ वाससां बहुत्वे सति प्रतिषेधः । एकेन विहितमेव न नग्नः स्नायादिति द्वाभ्यामनियमो बहुनां प्रतिषेधः । जलाशयो जलाधारोऽविज्ञातः गाधागाधतया ग्राहादिभयेन च । अजस्रं सर्वदेत्यर्थः ॥ १२९ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । आतुरो रोगी । महानिशा तु विज्ञेया मध्यमं प्रहरद्वयमिति स्मृतिः । न वासोभिर्बहुभिः सह सचैलस्नानादन्यत्र । नाजस्रपुनः पुनरेकस्मिन्दिने निमित्तान्तरपातं विना । अविज्ञाते विशेषतोऽन्यजाद्यस्वातत्वादिनाऽज्ञाते ॥ १२९ ॥

(३) कुल्लूकः । नित्यस्नानस्य भोजनानन्तरमपसक्तेश्चाण्डालादिस्पर्शनिमित्तकस्य मुहूर्तमपि शक्तिविषयेनाप्रयतः स्यादित्यापस्तबस्मरणान्निषेद्धुमयोग्यत्वाद्यदृच्छास्नानमिदं भोजनानन्तरं निषिध्यते तथा रोगी नैमित्तिकमपि स्नानं कुर्यात् किंतु यथा सामर्थ्यं अशिरस्कं भवेत्स्नानं स्नानाशक्तौ तु कर्मणाम् । आर्देण वाससा वा स्यान्मार्जनं दैहिकं विदुरित्यादिजाबालाद्युक्तमनुसंधेयम् । तथा महानिशा तु विज्ञेया मध्यमं प्रहरद्वयम् । तस्मिन् स्नानं कुर्वीत काम्यनैमित्तिकादृत इति देवलवचनात्तत्र न स्नायात् । बहुवाससाश्च नित्यं न स्नायात् । नैमित्तिकचाण्डालादिस्पर्शे सति तु स्नानं बहुवाससोऽप्यनिषिद्धम् । ग्राहाद्याक्रान्तागाधरूपतया च विशेषेणाज्ञाते जलाशये च ॥ १२९ ॥

(४) राघवानन्दः । महानिशीति महानिशा तु सा ज्ञेया मध्यमं प्रहरद्वयम् । तस्यां स्नानं न कुर्वीत काम्यनैमित्तिकादृत इति हारीतोक्तेः ॥ मुहूर्तमपि शक्तिविषयेनाप्रयतः स्यादित्यापस्तबस्मरणान्निषेद्धुमयोग्यत्वाद्यदृच्छास्नानमिति यादृच्छिकस्नानविषयो निषेधः । वासोभिर्बहुभिः सहा जलं नाविज्ञाते अन्त्यजादिना स्नानितत्वा ज्ञाते ॥ १२९ ॥

(५) नन्दनः । न स्नानमाचरेत् भुक्तेति दृष्टार्थस्नानस्य प्रतिषेधः नातुर इत्याद्यदृष्टार्थस्नानस्य च । अन्तर्वास उत्तरवासो बहिर्वास इति त्रीणि वासांसि धार्याणि । तेषु बहिर्वासासोराश्रयनिषेधो बहुवचनग्रहणादभ्यन्तरोपहतयोराश्रयवन्नानुज्ञाच ॥ १२९ ॥

(६) रामचन्द्रः । निमित्तं विना वासोभिः सह स्नानं न समाचरेत् । अविज्ञाते अन्त्यजादिना स्नानितत्वा ज्ञाते ॥ १२९ ॥

देवतानां गुरोराज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा ॥ नाक्रामेत्कामतश्छायां बभ्रुणो दीक्षितस्य च ॥ १३० ॥

(१) मेधातिथिः । प्रतिकृतयोऽत्र देवतास्तासां छायासंभवात् । गुरुः पिता । आचार्य उपनेता । भेदोपादानमातिदेशिकगौरवनिवृत्त्यर्थम् । तेन मातुलादिषु नायं विधिरिति । केचित्समाचारविरोधान्नैतद्युक्तम् गोबलीवर्दवन्देदो विज्ञेय इति

वदन्ति । बभ्रुः कपिलोवर्णः । तदुणयुक्तं द्रव्यं बभ्रुवत्तु गौः कपिला सोमलतावा । उभयोर्बभ्रुशब्देन वेदे प्रयोगदर्शनात् । कामतइत्यनुद्धिपूर्वमदोषः ॥ १३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । देवतानां देवतार्चानाम् । बभ्रुणः कपिलस्य प्राणिनश्छायाम् । दीक्षितस्य दीक्षाकाले ॥ १३० ॥

(३) कुल्लूकः । देवतानां पाषाणादिमयीनां गुरोः पित्रादेर्नृपतेः स्नातकस्याचार्यस्य च गुरुत्वेऽप्याचार्यस्य प्राधान्यविवक्षया पृथङ्निर्देशः । बभ्रुणः कपिलस्य यज्ञे दीक्षितस्यावभृथस्नानात्पूर्वमिच्छया छायां नाक्रामेत् च शब्दाच्चांडालादीनामपि । कामतइत्यभिधानादनुद्धिपूर्वके न दोषः ॥ १३० ॥

(४) राघवानन्दः । किंच देवतानामिति । आक्रमणंतदुपर्युपवेशनं उल्लङ्घनं चङ्क्रमणं अनुद्धिपूर्वं न दोषः नापि स्पर्शं बभ्रुणः कपिलस्य दीक्षितस्य कृतयज्ञस्य ॥ १३० ॥

(५) नन्दनः । देवतानां देवताप्रतिमानाम् । स्नातको ब्राह्मणः । आचार्य उपनेता । बभ्रुः कपिलगौः ॥ १३० ॥

(६) रामचन्द्रः । देवतादीनां छायां कामतः नाक्रामेत् बभ्रूणां गवां कपिलां छायाम् । च पुनः दीक्षितस्य छायां नाक्रामेत् ॥ १३० ॥

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे च श्राद्धं भुक्त्वा च सामिषम् ॥ सन्ध्ययोरुभयोश्चैव न सेवेत चतुष्पथम् ॥ १३१ ॥

(१) मेधातिथिः । मध्याह्नेऽर्धरात्रे महानिशायां समांसं च श्राद्धं भुक्त्वा न सेवेत चिरं न तत्रासीत् । यदि कथंचिद्भामादिगच्छतो नान्तरेण चतुष्पथं मार्गान्तरमस्ति तदा तावन्मात्रसंबन्धेन निषिध्यते । केचित्तु चकारमेवं योजयन्ति श्राद्धं भुक्त्वा सामिषं चान्यदपि भोजनम् । आर्त्तमश्च संबन्धे समाचारोऽन्वेयः । नान्यथा व्यवहितः संबन्धो लभ्यते ॥ १३१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्राद्धं भुक्त्वा तथामिषं भुक्त्वापि । मध्यन्दिनार्धरात्रयोः । सन्ध्ययोश्च । न सेवेत चिरं न तत्र तिष्ठेत् ॥ १३१ ॥

(३) कुल्लूकः । दिवारात्रे च संपूर्णे प्रहरद्वये समांसं च श्राद्धं भुक्त्वा प्रातः सायं सन्ध्ययोश्च चिरं चतुष्पथं नाधितिष्ठेत् ॥ १३१ ॥

(४) राघवानन्दः । सामिषमामिषमित्यसकृन्निषेधाच्छ्राद्धे तद्दानं भक्षणं चावश्यकम् ॥ १३१ ॥

(५) नन्दनः । सामिषं श्राद्धं भुक्त्वा मध्यन्दिनादिषु च चतुष्पथं न सेवेत ॥ १३१ ॥

(६) रामचन्द्रः । चतुष्पथं मध्यंदिने मध्याह्नकाले न सेवेत ॥ १३१ ॥

उद्वर्तनमपस्नानं विष्णुमूत्रे रक्तमेव च ॥ श्लेष्मनिष्ठयूतवान्तानि नाधितिष्ठेत् कामतः ॥ १३२ ॥

(१) मेधातिथिः । उद्वर्तनमभ्यङ्गमलापर्कषणं पिष्टादि । अपस्नानमुपयुक्तमुदकम् । निष्ठयूतमश्लेष्मरूपमपि भुक्त्वा त्यक्तं ताम्बूलवीटिकादि । अधिष्ठानंतदुपरि स्थानम् । कामतः अज्ञानपूर्वमदोषः ॥ १३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उद्वर्तनगात्रोद्वर्तनमलम् । अपस्नानं मृतनिमित्तस्नानजलं मृतज्ञात्यादीनाम् । नाधितिष्ठेत् नोपरि तेषां तिष्ठेत् ॥ १३२ ॥

(३) कुङ्कः । उद्धर्तनमभ्यङ्गमलापकर्षणपिष्टकादि । अपस्नानं स्नानोदकं मूत्रपुरीषे रुधिरं च श्लेष्माणं निष्ठूतमश्लेष्मरूपमपि चर्वितपरित्यक्तरूपताम्बूलादि वान्तं भुङ्कोद्गीर्णभक्तादि एतानि कामतोनाधितिष्ठेत् । अधिष्ठानंतदुपर्यवस्थानम् ॥ १३२ ॥

(४) राघवानन्दः । उद्धर्तनं गात्रान्निःसारितं मलं । अपस्नानं स्नानोदकं । निष्ठूतं मुखनिःसृतं । कफं नाधितिष्ठेत्तदुपरोतिशेषः ॥ १३२ ॥

(५) नन्दनः । उद्धर्तनं शरीरत्यक्तं मलं । अपस्नानं मृतस्नानजलम् ॥ १३२ ॥

(६) रामचन्द्रः । उद्धर्तनादिषु कामतः नाधितिष्ठेत् उद्धर्तनं अभ्यङ्गमलापकर्षणं विष्णूमूत्रे च रक्तमेव श्लेष्मनिष्ठूतवान्तानि एतेषु स्थानेषु कामतः नाधितिष्ठेत् ॥ १३२ ॥

वैरिणं नोपसेवेत सहायं चैव वैरिणः ॥ अधार्मिकं तस्करं च परस्यैव च योषितम् ॥ १३३ ॥

(४) मेधातिथिः । वैरी शत्रुस्तस्य सदैव उपायनप्रेषणान्येकत्र स्थानासने गृहमानादिकथाप्रवृत्तिरित्येवमादि न कार्यम् । अधार्मिकः पातकी यश्च कुसृत्या वर्तते । तस्करश्चौरः । अस्मादेव च भेदोपादानादधार्मिको न सर्वः किं तर्हि यथाव्याख्यातम् । परस्य योषितम् । योषिद्ब्रह्मणान्नपत्त्येव किं तर्ह्यवरुद्धापि वैरकरणत्वाद्भयोर्दृष्टदोषनिमित्तैश्च प्रतिषेधः साहचर्यात् । उत्तरत्र च दारग्रहणमदृष्टदोषातिशयदर्शनार्थम् । पुनरेवं वक्तव्यं योषितमिति सामान्यनिर्देशो दारशब्दार्थवादाद्विशेषावगतिः । नायमस्यार्थवादो भिन्नमेवैतद्वाक्यम् ॥ १३३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अरिं न सेवेत चिरं न तत्समीपे तिष्ठेत् ॥ ३३ ॥

(३) कुङ्कः । शत्रुं तन्मन्त्रिणमधर्मशीलं चौरं परदारं च न सेवेत । चौरस्याधार्मिकत्वेऽप्यत्यन्तगर्हितत्वात्पृथग्निर्देशः ॥ १३३ ॥

(४) राघवानन्दः । वैरिणः सहायमित्यन्वयो तस्तन्मित्रं वर्जयेत् ॥ १३३ ॥

(५) नन्दनः । योषितोदारान् ॥ १३३ ॥

(६) रामचन्द्रः । परस्य योषितं न सेवेत ॥ १३३ ॥

न हीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते ॥ यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ १३४ ॥

(१) मेधातिथिः । अजीर्णकारभोजनादि सुवर्णापहरणादि चेदृशमनायुष्यमायुष्यक्षयकरं यादृशं परदारगमनम् । अदृष्टेन दृष्टेन च दोषः ॥ १३४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनायुष्यं । लोके इह लोके ॥ १३४ ॥

(३) कुङ्कः । यस्मादीदृशमनायुष्यमिह लोके पुरुषस्य न किञ्चिदस्ति यादृशं परदारगमनम् तस्मादेतन्न कर्तव्यम् ॥ १३४ ॥

(४) राघवानन्दः । तेषु परस्त्रीगमनमत्यर्थनिराकर्तव्यमित्याह न हीति । सेवनं संभोगः ॥ १३४ ॥

(६) रामचन्द्रः । परदारोपसेवनं यादृशं अनायुष्यकरं ततो न्यतरम् ॥ १३४ ॥

क्षत्रियं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम् ॥ नावमन्येत वै भूष्णुः कृशानपि कदाचन ॥ १३५ ॥

(१) मेधातिथिः । अवमानअनादरो गौरवाभावस्तिरस्कारश्च । कृशानपि तदात्वे प्रीतिकर्तुमसमर्थानपि ॥ १३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नावमन्येताधिक्षेपादिनाऽवमतान्कुर्यात् भूष्णभूतिशील इति भूतिकामिताऽभिप्रेता ॥ १३५ ॥

(३) कुल्लूकः । वृद्धयर्थे भूधातुः । भूष्णः वर्षिष्णुर्धनगवादिना वर्धनशीलः क्षत्रियसर्पबहुश्रुतं च ब्राह्मणं नावजानीयात् । कृशानपितृकाले प्रतीकाराक्षमान् ॥ १३५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच क्षत्रियमिति द्वाभ्यां । बहुश्रुतं विद्वांसं । भूष्णुरायुरादिना वर्धनशीलः ॥ १३५ ॥

(५) नन्दनः । क्षत्रियमभिषिक्तम् ॥ १३५ ॥

(६) रामचन्द्रः । भूष्णुः वर्षिष्णुः क्षत्रियादिकं नावमन्येत न तिरस्कुर्यात् ॥ १३५ ॥

एतन्नयं हि पुरुषं निर्दहेदवमानितम् ॥ तस्मादेतन्नयं नित्यं नावमन्येत बुद्धिमान् ॥ १३६ ॥

(१) मेधातिथिः । अवमन्तारंपुरुषम् त्रयमवमानितम् क्षत्रियः सर्पोऽदृष्टया शक्त्या ब्राह्मणोजपहोमैरदृष्टेन च दोषेण तस्मादेतन्नयं नित्यमित्युपसंहारः । विधाय दोषदर्शनं पुनरुपसंहारोयत्नेन परिहारार्थः । यत्नातिशयाच्च प्रायश्चित्ते गौरवमन्यनुमीयते ॥ १३६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तस्मादित्युक्तोपसंहारो दोषाधिक्यज्ञापनार्थः ॥ १३६ ॥

(३) कुल्लूकः । एतन्नयमवमानितं सदवमन्तारं विनाशयति । क्षत्रियसर्पो दृष्टशक्त्या ब्राह्मणश्चाभिचारादिना दृष्टेन तस्मात्कल्याणबुद्धिरेतन्नयंसर्वदा नावजानीयात् ॥ १३६ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्काले अनपकारित्वेऽपि उदकैरनर्थावहमित्याह एतदिति । त्रयं क्षत्रियादि । अवमानितं सत्पुरुषमवमन्तारं दृष्टादृष्टाभ्यां दहति ॥ १३६ ॥

(५) नन्दनः । उक्तमर्थं निगमयति एतदिति ॥ १३६ ॥

(६) रामचन्द्रः । क्षत्रियः ब्राह्मणः सर्पः एतन्नयमवमानितं तिरस्कृतं निर्दहति ॥ १३६ ॥

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ॥ आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥ १३७ ॥

(१) मेधातिथिः । असमृद्धिर्धनाद्यसंपत्तिः कृष्यादिना धनार्जनावसरे । तत्र नात्माऽवमन्तव्यो दुर्भगोऽहमकृतपुण्यो नास्मिन्नवसरे धनं मया लब्धं कुतोऽन्यदा प्राप्स्यामीति नावसादो भावनीयः । आमृत्योः श्रियमन्विच्छेत् आन्त्यादुच्छ्वासाद्धनार्जनकामो न त्यक्तव्यः । न चैनां श्रियं दुर्लभां मन्येत । अवश्यं मम संपद्यते मद्यवसाय इति गृहदौःस्थित्याद्यपरिगण्य तदर्जने प्रवर्तितव्यम् । अस्ति कस्यचित्सुभाषितम् । हीनाः पुरुषकारेण गणयन्ति गृहस्थितिम् । सत्त्वोद्यमसमर्थानां नासाध्यं व्यवसायिनाम् ॥ अनेन चैतद्दर्शयति नाहं दुर्गतः क्लेशप्राप्य धनआधानादौ नाधिक्रिये ततोऽग्निहोत्रहोमक्लेशादुत्तीर्णोऽस्मीति यस्य बुद्धिः सन् सम्यङ्मन्यत इति । अतस्तदर्थं प्रयतेत ॥ १३७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पूर्वाभिः पित्रादिक्रमागताभिः । अन्विच्छेत् प्रयत्नेनानुसंदध्यात् ॥ १३७ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रथमं धनार्थमुद्यमे कृते तत्र धनानामसंपत्तिभिर्मन्दभाग्योऽहमिति नात्मानमवजानीयात् । किंतु मरणपर्यन्तं श्रीसिद्ध्यर्थमुद्यमं कुर्यात् न त्विमां दुर्लभां बुध्येत् ॥ १३७ ॥

(४) राघवानन्दः । अवमाननप्रसङ्गेनाह नेति । पूर्वसंपन्नः सांप्रतंतद्वतधनः कृतोद्यमस्तदशक्त्या मन्दभाग्योऽहमि-

त्यात्मानंनावजानीयादिति । उक्तनिषेधातिक्रमिणस्वावमानेनावसन्नंप्रत्याह आभृत्योरिति । एनां श्रियंपुरुषकारस्या-
साध्यत्वाभावात् ॥ १३७ ॥

(६) रामचन्द्रः । एनां श्रियं दुर्लभानमन्येत् नासाध्यं व्यवसायिनः पूर्वापरसमृद्धिभिः पित्रादिक्रमादागताभिः
॥ १३७ ॥

सत्यं ब्रूयाद्यियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ॥ प्रियं च नानृतं ब्रूयादेषधर्मः सनातनः ॥ १३८ ॥

(१) मेधातिथिः । अर्थप्रयुक्तवचनं सत्येनियम्यते । यथादृष्टश्रुतं सत्यं प्रियं ब्रूयात् । द्वितीयोऽयं विधिः । औ-
दार्यादिगुणानुक्तथनं परं स्यादृष्टेनापि केनचिदबसरेण । तथा पुत्रजन्मादि ब्राह्मणपुत्रस्तेजातइत्यसत्यपि स्वप्रयोजने यदि
सत्यं तद्वक्तव्यं । यदितस्य तन्नविदितं सत्यं प्रियमप्रियं वास्ति । प्रियं दर्शितं ब्राह्मणपुत्रइत्यादि । अप्रियं यथा ब्राह्मण कन्या-
ते गर्भिणी तदसत्यं ब्रूयात्सत्यमपि कन्यागर्भग्रहणमप्रियत्वादप्रकाश्यम् । सत्यांगतौ तूष्णीमासितव्यम् । ननु गर्भिण्या गर्भि-
णीति वक्तव्यं प्रियत्वादत आह प्रियं च नानृतं ब्रूयादिति । एव च यस्य प्रथमः साक्षात्कारस्तेन तत्र तूष्णीमासितुं लभ्यते । एषत-
नातनो धर्मः । सनातनो नित्यो वेदस्तेन विहितत्वाद्भर्मोऽपि सनातनः ॥ १३८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयादिति समुचितं वाक्यमिति स्फुटयितुम् न ब्रूयादिति व्यतिरेको-
पदर्शनम् ॥ १३८ ॥

(३) कुल्लूकः । यथादृष्टश्रुतं तत्त्वं ब्रूयात् तथा प्रीतिसाधनं ब्रूयात् पुत्रस्तेजातइति । यथादृष्टश्रुतमप्यप्रियं पुत्रस्तेष्टत
इत्यादि न वेदत् प्रियमपि मिथ्या न वदेत् । एष वेदमूलतया नित्यो धर्मः ॥ १३८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच सत्यमिति । विप्रक्षत्रियवैश्यं वा न । भौभोक्षत्रियदायाद न क्षत्रियाधमेति । क्षत्रियं-
ब्राह्मणं न ब्रूयात् ॥ १३८ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रियमपि अनृतं न ब्रूयात् ॥ १३८ ॥

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत् ॥ शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्कैनचित्सह ॥ १३९ ॥

(१) मेधातिथिः । अत्र प्रथमस्य भद्रशब्दस्य नञ्लोपं व्याचक्षते । यद्भद्रं तद्भद्रमिति ब्रूयात् । इतिकरणः प्रदर्श-
नार्थः । कल्याणं मङ्गलं सिद्धं श्रेय इत्यादयः सिद्धाः शब्दाः प्रयोक्तव्याः । पूर्वपदस्यापि प्रदर्शनार्थत्वेऽन्धे चक्षुष्मान्मूर्खे-
प्राज्ञइत्यादिवचनं लभ्यते । अथवा भद्रमित्येष एव शब्द एवमादिषु वक्तव्यः । शुष्कवैरं असत्यार्थादिप्रयोजनआहोपुरुषिकं वा-
क्यं न कर्तव्यम् । एवं राजाधिकरणे विवादं शुष्कमेवेत्यादिसंपद्यते । केनचिदसमर्थेनापि ॥ १३९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भद्रं वस्तुतो यच्छोभनं भद्रमित्येव वा भद्रमपि । शुष्कवैरं निर्निमित्तद्वेषं विवादं विरुद्धवाद-
म् ॥ १३९ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रथमं भद्रपदमभद्रपदपरं द्वितीयं भद्रशब्दपर्यायपरं अभद्रं यत्तद्भद्रशब्दपर्यायपरप्रशस्तादिशब्देन
प्रब्रूयात् । तथाचापस्तम्बः । नाभद्रमभद्रं ब्रूयात्पुण्यं प्रशस्तमिति ब्रूयात्भद्रमित्येवेति भद्रपदमेव वा तत्र योज्यं । शुष्क-
निष्प्रयोजनवैरं विवादं केनचित्सह कुर्यात् ॥ १३९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच भद्रमिति । भद्रं भद्रमिति वीप्सा । शुष्कवैरमिति फलरहितवैरम् ॥ १३९ ॥

(५) नन्दनः । शुभाशुभेषु सर्वत्र भद्रं भद्रमिति ब्रूयात् । भद्रमिति ब्रूयादित्यावत् । भद्रमित्येव वा वदेत् । सकृ-
द्भद्रमित्येव वा ब्रूयात् । शुष्कनिरर्थकम् ॥ १३९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अभद्रमपि वस्तु भद्रं भद्रमिति ब्रूयात् शुष्कवैरं निष्प्रयोजनं वैरं न कुर्यात् ॥ १३९ ॥

नातिकल्यं नातिसायं नातिमध्यं दिने स्थिते ॥ नाज्ञातेन समं गच्छेन्नैकोन वृषलैः सह ॥ १४० ॥

(१) मेधातिथिः । अतिकल्यशब्दश्चाहर्मुखे वर्तते । उषःकाले न गन्तव्यम् । अतिसायं पश्चिमसन्ध्यासमयेऽज्ञानेन पुरुषेण सह न गच्छेत् । असहायश्च वृषलैः शूद्रैश्च सह ॥ १४० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अतिकल्यमुदयसमये न गच्छेत् पन्थानं । स्थिते वर्तमाने । न वृषलैरेव सह ॥ १४० ॥

(३) कुल्लूकः । उषःसमये प्रदीपे च दिवा संपूर्णप्रहरद्वये च अज्ञातकुलशीलेन पुरुषेण शूद्रैश्च सह न गच्छेत् । नैकः प्रपद्येता ध्वानमित्युक्ते प्रतिषेधेऽपि पुनर्नैक इति प्रतिषेधः स्नातके व्रतलोपप्रायश्चित्तगौरवार्थः ॥ १४० ॥

(४) राघवानन्दः । षडेतान्वर्जयेदित्याह नेति । अतिकल्यं उषसि स्थिते सूर्य इति शेषः । अज्ञातेन कुलशीलादिना वृषलैर्वैष्टितो नैको विप्रः १४०

(५) नन्दनः । अज्ञातेनाविदितस्वभावेन ॥ १४० ॥

(६) रामचन्द्रः । अतिकल्यं प्रातः अज्ञातेन पुरुषेण समं नाधिगच्छेत् । प्रत्यूषोहर्मुखं कल्यमित्यमरः । अतिसायं कालं अतिमध्यं दिने स्थिते तथा वृषलैः सह न गच्छेत् ॥ १४० ॥

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान्विद्याहीनान्वयोधिकान् ॥ रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥ १४१ ॥

(१) मेधातिथिः । हीनाङ्गाः काणकुष्ठिकुब्जादयः । अतिरिक्तमधिकं अङ्गेषां श्लीपद्यादयः । विद्याहीनामूर्खाः । वयोतिगा अत्यन्तवृद्धाः । रूपहीना दुःसंस्थानाश्चिपटकेकरादयः । द्रविणहीनाः द्रविणः द्रविणधनं तेन हीनार्वाजिताः । जात्याहीनानिरुष्टजातयः कुण्डगोलकाद्यास्तान्नाक्षिपेत् । आक्षेपः कुत्सा एतेषां एतैः शब्दैराह्वानमेव कुत्सा ॥ १४१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वयोतिगानतिवृद्धान् । द्रविणधनं । जातिर्विशिष्टकुलजन्म नाऽऽक्षिपेद्धीनाङ्गत्वाद्यन्तर्भावेनाक्षेपं कुर्यात् ॥ १४१ ॥

(३) कुल्लूकः । हीनाङ्गाधिकाङ्गमूर्खवृद्धकुरूपार्थहीनहीनजातीन्काणशब्दाह्वानादिना न निन्देत् ॥ १४१ ॥

(४) राघवानन्दः । खञ्जपाद इति वा अङ्गहीनानुषङ्गाधिक्षिपेदित्याह हीनाङ्गानिति ॥ १४१ ॥

(५) नन्दनः । द्रव्यधनम् । जातिराभिजात्यं ॥ १४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । हीनाङ्गार्थाश्च न क्षिपेत् न तिरस्कुर्यात् ॥ १४१ ॥

न स्पृशेत्पाणिनोच्छिष्टो विप्रो गोब्राह्मणानलान् ॥ न चापि पश्येदशुचिः सुस्थोज्योतिर्गणान्दिवि ॥ १४२ ॥

(१) मेधातिथिः । उच्छिष्टो भुक्तवाननाचान्तःकृतमूत्रपुरीषश्च । अशुचिमात्रमिहोच्छिष्टशब्देनोच्यते । तथा चोच्छिष्टस्य गवादिस्पर्शः प्रतिषिध्यतेऽशुचिशब्देन । प्रार्थश्च त्वं क्षयति पाणिग्रहणमतन्त्रम् । अन्येनाप्यङ्गेन स्पर्शाने-

(१४१) वयोऽधिकान् = वयोऽतिगान् (मे०)

व्यते । वस्त्राद्यन्तरिते न निषेधः ॥ दिविज्योतिर्गणनं पश्येत् । स्वस्थोऽनातुरः । दिवीतिवचनाद्भूमौ ज्योतिषोऽग्रे चाप्र-
तिषेधः ॥ १४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पाणिना न स्पृशेदिति गात्रान्तरेण स्पर्शो तादृशदोषाभावार्थः । उच्छिष्टइत्यशुचिमात्रो-
पलक्षणम् ॥ १४२ ॥

(३) कुङ्कः । कृतभोजनः कृतमूत्रपुरीषादिश्चाकृतशौचाचमनोब्राह्मणो हस्तादिना गोब्राह्मणाग्नीन् स्पृशेत् । न-
चाशुचिः सन्नानातुरो दिविस्थां तस्य चन्द्रग्रहादिज्योतिर्गणान् पश्येत् ॥ १४२ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च नेति । स्वयमुच्छिष्टो विप्रः पाणिना गोब्राह्मणादीन् न स्पृशेदित्यन्वयः । तथा स्वयं-
मुस्थोऽशुचिः सन् ॥ १४२ ॥

(५) नन्दनः । उच्छिष्टः स्नानाचमनशोभ्याशौचयुक्तः । स्वस्थः सावधानः । अत्र दिवीतिविशेषणाज्जलेनुज्ञातं दर्श-
नमिति गम्यते ॥ १४२ ॥

(६) रामचन्द्रः । युग्मं । न स्पृशेदिति । अशुचिः सज्योतिर्गणनं पश्येत् ॥ १४२ ॥

स्पृष्टैतानशुचिर्नित्यमद्भिः प्राणानुपस्पृशेत् ॥ गात्राणि चैव सर्वाणि नाभिपाणितलेन तु ॥ १४३ ॥

(१) मेधातिथिः । अविशेषवचनेऽपि प्राणाश्चक्षुरादय एव मूर्धन्या उच्यन्ते । प्राणशब्दश्चक्षुरादिवचनो वेदे प्राण-
संभवोऽपनिषदि दृश्यते । गात्राणि अंसं जानुपादादीनि । पाणितलेनापोगृहीत्वा स्पृशेत् ॥ १४३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतान् गोब्राह्मणानलान् स्पृष्ट्वा ज्योतिर्गणं च दृष्ट्वेति । अद्भिः प्राणानिति आचमनं-
कृत्वा जलसहितेन हस्तेन मूर्धन्येन्द्रियस्थानानि समहस्ततलेन सर्वगात्रं नाभिच स्पृशेदिति तस्य प्रायश्चित्तमित्यर्थः
॥ १४३ ॥

(३) कुङ्कः । एतान् गवादीन्शुचिः सन्स्पृष्ट्वा कृताचमनः पाणिना गृहीताभिरद्भिः प्राणांश्चक्षुरादीन्न्द्रियाणि शिरः-
स्कन्धजानुपादान् नाभिच स्पृशेत् । अप्रकरणे चेदप्रायश्चित्ताभिधानं लाघवार्थम् । तत्र प्रकरणे गवादिग्रहणमपि कर्तव्यं-
स्यात् ॥ १४३ ॥

(४) राघवानन्दः । दैवाच्चेत्त्राहस्पृष्टेति । प्राणान् चक्षुरादीन्द्रियाणि जलपूर्वमुपस्पृशेदिति । नाभिच पाणितले-
न करणेन ॥ १४३ ॥

(५) नन्दनः । अत्र प्रायश्चित्तमाह स्पृष्टेति । एतानि गोब्राह्मणानलान् पाणिना ज्योतिर्गणांश्चक्षुषा स्पृष्ट्वा अद्भिः सह-
पाणितलेन प्राणांश्चक्षुरादीनि प्राणस्थानानीति । गात्राण्यवयवांश्च नाभिचोपस्पृशेत् ॥ १४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतान् विप्रादीन् अशुचिः सन् स्पृष्ट्वा अद्भिः प्राणान् प्राणेन्द्रियादीन् उपस्पृशेत् । सर्वाणि गा-
त्राणि नाभिच पाणितलेन स्पृशेत् ॥ १४३ ॥

अनातुरः स्थानि खानि न स्पृशेदनिमित्ततः ॥ रोमाणि च रहस्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् ॥ १४४ ॥

(१) मेधातिथिः । अनिमित्ततः कण्डूयनादिनिमित्तं विना । त्वानि खानि चक्षुरादीनि छिद्राणि न स्पृशेत् । रह-

स्थानि कक्षोपस्थगतानि विवर्जयेत्प्रकृतेन स्पर्शेन । श्लोकपूरणार्थमाख्यातान्तरोपादानम् । अन्येत्वाहुः आख्यातान्तरनिर्देशादर्शनप्रतिषिध्यते ॥ १४४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनातुरः कण्डूत्यादिपीडाभावे । तथा ऽनिमित्ततआचमनादिनिमित्तव्यतिरेकेण । खानि इन्द्रियस्थानानि नाभ्यूर्ध्वस्थान्यपि न स्पृशेत् । रहस्यान्युपस्थादिस्थितानि वर्जयेत् । स्पृशेन्नित्यमेवातुरत्वेपि ॥ १४४ ॥

(३) कुड्मूकः । अनातुरः सन् खानि खानीन्द्रियछिद्राणिरोमाणि च गोप्यान्युपस्थकक्षादिगतानि निर्निमित्तं स्पृशेत् ॥ १४४ ॥

(४) राघवानन्दः । अनिमित्ततः । आचमनादिनिमित्तं विना । रहस्थानि कक्षोपस्थगतानि विवर्जयेन्न स्पृशेत् ॥ १४४ ॥

(५) नन्दनः । अनातुरः श्रोत्रादिषु पीडारहितः । खानि श्रोत्रादीनि । वर्जयेत् स्पर्शनइतिशेषः ॥ १४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । खानि खानि । छिद्राणि अनिमित्ततः न स्पृशेत् । सरहस्यानिगुह्यस्थानि यानि रोमाणि तानि वर्जयेत् ॥ १४४ ॥

मङ्गलाचारयुक्तः स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः ॥ जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः ॥ १४५ ॥

(१) मेधातिथिः । अभिलषितायुर्धनादिसिद्धिर्मङ्गलम् । तदर्थमाचारो मङ्गलाचारो गोरोचनातिलकशुभफलादिस्पर्शस्तेन युक्तो नित्यं तत्सेवापरः स्यात् । ननु चाचारस्य प्रामाण्यमुक्तमेव । सत्यम् । अदृष्टस्यार्थस्यानेनोच्यते । दृष्टबुद्ध्याहिक्रियमाणस्य व्यभिचारदर्शनेन कश्चिदनादरपरः स्यात् । तदर्थं पुनरुच्यते यथाप्रस्थानकाले संनिहिते पुनः कथनं दध्यादौ वन्दनं शुक्लनिवसनदर्शनं दक्षिणतः कपिञ्जलवासितं फलिते वृक्षे दक्षिणतएव वायसस्य । एवमादिमङ्गलार्थमादरणीयं विपरीतं विपरीतं वर्जनीयम् । जितेन्द्रियो विषयेष्वलालसः । पुरुषार्थतयैतदसकृदुक्तमपि विनिपातनिवृत्त्यर्थमुच्यते । अग्रेरन्यत्रापि होमसंभवाज्जुहुयादग्निमित्याह । अतन्द्रितइत्युक्तानुवादः ॥ १४५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मङ्गलाचारः । पापालक्ष्मीनाशहेतुराचारः । नियतात्मा शुचिः । जितेन्द्रियो नियतेन्द्रियः । जपेत्गायत्र्यादि जुहुयात्तेनैव पापशान्त्यर्थम् ॥ १४५ ॥

(३) कुड्मूकः । अभिप्रेतार्थसिद्धिर्मङ्गलं तद्धेतुत्वेन गोरोचनादिधारणमपि मङ्गलम् । गुरुसेवादिकमाचारस्तत्रोद्युक्तः स्यात् । बाह्याभ्यन्तरशौचोपेतोजितेन्द्रियश्च भवेत् । गायत्र्यादिजपं विहितहोमं च नित्यं कुर्यात् । अतन्द्रितोऽनलसः । अत्राचारादीनामुक्तानामपि विनिपातनिवृत्त्यर्थत्वात्पुनरभिधानम् ॥ १४५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच मङ्गलेति । मङ्गल्यं स्वर्णदूर्वादि । प्रयतात्मा शुचिः । जपेद्गायत्रीमिति शेषः ॥ १४५ ॥

(५) नन्दनः । नैमित्तिकानाचारानाह मङ्गलेति । मङ्गलानि सुवर्णचन्दनं रत्नं पञ्चगव्यानि रोचनां । प्रियङ्गुं सर्षपं क्षौद्रं मङ्गलानि प्रचक्षते ॥ आचारो व्याख्यातः ॥ १४५ ॥

(६) रामचन्द्रः । मङ्गलाचारयुक्तः स्यादस्त्रालंकारयुक्तः स्याद्गायत्रीजपेत् ॥ १४५ ॥

मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम् ॥ जपतां जुहुतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥ १४६ ॥

(१) मेधातिथिः । विनिपातः प्राकृताशुभनिमित्तकोदैवोपद्रवो व्याधिर्धननाशश्च विद्योगादिः । स एवमाचाराणां मङ्गल्यकान्निवर्तते । अनेनापि नित्यतैवोक्ता भवति सत्यपि फलार्थत्वे । नहि कश्चिदैवोपद्रवानिवृत्तिमर्थयते । अतो-

नित्यग्रहणमनुवादः । अथापि कश्चिदनर्थीस्यात्तथापि नित्यएवायंविधिः । एवंचोभयार्थतातस्य नित्याधिकारवृत्ति-
र्विनिपातनिवृत्तिश्च ॥ १४६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विनिपातइहलोकेपरलोके च ॥ १४६ ॥

(३) कुल्लूकः । अतआहमङ्गलाचारयुक्तानामिति । मङ्गलाचाराभ्यांयुक्तानानित्यंशुचीनांजपहोमरतानांदैवमानु-
षोपद्रवो न जायते ॥ १४६ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तानामनुष्ठानेअर्थवादमाह मङ्गलेति । विनिपातोदैवमानुषोपद्रवः जपादिफलराहित्यंवा ।
मङ्गलाचारयुक्तानामित्याद्यनुवादः ॥ १४६ ॥

(६) रामचन्द्रः । मङ्गलेति । मङ्गलाचारयुक्तादीनांविनिपातोव्याख्यादीभिःचरणादेरनिष्टप्राप्तिर्नविद्यते ॥ १४६ ॥

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः ॥ तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्यउच्यते ॥ १४७ ॥

(१) मेधातिथिः । जपेच्चजुहुयाच्चैवेत्युक्तम् । तत्र तावज्जपस्य साधनमाह वेदमेवजपेदिति । अवशिष्टोऽर्थ-
वादः । यथाकालंयस्मिन्यस्मिन्काले वीप्सायामव्ययीभावः । यदैव सैहिकी चेष्टा नातिपद्यते । तदैव जपेत् । अन्यान्य
ग्रिहोत्रादिकर्माणि नियतकालानि । जपस्यतुशुचित्वमेवकालः । अयंमुख्योऽधर्मः । उपधर्मोऽधर्मस्यसमीपेउपधर्मः । समी-
पप्रधानस्तत्पुरुषोनाव्ययीभावः । उपमानानिसामान्यवचनैरिति यथा । धर्मान्तरनिन्दा वेदजपस्तुत्यर्था न तन्निषेधार्था
॥ १४७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वेदमेव यथाकालंस्वाध्यायकाले जपेत् वेदजपमेव कुर्यात् । नतु तद्विरोधि कर्मान्तरमि-
ति । अभ्युदयसाधनं नियतेनास्य स्नातकस्य उपधर्मोऽल्पधर्मः ॥ १४७ ॥

(३) कुल्लूकः । नित्यकृत्यावसरे श्रेयोहेतुतया प्रणवगायत्र्यादिकंवेदमेवानलसोजपेत् । यस्मात्तंब्राह्मणस्य
श्रेष्ठधर्ममन्वादयोवदन्ति । अन्यः पुनस्ततोऽपकृष्टोऽधर्मोऽमुनिभिरुच्यते । उक्तस्यैव वेदाभ्यासादेः पूर्वजातिस्मरणद्वारेण
मोक्षहेतुत्वंवदितुंपुनरभिधानम् ॥ १४७ ॥

(४) राघवानन्दः । तंवेदजपं उपधर्मः । अपकृष्टधर्मः विधर्मोवा ॥ १४७ ॥

(५) नन्दनः । जपेच्चेत्युक्तम् किंजप्यमित्यपेक्षायामाह वेदमिति । तंवेदजपम् । अन्योऽवेदजपः ॥ १४७ ॥

(६) रामचन्द्रः । तंपरधर्मोऽहोः । अन्योऽधर्मोऽपधर्म उच्यते ॥ १४७ ॥

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ॥ अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥ १४८ ॥

(१) मेधातिथिः । अद्रोहोऽहिंसा । भूतानिस्थावरजङ्गमानि । जातिस्मरफलान्येतानि कर्माणिचत्वारियावज्जीवम-
नुष्ठेयमानानिभवन्ति । जातिर्जन्मान्तरम् । पूर्वभवापौर्विकी ॥ १४८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एषच वेदाभ्यासः शौचादिभिर्यमैस्तपःप्रभृतिभिर्नियमैश्च सहितएवाभ्युदयहेतुरित्याह
वेदाभ्यासेनेति । तपसाप्राणायामादिना शौचादिकं यमस्य तपश्च नियमस्थोपलक्षणम् । जातिजन्म ॥ १४८ ॥

(३) कुल्लूकः । सततवेदाभ्यासशौचतपोऽहिंसाभिःपूर्वभवस्य जातिंस्मरति ॥ १४८ ॥

(४) राघवानन्दः । वेदाभ्यासादिचतुष्टयंजातिस्मृतेरपि हेतुरित्याह वेदेति ॥ १४८ ॥

(५) नन्दनः । योयवेदजपः सशौचसत्यतपोऽहिंसायुक्तश्चेत्परमोऽधर्मोभवति नान्यथेत्याह वेदेति ॥ १४८ ॥

(६) रामचन्द्रः । भूतानामद्रोहेणैव पौर्विकीर्जातिस्मरति ॥ १४८ ॥

पौर्विकी संस्मरन् जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः ॥ ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥ १४९ ॥

(१) मेधातिथिः । ननु चेष्टफलकामः सर्वसमीहते जन्मान्तरानुस्मरणमेकतरसुखं येन फलत्वेन वेदाभ्यासादिचतुष्टयस्य वर्ण्यते । तत आह पौर्विकीर्जातिस्मरन्पुनस्तदभ्यासे वर्तते । तस्माच्चानेकजन्माभ्यासादनन्तरं ब्रह्मप्राप्तिलक्षणं सुखम् । अजस्रमपुनरावृत्तिं अश्नुते प्रामोति । अनन्तशब्देन सुखविशेषो लक्ष्यतोऽसाधना परितृप्तिरात्मनस्तस्याजस्रपदेन शाश्वतं प्रतिपाद्यते तादृशं सुखं प्राप्यते न चैतत्क्षीयते । समानार्थावयवपुनरुक्तौ यथावृत्तकंवहतः पुरीषमिति । वृत्तकमुदकं-पुरीषं च तत्रैकोरुढोऽपरः क्रियाशब्दः । पुरीषं पूरणसमर्थं वृत्तकमुदकम् ॥ १४९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अजस्रं सर्वदा ब्रह्मणो वेदस्याभ्यासेन आनन्त्यमनन्तकालस्थायि ॥ १४९ ॥

(३) कुल्लूकः । ततः किमत आह पौर्विकीमिति । पूर्वजातिस्मरन् जातिमित्येकत्वमनाकाङ्क्षितत्वादविवक्षितम् । बहूनि जन्मानि स्मरंस्तेषु च गर्भजन्मजरामरणदुःखान्यपि स्मरन्संसारे विरज्यन् ब्रह्मैवाजस्रमभ्यसति अवणमननभ्यानेः साक्षात्करोति तेन चानन्तमविनाशिपरमानन्दाविर्भावलक्षणं मोक्षसुखं प्राप्नोति ॥ १४९ ॥

(४) राघवानन्दः । पूर्वजातिस्मृतौ किं स्यादित्यत्राह पौर्विकीमिति । वेदाभ्यासेनैवंमम जातिस्मरता जातेति कृत्वा ब्रह्मैवाभ्यस्यते ततोऽनन्तमविनाशि मोक्षरूपम् ॥ १४९ ॥

(५) नन्दनः । जातिस्मरणेन किं प्रयोजनमित्यपेक्षायामाह पौर्विकांमिति । ब्रह्मवेदमनन्तरं सुखं मुक्तिम् ॥ १४९ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्रह्मैव वेदमेव । पुनरभ्यसेत ब्रह्माभ्यासेन अजस्रं निरन्तरं आनन्त्यफलं अश्नुते ॥ १४९ ॥

सावित्रान् शान्तिहोमांश्च कुर्यात्पर्वसु नित्यशः ॥ पितृंश्चैवाष्टकास्वर्चैर्नित्यमन्वष्टका-

सुच ॥ १५० ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वोक्तानां होमानां स्वरूपमुच्यते । सावित्राः सवितृदेवताकाः । पर्वसु च पौर्णमास्यमावास्यायोः कर्तव्याः शान्त्यर्थं होमा अनिष्टनिवृत्तिप्रयोजनाः द्रव्यंचात्राज्यमेवानुपात्तद्रव्यविशेषेषु सर्वहोमेषु श्रूयते । सर्वस्मै वा एतच्च ज्ञायगृह्यते यत्तद्धुवायामाज्यमिति । पर्वस्त्विति च सममीद्वितीयार्थे द्रष्टव्या । अधिकरणमग्निर्होमस्य न कर्मकचित् । होतव्यानि पठ्यन्ते लाजाज्यमांससक्तुदधिपयोधानाः पिष्टमित्यादि । एते च होमा अपूर्वाः । यावती च समाचारादितिकर्तव्यता सा प्राग्दर्शिता । अष्टका ऊर्ध्वमाग्रहायण्यास्तमित्सपक्षाणां तिस्रोऽष्टम्यः केषांचिद्धेमन्तशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामिति वचनम् । तत्र पितृनर्चयेच्छ्राद्धेन । पितृशब्दः पूर्वप्रमोतपित्रादिवचनः । अन्वष्टकास्ता एव नवम्यः ॥ १५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः सावित्रान् सावित्रीमन्त्रनिष्पाद्यान् । शान्तिहोमान् पापशान्त्यर्थं होमान् । पर्वस्वमावास्या-पौर्णमास्योः । नित्यशः सर्वदा अष्टकासु हेमन्तशिशिररुक्णाष्टमीषु । अन्वष्टकासु तन्ववमीषु ॥ १५० ॥

(३) कुल्लूकः । सावित्रीदेवताकान्होमाननिष्टनिवृत्त्यर्थं च शान्तिहोमान् पौर्णमास्यमावास्यायोः सर्वदा कुर्यात् । तथा-आग्रहायण्या ऊर्ध्वरुक्णाष्टमीषु तिसृषु चाष्टकाख्येन कर्मणा श्राद्धेन च तदन्तरितरुक्कणनवमीषु चान्वष्टकाख्येन परलोकग-तान्पितृन्यजेत् ॥ १५० ॥

(१५०) सावित्रान्=सावित्र्या (नन्दनः)

(४) राघवानन्दः । सावित्रान् सवितृदेवताकान् । शान्त्यर्थं होमान् शान्तिहोमान् । सूर्योऽप्योतिर्ज्योतिःसूर्याय-
स्वाहेति मन्त्रलिङ्गादाज्यद्रव्यकान् । सर्वस्मैवाप्तयज्ञायगृह्यतेयत्तुवायामाज्यमिति । अतस्तेषां रूपसमर्पणमात्रमनेन ।
पर्वस्विति दर्शादिकालविधिस्तेषां अष्टकान्वष्टकासु च पितृश्राद्धेदित्यन्वयः । आयहायण्याऊर्ध्वचतसृष्वष्टकासु
अष्टकाख्येन कर्मणा अन्वष्टकासु अन्वष्टकाख्येन च ॥ १५० ॥

(५) नन्दनः । जुहुयाच्चैवेत्युक्तम् तत्केन मन्त्रेणेत्यपेक्षायामाह सावित्र्येति । सावित्र्या आज्येन शान्तिहोमान् कुर्यात् ।
अष्टकासु हेमन्ताद्यष्टमीषु । अन्वष्टकासु नवमीषु ॥ १५० ॥

(६) रामचन्द्रः । सावित्रान्सवितृदेवताकान् गायत्र्यादिमन्त्रान् शान्तिहोमांश्च कुर्यात् । अष्टकासु हेमन्तशिशिर-
कृष्णनवमीषु अन्वष्टकासु पितृनर्चयेत् ॥ १५० ॥

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम् ॥ उच्छिष्टान्ननिषेकं च दूरादेव समाचरेत् ॥ १५१ ॥

(१) मेधातिथिः । पादाववसिच्येते येनोदकादिना तत्पादावसेचनं तद्दूरात्क्षिपेत् । अथवा पादप्रक्षालनमेव
दूरात्कुर्यात् । निषेकः परिषेकः । तैलादिकृतस्नानोदकमपिशक्यते निषेकशब्देनाभिधातुम् । उपयुक्तशेषस्य त्याज्य-
स्यायं दूरतीति निषेकउच्यते । तद्धि निषेकशब्देन प्रसिद्धतरम् ॥ १५१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उच्छिष्टान्नस्य निषेकं त्यागम् ॥ १५१ ॥

(३) कुल्लूकः । नैर्ऋत्यामिषु विक्षेपमतीत्याभ्यधिकं भुवइति विष्णुपुराणवचनदिवं विधादग्निगृहस्य दूरान्मूत्रपरी-
षपादप्रक्षालनसकलोच्छिष्टान्नानि । निषिच्यत इति निषेकरेतश्चोत्सृजेत् ॥ १५१ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच दूरादिति । निषेकरेतः समाचरेद्दूरे कुर्यात् ॥ १५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । उच्छिष्टान्नं निषेकं रेतः दूरादेव समाचरेत् ॥ १५१ ॥

मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम् ॥ पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम् ॥ १५२ ॥

(१) मेधातिथिः । अर्थवादिषु पञ्चवङ्गसंस्तवे मैत्रः पायुरिति श्रूयते । तदिहाप्यभेदोपचारान्मित्रः पायुस्तत्र भवं शौ-
चं मैत्रम् । प्रसाधनं केशरचनामुपलेपनादि । अथवा विशेषणविशेष्येपदे मैत्रं प्रसाधनम् । अकृतशक्ततापि प्रातः पायुप्रक्षाल-
नं कर्तव्यम् । यथाहि सुप्तस्य लालासावादेरवश्यं भावित्वान्मुखधावनं विहितम् । एवमेतदपि विनैव वा निमित्तेन मुखस्य
जघन्ययोरङ्गयोः प्रक्षालनमवश्यं कर्तव्यम् । अन्येत्वाह्वमित्रकार्यं मैत्रं तत्सर्वकार्येभ्योन्तरङ्गेभ्योऽपि पूर्वकर्तव्यम् । तत्रा-
प्यशुचेः क्षणमप्यवस्थाभावात्स्वकार्यापेक्षया पूर्वत्वं द्रष्टव्यम् । तदाच पूर्वाह्णशब्दः कार्यान्तरेभ्यः पूर्वतामात्रोपलक्ष-
णार्थो न पुनरपराह्वप्रतिषेधार्थः । अथवा मित्रादित्यस्तदुपस्थानं मैत्रम् । नचायमेष विद्वत्तादिगुणसंपन्नः साध्यते । प्रजाया-
याह्येते गुणाः प्रार्थ्यन्ते । तदुक्तम् ॥ तथा गवा किंक्रियते या न धेनुर्नर्गभिणी । कोऽर्थः पुत्रेण जातेन योन विद्वान्न
धार्मिकः ॥ अक्षय्यमपि प्रभूतयदसद्यसनैरप्यलक्षणस्कन्धोपरितिलकादिदारिद्र्यादिदौर्भाग्यसूचकं तदप्याचारोहन्ति ।
तेन स धर्मआचारपरत्वेन नश्यति ॥ १५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मैत्रं विशोत्सर्गं मित्रं देवततया प्रसाध्यत्वात् । वक्ष्यति च मित्रमुत्सर्गइति । प्रसाधनपदेनै-
व चक्षुरंजनस्य प्राप्तत्वात् । अञ्जनं तैलाभ्यङ्गम् । पूर्वाह्ण एव संभवे असंभवे त्वन्यदापि ॥ १५२ ॥

(३) कुल्लूकः । मित्रदेवताकत्वान्मैत्रःपायुस्तद्भवत्वान्मैत्रपुरीषोत्सर्गम् । तथादेहप्रसाधनप्रातःस्नानदन्तधावनाञ्जनदेवार्चनादि पूर्वाह्ण एव कुर्यात् । पूर्वाह्णशब्देन रात्रिशेषदिनपूर्वभागाविह विवक्षितौ । पदार्थमात्रविधिपरत्वाच्चास्य पाठक्रमोऽपि नादरणीयः । नहि स्नानानन्तरंदन्तधावनम् ॥ १५२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचैतांत्समारुणोदयमारम्य कुर्यादित्याह मैत्रमिति मित्रदेवताकत्वात् मैत्रःपायुःतदुद्भवत्वान्मैत्रं पुरीषोत्सर्गम् । प्रसाधनं केशानां । पूर्वाह्णशब्देन जहलक्षणया रात्रिशेषोप्राह्नःतेनानुदितहोमनिर्वाहः । अत्र पाठक्रमबाधित्वा अर्थाच्चेति न्यायेन दन्तधावनमादौ बोद्धव्यम् । उदिते पद्मिनीनाथे यःकुर्यादन्तधावनम् । सनिर्लज्जः कथं ब्रूयात्पूजयामि जनार्दनमिति निन्दास्मरणात् ॥ १५२ ॥

(५) नन्दनः । मैत्रमुच्चारः ॥ १५२ ॥

(६) रामचन्द्रः । मैत्रं मूत्रपुरीषोत्सर्गः । अंजनं प्रसाधनं केशानांकर्मपूर्वाह्ण एव कुर्वीत ॥ १५२ ॥

दैवतान्यभिगच्छेत्तु धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान् ॥ ईश्वरं चैव रक्षार्थं गुरुनेव च पर्वसु ॥ १५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दैवतानि । धार्मिकद्विजांश्च नमस्कारार्थम् । ईश्वरं च रक्षार्थं नित्यमभिगच्छेत् । गुरुंस्तु पर्वसु नमस्क्रियार्थम् ॥ १५३ ॥

(३) कुल्लूकः । पाषाणादिमयानि धर्मप्रधानांश्च ब्राह्मणान्नक्षार्थराजादिकं गुरुंश्च पित्रादीनमावास्यादिपर्वसु द्रष्टुमभिमुखो गच्छेत् ॥ १५३ ॥

(४) राघवानन्दः । दैवतानि पाषाणादिप्रतिमाः । धार्मिकान् धर्मोपदेष्टृन् । पर्वस्वमादिषु ॥ १५३ ॥

(५) नन्दनः । दैवतानि देवताप्रतिमाः । ईश्वरं राजानमन्यंवाप्रभुम् ॥ १५३ ॥

(६) रामचन्द्रः । ईश्वरं ग्रामाधिपं योगक्षेमार्थं गच्छेत् । अलब्धलाभोयोगः लब्धस्य परिपालनं क्षेमःतं कुर्वीत । गुरुन् आचार्यान् ॥ १५३ ॥

अभिवादयेद्बुद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम् ॥ कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥ १५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बृद्धान् विद्यादिवृद्धान् । पृष्ठतोऽन्वियात् न त्वग्रतः ॥ १५४ ॥

(३) कुल्लूकः । गृहागतांगुरुनभिवादयेत्तेषां च स्वीयमासनमुपवेष्टुं च दद्यात् । बद्धाञ्जलिश्च गुरुसमीपआसीत । गच्छतश्च पृष्ठदेशेऽनुगच्छेत् । उक्तोऽप्ययमभिवादान्याचारः फलाभिधानाय पुनरुच्यते ॥ १५४ ॥

(४) राघवानन्दः । संभ्रमेणासनंदद्यादिति भावः । उपासीत आसीनानिति शेषः । गच्छतस्तस्य पृष्ठतः ॥ १५४ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्वं स्वकीयं आसनंदद्यात् ॥ १५४ ॥

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ्निबद्धं स्वेषु कर्मसु ॥ धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥ १५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्रुतिस्मृत्युदितं सदाचारं च धर्ममूलं धर्मसाधनं स्वेषु स्ववर्णाश्रमकर्मसु निबद्धं संबद्धं तत्कर्मनिगुणसेवेत ॥ १५५ ॥

(३) कुल्लूकः । वेदस्मृतिभ्यांसम्यगुक्तं स्वेषु कर्मस्वध्ययनादिष्वङ्गत्वेन संबन्धधर्मस्य हेतुंसाधूनामाचारमनलसः सन्नितान्तंसेवेतेतिसामान्येनाचारानुष्ठानोपदेशः फलकथनाय ॥ १५५ ॥

(४) राघवानन्दः । निबद्धं कर्माङ्गत्वेन । सदाचारं तद्भाभिः पूयते विप्रइत्यादिना आचमनाद्यनुष्ठानं । धर्ममूलं अङ्गारपात्रादिधारणलक्षणशिरोव्रतादिधर्महेतुः ॥ १५५ ॥

(५) नन्दनः । त्वेषु कर्मसु निबद्धं त्वानि कर्माणि वर्णाश्रमप्रयुक्तानि कुर्वन् धर्ममूलं धर्मस्य मूलम् । धर्ममूलत्वं चाचारमभवो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव चेत्यत्र प्रतिपादितम् ॥ १५५ ॥

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ॥ आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ १५६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आचाराद्धमचिरणात् अलक्षणमलक्ष्मीम् ॥ १५६ ॥

(३) कुल्लूकः । आचाराद्वेदोक्तमायुर्लभतेऽभिमताश्च प्रजाः पुत्रपौत्रदुहित्रात्मिकाः प्रभूतं च धनम् । अशुभफलसूचकं च देहस्थमलक्षणमाचारो निष्फल्यति आचाराख्यधर्मेणालक्षणसूचितारिष्टनाशात् ॥ १५६ ॥

(४) राघवानन्दः । आचारानुष्ठानं स्तौति आचारादिति । आचारः स्मार्ताचमनादिः । अक्षय्यं पुत्रपौत्रादि । अलक्षणं निन्दितरोगपरदारादिसेवनम् ॥ १५६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अलक्षणं अलक्ष्मीम् ॥ १५६ ॥

दुराचारो हि पुरुषोलोके भवति निन्दितः ॥ दुःखभागी च सततं व्याधितोऽप्यायुरेव च ॥ १५७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दुराचारो दुष्टाचरणशीलः ॥ १५७ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्माद्दुराचारः पुरुषोलोके गर्हितः स्यात्सर्वदा दुःखान्वितो रोगवानल्पायुश्च भवति तस्मात्सदाचारयुक्तः स्यात् ॥ १५७ ॥

(४) राघवानन्दः । विपक्षेत्वाह दुराचार इति ॥ १५७ ॥

(६) रामचन्द्रः । दुराचारः अश्रद्धानः ॥ १५७ ॥

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्तरः ॥ श्रद्धानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १५८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । लक्षणं एतज्जन्मशुभसूचकं कुलस्त्वादि । सदाचारः समीचीनाचारः तत्राचारे श्रद्धानः । अनसूयः परगुणसहनः ॥ १५८ ॥

(३) कुल्लूकः । यः सदाचारवान्छ्रद्धान्वितः परदोषानभिधाता संशुभसूचकलक्षणशून्योऽपि शतायुर्भवति ॥ १५८ ॥

(४) राघवानन्दः । सदाचारः सतामाचारे श्रद्धानः ॥ १५८ ॥

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ॥ यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेन यत्नतः ॥ १५९ ॥

(१) मेधातिथिः । यत्परप्रार्थनया स्वपरहितादि क्रियते तत्परवशं वर्जयेत्तेन तु यद्वृत्तिसाध्यमार्त्विज्यादि । तद्विषयकमेव श्रुत्यादिः स्वीक्रियते । यत्त्वात्मनोऽवश्यं स्वल्पमाधनमात्रयापरोपकारः स्वल्पोऽपि तत्स्वयमेव कुर्यात् । न चानेन परवशमपि दीक्षितस्य निषिध्यते । स्मृत्या श्रुतिबाधितुमन्याय्यत्वात् उक्ते च विषये सावकाशात्वात् स्मृतेर्नित्यकर्मासंपत्तौ कुटुम्बोपयोगिनिधनेऽसति कर्तव्यैव यात्रोपायान्तराभावे । किंतु विशेषतो दास्य इति सत्यां कस्यां चिद्धनमात्रायां संतोषपरेण भवितव्यमित्येवमस्य तात्पर्यम् ॥ १५९ ॥

- (२) सर्वज्ञनारायणः । परवशं नित्यंपराधीनं कर्म दृष्टार्थम् ॥ १५९ ॥
- (३) कुल्लूकः । यद्यत्कर्म पराधीनंपरप्रार्थनादिसाध्यंतत्तद्यत्नतोवर्जयेत् । यद्यत्त्वाधीनदेहव्यापारसाध्यंपरमात्मयद्वादि तत्तद्यत्नतोऽनुतिष्ठेत् ॥ १५९ ॥
- (४) राघवानन्दः । नैतादृशदुःखहेतुरित्यनुभवाधिरूढमाह यदिति त्रिभिः । अध्यापनादित्रितयंपरित्यज्य यथालाभेन संतुष्टोवेदानभ्यसेदिति तात्पर्यार्थः ॥ १५९ ॥
- (५) नन्दनः । परवशंपराधीनम् । अनावश्यकं यत्कर्म तत्फलवदपि वर्जनीयमित्यर्थः ॥ १५९ ॥
- (३) रामचन्द्रः । यद्यत् परतरं कर्म पराधीनंकर्म तत्त्यजेन वर्जयेत् । यद्यत् आत्मवशंकर्म तद्यत्नेन सेवेत ॥ १५९ ॥

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ॥ एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ १६० ॥

(१) मेधातिथिः । याश्चानिन्दति । यत्परवशंतत्सर्वदुःखम् । तिष्ठतु तावत्परस्य गृहद्वार्युपस्थानमनुवृत्तिरत्रचामुत्रचभ्रमणम् । यत्तु संकल्पएवयाश्चायात्तदयंनप्रसहते नूनमायामसंदिग्धांसृष्टिर्नासौत्वयंभुवः । समासेन संक्षेपेणैतदुदुःखस्यलक्षणंयायाश्चा । सुखंचैतद्याऽस्पृहा ॥ १६० ॥

- (२) सर्वज्ञनारायणः । लक्षणंकारणम् ॥ १६० ॥
- (३) कुल्लूकः । अत्रहेतुमाह सर्वंपरवशमिति । सर्वंपरप्रार्थनादिसाध्यंदुःखहेतुः सर्वमात्माधीनंसुखहेतुः । एतत्सुखदुःखयोःकारणंजानीयात् ॥ १६० ॥

(४) राघवानन्दः । आत्मवशंदेहमात्रनिर्वाहं । शारीरंकेवलंकर्म कुर्वन्नामोति किल्बिषमिति गीतोक्तेः । समासेन संक्षेपेण लक्षणंगमकम् ॥ १६० ॥

- (५) नन्दनः । यस्मादेवं तस्मादिदंमनसि कर्तव्यमित्याह सर्वमिति ॥ १६० ॥
- (६) रामचन्द्रः । सुखदुःखयोः लक्षणं कारणं एतद्विद्यात् ॥ १६० ॥

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः ॥ तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥ १६१ ॥

(१) मेधातिथिः । आत्मतुष्टेःप्रागुक्तायाः पुनर्वचनंस्मरणार्थम् । विषयश्चतस्यादर्शनएव । यत्र कर्मणि क्रियमाणे किंकथिका न भवति तत्कर्तव्यम् । यत्र तु तदयंन तुष्यति तद्वर्जनीयम् ॥ १६१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । परितोषोधर्मसाधनं ममैतदिति बुद्ध्याप्रीतिः । एतच्च बहुषु धर्मप्रकारेषु मध्ये द्रष्टव्यं एतदेव स्वस्यच प्रियमात्मनइति । प्रागुक्तविपरीतं यत्र न कदाचित्परितोषः ॥ १६१ ॥

(३) कुल्लूकः । यत्कर्मकुर्वतोऽस्यानुष्ठातुःपुरुषस्यान्तरात्मनस्तुष्टिःस्यात्तत्प्रयत्नतोऽनुष्ठेयमतुष्टिकरंवर्जयेत् । एतच्चाविहितानिषिद्धगोचरंवैकल्पिकविषयंच ॥ १६१ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच परवशमपिपुत्रोत्पादनादिकार्यमन्तरात्मनोमनसः संतोषहेतुत्वात्तद्विपरीतंपारदार्यादिनकार्यं । तस्योदकेऽसंतोषहेतुत्वात् ॥ १६१ ॥

(५) नन्दनः । एवंवर्जनीयंचकार्यंचयत्तद्विषयलक्षणउक्तम् इदानींलक्षणान्तरमाह यत्कर्मिति । सतामयमुपदेशोनासताम् ॥ १६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अस्य द्विजस्य यत्कर्म कुर्वतः अन्तरात्मनः परितोषः स्यात् तत्कर्म कुर्वीत कुर्यात् ॥ १६१ ॥

आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम् ॥ न हिंस्याद्ब्राह्मणान् गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः ॥ १६२ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रायश्चित्तप्रवृत्तान्पातकिनोऽपि सर्वग्रहणमविशेषेण सर्वभूतानां तत्र तत्र हिंसानिषिद्धापुनर्वचनमाचार्यादीनामाततापिनामपि निषेधार्थमिति केचित् । यस्तु गुरुं बालवृद्धौ वेत्यादिरर्थवादोऽस्यैव प्रतिप्रसवः । उपाध्यायस्त्वाह नायं प्रतिषेधः पर्युदासोऽयं संकल्पविधानार्थो नोद्यन्तमादित्यमीक्षेतेति वत् । अतः प्रयत्नेनातिक्रान्तं भवति संकल्पप्रतिषेधश्चेति । अथवादुरुक्तभाषणं हिंसावाग्भिस्तैर्जघानतामिति प्रयोगदर्शनात् । अथवा प्रतिकूलाचरणे हन्तिः प्रयुक्तः ॥ १६२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आचार्यमुपनीयाध्यापकम् । प्रवक्तारं उपाध्यायं व्याख्यातारं च । गुरुमुपनयनकारिणमनन्दं च । तपस्विनस्तपःशीलाः । न हिंस्यात् प्रतिकूलं तेषां नाचरेत् ॥ १६२ ॥

(३) कुल्लूकः । आचार्यमुपनयनपूर्वकवेदाध्यापकं प्रवक्तारं वेदार्थव्याख्यातारं गुरुमल्पं वा बहुवा यस्येत्युक्तं । आचार्यादींस्तु न हिंस्यात् प्रतिकूलाचरणेऽत्र हिंसाशब्दः । गोविन्दराजस्तु । सामान्येन हिंसानिषेधादाततायिनोऽप्येतान् हिंस्यादितिव्याख्यातवांस्तदयुक्तम् । गुरुं बालवृद्धौ वेत्यनेन विरोधात् ॥ १६२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच एतान्ष्टौ कदाचिदपि न पीडयेदित्याह आचार्येति । आचार्यमुपनेतारं । प्रवक्तारमध्यापकं । गुरुं हितोपदेशारम् ॥ १६२ ॥

(५) नन्दनः । न हिंस्यान् प्रतिकूलं कुर्यात् ॥ १६२ ॥

(६) रामचन्द्रः । आचार्यं उपनेतारं । प्रवक्तारं उपाध्यायं व्याख्यातारं । पितरं । मातरं । गुरुं । ब्राह्मणान् । गाश्च । सर्वांश्चैव तपस्विनः । प्रायश्चित्तप्रवृत्तान् एतान् आचार्यादीन् न हिंस्यात् । न साक्षाद्भननेनापि वचनेनापि दुःखं नोत्पादयेत् । प्रतिकूलाचरणं हननं कार्यम् ॥ १६२ ॥

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम् ॥ द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधतैक्ष्ण्यं च वर्जयेत् ॥ १६३ ॥

(१) मेधातिथिः । वेदप्रमाणकानामर्थानां मिथ्यात्वाध्यवसायस्य नास्तिक्यशब्देन प्रतिपादनम् । निन्दापुनरुक्तौ । वेदन्योन्यव्याहतो नात्र सत्यमस्तीति भावदोषेण न पूर्वपक्षमङ्ग्या । अग्न्यादयो देवतास्तासां कुत्सनं निन्दैव यथा दग्धदैवेन हताः स्मृतिदैवे भवन्ति वक्तारः । द्वेषो मात्सर्यादिहेतुकाऽप्रीतिः । स्तम्भोऽहंकारादनभता । मानोऽहंकारात्माभिमानः पण्डितोऽहमाढ्योऽहमिति । अमर्षः क्रोधस्तैक्ष्ण्यं पारुष्यं द्वेषपूर्वकः क्रोधः ॥ १६३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नास्तिक्यं परलोकनास्तितोपपादनम् । द्वेषोऽपचिकीर्षा । स्तम्भो विनयाभावः । आत्मन्युत्कर्षप्रत्ययो मानम् । द्वेषहेतुरात्मगुणविशेषः क्रोधः । तैक्ष्ण्यं हिंसापरता ॥ १६३ ॥

(३) कुल्लूकः । नास्ति परलोक इति बुद्धिर्वेदस्य देवतानां च निन्दां मात्सर्यधर्मानुत्साहाभिमानकोपक्रौर्याणि त्यजेत् ॥ १६३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच नास्तिक्याद्यवर्जनमतीव सुखहेतुरित्याह नेति । कुत्सनं धिगिन्यादितिरस्करणं । मानं पूजाकांक्षां । तैक्ष्ण्यं क्रौर्यम् ॥ १६३ ॥

(५) नन्दनः । नास्तिक्वयंपरलोकाभावनिश्चयः । वेदिनिन्दावेदाप्रामाण्यनिर्णयव्यवहारः । देवताकुत्सनंदेवतानिकर्षवादः । द्वेषोमानसोविकारः । दम्भः परसत्कारेऽनुद्यमः । अलभ्यलाभेऽपि प्रभुत्वं मानः । क्रोधो बहिर्विकारः । तैक्ष्ण्यं क्रूरता ॥ १६३ ॥

(६) रामचन्द्रः । च पुनः वेदविदामिध्यात्वाभ्यवसायश्च अन्यत्रसिद्धं तैक्ष्ण्यं हिंसाभिरतिः इत्यादि वर्जयेत् ॥ १६३ ॥

परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्क्रुद्धो नैव निपातयेत् ॥ अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्यार्थं ताडयेत्तु तौ ॥ १६४ ॥

(१) मेधातिथिः । येन दम्यते स दण्डः करलगुडशिफारज्जुविदलादिस्तंपरस्य क्रुद्धः सन्नोद्यच्छेन्नोत्क्षिपेत् । प्रहारार्थंतिर्यगपि न निपातयेत् । निपातनं वेगेन तदङ्गसंयोगः । पुत्रशिष्यावनुताडयेच्छिष्यावेणुदलचपेटाभिर्यथाष्टमे वक्ष्यति न दण्डेन तौ च न क्रोधेन तर्हि शिष्यार्थमनुशासनार्थं बाल्याद्यदि चापलमाचरतः । तथा । पृष्ठतस्तु शरीरस्येतोषत्ताड्यौ । शिष्यग्रहणं दासीदासस्यापि प्रदर्शनार्थम् । समानकार्यत्वात् ॥ १६४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दण्डं ताडनार्थं लगुडादि । नोद्यच्छेन्नं व्यापारयेत् न निपातयेत् ताडनफलं निष्पादयेत् । शिष्यार्थं शिक्षार्थं नतु द्वेषमात्रेण शिष्यपदं शासनीयपरम् । तथा च भार्यादिप्राप्तिरित्येके ॥ १६४ ॥

(३) कुल्लूकः । परस्य हननार्थं क्रुद्धः सन्दण्डादि नोत्क्षिपेन्न च परगात्रे निपातयेत्पुत्रशिष्ये भार्यादासादेरन्यत्र कृतापराधानेताननुशासनार्थं रज्ज्वा वेणुदलेन वेत्यादिवक्ष्यमाणप्रकारेण ताडयेत् ॥ १६४ ॥

(४) राघवानन्दः । नोपयच्छेत्परस्य हननार्थं नादद्यात् । न एनं दण्डं निपातयेत् शिष्यार्थं शिष्टिरनुशासनं तदर्थम् ॥ १६४ ॥

(५) नन्दनः । एनं दण्डं निपातयेत् । परस्योपरीतिशेषः ॥ १६४ ॥

(६) रामचन्द्रः । परस्येति । परस्य अन्यस्य दण्डं न उद्यच्छेत् न कुर्यात् । क्रुद्धः सन् पुत्रात् शिष्यात् अन्यत्र एव दण्डं निपातयेत् । शिक्षार्थं तु निश्चयेन तौ पुत्र शिष्यौ ताडयेत् ॥ १६४ ॥

ब्राह्मणायावगूर्यैव द्विजातिर्वधकाम्यया ॥ शतं वर्षाणि तामिस्रे नरके परिवर्तते ॥ १६५ ॥

(१) मेधातिथिः । अविशेषेण सर्वविषये ताडने निषिद्धे ब्राह्मणे तत्क्रियायादोषातिशयदर्शनार्थं पञ्चश्लोकी । अवगूर्युद्यम्य च दण्डादि वधकाम्यया ताडनेच्छया विनैव निपातेन शतं वर्षाणि नरके पच्यते परिवर्तते तत्फलमुभुपङ्के ॥ १६५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वधकाम्यया ताडनार्थतया ॥ १६५ ॥

(३) कुल्लूकः । द्विजातिरपि ब्राह्मणस्य हननार्थं दण्डादिकमुद्यम्यैव नतु निपात्य वर्षशतं तामिसादिनरके परिभ्रमति ॥ १६५ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्राप्यहो कष्टं ब्राह्मणताडनमित्याह ब्राह्मणायेति । अवगूर्यं वधकाम्यया दण्डाद्युद्यम्य । एतद्व्ययं कदापि न कुर्यात् द्विजातिश्चातुर्वर्ण्यम् ॥ १६५ ॥

(५) नन्दनः । दण्डोद्यमने ब्राह्मणविषये दोषविशेषमाह ब्राह्मणायेति । अवगूर्यं दण्डमुद्यम्य ॥ १६५ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्विजातिः वधकाम्यया ब्राह्मणान् अवगूर्यैव दण्डं उत्थाप्यैव ॥ १६५ ॥

ताडयित्वा तृणेनापि संरम्भान्मतिपूर्वकम् ॥ एकविंशतिमाजातीः पापयोनिषु जायते ॥ १६६ ॥

(१) मेधातिथिः । संरम्भः क्रोधावेशो ननु कर्मणा बुद्धिपूर्वम् । एकविंशतिमाजातीः जातिर्जन्म । आकारोऽनर्थकः-
प्रलम्बतइतिवत् । तृणेनापि ताडने दीर्घकालीनरकानुभवः ॥ १६६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संरम्भात्क्रोधात् ननु कर्मणा । आजातीर्जन्मान्येकविंशति पापयोनिषु श्वादिषु । एत-
च्चतामिस्रेदुःखमनुभूय पश्चात् ॥ १६६ ॥

(३) कुल्लूकः । तृणेनापि क्रोधाद्बुद्धिपूर्वकं ब्राह्मणं ताडयित्वा एकविंशतिजन्मानि पापयोनिषु कुकुरादियोनिषु
जायते ॥ १६६ ॥

(४) राघवानन्दः । संरम्भात्क्रोधात् । आजातीः जन्मानि । पापयोनिषु शूकरादिषु ॥ १६६ ॥

(५) नन्दनः । ब्राह्मणविषये दण्डपातने दोषविशेषमाह ताडयित्वेति । आजातेराजननात् । जायतेः सकर्मत्वमृ-
षितिपातनात् ॥ १६६ ॥

(६) रामचन्द्रः । तृणेनापि ताडयित्वा एकविंशतिजन्मानि प्राप्नोति ॥ १६६ ॥

अयुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगद्गतः ॥ दुःखं सुमहदामोति प्रेत्याप्राज्ञतया नरः ॥ १६७ ॥

(१) मेधातिथिः । असृगलोहितम् । तदङ्गतोद्गाद्यत्रोत्पादयति ब्राह्मणस्य खड्गप्रहारादिनाऽयुध्यमानस्य न तुद्रोणा-
चार्यवत्क्षेत्रेण धर्मेण युयुत्सोः सुमहदुःखं नरकादि प्रेत्य मृतो जन्मान्तरे । अप्राज्ञतयेत्यनुवादः । प्राज्ञो हि शास्त्रार्थज्ञानान्-
कथमेवं कुर्यात् ॥ १६७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अयुध्यमानस्येति युध्यमानस्य क्षतकरणे दोषाल्पता दर्शिता । अतएव तद्वधेऽपि प्राय-
श्चित्ताल्पत्वमुन्नेयम् । सामान्योक्तदुःखपरिमाणाभिधानं । शोणितम् ॥ १६७ ॥

(३) कुल्लूकः । अयुध्यमानस्य ब्राह्मणस्याङ्गे शास्त्रानभिज्ञतया शोणितमुत्पाद्य परलोके महदुःखमामोति ॥ १६७ ॥

(४) राघवानन्दः । असृगत् । अङ्गतो देहात् । युद्धे तु न दोषः न तु दृश्यते दुःखमिति चेत्तत्राह प्रेत्येति । अ-
प्राज्ञतया अदोषज्ञत्वेन ॥ १६७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अयुध्यमानस्य शास्त्रेण धर्मेण युयुत्सोः ब्राह्मणस्य अन्ततः मध्यतः असृक् उत्पाद्य प्रेत्य परलो-
के अप्राज्ञतया नरः सुमहदुःखं प्राप्नोति ॥ १६७ ॥

शोणितं यावतः पांसूत्संगृह्णाति महीतलात् ॥ तावतोऽब्दानमुत्रान्यैः शोणितोत्पादकोद्यते ॥ १६८ ॥

(१) मेधातिथिः । ईषत्प्रहारे पूर्वफलम् । अधिके तु पांसवोरजांसि धूल्यवयवास्तान्यावतो यत्परिमाणान्गृह्णाति सं-
हन्ति । ब्राह्मणाङ्गच्युतं भूमिर्पातितं लोहितं तावतोऽब्दांस्तावन्ति वर्षाण्यमुत्र परलोके द्यतेऽवशृगालैर्यः शोणितस्योत्पादकः-
प्रहर्ता ॥ १६८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संगृह्णाति संगृहीतुं शक्नोति । अमुत्र नरके । अद्यते भक्ष्यते ॥ १६८ ॥

(३) कुल्लूकः । खड्गादिहतब्राह्मणाङ्गनिर्गतं रुधिरं भूमिर्पातितं यावतो धूलिद्व्यणुकान्पिण्डीकरोति तावत्संख्यानि वर्षा-
णि परलोके शोणितोत्पादकः प्रहर्ता अन्यैः श्वशृगालादिभिर्भक्ष्यते ॥ १६८ ॥

* एकविंशतिमाजातीः = एकविंशतिमाजातेः (नन्दनः)

(४) राघवानन्दः । संगृह्णाति पिण्डं करोति पांशुः ब्रसरेणुः । तावतस्तत्सङ्ख्याकान् । अन्यैः गृध्रादिभिः ॥ १६८ ॥

(५) नन्दनः । अन्यैरिहलोकगतैः ॥ १६८ ॥

(६) रामचन्द्रः । तावतः अब्दान् वर्षान् अमुत्र परलोके अद्यैः अदनीयैः सह शोणितोत्पादकः अद्यते भक्ष्यते ॥ १६८ ॥

न कदाचिद्विजे तस्माद्विद्वानवगुरेदपि ॥ न ताडयेत्तृणेनापि न गात्रात्स्त्रावयेदसृक् ॥ १६९ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्य क्रियात्रयप्रतिषेधविधेरुद्यमननिपातनविषयस्योपसंहारः । न कदाचिदापद्यपीत्यर्थः ॥ १६९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । द्विजे विजे । अवगुरेदप्युद्यच्छेदपि ॥ १६९ ॥

(३) कुल्लूकः । तस्मादवगोरणादिदोषाभिज्ञो ब्राह्मणे दण्डाद्युद्यमननिपातरुधिरस्रवणानि नापद्यपि कुर्यादिति पूर्वाक्तक्रियात्रयस्योपसंहारः ॥ १६९ ॥

(४) राघवानन्दः । हिंसाप्रकरणमुपसंहरति नेति । असृगिति द्वितीयान्तम् ॥ १६९ ॥

(५) नन्दनः । उपसंहरति नेति ॥ १६९ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्विजे तस्मात्कदाचिदपि विद्वान्नावगुरेत् न दण्डमुत्थापयेदित्यर्थः ॥ १६९ ॥

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ॥ हिंसारतश्च योनित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥ १७० ॥

(१) मेधातिथिः । सामान्यतः सर्वहिंसाप्रतिषेधशेषोऽयम् । अधर्मः शास्त्रप्रतिषिद्धोऽगम्यागमनादिस्तंचरत्यधार्मिकः । यस्य चानृतमेव धनं साक्ष्ये व्यवहारनिर्णयादौ चासत्यमुक्तोचधनं साधयति यश्च हिंसारति हिंसायां अभिरतो वैरानुबन्धादर्थहेतोर्वापरान्निहिनस्ति नासौ सुखमेधते नरकं प्राप्नोति । इहास्मिन्लोके ॥ १७० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अधार्मिकोऽधर्मवृत्तिः । अनृतं मिथ्यावचनं धनमिवोपादेयम् ॥ १७० ॥

(३) कुल्लूकः । अधर्मेण व्यवहरतीत्यधार्मिकः शास्त्रप्रतिषिद्धागम्यागमनाद्यनुष्ठाता यो मानुषो यस्य च साक्ष्ये व्यवहारनिर्णयादौ च मिथ्याभिधानमेव धनोपायः असत्यमभिधायोक्तोचधनं गृह्णाति यश्च परहिंसाभिरतः नासाविहलोक्ते सुखयुक्तो वर्तते तस्मादेतन्न कर्त्तव्यमिति निन्द्यानिषेधः कल्प्यते ॥ १७० ॥

(४) राघवानन्दः । अधार्मिकः परदारादिरतः । अनृतं धनं मिथ्याभिधानमेव धनोपायः । असाविति परोक्षनिर्देशादमुत्रापि ॥ १७० ॥

(५) नन्दनः । एवमधर्मस्य वर्जनीयत्वमुक्तम् । इदानीं केवलमुत्रिकाद्भयादधर्मो वर्जनीयः किंत्वैहिकादपीत्याह अधार्मिक इति । अधार्मिकमानसदोषयुक्तस्योपलक्षणम् । अनृतं धनमिति वाचिकदोषयुक्तस्य । हिंसारत इति कायिकदोषयुक्तस्य । इहास्मिन्नेव लोके न सुखमेधते । अधार्मिकं वर्जयन्ति सन्तोऽनृतबहुलं वर्जयन्ति द्विषन्ति च हिंसारतं वर्जयन्ति द्विषन्ति हिंसन्ति च । तस्मादैहिकादपि भयादधर्मो वर्जनीय इत्यभिप्रायः ॥ १७० ॥

(६) रामचन्द्रः । अधार्मिकादीनामभ्ये च पुनः हिंसारतिः असौ नेहलोके सुखं वर्धते ॥ १७० ॥

न सीदन् अपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ॥ अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम् ॥ १७१ ॥

(१) मेधातिथिः । धर्मः शास्त्रमर्यादा तेन वर्तमानः सीदन् पश्यन् विपर्ययम् प्राप्नुवन्नाधर्मे मनो निवेशयेत् । यत अधा-

मिकायद्यपि चौर्योत्कोचदम्भादिभिर्धनसमृद्धादृश्यन्ते तथापि तेषामाशु विपर्ययोदृश्यते धननाशादि । अतो न धर्माद्धि-
चलेत्सुहृद्भूत्वादृष्टमर्थदर्शितवान् ॥ १७१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धर्मेण धर्मं क्रियमाणेसीदन्नवसीदन्नपि । अधार्मिकाणामधर्महेतुर्हिंसादिकारिणां पापाना-
मरुतप्रायश्चित्ततया तज्जन्यपापवतां आशु परलोके परलोकगमनमात्रेण विपर्ययंदुःखम् ॥ १७१ ॥

(३) कुल्लूकः । शास्त्रविहितमनुतिष्ठन्धनाद्यभावेनाऽवसीदन्नपि कदाचिन्नाधर्मे बुद्धिकुर्यात् । यस्मादधर्मव्यवहारि-
णोऽद्यप्यापाततो धनादिसंपद्भागिनोऽपि दृश्यन्ते तथापि तेषामधार्मिकाणामधर्मचौरादिव्यवहारिणां पापिनांतज्जनितदुरित-
शालिनां शीघ्रं धनादिविपर्ययोऽपि दृश्यते । तं पश्यन्नाधर्मे धियंदद्यादिति शिष्यहिताय दृष्टमर्थदर्शितवान् ॥ १७१ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचनेति । धर्मेण सीदन्नपि मनोऽधर्मे न निवेशयेदित्यन्वयः ॥ १७१ ॥

(५) नन्दनः । न केवलमधर्मप्रकर्षलोकोपक्रोशभयाद्दर्शनीयः किंतु प्रत्यक्षतोऽनर्थबहुत्वादपीत्याह नेति । प्रमु-
खदुःखेन परिणामसुखेन भेषजेनेव सेव्यमानेन धर्मेण शास्त्रव्यवस्थारूपेणात्मसंकोचाख्येन सीदन्नपि तद्विपरीतरूपे विषमि-
श्रेमधुनीवाधर्मे मनो न निवेशयेत् । अत्र हेतुरुत्तरार्धेनोक्तः । अधार्मिकाणां धर्मानुष्ठानरहितानां पापानां पापकारिणां चोरादी-
नामाशुसद्यो विपर्ययमनर्थराजदण्डादिकं पश्यन्ति । न हि पापानां पापान्तरणानन्तरमेवानर्थउपलभ्यते ॥ १७१ ॥

(६) रामचन्द्रः । धर्मेण धर्मशास्त्रमयादया सीदन्नपि नरः मनः अधर्मे न निवेशयेत् । अधार्मिकाणां आशु
विपर्ययं पश्यन् । यद्यपि चौर्योत्कोचादिना धनसमृद्धिः तथापि तस्याः समृद्धेरपि आशु विनाशः ॥ १७१ ॥

नाधर्मश्चरितोलोके सद्यः फलति गौरिष ॥ शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ १७२ ॥

(१) मेधातिथिः । इदानीं शास्त्रार्थमाह । अनियतकालत्वाद्वैदिकानां शुभाशुभफलानां कर्मणामेवमुच्यते । नाधर्म-
श्चरितोऽनुष्ठितः सद्यः फलति फलं ददाति । वेदे हि केवलं कर्मणां विहितप्रतिषिद्धानां सुखदुःखफलत्वं श्रुतम् कालविशेषस्तु
नावगमितः । वाक्यव्यापारो हि कर्तव्यतावगमपरत्वेऽपि कर्मफलसंबन्धबोधमात्रे पर्यवस्यति न कालविशेषमाक्षिपति ।
फलवतां कर्मणानित्यानांतु फलतः कर्तव्यताप्रतिषिद्धपरिहारेऽपि नैव नरकादिदुःखनिवृत्तिकामस्याधिकारः किंतु शास्त्रप्र-
तिषेधसामर्थ्यात् । स तु प्रतिषेधो दुःखफलत्वं प्रतिषिद्धानुष्ठानस्य बोधयति । निपुणवत्तदुच्यमानमतिग्रन्थविस्तरमाक्षिपती-
त्युपरम्यते । गौरिव साधर्म्यवैधर्म्यामयं दृष्टान्तः । यथा गौः पृथिवीव्युत्पन्नबीजान तदैवानेकसस्य शालिनी भवति किंतु
हिं परिपाकमपेक्षते तादृशं वैदिकं कर्मैतिसाधर्म्यम् । वैधर्म्येणापि यथा गौः पशुर्वा दोहाभ्यां सद्यः फलति नैवं धर्माधर्मौ ।
अधर्मग्रहणं धर्मस्यापि फलदानं प्रतिकालानियमप्रदर्शनार्थम् । आवर्त्यमानः कालेनोपचीयमानः कर्तुः प्रतिषिद्धानुष्ठानतुः मूल-
निकृन्तति छिनत्ति । मूलकर्तनेन सर्वेण सर्वविनाश उपलक्ष्यते । यथामूलच्छेदादृक्षादिस्थावराणामपुनर्भवस्तद्वदधर्मका-
रिणाम् ॥ १७२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सद्यस्तत्क्षणादेव यथा गौर्दुग्धं फलति न तथा अधर्मः आवर्त्यमानः पुनः पुनः क्रियमाणः
मूलानि भोगस्य साधनानि कर्माणि कृन्तति छिनत्ति तच्छेदानन्तरं तु स्वफलदुःखं करोतीत्यपि दृष्टव्यम् ॥ १७२ ॥

(३) कुल्लूकः । शास्त्रेणानियमितकालपरिपाकत्वात् शुभाशुभकर्मणानां धर्मोऽनुतिष्ठतस्तत्काल एव फलति गौरिवेह-
भूमिपक्षे साधर्म्यदृष्टान्तः । यथा भूमिभूमिबीजमात्रा तदैव प्रचुरपचेलिमफलव्रीहिस्तबकसंवलितानि न भवति किंतु नियमफल-
पाकसमयमासाद्य पशुपक्षे वैधर्म्यदृष्टान्तः यथा गौः पशुर्वा दोहाभ्यां सद्यः फलति नैवमधर्मः किंतु क्रमेणावर्तमानः फलो-
न्मुखी भवन्नधर्मकर्तुर्मूलानि छिनत्ति मूलच्छेदेन सर्वनाशो लक्ष्यते देहधनाद्यन्वितो नश्यति ॥ १७२ ॥

(४) राघवानन्दः । विपर्ययं विवृणोति नेति । चरितोऽनुष्ठितः । गौः पृथिवी सा यथाविलम्बेन सस्यवती । व्यतिरेके वा धेनुरिव दृष्टान्तः आवर्त्यमानोभ्यस्यमानः मूलानि देहधनादीनिरुन्तति छिनत्ति ॥ १७२ ॥

(५) नन्दनः । तदिष्टविरुद्धमिदमुक्तमित्याशङ्क्य परिहरति नेति । गौरिवेति वैधर्म्यदृष्टान्तः । लोकेऽस्मल्लोके । कर्तुर्मूलानि कर्तुरपेक्षितार्थमूलानि गृहक्षेत्रादीनि । तस्मात्कालान्तरेऽपि फलोपलम्भान्नदृष्टविरोधइत्यभिप्रायः ॥ १७२ ॥

(६) रामचन्द्रः । चरितः अधर्मः सद्यः गौरिव न फलतिसाधर्म्येण दृष्टान्तः । पृथिवी साधर्म्ये पशुवैधर्म्ये शनैः-
आवर्तमानस्तु प्रवर्तमानः अधर्मकर्तुर्मूलानि भोगसाधनानि रुन्तति छिनत्ति ॥ १७२ ॥

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नमृषु ॥ नत्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥ १७३ ॥

(१) मेधातिथिः । इदमयुक्तं यदुक्तस्य कर्मणोऽन्यगामिता फलस्योच्यते । कर्तुः फलदानिवैदिकानि कर्माणि । नवैश्वानरन्यायोस्ति श्रवणाभावात् । नहि पुत्राद्यर्थतात्रश्रुता । सत्यम् । पुत्रे पीड्यमाने पीडितस्य पितुरधिगतं दुःखं भवति अतः कर्तुरेव दुःखम् । पुत्रस्यापि स्वकृतात्पौर्वदेहिकात्कर्मणस्तत्फलमित्यविरुद्धम् । एवं नमृष्वपि द्रष्टव्यम् । नमरः पौत्राः । कृतोऽधर्म इति संहितायास्तुल्यत्वाद्धर्माधर्मौ द्वावप्युपात्तौ ॥ १७३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अस्मिन्नेव तावद्रोगादिदुःखं जनयति कथंचिदुत्कटधर्मप्रतिरोधेन साक्षादुःखजननाशकौ पुत्रपौत्रादिद्वारेण रोगाद्युत्पादनद्वारापि दुःखं जनयतीत्यर्थः ॥ १७३ ॥

(३) कुल्लूकः । यदि स्वयं कर्तुर्देहधनादिनाशं फलं जनयति तदा तत्पुत्रेषु नोचेत्पौत्रेषु जनयति ननु निष्फल एव भवति । ननु अन्यकृतस्य कर्मणः कथमन्यत्र फलजनकत्वं उच्यते । पुत्रादिनाशस्य पितुः क्लेशहेतुत्वात् । शास्त्रीयत्वाच्चास्यार्थस्य नाविश्वासः ॥ १७३ ॥

(४) राघवानन्दः । कर्तर्यदृश्यमानमपि कृतं पुत्रादिषु फलतीत्याह यदीति अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभमिति स्मरणात् नात्मनि तच्छरीरावच्छेदेन फलति चेत्पुत्रपौत्रादिरूपशरीरप्राप्तावपि फलति । वाचनिकातिरिक्तफलस्यान्यत्रासंभवात् । न चैतद्वचनं व्यर्थं अर्थवादेनाप्युपपत्तेः अतएव प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु तु दुष्कृतमित्याद्यपि स्तुतिवादोहानौतूपायनमित्यादिसूत्रे निरटङ्कः ॥ १७३ ॥

(५) नन्दनः । यदा तु कर्तारं प्रबलधर्मसहितमधर्मः साक्षात्पीडयितुं शक्नोति तदा सन्तानपीडाद्वारेणापि तं पीडयतीत्याह यदीति । अधर्मः कृतआत्मनि कर्तरि यदि न फलति ततः पुत्रेषु फलति न चेत्पुत्रेषु ततो नमृषु पौत्रेषु फलतीति । पुत्राद्यनर्थकरणस्य कर्तृफलत्वं कर्तुस्तथाभिमानात् तत्पीडया पीडोपलम्भाच्चेति ॥ १७३ ॥

(६) रामचन्द्रः । यदि आत्मनि पापः अधर्मः न फलति तदा पुत्रेषु फलेत् यदि पुत्रेषु न तर्हि नमृषु फलेदिति । कर्तुः कृतं कर्म निष्फलं न भवति ॥ १७३ ॥

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ॥ ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ १७४ ॥

(१) मेधातिथिः । अधर्मेण प्रभुद्रोहादिनैधते वृद्धिलभते तावत्तस्मिन्नेव काले ततो धनं ग्रामं वा प्राप्य ततो भद्राणि बहुभृत्यगवाश्वादिसंपत्तिलक्षणानि पश्यत्यनुभवति । ततः सपत्नान् रीन्द्रिद्राजयति परिभवति । तर्हि धर्मे स्थितान् कुतश्चन कुस्तिहीना लभन्ते । अतस्तेषां दारिद्र्यशब्द एवैव परिभवः । समूलं च कियन्तं कालमेवं भूत्वा सपुत्रज्ञातिधनबान्धवा उच्छिद्यन्ते । तस्माद्धर्मो न हातव्यः ॥ १७४ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अधर्मेणापि क्रियमाणेनोपलक्षितो धनादिभिर्वर्धत एव तावदावदुत्कटोधर्मोऽस्ति । तदन्तरं च भद्राणि सुखानि पश्यति । ततः शत्रून् अभिभवति ततस्तेन फलदानोपक्षिणेन धर्मेण भोगमूलेन सह नश्यति ॥ १७४ ॥

(३) कुल्लूकः । अधर्मेण परद्रोहादिना तावदापाततोऽग्रामधनादिना वर्धते । ततो भद्राणि बहुभृत्यगवाश्वादीनि लभते । ततः शत्रून् च स्मादपकृष्टाञ्जयति पश्चात्कृत्या कालेनाधर्मपरिपाकवशाद्देहधनतनयादिसहितो विनश्यति ॥ १७४ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च प्रभुद्रोहादिनाऽधर्मेण तावद्वर्धते पुत्रपौत्रादिना । भद्राणि गवाश्वादीनि पश्यति च लभत इति । इदमत्राकूतं चित्रायागादिरिवेहामुत्रानियतफलतया कदाचिदपि कुत्रचित्फलं निन्दाभावि अथवा सर्वधर्मस्य ज्ञानमेव फलप्रसिद्धम् । धर्मात्सुखं ज्ञानं चेति श्रुतेः । प्राक्तनकर्मफलं भुञ्जानः ऐहिकं मन्यते ॥ १७४ ॥

(५) नन्दनः । नन्वधर्मकुर्वन्कश्चित्क्षेमी दृश्यते तेनाभ्युदयहेतुत्वमप्यधर्मस्याभ्युपगन्तुं शक्यते ततः कथं तस्यैकान्ततोऽनर्थहेतुत्वमित्याशङ्क्य परिहरति अधर्मेणेति । १७४ ॥

(६) रामचन्द्रः । तावत्तु अधर्मेण अधर्माचरणेन पूर्वपुण्येन एव वर्धते । यावदुत्कटोधर्मः ततः तस्माद्भद्राणि पश्यति । च पुनः सपत्नान् जयति । धर्मसर्वस्य दानं ततः धर्मक्षयात्समूलं सपुत्रज्ञातिधनबान्धवादिरूपधर्मसहितो विनश्यति ॥ १७४ ॥

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैव आरमेत्सदा ॥ शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥ १७५ ॥

(१) मेधातिथिः । सत्यं यथा दृष्टार्थवादित्वा । धर्मः श्रुतिविषयौ विधिप्रतिषेधौ । सत्यस्य ताद्रूप्येऽपि भेदेन निर्देशोऽतिशयार्थः । अनृतपुरुषाणां स्वभावभूतम् अतोयत्नेन पुनः पुनः प्रतिषिध्यते । आर्यवृत्तसदाचारः । आर्याः शिष्टास्तेषां वृत्तमाचरितं तत्रारमेत् । रतिः परितोषः । एतेष्वर्थेषु परितोषोऽनेन विधीयते । अन्त्यानप्येवाम्बारादृष्टा मनःप्रसादं कुर्यात् । शिष्याश्च भार्यापुत्रदासच्छात्राधर्मेणानुशासनीयाः । पृष्ठतः शरीरस्येत्यादिधर्माः । वाग्बाहूदरसंयतः सत्यसतिचप्रयोजने । अबहुभाषितावाकसंयमः । बाह्वोः संयमो बाहुबलाश्रयणेन कस्यचिदप्यपीडनम् । उदरस्य संयमोऽनौदरिकता औदरिकता भोजित्वं भोज्यविशेषोऽर्थयापरगृहे बाहुल्येन भोजनम् । उक्तोऽर्थः पुनरुच्यते बहुकृत्वोऽपि पथ्यं वदितव्यमिति सर्वत्र पौनरुक्त्यपरिहारः ॥ १७५ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । धर्मो धर्मसाधनं सत्यस्य शौचस्य च धर्मत्वेऽपि अभ्यार्हितं तया पृथगुक्तिः । आर्याः आराधूरपापेभ्यो गताः तेषां वृत्तमाचारो धर्मेण भोगहेतुरपि तत्रैव शौचं बाह्याभ्यन्तरं । आरमेत् सर्वदा रतः स्यात् । धर्मेण धर्मोपदेशेन वागादिसंयतश्च स्यात् । वाकसंयमः परुषावचनादिः बाहुसंयमोऽर्हिसादिः उदरसंयमः अनदनीयाभक्षणादिः ॥ १७५ ॥

(३) कुल्लूकः । सत्यधर्मसदाचारशौचेऽप्यसर्वदारतिकुर्यात् शिष्यांश्चानुशासनीयान् भार्यापुत्रदासच्छात्रान् रज्ज्वावेणुदलेन वेति प्रकारेण शासयेत् उक्तानामप्यभिधानादादरार्थं वाग्बाहूदरसंयतश्च स्यात् वाकसंयमः सत्यभाषिता बाहुसंयमो बाहुबलेन कस्याप्यपीडनम् उदरसंयमोऽयथा लब्धाल्पभोजनम् ॥ १७५ ॥

(४) राघवानन्दः । प्राक्तनजपुण्यफलं भुञ्जानोऽपि वा लोकप्रतीत्या अधर्मेण वर्धत इवेत्यनूद्य धर्मक्षये समूलोन्ध्रयसीत्याह सत्येत्यादि । सत्यं यथा श्रुतस्य यथा दृष्टस्य भाषणं । धर्मो बलवद्गुरवा जनकत्वे सति विधिबोध्यः । आर्यवृत्तः सदाचारः । वाकसंयमः सत्यं ब्रूयादिति श्लोकोक्तः । बाहुसंयमोऽपि पाणिपादचपलइत्यादिना वक्ष्यते । उदरसंयमोऽर्गहितं चातिभोजनमित्याद्युक्तः । संयतस्तेषां निग्रहयुक्तः ॥ १७५ ॥

(५) नन्दनः । एवं दृष्टविरुद्धत्वेनाप्यधर्मस्य वर्जनीयत्वमुक्तम् इदानीं प्रतान्तराण्येवाह सत्येति ॥ १७५ ॥

(६) रामचन्द्रः । सत्यं यथार्थभाषणं । धर्मः श्रुतिस्मृत्यभिहितः । आर्यवृत्तं सहताचरणं । तेषु सदा रमेत च पुनः शौचे अन्तर्बाह्यशौचे सदारमेत । वाग्बाहूदरसंयतः नियतगात्रः । वाक्मौनं व्यथालापरहितं । बाह्वोः संयमः बाहुबलाश्रयः । उदरं बहुभोजितं भवेत् ॥ १७५ ॥

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ॥ धर्मं चाप्यसुखोदकं लोकविक्रुष्टमेव च ॥ १७६ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तस्त्रिवर्गः पुरुषार्थः । कश्चित्तुल्यतामन्यमाऽनर्थकामपरिहारेण यथा धर्मः सेव्यते तद्विरोधी ज्योतिष्टोमादिः । सहार्थविरोधीदक्षिणादिदानेन कामविरोधी दीक्षितस्य ब्रह्मचर्यविधानात् । एवमर्थकामावपि धर्मपरिहारेण न सेवेत । तत्र नाहिंस्याद्भूतानीतियत्रकामोहिंसायावैरानुबन्धाद्यः कश्चिद्वक्तुमिष्यतेतत्रसविषयप्रतिषेधाय यत्र तु कस्यचिद्विषयार्थकामावाप्येते तत्र नास्तिहिंसादोषइतिमवर्ततेतद्भ्रान्तिनिवृत्त्यर्थमिदमुच्यते । परित्यजेत्परिहरेत्तादृशार्थकामौ यत्र धर्मविरोधः । एवंसर्वतोऽधर्मस्यबलीयस्त्वमुक्त्वा कस्मिंश्चिद्विषये तस्यापि परिहर्तव्यतामाह धर्मंचाप्यसुखोदकम् । उदकंउत्तरकालः सोऽसुखोयस्य । यथासर्वस्वदानंवाददातिधर्मकोयंमहापुण्यइति । यथानदीतीरेष्वेकान्तेष्वपि प्राकृतजनाबहवःपश्यन्ति तत्रस्नानंभवतीत्यर्थस्नानंधर्माजनसमक्षतापेक्षातु साधुवादाय यथाच तीर्थकाकेभ्योदानंभवतिदानंधर्मोदात्तवृत्तप्रसिध्युत्पादनार्थत्वात्तेभ्योनिन्द्यते । अथवायद्ब्रह्मतया लोकः संक्रोशतियथागोरवध्यस्यवधोमांसस्यभक्षणंचतद्विगर्हिततरपश्वन्तरेभ्योलोके । दृष्टमूलश्यायमहिस्पर्शवत्प्रतिषेधः । विहितोऽयमर्थइत्यवैधतया प्राकृतजनाअजानानाधार्मिकत्वंगृह्यः प्रख्यापयेयुस्तेषांचबहुत्वतः प्रसिद्ध्याशिष्टाअपियेनाप्रसिद्धमूलमनवगच्छन्तः परिवर्जयेयुस्तदुक्तं धार्मिके सतिराजनीति एतदुक्तपूर्वैर्व्याख्यातमित्यनुगतम् । नहि प्रत्यक्षश्रुतिविहितस्य स्मृत्या बाधोन्याय्यः । इदं तु युक्ततरमुदाहरणम् नियोगधर्मः स्मृत्याविहितोलोकसंकुष्टत्वान्न क्रियते । तथा यःकश्चिदनाथतर्णास्त्रियंकारुण्याद्विभर्ति तत्र यदि लोकसंक्रोशआशङ्क्यते स्त्रीत्वेनैवास्मा एषा रोचते सलोककृष्टधर्मः ॥ १७६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धर्मवर्जितौ धर्मविरोधिनौ । असुखोदकंयावान्धर्मस्तदधिकप्रत्यवायाविनाशकं यथावातरोगिणउपवासादितीक्ष्णव्रतानुष्ठानमित्यादि । लोकविक्रुष्टंलोकनिन्दितं । कलियुगेसुराग्रहादि ॥ १७६ ॥

(३) कुहूकः । यावर्थकामौ धर्मविरोधिनौ भवेतातौ परिहरेत् । यथा चौर्यादिनार्थोपपादनं दीक्षादिने यजमानस्य पठ्युपगमः उदकंउत्तरकालस्तत्रासुखंयत्र धर्मे तद्धर्ममपि परित्यजेत् यथा पुत्रादिवर्गपोष्ययुक्तस्य सर्वस्वदानं लोकविक्रुष्टं यत्र लोकानांविक्रोशःयथा कलौ मध्यमाष्टकादिषु गोवधादिः ॥ १७६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचपरीति । धर्मवर्जितौ धर्मविरोधिनौ । असुखोदकं आयत्यामनुतापजननक्षयेनादिपुत्राद्यर्थपरस्वादानंवा । लोकविक्रुष्टं यत्र लोकानांविक्रोशः । यथा कलौ मध्यमाष्टकासु गोवधादि ॥ १७६ ॥

(६) रामचन्द्रः । धर्मं सर्वस्वदानं उत्तरकाले असुखोदकं । च पुनः लोकसंकुष्टधर्मं लोकनिन्दितं परित्यजेत् ॥ १७६ ॥

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो ऽनृजुः ॥ न स्याद्वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः ॥ १७७ ॥

(१) मेधातिथिः । पाणिपादाभ्यांचपलः । तृतीयेति योगविभागात्समासः । चापलंचहस्तेनानुपयुज्यमानस्यापि वस्तुनोग्रहणापसारणे । परस्त्रीभिक्षणचित्रसंदर्शनादि नेत्रचापलम् । परद्रोहार्थकर्मबुद्धिश्च नकर्तव्या ॥ १७७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पाणिपादनेत्रवाक्चापलानि वृथाहस्तकरणोत्प्लवनकुतूहलत्वासंबद्धप्रापाः । अनृजुर्वक्रमतिः । परद्रोहार्थयत्कर्म तद्धीस्तत्परः ॥ १७७ ॥

(३) कुल्लूकः । पाण्यादिचापलंत्यजेत् अनुपयुक्तवस्तुपादानादि पाणिचापलं निष्प्रयोजनं भ्रमणादि पादचापलं । परस्त्रीप्रेक्षणादि नेत्रचापलं बहुगर्हवादिता वाक्चापलं । अनृजुः कुटिलो न स्यात् परद्रोहो हिंसा तदर्थं चेष्टां धियं च न कुर्यात् ॥ १७७ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच नेति । अनृजुः ऋजुभिन्नः कुटिलो न स्यात् । परद्रोहकर्मणि धियोनिषेधोभ्यासस्तस्यातिनिन्दितत्वसूचनार्थः । इदमत्राकूतं शतकृत्वः पथ्यं रोचयन्ते स्म वृद्धा इति न्यायेन निषिद्धाचरणस्य कायिकादिभेदेनानेकत्वात्तस्य दृष्टफलतया च तदभ्यासस्य प्रबलत्वाच्छतथा निषेधोपि निवर्तयितुमशक्यत्वान्नैतेषु पुनरुक्तिरिति ॥ १७७ ॥

(५) नन्दनः । पाणिपादचपलः पाणिभ्यां पादाभ्यां च कर्तव्यकरणे चागभ्यागमने च निरतः । एतेनोत्तरमपि चापलं व्याख्यातम् ॥ १७७ ॥

(६) रामचन्द्रः । पाणिपादचपलेन भवेत् । अनियुक्तचरस्तु न ग्रहणाय । नेत्रे चले परस्त्रीषु । परद्रोहार्थं कर्म न कुर्यात् अनृजुः न स्यात् किंतु ऋजुरेव स्यात् ॥ १७७ ॥

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ॥ तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन् नरिष्यते ॥ १७८ ॥

(१) मेधातिथिः । यो धर्मः पित्रादिभिरनुष्ठितो यैश्च सह प्रीतिर्भाविता यैः सह कन्याविवाहादिरुतो यैश्च शाखा अधीताः स एव पन्था आश्रयणीयः । तथा कुर्वन् न रिष्यति न बाध्यते लोके न निन्द्यते । अन्ये त्वविदुषधर्मेष्वहिंसादिषु प्रत्युपायो यं राजपटह इव स्लेच्छादीनाम् अग्निहोत्रादयस्तु स्वप्रत्ययापेक्षा एव । अत्र चोदयन्ति । यदि निर्मूलः पित्रादिभिरनुष्ठितोऽर्थः कथं तस्या धर्मत्वम् अथास्ति मूलं तत्पुत्रस्यापि भविष्यति किं पित्रादिग्रहणेन तदेतत्परितृप्तमविदुषां मूलमजानानामुपदेशोऽयमिति । अन्येतु यत्र निपुणतोऽपि निरूप्यमाणे संदेहो न निवर्तत उभयथा वाक्यार्थमतिपत्तिस्तत्र पित्राद्याचरितः पन्था आश्रयणीय इत्याहुः एतदपि चिन्त्यम् । नहि नित्यसंदिग्धनाम प्रमाणमस्ति । अवश्यं स्नेकार्थनिष्ठेन वाक्येन भवितव्यम् । विकल्पितेषु वापदार्थेषु पित्राद्याचरितं कर्मानुचरणीयम् यतो न्यदाचरितवन्तः । सतां मार्गमिति यदि पितृपितामहादिभिः कैश्चित्कथंचिदधर्म आचरितपूर्वः स न आश्रयणीय इति सतां मार्गमित्याह ॥ १७८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । येनास्येति यत्र श्रुत्यर्थे अयमर्थोऽयं वेति संदेहे व्याख्यातृविप्रतिपत्त्या विवादस्तदेकपक्षविषयमेतत् । अतएव सतां मार्गसदाचारविषयं यायादित्युक्तम् । न रिष्यते न हिंस्यते ॥ १७८ ॥

(३) कुल्लूकः । बहुविधशास्त्रार्थसंभवे पितृपितामहाद्यनुष्ठित एव शास्त्रार्थोऽनुष्ठातव्यः तेन गच्छन् न रिष्यते नाधर्मेण हिंस्यते ॥ १७८ ॥

(४) राघवानन्दः । बहुशास्त्रानभिज्ञस्य शास्त्रवर्तमानुसारित्वमाह येनेति । सतां मार्गं सद्भिराचरितं पन्थानं । तेन पित्रादिकृतमद्यपानमातुलकन्यापरिणयनादिषु नातिप्रसङ्गः । न रिष्यति अधर्मेण न हिंस्यते ॥ १७८ ॥

(५) नन्दनः । न रिष्यति न हिंस्यते ॥ १७८ ॥

(६) रामचन्द्रः । येन धर्ममार्गेणास्य पितरो याताः येन धर्ममार्गेण पितामहाः याताः । अस्यार्थे ये धर्माः पित्रादिभिः कृताः वैस्ते ये च पितामहादिभिः कृताः प्रीतिगताः तानाचरंस्तेन मार्गेण गच्छन् न रिष्यति न नश्यति । तेन सतां मार्गमाश्रयेदित्यर्थः ॥ १७८ ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ॥ बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसंबन्धबान्धवैः ॥ १७९ ॥

(१) मेधातिथिः । नसमाचरेदित्येकैकेनसंबन्ध्यते । संश्रिताआश्रयागताउपजीविनः । वैद्याविद्वांसोभिषजोवा-
ज्ञातयः पितृपक्षाः । संबन्धिनोवैवाहाः । बान्धवामातृपक्षामातृष्वस्त्रीयप्रभृतयः ॥ १७९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संश्रितैरनुगतैः । आतुरोत्र व्याधितः । रुशश्चान्नाभावादिना । वैद्यैर्विद्यावद्भिः । ज्ञातयः
सपिण्डाः । संबन्धिनः आगन्तुसंबन्धाः स्यालाद्याः । बान्धवाः आत्ममातृपितृबान्धवाः ॥ १७९ ॥

(३) कुल्लूकः । ऋत्विगितिवचनद्वयम् ऋत्विगादिभिर्वाक्कलहंनं कुर्यात् । शान्त्यादिकर्ता पुरोहितः । संश्रिता-
अनुजीविनः ज्ञातयःपितृपक्षाः संबन्धिनोजामातृश्यालकादयः बान्धवामातृपक्षाः । जामयोभगिनीस्तुषाद्याः ॥ १७९ ॥
॥ १८० ॥

(४) राघवानन्दः । सार्थवादमृत्विगादिभिर्विवादपरिहारमाह ऋत्विगितिसप्तभिः । संश्रितैः शरण्यैःअनुजीवि-
भिर्वा । संबन्धिनः श्वशुराद्याः । बान्धवामातृलेयाद्याः ॥ १७९ ॥

(५) नन्दनः । वैद्यैर्विद्भिः ॥ १७९ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रिभिराह ऋत्विजइति । ऋत्विगादिभिः संविवादनं कुर्यात् । वेदविद्भिः भिषजैर्वा । ज्ञातिसंब-
न्धबान्धवैःसह विवादनं कुर्यात् । ज्ञातयःपितृपक्षीयाः । संबन्धिनःवैवाहाः । बान्धवाः मातृपक्षीयाः ॥ १७९ ॥

मातापितृभ्यांजामीभिर्भात्रा पुत्रेण भार्यया ॥ दुहित्रा दासवर्येण विवादं न समाचरेत् ॥ १८० ॥

(१) मेधातिथिः । जामयोभगिन्यः स्ववासिनश्च । विवादोविरोधःप्रतिकूलाचरणंवाक्कलहश्च तैर्नकुर्यात् ॥ १८० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । जामी स्वसा । विवादविरुद्धभाषणम् ॥ १८० ॥

(४) राघवानन्दः । यामयोभ्रातृपत्नीभगिनीस्तुषाद्याः । दुहिता कन्या ॥ १८० ॥

(५) नन्दनः । जामिभिर्भगिनीभिः ॥ १८० ॥

(६) रामचन्द्रः । जामिभिः भगिनीभिः ॥ १८० ॥

एतैर्विवादान्संत्यज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ एभिर्जितैश्च जयति सर्वाल्लोकानिमान्गृही ॥ १८१ ॥

(१) मेधातिथिः । एतैर्विवादैः क्रियमाणैर्यः पापयोगोभवत्यकर्तुंस्तेन न संबन्धः । सर्वपापैःप्रमुच्यतइत्युच्य-
ते । एतैश्चजितैरुपेक्षितैःक्षमया सर्वाल्लोकाञ्जयति स्वीकरोतीत्यर्थवादः ॥ १८१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । जितोविवादे तैरधिक्षिप्तः सहमानः एतान्जित्वा जयतीतिक्वचित्पाठः ॥ १८१ ॥

(३) कुल्लूकः । एतैःऋत्विगादिभिःसह विवादान्परित्यज्यऽज्ञातपापैःप्रमुच्यते तथैतैर्विवादैरुपेक्षितैरिमान्वक्ष्यमा-
णान् सर्वलोकान्गृहस्थोजयति ॥ १८१ ॥

(४) राघवानन्दः । विवादान् विवादविषयीभूतान् । एतैर्जितोवशीकृतः ॥ १८१ ॥

(५) नन्दनः । इमान्वक्ष्यमाणान् ॥ १८१ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतैः ऋत्विगादिदासान्तैः विवादरहितैः उपेक्षितैः इमान् लोकान् जयति स्वीकरोति ॥ १८१ ॥

आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः॥ अतिथिस्त्विन्द्रलोकेशो देवलोकस्य चर्त्विजः॥ १८२॥

(१) मेधातिथिः । आचार्यो ब्रह्मलोकस्येशः प्रभुस्तस्मिन्परितुष्टे ब्रह्मलोकः प्राप्यते । अतो गुणतो ब्रह्मलोकेश इत्युच्यते । प्राजापत्यलोके पिता प्रभुः ॥ १८२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । जेतव्यलोकान्दर्शयति आचार्य इति । आचार्यपदवैद्यानामुपलक्षणम् ॥ १८२ ॥

(३) कुल्लूकः । आचार्यो ब्रह्मलोकस्य प्रभुः तेन सह विवादपरित्यागेन तत्संतुष्ट्या तु ब्रह्मलोकप्रभेर्गौणं ब्रह्मलोकेशत्वम् एवं प्राजापत्यलोकेशः प्राजापत्ये पिता च प्रभुः अतिथिरिन्द्रलोके देवलोकस्य चर्त्विजः । एवमुत्तरत्रापि तत्तल्लोकेशत्वं बोद्धव्यम् ॥ १८२ ॥

(४) राघवानन्दः । सर्वलोकजयं विवृणोति आचार्य इति । आचार्यदत्तविद्यया ब्रह्मलोकाद्यापत्तेः । पितृभक्तस्य प्राजापत्यत्वं । दातारो नो भिवर्धन्तामिति मन्त्रलिङ्गात् । अतिथेरतिपुण्यदत्त्वेनेन्द्रत्वावामिहेतुत्वाद्विजोयङ्गद्वारा देवत्वहेतुत्वादित्याद्यूहनीयम् ॥ १८२ ॥

(५) नन्दनः । प्राजापत्योदक्षादीनां लोकः ॥ १८२ ॥

(६) रामचन्द्रः । पूजिता आचार्यादयो ब्रह्मलोकादीन् प्रापयन्ति ॥ १८२ ॥

जामयोऽप्सरसां लोके वैश्वदेवस्य बान्धवाः ॥ संबन्धिनो ह्यपां लोके पृथिव्यां मातृमातुलौ ॥ १८३ ॥

(१) सर्वज्ञनारायणः । अप्सरसां लोके लोकस्य वैश्वदेवस्य विश्वेषां देवानां लोकस्य संबन्धिपदं ज्ञातीनामप्युपलक्षणम् ॥ १८३ ॥

(२) कुल्लूकः । अप्सरसां लोके जामयः प्रभवन्ति वैश्वदेवलोकं बान्धवाः वरुणलोके संबन्धिनः भूलोके मातृमातुलौ ॥ १८३ ॥

(४) राघवानन्दः । जामयः यामय इति वाक्चित्पाठः ॥ १८३ ॥

(६) रामचन्द्रः । जामयः भगिन्यः विवासिन्यः ॥ १८३ ॥

आकाशेशास्तु विज्ञेया बालवृद्धरुशातुराः ॥ भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनुः ॥ १८४ ॥

(१) मेधातिथिः । भार्यापुत्रः स्वकीयातनुरात्मीयमेव शरीरम् ॥ १८४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आकाशमन्तरिक्षलोकः । रुशोऽभोजनादिना । समः पित्रा प्राजापत्यलोकेशः । स्वकातनुरतः स्वप्राप्यलोकेशः ॥ १८४ ॥

(३) कुल्लूकः । रुशः रुशधनः संश्रितो विवक्षितः बालवृद्धसंश्रितातुरा अन्तरिक्षे प्रभवन्ति । भ्राता च ज्येष्ठः पितृतृण्यस्तस्मात्सोऽपि प्राजापतिलोकप्रभुः । भार्यापुत्रौ च स्वशरीरमेवातः कथमात्मनैव सह विवादः संभवति ॥ १८४ ॥

(४) राघवानन्दः । आकाशेशा अन्तरिक्षलोकहेतवः । रुशः संश्रितः भ्राता प्राजापत्येशः पित्रा समत्वात् । स्वका तनुः अर्धवाष्पआत्मनः यत्पत्नीनाम् आत्मा वै जायते पुत्र इति श्रुतेः ॥ १८४ ॥

छाया स्योदासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् ॥ तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेतो सज्वरः सदा ॥ १८५ ॥

(१) मेधातिथिः । यो भृत्यवर्गः स आत्मीयाच्छाया यथा छाया नित्यानुगतान् क्रोधविषय एवं भृत्यवर्गोऽपि ।

दुहिता रुपणमनुकम्पा दया । एतैः पूर्वोक्तैरधिक्षितः परुषवचनैरारुष्टः क्रोपितः सहेत क्षमेत । असंज्वरोऽविद्यमानज्वरः ज्वराभावेन च चित्तस्यासंक्षोभोलक्ष्यते । ज्वरितस्य हि चित्तसंक्षोभो भवति तद्वत्क्रुद्धस्य । अथवा पाठान्तरं । असंज्वरः । संतापः संज्वरः सोऽनेनाप्रतिषिध्यते ॥ १८५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वच्छायातुल्यः । एतेन यत्र स्वयंगच्छति तत्र यथा छाया तथा दासवर्गोपीति स्वलोके शतैवोक्ता । रुपणं रुपाविषयः । तेन परकरुणया योलेकोजीयते सदुहित्रासहाविवादेनेत्यर्थः । असंज्वरो मानसाभिनिवेशेनापि शून्यः ॥ १८५ ॥

(३) कुल्लूकः । त्वदासवर्गश्च नित्यानुगतत्वादात्मच्छायेव न विवादाहोदुहिता च परं रुपापात्रंतस्मादेतैरधिक्षितः सन् संतापः सहेत नतु विवदेत् ॥ १८५ ॥

(४) राघवानन्दः । छायास्वदासवर्गः स्वच्छायावदव्यभिचारित्वात् । दुहिता रुपणं रुपापात्रम् । असंज्वर उदृक्-संतापरहितः ॥ १८५ ॥

(६) रामचन्द्रः । योदासवर्गः सः त्वा स्वकीया छाया अनुगता भवति । दुहिता परं रुपास्थानंतस्मात्कारणादेतैराचार्यादिभिः अधिक्षिप्तस्तिरस्कृतः असंज्वरः क्लेशरहितः सन् सहेत ॥ १८५ ॥

प्रतिग्रहसमर्थोपि प्रसङ्गं तत्र वर्जयेत् ॥ प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥ १८६ ॥

(१) मेधातिथिः । परस्माददृष्टः प्रयुक्ताद्यलभ्यते सप्रतिग्रहः । तत्र समर्थः शक्तोऽपि प्रसङ्गपुनः प्रवृत्तिं वर्जयेत् । श्रुताध्ययनशीलसंपत्तिर्द्रव्यविधिज्ञाताचसामर्थ्यम् । तस्मादविद्वान् बिभीयादित्यत्रोक्तमप्येतदुत्तरार्थपुनरनूद्यते ॥ १८६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रसङ्गं पुनः पुनः करणम् । ब्राह्मवेदाध्ययनरुतम् ॥ १८६ ॥

(३) कुल्लूकः । विद्यातपोवृत्तसंपन्नतया प्रतिग्रहेऽधिकार्यपि तत्र पुनः पुनः प्रवृत्तित्यजेत् यस्मात्प्रतिग्रहेणाऽस्य वेदाध्ययनादिनिमित्तप्रभावः शीघ्रमेव विनश्यति । यात्रामात्रप्रसिद्धयर्थमित्युक्तेऽपि सामान्येनार्जनसंकोचे विशेषेण प्रतिग्रहस्य ब्राह्मप्रभावप्रशमनफलत्वकथनार्थवचनम् ॥ १८६ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रकारान्तरेण जीवन्प्रतिग्रहं कुर्यादित्याह प्रतीति । समर्थो विद्यातपोभिः । प्रसंगं प्रसाक्ति । ब्राह्मं वेदाध्ययनजम् ॥ १८६ ॥

(५) नन्दनः । प्रतिग्रहविधिज्ञो विद्यादियुक्तश्च प्रतिग्रहसमर्थः । अयावदर्थपुनः पुनः प्रवृत्तिः प्रसङ्गः । ब्राह्मं तेजः ब्राह्मीशक्तिः । समर्थोऽपीतिवचनादर्थस्य दोषातिशयः सूचितः ॥ १८६ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रतिग्रहं ग्रहीतुं समर्थोपि तत्र प्रसङ्गं वर्जयेत् । प्रतिग्रहस्वीकारेणाशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥ १८६ ॥

न द्रव्याणामविज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे ॥ प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्यादवसीदन्नपि क्षुधा ॥ १८७ ॥

(१) मेधातिथिः । तद्दर्शयति । अविज्ञायकामोपभोगाद्यर्थेन प्रतिग्रहः कर्तव्यः । एतदुक्तं भवति । आत्मनः कुटुम्बस्थित्यै नित्यकर्मसंपत्त्यै च प्रतिग्रहः कर्तव्यो नान्यथा अदसीदन्नपि क्षुधा । अप्रतिगृह्यद्यप्यवसादंगच्छति । अवसादः शरीरस्यानभिवृद्धिः । अथवा द्रव्याणां विधिधर्म्यप्रतिग्रह इत्येवं संबन्धः क्रियते । कोऽसौ धर्म्यो विधिः । धर्मप्रयोजनविज्ञायप्रतिग्रहमन्त्रद्रव्याणां च देवताग्रये हिरण्यं रुद्राद्यगामित्यादिः ॥ १८७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । द्रव्याणां प्रतिग्रहे धर्म्यविधिं द्रव्यदेवताज्ञानमन्त्रपाठादिकम् ॥ १८७ ॥

(३) कुल्लूकः । द्रव्याणां प्रतिग्रहं धर्माय हितं विधानं ग्राह्यदेवताप्रतिग्रहमन्त्रादिकमज्ञात्वा क्षुधावसानं गच्छन् अपि प्राज्ञो न प्रतिगृह्णीयात्किंपुनरनापदि ॥ १८७ ॥

(४) राघवानन्दः । तेन विना जीवन्तप्रति द्रव्याद्यविज्ञाय प्रतिग्रहो न कार्य इत्याह नेति पञ्चभिः । धर्मं अग्रये हिरण्यं रुद्राय गामित्यादिप्रतिग्रहमन्त्रादिकम् ॥ १८७ ॥

(५) नन्दनः । तं व्यक्तीकरोति नेति । यत्किंच प्रतिगृह्णीयात्तत्सर्वमुत्तानस्त्वाङ्घ्रिरसः प्रतिगृह्णात्वित्येव प्रतिगृह्णीयादित्ययं विधिर्द्रव्यप्रतिग्रहे विधिः ॥ १८७ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्रव्याणां विधिं द्रव्यदेवताप्रतिग्रहमन्त्रादिं अविज्ञाय । द्रव्यहिरण्यादि । प्राज्ञः पण्डितः । क्षुधावसीदन् अवसादं गच्छन् प्रतिग्रहं कुर्यात् ॥ १८७ ॥

हिरण्यं भूमिमश्वं गामन् वासस्तिलान्घृतं ॥ प्रतिगृह्णन् विद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत् ॥ १८८ ॥

(१) मेघातिथिः । अविदुषो द्रव्यविशेषं प्रतिग्रहे दोषातिशयमाह । भस्मीभवति दारुवत् । यथा । दार्वयिना दग्धं भस्मीभवति तथा यो ब्राह्मणो विद्यासंपन्नो न भवति स एतानि हिरण्यादीनि द्रव्याणि प्रतिगृह्णन् भस्मीभवति ॥ १८८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्नं पक्वान्नम् । अविद्वान् धर्म्यं विधिं मजानन् । भस्मीभवति फलशून्यो भवति ॥ १८८ ॥

(३) कुल्लूकः । त्वर्णादीन् च्युतत्वाध्यायहीनः प्रतिगृह्णन् ग्रिसंयोगेन दारुवद्भस्मीभूतो भवति पुनरुत्पत्तिं न लभते ॥ १८८ ॥

(४) राघवानन्दः । अज्ञायापि कृते दोषमाह हिरण्यमिति । भस्मीभवति अविद्वान् तपोविद्यादिरहितः प्रतिग्रहाग्निना ॥ १८८ ॥

(५) नन्दनः । विशेषतो हिरण्यादिकं विदुषा न प्रतिग्राह्यमित्याह हिरण्यमिति ॥ १८८ ॥

(६) रामचन्द्रः । अविद्वान्मूर्खः हिरण्यादि प्रतिगृह्णानो दारुवद्भस्मीभवति ॥ १८८ ॥

हिरण्यमायुरन्नं च भूर्गोश्वाप्योषतस्तनुम् ॥ अश्वश्चक्षुस्त्वचं वासो घृतं तेजस्तिलाः प्रजाः ॥ १८९ ॥

(१) मेघातिथिः । भूर्गोश्च तनुं शरीरमोषतो दहतः । हिरण्यमायुर्विभक्तिपरिणामः ओषतीति कर्तव्यः । एवं अश्वश्चक्षुरित्यादिषु क्रियापदानुषङ्गः कर्तव्यः ॥ १८९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तस्यैव प्रपञ्चो हिरण्यमायुरित्यादि । उषतो दहतः त्वचो दाहः । कुष्ठायुपहत्या ॥ १८९ ॥

(३) कुल्लूकः । अविदुषः प्रतिग्रहीतुं भूर्गोश्च शरीरमोषतो दहतः । उषदाहे भौवादिकस्तस्येदं रूपम् । भूगवोर्द्वित्वविवक्षायां द्विवचनम् । एवं हिरण्यमन्नं चायुरोषतः । अश्वश्चक्षुरित्यादिषु विभक्तिविपरिणामादोषतीत्येकवचनान्तस्यानुषङ्गः ॥ १८९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंकिनाशयतीत्याह हिरण्याद्यष्टद्रव्याणि प्रतिगृहीतानि आयुरादीनि षट्नाशयन्तीत्यर्थः । ओषतः भूगवौ ॥ १८९ ॥

(५) नन्दनः । अथ हिरण्यादीनां प्रतिग्रहेषु दोषविशेषानाह हिरण्यमिति । ओषतो दहतः । दाहश्चात्र रोगः ॥ १८९ ॥

(६) रामचन्द्रः । हिरण्यं हिरण्यप्रतिग्रहः आयुर्हरति । च पुनः रत्नं आयुर्हरति भुवः गोश्च प्रतिग्रहः तनुं देहं उषतः दहतः । अश्वः अश्वप्रतिग्रहः चक्षुर्हरति । वासः वरून् प्रतिग्रहः त्वचं हरति । घृतं घृतप्रतिग्रहः तेजः हरति । तिलप्रतिग्रहः प्रजां हरति ॥ १८९ ॥

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः ॥ अम्भस्यश्मश्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥ १९० ॥

(१) मेधातिथिः । यस्य तपोनास्त्यनधीयानोनचाधीते । अभ्ययनेन प्रकृता विद्वत्ता लक्ष्यते । समुदितेचैते विद्यातपसीप्रतिग्रहाधिकारनिमित्तम् । उभयगुणभ्रष्टःप्रतिग्रहेचाभिलाषी सतेन सह मज्जत्यधोगच्छति । केनसह अन्यस्यानिर्देशादातुश्च संनिधानात्तेन सहेतिगम्यते । प्रतिग्रहीतारंश्लवमिवात्मोत्तारणायाश्रयते । यस्त्वीदृशोऽपात्रभूतःस-
दातारमात्मानमुभावप्यधोनयति यथाऽम्भस्यश्मश्लवोऽश्मश्लवः । पारंतरतियेन श्लवोनावादिः । तत्रयथाश्मन्यारूढोनदी-
तरणार्थमम्भसि मज्जत्यश्मश्लवेनसहदाता हि ब्राह्मणायददावनक्षरश्चतादृशो ब्राह्मणउभावपिनरकंगच्छतः ॥ १९० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनधीयानोपि अतिशयिततया न मज्जतीत्येतदर्थमतपस्वीति । श्लवोभेदः तेनदात्रासह मज्जति । दातुरपि तादृक्फलाभावान्मज्जनोक्तिः ॥ १९० ॥

(३) कुल्लूकः । यस्तपोविद्याशून्यःप्रतिग्रहेच्छुःब्राह्मणोभवति सप्रतिग्रहाधिकाराभावादुद्धिस्थेन तेनइतिपराश्रष्टे-
नैव दात्रैवानर्हप्रतिग्रहादानपापयुक्तेन सह नरके मज्जति यथा पाषाणमयेनोडुपेनाम्भस्तरंस्तेनैव सहाम्भसि मग्नोभवति ॥ १९० ॥

(४) राघवानन्दः । किंच अतपाइतिद्वाभ्यां । अश्मश्लवेन पाषाणनावा । सह तेन दात्रा ॥ १९० ॥

(५) नन्दनः । न केवलमविद्वान्प्रतिगृह्णन्तात्मानमेव पातयति किंतु दातारमपीत्याह अतपास्त्विति । अनधीया-
नोऽविद्वानतपाश्च सन्मभस्यश्मश्लवेनेव तेन दात्रा सहैव मज्जति । यथा जले स्वयमेव मज्जनश्मा त्वाश्रितमप्यधोनयति
एवंस्वयमेव नरके पतन्विद्वान्त्वाश्रितंदातारमप्यधोनयतीत्यभिप्रायः । अतपाइतिविशेषणात्सतपसोदोषमात्रत्वंगम्यते ॥ १९० ॥

(६) रामचन्द्रः । अतपस्वी तपोरहितः । अनधीयानः मूर्खः । एतादृशः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः यथा अम्भसि
अश्मश्लवेन तरति कश्चित्समज्जति तथा तेन दात्रा सह प्रतिग्रहोता द्विजःमज्जति ॥ १९० ॥

तस्मादविद्वान्बिभ्रियाद्यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहात् ॥ स्वल्पकेनाप्यविद्वान्हि पङ्के गौरिव सीदति ॥ १९१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यस्मात्तस्माद्विरण्यादिव्यतिरिक्तप्रतिग्रहादपि ॥ १९१ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मादसावलपद्रव्यप्रतिग्रहेणापि मूर्खः पङ्के गौरिव नरकेऽसमर्थोभवति तस्माद्यतःकुतश्चित्सुव-
र्णादिव्यतिरिक्तसीसकाद्यसारप्रतिग्रहादपि त्रस्येत् ॥ १९१ ॥

(४) राघवानन्दः । अतोऽविद्वान्प्रतिग्रहीता बिभ्रियात् अल्पकेन हिरण्याद्यन्यतमेन सीदत्येव । अविद्वन्निषे-
धाभ्यासोनिन्दातात्पर्यकःनविद्वत्प्रतिग्रहतात्पर्यकः प्रतिग्रहसमर्थोपीत्यत्र तन्निषेधोक्तेः ॥ १९१ ॥

(५) नन्दनः । उपसंहरति तस्मादिति । न केवलमश्वादिप्रतिग्रहादविद्वान्बिभ्रियात् किंतु यस्मात्कस्मात्प्रतिग्रहाद-
पि बिभ्रियात् ॥ १९१ ॥

(६) रामचन्द्रः । तस्मात् विद्वान् बिभ्रियात् स्वल्पकेनापि प्रतिग्रहेण । अविद्वान्स्तु सीदति ॥ १९१ ॥

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु बैडालव्रतिके द्विजे ॥ न बकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥ १९२ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रतिग्रहीतुर्धर्मउक्तः । इदानींदातुरुच्यते । अपिशब्दात्सर्वदेयंनिवार्यते । यत्र वारि न कस्मै-
चिदीयते तदपि नैम्योदातव्यंकुतोन्मद्रव्यंदीयते । अतिशयोक्त्या द्रव्यान्तरदाननिषेधोऽयम् । वारिणस्तुसर्वार्थत्वाद-

निषेधः । ननु च बैडालव्रतिकाच्चाङ्गात्रेणापि नार्चयेदित्युक्तमेव । सत्यम् तत्रार्चा निषिद्धा इहतु दानंतच्च धनस्य नान्यस्य । एवं द्विःप्रतिषेधोऽर्थवान्भवति । तथाचोत्तरत्र वक्ष्यति विधिनाप्यर्जितं धनमिति । अतः पाषण्ड्यादिभ्यः सावज्ञ-
मन्दानंतन्निषिध्यते । अत्र कश्चिद्गृह यद्यवेदविदीति श्रुतं तथाप्यनधीयान इत्यपि द्रष्टव्यम् तथाहि केवलवेदाध्यायिभ्यो-
दानमुक्तम् । नच दाम्भिकेभ्यः काम्ययुक्तम् । स इदं प्रष्टव्यः पुनर्वेदाध्यायिमात्राय विद्यारहिताय दानमुक्तम् श्रोत्रि-
यायैव देयानीति चेत्तत्त्वहंतमायेत्यप्राप्तिकत्वादत्र विद्यया विना वाक्यान्तराणि च विदुषे दक्षिणेत्यादीन्येकप्रकारगतानि
सन्त्येव । अतस्तत्पर्यालोचनयोभयविशेषणचेष्टया देयमिति गम्यते । अतः श्रौत्रार्थपरित्यागे न किंचित्कारणं पस्यामोय-
स्य तु साम्यमयुक्तमिति । वचनगम्येऽर्थे का नामायुक्तता । बिडालव्रतेन चरति बैडालव्रतिकः । बकानां व्रतंतदस्या-
स्तीति बकव्रतिकः । अधिकरणविवक्षायां सप्तमी । संप्रदानविवक्षायां चतुर्थी युक्ता ॥ १९२ ॥

(२) सर्वज्ञनाशयणः । वार्यपि प्रतिग्रहरूपेण न देयम् । करुणया तु देयमित्यर्थः ॥ १९२ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रतिग्रहीतुर्धर्ममभिधायाऽधुना दातुराह न वार्यपीति । वायसादिभ्यो यद्दीयते तदपि बैडालव्रतिके-
भ्यो धर्मज्ञो न दद्यादित्यतिशयोक्त्या द्रव्यान्तरदानं निषिध्यते न तु वारिदानमेव पाषण्डिनी विकर्मस्थानित्यनेन बैडालव्र-
तिकायाऽतिथित्वेन सत्कृतार्थदानादि निषिद्धम् । इहतु धनदानं निषिध्यते । अतएव विधिनाप्यर्जितं धनमिति वक्ष्यति ।
नावेदविदीति वेदार्थानभिज्ञे एतच्च विद्वत्संभवे नावेदविदीति निषिध्यते ॥ १९२ ॥

(४) राघवानन्दः । निन्दार्थवादसहितं दानपात्रं निन्दति न वार्यपीति नवभिः । अवेदविदि वेदानभिज्ञे ॥ १९२ ॥

(५) नन्दनः । दातृप्रतिग्रहीतृप्रसङ्गाद्दातारंप्रत्याह नेति । बैडालबकवृत्तिकौ वक्ष्यति । धर्मवित्प्रतिषेधशास्त्रज्ञः
॥ १९२ ॥

(६) रामचन्द्रः । वार्यपि जलमपि अवेदविदि ॥ १९२ ॥

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम् ॥ दातुर्भवत्यनर्थाय परत्राऽदातुरेव च ॥ १९३ ॥

(१) मेधातिथिः । धनग्रहणादन्दानं निषिध्यत इत्युक्तम्भवति । विधिनाप्यर्जितं सत्प्रतिग्रहक्रयादिना शास्त्रा-
भ्यनुज्ञातेन प्रकारेण दातुरादातुश्च तादृशदानं परत्रोभयोरनर्थाय ॥ १९३ ॥

(२) सर्वज्ञनाशयणः । अनर्थाय । दोषाय ॥ १९३ ॥

(३) कुल्लूकः । एतेषु त्रिष्वपि बैडालव्रतिकादिषु न्यायार्जितमपि धर्मदत्तं दातुः प्रतिग्रहीतुश्च परलोके नरकहेतुत्वा-
दनर्थाय भवति ॥ १९३ ॥

(४) राघवानन्दः । त्रिषु बैडालव्रतिकादिषु । विधिनीपार्जितं न्यायोपार्जितमपि अनर्थाय नरकाय ॥ १९३ ॥

(५) नन्दनः । न केवलमेतेभ्यो दानेन दृष्टे धनहानिरदृष्टे फलहानिश्च भवतः किंतु प्रतिषिद्धाचरणान्न पापमप्य-
स्तीति व्यक्तमुक्तमनर्थायेति । आदातुः प्रतिग्रहीतुः ॥ १९३ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतेषु त्रिषु बैडालवृत्तिबकवृत्त्यवेदवित्सु दत्तं दातुः आदातुः उभयोः अनर्थाय भवति ॥ १९३ ॥

यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदंके तरन् ॥ तथा निमज्जतो धस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥ १९४ ॥

(१) मेधातिथिः । औपलआश्मनः । जलसंतरणाय नावादिः प्लवस्तेन यस्तरति तरितुं प्रवर्तते । सोऽथ स्ताज्जलस्य-
मज्जत्यन्तर्धीयते । एवमज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ । प्रतीच्छकः प्रतीच्छां करोतीति णिचंरुत्वा ण्वुल्कर्तव्यः । प्रतीप्सक इति पाठान्त-
रम् । तत्र सन्नन्तादामोतेर्ण्वल् । अर्थस्तूभयोरेकएव ॥ १९४ ॥

(१) सर्वज्ञनारायणः । दातुरज्ञत्वं पात्राज्ञानात् दानफलाज्ञानाच्च ॥ १९४ ॥

(३) कुल्लूकः । यथा पाषाणमयेनोडुपादिना जले तरस्तेनैव सहायोगच्छत्येवंदानप्रतिग्रहशास्त्रानभिज्ञौ दातृग्राहकौ नरकंगच्छतः । अतपास्त्वनधीयानर्हतिप्रतिग्रहीतृप्राधान्येन निन्दोक्ता । इहतु दातृप्राधान्येनेत्यपुनरुक्तिः ॥ १९४ ॥

(४) राघवानन्दः । औपलेनाश्मनिर्मितेन । प्रतीच्छकोधनं प्रति लुब्धोऽग्रहीता ॥ १९४ ॥

(५) नन्दनः । उक्तेऽर्थे दृष्टान्तं प्रपञ्चयति यथेति । अज्ञौ अपात्रदाने दोषमविदुषः प्रतिग्रहदोषं चाजानन्तौ । प्रतीच्छकः प्रतिग्राहकः ॥ १९४ ॥

(६) रामचन्द्रः । यथा औपलेन प्लवेन पाषाणप्लवेन उदके तरन् निमज्जति तथा अज्ञौ । दातृप्रतीच्छकौ दातृ-
ग्रहीतारौ अधस्तान्निमज्जतः ॥ १९४ ॥

धर्मध्वजी सदा लुब्धश्छादिकोलोकदम्भकः ॥ बैडालव्रतिकोज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसन्धकः ॥ १९५ ॥

[यस्य धर्मध्वजो नित्यं सुरध्वज इवोच्छ्रितः । प्रच्छन्नानि च पापानि बैडालं नाम तद्व्रतम् ॥ १* ॥]

(१) मेधातिथिः । उपचारेणैतौ शब्दौ प्रयुज्येते । अनेकस्मिंश्चोपचारहेतौ स एव संभवति । यन्निमित्तं प्रयोगस्तद-
वधारणप्रतिषेधविषयप्रकृत्यर्थम् । धर्मो ध्वजमिव व्याघ्रदेराकृतिगणत्वात्समासः । कदाचित्कर्मधारयः सर्वधनाद्यर्थ इति ।
ततः सोऽस्यास्तीति मत्वर्थीयः । ख्यात्यर्थमेव धर्मकरोति न शास्त्रपरतया स एव मुच्यते । अस्तत्रैव धर्मकरोति यत्र जनाः
पश्यन्ति त्वपुरुषैश्च ख्यापयन्ति धार्मिकत्वप्रसिद्ध्या प्रतिग्रहादिलप्स्य इति लुब्धो मत्सरीरूपणश्च । लोकदम्भोतिवञ्चयति
लोकदम्भकः । छद्मना चरति छादिकः । छद्म व्याजः । प्रकाशधार्मिको रहसिनिक्षिप्तमपहरत्यप्रकाशयं प्रकाशयति ।
धार्मिकोऽयमेतस्य यत्समक्षं कथितं नान्यत्र यातीति । केन चिद्विश्वस्य कथितं दृश्यते यावद्यत एव गोप्यं तस्यैव मुखाजान-
मिति परद्रोहः । सर्वेषां चाभिसंधानाक्षेपकः परगुणान् सहते । ईदृशो बैडालव्रतिकोज्ञेयः । अभिसंधकः अभिसंधत इति ।
आतश्चोपसर्ग इति कः । ततः स्वार्थे कः । सर्वेषामभिसंधक इति षष्ठीसमासः । केचिदत्र श्लोकं पठन्ति । यस्य धर्मध्वजो नित्यं-
सुरध्वज इवोच्छ्रितः । प्रच्छन्नानि च पापानि बैडालं नाम तद्व्रतमिति ॥ एष एवार्थः संक्षेपेण कथ्यते । एकैकगुणसंबन्धे-
बैडालव्रतिकोज्ञेयः । अस्मादेव श्लोकादेव मनुमीयते प्रच्छन्नानि च पापानि विविशेषाश्रवणात् सर्वेषां चैषां पापत्वादुभयथा-
चार्येण शिष्याः पाठिताः । केचिदिदं श्लोकमध्यापिताः केचित्पूर्वम् । उभयंच प्रमाणम् । तेन यद्यपि अङ्गदी कुण्डली
पीनस्कन्धः पृथुवक्षो देवदत्त इति समुदितानां लक्षणत्वं प्रतीयते तथापीह प्रत्येकमेतानि लक्षणानि ॥ १९५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धर्मध्वजी धर्मप्रकाशनशीलः । सदा अतिधनत्वेऽपि लुब्धः । लोकानां दम्भको हिंसो धन-
ग्रहणेन हिंस्रो वधादि हिंसारतिः । सर्वाभिसंधकः सर्वेषु पित्रादिष्वपि त्वोपकाराभिसंधिर्नैवोपकर्ता ॥ १९५ ॥

(३) कुल्लूकः । यो बहुजनसमक्षं धर्ममाचरति त्वतः परतश्च लोके ख्यापयति तस्य धर्मो ध्वजचिन्हमिवेति धर्म-
ध्वजी । लुब्धः परधनाभिलाषुकः । छद्मना व्याजेन चलतीति छादिकः । लोकदम्भको निक्षेपापहारादिना जनवञ्चकः ।
हिंस्रः परहिंसाशीलः । सर्वाभिसन्धकः परगुणासहनतया सर्वाक्षेपकः । बिडालव्रतेन चरतीति बैडालव्रतिकः । बिडालो हि
प्रायेण मूषिकादि हिंस्ररुचितया ध्याननिष्ठ इव विनीतः सन् वतिष्ठत इत्युपचाराद्बिडालव्रतशब्दः ॥ १९५ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र ह्याभ्यामुक्तबैडालव्रतव्रतिनोर्लक्षणमाह धर्मेति । धर्मध्वजी बहुजनेषु धर्म एव ध्वजवत्प्र-

काश्यतया यस्यसः । छात्रिकः सर्वत्र छद्मना व्यवहरति सर्वाभिसन्धकः परगुणासहनतया सर्वाक्षेपकः ॥ १९५ ॥

(५) नन्दनः । बैडालवृत्तिकमाह धर्मेति । धर्मध्वजीधर्मलिङ्गधारी । छात्रिको व्याजवृत्तिः । दाम्भिकोविशिष्टवेषेण स्वदोषतिरस्कारी । अभिसन्धको वञ्चकः ॥ १९५ ॥

(६) रामचन्द्रः । धर्मध्वजी धर्मस्थापकः पुरुषेभ्यः ख्यापयन् । छात्रिकः कृतव्याजः प्रकाशधार्मिकः रहसि निक्षिप्तमपि अपहरति । लुब्धः कृपणः प्रसिद्धः । प्रतिग्रहादिलभ्य इत्येतादृशो बैडालवृत्तिकसंज्ञः । हिंसः हिंसाशुचिः । सर्वाभिसन्धकः परगुणासहनतया सर्वेषु निन्दाकरः ॥ १९५ ॥

अधोदृष्टिर्नैष्ठिकः स्वार्थसाधनतत्परः ॥ शठो मिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः ॥ १९६ ॥

(१) मेधातिथिः । बकव्रतलक्षणमधोनिरीक्षणम् अथवा नीचदृष्टिः नीचोदीनः सर्वदैवव्यापारयतिकथंचित्कृत-
श्चन लभतेऽधमादपि गृह्णाति । निष्ठुतिर्निष्ठुरता तथा चरति तत्प्रधानो नैष्ठिकोऽसम्यग्भाषी । अलीकविनीतः श्रयति-
प्रश्रयनभ्रतां कार्यं तु व्याघातकः बिडालोऽलीकनिद्रां करोत्यामिषलिङ्गक्षन् । एवं सोपाधेर्धर्मचरणो बैडालवृत्तिक उक्तः ।
तथैव बकव्रतचरोपि । बका हि मत्स्यान्गृह्णन्तो जलचरेष्ववज्ञां दर्शयन्ति । अथ च मत्स्यग्रहणबुद्धय एव । व्रतानि शीलितं-
कर्मोच्यते । प्रदर्शितपदानां मपौनरुक्तम् । अथापि स्याल्लक्षणत्वादोषः । अविज्ञातं हि लक्षणं भवति । पौनःपुन्याभिधानेन-
सुग्रहोऽर्थो भवति । कः पुनः । बैडालवृत्तिकबकव्रतिकयोर्भेदः । उच्यते । अयं स्वार्थसाधनपरो नान्यस्य कार्यविहन्ति पूर्वस्तु-
मात्सर्यात् स्वार्थसिद्धावसत्यामपि परस्य नाशयति ॥ १९६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अधोदृष्टिरुपरोधभयान्मुखानिरीक्षकः । नैष्ठिकश्छद्मवृत्तिः । शठो वक्रमतिः । मिथ्या-
विनीतो वाचादेहे न च विनयकुर्वन् मनसा विपरीतः । बकव्रतधरो बकवृत्तिः ॥ १९६ ॥

(३) कुल्लूकः । अधोदृष्टिर्निजविनयख्यापनाय सततमध एव निरीक्षते । निष्ठुतिर्निष्ठुरता तथा चरतीति नैष्ठि-
तिकः स्वार्थसाधनतत्परः पदार्थखण्डनेन । शठो वक्रः मिथ्याविनीतः कपटविनयवान् । बकव्रतं चरतीति बकव्रतचरः । बको हि
प्रायेण मीनहननरुचितया मिथ्याविनीतः सन्नेवंशीलो भवतीति गौणो बकव्रतशब्दः ॥ १९६ ॥

(४) राघवानन्दः । निजविनयख्यापनाय सततमधोदृष्टिः निष्ठुत्या । निष्ठुरतया चरति नैष्ठिकः निष्ठुरो निराकृ-
तिः । शठो वञ्चकः । मिथ्याविनीतः । धनाद्यर्थमिथ्याविनयी ॥ १९६ ॥

(५) नन्दनः । अधोदृष्टिः परलोकानवेक्षकः । वैष्ठिको गूढैरुपायैः परानर्थकारी । शठो नृशंसः ॥ १९६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अधोदृष्टिः उपरोधभयान्मुखानिरीक्षकः । नैष्ठिकः छद्मवृत्तिः । स्वार्थसाधनतत्परः स्वकार्य-
साधकः । शठः वक्रमतिः ॥ १९६ ॥

ये बकव्रतिनो विप्राये च मार्जारलिङ्गिनः ॥ ते पतन्त्यन्धतामिस्ते तेन पापेन कर्मणा ॥ १९७ ॥

(१) मेधातिथिः । त्वशब्दैश्च व्याख्यातः श्लोकः ॥ १९७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । येषां इति विप्राणां हिंसा छद्मप्रधानतयैतद्विधमतिदुष्टेत्यर्थः ॥ १९७ ॥

(३) कुल्लूकः । ये बकव्रतं बिडालव्रतं चरन्ति ते ब्राह्मणास्तेन पापहेतुना कर्मणा अन्धतामिस्तेनाग्नि नरके प-
तन्ति ॥ १९७ ॥

(४) राघवानन्दः । तेन बकादिवृत्त्या पापकर्मणा ॥ १९७ ॥

(५) नन्दनः । अन्धतामिक्षेऽन्धतामिक्षाख्ये नरके ॥ १९७ ॥

न धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत् ॥ व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन्स्त्रीशूद्रदम्भनम् ॥ १९८ ॥

(१) मेधातिथिः । पापंकृत्वाव्रतं प्रायश्चित्तं कुर्यात् । धर्मस्यापदेशेन धर्ममपदिश्यलोके ख्यापयति धर्मार्थमहंव्रतं करोमि न मे प्रायश्चित्तनिमित्तमस्तीति परमार्थतस्तु प्रायश्चित्तार्थमेव करोति एवं कर्तव्यम् । पापं प्रच्छाद्यापन्हुत्य तेन व्रतेन स्त्रीशूद्रदम्भनं कुर्यात् । प्रकटंप्रायश्चित्तं कर्तव्यमन्यत्र रहस्यात् ॥ १९८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धर्मध्वजित्वं केवलमपि दुष्टमित्याह न धर्मस्येति । अपदेशेन धर्मसाधयितुमेतत्करोमीति व्यपदेशेन व्रतंचान्द्रायणादिप्रायश्चित्तं न चरेत् । पापंकृतं प्रच्छाद्य निन्दुतंकृत्वा तदपगमार्थं कुर्वन्पि । व्रतेन स्त्रीशूद्रदम्भनं स्त्रीशूद्राद्यज्ञानादम्भनं विप्रलम्भनं कुर्वन् ॥ १९८ ॥

(३) कुल्लूकः । पापंकृत्वा प्रायश्चित्तरूपं प्राजापत्यादिव्रतं पापमपनयति तन्नेदंप्रायश्चित्तं किंतु धर्मार्थमहमनुतिष्ठामीति स्त्रीशूद्रमूर्खादिजनमोहनं कुर्वन् नानुतिष्ठेत् ॥ १९८ ॥

(४) राघवानन्दः । पापानुत्यै व्रतमनुतिष्ठतो धर्मं करोमीति ख्यापनशीलस्य न शुद्धिः किंतु दम्भमात्रमित्याह न धर्मस्येति । स्त्रीशूद्रदम्भनं स्त्रीशूद्रौ दम्भयति दम्भेन व्यामोहयतीति ॥ १९८ ॥

(५) नन्दनः । धर्मध्वजित्वादीनां वृत्तान्तमाह नेति । पापंकृत्वा तत्प्रायश्चित्तरूपं व्रतं धर्मव्याजेन न कुर्यात् । पापं प्रच्छाद्य व्रतेन स्त्रीशूद्रदम्भनं कुर्वन् । स्त्रीशूद्रग्रहणमविद्वदुपलक्षणम् । दम्भनं वञ्चनम् ॥ १९८ ॥

(६) रामचन्द्रः । धर्मस्य अपदेशेन व्याजेन व्रतं चरेत् । स्त्रीशूद्रदम्भनं स्त्रीशूद्रयोर्वचनं कुर्वन् ॥ १९८ ॥

प्रेत्येह चेदृशा विप्रा गृह्णन्ते ब्रह्मवादिभिः ॥ छयनाचरितं यच्च व्रतं रक्षांसि गच्छति ॥ १९९ ॥

(१) मेधातिथिः । इह पदार्थत्वाभावेनान्योद्देशेनापि कृतं यत्फलं ततो भवत्येव । तथाहि गुरुनियोगे प्रवृत्तो धर्मोद्देशेन गुरुवचनं करोमीति न कामहेतोः । अर्थं स्वाभाव्यानु कर्मप्रतिजनयति । एवं कश्चिन्न्यते व्रतानि पापापनोदार्थानि तानि परोद्देशेनापि क्रियमाणानि न स्वभावं जहति एवमेतन्मप्रायश्चित्तमुभयार्थं भविष्यति लोके तपस्वीति ख्यातो भविष्यामि पापं चापनोत्स्यते । तस्यैवं बुद्धिमतो निवृत्त्यर्थं मिदमारभ्यते । तदेतद्व्रतं छयनाचरितं तमनुष्ठितं रक्षांसि गच्छन्ति निष्फलं भवति न पापमपनुदतीत्यर्थः । न केवलं कार्याकरणं भवति यावदीदृशो विप्राव्रतचारिणो गृह्णन्ते निन्द्यन्ते ब्रह्मवादिभिः वेदप्रमाणैः शिष्टैः ॥ १९९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रेत्य पारलौकिककर्मणि । इहैव लौकिककर्मणि । तच्च व्रतं धर्मध्वजिनाम् ॥ १९९ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रेत्येह इति श्लोकद्वयम् । प्रथमं सुबोधम् ॥ १९९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचैतादृशा अतीव पापिष्ठा इत्याह प्रेत्येति । तत्फलं रक्षोगामीति भावः ॥ १९९ ॥

(५) नन्दनः । अत्र कारणमाह । प्रेत्येति ॥ १९९ ॥

(६) रामचन्द्रः । ईदृशा विप्रा गृह्णन्ते । छयनाचारितं व्रतं रक्षांसि प्रतिगच्छति निष्फलं भवति ॥ १९९ ॥

अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण योऽस्ति मुपजीवति ॥ स लिङ्गिनां हरत्येन स्तिर्यग्योनौ च जायते ॥ २०० ॥

(१) मेधातिथिः । प्रत्याश्रमं लिङ्गधारणं यथा ब्रह्मचारिणो मेखलादिधारणं गृहस्थस्य वैणवदण्डकुण्डलकमण्डलवादि

वानप्रस्थस्य चर्मचौरजटादि परिव्राजकस्य कषायवसनदण्डादि । एतेन वेषेणानाश्रमी योभिक्षाहेतोर्लोकै चरति-
वृत्तिमुपजीवतिसलिङ्गिनामेनःपापंहरति । तिर्यग्योनौ तिरश्चांश्चशृगालादीनांयोनौ जायते । नचात्रैतदाशङ्कनीयलिङ्गिनां-
यत्पापंतत्तेभ्योऽपसृत्य तस्मिन्संचरतीत्यसंभाव्यम् । अकर्तव्यतापरलिङ्गाधारणात्प्रतीयते । अश्रुतेऽपि प्रतिषेधे निन्दा-
र्थबादादेव तदवगतिः ॥ २०० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अलिङ्गी तत्तदीक्षितस्नातकादिलिङ्गानर्हः । वृत्तिप्रतिग्रहादिना धनोत्पत्तिम् ॥ २०० ॥

(३) कुल्लूकः । अब्रह्मचारी योब्राह्मणोब्रह्मचर्यादिलिङ्गमेखलाजिनदण्डादिवेषोपलक्षितस्तद्वत्त्या भिक्षाभ्रमणादि-
ना जीवति सब्रह्मचार्यादीनांयत्पापंतदात्मन्याहरति कुकुरादितिर्यग्योनौचोत्पद्यते । तस्मादेतन् कर्तव्यमितिनिषेधः
कल्प्यते ॥ २०० ॥

(४) राघवानन्दः । किंचस्वयमलिङ्गीलिङ्गिनांसन्यास्यादीनाम् ॥ २०० ॥

(६) रामचन्द्रः । यःअलिङ्गीअनाश्रमी भूत्वा लिङ्गिवेषेणआश्रमिवेषेण वृत्तिउपजीवतिसः लिङ्गिनां आश्रमिणां
एनः पापं हरति आनृण्यंतर्पयति स्वयंतिर्यग्योनौ शृगालयोनौ । प्रजायते ॥ २०० ॥

परकीयनिपानेषु न स्नायाच्च कदाचन ॥ निपानकर्तुःस्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥ २०१ ॥

[समोद्धृत्य ततः पिण्डान्कामंस्नायाच्च पञ्चश ॥ उदपानात्स्वयंयाहाद्वहिः स्नात्वा न दुष्यति
॥ १ ॥*]

(१) मेधातिथिः । निपिबन्त्यस्मिन्ततोवेतिनिपानजलाशयः । सच वापीकूपतडागादि तस्मिन्परकीये परेणयदा-
त्मार्थकृतंसर्वार्थनोत्सृष्टतत्र न कदाचित्स्नायात् । नित्यंचण्डालादिस्पर्शने च नैमित्तिकधर्मस्वेदापनोदार्थंचसर्वस्नानंप्रतिषि-
ध्यते । अत्रव्यतिक्रमे दोषमाह । निपानस्य यः कर्ता तस्य यत्किंचिदुष्कृतंतस्य केनचिदंशेन लिप्यते संबध्यते । नि-
न्दार्थवादोऽयंप्रतिषेधः ॥ २०१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । जलंनिपीयते येषु निपानेषु पुष्करिण्यादिषु परकोटेषु परेण खातेषु सर्वार्थमनुत्सृष्टेषु ।
अंशेन चतुर्थेन ॥ २०१ ॥

(३) कुल्लूकः । निपानजलाधारःपरकृतपुष्करिण्यादिषु न कदाचित्स्नायात्तत्रस्नात्वा पुष्करिण्यादिकर्तुर्यत्पापं-
तस्यांशेन वक्ष्यमाणचतुर्थभागरूपेणसंबध्यते अकृत्रिमनद्याद्यसंभवे परकृतेऽपि पुष्करिण्यादौ प्राक्प्रदानात्पञ्चपिण्डा-
नुद्धृत्य स्नातव्यम् । तदाह याज्ञवल्क्यः । पञ्चपिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात्परवारिषु । उद्धृत्य चतुरः पिण्डाःपारक्ये स्नान-
माचरेत् ॥ स्नात्वा च तर्पयेद्देवान्पितॄंश्चैव विशेषतः ॥ २०१ ॥

(४) रघवानन्दः । तत्र । नित्यंनैमित्तिकंकाम्यंक्रियाङ्गमलकर्षणम् । क्रियास्नानंतथा षष्ठ्योदास्नानंप्रकीर्तितम् ॥
अस्नातःपुनरानर्होजप्याग्न्यहवनादिषु । प्रातःस्नानंतदर्थतु नित्यस्नानंप्रकीर्तितम् ॥ नित्यस्नानंग्रहवैगुण्यशमं । का-
म्यंदेवतार्चाद्यर्थं । क्रियाङ्गंअपूर्वनद्यादिषु स्नानंक्रियास्नानं । तत्रापि ॥ तीर्थे प्राप्यानुमार्गेण स्नानंतीर्थंसमाचरेत् । -
स्नानजंफलमाप्नोति तीर्थयात्राफलं चेति शङ्कोक्तिः ॥ स्नानाधिकरणविधिनिषेधावाहपरेतित्रिभिः । परकीयत्वंतत्कृति
साध्यत्वे सति तदनुत्सृष्टत्वंकूपतडागादिष्वदत्तेषुअदत्तानीत्युत्तरलिङ्गात् । अंशेन चतुर्थंशेन तुरीयभागतिवक्ष्यमाणत्वात् ।

पञ्चपिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात्परवारिणीति ॥ वाचनिकं सर्वसत्त्वोद्देशेनोत्सृष्टत्वात् । अतएवाह । यदात्मार्थकृतं सर्वार्थनो-
त्सृष्टमिति मेधातिथिः ॥ २०१ ॥

(५) नन्दनः । अत्रांशशब्दश्चतुर्थभागवचनः उत्तरत्र तुरीयग्रहणात् ॥ २०१ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्नानविधिमाह परकीयेति । परकीयनिपानेषु कदाचन न स्नायात् । स्नात्वा निपानकर्तुः दु-
ष्कृतांशेन लिप्यते । कूपसमीपनिबद्धं पशुपानाय निपानसंज्ञम् ॥ २०१ ॥

यानशय्यासनान्यस्य कूपोद्यानगृहाणि च ॥ अदत्तान्युपभुञ्जान एनसः स्यात्तुरीयभाक् ॥ २०२ ॥

(१) मेधातिथिः । यानादीनि परकीयान्यदत्तान्युपभुञ्जान एनसस्तदीयस्य तुरीयभाक् चतुर्थभागप्राप्त्यात् । अत्रक-
श्चिदाह । अदत्तानां तिवचनात्सर्वार्थतयाप्यपकल्पितानि नोपयोज्यानि तदयुक्तं । परकीयाधिकारात् । न च तानि परकीया-
नि । त्यक्तं हि तत्सम्यक् । तुरीयग्रहणमविवक्षितमिति प्रागेव व्याख्यातम् ॥ २०२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवं परयानाद्युपभोगेऽपि दोषइत्याह यानशय्येति । अस्य परस्य ॥ २०२ ॥

(३) कुल्लूकः । अस्म्येति प्रकृतः पुनः परामृष्यते । परस्य यानादीन्यदत्तान्युपभुञ्जानस्तदीयपापचतुर्थभागभागी
भवति । अदत्तानीति परस्यानुमत्यभावश्च विवक्षितस्तेन सर्वार्थोत्सृष्टमठकूपादावुपयोगार्थमस्नानादौ न विरोधः ॥ २०२ ॥

(४) राघवानन्दः । मनुरप्याह । पानेत्यादि अदत्तान्यनुत्सृष्टानीति स्वखातः सागरोपमइत्युक्तेः खातकृदुत्सृष्टे ।
विश्वस्याधिकारो वाचनिकः ॥ २०२ ॥

(५) नन्दनः । अस्य परस्य । तुरीयभाक् तुरीयांशभाक् ॥ २०२ ॥

(६) रामचन्द्रः । यानादीनि अदत्तानि भुञ्जानः । अस्य एतेषां प्रभोः एनसः । तुरीयभाक् चतुर्थांशभाक्
स्यात् ॥ २०२ ॥

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च ॥ स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्तप्रस्रवणेषु च ॥ २०३ ॥

(१) मेधातिथिः । सर्वानद्यो देवखाता अतस्तासामुभयथासंभवा देवखातग्रहणवाच्यत्वेन तल्लिङ्गपठितव्यम् । त-
डागादीनि हि देवखातानि मनुष्यखातान्यपि सन्ति । न च देवैः खन्यन्ते । केवलं महत्त्वं स्मर्यमाणकर्तृकत्वेन लक्ष्यते ॥ २०३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । देवखातेषु पुष्करादिषु तडागेषु । अन्येन खातेषु उत्सृष्टेषु गर्तेषु नद्यादिकृत-हृदेषु । प्रस्रव-
णेषु निर्झरेषु ॥ २०३ ॥

(३) कुल्लूकः । नद्यादिषु सर्वदा स्नानमाचरेत् । देवखातेष्वितितडागविशेषणम् । देवसंबन्धित्वेन प्रसिद्धेषु
सरःसु गर्तेषु अष्टधनुःसहस्रेभ्योन्यूनगतिषु तदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे । धनुःसहस्राण्यष्टौ च गतिर्यासां विद्यते । न तानदी-
शब्दवहागर्तास्ताः परिकीर्तिताः । चतुर्हस्तप्रमाणधनुः । प्रस्रवणेषु निर्झरेषु चानेनैव परकीयनिपानव्यावृत्तिसिद्धौ-
यत्पृथग्वचनं तदात्मीयोत्सृष्टतडागादिषु स्नानाद्यनुज्ञानार्थतदपि नद्याद्यसंभवे द्रष्टव्यम् ॥ २०३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच देवखातेषु तत्कृतत्वेन प्रसिद्धेषु सरःसु समंतात्समेषु तटाकेषु विन्ध्यादिगतेषु । अष्टधनुःस-
हस्रेभ्योन्यूनगतिषु । तदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे । धनुःसहस्राण्यष्टौ तु गतिर्यासां विद्यते । न तानदीशब्दवहागर्तास्ताः परिकीर्तिताः
धनुर्हस्तचतुष्टयम् । प्रस्रवणेषु निर्झरेषु अत्र पञ्चपिण्डानुद्धरणेऽप्यदोषः । अदत्तेऽन्यजकृतेऽपि न दोषः । अन्यजेन कृते

कूपे सेतौ वाप्यादिके तथा । तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥ जानुदघ्नमदूष्यं स्यादधःस्थमशुचिस्मृतम् । एतेन परकीयवारिनिषेधोऽर्थवादइति मेधातिथिमतम् । यानादिपञ्चकंप्रासङ्गिकं जलाशये दर्शितत्वात् ॥ २०३ ॥

(५) नन्दनः । मनुष्यैरखातो जलाशयो देवखातः । मनुष्यैः खातस्तडागः ऋषिसेवितं सरः । गतान्हदः । प्रसवणं निर्झरः ॥ २०३ ॥

यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः ॥ यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान् भजन् ॥ २०४ ॥

[आनृशस्यं क्षमा सत्यमहिंसा दममस्पृहा ॥ ध्यानं प्रसादो माधुर्यमार्जवं च यमादशाः ॥ १ ॥*]

[अहिंसा सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्कता ॥ अस्तेयमिति पञ्चैते यमाश्चोपव्रतानि च ॥ २ ॥^{ss}]

[शौचमिज्या तपोदानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहौ ॥ व्रतोपवासौ मौनं च स्नानं च नियमादशाः ॥ ३ ॥[§]]

[अक्रोधोगुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम् ॥ अप्रमादश्च नियमाः पञ्चैवोपव्रतानि च ॥ ४ ॥[†]]

(१) मेधातिथिः । प्रतिषेधरूपायमा ब्राह्मणो न हन्तव्यः सुरा न पेयेत्यादयः । अनुष्ठेयरूपानियमाः । वेदमेव जपे-
नित्यमित्यादयः । न नित्यं नियमान् नाने न नियमानामसेवोच्यते किंतु यमानानियमेभ्यो नित्यत्वम् । तथाचाह
यमान्पतत्यकुर्वाणः । ब्रह्महादिर्यमलोपे सति । पतितत्वात्सन्ध्योपासनादिभिर्नाधिक्रियते ननु तथा नियमलोपे ।
तथाच शिष्टस्मरणम् । पतति नियमवान्यमेव सत्तेन तु यमवान्नियमालसोऽवसीदेदिति । न नियमानसमीक्ष्य बुद्ध्या यम-
बहुलं स्वतिसंदधीत बुद्धिम् । येषामपि पारिभाषिकायमनियमाः ॥ अहिंसासत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्कता । अस्तेयमपि पञ्चैते
यमाश्चैव व्रतानि च ॥ अक्रोधोगुरुशुश्रूषा शौचमाचारलाघवम् । अप्रमादश्च नियमाः पञ्चैवोपव्रतानि च ॥ तेषामपि गुरुलाघव-
मनेन श्लोकेन प्रतिपाद्यते । अतो नानेन यमानां सेवोच्यते नापि नियमानामसेवा उभयेषां तैः शास्त्रैर्विहितत्वात् ॥ २०४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यमान् नित्यकर्माणि । नियमान् कामनानियतानि काम्यकर्माणि नित्यं न सेवेतेति । किंतु
कामनोदय एव । केवलान् कृत्स्नानपि भजन् । अहिंसासत्यास्तेयापरिग्रहेन्द्रियनिग्रहादयः शरीरमात्रापेक्षानियतकर्तव्या-
यमाः । तपःस्वाध्यायादयो धिकसाधनापेक्षा नियमाअत्रेत्येके ॥ २०४ ॥

(३) कुल्लूकः । नियमापेक्षया यमानुष्ठानगौरवज्ञापनार्थमिदम् । नतु नियमनिषेधार्थं द्वयोरेव शास्त्रार्थत्वात् ।
यमनियमविवेकश्च मुनिभिरेव कृतः । तदाह याज्ञवल्क्यः । ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्ध्यानं सत्यमकल्कता । अहिंसास्तेयमाधु-
र्यं दमश्चेति यमाः स्मृताः ॥ स्नानं मौनोपवासेज्या स्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः । नियमोगुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधाप्रमादता ॥ यम-
नियमस्वरूपज्ञः समस्तस्नानादिनियमत्यागेनाप्यहिंसादिरूपं यममनुतिष्ठेत् । नियमाननुतिष्ठन्नपि यमानुष्ठानरहितः पतती-
त्ययं यमस्तुत्यर्थमारंभइति मेधातिथिगोविन्दराजौ । हिंसादिप्रतिषेधार्थकायमाः । वेदमेव जपेनित्यमित्यादयोऽनुष्ठेयरूपा-
नियमा इति व्याचक्षते । अहिंसासत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्कता । अस्तेयमिति पञ्चैते यमावै परिकीर्त्तिताः । अक्रोधोगुरु-
शुश्रूषा शौचमाहारलाघवम् । अप्रमादश्च सततं पञ्चैते नियमाः स्मृताः ॥ २०४ ॥

* (क, ख, ग, घ, च, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, ल, र.)

ss (ख, ड, ढ, त)

§ (क, ख, घ, च, ट, ठ, ड, ण, त, र, ल)

† (ख, ढ, ण, त.)

(४) राघवानन्दः । स्नातकस्यापि नित्यं यमस्यावश्यकत्वमाहयमानिति । अत्र ॥ ब्रह्मचर्यं दयाक्षान्तिर्ध्यानं सत्यमवक्रता । अहिंसास्तेयमाधुर्यं दमश्चेति यमादश ॥ स्नानं मौनोपवासे ज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः । नियमो गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधाप्रमादितेति याज्ञवल्क्योक्तयमनियमग्रहइतिकेचित् । यः स्वशाखां परित्यज्येति न्यायात् । अत्रैवोक्ताहिंसानिषेधकोपायसाध्या वेदमेव जपेनित्यमित्यादिरूपनियमाग्राह्या इति तु मेधातिथिगोविन्दराजमतम् । यमानां नित्यत्वे पततीत्येव हेतुः ॥ २०४ ॥

(५) नन्दनः । व्रतान्तरमाह यमानिति । अत्र व्यासः । अहिंसासत्यवचनं ब्रह्मचर्यमवक्रता । अस्तेयमिति पञ्चैते यमाश्चैव व्रतानि च ॥ अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम् । अप्रमादश्च नियमाः पञ्चैवोपव्रतानि चेति ॥ उभयेषां यमेष्वादरः कर्तव्य इत्युक्तं न नित्यं नियमान्बुधइति । उक्तमर्थमुपपादयत्युत्तरार्धेन । केवलान्यमहीनान् । पतति दोषयुक्तो भवतीति यावत् ॥ २०४ ॥

(६) रामचन्द्रः । यमानित्यकर्माणि सततं सेवेत अनुतिष्ठेत् ॥ २०४ ॥

[रामचन्द्रः । यमनियममाह चतुर्भिः । प्रसादः ईश्वरप्रसन्नता (१)]

[व्रतं स्नातकव्रतादि । उपवासो मासोपवासादिः (३)]

नाश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिकृते तथा ॥ स्त्रिया क्लीबेन च हुते भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित् ॥ २०५ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वेण श्लोकेन व्रताधिकारो विच्छिन्नः । इदानीं प्रतिषेधप्रकरणमारभ्यते । तत्र भोजनमेव तावद्दीशतत्वाद्यत्र कुत्रचित्प्राप्तं निषिध्यते । अश्रोत्रियोऽनधीयानस्तेन तते प्रारब्धे यज्ञकृत्विग्भिर्वाऽश्रोत्रियैस्तते न भुञ्जीत ब्राह्मणः ग्रामयाजी ग्रामयाजकस्तेन यत्र हूयते यत्र च स्त्री होमं करोति । छान्दोग्ये हि स्त्रीणां गृहस्थृतिकारैरग्निहोत्रहो-उक्तोऽतस्तं पश्यन् प्रतिषेधति । अथवा यत्र यज्ञे स्त्री प्रधानं भर्तादारिद्र्यादिदोषैरुपहतः स्त्रीचासौदायिकेन धनेन ज्ञातिबलेन च दर्पिता तत्रायं प्रतिषेधः । क्लीबेन पुंसकम् ॥ २०५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अश्रोत्रियैर्धर्मतोऽनधीतवेदैर्ऋत्विग्भिस्तादृशा यजमानेन तते प्रारब्धे यज्ञे प्रक्रान्ते दर्श-षूर्णमासादौ सोमेवाग्नीषोमीयवपाहोमानन्तरमपि यज्ञनिमित्तभोजने न भुञ्जीत । ग्रामयाजी बहूनां क्रोशतामुपदेष्टा । स्त्रिया हुते हाविते स्त्रीमात्रयजमानकव्रतादिहोमे निमित्ते । एवं क्लीबेन हुतइत्यत्रापि । स्त्रिया शूद्रेण वेति क्वचित्पाठः ॥ २०५ ॥

(३) कुड्डूकः । अनधीतवेदेनोपक्रान्ते यज्ञेऽग्नीषोमीयादूर्ध्वमपि भोजनयोग्यसमये ब्राह्मणो न भुञ्जीत तथा बहूनां याजकेन त्विजा स्त्रिया न पुंसकेन च यत्र यज्ञे हूयते तत्र कदाचिन्न भुञ्जीत ॥ २०५ ॥

(४) राघवानन्दः । पूर्वश्लोके व्रताधिकारो विच्छिन्न इदानीं निषेधो धिक्क्रियते नाश्रोत्रिय इति त्रयोदशभिः । एतैर्हुते यज्ञादिकृतेन ब्राह्मणो भुञ्जीत ॥ २०५ ॥

(५) नन्दनः । अश्रोत्रियततेऽनधीतवेदबहुले । श्रोत्रियततेऽपि ग्रामयाज्यादिहुते । ग्रामयाजी बहूनां याजकः । क्वचित्कर्मण्यभ्युदयश्राद्धादावपि ॥ २०५ ॥

(६) रामचन्द्रः । अश्रोत्रिययज्ञे तते विस्तृते ब्राह्मणः क्वचिन्न भुञ्जीत । ग्रामयाजिना पुरोहितेन । स्त्रीप्रधानां स्त्रिया हुते होमे तत्र न भुञ्जीत क्लीबेन हुते होमे तत्र न भुञ्जीत ॥ २०५ ॥

अश्लीकमेतत्साधूनां यत्र जुद्धत्यमी हविः ॥ प्रतीपमेतद्देवानां तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ २०६ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्यप्रतिषेधविधेरर्थवादोऽयम् । अश्लीलमश्लाघ्यंसाधूनाम् । यत्रसेतेहविर्जुहति यज्ञकुर्वन्ति देवानांप्रतीपंप्रतिकूलंतस्मादीदृशेयज्ञेगमनंपरिवर्जयेत् ॥ २०६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आश्लीलं पापकरम् । जुहति हावयन्ति वा । अमीअश्रोत्रियाद्याः । प्रतीपं विपरीतं अनिष्टमिति यावत् ॥ २०६ ॥

(३) कुल्लूकः । पूर्वोक्ताबहुयाजकादयो यत्र होमं कुर्वन्ति तत्कर्म शिष्टानामश्लीकमश्रीकंश्रीघ्नं रेफस्य स्थाने लकारः । देवानांप्रतिकूलं तस्मादेतद्धोमं न कारयेत् ॥ २०६ ॥

(४) राघवानन्दः । तद्वक्षणे दोषमाह । अश्रीकं श्रीघ्नंसाधूनामश्लाघ्यमिति वा । अमी अश्रोत्रियादयः । प्रतीपं प्रतिकूलंअभक्ष्यमित्यर्थः ॥ २०६ ॥

(५) नन्दनः । तत्र कारणमाह अश्रीकमिति । अमी यत्र यज्ञे कर्मणि वा जुहति तत्रैतद्धोजनंसाधूनामश्रीकममङ्गलंप्रतीपंप्रतिकूलम् ॥ २०६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अमी चत्वारअश्रोत्रियादयः हविर्यत्र जुहति तत्राश्लीलंदेवानांप्रतीपंविपरीतंभवति ॥ २०६ ॥

मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन ॥ केशकीटावपन्नं च ^{पृष्टं} संस्पृष्टं च कामतः ॥ २०७ ॥

(१) मेधातिथिः । यावन्मदादियोगएतेषां तावदभोज्यता । अन्येबाहुल्यमन्यन्ते । बाहुल्येन यः क्षीबो भवति मद्यशौण्डस्तदन्नं भोक्तव्यम् । एवंक्रोधप्रधानस्य भृशंकोपनस्य च प्रायेण चातुरस्य रोगमयव्याधेः । केशकीटैरवपन्नं संसर्गेण दूषितम् । कीटाश्च केचिन्मृतादूषयन्ति न जीवन्तो यथार्थमक्षिकागृहगोधाश्च । अन्ये तु जीवन्त एव । कीटग्रहणं क्षुद्रजन्तूनां कृमिपतङ्गानामपि प्रदर्शनार्थम् । केशग्रहणं खरोष्णादूषिकादीनां मलानां समाचारात् । पादेन बुद्धिपूर्वकामकारेण स्पृष्टम् । प्रमादतस्तु न दोषः ॥ २०७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मत्तो मद्यादिना क्रुद्धो भोक्तारं प्रति । आतुरो रोगी । केशकीटाभ्यामवपन्नं मिश्रम् ॥ २०७ ॥

(३) कुल्लूकः । क्षीबक्रुद्धव्याधितानामन्नं तथा केशकीटसंसर्गदुष्टं पादेन चेच्छातः संस्पृष्टमन्नं न भुञ्जीत ॥ २०७ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच मत्तेति ताच्छील्यपरं । कामत इति गुर्वानुज्ञया भुञ्जानोपि मृक्षेपेण शोधयित्वा भुञ्जीतेति भावः ॥ २०७ ॥

(५) नन्दनः । मत्तक्रुद्धातुराणामन्नमितिशेषः । कामत इति विशेषणादकामतः पादस्पृष्टमनुज्ञातंगम्यते ॥ २०७ ॥

(६) रामचन्द्रः । मत्तानां क्रुद्धानां रोगिणां एतेषां च पुनः केशकीटादिभिः सह अवपन्नं पक्वं । कामतः पदा स्पृष्टं अन्नं न भुञ्जीत । कदाचन ॥ २०७ ॥

भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्यया ॥ पतत्रिणावलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च ॥ २०८ ॥

(१) मेधातिथिः । भ्रूणहा ब्रह्मघस्तेनावेक्षितं निपुणतौ दृष्टम् । प्रदर्शनं चैतदन्येषामपि । पातकिना स्पृष्टस्य तु प्रतिषेधः स्नानविधानादेव सिद्धः । उदक्या रजस्वला तया स्पृष्टस्य प्रतिषेधोनावेक्षितस्य । ननु च तत्स्पर्शिनोऽपि यावत् स्नानं वक्ष्यतस्तेनैवाशुचित्वे सिद्धे कुतस्तत्स्पृष्टस्य भोजनप्राप्तिः । उच्यते प्रक्षाल्यतदन्नं भोज्यमथवा भ्रूणग्रहणं प्रदर्शनार्थमित्युक्तं तत्र कश्चिन्मन्येत दिवाकीर्तिश्लोकपठितानां प्रदर्शनार्थमिति । तथा चोदक्यावेक्षितस्यापि प्रतिषेधः स्यात् ।

एतेन शुना संस्पृष्टं व्याख्यातम् । अत उक्तं पतितानामेवान्येषां प्रदर्शनार्थम् । तदत्र युक्तः पतितसूतिकेत्यादीनाम् । उदक्या-
ग्रहणं सूतिकाया निदर्शनार्थम् । पतत्रिणा पतत्री पक्षी सचक्रव्यादोगृध्रवायसादिः समाचारान्तु हंसादिः ॥ २०८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भ्रूणहपदं महापातकिपरम् । पतितेक्षितमिति याज्ञवल्क्येनोक्तत्वात् । संस्पृष्टं चापीति च-
कारादृष्टं । पतत्रिणा अनिन्दितेनापि पक्षिणा अवलीढं चञ्चवास्पृष्टम् । संस्पृष्टमेव चेति अवलीढं चेत्यपीति ॥ २०८ ॥

(३) कुङ्कः । भ्रूणघ्नेत्युपलक्षणाद्भेद्येति पतितवेक्षितं रजस्वलया च स्पृष्टं पक्षिणा च काकादिना स्वादितं
कुङ्कुरेण च स्पृष्टमन्नं भुञ्जीत ॥ २०८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचैतान्यतुष्टिकरपर्यन्तानि द्विष्टिप्रकारान्यन्नानि न भुञ्जीतेत्याह भ्रूणघ्नेत्यादि । उदक्या
रजस्वलया । पत्रिणा काकादिना अवलीढं भक्षितम् ॥ २०८ ॥

(५) नन्दनः । अन्नं भुञ्जीतेत्यनुवर्तते ॥ २०८ ॥

(६) रामचन्द्रः । भ्रूणघ्नावेक्षितं दृष्टं पतत्रिणा अवलीढम् ॥ २०८ ॥

गवा चान्नमुपाघ्रातं घुष्टान्नं च विशेषतः ॥ गणान्नं गणिकान्नं च विदुषां च जुगुप्सितम् ॥ २०९ ॥

(१) मेधातिथिः । घुष्टान्नं यदुद्दुष्यदीयतेऽनामन्त्रिताय कस्मैचिदर्थिने मठसत्रभक्तादि विशेषानुद्देशेन यद्गान्यस्मै
प्रतिश्रुत्यान्यस्मै दीयते । प्रतिपत्तिज्ञाने ह्ययं धातुः पठ्यते तदभावे बाधितं स्मरन्ति यज्ञविवाहादिष्वनामन्त्रितभोजनम् ।
अयं च गणसंघातस्तस्माद्भातृणां त्वविभक्तानां गणव्यपदेशः । भ्रातृणामविभक्तानामेको धर्मः प्रवर्तत इति वचनादेकश्च
धर्मस्तेषामातिथ्यादिक्रियैवेति नवमेदार्शितम् । ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पितृभ्यः धनमशेषत इति । तस्य च ग्रहणमवश्यकर्तव्येष्वधि-
कार इति दर्शयति साधारणस्यापि । अन्यस्यातन्मध्यगतस्य प्रतिषेधः । गणिकावेश्या । जुगुप्सितं निन्दितम् । विदुषा
वेदार्थविदा भक्ष्यमपि बिसखल्यादि ॥ २०९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दृष्टान्नं कोभुङ्क्तेत्युद्दुष्य दत्तम् । गवा अन्नमुपाघ्रातं गन्धमुपादाय विमुक्तम् । गणान्न-
मनेकेषामामानमेकत्रपक्वम् । गणिका वेश्या । विदुषां तद्दोषज्ञानां जुगुप्सितं स्वयमदृष्टदोषमपि ॥ २०९ ॥

(३) कुङ्कः । यदन्नं गवाघ्रातं घुष्टान्नं कोभुङ्क्तेत्युद्दुष्य दत्तम् । विशेषत इति भूरदोषतया प्रायश्चित्तगौ-
रवार्थम् । गणान्नं शठब्राह्मणसंघान्नम् । गणिका वेश्या तस्या अन्नं शास्त्रविदा च यदुद्दुष्यति निन्दितम् तच्च न भुञ्जीत ॥ २०९ ॥

(४) राघवानन्दः । घुष्टान्नं कोभोक्तास्तीत्याद्युद्दुष्यदीयते । गणान्नं मठब्राह्मणसङ्घातान्नं । गणिकान्नं गणिका
वेश्या । विदुषा अलौकिकादिज्ञेन जुगुप्सितं निन्दितम् ॥ २०९ ॥

(५) नन्दनः । घुष्टं बहुभ्यः ख्यापितम् । विदुषां जुगुप्सितं निषेधशास्त्राभावेऽपि वर्जनीयम् ॥ २०९ ॥

(६) रामचन्द्रः । कैश्चिदर्थिने कः कोभोक्तेति उद्दुष्यत दत्तं तद्दृष्टान्नं यज्ञविवाहादौ अनिमन्त्रितभोक्तृरन्नम् ॥ २०९ ॥

स्तेन गायनयोश्चान्नं तक्ष्णो वार्धुषिकस्य च ॥ दीक्षितस्य कदर्यस्य बद्धस्य निगडस्य च ॥ २१० ॥

(१) मेधातिथिः । गायनो योगीतेन जीवति । अन्यस्य त्वपरान्तकादिगानं विहितमेव । कदर्यः रूपणः । बद्धनिगड
योर्विशेषः । एको वाङ्मात्रेणावरुद्धः अपरो रज्ज्वायसनिगडैर्यन्त्रितः । विशदस्य चेत्यन्ये पठन्ति । कष्टं च विशदमाचक्षते ॥ २१० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्तेनोऽल्पस्तेयवृत्तिः । गायनो गानवृत्तिः । एवं तक्ष्णः काष्ठादितक्ष्णवृत्तेः । वार्धुषि-
कस्य घनवर्धनेन जीवतः । दीक्षितस्य अग्नीषोमीयवपायागात्प्राक् । कदर्यस्य क्षणस्य । बद्धस्य रज्ज्वादिना । निग-
डस्य निगडबद्धस्य ॥ २१० ॥

(३) कुल्लूकः । चौरगायनजीविनोस्तथा तक्षवृत्तिजीवनस्य वृद्ध्युपजीविनश्चान्नं भुञ्जीत । तथा यज्ञे दीक्षितस्य प्रागग्नीषोमीयात् । कदर्यस्य रूपणस्य निगडस्येतितृतीयार्थेष्वपि । निगडेनबद्धस्य । गोविन्दराजस्तु बद्धशब्दस्य बन्धनैर्विना प्ययोनिगडैर्निगडितस्य दत्तायोनिगडस्येतिव्याख्यातवान् ॥ २१० ॥

(४) राघवानन्दः । जात्या तक्षणः । वार्धुषिकस्य वृद्धिमात्रोपजीविनः । यज्ञे दीक्षितस्य प्रागग्नीषोमीयात् । कदर्यस्य रूपणस्य । आत्मनो धर्मकृत्यं च पुत्रदारांश्च वर्जयन्तित्याद्युक्तलक्षणस्य वा । बद्धस्य दण्डार्थमवरुद्धस्य । निगडस्य निगडैर्बद्धस्य । शरैः शातितपत्रवत् ॥ २१० ॥

(५) नन्दनः । बद्धस्य रज्ज्वादिना । निगडस्य निगडवतो निगडितस्येति यावत् । निगडेनेतिसाधुः पाठः ॥ २१० ॥

(६) रामचन्द्रः । दीक्षितस्य असंस्कृताग्नीषोमीयपशोः । कदर्यस्य बद्धस्य वासमात्रेण विरुद्धस्य निगडादिना ॥ २१० ॥

अभिशास्तस्य षण्ठस्य पुंश्चल्यादाम्भिकस्य च ॥ शुक्तं पर्युषितं चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च ॥ २११ ॥

(१) मेघानिधिः । पुंश्चली यस्य कस्यचिन्नैथुनसंबन्धेन घटते । ननु च गणिकान्प्रतिषिद्धमेव नैते देवम् । अन्या गणिकाऽन्या पुंश्चलीगणिका वेश्यावेशेन जीवति पुंश्चलीत्वान्द्रियचपला दाम्भिको बैडालव्रतिकादिः सोपधियोगधर्मचरणः । प्रायश्चित्तविशेषार्थं शूद्रोच्छिष्टं प्रतिषिध्यते सर्वस्यैवोच्छिष्टभोजनप्रतिषेधात् । अन्ये तु शूद्रोच्छिष्टं स्थालीस्थं भोज्यान् शूद्रभुक्तशिष्टमुच्छिष्टमुच्यत इत्याहुः । पाठान्तरं तु उच्छिष्टमगुरोस्तथेति । उच्छिष्टमुच्यते यत्परस्य स्पर्शनादशुद्धं भुक्तोद्भिन्नं च । आत्मीये ह्यभुक्तोद्भिन्नतएकग्रासाशनमेव स्यात् । नचैष शिष्टानां समाचारी यत्सकृदन्नं दत्तं भुक्त्वा पुनराचम्य पात्रान्तरे गृहीतं भुज्यते । तथा नाद्यादन्नम् । तथान्तरेऽभ्युत्थानादिक्रियान्तरस्य प्रतिषेधः । अत आतृमेः प्रागाचमनात्पश्चात्स्पर्शेन दोषः । सहभोजनं तु सत्यपि परस्य स्पर्शं पदार्थान्तरत्वान्नोच्छिष्टभोजनम् । अत्रापि पुत्रादिभिः शिष्टं सह भुज्यते । तथा चापस्तम्बादयो देशग्रहणात्प्रसङ्गेनानुपनीतेन सह भोजनं निन्दन्ति । नोपनीतेन । अस्मिन्स्तुपक्षे विजातीयैः सह भोजनप्रतिषेधः । व्यवधानान्तरमाश्रयणीयम् । भुक्तोद्भिन्नं तु धात्वर्थयोगादुच्छिष्टमन्यदीयमपि ॥ २११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अभिशास्तस्य दोषवत्तया शङ्कितस्य । षण्ठस्य क्लीबस्य । पुंश्चल्याः त्वपतिव्यभिचारिण्याः । शुक्तमनम्लमल्लतां कालवशाद्गतम् । पर्युषितं स्वाभाविकरसगन्धादिविपरिवर्तनकालपर्यन्तं स्थितम् । एवं च शुक्तस्य पृथक्ग्रहणं दोषातिशयप्रदर्शनार्थं निगडस्येतिवत् । तथा शूद्रस्य यदन्नं तदभक्ष्यम् । उच्छिष्टं च सर्वेषाम् ॥ २११ ॥

(३) कुल्लूकः । महापातकित्वेन संजातलोकविक्रोशस्य नपुंसकस्य नपुंश्चल्याव्यभिचारिण्या अगणिकाया अपि दाम्भिकस्य लज्जना धर्मचारिणो बैडालव्रतिकादिरेन्नं भुञ्जीत । शुक्तं यत्स्वभावतो मधुरं दध्यादिसंपर्कवशेनोदकादीनां चाम्लादिभावं गतम् । पर्युषितं रात्र्यन्तरितं शूद्रस्यान्नं न भुञ्जीतेति संबन्धः । उच्छिष्टं च भुक्त्वा विशान्नमविशेषात्कस्यापि न भुञ्जीत । गुरुच्छिष्टं च विहितत्वाद्भोज्यम् । गोविन्दराजस्तु । शूद्रस्योच्छिष्टं तद्भुक्त्वा विशष्टं च स्थालीस्थमपि न भुञ्जीतेत्याह ॥ २११ ॥

(४) राघवानन्दः । महापातकित्वेनाभिशास्तस्य संजातलोकविक्रोशस्य । षण्ठस्य नपुंसकस्य । पुंश्चल्याः वेश्याभिनव्यभिचारिण्याः । शुक्तस्य स्वाभाविकमधुरत्वेऽपि कालवशाद्दुदकादिरसवशाद्वा यदा म्लीभवति तदपि वर्ज्यम् । पर्युषितं रात्र्यन्तरितं प्रतिप्रसवशास्त्रबोधिताद्यतिरिक्तं । शूद्रोच्छिष्टं शूद्रपक्वान्नाशनेतुदोषोक्तेः शूद्रभुक्त्वा विशष्टं स्थालीस्थमपि । ब्रह्मचर्यादिप्रकरणादौ यच्छुक्तादिनिषेधः सप्रायश्चित्तगौरवार्थः ॥ २११ ॥

(५) नन्दनः । कालातिक्रमेणरसान्तरंगमंशुक्तम् । पर्युषितमेकाहान्तरितम् । शूद्रस्योच्छिष्टंशूद्रेणभुक्तानंस्थाल्या-
दिस्थम् ॥ २११ ॥

(६) रामचन्द्रः । योऽभिषस्तस्तस्य कलङ्कवतः पुंश्चली परपुरुषरता । स्वयमेव अथवा कालपरिपाकेन
अम्लंभवति तत्शुक्तं । रात्र्यन्तरितं पर्युषितम् ॥ २११ ॥

चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः ॥ उग्रान्नंसूतिकान्नं च पर्याचान्तमनिर्दशम्

॥ २१२ ॥

(१) मेधातिथिः । स्मृत्यन्तरे विशेषः श्रूयते । शल्यान्तर्तकजीविनः । मृगयुर्मृगव्याधः । आखेटकार्थमांसविक्र-
यार्थंवा योमृगान्हन्ति । क्रूरानृजप्रकृतिः दुष्पसादउच्छिष्टभोजीनिषिद्धोच्छिष्टभोजी । उग्रोजातिविशेषः । राजेत्येत-
स्यवेदे प्रयोगोदृश्यते । उग्रोमध्यमशीरि वेति वचनस्यान्यः प्रतिषेधोऽस्तिदोषप्रदर्शनप्रकरणेचनश्रूयते । राजानन्तेजआ-
दत्तइत्यर्थवादाच्च प्रतिषेधः । सूतिकान्नंसूतिकामुद्दिश्य यत्कृतं तत्कुलीनैरपि तदनाद्यमनिर्दशदशाहानि यावत् । तेन यद्य-
पि क्षत्रियादीनां दशाहादूर्ध्वमाशौचं तथापि दशाहानि न भोज्यम् । पाशान्तरं सूतकान्नमिति । सूतकशब्देन च तद्वन्तः पुरु-
षालक्ष्यन्ते । येषां कुले सूतकते दशाहं भोज्यान्नाइति । यस्मिन्पक्षे सर्वेषां दशाहं सूतकाशौचं तत्रायं प्रतिषेधः । यदा तु माता-
पित्रोः सूतकं मातुर्वेति पक्षस्तदायावदाशौचं न भोज्यम् । अनिर्दशग्रहणमाशौचनिवृत्त्युपलक्षणार्थम् । तेन क्षत्रियादीनां यस्य
यावदाशौचकालः सतावत्कालमभोज्यान् । सूतकान्नमनिर्दशमिति पठित्वे वृत्तानुरोधात्पर्याचान्तपदेन व्यवधानम् । अ-
न्यैस्तु स्वतन्त्रमनिर्दशग्रहणं व्याख्यातम् । सूतकशब्देनाशौचकालोच्यते । अनिर्दशं गवादीनां पयः पर्याचान्तं शौचाचमन-
व्यपेतमर्धभुक्ते केनचित्कारणेन यद्याचामति तदा पुनर्भुक्तोद्दिष्टतं नाशितव्यम् ॥ २१२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चिकित्सकस्य भिषग्वृत्तेः । मृगयोर्मृगबन्धजीविनः । क्रूरस्य हिंसारुचेः । उच्छिष्टभो-
जिनः उच्छिष्टभोजनशीलस्य । उग्रः क्षत्रियात् शूद्रायां जातः । सूतिकान्नं सूतिकाभोजनार्थं प्रकमनम् । पर्याचान्तं
तत्पङ्क्तिभोजना यत्राचमनं कृतम् । अनिर्दशं सूतकिना सूतकमध्ये दत्तम् ॥ २१२ ॥

(३) कुल्लूकः । चिकित्सार्जीविनः । मृगयोर्मांसविक्रयार्थं मृगादिपशुहन्तुः । क्रूरस्यानृजप्रकृतेः । निषिद्धोच्छिष्टभो-
क्तुरन्नं भुञ्जीत । उग्रादोरुणकर्म तस्यान्नम् । गोविन्दराजो मञ्जर्यामुग्रं राजानमुक्तवान् । मनुवृत्तौ च शूद्रायां क्षत्रियोत्पन्न-
मन्यधात् । भेदोक्त्या ज्ञवल्कीयेनो ग्राजेति वावदत् । आश्चर्यमिदमेतस्य स्वकीयत्वादिभूषणम् ॥ सूतिकान्नं सूतिकामुद्दिश्य
यत्क्रियते तदन्नं तत्कुलजैरपि न भोक्तव्यम् । एकपङ्क्तिस्थानन्यानवमन्य यत्रान्ने भुज्यमाने केनचिदाचमनं क्रियते
तत्पर्याचान्तम् । अनिर्दशं सूतिकान्नं वक्ष्यमाणत्वात् न भुञ्जीत ॥ २१२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच चिकित्सकस्य भिषजः । मृगयोर्व्याधस्य जातितः कर्मतो वा । उच्छिष्टभोजिनः निषिद्धो-
च्छिष्टभोजिनो न तु गुर्वाद्युच्छिष्टभोजिनः ताच्छील्यार्थो वा । उग्रान्नं उग्रोजातिविशेषोदारुणकर्मो वा । सूतिकान्नं सूतिकामु-
द्दिश्य यत्क्रियते तदन्नं तत्कुलजैरपि न भोक्तव्यम् । एकपङ्क्तिस्थानवलम्बनामन्यस्मिन् भुज्यमाने तत्परित्यज्य केनाप्याचमनं
क्रियते तत्पर्याचान्तम् । अनिर्दशं सूतकाद्याशौचान्तर्गतम् ॥ २१२ ॥

(५) नन्दनः । उग्रवैश्येन शूद्रायां जातः । पर्याचान्तं प्रतिदानपरम्परया प्राप्तवारम् । अनिर्दशं सूतिकान्नमित्यन्वयः
॥ २१२ ॥

(६) रामचन्द्रः । क्रूरस्य हिंसारुचेः । उग्रान्नं क्षत्रियात्शूद्रायामुत्पन्नउग्रसंज्ञस्तस्यान्नं । यद्वा वाक्काय-
व्यापारेणोद्वेजकउग्रः । पङ्क्तिभोजने यत्र एकेनाचमनंरुतं तत्पर्याचान्तं । अनिर्देशं अनतिक्रान्तदशाहं अनिर्ग-
ताशौचम् ॥ २१२ ॥

अनर्चितंवृथामांसमवीरायाश्च योषितः ॥ द्विषदन्नंनगर्ग्यन्नंपतितान्नमवक्षुतम् ॥ २१३ ॥

(१) मेधातिथिः । अर्चाहस्य यदवज्ञया दीयते तदनर्चितमननुसुहृदादेः । वृथामांसं देवाद्यर्चनशिष्टंयन्नमव-
त्यात्मार्थयत्साधितम् । अवीरा स्त्री यस्या न भर्ता नापिपुत्रः । द्विषच्छत्रुः । नगरीनगरस्वाम्यराजापि । अवक्षुतमु-
परिस्मिन्क्षवथुःरुतः ॥ २१३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनर्चितसंमानेनादत्तम् । वृथामांसं पशुबन्धव्यतिरेकेण मांसम् । अवीरायाः पुत्रपतिही-
नायाः । द्विषतः शत्रोः । नगरी नगरवान् नगराधिपतिस्तदन्नम् । पतितः रुतपापोरुतप्रायश्चित्तः । अवक्षुतं यदुपरिक्षुतं-
रुतम् ॥ २१३ ॥

(३) कुल्लूकः । अर्चाहस्य यदवज्ञयादीयते । वृथामांसं देवतादिमुद्दिश्ययन्नरुतं । अवीरायाः पतिपुत्ररहितायाः ।
शत्रुनगरपतितानां च उपरिरुतक्षुतंचान्नं भुञ्जीत ॥ २१३ ॥

(४) राघवानन्दः । योग्येष्ववज्ञयादत्तमनर्चितं । वृथामांसं देवपित्राद्युद्देशरहितम् । अवीरायाः पतिपुत्ररहितायाः
योषितोरूपयौवनशालिन्याः अन्नमिति शेषः । नगर्ग्यन्नं नगरस्थस्यान्नं । कर्मतो जातितो वा पतितस्यान्नं । अवक्षुतं यदुप-
रिक्षुतंरुतम् ॥ २१३ ॥

(५) नन्दनः । अनर्चितमवज्ञया दत्तम् । वृथामांसं आत्मार्थसंस्कृतंमांसम् । अवीरायाः पतिपुत्रहीनायाः नगर्ग्य-
न्नं देशसंबन्धेनायमन्नस्यनिषेधः । यस्योपरिक्षुतंतदवक्षुतं ॥ २१३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अहरहयदवज्ञया दत्ततदनर्चितम् । अविहितफलसाधनमांसंतद्वृथामांसम् । च पुनः अवी-
राया योषितः अवीरा पतिपुत्ररहिता । द्विषतः अन्नं । नगराधिपतेस्तस्य राज्ञोन्नं । पतितान्नं च महापातकिनोन्नम् ।
अवक्षुतंयस्याज्ञातस्य उपरिक्षुतं तदवक्षुतम् ॥ २१३ ॥

पिशुनानृतिनोश्चान्नंक्रतुविक्रयिणस्तथा ॥ शैलूषतुन्नवायान्नंरुतघ्नस्यान्नमेव च ॥ २१४ ॥

(१) मेधातिथिः । पिशुनोयोविश्रब्धमर्थकथितंभिनत्तिपरच्छिद्रवादीयश्चपरोक्षम् । अनृती रुतकौटसाक्ष्यः । क्रतु-
र्यज्ञस्तंरुत्वाविक्रीणीतेक्रतुफलमदीयंतवास्त्वितिमूल्येन ददाति यद्यपि परमार्थतः क्रतोर्विक्रयोनास्ति तथापि यस्थैर्विव-
षयात्रान्यविप्रलम्भेन वा प्रवृत्तिस्तस्य प्रतिषेधः । शैलूषोनटः भार्यापण्यइत्यपरे । तुन्नवायः सौचिकः । रुतघ्नःरुतमुप-
कारंयोनाशयति । प्रत्युतोपकर्तुरपकारे वर्तते नचशक्तःसम्प्रत्युपकारेऽपि ॥ २१४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पिशुनः परगुणासहनः । क्रतुविक्रयिकः परगतंफलमुद्दिश्य क्रतुकारी । शैलूषोनटवृत्तिः ।
तुन्नवायः सूचीसीवनवृत्तिः ॥ २१४ ॥

(३) कुल्लूकः । पिशुनःपरोक्षे परापवादभाषणपरः अनृतीत्यतिशयेनानृतवादीकूटसाक्ष्यादिः । क्रतुविक्रयिकः

मदीययागस्य फलंतव भवत्वित्यभिधाय योधनं गृह्णाति । शैलूषोनटः । तुलवायः सौचिकः । रुतघ्नोयः रुतोपकारस्याप-
कारे प्रवतते तस्यान्नं भुञ्जीत ॥ २१४ ॥

(४) राघवानन्दः । विरुद्धमर्थकथयतीति पिशुनः । अनृती कटसाक्षी । मत्क्रतुफलंतवैवेति वदन्धनं गृह्णाति यः
सक्रतुविक्रयी तस्य । शैलूषोनटः भायापण्यः । सौचिकस्तनुवायः कर्मतो ज्ञाति तो वा । रुतोपकारिणि अपकारी रुतघ्नः
॥ २१४ ॥

(५) नन्दनः । परेभ्यो भार्यादत्त्वा योजीवति सशैलूषः । नटइत्येके ॥ २१४ ॥

(६) रामचन्द्रः । पिशुनः सूचकः । अनृती परं छिद्रवादी । च पुनः क्रतुविक्रयी यागविक्रयी यागफलविक्र-
यी । शैलूषोनटवृत्तिः । तुलवायः सौचिकः च पुनः रुतघ्नस्य अन्नमेव ॥ २१४ ॥

कर्मारस्य निषादस्य रङ्गावतारकस्य च ॥ सुवर्णकर्तुर्वेणस्य शस्त्रविक्रयिणस्तथा ॥ २१५ ॥

(१) मेधातिथिः । कर्मारोऽयस्कारः । निषादो दशमे वक्ष्यते । रङ्गावतारको नटगायनकेभ्योऽन्योमल्लादिः । अथ-
वा प्रतिरङ्गमुपतिष्ठते कुतूहली । वेणुवादित्रजीवितः । शस्त्रविक्रयी रुतस्य खड्गादेरुतस्य वायसोविक्रेता ॥ २१५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कर्मारो लोहकारवृत्तिः । निषादो जालवृत्तिः । रङ्गावतारको वाद्यादिप्रदर्शनवृत्तिः । वैणो-
वेणुपिटकादिकरणवृत्तिः । शस्त्रं खड्गादि ॥ २१५ ॥

(३) कुल्लूकः । कर्मारस्य लोहकारस्य निषादस्य दशमाध्यायोक्तस्य । नटगायनव्यतिरिक्तस्य रङ्गावतरणजीवि-
नः सुवर्णकारस्य वेणोर्भेदनेन योजीवति बुरुडइति विश्वरूपः । शस्त्रलोहः तद्विक्रयिणश्चान्नं भुञ्जीत ॥ २१५ ॥

(४) राघवानन्दः । कर्मारोऽयस्कारः । रङ्गावतारको दशमे वक्ष्यमाणः । वेणः वाद्योपजीवी । बुरुडः लोहादिनिर्मि-
तशस्त्रविक्रयी ॥ २१५ ॥

(५) नन्दनः । कर्मारोऽयस्कारः । वैदेहकादम्बशायामुत्पन्नो वेनः ॥ २१५ ॥

(६) रामचन्द्रः । कर्मारस्य लोहकारस्य । च पुनः रङ्गावतरकस्य वाद्योपजीविनः । वैण्यस्य वेणुछेदनजी-
विनः वेणुवादनजीविनो वा ॥ २१५ ॥

श्ववतां शौण्डिकानां च चैलनिर्णेजकस्य च ॥ रञ्जकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ २१६ ॥

(१) मेधातिथिः । आखेटकाद्यर्थेशुनो बिभ्रति ते श्ववन्तः । शौण्डिकामद्यव्यसनिनस्तत्पण्यजीविनो वा ।
चैलं वस्त्रं तन्निर्णेक्ति प्रक्षालयति । कारुकनामधेयमेतत् । रजकोवाससांनीलादिरागकारकः । नृशंसो नृन्मनुष्याञ्छंसति
स्तौति योलोके बन्दीति प्रसिद्धः । अथवा निर्दयो नृशंसः । उपपतिर्जारो भार्याया गृहे जारो वर्तते ॥ २१६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्ववतां श्वपोषकाणाम् । शौण्डिकानां मद्यसंधायकानाम् । चैलनिर्णेजकस्य वस्त्रक्षाल-
नवृत्तेः । रञ्जकस्य वस्त्ररञ्जनकर्तुः । नृशंसस्य वृत्त्यर्थं नरस्तोत्रकर्तुः । यस्य गृहे भार्यायामुपपतिः ॥ २१६ ॥

(३) कुल्लूकः । आखेटकाद्यर्थेशुनः पोषकाणां । मद्यविक्रयिणां वस्त्रधावकस्य कुसुम्भादिना वस्त्ररागरुतः निर्द-
यस्य यस्य चोपपतिर्गृहे जारश्च यस्याज्ञानतो गृहे स्थितस्तस्य गृहे नाद्यात् ॥ २१६ ॥

(४) राघवानन्दः । श्ववतां शुनः पोषकाणां । चैलनिर्णेजकस्य वृत्त्यर्थं मलिनवस्त्रक्षालकस्य । रञ्जकस्य
वस्त्ररागरुतः । नृशंसस्य निर्दयस्य यस्य चोपपतिर्गृहे तस्याप्यन्नं नाद्यात् । सततं दुष्टभार्यात्वात् ॥ २१६ ॥

(५) नन्दनः । श्ववतांश्वपोषकारिणाम् । शौण्डिकानांसुराविक्रयिणाम् । चैलनिर्णेजकस्यवस्त्रशोधकस्य । रञ्जकस्य वस्त्रादीनांनीलादिरागकारस्य । नृशंसस्यनिर्दयस्य । यस्यगृहउपपतिजरीवर्तते तस्य चान्नं भुञ्जीतेति ॥ २१६ ॥

(६) रामचन्द्रः । श्वपचां श्वपोषकाणां । श्ववतांवेति पाठः श्ववतां सारमेयवतां मृगयार्थम् । शौण्डिकानां मद्यकर्तृणां । च पुनः चैलनिर्णेजकस्य वस्त्रप्रक्षालकस्य । रञ्जकस्य वस्त्रादीनांनीलादिरङ्गकारस्य । नृशंसस्य वृत्त्यर्थनरस्तुतिकर्तुः । च पुनः यस्यगृहउपपति जारः ॥ २१६ ॥

मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितानां च सर्वशः ॥ अनिर्दशं च प्रेतान्नमतुष्टिकरमेव च ॥ २१७ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वोऽविदितभार्याजारः । अयंतु विदित्वा क्षमते न भार्याया निग्रहं करोति । नापितस्यअविदितान्यगृहजारस्यभोज्यान्नंनैव । स्त्रीजिताः । एषांभार्यैवगृहेकर्त्रीहर्त्रीचस्वयंपरिजनस्यच नेशस्तेन सर्वत्र तद्वशवर्तिनः । प्रेतान्नंमरणाशौचेतत्कुलीनाअभोज्यान्नाः । अनिर्दशग्रहणं कालोपलक्षणार्थम् । यदाऽनिर्दशग्रहणपूर्वत्रस्वतन्त्रमाशौचसंबन्धिनामविशेषेणान्नप्रतिषेधतदिह प्रेतान्नंरुतंतस्याप्याशौचनास्ति सुदृढान्धवादेः कारुण्याच्चतुर्थीश्राद्धादिप्रवृत्तस्य यदन्नंतन्न भोज्यम् । दशाहिकनावमिकंचतुर्थीश्राद्धमष्टमीत्यादिरामायणेवर्णितमन्यैरपि गृहकारैः । अतुष्टिकरंयस्मिन्भुज्यमाने चित्ततुष्टिर्नभवेत् ॥ २१७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मृष्यन्ति न तान्भज्यन्तीत्यर्थः । प्रेतान्नं शवान्नमनिर्दशमनिर्गतांशौचम् । अतुष्टिकरंसंविचिकित्सया ॥ २१७ ॥

(३) कुल्लूकः । गृहइत्यनुषज्यते गेहे ज्ञातंभार्याजारये सहन्ते तेषामन्नं भुञ्जीत । तेन गृहान्निःसारितायाजारसहनएषदोषः । तथा सर्वकर्मसु स्त्रीपरतत्त्राणां । अनिर्गताशौचंच सूतकान्नं । अतुष्टिकरमेव च न भुञ्जीत ॥ २१७ ॥

(४) राघवानन्दः । मृष्यन्ति ज्ञात्वोपपतिंस्करइति कृत्वा अथवा गृहसत्त्वासत्त्वभेदेन व्यवस्था । अनिर्दशं मृतकान्नं दशाहाद्यन्तरे दत्तं । अतुष्टिकरं तथैव प्रयच्छति यथा तोषोन जायते तस्यान्नम् ॥ २१७ ॥

(५) नन्दनः । येष्वभार्यायावर्तमानमुपपतिं मृष्यन्ति सहन्ते तेषांचान्नम् । सर्वशः सर्वावस्थायाम् । प्रेतान्नंशावाशौचवतामन्नम् । अतुष्टिकरममनः सन्तोषकरम् ॥ २१७ ॥

(६) रामचन्द्रः । येउपपतिंजारंमृष्यन्ति न त्यजन्ति विदित्वादमतः । अनिर्दशं अनिर्गताशौचं । च पुनः प्रेतान्नं एकादशाहस्यान्नम् । च पुनः अतुष्टिकरमेव ॥ २१७ ॥

राजान्नं तेजआदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम् ॥ आयुः सुवर्णकारान्नं यशश्चर्मावकर्तिनः ॥ २१८ ॥

(१) मेधातिथिः । अथेदानीमतिक्रमफलं दर्शयति । राजान्नं भोजिनस्तेजोनाशः । एवंसर्वत्रद्रष्टव्यम् । सुवर्णकारादयःशब्दाःशिल्पिविशेषजीविनांवाचकाः । येसुवर्णजीविकार्थंघटयन्ति सुवर्णकाराउच्यन्ते । एवंरजकादिष्वपिद्रष्टव्यम् । चर्मावकृच्छिन्दति चर्मावकर्तिनः । तेनकर्मणायेजीवन्ति तेषामेषारूढिः । इह येषांपूर्वत्र प्रतिषेधोनास्ति केवलंदोषः श्रूयते तेषांततएव प्रतिषेधोऽनुमेयः ॥ २१८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इदानीं शूद्रादीनां प्रक्रान्तानामप्रक्रान्तस्यच राज्ञोऽन्नाशने दृष्टफलमाहराजान्नमिति । तेजस्तपोबलं ब्रह्मवर्चसं वेदबलम् । चर्मावकर्तिनश्चर्मकारवृत्तेः ॥ २१८ ॥

(३) कुल्लूकः । राजान्नंतेजोनाशयति इतएव दोषदर्शनात्तदन्नभक्षणनिषेधःकल्प्यते । एवमुत्तरत्रापि पूर्वमनि-

षिद्धस्य दोषदर्शनादेव निषेधकल्पनम् । नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्मितिनिषेधयति तदतिक्रमणफलकथनमिदम् । शूद्र-
स्य पक्वान्मभ्ययनादिनिमित्तंतेजोनाशयति । सुवर्णकारस्यान्मायुः । चर्मकारान्ख्यातिनाशयति ॥ २१८ ॥

(४) राघवानन्दः । एतेषु फलवादेन निषेधोन्मुखव्यावर्तयति राजेतिचतुर्भिः । अत्र येषां राजादीनामन्नभक्षणनि-
षेधो नोक्तस्तेषामपि फलवादेन निषेधः कल्पनीयः । तेजः प्रागल्भ्यं सौन्दर्यं वा । ब्रह्मवर्चसं वृत्तत्वाध्यायजंतजः । चर्मावक-
र्तितः चर्मकारस्य यथा आदत्त इत्यनुषङ्गः ॥ २१८ ॥

(५) नन्दनः । अत्रोक्तोपादानं निन्दातिशयार्थम् । अनुक्तोपादानं वर्जनार्थम् ॥ २१८ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतेषां अन्नभक्षणे दोषमाह । राजानं तेजः तपोबलं आदत्ते ॥ २१८ ॥

कारुकान् प्रजां हन्ति बलं निर्णेजकस्य च ॥ गणान् गणिकान् च लोकेभ्यः परिरुन्तति ॥ २१९ ॥

(१) मेधातिथिः । कारुकाः सूपकारानातिगर्हितकर्माणः । एष एतेषां शिल्पिभ्यो भेदः । प्रजाया विघातोऽनुत्प-
त्तिः ॥ २१९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कारुकः सूपकारादिवृत्तिः । बलं देहबलं । लोकेभ्यः स्वर्गात्परिरुन्तति छिनत्ति ततः
पातयतीत्यर्थः ॥ २१९ ॥

(३) कुल्लूकः । कारुकस्य सूपकारादेरन्नं प्रजामपत्यं निहन्ति । चर्मकारादेः कारुकत्वेऽपि गोबलीवदन्यायेन पृथ-
क्निर्देशः । निर्णेजकस्यान्नं बलं हन्ति । गणगणिकयोरन्नं च कर्मन्तरार्जितेभ्यः स्वर्गादिलोकेभ्य आच्छिनत्ति ॥ २१९ ॥

(४) राघवानन्दः । कारुकः शिल्पी । निर्णेजको वस्त्रधावकः । लोकेभ्यस्तज्जन्मनि तद्भक्षणादूर्ध्वपुण्यसाध्यस्वर्गा-
दिभ्यः तत्फलं न भवतीत्यर्थो न्यथानवस्थितिः ॥ २१९ ॥

(५) नन्दनः । कारुकान् कर्मकारान् । लोकेभ्यः स्वर्गादिभ्यः ॥ २१९ ॥

(६) रामचन्द्रः । कारुकान् सूपकारान् प्रजां हन्ति । असंतोषकरमेव । च पुनः लोकेभ्यः स्वर्गादि । लोकेभ्यः
परिरुन्तति ॥ २१९ ॥

पूयं चिकित्सकस्यान्नं पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम् ॥ विष्टा वार्धुषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणो म-
लम् ॥ २२० ॥

(१) मेधातिथिः । पूयतुल्यं चिकित्सकस्यान्नं भोजनम् । इन्द्रियं शुक्रम् । विष्टामलमेकमेव ॥ २२० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इन्द्रियं शुक्रम् । मलं गात्रमलम् ॥ २२० ॥

(३) कुल्लूकः । चिकित्सकस्यान्नं पूयं पूयभक्षणसमदोषम् । एवं पुंश्चल्या अन्नं इन्द्रियं शुक्रम् । वार्धुषिकस्यान्नं पुरी-
षम् । लोहविक्रयिणोऽन्नं विष्टाव्यतिरिक्तम्लेष्मादि । गोविन्दराजस्तु । चिकित्सकान्नभक्षणेन तथा विधायां जातौ जा-
यते यत्र पूयभुग्भवतीत्याह ॥ २२० ॥

(४) राघवानन्दः । इन्द्रियं तन्मिसृतरेतः । इन्द्रियं पुंस्त्वं निरुन्ततीति वा । मलं विष्टा । चिकित्सकान्नादनेन
तथा विधायां जातावुत्पद्यते यत्र पूयभुग्भवति गोविन्दराजः । पूयादिभक्षणप्रायश्चित्तार्थमेवेति तु तत्त्वम् ॥ २२० ॥

(५) नन्दनः । पूयं पूयवदभक्ष्यमित्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि । इन्द्रियरेतः ॥ २२० ॥

(६) रामचन्द्रः । पूयतुल्यं । पुंश्चल्या अन्नं इन्द्रियं गुह्येन्द्रियसमं शुक्रसमं वा वार्धुषिकस्य परनिन्दकः आत्म-
प्रशंसी तस्यान्नं विष्टासमम् ॥ २२० ॥

यएतेन्ये त्वभोज्यान्नाः क्रमशः परिकीर्तिताः ॥ तेषां त्वगस्थिरोमाणि वदन्त्यन्
मनीषिणः ॥ २२१ ॥

[अमृतं ब्राह्मणस्यान्नं क्षत्रियान्नं पयः स्मृतं । वैश्यान्नमन्नमित्याहुः शूद्रस्य रुधिरं स्मृतम् ॥ १॥^१]

(१) मेधातिथिः । प्रतिपदनिर्दिष्टेभ्योऽन्येभ्योभोज्यान्नास्मिन्प्रकरणे पठितास्तेषां यदन्नं त्वगस्थिरोमादि । य-
स्तदीयायास्त्वचोभुक्तायादोषः सएवान्नस्यापि ॥ २२१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यएतेक्रमशः कीर्तिताः येचान्येस्मृत्यन्तरसिद्धाः । अत्र पूयत्वाद्यभिधानं तद्भक्षणे क-
त्प्रायश्चित्तार्थम् । तथाच वक्ष्यमाणप्रायश्चित्तेन तस्य विकल्पः ॥ २२१ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रतिपदनिर्दिष्टेभ्योऽन्ये क्रमेणाभोज्यान्नास्मिन्प्रकरणे पठितास्तेषां यदन्नं त्वगस्थिरोमाणि
यास्तदीयास्त्वचःकेशस्य रोम्णांच भुक्तानां योदोषः सएव तदन्नस्यापि भुक्तस्य बीद्व्यः ॥ २२१ ॥

(६) रामचन्द्रः । एते अन्ये त्वभोज्यान्नाः । मया भृगुणावा मनुनावा पक्षान्तरम् ॥ २२१ ॥

भुक्ताऽतोऽन्यतमस्यान्नममत्या क्षपणं त्र्यहम् ॥ मत्या भुक्त्वाचरेत्कुच्छं रेतोविण्मूत्रमेव च ॥ २२२ ॥

(१) मेधातिथिः । त्र्यहंक्षपणमभोजनं । अमत्याबुद्धिपूर्वम् । बुद्धिपूर्वं तु कुच्छं चरेत् । तच्च कुच्छं स्मृत्यन्तरैकवा-
क्यत्वात्तमकुच्छम् । तत्ररेतोविण्मूत्रप्राशनेतमकुच्छमाभ्यातम् । मत्यापानेपयोघृतमुदकं वायुः प्रतिच्यहंतमाति कुच्छः । ततो-
ऽस्य संस्कार इति । अप्रकरणेच प्रायश्चित्तवचनं दोषातिशयदर्शनार्थम् । अन्यतमस्येति षष्ठीनिर्देशात्परिग्रहदुष्ट एवेदं प्रायश्चित्तं
मन्यते न कालत्वं भावसंसर्गदुष्टे । शुक्तपर्युषितादौ चतुर्विधं भोज्यम् । कालदुष्टं शुक्तपर्युषितादि । संसर्गदुष्टं मद्यानुगता-
दि । स्वभावदुष्टं लशुनादि । परिग्रहदुष्टं प्रकृताभोज्यान्नानां यत् । अत्रोच्यते । सत्यम् चतुर्विधमभोज्यं भवति । षष्ठीनिर्दे-
शोऽप्यस्ति । किंतु यदि शुक्तादेर्नैदंप्रायश्चित्तं स्यात्तदिह प्रकरणे तेषामुपादानमनर्थकमेवापद्येत । पञ्चमे हि तयोः प्र-
तिषेधो नास्ति तस्मादिह प्रायश्चित्तार्थमेवैवमादीनामुपादानम् । तत्रतर्हिकमर्थतत्रैव वक्ष्यामः । यद्यपि गार्हितानाद्ययोज-
गिधः अभोज्यानां तु भुक्तानामिति च तत्सर्वमेकादशे विभागतो निर्णय्यते ॥ २२२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अतएषुमध्ये क्षपणमुपवासेन कुच्छं प्राजापत्यम् । अत्रष स्मृत्यन्तरदर्शनेन गुरुत्वलघुत्वा-
वधारणेन यथोक्तप्रायश्चित्तद्वयं यथायथं द्वैगुण्यत्रैगुण्यादिना व्यवस्थाप्यम् । रेतोविण्मूत्रं नरस्य ॥ २२२ ॥

(३) कुल्लूकः । एषांमध्येऽन्यतमसंबन्धान्नमज्ञानतोभुक्त्वा त्र्यहमुपवासः । ज्ञानतस्तु कुच्छम् । एवंरेतोविण्मू-
त्रभोजनेऽपि एतच्चान्यतमस्येति षष्ठीनिर्देशान्मत्तादिसंबन्धिनः परिग्रहदुष्टान्नस्यैव प्रायश्चित्तं न संसर्गदुष्टस्य केशकी-
टावपन्नादेः । नाऽपि कालदुष्टस्य पर्युषितान्नादेः नाऽपि निमित्तदुष्टस्य घुष्टादेः । एकप्रकरणोपदेशश्चैषां सातकत्वज्ञाप-
नार्थम् । प्रायश्चित्तचैतेष्वेकादशे वक्ष्यति । यदितु सर्वेष्वेवंप्रायश्चित्तं स्यात्तदा भुक्तातोऽन्यतमस्यान्नं दुष्टमित्यभ्यधास्यत् ।
न त्वन्यतमस्य तु भुक्तेति ॥ तस्मादेकप्रकरणाद्यन्मेधातिथिरभ्यधात् । प्रायश्चित्तमिदं युक्तं शुक्तादौ तदसुन्दरम् ॥ अप्रक-
रणे च प्रायश्चित्तस्याभिधानं लघुवार्थतश्च क्रियमाणे मत्तादिग्रहणमपि कर्तव्यं स्यात् ॥ २२ ॥

(४) राघवानन्दः । अतएव प्रायश्चित्तभेदमाह भुक्तेति । भुक्तातोऽन्यतमस्य अमत्या अज्ञानेन क्षपणमुपोषणं । कच्छ्वक्ष्यमाणलक्षणम् ॥ २२२ ॥

(५) नन्दनः । एषामन्यतमस्य । अमत्याऽज्ञानेन । क्षपणमभोजनं तुल्यप्रायश्चित्तत्वात् । तदुक्तं रेतोविण्मूत्रमेवेति । अत्रप्रकरणे प्रायश्चित्तोपदेशो निन्दातिशयार्थः ॥ २२२ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्यतमस्यान्नं अनुक्तस्यान्नं अमत्या अज्ञानेन भुक्त्वा न्यहं त्रिदिनपर्यन्तं क्षपणं अन्नपरित्यागः उपोषामित्यर्थः मत्या ज्ञानेन चेत् भुक्त्वा दैर्घ्यसंज्ञं चरेत् कुर्यात् । च पुनः रेतोविण्मूत्रमेव मत्या भुक्त्वा कच्छ्वचरेत् ॥ २२२ ॥

नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनोद्विजः ॥ आददीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रिकम् ॥ २२३ ॥

[चन्द्रसूर्यग्रहे नाद्यादद्यात्स्मात्वा तु मुक्तयोः ॥ अमुक्तयोरगतयोरद्याच्चैव परेहनि ॥ १ ॥ +]

(१) मेधातिथिः । अविशेषेण शूद्रान्नं प्रतिषिद्धतस्येदानीं विशिष्टविषयतोच्यते । अश्राद्धिनः क्व पुनः शूद्रान्नं प्रतिषिद्धम् शूद्रस्योच्छिष्टमेवचेत्यत्र । ननु च तत्र शूद्रस्योच्छिष्टं प्रतिषिद्धं नान्यदन्नम् । नेति ब्रूमः । एवं तत्र संवन्धः । शूद्रस्यान्ननाद्यादुच्छिष्टमन्यस्यापि । यत्तु प्राग्व्याख्यातं तत्पूर्वेषां दर्शनमित्यस्माभिरपि संवर्णितम् । अश्राद्धिनः श्राद्धशब्देन पाकयज्ञादिक्रिया शूद्रस्य विहिता लक्ष्यते ततस्तत्क्रियाननुष्ठायिनः । सच्छूद्रादन्यस्य यत्त्यक्तमन्नं तन्नाद्यात् । अश्राद्धिन इति वा पाठः । अश्रद्धावानित्यर्थः । तथाचोत्तरश्लोके श्रद्धायाः प्राधान्यमेवाह । आमंशुष्कंधान्यं तण्डुलादितथैकरात्रिकमेकस्मिन् हनि पर्याप्तं न बहु ॥ २२३ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अश्राद्धिनः श्रद्धारहितस्य एकरात्रिकमेकाहपर्याप्तम् । एवं श्राद्धिनः पायसादिपक्वानामपि बहुदिवसवृत्तियोग्यं ग्राह्यमितिलभ्यते । केचित्तु श्राद्धकर्मशीलोऽत्र श्राद्धीत्याहुः । तत्राग्रे श्रद्धास्तुतिरसंगतिरिति हेयमेवैतत् ॥ २२३ ॥

(३) कुल्लूकः । अविशेषेण शूद्रान्नं प्रतिषिद्धतस्येदानीं विशिष्टविषयतोच्यते । अश्राद्धिनः श्राद्धादिपञ्चयज्ञशून्यस्य शूद्रस्य शास्त्रविद्विजः पक्वान्नं भुङ्गीत किं त्वन्नान्तराभावे सत्येकरात्रिर्वाहोचितमाममेवान्नमस्मादृक्षीयात् न तु पक्वान्नम् ॥ २२३ ॥

(४) राघवानन्दः । शूद्रेच्छिष्टं प्रतिषिद्धमिति चेदन्यदन्नमश्रीयत्तत्राह नाद्यादिति । अश्राद्धिनः श्राद्धं पञ्चयज्ञः तच्छून्यस्य अवृत्तौ अन्नान्तराभावे सति तेनाश्राद्धिनोऽवृत्तपक्वादिकं ग्राह्यम् । तदुक्तं ॥ कन्दुपक्वं स्नेहपक्वं पायसं दधिसक्तवः । एतानि शूद्रान्नभुञ्जो भोज्यानि मनुरब्रवीदिति ॥ २२३ ॥

(५) नन्दनः । अश्राद्धिनः श्रद्धाहीनस्य । अश्राद्धिन इति विशेषणाच्छूद्राद्युक्तस्य पक्वान्नमनुज्ञातमिति गम्यते । आमस्याभ्यनुज्ञानात्पूर्वोक्तेषु मत्तकुद्धादिष्ववचनात्पक्व । मयोरुभयोरपि वर्जनीयत्वम् ॥ २२३ ॥

(६) रामचन्द्रः । विद्वान् शूद्रस्य पक्वान्नं नाद्यात् । अश्राद्धिनः श्रद्धाहीनस्य यद्वानित्यश्राद्धरहितस्य वा । अस्मात् शूद्रात् आममेव आमन्नं अवृत्तौ भोजनाभावे एकरात्रिकं एकदिनपर्याप्तम् ॥ २२३ ॥

+ (ख)

(२२३) विद्वानश्राद्धिनः=विद्वानश्राद्धिनः (नन्दनः)

[रामचन्द्रः । चन्द्रेति । चन्द्रसूर्ययोः मुक्तयोः स्नात्वा अद्यात् । अमुक्तयोः परेहनि अद्यात्]

श्रोत्रियस्य कर्दर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः ॥ मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्त्रमकल्पयन् ॥ २२४ ॥

(१) मेधातिथिः । योब्राह्मणः सर्वगुणोपेतः श्रोत्रियग्रहणस्य प्रदर्शनार्थत्वात् । श्रोत्रियोविद्वान्विहितधर्मानुष्ठानपरः । किंतु कर्दर्यः रुपणोमित्रं ज्ञातिमतिथिमर्थिनं नानाभिन्दति न कस्मै किंचिदपि दातुमीहते इतरोवार्धुषिर्दृष्टकर्मा वृद्धिजीवो । अथ वदान्यउदारः श्रद्धधानो गृहागतेषु परितुष्यति श्रद्धाश्रुभोजनादिना पूजयति । तयोरन्तर्देवाः समंतुल्यमकल्पयन् व्यवस्थापितवन्तः यदिनामैको गुणवान्साधुचरणस्तथापि कर्मदोषादप्रशस्तएवं मीमांसित्वा विचार्य देवैर्व्यवस्था कृतानुल्यमेतदिति ॥ २२४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्रोत्रियस्येति भोज्यान्नोपलक्षणम् कर्दर्यस्य रुपणस्य वार्धुषेरिति अभोज्यान्नोपलक्षणम् वदान्यस्य दानशीलस्य । सममकल्पयन् क्रमात्तद्वयोरैकैकगुणैकैकदोषसाम्यात् ॥ २२४ ॥

(३) कुल्लूकः । एकोऽधीतवेदः रुपणश्च परोदाता वृद्धिजीवो च तयोर्भयोरपि गुणदोषवत्त्वं विचार्य देवास्तुल्यमन्मनयोरिति निरूपितवन्तः उभयोरपि गुणदोषसाम्यात् ॥ २२४ ॥

(४) राघवानन्दः । वार्धुषिकस्यान्नशुध्यर्थमिति हासमाह श्रोत्रियस्येति द्वाभ्यां । मीमांसित्वा विचार्य ॥ २२४ ॥

(५) नन्दनः । बलाबलपरीक्षारूपपुराकल्पोपन्यासद्वारेण श्रद्धाप्रशंसांप्रसङ्गादाह श्रोत्रियस्येति । श्रोत्रियशब्दः श्रेष्ठस्योपलक्षणम् । कर्दर्यशब्दः श्रद्धाहीनस्य । वदान्यशब्दः श्रद्धायुक्तस्य वार्धुषिकशब्दोऽधर्मस्य ॥ २२४ ॥

(६) रामचन्द्रः । कर्दर्यस्य कर्दर्यरूपस्य च श्रोत्रियस्य च पुनः वार्धुषेर्वदान्यस्य उदारस्य एतदुभयदेवा मीमांसित्वा विचारयित्वा उभयोरन्तं सममकल्पयन् व्यवस्थापितवन्तः ॥ २२४ ॥

तान् प्रजापतिराहृत्य माकृध्वं विषमं समम् ॥ श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ॥ २२५ ॥

(१) मेधातिथिः । देवान्प्रजापतिरागत्याचष्ट माकृध्वमेव विषमसमीकरणमन्याय्यम् कः पुनरनयोरेकइति देवा ऊचुः । पुनः प्रजापतिराह वदान्यस्य श्रद्धावतो यदन्तत्पूतं पवित्रं श्रद्धया वार्धुषेः । इतरद्यदन्तं श्रोत्रियस्य तत्कर्मणोपहतमप्रशस्तम् । देवप्रजापतिसंवादोऽर्थवादः । अश्रद्धाधानस्य गुणवतोऽपि न भोक्तव्यमादरेण श्रद्धस्यापि भोक्तव्यम् ॥ २२५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कृध्वं कुरुध्वम् । विकरणलोपश्छान्दसः । वैषम्ये हेतुः श्रद्धापूतमिति । श्रद्धापूतं दानश्रद्धापूतम् । वदान्यत्वस्य श्रद्धानियतत्वात् । तेन श्रद्धिनः श्रद्धस्यापि पायसादिपक्वान्नं भोज्यमिति तात्पर्यम् यथा स्मृत्यन्तरे । कन्दुपक्वं शूलपक्वं पायसं दधिसक्तवः । एतानि श्रद्धात्प्राज्ञाणि भोज्यानि मनुरब्रवीदिति ॥ २२५ ॥

(३) कुल्लूकः । तान् देवानागत्य ब्रह्मा प्रोवाच विषममन्नं मासमंकुरुत । विषमसमीकरणमनुचितं कः पुनरनयोर्विशेषइत्यपेक्षायां स एवावोचत् । दानशीलवार्धुषिकस्यापि श्रद्धान्यन्नं पवित्रं भवति रुपणान्नं पुनरश्रद्धया हतं दूषितमधमं प्रागुभयप्रतिषेधेऽपि श्रद्धादत्तविद्वद्वार्धुषिकान्निविशुद्धिबोधनपरमिदम् ॥ २२५ ॥

(४) राघवानन्दः । तान् देवानेत्य प्रजापतिराह । विषमं यत्तत्समं माकृध्वं माकुरुतेति । विषमेऽप्यहं श्रद्धापूतमिति ज्ञानपूतमिति यावद्वेतरत् कर्दर्यान्नं हतं दूषितम् ॥ २२५ ॥

(५) नन्दनः । विषममुभयोरन्तं समं माकृध्वमिति प्रजापतिराह । उत्तरार्धेन वैषम्यमुपपादयति ॥ २२५ ॥

(६) रामचन्द्रः । तान् देवान्प्रति प्रजापतिरित्याह विषममन्नं समं माकृध्वं वदान्यस्य श्रद्धापूतमन्नं प्राज्ञं अश्रद्धया दत्तं इतरत् श्रोत्रियस्यान्नं हतं नष्टं भवति ॥ २२५ ॥

श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ॥ श्रद्धाकृते सक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः ॥२२६॥

(१) मेधातिथिः । इष्टमन्तर्वेदि यत्क्रियते । यज्ञादिकर्म । पूर्तततोऽन्यत्रसंमानाद्यदृष्टार्थम् । ते श्रद्धया कर्तव्ये । तथास्वागतैश्च धनैः शोभनेनागच्छन्ति यानि धनानि श्रुतशौर्यतपःकन्यादीनि । एवमक्षयेऽक्षयफले भवतः । यानि तुन स्वागतानि नाक्षयफलानि न पुनर्निष्फलानि । तथाहि तैरपि स्वाम्यमुत्पद्यते । तेन च यागादयःकर्तव्याः । न च यागदानादि प्रकरणेकुसीदादिप्रतिषेधः श्रुतोयेन तदङ्गस्यात् । तस्माद्यावन्न स्वर्गोत्पत्तिहेतवःतैरर्जितेन धनेन यागादयः कर्तव्याः । फलस्य तु प्रकर्षाप्रकर्षौ भवतः । के पुनस्ते प्रशस्तधनोपायाअतउच्यन्ते ॥ श्रुतशौर्यतपःकन्यायाज्यशिव्यान्वयागतम् । धनंसप्तविधंशुद्धंउभयोऽप्यस्य तद्विधः ॥ तत्र श्रुततपसी प्रतिग्रहनिमित्तंएकोपिप्रतिग्रहोनिमित्तभेदाद्भेदेनोक्तः । प्रतिग्राह्यगुणाअपि सामर्थ्यात्तत्र द्रष्टव्यायदि नात्यन्तदुष्टोदाताभवति दायागतंशुद्धंभवति । याज्यशिव्यशब्दाभ्यांयाजनाभ्यापने गृह्यते । अन्वयागतंपितृपैतामहादि । कन्यादानकालेश्वशुरगृहाल्लब्धम् । शौर्येण क्षत्रियस्य । कन्यान्वयौ सर्वसाधारणौ । कुसीदरुषिवाणिज्यशिल्पसेवानुवृत्तिः । कृतोपकारादाम्रचशबलंसमुदात्तं ॥ सेवा प्रेष्यकरत्वं । यथेच्छविनियोज्यताऽनुवृत्तिःप्रियतानुकूला । तत्र कुसीदरुषिवाणिज्यान्यवैश्यस्यवैश्यस्यप्रशस्तान्येव । सेवाद्विजातीनांशुश्रूषा शूद्रस्य प्रशस्तैव । अन्या तु तस्य निन्दिता शबलग्रहणेनाचिरस्थायिता फलस्योच्यते । यावज्जीवंतत्फलंभवति । पार्श्विकद्यूतशौर्यार्त्तिप्रातिरूपकसाहसैः । व्याजेनोपार्जितंयच्चतत्कृष्णंसमुदात्तम् ॥ पार्श्वस्थः उत्कोचादिना धनमर्जयति । ज्ञात्वाधनागमंकस्यचिदहंते दापयामि मत्संव्याकिंचिद्दातव्यमितियोगृह्णाति सपार्श्विकः । न कर्ता कारयिता तदस्थो न चाज्ञतया गृह्णाति । यथाच गृहीत्वाऽधमर्णाय प्रतिभूत्वेनावतिष्ठते । प्रतिरूपकोदाम्भिकःकुरुम्भाद्युपहितकुङ्कुमादिविक्रयोव्याजः । आर्तिःपरपीडा । प्रच्छन्नहरणंचौर्यम् । प्रसभंसाहसम् । ननुचौर्यसाहसाभ्यांस्वाम्यमेव नास्ति तन्निमित्तेष्वपठितत्वात् । स्वामीरिवथक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेष्विति । तथाविद्याशिल्पभृतिमेवेत्यादि । तथासप्तवित्तागमाधर्म्याइतिच । अथास्मादेव वचनात्स्वाम्यकारणत्वमनयोरिति । कथंतर्हिबलाद्भुक्तंनजीर्यतीति । केचित्तावदाहुः नैवायपाठोऽस्तिद्यूतशौर्यार्त्तित्यपितु चौर्यार्त्तितिवैरिणः सकाशादागते संधानकाले यद्येतावद्दासि तदा त्वया सार्धिकरोमि शक्तिविहीनतया ददाति । साहसमपि नप्रसह्यहरणं किंतर्हि यत्प्राणसदेहेनाज्यतेपोतयात्रया रहसि राजप्रतिषिद्धप्रतिक्रयेणच । अन्येतुमन्यन्ते । नैवबलादपहरणेस्वाम्यभोगेन वा जरणंविरुध्यतेयतोबलंप्रथममपहारकाले त्वसत्यपि बलउपेक्षया भोगस्तत्रस्वाम्यम् । यत्र त्वारम्भात्प्रभृतिसर्वकालिकोबलोपभोगस्तत्रजीर्यतीति कथ्यते । तस्मादुभयमविरुद्धम् । इदंयुक्तंचौर्यसाहसाभ्यांस्वत्वानुत्पत्तिः पाठविभागकृतां । अन्यैश्च स्मृतिकारैः स्वत्वहेतुष्वपरिगणनात् ॥ २२६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इष्टं यागः । पूर्तं पुष्करिण्यादि । अक्षयेचिरस्थायिफले । एतेनाश्रद्धाकृतयोरपि फलमस्तीतिगम्यते । स्वागतैर्धनैर्निषिद्धवृत्त्यनुपात्तैः ॥ २२६ ॥

(३) कुल्लूकः । अतएवाह श्रद्धयेति इष्टमन्तर्वेदियज्ञादि कर्म पूर्तततोऽन्यत्पुष्करिणीकूपप्रपारामादि । तदेवमनलसः सन्नित्यंकाम्यस्वर्गादिकलरहितंश्रद्धया कुर्यात् यस्मात्तेइष्टापूर्ते न्यायार्जितधनेन श्रद्धया कृतेऽक्षये मोक्षफले भवतः॥२२६

(४) राघवानन्दः । तस्मात्श्रद्धयैव सर्वकार्यमित्याह श्रद्धयेतिद्वाभ्यां । इष्टापूर्ते स्वागतैः स्ववृत्त्योपार्जितैः । तत्रेष्टं यागादि । पूर्तं खातादि ॥ २२६ ॥

(५) नन्दनः । यतएवमतः सर्वेधर्माःश्रद्धयाकर्तव्याइत्याह श्रद्धयेति । इष्टदैवम् । पूर्तपिष्यम् स्वागतैर्विहितोपा-
र्याजितैः ॥ २२६ ॥

(६) रामचन्द्रः । श्रद्धया इष्टयागादि पूर्तकूपादि नित्यंकुर्यात् । इष्टापूर्ते श्रद्धाकृते श्रद्धया कृते स्वागतैर्धनैः
स्वकर्मोपार्जितैर्धनैः श्रुतशौर्यकन्यादिनाप्राप्तैः अक्षये भवतः । श्रुतशौर्यतपःकन्यायाज्यशिष्टान्वयागतं । धनसमविधं-
शुद्धमुदयोयस्य तद्विधः ॥ श्रुतं अध्ययनं । शौर्यं क्षात्रधर्मेण लब्धम् ॥ २२६ ॥

दानधर्मनिषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकं ॥ परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः ॥ २२७ ॥

[पात्रभूतोहि योविप्रः प्रतिगृह्य प्रतिग्रहम् । असत्सु विनियुञ्जीत तस्मै देयं न किञ्चन ॥ १ ॥]

[संचयं कुरुते यस्तु प्रतिगृह्य समंततः । धर्मार्थनोपयुक्ते च न तं तत्स्करमर्चयेत् ॥ २ ॥]

(१) मेधातिथिः । दानधर्मश्चतडागादिः । समाहारद्वन्द्वः । अथवादानंचतद्धर्मश्चासाविति । धर्मग्रहणेन प्रीत्या
विना नियमभावमाह । भावे तुष्टेन प्रसन्नेन चित्तेन पात्रमासाद्य व्रतादिदानंच । एवंपौर्तिकंबहिर्वेदिकम् ॥ २२७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दानधर्मदानरूपधर्मसाधनम् । ऐष्टिकंयागदक्षिणारूपम् । पौर्तिकं पूर्तसंगतम् । परितुष्टेन
नोपरोधेन ॥ २२७ ॥

(३) कुल्लूकः । दानाख्यं धर्ममैष्टिकं पौर्तिकं मन्तर्वेदिकंबहिर्वेदिकंच सर्वदा विद्यातपोयुक्तंब्राह्मणमासाद्य परितो-
षाख्येनान्तःकरणयुक्तं यथाशक्ति कुर्यात् ॥ २२७ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च दानेति दानधर्मं दानं यथाशक्तिआर्थभ्योद्रव्यविभागः तद्रूपधर्मम् । ऐष्टिकं इष्टित्वरूपं ।
पौर्तं पूर्तस्वरूपंवाप्यादि । योग्यपात्रमिति भावेन भावनाश्रयेणमनसा प्रसन्नेन ॥ २२७ ॥

(५) नन्दनः । इष्टे भवमैष्टिकम् । परितुष्टेन भावेन श्रद्धायुक्तेनत्तद्वयेन ॥ २२७ ॥

(६) रामचन्द्रः । सार्धेनाह दानेति । नित्यं ऐष्टिकपौर्तिकं कुर्यात् । प्रतिपदेष्टिपूर्तास्पदं पौर्तिकं पात्रं आसाद्य
प्राप्य शक्तितः ॥ २२७ ॥

यत्किञ्चिदपि दातव्यं याचितेनानसूयया ॥ उत्पत्स्यते हि तत्पात्रं यत्तारयति सर्वतः ॥ २२८ ॥

(१) मेधातिथिः । यत्किञ्चित्स्वलपमपि याचितेनाभ्यार्थितेन दातव्यम् । पात्रापात्रसंदेहेअसतिनिश्चयेकिञ्चिद्दातव्यं-
नातिबहु । वचनाच्च संदेहेनदातव्यम् । उत्पत्स्यते कदाचित्पात्रमसौभविष्यतिकिंभूतंयत्पात्रंतारयति रक्षति सर्वतो-
नरकपातहेतोःसर्वस्मादेनसः । यदुक्तंवेदतत्त्वार्थविदुषेब्राह्मणायेति तत्रायंसंदेहाश्रयर्षद्रव्यविषयोऽपवादः ॥ २२८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनसूयया अद्वेषेण । सर्वतः पापात् बहुषु दीयमानेषु हि तादृक्पात्रं मिलतीत्यर्थः ॥ २२८ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रार्थितेन परगुणामत्सरेणान्मपि यथाशक्ति दातव्यंयस्मात्सर्वदा दानशीलस्य कदाचित्तादृशंपा-
त्रमागमिष्यति तत्सर्वस्मान्नरकहेतोर्मोचयिष्यति ॥ २२८ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रापि दानमत्यर्थमुररीकरोति यदितितथाच श्रुतिः न्हियादेयंभियादेयंश्रद्धयादेयं अश्रद्धयादेयं-

इति याचितेन याश्चाविषयेणापि हियस्मात्सर्वदा दानशीलस्य तादृशपात्रमुत्पत्स्यतेआगमिष्यति । वार्धुषिकमपि सर्वस्माद्दोषोत्तारयतीत्याहसर्वतइति ॥ २२८ ॥

(५) नन्दनः । अनसूयया श्रद्धया । अत्रहेतुरुत्तरार्धेनोक्तः । उत्पत्स्यतेसेत्स्यति । सर्वतोदुःखादितिशेषः ॥ २२८ ॥

(६) रामचन्द्रः । यार्कचिदपि दातव्यं । हि निश्चयेन यत्पात्रंउत्पत्स्यते संमिलति तत्पात्रं सर्वतः पापात्तारयति उद्धरति ॥ २२८ ॥

वारिदस्तृप्तिमामोति सुखमक्षय्यमन्नदः ॥ तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपदंश्चक्षुरुत्तमम् ॥ २२९ ॥

(१) मेधातिथिः । तृप्तिः क्षुत्पिपासाभ्यामपीडनम् । तच्चाढ्यस्यारोगस्यच भवति तेन बहुधनत्वमरोगताच फलमुक्तंभवति । अक्षय्यंसुखम् । अविशेषितत्वान्नोपकरणंसुखंप्रतीयते । अक्षय्यंयावज्जीविकमित्यर्थः । अन्नदःसक्त्वोदनादिसिद्धमन्नमामंचतण्डुलादि । दीपस्यदानंचतुष्पथे ब्राह्मणसभायांच ॥ २२९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तृप्तिं पिपासादुःखाभावम् ॥ २२९ ॥

(३) कुल्लूकः । जलदःक्षुत्पिपासविगमात्तृप्तिम् । अन्नदोऽत्यन्तसुखं । तिलप्रदंईप्सितान्यपत्यादीनि । दीपदोविप्रवेशमादौ निर्दोषचक्षुःप्राप्नोति ॥ २२९ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रसङ्गाद्व्यद्रव्यभेदेन तत्फलभेदमाह वारिदइतिचतुर्भिः । तृप्तिं क्षुत्पिपासाद्यपीडनं । तेन बहुधनत्वारोग्येइति मेधातिथिः । अक्षय्यं यावज्जीवंप्राप्नोतीत्येवंसर्वत्रानुषङ्गः ॥ २२९ ॥

(५) नन्दनः । द्रव्यविशेषात्फलविशेषमाह वारिदइति ॥ २२९ ॥

(६) रामचन्द्रः । तिलप्रदः प्रजां संतर्ति इष्टां आमोति ॥ २२९ ॥

भूमिदोभूमिमामोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः ॥ गृहदोऽग्याणि वेश्मानि रूप्यदोरूपमुत्तमम् ॥ २३० ॥

(१) मेधातिथिः । भूमेराधिपत्यंप्राप्नोति । हिरण्यंसुवर्णम् । रूप्यदउत्तमंरूपंलभते ॥ २३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भूमिं भूमिपतित्वम् ॥ २३० ॥

(३) कुल्लूकः । भूमिदोभूमेराधिपत्यं सुवर्णदःचिरजीवित्वं गृहदःश्रेष्ठानि वेश्मानि । रूप्यदःसकलजननयनमनोहरंरूपंलभते ॥ २३० ॥

(४) राघवानन्दः । रूप्यं रजतम् ॥ २३० ॥

(६) रामचन्द्रः । भूमिदः भूमिं आमोति राज्यं आमोति । गृहदः अग्याणि श्रेष्ठानि वेश्मानि प्राप्नोति ॥ २३० ॥

वासोदंश्चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः ॥ अनडुद्धःश्रियं पुष्टां गोदोब्रघ्नस्य विष्टपम् ॥ २३१ ॥

(१) मेधातिथिः । चन्द्रइवलोक्यतेसर्वस्यप्रियदर्शनीभवति । इतिहासदर्शने चन्द्रलोकोनामस्वर्गस्थानविशेषस्तमामोति । अश्विनामश्ववतां सालोक्यंब्रह्मश्वतांप्राप्नोति । दर्शने पुनरश्विनोलोकंमामोति । अनडुद्धःश्रियं शकटवहनसमर्थस्तंददतः पुष्टा महती श्रीर्गौजाविधनधान्यादिसंपद्भवति । ब्रघ्नआदित्यस्तस्यविष्टपंस्थानमामोति । महातेजाः सर्व-

(२३०) भूमिमामोति=सर्वमामोति (४)

(२३१) अश्विसालोक्यम्=सूर्यसालोक्यम् (५)

स्योपरिभवति । त्वर्गोवा ब्रध्नविष्टपंस्मृत्यन्तरेऽनसोविशेषाश्रयः फलविशेषः श्रूयते । हेमश्चङ्गीरूप्यसुरासुशीलावल्लसंवृता । सकांस्यपात्रा दातव्याक्षीरिणी गौः सदक्षिणा ॥ सुदक्षिणेतिपाठेऽन्यदपि सुवर्णादि तत्र दातव्यम् । शोभनार्थे वा सुशब्दः पठितव्यः । सागौः शोभनादक्षिणादीनाम् । कांस्योपदोहेतिपाठान्तरम् । कांस्यं नाम परिमाणविशेषः । तत्रोपदुह्यते बहुक्षरित्यर्थः । लाङ्गलभूषितांभूमितुरूपसंछन्नांकत्वेत्यादिस्मृत्यन्तरद्वयोविधिः फलविशेषार्थनाश्रयणीयः । तथा । कपिला चेतारयति भूयआसप्तमात्कुलात् । वत्सवत्याः कपिलायादानएतत्फलंरोमतुल्यानि युगानि उभयतोमुखी दीयमाना रोमतुल्यानि वर्षसहस्राणि त्वर्गः प्राप्यते तारयति पापान्मोचयति । भारते सर्वफलंगोदानमुक्तम् । वार्यादीन्यपि त्वर्गफलाश्रयन्ते । भूमिपश्वन्नवस्त्राम्भस्तिलसर्पिष्प्रतिश्रयान् । नैवेशिकस्वर्णपुर्यादत्वा त्वर्गमेहीयते । नैवेशिकंवेशम् ॥ २३१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्रध्नस्य सूर्यस्य विष्टपं लोकम् ॥ २३१ ॥

(३) कुल्लूकः । वल्लदश्चन्द्रसमानलोकान्प्राप्नोति । चन्द्रलोके चन्द्रसमविभूतिर्वसतीति एवमेवाश्विलोकंघोटकदः । बलीवर्दस्य दाता प्रचुरांश्रियं स्त्रीगवीप्रदःसूर्यलोकंप्राप्नोति ॥ २३१ ॥

(४) राघवानन्दः । तावत्पर्यन्तं ऐहिकामुष्मिकंफलं । तदुत्तरेषामामुष्मिकमेव । अनदुत् बलीवर्दः । पुष्टिमहतीं ऐश्वर्यप्रभुत्वं महतोश्रीयुक्तस्यापि नियम्यत्वदृष्टेः । ब्रध्नस्य सूर्यस्य विष्टपं लोकम् ॥ २३१ ॥

(६) रामचन्द्रः । गोदः गवांदाता ब्रध्नस्य विष्टपं सूर्यलोकम् भास्कराहस्करब्रध्नइत्यमरः ॥ २३१ ॥

यानशय्याप्रदोभार्यामैश्वर्यमभयप्रदः ॥ धान्यदः शाश्वतं सौख्यं ब्रह्मदोब्रह्मसार्ष्टिताम् ॥ २३२ ॥

(१) मेधातिथिः । ऐश्वर्यमीश्वरत्वंप्रभुत्वम् । सुखित्वंसौख्यम् । धान्यानिब्रीहिमाषमुद्गादीनि । तिलानांफलान्तरमुक्तम् । ब्रह्म वेदः तद्दाति योऽध्यापयति । व्याख्यातिच । ब्रह्मसार्ष्टिताअर्षणमृष्टिः । समाकृष्टिर्यस्य असौसार्ष्टिः । छान्दसत्वात्समानस्यसभावः । ऋषिगतौ । अर्षणंवा सार्ष्टिः । तद्भक्तसार्ष्टिता । उभयथापि ब्रह्मणःसमानगतिवमेतत्तुल्यत्वमित्युक्तंभवति ॥ २३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्रह्मदोवेदाध्यापकः ब्रह्मणा हिरण्यगर्भेण सहसार्ष्टितांसमानायुधत्वं तुल्याकारतामिति यावत् । ऋष्टिशब्दआयुधपर्यायः ॥ २३२ ॥

(३) कुल्लूकः । रथादियानस्य शय्यायाश्च दाता भार्या । अभयप्रदःप्राणिनामर्हिसकःप्रभुत्वं । धान्यदोब्रीहियवमाषमुद्गादिसस्यानांदाता चिरस्थायि सुखित्वं । ब्रह्मवेदस्तत्प्रदोवेदस्याध्यापकोव्याख्याता च ब्रह्मणःसार्ष्टितांसमानगतितां तत्तुल्यतांप्राप्नोति ॥ २३२ ॥

(४) राघवानन्दः । भार्याप्रकृष्टां । अभयप्रदोऽर्हिसकः । ब्रह्मदोवेददः । ब्रह्मसार्ष्टितां ब्रह्मसमानगतिं तत्तुल्यतांप्राप्नोतीत्यनुषज्यते । ऋषिगतिः । ऋषीगतौ समाना ऋष्टिः सार्ष्टिः ॥ २३२ ॥

(५) नन्दनः । ब्रह्मदोवेददः ब्रह्मसार्ष्टितांपरमात्मसायुज्यम् ॥ २३२ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्रह्मदः वेदस्याध्यापकः ब्रह्मसाम्यं तादात्म्यं प्राप्नोति ॥ २३२ ॥

सर्वेषामेव दानानांब्रह्मदानं विशिष्यते ॥ वार्यन्गौमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥ २३३ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्यविधेरर्थवादः । दीयन्तइति दानानि देयद्रव्याणि । दानक्रियैव वा दानम् । ब्रह्मदानं वेदाध्ययनव्याख्याने । वार्यादीनांसर्वदानोत्तमत्वाद्ब्रह्मणम् ॥ २३३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दीयतइति दानं । वार्यादीनि यानि यानि दानानि तेषांदानानांमध्ये ब्रह्मवेदस्तद्रूपम् ॥ २३३ ॥

(३) कुड्मूकः । उदकान्धेनुभूमिवस्त्रतिलसुवर्णघृतादीनांसर्वेषामेव यानि दानानि तेषांमध्यात्वेददानंविशिष्यते प्रकृष्टफलदभवति ॥ २३३ ॥

(४) राघवानन्दः । वार्याद्यष्टादशदानानांमध्ये वेददानंश्रेष्ठमित्याहसर्वेषामिति । वारीत्यादि दिक्प्रदर्शनं । अष्टादशानां सर्वदायेनगृहीतं उभयनाकसाधनत्वाद्देदस्य ॥ २३३ ॥

(५) नन्दनः । सर्वेषांवार्यादीनांप्रदानानांप्रदेयानांमध्ये ॥ २३३ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्रह्मदानं वेदाध्ययनं विशिष्यते ॥ २३३ ॥

येन येन तु भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति ॥ तत्तत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः ॥ २३४ ॥

(१) मेधातिथिः । भावशब्दोऽयंचित्तधर्मे वर्तते । यादृशेन भावेन प्रसन्नेनचित्तेनश्रद्धयाऽऽदरेणददाति तादृशेनैव लभते । अथाऽश्रद्धयाऽवज्ञयाक्लिष्टंपरिभूय ददाति सोऽपि तथैव प्राप्नोति । यद्यदपि न द्रव्यजात्यभिप्रायम् । किंतु हिंफलएतदुच्यते । तांतांप्रीतितत्तद्रव्यसाध्यांप्राप्नोति । जात्यभिप्राये ह्यातुराद्यौषधवत् । औषधएव लभ्यतेतत्तद्वाच्या तस्यानुपयोगीतिसोऽप्याक्षिपेत् । तथायादृश्युल्लासाद्यस्य प्रीतिस्तादृशींचैव प्राप्नोति । अतश्चसर्वद्वौषधदानअरोगित्वमुक्तंभवति । अथवाइदमेस्यादिति या फलकामना सभावःयत्फलमभिसंधाय यद्यद्व्यं ददाति तत्तत्प्राप्नोति । तेनैव भावेन तथैवेच्छया यदैवेच्छतितदैवलभतइत्युक्तंभवति । सर्वफलत्वंसर्वद्रव्याणांप्रदर्शितंभवति ॥ २३४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । येनयेन भावेन सात्विकराजसादिना तेन भावेन तादृक्भावयोग्येन देवादिदेहेन प्रतिपूजितस्तत्तल्लोके ॥ २३४ ॥

(३) कुड्मूकः । अवधारणे तु शब्दः । येन येनैव भावेनाभिप्रायेण फलाभिसन्धिकःस्वर्गोमेस्यादितिमुमुक्षुर्मोक्षाभिप्रायेण निष्कामोयद्यद्दानंददाति तेनैव भावेनोपलक्षितस्तत्तद्दानफलद्वारेण जन्मान्तरे पूजितःसंप्राप्नोति ॥ २३४ ॥

(४) राघवानन्दः । श्रद्धयैव देयमित्युपसंहरन्विपर्यये दोषमाह येनेतिद्वाभ्यां । भावेन सात्विकादिना ॥ २३४ ॥

(५) नन्दनः । न केवलंवार्यादिप्रदाने तृप्तादेर्लाभः । किंतु सर्वस्याप्यभिलषितस्येत्याह येनेति ॥ २३४ ॥

योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च । तावुभौ गच्छतःस्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥ २३५ ॥

(१) मेधातिथिः । पूजापूर्वकंदातव्यंतादृशमेवचप्रतिग्रहीतव्यंनान्वज्ञयादातव्यमितिश्लोकस्यतात्पर्यम् । अर्चितमिलिक्रियाविशेषणम् ॥ २३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आर्चितंयथाभवति तथा यद्दीयते पात्रपूजापूर्वकमित्यर्थः । अत्र दातुरार्चितानर्चितदानयोः स्वर्गनरकौ प्रतिग्रहीतस्तु आर्चितमेव मयाग्राह्यमितिनियमे फलम् । अनर्चितग्रहणे तु दोषोस्त्येव ॥ २३५ ॥

(३) कुड्मूकः । योर्चापूर्वकमेव दाता ददाति यश्च प्रतिग्रहीताऽर्चापूर्वकमेव दत्तंप्रतिगृह्णाति तावुभौ स्वर्गगच्छतोऽनर्चितदानप्रतिग्रहणे नरकं । पुरुषार्थे तु प्रतिग्रहेऽनर्चितमेव मयागृहीतव्यंनान्यथेतिनियमात्फललाभोन विरुद्धः ॥ २३५ ॥

(४) राघवानन्दः । भावमेव व्यनक्ति यदिति । आर्चितादिद्वयंद्रव्यविशेषणंक्रियाविशेषणंच तेन सत्कृत्य दत्तंसत्कारपुरःसरमवाप्नोति । तदुक्तं । दातव्यमितिग्रहणंदीयतेनुपकारिणे । देशे काले च पात्रेच तद्दानंसात्विकंस्मृतम् ॥ यत्तुप्रत्यु-

पकारार्थफलमुद्दिश्य वा पुनः । दीयते च परिच्छिद्यं तद्वाजसमुदात्तम् ॥ अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ॥ असत्कृत-
मवज्ञातं तत्तामसमुदात्तमिति ॥ २३५ ॥

(५) नन्दनः । अर्चितं द्रव्यमिति शेषः ॥ २३५ ॥

(६) रामचन्द्रः । अर्चितं विधिना विध्युक्तप्रकारेण संकल्पितं गृह्णाति ददाति च ॥ २३५ ॥

न विस्मयेत तपसा वदेदिष्टा च नानृतम् ॥ नातोप्यपवदेद्विप्रान् दत्त्वा परिकीर्तयेत् ॥ २३६ ॥

(१) मेधातिथिः । तपसाऽनुष्ठितेन विस्मयं न कुर्यादिति तीव्रतपोमयारुतं सुदुश्चरमित्येवं मनसि न कर्तव्यम् । इष्टा-
यागं कृत्वाऽनृतं वदेत् । अविशेषेण प्रतिषिद्धस्यापि पुरुषार्थतया पुनः प्रतिषेधो यागाङ्गत्वज्ञापनार्थः । प्रतिषेधातिशये हि
ज्योतिष्टोमादेरङ्गहीनता भवति । आर्तः पीडितोऽपि ब्राह्मणैर्न तानपवदेन्न निन्देत् । दत्त्वा गवादिद्रव्यं न कस्यचिदयतः प-
रिकीर्तयेदित्यमयादत्तम् ॥ २३६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । न विस्मयेत अभिमानं न कुर्यात् । इष्टा सोमयागं कृत्वा नानृतं वदेत् । आतोप्यतिपीडितो-
पि अपवदेत् निन्देत् ॥ २३६ ॥

(३) कुल्लूकः । चान्द्रायणादितपसा कृतेन कथं मयेदं दुष्करमनुष्ठितमिति विस्मयं न कुर्यात् । यागं च कृत्वा नास-
त्यं वदेत् कृतेपि पुरुषार्थतयाऽनृतवदननिषेधे क्रत्वर्थोऽयं पुनर्निषेधः ब्राह्मणैः पीडितोपि न तान् निन्दयेत् । गवादि कंच दत्त्वा
मयेदं दत्तमिति परस्य न कथयेत् ॥ २३६ ॥

(४) राघवानन्दः । विस्मयादिचतुष्टयकर्तव्यतां सार्थवादं निषेधति न विस्मयेति द्वाभ्यां । विस्मयेत कथं मयेदं-
दुष्करं कृतं तप इति । यद्वा । अहं तपस्वीति गर्वी न स्यात् । ब्रीहिभिर्यागं करोमीति संकल्प्य यवैर्न कुर्यात् नानृतं वदेदिति
श्रुतेरयमर्थो निर्णीतः । नानिष्टा वा इष्टं मयेति न ब्रूयात् । त्वरसतोयज्वा अनृतवादी न स्यात् । आर्तः विप्रैः परिपीडितोपि
तान् निन्देत् रोगार्तो वा ॥ २३६ ॥

(५) नन्दनः । बहुभ्यः कीर्तनं स्ववाचा परिकीर्तनम् ॥ २३६ ॥

(६) रामचन्द्रः । तपसा न विस्मयेदभिमानं न कुर्यात् । इष्टायागं कृत्वा अनृतं वृषा न वदेत् । आतो ब्राह्मणैः
पीडितोपि विद्वान्पंडितः । नापवदेत् अपवादं न कुर्यात् न वदेत् विप्रान् दत्त्वा दानं कीर्तयेत् ॥ २३६ ॥

यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात् ॥ आयुर्विप्रापवादेन दानं च परिकीर्तनात् ॥ २३७ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्य प्रतिषेधस्यार्थवादोऽयम् । अनृतेन हेतुना यज्ञः क्षरति स्रवति निष्फलो भवति यदर्थकृतं-
तन्व संपद्यते । एवं सर्वत्र ॥ २३७ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । क्षरति तादृशफलशून्यो भवति ॥ २३७ ॥

(३) कुल्लूकः । अनृतेन हेतुना यज्ञः क्षरति सत्येनैव सफलं साधयति एवं तपसि दाने च योज्यम् । विप्रनिन्दया
चायुः क्षीयते ॥ २३७ ॥

(४) राघवानन्दः । कृते किं स्यात्तत्राह यदिति । क्षरति फलमद्वैव नश्यति तच्चतुष्टयमित्यर्थः ॥ २३७ ॥

(६) रामचन्द्रः । यज्ञोऽनृतेन क्षरति नश्यति निष्फलो भवति ॥ २३७ ॥

धर्मं शनैः संचिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः ॥ परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ २३८ ॥

(१) मेधातिथिः । महति दाने महति च तपसि महति च यज्ञे ज्योतिष्मिमादौ यद्यसमर्थस्तदा नोदासीनेन वि-
तव्यम् । किंतिर्हि शनैः शनैः स्वल्पेन दानेन स्वल्पेन तपसा यथाशक्तिपरोपकारेण जपहोमाभ्यांस्मार्ताभ्यां धर्मः संचितव्यो-
यथाभृतसंघातपुत्तिकाः पिपीलिकाः संचिन्वन्ति । परलोकसहायार्थमिति धर्मफलानुवादः । सर्वभूतान्यपीडयन् याश्च या ध-
र्मार्थयाभूतानां पीडा न कर्तव्या ॥ २३८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वल्मीकं मृदूपमम् । वल्मीकाभृत्करकीटः । पुत्रिकेतिकचित्पाठः । सहायः सहगामी । भू-
तान्यपीडयन्ति हि साद्यधर्मेषु नात्यन्तं प्रसज्येतेत्यर्थः ॥ २३८ ॥

(३) कुड्डूकः । सर्वप्राणिनां पीडां परिहरन् परलोकसहायार्थं यथाशक्ति शनैः शनैर्धर्ममनुतिष्ठेत् । यथा पुत्तिकाः पिपी-
लिकाप्रभेदाः शनैः शनैर्महान्तं पुत्तिकाकूटं संचिन्वन्ति ॥ २३८ ॥

(४) राघवानन्दः । धर्मस्यावश्यकर्तव्यतामाह धर्ममिति षड्विः । पुत्तिकाः स्वमूत्रेण भूमिमाद्र्दिकृत्य सच्छिद्रं मृत्पुञ्जं-
संचिन्वन्ति याः पिपीलिकाविशेषास्ताः । वल्मीकं प्रसिद्धं । तत्किमर्थं तत्राह परेति । अपीडयन् वैधेतरा हिंसा मकुर्वाणः आर्हेस-
न् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्य इति श्रुतेः ॥ २३८ ॥

(६) रामचन्द्रः । पुत्तिकाः रुमयः पिपीलिकाः । वल्मीकमिव संचिनुयात् ॥ २३८ ॥

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ॥ न पुत्रदारान ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ २३९ ॥

(१) मेधातिथिः । भूतानुवादोऽयम् । अमुत्र जन्मान्तरे सहायार्थं नरकादिदुःखादुद्धरणार्थं कस्यचित्सुदृढा-
न्धवादेः शक्तिरस्ति । केवल एव जीवता यो धर्मः कृतः स तमुद्धरति ॥ २३९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धर्मस्तिष्ठतिकेवलः कृत्स्नः ॥ २३९ ॥

(३) कुड्डूकः । यस्मात्परलोके सहायकार्यसिद्ध्यर्थं पितृमातृपत्नीज्ञातयस्तिष्ठन्ति । किंतु धर्म एवैको द्वितीय-
भावेनोपकारार्थमवतिष्ठते । तस्मात्पुत्रादिभ्योपि महीपकारकं धर्ममनुतिष्ठेत् ॥ २३९ ॥

(४) राघवानन्दः । अमुत्र परलोके । अतोन धर्मतुल्यः कश्चित् । पुत्राश्च दाराश्च तत्पुत्रदारम् ॥ २३९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अमुत्र परलोके सहायार्थं पित्रादयोन तिष्ठति केवलः एकः धर्मः साहाय्यार्थं तिष्ठति ॥ २३९ ॥

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ॥ एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥ २४० ॥

(१) मेधातिथिः । यथा जन्तुः प्राण्येक एव जायते न सुदृढान्धवादिना सहैक एव प्रलीयते न सुदृढो बान्धवाः
सह मरणमनुभवन्ति । यदि नाम भार्याऽन्यो वा भक्तोजनस्तन्मरणकाल आत्मानं हन्यात्तथापि पृथगेवासौ मरणक्रिया ।
अनयानगर्भैक्यमत्रिवदनुभवन्ति एवं सुकृतदुष्कृते अपि पृथगेवानुभवन्ति । ननु च न पुत्रदारमित्युक्तं यावता पुत्रः प्राप्ता
दिक्रियया पितुरुपकरोत्येव मृतस्यैव भार्यापि । सत्यम् । धार्मिकस्यैव तादृशः पुत्रो भवतीति तत्परमेतत् । यथा जीवतः
कस्यचिद्वस्तप्राप्तिकया कश्चित्सहायो भवत्येवं मृतस्य पुत्रो धर्मद्वारेणैवोपकरोति ॥ २४० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रसूयते जायते । प्रलीयते भ्रियते ॥ २४० ॥

(३) कुड्डूकः । एक एव प्राण्युत्पद्यते न बान्धवैः सहितः । एक एव च भ्रियते । सुकृतफलमपि स्वर्गादिकं च दुरि-
तफलं च नरकादिकमेक एव भुङ्क्ते न मात्रादिभिः सह तस्मान्मात्राद्यपेक्षयाऽपि धर्मेन त्यजेत् ॥ २४० ॥

(४) राघवानन्दः । एकोऽसहायो । प्रमीयतेभियते । मुरुतभोगेपि सहायोनास्ति किदुष्कृतभोगइत्याहएकइति ॥२४०॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ ॥ विमुखाबान्धवायान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥२४१॥

(१) मेधातिथिः । सह गच्छति । इदंप्रत्यक्षसिद्धप्रसङ्गानार्थमुच्यते । मृतस्य शरीरक्षितावुत्सृज्य काष्ठमिव निष्प्रयोजनं विमुखाबान्धवाः प्रतिगच्छन्ति । धर्मस्तु केवलस्तंपुरुषमनुगच्छति ॥ २४१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । काष्ठसमं दाहपक्षे । लोष्ठसमं भूमिप्रापणपक्षे ॥ २४१ ॥

(३) कुल्लूकः । मृतशरीरमनःप्राणादित्यक्तकाष्ठलोष्ठवदचेतनं भूमौ त्यक्त्वा पराङ्मुखान्धवायान्ति न मृतं जीवमनुयान्ति । धर्मस्तु तमनुगच्छति ॥ २४१ ॥

(४) राघवानन्दः । क्षितौ प्रक्षेपाधारे । यान्ति स्वगृहंप्रति । तत्रापि विमुखाः अहो कष्टं वर्तते ॥ २४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । तं मृतं धर्मः अनुगच्छति ॥ २४१ ॥

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः ॥ धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ २४२ ॥

(१) मेधातिथिः । उपसंहारोऽयम् । दुस्तरंतमः कच्छेण यत्तीर्यते तमोदुःखंतदपि धर्मेण सहायेन सुतरं भवति । नहि तादृशे तमसि मज्जतीत्यर्थः ॥ २४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शनैरिति नात्यन्तमात्मानमवसादयेदित्यर्थः ॥ २४२ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्माद्धर्मेण सहायेन दुस्तरंतमोनरकादिदुःखंतरति तस्माद्धर्मसहायभावेन सततं शनैरनुतिष्ठेत् ॥ २४२ ॥

(४) राघवानन्दः । स्वौत्सुक्यमाह तस्मादिति । तमः नरकं अविद्यां । अन्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानावाप्ता ॥ १४२ ॥

(६) रामचन्द्रः । तमः नरकं तरति ॥ २४२ ॥

धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम् ॥ परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं स्वशरीरिणम् ॥२४३॥

(१) मेधातिथिः । धर्मः प्रधानं यस्यासौ धर्मप्रधानो धर्मपरायणो यथाविहितकर्मानुष्ठायी । तपसा हतकिल्बिषकथं चित्पमादकृतव्यतिक्रमे तपसा प्रायश्चित्तेन हतकिल्बिषः शास्त्रव्यतिक्रमे जातोसौ दोषस्तस्मिन् तत्प्रायश्चित्तेन नष्टे परलोकं नयति भास्वन्तं परलोकं देवस्थानं त्वर्गादि नयति प्रापयतिकः प्रकृतत्वाद्धर्म एव । शरीरिणं पुरुषं स्वशरीरेण शरीरी । नयत्याऽन्येषां पुरुषाणां प्राश्नभौतिकं शरीरमेवं तस्य किं तर्हि स्वमेव शरीरं ब्रह्मविभुत्वमनेनोच्यते ॥ २४३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तपसा चान्द्रायणादिना । नयति धर्मः स्वशरीरिणं आकाशवत्कचिदप्यप्रतिहतदेहम् ॥ २४३ ॥

(३) कुल्लूकः । धर्मपरंपुरुषदैवा दुपजाते पापे प्राजापत्यादितपोरूपप्रायश्चित्तेन हतपापं दीप्तिमन्तं प्रकृतो धर्म एव शीघ्रं ब्रह्मत्त्वर्गादिरूपं परलोकं नयति । खं ब्रह्मेत्याद्युपनिषत्सु स्वशब्दस्य ब्रह्मणि प्रयोगः स्वशरीरिणं ब्रह्मस्वरूपमित्यर्थः । यद्यपि लिङ्गशरीरावच्छिन्नो जीव एव गच्छति तथापि ब्रह्मांशत्वाद्ब्रह्मस्वरूपमुपपन्नं धर्म एव चेत्परलोकं नयति ततो धर्ममनुतिष्ठेत् ॥ नहि वेदाः स्वधीतास्तु शास्त्राणि विविधानि च । तत्र गच्छन्ति यत्रास्य धर्म एको नुच्छति ॥ २४३ ॥

(४) राघवानन्दः । अहो धर्मस्यासाध्यं नास्तीत्याह धर्ममिति । धर्मप्रधानं फलप्रधानं परलोकं परं ब्रह्मैव लोकं आत्मा येषां नो यमात्मा यं लोक इति श्रुतेः । स्वशरीरिणं आकाशशरीरं ब्रह्मभूतं आकाशो वै नामरूपयोनिर्वहितेत्यादौ ब्रह्मण्याकाशशब्दप्रयोगात् । नयति प्रापयति धर्म एव परंपरयेति शेषः ॥ २४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । कीदृशं पुरुषं खशरीरिणं आकाशवदप्रतिहतगतिम् ॥ २४३ ॥

उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं संबन्धानाचरेत्सह ॥ निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ॥ २४४ ॥

(१) मेधातिथिः । बहुप्रकारत्वादुत्तमस्य तदपेक्षावीप्सा । कश्चिज्जात्योत्कृष्टः कश्चिद्विद्यया कश्चिच्छीलेनाथवासंबन्धिभेदाद्यः कश्चित्संबन्धः केनचिदुत्तमेन योग्यः । उत्तमैरुत्तमैर्जात्यादिभिरुत्कृष्टैः कन्यादानादिलक्षणांसंबन्धानाचरेत्कुर्यान्निनीषुर्नेतुं प्रापयितुमिच्छुः कुलमुत्कर्षश्रेष्ठमधमानधमांस्त्यजेत् । उत्तमैश्चविधानादधमानांत्यागे सिद्धउत्तमासंभवे मध्यमानुज्ञानार्थं त्यागवचनम् । अधमानिकृष्टाः ॥ २४४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संबन्धानुविवाहयाजनमैश्यात्रीन् ॥ २४४ ॥

(३) कुल्लूकः । कुलमुत्कर्षनेतुमिच्छन्विद्याचारजन्मादिभिरुत्कृष्टैः सह सर्वदा कन्यादानादिसंबन्धानाचरेत् । अपरुष्टास्तु संबन्धांस्त्यजेत् । उत्तमविधानादेवाधमपरित्यागे सिद्धे यत्पुनरधमांस्त्यजेदित्यभिधानंतदुत्तमासंभवे त्वतुल्याधनुज्ञानार्थम् ॥ २४४ ॥

(४) राघवानन्दः । कुलस्योत्कर्षोपायमाह उत्तमैरिति द्वाभ्याम् । वेदाचारनिष्ठैः । संबन्धान्ब्राह्मणान् । यौनांश्च निनीषुः प्रापयितुमिच्छुः । वीप्सात्र जात्युत्कर्षविद्योत्कर्षधर्मोत्कर्षाद्यपेक्षया । त्यजेदित्यन्यत्यागस्यार्थकत्वेऽप्युत्तमात्ताभेऽधमोऽपि प्राच्यइत्यर्थम् ॥ २४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । उत्तमैः कुलैः सह संबन्धान्कुर्वन् आचरेत्कुलं उत्कर्षं निनीषुः प्रापयिषुः अधमांस्त्यजेत् ॥ २४४४

उत्तमानुत्तमान् गच्छन् हीनान् हीनांश्च वर्जयन् ॥ ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेमशूद्रताम् ॥ २४५ ॥

(१) मेधातिथिः । उत्तमान्गच्छंस्तैः सहसंबन्धं कुर्वन्ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति । ब्राह्मणग्रहणं क्षत्रियवैश्ययोरपि प्रदर्शनार्थम् । प्रत्यवायेन विपरीताचरणेन हीनैः सह संबन्धिनः प्रातिलोभ्येन शूद्रतां गच्छति । जातेरनपायस्तांतुल्यतां प्राप्नोतीत्युक्तं भवति ॥ २४५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रत्यवायेन प्रतिकूलगमनेनाधर्म्यसंबन्धेनेतियावत् ॥ २४५ ॥

(३) कुल्लूकः । उत्तमान्गच्छंस्तैः सह संबन्धं कुर्वन्ब्राह्मणः श्रेष्ठतां गच्छति । प्रत्यवायेन विपरीताचारेण हीनैः सह संबन्धे जातेरपकर्षतया शूद्रतुल्यतामेति ॥ २४५ ॥

(४) राघवानन्दः । धर्मानुष्ठानेन ब्राह्मणो ब्रह्मबन्धुः श्रेष्ठतामेति । हीनानवरान् । हीनस्त्रीपाखण्डादिगमनं प्रत्यवायस्तेनावरसंबन्धेनः ॥ २४५ ॥

(५) नन्दनः । प्रत्यवायेनोक्तविपर्ययेण क्रियायाम् । शूद्रतां शूद्रसमताम् ॥ २४५ ॥

(६) रामचन्द्रः । उत्तमैः सहसंबन्धान्कुर्वन्ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति । एवं क्षत्रियवैश्ययोरपि प्रत्यवायेन प्रतिकूलचरणेन शूद्रतां ब्राह्मण एति । त्वधर्मेण श्रेष्ठतां एति ॥ २४५ ॥

दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन् ॥ अहिंस्त्रोदमदानाभ्यांजयेत्स्वर्गतथाव्रतः ॥ २४६ ॥

(१) मेधातिथिः । कर्तव्येषु दृढनिश्चयोदृढकारी । यत्करोति तदवश्यं समापयति न पुनः कार्यभारभ्यासमाप्य निवर्तते नानवस्थितइत्यर्थः । तदुक्तं प्रारब्धस्यान्तगमनम् । मृदुरनिष्ठुरः क्रूराचारैस्तेनादिभिर्न संबन्धः । तैः सह संबन्धं कुर्वन् यथा दमदानाभ्यांस्वर्गजयेत्प्राप्नुयात् । तथाव्रतः एतद्वर्तनियमं धारयन् । दमस्य पृथगुपादानादान्तोद्वन्द्वसहिष्णुर्दृष्टव्यः ॥ २४६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दृढकारी यद्धर्मसाधनकर्तुं प्रवृत्तस्ततो न विरतः । मृदुर्मृदुवाक् दान्तः क्लेशसहः । असंवसन्-
सहावसन् दमदानाभ्यामिति दमशब्देन तपःक्लेशसहत्वाभिधायिना तपो लक्ष्यते । व्रतैर्निषिद्धानाचरणनियमैः । कचित्तथाव्रत-
इति पाठस्तत्र तादृक् गृहीतनियम इत्यर्थः ॥ २४६ ॥

(३) कुङ्कः । प्रारब्धसंपादयिता दृढकारी । मृदुरनिष्ठुरः । दमस्य पृथगुपादानाद् दान्त इति शीता तपादिद्वन्द्वसहिष्णु-
गृहीतव्यः । क्रूराचारैः पुरुषैः संसर्गपरिहरन् परिहंसानिवृत्तः । तथाव्रत एव नियमदमेन्द्रियसंयमालम्बेन च दानेन स्वर्गप्राप्ति-
ति ॥ २४५ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च दृढकारीति । प्रारब्धकर्मसमापयिता । क्रूराचारैः क्रूरआचारो विप्रहिंसादिर्येषां तथा-
व्रतः उक्तसाधननिष्ठः । जयेत् प्राप्नुयात् । केन दमदानाभ्यां दमो वा हेन्द्रियनियमः । दानम् प्रसिद्धम् ॥ २४६ ॥

(५) नन्दनः । धर्मसमुच्चयमाह दृढेति ॥ २४६ ॥

(६) रामचन्द्रः । क्रूराचारैः पुरुषैः स्तेनादिभिः असंवसन् वसेत् । दमः इन्द्रियनिग्रहः । समाहितः । तथाव्रत-
इति पाठः ॥ २४६ ॥

एधोदकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतं च यत् ॥ सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्मध्वथाजयदक्षिणाम् ॥ २४७ ॥

(१) मेधातिथिः । एध इन्धनं काष्ठादि । अन्नं पक्वमामं वा । अभ्युद्यतमभिमुखमुपनीतम् । एतत्सर्वतः प्रतिग्रहीतव्यं-
पतिनामिशस्तचण्डालादिप्रतिलोमवर्जं शूद्रादन्यस्माद्वेषत्पापकर्मणः । मधु माक्षिकं अभयं दक्षिणेव दृष्टान्तार्थमेतत् । प्रतिग्रहो हि
परकीयस्य द्रव्यस्य तदिच्छया स्वीकारेण चान्नरूपता । न ह्यत्र कस्यचित्त्वाभ्यन्निवर्तते न च कस्यचिदुपजायते । अतः
स्तुत्यादक्षिणाशब्दप्रयोगः । यथा चण्डालादिभ्योऽप्यस्मिन् कान्तरे वा रक्षा चौरादिभ्योऽङ्गीक्रियमाणान् दोषायैव मेतदे-
धादिगृह्यमाणं दोषाय । अनापदि चायं विधिः । अपदि तु चण्डालादिभ्योऽपि वक्ष्यति । अभ्युद्यतशब्दश्चान्नेनैव सह सं-
बध्यते प्रत्यासत्त्या नैधादिभिः । अतएवादिषु याच्नाऽविरुद्धा । धार्मिकेभ्यो हि जातिभ्यः कर्तव्यस्तु परिग्रह इत्यर्थार्थार्थिकेभ्यो-
द्विजेभ्यः शूद्राच्चाप्राप्तः । इत्येते च द्रव्यविशेषोपयाच्ना । तदर्थमिदम् ॥ २४७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्राभयदक्षिणाव्यतिरिक्तेष्वभ्युद्यतमिति सर्वत्र संबध्यते । अभ्युद्यतमभ्यर्थ्य दत्तम् ।
सर्वतो प्रतिग्राह्यवित्तादपि प्रतिगृह्णीयात् प्रतिग्रहीतृवृत्तौ न तु तन्निवृत्तौपि याचित्वा ग्रहणेन दोषः । अभयरूपं दक्षि-
णाम् ॥ २४७ ॥

(३) कुङ्कः । काष्ठजलफलमूलमधूनि अन्नं चाभ्युद्यतमयाचितोपनीतम् । अन्यत्र कुलटाषण्डपतितेभ्यस्तथा-
द्विष इति याज्ञवल्क्यवचनात् कुलटादिवर्जं सर्वतः शूद्रादिभ्योपि प्रतिगृह्णीयात् । आममेवाददीतास्मादित्युक्तत्वादामानमेव
शूद्रात्प्रतिग्राह्यं अभयं चात्मत्राणात्मकं प्रीतिहेतुत्वादक्षिणा तुल्यं चण्डालादिभ्योपि स्वीकुर्यात् ॥ २४७ ॥

(४) राघवानन्दः । द्रव्याभावे कथं दानमिति चेत्तत्रेदृशीं भिक्षां सार्थवादां सर्वतो ग्राह्यामाह एधेति चतुर्भिः । अभ्यु-
द्यतं अयाचितं पपन्नं । एधादिषण्णां विशेषणं । अन्यत्र कुलटाषण्डपतितेभ्यस्तथाद्विष इति याज्ञवल्क्यवचनात्तदन्येभ्यः ।
शूद्रादिभ्योऽपि गृह्णीयात् । अभयं स्वात्मत्राणं तदेव दक्षिणः प्रीतिहेतुत्वात् ॥ २४७ ॥

(५) नन्दनः । अथानापद्यपि प्रतिग्राह्याण्यह एध इति । अभयदक्षिणामभयदानम् ॥ २४७ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्राप्तवस्तुमाह गन्धेति । गन्धं सुगन्धं कर्पूरादिकं । यदभ्युदितं अभ्यर्थ्य दत्तम् । च पुनः
उदकादिकं सर्वं प्रतिगृह्णीयात् ॥ २४७ ॥

आत्ताभ्युद्यतां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम् ॥ मेने प्रजापतिर्यास्यामपि दुष्कृतकर्मणः ॥ २४८ ॥

(१) मेधातिथिः । एषादतिरेकेण यदन्यद्व्यंतस्याप्यनेन विशेषेण ग्राह्यतोच्यते । भिक्षाशब्दश्च प्रशंसायांप्रयुक्तो न भिक्षैवं विवक्षिता यद्यप्ययं सिद्धान्तोऽल्पतावचनः । भिक्षा किल स्वल्पत्वान्नातीव दोषावहा । ब्रह्मचारिणश्च सार्ववर्णिकी विहिता । एवमन्यदप्यनेन विशेषेण तत्तुल्यं दृष्टम् । भिक्षाशब्दस्यैवं विधार्थविवक्षया प्रयोगः । तथाहि महाभारते । गत्वा ह्युभौ भार्गवकर्मशालां पार्थोपृथा प्राप्य महानुभावौ । तौ याज्ञसेनीं परमप्रतीतौ भिक्षेद्यथावेदयतां नराग्र्याविति । आत्तोपत्ता तद्देशमानीता यत्र प्रतिग्राही स्थितः । अभ्युद्यताऽग्रे स्थापिता वचनेनेद्वितेन वा गृह्यतामिति निवेदिता । पुरस्तात्पूर्वमप्रचोदिताऽयाचिता प्रतिग्रहीत्रा । स्वयंपरमुखेन वा दात्रा पूर्वोक्तमिदं मेद्रव्यमस्ति तत्प्रसादमाश्रित्य गृह्यतामिति केवलमर्तकितोपपादिता तत्कालएव दर्शिताभिप्राया तादृशीं भिक्षां प्रजापतिर्हिरण्यगर्भे मेने मन्यते स्म । किमिति दुष्कृतकर्मणोऽपि सकाशाद्ग्राह्येति । दुष्कृतं पापं कर्म यस्य सा सौ दुष्कृतकर्मा ॥ २४८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भिक्षां आत्तांस्वंगृहं अभ्युद्यतां प्रयत्नोपत्तां पुरस्तात्पूर्वमप्रचोदितां दास्यामीत्यनिवेदिताम् ॥ २४८ ॥

(३) कुड्डूकः । आत्तांसंप्रदानदेशमानीताम् । अभ्युद्यतामाभिमुख्येन स्थापिताम् । अप्रचोदितां प्रतिग्रहीत्रा स्वयमन्यमुखेन वा पूर्वमयाचितां दात्रा च तुभ्यमिदं ददामीति पूर्वमकथितां हिरण्यादिभिक्षां । न तु सिद्धान्तरूपां अन्नमभ्युद्यतं चेत्पुनरात्पापकारिणोऽपि पतितादिवर्जं ग्राह्यादिति विरश्चिरमन्यत ॥ २४८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच आत्तां संप्रदानदेशमानीतां अभ्युद्यतां आभिमुख्येन स्थापितां अप्रचोदितां प्रतिग्रहीत्रा स्वयमन्यमुखेन वाऽयाचितां दात्रा तुभ्यं ददामीति पूर्वमकथितां च गोहिरण्यादिरूपाम् ॥ २४८ ॥

(५) नन्दनः । न केवलमभ्युद्यतमन्नं प्रतिग्राह्यमेव किंतु भोज्यमपीत्याह आत्तेति । आत्तां दात्रा प्रतिग्रहीत्रे दातुमानीताम् । उद्यतादित्वेनोत्क्षिप्तम् । भिक्षामन्नम् ॥ २४८ ॥

(६) रामचन्द्रः । आनीतां अभ्युद्यतां अभ्यर्च्य प्रार्थ्य दत्तां भिक्षां नोदितां ग्राह्यां प्रजापतिः मेने अपि दुष्कृतकर्मणः सकाशात् ॥ २४८ ॥

नाश्रन्ति पितरस्तस्य दशवर्षाणि पञ्च च ॥ न च हव्यं वहत्यग्निर्यस्तामभ्यवमन्यते ॥ २४९ ॥

[चिकित्सककृतघ्नानां शिल्पकर्तुश्च वार्धुषेः ॥ षण्ढस्य कुलटायाश्च उद्यतामपि वर्जयेत् ॥ १॥^१]

[न विद्यमानमेवं वै प्रतिग्राह्यं विजानता ॥ विकल्प्या विद्यमाने तु धर्महीनः प्रकीर्तितः ॥ २॥^२]

(१) मेधातिथिः । अथाग्रहणनिन्दार्थवादः । अभयोयत्रैतामवधीरयति तस्य पितरः श्राद्धं नाश्रन्ति न प्रतीच्छन्तीति । अग्निश्च देवेभ्यो हव्यं वहति पित्र्यादौ वाचकर्मणो न फलं लभ्यत इत्यर्थः । अत्र कश्चिदाह अनुपयुज्यमानमपि दातुरनु-

१ (क, ख, ग, घ, ज, ङ, ढ, ण, त, य, ल.) । (ट, ड.) चिह्नितपुस्तकयोः स एव श्लोको वर्तते परंतु तन्मध्ये केचन शब्दाभिन्नाः सन्ति अर्थस्तु एक एव ।

२ (ल)

ग्रहार्थमवश्यमीदृशं गृहीतव्यं तत्त्वयुक्तम् । निर्दोषताऽस्यायाचितप्रतिग्रहस्योच्यते । प्रतिप्रसवो ह्ययम् प्रतिषिद्धस्य च प्रतिप्रसवो भवति । लौकिक्याचार्यतया प्राप्तिः प्रतिषिद्धा सैव प्रतिप्रसूयते ॥ २४९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पञ्चदशवर्षाणि पित्र्यं दैवं च तस्य वृथा भवति यस्तामवमन्यते प्रतिक्षिपतीति निन्दार्थवादः । पूर्वविधिविशेषो दोषानां दृढीकरणार्थः ॥ २४९ ॥

(३) कुल्लूकः । तेनोपकल्पितं श्राद्धेषु कव्यं पञ्चदशवर्षाणि पितरो न भुञ्जते । न च यज्ञेषु तेन दत्तपुरोडाशादिहव्यमग्निर्वहति देवान् प्रापयति यस्तां भिक्षां स्वीकरोति ॥ २४९ ॥

(४) राघवानन्दः । ईदृशीं परित्यजन् हव्यकव्ययोः फलं न प्राप्नोतीत्याह नेति । अव्यवमन्यते न स्वीकरोति ॥ २४९ ॥

(५) नन्दनः । तस्य दीयमानां भिक्षामव्यवमन्यते प्रत्याख्याति ॥ २४९ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः पुरुषः एतादृशीं भिक्षां अवमन्यते तस्य पुरुषस्य पितरः नाश्रन्ति अग्निः हव्यं न वहति न स्वीकरोतीत्युच्यते । भिक्षाशब्दः प्रशंसायां प्रयुक्तौ न भिक्षैव भिक्षैव चेद्ब्रह्मचारिणः सार्ववार्णिकी अभिहिता तस्मादर्थविशेषे भिक्षाशब्दः अपरत्र च ॥ २४९ ॥

[(६) रामचन्द्रः । चिकित्सकेति । चिकित्सकादिभिः उद्यतां भिक्षां वर्जयेत् ॥ १ ॥]

[(६) रामचन्द्रः । न विद्येति । गन्धादिव्यतिरेकेण यदन्यद्रव्यं तस्याप्यनेन विशेषेण न ग्राह्यत्वम् ॥ २ ॥]

शय्यांगृहान्कुशान्गन्धानपः पुष्पं मणीन्दधि ॥ धानामस्यान्पयोमांसं शाकं चैव न निर्नुदेत् ॥ २५० ॥

(१) मेधातिथिः । शय्यादीन्यनादृतान्यपि न निर्नुदेन् प्रत्याचक्षीत यदि गृहेऽवस्थितानि द्रव्याणि कश्चिदुच्यते चेदमिदमाहराम्येतत्प्रमृष्यतां तदान् प्रत्यारव्येयानि ॥ २५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पयोदुग्धं न निर्नुदेन्परिहरेत् । एतत्सर्वप्रतिग्राह्यद्रव्यादागतं प्रयोजनाभावादिप्रतिसंधानेन न त्याज्यं त्यागे तु दीषदित्यर्थः ॥ २५० ॥

(३) कुल्लूकः । गन्धान्गन्धवन्ति कर्पूरादीनि । धानाभृष्टयवतन्दुलान् । पयःक्षीरं । पूर्वमाहरणोपायनिबन्धेन गवादीनामप्रत्याख्यानमुक्तं शय्यादीनि त्वयाचितादृतान्यपि दात्रा स्वगृहस्थितान्ययाचितोपकल्पितानि न प्रत्याचक्षीत ॥ २५० ॥

(४) राघवानन्दः । किंच गुवादीनां पीष्टा नैतान्परित्यजेदित्याह शय्यामिति । मणीन् मरकतादीन् । धानाभृष्टयवान् एतान् निर्नुदेत् न त्यजेत् । गुर्वाद्युपजीवनार्थं सर्वमादेयम् ॥ २५० ॥

(५) नन्दनः । अन्यद्रव्यभ्युद्यतं प्रतिग्राह्यमाह शय्यामिति । निर्नुदेन्निराकुर्यात् । निर्नुदेदितिवचनाद्वा तुमभ्युद्यतमिति गम्यते ॥ २५० ॥

(६) रामचन्द्रः । ग्राह्याण्याह शय्यामिति । शय्यागृहादीन् निर्नुदेत् न त्यजेदित्यर्थः ॥ २५० ॥

गुरून्मृत्यांश्चोज्जिहीर्षन् चिष्यन् देवतातिथीन् ॥ सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्न तु तृप्येत्स्वयं ततः ॥ २५१ ॥

(१) मेधातिथिः । गुरव उपदेशातिदेशैर्बहवः । श्रुत्या आश्रिताः स्मृत्यन्तरे तु संख्याताः । वृद्धौ तु मातापितरौ भा-

या साध्वी हतः शिशुः । तानुद्धर्तुमिच्छुः क्षुधावसन्नान् देवतातिथींश्चार्चयन् नित्यकर्मसंपत्त्यर्थं सर्वतः प्रतिगृह्णीयात्साधुभ्योऽसाधुभ्यश्च । न तु तृप्येत्स्वयंततः तृप्तिः क्षुन्निवृत्तिरूपभोगश्च तन्न कुर्यात् । गुर्वादिप्रयोजनमेव तद्गृहीतव्यं न त्वात्मा-
थंम् ॥ २५१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गुरुन् मातृपित्राचार्योपाध्यायादीन् । उज्जिहीर्षन् भृत्या नश्यत उत्तरिण्यन् । देवताअ-
तिथींश्चार्चयन्निति प्राक्संकल्पिकत्वे सत्यर्चनस्य सर्वतो निन्दितादपि । तृप्येदुपयुज्जीत तस्यांशेन ॥ २५१ ॥

(३) कुल्लूकः । मातापित्रादिगुरुभृत्यांश्च भार्यादीन् क्षुधावसन्नानुद्धर्तुमिच्छन् प्रतितादिवर्जं सर्वतः शूद्रादेरसाधु-
भ्यश्च प्रतिगृह्णीयात् । न तु तेन धनेन स्वयंवर्त्तेत ॥ २५१ ॥

(४) राघवानन्दः । अतः कुलटादिभ्योऽपि प्रतिगृह्णीयादित्याह गुरुनिति । गुरुनुपदेष्टुन् भृत्यानाश्रितान् भार्या-
दींश्चोज्जिहीर्षन् क्षुद्याधिभ्य उद्धर्तुमिच्छन् अदृष्टार्थमर्चयन् न तु तृप्येत्तद्धनं स्वभोगाय नादद्यात् ॥ २५१ ॥

(५) नन्दनः । एवंद्रव्यविशेषतः सर्वात्माप्रतिग्रहोक्तः इदानीमुपयोगविशेषतोऽप्याह गुरुनिति । गुरवः पित्रादयः ।
भृत्याः पुत्रदारादयः । उद्धरिष्यन्नापदइतिशेषः । ततः स्वयं न तृप्येत्तेन प्रतिगृहीतेन द्रव्येण स्वशरीरं पोषयेत् ॥ २५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । गुरुभृत्यंश्च उज्जिहीर्षन् भृत्या नश्यतः उद्धरिष्यन् सर्वतः प्रतिगृह्णीयात् ततः प्रतिग्रहात्स्वयं न
तृप्येत् ॥ २५१ ॥

गुरुषु त्वभ्यतीतेषु विना वा तैर्गृहे वसन् ॥ आत्मनो वृत्तिमन्विच्छन् गृह्णीयात्साधुतः सदा ॥ २५२ ॥

(१) मेधातिथिः । कथं तर्ह्यात्मायापयितव्योऽत आह । अभ्यतीतेष्वतीतेषु विना वा तैर्जीवन्तोऽपि यदि पृथग्वस-
न्ति । गुरुग्रहणं सर्वेषां च भृत्यानामपि प्रदर्शनार्थम् । आत्मनो वृत्तिजीवनं प्रतीच्छन्नर्थयमानः साधुभ्यो धार्मिकेभ्यः प्रतिगृह्णीया-
त् । जातेरत्रानुपादाच्छूद्रादपि धार्मिकादस्ति प्रतिग्रहः । तदुक्तं नाद्याच्छूद्रस्येत्यादि ॥ २५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्यतीतेषु मृतेषु विना तैस्तेषु जीवत्वपि । वृत्तिजीवनं साधुतः प्रतिग्राह्यतएव ॥ २५२ ॥

(३) कुल्लूकः । मातापित्रादिषु मृतेषु तैर्वा जीवद्भिरपि स्वयोगावस्थितैर्विना गृहान्तरे वसन्नात्मनो वृत्तिमन्विच्छ-
न्सर्वदा साधुभ्यो गृह्णीयादेव ॥ २५२ ॥

(४) राघवानन्दः । गुर्वाद्युपरते तु न तथा कुर्यादित्याह गुरुष्विति । पितृमात्राचार्येष्वभ्यतीतेषु प्रव्रज्यामरणमहा-
पातकाद्यैरसंबद्धेषु ॥ २५२ ॥

(५) नन्दनः । आत्मार्थसाधुभ्य एव प्रतिगृह्णीयान्साधुभ्य इत्याह गुरुषुत्विति । तैर्विना गुरुभिर्विना स्वप्रतिगृही-
तन्द्रव्यनिरपेक्षेषु गुरुष्वित्यर्थः । सदा आपद्यपि ॥ २५२ ॥

(६) रामचन्द्रः । गुरुषु अभ्यतीतेषु नष्टेषु सत्सु तैर्गुर्वादिभिर्विना गृहे वसन्साधुतः सकाशात् आत्मनो वृत्ति-
मन्विच्छन् सदा गृह्णीयात् ॥ २५२ ॥

आधिकः कुलमित्रं च गोपालो दासनापितौ ॥ एते शूद्रेषु भोज्यान्नायश्चात्मानं

निवेदयेत् ॥ २५३ ॥

(१) मेधातिथिः । अर्धसीरी अधिकः कुटुम्बीभूमिकर्षक इति उच्यते । गोपालदासौ संबन्धि शब्दौ यो यस्य गाः पा-

लयति स तस्य भोज्यान् । यश्चात्मानं निवेदयेत् । अहंत्वच्छरणः त्वयि विश्रब्धो वत्स्यामीत्येवं यः आत्मानमर्पयति सोऽपि भोज्यान् ॥ २५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आर्धिकोर्धभागेन तस्य भूमौ कृषिकुर्वन् । कुलमित्रं कुलपरंपरमित्रसंततिः । गोपालः स्त्री-यगवांपालकः । दासो गर्भदासः । नापितोऽपि मुण्डनादिकर्मकारी । आत्मानं निवेदयेत्तवाहमिति । भोज्यान्नाण्डां कन्दुपक्क-शूलपक्कायसदधिसक्तवः स्मृत्यन्तरोक्ता भोज्याः ॥ २५३ ॥

(३) कुल्लूकः । आर्धिकः कार्षिकः संबन्धिशब्दाश्चैते योयस्य कृषिकरोति स तस्य भोज्यान् । एवं स्वकुलस्य मित्र-योयस्य गोपालो योयस्य दासो योयस्य नापितः कर्म करोति योयस्मिन्नात्मानं निवेदयति दुर्गतिरहंत्वदीयसेवां कुर्वन् नित्यं त्वत्समीपे वसामीति यः शूद्रस्तस्य भोज्यान् ॥ २५३ ॥

(४) राघवानन्दः । त्वार्थशूद्रेभ्यो यदि गृह्णीयात्तदा एभ्यः षड्भ्य एवेत्याह आर्धिक इति । आर्धिकः कर्षकः । कुलमित्रं कुलपरंपरया मित्रतांगतं । दासः क्रीतः । यः आत्मानमतिदुर्गतिरहंत्वदीयसेवामेव कुर्वन् त्वत्समीपे वत्स्यामीति निवेदयेत्तस्मादपि ग्राह्यम् ॥ २५३ ॥

(५) जन्दनः । शूद्रेष्वपि च कानिचिद्भोज्यान् आह आर्धिक इति । परस्य क्षेत्रधनादिकमाश्रित्य कृषिवाणिज्यादिना धनमुत्पाद्य तदर्थं क्षेत्रादित्वा मिने दत्त्वा योऽर्थेन जीवति सः आर्धिकः । यश्चात्मानं निवेदयेत् आत्मनिवेदको नाम स्व-वशः कर्मकरः सोऽपि भोज्यान् ॥ २५३ ॥

(६) रामचन्द्रः । भोज्यानाह आर्धिक इति । आर्धिकः स्वकृषिफलभागी । कुलमित्रं पित्रपितामहादिक्रमागतं । दासः गर्भदासः । नापितः एते शूद्रेषु भोज्यान् । यः पुरुषः आत्मानं निवेदयति प्रयच्छति वाङ्मनः कायकर्मभिः । गृहस्थाश्रमप्रकरणम् ॥ २५३ ॥

यादृशोऽस्य भवेदात्मा यादृशं च चिकीर्षितम् ॥ यथा चोपचरेदेनं तथात्मानं निवेदयेत् ॥ २५४ ॥

(१) मेधातिथिः । आत्मनिवेदनमेव व्यक्तीकरोति । अस्य शूद्रस्य यादृश आत्मा भवेत्तत्कुलीनो यद्देशो-च्छिन्नपुंयश्चिकीर्षितं । अनेन कार्येण त्वामहमाश्रितो धर्मेण अन्येन वा प्रयोजनेन राजकुलरक्षादिना । यथावोपचरेच्छि-ल्येनानेन त्वांसेवे पादवन्दनादिगृहकृत्यकरत्वे सर्वस्मिन् निवेदित आत्मानि वेदितो भवति । अन्येतु आत्मा वैपुत्रनामासी-त्यपत्यवचनमात्मशब्दं मन्यमानाः यस्य शूद्रस्य कामतः प्रवृत्ता दुहिता विवाह्यते तस्यानेन भोज्यान्तोच्यत इत्याहुः-तदयुक्तम् । न तावदयमात्मशब्दो दुहितरि विस्पष्टप्रयुक्तः । पुत्रशब्दो हि पुंस्येव प्रसिद्धतरः । न च परोक्षशब्दोपदेशेन किंचि-त्प्रयोजनम् । एतावदेव वक्तुं युक्तं दद्याद्दुहितरंचय इति । अन्ये त्वार्धिकादिग्रहणं शूद्रोपलक्षणार्थं वर्णयन्ति । तेन पारशवस्य श्वशुरस्य च भोज्यान्ता सिद्धा भवति ॥ २५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आत्मनिवेदनप्रकारमाह यादृश इति । आत्मदेहोजनितः कुलतः धर्मतश्च । चिकीर्षितं तदीयं कर्म । यथा यावद्वृत्तिलाभेन निवेदयेन्मां परिगृहाणेति ॥ २५४ ॥

(३) कुल्लूकः । यथात्मनिवेदनं शूद्रेण कर्त्तव्यं तदाह यादृश इति । अस्य शूद्रस्य कुलशीलादिभिर्यादृश आत्मा-स्वरूपं यच्चास्य कर्मकर्तुरीप्सितं तथा चानेन सेवा कर्त्तव्या तेन प्रकारेणात्मानं कथयेत् ॥ २५४ ॥

(४) राघवानन्दः । निवेदनप्रकारमाह यादृश इति । आत्मा कुलशीलादिः । तथा चोपचरेत् कृषिं करिष्यामि गृहादिपरिचर्यां वेति ॥ २५४ ॥

(५) नन्दनः । शूद्रस्यात्मनिवेदनप्रकारप्रसङ्गादाह यादृशइति । अस्य शूद्रस्य । आत्मायादृशः कुलीनोऽकुलीनो दक्षोऽदक्षोऽपि वा भवेत् । यादृशमस्यचिकीर्षितमात्मनोरक्षणादिप्रयोजनं दष्टमदष्टं वा । एनंस्वामिनं यथोपचरेदेधोदका हरणादिना यथा सेवेत तथाऽऽत्मानं निवेदयेत् ॥ २५४ ॥

(६) रामचन्द्रः । आत्मनिवेदनमित्याह यादृशेति । अस्य शूद्रस्य यादृशः यज्जातिविशिष्टः कुलतः कर्मतः आत्मा मनः । आत्मा पुत्रोवा यस्य भवेत् यादृशंचिकीर्षितं । तदीयं कर्म वाञ्छितं यथा एनं द्विजं उपचरेत् तथात्मानं निवेदयेत् ॥ २५४ ॥

योन्यथासन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते ॥ सपापकृत्तमोलोके स्तेनआत्मापहारकः ॥ २५५ ॥

(१) मेधातिथिः । अन्यथाभूतमधार्मिकंसन्तंसत्सुशिष्टेष्वन्यथाभाषते धार्मिकोऽहमिति । अन्येन वा प्रयोजनेन चाश्रितोऽन्यद्दर्शयति ससर्वेषांपापकृतामधिकतमः पापकृत् । स्तेनश्चौरः । आत्मापहारकोन्यश्चोरोद्रव्यमपहरत्ययंपुनरात्मानमेवेति निन्दाशयः ॥ २५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यस्तु जातिमपन्हुते तस्यदोषमाह योन्यथेति । आत्मापहारकः त्वजातेरात्मन्यपह्वकर्ता अतस्तेनः अतः पापकृत्तमः ॥ २५५ ॥

(३) कुम्भकः । यद्वैतसामान्यनिर्देशात्पकृतशूद्रादन्योपि यः कश्चित्कुलादिभिरन्यथाभूतमात्मानमन्यथा साधुषुकथयति सलोकेऽतिशयेन पापकारीचौरः । यस्मादात्मापहारकः । अन्यः स्तेनोद्रव्यान्तरमपहरत्ययंतु सर्वप्रधानमात्मानमेवापहरेत् ॥ २५५ ॥

(४) राघवानन्दः । अहोअन्यथाभाषणान्नाधिकंपापमस्तीति मिथ्योक्तौ साक्रोशंदोषमाह यद्वैतं । अन्यथासन्तकुलादिभिः । सत्स्वितिविशेषणाद्राजदण्डादौ मिथ्यापि कुर्यात् । आत्मापहारकः । तदुक्तम् । किंतेन न कृतंपापंचोरेणात्मापहारिणा । योन्यथासन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यतइति ॥ २५५ ॥

(५) नन्दनः । आत्मनिवेदने शूद्रेण यथार्थमेव वक्तव्यं नान्यथेत्याह यद्वैतं ॥ २५५ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः अन्यथासन्तमात्मानम् त्वयंसत्सु साधुष्वन्यथा भाषते सः स्तेन आत्मापहारकः ॥ २५५ ॥

वाच्यर्थानियताः सर्वे वाङ्मूलावाग्विनिःसृताः ॥ तांस्तु यः स्तेनयेद्वाचं ससर्वस्तेयकृन्नरः ॥ २५६ ॥

(१) मेधातिथिः । शब्दार्थयोर्नित्यसंबन्धाद्वाचिशब्देऽर्थानियताउच्यन्ते । वाङ्मूलावक्तुः स्वाभिप्रायप्रकाशनस्य तदधीनत्वात्तन्मूलाउच्यन्ते । वाचोविनिःसृताः संभूताः श्रोतुरपि प्रतिपत्तेस्तत्तुल्यत्वाद्वाग्विनिःसृताउच्यन्ते । न चात्र पौनरुक्त्याशङ्कान्परिहरि प्रयतितव्यम् । अनुवादत्वादस्ययथाकथंचिद्वस्तुपरिहारत्वात् । तांवाचंयश्चोरयति मुष्णात्यन्यदुक्त्वाऽन्यदनुतिष्ठत्यन्येनाभिप्रायेण संगच्छतेऽन्यच्चदर्शयति ससर्वस्तेयकृत् । नास्तितद्रव्यंसुवर्णादियत्तेन नापहृतं भवतीति निन्दार्थवादो नृत्तवचनस्य ॥ २५६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वाचि नियताअविनांभूताः । सर्वेषांशब्दानुविद्धतयैव प्रतीतेः । वाङ्मूलावाचा सूक्ष्मशब्दब्रह्मणा जनिताः वाग्विनिःसृताः । वाक्सहकृतैः त्वकारणैर्जन्याः वागधीनत्वात्सर्वव्यवहाराणाम् । स्तेनयेन्मिथ्याभिधानेनान्यरूपांकृत्योपादद्यात् ॥ २५६ ॥

(३) कुल्लूकः । सर्वेऽर्थाःशब्देषु नियतावाच्यत्वेन नियताः वाङ्मूलाश्च शब्दास्तेषांप्रतिपत्तौ शब्देभ्यएवप्रतीयन्ते । प्रतिपत्तिद्वारेण शब्दमूलत्वंशब्देभ्यएवावगम्य चानुष्ठीयन्तइतिवाग्विनिर्गताइत्युच्यन्ते । अतएव वेदशब्देभ्यएवादावितिब्रह्मणोपि सृष्टिर्वेदशब्दमूलैवोक्ता । अतोयस्तांवाचंस्तेनयेत्त्वार्थव्यभिचारिणींवाचयति सनरःसर्वार्थस्तेयकृद्भवति ॥ २५६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच वाचीति । वागर्थयोर्नित्यसंबन्धात्तंविना तैस्तत्प्रयोगायोगाद्वाङ्मूलाः । तदधीनत्वंवक्तुरभिप्रायादेःतएवार्थावाग्विनिःसृताःपरबुद्धौ संक्रान्ताभवन्ति । अतस्तांयस्तेनयेत्ससर्वस्तेनएवेति भावः ॥ २५६ ॥

(५) नन्दनः । पापकृत्तमत्वमेवोपपादयति वाच्यर्थाइति । वाचि शब्देसर्वेऽर्थानिनियता अभिधेयतयासंबद्धाः । वाङ्मूलावाक्परिणामभूताः । वाग्विनिःसृताः वाचा प्रतिपादिताः । एतैर्हेतुभिः सर्वार्थावाङ्मयाइत्यर्थः । तांसर्वार्थमयींवाचयः स्तेनयेत्तत्त्ववचनंतरिस्कृत्यान्र्थब्रूयात्ससर्वस्तेयकृत्सर्वार्थचोरः ॥ २५६ ॥

(६) रामचन्द्रः । वाग्विनिःसृतावाग्विन्द्रियाद्विनिःसृतामुखान्निर्गताः वाचःवाच्यार्थाः । वाच्याश्च तेअर्थाश्च वाच्याः । वाङ्मूलाः वचनमूलाः नियताः तद्यथायः वाच्यार्थः सएव मुखान्निःसरतीति भावः । तुपुनः यः पुरुषः तांवाचंस्तेनयेत् विपरीतं वेदेत् अन्यदुक्त्वा अन्यदनुतिष्ठति सःसर्वस्तेयकृच्चौर्यकृत् ॥ २५६ ॥

महर्षिपितृदेवानांगत्वानृण्यंयथाविधि ॥ पुत्रे सर्वे समासज्य वसेन्माध्यस्थमाश्रितः ॥ २५७ ॥

(१) मेधातिथिः । गृहस्थस्यैवेदंप्रकारान्तरमुच्यते । महर्षीणामानृण्यंत्वाध्यायेन पितृणामपत्योत्पादनेन देवानांयज्ञैर्यथोक्तंत्रिभिर्ऋणैर्ऋणवानितिमत्वा कृत्वैतन्नयंपुत्रे प्राग्व्यहारेसर्वगृहकुटुम्बव्यवहारंसमासज्य सन्यस्य वसेद्गृहएवमाध्यस्थेनास्थितस्त्यक्ताहंकारइदंमेधनमिदंमेपुत्रदारमिदंमेदासीदासमितिस्वबुद्धिसंत्यज्यासीत् । नाहंकस्यचिन्न कश्चिन्ममेतित्यक्तस्त्वनृणतामाध्यस्थ्यम् । अयंचसत्यासःकामानांचदृष्टानांचकर्मणांसर्वेषामुत्तरत्रदर्शयिष्यामः ॥ २५७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । महर्षीणामध्ययनेन पितृणांशुद्धसंतानोत्पादनेन देवानांयज्ञेन माध्यस्थंप्रवर्त्योदासीन्यमास्थितोवेदसत्यासिकोभूवेत्यर्थः ॥ २५७ ॥

(३) कुल्लूकः । गृहस्थस्यैव संन्यासप्रकारोयमुच्यते । महर्षीणांत्वाध्यायेन पितृणांपुत्रोत्पादनेन देवतानांयज्ञैर्यथाशास्त्रमानृण्यंगत्वा योग्यपुत्रे सर्वकुटुम्बचिन्ताभारमारोप्य माध्यस्थमाश्रितःपुत्रदारधनादौ त्यक्तममत्वोब्रह्मबुद्ध्या सर्वत्र समदर्शनोगृहएव वसेत् ॥ २५७ ॥

(४) राघवानन्दः । सर्वाश्रमसाधारणंभक्ष्याभक्ष्यंवक्तुंगृहस्थस्य हितमुपदिशन्कृतकृत्यतामाह महर्षीति चतुर्भिः । आनृण्यमुक्तेन वेदाध्ययनेन ऋषीणां । पुत्रोत्पादनेनआद्धेनपितृणां । यज्ञेनदेवानामितिसमासज्यत्वंब्रह्मात्वंयज्ञस्त्वंलोकइत्यादिसंमाप्यमाध्यस्थमुदासीनताम् ॥ २५७ ॥

(५) नन्दनः । पुत्रवतोगृहस्थस्याश्रमान्तरासमर्थस्योत्तरे वयसि कर्तव्यमाह महर्षीति । माध्यस्थंशोकहर्षादिराहित्यम् ॥ २५७ ॥

(६) रामचन्द्रः । माध्यस्थं प्रवर्त्योदासीन्यं आस्थितो वसेत् । वेदाध्ययनेन सुतोत्पादनेन यज्ञैः आनृण्यंगत्वावनंमविशेदित्यर्थः ॥ २५७ ॥

एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते हितमात्मनः ॥ एकाकी चिन्तयानोहि परं श्रेयोधिगच्छति ॥ २५८ ॥

(१) मेधातिथिः । कृते सर्वकर्मसंन्यासइदंतस्य विशेषतः कर्तव्यम् । एकाक्यसहायः सन्नविद्यमानसंभाषणोऽनाकुले विविक्तेनिर्जने रहसि चिन्तयेद्भ्यायेद्धितमात्मन्युपनिषत्सु या ब्रह्मोपासना विहितास्ता अभ्यसेत् । तच्चिन्तया तदभ्यासे परंश्रेयोमोक्षारव्यमधिगच्छति प्राप्नोति ॥ २५८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विविक्ते शुद्धस्थाने । आत्मनोहितं आत्मनोहितसाधनम् । श्रेयोब्रह्म ॥ २५८ ॥

(३) कुल्लूकः । काम्यकर्मणांधनार्जनस्य च कृतसंन्यासः षष्ठाध्याये वक्ष्यमाणः पुत्रोपकल्पितवृत्तिरेकाकी निर्जनदेशआत्महितंजीवस्य ब्रह्मभावंवेदान्तोक्तंसर्वदा ध्यायेत् । यस्मात्तद्ध्यायब्रह्मसाक्षात्कारेण परंश्रेयोमोक्षलक्षणं प्राप्नोति ॥ २५८ ॥

(४) राघवानन्दः । ततः किञ्चिन्नाह एकाकीति । आत्मनेहितं यत्त्वं हिततममन्यसइति श्रुतेर्हितंमोक्षः तदुपायमित्यर्थः ॥ २५८ ॥

(५) नन्दनः । एकाकीइन्द्रियमनःप्रभृतिबाह्यसहायनिरपेक्षः । चिन्तयानः परमात्मानमिति शेषः । परंश्रेयः मोक्षम् ॥ २५८ ॥

(६) रामचन्द्रः । एकाकी चिन्तयेदित्यर्थः । आत्मनः हितं हितरूपं । ऐश्वर्यं चिन्तयेद्यतिरित्यर्थः ॥ २५८ ॥

एषोदिता गृहस्थस्य वृत्तिर्विप्रस्य शाश्वती ॥ स्नातकव्रतकल्पश्च सत्त्ववृद्धिकरः शुभः ॥ २५९ ॥

(१) मेधातिथिः । अध्यायार्थोपसंहारएषावृत्तिर्विप्रस्य गृहस्थोक्ता । शाश्वती नित्या । अनित्याह्लापदिवक्ष्यते । विप्रग्रहणाद्ब्राह्मणस्यैव स्नातकव्रतानांकल्पोविधिः । सत्त्वंनामात्मगुणस्तस्यवृद्धिकरः । शुभः प्रशस्तः । प्रशंसैषा ॥ २५९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वृत्तिर्जीवनोपायः । स्नातकव्रतस्य कल्पः प्रकारः । सच प्रकाशः ॥ २५९ ॥

(३) कुल्लूकः । अयमध्यायार्थोपसंहारः । एषाकृतादिवृत्तिर्गृहस्थस्य ब्राह्मणस्योक्ता शाश्वती नित्या आपदि त्वनित्या वक्ष्यते । स्नातकव्रतविधिश्चसत्त्वगुणस्य वृद्धिकरणप्रशस्तोक्तः ॥ २५९ ॥

(४) राघवानन्दः । विप्रस्येति श्रुतेरुक्तस्नातकव्रतकलापो ब्राह्मणस्यैवासाधारणः ॥ २५९ ॥

(५) नन्दनः । विप्रस्य वृत्तिरद्रोहेणैव भूतानामित्यादिनीक्ता । स्नातकव्रतकल्पश्चवेदोदितंस्वर्गकर्मइत्यादिनीक्तः ॥ २५९ ॥

अनेन विप्रोवृत्तेन वर्तयन् वेदशास्त्रवित् ॥ व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥ २६० ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥ ॥ ७ ॥ ७ ॥

(१) मेधातिथिः । सर्वस्यास्य फलकथनमेतत् । अनेन विप्रो वर्तयन्वर्तमानो वेदशास्त्रविद्यपेतकल्मषः प्रतिषेधापराधजपापकल्मषतद्यपेतव्यपनीतप्रायश्चित्तैः । तेनैतदुक्तं भवति विहितकरणात्प्रतिषिद्धस्यानासेवनात्कथंचित्कृतस्य प्रायश्चित्तैर्निष्क्रीतत्वात् । ब्रह्मलोके महीयते स्थानविशेषमहिमानं प्राप्नोति । दर्शनान्तरं ब्रह्मरूपः संपद्यतइतिसिद्धम् ॥ २६० ॥

॥ इति भट्टवीरस्वामिसूनोर्भट्टमेधातिथिविरचिते मनुभाष्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥ ॥ ७ ॥ ७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वृत्तेनाचरणेन । विप्रइतितस्य प्राधान्यादुक्तम् । वेदः श्रुतिः शास्त्रधर्मशास्त्रम् । अत्र-
स्नातकव्रतमध्ये केषांचिदन्यत्रोक्तानामपि पुनरभिधानं स्नातकव्रतलोपनिमित्तकाह्वयहभोजनप्रायश्चित्तप्राप्त्यर्थमिति
दृष्टव्यम् ॥ २६० ॥

व्यावृत्तमनुतात्पर्यप्रतिहतकुनिबन्धदर्शितव्याख्याम् । नारायणस्यसूक्तिसर्वज्ञस्यानुसंधत्ते ॥ १ ॥

॥ इति सर्वज्ञनारायणकृतौ मन्वर्थविवृतौ चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥ ॥ ७३ ॥

(३) कुल्लूकः । सर्वसंयोक्तस्य फलकथनमिदं । अनेन शास्त्रोक्ताचारेण वेदविद्राहणोवर्तमानोनित्यकर्मानुष्ठा-
नात्क्षीणपापःसम्ब्रह्मज्ञानप्रकर्षेण ब्रह्मैव लोकःतस्मिन्लीनोमहिमानंसर्वोत्कर्षप्राप्नोति ॥ २६० ॥

इति कुल्लूकभट्टविरचितायामन्वर्थमुक्तावल्यांचतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥ ॥ ७३ ॥ ७३ ॥

(४) राघवानन्दः । अनेन क्रमेण मोक्षोपायाचिन्तनपर्यन्तेन वृत्तेन कृतेनानुष्ठितेन व्यपेतकल्मषःविगतंनिषेका-
पराधजंकल्मषंपापयस्य सः । महीयते पूज्यतया व्यवतिष्ठतइतिभावः ॥ २६० ॥

॥ इति श्रीराघवानन्दविरचितायां मन्वर्थचन्द्रिकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

(५) नन्दनः । अनेनोक्तेन चरितेन । वर्तयन्देहयात्रायापयन् । व्यपेतकल्मषः विमुक्तपुण्यपापः । ब्रह्मलोके प-
रब्रह्मसाक्षात्कारे सति । महीयतेआध्यात्मिकैरितिशेषः ॥ इति श्रीनन्दनविरचितेमानवव्याख्याने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

॥ श्री ॥

॥ श्रीगणेशायनमः ॥

॥ अथ पञ्चमाध्यायप्रारम्भः ॥

श्रुत्वैतानृषयोधर्मान् स्नातकस्य यथोदितान् ॥ इदमूचुर्महात्मानमनलप्रभवं भृगुम् ॥ १ ॥

(१) मेधातिथिः । ब्रह्मचारिगृहस्थयोरध्यायत्रयेयेधर्माविहितास्ताञ्छुत्वा ऋषयोमरीच्यादयोभृगुमाचार्यमिदं वक्ष्यमाणं वस्त्वब्रुवन् पृष्ठवन्तः । ननु चात्र स्नातकस्येति श्रूयते तत्र ब्रह्मचारिग्रहणं किमर्थम् । उच्यते । वृत्तसंकीर्तनमे तत् । ब्रह्मचारिणो धर्मा उक्ता एव । महात्मानमनलप्रभवमिति च भृगुविशेषणम् । अनलादग्नेः प्रभव उत्पत्तिस्तस्य । ननु प्रथमेऽध्याये अहंप्रजाः सिसृक्षुरित्यत्र मनोरपत्यं भृगुरुक्तः । सत्यमर्थवादः । अमुत्र अग्नेः सकाशाद्भृगोर्जन्मश्रुतं तद्दर्शने नैवमुक्तम् । तथाच नामनिर्वचनम् । भृष्टाद्वेतसः प्रथममुददीप्यत तदसावादित्योऽभवत् यद्वितीयमासीत्तद्भृगुरिति । उपचारतो वै तदुच्यते । तेजस्वितासामान्यादग्नेरिव प्रसव इति । न चात्राभिनिवेष्टव्यं कतरः पक्षो युक्त इति । अनिदं परत्वादस्य शास्त्रस्य सर्वेवायं प्रश्नप्रतिवचनसंदर्भो वक्ष्यमाणस्यानदोषस्य गौरवज्ञापनार्थपरिग्रहदुष्टादन्वभावदुष्टगुरुतरमिति । संबन्धिदोषात्स्वरूपदोषो बलवानन्तरङ्गत्वात् । ननु च पूर्वबहुतरं प्रायश्चित्तं श्रूयते अमत्याक्षपणं च्यहमिति इदं तु शेषेषूपवसेदहरितितत्कथमस्य गुरुतरत्वमुच्यते । लशुनाद्यपेक्षमेतत् । तेषु हि मत्या जग्ध्वापतेदिति पतितप्रायश्चित्तं भवति ॥ १ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अथ भक्ष्याभक्ष्यविवेकं प्रस्तौति श्रुत्वैतानिति । अनलप्रभवमिति द्वितीयसृष्टौ तस्यानलरूपाद्ब्रह्मशुक्रादुद्भूतत्वात् यथा यद्वितीयमासीत्तद्भृगुप्रभवदित्येतेरेयब्राह्मणे ॥ १ ॥

(३) कुल्लूकः । ऋषयः स्नातकस्यैतान्यथोदितधर्मान् श्रुत्वा महात्मानं परमार्थपरं भृगुमिदं वचनमब्रुवन् । यद्यपि प्रथमाध्याये दशप्रजापतिमध्ये भृगुनारदमेव चेति भृगुसृष्टिरपि मनुत एवोक्ता तथापि कल्पभेदेनाग्निप्रभवत्वमुच्यते । तथाच श्रुतिः तस्य यद्वेतसः प्रथममुददीप्यते तदसावादित्योऽभवत् यद्वितीयमासीत्तद्भृगुरिति । अतएव भृष्टाद्वेतस उत्पन्नत्वाद्भृगुः ॥ १ ॥

(४) राघवानन्दः । वर्तिष्यमाणार्थवृत्तं कीर्तयति श्रुत्वेति । श्रोतृणां मेधावित्वेव कुः शास्त्रकथने श्रद्धास्यादितिसूचनार्थमध्यायत्रयेण ब्रह्मचारिगृहस्थयोर्विदितान् धर्मान् मरीच्यादयोऽनुवदन्ति श्रुत्वेत्यादिना । अनलप्रभवं भृगुमिति तदुक्तेशान्तिपर्वणि ॥ शुक्रेद्भुतेऽग्रौ तस्मिंस्तु प्रादुरासु स्रग्यः प्रभो ॥ पुरुषावपुषायुक्ताः स्वैः स्वैः प्रसवजैर्गुणैः ॥ भृगुत्वेन भृगुः पूर्वमङ्गारेभ्यो द्विराभवदित्यादि ॥ १ ॥

(५) नन्दनः । मनुपुत्रस्यैव भृगोर्वरुणयज्ञेऽनलप्रभवत्वं पुराणे श्रूयते । तस्मान्न पूर्वापरविरोधः ॥ १ ॥

(६) रामचन्द्रः । अथ भक्ष्याभक्ष्यप्रकरणमाह श्रुत्वेति कांचित्पतिव्रतां दष्टा ब्रह्मणः शुक्रमपतत् ब्रह्मा तदा तच्छुक्रमग्निकुण्डेऽक्षिपत् तदग्निकुण्डाज्जातो भृगुः । अनलप्रभवं भृगुमृषय इदमूचुः द्वितीयसृष्टावनलरूपत्वात् ॥ १ ॥

एवं यथोक्तं विप्राणां स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ॥ कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदां प्रभो ॥ २ ॥

(१) मेधातिथिः । यन्महर्षिभिः पृष्ठतदिदानीं दर्शयति । एवमिति शास्त्रव्यापारपरामर्शः । यथोक्तमिति शास्त्रार्थ परामृशति । एतेन शास्त्रसंदर्भेण यादृशो धर्मो उक्तस्तत्पुनस्तमनुतिष्ठतां द्विजातीनां । विप्रग्रहणस्य दर्शनार्थत्वाद्दृश्येतदुक्तं-
द्विजातीनामिति । कथंमृत्युः प्रभवति स्नातकावस्थायां ब्रह्मचर्यावस्थायां वा यतः परिपूर्णार्थिभ्यस्तैर्भवितुं युक्तं पुरुषायुषजीवि-
भिः शतवर्षं पुरुषाणामायुस्ततः पुरा मृत्युर्मरणमेषां युक्तं यत उक्तमाचाराल्लभते ह्ययुर्जपतां जुह्वतामिति ॥ २ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कथंमृत्युरिति कस्मिन् स्नातकव्रते त्यक्ते मृत्युभयमित्यर्थः । वेदशास्त्रविदामिति स्वधर्म-
ज्ञानसाधनोपदर्शनेन तत्ज्ञानं दर्शितम् ॥ २ ॥

(३) कुल्लूकः । एवं यथोक्तं स्वधर्मं कुर्वतां ब्राह्मणानां श्रुतिशास्त्रज्ञानां वेदोदितायुषः पूर्वकथंमृत्युः प्रभवति । आयुरल्प-
त्वहेतोरधर्माचरणस्याभावात् । सकलसंशयोच्छेदनसमर्थत्वात्प्रभो इति संबोधनम् ॥ २ ॥

(४) राघवानन्दः । आश्रमचतुष्टयसाधारणत्वादस्याध्यायस्य चातुर्वर्ण्यचातुराश्रम्यसाधारणधर्मप्रतिपादकत्व-
माह एवमिति । शास्त्रोक्तं स्वधर्ममनुतिष्ठतां । कथमिति प्रकारे विप्रपदमुपलक्षणम् । चातुर्वर्ण्यस्य वेदशास्त्रविदामपीति
भावः ॥ २ ॥

(५) नन्दनः । आचारवान्पुरुषः शतवर्षाणि जीवतीति भवता पूर्वमुक्तम् । तेन स्वधर्ममनुतिष्ठतामकालमृत्युर्नोपपद्य-
त इति ॥ २ ॥

(६) रामचन्द्रः । विप्राणां यथोक्तमेवमनुतिष्ठतां मृत्युः कथं प्रभवति ॥ २ ॥

सतानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः ॥ श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्रान् जिघांसति ॥ ३ ॥

(१) मेधातिथिः । ननु च स्वधर्ममनुतिष्ठतामिति प्रश्नेन युक्तं येन दोषेणेति उत्तरश्च ग्रन्थो नैवोपपद्यते ॥ ३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मानवः प्रथमजन्मनि मनुसुतत्वात् ॥ ३ ॥

(३) कुल्लूकः । समनोः पुत्रो भृगुर्धर्मस्वभावो येन दोषेणाल्पकाले विप्रान् हन्तुमिच्छति मृत्युः श्रूयतामित्येवं तान्म-
हर्षीञ्जगाद ॥ ३ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रापि चतुरः प्रकारानाह सतानिति द्वाभ्यां । जिघांसति नरकास्पै ॥ ३ ॥

(६) रामचन्द्रः । भृगुस्तान्महर्षीन्नुवाच येन दोषेण विप्रान्मृत्युर्जिघांसतीति श्रूयताम् ॥ ३ ॥

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ॥ आलस्यादन्मदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति ॥ ४ ॥

(१) मेधातिथिः । उच्यते । अनभ्यासेनेत्यादिदृष्टान्तत्वेनोच्यते । यथा भवद्भिः प्रतिपन्नं वेदानभ्यासादयः
पुरायुषो मरणहेतवः । एवं वक्ष्यमाणोऽन्मदोषः । सत्स्वपि वेदानभ्यासादिषु न तावत्स्वधर्मोऽयः पूर्ववत्प्रकथितः किं त्वयमन्मदोषो-
गरीयस्तरः पृथक्प्रकरणाच्चैतदभिधीयते । नास्नातकस्य विज्ञानलेपमात्रमधर्मोऽयम् ॥ ४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनभ्यासेनेति एतेनैते प्रतिनियताः स्नातकधर्माः सर्वथा नातिक्रमणीया इति दर्शितम् ।
अनभ्यासेनानध्ययनेनाधीतानां च त्यागेन । आचारस्य च शिष्टाचरितस्य मङ्गल्यालम्बनादेः । आलस्यात् अलसतया
क्रियमाणेषु कर्मसु शक्त्याङ्गानुपसंहारात् । अन्मदोषाद्दृष्टान्नाशनात् । तत्र केचित्संसर्गदृष्टान्मदोषागणान्मित्यादिना पूर्वा-
भ्याये उक्ताः ॥ ४ ॥

(३) कुल्लूकः वेदानामनभ्यासात्स्वीयाचारपरित्यागात् । सामर्थ्ये सत्यवश्यकर्तव्यकरणानुत्साहलक्षणादालस्यात् । अदनीयदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् हन्तुमिच्छति । एतेषामधर्मोत्पादनद्वारेणायुःक्षयहेतुत्वात् ॥ ४ ॥

(४) राघवानन्दः । तानाह अनभ्यासेनेति । अनधीतेन अधीतविस्मरणेन च । आलस्यात्तत्पूर्वकस्वधर्मानुष्ठानात् ॥ ४ ॥

(५) नन्दनः । अन्नदोषाद्भक्ष्यदोषात् । अन्नदोषस्यैवाकालमृत्युहेतुत्वमत्रप्रतिपाद्यम् । वेदानभ्यासादीनामपन्यासोद्वेष्टान्तार्थः ॥ ४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्नदोषाद्भक्ष्याभक्ष्यानन्दोषान्मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ४ ॥

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च ॥ अभक्ष्याणि द्विजातीनामभेध्यप्रभवानि च ॥ ५ ॥

(१) मेधातिथिः । लशुनादयः पदार्थालोके प्रसिद्धा एव । कवकशब्दोजातिशब्दः । क्वचित्कयाकुरितिप्रसिद्धेऽर्थे मन्यते । छत्राकानि कवकान्येव तथाहि कवकशब्देन प्रतिषिद्धं छत्राकशब्देन प्रायश्चित्तवक्ष्यति छत्राकं विदुराहचेति । नच छत्राकं नाम पदार्थान्तरं प्रसिद्धम् । नचाक्षरवर्णसामान्येन योयश्छत्राकारस्ततं छत्राकमिति युक्तं प्रतिपत्तुम् । तथासति सुवर्चलादीनां समाचारविरोधी प्रतिषेधः प्रामोति । तस्माद्यान्येव कवकानि तान्येव छत्राकाणि । तथाच निरुक्तकारः क्षुण्णमहिच्छत्रकं भवति यत् क्षुद्यतइति । तेन पादप्रहारेण यान्येतानि भूमावरुष्टायामनुपूर्वजायांचसितवर्णानि जायन्ते तानि च कवकानि । वक्ष्यतिच भौमानिकवकानीति । दर्शितंचपदाक्षुण्णमिवेति । पादप्रहारेण यानि क्षुद्यन्ते । यतोयानि वृक्षादुल्माजायन्ते तेषांतदाकाराणामप्रतिषेधः । कुकुण्डानि कवकानि वैद्यके व्याख्यातानि । एतच्च व्याख्यानं न गवादिशब्दवत् । कवकशब्दालोके च प्रयुज्यते अतोस्य समाचाराद्वैद्यकादिशास्त्रार्थनिश्चयः । प्रदर्शितश्चासौ लशुनादीनांतु समानवर्णगन्धा अपि विष्णुना प्रतिषिद्धाः । पाराशरिकायांतु शब्देनैव निषेधः प्रायश्चित्तविशेषार्थोक्तः चान्द्रायणमिति । तेन लवतकर्काणिकारादीनांप्रतिषेधः । अभेध्यप्रभवान्यभेध्यजातानि च संसर्गजातानि । अन्येत्वाद्बुद्धमूलवास्तूकवक्केवलामेध्यप्रभवानां युक्तः प्रतिषेधः ततश्च यान्यधिकपुष्पार्थधान्यशाकादीन्यभेध्यक्षेत्रजातानि संसृज्यन्ते तानि न दुष्यन्तीति । तदयुक्तं । अस्तिहि तत्र पुनः श्रुतेन वृत्तौ सर्वस्याप्यभक्ष्यत्वादिहापिच । यद्यभेध्यसंसर्गमन्तरेण न किंचिद्वस्तूत्पद्यते ततः स्यादपि यतस्तु किंचिन्मेध्याज्जायते किंचित्संसृष्टात्ततोयंप्रतिषेधः । केवलेऽभेध्यप्रभवे न संसृष्टेऽवतिष्ठते मांसस्य सत्यपि शुक्रशोणितामेध्यप्रभवत्वे नायंप्रतिषेधः । पृथक्प्रकरणारम्भात्तस्य ॥ ५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अधुनाऽवशिष्टान्नजातिदुष्टान्नदोषानाह लशुनमिति । श्वेतकन्दो बृहत्पत्रो लशुनं । गृञ्जनं क्षुद्रपत्रः । क्लीबलिङ्गता छान्दसी । पलाण्डूरक्तकन्दः कवकं छत्राकं । अभेध्यप्रभवाणि विष्टादिषुजातानिकन्दादीनि ॥ ५ ॥

(३) कुल्लूकः । वेदानभ्यासादेरुक्तत्वादानुक्तमन्नदोषमाह लशुनमिति । लशुनगृञ्जनपलाण्ड्वाख्यानि त्रीणि स्थूलकन्दशाकानि । कवकं छत्राकमभेध्यप्रभवानि विष्टादिजातानि तण्डुलीयादीनि । द्विजातीनामिति याज्ञवल्क्यवचनादेतानि द्विजातीनामभक्ष्याणि । द्विजातिग्रहणं शूद्रपर्युदासार्थम् ॥ ५ ॥

(४) राघवानन्दः । अन्नदोषादित्याद्युक्तंतत्रादौ दुष्टान्नान्याह लशुनमित्येकादशभिः । लशुनादीनि त्रीणि स्थूलकन्दशालीनि तत्रापि लशुनं शुद्धमूलं गृञ्जनं रक्तमूलकं पलाण्डुं रक्तवर्तुलमूलं । कवकं छत्राकं भूमिजं वार्क्षभूजंच । अभेध्यं मूत्रपुरीषादि तज्जातानि ॥ ५ ॥

(५) नन्दनः । अलदोषस्यैवोपरिष्ठाद्गुणान्याह लशुनमिति । लशुनं सूक्ष्मरक्तकन्दनालं रसोन्न । गृञ्जनं शाकविशेषः । पलाण्डुः स्थूलश्वेतकन्दनालोलशुनानुकारी । कवकं कुरवण्डकम् । अमेध्यप्रभवानि माषवराकादीनि । द्विजातिग्रहणं शूद्रपर्युदासार्थम् ॥ ५ ॥

(६) रामचन्द्रः । लशुनं श्वेतकन्दो बृहत्पत्रः । गृञ्जनं क्षुद्रपत्रोलोहितसूक्ष्मकन्दः । पलाण्डुः स्थूलरक्तकन्दः । कवकानि छत्राकसर्पच्छत्रशिलीन्ध्राणि । एतानि द्विजानामभक्ष्याणि । च पुनः अमेध्यस्थानप्रभवानि ॥ ५ ॥

लोहितान् वृक्षनिर्यासान् ब्रश्चनप्रभवांस्तथा ॥ शेलुं गव्यं च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ६ ॥

(१) मेधातिथिः । वृक्षकोटरसावेण हेत्वन्तरेण वा बहिर्यन्मूलस्कन्धफलपलाशशाखाकुसुमव्यतिरिक्तं वृक्षलङ्घं जायते सवृक्षनिर्यासः । लोहितग्रहणात्कुरादीनामप्रतिषेधः । ब्रश्चनाच्छेदनाद्येषां प्रभवो जन्म एवं वृक्षादेर्वल्कलप्रदेशस्तत्रैव जायन्ते तेषामलोहितानामप्रतिषेधः । शेलुः श्लेष्मातकः प्रसिद्धो वैद्यकादिशास्त्रेभ्यः । नतु सृतस्य क्षीरस्य संतानिका-अप्रसिद्धत्वात् यत्तु पीयूषसाहचर्यासंतानिकायुक्तेति भवति साहचर्यविशेषहेतुरुभयत्र प्रयोगे सति न पुनः साहचर्यमदृष्टप्रयोगाणां प्रयोगज्ञापकम् । गव्यं च गव्यग्रहणाच्चाहिषादेरप्रतिषेधः अनाद्यं यदि तदग्निमात्रसंयोगात्पिण्डीभूतमनासक्तं च । सद्यः प्रसूताया गोः क्षीरं पीयूषशब्देनोच्यते । ननु च क्षीरस्य सविकारस्य दशाहं चाभक्ष्यतां वक्ष्यति । त्रिचतुराणि वाहानि तादृशं क्षीरं भवति । सत्यं यदि कथंचित्कस्यापि दशाहात्परेण भवति तदिदमर्थवत् । प्रयत्नेनेत्यादिपदद्वयं श्लोकपूरणार्थम् अभक्ष्याणीत्यनुवर्तते ॥ ६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । लोहितान् ब्रश्चनजानपि क्रथनादिना रुष्टान् । ब्रश्चनप्रभवान् वृक्षक्षतजानलोहितानपि निर्यासान् । शेलुः श्लेष्मातकफलं । गव्यं गोसंबन्धिपेयुषं नवप्रसूताया गोर्मासपर्यन्तं पयः । महिष्यादिक्षीराणां तु दशाहोर्ध्वमेव भक्ष्यत्वम् ॥ ६ ॥

(३) कुल्लूकः । लोहितवर्णानिवृक्षनिर्यासान्वृक्षानिर्गतरसान्कठिनतां यातान् । ब्रश्चनच्छेदनं तत्प्रभवानलोहितानपि । तथा च तैत्तिरीयश्रुतिः अथो खलु य एव लोहितो यो वा ब्रश्चनान्निर्येषति तस्य नाशयं काममन्यस्येति । शेलुं बहुवारकफलं । गोभवं पेयूषं नवप्रसूताया गोः क्षीरमग्निं संयोगात्कठिनं भवत्येतान्यन्नतस्य जेतुं । अनिर्दशाया गोः क्षीरमित्यनेनैव पेयूषस्यापि निषेधसिद्धावधिकदोषत्वात्प्रायश्चित्तगौरवज्ञापनार्थं पृथङ्निर्देशः अतएव यन्नतइत्युक्तम् ॥ ६ ॥

(४) राघवानन्दः । वृक्षनिर्यासान् वृक्षकोटरेभ्योजातान् लोहितानितिकर्पूरवारणार्थम् । ब्रश्चनच्छेदनं तत्प्रभवम् । तथा च तैत्तिरीयश्रुतिः । अथो खलु य एव लोहितो यो वा ब्रश्चनान्निर्येषति तस्य नाशयं काममन्यस्येति । अयमेव लोहितो यो ब्रश्चनान्निसृतस्तस्य नाशयं काममन्यस्येति तस्य नाशयमभक्ष्यमन्यस्यानिषिद्धस्य कामं भक्षणमिति श्रुतेरर्थः । ब्रश्चनप्रभवानामलोहितोपि निषिद्धः । शेलुं बहुवारकं । पेयूषं नवप्रसूताया गोः क्षीरं अनिर्दशाया इत्यनेनैव प्राप्तत्वेऽप्यत्यन्तनिषेधार्थम् । गर्भादारभ्य स्तनस्थकठिनतरदुग्धं वा ॥ ६ ॥

(५) नन्दनः । ब्रश्चनप्रभवान् हिङ्गुप्रभृतीन् । शेलुः श्लेष्मातकः । गव्यं पेयूषं तत्क्षणप्रसूताया गोः प्रथमदुग्धम् । पीयूषोऽभिनवपयः इत्यमरः ॥ ६ ॥

(६) रामचन्द्रः । लोहितान् आरक्तान्वृक्षनिर्यासादीन् विवर्जयेत् । ब्रश्चनप्रभवान् वृक्षच्छेदजातान् । लोहितग्रहणात् हिङ्गुकुरादीनामनिषेधः । शेलुं श्लेष्मातकफलं । गव्यं गोरिदं गव्यं । नवप्रसूताया दुग्धविकारपेयूषं पेयूषीति संज्ञं । एतानि प्रयत्नेन वर्जयेत् ॥ ६ ॥

वृथाकसरसंयावं पायसापूपमेव च ॥ अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च ॥ ७ ॥

(१) मेधातिथिः । अत्र कसरसंयावमिति समाहरेद्वन्द्वः । तिलैः सह सिद्ध ओदनः कसरशब्देनोच्यते । संयावो भोज्यविशेषः सर्पिर्गुडतिलादिकृतः पुरेषु प्रसिद्धः । येतु यौतेर्मिश्रणार्थत्वाद्यानि मिश्रीकृत्यान्नानि साध्यन्ते मुद्रमकुष्ठकादिभिस्तानि संयावशब्देनोच्यन्ते इति तेषांकसरग्रहणमनर्थकम् । सौपि हस्तेन प्रकारेण संयावएव । वृथाशब्दः सर्वत्रानुषङ्ग्यते । यदात्मात्थंक्रियते न देवपित्रितथ्यर्थतदाकसरादीनामुपदेशइति । तदुक्तम् । नहिगृहस्थाः केनार्थतः पठन्ति हविषइवा वापात्पृति तादर्थ्येनोद्देशः । अत्रहि कस्य पाकः स्यात् । किंतिहि अनुद्दिष्टविशेषस्यसामान्यतः कृतस्यान्नस्य पञ्चयज्ञानुष्ठानंविहितम् । तत्राकृतवैश्वदेवस्य भोजने विहितातिक्रमोऽपुनः प्रतिषेधः समस्ति तथाहि द्वेप्रायश्चित्ते भवतः विहितातिक्रमात्प्रतिषिद्धसंवेनाच्च । कसरादयस्तु देवताविशेषवास्तुयज्ञादिविषयमनुद्दिश्य कृताकृतत्वादान्हिकविधयोपि प्रतिषिध्यन्ते । यच्चापि नात्मात्थंपचेदितितन्न सोप्यवश्यकर्तव्यत्वात् । कृताक्रमस्य भोजनप्राप्त्यनुवादोऽपुनः प्रतिषेधः । तथासति द्विमूलकल्पनाप्रायश्चित्तस्यादित्युक्तम् । न चान्यार्थत्वेनापि कृतस्यात्मात्थता पाकस्य निषेद्धंशक्यते । पच्यमानार्थोहिपाकस्तस्य तद्वारिका नशक्या आत्मात्थता निषेद्धं तेनैव वृत्तिविधानात् नहि वृत्त्यादिशिष्टभोजनंगृहस्थस्य शेषसंस्कारोऽत्र संकल्पःश्रुतोयेन मर्त्यपच्यतामिति पाककाले संकल्पमात्रंनिषिध्यते । आत्मात्थंचोत्तरकालमविचार्येत्युच्यते । मिथ्यासंकल्पदोषश्च स्यात् । देवतार्थतया संकल्पितस्यात्मात्थतयायोगइति । तस्मादयमनुवादोऽप्यपचेन्नात्मात्थमेवोपयोज्यप्राग्विधेर्वैश्वदेविकादिति । तथाच पक्वान्नभोजनेपि विधिमेतंस्मरन्ति । यदन्नः पुरुषोराजंस्तदन्नास्तस्य देवताइति । नच बुभुक्षमाणस्यैवाधिकारोऽर्हस्यप्रतिपत्तिनिमित्तत्वात् । तेन यदहर्नभुञ्जीत तदहरप्यकुर्वन्प्रत्यवैति । एतदुक्तंभवति । स्वार्थंवा पचतु परार्थंवा पाक्षीदिति सर्वथा कृतवैश्वदेवातिक्रमणव्रतापि न प्रवर्तन्तेइति नित्यतामनुवदति । यच्चापि पठति ॥ लौकिके वैदिके वापि हुतोऽसृष्टे जले क्षितौ । वैश्वदेवस्तु कर्तव्यः पञ्चसूनापनुत्तयइति ॥ अनेनापि नित्यतैवोच्यते । नहि वैदिके वैश्वदेवसंभवः । नच स्मार्तवचने प्रमाणमस्ति । पायसापूपमिति पयसा सिद्धओदनः पायसोऽन्नादियोविकारः । अपूपाः पुरोडाशाः । देवान्नानि समाचारप्रमाणकानि । हवींषि श्रुतिविहितानिहोतव्यानि प्राग्रहहोमाद्यतोहविःशेषस्य भक्ष्यतांवक्ष्यति । अनुपाकृतस्य अयज्ञेऽहुतस्य पशोर्मांसानि उपाकरणं पशोः संस्कारविशेषः सपशुयागेषु विहितः । एतेन च यज्ञोपयुक्तशेषभक्ष्यता मांसस्य लक्ष्यते । वृथाशब्दाधिकारेऽप्यनुपाकृतग्रहणमतिथ्यादिशिष्टस्यापि गोव्यजमांसस्य प्रतिषेधार्थं गोव्यजमांसमेव वानुपाकृतशब्देन विवक्षितम् । गोव्यजस्यैव तत्रालम्भश्चोदितो यतः । शिष्टंप्रोक्तम् ॥ ७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वृथा विप्रैर्भ्योदेवेभ्यश्चादत्वा । कसरस्तिलमुद्रमाषसहसिद्धओदनः । संयावोगुडक्षीरघृतादि-साधितः पेयविशेषस्तत्करिकेतिप्रसिद्धः । अनुपाकृतानि पशुबन्धाङ्गभूतमन्त्रवद्भस्पर्शरूपसंस्कारेणासंस्कृतानि । एतत्पूर्वाध्यायस्थवृथामांसपदव्याख्यानम् । तथाच श्राद्धादावपि मांसभक्षणे दोषइतिगम्यते । देवान्नानि देवेभ्योनिवेदान्नानि । हवींषि हविः शेषाः । ऋत्विग्यजमानव्यतिरिक्तानामभक्ष्याः ॥ ७ ॥

(३) कुङ्कुमः । देवताद्यनुद्देशेनात्मात्थंयत्पच्यते तद्वृथाकसरस्तिलेन सह सिद्धओदनः । तथाच छन्दोगपरिशिष्टम् तिलतण्डुलसंपक्कः कसरः सोभिधीयते । संयावोघृतक्षीरगुडगोधूमचूर्णसिद्धस्तत्करिकेतिप्रसिद्धः । क्षीरतण्डुलमिश्रः पाय-

(७) पूपमेवच= पूपशष्कुली (४)

सः । अपूपः पिष्टकः एतान्वृथापक्वान्विवर्जयेत् । पशुयागादौमन्त्रबहुलेन पशोः स्पर्शनमुपाकरणंतद्रहितः पशुरुपाकृतस्तस्यमांसानि देवान्नानिनैवेद्यार्थमन्नानि प्राङ्निवेदनात् । हवींषि च पुरोडाशादीनिहोमात्प्राग्वर्जयेत् । अनुपाकृतमांसानीत्येतद्विशेषनिषेधदर्शनः । दनचित्तंवृथा मांसमिति सामान्यनिषेधो बलीवर्दन्यायेनानुपाकृतमांसेतराद्वाद्यनुद्देश्यमांसभक्षणेपर्यवस्यति ॥ ७ ॥

(४) राघवानन्दः । रुसरस्तिलेन सह सिद्धोदनः । संयावः घृतक्षीरगुडगोधूमचूर्णसिद्धः । एतच्चतुष्टयदेवान्तेभ्योदत्त्वैव भोज्यम् । अनुपाकृतमांसानि पशुयागादौ मन्त्रेण पशोः स्पर्शनमुपाकरणंतद्रहितपशोर्मांसानि । देवान्नानि देवपूजार्थं संचितानि । हवींषि होमार्थपित्रर्थं वा संचितानि ॥ ७ ॥

(५) नन्दनः । आत्मार्थमुपादानंवृथात्वम् । तिलमिश्रमोदनं रुसरः । संयावंपिष्टविकारोऽपूपादि । उपाकृतं यज्ञविशिष्टम् । देवत्वामिकमन्नं देवानाम् । हविस्तु देवतायै निवेदयिष्यमाणस्थापितद्रव्यम् । विवर्जयेदित्यनुवर्तते ॥ ७ ॥

(६) रामचन्द्रः । वृथा रुसरः देवताद्युद्देशमन्तरेण साधितः रुसरः तिलमुद्रतण्डुलमिश्रितान्नसिद्धः रुसरसंज्ञः । संयावः गुडक्षीरघृतादिगोधूमचूर्णविकारः । पायसं अपूपमेव अनुपाकृतमांसानि यज्ञसंस्कृतस्य पशोर्मांसानि । देवान्नानि देवतोद्देशेन संकल्पितान्नानि हविर्हवनीयद्रव्यं ऋत्विक्कयजमानव्यतिरिक्तानाम् ॥ ७ ॥

अनिर्दशायागोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा ॥ आविकं सन्धिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ॥ ८ ॥

[क्षीराणि यान्यभक्ष्याणि तद्विकाराशने बुधः ॥ समरात्रव्रतंकुर्यात्पयत्नेन समाहितः ॥ ९]+

(१) मेधातिथिः । यदीहानिर्दशाहंगोः क्षीरमिति पाठः । उष्ट्रादीनामपि दशाहादिकः प्रतिषेध आशङ्क्यते । अनिर्दशाग्रहणानुवृत्त्या तत्र समाचारआत्यन्तिकप्रतिषेधार्थ आश्रयणीयः । अनिर्दशाया इति तु स्त्रीलिङ्गपाठे आशङ्क्येव नास्ति नहि तद्वितान्तरैरनिर्दशाया उष्ट्रमित्यादिभिः संबन्धोपपत्तिरुत्तरत्र । च पुनः क्षीरग्रहणात्समाचाराच्च उष्ट्रैकशफाविकानिर्दशगवीक्षीराणि सविकाराणि प्रतिषिध्यन्ते । सन्धिनीविवत्सयोस्तु क्षीरमेव । अनिर्दशाच्च गौरुच्यते यस्याः प्रसूताया दशाहान्यनतिक्रान्तानि । सन्धिनी या उभयोः ग्रामदोहा कथंचिदन्यतरस्मिन्दुहते । सायमप्रदुग्धासायंदुहते । सा तु त्वल्पक्षीरत्वादेकस्मिन्नेव काले सासौ सन्धिनी कश्चिदाह । यां मृतस्ववत्सा परकीयंवत्सं संचार्यदुहते सा सन्धिनी । विवत्सा तु या सत्येव वत्से विनाकृतवत्सा वत्सप्रसवणमनपेक्ष्य मकुष्टकयवशालितुषादिना भोजनविशेषेण दुह्यात् । विवत्साया इति तेनैव वत्सग्रहणे नावत्साधेनुरानीयतामिति वद्वोरितिलब्धे गोग्रहणमजामहिष्योरप्रतिषेधार्थं । न पुनरनिर्दशाया इत्यत्र अतश्च गोग्रहणंतत्राजाद्युपलक्षणार्थम् । तथाच गौतमः । गोश्चक्षीरमनिर्दशायाः सूतकेऽजामहिष्योश्चेत्याह । पयोग्रहणंसन्धिनीक्षीरमिति समासान्तवर्तिनः क्षीरपदस्य नातिसुकरः संबन्धोयतः ॥ ८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनिर्दशाया इति पेयूषान्तराद्दोषाधिक्यप्रदर्शनार्थम् । गोरित्यजामहिष्योरप्युपलक्षणम् । उष्ट्रैकशफाविकपदैरुष्ट्रादिपयांस्युच्यन्ते । सन्धिनी वृषाक्रान्ता गौः ॥ ८ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रसूताया अनिर्दशाया गोर्दुग्धम् । गोरिति पेयक्षीरपशूपलक्षणार्थं तेनाजामहिष्योरपि दशाहमध्ये प्रतिषेधः । तथाच यमः अनिर्दशाहंगोक्षीरमाजं माहिषमेव च । तथोष्ट्रभवं । अश्वाद्येकसुरसंबन्धि । मेषभवं । सन्धिनी या क्रतुमती वृषमिच्छती तस्याः क्षीरम् । तथाच हारीतः । सन्धिनी वृषस्यन्ती तस्याः पयोऽनपिबेत् क्रतुमत्तद्भवति । वि-

वत्साग्रामृतवत्सायाः । असन्निहितवत्सायाश्च क्षीरं वर्जयेत् । धेन्वधिकरणन्यायेन वत्सग्रहणादेव गविलब्धायां पुनर्गोग्रहणं गोरेव न त्वजामहिष्योरिति ज्ञापनार्थम् ॥ ८ ॥

(४) राघवानन्दः । एकशफं एकशफागर्दभाश्वादयस्तेषामिदं दुग्धादि । आविकं अविर्भेषस्तस्येदं । सन्धिनी-
कृतुमती ॥ ८ ॥

(५) नन्दनः । अनिर्दशायाः अनिर्गतदशाहायाः । एकशफाः अश्वादयः । सन्धिनी गर्भिणी ॥ ८ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनतिक्रान्तदशाहमस्या अनिर्दशया गोः क्षीरं । औष्ट्रं पयः एकशफं वडवादीनां पयः । अवेः
आविकं पयः । सन्धिनीक्षीरं वृषेण सन्धीयते या सासन्धिनी । मृतवत्सायाः पयः ॥ ८ ॥

आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना ॥ स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि ॥ ९ ॥

(१) मेधातिथिः । आरण्यागोहस्तिमर्कटादयः पुंसां क्षीराभावः सर्वेषां मृगाणामिति जातिमात्रविवक्षायां पुल्लिङ्ग
निर्देशसामर्थ्यात् स्त्रीभिः संबन्धः मृगक्षीरं कुक्कुटाण्डमिति वत् । दर्शितं चैतत्पुंभावविधौ महाभाष्यकारेण । माहिषं विना पयोऽ-
पेक्षया न पुंसकनिर्देशः । स्त्री मानुषी । यद्यपि स्त्री गौः सोमक्रयणीत्यादौ सास्नादिमत्यर्थे प्रयोगदर्शनं तथापि जात्यन्तरस्या-
प्रकृतत्वात् प्रसिद्धतरत्वात् तत्र प्रयोगः स्यात् । स्त्रियोमधुरमिच्छन्ति स्त्रियोरन्नमनुत्तममिति नार्येव प्रतीयते । एवकारमञ्ज-
नादिप्रतिषेधे व्याचक्षते । न केवलं स्त्रीक्षीरं भक्षणे वर्ज्यं किंतु स्त्रियास्त्वप्येवं विधासु क्रियासु । एष तु स्मृत्यन्तरसमाचारसापे-
क्ष एव शब्दः सूचको युक्तो न त्वस्यार्थस्य वाचकः ॥ ९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आरण्यानां मृगव्यतिरिक्तानामप्यरण्यजानाम् । तथा मृगाणां मृगजातीनां गवयादीनां
संबन्धि पयः । स्त्रीक्षीरं मानुषीक्षीरम् । अत्र क्षीरप्रक्रमे पुनः क्षीरग्रहणमस्याः क्षीरमेवाभक्ष्यं न तु घृतादीति दर्शयितुमिति-
केचित् । शुक्तस्य पुनरत्राध्याये निषेधो दध्यादिप्रतिप्रसवार्थः ॥ ९ ॥

(३) कुङ्कुमः । मृगशब्दोत्र माहिषपर्युदासात्पशुमात्रपरः माहिषं क्षीरं वर्जयित्वा सर्वेषामारण्यप्रभवपशूनां हस्त्यादी-
नां क्षीरं स्त्रीक्षीरं च सर्वाणि शुक्तानि वर्जनीयानि । स्वभावतो मधुररसानियानि कालवशेनोदकादिना चाम्ली भवन्ति तानि शुक्त-
शब्दवाच्यानि । शुक्तं पर्युषितं चैवेति चतुर्थे कृतेऽपि शुक्तप्रतिषेधे दध्यादिप्रतिप्रसवार्थं पुनरिहोच्यते ॥ ९ ॥

(४) राघवानन्दः । माहिषं दुग्धादि विनारण्यानां । स्त्रीक्षीरं स्वभार्याया अन्यस्त्रियोवा । एतानि त्रीणि वर्ज्या-
न्येव ॥ ९ ॥

(५) नन्दनः । सर्वासां मृगीणां माहिषीं विनेति पाठः । कालातिपत्त्या स्वरसंविहाय रसान्तरगतं शुक्तम् ॥ ९ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्त्रीक्षीरं द्विस्तनीनाम् ॥ ९ ॥

दधिभक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसंभवम् ॥ यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः ॥ १० ॥

(१) मेधातिथिः । अविशेषेण सर्वशुक्तेषु प्रतिषिद्धेषु केषुचिदयमर्थवादः । शुक्तान्युच्यन्ते यानि प्राप्तस्वरसावस्था-
निकालात्ययेन द्रव्यान्तरसंसर्गेण वा म्लतामापद्यन्ते । यथा आतकादीनि मधुराणि चिरकालातिरसत्वाच्छुक्तानि भवन्ति
निष्पीडितो मधुररसः कालतो म्लतामेतीत्यादिना एवं विधानि तु यानि तु स्वभावतो म्लानि दाडिमामलकजम्बीरादीनि तानि
नैव शुक्तानि यानि च प्राप्तकालोत्पत्त्यादीनि । न ह्ययमा म्लपर्यायः शुक्तशब्दस्तत्र केवलानि पाकतः शुक्तानि प्रतिषिध्य-
न्ते । द्रव्यान्तरैश्च पुष्पमूलकादिभिर्योजितान्यत्र ज्ञायन्ते । तथाच गौतमः । शुक्तं केवलमदधि । अभिषूयन्ते अभिषव-
उदकेन संसृज्य परिवासनम् । यद्येवं काल एव तर्ह्यम्लताहेतुः । सत्यम् । एतान्यपि द्रव्याणि । तृतीयाच करणे सहयोगे वा ।

पुष्पादिभिरुदकेन सह अभिषूयन्ते सन्धीयन्ते । केचित्त्वाहुः यत्र पुष्पमूलान्यस्तृतांजनयन्ति । यानि दाडिमामलकादीनि शुक्तानि तानि भक्ष्याणि यानि दाक्षादिभिर्मधुरैरभिषूयन्ते सन्धीयन्ते तानि न भक्ष्यन्ते । अभिषवोऽप्युच्यन्ते शुक्तताजननं यानि पुष्पादिभिः शुक्तीक्रियन्ते नच दाक्षादीनि शुक्ततापादकानि किंतिर्हि केवल एव कालः । एतत्तु न सम्यक् । अशब्दार्थत्वान्नहि सोममभिषुणोतीति शुक्तं करोतीति प्रतिपत्तिः । किंतिर्हि य एव प्राग्व्याख्यातोर्थः । दधिसंभवं उदश्विन्मस्तु-
किलाट्कूर्चिकादि ॥ १० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दधिसंभवं तक्रनवनीतादि । यानि काञ्जिकादीनि अभिषूयन्ते मिश्रीक्रियन्ते । शुभैरनिषिद्धैः ॥ १० ॥

(३) कुङ्कुमः । शुक्तेषु मध्ये दधिभक्ष्यं दधिसंभवं च सर्वतक्रादि । यानितु पुष्पमूलफलैरुदकेन सन्धीयन्ते तानि भक्षणीयानि । शुभैरिति विशेषणोपादानान्मोहादिविकारकारिभिः कृतसंधानस्य प्रतिषेधः । तथाच बृहस्पतिः ॥ कन्दमूलफलैः पुष्पैः शस्तैः शुक्तान् वर्जयेत् । अविकारि भवेद्भक्ष्यमभक्ष्यं तद्विकारकृत् ॥ १० ॥

(४) राघवानन्दः । दधिसंभवं दध्युपादानं दधिमिश्रं च तेनामिक्षादिग्रहः । शुभैरिति विशेषणान्निषिद्धैतरैरभिषूयन्ते रसगन्धादीनि तान्यपि भक्ष्याणीत्यन्वयः ॥ कन्दमूलफलैः पुष्पैः शस्तैर्युक्तं तु वस्तुयत् । अविकारि भवेद्भक्ष्यमभक्ष्यं तद्विकारकृत् ॥ इति बृहस्पतिः ॥ १० ॥

(५) नन्दनः । शुक्तेषु वस्तुषु कानिचित्प्रतिप्रसूते दधीति ॥ १० ॥

(६) रामचन्द्रः । भक्ष्यमाह दधीति । पुष्पमूलफलैः शुभैरसैर्यान्यभिषूयन्ते मिश्रीक्रियन्ते तानि मेध्यानि ॥ १० ॥

ऋव्यादान् शकुनीन् सर्वान् तथा ग्रामनिवासिनः ॥ अनिर्दिष्टांश्चैकशफांष्टिद्विभं च विवर्जयेत् ॥ ११ ॥

(१) मेधातिथिः । ऋव्याद आममांसभक्षकाः कङ्कगृध्रादयः । अभक्ष्यवत्केवलाममांसभक्षकागृह्यन्ते । तत्रोभय रक्तामयूरादयः । ग्रामनिवासिनः अऋव्यादा अपि । एकशफा अश्वश्वतरगर्दभादयः । अनिर्दिष्टास्तु नाभक्ष्यत्वेनोक्तास्ते न भक्ष्या इति । ये तूक्ता स्तेनैव भक्ष्या ये त्वौष्ट्रवडवक्रक्षगोवानरगर्दभाः प्रजाकामस्तेषां च मांसनाश्रीयादिति । ननु च श्रुतित एव तत्र भक्ष्यावामिः प्रत्युत निर्दिष्टग्रहणे सति श्रुतौ चोदितानामन्यत्र भक्ष्यताशङ्का अनिर्दिष्टान्वर्जयेन्न निर्दिष्टानिति वाक्यार्थप्रतिपत्तेः । नच स्मृतौ केचिद्भक्ष्यत्वेन निर्दिष्टाः येन तद्यतिरिक्तविषयमनिर्दिष्टग्रहणं व्याख्यायेत । अतः श्रुतौ ये निर्दिष्टास्ते न भक्ष्या इति ग्रामोति । उच्यते । आचाराविरोधी सस्मृत्यर्थः । अनिर्दिष्टग्रहणमनुवादः । टिड्ढिभः शकुनिरेव टिड्ढितियोवाशते । प्रायेण शब्दानुकरणनिमित्तं शकुनीनां नामधेयप्रतिलम्भस्तदुक्तं निरुक्तकारेण काक इति शब्दानुकृतिस्तदिदं शकुनिषु बहुलमिति ॥ ११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ऋव्यं मांसं तन्मात्रादः ऋव्यादः । ग्रामनिवासिनो ग्राममात्रचरान् । अनिर्दिष्टान् भक्ष्यत्वेनानुक्तान् । तथैकशफानश्वादीन् ॥ ११ ॥

(३) कुङ्कुमः । आममांसये भक्षयन्ति ते ऋव्यादास्तास्तु सर्वाङ्गगृध्रादीन्पक्षिणो वर्जयेत् । तथा ग्रामनिवासिनश्च पक्षिणः पारावतादीन् । तथा श्रुतौ केचिदेकशफाभक्ष्यत्वेन निर्दिष्टाः तथा मोष्ट्रवाडवमालभेत तस्य च मांसमश्रीयादिति ।

* शस्तैः शुक्तान् वर्जयेत् = शस्तैर्युक्तं तु वस्तुयत् (अ)

केचिच्चानिर्दिष्टारासभादयस्तेषां मांसवर्जयेत् । येपि यज्ञाङ्गत्वेन विहितास्तेषामपि यज्ञएव मांसभक्षणं सर्वदा । टिट्ठिभा-
ख्यं च पक्षिणं वर्जयेत् ॥ ११ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचैतानेकोनत्रिंशतोनाद्यादित्याह । ऋव्यादानाम मांसभोजिनः । शकुनीन् पक्षिणः ।
ग्रामनिवासिनः पारावतादीन् । अनिर्दिष्टेति विशेषणात् त्वाष्ट्रं वाडवमालभेतेति तन्मांसं भक्ष्यमिति । एकशफानिति पक्षि-
विशेषणम् ॥ ११ ॥

(५) नन्दनः । अथ भक्ष्येष्वभक्ष्यानाह ऋव्यादानिति । ऋव्यं मांसं तदतिभक्ष्यतीति ऋव्यात् गृध्रादयः ऋव्यादः ।
ग्रामनिवासिनः पारावतादयः । अनिर्दिष्टाननुपदिष्टान् ॥ ११ ॥

(६) रामचन्द्रः । वर्ज्यानाह ऋव्यादानिति । ऋव्यं मांसं तद्भक्षयन्ति ये ऋव्यादास्तान् गृध्रादीन् । तथा सर्वान्याम-
निवासिनः पारावतप्रभृतीन् निर्निर्दिष्टाननिर्दिष्टान् भक्ष्यत्वेनाकथितानेकशफादीन् । टिट्ठिभः शब्दानुकारी एतादृशान्वर्जयेत्
॥ ११ ॥

कलविङ्कं प्लवं हंसं चक्राव्हं ग्रामकुक्कुटम् ॥ सारसं रज्जुवालं च दात्यूहं शुक्रसारिके ॥ १२ ॥

(१) मेधातिथिः । कलविङ्को ग्रामचटको निगमेष्टः ग्रामवासित्वात्तस्य सिद्धे प्रतिषेधे पुनः प्रतिषेधः स्त्रियाश्च-
टकाया अभ्यनुज्ञानार्थः । पुंशब्दो ह्ययं वृषभवत् । अन्ये त्वारण्यस्य निवृत्त्यर्थं मन्यन्ते । तेहि वर्षासु वनवासिनो भवन्ति ।
बाहुल्यव्यपदेशाच्च ग्रामचटका उच्यन्ते । यथामहिषा आरण्याः । प्लवहंसचक्रवाकानां वक्ष्यमाणजालपादप्रतिषेधात्सिद्धे
प्रतिषेधे नित्यार्थग्रहणम् । अत आख्यादीनां विकल्पेन भक्षणं गम्यते । ग्रामकुक्कुटं । ग्रामग्रहणादारण्याभ्यनुज्ञानम् । कुतः
पुनरारण्यस्या भक्ष्यताशङ्का । स्मृत्यन्तरेहि कुक्कुटो विकिराणामिति पठ्यते अतश्चाविशेषेणा भक्ष्यताप्राप्ता वचनेन तस्य सा-
मान्यप्रतिषेधस्य विशिष्टविषयता प्रज्ञायते । ननु विकल्पः कस्माद्भवत्यनेन शास्त्रेणास्याभ्यनुज्ञानाच्छास्त्रान्तरेण चाविशेषेण-
तस्यापि प्रतिषेधात् । नायं विकल्पस्य विषयः विरोधेहि तुल्यबलानां विकल्पो न चात्र विरोधोऽस्ति । न ह्यनयोः स्मृत्योः शास्त्र-
भेदोऽपि । सामान्यस्य विशेष उपसंहर्तुं न्याय्यत्वात् । शास्त्रान्तरतस्तृतीयस्याप्येकशास्त्रस्य दर्शितत्वात् । यद्येवं जालपादप्रतिषे-
धस्यापि हंसादिविशेष एवोपसंहारो युक्तो नाविशेषेण काकजालपादानां सर्वेषां प्रतिषेधो भवेदेवं यद्यपौरुषेयोऽयं ग्रन्थः स्यात् भि-
न्नकर्तृके त्वपौरुषेयत्वेन सामान्यस्य न किंचित्प्रयोजनम् । हंसादिविशेषमात्रपर्यवसाने भिन्नकर्तृकश्च पौरुषेयत्वे सति सा-
मान्यदर्शनो विशेषविषयमज्ञानं संभवति विशेषदर्शनोपि सामान्यविषयः उभयोश्च मूलकल्पनायामेकस्य सामान्यवेदनं-
वचनमूलकं कल्प्यते । अन्यस्य विशेषवचनं तयोश्च वैदिकयोर्भिन्नशाखाधीतयोरसति शास्त्रभेदे एकवाक्यतैव न्याय्या । न
च वेदे पर्यनुयोगोऽस्ति । किं सामान्येन यदि विशेषनिष्ठता तस्य कर्तुरभावात् । श्रुताद्धितत्र प्रतिपत्तिः केवलशब्दशक्तिस-
माश्रिता । न प्रयोजनवशेनार्थान्तरकल्पनं । रज्जुदालादयः शाकुनिकेभ्य उपलब्धव्याः ॥ १२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कलविङ्को वन्यो ग्राम्यश्चेति वन्यनिषेधार्थं पृथङ्निषेधः । प्लवजलकाकः । चक्राव्हश्चक्र-
वाकः । रज्जुवालोजलचरपक्षिभेदः ॥ १२ ॥

(३) कुल्लूकः । कलविङ्कं चटकं तस्य ग्रामारण्योभयवासित्वादेव निषेधः इत्यारण्यस्याप्यभक्ष्यत्वार्थजातिशब्देन निषे-
धः । प्लवाख्यं पक्षिणं तथा हंसचक्रवाकग्रामकुक्कुटसारसरज्जुवालदात्यूहशुक्रसारिकाख्यान्पक्षिणो वर्जयेत् । वक्ष्यमाणजाल-
पादनिषेधेनैव हंसचक्रवाकयोरपि निषेधसिद्धौ पृथङ्निषेधोऽन्येषामापदि जालपादानां विकल्पार्थः स च व्यवस्थितो विज्ञेयः ।

आपदिभक्ष्यानत्वनापदि इच्छाविकल्पस्यरागतएव प्रप्तेः । ग्रामकुक्कुटे तु ग्रामग्रहणमारण्यकुक्कुटाभ्यनुज्ञानार्थं न त्वैतद्यति-
रिक्तग्रामवासिविकल्पार्थम् । आपदर्थे गतप्रयोजनंभवति । वाक्यान्तरगतविशेषावधारणपरत्वस्यान्याय्यत्वात् ॥ १२ ॥

(४) राघवानन्दः । कलविङ्कोग्रामचटकः । ग्रामवासित्वात्तस्य प्रतिषेधे सिद्धे पुनर्ग्रहणमष्टकासु स्त्रीणामारण्या-
नांचानुमत्यर्थम् ॥ १२ ॥

(५) नन्दनः । कलविङ्कोग्रामचटकः । प्लवोहंसविशेषः ॥ १२ ॥

(६) रामचन्द्रः । कलविङ्कः ग्रामचटकं । प्लवजलकुक्कुटं । हंसं चक्रवाकं ग्रामकुक्कुटं सारसं रज्जुदालं वृक्षकुक्कुटं
दात्यूहं । दात्यूहः कालकण्ठकइत्यमरः । एतादृशांश्च वर्जयेत् ॥ १२ ॥

प्रतुदान् जालपादांश्च कोयटिनखविष्किरान् ॥ निमज्जतश्च मत्स्यादान् सौनं वल्लूरमेव च ॥ १३ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रतुद्य प्रवृत्त्य चञ्च्वा ये भक्षयन्ति । त्वभावएषणं पक्षिणां । प्रतुदाः शतपत्रादयः । जाल-
पादा आख्यादयः । तेषां विकल्पउक्तौ ननु च यत्र विकल्पउच्यते तत्रेच्छातः प्रवृत्तिः । साचाप्रतिषिद्धेष्वपि स्थितैव लौकिकं हि
भक्षणं तत्सत्येवाधित्वे न शास्त्रीयं येन नियमतः स्यात् । तत्र विकल्पितस्य प्रतिषेधस्य न किञ्चित्प्रयोजनं पश्यामः ।
उच्यते । दत्तोत्तरमेतत् । यत्राबुद्धिपूर्वप्रयोगाच्छब्दादेवार्थावगतिः । पौरुषेयः स्वयंप्रत्ययः समाहितचेतसा प्रयत्नवता शत-
साहसिकसंक्षेपमाचार्येण प्रणीतो यत्राशक्यमनर्थकं प्रयोक्तुं अत आचार्याभिधानं उन्नीयते नूनं जालपादे प्रति
षेधत्वसति येन तद्विशेषहंसं स्वशब्देन निषेधयति । यत एतदपि स्मरणमेव अन्यैस्त्वन्नेन जालपादस्त्विति प्रमादपाठः स्यात्
उक्तंचैतदिङ्गितेन चेष्टितेन महता वासूत्रप्रणयनेनाचार्याणामभिप्राया लक्ष्यन्ते विशेषश्चात्रानुमीयते । अनापदि न भक्षये
दितिवक्ष्यति सामान्यप्रतिषेधउभयोरर्थवत्त्वाय । यत्र मांसविक्रयार्थाः पशवोहन्यन्ते सासूना आपणो मांसस्येत्येके । वल्लू-
रं मांसं संशोष्य चिरस्थापितं । नखैर्विकीर्य भक्षयन्ति ते नखविष्किराः । मयूरबलाकादयः । आपत्त्विति वचनानु-
तेषां पाक्षिकी भक्ष्यताप्यस्ति सहि पठति कुक्कुटो विकिराणामिति नचास्य मानवस्य वचनस्य कुक्कुटोपसंहारः शक्यो व-
क्तुं कुक्कुटनामग्रहणस्यानर्थक्यप्रसंगात् ॥ १३ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । प्रतुदान् चञ्च्वाप्रतुद्य रुमीन् भक्षयतः । जालपादानुक्तहंसादिव्यतिरिक्तानपि तेषां पृथग्व-
चनं दोषाधिक्यार्थम् । नखविष्किरान् नखैर्भूमिविकीर्य रुमीनुत्पाद्य भक्षयतः । निमज्जतो निमज्जनिमज्ज्य मत्स्यादान्
मत्स्यान् भक्षयतः । सूना अनेकप्राणिप्राणवियोजनस्थानं ततो गृहीतं सौनं । वल्लूरं शुष्कमांसम् ॥ १३ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रतुद्य चञ्च्वा ये भक्षयन्ति तान् दार्वाघाटादीन् । जालपादानिति जालाकारपादान् शरारिप्रभृतीन् ।
कोयट्याख्यं पक्षिणं नखविष्किरान् नखैर्विकीर्य ये भक्षयन्ति तान् भ्यनुज्ञातारण्यकुक्कुटादिव्यतिरिक्तान् भ्येनादीन् । तथा
निमज्ज्य ये मत्स्यान् खादन्ति तान् महुप्रभृतीन् । सूना मारणस्थानं तत्र स्थितं यन्मांसं भक्ष्यमपि । वल्लूरं शुष्कमांसं एतानि
वर्जयेत् ॥ १३ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रतुदान् दार्वाघाटादीन् । जालपादान् शरारिप्रभृतीन् । हंसचक्रवाकयोर्जालपादत्वेपि पृथग्-
ग्रहणमतिनिन्दार्थम् । नखविष्किरान् कुक्कुटाद्यतिरिक्तत्वे सन्ति नखैर्विकीर्य ये भक्षयन्ति तान् । मत्स्यादान् महुप्रभृतीन् ।
सौनं वधस्थलस्थितमज्जातमांसम् । वल्लूरं शुष्कमांसम् ॥ १३ ॥

* आपदर्थे गतप्रयोजनंभवति=त्वपदानुगतेप्रयोजनसंभवेसति (अ)

(५) नन्दनः कोयष्टिष्टिभक्तः । नखैर्विकीर्य ये भक्षयन्ति ते नखविष्किराः । निमज्जन्तो मत्स्यादाजलव्यालादयः । सौनं सूनास्थानम् । वल्लूरं शुष्कमांसम् । उत्तमं शुष्कमांसं स्यात्तद्वल्लूरं त्रिलिङ्गकमित्यमरः ॥ १३ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रतुदशब्दकुर्वाणां स्तित्रिदीन् । जालपादांश्च जालाकारपादांश्च । नखैर्विकीर्य ये भक्षयन्ति तान् नखविष्किरान् श्येनादीन् । तथा निमज्जतः मत्स्यादीन् पक्षिणः । सूनास्थाने मांसं सौनं । वल्लूरं शुष्कमांसम् ॥ १३ ॥

बकं चैव बलाकां च काकोलं खञ्जरीटकम् ॥ मत्स्यादान् विद्वराहान्श्च मत्स्यानेव च सर्वशः ॥ १४ ॥

(१) मेधातिथिः । बकबलाकाकाकोलादीनां मत्स्यादग्रहणात्सिद्धे प्रतिषेधे तदन्येषां विकल्पार्थं पुनर्वचनम् । मत्स्यादा अपक्षिणोपि मत्स्यादग्रहणादभक्ष्याविज्ञेयाः नक्रादयः क्रियानिमित्तत्वान्मत्स्यादशब्दस्य । काकोलश्च श्येनो देशान्तरप्रसिद्धेरयं बालीकेष्वेवमुच्यत इति प्रसिद्धम् । विद्वराहप्रतिषेधाच्चारण्याभ्यनुज्ञायामप्रतिषेधश्च पूर्वसूत्रे प्रकरणाच्छकुनिवशेषणार्थो विज्ञेयः । एवं हि चेह विद्वराहग्रहणमर्थवद्भवति ग्रामवासी शूकरो विद्वराहः । ननु च यदितत्र प्रकरणादग्रामवासिनः पक्षिणो गृह्यन्ते । इहापि मत्स्यादाः पक्षिण एव गृहीतुं न्याम्याः । नैवं न चात्र शकुनीनां प्रकरणमस्ति विद्वराहमत्स्यानामिति पक्षिणामपि निर्देशार्थम् । सर्वशः सर्वदा । उत्सर्गोऽयं अस्यापवादवक्ष्यामः ॥ १४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बलाका बिसकण्ठी । काकोलोद्गोणकाकः तेन काकमात्रोपलक्षणम् । मत्स्यादान् मत्स्यभक्षिणो वन्यान्पिवराहान् तथा विद्वराहान् विष्टाभक्षकान् । मत्स्यानेव च सर्वशः सर्वे मत्स्यान् भक्ष्या इत्यर्थः ॥ १४ ॥

(३) कुल्लूकः । बकबलाकाद्गोणकाकखञ्जनांस्तथा मत्स्यादान् पक्षिव्यतिरिक्तानपि नक्रादीन् विद्वराहान्श्च । विडिति-विशेषणमारण्यसूकराभ्यनुज्ञानार्थम् । मत्स्यांश्च सर्वान्वर्जयेत् ॥ १४ ॥

(४) राघवानन्दः । काकोलं द्रोणकाकं । खञ्जरीटं खञ्जन इति प्रसिद्धम् । मत्स्यादान् नक्रादीन् । बकबलाकयोर्मत्स्यादत्वेन प्रतिषिद्धत्वेऽपि पुनर्ग्रहणमेषां विकल्पार्थमिति मेधातिथिः ॥ १४ ॥

(५) नन्दनः । बलाका बकविशेषः । काकोलोद्गोणकाकः । मत्स्यादान् नक्रादयः । मत्स्यादनिषेधे सामान्यतः सिद्धेऽपि विशेषणकेषां चिदुपादानदोषातिशयसूचनार्थम् ॥ १४ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्रोणकाको काकोलः । विद्वराहं ग्रामशूकरं । सर्वशः मत्स्यानेव वर्जयेत् ॥ १४ ॥

यो यस्य मांसमश्नाति सतन्मांसादुच्यते ॥ मत्स्यादः सर्वमांसादस्तस्मान्मत्स्यान् विवर्ज-

येत् ॥ १५ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्य मत्स्यप्रतिषेधविधेरर्थवादोऽयम् । यत्संबन्धिमांसं योऽश्नाति सतन्मांसं संबन्धिन्याशनक्रियया व्यपदिश्यते । यथा सर्पादो नकुलो मार्जारो मूषकादित्यादि । यस्तु मत्स्यादः ससर्वमांसाशी भवति । गोमांसादित्यपि व्यपदेष्टुं युक्तः । अतो निन्दातिशयान्मत्स्यान् विवर्जयेत् ॥ १५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतदुपपादयति यो यस्येति । यस्य मांसं छागादेः योनरोऽश्नाति सतन्मांसादित्येवोच्यते लोकैः । यस्तु मत्स्यादः ससर्वमांसादिति । मत्स्यानां सर्वमांसाशित्वेन तदशने सर्वमांसाशनदोषात् ॥ १५ ॥

(३) कुल्लूकः । मत्स्यभक्षणानिन्दा माहं यो यस्येति । यो यदीयं मांसं खादति सतन्मांसादएव परं व्यपदिश्यते यथा मार्जारो मूषिकादः । मत्स्यादः पुनः सर्वमांसभक्षकत्वेन व्यपदेष्टुं योग्यस्तस्मान्मत्स्यान् खादेत् ॥ १५ ॥

(४) राघवानन्दः । मत्स्यस्य सर्वप्राणिभक्षणयोग्यत्वात्तद्वक्षकस्यापि सर्वमांसादत्वमित्याह यदिति ॥ १५ ॥

(६) रामचन्द्रः । योयस्य जीवस्य मांसमश्नाति सतन्मांसादुच्यते मत्स्यान्वर्जयेत् ॥ १५ ॥

पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः ॥ राजीवान् सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैव सर्वशः ॥ १६ ॥

(१) मेधातिथिः । पाठीनरोहितौ मत्स्यजातिविशेषौ तयोर्हव्यकव्यनियोगेन आन्धादौ भक्ष्यताऽभ्यनुज्ञायते । नान्वाहिके भोजने । राजीवसिंहतुण्डसशल्कानां सर्वशः हव्यकव्याभ्यामन्यत्राप्यनिवृत्तिर्भोजने । राजीवाः । पद्मवर्णाः कैश्चिदिष्यन्ते । अपरैस्तु राजयोरेषायेषांसन्ति । सिंहतुण्डाः सिंहाकृतिमुखाः । सशल्काः शकलिनः ॥ १६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्रविशेषमाह पाठीनेति । पाठीनोववालः । आद्यावदनाहौ । हव्यकव्ययोः श्राद्धस्य देवपिच्यभागयोर्नियुक्तौ । नियोगेसति तेन श्राद्धे पाठीनरोहितयोराजीवादीनां च वक्ष्यमाणानां च भक्षणे न मत्स्यभक्षणदोषः । ततोऽन्यत्र तु भक्षणे मत्स्यांश्च कामतो जग्ध्वा सोपवासरूपहं वसेदिति स्मृत्यन्तरोक्तं प्रायश्चित्तमित्यर्थः । एतेनैत एव मत्स्याः श्राद्धेया इत्यपि दांशितम् । नियुक्तैरितिकचित्पाठः । राजीवो राजग्रीवाख्यो मत्स्यः । सिंहतुण्डाः सिंहसदृशवक्त्रा मत्स्यभेदामदुरादयोऽशल्का अपि । सशल्कानखण्डत्वग्युक्तान् रोहितादिभ्योन्यानपि सर्वान् । सर्वत्र चात्र नियुक्तावित्यनुवर्तते पूर्वमत्स्यानेव च सर्वश इति सर्वमत्स्यानारागप्राप्तभक्षणनिषेधात् ॥ १६ ॥

(३) कुड्मकः । इदानीं भक्ष्यमत्स्यानाह पाठीनरोहिताविति । पाठीनरोहितौ मत्स्यभेदौ भक्षणीयौ । हव्यकव्ययोर्नियुक्ताविति समस्तवक्ष्यमाणभक्षणनिषिद्धोपलक्षणार्थं तेन प्राणान्त्ययादावदोषः । तथा राजीवाख्यां सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्च सर्वान्वक्ष्यमाणलक्षणोपेतानद्यात् । मेधातिथिगोविन्दराजौ तु पाठीनरोहितौ देवपैत्रादिकर्मणि नियुक्तावेवादनीयौ न त्वन्यदा राजीवसिंहतुण्डसशल्कमत्स्यास्तु हव्यकव्याभ्यामन्यत्राऽपि भक्षणं भयादित्याचक्षतुः । न तन्मनोहरं । पाठीनरोहितौ श्राद्धे नियुक्तौ श्राद्धभोक्तैव भक्षणीयौ न तु श्राद्धकर्त्रापि राजीवादयो हव्यकव्याभ्यामन्यत्राऽपि भक्ष्या इत्यस्याप्रमाणत्वात् । मुन्यन्तरैश्च रोहितपाठीनराजीवादीनां तुल्यत्वेनाभिधानात् । तथा च शङ्खः ॥ राजीवाः सिंहतुण्डाश्च सशल्काश्च तथैव च । पाठीनरोहितौ चाऽपि भक्ष्यामत्स्येषु कीर्तिताः ॥ याज्ञवल्क्यः ॥ भक्ष्याः पञ्चनखाः श्वाविद्रोधाः कच्छपशल्यकाः । शशश्च मत्स्येष्वपि तु सिंहतुण्डकरोहिताः ॥ तथा पाठीनराजीवसशल्काश्च द्विजातिभिः ॥ हारीतः सशल्कान् मत्स्यान् आयायोपपन्नान् भक्षयेत् । एवं च ॥ भोक्तैवाद्यौ न कर्त्रापि श्राद्धे पाठीनरोहितौ । राजीवाद्यास्तथा नेति व्याख्या न मुनिंसंमता ॥ १६ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तेषु प्रतिप्रसवमाह पाठीनेत्यादि । हव्यकव्ययोर्नियुक्तौ विनियुक्तौ सन्तावाद्यौ भक्ष्यौ । राजीवादिष्वन्येव योजना । मेधातिथिगोविन्दराजौ तु राजीवादयोऽन्यदापि भोक्तव्या इत्याहुतुः ॥ राजीवाः सिंहतुण्डाश्च सशल्काश्च तथैव च ॥ पाठीनरोहितौ चापि भक्ष्यामत्स्येषु कीर्तिताः इति शङ्खवचनात् ॥ तत्र सहसदंष्ट्रः पाठीनः राजीवः शकुलः सिंहतुण्डः सिंहस्येव मुखस्य सप्राणिप्रभेदः । सशल्काः सबल्काः । रोहितराजीवयोः सशल्कत्वेऽपि पुनर्ग्रहणमत्यादरार्थम् ॥ १६ ॥

(५) नन्दनः । अत्रापवादमाह पाठीनेति । पाठीनश्चक्राख्यो मत्स्यविशेषः । आद्यौ भक्ष्यौ । सर्वावस्थान् भक्ष्यावित्युक्तं नियुक्तौ हव्यकव्ययोरिति । राजीवान् पद्मवर्णान् । सिंहतुण्डान् सिंहमुखान् । सहशल्कैर्वल्कलैर्वर्तन्त इति सशल्काः । एतात्राजीवादीन् मत्स्यविशेषानाद्यादिति शेषः । सर्वशो हव्यकव्ययोरनिशुक्तानपीत्यर्थः ॥ १६ ॥

(६) रामचन्द्रः । पाठीनादीन् भक्ष्यानाह पाठीनेति । पाठीनरोहितौ रोहितसंज्ञो लोहितवर्णः । हव्यकव्ययोः कार्यं

आद्यौ भक्ष्यौ । राजीवान् पद्मवर्णान् सिंहतुण्डांश्च सिंहमुखान्मत्स्यान् सशल्कान् शल्कैः सह वर्तन्ते सशल्कास्तान् भक्षयेत् ॥ १६ ॥

न भक्षयेदेकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान् ॥ भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान् सर्वान् पञ्चनखांस्तथा ॥ १७ ॥

(१) मेधातिथिः । एकचराः सर्पलूकादय एकाकिनश्चरन्ति । अज्ञातानामतो जातिविशेषतश्च । मृगद्विजान् मृगाः पक्षिणश्च न भक्ष्याः । भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान् ये प्रतिषिद्धास्ते ताद्रूप्ये असति भक्ष्यतांप्राप्ताः समुद्दिष्टा इव भवन्ति । नतु भक्ष्याणां समुद्देशोऽस्ति । परिहर्तव्यतया विशेषतोऽविज्ञातान् भक्ष्यपक्षपतितान् भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टा इत्येवमुच्यन्ते । पञ्चनखाश्च वानरशृगालादयः । सर्वं ग्रहणं पादपूरणार्थम् ॥ १७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एकचरान् संघचारिजातीयान्दैवादिकाकिनश्चरतः भक्ष्येषु समुद्दिष्टान् गणितानपि । अज्ञातांश्चाप्रसिद्धान्मृगद्विजान् द्विजाः पक्षिणः । सर्वान् पञ्चनखान् वक्ष्यमाणव्यतिरिक्तान् ॥ १७ ॥

(३) कुङ्कुमः । यएकाकिनः प्रायेण चरन्ति सर्पादयस्तानेकचरान् तथा यअभियुक्तैरपि नामजातिभेदेनावधार्य विभागतश्च मृगपक्षिणोन् ज्ञायन्तेतान् भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टानितिसामान्यविशेषनिषेधाभावेन भक्ष्यपक्षनिक्षिप्तान्भक्ष्यत्वेन समुद्दिष्टांश्च तथा सर्वान्पञ्चनखान्वानरादीन् भक्षयेत् ॥ १७ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रकृतमनुसरति नेति । एकचरान् सर्पादीन् भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान् समुद्दिश्यमानान् एकचरान् स्वतन्त्रानिति वा न भक्षयेत् । मृगाश्च द्विजाः पक्षिणश्च तान् अज्ञातान् जातितोनामतश्च पञ्चनखान्वानरादींश्च न भक्षयेदित्यनुषङ्गः । श्वाविधादीन्पञ्चनखान्पञ्च वर्जयित्वाऽन्यान् भक्षयेदित्यर्थः ॥ १७ ॥

(५) नन्दनः । एकचरान् सर्पादीन् । अज्ञातान्मनुष्यैर्नामतोजातितश्च । भक्ष्येषु सामान्यतोऽभक्ष्यतया न ज्ञातेष्वपि समुद्दिष्टान्विशेषतः । शास्त्रान्तरेण भक्ष्यतया निर्दिष्टान्भक्षयेत् ॥ १७ ॥

(६) रामचन्द्रः । एकचरान् भक्षयेत् । अज्ञातांश्च मृगद्विजान् जातितोये अज्ञातामृगाः पक्षिणश्च तान्भक्षयेत् । सर्वान्पञ्चनखान्भक्ष्येषु समुद्दिष्टानपि नभक्षयेत् ॥ १७ ॥

श्वाविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा ॥ भक्ष्यान् पञ्चनखेष्वाम्बुनृष्टांश्चैकतोदतः ॥ १८ ॥

(१) मेधातिथिः । पञ्चनखानांमध्याच्छ्वावित्कादयोभक्ष्याः । स्मृत्यन्तरे तु खड्गे विकल्पः । तथाच वसिष्ठः । खड्गे तु विवदन्तइति । उष्ट्रवर्जिताएकतोदतोगोव्यजमृगाभक्ष्याः । ननुच श्वावित्प्रभृतीनांपञ्चनखानांभक्ष्यत्ववचनादन्येषामभक्ष्यतासिद्धेःसर्वान्पञ्चनखानिति प्रतिषेधवचनमनर्थकम् । नैषदोषः । सर्वशब्देन प्रतिषेधे स्पष्टा प्रतिपत्तिर्भवति । भक्ष्यविशेषनिर्देशेन तदन्येषांयाअभक्ष्यताप्रतिपत्तिः साआनुमानिकीप्रतिपत्तिः । गौरवंहितथास्यात् ॥ १८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्वावित् कण्टकी प्राणिभेदः यः श्वानंस्वगात्रकण्टकैर्विध्यति । शल्यकस्तत्सदृशोपरः । एकतोदतः एकदन्तपङ्क्तियुक्तान् ॥ १८ ॥

(३) कुङ्कुमः । अत्रप्रतिप्रसवमाह श्वाविधमिति । श्वाविधसेधाख्यंप्राणिभेदं शल्यकं तत्सदृशंस्थूललोमानम् । तथा गोधागण्डकच्छपशशांन्पञ्चनखेषु भक्ष्यान्मन्वादयः प्राहुः । तथा उष्ट्रवर्जितानेकदन्तपङ्क्त्युपेतान् ॥ १८ ॥

(४) राघवानन्दः । पञ्चनखानांमध्ये पञ्चानामेव हव्यकव्यार्थत्वम् । तत्र श्वाविधः शुनोर्विध्यतीति दन्तुरः ।

शल्यकं शल्यानिकण्टकाकाराणि रोमाणि सन्ति यस्यतं । गोधा रुकलासाकारा । देवान्पितृसमभ्यर्च्य खादन्मांसं दु-
प्यतीत्युक्तेः । अनुष्ठान् उष्ट्रभिन्नान् । एकतोदतः एकपङ्क्तिदन्तयुक्तान्गवादीन् ॥ १८ ॥

(५) नन्दनः । पञ्चनखेष्वपि केषांचिद्भक्षणं प्रतिप्रसौति श्वाविधमिति । शल्यकः शलली । गोधा रुकलासानुका-
रिणी । खड्गः पिच्येप्रशस्तोष्ठगविशेषः । अनुष्ठानुष्ट्वार्जितान् । एकतोदतोऽजप्रभृतीन् ॥ १८ ॥

(६) रामचन्द्रः । श्वाविधं सेधाख्यं । गोधा रुकलासानुकारिणी । खड्गकूर्मशशांस्तथा भक्ष्यानाह । अनुष्ठान्
उष्ट्रव्यतिरिक्तान् ॥ १८ ॥

छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् ॥ पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्या जग्ध्वा पतेद्विजः ॥ १९ ॥

(१) मेधातिथिः । छत्राकं कवकानि । विड्वराहः ग्रामशूकरः स्वतन्त्रविहारः एतानिभक्षयित्वापतितोभवेत्
पतितप्रायश्चित्तंकुर्यात् । वक्ष्यति च । गर्हितान्नाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट् ॥ १९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । जग्ध्वा एकैकं प्रत्येकमेव स्मृत्यन्तरे निषेधात् । पतेत् द्विजातिकर्मभ्योहानिः पतनमिति-
गौतमोक्तपातित्यवान्भवति । तेन प्रायश्चित्तचरणात्माक् संख्यादावनधिकारउक्तः । एवंयत्रयत्रान्यदोषे पातोक्तस्तत्र
द्रष्टव्यम् ॥ १९ ॥

(३) कुल्लूकः । कवकग्रामशूकरलशुनादीनामन्यतमंबुद्धिपूर्वकं गुरुप्रायश्चित्तोपदेशादभ्यासतोभक्षयित्वा द्विजातिः
पतति । ततश्च पतितप्रायश्चित्तंकुर्यात् । गर्हितानां तथा जग्धिः सुरापानसमानि षडिति ॥ १९ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रायश्चित्तार्थपुनश्छत्राकादिग्रहणम् । मत्या ज्ञानेन जग्ध्वा भक्षयित्वा पतेदतःपतितस्येव
प्रायश्चित्तंकुर्यादिति ॥ १९ ॥

(५) नन्दनः । प्रतिषिद्धेष्वपिकेषांचिद्दर्जनीयतामन्वाह छत्राकमिति । छत्राकं द्विविधं भूजंवृक्षजंचेति ॥ १९ ॥

(६) रामचन्द्रः । भक्षणे प्रत्यवायमाह छत्राकमिति । मत्या ज्ञात्वा जग्ध्वा भक्षयित्वा द्विजः पतति पतितोभवेत् ।
पुनर्लशुनादिग्रहणंप्रायश्चित्तातिशयार्थम् ॥ १९ ॥

अमत्यैतानि षट् जग्ध्वा रुच्छं सान्तपनं चरेत् ॥ यतिचान्द्रायणं वापि शेषेषूपवसेदहः ॥ २० ॥

(१) मेधातिथिः । अमत्याअबुद्धिपूर्वषट्जग्ध्वाषण्णामन्यतममपि भक्षणस्यअविधेयत्वनिमित्ततया साहित्यस्या-
विवक्षा । शेषेषु अभक्ष्येषु भक्षणे लोहितवृक्षनिर्यासादिषु एकमहोरात्रं न भुञ्जीत । अहःशब्दोरात्रावपि दृष्टप्रयोगः ।
अहश्च रुष्णमहरर्जुनंचेति । येषु चात्र प्रकरणे प्रतिषिद्धेषु प्रायश्चित्ताधिकारे प्रतिपदंप्रायश्चित्तमन्यद्दक्ष्यते ऋग्यादशुक्-
रत्यादि तत्र तदेव द्रष्टव्यं प्रतिपदविहितत्वात् । अस्य चोपवासस्याऽन्यत्र चरितार्थत्वात् ॥ २० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मतिरिच्छा तदभावोऽमतिः । षट् षण्णामध्ये यत्किंचिदेकम् । अत्रत्वमत्या भक्षणेवि-
हितंयदकामानांकामात्तद्विगुणमिति वचनात् मतिभक्षणप्रायश्चित्तद्विगुणमूलम् । सांतपनं द्यहसाध्यं वक्रमात्रप्रवेशे । सम्य-
ग्भक्षणे तु यतिचान्द्रायणम् । शेषेषु अभक्ष्येष्वभेद्यप्रभवकन्दादिष्वमत्याभक्षितेषु । मत्या द्यहोपवासः । एतच्च तन्मध्य-
पतिताल्पप्रत्यवायहेतुभक्षणे पेयूषपानमत्स्यभक्षणादौ स्मृत्यन्तरे प्रायश्चित्ताधिक्यविधानात् ॥ २० ॥

(३) कुल्लूकः । एतानि छत्राकादीनि षट् बुद्धिपूर्वकमेव भक्षयित्वाऽभिधेयभक्षणस्यनिमित्तत्वेन साहित्यस्या-
विवक्षितत्वात् । एकादशाध्यायवक्ष्यमाणस्वरूपं समाहसाध्यं सान्तपनं यतिचान्द्रायणं वाचरेत् । एतद्वतिरिक्तेषु लोहित-

वृक्षनिर्यासादिषु प्रत्येकं भक्षणदहोरात्रोपवासं कुर्यात् । छत्राकादीनां च प्रायश्चित्तापकर्षोर्वर्जनादरार्थः । शेषेषूपवसेदहरि-
तिलाघवार्थं तत्र हि क्रियमाणे लोहितनिर्योसग्रहणमपि कर्तव्यं स्यात् ॥ २० ॥

(४) राघवानन्दः । शेषेषु छत्राकादिषु वर्जितेष्वमेध्यप्रभवादिपञ्चनखान्तेषूपवासमात्रम् । कामतो भक्षणे प्रायश्चित्तम् ॥ २० ॥

(६) रामचन्द्रः । एतानि छत्राकादीनि षडमत्याऽज्ञानेन जग्ध्वा भक्षयित्वा रुच्छं रुच्छसंज्ञं व्रतं चरेत् । यतीनां यच्चान्द्रायणतंचरेत् । शेषेषु छत्राकादिव्यतिरिक्तेषु वस्तुषु भुक्तेषु सत्सु अहः उपवसेत् ॥ २० ॥

संवत्सरस्यैकमपि चरेत् रुच्छं द्विजोत्तमः ॥ अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥ २१ ॥

(१) मेधातिथिः । भोज्यशूद्रगृहभोजिनो ब्राह्मणस्येदमुच्यते । यस्य शूद्रस्य गृहे यानि ब्राह्मणानामभोज्यान् य-
न्नानि संभवन्ति न दूरतः परिह्रियन्ते तादृशस्य गृहे यो ब्राह्मणोऽन्नं भुङ्क्ते तस्य प्रतिषिद्धान् भोजनाशङ्कायां प्राजापत्यरुच्छ-
चरणमुपदिश्यते । अविशेषनोदनायां प्राजापत्यं रुच्छं प्रतीयत इति वक्ष्यामः । अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं मज्ञातदोषशङ्काया-
माह । दोषो यदि भुङ्क्ते तस्य शुद्ध्यर्थं । ननु च ईदृशस्य शुद्धिवक्ष्यति अदृष्टमद्विनिर्णिक्तमिति तस्य विषयंतत्रैव दर्श-
यिष्यामः । ज्ञातस्य तु दोषस्य विशेषतः वैशेषिकं प्रायश्चित्तं कर्तव्यम् । यस्य यद्विहितं प्रतिपदम् ॥ २१ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । संवत्सरस्येति षड्या तन्मध्य इति विवक्षितम् । रुच्छं प्राजापत्यं । द्विजोत्तमो विप्रः । अपि-
शब्देन शक्तस्याधिककरणमुक्तम् । अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं अज्ञायमानदुष्टसंसर्गभुक्तान् दोषनिवृत्त्यर्थम् । ज्ञातस्य तु विशेष-
तो यत्र यथोक्तं तदेव ॥ २१ ॥

(३) कुल्लूकः । द्विजोत्तमपदं द्विजातिपरं त्रयाणां प्रकृतत्वात् एतदुक्तं द्विजानामित्युपसंहाराच्च । द्विजातिः संवत्सरमध्य-
एकमपि रुच्छं प्रथमात्मना प्राजापत्याख्यमज्ञातभक्षणदोषोपशमनार्थमनुतिष्ठेत् । ज्ञातस्य पुनरभक्ष्यभक्षणदोषस्य विशेष-
तो यत्र यद्विहितं तदेव प्रायश्चित्तं कुर्यात् । यत्तु । त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन् । अदृष्टमद्विनिर्णिक्तं यच्च
वाचा प्रशस्यत इति ॥ तद्व्यशुद्धिप्रकरणपठितप्रायश्चित्तव्यतिरिक्तद्रव्यशुद्धिविशेषेऽवतिष्ठते ॥ २१ ॥

(४) राघवानन्दः । तेषामज्ञानतो भक्षणे त्वाह समिति । अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं मिदं रुच्छमात्रमिति शेषः । विशेषतः
विशेषाकारेण छत्राकादीनामुक्तत्वात् ॥ २१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थमेकं रुच्छं संवत्सरस्य संवत्सरपर्यन्तं चरेद्विजोत्तमः । ज्ञातस्य ज्ञानपूर्वभक्ष-
तस्य विशेषतः ॥ २१ ॥

यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः ॥ शृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्योऽस्माचरत्पुरा ॥ २२ ॥

(१) मेधातिथिः । भक्ष्यप्रसंगेन हि साभ्यनुज्ञायते । अत्यर्थं क्षुत्पीडायां मृत्यादेर्भोजनान्तरासंभवे भक्ष्यमृगपक्षि-
वधः कर्तव्यः । शृत्याः प्राग्व्याख्याताः । अगस्त्यस्तथाकृतवानित्यगस्त्यग्रहणं प्रशंसार्थम् । यज्ञार्थमित्याद्यर्थं श्लोको-
ऽर्थवाद एव । तत्र हि वधः प्रत्यक्षश्रुतिविहितत्वादेव प्रसिद्धः । प्रशस्ता ये भक्ष्यतयाऽनुज्ञाताः । एष एवार्थोत्तरश्लोके
विस्तरतः कर्मार्थवादतया कथ्यते ॥ २२ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अत्र मांसेषु भक्ष्याणि कानिचिदुक्तानि मांसोत्पादनं च प्राणिनो हत्वा हतानां वा मांस-

ग्रहणेनेति द्विधा तत्रैमेत्राब्राह्मणउच्यतइत्यादिषु प्राणिवधस्यातिपापहेतुत्वंप्रतीयते तथाच स्वयंप्राणिवधाचरणेपि यत्र ब्राह्मणानां तादृशोहिंसादोषस्तत्प्रसंगात्कथयति यज्ञार्थमिति । यज्ञार्थं पाकयज्ञहविर्यज्ञसोमयज्ञसिन्ध्यर्थं वध्याः । स्वयं भृत्यानां भरणीयानांमातापितृभार्यादीनां दुर्भिक्षाद्यापदि वृत्तिर्जीवनमात्रं तदर्थम् । अगस्त्योहाचरदुभयार्थम् । अगस्त्यग्रहणं ब्राह्मणकार्यतां दर्शयितुम् ॥ २२ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानींभक्षणप्रसंगेन यागाद्यर्थेहिंसामप्यनुजानाति यज्ञार्थमिति । ब्राह्मणादिभिर्गार्थप्रशस्ताः शास्त्रविहितामृगपक्षिणोवध्याः । भृत्यानांचावश्यभरणीयानांवृद्धमातापित्रादीनांसंवर्धनार्थम् । यस्मादगस्त्योमुनिः पूर्वतथाकृतवान् । परकृतिरूपोयमनुवादः ॥ २२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच भक्ष्यप्रसङ्गेन हिंसांकुर्वित्यनुजानाति यज्ञार्थमिति । भृत्यानां भरणीयानां । सदाचारप्रमाणयति अगस्त्यइति ॥ २२ ॥

(५) नन्दनः । भक्ष्यत्वेनानुज्ञातानांमृगपक्षिणांयज्ञार्थभृत्यार्थंच वधोब्राह्मणानामपि निर्दोषइत्याह यज्ञार्थमिति ॥ २२ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्वाभ्यामाह यज्ञार्थमिति । मृगपक्षिणः वध्याहिंस्यायज्ञार्थब्राह्मणैः प्रशस्ताउक्ताः । अगस्त्यः भृत्यानांपित्रादीनांवृत्त्यर्थं पुरा आचरत् ॥ २२ ॥

बभूवुर्हि पुरोडाशाभक्ष्याणांमृगपक्षिणाम् ॥ पुराणेष्वपियज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च ॥ २३ ॥

(१) मेधातिथिः । षट्विंशत्संवत्सरंनाम सत्रं तत्र मृगपक्षिवधआम्नातः सोनेनानुद्यते । इदंतत्रब्राह्मणं संस्थितेऽहनि गृहपतिर्मृगयांयाति सतत्रयान्यान्मृगान्हन्ति तेषांतरसाःपुरोडाशाभवन्ति । अर्थवादत्वाद्बभूवुरितिभूतप्रत्ययेन विवक्षा तेमाद्यत्वेपिभवन्ति । एवंपुराणेष्वपि न केवलंकश्चिदद्यत्वे सत्राणांव्यवहारइतिदर्शनाभिप्रायमेतत्पुराणेष्विति । न पुनरद्यत्वे यदि केचित्सर्वाण्येव हरेयुस्तेषामेषविधिर्नभवतीतिमन्तव्यम् । अथवा यःस्वयंशास्त्रार्थवेदितुमसमर्थः केवलंपरप्रसिद्ध्या महाजनोयेन गतःसपन्थाइतिन्यायेन प्रवर्तते तत्रत्वेतदुच्यते । पुराणेष्विति नायमिदंप्रथमकोषर्मः किंतिहि अनादिः । पौराणाऋषयोब्राह्मणाःकेवलतपःसिद्धाः जात्यन्तरंवा यथामहाभारतादौ वर्णितम् । नचात्र निर्बन्धः कर्तव्यः । ऋषीणांजात्यन्तरत्वे गन्धर्वादिवत्कथंयागेष्वधिकारइति यतोयमर्थवादोयेन केन चिदालम्बनेनप्रतीयते । ब्रह्मक्षत्रसवाः ब्रह्मक्षत्रिययज्ञाः ॥ २३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तथाह्येष्ट्वृषीणां यज्ञेषु सत्रेषु पुराणेषु अतिपूर्वकालेषु मृगपक्षिमांसेन पुरोडाशाबभूवुः । तानितु ब्रह्मक्षत्रसवेषु ब्राह्मणक्षत्रियजानीर्यैर्मिलितैः कृतेषु सवेषु यज्ञेषु सत्ररूपेषु वा बभूवुः । भवतिहि ब्राह्मणक्षत्रियौ गृहपती कृत्वा ब्राह्मणैर्ऋत्विग्भूतैः सत्रं तत्र तरसाःपुरोडाशाभवन्तीति श्रुतावुक्तम् । तरसामांसमयाः । तदुत्पादनप्रकारश्च संस्थितेगृहपतिर्मृगयामेतीत्यादिनोक्तः तत्रमृगयाप्रकारस्य ब्राह्मणैरज्ञानांक्षत्रियस्यापि गृहपतित्वेनान्तर्भवनंक्रियतइतिब्रह्मक्षत्रसवेष्वितिविशेषितम् ॥ २३ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मात्पुरातनेष्वपि ऋषिकर्तृकयज्ञेषु च भक्ष्याणांमृगपक्षिणांमांसेन पुरोडाशाअभवंस्तस्माद्यज्ञार्थमधुनातनैरपि मृगपक्षिणोवध्याः ॥ २३ ॥

(४) राघवानन्दः । संस्थितेहनि गृहपतिर्मृगयांयाति सयांस्तत्र मृगान्हिनस्ति तेषांतरसाःसवनीयाःपुरोडाशा

भवन्तीति वसन्तायकपिञ्चलानालभेतेत्यादिभूतेर्यज्ञार्थंतेषांपुरोडाशादित्याह बभूवुरिति । ऋषीणां यज्ञेषु ब्रह्म ब्राह्मणज्ञातिः
तथा क्षत्रं तयोः सर्वेषु यागेषु मृगाणांपक्ष्यादीनांपुरोडाशादयोबभूवुरिति पुराणेषु श्रूयतइतिशेषः ॥ २३ ॥

(५) नन्दनः । मृगपक्षिणां मांसानीतिशेषः । ब्रह्मक्षत्रसर्वेषु ब्राह्मणानांक्षत्रियाणांच यज्ञेषु ॥ २३ ॥

(३) रामचन्द्रः । भक्ष्याणामृगपक्षिणामगस्त्येन प्रोक्षितानांमांसैः पुरोडाशाबभूवुः । ब्रह्मक्षत्रसर्वेषु ब्राह्मणक्षत्रियै-
र्मिलित्वा कृतेषु । तद्यथा ब्राह्मणक्षत्रियौ गृहपती कृत्वा ब्राह्मणैर्ऋत्विग्भूतैः सत्रंभवति तत्रतरसाःपुरोडाशाभवन्तीति श्रुता-
वुक्तं । तरसामांसमयाः । तत्प्रकारश्च संस्थिते गृहपतिर्मृगयामेतीत्यादिनोक्तः । ब्राह्मणस्य मृगयाप्रकाराज्ञानात्क्षत्रियस्यब्रा-
ह्मणमिलितस्याधिकारः ॥ २३ ॥

यत्किंचित्स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगर्हितम् ॥ तत्पर्युषितमप्याद्यंहविःशेषं च यद्भवेत् ॥ २४ ॥

(१) मेधातिथिः । भक्ष्यंयत्किंचित्स्नेहसंयुक्तं । भोज्यमोदनादि । भुक्तिभुज्येरेकार्थत्वेपि पृथगुपादानाद्विषयभेदो-
यंप्रतीयते अगर्हितं शुक्तामनापन्नं तत्पर्युषितमप्याद्यम् । रात्र्यन्तरे पर्युषितमुच्यते । पूर्वद्युःसिद्धमप्यपरेद्युः पर्युषितंभव-
ति । स्नेहसंयुक्तमिति एवंसंदिश्यते किंयत्स्नेहसंयुक्तंस्तत्पर्युषितंरसमिश्रशकादितत्पर्युषितमशितव्यम् । उक्तशुक्तस्यापि
पर्युषितस्यभक्षणम् । कालेस्नेहसंयोगःकर्तव्यः । भक्षापूपाद्यपि पर्युषितंभोजनकाले स्नेहेन संयोज्य भक्षयितव्यमिति ।
अतःसंदिश्य यावता यत्स्नेहयुक्तानांभक्ष्यतोच्यते तत्पर्युषितमाद्यमिति । उद्दिश्यमानंस्नेहसंयुक्तमिदमितिन पुनर्विधेयार्थं न-
हितच्छब्दसंबन्धोस्य श्रुतोयत्पर्युषितंस्नेहासंयुक्तमाद्यमिति । उच्यते । हविःशेषाणांपर्युषितानामस्नेहसंयुक्तानांतेषांवचनमन-
र्थम् । नच तेषांस्नेहसंयुक्तानांपरिवासःसंभवति । एवंच तेषांवचनमर्थवद्भवति यदि भोजनकाले तेषांस्नेहसंयोगोनापेक्ष्यते ।
अतस्तेषांतावद्भोजनकालएव स्नेहसंयोगनिरपेक्षतया वचनस्यार्थवत्त्वम् । यद्येवंतथापि न संदेहोर्थवत्त्वाद्विशेषपदस्य विधे-
यार्थता स्नेहसंयुक्ताशब्दस्यन्याय्या । उच्यते एतावदत्रसन्देहेबीजं यथाश्रुतसंबन्धस्यबलीयस्त्वात्किं हविःशेषपदमनुवा-
दोस्तु उतानर्थनकत्वंमाप्रापदितयत्पर्युषितं तेन स्नेहसंबन्धः क्रियताम् । तत्रानर्थक्याद्यवहितकल्पना ज्यायसी । समा-
चारान्निर्णयः । सर्पिस्तैलवसामज्जानःस्नेहाः ॥ २४ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । पर्युषितेविशेषमाह यत्किंचिदिति । यत्किंचित्स्नेहसंयुक्तं येनकेनचित्स्नेहेन संयुक्तं सर्वतो-
व्याप्तंनत्वेकदेशस्नेहसंबन्धादपि हविः शेषस्य पर्युषितस्य पृथग्भक्ष्यत्वाभिधानात् । एवंहि हविषोभिघारणादवश्यंस्नेहेनै-
कदेशसंबन्धोव्याप्तिस्तन्नास्तीतितस्यपृथग्भिधानंयुज्यते । भक्ष्यंलङ्कादि । भोज्यमोदनादि ॥ २४ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानींपर्युषितप्रतिप्रसवार्थमाह यत्किंचिदिति । यत्किंचित्स्त्रविशदमभ्यवहार्यं मोदकादि भोज्यं-
पायसादि अगर्हितमुपघातान्तररहितंतत्पर्युषितंरात्र्यन्तरितमपि घृततैलदध्यादिसंयुक्तंरुत्वा भक्षणीयम् । नतु प्रागेव
यत्स्नेहसंयुक्तंतत्पर्युषितंभक्षणीयमितिव्याख्येयं तथाच सति हविःशेषस्य स्नेहसंयोगावश्यंभावाद्यत्किंचित्स्नेहसंयुक्त
मित्यनेनैव भक्षणे सिद्धे हविःशेषं च यद्भवेदित्यनर्थकंस्यात् । स्मृत्यन्तरेऽपि भक्षणकालएवाभिघारणमुपदिश्यते । तथाच
यमः॥ मसूरमाषसंयुक्तंतथा पर्युषितंचयत् । तत्तु प्रक्षालितंरुत्वा भुजीत सभिघारितम् ॥ हविःशेषंतु चरुपुरोडाशादि पर्यु-
षितमपि भोजनकाले स्नेहसंयोगशून्यमेव भक्षणीयं पृथगुपदेशात् ॥ २४ ॥

(४) राघवानन्दः । एतानि पर्युषितान्यप्यदनीयानीत्याह यदितिद्वाभ्यां । आद्यं भक्षणीयं अस्निग्धंभक्ष्यंभोज्यंस्ने-
हसंयुक्तंरुत्वा । तथाच यमः॥ मसूरमाषसंयुक्तंतथापर्युषितंचयत् । तच्च प्रक्षालितंरुत्वा भुजीताज्याभिघारितमिति ॥ २४ ॥

(५) नन्दनः । पर्युषितमभक्ष्यमित्युक्तं तस्यापवादं श्लोकद्वयेनाह यदिति । अगर्हितमनिषिद्धं यत्किंचिद्भक्ष्यमपूपादि । भोज्यमन्नादि । तदुभयं स्नेहसंयुक्तं घृतादिना संयुक्तं चेत्पर्युषितमप्याद्यमदनीयम् । स्नेहयुक्तं हविःशेषं यत्तदप्यदनीयम् ॥ २४ ॥

(६) रामचन्द्रः । भक्ष्यं मोदकादि भोज्यं ओदनादि तत्पर्युषितमप्याद्यं भक्ष्यम् । यत् हविःशेषं तदाद्यं भक्ष्यं भवेत् ॥ २४ ॥

चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः ॥ यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रिया ॥ २५ ॥

(१) मेधातिथिः । चिरस्थितं द्विरात्राद्यन्तरितं अपिशब्दादाक्तमित्यत्रापि संबन्धयितव्यम् । स्नेहाक्तमपि यवगोधूमजं सक्तुपूपादि । पयसो विक्रिया विकारादधिमथितादयः ॥ २५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चिरस्थितं पर्युषितमस्नेहाक्तमप्याद्यं भोज्यं यवगोधूमयोर्विकारजातमित्यर्थः ॥ २५ ॥

(३) कुल्लूकः । अनेकरात्र्यन्तरिता अपि यवगोधूमदुग्धविकाराः स्नेहसंयोगरहिता अपि द्विजातिभिरभक्षणीयाः ॥ २५ ॥

(४) राघवानन्दः । पयसश्चैव विक्रियाः पर्युषिताभक्ष्या इत्यन्वयः । अगर्हितं चेद्भक्ष्यमिति त्वतोगर्हितस्नेहसंयुक्तमपि न भोक्तव्यम् ॥ २५ ॥

(५) नन्दनः । अस्नेहाक्तमसंयुक्तं घृतादिभिः ॥ २५ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्विजातिभिः अस्नेहाक्तं यवगोधूमजं चिरस्थितमपि आद्यं भक्ष्यं भवति । च पुनः दुग्धस्य विक्रियाः ॥ २५ ॥

एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः ॥ मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने ॥ २६ ॥

(१) मेधातिथिः । आद्येन श्लोकार्थेन पूर्वप्रकरणमवल्लिखति । तदेतदनन्तरमनुक्रान्तं प्रकरणमेतद्विजातीनां न शूद्राणाम् । इत्युत्तरं तु यद्वक्ष्यते तच्छूद्राणामपीति प्रकरणव्यवच्छेदप्रयोजनम् । अतश्च मांसभक्षणे प्रकारो वक्ष्यते । यच्च तद्वर्जनेन फलं तच्छूद्रस्यापि भवतीत्यन्यथा अभक्ष्याणि द्विजातीनामित्यधिकाराल्लशुनादिष्वथ शूद्रस्य मांसभक्षणेऽपि कामचारः स्यात् । यद्येव देवाद्यर्चने शिष्टस्य मांसस्य भक्ष्यता वक्ष्यते । देवान्पितृश्वार्चयित्वा खादन्मांसं दुष्यतीति देवाद्यर्चनं मेध्येन मांसेन । ये च द्विजातीनां प्रतिषिद्धाभृगशुकुन्तास्तेऽमेध्याः अतश्च तेषां मांसेन देवार्चनासंभवादन्तच्छेषस्य भक्ष्यत्वादप्येव प्रकरणभेदायथा ब्राह्मणादीनां भृगपक्षिणः प्रतिषिद्धास्ते शूद्रस्यापि प्रकारान्तरेण प्रतिषिद्धा भवन्ति । तत्र प्रकरणभेदेन केनचिदुच्यते । लशुनादिप्रतिषेधः शूद्रस्य न भवति । अस्तितावत्प्रकरणभेदेन प्रयोजनं लशुनादिप्रतिषेधे शूद्रस्याधिकारो माभूदिति मांसेऽपि देवाद्यर्चने गृहस्थस्याधिकाराद्गृहस्थस्य शूद्रस्य यथाकाम्यम् । ननु च पाकयज्ञे शूद्रस्याधिकारतः स्थितस्य भोजनं गृहस्थानां च विहितम् । न च लशुनादिभिः पाकयज्ञाः क्रियन्ते । ततश्च नापि शूद्रस्य यथाकाम्यं । लशुनादयो भक्ष्याः स्युः । कोदोषः । द्विजातिग्रहणमनर्थकम् । परित्तमेतद्गृहस्थस्य प्रीषितस्य वा कामचारः न च गृहस्थेन यदद्भुतं तन्न भोक्तव्यं शेषभुग्भवेदित्यस्यायमर्थः । अकृतवैश्वदेवक्रियेण न भोक्तव्यम् । तत्र यस्यैव यागसाधनता द्रव्यस्य तदेव मेध्यं होतव्यम् । अन्येतु भोजनकाले कुतश्चिदादित्यमभ्यगेहेवाभुञ्जते तच्च द्रुतशेषमपि न प्रतिषिद्धं मांसेतु पुनर्वचनान्नियमः । न कदाचिदेवानुपयुक्तं भोज्यमिति । यदि चातुर्वर्ण्यस्यात्राधिकारस्तदा यद्वक्ष्यति

परस्तात्तु शुद्धविधौ चतुर्णामपि वर्णानामिति तदनर्थकम् । तत्रैव तस्य प्रयोजनंवक्ष्यामः । अथ श्वमांसाद्यपि शूद्रस्य भक्ष्यं प्राप्नोति द्विजातिग्रहणात्पूर्वत्र । किंत्वेकादशे विद्वद्राहखरोष्ट्राणामित्यादिश्लोकत्रयनिर्दिष्टाः शूद्रस्यापि न भक्ष्याइ-
तिज्ञापकं दर्शयिष्यामः ॥ २६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । इह खलु मांसेषु सर्ववर्णाविशेषेण भक्ष्याभक्ष्यविवेको दर्शितः तत्र द्विजातीनां त्रयाणां याद-
शेन नियमेन भक्ष्यमांसानामपि भक्षणं तत्कथयितुमवतारयति एतदुक्तमिति । द्विजातीनां त्रयाणां सामान्यात्तदुक्तम् । भ-
क्षणे वर्जने च विधिं प्रकारं द्विजातीनामेव ॥ २६ ॥

(३) कुल्लूकः । एतद्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमुक्तम् । अत ऊर्ध्वमांसस्य भक्षणे वर्जने च विधानं निःशेषं वक्ष्यामि ॥ २६ ॥

(४) राघवानन्दः । अशेषतः शेषः प्रायश्चित्तसोपि परिशिष्टो विद्यते न यत्र तेन प्रायश्चित्तसहितं भक्ष्यमुक्तमिति
सूचीकटाहन्यायेन प्रायश्चित्ताभिधानमेकादशोक्तम् । द्विजस्यैवात्र प्रायश्चित्तमुक्तं न तु शूद्राणामिति मेधातिथिः । तत्र-
शूद्राणां मांसभक्षणे दोष एव नास्तीति जग्ध्वा मांसमित्युपक्रम्योपसंहारेऽसकृद्विजइति तत्रोक्तेः । स्थानभ्रष्टा एते भवन्ती-
ति भावः । प्रतिज्ञान्तरमाह मांसस्येति । भक्षणवर्जने यथा भक्षितव्यं यथा वा नेति ॥ २६ ॥

(५) नन्दनः । विधिं प्रकारम् ॥ २६ ॥

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया ॥ यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये ॥ २७ ॥

(१) मेधातिथिः । अग्नीषोमीये पशौ हुतशिष्टमांसं लक्षणया प्रोक्षितमुच्यते । ननु प्रोक्षितशब्दो यौगिकउक्षसे-
चनइत्यस्य धातोः प्रक्षालनक्रियानिमित्तकः तथाच प्रोक्षणीरासादय घृतं प्रोक्षणीयमिति प्रोक्षणीभिरुद्देजितास्थइति सर्वत्र
क्रियायोगात्प्रयुज्यते । यद्यासेचनसाधनं तत्र कुतो वैदिकसंस्कारनिमित्तकानां स्वसंबन्धे पशुलक्षणाद्वारेण मांसे प्रवर्तते ।
मुख्यं च शब्दार्थमतिक्रम्य किमिति लक्षणाश्रीयते अतः प्रक्षालितमुदकादिना मांसं क्रियादिना युक्तम् । सत्यां यद्यत्र वाक्या-
न्तराण्यर्थवादाश्चेति निःशेषं भुञ्जाने स्युः अनुपाकृतमांसानि असंस्कृतान्पशून्मत्तैरिति । अतस्तत्पर्यालोचनया यामेवा-
र्थो वतिष्ठते । यद्येवं तत एव सिद्धत्वात्किमनेन केचिदाहुः अनुवादोयम् । मांसेच्छया भक्षणस्य विधिस्तावदयं न भवति
क्षुत्प्रतिघातार्थिनो लिप्सया प्रवृत्युपपत्तेः । सहि विधिरुच्यते । यः पुरुषस्य दृष्टेन प्रयोजनेन प्रवृत्तावसत्यां प्रवृत्त्यवबोधको-
यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादिति । शास्त्रमेवात्र प्रमाणं । तत्रास्मिन्कृते इदमभिमतमभिनिवर्तते अकृते वायमनर्थ आपतत्ये-
वमन्वयव्यतिरेकाभ्यामवगम्यते तत्र शारूमेव भृग्यते । यत्र तु नायमन्यतो वगतः केवलागमैकगोचरैर्यः स विधिरिति चो-
च्यते । इहतु भोजने कृते पुष्टिरुपजायते यद्दुःखं तन्निवर्ततइति । दाला अपि स्तनपायिनो नुपदिष्टमवयन्ति । नियमोपि भ-
वति तद्रूपानवधारणात् । यदित्वावप्रोक्षितं च भक्षयेदेवेति नियमस्तदा कालविशेषावच्छेदाभावादाहारविहारकाला-
प्यवसीदियुरनवरतमश्रन्नेवासीत अशव्यश्चार्थ उद्दिष्टः स्यात् यथोक्तमश्राद्धभोजीति । यदहरेव प्रत्यवेयादिति महाभाष्य-
कारेण विधिविशेष एव च नियम उक्तः । असंभवति च विधौ कुतो नियमः नै चान्येन प्रोक्षितमन्येन लभ्येत तस्मादय-
मर्थः । अथ प्रोक्षितमेवेति अप्रोक्षितं नेति परिसंख्या । नहि प्रोक्षिताप्रोक्षितोभयभक्षणस्य त्यागादशनाया निवृत्तौ युगपत्प-
र्यायेण वा प्रवृत्त्या परिसंख्यालक्षणस्य विद्यमानत्वात् । तथाप्यनुपाकृतमांसानीत्येव सिद्धम् । अन्येत्वस्य पक्षस्यैव-
दोषमुपपादयन्ते । विशेषेण सर्वाप्रोक्षितप्रतिषेधः शकुनीनामप्रतिषेधः प्राप्नोति । नच येषामेव प्रोक्षणं विहितं तेषां तु
प्रतिविधानाद्यभावादिति न विशेषपरिग्रहे प्रमाणमस्ति तदयुक्तं मन्यन्ते एवं सति भेदेन शकुनीनां प्रतिषेधानुक्रमेण गमक-

त्वात् । तस्माच्छ्रुतकर्माङ्गत्वेन नियमस्य प्रोक्षितमांसभक्षणस्यायमनुवादइति युक्तं दृष्टान्ततया । यथा यज्ञेदश्यंभक्षण-
मभक्षणा छान्नातिक्रमः । एवमुत्तरेष्वपि निमित्तेषु अनुवादश्चेत्परिसंख्यापेक्षाभ्यस्तु गोव्यजमांसमप्रोक्षितंभक्षयेदित्यनेनैत-
दनुपाकृतानामेवासद्रूपमनूद्यते । अप्रोक्षितस्यापि ब्राह्मणकाम्यानिमित्तेष्वनुज्ञापनार्थः । अन्यच्चानचित्तंवृथामांसमपि । चा-
तुर्थिकेन वृथामांसशब्देन एतदनुपरिज्ञानार्थमितरथा विज्ञायेत किंतुह्यथामांसमिति । अथवा एकत्र भोक्तुरुपदेशोऽन्यत्र-
कल्पयित्वा येन देवाद्यर्चनंरुतंतदीयंमांसमन्येनाप्यतिथ्यादिना न भोक्तव्यम् । अनधिकृतेनापि देवाद्यर्चनेन ह्यतिथ्या-
दयेपरगृहे न दीयेत मांसेन देवाचर्चनेधिक्रियते । अथ कल्पयित्वा यदि रुतं तदाहृत्यशितुं । द्वितीयस्तु प्रतिषेधोदेवान्पितृ-
निति । त्वगृहेधिकृतानामरुतवतांभक्षणादयस्तर्हि असंस्कृतान्पशून्मत्तैरिति उक्तःप्रोक्षणशब्दार्थः । एवंपञ्चापि निषेधवा-
क्यानि पृथगर्थानि दर्शितानि । ब्राह्मणानां च काम्यया कामना इच्छा काम्या शब्दः छान्दसः । यदाब्राह्मणादीनामप्रोक्षि-
तानामिदमनुज्ञानं तदाकिंपुनरयंनियमः । अभक्षणे शास्त्रातिक्रमः । उत प्रतिप्रसवमात्रं प्रतिप्रसवे भोक्तव्यं विवाहेपुनर्भौ-
क्तव्यमिति वचनादपि प्रतिषेधाप्रवृत्तिर्विवाहे गम्यते । न भोजनार्थमावश्यकं किंतु ब्राह्मणा यदि गरीयांसस्तदा तद्वचना-
तिक्रमो न युक्तः । अन्येतु क्रीत्वादिश्लोके ब्राह्मणानामित्यनुवर्त्य शशादिमांसस्यापि विधिमिच्छन्ति । यज्ञविवाहयोरन्यत्र
चगोष्ठीभोजनादौ यदि ब्राह्मणाअर्थयन्तेतदा तेषामांसस्वरूपेण देवौद्देशिकया न प्रतिषिद्धमवस्थाविशेषेण प्रोक्षणं देवा-
द्यर्चनादीनि कर्तव्यानि विशेषःप्रतिषिद्धः तस्य ब्राह्मणकामनानिमित्ते अभ्यनुज्ञाते । ननु ऋत्यादान्शकुनानित्यादेरत्र प्रति-
षेधस्यापिनिवृत्तिस्तु महाफलेतिरुतसंकल्पस्तस्याप्यनुज्ञानमिष्यते प्रोक्षितेऽप्रोक्षितेच रुतार्चनेऽरुतार्चने वा । यथाविधि-
नियुक्तस्तु प्राणानामेवचात्यये । मधुपर्केच श्राद्धेच नियुक्तोऽप्रोक्षणेनापि भक्षयेत् । एषहि यथाशास्त्रंनियोगस्तत्र श्राद्धे-
नियमा उक्ता एव केतितस्तु यथान्यायं कथंचिदप्यतिक्रामन्निति । श्राद्धंभोक्ष्यइत्यभ्युपत्येदमहंनाशनामीति न लभ्यते ।
वक्तुम् । अभक्ष्यमशुचिकरंव्याधिजननंच वर्जयित्वा हविष्यविधानान्नभक्ष्यं यद्यद्रोचतेतत्तन्नाप्रीतिकरंदीयते । अतइदंवच-
नंमधुपर्कएव । ननु मधुपर्के नास्ति नियोगः । अशितव्यंमधुपर्कार्हेणच नियमोनासौमधुपर्कस्य वधिः । सहितत्रा-
धिकृतोनधन्योराजादिः । यथैव नास्यानश्रग्गृहेवसेदिति गृहस्थस्य नियमोदृश्यते । एतेनावगम्यते अमतिके न दातव्य-
मिति । यैस्तु कामचारएवंपूजितसमादानेन पूज्यस्याशनेन नहिततत्तदर्थं कर्म । ननुचातिथ्यमेवानित्यं । सत्यं दृष्टंभ्रात्युत्पा-
दनेन धर्मार्थमनुष्ठानं । तस्य नियमोक्तधर्मार्थमेवदातुस्तस्य हिगोरुत्सर्गपक्षे विहितोनामांसोमधुपर्कःस्यादिति । नार्त्वि-
ज्येवचनस्यापिविषयइतिचेत् । अस्त्वयमपिपूर्ववदनुवादः श्राद्धेआर्त्विज्ये च । ननुच्चार्त्विज्येउक्तमेव । इडादिभक्षणंय-
जमानस्य तत्र शास्त्रनिबन्धनोनियमोनार्त्विजां । सत्यं । किंतु कृत्विजोयदि न भक्षयन्ति ते प्रवाच्यन्ते । अविदितेनअ-
दृष्टेनापि दोषेण युज्यन्ते । ननु तेषांभक्षणमधिकृतानांभासतां नहि ते कर्मफलं युज्यन्ते । श्रुत्यादिर्हि परिक्रीतानवि-
हितान्पदार्थाननुतिष्ठति । विहितश्च यजमानपञ्चमाइडांभक्षयन्तीति । तेषांभक्षणतोस्याभ्युपगत्यार्त्विज्यानांनियतंभक्षणं
तदा तेनानूद्यतइति युक्तं । नहि श्राद्धभुजाश्रुत्विजांच भक्षणे शास्त्रीययोगोयजमानस्यैवाऽनुवादःकिमर्थइतिचेन्नानु-
वादःप्रयोजनमपेक्षते । किंतर्हि प्राप्तमस्तिचात्र उच्यते । अत्रापि यदागोपेनगोवधपूजाभ्युपगता तदावश्यमशितव्यं ।
तदनुग्रहार्थमसौ मधुपर्कपूजांप्रीतिच्छति । अतःपूर्वा तेन क्रिया संपादनीया । अन्यथा प्राक्रमिकःस्याच्च परिपूर्णं मधु-
पर्केण तदनुग्रहासंपत्तेस्तस्मिन्प्रतिषिद्धमांसाशने मधुपर्कपूजांर्त्विज्यंच प्रथममेवाभ्युपगन्तव्यम् । ब्राह्मणभोजने च ।
ब्रह्मचारिणस्तुव्रतवदित्यनुज्ञादानमेव याज्ञं मांसस्य प्राणानामेवचात्यये प्रकृतत्वादेवाद्यर्चनमन्तरेण । अभक्ष्यमाणे
व्याधिना क्षुधा भोजनान्तरासंभवे जीवनाशशङ्कायांगोजाविभक्षयितव्यम् । सर्वतएवात्मानंगोपायेदित्येतच्छ्रुतिमूलो-

यंनियमः । अतश्चेद्वशेनिमित्ते मांसमशन्नात्महा संपद्यते । आत्मवधश्च सर्वतएवात्मानं गोपायेत्तस्मादुहनपुरायुषःस्वःका
मीप्रियादलोक्कयंतद्भवतीत्यादिश्रुतिभिर्मन्त्रार्थवादैश्चतैर्दोषवान्नेतिज्ञापितः । तथाहि मन्त्रः । असुर्यानाम ते लोकाअन्धेन
तमसा वृताः । तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति येकेचात्महनोजनाइति ब्रह्मचारिणोपि प्राणात्यये भक्षणमिष्यते । तस्यैबाल्याद्य-
वस्थानिमित्तंवाचनिकंप्रायश्चित्तंभविष्यतीति । ब्रह्मचारीतु योश्चीयान्मधुमांसंकदाचनेति । क्षुधातु प्राणात्ययाशङ्कायां-
प्रतिषिद्धमांसाशनमपीतिव्यासः । जानातीतिदर्शनेनैकाहिकंचेष्यते । एतावता कान्तारं अतीतव्याधौ तु न शक्यमेतत् ज्ञा-
तु मवश्यमशितेनानेन जीवतीति । तत्रतु प्रतिषिद्धग्राम्यकुक्कुटादिमांसभक्षणमिष्यते । प्रोक्षणं देवाभ्यर्चनसहितस्य तु प्रकृत-
त्वादस्त्यनुज्ञानं । व्याधेश्च न केवलमुत्पन्नस्य निवृत्त्यर्थयावत्कृशक्षय्यातुरदुर्बालादीनांसर्वकारंमांसाशनं नियमतइ-
ष्यते । स्त्रीमद्यनित्याःक्षयिणःश्रमव्याध्याचर्कशिताः । नित्यमांसरसाहाराआतुराश्चापिदुर्बलाः ॥ अप्रोक्षितस्यापि छागमां-
सस्य देवताद्यर्चनंतु तैरवश्यंकर्तव्यम् । असंभवेतु कार्स्मिंश्चिदहनि न दोषः ॥ २७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रोक्षितमुपाकृतं भक्षयेत् यजमानः । तथा बहूनांब्राह्मणानां यत्र मांसभक्षणे संतोषस्तत्र
ब्राह्मणानां काम्यया इच्छया भक्षयेत् । यथाविधि वरणादिना नियुक्तः ऋत्विक् आर्द्धीच । प्राणानामत्यये तदभक्षणे म-
रणनिश्चये । अत्रच भक्षयेदिति न विधीयते किंतु रागप्राप्तंभक्षणमनूद्य परिसंख्यायते । यथा मन्वर्थानुवादी बृहस्पतिः ॥
रोगी नियुक्तोविधिना हुतं विप्रवृत्तस्तथा । मांसमद्याच्चतुर्द्वेषा परिसंख्या प्रकीर्तिता ॥ अतोन्यथा तु योश्चीयाद्विधिंहित्वा
पिशाचवत् । यावन्ति पशुरोमाणि तावत्प्राप्नोति मारणमिति ॥ अतएवात्र परिसंख्यादोषोपि न दोषाय स्मृत्यैव स्मृतेस्तथा
व्याख्यातवान् ॥ २७ ॥

(३) कुङ्कुमः । प्रोक्षितंभक्षयेदिति परिसंख्या वा स्यात् नियमविधिर्वा । तत्र परिसंख्यात्वे प्रोक्षितादन्यन्न भ-
क्षणीयमितिवाक्यार्थः स्यात् । सचानुपाकृतमांसानीत्यनेनैव निषेधात्प्राप्तस्तस्मान्मन्त्रकृतप्रोक्षणाख्यसंस्कारयुक्तयज्ञहु-
तपशुमांसभक्षणमिदंयज्ञाङ्गंविधीयते । अतएवासंस्कृतान्पशून्मन्त्रैरित्यस्यानुवादंवक्ष्यति । ब्राह्मणानांच यदा कामना भ-
वति तदावश्यंमांसंभोक्तव्यमिति तदापि नियमतएकवारंभक्षयेत्सकृद्ब्राह्मणकाम्ययेतियमवचनात् । तथा आर्द्धे मधुपर्केच
समांसोमधुपर्कइतिगृह्यवचनात् । नियुक्तेन नियमान्मांसंभक्षणीयमिति । अतएव नियुक्तस्तु यथान्यायमित्यतिक्रमदोष-
वक्ष्यति । प्राणात्यये चाहारान्तराभावनिमित्तके व्याधिहेतुके वा नियमतोमांसंभक्षयेत् ॥ २७ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रोक्षितमग्नीषोमीयादिपशववशिष्टम् । यथाविधिनियुक्तः आर्द्धादौ । अयये मांसैकनिर्वर्त्यरो
गेइतिचतुष्टये नियमविधिः ॥ २७ ॥

(५) नन्दनः । अभक्ष्यमपि मांसंप्रोक्ष्यैव भक्षयेत् । काम्यया प्रार्थनया । यथाविधिनियुक्तोदैवपिष्ययोर्निम-
न्त्रितः । प्राणानामत्यये क्षुधादिपीडायाम् । एवंचतुर्धा मांसभक्षणे विधिरुक्तः ॥ २७ ॥

(६) रामचन्द्रः । मांसंभक्षयेत्प्रोक्षितादन्यन्न भक्षयेदित्यन्यनिषेधपरम् । च पुनः नियुक्तःसन् निमन्त्रितः सन्ब्रा-
ह्मणानांकांम्यया भक्षयेत् । च पुनः प्राणानामत्यये नाशे उपस्थिते मांसंभक्षयेत् औषधार्थमित्यर्थः ॥ २७ ॥

प्राणस्यान्नमिदं सर्वंप्रजापतिरकल्पयत् ॥ स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥ २८ ॥

(१) मेधातिथिः । प्राणःकौक्षोवायुः जीवबीजभूतः पञ्चवृत्तस्योदानादिकस्यशरीरस्थित्यर्थः । इदंसर्वजगत्प्र-
जापतिरेकत्वेनाकल्पयत् । इदमितिसामान्यतो निर्दिश्य विशेषेण निर्दिशति स्थावरंजङ्गममिति । अतोहेतोःसर्वप्राणस्य
भोजनम् । तिर्यक्पक्षिमनुष्यसरीसृपावस्थाहेतुमद्भेदनिर्देशात् । द्वितीयंसर्वग्रहणमपुनरुक्तम् । यतःप्रजापतिना सर्व-

मापदिप्राणस्य कल्पितम् । अतःसर्वमेतस्य भोजनम् । तथाच प्राणसंवादोपनिषदि श्रूयते । सहोवाच किमेतवंभविष्य-
सीति । यदिदंकिंचित् आश्वभ्यआकीटपतङ्गेभ्यइति ॥ २८॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्रापरेषामेतमुत्थापयति प्राणस्थानमिति । प्राणस्य जीवात्मनः । यतोऽकल्पयदतस्तस्य
भोजनं भोज्यम् ॥ २८ ॥

(३) कुङ्कुमः । प्राणान्यये मांसभक्षणानुवादमाह प्राणस्थानमिति । प्राणितीति प्राणोजीवः शरीरान्तर्गतोभोक्ता
तस्यादनीयसर्वमिदं ब्रह्मा कल्पितवान् । किंतदाह जङ्गमं पश्यादि स्थावरं ब्रीहियवादि सर्वतस्य भोजनं तस्मात्प्राणधार-
णार्थजीवोमांसंभक्षयेत् ॥ २८ ॥

४) राघवानन्दः । अत्रार्थे भूतार्थवादमाह प्राणस्येति । भोजनं भक्ष्यम् ॥ २८ ॥

(५) नन्दनः । प्राणानामेव चात्ययइत्यस्यार्थवादंश्लोकत्रयेणाह प्राणेति । प्राणस्य प्राणिनः ॥ २८ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्राणस्थानमित्यारभ्य यज्ञायेति पर्यन्तंचार्वाकपूर्वपक्षोऽनिरूप्यते प्राणस्येति । प्राणस्य क्षुत्पि-
पासे इति श्रुतिः । प्रजापतिरिदं सर्वमन्नं प्राणस्याकल्पयत् । सर्वस्थावरं जङ्गमं प्राणस्य भोजनं स्मृतम् ॥ २८ ॥

चराणामन्नमचरादंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः॥ अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणांचैव भीरवः ॥ २९ ॥

(१) मेधातिथिः । चराश्चरणपतनरणोत्साहयोगिनः श्येननकुलादयः तेषामचराः सर्पकपोतादयः अन्नम् ।
एवं दंष्ट्रिणां सिंहव्याघ्रादीनां अदंष्ट्रिणः रुरुपृषतादयो मृगाः । अहस्ताः सर्पमत्स्यादयः सहस्तानां नकुलनिषादादीनाम् ।
शूराणां महोत्साहयुक्तानां जीवितनिरपेक्षाणां भीरवः प्रियजीविताः । अल्पसत्त्वा अन्नत्वेन हन्यन्ते ॥ २९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शूराणां सिंहादीनां भीरवो मृगाद्याः ॥ २९ ॥

(३) कुङ्कुमः । प्राणस्थानमिदं सर्वमित्येव प्रपञ्चयति चराणामिति । जङ्गमानां हरिणादीनां अजङ्गमास्तृणादयः ।
दंष्ट्रिणां व्याघ्रादीनामदंष्ट्रिणो हरिणादयः । सहस्तानां मनुष्यादीनामहस्तामत्स्यादयः । शूराणां सिंहादीनां भीरवो हस्त्या
दयोऽदनीया एतादृश्यां विधातुरेव सृष्टौ ॥ २९ ॥

(४) राघवानन्दः । एतमेवानुभवशास्त्राभ्यां स्वहस्तयति चराणामित्यादिना । चराणां जङ्गमानां अचराः स्थावराः ।
शूराणां सिंहादीनां भीरवो हस्त्यादयः ॥ २९ ॥

(५) नन्दनः । सर्वप्राणस्य भोजनमित्येतद्विवृणोति चराणामिति । चराणां मनुष्यादीनामचरं वृक्षौषध्यादि । दंष्ट्रिणां-
व्याघ्रादीनामदंष्ट्रिणो मृगादयः । सहस्तानां मृगनकुलादीनां अहस्ताः सर्पादयः । शूराणां शक्तिमत्तराणां भीरवोऽशक्ता अन्नम्-
॥ २९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अचराः भक्ष्यागोधूमादयः चराणां प्राणिनामन्नम् । दंष्ट्रिणां व्याघ्रादीनां अदंष्ट्रिणो मृगादयः अन्नं-
भोज्यम् । अहस्तामत्स्यादयः सहस्तानां मनुष्याणामन्नम् । शूराणां सिंहादीनां भीरवो मृगादयः अन्नम् ॥ २९ ॥

नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान् प्राणिनो हन्यह्न्यपि ॥ धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽन्तारएव च ॥ ३० ॥

(१) मेधातिथिः । अन्ताभक्षयिता । आद्यान् प्राणिनः अन्तुं शक्यान् प्रतिदिवसं भक्षयन् दुष्यति धात्रैव प्रजापतिना
अन्तारआद्याउभयेपि सृष्टास्तस्मात्प्राणात्यये मांसमवश्यं भक्षणीयमिति त्रिश्लोकी विधेरस्यार्थवादः ॥ ३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अहन्यहन्याहारबुध्याऽदन्मपि न दुष्यति न पापंलभते । इति तन्मतोपसंहारः ॥ ३० ॥

(३) कुल्लूकः । भक्षयिताभक्षणार्हान्प्राणिनः प्रत्यहमपि भक्षयन् दोषंप्राप्नोति । यस्माद्विधात्रैव भक्षणार्हभक्षयितारश्च निर्मिताइति । त्रिभिः श्लोकैः प्राणात्यये मांसभक्षणस्तुतिरियम् ॥ ३० ॥

(४) राघवानन्दः । किंच नेति । अत्ता भक्षयिता । आद्यान् भक्षणार्हान् । आद्यात्सृष्टेर्ब्रह्मकृतत्वेन स्वाभाविकत्वात् सापेक्षत्वाच्च न दोषइति भावः ॥ ३० ॥

(६) रामचन्द्रः । अहन्यहनि आद्यान् भक्ष्यान् प्राणिनः अत्ता भोक्ता न दुष्यति । धात्रैव आद्याः भक्ष्याः प्राणिनः च पुनः अत्तारएव भक्षकाएव सृष्टाः ॥ ३० ॥

यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येषदैवोविधिः स्मृतः ॥ अतोऽन्यथाप्रवृत्तिस्तु राक्षसोविधिरुच्यते ॥ ३१ ॥

(१) मेधातिथिः । यज्ञार्थमांसस्य पिण्डप्राशिन्नादि जग्धिरशनं । एषदैवोविधिर्देवैरेतद्विहितम् । अन्यथा तु मांसाशी यतः शरीरपुष्ट्यर्थकमांसाशने प्रवृत्तिः सराक्षसोविधिः पिशाचानां मांसभक्षणे स्थितिरिति निन्दा ॥ ३१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वमतमाह यज्ञायेति । यज्ञाय यज्ञाङ्गशेषप्रतिपत्तिसिद्धये । जग्धिर्भक्षणं दैवोविधिः देवतार्थप्रवृत्तत्वात् । अतोऽन्यथा उपाकृतमांसव्यतिरेकेण । राक्षसोराक्षसानाशनरूपत्वात् अतएवाग्रे वक्ष्यति ॥ यक्षरक्षः पिशाचान्मद्यमांससुरासवम् । तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यदेवानामश्रता हविरिति ॥ देवानां हविर्देवतार्थमुपात्तमांसहविरश्रतान्यमांसं न भक्ष्यमित्यर्थः । अत्रच वचने ब्राह्मणेनेति वचनाद्ब्राह्मणस्यानुपाकृतमांसाशने क्षत्रियाद्यपेक्षया दोषभूयस्त्वं प्रतीयते । एवं च ब्राह्मणैर्मांसभक्षणं यज्ञैव कार्यं तत्राप्यल्पः प्रत्यवायोन तु प्रत्यवायाभावएव तथाच महाभारते ॥ प्रोक्षिताभ्युक्षितमांसं तथा ब्राह्मणकाम्यया । अल्पदोषमिति ज्ञेयं विपरीते तु लिप्यत इत्युक्तम् ॥ प्रोक्षितं पशुबन्धार्थं । अभ्युक्षितं श्राद्धार्थं । ब्राह्मणानां काम्ययेति व्याख्यातमेव । अत्रच प्रोक्षितव्यतिरिक्तोपादानं प्रोक्षितापेक्षया अधिकपापहेतुत्वेपि वृथामांसाशनापेक्षयाऽल्पदोषत्वोपवर्णनार्थम् । अतएवानुपाकृतमांसानीत्यभक्ष्यगणे श्राद्धादावपि मांसस्याभक्ष्यत्वाभिधानम् । तथा प्रोक्षितं भक्षयेदित्यादिना न्येषामपि प्रकाराणां भक्षणाभ्यनुज्ञानंच न विरुद्ध्यते । लिप्यते संपूर्णपापेन युज्यते । यत्तु पुराणादिषु पितृकल्पे सप्तानां द्विजानां भक्षणोद्देशेन गां हत्वा श्राद्धकरणं तेन च जन्मान्तरे जातिस्मरत्वमुक्तम् तत्र प्राचीनभाग्यसहितश्राद्धप्रभावाज्जातिस्मरत्वं मांसभक्षणात्त्वेनैकतिर्यग्योनिगमनमिति न काचिदनुपपत्तिः । अतएव यत्त्वार्थपक्षमपि पितृकार्यादि कृत्वा भुज्यते तद्ब्राह्मणानामतिगर्हितं क्षत्रियादीनां तु न तादृग्दोषकरं देवपित्रादिकार्यमकृत्वा तु भक्षणं सर्वेषां गर्हितमिति व्यवस्था द्रष्टव्या ॥ ३१ ॥

(३) कुल्लूकः । अथ प्रोक्षितभक्षणनियमार्थवादमाह यज्ञायेति । यज्ञसंपत्त्यर्थतदङ्गभूतमांसस्य जग्धिर्भक्षणमेतदैवमनुष्ठानं । उक्तव्यतिरिक्तप्रकारेण पुनरात्मार्थमेव पशुव्यापाद्य तन्मांसभक्षणे प्रवृत्तीराक्षसोचितमनुष्ठानमित्युत्तरार्धवृथामांसभक्षणनिवृत्त्यनुवादः ॥ ३१ ॥

(४) राघवानन्दः । जग्धिर्भक्षणं । यज्ञाय यज्ञार्थम् । मांसस्य तद्विना रागतो भक्षणे दोषमाह अतइति । अन्यथा उक्तविधिबिना । राक्षसआसुरोनरकायैव ॥ ३१ ॥

(६) रामचन्द्रः । मांसस्य जग्धिर्भक्षणं यज्ञाय यज्ञविषयएव पुरोडाशमात्रमित्येषदैवोविधिः । अतः अन्यथा अविधिना प्रवृत्तिः मांसभक्षणे राक्षसोविधिरुच्यते । तद्यथा प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसंतथा ब्राह्मणकाम्यया । अल्पदोषमिति ज्ञेयं विपरीते तु लिप्यत इति महाभारतवचनेन । यज्ञाङ्गशेषप्रतिपत्तिसिद्धयेऽपि मांसभक्षणं त्वल्पप्रत्यवायहेतुः ॥ ३१ ॥

क्रीत्वा स्वयं वाप्युत्पाद्य परोपकृतमेव वा ॥ देवान्पितृंश्चार्चयित्वा खादन्मांसं न दुष्यति ॥३२॥

(१) मेधातिथिः । मृगपक्षिमांसविषयमिदंशास्त्रम् । रुरुपृषतादीनां शशकपिञ्जलादीनामांसं देवानां पितृणां चार्चनं कृत्वा खादतो न दोषः । यथा गृहे वैश्वदेवाद्यर्थकृते संविधानं विनापि वैश्वदेवेनोदनादिभोजनमस्ति न तथा मांसस्याएवमर्थमेतत्पुनर्वचनं देवान्पितृंश्चार्चयित्वेति । अन्यथा गृहस्थस्य पूर्वमेव भोजनमेवं रूपं देवेभ्य इति । तेन शब्देनोद्दिश्य शुचौ देशे मांसस्य प्रक्षेपः । यदिवा अग्नये वायवे सूर्याय जातवेदस इति देवार्चनं कर्तव्यम् । फलैर्वावर्तयन्नाशौ जुहुयादाहुतयः कृत्वा अग्रिमतो न्यत्र न भवन्ति । न चाग्नौ होमेन विना बलिहरणं कर्तव्यम् । कर्मान्तरस्य प्रयोगान्तरस्य च प्रतिपादितत्वात् । आस्तांतावदेतत् । अन्येतु श्राद्धं च पितृणामर्चनमाहुः । दृष्टश्च श्राद्धेऽर्चनप्रयोगः । पितृश्चैवाष्टकान्वदन्ति ततश्च सर्वस्मृतिकारैः श्राद्धमेव विहितं न पुनरन्या काचिदेव क्रिया । कथं पुनर्मांसस्य क्रयसंभवः यावता आपणभूमेर्मांसं क्रियमाणं सौनमापद्यते । अथोच्यते । सौनिकैरहतस्य स्वयं मृतस्य पशोर्मांसमभक्ष्य मनारोग्यकरत्वात् । उच्यते । व्याधशाकुनिकादिभिराहतं क्रेष्यते न च ते सौनिका इति प्रसिद्धास्तैश्च विक्रयार्थं भ्राम्यद्भिर्गृहानीतं भवति तदा संभवति क्रयः न हि तत्सौनमुच्यते । स्वयं वाप्युत्पाद्य ब्राह्मणो याश्च याक्षत्रियो मृगया कर्मणा ॥ ३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तत्र क्षत्रियादीन् प्रत्यनिषिद्धमांसं भक्षणप्रकारमाह क्रीत्वेति । स्वयमुत्पाद्य मृगयादिना हत्वा । परोपकृतं लब्धं । स्वयमुत्पादनसाहचर्याच्च क्षत्रादिपरमेवैतत् ब्राह्मणस्य यज्ञोद्देशं विना पशुर्हिंसायाः पूर्वमेव निषेधात् ॥ ३२ ॥

(३) कुड्डूकः । क्रीत्वा आत्मना चोत्पाद्य अन्येन वा केनाप्यानीय दत्तं मांसं देवपितृभ्यो दत्त्वा शेषं भक्ष्यन् पापं प्राप्नोति । अतः प्रोक्षितादिचतुष्टयभक्षणवन्नेदं नियतं भक्षणं न दुष्यतीत्यभिधानात् । वर्षे वर्षेऽश्वमेधेनेत्यादिवक्ष्यमाणमांसवर्जनविधिरप्येतद्विषय एवाविरोधात् ॥ ३२ ॥

(४) राघवानन्दः । उपकृतं दत्तम् ॥ ३२ ॥

(५) नन्दनः । एवं विधातृविहितत्वात् तल्लक्षणत्वाच्च धर्मस्य प्राणापेक्षेमांसभक्षणे न दोष इत्याह नात्तेति पञ्चभिः । यज्ञायजग्धिरेषदैवो विधिः । इतरमपि विधिमाह क्रीत्वेति । अर्चयित्वा मांसेन । मांसं दैवपिच्य शिष्टम् ॥ ३२ ॥

(६) रामचन्द्रः । क्रीत्वा स्वयमुत्पाद्य मृगयादिना परोपकृतमेव च परेणान्वेनोपकृतमानीतं मांसं देवान्पितृनर्चयित्वा खादन् दुष्यति । एतत्क्षत्रियविषयम् ॥ ३२ ॥

नाद्यादिविधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः ॥ जग्ध्वा ह्यविधिना मांसं प्रेत्य तैरद्यतेऽवशः ॥३३॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वोक्ता देवाद्यर्चनशिष्टात् ब्राह्मणकामनादिनिमित्तान्तरं यद्भक्षणं यो विधिस्तेन नाश्रियात् मांसं । उक्तानुवादोऽयं आपदि प्राणात्यये देवाद्यर्चनमपि नापेक्ष्यम् । ननु चैतदपि निमित्ततयोक्तमेव ततश्चर्वाधरे वायं नाविधिः । सत्यं प्रोक्षितसंबन्धाद्गोव्यजस्यैव तत्र संनिधानमाशङ्क्यां शशादिविषयेऽभ्यनुज्ञानार्थमनापदीत्युच्यते । किं हि विध्यर्थानुष्ठानपरो विधिज्ञ उच्यते तथा लौकिकानुष्ठानेपि जानातिरुपचारात्प्रयुज्यते । एष स तज्जानातीति अनुष्ठानपरे प्रयुज्यते अत्र फलकथायां जग्ध्वा अशास्त्रीयेण निमित्तेन प्रेतो मृतस्तैः प्राणिभिरवशोद्यते येन विषयेण यो येषां मांसमश्नाति तस्य विविधा पीडा भवति ।

एतावन्मात्रपरमेतत् । अन्यथा प्रायेण छागादिमांसमश्नन्ति लोकानचछागादयोमांसाशिनः । अथवा तत्कृतेनापायेनक्र-
व्याद्भिरप्यद्यमानस्तैरद्यतइत्युच्यते ॥ ३३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रकृतं ब्राह्मणविषयमुपसंहरति नाद्यादिति । अविधिना उपाकरणव्यतिरेकेण । विधिज्ञो-
मांसाशनविधिज्ञः द्विजो ब्राह्मणः ॥ ३३ ॥

(३) कुल्लूकः । मांसभक्षणानुष्ठानदोषज्ञो द्विजातिरनापदि तत्तद्देवाद्यर्चनविधानं विना न मांसं भक्षयेत् । यस्मा
दविधानेन योमांसं खादति समृतः सन्यन्मांसतेन भक्षिततैः प्राणिभिः परलोके स्वरक्षणाक्षमः खाद्यतइति सर्वलोकानुवा-
दः ॥ ३३ ॥

(४) राघवानन्दः । अनापदि रोगाद्यसंपत्तौ । तैर्भक्षितैः अवशोरक्षणाक्षमः प्रेत्य मृतः अत्ताद्यते ॥ ३३ ॥

(५) नन्दनः । योऽयं मांसभक्षणे षोढाविऽधिरुक्तस्तद्विपर्ययेण भक्षणे दोषमाह नाद्यादिति ॥ ३३ ॥

(६) रामचन्द्रः । तैः पशुभिः द्विजः ब्राह्मणः अद्यते भक्ष्यते अवशः पराधीनः सन् ॥ ३३ ॥

न तादृशं भवत्येनो मृगहन्तुर्धनार्थिनः ॥ यादृशं भवति प्रेत्य दयामांसानि खादतः ॥ ३४ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रसिद्धार्थः श्लोकः ॥ ३४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आहारबुद्ध्या तु भक्षणमतिनिन्दितं तस्येत्याह न तादृशमिति । धनार्थिन इति वदंस्तस्य
मांसविक्रयजीविनस्तदेकवृत्तितया नातिशयितदोषतेति च दर्शयति ॥ ३४ ॥

(३) कुल्लूकः । मृगबधजीविनो व्याधादेर्धननिमित्तं मृगाणां हन्तुर्न तथाविधं पापं भवति यादृशमदेव पितृशेषभूतमां-
सानि खादतः परलोके भवतीति पूर्वानुवादएव ॥ ३४ ॥

(४) राघवानन्दः । अहो कष्टं वर्तत इत्याह नेति । एनो दुःखं । मृगहन्ता देहयात्राद्यर्थं प्रवर्तते अयं तु भोगार्थमित्य-
स्ति विशेषः ॥ ३४ ॥

(५) नन्दनः । वृथाऽविधिना ॥ ३४ ॥

(६) रामचन्द्रः । धनार्थिनः क्रेतुः मृगहर्तुः तादृशं एनः पापं न भवति वृथामांसानि खादतः प्रेत्य यादृशमेनो-
भवति ॥ ३४ ॥

नियुक्तस्तु यथान्यायं योमांसं नास्ति मानवः ॥ सप्रेत्य पशुतां याति संभवानेकविंशतिम् ॥ ३५ ॥

(१) मेधातिथिः । जन्मानि अवश्यं प्राणान्त्ययसंभवे देवार्चनं योनिकरोति अथ च मांसमश्नाति सदुप्यत्येव ॥ ३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । न चार्त्विज्यश्राद्धभोजनादौ प्रवृत्तो मांसभक्षणदोषदर्शनात्ततो निवर्तेत तत्कालमांसाभक्षण
स्यैवातिदोषहेतुत्वात् । अत आदावेव याजनोदेर्निवर्तेतेत्याह नियुक्तस्त्विति । यथान्यायं वरणादिना ॥ ३५ ॥

(३) कुल्लूकः । श्राद्धे मधुपर्के च यथाशास्त्रं नियुक्तः सन्यो मनुष्यो मांसं न खादति समृतः सनेकविंशतिजन्मानि
पशुर्भवति । यथा विधिनियुक्तस्त्वित्येतन्नियमातिक्रमफलविधानमिदम् ॥ ३५ ॥

(४) राघवानन्दः । यथाविधि नियुक्त इत्युक्तं तत्रार्थवादमाह नीति । नियुक्तः श्राद्धादौ । संभवान् जन्मानि
उपरतब्रह्मधारणं विना ॥ ३५ ॥

(५) नन्दनः । दैवे पित्र्ये च नियुक्तस्य मांसाभक्षणे दोषमाह नियुक्तइति ॥ ३५ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रतिप्रसवमाह नियुक्तइति यथान्यायं विधिना नियुक्तः आर्त्विज्यादौ निमत्तितः मानवः ब्राह्मणः मांसं नास्ति न भक्षयति सः प्रेत्य भवे जन्मनि एकविंशतिपर्यन्तं पशुतां याति । एतद्ब्राह्मणविषयम् ॥ ३५ ॥

असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैर्नाद्याद्विप्रः कदाचन ॥ मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः ॥ ३६ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रोक्षणादयः पशुबन्धेमन्त्रवन्तः संस्काराविहितास्ते येषां क्रियन्ते पशूनां वैदिकयागशेषाणां मांसमद्यात् । सीतायज्ञादिषु च सत्यपि सामयाचारिकयागशेषत्वे मन्त्रसंस्काराभावादभक्ष्यता । शाश्वतं शाश्वतो नित्यो वैदिकइत्यर्थः । आस्थित आश्रितः ॥ ३६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नाद्यादिविधिनेति यत्प्रागुक्तं तत्र विधिशब्दार्थनिरुक्त्या तदेव स्पष्टयति असंस्कृतानिति । मन्त्रैरुपाकरणनियोजनप्रोक्षणादिमन्त्रैः । एतेनोपाकरणादिसंस्कारसंस्कृतस्यैव पशोर्मांसविप्रेण भक्ष्यम् । सचान्वष्टकायां पशुकल्पे मधुपर्के सोमे हविर्यज्ञविशेषे चास्तीति तत्रैव मांसाशनविप्रेण कार्यम् । तदपि पूर्वैर्मुनिभिः कृतत्वात्क्रियते न तु सर्वथा दोषाभावादिति दर्शयितुं शाश्वतं विधिमास्थितइत्युक्तम् । शाश्वतं विधिं प्रवृत्तिप्रकारपूर्वर्षाणाम् । आस्थित आश्रितः । एवं च तदामिषेण कर्तव्यमिति पार्वणप्रकरणोक्तमपि क्षत्रियादिपरमेव ॥ ३६ ॥

(३) कुल्लूकः । वेदविहितमन्त्रवत्प्रोक्षणादिसंस्कारशून्यान्पशून्विप्रादिः कदाचिन्नाश्रियात् । शाश्वतं प्रवाहानादितया नित्यं पशुयागादिविधिमास्थितो मन्त्रसंस्कृतानेवाश्रियादिति । प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसमित्येतस्यानुवादार्थमेतत् ॥ ३६ ॥

(४) राघवानन्दः । विधिनिषेधप्रकारौ निगमयति असंस्कृतानिति । शाश्वतं शास्त्रोक्तम् ॥ ३६ ॥

(५) नन्दनः । सप्तममपि विधिमाह असंस्कृतानिति । असंस्कृतान्याजुषैरुपाकरणपर्यग्निकरणादिप्रयुक्तैर्मन्त्रैरसंयुक्तान् । मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्यात् । अभक्षणाहर्नपि पशून्मन्त्रैः संस्कृतान्कृत्वाऽद्यादिति ॥ ३६ ॥

(६) रामचन्द्रः । मन्त्रैः उपाकरणप्रयोजनप्रोक्षणादिभिः असंस्कृतान्पशून् । विप्रइत्युपलक्षणमात्रं अन्योपि कथंचन नाद्यात् न भक्षयेत् । मन्त्रैः संस्कृतान्पशून्द्यात् । शाश्वतं विधिमास्थितः शाश्वतमित्यनेन मुनिकृतत्वमुक्तम् । तेनान्यैः कृतमिति तेन तु सर्वथा दोषाभावः ॥ ३६ ॥

कुर्याद्दृतपशुं सङ्गे कुर्यात्पिष्टपशुं तथा ॥ न त्वेव तु दृथा हन्तुं पशुमिच्छेत्कदाचन ॥ ३७ ॥

(१) मेधातिथिः । यद्येषां बुद्धिः स्यात्सीतायज्ञखञ्जिकायज्ञखण्डिकायागादिषु समाचारप्रमाणेषु पशुवधः फलकामस्य त्याज्यः दृष्टाहि पशुवधोपयाचितकेनातिशयवती सस्यसंपत्तिरिति तन्निषेधार्थमाह । सङ्गे प्रस्तावात्पशुवधप्रसङ्गे घृतपशुकुर्याद्दृतपशुमेव कुर्यात् । पशुना यष्ट्ये तत्स्थाने घृतेन यजेत देवताः । तद्धि सामान्येन यागद्रव्यम् अथवा पिष्टपशुं पिष्टमयपशुमतिकृत्वा देवताभ्युपहरेत्पिष्टेन वा पुरोडाशादि कृत्वा । कथमयं वृथा पशुवधः । उच्यते । शिष्टानां समाचारः प्रमाणम् । ननु स्त्रीशूद्रजनानामवैद्यत्वान्नात्र वेदमूलता शक्या कल्पयितुम् । देवताराधनार्थं न ह्येतदाचरन्ति न च देवताराधनार्थानि वैदिकानि कर्माणि गुणत्वेन देवताश्रुतेः । अन्वयव्यतिरेकमूलतां चात्रेच्छन्ति । दृश्यते पशुवधोपयाचितकेन फलसंपत्तिरिति मन्यमानाः । अतो न वेदमूलता अन्वयव्यतिरेकावापि भ्रान्तिमात्रमसकृद्यभिचारात् । अतोऽयं श्लोको न्यायप्रामाथ्यानुवादएव सौहार्दादाचार्येण पठितः ॥ ३७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यदा तु सर्वथात्यन्तोत्कटरागता पशुभक्षणे भवति तदापि प्रकारेण तदाकांक्षा निवर्तनीया न तु पशुर्हिंसा युक्तेत्याह कुर्यादिति । घृतपशुघृतविकारः पशुमांसतुल्यरूपत्वात्पशुः । एवं पिष्टपशुः । संगेऽत्यन्तेच्छायां । भूताद्यभिभवः संगदितु केचित् तत् न लोकप्रसिद्धमिति हेयमेव ॥ ३७ ॥

(३) कुड्मूकः । सङ्गासक्तौ पशुभक्षणानुरागेण घृतमयीं पिष्टमयीं वा पशुप्रतिकृतिं कृत्वा खादयेत् न पुनर्देवताद्युद्देशविनैव पशून्कदाचिदपि हन्तुमिच्छेत् ॥ ३७ ॥

(४) राघवानन्दः । घृतपशुं घृतमयीं पशुप्रतिकृतिं । संगे पशुबलिप्रसक्तौ आसक्त्या भोजनेरागप्रसक्तौ वा आवश्यकैस्मार्तकर्मणि वा न तु वैदिकैकर्मणि घृतपश्वादावेकादशावदानबाधापत्तेः । तस्माद्यज्ञेवधोऽवधइत्युक्तम् ॥ ३७ ॥

(५) नन्दनः । हिंसामविधिना न कुर्यादित्याह कुर्यादिति । सङ्गे संगत उत्सवादिनिमित्ते ज्ञात्यादिसमवायइत्यावहृतपशुमुपाकुर्यात् । पशुस्थानेष्वभूतं घृतं पिष्टमपूपादिकंच दद्यादिति ॥ ३७ ॥

(६) रामचन्द्रः । घृतपशुं सङ्गे आसक्तौ कुर्यात् । पिष्टपशुं तथा कुर्यात् । वृथा पशुं हन्तुं कदाचन नेच्छेत् ॥ ३७ ॥

यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वोह मारणम् ॥ वृथा पशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥ ३८ ॥

(१) मेधातिथिः । तावतीर्जन्मना मावृत्तोर्मारणं प्राप्नोति । वृथा पशुघ्नः श्रुतिस्मृत्योरचोदितं पशुवधं करोति । तच्च प्रकरणान्महानवम्यादिषु लौकिकैर्यत्क्रियते । पशुघ्नइतिकप्रत्यये छान्दसं रूपम् ॥ ३८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तावत्कृत्वस्तावत्संख्यान्वारान् । वृथा उपाकरणादन्यत्र पशुघ्नः ॥ ३८ ॥

(३) कुड्मूकः । देवताद्युद्देशमन्तरेणात्मार्थयः पशून् हन्ति सवृथापशुघ्नो मृतः सन्यावत्संख्यानि पशुरोमाणि तावत्संख्याभूतं जन्मनि जन्मनि मारणं प्राप्नोति तस्माद्वृथापशुं हन्यात् । तावत्कृत्वइति वत्त्वं तात् क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुचप्रत्ययः । इह हशब्द आगमप्रसिद्धिसूचनार्थः ॥ ३८ ॥

(४) राघवानन्दः । विपक्षेदण्डमाह यावन्तीति । अत्र हशब्दः प्रसिद्धार्थोद्योती ॥ ३८ ॥

(५) नन्दनः । तावत्कृत्वः स्तावतो वारान् । हशब्दो नुकम्पायाम् ॥ ३८ ॥

(६) रामचन्द्रः । वृथा पशुघ्नः पुरुषः इह लोके अधर्माचारणं कृत्वा यावन्ति पशुरोमाणि अष्टकोटिरोमाणि तावन्ति पशुप्रायतप्रेत्यसंप्राप्नोति जन्मनि जन्मनि ॥ ३८ ॥

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥ यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥ ३९ ॥

(१) मेधातिथिः । नायमनन्तरोक्तो दोषः । श्रुतिस्मृतिचोदिते वधे यज्ञाङ्गभूते याभूतिस्तन्निवृत्त्यर्थमेव । स्वयंभुवा मजापतिना पशवः सृष्टा उत्पादिताः । स्वयमेवेत्यर्थवादः । अस्य जगतो विश्वस्य यज्ञो ज्योतिष्टोमादिः । भूत्यै भूतिर्विभवः पुष्टिः स्फीतिः तस्मात्तत्र योवधः सोऽवधो विज्ञेयः । हिंसाजन्यस्य पापस्य निवृत्तेरेवमुच्यते ॥ ३९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र यज्ञार्थं हनने कथं तादृशदोषाभावइत्याशं कामपनयति यज्ञार्थमिति । लोकस्य भूत्यै जन्मने आहुत्या सूर्याप्यायनवृष्टिबीजपरंपरया शुक्रोत्पत्तौ प्राण्युत्पादात् । एतेनैकपशुर्हिंसयाऽनेकप्राणिनिस्तारात्तादृशदोषाभावउक्तः ॥ ३९ ॥

(३८) तावत्कृत्वोह = कृत्वेह (क, ख, ग, ण, च)

(३) कुल्लूकः । यज्ञार्थे तु पशुवधे न दोष इत्याह यज्ञार्थपशव इति । यज्ञसिद्ध्यर्थं प्रजापतिनाऽऽत्मनैवादरेण पशवः सृष्टाः । यज्ञश्चाग्नौ प्रास्ताहुतिन्यायात्सर्वस्यास्य जगतो विवृद्ध्यर्थः । तस्माद्यज्ञे वधोऽवध एव । वधजन्यदोषाभावात् ॥ ३९ ॥

(४) राघवानन्दः । अस्य जगतो भूत्यैऽद्भूत्यै । तथा च गीता यज्ञाद्भवति पर्जन्यः पर्जन्यादन्नसंभवः । अन्नाद्भवन्ति भूतानीत्यादि ॥ ३९ ॥

(५) नन्दनः । यज्ञार्थे पशुवधे न दोषोऽस्तीत्याह यज्ञार्थमिति । यज्ञेऽवधो वधकार्याभावादवधः ॥ ३९ ॥

(६) रामचन्द्रः । यज्ञः अस्य द्विजस्य सर्वस्य क्षत्रियादेः भूत्यै ऐश्वर्याय भवति तस्माद्यज्ञे वधोऽवध एव । पशोर्वध इति पाठः ॥ ३९ ॥

ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा ॥ यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रिताः पुनः ॥ ४० ॥

(१) मेधातिथिः । कथं पुनर्यज्ञे हिंसादोषो नास्ति । उच्यते । हिंसा हिंस्यमानस्य महानपकारः । प्राणवियोगेन पुत्रदारधनविभवादिवियोगेन सर्वानर्थोत्पत्तेर्दुष्कृतस्य च समनन्तरं नरकादिफलविपाकस्य प्रत्यासत्तेः । यज्ञे तु हतानामुपकारो नापकारः नरकादिफलानुत्पत्तेः । यतो यज्ञे निधनं विनाशंगता उच्छ्रितरूपेण जातितो देवगन्धर्वयोनिर्वद्वीपान्तरेषूत्तरकुलप्रभृतिषु वर्षसहस्रादिजीविषु वर्षान्तरे वा जन्मप्राप्नुवन्ति । अर्थवादश्चायम् । न ह्यत्र विधिः श्रूयते प्राप्नुवन्तीति वर्तमानोपदेशात् । न चार्थवादात्प्रतिषिद्धन्तीति विधिप्रतिपत्तिर्युक्ता । विध्यन्तरस्याभावादसंभवाच्च सर्वोयमविधिमांसभक्षणप्रतिषेधशेषः । ऐहलोकसंपाद्यतयाप्ययमप्रतिषेधो न त्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेदिति । यच्चाभ्यनुज्ञानं यज्ञार्थपशवः सृष्टा इति तत्सर्वभक्षणप्रतिषेधतया प्रतीयते । तथा च वक्ष्यति नाकृत्वा प्राणिनां हिंसामित्यादि । न चान्नविधेरस्ति संभवः । नतिरश्वामधिकारः संभवति विशेषविज्ञानाभावात् । न चानधिकृतस्य कर्तृत्वम् । नाप्यकर्तृत्वे शास्त्रीयात्कर्मणः फलोत्पत्तिः । न ह्यत्र दृष्टवस्तुस्वाभाव्येन फलोत्पत्तिः यथा विषमविदुषोऽपि पीतवतोजनयत्येव स्वफलम् । नैव वैदिकार्थाः । अचैतन्याच्चौषधादोनामृत्विङ्गन्यायोऽपि नास्ति । दृष्टंकिल कुतश्चन कर्मणः परमयुक्तादप्युत्पत्तिर्जाफलम् यः कामयेत पापीयान्स्यदित्यादि तत्र विध्यन्तरशेषत्वाभावात्सृष्टत्वाच्च विधिप्रतिपत्तेर्मनुष्याधिकारत्वाच्च । शास्त्रस्य युक्ताङ्गव्यापारसमाश्रितो वाचनिकस्तावन्मात्रोधिकारः । यथा परकीयाश्वमेधावभृथे ब्राह्मणस्य प्रायश्चित्तमुक्तम् इह त्वधिकार एव नास्तीत्युक्तम् । ओषध्योर्दर्भादयः । पशवश्छागादयः वृक्षाः पूज्याः । तिर्यञ्चोऽपशवोऽपि पशवो येषां हविष्येन चोदना कपिञ्जलानालभत इति । भीमप्रवहणादनङ्गाहस्तिर्यञ्चो वाजपेयादौ तिर्यञ्च इति व्यपदिश्यन्ते । यद्यपि तेषां तत्र निधनं नास्ति तथापि यावती च पीडा विद्यत इति सा निधनशब्देन लक्ष्यते । पक्षिणः कपिञ्जलादयो यद्यपि ते पशुत्वेन चोच्यन्ते । अप्रसिद्धतरप्रयोगास्तु समग्रान्याः पशवः समारण्या इति । गवादयो पक्षिणश्च तुष्पाज्जातिवचनः पशुशब्दः । गोबलीवर्दवद्वाभेदो द्रष्टव्यः ॥ ४० ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । तथा च वध्यस्याप्युपकारो भवेदित्याह ओषध्य इति । पशवश्छागाः । तिर्यञ्चस्ततो न्ये च चतुष्पदाः । उच्छ्रितरूपमजातीः ॥ ४० ॥

(३) कुल्लूकः । किंच ओषध्य इति । ओषध्यो ब्रीहियवाद्याः पशवश्छागाद्याः वृक्षायूपाद्यर्थाः तिर्यञ्चः कूर्मादयः । पक्षिणः कपिञ्जलाद्याः । यज्ञार्थं विनाशंगताः पुनर्जात्युत्कर्षं प्राप्नुवन्ति ॥ ४० ॥

(४) राघवानन्दः । ननु कथमवधस्तत्राह ओषध्यइति । तिर्यञ्चोगोकूर्मादयः । उच्छ्रितीर्जात्युत्कर्ष । नवधोऽनुप-
कासायपश्वदेरयमुपकारक इत्यवधइतिभावः ॥ ४० ॥

(५) नन्दनः । यज्ञार्थं वधे न केवलं यजमानस्यैवाभ्युदयः किंतु पश्वदीनामपीत्याह ओषध्यइति । उच्छ्रितीः
उच्छ्रयानभ्युदयानितियावत् ॥ ४० ॥

(६) रामचन्द्रः । तिर्यञ्चः तिर्यग्योनय यज्ञार्थनिधनं प्राप्ताः उच्छ्रितीः उत्कृष्टजातीः उत्कृष्टजातित्वं प्राप्नुवन्ति
॥ ४० ॥

मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि ॥ अत्रैव पशवो हिंस्यानान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥ ४१ ॥

(१) मेधातिथिः । यावत्यः काश्चिच्छास्त्रचोदितहिंसास्ताः संक्षिप्य दर्शयति । मधुपर्कोऽव्याख्यातः तत्र गोव-
धोविहितः । यज्ञोऽज्योतिष्टोमादिस्तत्र संस्थैकादशिन्यादि । पशुवधो निरुद्धपशुवधादिः स्वतन्त्र एव च । पितृदैवतं पितरो-
देवतार्यस्मिन्कर्मण्यष्टकादौ नतु श्राद्धम् । तद्धि सिद्धेन मांसेन विहितम् न च पशुवधश्चोदितः । न च देवविधायकं युक्त-
म् उत्पत्तौ श्राद्धस्य हिंसायाचोदितत्वात् । अस्य च विस्पष्टविधानादष्टकापशुवधेनापि नेतुं शक्यत्वाद्धित्वेचास्य मूल-
कल्पनामसङ्गाद्विध्यन्तरशेषतायाश्च वक्ष्यमाणत्वात् । येषां तु मतं पितृणां देवतानां च कर्म महायज्ञादि । ब्राह्मणैर्वध्याभृत्या-
नांचैव वृत्त्यर्थमापदि पशुहिंसनमप्राप्तं प्राणान्त्ययेऽभ्यनुज्ञायते । अवेदाविहिता हिंसाप्रतिषेधोऽयम् । न च वेदाविहिताऽभ्यनु-
ज्ञायते ॥ ४१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उपसंहरति मधुपर्के चेति । यज्ञे पशुबन्धसौत्रामणीसोमेषु । पितृकर्मण्यष्टकायां । दैवतक-
र्मणि आश्वलायनगृह्याद्युक्तपशुकल्पे अत्रैव ब्राह्मणेन हिंस्यादित्येवकारेण व्यवच्छिद्वापि नान्यत्रेति पुनर्वदन्भ्यासे भू-
यांसमर्थमन्यन्तइतिन्यायेन निमित्तान्तरेण पार्वणादावपि हिंसायाऽतिशयितप्रत्यवायहेतुतां दर्शयति ॥ ४१ ॥

(३) कुल्लूकः । समांसो मधुपर्कइति विधानान्मधुपर्के च यज्ञे च ज्योतिष्टोमादौ पित्र्ये दैवे च कर्मणि श्राद्धादौ
पशवो हिंसनीयानान्यत्रेति मनुरभिहितवान् ॥ ४१ ॥

(४) राघवानन्दः । हिंसास्थलं गणयति मध्विति । अत्रैवेति । तथा च श्रुतिः । न हिंस्यात्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः
॥ ४१ ॥

(५) नन्दनः । त्रिष्वेव पशुवधइत्याह मध्विति । पितृदैवत्यंकर्मश्राद्धम् ॥ ४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अत्र मधुपर्के पशुवधः सत्ययुगपरोक्षेयः ॥ ४१ ॥

एष्वर्थेषु पशून् हिंसन्वेदतत्त्वार्थविद्विजः ॥ आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥ ४२ ॥

(१) सर्वज्ञनारायणः । वेदतत्त्वार्थविदिति वेदस्य तात्त्विकं तात्पर्यविषयमर्थं यदि जानाति यदि तत्कर्म सा-
ङ्गकरोतीति यावत् । गमयत्युत्तमां गतिमत उपकाराधिक्याददोषइत्यर्थः ॥ ४२ ॥

(३) कुल्लूकः । एषु मधुपर्कादिषु पदार्थेषु पशुहिंसनात्मानं पशुचोत्तमां गतिं स्वर्गाद्युपभोगयोग्यविलक्षणदेहदेशादि-
संबन्धं प्रापयति । वेदतत्त्वार्थविदिति विद्वदधिकारबोधनार्थम् । नन्वन्याधिकारिके कर्मणि कथमनधिकृतस्य पश्वदेहस्य
गतिप्राप्तिः फलं उच्यते । शास्त्रप्रमाणकत्वात् अस्यार्थस्य पित्रधिकारिकायां जातेष्टावनधिकारिणोऽपि पुत्रस्य फलप्राप्तिः-

दिह्यपि पश्वादिगतफलसंभवाद्यजमानएव कारुणिकतया पशुगतफलविशिष्टमेव फलंकामयिष्यति अतएवात्मानंच पशुंचैवेत्यभिधानात् यजमानव्यापारादेव पशुगतफलसिद्धिरुक्ता ॥ ४२ ॥

(४) राघवानन्दः । अतआह एष्विति । आत्मनःस्वर्गकामोयजेत वायव्यश्चेतमालभेतेति श्रुतेः । पशूंश्चेति यज्ञार्थनिधनंप्रामादित्युक्तम् ॥ ४२ ॥

(६) रामचन्द्रः । एष्वर्थेषु मधुपर्कादिषु पशून् हिंसन्सद्विजआत्मानंपशूंश्चोत्तमांगतिं गमयति प्रापयति ॥ ४२ ॥

गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान्द्विजः ॥ नावेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत् ॥ ४३ ॥

(१) मेधातिथिः । नच गुरौ वसतो ब्रह्मचारिणोऽरण्ये चतपस्यतोऽन्या काचिद्धिसास्ति । अवकीर्णिनो ब्रह्मचारिणः स्यादपि वानप्रस्थस्य तु नैवास्ति । ब्रह्मचारिणोऽप्यात्मोपेक्षणं नैवेष्यते । अतोऽयं विधिरेव श्राद्धे गृहइत्यनुवादएव । यदिचायं विधिः स्यादरण्य आपद्यपीति किमालम्बनमेतत्स्यात् । नच वानप्रस्थस्य साम्निकस्यापि पशुयागोऽस्ति पुरोडाशांश्चरुंश्चैवेत्यत्र दर्शयिष्यामइति केचित् । उपाध्यायस्त्वाह युक्तं ब्रह्मचारिणो वानप्रस्थस्य त्वपराजितां वा स्थायेत्यादिनात्मत्यागोपि विहितस्तस्य नास्ति जीवितार्था हिंसेति स्फुटतरं तत्रैव निरूपयिष्यते । ननु चापद्ययं प्रतिषेध उच्यते । तत्कृतस्तत्रैवानुज्ञानं व्याख्यायते । सत्यम् । अन्यथा न किंचिदनेन कृतं स्यात् । अर्थवादार्थमिति चेदर्थवादस्याप्यालम्बनमन्वेषणीयम् । अतो नापद्ययं प्रतिषेधो विधिश्चापद्यविरुद्धः । बहुभेदादापदामल्पीयस्यामापदिसामिकमर्धमासिकं वा भोजनं भविष्यतीति बुद्ध्या प्रवृत्तिर्निषिध्यते । यदा त्वेषा बुद्धिरधुनैवानश्रन्न जीवामि यदानाभिमुखागत उद्यतशस्त्र आततायी तदापद्यनुज्ञा । एवं सर्वतएवात्मानंगोपायेदिति श्रुतिरनुगृहीता भवति ॥ ४३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गृहे गार्हस्थ्ये । गुरौ ब्रह्मचर्ये । अरण्ये वनस्थत्वभिक्षुत्वयोः । एतेन यथा ब्रह्मचार्यादीनां हिंसादोषस्तादृगेव गृहिणोपीत्युक्तम् ॥ ४३ ॥

(३) कुल्लूकः । गृहाश्रमे ब्रह्मचर्याश्रमे वानप्रस्थाश्रमे च प्रशस्तात्मा द्विजो निवसन्नापद्यपि नाशास्त्रीयां हिंसां समाचरेत् ॥ ४३ ॥

(४) राघवानन्दः । गृहइत्यादि त्रयमाश्रमत्रयसंग्राहकम् । ब्रह्मचारिगृहस्थयोः स्वतो मांसाभोजित्वेपि गुर्वाद्विहिंसा संभवात् ॥ ४३ ॥

(५) नन्दनः । गृहे गृहाश्रमे । गुरौ ब्रह्मचर्याश्रमे । अरण्ये वानप्रस्थाश्रमे ॥ ४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । आत्मवान् यत्नवान् द्विजः अवेदविहितां हिंसां समाचरेत् । गृहे गृहस्थाश्रमे । गुरौ ब्रह्मचर्याश्रमे । अरण्ये वानप्रस्थाश्रमइति । ब्रह्मचारिवनस्थसाहचर्यादृहस्थस्यापि हिंसायां दोषः ॥ ४३ ॥

या वेदविहिता हिंसा नियताऽस्मिंश्चराचरे ॥ अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्वर्तौ ॥ ४४ ॥

(१) मेधातिथिः । वेदविहितोयः प्राणिवधः सोऽस्मिञ्जगति चराचरस्थावरजङ्गमे नियतो नित्योऽनादिः । यस्तु तच्चादिः सोऽन्वयव्यतिरेकभ्रान्त्या इदानीं ततः अतो वैदिकीर्मा हिंसामेव विद्यात् अमुत्र प्रत्यवायाभावात् । अहिंसेति कार्यत उच्यते न स्वरूपतः । ननु च सैव हिंसारूपा भेदात्कथं कार्या भेदः । उच्यते । वेदाद्धर्मो हि निर्वर्तौ धर्मस्याधर्मस्य च यत्प्रणयनं तद्वेदादेव पौरुषेयाणामप्रामाण्यात् । वेदस्य स्वतएवाभ्युदयहेतुत्वं कचित्तज्ञापयति । स्वरूपा भेदोऽपि नास्ति । ऋत्वर्थपुरुषार्थत्वेन भेदादाशयभेदेन प्रवृत्तेः । लौकिक्यामांसयतो द्विषाणस्य चाप्रवृत्तिः वैदिक्यानु शास्त्रेण चोदितमिदं ऋत्वर्थमिति । निर्वर्तौ निःशेषेण भातः प्रकाशतांगत इति यावत् ॥ ४४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नियता सर्वैरनुष्ठीयमाना । अहिंसामेव तां तामेवाहिंसां अहिंसासाम्याभिधानेऽवकारस्यानुपयोगात् । निर्बभौ प्रकाशंगतः ॥ ४४ ॥

(३) कुल्लूकः । कथं तर्हितुल्येहिंसात्वेदिकीदैक्षादिपशुहिंसानाधर्मायेत्यत आह यावेदविहितेति । या श्रुतिविहिता कर्मविशेषदेशकालादिनियताऽस्मिन्नगति स्थावरजङ्गमात्मन्यहिंसामेव तां जानीयात् हिंसाजन्याधर्मविरहात् । दैक्षपशुहन्नमधर्मः प्राणिहन्ननत्वात् ब्राह्मणहन्ननवत् इत्याद्यनुमानमुपजीव्यशास्त्रबाधादेव न प्रवर्तते दृष्टान्तीकृतब्राह्मणहन्नस्याप्यधर्मत्वे शास्त्रमेवोपजीव्यम् । वेदाद्धर्मोहि निर्बभौ यस्मादनन्यप्रमाणकोधर्मोवेदादेव निःशेषेण प्रकाशतांगतः ॥ ४४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच वेदविहिता हिंसा न हिंसेत्याह येति त्रिभिः । हिंसातोऽधर्मोऽयथावेदप्रमाणकस्तथा यज्ञे हिंसातोऽधर्मस्तत्प्रमाणक इति भावः । कर्म ब्रह्मोद्भवविद्धीति स्मृतेः ॥ ४४ ॥

(५) नन्दनः । वेदाद्धर्मोहि निर्बभौ न प्रमाणान्तरात् । तेन वेदविहितहिंसा हिंसात्वेन वक्तुं न युक्त्यभिप्रायः ॥ ४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अस्मिन्नराचरे या वेदविहिता हिंसा विध्युक्ता हिंसा तां हिंसामहिंसामेव विद्याजानीयात् । धर्मो वेदानिर्बभौ नितरांबभौ प्रकाशत इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ॥ सजीवंश्च मृतश्चैव न कचित्सुखमेधते ॥ ४५ ॥

(१) मेधातिथिः । अकारोत्रप्रतिषेधार्थीयः प्रश्लिष्टोदृष्टव्यः । अहिंसकानां च प्रतिषेधात्सर्वव्याघ्रादीनामप्रतिषेधः ॥ ४५ ॥

(२) सर्वज्ञनायणः । अहिंसकान्यनपकारीणीत्यपकारिवधे दोषाल्पतोक्ता । आत्मसुखेच्छया आत्ममात्रसुखार्थं नान्येषां वध्यस्य चोपकाराय ॥ ४५ ॥

(३) कुल्लूकः । योऽनुपघातकान्प्राणिनोहरिणादीनात्मसुखेच्छया मारयति सद्दहलोके परलोके च न सुखेन वर्धते ॥ ४५ ॥

(४) राघवानन्दः । अहिंसकानि मृगमीनादीनि । न कचिदिहामुत्र पूर्वकृता हिंसादुरदृष्टवशादिहापि ॥ ४५ ॥

(५) नन्दनः । अहिंसकानीति विशेषणाद्याघ्रादिहिंसायां दोषमात्रं सूचितम् ॥ ४५ ॥

(६) रामचन्द्रः । यान्यहिंसकानि भूतानि तानि य आत्मसुखेच्छया हिनस्ति सजीवंत्सन्मृतसंज्ञः जीवन्मृतक इत्यर्थः । कचित्कस्मिंश्चिदलोके सुखेनैधते न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ४५ ॥

यो बन्धनवधक्लेशान् प्राणिनां न चिकीर्षति ॥ ससर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ ४६ ॥

(१) मेधातिथिः । बन्धनवधा एव क्लेशाः । अथवा वित्ताशनदयः तान्योन कर्तुमिच्छति वित्ताशनमेव येन नरुतं तद्विषयेच्छैव यस्य निवृत्ता न केवलं पीडां करोति यावद्विजितं प्रेप्सितुमिच्छति सर्वस्य ससुखमत्यन्तमश्नुते ॥ ४६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नचिकीर्षत्येतादृक्संकल्पोत्पादनेन ॥ ४६ ॥

(३) कुल्लूकः । यो बन्धनमारणक्लेशादीन्प्राणिनां कर्तुं नेच्छति ससर्वहितप्राप्तीच्छुरनन्तसुखं प्राप्नोति ॥ ४६ ॥

(४) राघवानन्दः । अहिंसकस्य गुणानाह य इति द्वाभ्यां । बन्धनवधाभ्यां यः क्लेशस्तं । अत्यन्तं कल्पस्थायि ॥ ४६ ॥

यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च ॥ तदवामोत्ययत्नेन योहिनस्ति न किञ्चन ॥ ४७ ॥

(१) मेधातिथिः । यच्चिन्तयति शुल्कमर्हणादि यत्रच रतिमभिलाषं बध्नात्यभिप्रेत्यवस्तुनि तदयत्नेन स्वल्पेनैव कालेनावामोति । यत्तु कुरुते कर्मणा तत्कर्मनिष्पत्तिसमनन्तरमेवाविघ्नेन वामोति ॥ ४७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ध्यायति चिन्तयति । रतिमिच्छाम् ॥ ४७ ॥

(३) कुष्ठूकः । अन्यच्च यद्ध्यायतीति । यच्चिन्तयति धर्मादिकमिदं मेस्त्विति यच्च श्रेयःसाधनं कर्म करोति यत्र च परमार्थध्यानादौ धृतिबध्नाति तत्सर्वमक्लेशेन लभते । यउपघातनिमित्तं दंशप्रशकाद्यपि न व्यापादयति ॥ ४७ ॥

(४) राघवानन्दः । न केवलमेवं किंतु सत्यसंकल्पः स्यादित्याह यद्ध्यायतीत्यादि । अप्रतिबद्धं तस्य कर्म फलतीति भावः । रतिर्विजिगीषा तेन वाचिकं कर्म लक्ष्यते ॥ ४७ ॥

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ॥ न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥ ४८ ॥

(१) मेधातिथिः । सर्वस्य हिंसाप्रतिषेधः लोकसंघातस्य मांसभक्षणशेषतां दर्शयति । यावत्प्राणिनो न हतास्तावन्मांसं नोत्पद्यते हिंसाचातिशयेन दुःखावहा तस्मान्मांसं विवर्जयेत् । ननु च स्वयं मृतानां भवत्येव मांसं किमिदमुच्यते नाकृत्वेति । अर्थवादोऽयं । स्वयं मृतानां च मांसं रोगहेतुत्वादग्राह्यमेव न हृदत्वा मांसं भक्ष्यते न च रोगहेतोर्दानमस्ति । उत्पद्यत इति मांसस्य हिंसानिमित्तत्वात्कवृष्यपदेशसमानकर्तृकत्वं भवत्येवाविरुद्धम् । अथवोत्पद्यत इति । न च स्वर्ग्य इति न स्वर्गानुत्पत्तिहेतुमात्रमभिप्रेतमपि तु नरकादिदुःखहेतूनाम् ॥ ४८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवं प्रपञ्चेन मांसभक्षणे तद्भक्षणदोषो हिंसादोषश्चेति दर्शितम् तत्र स्वयं हिंसामकृत्वा क्रीतस्य लब्धस्य वा मांसस्य भक्षणेऽपि हिंसादोषोऽस्तीत्याह नाकृत्वेति । क्रीतलब्धादौ साक्षादहननेपि केतुग्रहीतृदेशेन हननादस्ति हिंसादोष इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

(३) कुष्ठूकः । मांसभक्षणप्रसङ्गेन हिंसागुणदोषावभिधाय पुनः प्रकृतमांसाभक्षणमाह नाकृत्वेति । प्राणिहिंसाव्यतिरेकेण न क्वचिन्मांसमुत्पद्यते प्राणिवधश्च न स्वर्गनिमित्तं नरकहेतुरेव यस्मात्तस्मादविधिना मांसं न भक्षयेदिति ॥ ४८ ॥

(४) राघवानन्दः । प्राणिप्रसूतस्यैव मांसत्वमित्याह नेति । मांसमविधिसंपादितं वर्जयेत् न भक्षयेत् ॥ ४८ ॥

(५) नन्दनः । पुनरपि मांसभक्षणवर्जनमेवोपक्रम्याह नाकृत्वेति । स्वर्ग्यः स्वर्गाय हितः ॥ ४८ ॥

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् ॥ प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥ ४९ ॥

(१) मेधातिथिः । अशुचिस्थाने कुक्षौ गर्भवृद्धिः शुक्रशोणिताभ्यां वाऽशुचिभ्यां प्रभवः । तथाच वधबन्धौ शरीरवतां तत्कृतौ एतत्सर्वप्रसमीक्ष्य निपुणबुद्ध्या तत्त्वतो निरूप्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्सर्वस्या प्रतिषिद्धस्यापि किंपुनः प्रतिषिद्धस्य । अर्थवादोऽयम् । न पुनस्तत्त्वतः अशुच्येव मांसं ज्ञेयं न हि तदशुचित्वविधिपरं वाक्यम् ॥ ४९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । समुत्पत्तिं शुक्रशोणितप्रभवतया कुत्सिताम् । वधबन्धौ परलोकविरुद्धौ ॥ ४९ ॥

(४७) तदवामोति=तदेवा (क, ख, ण)=तत्तदा. (घ)

धृति=रति (ट, ठ, ड, थ)

(३) कुङ्कः । शुक्रशोणितपरिणामात्मिकांसमुत्पत्तिधृणाकरींविज्ञाय प्राणिनांवधबन्धौचक्रूरकर्मरूपौ निरूप्य विहितमांसभक्षणादपि निवर्तेत किमुताविहितमांसभक्षणादित्यविधिना मांसभक्षणनिन्दानुवादः ॥ ४९ ॥

(४) राघवानन्दः । मांसभक्षितारंधिगस्त्वित्याह समिति । समुत्पत्ति शुक्रशोणितपरिणामत्वाज्जुगुप्सितप्रेक्ष्य । मेषविशेषस्य बन्धनं कृत्वामांसंगृह्यतेन भ्रियते स इत्यपि ॥ ४९ ॥

(५) नन्दनः । समुत्पत्तिर्मातापित्रोः शोणितशुक्राभ्यां विष्मूत्रादिभिर्दूषिते कुक्षौ संभवः ॥ ४९ ॥

न भक्षयति योमांसं विधिं हित्वा पिशाचवत् ॥ सलोके प्रियतांयाति व्याधिभिश्च न पीड्यते ॥ ५० ॥

(१) मेधातिथिः । विधिर्देवार्चनं तद्धित्वा योन भक्षयति किंताहि विधिना भक्षयति सलोकस्य प्रियतां प्राप्नोति प्रियः सर्वस्य भवति । व्याधिभिश्च कृशदुर्बलादेर्मांसमश्रतो व्याधिरुपजायते तेनापि विधिर्नैवाशितव्यम् । तथा भक्षयन् व्याधिभिर्न पीड्यते । अन्यथा अश्रन्नपि मांसं पीड्यत एव व्याधिभिः । पिशाचवदिति पिशाचास्तिर्यग्जातिविशेषा स्ते विधिमनपेक्ष्य मांसमश्रन्ति ततो न्योपि तथा भक्षयन् पिशाचसदृशो भवतीति निन्द्यते ॥ ५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सर्वमांसस्याभक्ष्यत्वेनोक्तस्यापि पिशाचवदिति विधिहानौ दृष्टान्तः ॥ ५० ॥

(३) कुङ्कः । उक्तविधिव्यतिरेकेण योन मांसं भक्षयति । पिशाचवदिति यथा पिशाचो भक्षयति तथा नेति व्यतिरेके दृष्टान्तः । सलोकस्य प्रियो भवति रोगैश्च न बाध्यते । तस्मादवैधमांसभक्षणाद्याधयो भवन्तीति दर्शितम् ॥ ५० ॥

(४) राघवानन्दः । मांसाभक्षणमलंकरोति नेति । पिशाचवदिति व्यतिरेकेण दृष्टान्तः ॥ ५० ॥

(५) नन्दनः । पिशाचवद्विधिहित्वेत्यन्वयः ॥ ५० ॥

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ॥ संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥ ५१ ॥

(१) मेधातिथिः । अन्येन हन्यमानं स्वप्रयोजनतो यद्यन्यो नुमोदते साध्वयं हन्ता करोतीत्यनुमन्ता विशसिता हन्तस्याङ्गविभागकारः । उपहर्ता परिवेषकः । खादक इत्येते सर्वे घातकाः । अघातकेषु खादनसंस्कारविक्रयादिकर्तृषु घातकत्वेभ्यारोपिते निन्दा न पुनस्तत्त्वत एते घातका एव लौकिकी हि वधक्रिया प्राणत्यागफला तस्य कर्ता घातकः स्मृतितोगम्यते । स्वतंत्रः कर्तेति विशेषशास्त्रादिना यः प्राणवियोजनं प्राणिनां करोति सहन्तोच्यते क्रयविक्रयाद्याश्च क्रियास्ततो न्या एव । ननु चेयमपि स्मृतिरेव । एते अनुमन्तप्रभृतयो घातका इति नेदं शब्दार्थसंबन्धे प्रमाणम् । किंताहि धर्माधर्मयोरभियुक्ततरो हि तत्र भवान्प्राणिनिः मन्वादयश्च लोकप्रसिद्धैः पदार्थैर्व्यवहरन्ति न शब्दार्थसंबन्धविधिं स्मरन्ति प्रयोक्तारो हेते न स्मर्तारः । ननु च तमाचार्यप्रचक्षत इत्यादेः स्मरन्त्येते । सत्यं । न तत्र शास्त्रस्मृतिविरोधः । न च तेषां वाक्यानामन्यत्प्रयोजनमस्ति । इहतु गौणेनापि प्रयोजनेनार्थवादतयाप्युपपत्तेर्न घातकत्वं शक्यमवसातुं । येन्याहुर्भक्षकश्चेन्न विद्यते वधकोपि न विद्यत इति भक्षणप्रयुक्त एव वधः प्रयोजकश्च कर्ता स्मर्यते । ततो मुख्यमेव घातकत्वमतो घातकप्रार्थश्च तमेव खादकस्य युक्तमिति ब्रूमः । पृथक्प्रायश्चित्तहतानां सात्त्वादकस्य जग्ध्वामांसमभक्ष्यं चेति । यदि प्रयोजकत्वेन कर्तृत्वमुक्तं तदपि नैवास्ति । इदं हि तस्य लक्षणं । प्रेषणाभ्येषणाभ्यां तु यः स्वतन्त्रस्य चोदकः सकर्ता स एव हेतुश्च मुख्योपर इति । वधको हि जीवनप्रयुक्तया प्रवर्तते मांसविक्रयेण जीविष्यामीति नतु खादकेन विनियुज्यते । अथ तत्समर्थारणप्रयोजकत्वम् । योयं क्रियाकर्तुं मध्यवसितस्तत्रानुकूल्येन यः संविधि-

स्तुः सप्रयोजकइति । एतदप्यत्र नैवास्ति साधनोपनिधानं त्रसतः पशोरस्वतन्त्रीकरणं खड्गोपनयनमित्येव संविधानशब्द-
वाच्यं युक्तम् । तेन विना क्रिया न निष्पद्यते । अथ यदर्थः क्रियारम्भः सप्रयोजकश्चेति चेन्माणवकमध्यापयतीत्यध्याप-
नेहेतुकर्तृसंज्ञाप्रतिलम्भो न ह्यध्ययनमध्यापयति । न चासौ किञ्चिदुद्दिश्य हनने प्रवर्तते । येनास्य तदर्थनिरूपणाय भ-
क्षणेऽनर्था प्रवृत्तिः स्यात् । सर्वद्वये स्वभूत्यै यतन्ते न केनकश्चित्परोनुग्रहीतव्यइति मुहूर्तमप्यवतिष्ठतइत्यपि पूर्णकामः
अथ स्वार्थप्रवृत्तस्य भक्षयितारमन्तरेण प्रवृत्तिरनार्थिका तस्मिन्स्तु सति फलवती फलं च प्रयोजकम् तच्च खादका-
धीनमिति पारंपर्येण खादकः प्रयोजकइति । एवंतर्हि योद्वेषाद्ध्यते सहन्तुः प्रयोजकः स्यात्ततश्च हन्यमानएव ह-
न्ता संपद्यते । नहि द्वेषेण विना हन्तृत्वोपपत्तिरिति । तथा ब्रह्महत्यायामपि सर्वस्वं दद्यात्पातकसंप्रयोजकं नहि प्रति-
ग्राहयितारमन्तरेण प्रतिग्रहोपपत्तिस्ततश्च प्रतिग्राही न केवलं प्रत्यवेद्यादपितु दातापि । रूपवती च स्त्री स्मरशरदस-
मानन्दद्येन रागिणा दर्शितस्पृहातिशयेन शीलं रक्षन्ती प्रत्यवेद्यात् तस्मान्नेदं प्रयोजकलक्षणम् । तौहि वधकखादकौ स्वा-
र्थप्रवृत्तौ नष्टाश्वदग्धरथवदितरेतरोपकारमनुभवन्तौ न पुनरन्यतरप्रयोजकस्मृतिविशङ्क्या च शूद्रविदूक्षत्रविप्राणामित्यत्र
श्लोके निपुणमेतन्निर्णीतम् ॥ ५१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्रीत्वा लब्ध्वा वा भक्षयितुरपि हिंसादोषइत्युक्तं तदुपपादयन्भक्षणोचितव्यापारान्तर
करणेऽपि हिंसायां दोषइति दर्शयति अनुमन्तेति । अनुमन्ता यदनुमत्या विना न वधः । विशसिता मांसविभागकारी ।
निहन्ता प्राणव्यापादकः । क्रयविक्रयीति क्रयाय परार्थक्रेता विक्रेता परनिहतपशोर्मांसं क्रीत्वा तद्विक्रयणकारी । सं-
स्कृता पाचकः । उपहर्ता परिवेषकः । खादको भक्षकः । एतैर्व्यापारैर्विना उद्देश्याभावाद्घातकोपि न घातयतीत्येतेपि
हिंसाकाइत्यर्थः ॥ ५१ ॥

(३) कुड्मूकः । यदनुमतिव्यतिरेकेण हननं कर्तुं शक्यते सोऽनुमन्ता । विशसिता अङ्गानि यः कर्तर्यादिना पृथ-
क्पृथक् करोति । क्रयविक्रयी मांसस्य क्रेता विक्रेता च । संस्कृता पाचकः । उपहर्ता परिवेषकः । खादको भक्षयिता । गोवि-
न्दराजस्तु यः क्रीत्वा विक्रीणाति स क्रयविक्रयीत्येकमेवाह तदयुक्तं । हननेन तथा हन्ता धनेन क्रयकस्तथा । विक्रयी तु
धनादानात्संस्कृतातिप्रवर्तनादिति यमवचनेन पृथङ्निर्देशात् । घातकत्ववचनंचेदमशास्त्रीयपशुवधेनुमत्यादयोऽपि न कर्त-
व्याइत्येवंपरं विधिनिषेधपरत्वाच्छास्त्रस्य खादकादीनां पृथक्प्रायश्चित्तदर्शनात् ॥ ५१ ॥

(४) राघवानन्दः । नैतादृशं पापमस्ति यदष्टौ दूषयतीत्याह अनुमन्तेति । सम्यक्कृतमित्यनुमन्यते यः सोऽनुमन्ता ।
पश्वङ्गानि कर्तनादिना यः पृथक्पृथक् करोति स विशसिता संस्कृता पाचकः । उपहर्ता परिवेषकः ॥ ५१ ॥

(५) नन्दनः । खादके हि सत्यनुमन्तादयो भवन्ति । तेन वधमकुर्वतोऽपि खादकस्यातो दोषो भूयान्भवति । तस्मा-
न् खादकः स्यादित्यर्थः ॥ ५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनुमन्ता यदनुज्ञया हतः । विशसिता अवयवमांसविभागकर्ता ॥ ५१ ॥

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ॥ अनभ्यर्च्य पितृन् देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत् ॥ ५२ ॥

(१) मेधातिथिः । अधिकपुष्ट्यर्थं यो मांसमश्नाति तस्येयं निन्दा नतु रोगोत्पत्तिभयाशङ्क्या यत आह यो वर्धयितु
मिच्छतीति तस्याप्यनभ्यर्च्यपितृन् देवान् । नतु रोगहेतोस्त्वर्चनमकुर्वतोपि कथंचिदसंभवान्न दोषः ॥ ५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनभ्यर्च्य पितृन् देवानिति पितृनन्वष्टकायां देवान्पशुबन्धादौ ॥ ५२ ॥

(३) कुल्लूकः । त्वशरीरमांसं परमांसेन देवपित्राद्यर्चनं विना यो वृद्धिनेतुमिच्छति तस्मादपरोनापुण्यकर्ता स्तीत्यविधिमांसभक्षणनिन्दानुवादः ॥ ५२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच स्वेति । अपुण्यकृत्पातकी ॥ ५२ ॥

(६) रामचन्द्रः । तत्तस्मात्पूरुषात् अपुण्यकृत् पापकर्ता नास्ति ॥ ५२ ॥

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन योजेत शतंसमाः ॥ मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥ ५३ ॥

[सदा यजति यज्ञेन सदा दानानि यच्छति । सतपस्वी सदा विप्रो यश्च मांसं विवर्जयेत् ॥ १ ॥]⁺

(१) मेधातिथिः । देवाद्यर्चनशिष्टस्य शशादिमांसस्य भक्षणमनुज्ञातं । ततो निवर्तमानोऽश्वमेधफलमश्नुते अश्वमेधस्य फलं सर्वान्कामानश्नं सर्वविजितीरित्यादि । न चात्र चोदनोयम् कथं महाप्रयासेन बहुधनव्ययेन च तुल्यफलता मांसनिवृत्तेः स्यात् । यत एषोऽपि संयमोति दुष्करः । किंच लोकवत्परिमाणतः फलविशेषः स्यादित्ययं न्यायो जृम्भत एव । अतः फलविधौ न दोषः वयंतु ब्रूमः । अर्थवाद एवायं यतो वर्षे शतंसमा इति वार्थवादपक्षे सुघटम् । नहि प्रतिवर्षमश्वमेधस्य विधेयत्वसंभवः । नापि वर्षे शतं तावतः कालस्याधिकारिणो जीवनाद्यसंभवात् । पुण्यं च फलं च पुण्यफलम् । समाहारद्वन्द्वः । षष्ठीसमासेऽसामर्थ्यम् ॥ ५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अधुना यस्य वर्णस्य यादृशमांसभक्षणं निषिद्धं तदकरणे फलमाह वर्षे वर्षे इति । शतंसमा इति यावदायुः प्रतिवर्षमश्वमेधफलमित्यर्थः ॥ ५३ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानीमनियमिता प्रतिषिद्धमांसभक्षणस्य निवृत्तिर्धर्मायेत्येतद्दर्शयितुमाह वर्षे वर्षे इति । यो वर्षशतं यावत् प्रतिवर्षमश्वमेधेन यजेत यश्च यावज्जीवं मांसं न खादति तयोः पुण्यस्य फलं स्वर्गादि तुल्यम् ॥ ५३ ॥

(४) राघवानन्दः । मांसवर्जनादधिकं पुण्यं न संभाव्यमित्याह वर्षे इति । तयोर्मांसाभक्षकाश्च अश्वमेधयाजिनोऽप्राणिवधाकरणात् समम् ॥ ५३ ॥

फलमूलाशनैर्मध्ये मुन्यन्नानां च भोजनैः ॥ न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥ ५४ ॥

(१) मेधातिथिः । मध्येर्देवाहैः । मुन्यन्नानि नीवाराद्यन्नान्यकृष्टपच्यजनितानि । अयमर्थवाद एव ॥ ५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । फलमूलाशनैः तन्मात्रभक्षणैः । मुन्यन्नानां नीवारादिमुन्यन्नानां भोजनैर्भक्षणैः ॥ ५४ ॥

(३) कुल्लूकः । पवित्रफलमूलभक्षणैर्वानप्रस्थभोज्यानां च नीवाराद्यन्नानां भोजनैर्न तत्फलमवाप्नोति यच्छास्त्रानियमिता प्रतिषिद्धमांसवर्जनाल्लभते ॥ ५४ ॥

(४) राघवानन्दः । फलमूलाशनैरनयोरेव भोजनैः मध्येर्देवयोग्यैः मेधोयज्ञस्तत्तुल्यफलैः । न भक्षयामीति संकल्पपूर्वकं मांसपरिवर्जनात् ॥ ५४ ॥

मांसभक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ॥ एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ५५ ॥

(१) मेधातिथिः । नामधेयनिर्वचनमर्थवादः । मांसभक्षयिता स इति सर्वनाम सामान्यापेक्षं योग्येनार्थेन मतिराकांक्षीकरोति यस्य मांसमश्नाति ॥ ५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनिष्टफलमाह मांसभक्षयितेति । अमुत्र जन्मान्तरे ॥ ५५ ॥

(३) कुड्मूकः । इहलोके यस्य मांसमहमश्रामि परलोके मां सभक्षयिष्यतीत्येतन्मांसशब्दस्य निरुक्तं पण्डिताः प्रवदन्ति । इति मांसशब्दस्य निर्वचनमवैधमांसभक्षणपापफलकथनार्थम् ॥ ५५ ॥

(४) राघवानन्दः । मांसपदव्युत्पत्तिमाह मांसेति । सपशुर्मांसस्य भक्षकममुत्र परलोके भक्षयिता यस्य पशोर्मांसमहमिहाप्नोति ॥ ५५ ॥

(५) नन्दनः । मांसभक्षणस्य वर्जनीयतां मांसशब्दनिर्वचनेनाप्याह मांसइति । भक्षयिता भक्षयिष्यति ॥ ५५ ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्य मांसमहमिहाप्ति अमुत्र परलोके मां सभक्षयिता भक्षयिष्यति । एतन्मांसस्य मांसत्वं मनीषिणः प्रवदन्ति ॥ ५५ ॥

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ॥ प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ५६ ॥

(१) मेधातिथिः । प्राणस्यान्मित्यत आरभ्य यावदयं श्लोकोऽर्थवादसंघातएव द्वित्राः श्लोकाविषयार्थाः । न मांसभक्षणे दोषो यथा क्रीत्वा स्वयंचाप्युत्पाद्येति तथा यमपि श्लोकः । निवृत्तिस्तु महाफलेत्येतदत्र श्रूयते । बहुभिर्निन्दार्थाकरैरीदृशः संस्कारोजातो यन्न किञ्चिन्मांसमशितव्यम् । भूतानां वृत्त्यर्थमाह न मांसभक्षणे दोषइति । देवार्चनशिष्टे ब्राह्मणकाम्यादिषु निमित्तेषु प्रागुक्तेषु न दोषः किञ्चिदशितुमिच्छन्ति । निवृत्तिर्भक्षयामीतिसंकल्पपूर्विका महाफला । फलविशेषाश्रुतेः स्वर्गः फलमिति मीमांसकाः । एवं मद्ये क्षत्रियादीनां मैथुने तु सर्ववर्णानां दिवोदक्यापर्वकालादन्यत्र । अल्पत्वल्पा प्रवृत्तिरेषा शास्त्रीया भूतानां शरीरस्थितिहेत्वर्था प्रवृत्तिः तथा चायुर्वेदकृत् । आहारो ब्रह्मचर्यं च निद्रा चेति त्रयं मतम् । मादकं च स्त्रियश्चैव ह्युपस्तम्भनमायुषइति । यस्तु तेन विनापि शक्नोति जीवितुं तस्य निवृत्तिर्महाफला । प्रदर्शनार्थं चैतदशिष्टाप्रतिषिद्धविषयाणामन्यासामपि निवृत्तीनामेवमेव । यत्र विधानं पुरुषस्य प्रवर्तमानस्य प्रीत्यतिशयोत्पत्तिप्रयोजनमनिच्छं गृह्यतवा यतो निवृत्तिः फलाय यथा मध्वशनं संपन्नभोजनं राङ्गवर्षपरिधानमित्येवमादि तथाच शिष्टसमाचारः व्यासश्च भगवानेवमेवाह । ये तु संसक्तितोऽशिष्टाप्रतिषिद्धा अपि यथा हसितकण्डूयनादयस्ततो निवृत्तिर्धर्माय ॥ ५६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । उक्तमर्थमुपसंहरति न मांसभक्षणइति । अनुपाकृतमांसभक्षणे श्राद्धादिष्वपि अदोषो नास्ति किंतु दोषोऽस्त्येवेति व्यतिरेकनिषेधमुखेनाव्यप्रदर्शनमवधारणार्थम् तेन सर्वेष्वेव मांसभक्षणेऽपि सर्वेषां दोषोऽस्तीत्येवेत्यर्थः । यथा येषां क्षत्रियादीनां मद्यमनिषिद्धं येषां ब्राह्मणानां निषिद्धं तेषां सर्वेषां मद्यपानेनादोषो ज्ञेयः गुरुलघुत्वाभ्यां तु निषेधानिषेधौ तथा पर्ववर्जं ब्रजेच्चैनामित्यनृतुमैथुने विहितेऽपि न दोषः यतः प्रवृत्तिरेषा भूतानां रागवशात्सर्वसाधारणा प्रवृत्तिर्न वैधी । पाणीनरोहितावाद्यावित्यादिविधानामपि परिसङ्ख्यादिपरत्वेन मांसभक्षणविधित्वाभावात्सामान्यतश्च मांसमद्यमैथुनानां हि सामदकामरागहेतुत्वात्तेषां च निषिद्धत्वादित्यर्थः । नन्वेवं मांसादेः सामान्यतो निषिद्धत्वात् लशुनादिरिव ततो निवृत्तिर्नाभ्युदयहेतुः स्यादत आह निवृत्तिस्तु महाफलेति । एतादृशमेवैतत् यत्सामान्यतो निषिद्धत्वेऽपि ततो निवृत्तिर्महाफलेति । एतच्च वेदैकसमधिगम्यत्वात् विपरीतदृष्टान्तमात्रेणान्यथा संभावयितुं शक्यमिति तात्पर्यम् । एष एव मनुवचनार्थो यमेन स्फुटीकृतः यदाह ॥ सर्वेषामेव मांसानां महान् दोषस्तु भक्षणे । निवर्तने महत्पुण्यमिति ग्राह्यं पितामहः ॥ तथा बृहस्पतिः मद्यं मांसं मैथुनं च भूतानां ललनं स्मृतम् । तदेव विधिना कुर्वत्स्वर्गं प्राप्नोति मानवः ॥ अभूमांसपुरोडाशो भक्ष्याणां षष्ठ्यभक्षणम् । पुराणेष्वपि यज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च ॥ सौत्रामण्यां तथा मद्यं श्रुतौ भक्ष्यमुदाहृतम् । ऋतौ च मैथुनं धर्म्यं पुत्रोत्पत्तिनिमित्ततः ॥ स्वर्गं प्राप्नोति नैवं तु प्रत्यवायेन युज्यते ॥ यमेन सर्वेषामित्युक्तत्वात् । तथाच मांसं प्रक्रम्य भारतेऽप्युक्तम् । भक्षणस्य महान् दोषो निवृत्त्या पुण्यमुच्यतइति ॥ तथा बृहस्पतिना मांस-

समद्याच्चतुर्द्वेषा परिसंख्येत्युक्त्वा रोगार्तोभ्यर्थितोवापि योमांसनात्यलोलुपः । फलंप्राप्त्ययत्नेन सोश्वमेधशतस्य चे-
त्युक्तम् ॥ अतोविहितादपि भक्षणान्निवृत्तिर्महाफलेति गम्यते । तथा तद्भक्षणे दोषोप्यस्ति उक्तंच महाभारते अल्पदो-
षमिह ज्ञेयमिति । अतएव देवान्पितॄंश्चार्चयित्वा खादन् मांसं दुप्यतीति । अत्रापि न तादृक्संपूर्णदोषभागभवतीत्यर्थः ।
यत्तु मांसभक्षणे दोषोनास्तीत्येतत्परतयैतच्छ्लोकव्याख्याननिबन्धातरेषु कृतं तत्कथमप्यसंगतत्वात् प्रवृत्तिरेषा भूताना-
मित्याद्यनन्वयाच्च नोवाप्येतेन दुप्यते कामधेनुदीपिकायांचैतद्बहुविचारितमितिनेह भूयःप्रतिपाद्यते ॥ ५६ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणादीनां वर्णानां यथाधिकारमविहिताप्रतिषिद्धभक्षणादौ न कश्चिद्दोषोयस्मात्प्राणिनां भक्षणपान-
मैथुनादौ प्रवृत्तिः स्वाभाविकोयंधर्मः वर्जनं पुनर्महाफलं । अविहिताप्रतिषिद्धमद्यमैथुननिवृत्तेर्महाफलकथनार्थोयमुक्तस्यैव
मांसवर्जनमहाफलकथनस्यानुवादः ॥ ५६ ॥

(४) राघवानन्दः । विहितमांसभक्षणे न दोषोयद्यपि तथापि ततोपि निवृत्तिः कार्येत्याह न मांसेति । अग्नीषोमीयं-
पशुमालभेतेति तन्मांसं सुराग्रहांश्च गृह्णातीति वाजपेयादौ मद्यं ऋतौ भार्यामुपेयादिति मैथुनंचविधिप्राप्तं तन्निवृत्तिर्मये-
दंनभोक्तव्यं नपातव्यं न गन्तव्यमिति निःशेषेणनिवृत्तिर्नियमस्ततःफललाभसंभवात् । इत्यभक्ष्यप्रकरणम् ॥ ५६ ॥

(५) नन्दनः । मांसभक्षणेऽनुज्ञातमांसभक्षणे । मद्ये मदकरद्रव्ये । अविहिताप्रतिषिद्धे ताम्बूलादौमैथुने चाविहि-
ताप्रतिषिद्धेऽनृतौ त्वदारगमने ॥ ५६ ॥

(६) रामचन्द्रः । मांसभक्षणे दोषो न यज्ञादौ पुरोडाशमात्रे । न मद्ये मद्यपाने दोषः सौत्रामण्यां सुराग्रहान्गृह्णाती-
ति श्रुतेः । रागवशात्सर्वसाधारणप्रवृत्तिर्नचैतस्मात्पुण्यं । आघ्राणं तु पानं पानात्पतितोभवेदिति वचनान् । मैथुने न दो-
षोविवाहितास्त्वेव व्यवयः कार्यो नान्यस्त्रीषु । भूतानां मनुष्याणां एषा प्रवृत्तिर्ज्ञेया निवृत्तिस्तर्हिमहाफलेत्यत्र किमुवक्तव्यं ।
इतिमांसप्रकरणम् ॥ ५६ ॥

प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च ॥ चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः ॥ ५७ ॥

(१) मेधातिथिः । चतुर्णामपीतिवचनंसामान्यविहिताधर्माः शूद्रस्यनेदशंयत्नमन्तरेण भवन्तीति ज्ञापनार्थम् । प्रे-
तेषु जीवतांशुद्धिः । सुप्सुपेतिमासः । प्रापणंचाप्रेतवन्निमित्ता शुद्धिरियंविशेषस्य । अतश्च यद्यपि शुद्धिवचनंप्रति-
ज्ञायते तथाप्यशुद्धिसापक्षत्वाच्छुद्धेः । शास्त्रप्रत्ययकारकत्वादुभयोरप्रतिज्ञातापि प्रथममशुद्धिरुच्यते ॥ ५७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अथ देहद्रव्याशौचंप्रक्रमते प्रेतशुद्धिमिति । प्रेतशुद्धिः प्रेतनिमित्ता शुद्धिः शोधनं कालादि
चतुर्णामिति ब्राह्मणादीनां प्रेतशुद्धयान्वितम् ॥ ५७ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणादीनांचतुर्णामपि वर्णानांप्रेतेष्वपिपित्रादीनां शुद्धिर्ब्राह्मणादिक्रमेण या यस्येति । द्रव्यादी-
नांच तैजसादीनांशुद्धिमभिधास्यामि ॥ ५७ ॥

(४) राघवानन्दः । अशौचंप्रतिजानीते प्रेति । अपिना नानासंकरजातिग्रहः ॥ ५७ ॥

(५) नन्दनः । अथप्रकरणान्तरमारभते प्रेतेति । प्रेतशब्दोऽत्र जातस्याप्युपलक्षणार्थम् ॥ ५७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अथप्रेतशुद्धिमाह प्रेतशुद्धिमिति । प्रेतशुद्धिं देहद्रव्याशौचं । चतुर्णामपिवर्णानां । अनुपूर्वशः
ब्राह्मणादिवर्णक्रमेण ॥ ५७ ॥

दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते ॥ अशुद्धाबान्धवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते ॥ ५८ ॥

(१) मेधातिथिः । अनुजातोदन्तजाताद्वालतर इति स्मरन्ति । तथा विभागेनोद्देशमात्रमिदं यतस्तदपेक्षया शौचकालभेदो भविष्यति । तद्यथा स्मृत्यन्तरे आदन्तजन्मनः तथा बाले देशान्तरस्थे चेत्यादिना सद्यःशौचं श्रुतम् । बालअजातदन्तो विज्ञेयः । एवं च नृणामकृतचूडानामित्येतदेकरात्रिकमाशौचं दन्तजातेऽप्यवस्थाप्यते । एवमेते स्मृतिविषयव्यवस्थायाः अविरोधिन्यौ बालविषये भवतः । नैशिकी च शुद्धिराचूडाकरणात् यतो निवृत्तमुण्डकानां त्रिरात्रं वक्ष्यति । तच्च त्रिरात्रमागुपनयनात्परतः शुद्धये द्विप्रइत्यादि । ये तु दशाहं शावमाशौचमित्येतान्पक्षान्वयो विभागेन वर्णयन्ति स्मृत्यन्तरात्समाचाराच्च व्युत्क्रमेण संबन्धयन्ति दशाहमुपनीतस्य अनुपनीतस्य चतुरहं कृतमुण्डस्य च्यहं जातदन्तस्यैकाहमनुजातस्य सद्यःशौचिकादयस्तु विकल्पाः एवं च्यहचतुरहयोः कृतचूडस्य तेषामते स्मृत्यन्तरप्रसिद्धो वृत्तस्वाध्यायापेक्षो न विकल्पः प्रतिपादितः स्यात्तच्चोत्तरत्र दर्शयिष्यामः । सर्वव्यापारनिवृत्त्या मृत उच्यते । संपूर्वस्य तिष्ठतेर्व्यापारोपरमदर्शनात् । बान्धवाः सपिण्डाः समानोदकाः । सूतके च पुत्रजन्मादौ तथोच्यते अशुद्धाबान्धवाः सर्वइत्येतेनास्य संबन्धः । कथं पुनरत्र वयोभेदप्रतिपत्तिर्यावता कृतमुण्ड इति संस्कारसंबन्धो गम्यते । कृतोपनयने चेत्यत्र श्रुतमेव । अतएव कृतचौडः कियन्तं कालमुच्यत इति नैव श्रूयते । उच्यते । दन्तजातानुसाहचर्या कृतमुण्डः काललक्षणार्थो विज्ञायते स च कालोत्र प्रथम तृतीय इत्येषः यद्यपि प्रथमे वर्षे वैकल्पिकं मुण्डीकरणं तस्मिन्समय आदन्तजन्मनः सद्यइत्येतद्वाधितं भवति । तदप्ययुक्तं कियानवधिः कृतमुण्ड इति च शब्दात्कृतमुण्डे चेति कृतोपनये चेति लभ्यते । संस्कारान्तरप्रामौ व्यपदेशान्तरप्रवृत्तेः । एवं चैतया स्मृत्या एकवाक्यता भविष्यत्यादन्तजन्मनः सद्यइत्यत्रापि त्रिरात्रमात्रादेशादिति । व्रतादेशग्रहणं कालोपलक्षणार्थमेव न च ब्राह्मणस्यानित्योष्टमवर्षे एवं क्षत्रियवैश्ययोर्यश्च कालः तदा शूद्रस्य न कश्चित्काल उक्तः स्यात् । तत्राप्यतीतशैशवस्य परिपूर्णसर्वेषामिति वचनादतश्चाष्टमादूर्ध्वचतुर्णामपि वर्णानां सर्वाशौचं शूद्रस्यापि तस्य कालस्य सद्भावात् । यस्मिन्स्तु पक्षे एकादशे वर्षे क्षत्रियवैश्ययोरुपनयनं लक्ष्यते तदा शूद्रस्य न कश्चित्काल उक्तः स्यात् । तत्राप्यतीतशैशवस्य परिपूर्णमर्वाक् त्रिरात्रं । शैशवस्य निवृत्तेश्च । स्मृत्यन्तरे प्रागष्टमाच्छिशुः प्रोक्तः अन्यैस्तु आपोडशाद्भवेद्बाल इति । येषि षोडशाद्बाल्य निवृत्तिमाहुस्तेषामप्यष्टमादूर्ध्वमासिक्येव शुद्धिः । एवं पठ्यते । ऊर्ध्वतुषड्भ्यो वर्षेभ्यः शुद्धिः शूद्रस्य मासिकी । अन्यत्र पठितमष्टवर्षस्य मास इति । ननु वक्ष्यमाणेभ्य एव वाक्येभ्य एषावयोभेदव्यवस्था लभ्यते किमनेन दन्तजातइत्युद्देशेन सत्यं सुखावबोधार्थम् ॥ ५८ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । दन्तजाते जातदन्ते । अनुजाते जातदन्तादनुपश्वाजाते अजातदन्त इत्यर्थः । कृतचौले चेति चकारादुपनीते च संस्थिते मृते सर्वे बान्धवाः सपिण्डसमानोदकाः । सूतके बान्धवस्य जन्मनि । तथोच्यत इत्यशुद्धाः सर्वे बान्धवा इत्यर्थः ॥ ५८ ॥

(३) कुल्लूकः । तत्र शुद्धेरशुद्धिसापेक्षत्वात्तन्निरूपणार्थमाह दन्तजात इति । दन्तजाते जातदन्त इत्यर्थः । बाहिता इत्यादिष्वित्यनेन जातशब्दस्य परिनिपातः । अनुजाते जातदन्तानन्तरे कृतचूडाकरणे च चकारात्कृतोपनयने च संस्थिते मृते सति बान्धवाः सपिण्डाः समानोदकाश्चाशुद्धा भवन्ति प्रसवे च तथैवाशुद्धा भवन्तीत्युच्यते । वयोविभागेनोद्देशमात्रमिदं वक्ष्यमाणाशौचकालभेदादि सुखावबोधार्थम् ॥ ५८ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र जातकाद्याशौचशुद्धीराह दन्तेत्यष्टविंशत्या । दन्तजाते उत्पन्नदन्ते । अनुजाते पूर्वस्य-

पतनानन्तरं पश्चाद्वा विन्यनुत्पन्नदन्ते आदन्तजन्मनः । कृतचूडेत्यत्र चकार उपनयनोपलक्षकः । संस्थिते मृते । सूतकं जन्म ॥ ५८ ॥

(५) नन्दनः । आशौचनिमित्तान्याह दन्तेति । दतजान्ते जातदन्ते षाण्मासाधिकइतियावत् । अनुजाते पुनर्जात उपनीतइतियावत् प्रामाष्टवर्षइत्यर्थः । कृतचौले प्राप्ततृतीयवर्षइतियावत् । संस्थिते मृते । बान्धवाः सपिण्डाः सर्वे सन्निकृष्टासन्निकृष्टाश्च अवस्थाविशेषोपन्यासोऽशुद्धिवैषम्यात् ॥ ५८ ॥

(६) रामचन्द्रः । दन्तजाते जातदन्ते । सर्वे बान्धवा अशुद्धा भवन्ति । च पुनः अनुजातः अनुपश्चाज्जातोऽनुजातः परस्य विशेषणं दन्तोत्पत्तिकालपर्यन्तमित्यर्थः । च पुनः कृतचूडे अनुपनीते चकारादुपनीतेऽपि संस्थिते मृते सति सर्वे बान्धवा अशुद्धा भवन्ति । तथा सूतके जननाशौचे बान्धवा अशुद्धाः । योगीश्वरः आदन्ताजननात्सद्यः आचूडानैशिकी स्मृता । त्रिरात्रमात्रतादेशादशरात्रमतः परम् ॥ ५८ ॥

दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ॥ अर्वाक्संचयनादस्थां च्यहमेकाहमेव वा ॥ ५९ ॥

(१) मेधातिथिः । सापिण्ड्यलक्षणं वक्ष्यते । अर्वाक्संचयनादिति चतुरहोपलक्षणं वक्ष्यति । आहिताग्नेः संचयनं चतुर्थ्यामिति वचनमस्ति । अयं च विकल्पो वृत्तस्वाध्यायापेक्षो वृत्तापेक्षो वा । तथा च स्मृत्यन्तरम् । एकाहाद्ब्राह्मणः शुद्धो यस्तु ब्रह्माग्नि संयुतः । च्यहात्केवलवेदस्तु निर्गुणो दशभिर्दिनैः । तत्र त्रिवेदस्याग्निमत एकाहः । द्विवेदस्य तु च्यहं । निर्गुणस्य दशाहम् । गौतमेन पठितं सद्यः शौचं तच्च विशेष एव ब्राह्मणस्य स्वाध्यायानिवृत्त्यर्थं तत्र क्रियान्तराणि उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं भुज्यते । दानं प्रतिग्रहो होमः स्वाध्यायश्च निवर्तत इत्याद्याः क्रियानिवर्तन्ते । केवलं बहुवेदस्यागुण्यमानं प्रणश्यतीति स्वाध्यायो न निवर्तते । तथा वृत्त्यपेक्षो युक्तो विकल्पः । षट्कर्मजीविनो दशाहः त्रिभिरन्यइत्यस्य चतुरहोद्वाभ्यामेकइत्यस्य च्यहः । दशाहिक आशौचे प्रतिग्रहादावनधिकारात्प्राणयात्रैव दुर्लभा ये तु वयांसि चत्वारि चत्वारश्चाशौचकालाः अतो यथावयो यथा संख्येन संबन्धः तेषां दन्तजाते दशाहः प्रामोति उपनीते तु मृते एकाह एव तत्र स्मृत्यन्तरसमाचारविरोधः । अथ विरोधपरिहारार्थं प्रतिलोभ्येन संबन्धः क्रियते । उपनीते दशाहः कृतमुण्डे चतुरहः च्यहो दन्तजाते एकाहो नुजात इति । अत्रापि निवृत्तचौडकानां त्रिरात्रादिति विरोधेन विकल्पो युक्तः स्वशब्देन त्रिरात्रस्यानुविधानात् । चतुरहस्य वृत्तिभेदेन संचयभेदेन विषयत्वसिद्धेः स्मृत्यन्तरेणैवमेकवाक्यता भवति एकाहादित्यनेन । अन्यथा वयोभेदेन विकल्पे व्याख्यायमाने वृत्तस्वाध्यायापेक्षो मानवे शास्त्रे केन विकल्पो लभ्यते । अतो गौतमवचनाद्यस्य प्रात्यहिकेन प्रतिग्रहेण विनापि वृत्तिरस्ति कुसूलधान्यादेस्तस्य बहुस्वाध्यायस्य स्वाध्यायाध्ययनमात्रे सद्यः शुद्धिः । येऽपि च्यहादयः कल्पास्तत्रापि च्यहैहिकादीनां तावन्मात्र एव विशुद्धिवृत्त्यर्थं प्रतिग्रहेऽनेनैव गौतमदर्शनेन । अन्यथा ब्राह्मणस्य स्वाध्यायिन इत्येवावक्ष्यत् न स्वाध्यायानिवृत्त्यर्थमिति । अतो यद्यप्यविशेषणैकाहाच्छुद्धिरित्यादि श्रुतं तथापि नियतक्रियाविषयं विज्ञेयम् । येन नित्यवद्ब्राह्मणस्य दशाहमाह शुद्धये द्विप्रो दशाहेनेति । न ह्यन्यत्पुनर्वचने प्रयोजनमस्ति तस्मा द्विकल्पोऽयं युक्तेन मार्गेण व्याख्येयः । यत्र पुनर्बालादौ सद्यः शौचं निवृत्तमुण्डकादौ त्रिरात्रं तत्र विकल्पाभावात्सर्वक्रियासु शुचित्वम् ॥ ५९ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । दशाहमिति गुणरहितब्राह्मणविषयम् । सपिण्डेषु मृतेषु । अर्वाक्संचयनादिति विप्राणां चतुर्थेऽह्नि संचयनस्य प्रायिकत्वाच्चतुरहोपलक्षणं एतदेकशाखीयमन्त्रमात्रमधीतवतो दशाहस्थाने । च्यहः संपूर्णैकशाखाभ्येतुः । एकाहो वेदश्रौताग्निमतः ॥ ५९ ॥

(३) कुल्लूकः । सप्तपुरुषपर्यन्तंसपिण्डतांवक्ष्यति । सपिण्डेषु शवनिमित्तमाशौचं दशाहोरात्रं ब्राह्मणस्योपदिश्यते शुभ्येद्विप्रो दशाहेनेति वक्ष्यमाणत्वात् । अर्वाक्संचयनादस्त्रामिति चतुरहोपलक्षणम् । चतुर्थे दिवसेऽस्थिसंचयनंकुर्यादिति विष्णुवचनात् । अहमेकाहंवा अहःशब्दोऽहोरात्रपरः । अयं चाग्निवेदादिगुणापेक्षो व्यवस्थितविकल्पः । यथाह दक्षः एकाहाच्छुध्यते विप्रो योऽग्निवेदसमन्वितः । होनेहीनं भवेच्चैव अहश्चतुरहस्तथा ॥ श्रौताग्निमतो मन्त्रब्राह्मणात्मककृत्स्नशाखाध्यायिन एकाहाशौचम् । तत्र श्रौताग्निवेदाध्ययनगुणयोरेकगुणरहितो हीनस्तस्य अहः । उभयगुणरहितस्तु हीनतरः केवल स्मार्ताग्निमांस्तस्य चतुरहः । सकलगुणरहितस्य दशाहः । तदाह पराशरः निर्गुणो दशभिर्दिनैरिति ॥ ५९ ॥

(४) राघवानन्दः । शवनिमित्तं शावं मृतो मनुष्यः शवः । सकलगुणरहितस्य तु दशाहं तथाह पराशरः । निर्गुणो दशभिर्दिनैः । अनाहिताग्नेः संचयनं चतुर्थ्यामिति स्मृतेश्चतुर्थदिवसेऽस्थिसंचयनंकुर्यादिति विष्णुवचनाच्चतुरहोपलक्षणमिदम् । आशब्दोत्र छन्दसि व्यवहिताश्चेति समः पूर्वः तेन हीनतरस्याचतुरहमाशौचमिति भावः । अर्वाक्संचयनादिति मेधातिथिः । अहःशब्दोत्राहोरात्रपरः । तथोक्तं ॥ एकाहाच्छुध्यते विप्रो योऽग्निवेदसमन्वितः । हीने हीनतरे चैव अहश्चतुरहस्तथा ॥ एवं च साग्निः शाखायुक्तो विप्रः । त्वशाखाध्याय्यग्निहीनो हीनस्तस्य अहं । स्मार्ताग्निमात्रेण हीनतरस्तस्य चतुरहं । उक्तसकलगुणहीनस्य दशाहमिति चतुर्णां व्यवस्थितविकल्प इति । उक्तषट्कर्मा दशाहेन शुद्ध्यति तथा त्रिभिर्जीवी चतुर्भिः । द्वाभ्यां जीवी अहैः । एकेन जीव्येकाहेनेति मेधातिथिः ॥ ५९ ॥

(५) नन्दनः । दशाहमनिर्गुणेषु सपिण्डेषु बान्धवेषु । अस्त्रामासंचयनाद्वेति चतुरहोपलक्षणं चतुर्थेऽह्नि संचयनमिति वचनात् । चतुरहंगुणवत्स्वित्यर्थः । अहंगुणवत्तरेषु । एकाहमग्निहोत्रनित्यत्वाध्यायवत्सु । स्मृत्यन्तरानुरोधादेवं व्याख्यानम् ॥ ५९ ॥

(६) रामचन्द्रः । आशौचनिमित्तकालनियममाह दशाहमिति । शावमाशौचं दशाहपर्यन्तंसपिण्डेषु विधीयते गुणरहितब्राह्मणविषयम् । अस्थिसंचयनादर्वाक् अहं वैदिकदेशाध्येतृविषयम् । एकाहंवा साङ्गसमग्रशाखाध्येतृपरम् । तद्यथा सञ्चयश्च ब्राह्मणानां प्रायेण चतुर्थेऽहनि भवत्यतो दिनचतुष्टयमेकशाखामन्त्रमात्रमधीतवतो दशाहस्थाने । अहः संपूर्णैकशाखाध्येतुः । एकाहो वेदश्रौताग्निमतः ॥ ५९ ॥

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते ॥ समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरेवेदने ॥ ६० ॥

(१) मेधातिथिः । अन्वर्थसंज्ञाविज्ञानाद्बान्धवग्रहणानुवृत्तेश्चान्वयजाः सप्तपुरुषावधयः सपिण्डा उच्यन्ते । येभ्यश्चास्य पिता दद्यात्तेभ्यः पुत्र इति जीवत्पूर्वपित्रादेर्विधानात् षट् तावद्योग्यतया सपिण्डा भवन्ति । यद्यपि पितृभ्यो दीयते आत्मना सप्तमअतः पितामहप्रपितामहाद्याः पूर्वमन्वयजा तास्ते सपिण्डा इति व्यपदिश्यन्ते । पूर्वे षट् सपिण्डाः । अपरे पुत्रादयः षडेव यत एकस्याः पिण्डदानक्रियायाः सहभावात् सपिण्डाद्युपदेशोलभ्यते । पुत्रादेरपि सहभावः पौत्रादिना क्रियमाणोऽयम् तेन येभ्यो दीयते यैश्च सह संप्रदानवान् भविष्यति सर्वे ते सपिण्डा व्यपदिश्यन्ते । यतो न तत्र पिण्डदानमध्युपलक्षणत्वाच्छरद्ववेलायोमागन्तव्यमिति । तेन यावदुक्तं स्यात् प्रपितामहस्य यः प्रपितामहस्तदन्वयजाये यावत्सप्तमास्ते सपिण्डा एव त्वसन्तौ पित्रादिसन्तौ द्रष्टव्यम् । यत एव भेदस्तमुपादाय गणना कर्तव्या यावत्सप्तमावधि । यथा पितामहो येषामेकेस्तत आरभ्य सप्तमावधयः सपिण्डा इत्येव सर्वत्र तदन्वयजत्वे चोपलक्षणे जातिरनाश्रयणाद्विजातीया अपि क्षत्रियादयो ब्राह्मणादीनां सपिण्डा भवन्ति । अत एव तज्जननाद्याशौचे ब्राह्मणस्य दशाह एव तेषां नुस्वकाल एव द्वादशाहादिः ।

* हीनं भवे=हीनतरे (अ)

अतःसर्वस्यविजातीयनिमित्तेविजातीयसपिण्डनिमित्तेवाजन्मादौस्वकालएवशुद्धिः । क्षत्रियादीनांब्राह्मणापेक्षया त्रिपुरुषंसापिण्ड्यं तथाच शङ्कः । यद्येकजाताबहवःपृथक्क्षेत्राःपृथग्जनाः । एकपिण्डाःपृथक्क्षौचाःपिण्डस्त्वावर्तते त्रिषु ॥ पृथक्क्षेत्राः भिन्नजातीयासुस्त्रीष्वित्यर्थः । पृथग्जनाः पृथक्क्षेत्राः समानजातीयाअप्यनेकमातृकाभवन्ति तदर्थमुभयोरुपादानम् । एकपिण्डाःसपिण्डाभवन्ति किंतु पृथक्क्षौचाः स्वजातिनिमित्तएव तेषांशुद्धिकालः । ब्राह्मणस्य क्षत्रियादेः सूतकादौ दशाहः । ब्राह्मणसूतके तेषां द्वादशाहश्च । तथाचान्योपि विशेषःपिण्डस्त्रिष्वेववर्तते त्रिष्वेव भवति पुरुषेषु । समानजातीयापेक्षया क्षत्रियादीनांब्राह्मणवत्षट्पुरुषस्य सापिण्ड्यं एकजाताःपृथक्क्षेत्रादित्यादिविशेषणोपादानादसमानजातीयापेक्षेत्रिपुरुषत्वमनेन वाक्येनशक्यते प्रतिपादयितुम् । एषएवार्थोऽनया स्मृत्या स्पष्टीक्रियते । क्षत्रविट्शूद्रदायादा ये स्युर्विमस्यबान्धवाः । तेषामाशौचे विमस्य दशाहाच्छुद्धिरिष्यते ॥ षड्भिस्त्रिभिरथैकेनेत्यादिच ॥ स्त्रीणांतु विजातीयानांभर्तृकालेन जीवति भर्तरि शुद्धिः । आह च । सूतौ धृते तु दासानां पत्नीनांचानुलोमतः । स्वामितुल्यंभवेच्छौचं धृते स्वामिनि पैतृकम् ॥ अन्ये पठन्तिअसवर्णासुतानामिति प्रथमंपादंयद्ययमस्तिपाठस्तदा पुत्राणामपि शूद्राणांपितृगृहे व्यवस्थितानांतत्परतन्त्राणांपितृजात्यपेक्षया दशाहादिरेव शुद्धिकालः । दासाश्चात्र वैतनिकागृह्णन्ते येतु गर्भदासास्तेषांविध्यन्तरंश्रूयते । कारवः शिल्पिनोवैद्यादासीदासंतथैवच । राजानोराजभृत्याश्च सद्यःशौचाः प्रकीर्तिताइति ॥ स्पर्शनेचैवमेषांशुचित्वंविज्ञेयं । न पुनर्दानभोजनादिक्रियासु यतःकर्मनिमित्ताएते शब्दाअतःकिंविपर्यये शुद्धिः किंसर्वाःक्रियाः प्रतिप्रसवाउतकाश्चिदेवाभ्यनुज्ञायन्ते । यतोराज्ञश्च कार्याविधातार्थमत्याकांक्षायांयान्येव कर्माणि तान्येव तदयमागच्छन्ति । तथैवच समाचारः । ननुच नात्र स्पर्शप्रतिषेधः श्रुतोयावता स्मृत्यन्तरे पठ्यते । अस्थिसंचयनादूर्ध्वमङ्गस्पर्शोविधीयते । तथान्यच्चत्रिभिश्चतुर्भिर्वाहोर्भिर्ब्राह्मणःस्पृश्यतामियात् । एकादशेन शुद्धिःस्यान्मृतके सूतके तथा । राज्ञः षष्ठे सममे वा स्पर्शोद्वादशाहेनान्शुद्धिः । वैश्यस्य स्पर्शनमष्टमे नवमे वा पक्षेणान्शुद्धिः । शूद्रस्य स्पर्शनमेकादशे द्वादशे वा मासेनान्शुद्धिः । हारीतस्तथा वाक्यान्तरमपि । स्पर्शक्रमेण वर्णानांत्रिचतुःपञ्चषैर्दिनैः । भोज्यान्तोदशभिर्विप्रःशेषाद्वित्रिषडुत्तरैः । एतेच विकल्पाः । प्रयोजनापेक्षया गुणवदगुणापेक्षया व्यवस्थापनीयाः । सर्वेषांतावद्ब्राह्मणस्य भक्तदासास्त्रिचतुरैरहोभिःस्पर्शनेन दूषयन्ति । गर्भदासास्तु सद्यः । एवमितरेषामपि वर्णानांयत्रेदंसद्यःशौचंतत्र सर्वत्रस्नानंवाससा च । द्रव्यस्य शुद्धिर्यायस्य विहितेतिज्ञापयिष्यते । कन्यानामपि त्रिपौरुषेयी सपिण्डता । सपुत्राणांतुस्त्रीणांत्रिपुरुषविज्ञायतइतिवसिष्ठः । आशौचएवैतत् । विवाहे तु विधिर्दर्शितः । स्थितमेतत् । सममपुरुषोमर्यादा षट्पुरुषाःसपिण्डाइति । सममे प्राग् विनिवर्तते । समानोदकभावः समानोदकव्यपदेशः जन्मनाग्नोरवेदने जन्मचायमस्मत्कुले जातः नाम अमुष्मादिदं नामकात्पितृपितामहादेरुभयोरवेदने । निवृत्तिरतश्चान्यतरज्ञानेप्यनिष्टोदकंज्ञेयम् । अवतीर्य नदीमन्यद्वा जलाशयंनाभिदघ्नमभुग्नोदक्षिणाभिमुखः सव्योत्तराभ्यांपाणिभ्यामुदकंकृत्वानवेक्षमाणाः प्रत्याव्रजेयुरिति ॥ ६० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सममे त्वंविहाय त्वापेक्षया त्वष्टमे निवर्तते । अत्रच सममे पुरुषइतिसामान्याभिधानस्य त्वापेक्षयावाचीनेषु षट्सु पराचीनेष्वपि षट्सु तेषामपिच सन्ततौ समसङ्गन्यावच्छिन्नायांसपिण्डतानुवर्तते । तत्रैतदुक्तमाशौचमितितात्पर्यम् । सममे देयपिण्डेपि पिण्डभोजितया त्रयाणालेपभागितया च त्रयाणांसमानपिण्डसंबन्धात्सापिण्ड्यमितिमुमत्स्यपुराणादिषूपलक्षणमात्रमुक्तम् । जन्मत्वावाचीनपराचीनधारामभ्युत्पत्तिः । नामामुक्तशर्भेति । एतयोरुभयोरवेदनेज्ञानाभावे निवर्तते । एतत्संज्ञाकरणमाशौचविध्यर्थम् ॥ ६० ॥

(३) कुल्लूकः । सपिण्डलक्षणमाह । यंपुरुषंप्रतियोगिनंकृत्वा निरूप्यते तस्य पितृपितामहप्रमृतीन्षट्पुरुषानतिक्रम्य सममे पुरुषे प्राप्ते सपिण्डत्वंनिवर्तते । एवंपुत्रपौत्रादिष्वप्यवगन्तव्यम् । पिण्डसंबन्धिनिबन्धनाचेयंसपिण्डता । तथाहि पितृपितामहप्रपितामहेभ्यस्त्रिभ्यःपिण्डदानंप्रपितामहस्य पित्रादयस्त्रयःपिण्डलेपभुजश्च तत्पूर्वस्य तु सममस्यपिण्डसंबन्धोनास्तीत्यसपिण्डता । यस्य चैते षट्पुरुषाःसपिण्डाःसोऽपि तेषांसपिण्डः पिण्डदातृत्वेन तत्पिण्डसंबन्धात् । अतःसामपौरुषीयंसपिण्डता । तदुक्तंमात्स्यपुराणे लेपभाजश्चतुर्थाद्याःपित्राद्याःपिण्डभागिनः । पिण्डदःसममस्तेषांसापिण्डयंसामपौरुषम् ॥ सगोत्रत्वे चेयंसपिण्डता । अतएव शङ्खलिखितौ सपिण्डता तु सर्वेषां गोत्रतः सामपौरुषी । तेन मातामहादीनामेकपिण्डसंबन्धेपि न सपिण्डता । समानोदकत्वंपुनरस्मत्कुलेऽमुकनामाभूदितिजन्मनामोभयापरिज्ञानेनिवर्तते ॥ ६० ॥

(४) राघवानन्दः । सपिण्डेष्वित्युक्तंसप्रतियोगिकंतल्लक्षणमाह सपिण्डेति । तदुक्तं मात्स्ये ॥ लेपभाजश्चतुर्थाद्याःपित्राद्याःपिण्डभागिनः । पिण्डदः सममस्तेषांसापिण्डयंसामपौरुषम् ॥ पिण्डभागिनःप्रपितामहान्ताउत्तरे त्रयोलेपभुजइति षट् सपिण्डता तु सर्वेषांगोत्रतःसामपौरुषीति शङ्खोक्तेःअतोमातामहादीनामेकपिण्डसंबन्धेपि न सपिण्डता गोत्रभेदात् अस्मत्कुलेऽमुकनामाजातआसीत्तावत्पर्यन्तंसमानोदकभावःतदवेदने तदज्ञाने समानोदकता निवर्ततइत्यन्वयः ॥ ६० ॥

(५) नन्दनः । सपिण्डानाह सपिण्डेति । पित्रादिषु पूर्वेषु षट्सु पुत्रादिष्वपरेषु सत्सु सपिण्डता वर्तते सममादौ निवर्तते । पुरुषग्रहणंस्त्रीद्वारसंबन्धिनिवृत्त्यर्थम् । उत्तरार्धेविनिवर्ततइत्यनुषञ्जनीयम् ॥ ६० ॥

(६) रामचन्द्रः । सममे त्वंविहाय स्वापेक्षयात्वष्टमेनिवर्तते सममे पुरुषइति सामान्याभिधानात्स्वापेक्षयावाचीनेषु षट्सुतेषामपि च संततौ जन्मनामोऽवेदनेऽज्ञाने समानोदकभावःसमानोदकसंज्ञो भवति । शवस्पर्शं विशुध्यन्ति च्यहादुदकदायिनइत्यादिवाक्यैः ॥ ६० ॥

यथेदं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ॥ जननेप्येवमेवस्यान्निपुणं शुद्धिमिच्छताम् ॥ ६१ ॥

[उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते । दानं प्रतिग्रहोयज्ञः स्वाध्यायश्च निवर्तते ॥ १॥]†

(२) सर्वज्ञनारायणः । यथेदं दशाहादि एवमेव दशाहचतुर्युगेकाहाशौचं गुणापेक्षया व्यवस्थितं सपिण्डानां । निपुणां सर्वप्रकारामन्नादिविषयामपि । शावाशौचेतिगुणापेक्षया भर्तुश्चतुरहाद्याशौचापकर्षात्पत्न्याअप्याशौचापकर्षः । सूतकेतु नाशौचं सूतकेपुंसः संसर्गचेन्न गच्छति । रजस्तत्राशुचिज्ञेयंतच्च पुंसि न विद्यतइत्यद्विरोचनात् रजः प्रवृत्तिनिमित्तकंसूत्याशौचंपुंसआशौचापकर्षेपिस्त्रियादशाहमेव तथाचान्नादावप्याशौचशङ्कामाभूदित्येतदर्थंनिपुणामित्युक्तम् ॥ ६१ ॥

[सर्वज्ञनारायणः । उभयत्र सूतके मृतके च दशाहानीत्याशौचकालोपलक्षणम् । दशाहग्रहणंतु ब्राह्मणस्य प्राधान्यात् तदाशौचेषु च दशाहस्याप्युत्कृष्टत्वात् । कुलस्य तत्कुलस्यान्नंनभुज्यतेत्यैः । दानप्रतिग्रहादयश्चाशौचिभिः क्रियमाणाः । होमःस्मार्तः ॥ १ ॥]

(३) कुल्लूकः । यथेदं दशाहादिकंशवनिमित्तमाशौचंकर्मानर्हत्वलक्षणंसपिण्डेषु दशाहंशावमाशौचमित्यनेन विधीय

(६१) निपुणं=निपुणां (क, ख, ण, च, ज, झ, ढ.)

† (क, ख, द, त.)

ते । असवेऽपि सम्यक्शुद्धिमिच्छतांसपिण्डानांतादृशमेवाशौचं भवेत् ॥ ६१ ॥

(४) राघवानन्दः । सूतकं निर्दिशति यथेदमिति । एवंवृत्तिभेदेऽपि दशाहाद्युन्नेयम् ॥ ६१ ॥

(५) नन्दनः । एवमेव स्यात् पूर्ववदेव स्यात् । दशाहं निर्गुणेषु चतुरहंगुणवत्सु त्र्यहंगुणवत्तरेष्वेकाहंगुणवत्तमेऽप्युन्नेयम् ॥ ६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । यथेदं आशौचं शावाशौचं दशाहपर्यन्तंसपिण्डेषु विधीयते जननेऽपि एवं दशाहं स्यात् । निपुणां यथोदितां शुद्धिमिच्छताम् ॥ ६१ ॥

[रामचन्द्रः । उभयत्रेति । उभयत्र शावाशौचे जननाशौचे च दशाहं तत्कुलस्यान्तं न भुञ्जते न भुञ्जीत । दानप्रतिग्रहौवर्ज्यौ यज्ञवर्जयत् यज्ञाहुतिं तत्र हावयेन् तु हापयेत् । स्वाध्यायो वेदाध्ययनं न भवेत् ।]

सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम् ॥ सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥ ६२ ॥

[सत्रधर्मप्रवृत्तस्य दानधर्मफलैषिणः ॥ त्रेताधर्मापरो धार्थमरण्यस्यैतदुच्यते ॥ १ ॥] †

(२) सर्वज्ञानारायणः । सर्वेषामिति । सपिण्डानां सर्वेषामस्थिसंचयनात्प्राक्शावमाशौचमङ्गाशौचमस्पृश्यताहेतुस्पृश्यन्तरोक्तम् । सूतकं तु प्रसवनिमित्तमङ्गाशौचं मातापित्रोरेव । सूतकं यावद्दशरात्रमङ्गाशौचं । पिता तु स्नातएव स्पर्शं शुचिरित्यर्थः ॥ ६२ ॥

(३) कुल्लूकः । अनिर्देशेन तुल्यतायां ग्रामायां विशेषमाह सर्वेषामिति । मरणनिमित्तमस्पृश्यत्वलक्षणमाशौचं सर्वेषामेव सपिण्डानां समानम् । जनननिमित्तं तु मातापित्रोरेव भवति तत्राप्ययं विशेषः जनननिमित्तमस्पृश्यत्वं मातुरेव दशरात्रं पिता तु स्नानात्स्पृश्यो भवति । अयमेव संबन्धः संवर्तेन व्यक्तीकृतः ॥ जाते पुत्रे पितुः स्नानं संचैलं तु विधीयते । माता-शुभ्येद्दशाहेन स्नानात्तु स्पर्शनं पितुः ॥ ६२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच सर्वेषामिति । मरणनिमित्तमस्पृश्यत्वलक्षणमाशौचं सर्वेषामेव सपिण्डानां समानं जन्मनिमित्तमस्पृश्यत्वं मातापित्रोरेव स्यात् तत्रैव विशेषान्तरमाह सूतकं मातुः सूतकनिमित्तमस्पृश्यता दशरात्रं पिता तु प्रातःस्पृश्यो भवति तथा च संवर्तः ॥ जाते पुत्रे पितुः स्नानं संचैलं तु विधीयते । माता शुभ्येद्दशाहेन स्नानात्तु स्पर्शनं पितुरिति ॥ तस्मात्सदिवसः पुण्यः पितृणां प्रीतिवर्धन इत्यपि संगतम् ॥ ६२ ॥

(५) नन्दनः । मातापित्रोरेव सूतकं न सपिण्डानाम् । उत्तरार्धेन पक्षान्तरमाह सूतकं मातुरेवेति । उपस्पृश्य पिता-शुचिरित्युत्तरार्धेनोपपादयति ॥ ६२ ॥

(६) रामचन्द्रः । सपिण्डानां शावमाशौचं सूतकं जनननिमित्तं अस्पृश्यत्वमाशौचं मातापित्रोरेव न सपिण्डानां अस्पृश्यत्वं सूतकं मातुरेव च उपस्पृश्य स्नात्वा पिता शुचिः स्यात् ॥ ६२ ॥

[रामचन्द्रः । सत्रेति । सत्रकर्म बहुकर्तृकयज्ञकर्म तथा त्रेताधर्मः । उपलक्षणं तृतीयो धर्मो यस्येति त्रेताधर्मः वानप्रस्थः अरण्यवासी वानप्रस्थस्य एतद्विधिरुच्यते ।]

निरस्य तु पुमाञ्छुक्रमुपस्पृश्यैव शुध्यति ॥ बैजिकादभिसंबन्धादनुरुन्ध्यादघञ्यहम् ॥ ६३ ॥

[जननेऽप्येवमेवस्यान्मातापित्रोस्तुसूतकम् ॥ सूतकंमातुरेवस्यादुपस्पृश्यपिताशुचिः । ११ ॥]

[मेधातिथिः । एवमेतत्सपिण्डानां जनने यथैव दशाहादयः कल्पाः षट्कर्मादिवृत्त्यपेक्षया स्वाध्यायाल्पमहत्वापेक्षयाच व्यवस्थितामरणे तथैव जननेपिशौचमात्रमतिदिश्यते कालानवच्छिन्नं । सामर्थ्याच्चागृह्यमाणविशेषतया तत्संबन्धसकललाभः । कालावच्छिन्नातिदेशे तु एकैर्नैव मुख्यत्वाद्दशाहेन संबन्धः स्वाध्यायादिष्वपाठप्रत्यासत्या दशाहाद्यपेक्षया एकाहेनशक्येनैवच निराकांक्षीकृतत्वादन्यरूपहादिभिर्नसंबन्धः स्यात् । तत्रेयंस्मृतिरविशेषेण वृत्तिस्वाध्यापेक्षयाव्यवस्थायांमृतसूतकयोर्विदधती जनने गुणाद्यनपेक्षया जातिमात्रे स्थाप्यमानाविरुध्येत समाचारश्च बाधितः स्यात् । नन्वेवंस्त्रीणामपि त्र्यहैकाहादयः कल्पाः सूतिकानांमामुवन्ति समाचारविरोधिनः । अत्रोच्यते । यद्ययं विकल्पः स्यात्तदैव व्यवस्थितएवासीत्कल्पः । तथाहि तुशब्दउपपन्नतरोभवति । सूतकशब्दश्च नाशौचे वर्तते । लक्षणाया सूतकसंबन्ध्यशौचंलक्षयेत् । लक्षणायासाहचर्यादस्पृश्यतैव लक्षयितुंयुक्ता यदिच सर्वमाशौचमभिप्रेतस्यादाशौचग्रहणमेवाकरिष्यत् अशौचमातुरेवेति । अतश्चस्मृत्यन्तरे त्रिरात्रमस्पृश्यतोक्त्या इह तदभावस्तयोर्विकल्पः सूतकंमातुरेव । मातापित्रोर्मातुरेवेतिपितुर्विकल्पः उपस्पृश्यस्नात्वा शुचिर्भवतीति उपक्रममात्रमिदंवक्ष्यमाणेन श्लोकेन पितुरपिग्रहमेव ॥ ६१ ॥]

(१) मेधातिथिः । सहेतुकंयहमुपदिशन्नुपस्पर्शनशुद्धिपूर्वोक्तामनुमन्यते । किमर्थमुच्यतइतिचेत् सरूपविधितयार्थवादाथ नविधेयतया जर्तिलयवाग्वाजुह्यादितिवत् । निरस्यतुशुक्रं मैथुनधर्मेण संयुज्य शुक्रोत्सर्गादनन्तरं उपस्पृश्य स्नात्वा शुचिर्भवति । अतोबैजिकादभिसंबन्धात् । बीजनिमित्तोबैजिकः । अभिसंबन्धःअपत्योत्पत्तिःअतस्तत्र कथनानुरुन्ध्यान्नानुवर्तते । अघमाशौचं ग्रहं यादृशंच शुक्रनिरसनेन । कृतस्नानस्याशुचित्वं न तादृशमेव प्रसवे । अपि तु ग्रहं पूर्वश्लोकार्धग्रहशेषतयाऽनूद्यते । अतएवो पस्पृश्येति स्नानमुच्यते । स्नानंमैथुनिनःस्मृतमितिवचनान्नाचमनं पुत्रे तु जाते तदहःस्पृश्यतैवेति केचित् । तथाच शङ्खाह । कुमारप्रसवे नाड्यामल्लिन्नायांगुडतिलहिरण्यवस्त्रप्रावरणगोधान्यप्रतिग्रहेष्वदोषस्तदहरित्येके ॥ तस्मात्सदिवसःपुण्यःपितृणांश्रीतिवर्धनः । स्मरणाच्चैव पूर्वेषांतदहर्नं प्रदुष्यतीति ॥ तथाश्राद्धमप्येके कुर्वन्तीतिच । अनेन पितुःसर्वथाशौचाभावएव । तत्रैते स्मृती पूर्ववद्वृत्तिसदसद्भावापेक्षया विकल्पेते ॥ ६३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निरस्य त्वस्त्रीव्यतिरिक्तस्त्रीषु प्रक्षिप्य उपस्पृश्यस्नात्वा । एतच्च शुद्धेहेतुमात्रम् । प्रायश्चित्तवन्त्यदेव । एतच्च स्नानं यथोक्तंमृज्जलशौचंरुत्वा कर्तव्यम् । बैजिकादिति त्वस्त्रीव्यतिरिक्तस्त्रीषु जनितानांप्रसवमरणयोर्बीजसंबन्धाग्रहमघमाशौचमनुरुन्ध्यात् । बैजिकादितिदशाहाशौचाभावार्थबीजमात्रासंबन्धोनतु स्वभार्याद्वारापि संबन्धइतितात्पर्येणोक्तम् ॥ ६३ ॥

(३) कुट्टुकः । स्नानंमैथुनिनःस्मृतमिति मैथुने स्नानविधास्यति । तेन मैथुनंविनाऽपि कामतोरेतःस्खलने स्नात्वा पुमाञ्छुद्धांभवति । अकामतस्तु त्वमादौ रेतःपाते मूत्रवद्वेतसउत्सर्गइत्यापस्तम्बोक्तेः स्नानंविनाऽपि गृहस्थस्यशुद्धिः । ब्रह्मचारिणस्त्वकामतोऽपि स्वमे सित्का ब्रह्मचारीत्यनेन स्नानादिना शुद्धिरुक्ता । बैजिके तु संबन्धे परपूर्वभार्यायामपत्योत्पत्तौ ग्रहमाशौचंभवति । तथाच विष्णुः । परपूर्वभार्यासु त्रिरात्रम् । रेतःपातिनामाशौचमप्रकृतमपि जननप्रकरणे प्रसङ्गात्तदनुगुणतयोक्तम् । यत्र रेतःपातमात्रेण स्नानंतत्रापत्योत्पत्तौ त्रिरात्रमुचितम् ॥ ६३ ॥

(४) राघवानन्दः । स्नानंमैथुनिनःस्मृतमित्यूतुकालमैथुने स्नानंविधास्यति तद्वते तु कामतोरेतःस्कन्दने स्नानं-
स्वमे तु न स्नानंगृहस्थस्यसूत्रवदितिवदन्यात्किंचिद्विधत्ते निरस्यत्विति । निरस्य मैथुनेन योनावृत्तौ नियोज्योपस्पृश्य-
स्नात्वा अन्यत्रमूत्रवदेतउत्सर्गइत्यापस्तम्बोक्तेः । परभार्यायामपत्योत्पत्तौ ग्रहमाशौचंस्यादित्याह बैजिकादिति ।
सपिण्डतादिसंबन्धासत्वेन बीजरेतः संबन्धे हेतुर्यत्रापत्योत्पत्तौतस्मादघमाशौचमनुरुह्यत्कुर्यात्तथाच विष्णुः । पर-
पूर्वास्तु भार्यास्तु त्रिरात्ररेतःपाते तुमूत्रवदिति ॥ ६३ ॥

(५) नन्दनः । शुक्रंनिरस्य गर्भाधानंरुत्वेतियावत् । उपस्पृश्य स्नात्वा । पुमान्पिता शुचिःस्याच्छुध्यति । ग-
र्भाधानंरुत्वातदानीमेव स्नातस्यापि जननाशौचसंबन्धोनभवतीत्यर्थः । सूतिकांमस्पृशतोऽयंपक्षउक्तः । स्पृशतस्तु गुणव-
त्तमस्याऽपि दशरात्रमेवैतदित्यवगन्तव्यम् । स्मृत्यन्तरानुरोधात्पक्षान्तरमाह बैजिकादिति अघमाशौचम् । अनुरुह्या-
त्कुर्यात् ॥ ६३ ॥

(६) रामचन्द्रः । पुमान् शुक्रंनिरस्य योनौ पातयित्वा उपस्पृश्य स्नात्वा शुध्यति ऋतुशंकिन्वात् । बैजिका-
देवसंबन्धात् त्वस्त्रीव्यतिरिक्तस्त्रिषु जनितानांप्रजनमरणयोर्बीजसंबन्धात् ग्रहं त्रिदिनपर्यन्तं अघं आशौचं अनुरुह्यात् ।
बैजिकादिति दशाहाशौचाभावार्थं बीजमात्रसंबन्धः । नतुस्वभार्याद्वारासंबन्धइति तात्पर्यार्थः ॥ ६३ ॥

अन्हा चैकेन रात्र्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः ॥ शवस्पृशोविशुध्यन्ति ग्रहादुदकदायिनः॥६४॥

(१) मेधातिथिः । त्रयस्त्रिरात्रानवाहानि एकेनच । अन्हा एकयाच रात्र्या अहोरात्रः एवं दशाहोवृत्तानुरोधा-
देवमुपदिष्टः । शवस्पृशः शवस्य स्नानालंकारादिकारिणः । अन्येषांस्नानमात्रंवक्ष्यति तन्निर्यापकांश्च । तथाच प्रकटी-
करिष्यति भेताहारैःसममित्यत्र एतच्च समानोदकानां मूल्येनवा निर्हरतां । अनाथनिर्हरणे तु स्मृत्यन्तरे ॥ नतेषामशुभं-
किंचिन्नाशौचंशुभकर्मणाम् । जलावगाहनात्तेषांसद्यः शौचंविधीयते ॥ यत्तु असपिण्डद्विजमिति तत्रैव वक्ष्यामः । उदकदा-
यिनः समानोदकाःतेषांच पृथक्पिण्डेचसंस्थितइति सद्यःशौचमपि वक्ष्यते । तत्र विकल्पः । सपिण्डेष्वेतदस्वाध्यायाद्य-
पेक्षम् ॥ ६४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्हैकेनरात्र्याअहोरात्रेणेत्यर्थः । त्रिरात्रैस्त्रिभिर्नवरात्रेणेत्येवंदशभिर्दिनैः शवस्पृशो-
नाभिसंधिनाशवस्पृशोवहनादिकर्तारोविशुध्यन्ति । एतदाशौचमुक्तम् । प्रायश्चित्तंतु स्मृत्यन्तरोक्तम् । उदकदायिनः
समानोदकाः । समानोदकमरणे ग्रहाच्छुध्यन्ति ॥ ६४ ॥

(३) कुल्लूकः । एकेनान्हैकया च रात्र्येत्यहोरात्रेण त्रिरात्रैस्त्रिभिरितिनवाहोरात्रैर्मिलित्वा दशाहेनेतिवैदग्ध्येनो-
क्तम् । ननु दशाहेनेतिवक्तव्ये किमर्थंयंवाग्विस्तरः । उच्यते ॥ बंहीयसीलघिष्ठांवा गिरंनिर्मान्ति वाग्मिनः । न चाद-
श्यत्वमेतेषांलघूक्त्यैव नियम्यते ॥ वृत्तत्वाध्यायगुणयोगेने ये सपिण्डाएकाहाद्यल्पाशौचयोग्यास्ते यदि स्नेहादिना शव-
स्पृशोभवन्ति तदा दशाहेनैव शुध्यन्ति उदकदायिनःपुनःसमानोदकारूपहेण । गोविन्दराजस्तु धनग्रहणपूर्वकशवनिर्हा-
रकासंबन्धिव्राह्मणविषयमिदं दशाहाशौचमाह ॥ ६४ ॥

(४) राघवानन्दः । अन्हाचेति । स्वाध्यायगुणयोगिनोऽसपिण्डास्ते शवस्पृशः शवस्य स्नानालङ्कारकारिणोऽन्हाए-
काहोरात्रेण हीनतराश्च त्रिरात्रैःनिर्गुणाश्च दशरात्रेण शुध्येयुरिति । उदकदायिनःसमानोदकाःग्रहादिति । दशरात्रैर्धनग्र-

किंतु विशुध्यतीति प्रकृते पुनः साध्वीतिवचनादनिवृत्ते रजसि वैदिककर्माधिकारानुप्रवेशो नास्ति न पुनः स्पर्शादिनिषे-
हणपूर्वकशवस्पृशोऽल्पशौचयोग्या अपि शुद्ध्येयुरिति गोविन्दः । त्रिरात्रैः त्रिभिरिति नवाहोभिः रात्र्या चेत्येकं तथा च दश-
रात्रयः तैः शुद्ध्येयुरिति मेधातिथिः ॥ ६४ ॥

(५) नन्दनः । रजन्याऽन्हैवचैकेनेत्यहोरात्रस्य निर्देशः । त्रिरात्रैरेव च त्रिभिरिति नवरात्रस्य संहृत्य दशभिरहो-
रात्रैरितियावत् । उक्तिवैचित्र्यमिदम् । शवस्पृशश्चेद्गुणवत्तमा अपि सपिण्डादशाहेनैव शुद्ध्यन्तीति । उदकदायिनः समानो-
दकाः ॥ ६४ ॥

(६) रामचन्द्रः । एकेनान्हा रात्र्याचैकया एवमेकं दिनं त्रिरात्रैः तिसृभीरात्रिभिस्त्रिगुणितैः एवं नवभिः एवं दशदिनपर्य-
न्तं शवस्पृशः मौल्येन शववाहकाः विशुद्ध्यन्ति उदकदायिनः सपिण्डाः व्यहृच्छुद्ध्यन्ति ॥ ६४ ॥

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरेत् ॥ प्रेतहारैः समंतत्र दशरात्रेण शुद्ध्यति ॥ ६५ ॥

(१) मेधातिथिः । पितृमेधः चरमेष्टिः अन्येतु सर्वं कर्मैवलक्ष्यत इति प्राहुः । तत्कुर्वन् शिष्यो दशरात्रेण शुद्ध्यति ।
ब्रह्मचारिणोऽप्ययं विधिरस्त्येव । प्रेताहारैः समः प्रेतं हरन्ति निर्यापयन्ति यथा तेषां दशाहं एवं शिष्यस्यापीत्यर्थः ॥ ६५ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । गुरोराचार्यस्य सपिण्डपुत्राद्यभावे पितृमेधं स्वयं कुर्वन् दशाहमाशौचं कुर्यात् । ईदृशे चा-
सपिण्डशिष्यकर्तृके संस्कारे ये प्रेतहाराः प्रेतवाहकास्तेऽपि भनाद्यभिसंधिशून्यत्वेऽपि तावदाशौचिन इति प्रेतहारैः
सममित्यनेनोक्तम् ॥ ६५ ॥

(३) कुहूकः । गुरोराचार्यादेरसपिण्डस्य मृतस्य शिष्योऽन्योऽष्टिं कृत्वा प्रेतनिर्हारकैर्गुरुसपिण्डैस्तुल्यो दशरात्रेण शु-
द्धो भवति ॥ ६५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच गुरोरिति । यद्यसपिण्डस्य प्रेतस्य मृतस्य पितृमेधमन्योऽष्टिं कृत्वा शिष्यः प्रेतहारैः स-
पिण्डैः । समं तुल्यः अतो दशरात्रेण शुद्ध्यति ॥ ६५ ॥

(५) नन्दनः । शिष्योऽसपिण्डोऽपि प्रेताहारैः प्रेतान्नभोजिभिः सपिण्डैरितियावत् । एवं वदता गुणवत्तमानामपि
प्रेताहारानां दशाहमेवाशौचमिति सूचितम् ॥ ६५ ॥

(६) रामचन्द्रः । शिष्यः प्रेतस्य गुरोः पितृक्रियां समाचरेत् प्रेताहारैः प्रेतवाहकैः समं मिलित्वा ॥ ६५ ॥

रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्त्रावे विशुद्ध्यति ॥ रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला ॥ ६६ ॥

(१) मेधातिथिः । गर्भस्त्रावे गर्भमासरात्रीस्त्रिया एव शुद्धिर्युक्ता इह वाक्येतस्याः श्रुतत्वात् । सपिण्डानां तु स्मृत्य-
न्तरसमाचारावन्वेषणीयौ । वसिष्ठेन तु सपिण्डानां व्यहः समाम्नातः । ऊनद्विवर्षे प्रेते गर्भपतने सपिण्डानां त्रिरात्रमशौ-
चम् । स्त्रावस्तु गर्भस्य मासत्रयादूर्ध्वप्राग्दशमासात् । केचित्तु प्राक्त्रयमासित्याहुः । अप्राप्तकालस्य पातः स्त्राव उ-
च्यते । न पुनर्द्रवरूपस्यैव । तथा गौतमेन गर्भविस्संसेन गर्भमाससमारात्रीरिति पठितम् । सप्तमास्याश्च जीवन्ति । अतः
सप्तमे मासे पूर्णमाशौचं एतत्तु जीवतो जातस्य युक्तमन्यथा तु गर्भमाससमा इत्येव । इह रजस्वलाया रजस्युपरते स्नानेन
शुद्धिराम्नाता स्मृत्यन्तरे व्यहदूर्ध्वं तत्रैवं व्यवस्था । प्राक्त्रयमासद्रजोनिवृत्तावपि नास्ति शुद्धिरूर्ध्वमनुपरतेऽपि भवति ।

(६५) समाचरेत् = समाचरेत् (स्व, च)

(६५) प्रेतहारैः = प्रेताहारैः (नन्दनः)

धः । उक्तमाद्याश्चतस्रोनिन्दिताइति । रजस्वला स्त्री रजस्युपरते स्नानेन साध्वी भवति शुद्धा कर्मयोग्येत्येवंपदयोजना । स्त्रीग्रहणं वर्णमात्ररूपं । पूर्वतु श्लोकाब्राह्मणविषयाख्यातास्तदाशङ्कानिवृत्त्यर्थं स्त्रीग्रहणम् । उत्तरत्रापि यत्र विशेषप्रमाणं नास्ति तत्रापि वर्णमात्रविषयतयैव यथा नृणामकृतमुण्डानामिति ॥ ६६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अर्वाक् षण्मासतः स्त्रीणामिति ब्राह्मणवचनात् षण्मासमध्य एव स्नावः तत्र मासतुल्याभिः स्नावसंबन्धिमाससमसङ्ख्याभिः स्त्री शुद्ध्यति । शुचिकर्त्राकाङ्क्षायां स्त्रीपदस्योत्तरार्धस्थस्यान्वयात् । अतएव सपिण्डान्तराणांसद्यः शौचम् । रात्रिभिरिति बहुवचनाच्चाद्यद्वितीयमासयोरपि स्नावे त्रिरात्राशौचम् । तत्र तु मासतुल्याभिरितिनान्वीयते अयोग्यत्वात् । रजस्वला तु स्त्री रजस्युपरते स्नाता सती धर्मकार्येषु शुद्ध्यति यदि सा साध्वी भवति मनसापि पतिं न व्यभिचरति अन्यथात्वागामिरजःपर्यन्तमेव तस्या आशौचमित्यर्थः । रजस्युपरत इति वचनादनुपरते रजसि चतुर्थेऽह्नि स्नातापि न धर्मकृत्ये शुद्ध्यतीत्युक्तम् ॥ ६६ ॥

(३) कुट्टुकः । अत्र रात्रिभिरिति विधेयगामिनो बहुत्वस्य विवक्षितत्वात् तृतीयमासात्प्रभृति गर्भस्नावे गर्भमासतुल्याहोरात्रैर्विशेषाभिधानाच्चातुर्वर्ण्यं स्त्री विशुद्ध्यति । एतच्च षण्मासपर्यन्तम् । यथोक्तमादिपुराणे । षण्मासाभ्यन्तरं यावद्गर्भस्नावो भवेद्यदि । तदामाससमैस्तासां दिवसैः शुद्धिरिष्यते ॥ अत ऊर्ध्वं तु जात्युक्तमाशौचं तासु विद्यते ॥ मेधातिथिगोविन्दराजादयस्त्वादिपुराणे वचनादर्शनात्सममासादवांग्गर्भस्नावे मासतुल्याहोरात्रैः स्त्रीणां विशुद्धिरित्येति दिशन्ति । प्रथमद्वितीयमासीयगर्भस्नावे स्त्रीणां त्रिरात्रम् । यथाह हारीतः । गर्भस्नावे स्त्रीणां त्रिरात्रं साधीयोरजोविशेषत्वात् । पित्रादिसपिण्डानां त्वत्र सद्यः शौचम् । यथाह सुमन्तुः गर्भमासतुल्यादिवसागर्भसंस्वपणे सद्यः शौचं वा । भवति । गर्भमासतुल्या इति स्त्रीविषयं सद्यः शौचं वेति पित्रादिसपिण्डविषयमिति व्यवस्थितविकल्पः । रजस्वला च स्त्री रजसि निवृत्ते सति पञ्चमे दिने स्नानेनादृष्टार्थकल्पनयोग्या भवति । स्पर्शयोग्या तु त्रिरात्रव्यपगमे चतुर्थेऽह्नि कृतस्नाने नैव शुद्धा भवति ॥ ६६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच रात्रिभिरिति । मासद्वयाभ्यन्तरे त्रिरात्रं बहुवचनवशात् तृतीयमासप्रभृति षण्मासपर्यन्तमासतुल्याहोरात्रैः स्त्री शुद्ध्यति अत ऊर्ध्वं स्वजातिक्रमेण । सप्तमे मासे जीवेन संयुक्तो भवतीति गर्भोपनिषच्छ्रुतेर्जावावेशात्पूर्णाशौचम् । अतः षण्मासाभ्यन्तरं यावद्गर्भस्नावो भवेद्यदि । तदा माससमैस्तासां दिवसैः शुद्धिरिष्यते ॥ अत ऊर्ध्वं स्वजात्युक्तमाशौचं तासु विद्यत इत्यादित्यपुराणोक्तेः । तथा गर्भमासतुल्यादिवसागर्भस्नावे सद्यः शौचं वा भवतीति सुमन्तुक्तेः । गर्भमासतुल्येति सर्ववर्णस्त्रीसाधारणम् । सद्य इति पितृसपिण्डानामिति शेषः सपिण्डानां तु त्रिरात्रं वृत्ते गर्भपतने सपिण्डानां त्रिरात्रमाशौचमिति वसिष्ठोक्तेः । ऋतुः स्वाभाविक इत्यत्राशुद्धिरुक्ता न शुद्धिस्तत्राह रजसि उपरते निवृत्ते स्नानेन मैथुनयोग्या साध्वीति विशेषणान् पञ्चमेऽह्नि तासामदृष्टार्थाशुद्धिः ॥ शुद्धा भर्तुश्चतुर्थेऽह्नि स्नानेन स्त्री रजस्वला । दैवे कर्मणि पित्र्ये च पञ्चमेऽह्नि शुद्ध्यतीति याज्ञवल्क्योक्तेः ॥ ६६ ॥

(५) नन्दनः । प्रथमद्वितीययोर्मासयोरार्तवतृतीयादिषु चतुर्षु गर्भस्नावः सममादिषु मासेषु मसव इति प्रसिद्धम् तत्र तृतीये मासे गर्भस्नावे तिस्रो रात्रय आशौचं चतुर्थे च तसः पञ्चमे पञ्च षष्ठेऽप्युत्तरार्धेन रजस्वला शौचमुच्यते । रजस्युपरते त्रिरात्रेऽतीत इत्यर्थः । स्नानेन विशुद्ध्यतीत्यनुवर्तते ॥ ६६ ॥

(६) रामचन्द्रः । गर्भमासतुल्याभिः रात्रिभिरिति बहुवचनात् प्रथमद्वितीयमासयोरपि स्नावे त्रिरात्रं स्त्रिया एवाशौचं अन्येषां तु सद्यः पुनः रजसि उपरते निवृत्ते पुनः रजोद्वये स्नानेन साध्वी शुद्धा भवेत् । असाध्वी चेद्वन्तरपर्यन्तमशुद्धा स्यात् ॥ ६६ ॥

नृणामकृतचूडानांविशुद्धिनैशिकी स्मृता ॥ निर्वृत्तचूडकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ६७ ॥

[प्राक्संस्कारप्रमीतानां वर्णानामविशेषतः । त्रिरात्रात्तु भवेच्छुद्धिः कन्यास्वङ्गोविधीयते ॥ १॥] †

[अदन्तजन्मनःसद्यआचूडानैशिकी स्मृता । त्रिरात्रमावृता देशात्दशरात्रमतःपरम् ॥ २ ॥] †

[परपूर्वासु भार्यासु पुत्रेषु प्रकृतेषु च । मातामहे त्रिरात्रं तु एकाहं त्वसपिण्डतः ॥ ३ ॥] †

(१) मेधातिथिः । इमाः षष्ठीः कर्तृकर्मणोः कृतीति कर्तृलक्षणाः केचिद्वाचक्षते । अकृतचूडएकाहेन शुभ्यति । तथाच योवस्थापेक्षोपिविकल्पइत्येकीयमतमुक्तम् । तस्यैव श्लोकस्य व्यवस्थावाक्ये इमे अन्ये त्वध्याहारेण संबन्धलक्षणा आहुः । अकृतमुण्डानां भृतानां ये सपिण्डास्तत्रोत्तरपक्षः । समाचाराभिप्रेतः । स्मृत्यन्तरे सद्यः शौचमप्याम्नातं विषयस्तत्रैव दर्शितः । आदन्तजन्मनः सद्यः आचूडानैशिकी निवृत्तचूडकानां त्रिरात्रमिति ॥ ६७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अकृतचूडानां मरणे नैशिकी निशाध्यापिनी एकाहोरात्रमशुद्धिरित्यर्थः । अत्र चादन्तजातमरणेपि प्रागाशौचमात्रस्योक्तत्वादेकाहापकर्षः । सद्यः शौचमेवाशौचं तच्च स्नानपर्यन्ताशौचम् । निवृत्तचूडकानां प्रागुपनयनान्मरणे त्रिरात्रं ऊनद्विवार्षिकमित्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात् कृतचूडापदं पूर्णद्विवर्षतोपलक्षणम् ॥ ६७ ॥

(३) कुल्लूकः । अकृतचूडानां बालानां मरणे सपिण्डानामहोरात्रेण शुद्धिर्भवति । कृतचूडानां तु मरणे प्रागुपनयनकालात् त्रिरात्रेण शुद्धिः ॥ ६७ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच नृणामिति नैशिकी एकाहोरात्रनिर्वर्त्या यदाह याज्ञवल्क्यः ॥ आदन्तजननात्सद्यआचूडानैशिकी स्मृता । त्रिरात्रमावृता देशात्दशरात्रमतःपरमिति सर्वमेतदुचितकालपरम् ॥ ६७ ॥

(५) नन्दनः । अकृतचौलानामग्रामतृतीयवर्षाणां षष्ठमासादूर्ध्वमरणे ज्ञातीनां शुद्धिनैशिकी । आशौचमेकरात्रं निवृत्तचौलकानां ग्रामतृतीयवर्षाणां सप्तमवर्षात्प्राद्वरणे त्रिरात्रमाशौचम् ॥ ६७ ॥

(६) रामचन्द्रः । नृणां बालानां अकृतचूडानां नैशिकी स्मृता निवृत्तचूडकानां आवृतादेशात् आवृतबन्धात् त्रिरात्राच्च शुद्धिरिष्यते ॥ ६७ ॥

ऊनद्विवार्षिकं भेतं निदध्युर्बान्धवाबहिः ॥ अलंकृत्य शुचौ भूमावस्थिसंचयनादृते ॥ ६८ ॥

(१) मेधातिथिः । ऊने असंस्कृतस्य द्वे वर्षे यस्य जातस्य उच्यते ऊनद्विवार्षिकं तं भेतं बान्धवाबहिर्यामं निदध्युर्भूमौ निखातायां स्थापयेयुः । स्मृत्यन्तरे निखनेदिति पठ्यते । अलंकृत्य भेतालंकारैः । ऊनद्विवर्षेपि श्रूयमाणोऽलंकारः समाचारात्कृतोपनयनादावपि विज्ञेयः । शुचौ यत्रास्थीनि भूप्रदेशे न सन्ति अस्थिसंचयरहितत्वेन या शुद्धा तत्र निखाय स्थाप्यः । श्मशाने किलास्थीनि संचितानि भवन्ति । अतएव तेन वचनेन ततोऽन्यत्र विधानमुच्यते । न पुनस्तादृशस्यास्थिसंचयोऽन कर्तव्य इत्येव वाक्यार्थः । अग्निसंस्काराभावादेव तदप्राप्तेः ॥ ६८ ॥

† सम=नव (अ) † तिदिशंति=भिदधाति (अ)

(६७) विशुद्धिः=मशुद्धिः ॥ (क, ख, ग ण)

† (क)

(२) सर्वज्ञनारायणः । बहिर्ग्रामाद्भूमौ निदध्युरिति निखननमुक्तम् । अलंकृत्य स्रगादिना । अस्थिसंचयनाद-
ते मांसापगमानन्तरमपि तन्न कार्यमित्यर्थः ॥ ६८ ॥

(३) कुल्लूकः । असंपूर्णद्विवर्षबालंमृतकृतचूडं मालादिभिरलंकृत्य ग्रामाद्वहिःकृत्वा विशुद्धायांभूमौ कालांतरे
शीर्णदेहतया शक्यमस्थिसंचयनवर्जबान्धवाः प्रक्षिपेयुः । विश्वरूपस्तु । यस्यां भूमावन्यस्यास्थिलचयनं रुतंतस्यां
निदध्युरिति व्याचष्टे ॥ ६८ ॥

(४) राघवानन्दः । असंपूर्णद्विवर्षस्यकृत्यमाह ऊनेतिद्वाभ्यां । अलंकृत्य माल्यादिभिः । अस्थिसंचयनादृते दा-
हाभावादस्थिसंचयनाप्राप्तेःशुद्धायांभूमौनिक्षिपेदितिविवरूपः ॥ ६८ ॥

(५) नन्दनः । ऊर्णाद्विवर्षिकमसंपूर्णद्वितीयवर्षम् । निदध्युर्निखनेयुः । बहिर्ग्रामसीम्नःअस्थिसंचयनादृतेअस्थि-
सञ्चयनरहितायांभूमावित्यर्थः ॥ ६८ ॥

(६) रामचन्द्रः । ऊर्णद्विवर्षिकं ऊने अपरिपूर्णे द्वे वर्षे यस्यासौऊर्ण द्विवर्षिकः तंप्रेतंशुचौ भूमौ अवटंगर्तकृत्वा
गन्धमाल्यादिभिरलंकृत्य स्मशानादेर्वहिर्निदध्युः स्थापयेयुः बान्धवाः अस्थिसञ्चयनादृते अस्थिसञ्चयनं कर्तव्यम् । ब्रह्म-
पुराणे ॥ विप्रे द्विवर्षन्यूने तु मृते शुद्धिस्तु नैशिकी । द्यहा तु क्षत्रिये शुद्धिस्त्रिभिर्वैश्ये मृते सति ॥ निवृत्तचूडकेविप्रे
त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते । निवृत्तेक्षत्रिये षड्विर्वैश्ये नवभिरेव च ॥ शुद्धे द्विवर्षन्यूने तु मृते शुद्धिस्तुपञ्चभिः । अत ऊर्ध्वमृते
शुद्धे द्वादशाहा द्विशुष्यति ॥ षड्वर्षान्तमतीतोयःशुद्धश्चेन्म्रियतेयदि ॥ मासिकंचे त्याङ्गिरसभाषितम् ॥ ६८ ॥

नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो न च कार्योदकक्रिया ॥ अरण्ये काष्ठवत्पत्न्या क्षपेयुष्यहमेव च ॥ ६९ ॥

(१) मेधातिथिः । काष्ठवदिति निरपेक्षतामाह । श्राद्धमपि न कर्तव्यंनचोदकं उदकक्रियानिषेधेन श्राद्धनि-
षेधः सिद्धः अङ्गाङ्गिभावात् । अतः समाचारप्रसिद्धः । श्राद्धनिषेधोलिङ्गेन साधयितव्यः । अन्येतु स्मृत्यन्तरदृष्टनिखन-
नप्रतिषेधार्थवर्णयन्ति । ततश्च विकल्पः । क्षपेयुः उदास्येयुः शास्त्रचोदितंव्यापारं कुर्यात् ॥ ६९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उदकक्रिया पिण्डमप्युपलक्षयति काष्ठवदिति । यमसूक्तपाठादिस्मृत्यन्तरसिद्धमनुप्रेत-
स्य कार्यमपि न कर्तव्यमित्यर्थः । आरण्यइतिचारण्यमध्यएव निखननंमुख्यं तदभावे बहिर्ग्रामादितिदर्शितम् । क्षपे-
युः क्षपयेयुष्यहमाशौचेन तच्छवनिखननकारिणःसपिण्डाः इतरसपिण्डानां यथोक्तमेव ॥ ६९ ॥

(३) कुल्लूकः । अस्योनद्विवर्षिकस्याग्निसंस्कारो न कर्तव्यः । नाप्युदकक्रिया कर्तव्या । उदकदाननिषेधोऽयं-
श्राद्धादिसकलप्रेतकृत्यनिवृत्त्यर्थः । किंत्वरण्ये काष्ठवत्परित्यज्य काष्ठवदितिशोकाभावोऽभिहितः । यथाऽरण्ये काष्ठप-
रित्यज्य शोको न भवति । एवंत्यक्त्वा ज्यहंक्षपेत् ज्यहाशौचंकुर्यात् । अयंचारुतचूडस्य ज्यहाशौचविधिः । पूर्वोक्तैकाहा-
शौचविकल्पपरः सच व्यवस्थितोवृत्तस्याध्यायादियुक्तस्यैकाहः । तद्रहितस्य ज्यहः । यद्यपि मनुना परित्यागमात्रं-
विहितं तथाप्यूनद्विवर्षिकंनिखनेदिति याज्ञवल्क्यवचनाद्विशुद्धभूमौ निखायैव त्यक्तव्यः ॥ ६९ ॥

(४) राघवानन्दः । तेदेवाह नेति । अरण्ये काष्ठवदितिस्थानविकल्पउपेक्षायां दृष्टान्तोवा । ऊर्णद्विवर्षस्य रुतचू-
डस्य ज्यहमाशौचमित्यर्थः ॥ ६९ ॥

(५) नन्दनः । अस्योनद्विवर्षिकस्यनिखातस्य प्रेतस्यनकेवलंनिखननमेव संस्कारः किंतु त्यागोऽप्युत्तरार्धेनोध्य-
ते । नियमैःकालयापनंक्षणम् । ज्यहमाशौचवान्भवेदित्यर्थः ॥ ६९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अस्य ऊन द्विवर्षस्य अग्निसंस्कारो न कर्तव्यः । उदकक्रिया जलाञ्जलिक्रिया न कर्तव्या । अरण्ये काष्ठवदमत्तपूर्वकृत्यक्त्वाभ्यहंविदिनपर्यन्तं आशौचं क्षपेरन् क्षपेयुः ॥ ६९ ॥

नात्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया ॥ जातदन्तस्य वा कुर्युर्नाम्निवापि कृते सति ॥ ७० ॥

(१) मेधातिथिः । आत्रिवर्षस्येति आतृतीयाद्वर्षात्प्रतिषेधः न पुनश्चतुर्वर्षादौ एवमर्थमेवादिशब्दं केचित्पठन्ति । नात्रिवर्षस्य कर्तव्या त्रिवर्षादेरिति । समाचारश्चैवमेव । जातदन्तस्य वा कुर्युः उदकक्रिया साहचर्यादग्निसंस्कारोऽभ्यनुज्ञायते । ननु च विकल्पे कामचारः तत्र कः प्रयाससाध्यं चित्तक्षयकरमनुष्ठानपक्षमाश्रयेत् व्यर्थस्तदुपदेशः । उच्यते । सर्वविलक्षणोऽपि त्रोरधिकारः । प्रेतोपकारार्थमेतत्क्रियते न नैमित्तिकत्वादवश्यकर्तव्यमित्येतत्प्रागेवोक्तम् । तत्रावश्यकर्तव्यताप्रतिषेधोऽस्तीतोहनिश्चीयते । प्रेतोपकारार्थत्वमस्तीत्यभ्यनुज्ञानेन ज्ञाप्यते । तत्राकरणे नास्ति विध्यतिक्रमः । प्रेतोपकारस्त्वनुष्ठानाद्भवतीति विधिप्रतिषेधयोर्ना समञ्जस्यम् ॥ ७० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नात्रिवर्षस्येति अत्रो न द्विवर्षस्योदकक्रियां निषिद्धामनूद्य प्रेताभ्युदयार्थत्वेन सा पुनर्न विधीयते । अत्रिवर्षः अप्रविष्टतृतीयवर्षः । जातदन्तस्य वा कुर्युरिति स्त्रीविषयम् । तेन स्त्रियां जातदन्तायां भृतायां तदभ्युदयार्थत्वे उदककार्यम् । अनिर्दिष्टविशेषत्वाच्च न पुंसकलिङ्गेनाभिधानं शवविशेषणतया चेति । नाम्नि वापीति पुत्रविषयं तस्य जन्ममात्रेणातिशयितोपकारकारित्वात् । नामव्यतिरेकेण चोदकदानानुपपत्तेर्नामकरणानन्तरं प्रेताभ्युदयार्थमुदकदानम् ॥ ७० ॥

(३) कुल्लूकः । अप्राप्ततृतीयवर्षस्य पित्रादिसपिण्डैरुदकक्रिया न कर्तव्येति पूर्वत्र निषिद्धाप्युत्तरार्थमनूद्यते । जातदन्तस्य वा उदकदानं कर्तव्यं । नामकरणे वा कृते उदकक्रिया साहचर्यादग्निसंस्कारोऽभ्यनुज्ञामात्रं । प्रेतपिण्डश्राद्धादिकंच । यद्यप्यकरणसंभवे करणं क्लेशावहं । तथापि करणाकरणयोराप्तानां जातदन्तकृतनाम्नोः करणे प्रेतोपकारो भवत्यकरणे प्रत्यवायाभावइत्यवगम्यते ॥ ७० ॥

(४) राघवानन्दः । अप्राप्ततृतीयवर्षस्य जातदन्तस्य कृतनाम्न उदकक्रियास्ति । तथाचाग्निसंस्कारप्रेतश्राद्धे उपलक्षिते तेषां करणाकरणयोराप्तात्वात्करणे प्रेतोपकारोऽकरणे न प्रत्यवायइति भावः । तत्रोदकक्रिया अपनःशोशुचदधमित्येनेन मन्त्रेण । एवं मातामहाचार्यप्रेतानामुदकक्रिया ॥ कामोदकं सखिप्रत्तास्वस्त्रीयश्वशुरात्विजम् इति याज्ञवल्क्योक्तः ॥ ७० ॥

(५) नन्दनः । त्यागपक्षे किमुदकक्रिया कार्या न वेति चोदनायामाह नात्रिवर्षस्येति । उत्तरार्धे नोदकक्रिया कार्येति गृह्यते कुर्युरुदकक्रियामिति विभक्तिविपरिणामः ॥ ७० ॥

(६) रामचन्द्रः । अत्रिवर्षस्य अपरिपूर्णत्रिवर्षस्य बान्धवैरुदकक्रिया न कर्तव्या । जातदन्तस्य स्त्रीशवस्य ॥ ७० ॥

सब्रह्मचारिण्येकाहमतीते क्षपणं स्मृतम् ॥ जन्मन्येकोदकानां त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ७१ ॥

(१) मेधातिथिः । सब्रह्मचारी समानचरणोऽत एकोदका अप्यासपिण्डेभ्यः परिगृह्यन्ते तेषामितरेतरं जन्मनि स्मृतं त्रिरात्रम् । सद्यःशौचमपि स्मृत्यन्तरादुदकदायिनां विकल्पितं द्रष्टव्यम् ॥ ७१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सब्रह्मचारिणि त्वाभ्ययनसमकालं स्वगुरुणोपनीताभ्यापिते । एकोदकाः समानोदकाः ॥ ७१ ॥

(३) कुट्टकः । सहाध्यायिनि मृते एकरात्राशौचकतव्यम् । समानोदकानांपुनः पुत्रजनने सति त्रिरात्रेण शुद्धिर्भवति । व्यहानुदकदायिनइति मरणविषयमुक्तम् ॥ ७१ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचसेति । सब्रह्मचारिणि सहाध्यायिनि अतीतेमृते क्षपणमशौचस्य निवृत्तिः । सपिण्डानां दशाहत्वेपि समानोदकानांसूतके तनयूनतामाहजन्मनीति व्यहानुदकदायिनइति मरणोक्तत्वात् ॥ ७१ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्रह्मणासहचरतीति सब्रह्मचारी सवेदाध्यायी सहाध्यायी अतीते मृते एकाहं आशौचं क्षपणं स्मृतम् जन्मन्येकोदकानां त्रिरात्राच्छुद्धिः ॥ ७१ ॥

स्त्रीणामसंस्कृतानां तु व्यहाच्छुध्यन्ति बान्धवाः ॥ यथोक्तेनैव कल्पेन शुध्यन्ति तु सनाभयः ॥ ७२ ॥

[परपूर्वासु पुत्रेषु सूतके मृतकेषु च । मातामहे त्रिरात्रस्यादेकाहंतु सपिण्डने ॥ १ ॥] +

(१) मेधातिथिः । असंस्कृतायावाङ्मन्त्रेण प्रतिगृहीतानच विवाहितास्तासामरणे बान्धवाः पतिपक्षास्त्रिरात्रेण सनाभयस्तु सपिण्डाः स्वपितृपक्षायथोक्तेन कल्पेन निवृत्तचौडकानामतिजातेरधिकारात्त्रिरात्रेण । अन्यैस्तृक्तंसोदर्यादशरात्रेणेति तेषांचाभिप्रायः अष्टवर्षायाः कन्यायादानविहितं अदत्तायाश्च निवृत्तचौडकव्यपदेशाभावात्पुंसद्विपनीतस्य तदानींकल्पान्तरस्यानाम्नानादशाहएव युक्तः । अन्यैस्तु पठितम् । अहस्त्वदत्तकन्यासुबालेषुच विशोधनमिति । तत्र व्याख्यातारः पञ्चादशाब्ददेशीयापि याज्ञदत्ता कन्या तिष्ठेत्तदहरेवाशौचम् । यतोमुख्यमात्मानमतिक्रम्य कालक्षपणे प्रमाणाभावत् । तत्रोच्यते । बालेषुचेतिकोस्यार्थोयावताउक्तमेव योगविभागे आदन्तजन्मनःसद्यइति नचैतेनतद्वाधितुंयुक्तंसामान्यरूपत्वादस्य तस्यच विशेषव्यवस्थापनरूपत्वादतोयमेकाहः पृथगुक्तोपि आचूडादेव व्यवतिष्ठते । सामान्यस्य विशेषापेक्षत्वात्तस्मादन्तर्गतायमर्थश्लोकः प्रतिपद्यते स्पर्शविषयतया नेयम् । स्पर्शप्रतिषेधोहि मृतकसूतकयोर्बालस्यापि पुंवन्प्राप्तः तदर्थमेतदुक्तंस्यात् अहस्त्वदत्तकन्यासुबालेषुचविशोधनमिति । एवंच विषयसमस्याश्रिताभवति साच युक्ताकारकविभक्तित्वात् । इतरथा अध्याहृत्य भावलक्षणा समी व्याख्यायेत बालेषु मृतेषु जीवतांशुद्धिरिति नच तदुत्पत्तिनादाशौचमेतेनैतत्सिद्ध्यतीति विषयान्तरे तस्य च चरितार्थत्वात् भूमौपरिवृत्तत्वात् भूमौ परिवृत्तस्य च स्पर्शनसंभवात् । अविशेषोक्तौ कुतोविशेषप्रतिपत्तिरितिचेत् तस्याचमनकल्पोविद्यतइत्येतस्मिन्निधौ तादृशस्येवस्पर्शस्यप्रतीयमानत्वात् । तथाच रजस्वलास्पृष्टिर्नोबालस्य स्पर्शननेच्छन्ति । अथास्य विशेषेणस्यात् । तथा गौतमेन तदुक्तंस्वस्यांस्मृतौयुक्तमेवाधातुमेतस्य तस्माद्युक्तैवाधानकाललक्षणा ॥ ७२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । असंस्कृतानां अपरिणीतानां वाग्दत्तानां । बान्धवाः पतिपक्षाः । यथोक्तेन ग्रहेण कल्पेन प्रकारेण वाग्दत्तानामेव स्त्रीणां सनाभयोज्ञातयः ॥ ७२ ॥

(३) कुट्टकः । स्त्रीणामरुतविवाहानांवाग्दत्तानांमरणेबान्धवाः भर्त्रादयस्त्र्यहेन शुध्यन्ति । वाग्दानंविना भर्तृपक्षेसंबन्धाभावात् । आश्रुतमपि वाग्दानान्तर्पर्यन्तंबोद्धव्यम् । सनाभयःपितृपक्षावाग्दत्तानांविवाहादवाङ्मरणे यथोक्तेनैव कल्पेनेत्येतच्छ्लोकपूर्वार्धोक्तेन त्रिरात्रेणैव शुध्यन्तीत्यर्थः । तदुक्तमादिपुराणे आजन्मनस्तु चूडान्तंयत्र कन्याविषद्यते । सद्यःशौचंभवेत्तत्र सर्ववर्णेषु नित्यशः ॥ ततोवाग्दानपर्यन्तंयावदेकाहमेव हि । अतःपरंप्रवृद्धानांत्रिरात्रमिति निश्चयः ॥

वाग्दाने तु कृते तत्र ज्ञेयंचोभयतरुयहम् । पितुर्वरस्य च ततोदत्तानां भर्तुरेव हि ॥ स्वजात्युक्तमशौचस्यान्मृतके सूतकेऽपि च ॥ मेधातिथिगोविन्दराजौ तु यथोक्तेनैव कल्पेनेति नृणामकृतचूडानामित्येतदुक्तेन विधिना शुध्यन्तीति व्याचक्षाते । अत्र च व्याख्याने पुत्रवत्कन्यायामपि चूडाकरणादूर्ध्वमरणे व्यहाराशौचस्यात् । तच्चादिपुराणाद्यनेकवचनविरुद्धम् ॥ ७२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच स्त्रीणामिति । असंस्कृतानां केवलवाग्दत्तानां बान्धवाः भर्तुः संबन्धिनः वाग्दानं विना भर्तृपक्षैः संबन्धाभावात् इति भावः । दत्तानां भर्तुरेव हीति भर्तृपक्षाणां केवलं तासां । अपितु पितृपक्षा अपि व्यहाराच्छुध्यन्तीत्याह यथेति । सनाभयः सपिण्डाः यथोक्तेन त्रिरात्रेण । अवाग्दत्तानां तु अहस्त्वदत्तकन्यासु बालेषु च विशोधनमिति । अत्र अष्टवर्षान्यूनाकन्य बालश्च द्विवर्षान्यूनः ॥ ७२ ॥

(५) नन्दनः । असंस्कृतानामनूढानां चैलादूर्ध्वमरणे सनाभयः सोदराः यथोक्तेन दशरात्रेण शुध्यन्ति ॥ ७२ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्त्रीणां कन्यकानां असंस्कृतानां अपरिणीतानां वा दत्तानां बान्धवाः पतिपक्षीयाः व्यहाराच्छुध्यन्ति तद्यथा अकृतचूडायां सद्यः शौचं वाग्दानादूर्ध्वसंस्कारात्पक्षे पितृपक्षे च त्रिरात्रमेव संस्कृतासु स्त्रीषु नाशौचं पितृपक्षे । प्रसव मरणे चेत्पितृगृहे प्रसव एकरात्रं मरणे त्रिरात्रमित्यर्थः । यथोक्तेन व्यहेन कल्पेन प्रकारेण सनाभयः भ्रात्रादयः शुध्यन्ति ॥ ७२ ॥

अक्षारलवणान्ताः स्युर्निमज्जेयुश्च ते व्यहम् ॥ मांसाशनं च नाश्नीयुः शयीरंश्च पृथक्क्षितौ ॥ ७३ ॥

(३) मेधातिथिः । क्षारलवणं च यवक्षारादिक्षारं लवणं सैन्धवादितन् भुञ्जीरन् लवणविशेषां वा क्षारग्रहणं तेन सैन्धवस्याप्रतिषेधः । निमज्जनं च नदीतडागादौ च तीर्थस्नानमङ्गपरिघर्षणादिवर्जनम् । मांसाशनं च यावदाशौचं स्मृत्यन्तरात्प्रतिषिध्यते । एवं पठ्यते नस्त्रियमुपेयुर्न मार्जयेयुर्न मांसमश्नीयुः । गृहकारस्तु व्यहमनश्चान्तआसीरन् क्रीतोत्पन्नेन वा वर्तेरन्त्याह शयीरंश्च स्थण्डिले परसंगवर्जं । सूतकेऽपि ब्रह्मचर्यं स्मृत्यन्तरे प्रदर्शितम् ॥ ७३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्षारः सर्जिकादिः लवणसैन्धवादि तदन्यान्ताशनाः । निमज्जेयुरुदकदानार्थम् । ते सपिण्डाः । व्यहमिति दशाहस्नानाशक्तौ निमज्जनमात्रेणान्वीयते । अन्यन्तु सर्वयावद्दशाहमेव । मांसाशनं मांसरूपमशनीयम् । पृथगेकैकं क्षितौ क्षितिस्पृष्टसस्तरादौ न खट्वादौ ॥ ७३ ॥

(३) कुल्लूकः । क्षारलवणं कृत्रिमलवणं तद्रहितमन्नमश्नीयुः । त्रिरात्रं दद्यादौ स्नानमाचरेयुः । मांसं च न भक्षयेयुः । भूमौ चैकाकिनः शयनं कुर्युः ॥ ७३ ॥

(४) राघवानन्दः । उभयपक्षिणानियममाह अक्षरेति । मांसाशनं मांसयुक्तमशनमन्नं पृथक्क्षितावेव । आचम्यार्घ्यं च सलिलं गोमयं गौरसर्षपान् । प्रविशेयुः समालभ्य कृत्वा श्मनि पदंशनैरित्यपि याज्ञवल्क्यवचनात्कार्यमुत्तरकृत्यम् ॥ ७३ ॥

(५) नन्दनः । शावाशौचवतानियमानाह अक्षरेति । निमज्जेयुश्चेत्त्वहमिति पाठः । ते शावाशौचिनः ॥ ७३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अक्षारलवणान्ताः अक्षारं अलवणं अन्नं येषां ते अक्षारलवणाः पुरुषाः स्युः क्षारलवणसंयुक्तान्नवर्ज्याः स्युस्ते आशौचिनः । व्यहं निमज्जेयुः तद्यथा दशाहस्नानाशक्तावुदकदानार्थं व्यहं निमज्जन्ति कुशादिभिः राच्छादितायां क्षितौ पृथक् शमीरन् ॥ ७३ ॥

सन्निधावेषवै कल्पः शावाशौचस्य कीर्तितः ॥ असन्निधावयं ज्ञेयोविधिः संबन्धिवान्धवैः ॥ ७४ ॥

(१) मेधातिथिः । सन्निधौ यत्रासौ मृतस्तत्र तत्सन्निधीयते । अन्येतु प्रयाणकाले ये सन्निहितास्तेषामेवायंविधिरित्याहुः । संबन्धिनः समानोदकाः । बान्धवाः सपिण्डाः । अन्येतु ग्रामान्तरेनगरान्तरेऽवस्थानमसन्निधानमन्यन्ते-तेषांच ॥ ७४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कल्पः प्रकारः । अयं वक्ष्यमाणः । संबन्धिनः सब्रह्मचारिसमानोदकाद्याः । बान्धवा-ज्ञातयः ॥ ७५ ॥

(३) कुल्लूकः । मृतस्य सन्निधावेकस्थानावस्थानादहःपरिज्ञाने शावाशौचस्य विधिरयमुक्तश्च देशान्तरावस्थानादज्ञाने सत्ययंवक्ष्यमाणोविधिः संबन्धिवान्धवैर्ज्ञातव्यः । संबन्धिनः सपिण्डाः समानोदकाबान्धवाः ॥ ७४ ॥

(४) राघवानन्दः । वर्तित्यमाणार्थवृत्तंकीर्तयति । सन्निधाविति । मृतस्य सन्निधानावस्थानात्तदहःपरिज्ञान-उक्तः कल्पोविधिः । देशान्तरावस्थानादज्ञाने संस्कृतानांतु संबन्धिवान्धवैः सपिण्डसमानोदकैः कार्योवक्ष्यमाणविधिरितिशेषः ॥ ७४ ॥

(५) नन्दनः । एतच्छब्देन दन्तजातइत्यारभ्योक्तस्य सकलस्याशौचकल्पस्य परामर्शः । नानान्तरोक्तस्यैव । अ-यंवक्ष्यमाणः । संबन्धिनोजामानुदौहित्रादयः । बान्धवाज्ञातयः ॥ ७४ ॥

(६) रामचन्द्रः । सन्निधौ समीपे मरणएवएषवैकल्पोविधिः शावाशौचस्यकीर्तितः असन्निधावयंविधिः संबन्धिवान्धवैरितिसंबन्धिभिः समानोदकैः बान्धवैः ज्ञातिभिः ॥ ७४ ॥

विगतं तु विदेशस्थं शृणुयाद्योह्यनिर्दशम् ॥ यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥ ७५ ॥

[मासत्रये त्रिरात्रं स्यात्षण्मासे पक्षिणी तथा ॥ अहस्तु नवमादर्वागूर्ध्वं स्नानेन शुध्यति ॥ १॥]

(१) मेधातिथिः । देशोग्रामान्तरादिः पूर्ववत् । विगतं मृतं । अनिर्दशं उपलक्षणमेतद्यस्य यथाशौचकालस्तच्छेषं तस्याशौचम् । पुनर्दशरात्रग्रहणं लोकपूरणार्थम् । उत्पत्यपेक्षयाजन्ममरणयोरशौचकालविकल्पेनावक्ष्यमपेक्षा यदा सूतकाद्युत्पन्नं तदाप्रभृति दशाहादिकल्पेन यदासपिण्डैर्ज्ञातमिति । अतश्च यदातिथिना ज्ञातंसूतकादि नतु गृहस्थेन तदाप्यभोज्यमन्नंतथैवोत्पत्तिनिमित्तमात्रमिदमुभयत्रेति । दशाहमाशौचिनांतत ऊर्ध्वं त्रिरात्रैकाहाशौचिनांतु सचै-लस्नानजासद्यः शुचिः ॥ ७५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विगतं मृतं विदेशोयत्र मृतस्तद्दिने न श्रूयते । अनिर्दशं अनतीततन्निमित्ताशौचम् । दशरात्रस्य तन्निमित्ताशौचस्य । दशरात्रपदमाशौचमात्रोपलक्षणमिति संबन्धिवान्धवैरित्युभयप्रक्रमोद्गम्यते ॥ ७५ ॥

(३) कुल्लूकः । विगतंमृतंविदेशस्थंविप्रकृष्टदेशस्थमनिर्दशमनिर्गतदशाहाद्यशौचकालं यः शृणोति सयदवशिष्टदश-रात्राद्यशौचस्य तावत्कालमविशुद्धोभवति । विगतमित्युपलक्षणंजननेप्येतदवगन्तव्यम् । तथाचबृहस्पतिः । अन्यदेशमृ-तंज्ञातिश्रुत्वा वा पुत्रजन्मच । अनिर्गते दशाहे तु शेषाहोभिर्विशुध्यति ॥ ७५ ॥

(४) राघवानन्दः । विगतं विशिष्टं परलोकगतं । तावदवशिष्टदिवसपर्यन्तं एतदप्युपलक्षणंजननस्य । अन्यदेशमृ-तंज्ञातिश्रुत्वा वा पुत्रजन्मच ॥ अनिर्गतदशाहेतुशेषाहोभिर्विशुध्यतेति बृहस्पत्युक्तेः ॥ ७५ ॥

(५) नन्दनः । विगतंमृतम् । दशरात्रग्रहणंएकाहादीनामप्युपलक्षणार्थम् ॥ ७५ ॥

(६) रामचन्द्रः । संबन्धिबान्धवैरित्युभयत्र तन्निमित्ताशौचमध्ये श्रवणे आशौचशेषेनैवशुद्धिः ॥ ७५ ॥

अतिक्रान्ते दशाहे च त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥ संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापोविशुध्यति ॥ ७६ ॥

(१) मेधातिथिः । यस्य यः कृतआशौचकालीदशाहादिस्तस्यतदूर्ध्वत्रिरात्रं । यस्यतु व्यहैकाहादिस्तस्य ततऊर्ध्वसवाससः स्नानमात्रमेव । तथाचोत्तरत्रवक्ष्यति । सवासाइत्यादि । संवत्सरे अतीते अतिक्रान्ते स्पृष्ट्वैवापः स्नात्वा शुध्येदित्यर्थः । हस्तेनचसर्पादेनेत्यादिवचनात्सर्वाङ्गस्पर्शनं प्रतीयते तच्च स्नानमेव ॥ ७६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अतिक्रान्ते दशाहइतितु दशाहपदंनोपलक्षकं । अतिक्रान्ते शृणुयादित्यनुषङ्गः एवंव्यतीतइत्यत्रापि । स्पृष्ट्वापः स्नात्वा । एतदशाहाशौचिनांसपिण्डनाम् । समानोदकादीनांत्वाशौचमध्येश्रवणे । आशौचशेषेणैवेति विगतंत्वित्यत्र सिद्धम् ॥ ७६ ॥

(३) कुल्लूकः । नाशौचंप्रसवस्यास्ति व्यतीतेषु दिनेष्वपि ॥ इतिदेवलवचनान्मरणविषयंवचनमिदम् । सपिण्डमरणे दशाहाशौचेऽतिक्रान्तेत्रिरात्रमशुद्धोभवति संवत्सरे पुनरतीते स्नात्वैव विशुध्यति । एतच्चाविशेषणाभधानाच्चातुर्वर्ण्यविषयम् ॥ ७६ ॥

(४) राघवानन्दः । दशाहादुत्तीर्णं त्वाह अतीति ॥ नाशौचंप्रसवस्यास्ति व्यतीतेषु दिनेष्वपीति देवलवचनान्मरणविषयंत्विदम् । सपिण्डमरणेदशाहोत्तरंत्रिरात्रंवर्षोत्तरंतुस्नानं । दशाहादुत्तीर्णंसंवत्सराभ्यन्तरेसमानोदकानांस्नानम् । एतच्चातुर्वर्ण्यसाधारणम् ॥ ७६ ॥

(५) नन्दनः । दशाहेऽतिक्रान्तेवत्सरादर्वाकूत्रिरात्रमशुचिर्भवेत् । अत्रापिदशाहग्रहणमेकाहादीनामुपलक्षणम् । अपःस्पृष्ट्वैवस्नात्वैव ॥ ७६ ॥

(६) रामचन्द्रः । दशाहादिप्राप्तशौचस्यापवादमाह अतिक्रान्तइति । दशाहे अतिक्रान्ते त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् । व्यतीते संवत्सरे अपःस्पृष्ट्वा स्नानेन शुध्यति । तथा देवलः ॥ नाशुद्धिःप्रसवाशौचे व्यतीतेषु दिनेष्वपि । प्रोषिते कालशेषस्यादशेषे व्यहमेवतु ॥ सर्वेषांवत्सरे पूर्णे प्रेते दत्त्वोदकंशुचिः ॥ सर्वेषां द्विजानां तत्राह ॥ मासत्रये त्रिरात्रस्याऽषण्मासे षक्षिणी तथा । अहस्तु नवमादर्वीगूर्ध्वस्नानेन शुध्यति ॥ पितरौ चेन्मृतौस्यातां दूरस्थोपि हि पुत्रकः । श्रुत्वा तद्दिनमारभ्य दशाहंसूतकीभवेत् ॥ ७६ ॥

निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च ॥ सवासाजलमाप्नुत्य शुद्धोभवति मानवः ॥ ७७ ॥

(१) मेधातिथिः । समानोदकानामयंविधिरुहैकाहपक्षेच सपिण्डानामपि । सवासावाससा सहितः । जलमाप्नुत्य स्नात्वैत्यर्थः ॥ ७७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ऊर्ध्वत्वाहनिर्दशमिति । निर्दशमतीततदाशौचकालं । ज्ञातिः समानोदकः । पुत्रस्य स्वपुत्रस्य जन्म निर्दशमेव । शुद्धोऽपगताशौचः । एवमन्येषामपि त्रिरात्रपक्षिण्याद्याशौचिनामूहम् । ज्ञातिपदस्यासपिण्डोपलक्षणार्थत्वात् । एवंदशाहव्यतिरिक्ताशौचनिमित्तस्य तन्मध्ये श्रवणे शेषेण शुद्धिरूर्ध्वतु श्रवणे स्नानमात्रमिति सिद्धम् ॥ ७७ ॥

(३) कुल्लूकः । दशाहाशौचव्यपगमे कर्मानर्हत्वलक्षणस्य व्यहाराशौचस्योक्तत्वात्तदङ्गास्पर्शविषयम् । निर्गतदशाहसपिण्डमरणंश्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च सचैलंस्नात्वा स्पृश्योभवति ॥ ७७ ॥

(४) राघवानन्दः । दशाहादुत्तीर्णसपिण्डमरणे पुत्रजन्मनि च स्नानमात्रमिति मेधातिथिः । मानवइति विशेषणान्निर्दिशमिति स्वत्वजात्युचिताशौचपरं शुद्धः स्पृश्यः । कर्माधिकारिता तु त्र्यहोत्तरमितिकुल्लूकः ॥ ७७ ॥

(५) नन्दनः । निर्दशंज्ञातिमरणसंवत्सरादर्वागपिश्रुत्वा । अयंपूर्वोक्तस्य त्रिरात्राशौचस्य विकल्पः ॥ ७७ ॥

(६) रामचन्द्रः । मानवः समानोदकः ॥ ७७ ॥

बाले देशान्तरस्थे च पृथक्पिण्डे च संस्थिते ॥ सवासाजलमाप्लुत्य सद्यएव विशुध्यति ॥ ७८ ॥

(१) मेधातिथिः । बालेदन्तजाते स्नौ देशान्तरस्थे पृथक्पिण्डे । चसंस्थितइत्येकार्थानि पदानि । पृथक्पिण्डः समानोदकइतियावत् । तस्मिन्देशान्तरस्थे संस्थिते सद्यः शुद्धिः । संनिधौ त्र्यहात्तूदकदायिनइत्युक्तम् ॥ ७८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र बालमरणे विशेषमाह बालइति । यदि सपिण्डे देशान्तरस्थो बालोऽकृतचौलोभ्रियते यदि वा बालएव पृथक्पिण्डः समानोदकमातुलतत्तुल्यस्यालादिः सबन्धी भ्रियते तदा सचैलस्नानमात्रमित्यर्थः । बालपदस्योभयत्रान्वयार्थचकारद्वयम् ।

इहच दशाहप्रक्रमेण तदतिक्रमे संवत्सरमध्ये श्रवणे तन्निभागव्यहाशौचविधानात्तदनुसारेण गुणोत्कर्षादिकृतचतुरहाद्याशौचान्तश्रवणेपि तन्निभागेनाशौचव्यवस्थाग्राह्या तेषां दशाहाशौचस्थानपतितत्वात् ॥ ७८ ॥

(३) कुल्लूकः । बालेऽजातदन्ते मृते जातदन्ते नृणामकृतचूडानामित्येकाहोरात्राभिधानादेशान्तरस्थे च सपिण्डे मृतइत्येकाहाशौचविषयम् । पूर्वश्लोके दशाहाशौचिनरूपव्यहाद्विधानात्पृथक्पिण्डे समानोदके त्रिरात्रमुक्तम् । तत्र त्रिरात्रव्यपगमे सर्वेष्वेव सचैलस्नात्वा सद्यो विशुद्धो भवति ॥ ७८ ॥

(४) राघवानन्दः । जातदन्तबाले देशान्तरस्थे दशाहाभ्यन्तरेपि सद्यः शौचमित्याह बालेति । पृथक्पिण्डे सपिण्डातिरिक्ते समानोदके । संनिधौ तु त्र्यहादुदकदायिनइत्युक्तम् ॥ ७८ ॥

(५) नन्दनः । बालेऽजातदन्ते । प्राप्तषष्ठमासइत्यर्थः । संस्थिते मृते । सपिण्डः सद्यएव स्नानेन शुध्यति । देशान्तरस्थे च सपिण्डे पृथक्पिण्डे समानोदके च संस्थिते दशाहादूर्ध्वश्रुत्वा सद्यः शुध्येत्स्नानेन ॥ ७८ ॥

(६) रामचन्द्रः । बालेऽजातदन्ते । अकृतचूडे देशान्तरस्थेच पुनः पृथक्पिण्डेऽस्य सपिण्डे समानोदकमातुलतत्तुल्यशालकादौ ॥ ७८ ॥

अन्तर्दशाहे स्यातां चेत्पुनर्मरणजन्मनी ॥ तावत्स्यादशुचिर्विप्रोयावत्तत्स्यादनिर्दशम् ॥ ७९ ॥

(१) मेधातिथिः । अत्रापि दशाहग्रहणमाशौचकालोपलक्षणार्थम् । यस्य यथाशौचकालस्तस्मिन्ननिवृत्ते यदि पुनरन्यदाशौचनिमित्तमुत्पद्यते तदा पूर्वशेषेणैव शुद्धिर्न त्वन्तरानिपतितं यत्तदीयादन्हः प्रभृतिदशाहादिगणना कर्तव्या । तथाच गौतमः । तच्चेदन्तः पुनरापतेत्तच्छेषेण शुध्येयुरिति । मरणजन्मनी इति समासे यत्र मन्तरेण क्रमाप्रतिपत्तेर्व्यन्तरेणाप्युपनिपातनप्राप्तौ समाचारात्समानजातीयएवेति द्रष्टव्यम् । पुनःशब्दश्च समानजातीयापेक्षया समर्थतरो भवति । विप्रग्रहणमप्याशौचिनामुपलक्षणार्थं स्मृत्यन्तरे तु विहितं रात्रिशेषे द्वाभ्यां प्रभाते तिसृभिरिति । एतस्य ब्राह्मणस्य प्रेतस्पर्शो दशरात्रमाशौचमिति । प्रकृत्य नचेदन्तरा भ्रियेत जायेत वा शिष्टैरेव दिवसैः शुद्धयेते तीयं स्मृतिः समानजातीयासमानजातीयभेदानुमन्यते ॥ ७९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्तर्दशाहे पुनर्मरणमेकं दशाहाशौचमध्ये तादृङ्मरणानन्तरं पुनर्जननं तु तादृङ्जनने जननान्तरं तद्यदि पूर्वाशौचदशमदिनात्प्राक्पतेत्तदा यावत्पूर्वाशौचमनिर्दशमनतीतं तावदेवाशुचिः । पुनर्मरणं पुनर्जन्मचपुनर्मरणजन्मनी । अत्रापिदशाहपदसंपूर्णशौचोपलक्षणं तेन क्षत्रियादीनामपिस्वशावाशौचमादायैवमेव व्यवस्था । किंचात्र सर्वत्र विष्ण्वादिस्मृतिदर्शनात्पूर्वाशौचशेषदिनआशौचान्तरपाते दशाहोर्ध्वमपि दिनद्वयमाशौचं तद्विवसीयाष्टमयामे त्वाशौचान्तरपाते दिनत्रयमिति प्रपञ्चितंचैतच्छुद्धिदीपिकायाम् विस्तरभयान्नात्र लिख्यते ॥ ७९ ॥

(३) कुल्लूकः । दशाहादिमध्ये यदि पुनर्मरणे मरणजनने जननस्यात्पुनःशब्दात्सजातीयावगमात् तदातावत्कालमेव विप्रादिरशुद्धः स्यात् । यावत्पूर्वजातदशाहाद्यशौचनापगतस्यात्तावत्पूर्वाशौचव्यपगमेनैव द्वितीयेऽपि मृतके सूतके च शुद्धिरित्यर्थः ॥ ७९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच दशाहादिमध्ये यदि मरणजननंतदा पूर्वाशौचनिवृत्तावनयोर्निवृत्तिरित्याह अंतर्दशाहेति । तत्पूर्वाशौचं अनिर्दशं यावत्तावद्विप्रोऽशुचिः स्यादित्यन्वयः । विप्रपदंचातुर्वर्ण्यपरम् ॥ अन्तराजन्ममरणे शेषाहोभिर्विशुध्यतीति याज्ञवल्क्योक्तेः ॥ ७९ ॥

(५) नन्दनः । तत्पूर्वाशौचम् ॥ ७९ ॥

(६) रामचन्द्रः । पुनर्दशाहाद्याशौचप्राप्तौ तदपवादमाह अन्तरिति । अन्तर्दशाहेमरणजन्मनीमरणे स्यातांचेतु यावदनिर्दशं स्यातावद्विप्रोऽशुचिः स्यात् । जनने मरणे जाते पूर्वाशौचावशिष्टैरहोभिर्नविशुध्यति । उशनाअप्याह ॥ स्वल्पाशौचस्य मध्ये तु दीर्घाशौचं भवेद्यदि । न पूर्वैर्नैव शुद्धिः स्यात्सकालेनैव शुध्यति ॥ तथा अङ्गिराअप्याह ॥ सूतके मृतकंचेतस्यामृतके त्वथ सूतकम् । तत्राधिकृत्य मृतकंशौचंकुर्यान्न सौतकं ॥ षट्त्रिंशन्मतेपि ॥ शावाशौचे समुत्पन्ने सूतकंतु यदाभवेत् । शावेन शुध्यते सूतिर्नसूतिः शावशोधिनी ॥ यदि स्यात्सूतके सूतिर्मरणे वा मृतिर्भवेत् । शेषेणैव भवेच्छुद्धिरहःशेषे त्रिरात्रिकमिति ॥ अपवादमाह ॥ मातर्यग्रेप्रमीतायामशुद्धोऽग्नियते पिता । पितुःशेषेण शुद्धिः स्यान्मातुर्मातृकपक्षिणी ॥ कौशिकः ॥ पितुर्दशाहमध्ये तु मातुश्चे न्मरणं यदि । न तिलोदकादिकंकर्म दाहमन्त्राहुतिविना ॥ पितृकर्म समाप्याथ मात्राशौचंच पक्षिणीम् । मातुःक्रियांततः कुर्यात्तिलाञ्जल्यादिकंच यत् ॥ पितुराशौचंसमाप्य सपिण्डीकरणान्तरुत्वा पश्चान्मातुः पक्षिणीं पक्षिणीमध्ये सर्वाः क्रियाः कार्याः । अथवा ॥ आद्यंहिषोडशश्राद्धंसपिण्डीकरणान् हि । मातुः ततः कुर्यात्पितुः पुत्रः षोडशं वा सपिण्डनम् । अथैकस्मिन्दिने चाथ सपिण्डीकरणंतयोरिति ॥ ७९ ॥

त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते सति ॥ तस्य पुत्रे च पत्न्यांच दिवारात्रमिति स्थितिः ॥ ८० ॥

(१) मेधातिथिः । आचार्यउपनेता तस्मिन्संस्थिते त्रिरात्रं शिष्यस्य तस्याचार्यस्य पुत्रे पत्न्यांच संस्थितायामहोरात्रम् ॥ ८० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आचार्ये उपनीयाध्यापके ॥ ८० ॥

(३) कुल्लूकः । आचार्ये मृते सति शिष्यस्य त्रिरात्रमाशौचंचदन्ति । तत्पुत्रपत्न्योश्च मृतयोरहोरात्रमिन्मेषा शास्त्रमर्यादा ॥ ८० ॥

(४) राघवानन्दः । आचार्ये उपनेतरि । ज्ञातिभिन्ने त्रिरात्रं व्याप्याशौचं शिष्यस्येत्याहुः ॥ ८० ॥

(६) रामचन्द्रः । आचार्ये संस्थिते मृते त्रिरात्रमाशौचं । आचार्यपुत्रे आचार्यपत्न्यां वा मृते दिवारात्रं अहोरात्रमिन्यर्थः ॥ ८० ॥

श्रोत्रिये तूपसंपन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥ मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यत्विग्वान्धवेषु च ॥ ८१ ॥

(१) मेधातिथिः । वेदशाखाध्यायी श्रोत्रियः । उपसंपन्नः मैत्र्या प्रयोजनेन वा केन चित्संगतः शीलेन युक्तो-
वा । पूर्वतु सत्रस्रचारिण्येकाहमगृहीतवेदे दृष्टम् । अभिधानकोशे तु उपसंपन्नोऽमृतपर्यायः । बहुकालत्वादाशौचस्य
पूर्वव व्याख्याज्यायसी । अन्येतु श्रोत्रिये मातुले त्रिरात्रमित्येव संब्रजन्ति पक्षिणीं रात्रिमिति शिष्यादिभिः । बान्धवाः
शालकमातृष्वसेयादयः । यदातु मातुले पक्षिणीमितिसंबन्धस्तदा मातुलबान्धवत्वादेव सिद्धा पक्षिणी पुनर्वचनं नित्या-
र्थं तेनान्येषु बान्धवेषु यथाकामम् ॥ ८१ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । उपसंपन्ने प्रातिविश्ये श्रोत्रिये मृते । पक्षिणीं पक्षाविव दिनद्वयेनोभयतोयुक्तां रात्रिम् ।
शिष्ये मृते आचार्यस्य पक्षिणी । आगामिवर्तमानाहर्गुक्तायानि शिष्ये पक्षिणीति मालाकारः । एवमृत्विजि याज्यस्य तथा
बान्धवेष्व्वात्मबन्धुषु मातुलपितृष्वसृमातृष्वसृसुतेषु ॥ ८१ ॥

(३) कुल्लूकः । वेदशाखाध्यायिनि उपसंपन्ने मैत्रादिना तत्समीपवर्तिनि तद्रहवासिनीत्यर्थः । तस्मिन्मृते त्रिरात्रेण
शुद्धो भवति । मातुलकुल्लूकशिष्यादिषु पक्षिणीं रात्रिं व्याप्याशौचं द्वेअहनी पूर्वोत्तरे पक्षाविव यस्याः सा पक्षिणी ॥ ८१ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच श्रोत्रिय इति । उपसंपन्ने मैत्रादिना समीपवर्तिनि त्वशाखाध्यायिनि वा । पक्षिणी
पक्षाविवाहनी यस्यादिवसद्वयसंश्लिनी रात्रिस्तांबान्धवेषु पितृष्वसृमातृष्वसृसुतेषु ॥ ८१ ॥

(५) नन्दनः । उपसंपन्नः स्वगृहेवासी । संस्थितइत्यनुषङ्गः । बान्धवा मित्राणि ॥ ८१ ॥

(६) रामचन्द्रः । श्रोत्रिये प्रातिविश्ये स्वगृहपार्श्ववर्तिनि साङ्गवेदाभ्येतरे उपसंपन्ने मृते त्रिरात्रमशुचिः । मातुले
पक्षिणीं रात्रिं पुनः शिष्यत्विग्वान्धवेषु पितृष्वसृमातृष्वसृसुतेषु पक्षिणीम् ॥ ८१ ॥

प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद्विषये स्थितः ॥ अश्रोत्रिये त्वहः कृत्स्नमनूचाने तथा गुरौ ॥ ८२ ॥

(१) मेधातिथिः । राजशब्दोऽयमभिषेकादिगुणयोगिनि वर्णमात्रे लक्षणया वर्तते यत आह । यस्य स्याद्विषये स्थितः ।
जातिविशेषावलम्बितविषयेऽश्वरवचनत्वे लक्षणा न च शब्दार्थः । सज्योतिः सह ज्योतिषा वर्तते दिवा प्रेते दिवैव रात्रौ तु
तन्नास्ति । एवं रात्रौ रात्रिरेव नाहः इदमेव ज्ञापकमन्यत्र रात्रिग्रहणे हर्गहणेऽप्यहोरात्रप्रतिपत्तेः । यथा रात्रिभिर्मासतुल्या-
भिरुग्रहमेकाहमिति । अन्हाचैकेनेत्यत्र तु रात्रिग्रहणं पादपूरणार्थं रात्रावग्निर्योतिः । एवं ह्यग्निहोत्रब्राह्मणे अग्निना वै
तेजसा तेजस्विन्यादित्येन तेजसा भवति । अश्रोत्रियेऽवेदाध्यायिनि अनूचाने कृत्स्नमहः । रात्रौ न भवत्येव उत्पन्नेपि
रात्रौ निमित्ते कथं पुनरश्रोत्रियेनूचाने एवं हि स्मर्यते प्रवरे स्वाङ्घ्रेधीतीति सन्यं प्रवक्तव्यमनूचानुच्यते । तेनैवं कथंचि-
दङ्गादिग्रन्थार्थान्यः भवति तस्मिन्मन्यमर्हति । उपसन्ने वा उपसन्ने च गुरौ पूज्यत्वेन मुख्ये आचार्ये वा विध्यन्तरभा-
वात् केचित्तु अश्रोत्रियेति न्यत्र न वसंब्रजन्ति इह नञः प्रश्लेषेण योन्येषामुपाध्यायस्तस्य च न कश्चित्तन्नेमविधिमाच-
क्षते ॥ ८२ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । राजन्ये क्षत्रिये त्वनिवासदेशाधिपतौ मृते सज्योतिः सूर्यनक्षत्रयोरन्यतरेण येनोप-

८२ यस्य स्याद्विषये स्थितः = यस्य यद्विषये स्थितिः (ख)

= यस्य स्याद्विषये स्थितिः (घ, च,) । (ख) चिन्हितपुस्तके टीकायामपि एवमेव ।

लक्षिते काले निमित्तोत्पत्तिस्तज्ज्योतिरवस्थानपर्यन्तम् अश्रोत्रिये उपसन्नइति व्यवहितेनान्वयः तेन श्रोत्रिये प्रातिवेश्ये-
मृते एकरात्रमित्यर्थः । अनूचाने साङ्गवेदाध्येतरि गुरौ वेदार्थव्याख्यातरि ॥ ८२ ॥

(३) कुङ्कुम्भः । यस्य देशे ब्राह्मणादिः स्थितः तस्मिन् राजनि कृताभिषेके क्षत्रिये मृते सज्ज्योतिराशौचं स्यात् । सह
ज्योतिषा वर्ततइति सज्ज्योतिः । यदि दिवा तदा यावत्सूर्यज्योतिस्तावदाशौचं । यदि रात्रौ मृतस्तदा यावत्तारकाज्योति-
स्तावदाशौचम् । श्रोत्रिये त्रिरात्रमुक्तम् । अश्रोत्रिये पुनस्तदृहे मृते कृत्स्नं दिनमात्रमाशौचं । नतु रात्रावपि । रात्रौ मृते-
रात्राववेत्यवगन्तव्यम् । साङ्गवेदाध्यायिनि त्वल्पं वा बहु वा यस्येत्येतन्निर्दिष्टे गुरावप्यहर्मात्रमेव ॥ ८२ ॥

(४) राघवानन्दः । राजादित्रयमरणे आशौचमाह प्रेतइति । विषये देशे इति लिङ्गात्पजापालनकर्तारि चातुर्वर्ण्येन
ज्योतिर्मरणावधि यावत्सूर्यो न क्षत्रं वा परेद्युस्तावदाशौचं अश्रोत्रिये संपन्ने कृत्स्नमित्यहोरात्रम् । अनूचाने साङ्गवेदा-
ध्यायिनि गुरौ वेदातिरिक्ते अल्पं वा बहुवायस्य श्रुतस्योपकरोति यदित्युक्तलक्षणे ॥ ८२ ॥

(५) नन्दनः । यस्य राज्ञो विषये देशे स्थितिस्तस्मिन् राजनि प्रेते त्वस्य सज्ज्योतिर्योतिः सहितमाशौचम् । दिवा चे-
ज्ज्योतिः शब्दः सूर्यवचनः नक्तं चेन्क्षत्रवचनः । अश्रोत्रिय उपसंपन्ने श्रोत्रियेऽगुरावनुपसंपन्नेऽनूचाने चैकाहम् ॥ ८२ ॥

(६) रामचन्द्रः । राजनि प्रेते सति सज्ज्योतिः सूर्यनक्षत्रयोरन्यतरेण येनोपलक्षिते काले निमित्तोत्पत्तिस्तज्ज्योति-
रवस्थानपर्यन्तं । यस्य स्याद्विषये स्थितिः यस्य विषये देशे स्थितिः । अश्रोत्रिये मृतेऽहः कृत्स्नं । समग्रं अनूचाने सा-
ङ्गवेदाध्येतरि तथा गुरौ वेदशास्त्रार्थव्याख्यातरि मृते अहः कृत्स्नमाशौचम् ॥ ८२ ॥

शुध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः ॥ वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति ॥ ८३ ॥

[क्षत्रविट्शूद्रदायादास्युश्चेद्विप्रस्य बान्धवाः । तेषामशौचं विप्रस्य दशाहान्छुद्धिरिष्यते ॥ १ ॥]

राजन्यवैश्ययोश्चैवं हीनयोनिषु बन्धुषु । स्वमेव शौचं कुर्वीत विशुद्ध्यर्थमिति स्थितिः ॥ २ ॥ †

विप्रः शुध्येद्विप्रो दशाहेन जन्महानौ स्वयोनिषु । षड्विस्त्रिभिरथैकेन क्षत्रविट्शूद्रयोनिषु ॥ ३ ॥ †

सर्वे चोत्तमवर्णास्तु शौचं कुर्युरतन्द्रिताः । तद्वर्णं विधिदृष्टेन स्वं तु शौचं स्वयोनिषु ॥ ४ ॥ †]

(१) मेधातिथिः । क्षत्रियादीनां प्रागुक्तवृत्ताद्यपेक्षरूपहचतुरहादिकल्पव्यावृत्त्यर्थमिदम् । ब्राह्मणे दशाहस्त्वनूद्यत-
एव । अत्र त्विदं वाक्यं केन क्षत्रियादीनां द्वादशाहेन नियतकालाप्रामिर्येन कल्पान्तरव्यावृत्त्यर्थतावगम्यते । इयमेव ह्येषा
मित्येकालस्य प्रापकं सत्यास्मिन्स्तत्र दशाहोयमाशौचकालस्तदुपलक्षणार्थं विज्ञायते । ननु च सत्यप्यस्मिन्स्तस्यो-
पलक्षणार्थता सत्यपि चातुर्वर्ण्याधिकारे यस्यैव दशाहउक्तस्तस्यैवेतरेकल्पाइति । स्मृत्यन्तरे च ब्राह्मणविवक्षयैवोक्तम् ।
एकाहाद्ब्राह्मणस्य स्यात्त्वाध्यायेत्यादि । तेषां तु स्मृत्यन्तरे यानि कल्पान्तराण्याम्नातानि विकल्पन्ते । एकादशे आशौ-
चकालः कश्चिद्विवरणकारआह । शुध्येद्विप्रो दशाहेनेति अत्राहर्हणं विवक्षितं तेन दशम्यारात्रौ नास्त्याशौचं । ततः
पूर्वद्युर्निमत्तणादि युक्तं । अग्निचाधायतः पौर्वाहिकजगरणादिनाशौचउपक्रान्तं भविष्यति । तदयुक्तं अहर्विवक्षा-
यामाद्यात्त्वपि रात्रिषु न स्यादाशौचम् । अथ दशाहं शावमिति एतस्मात्तत्र भविष्यति । अत्राविवक्षायां किंप्रमाणं तस्मादहः
शब्दोऽयमहोरात्रवचनइति प्रदर्शितम् । तथा च पूर्वश्लोके ऽहः कृत्स्नमिति रात्रिनिवृत्त्यर्थं कृत्स्नग्रहणम् ॥ ८३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दशाहस्थाने क्षत्रियादिषु विशेषाभिधानार्थं विप्रसंबन्धेन विहितं दशाहमनूय विशेषमाह शुद्धयेदिति ॥ ८३ ॥

(३) कुङ्कुमः । उपनीतसपिण्डमरणे संपूर्णकालीनजनने च वृत्तस्वाध्यायादिरहितब्राह्मणो दशाहेन शुद्धो भवति । क्षत्रियो द्वादशाहेन वैश्यः पञ्चदशाहेन । शूद्रो मासेन तस्य चोपनयनस्थाने विवाहः ॥ ८३ ॥

(४) राघवानन्दः । संप्रति क्षत्रियादित्रयस्याशौचमाह शुद्धयेदिति । दशाहेन निर्गुणविप्रः शुद्धयेत् । इति द्वादशाहादिना शुद्धयेदित्यन्वयः । नैतेषु गुणवदगुणवत्त्वापेक्षा ॥ ८३ ॥

(५) नन्दनः । अथशावाशौचयोर्वर्णविशेषात्कालविशेषमाह शुद्धयेदिति ॥ ८३ ॥

(६) रामचन्द्रः । पूर्णाशौचमित्यर्थः ॥ ८३ ॥

न वर्धयेदद्याहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः ॥ न च तत्कर्म कुर्वाणः सनाभ्योऽप्यशुचिर्भवेत् ॥ ८४ ॥

(१) मेधातिथिः । यस्यैषा बुद्धिः । यदुक्तारूपहादयः कल्पास्तुल्यं दशाहेन विकल्प्यन्ते । न वृत्तादिव्यवस्थयेति ततश्चिरतरकालमन्यस्य संभवे किमित्येकाहपक्षानित्यस्वाध्यायाङ्केशकरप्रतिपत्स्ये । दशाहमपाश्रयामि । निष्कर्मसुखमासिष्यदितितंप्रति सौहार्देन सा व्यवस्था स्पष्टीक्रियते । नैते तुल्या अपितु व्यवस्थिता एव । व्यवस्था च प्राग्दर्शिता । अन्यथा यस्याशौचकालो विहितस्तस्य ततः कालावधिकस्य कुतो वृद्धिप्राप्तिः । येनैवमर्थवत्स्याद्विस्फोटार्थत्वे कोदोषः । अन्ये त्वाहुरतीतेष्वप्यहःसु यावत्स्नानादिक्रियानुत्तातावान्नैव शुद्धिः विप्रः शुध्यत्यपइत्यादि वक्ष्यतितत्राशुचित्वादनुष्ठानेन दुष्यामीति स्नानादिषु शुद्धये न प्रवर्तते तत्रैवमुच्यते न वर्धयेन्नानीतेष्वहःसु बाह्याशौचे विलम्बितव्यम् । ये त्वहःशब्दोदशमस्यान्होया रात्रिस्तस्यामाशौचं न भवतीति ते न सम्यङ्न्यन्तइत्युक्तम् । तथाच गौतमः । आशौचमध्यमाशौचान्तरउत्पन्ने तच्छेषेण शुद्धिरित्युक्ता एकस्यां रात्रौ शेषायां तथैव शुद्धिमन्यमानाह रात्रिशेषे द्वाभ्यामिति । प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः अशुचित्वात्सर्वश्रौतस्मार्तक्रियानिवृत्तौ प्रामाया मिदमुच्यते । अग्निषु याः क्रियाः सायं होमाद्यास्तान् प्रत्यूहेन् प्रत्यस्येत् । प्रत्यूहो निर्हास अननुष्ठानं । न च त्वयंकुर्याद्यत आह न च तत्कर्म कुर्वाणः सनाभ्योपीति । सनाभ्योपि नाशुचिः स्यात्किंपुनरन्यस्तथा गृहानित्यानि निवर्तेरन्वैतानवर्जं शालाग्नौ चैकइत्युक्ता आह अन्यएतानि कुर्युरिति । न च यदग्न्याधानं होममात्रमेव क्रियते किं तर्हि साङ्गप्रयोगस्तत्रैव कर्तुर्नरस्य संभवात्प्रधानहोमस्य तु द्रव्यत्यागरूपत्वात्स्वयंकर्तृत्वैव । अतो होमवैश्वदेवदर्शपूर्णमासाद्यानिवर्तन्ते । अन्येषां तु जपसंध्योपासनादीनां निवृत्तिर्न दर्शिता तानि च नित्यानि अतो अन्येषामेवाभ्यनुष्ठानं यतः स्मृत्यन्तरे प्रतिषिद्धं होमस्वाध्यायौ निवर्ततइति । अतो नित्यकाम्यभेदेन व्यवस्था । काम्यं तु नैव कर्तव्यमशुचित्वादधिकारापगमात् । ननु च नित्येष्वपि नैवाशुचेरधिकारः ॥ न च शौचमङ्गयदि विगुणानित्यमनुष्ठीयते न काम्यमित्युच्यते अथास्माद्वचनाद्भवति । मैवं । इह यदापि मानंतदस्यान्यएतानि कुर्युरिति परकर्तृकत्वमभ्यनुज्ञायते तच्च विगुणत्वानित्येषूपपद्यते न काम्येषु वैश्वदेवे तु विवदन्ते स्मृत्यन्तरंचोदाहरन्ति ॥ होमंतत्र न कुर्वीत शुष्कधान्यफलैरपि । पञ्चविधानंतु न कुर्यान्मृत्युजन्मनोः ॥ अतः संध्याहोमौ दर्शपूर्णमासौ सांवत्सरिकंचाश्वयुज्यादिकर्तव्यम् । उपाकरणंतु नक्षत्र श्रयमेव न पौर्णमास्याश्रयम् ॥ ८४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । न वर्धयेदिति । निःकर्मता सुखाभिसंधिना गुणवत्तया चतुरहाद्याशौचाहोर्न दशाहादिपरिग्रहंकुर्यादित्यर्थः । प्रत्यूहेद्विघ्नताः कुर्यात् । अग्निषु श्रौतेषु होमादि क्रियानित्याः । तच्छ्रौताग्निसंबन्धि कर्मसनाभ्यः सपिण्डोभ्योपि यः साग्निः सोपि त्वतो होमो संभवऽस्याग्निषु होमंकुर्वाणो नाशुचिः किमूत त्वमित्यर्थः ॥ ८४ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्य तु वृत्तत्वाध्यायाद्यपेक्षया पूर्वमर्वाक्संचयनादस्त्रामिस्याद्याशौचसंकोचउक्तः सनिष्कर्मा मुखमासिष्यइतिबुध्यानाशौचदिनानि दशाहादिरूपतया वर्धयेत् । संकुचिताशौचदिनेष्वपि । अग्निष्विति बहुवचनाच्छौ- ताग्निष्वग्निहोत्रहोमान् विधातयेत् । त्वयंकुर्यादशक्तौ वा पुत्रादीन्कारयेत् । अत्रैव हेतुमाह । यस्मात्तत्कर्माग्निहोत्ररूपंकुर्वा- णः पुत्रादिः सपिण्डोनाशुचिर्भवति । तदाह पारस्करः नित्यानि विनिवर्तन्ते वैतानवर्जम् । वैतानंश्रौतोहोमः गार्हपत्यकु- ण्डस्थानग्नीनाहवनीयादिकुण्डेषु वितत्य क्रियतइति । तथाच शङ्खलिखितौ अग्निहोत्रार्थस्नानोपस्पर्शनाच्छुचिः । जाबालो- ऽप्याह ॥ जन्महानौ वितानस्य कर्मलोपोन विद्यते । शालाग्रौ केवलोहोमः कार्यएवान्यगोत्रजैः ॥ छन्दोगपरिशिष्टमपि । मृ- तके कर्मणांत्यागः संध्यादीनांविधीयते । होमः श्रौते तु कर्तव्यः शुष्कान्नेनापि वा फलैः ॥ तस्मादेकाहयहाद्याशौच- संकोचे संध्यादीनामेव परित्यागोनतु श्रौतहोमस्य । एकाहयहाद्यपगमे तु संध्यापञ्चमहायज्ञादिसर्वमेवानुष्ठेयम् । अ- तोयन्मेधातिथिगोविन्दराजाभ्यामन्यथाप्यभिधायि एकाहयहाद्यशौचसंकोचोऽयंहोमत्वाध्यायमात्रविषयः संध्योपास- नादिकंतु तेनाऽपि दशाहमेव न कर्तव्यमितितन्निष्प्रमाणकम् । यत्तु गौतमेनराज्ञांच कर्मविरोधाद्ब्राह्मणस्य स्वाध्यायानि- वृत्यर्थः । याज्ञवल्क्येन च ऋत्विजांदीक्षितानांचेत्यादिना सद्यः शौचमुक्तं तत्सर्वेषामेव दशाहाद्यशौचिनामपि तत्तत्कर्मवि- षयम् । यानि तूभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं भुञ्जीतेत्यादीनि दशाहंतत्तत्कर्मनिषेधकानि वचनानि तानि दशाहाशौ- चविषयाणीति न कश्चिद्विरोधः । तस्माद्धोमत्वाध्यायमात्रार्थसगुणेऽशौचलाघवं संध्योपासनार्थमितिदंनिष्प्रमाणम् ॥ ८४ ॥

(४) राघवानन्दः । अर्वाक्संचयनादित्यादिना गुणवदगुणवत्सु संकुचिताशौचमालस्यान्नवर्धयेदित्याह नवर्ध- येदिति । संकुचिताशौचेपि कुण्डान्तरेष्वग्नीन्समूहमानोहोमकरणेनाशुचिः स्यादित्याह प्रत्यूहेदिति । प्रत्यूहेन्नविधातयेत् तदुक्तं । छन्दोगपरिशिष्टे सूतके कर्मणांत्यागः संध्यादीनांविधीयते । होमःश्रौते तु कर्तव्यः शुष्कान्नेनापि वा फलैरिति ॥ सायंप्रातर्होममात्रं नतुवैश्वदेवदर्शादिकं होमत्वाध्यायादि वर्ततइतिकाम्यपरं सूतकंमृतकोपलक्षणं ॥ जन्महानौ वितानस्य कर्मत्यागोन विद्यते इतिजाबालोक्तेः । हानिर्मरणं वितानस्य श्रौतस्य । सनाभ्यः पुत्रादिःशुचिरिति कैमुत्योक्तेः ॥ ८४ ॥

(५) नन्दनः । श्रौतस्मार्तकर्मनिरतैर्लघुरेवाशौचकल्पआश्रयणीयोन गुरुरित्याह नेति । लघुकल्पसंभवे गुरुकल्पा- श्रयेणाघवानघाहानि न वर्धयेत् । लघुकल्पमाश्रितोऽप्यग्निषु क्रियान प्रत्यूहेन्न विहन्यात् । तत्कर्म अग्निकर्म । सनाभ्यः सोदरः । अग्निशब्दोऽयंवैतानिकविषयोबहुवचनादितिकेचित् ॥ ८४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अघाहानि अघस्य आशौचस्य अहानि दिनानि न वर्धयेत् । अग्निषु क्रियानप्रत्यूहे न हन्यात् विघ्नं कुर्यात् । विघ्नोन्तरायःप्रत्यूहइत्यमरः । हावयेन्न तु हापयेत् । च पुनः तत्कर्म श्रौताग्निकर्म कुर्वाणः एतेन कर्मणा सनाभ्यःसगोत्रीनाशुचिर्भवेत् ॥ ८४ ॥

दिवाकीर्तिमुदक्यांच पतितं सूतिकां तथा ॥ शवंतस्स्पृष्टिनंचैव स्पृष्टा स्नानेन शुध्यति ॥ ८५ ॥

(१) मेधातिथिः दिवाकीर्तिश्चाण्डालः अत्यन्ताशुचिसाहचर्याद्भारतेच प्रयोगदर्शनान्मार्जारमूषिकसंवादे तस्मि- न्पिचकालेभूद्दिवाकीर्तिभयार्दितइति । न नापितस्तस्य स्पृश्यत्वात् भोज्यान्नत्वाच्च । यत्तु श्मश्रुकर्मणि तस्येदंस्ना- नमित्याहुस्तदपि सिद्धत्वादवाच्यं आवश्यकंश्मश्रुकर्माणि कारयतारोमाणि गात्राणि स्पृशन्ति तानि शरीरच्युतान्यशु- द्धानीति सिद्धंस्नानम् । तत्स्पृष्टिनं तस्यस्पृष्टं तत्स्पृष्टं तदस्यास्तीति तत्स्पृष्टी येनैते स्पृष्टास्तदपि स्नानमेव । इहसर्वस्याप्र- त्यासत्तेः तत्स्पृष्टिनमित्यनेन संबन्धःशवस्यैव केचिदाहुर्नदिवाकीर्त्यादीनाम् । अन्येतु एकवाक्योपनिपातादन्ते श्रुतत्वा- त्सर्वेषांबुद्धौ संनिधानातच्छब्देन सर्वनाम्नापरामर्शइति । अत्र हि शवपर्यन्तानां द्वन्द्वं कृत्वा स्पृष्टीत्यनेन संबन्धः तत्रतत्स्पृष्टी-

तिसमासार्थस्य बुद्धौ संनिहितत्वात्तच्छब्देनावमर्शः नहिशवस्पृष्टिपदेनसबन्धोल्क्ष्यते पतितादिभिरितरैर्युक्तत्वात् । किंतु केवलस्य पदान्तसंबन्धः द्वन्द्वे हेकैकः शब्दःसर्वार्थाभिधायी । ततः सर्वे प्रत्यासन्नाः अथापि शवस्पृष्टिशब्दस्य तत्स्पृष्टिपदेन संबन्धकृत्वा ततोन्वैरभिसंबन्धः । तथासति पतितादीनांस्पृष्टिपदेन संबन्धो न स्यात् । तस्मात्समाचारतएव निर्णयः ॥८५॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दिवाकीर्तिचाण्डालं । पतितं महापातकिनं । सूतिकां स्त्रियं दशाहमध्ये । तत्स्पृष्टिनं दिवाकीर्त्यादीनांपञ्चानामन्यतमस्यस्पृष्टारम् ॥ ८५ ॥

(३) कुल्लूकः । चाण्डालं रजस्वलां ब्रह्महादिकं प्रसूतां दशाहाम्यन्तरे शवंशवस्पृष्टिनंच स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्धोभवति । केचित्तु तत्स्पृष्टिनमितिचाण्डालोदक्यादिभिः सर्वैः संबन्धयन्ति । गोविन्दराजस्तु याज्ञवल्क्यवचनाच्छवस्पृष्टिनमेवतत्स्पृष्टिनमाह नोदक्यादिस्पृष्टिनम् तत्राचमनविधानात् । तदाह याज्ञवल्क्यः ॥ उदक्याशुचिभिः स्नायात्संस्पृष्टस्तैरुपस्पृशेत् । उदक्याशुचिभिः स्पृष्टः स्नानंकुर्यात् उदक्याशौचिभिः स्पृष्टैः स्पृष्टस्तूपस्पृशेदाचमेत् ॥ ८५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचैतानुषट्स्पृष्ट्वा स्नायादित्याह दिवेति । दिवाकीर्तिं चाण्डालं उदक्यां रजस्वलां । तत्स्पृष्टिनं शवस्पृष्टिनं । नतु दिवाकीर्त्यादिस्पृष्टिनंतेषांसाक्षात्स्पर्शस्नानमेव परंपरास्पर्शं त्वाचमनं ॥ उदक्याशौचिभिःस्नायात्स्पृष्टस्तैर्युपस्पृशेदिति याज्ञवल्क्योक्तेः ॥ ८५ ॥

(५) नन्दनः । दिवाकीर्तिः चाण्डालः । तत्स्पृष्टदिवाकीर्त्यादिस्पृष्टम् ॥ ८५ ॥

(६) रामचन्द्रः । दिवाकीर्तिर्नापितः चाण्डालइति केचित् । च पुनः तत्स्पृष्टिनं शवस्पृष्टिनं स्पृष्ट्वा स्नानेन शुध्यति ॥ ८५ ॥

आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने ॥ सौरान्मन्त्रान्यथोत्साहं पावमानीश्च शक्तितः ॥ ८६ ॥

(१) मेधातिथिः । अशुचयः संनिधानात्पूर्वोक्ताएव । सूर्यदेवत्यामन्त्राःसौरादुदुत्यंजातवेदसमित्यादयः । पावमान्यः दाशतयोषु नवमे मण्डलेऽधीताःत्वादिष्टयेत्याद्याः । यथोत्साहं शक्तितइतिच एकएवार्थः वृत्तवशाच्छब्दद्वयंपठितम् । बहुवचननिर्देशाच्चित्वसंख्यावर्त्यकर्तव्या परतस्तु यदिगुरुतरकार्यात्ययो न भवति तदाकर्तव्यएवजपः । मन्त्रग्रहणात्पावमानीरितिचक्रचामुपादानादसमामेपि सूक्ते त्रिभ्यउर्ध्वंभवत्येव शुद्धिः । श्वाप्यत्र प्रक्षेमव्यः सोप्यशुचिरेव पठितंच गौतमीयेस्मिन्नेव वर्गे शुनश्चयदुपहन्यादित्येकइति । प्रयतः अनन्यमनामन्त्रदेवतादिध्यानपरः । अथवा प्रयतोदेवतादिपूजाप्रवृत्तौयदा पश्येत्तदैवकुर्यान्नान्यदेति ॥ ८६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रयतोजपादिकर्मकरणार्थंप्रायश्चित्तकाले । अशुचिः चाण्डालादिः । सौरानुदुत्यंजातवेदसं चित्रं देवानामुद्वयंतमसइत्यादीन् । यथोत्साहं यथाशक्ति पावमानीः त्वादिष्टयामदिष्टयेत्याद्याः ॥ ८६ ॥

(३) कुल्लूकः । श्राद्धदेवपूजादिसंचिकीर्षुः स्नानाचमनादिना प्रयतः संप्रकृतचाण्डालाद्यशुचिदर्शने सतिउदुत्यंजातवेदसमित्यादिसूर्यदेवतमन्त्रान्यथासामर्थ्यपावमानीश्च शक्त्या जपेत् ॥ ८६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यदित्याह आचम्येति । प्रयतः श्राद्धदेवादिपूजाचिकीर्षुः संनिधानादिवाकीर्त्यादिषण्णामशुचीनां दर्शने उदुत्यमित्यादिसौरमन्त्राः । यथोत्साहं यथासामर्थ्यं सान्निध्यादिदर्शनानुरूपंवा ॥ ८६ ॥

(५) नन्दनः । अशुचयोदिवाकीर्त्यादयः । सौरानुसूर्यदेवत्यान् । पावमानीः पवमानदेवत्याक्रचइतिशेषः ॥ ८६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अशुचिदर्शने सौरान्मन्त्रान् गायत्र्यादीन्जपेत् । च पुनः शक्तितः पावमानीं सूक्तं जपेत् पावमान्यः पुनन्तुमामिति पठेत् ॥ ८६ ॥

नारंस्पृष्ट्वास्थिसस्नेहं स्नात्वा विप्रोविशुध्यति॥ आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्यवा॥८७॥

(१) मेधातिथिः । नरोमनुष्यस्तस्येदंनारं सस्नेहं मांसमज्जादिग्धम् । गोरालभनंस्पर्शः । अर्कदर्शनगवालम्भौ विकल्पेते ॥ ८७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सस्नेहमदग्धमशुष्कंच निःस्नेहं दग्धंशुष्कंवा । आचाम्यैवेत्याचमनं कृत्वा गोस्पर्शन-
सूर्येक्षणयोरन्यतरत्कार्यमित्यर्थः ॥ ८७ ॥

(३) कुङ्कुमः । मानुषास्थि स्नेहसंयुक्तंस्पृष्ट्वा ब्राह्मणादिः स्नानेन विशुध्यति । स्नेहशून्यंपुनः स्पृष्ट्वाऽऽचम्य
गोस्पर्शार्कावेक्षणयोरन्यतरत्कृत्वाविशुद्धोभवति ॥ ८७ ॥

(४) राघवानन्दः । नारं नरस्येदं । गोस्पर्शोरवेरीक्षणंवा ॥ ८७ ॥

(६) रामचन्द्रः । नराज्जातंनारं सस्नेहमस्थि स्पृष्ट्वा स्नात्वा शुध्यति द्विजात्यस्थिविषयं शूद्रस्यास्थिस्पर्शने त्रिरात्र
माशौचम् । निःस्नेहं शुष्कं अस्थि स्पृष्ट्वा पादौ प्रक्षाल्याचम्य गामालभ्य स्पृष्ट्वा अर्कमीक्ष्य वा शुद्धोभवेत् ॥ ८७ ॥

आदिष्टी नोदकं कुर्यादाव्रतस्य समापनात् ॥ समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रेणैव शुध्यति ॥ ८८ ॥

(१) मेधातिथिः । आदेशआदिष्टं व्रतादेशनसंबन्धाद्विरूपेण ब्रह्मचार्युच्यते तस्यब्रह्मचर्याश्रमस्थस्य सतोये
सपिण्डाः प्रमीयन्ते तेषामयमनिष्टोदकदानप्रतिषेधः । प्राक्प्रमीतानांतु विहितमन्वाहिकंकुर्याद्देवपितृतर्पणमिति । आव्रतस्येति
आसमावर्तनादित्यर्थः । न पुनरान्तरालिकसाहसिकादित्यर्थः । व्रतचरणसमाप्तेः समावृत्तः ससर्वेषामेकैकस्योदकंकृत्वै-
कस्मिन्नहनि त्रिरात्रमाशौचंकुर्यात् । मातुस्तूदकदानंव्रतिनोपीष्यते नचव्रतलोपः । स्पृत्यन्तरमुदाहरन्ति । अपराध्यआदि-
ष्टोनोदकइति ॥ ८८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आदिष्टमाचार्येण ब्रह्मचार्यस्यपोशानेत्यादिना ब्रह्मचर्यव्रतं यस्यसआदिष्टी सपितर्यपि
मृते नोदकमर्थादाशौचमपिनकुर्यात् । समाप्तेत्विति । समाप्ते तु ब्रह्मचर्ये यद्यनतीतवत्सरंपितृभरणंशृणुयात्तदा शौचमु-
दकदानंच प्रेतोद्देशेन त्रिरात्रंब्रह्मचारिणा कार्यं । ततः प्राक्सपिण्डने कृते प्रेतत्वाभावान्नैतदुदकदानमित्यर्थसिद्धम् । एतेन
व्रतिनोव्रतकालआपादितत्वादाशौचस्य तदाशौचात्ययकालप्राप्तकालमाशौचकालान्तरेपिनास्तीतिग्राह्यमितिदर्शितम् । एतच्च
युक्तिसिद्धमपि स्पष्टार्थमुक्तम् । उदककरणोत्तरकालोत्तरात्रात्रपूरणस्योदकंकृत्वेत्युक्तम् ॥ ८८ ॥

(३) कुङ्कुमः । व्रतादेशनमादिष्टं तदस्यास्तीतिब्रह्मचारी सप्रेतोदकमाव्रतसमापनान्न कुर्यात् । उदकमितिपूरक-
पिण्डषोडशश्राद्धादिसकलेप्रतरुत्योपलक्षणम् । समाप्ते पुनर्ब्रह्मचर्ये प्रेतोदकंकृत्वा त्रिरात्रमशौचंकृत्वा विशुद्धोभवति ।
एतच्च मातापित्राचार्यव्यतिरिक्तविषयम् । तदाह वसिष्ठः ब्रह्मचारिणः शवकर्मणा व्रतान्निवृत्तिरन्यत्र मातापित्रोर्गुरोर्वा
शवकर्मणेति शवनिमित्तेन निर्हरणदहनोदकदानपूर्वकपिण्डषोडशश्राद्धादिकर्मणा । वक्ष्यति च आचार्यस्त्वमुपाध्याय-
मिति ॥ ८८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचआदिष्टीति । आदिष्टीब्रह्मचारी उदकंतत्पूर्वकसपिण्डषोडशश्राद्धादिप्रेतरुत्योपलक्षकं-
तन्मातापित्राचार्यातिरिक्तविषयं तेषांकुर्यात् । आचार्यस्त्वमुपाध्यायमित्यादिवक्ष्यमाणत्वात् ॥ ८८ ॥

(८७) गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा=गांस्पृष्ट्वा वीक्ष्य वा रविम् (क, ग)

=गामालभ्यार्कमीक्ष्य च (ख, ण)

(५) नन्दनः । आदिष्टव्रतं तद्वानादिष्टी । व्रतस्य ब्रह्मचर्यस्य । समाप्ते व्रते । कृतसमावर्तनस्याकृतविवाहस्यायं त्रिरात्रविधिः ॥ ८८ ॥

(६) रामचन्द्रः । आदिष्टी ब्रह्मचारी आव्रतस्य समापनात् उदकं जलां जालेन कुर्यात् व्रतं समाप्य जलाञ्जलिं कृत्वा त्रिरात्रेणैव शुध्यति । एतद्वत्सराभ्यन्तरे अकृतसपिण्डे बोद्धव्यम् ॥ ८८ ॥

वृथासंकरजातानां प्रव्रज्यासु च तिष्ठताम् ॥ आत्मनस्त्यागिनां चैव निवर्तेतोदकक्रिया ॥ ८९ ॥

(१) मेधातिथिः । जातशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । वृथाजातो यो न देवानर्चयति न पितृन् मनुष्यानि । सत्यधिकारेऽनाश्रमो । हुताहुतपरित्यक्तः संवत्सरमनाश्रमो भूत्वेत्यादिविरकालावस्थाने महादोषश्रवणात् । ब्रह्मचारिपुत्राजकाभ्यामन्यस्य परपाकरित्वं आत्मार्थस्तु पाकोनिषिद्धः । संकरजाता इतरेतरजातिव्यतिकरेण प्रतिलोमा आयोगवादयः । निन्दितत्वाद् वृथाजातसाहचर्येण । अनुलोमास्तु सत्यपिसंकीर्णयोनित्वे मातृजातीयत्वादधिकारित्वाच्च नेह गृह्यन्ते । नचानुलोमेषु संकीर्णयोनित्वव्यवहारः । संकीर्णयोनयस्त्वेताः प्रतिलोमानुलोमजा इति । अनियुक्तासु तादयश्चानेकपुरुषसंसर्गजाः वेश्याजाताश्च । पारस्त्रैण्येयास्तु असत्यनेकपुरुषसंसर्गसंकरजाताः । अयंच सर्पिण्डानां निषेधो न तत्पुत्राणामिति केचित् । आत्मत्यागिनां तु पुत्राणामपि तदुक्तमविशेषश्रवणात् । प्रव्रज्यासु बाह्यासु भगालवरक्तपटाद्यात्वनधिका-
राद्बहुवचननिर्देशात् । व्रतादिदर्शनभेदेन बाह्याः । आत्मनस्त्यागिनां पुरुषाणामायुषोक्षये स्वेच्छया शरीरंत्यजन्ति वृद्धानामचिकित्स्यमहाव्याधीनांच भिक्षूप्रत्याख्यातानामिष्यतएव । यथोक्तम् ॥ वृद्धः शौचस्मृतेर्लुप्तः प्रत्याख्यातभिक्षुः क्रियः । आत्मानं घातयेद्यस्तु भृग्वश्यनशनाम्बुभिः ॥ तस्य त्रिरात्रमाशौचं द्वितीये त्वस्थिसंचयः । तृतीये तूदकं कृत्वा चतुर्थे श्राद्धमाचरेदिति ॥ कुष्ठ्यादेः क्षुब्धाधिगृहीतस्य इष्यतएव । यथोक्तं लुप्तचेष्टस्य गृहस्थावस्थायामपि महाप्रस्थानगमनावृथानेच्छन्ति जीवितुं लुप्तचेष्टश्चोच्यते यः शौचादिष्वसमर्थः संध्योपासनादिषु च । अपरिक्षीणशरीरो वा । सादयेद्यस्त्वात्मानमलुप्तचेष्टो वा । अतस्तद्विपरीतस्यानुज्ञानं भवति । स्मृत्यन्तरेष्वन्येषामप्युदकक्रियानिषेधो विहितः । यथोक्तं राजभिर्निहतानांच शृंगिदंष्ट्रिसरोसृपैः । आत्मनस्त्यागिनांचैव श्राद्धमेषां कल्पयेत् ॥ उदकं पिण्डदानंच प्रेतभ्यो यच्च दीयते । नोपतिष्ठतित्सर्वमन्तरिक्षे विनश्यति ॥ नारायणबलिः कार्योलोकगर्हाभयान्नरैः । तस्मादेभ्योपि दातव्यमन्नमेव सदक्षिणम् ॥ तथान्यत्र ॥ चण्डालादुदकात्सर्पाद्वाह्मणाद्वैद्युतादपि । दंष्ट्रिभ्यश्च पशुभ्यश्च मरणपापकर्मणाम् ॥ तथाचोक्तम् ॥ नृणांचैवाग्निदानांच स्नानालंकारकारिणाम् । तमरुल्लूदयेद्विद्विरश्रुपातेऽनुयायिनाम् ॥ तेनोद्दिष्टं चैवान्यैः कार्यमस्योर्ध्वदेहिकम् । नच नामापि कर्तव्यं तद्वंशस्य तदीयकम् ॥ अत्यन्तनरकस्थस्य तस्य पापीयसोधिकम् । कारणं कीर्तनं नाम सर्वंचैव भयावहम् ॥ संवर्तेन आत्मेव क्रियासु सान्तपनमाप्नातम् । पराशरेण तमरुल्लू वसिष्ठेन तमरुल्लू सहितंचान्द्रायणम् । तत्रापूर्वादिविशेषा उपेक्ष्याः । यदुक्तं । चण्डालादुदकादित्याद्युपक्रम्यं मरणपापकर्मणामिति । तत्रेदं सन्दिह्यते । किं यश्चण्डालादिर्बुद्धिपूर्वमात्मानं घातयति । तस्यायं विधिरौर्ध्वदेहिकाकरणं तत्करणे च प्रायश्चित्तमुत्तममादहतस्यानिच्छतइति । कुतः संदेहइह गौतमेन प्रायोनाशकशस्त्राग्निविषोदकोद्धन्धनप्रयतनमित्युक्तम् । इह चाविशेषेण श्रुतं चण्डालादुदकादिति । तत्र स्मृत्यन्तरेणैकशास्त्रत्वादुदकादित्यत्र तावदवश्यमिच्छतामितिसंबध्यते । साहचर्यादन्यत्रापि तथैवेत्याशङ्क्या ज्ञायते । किंच पापकर्मणामिति श्रूयते । पापंच कर्म प्रतिषिद्धं । अत्र प्रतिषिद्धं यो नुतिष्ठति स पापकर्मेत्युपपद्यते । अनुष्ठानत्वं च त्वव्यापारेण परप्रयोक्तृतया च तत्र न वैद्युतदंष्ट्रिशृङ्गादयः ते च न प्रयुज्यन्ते नापि ते श्वभ्रोदकखट्वादिस्थानीयाः । येन तदुपादानेनात्मानं घ्नन् त्वतन्त्रः क-

तां स्यात् । किंतिर्हि यस्येदृशं मरणमुपनतं स पूर्वजन्मनि कृतपापक इति शास्त्रेण ज्ञाप्यते । यथाश्यावदन्तप्रभृतयस्तत्रापि किमेतेन ज्ञापितेन । अङ्गहीनादीनां पूर्वपापसंबन्धित्वं ज्ञाप्यते । प्रायश्चित्तमनुष्ठेयं यथा वसिष्ठेनोक्तम् । कस्यचिरुद्धयचरणं कस्यचिदभ्यधिकमपि । इह मृत्युना सर्वाधिकारस्यापत्तत्त्वान्नार्थोनेन । यदिवासौ कृतपातक इत्यवसीयते । तेन सह येकेचन केनचित् यौनमौखसौवाः संबन्धाः कृताः । सोपि पापकारी स्यात् । नचैवं शिष्टानामाचारः । नहि तादृशेन संबन्धकृतवन्तः केनचिद्विचिकित्स्यन्ते । प्रायश्चित्तनाचरन्ति अतश्छेत्तामनुमीयते । येतुगोब्राह्मणहतानामिति स्मृत्यन्तरे पठित्वा आत्मनस्त्यागिनामिति पृथक्पठन्ति तेन विशेषपक्षः प्रतिभाति । अतः संशयः किं पुनरत्र युक्तं छेत्तामितिकुतः पापकर्मवचनात् । स्वेच्छया यश्चात्मव्यापत्तिहेतौ व्यापारे प्रवर्तते तेन तस्मादुहनपुरायुषः स्वकामी प्रेयादिति शास्त्रमतिक्रान्तं भवति । सच युक्तः पापकर्मेतिव्यपदेष्टुं । ननुचोक्तं नहि ते खड्गादिस्थानीयाः । येनेच्छयावधोपपत्तिः । उच्यते । यः प्रमादं न रक्षति तेन तत्कृतमेवेति । तेन यश्चाण्डालदस्युभूयिष्ठेरण्यएकाकी गच्छति तस्य यद्यपि चण्डालामांघ्रित्वतीच्छा न भवति तथापि तत्समर्थाचरणेन प्रमादस्यापरित्तत्वाद्भवत्येव शास्त्रातिक्रमः । एवंयोबाहुभ्यां नर्दीतरति संदिग्धां वा नावमधिरोहत्यकुशलकर्णधाराधिष्ठिताम् । एवंतस्य व्यापद्यमानस्य वेगक्षयेण नौपरिवर्तनादिनावा युक्तैव पापकारिता । तथाचागाधतादण्डादिना ग्राहमकरसंगं चाज्ञात्वा स्नातारो यद्यपि ह्ये रन् दुष्येयुरेवम् । यस्तु दृढबन्धनां तर्तितीव्राम्भसि कुशलावहितसमर्थप्रेरकप्रेर्यमाणामधिरूढः सहस्रोत्पतिते जविनिपवने चक्रवातेन पिच्छलमवामवान् पुवव्यापत्याभ्रियेत शास्त्रमतिक्रमेत् । एवं स पौपहतदंशं च परिहरन्दष्टो व्यापद्येत प्रत्यवेयादेव नान्यथा । एवंतीक्ष्णशृङ्गां हस्तिनं चादृष्ट्वा दूरमनपक्रामतो हन्यमानस्य युक्तोऽतिक्रमः । एवमरण्ये वर्षासूचरन्तोषु विद्युत्सु ग्रामनगरयोरप्रवेशे दुष्टतैव । ग्रामस्थस्योपरि कथंचिद्विद्युत्पातः स्यात्तदा न किंचिदपराभ्यति । अतो युक्तमीदृशं यथाविहितक्रियाकरणम् । तत्रचोदकक्रियानिषेधः सर्वोर्ध्वदेहिकप्रदर्शनार्थः स्मृत्यन्तरे स्योदादत्तत्वात् ॥ ८९ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । वृथाजाताः क्लीबाः । संकरजाः प्रतिलोमजाः । प्रव्रज्या चतुर्थाश्रमः । आत्मनस्त्यागिनामुद्धननादिना । उदकक्रियेत्याशौचस्यापि ग्रहणम् ॥ ८९ ॥

(३) कुड्मूकः । जातशब्दः प्रत्येकमभिसंबन्ध्यते वृथाजातानां बाहुल्येन त्यक्तस्वधर्माणां संकरजातानां हीनवर्णेनोत्कृष्टस्त्रीषुत्पन्नानां वेदबाह्यरक्तपटादिप्रव्रज्यासुवर्तमानानामशास्त्रीयविषोद्धननादिना कामतश्च कृतजीवितत्यागिनामुदकादिक्रिया न कर्तव्या ॥ ८९ ॥

(४) राघवानन्दः । एषामुदकं नास्तीत्याह वृथेति द्वाभ्यां । वृथाजातानां पञ्चयज्ञाद्यनधिकारित्वेन चिरकालमनाश्रमिणामिति मेधातिथिः । संकरजातानां हीनवर्णेनोत्कृष्टस्त्रीषु जातानां । तिष्ठतां परमहंसानाम् ॥ ८९ ॥

(५) नन्दनः । वृथाजाताः पञ्चमहायज्ञादीनामकर्तारः । संकरजाताः परभार्यायामनियुक्तायामुत्पन्नाः ॥ ८९ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्वाभ्यामाह वृथेति । वृथाजातापञ्चमज्ञरहिताः क्लिबादयो वा सङ्करजातानां च पुनः यतोनां च पुनः आत्मत्यागिनाम् पाषण्ड्यमाश्रितानाम् । च पुनः कामतः चरन्तीनां व्यभिचारिणीनाम् । एवं वृथादिसुराप्यं तानां योषितां उदकक्रियाजलाञ्जलिदानसूतकमपि निवर्तेत न कुर्यात् ॥ ८९ ॥

पाषण्डमाश्रितानां च चरन्तीनां च कामतः ॥ गर्भभर्तृद्वहं चैव सुरापीनां च योषिताम् ॥ ९० ॥

(१) मेधातिथिः । शास्त्रपरित्यागेन बाह्यदर्शनाश्रयं नरशिरः कपालरक्ताम्बरादिधारणं पाषण्डं तदाश्रिताः कृततल्लिङ्गपरिग्रहाः तदर्थं नवशर्वार्तिन्यः । चरन्तीनां च कामतः तदाचारकुलस्थितित्यागेनेच्छामात्रानुवृत्त्येकानेकपरपुरुषसंप्रयोगः-

कामचारः । भर्तुर्विषगरादिदानेन । गर्भस्य च पातनं द्रोहः । सुराप्यः यथाप्रतिषेधं प्रतिषिद्धायाः पानेन । अत्रकाश्रदाह
 ब्राह्मणो न पिबेत्सुरामिति । सत्यपि जात्यर्थविशेषलिङ्गात्पुंसएव ब्राह्मणस्य प्रतिषेधो न स्त्रियाइति । यद्यपि स्त्रीपुंसयोरे-
 काजातिस्तथापि स्त्रीत्वपुंस्त्वलिङ्गे भिद्येते इहच ब्राह्मणइति पुल्लिङ्गस्य शब्दस्य श्रवणादश्रुतायाः कः प्रसङ्गः । यथा ब्रा-
 ह्मणीपाययेत्पुत्रार्थमिति न पुंसःपाययेदिति तद्वत्पुल्लिङ्गश्रुतौ न स्त्रियुपादीयन्ते । क्वचिल्लिङ्गं विवक्ष्यते यथा ब्राह्मणो न-
 हन्तव्यइति स्त्रिया अपि प्रतिषेधो विज्ञायते । तत्र द्वितीयया श्रुत्या ब्राह्मणस्येप्सिततमत्वात्प्राधान्यम् । नच प्रधाने प्रातिपदि-
 कार्थव्यतिरेकेणान्यलिङ्गसंख्यादि विवक्ष्यते यथा ग्रहसंमार्ष्टीतिनैकस्य संमार्गः । इह पुनर्ब्राह्मणेन सुरा न पेयेति कर्तृतया
 साधनभावेन क्रियाप्रतिनिर्देशात् ब्राह्मणो न पिबेत्सुरामित्याख्याताभिहितेपि तादर्थ्यनामनिवृत्तेः प्रातिपदिकार्थोपपत्त्या प्रथमा-
 पि तृतीयानुगुणेतिगुणभावात् गुणेच सर्वश्रुतं विवक्ष्यते । यथा पशुना यजेतेति पुमान्पशुरालभ्यते एकश्च । अत्रोच्यते । नात्र
 द्वितीयातृतीये गुणप्रधानभावेनाविवक्षाविवक्षयोः कारणं किं तर्हि प्राप्स्यामी यदप्राप्तं विधिविषयतयोपपद्येततद्विवक्ष्यते ।
 अनन्यपरशब्दावगम्यत्वात् । यत्वन्यतोवगतमर्थान्तरं विध्यर्थमुपादीयते तद्यादृशमेव प्रमाणान्तरावगतादृशमेव विधेयका-
 र्यान्तरसंबन्धितया शब्देन प्रतिपाद्यते । ब्राह्मणो न हन्तव्यइत्यत्र वाक्ये विप्रतिषेधएव पर्यवस्यति यदन्यत्तदन्यतोवगतम् ।
 प्रातिपदिकार्थविवक्षा तु श्रुत्यानर्थक्यप्रसंगात् । लिङ्गसंख्यादेस्तु प्रत्ययार्थस्य नान्तरीयकत्वेनाप्युपादानसंभवाद्विवक्षा-
 विवक्षे उच्येते । तत्रेह न ब्राह्मणादिभिः पुरुषो विधिना प्रवर्त्यः । तद्वेषात्त्वतः प्रवृत्तेः तत्सर्वस्य चात्रत्वयंप्रसंगात् । न ह्यविधी-
 यमानः प्रतिषेधः कथंचिदन्वेतुमलं । अन्यतः प्राप्स्यभावात् । अकारकत्वादकारकविशेषणत्वात्त्वभावानुप्रवेशेनापि संबन्धल-
 भ्यते । तस्मादस्यान्वयसिद्ध्यर्थं विषयभावएषितव्यः । तस्मिंश्च विधिना विषयीकृतेन भावार्थो विषयतयापेक्ष्यते । भावा-
 र्थश्च प्रतिषेधेन विषयांशस्य गृहीतत्वात्ततः प्रच्युतलौकिक्या च प्रवृत्त्या सिद्धानुष्ठानआत्मविधिसिद्ध्यर्थमनुप्रवेशमप्यकांक्ष-
 न्नाधिकारमात्रसापेक्षविधौ प्रमाणान्तरतः प्रतिपन्नहननकर्तृभावस्य पुंसोधिकारतांप्रतिपादयंस्तद्विशेषणद्वारेणान्वयंप्रतिपद्यत-
 इत्युपपन्नमन्विताभिधानं तेन भावार्थस्य सविशेषणस्याविधेयत्वाल्लौकिकी प्रवृत्तिरभ्युपेतव्या । अस्तित्व रागलक्षणां
 प्रवृत्तिर्न तस्यालिङ्गसंख्यानियमोस्ति द्वेषाद्वा तस्मादविधेयार्थशब्दोऽवगतार्थपरत्वादभिधानं शक्तिमुत्सृज्य प्रमाणान्तरतोय-
 थावधृतस्वरूपमर्थलक्षयति । तत्र लिङ्गसंख्ययोस्तात्पर्यन्तः शब्देनानभिधानात्कुतोविवक्षा केवलंप्रातिपदिकनिर्देशार्थेन-
 केनचिद्वचनेन निर्देशः कर्तव्यो न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्येति तदर्थं लिङ्गसंख्ययोरुपादानम् । अतइयमत्रावगतिः हननेध्यव-
 सितकर्तृभावः स नञर्थेनियुज्यते । अतः प्रतिषेधवाक्ये द्वितीयाश्रुतिरविवक्षायामतन्त्रं यथापि हि तृतीयाश्रूयते प्रथमावा
 ब्राह्मणेन न पातव्या ब्राह्मणो न पिबेदिति तत्रापि तदर्थस्यान्यतः प्राप्तिरविधेयत्वादूनूयते । या अधिकारविशेषणत्वेनैव
 संबध्यते एते द्वितीयाविशिष्टे प्रथमातृतीये । सत्यामपि च द्वितीयाश्रुतौ । पदप्राप्तं तद्विधेयत्वाद्विवक्ष्यते यथा भार्यामुपगच्छेत्
 अपत्यमुत्पादयेदिति । नहि लौकिको भार्यार्थः । उपयमनेनैव तत्सिद्धेः । नापि वाक्यान्तरे विधिना क्वचिदुपात्तोयेन यथा-
 वगममुद्दिश्येत यथाश्विनंगृह्णाति मैत्रावरुणंगृह्णाति दशैतानध्वर्युर्गृह्णातीति संख्याविशिष्टाएव ग्रहाउपादीयन्ते । अतो निर्ज्ञा-
 तसंख्यत्वात्संमार्गविधौ यथासंख्यावगमनिर्दिश्यते । अत्र पुनर्वाक्यान्तराभावादस्यैवोत्पत्तिवाक्यत्वाद्धृतसंख्यापरित्यागे
 प्रमाणाभावान्निर्पेक्षाभिधानशक्तिसमर्पितस्यैकस्य परित्यागः । पुरुषबुद्धिप्रभवएव स्यात् । एवं पशुना यजेतेति यागविषय-
 त्वाद्विधेस्तस्यच साध्यत्वभावत्वात्सधनाकांक्षायांसमर्पितसविशेषणकारितसहितस्यविधेयत्वे यद्यर्थमात्रे विधिव्यापारा-
 परिसमाप्तेः स्वार्थपरशब्दाभिहितापेक्षितत्वार्थाः किमिति नयन्ति । प्रमाणाशास्त्रविदस्तु स्वयंविधिं विदन्ति । अन्योक्तमशगा-

हन्ते । यत्त्वस्माभिरुक्तं तत्सुखोपायग्राह्यं नातिमहतीव्युत्पत्तिरत्रोपयुज्यते इयदेववत्तत्सारद्रंयतीसाविद्यानुष्ठानोपयोगिनी यदधिकमाहोपुरुषिकामात्रतदर्थवादएव । तत्र ह्यर्थवादाद्विशेषावगतिर्भवति यत्राकांक्षाविधेरनिवृत्तिरिति यथोक्तमुपदधातीति । बहुषु भोजनसाधनेषु सर्पिस्तैललवणादिषु सत्सु केनेत्यनवसाये घृतेनेति गम्यते यथातु रात्रिष्वनुष्ठानाश्रवणदाकांक्षायांप्रतितिष्ठन्तीत्यर्थवादः । अतःप्रतिष्ठाकामस्येतिगम्यते । इह पुनर्ब्राह्मणादितिपरिसमासत्वात्पदार्थस्य निवृत्तकांक्षेति । स्तुतिमात्रापेक्षयार्थवादः । अथलिङ्गदर्शनमात्रतयोपन्यस्यते देवानामश्रता हविरतितस्माच्छ्रेयःसंपन्नपापीयानन्वेतीतिवत्तदपिपुंसःप्रतिषिद्धत्वात्पाक्षिकेनानुवादेन सालम्बनमितिन किंचित् । स्त्रीणामपि देवान्शेषमाज्यादिप्राशनमस्त्येव वेदोदाहरश्च दर्शपूर्णमासादिषु वैश्वदेविकमासीतेति । नचश्राद्धस्य कर्तुःसुरांपाययेदितिचोदनया तासांपानमनुमीयते । ब्रह्महत्यादाविव । नैवंप्रतिग्रहस्तस्माज्जातिमात्रस्यप्रतिषेधइत्येषएतस्यांविप्रतिपत्तौ निर्णयः ॥ ९० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पाषण्ड्यं बौद्धादिदर्शनं तल्लिङ्गंवा आश्रितानां पुंसांस्त्रीणांचकामतश्चरन्तीनां सवर्णव्यभिचारिणीनामपि । गर्भद्रुहां गर्भानुत्पत्त्यर्थकृतौषधीनां । भर्तृद्रुहां भर्तृताडनादिकारिणीनां । सुरापीनामिति ब्राह्मणीविषयेणान्यदप्यन्यजातीयात्स्वपि महापातकमुपलक्ष्यते । वृथासंकरजातानामित्यादौ पुल्लिङ्गमत्र च स्त्रीलिङ्गं योषितामितिपदं चाविवक्षितार्थम् ॥ ९० ॥

(३) कुल्लूकः । वेदबाह्यरक्तपटमौञ्जादिब्रतचर्या पाषण्डतदनुतिष्ठन्तीनां त्वच्छन्दमेकानेकपुरुषगामिनीनां गर्भपातनभर्तृवधकारिणीनांद्विजातिस्त्रीणां सुरापीनामुदकक्रियौर्ध्वदैहिकंनिवर्ततइति पूर्वेण संबन्धः ॥ ९० ॥

(४) राघवानन्दः । अशास्त्रीयबन्धनादिना प्राणस्य त्यागिनांचरंतीनां कामतः काममात्रोपशमनार्थं कुलटानां योषितां सुरापीनां द्विजातिस्त्रीणाम् ॥ ९० ॥

(५) नन्दनः । पाषण्ड्यंवेदबाह्यकर्म । कामचरोव्यभिचारः । निवर्तेतोदकक्रियेत्यनुषङ्गः ॥ ९० ॥

आचार्यं स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम् ॥ निर्द्वैत्यं तु व्रती प्रेतान् व्रतेन वियुज्यते ॥ ९१ ॥

(१) मेधातिथिः । स्वग्रहणमाचार्यविशेषणमन्यते । गुरोर्गुरौ सन्निहितइत्यतिदेशात्तदाचार्येपि प्राप्तेप्रतिषेधः । अन्येतु स्वशब्दबान्धववचनं व्याचक्षते । अत्रतु पितरंमातरमिति नवक्तव्यं नित्यार्थत्वमिधानमिति । गुरुरल्पवाबहुवापीत्यनेन यउक्तः । एतान्निर्हरतोव्रतवियोगोनास्तीति श्रुतसामर्थ्यादर्शयति । अन्यान्निर्द्वैत्यानेन वियुज्यतइति पदार्थसिद्धिः ॥ ९१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आचार्यमुपनायकं । उपाध्यायं वेदाध्यापकं । गुरुं वेदार्थव्याख्यातारं । निर्द्वैत्यं निर्हरणं हाहादितेषांकृत्वा । एतच्चान्यस्मिन्कर्तर्यसति । अर्थादन्यस्मिन्सति तथाचार्यादिभ्योन्यस्य निर्हरणादिकरणे व्रतलोपस्तथाच पुनः संस्कारः ॥ ९१ ॥

(३) कुल्लूकः । आचार्यउपनयनपूर्वकंसंपूर्णशाखाध्यापयिता । उपाध्यायोवेदैकदेशस्याङ्गस्य वा ऽध्यापकः । वेदस्य वेदानांचैकदेशस्यापि व्याख्याता गुरुः । निर्हरणपूर्वकत्वात्त्रैतकृत्यस्य निर्द्वैत्यइतिदाहदशाहपिण्डषोडशश्राद्धादिसकलप्रेतकृत्यस्य मदर्शनार्थमाचार्यादीन्पञ्च मृतान्निर्द्वैत्य ब्रह्मचारी न लुप्तव्रतोभवति । एवंचान्यान्निर्द्वैत्यव्रतलोपीभवतीति गम्यते । आचार्यस्वमित्यभिधानाद्गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेदिति त्यायान्नाचार्याचार्यमपि स्वमितिसर्वत्र संबध्यते तेनोपाध्यायोपाध्यायमपि निर्द्वैत्य व्रतलोपएव ॥ ९१ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तलक्षणाचार्यादिपञ्चकंप्रत्युदकादिकृद्ब्रह्मचारी न व्रतलोपीस्यादित्याह आचार्यमिति । आ-
दिष्टीत्यस्य प्रतिप्रसवः तेषांपुत्राद्यभावे ॥ ९१ ॥

(५) नन्दनः । त्वमुपाध्यायमिति वचनादुरोऽरुपाध्याये प्रतिषेधः । व्रतीब्रह्मचारी । निर्वृत्य पितृमेधकर्मणासंस्कृ-
त्य । एभ्योऽन्यानिर्वृत्य व्रतेन वियुज्यत इत्यभिप्रायः ॥ ९१ ॥

(६) रामचन्द्रः । व्रती ब्रह्मचारी आचार्यादीन् निर्वृत्य दग्ध्वा व्रतेन न वियुज्यते ॥ ९१ ॥

दक्षिणेन मृतं शूद्रं पुरद्वारेण निर्हरेत् ॥ पश्चिमोत्तरपूर्वेस्तु यथायोगं द्विजन्मनः ॥ ९२ ॥

(१) मेधातिथिः । पुरद्वारेणेति पुरग्रहणं ग्रामादीनामप्युपलक्षणार्थम् । यत्रानेकद्वारसंभवस्तत्रायंनियमः । योमन्त्रे-
ष्टेतस्यायमुपदेशः । अमङ्गल्यत्वाच्च शूद्रादारभ्यक्रमेणोपदिष्टम् । अतश्च यथायोगमिति वैश्यक्षत्रियब्राह्मणाः पश्चिमादि-
भिर्यथासंख्यसंबन्धनीयाः ॥ ९२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यथायोगं यथार्हं वैश्यक्षत्रियविप्रक्रमेणेत्यर्थः ॥ ९२ ॥

(३) कुल्लूकः । अमाङ्गल्यत्वादत्यन्तापकृष्टशूद्रक्रमेणाभिधानम् । शूद्रमृतं दक्षिणपुरद्वारेण निर्हरेत् । द्विजातीन्पु-
नर्यथायोगं यथायुक्त्यापकृष्टवैश्यक्षत्रियक्रमेणैव पश्चिमोत्तरपूर्वद्वारेण निर्हरेत् ॥ ९२ ॥

(४) राघवानन्दः । शावाशौचप्रसंगेनाह दक्षिणेनेति । यथोपयोगमपकृष्टवैश्यादिक्रमेण । पूर्वेण विप्रमित्येव
संभवद्विषयत्वात् । पुरादन्यत्रानियमः ॥ ९२ ॥

(५) नन्दनः । पश्चिमेन वैश्यं उत्तरेण क्षत्रियं पूर्वेण ब्राह्मणं यथायोगं यथाक्रमं हारयेत् ॥ ९२ ॥

(६) रामचन्द्रः । दक्षिणेन पुरद्वारेण मृतं शूद्रं निर्वहेत् निष्क्रामयेत् । यथायोगं यथाक्रमं द्विजन्मानः द्विजातयः
तद्यथा पश्चिमेन वैश्यं उत्तरेण क्षत्रियं पूर्वेण ब्राह्मणमिति ॥ ९२ ॥

न राज्ञामघदोषोस्ति व्रतिनां च सत्रिणाम् ॥ ऐन्द्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभूता हि ते सदा ॥ ९३ ॥

(१) मेधातिथिः । राजशब्दोऽपि क्षत्रियजातौ वर्तते । तथापीह ऐन्द्रं स्थानमुपासीना इति कारणस्योपादाना-
ज्जनपदेश्वरवचनोऽलक्षणाया विज्ञायते । उत्तरश्लोके निपुणं वक्ष्यामः । व्रतिनो व्रतचारिणः चान्द्रायणादिस्थाश्च । सत्रि-
णोगवामयनिका अन्यस्मिन्वा यज्ञे दीक्षिताः । तथाच गौतमः । ऋत्विग्दीक्षितब्रह्मचारिणामिति । अत्रार्थवादः । ऐन्द्र-
स्थान माधिपत्यपदं प्रजैश्वर्यमुपासीनाः कुर्वाणाराजानो ब्रह्मत्वं प्राप्ताः । व्रतिनः सत्रिणश्च । अघदोषमाशौचं । अन्येतु
सततदानप्रवृत्तान्सत्रिणो मन्यन्ते । मुख्ययानुवृत्त्या ऋतुविशेषे वर्तते ॥ ९३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । न राज्ञां राजकर्मणि न व्रतिनां व्रते न सत्रिणां सत्रे इति स्मृत्यन्तरेभिधानात् । राज-
ब्रह्मचारियजमानानां व्यवहारदर्शनाद्यसाधारणराजकार्याध्ययनसंध्योपासनादिब्रह्मचारिकृत्ययागतदङ्गमन्त्रपाठादियज-
मानकृत्येष्वेवाशौचाभावः । अघदोषआशौचकृतमनधिकारित्वम् । सत्रं यज्ञं तद्वतां यजमानानामित्यर्थः । ऐन्द्रं स्थानं
परलोकमुपासीना अकाङ्क्षमाणा एतत्कर्म कुर्वन्तो ब्रह्मभूता ब्रह्मवच्छ्रद्धाः । ब्रह्मभूता इति पाठे ब्रह्मवत्पूता इत्यर्थः ॥ ९३ ॥

(३) कुल्लूकः । राज्ञामभिषिक्तक्षत्रियाणां संपिण्डमरणादावाशौचदोषो नास्ति यतो राजान ऐन्द्रं स्थानं राज्याभिषे-
काख्यमाधिपत्यकारणं प्राप्ताः । व्रतिनो ब्रह्मचारिणश्चान्द्रायणादिव्रतकारिणश्च । सत्रिणोगवामयनादियागप्रवृत्ताः । यतो-
ब्रह्मभूतास्ते ब्रह्मैव निष्पापाः । आशौचाभावश्चायं कर्मविशेषः । तदाह विष्णुः आशौचं न राज्ञां राजकर्मणि न व्रतिनां व्रते
न सत्रिणां सत्रे राजकर्मणि व्यवहारदर्शनशान्तिहोमादिकर्मणि ॥ ९३ ॥

(४) राघवानन्दः । अयमपि प्रतिप्रसवः नराज्ञामिति । प्रकरणादघपदमाशौचपरं इदमाशौचराहित्यकर्मविशेषे तदाहविष्णुः आशौचं नराज्ञाराजकर्मणि नव्रतिनां व्रते न सन्निपास्यति । ऐन्द्रमिन्द्रवदधिकृतं । ब्रह्मभूताः ब्रह्मेव तत्कर्मसु निष्पापाः आरब्धत्वेन श्रौताहोमवदावश्यकत्वादिति भावः ॥ ९३ ॥

(५) नन्दनः । राज्ञामभिषिक्तक्षत्रियाणाम् । व्रतिनांप्रारब्धवेदपारायणकृच्छ्रादीनाम् । सन्निपास्यज्ञानाम् । उत्तरार्धेन हेतुरुक्तः । ऐन्द्रं स्थानमुपासीनाः देवतायजनपरत्वात् तथाहि श्रुतिः एषवा एतर्हीन्द्रो योजत इति । ब्रह्मभूताधर्मस्वरूपिण इत्यर्थः । हियस्मात् ॥ ९३ ॥

(६) रामचन्द्रः । राज्ञां राजकर्मणि अघदोषः आशौचदोषः नास्ति । व्रतिनां पूर्वसंकल्पितव्रते दोषो नास्ति स्नातकव्रतादिकानां । सन्निपास्य सत्रकर्मणि दोषो नास्ति । अघदोषः आशौचकृतमनधिकारित्वम् । ऐन्द्रं स्थानं परलोकं उपासीनाः आकाङ्क्षमाणाः एतत्कर्म कुर्वन्तो ब्रह्मभूताः ब्रह्मवच्छ्रद्धाः हि निश्चये । न तेषां शौचाभावः ॥ ९३ ॥

राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यः शौचं विधीयते ॥ प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम् ॥ ९४ ॥

(१) मेधातिथिः । महानात्मा यस्य स्थानस्य तन्माहात्मकं यस्मिन् स्थाने स्थितस्य पुंसः प्रजानां परिरक्षा । मह्यं तदैव मुच्यते तच्च प्रजैश्वर्यं । यदाह आसनं चात्र कारणमिति । तदुक्तं । नात्र जातिमात्रेण किंतु प्रजापालनाधिकारः । आसनशब्दोपीह नासनशय्यादिवचनः अपितु तत्पदं भ्रामवतो यत्कर्तव्यं तदाह अतश्चक्षत्रियोऽपि यदि प्रजापालने समर्थः तस्याप्याशौचाभाव एव पूर्वैर्व्याख्यातः प्रजानां परिरक्षार्थमिति । न सर्वेण सर्वाशौचनिवृत्तिः किंतर्हि प्रजापालनविरोधि यदाशौचधारणं तन्निवर्तते । यथा दुर्भिक्षादौ स्वकोशादन्नदानेन प्रजाभरणं । तथादिव्यन्तरिक्षभौमेषूपतेषु शान्तिः । अकस्मात्सभ्यैः कर्तव्येन राज्ञा अथवा श्रेष्ठेषु द्विजातीनां भर्तृसंशयसत्त्वेन प्रथमे ज्यादावप्यस्ति प्रवक्तृत्वं तदपि प्रयोजनम् ॥ ९४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उक्तमर्थमेकदेशेन विवृणीति राज्ञ इति । यत्र स्थितस्य महानात्मा भवति तद्यवहारदर्शनादिस्थानं माहात्मिकं तत्र स्थाने तत्रापि धनार्थितया तत्करणे नाशौचाभावः किंतु प्रजारक्षोद्देशेन करण इत्याह प्रजानामिति । आसनमवस्थानं अत्र सद्यः शौचकारणम् ॥ ९४ ॥

(३) कुष्ठूकः । महात्मन इदं स्थानं माहात्मिकं राज्यपदाख्यं सर्वाधिपत्यलक्षणं माहात्म्यैव प्राचीनपुण्यराज्यमासादयति तस्मिन् वर्तमानस्य सद्यः शौचमुपदिश्यते । नतु राज्यप्रच्युतस्य क्षत्रियजातेरपि । अत्र जातिरविवक्षितेत्यनेन श्लोकेन दर्शितं । यतो न्यायनिरूपणेन दुर्भिक्षेऽन्नदानेनोपसर्गेषु शान्तिहोमादिना प्रजारक्षार्थं राज्यासनेष्ववस्थानमाशौचाभावे कारणम् । तच्चाक्षत्रियाणामपि तत्कार्यकारिणां विप्रवैश्यशूद्राणामविशिष्टम् । अतएव सोमकार्यकारिणोऽप्येव सोमधर्मा अतएव ब्रीहिधर्मान्विततया श्रुतमप्यवघातादितत्कार्यकारित्वस्य विवक्षितत्वात्प्रकृतौ यवे विकृतौ च नीवारादिषु संबध्यत इति कर्ममीमांसायां तत्तदधिकरणेषु निर्णायि ॥ ९४ ॥

(४) राघवानन्दः । अतएवाह राज्ञ इति । माहात्मिके माहात्म्यं प्रतैश्वर्यं तेन राज्यरक्षाव्यवहारदर्शनादिहोमादिके सर्वाधिपत्यआसने एतच्च चातुर्वर्ण्यराजसाधारणम् अवघातवत्प्रकृतिविकृतिसाधारणनियमविधित्वात् ॥ ९४ ॥

(५) नन्दनः । महात्माइन्द्रस्तस्येदं माहात्मिकं तस्मिन्स्थानआसीनस्येतिशेषः । अत्र सद्यःशौचे ॥ ९४ ॥

(६) रामचन्द्रः । परिरक्षार्थमित्युक्ते महात्मिके स्थाने । धनार्थितया व्यवहारदर्शने नाशौचाभावः । आसनं सिंहासनं अत्र शौचे कारणं सिंहासनस्थस्याभावः ॥ ९४ ॥

डिम्बाहवहतानां च विद्युता पार्थिवेन च ॥ गोब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छति पार्थिवः ॥ ९५ ॥

(१) मेधातिथिः । डिम्बोबहुजनसंकुलः अशरूकलहोवा । आहवः संग्रामोयुद्धः तत्र हतानांसद्यःशौचम् । विद्यु-
दशनिः एतद्व्याख्यातं । पार्थिवः पृथिव्याईश्वरश्चातुर्वर्ण्यस्य यः कश्चित् । ब्राह्मणार्थे गवार्थे च युद्धादन्यत्रापि जलाग्निदं-
ष्ट्रिहतस्य । यस्य चेच्छति पार्थिवः स्वकार्यार्थपरिपालनाधिकृतस्य कुत एतद्यतो राज्ञां परिपालन एवाशौचनिवृत्तिस्तत्र कुतो-
न्यस्याविशेषेण तदिच्छया विनिवृत्तिः स्यात् ॥ ९५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । डिम्बाहवहतानां ये बान्धवास्तेषांसद्यःशौचमित्यर्थः । एवमुत्तरेष्वपि ! अत्र च कानि
चिन्मरणान्यतिनिन्दितत्वेनाशौचाभावकारणानि कानिचिदतिशस्तत्वेनेति विवेचनीयम् । डिम्बाहवोऽराजकं युद्धं । विद्युता
हतानां पार्थिवैः क्षुद्रापराधेन हतानां द्विजैरभिचारादिना तदभिचारनिमित्तं तद्विप्रियकरण एव । गोब्राह्मणस्येति गवां
ब्राह्मणस्य वा प्राणरक्षार्थं हतानां । यस्य च स्वपरिचारकस्यानन्यसाध्यव्यापारेष्वाशौचाभावां राजेच्छति ॥ ९५ ॥

(३) कुड्मूकः । डिम्बाहवो नृपतिरहितयुद्धं तत्र हतानां विद्युता वज्रेण पार्थिवेण वधार्हेऽपराधे हते गोब्राह्मण
रक्षणार्थं विनापि युद्धं जलाग्न्याग्रादिभिर्हतानां यस्य पुरोहितादेः स्वकार्याविघातार्थं नृपतिरशौचाभावमिच्छति तस्यापि
सद्यः शौचम् ॥ ९५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच डिम्भेति । डिम्बाहवो नृपतिरहितयुद्धं तेन हतानां युद्धं विना हतानामपि गोविप्रार्थज-
लादिव्याग्राद्यैश्च हतानां । पार्थिवोवा यस्य पुरोहितादेः स्वकार्यपरिपालनाद्यर्थमाशौचाभावमिच्छति तस्यापि सद्यः
शौचम् ॥ ९५ ॥

(५) नन्दनः । डिम्भोबालः । महाजनसंमर्दइतिकेचित् । विद्युता अशन्या । गोब्राह्मणहेतोर्हतानां च । अत्रापि स-
द्यःशौचमित्यनुषज्यते ॥ ९५ ॥

(६) रामचन्द्रः । डिम्बाहवहतानां डिम्बाहवो राजकं युद्धं अशरूकलहः तत्र हतानां । विद्युत्पातेन पार्थिवेन च
हतानां । गोब्राह्मणरक्षार्थं विपन्नानां मृतानां संबन्धिनानां ये सपिण्डास्तैरप्याशौचं कार्यम् । यस्य पार्थिवः शुद्धत्वमि-
च्छति स एव शुद्धः स्वस्वाधिकारस्थले पौरोहित्यादौ ॥ ९५ ॥

सोमाग्र्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च ॥ अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः ॥ ९६ ॥

१) मेधातिथिः । वपुस्तेजोऽंशः । वित्तपतिर्वैश्रवणः । अपांपतिर्वरुणः । अत्रैव द्वितीयोर्थवादः ॥ ९६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सोमादीनामष्टानां लोकरक्षकाणाम् । वपुस्तेजोऽंशं । सोमउत्तरस्या अधिपतिः । अर्क-
स्त्वैशान्यारुद्रमूर्तिवत्तस्य । वित्तपतिः कुबेरो नैऋत्याः । कालपतिवत् । अप्पतिर्वरुणः । अन्येषां तु लोकपालानां
दिशः प्रसिद्धाः । राजधर्मेषु चैतदुपपादयिष्यति ॥ ९६ ॥

(३) कुड्मूकः । चन्द्राग्निसूर्यवायुशक्रयमानां वित्तस्यापांच पत्योः कुबेरवरुणयोरेवमष्टानां लोकपालानां संबन्धिदेहं
राजा धारयति ॥ ९६ ॥

(४) राघवानन्दः । राज्ञाशौचसंकोचेतद्वाक्यतस्तत्संकोचेचार्थवादमाह सोमेतिद्वाभ्यां । वित्ताप्पत्योः कुबेर-
वरुणयोः वपुस्तेजस्तत्तत्कर्मणि ॥ ९६ ॥

(५) नन्दनः । राज्ञामाशौचाभावंश्लोकद्वयेनोपपादयति सोमेति । वित्तपतिर्वैश्रवणः । अप्पतिर्वरुणः ॥ ९६ ॥

(६) रामचन्द्रः । कुतोरान्नामाशौचाभावइत्यपेक्षायामाह सोमेति । सोमादीनामष्टानां लोकपालानां वपुर्नृपोधारयते ।
वित्ताप्पत्योः कुबेरवरुणयोः ॥ ९६ ॥

लोकेशाधिष्ठितो राजा नास्याशौचं विधीयते ॥ शौचाशौचं हि मर्त्यानां लोकेशप्रभवाप्ययम्
॥ ९७ ॥

(१) मेधातिथिः । एतैर्लोकेशैरधिष्ठितो राजा नास्यशौचाशौचं । यतो मर्त्यानां मनुष्याणामभ्यामधिकारः । तयो-
श्च प्रभवाप्ययौ प्रवृत्तिनिवृत्ती लोकेशभ्यः सकाशान्मर्त्यानां नतु लोकेशानामेव ॥ ९७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नास्याशौचमसाधारणं लोकेशकर्मणि । शौचाशौचं हि मिलितं मर्त्यानामेव न देवानां
तेषां शौचमात्रत्वात् । लोकेशप्रभवोऽयमतो नास्याशौचमित्यर्थः । लोकेशप्रभवोऽप्यय इति तु क्वचित्पाठस्तत्र लोकेश
प्रभवे नृपेशौचाशौचयोरप्ययोभ्यपनयोऽतो यस्य शौचमाशौचं वाऽपनेतुमिच्छति तस्य तदपनयो भवतीत्यर्थः ॥ ९७ ॥

(३) कुल्लूकः । ततः किमत आह लोकेशेति । यतो लोकेशां शाक्रान्तो नृपतिरतो नास्याशौचमुपदिश्यते यस्माच्च-
नुष्याणां यच्चौचमशौचं वा तल्लोकेशेभ्यः प्रभवति विनश्यति च अप्ययो विनाशः । एतेनान्यदीयशौचाशौचोत्पादनवि-
नाशशक्तस्य लोकेश्वररूपस्य नृपतेः कुतः स्वकीयाशौचमिति पूर्वोक्ताशौचाभावस्तुतिः ॥ ९७ ॥

(४) राघवानन्दः । लोकेशाधिष्ठितः उक्तैः सोमाद्यैर्लोकपालैरधिष्ठितः स्वांशेनानुगृहीतः । लोकेशप्रभवाप्ययं
लोकेशेभ्यः प्रभवति तद्वाक्यत आशौचं भवति पुनस्तेभ्योत्ययः अभावोऽपि तद्वाक्यादेव यस्य शौचाशौचं विशेष्यं अस्यापि
लोकेशत्वादयमेव परकीयाशौचसंकोचे हेतुर्युक्तः । लोकेशप्रभवाप्ययावित्कचित्पाठस्तदा तयोः प्रवृत्तिनिवृत्ती लोकेशे-
भ्यः सकाशान्मर्त्यानां नतु लोकेशानामिति मेधातिथिः ॥ ९७ ॥

(५) नन्दनः । अयं राजालोकेशप्रभवो देवइत्यर्थः ॥ ९७ ॥

(६) रामचन्द्रः । राजा लोकेशाधिष्ठितः तस्मात्कारणादस्य राज्ञः आशौचं विद्यते । अयं राजा लोकेशेभ्यः ।
प्रभवो यस्य स लोकेशप्रभावः ॥ ९७ ॥

उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च ॥ सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथाऽऽशौचमिति स्थितिः ॥ ९८ ॥

(१) मेधातिथिः । येन शस्यते हन्यते तच्छस्त्रम् । अतः पाषाणलगुडादिनापि हतस्य यज्ञसंस्था निष्पद्यते नायु-
धैरेव खड्गादिभिः । आहूयन्ते यत्रेतरं तं स्पर्धमानायुद्धाय स आहवः संग्रामः । क्षत्रधर्मः अपराङ्मुखत्वं प्रजार्थं प्रभुप्रयु-
क्तं च सद्यः संतिष्ठते समाप्तिमेति । यज्ञो ज्योतिष्टोमादिस्तत्पुण्येन युज्यत इति यावदाशौचमपि सद्य एव । अत्र केचित् क्षत्र-
धर्महतस्येत्यनेन सद्य इत्यभिसंबध्नन्ति । ततश्च यः संग्रामभूमौ मृतः तस्यैवायं विधिर्नतु योन्येद्युस्ततो न्यत्र गतस्तदेतद्वि-
चार्यम् ॥ ९८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उद्यतैः शस्त्रैरिति कूटशस्त्रादिघातव्यवच्छेदः । आहवे नृपतिकर्तृके युद्धे क्षत्रधर्मेणापरा-
ङ्मुखत्वादिना हतस्य यज्ञः । पितृयज्ञोऽस्थिसंचयनदशाहपिण्डादिसहितः सद्यः संतिष्ठते समापनीयस्तदाशौचं च
सद्य इत्यर्थः ॥ ९८ ॥

(३) कुङ्कुमः । उद्यतैः शस्त्रैः खड्गादिभिर्नतु लगुडपाषाणादिभिरपराङ्मुखत्वादिक्षत्रियधर्मयुक्तसंग्रामे हतस्य तत्क्षणादेव ज्योतिष्टोमादियज्ञः संतिष्ठते समामिमेवेति तत्पुण्येन युज्यतइत्यर्थः । तथाशौचमपि तत्क्षणादेव समामिमेति इयंशास्त्रे मर्यादा ॥ ९८ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च उद्यदस्त्राद्यपराङ्मुखयुद्धहतस्य क्षत्रियादेर्ज्योतिष्टोमादियज्ञः समाप्तिगच्छतिआशौचंचेत्याह उद्यतैरिति । अस्त्रैरस्यतेधात्यतेयैर्लगुडाद्यैरपि आहवे संग्रामे । ज्योतिष्टोमादिपुण्येन युज्यतइतिमेधातिथिः । प्रकरणात्पुत्राद्याशौचाभावपरंवा ॥ ९८ ॥

(५) नन्दनः । संतिष्ठते समामिति । युद्धस्य यज्ञत्वसंस्तवः परधर्मत्वप्रतिपादनार्थः । तथाशौचमपिसद्यः संतिष्ठते ॥ ९८ ॥

(६) रामचन्द्रः । आहवे सङ्ग्रामे उद्यतैः शस्त्रैः कूटशस्त्रैः व्यवच्छेदरूपैः क्षत्रधर्महतस्य च सद्यःशौचं यज्ञः पितृयज्ञः सद्यःसंतिष्ठते भवति । तथा अशौचं सद्यः अशौचंशौचाभावः । इति स्थितिः मर्यादा ॥ ९८ ॥

विप्रः शुध्यत्यपःस्पृष्टा क्षत्रियोवाहनायुधम् ॥ वैश्यः प्रतोदं रश्मीन्वा र्याष्टि शूद्रः कृतक्रियः ॥ ९९ ॥

(१) मेधातिथिः । दशाहादीनांकल्पानांपरिपूर्णआशौचकालइदमपरं कर्तव्यम् । अपःस्पृष्टेतिस्नानमुपदिश्यतइति प्राग्व्याख्यातम् । कृतक्रियइतिक्षत्रियादिभिरभिसंबध्यते । क्रियाच स्नानमेव अन्यस्याश्रुतत्वात् । स्नानत्वावाहनादीनि स्पृशेयुः । अन्येतु श्राद्धक्रियामाहुः । श्राद्धादिकृत्वा सर्वएव विशुध्यति । तत्रापि ब्राह्मणउदकंहस्तेन स्पृष्ट्वा क्षत्रियादयस्तु वाहनादिभिः ॥ ९९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एकादशेन्हि प्रातःशुभ्यर्थं स्नात्वा जलस्पर्शखड्गाश्वादिस्पर्शप्रतोदरश्म्यन्यतरस्पर्शकाष्ठदण्डस्पर्शैः क्रमाच्छुद्धिरित्यर्थः । कृतक्रियोतीतदशाहकृत्यकालइत्यर्थः ॥ ९९ ॥

(३) कुङ्कुमः । अशौचान्ते कृतश्राद्धादिकृत्योब्राह्मणोऽपः स्पृष्टेति जलस्पर्शमात्रंदक्षिणहस्तेन कृत्वा शुद्धोभवति नतु संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्टैरर्द्धावशुभ्यतीतिवत् स्नात्वा वाहनादिस्पर्शसाहचर्यात् स्पृष्टेत्यस्य च सकृदुच्चरितस्यार्थभेदस्यान्याय्यत्वात्क्षत्रियोहस्त्यादिवाहनंखड्गाद्यस्त्रंच वैश्योबलीवर्दादितोदंलोहप्रोतायं योत्स्नंवा शूद्रोऽर्याष्टिवंशदण्डिकाम् ॥ ९९ ॥

(४) राघवानन्दः । कृतश्राद्धादिब्राह्मणादिचतुष्टयमाशौचान्तेऽबादिचतुर्णांस्पर्शनेनैव शुद्ध्येदित्युत्तराङ्गमाह विप्रइति । प्रतोदं सूक्ष्मलोहाग्रदण्डं । रश्मीन् योच्चरन्तुं । कृतक्रियः कृतोर्ध्वदेहिकाक्रिया येन सविप्रादिः । इतिर्देहिकशुद्धिः ॥ ९९ ॥

(५) नन्दनः । कृतक्रियः समापितसमस्ताशौचक्रियइत्यर्थः ॥ ९९ ॥

(६) रामचन्द्रः । सूतकान्ते कृतक्रियः कृतश्मश्रुवपनादि तैलेन पिण्याकेन सह कृतस्नानः विप्रःअपःस्पृष्ट्वा कृताचमनः शुध्यति । एवंकृतशौचोक्षत्रियः वाहनायुधंस्पृष्ट्वा शुध्यति । एवंकृतशौचोवैश्यः प्रतोदंरश्मीन्वा स्पृष्ट्वा शुध्यति । एवंशूद्रःकृतशौचोऽर्याष्टिस्पृष्ट्वाशुध्यति ॥ ९९ ॥

एतद्वोऽभिहितं शौचं सपिण्डेषु द्विजोत्तमाः ॥ असपिण्डेषु सर्वेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत ॥ १०० ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वोत्तरवस्तुपसंहारोपपत्युपग्यासार्थोपूर्वोत्तरावर्धश्लोको ॥ १०० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सपिण्डेषु मृतेषु तन्मरणनिमित्तकाशौचे सति शौचं । असपिण्डेषु प्रेतशुद्धिं प्रेतवह-
नादिनिमित्ताशौचशुद्धिम् ॥ १०० ॥

(३) कुड्डूकः । भोद्विजश्रेष्ठाएतच्छौचसपिण्डेषु प्रेतषु युष्माकमुक्तम् । इदानीमसपिण्डेषु प्रेतशुद्धिं शृणुत ॥ १०० ॥

(४) राघवानन्दः । वर्तिष्यमाणशुल्भ्यर्थवृत्तमुपसंहरति एतदिति त्रिभिः ॥ १०० ॥

असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत् ॥ विशुध्यति त्रिरात्रेण मातुरामांश्च बान्धवान् ॥ १०१ ॥

(१) मेधातिथिः । बन्धुवदिति धर्मेण न मूल्येन । मातुरामांश्च आप्तग्रहणं प्रत्यासन्नबान्धवमातुलादिग्रहणार्थ-
म् । अस्माच्चानुमीयते असपिण्डः असमानोदकोन सर्वसपिण्डादन्यः ॥ १०१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निर्हृत्य दाहाङ्गनिर्हरणान्यतमं दाहं वा कृत्वा । बन्धुवत् धनमगृहीत्वा ग्रहमात्रेण
तद्गृहवासे न चेत्तस्मिन्नित्येकाहे वक्ष्यमाणत्वात् । मातुश्च बान्धवान् चकारात्पितुश्चासगोत्रबन्धून् तथा आपानागन्तुना
संबन्धेन प्राप्तान्स्यात्तादीन् ॥ १०१ ॥

(३) कुड्डूकः । असपिण्डं ब्राह्मणं मृतं ब्राह्मणो बन्धुवत् स्नेहानुबन्धेन न त्वदृष्टबुद्धयेत्यर्थादुक्तम् । मातुश्चापान्सन्नि-
कृष्टान्तसहोदरभ्रातृभगिन्यादीन् बान्धवान् निर्हृत्य त्रिरात्रेण शुद्धो भवति ॥ १०१ ॥

(४) राघवानन्दः । धर्मेणैव मातुरामान् सोदरभ्रातृतत्पुत्रभगिन्यादीन् । मातुले पक्षिणीमित्यसन्निकृष्टे ॥ १०१ ॥

(५) नन्दनः । निर्हृत्य वह्नादिकं कृत्वा । बन्धुवदुपकारबुद्ध्या ॥ १०१ ॥

(६) रामचन्द्रः । मातुर्बान्धवान् मातुष्वस्त्रीयादीन् चकारात्पितुः पत्न्युः पुत्रादीन् तथा आपान् स्यात्तादीन् निर्ह-
त्य दग्ध्वा त्रिरात्रेण विशुध्यति ॥ १०१ ॥

यद्यन्नमत्ति तेषां तु दशाहेनैव शुध्यति ॥ अनदन्नन्नमन्हैव न चेत्तस्मिन्गृहे वसेत् ॥ १०२ ॥

(१) मेधातिथिः । अनश्नतो निवसतश्च पूर्वोक्तस्त्रिरात्रेणैव । अश्नतोऽनिवसतश्च एकाहेनैव । अश्नतः निवसतश्च
दशाहेनैव ॥ १०२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यद्यन्नमत्ति निर्हृत्य वा उभयथा दशाहेन । तदन्नाशनतद्गृहवासयोरकरणे निर्हरणा-
द्यकरणे चैकाहइति विवेकः ॥ १०२ ॥

(३) कुड्डूकः । निर्हारको यदि तेषां मृतस्य सपिण्डानामाशौचिनामन्नमश्नाति तदा तद्दशाहेनैव शुध्यति न त्रिरात्रे-
ण । अथ तेषामन्नमश्नाति गृहे च तेषां वसति निर्हरति च तदाहोरात्रेणैव शुध्यति । एवं च तद्गृहवासे सति तदन्ना-
भोजिनो निर्हारकस्य पूर्वोक्तत्रिरात्रम् ॥ १०२ ॥

(४) राघवानन्दः । स्नेहादिवत्त्वेत्वाह यदीति । अयमर्थः अन्नमश्नाति गृहे न वसति निर्हरति च तदाहोरात्रेण
शुध्यति । गृहे वसन्नान्नमश्नाति तदा पूर्वोक्तत्रिरात्रेण । गृहे वसन्नन्नमदन्द्दशाहेनेति ॥ १०२ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्नमनदन्नभक्षयन् अन्हैव विशुध्यति ॥ १०२ ॥

अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च ॥ स्नात्वा सचैलं स्पृष्ट्वाग्निं घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥ १०३ ॥

(१) मेधातिथिः । अनुगमनं बुद्धिपूर्वमनुव्रजनम् । यथाकथंचिदधिगमनेन च सचैलं स्नानम् । अग्निस्पर्शो घृतप्रा-
शनं च समुचितं शुद्धिहेतुः ॥ १०३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इच्छया न धनादिना । ज्ञातिं सपिण्डादिसंबन्धिनम् । अज्ञातिमसंबन्धिनम् घृतप्राशनं नान्त्वान्तरनिवर्तकम् । विशुद्ध्यति अनुगमदोषात् ॥ १०३ ॥

(३) कुल्लूकः । ज्ञातिमज्ञातिवा मृतमिच्छातोऽनुगम्य सचैल्लानं च कृत्वा ततोऽग्निस्पृष्ट्वा पश्चाद्दृतप्राशनं कृत्वा अनुगमननिमित्ताशौचाद्विशुद्ध्यति ॥ १०३ ॥

(४) राघवानन्दः । ज्ञातिमिवाज्ञातिमनुगम्य बुद्धिपूर्वं अनुगमननिमित्तस्यौपाधिकस्याशौचस्य स्नानादित्रयंप्राप्य श्रित्तं नाधिकाशौचे मानमस्तीति भावः । अनुगमननिमित्ताद्वाशौचात् अग्न्यादित्रयेण सर्वे शुध्येयुः शुद्धेः कर्तृणि देहिनामिति वक्ष्यमाणत्वात् । ज्ञातिपक्षे उक्तमाशौचमस्त्येव ॥ १०३ ॥

(५) नन्दनः । अनुगम्यनीयमानेन शवेन सहगत्वा ॥ १०३ ॥

न विप्रं त्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण नाययेत् ॥ अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंस्पर्शदूषिता ॥ १०४ ॥

(१) मेधातिथिः । ननाययेन्ननिर्हारयेत् । त्वेषु तिष्ठत्सु समानजातीयेषु सत्सु । आहुतिग्रहणान्न दाहयेदिति । विप्रग्रहणमतन्त्रं । क्षत्रियवैश्ययोरपि शूद्रसंस्पर्शोदोषएवेत्यर्थवादात्प्रतिषेधः प्रतीयते ॥ १०४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । त्वेषु विप्रेषु । क्षत्रियादेस्तु त्वेषु तिष्ठत्सुपि शूद्रेण नयने दोषाभावः । त्वेषु तिष्ठत्स्विति वचनात्त्वेष्वसत्सु शूद्रेणापि निर्हार्यो विप्रः । अस्वर्ग्या स्वर्ग्यानभवतीत्यर्थः । यजमानो हि पितृमेधे हविस्तस्य शूद्रेण संपर्कात्तेन हविषा कृताहुतिर्दुष्यतीति तात्पर्यम् । अत्र शौचमधिकृत्य स्मृत्यन्तरीयशुद्धिप्रकारोऽस्माभिः शुद्धिदीपिका यांप्रपञ्चितइति तेषामेतदविरोधेन व्यापारस्तत्रैवानुसंधेयः ॥ १०४ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणादिमृतसमानजातीयेषु स्थितेषु न शूद्रेण पुत्रादिर्निर्हारयेत् यस्मात्सा शरीराहुतिः शूद्रस्पर्शदुष्टासती मृतस्य स्वर्गाय हिता न भवति मृतं स्वर्गं न प्रापयतीत्यर्थः । त्वेषु तिष्ठत्स्वित्यभिधानाद्ब्राह्मणाभावे क्षत्रियेण तदभावे वैश्येन तदभावे शूद्रेणाऽपि निर्हारयेदित्युक्तम् । यथा पूर्वश्रेष्ठत्वादस्वर्ग्यदोषश्च ब्राह्मणादिसद्भावे शूद्रेण निर्हरणे सति बोद्धव्यः । गोविन्दराजस्तु दोषनिर्देशात्त्वेषु तिष्ठत्स्वित्यविवक्षितमित्याह तदयुक्तम् । संभवदर्थपदद्वयोच्चारणवैयर्थ्यप्रसङ्गान्न दुपक्रमावगतेश्च वेदोदितन्यायनानुबोध्यत्वादुणभूतशुद्धयनुरोधेन प्रधानभूतायाजातेरुपेक्षायांगुणलोपेनऽमुख्यस्येत्यपि न्यायो बाध्यते तस्मात्त्वेषु तिष्ठत्स्वित्यपि पदद्वितयं विवक्षितम् । इमां गोविन्दराजस्य राजाज्ञानाद्रियामहे ॥ १०४ ॥

(४) राघवानन्दः । त्वेषु ज्ञातिषु सत्सु सजातीयेषु वा नहापयेत् न निर्हरेत् । सादेहाहुतिः स्वर्गार्हानभवतीत्यर्थवादः न त्वाहुतिर्नकार्या प्रधानलोपापत्तेः प्रकरणबाधश्चातो वक्ष्यति संकरजातिनिर्णये अबान्धवं शवंचैव निर्हरेयुरिति स्थिति रिति ॥ १०४ ॥

(५) नन्दनः । त्वेषु सजातीयेषु । तिष्ठत्सु तत्र विद्यमानेषु । आहुतिः शवाहुतिः ॥ १०४ ॥

(६) रामचन्द्रः । शूद्रसंस्पर्शगर्हिता दूषिता । यथा यमः ॥ प्रस्थानयति शूद्रोऽग्निं तृणकाष्ठहवींषि च । मृतत्वं हि सदा तस्य सचाधर्मेण लिप्यते ॥ १०४ ॥

ज्ञानंतपोग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम् ॥ वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तृणि देहिनाम् ॥ १०५ ॥

(१) मेधातिथिः । ज्ञानादीनि कालशुद्धेः दृष्टान्ततयोपादीयन्ते । तथैतानि स्वविषये शुद्धिकारणानि एवं कालोपि

नात्रातिशङ्कितव्यः । एतेषांयस्य यत्र शुद्धिहेतुत्वं तदिहैव प्रकरणे तेषांवक्ष्यते । अन्येषांतत्रतत्रदेशे । तत्र ज्ञानमाध्यात्मिकं साङ्ख्ययोगोपदिष्टं तेनहि अविद्यावासनापासनेन रागादिक्षयेनिर्दोषज्ञानमुपैति । वक्ष्यतिच बुद्धिज्ञानेन शुध्यतीति । तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादि तत्पातकोपपातकानांशुद्धिहेतुः । अग्निर्धृन्मयादिषु पुनःपाकेनेति । आहारः पवित्राणां पयोमूलानां सोपि तपइव शोधयति । मृद्धारिणांशुद्धिहेतुताप्रसिद्धैव । मनसोवक्ष्यते मनःसन्धेनेति । उपाञ्जनं मठादेःसुधागोमयादिना संमार्जनानुलेपनै । वायुश्चण्डालादिस्पृष्टे तृणकाष्ठादौ रथ्यापतिते । कर्माणि संध्योपासनादीनि । उक्तंच ॥ पूर्वोसंध्याजपंस्तिष्ठन्नैशमेनोव्यपोहतीति । एतच्च द्वितीये व्याख्यातम् । सत्यपि तपसःकर्मत्वे प्राधान्यख्यापनार्थपृथगुपदेशः प्रायेण च शास्त्रेभेदेनैव कर्मणस्तपोनिर्दिश्यते कर्मनिष्ठास्तपोनिष्ठाइति ॥ १०५ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अथ बाह्यद्रव्यशरीरोपघातशुद्धिप्रकारानभिधत्सुः सामान्यतः शोधनान्याह ज्ञानमिति । ज्ञानं ब्रह्मज्ञानं सकलपापक्षयहेतुत्वाच्छोधकम् । तपः प्राणायामः । प्राणायामः परंतपइतिवचनात् । अग्निस्तैजसादीनामिव देहिनामूर्धाग्निः । आहारोब्रह्मसुवर्चलापानादिर्दुष्टजलादिपाने । मृद्दुदशौचादौमनःक्षमाख्यनियमयुक्तंजीवस्य वारिक्षालनादिना । उपाञ्जनं सजातीयेन लेपोभूम्यादेः । वायुः सर्वायुष्ट्वेन जीवपावनः । कर्मचान्द्रायणव्रात्यस्तोमादि । अर्कोदर्शनादिना अस्थिरस्पर्शादेः । कालोदशाहादिः । आशौचिनांदेहिनांदाहप्रभृति ॥ १०५ ॥

(३) कुच्छूकः । ज्ञानादीनि शुद्धेः साधनानि भवन्ति । तत्रब्रह्मज्ञानंबुद्धिरूपान्तःकरणशुद्धेः साधनम् । यथा वक्ष्यति । बुद्धिज्ञानेन शुध्यति तपोयथा तपसा वेदवित्तमाः । अग्निर्यथा पुनः पाकेन मृन्मयम् । आहारोयथा हविष्येण यवाग्वा इति । मृद्धारिणी यथा मृद्वार्यादेयमर्थवदिति । मनोयथा मनःपूतंसमाचरेदिति । संकल्पविकल्पात्मकंमनोनिश्चयात्मिका बुद्धिरिति मनोबुद्धयोर्भेदः । उपाञ्जनमुपलेपनं यथा मार्जनोपाञ्जनैर्वैश्वम् । कर्मयथायजेद्वाऽश्वमेधेनेत्यादि । अर्कोयथा गामालभ्यार्कमीक्ष्यवा । कालोयथा शुभ्येद्विप्रोदशाहेन वायोस्तु शुद्धिहेतुत्वं मनुनानुक्तमपिपन्थानश्च विशुध्यन्ति सोमसूर्याशुमारुतैरिति विष्णवादावुक्तं ग्राह्यम् ॥ १०५ ॥

(४) राघवानन्दः । दशाहादेः शुद्धिहेतुतावत्ज्ञानोदरप्याह ज्ञानमिति । ज्ञानंब्रह्मज्ञानं । असौवावलोकोगौतमाभिरित्यादिपञ्चाग्निविद्यादिज्ञानंच नहि ज्ञानेन सदृशंपवित्रमित्युक्तेः । तपश्चान्द्रायणादि आहारोहविष्येण यवाग्वा वा । मनोमनःपूतंसमाचरेत् । वायुः प्राणायामः बाह्यवायुश्च । वारि जलं । उपाञ्जनं उपलेपनं । कर्म तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेनयजतइत्यादि । कालः शुभ्येद्विप्रोदशाहेनेत्यादिः । प्रकरणात्कालवदेतान्यपि देहिनांशुद्धिहेतवइतिवा ॥ १०५ ॥

(५) नन्दनः । शुद्धिहेतूनाह ज्ञानमिति । ज्ञानमध्यात्मज्ञानंतच्छुद्धिकारणं शरीरात्मविवेकेन । तपोऽनशनादिकंसच्छरीरगतदोषनिर्हारेण । अग्निःस्पर्शनादिना । आहारः मन्त्रगव्यादिसत्त्वशोधनेन । मृद्धारणादिना । मनोदेवताभ्यानेन वारि स्नानादिना । उपाञ्जनं गोमयादिकं तदुपलेपनं । वायुश्चण्डालादिस्पृष्टतृणकाष्ठादीनांस्पर्शेन । कर्मयज्ञादिकंतद्देवताप्रीणनेन । अर्ककोऽशुभिर्वस्तुशोषणेन । कालएकरात्रपक्षिण्यादिः सदोषपावनेन ॥ १०५ ॥

(६) रामचन्द्रः । ज्ञानं आध्यात्मिकं । तपः प्राणायामादि । आहारः जलपानादिः । देहिनामेतानि शुद्धेःकर्तृणीत्यर्थः ॥ १०५ ॥

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परंस्मृतम् ॥ योऽर्थे शुचिर्हि सशुचिर्न मृद्धारिशुचिःशुचिः ॥ १०६ ॥

(१) मेघातिथिः । कोस्यप्रसंगः । यथामृद्धारिशुचाविलम्बंरुतोत्सर्गःप्रवर्तते तथा प्रमादस्खलितेपरद्रव्यापहरणादाविलम्बितंप्रायश्चित्तंशुद्धये समाश्रयणीम् ॥ १०६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अर्थशौचं शुद्धोपायागतार्थत्वम् ॥ १०६ ॥

(३) कुल्लूकः । सर्वेषामृद्धारिनिमित्तदेहशौचमनःशौचादीनामध्यादर्थशौचमन्यायेन परधनहरणपरीहारेण यद्धने-
हा तत्परंप्रकष्टमन्वादिभिः स्मृतम् । यस्माद्योऽर्थे शुद्धः सशुद्धोभवति । यः पुनर्धृद्धारिशुचिरर्थे चाशुद्धः सोऽशुद्धएव
॥ १०६ ॥

(४) राघवानन्दः । एकादशाहादौवक्ष्यमाणंप्रासंगिकमाह सर्वेषामिति । अर्थशुचिः परद्रव्याहरणं कर्मविवक्षितं-
अथवा अर्थेन दत्तेनैवाशौचशुद्धिरत आह यदिति अर्थे विषये शुचिरूपणोदातेतियावत् अतएव वक्ष्यति दानेनाकार्यकारिण
इति दानेन वधनिर्णयकमित्यादि च ॥ १०६ ॥

(५) नन्दनः । अर्थशौचमान्तरेभ्यः श्रेष्ठमित्याह सर्वेषामिति ॥ १०६ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वेषां शौचानामध्ये अर्थशौचं मानसं शौचमिन्द्रियनिग्रहादिकं परं उत्कृष्टं स्मृतम् । यः क-
श्चन पदार्थः अर्थे मानसिके शौचे इन्द्रियनिग्रहादौ शुचिः स एव शुचिः । मृद्धारिभ्यां शुचिः शुचिर्न किंतु एतादृशः स्वय-
मेव शुचिः ॥ १०६ ॥

क्षान्त्या शुध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः ॥ प्रच्छन्नपापाजप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥ १०७ ॥

(१) मेधातिथिः । एकादशे वक्ष्यति । ये विद्वांसस्ते क्षान्त्यैव शुध्यन्ति । तेहि द्वेषेर्ष्यामत्सरैर्नोपहन्यन्ते ततो-
दुष्कृतेषु प्रवृत्तेषु नित्यशुद्धाभवन्ति । क्षान्तिर्नाम चित्तधर्मः सर्वत्र साम्यम् । दानस्याप्यकार्यकृच्छुद्धिरुक्ता दानेन
वधनिर्णयकमित्यादिना प्रच्छन्नपापानामपि रहस्याधिकारे जपउक्त एव । तपोवेदविदां वेदाभ्यासएव ज्ञानं च । यथोक्तं
ब्राह्मणस्य तपोज्ञानमिति । कल्लादि तु सर्वेषां शुद्धिहेतु न वेदविदामेव ॥ १०७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्षान्त्या क्लेशसहत्वेन विद्वांसोऽज्ञात्वाऽकार्यकारिणः । अकार्यकारिणः षण्ढवधादिना
दानापनेयपापकारिणो दानेन वक्ष्यमाणसीमादि दानेन । प्रच्छन्नपापाः परैरज्ञातपापचरणाः जप्येन रहस्यप्रायश्चित्तरूपेण ।
तपसा प्राणायामेन वेदवित्तमाः । उपनिषदर्थीभूतात्मविदः वेदो वेदार्थः । एतेन यतिनां सर्वविषये प्राणायामाएव प्राय-
श्चित्तं गुरुलघ्वपेक्षया तु भूयस्त्वालपत्वे इति ग्राह्यम् ॥ १०७ ॥

(३) कुल्लूकः । परेणापकारे कृते तस्मिन्प्रत्यपकारबुद्धयनुत्पत्तिरूपया पण्डिताः शुध्यन्ति । यथा च वक्ष्यति म-
हायज्ञक्रियाः क्षमा नाशयंत्याशुपापानीति । अकार्यकारिणो दानेन । यथा वक्ष्यति सर्वस्वं वा वेदविदे ब्राह्मणायेति ।
अप्रख्यातपापाजप्येन यथा वक्ष्यति जपंस्तूपवसेद्दिनमिति वेदवित्तमाः वेदार्थचान्द्रायणादितपोविदः तपसेत्येकादशा-
भ्याये वक्ष्यमाणेन ॥ १०७ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच क्षान्त्येति । तितिक्षया । प्रच्छन्नपापामिथुनातिरिक्तजनाविदितपापाः मनोजनितपा-
पावा जप्येन गायत्र्यादेः । तपसा कल्लूचान्द्रायणादिना वेदान्ताभ्यासेन वा ॥ १०७ ॥

(५) नन्दनः । क्षान्त्या द्वन्द्वसहिष्णुतया । विद्वांसोऽध्यात्मविदः । तपसा स्वाध्यायेन तपोहि स्वाध्याय इति स्वाध्या-
यप्रवचने । तद्धि तपस्तद्धितपः इति श्रुतेः ॥ १०७ ॥

(६) रामचन्द्रः । परमार्थशुचित्वमाह क्षान्त्येति । विद्वान् क्षान्त्या कायक्लेशेन शुध्यति । अकार्यकारिणः य-
ज्ञाहितकारिणः दानेन बन्धनादिना शुध्यन्ति । प्रच्छन्नपापानां अप्रख्यातदोषाणां अधमर्षणादिसूत्रजाप्येन शुद्धिः ।
वेदवित्तमोद्विजः तपसा कल्लूचान्द्रायणादिना शुध्यति ॥ १०७ ॥

मृत्तोयैः शुध्यते शोध्यं नदी वेगेन शुध्यति ॥ रजसा स्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमः ॥ १०८ ॥

(१) मेधातिथिः । नद्यःपारावारे क्षीणोदकायाः अशुध्युपहते तस्याएव वेगागतायाः कूलंकषायाः उदकं वेगेन शुध्यति । यथान्यस्याभूमेः भूमिः शुध्यति पञ्चभिरिति शुद्धये प्रतीतिर्नैवं नदीतीरेषु । अथवा वेगवत्या अशुचिप्रवाहसंसर्गेणाशुच्याशङ्कायामिदमुच्यते नदीवेगेनेति । नैवं मन्तव्यं इतश्चामुतश्चाशुचिप्रवाहैः संस्पृष्टा न शुध्यति । शारीरेव्यभिचारेऽनुपलभ्यमाने परपुरुषरूपगुणानुचिन्तनेन मनोदुष्टा रजसा ऋतौ शोणितेन सूतेन शुध्यति स्त्री । संन्यासः षष्ठे वक्ष्यते तेन द्विजोत्तमाः शुद्धा भवन्ति । न कथंचिन्मानसापचारे यदविदुषाचिन्तितसूक्ष्मप्राणिवधादितदेषामपनीयते ॥ १०८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शोध्यं बहिर्द्रव्यं देहश्च । नदी ग्राममलवहा । मनोदुष्टा मनसा पुरुषान्तररक्ता रजसा रजोन्तरप्रवृत्त्या । संन्यासेन पारिव्राज्येन द्विजोत्तमो विप्रः । ॥ १०८ ॥

(३) कुल्लूकः । मलाद्युपहतं शोधनीयं मृज्जलैः शोध्यते । नदीप्रवाहश्च श्लेष्माद्यशुचिदूषितो वेगेन शुध्यति । स्त्री च परपुरुषमैथुनसंकल्पादिदूषितमानसा प्रतिमासार्तवेन तस्मात्पापाच्छुद्धा भवति । ब्राह्मणश्च संन्यासेन षष्ठाध्यायाभिधेयेन पापाच्छुध्यति ॥ १०८ ॥

(४) राघवानन्दः । शोध्यं मलाद्युपेतं । नदी श्लेष्माद्यशुचिदूषिता । मनोदुष्टा परपुरुषमैथुनसंकल्पदुष्टा रजसा पुनर्कृतयोगेन । द्विजोत्तमो ब्राह्मणः संन्यासमुपक्रम्य ब्राह्मणः पुत्रैषणायाश्च स ब्राह्मणः केन स्यादिति श्रुतेः पारिव्राज्यदर्शनाच्चेति भाष्योक्तेश्च संन्यास एवासाधारणः संस्कारो विप्रस्येति ॥ १०८ ॥

(५) नन्दनः । शोध्यं शरीरलघ्नं मलम् । मनोदुष्टा मनसा भर्तारिव्यतिक्रान्ता । संन्यासेन सङ्गत्यागेन ॥ १०८ ॥

(६) रामचन्द्रः । शोध्यं वस्तु अमैथ्योपहतं मृत्तोयैः शुध्यति । नदी वेगेन वर्षाम्बुप्रवाहवेगेन । मनोदुष्टा मनसि व्यभिचारेण स्त्री रजोदर्शनेन शुध्यति । संन्यासः प्रव्रज्या द्विजन्मनां मानसोपचारे शुद्धिकृत् ॥ १०८ ॥

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ॥ विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिज्ञानेन

शुध्यति ॥ १०९ ॥

(१) मेधातिथिः । इयानैवाधिकारी कर्ता च पुरुषो यदान्तरात्मा । अन्तःकरणं मनः । बुद्धिः । शरीरं भोगायतनं इन्द्रियाणां भौतिकत्वान्पृथक्त्वम् । अत्र किंचित्केनचिच्छोध्यते । कालेन तु सर्वमिति स्तुतिपरम् । गात्राणीत्यवयवैरवयविनं लक्षयति । अद्भिः स्नानेन शरीरं शुध्यति । मनस्तु सदसदात्मकं तस्यासत्संकल्पादशुद्धिः सत्येन साधुसंकल्पेन निवर्तते । पूर्वमनसः शुद्धिहेतुवमुक्तं तदध्याहारेण नेदं वाचो मनः शुद्धिकरणं । तथा च श्रुतिः । मनसा वा इषिता वाग्वदति यांस्तान्यमना वाचं वदत्यसुर्यावैसा वागं देवजुष्टेति । यावाऽनुपभुक्तजन्मान्तरकृता शुभकर्मजा । एकैकदुष्कृतजा वा बुद्धिरात्मनो यावत्सहजा विद्यात्मका भेदग्रहणलक्षणा गुणात्मविवेकाभावलक्षणा वा धनपुत्राद्यभिषङ्गरूपा नृणातिशयहेतुः सा तु विद्यया साङ्ग्यवेदान्ताभ्यासजन्यया । तपसा च कल्लादिनाभ्युपेतः शुध्यति । भूतात्म भूतशब्दस्तत्त्ववचनः । पारमार्थिको यमात्माऽनुपचिताहं प्रत्ययवन्धीनतु भूतमय आत्मा शरीरात्मेति मन्तव्यम् । बुद्धिरविद्यमानार्थाकारदर्शनीयात्त्वमादिष्वसत्सिद्धान्तप्रकल्पितार्थाभिनिवेशतया ब्रह्मात्मार्थाकारयोरसद्भेदाभ्यवसायेन दुष्यन्ती ज्ञानेन त्वप्रकाशाश्रयया प्रमाणव्युत्पत्त्या शुध्य-

ति । बुध्यर्थयोर्भेदादाकारवत्त्वादर्थस्य विषयाकारेण च परिणामासिद्धिर्निर्विकारत्वनिश्चयाद्बुद्धिशुद्धिः पूर्वत्रचविद्यावेदार्थवेदनमेव । तस्याश्चेतुत्वं यथैधांस्तेजसा बन्धिरिति विदिति । एवंशुद्धः पूतो ब्रह्मलोकमवामोतीत्येषा सा चतुर्विधा शुद्धिः । यथैताशुद्धयः परपुरुषार्थहेतवस्तज्जननादिव्ययमिति प्रशंसा । ॥ १०९ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अद्भिः स्नानेन शुद्ध्यन्ति कर्माधिकारं लभन्ते । मनः शुध्यति मनसा यत्पापं कृतं तत्सत्याभिधानेन नश्यति । विद्या वैश्वानराद्युपासना तपोऽनाशकं भूतात्मा स्थूलः सूक्ष्मश्च देहः बुद्धिः क्षेत्रईश्वरज्ञानेन ॥ १०९ ॥

(३) कुड्मूकः । त्वेदाद्युपहतान्यङ्गानि जलेन क्षालितानि शुद्ध्यन्ति । मनश्च निषिद्धचिन्तादिना दूषितं सत्याभिधानेन शुध्यति । भूतात्मा सूक्ष्मादिलिङ्गशरीरावच्छिन्नो जीवात्मा ब्रह्मविद्यया पापक्षयहेतुतया तपसा च शुद्धो भवति । शुद्धः परमात्मरूपेणावतिष्ठते । बुद्धिश्च विपर्ययज्ञानोपहता यथार्थविषयज्ञानेन शुध्यति ॥ १०९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच अद्भिरिति । गात्राणिकरचरणादीनि । मनः निषिद्धचिन्ताद्यशुद्धं सत्येन सत्याभिधानेन । सर्वदा प्रसन्नमनाव्यवहारे न मिथ्याभाषेतेति । विद्यातपोभ्यां भूतात्मा सचिक्कोदेहः स्थूलोहमित्यभिमानात् शुद्ध्यति विद्या आत्मानात्मविवेकधीः तपश्चान्द्रायणादि विपर्ययज्ञानोपहता बुद्धिर्यथार्थज्ञानेन । वस्तुतस्तु । विद्या सगुणोपासना तपो नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तकर्म ताभ्यां विशुद्धो भूतात्मा ब्रह्मसाक्षात्कारार्हः । ज्ञानेन बुद्धिर्जीवोपाधिरन्तःकरणं शुद्ध्यति । तत्त्वपदार्थद्वयनिश्चयवती तदुपहितचैतन्यस्य ब्रह्ममात्रत्वे तस्या अपि तन्मात्रताशुद्धिरात्यन्तिकी नान्या । तपसा कल्मषं हन्ति विद्यां चाविद्यां च यस्तद्ब्रह्मोभयंसह अविद्यया मृत्युंतीर्त्वा विद्यया मृतमश्नुत इति श्रुतेः एवं च सगुणब्रह्मविदोऽपि न श्राद्धादि । नाशौचं च तथा च श्रुतिः यद्यस्मिच्छव्यं कुर्वन्ति यदुच नर्ते चिषमति संभवतीति अस्यार्थः कं ब्रह्मस्वब्रह्मेत्येवं विद्यस्मिन्पुरुषे यदि शव्यं कुर्वन्ति शवसंबन्धिदाहश्राद्धादिकं कर्म कुर्वन्ति यदुच नर्यादिवान उभयथा अर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं गच्छन्तीत्यनेनाप्यविदुषस्तदकरणे प्रेतत्वमस्तीति भावः । इति प्रेतशुद्धिः ॥ १०९ ॥

(५) नन्दनः । गात्राणि शरीरमिति यावत् । रजस्तमोदूषितमनः सत्त्वेन सत्त्वगुणेन शुध्यति । विद्यातपोभ्यां ज्ञानस्वाध्यायाभ्याम् । भूतात्मा चैतः । बुद्धिरध्यवसायनिमित्तमन्तःकरणम् । ज्ञानेन शास्त्रार्थज्ञानेन ॥ १०९ ॥

(६) रामचन्द्रः । गात्राणि अङ्गानि हस्तपादादीनि अद्भिः प्रक्षालनेन शुद्ध्यन्ति । मनः सत्याचारेण शुध्यति । भूतात्मा विद्यातपोभ्यां शुध्यति । तद्यथा भूलशब्देन तद्विकारभूतो देहेन्द्रियसंघोलक्ष्यते तत्र स्थूलोऽहं कशोऽहमित्येवं तदभिमानित्वेन योयमात्मा वर्तते स भूतात्मा तस्य तपोविधेः शुद्धिर्निमित्ते । तपः ब्रह्मजिज्ञासुश्चेति पञ्चकोशव्यतिरेकप्रतिपादानपरं वाक्यं । विद्याशब्देन चोपनिषदस्थूलमनण्वद्भ्रमसंगो ह्ययमात्मेत्यात्मपदार्थनिरूपकवाक्यजन्यं ज्ञानं विद्या वैश्वानराद्युपासना वा तपः अनशनादि । भूतात्मा जीवात्मा । बुद्धिः सूक्ष्मदेहः । ज्ञानेन आत्मज्ञानेन शुध्यति शरीरादिव्यतिरिक्तसंशयविपर्ययरूपत्वेन स्वरूपज्ञानं विशोधनम् ॥ १०९ ॥

एष शौचस्य बः प्रोक्तः शारीरस्य विनिर्णयः ॥ नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः शृणुत निर्णयम् ॥ ११० ॥

(१) मेधातिथिः । नानाविधानां द्रव्याणां बहुप्रकाराणां तैजसमार्तिकद्रवकठिनव्यस्तसंहतकार्यद्रव्यादिभेदैर्द्रव्याणामुपकरणभूतानां पूर्वस्याः शुद्धेर्भेदमेतेनाह । तत्र बुद्ध्यात्मनः प्रधानता शुद्धिः । द्रव्याणां तु तत्संपरिग्रहात् । इहतु विपरीतं शृणुत निर्णयं पूर्वार्थस्यासांकार्यार्थः श्लोकः ॥ ११० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शारीरस्य बाह्यद्रव्यविषयस्येत्यपि । द्रव्याणां बाह्यानां नानाविधानां प्रकारविशेषोपाधिभिन्नानांतत्तदुपाधिभेदनियतायाः शुद्धेः ॥ ११० ॥

(३) कुङ्कुकः । अयं शरीरसंबन्धिनः शौचस्य युष्माकं निश्चय उक्तः । इदानीं नानाप्रकारद्रव्याणां येन यच्छुध्यति तस्य निर्णयं शृणुत ॥ ११० ॥

(४) राघवानन्दः । तामुपसंहरन् द्रव्यशुद्धिप्रतिजानीते एवेति । शारीरस्य देहद्रव्यसंबन्धिनः ॥ ११० ॥

(६) रामचन्द्रः । नानाविधानां पात्राणां तथा द्रव्याणां शुद्धेर्निर्णयं शृणुत ॥ ११० ॥

तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च ॥ भस्मनाद्भिर्मृदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥ १११ ॥

(१) मेधातिथिः । तैजसान्युच्यन्ते यान्यग्निसंयोगाद्भवी भवन्ति रजतसुवर्णताम्रायसत्रपुसीसादीनि । मणयः स्फटिककल्पाः अश्मापाषाणः तद्विकारः पात्रमश्ममयम् । सर्वस्येति पादपूरणार्थं । पर्वतग्राव्णो नदीस्थस्य चेत्यालंबनम् । भस्मनपुष्पकार्यत्वात् नृद्रस्मनी विकल्प्येते । आपः समुच्चीयन्ते । किंपुनरत्र कार्यलेपगन्धापमार्जनं । उक्तं लेपगन्धापकर्षणे शौचममेध्यस्य । इहापि यावन्नापैत्यमेध्याक्तादिति तत्र रूपतोऽपारुष्यसमानं नृद्रस्मनोः स्नेहान्मिक्तकार्यभेदेशुद्धिः । अशुचिः शुचित्वापादनप्रत्यवायापनयेन संव्यवहारयोग्यता । यद्येवमशुद्धिर्वाच्या इदमनेन संपृक्तमशुचीति । ननु लौकिकाः पदार्थास्तत्र लोका एव ज्ञास्यन्ते । नैकसामान्यमात्रं लोकाज्जायते । यज्जुगुप्सितमूत्रपुरीषशोणितसंसर्गेण तादृशलोके शुचीत्याह । यद्यो ग्यंस्पर्शनादिक्रियास्तु तदशुचि । कथंच तस्यायोग्यतेत्येतच्छास्त्रादेव विवेक्तव्यम् । किंच परद्रव्यादौ योनः स्खलति सशुचिरुच्यते । अतोऽनया पदार्थप्रसिध्येह किंचित्सिध्यति अपहृतमशुचीति सिद्धेऽपि इदमनेनापहन्यतइति । नान्तरेण शास्त्रविशेषः सिध्यति कथंपुनः शास्त्रात्पदार्थविशेषावसायो यावता कर्तव्यतापरत्वेन शास्त्रप्रमाणं न पदार्थप्रसिद्धौ पाणिनिवत् । वेदमूलत्वाभ्युपगमान्मन्वादिस्मृतीनामुच्यते । अनेन द्रव्येण यदुष्टं तेन न व्यवहर्तव्यमित्यस्यैव विध्यनुमानम् । यत्संसर्गेण व्यवहारप्रतिषेधः स उपघातहेतुरित्यवगमो न विरुध्यते । एवं शुद्धावपि यदुपहृतं द्रव्यं तेन यथाविहितं कृतप्रक्षालनादिक्रियेण व्यवहर्तव्यमिति शक्यते विधिमूलताप्रतिपत्तुम् । न च शुद्धिः कर्तव्येति विध्यर्थः तथा सत्यकुर्वन्प्रत्यवेयात् । किंतु दृष्टार्थं व्यवहारेयेन केचित्पात्रेण शुचिना न्येन वा कर्तव्येति त्वात्प्राप्ते नियमः शास्त्रीयः । इत्थं भूतेन व्यवहर्तव्यं सत्यर्थित्वे नानित्थं भूतेन । ननु च नियमपक्षेभ्युदयार्थिनोधिकारः अन्यस्य तु कामप्रसंगः । यथा कुसाधुत्वचिन्तायां वाचकत्वाविशेषेऽपि नियमः पुण्यपापयोरिति । सत्यं । यद्यशुद्धे पात्रस्य प्रतिषेधो न स्यात् । प्रतिषेधेतु सति कुतोऽकृतशुद्धिना व्यवहारः । शुद्धिविधिस्तु प्रतिप्रसवमात्रम् । प्रतिप्रसवे कुतोभ्युदयः केवलं प्रतिषेधातिक्रमो न भवति । भवतु वा पदार्थाधिगमपरैव स्मृतिरित्यं साध्वसाधुविवेकवत्त्वल्पस्मृतिवच्चयत्तु कार्यमूलत्वं मन्वादिवाक्यानामिति । केनैतदुक्तं यत्र यादृश्यं मूलत्वेन शक्यते वगन्तुं तत्र तदेवाभ्युपगम्यते । अष्टकादौ कार्यरूपे तादृशमेव वाक्यं मूलसिद्धार्थमेव पदार्थव्यवस्थाया मिदं प्रथमता व्यवहारमूलेति न कदाचित्कतिः । इहतु न कथंचिद्यवहारमूलं संभवति वैदिकमन्त्रसाध्यायांच शुद्धौ का व्यवहारमूलता शक्या विधिश्चानर्थक्यः स्यात् । ननु च पाणिनेरपि विधिरस्ति साधुभिर्भाषितव्यं नासाधुभिरिति नैषा पाणिनेः स्मृतिः । सा ह्येतावतिपर्यवसिता साधुरयमयनेति एतत्तु धर्मसूत्रकारिणा यद्यप्यस्ति । अभिधानसाराच्चैनन्निपुणतोऽवगन्तव्यम् । ननु तत्स्मृतावपि विधिः श्रूयते । दायादा एव परिभजेरन् चतुरोऽंशान् हरेज्ज्येष्ठः ज्येष्ठ एव तु गृण्हीयादिति । किं विध्यर्थ एव लिङ्गान्तरेऽपैषादौ स्मर्यते । पदार्थाविधिरुपाविधिषोऽपैषादयः सर्वत्र प्रवर्तनाप्रतिपत्तेरिति चेत् । हेतुहेतुमतोराशिषि प्राप्तकालादिषु का प्रवर्तना न च ग्रहणं विधेयः अर्थितया प्राप्तत्वात् । स्वपरांशयोरविशिष्टायामर्थ-

तायांनियमार्थोविधिरितिचेत् अदृष्टकल्पेन विहितांशातिरेकेण विधिनियमानुपपत्तेः । प्रतिषेधाख्यापरिसंख्येतिचेत् यु-
क्तमेतत् विभागकालएव यः कश्चिदधिकमंशंभ्रातृभिरनुज्ञातमाददीत सप्रत्यवेयात्सत्यामप्यनुज्ञायामेकवत्त्वांशः । नच
स्वत्वज्ञाप्येतग्रहणविधौहि स्वत्वापत्तिरुपात्ता । तस्य यदन्यत्तदस्वमिति विज्ञायते प्रतिषेधः । पुनस्तदतिक्रमेणापि परिग्रहे
स्यादेव त्वाम्यं अतश्च चौर्यादिनापीष्यते न तदा इदमस्य स्वमिदंनेति परिग्रहादते निश्चीयते तस्माद्विधिनियमपरिसंख्या-
नामसंभवादियत्यंशेऽयंस्वामीयत्यंशेऽयमिति । एतावान्विभागार्थः । अतोयमर्थान्तरेलिङ्ग भजेरन्निति । प्राप्तकालतायां
हरेयुरित्यादिषु लौकिकप्रवृत्त्यनुवादोयथा क्षुधितोभुञ्जीत योगक्षेमार्थमीश्वरमभिगच्छेदिति । गौतमश्च स्पष्टमेवाह ।
रिक्थक्रयेत्यादि । तस्माददृष्टादिस्मृतेःशुद्ध्यशुद्धिवचनस्यसंस्कारविधितैव शिष्यते । विधिमूलत्वाद्विधिशिष्यैव । अतः
शुद्ध्यशुद्धीउभेअपि शास्त्रावसेये ततः शुद्धिरपि वाच्या । उच्यते । उक्तैवतर्हि वसाशुक्रमिति । नृहग्रणंचतत्र स्मृत्यन्तरद-
र्शनेन प्रदर्शनार्थं । श्वमार्जारखरोष्ट्रकपिकाकविडूराहग्राम्यकुक्कुटाखुशृगालक्रव्यादमृगशकुन्तनखिनकुलानां वसादि-
ग्रहणंच । रोममांसानांशुद्धिवचनाच्चाशुद्धानांमूत्राद्युपहातानामयंसंस्कारःकर्तव्योऽप्युन पुनरेवमेवप्रयुज्यमानानाम् । नहि
सुवर्णादयोभावाःस्वरूपेणाशुद्धायेन प्रयोगकालेशुद्धिमपेक्षेरन् । अथवा दृष्टार्थोदृष्टप्रयोगाश्रयःसंस्कारोविधीयते । प्राङ्मुखे-
नेव भोजने तत्र शुद्धिवचनंविरोध्यते । येतु पात्राणांभोजनारम्भसंमार्जनप्रक्षालनेते समाचारतः न पुनरस्याःशुद्धिःस्मृतेः ।
यदप्यन्यदस्पृश्यं पुरुषस्य पतितचाण्डालादितथा लशुनापलाण्डुसुरामांसादि तदपि द्रव्याणामुपघातकम् । तत्र कस्मिन्नुप-
घाते का शुद्धिरिति स्मृत्यन्तरसमाचारावन्वेषणीयौ । उक्तश्च विशेषोहारीतापस्तम्बपराशरमुनिभिः । तानितु वचनान्यस्मा-
भिरिह सर्वाणि न परिवर्तितानि । लेखकविशेषप्रसंगाच्चन्द्रगोपतत्त्रकारवत् ॥ १११ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । तैजसानां सुवर्णादीनां । मणीनां माणिक्यादीनाम् । अश्ममयस्य प्रस्तरमयस्य । भस्मनेति
भस्ममृदेरन्यतरेणाद्रिश्च सलेपोपघाते शुद्धिः ॥ १११ ॥

(३) कुष्ठकः । तैजसानांसुवर्णादीनांमरकतादिमणीनांभाषाणमयस्य च सर्वस्य भस्मना जलेन मृत्तिकाया च मन्वा-
दिभिः शुद्धिरुक्ता । निर्लेपस्य जलेनैवान्तरंशुद्धेर्वक्ष्यमाणत्वादितदमुच्छिष्टघृतादिलिप्तविषयम् । तत्र मृद्भस्मनोर्गन्धक्षयैकका-
र्यत्वाद्विकल्पः । आपस्तूभयत्र समचीयन्ते ॥ १११ ॥

(४) राघवानन्दः । तामाह तैजसानामिति । पञ्चत्रिंशता तैजसानां ताम्रकटाहादीनां मणीनां मरकतादीनां
अश्ममयस्य पात्रादेः उच्छिष्टघृतादिसलेपानांतेषांभस्मादित्रिभिरेव शुद्धिरुक्तेत्यन्वयः ॥ १११ ॥

(५) नन्दनः । तैजसानालोहविकाराणामणीनारत्नादीनां भस्मादिभिस्त्रिभिर्द्वाभ्यामेकेन वा यथायोगंशुद्धिःप्रोक्ता
॥ १११ ॥

(६) रामचन्द्रः । अथ पात्रद्रव्यशुद्धिमाह तैजसानामिति । तैजसानां सुवर्णादीनां मणीनां मुक्तादीनां सर्वस्या-
श्ममयस्य दृषदुपलादीनां तेषां सौवर्णादीनां सोच्छिष्टानां मृद्भस्मवारिणा शुद्धिरुक्ता ॥ १११ ॥

निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्भिरेव विशुद्धति ॥ अञ्जमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥ ११२ ॥

(१) मेधातिथिः । तैजसविशेषयोः काञ्चनराजतयोर्निर्लेपयोरयंविधिः । अन्येषांतु ताम्रादीनांयथोच्छिष्टस्पर्श-
धावनादिष्टकादिभिःक्षीरंवा पानीयंवा पीतंतत्र न भवन्ति लेपः । यत्र मांसघृतक्षीरादिभिर्हृष्टैःसंश्लिष्यन्त्यवयवास्तत्र
वक्ष्यति तस्मान्नयोःस्वयोन्यैवेति लेपगन्धापकर्षणवचनाच्च योलेपोयेनैवापकर्षणंशक्यते तत्र तदेवोपादेयं भस्मवारिणी-
एव । तथाच हारीतः गोधूममकुष्ठककसायवमुद्गमसूरचूर्णैरित्यादिपठति । श्वचाण्डालोदक्यादिस्पर्शैर्निर्लेपयो-

रपि भस्मना त्रिःसमकृत्वःपरिमार्जनमिति हारोतः । शङ्खस्तु तैजसानांकुणपरुधिररेतोमूत्रपुरीषोपहतानामावर्तनमुल्लेखनंभस्मना वा त्रिःसमकृत्वःपरिमार्जनमिति । तत्र चिरकालमूत्रादिवासितानामावर्तनम् । नामाकृतिमुपमृद्येच्छातस्तदाकृतिसंपादनमावर्तनम् । उल्लेखनं तीक्ष्णेन शस्त्रेणाश्वमना वा निघर्षः । स्मृत्यन्तरे त्वाकारदाहावचूलनान्याम्नातानि तत्रसुवर्णकारैर्वर्णीकृतस्य शुद्धिः । दाहःअग्नौ सुवर्णकारैर्निष्ठपनम् । अवचूलनं दाहोनातीतानांसुवर्णकाराणांसुवर्णधनभाण्डे तेन सर्वतअहननम् । तस्मिन्स्वर्णाकारे । तथाचोक्तं । आकराःशुचयःसर्वदति । अब्जं शङ्खस्फोटनादि । शङ्खस्यतु सलेपस्य गौरसर्षपकल्केन गोमूत्रोदकाभ्यांक्षीरेणच । स्मृत्यन्तरेहि पठ्यते । अद्भिःशङ्खस्येति क्षीरोदकाभ्यांगौरसर्षपकल्केनोच्छिष्टस्नेहयुक्तस्येति । अनुपस्कृतमखातपूरितमथवात्यन्तानुपहतं । सर्वशेषश्रायम् । तेन शुष्कामेध्यचण्डालादिस्पर्शं सत्यपि निर्लेपत्वे प्राक्प्रदर्शितैव शाखान्तरीयाशुद्धिः ॥ ११२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निर्लेप शुष्कविष्टादिस्पृष्टं उच्छिष्टनरादिस्पृष्टं च । अब्जंशङ्खादि । अश्वमयपदेन मणीनामपि ग्रहणम् । अनुपस्कृतमनुत्कीर्णकाञ्चनाब्जादि । उत्कीर्णं रेखान्तर्मलावस्थानसंभवादिधकंशौचम् । रजतपदं ताभ्यादिव्यवच्छेदार्थम् ॥ ११२ ॥

(३) कुड्मूकः । उच्छिष्टादिलेपरहितंसौवर्णभाण्डं जलभवंच शङ्खमुक्तादि पाषाणमयंच राजतमनुपस्कृतररेखादिगुणान्तराधानरहितं तथाविधमलासंभवाज्जलेनैव भस्मादिरहितेन शुध्यति ॥ ११२ ॥

(४) राघवानन्दः । अब्जं शङ्खशुक्त्यादि अनुपस्कृतं रेखादिरहितं निर्लेपंचजलेनैव ॥ ११२ ॥

(५) नन्दनः । भाण्डपात्रम् । अब्जंशङ्खशुक्त्यादिकम् । अनुपस्कृतंनिर्लेपमित्यर्थः । निर्लेपमित्यत्रविशेषणात्सलेपविषयाः पूर्वोक्ताः ॥ ११२ ॥

(६) रामचन्द्रः । अब्जं मुक्ताफलशङ्खशुक्त्यादि राजतंच अनुपस्कृतररेखादिरहितं अन्नादिना असंस्पृष्टं अद्भिःप्रक्षालनेन शुध्यति ॥ ११२ ॥

अपामग्नेश्च संयोगाद्वैमं रौप्यं च निर्बभौ ॥ तस्मात्तयोः स्वयोन्यैव निर्णोकोगुणवत्तरः ॥ ११३ ॥

(१) मेधातिथिः । अर्थवादोयम् । अग्निर्वैवरुणानीत्यारभ्याकामयतेत्याद्यर्थवादिषु हेमःसुवर्णस्यरूपस्यचोत्पत्तिःश्रुता । पुरुषधर्मेणाग्निर्वरुणानीरपोऽकामयतमैथुनधर्मेण समयुज्यत ततएतद्वयंनिर्बभौ उद्भूतंअतस्तयोःस्वयोन्या स्वेनोत्पत्तिकारणेनाग्निना अत्यन्तोपघातउदकेनच । संयोन्येतिपाठे समानोत्पत्तिना भस्मनेति व्याख्येयम् । तद्दर्शनाच्च मृदोपि कदाचिदनुज्ञायन्ते । निर्णोकःशोधनं गुणवत्तरः ॥ ११३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्यन्तोपघातेत्वाह अपामग्नेश्चेति । अप्सुअग्नितेजोरूपवीर्यविसर्गात्सौवर्णराजतोर्ध्वाधिःशकलद्वयवद्ब्रह्माण्डोत्पत्तिरितितात्पर्येणोदमुक्तम् । स्वयोन्या अग्नौ प्रताप्य आवर्त्यवा जलप्रक्षेपेणेत्यर्थः । निर्णोकः शोधनं गुणवत्तरः शोधनान्तरेभ्यः ॥ ११३ ॥

(३) कुड्मूकः । अग्निर्वैवरुणानीरकामयतइत्यादिवेदे श्रूयते तथाग्नेः सुवर्णमिन्द्रियंवरुणानीनारजतमित्यादिश्रुतिष्वव्यापःसंयोगात्सुवर्णरजतंचोद्भूतंयस्मादतस्तयोः स्वेनकारणेनैव जलेनात्यन्तोपघातेनाग्निना निर्णोकःशुद्धिहेतुः । गुणवत्तरः प्रशस्ततरः ॥ ११३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच अपामग्नेश्चेति । अत्यन्तोपघाते तयोःसुवर्णरजतयोः । अग्निजलजत्वंश्रौतमात्रित्याह तस्मात्तयोरिति । सुवर्णरेताद्भुतभुक् सोरोदीचदरोदीत्तद्वज्रतमभूदिति श्रवणादग्निजलरूपया स्वयोन्या निर्णोकःशुद्धिगुणवत्तरःप्रशस्तः ॥ ११३ ॥

(११३) गुणवत्तरः=बलवत्तरः (नन्दनः)

(५) नन्दनः । आग्नेयंहिरेतो गंगाजलसंयोगात्सुवर्णरजतंचाभवदितिहासपुराणेषु स्मर्यते तेनोक्तमग्नेश्चापांचसंयोगादेमरूप्यंचनिर्बभावि । बलवत्तरशब्देनात्यन्तोपहतहेमरूप्यमिदमितिगम्यते ॥ ११३ ॥

(६) रामचन्द्रः । हेमं हेमविकारं रौप्यं रौप्यविकारं जलाग्निसंयोगान्निर्बभौ स्वयोन्यैव जलाग्निसंयोगेनैव निर्णेकः शुद्धिगुणवत्तरः उत्कृष्टः ॥ ११३ ॥

ताम्रायःकांस्यैरेत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च ॥ शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः ॥ ११४ ॥

(१) मेधातिथिः । यथार्हं यस्ययदर्हति येन यस्य मलमपक्रष्टुंशक्यतइत्यर्थः । अतएव स्मृत्यन्तरोक्तमपि लभ्यते वाहनीयारूपसीसकविकारागोमयतुषैरिति । यथा गवाघ्रातानि कांस्यानि शुद्धोच्छिष्टानि यानि च । शुद्ध्यन्ति दशभिः क्षारैः श्वकाकोपहतानि चेति । अतएव क्षारभेदाश्च काजिकदाडिमादियोजिताःसिद्धाभवन्ति ॥ ११४ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । रैत्यं पैत्तलं । त्रपुरङ्गं । अत्रैरेत्यानामितिविकारमुक्त्वा त्रपुणइति प्रकृत्यभिधानात्तत्तत्प्रकृतिविकारयोस्तुल्यंशौचमित्युक्तम् । यथार्हं येन यस्य मलापगमः । क्षारसहितेन वारिणा ताम्रैरैत्यव्यतिरिक्तानाम् तयोस्तु अम्लोदकेनअम्लरसेन वारिणाचेत्यर्थः ॥ ११४ ॥

(३) कुङ्कुमः । अयोलोहं रीतिःपित्तलं तद्भवंपात्ररैत्यं त्रपुरङ्गम् एषांभस्माम्लोदकैः शोधनंकर्तव्यं यथार्हस्येयदर्हति ॥ अम्भसा हेमरौप्यायःकांस्यंशुद्ध्यति भस्मना । अम्लैस्ताम्रं च रैत्यं च पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥ इति बृहस्पत्यादिवचनाद्विशेषोऽत्र बोद्धव्यः ॥ ११४ ॥

(४) राघवानन्दः । ताम्रादिषण्णांशुद्धिमाह ताभेति । अयोलोहं रीतिः पित्तलं तदुद्भवंरैत्यं त्रपुरङ्गं यथार्हं यस्य यदिति ॥ अम्भसा हेमरूप्यायःकांस्यंशुद्ध्यति भस्मना । आम्लद्यैस्ताम्रैरैत्येच पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥ इति बृहस्पतिवचनात् । मद्योपहतत्वेऽरूपोपहतत्वे च वारिणैव अत्यन्तोपहतत्वेभस्मक्षारादिनाशुद्धिः ॥ ११४ ॥

(५) नन्दनः । क्षारोभस्मोषोवा । अम्लोदकंचिच्चाफलादिरसः । गन्धवर्णादिदूषितविषयमेतत् । कुतः यथार्हमिति लोकदृष्टिसामर्थ्यानुसारोपदेशात् । इह रूप्यस्य पुर्ग्रहणमम्लोदकार्थम् ॥ ११४ ॥

(६) रामचन्द्रः । रैत्यं पैत्तलं । त्रपुणः रङ्गस्य च पुनः सीसकस्य पात्रस्य ताम्रादेः क्षाराम्लोदकेन शुद्धिः ॥ ११४ ॥

द्रवाणांचैव सर्वेषांशुद्धिरुत्पवनंस्मृतं ॥ प्रोक्षणंसंहतानांच दारवाणांच तक्षणम् ॥ ११५ ॥

(१) मेधातिथिः । क्षरणधर्माणोद्रवाः । घृततैलोदग्वित्प्रभृतयस्तेषांश्चकाकाद्युच्छिष्टानांस्थमात्रपरिमाणानामुत्पवनं कस्यचिदंशस्यापनयनपूर्वभागस्थितस्य । स्मृत्यन्तरेत्वेवमाप्नातम् ॥ कुशाग्राभ्यांपवमानःसुवर्जनइत्यनुवाकेन । अन्येतुष्ठावनमुत्पवनमाहुरन्यत्समानजातीयं तावदासिच्यते यावत्पूर्णं भाण्डे कांश्चिन्मात्रावस्रवन्ति । साक्षादुपघातएतत् अल्पानांत्यागएव । भाण्डोपघातेतु पात्रान्तरनयनमुच्छिष्टस्पर्शे तु तैलसर्पिषी उदकेवधायजपेदित्युक्तम् । तत्रार्थापात्रोत्क्षेपः । नहि तैलस्य उदके क्षिप्तस्य पात्ररहितस्योपयोगःसंभवति साहचर्यात् घृतस्यापि । एतच्चोत्पवनंद्रवाणाम् । मद्यामेध्यसंसर्गकृतौ गन्धवर्णौ नदृश्येते तयोस्तु सत्योस्त्यागएव सर्वचैतद्वैधायनस्मृतौ परिगृहीतम् । पक्वानांतु द्रव्याणांपुनःपाकोपि श-

(११४) रैत्यानां=रौप्यानां (क, ख, नन्दनश्च)

इत्थेनाम्नातः । सर्वेषां येन्यमेध्यामद्यादयस्तेषामप्येषैव शुद्धादीन्प्रति शुद्धिः । अत्रतूत्पवनं प्लावनमेव । यथा वसिष्ठेनोक्तं । भूमिष्ठानांतूदकवत् । संहताः कठिनाः शान्तंघृतं आमिक्षागुडपर्पटकादयस्तेषांयः प्रदेश उपहतस्तमपनीयशेषस्य शुद्धिः । उक्तं च शङ्खेन शुष्काणामुद्धृतदोषाणामिति । अथवासमुदायादवयविनः संहताः शयनासनसरणादयः सजातीयविजातीयद्रव्यसंघातात्मकाः । उद्धृतदोषाणामितिसर्वत्र द्रष्टव्यम् । शवशुष्कामेध्यसंसर्गेषु यः प्रदेशोवृत्तसंसर्गस्तस्य प्रक्षालनमवशिष्टस्य प्रोक्षणम् । दारवाणां केवलदारुकृतानां बृशीफलकादीनांकाष्ठमयानांच शवचण्डालपुरीषसंसर्गे तक्षणम् । अन्येतु पुरीषसंसर्गएवेच्छन्ति । तक्षणेनगन्धलेपाद्यपनेतव्यम् । अवशिष्टस्य मृद्वारिभ्यांप्रक्षालनंप्रोक्षणंवा । श्वाद्युपघाते तु प्रक्षालनमेव । पुरीषवत्त्वृक्षाशय्यादीनांच दारुचर्मसूत्रघटितानांसंहतत्वेन शुद्धिः ॥ ११५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उत्पवनं वस्त्रेण पावनं कठिने चोपघाते संहतानामेकत्र स्यूतानामनेकेषांपटवर्मादीनाम् । दारवाणां तक्षणं मलाद्युपघाते ॥ ११५ ॥

(३) कुल्लूकः । द्रवाणांघृततैलानांकाककीशद्युपहतानांबौधायनादिवचनात्प्रसूतिमात्रप्रमाणानांप्रदेशप्रमाणकुशपत्रद्रव्याभ्यामुत्पवनेन शुद्धिः । संहतानांच शय्यादीनामुच्छिष्टाद्युपघाते प्रोक्षणं । दारवाणांचात्यन्तोपघाते तक्षणेन ॥ ११५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच । द्रवाणां काकाद्युपहतघृतादीनां उत्पवनं प्रस्थमात्रपरिमाणानांप्रदेशपरिमितकुशपत्रद्रव्याभ्यामुत्पवनेनशुद्धिरिति बौधायनोक्तेः । संहतानांसूत्रादिसंयुक्तानां उच्छिष्टाद्युपघाते तद्देशंप्रक्षाल्य प्रोक्षणं उपस्पृशेत्तु प्रोक्षणमात्रं । दारवाणांदारुनिर्मितानां तक्षणं छेदनं अवयवस्य ॥ ११५ ॥

(५) नन्दनः । संहतानाम् अपृथक्द्रव्यसमवायरूपाणां शयानादीनाम् । तथा चाङ्घ्रिराः ॥ शयनासनयानानिरोमबन्धानि यानि च । वस्त्राणि तानि सर्वाणि संहतानि प्रचक्षतेइति ॥ उत्पवनंस्वल्पोपघाते तक्षणमत्यन्तोपघाते ॥ ११५ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वेषांद्रवाणां द्रवभूतानांघृतादीनां अस्य प्रमाणाधिकस्य काकाद्युपहतस्य अमेध्यसंस्पृष्टस्य सर्वद्रव्यस्य उत्पवनं सजातीयेन द्रवद्रव्येण भाण्डस्यातिपूरंयावन्निःसरणं शुद्धिः संहतानांसूत्रपटवर्मादीनांबहूनांधान्यवाससांप्रोक्षणं शुद्धिः । दारवाणां काष्ठपात्राणां अमेध्यलिप्तानां तक्षणं शुद्धिः ॥ ११५ ॥

मार्जनंयज्ञपात्राणांपाणिना यज्ञकर्मणि ॥ चमसानांग्रहाणांच शुद्धिःप्रक्षालनेन तु ॥ ११६ ॥

(१) मेधातिथिः । श्लोकद्वयश्रुतिसिद्धार्थानुवादेन दृष्टान्ततया नेयम् । ग्रहचमसादीनांयज्ञपात्राणांप्रयोगान्तरे प्रयुज्यमानानां पूर्वप्रयोगलग्नान्यहर्विलेपादिससर्गपरिहारार्थमुष्णेन वारिणा लेपाद्यपकर्षःकर्तव्यः । ततोयथाश्रुति क्वचित्पाणिना क्वचिद्भैः क्वचिद्दशापवित्रेण संमार्गःकर्तव्यः । इयंप्रायोगिकीशुद्धिःउच्छिष्टाद्युपघातेतुलौकिकपात्रवत् । न सोमेनोच्छिष्टाभवन्तीतिविशेषश्रुतेरन्यत्रोपघाते सामान्यशुद्धिरस्तीति ज्ञायते । ग्रहचमसस्यायाज्ञिकेभ्यआकारविशेषेणावसातव्याः ॥ ११६ ॥ ११७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शय्याकुष्णाजिनादियज्ञपात्राणां मललेपोपघाते यज्ञमध्ये मार्जनम् । चमसानां ग्रहाणांच ऋत्विगादिभिस्तद्गतशेषपाने क्षालनमात्रम् ॥ ११६ ॥

(३) कुल्लूकः । चमसानांग्रहाणांचान्येषांयज्ञपात्राणांपूर्वपाणिना मार्जनंकार्यं पश्चात्प्रक्षालनेन यज्ञे कर्तव्ये शुद्धिर्भवति ॥ ११६ ॥

(४) राघवानन्दः । मार्जनं चमसातिरिक्तयज्ञपात्राणां चमसानां ग्रहाणांच यज्ञकर्मणि कर्तव्ये पूर्वपाणिना संस्कृत्य प्रक्षालनमन्यदा मार्जनमात्रम् ॥ ११६ ॥

(५) नन्दनः । यज्ञकर्मणीतिविशेषणात्कार्यान्तरं जातिनिमित्तैव शुद्धिर्द्रष्टव्या ॥ ११६ ॥

(६) रामचन्द्रः । यज्ञपात्राणां सुक्लुवादीनां यज्ञकर्मणि प्रयुज्यमानानां दक्षिणेन पाणिना कुशसहितेन कर्माङ्ग-
तया मार्जनं प्रक्षालनं कर्तव्यम् । चमसानां जलपात्राणां ग्रहाणां सोमपात्राणां षोडशीप्रभृतीनां जलप्रक्षालनेन शुद्धिः
॥ ११६ ॥

चरूणां सुक्लुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा ॥ स्फ्यशूर्पशकटानां च मुसलोलूखलस्य च ॥ ११७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चरूणामित्यादि सलेपयज्ञभाण्डपरम् । स्फ्यादीनां प्रोक्षणं मलोपघाते ॥ ११७ ॥

(३) कुल्लूकः । स्नेहाक्तानां चरुस्रुगादीनामुष्णजलेन शुद्धिः स्नेहाद्युक्तानां तु जलमात्रेणैव शुद्धिर्यज्ञार्थम् ॥ ११७ ॥

(४) राघवानन्दः । उष्णेनेतीति विशेषणादन्यत्र शीतोदचरूणां चर्वथपात्रस्य स्फ्यः खट्वाकारं काष्ठम् ॥ ११७ ॥

(५) नन्दनः । सुक्लुवाणामाज्यसंपृक्तानामुष्णेन वारिणा शुद्धिः । अत्र यज्ञकर्मणीत्यनुवर्तते ॥ ११७ ॥

(६) रामचन्द्रः । चरूणां चरुस्थाली सुक्लुवौ प्रसिद्धौ सस्नेहानि पात्राणि एतानि लेपरहितानि उष्णेन वारि-
णा शुष्यन्ति । स्फ्यः वज्रः यज्ञाङ्गकाष्ठखट्वः प्रसिद्धः शकटानां रथानां उष्णेन वारिणा मुसलोलूखलस्य च ॥ ११७ ॥

अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम् ॥ प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्भिः शौचं विधीयते ॥ ११८ ॥

[त्र्यहकृतशौचानां वायसी शुद्धिरिष्यते । पर्युक्षणात्धूपनाद्वा मलिनामतिधावनात् ॥ १ ॥] †

(१) मेधातिथिः । बहुत्वं धान्यानां द्रोणाधिक्ये स्मर्यते । अन्येतु पुरुषापेक्षया देशकालापेक्षया च वर्णयन्ति । क-
स्यचिद्गुणस्य कुडवार्धमपि बहु भवति । तथा कस्यांचिदवस्थायां वर्धितकोशो बहुतामेति । यथाह बौधायनः । देशकालं-
तथात्मानं द्रव्यं द्रव्यप्रयोजनम् । उपपत्तिमवस्थानु ज्ञात्वा शुद्धिप्रयोजयेत् । एवं वासस्वपि केचिदाहुस्त्रिभ्य ऊर्ध्वं बहू-
नियद्यपि त्रिप्रभृतिषु बहुत्वं यतोल्पानामिति बहुवचनं श्रुतमतस्त्रिपर्यन्तान्यल्पानि । अद्भिरित्युपलक्षणम् । तेन यस्व-
वाससो येनैव दोषसंसर्गो व्यपैति तदपि द्रष्टव्यम् । तच्च प्राग्दर्शितम् । प्रोक्षणसंबन्धोऽव्यहर्णनियमार्थः । उदकेनैव प्रोक्षणं-
कर्तव्यं । एतेनैव च भेदेन द्विःपाठः । एतच्च महत्युपघाते शवपुरीषचाण्डालादिस्पर्शे अन्यथा त्वल्पानामिति प्रोक्षणमेव ।
यदि पर्यवस्यतोपि लेपादिवासतानापैति तदा तन्मात्रच्छेदनमत्सर्गोवेति गौतमेनोक्तम् ॥ ११८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बहूनां द्रोणाधिक्ये धान्यानाम् । तत्समभिव्याहाराच्च वाससामपि तावद्रुत्वयोग्ये बहुत्वे
प्रोक्षणम् । अल्पानां धान्यवाससामेव । अत्र सर्वत्राद्भिरिति पदं द्रव्यान्तरेण गोमूत्रादिना क्षालनादि निवृत्त्यर्थम् ॥ ११८ ॥

(३) कुल्लूकः । बहूनां धान्यानां वस्त्राणां च चाण्डालाद्युपघाते जलेन प्रोक्षणाच्छुद्धिः । बहुत्वं च पुरुषभारहारायाधि-
कत्वमिति व्याचक्षते । तदल्पानां प्रक्षालनाच्छुद्धिर्मन्वादिभिरुपदिश्यते ॥ ११८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच पुरुषबाह्यातिरिक्तत्वेन बहुत्वं तद्युक्तानां धान्यानां चाद्भिः प्रोक्षणं उत्तानहस्तेन
अलक्षेपः ॥ तिरश्चाभ्युक्षणं प्रोक्तं न्यञ्चता वोक्षणं मतम् । उत्तानेन तु हस्तेन प्रोक्षणं समुदाहृतमिति गौतमीयतत्त्ववचनम् ।
तथा वाससां च पुंवाहन्यूनानामल्पानां धान्यवाससामद्भिः प्रक्षालनम् ॥ ११८ ॥

(५) नन्दनः । धान्यानांबहुत्वंद्रोणाधिकत्वम् । वाससांबहुत्वंदशाधिकत्वम् ॥ ११८ ॥

(६) रामचन्द्रः । बहूनां धान्यवाससां द्रोणाधिकधान्यानां राशीकृतानां प्रोक्षणेनैव शुद्धिः चाण्डालादिस्पृष्टत्वात् ॥ ११८ ॥

चैलवच्चर्मणांशुद्धिर्वैदलानांतथैवच ॥ शाकमूलफलानांच धान्यवच्छुद्धिरिष्यते ॥ ११९ ॥

(१) मेधातिथिः । चर्मणां वर्ध्नाणांस्पृश्यानां नतु श्वश्रुगालादिसमन्वितानां स्वभावाशुचीनां उपानत्कवर्चो-
दीनामपि तद्विकाराणामेषएव विधिः । अत्र हिप्रकरणे प्रकृत्यापि विरुतिर्गृह्यते । विरुत्यापि प्रकृतिः । तथाच दार-
वाणामित्यत्र दारूणामप्येषैव शुद्धिः । वसिष्ठेन हि दारवाणांशुद्धिमभिधाय दार्वस्थिभूम्यानीत्युक्तम् । यद्विच विरुत्या
प्रकृतिर्न गृह्येत तदनुक्तशुद्धिविधानेन दारूणांकथमतिदेशःक्रियेत । प्रकृतेस्तु विकारग्रहणं तदुध्यनपायाद्युक्तमेव । वै-
दलानि वार्क्षत्वगादीनि । स्मृत्यन्तरे पक्षपवित्रचर्मचामरनृणवेन्नवालवलकलानांचैत्यादिनेषैव शुद्धिर्विहिता । तत्र मयूरा-
दिपक्षास्तन्निर्वृत्ताश्च छत्रपिच्छिकादयोगृह्यन्ते । पवित्रदर्भस्तेषां दर्भमयानांच वाससां । नृणशब्देन तालपत्राण्युच्यन्ते ।
नृणराजंविदुस्तालमिति स्मर्यते । तत्रैकदेशात्समुदायप्रतिपत्तिर्दत्तशब्दादिवदेवदत्ते । बालागवाश्वजानां न मनुष्याणां
तेषांच्युतानामस्पृश्यत्वात् । सर्वाचैयंद्रव्यान्तरोपघाते शुद्धिरुच्यते न स्वभावोपहतौ चैलधान्ययोरेकरूपत्वाच्छुद्धेः शाकादे-
र्धान्यवद्वचनम् । यथा धान्यानामवघातादिसंस्कारान्तररहितानांधान्यावस्थानामेव प्रोक्षणप्रक्षालने शुद्धिहेतूतद्वच्छा-
कादीनामपि । तेनापक्वानामयंविधिः पक्वानांतु सत्यपि शाकादिशब्दवाच्यत्वे शुद्ध्यन्तरमन्वेषणीयम् । यथोक्तम् ।
सुवर्णवारिणा पावकज्वालावेत्यादि । आकरादादितानांतु शाकादीनामुदश्विद्धधिक्षीरादीनांप्रोक्षणपर्यग्निकरणेविशे-
षतोहारीतेनाग्राते । तथा शिम्बीधान्यानामुद्धर्षणदलनपेषणादि । एतच्च पादस्पर्शो शङ्कानिवृत्त्यर्थं तदुक्तम् आकराः
शुचयःसर्वइति ॥ ११९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चैलवद्बहुत्वे प्रोक्षणमल्पत्वे क्षालनम् । वैदलानां वेन्नवंशादिविदलकृतानां शाकादी-
नामपि । चैलवदित्यनेनान्वयसंभवे धान्यवदितिबचनं धान्यानामत्यल्पानां बहुमलोपघाते त्यागइति स्मृत्यन्तरसिद्ध-
स्यार्थस्य शाकादावपि प्राप्त्यर्थम् ॥ ११९ ॥

(३) कुल्लूकः । स्पृश्यपशुचर्मणांवंशादिदलनिर्मितानांच वरूवच्छुद्धिर्भवति । शाकमूलफलानांच धान्यव-
च्छुद्धिः ॥ ११९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच चैलवदबहुत्वे प्रोक्षणं अल्पत्वे क्षालनंवैदलानांवंशदलादिनिर्मितानाम् ॥ ११९ ॥

(५) नन्दनः । चैलवत् वासोवत् । वैदलानांवेणुदलनिर्मितानाम् । शाकमूलफलानामपक्वानाम् ॥ ११९ ॥

(६) रामचन्द्रः । चर्मणां शुद्धिः चैलवद्वरूवत् शुष्के चर्मणि वरूवदिति वचनात् । चर्म अजादिचर्मविकारछत्र-
चामरादीनामुपलक्षणम् । वैदलानां वेन्नवैणवादीनां धान्यवत्प्रोक्षणेन शुद्धिः ॥ ११९ ॥

कौशेयाविकयोरूषैः कुतपानामरिष्टकैः ॥ श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः ॥ १२० ॥

(१) मेधातिथिः । ऊषाःकाञ्चनमृदः । अरिष्टकादयःप्रसिद्धाःस्नेहादिलेपे सत्युदकंनैतेषांद्रव्याणांचूर्णसंमिश्रेण
लेपनोच्छेदनादि कर्तव्यम् । कौशेयःपट्टविशेषः । एवमंशुपट्टमाविकमूणमियंतस्य हारीतेनोक्तंआदित्येनोर्णामयानांतन्मित्यं-
प्रधियमाणानामनेकपुरुषस्य शरीरसंस्पर्शोदृष्टव्यंनान्यस्मिन्नुपघातेवासस्त्वादेःतेषांकेवलयोःप्रोक्षणप्रक्षालनयोःप्राप्तयोःस्नेहा-
दिलेपापकर्षणेअतिदिश्येते । क्षौमग्रहणं शाणादीनामपि प्रदर्शनार्थम् ॥ १२० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ऊषैरुषरमृद्भिर्जलेनचेत्यर्थात् । कुतपानां नेपालकम्बलानां अरिष्टकैर्विम्बसदृशैः । अंशूनां नाडीवादिवल्कलजातीनां सूत्राणां । पट्टानां कौशेयविशेषाणां च । क्षौमाणामतसीवल्गुजनितानाम् ॥ १२० ॥

(३) कुड्डूकः । रुमिकोशोद्भवस्य वल्गुस्य मेषादिलोमप्रभवस्य कम्बलादेरुषैः क्षारमृत्तिकाभिः कुतपानां नेपालकम्बलानामरिष्टकैररिष्टचूर्णैः अंशुपट्टानां पट्टशाटकानां बिल्वफलैः क्षौमाणां दुकूलानां क्षुमावल्कलभवानां वस्त्राणां तु पिष्टश्वेतसर्षपमक्षालनाच्छुद्धिः ॥ १२० ॥

(४) राघवानन्दः । पट्टसूत्रातिरिक्तरुमिजः कौशेयः । आविकोमेषलोमजः । ऊषैः क्षारमृत्तिकादिभिः । स्यादूषः क्षारमृत्तिकेत्युक्तेः । अरिष्टकैररिष्टफलचूर्णैः । कुतपोनेपालदेशजः कम्बलः । अंशुपट्टः पट्टशाटी । क्षुमा वल्कलसूत्रं तज्जानाम् ॥ १२० ॥

(५) नन्दनः । कौशेयम् रुमिकोशप्रभवम् । आविकमूर्णामयम् । ऊषोमृत्तिकाविशेषः क्षारवान् । पर्वतसंबन्धिच्छागरोमनिर्मितकम्बलविशेषः कुतपः । अरिष्टः फेनकः । श्रीफलंबिल्वफलम् । अंशुपट्टो वल्कलविशेषः । अतसीसूत्रनिर्मितक्षौमम् । मलगन्धादिदूषितानामियं शुद्धिः न स्पर्शमात्रोपहतानाम् ॥ १२० ॥

(६) रामचन्द्रः । कौशेयं रुमिकोशोत्थमित्यमरः । कौशेयं कौशप्रभवं । आविकं ऊर्णामयं । ऊषः स्यात्क्षारमृत्तिकेत्यमरः । क्षारमृत्तिकासहितोदकेन प्रक्षालनं शुद्धिः । कुतपं नेपालकम्बलं अरिष्टफलसहितोदकैः । अंशुपट्टं वल्कलं तन्तुरुतं तु श्रीफलैर्बिल्वफलोदकैः । क्षौमाणां अतसीवल्कलजानां अतसीसूत्रनिर्मितक्षौमं गौरसर्षपसहितोदकैः शुध्यति ॥ १२० ॥

क्षौमवच्छङ्कुशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च ॥ शुद्धिर्विजानता कार्या गोमूत्रेणोदकेन वा ॥ १२१ ॥

(१) मेधातिथिः । अस्थिशृङ्गदन्ताः स्पृश्यानां गोमेषहस्त्यादीनां नश्वगर्दभादीनाम् । गोमूत्रोदकयोर्विकल्पः । गौरसर्षपकल्कस्तु समुच्चीयते ॥ १२१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्षौमवद्गौरसर्षपकल्कसहितजलैः शङ्खशृङ्गाणां सलेपबहूपघाते । अस्थिमयस्य हस्त्यादिदन्तमयस्य क्षौमवदेव गोमूत्रोदकाभ्यां भोक्षणेन ॥ १२१ ॥

(३) कुड्डूकः । शङ्खस्य पशुशृङ्गाणां स्पृश्यपश्वस्थभवस्य गजादिदन्तस्य च क्षौमवत्पिष्टश्वेतसर्षपकल्केन गोमूत्रजलयोरन्यतरयुक्तेन शास्त्रविदा शुद्धिः कर्तव्या ॥ १२१ ॥

(४) राघवानन्दः । क्षौमवदिति गौरसर्षपातिदेशः । पुनः शङ्खग्रहणमत्यन्तोपहत्यर्थम् । शृङ्गं रुष्णसारादेः । अस्थिगोमेषयोः । दन्तो गजवराहयोर्न तु गर्दभादेरिति मेधातिथिः । विजानता अत्यन्तोपहतानुपहतभेदविदा ॥ १२१ ॥

(५) नन्दनः । गौरसर्षपाणामतिदेशः । गोमूत्रेणोदकेन वेति शोध्यमलविशेषापेक्षोऽयं विकल्पः ॥ १२१ ॥

प्रोक्षणान्तृणकाष्ठं च पलालं चैव शुध्यति ॥ मार्जनोपाञ्जनैर्वैश्वं पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥ १२२ ॥

(१) मेधातिथिः । ब्रीह्यादिकाण्डंस्तरादिप्रयोजनं पलालम् । तृणानि कुशशाद्वलादीनि । ननु च दारवाणामित्यत्र विरुतिः प्रकृतेर्ग्राहिकेत्युक्तं किमर्थं काष्ठग्रहणं । नियमार्थं । प्रोक्षणमेव तेन यावन् महानुपघातस्तावद्दारुणि तक्ष्यन्ते । चण्डालादिस्पर्शे तु सोमसूर्याशुमारुतैरित्यनेनैव शुद्धिः । तद्विकाराणां तु दुर्व्यादीनां प्रक्षालनतक्षणोत्प्लोपघातेऽन्नाद्युपयोगिनां कर्तव्ये । मार्जनं शोधनं गृहस्य धूमांधकाराद्यपनयनम् । उपाञ्जनं सुधागोमयादिभिर्भूमिविलेपनम् । एतच्च शवचण्डा-

लोदक्यादिभिर्भित्तिस्पर्शोऽप्यपिनिद्रव्यम् । अव्याप्तौ तु तावन्मात्रस्यैव । ऊर्ध्वशवोपघाते तु भित्तिक्षणं सूर्यरश्म्यनुप्रवेशोऽग्निज्वालाभिमर्शनम् । क्वचित्पुनर्नवीकरणमित्यादिपठितं संमार्जनम् । मृन्मयानां पुनःपाकः । पर्यग्निकरणमुल्लिष्टपुरुषसंस्पर्शादौ द्रष्टव्यम् । पुनःपाकस्तु मद्यभाण्डादिसंस्पर्शे द्रष्टव्यः साक्षात्स्पर्शे तु त्यागएव । यथोक्तम् ॥ मद्यैर्मूत्रपुरीषैर्वा श्विनैः पूयशोणितैः । संस्पृष्टनैव शुध्येत पुनःपाकेन मृन्मयमिति ॥ १२२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तृणानि काष्ठानि बहूनि पलालस्य तृणत्वेऽपि पृथग्ग्रहणं तल्लग्नधान्यानामपि तावन्मात्रेण शुद्धिरित्येतदर्थम् । मार्जनम् संमार्जन्या मृद्भागकाष्ठभागयोः । उपाञ्जनं सजातीयेन लेपोभूमिकुड्यभागयोः । पुनःपाकेन चाण्डालादिमद्यादिस्पर्शव्यतिरिक्तलेपोपघाते मृन्मयं स्थाल्यादि ॥ १२२ ॥

(३) कुल्लूकः । तृणकाष्ठपलालं च चाण्डालादिस्पर्शदूषितं शोक्षणेन शुध्यति । तृणपलालसाहचर्यादिदमिन्धनादिकाश्च विषयम् । दारवाणां च तक्षणमिति निर्मितदारुमयगृहमात्रविषयम् । गृहमुदक्यानिवासादिदूषितं मार्जनगोमयाद्युपलेपनेन मृन्मयभाण्डमुच्छिष्टादिस्पर्शदूषितं पुनः पाकेन शुध्यति । १२२ ॥

(४) राघवानन्दः । तृणकाष्ठानि शुद्ध्यन्तीत्यनुषज्यते । मार्जनं संमार्जन्या ॥ १२२ ॥

(५) नन्दनः । उपाञ्जनमुपलेपनम् ॥ १२२ ॥

(६) रामचन्द्रः । पलालं सस्यलग्नधान्यं वेश्म मार्जनगोमयादिलम्पनैः । मृन्मयं पुनःपाकेन शुध्यति ॥ १२२ ॥

मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा श्विनैः पूयशोणितैः ॥ संस्पृष्टनैव शुध्येत पुनःपाकेन मृन्मयम् ॥ १२३ ॥

(३) कुल्लूकः । मद्यादिभिस्तु संस्पृष्टमृन्मयपात्रं पुनः पाकेनापि न शुध्यति । श्विनं श्लेष्मा पूयशोणितविकारः ॥ १२३ ॥

(४) राघवानन्दः । मद्यादिषड्विःस्पृष्टमृन्मयं पुनःपाकेऽपि न शुध्यतीत्याह मद्यैरिति ॥ १२३ ॥

(६) रामचन्द्रः । मद्याद्यैरुपस्पृष्टमृन्मयं पुनःपाकेन न शुध्यति ॥ १२३ ॥

संमार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च ॥ गवां च परिवासेन भूमिः शुध्यति पञ्चभिः ॥ १२४ ॥

(१) मेधातिथिः । सेको गोमूत्रेणोदकेन वा क्षीरेणापि क्वचिदुक्तः । उल्लेखनं शस्त्रादिना लेखाकरणं आवापनं च । आवापनं च भूमेरिति गौतमनिर्देशादेव । पञ्चभिरिति पुनर्वचनमभिघातापेक्षया व्यस्तसमस्तप्रयोगदर्शनार्थम् । तत्र संमार्जनं शून्यं शोधनमुपाञ्जनं त्वाकाररहितायाः केवलमपि मूत्रपुरीषादिलेपे । उल्लेखनं संमार्जनं सेकानदीपुलिनवनादिषु । गवां परिवासः । एकाहमात्रं गोष्ठीकरणम् । एतच्च श्मशानभुवः सर्वकर्तव्यम् । आवपनं तु यत्र पूर्वमस्थिकपालिकाद्यस्ति तदुद्धृत्य मृदामन्यासां प्रक्षेपो यत्र चान्तर्हितमेवमादिकालान्तरेणाशङ्क्यमानसद्भावमित्यादिवत्तत्रापि ॥ १२४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सेकेन जलस्य । उल्लेखनेन कुद्यालादिनोद्धारणेन । परिवासेन सर्वतोऽप्यप्य शयनेन पञ्चभिरुपघाताल्पबहुत्वापेक्षया व्यस्तैः समस्तैश्च ॥ १२४ ॥

(३) कुल्लूकः । अवकरशोधनेन गोमयाद्युपलेपनेन गोमूत्रोदकादिसेकेन खात्वा कतिपयमृदपनयनेन गवामहोरात्रनिवासं पञ्चभिरेकैकशो भूमिः शुध्यति । एषां चोच्छिष्टमूत्रपुरीषचाण्डालनिवासाद्युपघातगौरवलाघवाभ्यां समुच्चयविकल्पावगन्तव्यौ ॥ १२४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच संमार्जनेनेति । संमार्जनं संमार्जन्या अञ्जनं गोमयेन सेकोजलेन उल्लिखनं खात्वा पुनर्मृत्पूरणं गवामहोरात्रवासेन पञ्चभिरिति । एषां चोच्छिष्टमूत्रपुरीषचाण्डालनिवासाद्युपघातगौरवलाघवाभ्यां समुच्चयविकल्पौ ज्ञेयौ ॥ १२४ ॥

(५) नन्दनः । मार्जनेनाञ्जनेनचाशुचित्वतारतम्यवशेन समस्तैर्व्यस्तैर्वा शुद्धिः ॥ १२४ ॥

(६) रामचन्द्रः । भूमिशुद्धिमाह संमार्जनेति । संमार्जनादिना पञ्चधा पञ्चप्रकारेण भूमिः शुध्यति । पांसुतृणादीनांप्रोत्सारणं मार्जनं उपाञ्जनेन गोमयादिलेपेन । सेकः क्षीरगोमूत्रगोमयवारिभिः । उल्लेखनेन तक्षणेन भूमिः शुध्यति । गृहं मार्जनानुलेपनाभ्यां शुध्यति । गृहस्य पृथगग्रहणं संमार्जनलेपनयोः प्रतिदिवसे निर्मितम् ॥ १२४ ॥

पक्षिजग्धं गवा घ्रातमवधूतमवक्षुतम् ॥ दूषितं केशकीटैश्च मृत्प्रक्षेपेण शुध्यति ॥ १२५ ॥

(१) मेधातिथिः । अत्र जग्धिपदाल्लिङ्गादन्विषयतास्य श्लोकस्य प्रतीयते । पक्षिभिस्तु शुकादिभिरन्यैश्च भक्ष्यैर्यदन्मर्च्छिणीकृतम् नतु काककङ्कगृधादिभिस्तत्र हि महत्प्रायश्चित्तं पतत्रिणावलीढमितितदेतदुक्तम् । प्रकृतशुद्धे भोजनप्रायश्चित्तम् । तथाच तत्तुल्यप्रायाश्चित्तस्य गवाघ्रातस्य नैव शुद्धिः । भवेदयं न्यायः । तथापि स्मृत्यन्तरसमाचारावन्वेष्ट्यौ । एवं हि शिष्टादशशरावाधिकं काकादिः क्रव्यादोऽपहतं तावन्मात्रमपनीयावशिष्टं शोधयित्वोपयुज्यते अर्वाकृतस्य जन्ति । अत्राप्यवस्थाविशेषोपेक्ष्यः । स्मृत्यन्तरे तु कृष्णशकुनिनोपहनमपि निषिद्धम् । अवधूतं मुखश्वासेनावकम्पितं वाससोवा । यस्योपरि रजोपनयनार्थमुत्क्षेपणादि क्रियते आकाशदेशात् । अवक्षुतं यस्योपरि क्षुतं तदेव । केशामनुष्याणांच्युताः । कीटाः क्षुद्रजन्तवः रुमयः । तेकेचिद्गृहस्वेदाल्नाद्यजास्ते जीवन्तो मक्षिकावल्नोपघ्नन्ति मृतानां तेषामन्तःस्पर्शः शुद्धिरियम् । येत्वमेध्यसंसर्गजास्ते विड्भोजिनश्च तेषां जोवतामपि । गौतमीयम् नित्यमभोज्यं केशकीटावपन्नमिति । बहुव्यामौ सर्वत्र त्यागः । महाराशावशुचिकीटसंसर्गेष्वल्पे तन्मात्रापनयनमवशिष्टस्य शुद्धिः । काश्चन रजतदर्भमणीनां वारिसहितानां स्पर्शः स्मृत्यन्तरे केशाद्यवपन्नेहितः । अवज्वलनमपि क्वचित् । ये तु भूमेरिमांशुद्धिमाहुस्तैः स्मृत्यन्तरसमाचारो वाक्यार्थश्च त्यक्तः ॥ १२५ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । पक्वान्फलादिविषये आह पक्षिजग्धमिति । पक्षिस्पर्शोत्र ग्राह्यः । अवधूतं वस्त्राञ्चलपादादिवातेन । अवक्षुतं यदुपरि क्षुतं कृतं । केशैः । कीटैश्च मृतैश्च तत्क्षणपतितैः । एतादृशमोदनाद्यन्तं मृत्प्रक्षेपेणाल्पमृत्प्रक्षेपणान्तरं च मोक्षणेन स्मृत्यन्तरप्रसिद्धेन शुध्यति ॥ १२५ ॥

(३) कुङ्कुमः । भक्ष्यपक्षिभिर्नतु काकगृधादिभिः कश्चिद्भागो यस्य भक्षितः गवा यस्य घ्राणं कृतं पदाचावधूतमुपरिकृतं केशकीटदूषितं जग्धशब्दलिङ्गादन्मलपंमृत्प्रक्षेपेण शुध्यति ॥ १२५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच पक्षीति । अवधूतं पादेन धूतं । अवक्षुतं यदुपरि क्षुतं कृतं केशकीटोपपन्नं च पदास्पृष्टं च कामतइत्यादि स्नातकप्रकरणे धूतमनूय शुद्धिविधानादेतदकरण एव प्रायश्चित्तमिति । मृदित्युपलक्षणम् जलस्पर्शेनोभाभ्यां शुद्धिः ॥ १२५ ॥

(५) नन्दनः । पक्वान्शुद्धिमाह । पक्षिजग्धमिति । अवधूतं संमार्जनरजःकुङ्कुमपक्षपादादिदूषितम् । अवाङ्मुखेन यस्योपरि क्षवथुः कृतस्तदवक्षुतम् ॥ १२५ ॥

(६) रामचन्द्रः । पक्षिभिर्जग्धमन्नं गवाघ्रातंगोनिश्वासोपहतमन्नं अवधूतं अवधूतान्नं यस्योपरि क्षुतं कृतं केशकीटैर्दूषितं एतादृशमन्नं मृत्प्रक्षेपेण शुध्यति ॥ १२५ ॥

यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद्बन्धोलेपश्च तत्कृतः ॥ तावन्मृद्वारिचादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥ १२६ ॥

(१) मेधातिथिः । अमेध्यमस्पृश्यं तच्च यद्यस्य यदभोज्यं तस्य तदशुद्धिहेतुर्यथा ब्राह्मणस्य सुरा मद्यं शूद्रस्य तदयुक्तम् । प्राग्घोमाद्धर्वीष्यभोज्यानि नच तान्यस्पृश्यानि सुरामद्यादीनि तु स्पर्शेष्वपि प्रतिषिद्धानि ब्राह्मणस्य । तस्माद्य-

स्यैव स्पर्शःप्रतिषिद्धःसएव संसर्गेणाशुचित्वमापादयति । अतोनायंनियमोयदभोज्यंतदस्पृश्यंयत्त्वस्पृश्यंतदभोज्यमिति ।

आकंलिमंउपदिग्धं तावदित्यावृत्तिविधानं मृद्धारि सति प्रयोजने प्रयोजनंच गन्धलेपापनयनं शुष्कामेध्यसंसर्गे चिरवृत्तसंसर्गेवा कालेनापि तयोर्गन्धलेपयोःसरुदेव मृद्धारिभ्यामार्जनम् । ननु मृद्धार्यादीनांशुद्ध्यर्थमादानंदष्टार्थं तत्रैव शुद्ध्यत्यपगतेलेपइति किमनेन यावन्नापैतीति उच्यते । एकालिङ्गइत्यादौ संख्यातिक्रमार्थम् । उक्तया संख्यया अशक्ये पुरीषादिलेपापनये अनादृत्याश्रुतसंख्याऽधिकाप्याश्रयणीया । संख्यावचनंतु ततोऽन्यूनतयाप्यपनीते लेपे संख्यापूरयितव्येत्येवमर्थम् । मृद्धारिग्रहणंशुद्धिसाधनोपलक्षणार्थवर्णयन्ति । अतश्च यद्यप्यशुद्धिहेतुभूतवारिणाक्षालितमपि क्षीरादिना संमार्ष्टव्यमन्यथा नपश्यत् अपैति अपगच्छति निवर्ततइति । यावत्तत्कृतस्तेनामेध्येन कृतः । अतश्च कस्तूरिकादिवस्त्रगंधोनापैति नैव दुष्येत । कुंकुमाद्यनुलिमस्य यःप्रदेशोऽमेध्येन संसृज्येतत्र कुंकुमाद्यप्यपमार्जितव्यम् । अमेध्यसंसृष्टं हितत् तत्रापि गन्धलेपग्रहणात् । यदिगात्ररुद्धः कुंकुमवर्णोनिघृष्यमाणोन शक्येतापक्रष्टुं स्यादेव शुद्धिः ॥ १२६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यावन्नापैतीत्युक्तानुक्तशुद्धिकपकान्नद्रवद्रव्येतरद्रव्यवद्देहगतलेपतदुपघातविषया शुद्धिः ॥ १२६ ॥

(३) कुङ्कुमः । विष्टादिलिप्ताद्रव्याद्यावत्तत्संबन्धिनौ गन्धलेपौ तिष्ठतस्तावद्रव्यमुद्धृत्य मृद्धारिप्रक्षिप्यग्रहीतव्यम् । यत्र वसामज्जादौ मृदा शुद्धिस्तत्र मृत्सहितंजलग्रहणंकर्तव्यम् । यत्र कर्णमलादौ जलेनैव शुद्धिस्तत्र जलमात्रमित्यवगन्तव्यम् ॥ १२६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच । अमेध्याक्ताद्रव्यात् । तत्कृतोऽमेध्यकृतः । आदेयमासमन्तादेयं कर्तव्यासु द्रव्यशुद्धिषु ॥ १२६ ॥

(५) नन्दनः । तत्कृतोऽमेध्यकृतः । मृद्ग्रहणं गन्धलेपक्षयकराणां द्रव्याणामुपलक्षणार्थम् ॥ १२६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अमेध्याक्तः अमेध्याः शरीरजामलाः वसाशुक्रादयः एतैर्वसादिभिः अक्तः लिप्तःसंकृतो गन्धलेपोयावन्नापैति तावन्मृद्धारि देयं स्यात् मृदा तोयेन शुद्धिः कर्तव्या सर्वासु द्रव्यजातिषु ॥ १२६ ॥

त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन् ॥ अदृष्टमद्भिर्निर्णीक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते ॥ १२७ ॥

(१) मेधातिथिः । पवित्राणि शुद्धानि देवग्रहणंस्तुतिः । ब्राह्मणग्रहणमपि समाचारात्तत्सर्ववर्णार्थम् । अदृष्टं यदनारक्षप्रदेशस्थंद्रव्यमदृष्टश्वकाकादिसंसर्गनचसद्भावमात्रेण तदुपघाताशङ्का निष्प्रमाणिका कर्तव्या । एवंमहानसादौ मृदादिभिरकृतशौचैर्व्यवहरद्भिःपाक्यंद्रव्यमदृष्टंपरिभोक्तुं न दुष्यति न पुनरियमाशङ्का कर्तव्या उत्तरकाले तत्प्रागविज्ञातोपघाते न दोषः । तथास्मृत्यैतानिचेत्यादिविरुध्येत । एवंतावद्यत्र दोषसंबन्धोन केन चित्प्रमाणेनावगम्यते तच्छुद्धं । यत्र पुनरसत्यपि निश्चायके प्रमाणे कुतर्केण संभाव्यते तत्राद्भिर्निर्णीक्तव्यम् । यथा समानदेशस्थालीपीठरादिश्वकाकादिभिरुपहन्यमानंदृष्टम् । अन्यददृष्टमप्यद्भिर्निर्णीक्तव्यं । तथैवंविधमेव वाचा प्रशंसनीयम् । शुद्धमेतदस्त्वितिशिष्टावाचयितव्याः ब्राह्मणवचनाच्छुद्धिर्भवतीत्याहुः । प्रशस्यतइतिलडयंविधौदृष्टव्यः । येत्वाहुर्दृष्टोपघातंयत्तस्यव्यवहर्त्रा साक्षाच्छुद्धौक्रियमाणायामदृष्टायांशिष्टाश्चेदाहुः कृतमस्य शौचमिति तत्रप्रत्येतव्यमिति वाक्प्रशस्तस्यार्थस्तदयुक्तं । आप्तवचनस्य सर्वत्रैवाप्रामाण्यस्यानङ्गीकृतत्वात्पौनरुक्त्यप्रसङ्गः । अन्येत्वद्भिर्निर्णीक्तमिति दृष्टान्ततया व्याख्यानयन्ति । अदृष्टवाक्प्रशस्ते विधीयते । यथाद्भिर्निर्णीक्तंशुद्धमेवनदृष्टवाक्प्रशस्तंविधीयते । ननुच यद्यदृष्टदोषंप्रत्यक्षानुमानागमैःशुद्धंतत्कथंसंवत्सरस्यैकमपीति भक्ष्यविषयं तत्स्पृश्यविषयाशुद्धिरियं गुरुलघुतयावाआपदनापद्भेदेन वा व्यवस्था ॥ १२७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अदृष्टं वस्तु उपघाते सत्यप्यज्ञातोपघातं एतच्च पश्चादप्यज्ञाने ज्ञानेतु यथोक्तं प्रायश्चित्तं कार्यम् । भक्ष्यादन्यतमभक्षणे तु संवत्सरस्यैकमपीत्युक्तत्वात्कृच्छ्रब्राह्मणेन कर्तव्यमेव । अद्भिर्निर्णिकं क्षालितमल्पदोषत्वे । वाचा प्रशस्यते ब्राह्मणैः शुद्धमस्त्वित्युच्यते । वाचेति मनसा तादृशाशंसायामपि दोषानपगमउक्तः एतदप्यल्पोपघाते । ब्राह्मणानामित्युक्तत्वादप्येषां द्रव्यस्य यथोक्तमेव शोधनम् । तदभावे चाज्ञानेऽपि पूर्णैव दोषः ॥ १२७ ॥

(३) कुल्लूकः । केनापि प्रकारेणादृष्टोपघातहेतुसंसर्गमदृष्टं संजातोपघातशङ्कायां जलेन प्रक्षालितम् । तदाह हारीतः यद्यन्मीमांस्यस्यात्तदद्भिः स्पर्शाच्छुद्धं भवति । उपघातशङ्कायामेव पवित्रं भवत्विति ब्राह्मणवाचा यत्प्रशस्यते तानि त्रीणि पवित्राणि देवाः ब्राह्मणानां कल्पितवन्तः ॥ १२७ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच त्रीणीति । ब्राह्मणानामित्यन्येषामपि । अदृष्टकेनापि मानेनानिर्णीतंसदिग्धं च निर्णिकं क्षालितं यन्मीमांस्यस्यात्तदद्भिः स्पर्शाच्छुध्यतीति हारीतोक्तेः । वाचा विप्रस्यैव ॥ १२७ ॥

(५) नन्दनः । अथ सर्वद्रव्यसाधारणाञ्जुद्धिहेतूनाह त्रीणि देवा इति । ब्राह्मणग्रहणमन्येषामप्युपलक्षणम् । अदृष्टमज्ञातोपघातम् । अल्पदोषशङ्काविषयोऽयं श्लोकः ॥ १२७ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्पृष्टास्पृष्टमदृष्टं द्वस्तु अद्भिर्यन्निर्णिकं प्रक्षालितं शुद्धिसन्देहे यद्वाचा शुद्धं भवतीति ब्राह्मणवचनेन प्रशस्यते ॥ १२७ ॥

आपः शुद्धा भूमिगता वैतृष्ण्यं यासु गोर्भवेत् ॥ अव्याप्ताश्चेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः ॥ १२८ ॥

(१) मेधाथितिः । भूमिग्रहणमुपलक्षणार्थं तेन प्रणालिकागता अपि शुच्यएव । स्वभावशुचयो ह्यपो भूमिगता आकाशगताश्च । किंतु भूमेरमेध्यद्रव्यसंसर्गात्किंचिदशुचित्वं तत्र गतानां संसर्गतोऽशुचित्वप्रामौ यावतीनां च शुद्धिस्तदर्थमिदं वैतृष्ण्यं यासु गोर्भवेदिति । वैतृष्ण्यं पिपासाविच्छेदः परिमाणोपलक्षणार्थंचैतत् । तत्र चिरन्तनैर्व्याख्यातं लिङ्गदर्शनेन यथा-वै गोः सास्त्रान्भसिष्ठाव्येति । यत्र गोः सास्त्रादिमज्जति तृष्णा च विच्छिद्यते तावत्यः । यास्तु मेध्यभूमिगतास्ताः स्वल्पा अपि शुद्धाः । कथं पुनरमेध्यवामिरवसेया गन्धवर्णरसान्विताः । अमेध्येनेति तृतीयातन्तं षष्ठ्या विपरिणम्यते । अमेध्यसंबन्धिभिर्गन्धादिभिर्यद्यन्विताः संयुक्ता भवन्ति । ततो व्याप्ता उच्यन्ते । एवं च कृत्वा पानीयंतडागादिषु यद्येकस्मिन् प्रदेशेऽमेध्यं दृश्यते प्रदेशान्तरे गन्धादिशून्यं शुद्ध्यदेव ॥ १२८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भूमिगताः न तु शिलाकाष्ठादिस्थाः तासां दिनान्तरावस्थानेनाशुद्धत्वात् गोरेकस्याः पाने वैतृष्ण्यं जलेच्छाविगमः । अव्याप्ता अवेष्टिताः सर्वतो बहिर्गन्धादयो यत्र देशे जलस्य यादृशास्तैरन्विताः ॥ १२८ ॥

(३) कुल्लूकः । यत्परिमाणात्स्वप्सुगोः पिपासाविच्छेदो भवति ता आपो गन्धवर्णरसशालिन्यः सत्यः यद्यमेध्यस्तिमान भवन्ति तदा विशुद्धभूमिगता विशुद्धाः स्युः । भूमिगता इति विशुद्धभूमिसंबन्धप्रदर्शनाय न त्वन्तरिक्षगतानां निवृत्त्यर्थम् ॥ १२८ ॥

(४) राघवानन्दः । आप इति स्वाभाविकगन्धादियुक्ताः अमेध्यमूत्रादिनाऽनुपहताः यावद्योगोर्वैतृष्ण्यकारिण्य अन्याश्च । उद्धताश्चापि शुद्ध्यन्ति शुद्धैः पानैः समुद्धताः । एकरात्रोषिता आपस्त्याज्याः शुद्धा अपि स्वयमित्यतोन्तरिक्षगा अपि ॥ १२८ ॥

(५) नन्दनः । भूमिगताइतिविशेषणान्तु वर्षाधारावस्थानांशुद्धिर्गम्यते । अमेध्येनाशुद्धेन द्रव्येणाव्याप्ता असंबद्धाः । गन्धवर्णरसान्विताः चेदित्यत्रापि संबध्यते ॥ १२८ ॥

(६) रामचन्द्रः । भूमिस्थाआपोयासुगोर्वैतृण्यंभवेत् चाण्डालादिभिरसंस्पृष्टाश्चेत् ॥ १२८ ॥

नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्ये यच्च प्रसारितम् ॥ ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः

॥ १२९ ॥

(१) मेधातिथिः । कारवः शिल्पिनः सूदरज्जकतन्तुवायादयस्तेषांहस्तो नित्यंशुद्धः । अतश्च जननमरणाशौचयोस्तत्स्पृश्यतास्ति नतु पुरीषादिलेपे दृश्यमाने शुद्धता विज्ञेया । यदुक्तं सद्यःशौचाः प्रकीर्तिताइतितदेवेदम् । अत्र चापौनरुक्त्यंमनुशास्त्रेऽस्यानुपदेशात् । विषयान्तरमन्यस्ति । अनाचान्तास्तन्तुवायावयन्ति तन्तूनांस्तम्भविश्लेषणार्थंयत्पिष्टमण्डादि दीयते तद्भाजनंच यत्र तत्र भूमौ निधीयते तावती याऽशुद्धिः सानेन निवर्त्यते । नतु त्वभावाशुचीनांस्पर्शस्तैस्तस्यशुद्धता विज्ञेया नहि तेषांतत्कारुकर्मविहितम् । एवंचैषैवोपपत्तिरितिस्लेच्छसृष्टानामपि नाशुचित्वं । तत्र शङ्खवचनात्प्रोक्षणाभ्युक्षणे । तत्रहि पठितं । कारुहस्तःशुचिस्तथा करद्रव्याणीति । पण्यं व्यवहाराय यद्द्रव्यंरूपकैर्विक्रीयतेऽन्येनवा द्रव्येण मीयते तत्पण्यं तच्च प्रसारितमापणभूमौ शुचि अनेकक्रेतृसंस्पर्शाद्भूमौच लेपनादिरहितायांस्थापनाद्युपघातस्तेन नाशुचि । पुनःपुनर्दृश्यमानोपघातम् । प्रसारितग्रहणादृहावस्थितस्य बुद्धौस्थितेपि पण्येनशुद्धिः सिद्धान्तानांतु सत्कृपूपादीनांसत्यपि शुचित्वेऽभक्ष्यता शङ्खवचनादेव आपणीयान्यभक्ष्याणीति । ब्रह्मचारिगतमस्मादेव साहचर्यात्पूर्वोक्ताशुद्धिरीदृशउपघाते विज्ञायते । भिक्षमाणस्य रथ्याक्रमणमशुचिदर्शनक्षवथुनिष्ठीवनमनेकहस्तसंपातोभिक्षायाइत्याद्युपघातःसंभाव्यते ॥ १२९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शुद्धः संभाव्यमानदोषतया न दुष्टः किंतु निश्चितदोषतयैव । पण्यं विक्रेयं प्रसारितमापणे नतु तद्ग्रहस्थम् । ब्रह्मचारिपदं भिक्षावृत्तिपरं तद्वत् भैक्ष्यं रथ्याक्रमणकालसंभावितदोषेणादुष्टम् ॥ १२९ ॥

(३) कुल्लूकः । कारोर्मालाकारादेर्देवब्राह्मणाद्यर्थेऽपि माल्यादिग्रथने द्रव्यप्रयोजनाद्यपेक्षया शुद्धिविशेषाकरणेऽपि त्वभावादेव हस्तः सर्वदा शुद्धः । तथा जननमरणयोरपि त्वव्यापारे शुद्धः । नत्वाशौचंकारुणां कारुकर्मणीतिवचनात् । तथा यद्विक्रेतव्यपण्यवीथिकायांप्रसारितंनपणनीयमन्नमश्रीयादितिशङ्खवचनात् सिद्धान्तव्यतिरिक्तं तदनेकक्रेतृकरस्पर्शेऽपि शुद्धमेव तथाच ब्रह्मचार्यादिगतभैक्ष्यमनाचान्तस्त्रीदत्तमपि रथ्यादिक्रमणेऽपि सर्वदा शुद्धमिति शास्त्रमर्यादा ॥ १२९ ॥

(४) राघवाजन्दः । कारुहस्तइति कारुर्मालाकारादिः । तद्धस्तस्थंशुद्धमिति । न त्वशौचं कारुणांकारुकर्मणीतिवचनात् । जननाद्याशौचाभावः । प्रसारितंवीथिकायांविक्रयार्थम् ॥ १२९ ॥

(५) नन्दनः । अशुद्ध्यपवादमाह नित्यमिति । नित्यमाशौचेऽपि । कारवोरजकादयः । हस्तग्रहणादङ्गान्तरस्पृष्टानामशुचित्वम् । पण्येयत्प्रसारितं तच्चण्डालादिस्पृष्टमपि शुद्धम् । अशुद्धदेशाक्रमणादुपघातेऽपि ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यंच नित्यमनापद्यपि मेध्यम् ॥ १२९ ॥

(६) रामचन्द्रः । कारुहस्तः कारवोरजकचेलधावकसूपकाराद्याः तेषांहस्तः शुचिः शुचित्वंतत्साध्ये कर्मणि वस्त्रधावनादौ सूतकादिसंभवेपि पण्यंपण्यार्हविक्रेयं वस्त्रादि तत्शुद्धं । भिक्षाणांसमूहोभैक्षं ब्रह्मचारिगतं ग्रामं रथ्याक्रमणादिनापि न दुष्यति ॥ १२९ ॥

नित्यमास्यं शुचि स्त्रीणां शुकुनिः फलपातने ॥ प्रसवे च शुचिर्वत्सः श्वा मृगग्रहणे शुचिः ॥ १३० ॥

(१) मेधातिथिः । मेध्यतयाशुचित्वमाह । सर्वस्त्रीणामास्यं शुचि परिचुम्बनादौ स्त्रियश्च रतिसंसर्गइति स्मृत्यन्तरम् । रतिसंबन्धिनीष्वेव न मातृभगिन्यादिषु । अत्रउच्छिष्टप्रतिषेधोयंन मन्तव्योयोषितःसत्यपि रतिसंबन्धित्वेनाश्रीयाद्धार्यया सार्धमितिवचनान्न भुज्येतेतिसिद्धंचतुर्थीध्याये । नित्यग्रहणान्नसंयोगवेलायामेव किंतर्हि तदर्थायामन्त्रप्रवृत्तौ । शकुनिःफलपातने पक्षिमात्रवचनेपि शकुनिशब्दःकाककङ्कादीनांविट्भुजानेष्यते । समाचारात्पातनग्रहणादृक्षस्थस्य फलस्यायंविधिः । प्रसवे दुःसमानायागोर्वत्सःपयःप्रक्षरणार्थंस्तनेषु संश्लिष्यते । अथवोच्यते । गावोमेध्यामुखादतइतिवचनादशुचित्वे प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थंवचनमतस्तदीयास्यसंस्पर्शस्य । नतु श्वा शुचिः मृगंतु यदाखेटकादौ गृह्णाति हन्तुंतदाशुचिः । ॥ १३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आस्यं रतिकाले चुम्बनादौ । फलस्य पातने पातनार्थं चश्वा वृन्ताघाते नतु फलघातेपि । प्रसवे प्रसवार्थंस्तनोच्छिष्टतायां । मृगग्रहणे दन्तैरुच्छिष्टीकृत्य जीवतोग्रहणे ॥ १३० ॥

(३) कुल्लूकः । सर्वदा स्त्रीणामुखंशुचि । तथा काकादिपक्षिणांचञ्चूपघातपतितंफलंशुचि वत्समुखंच दोहसमये क्षीरप्रक्षरणेशुचि । श्वाच यदा मृगादीन्हन्तुंगृह्णाति तदा तत्र व्यापारे शुचिः स्यात् ॥ १३० ॥

(४) राघवानन्दः । किंच नित्यमास्यमिति । चुम्बनादौ आस्यमुपलक्षणम् ॥ सोमःशौचंददौ स्त्रीणांगन्धर्वाश्च शुभांगिरम् । पावकः सर्वमेध्यत्वंमेध्यावै योषितःसदेति याज्ञवल्क्योक्तेः । शकुनिः फलपातने चश्वाघातेन काकादीनां पतितंफलंशुचिः । प्रसवे दुग्धंक्षरणार्थंचोषणे । श्वा मृगग्रहणे शुचिरिति ॥ १३० ॥

(५) नन्दनः । कार्यविशेषापेक्षया शुचीत्याह नित्यमिति । नित्यग्रहणं सर्ववर्णस्त्रीणांविशेषणार्थम् ॥ १३० ॥

(६) रामचन्द्रः । स्त्रीणां आस्यं मुखं संभोगकाले चुम्बनादिविषये शुचि ॥ १३० ॥

श्वभिर्हृतस्य यन्मांसं शुचि तन्मनुरब्रवीत् ॥ ऋव्याद्भिश्च हतस्यान्यैश्चण्डालाद्यैश्च दस्युभिः ॥ १३१ ॥

[शुचिरग्निःशुचिर्वायुः प्रवृत्तोहि बहिश्चरः । जलं शुचि विविक्तस्थं पन्था संचरणे शुचिः ॥ ११ ॥]+

(१) मेधातिथिः । पूर्वश्वामृगग्रहणइतिमृगवधेश्वाशुचिरित्येतावदेवविवक्षितं इहतु तेन गृहीतोन्धैर्वादण्डादिघातेनेतिविशेषः । उत्तरार्धश्लोकार्थोविधीयते । ऋव्याद्भिः श्येनजम्बूकप्रभृतिभिः चण्डालाद्यैः । आदिग्रहणंश्वापदादीनामबाधाय । दस्यवोनिषादव्याधादयःप्राणिवधजीविनः ॥ १३१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्वभिर्हृतस्य दन्ताघातादिना मृतस्य । ऋव्याद्भिर्व्याघ्राद्यैः । चाण्डालाद्यैर्हत्वा स्पृष्टस्य न तत्स्पर्शदोषः ॥ १३१ ॥

(३) कुल्लूकः । कुकुरैर्हृतस्य मृगादेर्यन्मांसंतच्छुचि मनुरब्रवीत् तच्छ्राद्धाद्यतिथिभोजनादावेव द्रष्टव्यम् । अन्यैश्चामांसादिभिर्यज्ञश्येनादिभिश्चव्याधादिभिश्च मृगवधजीविभिर्हृतस्य ॥ १३१ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रोपलक्षणंऋव्यादादीनामित्याह श्वभिरिति । दस्युर्जातिविशेषः वक्ष्यमाणः ॥ १३१ ॥

(६) रामचन्द्रः । ऋव्याद्भिः व्याघ्रादिभिः एतेर्हृतमांसंशुचि ॥ १३१ ॥

[रामचन्द्रः । शुचिरिति । पन्थाः संचरणे सोमसूर्याशुभिः शुचिः । बहिश्चरः वायुः ।]

ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः ॥ यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्च्युताः
॥ १३२ ॥

(१) मेधातिथिः । खशब्दोयमिन्द्रियवचनः । तेन कर्मेन्द्रियाणिपादयोर्ग्रहणे यान्यधस्तान्यमेध्यानिबहुवचनंएत-
द्युक्तं ऊर्ध्वनाभेरित्यनेन विरोधात् । तत्रनाभेरूर्ध्वमेध्यतरत्वमुक्तम् । प्रकर्षश्च । यद्यधस्तान्यमेध्यत्वंभवति ततउपपद्यते ।
नहि भवति शुक्लःकृष्णतरइति । न चायमिन्द्रियवचनःकिंतर्हिछिद्रार्थोयम् । तदुक्तं समशीर्षण्याःप्राणाइति । अधोद्वेछिद्रे
स्त्रीपुंसोपस्थभेदाद्बहुवचनं । एवंसत्यन्तरास्पर्शोपि हस्तादेःशुद्धता । यदितद्गतश्लेष्मसंबन्धोनभवति ॥ १३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । खानि चक्षुरादिरन्ध्राणि । यान्यधः पायुलिङ्गमिति अतस्तत्संस्पर्शो प्रायश्चित्ताधिक्य-
मित्यर्थः । बहुवचनंन्यक्त्यपेक्षया । देहात् यत्रदेहदेशेऽश्लेष्मादिमलानानित्यावस्थानं तस्माच्च्युताअतएवामेध्याः । तत्र-
स्थास्तु तेनैवाङ्गेन स्पृश्यमानान दोषाय अङ्गान्तेरेणाकर्षे देहाच्च्युतेरप्यावश्यकत्वात् ॥ १३२ ॥

(३) कुल्लूकः । यानि नाभेरुपरीन्द्रियच्छिद्राणि तानि सर्वाणि पवित्राणि भवन्ति अतस्तेषांस्पर्शने नाशौचम् ।
यानि नाभेरधस्तान्यशुचीनि भवन्ति अधश्छिद्रेषु च बहुवचनंन्यक्तिबहुत्वापेक्षया वक्ष्यमाणाश्च वसादयोदेहमलादेहा-
निःसृताअशुद्धाभवन्ति ॥ १३२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच ऊर्ध्वमिति खानि इन्द्रियाणि देहात् त्वत्स्थानात् च्युताभ्रममलाविण्मूत्रदूषिकादयः
॥ १३२ ॥

(५) नन्दनः । खानिचक्षुरादीनीन्द्रियाणि । मलान्वक्ष्यति । मलादेहच्युताश्चेदमेध्यानदेहस्थाः । अमेध्यानांस्पर्-
शोनकर्तव्यइतिभावः ॥ १३२ ॥

(६) रामचन्द्रः । देहच्युतामलाः अमेध्याः ॥ १३२ ॥

मक्षिका विप्रुषश्छाया गौरश्वः सूर्यरश्मयः ॥ रजोभूर्वायुरग्निश्च स्पर्शो मेध्यानि निर्दिशेत् ॥ १३३ ॥

(१) मेधातिथिः । तथा दूषिकादुष्टेन पुनश्चासंस्पर्शनाय त्वेदजानाम् । गोघ्रहणमजैडकस्य । अश्वघ्रहणंहस्त्य-
श्वतराणाम् । सूर्यघ्रहणंज्योतिषाम् । विप्रुषउर्दबिन्दवः स्पर्शमात्रानुभवेनयाअदृश्यमानरूपविशेषाः छाया चण्डालादोनां ।
मूश्चण्डालादिस्पृष्टा पदयामाक्रम्यमाणाशुद्धा । अन्यस्यास्तु संमार्जनादिविहितम् । एते मक्षिकादयः पुरीषादिस्पृशन्तो न
दूषयन्ति ॥ अजाश्वंमुखतोमेध्यंगावोमेध्यामुखादते ॥ मार्जारनकुलौ स्पृश्यौ शुभाश्च मृगपक्षिणइति स्मृत्यन्तरे ॥ १३३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मक्षिका जीवनकालेऽन्नाद्याक्रमणे । विप्रुषोल्पजलकणाउच्छिष्टभूताअपि न स्नान-
पर्यन्तशोध्यदोषहेतवः यद्वा आचामयतोये तोयबिन्दवः पादावुपस्पृशन्ति तत्परमेतत् । छाया वृक्षादेः । सूर्यरश्मयो
गवाश्वौ रजोभूमिर्वायुरग्निश्चाण्डालादिस्पर्शोपि स्वेन स्पर्शने कर्तव्ये मेध्यानीत्यर्थः । अनाकरस्थोयंश्लोकइतिकेचित्
॥ १३३ ॥

(३) कुल्लूकः । मक्षिकाअमेध्यस्पर्शिन्योऽपि विप्रुषोमुखनिःसृताअल्पाजलकणाः छायापतितादेर्हीनस्पर्शस्यापि
गवादीनि चाग्निपर्यन्तानि चण्डालादिस्पृष्टानि स्पर्शो शुचीनि जानीयात् ॥ १३३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच । एतानिमेध्यानीत्याह मक्षिकेति । विप्रुषोमुखनिःसृताबिन्दवः अनवच्छिन्नजलधारावा ।
मक्षिकासन्ततधाराइत्युक्तेः । छाया वृक्षादेः । स्पृष्टा चण्डालादिभिः । एवंगवादिसप्त । अन्यच्च ॥ अजाश्चमुखतोमेध्यागावो

(१३२) न्यधस्तानि=न्यधस्तादमेध्यानि (क, ग, घ, च, ण)

मेध्यामुखाद्वे । मार्जारनकुलौऽस्पृश्यौ शुभाश्च मृगपक्षिणइति स्मृत्यन्तरात् । मार्जारनिषेधाचारस्तुकर्मण्येव ॥ १३३

(५) नन्दनः । उपहतान्यपि कानि मेध्यानीत्याह मक्षिकेति । विमुषोविन्दवः । छाया वृक्षादिच्छाया । चण्डा-
लादिस्पृष्टानामपि मक्षिकादीनांस्पर्शनानुपपन्नइत्यर्थः ॥ १३३ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतानि मक्षिकादीनि चाण्डालस्पर्शकृतानि स्पर्शे मेध्यानि निर्दिशेत् विमुषः अल्पजलकणाउ-
च्छिष्टभूताः । छाया वृक्षादेः गोः अश्वः भूः भूमिः ॥ १३३ ॥

विण्मूत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थमृद्वार्यादेयमर्थवत् ॥ दैहिकानां मलानां च शुद्धिषु द्वादशस्वपि ॥ १३४ ॥

(१) मेधातिथिः । देहाच्चैव मलाः च्युताइत्यशुद्धतायामिदमुच्यते । विण्मूत्रे उत्सृज्येते येन सविण्मूत्रोत्सर्गः पा-
ष्वादिस्तस्य शुद्ध्यर्थमृद्वार्यादेयमर्थवत् अनादृत्यसंख्यायावतीभिर्गन्धलेपावपसर्पतस्तावतीरपोमृदश्चगृह्णीयात् । देहेभवा-
दैहिकामलाशुचित्वापादकाः । तदर्थः स्वपि शुद्धिषु मृद्वारिणी उभे अप्यर्थवती आदेये । स्मृत्यन्तरे पठ्यते ॥ आददीत-
मृदोऽपश्च षट्सु पूर्वेषु शुद्धये वसादिषु । उत्तरेषु तु षट्स्वद्विःकेवलाभिस्तुशुध्यति । विशुद्धेषु श्लेष्मादिषु स्मृत्यन्तरे पठितं
स्नेहविलंसननासिक्यंश्लेष्माचक्षते तेषामेवसत्यप्युत्तरषट्कतयानमृदआदातव्याएव ॥ १३४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उत्सर्गउत्सृष्टशेषः । मृद्वारित्यविवक्षितः शब्दक्रमोवारिणः प्रथममादेयत्वात् । अर्थवत्
प्रयोजनवत्तया यावतागन्धलेपक्षयः । दैहिकानां वसाशुक्रमित्यादिना वक्ष्यमाणानां द्वादशानां तद्देदाद्वादशसु शुद्धिषु
तत्र पूर्वमलषट्के मृद्वारिणी उत्तरषट्के तु वारिमात्रं बौधायनवचनात् अत्रोत्तरषट्केपि मृद्विधानंलेपबाहुल्यापेक्षयेति
ग्राह्यम् ॥ १३४ ॥

(३) कुङ्कुमः । विण्मूत्रमुत्सृज्यते येन सविण्मूत्रोत्सर्गः पाष्वादिस्तस्य शुद्ध्यर्थमृद्वारि ग्रहीतव्यमर्थवत्प्रयोज-
नवच्चावता गन्धलेपक्षयोभवति । तथा शारीराणां वसादिमलानांसंबन्धिषु द्वादशस्वपि गन्धलेपक्षयार्थमृद्वारि ग्राह्यम् ।
तत्र स्मृत्यन्तरात्पूर्वषट्के मृजलग्रहणम् । उत्तरषट्के जलमात्रग्रहणम् । तदाह बौधायनः ॥ आददीत मृदोऽपश्च षट्सु पूर्वेषु
शुद्धये । उत्तरेषु च षट्स्वद्विःकेवलाभिर्विशुध्यति । ततश्च द्वादशस्वपीति मानवंमृद्वारिग्रहणवचनं व्यवस्थयामृद्वारिणो-
र्ग्रहणे सति न विरुध्यते । गोविन्दराजस्तु मनुबौधायनवचनसंदर्शनादुत्तरषट्केऽपि विकल्पमाह । सच व्यवस्थितोदैव-
पित्राद्यदृष्टकर्मप्रवृत्तेऽन्तरेष्वपि मृदमादद्यान्नान्यदा ॥ १३४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच विण्मूत्रेति । अर्थवत् । यावतागन्धलेपक्षयोभवेत्तावदुपादेयमित्यर्थः । गन्धलेपक्षय-
करंशौचं कुर्यादिति याज्ञवल्क्योक्तेः । शुद्धिषु शोधनकर्तव्यासु तदुक्तं ॥ आददीत मृदोयश्च षट्सु पूर्वेषु शुद्धये । उत्तरेषु तु
षट्स्वद्विःकेवलाभिर्विशुध्यतीति बौधायनोक्तेर्व्यवस्था । अतो गोविन्दराजोक्तविकल्पोऽनवसरः ॥ १३४ ॥

(५) नन्दनः । विण्मूत्रयोर्त्सर्गे तल्लेपाद्यभावेऽपि शुद्धयेमृद्वार्यादेयम् । अर्थवत्प्रयोजनवत् गन्धलेपक्षयकरमि-
तियावत् । दैहिकानां मलानां द्वादशसु शुद्धिषु द्वादशमलानांशुद्धिषु । अत्रापिमृद्वार्यादेयमित्यनुषङ्गः ॥ १३४ ॥

(६) रामचन्द्रः । विण्मूत्रोत्सर्गे तयोः शुद्ध्यर्थमृद्वारि अर्थवत् प्रयोजनवत् । गन्धादिदूरीकरमित्यर्थः ॥ १३४ ॥

वसाशुक्रमसृज्यजामूत्रविटूघ्राणकर्णविट् ॥ श्लेष्माश्रुदूषिकास्वेदोद्वादशैते नृणां मलाः ॥ १३५ ॥

(१) मेधातिथिः । यान्येतानि द्वादशमलानि दर्शितानि नृग्रहणं पञ्चनखानां प्रदर्शनार्थं । श्वशृगालादीनां त्वस्पृ-
त्वादेव सिद्धम् । विण्मूत्रे तु सर्वस्याजाविकगवाश्वेभ्योन्यत्र ॥ १३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शुक्रपदं रजसोप्युपलक्षणम् । असृक्पदं पूयस्नायुमांसादेः । विट् विष्ठा । कर्णविट् कर्णमलं तदास्यमलस्यापिष्ठीवनादेरुपलक्षणम् । नखपदं केशलोमादेरपि । श्लेष्म नासामलं । दूषिका नेत्रमलं । त्वेदपदेन गात्रमलानामपि ग्रहणम् ॥ १३५ ॥

(३) कुष्ठूकः । वसा कायस्नेहः शुक्ररेतः असृयक्तं मज्जा शिरोमध्ये पिण्डितस्नेहः दूषिकाऽक्षिमलः त्वेदः श्मदिना देहनिःसृतंजलं वसादयोद्वादशनराणादैहिकामलाभवन्ति ॥ १३५ ॥

(४) राघवानन्दः । तन्मलान्याह वसेति । वसा कायस्नेहः । मज्जा अस्थिगतस्नेहः । अश्रु नेत्रमलं । दूषिका तदुद्भवः पूयविशेषः ॥ १३५ ॥

(५) नन्दनः । द्वादशमलानाह वसेति । कर्णविट्कर्णमलम् । मलग्रहणमन्येषामपि तत्तुल्यानामुपलक्षणार्थम् । अर्थान्तरितेन येन कार्यं पादावनेजनं मृत्पूर्वकं यथा तोयमशुचिक्षालनायच ॥ १३५ ॥

(६) रामचन्द्रः । वसादयोद्वादश नृणां मलाः मज्जा पूयस्नायूमांसत्वगादेरुपलक्षणम् । कर्णविट् त्वेदहमात्रमलानामुपलक्षणम् । दूषिका नेत्रमलम् ॥ १३५ ॥

एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्तथैकत्र करे दश ॥ उभयोः सप्त दातव्यामृदः शुद्धिमभीप्सता ॥ १३६ ॥

(१) मेघातिथिः । विष्मूत्रोत्सर्गानन्तरं मेदस्य शुद्ध्यर्थमेकाशृद्दातव्या वामेन । स्मृत्यन्तरे शुद्धिविधानाद्यावती तस्मिन्हस्ते याति तावती सोदका ग्रहीतव्या । अहंतु ब्रुवे । अर्थवदिति वचनेनोक्तमेव परिमाणम् । केचित्तु पठन्ति । प्रथमा प्रसृतिर्ज्ञेया द्वितीयातुत दर्शिका । तृतीया मृत्तिका ज्ञेया त्रिभागकरपूरणे । एतच्च परिमाणं पायावेव । अन्यत्र त्वर्थवदित्येकोत्सर्गपीयत्येव संख्या । आवृत्तिविधानंचेदं मृदांभेदे गवादिवत् । तथाचात्रोच्यते । वल्मीकादूरतरादश्वस्थानाच्चान्येत्यादि । एवमिह सितारुणालोहितेत्याद्यपि नादरणीयम् । अभीप्सता इच्छतेति ॥ १३६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तत्र विष्टोत्सर्गे शौचप्रकारमाह एकालिङ्गइति । एकाशृत्त्रिपर्वपूरिका । गुदाहोष्ठेन मलमपकृष्य तिस्रः प्रसृतितदर्धतदर्धमानाः स्मृत्यन्तरात् । करादौत्वामलकमात्रास्त्वित्युपक्रमे शौचार्यचैवमृत्तिका इति स्मृत्यन्तरेऽभिधानात्तावत्प्रमाणतोमृदः । एकत्र वामे । उभयोर्वामदक्षिणयोः ॥ १३६ ॥

(३) कुष्ठूकः । मूत्रपुरीषोत्सर्गे सति शुद्धिमभीप्सता मृद्धार्यादेयमर्थवदित्युक्तत्वाज्जलसहिता मृदेका लिङ्गेदातव्या । गुदे तिस्रोमृदः । तथैकस्मिन्करे वामे । शौचविदक्षिणहस्तंनाधःशौचे नियोजयेत् । तथैव वामहस्तेन नाभेरूर्ध्वेन शोधयेदिति देवलवचनात्तस्यैवाधःशौचसाधनत्वात्तत्रैव दशमृदोदातव्यास्ततः उभयोः करयोः सप्तदातव्याः । यदातूक्तशौचेनापि गन्धलेपक्षयोः भवति तदा यावदपैत्यमेभ्याक्तादिति वचनादधिकसंख्याऽपि मृद्दातव्या । एतद्विषयाण्येव मुनीनामधिकमृत्संख्यावचनानि । मृत्परिमाणमाह दक्षः ॥ लिङ्गेऽपिमृत्समाख्याता त्रिपर्वी पूर्यते यया । द्वितीया च तृतीया च तदर्धार्धा प्रकीर्तिता इति यदातूक्तसंख्याया अल्पेनापि गन्धलेपक्षयोः भवति तदा संख्यावाक्यारम्भसामर्थ्यात्संख्या पूरयितव्यैव ॥ १३६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचैकेति । एकत्र करे वामकरे उभयोरिति शुद्ध्यधिकरणद्वित्वोपलक्षणं तेन पाणिपादद्वयशौचसिद्धिरत आह ॥ शौचविदक्षिणहस्तंनाधःशौचेनियोजयेत् । तथैव वामहस्तेन नाभेरूर्ध्वेन शोधयेदिति देवलोक्तेः । दक्षि-

(१३६) तथैकत्र करेदश (क, ग, घ, ण) = तथावामकरे दश (ख, च)

णकरशौचं संसर्गजलेपक्षयार्थम् । अत्रसङ्ख्याऽदृष्टार्था अधिकेनन्यूनेनवा गन्धलेपक्षयस्यावश्यंभावित्वात् ॥ गन्धलेपक्षयं करं शौचंकुर्यादतन्द्रितइति याज्ञवल्क्योक्तेः ॥ १३६ ॥

(५) नन्दनः । एकालिङ्गे विभक्तिविपरिणामः । एकस्मिन्वामेकरे । उभयोः करयोःसंहतयोः ॥ १३६ ॥

(६) रामचन्द्रः । मूत्रपुरीषशौचाय मृत्परिमाणमाह एकेति । शुद्धिमभीप्सता पुंसा मृदोदातव्याः । उभयोर्हस्तयोः ॥ १३६ ॥

एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् ॥ त्रिगुणं स्याद्वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम् ॥ १३७ ॥

(१) मेधातिथिः । शौचविधिराश्रमविशेषेण अनाश्रामिणस्तु मृद्धार्यदेयमर्थवदित्येतदेव शूद्रस्यापि गार्हस्थ्येऽधिकारोस्त्येवेत्येषा संख्या ॥ १३७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । द्विगुणमित्यादि संख्यातोऽन स्मृत्यन्तरसिद्धपरिमाणतः अत्र तस्याएव प्रक्रमान् प्रकृतार्थत्वाच्चसर्वनाम्नां वारत्रयगृहीताधिकानांतु मानापेक्षायामन्त्यमानस्य प्रसृत्यर्धार्धस्य ग्रहणम् ॥ ३७ ॥

(३) कुल्लूकः । एका लिङ्गइत्यादियच्छौचमुक्तंतद्रहस्थानामेव ब्रह्मचारिणांद्विगुणं वानप्रस्थानांत्रिगुणं यतीनां पुनश्चतुर्गुणम् ॥ १३७ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र व्यवस्थितिमाह एतदिति । यतीनां त्रिदण्डिनां आश्रमसमभिव्याहारान्नैकदण्डिनां नोच्छिद्योनाशुचिर्भवेत् अन्याश्रमस्थइत्यादिश्रुतेः । तत्रच ॥ यच्छौचंदिवसेप्रोक्तंतदर्धनिशिसन्ध्ययोः तदर्धमातुरेकाले पथि शूद्रवदाचरेदिति पठन्ति । तेन शूद्रे सङ्ख्यानेष्टा किंतु गन्धलेपक्षयमात्रम् ॥ १३७ ॥

कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा खान्याचान्तउपस्पृशेत् ॥ वेदमध्येष्यमाणश्च अन्नमश्रंश्च सर्वदा ॥ १३८ ॥

(१) मेधातिथिः । मूत्रोत्सर्गदेशान्मूत्रादिसंबन्धात् कृत्वा शोधयित्वा यथोक्तेन विधिना आचान्तः खानि इन्द्रियाणि उपस्पृशेत् । वेदमध्येष्यमाणश्च द्वितीयेत्वाध्यायविधौप्राथमिकार्थत्वात्करोतेःकृत्वा उत्सृज्येति प्रतीयते । उत्सृज्य मूत्रपुरीषंचपायूपस्थंक्षालयित्वाआचामेद्वेदमध्येष्यमाणश्च स्वाध्यायविधेर्धर्मतयोक्तमध्येष्यमाणस्त्वाचान्तइति । इदंत्वध्यापयतोऽन्यतोवाअन्यथा वेदमुदाहरन्तउच्यन्ते । लौकिकानि क्रियान्तराणि कृत्वा नानाचान्तोवेदाक्षराण्युच्चारयेत् । अन्नमश्रंश्च । ॥ १३८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आचान्तइति त्रिर्जलपीत्वा द्विःप्रमृज्यादिति वक्ष्यमाणमाचमनंकृत्वेत्यर्थः । खानि आस्यघ्राणचक्षुश्रोत्रनाभित्दयब्रह्मरन्धाणि स्पृशेदिति साङ्गमाचमनंदार्शितम् । वेदमध्येष्यमाणोऽध्यापयिष्यन्नध्येष्यमाणोवा । अन्नमशनादौ । अत्र कृत्वामूत्रपुरीषंवैत्यप्रायत्यातिशयमात्रोपलक्षणम् । अध्येष्यमाणोन्नमश्रन्तित्यत्यन्तप्रयत्नसाध्यकर्मारम्भोपलक्षणम् । तेनाप्रायत्यनिवृत्त्यर्थंप्रयत्नसाध्यकर्मारम्भयोग्यतार्थवाचमने कार्ये । गृहस्थानामिन्द्रियादिस्पर्शनसहितमाचमनमितिदार्शितम् ॥ १३८ ॥

(३) कुल्लूकः । मूत्रपुरीषंकृत्वा कृतयथोक्तशौचस्त्रिराचान्तइन्द्रियच्छिद्राणि शीर्षाप्यन्यानि च स्पृशेद्वेदाध्ययनंचिकीर्षन्नन्वाऽश्रन् । यत्तु द्वितीयाध्याये अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तोनिवेद्य गुरवेश्रीयादाचम्येत्युभयमुक्तंतद्रताङ्गत्वार्थम् । इदंतु पुरुषार्थशौचायेत्यपुनरुक्तिः ॥ १३८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच कृत्वेति वेदमध्येष्यमाणइति द्वितीयाध्यायोक्ताचमनधर्मप्रापणार्थम् ॥ १३८ ॥

(५) नन्दनः । आचान्तः पीतजलः । खानि चक्षुर्नासिकाश्रोत्राणि । अन्नंचभोक्ष्यमाणः । सर्वदाशुचिरपि ॥ १३८ ॥

(६) रामचन्द्रः । मूत्रपरीषंकृत्वा हस्तपादौ प्रक्षाल्य आचान्तःसन् खानि छिद्राणि मुखादीनिउपस्पृशेत् तत्राह कर्मपुराणे ॥ अङ्गुष्ठानामिकाभ्यांच स्पृशन्नेत्रद्वयंततः । तर्जन्यङ्गुष्ठयोगेन स्पृशेन्नासापुटद्वयं ॥ कनिष्ठाङ्गुष्ठयोगेन श्रवणे च समंस्पृशेत् । सर्वासामथयोगेन तद्वयंसुतलेन च ॥ संस्पृशेद्द्वै शिरस्तद्वदङ्गुष्ठेनाथ वा द्वयमिति । वेदमध्येष्यमाणः वेदाध्ययनं कुर्वाणः अध्ययनादौ आचान्तः त्रिराचम्य खानि छिद्राणि स्पृशेत् । च पुनः स्नानभोजनेकुर्वन् आदावेवाचामेत् ॥ १३८ ॥

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततोमुखम् ॥ शारीरं शौचमिच्छन् हि स्त्री शूद्रस्तु सकृत्सकृत् ॥ १३९ ॥

(१) मेधातिथिः । अयमनुवादः स्त्रीशूद्रार्थः उक्तमप्येतत्स्त्रीशूद्रार्थमुच्यते । केचिद्वाचसते शूद्रःस्पृष्टाभिरद्भिरित्स्पर्शमात्रमपांशूद्रेण कर्तव्यं अतःपरिमार्जनंश्रोत्रादिस्पर्शनंवाप्राप्तंसच्छूद्रविषयतया विधीयते । स्त्रीणां तु ऋद्भाभिः पूयतेविप्रदितिजातिनिर्देशात्पुंवत्प्राप्ताविदमुच्यते । शारीरंशौचमन्विच्छन्नितिवचनसामर्थ्याद्यद्यध्ययनभोजनयोःशूद्रःप्रवर्तते तदा नावश्यंत्रिरावृत्तिःस्यात् । नापि प्रमार्जनं । किंतिर्हि आचमनं यावतीनांतावतीनामपामिन्द्रियस्पर्शनंच । नान्योब्रह्मचारिधर्मोक्तआचमनविधिः ॥ १३९ ॥

(५) सर्वज्ञनारायणः । अन्यत्र यथाकर्तव्यंतदाह त्रिराचामेदिति । आचामेत् पिवेत् तद्भाभिः पूयतइत्याद्युक्तविधिना । प्रमृज्यादङ्गुष्ठतलेन । शारीरं शरीरस्य शौचमिच्छन् । एतेन प्राणस्पर्शनशून्यमप्यल्पप्रायत्यविषयेगृहस्थस्याचमनान्तरमस्तीतिदर्शितम् । ब्रह्मचारिणस्त्विन्द्रियादिस्पर्शवदेवाचमनमितिद्वितोयेदर्शितम् । अतएव नपौनरुक्त्यम् । यतिवनस्थयोश्चशौचवदाचमनेऽप्याधिक्यस्य युक्तत्वात् आधिक्यान्तराश्रवणाच्च ब्रह्मचारिवदेवाचमनम् । स्त्रीशूद्रमिति स्त्रीच शूद्रश्च सर्वत्र विषये सकृत्सकृत् एकवारंपिवेत्सकृच्च मार्जयेदित्यर्थः । एतच्चानुपनीतस्यापि शूद्रतुल्यत्वान्नास्याचमनकल्प इतितु त्रिराचामेदित्यादिकल्पनिषेधपरम् ॥ १३९ ॥

(३) कुल्लूकः । आचान्तइतियदुक्तंतत्र विशेषमाह त्रिराचामेदिति । देहस्य शुद्धिमिच्छन्मंवारत्रयमपोभक्षयेत् । ततोद्विर्मुखंपरिमृज्यात् । स्त्रीशूद्रश्चैकवारमाचमनार्थमुदकंभक्षयेत् ॥ १३९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच त्रिराचामेदित्यादि सकृदिति तत्राप्यन्तः सकृत्स्पृष्टाभिरन्ततइत्युक्तेः । अत्रविडित्यादिसकृदन्ताःषट्श्लोकाज्ञानेन शुद्ध्यतीत्यत्र स्थानभ्रष्टाः शारीरंशौचमितिलिङ्गात्ज्ञेयाः ॥ १३९ ॥

(५) नन्दनः । आचान्तउपस्पृशेदित्युक्तं तत्कर्तृकत्वआचान्तइत्यपेक्षायामाह त्रिराचामेदिति । मुखमोक्षौ । स्त्रीशूद्रौसकृत्सकृदाचामेतां सकृत्प्रमृज्याताम् । उक्तस्याचमनकल्पस्य पुनरुपन्यासस्तस्य शरीरशूद्रौप्राधान्यज्ञापनार्थः ॥ १३९ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रिः त्रीन्वारान् आचामेत् । ततोमुखंद्विः प्रमृज्यात् स्त्रीशूद्रयोःसकृत् सकृत् ॥ १३९ ॥
शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्तिनाम् ॥ वैश्यवच्छौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं च भोजनम् ॥ १४० ॥

(१) मेधातिथिः । सामान्योक्तःसच्छूद्राणांप्रसंगेनायंधर्मउच्यते । न्यायवर्तिनोद्विजशूद्रवोमहायज्ञानुशायिनश्च-

(१३९) शौचमिच्छन् हि = मिच्छन्ति (च)

तैर्वपनंमुण्डनंमासिकंकर्तव्यं तृतीयार्थेषु । अथवा ब्राह्मणाश्रितास्तत्परतन्त्राब्राह्मणैःकार्यम् । अनेकार्थत्वात्करोते-
रुपदेष्टव्यमितिप्रतिपत्तिः । वैश्यवत् शौचकल्पविशेषाः । सूतकादावाचमनेच । द्विजोच्छिष्टं च भोजनं एतत्प्राग्व्या-
ख्यातम् ॥ १४० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । न्यायवर्तिनास्ववर्णधर्माऽच्युतानांशूद्राणां मासिकंमासिमासिमुण्डनं कार्यम् । भोजनं च
द्विजोच्छिष्टं द्विजपाकभाण्डावशिष्टं एवंविधवृत्तवतांशूद्राणांवैश्यवच्छौचकल्पमाशौचादिशुद्धिः तेन पञ्चदशाहान्ते सूतक-
मृतकशुद्धिः । आचमनं च वैश्यवदेवतत्र अग्निः प्राश्रिताभिरित्यादि ग्राह्यम् ॥ १४० ॥

(३) कुल्लूकः । शूद्राणांकार्यमतिकृत्यानांकर्तरिवेति कर्तरि षष्ठी । यथाशास्त्रव्यवहारिभिर्द्वैजशुश्रूषकैः शूद्रैर्मा-
सिमासि मुण्डनंकार्यं वैश्यवच्च मृतसूतकादौ शौचकल्पोऽनुष्ठातव्यः द्विजोच्छिष्टं च भोजनं भुज्यतइतिभोजनं कार्यमिति
॥ १४० ॥

(४) राघवानन्दः । किंच शूद्राणामपि । कृत्यानां कर्तरीति तृतीयार्थे षष्ठी । वपनंमुण्डनरूपं मासिकमिति ।
प्रासंगिकं । नोच्छिष्टं हविष्कृतमिति सेवकेतराणांप्रतिषेधः ॥ १४० ॥

(५) नन्दनः । न्यायवर्तिनांशूद्राणामितरेभ्योविशेषप्रसङ्गादाह शूद्राणामिति । मासिकं मासिआर्द्धंकार्यं प्रतिमा-
संवपनंकार्यमितिवा । शौचाचमनादिकल्पः ॥ १४० ॥

(६) रामचन्द्रः । शूद्रधर्ममाह शूद्राणामिति । न्यायवर्तिनां शूद्राणां मासिकं माससंबन्धि आर्द्धं कार्यम् । न्या-
यवर्तिनां शूद्राणां वपनं क्षौरं कार्यम् । वैश्यवच्छौचकल्पः पञ्चदशदिनपर्यन्तः । द्विजपाकभाण्डावशिष्टं द्विजोच्छिष्टं
भोजनं द्विजैर्दत्तं कार्यम् । शूद्रस्तु द्विजसेवयेति वाक्येन ॥ १४० ॥

नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्याविमुषोद्वे पतन्ति याः ॥ न श्मश्रूणि गतान्यास्यं नदन्तान्तरधिष्ठितम् ॥ १४१ ॥

[अजाश्वं मुखतोमेध्यं गावोमेध्याश्चपृष्ठतः ॥ ब्राह्मणाः पादतोमेध्याः स्त्रियोमेध्याश्च सर्वतः ॥ १४१ ॥
गौरमेध्या मुखेप्रोक्ता अजा मेध्या ततःस्मृता ॥ गोः पुरीषं च मूत्रं च मेध्यमित्यब्रवीन्मनुः ॥ २ ॥]

(१) मेधातिथिः । निष्ठीव्योक्तानृतानिचेतिनिष्ठीवनआचमनविधानादनाचान्तस्याशुद्धिता ज्ञापिता । विमुषामपि
मुखान्निष्क्रमणंनिष्ठीवनमेव । अतोविमुषांश्लेष्मनिरसनरूपनिष्ठीवनादाचमनप्राप्ताविदमाह । मुखेभवामुखनिर्गतावामुख्याः-
विमुषइत्यनुच्छिष्टंकुर्वन्ति नचेदङ्गे निपतन्तीति । ननुच विमुषःशुद्धाइत्युक्तंमुखजाविमुषइत्यत्रउक्तं । दैहिकमलव्यतिरेकेणा-
न्यत्र । इदमेवज्ञापकं न सर्वोविषयःसंदर्शितः । श्मश्रूणि दाडिकालोमानि । आस्यगतानि प्रविष्टानि नोच्छिष्टंकुर्वन्तीत्यनु-
षङ्गः । अतश्चान्यत्पूगफलादि जनयत्येव । तथा दन्तातरधिष्ठितंलङ्घं । स्मृत्यन्तरे विशेषः । दन्तश्लिष्टेतु दन्तवदन्यत्र
जिह्वाविमर्शनात् । प्राक्च्युतेरित्येके । च्युतेष्वास्मावर्वाद्द्विगान्निगिरन्मैवतच्छुचिरित्युतेष्वजिह्वयेतिविद्यात् जिह्वासं-
स्पर्शं शुचित्वनिषेधात् ॥ १४१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मुख्याः मुखजाः विमुषोद्वेप्सविन्दवोतिक्षुद्राबाह्वद्रव्येषु पतिताअपिनोच्छिष्टतांजनयन्ति-

(१४१) विमुषोद्वे पतन्ति याः = विमुषोद्वं नयन्ति याः (ख, ण, च)

॥ ४ ॥

८६

यद्यङ्गं नयन्ति नगच्छन्ति अङ्गमनेत्वङ्गस्य क्षालनादिनैव शुद्धिरतितात्पर्यम् । गतान्यास्यमास्यमभ्यप्रविष्टाग्राणि । दन्तयोरन्तरे मध्येऽधिष्ठितप्रविष्टमनकल्कादि नोच्छिष्टंपुरुषंकरोति एतच्चोद्धरणासंभवे रसाद्यनुपलब्धौ चेतिस्मृत्यन्तरात् ॥ १४१ ॥

(३) कुङ्कः । निष्ठीव्योक्तानृतानिचेति । निष्ठीवतामाचमनविधानाद्विदुषामपि मुखान्निःसरणंनिष्ठीवनमेवेति प्रसक्तौशुद्ध्यर्थमपवादमाह । मुखभवाविमुषोयाअङ्गेनिपतन्ति ताउच्छिष्टं कुर्वन्ति तथा श्मश्रुलोमानि मुखप्रविष्टानि नोच्छिष्टतांजनयन्ति । दन्तावकाशस्थितंचान्नावयवादि नोच्छिष्टंकुरुते । अत्र गौतमीये विशेषः । दन्ताश्लिष्टेषु दन्तवद्व्यत्रजिह्वाभिर्मर्षणात्प्राक्च्युतेरिति । एके च्युतेष्वाहारवद्विद्यानिगिरन्नेव तच्छुचिः ॥ १४१ ॥

(४) राघवानन्दः । नोच्छिष्टंकुर्वते नोच्छिष्टदोषमावहन्ति । आस्यंगतान्यपि सन्ति । दन्तान्तरधिष्ठितं दन्तासक्तमन्नादि दन्तासक्तं तुदन्तर्वादित्युक्तेः ॥ १४१ ॥

(५) नन्दनः । अथक्चिदनुष्ठितादाचमनादपवादमाह नोच्छिष्टमिति । मुख्याः मुखोद्धवाः मुखाद्रलिताइतियावन् । याविमुषोऽङ्गंनयन्ति तानोच्छिष्टंपुरुषंकुर्वन्ति । तथा आस्यंगतानि श्मश्रूणि च नोच्छिष्टंकुर्वन्ति । यद्दन्तान्तरधिष्ठितं स्थितमन्नादिकं चोच्छिष्टं नकरोति । दन्तवदन्तलग्नेषु शुचिस्थानाच्युतेषु । दन्तलग्नेष्वन्नादिषु दन्तेष्विव शुचित्वम् । स्थानादन्तस्थानादन्तलग्नेषु परिच्युतेषुतन्निगिरञ्छुचिःस्यात् ॥ १४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । या विमुषः अङ्गं नयन्ति न प्राप्नुवन्ति तामुख्यामुखोद्धवा उच्छिष्टं कुर्वते । यद्यङ्गगच्छन्ति तर्ह्यङ्गस्य क्षालनाच्छुद्धिः । आस्यं मुखं गतानि प्रविष्टानि श्मश्रूणि नोच्छिष्टंकुर्वन्ति । दन्तान्तरधिष्ठितं दन्तसक्तंचान्नादिकंनोच्छिष्टंकरोति । अच्युतंदन्तसमंज्ञेयं ॥ दन्तवदन्तसक्तेषु जिह्वास्पर्शे शुचिर्भवेदिति वाक्येन ॥ १४१ ॥

स्पृशन्ति बिन्दवः पादौ यआचामयतः परान् ॥ भौमिकैस्ते समाज्ञेयान तैराप्रयतोभवेत् ॥ १४२ ॥

[दन्तवदन्तलग्नेषु जिह्वास्पर्शेषु चेन्न तु ॥ परिच्युतेषु तत्स्थानान्निगिरन्नेव तच्छुचिः ॥ १ ॥]*

(१) मेधातिथिः । परानाचमयतः परेभ्यआचमनंददतइत्यर्थः । एतदुक्तंभवति । यः परस्माआचमनंददाति तस्याचमयितृहस्तादधोङ्गुलिविवरेभ्यःपतद्भिरुदबिन्दुभिर्भूम्यभिघातोत्थैर्यद्याचमनस्य दातुः पादौ स्पृश्येते तदा न तैरशुचिर्भवति । भौमिकैर्यथानुपहतायांभूमौ स्थिताःकाश्चिदुदकमात्राः शुद्धाएवतेप्युच्छिष्टाहस्तात्पतन्तउदबिन्दवः । न तैःस्पृष्टः अप्रयतः अशुचिः । परग्रहणाद्यआचामति तेन तत्संसर्गोरक्षितव्यः अन्येनच समीपस्थेन । पादग्रहणाच्च जङ्घाद्यन्तरस्पर्शोदुष्टएव ॥ १४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बिन्दवोवक्त्रान्निर्गताजलबिन्दवोनतु बहुजलम् । पादावितिप्रायिकत्वादुक्तमङ्गान्तराण्यपि । आचामयतआचमनार्थजलमपवर्जयतः । भौमिकैर्भूमिस्थैः शुद्धैर्बिन्द्वन्तरैः ॥ १४२ ॥

(३) कुङ्कः । अन्येषामाचमनार्थजलंददतायेबिन्दवः पादौ स्पृशन्ति न जङ्घादि विशुद्धभूमिषोदकैस्तुल्यास्तेन नाचमनार्होभवति । तदा तत्र च्यवनावस्थैरकृताचमनःशुष्यति द्रव्यंच शुष्यति ॥ १४२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यत् परानाचामयतो जनस्य ये जलबिन्दवःपादौ स्पृशन्ति तेनोच्छिष्टाइत्याह स्पृश-

न्तीति । भौमिकैर्विशुद्धिभूमिगैः । समाःसदृशाः । तैर्जलबिन्दुभिरप्रयतोऽशुद्धोन भवेत् । पादग्रहणात्ततोऽन्यत्र स्पृष्टाभिर-
शुद्धइति मेधातिथिः ॥ १४२ ॥

(५) नन्दनः । परानाचमयतोजलमावर्जयतः पादौस्पृशन्त्याचामतोमुखगलितायेबिन्दवस्तेभूगतजलवन्नोच्छिष्ट-
करादित्यर्थः ॥ १४२ ॥

(६) रामचन्द्रः । येबिन्दवः आचामयतः परान्समीपवर्तिनः द्विजान् तैर्बिन्दुभिः अप्रयतः अशुचिः । न भवेत् ।
भौमिकैः भूमिसंबन्धिकैः समाज्ञेयाः ॥ १४२ ॥

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टोद्रव्यहस्तः कथंचन ॥ अनिधायैव तद्रव्यमाचान्तः शुचितामियात् ॥ १४३ ॥

(१) मेधातिथिः । आचमनार्हेण प्रायश्चित्तेन युक्तः पुरुषउच्छिष्टउच्यते । तद्यथा कृतमूत्राद्युत्सर्गश्चाकृतशौचाच-
मनादिश्च यश्चामेध्यादिसंस्पर्शदूषितोयदि पुरुषोद्रव्यहस्तोहस्तेन च गृहीतंभक्ष्यभोज्यादि द्रव्यवस्त्रादिवा येन सउच्य-
ते द्रव्यहस्तः । वज्रहस्तादिवत्प्रयोगव्यवस्था । सचेत्स्पृष्टोभवतितदा अनिधायैव तद्रव्यमनपनीय हस्तगृहीतद्रव्यएवा-
चामेत् । कथंपुनर्हस्तस्थे द्रव्यआचमनसंभवः । आमणिबन्धनात्पाणी प्रक्षालयेदिति तत्रविधिः । केचिदाहुः । शरीर-
संस्पर्शमात्रंद्रव्यस्य विवक्षितं न हस्तस्यैवएवमशुद्धावपि स्कन्धाद्यारोपितेपि द्रव्ये उच्छिष्टस्याशुद्धैव तथैवाचा-
न्ते शुद्धिःअतोहस्तात्प्रदेशान्तरे प्रकोष्ठोत्सङ्गादिके तु द्रव्यंगृहीत्वाचामेत् । अभिप्रायोयथैव पुरुषाशौचसंबन्धादशुच्ये
वंतस्यैवान्नशुद्धिः । गौतमेनतु द्रव्यहस्तउच्छिष्टोनिधायआचामेदित्युक्तम् । अत्र व्याख्यानयन्ति । सत्यपि तुल्यसंहित-
त्वेन निधानमेवाभिमतम् । इतरथा द्रव्यहस्तस्योभयोःशुद्धौ कर्तव्यायांकः प्रसंगोद्रव्यनिधानस्य अतोन्तरेण वचननि-
धानाप्राप्तेर्वचननिधानार्थमेव । कथंताहि द्रव्यस्य शुद्धिः प्रयतेन पुरुषेण ग्रहणात् । स्मृत्यन्तरविहितेन वा प्रोक्षणेन ॥
प्रचरन्नपानेषु उच्छिष्टसंस्पृशेद्यदि । आचामेद्रव्यमभ्यक्ष्यएवंचैव न दुष्यतीति । यद्यन्तरेण वचनमत्रनिधानंलभ्यते
अप्यनिधायैवेतिवचनमनर्थकं एकवाक्यत्वात् स्मृतीनामिह निश्चितेन विधानेन तथाप्येवंविज्ञायते । अद्यपुनर्मत-
भेदोगम्यते ततश्च विकल्पः तस्यचव्यवस्था गरीयोद्रव्यनिधीयते अन्यदङ्गस्थं कृत्वावगम्यते । यदापित्वयमन्नमश्रा-
ति भूयिष्ठवा उच्छिष्टस्पृशति आचमनार्हेन वा कृताचमनेन स्पृश्यते । सर्वोपिद्रव्यस्योच्छिष्टसंस्पर्शः ॥ १४३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । द्रव्यहस्तः अग्निपक्वद्रव्यहस्तः । भूमावनिधायोत्सङ्गे कृत्वा आचान्तआचमनेन शुचिता-
मियात् त्वयंतद्रव्यंच ॥ १४३ ॥

(३) कुड्मूकः । द्रव्यहस्तपदेन शरीरसंबन्धमात्रंद्रव्यस्य विवक्षितम् । आमणिबन्धात्पाणिप्रक्षालयेति द्रव्यहस्त-
स्याचमनासंभवात् स्कन्धादिस्थितद्रव्योयद्युच्छिष्टेन संस्पृष्टोभवति तदा द्रव्यमनवस्थान्यैव कृताचमनःशुध्यति । द्रव्यंच
शुद्धंभवति ॥ १४३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच उच्छिष्टेनेति । उच्छिष्टेन जलेन तादृगन्नादिनावा द्रव्यहस्तः अन्नं हविर्द्रव्यादिवा
हस्ते यस्य सतद्रव्यमनिधाय हस्ते कृत्वैवाचान्तः शुचितामियात् । द्रव्यंसोपीति भावः ॥ १४३ ॥

(५) नन्दनः । उच्छिष्टेन स्पृष्टोद्रव्यहस्तोद्विजस्तद्रव्यहस्तगतंभूम्यादौनिधायैवाचान्तः सहद्रव्येण शुद्धःस्यात् ।
द्रव्यंभूम्यादौ निधायआचामेत्सउच्छिष्टस्पृशदोषोद्रव्यसंक्रामतीत्यभिप्रायः ॥ १४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्रव्यहस्तः अग्निपक्वद्रव्यहस्तः उच्छिष्टेन पुरुषेण संस्पृष्टः तद्रव्यं तद्वस्तु भूमावनिधाय आ-
चान्तःसन् शुचितां इयात् प्राभुयादित्यर्थः ॥ १४३ ॥

वान्तोविरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत् आचामेदेव भुक्तान्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥ १४४ ॥

[अनृतौ तु मृदा शौचं कार्यं मूत्रपुरीषवत् ॥ ऋतौ तु गर्भशङ्कित्वात्स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥ १५ ॥]⁺

(१) मेधातिथिः । वमनविरेचने प्रसिद्धे । अशितमन्नं येन मुखेनोद्गीर्णं सवान्तःपुरुषः । यस्योच्चारवेगादष्टसंख्या-
या ऊर्ध्वजाताहरीतक्यादिभक्षणोऽपि व्याधिना वा सविरिक्तः । तौ स्नानं प्रथमं कुर्यातां । ततोऽन्ते घृतप्राशनं कृत्वैतदन्यदन्नम-
द्याताम् । नचानेन घृतप्राशनेन भोजनान्तरनिवृत्तिः । प्रायश्चित्तेषु द्रव्यशुद्धिरियं भस्मोदकमार्जनवद्घृतप्राशनं । आचमे-
देव भुक्तान्नं । अन्नं भुक्त्वा तदहरेव यदि वमनविरेचने स्यातां तदाचमनमेव केवलं न स्नानघृतप्राशने । अपरैस्तु
स्वतन्त्रं व्याख्यायते । भुक्त्वा आचामेदेव भोजनान्तरमाचमनं विहितं तस्यैवायमपवादः । मैथुनिनः स्त्रियां कृतशुक्रोत्सर्गः स्नाने-
न शुध्यति ॥ १४४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वान्तो वमनं कृत्वा विरिक्तः कोष्ठमलमतिसार्य स्नानं घृतप्राशनं च कामतः अकामतः स्ना-
नमात्रम् । आचामेदेव न तु तदुच्छिष्टतापगमेऽपि स्नायात् । मैथुनिनः ऋतुकाले मैथुनकरणे अनृतौ तु मैथुने आचमनमात्रं-
स्थित्यन्तरे उक्तम् ॥ १४४ ॥

(३) कुष्ठूकः । कृतवमनः संजातविरेकः स्नात्वा घृतप्राशनं कुर्यात् दशविरेकान् विरिक्त इति गोविन्दराजः । यदि भु-
क्त्वा अनन्तरमेव वमति तदाऽऽचमनमेव कुर्यान्न स्नानघृतप्राशने । मैथुनं च कृत्वा स्नायात् । इदं त्वृतुमतीविषयम् ॥ १४४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच वान्त इति वान्तः कृतवमनः विरिक्तः संजातविरेकः । भुक्तान्नं सद्यो वमने त्वाचमन-
मित्याचामेदिति गोविन्दराजः । मैथुनिनः ऋतुमत्या सह अन्यत्र मूत्रवदित्युक्तम् । सन्निधेर्भोजनाव्यवहितमैथुनिनो वा
॥ १४४ ॥

(५) नन्दनः । वमनविरेचनयोः समुच्चितयोः स्नात्वा घृतप्राशनीयात् । अन्नं भुक्त्वा तदानीमेव वान्तो विरिक्तश्चेदा-
चामेदेव न तु स्नानघृतप्राशने कुर्यात् ॥ १४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । विरक्तं कृतविरेकः कृतपुरीषः मैथुनिनः मैथुनकर्तुः ऋतावपि गमनेन शुध्यति यज्ञादिकार्या-
र्थम् ॥ १४४ ॥

सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्तानृतानि च ॥ पीत्वापोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि
सन् ॥ १४५ ॥

(१) मेधातिथिः । क्षुत्वा अनिच्छतो वा युप्रेष्यमाणस्य योनासिकाच्छिद्रादुपजायते शब्दः सक्षवशुस्तं कृत्वा । प्रयतो-
पिसन् एतदध्येष्यमाणपदेनैव संबन्ध्यते । प्रयतोऽप्यध्येष्यमाण आचम्याधीयीत अध्ययनविध्यङ्गतयाचमनं कुर्यादित्यर्थः ।
स्नानादिभ्यस्त्वनन्तरं सरुदेव । यत्पुनरुक्तं । सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च पीत्वापो वैमुनिस्तथा । आचान्तः पुनराचामे निष्ठीव्यो-
क्तानृतं च इति एवमभिसंबन्धोऽत्र कर्तव्यः । आचान्तो भुक्त्वा पुनराचामेत् । यत्र पुनर्द्विराचामेदिति पठ्यते तत्रानन्तर्येणैक
क्रियावृत्तिः ॥ १४५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्षुत्वा क्षुतंकृत्वा निषीव्य सश्लेष्मवक्त्ररसनिरस्य प्रयतोपिसन्नेकेनाचमनेनापरमप्याचामेदितिद्विराचमनमुक्तम् । अध्येष्यमाणइत्यध्ययनार्थप्राप्त्यहेतुतया द्विराचमनंविहितम् ॥ १४५ ॥

(३) कुङ्कूकः । निद्राक्षुब्धोजनश्लेष्मनिरसनमृषावादजलपानादि कृत्वाऽध्ययनंचिकीर्षुः शुचिरप्याचामेत् । यत्तु भुक्ताचोपस्पृशेत्सम्यगिति तथा अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तइति द्वितीयाध्यायोक्तंतद्रताङ्गत्वेन । इहतु भुक्ताचमनविधानंपुरुषार्थमध्ययनाङ्गतयाचमनविधानंगृहस्थादीनामपीति ॥ १४५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचैतेषु पुनराचामेदित्याह सुमेति । आचमनं द्विविधं प्रार्थ्यश्चतार्थं कर्माङ्गंचआचान्तेन कर्तव्यमिति गोभिलस्मरणात् प्रयतोपीत्यनेन कर्माद्यर्थमाचान्त एतेषु जातेष्वाचामेदित्यर्थः । चत्रयमनुत्तरथ्योपसर्पणाद्यर्थम् । प्रयतोप्यध्येष्यमाणआचम्याधीयीतेति मेधातिथिः । तत्रान्यध्येष्यमाणश्चाचामेदित्यनेन प्रत्याचमनस्य पूर्वाङ्गत्वप्राप्तेरेतेनाचान्तःपुनराचामेदित्यपिव्याख्या ॥ १४५ ॥

(५) नन्दनः । पुनरध्येष्यमाणग्रहणमादरातिशयार्थम् ॥ १४५ ॥

एषशौचविधिः कृत्स्नोद्रव्यशुद्धिस्तथैव च ॥ उक्तोवः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान्निबोधत ॥ १४६ ॥

(१) मेधातिथिः । आचमपादत्रयेण शुद्धिप्रकरणोपसंहारश्चतुर्थेन वक्ष्यमाणसंक्षेपवचनम् । शौचविधिशब्दः सामान्यशब्दोऽपि द्रव्यशुद्धिसंनिधानाद्गोबलीवर्दवदितरविशेषपरःसंपद्यते । स्त्रीणांधर्माअसाधारणस्त्रीकर्तृकाएव । यस्तु साधारणोयागादिःसह नोच्यते ॥ १४६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शौचविधिः देहस्यसर्ववर्णानां याः स्त्रियस्तासां धर्मम् ॥ १४६ ॥

(३) कुङ्कूकः । एषवर्णानांजननमरणादौ दशरात्रादिरशौचविधिः समग्रोद्रव्याणांतैजसादीनांचिलादीनांच जलादिना शुद्धिविधिर्युष्माकमुक्तः । इदानींस्त्रीणामनुष्ठेयधर्मश्चतुर्णाम् ॥ १४६ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रतिज्ञान्तरमेषइति त्रयोदशभिः । स्त्रीणां स्त्रीकर्तृकं धर्मम् ॥ १४६ ॥

(५) नन्दनः । शौचविधिःशरीरमलशोधनविधिः ॥ १४६ ॥

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता ॥ न स्नातन्त्येण कर्तव्यं किंचित्कार्यंगृहेष्वपि

॥ १४७ ॥

(१) मेधातिथिः । स्नातन्त्यंस्त्रीषु कस्यांचिदवस्थायांनास्तीत्युपदेशार्थः । वयोविभागवचनंतु यत्रास्याःपारतन्त्र्यतत्पदर्शनार्थमविर्वाक्षतस्वरूपम् । तथाचोक्तं ॥ तत्सपिण्डेषु वा सत्सु पितृपक्षे प्रभुस्त्रियाः । पक्षद्वयावसानेतु राजा भर्तास्त्रियामतः ॥ १४७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । योषिता स्नातन्त्रेण भर्त्राद्यननुज्ञया किंचिदणुमात्रमपि न कार्यं कार्यम् ॥ १४७ ॥

(३) कुङ्कूकः । बाल्ये यौवने वार्धके च वर्तमानया किंचित्सूक्ष्ममपि कार्यंभर्त्राद्यननुमतं न स्नातन्त्रेण कर्तव्यमिति ॥ १४७ ॥

(५) नन्दनः । गृहेष्वपीत्यर्थप्राप्तस्यानुवादोनविशेषणंसर्वेषुकृत्येष्वस्नातन्त्रस्येष्टत्वात् । किंचिदपीत्यन्वयः ॥ १४७ ॥

(१४७) गृहेष्वपि=गृहेष्वपि (ल, र, ब, न, भ)

(६) रामचन्द्रः । स्त्रीधर्मानाह बाल्येति । न स्वातन्त्र्यं स्त्रियाः क्वचिदित्यर्थः ॥ १४७ ॥

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने ॥ पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥ १४८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बाल्यइत्यादि पित्रादिगृहवासकालोपलक्षणम् ॥ १४८ ॥

(३) कुल्लूकः । किंतु बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् । यौवनेभर्तुः भर्तरि मृते पुत्राणां ॥ तदभावे तत्सपिण्डेषु चासत्सु पितृ-
पक्षःप्रभुःस्त्रियः । पक्षद्वयावसाने तु राजा भर्ता स्त्रियामतः । इतिनारदवचनात् ज्ञातिराजादीनामायत्ता स्यात्कदाचिन्न स्व-
तन्त्रा भवेत् ॥ १४८ ॥

(४) राघवानन्दः । स्वातन्त्र्याभावंव्यनक्ति बाल्यइति । पाणिग्राहस्य भर्तुः पुत्राणामिति बहुवचनसंपिण्डादिय
हणार्थं सर्वत्र तिष्ठेद्वशे इत्यनुषज्यते पितारक्षतीत्युक्तपोषकाभावविषयम् ॥ १४८ ॥

(५) नन्दनः । पाणिग्राहस्य भर्तुः ॥ १४८ ॥

(६) रामचन्द्रः । पाणिग्राहस्यभर्तुर्वशेयौवने तिष्ठेत् । भर्तरि प्रेते पुत्राणां वशे तिष्ठेत् ॥ १४८ ॥

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वाऽपि नेच्छेद्विरहमात्मनः ॥ एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले ॥ १४९ ॥

(१) मेधातिथिः । तत्सपिण्डेष्वित्यादिना चासतिस्वामिनि कर्तव्यं । अव्यवस्थानवचनीयताहेतुः कथितो गर्ह-
कुर्यादिति । एषां हि विरहेण निवसन्ती गच्छन्तीवा ग्रामान्तरमित्यध्याहार्यम् ॥ १४८ ॥ १४९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गर्ह्येकुर्यात् व्यभिचारेण उभे कुले पितुर्भर्तुश्च ॥ १४९ ॥

(३) कुल्लूकः । पित्रा पत्या पुत्रैर्वा नात्मनोविरहंकुर्यात् यस्मादेषां वियोगेन स्त्रीबन्धकीभावंगतापि पतिपितृकुले
निन्दिते करोति ॥ १४९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यत् पित्रेपि । विरहं वियोगं विरहेदण्डमाह तेषामिति गर्ह्ये गर्हायोग्ये ॥ १४९ ॥

(५) नन्दनः । उभे कुले पितृभर्तृकुले ॥ १४९ ॥

(६) रामचन्द्रः । पित्रादीनामेषां विरहेण स्त्री उभेकुले गर्ह्ये कुर्यात् ॥ १४९ ॥

सदा प्रवृष्टया भाव्यंगृहकार्येषु दक्षया ॥ सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १५० ॥

(१) मेधातिथिः । आभीक्ष्णवचनः सदाशब्दो नित्यशब्दवत् । नित्यप्रवृष्टितयेदित्यप्यन्यत्र क्रोधशोकवेगे भ-
र्तुर्दर्शनेमुखप्रसादस्मितनर्मवचनादिना प्रहर्षो दर्शनीयः । कुमार्याभर्तृमत्याश्चायमुपदेशः । गृहकार्येषु दक्षया । अर्थसंग्रहव्य-
ययोः धर्मकार्येष्वनानादौ च अर्थस्य संग्रहे चैनामित्यादिना गृहकार्यमुक्तम् । तत्र दक्षया चतुरया भवितव्यम् । अत्र संस्का-
रादिशीघ्रनिष्पाद्यम् । सुसंस्कृतोपस्करया उपस्करं गृहोपयोगिभाण्डघटिकादि तत्सुसंस्कृतसुसंघट्यशोभावत्कर्तव्यम् ।
व्यये च मित्रज्ञात्यतिथ्यभोजनार्थं धने अमुक्तहस्तया उदारया न भवितव्यम् । न बहुव्ययितव्यमित्यर्थः । सुसंस्कृतान्यु-
पस्कराणि यस्याइति बहुव्रीहिः एवमुक्तो हस्तो यस्याइति विग्रहः पश्चान्नञ्समासः । रुद्धया उदारवचनोमुक्तहस्त-
शब्दः ॥ १५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उपस्करो गृहोपकरणंतत्सुसंस्कृतं निर्णिकं कार्यम् । अमुक्तहस्तया संयतहस्तया ॥ १५० ॥

(१४८) पितुर्वशे = पितुर्गृहे (ग)

(३) कुड्डूकः । सर्वदा भर्तरि विरुद्धेऽपि प्रसन्नवदनया गृहकर्मणि चतुरया सुशोधितकुण्डकटाहादिग्रहभाण्डया व्ययेचाबहुमदया स्त्रिया भवितव्यम् ॥ १५० ॥

(४) राघवानन्दः । तस्याः कृत्यमाह सदेति । प्रदृष्टया प्रदृष्टवदनया सुसंस्कृतोपस्करया सुष्ठु संस्कृतानि कुण्डकटाहपात्राणि यया तया तथा अमुक्तौ हस्तौ बहुव्यये कर्तव्ये यस्याः साऽमुक्तहस्ता तया ॥ १५० ॥

(५) नन्दनः । उपस्करो गृहोपकरणवर्गो घटपिठरशरावपानभोजनभाजनमुसलोलूखलादि ॥ १५० ॥

(६) रामचन्द्रः । व्यये द्रव्यस्य आयव्यये अमुक्तहस्तया संयतहस्तया व्ययपराङ्मुख्या भाव्यमित्यर्थः ॥ १५० ॥
यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वानुमते पितुः ॥ तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत् ॥ १५१ ॥

(१) मेधातिथिः । भ्रातावानुमतेपितुः यथैव पित्रानुज्ञातस्य भ्रातुर्दातृत्वमेवंपितुर्निरपेक्षस्यापि दातृत्वश्रुतौ भार्यायानुमतेऽसति दानं बोद्धव्यम् । सर्वत्र सहाधिकारादुभयोश्च दुहितरि त्वाम्यात् । असति पितरि मात्रापि देयेति नवमे दर्शितम् । मात्रापित्रोरपत्यंतन्निमित्तं च त्वाम्यमिति युक्ता इतरेतरापेक्षा । शुश्रूषेत आराधयेत् । संस्थितं च मृतं च न लङ्घयेत् लङ्घनमतिक्रमणं त्वातन्व्येणासीतेत्यर्थः । यथा जीवति भर्तरि तत्परवती एवमृतेपि तदैव तत्परतन्त्र्या भवितव्यम् । यत आह प्रदानं त्वामिकारकम् । यदैव पित्रा दत्ता तदैव पितुः त्वाम्यनिवर्तते । यस्मै दीयते तस्योत्पद्यते अतश्च न विवाहकालएव दानं प्रागपि विवाहाद्वरणकालेऽस्ति दानं किमर्थं स्तर्हि विवाहः ॥ १५१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भ्रातावेति दानाधिकार्यन्तरोपलक्षणम् । अनुमतेपितुरिति प्रायिकत्वात् । तं संस्थितं मृतं च न लङ्घयेन्न व्यभिचरेत् ॥ १५१ ॥

(३) कुड्डूकः । यस्मै पितॄणां दद्यात्पितुरनुमत्या भ्रातावा तं जीवन्तं परिचरेन्मृतं च नातिक्रामेद्यभिचारेण तदीयश्राद्धतर्पणादिविरहितया पारलौकिककृत्यखण्डनेन च ॥ १५१ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च यस्मादिति । न लङ्घयेत् मृतं च नातिक्रामेत् व्यभिचारेण तदीयश्राद्धतर्पणादिविरहितपारलौकिकखण्डनेन च ॥ १५१ ॥

(५) नन्दनः । संस्थितं च न लङ्घयेत् । मृते पत्यौ पुरुषान्तरं न भुञ्जेदित्यर्थः ॥ १५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । संस्थितं मृतं तत्कर्म न लङ्घयेत् न व्यभिचरेत् ॥ १५१ ॥

मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासांप्रजापतेः ॥ प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं त्वाम्यकारणम् ॥ १५२ ॥

(१) मेधातिथिः । अभिलषितार्थनिष्पत्तिर्मङ्गलं तत्साधनं तदर्थं प्रयुज्यते । तत्र प्रजापतेर्यज्ञ इति क्रियाविशेषणत्वात् नृपुंसकम् । त्वस्तिर्इयते प्राप्यते येन तत्स्वस्त्ययनं । यदस्य प्रियंवस्तु विद्यते तन्न नश्यतीत्यर्थः । आसां स्त्रीणां । तेषु विवाहेषु । यज्ञः प्रजापतेः । प्रजापतेर्देवतायाः क्रियते प्रजापतेन त्वदेतान्येति विवाहे आज्यहोमाः केषांचिदाभ्राताः । उपलक्षणंचैतदस्यासामपि देवतानां पूषवरुणार्थमग्न्याम् । तथाहि । तत्र मन्त्रवर्णाः पूषणं नु देवं वरुणं नु देवमित्यादयो देवतान्तरप्रकाशनपराः । प्रदानादेवासत्यपि विवाहे त्वाम्यमुत्पद्यत इत्येतदत्र ज्ञाप्यते । विवाहयज्ञस्तु मङ्गलार्थ इत्याद्यविवक्षितम् । दारकरणं हि विवाह इति स्मर्यते । सत्यपि त्वाम्ये नैवान्तरेण विवाहं भार्या भवतीति ॥ १५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र केनाप्यधिकारिणा यदि न दत्ता बलाद्धोमादिना ब्राह्मणेन स्त्री संस्क्रियते तदापि विप्रस्य तत्र त्वाम्यमस्तीति प्रसंगाद्दर्शयति मङ्गलार्थमिति । यत्पुण्याहवाचनादि त्वस्त्ययनं तन्न त्वाम्यकारकं मङ्गलार्थत्वेनान्यार्थत्वात् मनवेतल्पमिति श्रुतेः कन्यायामन्वक्षितत्वे प्रजापतिदेवतत्वात् कन्याविवाहे यो होमरूपो यज्ञः तत्र

जापतेर्यज्ञोभवति सोपि मङ्गलार्थं संपत्यर्थं प्रयुज्यते नतु ततः स्वत्वं किंतु सत्त्वधिकारिषु तैर्दानमसत्तु त्वयं वा त्वस्य दानं-
विप्रस्य त्वाम्यकारकमतोयस्मै दत्ता तमेव नव्यभिचरेदित्यर्थः ॥ १५२ ॥

(३) कुल्लूकः । यदासांस्वस्त्ययनशान्त्यनुमन्त्रवचनादिरूपं यश्चासांप्रजापतियागः प्रजापत्युद्देशेनाज्यहोमात्मको-
विवाहेषु क्रियते तन्मङ्गलार्थमभीष्टसंपत्यर्थकर्म । यत्पुनः प्रथमंप्रदानं वाग्दानात्मकं तदेव भर्तुः त्वाम्यजनकं ततश्च वाग्दा-
नादारभ्य स्त्रीभर्तृपरतन्त्रा तस्मात्तं श्रयेतेति पूर्वोक्तशेषः । यत्तु नवमे वक्ष्यते । तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सममेपदेदिति
तद्भार्यात्वसंस्कारार्थमित्यविरोधः ॥ १५२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच मङ्गलेति । पूषणं देवं वरुणं देवमित्यादिमन्त्रवाचनादिपुरःसरंप्रजापत्युद्देशेनाज्यहो-
मात्मकोविवाहेषु क्रियते योयज्ञः तन्मङ्गलार्थमभीष्टसंपत्यर्थं त्वस्ति मङ्गलमीयतेऽनेनेति त्वस्त्ययनं यथास्यात्प्रदानं
वाग्दानंतद्भर्तुः त्वाम्यकारणविवाहं विना न त्वाम्यमात्रेण भार्यात्वमिति भावः ॥ १५२ ॥

(५) नन्दनः । कदायं भर्ता भवतीति चेत्प्रदानात्प्रभृत्येवेत्याह । मङ्गलार्थमिति । त्वस्त्ययनं वैवाहिकं मन्त्रक्रियारू-
पम् । प्रजापतेर्यज्ञः प्रजापत्योहोमश्च यद्द्वयमासां स्त्रीणां विवाहेषु मङ्गलार्थं प्रयुज्यते न त्वामित्वार्थम् । त्वाम्यकारणं त्वामित्व-
कारकंप्रदानमेव प्रदानात्प्रभृति त्वामिपारतन्त्रयं युक्तमिति भावः ॥ १५२ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्वस्त्ययनं त्वस्तिवाचनं आसां यज्ञः विवाहहोमः प्रजायते कन्याया अधिदेवतायाः त्वाम्य-
कारकं त्वामित्वकारकम् ॥ १५२ ॥

अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत्यतिः ॥ सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः ॥ १५३ ॥

(१) मेधातिथिः । सर्वत्रैवाप्रतिषिद्धवर्जमिति अनृतावपि सुखस्य दाता । मन्त्रसंस्कारो विवाहविधिस्तस्य कर्ता
मन्त्रसंस्कारकृत् । परलोके च पत्यासह धर्मधिकाराच्च तत्फलावाप्तेः परलोकसुखस्य दातेत्युच्यते ॥ १५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । योदानानन्तरं मन्त्रतः पाणिग्रहणादिसंस्कारकृत्यतिः सोऽनृतौ मैथुनेनेह सुखस्य कृतौ
च प्रजोत्पादनद्वारा परलोके सुखस्य दाता । उपपत्तिस्त्विहैव सुखस्य दातेति न भर्तारं न्यभिचरेदित्यर्थः ॥ १५३ ॥

(३) कुल्लूकः । यतः मन्त्रसंस्कारो विवाहस्तत्कर्ता भर्तृतावुपेयात्सर्वत्र वा प्रतिषिद्धवर्ज्यमिति गौतमवचनादनु-
कालेऽन्यदा च नित्यमिहलोके च सुखस्य दाता तदाराधनेन च स्वर्गादिप्राप्तेः परलोकेऽपि सुखस्य दातेति ॥ १५३ ॥

(४) राघवानन्दः । अनृतौ मन्त्रसंस्कारो विवाहस्तस्य कर्ता कृतावपि गर्भधेहिस्मिनीवालीत्यादिमन्त्रेण यः सं-
स्कारस्तस्यापि कर्ता अतः कृतावुपगच्छेदिति शेषः । उभयत्र गच्छेद्वा । कृतावुपेयात्सर्वत्र वा प्रतिषिद्धवर्ज्यमिति गौतमव-
चनात् । अत्रापि तद्वतोरतिकाम्ययेत्युक्तं पतिविनोभयत्र सुखाहतिरित्याह सुखस्येति ॥ १५३ ॥

(५) नन्दनः । अनृतावृतुकाले च सर्वदेत्यर्थः ॥ १५३ ॥

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः ॥ उपचार्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ॥ १५४ ॥

[दानप्रभृति यातु स्याद्यावदायुः पतिव्रता ॥ भर्तृलोकं न त्यजति यथैवारुन्धती तथा ॥ १॥]+

(१) मेधातिथिः । द्यूतादिसक्तेर्विशीलः । कामप्रधानंवृत्तमस्येति कामवृत्तः । गुणैर्वा परिवर्जितः । श्रुतधनादिगुण-
विहीनः । उपचार्यः आराधनीयः ॥ १५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विशीलोनिष्ठुरः । कामवृत्तः अप्रतिनियतरूपन्तरसक्तः । गुणैर्विद्यादिभिः ॥ १५४ ॥

(३) कुङ्कुमः । तस्मात्विशीलइति । सदाचारशून्यः रूपन्तरानुरक्तोवा विद्यादिगुणहीनोवा तथापि साध्या स्त्रिया देववत्पतिराराधनीयः ॥ १५४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच विशीलइति । कामवृत्तः निवृत्तकामः परदाररतोवा । उपचर्यः सेव्यः ॥ १५४ ॥

(५) नन्दनः । देववद्देवतेव । दानात्प्रभृतिसततमापद्यपिसमाहिताभर्तृलोकानामोतीत्युत्तरत्रसंबन्धः ॥ १५४ ॥

(६) रामचन्द्रः । विशीलः शीलरहितः निष्ठुरइत्यर्थः । कामवृत्तः अन्यस्त्रीसक्तः गुणैः विद्यादिभिः परिवर्जितः ॥ १५४ ॥

[(६) रामचन्द्रः । दानेति । दानप्रभृति कन्यादानप्रभृति ॥]

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम् ॥ पतिंशुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥ १५५ ॥

[पत्यौ जीवति यातु स्त्री उपवासं व्रतं चरेत् ॥ आयुष्यं हरते भर्तुः नरकं चैव गच्छति ॥ १ ॥] :

(१) मेधातिथिः । भर्त्राविना कृतानां यज्ञाधिकारो नास्तीत्येतदसकृत्प्रतिपादितं तेन व्रतोपवासावपि । कुर्वती तदनुज्ञां गृह्णीयात् । व्रतं मद्यमांसादिनिवृत्तिसंकल्पः न तु कृद्वाणि । तत्र जपहोमयोरङ्गत्वात्तदभावाच्च स्त्रियाः । न च वक्तुं युक्तं । जपेहोमविकलं कृद्वाणुष्ठानमस्याभविष्यति नहि त्वेच्छयाङ्गत्यागोयुक्तः सर्वाङ्गकल्पयुक्तस्य कर्मणोभ्युदयसाधनत्वेनावगतत्वात् । नहि पुरुषशक्तिभेदापेक्षयाङ्गानामुपचयापचयौ भवतः । सन्ति च सर्वाङ्गोपसंहारेण सवर्णास्त्रैर्वर्णिकाः प्रयोगमनुष्ठातुम् । अतो न स्त्रीशूद्रस्याभ्युदयकामस्य कृच्छ्रेष्वधिकारः प्रायश्चित्तेषु विशेषवक्ष्यामः । उपोषितं उपवासः आहारविच्छेदकरात्रद्विरात्रादिषु । शुश्रूषते परिचरति ॥ १५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पृथक् भर्त्रा विना । न यज्ञः तथा व्रतं चान्द्रायणादि । उपोषणं देवताप्रीत्यर्थमुपवासः । पृथक् स्वातन्त्र्येण पत्यौ जीवति नास्ति । येन कर्मणा पतिंशुश्रूषते सेवते तेन कर्मणा ॥ १५५ ॥

(३) कुङ्कुमः । यस्माच्च नास्ति स्त्रीणामिति । यथा भर्तुः कस्याश्चित्पत्न्यारजोयोगादिना अनुपस्थितावपि पत्यन्तरेण यज्ञनिष्पत्तिः तथा न स्त्रीणां भर्त्राविना यज्ञसिद्धिः । नापि भर्तुरनुमतिमन्तरेण व्रतोपवासौ किंतु भर्तृपरिचर्ययैव स्त्री स्वर्गलोके पूज्यते ॥ १५५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच नास्तीति । न व्रतमुपोषितमुपवासः भर्तुराङ्गाविना व्रतोपवासौ नस्तः येन विनयादिना ॥ १५५ ॥

(५) नन्दनः । पतिशुश्रूषाविना । स्त्रीणां यज्ञो नास्ति । शुश्रूषैव यज्ञः स्त्रीणामित्यर्थः । तेन शुश्रूषणेन यज्ञप्रतिनिधिनेत्यभिप्रायः ॥ १५५ ॥

पाणिग्रहाहस्य साध्वी स्त्री जीवतोवा मृतस्य वा ॥ पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किंचिदप्रियम् ॥ १५६ ॥

(१) मेधातिथिः । पत्युर्लोकः पत्या सह धर्मानुष्ठानेन योऽर्जितः स्वर्गादिः स पतिलोकस्तमभीप्सन्ती प्राप्नुकामा-

† (क, ख, ण) * पोषणम् = पोषितम् [(अ), मेधा०]

नाचरेत्किंचिदप्रियं परपुरुषसंसर्गादिशास्त्रप्रतिषिद्धम् । नहि मृतस्य किंप्रियमप्रियं चाशक्यमवसातुं । नच जीवतोयत्प्रियं तदेव मृतस्य भवान्तरोपपन्नानां तु प्रीतिभेदात् तस्माद्यत्प्रतिषिद्धं त्वातः प्रियं तन्नाचरेत् ॥ १५६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मृतस्यापि तदप्रियं यज्जीवनकाले न प्रियम् ॥ १५६ ॥

(३) कुड्मूकः । पत्यासह धर्माचरणेन योजितः स्वर्गादिलोकस्तमिच्छन्ती साध्वी स्त्री जीवतोवा मृतस्य वा भर्तुर्न किंचिदप्रियमर्जयेत् । मृतस्याप्रियं व्यभिचारेण विहितश्राद्धखण्डनेन च ॥ १५६ ॥

(४) राघवानन्दः । तदेवाह नाचरेत्किंचिदप्रियमिति अविनयं श्राद्धाद्यभावम् ॥ १५६ ॥

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः ॥ नतु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥ १५७ ॥

(१) मेधातिथिः । तदेवसविशेषदर्शयति । पुंवत्स्त्रीणामपि प्रतिषिद्धात्मत्यागोयदप्यद्विरसापतिमनुश्रियेरन्नित्युक्तं तदपि नित्यवदवश्यं कर्तव्यं फलस्तुतिस्तत्रास्तिफलकामायाश्चाधिकारक्षेपेन तुल्यता । तथैव श्येनेन हिंस्याद्भूतानोत्यधिकारस्यातिप्रवृद्धतरद्वेषान्धतया सत्यामपि प्रवृत्तौ न धर्मत्वमेवमिहाप्यतिप्रवृद्धफलाभिलाषायाः सत्यपि प्रतिषेधे तदतिक्रमेण मरणे प्रवृत्त्युपपत्तेर्नास्तीत्यत्वमतोस्त्येव पतिमनुमरणेपि स्त्रियाः प्रतिषेधः । किंच तस्मादुह्नपुरायुषः प्रेयादिति प्रत्यक्षश्रुतिविरोधोऽस्मृतिरप्येषाशक्यते कल्पयितुम् । यथा वेदमधीत्य स्त्रियादित्यध्ययनानन्तरमरुतार्थोवबोधस्य स्नानस्मरणमतोमृतपतिकाया अनपत्याया असति भर्तृधनादौ दायिकेच कर्तनादिना च केनचिदुपायेन जीवन्त्याजीवितस्यातिप्रियत्वात्तदुपेक्षणस्याशास्त्रत्वात्प्रतिषिद्धत्वादापदि सर्वाभिचाराणां विश्वामित्रजाघनीमित्यादिनानुज्ञातत्वाद्यभिचारोपजीविताप्रामाविदमुच्यते काममस्यामवस्थायां शरीरं क्षपयेत् क्षयं नयेत्पुष्पमूलफलैर्यथोपपादं वृत्तिं विदधीत । नतु नामापि गृह्णीयात्पतिर्मेत्वमद्येत्यन्यस्य यत्तु । नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबेऽथपतिते पतौ । पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयत इति । तत्र पालनात्पतिमन्यमाश्रयेत् सैरन्ध्रकर्मादिनात्मवृत्त्यर्थं नवमेच निपुणं निर्णेष्यते । प्रोषितभर्तृकायाश्च सविधिः । कामशब्दप्रयोगोऽरुचिसंसूचनार्थम् । देहक्षपणमप्यकार्यमिदं त्वन्यदकार्यतरं यदन्येन पुरुषेण संप्रयोगः ॥ १५७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यद्यस्याजीवनोपायमविधायैव भर्ता मृतस्तदापि जीवनोचितधनाद्यर्थेन व्यभिचरेदित्यर्थः । न नामापि गृह्णीयात् वचसापि तवाहमिति न ब्रूयात् ॥ १५७ ॥

(३) कुड्मूकः । वृत्तिसंभवेऽपि पुष्पमूलफलैः पवित्रैश्च देहं क्षपयेदल्पाहारेण क्षीणं कुर्यात् । नच भर्तरि मृते व्यभिचारधिया परपुरुषस्य नामाप्युच्चारयेत् ॥ १५७ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच काममिति । तदेहं क्षपयेदित्यन्वयः । नामापि व्यभिचारधिया श्रवणं कीर्तनं केलिरित्यत्र नामग्रहणस्यापि मैथुनाङ्गत्वोक्तेः ॥ १५७ ॥

(५) नन्दनः । आपद्यपि नान्यं भजेदित्याह काममिति । शुभैरनिषिद्धैः कदल्यादिपुष्पमूलफलैर्देहं क्षपयेद्यापयेत् ॥ १५७ ॥

(६) रामचन्द्रः । परस्य अन्यस्य नामापि न गृह्णीयात् किंपुनः अत्यल्पशीलाचरणादि ॥ १५७ ॥

आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी ॥ यो धर्म एकपत्नीनां कांक्षन्ति तमनुत्तमम् ॥ १५८ ॥

(१) मेधातिथिः । एष एवार्थो विस्पष्टीक्रियते । आमरणाद्ब्रह्मचारिण्यासीत् अस्यामापदि न व्यभिचारेणात्मानं-

जीवयेत् । क्षान्ता तत्कृतं दुःखमवधीरयन्ती न ब्रह्मचर्यं क्षुद्रपसृष्टं येन चित्तं कल्लोलैर्न खण्डयेत् । एकः पतिर्यासां ता एकस्य वा पत्न्यः एकपत्न्यस्तासां सावित्री प्रभृतीनां यो धर्मो यस्य फलं वरदानाभिशापादिषु शक्तता तं कांक्षन्ती कामयमाना ब्रह्मचर्यं न जहात् । अस्यामवस्थायां मूलफलाशिन्या यदि भवति मरणं ततो न दोषः ॥ १५८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आमरणात् त्वस्य । क्षान्ता क्लेशसहा । नियता भोजनादिसंयमवती । ब्रह्मचारिणी अनुत्पन्नापत्यवत्यपि त्यक्तमैथुना न तु पत्युरात्मनैवोपकारबुद्ध्या पुत्रोत्पत्त्यर्थं पुरुषान्तरंगच्छेदित्यर्थः । यो धर्म एकपत्नीनामेकपतिनियमे योलभ्यः । अनुत्तमं प्रजोत्पादनलभ्याद्धर्माच्छ्लेषधर्मम् ॥ १५८ ॥

(३) कुट्टूकः । एवं च सति आसीतेति । क्षमायुक्ता नियमवत्येकभर्तृकानां यो धर्मः प्रकृष्टतमस्तमिच्छन्ती मधुमांस-मैथुनवर्जनात्मकब्रह्मचर्यशालिनी मरणपर्यन्तं तिष्ठेत् । अपुत्रापि पुत्रार्थं न परपुरुषं सेवेत् ॥ १५८ ॥

(४) राघवानन्दः । क्षान्ता उद्विक्तकामापि क्षमाशीला । नियता नियमवती पुंवार्ताविरहिता ब्रह्मचारिणी । ताम्बूलविधवास्त्रीणां यतीनामूर्ध्वरेतसाम् । प्रत्येकमांसतुल्यं स्यात् मिलितं तु सुरासमम् इत्युक्तमधुमांसताम्बूलादिनिषेधपरा । एकपत्नीनामेकभर्तृकाणां यो धर्मस्तं अनुत्तमं न विद्यते उत्तमो धर्मो यस्मात् सोऽनुत्तमस्तम् ॥ १५८ ॥

(५) नन्दनः । क्षान्ता दुःखसहिष्णुः ॥ १५८ ॥

(६) रामचन्द्रः । एकपत्नीनां पतिव्रतानां पतिधर्मपरायणानां यो धर्मः तं धर्मं अनुत्तमं कांक्षन्ती ॥ १५८ ॥

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् ॥ दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम् ॥ १५९ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वेणापदि जीविकार्थः परपुरुषसंसर्गो निषिद्धोऽनेन पुत्रार्थाप्रवृत्तिर्निषिध्यते । एवं किल श्रूयते । नापुत्रस्य लोकोस्तीति लिङ्गं च तत्राविवाक्षितमतः पुत्रार्थं प्रसङ्ग इदमुच्यते । बहूनि सहस्राणि कुमारा एव ब्रह्मचारिणोऽकृतदारानैष्ठिकास्तेषामनेकानि सहस्राणि दिवं गतानि स्वर्गं प्राप्नुवन्ति । नियोगस्तु नवमे चतुर्विधयां विहितो नात्मतन्त्रतया पुत्रार्थिन्याः । अकृत्वा कुलसंततिं कुलवृद्ध्यर्थं संततिं तस्मात्कृत्वा पुत्रानजनयित्वेत्यर्थः । अनेकानीति नञ्समासस्योत्तरपदार्थप्राधान्येन बहुवचनं चिन्त्यम् । सत्यप्येकत्वप्रतिषेधे द्यादिसंख्यावचनं दुर्लभम् । तथा ह्ययं स्वधर्मविशेषपरित्यक्तस्त्वगतिकत्वेनाच्छादिततद्रूपोऽप्यतिदीर्घसंख्याविशेषानाच्छेदो यथा गोदौ ग्राम इति । उक्तं च चूर्णिकाकारेण अनेकस्मादिति सिध्यतीति । एकवचनप्रयोगशिष्टिसिद्धिर्दार्शितवान् असहायवचनो वायमनेकशब्दः । असहायानि गतानि भार्यासहायभूता एषां नासीदित्यर्थः ॥ १५९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतदेव प्रपञ्चयति बहूनि हीति । कौमारादारभ्य ब्रह्मचारिणाम् । कुलस्य त्वकुलजस्य संहरति परंपराम् ॥ १५९ ॥

(३) कुट्टूकः । यस्मात् अनेकानीति । बाल्यत एव ब्रह्मचारिणामकृतदाराणां सनकवालखिल्यादीनां ब्राह्मणानां बहूनि सहस्राणि कुलवृद्ध्यर्थं संततिमनुत्पाद्यापि स्वर्गं गतानि ॥ १५९ ॥

(४) राघवानन्दः । ऊर्ध्वरेतसां येलोकास्ते लोका अस्या इत्याह अनेकेति द्वाभ्याम् । अकृत्वा कुलसंततिं विरक्तनैष्ठिकानां दाराकरणे न दोष इति ध्वनितं तान् फलवादेनावर्जयति ते यथा स्वर्गलोकं गच्छन्ति ब्रह्मचर्येण विन्दत इति श्रुतेः । तथेयमपीत्यन्वयः ॥ १५९ ॥

(५) नन्दनः । मृतभर्तृका पुत्रहीनापि ब्रह्मचर्येण स्वर्गं गच्छतीति निदर्शनं श्लोकद्वयेनाह अनेकानीति । कुमारब्रह्मचारिणां कौमारात्पभृत्यामरणं ब्रह्मचारिणाम् ॥ १५९ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्वाभ्यामाह अनेकेति । कौमारब्रह्मचारिणां विप्राणामनेकानि सहस्राणि अकृत्वा कुलसन्त-
तिर्दिगंतानि ॥ १५९ ॥

मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता ॥ स्वर्गं च्छत्यपुत्राऽपि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥ १६० ॥

(१) मेधातिथिः । एष एवार्थोभूय उच्यते प्रतिपत्तिदाढ्यार्थम् ॥ १६० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । साध्वी मनसाप्यव्यभिचारिणी । अतः पुत्रेण विनाप्युत्तमलोकलाभान्न प्रजार्थमपि
व्यभिचरेदित्यर्थः ॥ १६० ॥

(३) कुल्लूकः । साध्वाचारा स्त्री मृतेभर्तार्यरुतपुरुषान्तरमैथुना पुत्ररहिताऽपि स्वर्गं गच्छति यथा ते सनकवाल
खिल्यादयः पुत्रशून्याः स्वर्गगताः ॥ १६० ॥

(४) राघवानन्दः । एतादृश्याः पुत्रेणालमिन्याह अपुत्रापीति ॥ १६० ॥

(६) रामचन्द्रः । साध्वी स्त्री मृते भर्तरिब्रह्मचर्येऽवस्थिता अपुत्रापि स्वर्गं गच्छति यथा ते ब्रह्मचारिणः स्वर्गगताः
॥ १६० ॥

अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते ॥ सेहनिन्दामवामोति पतिलोकाच्च हीयते ॥ १६१ ॥

(१) मेधातिथिः । पुत्रोमेजायतामित्यभिलाषः सोऽपत्यलोभस्ततोहेतोर्या भर्तारमतिक्रम्य वर्ततेऽन्येनसंप्रयुज्येत
सा इहलोके निदां गृही प्रामोति स्वर्गं च न प्रामोति ॥ १६१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अतिवर्तते व्यभिचरति । पतिलोकात् पतिशुश्रूषालभ्यलोकात् ॥ १६१ ॥

(३) कुल्लूकः । पुत्रोमे जायतां तेन स्वर्गं प्राप्स्यामीति लोभेन या स्त्री भर्तारमतिक्रम्य वर्तते व्यभिचरतीत्यर्थः
सेह लोकेगृहीप्रामोति परलोकं च स्वर्गं तेन पुत्रेण न लभते ॥ १६१ ॥

(४) राघवानन्दः । विपरीते दण्डमाह अपत्येति । गुर्वनुज्ञां विनेति शेषः स्वर्गलोकवत् प्रापयति लोकात्
॥ १६१ ॥

(५) नन्दनः । अपत्यहेतोः स्त्रीणामन्यपरिग्रहे दोषमाह अपत्येति ॥ १६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । पुत्रस्य लोभाद्या स्त्री भर्तारमतिवर्तते अतिक्रम्यान्यत्रगच्छति सान्निन्दामवामोति ॥ १६१ ॥

नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह न चाप्यन्यपरिग्रहे ॥ न द्वितीयश्च साध्वीनां कचिद्भर्तोपदिश्यते ॥ १६२ ॥

(१) मेधातिथिः । अन्येन भर्त्रा याउत्पादिता प्रजा सा नैव तस्याः प्रजा । अन्यदारेषु च या पुंसोत्पादिता सापि
तस्य न भवति ॥ १६२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्येन भर्तुरन्येनोत्पन्नोत्पादिता न प्रजास्ति स्त्रियाः । नचान्यस्य परिग्रहे भार्यायामु-
त्पन्ना प्रजा पुरुषस्यास्तीति प्रसंगादुक्तम् । नचैकस्मादन्योपि भर्ता भवति येन तदुत्पन्ना प्रजापि नान्योत्पन्नेत्याह नद्वितीय-
इति ॥ १६२ ॥

(३) कुल्लूकः । अत्रैव हेतुमाह नान्योत्पन्नेति । यस्माद्भर्तृव्यतिरिक्तेन पुरुषेणोत्पन्ना सा प्रजा तस्याः शास्त्रीया न-
भवति न चान्यपत्न्यामुत्पादितोत्पादकस्य प्रजा भवति । एतच्चानियोगोत्पादितविषयम् । बहुभर्तृकेयमिति लोकप्रसिद्धेः

द्वितीयोपि भर्तैव तस्मादन्योत्पादितत्वमसिद्धमित्याशङ्क्याह नेति । लोके गर्हाप्रसिद्धावपि साध्वाचाराणां कचिच्छास्त्रे द्वितीयोपभर्तोपदिश्यते एवंच सति पुनर्भूत्वमपि प्रतिषिद्धम् ॥ ६२ ॥

(४) राघवानन्दः । साध्वीति विशेषणान्नास्यानियुक्तता कुतोऽस्याःसाध्वीत्वंतत्रहेतुर्नान्येति । नाप्यन्यस्य परिग्रहे अन्यस्य परिग्रहे न वर्तते अन्योस्याःपरिग्रहीता न भवतीति भर्ता गर्भस्येति शेषः ॥ १६२ ॥

(५) नन्दनः । अपत्यहेतोः स्त्रीणामन्यपरिग्रहवर्जने हेतुमाह नान्योत्पन्नेति । अन्योत्पन्ना प्रजेह स्त्रीषु नास्ति स्त्रीणामन्योत्पन्ना प्रजा कार्याय न कल्पतइत्यर्थः । अन्यपरिग्रहेऽन्यस्यांभार्यायामन्योत्पन्नाप्रजानास्त्युत्पादकस्य प्रजाकार्यायन कल्पतइत्यर्थः । अस्योपन्यासोदष्टान्तार्थः । कचिच्छास्त्रे साध्वीनांद्वितीयोभर्ता नोपदिश्यते । आभ्यामपिहेतुभ्यामप्रजसापि स्त्रिया ऽन्यपरिग्रहो न कर्तव्यइति ॥ १६२ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्योत्पन्ना परपुरुषोत्पन्ना स्त्रीणांप्रजा न भवेत् युक्ता न भवेदित्यर्थः । च पुनः अन्यपरिग्रहेऽपि न प्रजायुक्ता भवेत् ॥ १६२ ॥

पतिं हित्वाऽपकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते ॥ निन्द्यैव सा भवेत्लोके परपूर्वेति चोच्यते ॥ १६३ ॥

(१) मेधातिथिः । न केवलं निन्दामेव येन ॥ व्यभिचारात्तुभर्तुस्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यतां । शृगालयोर्निचामोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥ अतोनातिचरेद्धतरिंदष्टादष्टफललोभेन स्त्रीधर्मोपसंहारश्लोकाऋजवश्चस्त्रीधर्मादित्यतोमयात्र व्याख्यानादरऋतः एतावत्तत्रोपदेशार्थः यथापुंसोन्ययासह पुनःप्रवृत्तिकर्म नेह संस्थितं च नलङ्घयेदित्यनेन न्यायेन पुनःसहप्रवृत्तिरिति । तथा स्वर्गगच्छत्यपुत्रापीत्यनेनापत्यजननमापदि प्रतिषिध्यते नियोगस्मृत्या तु तत्पुनरभ्यनुज्ञास्यते । तदेतदपत्योत्पादनमुक्तप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्प्यते । अनयोस्तुस्मृत्योःकतमा स्मृतिर्ज्यायसीति न शक्यं कर्तुमतिशयावधारणं येनैकत्रापत्यमन्यत्रास्याःसंयमः उभयोरपि वस्तुनिर्वहति ॥ १६३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नच यस्मै दत्ता तस्यापकृष्टकुलत्वे उत्कृष्टकुलभर्त्राश्रयणंकार्यमिःयाह पतिमिति । वर्तमानभर्तुः परोन्यः पूर्वोभर्ता यस्याः सा परपूर्वा ॥ १६३ ॥

(३) कुल्लूकः । अपकृष्टंक्षत्रियादिकंस्वकीयंपतित्यक्तोत्कृष्टं ब्राह्मणादिकंयाऽऽश्रयति सा लोके गर्हणीयैव भवति । परोऽन्यःपूर्वोभर्तास्याअभूदितिच लोकैरुच्यते ॥ ६३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच पतिमिति । स्वपतिं घनादिहीनतयानिरुद्धमपि । परापूर्वा परंभर्त्रन्तरपूर्वास्मिन्कालेयस्याः सा ॥ १६३ ॥

(५) नन्दनः । अपकृष्टोऽपिसाध्व्यापतिर्नहातव्यइत्याह पतिमिति ॥ १६३ ॥

(६) रामचन्द्रः । या स्त्री स्वपतिमवकृष्टं पुंस्त्वरहितं हित्वा उत्कृष्टमन्यं निषेवते सा परपूर्वेत्युच्यते ॥ १६३ ॥

व्यभिचारात्तुभर्तुःस्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् ॥ शृगालयोर्निप्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥ १६४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तत्रपरपूर्वात्वे दोषमाह व्यभिचारादिति । लोके परलोके ॥ १६४ ॥

(३) कुल्लूकः । व्यभिचारफलमाह व्यभिचारेति । परपुरुषोपभोगेन स्त्रीहलोके गर्हणीयतांलभते मृताच शृगालो भवति कुष्ठादिरोगैश्च पीड्यते ॥ १६४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच भर्तुर्व्यभिचारादुल्लङ्घनात् पापयोगैः कुष्ठशिवत्रादिभिः ॥ १६४ ॥

(६) रामचन्द्रः । भर्तुः सकाशात् ॥ १६४ ॥

पतिर्या नाऽभिचरति मनोवाग्देहसंयता ॥ सा भर्तृलोकमामोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते १६५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नाभिचरति न व्यभिचरति । मनः संयमो मनसः परपुरुषस्यास्मरणम् । वाक्संयमः तस्य स्वभर्तृगुणातिशयानभिधानम् । देहसंयमः तदसंस्पर्शः ॥ १६५ ॥

(३) कुल्लूकः । मनोवाग्देहसंयतेति विशेषणोपादानाद्यामनोवाग्देहैरेव भर्तारं व्यभिचरति सा भर्तृमात्रनिष्ठमनोवाग्देहव्यापारत्वाद्भर्त्रासहार्जितांल्लोकान्मामोति इह च शिष्टैः साध्वीत्युच्यते । वाङ्मनसाभ्यामपि पतिं व्यभिचरेदिति विधानार्थोदैहिकव्यभिचारनिवृत्तेरुक्ताया अप्यनुवादः ॥ १६५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच यथोक्तविधानास्यात्तस्याउभयत्र सुखमित्याह पतिमिति ॥ १६५ ॥

अनेन नारी वृत्तेन मनोवाग्देहसंयता ॥ इहाध्यांकीर्तिमामोति पतिलोकं परत्र च ॥ १६६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पतिलोकं परत्र चेति परत्र यः पतिलोकः पतिपरिचर्यालभ्यलोकस्तं प्राप्नोति ॥ १६६ ॥

(३) कुल्लूकः । अनेन स्त्रीधर्मप्रकारेणोक्तेनाचारेण पतिशुश्रूषाभर्तृव्यभिचारादिना मनोवाक्कायसंयता स्त्रील्लोके प्रकृष्टांकीर्तिं परत्र पत्यासहार्जितं च स्वर्गादिलोकं प्राप्नोतीति प्रकरणार्थोपसंहारः ॥ १६६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच अनेनेति । नारीवृत्तेन नार्युक्तशैलेन । अध्यां श्रेष्ठां परत्रमृतौ पतिलोकमामोतीत्यन्वयः ॥ १६६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनेन वृत्तेन भर्तृशुश्रूषणेन ॥ १६६ ॥

एवंवृत्तांसवर्णांस्त्रीद्विजातिः पूर्वमारिणीम् ॥ दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ॥ १६७ ॥

(१) मेधातिथिः । न्यायप्रामाण्यनुवादः लोकः । एवंतस्याः साध्वीत्वाद्युक्तएवात्राग्निहोत्रिणः संस्कारः नवाग्रयोहवाएतेष्वन्यांप्रमीतायां धार्यन्तइति ॥ १६७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवंवृत्तां साध्वीं सवर्णां पूर्वमारिणीं स्वस्मात्पूर्वमृतां दाहयेत्तस्याः पुत्रेण कर्त्रा । अग्निहोत्रेण स्वीयेन यज्ञपात्रैस्तद्वात्रोचितैः ॥ १६७ ॥

(३) कुल्लूकः । द्विजातिः समानवर्णां यथोक्ताचारयुक्तां पूर्वमृतां श्रौतस्मार्ताग्निभिर्यज्ञपात्रैश्च दाहधर्मज्ञो दाहयेत् ॥ १६७ ॥

(४) राघवानन्दः । पूर्वमारिणीं पूर्वं मृताम् ॥ १६७ ॥

(६) रामचन्द्रः । पूर्वमारिणीं स्त्रीं अग्न्युत्थापनपात्रसंबन्धिनीं मृतां यज्ञपात्रैः सह अग्निहोत्रस्याग्निना दाहयेत् ॥ १६७ ॥

भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्वाग्नीनन्त्यकर्मणि ॥ पुनर्दारक्रियांकुर्यात्पुनराधानमेव च ॥ १६८ ॥

(१) मेधातिथिः । तदेतत्पुनरधिकारार्थमुदानिह्यते । इदमप्यन्ययासहधिकारप्रतिप्रसवः । यदा त्वर्थे प्रयोजने धर्मकर्मानुष्ठाने वा तदाप्यसहायभावाद्धानप्रस्थपारिव्राज्ये वा अधिकारस्याप्रतिषेधः । तथा च श्रुतिः । जरसाहवाएतस्माद्विमुच्यतइति । अर्थलोपेन वा । अपरेत्वाहुः अत्र यदेतिकल्पयिष्यते । एतेन यावज्जीवहोमीयश्रुतेरविरोधः सिद्धो भविष्यति ॥ १६८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्त्यकर्मण्यौर्ध्वदेहिकेकर्मणि । पुनराधानमेव चेत्याहिताग्निर्नानग्निस्तिष्ठेदित्यर्थः ॥ १६८ ॥

(३) कुल्लूकः । पूर्वमृतायाअन्त्यकर्मणि दाहनिमित्तमग्नीन्समर्प्य गृहस्थाश्रममिच्छन्नुत्पन्नपुत्रोऽनुत्पन्नपुत्रोवा पुनर्विवाहं कुर्यात् । स्मार्ताग्नीञ्छ्रौताग्नीन्वादध्यात् ॥ १६८ ॥

(४) राघवानन्दः । अनाश्रमी न तिष्ठेत् क्षणमेकमपि द्विजः इति स्मृतिमाश्रित्याह पुनर्दारक्रियामिति । स्वरसाञ्च्यन्तरसत्वे आधानमात्रमश्रेष्ठयाविद्यमानायांनाग्नित्यागः ॥ १६८ ॥

(६) रामचन्द्रः । पूर्वमारिण्यै अरणिपात्रसंबन्धिन्यै भार्यायै अन्तकर्मणि अग्नीन् यज्ञादीन् दत्वा पुनः दारक्रियां कुर्यात् । च पुनः आधानं अग्न्याधानमपि कुर्यात् ॥ १६८ ॥

अनेन विधिना नित्यंपञ्चयज्ञान्न हापयेत् ॥ द्वितीयमायुषोभागंकृतदारोगृहे वसेत् ॥ १६९ ॥

इतिमानवेधर्मशास्त्रेभृगुप्रोक्तायांसंहितायांशौचविधिःपञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

(१) मेधातिथिः । उपसंहारश्लोकः । पञ्चयज्ञग्रहणंच सर्वप्रसिध्यर्थमिति ॥ १६९ ॥

इतिश्रीभट्टवीरस्वामिसूनोर्भट्टमेधातिथिस्वामिनःकृतौ मनुभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥ ॥ ७३ ॥ ॥ ७३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनेन विधिना स्नातकव्रतादिनियमेन सहितः न हापयेन्न त्यजेत् । द्वितीयमिति द्वितीयभागे पुनराधानपुत्रोत्पत्तिज्ञानांच संभवे असंभवे त्वधिकमपिकालं गृहे वसेत् गार्हस्थाश्रमे वर्तेत । ब्राह्मणर्हितप्राधान्यादुक्तम् ॥ १६९ ॥

इति सर्वज्ञनारायणकृतौ मन्वर्थविवृतौ भक्ष्याभक्ष्यप्रेतशुद्धिद्रव्यशुद्धिस्त्रीधर्मोनाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥ श्रीनारायणसर्वज्ञनिर्मितावीक्ष्य भारतीम् । धर्मस्य निर्णयं ब्रूत पदवाक्यसुनिश्चितम् ॥ ॥ ७३ ॥ ॥ ७३ ॥

(३) कुल्लूकः । अनेन तृतीयाध्यायाद्युक्तविधिना प्रत्यहंपञ्चयज्ञान्न त्यजेत् । द्वितीयमायुर्भागंकृतदारपरिग्रहोऽनेनैव यथोक्तविधिना गृहस्थविहितान्धर्माननुतिष्ठेत् गृहस्थधर्मत्वेऽपि पञ्चयज्ञानां प्रकृष्टधर्मज्ञापनार्थं पृथङ्निर्देशः ॥ १६९ ॥ इतिकुल्लूकभट्टविरचितायांमन्वर्थमुक्तावल्यांपञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥ ॥ ७३ ॥

(४) राघवानन्दः । गार्हस्थाश्रमकृत्यमुपसंहरति अनेनेति ॥ १६९ ॥

राघवानन्दविरचितायांमन्वर्थचन्द्रिकायांपञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥ ॥ ७३ ॥ ॥ ७३ ॥ ॥ ७३ ॥

(५) नन्दनः । एवंप्रपञ्चितं गृहस्थाश्रमाचारविधिमुपसंहरति । अनेनेति । अत्र पुनः पञ्चयज्ञग्रहणंतेषांप्राधान्यप्रतिपत्त्यर्थमिति ॥ १६९ ॥ इतिश्रीनन्दनविरचितेमानवव्याख्यानेपञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

(६) रामचन्द्रः । इतिश्रीरामचन्द्रविरचितायांचन्द्रिकायांपञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

॥ श्री ॥

॥ श्रीगणेशायनमः ॥

॥ अथ षष्ठोऽध्यायःप्रारभ्यते ॥



एवंगृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातकोद्विजः ॥ वने वसेत्तु नियतोयथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥

[अतःपरंप्रवक्ष्यामि धर्मं वैखानसाश्रमम् । वन्यमूलफलानां च विधिग्रहणमोक्षणे ॥ १ ॥ ५५]

(१) मेधातिथिः । गृहोपलक्षितआश्रमोगृहाश्रमः गृहादाराः तत्र स्थित्वातमनुष्ठायवनेवसेदितिविधिः । स्थित्वेति क्ताप्रत्ययेन पौर्वकाल्यंगार्हस्थ्यस्य वनवासादर्शयति । क्रमेणाश्रमःकर्तव्यः कृतगार्हस्थ्योवनवासेऽधिक्रियते । समुच्चयपक्षमाश्रित्यैतदुक्तम् । अन्यथाऽविप्लुतब्रह्मचर्यादपि वनवासोविद्यतइत्येतदपिवक्ष्यते । विजितेन्द्रियः पक्ककषायः क्षोणरागइत्यर्थः । एवंविधिवद्यथावदितिपदानि वृत्तपूरणार्थानि तानि प्राक्तनतत्रव्याख्यातानि । एतावद्विधीयते । गार्हस्थ्यं-कृत्वावनवासआश्रयितव्यः ॥ १ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्रमप्राप्तौ वनस्थयतिधर्मो वक्तव्यौ तत्र वनस्थधर्मतावत्प्रक्रमते एवंगृहाश्रमइति । यथावद्वक्ष्यमाणविधिना वने वसेत् नियतस्तपःत्वाध्यायादिनियमाख्ययोगाङ्गयुक्तः । विजितेन्द्रियोब्रह्मचर्यरूपयमवान् । तेनैकदेशेन हिंसास्तेयापरिग्रहसत्यान्यपि यमान्तराणि गृह्णन्ते ॥ १ ॥

(३) कुहूकः । आश्रमसमुच्चयपक्षाश्रितोद्विजातिः कृतसमावर्तनउक्तप्रकारेण यथाशास्त्रंगृहाश्रममनुष्ठाय नियतः कृतनिश्चयोयथाविधानंवक्ष्यमाणधर्मेण यथार्हविशेषेणजितेन्द्रियः परिपक्ककषायइत्यर्थः वानप्रस्थाश्रममनुतिष्ठेत् ॥ १ ॥

(४) राघवानन्दः । एवमितिगृहीभूत्वा वनीभवेदिति श्रुतिसंगतिः । स्नातकःउक्तस्नातकधर्मवान् ॥ न गृहंगृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ॥ गृहंच गृहिणीशून्यमरण्यसदृशंविदुः ॥ तयोपलक्षितमाश्रमंस्थित्वा तदुचितधर्मसंपाद्य ॥ १ ॥

[रामचन्द्रः । ब्रह्मचारीगृहस्थयोः धर्माःप्रतिपादिताअतः अधुना वानप्रस्थधर्मानाह अतइति । वैखानसाश्रमेवैखानसक्रषिप्रयुक्तआश्रमे । च पुनः वन्यमूलफलादीनांविधिम् ॥]

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्बलीपलितमात्मनः ॥ अपत्यस्यैव चापत्यंतदारण्यंसमाश्रयेत् ॥ २ ॥

(१) मेधातिथिः । यदुक्तंत्यक्तविषयोपभोगगर्भोऽधिक्रियतइति तदेवदर्शयति । बली त्वक्शैथिल्यं । पलितंकेषाण्डुर्यम् । अपत्यस्यापत्यं पुत्रस्यपुत्रइत्याहुः सत्यपि दुहितुरपत्ये दौहित्रे कन्यायांपुत्रस्यापि जातायां नैवविधिमिच्छन्तिशिष्टाः । अन्येतु शिरः पालित्यं पौत्रोत्पत्तिच वयोविशेषलक्षणार्थमाहुः । यस्य कथंचित्पालित्यं न भवेत्सोपि वार्ध-

क्येवनंसमाश्रयेत् । यथैव जातपुत्रः कृष्णकेशस्तु आधानेऽधिक्रियते एवंजातपौत्रः पलितशिराः तदापि पुत्रजन्मकृष्ण-
केशताच वयोविशेषोपलक्षणार्थमेव । नातिशीघ्रनातिचिरमित्यर्थस्योपलक्षणत्वे तु प्रमाणंवक्तव्यम् ॥ २ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तृतीयायुर्भागे वनगमनंदर्शयित्वा कालान्तरमप्याह गृहस्थइति । वलीपलितं मिलितं
यदा पश्येदिति द्वितीयःकालः । अपत्यस्यापत्यं पौत्रं यदापश्येदिति तृतीयःप्रकारः ॥ २ ॥

(३) कुल्लूकः । गृहस्थोयदात्मदेहस्य त्वक्शैथिल्यं केशधावल्यं पुत्रस्यपुत्रं च पश्यति तथाविधवयोवस्थयाविग-
तविषयरागतया वनमाश्रयेत् ॥ २ ॥

(४) राघवानन्दः । आत्मनोदेहस्य वली चर्मशैथिल्यं पलितंकेशधावल्यं एतद्रागक्षयोपलक्षकम् । अपत्यस्ये-
त्यादिकंसंभवद्विषयम् ॥ २ ॥

(६) रामचन्द्रः । यदा आत्मनः वलीपलितं पश्येत् जराजर्जरत्वंपश्येत् ॥ २ ॥

संत्यज्य ग्राम्यमाहारंसर्वंचैव परिच्छदम् ॥ पुत्रेषु भार्यानिक्षिप्य वनंगच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥

(१) मेधातिथिः । ब्रीहियवमयमन्नंततःप्रभृतिनाश्रीयादित्येतत्संत्यज्येत्युच्यते । तदुक्तंमूलाशीत्यादि । परि-
च्छदः गवाश्ववस्त्रासनशय्यादिः यदि भार्यायाइच्छा तदा सहगमनम् अन्यथा एकाकिनः । अन्ये तु तरुणीनिक्षिप्य वृ-
द्धयासहेति वर्णयन्ति । सत्यांभार्यायामयंविधिः पुत्रेषु निक्षेपःवनगमनंवा । असत्यामपिमृतायां वनवासआपस्तम्बादिभिः
स्मर्यते पुनराधानइत्यत्र यस्येन्द्रियचापल्यं नास्ति सवानप्रस्थः । इतरः पुनर्दारान्परिगृह्णीयादितिव्यवस्था ॥ ३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ग्राम्यंसर्वपरिच्छदं गोभूहिरण्यादि । भार्यानिक्षिप्येति भार्यासंभवे ॥ ३ ॥

(३) कुल्लूकः । ग्राम्यंब्रीहियवादिकं भक्ष्यंसर्वं च गवाश्वशय्यादिपरिच्छदंपरित्यज्य विद्यमानभार्यश्च वनवासम-
निच्छन्तीभार्यापुत्रेषु समर्प्येच्छन्त्या सहैव वनंगच्छेत् ॥ ३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच संत्यज्येति । ग्राम्यं कृष्यादियत्नोत्पाद्यंपरिच्छदं गवादिकं । सहैव वा वनवासमिच्छ-
न्त्या भार्यायाऋतुमत्या मृतायांवनवासइत्यापस्तबोक्तेः सति रागेविवाहोऽसति वनंगच्छेदिति ॥ ३ ॥

(६) रामचन्द्रः । ग्राम्यमाहारं गोधूमतिलादिकम् । च पुनः सर्वपरिच्छदमपि गोभूतिलहिरण्यादि । पक्षान्तर-
प्रति परिचर्याऽभिलाषेण स्वयमपि वनंगंतुमिच्छति तर्हि तथा पत्न्यैव सह वनंगच्छेत् ॥ ३ ॥

अग्निहोत्रंसमादाय गृहं चाग्निपरिच्छदम् ॥ ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥

(१) मेधातिथिः । अग्नयएवाग्निहोत्रशब्देनोक्ताः श्रौतानग्नीन्समादाय गृहीत्वा गृहं च अग्निहोत्रपरिच्छदं सुक्लु-
वादि । ग्राम्यपरिच्छदस्य त्यागविधानादग्निसंबद्धस्य प्रतिप्रसवीयम् ॥ ४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सहगमनपक्षेऽग्निहोत्रसंभवेऽग्निहोत्रमादाय गृहमौपासनमादायैकाकिगमनेपि । एवं-
तत्तदग्निपरिच्छदं सुगादिकं तत्तदग्निनयनेनयेदित्यर्थसिद्धमपि स्पष्टार्थमुक्तम् ॥ ४ ॥

(३) कुल्लूकः । श्रौताग्निमावस्थ्याग्निमग्न्युपकरणं च सुक्लुवादिगृहीत्वा ग्रामादरण्यं निःसृत्यगत्वा संयतेन्द्रियः
सन्निवसेत् ॥ ४ ॥

(४) राघवानन्दः । अग्निहोत्रं श्रौतंगृहं आवसथ्याख्यं च । परिच्छदमग्नेः सुवादिकं । निःसृत्य अरण्यनिषेवेत् ॥ ४ ॥

(५) नन्दनः । [वैखानसाश्रमवानप्रस्थाश्रमविषयम् । वन्यानांमूलफलानामुपादानेपरित्यागेच कालविधिः ।]
द्विविधो वानप्रस्थः गृहस्थसमोभिक्षुसमश्चेति । तयोर्गृहस्थसमस्यधर्मास्तावदाह अग्निहोत्रमिति । गृहं गृहेविद्यमानम् ।
अग्निपरिच्छदभरणपात्रशकटादिकम् । निःसृत्य प्रविश्य ॥ ४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अग्निहोत्रं वैतानाग्निं गृहं आवसथ्याग्निं च पुनः अग्निपरिच्छदंरुणाजिनादि । ग्रामान्निःसृत्या-
रण्यनिवसेजितेन्द्रियःसन् ॥ ४ ॥

मुन्यनैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा ॥ एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ५ ॥

(१) मेधातिथिः । एतानेव ये गृहस्थविहिताः निर्वपेदनुतिष्ठेत् विधिपूर्वकमित्यनुवादः श्लोकपूरणार्थः ॥ ५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मुन्यनैरकृष्टपच्यैः । विविधैस्तत्कालोपपन्नैः मेधोयज्ञस्तदहर्मेध्यैर्यज्ञियैः शाकादिनापि
मेध्येनैव । एतानेव गृहस्थकार्यान् चतुरोमहायज्ञान् ब्रह्मयज्ञस्तु नान्नसाध्यः ॥ ५ ॥

(३) कुल्लूकः । मुन्यनैर्नीवारादिभिर्नानाप्रकारैः पवित्रैः शाकमूलफलैर्वारण्योद्भवैरेतानेवेति गृहस्थस्य पूर्वोक्ता-
न्महायज्ञान्यथाशास्त्रमनुतिष्ठेत् ॥ ५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच । मुन्यनैरिति । मुन्यनैर्नीवाराद्यैः यदन्नः पुरुषोराजस्तदन्नास्तस्य देवताः इति स्मृतिमा-
श्रित्याह एतानेवेति । महायज्ञान् वैश्वदेवादीन् निर्वपेत् कुर्यात् ॥ ५ ॥

(५) नन्दनः । अनैर्नीवारादिभिः । एतान्पूर्वाध्यायोक्तान् ॥ ५ ॥

(६) रामचन्द्रः । मुन्यनैः अकृष्टक्षेत्रोद्भवैर्नीवारवेणुश्यामाकशाकादिभिः एतान्पञ्चमहायज्ञान्विधिपूर्वकं निर्व-
पेदेव ॥ ५ ॥

वसीत चर्मचीरंवा सायंस्नायात्प्रगे तथा ॥ जटाश्चबिभृयान्नित्यंश्मश्रुलोमनखानि च ॥ ६ ॥

(१) मेधातिथिः । चर्म गोमृगादीनाम् । चीरं वस्त्रखण्डं । सायं दिवसावसानसमयः । प्रगेचान्हःप्रथमोदये । एवं-
सायंस्नानविधानाद्वात्रौभोजनमप्याहुः भुक्तेस्नानप्रतिषेधात् । तदयुक्तमित्यन्ये यतः स्नातकव्रतमतः स्नानमाचरेद्भुत्केति ।
महाभारते तु पुरुषमात्रधर्मतया स्मर्यते । त्रैकालिकमप्यस्य स्नानं भविष्यति वैकल्पिकम् । जटाश्मश्रुलोमनखानि न कर्त-
येत् ॥ ६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चीरं तृणवल्कलादिकृतंवासः । प्रगे प्रातः । बिभृयात् नल्लिन्ध्यात् ॥ ६ ॥

(३) कुल्लूकः । मृगादिचर्म वृक्षवल्कलंवाआच्छादयेत् । हारीतेन तु वल्कलशाली चर्मचीरकुशमुञ्जफलकवासाइ-
तिविदधता वल्कलादिकमप्यनुज्ञातम् । सायंप्रातः स्नायात् जटाश्मश्रुलोमनखानि नित्यंधारयेत् ॥ ६ ॥

(४) राघवानन्दः । चीरं खण्डितवस्त्रं एतदुपलक्षकं वल्कलादेः । तदुक्तं हारीतेन वल्कलशाणचीरचर्मकुशमुञ्जफल-
वासाइति । प्रगे प्रातः । जटाश्च कृत्रिमाअकृत्रिमावा ॥ ६ ॥

(५) नन्दनः । चीरंकुशमयतन्तुस्यूतं वस्त्रम् । प्रगे उषसि ॥ ६ ॥

(६) रामचन्द्रः । चर्म रुणाजिनादि । चीरं वल्कलकृतं । प्रगे प्रातःसमये ॥ ६ ॥

यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद्बलिभिक्षां च शक्तिः ॥ अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥ ७ ॥

(१) मेधातिथिः । मुन्यनैरित्युक्तं तानि च नीवारादीनि वन्यानि धान्यानि तथा शाकादीनि वन्यान्त्येव । अन्नशब्दो बाहुल्येन धान्यविकारे भक्तसक्तुपिष्टादौ प्रयुज्यते ततः शाकादीनां सत्यपि मुन्यन्तत्वे पृथगुपादानम् । मुनयस्तापसास्तेषामन्नानि मुन्यन्नानि । अग्नौ पाकधर्मान्महायज्ञान्निर्वपेत् । यदा कालपक्वफलाशी तदा न निर्वपेदित्याशङ्क्यामाह यद्भक्षः स्यात् यदेव भक्षयेत्तदेव पिष्टादि यथा सामर्थ्यं दद्यात् । बलिं अनग्निहोत्रं इन्द्रायेन्द्रपुरुषेत्यादि यद्विहितम् । अग्नौ त्वस्मिन्पक्षे होमो नास्ति तद्युक्तं बलिशब्दस्य चेज्यामात्रवचनत्वाद्ग्रावनग्नौ च तुल्यमेतत् अथाप्ययं पक्षः स्याद्यदेव भक्षयेत्तदेव । अग्रावेव पक्वेनाग्नौ होमः कर्तव्यस्तथापि तावन्मात्रप्रयोजनं शाकादिवक्ष्यति त्वयं कालपक्वं भोक्ष्यते । सर्वथा कालपक्वाणि नोप्यस्ति वैश्वदेवोऽग्रावेव । अवादिभिर्द्वन्द्वेयम् । अद्भिर्मूलफलैः भिक्षया च नीवारादिनाऽर्चयेदाश्रमागतं पान्थम् ॥ ७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बलिपदं महायज्ञोपलक्षणम् । भिक्षां भिक्षभागेभ्यः । अन्नाभावेऽम्मूलादिरूपाभिः भिक्षाभिः भैक्ष्यभूताभिः ॥ ७ ॥

(३) कुल्लूकः । यद्भुज्जीत ततो यथाशक्ति बलिभिक्षां च दद्यात् । बलिमितितु वैश्वदेवनित्यश्राद्धयोरुपलक्षणम् एतानेव महायज्ञानिति विहितत्वात् । आश्रमागताञ्जलफलमूलभिक्षादानेन पूजयेत् ॥ ७ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च यदिति । भक्ष्यं त्वनियमप्रामंशाकादि । बलिं वैश्वदेवम् । आश्रमागतार्चनमावश्यकमित्याह अद्भिरिति । अद्भिर्जलैः अतो न नीवारादिभिर्भक्षितैः ॥ ७ ॥

(५) मन्दनः । बलिं वैश्वदेवाञ्छिष्टभूतबलिवा । आश्रमागतानतिथीनितिशेषः ॥ ७ ॥

(६) रामचन्द्रः । ततो भक्ष्याद्बलिं दद्यात् बलिपदं महायज्ञोपलक्षणं । च पुनः शक्तितो भिक्षां दद्यात् ॥ ७ ॥

त्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः ॥ दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ ८ ॥

(१) मेधातिथिः । आश्रमबुद्ध्या त्वाध्यायादीनां निवृत्तिमाशङ्कमान आश्रमान्तरत्वादस्या निवृत्त्यर्थमाह । नित्ययुक्तः न यथागार्हस्थ्ये तत्र हि गृहचेष्टार्था अपि व्यापाराः सन्ति तेष्वनुष्ठीयमानेषु नास्ति त्वाध्यायः । दान्तो दमयुक्तः मदवर्जितः । मैत्रः मित्रकर्मप्रधानः प्रियहितभाषी । सन्निहितस्य चित्तानुकूलता परस्समाहितः नासंबद्धनाश्रकारणिकं बहुपराधीनोऽपि ब्रूयात् । दाता अपांमूलभिक्षाणां च । अनादाता पथ्यौषधाद्यर्थमाश्रमान्तरादागतं याचेत् । सर्वभूतानुकम्पकः अनुकम्पा कारुण्यं सत्यपि कारुणिकत्वे न परार्थमन्यं याचेत् ॥ ८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । त्वाध्याये जपादौ । दान्तोजितमनाः । मैत्रो मैत्रीपरः । सर्वत्र समाहितः । आत्मविषयनिहितचित्तः । दाता नित्यं सततं दानशीलः । अनादाता अप्रत्युपलब्धिशीलः आदातृत्वशून्यः । सर्वभूतानुकम्पकः सर्वभूतदुःखप्रहरणेच्छावान् ॥ ८ ॥

(३) कुल्लूकः । वेदाभ्यासे नित्ययुक्तः स्यात् शीतातपादिद्वन्द्वसहिष्णुः सर्वोपकारकः संयतमनाः सततं दाता प्रतिग्रहनिवृत्तः सर्वभूतेषु रूपावान्भवेत् ॥ ८ ॥

(७) यद्भक्ष्यं स्यात् = यद्भक्षः स्यात् (मेधा०)

आश्रमागतान् = अश्रमागतम् (”)

(४) राघवानन्दः । किंच स्वाध्यायइति । तद्विस्मरणे ब्रह्मोज्झतेतिचतुर्णामाश्रमाणांप्रत्यवायसाधारण्यात् । अनादाता अप्रतिग्रहः । सर्वभूतानुकम्पकः सर्वोपकारकः ॥ ८ ॥

(५) नन्दनः । मित्रभावोमैत्री तद्वान्नैत्रः ॥ ८ ॥

(६) रामचन्द्रः । दान्तः जितेन्द्रियः स्यादिति सर्वत्र संबन्धः । मैत्रः मैत्रीपरः । समाहितः । नियतचित्तः । नित्यं दातादानपरः ॥ ८ ॥

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि ॥ दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च योगतः ॥ ९ ॥

(१) मेधातिथिः । वितानोविहारस्तत्रभववैतानिकम् । त्रेताग्निविषयं कर्म श्रौतं तज्जुहुयात्कुर्यात् । अग्निहोत्रशब्दोयवाग्वादौ होमसाधनद्रव्ये वर्तते न कर्मनामधेयम् । ततश्च तज्जुहुयादाहवनीयेऽग्निहोत्रादिभिर्जुहोतीत्यर्थः । उपपन्नः प्रथमपक्षेऽग्निहोत्रशब्दोजुहोतिनाऽभिन्नार्थः । ननु च पुत्रेषु भार्यानिक्षिप्येतिपक्षान्तरमुक्तं तत्र कथं तथा विना श्रौतेष्वधिकारः प्रेषितस्य यथेति चेत् यथा प्रेषितो वा यजमानः संविधानादिना दूरस्थोऽप्यधिक्रियते संविधानेऽप्येवं भवति कर्ता तद्वत्पत्न्यपि वनं प्रतिष्ठमानमनुज्ञास्यति न सहाधिकारो विरोत्स्यतइति तदपि वार्तम् । दैवान्मानुषाद्वा प्रतिबलात्कथञ्चित्प्रवासोपपत्तेः युक्तमीदृशमनुष्ठानं न स्वेच्छया । सत्यांशक्तौ बहूनि चाङ्गानि परिलुप्येरन् । दर्शपौर्णमासयोः वेदोऽसि वित्तिरसीत्यादिपत्नीं वाचयेदित्युक्तं तद्धीयेत अथोच्येत सहप्रस्थानपक्षे विधिरयं भविष्यतीत्येतदपि न विशेषस्याऽश्रुतत्वात् विनिक्षेपपक्षे चाग्नीनांप्रतिपत्त्यन्तरमनाम्नातं किञ्चसहत्वपक्षेऽपीदं विरुध्यते ॥ वासन्तशारदैर्मध्यैर्मुन्यनैः स्वयमादृतैः । पुरोडाशांश्चरुंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथगिति ॥ आरण्यानि मुन्यन्नानि नीवारादीन्यभिप्रेतानि ग्राम्यस्य परिच्छदस्य त्यागविधानात् । ब्रह्मादिभिश्च वेदे पुरोडाशाविहितस्ते च ग्राम्याः न च स्मृतिश्रुतिषु उत्पन्नन्यायेन ब्रीहिशस्त्रविधिन्यायेन वा केनचिन्मध्यैर्नारण्येनान्नेन प्रयोगः परिसमाप्येत निक्षेपे । ते च भार्ययादुरूपपादाः । कथं यावज्जीवश्रुतौ सत्यामग्नीनां त्यागो भार्याया वा तस्मादाश्रमान्तरविधानं वैतानिकानां च कर्मणामनुष्ठानं संवदेत् । कर्तव्योऽत्र यत्नः केचिदाहुः वैतानिकशब्दः स्मार्तैर्वेव कर्मसु स्तुत्या प्रयुक्तः न च स्मार्तेषु ब्रीह्यादिनियमशास्त्रमस्ति तत्र ह्यस्मायते ॥ यदन्नः पुरुषो राजस्तदन्नास्तस्य देवता इति । अतश्च मुन्यन्नैरनुष्ठानमविरुद्धं भवेद्ब्रीह्यादिशास्त्रविरोधः परिहृतः स्यात् । सहाधिकारस्तत्रापि विद्यते तस्य कः परिहारः उभयोः स्मार्तत्वादस्यामवस्थायां बाधियते यत्तु श्रौतवचनं पत्न्या सह यष्टव्यमिति तद्धौतैर्वेव अथवा नैवायं विधिर्गृहस्थाग्नेः किं तर्हि श्रावणिकेनाग्निमाधायेति गौतमेन पठितं इहापि वक्ष्यति वैखानसमते स्थितइति तस्माच्छास्त्रविहितानि कर्मान्तराण्येवैतानि । दर्शपूर्णमासादयस्तु शब्दाः भक्त्याः तत्र प्रयुक्ता अतस्तत्र तदाधानमभार्यस्यैव । गार्हस्थ्योपात्तानां प्रतिपत्तिरुक्ता अग्नीन्त्वात्मनि वैतानानिति । यत्तु यावज्जीवश्रुतौ सत्यां कथमग्नीनां त्यागइति एतच्चातुराश्रम्यानुक्रमणप्रकरणे निरूपयिष्यते । अन्ये पुनराहुः होमोग्राम्यानामन्नानांप्रतिषिद्धोन तु देवताद्यर्थ उपयोगः ननु च यजमानपञ्चमाङ्गां भक्षयन्तीति तत्रापि विद्यते भक्षः सत्यं स तु शास्त्रीयोन लौकिकः लौकिकस्य च प्रतिषेधः संत्यज्येति ग्रामप्रवेशश्च तस्य तदर्थो न विरुध्यते यथा वक्ष्यति ग्रामादादृत्य वा श्रीयदिति तदेव स तु मुन्यन्नैरिति विधानात् तदेव श्रावणिकेनाग्निमाधायेत्यादिसर्वमुपपन्नम् । तथा ह्यग्निहोत्रं समाधायेति पठ्यते न तु संत्यज्येति । समारोपणमपि मुमूर्षोस्तत्र तपसो वक्ष्यते प्रथमं प्रवासेन नतुरागादिशब्दानां श्रावणिकाग्निविषयत्वे कथंचिदुपपत्तिः श्रुतभार्यस्य तदाधानं वाचनिकं भविष्यति यदा वा ब्रह्मचर्यादेव वनवासमिच्छेत्तदा श्रावणिकाधानं तस्मादाहिताग्नेः सहाग्निभिर्वनप्रस्थानं संभार्यस्य । तत्र च यथा-

विधि ब्रीह्यादिना श्रौतकर्मानुष्ठानम् । ब्रीह्यादीनामपि मुन्यन्ता कथंचिदुपपाद्या ब्रीह्यवावपि पवित्रं । भार्यानिक्षेप-
श्रानाहिताग्नेः कथंचित्स्मार्तैऽग्नौ गतिरुभयोःस्मार्तत्वात् । यस्यचद्वेभार्येजाते एकयाचाग्नयोनीतास्तस्य द्वितीयांभार्यानि-
क्षिप्येतिवचनम् । अस्कन्दयन् स्कन्दनं विध्यतिक्रमः यथाविहितस्यानुष्ठानस्यासंपादनं एतच्च पादपूरणं योगइत्येतदपि
योगतअस्कन्दयन् युक्त्याऽविनाशयन् । युक्तिर्विधिरेव ॥ ९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वैतानिकं विततेष्वग्निषुकार्यमग्निहोत्रहोमं । दर्शं पर्वदर्शाख्यं पर्वकृत्यमस्कंदयन्पात-
यन् । योगतउद्योगतः ॥ ९ ॥

(३) कुट्टूकः । गार्हपत्यकुण्डस्थानामग्नीनामाहवनीयदक्षिणाग्निकुण्डयोर्विहारोवितानंतत्रभववैतानिकमग्निहोत्रय-
थाशास्त्रमनुतिष्ठेत् । दर्शपौर्णमासंच पर्वेतिश्रौतस्मार्तदर्शपौर्णमासौयोगतः स्वकालेऽस्कन्दयन्परित्यजन् । भार्यानिक्षेपपक्षे-
च रजस्वलायामिव भार्यायामेतेषामनुष्ठानमुचितं विशेषाश्रवणात् ॥ ९ ॥

(४) राघवानन्दः । वैतानिकं गार्हपत्यकुण्डस्थिताग्नेराहवनीयदक्षिणाग्निकुण्डयोर्विहारोवितानं तत्र भववैता-
निकमग्निहोत्रं यथाशास्त्रमनुतिष्ठेत् । अस्कन्दयन्परिलोपयन्पर्वपर्वसंबन्धि दर्शाख्यं कर्म एवंपौर्णमासाख्यं योगतः श्रौत-
स्मार्तदर्शादेःकाले ॥ ९ ॥

(५) नन्दनः । वैतानिकमित्यनुवादः । योगतः प्राप्तःप्राप्तकालइतियावत् । अस्कन्दयन्नतिक्रामन् ॥ ९ ॥

(६) रामचन्द्रः । तथा वैतानिकं अग्नित्रयसाध्यं । च पुनः अग्निहोत्रं यावदन्नादिकंहोमद्रव्यसाध्यं । दर्शश्रा-
द्धंअस्कंदयन्नुत्पयन् । च पुनः योगतः पौर्णमासंपर्वास्कंदयन् ॥ ९ ॥

ऋक्षेष्ट्याग्रयणं चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत् ॥ तुरायणं च क्रमशोदाक्षस्यायनमेवच ॥ १० ॥

(१) मेधातिथिः । दर्शेष्टिश्च आग्रहणंचेति समाहारद्वन्द्वः । चातुर्मास्यतुरायणदाक्षायणाः श्रौतकर्मविशेषवचना
नित्याएवतुरायणादयः केषांचित् ॥ १० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ऋक्षेष्टयोऽग्निर्वाअकामयतेत्यादितैत्तिरीयेकृत्तिकादिनक्षत्रेष्ट्यआम्नाताः तुरायणं संवत्सरं
सवनविधाइष्टीरित्यादिनापस्तम्बेनोक्तं । दक्षस्यायनं दाक्षायणयज्ञेन स्वर्गकामोयजेतेतैत्तिरीयआम्नातम् । अत्र
यद्यपि वन्यैरेवारुष्टपच्यैर्नीवारादिभिःपुरोडाशादि तथापि दर्शादेर्धृतंविना दाक्षायणादीनांक्षीरविनाऽसिद्धेर्गवामपि
परिग्रहः ॥ १० ॥

(३) कुट्टूकः । ऋक्षेष्टिर्नक्षत्रेष्टिः आग्रयणंनवसस्येष्टिः ऋक्षेष्ट्याग्रयणंचेतिसमाहारद्वन्द्वः तथाचातुर्मास्यतुरायण-
दाक्षायणानि श्रौतकर्माणि क्रमेण कुर्यात् । अत्र केचित् सर्वमेतच्छ्रौतदर्शपौर्णमासादिकर्म वानप्रस्थस्य स्तुत्यर्थमुच्यते
नत्वस्यानुष्ठेयग्राम्यब्रीह्यादिसाध्यत्वादिषांच नचस्मृतिः श्रौताङ्गबाधनेशक्तेत्याहुस्तदसन् वासन्तशारदैरित्युत्तरश्लोके मु-
न्यन्तैर्नीवारादिभिर्वानप्रस्थविषयतया स्पष्टस्य चरुपुरोडाशादिविधेर्बाधनस्यान्याय्यत्वात् । गोविन्दराजस्तु ब्रीह्यादिभि-
रेवकथंचिदरण्यजातेरेतान्निर्वर्तयिष्यतइत्याह ॥ १० ॥

(१०) ऋक्षेष्ट्याग्रयणंच=दर्शेष्ट्याग्रहणं (मे०)

(१०) दाक्षस्यायनमेवच=दक्षिणायनमेवच (क, थ,)

=दक्षस्यायनमेवच (ख, ग, घ, च, ङ, त,)

(४) राघवानन्दः । ऋक्षेष्टिर्नक्षत्रेष्टिः । आग्रहायणं नवसस्येष्टिः । चातुर्मास्यं वैश्वदेवरुणप्रघासंसाकमेध शुनासीरितचतुष्कम् । अथ तुरायणमित्याश्वलायनोक्तेः । केषांचित् श्रौतकर्मविशेषास्तुरायणादयः । पश्वभावादयनाद्युपपत्तेः । एते यागभेदाब्रीह्यभावेपि कार्याः नीवारदेःसत्त्वादावश्यकं मुख्यालाभे प्रतिनिधेरावश्यकत्वात् ॥ १० ॥

(५) नन्दनः । ऋक्षेष्टिर्नक्षत्रेष्टिम् । आग्रहायणमिति जातावेकवचनम् । श्यामाकब्रीहियवाग्रयणानि । चातुर्मास्यानि वैश्वदेवादीनि । तुरायणं संवत्सरसाध्यक्रतुविशेषः । दाक्षायणं दर्शेष्टिविकृतिः । क्रमशः तत्र तत्रकाले ॥ १० ॥

(६) रामचन्द्रः । ऋक्षेषु कृत्तिकादिषु आग्रहायणे च पुनः उत्तरायणं संवत्सरेष्टिविशेषः दक्षस्यायनं तैत्तिरीयशाखायां दाक्षायणसंज्ञम् ॥ १० ॥

वासन्तशारदैर्मध्यैर्मुन्यन्यैः स्वयमाहृतैः ॥ पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥ ११ ॥

(१) मेधातिथिः । यदा मुन्यन्यैरिति न पूर्वेण संबध्यते तदा नास्ति चोद्यं वैतानिकानि कथं ब्रीह्यादिचोदितानि क्रियेरन् । अत्र चरुपुरोडाशावैखानसशास्त्रोक्ता एव वेदितव्याः । वसन्ते जायन्ते पच्यन्ते वा वासन्तानि । एवं शारदैर्मध्यैरित्यनुवादः । स्वयमाहृतैः प्रतिग्रहादीनि वृत्तिकर्माणि निषिध्यन्ते । स्मार्तानामुक्तानां कर्मणामनुष्ठानार्थं पुनर्हत्यादि नापहरणम् । विधिवत्पृथगिति पूरणे ॥ ११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शारदपदं वार्षिकश्यामाकदेरप्युपलक्षणम् ॥ ११ ॥

(३) कुल्लूकः । वसन्तोद्भवैः शरदुद्भवैर्मध्यैर्यागाङ्गभूतैर्मुन्यन्यैर्नीवारदिभिः स्वयमानीतैः पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥ ११ ॥

(४) राघवानन्दः । अत आह वासन्तेति । वासन्तशारदैस्तत्रोद्भूतैर्मध्यैः यागार्हैः ॥ ११ ॥

(५) नन्दनः । पृथक् नवे सस्ये प्राप्ते पुराणस्य त्यागेनेत्यर्थः ॥ ११ ॥

(६) रामचन्द्रः । वासन्तादिशारदैर्वार्षिकश्यामाकाद्युपलक्षकैः ॥ ११ ॥

देवताभ्यस्तुतद्धृत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः ॥ शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयं कृतम् ॥ १२ ॥

(१) मेधातिथिः । पर्वसु यद्देवताभ्योदत्तं तच्छिष्टमेव भक्षयेन्नाशकमूलफलादि । शेषमात्मनि युञ्जीत आत्मनि मित्तमुपयोजयेत् । आत्मार्थं शरीरस्थित्यर्थमित्यर्थः । स्वयंकृतं च लवणं सैन्धवादिनिषेवेत ॥ १२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । देवताभ्योद्भृत्वाग्रयणेष्टौ मेध्यतरं ग्राम्यापेक्षयापि मेध्यत्वात् । स्वयंकृतं लवणं वृक्षादिक्षारकृतम् ॥ १२ ॥

(३) कुल्लूकः । तद्वनोद्भवानीवारादिकसाधितमतिशयेन यागार्हहविर्देवताभ्युपकल्प्य शेषान्मनुष्यभुञ्जीत आत्मना च कृतं लवणमूषरलवणाद्युपभुञ्जीत ॥ १२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यदित्याह देवेति । देवताभ्योऽग्नेः सोमयमाभ्यामित्याद्युक्ताभ्यः युञ्जीत । स्वयंकृतं लवणं च भुञ्जीतेत्यर्थः ॥ १२ ॥

(५) नन्दनः । आत्मनिवेदनं भोजनम् ॥ १२ ॥

(६) रामचन्द्रः । च पुनः स्वयंकृतं लवणं वृक्षादिक्षारकृतं युञ्जीत भुञ्जीत ॥ १२ ॥

* शेषान्न=शेषमात्मार्थं (अ)

स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च ॥ मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्नेहांश्च फलसंभवान् ॥ १३ ॥

(१) मेधातिथिः । स्थलजानि उदकजानि अद्यात् तथा पुष्पमूलफलानि च ॥ १३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्थलजानि वास्तुकादीनि औदकानि हिलमोचिकादीनि शाकानि फलसंभवान् वन्य-
फलजान् ॥ १३ ॥

(३) कुल्लूकः । स्थलजलोद्भवशाकान्यरण्ययज्ञियवृक्षोद्भवानिपुष्पमूलफलानीङ्गुद्यादिफलोद्भवांश्च स्नेहानद्यात् ॥ १३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच स्थलजेति । स्नेहान्घृतस्थानीयान् इङ्गुदीफलादिभ्यःसंभवोयेषाम् ॥ १३ ॥

(५) नन्दनः । मेध्योयज्ञार्हः ॥ १३ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्थलजं वास्तुकादि उदकशाकानि मोचकादीनि च पुनः फलसंभवांश्च स्नेहान् अद्याद्भक्ष-
येत् ॥ १३ ॥

वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि कवकानि च ॥ भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च ॥ १४ ॥

(१) मेधातिथिः । भौमानि कवकानि कवकशब्दः प्राग्व्याख्यातः छत्राकपर्यायः । तानिच कवकानि भूमौ जा-
यन्ते वृक्षकोटरादावपि अतोविशेषणार्थं भौमग्रहणम् । समाचारविरोधोगृहस्थधर्मेषु चाविशेषण कवकानांप्रतिषेधः । वा-
नप्रस्थस्य च नियमातिशयोक्तः तस्माद्भौमानीतिस्वतत्त्वपदं तत्र गोजिह्विकानामकश्चित्पदार्थोवनेचराणांप्रसिद्धस्तद्विष-
यंबोद्धव्यम् । नतु यत्किंचिद्भुविजातमात्रस्य । कवकानांप्रतिषिद्धत्वात्पुनःप्रतिषेधोभूस्तृणादीनांतत्समप्रायश्चित्तार्थः ।
भूस्तृणशिग्रुकशब्दौ शाकविशेषवचनौ वाहीकेषु प्रसिद्धौ ॥ १४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मधुमांसमिति ब्रह्मचारिवर्जनीयोपलक्षणम् । भौमानि भूमिजानि । कवकानि छत्रा-
कानि । चकारात्काष्ठजानि । भूस्तृणं शाकभेदः । शिग्रु सौभाजनं । श्लेष्मातकोबहुवारः । एतेन गृहस्थानामपि
यान्यभक्ष्यत्वेनोक्तानि तानि सर्वाण्युपलक्ष्यन्ते ॥ १४ ॥

(३) कुल्लूकः । माक्षिकंमांसं भौमानीतिप्रदर्शनार्थम् भौमादीनि कवकानि छत्राकान्भूस्तृणंमालवदेशेप्रसिद्धंशाकं-
शिग्रुकंवाहीकेषुप्रसिद्धंशाकंश्लेष्मातकफलानिवर्जयेत् । गोविन्दराजस्तु भौमानि कवकानीत्यन्यव्यवच्छेदकविशेषणमि-
च्छन्भौमानांकवकानानिषेधः वाक्षानांतु भक्षणमाह तदयुक्तम् मनुनैवपञ्चमेद्विजातेरेव कवकमात्रनिषेधाद्वनस्थगोचरत-
या नियमातिशयस्योचितत्वात् । यमस्तु भूमिजंवृक्षजंवापिछत्राकंभक्षयन्ति । ब्रह्मप्रांस्तान्विजानीयाद्ब्रह्मवादिषुगर्हितान्
इति विशेषणवृक्षजस्यापिनिषेधमाह । मेधातिथिस्तु भौमानीतिस्वतत्त्वपदंवदन्गोजिह्विकानाम कश्चित्पदार्थोवनेचराणां-
प्रसिद्धस्तद्विषयनिषेधमाह तदपि बहुष्वभिधानकोशादिष्वप्रसिद्धंनश्रद्धीमहि कवकानांद्विजातिविशेषपाञ्चमिके निषेधे
सत्यपि पुनर्निषेधोभूस्तृणादीनानिषेधेपिचसमप्रायश्चित्तविधानार्थः ॥ १४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच वर्जयेदिति । कवकादीनांपुनर्ग्रहणंभूस्तृणादितुल्यप्रायश्चित्तार्थम् । भौमानीतिविशेषा-
द्गोजिह्विकाकाराणीति मेधातिथिः । भूस्तृणं मालवदेशप्रसिद्धंशाकं । शिग्रुकं बाल्हीके प्रसिद्धम् ॥ १४ ॥

(५) नन्दनः । भौमानि कवकानि भूमिजानि छत्राकाणि । वृक्षकोटरजातानांकवकानामप्यभक्ष्यत्वेभौमानांमां-
दरेणवर्जनार्थविशेषणनिषेधनम् । भूस्तृणंतृणजातिविशेषः । शिग्रुकंसौभाजनकइत्यन्ये ॥ १४ ॥

(६) रामचन्द्रः । कवकानि छत्राकाणि शिथुं सौभाजनं भूस्तृणं श्लेष्मातकफलानि च वर्जयेत् । मालातृणक-
भूस्तृणैश्च मरः ॥ १४ ॥

त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसंचितम् ॥ जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च ॥ १५ ॥

(१) मेधातिथिः । षण्मासनिचयसमानिचयपक्षयोराश्वयुजे त्यागः ननुमुन्यन्नं तावदेव संचयं यत्कर्मपर्याप्तं तत्र
नैवाधिकमस्ति कस्यत्यागः उच्यते न शक्या तुलाग्रहीतुमर्जनकाले अतोयत्किंचिदर्वाशष्टमस्ति तस्याश्वयुजे त्यागः ।
जीर्णानि चैव वासांसि अजीर्णानानास्ति त्यागः ॥ १५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पूर्वसंचितं पूर्ववर्षे शरदि वसन्तेवा परिगृहीतम् । वासांस्यजिनानि चीराणिवा जीर्णा-
नीति यदिजीर्णानि तदैवाश्वयुजेमासित्याज्यानीत्यर्थः । शाकेति शाकादीन्यप्याहारार्थशोषयित्वा स्थापितान्याश्वयुजे
त्याज्यानीत्यर्थः ॥ १५ ॥

(३) कुल्लूकः । संवत्सरनिचयपक्षे पूर्वसंचितनीवाराद्यन्नं जीर्णानि च वासांसि शाकमूलफलानिचाश्विने मासि
त्यजेत् ॥ १५ ॥

(४) राघवानन्दः । वक्ष्यमाणसमानिचयस्य त्यागकालमाह त्यजेदिति । आश्वयुजे नीवारादेः प्राप्तिकाले ।
वासांसीति विशेषणान् चर्मणां त्यागः । संचितशाकादित्रितयमपि त्यजेदित्यन्वयः ॥ १५ ॥

न फालरुष्टमश्रीयादुत्सृष्टमपि केनचित् ॥ न ग्रामजातान्यार्तोऽपि मूलानि च फलानि च ॥ १६ ॥

(१) मेधातिथिः । आरण्यस्यापि फालरुष्टस्य प्रतिषेधः । ग्रामजातान्यफालरुष्टान्यपि संत्यज्यग्राम्यामाहारमि-
त्यनेन प्रतिषेधः । पुष्पफलानां क्रियते नोपयोगः ग्राम्याणां देवताभ्यर्चनादौ पुष्पफलानां निषेधः । आर्तोऽपि अन्यासंभवे-
ऽप्यवश्यकर्तव्यत्वाद्देवताद्यर्चनस्य प्रतिनिधिपक्षेऽपि नोपादेयमित्यर्थः । अपिशब्दोभन्नक्रमोद्भूतः । पुष्पाण्यपिनोपादे-
यानि किंपुनर्धान्यानि ॥ १६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । फालरुष्टानि वनजान्यपि । न ग्रामजातान्यफालरुष्टान्यपि । आर्तोरोगी फलादीनीति
ब्रीह्यादेरप्युपलक्षणम् ॥ १६ ॥

(३) कुल्लूकः । अरण्येऽपि फालरुष्टप्रदेशे जातं स्वामिनोपेक्षितमपि ब्रीह्यादि नाद्यात् । तथाग्रामजातान्याफालरुष्ट-
भूभागेऽपि लतावृक्षमूलफलानि क्षुत्पीडितोऽपि न भक्षयेत् ॥ १६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच नेति । उत्सृष्टं वानप्रस्थाद्युद्देशेन त्यक्तं । पुष्पाणीति मेधातिथिः । फलानि नारिकेला-
दीनि ॥ १६ ॥

(५) नन्दनः । वन्यमपि धान्यं हलकर्षणोत्पादितं नाश्नीयात् । केनचिदुत्सृष्टं पूर्वं परिगृहीतं पश्चादनादरेण त्यक्तम्
॥ १६ ॥

(६) रामचन्द्रः । फालरुष्टं हलोरुष्टं केन चिदुत्सृष्टमपि नाश्नीयात् ॥ १६ ॥

अग्निपक्वाशनोवा स्यात्कालपक्वभुगेव वा ॥ अश्मकुटोभवेद्वापि दन्तोलूखलिकोपिवा ॥ १७ ॥

(१) मेधातिथिः । अग्निना पक्वं शाकौदनादि तदशनं यस्य सोऽग्निपक्वाशनः । काले स्वयमेव यत्पक्वं तदेव भुञ्जी-

त नार्द्रफलं अथवा धान्यानामेव नीवारादीनां निष्पिष्येदं भक्षणम् । अश्मभिः पाषाणैः कुट्टयित्वा पिष्टरूपं कृत्वा भुञ्जीत । यद्वा यद्वतूपपन्नं वृतकादिभिर्बहिस्तुषकपाटकंतदश्मभिरपनीय क्वाटमन्तः फलं भक्षयेत् । दन्ताउलूखलम् अस्य दन्तोलूखलिकः दन्तैस्तुषकक्वाटमपनीय भक्षयेत् । असत्यपि संस्कारे सनकर्तव्यः यदिवा पूर्ववदशनविशेषोपलक्षणं तादृशमश्रीयाद्यदस्य दन्ताएव उलूखलकार्यमवधातंसंपादयन्ति ॥ १७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कालपक्वं परिणामपक्वं । अश्मकुट्टोऽश्मन्यश्मना तुषमोक्षं कृत्वाऽश्नन् । दन्तोलूखलिकः त्वदन्तैरेव तुषमोक्षं कृत्वा भुञ्जानः । अत्रचान्यतरस्यैव परिग्रहः कार्यः तत्राप्युत्तरोत्तरस्य श्रेष्ठत्वमिति क्रमोक्तिः फलम् ॥ १७ ॥

(३) कुङ्कुमः । अग्निपक्वं वन्यमन्नं कालपक्वं वा फलादियद्धानोलूखलमुसलाभ्यां किंतु पाषाणेन चूर्णीकृत्या पक्वं मेवाद्यात् । दन्ताएव उलूखलस्थानानि यस्य तथाविधो वा भवेत् ॥ १७ ॥

(४) राघवानन्दः । वानप्रस्थस्य नियमविशेषानाह अग्नीति द्वाभ्यां । दन्तोलूखलिकः दन्ताएव उलूखलाभक्ष्यसाधनानि यस्य सः । अग्निपक्वादिचतुष्टयं भक्षणमकारनियमः ॥ १७ ॥

(५) नन्दनः । फलान्यश्मना निष्पीड्य यो भक्षयति न दन्तादिना सोऽश्मकुट्टकः । दन्तैरेव मुसलोलूखलकार्यस्य स दन्तोलूखलिकः । प्राधान्यादुलूखलस्यैव ग्रहणम् । स तुषाभ्यवहारोऽत्यर्थः । अनेन व्रतेन परिग्रहपराङ्मुखत्वमुक्तम् ॥ १७ ॥

सद्यः प्रक्षालको वा स्यान्माससंचयिकोऽपि वा ॥ षण्मासनिचयो वा स्यात्समानिचय एव वा ॥ १८ ॥

(१) मेधातिथिः । यत्पूर्वमशनमुक्तंतदैकाहिकभोजनपर्याप्तमेवानयेत् । मासोपयोगी वा संचयो मासपर्याप्तः संचयो माससंचयः सोऽस्यास्तीति ठनकर्तव्यः यदिवा माससंचयक इति बहुव्रीहिसमासोऽत्र कर्तव्यः मासपर्याप्तः संचयोऽस्येति एवमुत्तरयोरपि ॥ १८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अथ सञ्चयेविशेषमाह सद्यः प्रक्षालक इति । सद्य एव संचयभाण्डं प्रक्षालयतीति प्रक्षालनेन तदव्यभिचरिता रिक्ता लक्ष्यते । समानिचयः संवत्सरार्थान्नाद्यसञ्चयकारी संवत्सरोर्ध्वकालार्थसंचयस्तु नास्त्याश्वयुजे त्यागस्योक्तत्वात् । पक्षचतुष्टयंतु पूर्वपूर्वप्राशस्त्यार्थमुक्तम् ॥ १८ ॥

(३) कुङ्कुमः । एकाहमात्रजीवनोचितं मासवृत्त्युपचितं वा षण्माससंवत्सरनिर्वाहसमर्थं वा नीवारादिकंसंचिनुयात् । यथापूर्वनियमातिशयः मासवृत्तियोग्यसंचयो माससंचयः सोऽस्यास्तीति अत इति ठनविति ठनप्रत्यये न माससंचयिक इति रूपम् ॥ १८ ॥

(४) राघवानन्दः । सद्यः प्रक्षालिकादिचतुष्टयं संचयनियमः । नियमभङ्गे मायश्चित्ती स्यात् । सद्यः प्रक्षालिक एकाहनिर्वाहकसंचितभक्तः । निचयः संचयस्तेन षण्मासव्यापी संचयो यस्य एवं समाब्धंव्याप्य निचयो यस्येति ॥ १८ ॥

(५) नन्दनः । प्रतिदिनमन्नसंपादातिथिशेषं भुक्ताश्वस्तनिको हस्तप्रक्षालनं करोतिसद्यः प्रक्षालकः ॥ १८ ॥

(६) रामचन्द्रः । सद्यः प्रक्षालको वा स्यात् तदहः पर्याप्तकः स्यात् सञ्चयरहित इत्यर्थः । च पुनः समानिचय एव वा वर्षपर्याप्तो वा । हायनोस्त्री शरत्समा इत्यमरः । वर्षपर्याप्तान्नसंचय इत्यर्थः ॥ १८ ॥

नक्तं चान्नं समश्रीयाद्विवा वा लृत्य शक्तिः ॥ चतुर्थं कालिको वा स्यात्स्याद्वाप्यष्टमकालिकः ॥ १९ ॥

(१) मेधातिथिः । द्विर्भोजनस्य पुरुषार्थतया विहितत्वादन्यतरस्मिन्काले निर्वृत्तिर्विधीयते । यथायथा वयोया-

ति तथातथा भोजनकालं ज्ञात् । चतुर्थमष्टमावधितयाऽऽश्रयेत् । त्रीण्यहोरात्राण्यतीत्य चतुर्थे हनि सायं भुञ्जानोऽष्टमकालिको भवति । भोजनस्य प्रकृतत्वात्तद्विषयश्चतुर्थकालसंबन्धः प्रतीयते ॥ १९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नक्तमेव दिवैव वा भोजनं तत्र शक्तितः शक्तौ सत्यां नक्तमेव यदा तु दिवा तदा नित्यमादृत्य सद्यः प्रक्षालकवृत्तौ स्थित्वैव भोजनमित्यर्थः । चतुर्थकालिको वेत्याद्यपि शक्तावेकस्मिन्दिने दिवा नक्तं वा भुक्त्वा द्वितीयदिनेऽभुक्त्वा तृतीये दिवा नक्तं वा भोजनमिति चतुर्थकालभोजनम् । सामान्यतो हि सायंप्रातःकालयोर्भोजनकालत्वात्प्रत्यहं द्वौ कालौ भवतः एवमष्टमकालिकत्वमप्युन्नेयम् ॥ १९ ॥

(३) कुल्लूकः । यथा सामर्थ्यमन्नमादृत्य प्रदोषे भुञ्जीत । अहन्येव वा चतुर्थकालाशनो वा स्यात् ॥ सायंप्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितमिति विहितम् । तत्रैकस्मिन्हन्युपोष्यापरेद्युः सायं भुञ्जीत । अष्टमकालिको वा भवेत्त्रिरात्रमुपोष्य चतुर्थस्याहो रात्रौ भुञ्जीत ॥ १९ ॥

(४) राघवानन्दः । नक्तं भोजिनोऽहरे वा हरणमाह दिवा वेति । वाशब्दोत्र एव शब्दार्थः । सायंप्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितमिति स्मृतेऽश्चतुर्थभोजनस्य यः कालः स भोजनार्थं विहितो यस्य सः तेन पूर्वद्युरुपोष्य परेद्युः सायं भोजी चतुर्थकालिकः । एवं त्रिरात्रमुपोष्य चतुर्थेऽहनि सायं भोजी अष्टमकालिकः ॥ १९ ॥

(५) नन्दनः । एकमहोरात्रमुपोष्य द्वितीयेऽहोरात्रे नक्तमेव भुञ्जानश्चतुर्थकालिकः ॥ १९ ॥

(६) रामचन्द्रः । दिवा अन्नं आदृत्य आनीय नक्तं नक्तकाले अश्रीयत् । नक्तकालमाह आत्मनो द्विगुणां छाया मतिक्रामति भास्करः । तं नक्तं नक्तमित्याहुर्न नक्तं निशि भोजनम् ॥ चतुर्थकालिको वा स्यात् एकस्मिन्दिने दिवा नक्तं वा भुक्त्वा द्वितीयदिने त्वभुक्त्वा तृतीयदिने दिवा नक्तं वा भोजनमिति चतुर्थकालिकत्वम् । सायंप्रातर्भोजनकालत्वात्प्रत्यहं द्वौ कालौ भवतः एवमष्टमकालिकत्वमप्युन्नेयं चतुर्दिनसाध्यम् ॥ १९ ॥

चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्लरुष्णे च वर्तयेत् ॥ पक्षान्तयोर्वाप्यश्रीयाद्यवागूं कथितां सकृत् ॥ २० ॥

[यतः पत्रं समादद्यान् ततः पुष्पमाहरेत् ॥ यतः पुष्पं समादद्यान् ततः फलमाहरेत् ॥ १ ॥]⁺

(१) मेधातिथिः । पक्षान्तौ पूर्णमास्यमावास्ये । अत्र श्रितां यवागूं मश्रीयात् । सकृदिति सायंप्रातर्वा ॥ २० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शुक्ले रुष्णे चेति मासमित्यर्थः । पक्षान्तयोः दर्शे पौर्णमास्यां च । कथितां तमां । सकृदेकदैव ॥ २० ॥

(३) कुल्लूकः । शुक्लरुष्णयोः ॥ एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं शुक्ले रुष्णे च वर्धयेत् इत्यादि नैकादशाध्याये च वक्ष्यमाणैश्चान्द्रायणैर्वा वर्तयेत् । पक्षान्तौ पौर्णमास्यमावास्ये तत्र श्रितां यवागूं वाप्यश्रीयात् सकृदिति सायंप्रातर्वा ॥ २० ॥

(४) राघवानन्दः । चान्द्रायणविधानैर्वैत्येकादशाध्याये वक्ष्यमाणैः । कथितां पक्षां पक्षान्तयोः अमायां पौर्णमास्यां च सकृत्सायंप्रातर्वा वारमात्रमश्रीयात् ॥ २० ॥

(६) रामचन्द्रः । पक्षान्तयोः शुक्लरुष्णयोः अन्ते मासांतेऽश्रीयात् मासोपवास इत्यर्थः । यद्वा पक्षान्तयोः शुक्लपक्षान्ते रुष्णपक्षान्ते वाऽश्रीयात् । पक्षागमेथवाऽश्रीदित्योगीश्वरः । कथितां यवागूं नीवारादिचूर्णविकाराम् ॥ २० ॥

पुष्पमूलफलैर्वापि केवलैर्वर्तयेत्सदा ॥ कालपक्वैः स्वयं शीर्णैर्वैखानसमते स्थितः ॥ २१ ॥

(१) मेधातिथिः । कालपक्वैः पनसादीनाम् अग्निनापि पाकः क्रियते तन्निषेधार्थम् । तदग्निपक्वं गृहस्थस्यानिषि-

द्धम् । वैखानसनाम शास्त्रं यत्र वानप्रस्थस्य धर्माविहितास्तेषामतेस्थितः । अन्यामपि तच्छास्त्रोक्तांचर्याशिक्षेत ॥ २१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । केवलैरन्नान्तरासंसृष्टैः कालपक्कैः फलैः स्वयंशीर्णैः फलाङ्कुरादिजननशक्तिहीनतांप्राप्तेः । वैखानसमते वानप्रस्थधर्मे ॥ २१ ॥

(३) कुल्लूकः । पुष्पमूलफलैरेव वा कालपक्कैः नाग्निपक्कैः स्वयंपतितैर्जीवेत् । वैखानसो वानप्रस्थः तद्धर्मप्रतिपादकशास्त्रदर्शने स्थितः । तेनैतदुक्तम् अन्यदपि वैखानसशास्त्रोक्तं धर्ममनुतिष्ठेत् ॥ २१ ॥

(४) राघवानन्दः । केवलैः प्रत्येकैर्न मिश्रैः कालपक्कैः पनसादिभिरग्निपक्कनिषेधार्थं वैखानसमते वानप्रस्थप्रतिपादकशास्त्रदर्शने स्थितः ॥ २१ ॥

(५) नन्दनः । केवलैरनतिपक्कैरामैरितियावत् । वैखानसमिति विखनसाप्रणीतसूत्रं तत्रहि वानप्रस्थधर्मस्य पूर्णउपदेशः क्रियते ॥ २१ ॥

(६) रामचन्द्रः । केवलैः अन्नान्तरासंसृष्टैः स्वयंशीर्णैः फलाङ्कुरादिजननशक्तिहीनैः । वैखानसमते स्थितः वानप्रस्थाश्रमस्थः ॥ २१ ॥

भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनम् ॥ स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषूपयन्पः ॥ २२ ॥

(१) मेधातिथिः । विपरिवर्तनं केवलायां भूमावेकेन पार्श्वेन निषद्यपुनः पार्श्वान्तरेणावस्थानम् । आहारविहारकालौ वर्जयित्वा एवं वर्तेत । नोपविशेन्नचङ्क्रमेत न शय्यायान्नासने न भित्तौ निषीदेदित्यर्थः । प्रपदैः पादाग्रैर्वर्तिष्ठेत् स्थानासनाभ्यांच दिने रात्रौ तु केवलस्थण्डिलशायितावक्ष्यति । सवनेषु प्रातर्मध्यन्दिनापराह्णेषु उपयन्पइति च असंभवे नद्यादीनामुद्धृतोदकेनापि स्नानं दर्शयति ॥ २२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विपरिवर्तेत इतस्ततो भ्रमन् वर्तेत । प्रपदैः पादाग्रैः । स्थानासनाभ्यां कदाचिदूर्ध्वस्थितः कदाचिदुपविष्टो विहरेत् कालं नयेत् । अत्र तु पक्षेत्रिषवणस्नानं कार्यमित्याह सवनेष्विति ॥ २२ ॥

(३) कुल्लूकः । केवलायां भूमौ लुण्ठितागतानि कुर्यात् स्थानासनादावुपविशेत् उत्तिष्ठेत्पर्यदेदित्यर्थः । आवश्यकं स्नानभोजनादिकालं विहाय चायं नियमः । एवमुत्तरत्रापि । पादाग्राभ्यां वा दिनं तिष्ठेत्कंचित्कालं स्थित एव स्यात्कंचिच्चोपविष्ट एव न त्वन्तरा पर्यदेत् । सवनेषु सायंप्रातर्मध्याह्नेषु स्नायात् । यत्तु सायंप्रगे तथेत्युक्तं तेन सहास्यनियमातिशयापेक्षो विकल्पः ॥ २२ ॥

(४) राघवानन्दः । भूमावेव गतागतं कुर्यादित्याह भूमाविति । आहारतदाहरणकालौ वर्जयित्वा प्रपदैः पादाग्रैः तिष्ठेत् नासनादावुपविशेत् । स्थाने न तिष्ठेत् । आसनेन पद्मासनादिना वा विहरेत् दिवसं नयेत् । सवनेषु सायंप्रातर्मध्याह्नेषु स्नायात् । सायं स्नायात्प्रगे तथेत्युक्तेः । तेन सहास्यपश्चात्पादोर्नियमाविशेषाद्विकल्पः ॥ २२ ॥

(५) नन्दनः । विपरिवर्तेत शयीत । प्रपदैः पादाङ्गुल्यग्रैः । विहरेत्कालं क्षिपेत् । सवनेष्वपउपयन्पुपगच्छंस्त्रिषवणस्नायीतियावत् ॥ २२ ॥

(६) रामचन्द्रः । भूमौ विपरिवर्तेत इतस्ततो भ्रमन् विपरिवर्तेत दिनं प्रपदैः पादाग्रैः तिष्ठेद्वा । प्रपदंतु पदाग्रं स्यादित्यमरः । स्थानासनाभ्यां विहरेत् स्थानतः कदाचिदूर्ध्वस्थितः कदाचिदुपविष्टाभ्यां स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषु अपउपनयन् त्रिषवणं स्नानं कुर्वन् ॥ २२ ॥

ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद्वर्षास्वभावकाशिकः ॥ आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशोवर्धयन्तपः ॥ २३ ॥

(१) मेधातिथिः । पञ्चभिरात्मानंतापयेत् चतसृषु दिक्षु अग्नीन्सन्निधाप्यमध्येतिष्ठेदुपरिष्ठादादित्यतापसेवेत । प्रा-
वृष्यभ्राण्येवावकाशाऽऽश्रयोयस्मिन्देशे देवोवर्षति तं प्रदेशमाश्रयेद्वर्षनिवारणार्थं छत्रवस्त्रादि न गृह्णीयात् । हेमन्ते शी-
तोपलक्षणार्थः । एतेन शिशिरेष्येषएव विधिः । आर्द्रवासस्त्वं क्रमशः क्रमेण ॥ २३ ॥

(१) सर्वज्ञनारायणः । शक्तावपि तीव्रतपःप्रकारानाह ग्रीष्मइति । चतुर्दिक्स्थवन्हिचतुष्टयेन सूर्येण चेति प-
ञ्चभिस्तापनात्पञ्चतपाः । अभावकाशकोमेघप्रेक्षकोऽनावृतदेशस्थइत्यर्थः । ग्रीष्मादिपदानि चतुर्मासर्तुपराणि ॥ २३ ॥

(३) कुड्मूकः । आत्मतपोविवृद्धयर्थं ग्रीष्मे चतुर्दिग्वस्थितैरग्निभिरूर्ध्वं चादित्यतेजसात्मानंतापयेत् वर्षास्वभाव-
काशमाश्रयेत् यत्र देशे देवोवर्षति तत्र छत्राद्यावरणरहितस्तिष्ठेदित्यर्थः हेमन्ते चार्द्रवासा भवेत् । ऋतुत्रयसंवत्सरावलम्बे-
नायंसांवत्सरिकएव नियमः ॥ २३ ॥

(४) राघवानन्दः । तेषांतपोविशेषानाह ग्रीष्मेति द्वाभ्यां । चतुर्दिक्स्थग्निर्मध्येसूर्यइतिपञ्चातपाः यस्य सपञ्चातपः
अग्नेषु वर्षसु अवकाशेनानावरणतया चरतीत्यभावकाशिकः । हेमन्तइति शीतोपलक्षकम् ॥ २३ ॥

(५) नन्दनः । अभ्रमाकाशम् ॥ २३ ॥

उपस्पृशंस्त्रिषवणंपितृन्देवांश्च तर्पयेत् ॥ तपश्चरंश्चोयतरंशोषयेद्देहमात्मनः ॥ २४ ॥

(१) मेधातिथिः । उपस्पर्शनं स्नानं अन्यदपि ऊर्ध्वबाह्यादि मासोपवासद्वादशरात्रादि तपः । उग्रतरं प्रकृष्टतरं
शरीरपीडाजननं कुर्वन् शोषयेच्छरीरम् ॥ २४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उग्रंतपोयदा चरति तदोपस्पृशन् स्नानं कुर्वन् त्रिषवणं देहंशोषयेत् आयासेन ॥ २४ ॥

(३) कुड्मूकः । विहितमपित्रिषवणं स्नानं देवर्षिपितृतर्पणविधानार्थमनूयते । प्रातर्मध्यंदिनंसायंसवनेषु त्रिष्वपि देव-
र्षिपितृतर्पणं कुर्वन्नन्यदपि पक्षमासोपवासादिकंतो ब्रवतंतपोऽनुतिष्ठन्न्यथोक्तयमेनपक्षोपवासिनः केचिन्मासोपवासिनः इति-
स्वशरीरंशोषयेत् ॥ २४ ॥

(४) राघवानन्दः । स्नानतर्पणयोरावश्यकत्वमाह उपेति । देहं बाह्याभ्यन्तरद्वयम् ॥ २४ ॥

(५) नन्दनः । त्रिषवणस्य स्नानस्य पुनर्वचनमादरार्थम् ॥ २४ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रिषवणे त्रिषु सवनेषु त्रिकालेषु उपस्पृशेत् ॥ २४ ॥

अग्नीनात्मनि वैतानात्समारोप्य यथाविधि ॥ अनग्निरग्निनिकेतः स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः ॥ २५ ॥

(१) मेधातिथिः । विताने भवावैतानाः तान्समारोपयेद्भस्मपानादिविधानेन । आत्मनिसमारोपणविधिश्च श्रव-
णकादव गन्तव्यः । चिरकालंयदा तपश्चरितंभवति सप्तत्यवस्थांवयः प्राप्तंतदा वानप्रस्थएवसन्ननग्निरनिकेतः पर्णकुटी-
निवासार्थाजह्यात् । कृतर्ह्यासीत् उपरिष्ठाद्दृश्यति वृक्षमूलनिकेतनइति । मुनिः स्यादिति संबध्यते तेनायमर्थोक्तोभवति
वाङ्मयमंकुर्यादिति मौनव्रतधारी नियतवागुच्यतेलोके । मूलफलाशनः अन्यान्यनिवृत्त्यर्थमेतत् । नीवारादीन्यारण्यान्यपि
नाश्रीयात् ॥ २५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्रैवाश्रमे धर्मकाण्डं दर्शयति अग्नीनिति । वैतानान् श्रौतान् । यथाविधि यातेअग्नेय-
ज्ञियेतिमन्त्रेण । अनग्निस्त्यक्तपाकसाधनाग्निः । अनिकेतो गृहेष्ववसन् । मुनिर्मननपरः ॥ २५ ॥

(३) कुल्लूकः । औतानग्रीनैखानसशास्त्रविधानेन भस्मपानादिनात्मनि समारोप्य लौकिकाग्निगृहशून्योयथा वक्ष्यति वृक्षमूलनिकेतनइति । मुनिमौनव्रतचारीफलमूलाशनएवस्यात् नीवाराद्यपिनाश्रियात् एतच्चोर्ध्वषण्मासेभ्योऽप्युपरि अनग्निरनिकेतनइतिवसिष्ठवचनात् षण्मासोपर्यनग्नित्वमनिकेतत्वंच ॥ २५ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्राप्यपरितुष्यन्तविरक्तप्रत्याह । अग्नीनित्यष्टभिः । अग्नीन् भस्मात्मकान् पीत्वा भैक्ष्यमाहरेदितृतीयेनान्वयः । ऊर्ध्वषण्मासेभ्योऽनग्निरनिकेतनइति वसिष्ठोक्तेः षण्मासंवानमस्थं कृत्वा यथाविधि वैश्वानसशास्त्रविधानेन ॥ २५ ॥

(५) नन्दनः । एवंगृहस्थसमस्य वानप्रस्थस्य धर्माउक्ताः अथ भिक्षुकस्य धर्मानाह अग्नीनिति । अनग्निः त्यक्तपञ्चाग्निः । मुनिमौनी ॥ २५ ॥

(६) रामचन्द्रः । वैतानानग्रीनात्मनि समारोप्य अनग्निः पाकादिरहितः अनिकेतः स्यात् गृहरहितः स्यात् ॥ २५ ॥

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः ॥ शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥ २६ ॥

(१) मेधातिथिः । सुखप्रयोजनेषु वस्तुषु यत्नं कुर्यात् आतपपीडितः छायांनोपसर्पेत् शीतार्दितोनाग्निसमिन्धीत यदितु दैवोपपादितादित्यतापादिना शीतादिदुःखनिवृत्तिर्भवतीत्यत्रैव तद्दुःखापनोदः क्रियते न निषिध्यते वर्षादिकालादन्यत्रैतद्विधीयते तत्र प्रतिपन्नस्य धर्मस्य विधानात् । अथवा व्याधितस्यौषधप्रयत्नोनिवार्यते व्याधिनिवृत्तिरपिसुखमुच्यते अतस्तन्निवृत्त्यर्थं यत्नं कुर्यात् । धराशयः केवलैस्तृणैराच्छादिते स्थण्डिले शयीत शरणेष्वश्रयेषु गृहवृक्षमूलादिषु ममकारमात्मीयाभिनिवेशं न कुर्यात् । वृक्षमूलानि निकेतनं गृहस्थानीयं कुर्यात् तदसंभवे शिलातलगुहादयोपि विहिताः ॥ २६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सुखार्थेषु सुखसाधनेषु । ब्रह्मचारी त्यक्तस्त्रीसंगः । एवंच सपत्नीकस्य ऋतुगमनानुमतिर्गम्यते । धराशयः क्षितिशायी । शरणेषु वृक्षादिवारकेषु वृक्षादिवस्वसमर्थः ॥ २६ ॥

(३) कुल्लूकः । सुखप्रयोजनेषु स्वादुफलभक्षणशीतातपपरीहारादिषु प्रयत्नशून्योऽस्त्रीसंभोगी भूशायीच निवासस्थानेषु ममत्वरहितोवृक्षमूलवासी स्यात् ॥ २६ ॥

(४) राघवानन्दः । सुखार्थेषु सुखजनकीभूतेषु सकृच्चन्दनादिषु । धराशयोभूमिशयः । शरणेषु निवासेषु । वृक्षमूलमेवनिकेतनं गृहस्थस्य सवृक्षमूलनिकेतनः ॥ २६ ॥

(५) नन्दनः । सुखार्थेषु सुखहेतुषु । धराशयः स्थलशायी ॥ २६ ॥

(६) रामचन्द्रः । शरणेषु वृक्षादिनिवारककुटीवृक्षादिषु अममः निर्ममः भवेत् ॥ २६ ॥

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत् ॥ गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥ २७ ॥

(१) मेधातिथिः । पञ्चम्यर्थे सममी । तापसेभ्योमूलफलासंभवे भैक्षमाहरेत् । गृहमेधिभ्योगृहस्थेभ्योवा वनवासिभ्यः । यात्रिकं प्राणमात्रसौहित्यंभवति ॥ २७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तापसेषु वनस्थेषु । यात्रिकं प्राणयात्रामात्रार्थं । गृहमेधेषु गृहस्थेषु वनवासिष्विति वदन्नेकान्तशीलतया गृहस्थस्यापि वनवासोर्दाशतः । अन्येष्वसंबन्धिषु ॥ २७ ॥

(२६) अप्रयत्नः=अप्रमत्त (ल, य)

(३) कुल्लूकः । फलमूलासंभवेचवानप्रस्थेभ्योब्राह्मणेभ्यः प्राणमात्रधारणोचितंभैक्षमाहरेत् तदभावेचान्येभ्योवन-
वासिभ्योगृहस्थेभ्योद्विजेभ्यः ॥ २७ ॥

(४) राघवानन्दः । यात्रिकं प्राणधारणोचितं । गृहमेधिष्वित्यनेन वने ये गृहस्थाःस्युस्तेभ्योपि ॥ २७ ॥

(५) नन्दनः । तापसेषु वानप्रस्थेषु । तदलाभेगृहमेधिषु ॥ २७ ॥

(६) रामचन्द्रः । यात्रिकंयात्रामात्रं यावत्प्राणधारणंतावद्भैक्ष्यं आहरेत् आचरेत् । च पुनः अन्येषु गृहमेधिषु
वनवासिषु भैक्ष्यंआचरेत् ॥ २७ ॥

ग्रामादादृत्य वाश्रीयादष्टौ ग्रासान्वने वसन् ॥ प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा ॥ २८ ॥

(१) मेधातिथिः । असंभवेतु । ग्रासग्रहणान्मूलफलभिक्षैव ग्राम्यान्नाशनमन्यासंभवेऽनेनानुज्ञातम् । गृहीत्वा-
पत्रपुटेनैव पाणिना भाजनरहितेन शकलेन शरावाद्येकदेशखण्डेन ॥ २८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ग्रामादादृत्येतिविधिना तच्चात्रार्थग्रामप्रविशेत् । पुटेन पर्णपुटेन । पाणिनेतिदक्षिणपा-
णिना । वनंप्रतिभैक्ष्यानयनविधानादष्टौग्रासानितिपुटशकलाहरणपक्षयोरेवान्वितम् । शकलेन स्थालीकर्परेण ॥ २८ ॥

(३) कुल्लूकः । तस्यान्यसंभवे ग्रामादानीय ग्रामस्यान्स्याष्टौग्रासान्पर्णशरावादिसखण्डेन पाणिनैव वा गृहीत्वा
वानप्रस्थोभुञ्जीत ॥ २८ ॥

(४) राघवानन्दः । तदलाभे प्रकारान्तरमाह ग्रामादिति । तादृशस्यभिक्षापात्रमपि नास्तीत्याह । पुटेनेति । प-
त्रस्यानियतत्वादञ्जलिनावा पाणिपात्रमिति श्रुतेश्च । शकलेन अर्धेन पाणिना ॥ २८ ॥

(५) नन्दनः । तदलाभे किंकर्तव्यमित्यपेक्षायामाह ग्रामादिति । पुटेन पत्रघटितेन पात्रेण । शकलेन भिन्नभाण्ड-
खण्डेन ॥ २८ ॥

(६) रामचन्द्रः । पाणिना दक्षिणेन प्रतिगृह्य अष्टौ ग्रासानश्रीयात् । शकलेन शरावखण्डेनवा ॥ २८ ॥

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षाविप्रोवने वसन् ॥ विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥ २९ ॥

(१) मेधातिथिः । एतादीक्षा नियमान्याश्चाऽन्तर्जलस्थानचक्षुर्निमीलनादिकं सेवेत । श्रुतीरौपनिषदीः रहस्या-
धिकारपठिता निवेदवाक्यानि अधीयीत चिन्तयेद्भावयेच्चाऽऽत्मसंसिद्धये ब्रह्मप्राप्त्यर्थायाउपासनाउक्ताः । विविधाइत्य-
नुवादः ॥ २९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्याःस्मृत्यन्तरोक्तामासोपवासाद्याः दीक्षाः नियमानुपनिषणायोच्यतइत्युपनिष-
द्रहस्यं तादृगर्थाऔपनिषदीःश्रुतीःसेवेतेत्यनुषङ्गः । आत्मनःसंसिद्धिर्विवेकः ॥ २९ ॥

(३) कुल्लूकः । वानप्रस्थएतादीक्षाएतान्नियमान्याश्चवानप्रस्थशास्त्रोक्तानभ्यसेत् । औपनिषदीश्चश्रुतीःउपनिषत्प-
ठितब्रह्मप्रतिपादकवाक्यानिविविधान्यस्यात्मनोब्रह्मसिद्धये ग्रन्थतोऽर्थतश्चाभ्यसेत् ॥ २९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच एताश्चेति । दीक्षाशब्दीनियमवचनः । औपनिषदीःरहस्याधिकारपठिताः परीक्ष्य लो-
कान्कर्मचितान्ब्राह्मणोनिर्वेदमायादित्यादिकाः । आत्मसंसिद्धये मोक्षाय साह्येवात्मनोवास्तवी शुद्धिः ॥ २९ ॥

(५) नन्दनः । एताश्चेत्यादिश्लोकद्वयमेकान्वयम् । दीक्षानियमान् ॥ २९ ॥

(६) रामचन्द्रः । युग्मं एतानिति । एतान्पूर्वोक्तान्ब्रतान् । च पुनः अन्यान् मासोपवासव्रतादीन् विप्रःवने वस-
न् सेवेत । च पुनः दीक्षांवानप्रस्थदीक्षां सेवेत् ॥ २९ ॥

ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः ॥ विद्यातपोविद्वद्व्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये ॥ ३० ॥

(१) मेधातिथिः । अविशेषेणोक्ता अन्याश्च सेवेत । शाक्यपाशुपतादिदीक्षादिसेवनमपि प्राप्तं निषेधति ऋषिभिर्महाभारते संतप्यवनेष्वाद्यैः सेवितावर्ण्यन्ते । ब्राह्मणैश्च गृहस्थैर्याः सेविताः तदुक्तमुत्तरेषांचैतदविरोधीति । विद्या आत्मैकत्वविज्ञानं तच्छ्रुतिसेवनेन वृद्धिनयेत् दृढीकुर्यात् । शरीरस्य च शुद्धये आहारनियमदीक्षाः सेवेत ॥ ३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ताश्च विद्या वैश्वानराद्युपासना तपः स्वाध्यायस्तयोर्वृद्ध्यर्थं तथा तासामेव पवित्राणां जपेन शरीरस्य शुद्धिः पापक्षयस्तदर्थं च ऋष्यादिभिः सेविताः श्रुतीः सेवेतेत्यन्वयः ऋषिभिर्ज्ञानपरैर्यतिभिः ब्राह्मणैस्तथा गृहस्थैरेव ब्राह्मणैर्गृहस्थत्वेपि सेविताः । अतो द्वयोर्मध्यवर्तिनो वनवासिनोऽतिप्रशस्ता एव तादृश्यर्थः ॥ ३० ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मादेता ऋषिभिर्ब्रह्मदर्शभिः परिव्राजकैर्गृहस्थैश्च वानप्रस्थैर्ब्रह्माद्वैतज्ञानधर्मयोर्विवृद्ध्यर्थमुपनिषच्छ्रुतयः सेवितास्तस्मादेताः सेवेतेति पूर्वस्यानुवादः ॥ ३० ॥

(४) राघवानन्दः । तास्तौति ऋषिभिरिति । ब्राह्मणैर्ब्रह्मतत्त्वदर्शभिः सेविता अभ्यस्यमानाः । शरीरस्य च शुद्धये लिङ्गशरीरे यत्पापं तत्त्वज्ञानप्रतिबन्धकं स्थूलदेहे यत्पापं तयोर्नाशाय ॥ ३० ॥

(५) नन्दनः । सेविता इति दीक्षाणां च श्रुतीनां च विशेषणम् । विद्या ज्ञानम् ॥ ३० ॥

(६) रामचन्द्रः । च पुनः ब्राह्मणैः ब्रह्मचारिभिः च पुनः गृहस्थैः वानप्रस्थैः सेविता धर्मा विद्या तपो विवृद्ध्यर्थं । च पुनः शरीरस्य शुद्धये सेवेतेति सर्वत्र संबन्धः ॥ ३० ॥

अपराजितां वास्थाय ब्रजे द्विशमजिह्वगः ॥ आनिपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः ॥ ३१ ॥

(१) मेधातिथिः । प्राच्या उदीच्याश्च दिशोरन्तरालमपराजितादिक् लोकेष्वैशानीत्युच्यते दिशमास्थाय चेतसि निधायैषामयागन्तव्येति ततस्तामेव ब्रजेत् अजिह्वगः अकुटिलगामी श्वभ्रनदीस्रोतांसि न परिहरेत् । आनिपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः । प्राच्या उदीच्याश्च गमनविधिरयम् । यावन्पतति तावद्वायुभक्षोम्बुभक्षश्च स्यात् । युक्तः योगशास्त्रैरात्मानं युक्ता तदेतन्महाप्रस्थानमुच्यते ॥ ३१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अथ तपसा खिन्नस्याप्रत्यवायं मृत्युप्रकारमाह अपराजितामिति । अपराजितैशानी आस्था योद्दिश्य । अजिह्वगोऽग्निकण्टकजलादीनां वर्त्मनि दर्शने तत्परिहारार्थं वक्रगतिमकुर्वन् । युक्तो नियतचित्तवृत्तिः । वार्यनिलाशनस्तदन्यतराशनः ॥ ३१ ॥

(३) कुल्लूकः । अचिकित्सितव्याध्याद्युद्धवेऽपराजितामैशानीं दिशमाश्रित्या कुटिलगतिर्युक्तो योगनिष्ठोजलानिलाशन आशरीरनिपाताद्ब्रजेत् । महाप्रस्थानाख्यं शास्त्रे विहितं चेदं मरणम् तेन न पुरायुषः स्वकामी प्रेयादिति श्रुत्यापि न विरोधः यतः स्वकामिशब्दप्रयोगादवैधं मरणमनया निषिध्यते न शास्त्रीयम् ॥ ३१ ॥

(४) राघवानन्दः । उपायान्तरमाह अपराजितामिति । ऐशानीं दिशमाश्रित्याजिह्वगोऽकुटिलगतिः युक्तो योगशास्त्रनिश्चितमहाप्रस्थानः शरीरस्यानिपाताद्ब्रजेत् श्रियेतेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

(५) नन्दनः । प्रकारान्तरमाह अपराजितामिति । अपराजितां प्रागुदीचीम् । अजिह्वगक्रजुगतिः । शरीरस्यानिपाताद्ब्रजेदित्यन्वयः ॥ ३१ ॥

(६) समचन्द्रः । अपराजिता ईशानी आख्याय अजिह्वःसम्ब्रजेत् । कीदृशोवानमस्थः शरीरस्यानिपातात् । युक्तः नियतचित्तः । पुनःकीदृशः वार्यनित्यशनः वार्याभारोवा अनिलाधारोवा ॥ ३१ ॥

आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वान्यतमया तनुम् ॥ वीतशोकभयोविप्रोब्रह्मलोके महीयते ॥ ३२ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वोक्तानि तपांसि महाप्रस्थानंचानन्तरोक्तं महर्षिचर्या आसामन्यतमया नदीप्रवेशेन भृगुप्रपतनेनाग्निप्रवेशेनाहारनिवृत्त्यावा शरीरंत्यजेत् । अस्य च फलं वीतशोकभयस्य ब्रह्मलोकप्राप्तिः । नरकादिदुःखानुभवः शोकः भयं नरकंगमिष्यामीति तदस्य व्येति । अव्यवधानेनैवाचिरादिक्रमेण ब्रह्मलोकप्राप्तिरिति इहस्थानविशेषोब्रह्मलोकः स्वर्गादपिनिरतिशयस्तत्र महीयते पूज्यमानआस्ते नतु ब्रह्मणः स्वाराज्यंप्राप्नोति लोकग्रहणात् । चतुर्थेऽंशे मोक्षंवक्ष्यति न केवलकर्मरुतोमोक्षइत्याहुः । ननुचाप्युक्तं विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धयेऽश्रुतोरिति आत्मसंसिद्धिश्च आत्मोपासनया तद्भावापत्तिः न ह्यन्यः संसिद्धिशब्दस्यार्थउपपद्यते औपनिषदीषु श्रुतिषु तद्भाव्ययोगिनामात्मानंब्रह्मसंस्थोभृतत्वमेतीति च । अथसायुज्यंगच्छतीत्यादि अथोच्यते अन्याअपि तपःसिद्धयःश्रूयन्ते यस्तपति पितृलोकवासोभवतीत्यादिसंकल्पितार्थोपपादितासांष्टितासालोक्यंच पुरुषस्य भविष्यति न पुनर्मोक्षइति तदयुक्तं विशेषाभावात् । यथैव परिमितफलसूपासनास्वधिक्रियते एवमभृतत्वप्राप्तावपि । नक्चिच्छ्रूयते परिव्राजकेनैवोपासनायद्वैतविषयाणि कर्तव्यानि । ननुच त्रयोधर्मस्कन्धाइत्युपक्रम्य यज्ञोऽध्ययनंज्ञानमित्यनेन गृहस्थधर्माउक्तास्तपएवेत्यनेन वानप्रस्थोब्रह्मचार्यचार्यकुलवासीत्यनेन नैष्ठिकोब्रह्मसंस्थइत्यनेन परिव्राजकः । एतेषांत्रयाणांपुण्यलोकाउक्ताः पारिशेष्यादेतद्यतिरिक्तस्याभृतत्वम् । नैवं ब्रह्मणिर्सीतिष्ठते । प्रयतते तत्परस्यब्रह्मसंस्थस्य यौगिकत्वादस्य शब्दस्य । ननुच यदि सर्वेषामधिकारस्तदैसावदेवं वक्तव्यंब्रह्मसंस्थोभृतत्वमेतीति । नैवं आश्रमाणांस्वविधिवाक्यावगतंफलंसंपत्क्षयिणः पुण्यलोकाभवन्तीति ब्रह्मसंस्थस्य तदाश्रमावस्थितस्यैवाभृतत्वमपुनरावृत्तिलक्षणविधीयते । ननुचाद्वैतरूपंब्रह्मेत्यात्मविदः सचनिवृत्तकर्माख्यः । आश्रमाश्च प्रवृत्तमार्गाख्याः क्रियाकारकफलभेदानुष्ठानात्मकाः । तत्राद्वैतात्मविज्ञानेसमानभेदाश्रयाणि च गृहस्थाद्यग्निहोत्रकर्मादीनीति परस्परविरोधः । अत्रोच्यते । समानमेतत् पारिव्राज्येपि यमनियमानामिष्टत्वात्तेच भेदाश्रयाः । अथाप्युच्येतकर्मसंन्यासिनोनिवृत्तिमार्गोवस्थायिनोऽनैव केचिच्छास्त्रार्थविषयःसन्ति । नायंशास्त्रार्थः अहंकारममकारत्यागएव संन्यासोवक्ष्यते नाशेषशास्त्रार्थत्यागः तस्यापि शुधाद्युपहतस्य भिक्षादौ प्रवर्तमानस्यास्त्येव क्रियाकारकसंबन्धः तत्र लौकिके दृष्टार्थभेदे प्रवर्तमानस्य अद्वैतात्मविज्ञानभावनमविरुद्धम् । शास्त्रीये त्वग्निहोत्रादौ विरोधादिति कोयुक्तकार्येवंवदेत् । अथोच्यते शुधाद्युपहतस्याप्यद्वैतत्यागोविरोधिना भोजनेन तावत्कालएव । यथान्यतमसि चलितस्य गच्छतः कण्टकप्रदेशे पादन्यासः सवितरि पुनरुदिते लब्धप्रकाशस्य पुनर्न्याप्यमेवाध्वन्यस्याकण्टकेवस्थानम् । तथा शुधाद्युपघाते विच्छिन्नात्मविज्ञानस्य क्षणमालोकस्थामौयायांशुनिवृत्तौ पुनर्दृढसंस्कारवशादेवावस्थानमिति ॥ तत्तापसेऽप्यविरुद्धम् । गृहस्थस्यापि पुत्रदारादितयोपासनमविरुद्धं बहुव्यापारः । ततस्तु भेदसात्म्यतांगतस्य कुतोऽद्वैतसंस्कारोत्पत्तिः ॥ उक्तंच गृहस्थधर्मेऽप्येकाकीचित्तयेदिति । तथा पुत्रे सर्वसमासज्येति । ननुच तस्मादुहमपुरायुषःस्वः कामीप्रेयादिति श्रुतिस्तत्र कुतो वानप्रस्थस्य शरीरत्यागः नहिसाश्रुतिर्वानप्रस्थादन्यत्रानयास्पृत्या विषयउपस्थापयितुंशक्यते । बलीयसी हिश्रुतिः साच स्पृत्यनुरोधेन न संकोचमर्हति । उच्यते जरसा विशीर्णस्यानिष्टसंदर्शनादिना वा विदितेऽन्यासन्ने मृत्यौ मुमूर्षतोऽन

श्रुतिविरोधः । एवंहि तत्र श्रूयते नपुरायुषइति अवस्थाविशेषेह्यनभिप्रेते मरणे एतावदेवावक्ष्यन्तस्वःकामीप्रेयादिति अ-
ग्निष्टोपदेशश्चोपनिषत्त्वेवमर्थवान्भवति । यस्यत्वेतन्निमित्तमरणंनस्ति ॥ ३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आसां पञ्चतपःप्रभृतीनां महर्षयःप्रथमसर्गजाऋषयस्तेषां चर्या आचारः । शोकोदुःखं
ततोभयं शोकभयम् ॥ ३२ ॥

(३) कुल्लूकः । एषांपूर्वोक्तानुष्ठानानामन्यतमेनानुष्ठानेन शरीरं त्यक्त्वाऽपगतदुःखभयोब्रह्मलोकस्तत्र पूजांलभ-
ते मोक्षमामोतीत्यर्थः । केवलकर्मणोवानप्रस्थस्यकथंमोक्षइतिचेन । विविधाश्चोपनिषदीरात्मसंशुद्धयेश्रुतीरित्यनेनास्या-
प्यात्मज्ञानसंभवात् ॥ ३२ ॥

(४) राघवानन्दः । आसामुक्तानां । दीक्षाणांमध्येऽन्यतमया तनुंत्यक्तेत्यन्वयः । महीयते पूजामामोति ॥ ३२ ॥

(५) नन्दनः । आसां महर्षिचर्याणामुक्तानानियमानाम् ॥ ३२ ॥

(६) रामचन्द्रः । आसां महर्षिचर्याणां पञ्चतपःप्रभृतीनांमध्ये अन्यतमया वा चर्या तनुंत्यक्त्वा विप्रोब्रह्मलोके
महीयते । क्रीदशोविप्रः वीतशोकभयोऽपारलौकिकभयः ॥ ३२ ॥

वनेषु च विद्वत्सैवं तृतीयं भागमायुषः ॥ चतुर्थमायुषोभागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत् ॥ ३३ ॥

(१) मेधातिथिः । इतःप्रभृतिचतुर्थाश्रममतिः । तृतीयंभागमिति । कश्चित्कालंस्थित्वेत्यर्थः । यावता कालेन तपः-
मुतमंभवतिविषयाभिलाषश्च सर्वोनिवृत्तः । नहि मुख्यतृतीयआयुषोभागएवानेन शक्योज्ञातुम् । नहि वर्षशतापेक्षाऽऽश्रमा-
णां यतोवलीपलितापत्योत्पत्तीस्तृतीयाश्रमप्रतिपत्तौ कालउक्तः नच सर्वस्य पञ्चाशद्वर्षदेशीयस्यतदुत्पद्यतेउक्तंचान्यत्र त-
पसि ऋद्धे परिव्रजेदिति । ननुच यथान्येषामाश्रमाणांकालोविवृतोऽग्रहणान्तं ब्रह्मचर्यं वलीपलिताद्यवधि गार्हस्थ्यं । नैवमिह
कश्चित्परिच्छेदे हेतुरस्ति यदि यथाश्रुतं तृतीयोभागः समाश्रियेत । यच्च तपसिऋद्धइति तत्रापि कालापेक्षायुक्तैव न ज्ञा-
यते कियता तपसाऋद्धिर्भवति अतःकालपरिच्छेदो न वचनाहः । उक्तमत्र न शतवर्षापेक्षया तृतीयायुर्भागनिश्चयसं-
भवति । उक्तश्च कालः कायपाके प्रव्रज्या प्रतिपत्तव्या । यावता तपसा यावतिचवयसि पुनर्मदवृद्धिर्नाशंक्यते तदा परि-
व्रजेत् । विद्वत्यासित्वायथोक्तंविधिमुनुष्ठयेतियावत् । संगत्यागश्च ममतापरिग्रहः एकारामता ॥ ३३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अथ अतिधर्मानाह वनेष्विति । विद्वत्य क्षपयित्वेत्युक्ताप्रयोगेण पक्वकषायस्य
वानप्रस्थचर्याया । कष्टावपाकेसत्येव यत्याश्रमेऽधिकारइतिदर्शितं अत्रापि तृतीयंभागमिति तावता कालेन तावद्वैरा-
ग्योत्पत्तिसंभवे अन्यथातु यावज्जीवमपि वनएव वसेत् संगान् परिग्रहान् । परिव्रजेत् गृहादिपरित्यज्य व्रजेत् ॥ ३३ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्यतुमरणाभावस्तस्याह वनेष्वित्यादि । अनियतपरिमाणत्वादायुषस्तृतीयभागस्य दुर्विज्ञा-
नातृतीयमायुषोभागमिति रागक्षयावधि वानप्रस्थकालोपलक्षणार्थम् । अतएवशङ्कलिखितौ वनवासादूर्ध्वशान्तस्य
परिगतवयसः पारिव्राज्यमित्याचख्यतुः । एवंवनेषु विद्वत्सैवंविधिवदुश्चरतपोऽनुष्ठानप्रकारेण वानप्रस्थाश्रमविषय-
रागोपशमनाय कंचित्कालमुनुष्ठाय चतुर्थमायुषोभागमिति शेषायुःकाले सर्वथा विषयसङ्गास्त्यक्त्वा परिव्राजकाश्रममु-
तिष्ठेत् ॥ ३३ ॥

(४) राघवानन्दः । अविरक्तस्यापि । चतुर्थेवयस्यवश्यंसन्यासइत्याह वनेष्विति । चतुर्थमायुषोभागं प्राप्य परि-
व्रजेदित्यन्वयः वनी भूत्वा प्रव्रजेदिति श्रुतेः । विरक्तस्यतुक्रमोत्क्रमाभ्यांसंन्यासःअव्रतीवाव्रतीवा उच्छिन्नाग्निरनुच्छि-

न्नाग्रिकोवायदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् । यदि चैतरथा ब्रह्मचर्यादेव व्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वेत्यादि श्रुतिशतैश्च संन्यासस्य विहितत्वात् । अयंत्वविरक्तोब्रह्मलोकेप्सुःसंन्यासाद्ब्रह्मणःस्थानमितिश्रवणात् ॥ ३३ ॥

(५) नन्दनः । अथसंन्यासाश्रमप्रस्तौति वनेष्विति । वित्त्य चरित्वा ॥ ३३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अथ संन्यासाश्रमप्रकरणं वनेष्विति । एवमायुषस्तृतीयभागनीत्वा चतुर्थमायुषोभागंज्ञात्वा संगान्सर्वास्त्यक्त्वा परिव्रजेत् संन्यसेत् ॥ ३३ ॥

आश्रमादाश्रमं गत्वाहुतहोमोजितेन्द्रियः ॥ भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्धते ॥ ३४ ॥

(१) मेधातिथिः । समुच्चयपक्षमुपोद्वलयति । आश्रमादाश्रममिति । गृहस्थाश्रमाद्दानप्रस्थाश्रमंगत्वा हुतहोमउभयोरप्याश्रमयोर्यदा जितेन्द्रियस्तदा परिव्रजेत् प्रेत्य वर्धते मृत्वा विभूत्यतिशयेन । भिक्षाबलिदानेन परिश्रान्तः । द्विराश्रमधर्मानुवादोयम् ॥ ३४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र वनवासानन्तरंपारिव्राज्याभिधानेन गृहस्थस्य पारिव्राज्याधिकारोनास्तीतिप्रस-
जितांशङ्कानिराचष्टे आश्रमादिति । नकेवलंब्रह्मचर्यं वर्तमानस्य तादृशवैराग्यादि तस्य चर्णत्रयापाकरणसंभवात्तमाश्रमं
त्यक्त्वा गृहस्थाश्रमगमनमवश्यं नतु गृहस्थस्य ऋणापाकरणमाश्रमान्तरस्माध्यमतोस्य विरागस्यानन्तरमेव पारिव्रा-
ज्यंसंभवतीति तात्पर्यम् । हुतहोमइति यज्ञैकदेशाभिधानेन यज्ञत्वाध्यायापत्यैर्ऋणत्रयापाकरणमुक्तम् । जितेन्द्रियोभ्यु-
त्थापितवैराग्यः तेन जितेन्द्रियोहमिति यदि गृहस्थोमन्यते तदा तदैव परिव्रजेदन्यथा वनवासेन जितेन्द्रियतांप्राप्ये-
त्यर्थः । भिक्षादानबलिदानाभ्यांकर्मकलापोलक्ष्यते तेन श्रान्तस्तत्करणासमर्थः । एतेन तच्छक्तौ तत्कुर्वतैवात्मा जिज्ञा-
स्यइतिर्दाशितम् । प्रेत्य वर्धते लिङ्गदेहावच्छिन्नस्तदवच्छेदन्यासोद्भवविभुत्वंलभते ॥ ३४ ॥

(३) कुल्लूकः । पूर्वपूर्वाश्रमादुत्तरोत्तराश्रमंगत्वा ब्रह्मचर्यादृहाश्रमततोवानप्रस्थाश्रममनुष्ठायेत्यर्थः । यथाशक्तिग-
ताश्रमहुतहोमोजितेन्द्रियोभिक्षाबलिदानचिरसेवयाश्रान्तःपरिव्रज्याश्रममनुतिष्ठन्परलोके मोक्षलाभाद्ब्रह्मभूतद्धर्म्यतिशय-
प्राप्नोति ॥ ३४ ॥

(४) राघवानन्दः । आश्रमाद्दानप्रस्थान्तादाश्रमंतेष्वन्तर्गतंब्रह्मचर्याद्यन्यतमंतेषु हुतोहोमोबहुधा श्रौतलौक-
िकाग्निषु येन सः अतःपरं होष्यतीत्यर्थः । भिक्षाबलिपरिश्रान्तः ब्रह्मचर्यं भिक्षया गार्हस्थ्यं वानप्रस्थयोर्बलिदानेन परि-
श्रान्तःभिक्षारूपबलेरभिमतत्वाद्वाश्रान्तः व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यमस्तीति श्रुतेः । तथाविधएव प्रेत्य सुखी स्यात् ॥ ३४ ॥

(५) नन्दनः । इयमेवाश्रमप्राप्तिरुचिता नान्येत्याह आश्रमादिति । हुतहोमःकृतसमिदाधानाग्निहोत्रहोमः ।
भिक्षाबलिपरिश्रान्तः भिक्षाहरणवैश्वदेवबलिहरणाभ्यांक्षीणदेहः । आभ्यांविशेषणाभ्यामाश्रमत्रयविहितंकर्म लक्ष्यते ।
आश्रमादाश्रमंगत्वा ब्रह्मचर्याश्रमाद्गार्हस्थ्यं ततोवानप्रस्थाश्रमंगत्वा ॥ ३४ ॥

(६) रामचन्द्रः । भिक्षाबलिपरिश्रान्तः भिक्षाबलिभ्यांरहितः संचयरहितः हुतहोमः । शिखासूत्रपरित्यागे कृत-
होमः एतादृशःप्रव्रजेत् प्रेत्य परलोके वर्धते मोक्षंप्राप्नोति । लिङ्गदेहाद्यनवच्छिन्नविभुत्वंमोक्षत्वंएवंयत्तत्प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनोमोक्षे निवेशयेत् ॥ अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानोव्रजत्यधः ॥ ३५ ॥

(१) मेधातिथिः । अपाकरणम् ऋणसंशुद्धिः । मनोमोक्षेनिवेशयेत् । मोक्षशब्देन प्रव्रज्याश्रमोलक्ष्यते । तत्र
आधानेन मोक्षैकफलतोच्यते । न तथाऽन्येष्वश्रमेषु अतोमोक्षः परिव्राज्यकेन ॥ ३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उक्तमर्थस्फुटयति ऋणानीति । मोक्षे मोक्षसाधने चतुर्थाश्रमे । अधोव्रजति प्रत्यवा-
योत्पत्त्या पूर्वाश्रमेऽप्यनधिकृतोभवति । नचैवं ब्रह्मचर्यादेवप्रव्रजेद्वनादृहाद्वेतिश्रुत्याविरोधः तस्याः पूर्वजन्माभ्यासवशा-
दित्यात्यन्तिकवैराग्यपुरुषविषयत्वात् । तदाहदेवलः यस्यैतानि सुगुणानि जिह्वोपस्थोदरंगिरः । सन्यसेदकृतोद्वाहोब्राह्म-
णोब्रह्मचर्यवानिति ॥ यस्तुनात्यन्तवीतरागःसमन्दाधिकारः । तद्विषयाणिच अनपाकतर्णत्रयसंन्यासनिषेधकमन्वादिवच-
नानि यथा भारते ॥ कषायपाचयित्वा च श्रेणिस्थानेषु च त्रिषु । प्रव्रजेच्च परंस्थानंयत्र गत्वा न शोचतीति ॥ यस्तूत्क-
टरागस्तद्विषयमैकाश्रम्यत्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्येति ऐकाश्रम्यं गार्हस्थ्यरूपैकाश्रमित्वमेव रागिणांयुक्त-
मित्याचार्याः । रागिणामधिकृत्य गार्हस्थ्यस्य प्रत्यक्षतः श्रुतौ विधानादित्यर्थः ॥ ३५ ॥

(३) कुट्टूकः । आश्रमसमुच्चयपक्षमाश्रितोब्राह्मणउत्तरश्लोकाभिधेयानि त्रीण्यणानि संशोध्य मोक्षे मोक्षा-
न्तरङ्गे परिव्रज्याश्रमे मनोनिर्जयेत् । तान्यणानि त्वसंशोध्य मोक्षंचतुर्थाश्रममनुतिष्ठन्नरकंव्रजति ॥ ३५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच वेदाध्ययनपुत्रोत्पादनयज्ञानुष्ठानैर्ऋषिपितृदेवानामृणान्यपाकृत्यशोधयित्वा मोक्षे सं-
न्यासे मोक्षसाधनत्वान्मनोनिवेशयेदित्यविरक्तंशिक्षयन्नाह ऋणानीति । तदकरणे दोषमाह अनपाकृत्येति । अधोवरकंव्र-
जेदेव ॥ ३५ ॥

(५) नन्दनः । ब्रह्मचर्यगार्हस्थ्येकत्वा वानप्रस्थमकृत्वापिसंन्यासःकर्तव्योनान्यथेत्याह ऋणानीति । ऋणानि
त्रीण्यध्ययनप्रजननयजनारूपाणि । मोक्षे मोक्षसाधने संन्यासाश्रमे । अनपाकृत्य ऋणानीत्येव ॥ ३५ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रीणि ऋणानि अपाकृत्य परित्यज्य मनो मोक्षे निवेशयेत् । देवर्षिपितृर्णानि यज्ञेन देवमृषां
वेदाध्ययनेनार्षं पुत्रोत्पादनेन पैतृकं एतद्वृणत्रयमपाकृत्य परित्यज्य परिव्रजेत् । तुपुनः त्रीणि ऋणानि अनपाकृत्य अनपा-
कृत्य मोक्षं संवमानः अधोव्रजति पतति ॥ ३५ ॥

अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्यधर्मतः ॥ इष्ट्वा च शक्तितोयज्ञैर्मनोमोक्षे निवेशयेत् ॥ ३६ ॥

(१) मेधातिथिः । कानि पुनस्तानिऋणान्यतआह त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते । यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः
त्वाध्यायेनर्षिभ्य इति श्रुत्यनुवादिनी स्मृतिरियम् । ननुच गृही भूत्वा प्रव्रजेदयवेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदिति जा-
बालश्रुतिरुच्यते । उत्पत्तिमात्रमाश्रित्योक्तमुदाहरति तत्रेदं विरुध्यते अमुत्पाद्य तथा प्रजामिति । यद्येषाश्रुतिरस्ति
किंताहि इदमुच्यते । प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्येति प्रव्रजेदिति । नतु प्रव्रजितेनेमानि कर्माणि कर्तव्यान्यनयावेतिकर्तव्य
तयेत्येतन्नास्ति गृहस्थस्य त्वग्निहोत्रादीनि साङ्गकलापाण्याभ्यातानीत्येतदभिप्रायमेतत् । येत्वेतांश्रुतिमदृष्ट्वास्मार्ताएव नै-
शिकादयस्तेच गृहस्थाश्रमेण प्रत्यक्षश्रुतिविधानेन बाध्यन्ते । येच क्लीबाद्यनधिकृतविषयतया स्मृतिवाक्यानामर्थवत्सां-
वर्णयन्ति तेषामभिप्रायंन विद्यः । यदि तावदाज्यावेक्षणविष्णुक्रमाद्यङ्गाशक्तौ श्रौतेषु नाधिक्रियते यतस्तथा विधा-
ङ्गयुक्तं कर्म संपादयितुंसमर्थस्तं प्रत्यधिकारश्रुतीनामर्थवत्त्वे जाते न तदसमर्थमपि कुर्वीतेति । यद्येवं स्मार्तैर्वपिमैष्टिकस्य
गुर्वर्थमुदकुम्भाद्याहरणभैक्षपरिचरणम् पारिव्राजोपि न द्वितीयामपि रात्रियामे वसेदिति कुतःपङ्गवन्धयोः स्मार्तकर्मक्रमा-
धिकारः उपमन्यनचैषमस्ति लिङ्गं तत्पुष्पांविवाह्यर्थनयार्थ्यतातुदारैरिति । यद्यप्युपनयनमादित्यदर्शनमग्निप्रदक्षिणं-
शीत्येतिच विहितं यत्पुष्पांविवाहसंभवेव्रात्यत्वात् । अतोऽप्यवच्छेदकं गुरुश्रूषांविगुणमपि ब्रह्मचर्यमेव-
मस्ति । क्लीबस्य तु प्रकृतेऽनुपपत्त्यैका सच पतितश्च न कश्चिदधिकृतः तस्मादनधिकृतविषयं पारिव्राज्यनैष्ठिकताचेति

नमनः परितोषमादधाति । सत्त्वं उदितहोमेन तावद्भविष्यति समुच्चयपक्षमाश्रित्य । अनपाकृत्येति निन्दावचनं न पुनः प्रतिषेधएव अथवा यदाऽऽकृतदारपरिग्रहस्य प्रव्रज्यायामधिकारइत्येवमेतन्नेयम् ॥ ३६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ऋगत्रयापाकरणत्वरूपमाह अधीत्येति । धर्मतोयथोक्तकन्याविवाहादनुगमनादित्यर्थः ॥ ३६ ॥

(३) । कुल्लूकः । तान्येवऋगानि दर्शयति अधीत्येति । जायमानो ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋगैर्ऋणवाजायते यज्ञेन देवेभ्यः प्रजयापितृभ्यः स्वाध्यायेनऋषिभ्य इति श्रूयते । अतो यथा शास्त्रं वेदानधीत्य पर्वगमनवर्जनादिधर्मेण च पुत्रानुत्पाद्य यथा सामर्थ्यं ज्योतिष्टोमादियज्ञांश्चानुष्ठाय मोक्षान्तरङ्गे चतुर्थाश्रमे मनोनियोजयेत् ॥ ३६ ॥

(४) राघवानन्दः । ऋणानीत्युक्तं विवृणोति अधीत्येति । धर्मतो धर्मेण ब्राह्मादिना विवाहेन यदि निवेशयेदतां कृत्वैवेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

(५) नन्दनः । उक्तमेवार्थमादरार्थं श्लोकद्वयेन प्रपञ्चयति ॥ ३६ ॥

(६) रामचन्द्रः । मोक्षे मोक्षसाधने संन्यासे मनो निवेशयेत् ॥ ३६ ॥

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान् ॥ अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥ ३७ ॥

(१) मेधातिथिः । यज्ञैराहिताग्निर्नित्यैः पशुसोमैः ॥ ३७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अस्थव्यतिरेकमाह अनधीत्येति । मोक्षगार्हस्थ्ये तिष्ठन्नेव स्वाध्याये यज्ञादिषु तर्जनायापाकरणबुद्ध्याऽप्रवर्तमानो ब्रह्मचर्यान्मोक्षइत्यभिमानादनुगमनादिगार्हस्थ्यनियतधर्मेभ्यो निवृत्तः प्राणायामादियोगाङ्गान्यनुतिष्ठन्नित्यर्थः ॥ ३७ ॥

(३) कुल्लूकः । वेदाध्ययनमकृत्वा पुत्रमनुत्पाद्य यज्ञांश्चानुष्ठाय मोक्षमिच्छन्नरकव्रजंति ॥ ३७ ॥

(४) राघवानन्दः । विपक्षेत्वाह अनधीत्येति । उक्तानननुष्ठायधो व्रजतीत्यन्वयः । अर्थावादात्मकश्लोकद्वयम् ॥ ३७ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्विजः न क्षत्रियादिः तथाच श्रुतिः ब्राह्मणः प्रव्रजतीति ॥ ३७ ॥

प्राजापत्यां निरूप्येष्टसर्ववेदसदक्षिणाम् ॥ आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्ब्रह्मात् ॥ ३८ ॥

(१) मेधातिथिः । प्राजापत्याऽध्वर्युवेदे विहिता तस्यांच सर्वस्वदानं विहितं तां कृत्वाऽऽत्मन्यग्नयः समारोप्यन्ते । समारोपणेपि विधिस्ततएवावगन्तव्यः । सार्ववेदसदक्षिणाऽस्यास्तीत्यन्वयपदार्थः । वेदोधनंतत्सर्वदेयम् । इदमर्थं विहितः स्वार्थिको वा यज्ञादेराकृतिमणत्वात् । अन्येतु पुरुषमेधंप्राजापत्यामिष्टिमाहुः । तत्र ब्रह्मणे ब्राह्मणमात्रभतइति प्रथमः पशु-
ब्रह्मा च प्राजापतिः मुख्येन व्यपदेशप्रवृत्तेः प्राजापत्यः पुरुषमेधः सर्वस्वदानमग्निसमारोपणं प्रव्रज्याच तत्रैव विहिता ।
इवं हि तत्र श्रुतिः अथात्मन्यग्नीन्समारोप्य तन्मारोपणेनादित्योपस्थानादपेक्षमाणैरग्नयमभिप्रेत्यात्तदैव देवमनुष्येभ्य
स्थिरो भवतीति । यत्त्वात्मन्यग्नीन्समारोप्य प्रव्रज्या व्यपदिष्टा अथाह एतएव आत्मनो यज्ञा इत्यतस्तन्मरणात्तस्यै दत्ता
आत्मन्येव समारोपिता भवन्ति । अतो भार्यामरणपक्षे प्रव्रज्या नावस्था पुनर्द्वारं क्रियेति तत्र किं नु तस्याः पूर्वमरणे भार्यायै
दत्त्वाग्नीनन्त्यकर्मणीति पठितमिति वक्तव्यमिति पौरुषेयो ह्ययं ग्रन्थो न वेदो येनोक्तमुपालभेम हीति परिहारः स्यात् ॥ ३८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्राजापत्यां प्राजापतिदेवतपुरोडाशहविष्कां वेदइति धननाम सर्ववेदोदक्षिणा यत्र सा तथा ।

सर्वस्वदक्षिणामित्यर्थः । सर्ववेदएव सर्ववेदसं । पुत्राणांच संविभजनीयत्वादवशिष्टः स्वीयोभागःसर्वोदेयइतिग्राह्यम् । समारोप्य यातेअग्रेयज्ञियातनूरितिमन्त्रेण । ब्राह्मणइतिपदस्यानन्यपरत्वात्क्षत्रियादीनां पारिव्राज्यमस्तीतिगम्यते अतएव श्रुतिरपि ब्राह्मणाःप्रव्रजन्तीति । प्रकर्षेण व्रजेदपुनरावर्तनाय ॥ ३८ ॥

(३) कुल्लूकः । यजुर्वेदीयोपाख्यानग्रन्थोक्तांसर्वस्वदक्षिणांप्रजापतिदेवताकामिष्टिंरुत्वा तदुक्तविधिनैवात्मन्यग्रीन्समारोप्य गृहादित्यभिधानाद्दानप्रस्थाश्रममनुष्ठायैव चतुर्थाश्रममनुतिष्ठेत् । एतेन मनुना चातुराश्रमस्य समुच्चयोऽपि दर्शितः श्रुतिसिद्धाश्चएकद्वित्रिचतुराश्रमाणांसमुच्चयाविकल्पिताः । तथाजाबालश्रुतिः ब्रह्मचर्यसमाप्य गृहीभवेदृहीभूत्वा वनीभवेद्वनीभूत्वा प्रव्रजेत् इतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदृहाद्वा वनाद्वा ॥ ३८ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रव्रजनप्रकारमाह प्रेति । प्रजापत्यां प्रजापतिदेवताकां यजुर्वेदविहितां सर्ववेदसदक्षिणां सर्वस्वदक्षिणां । अग्नीन् औतान् स्मार्तेच । गृहादित्याश्रमत्रयोपलक्षकं कुटीचकादिसंन्यासिचतुष्टयसाधारणं तत्रैकदण्डिनां तु शिखायज्ञोपवीतवेदानांत्यागः सशिखंवपनंरुत्वा बहिःसूत्रंत्यजेदिति श्रुतेः । सत्यानृतेसुखदुःखेवेदानिमंचलोकममुंचलोकंपरित्यज्यात्मानमन्विच्छेदित्यापस्तम्बोक्तेः । ॐभूः सावित्रींप्रविशामीत्युपक्रम्य ॐभूर्भुवःस्वरोयज्ञोपवीतंजुहोमीत्यादिशौनकेनधृतत्वात् ॥ ३८ ॥

(५) नन्दनः । प्रव्रज्याप्रकारमाह प्राजेति । सर्ववेदसंसर्वस्वम् ॥ ३८ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रजापत्यां प्रजापतिदेवतसंज्ञां इष्टिं निरूप्य रुत्वा सर्ववेदसदक्षिणां सर्वः वेदोधनं दक्षिणायस्याःसा सर्ववेदसमेव सार्ववेदसं सर्वस्वदक्षिणां आत्मनि अभीन् वैतानाग्नीन् श्रुत्युक्तविधानेन समारोप्य ब्राह्मणएव गृहात्प्रव्रजेत् न तु क्षत्रियादिः ॥ ३८ ॥

योदत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ॥ तस्य तेजोमयालोकाभवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ ३९ ॥

(१) मेधातिथिः । गार्हस्थ्यनिन्दया चतुर्थाश्रमप्रशंसा । यज्ञेहि पशवोहन्यन्ते । प्ररोहधर्मकाश्चेतनाइतिदर्शने तृणौषधीनां छेदइत्येत तद्भूतभयं । तद्गृहात्प्रव्रजितस्य समारोपिताग्नेर्नास्तीत्युक्तम् अभयंसर्वभूतेभ्योदत्त्वेति अनेनाशुष्काणांतृणपलाशानामनुपादानमाह । तेजोमयानित्यप्रकाशादयास्तमयौ यत्रादित्यस्य न विभाव्येते यथोक्तमतऊर्ध्वमादित्योनैवोदेति नवास्तमेतीत्युपनिषत्स्वित्येवमाहुर्वर्चांसि ॥ ३९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गृहादिति ग्रामस्थितादरण्यस्थिताद्वेत्यर्थः । तेजोमयालोकाब्रह्मलोकगतास्तदेकदेशाः । संन्यासाद्ब्रह्मणः स्थानमितिपुराणेष्वभिधानात् । ब्रह्मवादिनोब्रह्मविषयश्रौतज्ञानवतः । तेनात्मन्यसाक्षात्कृतेऽपि संन्यासमात्राद्ब्रह्मलोकप्राप्तिरुक्ता ॥ ३९ ॥

(३) कुल्लूकः । यःसर्वेभ्योभूतारब्धेभ्यः स्थावरजङ्गमेभ्योऽभयंदत्त्वा गृहाश्रमात्प्रव्रजति तस्य ब्रह्मप्रतिपादकोपनिषन्निष्ठस्य सूर्याद्यालोकरहिताहिरण्यगर्भादेर्लोकास्तत्तेजसैव प्रकाशाभवन्ति तानामोतीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

(४) राघवानन्दः । तादृशे संन्यासे योदत्त्वेति फलवादः । अभयं दत्वेत्यन्वयः । तस्याहंब्रह्मास्मीति ब्रह्मवादिनस्तेजोमयाःस्वप्रकाशालोकाः ॥ ३९ ॥

(५) नन्दनः । गृहनिष्क्रमणात्पूर्वमेव सर्वभूतेभ्योऽभयंदातव्यमित्याह योदत्त्वेति ॥ ३९ ॥

यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यतेभयम् ॥ तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ ४० ॥

(१) मेधातिथिः । एषएवार्थः । पुनरुक्तः । देहाद्विमुक्तस्य वार्तमानिकंशरीरंतस्य पततीत्यर्थः ॥ ४० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतत्पपञ्चयति यस्मादिति । देहाद्विमुक्तस्य मृतस्य भयं नास्ति नित्याभयत्वाद्ब्रह्मलोकस्य ॥ ४० ॥

(३) कुल्लूकः । यस्माद्विजात्सूक्ष्ममपिभयंभूतानां न भवति तस्य देहाद्विमुक्तस्यवर्तमानदेहनाशे कस्मादपिभयंनभवति ॥ ४० ॥

(४) राघवानन्दः । येषांनोयमात्मायलोकइति श्रुतेः किमुवाच्यंपरत्र तेजोमयालोकाइतीहैवजीवन्मुक्तःसइत्याह यस्मादिति । द्विजात् कृतसंन्यासात् । कुतश्चन यमाद्राजादेश्च नबिभेतिकुतश्चनेति श्रुतेः ॥ ४० ॥

(५) नन्दनः । अभयप्रदानस्य फलान्तरमाह यस्मादिति । न केवलमिदमभयदानंसंन्यासिनएव धर्मः किंतु सर्वस्यापीतिसूचितम् ॥ ४० ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्माद्विजाद्भूतानामण्वपिभयं न उत्पद्यते नजायते तस्य द्विजस्य देहाद्विमुक्तस्य कुतश्चन कस्मिन्नपि लोके भयं नास्ति ॥ ४० ॥

आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितोमुनिः ॥ समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ४१ ॥

(१) मेधातिथिः । पवित्रैर्मन्त्रजपैर्दर्भकमण्डलुरुष्णाजिनैरुपचितोयुक्तः । अथवापावनैः रुच्छैः । मुनिर्किञ्चिद्वादी । समुपोढेषु केनचित्कामेषु स्पृहणीयेषु मृष्टभोजनादिषु यदृच्छातोगीतादिशब्देषु सन्निहितेषु पुष्पादिसुवासमुपस्थितेषु निरपेक्षोभवेत् । नैतांश्चिरंस्निग्धेन चक्षुषा पश्येन्नाकर्णयेन्नतैस्सहासीत् ॥ ४१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पवित्रोपचितः पवित्रैस्तपोजपादिभिर्गार्हस्थ्यकालकृतैः उपचितः उत्तमतांनीतः । मुनिर्मनननिरतः । समुपोढेषु सम्यग्भुक्तेषु तथाच भोगान्मन्दीभूतायांतृष्णायां निरपेक्षस्तादृगिच्छाशून्यः । यत्तु न जानु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यतीति ॥ तस्योपभोगमात्रेण न शाम्यतीतितात्पर्यम् । धर्मपरिव्राजकधर्ममाचरेन्नित्यमितिकचित्पाठः ॥ ४१ ॥

(३) कुल्लूकः । गृहान्निर्गतःपवित्रैर्दण्डकमण्डलवादियुक्तीमुनिर्मौनी समुपोढेषु कामेषु केनचित्सम्यक्समीपंप्रापितेषु स्वाहन्नादिषु विगतस्पृहः परिव्रजेत् । मेधातिथिस्तु पवित्रैर्मन्त्रजपैरथवा पावनैः रुच्छैर्युक्तइतिव्याचष्टे ॥ ४१ ॥

(४) राघवानन्दः । पवित्रेण ज्ञानेनोपनिषदावोपचितोयुक्तः । समुपोढेषु सम्यक्तया श्रीतिजनकत्वेनोपस्थितेषु दारान्नादिषु निरपेक्षः विगतस्पृहः ॥ ४१ ॥

(५) नन्दनः । गृहनिष्क्रमणकाले कर्तव्यमाह आगेति । समुपोढेषु गृहसंचितेषु भोगेषु । पवित्रंजलपवित्रम् । एतच्छिष्यकमण्डलवादेरप्युपलक्षणम् उपचितग्रहणात् । मुनिर्मित्रादीननामन्त्रयन्गारादपि निष्क्रान्तः परिव्रजेत्सर्ववर्जयित्वागच्छेत् ॥ ४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अगाराद्देहादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोजपयज्ञादिभिः संपूर्णः समुपोढेषु कामेषु सम्यगनुभूतेषु कामेषु मुनिः परिव्रजेत् ॥ ४१ ॥

एकएव चरेन्नित्यंसिद्धार्थमसहायवान् ॥ सिद्धिमेकस्य संपश्यन् जहाति न हीयते ॥ ४२ ॥

(१) मेधातिथिः । धतआह । एकारामतांऽनेन विधीयते । एकएवेत्यनेन पूर्ववस्तु परित्यागउच्यते । असहायवानिति श्रुत्यादेः पूर्वस्यापि परिग्रहो न कर्तव्यः संविद्रागद्वेषविनिर्मुक्तस्य सर्वसमता एवं भवति । अन्यथा एषएव श्रुत्यादिरन्तिकस्थः तत्रैवं बुद्धिः स्यादयमदीयोनायमिति । एषएव संगोऽवधिहेतुर्यथात्वेऽप्यसंपत्स्यते यदा न जहाति न क्वचित्पुत्रादिस्तेनत्येको भवति । अतो न हीयते न विद्युज्यते पुत्रादिभिस्तद्वियोगदुःखं नासादयति । इतरथा संगत्पुनस्त्यागे महदुःखं न तस्य कश्चिन्म्रियते सनकस्यचिदिति ॥ ४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सिद्ध्यर्थं शमनार्थं । एकएवेत्यसहकारिणामेलके निषिद्धे असहायवानिति तद्धर्मानुगुणं तथाऽपि द्वितीयस्य ग्रहणं निवर्तयितुमुक्तम् । एकस्यैव सिद्धिरिति सिद्धिमेकस्यासहायस्य पश्यन् हेयस्य द्वितीयस्याग्रहणान् किंचित्यजति न च त्यज्यतेऽनेनेनियोगदुःखाभावउक्तः ॥ ४२ ॥

(३) कुङ्कुमः । एकस्य सर्वसङ्गविरहिणो भोक्षावामिर्भवतीति जानन्नेकं एवं सर्वदापि भोक्षार्थं चरेत् । एकएवेत्यनेन पूर्वपरिचितपुत्रादित्यागउच्यते । असहायवान् इत्युत्तरस्यापि । एकाकीयदि चरति सकिंचिन्नित्यजति न कस्यापि त्यागेन दुःखमनुभवति नापि केनापि त्यज्यते न कोऽप्यनेन त्यागदुःखमनुभाव्यते । ततश्च सर्वत्र निर्ममत्वः सुखेन मुक्तिमामोति ॥ ४२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचैकइति । सिद्धिमिति सिद्ध्यर्थं भोक्षार्थं त्यक्तव्याभावादेकाकिनस्त्यागान् दुःखं त्यक्तुं पथभावाच्च न हीयते ॥ ४२ ॥

(५) नन्दनः । अभिनिष्क्रान्तस्य धर्मानाह एकएवेति । एकस्यसिद्धिपश्यन्सहायस्य सिद्धिर्भवतीति जानन्सिद्धिं न जहाति ॥ ४२ ॥

(६) रामचन्द्रः । एकएव एकाकीसन्भोक्षार्थं संचरेत् ॥ ४२ ॥

अनग्रिरनिकेतः स्याद्ग्राममन्त्रार्थमाश्रयेत् ॥ उपेक्षकोऽशंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ ४३ ॥

(१) मेधातिथिः । श्रौतानामग्नीनां पूर्वमभावउक्तोऽनेन गार्हस्थ्यस्योच्यते । अथवा पाकप्रतिषेधोऽयमग्र्यस्य चन्धनस्य शीतादिनिवृत्तिप्रयोजनस्य । निकेतोगृहं । ग्राममेकांरात्रिमन्त्रार्थमाश्रयेत् । कृतप्रयोजनोरण्ये शेषकालं । एषा चैकरात्रिर्यामि गौतमेनोक्ता तत्र यदि समयाग्रामंतदन्त्रार्थएवप्रवेशः । अथदूरतस्तदैकांरात्रिवसेत् । द्वितीयामरण्ये संभावयेत् । उपेक्षकः अचेतनेष्वपि भावेषु कमण्डल्वादिषु न तन्निजायत्तंकुर्यात् । अथवा शरीरस्य व्याधिप्रतिकारं न कुर्यात् । अन्येत्वशङ्कुसुकइति पठन्ति अस्थिरः शङ्कुसुकः तन्निषेधेनचित्तवृत्तिधैर्यमुपदिशति । मुनिः संयतवामिन्द्रियः । भावेन चित्तेन समाहितः मनसा विकल्पान्वर्जयेत् । भावेनैव समाहितो न वाङ्मात्रेण ॥ ४३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनभिः पाकसाधनाद्यर्थमप्यपरिग्रहीता निकेतोगृहं तत्परिग्रहशून्योऽनिकेतः उपेक्षकः ग्रामस्यापि भोगसाधनस्याऽभोक्ता असंचयिकः प्राणयानार्थमपि धनसंग्रहमकुर्वन् । क्वचिदशङ्कुसुकइति पठस्तत्रात्मन त्वापवर्गसाधनेषु स्थिरमतिरित्यर्थः । भावसमाहितो मनसा सदा समाधिपरः ॥ ४३ ॥

(४३) शंकुसुको = संचयिको (क, ख, ग, ट, ठ, ड, ण, त, ल, य

= शंकुसुको (च, थ)

(३) कुल्लूकः । अनग्निलौकिकाग्निसंयोगरहितः शास्त्रीयार्गिसमारोप्येति पूर्वमुक्तत्वात् । अनिकेतो गृहशून्यः उपेक्षकः शरीरस्य व्याध्याद्युत्पादे तत्प्रतीकाररहितः । अशंकुसुकः स्थिरमतिः असंचयिक इत्यन्ये पठन्ति मुनिर्ब्रह्ममनाम्नोनस्य पूर्वोक्तत्वात् भावेन ब्रह्मणि समाहितः तदेकतानमना अरण्ये च दिवारात्रौ वसन् भिक्षार्थमेव ग्रामं प्रविशेत् ॥ ४३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच अनग्निरिति । अनिकेतः निकेतआमन्त्रणं तद्रहितः सन्याममाविशेत् । उपेक्षकः शरीरस्य व्याध्याद्युत्पत्तौ प्रतीकाररहितः । क्वचिदसंकुसुक इति पाठस्तदात्वसंशयः । भावसमाहितः भावेन ब्रह्मणि समाहितः ॥ ४३ ॥

(५) नन्दनः । अनग्नस्त्यक्तपचनाग्निः । भावसमन्वितो विधेयान्तःकरणः ॥ ४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । उपेक्षकः प्राप्ते भोगसाधन उपेक्षाशीलः । असंचयिकः प्राणयात्रार्थं अमृहीतधनः ॥ ४३ ॥

कपालं वृक्षमूलानि कुचेलमसहायता ॥ समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ ४४ ॥

(१) मेधातिथिः । भिक्षाभोजनपात्रकपालम् । निकेतो वृक्षमूलानि । कुचेलं स्थूलजीर्णवस्त्रखण्डम् । समता शत्रौ मित्रे उभयरूपरहिते स्वात्मनि च । मुक्तस्य लक्षणं अविलम्बाप्यतो मोक्षस्योच्यते न पुनरियतैव मुक्तो भवति ॥ ४४ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । कपालं स्थाल्यादिखण्डो भिक्षार्थम् । वृक्षमूलं निवासार्थम् । कुचेलं जीर्णकर्पटचर्मादि परिधानार्थम् । असहायता एकाकिता । समता मैत्रीप्रवृत्तिः शत्रावपि मुक्तस्य संगान्निर्गतस्य लक्षणं चिह्नम् । एतेन त्रिदण्डेन यतिश्चेति लक्षणानीति स्पृष्ट्यन्तरोक्तं लक्षणमनावश्यकमिति दर्शितम् मन्दाधिकारसंन्यासि परत्वात् तस्येति ॥ ४४ ॥

(३) कुल्लूकः । कपालमित्यादिमृन्मयकर्परादिभिक्षापात्रं वा सार्थं वृक्षमूलानि स्थूलजीर्णवस्त्रकौपीनकन्थासर्वत्र ब्रह्मबुद्ध्या शत्रुमित्राभावः । एतन्मुक्तिसाधनत्वान्मुक्तस्य लिङ्गम् ॥ ४४ ॥

(४) राघवानन्दः । भावसमाहितं लक्षयति कपालमिति । कपालं भिक्षापात्रं । वृक्षमूलानीत्यनेन सर्वदानैकवृक्षाश्रयः । समता निर्वेता । मुक्तस्यात्मनिष्ठस्य जीवन्मुक्तस्य वा ॥ ४४ ॥

(५) नन्दनः । कपालं भिक्षार्थमलाबुपात्रम् । वृक्षमूलानि वृक्षमूलनिवास इति यावत् । कुचेलं जीर्णमलिनवस्त्रधारित्वम् । मुक्तस्य संन्यासिनः ॥ ४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । कपालस्थाल्यादिखण्डसमता मैत्रीवृत्तिः मुक्तस्यैतल्लक्षणं अतिवैराग्यमित्यर्थः ॥ ४४ ॥

नाभिनन्देत् मरणं नाभिनन्देत् जीवितम् ॥ कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं श्रुतकोयथा ॥ ४५ ॥

[यैष्यान्हैमन्तिकान्मासानष्टौ भिक्षुर्विचक्रमेत् ॥ दयार्थं सर्वभूतानां वर्षास्वेकत्र संवसेत् ॥ १ ॥

नासूर्यं हि व्रजेन्मार्गं नादृष्टां भूमिमाक्रमेत् । परिभूताभिरद्भिस्तु कार्यं कुर्वीत नित्यशः ॥ २ ॥

सत्यां वाचमहिंसां च वदेद न पकारिणीम् । कल्कापेतामपरुषामनृशं सामपैशुनाम् ॥ ३ ॥] +

+ (ख, च, ज, ट, ठ, ड, ण, ब,) । (१) चिह्नित पुस्तके प्रथमौ द्वौ स्तः (त) चिह्निते प्रथम एव । (ड) चिह्नितपुस्तके द्वितीयश्लोकस्य पूर्वार्धं (नादृष्टाम्) इत्यत्र (नाज्ञाताम्) इति पाठो दृश्यते ।

(१) मेधातिथिः । अनेनाक्लेशिताभिहिता न मरणंकामयेत् । नाप्यतिशयलाभार्थीजीवितं कालमेव प्रतीक्षेत यद्यदा भविष्यति तत्तदैवास्त्विति चिन्तयेत् । यथा भृतकोनिर्वेशंभृतिगृहीत्वा कालंपरिपालयति । आहरेत्तस्य मया कर्तव्यमिति नान्तरा विच्छेदे मूल्यलाभः । एवंसंसारक्षयाच्छरीरपाते मोक्षोभवत्येतेन विधिना न स्वेच्छावृत्तेन ॥ ४५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अभिनन्देताशंसेत् । कालं स्वतःसिद्धंजीवनकालंप्रतीक्षेतानुपालयेत् । निर्देशमाज्ञां । निर्वेशमितिपाठे निर्वेशं भृतिं भृतिशोधनावधिमितियावत् ॥ ४५ ॥

(३) कुल्लूकः । मरणंजीवनंच द्वयमपि न कामयेत्किंतु स्वकर्माधीनंमरणकालमेव प्रतीक्षेत । निर्दिश्यतइति निर्देशोभृतिस्तत्परिशोधनकालमिवभृतकः ॥ ४५ ॥

(४) राघवानन्दः । जीवन्मुक्तश्चेत्कृतंदेहस्थित्या तत्राह नेति । भृतकः भृतिमुपजीव्यकर्मकर्ता सयथाकालक्षयेउपरतव्यापारःस्यादेवंकालंप्रारब्धम् ॥ ४५ ॥

[राघवानन्दः । ग्रीष्मेति । तेषुमासेषुक्षुद्रजंतूनांविशेषतःसंचरणं इतरेषुतेषांबाहुल्यमिति भावः ॥ १ ॥]

(५) नन्दनः । निर्देशं भृतिम् । भृतकसादृश्यात्क्रियमाणकर्मफलनैरपेक्ष्यमुक्तम् ॥ ४५ ॥

(६) रामचन्द्रः । निर्देशोभृतिः ॥ ४५ ॥

[रामचन्द्रः । ग्रैष्मानिति । वर्षासु चतुर्मासेषु एकत्र एकस्मिन्ग्रामे संवसेत् ॥ १ ॥]

[रामचन्द्रः । असूर्यं सूर्यादर्शनमार्गं न गच्छेत् रात्रौ न गच्छेदित्यर्थः ॥ २ ॥]

[रामचन्द्रः । सत्यामिति । कस्यापि अपकारिणींवाचनं वदेत् । कल्कान्वितां सपापां वदेत् । कल्कोऽस्त्री-शमलैनसोः इत्यमरः । च पुनः परुषांवाचनं वदेत् । चकारःसमुच्चयार्थः च पुनः हिंसांवाचनं वदेत् । च पुनः नृशंसाभिधानं वदेत् । तथा पैशुन्यांवाचनं वदेत् । असत्यांवाचनं वदेत् ॥ ३ ॥]

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ॥ सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ ४६ ॥

(१) मेधातिथिः । चक्षुषा मार्गनिरूप्य यस्मिन्प्रदेशे प्राणिनःपीडानं गच्छन्ति तत्र पादंनिदध्यात् । सत्यांवाचंवदेदितिसिद्धे पूतग्रहणंसत्यशब्दस्योपलक्षणतांदर्शयति । तेनापविद्धंभवति । मनसा पूतोमनःपूतः सदा स्यात्परद्रव्याभिध्यानादि न कुर्यात् ॥ ४६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दृष्टिपूतं दृष्ट्या पवित्रत्वेन पदंनिधानस्थानंयदाज्ञातंभवतितदेत्यर्थः क्रियाविशेषणंचैतत् । वस्त्रपूतं वस्त्रेणोत्पूयापनीतजन्तुजातम् । सत्यपूतां सत्यार्थत्वेन शुद्धां । मनःपूतं मनसा समीचीनत्वेन ज्ञातम् ॥ ४६ ॥

(३) कुल्लूकः । केशास्थ्यादिपरिहारार्थंदृष्टिशोधितभूमौ पादौ क्षिपेत् । जलेषु क्षुद्रजन्त्वादिवारणार्थंवस्त्रशोधितंजलंपिबेत् । सत्यपवित्रांवाचंवदेत् । ततश्च मौनेन सह सत्यस्य विकल्पः प्रतिषिद्धसंकल्पशून्यमनसा सर्वदा पवित्रात्मा स्यात् ॥ ४६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच । दृष्टीति । भूतानामनुकम्पायै दृष्टिपूतमित्यादिचतुष्टयम् । अग्राह्यादपि यदृश्यते तदप्यात्मानिरिक्तंनस्तीतिमनःपूतता । परद्रव्यानभिलाषिता वा प्रतिषिद्धसंकल्पशून्यता वा योगान्निरुद्धतावा ॥ ४६ ॥

अतिवादांस्तिक्षेत नावमन्येत कं चन ॥ न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ४७ ॥

(१) मेधातिथिः । शास्त्रमतिक्रम्य यः कश्चिद्ददति सोऽतिवादः अप्रियाक्रोशः । तितिक्षेत क्षमेत नच मनसा

कुध्येदित्यतोवक्ष्यत्याकुष्टः कुशलं वदेदिति । अनेन मनसः क्षोभोविनिवार्यते न कुशलशब्दाभिधानं विधीयते । तदाहि मिथ्यावादी स्यादन्यद्दृष्टेऽन्यत्तु वाचा वदन्नावमन्येतेति । अवज्ञानं कस्यचित्कुर्यात् गुर्वादिपूजनं नातिक्रमेत् । नचे-
मंदेहं यदि कश्चित्पहरेच्छरीरे तेन सह वैरं कुर्यात् । किमनेन मे शरीरेण नष्टेनानष्टेन वा तेजोमयं मे शरीरं भवत्विति ध्या-
येत् ॥ ४७ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अतिवादानतिक्रमवादाननिष्ठभाषणानि तितिक्षेत क्षमेत । इमंदेहमाश्रित्य एतदेहसंवर्ध-
नोत्साहेनात्मानं त्वाश्रित्य दुःखसाधनैरधर्माद्यैः योगविघ्नकारिभिश्चराक्षसाद्यैर्वैरं विरोधीत्यनेन दर्शितम् ॥ ४७ ॥

(३) कुष्ठूकः । अतिक्रमवादान्परोक्तान्सहेतु न कंचित्परिभवेत् । नेमंदेहमस्थिरं व्याध्यायतनमाश्रित्य तदर्थके-
नचित्सह वैरं कुर्यात् ॥ ४७ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचातिवादानन्येनोक्तान्सहेतेत्याह अतिवादानिति । देहनिमित्ततद्रक्षार्थम् ॥ ४७ ॥

(५) नन्दनः । इमंदेहं विनश्वरमितियावत् ॥ ४७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अतिवादं अनिष्ठभाषणं तितिक्षेत सहेतु ॥ ४७ ॥

कुध्यंतं न प्रतिकुध्येदाकुष्टः कुशलं वदेत् ॥ समद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥ ४८ ॥

(१) मेधातिथिः । समद्वाराणि चधर्माथौ धर्मकामावर्थकामौकामार्थौकामधर्मौअर्थधर्मौत्रिवर्गइति अत्राऽवकी-
र्णां विक्षिप्तामेतद्विषयां वाचं वदेदनृतां भेदाश्रयत्वादेतेषां भेदस्य सर्वस्यासत्यत्वादनृतामित्युक्तम् । किंतर्हि मोक्षाश्रयामे-
व वदेत् । अथवा सम शीर्षण्याः प्राणास्ते वाचोद्वाराणि अथवा षडिन्द्रियाणि बुद्धिः सममी एतैर्गृहीतेष्वर्थेषु वाक्प्रवर्तते
समविभक्त्यदित्यन्ये ॥ ४८ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । समसु द्वारेषु करणेषु चक्षुस्त्वक्श्रोत्रघ्राणरसनामनोहंकारेषु अवकीर्णां विक्षिप्तां वाचं
तद्विषयेषु विक्षिप्तत्वात् । एतेन चक्षुरादिगृहीतेषु विषयेषु वाचमुच्चारयन्नानृतां वदेदित्यर्थः । बुद्धेस्त्वध्यवसायव्यापारायाहं-
काराद्भेद विवक्षया सतेत्युक्तम् ॥ ४८ ॥

(३) कुष्ठूकः । संजातक्रोधाय कस्मैचित्प्रतिक्रोधं न कुर्यात् । निन्दितश्चान्येन वाचं भद्रां वदेत् नतु निन्देत् ।
समद्वारावकीर्णमिति चक्षुरादीनि पञ्चबहिर्बुद्धीन्द्रियाणि मनोबुद्धिरित्यन्तःकरणद्वयम् । वेदान्तदर्शन एतैर्गृहीतेषु तेषु वाचा प्रवृत्ते-
रेतानि समद्वाराणीत्युच्यन्ते । एतैरवकीर्णानि विक्षिप्तां तद्गृहीतार्थविषयां वाचं न वदेत् किंतु ब्रह्ममात्रविषयां वदेत् । ननु मनसैव
ब्रह्मोपास्यते । ब्रह्मविषयवागुच्चारणमपि मनोव्यापारः तत्कथं समद्वारावकीर्णत्वविशेषेऽपि ब्रह्मविषयां वदेदित्यन्यविषयां
वदेदितिलभ्यते । उच्यते । अतएवानृतामिति विशेषयति । अनृतमसत्यं विनाशीति यावत्तद्विषया वागप्यनृतोच्यते ।
तेन विनाशिकार्यविषयां वाचं नोच्चारयेत् । अविनाशि ब्रह्मविषयां तु प्रणवोपनिषदादिरूपां वदेत् । गोविन्दराजस्तु धर्मोऽ-
र्थःकामो धर्मार्थवर्थकामौ धर्मार्थकामा इत्येतानि समवाग्विषयतया वाक्प्रवृत्तेर्द्वाराणि तेष्ववकीर्णां विक्षिप्तां सर्वस्य भेदस्या-
सत्त्वात्तद्विषयमसत्यरूपां वाचं न वदेत् । अन्ये तु समभुवनान्येव वाग्विषयत्वात्समद्वाराणि तेषां भेदाद्विनाशित्वाच्चा-
सत्यतया तद्विषयां वाचमसत्यां वदेत्केवलं ब्रह्मविषयां वदेत् ॥ ४८ ॥

(४) राघवानन्दः । आक्रुष्टः परेण तमाक्रोष्टारं । समभिश्चक्षुः श्रोत्रत्वग्जिह्वाघ्राणमनोबुद्धिभिरिन्द्रियैरवकीर्णात-
त्तद्विषयविषयिणीं अतएवानृतानृतविषयत्वात्तैर्गृह्यतेऽर्थे वाक्प्रवर्तते यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदतीति श्रुतेः । ऋतं च
मनृता वाणी तद्विन्नारुक्षा अतउक्तं सर्वेन्द्रियक्षोभकारिणीं तां वाचं न वदेदिति । सत्यस्य सत्यमित्यादिसत्यं ब्रह्म तद्विषय-
णीं वाचं कुर्यादिति मौनं कुर्यादिति तात्पर्यार्थः । ओमित्येवं ध्यायत्यथात्मानमन्यावाचो विमुञ्चेत्यादि श्रुतेः ॥ ४८ ॥

(५) नन्दनः । बोध्यव्यवसायः प्रथमं आहंकारिको भिमानो द्वितीयं मानससंकल्पस्तृतीयं पञ्चेन्द्रियनिवृत्तिरूपमा-
लोचनपञ्चकं पञ्चदशैवाचोद्वाराणि निर्गमनमार्गावाचो निमित्तानीति यावत् । अष्टद्वारावकीर्णावाक् सत्याध्यवसायसहि-
तत्वात् । अहंकारादिसमद्वारावकीर्णावाक् सत्याध्यवसायरहितत्वात् । तां वदेत् स्वयमनध्यवसितमर्थं परस्मै न वदेदि-
त्यर्थः । धर्मोऽर्थः कामो धर्मार्थो धर्मकामावर्थकामौ धर्मार्थकामाश्चेति ये केचित्समद्वाराण्याहुस्तेषां पक्षेऽयमर्थः । मोक्षाश्रि-
तामेव वाचं वदेन्निवर्गाश्रितामिति । अपरे समद्वाराणि समविभक्तय इति व्याचक्षते । चक्षुषी नासिके श्रोत्रे आस्यं चे-
त्यन्ये ॥ ४८ ॥

(६) रामचन्द्रः । आक्रुष्टः कुशलं शुभं वदेत् समद्वारावकीर्णां चक्षुस्त्वक् श्रोत्रघ्राणरसनामनोहंकारेषु विवक्षितां
तद्विषयाधीनां वाचमनृतानं वदेत् ॥ ४८ ॥

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ॥ आत्मनैव सहायेन सुखार्थं विचरेदिह ॥ ४९ ॥

(१) मेधातिथिः । आत्मतत्त्वप्रतिबोधापादनपरमेकाग्रत्वमध्यात्मं तदतिस्तदर्थचिन्तापरमासीत् । निरपेक्ष इत्युक्ता-
नुवादो विषयान्येभ्यो धर्मेभ्यो नुष्ठानार्थः । निरामिषो निःस्पृहः । मांसमामिषम् । तेन स्पृहां लक्षयित्वा प्रतिषेधस्तत्रातिशयवती
प्राणिनां स्पृहा । अन्यत्मागुक्तमेव ॥ ४९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अध्यामरतिरात्मविषये दृढरतिः । सुखार्थं नित्यसुखार्थं ॥ ४९ ॥

(३) कुल्लूकः । आत्मानं ब्रह्माधिकृत्य रतिर्यस्य सोऽध्यात्मरतिः सर्वदा ब्रह्मध्यानपरः आसीन इति त्वस्तिका-
दियोगासननिष्ठः निरपेक्षो दण्डकमण्डलवादिष्वपि विशेषापेक्षाशून्यः निरामिषः आमिषविषयाः तदभिलाषरहितः आत्मनो-
देहेनैव सहायेन मोक्षसुखार्थं ह संसारे विचरेत् ॥ ४९ ॥

(४) राघवानन्दः । अतएवाध्यात्मरतिः आत्मानमधिकृत्य प्रवर्ततेऽध्यात्मतस्य ध्यानं तद्वाचकशब्दो वा । आत्मा
वा रे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति तत्रैव रतिः श्रद्धायस्य स तथा । निरामिषः आमिषविषयः मनोमत्स्याकर्ष-
कत्वात्तत्र हेतुः आत्मनैव देहेन परमात्मना वा शरीरसुखार्थं मोक्षसुखान्वेषी वा ॥ शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नामोति किल्बि-
षमित्युक्तेः ॥ ४९ ॥

(५) नन्दनः । ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि विषयात्मनोऽहंकारो बुद्धिरव्यक्तं जीवः परमात्मा चेति षड्विंशतिरध्या-
त्मम् । एक एव चरेद्धर्ममित्यत्रासहायत्वस्य प्रतिपादितत्वादासीनोऽध्यात्मरतिस्स्यात् विचरंश्च परमात्मपरः स्यादि-
त्यर्थः ॥ ४९ ॥

(६) रामचन्द्रः । निरामिषो निष्प्रतिग्रहः ॥ ४९ ॥

न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया ॥ नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ॥ ५० ॥

(१) मेधातिथिः । उत्पातादिध्यान्तरिक्षभौमाउपरागग्रहोदयकेतूदयदिग्दाहावनिचलनादयस्तत्फलं कथ-
येद्विक्षालिप्सया । निमित्तं गृहादौ स्थित्यादि । नक्षत्रविद्याय रुनिकाकर्मण्यायात्रानक्षत्रमित्यादि । अङ्गविद्या ह-

स्तलेख्यादिलक्षणम् । अनुशासनं राज्ञस्तत्प्रकृतीनां एवंयुक्तं वर्तितुं एतेन सन्धिरनेन विग्रह इदं त्वया किमिति रुत-
मिदं किन् करोषीति वादोऽभिमानहेतुकः शास्त्रार्थविप्रतिपत्तौ साधनदूषणाद्युपन्यासः ॥ ५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उत्पातउल्कापातादिरशुभसूचकः निमित्तमुल्कादिचेष्टितं शुभसूचकं ताभ्यां तत्सूचनी-
योपदेशेन । नक्षत्रविद्या नक्षत्रगुणदोषज्ञानं अङ्गविद्या व्याकरणादिवेदाङ्गज्ञानं । अनुशासनं वेदाभ्यापनादि वादो विगृ-
ह्यकथां कृत्वा जयः ॥ ५० ॥

(३) कुल्लूकः । भूकम्पाद्युत्पातचक्षुःस्पन्दादिनिमित्तफलकथनेनाद्याश्विनीहस्तरेखादेरीदृशं फलमिति नक्षत्राङ्गविद्यया
ईदृशो नीतिमार्ग इत्थं वर्तितव्यं अनुशासनेन शास्त्रार्थकथनेन च कदाचिन् भिक्षां लब्धुमिच्छेत् ॥ ५० ॥

(४) राघवानन्दः । एतादृशस्य भिक्षोरुपाधिनिराह नेति । न चोत्पातनिमित्ताभ्यां उत्पातो भूमिकम्पः चक्षुरादि-
स्पन्दो निमित्तं तयोः फलकथनेन नक्षत्रविद्या ग्रहसंचारादिनिर्णयः अङ्गविद्या व्याकरणादि ताभ्यांच । नानुशासनवादा-
भ्यामनुशासनमुपदेशः वारश्छलवितर्कात्मकः ताभ्यामपि न भिक्षां लिप्सेत कर्हिचिदत्यन्तकष्टदशायामपीत्यन्वयः
॥ ५० ॥

(५) नन्दनः । उत्पातोऽद्भुतम् । निमित्तं वायसस्वरादिः । नक्षत्रविद्या ज्योतिःशास्त्रम् । अङ्गविद्या सामुद्रिकम् ।
चिकित्सावा । अनुशासनं शिष्यपरिग्रहः । वादस्तर्कः ॥ ५० ॥

(६) रामचन्द्रः । नक्षत्राङ्गविद्यया ज्योतिर्विद्यया षडङ्गया अनुशासनवादाभ्यां वेदाध्ययनकथाप्रवर्तिता-
भ्यां न भिक्षां लिप्सेत ॥ ५० ॥

न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः ॥ आकीर्णं भिक्षुकैर्वा अन्यैरागारमुपसंभ्रजेत् ॥ ५१ ॥

(१) मेधातिथिः । आकीर्णं यत्र बहवो न लाभाय संघटितास्तं प्रदेशं भिक्षार्थं वर्जयेत् ॥ ५१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तापसैः व्रतस्थैः अन्नार्थं वने चरद्भिः ग्रामेवाप्रविष्टैः ब्राह्मणैः तदन्यैर्भिक्षार्थं भिष्वैः ।
तथान्यैः पाषण्ड्यादिभिः पूर्वोक्तव्यतिरिक्तैर्भिक्षुकैः आकीर्णं व्याप्तं नोपसंभ्रजेत् तेषामेवोपरोधमिया ॥ ५१ ॥

(३) कुल्लूकः । वानप्रस्थैरन्यैर्वा ब्राह्मणैर्भक्षणशीलैः पक्षिभिः कुङ्कुरैर्वा व्याप्तं गृहं भिक्षार्थं न प्रविशेत् ॥ ५१ ॥

(४) राघवानन्दः । सोऽपि श्वादिभिराकीर्णं गृहं भिक्षार्थं न गच्छेदित्याह नेति । तापसैर्विरक्तवानप्रस्थैः ब्राह्मणैः
ब्रह्मनिष्ठैः भिक्षुकैः संन्यासिभिः अन्यैः चातुर्वर्ण्यसाधारणदुःखितैः आक्रान्तागारं भिक्षार्थं संन्यासी नोपसंभ्रजेदित्यन्वयः
॥ ५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । तापसादिभिराकीर्णं आगारं गृहं नोपसंभ्रजेत् । वयोभिः पक्षिभिः शुकादिभिः अन्यैर्वा भ्वांक्षा-
दिभिः आकीर्णम् ॥ ५१ ॥

कूमकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ॥ विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ ५२ ॥

(१) मेधातिथिः । पात्राणि वक्ष्यति । दण्डास्त्रयः त्रिदण्डी हि सः । कुसुम्भः कमण्डलुः न महारजनम् । उत्तर-
श्लोकार्थस्यार्थः प्राग्विहित एव ॥ ५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नीचकेशादिर्मासिमासि क्षौरादिकर्मणा । क्वचित् कूमकेशनखश्मश्रुरिति पाठस्तत्र कूमपदं

छिन्नामात्रपरम् । छेदनं च क्षुरेणैव केशानां स्मृत्यन्तरदर्शनात् । पात्री भिक्षापात्रवान् । दण्डी एकेनत्रिभिर्वा । कुसुम्भं कमण्डलुः । नित्यं विचरेन्नैकत्र तिष्ठेत् ॥ ५२ ॥

(३) कुल्लूकः । क्लृप्तकेशनस्त्र्यश्रुभिक्षापात्रवान्दण्डीकुसुम्भःकमण्डलुस्तद्युक्तः सर्वप्राणिनोऽपीडयन्सर्वदा परिभ्रमेत् ॥ ५२ ॥

(४) राघवानन्दः । ऋतुसन्धिषु वापयेदिति श्रुतिमाश्रित्याह क्लृप्तेति । क्लृप्तानि छिन्नानि केशादीनि यस्य सः । कुसुम्भं कमण्डलुरुदकाधारः स च मृदादिविकारः मृत्पात्रं अलाबुपात्रं दारुपात्रं चेति श्रुतेः । भिक्षापात्रं त्रिदण्डिनामेव नैकदण्डिनाम् पाणिपात्रमुदरपात्रं वेति श्रुतेः ॥ ५२ ॥

(५) नन्दनः । क्लृप्तं रुतं गुप्तमिति यावत् । केशश्च श्रुगृहणादन्यतोरोमवपननिषेधः । पात्रं भाजनं तद्वा पात्री । कुसुम्भवान्कुसुम्भकरः ॥ ५२ ॥

(६) रामचन्द्रः । कुसुम्भं कमण्डलुः तद्वान् ॥ ५२ ॥

अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च ॥ तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥ ५३ ॥

(१) सर्वज्ञनारायणः । अतैजसानि सुवर्णाद्यघटितानि पात्राणि भिक्षायाजलस्य च निर्व्रणान्यच्छिद्राणि । अद्भिरम्मात्रेण चमसानामिव निर्लेपत्वे लेपसंभवे तु तदपनयोऽपि द्रव्यान्तरेण कार्य इति ग्राह्यम् ॥ ५३ ॥

(२) कुल्लूकः । सौवर्णादिवर्जितानि निश्छिद्राणि भिक्षोर्भिक्षापात्राणि भवेयुः । तथायमः ॥ सुवर्णरूप्यपात्रेषु ताम्रकांस्यायसेषु च । गृह्णन् भिक्षान् धर्मोऽस्ति गृहीत्वा नरकं वज्रेत् ॥ तेषां च यतिपात्राणां जलेनैव तु शुद्धिः यज्ञे चमसानामिव ॥ ५३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच अतैजसानीति । निर्व्रणानि निश्छिद्राणि । तैजसे तु ॥ सुवर्णरूप्यपात्रेषु ताम्रकांस्यायसेषु च । भिक्षां दत्त्वा न धर्मोऽस्ति गृहीत्वा नरकं वज्रेदिति यमवचनात् । तैजसपात्राः स्वीकृतिः । तत्र भक्षणे न दोषः । प्राप्तं प्राप्तं भजेन्मुनिरिति स्मरणात् । अद्भिरिति । गोवालच्छेददाहानां स्नातकादिपात्रे प्राप्तानान्निवृत्त्यर्थं चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन चेत्युक्तेः ॥ ५३ ॥

(५) नन्दनः । अतैजसान्यलोहमयानि । शौचं भोजनकृते ॥ ५३ ॥

(६) रामचन्द्रः । तस्य यतेः अतैजसानि अधातुकानि तेषां पात्राणां अद्भिः शौचं प्रक्षालनं स्मृतम् ॥ ५३ ॥

अलाबुं दारुपात्रं च मृन्मयं वैदलं तथा ॥ एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ ५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वैदलं वंशादिविदलकृतं । यतिपात्राणि भिक्षार्थं जलार्थं च ॥ ५४ ॥

(३) कुल्लूकः । तान्येव दर्शयति अलाबुमित्यादि । अलाबुदारुशुक्ति कावंशादिखण्डनिर्मितानि यतीनां भिक्षापात्राणि स्वायम्भुवो मनुर्वदत् । वैदलं तस्त्वक्निर्मितमिति गोविन्दराजः ॥ ५४ ॥

(४) राघवानन्दः । अतैजसानीत्युक्तं विवृणोति अलाबुमिति । वैदलं वंशपर्वात्मकं विशिष्टपत्रनिर्मितं वा ॥ ५४ ॥

(५) नन्दनः । वैदलं वेणुदलनिर्मितम् ॥ ५४ ॥

(६) रामचन्द्रः । वैदलं वैणवम् ॥ ५४ ॥

एककालंचरेद्भैक्षं न प्रसज्येत विस्तरे ॥ भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥ ५५ ॥

(१) मेधातिथिः । भैक्षकार्यस्य भोजनस्यैककालता विधीयते न पुनर्भैक्षचरणस्यैव । द्विर्भोजनप्रतिषेधोत्राऽभिसंहितस्तत्र सक्तुश्चरित्वा द्वितीयस्मिन्काले शेषयित्वा न भुञ्जीत तदर्थो भोजनप्रतिषेधः । अतएवाह न प्रसज्येत विस्तरइति । द्वितीयभोजनार्थितया हि विस्तरः प्राप्नोति । एकारामस्य न भृत्यार्थेन भैक्षविस्तरइति हेतुब्रुवन्सकृद्भोजनेपि सौहित्यनिषेधति ॥ ५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विस्तरे विस्तारे भिक्षाबहुत्वे न प्रसज्येतैककालंचरन्पि । प्रसक्तिनिषेधाद्देवादधिप्राप्तौ दोषाभावः । विषयेषु रुयादिषु आकाङ्क्षाया अवकाशलाभेन प्रसारात् ॥ ५५ ॥

(३) कुल्लूकः । एकवारंप्राणधारणार्थं भैक्षंचरेत् । तत्रापि प्रचुरभिक्षाप्रसङ्गं न कुर्यात् यतो बहुतरभिक्षाभक्षणप्रसक्तोयतिः प्रधानधातुवृद्ध्या रुयादिविषयेष्वपि प्रसज्यते ॥ ५५ ॥

(४) राघवानन्दः । भिक्षाकालस्य नियममाह एकेति । बहुभिक्षणे बहुवारभिक्षणे च दोषमाह भैक्षइति । विषयेषु स्त्रीभोगाद्यनर्थेषु ॥ ५५ ॥

(५) नन्दनः । विस्तरे भिक्षाबहुत्वे ॥ ५५ ॥

(६) रामचन्द्रः । विस्तरे भिक्षाविस्तरे न प्रसज्येत न संसक्तो भवेत् ॥ ५५ ॥

विधूमे सन्नमुसले व्यङ्ग्ये भुक्तवज्जने ॥ वृत्ते शरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥ ५६ ॥

(१) मेधातिथिः । भुक्तवन्तो जनायस्मिन्काले सभुक्तवज्जनः । एवंविधूमादयोपि । शरावाणां संपातउच्छिष्टानां भूमौत्यागः सयदाऽतीतो भवति । सर्वेणैतेन प्रथमे पाककाले भिक्षादानावसरो निवृत्तोयदा भवति तदा भिक्षितव्यमित्याह विधूमइत्यादिना द्वितीयपाकप्रवृत्तिमाह । सन्नमुसलाऽवघट्टनान्निवृत्ताः स्थापिताः ॥ ५६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विधूमइति न पाककालइत्यर्थः । सन्नमुसलइति न पाकार्थमन्ननिष्पादन काले । व्यङ्ग्ये न पाकनिष्पत्त्यनन्तरकालएव । भुक्तवज्जने न भुञ्जानेषु । वृत्ते शरावसंपाते भुक्तवत्त्वपि जनेषु न भिक्षुकेभ्यो भिक्षायां दीयमानायां शरावसङ्घट्टशब्दे वर्तमानइत्यर्थः । एतेन तत्तदुत्तरकालप्रतीक्षासंभवे तत्तदव्यवहितपूर्वकालभैक्षचरणनियमउक्तः । मुख्यभिक्षाकालप्रतीक्षायांचापर्युषितालाभे पर्युषितमप्याददीतेति गम्यते ॥ ५६ ॥

(३) कुल्लूकः । विगतपाकधूमे निवृत्तावहननमुसले निर्वाणपाकाङ्गारे गृहस्थपर्यन्तभुक्तवज्जनउत्सृष्टशरावेषु त्यक्तेषु सर्वदा यतिर्भिक्षांचरेत् । एतच्च दिनशेषमुहूर्तरत्रयरूपसायान्होपलक्षणम् । तथाह याज्ञवल्क्यः । अप्रमत्तश्चरेद्भैक्षं सायान्होपलक्षणम् ॥ ५६ ॥

(४) राघवानन्दः । एककालेपि प्रातरादिनिवर्तयन्नाह विधूमेत्यादि । गतपाकधूमे सन्नमुसले निवृत्तावघातमुसले व्यङ्ग्ये पाकाङ्गारनिवृत्तौ भुक्तवज्जने गृहस्थस्यापि भोजननिवृत्तौ वृत्तेशरावसंपाते परिवेषणनिवृत्तौ । एतेषां प्रत्येकसंभुदाययोरननुगमात् षष्ठकालैकभोजनेतात्पर्यम् तदाह याज्ञवल्क्यः ॥ अप्रमत्तश्चरेद्भैक्षं सायान्होपलक्षणम् । इदं सर्वयाचितपरंतच्चमाधुकरं असंक्रमतात्कालिकोपपन्नमिति त्रिविधं । असंक्रमकरपात्रमिति प्रसिद्धं । अयाचितं द्विविधं प्राक्प्रणीतमयाचितमिति । प्राक्प्रणीतं निमित्तं अत्र तु दातुरनुरोधात्कालानियमोऽयाचितेति तथा ॥ ५६ ॥

(५) नन्दनः । भक्षणे कालनियममाह विधूमइति । विधूमत्वादिविशेषणैरपराद्धकालोलक्ष्यते ॥ ५६ ॥

(६) रामचन्द्रः । शरावसंपातेवृत्ते निवृत्ते प्रक्षालितेत्यर्थः । एतादृशे कालेयतिभिक्षांचरेत् ॥ ५६ ॥

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ॥ प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः ॥ ५७ ॥

(१) मेधातिथिः । ईदृशे काले कुतश्चिन्म लभ्यते तदा विषादश्चित्तपरिखेदो न ग्रहीतव्यः । लाभालाभयोर्हर्षविषादौ न ग्राह्यौ प्राणयात्रिकी प्राणधारणार्था मात्रा परिमाणभैक्ष्यस्य । अनेनैतद्वर्णयति भैक्षासंभवे प्राणयात्रा मूलफलमूलोदकादिभिरप्यनन्यपरिगृहीतैः कर्तव्या मात्रा पात्रदण्डादि तत्र सङ्गः प्रयत्नेनोपार्जनम् । ततोविनिर्गतोनिवृत्तः अकाम-इति यावत् ॥ ५७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्राणयात्रिकमात्रः प्राणस्थित्यर्थमात्रप्रवृत्तः । मात्रा परिच्छदः कम्बलादिः तत्र सङ्गाद्विनिर्गतो बहिर्भूतः ॥ ५७ ॥

(३) कुल्लूकः । भिक्षादेरलाभे न विषादेत् लाभे च हर्षं न कुर्यात् । प्राणस्थितिमात्रोपचितान्नभोजनपरः स्यात् । दण्डकमण्डलुमात्रास्वपीदमशोभनं त्यजामीदं रुचिरं गृह्णामीत्यादिप्रसङ्गं न कुर्यात् ॥ ५७ ॥

(४) राघवानन्दः । तस्मिन्समयेऽपि लाभालाभयोरौदासीन्यमाह अलाभइति । लाभः प्राप्तिरपि । न हर्षयेन्न मोदयेत् । एनंयति । प्राणयात्रिकमात्रं स्यात् प्राणस्य यात्राव्यवहारसामर्थ्यावन्मात्रेण तत्प्राणयात्रिकं तावन्मात्रं स्वीकृतं तेन सः । मात्रासंगाद्विनिर्गतः मात्रा तु दण्डकमण्डल्वादि तेष्वपि इदमशोभनं त्यजामि इदं शोभनं गृह्णामीत्यभिनिवेशरहितः इन्द्रातीतो वा ॥ ५७ ॥

(५) नन्दनः । उदरपूरणविधिः । मात्रा तत्र सङ्गो मात्रासङ्गः ॥ ५७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अलाभे भिक्षालाभे न विषादी स्यात् । प्राणयात्रिकएव स्यात् । यावद्वत्तेन प्राणानां यात्रानिर्वहः स्यात्तावदेव ग्राह्यं नाधिकमित्यर्थः । मात्रासंगात् मात्रा परिच्छदः दण्डकमण्डलुकम्बलादिः । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धावा तस्मात् विनिर्गतः विरहितः भवेदित्यर्थः ॥ ५७ ॥

अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः ॥ अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते ॥ ५८ ॥

(१) मेधातिथिः । अभ्यर्च्ययंददाति सोऽभिपूजितलाभः तं जुगुप्सेतेति निन्देद्गृहेत अतश्च निन्दितं न समाचरेत् सर्वशः सर्वकालं एकमप्यहस्तादृशं भैक्षं न मृच्छीयात् । उत्तरेऽर्थवादः । नहि मुक्तस्य बन्धसंभवः ॥ ५८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अभिपूजिताः ससमानालाभाः । जुगुप्सेतेति त्यजेदित्यर्थः । बध्यते अभिपूजितदातरि-प्रत्युपकाराभिसन्धिना ॥ ५८ ॥

(३) कुल्लूकः । पूजापूर्वकभिक्षालाभं सर्वकालं निन्देन्न स्वीकुर्यादित्यर्थः यस्मात्पूजापूर्वकलाभस्वीकारे दातृगोचर-लेहममत्वादिभिरासन्नमुक्तिरपि यतिर्जन्मबन्धाल्लभते ॥ ५८ ॥

(४) राघवानन्दः । पूजापूर्वकभैक्ष्यप्रसक्तिरतीवानर्थायेत्याह अभीति । अजुगुप्सितेत्वाह । मुक्तोपि जीवन्मुक्तोपि बध्यते । गर्वासक्तिभ्यामिति शेषः ॥ ५८ ॥

(५) नन्दनः । मुक्तोऽसक्तः ॥ ५८ ॥

(६) रामचन्द्रः । अभि सर्वतः पूजितान् लाभान् जुगुप्सेत् ॥ ५८ ॥

अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च ॥ क्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ ५९ ॥

(१) मेधातिथिः । रहो निर्जनो देशस्तत्र स्थानासने कर्तव्ये एकारामतायाः फलमिन्द्रियजयोऽनेन प्रदर्श्यते । अथवा निष्कुतूहलतानेनोच्यते । यत्र बह्वोजनसंघाताः स्त्रीपुंसात्मकाविचित्राभरणादृश्यते न तत्र क्षणमपि तिष्ठेत् ॥ ५९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । रहएकान्ते यत्स्थानं तत्रासनेन ॥ ५९ ॥

(३) कुल्लूकः । आहारलाघवेन निर्जनदेशस्थानादिना च रूपादिविषयैराकृष्यमाणानीन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ ५९ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव दृष्टार्थमाह अल्पान्नाभ्यवहारेणेति । तथाच गीता । विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवा-
कायमानसइत्यादि ॥ विषयैर्क्रियमाणानीन्द्रियाण्याकृष्यमाणानि विषयेभ्यो निवर्तयेदित्यन्वयः ॥ ५९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अल्पान्नानामभ्यवहारेण च रहःस्थानासनेन विषयैः शब्दादिभिः क्रियमाणानीन्द्रियाणि निव-
र्तयेत् ॥ ५९ ॥

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ॥ अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ६० ॥

(१) मेधातिथिः । निरोधः स्वविषयप्रवृत्तिमतिबन्धः । अमृतत्वाय कल्पते अमृतत्वाय समर्थो योग्यो भवती
त्यर्थः । ६० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इन्द्रियाणां निरोधेन यः कृतो रागद्वेषक्षयस्तेन ॥ ६० ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मात् इन्द्रियाणामित्यादि । इन्द्रियाणां नियग्रहणं रागद्वेषाभावेन च प्राणिहिंसाविरतेन च मोक्षयो-
ग्यो भवति ॥ ६० ॥

(४) राघवानन्दः । तत्कारणमन्येन समुच्चित्य तत्र फलमाह इन्द्रियेति । एतैस्त्रिभिरमृतत्वाय मोक्षाय कल्पते
समर्थः स्यात् ॥ ६० ॥

(६) रामचन्द्रः । इन्द्रियाणां निरोधो नियग्रहः ॥ ६० ॥

अवेक्षेत गतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः ॥ निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये ॥ ६१ ॥

(१) मेधातिथिः । आत्मज्ञानमेतदपीति दर्शयति । परमार्थभावनाप्रसंख्यानप्रसंख्यानमिदमुच्यते दुःखात्मक
संसारस्वरूपनिरूपणम् । कथन्नामायं प्रव्रज्याभैक्षचर्यादिशरीरक्लेशास्तु सुदृढस्वजनेभ्यो पुत्रदारधर्मविभवत्यागदुःखहेतु-
परीगमस्य विरोधतः स्वच्छन्दतश्चाविगुणमनुष्ठास्यति । मनुष्याणां गतिर्दुःखबहुला कर्मदोषेभ्यः प्रतिषिद्धसेवनेभ्यो हिंसास्ते-
यपारदार्यपारुष्यापैशुनानिष्टसंकल्पादयः समुद्भवन्ति इहैव जीवलोके दारिद्र्याधिपरिभवाद्वा विकल्पादयो दातव्याः फलोप-
भोगाः । अमुत्र निरये नरके पतनं मूत्रपुरीषाद्यभ्यस्थाने कृमिकीटादिजन्म यमगृहे च यातनाः कुम्भीपाकादयः दमपर-
मवेक्ष्यम् ॥ ६१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गतीर्व्याचष्टे निरयइति । निरये नरके यातनास्तीव्रदुःखानि । यमक्षये यमगृहे ॥ ६१ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानीं इन्द्रियनियमोपायविषयवैराग्याय संसारतत्त्वचिन्तनमुपदिशति अवेक्षेतेत्यादि । विहिता-
करणनिन्दिताचरणरूपकर्मदोषजन्यामनुष्याणां पशूनादिदेहप्राप्तिनरकेषु पतनं यमलोके नरकस्थस्य निशितनिर्निश्चयश्चेद-
नादिभवास्तीव्रवेदनाः श्रुतिपुराणादिषूक्ताश्चिन्तयेत् ॥ ६१ ॥

(४) राघवानन्दः । वैराग्यविना नमोक्षइति वैराग्योपायमाह अवेति पञ्चभिः । अवेक्षेत शास्त्रादष्टोपपत्तिभिः । कर्मदोषेति कर्म पुण्यापुण्यं दोषोरागादिः तदुद्भवागतीर्जन्मानि । निरये असिपत्रादिनरके यातना असह्यदुःखं यमक्षये यमपुर्याम् ॥ ६१ ॥

(५) नन्दनः । यातनानरकपतनात्पूर्वमेवानुभवितव्यः पीडाविशेषः ॥ ६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । वक्ष्यमाणगतागतीरवेक्षेत । यमक्षये यमलोके ॥ ६१ ॥

विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च तथा ऽप्रियैः ॥ जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥ ६२ ॥

(१) मेधातिथिः । अवेक्षेतेति क्रियापदसंभवात् द्वितीया । प्रियाः पुत्रादयो बान्धवास्तैर्वियोगोप्राप्तकाले मृतैः । अप्रियैः शत्रुसंग्रहगमनादिभिः संयोगः । जरया चतुर्थे वयस्य वस्था विशेषोजरा तथाभिभवनं शरीराकारनाशः । अशक्तिः इन्द्रियवैकल्याकासश्वासादि व्याधिबाहुल्यं सर्वेषामकाम्यता उपहास्यतेत्यादिज्वराभिभवः । व्याधिभिः प्रागपि जरसा उपपीडनं केषांचित् । अथ महती तृष्णा एवस्थितस्यापि भवति एवर्तहं ह्ययमप्रतीकारो निच्छतोप्युत्पद्यते ॥ ६२ ॥

(३) कुल्लूकः । इष्टपुत्रादिवियोगमनिर्घाहसकादियोगं जरयाभिभवनं व्याध्यादिभिश्चोपपीडनं कर्मदोषसमुद्भवमनुचिन्तयेत् ॥ ६२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचात्र विप्रयोगं वियोगं प्रियैः पुत्रादिभिरिहामुत्राऽप्रियैः । शत्रवादिभिः ॥ ६२ ॥

(५) नन्दनः । अवेक्षेतेत्यनुवर्तते ॥ ६२ ॥

(६) रामचन्द्रः । संसारस्वरूपमाह विप्रयोगमिति चतुर्भिः । जरयाचाभिभवनं जरया वलीपलिताद्यभिभवरूपविपर्ययं अवेक्षेत पश्येत् । व्याधिभिः उपपीडनं अवेक्षेत । प्रियैः पुत्रादिभिः अप्रियैः चौरव्याघ्रादिभिः ॥ ६२ ॥

देहादुत्क्रमणं चास्मात्पुनर्गर्भे च संभवम् ॥ योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ॥ ६३ ॥

(१) मेधातिथिः । प्राणानामुत्क्रमणमन्तर्विच्छेदः दुःसहा च प्राणपीडा । गर्भे संभवः । तत्र नानाविधदुःखं इन्द्रियाणामनुद्देक्रमादुभयतः कुक्षिस्थस्य मातृसंबंधिनाऽऽहारेण अतिशीतोष्णेन हीनातिमात्रेण चोक्ता पीडा । योनिकोटिसहस्रेषु सृतीः सरणानि प्राप्तास्तिर्यक्प्रेतरुमिकीटपतङ्गश्वाद्याः क्षेत्रज्ञस्य । ननुच विभुरन्तरात्मेष्यते नित्यश्च तस्य सकल जगद्व्यापिनः कुलउत्क्रमणं कच्च योनिसरणं संभवोपि गर्भे नित्यस्यानुपपन्नः उच्यते अस्ति केषांचिद्दर्शनं यथायमन्तः शरीरमंगुष्ठमात्रः पुरुषस्तिष्ठति तन्मात्रमनोबुद्ध्यहंकारात्मकः स यावत्संसारमेति धर्मस्तस्य चोपचित्तस्य चैतन्यशक्तिगर्भो भवति । अतस्तदीयधर्मा अन्तरात्मन उपचर्यन्ते । अथवा तस्य भावार्थाये प्राणादयस्तेषूत्क्रामत्सुसमुत्क्रामतीत्युच्यते । एवं संभवोपि द्रष्टव्यः पुनश्चेताद्वादशेवक्ष्यामः किं बहुना ॥ ६३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उत्क्रमणमात्मनः । योनिर्जातिः । सृतीः संसरणानि ॥ ६३ ॥

(३) कुल्लूकः । अस्मादेहादस्य जीवात्मन उत्क्रमणं तथा च मर्माभिर्द्धर्महारोगपतितस्य श्लेष्मादिदोषनिरुद्धकण्ठस्य महतीवेदनां गर्भोत्पत्तिदुःखबहुलां श्वशृगालादिनिरुष्टजातियोनिकोटिसहस्रगमनानि त्वकर्मबन्धान्यनुचिन्तयेत् ॥ ६३ ॥

(४) राघवानन्दः । अस्मात् स्थूलदेहात् । सृतीर्जन्मानि अन्तरात्मनः लिङ्गदेहस्य अवेक्षेतेत्यनुवर्तते ॥ ६३ ॥

(५) नन्दनः । सृतिः संसृतिः । अन्तरात्मनो जीवस्य ॥ ६३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अस्माद्देहात् प्राणभाण्डात् । क्रमणं निष्क्रमणं अवेक्षेत । अभ्यन्तरात्मनः जीवस्य सृती-
गतीः जन्मानि योनिकोटिसहस्रेषु अवेक्षेत तद्यथा श्वशूकरस्त्रोरगाद्यनेकजातिषु जन्मानि पश्येदित्यर्थः ॥ ६३ ॥

अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम् ॥ धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥ ६४ ॥

(१) मेधातिथिः । अधर्मात्प्रभव उत्पत्तिः । दुःखेन योयोगः पीडानुभवः । धर्मउक्तलक्षणोयः पदार्थस्ततः सुखे-
नाक्षयेन संयोगः । एतदप्यन्त्यपारिवाज्यं च मुख्यो धर्म इत्यभिप्रायः ॥ ६४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धर्मार्थप्रभवं धर्मरूपादर्थार्थ्यमानादनुष्ठीयमानात्प्रभूतं तत्र प्रवृत्तं ख्यातं सुखसंयोगं स्वर्गा-
दौ तथानिवृत्ताधर्मादक्षयं सुखसंयोगमिति विवेकः ॥ ६४ ॥

(३) कुल्लूकः । शरीरवतां जीवात्मनामधर्महेतुकं दुःखसम्बन्धं धर्महेतुकोऽर्थो ब्रह्मसाक्षात्कारस्तत्प्रभवं मोक्षलक्षणमक्ष-
यं ब्रह्मसुखसंयोगं चिन्तयेत् ॥ ६४ ॥

(४) राघवानन्दः । धर्मार्थप्रभवमिति धर्मप्रभवो योर्थः ब्रह्मसाक्षात्कारस्तत्प्रभवं मोक्षलक्षणं अन्यसुखस्य मुख्यत्वा-
क्षयत्वानुपपत्तेः ॥ ६४ ॥

(५) नन्दनः । धर्मानुष्ठानज्ञानमेव प्रधानं न लिङ्गमित्याह अधर्मेति ॥ ६४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अधर्मप्रभवं अधर्मस्य उत्पन्नं अवेक्षेत । धर्मार्थयोः प्रभवं अवेक्षेत ॥ ६४ ॥

सूक्ष्मतां चान्वेक्षेत योगेन परमात्मनः ॥ देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ॥ ६५ ॥

(१) मेधातिथिः । योगश्चित्तवृत्तिस्थैर्यं यथा पतञ्जलिना दर्शितं तेनात्मनः क्षेत्रज्ञस्य सूक्ष्मतामन्वेक्षेत शरी-
रादौ प्राणादौ वानात्मबुद्धिः कर्तव्या । किं तर्हि योगजेन ज्ञानातिशयेन सर्वेभ्य एतेभ्योऽन्तर्बहिस्तत्त्वेभ्योऽप्यतिरिक्तो बो-
द्धव्य इत्येवंपरमेतत् । न तु स्थूलादिविकल्पा आत्मनस्सन्ति । यथा चोत्तमेषु देवादिशरीरेष्वस्योपपत्तिः । शरीराधिष्ठा-
नृतया फलोपभोगः सर्वगतस्यापि सतः एवमधमेषु तिर्यक्प्रेतपिशाचादिषु । एकत्वपक्षे परमात्मविभूतय एव क्षेत्र-
ज्ञा इति । अतः परमात्मनो गतीरन्वेक्षेतेत्युक्तम् ॥ ६५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । योगेन ध्यानेन । सूक्ष्मतामति यत्नाधिगम्यतामवेक्षेत सदा चिन्तयेत् तेन हीनाभ्यासं मध्ये-
विच्छिनत्ति । उपपत्तिमुत्पत्तिम् ॥ ६५ ॥

(३) कुल्लूकः । योगेन विषयान्तरचित्तवृत्तिनिरोधेन परमात्मनः स्थूलशरीराद्यपेक्षया सर्वान्तर्यामित्वेन सूक्ष्म-
तां निरवयवतां तत्त्यागादुत्कृष्टापकृष्टेषु देवपश्वादिशरीरेषु जीवानां शुभाशुभफलभोगार्थमुत्पत्तिमधिष्ठानमनुचिन्तयेत् ॥ ६५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच सूक्ष्मतामिति । योगेन चित्तवृत्तिनिरोधेन । परमात्मनः सूक्ष्मतां निरवयवतया सङ्गतां ।
उत्पत्तिं घटाकाशवदध्यासवशात्तत्प्रीतिम् । उत्तमेषु देवादिविषु अधमेषु पश्वादिविषु उत्तमाधमेषु नृष्वपि ॥ ६५ ॥

(६) रामचन्द्रः । संसारस्वरूपापेक्षानन्तरं किं कार्यमित्यत आह सूक्ष्मतामिति । योगेन योगाभ्यासेन परमात्मनः
सूक्ष्मतां दुर्ग्रहतामवेक्षेत ॥ ६५ ॥

दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः ॥ समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ ६६ ॥

(६६) दूषितोऽपि = भूषितोऽपि (क, ग, घ, च)

= गृहस्थोऽपि (ख)

(१) मेधातिथिः । भूषितःकुसुमकटकाद्याभरणैः धर्मःपरिव्राजकस्ययद्विहितमात्मोपासनादि तद्यत्नतश्चरेत् । यस्मिन्नाश्रमेयोविहितस्तंचरेत् । नत्रिदण्डादिलिङ्गधारणमात्राद्यतिमात्मानंनन्येत अपितु समःसर्वेषु भूतेषु स्यात् । रागद्वेषलोभान्यत्नतः परिहरेदतितात्पर्यम् । न लिङ्गत्यागे नभूषणाभ्यनुज्ञानम् ॥ ६६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भूषितोपि सगादिना गृहस्थोपीत्यर्थः । धर्मयोगधर्म यत्रतत्रेति वानप्रस्थब्रह्मचर्याश्रमस्थोपि । समः सर्वत्र मैत्रीप्रवृत्तः । लिङ्गं परिव्राजकलिङ्गदण्डकरकादि । धर्मस्य योगधर्मस्य कारणम् ॥ ६६ ॥

(३) कुट्टूकः । यस्मिन्कस्मिंश्चिदाश्रमे स्थितस्तदाश्रमविरुद्धाचारदूषितोऽप्याश्रमलिङ्गरहितोऽपि सर्वभूतेषु ब्रह्मबुद्ध्या समदृष्टिः सन्धर्ममनुतिष्ठेत् । नहि दण्डादिलिङ्गधारणमात्रं धर्मकारणं किंतु विहितानुष्ठानम् । एतच्च धर्मप्राधान्यबोधनायोक्तं नतुलिङ्गपरित्यागार्थम् ॥ ६६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच दूषितोपीति । आश्रमलिङ्गरहित्येन दूषितोभट्टः अभिशस्तोवा रुयादिना । समस्तुल्योदूषकेष्वपि धर्मचाश्रमधर्मचरेत् यत्र कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसेषु ब्रह्मचर्याद्याश्रमेषु वा । त्वस्वधर्मन्यजेदिति । यद्वा रुयादिसंगदोषयुक्तोपि धर्ममधिष्ठानतया सर्वधारणाद्ब्रह्म तच्चरेत्ध्यायेत् । अतएवाह । समइति ब्रह्मैव सर्वभूतेषु धारकतया वर्तमानत्वात् । नाहमस्म्यधिकारीति बुद्ध्यातन्यक्ताश्रमान्तरप्रायश्चित्तान्तरंवा नाश्रयेत् । तथोक्तं ॥ यदि दैवात्ममादेन योगी कुर्याद्विर्गहितं । योगेनैव दहेदहोनान्यात्किंचित्समाचरेत् ॥ उपपातकेषु सर्वेषु पातकेषु महत्सु च । प्रविश्य रजनीपादंब्रह्मध्यानाद्यपोहतीति ॥ कुसुमकटकमुकुटाद्यैर्भूषितइति मेधातिथिः तथासति । समइत्यादि न चारु ॥ ६६ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वेषु भूतेषु समः सर्वत्र मैत्रीपरः लिङ्गं आश्रमलिङ्गं स्वरूपं धर्मकारणंन भवेत् ॥ ६६ ॥

फलंकतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ॥ न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥ ६७ ॥

(१) मेधातिथिः । कलुषितमुदकंकतकवृक्षफले निक्षिप्ते प्रसीदति त्वच्छं शुद्धरूपतामापद्यते । किंतु न तस्य फलस्य नामग्रहणेन तन्निर्मलीभवति अपित्वनुष्ठानमपेक्षते एवंलिङ्गधारणंफलनामस्थानीयं न तावन्मात्रात्सिद्धिर्यावदेकारामतोपासनसर्वसमतादिधर्मोन्नानुष्ठितः । पूर्वशेषार्थवादः ॥ ६७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नन्वेवं संन्यासोविफलस्तंविनाप्यपेक्षितसिद्धेरतआह फलमिति । यथा कतकमानयेति कतकनामग्रहणे प्रयोजकेन कृते यदि प्रयोज्येन तदानीय पिष्टा दीयते ततो जलंप्रसीदति तथात्र लिङ्गधारणं नामग्रहणस्थानीयं प्रधानसाधनंतु कतकावयवप्रक्षेपस्थानीयं कर्मफलं संन्यासएवेति प्रधानत्यागे न लिङ्गधारणमात्रप्रयोजकं । तथा यद्यपि जलस्य कलुषितस्य विक्षिप्तस्य चित्तस्य व्याक्षेपप्रसादरूपहेतुतया संन्यासस्य तदङ्गतयाच लिङ्गधारणस्यास्त्येवोपयोगोयथा कतकेऽसन्निहिते तदाहरणार्थं नामग्रहणस्य तत्प्रक्षेपस्य च जलप्रसादने नतु सर्वत्र गार्हस्थ्ये वर्तमानस्यापि शुद्धाशयतया चित्ते व्याक्षेपशून्ये जलद्व त्वतःप्रसन्ने कतकप्रक्षेपस्य संन्यासतल्लिङ्गधारणयोरनुप्रयोगादित्याशयेनाम्बुप्रसादादिषदोपसंदानेनोदाहरणंकृतमितिमन्तव्यम् ॥ ६७ ॥

(३) कुट्टूकः । अत्रदृष्टान्तमाह फलमिति । यद्यपि कतकवृक्षस्य फलंकलुषजलस्त्वच्छताजनकंतथापि तन्नामोच्चारणवशान्न प्रसीदति किंतु फलप्रक्षेपेण एवंनलिङ्गधारणमात्रं धर्मकारणं किंतु विहितानुष्ठानम् ॥ ६७ ॥

(४) राघवानन्दः । धर्मचरणंविनाऽऽश्रमाभिमानोव्यर्थइत्याह फलमिति । कतकफलचूर्णपङ्क्तिं पायसि क्षिप्तं

कर्मन्नाशयति । त्वयंच नश्यति न तु तत्फलनामेत्यभिप्रायः लिङ्गधारणाय प्रयोजकमव्याजिन धर्मानुष्ठानमेव परलोकहेतु रिति ॥ ६७ ॥

(५) नन्दनः । अत्रदृष्टान्तमाह फलमिति । यथा कतकतरुफलमलनिर्हरणेन जलंप्रसादयति एवंधर्मोऽनादिकर्म-मलनिर्हरणेनात्मानंप्रसादयति । यथा कतकफलनामग्रहणादेव न वारिप्रसीदति तथा धर्मलिङ्गधारणादेवात्मा न प्रसीदती-त्यभिप्रायः ॥ ६७ ॥

(६) रामचन्द्रः । तत्र दृष्टान्तमाह फलमिति । तस्य फलस्य नामग्रहणादेव वारि न प्रसीदति न निर्मलंभवति तथा-श्रमधारणाद्धर्मन भवतीत्यर्थः ॥ ६७ ॥

संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा ॥ शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥ ६८ ॥

(१) मेधातिथिः । यदुक्तं दृष्टिपूतपादन्यसेदिति तस्यप्रयोजनप्रदर्शनश्लोकोयम् । शरीरस्यात्ययेपि शरीरपी-डायामपि सत्यां रात्रावहनि वा तृणास्तरणे शयनार्थमास्तीर्णैपि शरीरनिषङ्गोऽनवेक्ष्यादृष्टा कर्तव्योऽस्मिन्व्यतिक्रमे प्रायश्चित्तम् । अथवा अल्पाः सूक्ष्माः केचन क्षुद्रजन्तवः सर्वेशरीरावयवसंवलनमात्रेणैव नश्यन्ति तदर्थमिदम् ॥ ६८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संरक्षणार्थं चरणाभिघातेन हिंसायानिवृत्त्यर्थं शरीरस्यात्ययेऽप्यस्येति अस्य त्वशरी-रस्यात्यये पीडायामपीत्यर्थः ॥ ६८ ॥

(३) कुङ्कुमः । शरीरस्यापि पीडायांसूक्ष्मपिपीलिकादिप्राणरक्षार्थं रात्रौ दिवसे वा सदा भूमिनिरीक्ष्य पर्यटेत् । पूर्वकेशादिपरिहारार्थं दृष्टिपूतन्यसेत्पादमित्युक्तम् इदं तु हिंसापरिहारार्थमित्यपुनरुक्तिः ॥ ६८ ॥

(४) राघवानन्दः । दृष्टिपूतमित्यस्यानुवादः समिति । त्वशरीरस्यात्यये पीडाप्रसक्तौ तस्यापीडायामपि भूतपी-डानकार्येति भावः ॥ ६८ ॥

(५) नन्दनः । अत्ययेऽत्यन्तदौर्बल्ये सत्यपि ॥ ६८ ॥

(६) रामचन्द्रः । शरीरस्यात्यये शरीरपीडायामपि जन्तूनांसंरक्षणार्थं समीक्ष्य वसुधां चरेत् । क्वचित्सद्विजइति पाठः ॥ ६८ ॥

अह्ना रात्र्या च याञ्जन्तून् हि न स्य ज्ञानतोयतिः ॥ तेषां स्नात्वा विशुद्धन्नार्थं प्राणायामान्
षडाचरेत् ॥ ६९ ॥

(१) मेधातिथिः । जन्तून् क्षुद्रजन्तूनि तिद्वयं तेषां हिंसायां यत्पापं तद्विशुद्ध्यर्थमिति संबन्धः ॥ ६९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अह्नारात्र्याचेति विग्रहणैककालीनहिंसादोषोपशमार्थं त्रिस्त्रिः प्राणायामकरणार्थं षट्प्रा-णायामान् । प्रणवव्याहृतिसहितगायत्र्या त्रिरायतप्राणेन पाठदेकः प्राणायामः इतिक्रमेण । यथा वसिष्ठः ॥ सव्याहृतिसं-प्रणवांगायत्रीशिरसा सह । त्रिः पठेदायतप्राणाः प्राणायामः स उच्यते इति ॥ ६९ ॥

(३) कुङ्कुमः । अत्रप्रायश्चित्तमाह अह्नेति । यतिर्यानज्ञानतो दिवसे रात्रौ वा प्राणिनोहन्ति तद्धननजनितपाप-नाशार्थं स्नात्वा षट्प्राणायामान्कुर्वीत । प्राणायामश्च सव्याहृतिसंप्रणवांगायत्रीशिरसा सह । त्रिः पठेदायतप्राणः प्रा-णायामः स उच्यते इति वसिष्ठोक्तमात्रं द्रष्टव्यः ॥ ६९ ॥

(४) राघवानन्दः । योदत्वेति भूताभयदस्याज्ञानकृते किंस्यात्तत्राह अद्वेति ॥ ६९ ॥

(५) नन्दनः । तेषांजन्तूनाम् । शुद्ध्यर्थं हिंसादोषप्रायश्चित्तार्थम् ॥ ६९ ॥

प्राणायामाब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः ॥ व्याहृतिप्रणवैर्युक्ताविज्ञेयं परमं तपः ॥ ७० ॥

(१) मेधातिथिः । ब्राह्मणशब्देनजातिर्मता तामाह । न परिव्राजकस्यैवविधिरयम् । त्रयोपि त्रिभ्य ऊर्ध्वफलाधिक्यं-
त्रयस्त्ववश्यकर्तव्याः । व्याहृतयः ओंकारपूर्विका इत्यत्रया उक्ताः प्रणवओंकारस्तैर्युक्ताः । प्राणायामकालएतद्व्यात-
व्यम् । एते त्रिविधाः कुम्भकरेचकपूरकाख्याः । तत्रच मुख्यस्य नासिक्यस्यच वायोर्बहिर्निष्क्रमणनिरोधेन कुम्भ-
कपूरकाख्याः अनुच्छलसतोबहिर्नैरन्तर्येण वायोरुत्सर्गेण रेचकोभवति । अवधिर्द्वितीयाध्याये निर्दिशतः । यदिवा तपसा
पुनर्यावता कालेन न पीडोपजायते ॥ ७० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । षट्प्राणायामाशक्तवाह प्राणायामा इति । व्याहृतिप्रणवैरित्येकदेशोक्त्यावसिष्टोक्तंप्राणा-
यामोपलक्षणम् ॥ ७० ॥

(३) कुड्मूकः । ब्राह्मणस्येति निर्देशाद्ब्राह्मणजातेरयमुपदेशेन यतरेव । त्रयोऽपि प्राणायामाः समभिर्व्या-
हृतिभिर्दशभिः प्रणवैर्युक्ताविधिवदित्यनेन साविश्या शिरसा च युक्ताः पूरककुम्भकरेचकविधिना कृताब्राह्मण-
स्य श्रेष्ठतपोज्ञातव्यम् । पूरकादिस्वरूपं स्मृत्यन्तरेषु ज्ञेयम् । तथा योगियाज्ञवल्क्यः ॥ नासकोत्कृष्टउच्छ्वासोध्मातः पूरक
उच्यते । कुम्भकोनिश्चलश्वासोमुच्यमानस्तु रेचकः ॥ त्रयोऽपीत्यपिशब्देन त्रयोऽवश्यकर्तव्याः । अधिककरणेत्वधिकपाप-
क्षयः ॥ ७० ॥

(४) राघवानन्दः । प्राणायामलक्षणाकांक्षायां सार्थवादंतल्लक्षणमाह प्राणेति । व्याहृतीति गायत्र्युपलक्षणं तथा-
चवसिष्ठः । सव्याहृतिंसप्रणवांगायत्रीशिरसासह । त्रिःपठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते इति ॥ ब्राह्मणस्येति प्रकरणात्सं-
न्यासिनः तत्रापि त्रिदण्डिनो व्याहृत्यादित्रिभिः एकदण्डिनस्तु प्रणवेनैव तदुक्तं योगियाज्ञवल्क्येन ॥ ओंकारेण तु
कर्तव्यः प्राणायामो यथोदित इति ॥ ७० ॥

(५) नन्दनः । अथ प्राणायामप्रसङ्गादाह प्राणायाम इति । ब्राह्मणस्य द्विजस्य ॥ सव्याहृतिंसप्रणवांगायत्रीशिरसा
सह । त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते इत्युक्तं विधिमनुवदति विधिवदिति ॥ ७० ॥

दहन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ॥ तथेन्द्रियाणां दहन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ ७१ ॥

(१) मेधातिथिः । धातवस्सुवर्णादयः तेषां ध्मायमानानां सुवर्णमेवावशिष्यते तथेन्द्रियाणां विषयदर्शने यौ प्रीति-
परितापौ जायेते तयोर्थन्पापंतस्य दाहः प्राणनिरोधात् । प्रीतिपरितापोत्पत्तिर्मुमुक्षोर्निषिद्धा सा तु शरीरिणः त्यक्तसंगस्या-
पि यादृच्छिकशब्दाद्युपनतौकसाचिन्मात्रया वस्तुसामर्थ्येन नियतेन्द्रियस्याप्युपजायते अतस्तदोषनिवृत्त्यर्थाः प्राणा-
यामाः ॥ ७१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धातूनां लोहादीनां इन्द्रियाणां दोषाः त्वत्त्वविषयाभिषङ्गाः ॥ ७१ ॥

(३) कुड्मूकः । धातूनां स्वर्णरजतादीनां यथा मूषायामग्निना ध्मायमानानां मलद्रव्याणि दहन्ते एवं मनसो रागा-
दयश्चक्षुरादेश्च विषयप्रवणत्वादयो दोषाः प्राणायामेन विषयानभिध्यानाद्दहन्ते ॥ ७१ ॥

(४) राघवानन्दः । प्राणायामेन पापक्षये दृष्टान्तमाह दहन्त इति । ध्मायमानानां बन्धिनेति शेषः ॥ ७१ ॥

(५) नन्दनः । प्राणस्य निग्रहात्प्राणायामात् ॥ ७१ ॥

(६) रामचन्द्रः । तथा दोषाः विषयाभिषङ्गाः प्राणस्य वायोर्निग्रहाद्दहन्ते ॥ ७१ ॥

प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम् ॥ प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥ ७२ ॥

(१) मेधातिथिः । प्राणायामैरित्येतत्पूर्वश्लोकेन दर्शितम् । अपरेत्वाहुः । दोषारागादयस्तान्दहेत् । कथं प्राणायामैर्दग्धुमेतेशक्यन्ते युक्तः पापस्य तैर्दाहः । अदृष्टाचतस्योत्पत्तिः शास्त्रलक्षणं तथानिवृत्तिरपि । रागादयस्तु प्रत्यक्षवेद्याः तेऽपि प्राणायामानां निवर्त्य निवर्तकभावः प्रत्यक्षादिवेद्य एव युक्तो भवितुं शास्त्रीयः । यदि शास्त्रमेवं वेदं हि मेन शीतं निवर्तयेदिति किंप्रमाणं भवेत् । तस्माद्वागादिनिमित्तमशुभाचरणं दोषशब्देनोच्यते । तस्य कार्यदाहोदाहः स्वरूपतो हि त्वरसत एव कर्मणां क्षणिकत्वान्नाशः । एष एव च दाहो न त्वन्यस्येव भस्मीभावः एवं च पूर्वश्लोकार्थो नुवादः । धारणाभिश्च ननु च किल्बिषपापदोषश्चेत्तत्रैतावद्वक्तव्यम् प्राणायामैर्धारणाभिश्च दोषान्दहेत् किं किल्बिषमित्यनेन किल्बिषमिति वास्तु किं दोषग्रहणेन उच्यते दोषग्रहणमवश्यं कर्तव्यं विशिष्टस्य पापस्य प्राणायामैर्दाहो यथा विज्ञायेत न सर्वस्येति । दोषशब्देन हि रागादय उच्यन्ते अतस्तन्निमित्त एव पापे उपचारो यथोक्तः । एवं तर्हि तदेव क्रियतां किं किल्बिषमित्यनेन पादपूर्णा र्थमित्यदोषः । तत्रोत्पन्नस्य पापस्य प्राणायामादहना उच्यन्ते । धारणास्तु दोषानुत्पत्तिमेव कुर्वन्ति काः पुनरेता धारणाः शमयमादिभिर्मयमाद्विषयदर्शनाभिलाषेण प्रकृत्यमाणं मनो धार्यते तत्रैव स्थाने नियम्यते । ताश्च विषयगतदोषभावना अस्थिस्थूणमित्याद्याः कान्तिलावण्यतारुण्यसंस्थानशौर्यादयः स्त्रीषु दृश्यमाना अभिलाषहेतवः ते च सविकल्पं प्रत्यक्षग्राह्याः । विकल्पाश्च मनोधाराः अतो विकल्पान्तरे मूत्रपुरीषपूर्णनामेति तस्मिन् विषयगतदोषभावे कटककर्पटान्वितं स्त्रीद्वयं नामाधिकं प्राणिनो यत्प्रयत्नतः परिहर्तव्यमभिलषन्ति याव्येषां मुखलेशभ्रान्तिः सा क्षणभङ्गिनी तदा सेवनेन घोरा दीर्घकालाश्च यमयातना इत्यादिभिः शक्यन्ते निरोद्धुम् । एतदेव तत्प्रसंख्यानमुच्यते । एवं भोजनादिष्वपि भावयितव्यम् । यदेतच्छर्कराघृतपूरहैयङ्गवीनपायसादि तच्च भैक्षकदन्नादिभिः सममेतच्छरीरधारणतया विशेषाभावात्कस्यचित्प्रकृतेर्जिह्वाग्रैः क्षणलवमात्रवर्तमानस्य विशेषो यस्य विशेषतया प्रतिभासेत गन्धर्वनगरप्रख्योयं क्षणिकावभास इति । एवमन्यत्रापि स्पर्शदोषभावयितव्य इत्येवमुपदिशति । अन्येत्वाहुः । कौट्यस्य वायोर्मुखनासिकासंचारिणः शरीरैकदेशान्तर्दद्याकाशादभ्यासबशतो धारणधारणा । ननु च प्राणायामेभ्य एतासां साधारणानां कोभेदः बाहुललाटादावपि यथेच्छं व्याहृत्यादि ध्यानसहितं धारणा प्राणायामो रचनेनाधिक्रियन्त इति विशेषः । अन्येतु मैत्रीमुदिताकरुणा उपेक्षा एता धारणा इति मन्यन्ते । मैत्रीरूपा मुदोपेक्षा सर्वप्राणिष्ववस्थिता । ब्रम्हलोकं नयन्त्याशु ध्यातारं धारणास्त्विमाः । तत्र मैत्री द्वेषाभावो न तु सुदृढस्नेहस्तस्य बन्धात्मकत्वात् । रूपाकरुणा चित्तधर्मः दुःखितजनदर्शनेन कथमयमस्मादुःखादुद्ध्रियेतेति समुद्धरणकामना । न त्वहिंसानुग्रहयोरनारम्भ इत्युक्तं अतएवेदमुच्यते चित्तधर्मो यमम्यसितव्यः । मुदिताशोकव्यावृत्तिर्व्याध्यादिनिमित्तैः दुःखे नरकादिभयजेवा न तु हर्षः तस्य रागहेतुत्वात् । उपेक्षा विषयानुग्राहकेषु उपघाते च । प्रसिद्धैव । मनसो वातद्दद्याकाशे ब्रह्मचिन्ता परतया निश्चलता धारणा । प्रत्याहारेण संसर्गमिन्द्रियाणां विषयैस्सह सम्बन्धस्तत्र प्रवृत्तिः संसर्गस्तन्दहेत्प्रत्याहारः ततो हरणमिन्द्रियाणां प्रतिबन्धकरणं वा । आश्चर्यरूपेण न कटकादौ रूपवत्स्त्रीसंदर्शने वा स्थगयितव्ये चक्षुषी अन्यत्र वा दृष्टिरुपनेया । एवं सर्वेन्द्रियेषु । एवं च समाधानयोगिनोऽप्रतिबद्धं भवति । ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् । गुणान्सत्त्वरजस्तमांसि ते चानीश्वराः परतन्त्राः चेतनार्थानमूर्तयः पुरुषस्यानतस्य सुखादिरहितस्य योभिमानो हं मुख्यं-

दुःखीति निर्गुणस्य गुणिताभिमानस्सगुणपुरुषविवेकभ्यानेन दग्धव्यः । चिद्रूपःपुरुषोनिर्गुणोगुणमयी प्रकृतिरित्येवंगुणपुरुषविवेकःकर्तव्यः ॥ ७२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धारणाभिःसाकारोर्कस्मिंश्चिदभीष्टयेचित्तनिवेशनैः किल्बिषं योगप्रतिबन्धकंपापं । प्रत्याहारेण विषयेभ्योमनसआकर्षेण संसर्गान्विषयेणसह ज्ञानस्य संबन्धान् । ध्यानेन निराकारानुचिन्तनेनानैश्वरान् शुद्धविषयज्ञानस्थैर्यरूपैश्वर्यविरोधिनोगुणान् रजस्तमोविकारान् तन्द्रादीन् ॥ ७२ ॥

(३) कुल्लूकः । एवंसति अनन्तरोक्तप्रकारेण प्राणायामैरागादिदोषान्दहेत् । अपेक्षितदेशे परंब्रह्मादौ यन्मनसोधारणंसा धारणा तया पापनाशयेत् । प्रत्याहारेण विषयेभ्यइन्द्रियाकर्षणैर्विषयसंपर्कान्वारयेत् । ब्रह्मध्यानेनेतिसोऽहंभस्मीतिसजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपेणानीश्वरान्गुणानीश्वरस्य परमात्मनोये गुणानभवन्ति ऋधलोभासूयादयः तान्निवारयेत् ॥ ७२ ॥

(४) राघवानन्दः । प्राणायामप्रसंगेन प्रत्याहारादित्रीण्याह प्राणेति । धारणा षट्चक्रमध्ये पृथिव्यादिचिन्तनं । देशबन्धश्चित्तस्य धारणेति । किल्बिषविषयशोच्यानाध्यासं पादपूरणार्थमितिमेधातिथिः । प्रत्याहारेणेति प्रत्याहारोविषयेभ्यइन्द्रियाकर्षणं । तथाचपतञ्जलिसूत्रम् ॥ त्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्यस्वरूपानुकारइवैन्द्रियाणांप्रत्याहारइति । संसर्गान् विषयसंपर्कजान् प्रीतिपरितापान् । ध्यानेनेश्वरस्यअनीश्वरान् ईश्वरानाश्रितान्कामक्रोधादीन् ॥ ७२ ॥

(५) नन्दनः । अथ योगाङ्गानि प्राणायामप्रसङ्गादाह प्राणायामैरिति । दहेत्यजेत् । दोषान्नागादीन् । इन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्यात्मनामेकत्रावस्थापनंधारणा । कष्टस्य मनसः पुनः प्रत्यामयनार्थं प्रयोजनंप्रत्याहारइतिदेवलः । इन्द्रियाणां विषयैःसंबन्धः संसर्गः । अनैश्वरान्प्राकृतान् । गुणान्स्त्वरजस्तमांसि । एवंयोगउक्तः ॥ ७२ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्राणायामैः दोषान् बाह्येन्द्रियजान् दहेत् । धारणाभिः चित्तस्यअवस्थापकाभिः किल्बिषं योगप्रतिबन्धकं दहेत् । प्रत्याहारेण विषयेभ्योमनसःप्रकर्षेण संसर्गान् विषयान् दहेत् । ध्यानेन निराकारानुचिन्तनेन अनीश्वरान् ऐश्वर्यप्रतिबन्धकान् शुद्धविषयज्ञानस्वरूपैश्वर्यनिरोधिनोगुणान् तन्द्रादीन् दहेत् ॥ ७२ ॥

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ॥ ध्यानयोगेन संपश्येद्भूतिमस्यान्तरात्मनः ॥ ७३ ॥

(१) मेधातिथिः । सकथंकर्तव्योभ्यानेन किंपुनर्ध्येयमतआह । अन्तरात्मान्तर्यामी पुरुषस्तस्य गतिः स्वरूपं यथावद्विज्ञेयं सुखदुःखाभिमानोन केवलं मनुष्यजन्मनि किंतिह उच्चावचेषु नानाविधेषु भूतेषु तिर्यक्प्रेतपिशाचादिष्वहंममेति प्रत्ययोऽविद्याकृतोनिवर्त्यः । अथवा कथमयंविभुरन्तरिक्षाज्यायान्दिवोज्यानेभ्योलोकेभ्यः सर्वकामः सर्वरसः सर्वगन्धः सर्वस्पर्शइदमभ्यस्यतोविजिघत्सोर्विपिपासोः । एवंविधेषु सुखे दुःखे शरीरस्य शरीरेष्वसर्वभोगतया सोहंनामाहोर्कर्मणांमहात्म्यं यदयं सर्वात्मकः स्वतन्त्रः परतन्त्रीक्रियते कर्मभिर्नैतानि करिष्येदुष्टस्वामिस्थानीयानि भृतकइवकर्माणि प्रतिपालयिष्ये यथा भृतकःकश्चित्स्वामिनंनिबन्धेनाराधयितुं प्रविष्टः सन्धमन्यते यावदुराधर्षइव नोदण्डशीलस्तर्जनापरः परुषभाषी नैनंभूयः परिचरिष्यामि । यन्मयास्मार्त्तिकचित्भृत्यादि गृहीतं तदेवास्य कर्मकरणेन शोधयामि एवंध्यायन्नासीत् । कृतानांकर्मणांफलोपभोगेनान्तंयास्यामि अन्यानिचनकरिष्यामीत्येवमादिभ्येयम् । तथाकिमेतेक्षेत्रज्ञाःपरमात्मनोविभूतयउतस्वतन्त्राः नैवंपरवान्यःकश्चिदस्तीति वेदान्तनिषेवणादिना निश्चित्यभ्यातव्यम् । अन्ये पुनराहुः ध्यानंचयोगश्च ध्यानयोगं तेनांतरात्मनःगतिंसंपश्येन्निरूप्येप्यासीत् गतिंध्यानेन योगेन च । अथवा ध्यानार्थयोगः

चित्तस्थैर्यतत्कृत्वाऽऽत्मनोर्गतिं संपश्येदुपासनाभिरनपावृतादिगुणविशिष्टवेदान्ताभिहितरूपं निष्कल्मषमभिमुखीकुर्यात् । अ-
कृता असंस्कृताः शास्त्रेणाऽऽत्मानोयैस्तैर्न शक्यं ज्ञातम् ॥ ७३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उच्चावचेष्वात्मनेकविधेषु भूतेषु गतिं प्राप्तिं अस्य स्वीयस्यान्तरात्मनः ध्यानयोगेन ध्याना-
भ्यासेन सम्यक्पश्येत् । अकृतात्मभिरसंस्कृतमनोभिः ॥ ७३ ॥

(३) कुल्लूकः । अस्य जीवस्योत्कृष्टापकृष्टेषु देवपश्वदिषु जन्मप्राप्तिमकृतात्मभिः शास्त्रैरसंस्कृतांतःकरणैर्दुर्ज्ञेयां
ध्यानाभ्यासेन सम्यक्सकारणकं जानीयात् । ततश्चाविद्याकाम्यनिषिद्धकर्मनिर्मितेयंगतिरिति ज्ञात्वा ब्रह्मज्ञाननिष्ठो भवे-
दिति तात्पर्यार्थः ॥ ७३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचोच्चेति । उच्चावचेषु उत्कृष्टापकृष्टेषु । देवमनुष्यतिर्यङ्भुगतिर्दुर्ज्ञेयां अप्यकृतात्मभिरजिते-
न्द्रियैः अन्तरात्मनो जीवस्य ध्यानयोगेन । एक एवायमुपायः परम अथवा एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थित इति चित्ताभ्या-
सेन अहो कर्मफलमाहात्म्यं यदेवं कर्मणानोश्वरोपि ईश्वरः क्रियतेऽथ वा गतिमैकात्म्यलक्षणां संपादितवतो यो निकां षिसहस्रेषु-
सृतीर्विमोचयतीति किमुक्तव्यमित्यत्र चिन्तनस्य तात्पर्यं । तथा च तत्त्वं तत्सूत्रं तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानमिति ॥ ७३ ॥

(५) नन्दनः । अथ तत्पसङ्गात्सांख्यमाह उच्चावचेष्विति । उच्चावचेषु उत्कृष्टापकृष्टेषु भूतेषु शरीरेष्वन्तरात्मनोऽन्तः-
पुरुषस्य ज्ञानपञ्चविंशतितत्त्वज्ञानंतस्य योगेनाभ्यासेन संपश्येत् सम्यक्पश्येत् ॥ ७३ ॥

(६) रामचन्द्रः । उच्चावचेषु ब्रह्मादिकीटपर्यन्तेषु अस्यान्तरात्मनः गतिं व्याप्तिं ध्यानयोगेन संपश्येत् ॥ ७३ ॥

सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ॥ दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ ७४ ॥

(१) मेधातिथिः । आन्तरस्य विधेः फलमाह । सम्यग्दर्शनमनन्तरोक्तमात्मनो यथार्थज्ञानं तेन संपन्नः कृतसाक्षा-
त्कारः कर्मभिर्न निबध्यते । संसारं नानुवर्तते कृतानां कर्मणां भोगेन क्षयादन्येषामकरणात् । न पुनरनेन केवलात् ज्ञाना-
न्मोक्षोक्तो भवति । दर्शनेनाऽऽध्यात्मिकेन वेदान्तोपदिष्टेन यो विरहितः केवलकर्मकारो संसारमेति ॥ ७४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ज्ञानी कर्मभिर्धर्मार्थमूर्धैरुत्पन्नैर्न निबध्यते न फलानुभवेन संबद्धः क्रियते । दर्शनेन स-
म्यगात्मदर्शनेन ॥ ७४ ॥

(३) कुल्लूकः । ततश्च तत्त्वतो ब्रह्मसाक्षात्कारवान् कर्मभिर्न निबध्यते कर्माणि तस्य पुनर्जन्मने न प्रभवन्ति पूर्वाजि-
तपापपुण्यस्य ब्रह्मज्ञानेन नाशात् । तद्यथा इषीका तूलमग्नौ भोतं प्रदूयेत एवं हास्य सर्वेषाम्पानः प्रदूयन्त उभौ ब्रह्मैवैष भवती-
ति श्रुत्या । तथा क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावर इति अविशेषश्रुत्या पुण्यसंबन्धोऽपि बोध्यते । उत्तरकाले च दे-
वात्पापे कर्मणि कृतेऽपि न पापसंश्लेषः । तथा च श्रुतिः पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवं विदिपापकर्म न श्लिष्यत इ-
ति । देहारम्भकपापपुण्यसंबन्धः परं नश्यति । अयमेव चार्था ब्रह्ममीमांसायां तदधिगम उत्तरपूर्वाद्ययोरश्लेषविनाशौ तद्यपदेशा-
दितिसूत्रेण बादरायणेन निरणायि । ब्रह्मसाक्षात्कारशून्यस्तु जन्ममरणप्रबन्धं लभते ॥ ७४ ॥

(४) राघवानन्दः । अतस्तदेव दर्शनं स्तौति सम्यगिति । दर्शनेन ज्ञानेन संपन्नस्यैव सर्वपापविरहात् ॥ भिद्यते तद-
द्यप्यन्धिच्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावर ॥ सर्वेषाम्पानोतो निवर्तते इत्यादि श्रुतेः । तद-
संपत्तौ दोषमाह दर्शनेनेति ॥ ७४ ॥

* उभेतेष्वैष (अ)

(५) नन्दनः । सम्यक्पश्यतः फलमाह सम्यगिति । कर्मभिर्न निबध्यते संसारमुक्तोभवति । दर्शनेन सम्यग्दर्शनेन ॥ ७४ ॥

(६) रामचन्द्रः । सम्यक् ईश्वरस्य दर्शनेन संपन्नःसंयुक्तःकर्मभिर्ननिबध्यते ॥ ७४ ॥

अहिंसयेन्द्रियासङ्घैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ॥ तपसश्चरणैश्चोद्यैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥ ७५ ॥

(१) मेधातिथिः । इदन्तु ज्ञानकर्मणोःसमुच्चयान्मोक्षइतिश्लोकद्वयंज्ञापकम् । पूर्वेण ज्ञानमुक्तमनेन कर्माण्युच्यन्ते । कानि पुनर्वैदिकानि कर्माणि येषांफलंतत्पदंप्राप्नोतीत्युच्यते । यानि तावत्काम्यानि तेषांस्वविधिवाक्येश्रुतमेव स्वर्गादिफलम् । तद्व्यतिरेकेण फलान्तरकल्पनायामतिप्रसङ्गः । संकीर्णफलताश्रयणंवानर्थकंस्यात् । तावता च वाक्यार्थस्य समाप्तेर्विध्यनपेक्षिततत्पदप्राप्तिलक्षणफलेन कथंसंबन्धः । श्रुतेनैवान्वयिना विध्यर्थसंपन्नं विधिर्नोपेक्षते अत्रोच्यते अस्त्येवात्र वाक्यान्तरं यज्ञेन तदामोतीति रहस्याधिकारे । ततश्च संयोगपृथक्तात्फलद्वयंयुक्तं अतश्च सर्वेषामेव काम्यानामविच्छिन्नफलयोगिता परमपदप्राप्त्यर्थता च न विरोत्स्यते । तत्रयागद्वयेन प्रयोगभेदेन स्वर्गापवर्गौ भवतः नच तत्र यज्ञविशेषः श्रुतोयेन नित्यानामेतत्फलस्यान्न काम्यानाम् । अथोच्यते नित्येष्वश्रुतत्वात्फलावच्छेदस्याविरोधान्निषेधता युक्ता न काम्येषु तावतैव यज्ञेनेत्यस्य सर्वविषयत्वाभावादितिचेत् किमत्र फलश्रवणेन कर्तव्यतानिष्ठानिच वैदिकानि वाक्यानि । साचकर्तव्यताऽन्तरेण वैदिकं फलपदंयावज्जीवादिपदेन गमितेति तत्रापि फलसंबन्धोऽपेक्षितएव कल्प्यमानोऽधिकत्वान्नैकार्थ्ययायात् । अतोयज्ञेनेति वाक्यमप्रतिष्ठमानंविचिते विषयेसर्वयज्ञशब्दवाच्यंनित्यंकाम्यं च गोचरयति । न चैतत्फलंकाम्यानां अपवर्गकामइत्यश्रुतत्वात् । एतदभिप्रायमेवोक्तं कामात्मतानप्रशस्तेति । महाभारतेपि माकर्मफलहेतुर्भूर्मातेसंगोस्त्वकर्मणीति ॥ अतश्च भेदग्राहपरिवेष्टितान्तःकरणस्य तृष्णाविद्यावतोऽनिर्मुक्ताहंकारममकारस्याभिसंहितपरिमितफलप्राप्तिः । इतरस्य त्वनभिसंधायफलविशेषचोदितत्वात्कर्तव्यमितिबुद्ध्या वर्तमानस्यापरिमितनिरतिशयानन्दरूपब्रह्मावाप्तिः । न चैतच्चोदनीयं एकसप्तशतंक्रतवोयावन्तोवा तेषां सर्वेषामनुष्ठानस्याशक्यत्वादनारभ्योपदेशतास्यादिति । यतोदर्शनसंपत्त्यैवात्रानुष्ठानसंपत्तिरिति । सर्वेच क्रतवोदर्शनसंपादनीयाः तथाचोक्तं ज्ञानेनैवापरे विप्रायजन्तइति । अथवा याल्लोकानेतीत्यवच्छेदनिर्देशः स्वर्गकामःपुत्रकामइति । अतीतानादिभेदग्रहवासितान्तरात्मानोदृष्टफललाभेनासत्येनैवप्रधाने पुरुषार्थे प्रवर्तन्ते । यथा बालःपुष्ट्यर्थे औषधेन शिखाते वधिष्यतइत्यसत्ययैव शिखावृद्ध्याप्रवर्त्यतइति केचित् । अपरंमतं नित्यान्यत्रकर्मण्यभिप्रेतानितान्याक्रियमाणानि प्रत्यवायहेतुतया प्रतिबंधकानि अतस्तैरनुष्ठीयमानैरसति प्रतिबन्धे उक्तंवैदिकैश्चैव कर्मभिरिति । यद्यपि तानि नमोक्षार्थतया चोदितानि उग्रैरत्यन्तंशरीरतापहेतुभिः तस्य ब्रह्मणः पदस्थानं ब्रह्मलोकंसाधयन्ति स्वीकुर्वन्ति । अथवा तदीयपदंयादशस्तस्याधिकारः सर्वेश्वरत्वंस्वातन्त्र्यंतद्रूपप्राप्तिरितियावत् ॥ ७५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इन्द्रियासंगैरिन्द्रियार्थेषु रागहान्या वैदिकैःकर्मभिर्नित्यनैमित्तिकैः । तपसश्चान्द्रायणादेश्चरणैःप्रतिबन्धकपापक्षयार्थकृतैः । तत्परं ब्रह्म साधयन्ति ज्ञानन्ति ॥ ७५ ॥

(३) कुल्लूकः । निषिद्धाहिंसावर्जनेनेन्द्रियाणांच विषयसंगपरिहारेण वैदिकैर्नित्यैः कर्मभिः काम्यकर्मणांबन्धहेतुत्वात् उक्तंच कामात्मतानप्रशस्तेति तपसश्चयथासंभवमुपवासकच्छूचान्द्रायणादेरनुष्ठानैरिहलोके तत्पदंब्रह्मात्यन्तिकलयलक्षणंप्राप्नुवन्ति पूर्वश्लोकेन ब्रह्मदर्शनस्य मोक्षहेतुत्वमुक्तम् । अनेन तत्सहकारितया कर्मणोऽभिहितम् ॥ ७५ ॥

(४) राघवानन्दः । सम्यग्दर्शनस्य सर्वसाध्यत्वस्वीकुर्वन्प्राप्त्युपायमाह अहिंसयेति । तत्पदं तत्त्वज्ञानं ब्रह्मणो-
साध्यत्वात् ॥ ७५ ॥

(५) नन्दनः । न केवलंसांख्ययोगावेवसंन्यासिनः परमगतिप्राप्त्युपायः किंतु पूर्वाश्रमकृतानि कर्माण्यपीत्याह
अहिंसेति । अहिंसयेन्द्रियासङ्घैरिति ब्रह्मचर्यधर्मो लक्ष्यते । वैदिकश्चैवकर्मभिरिति गृहस्थधर्मः । तपसश्चरणैश्चेति वान-
प्रस्थधर्मः । इन्द्रियाणां विषये सङ्घ इन्द्रियासङ्घः । वैदिकं कर्माग्निहोत्रहोमस्नातकव्रतादिकम् ॥ ७५ ॥

(६) रामचन्द्रः । अहिंसया इन्द्रियाणामसंगैः वैदिकैः कर्मभिः अष्टचत्वारिंशत्संस्कारैः उपैस्तपश्चरणैः तत्पदं ब्रह्म-
साधयन्तीह जानन्तीत्यर्थः ॥ ७५ ॥

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ॥ चर्मावनद्धं दुर्गन्धिपूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ७६ ॥

(१) मेधातिथिः । वैराग्यजननमेतत् । तिष्ठन्तु तावत् रुमिकीटपतङ्गादिशरीराणि जलैकोभूमिस्वेदजादीनां
अन्यदिदं मानुषशरीरं स्पृहणीयत्वेनाभिप्रेतम् । यत्राशङ्किनो नित्यभितामनुष्यास्तन्मूत्रपुरीषकुटीगृहकमिव तदिदानीं कुटी-
गृहकेन निरूपयति । अस्थीनिस्थूणा इव तैरवष्टब्धं स्नायुना बद्धं मांसशोणिताभ्यां देहचर्मणा अवनद्धं तत उपरि अथवा
आच्छादितं पूर्णं मूत्रपुरीषयोः । ओदनस्य पूर्ण इति वत्पृष्ठी ॥ ७६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्नायुभिर्युतं मिश्रितं बद्धमिति यावत् चर्मणाऽवनद्धं बहिःश्छादितं । भूतमयमावासंभूता-
वासमिति श्लेषेण भूताख्यप्रेतानां वासतुल्यतां दर्शयन् अस्थिस्थूणत्वादिकमपि युक्तमिति कथयति अतएव दुर्गन्धीत्या-
दिविशेषणं पूर्णमूत्रपुरीषयोः मूत्रेण पुरीषेण चान्तर्व्याप्तमित्यर्थः ॥ ७६ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानीं मोक्षान्तरङ्गोपायसंसारवैराग्याय देहस्वरूपमाह श्लोकद्वयेन अस्थीत्यादिजरेत्यादि च ।
अस्थीन्येव स्थूणा इव यस्य तमस्थिस्थूणं स्नायुरज्जुभिराबद्धं मांसरुधिराद्युपलिप्तं चर्माच्छादितं मूत्रपुरीषाभ्यां पूर्णमतएव दुर्ग-
न्धि ॥ ७६ ॥

(४) राघवानन्दः । तदर्थपुनर्वैराग्योपायमाह अस्थीति । नाविरक्तस्य ज्ञानेधिकारो यतः निर्वेदमायादिति । अतः
अस्थीनि स्थूलसूक्ष्माणि स्थूणास्तन्भोयस्य भूतावासमिमं त्यजेदिति द्वितीयेनान्वयः । स्नायुयुतं स्नायवः शिराः तार्भाभरेव
बद्धमन्तरे बहिश्चर्मावनद्धं पूर्णमूत्रपुरीषयोस्ताभ्यां पूर्णमित्यर्थः ॥ ७६ ॥

(५) नन्दनः । सांख्ययोगयोरुभयोः साधारणधर्मान्पञ्चभिः श्लोकैराह अस्थीति । अस्थिस्थूणमिति श्लोकद्वय-
मेकान्वयम् ॥ ७६ ॥

(६) रामचन्द्रः । शरीरस्य स्वरूपमाह युग्मेन अस्थीति । मूत्रपुरीषयोः पूर्णं संबन्धे षष्ठी ॥ ७६ ॥

जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ॥ रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥ ७७ ॥

(१) मेधातिथिः । जराचरमे वयसि शरीरापचये हेतुरवस्थाविशेषः । आतुरं नित्यगृहीतं रोगैः । रज-
स्वलं स्पृहयालुः सर्वपदार्थेषु तदसंपत्त्यां च महदुःखं सर्वस्मिन्सोढे मतीकारमनिवर्त्य सर्वगतत्वात्तस्य अतस्त्वृता शरीरेण
कर्तव्या ॥ ७७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आतुरं दुःखवत् रजस्वलं रजोगुणेन दूषितम् ॥ ७७ ॥

(३) कुल्लूकः । जरोपतापाभ्यामाक्रान्तं विविधव्याधीनामाश्रयमातुरं भुत्पिपासाशीतोष्णादिकातरं प्रायेण रजोगुण-

युक्तंविनश्वरत्वभावंच आवासोगृहं पृथिव्यादिभूतानि तेषामावासं देहमेव जीवस्य गृहत्वेन निरूपितं त्यजेत् । यथा पुनर्देहसंबन्धो न भवेत्तथा कुर्यात् गृहसाम्यमेवोक्तमस्थीत्यादिना ॥ ७७ ॥

(४) राघवानन्दः । आतुरं क्षुत्पिपासाशीतादियुक्तं । रजस्वलं प्रायेण रजोगुणयुक्तं पापजनकत्वात् त्यजेत् । अनात्मतया जानीयात् आयुषः क्षये स्वतएव नष्टत्वात् जीवापेतं वावकिलेदं प्रियते न जीव इति श्रुतेः । इमं देहं जीवतस्त्यक्तुमशक्यत्वात् ॥ ७७ ॥

(५) नन्दनः । रजस्वलं रजोगुणबहुलं भूतावासं शरीरगृहं त्यजेत् अस्मिन् हन्तानं कुर्यात् यथा गृहे तिष्ठन् गृही गृहं मन्यो न भवत्येवं देहे तिष्ठन् देहं मन्यो न स्यादित्यभिप्रायः ॥ ७७ ॥

(६) रामचन्द्रः । रजस्वलं मलिनं भूतावासं पञ्चमहाभूतानामावासस्थानं एतादृशं शरीरं ज्ञानेन त्यजेत् ॥ ७७ ॥

नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा ॥ तथा त्यजन्निमं देहं कच्छ्राद्ग्राहाद्विमुच्यते ॥ ७८ ॥

(१) मेधातिथिः । यस्तावदयं कुटीरूपको देहस्तस्य दृष्टान्तो नदीकूलवृक्ष इति न स्वेच्छयाग्निप्रवेशादिना त्यक्तव्यः किन्तु तृष्णा तत्र न कर्तव्या । अनुद्दिष्टोऽपूर्व आपातस्तदा भविष्यति कर्मक्षयात् वृक्षस्येव कूलस्थस्य न प्रयुक्तं नाभिनन्देत्तमरणमिति यस्तु लब्धज्योतिर्वशीकृतप्राणसंचारो मोहविकारनिगृहीतमनास्तेन पूर्वमुत्क्रमणं कर्तव्यं यथा शकुनिर्वृक्षं त्यजति ग्राह इव ग्राहः दुःखहेतुत्वसाम्यात् तदा हरुच्छ्रात् प्राप्तिपूर्विकस्यापि यावच्छरीरं वस्तु सामर्थ्याद्भवत्येव कच्छपूर्वविप्रतिपत्तावेतदुच्यते ॥ ७८ ॥

(२) सर्वज्ञ नारायणः । नदीकूलमिति उत्पन्ने ज्ञानेऽपि यदि देहारम्भककर्माणि भोग्यानि भवन्ति तदा कर्मक्षयक्रमेण कालान्तरे देहत्यागस्तमपेक्ष्य नदीकूलं यथा वृक्ष इत्युक्तं नद्यभिघाता वृक्षस्य क्रमादेव पातात् । यदा तु न तादृशं कर्मावशिष्टमस्ति तदा सद्यो देहत्यागो भोग्यकर्माभावात् तमपेक्ष्य वृक्षं वा शकुनिरित्युक्तं तत्क्षणादेव तस्य वृक्षविभागात् । कच्छ्रात् ग्राहात् दुःखात् ग्राहात् ग्राहसदृशात् भयहेतोः ॥ ७८ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्रह्मोपासकस्य देहत्यागसमये मोक्षः आरब्धदेहस्य कर्मणो भोगेनैव नाशात् । तत्र देहत्यक्तुर्देविध्यमाह । यः कर्माधीनं देहपातमवेक्षते स नदीकूलं यथा वृक्षस्त्यजति त्वपातमजानन्नेव नदीरेयेण पात्यते तथा देहं त्यजन् यश्च ज्ञानकर्मप्रकर्षाद्भीष्मादिवत्त्वाधीनमृत्युः स यथा पक्षी वृक्षत्वेच्छया त्यजति तथा देहमिमं त्यजन् संसारकष्टाद्ग्राहादिव जलचरप्राणिभेदाद्विमुच्यते ॥ ७८ ॥

(४) राघवानन्दः । अवश्यं मुक्तिं यास्यतीत्यत्र दृष्टान्तमाह नदीति । नदीवेगेन प्रशिथिलमूलो यथा वृक्षः कच्छरूपग्राहात् संसारात् नदीनिविष्टस्य नाजीर्यद्वा हिर्भाव इत्यनुभवः ॥ ७८ ॥

(५) नन्दनः । उक्तमेवार्थमुदाहरणार्थं दृष्टान्ताभ्यां प्रपञ्चयति नदीति । नदीकूलस्थो यथा वृक्षो नदीकूलमात्मानं न मन्यते यथा वृक्षस्थः शकुनिर्वृक्षमात्मानं न मन्यते एवं देहस्थो देही देहमात्मानं न मन्यत इत्यभिप्रायः । कच्छ्राद्ग्राहात् संसारात् ॥ ७८ ॥

(६) रामचन्द्रः । तथा इमं पुरोवर्तिनं देहं त्यजन् दुःखग्राहात् ग्राहसदृशकच्छ्राद्विमुच्यते ॥ ७८ ॥

प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् ॥ विस्तृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम् ॥ ७९ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रीतिपरितापकृतश्चित्तसंक्षोभो हर्षशोकादिलक्षणोऽनेनोपायेन परिहर्तव्यः यत्किञ्चित्प्रियं करोति यन्मम सुकृतविशेषस्तस्येदं फलं निष्पन्नं अहंभर्ता मम स्नेहबुद्ध्या प्रियं न चायमेव शक्नोति कर्तुं यन्ममायमप्रियं-

करोति तन्ममैव दुष्कृतंपीडाकरमित्येवंविष्य ध्यानयोगेन चित्ते भावयेत् अतोऽस्य न प्रियकारिणि रागोनाप्रियकारिणि द्वेषोजायते । एवंकुर्वाणः सनातनंशाश्वतंब्रह्माभ्येति अभिमुखं प्राप्नोति अर्चिरादिपथेन न व्यवधीयते । शाश्वतग्रहणादनावृत्तिः प्रतीयते ॥ ७९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रियेषुस्त्वेष्विति एतेन ब्रह्मविद एतादृशी शक्तिर्यतः कर्माण्यपीच्छन्संचारयत्यतस्तस्यापि विप्रियं न कार्यमित्यत्र तात्पर्यम् ध्यानयोगेन ध्यानाभ्यासेन ब्रह्माभ्येति ॥ ७९ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्रह्मविदात्मीयेषु प्रियेषु हितकारिषु सुकृतमप्रियेष्वहितकारिषु दुष्कृतं निक्षिप्य ध्यानयोगेन नित्यं ब्रह्माभ्येति ब्रह्मणि लीयते । तथाच श्रुतिः तस्य पुत्रादायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यं द्विषन्तः पापकृत्यमिति । अपराश्रुतिः ततस्तेषु सुकृतदुष्कृते विधुनते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपपद्येरन् प्रिया दुष्कृतमिति । एवमादीन्येव वाक्यान्युदाहृत्य सुकृतदुष्कृतयोर्हानिमात्रश्रवणेऽप्युपायनं प्रतिपत्तव्यमिति ब्रह्ममीमांसायाम् । हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगायनवत्तदुक्तमित्यादिसूत्रैर्बादरायणेन निरणायि । ननु परकीयसुकृतदुष्कृतयोः कथं परत्र संक्रान्तिः । उच्यते । धर्माधर्मव्यवस्थायां शास्त्रमेव प्रमाणम् संक्रामोऽपि तयोः शास्त्रप्रमाणक एव । अतः शास्त्रात्संक्रमणयोग्यावेतौ सिध्यतः । अतः शास्त्रेण बाधान्न प्रतिपक्षानुमानोदयः शुचिनरशिरः कपालं प्राण्य द्रुत्वा तश्चाङ्गादिवदितवन् । मेधातिथिगोविन्दराजौ तु त्वेषु प्रियेषु केनचित्कृतेषु ध्यानाभ्यासेनात्मीयमेव सुकृतम् तत्र कारणत्वेनारोप्य एवमप्रियेष्वपि केनचित्कृतेष्व्वात्मीयमेव प्राग्जन्मार्जितं दुष्कृतं कारणत्वेन प्रकल्प्योद्धृत्य तत्संपादयितारौ पुरुषौ रागद्वेषाख्यौ त्यक्त्वा नित्यं ब्रह्माभ्येति ब्रह्मत्वभावमुपगच्छतीति व्याचक्षाते । तन्न विसृज्येति क्रियायां सुकृतं दुष्कृतमिति कर्मद्वयत्यागेन तत्संपादयितारावित्थश्रुतकर्माध्याहारात्कर्मद्वयेच श्रुतक्रियात्यागेन कारणत्वेन प्रकल्प्येत्याद्यश्रुतक्रियाध्याहारात् । किंच ध्यासव्याख्यातवेदार्थमेवमस्यामनुस्मृतेः । मन्ये न कल्पितं तं गर्वादिवाचीनं विचक्षणैः ॥ ७९ ॥

(४) राघवानन्दः । सुहृदः साधुकृत्यं द्विषन्तः पापकृत्यमित्यादिश्रुतिमाश्रित्य विद्वत्सत्कारनिन्दाविधानार्थं स्तुतिमाह प्रियेष्विति । प्रियेषु त्वेषु ज्ञातिषु अप्रियेषु द्विषन्तु च ध्यानेन निदिध्यासनेन युज्यते जन्यत इति ध्यानयोगो ब्रह्मसाक्षात्कारस्तेन ततस्तत् पश्यध्यायमान इति श्रुतेर्ध्यानसाध्या ब्रह्मधीरिति कृतसक्षात्कारस्य ज्ञानेन पुण्यापुण्ययोर्दाहादन्यागामित्वस्य न्यायविरोधाद्धानौ तूपायनमित्यादिन्याये निर्णीतत्वाच्च स्तुतिमात्रम् ॥ ७९ ॥

(५) नन्दनः । पुरातनयोश्च पुण्यपापयोस्त्यागोपायमाह प्रियेष्विति । प्रियेषु मित्रेषु । ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येतीत्यन्वयः ॥ ७९ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्वेषु प्रियेषु पुत्रेषु बन्धुषु वा सुकृतं सुखं अप्रियेषु शत्रुषु दुष्कृतं ध्यानयोगेन विसृज्य सनातनं ब्रह्माभ्येति प्राप्नोति ॥ ७९ ॥

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः ॥ तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ ८० ॥

(१) मेधातिथिः । चित्तधर्मोपदेशोऽयं न स्पृहा कार्याभिप्रेतवस्तूपादानपरिहारेण निःस्पृहत्वं अपितु तत्कारणत्यागेन भावचित्तधर्मोवात्मनोवाभिलाषलक्षणः सर्वभावेषु पदार्थवचनो द्वितीयो भावशब्दः । सर्वग्रहणेनावश्यकर्तव्येष्वपि पानभोजनादिषु शरीरस्थितिहेतुष्वभिष्वङ्गोनिषिध्यते न पुनरिच्छा । सा ह्यस्य भाविनी वस्तु सामर्थ्यजा बुभुक्षा पिपासा च भिन्ना चेच्छा स्पृहातो रागानुबन्धिनी द्रव्यनिमित्ता स्पृहा इच्छातु भोजनादौ भुक्तपीताहारपरिणाशसमनन्तरं स्वयं उमजायते ॥ ८० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यदा भावेन मनसा सर्वभावेषु सर्वपदार्थेषु निःस्पृहो भवति । इह च जीवन्मुक्तिकाले ॥ ८० ॥
 (३) कुल्लूकः । यदा परमार्थतो विषयदोषभावनया सर्वविषयेषु निरभिलाषो भवति तदेहलोके संतोषजन्यसुखं परलो-
 के च मोक्षसुखमविनाशि प्राप्नोति ॥ ८० ॥

(४) राघवानन्दः । सुखप्राप्तिप्रकारमाह यदा भावेनेति । संसारदोषभावनया परमात्मभावनया वा भावेषु विषया-
 दिषु । तदुक्तम् ॥ रसवर्जैरसौन्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तत इति ॥ ८० ॥

(५) नन्दनः । अथ सर्वसङ्गत्यागमाह यदेति भावेनान्तःकरणेन । सर्वभावेषु सर्वविषयेषु । इह सुखं विषयार्जनप्रय-
 त्तदुःखाभावः । शाश्वतं सुखं परंपदम् ॥ ८० ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वभावेषु विषयेषु उपरोधेषु भावेन मनसा यदा निःस्पृहो भवति ॥ ८० ॥

अनेन विधिना सर्वास्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैः शनैः ॥ सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ ८१ ॥

(१) मेधातिथिः । संगंस्त्यक्त्वा सर्वान् । गवाश्वहस्तिहिरण्यदासभार्याक्षेत्रायतनादिषु ममेदमिति बुद्धिः संगः ।
 तत्यागादेकारामतायाः परिग्रहः ग्रहणेन च एवं प्रथममुपाश्रित्यैव प्राधान्येन । ततोऽनेन विधिना पूर्वोक्तेन क्रियाकलापेन
 ब्राह्माध्यात्मिकेनानुष्ठितेन ब्रह्मणि चिटूपेऽवतिष्ठते कर्माणि वक्ष्यति । सर्वद्वन्द्वैः शुभाशुभकर्माथैः सुखदुःखैर्विनिर्मुक्तो-
 भवति ॥ ८१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संगान् विषयरागान् । द्वन्द्वमशनापिपासे शोकमोहौ जरामृत्यूच द्वे द्विसमुदायत्वात् ब्रह्म-
 ण्येवावतिष्ठते ब्रह्म भवतीत्यर्थः ॥ ८१ ॥

(३) कुल्लूकः । पुत्रकलत्रक्षेत्रादिषु ममत्वरूपान्क्रमेण सङ्गान्सर्वास्त्यक्त्वा द्वन्द्वैर्मानापमानादिभिर्विनिर्मुक्तोऽनेन यथो-
 क्तेन ज्ञानकर्मानुष्ठानेन ब्रह्मण्येवात्यन्तिकं लयमाप्नोति ॥ ८१ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्रह्मण्यवसानप्रकारमाह अनेनेति । शनैः शनैरित्ययमभिप्रायः आदौ क्रमप्राप्तस्त्रिदण्डास्या-
 त्ततएकदण्डा ततोऽदण्डा इति अतएवाहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मणावस्थानम् । तथा च श्रुतिः दण्डान् लोकाग्नीन् विसृजेदिति त्र्युप-
 क्रम्य वैणवं दण्डकौपीनं परिग्रहेत् तथा न दण्डं न शिखां न कमण्डलुं यज्ञोपवीतं चरति परमहंसः तथात्मन्येवावतिष्ठति
 ॥ ८१ ॥

(५) नन्दनः । अनेन विधिनोक्तेन चातुराश्रम्यकर्मणा शनैः शनैर्गुरुसेवया स्नातकद्रवैस्तपश्चर्ययाचेत्यर्थः । चतुर्था-
 श्रमे सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः ॥ ८१ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वान्संगान् शनैः शनैः त्यक्त्वा सर्वद्वन्द्वं क्षुत्पिपासे शोकमोहौ एतादृशैर्विनिर्मुक्तः । ब्रह्मण्यव-
 तिष्ठते ब्रह्मत्वरूपं प्राप्नोति ॥ ८१ ॥

ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदभिशाब्दितम् ॥ न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्रुते ॥ ८२ ॥

(१) मेधातिथिः । ध्याने सति भवति ध्यानिकं ध्याने क्रियमाणे लभ्यते किंतद्यदेतदनन्तरमभिशाब्दितमुक्तमाभि-
 मुख्येन तात्पर्येण प्रतिपादितम् । सुरुतदुष्कृतयोः स्वयोः प्रियाप्रियहेतुत्वन्यासः पुरुषस्य यदप्रियकर्तृत्वं तज्ज्वरस्यैव पीडा-
 हेतुत्वमग्निरिव दुरुपसर्पणदग्धत्वं । यथानाऽग्निदग्धो भिद्नेष्टि एवं पुरुषमन्यप्रियकारिणं मन्यते न प्रतिषेद्धा स्यात् । एतच्च

ध्याने सति भवति । एकाग्र्ये चित्ते भवति सर्वकालमेतद्बुद्धयेनाभ्यसितव्यम् । यथा सुखदुःखे । इमेकर्मणःफलं न राजा सुखस्य ग्रामादेर्दाता अपितु मदीयायासेन प्रथमोपसर्पणलाभः । पूर्वकृतं पुण्यं कर्म दातृ न राजा । एवं दण्डो नोद्वेजयिता-
कर्माणि मामुद्वेजयन्ति न राजा नापि शक्तोन्यः कश्चित् एतत्सर्वदा ध्यातव्यं चिन्तयितव्यं यदपि संसारवैराग्यजनना-
योक्तमस्थिस्थूणमित्याद्यपि नित्यं भावनीयं न ह्यनध्यात्मवित् । अध्यात्मचित्तमत्रोच्यते । यदेतदभिशाब्दितं न वेत्ति न नि-
श्चिनोति नाभ्यासेन भावयति । अन्नक्रियार्थदलेषु परितुष्टः परिव्राजकस्य या भैक्षचर्या क्रिया ग्रामैकरात्रवासादिश्च न
तत्फलमोक्षाख्यं लभते । यावदस्थिस्थूणादिभावनया भावेनैव निरभिलाषता सर्वत्र नोत्पन्ना यावच्च कर्मसु फलन्यासेन
रागद्वेषप्रहाणंनं कृतमित्यर्थः । तच्च नित्यं यदा एवं चिन्तयिष्यते तदा भवति नाकस्मादिति अथवा ब्रह्मण्येवावतिष्ठतइति ।
एतस्य यदेतदभिशाब्दितमिति परामर्शनम् । ब्रह्मण्यावस्थानध्यानिकं न तु क्रियानुष्ठानमात्रलभ्यं किंतु द्रव्येयमित्यत आह
न ह्यनध्यात्मविदिति । आत्मानमधिकृत्य यो ग्रन्थो वेदान्तादि सो ध्यात्मं न वेद । अथवा ऽऽत्मन्यधियो निर्वृत्तस्तदध्यात्मं । य-
था यमात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणादिव्यतिरिक्तः नैषानाशेनश्यति । कर्ता कर्मणां प्राग्भोक्ता तत्फलानां भेदग्रहाकृष्टस्य सर्व-
मेतद्भवति । यदा त्वयमपहतपाप्मा नदोषैर्नकार्यैः स्पृश्यत एकत्वादेव सर्वमिदं ततो न्यद्यतिरिक्तमस्ति । प्रभासमात्रं
पृथक्त्वं । हरिसवर्णसोदकादिका उपनिषदो यो न वेद ध्यानेनैकाग्रया संततया मत्या न दाढ्यमुत्पादयति स न यथोक्त-
क्रियाफलं लभते । अत आत्मा वेदान्ताभिहितस्वरूपो नित्यमाहारविहारकालं वर्जयित्वा ध्येय इति श्लोकार्थः । अथवा
यद्यपि प्रव्रज्याधिकारस्तथापि गृहस्थस्यापि क्रियाफलग्रहेण निर्देशः यदिक्रिया प्रधानः । अत एतदुक्तं भवति यद्यप्यग्निहो-
त्रादीनि कर्माणि कुर्वते गृहस्थारहस्यविद्याविदश्च न भवन्ति याविद्याः कर्मसूपविष्टा उद्गीथा अथवा यावती उद्गीथमन्वयन्त-
इत्यादिना तेन निपुणाः कर्मकाण्डज्ञा अपि न ततः परिपूर्णफलचिरकालभावि लभन्ते । एषो रथो वाजसनेयके छान्दोग्ये च श्रु-
तिद्वये निर्दिशतः । यो वा एतदक्षरं गार्ग्यं विदित्वा यजते जुहोति तपस्तप्यते बहून् वर्षसहस्राणां तदेतद्भवतीति । तथा
यदेव विद्यया करोति श्रद्धया परिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति । छन्दोगोक्त्यस्तु यथोक्तमध्यात्मोपविष्टां विद्यां विदित्वा
करोति तस्यैव फलातिशयः उक्तं च तद्यद्विदुर्यदमेरण्ये श्रद्धातपइत्युपासत इति यमभिसंभवतीत्यादिविजानतां कर्म-
कारिणामाचिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकप्राप्तिमेषां श्रुतिराह ॥ ८२ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । यदेतदभिशाब्दितमुक्तं पूर्वाध्यायेषु कर्मकाण्डफलं तदपि सर्वं ध्यानिकं ध्यानजम् ।
अनध्यात्मविदात्मविषयज्ञानशून्यः । क्रियाफलं संपूर्णं तथा च श्रुतिः यो वा एतदक्षरं गार्ग्यं विदित्वा ऽस्मिन्लोके जुहोति
यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्न वेदे वास्यतद्भवतीति ॥ ८२ ॥

(३) कुल्लूकः । यदेतदित्यत्यन्तसन्निधानात् पूर्वश्लोकोदितं परामृश्यते । यदेतदुक्तं पुत्रादिममवत्यागोमानापमाना-
दिहानि ब्रह्मण्येवावस्थानं सर्वमेवैतदध्यानिकमात्मनः परमात्मत्वेन ध्याने सति भवति । यदात्मानं परमात्मेति जानाति
तदा सर्वसत्त्वान्न विशिष्यते । तस्य न कुत्रचिन्ममत्वं मानापमानादिकं वा भवति तथा विधज्ञानात् ब्रह्मात्मत्वं च जायते
ध्यानिकविशेषात् । ध्येयविशेषलाभे परमात्मध्यानार्थमाह न ह्यनध्यात्मविदिति । यस्मादात्मानं जीवमधिकृत्य यदुक्तं
स्य परमात्मतद्योनं जानाति न ध्यायति सप्रकृतध्यानक्रियाफलं ममवत्यागमानापमानादिहानि मोक्षं च न प्राप्नोति ॥ ८२ ॥

(४) राघवानन्दः । ननु विद्यमाने जगति कथं ब्रह्मण्येवावस्थानं तत्राह ध्यानिकमिति । अभिशाब्दितं शब्दबोध्यं
शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः । तथा वाचारम्भणविकारो नाम धेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमतः सर्वजगदध्यानिकं सां-
त्पिकं अतः संकल्पाद्यधिष्ठानं नित्यात्मेति ज्ञाने कर्मफलप्राप्तिरपीत्याह नहीति । अथ यो ह वास्माल्लोकात् च लोके मद्यष्टाभैतिसं-
-

वमविदितो न भुनक्तीति श्रुतेः । उक्तं च नाविदित्वाऽऽत्मनः परलोकसंबन्धकर्मस्वधिक्रियतइति । अतएव मेधातिथिः ध्यानिकं ध्याने क्रियमाणे लक्ष्यते कितद्यदेतदनन्तरमभिशाब्दितं तात्पर्येणोक्तं ब्रह्मण्यवस्थानंतदविदो न क्रियाफलमपीत्याह न-
हीति । अथवैतमेवात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसेति ॥ सर्वकर्माखिलं पार्थज्ञाने परिसमाप्यते
इति श्रुतिस्मृतिभ्यां सर्वकर्मणा मात्मविधोपयोगिनिदिध्यासने पर्यवसानार्थमाह अनध्यात्मविदिति ॥ ८२ ॥

(५) नन्दनः । एवं प्रतिपादितमध्यात्मज्ञानं स्तौति ध्यानिकमिति । यदेतदभिशाब्दितं चातुराश्रम्यं कर्म एतत्सर्वध्यान-
कर्माध्यात्मज्ञानसाध्यमित्यर्थः । हिशब्दो हेत्वर्थः । कश्चिदाश्रमीति शेषः ॥ ८२ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतत्सर्वध्यानिकं ध्यानीयं यदेतदभिशाब्दितं कथितं । अनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलं नो-
पाश्रुते ॥ ८२ ॥

अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च ॥ आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत् ॥ ८३ ॥

(१) मेधातिथिः । एवमात्मज्ञानार्थं ध्येये विहिते वेदजपे प्राप्ते तत्साधनतया तत्तन्निधत्ते । जपमात्रमस्याभ्यनुज्ञा-
यते न पुनर्गृहस्थादिव दध्यासार्थमभ्ययनम् । यज्ञेष्वधियज्ञं विध्यायकर्म ब्राह्मणमाधिदैविकमाधिदैवं भवं देवतामकाशकम-
न्त्रास्तेषामेव विशेषाध्यात्मिकमिति । अहंमनुरभवमहंभवमहंरुद्रेभिरित्यादि ॥ वेदान्तइति यदभिहितं तदपि कर्मज्ञान-
समुच्चयं ब्रह्मत्वाद्दर्शयति ॥ ८३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ध्यानाद्विरतस्य यत्कार्यतदाह अधियज्ञमिति । अधियज्ञं यज्ञमधिकृत्य प्रदत्तं भागं ।
ब्रह्म वेदं । आधिदैविकं । देवताश्रुतिमधिकृत्य प्रवृत्तं मन्त्रभागं । आध्यात्मिकं आत्मविषयमुपनिषद्भागं । वेदान्ताभिहितं
वेदान्तेषु जप्यत्वेनोक्तमोकाररूपं ब्रह्म इदं वेदान्ताभिहितम् ॥ ८३ ॥

(३) कुल्लूकः । पूर्वब्रह्मध्यानस्वरूपमुपासनमुक्तम् इदानीं तदङ्गतया वेदजपं विधत्ते । तथाच श्रुतिः तमेतं वेदानुवच-
नेन ब्राह्मणा विविदिषन्तीति विद्याङ्गतया वेदजपमुपदिशति अधियज्ञमिति । यज्ञमधिकृत्य प्रवृत्तं ब्रह्मवेदं तथा देवताम-
धिकृत्य प्रवृत्तं तथा जीवमधिकृत्य तथा वेदान्तेषु कृतं सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यादि ब्रह्मप्रतिपादकं सर्वदा जपेत् ॥ ८३ ॥

(४) राघवानन्दः । अतएवाह अधीति । अधियज्ञं यज्ञमधिकृत्य प्रवृत्तं कर्मकाण्डं ऽपेक्षितं त्वेत्यादि । ब्रह्म वेदं
जपेत् आधिदैविकं देवताईश्वरादितद्विषयकं सहस्रशीर्षादिसंकर्षणकाण्डं । आध्यात्मिकं तत्त्वमसि सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे-
त्यादि वेदान्ताभिहितं वेदान्तपदवाच्यं जपेदित्यनुषज्यते ॥ ८३ ॥

(५) नन्दनः । यतएवं तस्माद्देवस्य यः कश्चित्देशः संन्यासिनोऽध्यात्मज्ञानसहितो जपव्यइत्याह अधीति ।
अधियज्ञं यज्ञमधिकृत्य प्रवृत्तं वेदं ब्राह्मणभागमाधिदैविकं ब्रह्मादिदेवानधिकृत्य प्रवृत्तं मन्त्रभागमाध्यात्मिकं ब्रह्मोपनिषद्भागं वे-
दान्ताभिहितं ब्रह्मप्रणवं जपेत् । अध्यात्मज्ञानसहितमिति भावः । सच्छब्द आध्यात्मिकप्रणवजपयोरादरातिशयसू-
चकः ॥ ८३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अधियज्ञं यज्ञमधिकृत्य ब्रह्म जपेत् यज्ञप्रतिपादकवेदभागं च पुनः आधिदैविकं देवतामधि-
कृत्य तत्स्वरूपप्रतिपादकं मन्त्रभागं च पुनः अध्यात्मिकं आत्मस्वरूपप्रतिपादकं एतन्नयं जपेत् । च पुनः यद्वेदान्ताभिहितं
वेदान्तेन कथितमोकारसततं जपेत् ॥ ८३ ॥

इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् ॥ इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥ ८४ ॥

(१) मेधातिथिः । इदमिति वेदाख्यं ब्रह्माष्ट्रे सोपि ब्रह्मैव । तथाचोक्तं ॥ द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परंच यत् । शब्दब्रह्मणि निष्णातः परंब्रह्माधिगच्छति इति । अध्ययनविज्ञानंतदर्थानुष्ठानेन निष्णातता । पूर्वस्य विधेरयमर्थवादः । अज्ञानामतदर्थविदां जपादिष्वनधिकारेण तथाच भगवता व्यासेन सिद्धिर्जापकानां दर्शिता । अथवा अज्ञानात्माज्ञाः शास्त्रादनवगतात्मतत्वात्मत्वात् । अपि तदुपासना पराअलब्धचित्तस्थैर्यास्तेषां वेदशरणं जपेन कर्मानुष्ठानेन वा वृत्त्या च विद्यया नरकेषु कीटपतङ्गादियोनिषु चानुपपत्तेः इदमेव विजानतां कथं पुनर्विदुषां शरणमत आह । इदमन्विच्छतां स्वर्गं एतावेदेते कर्मकाण्डज्ञा आत्मन्यलब्धमनःप्रतिष्ठावा तेषां कर्मानुष्ठानात् स्वर्गादिफलं लभ्यते । इतरे त्यक्तसद्भाप्रेक्षणीयरागादि-
दोषज्ञा आत्मतत्त्वोपासनापरास्तेषां मानन्त्यमपुनरावृत्तिरिति सर्वेषां वेदे एव शरणं नान्यः पन्था अस्तीत्यर्थः ॥ ८४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्रह्मशरणं रक्षकं । अज्ञानां ध्यानोचितज्ञानशून्यानां । विजानतां तादृक्ज्ञानवतां । आनन्त्यं मोक्षम् ॥ ८४ ॥

(३) कुल्लूकः । इदं वेदाख्यं ब्रह्म तदर्थानभिज्ञानामपि शरणंगतिः पाठमात्रेणापि पापक्षयहेतुत्वात् सुतरांतज्ज्ञानतां-
तदर्थानभिज्ञानां स्वर्गमपवर्गंचेच्छतामिदमेव शरणं तदुपायोपदेशकत्वेन तत्प्राप्तिहेतुत्वात् ॥ ८४ ॥

(४) राघवानन्दः । सर्वसाध्ये वेदस्यैव साधनत्वमाह इदमिति । इदं वेदरूपं अज्ञानां वेदार्थानभिज्ञानां पाठमात्रे-
ण ऋचोधीते इत्यादिफलहेतुत्वावगमात् । विजानतां कर्मकर्तव्यतया विदुषां तदुपायभूतम् । इदमेव स्वर्गमिच्छतां यागाद्यनु-
ष्ठायिनामपीदं साधनं यागादिबोधहेतुत्वात् । आनन्त्यं मोक्षमिच्छतां मुमुक्षूणां तदुपायतत्त्वज्ञानजनकत्वादिति तदुक्तमत्रैव ।
ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः । कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिन इति । उपवीतं वा तत्प्राधानत्वादिति न्यायाद्वा
सर्वसाधनस्तुत्या आत्मध्यानं विधत्ते इदमिति निवीतं मुमुक्षूणां प्राचीनावीतं पितृणामुपवीतं देवानामित्यत्रोपवीतमेव निवीता-
दिपदाभ्यां श्रूयते उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुत इत्युपवीतस्य प्राधान्यवदिति न्यायार्थः । अथवाऽज्ञानामित्यादिपदच-
तुष्टयेन ब्रह्मचर्यादिचतुर्णां ग्रहणम् ॥ ८४ ॥

(५) नन्दनः । आध्यात्मिकज्ञानमेव प्रकारान्तरेण स्तौति इदमिति । इदमध्यात्मज्ञानम् ॥ ८४ ॥

(६) रामचन्द्रः । इदमाध्यात्मिकादित्रयमज्ञानांपुंसां शरणम् ॥ ८४ ॥

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः ॥ स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ८५ ॥

(१) मेधातिथिः । क्रमेण योगोऽनुष्ठानं आत्मज्ञानकर्मणोः समुच्चयेयः क्रमोक्तस्तेन ऋणापाकरणं कृत्वेत्यर्थः । वि-
धूय पाप्मानमश्वद्वरोमाभ्रांसितथैवात्मविद्यया । यथोक्तं यथा पुष्करपलाशआपोनश्लिप्यन्त्येवमेतद्विदि पापं कर्म न-
श्लिप्यतीति । परंब्रह्माधिगच्छति तद्रूपसंपद्यते । निवृत्तभेदग्रहइति विद्याश्रमफलविधिः ॥ ८५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्रमयोगेन ऋणत्रयापाकरणपूर्वकम् ॥ ८५ ॥

(३) कुल्लूकः । अनेन यथाक्रमोक्तानुष्ठानेन यः प्रज्ज्याश्रममाश्रयति स इह लोके पापं विसृज्य परंब्रह्म प्राप्नोति ।
ब्रह्मसाक्षात्कारेणोपाधिशरीरनाशाद्ब्रह्मण्यैक्यंगच्छति ॥ ८५ ॥

(४) राघवानन्दः । अतआह अनेनेति ब्रह्मचर्यसमाप्य गृहीभवेत् गृहीभूत्वा वनीभवेत् वनीभूत्वा प्रव्रजे-
दिति ॥ ८५ ॥

(५) नन्दनः । एवंप्रतिपादितस्य यत्याश्रमस्य फलमाह अनेनेति अनेनोक्तेन यत्याश्रमधर्मकर्मानुष्ठानेन चातुरा-
श्रम्यक्रमयोगेनेति ॥ ८५ ॥

(६) रामचन्द्रः । इह शरीरं विधूय परंब्रह्माधिगच्छति ॥ ८५ ॥

एषधर्मोनुशिष्टोवोयतीनां नियतात्मनाम् ॥ वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत ॥ ८६ ॥

(१) मेधातिथिः । वेदस्य संन्यासः त्यागः स एषामस्तीति वेदसंन्यासिकाः । वेदशब्देन यागहोमादेः कर्मणस्त्या-
गउच्यते न पुनर्जपत्यागः । आत्मचिन्तनं तु विहितमेव केवलं अतः स्वाध्यायः शरीरक्लेशसाध्याश्च तीर्थयात्रादय उपवासा-
दयश्च निषिध्यन्ते । यानि त्वात्मैकसाधनसाध्यानि सन्ध्याजपादिककर्माणि तेषामनिषेधः । तदेतत्त्वस्थानएव दर्शयि-
ष्यामः । आद्येनार्धेन प्रव्रज्याश्रमोपसंहारः उत्तरेण वेदसंन्यासिकस्य कर्मोपदेशप्रतिज्ञा ॥ ८६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यतीनां यमवतां । नियतात्मनां नियमवतां । पक्ककषायाणां परिव्राजकानामिति यावत् ।
वेदसंन्यासिकानां अपक्वतया कषायस्य ध्यानप्रवृत्तावशक्तानां गृहस्थानां मोक्षहेतौ वेदाभ्यासएवात्मानं संन्यस्तानां ।
कर्मयोगं कर्तव्यमुद्यमम् ॥ ८६ ॥

(३) कुल्लूकः । एषः यतीनां यतात्मनां चतुर्णामेव कुटीचरबहूदकहंसपरमहंसानां साधारणो धर्मो वीर्युष्माकमुक्तः इदा-
नीयतिविशेषाणां कुटीचराख्यानां वेदविहितादिकर्मयोगिनामसाधारणवक्ष्यमाणं पुत्रैश्वर्यैः सुखं वसेदिति कर्मसंबन्धं शृणुत । भा-
रते चतुर्धाभिक्षवउक्ताः ॥ चतुर्धाभिक्षवस्तु स्युः कुटीचरबहूदकौ । हंसः परमहंसश्च योयः पश्चात्स उत्तमइति ॥ कुटीचरस्या-
ग्रपुत्रभिक्षाचरणरूपासाधारणकर्मोपदेशः । गोविन्दराजस्तु गृहस्थविशेषमेव वेदोदिताग्निहोत्रादिकर्मत्यागिन्ज्ञानमात्रसं-
पादितवैदिककर्माणवेदसंन्यासिकमाह । तन्न यतो गृहस्थस्याहिताग्नेरन्येष्टौ विनियोगश्चतुर्थाश्रमाश्रयणे चात्मनि स-
मारोपः शास्त्रेणोच्यते तदुभयाभावे सत्येवमेवाग्नीनां त्यागः स्यात् । गोविन्दराजो गृहस्थं वेदसंन्यासिकं ब्रुवन् । एवमेवाहिता-
ग्नीनां त्यागमर्थानुपेतवान् वेदसंन्यासिकं मेधातिथिः प्राहनिराश्रमम् । तन्मते चातुराश्रम्यनियमोक्तिः कथं मनोः ॥ ८६ ॥

(४) राघवानन्दः । यतिधर्ममुपसंहरति एषइति । यतीनां त्रयाणां बहूदकहंसपरमहंसभेदेन । वेदसंन्यासिकानां
कुटीचकानां वेदोक्ताग्निहोत्रादिकर्मत्यागिनां न तु तज्जपत्यागिनामिति मेधातिथिः ॥ ८६ ॥

(५) नन्दनः । एवंप्रतिपादितस्य संन्यास उपपद्यते नान्यस्येत्याह एषइति । एतच्छब्देनात्र फलाभिसंन्धियुक्तं कर्म वि-
वक्षितम् । तस्य त्यागो वेदसंन्यासस्तद्वान्वेदसंन्यासिकः । नहि वेदस्य शब्दराशिरूपस्य संन्यास उपपद्यते । वेदसंन्या-
सिकानां ब्रह्मत्वेन नियतो वेदमभ्यस्यन्निति वक्ष्यमाणत्वात् । कर्मयोगं वक्ष्यमाणं दशलक्षणधर्मात्मकम् ॥ ८६ ॥

(६) रामचन्द्रः । हे द्विजाः नियतात्मनां निश्चमवतां पक्ककषायाणां यतीनां एषधर्मोनुशिष्टः कथितः । वेदसंन्या-
सिकानां अपक्वकषायतया मोक्षहेतौ वेदाभ्यासरतात्मनां कर्मयोगं निबोधत ॥ ८६ ॥

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च व्रानप्रस्थो यतिस्तथा ॥ एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ ८७ ॥

(१) मेधातिथिः । ननु च संन्यासिककर्माणि वक्ष्यामीति प्रतिज्ञयाऽऽश्रमानुक्रमणमप्रकृतं केचिदाहुर्न संन्यास आश्र-
मान्तरमत्रैवान्तर्भावोस्येति दर्शयितुम् । सच कलिगृहस्थेन्तर्भावितः गृहे हि वासस्तस्य । अन्यैस्तु प्रव्रज्यायां संगत्यागसा-

मान्याद्यतोनास्यान्तर्भावेप्रयोजनं पुरुषधर्मैर्यतिधर्मैश्च नयागादावधिकरिष्यति । वैशेषिकैश्च त्वशब्दविधानादनाश्रमि-
त्संवत्सरमनाश्रमीति प्रायश्चित्तप्रसङ्गादिति चेत् वचने नैवास्याव्यवस्थायाविहितत्वात्कुतः प्रायश्चित्तप्राप्तम् । तस्माद्गृहस्था-
दितुल्यतया संन्यासिकंप्रशंसितुमाश्रमान्तरसंकीर्तनम् तच्च समुच्चयंद्रढयितुं गृहस्थानमवस्थितिरेषामित्यर्थः । गृहस्थः
प्रभवः स्थितिहेतुरेषामिति विग्रहः ॥ ८७ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । तत्र गार्हस्थ्यमेव तावत्स्तौति ब्रह्मचारीति । एते गृहस्थप्रभवाः । गृहस्थस्यैवापत्यो-
त्पादकत्वात् अनुत्पन्नानां चाश्रमायोगात् ॥ ८७ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानीं वेदसंन्यासिकस्य प्रतिज्ञाते कर्मयोगेऽन्तरं वक्तुमुचितेऽपि वेदसंन्यासिकः पंचमाश्रमी नि-
राश्रमी वा चत्वार एवाश्रमानियता इति दर्शयितुमुक्तानां श्रमाननुवदति ब्रह्मचारीति । ब्रह्मचर्यादयो य एते पृथगाश्रमाउ-
क्ता एते चत्वार एव गृहस्थजन्या भवन्ति ॥ ८७ ॥

(४) राघवानन्दः । कुटीचकाख्यानां वेदसंन्यासिकत्वेन पञ्चमाश्रमत्वं प्राप्तमिति शङ्का स्यात्तदर्थमुक्तानां श्रमाननुव-
दति ब्रह्मचारीति । एषां नैष्ठिकोपकुर्वाणषट्कर्मत्रिकर्मवालखिल्यफेनपकुटीचकबहूदकाद्यवान्तरभेदेषु चत्वार एव त इति ।
गृहस्थप्रभवा गृहस्थमाश्रित्यैव प्रकर्षेण ते भवन्ति । गृहस्थस्यापि शिलोञ्छनादिवृत्तिर्गृहस्थमाश्रित्यैव भवति । यद्वा गृह-
स्थस्यैव सर्वे चत्वारः पुत्रास्तदन्येषां पुत्राभावादिति तथाच गौतमसूत्रं एषा गृहस्थैकायोनिरिति ॥ ८७ ॥

(५) नन्दनः । न केवलं चतुर्थाश्रम एव वेदसंन्यासिकस्य परमगतिप्राप्त्युपायः किंतु यः कश्चिदप्याश्रम इति श्लोक-
द्वयेनाह ब्रह्मेति । ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यम् । भावप्रधाननिर्देशः । एवमुत्तरत्रापि । गृहस्थप्रभवा गार्हस्थ्यमूलाः । अनेन गार्ह-
स्थ्यस्य श्रेष्ठ्यं सूचितम् ॥ ८७ ॥

सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः ॥ यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥ ८८ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । सर्वेऽपि क्रमशो न व्युत्क्रमेण । यथाशास्त्रं न तु स्वेच्छया । आश्रमधर्मपरिग्रहेण यथो-
क्तकारिणं मोक्षानुगुणत्वेनोक्तानां क्रमानैष्ठिकधर्मवेदसंन्यासमहाप्रस्थानाभ्यानाभ्यासानां कर्तारं । परमां गतिं मोक्षं नयन्ति
न तु यत्याश्रममात्रं । तथाच सर्वप्रभवत्वान्मोक्षहेतुत्वादगार्हस्थ्यं प्रशस्ततरमित्यर्थः ॥ ८८ ॥

(३) कुल्लूकः । एते सर्वे चत्वारोऽप्याश्रमाः शास्त्रानतिक्रमेणानुष्ठिताः । अपिशब्दाच्चयोद्भावेकोऽपि यथोक्तानु-
ष्ठितारं विप्रं मोक्षलक्षणां गतिं प्रापयन्ति ॥ ८८ ॥

(४) राघवानन्दः । सर्वे धर्मा ब्रह्मचर्यादयः क्रमशोऽुक्तक्रमेण निषेविता अनुष्ठिताः । यथोक्तकारिणं यथावि-
ध्याश्रमचतुष्टयानुष्ठितारं । विप्रमिति मनुवचनाद्विप्रदेहस्यैव संन्यासात्मज्ञानान्मुक्तिः । ब्राह्मणाविविदिषन्ति ब्राह्मणाः पुत्रैष
णायाश्च सब्राह्मणः केन स्यादिति ब्राह्मणश्रुतेः । गर्भस्थो वा मदेवः प्रतिपेद इति मन्त्रलिङ्गात् श्वेतकेतुभृत्वादिसंवादान् । का-
श्यादिमृतानामप्यन्येषां तात्कालिकविप्रदेहो नुमेय इति परमामिति विश्लेषणान्मोक्षाख्याम् ॥ ८८ ॥

(५) नन्दनः । यथोक्तकारिणं न तु यथोक्तफलैषिणम् ॥ ८८ ॥

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ॥ गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् विभर्ति हि ॥ ८९ ॥

(१) मेघातिथिः । इदमयुक्तं वर्तते वेदशास्त्रश्रुत्या गार्हस्थ्यस्य विधानं प्रतिज्ञायते । इतरेषां च भर्तव्यत्वम् । गार्हस्थ्य-
स्य प्रत्यक्षश्रुतिविधानेनैवाश्रमान्तराणां सङ्गावः । संनिहिततपःस्मृतिभ्यो बलीयसी श्रुतिः । अथोच्येत नैवायमभिसंबन्धः-

क्रियते वेदश्रुत्याविधानादित्यभिसंबन्धः सत्यपिचैतान्विविधाने गृहस्थस्य श्रेष्ठ्यन्तर्द्धारणनिमित्तं सत्रीनेतानित्यनेन प्रति-
पाद्यते । तत्र वक्तव्यं कथमाश्रमान्तराणां श्रुतत्वात् श्रौतत्वे च स्पष्टेयं स्मृतिर्विरुध्यते । प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्येत्यादिना
यः संबन्धान्तरसंभवः । अथोच्येत गृहीभूत्वावनीभवेत् वनीभूत्वाप्रव्रजेदिति जावालश्रुतिमपेक्ष्य सर्वाण्येवाश्रुतानीति-
स्मृतिविरोधस्तावदपरिहृतएव । किंच नैषाश्रुतिविधात्रो न हेतुश्रुतं एवंने वा परिहर्तव्यानीमानि वनस्थेनैव कर्मा-
णिकर्तव्यानीमानि प्रव्रजितेनेति । यथाऽऽधानात्प्रभृत्याचरमेष्टिसर्वगृहस्थकर्म आश्रमान्तराणां केवलं नाममात्रं श्रूयते
गृहीभूत्वेत्यादि तस्मात्पूर्वापरविरुद्धं गार्हस्थ्यं वेदमूलमाश्रमाणां चोपदेश्यम् । अत्रोच्यते सत्यमाधानात्प्रभृति गृहकर्माणि-
प्रत्यक्षश्रुतानि कृतदारपरिग्रहस्य तत्र विवाहे प्रयुक्तिनिरूपणात्किं कर्म श्रुतिभिः प्रयुज्यते अग्निहोत्रादिभिः स्वाहाकारः
श्रुतेरथापत्योत्पत्तिविधिनाउतद्वेष्टेन पुरुषार्थेन अनुरागः स्त्रीमात्रं प्रयुक्ते न विवाहं येन विनायन्निष्पद्यते तत्तस्य प्रयोजक-
मिति न्यायः । राणिणां च स्त्रीमात्रेण गृहकर्मनिर्वृत्तिः किमिति विवाहमपेक्षेरन् सत्यं यदि वचनान्तरे स्त्रीमात्रगमनं निषि-
द्धं स्यात् । समानेपि सर्वत्र वेदाभिगमे शास्त्रतोगम्यागम्यविवेकः । अतश्च धीरप्रकृतीनां न विवाहमन्तरेण स्वार्थसंपत्तिरि-
तियुक्तेरेव वेदस्य प्रयोजकाशङ्का यद्येवं सर्वस्य न प्रयोजकानि सन्ति सर्वेषां तस्मिन्सत्यर्थनिवृत्तौ किंतेन निरूपितेन
योस्ति विवाहप्रयोजकः सोस्तु आश्रमान्तराणि प्रत्यक्षविधाने गार्हस्थ्यस्य कथमुपपद्यन्तइत्येतदधिकृतं विवाहप्रयुक्ति-
विनातु केन संगच्छते । उच्यते यावदुक्तं सर्वेषामर्थसिद्धिरिति सत्यं एकेन प्रयुक्तावन्यस्य प्रसंगादुपकारसिद्धौ न पृथक्-
प्रयोक्तृत्वकल्पना यथाव्रीयहः पुरुषार्थेन जीवनेन प्रयुक्ताः कर्मसु विनियुज्यन्ते । न कर्मणि धनार्जनं प्रयुज्यते यथा वाविद्या
सत्यपि वेदस्यानधिकारे न प्रयुज्यते स्वाध्यायविधिनैव तत्सिद्धेः । एवमिह कामतः प्रवृत्तिसिद्धेर्न कर्मश्रुतयः प्रयोक्तव्याः
तेनाकृतविवाहमपि कृत्यकर्मविधय उपपत्स्यन्ते अतश्च यो ब्रह्मचरमप्येव कथंचित्परिपक्वकषायस्सन विवक्षते ततस्सद्विती-
यत्वाभावान्नाधिकरिष्यते । अतश्च श्रौतेष्वनधिकारात्तादशस्याश्रमान्तरतापत्स्येत । अन्ये मन्यन्ते नायं धनतुल्यो विवा-
हः यथा धनेन विना जीवनमनुपपन्नमिति सर्वे जीवेद्धनतः एवं न स्त्रियमन्तरेण जीवनाभावइत्यतएव न दृष्टं नियमिनः
प्रयोजनसंभवतोति धर्माधिकाराथोपि युक्तो विवाहः अवश्यंचैतदेवं विज्ञेयमधिकारोत्पत्त्यर्थं यत्नः कर्तव्यइति । इतरथा
हि कृतोत्सर्गस्याशुचित्वादधिकारापनये जननादि शुद्धकालवस्थे च संपादयतो न नित्यकर्मातिक्रमः स्यात् । ततश्च
केनार्थेन मृतादि शुद्धयवधिक्लेशमादध्यात् तदपि विहितमेवेति चेत् एतावन्मात्रस्यातिक्रमो न पुनर्विधिसहस्य । अथोच्ये-
त कस्य पुनर्विधेरयं व्यापारो यदपि कृतत्वसंपत्त्यर्थमधिकृतः स्यामिति पुरुषेण यत्नः कर्तव्यइत्युपदिशति । एतावदग्नि-
होत्रादिविधयस्तेयस्याग्नयस्तद्विषयां कर्तव्यतां गमयन्ति न त्वशीनामुत्पत्तिप्रयुञ्जते । अग्नयोपि काम्येषु लिप्सया प्रवर्त-
मानेन तदधिकारसिध्यर्थमाधीयन्ते । तथाहि तेषु जातेष्वाहिताग्निव्येयावज्जीवश्रुतयः । भार्यावतश्चाधानेऽधिकारः
यथैवाधिकारिणमात्मानं कर्तुमशीनाधत्ते एवं भार्यामप्युपयच्छते अतो न कस्यचिद्विधेरर्थो विहितो यदिनाग्निहोत्रादिष्वधिका-
रो जनयितव्यः न च विवाहविधिरेव स्वार्थकर्तव्यतामवगमयति नित्याग्निहोत्रादिश्रुतिवत्संस्कारकर्मत्वादधिकारश्रवणाभावा-
च्च अत्र पूर्वेवदन्ति । ऋणत्रयापाकरणश्रुतिरस्ति जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान्प्रजायतइत्यादि । एषा श्रुतिर्जात-
मात्रनिबन्धना । न चात्र जन्मद्वितीयमुपनयनाख्यमभिप्रेतं प्राकृततस्तिर्यक्समानधर्मत्वात् । आधानेजन्मनि सति यावता
कालेनाधिकारावगमो भवति तदेव ऋणश्रुत्या परिमृश्यते । ततश्च विदुषः स्तस्यधिकारे यः कन्यायाचमानो न प्रामुयाद्याव-
त्सर्वतः पलितस्तस्य वानप्रस्थादावधिकारः । सहेतन्निश्चिनोति यौवने वा याकन्यासर्वतरमिदानीं याचते कथमसौ ऋण-
केशस्यैवाधानं श्रुतं भार्यामरणं वर्जयित्वा न सर्वतः पलितेनाधातव्यमिति श्रुत्यर्थव्याचक्षते कर्मसंबन्धाद्गृहस्थः श्रेष्ठः अत-

आश्रमस्यैव श्रेष्ठ्यमुक्तं भवति त्रीनेतानिति । इदमपरं श्रेष्ठ्यकारणं यदन्येषामाश्रमाणां भरणं । तदुक्तं ज्ञानेनानेन चेति ॥ ८९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तदेव प्रकृतमाह सर्वेषामिति । वेदेश्रुतितः शब्दाभिधानवृत्त्या गृहस्थस्य धर्माणामेव बाहुल्येन विधानदर्शनादितरधर्माणांतुक्चिदेव विधानाद्वलवत्तात्पर्यं गार्हस्थ्यधर्म एव श्रुतेरित्यर्थः । श्रेष्ठत्वे हेत्वन्तरमाह सत्रीनिति । त्रीनाश्रमान् विभर्ति पुष्पाति तस्माद्गृहस्थाश्रमे परोपकारबाहुल्यत्तस्य च सत्त्वशुद्धित्वाद्गृहस्थ एव श्रेष्ठः ॥ ८९ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रकृतवेदसंन्यासिकस्य गृहे पुत्रैश्वर्यसुखेवासंयक्ष्यति तदर्थं गृहस्थोत्कर्षमाह सर्वेषामिति । सर्वेषामतेषां ब्रह्मचार्यादीनां मध्ये गृहस्थस्य श्रूयमाणत्वेन प्रायशोऽग्निहोत्रादिविधानाद्गृहस्थो मन्वादिभिः श्रेष्ठ उच्यते । तथा यस्माद्ब्रह्मचारिवानप्रस्थयतीनसौ भिक्षादानेन पोषयति तेनाप्यसौ श्रेष्ठः यथोक्तं यस्माच्च योऽन्याश्रमिणो ज्ञानेनानेनानेन चान्वहमिति ॥ ८९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच सर्वेषामिति । विधानमाचरंस्तेभ्यस्त्रीनेतान् विभर्तीति कृत्वा श्रेष्ठः । वानप्रस्थस्यापि गृहस्थकालीनविद्याद्युपजीवित्वात् ॥ ८९ ॥

(५) नन्दनः । तथापि वेदसंन्यासिकस्य गृहस्थाश्रमश्रेष्ठतर इत्याह सर्वेषामिति । वेदस्य स्मृत्याः प्रत्यक्षेण विधानतः वैदिकानामाधानादीनां कर्मणां गृहस्थमधिकृत्य विधानस्य प्रत्यक्षश्रुतिमूलत्वादित्यर्थः ॥ ८९ ॥

(६) रामचन्द्रः । समृहस्थः त्रीनेतानाश्रमान् विभर्ति ॥ ८९ ॥

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितम् ॥ तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितम् ॥ ९० ॥

(१) मेधातिथिः । एष एवार्थो दृष्टान्तेन दृढीक्रियते । नद्योगद्वादयो भिन्नादयोनदाः केनचिदाधारसन्निवेशभेदेन रसभेदेन च नदीनदयोर्निर्देशभेदः एकत्वविधानंतु रुढ्या लिङ्गभेदे भार्यादारशब्दवत् । संस्थितिराश्रमः समुद्रो यथा सर्वजलाश्रय एव गृहस्थः सर्वधर्माधिकृतवान् ॥ ९० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । हेत्वन्तरमाह यथेति । संस्थितिमवस्थानं ब्रह्मचर्यपूर्वकत्वादाश्रमान्तराणां तस्य च गृहस्थाश्रयणनियतत्वात् अतो विश्वस्याश्रयणीयत्वादपि श्रेष्ठ इत्यर्थः ॥ ९० ॥

(३) कुल्लूकः । यथा सर्वे नदीनदा गङ्गाशोणाद्याः समुद्रेऽवस्थितं लभन्ते एवं गृहस्थादपरे सर्वाश्रमिणस्तदधीनजीवनत्वाद्गृहस्थसमीपेऽवस्थितं लभन्ते ॥ ९० ॥

(४) राघवानन्दः । किंच यथेति । संस्थितिं गृहस्थसमीपे इति कुल्लूकः । संस्थितिं मूर्तिं प्राप्य गृहस्थेष्वेव यान्ति जायन्त इति वार्थः । गृहस्थे सति सम्यक्स्थितिं तत्रैव गृहस्थप्रभवा इत्युक्तं । गृहस्थं सर्वधर्मेऽधिकृत्य मर्थवादहतिमेधातिथिः ॥ ९० ॥

(५) नन्दनः । संस्थितिम् प्रतिष्ठाम् ॥ ९० ॥

(६) रामचन्द्रः । संस्थितिं एकत्र स्थितिम् ॥ ९० ॥

चतुर्भिरपि चैवैतैर्निर्यमाश्रमभिर्द्विजैः ॥ दशलक्षणकोधर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ ९१ ॥

(१) मेधातिथिः । वक्ष्यमाणोपन्यासार्थः श्लोकः । दशलक्षणानि यस्येति बहुव्रीहिः । लक्षणं स्वरूपं । सेवि-

तव्यः सर्वकालमनुष्ठेयः । उक्तानामप्येतेषांप्रधानत्वाय पुनर्वचनं । ज्ञानकर्मसमुच्चयपक्षश्चानेन पुनर्वचनेन दृढीकृतः ॥९१॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । वेदसंन्यासिकधर्मप्रक्रम्य प्रसङ्गादन्येष्वप्युपदिशति चतुर्भिरिति ॥ ९१ ॥

(३) कुल्लूकः । एतैर्ब्रह्मचार्यादिभिराश्रमिभिर्यत्तुर्भिरपि द्विजातिभिर्वक्ष्यमाणोदशविधस्वरूपो धर्मः प्रयत्नतः । सतत-
मनुष्ठेयः ॥ ९१ ॥

(४) राघवानन्दः । चतुर्णां साधारणधर्मानाह चतुर्भिरिति ॥ ९१ ॥

(५) नन्दनः । एतैर्वेदसंन्यासिकैः ॥ ९१ ॥

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥ धीर्विद्या सत्यमक्रोधोदशकं धर्मलक्षणम् ॥ ९२ ॥

(१) मेधातिथिः । धृत्यादय आत्मगुणाः तत्र धृतिर्नाम धनादिसंक्षये सत्त्वाश्रयः । यदि क्षीणं ततः किं शक्यमर्ज-
यितुमिति । एवमिष्टवियोगादौ संसारगतिरियमीदृशीति प्रचलतश्चित्तस्य यथापूर्वमवस्थापनम् । क्षमा अपराधमर्षणम् । क-
स्मिंश्चिदपराद्धरि प्रत्युद्वेजना नारम्भः । दमः अनौद्धत्यं । विद्या मदादित्यागः । अस्तेयं प्रसिद्धं । शौचमाहारादिशुद्धिः ।
इन्द्रियसंयमः अप्रतिषिद्धेष्वपि विषयेष्वप्रसंगः । धीः सम्यग्ज्ञानं प्रतिपक्षसंशयादिनिराकरणम् । विद्याऽऽत्मज्ञानं कर्मा-
भ्यात्मज्ञानभेदेन धीविद्ययोर्भेदः । एतत्पौनरुक्ततया धीविद्येति पठान्तं तन्न सम्यक् भेदस्य दर्शितत्वात् । अन्यत्प्रसिद्धम् ।
अक्रोधः उत्पत्त्यमानस्थानुत्पत्तिः क्षमाकृतेष्वपकारेऽपकारानारम्भः ॥ ९२ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । धृतिः प्रारब्धकर्मणि दुःखे सत्यनुद्वेगः । क्षमा क्रोधहेतुत्पत्तावपि तदनुत्पादः । दमस्तपः-
क्लेशसहता । अस्तेयं परपरिगृहीतेष्वस्पृहा । शौचं मृदादिभिः । इन्द्रियाणानिग्रहो विषयेष्वप्रवर्तनं । क्षीरकार्यान्निवर्तकं
ज्ञानं । विद्याऽऽत्मोपासना । सत्यं मिथ्याहितात्मकवाक्यानुक्तिः । अक्रोधः दैवादुत्पन्ने क्रोधे तन्निवर्तनप्रयत्नः ।
धर्मलक्षणं धर्मकारणम् ॥ ९२ ॥

(३) कुल्लूकः । तमेव स्वरूपतः संख्यादिभिश्च दर्शयति धृतिरित्यादि । संतोषो धृतिः । परेणापकारे कृते तस्य प्रत्यप-
कारानाचरणम् क्षमा । विकारहेतुविषयसन्निधानेऽप्यविक्रियत्वं मनसो दमः मनसो दमनं दम इति सन्दवचनात् । शीतातपा-
दिद्वन्द्वसहिष्णुता दम इति गोविन्दराजः । अन्यायेन परधनादिग्रहणं स्तेयं तद्विन्मस्तेयम् । यथा शास्त्रं मृज्जलाभ्यां देहशोध-
नं शौचम् । विषयेभ्यश्चक्षुरादिवारणमिन्द्रियनिग्रहः । शास्त्रादितत्त्वज्ञानं धीः । आत्मज्ञानं विद्या । यथार्थाभिधानं सत्यम् ।
क्रोधहेतौ सत्यपि क्रोधानुत्पत्तिरक्रोधः । एतद्दशविधं धर्मस्वरूपम् ॥ ९२ ॥

(४) राघवानन्दः । तानेवाह धृतिरिति । धृतिः स्वस्वधर्मास्स्वलनं । क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुता । दमो मनसो निग्रहः ।
शौचं बाह्यमाभ्यन्तरं । धीः शास्त्रतत्त्वज्ञानं । विद्यात्मज्ञानं सगुणोपासना वा ॥ ९२ ॥

(५) नन्दनः । दशलक्षणधर्ममाह धृतिरिति । धृतिः स्वधर्मापरित्यागः । क्षमाऽवमानसहत्वम् । दमोऽनुद्वेगः ।
क्षीर्निषिद्धकरणे लज्जा धीरिति पठेऽध्यवसायः । विद्या बाहुश्रुत्यम् । अक्रोधो वाञ्छितार्थप्रतिधातिषु चित्तस्यावि-
कारः ॥ ९२ ॥

(६) रामचन्द्रः । धृतिः कार्यानुद्वेगः । क्षमा शान्तिः । दमः तपः क्लेशसहिष्णुता । अस्तेयं परद्रव्यनिस्पृहता ।

(९२) धीर्विद्या=हीर्विद्या (क, ख, ग, च, ण, नन्दनश्च)

शौचं मृत्तिकादिभिः । इन्द्रियनिग्रहः । ऋहीः अकार्यान्निवर्तनं । विद्या आत्मोपासना । सत्यं यथार्थभाषणं । अक्रोधः ।
एवंधर्मलक्षणदशकंसंपूर्णम् ॥ ९२ ॥

दशलक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते ॥ अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ९३ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्य विधेःफलकथनं । अभ्ययनात्फलश्रुतिरनुष्ठानश्रुत्यर्था ॥ ९३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । समधीयते जानन्ति । अनुवर्तन्ते अनुतिष्ठन्ति । अज्ञात्वाऽनुष्ठानस्याफलत्वात् ज्ञानेऽपि
फलोक्तिः ॥ ९३ ॥

(३) कुड्मूकः । ये विप्राएतानि दशविधधर्मस्वरूपाणि पठन्ति पठित्वा चात्मज्ञानसाचिव्येनानुतिष्ठन्ते ते ब्रह्मज्ञान-
समुत्कर्षात्परमांगतिमोक्षलक्षणां प्राप्नुवन्ति ॥ ९३ ॥

(४) राघवानन्दः । वेदाभ्यासार्थमेव संन्यासी वेदसंन्यासी तस्य च कृत्यमाह दशेतिद्वाभ्यां । एतेषामध्ययनेनापि
कृतकृत्यतामाह अधीयतइति । अनुवर्तन्ते शब्दतोर्थतश्चाभ्यस्यन्ति परमामनुपमाम् ॥ ९३ ॥

(५) नन्दनः । वेदसंन्यासिनोगृहस्थस्य कर्तव्यमाह । दशेति ॥ ९३ ॥

दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः ॥ वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणोद्विजः ॥ ९४ ॥

(१) मेधातिथिः । संन्यस्येदनृणः यदा ऋणत्रयमपाकीर्णं तदा संन्यासइत्येवमर्थमेतत् । समानकालेप्रब्रज्यायां-
नाधिक्रियते एवंसंन्यासेपि । वेदान्तांनिर्वाधवत् अविदितवेदान्तार्थस्य नास्ति संन्यासः । यद्यपि स्वाध्यायविध्यनुष्ठाना-
क्षिप्तं कर्म विधिशास्त्रवद्वेदान्तज्ञानमपि स्वाध्यायशब्दवाच्यत्वाविशेषात् तथापि वेदान्तानांपुनरुपन्यासो विशेषार्थः त-
त्परेण भवितव्यम् । अथ संन्यस्येदिति कःशास्त्रार्थः । कोयंसंन्यासोनामममेदमिति परिग्रहत्यागः । ननु वेदसंन्यासिकाइ-
त्युक्तं तत्रेदंप्रतीयते । वेदस्य वेदार्थस्यवा संन्यासः । नचवैदिककर्मसिध्यर्थायै प्रतिग्रहादयस्तेषांसंन्यासः इदमानंत्यमि-
च्छतामित्यध्ययनस्य ज्ञानप्राधान्येपि विहितत्वात् । अग्निहोत्रादीनांतुद्रव्यसाध्यत्वादसति ममकारे त्यागएव । सचायंध-
र्मापादकोभृतभार्यस्य परनिष्ठस्य वा कृतसंप्रतिविधानस्य । वाजसनेयकेहि पठ्यते । यदा प्रैष्यन्मन्यतेऽथपुत्रमाहेत्यादि ।
अग्निसमारोपणंच तदा विहितं । अजीर्णस्य च जरया ह्वाएतस्मान्मुच्यतइत्यामनन्ति । ग्रानिचाद्रव्यसाध्यानि संध्योपा-
सनादीनि नित्याग्निहोत्रादीनि तेषामनिषेधात्तत्रान्त्यादुच्छ्वासादधिकारः ॥ ९४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वेदसंन्यासप्रकारमाह दशलक्षगमिति । वेदान्तानुपनिषदः । विधिवदाचार्योपसदना-
दिना अनृणोपाकृतर्णत्रयोभूत्वा संन्यसेद्वेदाभ्यासतदनुगुणाधिकारापादकसंध्योपासनादिकर्मातिरिक्तानि कर्माणि संन्य-
जेत् ॥ ९४ ॥

(३) कुड्मूकः । उक्तदशलक्षणकंधर्मसंयतमनाःसन्ननुतिष्ठन्पुननिषदाद्यर्थगृहस्थावस्थायांयथोक्ताध्ययनधर्मान्गु-
रमुखादवगम्य परिशोधितदेवाद्यृणत्रयः संन्यासमनुतिष्ठेत् ॥ ९४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच दशेति अपठितवेदान्तस्य संन्यासेनाधिकारइत्याह वेदान्तानिति । विधिवदिति
गुरुमुखात् षड्विधालिङ्गपुरःसरंश्रुत्वा वेदान्तानांतात्पर्यनिर्णयंच । षड्विधलिङ्गंतु ॥ उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गतात्पर्यनिर्णय इति ॥ ९४ ॥

(९३) दशलक्षणानिधर्मस्य=दशलक्षणकंधर्म (ज, झ, अ, ढ,)

(५) मन्दनः । संन्यासः काम्यकर्मत्यागः । तथाचोक्तं भगवद्गीतायाम् ॥ काम्यानां कर्मणान्यासं संन्यासं कवयो विदुः । नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ॥ यज्ञोदानंतपश्चैव न त्याज्यं कार्यमेव तत् । यज्ञोदानंतपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ एतान्यपि च कर्माणि सङ्गत्य कृत्वा फलानि च । कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तममिति ॥ १४ ॥

संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन् ॥ नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्यं सुखं वसेत् ॥ १५ ॥

[संन्यसेत्सर्वकर्माणि वेदमेकं न संन्यसेत् ॥ वेदसंन्यासतः शूद्रस्तस्माद्वेदं न संन्यसेत् ॥]

(१) मेधातिथिः । वेदमभ्यस्येति वेदस्यात्यागमाह । दर्शितमेतत् । अभ्यस्यन्निति शतृप्रत्ययान्तपाठोवा । पुत्रैश्वर्यं सुखं वसेत् । पुत्रग्रहणमुत्पन्नस्य पुत्रस्य अन्योपि यस्तत्स्थानः पौत्रादिस्तत्रापि युक्तो गृहान्तरन्यास इत्याहुः ॥ १५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सर्वकर्माणि नित्यनैमित्तिककाम्यानि वेदाभ्यासतदनुगुणदेहशुद्धिहेत्वाचमनस्नानसंध्याकर्मादिभ्योन्यानि संन्यस्य त्यक्त्वा संन्यासात् कर्मानुष्ठानाविना भूतानर्हिसादिदोषानपानुदन् परिहरन् नियतो यमनियमवान् । अभ्यस्यन् सततमधीयानः । पुत्रैश्वर्यं पुत्रगार्हस्थ्ये तेन पञ्चमहायज्ञानुष्ठानं पुत्रेणैव कार्यं स्वयंतु वाच्येकजुह्विति प्राणमित्युक्तप्रकारेण स्वाध्यायेनैव पञ्चमहायज्ञाः संपाद्याः । पुत्रस्यैवैश्वर्ययद्गार्हस्थ्येन त्वात्मन इत्यभिधानेन वित्तेषु ममता पुत्रेणैव कार्या न स्वयं तथा चानीहो भूत्वा निवसेदिति गम्यते १५ ॥

(३) कुहूकः । सर्वाणि गृहस्थानुष्ठेयाग्निहोत्रादिकर्माणि परित्यज्या ज्ञातजन्तुवधादिकर्मजनितपापानि च प्राणायामादिना नाशयन्नियतेन्द्रियउपनिषदोयन्त्यतोऽर्थतश्चाभ्यस्य पुत्रैश्वर्यं इति पुत्रगृहे पुत्रोपकल्पितभोजनाच्छादनत्वेन वृत्तिचिन्तारहितः सुखं वसेत् । अयमेवासाधारणो धर्मः कुटीचरकस्योक्तः इदमेव वक्तुं वेदसंन्यासिनां त्विति पूर्वमुक्तम् ॥ १५ ॥

(४) राघवानन्दः । पुत्रैश्वर्यं पुत्रदत्तभिक्षादौ ॥ १५ ॥

(५) नन्दनः । तत्तत्काम्यकर्मफलभोगानुरूपदेहप्राप्तयः । कर्मदोषास्तानपानुदंस्तेषामपनोदनहेतोः सर्वाणि काम्यकर्माणि संन्यस्य नियतो नियतकर्मकारी वेदमभ्यस्य ज्ञपन् ॥ १५ ॥

(६) रामचन्द्रः । कर्मदोषानपानुदन् दूरीकुर्वन् नियतः सन् वेदमभ्यस्य ओंकारं वा अभ्यस्य पुत्रैश्वर्यं पञ्चयज्ञविधानं पुत्रेण कार्यं एवंविधः सुखं वसेत् ॥ १५ ॥

एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः ॥ संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ १६ ॥

(१) मेधातिथिः । स्वकार्यमात्मोपासनं परमं प्रधानमस्येति स्वकार्यपरमः । अस्पृहः मनसापि स्पृहा न कचित्कर्तव्या ॥ १६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वकार्यपरमः स्वकर्तव्यनित्यकर्मविशेषत्वाध्यायमात्रपरः । अपहत्यैनः संसारे हेतुमधर्मम् । तदानेन गृहस्थ एव धृत्यादिदशलक्षणधर्मानुष्ठानपरः स्वाध्यायनित्योऽनीहमानः पुत्रगृहे भुञ्जानो नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मपरित्यागादविघ्नतात्मदृष्टिर्वैदान्तार्थपरिभावनया ब्रह्मभवतीति दर्शितम् । तत्र स्नानाचमनसंध्योपासनानि स्वाध्यायाधिकारार्थमेवानुष्ठेयं संन्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मस्वितिवचनेन हि संन्यानुष्ठानमपि

॥ (क) । अयमेव श्लोकः (अ, इ,) चिन्हितपुस्तके इत्थं दृश्यते ॥ संन्यसेत्सर्वकर्माणि वेदं तु न परित्यजेत् । परित्यागाद्वेदस्य शूद्रतामनुगच्छति ॥

गोचरे हेतुतया स्मर्यते यमानामियमानां च मध्ये यावत्स्वाध्यायाविरोधेस्तावदनुष्ठेयम् स्वाध्याये च क्रियमाणे निरन्तरं
दर्श्याऽनुसंधेयः अर्थज्ञानशून्यस्य तस्याल्पफलत्वादिति ॥ ९६ ॥

(३) कुण्डूकः । एवमुक्तप्रकारेण वर्तमानोऽग्निहोत्रादिगृहस्थकर्माणि परित्यज्यात्मसाक्षात्कारस्वरूपस्वकार्यप्रधा-
तः स्वर्गादावपि बन्धहेतुतया निस्पृहः प्रव्रज्यया पापानि विनाश्य ब्रह्मसाक्षात्कारेण परमांगतिमोक्षलक्षणांप्राप्नो-
ति ॥ ९६ ॥

(४) राघवानन्दः । स्वकार्यं परमः आत्मसाक्षात्कारप्रधान इति केचित् तत्र पुत्रैश्वर्य इति वचनात् । अविरक्त-
या संन्यासाद्ब्रह्मणः स्थानमित्युक्तेश्च तदुपायनारायणमन्त्रोपासनया सह स्वधर्मानुष्ठानपरो भवेदित्यर्थः । संन्यासेनापहत्य
एनः पापं ॥ मनोवाक्यकर्माणि मे शुद्ध्यन्तां ज्योतिरहं विरजाविपाप्माभूयांसं स्वाहेति मन्त्रलिङ्गादिति । परमांगतिं ब्रह्मलो-
कावामि प्राप्नोति । परमपदप्रयोगात्पुत्रैषणायाश्चेति श्रुतेश्च । तत्राप्याश्रमे विरक्तः सन्परमहंससंन्यासं कृत्वा वा मोक्षावामि-
रिति ॥ ९६ ॥

(५) नन्दनः । वेदसंन्यासिकस्य कर्मयोगानुष्ठाने फलमाह एवमिति । स्वकार्यपरः स्वस्य कार्यनियतः कर्म-
निरतस्तत्फलैश्वस्पृहः ॥ ९६ ॥

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ॥ पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ॥ ९७ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

(१) मेधातिथिः । चतुर्विधो धर्मश्चातुराश्रम्यम् । ब्राह्मणस्य सर्वमेतद्विहितम् । ननु च पूर्वगृहाश्रमे स्थित्वा विधि-
वत्सात्को द्विज इति द्विजग्रहणमुपक्रमे श्रुतं तस्य चानुपजातविरोधित्वाच्चैवार्णिकार्थिता निश्चिता अतश्चेदंब्राह्मणग्रहणं
त्रैवर्णिकमदर्शनाथमेव युक्तम् यद्येकवाक्यतोपक्रमोपसंहारयोर्न स्यात् । एकवाक्यत्वे तु बलवदुपक्रमार्थः शक्यः प्र-
तिपत्तुं कृत्स्नवाक्यपर्यालोचनया योऽर्थः स निश्चीयते । अतो द्विजग्रहणं ब्राह्मणपरतयोपसंहर्तव्यम् । अस्ति ब्राह्मणस्य
द्विजातित्वम् । तत्सर्वेषु द्विजातिषु ब्राह्मण्यम् । अत्रापि द्विजशब्दार्थे संभवति नान्वयिनि लक्षणा न्याय्या । तथा च म-
हाभारते शूद्रस्यापि त्रय आश्रमाः श्रूयन्ते शुश्रूषाकृतकृत्यस्येत्युपक्रम्य आश्रमाविहिताः सर्वे वर्जयित्वा निरामिषम् ।
पारिव्राज्यमित्यर्थः । नैवं तस्यायमर्थः सर्व आश्रमास्तु न कर्तव्याः किं तर्हि शुश्रूषयाऽपत्योत्पादनेन च सर्वाश्रमफलं लभते
द्विजातीन् शुश्रूषमाणो गार्हस्थ्येन सर्वाश्रमफलं लभते परिव्राजकफलं मोक्षं वर्जयित्वा अतो ब्राह्मणधर्म एव चातुराश्रम्यमिति-
सिद्धम् ॥ ९७ ॥ इति भट्टवीरस्वामिसूनोर्भट्टमेधातिथिकृतौ मनुभाष्ये षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥ ॥ ७ ॥ ॥ ७ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । उपसंहरति एष इति । चतुर्विधः आश्रमभेदात् ब्राह्मणस्यैव चतुर्विधो न्येषांतु द्विजाती-
नां त्रिविधस्तु । संन्यासे तेषामनधिकारात् शूद्रस्य तु गार्हस्थ्य एवाधिकारादेकविध एव । ब्राह्मणस्येत्यत्र केचित् बौधा-
यनेन परिव्राजकधर्मं प्रक्रम्य स्त्रीणांचैक इति वचनात्पुलिङ्गमविवक्षितमित्याहुः एकग्रहणाद्वैधायनस्यापि स्त्रीणां पारि-
जन्यं नापेक्षितमिति विवक्षितमेव पुलिङ्गमित्यन्ये । चतुर्विधोऽपि पुण्यः स्वर्गहेतुपुण्यजनकः अक्षयफलो मोक्षहेतुः ॥ ९७ ॥

श्रीनारायणसर्वज्ञकृता वृत्तिर्ननुस्मृतेः । कुनिबन्धकृतव्याख्यामियंदूरे निरस्यते ॥ इतिसर्वज्ञश्रीनारायणकृतौ मनुस्मृत्यर्थ-
विवृतौ वानप्रस्थयतिधर्मोनामषष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥ ॥ ७ ॥ ॥ ७ ॥

(३) कुल्लूकः । ऋषीन्संबोध्यउच्यते । एषयुष्माकंब्राह्मणस्य संबन्धी क्रियाकलापोधर्मस्तस्यैव ब्रह्मचारिगृ-
हस्थवानप्रस्थादिभेदेन चतुर्विधः परत्राक्षयफलउक्तः । इदानींराजसंबन्धिनंधर्मशृणुत । अत्र च श्लोके ब्राह्मणस्य चा-
तुराश्रम्योपदेशाद्ब्राह्मणः प्रव्रजेदितिपूर्वमभिधानाद्ब्राह्मणस्यैवप्रव्रज्याधिकारः ॥ ९७ ॥ ॥ ७ ॥ ॥ ७ ॥

इतिश्रीकुल्लूकभट्टविरचितायामन्वर्थमुक्तावल्यांषष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥ ॥ ७ ॥

(४) राघवानन्दः । वोयुष्मभ्यं चतुर्विधः ब्रह्मचर्यादिभेदभिन्नः पुण्यः पुण्यप्रदः अक्षयफलः अमिद्विपरार्थ
कालपर्यन्तं स्थायिकफलं यस्यसः ॥ ९७ ॥

इति श्रीराघवानन्दविरचितायां मन्वर्थचन्द्रिकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥ ॥ ७ ॥

इति नन्दनाथार्यविरचिते मानवव्याख्याने षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥ ॥ ७ ॥ ॥ ७ ॥

इति श्रीमानवे धर्मशास्त्रे रामचन्द्रविरचितायां टीकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥ ॥ ७ ॥ ॥ ७ ॥



॥ श्री ॥

॥ श्रीगणेशायनमः ॥

॥ अथ सप्तमोऽध्यायः प्रारभ्यते ॥



राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तोभवेन्नृपः ॥ संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥ १ ॥

(१) मेधातिथिः । धर्मशब्दः कर्तव्यतावचनइत्युक्तम् । यद्राज्ञः कर्तव्यतदिदानीमुच्यतइतिप्रतिज्ञा कर्तव्यं च दृष्टार्थं षाड्गुण्यादि अदृष्टार्थमग्निहोत्रादि तत्रेहमाधानिनदृष्टार्थमुपदिश्यते । तत्रैवचराजधर्मप्रसिद्धिः राजशब्दस्तुनेहक्षत्रियजातिवचनः किं तर्हि भिषेकाधिपत्यादिगुणयोगिनिपुरुषेवर्तते अतएवाह यथावृत्तोभवेन्नृपः । नृपग्रहणेनजनपदैश्वर्यवतोधिकारमाह । प्रमाणान्तरमूलाह्नवधर्माउच्यन्ते । न सर्वैवेदमूलाः अन्यमूलत्वेचयदत्रधर्मशास्त्राविरुद्धतदुच्यते । तथाच कात्यायनः अर्थशास्त्रोक्तमुत्सृज्य धर्मशास्त्रोक्तमात्रजेदिति । यथावृत्तः यद्वृत्तं यदाकारं वास्येति च बहुव्रीहिः अन्यपदार्थो राजा यथार्थमाधान्येऽव्ययीभावः स्यात् । वृत्तं परिपालनार्थो व्यापारोऽदृष्टार्थः । संभवश्चोत्पत्तिः स उत्तो राजानमसृजत्प्रभुरित्यादिना । परमासिद्धिर्विजिगीषोरैकाधिपत्यं राजवृत्तस्यफलप्रतिज्ञेयम् ॥ १ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवतावत्पञ्चभिरव्यायैर्ब्राह्मणस्यासाधारणधर्माः कथिताः अधुना द्वितीयवर्णस्य क्षत्रियस्यासाधारणधर्मानाह राजधर्मानिति । धर्मो धर्मसाधनं । यथावृत्तोयदाचारः । संभवः सृष्ट्यादौ । सिद्धिर्दृष्टार्थसिद्धिः ॥ १ ॥

(३) कुल्लूकः । धर्मशब्दोऽत्र दृष्टादृष्टार्थानुष्ठेयपरः षाड्गुण्यादेरपिवक्ष्यमाणत्वात् । राजशब्दोऽपि नात्र क्षत्रियजातिवचनः किं त्वभिषिक्तजनपदपुरपालमित्पुरुषवचनः । अतएवाह यथावृत्तोभवेन्नृपइति । यथावदाचारो नृपतिर्भवेत्तथा तस्यानुष्ठेयानि कथयिष्यामि यथा येन प्रकारेण वा राजानमसृजत्प्रभुरित्यादिना तस्योत्पत्तिः यथाचदृष्टादृष्टफलसंपत्तिस्तदपि वक्ष्यामि ॥ १ ॥

(४) राघवानन्दः । राजा धर्मस्य कारणमित्यनुशासनान् नृपतिधर्मयोः कार्यकारणसंगतिरध्यायद्वये । राजधर्मानिति । राजपदमत्रावेष्ट्यधिकरणन्यायेनान्ध्रप्रसिद्धिमाश्रित्य राजन्यपरं प्रजापालनकण्टकोद्धरणादिनाराज्यस्यकर्तरि वर्णान्तरेच लाक्षणिकमिति उत्तरेच ब्राह्मणमिदं संस्कारक्षत्रियेणेति अन्तेच क्षत्रियस्यापराधेन ब्राह्मणः सीदति क्षुधा वेदाभ्यासोहि विप्रस्य क्षत्रियस्याभिरक्षणम् नाक्षत्रं ब्रह्मवर्धते क्षत्रियाय ददौ राज्यं संध्यांचोपास्य शृणुयादित्यादित्वरसात् । नतु ब्राह्मणादौ राजधर्माप्रामिरिति । अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन तेजसा । जीवेत्क्षत्रियधर्मेण सत्यस्य प्रत्यनन्तरइत्यापदिमनुवचनादेवधर्माः कर्तव्याः । तत्रादृष्टमग्निहोत्रादि तदर्थं ऋत्विगादि दृष्टं प्रजापालनादितदर्थं षाड्गुण्यादि तयोः प्राप्तिः । यथावृत्तोयथाचारोभवेत् । संभवश्चेन्द्रादिभ्यउत्पत्तिः । सिद्धीरणेनैव ॥ १ ॥

(५) नन्दनः । एवंप्रतिपादितस्याश्रमधर्मस्य रक्षाधिकारिणं राजानं प्रति धर्मान्प्रस्तौति राजेति । यथावृत्तोयत्प्रकारवृत्तो नृपोभवेत् नृपातुं शक्नुयात् तथा च वक्ष्यामि सिद्धिरैहिकामुष्मिकफलम् ॥ १ ॥

50-35
Man Man

(६) रामचन्द्रः । राजधर्मानाह राजधर्मानिति । यथावृत्तः यथाचारः नृपो भवेत् तस्य राज्ञः यथासंभवः सृष्ट्यादौ जन्म तस्य यथा सिद्धिः कार्यसिद्धिः एतादृशान्वक्ष्यमाणलक्षणान् राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि ॥ १ ॥

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ॥ सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम् ॥ २ ॥

(१) मेधातिथिः । ब्रह्मवेदः तत्रश्रुतः संस्कारो ब्राह्मः स वेदाध्ययनजन्यो ग्रहणवतो र्थलक्षणो वेदस्य स्वाध्यायविधिनिर्वर्त्यइत्यर्थः । उपनयनं तु ब्रह्मग्रहणार्थत्वाद्ब्राह्ममिति युक्तं । तथा च वक्ष्यति त्रैविद्येभ्यस्त्रयीविद्यामिति इतरथाविदितवेदितोपदेशः स्यात् । गर्भाधानादिस्मृतिशास्त्रादृष्टाचत्वारिसंस्कारम् । क्षत्रियेणेति एतेन क्षत्रियएव राज्याधिकारीति सूचितं क्षत्रियाभावे तदतिदेशोपि ग्राह्यः अन्यथा प्रजालोपः स्यादिति भावः सर्वस्य करदस्य दीनानाथादेश्च । अस्येति स्वविषयवासिनां यथास्वजनपदपुरनिर्देशः । यथान्यायं न्यायः शास्त्रधर्मशास्त्ररूपनार्थशास्त्रमौशनसादिप्रणीतं तमनतिक्रम्य । परिरक्षणं परिरक्षणं । अपायपरिहारो दुर्बलानां बलवद्भिरनभिभवः शास्त्रमर्यादानतिक्रमश्च । दुःखत्राणं परिरक्षा शास्त्रातिक्रमे चादृष्टदुःखं अतस्तदनतिक्रमे राजभयेन रक्षिता भवन्ति । राजदण्डे दुःखमिति चेन्महतोनरकादिदुःखाद्राजदण्डनमल्पीयः कर्तव्यमिति विधिः अधिकारश्चाष्टमे निरूपितः ॥ २ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । ब्राह्मं नूपनयनादिसान्त्वान्तम् ॥ २ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्रह्मवेदस्तत्प्राप्त्यर्थतयोपनयनसंस्कारस्तं यथाशास्त्रं प्राप्नुवता क्षत्रियेणास्य सर्वस्य स्वविषयावस्थितस्य शास्त्रानुसारेण नियमतोरक्षणं कर्तव्यम् । एतेन क्षत्रियएव नान्यो राज्याधिकारीति दर्शितम् । अतएव शास्त्रार्थतत्त्वक्षत्रियस्य जीवनार्थं । तथा क्षत्रियस्य तु रक्षणं स्वकर्मसु श्रेष्ठं च वक्ष्यति ब्राह्मणस्य ह्यापि जीवेत्क्षत्रियधर्मेणेत्यभिधास्यति वैश्यस्यापि क्षत्रियधर्मशूद्रस्य च क्षत्रियवैश्यकर्मणी जीवनार्थमापदि जगाद नारदः । न कथंचन कुर्वीत ब्राह्मणः कर्मवार्धलम् । वृषलः कर्मच ब्राह्मणपतनीये हिते तयोः ॥ उत्कृष्टं चापकृष्टं च तयोः कर्म न विद्यते । मध्यमे कर्मणी हि त्वा सर्वसाधारणे हिते ॥ रक्षणवेदधर्मार्थतपःक्षत्रस्थरक्षणमिति सर्वतो धर्मषड्भागागोराज्ञो भवति रक्ष्यत इति च वक्ष्यमाणत्वात् रक्षितुर्बलिषड्भागग्रहणादृष्टार्थमपि योरक्षन्बलिमादत्त इति नरकपातं वक्ष्यति ॥ २ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्रह्म वेदस्तत्कृतं संस्कारमुपनयनवेदाध्ययनादिप्राप्तेन क्षत्रियेण ॥ २ ॥

(५) जन्दनः । अभिषेकादिसंस्कारयुक्तस्य क्षत्रियस्य रक्षायामधिकारो नान्यस्येत्याह ब्राह्ममिति । ब्राह्मं संस्कारवैदिकमुपनयनाभिषेकादिकं संस्कारं प्राप्नोयस्तस्यैव रक्षायामधिकारो नान्यस्येति ॥ २ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मसंस्कारं उपनयनादिसंस्कारान् प्राप्तेन क्षत्रियेण यथाविधि अस्य सर्वस्य जगतः परिरक्षणं कर्तव्यम् ॥ २ ॥

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात् ॥ रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ ३ ॥

(१) मेधातिथिः । विद्रुते पीडितेऽप्रतिष्ठिते वा प्रभुः । प्रजापतिस्तुतिरियम् ॥ ३ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । विद्रुते कल्पादौ ॥ ३ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मादराजके जगति बलवद्भयान्सर्वतः प्रचलिते सर्वस्यास्य चराचरस्य रक्षायै राजानं सृष्ट्वांस्तस्मात्तेन रक्षणं कार्यम् ॥ ३ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र पुरावृत्तमाह अराजक इति । विद्रुते पीडिते । प्रभुः प्रजापतिः ॥ ३ ॥

(५) नन्दनः । तत्र हेतुः तामधिकृत्य तस्यसृष्ट्वमित्याह अराजकेहीति । सर्वतोभयादैविकान्मानुषाञ्च प्रभुः प्रजापतिः ॥ ३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अराजकेऽस्मिँल्लोके भयात्सर्वतोविद्रुतेसति अस्य विश्वस्य रक्षार्थं प्रभूराजानमसृजत् ॥ ३ ॥

इन्द्रानिलयमार्काणामग्रेष्व वरुणस्य च । चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रानिर्दृत्य शाश्वतीः ॥ ४ ॥

(१) मेधातिथिः । अनिलोवायुः । वित्तेशो धनपतिर्वैश्रवणः । मात्रा अवयवाः । शाश्वतीः सारभूताः । निर्दृत्य निष्कृष्य ॥ ४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मात्रा अवयवान् । निर्दृत्याकृष्य ॥ ४ ॥

(३) कुल्लूकः । कथं सृष्टवानित्याह इन्द्रेति । इन्द्रवातयमसूर्याग्निवरुणचन्द्रकुबेराणां मात्रा अंशान्सारभूतानाकृष्य राजानमसृजत् ॥ ४ ॥

(४) राघवानन्दः । सर्वनियन्तृत्वविधाऽर्थमुत्पत्तिस्वरूपकथनेन स्तोति इन्द्रेति द्वाभ्याम् । वित्तेशः कुबेरः । मात्राः सारभूतांशाः दधिमण्डस्य नवनीतवत् । शाश्वतीर्मन्वन्तरव्यापिनीः । निर्दृत्य निष्कृष्य ॥ ४ ॥

(५) नन्दनः । किमुपादायासृजदित्यपेक्षया माह इन्द्रेति । शाश्वतीमात्राः स्वाभाविकान्शान् इन्द्रस्यैश्वर्यानिलस्य बलं इत्यादिकाः शक्तीरित्यर्थः । निर्दृतासृजदित्यनुषङ्गः ॥ ४ ॥

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ॥ तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥ ५ ॥

(१) मेधातिथिः । एषामिन्द्रादीनां सुरश्रेष्ठानां मात्राभिस्तेजोऽर्शैर्निर्मितस्तस्माद्धेतोः अभिवति । दुर्निरीक्ष्यमुखो भवति तेजसाहेतुना । निष्कृष्य निर्मितोत्पादितः यतः रुषिरुत्पादने धातुर्वर्तते । तेनापायावधित्वान्मात्राभ्य इति पञ्चमी-तृतीयावापठितव्या ॥ ५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तेजसा वीर्येण ॥ ५ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मादिन्द्रादीनां देवश्रेष्ठानामंशेभ्यो नृपतिः सृष्टस्तस्मादेष सर्वप्राणिनी वीर्येणातिशेते ॥ ५ ॥

(४) राघवानन्दः । ते देवाह यस्मादिन्द्रादीनां मात्राभिर्निर्मितो नृपस्तस्मात्स्वतेजसा सर्वभूतान्यभिभवत्येष इति ॥ ५ ॥

(५) नन्दनः । उक्तस्य प्रत्यक्षत्वं श्लोकत्रयेणोपपादयति यस्मादिति ॥ ५ ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्मात्कारणादेषां सुरेन्द्राणामिन्द्रादिलोकपालानां मात्राभ्योऽंशेभ्यो निर्मितो नृपस्तस्मात्कारणान्तेजसा सर्वभूतान्यभिभवति ॥ ५ ॥

तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूषि च मनांसि च ॥ न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षतुम् ॥ ६ ॥

(१) मेधातिथिः । तपति तापयतीव संमुखो शक्यदर्शनत्वादेवमुच्यते तदाह नचैनं भुवि शक्नोति ब्राह्मणजान्युत्कृष्टाब्रह्मवर्चस्विनोपि नैनमभिमुखं वीक्षितुं शक्नुवन्ति । तदुक्तं तमुपर्यासीनमधस्तादुपासीरन् ॥ ६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तपत्यादित्यवदित्यादित्यांशोपपादनमितरेष्वप्येवंस्वयमूहम् ॥ ६ ॥

(३) कुल्लूकः । अयंचराजा स्वतेजसा सूर्यइव पश्यतां चक्षूषि मनांसि च संतापयति । नचैनं राजानं पृथिव्यांक-श्चदप्याभिमुख्येन द्रष्टुं शक्नोते ॥ ६ ॥

(४) राघवानन्दः । कार्येणापि तदंशोऽनुमेयइत्याह तपतीतिद्वाभ्याम् । दुष्टानांचक्षुर्मनसोःसंतापजननात्तद्दर्शना-
निष्ठाश्मत्त्वं सूचितं । साधूनां तपति विमलंप्रसाधयति ॥ ६ ॥

(६) रामचन्द्र । सर्वेषांचक्षूषि मनांसिचार्कवन्पुस्तपति संतापयतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः सधर्मराट् ॥ सर्वेश्वरः सवरुणः समहेन्द्रः प्रभावतः ॥ ७ ॥

(१) मेधातिथिः । अग्न्यादिदेवतानां मात्राशयत्वात्तच्छक्तियोगितयैवमुच्यते प्रभावोऽलौकिकी या शक्तिः ॥ ७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रभावतः प्रभाववानेवैवंभवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

(३) कुहूकः । एवंचाग्न्यादीनांपूर्वोक्तांशभवत्वात्तत्कर्मकारित्वाच्चप्रतापयुक्तस्तेजस्वीत्यादिना नवमाध्यायवक्ष्य-
माणत्वात्सराज्ञात्तेयतिथयेनाग्न्यादिरूपोभवति ॥ ७ ॥

(४) राघवानन्दः । सधर्मराट् यमः । प्रभावतः ऐश्वर्येण ॥ ७ ॥

(५) नन्दनः । प्रभावतः शक्तितः ॥ ७ ॥

बालोपि नावमन्तव्योमनुष्यइति भूमिपः ॥ महती देवता स्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ८ ॥

(१) मेधातिथिः । मनुष्योयमित्येवंबालोपि भूमिपोराजा नावमन्तव्यः किंतिहि महती काचिदेषादेवतेतेन मानु-
षेण रूपेण स्थितेति अतोऽदृष्टेनापि दोषेण राजन्यवज्ञानयुज्यते ॥ ८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । महती देवता ईश्वरः ॥ ८ ॥

(३) कुहूकः । ततोश्च मनुष्यइतिबुद्ध्याबालोऽपि राजा नावमन्तव्यः यस्मान्महतीयंकाचिदेवता मानुषरूपेणा-
वतिष्ठते । एतेन देवतावज्ञायामधमदियोऽदृष्टदोषोऽुक्ताः ॥ ८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच बालोपीति । अवमानप्रसक्तिमाह मनुष्यइति ॥ ८ ॥

(५) नन्दनः । एवं देवांशप्रभवत्वाद्राजा नावमन्तव्यइत्याह बालइति । महती देवता अग्निरित्यर्थः । हि शब्दो
हेतौ ॥ ८ ॥

एकमेव दहत्यग्निनीरं दुरूपसर्पिणम् ॥ कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसंचयम् ॥ ९ ॥

(१) मेधातिथिः । अस्यविधेरर्थवादश्लोकाएते । राजधर्मोपि यतःसर्वपुरुषार्थोयं योऽग्निहस्तादिनास्पृशति
समिद्धस्याप्यन्तिकोभवति सदुरूपसर्पिणरःप्रमादस्खलितोदह्यते राजातुकुहूकः सपुत्रधनदारबान्धवंहन्ति । कुलंयेकेचित्-
ज्ञातयः । स्वजनाश्चतानप्यपराधसंबन्धात्पशुभिर्धनसंचयैश्चसह नाशयति ॥ ९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दुरूपसर्पिणं दुष्टेन प्रकारेणोपसर्पन्तमभिभवार्थमग्नेः स्वयमेव तन्मध्ये प्रवेशादिका-
रिणम् ॥ ९ ॥

(३) कुहूकः । संप्रतिदृष्टदोषमाह एकमित्यादि । योऽग्नेरतिसमीपमनवहितः सन्नुपसर्पति दुरूपसर्पिणमेकमेवा-
ग्निर्दहति नतत्पुत्रादिकं कुहूदोराजाग्निः पुत्रदारभ्रात्रादिरुपकुलमेव गवाश्वादिपशुसुवर्णादिधनसंचयसहितंसापराधंनिहन्ति
॥ ९ ॥

(४) राघवानन्दः । महत्वमेवाह एकमिति । दुरूपसर्पिणं दुःखार्थमरणाद्युद्यतं उपसर्पिणं समीपगामिनम् । राजा-
तु देशान्तरस्थमपि कुलादिविशिष्टमपि हन्ति । अग्निदेवतातोप्यधिकइतिभावः ॥ ९ ॥

(५) नन्दनः । अग्रितोऽपिराजा दाहशक्तौ विनिहतरश्चाह एकमिति । दुरूपस्यैवार्थोऽपराधमपि पुनः प्रमादादग्रौ पतितमिति यावत् । कुलं दहतियस्मात्तस्मान्नावन्तव्यः ॥ ९ ॥

(६) रामचन्द्रः । एकमेव नरमगिर्दहति कीदृशं नरं दुरूपस्यैव दुष्टेन मर्कटेण उपसर्पन्तं निबद्धयात्तम् ॥ ९ ॥

कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः ॥ कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः ॥ १० ॥

(१) मेघातिथिः । नैतन्मन्तव्यबन्धुमैराजा सुतद्वेति । कस्य राजा भवेन्मित्रकानि मित्राणि राजानि ॥ प्रयोजनापेक्षया च शत्रौ मित्रवदाचरन्ति मित्रेशत्रुवत् । तथा शक्ताकंचिदपराभक्षमन्ते । शक्तिप्राप्त्योन्मूलयन्ति एवं देशकालावपि अतो धर्मसिद्ध्यर्थं कार्यसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं कुरुते क्षणान्मित्रक्षणेन शत्रुः नैकरूपेण राजा भवति । अतोऽपि विश्वसितव्यं राजनि । मैत्र्या दालभ्यात्सौजन्याद्वा तत्तुल्यवयोदृष्ट्या न वर्तितव्यम् अपितु सर्वदा नयेन द्रष्टव्यः ॥ १० ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । कार्यं प्रयोजनं । शक्तिं त्वस्य । देशकालौ विग्रहादियोग्यौ । विश्वरूपं मित्रेऽपि शत्रुवा शत्रावपि मैत्री । अतो मित्रमित्यत्र नाविश्वसनीयमित्यर्थः ॥ १० ॥

(३) कुल्लूकः । सराजा प्रयोजनापेक्षया त्वशक्तिदेशकालौ चावेक्ष्य कार्यसिद्ध्यर्थं तत्त्वतो विश्वरूपं बहुनि रूपानि करोति । जातिविवक्षया बहुष्वेकवचनम् । अशक्तिदशायां क्षमते शक्तिप्राप्त्योन्मूलयति । एवमेकस्मिन्पि देशे काले च प्रयोजनानुरोधेन शत्रुर्वा मित्रो दासीनो वा भवति अतो राजवल्लभोऽहमिति बुद्धानावज्ञेयः ॥ १० ॥

(४) राघवानन्दः । किंच कार्यमिति । कार्यमनुग्रहनिग्रहौ । शक्तिं बाल्ययौवनाद्यनुरूपाम् । देशोदूरनिकट्यादिः । कालः सुभिक्षदुर्भिक्षादिः । अवेक्ष्य निमित्त्यैव विश्वरूपं प्रयोजनानुरूपेण शत्रुमित्रो दासीनतया ॥ १० ॥

(५) नन्दनः । विश्वरूपं नानादेवतारूपम् ॥ १० ॥

(६) रामचन्द्रः । देशकालौ विग्रहादियोग्यौ ज्ञात्वा धर्मसिद्ध्यर्थं पुनः पुनः विश्वरूपं नानारूपं इन्द्रमृगादिरूपं मित्रे शत्रुतां शत्रौ मित्रतां वा कुरुते ॥ १० ॥

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे ॥ मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजो मयोहि सः ॥ ११ ॥

(१) मेघातिथिः । प्रसन्न आराधनं श्रियं ददाति कुन्दीष्ट्युना योजयति अतः श्रीकामेनाराधनीयः । न केवलं त्रिधा योजयति यावदस्य शत्रवः सन्ति तानपि पराक्रम्य परितोषितोहन्ति अतः शत्रुवधकामेन यथावत्परिचरणीयः । पद्माश्रीः पर्यायोपि पद्माशब्दो महत्त्वप्रतिपादनार्थः प्रयुक्तो महती श्रियं ददातीत्यर्थः । एते चार्थाराध्याप्यन्ते यतस्सर्वतेजोमयोसौ अश्यादित्यचंद्रमसांतेजो विभर्ति ॥ ११ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । यस्य प्रसाद इत्यादि त्रयं क्रमात्कुबेरशक्त्यमानां व्यापारकथनम् । पद्मा पद्महस्ता । यतः पद्मादयस्तदुद्भवा भवतः सर्वतेजोमयः । एवमन्येष्ट्युक्तांशेषु व्यापारो ज्ञेय इत्याशयः ॥ ११ ॥

(३) कुल्लूकः । पद्माशब्दः श्रीपर्यायोऽपि महत्त्वविवक्षयाऽत्र प्रयुक्तः । यस्य प्रसादात्पद्महती श्रीर्भवत्यतः श्रीकामेन सेव्यः । यस्य शत्रवः सन्ति तानपि संतोषितोहन्ति तेन च शत्रुवधकामेन आराधनीयः । यस्मै कुप्यति तस्य मृत्युं करोति तस्मात्त्रिविधा विना न क्रोधनीयः । यस्मात्सर्वेषां सूर्याग्निसोमादीनां तेजो विभर्ति ॥ ११ ॥

(१०) धर्म-कर्म (व)

मृत्यु-तस्य (नं०)

(४) राघवानन्दः । विश्वरूपसंख्यनक्ति यस्येति । प्रसादेऽनुग्रहविषये पद्माश्रीरितिपर्यायत्वेऽपि महत्त्वानपायत्व-
ख्यापनार्थं पद्मालयत्वसूचनेनवा सुखहेतुत्वख्यापितम् । त्रियःसत्त्वेऽपि नृणामसंतुष्टे राजनि सुखादर्शनात् । पराक्रमे
शत्रुप्रतिगमने विजयस्तत्संभावना । तदवमानात्तत्क्रोधानन्तरंजामृत्युदर्शनान्मृत्युः । तस्माच्छ्रीमामिःशत्रुजयशत्रुवधादि-
कामैर्नृपःसेव्यइतिध्वनिः ॥ ११ ॥

(५) नन्दनः । अत्रोदाहरणमाह तस्येति । तस्य प्रसादे श्रीर्वसति तस्य प्रसादे सति लक्ष्मीर्जायतइत्यर्थः ।
पद्मापन्नवती । विजयइन्द्रः । सर्वतेजोमयः सर्वदेवताशक्तिमयः ॥ ११ ॥

तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात्सविनश्यत्यसंशयम् ॥ तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः ॥ १२ ॥

(१) मेघातिथिः । प्रत्यवायाद्यथाविन्दति जभोनैवमभिप्रेतार्थलोभेनातः पुनःपुनराह तंराजानंयोद्वेष्टिप्रातिकूल्ये-
नवर्तते तस्मिन्सत्यसंशयंनश्यति । तस्यह्याशुविनाशाय अन्यःकश्चिदपराधक्षमते । अशक्यराजनिवेदनेन तत्र व्यवहार-
भागस्य धनपरिक्षयोभवति भूतोप्यर्थः साक्षिणांचित्तैर्विचिन्त्यादन्यथात्वमायातिहृष्यमाणःकश्चित्क्रमेणापि । राज्ञा
तद्विनाशार्थमपराधेन मनसिस्थितेन बाध्यतएवासौ शक्तिमत्त्वाद्वाङ्मयतमानस्य स्वतन्त्रविरोधापत्तेः ॥ १२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तस्मात्तत्रद्वेषोऽपि न कर्तव्यइत्यर्थः ॥ १२ ॥

(३) कुल्लूकः । तंराजानमज्ञतया योद्वेष्टि तस्याश्रीतिमुत्पादयति सनिश्चितंराजक्रोधान्नश्यति यस्मात्तस्यविनाशा-
य शीघ्रंराजा मनोनियुङ्क्ते ॥ १२ ॥

(४) राघवानन्दः । नापि राज्ञाद्वेषाद्याचरणीयमित्याह यस्त्विति । विनश्यतीत्यत्र हेतुस्तस्येति ॥ १२ ॥

(५) नन्दनः । हि हेतौ । विनाशाय विनाशंकर्तुम् । प्रकुरुतेऽध्यवस्यति ॥ १२ ॥

(६) रामचन्द्रः । संमोहाद्यस्तद्वेष्टि तस्य ह्याशु विनाशाय राजा मनःकुरुते ॥ १२ ॥

तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु सव्यवस्येन्नराधिपः ॥ अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत् ॥ १३ ॥

(१) मेघातिथिः । यतः सर्वतेजोमयोराजा तस्माद्धेतोरिष्टेषु वल्लभेषु मन्त्रिपुरोहितादिषु कार्यगत्याधर्मकार्य-
व्यवस्थांशास्त्राचारविरुद्धांव्यवस्येन्निश्चित्यस्थापयेन्विचालयेत् सा तादृशीराज्ञोनुज्ञानातिक्रमणीया अद्य पुरे सर्वैरु-
त्सवः कर्तव्यः मन्त्रिगृहे विवाहोवर्तते तत्र सर्वैः संनिधातव्यं तथा पशवोनाद्य सैनिकैर्हन्तव्यान्शकुनयोवन्धयि-
तव्याः नर्तिकाधार्मिकैराराधनीयाएतावन्त्यहानि । एवमनिष्टेष्वपि एतेन संसर्गोर्नकर्तव्यएतस्य गृहे भवेषोनदेयः एवंवि-
धोत्रधर्मः पट्टहोषादिनाराज्ञादिष्टोनातिक्रमणीयः । नत्वग्निहोत्रादिधर्मव्यवस्थायैवर्णाश्रमिणांराजाप्रभवति स्पृत्यन्तर-
विरोधप्रसङ्गात् अविरोधे चास्मिन्विषये वचनस्यार्थवत्त्वात् ॥ १३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यंधर्मव्यवहारमिष्टेषु क्षुद्रेष्वप्यक्षुद्रयोःयनियमयेदेवंमहत्त्वप्यनिष्टेषु क्षुद्रयोःग्यंनतु दण्डा-
दिनियमोऽपि राज्ञच्छ्रया कार्यस्तस्य शास्त्रीयस्यैव राज्ञापि कार्यत्वात् ॥ १३ ॥

(३) कुल्लूकः । यतः सर्वतेजोमनोऽनुपतिस्तस्मादपेक्षितेषु यमिष्टंशास्त्रानुष्ठेयंशास्त्राविरुद्धंनिश्चित्य व्यवस्थापय-
त्यनपेक्षितेषु चानिष्टंनियमनातिक्रमेत् ॥ १३ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रकरणपुपसंहरति तस्मादिति । इष्टेषु प्रियेषु धर्मं अयमेवमहत्त्वयमेवनाहतीति व्यव-
स्थापयेत् । स्थापयितुस्तं प्रौढ्यादिना नचालयेत् यतःक्रुद्धोहन्तिप्रसन्नोऽनुगृहीयते ॥ १३ ॥

(५) नन्दनः । इष्टेष्वनिष्टेषु च यमर्थं धर्मादिनपेतत्वेन निश्चिनोतितमर्थधर्ममत्वा न विचारयेत् ॥ १३ ॥

(६) रामचन्द्रः । तस्मात्कारणात् इष्टेषु क्षुद्रेषु यं धर्मसनराधिपः व्यवस्येत् निश्चिनोति च पुनः अनिष्टं अयोग्यं अनिष्टेषु अच्छिद्रेषु अनिन्द्येषु तं धर्मं विचारयेत् ॥ १३ ॥

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ॥ ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥ १४ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्ता राजोत्पत्तिः । दण्डोत्पत्तिरिदानीमुच्यते । तस्माद्भूतदर्थराज्ञः प्रयोजनसिद्धये दण्डमसृजदीश्वरः प्रजापतिः । कोराज्ञोर्थोदण्डेन उच्यते गोप्तारं सर्वभूतानां गोप्ता रक्षिता दण्डेन न दण्डेन विना राजारक्षितुं शक्नोति । अतो राजत्वसिद्ध्यर्थे एव दण्डः सृष्टः । धर्ममात्मजं ब्रह्मतेजोमयमिति दण्डस्तुतिः नयागदानादिधर्मः । किं तर्हि दण्डेन । न चायं प्राणधनहारित्वादधमो विज्ञेयः अपित्वेष एव धर्ममात्मजः शरीरादेव जातः प्रजापतेः । न च पाञ्चभौतिकः । किं तर्हि ब्रह्मणो यत्केवलं तेजस्तेन निर्मितः पूर्वराजसृष्टेः ॥ १४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तस्यार्थे राजार्थं । धर्मं धर्माशौद्धवं विधिं । त्वस्य सुतं अतएव ब्रह्मतेजोमयं ब्रह्मणस्तेजसा सृष्टम् । दण्डं दमकम् । ईश्वरो ब्रह्मा ॥ १४ ॥

(३) कुल्लूकः । तस्य राज्ञः प्रयोजनसिद्धये सर्वप्राणिनां रक्षितारं धर्मस्वरूपं पुत्रं ब्रह्मणो यत्केवलं तेजस्तेन निर्मितं न पाञ्चभौतिकं देहं ब्रह्मा पूर्वं सृष्टवान् ॥ १४ ॥

(४) राघवानन्दः । तस्य राज्ञोर्थे रक्षणादिप्रयोजनार्थं सर्वभूतानामनुशासनरूपं धनप्राणधिक्रशब्दहस्ताद्याहरणात्मकं धर्मं तद्धेतुत्वात् । आत्मजं ब्रह्मणस्तेजसा निर्मितं ब्रह्मतेजोमयं पूर्वच राजसृष्टेः । दण्डमिति कर्तृकरणव्युत्पत्त्या कचिद्राजा कचिदनुशासनम् ॥ १४ ॥

(५) नन्दनः । अथ राज्ञः सहायं दण्डं प्रस्तौति तस्येति । तस्यार्थे तस्य राज्ञः कार्ये निमित्ते गोप्तारं गुमिकरिष्यन्तं सर्वभूतधर्मगुप्तार्थमिति यावत् ब्रह्मतेजोमयं परमात्मशक्तिमयं परमात्मशक्तिमुपादायेति यावत् धर्मात्मकं दण्डमसृजत् धर्मस्वरूपा दण्डरूपेण ससर्ज । पूर्वं युगारम्भे । ईश्वरः प्रजापतिः । एतदुक्तं भवति दण्डस्यात्मा धर्मशरीरं ब्रह्मतेजोमयीश्वरो जनयितेति ॥ १४ ॥

(६) रामचन्द्रः । तस्यार्थे राज्ञोऽर्थे ईश्वरः ब्रह्मा पूर्वं दण्डरूपमात्मजं पुत्रमसृजत् ॥ १४ ॥

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥ जयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्

चलन्ति च ॥ १५ ॥

(१) मेधातिथिः । तस्य दण्डस्य भयात् संबन्धितामात्रविवक्षायां भये हेतुत्वं नास्तीति षष्ठी । दण्डभयात् स्थावराणि भूतानि भोगाय फलकुसुमच्छायादिभिर्भोगार्थकल्पन्ते तत्समर्था भवन्ति । यो हि स्थावरः फलं न ददाति स परिशोष्यते । न चेत्परिशुष्यति सर्वतो व्यामदशत्वाच्छित्त्वाऽगारीक्रीयते एतया वृक्षोपमया दण्डस्य राजापथ्यकारिणः पुरुषस्यैव कर्तव्यं च्छेदनमूलोत्पादनादिना दण्डः प्रणेयः । स्थावरग्रहणस्तुत्या दृष्टान्तार्थमोदशोऽयं दण्डो यत्स्थावरा अपि दण्ड्यन्ते किं पुनश्चराः नतु स्थावराणां दण्डो यमित्येषा बुद्धिरस्ति । स्वधर्मान् चलन्ति अकालेन पुष्यन्ति न प्रसुवते ॥ १५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भोगाय कल्पन्ते अन्वेषां । स्थावराणीत्युक्तं स्थावराणामपि पृथिव्यादीनां पृथ्विभिर्दण्डस्य धृतत्वात् ॥ १५ ॥

(३) कुड्मूकः । तस्य दण्डस्य भयेन चराचराः सर्वे प्राणिनोभोगं कर्तुं समर्था भवन्ति । अन्यथा बलवता दुर्बलस्य धनदारादिग्रहणे तस्यापि तदपेक्ष्य बलिनेति कस्यापि भोगेन सिध्येत् वृक्षादीनां स्थावरादीनां छेदने भोगासिद्धिः । तथासतामपि नित्यनैमित्तिकत्वधर्मानुष्ठानमकरणेयाम्ययातनाभयादेव ॥ १५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच तस्येति । भयाद्दण्डस्येत्यन्वयः । भोगाय कल्पन्ते समर्थाः चोराद्युपद्रवराहित्यात् । भृशदण्डस्य देशेऽधर्माभावाद्यथाकालं स्थावराणि द्रुमादयः फलशालीनीतिभावः । तस्य राज्ञोभोगाय फलदानि भवन्ति दण्डाद्यभावेच्छिद्यन्ते तानि । साधवः पाल्यन्ते दस्यवश्छिद्यन्त इति मेधातिथिः ॥ १५ ॥

(५) नन्दनः । दण्ड प्रशंसति तस्येति । तस्य दण्डस्य भयात् । स्थावराणामपि दण्डोधारितो महात्मभिरिति हासेषु श्रूयते । यथागस्त्येन विन्ध्यस्य यथा वायुना शाल्मलीतरोर्हैमवतस्य ॥ १५ ॥

(६) रामचन्द्रः । तस्य राज्ञोभयात्त्वधर्माद्भूतानि न चलन्ति ॥ १५ ॥

तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः ॥ यथार्हतः संप्रणयेन्नेरेष्वन्यायवर्तिषु ॥ १६ ॥

(१) मेधातिथिः । अन्यायवर्तिनो ये राजापथ्यकारिणो महामात्यादयस्तेषामयं दण्ड उच्यते । अन्येषां तु परस्परव्यवहारिणामनुबन्धमनुज्ञात्रापरिज्ञायेत्यत्रोच्यते । तत्रैव चायं श्लोको व्याख्यातः । विद्यात्राधिका सा च वेदार्थविषया । यथार्हतः यथार्हतो यस्य योग्य इत्यर्थः । संप्रणयेत् प्रवर्तयेत् कुर्यादित्यावत् एतत्सर्वमवेक्ष्य निरूप्य तत्तदपेक्षोदण्डः कर्तव्यः । अन्यथा प्रणीतो राज्ञो दृष्टमनर्थमावहेत् । दृष्टाऽदृष्टभेदेन स्वप्रकृतिजनपदभेदेन सममाष्टमयोर्दण्डमातृकाश्लोकयोर्भेदः ॥ १६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । देशकालादि त्वरण्यरात्र्यादिरुतत्वेन दण्डाधिक्यात् । शक्तिं धनदाने । विद्यामिति वेदादिपाठशीलतया दण्डाल्पतार्थम् ॥ १६ ॥

(३) कुड्मूकः । तमित्यादि तदण्डदेशकालौ दण्डस्य च शक्तिविद्यादिकं यस्मिन्पराधे यो दण्डोर्हतीत्यादिकं शास्त्रानुसारेण तत्त्वतो निरूप्यापराधिषु प्रवर्तयेत् ॥ १६ ॥

(४) राघवानन्दः । कष्टतत्प्रणयनमित्याह तमिति । दण्डस्य देशकालौ शास्त्रानुसारेणावेक्ष्य यथार्हतः यस्मिन्पराधे योयं दण्डमर्हति तदनतिक्रमेण संप्रणयेत् देशं दूरनिकटार्धं । कालं दुर्भिक्षार्धं । विद्यामस्त्रशिक्षादिकां वेदविद्यां च । अन्यायवर्तिष्वन्यथागामिषु ॥ १६ ॥

(५) नन्दनः । तस्य दण्डस्य प्रणयनप्रकारमाह तमिति । शक्तिः बालो बृद्धो दरिद्रो धनवानित्यादिरूपा । विद्यावेदवित्त्वमित्यादिरूपा ॥ १६ ॥

(६) रामचन्द्रः । दण्डमन्यायवर्तिषु देशकालादिकमवेक्ष्य यथार्हतः संप्रणयेत् ॥ १६ ॥

सराजा पुरुषोदण्डः सनेता शासिता च सः ॥ चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥ १७ ॥

(१) मेधातिथिः । स एव वस्तुतो राजा तस्मिन्सति राजशक्तियोगे स एव पुरुषः येन बलीयसोऽपि पुरुषानस्त्रीवन्यकृत्य वशीकरोति सनेता कार्याणितेन नीयन्ते । शासिता शासनं राजाज्ञा तस्याभावे दण्डः स्मृतः । धर्मतः कर्तृत्वमौपचारिकम् । चतुर्णामाश्रमाणां यो धर्मस्तत्र स प्रतिभू इव यथा प्रतिभूश्चलितुं न ददाति तद्दण्डोऽपि ॥ १७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सदण्डएवराजा जनस्य तदधीनत्वात् । पुरुषः पुरुषात्मा । नेता नायकः प्रवर्तकः । शासिता एवकुर्वित्युपदेशः । धर्मस्य धर्माचरणंकारयितुं प्रतिभूरिव ॥ १७ ॥

(३) कुट्टूकः । सएवदण्डोवस्तुतोराराजा । तस्मिन्सति राजशक्तियोगात्सएव पुरुषस्ततोऽन्ये स्त्रियइवतद्विधेयत्वात् । सएव नेता तेन कार्याणि नीयन्ते प्राप्यन्ते । सएव शासिताशासनमाज्ञातदातृत्वात् । सएवचतुर्णामप्याश्रमाणांयोधर्मस्तस्य संपादने प्रतिभूरिवप्रतिभूर्मुनिभिः स्मृतः ॥ १७ ॥

(४) राघवानन्दः । दण्डंविना राजाऽकिंचित्करइति दण्डंस्तौति सइतित्रिभिः । तस्मिन्सति राजशक्तिः । पुरुषः सर्वानराजप्रभृतीन् स्त्रियइव न्यकृत्य स्वधर्मे स्थापयतीति पुरुषः बहून् धनाद्यादानेन स्यति तनूकरोतीतिवा राज्ञोपि दण्डश्रुतेः । नयति प्रापयति स्वस्वधर्मे राजानेनेतिनेता एधांसि पचन्तीतिवद्वा कर्तृत्वोपचारः । प्रमादात्प्रच्याव्य सर्वान् शास्त्रानुसारेण शास्तीति शासिता । सन्यासिनामपि पातित्ये दासआमरणान्तिकइति राजभृत्यतास्मृतेराश्रमचतुष्टयग्रहः । धर्मस्य प्रतिभूः तत्संपादने प्रभुर्द्वितीयः ॥ १७ ॥

(५) नन्दनः । पुनरपि श्लोकद्वयेन दण्डस्तुतिमाह सइति । स दण्डएव राजपुरुषः राजनियोगकरः । नेता तत्तत्कामानुष्ठापकः । शासिताआज्ञापकः । तेजोविनासकलकार्यासिद्धेः ॥ १७ ॥

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वादण्डएवाभिरक्षति ॥ दण्डः सुमेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ १८ ॥

(१) मेधातिथिः । न राजा शास्त्रशास्ति कर्तव्याकर्तव्योर्विधिनिषेधयोः किंतिहिदण्डएव । दण्डएवाभिरक्षति बलवद्भयोदुर्बलान् । सुमेषु राजपुरुषेषु दण्डभयादेव न यथा कामंलोकोव्यवहरति । द्विविधोदण्डोराजदण्डोयमदण्डश्च ॥ १८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यतः शास्तरारक्षन्ति । तथाऽन्येषु रक्षितृषु सुमेष्वाप्येतद्भयादेव न पापंक्रियते ॥ १८ ॥

(३) कुट्टूकः । यस्मादण्डः सर्वाः प्रजाआज्ञां करोति तस्मात्साधूक्तंशासितेतिज्ञेयम् । यस्मात्सएव प्रजारक्षति ततोयुक्तमुक्तराजेति । निद्राणेष्वपिरक्षितृषुदण्डएव जागर्ति तद्भयेनैव चौरादीनामप्रवृत्तेः । दण्डमेवधर्महेतुत्वाद्धर्मजानन्ति । कारणेकार्योपचारः । ऐहिकपारत्रिकदण्डभयादेव धर्मानुष्ठानात् ॥ १८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच शास्तीति । अभिरक्षति प्रमादादधर्मभ्यः । सुमेषु प्रमत्तेषु ॥ १८ ॥

(६) रामचन्द्रः । दण्डःसुमेषु जागर्ति दण्डभयात्केपिनलुम्पन्ति ॥ १८ ॥

समीक्ष्य सधृतः सम्यक् सर्वारञ्जयति प्रजाः ॥ असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥ १९ ॥

(१) मेधातिथिः । धृतः प्रणीतः प्रवर्तितः समीक्ष्य पूर्वोक्तदेशकालाद्यपेक्ष्य समीक्ष्य । रञ्जयत्यनुरागं प्रजासु जनयति । विपरीतंप्रणीयमानो न केवलंस्वकार्यं करोति यावदुरूपयुक्तोविषवद्विनाशयत्यर्थजनस्य ॥ १९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । समीक्ष्य शास्त्रतो निरूप्य ॥ १९ ॥

(३) कुट्टूकः । सदण्डःशास्त्रतः सम्यङ्गिरूप्यापराधानुरूपेण देहधनादिषु धृतः सर्वाः प्रजाः सानुरागाः करोति । अविचार्य तु लोभादिना प्रयुक्तः सर्वाणि बाह्यार्थपुत्रादीनि नाशयति । सर्वतइतिद्वितीयाथेतसिः ॥ १९ ॥

(४) राघवानन्दः । समीक्ष्य यथाशास्त्रं अनुरञ्जयति राजानंप्रत्यावर्जयति । सर्वतः सराष्ट्रसपशुद्रव्यसंचयंराजानं नाशयतीतिभावः ॥ १९ ॥

(५) नन्दनः । धृतःधारितःसदण्डः ॥ १९ ॥

(६) रामचन्द्रः । सम्यक्समीक्ष्य धृतःसदण्डःसर्वाः प्रजारञ्जयति असमीक्ष्याविचार्य प्रणीतः सर्वशो विनाशयति ॥ १९ ॥

यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः ॥ शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः ॥ २० ॥

(१) मेधातिथिः । अप्रणयनादण्डस्य ये बलवत्तराबलीयांसोबलेनाधिकामहाप्राणतया शस्त्रहस्तमनुष्याभूयस्त्वेन वा ते दुर्बलानपक्ष्यन् शूले मत्स्यानिव यथामत्स्या शूल्याक्रियन्ते भोजनार्थमेवमशक्तोजनोऽधिकशक्तिभिरुपहोयेत धनशरीरदारहरणादिना तस्मादण्डार्हानतन्द्रितोनलसोदण्डयेत् कुतोमया समीक्षाशक्या कर्तुनैवदण्डं करोमीति नैवबुद्धिः कर्तव्या ॥ २० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शूलेमत्स्यानिव अपक्ष्यन् पचेयुः । अविध्यन्नितिक्वचित्पाठः ॥ २० ॥

(३) कुड्मूकः । यदि राजाऽनलसोभूत्वा दण्डप्रणयनं कुर्यात्तदा शूले कृत्वा मत्स्यानिव बलवन्तोदुर्बलानपक्ष्यन् लङ्घन्तस्य पचिधातोरुपमिदम् बलिनोऽल्पबलानांहिसामकरिष्यन्नित्यर्थः । शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्नित्येषमेधातिथिगोविन्दराजलिखितःपाठः । जले मत्स्यानिवाहिस्युरितिचपाठान्तरम् । अत्र बलवन्तोदुर्बलान्हिस्युरितिमत्स्यन्यायएवस्यादित्युक्तम् ॥ २० ॥

(४) राघवानन्दः । दण्डाकरणे दोषमाह यदीतित्रिभिः । शूलेमत्स्यान् शूलमारोप्यापक्ष्यन्नितिक्रियातिपत्तिः । तेन यदि दण्डयिता राजा नाभविष्यत्सर्वाःप्रजाःबलिभिर्दस्युभिरनक्ष्यन्ति ॥ २० ॥

(५) नन्दनः । अप्रणयनेदोषंश्लोकद्वयेनाह यदीति ॥ २० ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रिभिराह यदीति । द्वितीयेनान्वयः । राजा अतन्द्रितः दण्ड्येषु दण्डं यदि न प्रणयेत् न प्रयोजयेत् तर्हि बलवत्तरःपुरुषोदुर्बलान्पुरुषान् अद्यात् लुम्पेत् कानिव अपक्ष्यान् शूलआरोपितान्मत्स्यानिव ॥ २० ॥

अद्यात्काकः पुरोडाशं श्वावलिह्याद्धविस्तथा ॥ स्वाम्यं च नस्यात्कास्मिंश्चित्प्रवर्ते

ताधरोत्तरम् ॥ २१ ॥

(१) मेधातिथिः । काकादयोप्यत्यन्ताधमादेवैः सह संस्पर्धेरन् । देवेभ्योदातव्यंहविश्चरुपुरोडाशादितत्तेअद्युर्दिदण्डेन ननिवार्येरन् । अन्यदपियत्त्वाम्यंस्वत्त्वामिभावःसनस्यात् । जायापत्योःपितापुत्रयोः जायायाःपतिर्नस्यात्त्वातन्येण स्त्रियः प्रवर्तेरन् । अधरोत्तरं यदधरंवृषलादितदुत्तरं प्रधानंस्यात् । यदुत्तरं ब्राह्मणादितदवरतानिरुहतामियात् । शूद्राधर्ममुपदिशेयुः । वैदिको धर्मो नानुष्ठीयेत ॥ २१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अद्यात्काकः श्वावलिह्यादितिदृष्टान्तायोक्तम् । तेन श्वावलिह्यादित्याद्यर्थेषु पूर्णायम् । अधरोत्तरमधराणामुत्कृष्टत्वम् ॥ २१ ॥

(३) कुड्मूकः । यदि राजा दण्डनाचरिष्यत्तदा यज्ञेषु सर्वथा हविरनर्हः काकः पुरोडाशमस्वादप्यत्तथा कुरुरः पायसादिहविरलेक्ष्यन्नकस्यचित्कुत्रचित्त्वाम्यमभविष्यत्ततोबलिना तद्गृहणाद्ब्राह्मणादिवर्णानांच मध्ये यदवरंशूद्रादि तदेवोत्तरं प्रधानं प्रवर्तिष्यत ॥ २१ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच काकश्चानौ दण्डेनानिवारितौ देवभौग्यौ पुरोडाशावश्रीतौधयातद्वत्स्यात् । तथा क

स्मिन् न्यायोपात्तेषु वित्ते कस्यापीति शेषः । दण्डाद्विद्वत्सूनां प्राबल्यात् । अधरोत्तरं ब्राह्मणादिवर्णानां च मध्ये ये अधराः शूद्रादयः ते उत्तरं प्राधान्यं प्रावर्त्यन्ति ॥ २१ ॥

(६) रामचन्द्रः । राज्ञा अप्रयुक्ते दण्डे कस्मिन्पिवस्तुनि स्वाम्यं भुवं स्यात् अधरोत्तरं अधरं प्रतिलोमजं उत्तरं अनुलोमजं एवमधरोत्तरं प्रवर्तेत ॥ २१ ॥

सर्वोदण्डजितोलोकोदुर्लभो हि शुचिर्नरः ॥ दण्डस्य हि भयात्सर्वजगद्भोगाय कल्पते ॥ २२ ॥

(१) मेधातिथिः । स्वभावेनैव प्रकृत्यैव शुचिः शुद्धोधर्मार्थकामेषु सतादृशो नरोदुर्लभः दुःखैर्लब्धुं शक्यः । किन्तु दण्डजितोदण्डेन जीयते पथिस्थाप्यते तद्गयान्नयथाकामं प्रवर्तते । जगद्भोगायेति प्रागुक्तमेव ॥ २२ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । शुचिः शुद्धमनाः । भोगाय भोगिनाम् ॥ २२ ॥

(३) कुल्लूकः । सर्वोऽयं लोकोदण्डेनैव नियमितः सन्मार्गेऽवतिष्ठते । स्वभावविशुद्धो हि मानुषः कष्टेन लभ्यते । तथा सर्वमिदं जगदण्डस्यैव भयादावश्यकभोजनादिरूपेऽपि भोगे समर्थं भवति ॥ २२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच दण्डभयादेव शुचिर्नरो न स्वतोरागादित्याह । दण्डस्येत्यादि पूर्वोक्तस्य निगमनम् ॥ २२ ॥

(५) नन्दनः । दण्डप्रणयने हेतुमाह सर्वइति ॥ २२ ॥

देवदानवगन्धर्वारक्षांसि पतंगोरगाः ॥ तेषु भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥ २३ ॥

(१) मेधातिथिः । ये देवाः पर्जन्यो वायुरादित्येत्यादयः । भोगाय कल्पन्ते शीतोष्णवर्षान्नयतैरोषधीः पाचयन्ति तदण्डभयाशङ्किनः अन्यथा किमिति सूर्याचन्द्रमसौ धातुपर्जन्यौ वा त्वरस्मात्कार्यकालान्नियतान्नविचलेताम् । कदाचिद्देवैः अहनी त्रीणि वा नोदियात्सूर्यः सति स्वातन्त्र्ये । दण्डात्तु बिभ्यन्ताति क्रामति मर्यादां । तथाच श्रुतिः ॥ भयात्सूर्यः प्रतपति भयात्तपति चन्द्रमाः । भयादग्निश्चावायुश्चेति । दानवा दयश्च यदिदमखिलमहर्निशं न जगदुपगच्छन्ति दण्डमाहात्म्यमेतत् । पतङ्गव्यांसि गृहमण्डनाः शुकसारिकादयो यद्वा लानामक्षिणी नोत्पाटयन्ति स्येन काककङ्कगृध्रादयो ज्जीवतो नादन्ति तदप्येवमेव । उरगाः सर्पाः केवलं क्रोधविषात्मकाः संभूय सर्वे न दशन्ति सर्वप्राणिजातम् तदण्डसामर्थ्यं अतस्तुतिरेषोच्यते यद्देवादयो महार्धिका अचेतना वा त्वर्मर्यादातो न विचलन्ति भयात्किं पुनर्मनुष्याः । अत्र श्लोकः पूर्वेऽपठितः ॥ दृष्ट्वा तु दैन्यं वनपाटलानां पुष्पप्रगल्भं कुटजप्रहासं । संबन्धदानेन हृदा जहास नीपोपि रन्ध्रं प्रहरत्यवश्यम् इति ॥ २३ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । सर्वज्ञैव परमेश्वरस्य । यदुक्तं भीषास्माद्वातः पवतइति ॥ २३ ॥

(३) कुल्लूकः । उक्तेषु दण्डस्य भोगसंपादकत्वं दाढ्यार्थं पुनरुच्यते । इन्द्राग्निसूर्यवाय्वादयो देवास्तथा दानवगन्धर्वारक्षासपक्षिसर्पा अपि जगदीश्वरपरमार्थभयपीडिता एव वर्षदानाद्युपकाराय प्रवर्तन्ते । तथाच श्रुतिः । भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमइति ॥ २३ ॥

(४) राघवानन्दः । देवदानवेति दृष्टान्तार्थम् । भीषास्माद्वातः पवते भीषो देति सूर्यइति श्रुतेर्यथेश्वरभयात्पवनादेः प्रवृत्तिरेवं राजप्रभृतेर्भयाद्देवादयोपि स्वकार्याय नीयन्ते । यद्वा दण्डपीडिताः दण्डेन या यस्य या पीडा तथा आवर्जिता निष्पापानां तेऽबाधकाः ॥ २३ ॥

(५) नन्दनः । देवयोनयोऽपि दण्डसाध्याः किं पुनर्मनुष्ययोनयइत्यत्राह देवेति ॥ २३ ॥

(६) रामचन्द्रः । दण्डेन ईश्वराज्ञारूपेण ॥ २३ ॥

दुष्येयुः सर्ववर्णांश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः ॥ सर्वलोकप्रकोपश्च भवेदण्डस्यविभमात् ॥ २४ ॥

(१) मेधातिथिः । दण्डस्य विभ्रमोऽकरणमन्यायेन वाकरणम् तस्मिन्सति सर्ववर्णादुष्येयुः इतरेतरस्त्रीगमनेन संकरप्रवृत्तेः । सेतवोमर्यादाः सर्वाभिद्येरन् सर्वमर्यादापरिलोपः स्यादित्यर्थः ब्राह्मणाश्च शूद्रवद्वर्तेरञ्छूद्रा ब्राह्मणवत् अतश्च-सर्वलोकप्रकोपः स्यात् । त्रयोपिलोका इतरेतरं वृष्ट्या तपादिना नोपकुर्युः ॥ २४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दुष्येयुः संकरादिवैकृत्यकरणेन हेतुना । सेतवोमर्यादाः । प्रकोपोऽन्योन्यवैरम् । विभ्रमाच्चोहात् ॥ २४ ॥

(३) कुल्लूकः । दण्डस्यानाचरणादनुचितेन वा प्रवर्तनात्सर्वे ब्राह्मणादिवर्णा इतरेतरस्त्रीगमनेन संकीर्येरन् सर्व-शास्त्रीयनियमाश्चतुर्वर्गफलाउत्सीदियुः चौर्यसाहसादिना च परस्यापकारात्सर्वलोकसंक्षोभश्चाजायेत ॥ २४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच सर्वसेतवोवर्णानामाश्रमाणांच अनेन वर्णेनेदं कर्तव्यमनेनाश्रमेणेदं कर्तव्यमिति धर्ममर्यादाः । प्रकोपः संक्षोभः । विभ्रमादकरणाद्विपरीतकरणाच्च ॥ २४ ॥

(५) नन्दनः । सेतवः मर्यादाः । विभ्रमादसम्यक्प्रणयादप्रणयाच्च ॥ २४ ॥

(६) रामचन्द्रः । दण्डस्य विभ्रमाद्विस्मरणादन्यथाप्रयोगात्सर्वे वर्णाः दुष्येयुः संकीर्णा भवेयुः । च पुनः सर्वसेतवो मर्यादाभिद्येरन् ॥ २४ ॥

यत्र श्यामोलोहिताक्षोदण्डश्चरति पापहा ॥ प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥ २५ ॥

(१) मेधातिथिः । एतद्वयमनुष्याणां प्रशस्ततमं अतस्तेनासता रूपकभङ्गा स्तौति द्विरूपोदण्डः दुःखदोभयदश्च भयहेतुत्वं श्यामतया दुःखहेतुत्वं लोहिताक्षत्वेन । परिसमाप्ता दण्डस्तुतिः । दण्डोऽवश्यं कर्तव्यः सच देशाद्यपेक्षयेति अन्यः-सर्वोर्थवादः । नेता चेत् नेता दण्डस्य नायकः सचेत्साधु पश्यति मुनिरूपितदेशकालादिकं कृत्वा पालयति तत्र प्रजा नमुह्यन्ति न केनचिद्दोषेण युज्यन्ते ॥ २५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यत्र श्याम इति प्रागुक्तपुरुषरूपताकथनम् । श्यामः कृष्णः तामसत्वात् । लोहिताक्षः रजोधिकत्वेन कोपनत्वात् । साधु युक्तं पश्यति ॥ २५ ॥

(३) कुल्लूकः । यत्र देशे शास्त्रप्रमाणावगतः श्यामवर्णः लोहितनयनोऽधिष्ठातृदेवताकोदण्डो विचरति तत्र प्रजा-व्याकुलान् भवन्ति । दण्डप्रणेताय दिविषयानुरूपं सम्यग्जानाति ॥ २५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच श्याम इत्यादि तदधिष्ठातृदेवतारूपम् । नेता राजा शास्त्रानुरूपं साधुचेत्पश्यति न तदा प्रजामुह्यन्तीत्यन्वयः ॥ २५ ॥

(५) नन्दनः । सम्यक्प्रणयने गुणमाह यत्रेति । दण्डाभिमानिनीं देवतां प्रकृत्याधिष्ठेयाधिष्ठानोरभेदोपचारादुक्तं श्यामोलोहिताक्ष इति । दण्डदेवतायाः श्यामत्वं लोहिताक्षत्वं च महाभारतेऽपि स्मर्यते ॥ नीलोत्पलदलश्यामश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुजः । अष्टपादकनयनः शकुन्तर्णोर्ध्वरोमवान् ॥ जटी द्विजिह्वस्ताभ्रास्योभृङ्गराजतनुच्छदः । एतद्रूपं बिभर्त्युग्रं तेन दण्डोदुरावर इति ॥ २५ ॥

(२४) दुष्येयुः = नश्येयुः (त, ट)

(६) रामचन्द्रः । दण्डस्य स्वरूपमाह यत्रेति । यत्रदेशेऽस्यामोदण्डश्चरति श्यामइत्यनेन मनुष्यरूपता श्यामःकृष्णः । लोहिताक्षः रजोऽधिकत्वेन कोपनत्वात् । यदि नेता साधु युक्तं यथा स्यात्तथा पश्यति तत्र प्रजान् मुह्यन्ति ॥ २५ ॥

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ॥ समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ २६ ॥

(१) मेधातिथिः । इदं संप्रणेतुः साधुदर्शनं सत्यवादिता समीक्ष्यकारिता प्राज्ञता त्रिवर्गे कौशलं च । सत्यवादी यः शास्त्रानुसारितयादण्डं कृत्वा कुतश्चिन्महाधनत्वं विज्ञाय न तं वर्धयति न च वल्लभस्य रागादवनं करोति । प्राज्ञो देशादीनां बाध्यबाधकभावार्थमवस्थाविशेषज्ञः कदाचिदेशेन कालो बाध्यते कालेन वा देशः उभौ वा तौ विद्याशक्ती तयोश्च परस्परमुत्सर्गापवादभावज्ञः कार्यवशादर्थश्च बाधक एव बाध्यतामित्यतः प्राज्ञत्वमुपयुज्यते । धर्मादीनां च गुरुलघुताभावः । स्वल्पो यत्र धर्मस्तस्मिन् साध्यमाने महान्नर्थो भवति तत्र धर्मस्त्यज्यते । प्रायश्चित्तेन समाधास्यत इत्येवमादिबोद्धव्यम् ॥ २६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । समीक्ष्यकारिणं समीक्ष्य शास्त्रेण विचार्य कुर्वाणम् ॥ २६ ॥

(३) कुल्लूकः । तस्य दण्डस्य प्रवर्तयितारमभिषेकादिगुणयुक्तं नृपतिमवितथवादिनं समीक्ष्यकारिणं तत्त्वात् तत्त्वाविचारोचितं प्रज्ञाशालिनं धर्मार्थकामानां ज्ञातारं मन्वादयोऽप्याहुः ॥ २६ ॥

(४) राघवानन्दः । तदनु रूपं राजलक्षणमाह तस्याहुरितिसार्धेन । तस्य दण्डस्योक्तविशेषणविशिष्टं राजानं प्रणेतारं मन्वादय आहुरित्यन्वयः । सत्यवादिनं लोभादिना समयभेदरहितम् । समीक्ष्य पूर्वापरमालोच्य कर्तुं शीलम् । प्राज्ञमूलापोहसमर्थम् । धर्मार्थकोविदं स्मृतिवात्स्यायननीतिशास्त्राणां वेत्तारं तत्र वेदस्मृतिभ्यां धर्मस्य वात्स्यायनादिनाकामस्य नीतिशास्त्रेणार्थस्य वेत्तारम् ॥ २६ ॥

(५) नन्दनः । दण्डप्रणयनाधिकारमाह तस्येति ॥ २६ ॥

(६) रामचन्द्रः । तस्य दण्डस्य संप्रणेतारं प्रयोक्तारं समीक्ष्य शास्त्रं धर्मानालोच्य कारिणं कुर्वाणं राजानमाहुः ॥ २६ ॥

तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते ॥ कामात्मा विषमः क्षुद्रोदण्डेनैव निहन्यते ॥ २७ ॥

(१) मेधातिथिः । कामान्धः रागप्रधानः । विषमः क्रोधनः । समत्वेन दण्डपातनेन शत्रौ मित्रे च वर्धते । क्षुद्रः छलान्वेषादण्डेनैव निहन्यते प्रकृतिकोपेनादृष्टेन वा दोषेण ॥ २७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विषमो विषमदण्डप्रणेता । क्षुद्रो नृपः ॥ २७ ॥

(३) कुल्लूकः । तदण्डं राजा सम्यक् प्रवर्तयन् धर्मार्थकामैर्वृद्धिं गच्छति । यः पुनर्विषयाभिलाषी विषमः कोपनः क्षुद्रश्छलान्वेषी नृपः सप्रकृतेनैव दण्डेनामात्यादिना कोपादधर्माद्वा विनाश्यते ॥ २७ ॥

(४) राघवानन्दः । अत आह त्रिवर्गेणेति । धर्मार्थकामैस्तपोवनानाश्रितस्य तच्चात्रेण मोक्षासिद्धिरिति भावः । उक्तविशेषणहीनो नाधिकारीत्याह कामेति । कामात्मा विषयाभिलाषी । विषमः कोपनः । क्षुद्रः छलान्वेषी । विहन्यते प्रकृतिकोपादृष्टद्वारा दण्डेनैव । तादृशो राजेति शेषः । कामान्ध इति पाठो मेधातिथेः ॥ २७ ॥

(५) नन्दनः । सम्यग्युथाशास्त्रम् ॥ २७ ॥

(६) रामचन्द्रः । तदण्डं सम्यक् प्रणयन् राजा त्रिवर्गेण धर्मार्थकामैरभिवर्धते । कामात्मा पुरुषः विषमप्रणेता क्षुद्रो नृपः एतादृशो दण्डेनैव निषात्यते ॥ २७ ॥

दण्डोहि सुमहत्तेजोदुर्धरश्चाकृतात्मभिः ॥ धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ २८ ॥

(१) मेधातिथिः । सुमहद्यत्तेजः सदण्डः अकृतात्मभिः शास्त्रेण गुरुपासनया सहजेन वा विनयेन येऽनभिविनीतास्तैर्दुर्धरोनशक्यते सम्यक्प्रणेतुम् । नैवमन्तव्यमाज्ञामात्रेण दण्डः प्रणीयते का तस्य दुर्धरता यतोयस्तत्र नजागर्ति प्रयत्नवान्भवति तंप्रमादिनंसबान्धवंदण्डोहन्ति शरीरेण केवलेन राजा न नश्यति यावत्पुत्रपौत्राद्यन्वयेन सह ॥ २८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दुर्धरोऽदण्ड्येषु धारयितुमशक्यः ॥ २८ ॥

(३) कुल्लूकः । यतोदण्डः प्रकृष्टतेजःस्वरूपः स्वशास्त्रैरसंस्कृतात्मभिर्दुःखेन ध्रियतेऽतोराजधर्मरहितं नृपमेवपुत्रबन्धुसहितं नाशयति ॥ २८ ॥

(४) राघवानन्दः । अकृतात्मभिरजितेन्द्रियैः शास्त्रासंस्कृतबुद्धिभिर्वा । तत्रापि सबान्धवंहन्ति अधर्मोत्पादनेनेतिशेषः ॥ २८ ॥

(५) नन्दनः । यथाग्निरन्यत्र प्रणीयमानोपि प्रमत्तंप्रणेतारमेव दहत्येवंदण्डोऽपीत्यभिप्रायेणाह दण्डोहीति । हिहेतौ । सुमहत्तेजः सुमहानग्निः । चलितं स्खलितम् ॥ २८ ॥

(६) रामचन्द्रः । दुर्धरः धर्तुमशक्यः ॥ २८ ॥

ततोदुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम् ॥ अन्तरिक्षगतांश्चैव मुनीन्देवांश्च पीडयेत् ॥ २९ ॥

(१) मेधातिथिः । देशाद्यनपेक्षया यत्रदण्डः प्रणीयते तत्र सराजकस्य जनपदस्य तिर्यक्स्थावरसहितस्य नाशः । ततोमन्त्रिभिर्जनपदैश्च राजा विज्ञापनीयः त्यक्तव्योवा तादृशोदेशः । देवमुनयः पीडयन्ते इतः प्रदानजीवनादेवाः आस्मिंश्चानुष्ठानाद्युच्छेदान्निष्ठाएव देवमुनयः । तथाचपुराणकारैः ॥ वर्णाश्रमेभ्यः स्थित्वा तु लोकेस्मिन्यः प्रवर्तते । स्वर्गादौ देवयोनीनां स्थितिहेतुः सवैस्मृतइति । प्रथमा तु श्लोकादारभ्य यावदयं श्लोकस्तत्रायमर्थसंग्रहः । समवृत्तेन क्षत्रियेण जनपदरिपालनं कर्तव्यम् तच्चदण्डेन विना न भवतीति सदेशाद्यपेक्षयावश्यं निपुणतो निरूप्य स्वराष्ट्रे परराष्ट्रे वा यथाशास्त्रंप्रणेतुः । अन्यथा तु प्रवृत्तावुभयलोकनाशः । अन्यः सर्वार्थवादः ॥ २९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ततोराज्ञिविनिष्टे रक्षकाभावात् । दुर्गं राज्यं तदीयलोकमिमं सचराचरं स्थावरजङ्गमसहितं देवांश्च हविर्दानाद्यभावेन पीडयेत् किंपुनरन्यान् ॥ २९ ॥

(३) कुल्लूकः । दोषाद्यनपेक्षया योदण्डः क्रियते सबन्धुनृपनाशानन्तरंधन्यादिदुर्गराष्ट्रदेशं पृथिवीलोकं जङ्गमस्थावरसहितं हविः प्रदानजीवनादेवा इति श्रुत्या हविः प्रदानाभावेऽन्तरिक्षगतानृषीन्देवांश्च पीडयेदिति ॥ २९ ॥

(४) राघवानन्दः । दुर्गं षड्विधं वक्ष्यमाणम् । अन्तरिक्षगतान् मर्त्यलोकान् दुत्पथगामिनः । यज्ञाद्यकरणांमुन्यादीनां पीडैव । तदुक्तं वर्णाश्रमेभ्यः स्थित्वा तु लोकेस्मिन्यः प्रवर्तते । स्वर्गादौ देवयोनीनां स्थितिहेतुः सवै स्मृतइति ॥ सद्यज्ञादिः ॥ २९ ॥

(५) नन्दनः । नैतावताविरमतीत्याह ततइति । लोकं भूलोकं । देवान् स्वर्गगतान् । इज्याविच्छेदादन्तरिक्षगतादीनां पीडाः ॥ २९ ॥

(६) रामचन्द्रः । ततः देवान् हविर्दानाद्यसंभवेन दण्डः पीडयेत् ॥ २९ ॥

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ॥ न शक्योन्यायतोनेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ३० ॥

(१) मेधातिथिः । सहायसंग्रहार्थप्रकरणमिदानीमारभ्यते यस्यच निरूपणावश्यमाणा तत्सहायादिगुणयोगिन-
श्चार्यसम्यसेनापतिदण्डाधिकारिणोऽस्मिन् तेन स्वयमेवनिःशङ्कनयकालगुणसंपन्नेनापिन्यायतोन प्रणेतुंशक्यः । न्यायः
शास्त्रानुसारिणीदेशाद्यपेक्षयाचव्यवस्था अतःसहायाःशोभनाःकर्तव्याः । यथास्वयंमूढोविचितोऽसंस्कृतबुद्धिरस्ति सक्ते-
विषयेषु लुब्धोधनविनियोगंयथावन्नकरोति तेन तादृशेनैतैर्दोषैर्युक्तेन नसम्यक्क्षियते एवमसहायेनापीति तात्पर्यम् ।
यस्तु विपरीतस्तेन शक्यते ॥ ३० ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । मूढेन प्रमादहेतुमोहवता । अकृतबुद्धिना शास्त्रासंस्कृतमतिना ॥ ३० ॥

(३) कुल्लूकः । सदण्डोमन्त्रिसेनापतिपुरोहितादिसहायरहितेन मूर्खेण लोभवता शास्त्रासंस्कृतबुद्धिपरेण नृ-
पतिना शास्त्रतोऽन्येन प्रणेतुंशक्यते ॥ ३० ॥

(४) राघवानन्दः । सदण्डः । असहायेनाविद्वद्ब्राह्मणप्राड्विकाकादिरहितेन । मूढेन मुग्धेन । अकृतबुद्धिना शास्त्रा-
नभिज्ञेन । तदभिज्ञत्वेऽपि विषयेषु सक्तेन न्यायतोऽन्योपदिष्टशास्त्रानुष्ठानरहितेनापि । न्यायः शास्त्रानुसारिणी देशाद्यपे-
क्षया व्यवस्था तया नेतुं शक्यः ॥ ३० ॥

(५) नन्दनः । सम्यक्प्रणयनोपायंश्लोकाभ्यामाह सइति ॥ ३० ॥

(६) रामचन्द्रः । सदण्डः मूढेन प्रमादमोहवता अकृतबुद्धिना अकृतधर्मशास्त्राभ्यासेन एतादृशेनराज्ञा न्यायतो-
नेतुं प्रवर्तयितुं शक्यः ॥ ३० ॥

शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ॥ प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥ ३१ ॥

(१) मेधातिथिः । एषएवार्थोवैपरीत्येनोच्यते । शुचिरलुब्धः । सत्यसन्धः सत्यप्रधानः । सत्यमेवपुरोधायसर्व-
क्रियासुप्रवर्तते सविजितेन्द्रियः अजितेन्द्रियस्य कुतः सत्यं । यथाशास्त्रमनुसरति वर्तते । सुसहायः शोभनाः सहाया-
अस्येति अमूर्खैर्भक्त्यनुरक्तैःसहायैर्युक्तः । धीमता प्राज्ञेन । योसौमूढः प्रागुक्तस्तस्यायंप्रतिपक्षतयोक्तः । अतःपञ्चभि-
र्दोषैर्हीनस्तावद्विरेव गुणैर्युक्तोदण्डप्रणयनेऽधिकृतो दृष्टादृष्टफलातिशयभाग्भवतीति श्लोकद्वयस्यार्थः ॥ ३१ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । शुचिना अलुब्धेन । धीमता ऊहापोहवता ॥ ३१ ॥

(३) कुल्लूकः । अर्थादिशौचयुक्तेन सत्यप्रतिज्ञेन यथाशास्त्रव्यवहारिणा शोभनसहायेन तत्त्वज्ञेन कर्तुंशक्यतइ-
तिपूर्वोक्तदोषप्रतिपक्षे गुणाअनेन श्लोकेनोक्ताः ॥ ३१ ॥

(४) राघवानन्दः । अनधिकारिणमुक्ताधिकारिणमाह शुचिनेति । शुचिनाअलुब्धेन सत्यसन्धेन स्वोक्तरक्षण-
शीलेन धीमता पूर्वापरालोचनयुक्तेन सुसहायेन वक्ष्यमाणसहायवता दण्ड्येषु दण्डोनेतुंशक्यः ॥ ३१ ॥

(६) रामचन्द्रः । शुचिना अलुब्धेन ॥ ३१ ॥

स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद्दृशदण्डश्च शत्रुषु ॥ सुहृदस्वजित्तः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥ ३२ ॥

(१) मेधातिथिः । पितृपितामहादिक्रमागतोदेशोव्यपदेशहेतुः । काश्मीरकस्यकाश्मीरः पाञ्चालस्यपाञ्चालः स्वरा-
ष्ट्रं । तत्रन्यायप्रवृत्तिः न्यायेनवर्तेतन्याययोगादुक्तन्यायः अतोबहुव्रीहिः । न्यायवृत्तिरितिवापाठः । एतत्पूर्वसिद्धमनूय

शत्रुषु भृशदण्डता विधीयते । परराष्ट्राणिपुनः पीडयेन्नतत्रविघ्नाद्युपेक्षणीयं राष्ट्रीयोपरोधोवा तथाकुर्वतः प्रतापउपजायते
प्रतापतश्च शत्रवोनमन्ति । ब्राह्मणेषुसर्वत्र क्षमान्वितः । अपराधेष्वपि साम्राज्येण प्रयोज्योऽन क्रोधेन । परराष्ट्रावासिनोपि
राष्ट्राघातकाले यदिशक्यन्तेरक्षितुंदा नहन्यन्ते स्निग्धेषु सुदृत्सु । अजिह्वोऽकुटिलवृत्तिः कार्यसिद्धिरुत्तकार्यप्रधानंस्यात्
॥ ३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भृशदण्डस्तीक्ष्णदण्डः । सुदृत्सु बन्धुषु स्निग्धेषु च मित्रेषु अजिह्वोऽवक्रमतिः । इति
राजदण्डयोःप्रशंसा ॥ ३२ ॥

(३) कुल्लूकः । आत्मदेशे यथाशास्त्रव्यवहारो स्याच्छत्रुविषयेषु तीक्ष्णदण्डोभवेन्निर्गस्नेहविषयेषु मित्रेष्वकु-
टिलःस्यान्कार्यमित्रेषु ब्राह्मणेषु च कृताल्पापराधेषु च क्षमावान्भवेत् ॥ ३२ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च स्वेति । न्यायवृत्तः शास्त्रानुसारव्यवहारो । भृशमत्यर्थदण्डोऽस्यास्तीतिभृशदण्डः
शत्रुषु तद्राष्ट्रेषु अजिह्वोऽकुटिलः । क्षमान्वितः विप्रादिक्रोशसहिष्णुः ॥ ३२ ॥

(६) रामचन्द्रः । सुदृत्सुसंबन्धिषु राजा अजिह्वःस्यात् । स्निग्धेषु मित्रेषु क्षमान्वितःस्यात् ॥ ३२ ॥

एवंवृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापिजीवतः ॥ विस्तीर्यते यशोलोके तैलबिन्दुरिवांभसि ॥ ३३ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रक्रान्तवृत्तेःस्तुतिरियं शिलोञ्छेनापि जीवतोऽत्यन्तक्षीणकोशस्यविस्तीर्यते यशःप्रथते । तत-
श्चपरराष्ट्राणि स्वयंनमन्ते स्वराष्ट्रिकश्चानुरागादविचलितोभवति ॥ ३३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवंवृत्तस्येति यथोक्तदण्डप्रणेतुः । शिलोञ्छेनापीति भोगदानाभ्यारहितस्यापी-
त्यर्थः ॥ ३३ ॥

(३) कुल्लूकः । शिलोञ्छेनेतिक्षीणकोशत्वंविवक्षितंक्षीणकोशस्यापि नृपतेरुक्ताचारवतोजले तैलबिन्दुरिव कीर्ति-
लोके विस्तारमेति ॥ ३३ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च एवमिति । शिलोञ्छेनापीति क्षीणकोशत्वंविवक्षितम् ॥ ३३ ॥

(५) नन्दनः । सम्यक्प्रणयनस्यफलमाह एवमिति । भूतलविप्रकीर्णं धान्यंशिलम् तस्योद्धारउञ्छः । शिलान्य-
प्युञ्छतइतिलिङ्गात् । अथवा शिलंचोञ्छश्च शिलोञ्छम् वर्तयंस्तुशिलोञ्छाभ्यामिति लिङ्गात् । उञ्छःकणशआदानं क-
णिशाद्यर्जनंशिलमितियादवः ॥ ३३ ॥

(६) रामचन्द्रः । एवंवृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः भोगदानाभ्यारहितस्यापि यशः लोके विस्तीर्यते ।
अम्भसि तैलबिन्दुरिव ॥ ३३ ॥

अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः ॥ संक्षिप्यते यशोलोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३४ ॥

(१) मेधातिथिः । अतोवृत्ताद्विपरीतस्य चलितस्य अत्रहेतुरजितात्मता । यथाशास्त्रमनियतात्मायः ॥ ३४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अजितात्मनोधनलोभवस्यात्मनः ॥ ३४ ॥

(३) कुल्लूकः । उक्ताचाराद्विपरीताचारवतो नृपतेरजितेन्द्रियस्य जले घृतबिन्दुरिव कीर्तिः लोके संकोचयति ॥ ३४ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तविपरीत्ये दोषमाह अतस्त्विति । अतउक्तेभ्योविपरीतस्य संक्षिप्यते अभिषेककाले
विस्तीर्णयथापि तदुत्तरमजितेन्द्रियत्वादिनासंकुचितयशाभवेदित्यर्थः ॥ ३४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अजितात्मनः लोभाद्यासक्तचित्तस्य ॥ ३४ ॥

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः ॥ वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥ ३५ ॥

(१) मेधातिथिः । स्वधर्माणांचराजामृष्टोभिरक्षिता स्वधर्मनिष्ठानामपालनेराज्ञः प्रत्यत्रायोधर्मच्यतास्तु यदि केनचिदुपहन्येरन् नतत्रराज्ञोतीवदोषइति स्वेस्वेधर्मइत्यनेन दर्शयति । अथवानलिप्यते अनिविष्टानामिति । येतुशास्त्रान्पुत्राद्युपदेशाद्वा स्वधर्मापन्नाः न तेषां राजाप्रमुखेन वर्तेत । वर्णग्रहणं श्रीबालवृद्धानां रक्षार्थं नहि ते आश्रमस्थाः आश्रमग्रहणंतर्हि किमर्थं प्राधान्यार्थं ब्राह्मणवसिष्ठवत् प्रयोजननिर्देशोवायं । आश्रमसन्ध्योपासनादिधर्माच्चलितुमेषामकरणान् नचैवंदण्डाद्यपघातः कर्तुमितीति । इतरथाबाधापरिहारः एव रक्षाविज्ञाने संन्योपासनाद्यप्रकरणेषु नामान्यस्य कस्यचिद्भवति द्विरूपा राज्ञः कर्तव्यतेति वर्णाश्रमग्रहणम् । एतदेवोक्तं वर्णानां श्रमांश्च न्यायतोऽभिरक्षेदिति ॥ ३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वेस्वइति प्रकारान्तरारम्भार्थः प्रागुक्तानुवादः ॥ ३५ ॥

(३) कुड्डूकः । क्रमेण स्वधर्मानुष्ठानां ब्राह्मणादिवर्णानां ब्रह्मचार्याद्याश्रमाणां च विश्वसृजा राजा रक्षिता सृष्टः । तस्मात्तेषां रक्षणं कुर्वतो राज्ञः प्रत्यवायः स्वधर्मविरहिणां रक्षणोऽपि न प्रत्यवायइत्यस्य तात्पर्यार्थः ॥ ३५ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तविधं राजानमहीकरोति स्वइति । रक्षितेति कृत्वा सृष्टः ब्रह्मणेति शेषः ॥ ३५ ॥

(५) नन्दनः । अर्थान्तरविवक्षार्थमुपसंहरति स्वइति । वर्णानामित्यधर्माधिकारिणानिर्देशः । आश्रमाणामिति धर्माधिकारिणामिति । अभिरक्षितामृष्टोरक्षितृत्वेन सृष्टइत्यस्माभिरुक्तं होतिभावः ॥ ३५ ॥

तेन यद्यत्समृत्त्येन कर्तव्यं रक्षता प्रजाः ॥ तत्तद्वोऽहंप्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ३६ ॥

(१) मेधातिथिः । वक्ष्यमाणावबोधनार्थं श्लोकः । तेन राज्ञा समृत्त्येन तदीयैः सहायैर्यत्कर्तव्यं प्रजा रक्षणार्थं तदिदानीमुच्यते ॥ ३६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यथावत् यस्य यदर्हम् । अनुपूर्वशः प्रातरारभ्य कार्यम् ॥ ३६ ॥

(३) कुड्डूकः । वक्ष्यमाणावतारार्थोऽयं श्लोकः । तेन राज्ञा प्रजारक्षणं कुर्वता सामात्येन यद्यत्कर्तव्यं तत्तत्समग्रं युष्माकमभिधास्यामि ॥ ३६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच तेनेति । समृत्त्येन सामात्येन प्रजारक्षता यद्यत्कर्तव्यमित्यन्वयः ॥ ३६ ॥

(५) नन्दनः । अर्थान्तरमेव प्रस्तौति तेनेति । रक्षताकर्तव्यं रक्षार्थकर्तव्यमितियावत् ॥ ३६ ॥

(६) रामचन्द्रः । तेन राज्ञा यद्यत्कर्तव्यं तत्तद्युष्माकमहंप्रवक्ष्यामि ॥ ३६ ॥

ब्राह्मणान्पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः ॥ त्रैविद्यवृद्धान्विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने ॥ ३७ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रातरुत्थाय शयनंत्यक्त्वा यथाविधानं कृतसंन्योपासनः प्रथमं ब्राह्मणानां दर्शनं दद्यात् । उपासनमन्तिकोपवेशनकुशलप्रश्नादिकरणं परिः पादपूरणः । तिष्ठेत्तेषां च शासने आज्ञाकरणं तेषां शासनं यदि कस्यचिदुपकाराय विधेयुस्तद्विरुद्धं न शङ्क्यं नाप्यनर्थकमनुतिष्ठेत् । त्रैविद्यवृद्धान् तिसृणां विद्यानां समाहारः त्रैविद्यं तदधीयते । त्रैविद्यारूढ्या ऋग्वेदादिवेदत्रयाध्यायिन उच्यन्ते । विदुषस्तदर्थवेदिनश्च एवंविधाये ब्राह्मणास्तानुपासीत तदीयामाज्ञां कुर्यात् । वृद्धास्त्रैविद्यानां श्रेष्ठाः प्रकर्षवन्तोऽध्ययनविज्ञानयोः ॥ ३७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । त्रैविद्येन वेदविद्यया वृद्धान् श्रेष्ठान् । तथा विदुषः शास्त्रसंस्कृतमतीन् ॥ ३७ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रत्यहंप्रातरुत्थाय ब्राह्मणानृग्यजुःसामाख्याविद्यात्रयग्रन्थार्थाभिज्ञान्विदुष इति नीतिशास्त्राभिज्ञान्सेवेत तदाज्ञांकुर्यात् ॥ ३७ ॥

(४) राघवानन्दः । तदेवाह ब्राह्मणानिति । त्रैविद्यवृद्धान् ऋग्यजुःसामाख्याविद्यास्तत्राभिज्ञान् । विदुषः नीतिशास्त्रज्ञान् । अनुशासने आज्ञायाम् ॥ ३७ ॥

(५) नन्दनः । त्रयीदण्डनीतिरात्मविद्याचेति तिस्रोविद्यास्त्रयीविद्यां तामधीयत इति त्रैविद्याः । विद्वांसस्तत्तत्त्ववेदिनः । उपासीत तदहःकृत्यसाधनार्थमिति भावः ॥ ३७ ॥

(६) रामचन्द्रः । राजाब्राह्मणान्पर्युपासीत । तेषांब्राह्मणानां शासने तिष्ठेत् । कीदृशान्ब्राह्मणान् त्रैविद्यवृद्धान् वेदत्रयस्तपःसंपन्नान् ॥ ३७ ॥

वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन् ॥ वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥ ३८ ॥

(१) मेधातिथिः । वृद्धान्वयस्थब्राह्मणान् । एतदपूर्वं अन्यत्पूर्वसिद्धविप्रानित्यादि । शुचीन् निरुपाधीन् । एतदप्यपूर्वं यथैवाध्ययनविज्ञाने उपास्यत्वकारणमेवंशुचित्वमपि द्वितीयश्लोकार्थार्थवादः । रक्षोभिः रक्षांसि निर्दयानि महाबलानि सर्वधर्मशून्यानि तान्यपि वृद्धसेविनं पूजयन्ति ॥ ३८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वृद्धान् वयोवृद्धान् तेषांपुरावृत्तज्ञतयोहापोहशक्तत्वात् । तानपि वेदार्थज्ञानं शुचीन् शौचयुक्तानेव नान्यानित्येतदर्थविशेषणद्वयम् ॥ ३८ ॥

(३) कुल्लूकः । तांश्चब्राह्मणान्वयस्तपस्यादिवृद्धानर्थतोऽग्रन्थतश्च वेदज्ञान्बहिरन्तश्चार्थदानादिनाशुचीनित्यंसेवेत यस्माद्वृद्धसेवी सततं हिंसाक्षसैरपि पूज्यते तैरपि तस्य हितं क्रियते सुतरांमनुष्यैः ॥ ३८ ॥

(४) राघवानन्दः । वृद्धसेविनां गुणमाह वृद्धाश्चेति । वृद्धान् पित्रादीन् । वेदविदो वेदाध्ययनमात्रशालिनः । तावन्मात्रत्वेऽपि न तपस्वित्वमहत्त्वे कारणमित्याह शुचीनिति । वृद्धसेवीति कृत्वा रक्षोभिः राक्षसाद्यैः ॥ ३८ ॥

(५) नन्दनः । उक्तमेवार्थमादरार्थमाह वृद्धानिति । वृद्धाञ्छीलेन वयसा च । रक्षोभिरपि दुर्जनैरपि ॥ ३८ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतादृशो राजा रक्षोभिः राक्षसैरपि पूज्यते ॥ ३८ ॥

तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्माऽपि नित्यशः ॥ विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हि चित् ॥ ३९ ॥

(१) मेधातिथिः । वृद्धसेवायाः प्रयोजनमाह तेभ्योविद्वद्ब्राह्मणेभ्योवृद्धेभ्यश्च विनयं राजवृत्तमधिगच्छेच्छिक्षेत । विनीतात्मा यद्यपि स्वयंबुद्ध्यापि विनीतोऽर्थशास्त्रैर्वातथापि वृद्धोपदेशेयत्नवान्स्यात् । दृष्टकर्माणः शास्त्रज्ञेभ्यो निपुणतराः । अथवा पाटवातिशयजननार्थं विनीतेनापि स्वभावतो वृद्धेभ्योऽर्थेभ्योऽप्यआत्माविनेयः स्वभावशुद्धस्य सुवर्णस्य तेजःसंयोगादिनाधीयमानसंस्कारो विशुद्धतररूपवानसौ दृश्यते । अस्य विनयाधानस्य फलं न विनश्यतीति ॥ ३९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विनयमिन्द्रियजयोपायम् । विनीतात्माप्यविनयादधिकं शिक्षेदित्यर्थः ॥ ३९ ॥

(३) कुल्लूकः । सहजप्रज्ञयार्थशास्त्रादिज्ञानेन च विनीतोऽप्यतिशयार्थं तेभ्यो विनयमभ्यसेत् यस्माद्विनीतात्मा राजा न कदाचिन्नश्यति ॥ ३९ ॥

(४) राघवानन्दः । वृद्धसेवाप्रयोजनमाह तेभ्यइति । विनीतात्मापि स्वयमिति शेषः । कर्हिचित् शत्रुतः पराजय-
दशायामपि विनयेन ततोपि राज्यमामुयात् ॥ ३९ ॥

(५) नन्दनः । सेवितेभ्योवृद्धेभ्यः प्राप्यमाह तेभ्यइति ॥ ३९ ॥

(६) रामचन्द्रः । तेभ्यः वृद्धेभ्यः विनयं इन्द्रियजयोपायम् ॥ ३९ ॥

बहवोऽविनयान्नष्टाराजानः सपरिच्छदाः ॥ वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥ ४० ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वोक्तएवार्थः श्लोकत्रयेणैव दृढीक्रियते । अविनीताः सपरिग्रहानष्टाः पुत्रदारहस्त्यश्वा-
दिसंपत्परिग्रहः । येतु विनयिनो न ते राष्ट्रंप्राप्य हारयन्ति यावत्तेदूरस्थावनस्था अपि कोशहीना अपि राज्यं प्रतिपेदिरे
लब्धवन्तः ॥ ४० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बहवोऽविनयात् वेनोविनष्टः पृथुस्तुविनयादिति श्लोकत्रयमस्यैव प्रपञ्चः । अत्रावि-
नयः कामक्रोधलोभमदमानहर्षरूपारिद्वर्षापावश्यं विनयस्तदपारवश्यम् ॥ ४० ॥

(३) कुल्लूकः । करितुरगकोशादिपरिच्छद्युक्ता अपिराजानो विनयरहितानष्टाः बहवश्च वनस्थानि परिच्छदा अपि
विनयेन राज्यं प्राप्नुवन् ॥ ४० ॥

(४) राघवानन्दः । अत्रैव गुणदोषावाचष्टे बहवइति । अविनयादिति छेदः । परिच्छदः चतुरङ्गसेनाः । अहो
विनयस्य माहात्म्यं यत्तावन्मात्रेणापरिच्छदा अपि राज्यान्यापुरित्याह वनस्थाश्चेति ॥ ४० ॥

(५) नन्दनः । विनयस्यावश्याधिगम्यतां व्यतिरेकान्वयाभ्यामाह बहवइति ॥ ४० ॥

(६) रामचन्द्रः । बहवो राजानः । अविनयात्कामक्रोधलोभमदमानहर्षरूपद्वर्गात् सपरिच्छदानष्टाः ॥ ४० ॥

वेनोविनष्टोऽविनयान्नष्टुषश्चैव पार्थिवः ॥ सुदाःपैजवनश्चैव सुमुखो निमिरेव च ॥ ४१ ॥

(१) मेधातिथिः । उभयत्राप्युदाहरणानि श्लोकसिद्धानि वर्णयन्ति । एतानि महाभारतादाख्यानानि ज्ञेयानि
॥ ४१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वेनः पृथोः पिता मानमदाभ्याम् । नहुषो मदक्रोधाभ्याम् । सुदानामा पिजवनापत्यं
मदाक्रोधाच्च । सुमुखो लोभात् । निमिर्हर्षात् । हर्षात्मन्यकस्मात्प्रीत्युद्रेकः ॥ ४१ ॥

(३) कुल्लूकः । उभयत्रैव श्लोकद्वयेन दृष्टान्तमाह वेनइत्यादि । वेनो नहुषश्च राजा पिजवनस्य च पुत्रः सुदानामा
सुमुखो निमिश्चाविनयादनश्यन् ॥ ४१ ॥

(४) राघवानन्दः । अत्रेतिहासमाह वेनइति । सुदाःपैजवनः पिजवनस्य पुत्रः सुदानामा । एतेषां विन-
यान्नष्टाः ॥ ४१ ॥

(५) नन्दनः । अविनयान्नष्टानुदाहरति वेनइति ॥ ४१ ॥

पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेव च ॥ कुबेरश्च धनैश्चर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः ॥ ४२ ॥

(१) मेधातिथिः । ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः । ननु च राज्याधिकारे को ब्राह्मण्यप्राप्त्युपन्यासावसरः । राष्ट्रप्राप्तिरेव
यथापूर्ववर्णयितव्या उच्यते धनैश्चर्यादपि जात्युत्कर्षोद्ग्रापः सर्वाधिकारहेतुत्वात् । ननु च कथं तस्य विनयो हेतुः षाड्गु-
ण्यप्रयोगः अप्रमादः अतिव्ययवजनं अलोभः व्यसनासेवनं एवमादीनि विनयः । तदेतद्ब्राह्मण्यस्यैकमपि नकारणं तपोहि

तत्र कारणत्वेन श्रुतं विश्वामित्रस्तपस्तेपे नानृपपुत्रः स्यामित्येवमादि उच्यते नार्थशास्त्रोक्तैवनीतिर्नयः किं तर्हि शास्त्री-
योविधिर्लोकाचारश्च । शास्त्रे च तपसा जात्युत्कर्षो जन्मान्तरे प्राप्यत इति विहितमेव । विश्वामित्रस्य ब्राह्मण्यं तु तस्मिन्नेव
जन्मनि क्षत्रियस्य सत इत्याख्यातमेव ॥ ४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पृथ्वादि कथाश्च प्रसिद्धा एव । गाधिजो विश्वामित्रः ॥ ४२ ॥

(३) कुल्लूकः । पृथुर्मनुश्च विनयाद्राज्यं प्रापतुः कुबेरश्च विनयाद्भनाधिपत्यं लेभे गाधिपुत्रो विश्वामित्रश्च क्षत्रियः
संस्तेनैव देहेन ब्राह्मण्यं प्राप्नोति । राज्यलाभावसरे ब्राह्मण्यं प्राप्तिरप्रस्तुताऽपि विनयोत्कर्षार्थमुक्ता । ईदृशोऽयं शास्त्रानुष्ठा-
ननिषिद्धवर्जनरूपो विनयो यदनेन क्षत्रियोऽपि दुर्लभं ब्राह्मण्यं लेभे ॥ ४२ ॥

(४) राघवानन्दः । विनयात्प्राप्तराज्यानाह पृथुरिति । गाधिजो विश्वामित्रः विनयाद्ब्राह्मण्यं प्राप किमुतान्यत् ।
एभिस्त्विति कचित्पाठः तदा इत्यादिभीराज्यं प्राप्तमित्यध्याहार्यम् ॥ ४२ ॥

(५) नन्दनः । विनयाल्लब्धमनोरथानुदाहरति पृथुरिति । मनुर्वैवस्वतः । गाधिजो विश्वामित्रः ॥ ४२ ॥

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ॥ आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च
लोकतः ॥ ४३ ॥

(१) मेधातिथिः । विद्यामिति द्वितीयान्तपाठेऽधिगच्छेदित्यनुषङ्गनीयम् । समाप्तब्रह्मचर्यस्य राज्योपदेशाच्च-
म्यर्थाधिगमे च तन्निष्पत्तेरभ्यासार्थोऽयमुपदेशः व्यवयवाविद्यात्रिविद्या तामधीयते त्रैविद्यास्तेभ्यस्त्रयोमृगवेदादिवेदत्रयं विद्या-
त् । संदिग्धेषु पदार्थेषु वेदेभ्यो निर्णयं कुर्यात् तैः सह वेदार्थचिन्तयेदिति यावन्न राजत्वाभिमानान्मदावलेपेन सर्वज्ञोऽहमिति
बुद्ध्या सदित्यमानानर्थानुपेक्षेत । दण्डनीतिं च दण्डविषया नीतिः दण्डोदमनमित्याहुः येन शत्रवो प्रकृतयो विषयवासिनश्चान्या-
यकारिणो दम्यन्ते स दण्डोऽमात्यादिसंपत् नीतिस्तस्य प्रयोजनं तत्र विधिस्तं शिक्षेत । तद्विद्ध्यश्वाणाक्यादिग्रन्थविद्ध्यः । शा-
श्वतीमिति स्तुतिः । यद्यपि दण्डनीत्याप्यस्य सर्वलोकः शक्यते ज्ञातुं अन्वयव्यतिरेकमूलत्वादस्यार्थस्य तथाप्यनुबोधनार्थं
नि तानि शास्त्राणि बुधानां च संवादा र्थानीति युक्तो दण्डनीतिशास्त्राधिगमः । एवमान्वीक्षिक्यपि तर्कविद्यार्थशास्त्रादिका ।
आत्मविद्याभ्यात्मविद्या । विशेषणविशेष्ये वापदे आत्मने या हितान्वीक्षिकी तर्काश्रया तां शिक्षेत साक्षुपयुज्यते । व्यसना-
भ्युदयोपरमचित्तसंक्षोभोपशमाय । यातु बौद्धचारवाकादितर्कविद्या सा नातीवरुत्वा कचिदुपयुज्यते प्रत्युतास्तिक्यमुपह-
न्ति यो नातिनिपुणमतिः । यदा तु त्वत्तन्त्रामान्वीक्षिकी वेद तदा तस्य दूतसंवादादिषु वाक्यवैशद्यानामुपयोगो नोपहास्यो भवति ।
वार्तारम्भाश्च पण्यानामर्थपरिज्ञानं वाणिज्यकौशलं समयेन बार्हस्पत्येन तत्र परिज्ञानं वार्ता तन्निमित्ता आरम्भावार्तारं-
भाः । वार्तास्वरूपं ज्ञात्वा तद्विषयकार्याय प्रवृत्तिरारंभः । एतल्लोकतो विद्यात् वणिज्या जीवोन्नतलोकोऽभिप्रेतः तेहि तत्र कुश-
ला भवन्ति । लोकत इति च पूर्वयोरनुषङ्गः कर्तव्यस्तेन सर्वत्र तद्विद्ध्य इति लभ्यते ॥ ४३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । त्रैविद्येभ्य एव दण्डनीतिमभ्यस्येदन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां न्यायसांख्यादिकामपवर्गाप-
योगिनीं वार्तारम्भास्तु कृष्यादीन्धनार्जनोपायान् लोकत एवान्वयव्यतिरेकाभ्याम् ॥ ४३ ॥

(३) कुल्लूकः । त्रिवेदीरूपविद्याविद्ध्यस्त्रिवेदीमर्थतोऽग्रन्थतश्चाभ्यसेत् ब्रह्मचर्यदशायामेव वेदग्रहणात् समावृत्तस्य
च राज्याधिकारान् अभ्यासार्थोऽयमुपदेशः । दण्डनीतिं चार्थशास्त्ररूपमर्थयोगक्षेपोपदेशिनीं पारंपर्यागतत्वेन नित्यांतद्वि-
द्ध्योऽधिगच्छेत् । तथान्वीक्षिकीं तर्कविद्यां भूतप्रवृत्तिप्रयुक्तयुपयोगिनीं ब्रह्मविद्यां चाभ्युदयव्यसनयोर्हर्षविषादप्रशमनहेतुशि-
क्षेत । कृषिवाणिज्यपशुपालनादिवार्तातदारम्भान्धनोपायार्थास्तदभिज्ञकर्षकादिभ्यः शिक्षेत ॥ ४३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच यस्य वेदाक्षरकलापग्रहणोत्तरकालमेवाभिषेकैस्तदवसरेऽविचारितं वेदार्थं विचारतो जा-
नीयादित्याह त्रैविद्येभ्य इति । धर्मार्थत्रयीं द्रव्यार्थदण्डनीतिमर्थोपायशास्त्रं शाश्वतीकुलपरंपरागतां आन्वीक्षिकीं तर्क-
विद्यां ऊहापोहार्थं आत्मविद्यां आत्मा नित्यः न जायत इत्यादिरूपां शोकापनोदार्थम् । वार्तारम्भान् कृषिपाशुपाल्य वा-
णिज्यादिवार्ता तदारम्भान् धनोपायान् लोकतः कृषीवलेभ्यः कृषीः पराशरादिस्मृतिभ्यो वा ॥ ४३ ॥

(५) नन्दनः । एवं त्रैविद्यवृद्धेभ्यो विनयस्याधिगमउक्तः इदानीं तेभ्य एव विद्यास्तिस्रोऽधिगन्तव्या इत्याह त्रैविद्ये-
भ्य इति । वार्ताकृषिगोरक्षवाणिज्यादीनि तस्या आरम्भान् क्रियाः ॥ ४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रैविद्येभ्यः त्रिवेदिभ्यः त्रयीं विद्यां वेदत्रयीं शिक्षेत । दण्डविद्यां आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यां आ-
त्मविद्यां आत्मज्ञानहेतुभूतां शिक्षेत । वार्ताया आरम्भा वार्तारम्भाः जीविकोपायास्तान्कृष्यादीन् लोकतः शिक्षेत ॥ ४३ ॥

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्विवानिशम् ॥ जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं

प्रजाः ॥ ४४ ॥

(१) मेधातिथिः । इन्द्रियजयस्य ब्रह्मचारिधर्मेषु सर्वपुरुषार्थतयोपदिष्टस्य पुनरिहोपदेशो राजधर्मेषु मुख्योयं वि-
नय इति ज्ञापयितुं तदिदमाह जितेन्द्रिय इत्यादि । सर्वस्यैतत्प्रसिद्धं अजितेन्द्रियस्य न प्रजावशे तिष्ठन्ति । योगस्तात्पर्यं
दिवानिशमहोरात्रम् ॥ ४४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इन्द्रियाणां जये आयत्तत्वे ॥ ४४ ॥

(३) कुल्लूकः । चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां विषयासक्तिवारणे सर्वकालं यत्नं कुर्यात् यस्माज्जितेन्द्रियः प्रजानियंतुं श-
क्नोति न तु विषयोपभोगव्यग्रः । ब्रह्मचारिधर्मेषु सर्वपुरुषोपादेयतयाऽभिहितोऽपीन्द्रियजयो राजधर्मेषु मुख्यत्वज्ञानार्थमन-
न्तरवक्ष्यमाणव्यसननिवृत्तिहेतुत्वाच्च पुनरुक्तः ॥ ४४ ॥

(४) राघवानन्दः । जितेन्द्रिय एव यस्मात्प्रजानियन्तुं शक्नोति तस्मात्तज्जये यत्न आस्थेय इत्याह इन्द्रियाणा-
मिति ॥ ४४ ॥

(५) नन्दनः । एवं विनीतेन त्रिदुषा सततमिन्द्रियजयः कर्तव्य इत्याह इन्द्रियाणामिति । योगमभियोगम् ॥ ४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । इन्द्रियाणां जये दिवानिशं योगं समातिष्ठेदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च ॥ व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ४५ ॥

(१) मेधातिथिः । इदमपरमिन्द्रियजयोपदेशस्य प्रयोजनं अजितेन्द्रियस्य दुष्परिहराणि व्यसनानि दुरन्तानि
दुःखकरोऽन्तोवसानयेषां प्रथमं प्राप्ति काले सुखयन्ति व्यसनानि पश्चात्तुर्वैरस्य जनयन्ति ततो दुरन्तान्युच्यन्ते । अथ बा-
हुष्पापोऽन्तर्षां नहि व्यसनिनस्ततो निवर्तितुं शक्नुवन्ति । कामाद्धेतोस्समुत्थानजन्मयेषाम् ॥ ४५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दुरन्तानि दुःखोदकानि ॥ ४५ ॥

(३) कुल्लूकः । दश कामसंभवान्यष्टौ क्रोधजानि वक्ष्यमाणव्यसनानि यत्नतस्त्यजेत् । दुरन्तानि दुःखावसाना-
न्यादौ सुखयन्त्यन्ते दुःखानि कुर्वन्ति । यद्वा दुर्लभोऽन्तोयेषां तानि दुरन्तानि नहि व्यसनिनस्ततो निवर्तयितुं शक्यन्ते ॥ ४५ ॥

(४) राघवानन्दः । अजितेन्द्रियता हि विषयाधीनेत्याह दशेति । वक्ष्यमाणानि व्यसनानि विविधदुःखहेतुनर-
केषु व्यस्यते पुमान्यैस्तानि दुःखहेतव इति यावत् । दुरन्तानि दुःखमेवान्तोयेषां तानि ॥ ४५ ॥

(५) नन्दनः । कामक्रोधजानि व्यसनानि वर्ज्यत्वेनाह दशेति ॥ ४५ ॥

(६) रामचन्द्रः । कामसमुत्थानि दशव्यसनानि अष्टौ क्रोधजानि व्यसनानि दुरन्तानि दुःखोदकानि प्रयत्नेन वर्जयेत् ॥ ४५ ॥

कामजेषु प्रसक्तोहि व्यसनेषु महीपतिः ॥ वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यांक्रोधजेष्व्वात्मनैव तु ॥ ४६ ॥

(१) मेधातिथिः । एषां वर्जने प्रयोजनमाह गुरुलघुभावं च । अर्थधर्मवियोगेन व्यवहित आत्मवियोगः । क्रोधजेषु सर्वैर्वियुज्यत इति विशेषः ॥ ४६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आत्मनैव देहेन वियुज्यत इत्यन्वयः । यद्यपि कामजेषु मृत्युः संभवति तथापि कामजैः स्वप्रयोजनमल्पं सुखं सिद्ध्यति न क्रोधज इत्यत्रैवात्मवियोगोक्तिः ॥ ४६ ॥

(३) कुल्लूकः । वर्जनं प्रयोजनमाह कामजेष्विति । यस्मात्कामजनितेषु व्यसनेषु प्रसक्तो राजा धर्मार्थाभ्यां हीयते क्रोधजेषु प्रसक्तः प्रकृतिकोपादेहनाशं प्राप्नोति ॥ ४६ ॥

(४) राघवानन्दः । कस्मिन्गणे कोदोषस्तत्राह कामजेष्विति । आत्मनैव तु सहदेहेन वियुज्यतेऽतस्तद्रहितः स्यात् राजा । कामजेष्वर्थधर्मवियोगेन व्यवहितोऽप्यात्मवियोगः कामजैः सन्निरुद्धः ॥ ४६ ॥

(५) नन्दनः । तेषूभयेषु व्यसनेषु प्रसक्तस्यानर्थान्विविच्याह कामेति । आत्मना शरीरेण वियुज्यते श्रियत इति यावत् । अनेन क्रोधजानां गुरुतरत्वमुक्तम् ॥ ४६ ॥

(६) रामचन्द्रः । कामजेषु व्यसनेषु प्रसक्तो महीपतिरर्थधर्माभ्यां वियुज्यते । क्रोधजेषु व्यसनेषु प्रसक्तो महीपतिरात्मनैव वियुज्यते ॥ ४६ ॥

मृगयाक्षोदिवास्वमः परिवादः स्त्रियोमदः ॥ तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजोदशको गणः ॥ ४७ ॥

(१) मेधातिथिः । तानीदानीं व्यसनानि स्वनामतो दर्शयति आखेटकार्यो मृगवधो मृगया अक्षस्तद्विषयक्रीडा एतयोस्त्वानर्थत्वं प्रसिद्धम् । दिवास्वमः कर्मानुष्ठानकाले कर्मस्वव्यापारः न दिवा शब्देनाहरेव विवक्षितं तदुक्तं जागर्तव्ये प्रसुप्तकेति अथवा मुख्य एव दिवास्वमः सहि प्रतिषिद्धः सर्वकार्यविधातो स च दर्शनार्थिनामन्येषां तदसंपत्तेर्द्वैग्यताजनकः प्रजासु । परिवादः रहसि परदोषाऽऽवर्जनं तेन सर्वाः प्रकृतयो विरज्यन्ति अपरिवाद्यानां च परिवादेऽधर्मः स्थित एव । स्त्रियोमद इत्येतयोरनर्थरूपता सुप्रतीता । तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवादित्राणाम् । वृथाट्या अप्रयोजनमीषत्प्रयोजनं वा इतस्ततश्च परिभ्रमणम् । दशपरिमाणोदशकः कामजः कामइच्छा ततो जायते विशिष्टसुखोपभोगार्थो वा अनुभूतविशेषाद्वा जायमानः कामजः ॥ ४७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । परिवादः स्वप्रशंसार्थमद्वेष्याणामपि निन्दा । मदः पानमत्तता । तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यानि । वृथाट्या विनाप्रयोजनं यात्रा । कामजो विना क्रोधं रागमात्राज्जातः ॥ ४७ ॥

(३) कुल्लूकः । तानि व्यसनानि नामतो दर्शयति मृगयेत्यादि । आखेटकार्यो मृगवधो मृगया अक्षो द्यूतक्रीडा सकलकार्यविधातिनीदिवानिन्दा परदोषकथनं स्त्रीसंभोगो मद्यपानजनितो मदः तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवादित्राणि वृथाभ्रमणं एषदशपरिमाणोदशकः सुखेच्छाप्रभवो गणः ॥ ४७ ॥

(४) राघवानन्दः । दशकामसमुत्थान्याह मृगयेति । मृगया वृथा मृगवधः श्राद्धाद्यर्थम् । युधिष्ठिराद्यनुष्ठितोऽक्षो-

ब्रूतक्रिया । परिवादइति स्वयंनोत्पादयेत्कार्यमित्यस्यानुवादः । स्त्रियः स्त्रीसेवनं तच्च दिवाधिकरणं निषिद्धं राजकार्यवि-
घातित्वात् प्रजोद्वेगहेतुः बहुस्त्रीसेवनं वा । मदः स्त्रीभोगाय पानजः । तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवादित्राणित्रीणि ॥ ४७ ॥

(५) नन्दनः । कामजान्याह मृगयेति । मदःपानम् । तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवादित्राणि । वृथाव्यानिष्प्रयोजनं पर्य-
टनम् । दशकः दशावयवः ॥ ४७ ॥

(६) रामचन्द्रः । तान्यष्टादश व्यसनान्याहमृगयेति द्वाभ्याम् । मृगया अक्षः दिवास्वमः परिवादः स्वमशंसार्थ-
मद्वेष्याणामपिनिन्दा स्त्रियः स्त्रीणामासक्तिः मदः पानमत्तता तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यं वृथोद्या वृथालापः वृथाव्येतिपा-
ठे वृथाटनं एषदशकोगणः कामजः रागमात्रजातः ॥ ४७ ॥

पैशुन्यं साहसं द्रोहर्ष्यासूयार्थदूषणम् ॥ वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोष्टकः ॥ ४८ ॥

(१) मेघातिथिः । अमात्यादयोयेसुसकृतबान्धवास्तत्रयन्निगोपनीयंतस्यप्रकाशनपैशुन्यम् । साहसं ज्यायसोनीच-
कर्मणि विनियोगः । स्वल्पेनैवापराधेन कराधानंकरावरोधोवा द्रोहउपांशुवधः । तत्रोपघातोवाजीवतएवेर्ष्या । सर्वसाधार-
णस्यविषयस्यसाधारण्यव्यावृत्तिः असहनंवा गुणिनांगुणेषुदोषाविष्करणंअसूया । अर्थदूषणं अर्थानामदानं हरणंवा ।
वाग्दण्डपारुष्येप्रसिद्धे । क्रोधोद्वेषः तत्प्रधानाएतत्कुर्वन्ति ॥ ४८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पैशुन्यमसद्वेषाविष्कारः । साहसं अल्पेपि कारणे स्वयंमानुषवधादि । द्रोहः परजिघां-
सा । ईर्ष्या परस्यानभिसन्धिकृतस्वस्त्रीदर्शनादावपचिकीर्षा । असूया परस्तवासहिष्णुता । अर्थदूषणमर्थानांपरकीयानां
स्वयमग्रहणेपि विनाशनम् । वाक्पारुष्यं आक्रोशादिना वाद्वात्रेण परद्वेषोत्पादनम् । दण्डपारुष्यमयुक्तदण्डप्रणयनम्
॥ ४८ ॥

(३) कुल्लूकः । पैशुन्यमविज्ञातदोषाविष्करणंसाहसंसाधोर्बधनादिनिग्रहः द्रोहश्छद्मवधः ईर्ष्याऽन्यगुणासहिष्णुता
परगुणेषुदोषाविष्करणमसूया अर्थदूषणमर्थानामपहरणंदेयानामदानंच वाक्पारुष्यमाक्रोशादि दंडपारुष्यंताडनादि एषो-
ष्टपरिमाणोव्यसनगणःक्रोधाद्भवति ॥ ४८ ॥

(४) राघवानन्दः । क्रोधजानष्टावाह पैशुन्यमिति । अविज्ञातदोषाविष्करणं पैशुन्यम् । साहसं साधोर्बधना-
दिनानिग्रहः । द्रोहः छद्मनावधः । ईर्ष्या परगुणासहिष्णुता । परगुणेषु दोषाविष्करणमसूया । अर्थदूषणं परस्वापहारः
न त्वर्थार्थदूषणं परिवादेन गतार्थत्वात् । पारुष्यविशेषणंवाग्दण्डजं तत्र वाक्पारुष्यमाक्रोशादि अनपराधेदण्डपारुष्यंताड-
नादि तेन द्वयम् ॥ ४८ ॥

(५) नन्दनः । क्रोधजान्याह पैशुन्यमिति । अर्थदूषणं नाम परदूषणार्थं महतोऽर्थस्य परित्यागः । तथाकामन्द-
केनोक्तम् ॥ दूष्यस्य दूषणार्थं हि परित्यागोमहोयसः । अर्थस्य नीतिशास्त्रैरर्थदूषणमुच्यते इति ॥ ४८ ॥

(६) रामचन्द्रः । पैशुन्यं असद्वेषाविष्कारः । साहसं अल्पेपि कारणे स्वयंमानुषवधादिकम् । द्रोहः अपकारः ॥
परजिघांसा ईर्ष्या । असूया परस्तवासहिष्णुता । अर्थदूषणं अर्थानांपरकीयानां स्वयमग्रहणेपि विनाशनम् ॥ ४८ ॥

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयोविदुः ॥ तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेताबुभौ गणौ ॥ ४९ ॥

(१) मेघातिथिः । उक्तंतावत्कामस्य व्यसनवर्गस्य लोभोमूलं विषयोपभोगस्पृहा क्रमः इच्छा अभिलाषोलोभ-
१८

न्यनर्थान्तरं यतः क्रोधजस्य कथंलोभमूलं येनोच्यते तज्जावेतावुभौगणाविति । उच्यते नात्र लोभकारणता तयोर्वर्गयोर-
भिप्रेता किंतिर्हि वर्गद्वयतुल्यता लोभस्य यमेतानि सर्वाणि व्यसनान्यनर्थमुपजनयन्ति तमेवैकोलोभोव्यसनहीनस्यापि ।
तदुक्तं लोभःसर्वगुणानिवेति । अतउपचारतएतदुक्तं तज्जावेताविति यदि लोभेन जायेत कथंसमानफलानि स्युः । कार-
णदोषोहिकार्यदोषभासयति अतस्तत्कार्यत्वाद्यसनेषु चेदोषोभ्रुवंकारणस्याप्यसौदोषउक्तोभवति । अथवा लुब्धएव
पैशुनादिवहिष्कार्येष्वभिष्वङ्गच्छति । इतरस्तु स्वल्पके विषये अनुनयेनवोपशाम्यति । सेयमुपचाराल्लोभमूलताव्यसनवर्ग-
द्वयस्योच्यते ॥ ४९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । लोभःप्राप्तस्य विषयस्थानपव्ययेच्छा तज्जौत्वेताविति क्रोधजेपिलोभप्रवृत्तस्यकामप्रति-
हतावेवकोपोदयात् ॥ ४९ ॥

(३) कुल्लूकः । एतयोर्द्वयोरपि कामक्रोधजव्यसनसङ्घयोःकारणंस्मृतिकाराजानन्ति तंयत्नतोलोभंत्यजेत् यस्मादे-
तद्रणद्वयंलोभाज्जायते कचिद्धनलोभतः कचित्प्रकारान्तरलोभेन प्रवृत्तेः ॥ ४९ ॥

(४) राघवानन्दः । मूलोच्छेदे पुरुषव्यापारादितिन्यायाश्रयेणाह द्वयोरिति । तयोर्गणयोः । अतएवोक्तं गुणानुप-
क्रम्य ॥ लोभःसर्वगुणान्दहन्तिश्वित्रोरूपमिवेप्सितमिति श्वित्ररोगईप्सितंरूपंहन्तीत्यन्वयः ॥ ४९ ॥

(५) नन्दनः । द्वयोरपि गणयोर्जयोपायमाह द्वयोरिति । विषयाभिध्यानजआसङ्गोलोभः । तज्जौलोभजौ । लोभा-
त्कामः कामात्प्रतिहतात्क्रोधः तेन तज्जावित्युक्तम् । तथा भगवानुवाच ॥ ध्यायतो विषयान्पुंसःसङ्गस्तेषूपजायते । सङ्गा-
त् संजायतेकामः कामात्क्रोधोऽभिजायतइति ॥ ४९ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतयोर्द्वयोरपि पूर्वोक्तयोर्मूलं लोभं सर्वं कवयोविदुः । तंलोभं यत्नेन वर्जयेत् । उभौ तौ गणौ
तज्जौ तस्माल्लोभाज्जातौ ज्ञेयौ ॥ ४९ ॥

पानमक्षाःस्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ॥ एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥ ५० ॥

(१) मेधातिथिः । दिवा स्वमादिभ्योऽस्य चतुष्कस्य गणस्य बहुदोषतरत्वंप्रसिद्धमेव ॥ ५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कामजे चतुष्कं कष्टतममतिशयेन दुःखहेतुः ॥ ५० ॥

(३) कुल्लूकः । मद्यपानमक्षैःक्रीडास्त्रीसंभोगोमृगयाचेतिक्रमपठितमेतच्चतुष्कंकामजव्यसनमध्ये बहुदोषत्वादति-
शयेन दुःखहेतुंजानीयात् ॥ ५० ॥

(४) राघवानन्दः । किंचावश्यंत्याज्यं सार्थवादंसंकलयति पानमिति । मृगयायां व्यायामेनारोग्यगुणोत्पत्तेः ।
अतः स्त्रीसेवनंकष्टं तत्रापन्योत्पत्तावपि मैथुननिमित्तेरेतःक्षरणवेगधारणाद्याभ्युत्पत्त्या मरणोत्पत्तिःसंभावितेति । ततोपि
कष्टतरं द्यूतं तत्र पाक्षिकधनाप्रावपि वैराद्युत्पत्तिरिति । ततोपि पानंकष्टतमं मत्तस्य संज्ञारहिततया विषपानादिना मरणा-
द्यापत्तेर्बहुकालीननरकापत्तिश्चेति । एतच्चतुष्कंदिवास्वमादिभ्यउत्तरोत्तरंकष्टविद्यादित्यन्वयः ॥ ५० ॥

(६) रामचन्द्रः । कामजेगणे रागजेगणे एतच्चतुष्कं कष्टतमं दुःखदं विद्यात् ॥ ५० ॥

दंडस्यपातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे ॥ क्रोधजेपि गणे विद्यात्कष्टमेतन्निकं सदा ॥ ५१ ॥

(१) मेधातिथिः । अयमपित्रिकः पैशुनादिभ्यः पापीयानितिसुप्रतीतम् ॥ ५१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्रोधजेच त्रिकं सदा सर्वदा दुःखहेतुः ॥ ५१ ॥

(३) कुल्लूकः । दण्डपातनं वाक्पारुष्यमर्थदूषणं चेति क्रोधजेऽपि व्यसनगणे दोषबहुलत्वादतिशयितदुःखसाधनं मन्येत ॥ ५१ ॥

(४) राघवानन्दः । क्रोधजेऽप्याह । एवमर्थापहरणात्कष्टतरं वाक्पारुष्यं तावन्मात्रेण मरणोद्यमदर्शनात्त्यक्तधनस्य यतेरपि । तदुक्तं । दुरुक्तैर्भिन्नमात्मानं कः समाधातुमीश्वर इति । ततोपि कष्टतमो दण्डपातः तत्र बहुकल्पनरकजनकविप्रवधादिदर्शनात् द्रुततरमरणदर्शनाच्चति ॥ ५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । क्रोधजेऽपि गणे दण्डाद्येतच्चिकंकष्टं विद्यात् ॥ ५१ ॥

सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषंगिणः ॥ पूर्वपूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥ ५२ ॥

(१) मेधातिथिः । पानद्यूतयोः पानंगरीयः तत्र हि संज्ञाप्रणाशः अनुत्पत्तस्थोत्पत्तत्वं अप्रेतस्यप्रेतत्वं कौपीनप्रकाशनं श्रुतप्रज्ञाप्रहाणं मित्रहानिः सद्भिर्वियोगः असद्भिश्चसंप्रयोगः गीतादिष्वर्थघ्नेषु प्रसङ्गः रतमन्त्रप्रकाशनं च मानिनोऽप्युपहास्यता गम्भीरप्रकृतेरपि यत्किञ्चनवादिता मदवेगेनेति पानदोषः । द्यूते तु जितमेवाक्षविदुषा अनक्षज्ञस्यापि पाक्षिकः पराजयः । स्त्रीद्यूतव्यसनयोर्द्यूतव्यसनंगरीयः येन तेदेव जितंद्रव्यंतस्यापि विषं भवति । तथा च तन्निमित्तो वैरानुबन्धः जयः साधारणः केवलंपराजयः भुक्तनाशः भूत्रपुरीषवेगधारणाच्च शरीरेशैथिल्यं व्याधिनिदानमेव तेन क्षुद्रादिभिः स्वपीडातिशयात् । मातर्यपि च मृतायां दीव्यत्येव कृतकृत्येषु च न मुत्तद्भिरपि कुर्यते तस्मात्सपिण्डवत् परद्रव्याणि परिहरतो न प्रत्ययते च । क्षुधिते दुर्गतेऽन्नाद्युपपत्त्युपेक्षा विषयता सर्वगुणसंपन्नस्यापि तृणवदवज्ञायेत इति द्यूतदोषाः । स्त्रीव्यसने त्वपत्योत्पत्तिः प्रतिकर्म भाजनभुयिष्ठानुभवनं धर्मार्थपरिग्रहः शक्या च स्त्रीराजहिते नियोक्तुमपवाहयितुं वा । स्त्रीभृग्याव्यसनयोः स्त्रीव्यसनंगरीयः अदर्शनं कार्याणां स्त्रीव्यसनसंगेन राजकार्येषु च निर्वेदः कालातिपातनं धर्मलोपः पानदोषानुबन्धः अर्थघ्नेषु चानृतादिषु प्रसंग इति । भृग्यायां तु व्यायामः पित्तश्लेष्मबन्धः मेदादिनाशः चलेस्थिरे वा काले लक्षपरिचयः । प्रहरणं वैशारद्योपजननं ग्राम्यजनपरिजयश्चेति । एवं कामजस्य चतुष्कस्य वर्गस्य त्ववर्गे पूर्वपूर्वपापीयः । क्रोधजस्यापि च दण्डपातदोषानुबन्धः अर्थघ्नेष्वेवानृतादिषु संगः । दण्डपातवाक्पारुष्ययोर्दण्डपातनंगरीयः । दण्डपातने हि शरीरविनाशादिशक्यप्रतिसंधानम् । वाक्पारुष्ये त्वमर्षजः क्रोधाग्निः शक्यते दानमानाम्भोभिः शमयितुम् । वाक्पारुष्यार्थदूषणयोर्वाक्पारुष्यङ्गरीयः तेजस्विनो हि पारुष्यवचनचित्तसंक्षोभेभयं नासादयन्ति । तथा च प्रवादः ॥ स्थिरं साध्वसितं काण्डं भित्वा वास्थिप्रवेशितम् । विशल्यमङ्गं कुर्वन्ति नवाचोत्तदयादपि ॥ रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् । वाचादुरुक्तं बीभत्सन्नसंदोहति वाक्क्षतम् ॥ भाग्यायत्तत्वादर्थस्येति न तेजस्विनोऽर्थदूषणं गणयन्ति । एवमेतयोर्वर्गयोः पूर्वस्य पूर्वस्य गरीयस्त्वं निदर्शितम् ॥ ५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतस्मिन्सप्तके यथायथं सर्वगणद्वयमन्तर्भवति तौर्यत्रिकादेः स्त्रीरागादिकृतत्वात् अर्थदूषणादिश्च पैशुन्यादावप्यनुषङ्गादित्यर्थः । पूर्वपूर्वमिति द्यूतं हि स्त्रीभ्यः कष्टं द्यूते धननाशनियमात्रं भोगसुखस्य चाभावात् स्त्रीणां सुखहेतुत्वादित्यादि । एवं क्रोधजगणे विज्ञेयम् ॥ ५२ ॥

(३) कुल्लूकः । अस्य पानादेः कामक्रोधसंभवस्य सप्तपरिमाणस्य व्यसनवर्गस्य सर्वस्मिन्नेव राजमण्डले प्रायेणावस्थितस्य पूर्वपूर्वव्यसनमुत्तरोत्तरात्कष्टतरंप्रशस्तात्मारजा जानीयात् । तथा हि द्यूतात्मानं कष्टतरं मद्यपानेन मत्तस्य संज्ञाप्रणाशाद्यथेष्टचेष्टया देहधनादिविरोधइत्यादयो दोषाः । द्यूते तु पाक्षिकी धनावाप्तिरप्यस्ति । स्त्रीव्यसनात् द्यूतदुष्टं द्यूते हि वैरोद्धवादयो नीतिशास्त्रोक्ता दोषाः । भूत्रपुरीषवेगधारणाच्च व्याभ्युत्पत्तिः । स्त्रीव्यसने पुनरपत्योत्पत्त्यादिगुणयोगो-

व्यस्ति । मृगयास्त्रीव्यसनयोः स्त्रीव्यसनंदुष्टतत्रादर्शनकार्याणां कालातिपातेन धर्मलोपादयोदोषाः । मृगयायांतु व्यायामे-
नारोग्यादिगुणयोगोऽप्यस्तीत्येवंकामजचतुष्कस्यपूर्वपूर्वगुरुदोषम् । क्रोधजेष्वपि त्रिषु वाक्पारुष्याद्दण्डपारुष्यंदुष्टं अङ्ग-
च्छेदादेशक्यसमाधानत्वात् । वाक्पारुष्ये तु कोपानलोदानमानपानीयसैकैः शक्यः शमयितुं अर्थदूषणाद्वाक्पारुष्यंदो-
षवन्मर्मपीडाकरंवाक्प्रहारस्यदुश्चिकित्स्यत्वात् तदुक्तं न संरोहयतिवाक्यतम् । अर्थदूषणंतु प्रचुरतरार्थदानाच्छक्यसमा-
धानम् । एवंक्रोधजत्रिकस्यापि पूर्वपूर्वदुष्टतरंयत्नस्तस्यजेत् ॥ ५२ ॥

(४) राघवानन्दः । समकस्य पानाद्यर्थदूषणान्तस्य सर्वत्रानुषङ्गिणः इहामुत्र दुःखहेतुत्वाद्यसनस्य । व्यसनमिति
परिभाषितस्य गुरुतरत्वंप्रपञ्चितम् ॥ ५२ ॥

(५) नन्दनः । अत्रोभयेतारतम्यमाह समकस्येति । वर्गद्वयान्तर्गतबहुत्वापेक्षया वर्गस्येति निर्धारणे षष्ठी ।
सर्वत्र प्राज्ञेषु मूढेषु चाविशेषेणानुषङ्गिणः । सजातोपापेक्षोऽयं पूर्वशब्दः न सर्वापेक्षः कुतः कामजेभ्यः क्रोधजानांगौरव-
स्य प्रतिपादितत्वात् ॥ ५२ ॥

(६) रामचन्द्रः । आत्मवानस्यसमकस्य पानादिवर्गस्य आत्मनः पूर्वपूर्वव्यसनं गुरुतरंदुःखदंविद्यात् । कीदृशस्य-
समकस्य सर्वत्र प्रसरणशीलस्य ॥ ५२ ॥

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ॥ व्यसन्यधो धोव्रजति स्वर्गात्यव्यसनी मृतः ॥ ५३ ॥

(१) मेघातिथिः । यद्यपि मृत्युव्यसने सर्वहरेत्तथाप्येवंविशेषः । मृत्युरस्मिन्लोके सर्वहरः व्यसनं पुनरिहचा-
मुत्रच तदिदमाह । व्यसन्यधो धोव्रजति नरकं गच्छतीत्यर्थः । व्यसनशब्देन अत्यन्तोभ्यास एतद्वर्गविषय उच्यते अतश्चाभ्या-
सप्रतिषिध्यते नत्वीषदासेवनं व्यसनभूतास्ते धर्मार्थकामप्राणहरा भवन्त्यन्यस्यापि पुरुषस्य किंपुनाराज्ञः । किंचाऽऽसेव-
नमन्ययुक्तं पानादीनामशङ्क्यचेति यतोभ्यासप्रतिषेधः ॥ ५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अधोऽहलोके परलोके च व्रजति ॥ ५३ ॥

(३) कुल्लुकः । यद्यपि मृत्युव्यसने द्वे अपीहलोके संज्ञापणाशादिदुःखहेतुतया शास्त्रानुष्ठानविरोधितया च तुल्ये
तथाप्यव्यसनं कष्टतरं परत्रापि नरकपातहेतुत्वात् तदाह व्यसन्यधोऽधोव्रजति बहून्नरकांगच्छतीत्यर्थः । अव्यसनी
तु मृतः शास्त्रानुष्ठानप्रतिपक्षव्यसनाभावात्स्वर्गंगच्छति । एतेनातिप्रसक्तिर्व्यसनेषु निषिध्यते नतु तस्य सेवनमपि
॥ ५३ ॥

(४) राघवानन्दः । व्यसनस्योभयत्रानर्थहेतुतामाह व्यसनस्येति । उक्तव्यसनजपापी अधोनरकं व्रजति ।
मृतस्तु मृतिमात्रेण तस्यैतत्पापाद्यसंभवात्स्वर्गम् ॥ ५३ ॥

(५) नन्दनः । एतत्समकमवश्यं परिहरणीयमित्याह व्यसनस्येति ॥ ५३ ॥

(६) रामचन्द्रः । चत्वारि कामजानि क्रोधजानि त्रीणि एवंसमव्यसनस्यचपुनः मृत्योः द्वयोर्मध्ये समव्यसनं क-
ष्टमुच्यते ॥ ५३ ॥

मौलाऽशास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान्कुलोद्भवान् ॥ सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥ ५४ ॥

(१) मेघातिथिः । पितृपितामहान्वयागता बहुसुतधनबान्धवाः प्रकटगोभूमिधनास्तद्देशवासिनो मौलाः मूलप्र-
तिष्ठा तन्ममवामौलाः । शास्त्रविदः शास्त्रशासनं भृत्यविधिज्ञानं तेनाऽन्येपि गुणागृहन्ते । तद्यथा प्राज्ञः दृढकारी धारयिष्णु-
र्दक्षः वाग्मी प्रबलः प्रतिपत्तिमानुत्साहप्रभावयुक्तः क्लेशसहः शुचिदानशीलः योग्यसत्त्वयुक्तस्तं भचापलहीनः प्रियो वैरिणाम-

कर्तेति । शूरशब्देन राजकार्ये शरीरकलत्रापत्यधनादिष्वपि निरपेक्षउच्यते । तथा मरणेऽभीरुः युद्धोत्साही एकएव परि-
भवभयाद्बहुभिर्विरुध्यते । दृढप्रहारी बलवान् । लब्धलक्षाः परिदृष्टकर्मतामननोहाः दृष्टस्वङ्गव्यापाराः कृतार्थाधिकाराः अनु-
भूतमन्त्रिभूमयः । कुलोद्गतान् कुलाङ्कुशनिगृहीतास्त्रकार्येन वर्तन्ते । सचिवान् सहायान् नित्यमेते राज्ञः पार्श्ववर्तिनो भ-
वेयुः । समवाष्टौवा नियमोऽयं येन चाल्प एकचित्ता भवन्ति । ततश्च राजमन्त्र उद्घाटकः स्यात् बहूनामपि मन्त्रभेदः । तस्मादे-
तावन्तएव कर्तव्याः सुपरीक्षितान् धर्मार्थकामभयोपधाभिः सेयं परीक्षोच्यते । पुरोहितः स्वल्पकार्ये राज्ञा व्याजेनाधि-
क्षिप्तः बहुनार्थसंप्रदानेनाप्तपुरुषैरेकैकममात्यमुपजयेत् राजा विनाशाय । एतच्च सर्वमन्त्रिभ्यो रोचते । अथ कथं भवतइति प्र-
त्याख्याने अर्थोपधाशुद्धः परिव्राजिकान्तःपुरे लब्धविश्वासा एकैकममात्यमुपजयेत् साराजमहिषी भवन्तं कामयते कृतसमा-
गमोपायेति प्रत्याख्याने कामोपधाशुद्धः । राजप्रयुक्ताएव केचित्पुरुषाः प्रमादमाविष्कुर्युः कृतसमयैरमात्यैराजाहन्यतइति ।
उपलब्धप्रमादः पुरोहितस्याप्तः कश्चिदमात्येषु मन्त्रं श्रावयेत् । इमं प्रवादमुपश्रुत्य भवतां नियहो राज्ञा क्रियतइति तेषामेव चा-
न्यतमः पूर्वमेव कृतसंवित्कः प्रत्येकं राजामात्येषूत्साहयेत् । तत्र ये प्रत्याचक्षते ते भयोपधाशुद्धाः अथवा मौलास्तावत्कुर्यादर्थ-
प्रमादकर्तृसंनिधातुं ये अर्थग्रामेभ्यः समाहरन्ति समादृतं च रक्षन्ति विनियुञ्जते च सर्वथाऽर्थव्यवहारिणो मौलाः कर्त-
व्या इत्युक्तं भवति । शास्त्रविदो बुद्धिसचिवामन्त्रिणः । शूरान् बलाध्यक्षान् । लब्धलक्षानित्यादिसर्वेषां विशेषणमेकैकस्य समुदित-
परीक्षा च योक्ता राजविषया राजामात्येषूत्साहनमिति सानयुक्तेति मन्यन्ते । एष एव हि बुद्धिभेदो भवेदमात्यानाम् । तस्माद-
न्याकाचित्स्त्रीसाध्वीप्रयोज्या अन्यश्च विनाशाविषय उदाहार्यः ॥ ५४ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । मौलान् परंपरायातान् । लब्धलक्षान् युद्धादिप्रवेशेन दृष्टशस्त्रशास्त्रज्ञानशक्तितया गृहीत-
संवादान् । सुपरीक्षितान् अर्थशुचित्वादिना ॥ ५४ ॥

(३) कुल्लूकः । मौलान् पितृपितामहक्रमेण सेवकांस्तेषामपि द्रोहादिना व्यभिचाराद्दृष्टादृष्टार्थशास्त्रज्ञान्विक्रान्ता-
लब्धलक्षां लक्षादप्रच्युतशरीरशल्यादीनायुधविदइत्यर्थः विशुद्धकुलभवान् देवतास्पर्शादिनियतानामात्यान्समाष्टौवामन्त्रादौ
कुर्वीत ॥ ५४ ॥

(४) राघवानन्दः । सुसहायेनेत्युक्तं तत्र विशेषणविशिष्टान्सहायानाह मौलानिति । पितृपितामहक्रमेण सेवका-
मौला विख्यातपितृपितामहावा । शास्त्रविदः नीतिशास्त्रविदः । शूरानिति शूरहीनं राज्यं परैराक्रम्यतेयतः । भीरूणां साहा-
य्यानुपपत्तेश्च । लब्धलक्षान् लक्ष्यादप्रच्युतशरादीन् युद्धे कुशलान् । कुलोद्गतान् सत्कुलजान् मौलत्वेपि संकरजारजादि-
व्यावृत्त्यर्थम् । सुपरीक्षितान् देवतादिस्पर्शकृतशपथान् स्त्रीधनादिलोभोत्तीर्णान्वा । सचिवान् सहायान् साचिव्ययत्कृतं-
स्मृतंतत् । समचाष्टौवेति विकल्पोऽबहुविषयाद्यपेक्षया ॥ ५४ ॥

(५) नन्दनः । अथामात्यलक्षणमाह मौलानिति । मौलान्कुलक्रमागतान् । लब्धलक्षान्सर्वकालेषु सिद्धफ-
लान् ॥ ५४ ॥

(६) रामचन्द्रः । मौलान् पितृपितामहादिक्रमागतान् कुलोद्भवान् विशुद्धकुलसंभूतान् एतादृशान्सचिवान् कुर्वी-
त ॥ ५४ ॥

अपियत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ॥ विशेषतोऽसहायेन किंतु राज्यं महोदयम् ॥ ५५ ॥

(१) मेघातिथिः । यत्सामान्यगृहस्थस्य गृहकृत्यंगोश्वदिपालनं सुकरमिति स्थितम् । स एव गां पालयति स एव-
दोग्धि न शक्यमेतदेकेन कर्तुं तदप्येकेन दुष्करं विशेषतोऽसहायेन दुष्करमशक्तेन न शक्यं कर्तुम् । कथं हे को गां चारयति

कथंचभार्यारक्षतु कथमेवतुराज्यंतु प्रतिमहारंभमुदयकर्म तद्योगः फलवांश्चानपेक्षमाणस्य महत्फलमुपोदेति । नचैकेनषा-
ङ्गुण्यंवेदितुंशक्यम् । तस्मादात्मसमाःपरीक्षिताः सहायास्तेषुतेषु कार्येषुकर्तव्याः ॥ ५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विशेषतुराज्यंमहोदयमसहायेन दुष्करमिति किमु किमाश्चर्यमित्यर्थः ॥ ५५ ॥

(३) कुङ्कुमः । यस्मात् अपीत्यादि । सुखेनापि यत्क्रियते कर्मतदप्येकेन दुष्करंभवति विशेषतोयन्महाफलंतत्क-
थमसहायेन क्रियते ॥ ५५ ॥

(४) राघवानन्दः । एकाकिनाकिमितिनक्रियेततत्राह अपीति । अपिःसंभावनायाम् । सुकरं गोदोहनशिबिकोद-
हनादि । महोदयं महत्कार्यं महत् ऐश्वर्यादेःशत्रुजयादेर्वा उदयोयस्मात्तत् ॥ ५५ ॥

(५) नन्दनः । अत्रहेतुमाह अपीति । यतएवमतः ॥ ५५ ॥

(६) रामचन्द्रः । अपि निश्चयेन यत्कर्म सुकरंस्यात्तत्कर्मासहायेन विशेषतःकर्तुदुष्करम् एवंविधंमहोदयंराज्यं
किं किमपीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

तैः सार्धं चिंतयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम् ॥ स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥ ५६ ॥

(१) मेधातिथिः । तैर्बुद्धिसचिवैर्मरुत्यैश्चार्थाधिकारिभिः सहसामान्यंयन्नातिरहस्यंतच्चिंतयेत्सन्धिविग्रहं किंस-
न्धिसंप्रतियुक्तोअथविग्रहउभयत्रगुणदोषान्विचारयेत् । इदंकर्तव्यावधारणन्तुस्वबुद्ध्याकुर्याद्यथास्यपरमयोज्यता न भव-
ति । इदंचापरंचिंतयेत्स्थानं तच्चतुर्विधंदण्डकोशपुरराष्ट्राणि तत्र दण्डोहस्त्यश्वरथपदातयः तेषांप्रतिकर्म पोषणरक्षणा-
दि चिन्त्यप्रतिकर्म । नह्यसमाधानंप्रधानंच यथाकोशस्य हेमरूप्यबाहुल्यंप्रचुररूप्यताऽऽव्ययलक्षणंच कोशस्य । तथा-
न्यायस्थानानि न व्ययितव्यानि न विलम्बनीयानिभृत्यानाम् । तथा राष्ट्रस्य देशपर्यायस्य स्वाजीव आत्मसंधारणंपर-
संधारणेन नदीवृक्षाः पशवः शत्रुद्वेषाक्रान्तप्रायः गुप्तिमोचरः पशुमान् अदेवमानृकः आपदिचदण्डकरग्रहइत्येवमादि । पुर-
स्यवक्षति तस्मादायुधसंपन्नमिति । अथवा स्थानंस्वदेशाच्चाप्रच्यवनं एवंसमुदयोपिचिन्त्यः । तत्ररुषिर्ब्रजगुल्मस्थानानि-
वाणिज्यमुक्तदण्डत्येवमादि । गुप्तिंस्वराष्ट्रगतांवक्ष्यति । लब्धप्रशमनंच देवतासमंविद्यावतांधार्मिकाणांचमानदानत्यागायोगः
अवितानांचाभ्यनुज्ञानं सर्वबन्धनमोक्षः । अनुग्रहोदीनव्याधितानां उत्सवानांचापूर्वाणांप्रवर्तनं प्रवृत्तानामनुवृत्तिः । यच्चको-
शदण्डोपाधिकमधार्मिकचरित्रंतदपनीयधर्मव्यवहारानुस्थापयेत् । अधर्मचारित्रमरुतमन्यस्यरुतंवान्यैःप्रवर्तयेत् नवा धर्म-
रुतंचान्यैर्निवर्तयेदिति । एवंस्थानादीनिचिन्त्यानि ॥ ५६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सामान्यंसर्वमेव क्वचिद्विकारेपुनरविश्वासात् । संधिविग्रहाभ्यांषाङ्गुण्योपालक्षणम् ।
स्थानंदण्डकोशपुरराष्ट्रं तत्रहि राजास्थितः । समुदयं वार्तोपायं ततोधनस्योदयः । गुप्तिं लब्धस्यरक्षोपायम् । सर्वप्रशमनं
जित्वा ब्राह्मणपूजनमित्यादि । जित्वासंपूजयेद्देवानितिच वक्ष्यति ॥ ५६ ॥

(३) कुङ्कुमः । सचिवैः सह सामान्यंमन्त्रेण्वगोपनीयंसंधिविग्रहादि तन्निरूपयेत्तथातिष्ठत्यनेनेतिस्थानंदण्डको-
शपुरराष्ट्रात्मकंचतुर्विधंचिन्तयेत् । दण्ड्यतेनेनेति दण्डोहस्त्यश्वरथपदातयः तेषांपोषणरक्षणादि तच्चिन्त्यंकोशोर्थनिचयः
तस्याव्ययार्थं पुरस्य रक्षणादि राष्ट्रं देशः तद्वासिमनुष्यपश्वादिधारणक्षमत्वादचिन्तयेत्तथासमुदयंत्युत्पद्यन्ते अस्मादार्था-
इतिसमुदयोधान्यहिरण्याद्युत्पत्तिस्थानं तन्निरूपयेत्तथागुप्तिंरक्षामात्मगतां राष्ट्रगतां चत्त्वपरीक्षितमन्त्राद्यमद्यात्परीक्षिताः
स्त्रियश्चैवमित्यादिनात्मरक्षणं राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यमित्यादिना राष्ट्रक्षां चवक्ष्यति लब्धस्य च धनस्य प्रशमनानिसत्पात्रेप्र-
तिपादमादीनिचिन्तयेत्तथाचवक्ष्यति जित्वासंपूजयेद्देवानित्यादि ॥ ५६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच तैरिति । सामान्यंयदपि गोप्यंसन्धिविग्रहं तत्पट्टकम् । स्थानंअवस्थीयतेऽनेनेति राजदण्डकोशपुरराष्ट्रात्मकं । तत्र दण्डः पणादिरूपोहस्त्यश्वरथपदातयोवा । समुदयं धान्यहिरण्याद्युत्पत्तिस्थानम् । गुमिमात्मनोराष्ट्रस्य रक्षाम् । लब्धस्यधनस्य प्रशमनानि सत्पात्रप्रतिपादनानि च । तैःसह चिन्तयेदित्यनुषज्यते ॥ ५६ ॥

(५) नन्दनः । सामान्यंसमानत्वम् । द्वैधीभावइत्युभयोर्द्विषतोः समानोहिद्वैधीभावः । यथोक्तंकामन्दकेन बलि-
नोर्द्विषतोर्मध्ये वाचात्मानं समर्पयन् । द्वैधीभावेन वर्तेतकाकाक्षिवदलक्षितः इति । स्थानमासनम् । समुदयंयानम् । गु-
मिमात्मगुमिसंश्रयमितियावत् । आत्मगुमिलक्षणोहिसंश्रयः तथोक्तंकामन्दकेन ॥ उच्छिद्यमानोबलिनानिरुपायप्रतिक्रियः ।
कुलोद्भूतंसत्यमार्यसंश्रयेतबलोत्कटमिति ॥ षाड्गुण्यात्स्वोपलब्धस्य परराष्ट्रस्य रञ्जनम् अनुरागप्रतापाभ्यांलब्धप्रशमनंस्मृत-
मितिचतेनैवोक्तम् ॥ ५६ ॥

(६) रामचन्द्रः । तैः सचिवैः सार्धं विग्रहादिकं चिन्तयेत् । सन्धिः व्यवस्थाकरणं विग्रहोऽपकारः । स्थानं
आसनं उपेक्ष्य संशयः गुमिः रक्षा लब्धस्य धनस्य प्रशमनानि पात्रेषु प्रतिपादनानि ॥ ५६ ॥

तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् ॥ समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ॥ ५७ ॥

(१) मेधातिथिः । तेषांपृथक्पृथगैककस्य रहस्यभिप्रायंत्वेदयनिहितंभावमुपलभ्य समस्तानांसंहतानां यत्कारणं
कश्चित्पुरुषः परिषदि अप्रतिभानवान्भवति रहसिप्रगल्भः कश्चित्परिषदासादितप्रज्ञः ततश्चतान्समस्तान्पृच्छेत् । ततःस्वयं-
यद्युक्ततरंहितमात्मने तद्यवस्येद्विदध्यात् । तत्प्रामाण्यंतेषामेवान्यतमेनोपदिष्टंवा यदप्रत्यतीकंनिर्दोषं च ॥ ५७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पृथक् प्रत्येकम् । समस्तानां संभूयालोच्य वदताम् ॥ ५७ ॥

(३) कुल्लूकः । तेषांसचिवानां रहसि निष्प्रतिपक्षतया त्वदयगतभावज्ञानसंभवात्प्रत्येकमभिप्रायंसमस्तानामपि-
युगपदभिप्रायंबुद्ध्वा कार्येयदात्मनोहितंतत्कुर्यात् ॥ ५७ ॥

(४) राघवानन्दः । तथापि पृथक्पृथगिति रहसि पूर्वप्रत्येकंभावंज्ञात्वा पश्चात्समस्तानांतेषांकार्येषु युगपद्भावं-
बुद्ध्वाऽऽत्महितंविदध्यादिति भावः ॥ ५७ ॥

(५) नन्दनः । समस्तानांसंगतानाम् ॥ ५७ ॥

(६) रामचन्द्रः । तेषांसमस्तानांस्वंस्वमभिप्रायमुपलभ्यात्मनोहितं हितकार्यं विदध्यात् कुर्यात् कर्तव्यमित्यर्थः
॥ ५७ ॥

सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता ॥ मन्त्रयेत्परमं मन्त्रं राजाषाड्गुण्यसंयुतम् ॥ ५८ ॥

(१) मेधातिथिः । विपश्चिता विदुषाअर्थशास्त्रज्ञेन परमंमन्त्रमत्यन्तगोपनीयमन्त्रमेतद् षाड्गुण्ययुक्तम् । आधिकतर-
प्रज्ञोहि ब्राह्मणोधार्मिकत्वाच्चविश्वसनीयः ॥ ५८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सर्वेषां सर्वेभ्यः ॥ ५८ ॥

(३) कुल्लूकः । एषामेवसर्वेषांसचिवानांमध्यादन्यतमेन धार्मिकत्वादिनाविशिष्टेन विदुषाब्राह्मणेनसह संधिविग्रहा-
दिवक्ष्यमाणगुणपट्कोपेतंप्रकटंमंत्रंनिरूपयेत् ॥ ५८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच सर्वेषांतिरिति । सर्वेषांमध्ये विशिष्टेन स्वभावतोऽकुटिलादिगुणवता कार्याणांच षाड्गु-
ण्यंवक्ष्यमाणम् । आत्मबुद्धिःसुखकरी गुरुबुद्धिर्विशेषतइति न्यायात् ॥ ५८ ॥

(५) नन्दनः । परमकार्यनिर्णयकरम् । षाड्गुण्यसंयुतषाड्गुण्यविषयम् । षड्गुणाएव षाड्गुण्यम् ॥ ५८ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वेषामन्त्रिणांमध्ये विशिष्टेन ब्राह्मणेन राजा परमोत्तमोत्तयेत् । कीदृशं मन्त्रं षाड्गुण्यसहितम् । षाड्गुण्यमाह ॥ सन्धिर्ना विग्रहोयानमासनंदैधमाश्रयइत्यमरः ॥ ५८ ॥

नित्यं तस्मिन्समाश्वस्तः सर्वकार्याणि निक्षिपेत् ॥ तेन सार्धंविनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत् ॥ ५९ ॥

(१) मेधातिथिः । तादृशिब्राह्मणेसर्वराष्ट्रमण्डलंनिक्षिप्यविश्वस्तोराज्यसुखंभुञ्जीत च सहविनिश्चित्य यानासनादिकर्मव्यवहारसंग्रहादिसमाचरेत् ॥ ५९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निक्षिपेत् समर्पयेत् ॥ ५९ ॥

(३) कुल्लूकः । सर्वदातस्मिन्ब्राह्मणेसंजातविश्वासोभूत्वा यानिकुर्यात्तानिसर्वकार्याणिसमर्पयेत् तेनसह निश्चित्य सर्वकर्मारभेत् ॥ ५९ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रापि ब्राह्मणमेव महीकरोति नित्यमिति । तेन विपश्चिता ब्राह्मणेनाप्यपि कार्यमविचारितं न कुर्यादित्यर्थः ॥ ५९ ॥

(५) नन्दनः । तस्मिन्ब्राह्मणे । समाश्वस्तोविश्वस्तः ॥ ५९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अस्मिन् ब्राह्मणे समाश्वस्तः कृतविश्वासः सर्वकर्माणि निक्षिपेत् । तेन ब्राह्मणेन सार्धम् ॥ ५९ ॥

अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान् ॥ सम्यगर्थसमाहर्तृन्मात्यान्सुपरीक्षितान् ॥ ६० ॥

(१) मेधातिथिः । यदुक्तंसमचाष्टौवेति तस्यायमपवादः । अर्थसमाहर्तृन्संनिधातृन्सुपरीक्षितानुपधाभिः कुर्यात् ॥ ६० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शुचीनलोलुपान् । अवस्थितान् स्थिरस्वभावान् । कुलोद्गतानितिकचित्पाठः । अर्थसमाहर्तृन् राष्ट्रेष्वर्थोत्पादनरक्षादिकर्तृन् । प्रागुक्तेभ्योऽष्टभ्योऽमात्यानन्यानपि कुर्वीत ॥ ६० ॥

(३) कुल्लूकः । अन्यानित्यादि । अन्यानपि अर्थदानादिनाशुचीन् प्रज्ञाशालिनः सम्यग्धनार्जनशीलान्धर्मादिनापरीक्षितान् कर्मसचिवान् कुर्यात् ॥ ६० ॥

(४) राघवानन्दः । किंच अष्टातिरिक्तानपि कुर्यादित्याह अन्यानितिद्वाभ्याम् । अवस्थितान् अभीरून् । सम्यगर्थसमाहर्तृन् अव्याजेनार्थहारकान् । अमात्यान् यैरमा सह दुष्कराण्यपि कार्याण्यत्येतितान् ॥ ६० ॥

(५) नन्दनः । एवमन्त्रसहायाउक्ताः अधुनाकार्यसहायानाह अन्यानिति । अवस्थितान्यवस्थितान् अर्थसमाहर्तृन्कार्यकरान् प्रकुर्वीताधिकुर्वीत ॥ ६० ॥

(६) रामचन्द्रः । सम्यक् अर्थस्य द्रव्यस्य समाहर्तृन् आनयितृन् अनवस्थितान् चञ्चलान् ॥ ६० ॥

निर्वर्ततास्य यावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः ॥ तावतोऽतन्द्रितान्दक्षान्प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥ ६१ ॥

(१) मेधातिथिः । सर्वेतेमन्त्रज्ञाविचक्षणाः विद्वांसभाधिकारिकाः कर्तव्याः । दक्षान् भयसंनिधामेव्यव्ययहेता-

वत्युत्साहवन्तः अतन्दितान् अनलसान् । उक्तंचाध्यक्षप्रचारे बुद्धिमाननुरक्तश्रयुक्तो धर्मार्थकोविदः । शुचिर्दक्षः कुली-
नश्च मन्त्री यस्य सराज्यभाक् ॥ तस्मिन्निक्षिप्य कार्याणि भोगसंगीन नश्यति । राजवश्यविधिस्तेन दानानुग्रहणैरिति ॥ ६१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अतन्दितान् प्रमादशून्यान् । इतिकर्तव्यता कार्यम् ॥ ६१ ॥

(३) कुल्लूकः । अस्य राज्ञो यत्संख्याकैर्मनुष्यैः कर्मजातं संपद्यते तत्संख्याकान्मनुष्यानालस्यशून्यान् क्रियासुसो-
त्साहान् तत्कर्मज्ञान् तत्रकुर्यात् ॥ ६१ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच निवर्तेतेति । अस्य राज्ञ इतिकर्तव्यता इतीदं प्रकर्तव्यमस्तीति तत्समाप्यते यावद्भिस्ता-
वतः कुर्यादित्यन्वयः । अतन्दितान् निरलसान् । दक्षानुपस्थितेपि भये उत्साहिनः ॥ ६१ ॥

(५) नन्दनः । अनिन्दितान्प्रशस्तान् । दक्षांश्चतुरान् । विचक्षणान्पण्डितान् ॥ ६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अस्य राज्ञः इतिकर्तव्यता यावद्भिर्नृभिर्निवर्तेत तावतोऽधिकारिणः कुर्वीत ॥ ६१ ॥

तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान्दक्षान्कुलोद्भूतान् ॥ शुचीनाकरकर्मान्ते भीरून् अन्तर्निवेशने ॥ ६२ ॥

(१) मेधातिथिः । अर्थे आयव्ययव्यवहारे । शुचीनर्थेष्वस्पृहान्नियुञ्जीत तान्यर्थस्थानान्युदाहरणेन दर्शयति
आकरकर्मान्त इति आकराः सुवर्णरूप्याद्युत्पत्तिसंस्कारस्थानानि । कर्मान्ताभक्ष्यकार्पासावापादयः । अन्तः पुनर्भोजनश-
य्यास्त्रीगृहाणि भिरवस्तत्रनियोज्याः शूराहिराजानमेकाकिनमुपजमाहन्त्युः । दक्षाः सर्वेपिव्युत्थानशीलतयाद्वन्द्वोपरिपात-
मपरिगण्य स्वामिनः कार्यकालेनातिपातयन्ति ॥ ६२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तेषामध्येऽर्थेऽर्थोत्पादने । शुचीन्भीरून्तित्युभयमुभयतोन्वितम् । आकरे रत्नाद्युद्धार-
स्थाने कर्मान्ते भूषणशस्त्रादिनिष्पादने । भीरून् मारणादिभीतान् । अन्तर्निवेशनेऽन्तःपुरेः ॥ ६२ ॥

(३) कुल्लूकः । तेषांसचिवानांमध्येविक्रांतांश्चतुरान् कुलाङ्कुशनियमितान् शुचीन् अर्थनिःस्पृहान् धनोत्पत्तिस्था-
नेनियुञ्जीत । अस्यैवोदाहरणं आकरकर्मांत इति आकरेषु सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानेषु कर्मांतेषु च इक्षुधान्यादिसंग्रहस्था-
नेषु अन्तर्निवेशने भोजनशयनगृहांतःपुरादौ भीरून्नियुञ्जीत । शूराहितत्रराजानं प्रायेणैकाकिनं स्त्रीवृत्तं कदाचित् शत्रूपजा-
पदूषिताहन्त्युरपि ॥ ६२ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रव्यवस्थितिमाह तेषामिति । तेषां कर्मसचिवानांमध्ये ये शूरास्तानर्थेऽर्जनवत्परतोर्था-
हरणे । आकरकर्मान्ते शुचीन् ॥ योऽर्थे शुचिर्हिसशुचिर्नृमृद्वारिशुचिः शुचिरित्युक्तेस्तेषामेव शुचित्वाभिधानात् । आकरक-
र्मान्ते आकरः सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानं तदेव कर्मणोप्यन्तं ऐहिकचेष्टामात्रस्य धनार्थत्वात् । अन्तर्निवेशने भोजनशयनस्त्री-
पुरादौ भीरोर्हि राजदारदूषणविषदानादौ स्वातन्त्र्यादर्शनात् ॥ ६२ ॥

(५) नन्दनः । तेषामध्ये शूरानर्थे कोशे आकरकर्मान्त आकरकर्मणि शुचीनर्थं शुद्धान्नियुञ्जीत आकरद्रव्यस्याकृ-
तपरिमाणत्वात् ॥ ६२ ॥

(६१) ऽतन्दितान्=ऽनिन्दितान् (नं०)

(६२) शूरान्=शूद्रान् (ट, ठ,)

तेषामर्थे=तेषांदण्डे (नं०)

(६) रामचन्द्रः । तेषामधिकारिणां अर्थे कार्ये कुलोद्भवान्नियुज्यते । तथा आकरकर्मान्ते रत्नाद्युत्पत्तिस्थाने । अन्तर्निवेशनेऽन्तःपुरे शुचीन् भीरून् एतादृशान्भृत्यान्नियुज्यते । इतिमन्त्रिस्वरूपम् ॥ ६२ ॥

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ॥ इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्भूतम् ॥ ६३ ॥

(१) मेधातिथिः । दूतस्यायमधिकोगुणः इङ्गिताकारचेष्टज्ञता । परविषयेराज्ञेमन्त्रिणां च सन्धित्सतामिङ्गितानि दूतस्यादरेण संपरिग्रहः । विश्वसनंमुहर्मुहुः संपूर्णतद्वाक्यस्य तस्यचाभिनंदनं एतानि विपर्यस्तान्युपेक्षेत आकारशरीर-वैकृत्यं मूनिर्मुखस्य वर्णवैकृत्यम् । तूष्णींभावोदीर्घोष्णनिःश्वासता एवमादिविकारैर्देन्यंसूचयति । अस्तिकाचिदापदस्य तेनायंविवर्णइति वाक्यवैशारद्यम् । शरीरसंस्कारः प्रसन्नमुखता एवमादि हर्षसूचयति । शुचिस्त्रीगतेर्थगमनविशेषैर्यतः-स्त्रीसंबन्धेमन्त्रभेदः परिभवश्च ॥ ६३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इङ्गितं भावसूचकम् । चेष्टितमक्षिनिकोचादि । आकरस्ततोऽन्योभावसूचकोवक्त्रारूप्यादिः ॥ ६३ ॥

(३) कुल्लूकः । दूतंचदृष्टादृष्टार्थशास्त्रज्ञं इंगितज्ञमभिप्रायसूचकंवचनस्वरादि आकारोद्देहधर्मादिसुखप्रसादवैवर्ण्या-दिरूपः प्रीत्यप्रीतिसूचकः चेष्टा करास्फालनादिक्रिया कोपादिसूचिका तदीयतत्त्वज्ञं अर्थदानस्त्रीव्यसनाद्यभावात्मकंशौ-चयुक्तंचतुरंकुलीनंकुर्यात् ॥ ६३ ॥

(४) राघवानन्दः । दूतस्तत्कुरुतइतिवक्ष्यमाणदूतस्य लक्षणमाह दूतमितिद्वाभ्यां । अधिकगुणाय सर्वविशा-रदं भावाभिज्ञम् । शास्त्रविशारदं शास्त्रं प्रतिपत्तिहेतु संस्कृतप्राकृतदेशभाषाधर्मशास्त्रकरपल्लवादि तत्र विशारदं निपुणम् द्वन्द्वात्परमिति स्मरणात् । इङ्गिताकारचेष्टाज्ञं इङ्गिताकाराभ्यामेव चेष्टाज्ञं परचिकीर्षितज्ञम् । कुलोद्भूतं कुलीनं दूतवंश्यंवा ॥ ६३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अथ दूतलक्षणमाह दूतमिति । शुचिं अलोलुपम् ॥ ६३ ॥

अनुरक्तःशुचिर्दक्षः स्मृतिमान्देशकालवित् ॥ वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतोराज्ञः प्रशस्यते ॥ ६४ ॥

[सन्धिविग्रहकालज्ञानूसमर्थानायतिक्षमान् । परैरहार्यान् शुद्धांश्च धर्मतः कामतोर्थतः ॥ १ ॥

समाहर्तुं प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविपश्चितः । कुलीनान् वृत्तिसंपन्नान् निपुणान् कोशटद्धये ॥ २ ॥

आयव्ययस्यकुशलान्गणितज्ञानलोलुपान् ॥ नियोजयेद्धर्मनिष्ठान् सम्यक्कार्यार्थचिन्तकान् ॥ ३ ॥

कर्मणिचातिकुशलान् लिपिज्ञानायतिक्षमान् । सर्वविश्वासिनः सत्यान्सर्वकार्येषुनिश्चितान् ॥ ४ ॥

अकृताशांस्तथाभर्तुःकालज्ञांश्चप्रसंगिनः ॥ कार्यकामोपधाशुद्धावाह्याभ्यन्तरचारिणः ॥ ५ ॥

कुर्यादासन्नकार्येषुगृहसंरक्षणेषुच ।]+

(१) मेधातिथिः । अनुरक्तः अहार्योभवति । दक्षः देशकालौनातिक्रामति । स्मृतिमानमुषितस्मृति प्रसङ्गेनस्वामि-

(६४) शुचिर्दक्षः=स्थितारम्भः (ग)

+ (क)

संदेशंकथयति । देशकालवित् देशकालौज्ञात्वाऽन्यदपिसंदिष्टं तत्कालयोग्यंकथयति । वपुष्मान्स्वाकृतिः प्रियदर्शनत्वा-
निपुणमुचितंवक्ति । वीतभीः अनेननिपुणमुच्यते । वाग्मी संदेशस्योत्तरे प्रतिवचनसमर्थोभवति ॥ ६४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सामान्यतोदूतलक्षणमुक्ताप्रशस्तदूतलक्षणमाह अनुरक्तइति । वपुष्मानधृष्यशक्तिः
॥ ६४ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मात् अनुरक्तइति । जनेषु अनुरागवान् तेनप्रतिराजादेरपि अद्वेषविषयः अर्थस्त्रीशौचयुक्तः तेन-
धनस्त्रीदानादिनाऽभेद्यः दक्षश्चतुरः तेनकार्यकालंनानातिक्रामति स्मृतिमान् तेनसंदेशंनविस्मरति देशकालज्ञः तेनदेशकालौज्ञा-
त्वा अन्यदपिसंदिष्टंदेशकालोचितमन्यथाकथयति सूरूपः तेनादेयवचनः विगतभयः तेनाप्रियसंदेशस्यापिवक्ता वाग्मीते-
नसंस्कृताद्युक्तिक्षमः एवंविधोदूतोज्ञः प्रशस्योभवति ॥ ६४ ॥

(४) राघवानन्दः । अनुरक्तः स्वराजनि । स्मृतिमानुक्तानुसंधाता । वपुष्मान् सुन्दरोबली वा । वीतभीः वधो-
द्यमेपि ॥ ६४ ॥

(५) नन्दनः । दूतगुणानाह अनुरक्तइति । शौचदाक्ष्ययोरादरार्थपुनर्वचनम् ॥ ६४ ॥

अमात्येदण्डआयत्तोदण्डे वैनयिकी क्रिया ॥ नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते संधिविपर्ययौ ॥ ६५ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तदूतगुणानांसंपादनाय तत्प्रयोजनमाह । अमात्ये सेनापतौ दण्डोहस्त्यादिबलमायत्तं तदि-
च्छया कार्येषु प्रवृत्तेः । दण्डेवैनयिकी योविनेयः स्वपरराष्ट्रगतः सदण्डयोयतः विनयाश्रिता वैनयिकीक्रियाकार्यम् । नृपतौ-
कोशराष्ट्रे आयत्ते सञ्चयस्थानंकोशः । राष्ट्रजनपदः द्वेचतेपराधीनेन कर्तव्ये स्वयमेव विलम्बनीयफलग्रासाच्च । दूतेसन्धि-
विपर्ययौ प्रियवचनेन स्वामिकार्यप्रदर्शनेन सन्धिः तद्वैपरीत्येन विग्रहः एतदुभयंदूतायत्तम् ॥ ६५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अमात्येदण्डआयत्तो विनातद्गुचिदूरेदण्डसिद्धेः । दण्डेवैनयिकी लोकविनयहेतुक्रिया ।
नृपतौकोशराष्ट्रे तदुद्यमादेव तद्व्यवृद्धेः । विपर्ययोविग्रहादिपञ्चकम् ॥ ६५ ॥

(३) कुल्लूकः । अमात्येसेनापतौ हस्त्यश्वरथपादाद्यात्मकोदण्डआयत्तः तदिच्छयातस्यकार्येषुप्रवृत्तेः विनययो-
गात् वैनयिकीयोविनयः सदण्डआयत्तः नृपतावर्थसंचयस्थानदेशावायत्तौराज्ञापराधीनौनकर्तव्यौ स्वयमेवचितनीयधनं-
ग्रामश्च दूतेसंधिविग्रहावायत्तौतदिच्छयातत्प्रवृत्तेः ॥ ६५ ॥

(४) राघवानन्दः । दूतप्रसंगेन तस्य कार्यव्यवस्थितिमाह अमात्येति । अमात्यभूपतेर्हस्त्यश्वरथपादाद्यात्मको-
दण्डः आयत्तः अधीनः सपणादिदण्डोवा अमात्येननियमितः तदीक्षया पणादिदण्डोदण्ड्येषु प्रवृत्तःसाधुः । दण्डे चतुर्विधे
तस्मिन् वैनयिकी विनयायार्हति दण्डे हि विनयी स्यादन्यथोत्पथगामी जनः । नृपतौ कोशराष्ट्रे द्वे तेन कोशःसंचयीते
राष्ट्रंच परिपाल्यते । दूते सन्धिभेदावायत्तौ तन्निमित्तत्वात्तयोः । विपर्ययोभेदः ॥ ६५ ॥

(५) नन्दनः । दूतगुणबाहुल्यवचनेकारणमाह अमात्याइति । अमात्यःसर्वकार्यनिर्वाहकः । अविनीतदमनं-
दण्डः । विपर्ययोविग्रहः । अमात्यानामुपन्यासोदृष्टान्तार्थः ॥ ६५ ॥

(६) रामचन्द्रः । अमात्ये मन्त्रिणि दण्डः आयतः अधीनः ॥ अधीनोनिम्नआयत्तइत्यमरः । दण्डे वैनयिकीक्रि-
या विनयकारिणी क्रिया । दूते सन्धिविपर्ययौ दौत्येन कर्मणा तत्सिद्धेः । विपर्ययोविग्रहः ॥ ६५ ॥

दूतएवहि संधत्ते भिनत्येव च संहतान् ॥ दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः ॥ ६६ ॥

(६६) येनमानवाः=बान्धवाः (ख, भ, र, ल, ब)

(१) मेधातिथिः । एवंदूतार्थानुवादः एषएवार्थः पुनरुच्यते । यथादूतःसंधत्ते । यथोक्तंसंहतानेकीभूतान्सएवभिन-
त्ति । अनुक्तमपिभियंसंदिशति । प्रतिकूलमनाचरितमित्यादि । सुवर्णादिद्रव्यमप्रतिश्रुतमित्याहएवभिनत्तिदूतः । तदेतत्क-
र्मानन्तरोपदिष्ट्येनराजानोभिद्यन्तेनवाक्पारुष्यापन्नाएवंसंभवन्ति ॥ ६६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दूतएवहीत्येतदुपपादनं दूतस्तदिति । नवाभिद्येतसंदध्यात् ॥ ६६ ॥

(३) कुड्मूकः । यस्मादूतएवहिभिन्नानांसंधिसंपादनेक्षमः संहतानांचभेदेनेतथापरदेशेदूतःतत्कर्मकरोति येनसंहता-
भिद्यंत तस्मादूतेसंधिविग्रहौविपर्ययावायत्तावितियदुक्तंतस्यैवायंप्रपंचः ॥ ६६ ॥

(४) राघवानन्दः । एतौव्यनक्ति दूतइति । त्वदेशे स्वामात्यादीन्भिन्नान् सन्धत्ते मिश्रयति भिनत्तिच संहतान्
स्वराज्यनाशाय कृतोद्यमांच्छत्रूस्तत्पक्षांश्च । द्रव्यादिदानेन मिथ्याभयप्रदर्शनेनच । नचान्यथा संधिमायान्तीत्यर्थः
॥ ६६ ॥

(५) नन्दनः । दार्ष्टान्तिकंप्रश्नयति दूतइति । न केवलंराज्ञामेवेदंकिंतु सर्वेषामपीत्यभिप्रायेणोक्तंमानवाइति यत-
एवंतस्माद्यथोक्तलक्षणोदूतःकार्यइति ॥ ६६ ॥

(६) रामचन्द्रः । संहतान् बन्धून् भिनत्ति भेदयति ॥ ६६ ॥

सविद्यादस्य कृत्येषु निगूढेद्वितचेष्टितैः ॥ आकारमिद्वितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम् ॥ ६७ ॥

(१) मेधातिथिः । अन्यदपि दूतकार्यदर्शयति । सदूतोयातव्यस्य राज्ञः कृत्येषु कार्येषु ॥ ६७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सदूतोविद्यात् अस्य राज्ञः कृत्येषु क्रियाविषयेषु नलुब्धभीतावमानिषु शत्रुषु य आक-
रादिस्तं स्वयंनिगूढैरिद्वितचेष्टितैरुपलक्षितः । इद्वितपदेनात्राकारेद्वितयोर्यहणम् । चेष्टितं चेष्टा । यथा युद्धार्थिनः शस्त्र-
निर्माणादि । नेष्टेतिद्वितमाकारोवेति स्वकृत्येषुच शत्रोश्चिकीर्षितम् ॥ ६७ ॥

(३) कुड्मूकः । दूतस्यकार्यांतरमाह सविद्यादिति । सदूतोऽस्यप्रतिराजस्यकर्तव्ये आकारेद्वितचेष्टांजानीयात् ।
निगूढाअनुचराः प्रतिपक्षनृपस्यैवपरिजनाः तस्मिन् युक्ताः तत्सन्निधावपि तेषामिगितचेष्टितैः भृत्येषुचक्षुब्धलुब्धापमानि-
तेषुप्रतिराजस्यकर्तुमीप्सितंजानीयात् ॥ ६७ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच सइति । सदूतः अस्य प्रतिराजस्य निगूढाअनुचराये शत्रोर्नियुक्तास्तेषां सन्निधि-
मवलम्ब्येद्वितचेष्टितैराकारादित्रयं भृत्येषु क्षुभितावमानितेषु चिकीर्षितं प्रतिराजस्य कर्तुमिष्टं च विद्यात् जानीयादि-
त्यर्थः ॥ ६७ ॥

(५) नन्दनः । इदानींदूतस्य परंप्रति प्रेषितस्य कर्तव्यप्रसङ्गादाह सइति । सः दूतः अस्य कृत्येषुस्वराज्ञा भेद्ये-
षु परपक्षस्थेषुपुरुषेषु विद्यमानमाकारमिद्वितचेष्टितंचनिगूढेद्वितचेष्टितैः पुरुषैर्विद्यात् । किंच कृत्येषुभेद्येषुचिकीर्षितमभिल-
षितंचतैर्विद्यात् ॥ ६७ ॥

(६) रामचन्द्रः । सराजा अस्य दूतस्य निगूढेद्वितचेष्टितैः कृत्यं कार्यं आकारादिकं कृत्येषु कार्येषु चिकीर्षितंच
विद्यात् ॥ ६७ ॥

बुध्वा च सर्वतत्त्वेन परराजचिकीर्षितम् ॥ तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीडयेत् ॥ ६८ ॥

(१) सर्वज्ञनारायणः । बुध्वा राजा स्वदूतद्वारा । न पीडयेच्छत्रुः ॥ ६८ ॥

(३) कुङ्कुमः । उक्तलक्षणदूतद्वारेण प्रतिपक्षराजस्यकर्तुमिष्टं सर्वतत्त्वतो ज्ञात्वा तथा प्रयत्नं कुर्यात् यथात्मनः पीडा न भवति ॥ ६८ ॥

(४) राघवानन्दः । ततोभृत्येषु परराजचिकीर्षितं बुद्ध्यामद्राजायद्यत्रागन्तुं शक्नोति तदा भवादृशानां क्षोभादिनक्षयतीति विश्वासं संपादयेदिति भावः । आत्मानं स्वराजानंदूतं वा यथा न पीडयेत्तथा यत्नमातिष्ठेत् ॥ ६८ ॥

(५) नन्दनः । आतिष्ठेत्कुर्यात् । स दूत इत्यनुवर्तते । स्वार्थमस्य राज्ञः कार्यं यथा स्वयं न पीडयेत् ॥ ६८ ॥

(६) रामचन्द्रः । राजा परराजचिकीर्षितं स्वशत्रुराजचिकीर्षितं तत्त्वेन स्वदूतद्वारा सर्वं बुद्ध्वा ज्ञात्वा यथा आत्मानं न पीडयेत्तथा प्रयत्नं कुर्यात् ॥ ६८ ॥

जाङ्गलं सस्यसंपन्नमार्यप्रायमनाविलम् ॥ रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत् ॥ ६९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अल्पोदको देशो जाङ्गलः । आर्यप्रायं धार्मिकबहुलम् । अनाविलं संकराद्युपहतिरहितम् । रम्यमनुद्देगकरम् । आनताः सामन्ताः दुर्गाद्वीपवर्तादिवासिनो विषयाऽभिधेया यत्र । सुखेनाल्पायासेन यत्र जीव्यते तत्स्वाजीव्यम् ॥ ६९ ॥

(३) कुङ्कुमः । अल्पोदकतृणोयस्तु प्रवातः प्रचुरातपः । सङ्ग्रेयो जाङ्गलो देशो बहुधान्यादिसंयुतः ॥ प्रचुरधार्मिकजनरोगोपसर्गाद्यैरनाकुलं फलपुष्पतरुलतादिमनोहरं प्रणतसमीपवास्तव्याटविकादिजनसुलभं रुषिवाणिज्याद्याजीवनमाश्रित्यावासं कुर्यात् ॥ ६९ ॥

(४) राघवानन्दः । स्थानभ्रष्टानशो भन्त इति न्यायमाश्रित्य राज्ञो वसतियोग्यं देशं सहेतुं सार्थं वादं चाह जाङ्गलमित्यष्टभिः ॥ अल्पोदकतृणोयस्तु प्रवातः प्रचुरातपः । सङ्ग्रेयो जाङ्गलो देश इत्युक्तलक्षणं जाङ्गलम् । सस्यसंपन्नं सार्वकालिकसस्यैर्युतम् । आर्यप्रायं आर्याः प्रायो वसन्ति यस्मिन् तेनाम्लेच्छदेशम् । अनाविलं रोगाद्युपसर्गानाक्रान्तम् । आनतसामन्तं आनतावशीकृताः सामन्ताः चतुर्दिक्षु वर्तमाना गिरिवनवासिनो दस्युप्रायाजना यत्र तत् । स्वाजीव्यं सुलभं रुषिवाणिज्यादि यत्र तत् ॥ ६९ ॥

(५) नन्दनः । अथ राज्ञो निवासयोग्यजनपदमाह जाङ्गलमिति । पथ्यत्वाद्द्वन्जलादिरकदर्दमो देशो जाङ्गलः । अनाविलमसङ्कीर्णमनुष्यम् । आनतो विनीतः सामन्तः समं दत्ताद्भोजनो यस्मिंस्तम् । स्वाजीव्यं विशिष्टभृत्यगुणयुक्तम् । आवसेदावासं कुर्यात् । राजेति सामर्थ्याद्भिम्यते ॥ ६९ ॥

(६) रामचन्द्रः । राज्ञो निवासस्थानमाह जाङ्गलमिति । जाङ्गलः स्वल्पोदकतरुपर्वतो देशः तथाप्यत्र समजलतरुपर्वतो देशो जाङ्गलशब्देन विधीयते । आर्यप्रायं धार्मिकबहुलं । अनाविलं संकराद्युपद्रवरहितं शोकरोगाद्युपहतिरहितं वा । आजीव्यं कन्दमूलादिभिरम्यं । आनतसामन्तं वशीकृतमाण्डलिकं आनतान्नाः सामन्ता यस्मिन्सः । सामन्तः स्यादधीश्वर इत्यमरः । एतादृशं देशमावसेत् ॥ ६९ ॥

धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा ॥ नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥ ७० ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तप्रकारेण द्विगुणोत्सेधेनैष्टकेन शैलेन द्वादशहस्ताद्रूर्ध्वमुद्धतेन तालमूलेन कपिशीर्षचिताश्रेण दृढमणाल्यापरिकृतं धनुर्दुर्गम् । महीदुर्गमगाधेनाश्रयणीयेन चोदकेन परिवेष्टितं दुर्गम् । समंततोऽर्धयोजनमात्रं घनमहा-

वृक्षान्वितं वार्क्षम् । चतुरङ्गबलाधिष्ठितं प्रवरायुधवीरपुरुषप्रायं नृदुर्गम् । गिरिपृष्ठे दुरारोहमेवैकमार्गानुगतमन्तर्नदीप्रसवणोदक-
गिरिदुर्गम् ॥ ७० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धन्वदुर्गमरुदुर्गं यत्रातिनिर्जलतया तद्देशवासिभिरेव कथंचिजलं लभ्येत । महीदुर्गं पृथि-
व्येव यत्र समविषमतया प्राकारादिभिश्चात्यन्तदुर्गा । अब्दुर्गमतिप्रचुरोदकतया दुर्गम् । वार्क्षं वनवेष्टितत्वेन । नृदुर्गं
मानुषबहुलतयाऽगम्यम् । गिरिदुर्गं गिरिवेष्टिततया ॥ ७० ॥

(३) कुड्डूकः । धनुर्दुर्गमरुवेष्टितं चतुर्दिशं पंचयोजनमनुदकम् । महीदुर्गं पाषाणेन दृष्टकेन वा विस्ताराद्द्वैगुण्योच्छ्रायेण
द्वादशहस्तादुच्छ्रितेन युद्धार्थमुपरिभ्रमणयोग्येन सावरणगवाक्षादियुक्तेन प्राकारेण वेष्टितम् । जलदुर्गं अगाधोदकेन सर्व-
तः परिवृतम् । वार्क्षदुर्गं बहिः सर्वतोयोजनमात्रं व्याप्यतिष्ठन्महावृक्षकण्टकिगुल्मलताद्याचितम् । नृदुर्गं चतुर्दिगवस्थायिह-
स्त्यश्वरथयुक्तबहुपादातरक्षितम् । गिरिदुर्गं पर्वतपृष्ठमतिदुरारोहं संकोचैकमार्गोपेतम् । अंतर्नदीप्रसवणाद्युदकयुक्तं बहुस-
स्योत्पन्नक्षेत्रवृक्षान्वितम् । एतेषु दुर्गेषु मध्यादन्यतमदुर्गमाश्रित्य पुरं विरचयेत् ॥ ७० ॥

(४) राघवानन्दः । राष्ट्रं लक्षयित्वा तन्मध्ये राजधानीं निर्दिशति धन्वदुर्गमिति । धन्वदुर्गं निरुदकपञ्चयोजनदे-
शेन समन्ततो व्याप्तेन दिवसद्वयपानार्थं जलाभावात्सैन्यशत्रुभिर्नाक्रम्यते । महीदुर्गं पाषाणेष्ठाकृतेन द्वादशहस्ताद्युच्छ्रि-
तेन बहुविस्त्रुतेन युद्धार्थमुपरिभ्रमणयोग्येन साधारणगवाक्षादियुक्तेन प्राकारेण समन्ताद्देष्टितं सद्धारं च । अब्दुर्ग-
मगाधोदकेन नकादियुतेन नद्यादिना परितो वेष्टितम् । वार्क्षं न्यग्रोधादिमहावृक्षकण्टकलताद्यैरभितोयोजनाद्यावरकेन
वेष्टितं तेन तच्छेदनोद्यताये शत्रवस्ते तत्रस्थैर्धानुष्कैर्हन्यन्ते । नृदुर्गं हस्त्यश्वरथपदातिभिश्चतुर्दिक्षु वेष्टितं बहुमनुष्यवा-
शतममध्यमवध्यं सहस्रमध्यमवध्यमिति न्यायात् । गिरिदुर्गं गिरिणा भिवेष्टितं दुरारोहं गिरिपृष्ठं संकोचैकमार्गोपेतमन्तर्नदी-
प्रसवणबहुसस्योत्पत्तिक्षेत्रवृक्षान्वितमित्याद्यूहनीयम् । एतैः कृत्रिमैरकृत्रिमैर्वा दुर्गपुरमधितिष्ठेदिति तात्पर्यम् ॥ ७० ॥

(५) नन्दनः । अथ दुर्गसमभिः श्लोकैराह धन्वदुर्गमिति । निरुदकोदेशो धन्वा तेन दुर्गं धन्वदुर्गम् । प्राकारक्षेत्रसी-
मादियुक्तयामद्वादुर्गमहीदुर्गम् । नदीपरिखादिभिर्दुर्गमब्दुर्गम् । वृक्षाणां समूहो वार्क्षं तेन दुर्गं वार्क्षदुर्गम् । शूरेर्मनुष्यैर्दुर्गं
नृदुर्गम् ॥ ७० ॥

(६) रामचन्द्रः । षड्विधदुर्गस्वरूपमाह धन्वदुर्गमिति । धन्वदुर्गं मरुस्थलं यत्रातिनिर्जलतया तद्देशवासिभिरपि कथं-
चिजलं लभ्यते । समानौ मरुधन्वानावित्यमरः । परिखादिभिर्जलदुर्गम् । वार्क्षं वृक्षैर्दुर्गं एतादृशं दुर्गमाश्रित्य निवसेत् ॥ ७० ॥

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत् ॥ एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥ ७१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बाहुगुण्येन बहुगुणत्वेन ॥ ७१ ॥

(३) कुड्डूकः । यस्मादेषां दुर्गाणां मध्यात् दुर्गगुणबहुत्वेन गिरिदुर्गमतिरिच्यते तस्मात्सर्वप्रयत्नेन तदाश्रयेत् । गि-
रिदुर्गं शत्रुदुरारोहत्वं महत्प्रदेशादल्पप्रयत्नप्रेरितशिलादिना बहुविपक्षसैन्यव्यापादनमित्यादयो बहवो गुणाः ॥ ७१ ॥

(४) राघवानन्दः । गिरिदुर्गत्वं दुरारोहत्वं चाह सर्वेणेति । तेषां धन्वदुर्गाणां मध्ये बाहुगुण्येन बहुगुणत्वेन प्रश-
स्तम् ॥ ७१ ॥

(५) नन्दनः । एषां दुर्गाणां मध्ये बाहुगुण्येन बहुगुणत्वात् ॥ ७१ ॥

(६) रामचन्द्रः । एषां मध्ये बहुगुणस्य भावो बाहुगुण्यं तेन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥ ७१ ॥

त्रीण्याद्यान्याश्रितास्त्वेषां मृगगर्ताश्रयाऽप्सराः ॥ त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवङ्गमनरामराः ॥ ७२ ॥

(१) मेधातिथिः । आद्यानि त्रीणि धनुर्दुर्गादीनि । आश्रिताः आश्रयंकृतवन्तः । मृगागर्ताश्रयागर्गरनकुलादयः । अप्सराग्राहकूमादयः । एषांदुर्गाणांतदाश्रितानांच यादृशागुणदोषास्तादृशाएव राज्ञामपि भवन्तीति प्रदर्शनार्थं त्रीण्युत्तराणि । प्लवङ्गमाः कपयः ॥ ७२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । त्रीण्याद्यानि धन्वमहीजलदुर्गाणि क्रमात् । मृगाहरिणादयः तेहि जलाभावादत्र मृगया न संभवतीति मरुषु तिष्ठन्तीति । गर्ताश्रयामूषकाद्याः । अप्सरामत्स्याद्याः । प्लवङ्गमावानराः । नराग्रामादिनृदुर्गवासिनः । अमरामेरुगिरिप्रभृतिवासिनएवासुरभयात् ॥ ७२ ॥

(३) कुल्लूकः । एषांदुर्गाणामध्यात्प्रथमोक्तानि त्रीणि दुर्गाणि मृगादय आश्रिताः । तत्र धनुर्दुर्गं मृगैराश्रितं महीदुर्गं गर्ताश्रितैर्मूषिकादिभिः अब्दुर्गं जलचरैर्नकादिभिः इतराणि त्रीणि वृक्षदुर्गादीनि वानरादय आश्रिताः तत्र वृक्षदुर्गं वानरैराश्रितं नृदुर्गं मानुषैः गिरिदुर्गं देवैः ॥ ७२ ॥

(४) राघवानन्दः । दुर्गाश्रयो दुर्जय इत्यत्र दृष्टफलमाह त्रीणीति । एषांधन्वादिदुर्गाणामध्ये धन्वमहीजलदुर्गत्रयं मृगमूषिकनकैराश्रितम् । अतस्तेषां दुर्जयत्वं लोकतः प्रसिद्धम् । तथा वृक्षमनुष्यगिरिदुर्गत्रयं वानरनरामरैराश्रितत्वादुर्जयम् । अतः प्रसिद्धमेतदुर्गाश्रितस्यापराजय इति ॥ ७२ ॥

(५) नन्दनः । लोकसिद्धनिदर्शनोपन्यासेन दुर्गाश्रयणफलं श्लोकाभ्यामाह त्रीणीति । तेषांदुर्गाणामध्य आद्यानि त्रीणि धन्वमहीजलदुर्गाणि क्रमशो मृगागर्ताश्रयाविलाश्रयामूषिकादयः अप्सराः मीनग्राहादयः उत्तराणि वाक्क्षेत्रगिरिदुर्गाणि मेरुमन्दरगिरिदुर्गाश्रिता ह्यमरा असुरादिभिर्न पराजीयन्ते ॥ ७२ ॥

(६) रामचन्द्रः । एषां षण्णां मध्ये आद्यानि त्रीणि धन्वदुर्गं मृगाणामाश्रयः । महीदुर्गं गर्ताश्रयाणामूषकादीनाम् । तथा जलदुर्गं जलादीनामाश्रयः । उत्तराणि क्रमशः वृक्षदुर्गं प्लवङ्गानां वानरादीनाम् । नृदुर्गं सेनादुर्गं नृणामाश्रयः । गिरिदुर्गममराणामाश्रयः यथा कालञ्जरे नीलकण्ठादयो वसन्ति ॥ ७२ ॥

यथा दुर्गाश्रिताने तान् नोपहिंसन्ति शत्रवः ॥ तथारयोन हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम् ॥ ७३ ॥

(१) मेधातिथिः । दुर्गविधानप्रयोजनं श्लोकोयम् । अत्यल्पबला अपि दुर्गाश्रिता महाबलैरिभिर्न सहसा शक्यन्तेऽभिभवितुमते दुर्गाश्रयोयुक्तः ॥ ७३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शत्रव एषां व्याधाद्याः ॥ ७३ ॥

(३) कुल्लूकः । यथैतान् दुर्गवासिनो मृगादीन् व्याधादयः शत्रवो न हिंसन्ति एवं दुर्गाश्रितं राजानं न शत्रवः ॥ ७३ ॥

(४) राघवानन्दः । एते यथा अबाध्यास्तथा नृपोप्यबाध्य इत्याह यथेति । शत्रवो व्याधमार्जारश्चेनादयः दुर्गाश्रितान् दुर्गनिविष्टान् एतान् नोपहिंसन्त्येव मरयः प्रतिराजानो दुर्गनिविष्टं हिंसन्तीत्यर्थः ॥ ७३ ॥

(५) नन्दनः । एतान् मृगादीन् मरपर्यन्तान् ॥ ७३ ॥

(६) रामचन्द्रः । यथा दुर्गाश्रिताने तान् मृगादीन् शत्रवः सिंहादयो न हिंसन्ति तथाऽरयो दुर्गसमाश्रितं राजानं न हिंसन्ति ॥ ७३ ॥

एकः शतं योधयति प्राकारस्थोधनुर्धरः ॥ शतं दशहस्त्राणि तस्माद्गुर्वविधीयते ॥ ७४ ॥

[मंदरस्यापिशिखरंनिर्मानुष्यंनशिष्यते । मनुष्यदुर्गदुर्गाणां मनुःस्वायंभुवोब्रवीत् ॥ १ ॥]⁺

(१) मेधातिथिः । सुप्रसिद्धमेतद्गुर्गप्रयोजनं प्राकारदृष्टान्तेन गिरिदुर्गबलमेतदिति तदयुक्तं महीदुर्गेपिप्राकारसं-
भवात् तस्मात्सर्वेषांदुर्गाणांतत्प्रयोजनंत्वनुद्धयारूप्यते ॥ ७४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शतं पदातीन् ॥ ७४ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मादेकोधानुष्कः प्राकारस्थः शत्रूणांशतंयोधयतिप्राकारस्थधानुष्कशतंचशत्रूणांदशसहस्रा-
णि तस्माद्गुर्गकर्तुमुपदिश्यते ॥ ७४ ॥

(४) राघवानन्दः । गिरिदुर्गे कैमुतिकन्यायमाह एकइति । कृत्रिमप्राकारस्थोप्येकोधनुर्धरःप्रतिराज्ञःशतं योध-
यति युद्धेन निग्रहीतुंशक्नोति । यस्माच्छतंप्रतिपक्षदशसहस्राणितथाकर्तुमीष्टे तस्मात्किंवक्तव्यंगिरिस्थानांसामर्थ्यम् । य-
ईषत्क्षिप्तोपि शिलादिर्वाबहून्यापादयति ॥ ७४ ॥

(५) नन्दनः । शतमायुधिनांबहिःस्थानामेकोयोधयति जयतीतियावत् । शतंप्राकारस्थानांधनुर्धराणांदशसहस्रा-
णिबहिः स्थानामायुधिनाम् ॥ ७४ ॥

तत्स्यादायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनैः ॥ ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥ ७५ ॥

(१) मेधातिथिः । आयुधैः खड्गप्रासादिभिः संपन्नमुपेतम् । आयुधग्रहणंवर्मशिरस्त्राणोपस्कारादेरन्यस्यापि यु-
द्धोपकरणस्य प्रदर्शनार्थम् । धनंरूपसुवर्णादीनि । वाहनानि रथाश्वादयः । शिल्पिभिर्यन्त्रावाहतक्षप्रभृतिभिर्यवसेन ब्रा-
ह्मणैर्मन्त्रिपुरोहितैरन्यैर्वा दण्डिकापोतेन ध्वजशङ्कया कदाचिन्नृपधर्मसाहाय्येन प्रवर्तन्ते । प्रदर्शनार्थत्वाच्च भिषगौषधाय-
पेक्षेत संरोहणाद्युपयोगिसंनिधापयितव्यम् ॥ ७५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यन्त्रैः क्षेप्यादिभिः ॥ ७५ ॥

(३) कुल्लूकः । तद्गुर्गस्वद्धायायुधसुवर्णादिधनधान्यकरितुरगादिवाहनब्राह्मणभक्ष्यादिशिल्पियंत्रघासोदकसमृद्धं-
कुर्यात् ॥ ७५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यदित्याह तदिति । तत्पुरं आयुधसंपन्नं आयुधानि धनुरादीनि तैःसंपत्तिम् ।
ब्राह्मणैः शत्रुघातने वाग्वज्रैः । यन्त्रैर्लोहादिनिर्मितदिव्यास्त्रैः । यवसेन हस्त्याहारादिवृणेन ॥ ७५ ॥

(५) नन्दनः । तत्रदुर्गेसञ्चेतव्यान्याह तदिति ॥ ७५ ॥

(६) रामचन्द्रः । तद्गुर्गमायुधसंपन्नंस्यात् । यवसेन वृणादिना धान्यादिभिः । यन्त्रैः क्षेपणादिभिः संपन्नकार्यम्
॥ ७५ ॥

तस्य मध्ये सुपर्याप्तंकारयेद्बृहत्मात्मनः ॥ गुप्तंसर्वतुंकंशुभ्रंजलदक्षसमन्वितम् ॥ ७६ ॥

(१) मेधातिथिः । सुपर्याप्तंयावदात्मनोराज्ञोराजपुत्रकोशायाधुधाश्वागारादिषूपयुज्यते । गुप्तंबहुकक्षाकंगृहंकार-
येत् । सर्वतुंकं सर्वतुमाल्यफलैः शोभितं सर्वैकतवोयत्रेति ऋतुशब्देन तत्कार्याणिपुष्पफलादीनिलक्ष्यन्ते । सर्वतुंगमितिपाठे

(७५) यंत्रैर्यवसेनोदकेनच=यंत्रैर्यवसेनोदकेनधनैः (ख, ग, ज, झ, ढ, ण, ब, ल)

=यन्त्रैर्यद् (च)

+ (ख, ढ,)

सर्वानृतूगच्छतिप्रामोतीति व्युत्पत्तिः अर्थस्तुसएव योयत्रभवतिसतेनव्याप्तइत्युच्यते । शुभ्रं सुधाधवलितम् । जलवृक्षसम-
न्वितं धारागृहोद्यानवनसंपन्नम् ॥ ७६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सुपर्याप्तं सर्वेषां वसतामसंकोर्णम् । सर्वर्तुकं सर्वर्तुरम्यम् । शुभ्रं प्रसाद्यम् ॥ ७६ ॥

(३) कुङ्कुमः । तस्येत्यादि तस्यदुर्गस्यमध्येपर्याप्तं पृथक्पृथक्स्त्रीगृहदेवागारायुधागाराग्रिशालादियुक्तं परिखाप्रा-
काराद्यैर्गुप्तं सर्वर्तुकफलपुष्पादियोगेन सर्वर्तुकं सुधाधवलितं वाप्यादिजलयुक्तं वृक्षान्वितमात्मनोगृहं कारयेत् ॥ ७६ ॥

(४) राघवानन्दः । ततः किं तत्राह तस्येति । सुपर्याप्तं सुष्ठु हस्त्यश्वरथपदातिभीराङ्गीनां राज्ञः पुत्राणां च वसतये
पर्याप्तं समर्थम् । गुप्तं प्राकाराद्यैः । सर्वर्तुकं सर्वेषामृतूनां योग्यानि पुष्पादीनि यत्र । शुभ्रं सौधादिभिः ॥ ७६ ॥

(५) नन्दनः । तस्य दुर्गस्य । सुपर्याप्तं महावकाशम् । सर्वर्तुकं सर्वेष्वृतुषु गम्यं सर्वकालानुगुणमिति यावत् । कार-
येद्राजा । जलवृक्षसमन्वितं दीर्घकोद्यानसम्पन्नमित्यर्थः ॥ ७६ ॥

(६) रामचन्द्रः । तस्य दुर्गस्य मध्ये सुपर्याप्तं विस्तीर्णं गृहमात्मनः कारयेत् । जलवृक्षसमुद्भवं जलवृक्षयोर्मध्ये स-
मुद्भवो यस्य तत् । सर्वर्तुकं षडर्तवोत्पन्नं रक्षितम् ॥ ७६ ॥

तदध्यास्योद्वहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥ कुले महति संभूतां तृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥ ७७ ॥

(१) मेधातिथिः । तद्गृहमाश्रित्य भार्या तत्र सहायार्थं महतः कुलादुद्वहेद्भार्या एतत्संबन्धेन संरक्षणार्थम् । सवर्णा-
मित्यादावुच्यते तत्प्राक्प्रदर्शितम् । तृद्यां मनोरमां कान्तिलावण्ययुक्ताम् । रूपसंस्थानं गुणावचनकरणादयस्ते रन्वितां युक्ता-
म् ॥ ७७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तृद्यां मनस्यदुष्टम् ॥ ७७ ॥

(३) कुङ्कुमः । तद्गृहमाश्रित्य समानवर्णां शुभसूचकलक्षणोपेतां महाकुलप्रसूतां मनोहारिणीं सुरूपां गुणवतीं भार्या-
मुद्वहेत् ॥ ७७ ॥

(४) राघवानन्दः । तदध्यास्येति । अधिशीङ्स्थासां कर्मैतिकर्मत्वं अधिकरणस्य । तत्पुरं अध्यास्य अधिष्ठाय
भार्यामुद्वहेत् । तां विशिनष्टि । लक्षणान्वितां भ्रातृमत्वश्रीसौख्यसूचकत्वश्यामाद्वित्वादिदेहगुणयुक्ताम् । तदुक्तम् । कूपो-
दकं तरुच्छायाश्यामाङ्गीदृष्टकागृहम् । शीतकाले भवेदुष्णं ग्रीष्मकाले च शीतलमिति । तृद्यां कामकलादिनिपुणतया तदे
मनसे अर्हति याताम् । रूपगुणान्वितां रूपचम्पकगौरादि गुणाअङ्गसौष्टवपातिव्रत्यादयः तैर्युक्तां च ॥ ७७ ॥

(६) रामचन्द्रः । तद्गृहं अध्यास्य उषित्वा तृद्यां मनोहराम् भार्यामुद्वहेत् ॥ ७७ ॥

पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव च त्विजः ॥ तेऽस्य गृह्णाणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च ॥ ७८ ॥

(१) मेधातिथिः । सत्यपि द्वितीयानिर्देशे न प्राधान्यावगमेविवक्षितमेवैकत्वं अन्यत्राप्युपादानात् यूपं छिनत्ति
भार्यां विन्देतेति वत् ऋत्विजो वृणुयात् तेषां च संङ्ख्याश्रुतितएवावगन्तव्या । गुणाश्चनातिस्थूलोनातिरुशः नातिदीर्घोनातिह्र-
स्वः नातिवृद्धोनातिबालः । सप्तपुरुषान्विद्यातपोभ्यां पुण्यैश्च कर्मभिः समनुष्ठितोभयभावान्प्रतिनाब्राह्मण्यमाशङ्क्यते
विद्वान्याजयतीत्यादि । गृह्णाणिकर्माणि शान्तिस्वस्ययनादीनि वैतानिकानि वैहारिकाणि त्रेतामिविषयाणि ॥ ७८ ॥

(७६) सर्वर्तुकं=सर्वर्तुकं (नं०)

(२) सर्वज्ञनारायणः । गृहाणि स्मृत्याचारतोयाहाणि । वैतानिकानि श्रौतानि ॥ ७८ ॥

(३) कुड्डूकः । पुरोहितंचाप्याथर्वणविधिनाकुर्वीत ऋत्विजश्च कर्माणि कर्तुंवृणुयात्तेचास्य राज्ञोगृहोक्तानि त्रेतासंपाद्यानि कर्माणि कुर्युः ॥ ७८ ॥

(४) राघवानन्दः । पुरोहितं अथर्ववेदिनंपुरोहितंवृणीतेति श्रुतेः । सर्वैदिकोविप्रश्च ऋत्विजःवृणुयात् । ऋत्विजः अस्य राज्ञः गृहाणि गृहोक्तानि वेत्थदेवादीनि वैतानिकानि श्रौताग्निहोत्रादीनिच ते वृताःकुर्युरित्यन्वयः ॥ ७८ ॥

(५) नन्दनः । गृहस्थस्य राज्ञः श्रौतस्मार्तकर्मस्वधिकृतानाह पुरोहितमिति । गृहाणि औपासनादीनि । वैतानिकान्यग्निहोत्रादीनि ॥ ७८ ॥

(६) रामचन्द्रः । सतस्य राज्ञः गृहाणि स्मार्तानि त्वशाखोक्तानि कर्माणि वैतानिकानि श्रौतानि कुर्यात् ॥ ७८ ॥

यजेत राजा ऋतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः ॥ धर्मार्थंचैव विप्रेभ्योदद्याद्भोगान्धनानि च ॥ ७९ ॥

(१) मेधातिथिः । आप्तदक्षिणैर्भूरिदक्षिणैः पौण्डरीकादिभिः भोगान्धनानिच वस्त्रगन्धविलेपनादयोभोजनविशेषाश्चभोगाः । धनानिसुवर्णादीनि नित्यमेवतद्धानमिच्छन्ति । धर्मार्थंतस्योत्पत्त्यर्थमेव ॥ ७९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भोगान् भोगहेतून् स्त्रीवस्त्रगृहादीन् । धनानि सुवर्णानि ॥ ७९ ॥

(३) कुड्डूकः । राजा नानाप्रकारान् बहुदक्षिणान् अश्वमेधादियज्ञान् कुर्यात् ब्राह्मणेभ्यश्च स्त्रीगृहशय्यादीन् भोगान् सुवर्णवस्त्रादीनि धनानि दद्यात् ॥ ७९ ॥

(४) राघवानन्दः । आप्तदक्षिणैः एतेन सहस्रदक्षिणेनयजेतेत्यादिविधिना प्राक्प्रोक्ता या दक्षिणा तदक्षिणैः । भोगान् भोग्यान् स्त्रीगृहशय्यादीन् । धनानि सुवर्णरजतादीनि च दद्यादित्यन्वयः ॥ ७९ ॥

(५) नन्दनः । याजकवरणप्रसङ्गाद्यजमानमप्याह यजेतेति । आप्तदक्षिणैः पर्याप्तदक्षिणैः । भोगान्भोग्यान् गोमहिषादीन् ॥ ७९ ॥

सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्वलिम् ॥ स्याच्चाभ्रायपरोलोके वर्तेत पितृवन्धुषु ॥ ८० ॥

(१) मेधातिथिः । बलिंकरंधान्यादीनांषष्ठाष्टमादिभागमाप्तैरर्थादुपधाशुद्धैः । यथोक्तमाभ्रायपरश्चस्यात् । आगमप्रधानतर्कशास्त्राण्याश्रयेत् । अथवापारंपर्यागतमेवभागंगृहीयान्नाधिकम् । वर्तेतपितृवन्धुषु करदेष्टव्येषुचस्नेहबुद्ध्यावर्तेत ॥ ८० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सांवत्सरिकं वत्सरलभ्यंबलिं करं भूमिजलशुष्कादिनिमित्तम् । आभ्रायपरोऽभ्यासपरः । सर्वस्याकरादेःस्मरणेयत्नंकुर्यादित्यर्थः ॥ ८० ॥

(३) कुड्डूकः । राजा सत्तरमाप्तैर्वर्षग्राहंधान्यादिभागमानाययेत् लोके च करादिग्रहणेशास्त्रनिष्ठःस्यात् त्वदेशवासिषुनरेषुपितृवत्स्नेहादिनावर्तेत ॥ ८० ॥

(४) राघवानन्दः । आप्तैर्युक्तकारिभिः । संवत्सरोत्तीर्णं बलिं करं धान्यादीन् धनंच गृहीयादितितात्पर्यम् । आभ्रायपरः करादिग्रहणशास्त्रनिविष्टः । पिता यथा पुत्रपालनान्वेषी तद्वन्धुःस्यात् नृषुत्वप्रजासु ॥ ८० ॥

(५) नन्दनः । कुतश्च राज्ञोधनागमोधनेनयजेत दद्याच्चेदपेक्षायामाह सांवत्सरिकमिति । संवत्सरेभवंसांवत्स-

(७९) भोगान्धनानिच=भागान्धनानिच (१)

रिकंसंवत्सरस्यसंवत्सरस्य सकृदितियावत् । बलिंकरम् । पूर्वमर्यादानुरूपेणकरादानमाग्रायः । नृषु दीनादिष्वनुकम्पया-
वर्तनं पितृवद्वर्तनम् ॥ ८० ॥

(६) रामचन्द्रः । सांवत्सरिकंबलिं उपहारान् । च पुनः आग्रायपरः अभ्यासपरः स्यात् सर्वस्य करादेःस्मरणे
यत्नं कुर्यादित्यर्थः ॥ ८० ॥

अध्यक्षान्विविधान्कुर्यात्तत्रतत्रविपश्चितः ॥ तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्मृणांकार्याणि कुर्वताम् ॥ ८१ ॥

(१) मेधातिथिः । अध्यक्षआधिकृताः प्रत्यवेक्षितारस्तां कुर्यात् । विविधान् बहुप्रकारान् मृदूनुग्रान् धार्मिकान्
अर्थार्जनपरांश्च । तत्रतत्रसुवर्णकोष्ठागारे पण्यकुप्यकर्मत्वधिकृताः प्रत्यवेक्षितारस्तान् शुल्कनौहस्त्यश्वरथपदात्यादीन्
विपश्चितः स्थापयेत् । सर्वेतेअमात्यगुणसंपद्युक्ताविज्ञेयाः । यथोक्तमध्यक्षप्रचारे तेअध्यक्षाः सर्वाणि कार्याण्यवेक्षे-
रन्त्येषांमृणांतस्थानोपयोगिनांकार्याणि कुर्वतांहस्त्यध्यक्षेण हस्तिपकाः अश्वाध्यक्षेण तुरङ्गमाद्याः गवाध्यक्षेण कर्ष-
णादयः ॥ ८१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अध्यक्षानीक्षणेनाधिष्ठातृन् । कार्याणि अर्थानयनादीनि । कुर्वतांकार्याण्यवेक्षेरन् ॥ ८१ ॥

(३) कुल्लूकः । तत्रतत्र हस्त्यश्वरथपदाताद्यर्थादिस्थानेष्वध्यक्षानवेक्षितृन् विविधान् पृथक्पृथक्विपश्चितः कर्म-
कुशलान्कुर्यात् ते अस्यराज्ञः तेषुहस्त्यश्वादस्थानेषु मनुष्याणांकुर्वतांसर्वाणिकार्याणिसम्यक्कार्यार्थमवेक्षेरन् ॥ ८१ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यत् । तत्रतत्र हस्त्यश्वरथपदातिव्यवहारार्थस्थानेषु । अध्यक्षानुक्तविषयानधिलक्षो-
कृतान्यक्षानीन्द्रियाणि येषांतान् अवेक्षितृन् । विपश्चितः तत्तत्कर्मशारुज्ञान् । ते अस्य रक्षकाः कार्याणि कर्माणि
कुर्वतांमृणां यथा तानि सम्यगवितथं तथा ऽवेक्षेरन्तित्यन्वयः ॥ ८१ ॥

(५) नन्दनः । कराहारिणामनुसंधायकानाह अध्यक्षानिति । तत्र तत्र करविशेषे । कार्याणिकराहरणकार्या-
णि ॥ ८१ ॥

(६) रामचन्द्रः । ईक्षणे तत्र तत्र विविधानधिष्ठातृन्कुर्यात् ॥ ८१ ॥

आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजकोभवेत् ॥ नृपाणामक्षयोऽप्येवनिधिर्ब्राह्मोभिधीयते ॥ ८२ ॥

(१) मेधातिथिः । गुरुकुलेऽधीतावगतवेदार्थागार्हस्थ्यप्रतिपित्सवोधनेन पूजयितव्याः । इदमपि नैय्यमिकदान-
मतएवाह नृपाणामक्षयइति । नित्यत्वादक्षयोयावज्जीविकः काम्यत्वेवा फलभावि निवर्तते । यदुक्तं सांतानिकंवक्ष्यामा-
णमिति तदेवेदम् । अन्येत्वाहुः तत्रार्थभ्योदानंविहितं इहत्वर्थानामधिकारात् विधानमात्रयावस्त्रयुगादिदानेनच नरा-
णांपूजाकर्तव्या । तथाचाहविप्राणांपूजकोभवेदिति । निधिरिवनिधिः उत्तमफलत्वात् । ब्रह्मसंनिहितोब्राह्मः ॥ ८२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आवृत्तानां समावृत्तानां गुरुदक्षिणार्थं विवाहार्थं कर्तुमिच्छतांवा । ब्राह्मोब्राह्मणेषु नि-
क्षिप्तः ॥ ८२ ॥

(३) कुल्लूकः । गुरुकुलान्विप्राणां अधीतवेदानांब्राह्मणानांगार्हस्थ्यार्थानानियमतो धनधान्येनपूजांकुर्यात् य-
स्माद्योयंब्राह्मोब्राह्मणेषुस्थापितधनधान्यादिनिधिरिवनिधिःअक्षयोब्रह्मफलत्वात् अविनाशीराज्ञांशास्त्रेणोपदिश्यते ॥ ८२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच । आवृत्तानामागतानांगुरुकुलात् पूजकोगृहादिदाता स्यात् । तेन किं तत्राह एषनिधिः
एवंविशिष्टब्राह्मणेषु वस्त्रौदनादिनिधिर्निक्षेपतुल्यः । सहि यथा कालान्तरे प्राप्यतेएषोपि तथा । ब्राह्मः परंपरया ब्रह्मणि

(२) सर्वज्ञनारायणः । गृह्याणि स्मृत्याचारतोयाह्याणि । वैतानिकानि श्रौतानि ॥ ७८ ॥

(३) कुल्लूकः । पुरोहितंचाप्याथर्वणविधिनाकुर्वीत ऋत्विजश्च कर्माणि कर्तुंवृणुयात्तेचास्य राज्ञोगृह्योक्तानि त्रेतासंपाद्यानि कर्माणि कुर्युः ॥ ७८ ॥

(४) राघवानन्दः । पुरोहितं अथर्ववेदिनंपुरोहितंवृणीतेति श्रुतेः । सर्वैदिकोविप्रश्च ऋत्विजःवृणुयात् । ऋत्विजः अस्य राज्ञः गृह्याणि गृह्योक्तानि वेत्थदेवादीनि वैतानिकानि श्रौताग्निहोत्रादीनिच ते वृताःकुर्युरित्यन्वयः ॥ ७८ ॥

(५) नन्दनः । गृहस्थस्य राज्ञः श्रौतस्मार्तकर्मस्वधिरुतानाह पुरोहितमिति । गृह्याणिऔपासनादीनि । वैतानिकान्यग्निहोत्रादीनि ॥ ७८ ॥

(६) रामचन्द्रः । सतस्य राज्ञः गृह्याणि स्मार्तानि स्वशाखोक्तानि कर्माणि वैतानिकानि श्रौतानि कुर्यात् ॥ ७८ ॥

यजेत राजा ऋतुभिर्विविधैराम्रदक्षिणैः ॥ धर्मार्थंचैव विप्रेभ्योदद्याद्भोगान्धनानि च ॥ ७९ ॥

(१) मेधातिथिः । आम्रदक्षिणैर्भूरिदक्षिणैः पौण्डरीकादिभिः भोगान्धनानिच वस्त्रगन्धविलेपनादयोभोजनविशेषाश्चभोगाः । धनानिसुवर्णादीनि नित्यमेवतद्दानमिच्छन्ति । धर्मार्थतस्योत्पत्त्यर्थमेव ॥ ७९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भोगान् भोगहेतून् स्त्रीवस्त्रगृहादीन् । धनानि सुवर्णानि ॥ ७९ ॥

(३) कुल्लूकः । राजा नानाप्रकारान् बहुदक्षिणान् अश्वमेधादियज्ञान् कुर्यात् ब्राह्मणेभ्यश्च स्त्रीगृहशय्यादीन् भोगान् सुवर्णवस्त्रादीनि धनानि दद्यात् ॥ ७९ ॥

(४) राघवानन्दः । आम्रदक्षिणैः एतेन सहस्रदक्षिणेनयजेतेत्यादिविधिना प्राक्प्रोक्ता या दक्षिणा तदक्षिणैः । भोगान् भोग्यान् स्त्रीगृहशय्यादीन् । धनानि सुवर्णरजतादीनि च दद्यादित्यन्वयः ॥ ७९ ॥

(५) नन्दनः । याजकवरणप्रसङ्गाद्यजमानमप्याह यजेतेति । आम्रदक्षिणैः पर्याम्रदक्षिणैः । भोगान्भोग्यान् गोमहिषादीन् ॥ ७९ ॥

सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्वलिम् ॥ स्याच्चाग्रायपरोलोके वर्तेत पितृवन्तृषु ॥ ८० ॥

(१) मेधातिथिः । बलिंकरंधान्यादीनांषष्ठाष्टमादिभागमाप्तैरर्थादुपधाशुद्धैः । यथोक्तमाग्रायपरश्चस्यात् । आगमप्रधानतर्कशास्त्राण्याश्रयेत् । अथवापारंपर्यागतमेव भागंगृह्णीयान्नाधिकम् । वर्तेतपितृवन्तृषु करदेष्टव्येषुचस्नेहबुद्ध्यावर्तेत ॥ ८० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सांवत्सरिकं वत्सरलभ्यंबलिं करं भूमिजलशुष्कादिनिमित्तम् । आग्रायपरोऽभ्यासपरः । सर्वस्याकरादेःस्मरणेयत्नंकुर्यादित्यर्थः ॥ ८० ॥

(३) कुल्लूकः । राजा सत्तैरमात्यैर्वर्षासंघांधान्यादिभागमानाययेत् लोके च करादिग्रहणेशास्त्रनिष्ठःस्यात् स्वेदेशवासिषुनरेषुपितृवत्स्नेहादिनावर्तेत ॥ ८० ॥

(४) राघवानन्दः । आप्तैर्युक्तकारिभिः । संवत्सरोत्तीर्णं बलिं करं धान्यादीन् धनंच गृह्णीयादितितात्पर्यम् । आग्रायपरः करादिग्रहणशास्त्रनिविष्टः । पिता यथा पुत्रपालनान्वेषी तद्वन्तृषुःस्यात् नृषुत्वप्रजासु ॥ ८० ॥

(५) नन्दनः । कुतश्च राज्ञोधनागमोधनेनयजेत दद्याच्चेदपेक्षायामाह सांवत्सरिकमिति । संवत्सरेभवंसांवत्स-

रिकंसंवत्सरस्यसंवत्सरस्य सुरुदितियावत् । बलिंकरम् । पूर्वमर्यादानुरूपेणकरादानमाम्नायः । नृषु दीनादिष्वनुकम्पया-
वर्तनं पितृवद्वर्तनम् ॥ ८० ॥

(६) रामचन्द्रः । सांवत्सरिकंबलिं उपहारान् । च पुनः आम्रायपरः अभ्यासपरः स्यात् सर्वस्य करादेःस्मरणे
यत्नं कुर्यादित्यर्थः ॥ ८० ॥

अध्यक्षान्विविधान्कुर्यात्तत्रतत्रविपश्चितः ॥ तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्मृणांकार्याणि कुर्वताम् ॥ ८१ ॥

(१) मेधातिथिः । अध्यक्षआधिकृताः प्रत्यवेक्षितारस्तान्कुर्यात् । विविधान् बहुप्रकारान् मृदूनुग्रान् धार्मिकान्
अर्थार्जनपरांश्च । तत्रतत्रसुवर्णकोष्ठागारे पण्यकुप्यकर्मत्वधिकृताः प्रत्यवेक्षितारस्तान् शुल्कनौहस्त्यश्वरथपदात्यादीन्
विपश्चितः स्थापयेत् । सर्वेतेअमात्यगुणसंपद्युक्ताविज्ञेयाः । यथोक्तमध्यक्षप्रचारे तेअध्यक्षाः सर्वाणि कार्याण्यवेक्षे-
रन्मृण्येषांनृणां तस्थानोपयोगिनांकार्याणि कुर्वतांहस्त्यध्यक्षेण हस्तिपकाः अश्वाध्यक्षेण तुरङ्गमाद्याः गवाध्यक्षेण कर्ष-
णादयः ॥ ८१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अध्यक्षानीक्षणेनाविष्ठातृन् । कार्याणि अर्थानयनादीनि । कुर्वतांकार्याण्यवेक्षेरन् ॥ ८१ ॥

(३) कुल्लूकः । तत्रतत्र हस्त्यश्वरथपदाताद्यर्थादिस्थानेष्वध्यक्षानवेक्षितृन् विविधान् पृथक्पृथक्विपश्चितः कर्म-
कुशलान्कुर्यात् ते अस्यराज्ञः तेषुहस्त्यश्वादिस्थानेषु मनुष्याणां कुर्वतांसर्वाणिकार्याणिसम्यक्कार्यार्थमवेक्षेरन् ॥ ८१ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यत् । तत्रतत्र हस्त्यश्वरथपदातिव्यवहारार्थस्थानेषु । अध्यक्षानुक्तविषयानधिलक्षी-
कृतान्यक्षानीन्द्रियाणि येषांतान् अवेक्षितृन् । विपश्चितः तत्तत्कर्मशारूढज्ञान् । ते अस्य रक्षकाः कार्याणि कर्माणि
कुर्वतांनृणां यथा तानि सम्यगवितथं तथा ऽवेक्षेरन्तित्यन्वयः ॥ ८१ ॥

(५) नन्दनः । कराहारिणामनुसंधायकानाह अध्यक्षानिति । तत्र तत्र करविशेषे । कार्याणिकराहरणकार्या-
णि ॥ ८१ ॥

(६) रामचन्द्रः । ईक्षणे तत्र तत्र विविधानधिष्ठातृन्कुर्यात् ॥ ८१ ॥

आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजकोभवेत् ॥ नृपाणामक्षयोक्षेपनिधिर्ब्राह्मोभिधीयते ॥ ८२ ॥

(१) मेधातिथिः । गुरुकुलेऽधीतावगतवेदार्थागार्हस्थ्यप्रतिपित्सवोधनेन पूजयितव्याः । इदमपि नैग्यमिकदान-
मतएवाह नृपाणामक्षयइति । नित्यत्वादक्षयोयावज्जीविकः काम्यत्वेवा फलभावि निवर्तते । यदुक्तं सांतानिकंवक्ष्यामा-
णमिति तदेवेदम् । अन्येत्वाहुः तत्रार्थिभ्योदानंविहितं इहत्वर्त्तनामधिकारात् विधानमात्रयावस्त्रयुगादिदानेनच नरा-
णांपूजाकर्तव्या । तथाचाहविप्राणांपूजकोभवेदिति । निधिरिवनिधिः उत्तमफलत्वात् । ब्रह्मसंनिहितोब्राह्मः ॥ ८२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आवृत्तानां समावृत्तानां गुरुदक्षिणार्थं विवाहार्थं कर्तुमिच्छतांवा । ब्राह्मोब्राह्मणेषु नि-
क्षिप्तः ॥ ८२ ॥

(३) कुल्लूकः । गुरुकुलान्विप्राणां अधीतवेदानांब्राह्मणानांगार्हस्थ्यार्थिनानियमतोधनधान्येनपूजांकुर्यात् य-
स्माद्योयंब्राह्मोब्राह्मणेषुस्थापितधनधान्यादिनिधिरिवनिधिःअक्षयोब्रह्मफलत्वात् अविनाशीराज्ञांशास्त्रेणोपदिश्यते ॥ ८२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच । आवृत्तानामागतानांगुरुकुलात् पूजकोगृहादिदाता स्यात् । तेन किं तत्राह एषनिधिः
एवंविशिष्टब्राह्मणेषु वस्त्रौदनादिनिधिर्निक्षेपतुल्यः । सहि यथा कालान्तरे प्राप्यतेऽप्यपि तथा । ब्राह्मः परंपरया ब्रह्मणि

मोक्षरूपे पर्यवसितः । तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाविविदिषन्ति यज्ञेन दानेनेत्यादिश्रुतेः । ब्रह्म ब्राह्मणजातिः तदुद्देश्यक-
त्वाद्वा ब्राह्मः ॥ ८२ ॥

(५) नन्दनः । एवं धनागमद्वारमुक्तम् इदानीं प्रस्तुतं दानमेवाह आवृत्तानामिति । पूजको भवेदिष्टार्थदो भवेत् । एष ब्रा-
ह्मो निधिर्नृपाणामक्षयोऽभिधीयते एतत्सृष्ट्वा ब्राह्मणनिहितं द्रव्यं राज्ञामक्षय्यफलमिति शास्त्रैर्विधीयते । हिशब्दो हेतौ ॥ ८२ ॥

(६) रामचन्द्रः । गुरुकुलादावृत्तानामागतानां स्नातकानां विभाणां विशेषतः पूजको भवेत् । एष ब्राह्मणो निधिः ब्रा-
ह्मणेषु दत्तमक्षयमित्यर्थः ॥ ८२ ॥

नतं स्तेनानचामित्रा हरन्ति न च नश्यति ॥ तस्माद्वाज्ञा निधातव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः ॥ ८३ ॥

(१) मेधातिथिः । ब्राह्मणेभ्यो यो र्थो दत्तः नतं स्तेना आढविकादयो मित्राश्च शत्रवो हरन्ति न भूमिष्ठमिव विस्मृत्य-
प्रातिभाष्येन वा नश्यति ॥ ८३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । न नश्यति स्वयमदर्शनं नयाति ॥ ८३ ॥

(३) कुल्लूकः । अतएव नतमिति । तं ब्राह्मणस्थापितनिधिनचौरानापिशत्रवो हरन्ति अन्यनिधिवत् भूम्यादिस्था-
पितः कालवशान्न नश्यति स्थानभ्रान्त्या वाऽदर्शनमुपैति तस्माद्योयमक्षयोऽनंतफलो निधिर्निधिरवनिधिः धनौघः सराज्ञा ब्राह्मणेषु
निधातव्यः तेभ्यो देय इत्यर्थः ॥ ८३ ॥

(४) राघवानन्दः । अक्षयत्वमाह नैति । स्तेनाः छिद्रं कृत्वा ये हरन्ति प्रसभंवा । अमित्राः शत्रवः । न नश्यति
भूमिष्ठनिधिरिव ॥ ८३ ॥

(५) नन्दनः । न चास्य निधेरुपसर्गानिधित्वप्रयुक्ताः सन्तीत्याह नतमिति । तं निधिम । नश्यति विस्मरणादिना
॥ ८३ ॥

(६) रामचन्द्रः । तं निधिं स्तेनाः चोराः शत्रवो वानहरन्ति ॥ ८३ ॥

न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित् ॥ वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ॥ ८४ ॥

(१) मेधातिथिः । एष एवार्थोऽवश्यानुष्ठेयः प्रकारान्तरेण पुनरुच्यते । अग्नौ यद्ध्यते तत्कदाचित् स्कन्दत्यधः
पतति हूयमानम् तथा च्यवते पुरोडाशादिक्षामतया । ततश्च कर्मवैगुण्याद्विनश्यति शिष्टानाम् । इदन्तु ब्राह्मणेभ्यो दानं नत-
स्यैते दोषाः सन्ति नितरां वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्योऽग्नौ होमेभ्य इत्यर्थः । मुख्यार्थवृत्त्या कर्मनामधेयमेवाग्निहोत्रशब्दस्तदाचादिग्रहणं
व्याख्येयम् । मुखे हुतमिति पाणिरेव ब्राह्मणस्य मुखं पाण्यास्योहिद्विजः स्मृत इति वचनात् । वरिष्ठश्रेष्ठं अर्थवादश्चायं न पुनर्हो-
मनिन्दैव ॥ ८४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । न स्कन्दते न स्रवति । न च्यवते न पतति । कठिनं न व्यथते इति पाठेऽप्ययमर्थः । न विन-
श्यति श्वावलेहादिना ॥ ८४ ॥

(३) कुल्लूकः । अग्नौ यत् हुतं विहूयते तत्कदाचित् स्कन्दते स्रवत्यधः पतति कदाचिद्यथते शुष्यति कदाचिद्वाहादिना-
नश्यति ब्राह्मणस्य मुखे यत् हुतं पाण्यास्योहिद्विजः स्मृत इति ब्राह्मणहस्तदत्तमित्यर्थः । तस्य नोक्ता दोषाः तस्मादग्निहोत्रादिभ्यः
श्रेष्ठं ब्राह्मणाय दानमित्यर्थः ॥ ८४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच न स्कन्दते नाधःपतति न व्यथते न नक्ष्यतीति कृत्वा व्यथा दुःखं नोत्पादयति पुत्रादिवत्प्रत्यक्षं नश्यतीति विरिष्ठमिति । अग्नौ हविःक्षिप्तं देवतृप्तौ संदिग्धं ब्राह्मणमुखे तु न तथा साक्षात्कीत्युक्तेः ब्राह्मणो मनुष्येषु इति श्रुतेः । नाहं तथा जियजमानहविर्वितानैश्चोतद्धृतमदन्हुतमुद्भुवेन । यद्ब्राह्मणस्य मुखतश्चरतो नुघासमिति भागवतोक्तेः ॥ ८४ ॥

(५) नन्दनः । यजेत दद्याच्चेत्युक्तं यजनादानं विशिष्टमित्याह नेति । स्कन्दनं परिस्रवणम् । केशकीटापत्तिर्व्यथनम् । अदर्शनं नाशः । अग्निहोत्रेभ्योऽग्निहोत्रहुतेभ्योऽद्रव्येभ्यः ॥ ८४ ॥

(६) रामचन्द्रः । यद्ब्राह्मणस्य मुखे हुतं तन्स्कन्दते न क्षरते । स्कन्दि गतिशोषणयोरित्यस्य धातोरुपज्ञेयम् ॥ ८४ ॥

सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे ॥ प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे ॥ ८५ ॥

(१) मेधातिथिः । विप्रेभ्य इति च प्रकृतं तथा च प्रागप्युक्तम् । वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायेति । न च यथाश्रुतदानफलोपपत्तिः । कीदृशं हितं साम्यं जातितः परिमाणतः उपकारतो वा यदि तावज्जातितस्तदिति औषधपानोद्देशेन देवलेभ्यो दत्तं स्वाद्यदानं दुःखायैव स्यात् । तित्तकषायानि प्रायशः औषधानि विरेचनीयानीति प्रतिपत्तिः । अथ परिमाणतः तत्रापि यद्विद्वन्मनपेक्ष्य केवलपरिमाणसाम्यं सुवर्णं दत्तं तत्परिमाणं तान्नलभ्येत । अन्यथा मृत्काष्ठादि । अथ जातितः परिमाणतश्च तत्र प्रागुक्ता एव दोषाः । अथोपकारतः तत्रापि हि यदि तज्जातीय एवोपकारः निवृत्तिफलकेनौषधदानेन व्याधिराक्षेप्तव्यः सुसंभावः दुःखं प्राप्नोति तस्मात् उपवीतं देवानामुपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुत इत्युपव्यानविशेषान्निवीतादयो न पृथग्वाक्यानि तथेदमपि भवितव्यम् । अत्रोच्यते नात्राख्यातश्रवणमस्ति सर्वेषां समत्वात् तत्रयोऽर्थवादः साहसं वेदपारग इति तदर्थवादोऽस्तु । अथायं विधिः विध्यन्तरशेषभावात्तदर्थविधिरभ्युपेतव्यो विशेषाभावात् निवीतादिषु तूपव्ययत इत्यत्राख्यातदर्शनात् तदर्थविधिविषयत्वयोग्यत्वाभावादेकत्वावगमाच्च युक्तार्थवदेव तर्ह्यनुक्तो विशेषः नाब्राह्मणेभ्यो दानमस्तीति तद्विस्मृतं भवेत् दीनानायादिभ्यः सर्वेभ्यो दानस्य विहितत्वात् । एतान्येव च विधायकानि वाक्यानि ब्राह्मणेभ्यो राज्ञां दानस्य तूक्तं यथाश्रुतफलानुपपत्तिः सर्वप्रकरेणास्याभ्युपगम्यमानत्वादिति । अत्रोच्यते लौकिकीयं वाचोयुक्तिः सममिति यल्लोकेनात्युत्कृष्टं देवमुच्यते समलवणाः सक्तव इति । उपकारापेक्षा च द्विगुणमिति संख्याश्रुतिर्यावत्तस्योपकारस्तावद्विगुणो भवति । न तद्रव्यमाप्तिर्नापि तज्जातीय एवोपकारः किन्तु प्रीत्यतिशयोत्पत्तिः न चेहफलविशेषश्रुतिर्येनेयमाशङ्का स्यादपि तु किं तदेव द्रव्यं प्राप्यते ततः स एवोपकार इति । अश्रुतफलविशेषेषु स्वर्गः फलं किंच तिलादिदाने प्रजाप्तिः फलं श्रूयते । तत्र काद्रव्यसाम्याशङ्का तस्माच्चायमर्थ उत्तरोत्रातिशयदानात्फलातिशयसिद्धिः तथा चाह पात्रस्य हि विशेषेणेति । ब्राह्मणब्रुवे ब्रुवशब्दः कुत्सायां जातिमात्र-ब्राह्मणोऽध्ययनादिगुणहीन इत्यर्थः । आचार्य उपनेता वेदपारगोऽध्ययनश्रवणाभ्यां वेदस्यान्तंगतः ॥ ८५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दानमवैधमपि अब्राह्मणे क्षत्रियादौ दीयमानमानृशंस्योत्तमं यावन्मात्रं दानस्यानृशंस्यं कृतं फलं तत्र तावन्मात्रम् । द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे जातिमात्रोपजीविनि प्रतिग्रहरूपेण दत्तेऽनानृशंस्यदानफलं च प्रतिग्रहदानफलं च । आचार्येऽध्यापयितरि वेदैकदेशस्य द्विगुणीभूतमेव सहस्रगुणम् । वेदपारगे वेदस्यैकस्यार्थतोयन्थतश्च पारंगते ॥ ८५ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणेतरक्षत्रादिविषये दानं तत्समफलं यस्य देयद्रव्यस्य यत्फलं श्रुतं ततो नाधिकं न च न्यूनं भवति ।

यो ब्राह्मणः क्रियारहित आत्मानं ब्राह्मणं ब्रवीति स ब्राह्मणब्रुवः तद्विषयदानपूर्वपेक्षया द्विगुणफलं । एवं प्राधीते प्रक्रांता-
ध्ययने ब्राह्मणलक्षगुणफलं । समस्तशाखाध्यायिन्यनंतफलं । सहस्रगुणमाचार्य इति वा तृतीयपदस्य पाठः ॥ ८५ ॥

(४) राघवानन्दः । विप्रणामिति प्रकृतं तत्र प्रासंगिकान्पात्रगुणानाह समेति । क्षत्रियब्राह्मणपदवाच्याध्ययनप्र-
वृत्तब्रह्मचारिकृतवेदाध्ययनाश्रित्वारोऽब्राह्मण इत्यादिपदचतुष्टयवाच्या इति । ब्राह्मणब्रुवः ब्राह्मणो हं ब्रवीति नतु कर्मणा
ब्राह्मण इति । गर्भाधानादिसंस्कारैर्युक्तः स नियमव्रती । नाध्यापयति नाधीते स ज्ञेयो ब्राह्मणब्रुव इति पारिभाषिको वा ।
ब्राह्मणभ्रमात्पात्रं क्षत्रियः तस्मात्सर्वेभ्यो देयमेतेभ्यः परंतु यस्य श्रुतं फलमिति ॥ ८५ ॥

(५) नन्दनः । पात्रविशेषात्फलविशेषमाह सममिति । समं तावन्मात्रम् । अब्राह्मणक्षत्रियादौ दानमदानफलम् ॥ ८५ ॥

(६) रामचन्द्रः । न ब्रह्म वेदोऽस्यास्तीति सः अब्राह्मणस्तस्मिन्दत्तदानं समं ज्ञेयम् । ब्राह्मणब्रुवे वेदाध्यायिनि
किञ्चिन्मात्रे एवं विधे द्विजे दत्तं द्विगुणं भवेत् । वेदपारगे एकशाखाध्यायिनि ॥ ८५ ॥

पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्धाधानतयैव च ॥ अल्पं वा बहु वा प्रेत्य दानस्य फलमश्रुते ॥ ८६ ॥

[एष एव परो धर्मः कृत्स्नो राज्ञ उदाहृतः । जित्वा धनानि संग्रामात् द्विजेभ्यः प्रतिपादयेत् ॥ १ ॥*]

[देशकालविधानेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम् । पात्रे प्रदीयते यत्तु तद्धर्मस्य प्रसाधनम् ॥ २ ॥†]

(१) मेधातिथिः । पातयतो धर्मकर्मणः पात्यमानं वा त्रायत इति पात्रं संप्रदानं अथवा घृततैलाद्याधारः पात्रमुप-
चारः दिदमपि पात्रं अत्रापि हि द्रव्यं निधीयते आह च नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मणो निधीयत इति तस्य विशेषो भेदः सगुण-
निर्गुणत्वादिः तेन हेतुना दानस्य फलमवाप्यते । अल्पं वा गुणवते वृत्तस्वाध्यायसंपन्नाय दत्तं बहु निर्गुणाय त्वल्पम् ॥ ८६ ॥

[मेधातिथिः । प्रदानः उदकपूर्वकस्त्वस्ति वाचनसंस्कारातिशयोभावः प्रसाद इत्यादि । द्रव्यं गोभूहिरण्यादि । श्रद्धा प्रा-
प्त्यभिलाषातिशयः कथमिदं मे निवर्तेतेति बुद्धिसंतानः प्रत्येति । क्रियासमनन्तरं फलोत्पत्तेरनियममाह । न पुनर्जन्मान्तर-
फलतामेव । वैदिकानां कर्मणां फल एव कामस्य नियमावगमात् ॥ २ ॥]

(२) सर्वज्ञनारायणः । विशेषेण दोषेण गुणेन वा । श्रद्धाधानतया श्रद्धानिर्कर्षप्रकर्षाभ्याम् ॥ ८६ ॥

(३) कुल्लूकः । विद्यातपोवृत्तियुक्ततया पात्रस्य तारतम्यमपेक्ष्य शास्त्रे तथेति प्रत्ययरूपायाः श्रद्धायास्तारतम्य-
पात्रमासाद्य दानस्याल्पमहद्वाफलं परलोकैलभ्यते ॥ ८६ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च पात्रस्येति । प्रेत्य मृत्वा । स्थितस्य फलावश्यं भावनियमादित्याह अवाप्यत इति
॥ ८६ ॥

[राघवानन्दः । किञ्च देशेति । देशः कुरुक्षेत्रादिः । काल उपरागादिः । विधानमुदकपूर्वकस्त्वयुक्तिः । श्रद्ध-
याल्पं दीयमानं पात्रविशेषे च बह्वेव स्यादिति वाक्यार्थः ॥ २ ॥]

(५) नन्दनः । श्रद्धातश्च फलविशेषमाह पात्रस्येति ॥ ८६ ॥

समोत्तमाधर्मैराजा त्वाहूतः पालयन् प्रजाः ॥ न निवर्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ८७ ॥

(१) मेधातिथिः । सर्वोपरिक्षये राज्ञो विहितं युद्धं तत्र संग्रामभूमिगतस्याहतस्य समन्यूनाधिकबलेनापेक्षा प्र-

* (ख, ट, त) † (थ, मेधा०)

(८६) फलमश्रुते=वाप्यते फलम् (ट, ठ, ड, त, थ, न, ब, भ)

तिषेवार्थमिदं पदं नमन्तव्यं निरुद्धबलं न हन्तीति । अथवा ये शत्रव आठविकादयः प्राक्स्थितां मर्यादामतिलंघ्य देशमुत्क्रामन्ति शत्रुभिर्बाराङ्गः संदधते न चेत्युद्धेन विनानियन्तुं शक्यन्ते तदा निरुद्धबलैरपि तैर्युद्धव्यमेव । यद्यपि तैरसौशब्देन नाहूतो वस्तुतस्त्वाहूत एव भवति । एष हि क्षत्रियाणां धर्मः यदाहूतः प्रकृतैस्तेर्युद्धे सर्वेण सह योद्धव्यमेव । जातिवय-
शिक्षा पुरुषकारादि नापेक्षितव्यम् । एष धर्मः स्मर्तव्यः ॥ ८७ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अधमः शूद्रः । आहूतो युद्धार्थम् । न निवर्तेत न प्रवर्तेत ॥ ८७ ॥

(३) कुल्लूकः । समबलेनाधिकबलेन हीनबलेन च राज्ञा युद्धार्थमाहूतो राजा प्रजारक्षणं कुर्वन् युद्धान् निवर्तेत क्षत्रियेण युद्धार्थमाहूतेनावश्यं योद्धव्यमिति क्षात्रधर्मस्मरन् ॥ ८७ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रासंगिकमुक्त्वा प्रकृतमाह सम इति । धनविद्याशूरत्वादिना समोत्तमाधर्मैर्युद्धायाहूतो न निवर्तेतेत्यन्वयः ॥ ८७ ॥

(५) नन्दनः । राष्ट्राऽत्करमादाय यष्टव्यश्च दातव्यं चेत्त्युक्तम् इदानीं राष्ट्रप्रत्यर्थिभिराहूतेन योद्धव्यमित्याह समे-
ति प्रजाः पालयन् प्रजापालनहेतोः ॥ ८७ ॥

(६) रामचन्द्रः । समश्चोत्तमश्चाधमश्च तैराजा आहूतः संग्रामान् निवर्तेत ॥ ८७ ॥

संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् ॥ शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥ ८८ ॥

(१) मेधातिथिः । त्रयाणां धर्माणां तुल्यफलत्वाय श्लोकोऽयम् ॥ ८८ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मात् संग्रामेष्विति । युद्धेष्वपराङ्मुखत्वं प्रजानां च रक्षणं ब्राह्मणपरिचर्या एतद्वाङ्मातृशयितं-
स्वर्गादिश्रेयःस्थानम् ॥ ८८ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रासंगिके फलमाह संग्रामेष्विति । प्रजापरिपालनवद्विजशुश्रूषाया युद्धानिर्वर्तित्वस्यापि श्रे-
यस्करत्वमित्यर्थः ॥ ८८ ॥

(५) नन्दनः । कोयं क्षात्रो धर्मस्तमाह संग्रामेष्विति । पालनशुश्रूषयोरुपन्यासो दृष्टान्तार्थः ॥ ८८ ॥

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः ॥ युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यप

राक्षस्रवाः ॥ ८९ ॥

(१) मेधातिथिः । आहूयन्ते युद्धार्थमितरे यत्र वीराः स आहवः संग्रामः । मिथः स्पर्धमाना अन्योन्यं परस्परं जि-
घांसन्तो हननेच्छवः युध्यमानाः प्रहरन्तः परं शक्त्या परया यथा शक्त्या यथाबलमित्यर्थः छांदसत्वात् परेत्यस्य स्थाने पर-
मितिरूपम् । अपराङ्मुखायुध्यमाना इति संबन्धः । स्वर्गं यान्ति । ननु च राज्यालोभात्प्रवृत्तानां नार्हस्तस्य फलस्य संभवः कुतः
स्वर्ग उच्यते । वक्ष्यमाण युद्धनियमापेक्षः स्वर्गः न हि तेषां नियमानामन्यत्र योजनमस्ति । न कूटैरायुधैरित्यादिना त्यक्तराज्य-
स्यापि शक्तप्रणिपातेन तदनुजीवनसंभवात् तस्मादहस्तत्फलसंभवः । अथवा निश्चिते पराजये निराशस्य यद्युद्धावतारः
तत्स्वर्गार्थैव । अस्मादेव वचनान्नात्मत्यागनिषेधस्य विषयोऽयम् । महीक्षितो मण्डलेश्वरानपुनस्तदनुजीविनस्तेषां हि स्वाम्यर्थ-
वृत्तिर्न स्वार्था अतश्च कुतस्तेषां फलसंबन्धः ऋत्विजामिव दक्षिणापणेन परिक्रीतामेव मेषामपि वृत्तिपरिक्रीतानां कुतः स्वर्गा-
दि फलोत्पत्तिः । नतु विशेषेणैव कुर्वन्तः ॥ उद्यतैराहवेशस्त्रैः क्षत्रधर्मैर्हतस्य च । सद्यः सन्निष्ठते यज्ञ इति । तथा ॥ द्वाविमौ पुरुषौ लोके-

सूर्यमण्डलभेदिनौ । परिव्राडयोगयुक्तश्चशूरश्चाभिमुखोहतइति । तथा भारते युद्धप्रेक्षिणामपि स्वर्गः संदर्शितः । मन्त्रलिङ्गानि-
चसन्ति ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरा सोयेतनुत्यजः । ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्च देवापि गच्छताम् । सहस्रदक्षिणानां यजमानानां शूराणां-
चरणशिरसित्यक्तप्राणानां महाफलत्वं दर्शयति ये युध्यन्ते न च मरणायैव हिंयन्ते न हि संपरिग्रहकालेऽयमुपसंवादोऽस्ति यथा-
होत्रोर्द्वादीनां त्वप्रवचनसमाख्या नियतार्त्विज्यपदार्थानुष्ठानायैव वरणं तस्मात्प्रभुकार्योद्देशेन यन्मरणं तदनुक्रान्तफलायै-
व न च परप्रयुक्तात्कर्मणोऽन्यस्य फलं नास्ति । अश्वमेधावभृथे हि ब्रह्मण्यस्य स्नानादयजमानस्यैव शुद्धिः । अत्रोच्यते यदु-
क्तमुद्यतैराहवइति तदाभृतिपरिक्रीतस्य प्रजार्थयुद्धे प्राणत्यागो धर्मार्थैव । यस्य वा कुर्विति प्रयाणं रणइत्येव परिकरो बद्ध-
स्तदपेक्षमेतयज्ञसंस्थावचनं एवंभूतश्चाभिमुखोहतइति । अथवा नरकाभावएव सूर्यमण्डलभेदनं युध्यमानस्य भविष्यति ।
यत्र विषयान्तरे श्वरेण राज्ञा परस्य राज्ञो विषयो हन्यते भज्यते जनोलुप्येत्तत्र तदर्थयुद्धे प्राणत्यागो धर्मार्थः अन्धतमो-
हिनरके तदभावात्सति प्राकाश्ये सूर्यमण्डलभेदनवचनं सूर्यमण्डलं भिनत्ति उपरिष्ठा लोका नामोति नाधः प्रपततीत्यर्थः ।
भृतिपरिक्रीतस्य प्रभोः संग्रामे समुपस्थिते तमेव जहतो नरकनिपतनं तदर्थयुध्यमानस्य भर्तृपिण्डानृण्यङ्गतवतो दुष्कृते-
न प्रतिबध्यमानस्य स्वैः सुकृतैर्युक्तएव स्वर्गादिलाभः । अत उक्तं सद्यः संतिष्ठते यज्ञइति अव्यवधानेन यज्ञफलमविशे-
षश्रुतौ स्वर्गमवामोतीत्यर्थः । एवं भारतेऽपि भृतिपरिक्रीतानां स्वर्गफलावामिवचनमुपपद्यते । युद्धप्रेक्षिणान्तु स्वर्गावामिरर्थ-
वादएव । अथवा बहुषु जीवनोंपायेषु सत्सु यच्छ्रेण जीवनंततो नियमात्स्वर्गः । यत्तु न मरणाय जीयन्तइति शस्त्रभृतां-
भृतिदानेनान्यद्युद्धात्मयोजनमस्ति विशेषानुपदेशात् सर्वकार्योद्यताः सर्वप्रकारं मदर्थः संपादनीयइति परिक्रीयन्ते तत्र यदा यु-
द्धमुपस्थितं भवति तदाऽऽशरीरपातात्प्रभुर्गुरुः कर्तव्यस्तथाऽऽनृण्यं भवति । अनुपस्थिते तु युद्धे यदि भृत्यस्य मरणं भवति
तदा सर्वेऽनृणा एव । उद्युक्ते ह्यसौ तत्कार्ये तादृश एवास्थोपसंवादः युद्धकाले योद्धव्यं भवतीति लिङ्गदर्शनमपि तूपपद्यतएव ।
अश्वमेधावभृथेतु स्पष्टवचनं तस्मात्समागमे तेषामिति । इहतु युद्धसाध्यमिति विशेषः ॥ ८९ ॥

(२) सर्वज्ञ नारायणः । मिथोजिघांसन्तोऽन्योन्यं युद्धयमाना इत्यपौ न रुक्त्यम् ॥ ८९ ॥

(३) कुल्लूकः । अतएव आह वेष्वाति राजानो मिथः स्पर्द्धमाना युद्धेऽन्योन्यं हंतुमिच्छंतः प्रकृष्टया शक्त्या संमु-
खीभूय युध्यमानाः स्वर्गं गच्छंति यद्यपि युद्धस्य शत्रुजयधनलाभादिरूपं दृष्टमेव फलं न स्वर्गः तथापि युद्धाश्रिता पराङ्मुखत्वनिय-
मस्य स्वर्गः फलमिति न दोषः ॥ ८९ ॥

(४) राघवानन्दः । आह वेष्वाति युद्धेषु । महीक्षितो राजानः स्वर्गं यांतीति फलसंबन्धमात्रमत्र विधेयमन्येषां त्वधर्म-
त्वेन प्राप्तेः ॥ ८९ ॥

(५) नन्दनः । अनिवर्तित्वस्य श्रेयस्करं चेत्कारणमाह आह वेष्वाति । यद्यस्मात्स्वर्गं यांति तस्माच्छ्रेयस्करत्वम-
निवर्तित्वमिति ॥ ८९ ॥

न कूटैरायुधैर्हान्याद्युध्यमानोरणे रिपून् ॥ न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ॥ ९० ॥

(१) मेधातिथिः । तानि दानीमदृष्टार्थान् नियमान् दर्शयति । कूटानि यानि बहिःकाष्ठमयान्यन्तर्निहितशस्त्राणि ।
कर्णिनः शराये शल्यस्य मूले मध्ये वा कर्णाकारैः फलकैः क्रियन्ते ते हि प्रविष्टादुरुद्धरा भवन्ति उद्ध्रियमाणाः प्रहारैरभिन्नम-
पिशिरैरैकदेशं भिन्दन्ति । दिग्धाविषोपलिप्ताः । अग्निना ज्वलितमादीपितं तेजो मय फलकं येषां एतैर्न योद्धव्यम् ॥ ९० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कूटैश्छन्ननिद्रुतैः । कर्णभिः कर्णाकारफलकैः । दिग्धैर्विषाक्तैः । अग्निज्वलिततेजनैरग्नि-
धमनोष्णोरुतफलकैः ॥ ९० ॥

(३) कुल्लूकः । कूटान्यायुधानि बहिःकाष्ठादिमयान्यन्तर्गुमनिशितशस्त्राणि एतैः समरे युत्थ्यमानः शत्रून्हन्या-
न्नापि कर्ण्यकारफलकैर्बाणैर्नापि विषाक्तैर्नाग्न्यग्निदोमफलकैः ॥ ९० ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रान्याययुद्धं स्वर्गासाधनमिति निषेधति नकूटैरितिचतुर्भिः । कूटताहि दृश्यमानकाष्ठादि-
मयत्वेप्यन्तर्निहितलोहाद्यस्त्रयुक्तता । कर्णभिः कर्णकारवत्फलकैर्बाणैः । दिग्धैः विषाक्तैः । ज्वलिततेजनैः प्रदीमफलकैः
॥ ९० ॥

(५) नन्दनः । सजातीयानिशास्त्राण्याह नकूटैरायुधैरिति । कूटैः कृत्रिमैः । कर्णयुक्तः शरः कर्णा । दिग्धोविष-
लिप्तः । अग्निज्वलिततेजनैः अग्निदीपितशल्यमुखैः ॥ ९० ॥

(६) रामचन्द्रः । कर्णभिः कर्णसंज्ञैः चारणैः दिग्धैर्विषसंयुक्तैः अग्निज्वलिततेजनैः अग्निधमितोष्णीरुतफलकैः
एतादृशैर्बाणैर्न युज्येत ॥ ९० ॥

नच हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ॥ न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥ ९१ ॥

(१) मेधातिथिः । रथस्थेन रथारूढेन हन्तव्यः स्थलस्थितो न हन्तव्यः । क्लीबो नपुंसकः पौरुषहीनो वा ।
अन्यत्र दृढासीन उपविष्टोरथपृष्ठे भूमौ वा तवास्मीति वदति यस्तमपि न हन्यात् । शब्दनिधमोऽत्र न विवक्षितः दीनव-
दन्नेवंजातीयकैरपि शब्दैस्त्वदीयोहंत्वाश्रितोस्मीति नहन्तव्यः ॥ ९१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्थलारूढं युद्धभूमित्यक्ता स्थलेन्यैरप्राप्त्यर्थं स्थितम् ॥ ९१ ॥

(३) कुल्लूकः । स्वयंरथस्थोरथंत्यक्ता स्थलारूढं न हन्यात् । तथा नपुंसकंबद्धाञ्जलिमुक्तकेशमुपविष्टं त्वदीयोह-
मित्येवंवादिनं न हन्यात् ॥ ९१ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचैतानष्टादश न हन्यात्सतांधर्ममनुस्मरन्तित्याह नचेति त्रिभिः । स्वयंरथारूढः त्यक्तर-
थमरिं न हन्यात् । एवंक्लीबं क्लैब्यभाषिणं नपुंसकं वा । आसीनं रथमध्ये भूमौ उपविष्टम् । तवास्मीतिवादिनं शरणागतम्
॥ ९१ ॥

(५) नन्दनः । अवध्यानाह नचहन्यादिति । स्थलंतुङ्गप्रदेशम् ॥ ९१ ॥

न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ॥ नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥ ९२ ॥

(१) मेधातिथिः । न नम्रं न भग्नमिति वा पाठः । विसन्नाहस्य प्रतिषेधान्नग्नस्य प्राप्तिरेव नास्ति तेनशिरस्त्राणा-
द्यभावेनैकदेशेन नग्नतया नग्नोदृष्टव्यः । भग्नस्यापि परावृत्तप्रतिषेधात्संमुखस्थोपि त्वया सह न युध्येयमिति वक्ति सनानु-
बन्धनीयोऽवश्यं योद्धव्यमिति । नायुध्यमानं पश्यन्तं यः प्रेक्षक एव केवलः स न हन्तव्यः यस्तु प्रेक्षते युध्यतेच न तत्र प्रति-
षेधः । परेण समागतः अन्येन सहयुध्यमानोऽन्येन नहन्तव्यः ॥ ९२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आयुध्यमानं पश्यन्तमित्येव समागतं युद्धार्थम् ॥ ९२ ॥

(३) कुल्लूकः । सुप्तमुक्तसन्नाहं विवस्त्रमनायुधमयुध्यमानं प्रेक्षकमन्येन सह युध्यमानं च न हन्यात् ॥ ९२ ॥

(४) राघवानन्दः । सुप्तं स्वमायितं श्रमवशात् । विसन्नाहं सन्नाहः कवचादिः तच्छून्यम् । पश्यन्तरणोत्सवम् । परेणसमागतं परेण सह युद्धासक्तम् ॥ ९२ ॥

(५) नन्दनः । विसन्नाहं विकवचम् । पश्यन्तं युद्धदर्शनम् । नहन्यादित्यनुवर्तते ॥ ९२ ॥

(६) रामचन्द्रः । विगतः सन्नाहो यस्य स विसन्नाहस्तं नहन्यात् ॥ ९२ ॥

नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम् ॥ न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ९३ ॥

(१) मेधातिथिः । आयुधव्यसनमायुधकल्लूमायुधभङ्गः कुण्डलिभावः खड्गस्य ज्यालेदइत्येवमादिस्तंप्राप्तम् । आर्तः हतपुत्रभ्रात्रादिः । भीतं मुखरागादिनाविज्ञायशस्त्रसंमुखमपि परावृत्तं प्रत्यावृत्यस्थितं एतेनियमाः । प्रतिषेधापेक्षः प्रत्यवायस्तदा च स्वर्गप्राप्तिवचनमर्थवादः किंपुनरत्रयुक्तं पुरुषार्थः प्रतिषेधात् न कलञ्जं भक्षयेदितिवत् तथाहि नजो-
मुख्यार्थवृत्तिता भवति । सतां धर्ममिति शिष्टानामेषां आचारइत्याह अनुस्मरन्निति ॥ ९३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । युद्धव्यसनं दैवकृतं रथभङ्गादिना । आयुधव्यसनमिति क्वचित्पाठः तत्रायुधव्यसनं ख-
ड्गादिभङ्गः । आर्तं पुत्रादिशोकार्तम् । अतिपरिक्षतमन्येन सह युद्ध्वा । परावृत्तं युद्धात् ॥ ९३ ॥

(३) कल्लूकः । भग्नखड्गाद्यायुधपुत्रशोकादिनाऽऽर्तबहुप्रहाराकुलं भीतं युद्धपराङ्मुखं च शिष्टक्षत्रियाणां धर्मस्मरन्
न हन्यात् ॥ ९३ ॥

(४) राघवानन्दः । आयुधव्यसनप्राप्तं भग्नरथाद्यायुधम् । आर्तं पुत्रादिशोकैः । परिक्षतमापादतलमस्तककृतक्ष-
तम् । भीतं वेपमानं भयेन । परावृत्तं युद्धात्पराङ्मुखम् । सतां भीष्मादीनाम् ॥ ९३ ॥

(५) नन्दनः । आयुधव्यसनं आयुधभङ्गादिकम् । आर्तं पुत्रादि । सतान् धर्मं कूटयुद्धादिभिरयोधनं स्थलारूढादी-
नाञ्चानुस्मरन् राजा नहन्यादित्यनुवर्तते ॥ ९३ ॥

(६) रामचन्द्रः । आयुधव्यसनप्राप्तं भग्नयुधं आर्तं पुत्रादिशोकविकलं अतिपरिक्षतं शस्त्रादिपरिक्षतं क्षतसं-
युक्तम् ॥ ९३ ॥

यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः ॥ भर्तुर्यदुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ ९४ ॥

(१) मेधातिथिः । नैवंमन्तव्यं परावृत्तो यदि हन्यते तदा दुष्कृत्यहतस्तुनेति किं तर्हि परावृत्तमात्रनिबन्धनं दोषव-
चनं किंचन परावृत्तहतेनेयं बुद्धिः कर्तव्या अनुभूतखड्गप्रहारीस्म्यनृणः कृतभर्तृकृत्यइति । तथाविधः प्रहारो न कार्यो-
दोषातिशयदर्शनेनेति दर्शयति । भर्तृसंबन्धदुष्कृतमिति यच्च वचनमुत्तरत्रतदीयसुकृतग्रहणमिति तदर्थवादः । न ह्यन्येन
कृतं शुभमशुभं वाऽन्यस्य संभवति न च सुकृतस्य नाशः किन्तु महता दुष्कृतेन प्रतिबन्धे चिरकालभाविता सुकृतस्य फल-
स्योच्यते ॥ ९४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भर्तुर्यदुष्कृतमिति बहुतरदुष्कृतोत्पादोपलक्षणं न तु मुख्यार्थं अदुष्कृते भर्तरि तदभा-
वापत्तेः ॥ ९४ ॥

(३) कल्लूकः । यस्तु योधो भीतः पराङ्मुखस्सन् युद्धे शत्रुभिर्हन्यते सपोषणकर्तुः प्रभोर्यदुष्कृतं तत्सर्वं प्राप्नोति शा-
स्त्रप्रमाणके च सुकृतदुष्कृते यथा शास्त्रसंक्रमयोग्य एव सिद्ध्यतः अतएवोपजीव्यशास्त्रेण बाधनान्न प्रतिपक्षानुमानोदयो-
पि एतच्च षष्ठे प्रियेषु त्रिषु सुकृतमित्यत्राविष्कृतमस्माभिः ॥ पराङ्मुखहतस्य स्यात्पापमेतद्विवक्षितम् । न त्वत्र प्रभुपापस्या-

दिति गोविन्दराजः । मेधातिथिस्त्वर्थवादमात्रमेतन्निरूपयन् मन्ये नैतद्व्ययुक्तं व्यक्तमन्वर्थवर्जनात् । अन्यदीयपुण्यपापे-
ऽन्यत्र संक्रमेतइति शास्त्रप्रामाण्याद्वेदान्तसूत्रकृता बादरायणेन निर्णीतोयमर्थइति यथोक्तमेव रमणीयम् ॥ ९४ ॥

(४) राघवानन्दः । संग्रामे पराङ्मुखोदोषमाह यस्त्विति ह्याभ्याम् । परस्थपापं परत्र फलदमिति च न तस्य
नातिभारः । मेधातिथिस्त्वाहार्थवादमात्रम् । भर्तुः शस्त्रभरणयोग्यस्य वान्यस्य यत्पापं तत्पराङ्मुखघातकानां भवेदिति
गोविन्दराजः । प्रकरणादिति परैः शत्रुभिः परावृत्तः पराङ्मुखो यदि घातयते तदापोषकस्य भर्तुर्यत्पक्षपातितया बुध्य-
ति तस्य दुष्कृतं सर्वमामोतीति वस्त्वर्थः । तस्मात्पराङ्मुखेन नभाव्यमिति भावः ॥ ९४ ॥

(५) नन्दनः । अयोधस्य परावृत्तस्य दोषमाह यस्तुभीतइति । भर्तुः स्वामिनः ॥ ९४ ॥

यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम् ॥ भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥ ९५ ॥

(१) मेधातिथिः । यच्चास्य सुकृतं किञ्चिद्भर्ता तत्सर्वमादत्तइति । अमुत्रार्थमुपार्जितं अर्थोऽस्यास्तीत्यर्थः अर्शआ-
दित्वादच् अमुत्रामुष्मिल्लोके यत्प्रयोजनं तदार्जितं तदस्य निष्फलं भवति अमुत्रार्थोऽस्येति वा अमुत्रार्थव्यधिकरणो बहुव्री-
हिर्गमकत्वात्प्रायोजकाच्च ॥ ९५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अस्यच परावृत्तहतस्य चकारात्परावृत्तमात्रस्य यदमुत्रार्थं च सुकृतं चकारादिहलोकार्थ-
च ॥ ९५ ॥

(३) कुल्लूकः । पराङ्मुखहतस्य यत्किञ्चित्सुकृतं परलोकार्थमर्जितमनेनास्ति तत्सर्वप्रभुर्भते ॥ ९५ ॥

(४) राघवानन्दः । न केवलमेवमपि त्वस्य पराङ्मुखस्य भर्ता पोष्टा परावृत्तः पराङ्मुखः सचासौ हतश्चे-
तितस्य परावृत्तहतस्य परलोकार्थमुपार्जितं सुकृतमुपादत्तइत्यन्वयः ॥ ९५ ॥

रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून्स्त्रियः ॥ सर्वद्रव्याणि कुप्यं च योयज्जयति तस्य तत् ॥ ९६ ॥

(१) मेधातिथिः । कुप्यं शयनासने ताग्रभाजनादियोयज्जयति तस्य तद्राज्ञः स्वामित्वाद्ग्रहणे प्राप्ते तदपवादार्थमे-
तत् । सुवर्णरूप्यभूष्यावासकादि राज्ञेव एवमर्थपरिगणनम् विनायुधोवाहनादि राज्ञेव धान्यादीनां पृथग्गुपादानाद्धनश-
ब्देन गोमहिष्यादिकमुच्यते । तथा चहीनाधनं प्राप्य तद्धनं ममार्थमिति प्रयुञ्जते ॥ ९६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धनं रत्नादि । सर्वद्रव्याणि वस्त्रादीनि । कुप्यं हेमरूप्यान्यधातुद्रव्यम् ॥ ९६ ॥

(३) कुल्लूकः । राज्ञः स्वामिनः सर्वधनग्रहणे प्राप्ते तदपवादार्थमाह । रथाश्वहस्तिछत्रवस्त्रादि धनधान्यगवादि
दास्यादिस्त्रियः सर्वाणि द्रव्याणि गुडलवणादीनि । कुप्यं च सुवर्णरजतव्यतिरिक्तं ताम्रादिधनम् यः पृथग्जित्वा सततं गृहमा-
नयति तस्यैव तद्भवति सुवर्णरजतभूमिरत्नाद्यनपकृष्टधनं तु राज्ञेव समर्पणीयं एतदर्थमेवात्र परिगणनीयम् ॥ ९६ ॥

(४) राघवानन्दः । अरिधनस्य ग्रहीतारमाह रथाश्वमिति । दन्तिनं कुप्यं सुवर्णरजतं भूमिरत्नाद्यतिरिक्तं शयना-
सनादि ॥ ९६ ॥

(५) नन्दनः । योर्धैर्जितं द्रव्यं न राज्ञा हाय्यमित्यभिप्रायेणाह रथाश्वमिति । स्वर्णरजतव्यतिरिक्तद्रव्यं कुप्य-
म् ॥ ९६ ॥

(६) रामचन्द्रः । रथादिकं योयज्जयति तस्य तत्सर्वमेवेत् । च पुनः कुप्यं सुवर्णरौप्यव्यतिरिक्तं धातुसंज्ञम्
॥ ९६ ॥

राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकीश्रुतिः ॥ राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥ ९७ ॥

[श्रुत्येभ्यो विभजेदर्थान्नैकः सर्वहरो भवेत् । नाममात्रेण तुष्येत छत्रेण च महीपतिः ॥ १ ॥]*

(१) मेधातिथिः । येन यजितं तेन तद्गृहीतव्यमित्यस्यायं विशेष उच्यते । स्वयमुद्धारं राज्ञे दद्युरुत्तमद्रव्यमुद्धृत्य दद्युरित्यर्थः । न सर्वतैर्गृहीतव्यमित्येषा वैदिकीश्रुतिः इन्द्रो वै वृत्रं हत्वेत्याद्युपक्रम्य समहान् भूत्वा देवता अभ्रवी दुद्धारं मुद्धरतेति । राज्ञा वापृथग्भूयस्वयमूहनीयमत्रार्थविभागो नास्त्यनेनायं ग्रामोजितेषां वापरकीयसामन्तादिः सर्वेण सर्वउत्खातमूलः सकृत्कृतस्तत्र राज्ञा लब्धप्रशमनं न्यायेन श्रुत्याः संविभजनीयाः ॥ ९७ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । उद्धारं तन्मध्ये यदिष्टं वस्तु राज्ञस्तदुद्धृत्य दद्युः । तथा च श्रुतिः इन्द्रो वै वृत्रं हत्वेत्याद्युपक्रम्य समहान् भूत्वा देवता अभ्रवी दुद्धारं मुद्धरतेति यथाप्येतर्हीच्छतीति । पृथक्कृतं यैर्यौ धौर्मिलित्वा जितं तेभ्यो दद्यात् ॥ ९७ ॥

(३) कुह्लूकः । अतएवाह । राज्ञ इत्यादि उद्धारं योद्धारो राज्ञे दद्युः । उद्धृत्य तदुद्धारः । जितघनादुत्कृष्टधनं सुवर्णरजतकुम्पादि राज्ञे समर्पणीयं करितुरगादिवाहनमपि राज्ञे देयं वाहनं च राज्ञ उद्धारं चेति गौतमवचनात् । उद्धारदाने च श्रुतिः इन्द्रो वै वृत्रं हत्वेत्याद्युपक्रम्य समहान् भूत्वा देवता अभ्रवीत् उद्धारं समुद्धरतेति । राज्ञा चापृथग्जितं सहजितं सर्वयोधेभ्यो यथापौरुषं संविभजनीयम् ॥ ९७ ॥

(४) राघवानन्दः । उद्धारं सुवर्णरजतभूम्याद्युत्कृष्टं करितुरगवाहनमपीति गौतमवचनात् । तच्छ्रेष्ठमपि अपृथग्जितं सहजितं दातव्यं यथापौरुषं विभजनीयम् ॥ ९७ ॥

(५) नन्दनः । दद्युर्योधाः । उद्धारमुत्कृष्टद्रव्यं उद्धारं वा वैदिकीश्रुतिः शब्दः । अपृथक्कृतं सर्वयोधैः सह जितम् ॥ ९७ ॥

(६) रामचन्द्रः । तन्मध्ये रथाश्वादिमध्ये उद्धारं यदिष्टं वस्तु तदुद्धृतं राज्ञो दद्युरिति ॥ ९७ ॥

एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो यो धर्मः सनातनः ॥ अस्माद्धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियोऽप्यनृणो रिपून् ॥ ९८ ॥

(१) मेधातिथिः । उपसंहारोऽयं यो धर्मोऽयं उद्धारस्तेषां धर्मो यो धर्मः । अनुपस्कृतः अगर्हितः अविगतो वा अतएवाह सनातनः स्वेच्छया प्रवर्तितो विरुद्धः स्यात् । न च्यवेत सर्वदानुतिष्ठेत् । क्षत्रियग्रहणं मुख्यस्तस्यान्नाधिकार इति दर्शयितुं न त्वन्यस्य तत्स्थानापन्नस्य नायं धर्म इति ॥ ९८ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अनुपस्कृतोऽधुनाऽसंस्कृतः परंपरागतः इदानीमपि तदवस्थ एव वर्तमानः ॥ ९८ ॥

(३) कुह्लूकः । अविगर्हित एषोऽनादिसर्गप्रवाहसंभवतया नित्यो यो धर्म उक्तः । युद्धेऽनुगृह्णन् क्षत्रिय एतं धर्मं त्यजेत् । युद्धाधिकारित्वात् क्षत्रियग्रहणं अन्योऽपि तत्स्थानपतितो न त्यजेत् ॥ ९८ ॥

(४) राघवानन्दः । अनुपस्कृतः अविगर्हितः । यो धर्मः कर्तव्याकर्तव्यविचारः । तस्माद्दृष्टलोभादपि न च्यवेत न पराङ्मुखः स्यात् । धनरिपून्नाशयन् ॥ ९८ ॥

(५) नन्दनः । एषोऽनुपस्कृतः अकृतप्रयत्नः स्वभावसिद्ध इत्यर्थः ॥ ९८ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनुपस्कृतः अधुनाऽसंस्कृतः परंपरागतो धर्मः इदानीमपि तदवस्थ एव ॥ ९८ ॥

अलब्धंचैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्यतः ॥ रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥ ९९ ॥

(१) मेधातिथिः । न क्षत्रियः संतुष्टः स्याद्ब्राह्मणवत्किन्त्वलब्धार्जनेयत्नं कुर्यात् । अर्जितं च धनं रक्षेद्रक्षितं च वर्धयेत्कोशसंचयं कुर्यात् ततः पात्रेभ्यो दद्यात् नायथार्थव्ययं कुर्यात् । तदुक्तं कुर्यादल्पतरव्ययमिति ॥ ९९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अलब्धं ग्रहणार्थम् ॥ ९९ ॥

(३) कुल्लूकः । अर्जितं भूमिहिरण्यादिजेतुमिच्छेत् जितं प्रयत्नतोरक्षेत् रक्षितं च वाणिज्यादिना वर्द्धयेत् वृद्धं च पात्रेभ्यो दद्यात् ॥ ९९ ॥

(४) राघवानन्दः । ननु राज्ञः परिपूर्णधनत्वात्किमित्यायोधनोद्धारं गृह्णात्यत आह अलब्धमिति । लिप्सेत जयकरादिना । वर्धयेत्त्राह्यादिना । एतदर्थमेव क्षीणवृत्तिर्वणिग्रक्षितः । पात्रेषु ब्राह्मणेषु निक्षिपेत् दद्यात् ॥ ९९ ॥

एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम् ॥ अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः ॥ १०० ॥

(१) मेधातिथिः । पुरुषस्य येऽर्थास्तेषां प्रयोजनं चतुर्विधम् ॥ १०० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चतुर्विधमलब्धलाभादि । पुरुषार्थो धर्मादिः प्रयोजनं यस्य तत्तथा ॥ १०० ॥

(३) कुल्लूकः । एतच्चतुः प्रकारं पुरुषार्थैः स्वर्गादिस्तत्प्रयोजनं यस्मादेवं रूपं जानीयादतीऽनलसः सन्सर्वदाऽनुष्ठानं कुर्यात् ॥ १०० ॥

(४) राघवानन्दः । किंच एतदिति । एतदलब्धलिप्सादि चतुष्टयं पुरुषार्थचतुष्टयप्रयोजनार्थम् । अतस्तत्संपादयेत् ॥ १०० ॥

(५) नन्दनः । अस्य चतुष्टयस्य ॥ १०० ॥

(६) रामचन्द्रः । पुरुषार्थो धर्मादिः प्रयोजनं यस्य तत्पुरुषार्थप्रयोजनं एतदलब्धमित्यादि चतुर्विधं विद्यात् । अस्य पुरुषार्थस्य अनुष्ठानं विधानं अतन्द्रितः सन् सम्यग्यथा स्यात्तथा कुर्यात् ॥ १०० ॥

अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ॥ रक्षितं वर्धयेद्वृद्धा वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥ १०१ ॥

(१) मेधातिथिः । पुरुषस्य येऽर्थास्तेषां प्रयोजनं चतुर्विधम् । चतस्र एताः क्रियास्तत्र प्रयोज्या अर्जनं वर्धनं रक्षणं दानानि । उपकारवचनोऽर्थशब्दः पुरुषार्थसिद्ध्यर्थमेतत्प्रयोजनं तस्य चतुर्विधस्य प्रसक्तस्य नित्यमनुष्ठानं कुर्यात् ॥ १०१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इच्छेद्दण्डेन ग्रहीतुं शत्रुतः वैश्यादेस्तुकुटुम्बिनः साम्रैव ॥ १०१ ॥

(३) कुल्लूकः । अलब्धं यदस्त्यश्वरथपादातात्मकेन दण्डेन जेतुमिच्छेत् जितं च प्रत्यवेक्षणेन रक्षेत् रक्षितं च वृद्धयुपायेन स्थलजलपथवाणिज्यादिना वर्द्धयेत् वृद्धं शास्त्रीयविभागेन पात्रेभ्यो दद्यात् ॥ १०१ ॥

(४) राघवानन्दः । केन किंसंपादयामीत्यपेक्षां पूरयति अलब्धमित्यादेः । साधनचतुष्टयं विधत्ते अलब्धमिच्छेदिति । दण्डेनेति शुल्कादेरुपलक्षणम् । वृद्ध्या वाणिज्यादिना । दद्यान्निक्षेपयेदुत्तरकाले प्राप्ते ॥ १०१ ॥

(९९) चैव=नित्यं (त, थ)

=वृद्ध्या (ट)

=नीत्या (ठ, ड)

(१०१) वृद्ध्या=युक्त्या (ड)

(५) नन्दनः । दण्डेन सैन्येन । अपेक्षयानुसन्धानेन ॥ १०१ ॥

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः ॥ नित्यं संवृतसंवार्यो नित्यं छिद्रानुसारी ॥ १०२ ॥

(१) मेधातिथिः । उद्यतोदण्डो नेनेत्युद्यतदण्डः उद्यतउद्युक्तः सव्यापारइति यावत् । तत्र हस्त्यादिबलं नित्ययोग्याभिविनयेन शिक्षा वाहनदमनादिभिर्विधेया करणयोग्या अभ्यासाश्च तद्वाहनादिषु वस्त्राभरणसंस्कारइत्यादिरुद्यतदण्डता तथा कुर्वतोस्योत्साहशक्तियोगो मण्डले प्रकाशी भवति । तथा नित्यं विवृतपौरुषः विवृतं प्रकाशतामागतं यत्कर्तव्यम् । सन्धिपालाटवीस्थानादिष्वामपुरुषैरधिष्ठिताः सन्निरुद्धाः कवचिनः सततं जागरणार्थं नियोज्याः । नित्यं संवृतसंवर्तः संवरणीयं संगोपनीयमात्मगतं कृत्वा तत्स्थानं संवृतं कर्तव्यमुपग्रहेण परोपजापाकरणेन च नित्यं छिद्रानुसरणेन सर्वशत्रोः कृत्यपक्षं ज्ञात्वा झटितितदुपजयः ॥ १०२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उद्यतदण्डो विपरीताचारेषु । विधृतमत्यक्तं पौरुषं पुरुषकारोयेन सतथा । संवृतं निन्दुतं संचारकार्यं यस्य ॥ १०२ ॥

(३) कुल्लूकः । नित्यं हस्त्यश्वादिद्युद्धादिशिक्षाभ्यासोदण्डो यस्य सतथा स्यात् नित्यं च प्रकाशीकृतमस्त्रविद्यादिना पौरुषं यस्य सतथा स्यात् नित्यं संवृतं संवरणीयं मन्त्राचारचेष्टादिकं यस्य सतथा स्यात् नित्यं च शत्रोर्व्यसनादिरुपच्छिद्रानुसंधानं तत्परः स्यात् ॥ १०२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच नित्यमिति । विवृतपौरुषः विवृतं प्रकाशीकृतं योधादिष्वस्त्रविद्यादिप्रकाशरूपं पौरुषं येन सः । संवृतसंवार्यः संवृतः संवरणीयः दूतादिर्मन्त्रश्च यस्य सः । न केवलमेवं परच्छिद्रानुसरणमप्यवश्यं कर्तव्यमस्तीत्याह नित्यमिति । अरेश्छिद्रानुसारी स्यादिति ॥ १०२ ॥

(५) नन्दनः । धर्मान्तरमाह नित्यमिति । उद्यतदण्डः स्यात् कृतापराधदमनोद्यतः स्यात् । संवृतसञ्चारः अच्छिद्रकार्यव्यापारः ॥ १०२ ॥

(६) रामचन्द्रः । नित्यं संवृतसन्धानः अरेः छिद्रानुसारी छिद्रान्वेषी स्यात् ॥ १०२ ॥

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत् ॥ तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥ १०३ ॥

(१) मेधातिथिः । अनन्तरस्य फलं सर्वजगदुद्विजते विभेति प्रतापख्यातिर्भवति । तस्मात्सर्वाणि भूतानि स्वप्रकृतीः परांश्च दण्डेनैव प्रसाधयेत् । एवं यत्नवतो भीताः शत्रवो न मन्त्ययत्नेनैव ॥ १०३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सर्वाणि भूतानि स्वकर्तव्येऽनवस्थितानि ॥ १०३ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मान्नित्योद्यतदण्डस्य जगदुद्विजेदिति तस्मात्सर्वप्राणिनो दण्डेनैवात्मसात्कुर्यात् ॥ १०३ ॥

(४) राघवानन्दः । समुद्यतदण्डस्य प्रत्यक्षफलमाह नित्यमिति । उद्विग्नसज्जगदस्वातन्त्र्यान्नानिष्ठाय समर्थमिति नित्यदण्डः प्रशस्तइति भावः ॥ १०३ ॥

अमाययैव वर्तेत न कथंचन मायया ॥ बुद्ध्येतारिप्रयुक्तांच मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥ १०४ ॥

(१) मेधातिथिः । मायाछद्म तेन न वर्तेत न च परप्रकृतीरज्ञातरूपा उपजयेत् । अरिणा प्रयुक्तांच मायां यथावद्बुद्ध्येत बुद्ध्या कृत्वोपजापंकुर्यात् तत्र कृत्यपक्षश्चतुर्विधः क्रुद्धलुब्धभीतावमानितैः । तत्र येन तत्तं शल्यं किंचिदुपकारो वा दर्श-

तःसविप्रलभ्यतेप्रसादेन नियोज्यतेअवमन्यते वा तदर्थोपि तत्समानः शल्योपकारी कुध्यति नास्यात्मदीयं शल्यमुपकारो-
वोपयुज्यते तादृशाउपजापसहाभवन्ति । तथावाह्यभ्येनोपगृहीतः पश्चात्मानाधिकाराभ्यांभ्रष्टः प्रवासितबन्धुस्तद्वल्लभः
प्रसभमभिपूज्य स्वीकृतः सकुल्यैरन्तर्हितः सर्वस्वमाहारितस्तत्समानकर्मविद्योन्यः पूज्यते सोवधीर्यतइत्येवमादिकुद्धः
केनचित्कृतपैशुन्यंतत्समानदोषेभ्योदण्डिनः तंसर्वाधिकारस्थाः सहसोपपादितार्थइत्यादि लुब्धवर्गः । परिक्षीणः कदर्यो-
व्यसनबहुलइत्यादिभीतवर्गः । आत्मसंभावितः शत्रुपूजार्चनरतः तीक्ष्णसाहसिकोहोमेनासंतुष्टइत्येवमादिरवमानितवर्गः ।
एतत्परस्योपजपेत् आत्मनश्चरक्षेत् ॥ १०४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । माया वञ्चनेच्छा । सुसंवृतोरक्षितत्वच्छिद्रः ॥ १०४ ॥

(३) कुहूकः । मायया छद्मतयाऽमात्यादिषु न वर्त्तेत तथासति सर्वेषामविश्वसनीयः स्यात् । धर्मरक्षार्थयथात-
त्वेनैवव्यवहरेत् यत्नकृतात्मपक्षरक्षश्च शत्रुकृतांप्रकृतिभेदरूपांमायांचारद्वारेण जानीयात् ॥ १०४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच त्वप्रजात्वमायांविधत्ते अमाययैवेति । अरिप्रयुक्तं तत्कृतप्रकृतिभेदादिकाम् । सुसंवृ-
तोऽप्रकटद्रुतद्वारेणेत्यर्थः ॥ १०४ ॥

(५) नन्दनः । कथञ्चन आपद्यपीत्यर्थः । सुसंवृतःप्रच्छन्नोभूत्वा ॥ १०४ ॥

(६) रामचन्द्रः । सुसंवृतः आच्छादितः अरिप्रयुक्तांमायांबुध्येत ॥ १०४ ॥

नास्य छिद्रंपरोविद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु ॥ गूहेत्कूर्मइवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ १०५ ॥

[न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् । विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलादपि निकृन्तति॥१॥]*

(१) मेघानिधिः । एषएवार्थः पुनरुच्यते । तथायत्नातिशयंकुर्याद्यथापरस्यछिद्रमन्विच्छेदात्मनश्चरक्षेत् । यए-
वंक्रुद्धादिः कापटिकादिवीरपुरुषैर्ज्ञायते सएवात्मीयोनुनीयतइति कूर्मवदङ्गूहेद्रक्षेद्विवरमात्मनः परोपजापाच्छिद्ररक्षणं-
महाप्रयोजनमित्येतदनेनाह ॥ १०५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कूर्मोयथाङ्गानिशिरादीन्यन्तर्निवेश्य रक्षति तथाङ्गानि सप्त त्वाम्यादीनि गुप्तस्थापनेन
रक्षेत् । विवरं प्रहारावकाशम् ॥ १०५ ॥

(३) कुहूकः । तथा यत्नंकुर्याद्यथास्य प्रकृतिभेदादिछिद्रंशत्रुर्नजानाति शत्रोस्तु प्रकृतिभेदादिकंचारैर्जानीयात् ।
कूर्मोयथा मुखचरणादीन्यङ्गान्यात्मदेहे गोपायत्येवंराज्याङ्गान्यमात्यादीनि दानसंमानादिनाऽऽत्मसात्कुर्यात् देवाच्च प्रकृ-
तिभेदादिरूपे छिद्रे जाते यत्नतः प्रतीकारंकुर्यात् ॥ १०५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच नेति । परस्यारिः । कूर्मइवेति अयमर्थः । यथा कूर्मःकरचरणादिपरेभ्योरक्षंस्तद्वि-
वरमपि गोपायत्येवंराजामात्यादीन्दानमानाभ्यांरक्षन्परेभ्यःत्वच्छिद्रंरक्षेत् । अमात्यादयोहि विक्रियमाणाः त्वच्छिद्रंप्रकटये-
युःपरच्छिद्रंचगोपयेयुरिति ॥ १०५ ॥

(५) नन्दनः । अङ्गानि कर्म्मरम्भोपायः पुरुषद्रव्यसंपद्धिनिपातप्रतीकारदेशकालविभागकार्यसिद्धिश्चेति ।
रक्षेत् गूहेत् ॥ १०५ ॥

(६) रामचन्द्रः । आत्मनः छिद्रं हानिवृद्धिं परः शत्रुर्न विद्यात् । विवरं महारावकाशं रक्षेत् ॥ १०५ ॥

बकवच्चिन्तयेदर्थान्सिंहवच्च पराक्रमेत् ॥ वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥ १०६ ॥

(१) मेघातिथिः । यथाअप्सुदुर्गाश्रयमपि मत्स्यबलंस्वभावतस्तद्ग्रहणार्थंबकःपर्युदासनपरतया तद्ग्रहणोपायं ध्यानादियोगादासादयति एवमर्थचिन्ताऽभियोगातिशयेनसुदुष्पापाअप्यर्थाआसाद्यन्तइति मन्वानोनिर्वेदंगच्छेत् । यथा चशशोऽल्पकायत्वाच्छक्नोति निष्पतितुमुपरिसंधादपि तथाएकोप्यसहोयः सर्वतः समुत्थितःआसनप्रकोपोशक्तोवस्था-
तुंदुर्गेऽरिसंपातंकृत्वा तस्माद्विनिष्पतेद्गुणवतिसंश्रयार्थम् । यथा च वृकः पशुग्रहणाभियोगाच्छूलग्रमांसाद्यवलुम्पते एवंस्वर-
क्षः परइति मत्वा तद्ग्रहणाभियोगेनमोक्तव्योभविष्यति सकालोयत्र वृकवदवलुंष्यते । यथा सिंहोमहाकायानपि हस्त्या-
दीन्हन्ति पराक्रमोत्साहशक्तियोगात् एवमहदरिबलमिति नभेतव्यं अल्पप्राणेनापिकदाचिदुत्साहवतामहाप्राणोनिहन्यतइति
॥ १०६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बकवद्गुमप्रचारः कर्तव्यंचिन्तयेत् यथा सत्यक्तचेष्टोदुर्गस्थानामपि मत्स्यानामन्तरंपश्य-
ति । सिंहवच्छौर्यमात्रेण न मायया तदसंभवे वृकवत्परस्यान्तरंदष्ट्वा ऽवलुम्पेत गृह्णीयात् । व्याधवेष्टितोयथा शशः शैश्या-
दलक्षितगत्या बहिर्याति तथा शत्रुवेष्टितोप्यशक्तौ निःसरेत् ॥ १०६ ॥

(३) कुट्टुकः । यथा बकोजले मीनमतिचञ्चलस्वभावमपि मत्स्यग्रहणादेकतानान्तःकरणाश्रित्यत्येवरंहसि सु-
विहितरक्षस्यापि विपक्षस्य देशग्रहणादीनर्थान्श्चिन्तयेत् । यथा च सिंहः प्रबलमतिस्थूलमपि दन्तीबलंहन्तुमाक्रमत्येवमल्प-
बलोबलवतोपक्रान्तः संश्रयाद्युपायान्तरासंभवे सर्वशक्त्या शत्रुंहन्तुमाक्रमेत् । यथा च वृकः पालकृतरक्षणमपि पशुदैवा-
त्पालनवधानमासाद्यव्यापादयत्येवंदुर्गाद्यवस्थितमपि रिपुकथंचित्प्रमादमासाद्य व्यापादयेत् । यथा शशः वधोद्धुरविविध-
व्याधमध्यगतोपि कुटिलगतिरुत्सुक्य पलायतएवंस्वयमबलोबलवदरिपरिवृतोपि कथंचिदरिच्यामोहमाधाय गुणवत्पार्थिवा-
न्तरंसंश्रयितुमुपसर्पेत् ॥ १०६ ॥

(४) राघवानन्दः । राज्ञोवृत्त्यन्तरमाह बकवच्चेति । बकवदेकान्तवासित्वं तेन सयथा जलान्तर्गतमतिचपलमपि
मत्स्यंगृह्णाति तद्वद्विक्तः परराष्ट्रग्रहणंचिन्तयेत् । सिंहवत् शूरत्वप्रकटनं सयथाल्पदेहोपि करिणमादत्ते तद्वदल्पसैन्यो-
पि सामदानभेदेषूपायेषु क्षीणेषु विजयाय पराक्रमेत् । वृकवन्नित्यपशुग्रहणाभियोगात्परग्रहणोपायत्वं परतोऽप्रमादित्वं-
च । शशवद्वाधमध्यतः कुटिलगतिरित्याऽरिमध्यतःपलायनंच शिक्षेदित्यनुषज्यते ॥ १०६ ॥

(५) नन्दनः । एकाग्रत्वे बकेन सादृश्यम् । निर्भयत्वे सिंहेन । क्रूरत्वे वृकेण । क्षिप्रकारित्वे शशेन ॥ १०६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अर्थान् कार्याणि वृकवत्परस्यान्तरंदष्ट्वा अवलुम्पेत् गृह्णीयात् । च पुनः शशवद्विनिष्पतेत् श-
शोयथा अलक्षितगत्या बहिर्याति तथा शत्रुवेष्टितोऽलक्षितोनिःसरेत् ॥ १०६ ॥

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः ॥ तानानयेद्वशंसर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः ॥ १०७ ॥

(१) मेघातिथिः । ये परिपन्थिनः प्रतिपक्षतया वर्तन्ते ते वशमानेतव्याः नत्वानुकूल्येन ये वर्तन्तेतेऽपि सा-
मादिभिः पूर्वं प्रथमतएवदण्डेन ॥ १०७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उपक्रमैरुपायैः ॥ १०७ ॥

(३) कुहूकः । एवमुक्तप्रकारेण विजयप्रवृत्तस्य नृपतेर्येविजयविरोधिनो भवेयुस्तान्सर्वान्सामदानभेददण्डैरुपायैः वशमानयेत् ॥ १०७ ॥

(४) राघवानन्दः । राज्ञःसदैवारातिजयायेतिकर्तव्यतामाह एवमिति चतुर्भिः । परिपन्थिनः शत्रवः । उपक्रमैः उपसमीपंक्रम्यन्ते शत्रवोयैस्ते उपक्रमाः उपायास्तैरिति ॥ १०७ ॥

(५) नन्दनः । उपक्रमैरुपायैः ॥ १०७ ॥

यदि तेन न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः ॥ दण्डेनैव प्रसह्यैतांश्छिनकैर्वशमानयेत् ॥ १०८ ॥

(१) मेघातिथिः । सामादिभिरशक्यादण्डेन वशमानेतव्याइति यदुक्तंतदण्डेन प्रसह्य भूयः शनकैर्यावद्वशे दण्डोपक्रमस्तेन नसाहसिकतया ॥ १०८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रथमैस्त्रिभिः सामदानभेदैः । प्रसह्याभिभूय शनकैः क्रमेण यदि सामसाध्यता स्यादित्याशया ॥ १०८ ॥

(३) कुहूकः । ते च विजयविरोधिनोयद्याद्यैस्त्रिभिरुपायैर्न निवर्तन्ते तदा बलादेशोपमर्दादिना युद्धेन शनकैर्लघुगुरुदण्डक्रमेण दण्डेन वशी कुर्यात् ॥ १०८ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र चतुर्थदण्डस्यकालमाह यदीति । सामदानभेदैः प्रथमैः प्राथमिकैः । एतान्दण्डेन वशमानयेदित्यन्वयः । तत्र चतुर्णांदण्डादीनां साम्रा साधून्वशयति दण्डेनोग्रान् दानेन भिन्नान् लुब्धान्वा भेदेन संहतान् तैरसाध्यत्वे दण्डयेदिति तत्रापि शनैरन्यथा ते प्राणोद्यतानवशमेयुरिति भावः ॥ १०८ ॥

(५) नन्दनः । उपक्रमेषु क्रममाह यदितेत्यिति । ते परिपन्थिनस्तित्थेयुः । वशइतिविभक्तिविपरिणामः प्रथमैःसामदानप्रभेदैः अपिशब्देन दण्डस्य मुख्यत्वं सूचितम् ॥ १०८ ॥

(६) रामचन्द्रः । ते परिपन्थिनः प्रथमैः त्रिभिरुपायैर्वशे न तिष्ठेयुर्यदि तान्दण्डेनैव वशंप्रसह्यमानयेत् ॥ १०८ ॥

सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः ॥ सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ॥ १०९ ॥

(१) मेघातिथिः । वक्ष्यमाणानांसामादीनामुपायानांसामदण्डौनिगद्येते प्रशस्यतया सतिसाम्प्रिक्षिप्रकंपोनभवतिदण्डे तु सर्वसिद्धिः ॥ १०९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सामदण्डौ प्रशंसन्ति साम्नि धनादिक्षयाभावात् दण्डेच दैवाज्येकीर्तिर्भृत्यौस्वर्गइति ॥ १०९ ॥

(३) कुहूकः । चतुर्णामपि सामादीनामुपायानांमध्यात्सामदण्डावेव राष्ट्रवृद्धयर्थंपण्डिताः प्रशंसन्ति साम्नि प्रयासधनव्ययसैन्यक्षयादिदोषाभावात् दण्डे तु तत्सद्भावेऽपि कार्यसिद्ध्यतिशयात् ॥ १०९ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र च स्वराष्ट्रे सामदण्डौ परराष्ट्रे दानभेदौ तावेव प्रशस्तावित्याह सामादीनामिति ॥ १०९ ॥

(५) नन्दनः । शत्रुष्वेवायंक्रमोनराष्ट्रइत्याह । साधुषु सामप्रयोक्तव्यमसाधुषु दण्डंतेन राष्ट्राभिवृद्धिरित्यर्थः ॥ १०९ ॥

यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति ॥ तथा रक्षेन्पूराष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥ ११० ॥

(१) मेधातिथिः । येराजानमभिदुहन्ति तेषां येसुहृद्धान्धवाः संबन्धोपसर्पिणोवा न ते विनाशयितव्याः यदि न तत्कार्याभ्यन्तराः यएवदुष्टास्तएवनिग्राह्यान्तत्संबन्धिनइत्येतन्निर्दातृदृष्टान्तेन प्रतिपाद्यते । यथाधान्यकक्षयोःसहोत्पन्न-योरत्यन्तसहितयोरपि नैपुण्येन धान्यंरक्षति कक्षमुद्धरति । एवंस्वराष्ट्रेयावन्तस्तेषांसुहृदावपि तयोर्दोषवान्यः सएव निग्राह्यो न यः सुसङ्गतोपि अतःसाध्वसाधुविवेकेन साधवोरक्ष्याअसाधवोनिग्राह्याः ॥ ११० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निर्दाता तृणच्छेत्ता कक्षं तृणादि धान्यमध्यगतमुद्धरेदुत्पाटयेत् । राष्ट्रं स्वराष्ट्रं । परिपन्थिनश्चौरादीन् ॥ ११० ॥

(३) कुल्लूकः । यथा क्षेत्रे धान्यतृणादिकयोः सहोत्पन्नयोरपि धान्यानि लवनकर्ता रक्षति तृणादिकंचोद्धरत्येवंनृपतीराष्ट्रे दुष्टान्हन्यान्त्वदुष्टास्तदीयसहजान्भ्रातृनपि निर्दातृदृष्टान्तादवसीयते शिष्टसहितंच राष्ट्रंरक्षेत् ॥ ११० ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यत् यथेति । निर्दाता धान्यतृणाद्युत्पाटनकर्ता सयथा कक्षंतृणाद्युद्धरति धान्यंच रक्षत्येवं राजा दण्डादि कुर्वन्नपि प्रजारक्षेत् हन्यादेव परिपन्थिनोदस्यून् ॥ ११० ॥

(५) नन्दनः । अत्र दृष्टान्तमाह यथेति । निर्दाता भूमेः खण्डयिता कुदालादिभिः कृषीवलइतियावत् । परिपन्थिः नअसाधून् ॥ ११० ॥

(६) रामचन्द्रः । यथा निर्दाता क्षेत्रप्ररूढधान्यमध्यस्थिततृणोद्धर्ता तृणमुद्धरति धान्यंरक्षति तथा नृपोराष्ट्रंरक्षेत् परिपन्थिनः चौरान् हन्यात् ॥ ११० ॥

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया ॥ सोऽचिराद्भ्रूयते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥ १११ ॥

(१) मेधातिथिः । यस्तु राजा पूर्वोक्तविवेकमरुत्वा मोहेनानवेक्षया स्वराष्ट्रंकर्षयतिस दण्डैः सह अश्रयत्यचिराद्भ्रूयत्यजनपदानुरागेण प्रकृतिकोपेन जीविताच्च साहसिकैरेकाकिभिरपि जीवितनिरपेक्षैर्हन्यते ॥ १११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कर्षयति चौराद्युपघातैः क्षीणं करोति ॥ १११ ॥

(३) कुल्लूकः । योराजाऽनवेक्षया दुष्टशिष्टाङ्गानेन सर्वानेव स्वराष्ट्रीयजनान् शास्त्रीयधनग्रहणमारणादिकष्टेन पीडयति सशीघ्रमेव जनपदवैराख्यप्रकृतिकोपाधमैर्राजा राज्याज्जीविताच्च पुत्रादिसहितोअश्रयते ॥ १११ ॥

(४) राघवानन्दः । दण्डे क्रियमाणेपि राज्यंयथा न नश्यति तथा वर्तितव्यमन्यथा सदृष्टान्तंदोषमाह मोहादितिद्वाभ्याम् । कर्षयति लोभेनाधिकदण्डादिना पीडयति ततोऽनवेक्षया शास्त्रमर्यादोलङ्घनेन नकेवलंराज्याद्भ्रूयते स्वयंअष्टौपितुजीवितादायुषः नंदयतीत्यध्याहार्यम् ॥ १११ ॥

(५) नन्दनः । विपर्ययेणार्थश्लोकद्वयेनाह मोहाद्राजेति ॥ १११ ॥

(६) रामचन्द्रः । राजा स्वराष्ट्रंस्वराज्यमनवेक्षयाऽविचारेण कर्षयति क्षीणं करोति सराज्याद्भ्रूयते सबान्धवोजीविताच्च अश्रयते ॥ १११ ॥

शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा ॥ तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥ ११२ ॥

(१) मेधातिथिः । स्वराष्ट्रेऽत्यन्तमवहितेनानुरागउत्पादनीयस्तद्धि शरीरस्थानीयं शरीरं कर्षितेऽपथ्यभोजनरुक्ष-भोजनादिभिर्यथा प्राणाउत्क्रामन्ति एवंराष्ट्रकर्षणादपि ॥ ११२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । राष्ट्रस्य स्वराष्ट्रस्य कर्षणात् ॥ ११२ ॥

(३) कुल्लूकः । यथा प्राणभृतामाहारनिरोधादिना शरीरशोषणात्प्राणाः क्षीयन्तएवंराज्ञामपि राष्ट्रपीडनात्प्रकृति-
कोपादिना प्राणाविनश्यन्ति तस्मात्त्वशरीरवद्राज्ञा राष्ट्ररक्षणीयमित्युक्तम् ॥ ११२ ॥

(४) राघवानन्दः । अन्नाद्यभावेन शरीरकर्षणेसति यथा प्राणाःक्षीयन्ते तथा राष्ट्रकर्षणाद्राजप्राणाःप्रजासंताप-
कोपाधेःक्षीणतामीयुर्विनश्यंतीति भावः ॥ ११२ ॥

राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् ॥ सुसंगृहीतराष्ट्रोहि पार्थिवः सुखमेधते ॥ ११३ ॥

(१) मेधातिथिः । संग्रहोरक्षतिधनं सुसंगृहीतरक्षाविधानेनवशीकृतंपरिपालितंवा येन त्वराष्ट्रसंपार्थिवः सुखमेध-
ते ॥ ११३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संग्रहआत्मीयताकरणे ॥ ११३ ॥

(३) कुल्लूकः । राष्ट्रस्य रक्षणे च वक्ष्यमाणमिममुपायमनुतिष्ठेत् यस्मात्संरक्षितराष्ट्रोराजाऽनायासेन वर्द्धते
॥ ११३ ॥

(४) राघवानन्दः । अतोराज्यरक्षणे यत्नआस्थेयइत्याह राष्ट्रस्येति । राष्ट्रस्य त्वराष्ट्रस्य प्रतियोग्यनपेक्षाश्रवणा-
दिदमिति षड्विधवक्ष्यमाणम् । सुसंगृहीतः ग्रामाध्यक्षादिना राष्ट्रोयस्यसः ॥ ११३ ॥

(५) नन्दनः । यस्मादेवंतस्माद्राष्ट्रस्येति संग्रहे संरक्षणे । इदंवक्ष्यमाणम् ॥ ११३ ॥

(६) रामचन्द्रः । राष्ट्रस्य ग्रहे त्वायत्ती करणे आत्मवशीकरणे ॥ ११३ ॥

द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम् ॥ तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥ ११४ ॥

(१) मेधातिथिः । द्वयोर्ग्रामयोर्मध्ये गुल्मंकुर्यात् । गुल्मोरक्षितृपुरुषसमूहस्तेनैवाधिष्ठितंसंग्रहंकुर्यात् । तद्युक्तमधि-
ष्ठितारंपुरुषंकुर्यात् । अधिकारिसंग्रहइहोच्यते एवंत्रयाणांपञ्चानांच । अथवा राजभाव्यार्थग्रहणस्थानंसंग्रहः ॥ ११४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । द्वयोर्ग्रामयोरेकं अपरंत्रयाणां अन्यत्पञ्चानांग्रामाणां अन्यद्ग्रामशतस्येति पूर्वपूर्वमुत्तरो-
त्तराशक्ये रक्ष्यस्य स्थानस्य रक्षकंगुल्मं स्तेनादिरक्षार्थस्थापितं पदात्याद्यधिष्ठितमिति तदपि केनचिदधिष्ठितकार्य-
मित्यर्थः । ग्रामशतानामिति शतस्य पञ्चशतस्य सहस्रस्य चेति बहुवचनार्थः । एवंराष्ट्रस्य संग्रहंकुर्यादित्युपसंहारः
॥ ११४ ॥

(३) कुल्लूकः । द्वयोर्ग्रामयोर्मध्ये त्रयाणांवा ग्रामाणांपञ्चानांवा ग्रामशतानांगुल्मंरक्षितृपुरुषसमूहंसत्यप्रधानपुरुषा-
धिष्ठितंराष्ट्रस्य संग्रहंरक्षास्थानंकुर्यात् । अस्य लाघवगौरवापेक्षश्चोक्तविकल्पः ॥ ११४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच द्वयोरिति । ग्रामयोर्ग्रामाणांवा मध्येगुल्मं रक्षितृपुरुषसमूहमध्ये प्रधानपुरुषैरधिष्ठितं
राष्ट्रस्यसंग्रहं रक्षास्थानं कुर्यादित्यन्वयः । द्वयोरित्यादि दस्युलाघवगौरवापेक्षया विकल्पः । तत्फलंदस्युनिग्रहः
॥ ११४ ॥

(५) नन्दनः । द्वयोर्ग्रामयोस्त्रयाणांपञ्चानांच ग्रामाणांग्रामशतानांमध्ये राष्ट्रगुप्तये कुर्यात् । व्यूढसैन्यंगुल्म-
म् ॥ ११४ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्वयोःत्रयाणां पञ्चानां मध्येगुल्ममधिष्ठितं रक्षकं त्वस्थानानाम् । एवंराष्ट्रस्यसंग्रहंकुर्यात्
॥ ११४ ॥

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा ॥ विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥ ११५ ॥

(१) मेधातिथिः । एकैकस्मिन्ग्रामेऽधिपतिकुर्यात् । तदुपरिदशग्रामपतिम् । एवंसर्वत्र ॥ ११५ ॥

(२) । सर्वज्ञनारायणः । ग्रामस्याधिपतिकरग्रहाद्यर्थम् ॥ ११५ ॥

(३) कुल्लूकः । एकग्रामदशग्रामाद्यधिपतीन्कुर्यात् ॥ ११५ ॥

(४) राघवानन्दः । ग्रामादीनांगुणदोषज्ञानप्रकारमाह ग्रामस्येतित्रिभिः । विंशतीशं ग्रामाणांविंशतेरीशमीश्वरम् । एवमुत्तरत्र ॥ ११५ ॥

(५) नन्दनः । विंशतीशंविंशतिग्रामेशं । एवमुत्तरत्रापि ॥ ११५ ॥

(६) रामचन्द्रः । ग्रामाध्यक्षानाह ग्रामस्येति । एकंकरार्थंग्रामाधिपंकुर्यात् । शतेशं शतानां ईशःशतेशःतं शतग्रामाधिपंकुर्यात् । तथासहस्राधिपतिम् ॥ ११५ ॥

ग्रामदोषान्समुत्पन्नान्ग्रामिकः शनकैः स्वयम् ॥ शंसेद्ग्रामदशेशाय दशेशोविंशतीशिने ॥ ११६ ॥

(१) मेधातिथिः । येग्रामदोषाएकग्रामाधिकृतेननशक्यन्ते समाधातुंतान्दशेशाय निवेदयेत् एवमशक्तौयावत्सहस्रपतिर्विज्ञाप्यः ॥ ११६ ॥ ॥ ११७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दोषान् तद्ग्रामीयजनविद्रवादीन् । अत्र विंशतीशमित्यादि यावति रक्षिते ग्रामाणां रक्षा भवति तच्चात्रपरम् । विंशतिग्रामानीशितुंशीलमस्य विंशतीशी ॥ ११६ ॥

(३) कुल्लूकः । ग्रामाधिपतिश्चौरादिदोषान्ग्रामे संजातानात्मना प्रतिकर्तुमक्षमोऽनुत्कृष्टतया स्वयंदशग्रामाधिपतये कथयेत् एवंदशग्रामपतयोर्विंशतिग्रामस्वाम्यादिभ्यः कथयेयुः तथाचसतिसम्यक्चौरादिकण्टकोद्धारोभवति ॥ ११६ ॥ ॥ ११७ ॥

(४) राघवानन्दः । शनकैरित्यनेन हठात् । तेन स्वस्मिन्नपि दोषाशङ्का वारिता । स्वयमित्यनेनौद्धत्यंभेदकत्वंच निरस्तम् । तेन स्वयंगत्वा शंसेत्कथयेत् ग्रामदेशेशायेत्यन्वयः । एवमुत्तरत्र विंशतीशिने विंशतिग्रामाधिपतये ॥ ११६ ॥

(५) नन्दनः । ग्रामिकोग्रामाध्यक्षः । शनकैरत्वरया । यथातथ्यंनिरूप्य । स्वयंशंसेन् परमुखेन । दशेशाय दशग्रामेशाय विंशतिग्रामाणामीशितुंशीलमस्येति विंशतीशः ॥ ११६ ॥

(६) रामचन्द्रः । युग्मं ग्रामदोषानिति । ग्रामिकः एकग्रामाधिपः समुत्पन्नान् ग्रामदोषान् ग्रामदशेशाय शंसेत् । दशेशः दशग्रामाधिपः विंशतीशिने शंसेत् ॥ ११६ ॥

विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत् ॥ शंसेद्ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥ ११७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तत्सर्वं दोषजातम् ॥ ११७ ॥

(६) रामचन्द्रः । विंशतीशः शतेशाय निवेदयेत् । शतेशः सहस्रपतये शंसेत् ॥ ११७ ॥

यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः ॥ अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवामुयात् ॥ ११८ ॥

(१) मेधातिथिः । एकग्रामाधिकृतस्य वृत्तिरियम् । ग्रामिकोग्रामाधिकृतस्तान्यवामुयाद्ब्रूयात् वृत्त्यर्थंराज्ञेप्रदातव्यानिग्रामवासिभिः । अन्नादीनि तु धान्यादेःषष्ठाष्टमभागादिः यथावक्ष्यति धान्येऽष्टमंविशामित्यादि ॥ ११८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । राजप्रदेयानि एतावदत्र प्रत्यहं राजाधिकृतपुरुषाय भक्तार्थदेयमिति प्रागेव नियमितानि । आदिपदात्तैलादीनि । ग्रामीकोग्रामाधिपतिः ॥ ११८ ॥

(३) कुल्लूकः । एकग्रामाधिकृतस्य वृत्तिमाह यान्यन्नपानेन्धनादीनि ग्रामवासिभिः प्रत्यहराज्ञे देयानि न त्वब्दकरंधान्यानामष्टमोभागइत्यादिकंतानि ग्रामाधिपतिर्वृत्यर्थगृहीयात् ॥ ११८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच प्रजाभीराज्ञेदेयद्रव्यग्रहीतृनाह यानीतिद्वाभ्याम् । इन्धनंकाष्ठं पानंमध्वादि अवामुयात् । ग्रामिकएकग्रामाध्यक्षः । एकग्रामाध्यक्षस्येन्धनादीन्येव जीविका ॥ ११८ ॥

(५) नन्दनः । ग्रामाध्यक्षादीनांवृत्तनियमंश्लोकद्वेयनाह यानीति । अन्नपानेन्धनादिग्रहणेन पशुधान्यहिरण्यादीनांनिषेधः ॥ ११८ ॥

(६) रामचन्द्रः । ग्रामिकः एकग्रामिकः । यानि राजप्रदेयानि एतावदत्र राजपुरुषेण भोक्तव्यमिति प्रयोजनदर्शितानि ॥ ११८ ॥

दशी कुलं तुंभुजितं विंशी पञ्चकुलानि च ॥ ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्राधिपतिः पुरम् ॥ ११९ ॥

(१) मेधातिथिः । दशसुग्रामेष्वधिकृतोदशी एवंविंशी । छान्दसःशब्दसंस्कारः । कुलंग्रामैकदेशः । क्वचिद्धट्टइतिप्रसिद्धः क्वचिदुष्टइति । एतदेवपञ्चगुणंविंशतिग्रामेष्वधिकृतः सर्वग्रामशताध्यक्षः । पुरंनगरं सहस्रेशः स्थानकर्मानुरूपेण वृत्तिकल्पेतेत्येतत्सत्यम् ॥ ११९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवंग्रामाध्यक्षस्य भृतिमुक्त्वाऽन्येषामाह दशीति । दशग्रामाधिपोदशी । हलंतुद्विगुणंकुलमिति वचनाद्वाभ्यांहलाभ्यांया रुष्यते भूस्तांभुज्जीतेत्यर्थः । हलमानंच ॥ अष्टगवंधर्महलंषड्वंजीवितार्थिनाम् । चतुर्गवंगृहस्थानांद्विगवंब्रह्मघातिनामिति हारीतोक्तम् । धर्महलग्राहं गृहस्थहलंवा । विंशी विंशतिग्रामपः ॥ ११९ ॥

(३) कुल्लूकः । अष्टगवंधर्महलंषड्वंजीवितार्थिनाम् । चतुर्गवंगृहस्थानांत्रिगवंब्रह्मघातिनामिति हारीतस्मरणात् ॥ षड्वंमध्यमंहलमिति तथाविधहलद्वयेन यावतीभूमिर्वाहते तत्कुलमिति वदति तद्विशग्रामाधिपतिर्वृत्यर्थंभुज्जीत । एवंविशत्यधिपतिः पञ्चकुलानि शताधिपतिर्मध्यमंग्रामंसहस्राधिपतिर्मध्यमंपुरम् ॥ ११९ ॥

(४) राघवानन्दः । दशीत्यादेस्तामाह दशीति ॥ अष्टगवंधर्महलंषड्वंजीवितार्थिनाम् । चतुर्गवंगृहस्थानां द्विगवंतु गवाशिनामिति लघुहारीतवचनात्षड्वंमध्यमहलं तथाविधहलद्वयेन यावती भूःरुष्यते तत्कुलमिति परिभाषितं वृत्यर्थंदशग्रामाधिपस्तावतीभूमिगृहीयादित्यर्थः । ग्रामं मध्यमं । तत्र ग्रामोभृगुश्लोक्तः ॥ विप्राश्च विप्रभृत्याश्चयत्रचैव वसन्ति ते । सतु ग्रामइति श्लोक्तःशुद्राणांवासएव चेति । पुरं राजधानीयोग्यं प्राकारशिल्पिवणिग्जनहट्टादियुक्तम् । आकरः सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानम् । ब्रजः गवानिवासः । खेडः कर्कटिकाद्युत्पत्तिस्थलम् । वाटी पूगनारिकेलाद्युत्पत्तिस्थलम् । इति चतुष्टयं प्रासंगिकं व्याख्यातंचखेडइत्यत्रश्रीधरस्वामिना ॥ ११९ ॥

(५) नन्दनः । दशी दशग्रामाधिपतिः । कुलंगृहमेकरुषीवलभागमित्यर्थः । ग्रामंकुलशतयुक्तम् । यथाहकौटिल्यः कुलशतावरंपञ्चशतकुलवरंग्रामंनिवेशयेदिति ॥ ११९ ॥

(६) रामचन्द्रः । दशी दशग्रामाधिपतिः कुलंभुज्जीत हलंतु द्विगुणंकुलं द्वाभ्यांहलाभ्यांरुष्यते याभूस्तां । भुज्जीतेत्यर्थः । विंशी पंचकुलानि दशहलरुष्यक्षेत्राणिभुज्जीत ॥ ११९ ॥

तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि ॥ राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्ये
दतन्द्रितः ॥ १२० ॥

(१) मेधातिथिः । तेषांग्रामकार्येष्वितरेतरं विप्रतिपत्तिः । अन्यः स्वकार्येऽन्यः सचिवो महत्तमः स्निग्धो रागद्वेषवर्जितो दर्शनाय नियोक्तव्यः ॥ १२० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ग्राम्याणि ग्रामसंबन्धीनि कृत्यानि संकरादिविषयाणि । पृथक्कार्याण्यन्योन्यकलहादीनि ॥ १२० ॥

(३) कुल्लूकः । तेषांग्रामनिवासिप्रभृतीनां परस्परविप्रतिपत्तौ यानि ग्रामभवानि कार्याणि कृताकृतानि च पृथक्कार्याणि तान्यन्यो राज्ञो हितकृत्तन्वियुक्तोऽनलसः कुर्वीत ॥ १२० ॥

(४) राघवानन्दः । एषामेकग्रामाधिपप्रभृतीनामन्योन्यविप्रतिपत्तौ ग्राम्याणि ग्रामभवानि कार्यकार्याणि पृथक्कार्याणि च कृताकृतादीनि अन्यउक्तेभ्यः स्निग्धः पार्थिवइतिशेषः । यथा राज्ञः पापं जायते तथा हितैषी अतन्द्रितः राजभीतेः पश्येदित्यन्वयः ॥ १२० ॥

(५) नन्दनः । तेषांग्रामाध्यक्षादीनां । ग्राम्याणि ग्रामसंबन्धीनि सेतुबन्धनादीनि ॥ १२० ॥

(६) रामचन्द्रः । कार्याणि प्रकृतान्यन्योन्यकलहादीनि ॥ १२० ॥

नगरेनगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम् ॥ उच्चैःस्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥ १२१ ॥

(१) मेधातिथिः । उच्चैःस्थानं प्रधानभूतमित्यर्थः । घोररूपं प्रतापवन्तं । नक्षत्राणामिव ग्रहं अंगारकं हस्त्यश्वादिबलसंपन्नम् ॥ १२१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उच्चैःस्थानं तेभ्योधिकंगृहपरिच्छदसंमानादिकम् । घोररूपं दण्डप्रणयनशक्तवेषधरम् । ग्रहं सोमम् ॥ १२१ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रतिनगरमेकैकमुच्चैःस्थानं कुलादिना महान्तं प्रधानरूपं घोररूपं हस्त्यश्वादिसामग्र्या भयजनकं नक्षत्रादिमध्ये भार्गवादिग्रहमिव तेजस्विनं कार्यद्रष्टारं नगराधिपतिकुर्यात् ॥ १२१ ॥

(४) राघवानन्दः । नैतावता राज्ञः कृतकृत्यतेत्याह नगरइतिद्विभ्याम् । सर्वार्थचिन्तकं हस्त्यश्वप्रजानुवृत्तादिचिन्तनानियुक्तम् । उच्चैःस्थानं प्रधानभूतं ग्रहं शुक्राङ्गाररूपम् । दण्डादावरुपालुत्वार्थमाह घोररूपम् ॥ १२१ ॥

(५) नन्दनः । सर्वार्थचिन्तकं सर्वकार्यनिर्णायकं । उच्चैःस्थानं महाप्रभावम् । घोररूपमैश्वर्यातिशयेन दुर्धर्षम् ॥ १२१ ॥

(६) रामचन्द्रः । नगरे नगरे एकंपुरुषं सर्वार्थसाधकं सर्वकार्यकर्तारम् । उच्चैःस्थानं उच्चस्थानस्थितमित्यर्थः । घोररूपं दण्डप्रणयनयोग्यवेषधरम् । नक्षत्राणां ग्रहमिव प्रकाशमानम् ॥ १२१ ॥

सताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम् ॥ तेषां दत्तं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥ १२२ ॥

(१) मेधातिथिः । सनगराधिकृतस्तान्सर्वानपि पतीननुपरिक्रामत्सबलेन पूरयेत्सतिप्रयोजने तेषांसर्वेषामधिपतीनां तद्वत्सम्यक्परिणयेत् सम्यग्रूपतया परिजानीयात् कैराजचरैः कार्पटिकादिभिः ॥ १२२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनुपरिक्रामेदनुसंध्यात् । वृत्तिं चेष्टाम् । परिणयेत् प्रापयेत् राजसमीपं तच्चरैर्नृपचारैः ॥ १२२ ॥

(३) कुल्लूकः । सनगराधिकृतस्तान्सर्वान्ग्रामाधिपत्यादीनसति प्रयोजने सर्वदा स्वयंसत्रलेनानुगच्छेत्तेषां च नगराधिकृतपर्यंतानां सर्वेषामेव यद्वाष्ट्रे स्वचेष्टितं तत्तद्विषयनियुक्तैश्चरैः सम्यक्प्रजाः परिणयेदवगच्छेत् ॥ १२२ ॥

(४) राघवानन्दः । सतादृशः तान् ग्रामेशादिसहस्राध्यक्षान्तान् अनुक्रामेदहर्निशंसंचरेत् संचरंस्तेषांवृत्तं चेष्टां परिणयेत् जानीयात् । तच्चरैः तत्रतत्र नगरेषु बहुकालवासिभिः । तैर्हि तत्रत्यानां भद्राभद्रं ज्ञायते ॥ १२२ ॥

(५) नन्दनः । नगरे नियुक्तस्तान्ग्रामाध्यक्षादीन् । अनुपरिक्रामेत् अनुसंध्यात् । तेषां ग्रामाध्यक्षादीनाम् । तच्चरैः तत्रत्यचरैः । परिणयेत् परीक्षेत् ॥ १२२ ॥

(६) रामचन्द्रः । सः तान्सर्वान् ग्रामनिवासिनः अनुपरिक्रामेत् अनुसंध्यात् सर्वोपरि तिष्ठेदित्यर्थः । तेषां ग्रामनिवासिनांवृत्तं तच्चेष्टां तच्चरैः ग्रामचरैः नृपचरैर्वा ॥ १२२ ॥

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः ॥ भृत्या भवंति प्रायेण तेभ्योरक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १२३ ॥

(१) मेधातिथिः । परस्वमादातुंशील्येषां ते परस्वादायिनः शठाः सम्यक्कारिणः प्रायेणाधिकृताः सन्तो भवन्ति । प्राक्शुचयोपि रक्षन्ति वित्तानि अतः प्राक्शुचित्वानुमाने नोपेक्षणीयाः यत्नतः प्रतिजागरितव्यास्तेभ्योरक्षेदिमाः प्रजाः । न केवलं राजार्थनाशः अनवेक्षयायावत्प्रजा अपि निर्द्धनीकुर्वन्ति ॥ १२३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । राज्ञो भृत्या इत्यन्वयः ॥ १२३ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्माद्ये राज्ञोरक्षाधिकृतास्ते बाहुल्येन परस्वग्रहणशीलावश्चकाश्च भवन्ति तस्मान्तेभ्य इमाः स्वात्मीयाः प्रजाराजा रक्षेत् ॥ १२३ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्किमर्थं तत्राह राज्ञ इति । रक्षाधिकृतारक्षार्थमधिकृताः ग्रामाध्यक्षादयो भृत्या अपि परस्वादायिनः परस्य स्वत्वे विद्यमानेभ्योऽदायिनः प्रायेण बाहुल्येन भवन्ति । तत्र हेतुः शठावश्चकाः । अतस्तेभ्यः इमाः बुद्धिस्थीभूताः सर्वनगराध्यक्षादिद्वारा रक्षेद्वाजेति भावः ॥ १२३ ॥

(५) नन्दनः । अत्र हेतुमाह राज्ञो हीति । रक्षेत् संगेरयुक्तः । श्लोकाविमौ राजविषयौ वा ॥ १२३ ॥

ये कार्याभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः ॥ तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् ॥ १२४ ॥

(१) मेधातिथिः । ये रक्षाधिकृताः कार्याभ्यो व्यवहर्तृभ्यो व्यापारवद्भ्यो वा हल्लेशोद्दिशिकया दण्डयन्ति जनपदांस्तेषां सर्वस्वहरणप्रवासने राजा कुर्यात् ॥ १२४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ये कार्याभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतस इति कार्यार्थिभ्यो वादिप्रभृतिभ्य उक्तो चरूपेणार्थमेव गृह्णीयुर्न राजकार्यकुर्युः ॥ १२४ ॥

(३) कुल्लूकः । ये रक्षाधिकृताः कार्यार्थिभ्य एव वाक्छलादिकमुद्भाव्य लोभादशास्त्रीयधनग्रहणं पापबुद्ध्यः कुर्वन्ति तेषां सर्वस्वराजा गृहीत्वा देशान्निःसारणं कुर्यात् ॥ १२४ ॥

(१२४) र्थमेव=र्थमेवं (घ, च, ण)

(१२४) ये कार्याभ्योऽर्थमेव=कारिकाभ्योऽर्थमादाययेक्युः कर्षमन्यथा (ल)

(४) राघवानन्दः । राज्ञःस्वकीयंकृत्यमाह यइति । कार्यभ्यः कार्यार्थभ्यः वादिप्रतिवादिभ्योव्यवहारिभ्योवा वाक्छलादिकमुद्गाव्यार्थमुत्कोचरूपंगृहीयुः । प्रवासनं देशान्निर्माणंकुर्यादित्यर्थः ॥ १२४ ॥

(५) नन्दनः । परस्वादाने तेषांदण्डमाह येकार्यिकेभ्यइति । कार्यिकाः कार्य्यवन्तः कार्यार्थिनइतियावत् ॥ १२४ ॥

(६) रामचन्द्रः । येभृत्याः कार्यभ्यः वादिप्रतिवादिभ्यः अर्थमेव प्रतिगृहीयुः । कीदृशाभृत्याः पापचेतसः लोभाक्रान्ताः । राजा तेषां प्रवासनं निष्काशनंकुर्यात् ॥ १२४ ॥

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च ॥ प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिं स्थानकर्मानुरूपतः ॥ १२५ ॥

(१) मेधातिथिः । युक्तानानियुक्तानांस्त्रीणामन्तःपुरदास्यादीनांप्रेष्यजनस्य दोलकवाहादेः प्रत्यहंवृत्तिकल्पयेन् सांवत्सरीयंसकृद्द्याह्नामंतदेकदेशंवा स्थानकर्मानुरूपतः स्थानप्रधानंनियोगः शय्यारक्षादि कर्म शरीरव्यापारस्तदनुरूपेण वृत्तिर्देया प्रधानेस्थानेस्वल्पेपि कर्मणि महतीवृत्तिर्निरुद्धे स्थाने महत्यपि कर्मणि स्वल्पे तदुभयानुरूपम् ॥ १२५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । राजकर्मसु राज्ञउपचारादिषु । स्थानमन्तर्बहिरपि कर्मोत्तममध्यमाधमं तदनुरूपेण ॥ १२५ ॥

(३) कुल्लूकः । राजोपयुक्तकर्मनियुक्तानांस्त्रीणांदास्यादीनांकर्मकरजनस्य चोत्कृष्टमध्यमापकृष्टस्थानयोग्यानु-
पेण प्रत्यहंकर्मानुरूपेण वृत्तिकुर्यात् ॥ १२५ ॥

(४) राघवानन्दः । राज्ञःकृत्यान्तरमाह राजेति । राजकर्मसु युक्तानां नियुक्तानां स्त्रीणां दास्यादीनां प्रेष्यजन-
स्य सेवकस्य । स्थानं त्वनिकटदूरादि कर्माल्पायासबव्हायाससाध्यं तदनुरूपतस्तदनुसारेण ॥ १२५ ॥

(५) नन्दनः । अधिकृतानां वृत्तिनियममाह राजाकर्मस्विति युक्तानामधिकारिणांप्रत्यहंकल्पयेन्प्रतिमासंप्रति-
वत्सरंवा ॥ १२५ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्थानं अन्तर्बहिः अनुरूपतः उत्तमाधममध्यमम् ॥ १२५ ॥

पणोदेयोऽवकृष्टस्य षड्कृष्टस्य वेतनम् ॥ पाण्मासिकस्तथाच्छादोधान्यद्रोणस्तु मासिकः ॥ १२६ ॥

(१) मेधातिथिः । अवकृष्टःसंमार्जनशोधनविनियुक्तस्तस्य भक्तार्थपणोदेयः । उत्कृष्टस्य षट्सु षट्सु मा-
सेषुगतेष्वाच्छादवस्त्रंधान्यद्रोणश्चमासिकः । चतुराढकोद्रोणः । पणपरिमाणंवक्ष्यति । वृत्तिकल्पनार्थाएते ॥ १२६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अर्थान्मध्यमस्य त्रयः । भक्तकं भृतिः । षट्सु मासेष्वाच्छादनं तत्राप्येकं त्रीणि षडिति
पणानुसारेण व्यवस्था । एवंद्रोणेप्येकस्त्रयःषडिति । मासिकोमासेमासेदेयः ॥ १२६ ॥

(३) कुल्लूकः । तामेवदर्शयतिपणइति । अवकृष्टस्य गृहादिसंमार्जकोदकवाहादेः कर्मकरस्य वक्ष्यमाणलक्षणः प-
णोभृतिरूपः प्रत्यहंदातव्यः पाण्मासिकश्चाच्छादोवस्त्रयुगंदातव्यम् ॥ अष्टमुष्टिर्भवेत्किंचित्किंचिदष्टौ च पुष्कलम् । पुष्क-
लानि तु चत्वारि आढकः परिकीर्तितः ॥ चतुराढकोभवेद्द्रोणइति गणनया धान्यद्रोणश्च प्रतिमासंदेयः । उत्कृष्टस्य तु भृ-
तिरूपाश्च षट्पणादेयाः अनयैव कल्पनया पाण्मासिकानि षट्पणयुगानि देयानि प्रतिमासंपाण्मास्याद्रोणादेयाः अनयै-
वातिदिशा मध्यमस्य पणत्रयंभृतिरूपंदातव्यं पाण्मासिकंच वस्त्रयुगत्रयंमासिकंच धान्यद्रोणत्रयंदेयम् ॥ १२६ ॥

(१२६) वेतनम्=भक्तकम् (क, ग, घ, च, ण)

(४) राघवानन्दः । स्वकर्मनियुक्तदास्यादीनां देयविभागमाह पणइति । अयमर्थः । अपरुष्टस्य गृहमार्जनादिकर्तुः प्रत्यहंपणः षण्मासिकं छादोद्वादशहस्तपरिमितं वस्त्रं प्रतिमासधान्यं द्रोणः । एवं षड्विंशति पणवस्त्रधान्यद्रोणादि उत्कृष्टस्य साक्षात्कर्मकुशलिनः । तथा मध्यमस्यापि त्रिगुणं तत्रितयं पणाधिक्यमात्रमन्यत्समानमिति वा । तत्र च ॥ अष्टमुष्टिर्भवेत्किंचिदुश्वरेष्टौ तु पुष्कलः । पुष्कलानि च चत्वारि आढकः परिकीर्तितः ॥ चतुराढको भवेद्द्रोणइति द्रोणस्य लक्षणम् ॥ १२६ ॥

(५) नन्दनः । कियतीवृत्तिः कल्प्येति चेदाह पणो देयइति । भक्तकंपणइत्यन्वयः उक्तार्थः पणइत्यर्थः । देयः प्रत्यहं देयः । षट्पणाइति वचनविपरिणामः । पणद्रोणयोः परिमाणंवक्ष्यति । आच्छादो वस्त्रम् । षण्मासिकः षण्मासे देयः षण्मासिकः ॥ १२६ ॥

(६) रामचन्द्रः । पणः अशीतिवराटकानां पणः अपरुष्टस्य अर्थान्मध्यमस्य त्रयः भक्तकं भृतिः षट्सु मासेषु आच्छादनं तत्राप्येकं त्रीणि षडिति पर्यायानुसारेण व्यवस्था । एवं द्रोणेऽप्येकः त्रयः षडिति मासिमासिदेयम् ॥ १२६ ॥

ऋयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् ॥ योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान् ॥ १२७ ॥

(१) मेधातिथिः । करग्रहणविधिः कियता मूल्येन क्रीतमेतत्क्रियच्च विक्रीयमाणं लभते कियता च कालेन विक्रियते कियत्प्रतिभावे न नश्यत्यथनेत्येवमादिरूपक्रयविक्रयपरीक्षा । अध्वानं चिराचिरगमनप्राप्यताम् । भक्तं सत्त्वोदनादिमूलम् । परिव्ययस्तदुपकरणं सर्पिः सूपशाकादि धनादि च । योगक्षेममरण्ये कान्तारे वा गच्छतो राजभयंचौरभयं निश्चौरतावेत्यादि । एतदपेक्ष्य वणिग्भ्यः करादातव्या वणिग्भिर्दापयेत्करानिति पाठोक्तः गत्यादिनियमेन कर्मसंज्ञाया अभावात् । दण्डवचनो वा धातुस्तदा दण्डवद्विक्रमकत्वम् ॥ १२७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ऋयविक्रयमितीयता क्रीत्वेयता विक्रेतुं शक्यमिति । अध्वानमिति एतावान्वर्त्मायासङ्गतिः । भक्तमन्नमूल्यम् । परिव्ययं ताम्बूलव्यञ्जनादिपरिकरार्थव्ययम् । योगमलब्धलाभं वणिजामायासानुरूपक्षेपं रक्षणमेतावति देशेऽमीषामस्माभिः कृतमिति विज्ञायेत्यर्थः । करान् शुल्कम् ॥ १२७ ॥

(३) कुल्लूकः । कियता मूल्येन क्रीतमिदं वस्त्रं लवणादिद्रव्यं विक्रीयमाणं चात्र कियल्लभ्यते कियदूरादानीतं किमस्य वणिजो भक्तव्ययेन शाकसूपादिना परिव्ययेन लब्धं किमस्या रण्यादौ चौरादिभ्योरक्षारूपेण क्षेमप्रतिविधानेन गतं कोऽस्येदानीं लाभयोगइत्येतद्वेक्ष्य वणिजः करान् दापयेत् ॥ १२७ ॥

(४) राघवानन्दः । वणिक्करादानमाह ऋयेति । ऋयविक्रयमूल्यं दूरागतं भक्ष्यव्ययचौरादित्ततं योगक्षेमादीनि च ज्ञात्वा तद्विक्रेतृभ्यः करान् शुल्कानि दापयेत् हृष्टादिकृते स्वयंगृह्णीयाद्वा ॥ १२७ ॥

(५) नन्दनः । अथ करादानमाह ऋयविक्रयमिति । ऋयमूल्यम् । विक्रयलाभम् । भक्तं वणिग्भिः कर्मकादादिभ्यो देयम् । परितो व्ययः परिव्ययः शुल्कादिकः ॥ १२७ ॥

(६) रामचन्द्रः । युग्मम् । सपरिव्ययं ताम्बूलव्यञ्जनादिपरिव्ययसहितम् ॥ १२७ ॥

यथा फलेन युज्येत राजा कर्त्ता च कर्मणां ॥ तथा वेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान् ॥ १२८ ॥

(१) मेधातिथिः । क्षीणरुषेर्नूनः करोग्रहीतव्यइत्येवमर्थमेतत् । वार्यो कसो जलौकसः । षट्पदाश्रमराः । यथा ते स्वल्पमाददानाः परिपुष्टा भवन्ति तथा राज्ञा मूलच्छेदो न कर्तव्यः ॥ १२८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । फलेन फलप्राप्ता राजा । कर्ताचकर्मणां रुष्यादीनां फलेन धान्यादिना युज्येत लाभदर्शनाद्धि पुनः प्रवर्तते ॥ १२८ ॥

(३) कुल्लूकः । यथा राजाऽवेक्षणादिकर्मणः फलेन यथा च वार्षिकवणिगादयः रुषिवाणिज्यादिकर्मणांफलेन संबध्यन्ते तथा निरूप्य राजा सर्वदा राष्ट्रे करान् गृह्णीयात् ॥ १२८ ॥

(४) राघवानन्दः । यथा कर्मणांरुषिवाणिज्यादीनांकर्ता तत्फलेनसंबध्यतएवंराजापि तत्फलभागीत्याह यथेति । नृपइति नृनृप्रत्यनुकूलः ॥ १२८ ॥

(५) नन्दनः । सामान्यतः करपरिकल्पनस्य लक्षणमाह यथेति ॥ १२८ ॥

यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यंवार्योकोवत्सषट्पदाः ॥ तथाल्पाल्पोग्रहीतव्योराष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः ॥ १२९ ॥

(१) मेधातिथिः । एतदेवाह कर्मणांकर्तावाणिजकः राजा च फलेन युज्येत तथा करान्कल्पयेन् परिमाणनियमकारणमस्ति । यत्र महान्लाभस्तत्राधिकमप्युक्तपरिमाणातिक्रमेण ग्रहीतव्यम् । केचिदिमंश्लोकंपठित्वा यथाल्पाल्पमिति पठन्ति ॥ १२९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वत्सः प्रसवे । वार्योऽकसः जलौकसः रक्ताकर्षे ॥ १२९ ॥

(३) कुल्लूकः । अत्रदृष्टान्तमाह यथेत्यादि । यथा जलौकोवत्सभ्रमराः स्तोऽकस्तोऽक्रानि रक्तक्षीरमधून्यदन्त्येवंराज्ञा मूलधनमनुच्छिन्दताऽल्पोऽल्पोराष्ट्रादब्दिकः करोयास्तः ॥ १२९ ॥

(४) राघवानन्दः । करमपिदेशकालसंपत्यनुरूपेणादद्यादितिसदृष्टान्तमाह यथेति । वार्योकोजलौकाः । अल्पमल्पं क्रियाविशेषणं सयथा गात्रादक्तमल्पमादत्ते यद्वा मत्स्यः गन्धवारिचरः अपां बहूनां यथेष्टतत्त्वाने उपजीव्यजलनाशे स्वनाशशङ्क्याल्पोदकंपिबति । वत्सोऽपि सर्वदुग्धपाने गोपस्य क्षतिः स्यादित्याशङ्क्याल्पंचोषति । भ्रमरस्यापि सर्वमधुपाने फलानुत्पत्तेस्तज्जपुष्पान्तराभावात्स्वनाशशंका । एवं राजन्यप्यूहनीयम् । प्रजानांमूलानुच्छेदादिति भावः । आद्विकः अद्भुतमाप्यः ॥ १२९ ॥

(५) नन्दनः । अत्रदृष्टान्तमाह यथाल्पाल्पमिति । आद्यमदनीयम् । वार्योकावार्योऽकसः । ऋषिनिपातनादकारान्तत्वम् ॥ १२९ ॥

(६) रामचन्द्रः । वार्योऽकसः यथाल्पाल्पं आद्यंभक्ष्यं अदन्ति भक्षयन्ति यथाषट्पदाः भ्रमराः अल्पमल्पमदन्ति तथा राजा राष्ट्रमवेक्ष्य आब्दिकान्करान्सततंकल्पयेत् ॥ १२९ ॥

पञ्चाशद्भागआदेयोराज्ञा पशुहिरण्ययोः ॥ धान्यानामष्टमोभागः षष्ठोद्वादशएव वा ॥ १३० ॥

(१) मेधातिथिः । मूल्याधिकयोः पशुहिरण्ययोः पञ्चाशद्भागोऽष्टमः । धान्यानांभागविशेषः सुकरदुष्करापेक्षया मन्तव्यः पञ्चाशत्पूरणः पञ्चाशः त्रिंशत्यादिभ्य इतिपक्षेतमद् । पञ्चाशद्भागइतिपाठे द्विभागादिवत्संख्यान्तरम् ॥ १३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पञ्चाशद्भागइत्यादिना जनपदानांवार्षिककरग्रहउक्तः । हिरण्यपदंरूप्यादेरप्युपलक्षणम् । द्वादशेति फलेऽष्टमोमध्यमउत्तमेषष्ठः ॥ १३० ॥

(३) कुल्लूकः । तमाह पञ्चाशद्भागइत्यादि । मूलादधिकयोः पशुहिरण्ययोः पञ्चाशद्भागोराज्ञा ग्रहीतव्यः एवंधा-

न्यानांषष्ठोऽष्टमोद्वादशोवा भागोराज्ञा ग्राह्यः । भूम्युत्कर्षापकर्षापेक्षया कर्षणादिक्लेशलाघवगौरवापेक्षश्चायंबल्लपग्रहण-
विकल्पः ॥ १३० ॥

(४) राघवानन्दः । द्रव्यविशेषे विशेषतःकरमल्पमाह पञ्चाशदिति । पशुहिरण्ययोस्तज्जीविभ्यआदेयः । पञ्चा-
शद्भागएकोनपञ्चाशद्भागोद्रव्यत्वाभिना ग्राह्योराज्ञा त्वेकोऽवशिष्टोभागः । एवंसर्वत्र भूम्युत्कर्षापकर्षापेक्षया कर्मक्लेशला-
घवगौरवापेक्षया वा धान्यानांभागविकल्पः ॥ १३० ॥

(५) नन्दनः । द्रव्यविशेषेष्वदेयंभागविशेषंश्लोकत्रयेणाह पञ्चाशद्भागइति । सर्वत्र व्ययव्यतिरिक्तलाभविष-
या भागकल्पना भूमेर्मध्यमोत्तमाधमापेक्षया व्यवस्थितविषयोयमष्टमादिकोविकल्पः कल्पनीयः ॥ १३० ॥

आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम् ॥ गन्धौषधिरसानांच पुष्पमूलफलस्य च ॥ १३१ ॥

(१) मेधातिथिः । द्रुमशब्देन वृक्षाउच्यन्ते शेषंप्रसिद्धम् । एतेषांषष्ठोभागोलाभाद्गृहीतव्यः ॥ १३१ ॥ १३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । द्रुमाणांस्वयमर्जितानां वनादृतानांच एवं रसानां लवणादीनाम् ॥ १३१ ॥

(३) कुल्लूकः । द्रुमशब्दोत्र वृक्षवाचकः वृक्षादीनांसप्तदशानां अश्वमयान्तानांषष्ठोभागोलाभाद्गृहीतव्यः ॥ १३१ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यदाददीतेति द्वाभ्याम् । द्रुः काष्ठार्थवृक्षः तदाद्यश्वमयान्तानांसप्तदशानांतदुत्पाद-
केभ्यस्तद्विक्रयिभ्यश्च षड्भागमेवाददीतेत्यन्वयः । मांसं मांसमत्स्यौ ॥ १३१ ॥

(५) रामचन्द्रः । द्रुमांसमधुसर्पिषां राजा षड्भागमाददीत । द्रोवृक्षस्य मांसस्य मधुनः सर्पिषःघृतस्य । पलाश-
द्रुद्रुमागमाइत्यमरः । तुपुनः गन्धादीनामिति ॥ १३१ ॥

पत्रशाकतृणानांच चर्मणां वैदलस्य च ॥ मृन्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्वमयस्य च ॥ १३२ ॥

(१) सर्वज्ञनारायणः । पत्रं तालीपत्रादि । वैदलं वंशादिविदलकृतभाण्डादि । मृन्मयानां कुलालादिकृतानाम्
॥ १३२ ॥

(४) राघवानन्दः । द्रुमाणामितिषाठोमेधातिथेः । वैदलस्य शूर्पादेः ॥ १३२ ॥

(५) नन्दनः । आददीतेत्यत्रानुवर्तते ॥ १३२ ॥

(६) रामचन्द्रः । पत्रशाकतृणादीनांच षड्भागमाददीत स्वीकुर्यात् ॥ १३२ ॥

अश्विमाणोप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम् ॥ न च क्षुधाऽस्य संसीदेच्छ्रोत्रियो
विषये वसन् ॥ १३३ ॥

(१) मेधातिथिः । तथा कुर्याद्यथा क्षुधास्य विषये श्रोत्रियोनावसीदति ॥ १३३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्रोत्रियात्तेनार्जितधनाद्भागम् ॥ १३३ ॥

(३) कुल्लूकः । क्षीणधनोऽपि राजा श्रोत्रियब्राह्मणात्करंनगृहीयात् न च तदीयदेशे वसन् श्रोत्रियोबुभुक्षयाऽव-
सादंगच्छेत् ॥ १३३ ॥

(४) राघवानन्दः । पर्युदासाधिकरणन्यायेन श्रोत्रियस्य करादानाभावमाह अश्विमाणइति द्वाभ्याम् ॥ १३३ ॥

(१३१) द्रुमांस=द्रुमाणां (ग, ण)

यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा ॥ तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति ॥ १३४ ॥

(१) मेधातिथिः । अनन्तरविधेरतिक्रमफलमेतत् ॥ १३४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तस्माद्देयमस्मै किञ्चिदित्यर्थः ॥ १३४ ॥

(३) कुड्डूकः । यस्य राज्ञोदेशे श्रोत्रियः क्षुधावसन्नोभवति तस्य राष्ट्रमपि दुर्भिक्षादिभिः क्षुधा शीघ्रमवसादंगच्छति ॥ १३४ ॥

(४) राघवानन्दः । न केवलं करानादानं किंचास्य राज्ञोविषये वसन् श्रोत्रियोनावसीदेदपि । क्षुधा बुभुक्षया क्षुधासक्तौदृष्टदोषमाह तस्येति । विषये देशे । अतः श्रोत्रियातिरिक्तेभ्यः करंगृह्णीयादित्यर्थः ॥ १३४ ॥

श्रुतवृत्ते विदित्वास्य वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ॥ संरक्षेत्सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम् ॥ १३५ ॥

(१) मेधातिथिः । धर्म्यावृत्तियया कुटुम्बधर्मस्यावसादनं न भवति । वृत्तिप्रकल्प्य सर्वतोरक्षेच्चौरादिभ्यः । स्वयमधिकव्ययाच्च ॥ १३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तदाह श्रुतवृत्ते इति । वृत्तमाचारः । धर्म्यां स्ववर्णयोग्यां प्रतिग्रहादिकाम् ॥ १३५ ॥

(३) कुड्डूकः । यतएवमतः श्रुतेति । शास्त्रज्ञानानुष्ठाने ज्ञात्वाऽस्य तदनुरूपं धर्मादनपेतां जीविकामुपकल्पयेत् चौरादिभ्यश्चैनमौरसपुत्रमिव पिता रक्षेद्यस्मात् ॥ १३५ ॥

(४) राघवानन्दः । न केवलमादानाभावमात्रं प्रत्युतास्मै दानसार्थवादमाह श्रुतवृत्ते इति द्वाभ्याम् । श्रुतवृत्ते शास्त्रज्ञानानुष्ठाने इति कुड्डूकः । श्रुतवेदाध्ययनं वृत्तमयाचितत्वादि ते ज्ञात्वाऽस्य श्रोत्रियस्य धर्म्याधर्मादनपेतां तदभिमतं वृत्तिं दद्यात् तां लिखितदिव्यादियुक्ततामपट्टादिना । रक्षेदेनं च श्रोत्रियं यथातामन्योनहरेदिति भावः । चौरादिभ्योरक्षणसाधारणम् ॥ १३५ ॥

संरक्ष्यमाणो राज्ञायं कुरुते धर्ममन्वहम् ॥ तेनायुर्वर्धते राज्ञोद्रविणं राष्ट्रमेव च ॥ १३६ ॥

(१) मेधातिथिः । धार्मिकश्रोत्रियरक्षायाः फलमेतदायुर्द्रविणराष्ट्रवृद्धिः ॥ १३६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संरक्ष्यमाणो दस्युभ्यः ॥ १३६ ॥

(३) कुड्डूकः । सच श्रोत्रियो राज्ञा सम्यग्रक्षमाणो यं धर्मप्रत्यहं करोति तेन राज्ञ आयुर्वर्धनं राष्ट्राणि वर्धन्ते ॥ १३६ ॥

(४) राघवानन्दः । अत आह समिति । तेन धर्मेण आयुर्द्रविणं राष्ट्रं चास्य राज्ञो वर्धत इत्यन्वयः ॥ १३६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अयं ब्राह्मणः तेन धर्मेण ॥ १३६ ॥

यत्किञ्चिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम् ॥ व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम् ॥ १३७ ॥

(१) मेधातिथिः । ऋषिधनप्रयोगक्रयविक्रयादिव्यवहारेण जीवन्तं पृथग्जनं ब्राह्मणाश्च श्रोत्रियादन्यं करं दापयेत् करसंज्ञासंज्ञातास्य करसंज्ञितम् ॥ १३७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्येनापि कर्मणा वाणिज्यादिव्यवहारेण जीवन्तं पृथग्जनमब्राह्मणं किञ्चिदप्यमपि दापयेत् नतु किञ्चिदाददीत ॥ १३७ ॥

(३) कुड्डूकः । राजा स्वदेशे आकपर्णादिस्वल्पमूल्यवस्तु क्रयविक्रयादिना जीवन्तं निरुष्टजनं स्वल्पमपि करारूप्यवर्षेण दापयेत् ॥ १३७ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच व्यवहारेण शाकादिक्रयविक्रयादिना जीवतो निरुष्टस्याल्पः शुल्को ग्राह्य इत्याह यदिति । पृथग्जनं निरुष्टम् ॥ १३७ ॥

(५) नन्दनः । यत्किञ्चिदपि वर्षस्य संवत्सरस्य व्यवहारेण वाणिज्येन पृथग्जनं प्रकृतजनम् ॥ १३७ ॥

(६) रामचन्द्रः । पृथग्जनं सामान्यजनं कारुकादिकं यत्किञ्चिदपिकरं दापयेत् ॥ १३७ ॥

कारुकान् शिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः ॥ एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः ॥ १३८ ॥

(१) मेघातिथिः । शिल्पमात्रोपजीविनस्तान्मासमासमेकमहः कर्मकारयेत् आत्मोपजीविनश्च शूद्रावेशभारवाहादयः १३८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कारुकान् वर्धक्यादीन् । शिल्पिनो नटादीन् । आत्मोपजीविनो भक्तार्थं नित्यं परस्य कर्म कृत्वा तल्लब्धभक्तेन जीवतः ॥ १३८ ॥

(३) कुल्लूकः । कारुकान्मूपकारादीन् शिल्पिभ्यर्षदुत्कृष्टान् शिल्पिनश्च लोहकारादीन् शूद्रांश्च देहक्लेशोपजीविनीभारिकादीन् मासि मास्येकं दिनं कर्म कारयेत् ॥ १३८ ॥

(४) राघवानन्दः । दुःखजीविनो विष्यादिना नातिपीडनीया इत्याह कारुकानिति । कारुकान् शूर्पादिकारिणः शिल्पिनः चित्रलोहकारादीन् आत्मोपजीविनः देहक्लेशोपजीविनः वेतनजीविनः कर्म त्वकं मासिमासि मासमासंप्रत्येकैकं कारयेदित्यन्वयः ॥ १३८ ॥

(५) नन्दनः । आत्मोपजीविनः शरीरोपजीविनः कर्मोपजीविन इति यावत् ॥ १३८ ॥

(६) रामचन्द्रः । कारुकादीन् एकैकं विष्टिरूपं कर्म मासिमासि कारयेत् ॥ १३८ ॥

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातिवृष्णया ॥ उच्छिन्दन् स्यात्मानो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत् ॥ १३९ ॥

(१) मेघातिथिः । करशुल्कादेरग्रहणमात्मनो मूलच्छेदः अतिबहुग्रहणं परेषां तच्च वृष्णया भवतीत्यनुवादः आत्मनो मूलच्छेदेनात्मपीडा भवतिकोशक्षयान् अतस्तेपि पीडयते । उपस्थिते विग्रहे क्षीणकोशशक्तिरिभिरपरुद्धोद्धरणेऽवश्यं भवेत् । साचतेषां महती पीडा यत्तु सार्वकालिकं करग्रहणं संपादयतो नाखेदिता भवति ॥ १३९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आत्मनो मूलं करग्रहणेन न छिन्द्यात् । अतिवृष्णया चातिकरग्रहणेन न परेषां मूलं धनं छिन्द्यात् ॥ १३९ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रजास्नेहात् करशुल्कादेरग्रहणमात्मनो मूलच्छेदः अतिलोभेन प्रचुरकरादिग्रहणं परेषां मूलोच्छेदः एतदुभयं न कुर्यात्मादात्मनो मूलमुच्छिद्य कोशक्षयादात्मानं पीडयेत् पूर्वार्धात् परेषां चैत्यपि संबध्यते परेषां मूलमुच्छिद्य तांश्च पीडयेत् ॥ १३९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच प्रजास्वकरादाने नातीव स्नेहो राज्ञो न धर्म इत्याह नेति । आत्मनो मूलं करशुल्कादेरग्रहणं स्नेहेन तन्त्यजेत् । नापि च परेषां प्रजानामतिवृष्णया मूलं सर्वत्वादिकं गृह्णीयादिति ॥ १३९ ॥

(५) नन्दनः । स्वस्यान्येषां मूलं कृषिगोरक्षवाणिज्यादिकं करोत्पत्तिस्थानम् । अतिवृष्णया शास्त्रविरुद्धैः करैर्नोच्छिन्द्यात् । तत्र कोऽनर्थ इत्यपेक्षायामुक्तमुत्तरार्धं मतमुच्छिन्द्यात्मानो मूलमित्यत्र परेषां मित्यनुपादानं कृष्यादिकस्य राजमूलत्वसारज्ञापनार्थं तानन्यांश्च पीडयेत् दरिद्रेत्येत् ॥ १३९ ॥

(६) रामचन्द्रः । आत्मनः मूलं मूलधनं प्रजारूपं करग्रहेण नोच्छिन्द्यात् उच्छिन्नं कुर्यात् । च पुनः परेषां ग्राम-
निवासिनांप्रजानां अतिवृष्णया अतिकरग्रहणेन । च पुनः आत्मनः मूलमुच्छिन्दन् हि निश्चयेन आत्मानं च प्रजाश्च पीड-
येत् । तस्मान्मूलधनं नोच्छिन्द्यात् ॥ १३९ ॥

तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः ॥ तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति संमतः ॥ १४० ॥

(१) मेधातिथिः । तीक्ष्णमृदुता नित्यमभ्यसनीया । तादृशो राजा प्रजानां संमतो भवत्यभिप्रेतम् ॥ १४० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कार्यप्रेक्ष्य मादवेनैव साध्यं यत्तत्र मृदुरन्यत्र तीक्ष्णः ॥ १४० ॥

(३) कुल्लूकः । कार्यविशेषमवगम्य क्वचित्कार्यं तीक्ष्णः क्वचिन्मृदुश्च भवेत् न त्वैकरूपमालंभेत् यस्मादुक्तरूपो-
राजा सर्वेषामभिमतो भवति ॥ १४० ॥

(४) राघवानन्दः । अपिच राजानंधर्मविशेषेण शिक्षयति तीक्ष्णश्चेति । दण्डयेष्वपराधयुक्तेषु तीक्ष्णो निरुप-
द्रः मृदुश्च साधुषु संमतो मन्वादीनाम् ॥ १४० ॥

(५) नन्दनः । धर्मान्तरमाह तीक्ष्णश्चैवेति । तीक्ष्णः अग्न्यर्कादिमात्रानिर्मितत्वात् मृदुश्च सोमवरुणादिमात्रा-
निर्मितत्वात् ॥ १४० ॥

(६) रामचन्द्रः । महीपतिः कार्यवीक्ष्य तीक्ष्णः सन्मृदुः स्यात् । कदाचित्तीक्ष्णः कदाचिन्मृदुः राजा संमतो भव-
ति ॥ १४० ॥

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम् ॥ स्थापयेदासने तस्मिन्निवन्त्रः कार्येक्षणे
नृणाम् ॥ १४१ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रजानांसंबन्धिनि कार्यदर्शने खिन्नः शान्तः । धर्मज्ञादिगुणयुक्तं सर्वसहममात्यंतस्मिन् कार्येक्षणे
नियुज्जीत न पुनस्तस्मिन्नेव सिंहासने ॥ १४१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आसने तस्मिन्स्वस्थान इत्यर्थः ॥ १४१ ॥

(३) कुल्लूकः । स्वयं कार्यदर्शने खिन्नः श्रेष्ठामात्यधर्मविदंप्राज्ञजितेन्द्रियंकुलीनंतस्मिन्कार्यदर्शनस्थाने नियुज्जीत
॥ १४१ ॥

(४) राघवानन्दः । यत्र स्वयमसमर्थस्तत्रामात्यं नियोजयेदित्याह अमात्येति । धर्मज्ञमित्यनेन प्रभौविक्रियारा-
हित्यं सूचितम् । दान्तं लोभाद्यनभिभूतत्वेन प्रजासु । कुलोद्गतं कुलीनम् । आसने स्थित्वा यत्र कार्येक्षणे कार्यदर्शने
खिन्नः स्वेद्युक्तोऽसमर्थस्तत्रैवं विधममात्यं प्रयोजयेदित्यन्वयः ॥ १४१ ॥

(५) नन्दनः । खिन्नः बहुकार्यावेक्षणात्परिश्रान्तः । त्वस्मिन्नासने त्वस्मिन्कृत्ये ॥ १४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । राजा नृणां कार्याणामीक्षणे स्वयं खिन्नः ज्वरादिना युक्तश्चेत्तदा एतादृशममात्यमासने कार्यावे-
क्षणे स्थापयेदित्यर्थः ॥ १४१ ॥

एवं सर्वविधायेदमितिकर्तव्यमात्मनः ॥ युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १४२ ॥

(१) मेधातिथिः । सहायसंग्रहप्रभृत्युक्तस्यार्थस्यैवमिति परामर्शनं विधाय कृत्वा इतिकर्तव्यमुपकारकमिति-
कर्तव्यमुच्यते युक्तस्तत्परः अतएवाप्रमत्तः अथावाबुद्धयस्खलनमप्रमत्तता सर्वकाले । एवं प्रजाः परिरक्षेत् ॥ १४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । युक्तउद्युक्तः । अप्रमत्तोऽन्यत्रासक्तः ॥ १४२ ॥

(३) कुल्लूकः । एवमुक्तप्रकारेण सर्वमात्मनः कार्यजातंसंपाद्योद्युक्तः प्रमादरहितआत्मीयाः प्रजारक्षेत् ॥ १४२ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रतिज्ञान्तरं ब्रुवन्प्रकृतमुपसंहरति एवमिति । युक्तः उद्युक्तः इमाः स्वदेशस्थाः रक्षेदेवेत्यन्वयः ॥ १४२ ॥

(५) नन्दनः । इदमुक्तम् । युक्तउपायवान् ॥ १४२ ॥

विक्रोशन्त्योयस्य राष्ट्राद्धियन्ते दस्युभिः प्रजाः॥संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः सनतु जीवति॥१४३॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वोक्तयोरप्रमादयोरन्यथात्वे दोषमाह यदिसम्यग्गुल्मस्थानानि न जानाति तदा छिद्रान्वेषि-
भिर्दस्युभिः प्रजाह्रियन्ते तासु किंकरिष्यति । अतस्तादृशो राजामृतएव जीवितं मरणमेव अतोऽप्रमत्तेन भवितव्यम् । वि-
क्रोशन्त्यः आक्रन्दत्यः ह्रियन्ते संपश्यतः सभृत्यस्य निर्दिष्टदक्ष्यते केवलं च भृत्यास्तदीयाः पश्यन्ति नानुधावन्ति मोक्षय-
न्ति सर्वेतेष्वेतकल्पाः ॥ १४३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दस्युभिः शत्रुभिः ॥ १४३ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्य राज्ञोऽमात्यादिसहितस्य पश्यतएव राष्ट्रादक्रोशन्त्यः प्रजास्तस्करादिभिरपि ह्रियन्ते समृ-
तएव नतु जीवति जीवनकार्याभावाजीवनमपि तस्य मरणमेवेत्यर्थः । तस्मादप्रमत्तः प्रजारक्षेदिति पूर्वोक्तशेषम् ॥ १४३ ॥

(४) राघवानन्दः । सार्थवादंतदेवाह विक्रोशन्त्यइति द्वाभ्याम् । विक्रोशन्त्यः हाहतोस्मीति वचउद्भिरन्त्यः
अपह्रियन्ते धनाद्यादानेन दस्युभिः साहसिकैः । संपश्यतइत्यनादरेषणी । मृतः शवइव घृणास्पदीभूतः ॥ १४३ ॥

(५) नन्दनः । अरक्षितुर्निन्दामाह विक्रोशन्त्यइति । ह्रियन्ते धनमिति शेषः ॥ १४३ ॥

क्षत्रियस्य परोधर्मः प्रजानामेव पालनम् ॥ निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥१४४॥

(१) मेधातिथिः । प्राप्तफलं भुङ्क्ते राजा सधर्मेण युज्यते अन्यथानुग्राहकाणामेव पालनं कुर्वन्प्रत्यवेति ॥ १४४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निर्दिष्टफलं शास्त्रनियमितकरादि ग्रहणेन भोगसिद्धिः ॥ १४४ ॥

(३) कुल्लूकः । तदेव द्रष्टव्यं क्षत्रियेति । धर्मान्तरेभ्यः श्रेष्ठक्षत्रियस्य प्रजारक्षणमेव प्रकृष्टो धर्मः यस्माद्यथोक्तल-
क्षणफलकरादिभोक्ता राजा धर्मेण संबध्यते ॥ १४४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच क्षत्रियस्येति । निर्दिष्टफलभोक्ता शास्त्रनिर्दिष्टकरादिफलभोक्ता ॥ १४४ ॥

(५) नन्दनः । निर्दिष्टफलभोक्ता प्रजापालनार्थं वेतनीकृतस्य षड्भागादिकस्य फलस्य भोक्ता ॥ १४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । निर्दिष्टफलभोक्ता शास्त्रोक्तफलभोक्ता ॥ १४४ ॥

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः॥ हुताग्निर्ब्राह्मणांश्वाच्यं प्रविशेत्सशुभां सभाम्॥१४५॥

(१) मेधातिथिः । पश्चिमो यामो ब्राह्मणमुहूर्तः । यत आह कृतशौचः समाहितः हुताग्निरिति न च ब्राह्मे मुहूर्ते
होमविधानमस्ति तदा हि चतुर्मुहूर्तशेषा रात्रिर्भवति होमश्च व्युष्टायां रात्रौ समाप्य कार्यउषःकल्पत्यागेन । आच्यं ब्राह्मणान्पू-
जयित्वा सभां शुभां मङ्गलवतीं प्रविशेत् ॥ १४५ ॥

(१४५) हुताग्निर्ब्रा० = गुर्वग्निर्ब्रा० (ग)

= हुत्वाग्नीन् (त, थ, द, ढ, ड,)

(२) सर्वज्ञनारायणः । आर्च्यं समभ्यर्च्य ॥ १४५ ॥

(३) कुल्लूकः । सभूपो रात्रेः पश्चिमयामउत्थाय कृतमूत्रपुरीषोत्सर्गादिशौचोऽनन्यमनाः कृताग्निहोत्रावसथ्यहो-
मोब्राह्मणान्पूजयित्वा वास्तुलक्षणाद्युपेतांसभाममात्यादिदर्शनगृहं प्रविशेत् ॥ १४५ ॥

(४) राघवानन्दः । अधुनास्याहरहः कृत्यमाह उत्थायेति द्वाभ्याम् । पश्चिमेयामे ब्राह्मेमुहूर्ते हुत्वाग्निमावसथाख्यं
श्रौतं पुरोहितसाध्यं । आर्च्यं सत्कृत्य । शुभां शुभफलदाम् ॥ १४५ ॥

(५) नन्दनः । राज्ञोनित्यकर्तव्यं कर्मश्लोकद्वयेनाह उत्थाय पश्चिम इति ॥ १४५ ॥

तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत् ॥ विस्तृज्य च प्रजाः सर्वामन्त्रयेत्सह
मन्त्रिभिः ॥ १४६ ॥

(१) मेधातिथिः । तत्र तस्यां सभायां स्थिताः प्रजादर्शनार्थमागताः प्रतिनन्द्य यथार्हसंभाषणक्षणाभ्युत्थाना-
भिवादनैर्हर्षयित्वा विसर्जयेत् यथागतमनुजानीयात् । ततो विसर्जितेषु तेषु मन्त्रयेत्सहमन्त्रिभिः किं कर्तव्यमिति स्वपरराष्ट्र-
गतकर्तव्यतानिरूपणं मन्त्रपञ्चाङ्गं दर्शयिष्यते ॥ १४६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रतिनन्द्य प्रियमुक्त्वा ॥ १४६ ॥

(३) कुल्लूकः । तस्यां सभायां स्थितो दर्शनार्थमागताः प्रजाः सर्वाः संभाषणदर्शनादिभिः प्रतिनन्द्य प्रस्थापयेत्
ताश्च प्रस्थाप्य मन्त्रिभिः सह सन्धिविग्रहादि चिन्तयेत् ॥ १४६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच । प्रतिनन्द्य वाग्वस्त्रादिना सत्कृत्य ॥ १४६ ॥

(५) नन्दनः । तत्र सभायां स्थितः उपविष्टः । प्रतिनन्द्य न्याय्यनिर्णयेन प्रीणयित्वा मन्त्रयेत्कर्तव्याकार्यजात-
मिति शेषः ॥ १४६ ॥

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ॥ अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः ॥ १४७ ॥

(१) मेधातिथिः । मन्त्रदेशविधिः । रहोगतः विविक्ते निर्जने देशे स्थितः अविभावितः अनुमानेनापि यथा न
जनाजानन्तीदं वस्तु विद्यत इति तथा कुर्यात् । निःशलाकं शलाकादृषीकाः यत्र तृणमपि नास्ति येन न कश्चित्तिष्ठतीति सं-
भावनास्तितन्निःशलाकम् । इमान्यङ्गानि कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसंपन्नदेशकालविभागः विनिपातप्रतीकारः कार्य-
सिद्धिरिति । अथवा प्रार्थनाकालं नातिपातयेत्तत्र दीर्घो मन्त्रः स्यात् । न तेषां ब्रूयात् गुप्तमन्त्रश्च स्यात् ॥ १४७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निःशलाक एकान्ते यत्र काप्यविभावितः अन्यैरनुपलक्षितः ॥ १४७ ॥

(३) कुल्लूकः । पर्वतपृष्ठमारुह्य निर्जनवनगृहस्थितोऽरण्यदेशे वा विविक्ते मन्त्रभेदकारिभिरनुपलक्षितः कर्मणा-
मारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसंपन्नदेशकालविभागो विनिपातप्रतीकारः कार्यसिद्धिरित्येवं पञ्चाङ्गमन्त्रं चिन्तयेत् ॥ १४७ ॥

(४) राघवानन्दः । मन्त्रयेदित्युक्तं तदुचितं स्थलमाह गिरिति । प्रासादं रहोगतं अन्तःपुरगतम् । निःशलाके म-
न्त्रभेदकाः शलाकाः प्रतिरोधकजन्तवो वक्ष्यमाणजडादयः तद्रहिते विविक्त इति यावत् । अविभावितः मन्त्रभेदकैरनुप-
लक्षितः ॥ १४७ ॥

(५) नन्दनः । मन्त्रणस्य देशमाह गिरिपृष्ठमिति । निःशलाके कुशशलाकादिहीने । अविभावितः अविदितः अ-
नामैरिति शेषः ॥ १४७ ॥

(१४७) इविभावितः = सविभावितः (ग)

(६) रामचन्द्रः । अथमन्त्रविधिमाह गिरीति । गिरिपृष्ठं गिरिशृङ्गं समारुह्य निःशलाके निर्मानुष्ये मन्त्रं कुर्यात् । निःशलाकास्तथारहइत्यमरः । अविभावितः अज्ञातः ॥ १४७ ॥

यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः ॥ सकृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोपि पार्थिवः ॥ १४८ ॥

(१) मेधातिथिः । मन्त्रप्रकाशनिवारणार्थः श्लोकः । पृथग्जनामन्त्रिणो मन्त्रविद्वासाः ॥ १४८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पृथग्जनान्मन्त्रबाह्याः समागम्य तन्मन्त्रज्ञैः सह ॥ १४८ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्य राज्ञोमन्त्रिभ्यः पृथगन्येजनामिलित्वास्य मन्त्रं न जानन्ति सक्षीणकोशोऽपि सर्वापृथिवीं-भुनक्ति ॥ १४८ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव दृष्टार्थवादफलमाह यस्येति । समागम्य मिलित्वा मन्त्रं पृथग्मन्त्रणं च । जनाः प्राणिनः । सपार्थिवः दरिद्रोपि कृत्स्नां समुद्रमेखलां पृथ्वीं भुङ्क्ते इत्यन्वयः ॥ १४८ ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्य मन्त्रं पृथग्जनाः मन्त्रबाह्यान् जानन्ति कोशहीनोपि सराजा कृत्स्नापृथिवीं भुङ्क्ते ॥ १४८ ॥ जडमूकान्धबधिरांस्तैर्यग्योनान्वयोतिगान् ॥ स्त्रीम्लेच्छव्याधितव्यङ्गान्मन्त्रकालेऽपसारयेत् ॥ १४९ ॥

(१) मेधातिथिः । यत्किंचित्प्राणिजातं तन्मन्त्रयमाणो विशोधयेत् ततः प्रदेशादपशोधयेत् मन्त्रभेदाशङ्कया तिर्यग्योनिषु च शुकसारिकादयोपि मन्त्रं भिन्दन्ति गवाश्वादयोपि । योगारूढाः परिवर्तितवार्ताविनिकाः सदसन्नाहीरूपवार्तादयो भवन्ति तदान्तर्धानादयोपि नरेन्द्रविद्याश्च श्रूयन्ते । व्यङ्गत्वादेव ग्रहणे सिद्धे गोबलीवर्द्धवत् व्यङ्गस्य हस्तपादादिछेदने न मन्त्रनियमास्था कर्त्तव्या नायंकुत्रचित् गंतुं शक्नोति इहैवावरुद्धास्ते कथं मन्त्रान्भेत्स्यतीति । अथवा एवंविधामन्त्रिणो न कर्त्तव्या बुद्धिविभ्रमसंभवात् अतोनामा अपि ततोपसर्पः ॥ १४९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । जडोदेहस्पन्दनाशक्तः । तैर्यग्योनाः श्वकाकादयः । एतान्कृतकमूकान्धजडादिभावाशङ्क्या म्लेच्छवङ्गादींश्च सहजदुष्टाश्रयतयाऽपनयेत् ॥ १४९ ॥

(३) कुल्लूकः । बुद्धिवाक्चक्षुःश्रोत्रविकलान् तिर्यग्योनिभवांश्च शुकसारिकादीन् अतिवृद्धस्त्रीम्लेच्छरोग्यङ्गहीनांश्च मन्त्रसमयेऽपसारयेद्यस्मात् ॥ १४९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच मन्त्रणे कर्त्तव्ये वर्ज्यान् सार्थवादमाह जडेति द्वाभ्याम् । तैर्यग्योनान् तिर्यग्योनौ भवान् शुकसारिकादीन् वयोधिकान् वृद्धान् व्यङ्गान् काणादीन् अपसारयेत् ॥ १४९ ॥

(५) नन्दनः । तैर्यग्योनान् शुकसारिकादीन् । अपसारयेन्निषेधयेत् ॥ १४९ ॥

(६) रामचन्द्रः । जडमूकान्धादीन्मन्त्रकाले अपसारयेत् प्रतिषेधयेदित्यर्थः ॥ १४९ ॥

भिन्दन्त्यवमतामन्त्रं तैर्यग्योनास्तथैव च ॥ स्त्रियश्चैव विशेषेण तस्मात्तत्रादृतो भवेत् ॥ १५० ॥

(१) मेधातिथिः । मानादपेता अवमताः क्षुद्रादयोपमानासत्वे कदाचित्किंचिच्छुणुः । कदाचिद्वाक्षराण्युच्चा-

(१४९) म्लेच्छ = क्लीब (ख)

रयितुंशक्तुयुस्ततोमन्त्रभेदः स्यात् । शक्नुवन्ति निपुणाः किञ्चिदागमेष्वनुमन्तुम् ॥ १५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्त्रीतैर्यग्योनयोर्विशेषमाह भिन्दन्तीति । तैर्यग्योन्या एवमेव मन्त्रंभिन्दन्ति स्त्रियस्त्ववमानादिति विवेकः । तत्र तदपसारणे ॥ १५० ॥

(३) कुहूकः । एते जडादयोपि प्राचीनदुष्कृतवशेन प्राप्तजडादिभावाअधार्मिकतयैवावमानितामन्त्रभेदं कुर्वन्ति तथा शुकादयोऽतिवृद्धाश्च स्त्रियश्च विशेषेणास्थिरबुद्धितया मन्त्रंभिन्दन्ति तस्मात्तदपसारणे यत्नवान् स्यात् ॥ १५० ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रहेतुः भिन्दन्तीति । नृपेणावमताजडादयो मन्त्रंभिन्दन्तीति कृत्वा तानपसारयेदित्यन्वयः । आदतोयत्नवान् तेषु ॥ १५० ॥

(५) नन्दनः । अत्रहेतुमाह भिन्दन्त्यवमताइति । अवमतशब्देन जडादयोगृह्यन्ते ते मनुष्यैरवमताभवन्ति । अथवावमतग्रहणतद्वर्जनार्थं तस्मिन्पक्षे तैर्यग्योनग्रहणजडान्धादीनामप्युपलक्षणार्थम् । आदतोभवेत् वर्जने रुतयत्नोभवेत् ॥ १५० ॥

(६) रामचन्द्रः । अवमताः तिरस्कृताः जडादयः मन्त्रंभिन्दन्ति । तस्मात्कारणात्तत्र जडादिष्वादतः प्रयत्नवान् भवेत् ॥ १५० ॥

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तोविगतक्लमः ॥ चिन्तयेद्धर्मकामार्थान्सार्धतैरेकएव वा ॥ १५१ ॥

(१) मेधातिथिः । धर्मादीनांपरस्परविरोधंचिन्तयेत् अन्यतमवृद्धौ सर्वोत्थितिर्जयेत् ॥ १५१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विश्रान्तः सुखासीनः । विगतक्लमोदेहदौःस्थ्यरहितः ॥ १५१ ॥

(३) कुहूकः । दिनमध्ये रात्रिमध्ये वा विगतचित्तखेदः शरीरक्लेशरहितश्च मन्त्रिभिः सहैकाकीवाधर्मार्थकामानुशतुंचिन्तयेत् ॥ १५१ ॥

(४) राघवानन्दः । मन्त्रोचितकालंकथयन्धर्मादिचिन्तनं ब्रूते मध्यंदिनमिति त्रिभिः । विश्रान्तोयुद्धादिरुतश्रमरहितः विगतक्लमो रोगालस्यनिद्राद्युपद्रवशून्यः । तैरमात्यैः । अतिगोप्यत्वेत्वेकएव वा ॥ १५१ ॥

(५) नन्दनः । मन्त्रस्य कालमाह मध्यन्दिन इति । मध्यन्दिने विश्रान्तो विगतक्लमः आधिव्याधिरहितः । तैर्मन्त्रिभिः ॥ १५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । विश्रान्तः सुखासीनः तैः अमात्यैः सार्धं एकएव वा धर्मकामार्थान् चिन्तयेत् ॥ १५१ ॥

परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम् ॥ कन्यानां संप्रदानं च कुमारानां च रक्षणम् ॥ १५२ ॥

(१) मेधातिथिः । धर्मार्थकामानां वा मन्त्रिणां वा समुपार्जनसंग्रहणम् । कन्यानांसंप्रदानं स्वकार्यसिद्धिवशेन चिन्त्यम् । कुमारानां राजपुत्राणां रक्षणं तववयमित्येवमादिभिर्धर्ममर्थं च । तेग्राहयितव्याः नवंहिद्रव्येनार्थजातेनोपदिश्यते - तत्तदा दूषयति एवमसंस्कृतबुद्धयोयद्यदुच्यन्ते तत्तत्प्रथमं गृह्णन्ति यद्यसद्भिः संसृज्यन्ते तदा तत्स्वभावस्तेषांप्राप्नोति ते च दुःसंस्कारोपदिग्धाः न शक्यन्ते व्यसनेभ्योनिवर्तयितुं उक्तं च नीलीरक्तेवाससिंकुमाङ्गरागोदुराधेयस्तस्मात्ते नित्यमनुशासनीयाः तत्रापि ये गुणवतस्तान्वर्धयेत् इतरानीषत्संविभजेत् ज्येष्ठमहागुणममत्सरं यौवराज्येभिर्षिचेत् एवं राजपुत्ररक्षणे नित्यं यत्नवता भवितव्यम् ॥ १५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । परस्परविरुद्धानां तेषां धर्मादीनां त्रयाणां समुपार्जनसंभूतानामविरोधेनार्जनम् ॥ १५२ ॥

(३) कुल्लूकः । तेषां च धर्मार्थकामानां प्रायिकविरोधवतां विरोधपरिहारेणार्जनोपायंचिन्तयेत् । दुहितृणां च दानं स्वकार्यसिद्धयर्थं निरूपयेत् । कुमाराणां च पुत्राणां विनयाधाननीतिशिक्षार्थरक्षणंचिन्तयेत् ॥ १५२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच परेति । परस्परविरुद्धानां प्रायेण समानोपायशून्यानां धर्मार्थकामानां समुपार्जनंचिन्तयेदित्यनुषङ्गः । अयमर्थः । अतिदण्डादिना अर्थे जन्ये धर्मोहीयेत अतिक्लेशेन धर्मे जन्ये कामो विषयभोगः कुतस्त्यः इति विरोधपरिहारेणार्जनोपायमसंप्रदानं संप्रदीयते । अस्मै सत्कुलप्रसूतवरादिः । रक्षणं यौवराज्ये स्थापयितुं विनयाधानरीतिशिक्षाद्यम् ॥ १५२ ॥

(५) नन्दनः । तामेव चिन्तां श्लोकत्रयेण प्रपञ्चयति परस्परं इति । तेषां धर्मार्थकामानाम् । समुपार्जनमधिगमनोपायम् । संप्रदानं परंचिन्तयेदित्यनुवर्तते ॥ १५२ ॥

(६) रामचन्द्रः । परस्परविरुद्धानां तेषां धर्मार्थकामानां समुपार्जनं चिन्तयेदिति पूर्वेणान्वयः ॥ १५२ ॥

दूतसंप्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च ॥ अन्तःपुरप्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥ १५३ ॥

(१) मेधातिथिः । येन संधानं विग्रहो वापि कार्यस्तेन च दूतसंप्रेषणंचिन्त्यम् । आरब्धकार्यसंबन्धंचिन्तयेत् । अवस्थापनाय कक्षान्तेरुपवन्तर्वेशिकसैन्याधिष्ठितान्तःपुरं प्रविशेत् । तत्र स्थविरस्त्रीमतिशुद्धां देवीं परिपश्येन्नापरिशुद्धां देवीं । ग्रहलीनो हि भ्राता भद्रसेनो मातुः शयनान्तर्गतः कुपुरुषशङ्खविषदिग्धेन नूपुरेणावन्त्यं देवीजघानमेखलायाः सौवीरवेण्यां मूढेन शस्त्रेण विदूरथं तस्मादेतानि विसृज्य भस्थानानियन्तः परीक्षेत । मुग्धजटिलकुहकप्रतिसर्गबाह्यदासीभिरन्तःपुरदासीनां प्रतिषेधयेत् । प्रणिधीनां च कार्पटिकादीनां वा परस्पराभिवेष्टितंचिन्तयेत् ॥ १५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कार्यशेषं कृतस्यार्थस्यासमाप्तिम् । प्रचारं प्रवृत्तिम् । प्रणिधीनां चेष्टितं परसंगमादि ॥ १५३ ॥

(३) कुल्लूकः । दूतानां संगुप्तार्थलेखहारित्वादिना परराष्ट्रप्रस्थापनंचिन्तयेत् तथा प्रारब्धकार्यशेषं समापयितुंचिन्तयेत् स्त्रीणां चातिविषमचेष्टितत्वात् तथा हि ॥ शस्त्रेण वेणीविनिगूहितेन विदूरथं वै महिषीजघान । विषप्रक्षिधेन च नूपुरेण देवीविरक्ता किलकाशिराजम् ॥ इत्याद्यवगम्यात्मरक्षार्थंचान्तःपुरस्त्रीणां चेष्टितं सखीदास्यादिना निरूपयेत् । चराणां च प्रतिराजादिषु नियुक्तानां चरान्तरे श्रेष्ठितमवधारयेत् ॥ १५३ ॥

(४) राघवानन्दः । कार्यशेषम् दण्डशुल्काशेषम् । अन्तःपुरप्रचारं स्त्रीणां समविषमचेष्टितम् । प्रणिधीनां चराणां चरान्तरचेष्टितमवधारयेत् ॥ १५३ ॥

(५) नन्दनः । अन्तःपुरप्रचारं पुरान्तर्वर्तिनां प्रवृत्तिम् । प्रणिधीनां गूढपुरुषाणाम् ॥ १५३ ॥

(६) रामचन्द्रः । कार्यशेषं कृतस्यार्थस्य समाप्तिं अन्तःपुरप्रचारं प्रवृत्तिं च चिन्तयेत् ॥ १५३ ॥

कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्त्वतः ॥ अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च ॥ १५४ ॥

[वने वनेचराः कार्याश्रमणाटविकादयः ॥ परप्रवृत्तिज्ञानार्थं शीघ्राचारपरंपराः ॥ १ ॥] †

[परस्य चैते बोद्धव्यास्तादृशैरेव तादृशाः ॥ चारसंचारिणः संस्थाः शठाश्चागूढसंज्ञिताः ॥ २ ॥] †

(१) मेधातिथिः । अकृतारम्भकृतानुष्ठानं अनुष्ठितविशेषणं कर्मफलसंग्रहः तथा सामभेददानदण्डमेतदष्टवि-

धंकर्म । अथवा वणिक्पथः उदकसेतुबन्धनं दुर्गकरणं कृतस्य वा तत्संस्कारनियमः हस्तिबन्धनं खनिखननं शून्यनिवेशनं दारुवनच्छेदनं चेति । अपरेत्वाहुः ॥ आदाने च विसर्गे च तथा प्रेषनिषेधयोः । पञ्चमे चार्थवचने व्यवहारस्य चेक्षणे ॥ दण्डशुद्ध्योः सदायुक्तस्तेनाष्टगतिकोनृपः । अष्टकर्मादिवंयाति राजा शत्रुभिरर्चितः ॥ इत्यौशनसौश्लोकौ तत्रस्वीकरणमादानं बलीनां भृत्येभ्यो धनदानं विसर्गः प्रेषोदुष्टत्यागः अर्थाधिकृतानां मतिप्रवृत्तिनिरोधो निषेधः असत्प्रवृत्तिनिषेधश्चार्थवचनं वर्णाश्रमाणां स्वकर्मसंशयव्यवहारावेक्षणं परस्पराभियोगे दण्डनिपातनं पराजितानां च प्रमादस्खलिते तु प्रायश्चित्तमित्येतदष्टविधं कर्म । पञ्चवर्गः कापटिकोदास्थितगृहपतिकवैदेहिकतापसव्यञ्जनाः परमधर्मज्ञाः प्रगल्भछात्राः कापटिकास्तानर्थमानाभ्यामुपसंगृह्य मन्त्री ब्रूयात् राजानं माञ्चप्रमाणं कृत्वा यत्र यदकुशलं तत्तदानीमेवाच्छातव्यं तयेति । प्रव्रज्यायाः प्रत्यवसितउदास्थितः सच प्रज्ञाशौचयुक्तः सर्वान्नप्रदानसमर्थायां भूमौ प्रभूतहिरण्यायां दासकर्मकारयेत् । कृषिकर्मफलं तच्च सर्वप्रव्रजितानां ग्रासाच्छादनावस्थान्प्रतिविदध्यात् तेषां ये वृत्तिकामास्तानुपजपेदेवमेतेनैव वृत्तेन राजार्थश्चरितव्यो भक्तवेतनकाले चोपस्थातव्यमिति । सर्वप्रव्रजिताः स्वस्वकर्मोपजपेयुः । कर्षको वृत्तिक्षीणः प्रज्ञाशौचयुक्तो गृहपतिव्यञ्जनः सरुषिकर्मकुर्याद्यथोक्तायां भूमाविति । वाणिजिको वृत्तिक्षीणः प्रज्ञाशौचयुक्तो वैदेहिकव्यञ्जनः सवणिक्कर्मकुर्यात्प्रदिष्टायां भूमाविति समानम् । मुण्डोजटिलो वा वृत्तिकामस्तापसव्यञ्जनः सन्नगराभ्यां प्रभूतजटिलमुण्डान्तेवासिशाकं यवमुष्टिं वा मासान्तरितं प्रकाशमश्रीयाद्धर्मव्याजेन गूढं यथेष्टमाहारं तापसव्यञ्जनान्तेवासिनश्चैनं प्रसिद्धयोगैरर्थलाभमग्रे शिष्याश्चादिशेयुः दाहं चौरभयंदुष्टवधं च विदेशप्रवृत्तिमिदमद्यश्चो वा भविष्यतीदं वा राजा करिष्यतीति तस्य गूढमन्त्रिणस्तत्प्रयुक्ताः संपादयेयुः । ये चास्य राज्ञो वंशलक्षणविद्यासंगवेद्यां जंभकविद्यां मायागतमाश्रमधर्मनिमित्तज्ञानं चाधीयानामन्त्रिणस्तत्र राजा एतत्पञ्च संस्थायेतैर्मन्त्रिभिः स्वविषये वस्थापयेत् । मन्त्रिपुरोहितसेनापतियुवराजदौवारिकान्तर्वेशिकादिषु सद्यपदेशवेषशिल्पभाषाविदोजनपदापदेशेन मन्त्रिणः स्संधारयेत् तथा कुब्जवामनकिरातमूकजडबधिरान्धनटनर्त्तकगायनादयः स्त्रियश्चाभ्यन्तरचारिण्योऽटव्यां वने चराः कार्याग्रामे ग्रामीणकादयः पुरुषव्यापारार्थाः स्वव्यापारपरंपराः परस्परंचैते बोद्धव्यास्तादृशैरेव तादृशाः । अरि संस्थागूढसंज्ञिताः । एवं पञ्चवर्गप्रकल्प्य परस्यात्मनश्चात्मीयादेव पञ्चवर्गान्मन्त्रिपुरोहितादीनामनुरागापरागौ विद्यात् तथा राजमण्डलप्रचारं कोमाण्डलिकः संधिविग्रहादौ कस्मिन्प्रचारे प्रवर्तत इति ॥ १५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अष्टविधं कर्म चोशनसोक्तम् ॥ आदाने च विसर्गे च तथा प्रेषनिषेधयोः । पञ्चमे चार्थवचने व्यवहारस्य चेक्षणे ॥ दण्डशुद्ध्योः सदायुक्तस्तेनाष्टगुणिकोनृपः । अष्टकर्मादिवंयाति राजा शक्राभिपूजित इति ॥ अत्र च करादीनामादानं । भृत्यादिभ्योदानं विसर्गः । प्रेषश्चरादेः । निषेधो भृत्यादीनामविनयनिषेधः । अर्थवचनं धर्मसन्देहनिर्णयः । व्यवहारस्य चेक्षणं व्यवहारदर्शनम् । दण्डोदुष्टदण्डनम् । शुद्धिः प्रायश्चित्तनिश्चयः । पञ्चवर्गस्तु कर्मारम्भोपायः पुरुषद्वयसंपत् विनिपातप्रतीकारः देशकालविभागः कार्यसिद्धिरिति । कापटिकोदास्थितवैदेहगृहपतितापसव्यञ्जनपञ्चविधपरकीयवर्ग एवं पंचवर्ग इत्यन्ये । उदास्थितः प्रव्रजितः । वैदेहो वणिक् । अनुरागापरागौ परकीयस्वकीयानाम् । मण्डलस्य अरिमित्रारिमित्रं मित्रमित्रारिमित्रमित्रपाणिग्राह्याक्रन्दपाणिग्राह्यासाराक्रन्दसारमध्यमोदासीनविजिगीषुरुपद्वादशनृपसमुदायस्य प्रचारं प्रवृत्तिम् ॥ १५४ ॥

(३) कुड्मूकः । अष्टविधं कर्म समर्थचिन्तयेत्तच्चोशनसोक्तम् ॥ आदाने च विसर्गे च तथा प्रेषनिषेधयोः । पञ्चमे चार्थवचने व्यवहारस्य चेक्षणे ॥ दण्डशुद्ध्योः सदा युक्तस्तेनाष्टगतिकोनृपः । अष्टकर्मादिवंयाति राजा शक्राभिपूजितः ॥ तत्रादानं करादीनां विसर्गो भृत्यादिभ्यो धनदानं प्रेषो मात्यादीनां दृष्टादृष्टानुष्ठानेषु निषेधो दृष्टादृष्टविरुद्धक्रियास्वर्थव-

चनंकार्यसंदेहे राजाज्ञयैव तत्र नियमात् । व्यवहारर्क्षणां प्रजानामृणादिविप्रतिपत्तौ दण्डः पराजितानां शास्त्रोक्तधनग्रहणं शुद्धिः पापे कर्मणि जाते तत्र प्रायश्चित्तसंपादनम् मेधातिथिस्तु अकृतारम्भकृतानुष्ठानमनुष्ठितविशेषणं कर्मफलसंग्रहः तथा सामदानदण्डभेदादुत्पद्यमानं कर्म । अथवा वणिक्पथउदकसेतुबन्धनदुर्गकरणं कृतस्य संस्कारनिर्णयो हस्तिबन्धनं स्निग्धनिवननं शून्यनिवेशनं दारुवनच्छेदनं चेत्याह तथा कापटिकोदास्थितगृहपतिवैदेहिकतापसव्यञ्जनात्मकं पञ्चविधं चारवर्गं पञ्चवर्गशद्ववाच्यं तत्त्वतश्चिन्तयेत् । तत्र परममङ्गः प्रगल्भछात्रः कपटव्यवहारित्वात् कापटिकस्तंवृत्त्यर्थिनमर्थमानाभ्यामुपगृह्य रहसि राजा ब्रूयात् । यस्य दुर्वृत्तं पश्यसि तत्तदानीमेव मयि वक्तव्यमिति प्रव्रज्यारूढपतितउदास्थितस्तं लोकेषु विदितदोषं प्रज्ञाशौचयुक्तं वृत्त्यर्थिनं कृत्वा रहसि राजा पूर्ववद्ब्रूयात् बहुत्पत्तिकमठे स्थापयेत् प्रचुरसस्योत्पत्तिकं भूम्यन्तरं च तद्वृत्त्यर्थमुपकल्पयेत् सचान्येषामपि प्रव्रजितानां राजाचारकर्मकारिणां ग्रासाच्छदनादिकं दद्यात् । कर्षकः क्षीणवृत्तिः प्रज्ञाशौचयुक्तो गृहपतिः व्यञ्जनस्तमपि पूर्ववदुक्ता स्वभूमौ कृषिकर्मकारयेत् । वाणिजकः क्षीणवृत्तिः वैदेहिकव्यञ्जनस्तं पूर्ववदुक्ता धनमानाभ्यामात्मीकृत्य वाणिज्यं कारयेत् । मुण्डोजटिलो वा वृत्तिकामस्तापसव्यञ्जनः सोऽपि क्वचिदाश्रमे सन् बहुमुण्डजटिलान्तरे कपटशिष्यगणवृतो गुह्यराजोपकल्पितवृत्तिस्तापस्यं कुर्यात् मासद्विमासान्तरितं प्रकाशं बदरादिमुष्टिमश्रीयाद् रहसि च राजोपकल्पितमाहारं कल्पयेत् । शिष्याश्चास्यातीतानागतज्ञानादिकं ख्यापयेयुस्तेन बहुलोकवेष्टनमासाद्य सर्वेषां विश्वसनीयत्वात् सर्वकार्यमकार्यं च पृच्छन्ति अन्यस्य कुक्रियादिकं कथयंत्येवं रूपं पञ्चवर्गं यथावच्चिन्तयेत् एवं पञ्चवर्गं प्रकल्प्य तेनैव पञ्चवर्गद्वारेण प्रतिराजस्यात्मीयानां चामात्यादिनां चानुरागविरागौ ज्ञात्वा तदनुरूपं चिन्तयेत् वक्ष्यमाणस्य राजमण्डलस्य प्रचारकः संध्यर्थी को वा विग्रहार्थीत्यादिकं चिन्तयेत् तं च ज्ञात्वा तदनुरूपं चिन्तयेत् ॥ १५४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच कृत्स्नमिति प्रत्येकान्वयि । अष्टविधम् ॥ आदाने च विसर्गे च तथा प्रैषनिषेधयोः । पञ्चचमे चानुवचने व्यवहारस्य चेक्षणे ॥ दण्डशुद्ध्योः समायुक्तस्तेनाष्टगतिकोनृपः । अष्टकर्मा दिवं याति राजा शक्रादिपूजित इति श्रुतोक्तेः । तत्रादानकरादेः । विसर्गोदानं धनार्देविप्रभृत्यादिभ्यः । प्रैषः प्रेरणादृष्टार्थानुष्ठाने । निषेधोऽमात्यादीनां दृष्टादृष्टविरुद्धक्रियासु । अनुवचनं प्रजानां कार्यसंदेहे राजाज्ञयैवासकृन्निघमनम् । व्यवहारस्य च वक्ष्यमाणस्य ऋणाद्यष्टादशविधस्येक्षणे । दण्डे विप्रतिपत्तौ पराजितानां दण्डेन शास्त्रोक्तधनग्रहे शुद्धौ प्रायश्चित्ते स्वपरेषां पापकर्मणि ज्ञाते यस्य चेच्छतिपार्थिव इत्युक्तेः । समायुक्तस्तत्तत्कर्मनिपुणः । विस्तरभयान्तभेदाद्विरम्यते । पञ्चवर्गं यथा कापटिकदाम्भिकगृहपतिवैदेहिकतापसव्यञ्जनात्मकम् । तत्र राजाज्ञया धर्मज्ञोऽपि कपटेन व्यवहारेण प्रजानां धर्माधर्मौ राज्ञाज्ञापयतीति कापटिकः । एवं संन्यासारूढः पतितस्तं धनैः प्रलोभयंस्तद्वारा परकीयसंन्यासिव्याजचाराणां वृत्तिजानीयाद्येन सदांभिकः । पतितः संन्यासी स एव दासआमरणान्तिक इति याज्ञवल्क्योक्तेः । गृहपतिः पूर्वस्वयं कृषकः दुरदृष्टवशात् क्षीणवृत्तिस्तमेव स्वभूमौ कृषिकारयेदिति । वैदेहकं वणिजं क्षीणवृत्तिं स्ववाणिज्ये नियोजयेदिति । तापसः मुण्डोजटिलो वा वृत्तिकामस्तमपि तादृशैः कपटतापसैरध्यापकत्वादिना संभाव्य तद्वारा परपक्षं कुबुध्या प्रलोभयेदिति । तेन पञ्चवर्गद्वारेणात्मन्यमात्यानामनुरागप्रतिराज्ञोऽपरागं विद्वेषं चिन्तयेदित्यनुषज्यते । प्रचारं यथा कः संध्यर्थी को वा विग्रहार्थीति मण्डलस्य च वक्ष्यमाणस्य ॥ १५४ ॥

(५) नन्दनः । अष्टविधं कर्म कामन्दकेनोक्तं ॥ कृषिर्वणिक्पथो दुर्गं सेतुः कुञ्जरबन्धनम् । संन्याकरवनादाने संन्यानां च निवेशनम् ॥ अष्टवर्गमिमं साधुः स्वस्थचित्तो विचिन्तयेत् ॥ पञ्चवर्गः कर्म्मरम्भो पायादिः पूर्वोक्तः मण्डलं हि सप्ततिप्रकृत्यकं वक्ष्यति । प्रचारः प्रवृत्तिः ॥ १५४ ॥

[नन्दनः । मण्डलप्रचारपरिज्ञानोपायमाह । श्रवणाठविकादयोवनचराः वनेवनाधिपेषु चारपरंपराः कार्याः । श्रमणावानप्रस्थाः ॥ १ ॥]

[नन्दनः । तादृशाः श्रमणादिरूपिणः तादृशैः परमार्थश्रमणादिभिः परस्यैते चराबोद्धव्याः तेषां द्वैविध्यमुत्तरार्द्धे नोच्यते चारसञ्चारिणः गतागताभ्यां प्रवृत्तिज्ञापका इति यावत् । संस्थानामेकत्रस्थित्वाप्रवृत्तिहारयितारस्तेषामुभयेषां विशेषणम् गूढाश्च गूढसंज्ञिता इति गूढाः सन्तोऽप्यगूढसंज्ञिता इति गूढत्वेन परिज्ञातास्ते । द्विविधा बोद्धव्या इति ॥ २ ॥]

(६) रामचन्द्रः । द्विसप्ततिसंख्याकानि राज्याङ्गानि पञ्चभिराह । पूर्वकृत्स्नमष्टविधं कर्म चिन्तयेत् । तद्यथा उशनसोक्तम् ॥ आदाने च विसर्गे च तथा प्रेषनिषेधयोः । पञ्चमे चार्थवचने व्यवहारस्य चेक्षणे ॥ दण्डशुद्ध्योः सदा युक्तस्तेनाष्टगुणिको नृपः । अष्टकर्मा दिवं याति राजा शक्राभिपूजितः ॥ इति च पुनः तत्ततः विचारेण पञ्चवर्गं चिन्तयेत् । कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसंपत् विनिपातप्रतीकारः देशकालविभागः कार्यसिद्धिरिति पञ्चवर्गः । कापटिकोदस्थितगृहपतिवैदेहतापसव्यञ्जनात्मकः पञ्चवर्ग इत्यन्ये । अनुरागापरागौ परकीयाणां तथा मण्डलस्य स्वकीयस्य प्रचारप्रवृत्तिं चिन्तयेत् ॥ १५४ ॥

मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम् ॥ उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः ॥ १५५ ॥

(१) मेधातिथिः । एतस्मिन् राजमण्डलमाश्रितस्यो राजप्रकृतयो मुख्या भवन्ति । विजिगीषुरिर्मध्यम उदासीन इति तत्र एष च यो राजा प्रकृतिसंपन्नोऽहमेव विधांपृथिवीं विजेष्येऽभ्युत्थितः स विजिगीषुः उत्साहशक्तियोगात् । शत्रुस्त्रिविधः सहजः प्राकृतः कृत्रिमः स्वभूम्यन्तर इति मध्यमोऽनयोरिव विजिगीष्वोरसंहतयोर्निग्रहसमर्थनसंहतयोरुदासीनः अरिविजिगीषुर्मध्यमानामसंहतानां निग्रहसमर्थो न तु संहतानाम् ॥ १५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तत्रापि चतुर्णां यत्नतोन्वेष्ट्यः प्रचारोधिककार्यत्वादित्याह मध्यमस्येति । अरिविजिगीषुर्मध्यवर्ती क्षुद्रोऽपि मध्यमोन्यतरप्रवेशेनान्यतरं बाधत इति प्रतिसन्धेयः । विजिगीषोर्मण्डलमध्य उत्साहवतः उदासीनः सर्वतोबाह्यः स तु सर्वानेवोत्थापयितुं शक्त इत्यन्वेष्ट्यः । एवमरिः सर्वानर्थमूलतया ॥ १५५ ॥

(३) कुक्षूकः । अरिविजिगीषोर्यो भूम्यन्तरः संहतयोरनुग्रहसमर्थो निग्रहे चासंहतयोः समर्थः समध्यमः तस्य प्रचारं चिन्तयेत् । तथा प्रज्ञोत्साहगुणप्रकृतिसमर्थो विजिगीषुस्तस्य चेष्टितं चिन्तयेत् । तथा विजिगीषुर्मध्यमानां संहतानामनुग्रहे समर्थो निग्रहे चासंहतानां समर्थ उदासीनः तस्य प्रचारं चिन्तयेत् । शत्रोश्च त्रिविधस्यापि सहजस्य अकृत्रिमस्य भूम्यन्तरस्य च पूर्वापेक्षया प्रयत्नतः प्रचारं चिन्तयेत् ॥ १५५ ॥

(४) राघवानन्दः । मण्डलमाह मध्यमस्येति । एतस्मिन् राजमण्डले विजिगीषुरिर्मध्यम उदासीन इति चतस्रो मुख्या राजप्रकृतयः तत्र विजिगीषुर्यो राजा प्रकृतिसंपन्नोऽहमेव विधांपृथ्वीं जेष्यामीत्युच्छ्रितः । उत्साहयोगादरिरपि त्रिविधः सहजकृत्रिमस्वभूम्यन्तरितभेदेन कृत्रिमो भूम्याद्यपरिहारनिर्मितः । मध्यमः अरिविजिगीषोर्मध्यभूमिगतः संस्तयोः संहतयोर्निग्रहेऽसमर्थोऽसंहतयोर्निग्रहे समर्थः । उदासीनस्त्वरिविजिगीषुर्मध्यमानामसंहतानां निग्रहे समर्थः संहतानामसमर्थः । तेषां प्रचारं चिन्तयेदित्यनुषज्यते । प्रचारो नाम प्रज्ञोत्साहगुणप्रकृतिसंपन्नत्वम् । श्लोकोऽर्थक्रमाद्वाख्यातः ॥ १५५ ॥

(५) नन्दनः । मण्डलं वक्तुं क्रमते मध्यमस्येति । प्रचारः मध्यमादीनां चतुर्णां लक्षणत्वं वक्ष्यति । बोद्धव्य इति वचनविपरिणामः ॥ १५५ ॥

एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः ॥ अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृताः ॥ १५६ ॥

(१) मेधातिथिः । एताः स्मृताः एतामूलप्रकृतयो मण्डलस्य व्याख्याताः । अष्टौ चान्याः आसांचतसृणां प्रकृतीनामेकैकस्याः प्रकृतेर्मित्रममित्रं चेति द्वे द्वे प्रकृता एता अष्टौ आद्याश्चतस एवमुभयतो द्वादश भवन्ति ॥ १५६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतदाह एता इति । प्रकृतयोऽवयवाः । मण्डलस्य मूलं प्रधानम् । अष्टावन्यामित्रप्रभृतयो द्वादशैव ताः प्रकृतयो मिलित्वा तदयं समुदायार्थः । मण्डलस्य मध्ये योधिकलाभार्थं नित्योत्साहः प्रवर्तते सविजिगीषुस्तस्याग्रतोरिस्तदनन्तरो मित्रं तदनन्तरो रिमित्रं ततो मित्रमित्रं ततोरिमित्रमित्रं पृष्ठे तु पार्ष्णिग्राहस्तत्पृष्ठे आक्रन्दः तत्पृष्ठे पार्ष्णिग्राहासारस्तत्पृष्ठ आक्रन्दासारः । अरिविजिगीष्वोर्मध्यस्थः क्षुद्रोर्मध्यमः उदासीनः सर्वेभ्यः परतर इति द्वादशभिर्नृपैर्मण्डलमुच्यते । क्षुद्रोऽप्युभयोरन्यतरप्रवेशेनान्यतरेण सह विग्रहं कुर्वन् दुर्यह इति मण्डले गम्यते । अत्र यः स्वापेक्षया विजिगीषुस्तमादाय स्वात्मानमन्तर्भाव्य द्वादशराजकमण्डलं प्रकल्प्यते तेषां द्वादशानां प्रवृत्तिरन्वेष्टव्येत्यर्थः ॥ १५६ ॥

(३) कुड्डूकः । एता मध्यमाद्याश्चतस्रः प्रकृतयः । संक्षेपेण मण्डलमूलं अपरासामभिधास्यमानप्रकृतीनाममात्यादीनां मूलमित्युच्यते । अन्याश्चाष्टौ समाख्याताः तद्यथा अग्रतोऽरिभूमीनां मित्रमिमित्रमिमित्रमिमित्रमित्रमित्रं चेति एवं चतस्रः प्रकृतयो भवन्ति पश्चाच्च पार्ष्णिग्राह आक्रन्दः पार्ष्णिग्राहासार आक्रन्दासार इति चतस्रः एवमष्टौ प्रकृतयो भवन्ति पूर्वोक्ताभिश्च मध्यमारिविजिगीषूदासीनशत्रुरूपाभिर्मूलप्रकृतिभिः सह द्वादशैताः प्रकृतयः स्मृताः ॥ १५६ ॥

(४) राघवानन्दः । एता मध्यमाद्याश्चतस्रः प्रकृतयः संक्षेपेण मण्डलस्य मूलम् । अष्टौ चान्याः । अग्रतः स्वभूमीनां अरिः अरिमित्रं मित्रं उदासीनश्चेति चतस्रः तथा पार्ष्णिग्राहः आक्रन्दः पार्ष्णिग्राहासारः आक्रन्दासारः इति चतस्रः एवमष्टौ उक्ताभिर्मध्यमविजिगीषूदासीनशत्रुरूपाभिः सह द्वादश ॥ १५६ ॥

(५) नन्दनः । मण्डलस्य द्विसप्तप्रकृत्यात्मकं श्लोकद्वयेनाह एताः प्रकृतयो मूलमिति मध्यमो विजिगीषूदासीनः शत्रुरित्येताश्चतस्रः प्रकृतयः मण्डलस्य मूलं प्रकृतिरिति राजा । काः पुनरष्टाः प्रकृतयः मित्रमरिमित्रमिमित्रमिमित्रमित्रमित्रं पार्ष्णिग्राहः आसारः आक्रन्द आसारश्चेति एवन्तावद्वादश स्मृताः ॥ १५६ ॥

(६) रामचन्द्रः । एताश्चतस्रः प्रकृतयो मण्डलस्य मूलं प्रधानं समासतः संक्षेपतः अरिमित्रारिमित्रमित्रमित्रारिमित्रमित्रपार्ष्णिग्राह आक्रन्द पार्ष्णिग्राहासाराक्रन्दासारमध्यमोदासीनविजिगीषुरूपा द्वादशोत्पत्तिः । प्रथमो विजिगीषुः ततोऽरिस्ततो मित्रं ततोरिमित्रं ततो मित्रमित्रं ततोरिमित्रमित्रम् । पृष्ठे तु पार्ष्णिग्राहस्तत्पृष्ठे आक्रन्दस्तत्पृष्ठे पार्ष्णिग्राहासारस्तत्पृष्ठे आक्रन्दासारः । अरिविजिगीष्वोर्मध्यस्थः क्षुद्रोर्मध्यमः । उदासीनः सर्वेभ्यः परतर इति द्वादशमण्डलम् ॥ १५६ ॥

अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पञ्च चापराः ॥ प्रत्येकं कथिताश्चेताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः ॥ १५७ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रकृतीनां एकैकस्या भवन्ति अतः षट् द्वादशका द्विसप्ततिः ॥ १५७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवंप्रति या अङ्गभूता अमात्यकोशराष्ट्रदण्डदुर्गार्थ्याः प्रकृतयस्तासामपि प्रवृत्तिरनुसंधेयेत्याह अमात्येति । मण्डले प्रधानभूताश्चत्वार इति चेष्ट तेषां द्वादशानाममात्यदुर्गराष्ट्रकोशदण्डाः प्रत्येकं पञ्च पञ्चैति षष्टिस्ते च द्वादशेत्येवं मिलित्वा मण्डलावयवा द्विसप्ततिरित्यर्थः ॥ १५७ ॥

(३) कुड्डूकः । आसामूलप्रकृतीनांचतसृणामष्टानां शाखाप्रकृतीनामुक्तानामेकैकस्याः प्रकृतेरमात्यदेशदुर्गकोशदण्डाख्याः पञ्च द्रव्यप्रकृतयो भवन्ति एताश्च पञ्च द्वादशानां प्रत्येकं भवन्त्यो द्वादशगुणजाताः षष्टिरेव द्रव्यप्रकृतयो भवन्ति तथा मूलप्रकृतिभिश्चतसृभिः शाखाप्रकृतिभिश्चाष्टाभिः सह संक्षेपतो द्विसप्ततिप्रकृतयो मुनिभिः कथिताः ॥ १५७ ॥

(१५७) राष्ट्रदुर्गार्थम् = पुरराष्ट्रार्थम् (त)

(४) राघवानन्दः । तेषांप्रकृतानांप्रत्येकं पुनः पञ्चपञ्चप्रकृतयः सन्तीति सविनिगमनमाह अमात्येति । अमात्यः पुरोहितादिः । राष्ट्रोदेशः । दुर्गोगिर्यादिः । अर्थःकोशः । दण्ड्यतेपापी शत्रुर्वानेनेति दण्डः पणग्रहणादिः सेनादिर्वा । तेन मूलप्रकृतयोर्मध्यमाद्याश्चतस्रः मित्राद्याश्चतस्रः शाखाः प्रकृतयः तथापार्णिग्राहाद्याश्चतस्र इति द्वादश तासांप्रत्येकममात्यादिपञ्चेति षष्टिरिति द्विसप्ततिः प्रकृतयः ॥ १५७ ॥

(५) नन्दनः । आसु द्वादशसु प्रकृतिषु प्रत्येकममात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पञ्चप्रकृतयः सन्ति । अर्थः कोशदण्डोबलं एता अनन्तरोक्ताश्चतस्रः अष्टौ च द्वादशदशपञ्चकानि च प्रकृतयोर्विस्तरेण कथिताः । संक्षेपेण द्विसप्ततिः संपद्यन्ते एषमण्डलस्य विस्तारः संक्षेपश्चेत्यर्थः ॥ १५७ ॥

अनन्तरमरिर्विद्यादरिसेविनमेव च ॥ अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम् ॥ १५८ ॥

[विप्रकृष्टेऽध्वनीयन्न उदासीनो बलान्वितः । सखिलोमण्डलार्थस्तु यस्मिन्ज्ञेयः समध्यमः ॥ १॥]⁺

(१) मेधातिथिः । विजिगीषुभूम्यनन्तरमरिर्विद्यात्तथारिमित्रमित्रं त्वेवमरिर्भूम्यनन्तरं विजिगीषोर्मित्रं भवति । उदासीनस्तयोः परः । अरिमित्रलक्षणं च सहजकृत्रिमयोरपि द्रष्टव्यम् ॥ १५८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अमात्यादीनां च स्वाम्यधीनतया तन्मध्यगणनेन यदि द्वादशैव प्राधान्येन गण्यन्ते तदा तत्रापि विवक्षितविवेके वस्तुतश्चत्वार एव स्युरित्याह अनन्तरमरिमिति । अरिसेविनमरिमित्रादिमरिमेव विद्यात् । एवं चानन्तरस्य तत्संयुक्तस्य चारित्वे पार्णिग्राह्यतदासारारितमित्राणामरित्वमेव । एवमरेरनन्तरं तद्वैरिणं सर्वमेव मित्रकोटिर्विद्यात् । तथा उदासीन उभयप्रकाररहितो विजिगीषुश्च द्वावपि पृथगिति चातुर्विध्यं तयोः परं ताभ्यामन्यं विजिगीषोश्चेति शेषः ॥ १५८ ॥

(३) कुल्लूकः । विजिगीषोर्नृपस्यान्तरितंचतुर्दिशमप्यरिप्रकर्तविजानीयात् तथा तत्सेविनमप्यरिमेव विद्यात् अरेरनन्तरं विजिगीषोर्नृपस्यैकान्तरमित्रप्रकर्तविद्यात्तथोश्चारिमित्रयोः परं विजिगीषोरुदासीनप्रकर्तविद्यात् । आसामेव प्रकर्तानामग्रपश्चाद्भावभेदेन व्यपदेशभेदः । अत्राग्रवर्तिनोऽरिव्यपदेश एव पश्चाद्वर्तिनस्त्वरित्वेऽपि पार्णिग्राह्यव्यपदेशः ॥ १५८ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तार्थादिचतुष्टयस्य लक्षणमाह अनन्तरमिति । अनन्तरं स्वभूमेः चतुर्दिक्षु वर्तमानं राजचतुष्टयमरिर्विद्यात् तथा अरिसेविनमप्यरिर्विद्यादत एव तस्यापरपक्षनिक्षिप्तत्वादरिमित्रोदासीनपार्णिग्राहाश्चतस्रः । तयोः ररिमित्रयोः परं बहिर्भूमौ वर्तमानमुदासीनं चेतयेदित्यन्वयः । वस्तुतस्तु मध्यमस्येत्यादेरयमर्थः । मध्यमस्य मित्रमुदासीनोऽरिर्विजिगीषुश्चेति चतस्रः प्रकृतयः त एव नामभेदेनारिमित्रमित्रारिमित्रपार्णिग्राहासाराक्रन्दासारतांप्रतिपद्यन्ते । नचैकस्यानामादिभेदादनेकत्वमदृष्टचरमिति वाच्यम् । एकचक्रश्चैकाश्वः सवितेति श्रुतेभेदेन समसमिवहः पश्चितिस्मृतिदर्शनात् रुष्णाष्टम्या एव जयन्त्यादिभेदेन फलभेददर्शनाच्च । अत एव । अरिमित्रमुदासीनोऽनन्तरस्तत्परः पर इति याज्ञवल्क्यः । पार्णिग्राहाक्रन्दासारादयश्चारिमित्रादिष्वन्तर्भवन्तीति याज्ञवल्क्यमिताक्षरावचनमपिसंगच्छत इति त्वविषयस्याग्रवर्त्यरिः पश्चाद्वर्ती पार्णिग्राहः ॥ विषयानन्तरोराजा शत्रुर्मित्रमतः परम् । उदासीनः परतरः पार्णिग्राहस्तु पृष्ठत इत्यभिधानात् ॥ एवं चतुर्दिक्षु द्वादशैव राजानः ॥ १५८ ॥

(५) नन्दनः । मध्यमादीनां लक्षणं श्लोकद्वयेनाह अनन्तरमरिर्विद्यादिति । विजिगीषोरनन्तरमरिर्विद्यात्

अरिसेवितश्चारिमित्रं पार्ष्णिग्राहः आसारश्चेति चत्वारोऽरिसेविनः स्वयमरिश्चेति पञ्चारयः सम्पद्यन्ते । अरिप्रसङ्गान्मित्रलक्षणमुक्तम् । अरेरनन्तरममित्रमिति अरेरनन्तरंजातावेकवचनं अरीणां पञ्चानामनन्तरममित्रं विद्यादित्यर्थः । मित्रं मित्रमित्रमाक्रन्दं असारश्चेति चत्वारिमित्राणि संपद्यन्ते । तयोररिवर्गमित्रयोः परंबहिस्थितमुदासीनं विद्यादिति । उदासीनस्य लक्षणशेषमुत्तरत्र श्लोकेऽपि वक्ष्यते ॥ विप्रकृष्टेऽध्वन्यधत्तउदासीनो बलान्वितः । विजिगीषुर्मण्डलार्थोयस्मिन्नेयः समध्यम-इति ॥ योविप्रकृष्टेऽध्वनि स्थितोयत्नरहितः स उदासीनः । यो महाबलः स विजिगीषुर्मण्डलार्थोमण्डलस्य कृत्यमनिग्रहानुग्रहादिकं यस्मिंस्तिष्ठति समध्यमो ज्ञेयः । एतन्मण्डलप्रकरणं कामन्दकमतानुसारेण व्याख्यातं । तथाह कामन्दकः ।

- ॥ संपन्नस्तु प्रकृतिभिर्महोत्साहः कृतश्रमः । जेतुमेषणशीलश्च विजिगीषुरिति स्मृतः ॥ १ ॥
अरिमित्रमरेर्मित्रमित्रमित्रमतः परम् । तथारिमित्रमित्रश्च विजिगीषोः परः स्मृतः ॥ २ ॥
पार्ष्णिग्राहस्ततः पश्चादाक्रन्दस्तदनन्तरम् । आसारावनयोश्चेति विजिगीषोस्तुमण्डलम् ॥ ३ ॥
अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भ्राज्यनन्तरम् । अनुग्रहे संहतयोर्व्यस्तयोर्निग्रहे प्रभुः ॥ ४ ॥
मण्डलाद्वाहिरेतेषामुदासीनो बलान्वितः । अनुग्रहे संहतानां व्यस्तानाञ्चैव यो प्रभुः ॥ ५ ॥
अमात्यराष्ट्रदुर्गाणि कोशोदण्डश्च पञ्चमः । एताः प्रकृतयस्तज्ज्ञैर्विजिगीषोरुदाहृताः ॥ ६ ॥
द्वादशानां नरेन्द्राणां पञ्चपृथक् पृथक् । अमात्याद्यास्तु प्रकृतीरामनन्तीह मानवाः ॥ ७ ॥
मालाद्वादशचैवेता अमात्याद्यास्तथा च याः । सप्तविद्याधिकाश्चैषाः सर्वाः प्रकृतिमण्डलम् ॥ ८ ॥

इति ॥ १५८ ॥

तान्सर्वानभिसंदध्यात्सामादिभिरुपक्रमैः ॥ व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च ॥ १५९ ॥

- (१) मेधातिथिः । संदध्याद्वशीकुर्यात् । पौरुषण्यौ सामदण्डावेव तत्रचोक्तौ सामदण्डौ प्रशंसतीति ॥ १५९ ॥
(२) सर्वज्ञनारायणः । अभिसंदध्यात् आत्मीयान्कुर्यात् । उपक्रमैरुपायैः । पौरुषेण दण्डकारणभूतेन । नयेन च मतिकौशलेन सामदानभेददण्डकारणभूतेन ॥ १५९ ॥
(३) कुल्लूकः । तान्सर्वान्पृथगीन्सामभेदान्दण्डैरुपायैर्यथासंभवं व्यस्तैः समस्तैर्वशीकुर्यात् । अथवा पौरुषेण दण्डेनैव केवलेन नयेन साम्रैव वा केवलेनात्मवशान्कुर्यात्तथाचोक्तम् ॥ सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ॥ १५९ ॥
(४) राघवानन्दः । एतेषां ज्ञाने किं स्यात्तदाह तानिति । अभिसंदध्याद्वशीकुर्यात् । व्यस्तैः साम्राज्यादानेन भेदेन दण्डेन च कंचित् समस्तैः कंचित्सामभेददण्डैः । पौरुषेण दण्डेनैव नयेन साम्रैव वा । तथोक्तम् ॥ सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धय इति ॥ १५९ ॥
(५) नन्दनः । पौरुषेण उत्साहेन ॥ १५९ ॥
(६) रामचन्द्रः । सामादिभिरुपक्रमैश्चतुर्भिरुपायैः सामदानदण्डभेदैः समस्तैर्व्यस्तैर्वा तान्सर्वानरिमित्रादीन्संदध्यात् संधिकुर्यात् ॥ १५९ ॥

संधिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च ॥ द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा ॥ १६० ॥

- (१) मेधातिथिः । तत्रहिरण्यादिदानोभयानुग्रहार्थः सन्धिस्तद्विपरीतो विग्रहः एकान्तताप्युच्यते याममुपेक्षायामा-

सनसन्धिविग्रहोपादानंद्वैधीभावः परस्यात्मार्पणसंश्रयः एतेषुद्रुणाः एतेषांयस्मिन्गुणेऽवस्थितोमन्येताहंशक्ष्यामि दुर्ग-
कारयितुं हस्तिनीर्बन्धयितुं खनीःखनयितुं वणिक्पथंयोजयितुं जतुवनंछेदयितुं अदेवमातृकदेशे क्षेत्राणि बन्धयितु-
मित्येवमादीनि परस्य विज्ञानि व्याहर्तुर्बुद्धिविधातार्थगुणमुपेयादेवंचसति ॥ १६० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संधिर्दानसामादिनात्मीयताकारणम् । विग्रहोवैरोपदर्शनम् । यानमुद्यम्य गमनम् । आ-
सनमर्किचिदुक्तावधारणम् । द्वैधीभावोल्पस्य सैन्यस्य विभज्य योधनम् । संश्रयः त्वस्याबलत्वे बलवत्पराश्रयण-
म् ॥ १६० ॥

(३) कुल्लूकः । तत्रोभयानुग्रहार्थहस्त्यश्वरथहिरण्यादिनिबन्धनेनावभ्यामन्योन्यस्योपकर्तव्यमिति नियमबन्धः
सन्धिः । वैरविग्रहाचरणाद्याधिक्येन । यानंशत्रुप्रति गमनम् । उपेक्षणमासनम् । स्वार्थसिद्धये बलस्य द्विधाकरणंद्वैधीभावः ।
शत्रुपीडितस्य प्रबलतरराजान्तराश्रयणसंश्रयः । एतान्गुणानुपकारकान्सर्वदा चिन्तयेत् यद्गुणाश्रयणे सत्यात्मनउपचयः
परस्यापचयस्तंगुणमाश्रयेत् ॥ १६० ॥

(४) राघवानन्दः । परस्यात्मसात्करणे षडुपायानाह सन्धिमिति । तत्र सन्धिरुभाभ्यांहस्त्याद्यर्थनापकर्तव्यमि-
ति नियमबन्धः द्वयोर्धारणपोषणयोर्हेतुत्वात् । विग्रहोवैरम् । बलाधिक्येन शत्रुप्रतिगमनं यानम् । उपेक्षासनम् । स्वार्थ-
सिद्धये स्वस्य हस्त्यादिवलस्यच द्विधाकरणं द्वैधीभावः । शत्रुपीडितस्य प्रबलतरराजाश्रयणमाश्रयइति ॥ १६० ॥

(६) रामचन्द्रः । षडुप्यविधिमाह सन्धिमितिसप्तभिः । सन्धिः व्यवस्थाकरणं द्रव्यसामादिना वशीकरणं विग्रहः
अपकारः यानं शत्रुप्रति यात्रा आसनं उपेक्ष्यावज्ञाकरणं द्वैधीभावः त्वबलस्य द्विधाकरणं संश्रयः प्रबलस्याश्रयः ॥ १६० ॥
आसनं चैव यानं च संधि विग्रहमेव च ॥ कार्यं वीक्ष्य प्रयुज्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥ १६१ ॥

(१) मेधातिथिः । एकेन संधायापरस्मिन्याने शक्तंमृषा विगृह्णीयात् एवमासनमपि संधाय विगृह्यच सर्वमेत-
त्कार्यवीक्ष्य प्रयुज्जीत नात्र नियतकालोयदैव यद्युक्तमन्येत तदैवतदाचरेत् यदि कालनियमोलक्षयितुंशक्यते उप-
देशःकिमर्थमेवमाह नशक्यते विशेषोदुर्लभः सामान्यन्तु सुलक्षमेतदप्यनुधानामुपयुज्यते ॥ १६१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कार्यवीक्ष्य यत्र त्वप्रयोजनदर्शनं तदेव नतुसर्वसंभवेयत्किंचित्प्रयोज्यम् । संधायचविगृ-
ह्यचेतिपाठेसंधाय यानं तथा आसनंवा विगृह्यापि तथेत्यर्थः ॥ १६१ ॥

(३) कुल्लूकः । संध्यादिगुणानानैरपेक्ष्येणानुष्ठानमनन्तरमुक्तंतदुचितानुष्ठानार्थोयमारम्भः । आत्मसमृद्धिपरहा-
न्यादिकंकार्यवीक्ष्य संधायासनंविगृह्य वा यानंद्वैधीभावसंश्रये च केनचित्संधिकेनचिद्विग्रहमित्यादिकमनुतिष्ठेत् ॥ १६१ ॥

(४) राघवानन्दः । एतानिस्वार्थसमृद्धिपरपीडादिकार्यगौरवमालोच्य प्रयोक्तव्यानीत्याह आसनंचेति । प्रयुज्जीत
अनुतिष्ठेत् ॥ १६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतान्सन्धिविग्रहादीन्कार्यवीक्ष्यप्रयुज्जीत ॥ १६१ ॥

संधि तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च ॥ उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सर्वे गुणाद्विविधाइत्यर्थः ॥ १६२ ॥

(३) कुल्लूकः । संध्यादीन्बडेव गुणान्द्विप्रकारान् जानीयात् । इत्यविवक्षार्थम् ॥ १६२ ॥

(४) राघवानन्दः । एतेषां द्वैविध्यं प्रतिजानीते सन्धित्विति । सन्ध्यादिषट्कं प्रत्येकं द्विविधमित्यर्थः ॥ १६२ ॥

(६) रामचन्द्रः । राजासंधिविग्रहादीन् गुणान् द्विविधान्विद्यात् ॥ १६२ ॥

समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च ॥ तदा त्वायतिसंयुक्तः संधिर्ज्ञेयोद्विलक्षणः ॥ १६३ ॥

(१) मेधातिथिः । समानयानकर्मायानफलसहितौ तुल्यौ गच्छावः समानफलभागितयानचत्वयाहमलङ्घनीयो-
यत्ततो लप्स्यते तत्तत्र मम च भविष्यति । अथवा त्वमन्यतो याहमन्यत्र यास्यामीत्येवमसमानयानकर्मा विपरीतः ॥ १६३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संधिर्द्विधा समानयानकर्मा किञ्चिद्दूरयानं कृत्वा यः क्रियते । विपरीतः स्वस्थानस्थेनै-
व क्रियमाणः । सच द्विविधोऽपि कश्चित्तदात्वसंयुक्तस्तदैव देयफलः प्राप्यफलोवा । आयतिसंयुक्तस्तु कालान्तरे सफलो-
रयोऽफलोवा ॥ १६३ ॥

(३) कुल्लूकः । तात्कालिकफललाभार्थमुत्तरकालीनफललाभार्थवा यत्र राजान्तरेण सहान्यं प्रति यानादिक-
र्म क्रियते ससमानयानकर्मासंधिः यः पुनस्त्वमत्र याहमत्र यास्यामीति सांप्रतिकोत्तरकालीनफलार्थतयैव क्रि-
यते सोऽसमानयानकर्मेत्येवद्विप्रकारः संधिर्ज्ञातव्यः ॥ १६३ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र सन्धेर्द्वैविध्यं विशदयति समानेति । संप्रत्युदकेवा यत्फलं तदर्थं राजान्तरेण सहैवान्यं प्रति-
यानादिकर्मकरणं तत्समानयानकर्मा सन्धिः समानस्यैकफलस्य यानेन कर्मणोभयोरनुसन्धेयत्वात् । विपरीतः असमा-
नकर्म त्वमत्रयाहि अहमन्यत्रयास्यामीति सांप्रतिकोत्तरकालीनफलार्थतयावा गमनम् । तदेवाह तदा त्वायतिसंयुक्त इति
तदा त्वंतत्कालः आयतिरुत्तरकालः तयोः सम्यक्फलसिद्धये युक्तः साधुः सच सन्धेर्विशेषणम् ॥ १६३ ॥

(५) नन्दनः । लब्धसमानयानयोः समानं भवेदितिकृतसंयोगद्वयाद्यानं यानसमर्थफलं कर्म युद्धादिकञ्च समानं-
यस्मिन्समानयानकर्मा । तदा त्वायतिसंयुक्तः तदा त्वंवर्तमानः कालः आयतिर्भविष्यत्कालः क्रियमाणकरिष्यमाणयोः
कार्ययोरित्यर्थः ॥ १६३ ॥

(६) रामचन्द्रः । समानयानकर्म यस्य ससमानयानकर्मा शत्रोः समानयानहस्त्यश्वादीनि । च पुनः विपरीतः
शत्रुः हस्त्यश्वादिभिर्यदाहीनः । तदा तु आयतिसंयुक्तः भाग्ययुक्तः सन्धिर्द्विलक्षणो ज्ञेयः ॥ १६३ ॥

स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा ॥ मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥ १६४ ॥

(१) मेधातिथिः । स्वयंविग्रहस्य कालोऽयदावश्यं स्वबलेनोत्सहते परं कर्षयितुमुत्साहयुक्तः प्रकृतयः संहताविवृद्धाश्च
स्वकर्मरूप्यादि फलसंपन्नाः परस्यैतान्यपहरिष्यन्ति कर्माणि क्षीणलब्धप्रकृतिः परः शक्यास्तत्प्रकृतय उपजापेनात्मीयाः
कर्तुंसस्वयंविग्रहस्य कालः । अकाल एतद्विपरीतः तत्रापि विग्रहो मित्रस्यापकृते यदि शत्रुणा तदीयं मित्रमपकृतं तदा तद्वि-
चिन्त्या कालेऽपि विग्रहः कर्तव्यः । यद्यपि स्वयमपि शत्रोरनन्तरं मित्रं भवति तथापि तेन मित्रेण सहायेन शक्यः शत्रुरप-
बाधितुम् । शत्रोरनन्तरं मित्रं भवति शत्रोस्तु शत्रुविषयानन्तरत्वम् । पाठान्तरं मित्रेण चैवापकृते । तेन यद्यसौ बाधितो-
भवति तदाऽकालेऽपि विग्रहः कार्यः । एतद्विग्रहस्य द्वैविध्यं स्वकार्यार्थमित्रकार्यार्थं च । अथवा त्वमनोभ्युल्लूयादेकः प्रकारो-
मित्रेणापकृते व्यसनिनि तत्रैव द्वितीयः ॥ १६४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वार्थकृतो मित्रार्थं चेति द्विधा सच सर्वो विग्रहयोग्यकाले हेमन्तादावपि क्रियते अयो-
ग्यकाले वर्षास्वपि अपकृतेऽपकारेऽन्येन कृते तदपकारार्थम् ॥ १६४ ॥

(३) कुल्लूकः । शत्रुजयरूपयोजनार्थं शत्रोर्व्यसनादिकमाकलय्य वक्ष्यमार्गमागशीर्षादिकालादन्यदा यथोक्तकाल-
एव वा स्वयंकृतइत्येकोविग्रहः । अपकृतमपकारः मित्रस्यापकारे राजान्तरेण कृते मित्ररक्षणार्थमपरोविग्रहइत्येवंद्विवि-
धोविग्रहः । गोविन्दराजेन तु मित्रेण चैवापकृतइति पठितं व्याख्यातं च यः परस्य शत्रुः सविजिगीषोर्मित्रं तेनापकारे क्रियमा-
णो व्यसनिनि शत्राविति तस्माल्लिखितपाठार्थो वृद्धैर्गोविन्दराजतः मेधातिथिप्रभृतिभिर्लिखितौ स्वीकृतौ मया ॥ १६४ ॥

(४) राघवानन्दः । विग्रहो विरोधस्तद्वैविध्यं स्फुटयति स्वयमिति । काले मार्गशीर्षादौ अकाले तद्भिन्ने कार्यार्थं
शत्रुजयप्रयोजनार्थं तद्यसनादिकमाकलय्य स्वेन संपादितो विग्रह एकः । अपरश्च मित्रस्यापकारे परेण क्रियमाणे तद्रक्ष-
णार्थं द्विविधः । गोविन्दराजेन मित्रेण चैवापकृतइति पठितं व्याख्यातं च । परस्य शत्रुः सविजिगीषोर्मित्रं तेन मित्रेणापकृते-
मित्रादेर्व्यसनिनि शत्रौ तन्निग्रहार्थो विग्रहः ॥ १६४ ॥

(५) नन्दनः । स्वयं विजिगीषुणामित्रकृतः मित्रेण विजिगीषोरुक्तश्चेति द्विविधो विग्रहः ॥ १६४ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्विविधविग्रहमाह स्वयमिति । अकाले काले वा कार्यार्थं स्वयंकृतं स्वार्थं मित्रार्थं वा मित्रस्या-
पकृते अनेनापकारकृते सति तदपकारार्थं क्रियते सः द्विधा विग्रहः ॥ १६४ ॥

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया ॥ संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥ १६५ ॥

(१) मेधातिथिः । एकाकिनो मित्रेण वासंहतस्य यानद्वैविध्यं सत्यां शक्तावेकाकिनः अन्यथा संहतस्य ।
आत्ययिकं कार्यं परस्य व्यसनोत्पत्तिः तदाह्यभिगमनियमो भवति परतः । कदाचिच्छब्धोच्छ्रयोदुरुच्छेद्यः ॥ १६५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एकाकिन इत्येकयात्रा मित्रसंहतस्येत्यपरा सा द्विविधापि स्वस्यात्ययिकं तत्कालाप्र-
तीकारेऽनर्थहेतुं कार्यमाकलय्य भवति । यद्वात्मनो बलवत्तामात्रमवेक्ष्य यदृच्छयेति ॥ १६५ ॥

(३) कुल्लूकः । आत्ययिकं कार्यं शत्रोर्व्यसनादिकं तस्मिन् कस्माज्जाते शक्तस्यैकाकिनो यानमशक्तस्य मित्रसहित-
स्येत्येवं यानं द्विविधमभिधीयते ॥ १६५ ॥

(४) राघवानन्दः । यानद्वैविध्यं भिनत्ति एकाकिनश्चेति । आत्ययिकेशत्रोर्व्यसनादिके कार्ये सैन्यादिविक्रियातः-
क्षयादिके यदृच्छया अकस्मात्प्राप्ते शक्तस्यैकाकिनः अशक्तस्य संहतस्य मित्रेण मिलितस्य शत्रुं प्रति गमनमिति यानद्वैविध्य-
म् ॥ १६५ ॥

(५) नन्दनः । आत्ययिके आवश्यकं कार्यं परस्य व्यसनादीनि यदृच्छया प्राप्ते ॥ १६५ ॥

(६) रामचन्द्रः । आत्ययिके आवश्यकं तत्कालप्रतीकार्यं कार्यं प्राप्ते अनर्थहेतुमाकलय्य यदृच्छया आत्मनो-
बलबलमात्रमवेक्ष्य एकाकिनो राज्ञः यानमेकं यानम् । द्वितीयमाह मित्रेण संहतस्य मित्रेण सह मिलित्वा कार्यं द्वितीयं
यानम् ॥ १६५ ॥

क्षीणस्य चैव क्रमशो देवात्पूर्वकृतेन वा ॥ मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥ १६६ ॥

(१) मेधातिथिः । आत्मसंवरणमासनं तदपि द्विविधं क्षीणस्य बलकोशोपनयेन वृद्धस्यापि शत्रुप्रत्यपेक्षा ।
आसनं च मित्रानुरोधेन यदि मित्रस्य शत्रुणा सहसंबन्धोनेदृशो भवति तदीयेन मित्रेण नायमुत्तम्भनीयइत्यतस्तदनुवृ-
त्त्यासीत् । सच क्षयो देवात्पूर्वकृतेन वेत्यनुवादः । वृद्धिक्षयौ सर्वस्यैतेन कारणेन भवतः तत्र दैवं स्वकृतप्रमादः अतिव्यय-
शीलता अप्रतिजागरणं चैवले पूर्वकृतमशुभं कर्मापि विपर्ययेण वैतद्याख्येयम् । मोहादिति पाठान्तरं अर्थस्तु दैवशब्देन
व्याख्यातः ॥ १६६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्षयोद्विधा दैवान्मारकादिनारिणि पूर्वकृतेन दण्डेनचेत्येकमेव क्षीणासनद्विविधम् । तथा मित्रस्यानुरोधेन त्वस्य तं प्रति सामर्थ्येऽपि तेन त्वमित्रस्य प्रतिबन्दिभावेन पीडाकरणशङ्कया परम् ॥ १६६ ॥

(३) कुहूकः । प्राग्जन्मार्जितेन दुष्कृतेनैहिकेन वा पूर्वकृतेन क्रमशः क्षीणहस्त्यश्वकोशादिकस्य समृद्धस्यापि वा मित्रानुरोधेन तत्कार्यरक्षार्थमित्येवंद्विविधमासनं मुनिभिः स्मृतम् ॥ १६६ ॥

(४) राघवानन्दः । आसनद्वैविध्यं स्पष्टयति क्षीणस्येति । क्षीणस्य हस्त्यश्वकोशादिरहितस्य दैवादृष्टवशात् पूर्वकृतेनैहिकेन बलवच्छत्रुपीडादिकर्मणा वा मित्रस्यानुरोधेन मित्ररक्षानुरोधेन वा आसनद्वैविध्यम् । आसीतेत्यासनम् । न चलेत्तदा त्वदेशत्यागे पराजयस्यैव संभाव्यमानत्वादिति भावः । स्मृतं मुनिभिः ॥ १६६ ॥

(५) नन्दनः । अस्मिन् जन्मनि साध्वकारिणोऽपि दैवात्क्षीणस्य पूर्वकृतेनास्मिन् जन्मनि पूर्वसंवत्सरादिषु कृतेन कर्मणा वा क्षीणस्यापन्नस्य यदासनं तत्प्रथमं दैवपूर्वकृताभ्यां क्षीणस्य मित्रस्यानुरोधेन यदासनं तद्वितीयमिति द्वितीयमासनम् ॥ १६६ ॥

(६) रामचन्द्रः । क्षयोद्विविधः दैवात् दैवकृतमरणादिना एकः पूर्वकृतदण्डेन अरिणा वा द्वितीयः । मित्रस्यानुरोधेन वा आसनं उपेक्षाकरणद्विविधं स्मृतम् ॥ १६६ ॥

बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये ॥ द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥ १६७ ॥

(१) मेधातिथिः । बलस्य स्थितिः स्वामिनश्च भेदेन दुर्गस्वामिनः त्वल्पेन बलेन सेनापतेरन्यत्र महता बलेन युक्तस्य अथवा बलशपथानुग्रहार्थः कश्चित्कर्तव्यो हिरण्यादिलाभापेक्षया परस्त्वधिकेनाशुद्वैधीभावोनामायमुपायः । तस्यैतदेवरूपं यद्विधास्थितिर्बलस्वामिचोरत्रैवरूपस्य तस्यापरद्वैधवत्कथं न च तदनेन किञ्चिदुच्यते केवलं बलस्य स्वामिनश्च स्थितिरेतद्विविधं तत्र वक्तव्यं मायायां द्वैधीभावस्तस्येदं द्वैविध्यम् । उच्यते सामर्थ्यलभ्यमेतत्परानुग्रहार्थमेतत्कर्तव्यं त्वकार्यार्थचेत्येषा द्विधाभावस्य द्वैधीभावः ॥ १६७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बलस्य सेनापत्यधिष्ठितस्य पुरोवस्थानं स्वामिनस्तु सैन्यैकदेशेन यानमित्येकं द्वैधमपरमेतद्विपर्ययात् । तथा षड्गुण्यस्य गुणसमुदायस्य गुणः प्रयोजकता ॥ १६७ ॥

(३) कुहूकः । साध्यस्वप्रयोजनसिद्ध्यर्थं बलस्य हस्त्यश्ववादेः सेनाधिपत्याधिष्ठितस्यैकत्र शत्रुनुपोपद्रववारणार्थमवस्थानमन्यत्र दुर्गदेशे राज्ञः कतिचिद्वलाधिष्ठितस्यावस्थानमेवं संध्यादिगुणषड्विधोपकारैर्द्विविधं द्वैधं कीर्त्यते ॥ १६७ ॥

(४) राघवानन्दः । द्विधा भूत्वावस्थितिर्द्वैधं तत्स्पष्टयति बलस्येति । बलस्य हस्त्यश्ववादेः सेनापत्यधिष्ठितस्य शत्रुसंमुखावस्थितिः अपरत्र दुर्गदेशे स्वात्मनः राज्ञः धनसहितस्यावस्थितिश्च । कार्यार्थसिद्धये शत्रुवारणार्थमित्रस्येत्यनुवर्तते ॥ १६७ ॥

(५) नन्दनः । बलिनोर्द्विषतोर्मध्ये वाचात्मानं समर्पयन् । द्वैधीभावेन वर्ततकाकाक्षिवदलक्षितः ॥ इति कामन्दकवचनानुगुण्यादयं श्लोको व्याख्येयः । बलस्य शत्रुभ्यामिति युक्तस्य तदीयया भावनया द्विधाभूयावस्थानम् स्वामिनस्तथावस्थानमिति द्विविधं द्वैधीभावः कीर्त्यते ॥ १६७ ॥

अर्थसंपादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः ॥ साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६८ ॥

(१) मेधातिथिः । शत्रुभिः पीड्यमानस्य अर्थसंपादनार्थमन्यत्र संशयः अर्थपीडानिवृत्तिस्तत्संपादनार्थशक्यम-

न्यमाश्रयेत् त्वदेशंहित्वा तत्र गच्छेत् । व्यपदेशश्चापीडितेऽपि आगामिपीडा परिहाराय व्यपदेशार्थमन्यसंश्रयेत् एषोऽस्य सह्यकोवर्तते न शक्योयमुपपीडयितुमिति व्यपदेशसिद्धिर्न केन चिदुपपाद्यते व्यपदेशप्रयोजनसंश्रयोव्यपदेशशब्देनोक्तः । समानाधिकरण्येन पाठान्तरं व्यपदेशार्थमिति । कपुनः संश्रयः कर्तव्यस्तदाह साधुषु येसाधवोराजानस्तेषामन्यतममाश्रयेत् येभ्यः सकाशात्कुसृतिर्नाशङ्क्यते । साधुशब्देन परिभवत्राणसामर्थ्यादयोगुणाः प्रतिपाद्यन्ते ॥ १६८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पीड्यमानस्य सतोयर्थस्तस्य सिद्ध्यर्थमेकः तथा त्वस्याल्पतयाऽवश्यं कस्मिंश्चित्संश्रयणीये संश्रयेण साधुषु कीर्तिर्भवतीत्यपरः संश्रयः ॥ १६८ ॥

(३) कुल्लूकः । शत्रुभिः पीड्यमानस्य शत्रुपीडानिवृत्ताख्यप्रयोजनसिद्ध्यर्थमसत्यामपि वा तत्काले पीडायां भाविशत्रुपीडनशङ्कया अमुकमयमहाबलं नृपतिमाश्रितइति सर्वत्र व्यपदेशोत्पादनार्थम् । बलवन्तमुपाश्रयणमेवंद्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६८ ॥

(४) राघवानन्दः । संश्रयद्वैविध्यं विशदयति अर्थेति । अर्थसंपादनार्थं शत्रुकृतपीडायांसत्यांतन्निवृत्तिप्रयोजनार्थं असत्यांच शङ्क्यमानायांसत्याममुकराजानमाश्रितोस्मीत्युदकार्थनिवारणख्यापनार्थोव्यपदेशस्तदर्थं वा । साधुष्वित्यस्यायमभिप्रायः । साधूनामवक्रबुद्धित्वाद्यथाश्रुतग्राहित्वाच्चसाधुराजसुवा व्यपदेशोव्यपाश्रयणम् । यथान्यैराश्रितराजतोभीतैर्नाक्रम्यते तदर्थमिति भावः ॥ १६८ ॥

(५) नन्दनः । शत्रुभिः पीड्यमानस्य विजिगीषोरर्थसंपादनार्थं शत्रुपीडानिवृत्त्यर्थं बलवद्दुपाश्रयणमेकः संश्रयः । शत्रुपीडाभावेऽपि साधुभिर्दृढमलैः सह व्यपदेशार्थं भविष्यदनर्थपरिहारार्थमितियावत् । बलवद्दुपाश्रयणमपरसंश्रयः ॥ १६८ ॥

(६) रामचन्द्रः । संश्रयद्विविधमाह अर्थेति । शत्रुभिः पीड्यमानस्य योर्थस्तस्यार्थस्य संपादनार्थं सिद्ध्यर्थं बलाश्रयः मित्राश्रयः एकः । तथा साधुषु व्यपदेशार्थं त्वल्पीयतया अवश्यशंसनीयेन साधुषु कीर्तिर्भवतीति द्वितीयः ॥ १६८ ॥

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः ॥ तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा संधि समाश्रयेत् ॥ १६९ ॥

(१) मेघातिथिः । आयतिरागामीकालोद्येवंमन्येत समबलोममायमप्येव न्यूनबलोवा कालात्तु लब्धकृत्योपजापेन मित्रग्रहेण वा शक्नोत्येनमभिवितुंतदा संधिकुर्यात् । आधिक्यमधिकबलता ध्रुवनिश्चितम् । तदात्वे वर्तमानकालवचनोपपन्नः ॥ १६९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पीडां क्षतिं धनादेः ॥ १६९ ॥

(३) कुल्लूकः । यदायुद्धोत्तरकाले निश्चितमात्मन आधिक्यं जानीयात्तदात्वे तत्कालेऽल्पधनाद्युपक्षयः तदात्वल्पमङ्गीकृत्यापि सन्धिमाश्रयेत् ॥ १६९ ॥

(४) राघवानन्दः । सन्ध्यादिषण्णांकदा किंकार्यमित्यपेक्षायामादौ सन्धेस्तदाह यदेति । आयत्यामुदकेऽधिक्यं बहुलोत्पात्ततदात्वेतत्काले अल्पधनादिपीडामङ्गीकृत्यापि सन्धिसमाश्रयेत् त्वप्रकृत्याद्यवशतया पराजयस्यैव संभाव्यमानत्वात् ॥ १६९ ॥

(५) नन्दनः । अथषण्णांगुणानांप्रयोगकालं षड्विंश्लोकैराह आयतिर्भविष्यत्कालस्तदात्वंतत्कालः । अल्पिकामत्यर्थमल्पां अविद्यमानामिति यावत् ॥ १६९ ॥

(६) रामचन्द्रः । षाड्गुण्यस्य कालमाह यदेति । आयत्यां उत्तरकाले आत्मनो ध्रुवमाधिक्यं यदा अवगच्छेत् पश्येत् तदात्वेचाल्पिकां पीडां धनादेः तदा सन्धिसमाश्रयेत् ॥ १६९ ॥

यदा प्रदृष्टामन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम् ॥ अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥ १७० ॥

(१) मेधातिथिः । प्रदृष्टा उत्साहानुरागयुक्ता दानमानाभ्यामुपसंगृहीता आत्मीयाः प्रकृतीरमात्यादिकामन्येत अत्युच्छ्रितमात्मानं कोशहस्त्यश्वादिसंपदा तदा केनचिदपदेशेन संविदूषणं कृत्वा विग्रहमाश्रयेत् ॥ १७० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्युच्छ्रितमत्यर्थबलम् ॥ १७० ॥

(३) कुल्लूकः । यदामात्यादिकाः सर्वाः प्रकृतीर्दानसंमानाद्यैरतीव तुष्टामन्येत आत्मानं च हस्त्यश्वकोशाद्यैः शक्तित्रयेणोपचितं तदा विग्रहमाश्रयेत् ॥ १७० ॥

(४) राघवानन्दः । विग्रहोचितावस्थामाह यदेति । प्रदृष्टाः दानसंमाननाद्यैरतीव तुष्टाः अत्युच्छ्रितं बलबुद्धिहस्त्यश्वकोशाद्यैः समृद्धमात्मानमन्येतेत्यनुषज्यते तदा विग्रहं परराष्ट्रक्षोभादिकुर्यात् ॥ १७० ॥

(५) नन्दनः । प्रदृष्टाः स्वामिनि परितुष्टाः । प्रकृतीरमात्यादिकाः ॥ १७० ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वाः प्रकृतीः भृशं प्रदृष्टाः हस्त्यश्वादिना आत्मानमत्युच्छ्रितं कीशसमृद्धयदामन्येत तदा विग्रहं विग्रहकालं मन्येत ॥ १७० ॥

यदा मन्येत भावेन दृष्टं पुष्टं बलं स्वकम् ॥ परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति ॥ १७१ ॥

(१) मेधातिथिः । भावो हर्षपोषकारणबहुना धनेन संविभक्तता रुण्यादिकर्माणि फलितान्येषामित्यादि हर्षपोषयोः कारणम् । बलं हस्त्यश्वरथपादातं परस्य यदा विपरीतं तदा शत्रुप्रतियायादभिषेणयेच्छत्रुमित्यर्थः । न विग्रहकारणान्येव यानकारणानि किं तर्हि तान्यपि अपचयश्च हर्षपोषयोः परस्य प्रकृतीनाम् ॥ १७१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भावेन मनसा । दृष्टं पुष्टं यात्रोचितसहायादिपुष्टियुक्तम् ॥ १७१ ॥

(३) कुल्लूकः । यदात्मीयममात्यादिसैन्यं हर्षयुक्तं धनादिना पुष्टं तत्त्वतो जानीयात् शत्रोश्चामात्यादिबलं विपरीतं तदा तलक्ष्मीकृत्य यायात् ॥ १७१ ॥

(४) राघवानन्दः । यानस्य कालमाह यदामन्येतेति । भावेन हर्षपोषादिहेतुना धनेन दृष्टं हर्षितमत्युत्साहयुक्तं मांसौदनादिना पुष्टं स्वकमिति विशेषणात् परस्य शत्रोः विपरीतं पश्येदिति शेषः । यायात् यानं कुर्यात् ॥ १७१ ॥

(६) रामचन्द्रः । यदा स्वकं बलं दृष्टं तदा रिपुं प्रति यायात् यात्रां कुर्यात् । तथाच याज्ञवल्क्यः ॥ यदा सस्यगुणोपेतं परराष्ट्रं तदा व्रजेत् । परश्चहीन आत्मा च दृष्टवाहनपूरुष इति ॥ १७१ ॥

यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च ॥ तदा सीत प्रयत्नेन शनकैः सांत्वयन् नरीन् ॥ १७२ ॥

(१) मेधातिथिः । वाहनं हस्त्यश्वरथं बलपादातं गोबलीवर्दवद्भेदः परिक्षीणे बले सति सान्त्वयन् नरिमासीत् । सामोपदानाभ्यामनुकूलनं सान्त्वयनम् ॥ १७२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सान्त्वयन् भाविफलप्रत्याशया ॥ १७२ ॥

(३) कुल्लूकः । यदा पुनर्वाहनेन हस्त्यश्वादिना बलेन चामात्यादि विपत्त्यादि परिक्षीणो भवेत्तदा सामोपदाप्रदानादिना शत्रून् सांत्वयन् प्रयत्नेनासनमाश्रयेत् ॥ १७२ ॥

(४) राघवानन्दः । आसनस्यापि तमाह यदा त्विति । परिक्षीणं वाहनेन हस्त्यश्वादिचतुरङ्गगेण बलेन कोशाद्येन शरीरेण वा । त्वयं शनैरभिमता यमादिदानेन असांत्वनेऽरीणामावश्यकमागमनं तदामहाननयः स्यादिति भावः ॥ १७२ ॥

(६) रामचन्द्रः । यदा बाहनेन बलेन सैन्येन परिक्षीणः स्यात्तदा रिपून् शनकैः सान्त्वयन्नासीतस्थितो भवेदित्यर्थः ॥ १७२ ॥

मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम् ॥ तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः ॥ १७३ ॥

(१) मेधातिथिः । अशक्यसंधानं बलवता रुद्धस्य दुर्गसंश्रयणं च हितं दुर्गं च बलवस्थानमेव द्वैधीभावः सच प्रागुक्तार्थः ॥ १७३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सर्वथा बलवत्तरमुपायत्रयासाध्यं च ॥ १७३ ॥

(३) कुम्भूकः । यदा राजा सर्वप्रकारेण बलीयांसमशक्यसंधानं च शत्रुबुध्येतदा कतिचिद्वलसहितः स्वयंदुर्गमाश्रयेत् बलैकदेशेन च शत्रुविरोधमाचरेत् एवं द्विधा बलं कृत्वा मित्रसंग्रहादिकं स्वकार्यसाधयेत् ॥ १७३ ॥

(४) राघवानन्दः । द्वैधेनावस्थानकालमाह मन्येतेति । उक्तद्विधास्थितौ ह्यदरिणा नाक्रम्यते अरिः सेनायां पतति चेत्स्वयं तीर्णस्तमाक्रमितुं शक्तः स्वामिन्यापतति चेत्सेनापतिस्तमाक्रमितुं शक्त इति भावः ॥ १७३ ॥

(५) नन्दनः । अरिपुरस्थितं पार्ष्णिस्थितञ्च । कुत एतद्विधा बलं कृत्वेति लिङ्गात् ॥ बलिनो द्विषतोर्मध्ये वाचात्मानं समर्पयन् । द्वैधीभावेन वर्तेत काकाक्षिवदलक्षितः ॥ इति कामन्दकवचनाच्च ॥ १७३ ॥

(६) रामचन्द्रः । यदा आत्मनः सकाशात् शत्रुं सर्वथा बलवत्तरं मन्येत तदा स्वबलं सैन्यं द्विधा कृत्वा कार्यसाधयेत् ॥ १७३ ॥

यदा परबलानान्तु गमनीयतमो भवेत् ॥ तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥ १७४ ॥

(१) मेधातिथिः । गमनीयतमोऽभिभवनीयतमो दुर्गस्थो ह्यमिति मन्यते तदा क्षिप्रं दुर्गमुद्दिशत्वाऽन्यसंश्रयेद्धारमिकं यत्नः कुम्भूतिर्न दूयते यस्य यशोमयी स्थिरप्रकृतिः बलिनमित्येतेनैतत्सुदर्शितम् ॥ १७४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गमनीयतमोऽभिगम्यः ॥ १७४ ॥

(३) कुम्भूकः । यदा तु सैन्यानाममात्यादिप्रकृतिदोषादिनातिशयेन ग्राह्यो भवति बलं द्वैधविधाय दुर्गाश्रयणेनापि नात्मरक्षाक्षमस्तदा शीघ्रमेव धार्मिकं बलवन्तं च राजानमाश्रयेत् ॥ १७४ ॥

(४) राघवानन्दः । संश्रयस्यापितमाह यदेति चतुर्भिः । गमनीयतमोऽवश्यमरिगमनविषययोग्यः स्वयम् । धार्मिकमित्यनेनोदकनिर्णयशङ्कं वारिता ॥ १७४ ॥

(५) नन्दनः । गमनीयोऽभिभवितुं शक्यो धार्मिकं स्वयमेव एतमाश्रितः अग्निवदग्निर्यादपीत्युक्तं धार्मिकम् ॥ १७४ ॥

(६) रामचन्द्रः । गन्तुं शक्यो गमनीयः अतिशयेन गमनीयो गमनीयतमः परबलानां गमनीयतमो यदा भवेत्तदा स्वबलं हीनं दृष्ट्वा बलिनं हस्त्यश्वादिभिर्बलिनं बलिष्ठं धार्मिकं शरणागतं रक्षकं क्षिप्रं संश्रयेत् ॥ १७४ ॥

नियहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योरिबलस्य च ॥ उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा ॥ १७५ ॥

(१) मेधातिथिः । बलिनमित्युक्तं कियता बलेन बलवान्भवतीत्येतदर्थमिदमुच्यते । यादुष्ठास्तदीयाः प्रकृतयो यश्च शत्रुरुभयस्यापि नियहे समर्थः स आश्रयितव्यः स गुरुवत्परिसेवितव्यो मानमुज्जित्वानैवं मन्तव्यं महाराजा एषोऽपि समत्वेन वार्त्तावह इति प्रभुषदसौ सेवितव्यः सर्वयत्नैरुपायैः प्रियवचनैरवसरे समीपे संनिधानेन ॥ १७५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नियहणं प्रकृतीनां यदि स्वप्रकृतिभिरेव शत्रुरुत्थापितः ॥ १७५ ॥

(३) कुल्लूकः । कीदृशतंबलवन्तमित्याह निग्रहमिति यासांदोषेणासौ गमनीयतमोजातस्तासां प्रकृतीनां यस्माच्च शत्रुबलादस्य भयमुत्पन्नंतयोर्द्वयोरपि यः संश्रितोनिग्रहक्षमस्तनृपसर्वयत्नैर्गुरुमिव नित्यंसेवेत ॥ १७५ ॥

(४) राघवानन्दः । वलिनमिति विशेषणस्य कृत्यमाह प्रकृतीनां स्वकीयानांदुष्टानां अरिबलस्य च भीत्यायस्याश्रयणंरुतंतस्यच । गुरुंयथेति वित्तशाख्यादिदोषपरिहृत्येत्यर्थः ॥ १७५ ॥

(५) नन्दनः । संश्रितस्य कृत्यमाह निग्रहमिति । प्रकृतीनाममात्यादीनामात्मीयादीनाम् अनेन सूचितं प्रतिक्षोभेऽपि बलीयान्समाश्रयणीयइति ॥ १७५ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः अरिबलस्य तु पुनः प्रकृतीनां शत्रूत्थापकानाममात्यानां निग्रहंकुर्यात्तनृपः सर्वयत्नैरुपसेवेत भजेत यथा सर्वयत्नैर्गुरुमुपसेवेत ॥ १७५ ॥

यदि तत्रापि संपश्येद्दोषंसंश्रयकारितम् ॥ सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशङ्कःसमाचरेत् ॥ १७६ ॥

(१) मेघातिथिः । यदि तस्मिन्नपि संश्रये संपश्येज्जानीयात्कथंचिद्दोषंसंश्रयकारितं बलीयानेव हि व्यसने बलं द्विधाकरोतीति दृश्यते दोषदर्शनलिङ्गानि च ॥ दत्वानुतापः कृतपूर्वहोमविमाननादुश्चरितानि कीर्तनं । दृष्टेरदानं प्रतिकूलभाषणमेताश्चदुष्टस्य भवन्तिवृत्तयः ॥ ततस्तत्रापि संश्रये दोषकारिणि विज्ञातेऽपि शब्दादाश्रयेनिर्दोषेऽसति सुयुद्धमेव तस्मिन्नपि काले निर्विकारः कुर्यात् नहि संश्रये विनाशः दृश्यते ह्यल्पबलेनापि महाबलोजीयमानः अपिचान्त्यावस्थायामुभयथा गुणोविजये राज्यंपराजये ध्रुवः त्वर्गइति युद्धस्य तु शोभनत्वंदर्शयिष्यामः । एकैकगुणाश्रयेणमण्डलविजयायया याच्छक्तः ॥ १७६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संश्रयकारितमाश्रीयमाणेन कर्तव्यतया संभावितम् ॥ १७६ ॥

(३) कुल्लूकः । अगतिका हि गतिः संश्रयोनाम तत्रापि यदि संश्रयकृतंदोषंपश्येत्तदा निःसंशयोभूत्वा शोभनमेव युद्धंतस्मिन्काले समाचरेत् दुर्बलेनापि बलवतोजयदर्शनान्निहतस्य च त्वर्गप्राप्तेः ॥ १७६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यदित्याह यदीति । दोषंसंश्रयकारितं संश्रयेनृपतौ स्वबलद्विधाकरणरूपभाषणपूर्ववैरानुरूपकीर्तनादिलिङ्गैः कारितं प्रकाशितं दुष्टप्रकृत्यादिभिरिवानेनापिकार्योयमस्मदर्थ्यादिक्षयोभविष्यतीत्येवं कारितं संश्रयेराजनिर्मापितं दोषजातं यदिवा संपश्येत् तत्रापि तस्मिन्सतीत्यर्थः । निर्वितर्कः जेष्यामीति कृतनिश्चयः ॥ १७६ ॥

(५) नन्दनः । धार्मिकबलिसमाश्रयेण दोषान्तरंभविष्यतीति निश्चिन्वानस्य किंकर्तव्यमित्यपेक्षायामाह यदीति । तत्रापि धार्मिकबलिसमाश्रयेण दोषः नीचसमाश्रयप्रभवलोके कोशादिकंतत्रापि तेषु परबलेष्वात्मवधोद्योगिष्वपि सुयुद्धमाचरेत् जये भूमिलाभात् मरणे त्वर्गलाभादित्यभिप्रायः ॥ १७६ ॥

(६) रामचन्द्रः । यदि तत्रापि तस्मिन्नाङ्गि संश्रयकारितं आश्रयभूतेन राज्ञा कारितं दोषं पश्येत्सराजा युद्धमेव निर्वितर्कः निःशङ्कःसन्समाचरेत् ॥ १७६ ॥

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः ॥ यथास्याभ्यधिकानस्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥ १७७ ॥

(१) मेघातिथिः । उपायवचनात्सामादिभिर्व्यस्तैः समस्तैर्वा । सर्वग्रहणात्तु येन शक्यन्ते संघादिनापि तथा कुर्यात् तेन प्रकारेण यतेत नीतिज्ञः अर्थशास्त्रज्ञः स्वामाविकप्रज्ञः नयाद्यभिज्ञोवा राजा यथास्यात् शक्तित्रयेणाम्यधिका-

मित्रादयो न भवेयुस्तथा प्रकृत्यादिसमादिष्टे कर्मप्रवर्तने च तेभ्योऽधिकमात्मानं कुर्यात् । श्लोकानुरोधाच्च मध्यमग्रहणं न कृतं सोऽपि तु द्रष्टव्यो न मित्रमित्युपेक्ष्यं स्वप्रयोजनव्यतिरेकेण मित्रं नामाव्यवस्थितं हि मित्रत्वाधिक्यमुपगतं स्वार्थगतिवशाच्च मित्रमप्यरिर्भवति । तथा च व्यास आह ॥ न कश्चित्कस्यचिन्मित्रं न कश्चित्कस्यचिद्रिपुः । सामर्थ्ययोगाद्विज्ञेयमित्राणि रिपवस्तथेति ॥ एतैरुपायैर्मण्डलैर्विचारयेत् ॥ १७७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मित्रमपि त्वस्याधिक्ये मैत्र्या प्रयोजनाभावान्मैत्रीत्यजेदिति तस्याप्याधिक्यं खण्डनीयम् ॥ १७७ ॥

(३) कुड्डूकः । सर्वैः सामादिभिरुपायैः नीतिज्ञो राजा तथा यतेत यथास्य मित्रोदासीनशत्रवोऽभ्यधिकान भवन्ति आधिक्ये हि तेषामसौ ग्राह्यो भवति । धनलोभेन मित्रस्यापि शत्रवापत्तेः ॥ १७७ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच सर्वेति । सर्वोपायैः क्वचिद्दानं क्वचिद्भेदः क्वचिद्युद्धं क्वचित्सामेति । अस्य क्षीणस्य राज्ञः छिद्रेष्वनर्था बहुला भवन्तीति न्यायान्मित्रमपि बलादिभिः पूर्णं धनलोभेन क्वचिदेनं प्रत्यमित्रः स्यात् एवमुदासीनेष्वपि ज्ञेयम् । तथा च व्यासः ॥ न कश्चित्कस्यचिन्मित्रं न कश्चित्कस्यचिद्रिपुः । सामर्थ्ययोगाद्विज्ञेयमित्राणि रिपवस्तथेति ॥ १७७ ॥

(५) नन्दनः । अस्मात्स्वस्मादिति यावत् ॥ १७७ ॥

(६) रामचन्द्रः । नीतिज्ञः यथा अस्य राज्ञः मित्रोदासीनशत्रवः अधिकानस्युः सर्वोपायैस्तथा कुर्यात् ॥ १७७ ॥
आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत् ॥ अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥ १७८ ॥

(१) मेधातिथिः । कार्याणि कर्माणि प्रयोजनानि तेषां सर्वेषामारिप्तमानामायतिः परिणाम्यागामिकालस्तदात्वं प्रारंभावस्थावर्तमानकालस्तं च विचारयेत् तत्त्वतस्तत्त्वेन अनेकमुखानि हि कार्याणि क्षणाच्चान्यथा भवन्तीति तत्र येषामुभौ कालौ न शुध्यतस्तानि कार्याणि कथमारभेतेति तद्विचारार्थोपदेशः । अतीतानामतिक्रान्तानां च सर्वेषां गुणदोषौ ततो विचारयेत् अत्राप्यतीतानां गुणदोषौ विचार्य यानि कर्माणि भुण्वन्त्यतीतानि तान्येव कथं नाम पुनरारभेतेत्यतीतकार्यगुणदोषतत्त्वविचारणोपदेश एवमर्थः ॥ १७८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आयतिरागामिफलं । तदात्वं वर्तमानं । अतीतानां च कार्याणां गुणदोषौ चकारात्स्वरूपं च तच्चिन्तेन च तत्साम्यादागामिन्यपि प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा प्रयोजनम् ॥ १७८ ॥

(३) कुड्डूकः । सर्वेषां कार्याणामल्पानां बहुानामपि आयतिमुत्तरकालं गुणदोषविचारयेत् । वर्तमानकालं च शीघ्रसंपादनाद्यर्थं विचारयेत् । अतीतानां च सर्वकार्याणां गुणदोषौ किमेषां कृतं विषदितं किं वा वशिष्टमित्येवं यथावद्विचारयेत् ॥ १७८ ॥

(४) राघवानन्दः । राज्ञः कार्यान्तरं विधत्ते आयतिमिति । आयतिः उदकेयत्फलं तदात्वं शीघ्रं कार्यसिद्धये वर्तमानकालिकं च फलं । अतीतानामिति दृष्टान्तार्थं एवं पूर्वकृतं तेन जयादिजातमन्यथापराजयादि जातमिति गुणदोषौ विचारयेत् ॥ १७८ ॥

(५) नन्दनः । आयतिं आगामिफलभंतदात्वं तत्कालफलम् । सर्वेषामर्थानामिति शेषः ॥ १७८ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वकार्याणां आयतिं आगामिफलं तदात्वं वर्तमानं अतीतानां सर्वेषां गुणदोषौ तत्त्वतो विचारयेत् ॥ १७८ ॥

आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः ॥ अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥ १७९ ॥

(१) मेधातिथिः । एवं हि । यो ह्यायत्यामागामिनिकाले कार्याणां गुणदोषौ विजानाति नियमेनासौ विमृश्यकारी-
ति त्वयं चारभते विमृश्यकारीति न सदोषं एवमर्थं हि ज्ञानं तदात्वे वर्तमानेयः क्षिप्रमवधारयति कार्यं न विलम्बते तदात्वे
क्षिप्रनिश्चयः क्षिप्रकारी भवति गुणवत्करोति न दोषवत् । अतीते कृते सति कार्यशेषतोयः कार्यमेव बुध्यते न तत्परिसमा-
मोलभत इति गुणवत्सर्वकार्यफलसंबन्धादभ्यधिकः शत्रुभिर्नाभिभूयते । न हि धर्मशास्त्रे षाङ्गुण्योपदेशः शक्यते कर्तुं दृष्ट-
इति ॥ १७९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गुणदोषज्ञो भावि गुणदोषविचारकः । क्षिप्रनिश्चयः शीघ्रं कार्यकार्यत्वयोर्निश्चेता । अतीते
दैवाद्विपन्ने कार्यं कार्यशेषस्य तदेकदेशोद्धारोपायस्यापि ज्ञाता ॥ १७९ ॥

(३) कुट्टूकः । यस्मात् आयेति यः कार्याणामागामिकगुणदोषज्ञः सगुणवत्कार्यमारभते दोषवपरित्यजति । यश्च
वर्तमानकाले क्षिप्रमेवावधार्य कार्यं करोति अतीते कार्यं यः कार्यशेषज्ञः सतत्कार्यसमामौ तत्फलं लभते यस्मादेवं विध-
कालत्रयसावधानत्वान्न कदाचिच्छत्रुभिरभिभूयते किं बहुना ॥ १७९ ॥

(४) राघवानन्दः । विचारो किं स्यात्तत्राह आयत्यामिति । आयत्यां गुणदोषज्ञो यतो विमृश्यकारी क्षिप्रनिश्चयश्चादी-
र्घसूत्री अतीते कृते दक्षिणादिदानवदवशिष्टसमापयितासनाभिभूयते शत्रुभिरित्यन्वयः ॥ १७९ ॥

(५) नन्दनः । विचारस्य फलमाह आयत्यामिति ॥ १७९ ॥

(६) रामचन्द्रः । आयत्यां गुणदोषज्ञः तदात्वे वर्तमाने क्षिप्रनिश्चयः । अतीते कार्यशेषज्ञः दैवाद्विपन्ने कार्यशेष-
स्य तदेकदेशोद्धारोपायस्य ज्ञाता एतादृशो राजा शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥ १७९ ॥

यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥ तथा सर्वं संविदध्यादेः सामासिको नयः ॥ १८० ॥

(१) मेधातिथिः । दिङ्मात्रमुक्तं यथानतैस्तैः प्रयोगैरभिसंदध्युस्तथा कुर्यादजितैरितरैरिवोपायैरित्येष संक्षेपिको-
न्याय इत्युपसंहारः । षाङ्गुण्यस्यातिसंधानविरोधश्चैवं भवति कृत्यानामुपजापरक्षणान्न सनेषु मूर्तीकारात्स्वमण्डलसंग्रहाद्गु-
णोपायानां सम्यग्रयोगात्कर्मस्त्वभ्युत्थानमित्येवं द्रष्टव्यम् ॥ १८० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अभिसंदध्युर्वचयेयुः । सामासिकः संक्षिप्तः ॥ १८० ॥

(३) कुट्टूकः । यथैनं राजानं मित्रादय उक्ता न बाधेरन् तथा सर्वसंविधानं कुर्यादित्येष संक्षेपिको नयः ॥ १८० ॥

(४) राघवानन्दः । राजा तु सर्वथाऽप्रमत्तः स्यादित्याह यथेति । एनं राजानं नाभिसंदध्युः नाभिभवेयुः । एषः सामा-
सिकः समासः संक्षेपस्तत्र भवः ॥ १८० ॥

(५) नन्दनः । अत्रायमनुष्ठेयार्थ इत्याह यथैनमिति ॥ १८० ॥

(६) रामचन्द्रः । यथा एनं शरणागतं मित्रोदासीनशत्रवः नाभिसंदध्युः न संधेयुः तथा सर्वं संविदध्यात् कुर्यात् ए-
षः सामासिकः संक्षिप्तः नयः सामादिरूपाणां न्यायः ॥ १८० ॥

यदा तु यानमातिष्ठेदरिराष्ट्रं प्रति प्रभुः ॥ तदानेन विधानेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८१ ॥

(१) मेधातिथिः । इदानीमभियास्यतः कर्माह । यदोपचिकीर्षत्परिराष्ट्रं प्रत्याभिमुखेन तदानेन विधानेन गच्छे-
दत्वरमाणः । वक्ष्यमाणोपन्यासः सुखावबोधनार्थः ॥ १८१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यानमातिष्ठेत् विग्रहार्थं यात्रामात्रार्थं वा ॥ १८१ ॥

(३) कुल्लूकः । यदा पुनः शक्तः सन् शत्रुराष्ट्रं प्रति यात्रामारभेत्तदाऽनेन वक्ष्यमाणप्रकारेण शत्रुदेशमत्वरमाणोगच्छेत् ॥ १८१ ॥

(४) राघवानन्दः । कदारिपुपुरंगन्तव्यं कथं वा योद्धव्यं कुत्र वा किं कर्तव्यमित्यपेक्षायां तत्रादौ यानमनुवदन्-चितकालमाह यदा त्विति त्रिभिः । मात्सर्यक्रोधाज्ञानैर्न गन्तव्यमित्याह प्रभुः सकलशक्तिसंपन्नः यानं यायादित्यत्र प्रकृतिः प्रत्ययोच्चारणार्था तेन यात्रां कुर्यादित्यर्थः । केन अनेन वक्ष्यमाणेन शनैर्यायान्तुह्यता ॥ १८१ ॥

(५) नन्दनः । अथ यात्रां प्रस्तौति यदेति । अनेन वक्ष्यमाणेन ॥ १८१ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रभुः अरिराष्ट्रं प्रति यदा यानं गमनं आतिष्ठेत् गच्छेत्तदा अनेन विधानेन वक्ष्यमाणलक्षणेन अरिपुरं शनैः यायाद्वच्छेदित्यर्थः ॥ १८१ ॥

मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः ॥ फाल्गुनं वाथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथा बलम् ॥ १८२ ॥

(१) मेधातिथिः । यातव्यापेक्षया बलापेक्षया दीर्घयोद्धुमिच्छन्बलप्रायः शारदवासन्तिकसस्यप्रायं परराष्ट्रं मार्गशीर्षे यायात् अत्र हि गच्छन् शारदं फलंगृहादिगतं सुखं गृह्णाति वासन्तिकसस्यमुपहरति । कामश्च महान्दुर्गोपरोधादिकार्यक्षमो-मार्गश्च प्रसिद्धवक्रपथोपशृतकाशोदकवीरुधोन भवन्ति कालश्च नात्युष्णशीतः । उपचितमपि न सस्यं नानाप्रयुक्तं मिश्रं सस्यत्रयोपघातकालविप्रकर्षापेक्षया च पराश्रयसंघत्ते । उभयसस्योपघातावकर्षणं सम्यक्कृतं भवत्यात्मनश्च बलापचय-इति उपघातमात्रचिकीर्षया परदेशादेरल्पकालसाध्ये वा यातरि बलप्रायः फाल्गुनचैत्रयोर्यायात् । वासन्तिकसस्यप्रायदेशं तदाप्यात्मनो यवसादि भवति । परोपघातक्षेत्रगतसस्योपघातात् । यथा बलमिति येन प्रकारेण बलानुरूपं यायादित्यर्थः ॥ १८२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मार्गशीर्ष इति मुख्यः पक्षः तत्कालेऽन्नबाहुल्यात् शुभे ग्रहशुद्ध्यादियुक्ते । फाल्गुनचैत्रमिति मध्यमः तदापि यवान्संभवात् ॥ १८२ ॥

(३) कुल्लूकः । यच्चतुरङ्गबलोपेतो राजा करिरथादिगमनविलम्बेन विलम्बितप्रयाणः तथा हैमन्तिकसस्यबहुलं च परराष्ट्रं जिगमिषुः समुपगमनाय शोभने मार्गशीर्षे मासि यात्रां कुर्यात् । यः पुनरश्वबलप्रायो नृपतिः शीघ्रगतिर्वा सर्वसस्यबहुलं परराष्ट्रं यियासुः स फाल्गुने चैत्रे वा मासे स्वबलयोग्यकालानतिक्रमेण यायात् अतएव मन्वर्थव्यापारपरसंक्षेपेण याज्ञवल्क्यवचनम् । यदा सस्यगुणोपेतं परराष्ट्रं तदा ब्रजेत् ॥ १८२ ॥

(४) राघवानन्दः । अत्र मार्गशीर्षादिव्यवस्थितविकल्पपरः । तत्र रथप्रधानः पार्थिवो मार्गशीर्षे गच्छेत् । चक्रवाताद्यभावात् । अश्वप्रधानः फाल्गुने । पदातिप्रधानश्चैत्रे ॥ १८२ ॥

(५) नन्दनः । यायात्कुर्यात् मासौ प्रतिमासयोरिति यावत् ॥ १८२ ॥

(६) रामचन्द्रः । फाल्गुनं वा चैत्रं वा एतौ द्वौ मासौ याघां प्रति शुभौ । यथा बलं स्वबलानुसारं यात्रां यायात् ॥ १८२ ॥ अन्येष्वपि तु कालेषु यदा पश्येद्भुवं जयम् ॥ तदा यायाद्विग्रहस्यैव व्यसने चोत्थितेरिपोः ॥ १८३ ॥

(१) मेधातिथिः । अस्यापवादः एतद्यतिरेकेणान्येष्वपि प्रावृडादिकालेषु यदा मन्येतात्मनोऽवश्यं भावि विजयं-

तदायायात् । यदा हस्त्यश्वबलप्रायवर्षास्वश्वबलं हस्तिबलं तदा हि स्वबलकालप्रभावादेकान्तिकोजयः । व्यसनपरस्य स्वबलकोशादि तस्मिन्नुत्पन्ने स्वबलकालनिरपेक्षोयायात् । व्यसनपीडितो हि शत्रुः साध्यो भवति । काष्ठमिव गुणोपयुक्तसन्नि-
योगमात्रादेव विनश्यति । विगृह्येति यातव्यमेवाष्टम्याहूय यायान्महानस्मिन्नेवावगम्यते ॥ १८३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्येष्वपीति त्वधमः । कार्यविशेषोदयश्चात्र निमित्तं विगृह्य विग्रहं भाविनमुद्बुध्य कथं-
चिद्विग्रहज्ञानमात्रेण परस्य प्रणतिसंभवात् । रिपोर्व्यसने चोत्थिते न कालनियम इति तदा सर्व एव मुख्यः काल इत्यर्थः
॥ १८३ ॥

(३) कुल्लूकः । उक्तकालव्यतिरिक्तेषु यदात्मनो निश्चितं जयमवगच्छेत्तदा स्वबलयोग्यकाले ग्रीष्मादावपि ह-
स्त्यश्वबलप्रायो विगृह्यैव यात्रां कुर्यात् । शत्रोश्चामात्यादिप्रकृतिगोचरदण्डपारुष्यादिव्यसने जातेऽरिपक्षभूतायां तत्प्र-
कृतावप्युक्तकालादन्यत्रापि यायात् ॥ १८३ ॥

(४) राघवानन्दः । नौगजप्रधानो वर्षास्त्वित्याह अन्येष्वपीति । कर्दमनदीप्लवनादेरन्यैरसाध्यत्वात् । विगृह्य वि-
ग्रहं करिष्यामीति । उक्तव्यवस्थितिनिराह व्यसने चोत्थित इति । देवात्सैन्यामात्यादीनां दण्डपारुष्यादिना कोपे सतीत्यर्थः
॥ १८३ ॥

(५) नन्दनः । कालेषु मासेष्वित्यर्थः । व्यसने मित्रबलादीनां व्यापत्तौ ॥ १८३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्येषु कालेषु ध्रुवं जयं यदा पश्येत्तदा विगृह्यैव विग्रहं भाविनमुद्बुध्य कथंचिद्विग्रहज्ञानमात्रेण
परस्य प्रणतिसंभवात् यात्रां यायात् । रिपोः त्वशत्रोर्व्यसने उत्थिते सति न संग्रामार्हकालनियमः ॥ १८३ ॥

कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च थाविधि ॥ उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सम्यग्विधाय च ॥ १८४ ॥

(१) मेधातिथिः । मूले स्वदुर्गराष्ट्रे कुर्यादथ पार्ष्णिग्राहश्च तत्र विधानं प्रतिविधानं कृत्वा दुर्गतावत्प्रभूतधान्यादिकं-
सुसज्जयन्त्राकारपरिखादिकार्यम् । राष्ट्रस्यापि स्वबलं श्रेणीबलेभ्योरक्षां विधाय कुर्याद्धानमानेभ्य उपसंयम्य प्रत्यन्तेषु प्रक्षे-
पव्यं पार्ष्णिग्राहं प्रतिग्राह तत्समर्थं च बलैकदेशः स्वराष्ट्रे स्थापयितव्यः । यात्राप्रयोजनं यात्रिकं हस्त्यश्वबलयोग्यं च प्रह-
रणधारणादिसज्जयथाविधि परोपदेशं कृत्वाऽऽस्पदं प्रतिष्ठानं किं तर्ह्यतोऽपरकीयाः क्रुद्धादयो द्रष्टव्यास्तानुपगृह्य स्वीकृत्याका-
रस्य परविषये निवृत्तेस्तज्ज्ञानाय सम्यग्यथावद्विधाय प्रयुज्य किमयदृष्टोपसंग्रहं कर्तुमारब्धमुत शत्रुपरिमण्डलं कोपयितुमथ-
मभ्यममुदासीनं वा संश्रयितुं तथा मूलयात्रां वा हर्तुकामो विधिवद्वेदां कर्तुकाम इत्यादि यथा चैतदेवं तथा ॥ १८४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मूले स्थिरशिविरे । यात्रिकं यात्रायोग्यं संनाहादि विधाय । आस्पदं शिविरस्थानं ग-
म्यदेशे परिगृह्य ॥ १८४ ॥

(३) कुल्लूकः । मूले स्वीयदुर्गराष्ट्ररूपे पार्ष्णिग्राहसंविधानं प्रधानपुरुषाधिष्ठितरक्षार्थसैन्यैकदेशस्थापनरूपं प्रतिवि-
धानं कृत्वा यात्रोपयोगि च वाहनायुधवर्म यात्राविधानं यथाशास्त्रं कृत्वा परमण्डलगतस्य च येनास्यावस्थानं भवति तदु-
पगृह्य तदीयान्भृत्यपक्षान्मात्मसात्कृत्वा चारांश्च कापटिकादीञ्छत्रुदेशवार्ताज्ञापनार्थं प्रस्थाप्य सम्यक्तया जाङ्गलानूपा-
टविकविषयभेदेन त्रिविधं पन्थानं मार्गं शोधिततत्तुलमादिच्छेदनिम्नोन्नतादिसमीकरणादिना संशोध्य तथा हस्त्यश्वरथप-
दातिसेनाकर्मकरात्मकं षड्विधं बलं यथोपयोगमाहारौषधसत्कारादिना संशोध्य सांपरायिकं संपरायः संग्रामः तदुपचितविधि-
ना शत्रुदेशमत्वरया गच्छेत् ॥ १८४ ॥ ॥ १८५ ॥

(४) राघवानन्दः । कथं प्रवेष्टव्यमित्यस्योत्तरमाह कृत्वेति चतुर्थः । मूले स्वराष्ट्रे प्रधानपुरुषाधिष्ठितं स्वराष्ट्रक्षण-

क्षमंस्वसैन्यंस्थापयित्वा । आस्पदं येनास्पदेनावस्थानंभवति परकीयात्मसात्करणे तेषांपरकीयभृत्यानां स्वकीय-
भृत्यवद्वस्त्रगृहान्नादि । चारान्प्रच्छन्नद्रुतान्कार्पटिकादीन्पूर्वोक्तान् शत्रुदेशज्ञापनार्थंविधाय नियुज्य ॥ १८४ ॥

(५) नन्दनः । मूले पुरराष्ट्रलक्षणे विधानंसंविधानम् यात्रायोग्यंयात्रिकंतण्डुलमुद्रादिकम् आस्पदंनिर्मितगृहादिक-
म् यायादित्येव ॥ १८४ ॥

(६) रामचन्द्रः । युग्मं । मूले स्थिरशिविरे अग्रामे वसतिस्थाने विधानं रक्षां कृत्वा अरिपुरंशनैर्यायात् । किं-
कृत्वा यात्रिकं संग्रामयोग्यं सन्नाहादिकं यथाविधि उपगृह्य आस्पदं शिविरस्थानं उपगृह्य ॥ १८४ ॥

संशोध्य त्रिविधंमार्गंषड्विधंच बलंस्वकम् ॥ सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरंशनैः ॥ १८५ ॥

(१) मेधातिथिः । त्रिविधःपन्थाः जाङ्गलआतपआटविकइति केचिदाटविकस्थाने वनप्रक्षेपात्रिविधइति । अपर-
उन्नतोनिम्नःसमइत्येवंत्रिविधं संशोध्य मार्गरोधिवृक्षगुल्मलताविच्छेदेन स्थलनिम्नयोः समीकरणं नदीगर्तयोस्तीर्थकरणं
पथिरोधकव्यालसमुच्छेदः भवर्तकानामात्मीकरणं यवससेनादिमत्ताचेति षड्विधंबलमितिकेचित् । हस्त्यश्वरथपदातिसेना-
कोशकर्मकरात्मकंषड्विधंबलमित्यन्ये । कोशस्थाने प्रक्षेपणमित्यपरे । मौलभृत्यश्रेणिमित्रामित्राटविकबलभेदात् । सांपरा-
यिक विधानेन सांपरायिकंयुद्धेकृत्स्नंतत्प्रयोजनंयस्यतत्सांपरायिकं दुर्गकल्पेन वा रिपुंप्रतियायात् । सच सैन्यनिवेशस्तेषु
तेषु च स्थानेषु स्थावरजङ्गमदण्डोबहुमुखपरिघफलकशाखाभिः प्राकारइत्यादिस्तादृशस्थापितविशेषतस्तुयात्रागतः ॥
॥ १८५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । त्रिविधंमार्गं जाङ्गलानूपाटविकमिति कश्चित् ग्रामारण्यपर्वतरूपमितितु युक्तम् । षड्विधं-
बलं हस्त्यश्वरथपदातयश्वत्वारः हस्त्याद्यारोहकाः शस्त्रोपनायकाश्चेति द्वाविति षड्विधम् । केचित्तु हस्त्यारोहकादयए-
कविधावश्याःपरेतिषड्विधतामाहुः । सांपरायिककल्पेन संग्रामयोग्येन विधानेन । शनैर्यदि मध्ये परः सन्दध्यादित्या-
शया ॥ १८५ ॥

(३) राघवानन्दः । त्रिविधं जाङ्गलाटविकानूपभेदेन तत्संशोध्य मार्गविरोधिततरुगुल्मनिम्नोन्नतादिच्छेदसमीकर-
णादिना तत्र जाङ्गलस्य लक्षणमुक्तम् । आटविकं अटवी वनं तत्प्रायमाटविकं तस्य छेदेन । अनूपं जलप्रायं जलप्रायमनू-
पंस्यादित्यभिधानात् । तस्य पूरणेनषड्विधं हस्त्यश्वरथपदाति सेनापतिकर्मकरात्मकं संशोध्यच बलस्य च संशोधनमा-
रोग्यभावादचिकित्सा । सांपरायिककल्पेन संपरायः संग्रामः तदुचितविधिनापूर्वापरानुसन्धानंविना नगन्तव्यमित्याह
शनैरिति ॥ १८५ ॥

(५) नन्दनः । त्रिविधं जाङ्गलमनूपमाटविकञ्च बलस्य षड्विधत्वंकामन्दकेनोक्तम् ॥ मौलभृत्यश्रेणिसुद-
द्विषदाटविकंबलम् । षड्विधन्तुबलंव्यूहद्विषतोभिमुखंब्रजेदिति सांपरायिककल्पेन युद्धार्हसन्नाहेन आयुधौषधादिसंपादनेने-
ति यावत् ॥ १८५ ॥

(६) रामचन्द्रः । मार्गं त्रिविधं जाङ्गलं आटविकंग्रामारण्यपर्वतरूपम् । षड्विधंस्वकंबलंसंगृह्य षड्विधं हस्त्य-
श्वरथपदातयः हस्त्यश्वाद्यारोहकाः शस्त्रोपनायकाश्चेति । सांपरायिककल्पेन संग्रामयोग्येन विधानेन ॥ १८५ ॥

शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरोभवेत् ॥ गतप्रत्यागते चैव सहिकष्टतरोरिपुः ॥ १८६ ॥

(१) मेधातिथिः । शत्रुसेविनि गूढेप्रच्छन्ने मित्रे गतप्रत्यागते च युक्ततरः स्यात् । अभियुक्ततरआहततरोभवेन्-
विश्वसेदित्यर्थः । यस्मात्सकष्टतरोरिपुरन्येभ्यःक्रुद्धादिभ्यः एवंच युक्ततरवचनात्कष्टतरवचनाच्च गतप्रत्यागतमग्राह्यमस्येति

गम्यते । सचतुर्विधः कारणाद्गतस्ततोविपरीतकारणादागतोयथा दोषेणगतः पुनरागतोगुणमुभयोः परित्यज्य कारणेनागतइतियः सत्याज्योलघुबुद्धित्वार्थिकचित्कारीति । पुनरस्य प्रत्ययस्तु कारणाद्गतः कारणागतः यथा स्वामिदोषेणगतः परस्तात्स्वदोषेणागतइति सत्कर्तव्योयदि सङ्गित्वादागतस्ततोप्राज्ञः । अथपरप्रयुक्तस्तेन वा दोषेणापकर्तुकामइति ततोनेति परराष्ट्रप्रत्यभिप्रस्थितः ॥ १८६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वस्य मित्रतामापन्नेविगूढे शत्रुसेविनि शङ्कितः स्यात् । तथा गतप्रत्यागते रिपुसमीपंगत्वा पुनरागत्य प्रविष्टे ॥ १८६ ॥

(३) कुल्लूकः । यन्मित्रगूढं कृत्वा शत्रुसेवते यश्च भृत्यादिः पूर्वविरागाद्गतः पश्चादागतः तयोः सावधानो भवेत् यस्मात्तावतिशयेन दुर्निग्रहोरिपुः ॥ १८६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच शङ्कति । शत्रुसेविनि शत्रोरेवानुकूले युक्ततरोऽतिशयप्रयत्नवान् । तत्र हेतुर्गते गमनोन्मुखे मित्रवदाचरति प्रकटितद्वारादिनानुकूलः प्रत्यागते प्रत्यागमनोद्यते तद्वारावरोधेन प्रतिकूलएवपुनरागमस्यत्वेनैवासंभवात् । गूढेशत्रुसेविनि मित्रे मित्रवदाचरत्यपि शत्रुपक्षपातिनि अतः सह रिपोरपि कष्टतरः ॥ १८६ ॥

(५) नन्दनः । शत्रुसेविनीति । द्वयमित्रविशेषणं गतप्रत्यागते आत्मसकाशाच्छत्रुंगत्वा तत्सकाशात् प्रत्यागते सतिइति द्वयोः प्रत्येकंपरामर्शः ॥ १८६ ॥

(६) रामचन्द्रः । शत्रुसेविनि मित्रे राजा युक्ततरः अतिशयेन युक्तोयुक्ततरः सावधानः भवेत् । च पुनः । गतप्रत्यागते गमनागमने शत्रोः । सरिपुः कष्टतरः ॥ १८६ ॥

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा ॥ घराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ॥ १८७ ॥

(१) मेधातिथिः । तत्र दण्डाकारोव्यूहोदण्डव्यूहः । एवंशकटाकृतिस्थानाच्छकटइत्यादियोज्यम् । पुरस्ताद्वलाध्यक्षोमध्येराजा पश्चात्सेनापतिः पार्श्वयोर्हस्तिनस्तेषांसमीपेऽस्वास्ततः पदातयइत्येषसर्वतः समवायोदण्डव्यूहोऽतिर्यग्भवति । सर्वतोभयकार्यः सूचिव्यूहः स्थलसमुत्थानसैनिकः प्रवीरपुरुषमुखोतिदीर्घऊर्ध्वोयतः परकक्षीऽन्यैः समप्रवर्तमानः । मकरव्यूहस्तु मुखेजघनयोः पृथुरुभयतोयेन प्रशस्तः सर्वेनफल्गुबलंलभते न चार्थं तद्विशूरैर्हन्यमानमन्येषामपि भङ्गायभवति । तस्यान्तमन्यकार्यमवरुद्धं निश्चयेनावतिष्ठते । परिशिष्टन्तुबलं व्यूहस्यान्तःप्रक्षिपेत् एवंचनाविशेषैरुक्तैरुक्तप्रयोजनापेक्षया वा विशेषेण तु समायां भूमौ दण्डगरुडसूचिभिर्यायात् विषमायांसंकटायां शकटमकरवराहैरिति ॥ १८७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दण्डशकटादिर्दण्डशकटाद्याकृतिसाम्येन । व्यूहभेदस्य गौणी संज्ञा तदाकृतिभेदाश्च प्रपञ्चिभ्या न लिख्यन्ते नीतिशास्त्रेषु तु द्रष्टव्याः ॥ १८७ ॥

(३) कुल्लूकः । दण्डाकृतिव्यूहरचनादि दण्डव्यूहः एवंशकटादिव्यूहा अपि तत्राग्रे बलाध्यक्षोमध्ये राजा पश्चात्सेनापतिः पार्श्वयोर्हस्तिनस्तत्समीपे घोटकास्ततः पदातयइत्येवंकृतरचनोदीर्घः सर्वतः समविन्यासोदण्डव्यूहस्तेन तद्यातव्यमार्गसर्वतोभये सति यायात् । सूच्याकाराग्रः पश्चात्पृथुलः शकटव्यूहस्तेन पृष्ठतोभये सति गच्छेत् । सूक्ष्ममुखः पश्चाद्भागः पृथुमध्योवराहव्यूहः एषएव पृथुतरमध्यो गरुडव्यूहस्ताभ्यां पार्श्वयोर्भये सति व्रजेत् । वराहविपर्ययेण मकरव्यूहस्तेनाग्रे पश्चाच्चोभयत्र भये सति गच्छेत् । पिपीलिकापङ्क्तिरिवाग्रपश्चाद्भावेन संहतरूपतया यत्र यत्र सैनिकावस्थानंसशीघ्रप्रवीरपुरुषमुखः सूचीव्यूहस्तेनाग्रतोभये सति यायात् ॥ १८७ ॥

(४) राघवानन्दः । व्यूहे दण्डादिपदप्रक्षेपस्तदाकृतिसूचनार्थः । व्यूहस्तु सेनायाः संस्थानं तेनसम तत्र दण्डव्यूह-

होयस्याग्रे बलाध्यक्षोमध्ये नृपतिः पश्चात्सेनापतिः पार्श्वे करिणस्तत्समीपेऽश्वादयः ततः पदातय इत्येवं रचनाविशेषो दण्डाकार इति सर्वतोभये मार्गे तेन व्यूहेन रिपोराष्ट्रयायादित्यन्वयः । पृष्ठतोभये च शकटव्यूहः सच सूच्ययः पश्चात्पृथुः । वराहस्तु सूक्ष्ममुखः पश्चादपि तथा पृथुमध्यः स एव मकरोऽतीव दीर्घः एतौ तु पार्श्वतोभयेपि । पिपीलिकापङ्क्तिरूपोऽग्रे दीर्घावीरपुरुषप्रमुखाः पश्चाद्भागे संहता यत्र सैनिकाः । सूचीव्यूहः स एवाग्रतोभये । गारुडस्त्वग्रे पश्चाच्च सूक्ष्मः प्रसारितपक्षवद्दीर्घः पृथूदर इति तत्र समायां भुवि दण्डगरुडसूचीभिर्यायाद्विषमायां संकटायां शकटमकरवराहैरिति ॥ १८७ ॥

(५) नन्दनः । दण्डगरुडादयो व्यूहानामसदृशाः कार्याः ॥ १८७ ॥

(६) रामचन्द्रः । दण्डव्यूहेन दण्डशकटाद्याकृतिसाम्येन व्यूहभेदस्य गौणी संज्ञा । तेन मार्गे यायात् ॥ १८७ ॥

यतश्च भयमाशङ्केततो विस्तारयेद्वलम् ॥ पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत् सदा स्वयम् ॥ १८८ ॥

(१) मेघातिथिः । तस्मिन्पथि यस्मात्प्रदेशात्परहितकारिभ्यो भयाशङ्कना स्यात्तेन प्रदेशेन पूर्वगृहाद्विस्तारयेद्वलं गव्यूतिमात्रमधिकं वा । यवसंपन्नदृढप्रहारविस्तीर्णशत्रुपुष्टपरस्परमवरुद्धरथिकाश्वारोहकरीबलान्यवहिनिभवन्ति समन्ताद्विस्तृतपरिमण्डलोमध्यनिविष्टविजिगीषुः पद्मव्यूहः । एवं नित्यं निविशेत्पुरान्निर्गच्छेद्भामाद्वा ॥ १८८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एषां च विकल्पेन करणे निमित्तमाह यतश्चेति । निविशेत् शिबिरं कुर्यात् ॥ १८८ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्यादिशः शत्रुभयमाशङ्केत तस्यामेव बलं विस्तारयेत् समविस्तृतपरिमण्डलोमध्योपविष्टविजिगीषुः व्यूहस्तेन पुरान्निर्गत्य सर्वदा कपटनिवेशनं कुर्यात् ॥ १८८ ॥

(४) राघवानन्दः । कथं स्थातव्यमित्यस्योत्तरमाह यत इति । विस्तारयेत् गव्यूतिमात्रमधिकं वा युद्धे संपन्नदृढप्रहारिभिरिति । पद्मव्यूहस्तु समंततो विस्तृतसेनोमध्यस्थितनृपतिः । अनेन रिपुपुरं प्रविश्य निवेशं कुर्यात् । मेघातिथिस्तु समन्ताद्विस्तृतपरिमण्डलोमध्यनिविष्टविजिगीषुः पद्मव्यूह इति आशंक्येत भयं यस्मादिति च पाठं करोति ॥ १८८ ॥

(६) रामचन्द्रः । यतो दिग्भ्यः भयमाशङ्केत ततः बलं सैन्यं विस्तारयेत् ॥ १८८ ॥

सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत् ॥ यतश्च भयमाशङ्केत्प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम् ॥ १८९ ॥

(१) मेघातिथिः । सेनापतिः समग्रस्य धनस्याधिपतिर्बलाध्यक्षस्तयोर्बहुत्वाभावाद्विवचननिर्देशाच्च सर्वदिक्षु तदसंभव इति तत्पुरुषास्तच्छब्देनोच्यन्ते । तदीयपुरुषसन्निवेशाच्च सर्वदिक्षु तावेव सन्निवेशितौ भवतः तेन भिन्नैस्तुरगगजादिभिस्तत्त्वतिबद्धनिवेशानां संयोधनाय समन्ततो निवेश्य गिरिगर्त्तवापृष्ठतोऽभ्यक्षं कृत्वा यतो भयमाशङ्केत यथासा प्राचीं दिग्भवत्येव । निवेशं कुर्यादभिमुखनिर्गमार्थमिव ॥ १८९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सेनापतिः सैन्ये प्रधानभूतः स्वयं योद्धा बलाध्यक्षो बलावेक्षकः । प्राचीं तामिति तत्संमुखो निविशेतेत्यर्थः ॥ १८९ ॥

(३) कुल्लूकः । हस्त्यश्वरथपदात्यात्मकस्याङ्गदशकस्यैकः पतिः कार्यः सच पत्तिक उच्यते । पत्तिकदशकस्यैकः पतिः सेनापतिरुच्यते । तद्दशकस्यैकः सेनानायकः स एव च बलाध्यक्षः सेनापतिबलाध्यक्षौ समस्तासु दिक्षु संधर्षयुद्धार्थं नियोजयेत् । यस्याश्च दिशो यदा भयमाशङ्केत तदा तामग्रे दिशं कुर्यात् ॥ १८९ ॥

(४) राघवानन्दः । अत्र कृत्यविशेषमाह सेनापतीति । अत्रचएकेभैकरथाध्यश्वापत्तिः पञ्चपदातिकेति ॥ ह-
स्त्यश्वरथपदात्यात्मकस्याङ्गदशकस्यैकः पत्तिः कार्यः सपत्तिः पत्तिदशाध्यक्षः सेनापतिस्तदशाध्यक्षोबलाध्यक्षइति तौच
तुर्दिक्षुनिवेशयेत् । प्राचींतांशङ्कास्पदादिशंअग्रेकृत्वातिष्ठेदितिभावः ॥ १८९ ॥

(५) नन्दनः । बलाध्यक्षोबलानुसन्धायकः । तांदिशंप्राचींकल्पयेत् । तांदिशमभिमुखोनिविशेत् इत्यर्थः ॥ १८९ ॥

(६) रामचन्द्रः । राजा सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत् । यस्यांभयक्षाशङ्केतांदिशंप्राचींकल्पयेत् ।
प्राचीमिति । तत्संमुखोभूत्वा निवेशयेदित्यर्थः ॥ १८९ ॥

गुल्मांश्च स्थापयेदाम्नांकृतसंज्ञान्समन्ततः ॥ स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः ॥ १९० ॥

(१) मेघातिथिः । गुल्मान्मनुष्यसमवायान् केचित्साक्षात्समन्ततः सशङ्खपटहाअन्येविपरीतास्तत्रचोत्पन्नदुश्चि-
कित्समहते चानर्थाय गुणैर्विशेषयति । आमामाप्तसदृशानित्यभेदार्थं कृतसंज्ञान् कृता संज्ञा यैस्ते कृतसंज्ञास्तानवसरे
युद्धेषु शङ्खभेरीनादध्वजादिभिर्दार्यैस्तूर्णमेवाहरिष्यामस्तदपगमाशङ्कायां चैवमेवकुर्यात् आहते ध्वजेवोच्छ्रिते पृथक्पृथक्-
वस्थातव्यं एवंसंहतैरेवमहर्त्तव्यं एवंव्यावर्तितव्यमित्यादिस्थितम् । स्थाने तत्र कुशलान्यैःशरैःशक्यमागन्तुंसमे तेन
शक्यमस्मिन्वयमपृथक्परेपृथगित्यादिषूद्धेगे नानुसरणादौ कुशलाभवन्तःसंहतकैर्योधनाय प्रासारंकृत्वा प्रविष्टाः पृष्ठदेशार्थः
प्रहारिणा चित्रंयोजयितव्यः भग्नानामनेकार्थशतानांपृष्ठग्राह्यमित्यादि । अभीरवः अनेनविस्तीर्णसमेताअविकारिणोऽभे-
दात्मकैर्यैर्युक्तमपरस्य एवमेतान्गुल्मान्समन्ततस्त्रिषु दिक्षु गव्यूतिमात्रव्यापीमत्यहमनियतदेशान्बहूनस्थपतेर्भयप्रतिबोध-
नार्थमवहिते भयदातरिजनोविश्वस्तोभवति दानमानकार्यदर्शनादिभिरपवृत्ते युद्धेऽमात्यादिभिः सह सर्वेषांस्वार्थःसंग्रामो-
नाममात्रंराजेति सर्वे वयंसमानविभवोपभोगायजये राज्यंपराजये स्वर्गइति हेतुनाऽऽगताः ॥ १९० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गुल्मान् गुल्मदेशस्थान् । कृतसंज्ञानेतत्सकेतज्ञस्यैव प्रवेशादयइति संकेतं कृत्वा । स्थाने
गुल्मस्थानावस्थाने । युद्धे युद्धादिभूमिस्थाने । कुशलान् कृतानुभवान् । अभीरून् संग्राममरणादभीतान् । अविकारिणः
आप्तत्वेसत्यपि कदाचिदागन्तुकविचाररहितान् ॥ १९० ॥

(३) कुल्लुकः । गुल्मान्सैन्यैकदेशानामपुरुषाधिष्ठितान् स्थानापसरणयुद्धार्थंकृतभेरीपटहशङ्खादिसंकेतानवस्था-
नयुद्धयोः प्रवीणान्निर्भयानव्यभिचारिणःसेनापतिबलाध्यक्षान्बूरतः सर्वदिक्षु पारक्यप्रवेशवारणाय शत्रुचेष्टापरिज्ञानाय
च नियोजयेत् ॥ १९० ॥

(४) राघवानन्दः । किंच । गुल्मानामपुरुषाधिष्ठितसैन्यैकदेशान्कृतसंज्ञान् युद्धोद्यमसूचकभेरीपटहशङ्खादिसङ्के-
तान् सेनापतिबलाध्यक्षयोर्दूरतःस्थापयेदित्यन्वयः । कुशलान् अवस्थानयुद्धयोः । अविकारिणोघनलोभादिना विकर्तुम-
शीलान् ॥ १९० ॥

(५) नन्दनः । सेनानिवेशविशेषोगुल्मः । स्थानेऽपत्त्रयने । अविकारिणः अकृतामराधान् ॥ १९० ॥

(६) रामचन्द्रः । सेनायाःसमन्ततः कृतसंज्ञान् शिरस्युपरि । पत्रंपुष्पधारयेदित्यर्थः । एतादृशान् गुल्मान्
रक्षकान् आमाम् स्थापयेत् स्थाने युद्धस्थाने युद्धे च कुशलान् ॥ १९० ॥

संहतान्योधयेदल्पान्कामंविस्तारयेद्बहून् ॥ सूच्या वज्रेण चैवैतान्व्यूहेन व्यूह योधयेत् ॥ १९१ ॥

(१) मेधातिथिः असंहता हि बलवद्विस्तीर्णबलमासाद्यावयवशोविध्वंसनायवाहनाघातैः क्षयंयान्ति तद्विनाशोचो-
त्पन्नाइमेऽतोल्पानात्मोयान्संहतान्योधयेदन्योन्यापेक्षया युध्यमानानभिघ्नतइतरेतरानुग्रहात्परस्परानुरागात्स्पर्द्धायाश्च प-
रान्संहतान्सोढुंसमर्थाभवन्ति । कामंयथेष्टंकार्यार्थंबहून्विस्तारयेद्विप्रकीर्णान्योधयेदित्यादिमन्येत । भिन्नांस्तान्श्चे-
तान्भयमेव्यति परान्त्वान्बा बहून्ष्टात्रासःस्यादिति । सूचीपूर्वोक्तोक्षव्यूहभेदोऽग्रतः पृष्ठतश्च त्रिधा व्यवस्थितःपार्श्वयोर्भेद-
नेन तेनचात्मानंसूचीव्यूहंविभज्य योधयेत् । सतांचसर्वव्यूहानांप्रतिष्ठाव्यूहनसमर्थावितिप्रतिगृहीतावेवंकारणान् । यदा-
तुपरबलेहेतावेव भवतस्तदा स्वेबले विपर्ययः कार्यः । तुल्यत्वे तुपुष्टिमत्वानुरक्तकुशलमाननप्रभूतैकार्थकारित्वादित्यतोवि-
शेषे यथासंभववाक्यैर्योधयेदिति वचनाद्राजा स्वयंतत्प्रतिसंधानार्थंव्यूहदुर्गाद्यमश्वेप्रतिग्रहभूतस्तिष्ठेत्समानतत्त्रेणोक्तं द्वे-
शतेधनुषांगत्वाराजातिष्ठेत्प्रतिग्रहः ॥ भिन्नसंघातनार्थंतुनयुध्येताप्रतिग्रहः ॥ १९१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सूच्याल्पान् । वज्रेणबहून् ॥ १९१ ॥

(३) कुल्लूकः । अल्पान्योधान्संहतान्कृत्वा बहून्पुनर्यथेष्टंविस्तारयेत् । सूच्या पूर्वोक्तया वज्राख्येन व्यूहेन त्रि-
धा व्यवस्थितबलेन रचयित्वा योधान्योधयेत् ॥ १९१ ॥

(४) राघवानन्दः । कथंयोद्धव्यमित्यस्योत्तरमाह संहतानिति । संहतान्परकीयान्प्रति अल्पान्योधान्योधयेत् यु-
द्धायनियोजयेत् । अल्पान्प्रतिवा बहून्श्चेद्विस्तारयेत्प्रदर्शयेत् । वज्रेणेति त्रिधाव्यवस्थितबलोवज्रइत्यभिधीयते ॥ १९१ ॥

(५) नन्दनः । अल्पबलश्चेदल्पान्त्वकीयान्योधान् संहतान्कृत्वा योधयेत् । सूच्यव्यूहेनाल्पबलः वज्रव्यूहेन ब-
हुबलइतिविवेकः ॥ १९१ ॥

(६) रामचन्द्रः । संहतान् एकत्रस्थान् अल्पान्बहून्वा स्थापयेत् विस्तारयेत् योजयेत् ॥ १९१ ॥

स्यन्दनाश्वैः समे युध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा ॥ वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥ १९२ ॥

(१) मेधातिथिः । सेनानादेशस्य प्रकृत्पर्थमाह समप्रदेशे रथैरश्वैश्च युध्येत तत्र हितेषामप्रतिघातः अनूपः
पानीयप्रायः तत्राप्यल्पोदके हस्तिभिरगाधोदकेतु नौभिः तेषांहि तत्र सुखप्रचरता वृक्षैर्गुल्मैश्चसंछन्ने धनुर्भिः तद्ग्रहणाच्च
क्लीवर्दगर्ताद्याकुलगृह्यते समानकार्यत्वात् । स्थलमिति पाषाणवृक्षलतागर्तादिरहितोदेशस्तस्मिन्सिद्धिः । धार्यैःशरादिभि
रायुधैश्च शक्त्यादिभिर्युद्धयेत् आसन्नयुद्धत्वादेवंसामर्थ्यप्रदर्शनार्थत्वादस्य ॥ १९२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्यन्दनाश्वैः स्यन्दनैरश्वैश्च । चापैरसिचर्मायुधैरिति पदानीनामायुधकथनम् । अश्वादयोदे-
शविशेषे प्रदातयस्तु सर्वत्रेत्याशयः ॥ १९२ ॥

(३) कुल्लूकः । समभूभागे रथाश्वेन युध्येत तत्र तेन युद्धसामर्थ्यात्तदानुगतोदकेनौकाहस्तिभिः तरुगुल्मावृ-
ते धन्विभिर्गतकण्टकपाषाणादिरहितस्थले खड्गफलककुन्ताद्यैरायुधैर्युध्येत ॥ १९२ ॥

(४) राघवानन्दः । यथाक्रमंयुद्धोचितदेशमाह स्यन्दनेति । समेसमस्थले शुष्कइति यावत् । अनूपे अल्पोदक-
स्थलेनावश्च द्विपाःकरिणस्तैः । वृक्षाश्च गुल्मावंशादयस्तैरावृते स्थले निम्नोन्नते ॥ १९२ ॥

(५) नन्दनः । अनूपःप्रभूतजलोदेशः ॥ १९२ ॥

(६) रामचन्द्रः । समेदेशे स्यन्दनाश्वैर्युध्येत । अनूपे सजलेदेशे नौकाभिः युध्येत । तथा वृक्षगुल्मावृते देशे चापैर्धनुर्भिः तथा असिचर्मायुधैः युध्येत ॥ १९२ ॥

कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालान् शूरसेनजान् ॥ दीर्घाल्लघून्श्चैव नरानग्रानीकेषु योजयेत् ॥ १९३ ॥

(१) मेधातिथिः । किञ्चकुरुक्षेत्रं प्रसिद्धं मत्स्यसंज्ञो विराट् देशो नागपुरे पञ्चाला उभयेकान्यकुब्जा आहिच्छत्राश्च शूरसेनजामाथुराः । क्वचिच्चात्र भावार्थे प्रत्ययोलुमनिर्दिष्ट एतद्देशजाहि प्रायेण महावर्ष्माणो बलवन्तः पृथुवक्षसः शूरा अभिमानिनो दुर्विषहा इत्यत्रेयऽमी कथिताः परेषां भयहेतवो भवन्ति दीर्घकायाध्यवस्ताल्पदेशा अपि दीर्घश्वसूकरामहाकायत्वात् लघवस्तु मरणासमर्थानिर्भयेन जनेन प्रच्छन्नाविद्धाः प्रहरन्तोऽपकारासमर्था आदर्शभूताश्चेत इतरेषां भवन्ति ॥ १९३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । लघून् शीघ्रान् । अग्रानीकेषु तेषामापततामधृष्यत्वात् ॥ १९३ ॥

(३) कुह्लूकः । कुरुक्षेत्रं भवान्मत्स्यान् विराट् देशनिवासिनः पञ्चालान्कान्यकुब्जाहिच्छत्रोद्भवान् शूरसेनजान् माथुरान्प्रायेण पृथुशरीरशौर्यार्हङ्गारयोगात्सेनाग्रे योजयेत् तथान्यदेशोद्भवानपि दीर्घलघुदेहाः पृथुशरीरान्प्रायेण पृथुशरीरशौर्यार्हङ्गारयोगात्सेनाग्रे योजयेत् तथान्यदेशोद्भवानपि दीर्घलघुदेहाः पृथुशरीरान्प्रायेण पृथुशरीरशौर्यार्हङ्गारयोगात्सेनाग्रे योजयेत् ॥ १९३ ॥

(४) राघवानन्दः । मनुष्यसंनिवेशप्रकारमाह कौरुक्षेत्रांश्चेति । कुरुक्षेत्रादयो देशविशेषास्तदुद्भवान् । लघून् शरीरतो विक्रमतश्च । अग्रानीकेषु अनीकानां सेनानामग्रेषु ॥ १९३ ॥

(५) नन्दनः । कुरुक्षेत्रादिदेशजाः कृतज्ञाः शूरजाश्च तेष्वपि दीर्घाः प्रतिपक्षभीषणाश्च तेष्वपि लघवः प्रवृत्तिक्षमाश्च अतस्तानग्रानीकेषु योजयेदित्यभिप्रायः ॥ १९३ ॥

(६) रामचन्द्रः । दीर्घान् नालसंधान् पश्चिमदेशनिवासिनः । लघून् पर्वतवासिनः ॥ १९३ ॥

प्रहर्षयेद्वलं व्यूह्य तांश्च सम्यक् परीक्षयेत् ॥ चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन्यो धयतामपि ॥ १९४ ॥

(१) मेधातिथिः । व्यूहं रचयित्वा त्वबलं भृशं दर्शयन् किमेषां जीयते जिता एवामी युष्मत्प्रतापेनेत्येवं प्रहर्षयेत् । जये महानर्थलाभः आश्रितोपाश्रितसुखं वधे वापि स्वर्गो भर्तृपण्डनिर्यातनंच । पराजये त्रितया भावइत्यादि नैमित्तिकोपितदुःपशः तादृशानि मित्तनियमात्मानय सहस्वोर्व्यावश्यं भावो यदि प्रधानपुरुषः स्वजनवधो राजा तदप्रतिग्रहव्याजेन स्थितो भीरुत्वात्स्वयं युद्धं न कामयत इत्यादि तत्र ये ब्रूयुस्ते तदेव स्वार्थं एवायमस्माकमत्र वधे शस्त्रोपजीविभूतानां संध्यामविशेषधर्मोऽव्ययीभावः स्वधर्मायासोऽनर्थहेतुराजा सर्वप्रकारैरक्षणीयः । परिश्रान्तानां आत्मा कमपरिश्रान्तसुखमनुग्रहं करिष्यतीत्येवमर्थस्थित इति तान्विशेषतो गृह्णीयात् जेतुः प्रशंसितुः परसंव्ययं वा कारयेयुस्तानुपग्रहैः परिष्वङ्गालङ्कारदानादिना च वशीकुर्यात् शवचेष्टां चैवारीणां यो धयतां विजानीयात् कथं युद्धे चेष्टन्ते कोशाबलं वा केचिद्विधा दद्याः केचित्तु पक्षान्त इत्यादि चिन्तानित्यत्वान्मनुष्याणामुपकुर्वन्तोपि स्वार्थवशादुपकुर्वन्तीत्यत्र दुष्टानामबलमध्ये विन्यसेद्यथारिदुर्गाश्रितो भवति ॥ १९४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । परीक्षयेत् त्वयमनुसंदध्यात् ॥ १९४ ॥

(३) कुह्लूकः । बलं रचयित्वा जये धर्मलाभः अभिमुखहतस्य स्वर्गप्राप्तिः पलायने तु प्रभुदुरितग्रहणं नरकगमनंच इत्याद्यर्थवादैर्युद्धार्थं प्रोत्साहयेत् । तांश्च यो धाकेनाभिप्रायेण दृश्यन्ति कुर्ष्यन्ति वेति परीक्षयेत् । तथा यो धानामरिभिः सह युद्धयमानानामपि सोपभ्यनुपबिचेष्टा बुध्येत ॥ १९४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यत् प्रहर्षयेदिति ॥ स्वर्गद्वारमपावृतम् । सुखिनः क्षत्रियाः पार्थलभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ हतोवा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीमिति ॥ तथा ग्रामं दास्यामि धनं दास्यामीत्यादिना प्रहर्षयेत् शोधानां हर्षस्तुत्पादयेत् । योधयतां चेष्टाः स्वपरपक्षपातिकर्माणि विजानीयात् दूतेनेति शेषः ॥ १९४ ॥

(५) नन्दनः । तानग्रानीकेषु योजितान् योधयतां बलाध्यक्षाणाम् ॥ १९४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अरीन् योधयतां पुंसां चेष्टां विजानीयात् ॥ १९४ ॥

उपरुध्या रिमासीत् राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् ॥ दूषयेच्चास्य सततं यवसानोदकेन्धनम् ॥ १९५ ॥

(१) मेधातिथिः । तदुर्गलम्भोपायमाह उपरोधस्तथा कर्तव्यो यथा । न कश्चिन्निष्क्रामति किंचित्प्रविशति । राष्ट्रं दुर्गादि हि देशस्तस्योपपीडणं स्वदेशापवाहोपमर्दनादिभिः । व्यवसादीनां दूषणं विनाशनमसद्रध्यमिश्रणादिभिः ॥ १९५ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । इन्धनदूषणं जलेनार्द्रकरणादि ॥ १९५ ॥

(३) कुल्लूकः । दुर्गाश्रयमदुर्गाश्रयं वारिपुमयुध्यमानमप्यावेष्टासीत् । अस्य च देशमुत्सादयेत् । तथा घासानोदकेन्धनानि सर्वदाऽस्यापद्रव्यसंमिश्रणादिना दूषयेत् ॥ १९५ ॥

(४) राघवानन्दः । अरिषु कृत्यान्तरमाह उपेतित्रिभिः । उपरुध्यावपीडयेत् लुण्ठनाद्यादिदानेन । दूषयेत् भेदयेत् विषादिना वा ॥ १९५ ॥

(६) रामचन्द्रः । नगरवेष्टनमाह उपरुध्येति त्रिभिः । अरिं शत्रुं उपरुध्य वेष्टयित्वा आसीत् स्थितो भवेत् । अस्य राज्ञः राष्ट्रं देशं उपपीडयेत् । च पुनः यवसानोदकेन्धनानि दूषयेत् । यवसेन्धनमग्निना दाहयेत् । एतानि अन्नं क्षेत्रस्थं लुप्तेत् मार्गावरोधेन महार्घं कुर्यात् ॥ १९५ ॥

भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा ॥ समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥ १९६ ॥

(१) मेधातिथिः । तडागग्रहणं सर्वजलाश्रयदर्शनार्थं तत्र तडागस्य सेतुबन्धेन प्रयोजनभेदनं प्राकारेयं चैव विदारणं सुरङ्गया वा भङ्गः परिखायाः पूरणेन पार्श्वभङ्गेन वा छिद्रेषु प्रवीरपुरुषैरवस्कन्दयेत् । दुर्गे रात्रौ च वित्रासयेत् अग्निकुंभशिरस्कैः शिवावद्रुतानि कुर्वन्निर्मनुष्यैः ये नराः स्वयमुत्पातदर्शनाद्रात्रौ जाग्रतावजीर्णलोकः सुसाध्यो भवति । तस्मिंश्च काले भूयोभूयः ॥ १९६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । समवस्कन्दयेत् सौमिकेन हन्यात् ॥ १९६ ॥

(३) कुल्लूकः । शत्रोरुपजीव्यानि तडागादीनि नाशयेत् । तथा दुर्गप्राकारादीन् भिन्द्यात्तत्परिखाश्च भेदेन पूरणादिना निरुदकाः कुर्यात् । एवं च शत्रून् शङ्कितमेव सम्यगवस्कन्दयेत्तथा शक्तिगृह्णीयात् । रात्रौ च दहकाहलिकादिशब्देन वित्रासयेत्सदानीं च ॥ १९६ ॥

(४) राघवानन्दः । तडागानि जलाशयान् तथा परिखाः समन्ततो व्यापका अगाधजलशालिनीः स्वातत्स्वरूपाः भिन्द्यात् । समवस्कन्दयेत् शक्तितोगृह्णीयात् अग्निप्रक्षेपादिना चैनमरिशोषयित्वा त्रासयेत् रात्रौ च दहकादिशब्देन ॥ १९६ ॥

(५) नन्दनः । समवस्कन्दयेत् सौमिकं कुर्यात् । अवस्कन्दस्तु सौमिकमिति नैखण्डवाः । एतन् शत्रुम् । रात्रौ वित्रासयेच्च ॥ १९६ ॥

(६) रामचन्द्रः । च पुनः एतन् राजानं ग्रामं वा संश्रवस्कन्दयेत् सौमिकं हन्यात् ॥ १९६ ॥

उपजप्यानुपजपेदुत्थेतैव च तत्कृतम् ॥ युक्ते च दैवे युध्येत जयप्रेप्सुरपेतभीः ॥ १९७ ॥

(१) मेधातिथिः । उपजप्याः क्रुद्धारयः कुलीनाः स्वराज्याभिलाषिणस्तानुपजपेदिति हेतुः कर्त्तरि कर्त्तव्यव्यपदेशमुपजपेदित्यर्थः उपजपेद्वाहयेदित्यर्थः । उपजापआश्रयाद्विश्लेषात्महितानुष्ठानप्रतिपादनम् । तेन चारिणासुकृतमप्यभिमतदुर्गस्थेन वाकिञ्चित्प्रारब्धबलाटविकपावर्णिग्राहादिकोपनार्थमध्यमोदासीनानामन्यतरेण सहसंधानमित्यादिबुध्येत । युक्तेचदैवे विजिगीषोरनुकूलदैवइत्यर्थः । नक्षत्रग्रहदैवसमुहूर्तेषु साधकेषु दृष्टः स्वमदर्शननिमित्तेषु चानुगुणेष्वनुलोमवातादिषु जयमिच्छन्निर्गतभयोदुर्गस्थानानि यथा । प्रथमं योद्धुं गच्छेत् ॥ १९७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उपजप्यान् भेद्यान् । युक्तेऽनुकूले दैवे ग्रहादौ ॥ १९७ ॥

(३) कुल्लूकः । उपजापार्हान्निपुवंश्यान्त्राज्यार्थिनः क्षुब्धानमात्यादींश्च भेदयेत् उपजपेनात्मीयकृतांच तेषांचेष्टां जानीयात् शुभग्रहदशादिना शुभफलयुक्ते दैवेवगते निर्भयोजयेत्सुर्युध्येत् ॥ १९७ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यदुपेति । उपजप्यानरिवंश्यान्त्राज्यार्थिनः क्रुद्धानमात्यादींश्च उपजपेत् भेदयेत् । उपजपेनात्मसात्कृतानां तेषां चेष्टाः स्वपरपक्षपातान् जानीयादिति । युक्ते शुभफलदानाऽनुकूले दैवे ग्रहनक्षत्रादौ । जयप्रेप्सुः जेष्यामीति कृतनिश्चयः । अपेतभीः मरिष्यामीति वा गतभीः ॥ १९७ ॥

(५) नन्दनः । तत्कृतं शत्रुकृतं उपजापमिति शेषः । दैवे युक्ते सुनिमितादिभिर्दैवानुकूल्ये सति ॥ १९७ ॥

(६) रामचन्द्रः । उपजप्यान् भेद्यान् उपजपेत् भेदयेत् । च पुनः तत्कृतं बुध्येत जानीयात् । भेदकत्कृतं कार्यं युद्धे जानीयादित्यर्थः । च पुनः युक्ते दैवे अनुकूले दैवे ग्रहादौ चैवविधो राजा जयप्रेप्सुः युध्येत् ॥ १९७ ॥

साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक् ॥ विजेतुं प्रयतेतारीन् युद्धेन कदाचन ॥ १९८ ॥

(१) मेधातिथिः । सहसायुध्येत एतावत्प्रथमं विशिष्टस्थापनोपदेशनं सुमुखंचमिथोमहाजनकथा सहदारदर्शनादि दानविधानद्रव्याणां हिरण्यादीनां प्रीत्युत्पादनार्थं प्रतिपादनं भेदस्तत्कुलीनादेरुपसंग्रहः ततो विशेषेण तत्र विशसनमित्याद्यकारणम् ॥ १९८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कदाचन सामादिसंभवे ॥ १९८ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रीत्यादरदर्शनहितकथनाद्यात्मकेन साम्रा हस्त्यश्वरथहिरण्यादीनांच दानेन तत्पुरुतीनांतदनुयायिनांच राज्यार्थिनां भेदेन एतैः समस्तैर्व्यस्तैर्वा यथासामर्थ्यमरीजैतुं यत्नं कुर्यान्न पुनः कदाचिद्युद्धेन ॥ १९८ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रकारान्तरेणारिवश्यत्वे युद्धं कुर्यादित्याह साम्नेति । पृथक् प्रत्येकं तत्र सामादि संबध्यते । समस्तैस्त्रिभिर्वा ॥ १९८ ॥

(५) नन्दनः । एवमभियुज्य शत्रुसामदानभेदैः सादयेन्त्युद्धेनेत्याह साम्नादानेनेति ॥ १९८ ॥

अनित्यो विजयो यस्माद्दृश्यते युध्यमानयोः ॥ पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥ १९९ ॥

(१) मेधातिथिः । यस्मान्नायं नित्यमोदश्यते योजयति सोऽत्यन्तबलवानवश्यं तेन यश्च पराजीयते सोऽत्यन्तदुर्बलश्चावश्यमित्यनित्यो विजयः ॥ १९९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पराजयश्च संग्रामे प्राप्तिः दानाद्यैर्जयपराजयशङ्कानि ॥ १९९ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्माद्युध्यमानयोर्बहुलबलत्वाद्यल्पबलत्वाद्यनपेक्षमेवानियमेन जयपराजयौ दृश्येते तस्मात्सत्युपायान्तरे युद्धपरिहरेत् ॥ १९९ ॥

(४) राघवानन्दः । नयुद्धेनेतितत्र हेतुरनित्यइति पराजयोपीति ॥ १९९ ॥

(५) नन्दनः । अत्र हेतुमाह अनित्योविजयइति ॥ १९९ ॥

(६) रामचन्द्रः । विजयः अनित्यः पराजयोपि संग्रामेऽनित्यः ॥ १९९ ॥

त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसंभवे ॥ तथा युद्ध्येत संपन्नोविजयेत रिपून् यथा ॥ २०० ॥

(१) मेधातिथिः । सामादीनामसाधकस्तदा संदिग्धेपि जये समानेऽपि किंपुनारूपेण सह तेन प्रकारेण युध्येत येन प्रकारेणात्मनोजयः स्यात् । जये राज्यं वधेऽपि स्वर्गइति युष्माकमेवजयः परप्रत्यूहकल्पना कूटयुद्धादिप्रकारः अत्यन्तोच्छेदानुसरणपीडनाभ्यां सहसानिकार्यस्तथा च व्यासआह ॥ पुनरावर्त्तमानानां निराशानां च जीविनां । न शक्येदद्यतः स्थातुं शक्रेणापि धनञ्जयः ॥ यदासंदिग्धं पराजयंतदाऽपक्रमणं युक्तं निर्गतोहि जीवोन कार्यमासादयति येन भद्राणि पश्यति स्वर्गमर्जयति मृतइति येन केनचित्प्रकारेण जित्वा रिम् ॥ २०० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यथा येन प्रकारेण वञ्चनादिनापि विजयते । इति षाड्विध्यप्रकरणम् ॥ २०० ॥

(३) कुल्लूकः । पूर्वोक्तानां त्रयाणामपि सामादीनामुपायानामसाधकत्वे सति जयपराजयसंदेहेऽपि तथा प्रयत्नवान्सम्यग्युध्येत । यथा शत्रूञ्जयेत् यतो जयेऽर्थलाभोऽभिमुखमरणे च स्वर्गप्राप्तिः निःसंदिग्धेतु पराजये युद्धादपसरणं साधीयो यथा वक्ष्यति । आत्मा तु सर्वदारक्ष्यइति मेधातिथिगोविन्दराजौ ॥ २०० ॥

(४) राघवानन्दः । अन्यथानुपपत्तौ तत्कार्यमित्याह त्रयाणामिति । त्रयाणां भेदान्तानां परिक्षये सामादीनां अरि वक्ष्यानुपायत्वे ॥ २०० ॥

(५) नन्दनः । उपसंहरति त्रयाणामपीति ॥ २०० ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रयाणां उपायानां सामदानभेदानां परिक्षये । संयत्तः सावधानः ॥ २०० ॥

जित्वा संपूजयेद्देवान् ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान् ॥ प्रदद्यात्परिहारांश्च ख्यापयेद्भयानि च ॥ २०१ ॥

(१) मेधातिथिः । लब्धप्रशमनमिदमतोयस्मिन्पुरे जनपदे देवब्राह्मणाश्च धार्मिकान्विहितानुष्ठानिनो यथा सामर्थ्यात्प्रतिषिद्धवर्जकामात्स्वातन्त्र्येणारीन् जित्वा साध्यप्रवृत्तादिकंगंधधूपपुष्पद्रव्यंसंविभागास्फोटनादिसंस्कारद्वारेण यथार्हमभ्यर्चयेत् । कुटुंबिनां परिहारार्थं स्थितिर्यथा प्रवृत्तिविशिष्टकरभारशुल्कप्रदेशानां प्रदानेन तथा तथा वा संवत्सरमेकोद्वौ वा दद्यादुच्चानां च पौरजनपदबलतानामातपादिङ्गिण्डमकगदापातेन ख्यापयेत्तैर्यैः स्वाम्यनुरागादस्थानमपचिते तेषामप्यारक्षान्तं यथा त्वं स्वव्यापारमनुतिष्ठत्विति एवमनुग्रहे क्रियमाणेऽपि यदा पौरजानपदानामन्येषां स्वाम्यनुरागादहं वक्तृतैजसभावो बहुमतः स्यादिति मन्येत मदीयस्य दण्डोऽवस्थातुं शक्नुयात्तदा ॥ २०१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । लब्धप्रशमनमाह जित्वेति । परिहारान् अग्रहारान् । अभयख्यापनं यैरत्माभिः सह प्राप्युद्धं कृतं तेषामधुनाऽभयमित्यादि ॥ २०१ ॥

(३) कुल्लूकः । परराष्ट्रं जित्वा तत्र ये देवास्तान् धर्मप्रधानांश्च ब्राह्मणान् भूमिसुवर्णादिदानसंमानादिभिः पूजयेत् । जितद्रव्यैकदेशदानादिनैव चेदंपूजनं तदाह याज्ञवल्क्यः ॥ नातः परतरो धर्मो नृपाणां यद्राजार्जितम् । विप्रेभ्यो दीयते द्रव्यं-

(२००) संपन्नः = संयत्तः (नन्दनः)

प्रजाम्यश्वाभयंसदा ॥ तथा देवब्राह्मणार्थमयैतद्वत्तमिति तद्देशवासिनां परिहारान्दद्यात् । तथा स्वामिभक्त्या यैरस्माकमप-
कृतं तेषांमया क्षान्तमिदानीं निर्भयाः सन्तः सुखं त्वव्यापारमनुतिष्ठन्त्वित्यभयानि ख्यापयेत् ॥ २०१ ॥

(४) राघवानन्दः । जयोत्तरयत्कर्तव्यंतदाह जित्वेति । देवाद्यर्चनं प्रतिपत्तिकर्मोत्तरजयसूचनार्थं वा । परिहारा-
न्वस्त्रालंकारादीन् । तद्देशवासिभ्यः अभयानि त्वत्स्वव्यापारमनुतिष्ठन्तु माभयंकुरुतेति ॥ २०१ ॥

(५) नन्दनः । सति विजये कर्तव्यमाह जित्वासंपूजयेदिति । परिहारान्करपरित्यागान् । तत्रत्यानामभयानि-
दिण्डिमघोषादिना ख्यापयेत् ॥ २०१ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणान् परिहारान् अग्रहारान् प्रदद्यात् । च पुनः अभयानि स्थापयेत् यैरस्माभिः प्राग्युद्धं-
तं तेषामभयमिति भावः ॥ २०१ ॥

सर्वेषां तु विदित्वेषां समासेन चिकीर्षितम् ॥ स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम् ॥ २०२ ॥

(१) मेघातिथिः । एषपौरादीनामभिप्रायः संक्षेपेण ज्ञात्वा नैतदेवमिच्छति । तत्कुलीनकर्तुमिच्छत्वयमेव तस्मि-
न्देशे तद्वंश्यं मृदुमलंप्रियसुखकलत्रेन संहृततत्प्रकृतिभिश्च प्रधानादिभिः समयंकुर्यात् समकोशदानादि परिमाणं च भवता
मम दैवाकारेण पापेन भवितव्यं कार्यकालेन स्वयमुपस्थातव्यमुभयतोदण्डेन कोशेन चेत्यादि ॥ २०२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एषां परराष्ट्रे प्रकृतिभूतानां । समासेन समुदायेन । तद्वंश्यं शत्रोरेव वंश्यं । समयक्रिया
समयस्य क्रिया न त्वयास्मान्नियमाच्चलितव्यमिति ॥ २०२ ॥

(३) कुल्लूकः । एषां शत्रुनृपामात्यानां सर्वेषामेव संक्षेपतोऽभिप्रायं ज्ञात्वा तस्मिन्नाष्ट्रे बलनिहतराजवंश्यमेव राज्ये-
मिषेचयेत् । इदं कार्यं त्वयेदंनेति तस्य तदमात्यानां च नियमंकुर्यात् ॥ २०२ ॥

(४) राघवानन्दः । परराज्ये त्ववंश्यान्नाभिषिचेदपितु तद्वंश्यानि त्याह सर्वेषामिति । सर्वेषाममात्यादीनां चिकीर्षि-
तं त्ववंश्यपक्षपातित्वं तद्राज्यवंश्यपक्षपातित्वेति । समयक्रियां त्वयातः परमिदं कार्यमिदंनेति नियमनम् । उपजप्यराज्या-
र्थितद्वंश्यस्थापनेन राज्यान्तरलाभसंभावना दृष्टफलमिति भावः ॥ २०२ ॥

(५) नन्दनः । एषां शत्रोरमात्यादीनाम् । तत्र शत्रु देशे तद्वंश्यं स्थापितेन सह युद्धं वयश्चैवं करिष्यामह इति । स-
मयक्रियांकुर्यात् ॥ २०२ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वेषामेषां परराष्ट्रप्रकृतिभूतानां समासेन समुदायेन चिकीर्षितं विदित्वा तत्र तस्मिन्नाज्ये तद्वंश्यं-
स्थापयेत् अविद्यमाने राजनि सति । च पुनः समयक्रियांकुर्यात् त्वयाऽस्मद्धर्मान् चलितव्यमिति ॥ २०२ ॥

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान् यथोदितान् ॥ रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह ॥ २०३ ॥

(१) मेघातिथिः । यत्प्रकारावस्थास्तेषामुपचिताः पूर्वाप्रवृत्ताः ब्रह्मदेयामरवृत्तिदेवत्वव्यापारादयस्ताननुजानीया-
त्प्रमाणानि कुर्यादेवं तस्मिन्स्तेषामनुरागो भवति । ये च तत्र प्रधानाः पुरुषास्तत्र प्रतिज्ञास्वजनबहुत्वादिगुणैस्तैः सह राजानमे-
नं शस्त्रधनधान्यालङ्कारवाहनछत्रपीठिकादारपद्मबन्धादिभिः पूजयेत् ॥ २०३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तेषां धर्मान् देशधर्मान् । प्रमाणानि कुर्वीत न भिद्यात् । रत्नैः स्वीयैः एनं नूतनं नृपं तस्य
प्रधानपुरुषैः सहेति तानपि पूजयेदित्यर्थः ॥ २०३ ॥

(३) कुल्लूकः । तेषां च परकीयानां धर्मादनपेतानां चारादेशधर्मतया शास्त्रेणान्युपेतान् प्रमाणीकुर्यात् । एनं चाभिषि-
कममात्यादिभिः सह रत्नादिदानेन पूजयेत् ॥ २०३ ॥

(४) राघवानन्दः । शास्त्राविरुद्धान्ब्रह्मदेयामरवृत्तिदेवस्थानपहारादीन्धर्मान् मानुलकन्यापरिणयमत्स्यभक्षणादी-
श्वपरराष्ट्राचारान् प्रमाणीकुर्यादित्याह प्रमाणानीति । यथोदितान् तत्रत्यैर्यथावदुक्तान् । एनं तद्वश्यं प्रधानपुरुषैरमात्यैः सह
तेऽपिपूज्यादित्यर्थः ॥ २०३ ॥

(५) नन्दनः । तैरुक्तान्देशधर्मान्परिमाणान्कुर्वीत तथैव प्रवर्तयेदित्यर्थः ॥ २०३ ॥

(६) रामचन्द्रः । तेषां यथोक्तधर्मान् प्रमाणानि कुर्वीत नमिद्यात् । च पुनः स्थापितं रत्नैः पूजयेत् ॥ २०३ ॥

आदानमप्रियकरं दानं च प्रियकारकम् ॥ अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ॥ २०४ ॥

(१) मेधातिथिः । कस्मात्पुनः प्रकृतिभ्योरत्नादि दानमुच्यते । आदियस्याप्रतिपादनंनवस्य राज्ञोऽन्यस्यवाऽप्रि-
यकरमप्रीतेः कारणहेतुः । दानं च प्रतिदानं प्रियकारकमेतदुभयंबहुशएवंप्रसिद्धमपि कालयुक्तंकालोपपन्नंक्रियमाणमभि-
तानामर्थानां सुखावहं भवेदन्यथा चतुःस्वयतीत्यर्थः । प्रशस्यते यस्मादपि कचित्काले किञ्चनप्रीतिंजनयति तदापि नाल्प-
मशोभनंवा प्रीतिमुत्पादयति तस्मात्कालमपेक्ष्य दानादाने कार्येदिति । यत्किञ्चिदतिक्रान्तंवक्ष्यमाणं किञ्चनतत् ॥ २०४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आदानं बलाद्ग्रहणम् । कालेयुक्तं दानकालेदानंकार्यं न सर्वदाकोशक्षयापत्तेः । बलात्ग्र-
हणंतु न केदाचित्कार्यमित्यर्थः ॥ २०४ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मात् आदानमिति । यद्यप्यभिलषितानां द्रव्याणां ग्रहणमप्रियकरंदानं च प्रियकारकमित्युत्सर्गस्त-
थापि समयविशेषे दानमादानं च प्रशस्यते तस्मात्तस्मिन्कालएवंपूजयेत् ॥ २०४ ॥

(४) राघवानन्दः । यस्माद्ब्राह्मंसकथंसर्वैः पूज्यस्तत्राह आदानमिति । ननु राज्यधनादिलोभेन परराज्यंगृहीतं-
त्राह अभीप्सितानां गजाश्वादीनां काले विलम्बितं युक्तं योग्यं प्रशस्यते हारमितिचेत्यन्वयः शेषः ॥ २०४ ॥

(५) नन्दनः । तत्र तेभ्योदानमादानञ्च कालयुक्तंकर्त्तव्यमित्यभिप्रायेणाह आदानमिति । लोके खल्वभीप्सितानाम-
र्थानामादानंप्रियकरं दानञ्च प्रियकरं तथापि तदुभयंकालयुक्तञ्चेत्प्रशस्यते ॥ २०४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अभीप्सितानामर्थानां आदानं बलाद्ग्रहणं अप्रियकरम् । तु पुनः अर्थानां दानंप्रियकारकं तस्मा-
त्कालयुक्तं समयदातृत्वं प्रशस्यते ॥ २०४ ॥

सर्वं कर्मदमायत्तं विधाने दैवमानुषे ॥ तयोर्दैवमचिन्त्यन्तु मानुषे विद्यते क्रिया ॥ २०५ ॥

[दैवेन विधिना युक्तं मानुष्यं यत्प्रवर्तते ॥ परिच्छेदोऽत्र महता तदर्थस्य समाधकम् ॥ १ ॥]

[संयुक्तस्यापि दैवेन पुरुषकारेण वर्जितम् ॥ विना पुरुषकारेण फलं क्षेत्रं प्रयच्छति ॥ २ ॥]

[चन्द्रार्काद्याग्हावायुरग्निरापस्तथैव च ॥ इह दैवेन साध्यन्ते पौरुषेण प्रयत्नतः ॥ ३ ॥]

(१) मेधातिथिः । समर्थादर्थकर्मकार्यफलंकर्मतत्सर्वमशेषमायत्तमधिकंकापि विदधातीति विधानंकर्मफलंयद्विशति
तद्विशेषयति दैवं मानुषे दैवधर्मादौ पूर्वकृतविहितप्रतिषिद्धविषये चात्मनः कार्यकर्मफलंयदिकलकर्मक्रिया दृष्टार्थानयानय-
योः तथाचश्रुतिः विधिर्विधानंनियति स्वभावः कालोब्रह्मेश्वरः कर्मदैवंभाग्यानि पुण्यानि पर्यायनामानि पुराकृतस्य । स्मृ-
तिरपि ॥ दैवमात्मकतंविद्यात्कर्मवत्पौर्वदेहिकं । स्मृतः पुरुषकारस्तुक्रियतेयदिहापरमिति ॥ दैवमानुषस्येति श्रामे श्रुतवशादैवे-
मानुषस्यापिकारणता विवक्षिता अस्मिन्कार्येदंसर्वक्रियाफलमायत्तंनदैवंपुरुषकाररहितंफलं ददात्यवश्यंहितेन पुरुषप्रय-

‡ मेधातिथिः ।

त्तोऽपेक्षितव्यः नचपुरुषकारोदैवेनेति देवाच्च पुरुषकारनिरपेक्षात्फलस्यापि पुरुषसन्निपातोभवेदपि गर्भस्य असति गर्भे नियमैर्देवसन्निपातात्फलसंभवोऽनुमेयएवंपुरुषप्रयत्नादपि यदिदेवनिरपेक्षास्यात् यतोव्यायामे सति सर्वदा सर्वेषांस्यान्नै- तदस्ति तस्मादुभयंकारणम् । तथा चव्यासआह ॥ आरम्भमानुषाःसर्वे निदानंकर्मणोर्द्वयोः । दैवे पुरुषकारे च परतोन्वय- विद्यतइति ॥ समानतत्त्वेऽपि दैवंनयानययोर्मानुषंकर्मलोकपालयतीति । अत्र दैवकारणाद्दुर्दैवमेवात्र कारणं दृश्यन्ते हि जडङ्गीबपङ्गादयः पुरुषकाररहिता अपि सुखिनोनिष्प्रतीकारा अन्योपाधिककर्मलभमानास्तथालंप्रतीकारा अपि कुणयोऽ- व्यङ्गशूराः प्रवीणाश्चशास्त्रे दक्षाश्चादुःखिनोयतमानाश्च तथा पुरुषकारनिरपेक्षदैवमात्राभिधानादिनाशविनिपातादिभिरि- ष्टानिष्टफलमुत्पाद्यमानमुपलभन्ते । एवं च कृत्वा परलोकहेतवः क्रियारम्भोपदेशात्सुतरामर्थवन्तोभवन्ति तथाच यत्नेन पूर्वकृतानीहोपभुञ्जीमहइहकृतान्यपि परतउपभोक्ष्यामहइति विजानन्तोविचिकित्सा मनुष्यधर्मएवंप्रयातितव्यं । तथाचो- दाहरन्ति ॥ जानामि धर्मेनच तत्करोमि पापंन जानामि न मे प्रवृत्तिः । धात्रानिस्तृष्टोस्मियथा तथाहंनतः परंशासयिता- स्तिकश्चिदिति ॥ पुरुषकारिणोह्लाहुः पुरुषकारएवात्रकारणंरुषित्वमनलसःकुर्वन्त्वव्यापारफलंकर्तृकरणकार्यरुष्यादिषु प्रा- मुयात्तथा चोक्तं ॥ कर्मैवेहानसाधूनामारभ्यानुपसेविता । कर्मकृत्वा हि पुरुषोभुङ्क्ते वै बलवानिति ॥ सत्यपि चान्नसंभवे नह्यभुञ्जन्तस्तृप्यन्तितदा तत्र चाभ्यवहारैर्यत्समनन्तरंचफलं तन्निमित्तफलोत्पादइति न्यायस्तस्मादत्रादृष्टव्यापारःएवंचरु- त्वाथर्वन्तःक्रियारम्भोपदेशोभवति ॥ तथाचाहुः ॥ प्रतिहन्तिमुनिर्येनदैवमापतितंकचित् । शीतोष्णे च तथा वर्षमुत्थापय- तिहन्तिच ॥ एवमास्थितेभ्यउभयंकारणमन्यतराभावे फलाभावात् कचित्तुकेचित्प्राधान्येन वर्ततइति तत्परिगृह्यते । कृ- तोपि पुरुषकारोबलवता दैवेनाभिभूतोविशीर्यते आर्द्रमिवदावल्लाग्नौप्रक्षिप्तंनज्वलति एवंयदि दुर्बलदैवमहता यत्नेन पुरु- षकारेण पुरस्कृतंफलत्यार्द्रमपिदारुमहत्यग्निरुन्धे प्रक्षिप्तंनान्निस्तदैवयापयति ॥ दैवंपुरुषकारेण दुर्बलंक्षुपहन्यते । दैवेन चेतनंकर्मविशिष्टेनोपहन्यतइत्येवपरिकल्प्याह तयोदैवंपुरुषकारयोदैवमेवाचिन्त्यं तुशब्दोऽवधारणार्थः । अपरिज्ञातस्वरूपंक- स्मिन्काले तन्निमित्तेन फलंदास्यतीत्येवमचिन्त्यंशास्त्रादृते चास्यपरिज्ञानादेवाविचार्यत्वात्प्रयोक्तुमशक्यत्वादशक्यमिति तत्रदैवंनिष्फलं मनुष्येषु पुरुषकारोवक्ष्यते क्रियाप्रकृतत्वात् वित्तंचक्रियामानुषे किञ्चिज्ज्ञानंरुष्यादिभिः शक्यंचिन्तयि- तुमीदृशमया रुष्यादिकर्तव्यमेतैःसाधनैर्देवादिभिरेवच तस्य चेदृशफलमिति तदेव प्रारब्धयदारंभमभ्यावसानेषु विवक्ष्यते तदैवंसमाधेयंनविपन्नानामप्येवंकर्तव्यमिति । यावत्फलवेदनमित्यतोदैवस्याचिन्त्यत्वान्तत्परेणासितव्यं । मनुष्यकर्मचि- न्तयित्वा यद्यत्कार्यंतदनुष्ठेयंयत्किञ्चनकारीहि विनश्यतीति शक्तित्रययोगात्पुरुषकारेण च युक्तस्य परराष्ट्रविजयचिकीर्षा यत्रदैवमानुषसंपन्ना भवति सैवसर्वार्थसाधिकाभवति तथापि तस्यामतिशयदैवंप्रवर्तते अतिरिक्तःपुरुषकारएवभवतीत्यर्थः । नहिविजिगीषोदैवमन्तरेण तदा यातव्यस्य व्यसनदैवमानुषंभवति पौरुषंसमदैवेन नातिव्यूहंद्वयोर्वासंसंतुल्यम् ॥

[मेधातिथिः । तदयुक्तंदैवे च विधानेन पराङ्मुखे दैवमानुषेपुरुषकारः प्रवर्ततेअष्टविधकर्मणि तन्महता क्लेशेनार्थ- फलंसाधयति निष्फलंवा भवत्यतःक्लेशेनाप्यसिद्धोवा दैवापेक्षोभूत्वानपरितप्येत् पुरुषार्थस्तु दैवेन संयुक्तोयः प्रवर्ततेअक्लेशेन ससर्वेषांमन्त्रार्थानामेवसाधकःपुरुषार्थः पुरुषकारःसएव यदात्यन्तगुणदैवेऽनुष्ठीयते तदा क्लेशेन विनैकान्तेन समयफलसाधकोभवति । अस्य दार्ढ्यार्थमुदाहरणंश्लोकद्वयेन ॥ केचिद्युद्धमपिक्षेत्रंयुक्तंपुरुषकर्मणा । दैवहीनायतुफलंकस्यचि- त्संप्रयच्छन्ति ॥ केचिक्षेत्रस्य मृतमित्युक्तंपुरुषकर्मणा । पुनःपुनर्दृष्टेः शोधितंयथावच्चोक्तमित्याद्युपकारकलक्षणेन दैवेन हीनाय फलंनददातीति ॥]

[मेधातिथिः । संयुक्तस्यापिदैवेनेति । दैवयोगस्तु तस्मात्फलादानादनुमीयते एवंच सर्वस्य तदा भावःदैवभावः । अन्येत्वाहुः दैवंयथा कालंपर्यामंदष्टाद्युपलम्भादेवकृतत्वान्नकृतमिति यथा तत्पुरुषकाराभावदर्शयति बीजवर्जितमित्यबीजम् ।]

[मेधातिथिः । चन्द्रार्कास्तावद्ग्राहाः ।]

(२) सर्वज्ञनारायणः । अचिन्त्यं पुरुषाकारेण नतस्य प्रतीकारश्चिन्त्यः । क्रिया प्रतिक्रिया ॥ २०५ ॥

(३) कुल्लूकः । यत्किंचित्संपाद्यंतत्प्राग्जन्मार्जितसुकृतदुष्कृतरूपे कर्मणि दैवशब्दाभिधेये तथेहलोकार्जितमानुषशब्दवाच्ये व्यापारे आयत्तंतयोर्मध्ये दैवंचिन्तयितुमशक्यं मानुषे तुपर्यालोचनमस्त्यतोमानुषद्वारेणैव कार्यसिद्धये यतितव्यम् ॥ २०५ ॥

(४) राघवानन्दः । जयादेरदृष्टसाध्यत्वादलंप्रयत्नेनेति । तत्राह सर्वमिति । विधाने व्यापारेदैवमानुषे दृष्टादृष्टतयोर्मध्ये ऐहिकभोगहेतुप्रबलादृष्टस्येदानीमसाध्यत्वेपि दृष्टं शक्यसंपादमित्याह मानुषेति । क्रिया पुरुषकारः ॥ २०५ ॥

(५) नन्दनः । एवंप्रतिपादितं नीतिमार्गमनुसृत्य राज्ञा पौरुषेण भवितव्यं न दैवमनुसृत्य तुष्णींभूतेनेत्यभिप्रायेणाह सर्वमिति । दैवमानुषे दैवपुरुषसंबन्धिनि । विधाने कर्मणि । सर्वविदंकर्म कर्मफलमिति यावत् । आयत्तमासनम् । तयोर्दैवमानुषयोर्दैवमचिन्त्यमनुकूलमननुकूलंवेति निश्चेतुमशक्यं किन्तुमानुषे पुरुषकारे सति तस्य दैवस्य क्रिया विद्यते ज्ञायते यतएवंतस्मात्पुरुषकारोविधातव्यइत्यभिप्रायः ॥ २०५ ॥

(६) रामचन्द्रः । इदंसर्वकर्म दैवे मानुषेआयत्तं अधीनं ॥ अधीनो निम्नआयत्तइत्यमरः । तु पुनः तयोर्दैवमानुषयोर्मध्ये दैवमचिन्त्यं । पौरुषे पुरुषार्थे क्रिया प्रतिक्रिया विद्यते ॥ २०५ ॥

सह वापि ब्रजैद्युक्तः संधिं कृत्वा प्रयत्नतः॥मित्रं हिरण्यं भूमिं वा संपश्यंस्त्रिविधं फलम्॥२०६॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यदि युद्धंविनापि हिरण्यादि लभ्येत तदा युक्तउद्युक्तेपि सहशत्रुणा संधिकृत्वा स्वदेशं ब्रजेत् ॥ २०६ ॥

(३) कुल्लूकः । एवमुपक्रमणीये न शत्रुणा युद्धंकार्यं यदि वा सएवं मित्रंतेन च दत्तंहिरण्यंभूम्येकदेशोवार्पितमेतन्नयंयात्राफलम् । तेन सह संधिकृत्वा यत्नवान्ब्रजेत् ॥ २०६ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रसिद्धोपक्रमेयदिप्रमत्तोऽरिस्तदासन्धिरेवश्रेयानित्याह सहेति । संधिकृत्वा मित्रतामुत्पादयेदिति शेषः । भूमिभूम्येकदेशं । फलं यात्रायाइतिशेषः ॥ २०६ ॥

(५) नन्दनः । मित्रहिरण्यभूमिलाभे सन्धिः कर्तव्यो न शत्रुवशे निर्बन्ध इत्याह सहवापि ब्रजेदिति सन्धौ कृतेममायं शत्रुरन्यो वामित्रंभवेत् हिरण्यं भूमिवास्मात्सोत्र इति त्रिविधंफलंसंपश्यन्निश्चिन्वानस्तदात्वानुगुण्येन युक्तः प्रयत्नतः शत्रूणां संधिकृत्वा ब्रजेत्स्वराष्ट्रंप्रत्याब्रजेत् ॥ २०६ ॥

(६) रामचन्द्रः । रिपुणा सह वापि यदि युद्धंविना हिरण्यादिकंलभ्येत तदा युक्तो मिलित्वा तेन सह संधिकृत्वा स्वदेशंब्रजेत् कार्यस्यान्तंगच्छेत् किंकुर्वन् त्रिविधंफलंसंपश्यन् कीदृशंफलं मित्रभूमिहिरण्यादि ॥ २०६ ॥

पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाऽऽक्रन्दं च मण्डले ॥ मित्रादथाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात् ॥ २०७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यदि पार्ष्णिगृहीयात्पृष्ठगतदान्येनापि निर्वातितव्यं तदापि यदि स्वस्याक्रन्दस्तस्यापि

पार्ष्णिगृह्णीयात् तदापूर्वमरेःपश्चान्मित्रतामापन्नाद्धनंप्राप्य । यद्वा अमित्राच्च स्वास्थितादेव प्राप्य निवर्तेतेत्यर्थः ॥ २०७ ॥

(३) कुल्लूकः । विजिगीषोररिंप्रति निर्यातस्य यः पृष्ठवर्त्तनृपतिर्देशाक्रमणाद्याचरति सपार्ष्णिग्राहः । तस्य तथा कुर्वतोयोनियामकस्तस्यानन्तरोनृपतिःसआक्रन्दः तावपेक्ष्य यातव्यम् । मित्रीभूतादमित्राद्वा यात्राफलंगृह्णीयात्तावनपेक्ष्य गृह्णन्कदाचित्तत्कृतेन दोषेण गृह्यते ॥ २०७ ॥

(४) राघवानन्दः । तस्मान्मित्रादमित्राद्वा सन्धिरेवेष्टव्यइत्याह पार्ष्णिग्राहंचेति । अरिंप्रतिनिर्यातस्य स्वदेशाक्रमणशीलःपृष्ठवर्त्तं राजा पार्ष्णिग्राहस्तस्यानन्तरस्तनियामकआक्रन्दस्तौ संपेक्ष्य तावनपेक्ष्ययात्राफलंगृह्णन्तत्कृतदोषेण युज्यते । अयमर्थः । पार्ष्णिग्राहोरिरेव तत्पृष्ठगयोस्तु मित्रोदासीनत्वेन ग्रहणात् । यदि सचारिश्चाक्रन्देन मित्रेण तत्पृष्ठगामिनाऽभिभूतस्तदारिंजित्वैवागन्तव्यमनभिभूतश्चेत्सत्वस्य विजिगीषोराज्यनाशयतीतिरुत्वा यातव्यारिमपि मित्रात् मित्रत्वेन संभाव्यमानादुपगम्य । पार्ष्णिग्राहसाराक्रन्दासारौतु पार्श्वदेशवर्तिनौ राजानाविति ॥ २०७ ॥

(५) नन्दनः । मित्रादिफलंप्राप्तव्यंतदाह पार्ष्णिग्राहश्चेति । मण्डले द्वादशराजात्मके पार्ष्णिग्राहमाक्रन्दमित्राण्यमित्रांश्च संपेक्ष्य मण्डलस्थानांशत्रूणांक्षयंमित्राणाञ्चवृद्धिसमीक्ष्येत्यर्थः । यात्राफलंमित्रभूमिहिरण्यमवामुयात् ॥२०७ ॥

(६) रामचन्द्रः । पार्ष्णिग्राहं पृष्ठे तत्पृष्ठे आक्रन्दं च मण्डलेसंपेक्ष्य मित्राद्वाऽमित्राद्वा यात्राफलमवामुयात् ॥ २०७ ॥
हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या पार्थिवोन तथैधते ॥ यथा मित्रंभुवंलब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ॥ २०८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तत्रतु मित्रलाभे संभवति नात्यन्तंधने यतितव्यमित्याह हिरण्यमिति । आयतिक्षमं भविष्यच्छक्ति ॥ २०८ ॥

(३) कुल्लूकः । सुवर्णभूमिलाभेन तथा राजा न वृद्धिमेति यथेदानींकृशमप्यागामिकाले वृद्धियुतंस्थिरमित्रंलब्ध्वा वर्धते ॥ २०८ ॥

(४) राघवानन्दः । अरेरेव मित्रत्वेन लाभे महान्गुणइतिस्तौति हिरण्येतिद्वाभ्याम् । नैधतेनहर्षमाभुयात् । कृशं तात्कालिकोपकारासमर्थम् । आयतिक्षममुदकोपकारकम् । तदुक्तम् ॥ अधनंत्वर्णादिधनंधनमधनंचवाणिज्यम् ॥ अतिधनमेतच्चितयंविद्याभूमिःसुमित्रमिति ॥ २०८ ॥

(५) नन्दनः । हिरण्यभूमिभ्यामित्रफलं विशिष्टतरमित्याह हिरण्यभूमी इति । भुवंस्थिरम् ॥ २०८ ॥

(६) रामचन्द्रः । यात्राफलमाह । हिरण्यभूमिसंप्राप्त्य पार्थिवस्तथानएधते नवर्धते यथा भुवंलब्ध्वाएधते । कृशमपि आयतौ उत्तरकाले क्षमं योग्यमिति । तथा योगेश्वरः मित्रलब्धिर्वरायतः ॥ २०८ ॥

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च ॥ अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते ॥ २०९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तुष्टप्रकृतिकं तोषितस्वप्रकृति । स्थिरारम्भमचलचित्तं । लघुलघ्वपि क्षुद्रमपीत्यर्थः ॥ २०९ ॥

(३) कुल्लूकः । धर्मज्ञंकृतोपकारस्य स्मर्त्तसानुरागमनुरक्तंस्थिरकार्यारम्भप्रीतिमत्प्रकृतिकंयत्तन्मित्रमतिशयेन शस्यते ॥ २०९ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र मित्रंलक्षयति धर्मज्ञमिति । कृतज्ञं कृतोपकारंस्मर्तारम्भ । तुष्टप्रकृतिः तुष्टाधिकारिणः प्रकृतयोऽमात्यादयो यस्य । लघ्वित्यनायाससाध्यता । स्वस्मान्मूनवाअधार्मिकादेर्मित्रतादुःसंपाद्येति भावः ॥ २०९ ॥

(५) नन्दनः । प्रकृतिरमात्यादिः । लघुः शीघ्रकारी स्वस्मान्मन्यूनमिति वा । एवंविधपुरुषोमित्रप्रशस्यते ॥ २०९ ॥

(६) रामचन्द्रः । मित्रलक्षणमाह धर्मज्ञमिति । धर्मज्ञादिकमित्रप्रशस्यते ॥ २०९ ॥

प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च ॥ कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुररिं बुधाः ॥ २१० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धृतिमन्तं दुःखेष्वनुद्विग्नम् । कष्टं दुःखसाध्यम् ॥ २१० ॥

(३) कुल्लूकः । विद्वांसमहाकुलं विक्रान्तं चतुरं दातारमुपकारस्मर्तारं सुखदुःखयोरेकरूपशत्रुं दुःखे दपण्डितावदन्ति ॥ तेनैवंविधशत्रुणा सह संघातव्यम् ॥ २१० ॥

(४) राघवानन्दः । तत्प्रतियोगितयाऽरेर्लक्षणमाह प्राज्ञमिति । अत्र प्राज्ञं कृतमुपकारं स्मर्तृशीलम् । कुलीनं दुरभिमानिनम् । दक्षं सततोद्यमम् । दातारमित्यनेन दृष्टादृष्टजयहेतुता सूचिता । धृतिमन्तं सिद्ध्यसिद्ध्योरेकरूपम् । कष्टं कष्टम् । तेन तादृशारिणा सन्धिरेव कार्योदुच्छेद्यत्वादेवंविधस्येति भावः ॥ २१० ॥

(५) नन्दनः । शत्रोर्गुणान्मित्रोत्तरणाय मित्रप्रसङ्गादाह प्राज्ञं कुलीनमिति । एवंविधं गुणवन्तमरिं कष्टमाहुः दुर्जयमाहुरिति यावत् । तस्मात्तादृशमरिमपि मित्रं कुर्व्यादित्यभिप्रायः ॥ २१० ॥

(६) रामचन्द्रः । अस्तिरूपमाह प्राज्ञमिति । एतादृशमरिं कष्टं बुधा आहुः । २१० ॥

आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता ॥ स्थूललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥ २११ ॥

(१) मेधातिथिः । पुरुषाणां प्रकृतधर्माधर्मसंज्ञकेन दैवेन सुखदुःखोपभोगनिमित्तं साध्यते । अनिष्टस्थानप्रामाश्यापौरुषेयेण शान्त्यादिकारणप्रकारेण समतामापद्यन्ते इह स्थानस्थिता अव्यभिचारानुगुणाः क्रियन्ते पुरुषज्ञानलोकज्ञानपुरुषविशेषज्ञानरूपमुपकारी भवति । अनुवर्तते शूरः कार्यक्षमो भवति ॥ कारुण्यगुणसमयेन करुणावेदीदयालुमनालोभेन परिरक्षति । स्थूललक्षः प्रभूतस्याप्यर्थमेषां सर्वकालक्षमते ॥ २११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आर्यताऽशठता । पुरुषज्ञानमयं योग्योयनेति ज्ञानं । करुणावेदिता करुणास्थानज्ञानं । स्थूललक्ष्यं दातृत्वं । एतेषु सत्त्वेवोदासीनता संभवत्यन्यथा कस्याप्यरिः कस्यापि मित्रमित्यवश्यं स्यादित्यर्थः ॥ २११ ॥

(३) कुल्लूकः । साधुत्वं पुरुषविशेषज्ञता विक्रान्तत्वं रुपालुत्वं सर्वदा च स्थूललक्ष्यं बहुप्रदत्वं अतएव ॥ स्युर्वदान्यः स्थूललक्ष्यदानशौण्डाबहुप्रदे इत्याभिधानिकाः । स्थूललक्ष्यमर्थेऽसूक्ष्मदर्शित्वमिति तु मेधातिथिगोविन्दराजयोः । पदार्थकथनमनागमं एतदुदासीनगुणसामर्थ्यतस्मादेवंविधमुदासीनमाश्रित्योक्तलक्षणेनाप्यरिणा सह योद्धव्यम् ॥ २११ ॥

(४) राघवानन्दः । उदासीनलक्षणमाह आर्यतेति । आर्यता अवक्रता । पुरुषज्ञानं पुरुषविशेषज्ञता । करुणवेदिता रुपालुत्वं । स्थूललक्षं बहुप्रदः ॥ स्युर्वदान्यस्थूललक्ष्यदानशौण्डाबहुप्रदे इत्याभिधानात् ॥ मेधातिथिगोविन्दराजयोः सूक्ष्मदर्शित्वाद्याख्या । स्थूलवत्सूक्ष्मलक्षयतीति । एतान्येवोदासीनगुणस्योदयः प्रकटता तद्धेतवः । एवंविधमुदासीनमाश्रित्यरिणा योद्धव्यमिति भावः ॥ २११ ॥

(५) नन्दनः । उदासीनस्य च गुणान्मित्रोत्तरणार्थं मित्रप्रसङ्गादाह आर्यतापुरुषज्ञानमिति । स्थूललक्ष्यं बहुप्रदत्तम् । गुणोदयो गुणोत्कर्षः । गुणवन्तमुदासीनमपि मित्रं कुर्व्यादित्यभिप्रायः ॥ २११ ॥

(६) रामचन्द्रः । उदासीनस्वरूपमाह । आर्यताऽशठता । पुरुषज्ञानं अयं योग्योऽयं नेति ज्ञानम् । क-

रुणवेदिता करुणस्थानज्ञानं । स्थौल्लक्ष्यं दातृत्वं । गुणोदयः एतेषु सत्त्वेव उदासीनता संभवति अन्यथा कस्यापि मित्रमित्यवश्यंस्यादित्यर्थः ॥ २११ ॥

क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि ॥ परित्यजेन्भूमीभूमिमात्मार्यमविचारयन् ॥ २१२ ॥

(१) मेधातिथिः । तादृशीमपि भूमिर्विलम्बमानः परित्यजेत् क्षेम्या आठविकादिभिरनभिभवनीया नित्यमस्य प्रधानमुभयंबहुसस्याऽदेवमातृकाच पशुवृद्धिकरीच जाङ्गलरूपत्वादबहुफलपत्रतृणत्वाच्चैवंगुणा हि भूमिर्वणिक्कृषीवलबहुला- भवति दुर्भिक्षव्याधिरहिता कान्तारमनुष्यात्मभरणाचेति चतुर्थ्याप्रकृतिपरित्यागे चोभयं ततोज्ञापयति नसहसा- युधानांप्रकृतिपरित्यजेत्स्यामवस्थायां किन्तुतांपरित्यजेद्यामन्येतसाक्ष्येशेषांप्रकृतिभिः प्रत्यादातुमिति यथातुनमि- त्रकोशदण्डपरित्यागे नाविशेषप्रतिक्षणं यामन्येततदा गुणवतीमपि भूमित्यजेत् ॥ २१२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्षेम्यां शक्यक्षेम्यां । आत्मार्यं यदि तत्त्यागेनैवात्मनिस्तारः ॥ २१२ ॥

(३) कुल्लूकः । अनामयादिकल्याणक्षमामपि नदीमातृकतया सर्वदा सर्वसस्यप्रदामपि प्रचुरतृणादियोगात्पशुवृ- द्धिकरीमपि भूमिमात्मार्यमविलम्बमानोराजा निजरक्षाप्रकारान्तराभावात्परित्यजेत् ॥ २१२ ॥

(४) राघवानन्दः । भूमिमित्युक्तं कथंविजिगीषुलिप्सिता भूदेयेतिचेत्तत्राह क्षेम्यामिति । क्षेम्यां योगक्षेमकरी- मपि । सस्यप्रदां नदीमातृकां । पशुवर्धिनीं चतुर्दिक्षु तृणोदकसंपन्नाम् । चात्मार्यदेहरक्षार्थम् ॥ २१२ ॥

(५) नन्दनः । अभियुक्तंप्रत्याह क्षेम्यांसस्यप्रदामिति । क्षेम्यांरक्षितुंसुकराम् ॥ २१२ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतादृशींभूमिमात्मार्यमविचारयन्पः परित्यजेत् ॥ २१२ ॥

आपदर्थं धनं रक्षेद्वारान्नक्षेद्धनैरपि ॥ आत्मानं सततं रक्षेद्वारैरपि धनैरपि ॥ २१३ ॥

(१) मेधातिथिः । क्लृप्प्रकारसाध्योनियमोभवति आपदर्थेयथा मशकार्थं धूमोमशकानपनेतुमिति ज्ञायते त- निमित्तंधनंरक्षेन्नान्यत्रधनरक्षायाः कार्यमस्ति तत्त्वभुक्तफलं हि धनमिति तथाहि तेन प्रतीक्षयानमासनं दण्डंविभर्त्ति- उपजप्यानुपगृह्णातीति धनेनापि दारारक्ष्याः दारग्रहणं प्रणिधिसंबन्धिप्रत्युपलक्षणार्थं आत्मा तु रक्ष्यः अन्येन प्रकारे- णात्मानंरक्षितुमसमर्थः सर्वस्वंदत्त्वा दारानपि काले परित्यज्य वाग्यतस्थितोदारधनादि वर्जयित्वा धर्मकरिष्यति । ये तु धनदारानुरोधेन विनश्यन्ति न तेषांधनदारादिदृष्टं नाप्यदृष्टधर्माधर्मानाचरणात् । नच कौमारदारत्यागित्वं नत्याग- प्रतिषेधस्यायंच वाजयति राजधर्मप्रकरणेऽपि नायमुक्तोदृष्टार्थत्वादन्यस्यापि द्रष्टव्यः । ननु च राजा राज्यंप्राप्यमहाध- नोश्वमेधादि करिष्यत्यतुलंचसुखमनुकरिष्यत्यतस्तु लोकः संक्रुष्टंकिंकरिष्यति नैषदोषोऽल्पस्यापि पावनानि कर्माणि सं- न्दधनस्यापि जपादयः विशेषनिमित्तानि धनान्येव नचेदमस्यामवस्थायांलोकसंक्रुष्टमिति नच सहसैतत्कार्यम् ॥ २१३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आपदः प्रकृति कोपबलक्षयरोगादयः । धनैर्भूम्यादिभिः ॥ २१३ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मात्सर्वविषयोयंधर्मः स्मर्यते आपदर्थमित्यादि । आपन्निवारणार्थंधनंरक्षणीयंधनपरित्यागेना- पि दारात्रक्षेत् आत्मानंपुनः सर्वदा दारधनपरित्यागेनापि रक्षेत्सर्वतएवात्मानंगोपायीतमिति श्रुत्या शास्त्रीयमरणव्यतिरे- केणात्मारक्षाइत्युपदेशात् ॥ २१३ ॥

(४) राघवानन्दः । आत्मनाचेज्जीवति प्रधिनागादिति श्रुतिसंमतमर्थवादमाह आपदर्थमिति । आपदर्थमापत्तिवारणार्थं मशकार्थो धूमइतिवत् । दारान् स्त्रियं धनैः धनदानेनेतिशेषः । एवमुत्तरत्र । आत्मना देहेन चेज्जीवतिगतप्रधिना धनेनेतिश्रुतेरर्थः ॥ २१३ ॥

(५) नन्दनः । गुणवद्भूमिपरित्यागेनाप्यात्मा रक्षितं दुःशक्यश्चेद्धारपरित्यागेनात्मा रक्षितव्यइत्याह आपदर्थमिति । आपदर्थं आपन्निवृत्त्यर्थम् ॥ २१३ ॥

सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदोभृशम् ॥ संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान्सृजेद्बुधः ॥ २१४ ॥

(१) मेधातिथिः । आपदोदैवमानुषाणि व्यसनानि तानि कृतिविषयाणि युगपदुपजातानित्यर्थमपि यथा स्युस्तथा संयुक्ताश्चसामपुरस्सरदानं सामपूर्वकं भेदं सामदानभेदसहितं दण्डमेव वा । दानमेवेत्यादिकान्सर्वोपायान्विसृजेद्बुधइति यत्र यत्प्रामं तत्समीक्ष्यविचार्य प्रयुज्जीतेत्यर्थः नतुविषण्णआसीत् ॥ २१४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संयुक्तान् मिलितान् । सर्वोपायान् सामादीन् ॥ २१४ ॥

(३) कुङ्कुमः । कोशक्षयप्रकृतिकोपमित्रव्यसनादिकाः सर्वा आपदोयुगपदतिशयेनोत्पन्ना ज्ञात्वा न मोहमुपेयादपि तु व्यस्तान्समस्तान्वा सामादीनुपायाञ्छाल्लज्जः संप्रयुज्जीत ॥ २१४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच सहेति । सह सर्वाः कोशक्षयप्रकृतिकोपाविकृतव्यसनादिकाः समीक्ष्योपलभ्य सर्वोपायान् सामादीन् व्यस्तान् सृजेत्प्रयुज्याच्च नतुमोहमुपेयादतआह । बुधः पण्डितः ॥ २१४ ॥

(५) नन्दनः । सह सर्वाः समुत्पन्नाः युगपत्सम्भूताः । सृजेत्प्रयुज्यात् ॥ २१४ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वोपायान्सामादीन् संयुक्तान् मिलितान् वियुक्तान् एकैकमेववा बुधः सृजेत् कुर्यात् ॥ २१४ ॥

उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः ॥ एतन्नयंसमाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्धये ॥ २१५ ॥

(१) मेधातिथिः । कथमित्यपेक्षायामाह साधयेत्कार्यमात्मनइति पाठान्तरम् । तत्रोपेतारमात्मानं प्राप्यकार्यमित्रवत्साधयेत् । सर्वोपायाः समस्तव्यस्ताएवअयमपि उपेयसामान्यनिर्देशमाह समाश्रित्याङ्गीकृत्यसमर्थचिन्तने नैतत्समावृतं भवति । किमर्थमुपायाः समर्थे नानुमताः समर्थस्तथा कियुक्तमिति विचार्येयता केनोपायेनैषामिदंप्राप्त्यादिति । कृत्स्नशइति त्रयविशेषणंकृत्स्नमित्यर्थः । एवंचयोयदुपायसाध्योयदापथा युक्तस्तत्रसदा तथा प्रयुज्जीत त्वकार्यसिध्यर्थं उपायोएतानामवस्थानांचानन्त्यात्सर्वतत्त्वेणाशक्यंवक्तुमिति समासेनोक्तमतः परीक्षामुपाचरेत् । उपेत्यविशेषभावनोप्याह ॥ सतुयुक्तोहिसंधत्ते युक्तआत्मपराक्रमः ॥ तावुभौनयसंपन्नौस्तेनोप्ययसमन्वितइति ॥ २१५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उपेतारं आत्मानमुपायस्रष्टारं । उपेयमुपायसाध्यं । समाश्रित्य मनसा बलाबलादिद्वारानिश्रित्य ॥ २१५ ॥

(३) कुङ्कुमः । उपेतारमात्मानमुपेयंप्राप्तव्यं उपायाः सामादायः सर्वे ते च परिपूर्णाएतन्नयमवलम्ब्य यथा सामर्थ्यप्रयोजनसिद्धये यत्नंकुर्यात् ॥ २१५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचोपेति । उपेतारमात्मानं उपेयंप्राप्तव्यं सर्वोपायांश्च समाश्रित्य किंत्याज्यं किंनेति विचार्य आत्मसिद्धये आत्मरक्षार्थंप्रयतेत । उपेताचेज्जीवतिसर्वं भविष्यतीति भावः ॥ २१५ ॥

(२१५) अर्थसिद्धये = आत्मसिद्धये (ट, ठ, ड, त)

(५) नन्दनः । एवंप्रतिपादितांतीतिविजिगीषांसक्षिप्य निगमयति उपेतारमिति । उपेतारममात्यादिकं बर्गे उपेयं भूत्यादिकम् । सर्वशब्देन मायापेक्षयेन्द्रजालानां ग्रहणं कृत्स्नशः समाश्रित्य न्यूनमधिकं च ॥ २१५ ॥

(६) रामचन्द्रः । उपेतारं उद्यमफलयुक्तमात्मानमुपायसद्वारं । उपेयं उपायसाध्यं । सर्वोपायांश्च सामादीन मन-
साबलाबलादिद्वारा निश्चित्य एतन्नयमाश्रित्य सिद्धये प्रयतेत ॥ २१५ ॥

एवं सर्वमिदं राजा सहसंमन्त्र्य मन्त्रिभिः ॥ व्यायम्याप्नुत्यमध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरंविशेत् ॥ २१६ ॥

(१) मेधातिथिः । एवंयथोक्तं राजा वृत्तमिदंसर्वमापद्यनापदि वाऽऽत्मशक्त्यपेक्षया वा कस्यामवस्थायां किं कर्त्तव्यमिति मन्त्रिभिः सह विचार्य मध्यं दिनमुक्तकालं मध्यं दिनं व्यायामं कृत्वोपचार्यस्नानं च स्नानमक्रमोक्तमपि पुनराज्यार्थं मुच्यते मङ्गलाचारेयुक्तानाम् । राजा स्नानपरिग्रहार्थं भोजनादियुतं तद्रूपपूर्वस्नानापेक्षयाऽन्तःपुरंयायादिति विशेषार्थमुपसंहारः । विविक्ते देशे ॥ २१६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवंसर्वमिदमिति यदुक्तप्रकारमिदंसर्वमित्यर्थः । व्यायम्याख्याभ्यासेन शमलब्ध्वा ॥ २१६ ॥

(३) कुल्लूकः । एवमुक्तप्रकारेण सर्वराजवृत्तं मन्त्रिभिः सह विचार्यानन्तरमायुधाभ्यासादिना व्यायामं कृत्वा मध्याह्ने स्नानादिकं माध्याह्निकं कृत्यं निर्वह्य भोक्तुमन्तःपुरंविशेत् ॥ २१६ ॥

(४) राघवानन्दः । राज्यमुपसंहरति एवमिति । व्यायम्य युद्धाद्युपयोगिव्यायामं कृत्वा आप्नुत्य स्नात्वा भोक्तुं विशेदित्युक्तम् ॥ २१६ ॥

(५) नन्दनः । इदमुक्तं व्यायम्य ह्यारोहणादिव्यापारं कृत्वा आप्नुत्य स्नात्वा ॥ २१६ ॥

(६) रामचन्द्रः । एवं व्यायम्य विचार्य । आप्नुत्य स्नात्वा ॥ २१६ ॥

तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः ॥ सुपरीक्षितमन्त्राद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः ॥ २१७ ॥

(१) मेधातिथिः । तत्राऽन्तर्गतगृहआत्मरक्षाभूताआत्मसमाः कालज्ञावयोविशेषावस्थादि प्रतिनियतकाले भक्ष्य-
भोज्यदानादिविशेषज्ञाः अहार्याअभेद्याविश्वसनीयाः परिचारकाः स्वरवैद्यादय एतैर्गृहीतंसर्वपरीक्षितमदनीयमन्त्राद्यमद्यात्
परीक्षा कुशलैर्वैद्यैरग्निचकोरादिभिः कर्तव्या । विषादिसंसृष्टस्य शुष्कस्याशुद्धताभवति वैवर्ण्यैः सुगन्धोपघातश्च अतिम्लानताग्नौप्रक्षिप्तस्य वेति । वेति शब्दः वैवर्ण्यज्वालासुर्दक्षिते च तस्मिन्वयसां विपत्तिः दर्शनेन भ्रियते यत्रकोकिलः ग्लायति
जीवजीवकः चकोरस्याक्षिणी विनश्यतो विषप्रदर्श्यापि भवति मुष्कस्यावग्रहः स्वदइत्यादिमन्त्रैश्चविषापहैः परिजयेद्व्याप-
दिकासु ॥ २१७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कालज्ञैर्यदा यद्यञ्जनादि देयं तद्ज्ञैरभेदैरनुपजप्यैः । अहार्यैरिति पठिष्यमर्थः । विषापहैश्चकोरादिभिर्मन्त्रैश्च सुपरीक्षितं यत्परिवारकैस्तदद्यात् ॥ २१७ ॥

(३) कुल्लूकः । तत्रान्तःपुरे आत्मतुल्यैर्भोजनकालवेदिभिरभेदैः सूपकारादिभिः कृतंसुष्ठुचपरीक्षितं चकोरादिदर्शनेन सविषमन्त्रदृष्ट्वा चकोराक्षिणीरक्ते भवतः विषापहैर्मन्त्रैर्जपितमन्त्रमद्यात् ॥ २१७ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र प्रकारमाह तत्रेति । भोजनेकर्तव्ये आत्मभूतैर्देहवत्प्रियतमैः अहार्यैर्धनादिलोभेनाभेदैः सूपकारादिभिः । विषापहैर्मन्त्रितमन्त्रम् ॥ २१७ ॥

(५) नन्दनः । अहार्यैः अभेद्यैः ॥ २१७ ॥

(६) रामचन्द्रः । तत्र अन्तःपुरे आत्मभूतैः पुत्रैः कालज्ञैः तद्व्यञ्जनादिकं यत्तद्देयमितितज्ज्ञैर्योतिर्विद्भिः अहार्यैः अनुपजन्त्यैः तथापरिचारिकैः विषाणैर्मन्त्रैरुपलक्षितमन्त्राद्यंसर्वं अद्यात् भक्षयेदित्यर्थः ॥ २१७ ॥

विषघ्नैरगदैश्चास्य सर्वद्रव्याणि योजयेत् ॥ विषघ्नानि च रत्नानि नियतोधारयेत्सदा ॥ २१८ ॥

(१) मेघातिथिः । विषघ्नैरुदकैश्चास्य सर्वद्रव्याणि राजौपयिकानि वस्त्रादीनि विशोधयेत् । विषघ्नानि रत्नानि गरुडोदीर्णनागदमणिप्रभृतीनि यतः प्रत्यये नित्योभोजनकालादन्यदापि धारयेत् ॥ २१८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अगदैरौषधैर्नेजयेत् क्षालयेत् । नियतः शुचिः ॥ २१८ ॥

(३) कुल्लूकः । विषनाशिभिरौषधैः सर्वाणि भोज्यद्रव्याणि योजयत् । विषहरणानि च रत्नानि यत्नवान्सर्वदा धारयेत् ॥ २१८ ॥

(४) राघवानन्दः । तद्भृत्याञ्छिक्षयति विषघ्नैरित्यर्थेन । अगदैरौषधैः विशिष्टानि द्रव्याण्यन्नपानादीनि शोधयेत् । अस्य राज्ञः । शत्रुतोविषदानादिभियातन्नाशकरत्वं धारयेदित्याह विषघ्नानीति । सदा विषघ्नानि नियतोधारयेदित्यन्वयः ॥ २१८ ॥

(५) नन्दनः । नेजयेत्प्रक्षालयेत् ॥ २१८ ॥

(६) रामचन्द्रः । विषघ्नैरगदैरौषधैः अस्य राज्ञः द्रव्याणि भक्ष्यपदार्थादीनि चतुर्विधानि चोष्यलेह्यभक्ष्यभोज्यानि नेजयेत्प्रक्षालयेत् ॥ २१८ ॥

परीक्षिताः स्त्रियश्चैनं व्यजनोदकधूपनैः ॥ वेषाभरणसंशुद्धाः स्पृशेयुः सुसमाहिताः ॥ २१९ ॥

(१) मेघातिथिः । परीक्षिताविचारिताउपधाभिः शीलशौचाचारैः ह्रियोदास्यः परिचारिकाव्यजनोदकधूपनैः करणभूतैः संस्पृशेयुरुपचरेयुर्वेषादिसंयुक्ताः सुवेषाः स्नानेन कृत्वा समाहिताः अप्रविक्षिप्तमनसः वेषाभरणकपटवेषः केशनखाद्येवंविचार्य कदाचित्तत्रायुधानि कृत्वा विश्रब्धहन्तुः आभरणानि च विषदिग्धैराभरणैः स्पृशेयुरिति ॥ २१९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । व्यजनोदकधूपनैः स्पृशेयुरस्य समीपमागच्छेयुः ॥ २१९ ॥

(३) कुल्लूकः । स्त्रियश्च गूढचारद्वारेण कृतपरीक्षागुमायुधग्रहणविषलिप्ताभरणधारणशङ्कया निरूपितवेषाभरणाभ्यनन्यमनसः चामरस्नानपानाद्युदकधूपनैः एनं राजानं परिचरेयुः ॥ २१९ ॥

(४) राघवानन्दः । तस्यैव स्त्रीविषयनियममाह परीक्षिता इति । स्त्रियश्च दुष्टदयाः कदाचिदस्त्रविषादियुक्ताः स्युरिति भयात् भर्तृष्वेताविकुर्वत इति न्यायात् परीक्षितामहिलादिभिः धम्मिल्लादौ क्षुरंदध्युर्नूरादौ तथा विषमिति तत्राह । वेषाभरणसंशुद्धाः विशत्यासुचित्तंयूनामेभिरिति वेषाधम्मिल्लकुचनितम्बालकवस्त्राणि आभरणानि कटककङ्कणहारनूपरादीनि तेष्ववलोकनेन सम्यक्शुद्धाः ॥ २१९ ॥

(५) नन्दनः । व्यजनोदकधूपनैः संस्पृशेयुः ॥ २१९ ॥

(६) रामचन्द्रः । एनं राजानं एतादृशः स्त्रियः स्पृशेयुः आलिङ्गनं कुर्युः ॥ २१९ ॥

एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्यासनाशने ॥ स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालङ्कारकेषु च ॥ २२० ॥

(१) मेघातिथिः । एवंविषोदकाञ्चनादिनादौ प्रयत्नं कुर्यात् स्नानं शिरःस्नानं गन्धोरोचनादि आसनमत्रप्रदर्शनार्थं तत्र ह्युपविष्टो यथा तत्र महान्यतः क्रियते एवंयानादावपि कर्तव्यः ॥ २२० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवमिति यानादिष्वलंकरणान्तेषु विषयसंज्ञादिशङ्कया भयत्नविधानम् ॥ २२० ॥

(३) कुल्लूकः । एवंविधपरीक्षादिप्रयत्नवाहनशय्यासनाशनस्नानानुलेपनेषु सर्वेषु चालङ्कारार्थेषु कुर्यात् ॥ २२० ॥

(४) राघवानन्दः । पुत्रादपि धनभाजां भीतिरिति न्यायमाश्रित्य सर्वत्र भयनाशनार्थप्रयत्नविधत्ते । एवमिति । प्रसाधने केशादिसंस्कारे सर्वालंकारिकेषु कुत्सितमपि देहमलंक्रियते भूयते एभिरिति कटकमुकुटकङ्कणवस्त्रादयस्तेषु ॥ २२० ॥

(५) नन्दनः । एवं विषादिप्रयोगरक्षणे यत्नं कुर्वीत । स्नाने स्नानीये प्रसाधने गन्धपुष्पादौ ॥ २२० ॥

भुक्तवान्विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह ॥ विद्वत्पुनः यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥ २२१ ॥

(१) मेधातिथिः । तस्मिन्नेवान्तर्गृहआत्मविनोदाय स्त्रीभिर्नवोढभार्यादिभिर्यथा सुखं क्रीडेत यथाकालमिति यावद्विहरणकालमिति चोत्तरेण संबन्धनीयं विद्वत्पुनः कालोपपन्नानि कार्याण्येकाकीमस्त्रिभिश्च सह पुनर्विचारयेत् ॥ २२१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विहरेत् क्रीडेत ॥ २२१ ॥

(३) कुल्लूकः । कृतभोजनश्च तत्रैवान्तःपुरे भार्याभिः सह क्रीडेत । कालानतिक्रमेण च सममे दिवसस्य भागे तत्र विद्वत्पुनः भागे पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥ २२१ ॥

(४) राघवानन्दः । दिवाभोजनमनुवदनकार्यान्तराणिविधत्ते । भुक्तवानिति । स्त्रीभिः सहेत्यन्वयः । विहारोत्रचित्तप्रसाधनमैथुनवर्जं दिवामैथुननिषेधात् ॥ २२१ ॥

अलङ्कृतश्च संपश्येदायुधीयं पुनर्जनम् ॥ वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च ॥ २२२ ॥

(१) मेधातिथिः । अन्तःपुरान्निष्कम्यालंकृतआयुधीयं पश्येत्तस्याच्छायाकांदद्यात् पुनरितिवचनात्पूर्वाण्हेदृष्टमपि नित्यदर्शनीयं आयुधजीविनामायुधादौ यत्नो भवति । सर्वाणि च वाहनानि तेषां दर्शनमप्युपचयविज्ञानार्थं नित्युक्तानां च तत्र विशेषाधानार्थं दण्डप्रधानं जीविभृत्यावेक्षणमभीक्षणमुभयतस्ततः ॥ २२२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आयुधीयं जनं प्रातर्दृष्टमेव पुनः पश्येत् ॥ २२२ ॥

(३) कुल्लूकः । कृतालङ्कारः सन्नायुधजीविनं वाहनानि हस्त्यश्वादीनि सर्वाणि च शस्त्राणि खड्गादीन्यलङ्काररचनादीनि पश्येत् ॥ २२२ ॥

(४) राघवानन्दः । आयुधीयमायुधजीवनम् । आभरणानि चर्मादीनि ॥ २२२ ॥

(६) रामचन्द्रः । आयुधीयं जनं पार्श्विग्राहकं पुनः पुनः पश्येदित्यर्थः ॥ २२२ ॥

संध्यां चोपास्य शृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्रभृत् ॥ रहस्याख्यायिनां चैव प्रणधीनां च चेष्टितम् ॥ २२३ ॥

(१) मेधातिथिः । त्रैवर्णिकस्योक्तमपि सन्ध्योपासनमुच्यते प्रजाकार्यपुनः कश्चित्कालमतिक्रमेदिति । उत्तरक्रियानन्तर्यार्थवा अन्तर्वेश्मनि रहसिप्रासादादौ भवंतस्याख्यायिनः पौरावा केचित्प्राप्तप्रणिधयस्तेषां चेष्टितं चेष्टाव्यवहारः किं दृष्टं श्रुतं कृतं चेति तेषां चास्मिन्काले दर्शनमिष्यते परैरनवबोधनार्थस्वस्थस्य चार्थकार्यकालनिमेनापतितं वर्तते ॥ यथाचोत्पादितं कार्यं संपश्येन्नोभितापयेत् । कल्लूसाभ्यमतिक्रान्तमसाध्यं वापि जायत इति ॥ २२३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतद्वृत्तं चेष्टितम् ॥ २२६ ॥

इति श्रीसर्वज्ञनारायणकृतौ मन्वर्थविवृतौ सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥ राजधर्मसंकीर्तननामायंसप्तमश्च ॥ ॥

(३) कुल्लूकः । एतद्यथोक्तप्रकारप्रजारक्षणादिकं नीरोगो राजा स्वयमनुतिष्ठेत् अस्वस्थः पुनः सर्वमेतद्योग्यश्रेष्ठा-
मात्येषु समर्पयेत् ॥ २२६ ॥

इति श्रीकुल्लूकभट्टविरचितायां मन्वर्थमुक्तावल्यां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥ ७ ॥ ७ ॥

(४) राघवानन्दः । परमप्रकृतमुपसंहरन्प्रतिनिधिविधत्ते एतदिति । विधानमनुष्ठेयं दृष्टादृष्टार्थं षाड्गुण्याग्निहो-
त्रादिकम् ॥ २२६ ॥

इति श्रीराघवानन्दविरचितायां मन्वर्थचन्द्रिकायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥ ॥ ॥ ॥

(६) रामचन्द्रः । अस्वस्थः दुःखितः राजा एतत्सर्वराजमन्त्रादिकं भृत्येषु मन्त्रिषु नियोजयेत् स्थापयेत् ॥ २२६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

॥ ७ ॥

॥ ७ ॥



॥ श्री ॥

॥ श्रीगणेशायनमः ॥

॥ अथ अष्टमोऽध्यायःप्रारभ्यते ॥



व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ॥ मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥ १ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रजानां पालनं राज्ञो वृत्तिर्विहिता सा चात्र ॥ शस्त्रास्त्रभृत्क्षत्रस्य वणिक्पशुरुषीर्विशः । आजीवना-
र्थं शूद्रस्य द्विजातीनां निषेवणम् ॥ एवं नृपो वर्तमानो लोकानामोत्पन्नानामिति ॥ तथा धर्मो वर्धते लोके अन्येषामपि वर्णानां क्ष-
त्रियवृत्त्या जीविनामस्त्येव राज्याधिकारः ॥ यः कश्चित्सर्वलोकानां पालकश्च नृपः स्मृतः । कर्मनिष्ठा च विहिता लोकसाधा-
रणे हिते ॥ परिपालनं च पीडापहारः । द्वयी च पीडा दृष्टा दृष्टा च तत्र दुर्बलस्य बलीयसा धनहरणादिना बाध्यमाना दृष्टा
पीडा इतरस्य तु विध्यतिक्रमजनितेन प्रत्यवायेनामुत्रिकदुःखोत्पादनमदृष्टपीडा । प्रजाहि द्वेषमत्सरादिभिरितरेतरमयथा
वदाचरन्ति कुपथेन यान्त्यदृष्टदोषेण बाध्येरन् । अतश्च राज्यनाशः प्रजैश्चर्यहि राज्यमुच्यते तासु विनश्यन्तीषु कस्य
राज्यं स्यात् । व्यवहारादयोऽतः शास्त्रदण्डेन व्यवस्थाप्यमानानभयात्पृथक्प्रचलन्ति तत्राचोभयथापि रक्षिता भवन्ति । धनदश्च
राज्ञः करशुल्कादिवैतदन्यधर्मिणो जीविका न भवतीति वृत्तिपरिक्षयादपि राज्यावसादः अतो राज्यस्थित्यर्थं व्यवहारदर्शनं क-
र्तव्यं तदिदानीमुच्यते व्यवहारश्चात्र वादिप्रतिवादिनोरितरेतराशनो धाराय वृत्तिरुच्यते । अथवा ऋणादानादयः पदार्था एव
विप्रतिपत्तिविषयाः सन्तो विचारगोचरसमर्थतया कर्तव्या इति । दिदृक्षुरित्युक्ता पश्येत्कार्याणीति सामानाधिकरण्यं पुनश्च प्र-
त्यवमर्शस्तेषामाद्यमृणादानमिति । तान्पदार्थान्विचारयेदिति संबन्धः वक्ष्यमाणाधिकृतपुरुषाधिष्ठितः प्रदेशः सभाप्रवेशस्त-
दभ्यन्तरभावः । किमेकएवप्रविशेच्चेत्याह ब्राह्मणैः सहेति । अथ मन्त्रज्ञैरिति कस्य विशेषणं न तावन्मन्त्रिणो मन्त्रित्वदेवसि-
द्धेः नहि मन्त्रमजानानो मन्त्रीति शक्यते वक्तुं नापि ब्राह्मणानां व्यवहारदर्शनेऽधिकृतानां तत्परिज्ञानमदृष्टं न स्यात् । अत्रोच्य-
ते ब्राह्मणविशेषणमेवैतत् तेह्यमन्त्रज्ञा भूत्वा निरपेक्षमवधारयन्तः स्युरन्यथाराज्ञोऽनर्थमावहेयुः । तथा हि महामात्याश्रितः
कश्चिज्जनपदेन व्यवहरन्सहसाजितो यदि न दण्ड्यते धनं वा वष्टभ्यन दाप्यते तदा समत्वेन व्यवहारदर्शनं न कृतं स्यात् पक्षपा-
तमशक्तिवास्य जनपदामन्येरन् । अथ दण्ड्यते महामात्यक्षोभादपि प्रकृतिविकृतं स्यात् मन्त्रज्ञास्तु सन्तः संशयितारो यदि
निर्णेतव्यस्य केनचिदपदेशेन प्रसङ्गरोधं कृत्वा रहसि राजानं परिबोधयन्ति । अनयोर्विवादिनोरयं जीयतेऽयं जयतीति
व्यवहारस्त्वस्माभिनं तदानीमेव निर्णीतइति स्वामी प्रमाणं तत्र राजैवं विदित्वा महामात्यमादेशयति त्वदीयो मनुष्यो जी-
यते मम हानिर्माभूदिति संप्रति निर्णयो वधीरितः त्वमेव तथा कुरु । यथैष मनुष्यः संधीयते बाधास्य व्यपनीयते ते मन्त्रि-
णो वा देयवाक्यामनुष्याणां सर्वेषामनर्थ्या च प्रवृत्तिप्रतिबध्नन्ति । अन्येतु काकाक्षिवदुभयविशेषणमर्थभेदेन मन्त्रज्ञपदं मन्य-
न्ते यदा मन्त्रिणो विशेष्यन्ते तत्तद्धातुतत्परिज्ञानमन्त्रज्ञानं ब्राह्मणपक्षे तु कार्यार्थसमभावश्च मन्त्रिब्राह्मणानां प्रवेशमात्र-
मेव किन्तर्हि निर्णयं पश्येदित्युत्तरत्र वाक्यानि यथा योग्यमितरथा दृष्टाय प्रवेशः स्यात् अतो नैकाकी निर्णयंकुर्यात्कि-

न्तर्हि तैः सह निरूप्येति । विनीतोवाक्पाणिपादचापलरहितः वेपतोऽनर्थः स्यात् । पार्थिवग्रहणान्नक्षत्रियस्यैवायमुपदेशः किन्तर्ह्यन्यस्यापि पृथिव्यामधिपतेर्देशेश्वरस्य न ह्यन्यथा राज्यमविचलितं भवतीति ॥ १ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्रीमहागणपतयेनमः । व्यवहारानिति ॥ १ ॥

(३) कुल्लूकः । एवंविधविपक्षमहीक्षिद्भ्यः प्रजानारक्षणादवाप्तवृत्तिस्तासामेवेतरेतरविवादजपीडापरिहारार्थमृणादानाद्यष्टादशविवादे विरुद्धार्थार्थप्रत्यार्थिवाक्यजनितसंदेहहारीविचारएवव्यवहारः । तदाह कात्यायनः ॥ विनानार्थेह संदेहहरणं हारउच्यते । नानासंदेहहरणाद्यवहारइति स्मृतः ॥ तान्व्यवहारान्द्रष्टुमिच्छन्पृथिवीपतिर्वक्ष्यमाणलक्षणलक्षितैर्ब्राह्मणैरमात्यैश्चसममाध्यायोक्तपञ्चाङ्गमन्त्रैः सह विनीतोवाक्पाणिपादचापलविरहादनुद्धतः अविनीतेहि नृपेवादिप्रतिवादिनांप्रतिभाक्षयादसभ्यगभिधाने तत्त्वनिर्णयो न स्यात्तादृशोऽक्ष्यमाणांसमांप्रविशेत् । व्यवहारदर्शनंचेदंप्रजानामितरेतरपीडायां तत्त्वनिर्णयेनरक्षणार्थवक्ष्यमाणदृष्टादृष्टार्थकरणफलेनैव फलवत् ॥ १ ॥

(४) राघवानन्दः । संप्रति व्यवहारार्थं सभाप्रवेशप्रकारमाह व्यवहारानिति द्वाभ्याम् । संगतिरानन्तर्यलक्षणा व्यवहारनिर्णयस्य राजकृत्यत्वात् । ऋणादानाद्यष्टादशविषयो विरुद्धार्थप्रत्यार्थिवाक्यजनितसंदेहहारी विचारो व्यवहारः ॥ विनानार्थेऽवसंदेहे हरणं हारउच्यते । नानासंदेहहरणाद्यवहारः स उच्यत इति कात्यायनवचनात् ॥ मिताक्षरा तु अन्यविरोधेन स्वात्मसंबन्धितया कथनं व्यवहारः । यथा कश्चिदिदंक्षेत्रादि मदीयमिति कथयति तद्विरोधेन मदीयमिति । मन्त्रज्ञैः पूर्वाध्यायोक्तपञ्चाङ्गमन्त्रज्ञैर्नीतिशास्त्रज्ञैः कापटिकादिभिः प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्तैर्वा मन्त्रिभिश्चामात्यैः ॥ १ ॥

(५) नन्दनः । एवंप्राज्ञः स्वविषयरक्षणं परविषयलाभे प्रशमनंचोक्तं इदानींतस्य व्यवहारदर्शनमुच्यते व्यवहारान्दिदक्षुस्त्विति । मन्त्रज्ञैरिति विशेषणं ब्राह्मणानां मन्त्रिणांच । विनीतः उक्तैरेतै रभ्यैः ॥ १ ॥

(६) रामचन्द्रः । अथ व्यवहाराध्यायो निरूप्यते । पार्थिवो ब्राह्मणैः सह तथा मन्त्रिभिः सह व्यवहारादीन्द्रिदक्षुः सभांप्रविशेत् । अन्यानन्यविरोधेन स्वात्मसंबन्धितया कथनं व्यवहारः । कीदृशैर्ब्राह्मणैः मन्त्रज्ञैः वेदव्याकरणधर्मशास्त्राभिज्ञैः ॥ १ ॥

तत्रासीनः स्थितोवापि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् ॥ विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्याणां ॥ २ ॥

(१) मेघातिथिः । आसीनो धर्मासनोपविष्टः स्थितो निषिद्धगतिरनुपविष्ट एव स्थानासनयोश्च व्यवस्थितो विकल्पः कार्यविशेषापेक्षः गरीयसि कार्ये बहुवक्तव्य उपविष्ट आसीनः लघीयसि त्वल्पवक्तव्ये स्थितः । क्रममाणस्य सर्वथा प्रतिषेधः सहि मार्गावलोकनपरोनार्थप्रत्यार्थिनोर्निपुणतोवचनमवधारयेत् अन्ये त्वदृष्टार्थतथा मन्यन्ते । तपस्वि वद्वाहनादिषु विवादिषु स्थितेषु स्थित आसीनेष्वासीनः । पाणिमुद्यम्येति उत्तरपाणिमुद्धृत्योत्थानं कृत्वेत्यर्थः । सूत्रकृतोऽयं व्यतिक्रमः सर्वदा विहितत्वाद्दसनोपव्यानमेतत् तेनायमर्थो हस्तउत्क्षेपव्यो न पुनः समीपवर्तिनि संलग्नः कर्तव्यः । प्रश्ननिषेधावसरे च तेनाभिनेतव्यं न तु प्रव्याणादिना अनेन व्यवहारदर्शनेन तात्पर्यख्यापितं भवति प्रायेण हि पुरुषकार्येषु प्रयत्नवन्तो हस्तमुद्यच्छन्ति यथा सुखोपविष्टं व्रजति कर्तारं ततश्च परिजने तदेतद्राजा वित्तं ददाति सभ्यैर्निर्भयैर्वयं जिता इति पाणिग्रहणं बाहूपलक्षणार्थं केवलस्य हि हस्तस्य यावद्यवहारदर्शनं व्यापारणं पीडाकरं न चायमदृष्टार्थ उपदेशः । विनीतवेषाभरणइ-

ति पूर्वश्लोके बाह्याभ्यन्तरेन्द्रियविषयावधानार्थोभिहितः श्वगणानांशालीनतया मुखोपसर्पणार्थउद्धृतवेषे हि रजोनिवृत्तिलक्षणया तथा विधानामप्रतिपत्तिः स्यात् अतउद्धृतवेषाभरणं कथंचित्केशवसनविन्यासादिविशेषः आभरणकर्णिकादि तत्रोद्धृतवेषऊर्ध्ववस्त्रोजवनरक्ताम्बरधारितेत्यादि उद्धृताभरणोदीमिमद्दुर्गन्तालङ्कारोबन्हाहारश्च सस्त्रादित्येव दुर्निरीक्ष्यः सामान्यजनानांविशेषतोभियुक्तानाम् । पश्येदिति सभाप्रवेशस्य प्रयोजनमाह पश्येद्विचक्षणः अयंच राज्ञोदर्शनापदेशोदण्डप्रणयनेयथा स्थानार्थप्रतिपादनपर्यन्तोभविष्यति तात्पर्यतस्यैव रक्षाधिकारः प्रयुक्तः स्यात् ईदृशस्य च दर्शनस्यान्येषामसंभावनादनधिकारः सर्वेषांसंशयच्छेदमात्रं फलन्तु व्यवहारदर्शनं प्रायश्चित्तोपदेशवद्विदुषोब्राह्मणस्यास्त्येव उक्तं हि धर्मसंकेतेषु ब्रूयादिति तथैकवर्ग्याणांवाणिज्यकर्षकपशुपालप्रभृतीनांस्ववर्गसामायिकार्थविप्रतिपत्तावन्यस्यां वोत्सुकनिर्णयादूतिरिति तथाविधव्यवहारदर्शने नियोगः तथा हि पठितं ॥ कुलानि श्रेणयश्चैव गुणैश्चाधिकृतोनृपः । प्रतिष्ठा व्यवहाराणां गुर्वेभ्यस्तूत्तरोत्तरमिति ॥ तत्र कुलानि बन्धुजनसमूहः तैर्या व्यवस्था कृता ततो न विचलितव्यम् । अथ तत्र तास्युस्तवैतेऽधिकतरं संबन्धिन इति वदद्भिस्तु ततश्चेति निवेदितव्यं श्रेणयः समानव्यवहारजीविनो वणिक्प्रभृतयः । तेषांबन्धुभ्योधिकगुरुत्वबान्धवादिज्ञातिधर्मभयाद्विचलितं नियच्छन्ति श्रेणयस्तु राजगमनेन श्रेणिधर्मो राजपुरुषप्रवेशात्परिभवनीयत्वेन नश्यतीति अविचलनार्थं प्रतिभूयहणपूर्वकं विचारयन्ति य एतस्माद्विचलन्ति । परिषदि दण्डोदातव्यश्चलितुं वापि त्वया न देयमिति । गणागणशश्चारिणोगृहप्रासादादिकरामठब्राह्मणादयश्च ते स्वगणिनां व्यवहारं पश्येयुः । तत्राविचलार्थ उपसदः कर्तव्याः पूर्वसमानकर्मजीविन एकाकिनोऽपीमे तु संभूयकारिण इति विशेषः । श्रेणिभ्यः संभूयकारितया विवादिनोभूमिज्ञत्वात् अन्ये तु कुलानीति मध्यस्थपुरुषानाहुः ते हि कार्याभ्यन्तराश्रेणिकताएव निर्णेतारः त्रैविद्यो विद्वानब्राह्मणस्तस्य हि धर्मसंकेतेषु प्रवक्तृत्वं विहितं तस्य पूर्वभ्योगुरुत्ववैदुष्यात् । नृपस्यापि गुरुत्वमतिशयशक्तित्वादतः स्वयं विदुषा नृपेण निर्णीते नास्त्येतद्योमन्येताजितोस्मीति न्यायेनापि पराजितः द्विगुणदण्डमास्थाय तत्कार्यं पुनरुद्धरेदिति । अन्येषु करणेष्वेतद्भवति तत्र ह्यस्ति वचनावसरोनाधिकृतैः सम्यक् निर्णीतं राज्ञा तु विवेचिते किंवक्ष्यतीति अर्थान्तरं नृपैरधिकृतो राजस्थानीयब्राह्मणस्तथान्यस्य गृहिणः स्वतन्त्रस्तु गृहे मृहीति स्वातन्त्र्यस्मरणादण्डपर्यन्तोस्त्येव व्यवहारः सुपरीक्षितो भवति । वासनाविनम्यार्थं श्रुतिप्राप्तप्रसक्तशिष्यमुतायाः ॥ अन्यत्र दण्डाच्छारीरात्पातनीयाचकर्मण इति स्वल्पेऽपराधे गृहस्थ एव राजायते महति व्यतिक्रमे राजनिवेदनमेवोचितमित्यस्यार्थः । अतश्च यत्कैश्चित्पश्येदिति परिसंख्यार्थत्वमारोप्य ब्राह्मणादीनामधिकारआशङ्कितः पुनश्च क्लेशेन समर्थतस्तदयुक्तं विषयभेदादधिकारभेदात् त्वविषयो हि राज्ञोदण्डावधिको ब्राह्मणादीनां निर्णयावधिः अधिकारोपि भिनोराज्ञोराज्यस्थितिप्रयोजनमितरेषांसंशयच्छेदोदरपरोपकारकत्वं अतो नो वृत्त्याशङ्कैव नास्ति कार्षो विप्रतिपत्तिनिरासार्थिनां विप्रतिपन्नयोर्हि साम्यं व्यवहारदर्शने राज्ञा कर्तव्यं नो चेत्संविदाने कोराज्ञः स्वाधिगमे निरोधः कायकशुद्धौ हि श्वानिरोधवानिति वक्ष्यामः ॥ ३ ॥

(२) सर्वज्ञनाशयणः । उद्यम्य उत्तरीयोपरिकृत्वा । विनीतो योग्योवेषो देहावैकतरूपमारभणं च यस्य । अनुद्धतिः व्यञ्जकं तदुभयंकुर्यादित्यर्थः ॥ २ ॥

(३) कुल्लूकः । तस्यां च सभायां कार्यगौरवापेक्षायामुपविष्टोलघुनि कार्ये उत्थितोपि वा । पाणिशब्दोवाहुपरः । दक्षिणबाहुमुद्यम्यानुद्धृतवेषालङ्कारः पूर्वत्र श्लोकइन्द्रियानौद्धत्ययुक्तं तादृशः कार्याणि विचारयेत् ॥ २ ॥

(४) राघवानन्दः । ततः किं तत्राह तत्रासीन इति । आसीनो गुरुतरकार्ये । स्थित एव शीघ्रं समान्यपाणिमुमचयेति वस्त्रादिभ्यः प्रकाशितदक्षिणपाणिः । कार्याणि व्यवहारेऽनुष्ठेयानि । पश्येत् चिन्तयेत् । कार्यिणां अर्थिप्रत्यर्थिनाम् ॥ २ ॥

(५) नन्दनः । आसीनः स्थितो वा नतु शयानः । दक्षिणां पाणिमुद्यम्य अग्रावृतदक्षिण इति यावत् । यङ्गोपवीनीत्यन्ये । कार्याणि व्यवहारान् । कार्याणां व्यवहारिणाम् ॥ २ ॥

(६) रामचन्द्रः । षड्विंशति तत्रेति । तत्र तस्यां सभायां आसीनः कार्याणां अष्टादशविधानि कार्याणि पश्येत् । किं कृत्वा दक्षिणं पाणि उद्यम्य उत्तृत्य ॥ २ ॥

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः ॥ अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक्पृथक् ॥ ३ ॥

[हिंसायः कुरुते कश्चिद्देयं वा न प्रयच्छति । स्थाने ते द्वे विवादस्य भिन्नोष्टादशधा पुनः ॥ १॥]†

(१) मेधातिथिः । पूर्वाद्धेनिर्णयहेतवः कथ्यन्ते उत्तरेण विवादपदसङ्ख्यानिर्देशः । पश्येदिति पूर्वश्लोकादनुषज्यते कार्याणीति च प्रत्यहंपश्येत्कार्याणि प्रतिदिवसगमने व्यवहारनिर्णयः कर्तव्यः । हेतुभिरिति हेतुनिर्णयसाधनं । सच द्विविधः प्रमाणरूपो व्यवस्थारूपश्च । तत्र प्रमाणरूपोऽर्थनिर्णयहेतुः साक्ष्यादिः व्यवस्थारूपो यतोऽसत्ये वार्थनिश्चये व्यवहारः संतिष्ठते । यथा सत्यशपथउभयानुमतएकः साक्षी यद्यर्थिप्रत्यर्थिभ्यामभ्युपगतप्रमाणभावः सभ्यैः परीक्षितोऽपि निर्णयहेतुतां प्रतिपद्यते । नच परीक्षितस्य पुंसो वचनादसत्यात्पूर्ववदर्थनिश्चयः प्रार्थिकानामभ्युपगमेऽपि व्यवस्था हेतुर्भवति । सा च व्यवस्था द्विविधा साधारण्यसाधारणी च देशभेदाश्रयभेदात्सापि द्विविधा अविरोद्धा विरोद्धा च अविरोद्धायथा केषांचिद्दक्षिणात्यानामपुत्रा स्त्रीभर्तुर्युपरते सभास्थाणुमुपारोहति तमुपारुढाऽधिष्ठेतैरक्षपराहता कृतलक्षणा तत्सेवानन्तरं सपिण्डेषु कृच्छ्रं लभते* । तथोदीचालभ्यमानां कन्यायाचमानाय भोजनं यदि दीयते तत इयंतुभ्यंदत्तेत्यनुक्तेऽपि प्रतिश्रुता भवति विरोद्धा च क्वचिद्देशे वसन्ते धान्यं युज्यते शरदिद्विगुणं प्रत्यादीयते तथानुज्ञातभोगाधिर्द्विगुणेऽपि तदुत्थधने प्रविष्टआमूलहिरण्यदानाद्भुज्यत एव एषा ह्यशीति भागं गृह्णीयात्कुसीदवृद्धिर्द्विगुण्यं नान्येतीति विरोद्धा । तत्र भेदाश्रयादेशदृष्टहेतुशब्देनाभिहिताः । शास्त्रदृष्टास्तु हेतवः शास्त्रे पठितास्ते च केचन शास्त्रकारैः कल्पितव्यवस्थाः केचिद्यथावत्स्ववस्थिता अनुदिताः तत्र कल्पितव्यवस्था यथा लेख्यं यथोपभोगः साक्षिणश्चानुमानं वस्तुनियतं यथानयत्यस्यासूतैः मृगस्य मृगयुः पदमिति यद्यपि सर्वलौकिकं न शास्त्रकारवचनात्प्रामाण्यं भवति तथा लौकिकमेव तस्मिन् न च चिच्छास्त्रमश्रयितव्यम् । याचयतीदृशे चापराध इदं दिव्यं नियता च कालेन भोगः प्रमाणमिति लौकिकमपि तच्छास्त्रदृष्टमित्युक्तम् । तस्यां च व्यवस्थायां शास्त्रकाराणामूले संभवति । सा प्रमाणमसंभवे तन्मूला सा नादरणीया यथा लेख्यक्रमपाठः ॥ उभयाभ्यर्थितेनैवंमया ह्यमुकस्तुना । लिखितं ह्यमुकेनैव लेखकस्तत्त्वतो लिखेदिति ॥ यस्यादावेव लेखकः स्वनाम निवेशयेदित्येनाहममुष्यपुत्रो लिखामीदमितिन कश्चिद्दोषः स्यात् स ह्येवमर्थनाम निवेशयत्यनेनेदं लिखितमिति लेख्यकमुपलिखितं यथा स्यात् यदि ह्यसौ लेखकः प्रमाणान्तरेण प्रत्ययितो भवति ततस्तल्लिखितं प्रमाणं यदि चासावात्मानं स्वगोत्रनाम्ना नोपलक्षयेत्ततः कस्य प्रत्ययिता प्रमाणान्तरादन्विष्यतां अथ तु लेख्यानन्तरदर्शनेनान्येन वा हेतुना विशिष्टलेखक इति प्रत्यभिज्ञानं स्यादनुपलक्षितोऽपि न कश्चिद्दोषः । तत्र यदि लेखको न लिखेन्मयेदं लिखितमिति भवेदेवतादृशं लेख्यं परिपूर्णलक्षणं एषा च लेखकपरीक्षा तत्रोपयुज्यते । पत्रलेखकस्य साक्षित्वान्तर्भावो न्येषां साक्षिणामल्पत्वात् यत्र त्वन्ये बहवः प्रत्ययिताः साक्षिणः स्वहस्तारूढाः सन्ति तत्र लेखकसंबन्धिनी प्रत्ययिता नोपयुज्यते तथेयमपराव्यवस्था ॥ लिखितं लिखितेनैव साक्षिमचैव

† (क)

(३) निबद्धानि = विविधानि (मेधा०)

* लभते = न लभते (आत्रा)

साक्षिभिः । साक्षिभ्योलिखितं श्रेयोलिखितेन तु साक्षिणः ॥ नास्यामपि व्यवस्थायां किंचिन्निबन्धनमस्ति तथा हि द्विविधं लेख्यं त्वहस्तकृतं परहस्तकृतं च परहस्तकृतमपि द्विविधं त्वहस्तलेखकलिखितमधिकृतलेखकलिखितं तदेतत्परहस्तकृतं सर्वप्रकारं साक्ष्यात्मकमेव तत्र साक्षिभ्योलिखितमिति भेदानुपपत्तेरिदं हि तस्य लक्षणं ॥ साक्षिणः स्वस्वहस्तेन पितृनामादिपूर्वकं । तत्राहममुकः साक्षी लिखेयुरिति ते सममिति ॥ नाप्येकहस्तलिखितस्य प्रामाण्यमिष्यते यथैकस्य साक्षित्वं अथायं भेदे हेतुसाक्षिणो हस्तारूढास्तएव लेख्यमिति नानेन विशेषेण श्रेयस्त्वं भवति प्रत्ययिततां हि श्रेयस्त्वे हेतुः साचोभयत्रापि परीक्षया तस्मादीदृशे लेख्ये साक्षिद्वैधान्यायो बहुत्वं परिगृह्णीयादिति । अधिकृतत्वमपि न विशेषः परीक्षितो धिक्क्रियत इत्येतत्तत्राधिक्यम् । न च सर्वैराजाधिकृताः सुपरीक्षिता भवन्ति यदि नु निरुपाधिस्तादृशश्चेदत्यन्तगुणयोगाद्यादुपेयादेवासावेकएव संवादकत्वं तथा हि राजाग्रहारशासनाभ्येककायस्थहस्तलिखितान्येव प्रमाणी भवन्ति । दातुस्वाहस्तकृतं स्वयमभ्युपगमः इयदस्मान्मया गृहीतमिदं चास्मै दातव्यमिति तत्र यदि पश्चाद्भूतेन गृहीतमिति तदा पूर्वनिबद्धं ब्रुवाणैर्जीयते तत्र साक्षिणामवसरएव नास्ति । ननु च तदीयाल्लेख्यादभ्युपगतमेतदनेनेत्यवगम्यते उत्तरकालं च स एवाह न गृहीतमिति तत्रोभयोरभ्युपगमयोः केन हेतुना पूर्वोक्तोत्तराबाध्येत न पुनरुत्तरेण पूर्वा तुल्यत्वाद्विरुद्धत्वसंशयः ततश्च प्रमाणान्तरव्यापारणमेव युक्तं भवेदेवं यदि तुल्यतास्यात् न गृहीतमिति ह्यभ्युपगमोलोभादिनापि संभवति । न त्वगृहीत्वानुन्मत्तो गृहीतमिति ब्रूयात् तत्रापि यदि ब्रूयात्प्रतिदत्तमिति लेख्यन्तु न संपादितं असंनिधानात्प्रतिलेख्यं च न गृहीतं लेखकासंनिधानात्कार्यान्तरेऽतिपातिनि त्वरावत्वान्नात्रास्त्येव प्रमाणान्तरस्य साक्ष्यादेरवसरः । यदपि लिखितं लिखितेनेति नैषां परिभाषा वस्तुसामर्थ्यायातामवगतिं बाधितुं शक्नोति । दृश्यन्ते हि धनिकहस्तगतलेख्यक्रमेण संशोधयन्तो न च पृष्ठे संशोधितं धनमभिलिखन्ति । अद्य तावदिदं दत्तं मातरन्यदानीयैकीकृत्योपर्यारोपयिष्यामि सर्वे वा कतिपयैरहोभिः संशोध्य लेख्यं पाठयिष्यामीति नान्यवस्तुनो संबन्धः धनिकेन चोपरुद्धस्यासंभवत्यंशमूललाभधने संशुद्धिभागमात्रे दीयमाने कुत इयंतत्प्रभवति न ददाति यावत्प्रतिलेख्यं न दत्तमिति । यदि चैषा परिभाषा लिखितं लिखितेनैवेति तदा बलोपाधिकृतत्वं कथं विचार्यतां न हि तत्र लेख्यान्तरसंभवः तेन यथात्र सत्येव लेख्ये तन्निश्चयार्थं प्रमाणान्तरं व्यापार्यते तद्वदन्यत्रापि व्यापारणीयम् । यथा कश्चिदावेदयेन्नास्य प्रत्ययंगत्वा लेख्यं मया कृतमनेनोक्तः सद्यः पुण्याहेतुरकारणमिमां च धनमात्रां गृहाणाश्च न सर्वदा तास्मृत्युक्ता सैव धनमात्रा दत्ता परिशिष्टं न दत्तमिति तदास्त्येव न्यायकायकान्तरव्यापारणावसरः । तत्र यद्यधमर्णस्यास्मिन्प्रकारे साक्षिणः सन्ति तदाभिहिते लेख्यभासाकृते श्रवोदानमुत्तमर्णेन साधनीयम् । अथ तयोरपि रहसि परिभाषेयमभूत्तदादैव्याः क्रियाया अवसरः अथ तु तस्यामपि व्यभिचरित्वदनाश्वासः सत्यशपथेन व्यवस्था कार्या । नन्वेवं सति स्वहस्तलेख्यं प्रमाणान्तरसंवेदसापेक्षत्वादप्रमाणमेव तत्र विनापि साक्षिभिः सिध्येन्न त्वहस्तपरिचिह्नितमिति विरोधः । अनेनैव न्यायेन प्रत्यक्षं दीयमानं द्रव्यं पश्यति । केवलं तत्समं गृहीत्वा परिभाष्यत इयदिदमस्मान्मया गृहीतमिति तेऽपि साक्षिणः

* प्रत्ययितता=प्रत्ययिता (आआ)

१ नत्वगृहीत्वानुन्मत्तो=तेन गृहीतत्वाच्च नुमतो (आआ)

‡ असंनिधानात्=अनुसंनिधानात् (आआ)

* नैषा=तेषां (आआ)

स्युः तत्रापि शक्यते वक्तुमस्य प्रत्ययंगत्वा प्रपन्नोहमिति उक्तमत्र न स्मृतिविरोधाद्वस्तुस्थितिरहन्तुं शक्यते । अपि च यत्रास्य वचनस्यावसरो नास्ति तत्प्रमाणं भविष्यति कचिन्नास्ति यत्र चिरकालं तिष्ठति धनिकहस्ते लेख्यं यदि हितेन धनं दत्तं तदा कथमनेन वा नाम न मार्गितं लेख्यं न त्याजितमिति नहि चिरकालमपेक्षा वस्तुनीदृशेदृश्यं संभवति मिथ्यावा-
दितात्वस्यानुमीयते तथा चोक्तं ॥ सद्यस्त्रयहादाकार्येषु बलं राज्ञो निवेदयेदिति । यत्र वा भोग्यबन्धो न च भोगआम्नातो-
पहारकालमूत्रविप्रतिपत्तौ विनापि साक्षिभिः स्वहस्तलेख्यं न सधमर्णावकुलं भन्ते प्रीत्या त्वयैतदुक्तं संप्रति त्यजेति । न च पूर्वोक्तस्य वचनस्यावसरः कृतं लेख्यं ततो दास्यामीत्युक्ता न दत्तमिति यदि न दत्तं कथं बन्धभोगो मर्षितः । ननु चैवं सति लेख्यैः सह यो भोगः प्रमाणं स्यात् केवलस्य तु भोगस्य प्रामाण्यमामनन्ति लिखितं साक्षिणो भुक्तिरिति । किमिदं-
प्रत्युक्तं पर्यनुयुज्यामहे विशिष्टकालो भोगः प्रमाणं न भोगमात्रं एवं हि पठ्यते यत्किंचिद्दशवर्षाणितथापश्यतो ब्रुवतो भूमे-
हानिर्विंशतिवर्षिकीति । कस्तर्हस्यार्थो लिखितं लिखिते नैवेति व्याख्यातमन्धैः कर्तृविशेषसंशयेऽने नैतल्लिखितं न चेति-
लिखितेन निश्चिततत्कर्तृकेण निश्चीयते । यत्तु साक्षिसमक्षं तत्र कृताकृतसंदेहं साक्षिभिर्हरति तएव तत्र प्रमाणं न
तत्र तत्कृतलेख्यान्तरदर्शनमुपयुज्यते । बुद्धिपूर्वेषु च ऋणादानादिषु केवलेभ्यः साक्षिभ्यो लिखितं श्रेयः साक्षि-
णो हि विस्मरेयुरन्यतरेण वा संबन्धंगच्छेयुरन्यद्वा पातकस्यासाक्षित्वे हेतुमासादयेयुः लेख्यन्त्वभियोगवत् आत्माधीन-
तया सुरक्षमिति साक्षिभ्यः श्रेयस्त्वन्तस्य एतदेवाह लिखिते न तु साक्षिण इति । स्वहस्तप्रतिष्ठेन विस्मृतमप्यर्थवृत्तमि-
ति मन्यन्ते मृतावा साक्षिणस्तद्वस्तुप्रत्यभिज्ञानेन प्रमाणो भवन्ति । व्याख्यानान्तराणि भर्तृयज्ञेनैव सम्यक्कृतानीति त-
तएवावगन्तव्यानि । सर्वथा प्रमाणमूलानि स्मृतिः कारणव्यवस्था तु कर्तव्येति । न च स्मृतेरेव प्रमाणकल्पना युक्ता नहि
व्यवहारस्मृतिर्वेदमूला शक्यते वक्तुं सिद्धार्थरूपत्वात्प्रत्यक्षाद्यवगम्यत्वाज्जयपराजयप्रकाराणाम् । सिद्धोऽस्य मर्थः एवं व्यव-
हारे जीयत इतर इतरो जयतीति यदाप्यत्र लिङ्गश्रुतिः सापि हरीतकीं भक्षयेदारोग्यकाम इति वदवसेया । ईदृशेषु विधिस्वरू-
पेषु प्रत्ययेषु द्रव्यशुद्धेः ससङ्गेनार्थो विवेचित इति न पुनः प्रयतामहे । अष्टादशसु मार्गेषु विषयो विवादस्य एतानर्थानुद्दिश्य-
पुरुषाः प्रायेण विवदन्ते न विद्धानि कार्याणि प्रयोजनान्यर्थसिद्धय इति यावत्तान्युत्तरत्र दर्शयिष्यामः । पृथक्पृथक् प्रा-
धान्यमेतेषामाह एतानि प्रत्येकं प्रयोजकानि न पुनः परस्परमन्तर्भवन्ति । यथान्यानन्यत्र षड्भावादिष्वन्तर्भवन्ति नैव-
मेवेत्यनुसक्तानितु सहस्रशः सन्ति ॥ ३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रत्यहं पश्येदित्यन्वयः । देशदृष्टैः शास्त्राऽविरुद्धैः देशाचारसिद्धैः हेतुभिः प्रमाणैः शास्त्रदृष्टैः-
साक्ष्यादिभिः । अष्टादशस्वर्णादानादिषु मार्गेषु कार्यनिर्गमोपायतयामार्गसदृशेषु निबद्धानि संबद्धानि कार्याणीत्यन्वयः
॥ ३ ॥

(३) कुल्लूकः । तानि च ऋणादानादीनि कार्याणि अष्टादशसु व्यवहारमार्गेषु विषयेषु पठितानि देशजातिकुल-
व्यवहारावगतैः शास्त्रावगतैः साक्षिदिव्यादिभिर्हेतुभिः पृथक्पृथक् प्रत्यहं विचारयेत् ॥ ३ ॥

(४) राघवानन्दः । कार्याणीत्युक्तं तानि अष्टादशसु व्यवहारमार्गेषु कथं ज्ञेयानीत्यत्राह प्रत्यहमिति । देशदृष्टैः
देशजातिकुलव्यवहारावगतैः प्रत्यक्षैर्न्यायैः हेतुभिर्वा । शास्त्रदृष्टैः शास्त्रोक्तसाक्ष्यादिमीमांसनैश्च (अ) ॥ ३ ॥

(५) नन्दनः । हेतवः प्रमाणानि । देशदृष्टाहेतवो द्विविधा सर्वदेशव्याप्याः देशविशेषनियताश्चेति । शास्त्रदृष्टाहेतवः
समभाषादयः । अष्टादशसु मार्गेषु वक्ष्यमाणेषु विवादपदेषु निबद्धानि संबद्धानि । कार्याणि पश्येदित्यनुषज्यते ॥ ३ ॥

(अ) मीमांसनैश्च = मीमांसनैश्च वक्ष्यति यत्र सुविहितं कार्यं धर्मासिद्धिमभीप्सतेति ॥ (राघ० ४)

(६) रामचन्द्रः । देशदृष्टैः देशाचारैः शास्त्रदृष्टैः शास्त्राविरुद्धैः हेतुभिः साधनैः अष्टादशसुमार्गेषु अष्टादशसंज्ञेषु यत् निबद्धानि कार्याणि प्रत्यहं पश्येत् ॥ ३ ॥

तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः ॥ संभूयच समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥ ४ ॥

(१) मेधातिथिः । पाठक्रमापेक्षमृणादानस्याद्यत्वं प्राथम्यम् अथवा मुख्यमाद्यं अनेन हि वनवासिनोपि स्पृश्यन्ते ऋणादानानुषक्तमनृणादानमेव च यथा ऋणंते मया दत्तं शुद्धिलेख्यं प्रयच्छेत्त्यादि नैतदृणादानमनुक्तन्तु तत्रेति तद्यप्येदेश्यं- तथा ॥ ऋणं देयमदेयं च येन यत्र यथा च यत् । दानग्रहणधर्माश्चेति ॥ तत्र देयमृणं स्वरुतं पितृरुतं च यस्य च ऋक्थं हरेत् अ- देयं स्वरुतं द्विगुणादधिकं पितृरुतं च द्यूतादिभागेनेति पुत्रेण भर्त्रा पित्रा चेत्यतथा ॥ न स्त्रीपतिरुतं दद्यादृणं पुत्ररुतं तथा । अभ्यु- पेयते रुते यत्सहपत्या रुतं भवेत् । यद्यपि देयमित्यत्रैतदन्तर्भूतं तथापि द्यूतादिरुतं विशेषानपेक्षं स्वरूपतो देयमिदन्तु कर्तृनिय- मादिति गोबलीवर्दवद्भवन्ति चेद्देदोयावदिति द्वैगुण्यपर्यन्तं तत्रापि भेदः पूर्ववत् । यत्रेति पाठे देशकालग्रहणं यत्रैव गृहीतं त- त्रैव देयं सत्यां धनिकेच्छायां देशान्तरेऽपि सति संभवे कालोपि शरद्वनिच्छेत्त्युक्तं ग्रैष्मे वा सत्सु सस्येषु यदावास्य धना- गममन्येतेति यथा सतिसंभवे सर्वमसति कश्चिदंशो यावत्क्रमेण संशुद्धमिति सर्वभावे परिक्षीणे न कर्मणापि सममिति- दानग्रहणधर्मादिति साक्षिलेख्यादयः पारुष्ये दण्डवाचिके इति दण्डश्च वाक्च दण्डवाचं द्वन्द्वाच्चुदषहान्तादिति समासान्तस्त- दस्यास्तीत्यत इति ठनाविति ठन् । स्त्रीपुं धर्म इति स्त्रीसहितः पुमानिति शाकपार्थिवादिवत्समासः स्त्रीचपुमांश्चेति विग्रहे स्त्री- पुंसधर्म इति स्यात् ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आद्यं प्रधानं बहुविषयं ऋणस्य नदानमदानम् । संभूयसमुत्थानं अनेकैर्मिलित्वा यत्र धनार्थवाणिज्याद्युद्यमः क्रियते । अनपकर्म अप्रत्यर्पणम् ॥ ४ ॥

(३) कुल्लूकः । तान्येवाष्टादशगणयति तेषामिति । तेषामष्टादशानां मध्ये आदाविह ऋणादानं विचार्यते । तस्य स्वरू- पमुक्तं नारदेन ॥ ऋणं देयमदेयं च येन यत्र तथाचयत् । दानग्रहणधर्माश्च तदृणादानमुच्यते ॥ ततश्च स्वधनस्यान्यस्मिन्पणरू- पो निक्षेपः । अस्वामिना च रुतो विक्रयः । संभूयवणिगादीनां क्रियानुष्ठानम् । दत्तस्य धनस्यापात्रबुद्ध्या क्रोधादिना वा ग्रहण- म् कर्मकरस्य भूतेरदानम् रुतव्यवस्थाऽतिक्रमः । क्रयविक्रये च रुते पश्चात्तापाद्विप्रतिपत्तिः । स्वामिपशुपालयोर्विवादः । ग्रामादिसीमाविप्रतिपत्तिः । वाक्पारुष्यमाक्रोशनादि दण्डपारुष्यं ताडनादि स्तेयं निह्वेन धनग्रहणम् । साहसं प्रसह्य धन- हरणादि । स्त्रियाश्च परपुरुषसंपर्कः स्त्रीसहितस्य पुंसो धर्मव्यवस्था । पैतृकादिधनस्य च विभागः । अक्षादिक्रीडापण- व्यवस्थापनपूर्वकं पक्षिमेषादिप्राणियोधनमित्येवमष्टादश एतानि व्यवहारप्रवृत्तेः स्थानानि । समावृह्यस्य प्राणिद्यूतरूपत्वेन द्यूतावान्तरविशेषत्वादष्टादशसंख्योपपत्तिः ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तानष्टादशविधान्विशदयति तेषामिति चतुर्भिः । ऋणादानम् ॥ ऋणं देयमदेयं च येन य- त्र तथाचयत् । दानं ग्रहणधर्मश्च तदृणादानमुच्यते इति नारदोक्तेः ॥ निक्षेपः धनस्यान्यस्मिन्पणं यथा तथा दानं च । यथादायस्तथाग्रह इति वक्षते । अस्वामिविक्रयः । सोऽपि द्विविधः प्रकाशाप्रकाशभेदेन । संभूयसमुत्थानं संहृत्यच समु- त्थानं अदानं प्रदानं वा दत्तस्यानपकर्म च संहृत्यवणिगादीनां क्रयाद्यनुष्ठानं अनपकर्म अपात्रबुद्ध्या क्रोधादिना वा दत्तस्य अपयच्छत्यनेन परस्मै धनमित्यपकर्म दानादि तद्भिन्नमनपकर्म पुनरादानमित्यर्थः ॥ ४ ॥

(५) नन्दनः । अष्टादशविवादपदान्याह तेषामाद्यमिति । तेषां कार्याणाम् । ऋणादानं ऋणस्याप्रदानम् । निक्षेपो-

निक्षेपापहरणम् । अस्वामिना परद्रव्यस्य । विक्रयोस्वामिविक्रयः । बहुभिस्संभूयकर्मकरणं संभूय समुत्थानं दत्तस्यान-
पकर्मदत्तस्याप्रदानम् ॥ ४ ॥

(६) रामचन्द्रः । तेषामष्टादशव्यवहाराणांसंज्ञाआह चतुर्भिः । तेषामष्टादशानामाद्यमृणादानं निक्षेपः अस्वामि-
विक्रयः संभूयच समुत्थानंअनेकैर्मिलित्वा धनाद्युद्यमः अनपकर्माप्रत्यर्पणम् ॥ ४ ॥

वेतनस्यैव चादानंसंविदश्च व्यतिक्रमः ॥ क्रयविक्रयानुशयोविवादः स्वामिपालयोः ॥ ५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संविदोऽनियमस्य । अनुशयः पश्चात्तापः तेन पुनर्ग्रहणप्रयत्नोलक्ष्यते । स्वामिनः पशूनां-
पालकस्य ॥ ५ ॥

(४) राघवानन्दः । वेतनस्य भूतेरादानम् संविदः अस्माभिः एतत्कर्तव्यमेतन्नेति कृतनिकृतनियमस्यातिक्रमोव्य-
वस्थात्यागः । क्रयविक्रयानुशयः तत्कृतेपि तस्मिन्पश्चात्तापात्तदादानपरित्यागौ । स्वामिपालयोः विवादोविप्रतिपत्तिः । प-
शुस्वामितत्पालयोः ॥ ५ ॥

(५) नन्दनः । वेतनंभृतिः । तस्यादानम् । ग्रामनगरादिवासिनांसमयस्संवित् । स्वामिपालयोः पशुस्वामिपा-
लयोः ॥ ५ ॥

(६) रामचन्द्रः । वेतनस्यादानं संविदः समयस्य व्यतिक्रमः क्रयविक्रयस्य वस्तुनोऽनुशयः विवादः स्वामिपाल-
योः ॥ ५ ॥

सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके ॥ स्तेयंच साहसंचैव स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥ ६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सीमायांविवादधर्मः । दण्डवाचिके दण्डकृतवाक्पारुष्यइत्येकम् । स्त्रीसंग्रहणं स्त्रियाः
परपुरुषेण स्वीकारः ॥ ६ ॥

(४) राघवानन्दः । सीमायांविवादस्तस्य धर्मोऽन्यथा निर्णयः । पारुष्ये वाक्पारुष्यमाक्रोशादि दण्डपारुष्यंछेदा-
दि । स्तेयं निन्द्वेन धनग्रहणम् । साहसं सहोबलं तत्कृतंरसस्य धनहरणम् । स्त्रीहरणं स्त्रियाः परपुरुषसंपर्कादि ॥ ६ ॥

(५) नन्दनः । सीमा ग्रामक्षेत्रादिसीमा । पारुष्ये दण्डवाचिके दण्डपारुष्यंवाक्पारुष्यं च परगात्रेषु हस्तादिभिः
कृन्तनादिकं दण्डपारुष्यं । जातिकुलाचारादिनामाक्रोशोवाक्पारुष्यम् । साहसंबलात्कारः । स्त्रीसंग्रहणंपरदारपरामर्शः ॥ ६ ॥

(६) रामचन्द्रः । सीमाविवादः पारुष्यं स्तेयम् साहसं स्त्रीसंग्रहः ॥ ६ ॥

स्त्रीपुं धर्मो विभागश्च द्यूतमाव्हयएव च ॥ पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥ ७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्त्रीपुं धर्माः अन्योन्यवृत्तिनियमस्तयोः । आकृत्यः पशुपक्षयोधनम् । आहवइतिपाठेऽप्य-
यमर्थः । पदानि स्थानानि । व्यवहारस्य विवादस्य । स्थितौ निर्णये ॥ ७ ॥

(४) राघवानन्दः । स्त्रीपुं धर्मः स्त्रीसहितपुंसो धर्मव्यवस्था । विभागः पैतृकादिधनादेः द्यूतं अक्षादिक्रीडा । आ-
व्हयः पणपूर्वकपक्षिमेषादियोधनम् । पदानि स्थानानि विषयाः विचारस्येतिशेषः ॥ ७ ॥

(५) नन्दनः । स्त्रीपुं धर्मोऽदम्पतिभ्यामन्योन्यस्मिन्कर्तव्यो धर्मः । विभागः दायविभागः । आकृत्यं प्राणिद्यूतम् । मेषकु-
क्कुटादियोधनं द्यूतम् । द्यूतमाकृत्यमित्युभयमप्येकव्यवहारास्पदमभिप्रेततयोर्द्वयोर्विजयपराजयफलत्वात् । कारणतोऽभिभे-
दीन स्वरूपइति । तथा चायमेव वक्ष्यति ॥ अप्राणिभिर्म्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते । प्राणिभिःक्रियते यत्तु सविज्ञेयःसमा-
हृतइति ॥ ७ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्त्रीपुंघर्मः विभागे द्यूतं मेषादियुद्धक्रीडा एतानि अष्टादश पदानि स्थानानि व्यवहारस्थितौ पश्येदित्यर्थः ॥ ७ ॥

एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम् ॥ धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यविनिर्णयम् ॥ ८ ॥

(१) मेधातिथिः । भूयिष्ठग्रहणंप्राधान्यख्यापनार्थं अन्येऽपि व्यवहारहेतवः सन्ति यथा निवसनार्थत्वया मे वेश्म दत्तंतत्र किमित्यर्वाग्वत्सरादन्यस्मै ददासीति नचेदंदत्तानपकर्म नस्तत्र स्वत्वनिवृत्तिरस्ति भोगानुज्ञामात्रंवसतः तथा मदी-
यस्थण्डिलाभिमुखंत्वया वेश्मनि गवाक्षंकृतमिति । धर्मंशाश्वतमाश्रित्येति अर्थकामावशाश्वतौ अथवा शाश्वतोधर्मअनि-
दं प्रथमतयाव्यवस्था ताननुपालयेद्यात्विदानींतनयीप्रवर्तिता साऽशाश्वतत्वादनादरणीया ॥ ८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भूयिष्ठप्रायशः तेनान्यान्यपि पदानि भवन्तीत्यर्थः ॥ ८ ॥

(३) कुल्लूकः । एषु ऋणादानादिषु व्यवहारस्थानेषु बाहुल्येन विवादं कुर्वतांमनुष्याणामनादिपारंपर्यागतत्वेन नि-
त्यंधर्ममवलंब्य कार्यनिर्णयंकुर्यात् । भूयिष्ठशब्देनान्यान्यपि विवादपदानि सन्तीति सूचयति तानि च प्रकीर्णकशब्देन
नारदाद्युक्तानि अतएव नारदः ॥ न दृष्टं च पूर्वेषु सर्वतत्स्यात्प्रकीर्णकमिति ॥ ८ ॥

(४) राघवानन्दः । एष्वतीवयत्नंविधत्ते एष्विति । भूयिष्ठं बाहुल्येन विवादं चरतां कुर्वताम् । भूयिष्ठमित्युक्तिरष्टा-
दशातिरिक्तसूचनार्थं तेन प्रतिज्ञादिग्रहः । अनादिपरंपरागतं तेन शाश्वतम् ॥ ८ ॥

(६) रामचन्द्रः । एष्विति ॥ एषुस्थानेषु अष्टादशस्थानेषु भूयिष्ठं अतिशयम् ॥ ८ ॥

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम् ॥ तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसंब्राह्मणंकार्यदर्शने ॥ ९ ॥

(१) मेधातिथिः ॥ अष्टादशपदाभिज्ञं प्राद्विवाकेतिसंज्ञितं । आन्विक्षिक्यां च कुशलं श्रुतिस्मृतिपरायणम् ॥ कुत-
श्चिदतिपादिकार्यान्तरव्यासङ्गादपाट्वाद्वा यदि स्वयंनपश्येत्तदा विद्वान्ब्राह्मणो नियोज्यः । विद्वत्ता च या व्यवहारविषयासा
तदधिकारतएवार्थगृहीता नहि योयन्न जानाति सतत्राधिकारमर्हति । धर्मशास्त्रपरिज्ञानन्तु रागद्वेषदोषेण विपरीतार्था-
वधारणनिवृत्त्यर्थमुपयुज्यते । धर्मज्ञस्तु सतोरपि रागद्वेषयोः शास्त्रभयेन विपर्येत्युपयोगवद्धर्मशास्त्रपरिज्ञानं व्यवहारदर्श-
नन्तु तदर्थगृहीतयेन विना न शक्यते व्यवहारनिर्णयः कर्तुं तद्विज्ञानंतदधिकाराऽऽक्षिप्तम् । यत्तु ज्ञात्वाऽन्यथा क्रियते
तन्निवृत्तिरुपदेशान्तरविषया वक्षति चैवमर्थयत्नान्तरमपि वेदविदस्त्रयः राज्ञश्च प्रकृतोविद्वानिति । शास्त्रान्तरपरिज्ञानन्तु
व्यवहारेऽधिक्रियमाणस्यादृष्टाय स्यात् । नियोज्योविद्वान्स्यादिति पठितव्यम् । नियुञ्ज्यादिति नियुज्जित स्वराज्यतोपसृष्टा-
दिति हि क्रातीयाआत्मनेपदंस्मरंति ॥ ९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वयंनकुर्वीत कारणान्तरवशात् ॥ ९ ॥

(३) कुल्लूकः । यदा कार्यान्तराकुलतया रोगादिना वा राजा स्वयंकार्यदर्शनं न कुर्यात्तदा तददर्शनार्थंकार्यदर्शना-
भिज्ञं ब्राह्मणंनियुज्जीत ॥ ९ ॥

(४) राघवानन्दः । अत्रार्थे स्वयमसमर्थश्चेत्प्रतिनिधिकुर्यादित्याह यदेति । ब्राह्मणमेव नियुञ्ज्यान्नान्यमितिनि-
यमः ॥ ९ ॥

(५) नन्दनः । आपत्कल्पमाह । यदास्वयन्नेति ॥ ९ ॥

(६) रामचन्द्रः । नृपतिर्यदा स्वयं वादिप्रतिवादिनोः कार्यनिर्णयं नकुर्यात्तदा विद्वांसंब्राह्मणं कार्यदर्शने नियु-
ञ्ज्यात् ॥ ९ ॥

सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः ॥ सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थितएव वा ॥ १० ॥

(१) मेधातिथिः । सभ्यैरिति जातिविशेषानुपादानेऽप्युत्तरत्र विग्रहणाद्ब्राह्मणैः सहेति च पूर्वत्र ब्राह्मणग्रहणा-
द्ब्राह्मणाएव विज्ञायन्ते । त्रिग्रहणन्त्वेकद्वयोः प्रतिषेधार्थं त्रिप्रभृतयस्त्वित्यन्तएव साक्षोप्रकरणे चैतद्व्यामः । सभामेव
प्रविश्याग्र्यामिति राजस्थानापत्या सभांप्रविश्य स्थानासनेषु तद्धर्मेषु पुनर्वचनंप्रदर्शनार्थधर्मान्तरनिवृत्त्यर्थं वा तेन राज-
स्थाने नोपविशति ॥ १० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सभ्यैः सभास्थैः अन्यैरपि त्रिभिर्वेदज्ञैः । सभां राज्ञः प्रविश्यैव न बहिरपि ॥ १० ॥

(३) कुहूकः । सभ्राह्मणोऽस्य राज्ञोदृष्टव्यानि कार्याणि त्रिभिर्ब्राह्मणैः सभायां साधुभिर्धार्मिकैः कार्यदर्शनाभि-
ज्ञैर्वृत्तस्तामेव सभांप्रविश्योपविश्य स्थितोवा नतुचक्रम्यमाणः तस्य चित्तव्याक्षेपसंभवत्वात्तादृशक्रुणादानादीनि कार्या-
णि पश्येत् ॥ १० ॥

(४) राघवानन्दः । तस्य प्रतिनिधेः कृत्यप्रकारमाह सोऽस्येति । सभ्यैः सभायांसाधुभिः ब्राह्मणैः । अग्र्यां श्रेष्ठाम् ।
आसीनादि पदद्वयं । गुरुलघुकार्यपरं चक्रमणंप्रत्याचष्टे वा ॥ १० ॥

(६) रामचन्द्रः । सः ब्राह्मणः अस्य राज्ञः समैरेभिस्त्रिभिर्वृतः कार्याणि पश्येत् ॥ १० ॥

यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रावेदविदस्त्रयः ॥ राज्ञश्चाधिकृतोविद्वान्ब्राह्मणस्तांसभांविदुः ॥ ११ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तंसभांप्रविश्य व्यवहारान्पश्येदिति सभाशब्दश्च लोके गृहप्रासादविशेषे वर्तते मयेन निर्मि-
ता दिव्या सभा हेमपरिष्कृतेति क्वचित्पुरुषविशेषसंघटिता सभेति तन्निवृत्त्यर्थं सभायालक्षणमाह । यत्र त्रयोब्राह्मणावेदविदः
सन्निधीयन्ते राज्ञश्चसंबन्धीप्रकृतोधिकृतोविद्वानिति अथवा प्रकृतोन्तरश्लोके सन्निहितः । सेह सभाभिप्रेता । ब्रह्मग्रहणं-
स्तुत्यर्थम् । यथा ब्रह्मणः सभा निरवद्यैवेयमपीति ॥ ११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । त्रयोवेदविदोवेदार्थविदः एकैकवेदस्यैकैकेनाध्ययनात् । प्रकृतोधिकृतः । सभां निर्णययो-
ग्याम् ॥ ११ ॥

(३) कुहूकः । यस्मिन्स्थाने ऋग्यजुःसामवेदिनस्त्रयोपि ब्राह्मणा अवतिष्ठन्ते राज्ञाधिकृतश्च विद्वान्ब्राह्मणएव प्रकृ-
तत्वादवतिष्ठते तांसभांचतुर्मुखसभा मेव मन्यते ॥ ११ ॥

(४) राघवानन्दः । सभामित्युक्तंतल्लक्षणमाह यस्मिन्निति । वेदविदः ऋग्यजुःसामविदः । राज्ञाऽधिकृतः प्राङ्नि-
वाकः । एतांस्तौति ब्रह्मण इति प्रजापतेः । तादृशीं विदुर्मन्वादयः ॥ ११ ॥

(५) नन्दनः । सभालक्षणमाह यस्मिन्देश इति ॥ ११ ॥

(६) रामचन्द्रः । सभास्वरूपमाह यस्मिन्निति । यस्मिन्देशे स्थाने त्रयोविप्राः निषीदन्ति उपविशंतीत्यर्थः ।
राज्ञः संमताराज्ञः स्वभावानुकारी ॥ ११ ॥

धर्मोविद्वत्स्वधर्मेण सभांयत्रोपतिष्ठते ॥ शल्यंचास्य नरुन्तन्ति विद्वान्स्तत्र सभासदः ॥ १२ ॥

(१२) नरुन्तन्तिविद्वान्स्तत्रसभासदः = निरुन्तन्तिविद्वांसोत्रसभासदः (ग)

(२) सर्वज्ञनारायणः । धर्मः सत्यरूपः विद्वद्गृहीतभेदः । अवर्मेण असत्येन । तच्छल्यमसत्यम् । न कृन्तन्ति न छिन्दन्ति । विद्धाः पापविद्धाः ॥ १२ ॥

(३) कुल्लूकः । भाः प्रकाशः तथा सहवर्तत इति विद्वत्संहतिरेवात्र सभाशब्देनाभिमतः । यत्र देशे सभाविद्वत्संहतिरूपा धर्मः सत्याभिधानजन्योऽनृताभिधानजन्येनाधर्मेण पीडित आगच्छति । अर्थिप्रत्यर्थिनोर्मध्य एकस्य सत्याभिधानादपरस्य मृषावादात्ते च सभासदोऽस्य धर्मस्य पीडाकरत्वाच्छल्यमिवाधर्मनोद्धरन्ति तदा त एव तेनाधर्मशल्येन विद्धा भवन्ति ॥ १२ ॥

(४) राघवानन्दः । अप्रमत्तैः सभा प्रवेष्टव्येति विधास्यन्नाह धर्म इति । भा प्रकाशः कृताकृतप्रकाशकविद्वत्संगतिरूपा तथा सह वर्तमाना सभा । अतो यत्र देशे सत्याभिधानजः प्रकाशरूपो धर्मः अनृतप्रच्छादकतमोरूपाऽधर्मेण विद्धोऽभिभूतः सन् तादृशीं सभां उपतिष्ठते धर्मः । अत एव शल्यं शल्यमिवाधर्मं दुःखसामग्रीत्वात् धर्मस्य शल्यमिति वा तं न कृन्तन्ति नोद्धरन्ति । अतस्तेन सभासद एव विद्धास्तत्पापयुक्ता एवेति ॥ १२ ॥

(५) नन्दनः । असम्यग्व्यवहारदर्शने सभ्यानां दोषमाह धर्मेति । यत्र देशेऽधर्मेण विद्धो निपीडितो धर्मस्तत्परिहारार्थं सभां सभ्यानुपतिष्ठन्ति न कृन्तन्ति न निर्हरन्ति चेत्तत्र देशे स्थिताः सभासदो निन्द्या भवन्ति ॥ १२ ॥

(६) रामचन्द्रः । अस्य कार्यार्थिनः शल्यं शल्यरूपं दुःखं न कृन्तन्ति न छिन्दन्ति तत्र सभासदो विद्धा भवन्ति पापेन युक्ता भवन्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ॥ अनुब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषी ॥ १३ ॥

(१) मेधातिथिः । अनेनार्थेन द्वयं विप्रतिषिध्यते प्रतिपन्नाधिकारेण मिथ्यादर्शनं न कर्तव्यमन्येन च क्रियमाणं नोपेक्षणीयं तत्रोभयथा दोषः । अनुब्रुवन्नन्येन विपरीतेनुष्ठीयमाने तूष्णीमासीनो हस्तक्षेपेण वा शास्त्रान्याविरुद्धं ब्रुवन् किल्बिषी पापभाग्भवति तेन नैषा प्रत्याशा कर्तव्या द्वितीयः प्राङ्निवाको मिथ्यापश्यति स एव योजयत्यहं तूष्णीभूत उदासीनः किमित्यनेसा योक्ष्य इति सभाप्रवेशनिषेधेन चात्र व्यवहारदर्शनाधिकारप्रतिपत्तिः प्रतिषिध्यते । सभा वा न प्रवेष्टव्येति व्यवहारदर्शनाधिकारो न प्रतिपादनीय इत्यर्थः । प्रतिपन्नश्चेत्समञ्जसं वक्तव्यं अनेन त्वनधिकृतस्यापि यदृच्छया सन्निहितस्य मिथ्यापश्यत्सु सभ्येषु विदुषस्तूष्णीं भावं नेच्छन्ति तथा च नियुक्तो वा नियुक्तो वा धर्मज्ञो वक्तुमर्हति अथ राजपुरुषपर्यनुयोग आशङ्क्यते किमित्यनधिकृतो ब्रवीति ततश्च तत्प्रदेशादपसर्तव्यं तदिदमुक्तं दुर्बलं हि सायां चाविमोचने शक्तश्चेदिति ॥ १३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विब्रुवन् विपरीतं ब्रुवन् ॥ १३ ॥

(३) कुल्लूकः । यत एवमतः सभामिति सभामवगम्य व्यवहारार्थं तत्प्रवेशेन कर्तव्यः पृष्टश्चेत्तदा सत्यमेव वक्तव्यम् । अन्यथा तूष्णीमवतिष्ठमानो मृषा वा ब्रुवन् भयथापि सद्यः पापी भवति । मेधातिथिना तु सभावानप्रवेष्टव्या इति ऋग्वेदपठितम् ॥ १३ ॥

(४) राघवानन्दः । एवं सभामिति । ज्ञात्वा न प्रवेष्टव्यं दैवात्प्रविष्टेन समञ्जसमेव वक्तव्यम् । न प्रवेष्टव्या सभावे-

* एव=एव अस्य (राघ० ४) पापी=पापी भवत्येव (राघ० ४) (१) नियुक्तो वा=पिमुक्तो वा=(आ आ)

(१३) सभां वा न प्रवेष्टव्यम् = सभावानप्रवेष्टव्या (ट, ठ, ड, थ, भ, र, न, य,)

= सभायां न प्रवेष्टव्यम् (त)

ति षाठ्यमेधातिथेः । अनुवन् लोभादिनाज्ञात्वानजानामीति तूष्णींवातिष्ठेत् । विब्रुवन् श्रुतदृष्टादन्यथानुवन् । किल्बिषीपापी ॥ १३ ॥

(५) नन्दनः । सभायामधिकृतो न भवेद्वा अधिकृतश्चेद्वक्तव्यः समञ्जसंन्याय्यम् । विब्रुवन् असमञ्जसंनुवन् ॥ १३ ॥

(६) रामचन्द्रः । सभेति । समञ्जसंसद्वर्मानुकूलं अनुवन्मौनं कुर्वन् विब्रुवन् अथ विरुद्धंनुवन् नरः किल्बिषी भवति ॥ १३ ॥

यत्र धर्मोऽथ धर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ॥ हन्यते प्रेक्ष्यमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ १४ ॥

(१) मेधातिथिः । धर्मशास्त्रन्यायदेशनियता व्यवस्था सा वेदधर्मेण तद्यतिक्रमरूपेण हन्यते विनाश्यतेऽर्थिना प्रत्यर्थिना तथा सत्यमनृतेन साक्षिभिर्हन्यते प्राड्विवाकादयश्च प्रेक्षंते न तत्त्वमुद्धरन्ति ततस्ते हताः शवतुल्या भवन्तीति न्यते तस्मान्नार्थिप्रत्यर्थिनौ विपरीतमाचरन्तौ सभासद्विरुद्धेभ्यः । साक्षिणश्च धर्माधर्मग्रहणे न सत्यानृतग्रहणेन वा सिद्धं श्लोकपूरणमुभयोरुपादानमतो विषयभेदेन व्याख्यातम् ॥ १४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यतएव सत्यमनृतेन हन्यतेऽतएव धर्मोऽधर्मरूपेण तत्र हन्यते ॥ १४ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्यां सभायामर्थिप्रत्यर्थिभ्यामधर्मेण धर्मो नाश्यते यत्र च साक्षिभिः सत्यमनृतेन नाश्यते । सभासदप्रेक्षमाणानां ताननादृत्य तेषां प्रतीकारक्षमान भवन्तीत्यर्थः । षष्ठीचानादरइत्यनेन षष्ठी । तत्र तएव सभासदस्तेन पापेन हता भवन्ति ॥ १४ ॥

(४) राघवानन्दः । सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मवदतीति श्रुतिमाश्रित्य धर्मपदं त्वकारणं सत्यं लक्षयतीति स्पष्टयन् धर्मरक्षणं सार्थवादं विधत्ते यत्रेति चतुर्भिः । अर्थिप्रत्यर्थिभ्यामधर्मेण धर्मो नाश्यते यत्र वा सत्यं साक्षिभिरनृतेन नाश्यत इति प्रेक्षमाणानां षष्ठीचानादरइति षष्ठी । तान् प्रतीकाराक्षमान् अनादृत्येत्यर्थः । तेन पापेन हताः हतप्रायाः ॥ १४ ॥

(५) नन्दनः । कैश्चित्सभ्यैर्द्धर्मे हन्यमाने केषांचित्सभ्यानामुपेक्षमाणानां दोषमाह यत्र धर्मो हीति यत्र हन्यते कैश्चित्सभासद्विधर्मेण पीड्यते प्रेक्षमाणानां केषांचित्सभासदामनादरे षष्ठी प्रेक्षमाणास्ते सभासदो हताः स्युः ॥ १४ ॥

(६) रामचन्द्रः । किंप्रेक्ष्यमाणानां पापदर्शनां पश्यतां अधर्मेण धर्मः हन्यते तत्र सभासदः हताज्ञेयाः ॥ १४ ॥

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ॥ तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानो धर्मो हतो वधीत् ॥ १५ ॥

(१) मेधातिथिः । न भयादन्यथा दर्शने कर्तव्यं यतो धर्मो व्यतिक्रान्तः स न हन्ति नो र्थतत्सहायो राजा वा तथा धर्म एव पालितः सर्वतोभयमपनुदति नापकर्तुमिथ्यारयः क्रुद्धाः शक्नुवन्ति तस्मादेवं जानानः सुखदुःखे धर्माधीने इति धर्मो न हन्तव्यः यदि वयं धर्महन्मस्तदा सोऽस्मान्सर्प इव रोषितः प्रतिहन्तीत्यतो धर्मो हतः सन्मास्मान्वधीदित्यात्मपरित्राणार्थं धर्मो रक्षितव्यः ॥ १५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । हतो हन्यमानः । मावधीदिति पूरणीयम् ॥ १५ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्माद्धर्म एवातिक्रान्त इष्टानिष्टाभ्यां सह नाशयति नार्थिप्रत्यर्थ्यादिः । स एव नातिक्रान्तस्ताभ्यां सह रक्षति तस्माद्धर्मो नातिक्रमणीयः माऽस्मान् त्वत्सहितानतिक्रान्तो धर्मो वधीदिति सभ्यानामुत्पथप्रवृत्तस्य प्राड्विवाकस्य संबोधनमिदम् अथवा नो निषेधेऽव्ययं नो हतो धर्मो मावधीत् न हन्त्येवेत्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

(४) राघवानन्दः । धर्मस्य हननाद्रक्षणमेव पथ्यमित्याह धर्म इति । धर्मो न हन्तव्योऽस्माभिः यतः नः अस्मान्

हतः अधर्मेणप्रतिबद्धः मावधीत् मार्हेस्यादित्यन्वयः । अन्यथा धर्मस्य हननाभावाद्धतोवा कथं हन्यादिति भावः ॥ १५ ॥
 (५) नन्दनः । कथं धर्मे हन्यमाने सभासदोहन्यन्तइत्याह धर्मएवहतइति यैर्धर्मोहतस्तान्धर्मोहन्त्येव । हेमहर्षयः
 मानोस्वान्धर्मोवधीत् ॥ १५ ॥

(६) रामचन्द्रः । धर्मएव पुरुषंहन्ति । हतो धर्मः नः अस्माकमवधीत् ॥ १५ ॥

वृषोहि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ॥ वृषलंतंविदुर्देवास्तस्माद्धर्मं लोपयेत् ॥ १६ ॥

(१) मेधातिथिः । वृषलशब्दनिर्वचनेन मिथ्यावादीनिन्द्यते न जातिवृषलोवृषलः किंतिहं योवृषस्य कामवर्षणो-
 धर्मस्यालंकुरुते निवृत्तिवचनोलंशब्दः सवृषलइत्येतमर्थं देवाः प्रतिपन्नाः मनुष्यास्तु यदि जातिशब्देन मन्यन्ते काममन्य-
 न्ताप्रमाणतरास्तु देवास्ते चानेन प्रवृत्तिनिमित्तेन वृषलशब्दप्रयोगमन्यन्ते देवग्रहणमर्थवादः । तस्माच्छब्दकाले वृषलैर्न प्रवेष्ट-
 व्यंहन्तव्योवृषलश्चौरइत्याद्यासु क्रियासु मिथ्यादर्शा ब्राह्मणएव वृषलशब्देन ग्रहीतव्यइति अतोवृषलत्वंमा प्रापमिति ध-
 र्मलोपयेन्ननाशयेदिति वृषलत्वाभ्यारोपोनिन्दा ॥ १६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वृषो धर्मइष्टार्थवर्षणात् । अलं व्यर्थत्वं निषेधवा । वृषलंतंविदुरतः सोपि शूद्रादिवृषलव-
 निन्द्यः ॥ १६ ॥

(३) कुङ्कुमः । कामान्वर्षतीति वृषः वृषशब्देन धर्मएवाभिधीयतइति । अलंशब्दोवारणार्थः यस्माद्धर्मस्य योवा-
 रणं करोति तदेवावृषलं जानन्ति न जातिवृषलम् । तस्माद्धर्मनोच्छिद्यादिति धर्मव्यतिक्रमखण्डनार्थं वृषलशब्दार्थनिर्वचन-
 म् ॥ १६ ॥

(४) राघवानन्दः । धर्मस्यारक्षणे किंस्यातत्राह वृषेति । वृषः प्रवर्षत्यर्थकाममोक्षानिति । अलंशब्दोवारणार्थः ।
 तेन धर्मस्य वारणात्तंवृषलं शूद्रं गवाशिचण्डालंवा विद्यादित्यन्वयः ॥ १६ ॥

(५) नन्दनः । सम्यग्व्यवहारदर्शनां शूद्रसमत्वं वृषलशब्दनिर्वचनेनाह वृषोहि भगवानिति । हि हेतौ तस्माद्धर्मलो-
 पयेदिति ॥ १६ ॥

(६) रामचन्द्रः । तस्य धर्मस्य यः अलं निवारणं लोपम् ॥ १६ ॥

एकएव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ॥ शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्वि गच्छति ॥ १७ ॥

(१) मेधातिथिः । भयाद्धर्मातिक्रमो न कर्तव्यइत्येतद्धर्मएव हतोहन्तीत्यनेनोपदिष्टस्नेहतोन कर्तव्यइत्यनेनोप-
 दिश्यते यतएकः सुहृद्धर्मस्तत्र स्नेहो भावनीयः अन्योहि मनुष्यः सुहृत्कार्यमपेक्ष्य जहाति जीवनं योपि स्यादित्यन्तमि-
 त्तस्यापि सौहार्दमनिधनात् । धर्मस्तु मृतमपि पुरुषमन्वेत्यतो न सुहृदपेक्षया मिथ्यादर्शननुपेक्षाकर्तव्या ॥ भार्यापुत्रोमि-
 त्तमर्थश्चरिक्थनस्येन्त्यंते देहनाशेन रस्य । धर्मस्त्वेको नैनमुज्झत्यजसंतस्माज्ज्ञात्पुत्रदारान्धर्मम् ॥ यदन्यद्धर्माद्भार्यादि त-
 त्सर्वशरीरेण सह नाशंगच्छति धर्मादन्योमृतं परित्रातुं कश्चित्समर्थइत्यर्थः । सुहृद्भान्धवानुरोधादपि धर्मो न हातव्यः ॥ १७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनुयाति नत्यजति ॥ १७ ॥

(३) कुङ्कुमः । धर्मएवैकोमित्रयोमरणेऽप्यभीष्टफलदानार्थमनुगच्छति यस्मादन्यत्सर्वभार्यापुत्रादिशरीरेणैव सहा-
 दर्शनंगच्छति तस्मात्पुत्रादिलेहापेक्षयापि धर्मो न हातव्यः ॥ १७ ॥

* वादी=दर्शी (आआ)

(४) राघवानन्दः । अहोसर्वप्रयत्नेनधर्मोक्षणीयइत्याह एकइति । सुहृत् प्रत्युपकारंनोपेक्षनेऽथवोपकरोति अतएव ज्ञायते । धर्मोऽनित्यः सुखदुःखेऽनित्ये इति ॥ अहोऽकष्टंयेदेतादृशंधर्मजनानपालयन्तीत्याह शरीरेणेति स्थूलेन । प्रत्यक्षंक्षेतत्सर्वधनजायादि तदुक्तम् ॥ भार्यापुत्रोभिन्नमर्थाविचित्रानश्यन्त्येतदेहनाशेनरस्य । धर्मस्त्वेकोनैनमुदक्षत्यज-
संतस्माज्जज्ञात्पुत्रदारंनधर्ममिति ॥ १७ ॥

(५) नन्दनः । कुतश्च धर्मनलोपयेदित्याह एकएवेति । अनुयाति कर्तारंरक्षति । यद्यमादिति यावत् । अन्यत्पुत्र-
मित्रादिकर्म । हिशब्दोहेतौ तस्मान्नलोपयेदिति ॥ १७ ॥

(६) रामचन्द्रः । एकएव धर्मःसुहृद्रूपः यः निधने मरणे अति नुयाति अनुपश्चाद्वच्छति । अन्यत्तु सर्वं शरीरेण
समं नाशं गच्छति ॥ १७ ॥

पादोधर्मस्य कर्तारं पादः साक्षिणमृच्छति ॥ पादः सभासदः सर्वान्पादोराजानमृच्छति ॥ १८ ॥

(१) मेधातिथिः । नचैषा मनीषा कर्तव्यार्थिना प्रत्यर्थिना वान्यतरस्य भूम्याद्यपङ्गीयते सएव भूम्यपहारदो-
षभागभविष्यति वयन्तु तदकारिणः किमितिदोषवन्तःस्यामोयतस्तस्यायंचतुर्धा विभज्यते अर्थवादश्चायं नह्यन्यरुतस्यै-
नसोन्यत्र गमनमस्ति तेषामपि मिथ्यादर्शननिषेधादुत्पद्यते पापमिथ्यालंबनं राज्ञःस्वयमपश्यतोऽप्यधिकृतराजस्थानीयादि-
दोषाद्दोषवत्त्वं यदि राजाधिकृतोमिथ्याचरितेन ज्ञापितः पराजितंदुष्टंनगृह्णीते नचपुनःसम्यङ्निर्णयंकरोति ततः सोपि
पापभागभवति । अधिकृतोपलक्षणार्थंवा राजग्रहणं यदा राजा स्वयमिथ्या पश्यति तदा दुष्यति यदा राजस्थानीयस्तदा
तस्य दोषइत्यर्थः ॥ १८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अधर्मस्य कृतस्य पादोयावताभवतितावद्भागः कर्तारमिथ्याशास्त्रिमृच्छति याति । एव-
मुत्तरत्र ॥ १८ ॥

(३) कुल्लूकः । दुर्व्यवहारदर्शनादधर्मसंबन्धीचतुर्थभागोऽर्थिनमधर्मकर्तारंप्रत्यर्थिनंवा गच्छति परश्चतुर्थभागः
साक्षिणमसत्यवादिनम् । अन्यपादः सभासदः सर्वानधर्मप्रवृत्त्यनिवारकान्व्यामोति । पादश्च राजानं ब्रजति सर्वेषांपाप-
संबन्धोभवतीत्यत्र विवक्षितम् ॥ १८ ॥

(४) राघवानन्दः । वृषपदसूचितधर्मप्रतियोगितयाऽधर्मस्यापि चतुष्पात्त्वंप्रकटयन् तत्कार्यमाह पादइति । सभां-
गच्छन्ति क्वचित्तत्रैवाधर्मेणावसीदन्तीतिवा सभासदः । सभापूर्वसदेरूपम् ॥ १८ ॥

(५) नन्दनः । सम्यग्व्यवहारादर्शने पररुतस्याधर्मस्यांशभागिनआह पादोधर्मस्य कर्तारमिति ॥ १८ ॥

राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्तेच सभासदः ॥ एनोगच्छति कर्तारंनिन्दाहोयत्र निन्द्यते ॥ १९ ॥

(१) मेधातिथिः । एषएवार्थोविपर्ययेणोच्यते यत्र दोषवान् दोषंगोपयितुं न लभते प्रकटीक्रियते तदीयोदोषस्तत्र
सर्वसाधुसंपद्यतइति । यत्र धर्मइत्यतआरभ्य मिथ्यादर्शनोपेक्षणप्रतिषेधार्थंनिन्दाप्रशंसाभ्यां शुभाशुभफलदर्शनार्थाअर्थ-
वादाः ॥ १९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मुच्यन्तेचेति चकारात्साक्षिणोपि ॥ १९ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्यां पुनः सभायामसत्यवादी निन्दाहोऽर्थीप्रत्यर्थीवा सम्यक्न्यायदर्शनेन निन्द्यते तत्र राजा
निष्पापोभवति । सभासदश्च पापेन न संबध्यन्ते । अर्थ्यादिकमेव कर्तारंपापमुपैति ॥ १९ ॥

(१९) एनोगच्छतिकर्तारम्=पादोधर्मस्यकर्तारम् (य)

(४) राघवानन्दः । तत्प्रतीकारमाह राजेति । निन्द्यते राजसभासदैर्यस्तन्निन्दनमेव तेषामायश्चित्तम् । राजा अनेनाः पापान्मुक्तः । राजेतिसाक्षिसभासदानामुपलक्षणम् । एनः पापं कर्तर्येव स्यादिति भावः ॥ १९ ॥

(५) नन्दनः । तत्रायंपरिहारइत्याह राजेति । येमुच्यन्ते एनसा यत्र सभायाम् ॥ १९ ॥

(६) रामचन्द्रः । न एनः यस्यास्तीअनेनाः राजा भवति । नयार्थः यत्र निन्द्यते ॥ १९ ॥

जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद्ब्राह्मणब्रुवः ॥ धर्मप्रवक्ता नृपतेर्नतु शूद्रः कथंचन ॥ २० ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तब्राह्मणैः सह धर्मनिर्णयंकुर्यान्निभिश्च मन्त्रज्ञैः तत्र मन्त्रिणाञ्जातेरविशेषितत्वाच्छूद्रा अपि सभांप्रविष्टमन्त्रित्वादनुज्ञातव्यवहारनिर्णयास्तद्गतांधर्मव्यवस्थांकथंचित्संस्कृतबुद्धयुः न च सर्वत्र व्यवहारं कृतबुद्धयो-
ब्रूयुः न च सर्वत्र व्यवहारे स्मृतिशास्त्रपरिज्ञानमुपयुज्यते येन तदभावादर्थलुप्तत्वादनर्थकः शूद्रप्रतिषेधआशङ्क्येत तथा हि जयपराजयकारणानिलौकिकप्रमाणवेद्यान्येव साक्ष्यादीनि अयंसाक्षी धार्मिकोनचैतस्य केन चित्संबन्धेन संबन्धी अयंत्वसाक्ष्यसकृद्व्यभिचारत्वादित्येवमादि शक्यते व्युत्पन्नबुद्धिना स्वयमुपेक्षितुं न स्मृतिशास्त्रैकगोचरः अतः प्राप्-
तस्य प्रतिषेधोयं न च मन्त्रित्वे पुरोहितवजातिनियमः तथाहि तैः सार्धंचिन्तयेदित्युक्ता ततोब्राह्मणेन सह चिन्तयेदिति तेनायमर्थोयद्यपि कथंचिच्छूद्रोन्यायलेशांशमधिगच्छेत्तथापि राजाधिकरणे विवदतोमन्त्रिनिग्रहाधिकृतोवा न किंचित्प्रब्रू-
यात् । पूर्वश्लोकार्थप्रतिषेधः शेषतया व्याख्येयः । नहि जातिमात्रोपजीविनोवैदुष्यादिगुणरहितस्य धर्मप्रवक्तृत्वनिर्णयः-
शक्योवक्तुं तस्यैव रूपपरीक्षायां तस्माद्विषंभक्षयमाचौस्यगृहेभुक्त्वाइतिवत्प्रतिषेधशेषभूतमिदमनुज्ञानं पुनरनुज्ञानमेव अ-
तएव काममित्याह कामशब्दप्रयोगे विधित्वंव्याह्रन्यते । अन्ये तु ब्रुवते । ब्राह्मणस्य प्रवक्तृत्वविधानात्तदा नियोज्योवि-
द्वान्स्याद्ब्राह्मणइति क्षत्रियादयस्तत्रापि वर्णानिषिद्धास्तत्रेह पुनः शूद्रप्रतिषेधोविद्वद्ब्राह्मणाभावे क्षत्रियवैश्ययोरभ्यनुज्ञाना-
र्थइति शेषसमानं जातिमात्रमुपजीवतीति मात्रशब्दोवधारणे ब्राह्मणजातिमेव केवलमुपाश्रित्य जीवति नाध्ययनादीनु-
गविशेषान्निर्गुणत्वात् । ब्रुवशब्दः कुत्सायां ॥ २० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । जातिमात्रोपजीवी जात्याब्राह्मणः संस्काररहितः स एव संस्कृतोऽनध्येता ब्राह्मणब्रुवः । नतुशूद्रइति ब्राह्मणब्रुवस्याप्यसंभवे क्षत्रियवैश्यावपि स्यातामित्येतदर्थम् ॥ २० ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणजातिमात्रं यस्य विद्यते नतु ब्राह्मणकर्मानुष्ठानं वणिगादिवत्साक्ष्यादिद्वारेण स्फुटन्यायान्या-
यनिरूपणक्षमोब्राह्मणजातिरपि वा यस्य संदिग्धार्थानांब्राह्मणं ब्रवीति सवरं उक्तयोग्यब्राह्मणाभावे च क्वचित्कार्यदर्शने
नृपतेर्भवेन्नतु धार्मिकोपि व्यवहारज्ञोपि शूद्रः । ब्राह्मणो धर्मप्रवक्तेति विधानादेव शूद्रनिवृत्तिः सिद्धा पुनर्नतु शूद्रइति शू-
द्रनिषेधोयोग्यब्राह्मणाभावे क्षत्रियवैश्ययोरभ्यनुज्ञानार्थः अतएवकात्यायनः ॥ यत्रविप्रो न विद्वान्स्थात्क्षत्रियंतत्र योजये-
त् । वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत् ॥ २० ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तगुणवद्विप्राभावे तादृक् शूद्रोपि सभ्यः स्यादिति मन्वानं सार्थवादं प्रत्याह जातीतिद्वि-
भ्याम् ॥ ब्राह्मणोयत्र न स्यात्तु क्षत्रियंतत्र योजयेत् । वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत् इति कात्यायनोक्तेः ॥ जा-

१ नचैतस्य=नाध्ययनवान्ननचैतस्य (आ आ) २ चा=ण (आ आ)

३ कथा=क्ता (आ आ) * यस्यसंदिग्धार्थानाम्=यंसंदिग्धात्मा (अ)

तिमात्रोपजीवी जात्या ब्राह्मणोननुकर्मणा । जातिसंदेहेऽपि ब्राह्मणोऽहमिति ब्रवीतीति ब्राह्मणब्रुवः । सोऽपि धर्मप्रवक्ता अनेन जितमनेन नेति विचारकः ॥ २० ॥

(५) नन्दनः । एवतावद्व्यवहारदर्शने ब्राह्मणस्याधिकारित्वंतस्यासम्यग्दर्शने दोषश्च प्रतिपादितः इदानींब्राह्मणाभावे क्षत्रियादयोव्यवहारदर्शनेऽधिकर्तव्याइतिचेत्तत्राह जातिमात्रोपजीवीविति । कथञ्चन आपद्यपि । शूद्रस्यैव निषेधात्क्षत्रियवैश्ययोरापद्यनुज्ञा गम्यते ॥ २० ॥

(६) रामचन्द्रः । नृपतेर्धर्मप्रवक्ता जातिमात्रोपजीवी संस्काररहितः ब्राह्मणः कामं अतिशयेन स्यात् । ब्राह्मणब्रुवः संस्कारसहितोवा धर्मप्रवक्ता स्यात् । नतु शूद्रः कथञ्चन ॥ २० ॥

यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञोर्धर्मविवेचनम् ॥ तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पङ्केगौरिव पश्यतः ॥ २१ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वविधिशेषोयमर्थवादः । यस्य राज्ञः शूद्रोर्धर्मविवेचनं धर्मनिर्णयंकरोति तस्य सीदति नश्यति राष्ट्रप्रजाः कर्दमे गौरिव ‡ ॥ २१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पश्यतोराज्ञः ॥ २१ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मात् यस्येत्यादि यस्य राज्ञोर्धर्मविवेचनंशूद्रः कुरुते तस्य पश्यतएवपङ्केगौरिव तद्राष्ट्रमवसन्नंभवति ॥ २१ ॥

(४) राघवानन्दः । शूद्रकृते विचारे दृष्टदोषमाह यस्येति । पश्यतोराज्ञः रक्षकस्यापीत्यनादरे षष्ठी । तृणाद्यलाभेन यथा पङ्कस्था गौः सीदत्येवं शूद्रविचारजधर्मेण राज्यंनश्यतीतिभावः ॥ २१ ॥

(५) नन्दनः । शूद्राधिकारे कोनर्थइति चेत्तत्राह यस्य शूद्रःप्रकुरुतइति ॥ २१ ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्य राज्ञः धर्मप्रवचनं धर्मनिर्णयं शूद्रः कुरुते ॥ २१ ॥

यद्राष्ट्रंशूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्तमद्विजम् ॥ विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम् ॥ २२ ॥

(१) मेधातिथिः । अयमपि पूर्ववदर्थवादएव । प्रकरणाच्च शूद्रभूयिष्ठता विवादनिर्णये तु शूद्रविषया द्रष्टव्या यत्र शूद्राभूयांसोविवादनिर्णयकारास्तद्राष्ट्रमाशु विनश्यति दुर्भिक्षव्याधिपीडाभिः राष्ट्रनाशेच राष्ट्रपतेर्नाशइत्युक्तंभवति । नास्तिकाक्रान्तमिति दृष्टान्तः यथा नास्तिकैः परलोकापवादिभिर्लोकयतिकार्थैराक्रान्तमधिष्ठितमद्विजं नहि नास्तिकानांब्राह्मणादिभेदोयथार्थः संकीर्णत्वात् तदुक्तं वैद्यवणिग्न्यपदेशादिवद्ब्राह्मणादयः यत्र वा धर्मसंकटे तु न द्विजा प्रमाणीक्रीयन्ते तदद्विजम् ॥ २२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शूद्रभूयिष्ठमित्यादि त्रयं पृथक् पृथक् ॥ २२ ॥

(३) कुल्लूकः । यद्राष्ट्रंशूद्रबहुलंबहुलपरलोकाभाववाद्याक्रान्तंद्विजशून्यंतत्सर्वदुर्भिक्षरोगपीडितंतच्छीघ्रंविनश्यति अथौ प्रास्ताहुतिःसम्यगित्यस्याभावेन वृष्टिविरहात् । उपजातदुर्भिक्षरोगाद्युपसर्गशांत्यर्थकर्मभावाच्च ॥ २२ ॥

(४) राघवानन्दः । अत्रैव प्रासंगिकमाह यदिति । अद्विजं द्विजशून्यम् । शूद्रबाहुल्यतोऽपि यदि नास्तिकास्तैराक्रान्तं तथापि नश्यतीत्यन्वयः ॥ २२ ॥

(५) नन्दनः । न केवलंव्यवहारदर्शनएव । शूद्राधिकाराद्राष्ट्रावसादः किन्तुअन्यत्रापि तदधिकारप्राधान्यादिति-
प्रसङ्गादाह यद्राष्ट्रमिति । शूद्रभूयिष्ठंशूद्राधिकारप्रधानंअतएव नास्तिकाक्रान्तमतएवाद्विजम् ॥ २२ ॥

धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः ॥ प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत् ॥ २३ ॥

(१) मेधातिथिः । धर्मप्रधानंयस्मिन्नासनंभवति तद्धर्मासनं राजासने हि राज्यस्थित्यानुगुण्येनार्थमेव प्रधानीक-
रोति न्यक्त्यापि धर्मं व्यवहारनिर्णये तु धर्ममेव प्रधानंश्रेयैइत्यर्थोऽन पुनरासनधर्मोनेन ज्ञाप्यते । संवीताङ्गः वस्त्रादिना
स्थगितशरीरः प्रणम्य लोकपालेभ्यश्चन्द्राद्यष्टौ लोकपालास्तान्मस्कृत्य कार्यदर्शनमारभेतेत्यदृष्टार्थमेतद्वयं अङ्गसंवरणं
लोकपालप्रणामश्च । समाहितः अनन्यचित्तः कार्यदर्शने एवहिदृष्टार्थंभवति । प्रणामविशेषणंवा समाहितग्रहणंयद्यप्यत्र
किंचिदुक्तमेव प्रतिभाति तथापि पद्यग्रन्थत्वान्नातीवपौनरुक्त्यम् । लोकपालेभ्य इति चतुर्थीसंप्रदाने कथंक्रियाग्रहणंसंप्रदा-
नसूत्रेचोदितंश्राद्धार्थं निगृह्यते पत्येशेतइत्याद्यर्थं नचक्रियाग्रहणंगृह्णात्यादिविषयमेव भाष्येऽनुक्तत्वात् ॥ २३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धर्मार्थमासनं धर्मासनम् ॥ २३ ॥

(३) कुल्लूकः । धर्मदर्शनार्थमासनउपविश्याऽऽच्छादितदेहोऽनन्यमनालोकपालेभ्यः प्रणामं कृत्वा कार्यदर्शनमनुति-
ष्ठेत् ॥ २३ ॥

(४) राघवानन्दः । सभारूढः कथं व्यवहरेदित्याह धर्मेतिद्वाभ्याम् । धर्मासनं धर्मादिनिर्णयार्थमास्यतेऽत्रेति
सभा तां आसीनःसंस्थितइयुक्तत्वात् । समाहितोऽनन्यमनाः । कार्यमुक्ताष्टादशाख्यं तस्य दर्शनं विचारः ॥ २३ ॥

(५) नन्दनः । इदानींव्यवहारदर्शना राज्ञा कर्तव्यमाह धर्मासनमधिष्ठायेति । उत्तरीयेण संवीताङ्गः ॥ २३ ॥

(६) रामचन्द्रः । संवीताङ्गःसंकुचिकीभवत्येव ॥ २३ ॥

अर्थानर्थावुभौ बुध्वा धर्माधर्मौ च केवलौ ॥ वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि

कार्यिणाम् ॥ २४ ॥

(१) मेधातिथिः । धर्माधर्मावेव केवलावर्थानर्थौ न गोहिरण्यादिलाभोर्थस्तद्विपर्ययोवानर्थः किंतिहि धर्मएवार्थो-
ऽनर्थश्चाधर्मइति बुद्ध्वा त्वदि निश्चित्यकार्याणि पश्येत् अथवार्थानर्थावपि शोध्यौ धर्मावपि धर्मस्य सारता बोद्धव्यार्थस्य
फल्गुता । अथवा यत्र माहाननर्थः स्वल्पश्चाधर्मस्तत्रानर्थं परिहरेत् । शक्योहिमहतार्थेनेषदधर्मोदानप्रायश्चित्तादिना
निराकर्तुम् । सन्निपाते च व्यवहारिणांबहूनांवर्णक्रमआश्रयितव्यः एषच दर्शने क्रमोवर्णानां यदार्थं तुल्यपीडाभवन्ति
यदा त्ववरवर्णस्याप्यात्यायिकंकार्यमहद्वा तदा यस्य चात्ययिकापीडेत्यनेन न्यायेन तदेव प्रथमंपश्येत् न क्रममाद्रीयेत
राज्यस्थित्यर्थोहि व्यवहारनिर्णयइत्युक्तमतो न यथा श्रुतमादरणीयम् ॥ २४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अर्थःप्रयोजनंयस्यतस्यार्थित्वं अनर्थाह्लाभोयस्यतस्यप्रत्यार्थित्वं मात्राधिकोनात्रेतिबुध्वा
धार्मिकस्य कार्यप्रथमंद्रष्टव्यम् । अधर्मोधर्माभावमात्रम् । केवलावसंकीर्णौ वर्णक्रमेणेतिच ब्राह्मणस्य दृष्ट्वा ततोरेजन्य-
स्येत्यादिएतदभावे धार्मिकत्वेन व्यवस्था । तस्याप्यभावेऽर्थित्वेन ॥ २४ ॥

१ नं=नो (आ आ)
अयेत् (आ आ)

२ नं=ने (आ आ)

३ श्राद्धायनि=पश्चाद्वापि न (आ आ)

४ श्रेयः=आ-

(३) कुड्मूकः । प्रजारक्षणोच्छेदाद्यात्मकावैदिकावर्थानर्थौ बुध्वा परलोकार्थधर्माधर्मौ केवलावनुरूप्य यथा विरोधो भवति तथा कार्यार्थानांकार्याणि पश्येत् । बहुवर्णमेलके तुब्राह्मणादिक्रमेण पश्येत् ॥ २४ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रच अर्थानर्थौ प्रजारक्षणोत्सादनात्मकौ ऐहिकामुष्मिकावर्थानर्थौवा बुध्वा । परलोकार्थधर्माधर्मावपेक्ष्य वर्णक्रमेण चातुर्वर्ण्योपस्थितविरोधे ब्राह्मणादिक्रमेण दृष्टविरोधपरित्यक्त्य ब्राह्मणादिक्रमेणधर्मपश्येदित्यन्वयः ॥ २४ ॥

(५) नन्दनः । अथ व्यवहारपरिभाषा तत्र युगपत्कार्यनिर्णये प्राप्ते क्रममाह अर्थानर्थविति । वर्णक्रमेण प्रथमंब्राह्मणानांकार्यपश्येत् तेष्वप्यर्थानर्थौ प्रथमंसौम्ये धर्माधर्मौ केवलौ कृत्स्नौ । ब्राह्मणकार्यदर्शनानन्तरंक्षत्रियादीनांकार्याणि क्रमेण पश्येत् ॥ २४ ॥

(६) रामचन्द्रः । केवलौ अर्थादिहीनौ ॥ २४ ॥

बाह्यैर्विभावयेद्विद्वैर्भावमन्तर्गतं नृणाम् ॥ स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥ २५ ॥

(१) मेधातिथिः । तथा चेदमाह अनुमानेनापि सत्यानृतवादिता व्यवहारतः साक्षिणानिश्चेतव्याइति श्लोकार्थः । अतश्च स्वरादिग्रहणप्रदर्शनार्थं तेन निश्चितलिङ्गेनैव परिच्छिन्द्यादित्युक्तंभवति न पुनः स्वरादिभिरेव सव्यभिचारित्वात्तेषां अनुचितप्रवेशाहि महाप्रकृतिदर्शनेन सत्यकारिणोपि स्वभावतोविक्रियन्ते प्रगल्भास्तु संवृताकाराभवन्ति स्वरश्च वर्णश्चेङ्गितं च स्वरवर्णेङ्गितानि तेषामाकाराः स्वरवर्णेङ्गिताकाराः आकारोविकारः स्वाभाविकानां हि स्वरादीनामन्यथात्वंतैर्विभावयेन्निश्चिनुयाद्भावमभिप्रायमन्तर्गतमनुष्याणांविवादिसाक्ष्यादीनांतत्र स्वरस्य विकारोवाचिगद्गदरुदितादि वर्णस्यगात्ररूपविपर्ययादि इङ्गितंस्वेदपथुरोमाश्चादि चक्षुषा संभ्रमक्रोधदृष्टिपातेन चेष्टितेन हस्तनिक्षेपभ्रूविक्षेपादिस्वसंवेद्यंचैतत् । यदुद्गमानमप्यभिप्रायंस्वरादयः प्रकाशयन्ति निपुणतोलक्ष्यमाणाः यतः प्रसिद्धमेतेषांगूढाभिप्रायप्रकटनसामर्थ्यम् ॥ २५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विभावयेत् जानीयात् । वर्णाः रक्तगौरादिः । इङ्गितमभिप्रायसूचकंदेहवैकृत्यमबुद्धिपूर्वकबाहुकम्पादि । आकारः स्वरादिः । चक्षुषा स्निग्धादिना चेष्टितेन । तदुत्थिकृतशरीरावयवशरीरयोश्चलनेन । एतच्च बाह्यप्रपञ्चनम् ॥ २५ ॥

(३) कुड्मूकः । बाह्यैः स्वरादिलिङ्गैरित्यभिधानादेवावधारितव्यापारैः अर्थिप्रत्यार्थानामन्तर्गतमभिप्रायनिरूपयेत् । स्वरोगद्गदादिः । वर्णः स्वाभाविकवर्णादन्यादशोमुखकालिमादिः । इङ्गितमधोनिरीक्षणादिः । आकारोदेहभवत्वेदरोमाश्चादिः । चेष्टाहस्तस्फालनादिः ॥ २५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच भावंअन्तर्गतधर्माधर्मं तद्विषयाभिप्रायंवा । लिङ्गैःअनुमानैः । लिङ्गैरित्यस्य विवरणंस्वरेत्यादि । स्वरोवितथाभिधानं गद्गदादिर्वा वर्णः सहजवर्णातिरिक्तमुखकालिमादिः इङ्गितमधोनिरीक्षणादि एतैरेव मनोगतं व्यक्तं स्यादिति विभावयेन्निश्चिनुयात् ॥ २५ ॥

(५) नन्दनः । दुष्टादुष्टपरिज्ञानो पायमाह बाह्यैर्विभावयेदिति । उत्तरार्द्धेन बाह्यानि लिङ्गान्येव व्याकरोति । आकारःस्वेदरोमाश्चकंपादियुक्तमङ्गम् ॥ २५ ॥

(६) रामचन्द्रः । कार्यिणानृणां बाह्यैर्लिङ्गैः भावं विभावयेत् जानीयादित्यर्थः ॥ २५ ॥

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च ॥ नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ २६ ॥

(१) मेधातिथिः । तथाहि लोके दृष्टशक्तितोऽनेन श्लोकेन स्तरादीनां पूर्वोक्तार्थाधिगमेन दर्शयतीत्यपौनरुक्त्यं तत्राक्रियन्तेविक्रियन्तइत्याकाराङ्गितादयः इङ्गितंव्याख्यातं व्यक्तिभेदाद्बहुवचनम् । गतिः पूर्वश्लोकादत्राधिका सा प्रस्वलन्तीत्यभावतोऽन्यथाभूता भाषितं पौर्वापर्यविरुद्धं वचनं वक्त्रविकार आस्यविशेषादिः शेषपूर्वश्लोकएव व्याख्यातम् । एतैर्विरुक्तैरन्तर्गतचित्तं लोकि कैरन्यत्रापि गृह्यतइतिसमासार्थः ॥ २६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्रयुक्तिमाह आकारैरिति । गत्या शरीरगमनेन । चेष्टया अवयवचलनेन ॥ २६ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मात् आकारैरिति आकारादिभिः पूर्वोक्तैः गत्या स्खलत्पादादिकया अन्तर्गतमनोबुद्धिरूपेण परिणतमवधार्यते ॥ २६ ॥

(४) राघवानन्दः । निगमनेन पूर्वोक्तानां स्तरादीनां दृष्टशक्तिमाह आकारैरिति । गत्या स्खलितपदतया देशान्तरादिना । तदुक्तं याज्ञवल्क्येन ॥ देशादेशान्तरं याति सृकिणी परिलेढि वा । ललाटं स्विद्यते चास्य मुखं वैवर्ण्यमेति च ॥ परिशुष्यत्स्खलद्वाक्योविरुद्धं बहुभाषते । वाक्चक्षुः पूजयति नो तथोष्ठौ निर्भुज्यते ॥ त्वभावाद्विरुद्धं गच्छेद्वाङ्मनःकायकर्मभिः । अभियोगे तथा साक्ष्ये दुष्टः सपरिकीर्तितइति ॥ नोपूजयति पूर्ववन्नसत्करोति वाचा नोत्तरं दत्ते चक्षुषा दर्शनासमर्थः निर्भुजति सततं कुटिलीकरोतीति याज्ञवल्क्यवचनार्थः ॥ २६ ॥

(५) नन्दनः । न केवलं व्यवहारदर्शनएव बाह्यनिर्णयलिङ्गैर्भावनिर्णयः किन्तु अन्यत्राप्येत्याह आकारैरिङ्गितैरिति ॥ २६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्तर्गतं भावं हृदये स्थितं भावं जानीयात् ॥ २६ ॥

बालदायादिकं रिक्तं तावद्राजानुपालयेत् ॥ यावत्सस्यात्समावृत्तोयावच्चातीतशैवः ॥ २७ ॥

(१) मेधातिथिः । ननु च व्यवहारदर्शनं वक्तव्यतया प्रस्तुतं तत्र कः प्रसङ्गो बालधनरक्षायाः उच्यते विवादपदतां मेवैतद्विषयान्निवर्तयितुमिदमारभ्यते बालधनं त्वधनवत्परिपालनीयं अन्यथा पितृव्यादिबान्धवामयेदं रक्षणीयं मयेदमिति विवदेन न चान्यः प्रसङ्गोऽस्ति आशङ्क्यमानव्यवहारत्वाच्च न केवलेषु राजधर्मेषूपदिश्यते अतोऽन्यस्मिन्नेवावसरे वक्तव्यम् । बालोदायादोऽस्य बालदायादिकं दायादः स्वाम्यत्रोच्यते बालत्वामिकं धनं तावद्राजारक्षेद्यावदसौ समावृत्तो गुरुकुलात्प्रत्यागतो यावद्वातीतशैव आसमावर्तनात्प्रतिपाल्यधनः स्यात् । अथवा द्विजातीनां समावर्तनमवधिरन्धेषां शैशवात्ययः ॥ २७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बालोदायादो भागी यस्य तत्तथा । अनुपालयेत् त्वगोचरीकृत्य स्थापयेत् । समावृत्तः षट्त्रिंशदब्दादिषु । तन्मध्ये चेद्धनेन कार्यं तदा यावद्ध्येत्यवध्यन्तरम् । शैशवं षोडशाब्दात्माक् ॥ २७ ॥

(३) कुल्लूकः । अनाथबालत्वामिकं धनं पितृव्यादिभिरन्यायेन गृह्यमाणं तावद्राजा रक्षेत् यावदसौ षट्त्रिंशदब्दादिकं ब्रह्मचर्यमित्याद्युक्तेन प्रकारेण गुरुकुलात्समावृत्तोऽन भवति तादृशस्यावश्यकबाल्यविगमात् । यस्त्वशक्त्यादिना बालए-

* शैशव आसमा = शैशवः अतिक्रान्सबालभावः अयं च विकल्यो यो गृहशैशवो भवति तदर्थं मतीतशैशव इत्युच्यते यस्तु ब्रतकः सन्निवृत्तेऽपि शैशवे आसमा (आ आ)

व समावर्तते सोऽपियावदतीतबाल्यो भवति तावत्तस्य धनं रक्षेत् । बाल्यं च षोडशवर्षपर्यन्तम् बालआषोडशादूर्ध्वादिति ना-
रदवचनात् ॥ २७ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रातिनिध्यं विचार्य प्राधानिकं राजकृत्यं सप्रसंगं दायविषयमाह बालेति श्लोकानां विंश-
त्या । बालदायादिकं अनाथबालस्वामिकं पितृव्यादिभ्योऽनुपालयेत् रक्षयेत् । समावृत्तगुरुकुलाद्यावदायाति अतीतशैश-
वः शूद्रादिर्वा यावत्तावत् ॥ २७ ॥

(५) नन्दनः । बालधनविप्रतिपत्तौ कर्तव्यमाह बालदायादिकमिति । दायमादत्तइति दायदः स्वामी । यस्य बालो-
दायादः तद्बालदायादिकं रिक्तं धनं ज्ञात्याद्यपहरतोऽनुपालयेत् । कार्यादिसामर्थ्यापेक्षया व्यवस्थापनीयो विकल्पः ॥ २७ ॥

(६) रामचन्द्रः । बालस्य बन्धुरहितस्य दायदिकं रिक्तं अंशं तावत् अनुपालयेत् यावत्सबालः समावृत्तः ल-
ब्धानुज्ञो भवेत् । लब्धानुज्ञः समावृत्त इत्यमरः ॥ २७ ॥

वशाऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च ॥ पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥ २८ ॥

[एवमेव विधिः कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि ॥ वस्त्रान्नपानदेयं च वसेयुश्च गृहान्तिके ॥ १ ॥

(१) मेधातिथिः । यः कश्चिदनाथस्तस्य सर्वस्य धनं राजा यथावत्परिरक्षेत् तथा चोदाहरणमात्रं वशादय-
एवं प्रजापालनमनुष्ठितं भवति । पूर्वस्तु श्लोकः कालनियमार्थः वशा बन्ध्या अपुत्राऽसमर्थपुत्राऽविद्यमानपुत्रा दुर्गतपुत्रा
वा वशाश्चापुत्राश्चेति द्वन्द्वः । ननु च वशाप्यपुत्रैव सत्यं उभयोपादानन्तु सत्यपि भर्त्तरि तस्याः संरक्षणार्थं तस्यां ह्यधि-
विन्नायां मर्ता निरपेक्षो भवति निष्कुलाग्रहणं तासां विशेषणं यासां कश्चिद्देवरपितृव्यमातुलादिः परिरक्षकोऽस्ति स्त्रीत्वाच्च
स्वयमसमर्थाः बान्धवास्तु मत्सरिणः तासां च तदुच्यते बन्धुभिर्हि स्त्रीणां शरीरधनानि रक्षितव्यानि तदुक्तं विनियोगोऽस्ति-
रक्षासु भरणे च सईश्वरः ॥ परिक्षीणे पतिकुले निर्मनुष्ये निराश्रये ॥ तत्सर्पिण्डेषु वासत्सु पितृपक्षः प्रभुः स्त्रियाः ॥ वक्षद्वया-
वसाने तु राजा भर्त्ता प्रभुस्त्रियः सा तु स्वयमेव कथंचिच्छक्ता न तत्र बान्धवानां व्यापारोऽस्ति अतएवाह आतुरास्त्विति ।
असामर्थ्यमेतेन लक्ष्यते अन्यैस्त्वातुरभर्तृका आतुरा व्याख्याता अविधवापि भर्तुरसामर्थ्याद्वाज्ञैव रक्ष्यास्यादिति निर्मनुष्या-
णामे तत् कुलबन्धुजातं यासां नास्ति ताः निष्कुलाः अन्ये तु कुटिलानिष्कुलामाहुः तासामपि वशाद्युपार्जितं धनं राजा रक्ष्यम्
अस्मिन्पक्षे स्वतन्त्रनिष्कुलाग्रहणम् पतिव्रतासु विधवासु मृतभर्तृका विधवा धवइति भर्तृनाम तद्विरहिता विधवा यावत्प-
तिव्रता भवति तदा सा रक्ष्यधना व्यभिचारे तु स्त्रीधनानर्हत्वं स्मृत्यन्तरे पठ्यते ॥ अपकारक्रियायुक्ता निर्लज्जा चार्थनाशिका ।
व्यभिचाररता या च स्त्रीधनं न तु साहर्ताति ॥ तस्यास्तु निष्काशनं कार्यं निष्काशनं च प्रधानवेश्मनो बहिरवस्थापनं न तु
निर्वासनमेव यतः पतितानामपि तासां गृहांतरे वा सोभक्ताच्छादनदानं च विहितम् ॥ २८ ॥

[मेधातिथिः । भेदेन यः कश्चित्स्त्रीणां निर्वासनविधिः स्त्रीधनद्रव्यसर्वस्वमित्यादिषु श्रूयते एवं विधेयवद्द्रष्टव्यं तेषां
पि यावद्भक्तात्सर्पणादिना किंचिदार्जितं तदहर्हयेव न बान्धवा अपहरेयुः । इह त्वस्मिन्नेव निमित्ते आधिदेवं विहितं न तु स्त्री-
धनापहारः । तथा ह्यह मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत् ॥ व्याधिता चाधिवेत्तव्या हि सार्थज्ञो च सर्वदा ॥ अतश्च

१ व्यतया=व्यः तथा (आआ)

* यावद्भक्तात्सर्पणादिना=भक्तोपसर्पणादि (आआ)

मानवस्मृतिबलेन स्त्रीधनं न तु सार्हतीत्येषा स्मृतिरेव व्याख्यायते । अधिवेदनिकस्त्रीधनमेषानार्हति नैतस्यै देयमित्यर्थः । यदुक्तमधिविन्निस्त्रियैदद्यादाधिवेदनिकंसममिति तत्तु प्राग्दत्तमत्यापहर्तव्यं वयंतु ब्रूमः पुरुषद्वेषिण्याव्यभिचाररतायाश्च युक्तएवापहारः यतद्विहाप्युक्तं अतिक्रामेत्वमत्तया मत्तरोगतमेववा ॥ सा त्रीन्मासान्परित्याज्या विभूषणपरिच्छदात् विभूषणपरिच्छदैर्वियुक्ता कर्तव्येत्यर्थः ॥ १ ॥]

(२) सर्वज्ञनारायणः । वशा वन्ध्या । अपुत्रा मृतपुत्रा अजातपुत्रावा । तदा यावत्तत्कुल्यगोचरेणतयोर्यदिसिद्धिस्तावत्तद्वित्तरक्ष्यं तत्पौषणं च कार्यं ते यदि निष्कुले रक्षकत्वकुल्यरहिते स्यातां तदाप्येवं यावज्जीवरक्षणं स्वगोचरेण स्थापनं च राज्ञा कार्यम् । एवंविधासु च पतिव्रतासु पत्युद्देशेन ब्रह्मचर्यादिव्रतकारिणीषुवा ॥ २८ ॥

(३) कुट्टूकः । वशासु वन्ध्यासु कृतदारान्तरपरिग्रहः स्वामी निर्वाहार्थोपकल्पितधनोपायासु निरपेक्षः । अपुत्रासु च स्त्रीषु प्रेषितभर्तृकासु निष्कुलासु सपिण्डरहितासु साध्वीषु च स्त्रीषु विधवासु रोगिणीषु च यद्धनंतस्यापि बालधनस्येव राज्ञा रक्षणं कर्तव्यम् । अत्र चानेकशब्दोपादाने गोबलीवर्दन्यायेन पुनरुक्तिपरीहारः ॥ २८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच वशेति । वशा वन्ध्या प्रेषितभर्तृका अपुत्रा असमर्थादिपुत्रा निष्कुला वरपितृव्यमातुलादिशून्या तासु । पतिव्रतासु असमर्थभर्तृकासु एतासु । विधवासु पतिपुत्रशून्यासु । तदुक्तम् ॥ विनियोगोस्ति रक्षासु भरणे च सईश्वरः । परिक्षीणे पतिकुले निर्मनुष्ये निराश्रये ॥ सपिण्डेष्वपि चासत्सु पितृपक्षः प्रभुः स्त्रियाः ॥ पक्षद्वयावसाने तु राजा भर्ता प्रभुः स्त्रिया इति ॥ आतुरासु कुषाद्यभिभूतासु स्त्रीधनं रक्षणीयमिति वक्तव्ये वशाद्युपादानं गोबलीवर्दन्यायेन स्त्रीविविधविरोधिलक्षणयावा कुलधनं न रक्षणीयमिति भावः ॥ २८ ॥

(५) नन्दनः । वशा वन्ध्या । अपुत्रा स्त्री मृतप्रजा च । अपुत्रास्त्वित्येव वशाया अपि विनियहे सिद्धे वशाग्रहणमादरार्थम् । निष्कुला निर्जातबन्धुः । पतिव्रता प्रेषितभर्तृका । आतुरा आतुरभर्तृपुत्रादिका रक्षणं रिकथरक्षणं । एवं स्यात् बालदायादरिकथरक्षणवत्स्यात् ॥ २८ ॥

(६) रामचन्द्रः । वशापुत्रासु पुत्राभ्यारहितासु निष्कुलासु पतिपितृकुलरहितासु एवं रक्षणं स्यात् । च पुनः आतुरासु ॥ २८ ॥

जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः ॥ तांश्छिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥ २९ ॥

(१) मेधातिथिः । बान्धवानां स्त्रीधनमपहरतामयंचोरदण्डः तेहि बहुभिरुपायैरपहरन्ति अत्ततत्त्रैषास्त्रीकिंददाति किंभुक्ते वयमत्र स्वामिन इति चोरदण्डो विधीयते । जीवन्तीनां तासां स्वबान्धवादेवरादयस्तद्धनं ये हरेयुस्तांश्छिष्यात् पृथिवीपतिर्निगृह्णीयात् । चौरदण्डो वक्ष्यमाणः ॥ येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते । छेत्तव्यं तत्तदेवान्यत्तन्मनोरनुशासनमिति ॥ स्वबन्धुभ्यश्चैतद्विषयतोरक्षितव्यं चौररक्षा तु सर्वसाम्राज्यविषया विहिता ॥ २९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यदितु तासां वित्तं संभवति तदाह जीवन्तीनामिति ॥ २९ ॥

(३) कुट्टूकः । वयमत्रान्तराधिकारिणोरक्षयामदधनमिन्यादिव्याजेन ये बान्धवास्तासां जीवन्तीनां तद्धनं गृह्णन्तितान्वक्ष्यमाणचौरदण्डेन धार्मिको राजा दण्डयेत् ॥ २९ ॥

(४) राघवानन्दः । न केवलमेवं किंतु जीवन्तीनामिति । तद्धनं तासां धनं बान्धवादेवरादयश्चेद्धरेयुर्गृहीयुस्तान् चोरदण्डेन शिष्यादित्यर्थः ॥ २९ ॥

(५) नन्दनः । स्त्रीधनस्य रक्षणीयप्रकरणे तदपहर्तृदण्डविधानमाह जीवन्तीनान्त्विति । त्वदेवरादयो बान्धवा-
स्सोदरादयः । जीवन्तीनामिति विशेषणान् वृतासु बान्धवानामेव स्त्रीधने स्वामित्वंगम्यते ॥ २९ ॥

प्रनष्टस्वामिकं रिक्थं राजा व्यब्धं निधापयेत् ॥ अर्वाक् व्यब्धाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ॥ ३० ॥

(१) मेधातिथिः । यद्रव्यं स्वामिनो नष्टप्रमादात्किंचित्पथि गच्छतो भ्रष्टमरण्ये कान्तारे वा स्थापयित्वा रण्यपालै-
रन्यैर्वा राजपुरुषैर्लब्धं राजसकाशमानीतं तद्राज्ञा स्वारक्षां कृत्वा राजद्वारे राजमार्गे वा प्रकाशं स्थापयितव्यं । यतः प्रदेशाल्ल-
ब्धं तस्मिन्नेव प्रदेशे रक्षिपुरुषाधिष्ठितं कर्तव्यमेव त्रीणि वर्षाणि स्थापयितव्यं तत्रार्वाक् त्रिभ्यो वर्षेभ्यो यः कारणत आत्मीय-
ज्ञापयेत्तस्योद्धृतवक्ष्यमाणषड्भागादिभागकंसमर्पयितव्यं परतः स्वकोष्ठे प्रवेशनीयमिति । प्रनष्टः स्वामी यस्य ऋक्थस्य
तत्प्रनष्टस्वामिकं प्रनष्टोऽविज्ञातः ऋक्थंधनं त्रयाणामब्दानां समाहाररूपं त्रिवर्षवत् व्यब्धेऽदीवभावः अब्दशब्दः संवत्सरपर्या-
यः निधापयेत्स्थापयेत् । अर्वाक् व्यब्दात्पूर्वत्रिभ्यो वर्षेभ्यो हरेत्स्वामी स्वीकुर्यात् अर्वाक् शब्दोऽवधौ दिग्देशादिकात् पूर्वानाह ।
अन्येतु नृपतिर्हरेदिति भोगानुज्ञानमपारमाहुः । नहि ऊर्ध्वमपि त्रिभ्यो वर्षेभ्यः परकीयस्य द्रव्यस्यापहारो युक्तस्तस्मा-
त्त्रिभ्यो वर्षेभ्य ऊर्ध्वमनागच्छति स्वामिनि राज्ञा भोक्तव्यं तदयं लोकः कथं व्याख्यानीयो यत्किंचिद्दशवर्षाणीति यदि च
परकीयस्यापहारो न युक्त इत्युच्यते भोगोपिन युक्तः परकीयस्य वस्त्रादिव द्रव्यमानानां व्यत्येव तत्रानपहारं वा चोरो युक्त-
रेवापहारफलस्य सद्भावेनैव जपमुद्रादेस्तु कीदृशो भोग इति वाच्यं तस्माद्यथा श्रुतार्थत्यागे कारणमस्ति हरतिश्च गृह्णात्यर्थ-
ऽसकृद्दृष्टप्रयोगः ऋक्थं हरेदित्यादौ तस्मात्परेण नृपतिर्हरेत्स्वीकुर्यादित्ययमेवार्थः ॥ ३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रनष्टोऽदृश्यमानः स्वामी यस्य तद्राजभृत्यैर्लब्धं धनं प्रनष्टस्वामिकं हरेत् स्वामी कृत्स्नं प-
रेण नृपतिर्हरेत् रक्षकभागमात्रं वक्ष्यमाणम् ॥ ३० ॥

(३) कुल्लूकः । अज्ञातस्वामिकधनं राजा कस्य किं प्रनष्टमित्येवं पटहादिनोद्दोष्य राजद्वारादौ रक्षितं वर्षत्रयं स्थाप-
येत् वर्षत्रयमध्ये यदि धनस्वाम्या गच्छति तदा स एव गृह्णीयात् तदूर्ध्वं तु नृपतिर्विनिर्गृहीत ॥ ३० ॥

(४) राघवानन्दः । किंच प्रेति । प्रनष्टस्वामिस्तत्वे प्रनष्टं तत्संबन्धापरिज्ञानमात्रं न तु स्वामिनोऽभावः । निधापये-
त् स्थापयेत् । स्वामी रिक्थस्य । अर्वाक् पूर्वम् । परेण व्यब्दादूर्ध्वं नृपतिर्हरेदित्यनुषज्यते ॥ ३० ॥

(५) नन्दनः । परेण व्यब्दादूर्ध्वम् । अब्राह्मणस्वविषयमेतत् । ब्रह्मस्वंब्राह्मणान् श्रयेदिति स्मृत्यन्तरानुरोधतः ॥ ३० ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रनष्टो देशान्तरगतः ॥ ३० ॥

ममेदमिति यो ब्रूयात् सो नु योज्यो यथा विधि ॥ संवाद्य रूपसंख्यादीन् स्वामी तद्रव्यमर्हति ॥ ३१ ॥

(१) मेधातिथिः । कथंपुनः स्वामी प्रनष्टे धने स्वामित्वं ज्ञापयेदत आह यः कश्चिदागत्य ममेदं त्वद्रव्यमिति ब्रूया-

† यतः=पटह घोषणेन वा कस्य किं हारितमिति प्रकाशयितव्यम् यतः (आ आ)

* कारणत आ=कारणमा

(आ आ)

१ स्वाचारीयुक्ते=स्वाचोयुक्ते । (आ आ)

२ सद्भावेनैव जपमुद्रादेस्तु=शब्दायितगजतुरंगादेस्तु (आ आ)

(३१) अनुयोज्यो=अनुयुक्तो (नं)

त्सोनुर्योज्योयथाविधिः अनुयोज्यः प्रष्टव्यइत्यर्थः । कोसावनुर्योगविधिः किंद्रव्यं हारितं किंरूपं किंपरिमाणं किंसङ्ख्याकं संपतितमपतितं वायदिपतितं कस्मिन्देशे तथा कुत आगमितं त्वयेत्येवंपर्यनुयोगः कर्तव्यः स यदि संवादयति रूपसङ्ख्यादीन् रूपप्राणिवस्त्रादिविषयं शुक्लवस्त्रं गौर्वेत्यादि तथा सङ्ख्या दशगावो वायुगानि वा आदिग्रहणाद्दस्तादिप्रमाणं सुवर्णं चेत्परिमाणं प्रकीर्णं रूपकं वा एतत्सर्वं संवादयति तदा सौ स्वामी भवति अतस्तद्रव्यमर्हति स्वीकर्तुं संवाद उच्यते यादृशमेकेन प्रमाणेन परिच्छिन्नं तादृशमेवास्यानेन परिच्छिद्यते । रूपसङ्ख्यादिग्रहणं च प्रदर्शनार्थं स्वामित्वकारणानामन्येषामपि साक्ष्यादीनाम् ॥ ३१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । रूपं नीलत्वदीर्घत्वादि । संख्यामेकादिकाम् ॥ ३१ ॥

(३) कुट्टूकः । मदीयं धनमिति यो वदति स किंरूपं किंसंख्याकं कुत्र प्रनष्टं तद्धनमित्यादिविधानेन प्रष्टव्यः ततो यदिरूपसंख्यादीन्स्त्यान्वदति तदा स तत्र धनस्वामी तद्धनं ग्रहीतुमर्हति ॥ ३१ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यत् ममेति । स स्वामी अनुयोज्यः किं वर्णं किं रूपं कतिसङ्ख्यं कुत्र कथं नष्टमिति पृष्ठः संवाद्य वर्णाद्यभिधानेन प्रतीतिं जनयित्वा अर्हति द्रव्यमित्यन्वयः ॥ ३१ ॥

(५) नन्दनः । प्रनष्टस्वामिकं द्रव्यं ममेदमिति ब्रुवतस्तत्परिज्ञानोपायमाह ममेति । अनुयुक्तः पृष्ठः तस्य द्रव्यस्य रूपसंख्यादिकंसंख्यैः संवाद्य संख्यानां सम्यक् वेदयित्वा ॥ ३१ ॥

अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः ॥ वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति ॥ ३२ ॥

(१) मेधातिथिः । मिथ्याप्रवर्तमानस्य दण्डोऽयमुच्यते योनज्ञापयति स्पष्टं धनस्य देशकालं चास्मिन्देशे काले वा हारितं तत्त्वतः परमार्थतो वर्णशुक्लादिकं गुणं रूपं पटीशाटकयुगं वेत्यादिकमाकारं प्रमाणं पञ्चहस्तायामं सप्तहस्तमात्रं वाऽवेदया नोयावति द्रव्ये मिथ्याप्रवृत्तस्तत्तुल्यं दण्डमर्हति ॥ ३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अवेदयन् प्रतिपादयन् । देशमस्मिन्देश इति । वर्णं नीलत्वादि । रूपं कण्टकत्वादि । प्रमाणं दैर्घ्याद्येकत्वादि ॥ ३२ ॥

(३) कुट्टूकः । नष्टद्रव्यस्य देशकालावस्मिन्देशेऽस्मिन्काले नष्टमिति तथा वर्णशुक्लाद्याकारं कटकमुकुटादिपरिमाणं च यथावदजानन् नष्टद्रव्यसमं दण्डमर्हति ॥ ३२ ॥

(४) राघवानन्दः । तदवेदने । दण्डमाह अवेदयान इति । अवेदयानं रूपसङ्ख्यादीनित्यन्वयः । प्रमाणं संख्यां साक्ष्यादिवा ॥ ३२ ॥

(५) नन्दनः । प्रनष्टस्य स्वामिसकाशात्पूर्वप्रनष्टं राज्ञः पश्चादधिगतम् ॥ ३२ ॥

(६) रामचन्द्रः । नष्टस्य द्रव्यस्य देशकालौ अस्मिन्देशे अमुकसंवत्सरामुकमासपक्षदिन इति कालवर्णरूपं प्रमाणं सङ्ख्याप्रमाणं अवेदयन् अकथयन् तत्समं दण्डं सोऽर्हति ॥ ३२ ॥

आददीताथ षड्भागं प्रनष्टाधिगतान्नृपः ॥ दशमं द्वादशं वापि सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ३३ ॥

(१) मेधातिथिः । आददीत गृहीयात् षष्ठं भागं दशमं द्वादशं वा प्रनष्टलब्धाद्द्रव्यात्परिशिष्टं स्वामिनेऽर्पयेत् । तत्र प्रथमे

(३२) अवेदयानो नष्टस्य = अवेदयन् प्रनष्टस्य (त, ट, ठ)

* स्पष्टं = नष्टस्य (आआ)

१ अवेदयानो = तदा तत्समम्

वर्षे द्वादशोभागोद्वितीये दशमस्तृतीये षष्ठ्यति । अथवा रक्षाक्लेशक्षयापेक्षोभागविकल्पः । सतांधर्ममनुस्मरन् शिष्टानामेव समाचारइति जानानः ॥ ३३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्दात्परं यदग्राहं तदाह आददीतेति । अतिनिर्गुणवदतिगुणवदपेक्षयाविकल्पः । सतांधर्म-
मिति व्यवहारसिद्धं यावत्तावद्वैत्यर्थः ॥ ३३ ॥

(३) कुल्लूकः । देशकालादिसंवादे पुनः आददीतेति । यदेतद्वाज्ञा प्रनष्टद्रव्यंप्राप्तं तस्मात्षड्भागं दशमं द्वादशं वा रक्षादि-
निमित्तपूर्वेषां साधूनामयंधर्मइति जानन्नाजागृह्णीयात् । धनस्वामिनो निर्गुणसगुणत्वापेक्षया यं षड्भागादिग्रहणविकल्पः ।
अवशिष्टं स्वामिने समर्पयेत् ॥ ३३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच । आददीत राजा । तृतीयाद्यवदतारतम्याद्विकल्पः तेन प्रथमावदे द्वादशभागं द्वितीये दश-
मं तृतीये षड्भागं अत उत्कंसतांधर्ममिति ॥ ३३ ॥

(५) नन्दनः । तस्मात्प्रनष्टाधिगताद्रव्यात्स्वामिप्रत्यर्पणीयं समर्पयेत् । षड्भागमाददीत । स्वामिगुणापेक्षया रक्षणादेः का-
र्यापेक्षया षड्भागादिविकल्प्य व्यवस्था ॥ ३३ ॥

(६) रामचन्द्रः । पूर्वं प्रनष्टः देशान्तरंगतः आगतः पश्चादधिगतः तस्मात्पुरुषान् राजा षड्भागं आददीत स्वीकु-
र्यात् ॥ ३३ ॥

प्रनष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद्युक्तैरधिष्ठितम् ॥ यांस्तत्र चौरान् गृह्णीयात्तान् राजेभेन घातयेत् ॥ ३४ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रनष्टमधिगतं प्रनष्टाधिगतं पूर्वं प्रनष्टं पश्चाद्बन्धमधिष्ठितं युक्तैस्तत्परैरारक्षपुरुषैस्तिष्ठेत् । तथा
स्थितमपि यदि केचन चौरागृह्णीयुस्तान् राजा इभेन हस्तिना घातयेत् । हस्तिग्रहणमदृष्टार्थम् ॥ ३४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रनष्टं चौरादिभिर्नीतं राजभृत्यैरधिगतमन्यैर्वा । युक्तैर्नियुक्तैराजभृत्यैः । तत्र तेषु गृह्यमा-
णेषु यांस्तच्चौरान्नाजाप्राप्तुयात्तान् घातयेत् सुवर्णशतोपरि शताधिके वधइति स्मृतेः ॥ ३४ ॥

(३) कुल्लूकः । यद्रव्यंकस्यापि प्रनष्टसद्राजपुरुषैः प्राप्तं रक्षायुक्तैः रक्षितं कृत्वा स्थाप्यं तस्मिंश्च द्रव्ये यांश्चौरान् गृह्णी-
यात्तान् हस्तिना घातयेत् । गोविन्दराजस्तु शतादभ्यधिके वधइति दर्शनात् अत्रापि शतसुवर्णस्य मौल्यादिकद्रव्यहरणे
वधमाह तन्न तत्र संधिकृत्वा तु यच्चौर्यमिति यत्स्वाम्येऽपि प्रनष्टराजरक्षितद्रव्यहरणेनैव विशेषेण वधविधानात् शतादभ्य-
धिके वधइत्यस्य विशेषोपदिष्टवधेतरविषयत्वात् ॥ ३४ ॥

(४) राघवानन्दः । युक्तैः संयतैः । राजा यांस्तद्धनहर्तृन् गृह्णीयात्तान् इभेन हस्तिना इभेनेति वाचनिकं वचन-
स्य नातिभारइति न्यायात् । गोविन्दराजस्तु शताधिकसुवर्णहरणे वधइति । तच्च संधिकृत्वा तु ये चौर्यमित्यादिवक्ष्यमा-
णवचनातिरिक्तविषयम् ॥ ३४ ॥

(५) नन्दनः । प्रनष्टाधिगते द्रव्ये प्रत्यर्पणात्पूर्वकर्तव्यमाह प्रनष्टाधिगतमिति । युक्तैरधिकृतैस्तिष्ठेत् यावत्स्वा-
मिदर्शनं स्थापयेत् । तत्र युक्तैरधिष्ठिते द्रव्ये । इभेन गजेन ॥ ३४ ॥

(६) रामचन्द्रः । पूर्वं प्रनष्टं पश्चादधिगतं द्रव्यं युक्तैरक्षकैः अधिष्ठितं रक्षितं तिष्ठेत् । तत्र यान् चौरान् राजा
गृह्णीयात्तान् इमान् इभेन गजेन घातयेत् ॥ ३४ ॥

ममायमिति योन्नयान्निधिं सत्येन मानवः ॥ तस्याददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा ॥ ३५ ॥

(१) मेधातिथिः । निखातायां भूमौ गुप्तं स्थापितं धनं निधिरुच्यते वर्षशतिकावर्षसहस्रिकाश्च निधयो भवन्ति तत्र

यदि भूमेर्विदार्यमाणायाः कथंचित्केनचिन्निधिरासाद्यते सतु राजधनं तथा च गौतमः निध्यधिगमोराजधनमिति एतच्चा-
स्मर्यमाणनिधातृके निधौ द्रष्टव्यं तस्याख्याता षष्ठलभेतेत्युक्तं अयन्तु श्लोकोयत्राख्यातैव निधाता तत्पुरुषोवा पितृपिता-
महादिस्तद्विषयोद्रष्टव्यः । ममायंनिधिरिति योब्रूयात्सत्येन प्रमाणेन ज्ञापयेदित्यर्थः । तस्याददोतषड्भागमिति निश्चिते
तत्त्वामिकत्वे राज्ञः षष्ठादिभागग्रहणं विकल्पश्चाऽऽख्यातृगुणापेक्षया ॥ ३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निधिं स्वपित्रादिनिहितं स्वयमेवोद्धृतं परेणवोद्धृतं ममेति योब्रूयात् । षड्भागं क्षत्रियादेः ।
द्वादशं ब्राह्मणस्य विदुषः ॥ ३५ ॥

(३) कुल्लूकः । योमानुषः स्वयंनिधिं लब्ध्वाऽन्येन वा निधौ प्राप्ते ममायंनिधिरिति वदति सत्येनप्रमाणेन च स्वसं-
बन्धबोधयति तस्य पुरुषस्य निर्गुणत्वसगुणत्वापेक्षया ततोनिधानादष्टभागंद्वादशभागंवा राजा गृह्णीयात् अवशिष्टं तस्या-
पयेत् ॥ ३५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच ममेति । निधिं स्वकीयं परेण प्राप्तम् । तस्य निधेः । षट् द्वादशेति ऽ गुणवदभेदेन वि-
कल्पः ॥ ३५ ॥

(५) नन्दनः । यदिति । तस्य पुरुषस्य षड्भागंनिधेः षष्ठभागम् । अत्रापि पूर्ववद्विकल्प्य व्यवस्था ॥ ३५ ॥

अनृतं तु वदन्दण्ड्यः स्ववित्तस्यांशमष्टमम् ॥ तस्यैव वा निधानस्य संख्यायाल्पीयसी कलाम् ॥ ३६ ॥

(१) मेधातिथिः । यस्तु मयाऽयंनिहितोमत्पूर्वजेन चेति प्रतिज्ञानं साधयति सोन्यवादी दण्ड्यः । यावत्तस्य
वित्तमस्ति ततोष्टमंभागंतस्यैव वाऽनिधानस्याल्पीयसीकलांमात्रांभागमित्यर्थः नतु तदेव द्रव्यंसुवर्णादिकंदापयेत्किन्तुत-
त्परिमाणमन्यद्वा सममूल्यंयया धनमात्रया दण्डितोऽवसादंगच्छेद्विनयंवा ग्राह्येत अनुबन्धादिविशेषापेक्षया पुरुषगुणा-
पेक्षया च विकल्पआश्रयणीयः । आतिशायनिकात्पूर्वदण्डात्स्वल्पोदण्डइति ज्ञापयति तेन यस्य बहु वित्तंस्वल्पोनिधि-
स्तत्र ननिध्यपेक्षा मात्रामस्याऽर्थादीनांदण्ड्यः साहस्रल्पीयसी भवति ॥ ३६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तस्यैवेति ब्राह्मणस्य दण्डः । तस्य निधानस्य शततमोभागोयावान्भागस्तावतीमल्पीय-
सीकलामंशम् । संख्याय व्यवस्थाप्य ॥ ३६ ॥

(३) कुल्लूकः । अस्वीयंस्वीयमिति ब्रुवन्स्वधनस्याष्टमंभागंदण्ड्यः यद्वा तस्यैव निधेरत्यन्ताल्पभागंगणयित्वा
येनावसादंन गच्छति न विषयश्च लभते तदण्ड्यः । अल्पीयसीमितीयसुन्नन्तनिर्देशात्पूर्वत्सादन्योयंदण्डः । विकल्पश्च
निर्गुणसगुणापेक्षः ॥ ३६ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव विशेषमाह अनृतमिति । स्ववित्तस्यानृतवादिनोयावद्वित्तंतस्य । तस्यैव यंनिधिंप्रति
लोभान्मिथ्याभाषी । अल्पीयसीमितिनातिपीडया । विकल्पस्तु गुणवदगुणवद्भेदेन ॥ ३६ ॥

(५) नन्दनः । अनृतंवदन् अन्यदीयंस्वकीयमिति सकलमल्पंवा वदन् । अल्पीयसीकलांस्ववित्तस्यांशं दण्ड्यः
शासितव्यः । दण्डयतेः शास्तेश्च तुल्यार्थत्वाद्विकर्मत्वम् ॥ ३६ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्ववित्तस्य अष्टमं अंशंदण्ड्यः । वा पक्षान्तरं तस्यैव निधानस्य द्रव्यपूर्णकुम्भस्य सङ्ख्याया-
ल्पीयसीकलां तुच्छककलाम् । कलातुषोडशोभागइत्यमरः । षोडशीगृह्णीयादित्यर्थः ॥ ३६ ॥

विद्वांस्तु ब्राह्मणोदृष्ट्वा पूर्वोपनिहितंनिधिम् ॥ अशेषतोप्याददीत सर्वस्याधिपतिर्हि सः ॥ ३७ ॥
[ब्राह्मणस्तु निधिलब्ध्वा क्षिप्रंराज्ञे निवेदयेत् । तेन दत्तं तु भुञ्जीत स्तेनः स्यादनिवेदयन् ॥ १॥]+

(१) मेधातिथिः । यदाविद्वान्ब्राह्मणः पूर्वैः पित्रादिभिरुपहितंनिधियदा प्रामुयात्तदा सर्वमेवाददीत न राज्ञे पूर्वोक्तभागंदद्यात् । अस्यार्थवादः सर्वस्याधिपतिर्हि सः । तथा चोक्तं सर्वस्वब्राह्मणस्येदमिति एतच्चाशेषतोग्रहणंयोब्राह्मणत्वामिकए वनिधिः यस्त्वविज्ञातः* ॥ ३७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पूर्वैःस्वपुरुषैरुपनिहितं निधिम् । सर्वस्य कृत्स्नस्य तस्य निधेः ॥ ३७ ॥

(३) कुहूकः । विद्वान्पुनर्ब्राह्मणः पूर्वमुपनिहितंनिधिदृष्ट्वा सर्वगृह्णीयान्पद्मागंदद्यात् यस्मात्सर्वस्य धनजातस्य प्रभुः अतएवोक्तम् सर्वस्वब्राह्मणस्येदमिति तस्मात्परनिहितविषयमेतद्वचनम् तथाच नारदः ॥ परेण निहितंलब्ध्वा राजाह्यपहरेन्निधिम् । राजगामीनिधिः सर्वःसर्वेषांब्राह्मणादृते ॥ याज्ञवल्क्योप्याह ॥ राजा लब्ध्वा निधिदद्याद्विजेभ्योर्धद्विजः पुनः । विद्वानशेषमादद्यात्सर्वस्य प्रभुर्यतः ॥ अतोयन्मेधातिथिगोविन्दराजाभ्यां ममायमिति योब्रूयादित्युक्तराजदेयार्थनिरासार्थपित्रादिनिहितविषयत्वमेवास्य वचनस्यव्याख्यातम् तदनार्षम् नारदादिमुनिव्याख्याविपरीतंस्वकल्पितम् । नमेधातिथिगोविन्दराजव्याख्यानमाद्रिये ॥ ३७ ॥

(४) राघवानन्दः । विदुषाब्राह्मणेनोपलब्धस्य राजा नांशभाक् प्रत्युत निधानस्य स्वलब्धस्य दातेत्याह विद्वांस्त्वितिद्वाभ्याम् । पूर्वोपनिहितं पूर्वमेवोपसमीपे निहितं † लब्धं पश्येत् पूर्वमितिशेषः ॥ ३७ ॥

यंतु पश्येन्निधिराजा पुराणंनिहितंक्षितौ ॥ तस्माद्विजेभ्योदत्वार्धमर्धं कोशे प्रवेशयेत् ॥ ३८ ॥

(१) मेधातिथिः । कौशशब्देन वित्तसंचयस्थानमुच्यते । पुराणंनिहितंक्षिताविति निधिरूपानुवादः ॥ ३८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संपश्येत् स्वपुरुषैरन्येनचोद्धृतम् । पुराणमज्ञातनिधातृकम् ॥ ३८ ॥

(३) कुहूकः । यंपुनरस्वामिकंपुरातनंभूम्यन्तर्गतंनिधिराजा लभते तस्माद्ब्राह्मणेभ्योऽर्धदत्वार्धमात्मीयधनागारे च प्रवेशयेत् ॥ ३८ ॥

(४) राघवानन्दः । तस्मान्निधेः द्विजेभ्यो ‡ विप्रेभ्यः ॥ ३८ ॥

(५) नन्दनः । अस्वामिके निधौ राज्ञा दृष्टे कर्तव्यमाह यन्तुपश्येन्निधिराजेति ॥ ३८ ॥

निधीनां तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ ॥ अर्धभाग्यक्षणाद्राजा भूमेरधिपतिर्हि सः ॥ ३९ ॥

(१) मेधातिथिः । अन्यैरपि दृष्टस्य निधेराज्ञाभागः पूर्वोक्तोऽगृहीतव्यइत्यस्यार्थवादोयंनिधीनांहि पुराणानामिति

+ (अ, ट, ठ, ड)

* विज्ञातः=विज्ञातः । स्वामीकस्तस्मिन् विज्ञेयः ब्राह्मणदृष्टेपिअस्त्येव राज्ञोभागः यतोवक्ष्यति । निधीनांहिपुराणानामिति । (आ आ) † लब्धं= लब्धं अशेषस्त्वादनेदतः सर्वदयेत्यादि । (राघ० ४)

‡ कोश=यो राज्ञा स्वयं निधिगतस्तस्मान्निधेरयं ब्राह्मणे भ्यो दाननियमो राज्ञः कोश (आ आ)

‡ विप्रेभ्यः =विप्रेभ्यः दानहेतुः पूर्वोक्तः भूयेवा व्रणाइत्यादिवाक्षितावित्युपलक्षणं वृक्ष कोटरादेः । (राघ० ४)

(३९) निधीनांतुपु = निधीनांहि (नं)

(३९) धातूना = सर्वेषा (ग)

धातूनामेव च क्षितावयन्त्वप्राप्तविधिः सुवर्णरूप्यादिबीजमिदं सिन्दूरकालाञ्जनाद्याश्च धातवः । सुवर्णाद्याकरभूमिर्यः खन-
ति योवा पर्वतादिषु गैरिकादिकादिधातूनुपजीवति तेनापि पूर्ववद्वाज्ञो भागो दातव्यः । अर्धभागिति अर्धशब्दोऽशमात्रवचनः
समासनिर्देशाद्यथा ग्रामार्धो नगरार्धमिति नपुंसकलिङ्गस्तु समप्रविभागः इहतु समासे लिङ्गविशेषप्रतिपत्त्यभावात्पूर्वस्यैव
षड्दशद्वादशादिर्भागस्य प्रकृतत्वात्तद्वचनो विज्ञायते अर्धभजतएकदेशंगृह्णातीत्यर्थः । अत्रहेतूरक्षणादिति यद्यपि क्षितौ नि-
हितस्य केनचिदज्ञानान्नराजकीयरक्षोपयुज्यते तथापि तस्य बलवतापहारः संभाव्यते अतोस्त्येव रक्षाया अर्थवत्त्वं एतदर्थं
मेवाह भूमेरधिपतिर्हिसः प्रभूरसौ भूमेस्तदीयायाश्च भुवोयल्लब्धं तत्र युक्तं तस्य भागदानम् ॥ ३९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धातूनां हेमादीनामाकरस्थानां चकाराद्रत्नानां च । रक्षणादिति भूमेरधिपतिरिति च हे-
तुद्वयम् ॥ ३९ ॥

(३) कुल्लूकः । निधीनां पुरातनानामस्वकीयानां विद्वद्वाङ्मणेतरलब्धानां सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानानां चार्धहरो राजा य-
स्मादसौ रक्षति भूमेश्च प्रभुः ३९ ॥

(४) राघवानन्दः । विद्वद्वाङ्मणेतरनिधिलाभे राजांशभागित्याह निधीनामिति । हिर्हेतौ । निधीनामस्वामिकानां
पुगणानामस्वकीयानाम् । धातूनां सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानानां च । भूमेरधिपतिरिति लिङ्गात् अर्धशब्दोत्र षष्ठांशवाची समा-
सनिविष्टत्वात् । तथाच याज्ञवल्क्यः ॥ इतरेण निधौ लब्धे राजा षष्ठांशमाहरेत् । अनावेदितविज्ञातो दाप्यस्तदण्डमेव
चेति ॥ अनावेदितविज्ञातः मया प्राप्तमित्यनुक्ते यदि राजा विज्ञात इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

(५) नन्दनः । अर्धग्रहणे हेतुमाह निधीनां हीति । धातूनां हेमरूप्यादिलोहगणानां मृत्तिकाविशेषाणाम् ॥ ३९ ॥

दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राजा चौरैर्हृतं धनम् ॥ राजा तदुपयुञ्जानश्चौरस्यामोति किल्बिषम् ॥ ४० ॥

(१) मेधातिथिः । चौरैर्यन्तीतं किञ्चिद्धनं तद्राजा प्रत्याहृत्य नात्मन्युपयुञ्जीत किंतिहि यएवमुषितास्तेभ्यएव
प्रतिपादयितव्यम् । सर्वग्रहणेन च चण्डालेभ्योपि देयमिति । चौराहृतमित्यास्मिन्पाठे चौरैर्भ्य आहृतमिति विगृह्य साधनं क-
तेति समासः पाठान्तरे चौरहृतमिति तृतीयेति योगविभागात्पूर्ववद्वा समासः । अयन्त्वत्रार्थोयच्चौरैर्हृतमशक्यप्रत्यानयनं-
तद्राज्ञा स्वकोशाद्दातव्यम् । उत्तरश्लोकार्धेयं योजनीयः राजा तदुपयुञ्जान इति । अनेकार्थत्वाद्वा धातूनामुपपूर्वोयुजिर्लक्ष-
णया ऽप्रतिपादन एव द्रष्टव्यः यो ह्यन्यस्मै ग्रामकालं धनं ददाति स्वप्रयोजनेषु विनियुक्ते न तदीयं तदुपयुक्तं भवतीति युक्त-
मुच्यते । राजा तदुपयुञ्जानश्चौरस्यामोति किल्बिषं ॥ किल्बिषं पापं ॥ ४० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चौरैर्हृतं चौरैर्भ्य आहृत्य ॥ ४० ॥

(३) कुल्लूकः । यद्धनं चौरैर्लोकानामपहृतं तद्राज्ञा चौरैर्भ्य आहृत्य धनस्वामिभ्यो देयं तद्धनं राजा स्वयमुपयुञ्जान-
श्चौरस्य पापं ग्रामोति ॥ ४० ॥

(४) राघवानन्दः । चौराल्लब्धं सर्ववर्णेभ्यः धनस्वामिभ्यः दातव्यमित्याह दातव्यमिति । अन्यथा तदुपयुञ्जानो-
यथेष्टविनियोक्ता । तच्चौरकृतं किल्बिषं ऽचौरनिष्ठजातीयं राजा स्तादृशप्रायश्चित्तपरं वा ॥ ४० ॥

(५) नन्दनः । दातव्यं चौरैर्भ्यः प्रत्याहृत्य कोशाद्वा ॥ ४० ॥

(६) रामचन्द्रः । राजा चौरहृतं द्रव्यं उपयुञ्जानः स्वीकुर्वाणः चौरस्य किल्बिषं ग्रामोति ॥ ४० ॥

जातिजानपदान्धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित् ॥ समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ४१ ॥

(१) भेदातिथिः । कुरूकापिशकाश्मीरादिदेशोनियतावधिः । जनपदं तत्र भवाधर्माजानपदाः किंचै तत्र भवन्ति ये तद्देशव्यपदेशैरनुष्ठीयन्ते । अथवा तन्निवासिनोजनास्तावन्मन्त्राः क्रोशन्तोत्यत्र जनपदशब्देनाभिधीयन्ते तेषामनुष्ठेयाजानपदाः तस्येदमितितद्धितः जातेर्जानपदाजातिजानपदाइति षष्ठीसमासः । जातिमात्रविषयदेशधर्मा राज्ञा परिपालनीयाः । समीक्ष्य विचार्य किमाम्नायैर्विरुद्धा अथ न तथा पीडाकराः कस्यचिदुत्तनएवंविचार्ययेऽविरुद्धास्तान्प्रतिपादयेदनुष्ठापयेदित्यर्थः तथाच वक्ष्यति सद्भिराचरितंयत्स्यादिति अथवा जातयश्च ते जानपदाश्चेति विशेषणसमासः जातिशब्देन च नित्यत्वंलक्ष्यते प्रशंसामात्रंचैतत् । देशधर्मा अपि शास्त्राविरुद्धानित्यास्ते नित्यवदनुष्ठेयादृष्टार्थगोप्रतिचारोदकक्षणादयः यथा-ग्राश्रणाअत्र प्रदेशे गावोन चारणीयाइति समयमाश्रयन्ति कस्य चित्कार्यस्य सिद्ध्यर्थं तत्र योव्यतिक्रामति सराज्ञादण्ड्यः । अथवा जनपदेभवाजानपदादेशनिवासिनउच्यन्ते जात्याजानपदाजातिर्जन्मोत्पत्तिरिति यावत् एतेन देशबन्धस्य पुरुषाणानित्यता लक्ष्यते ये तद्देशीयास्तद्देशाभिजनास्तन्निवासिनश्च गृह्यन्ते तेषांसर्वविशेषणावशिष्टानामनिदं प्रथमतोजाताये धर्मास्ते जातिजानपदशब्देनोच्यन्ते । वृद्धाच्छेतद्धिते प्रसक्ते छान्दसत्वादणेवकृतः । अथवाऽभेदोपचारात्पुरुषशब्दस्तत्संबन्धिषु धर्मेषुप्रयुक्तः एतेनायंदेशनियमोधर्माणांसएवंविधात्पुरुषात्प्रतिदृष्टव्यएते हि देशधर्मादेशानां पुनरार्याणां नहितिर्वक्समानधर्माणोन्यत्रानधिकृताः स्वसमाचारप्रसिद्धं धर्ममनुतिष्ठन्ति । मातृविवाहादिः सार्वभौमेन निवारणीयः । त्वदेशाचारवतांतेषांजातिधर्मोजननिवासाबन्धेनाभ्यानुज्ञानादाम्नाये विरोधोप्यत्र नास्ति अधिकृतानांविरोधाद्विरोधोर्नतरश्चाननु ॥ अहिंसासत्यमक्रोधः शौचमिन्द्रियसंयमइति ॥ प्रतिलोमाधिकारेणैवोक्तंम्लेच्छाश्च प्रतिलोमाएव तत्र यदि मातृविवाहे मूत्रोत्सर्गं चोदकशुद्ध्यभावेन दुष्यति कइन्द्रियसंयमः कीदृशंवाशौचमिति उक्तमेतत् । आर्यावर्तमध्यवर्तिनामेते धर्माः शौचादयः चातुर्वर्ण्यं तु तद्देशनियमोधर्माणांनास्तिकेचिददृष्टार्थादेशधर्माइतिवक्ष्यामः । एककार्यापन्नावणिक्कुरूकुसीदचातुर्विद्यादयः । तेषांधर्माः श्रेणीधर्माः यथा केचनवणिग्ग्रहत्तरावचनेन परिच्छिन्नंराज्ञा राज्ञे भागंप्रयच्छन्तीमां वणिज्यांवयमुपजीवाम एषते राजभागोत्साकंयावल्लाभोन्यूनोऽधिकोवा तत्र राज्ञाऽभ्युपगतेवणिज्येलाभातिशयार्थंराष्ट्रविरोधिर्नचेतरेतरव्यवस्थांकुर्वन्ति इदंद्रव्यमियन्तंकालमविक्रयमयंराज्ञोपदेशेनार्थोदण्डः पततिदेवतोत्सवार्थोवा तत्र यदि कश्चिद्यतिक्रामति सएवंश्रेणीधर्मव्यतिक्रमदण्ड्यः । कुलधर्माइति कुलवंशः तत्र मरुयातमहिम्नापूर्वजेन धर्मः प्रवर्तितोभवति योस्मदंशजःकुतश्च न धनंलभेत सनादत्वा ब्राह्मणेभ्योन्यत्र विनियुञ्जीतेत्यादयोधर्माः तथा सति योग्यत्वे यएव पूर्वपुरुषाणांघाजकानांकन्यादिसंप्रदानभूतोवासएव कार्यात्तदतिक्रामन् राज्ञोऽनुष्ठापयितव्य एतेषांच सामायिकधर्माशङ्क्या पुनर्वचनंचोभयसंबन्ध्यतिक्रमइति वक्ष्यामः ॥ ४१ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । जातिब्राह्मणादिः जनपदोऽनेकग्रामसमुदायः तद्वासिनोजानपदाः तत्संगतान् । श्रेणी पाण्डवणिगादिगणः कुलं वसिष्ठकुलमित्यादितन्नियतान्धर्मान् समीक्ष्य निरूप्य ॥ ४१ ॥

(३) कुल्लूकः । धर्मान् ब्राह्मणादिजातिनियतान्याजनादीन् जानपदांश्च नियतदेशव्यवस्थितान् आम्नायविरुद्धान् देशजातिकुलधर्माश्चाऽऽम्नायैरप्रतिषिद्धाः प्रमाणमिति गौतमस्मरणात् । श्रेणीधर्माश्च वणिगादिधर्मान् प्रतिनियतकुलव्यवस्थितान् ज्ञात्वा तदविरुद्धान् राजा व्यवहारेषुतत्तद्धर्मान्व्यवस्थापयेत् ॥ ४१ ॥

* किंच=केचित् (आ आ)

१ देशधर्मा अपि=देशधर्माणां यथा जातिर्नित्याएवं देशधर्मा अपि (आ आ)

(४) राघवानन्दः । मासंगिकं जातिधर्माद्यनुशास्ति जातीति । जातिधर्मान् ब्राह्मणादिजातिनियमान्याजनादीन् च जानपदांश्चनियतदेशव्यवस्थितान् । तथाचगौतमः ॥ आम्रायाविरुद्धो देशजातिकुलधर्माप्रतिषिद्धाः प्रमाणमिति ॥ श्रेणीधर्मान्वणिगादिधर्मान् । कुलधर्मान् तत्कुलप्रतिनियतान् । कुलं वंशः ब्राह्मणादिर्मूर्धाभिषिक्तादिरिति वा । एतेषामेतदेव स्वधर्ममिति वीक्ष्य परिपालयेत्तुराजेति ॥ ४१ ॥

(५) नन्दनः । जातिधर्मो ब्राह्मणादीनां प्रतिनियतो धर्मः । जानपदो धर्मो देशधर्मः यथा दाक्षिणात्यानां मातुलमुतापरिणयनम् । श्रेणीधर्मो वणिक्कुशीलवादितर्तनिकायधर्मः यथा इयन्तकालमिन्द्रव्यविक्रेतव्यं न परमिति । कुलधर्मः पूर्वशिखापरशिखादिनियमः ॥ ४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । श्रेणीधर्माः पाषण्डवणिगादिधर्माः । एकजात्योपजीविनः श्रेणयः ॥ ४१ ॥

त्वानि कर्माणि कुर्वाणादूरे सन्तोपि मानवाः ॥ प्रियाभवन्ति लोकस्य स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिताः ॥ ४२ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वोक्तस्य जानपदादिधर्मस्य दृष्टादृष्टतानेन प्रदर्श्यते । त्वानि कर्माणि कुलस्थित्यनुरूपाणि ये कुर्वन्ति ते दूरस्था अपि प्रियाभवन्ति सर्वस्यान्योनिकटवर्त्तसंसर्गातिशयात्प्रियो भवति स्वकर्मकारी तु दूरस्थ एव प्रियः । स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिता इत्यनेन परकर्मानुष्ठानमाह ये न परकर्माणि कुर्वन्ति ते सर्वस्य प्रियाभवन्तीति श्लोकार्थः ॥ ४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दूरे देशे देशान्तरे अतो लोकाविरुद्धत्वात् स्वजात्यादिधर्म एव ग्राह्यस्तेषामित्यर्थः । स्वे स्वे धर्म इति प्रियत्वे हेतुतया पुनरुक्तम् ॥ ४२ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मात् स्वानीत्यादि जातिदेशकुलधर्मादीन्यात्मीयकर्मण्यनुतिष्ठन्तः स्वे स्वे च नित्यनैमित्तिका द्वौ कर्मणि वर्तमानादूरेपि सन्तः सान्निध्यनिबन्धनसेहाभावेपि लोकस्य प्रियाभवन्ति ॥ ४२ ॥

(४) राघवानन्दः । अत्रैवार्थवादमाह त्वानीति । स्वे स्वे नित्ये नैमित्तिके च । यथोक्तकारी हि दूरे वर्तमानलोकस्य रक्षणादौ लोकेन रक्षणसमर्थस्य राज्ञः सामान्योक्तिर्वा ॥ ४२ ॥

(५) नन्दनः । उक्तार्थे प्रशंसामाह त्वानि कर्माणीति ॥ ४२ ॥

नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पुरुषः ॥ न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथं चन ॥ ४३ ॥

(१) मेधातिथिः । कार्यं विवादवस्तु तद्राजा स्वयं न प्रवर्तयेत् । कस्यचिद्वेष्यस्योपघातार्थं धनिनो वा धनग्रहणार्थं न तदीयमृणिकमन्यं चापराद्धमुद्वेजयेत् । एष ते धर्म इति किमिति ममाग्रतो नाकर्ष्यते न वा तावदनपराद्धं यावदहमेनं निर्घातयामीत्येवं राज्ञा न वक्तव्यं सत्यपि द्वेषे धनलोभे वा । न च प्रापितमावेदितमन्येनार्थना ग्रसेत् निगिरेन्नोपेक्षेतेति यावत् । अवधीरणायां निगिरेदिति प्रयुज्यते तत्समानार्थश्च ग्रसतिः तथा च वक्तारो भवन्ति यावार्किंचिदद्योच्यते तत्सर्वं निगिरति न किंचिदयं प्रतिवक्ति । अन्ये तूत्तरं श्लोकार्द्धमेवं व्याचक्षते न च प्रापितं व्यवहारादन्येन प्रकारेणार्थं धनं ग्रसेत् स्वीकुर्यात् । यदि हि राजा स्थल्लेशो देशिकया धनदण्डे प्रवर्तते ततः परलोके दोषो द्रष्टव्यः राज्ये चोपघातः स्यात् । अथेदमपरं केषां चिच्छाख्यानं नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा साक्षादुपलभ्याप्यपकारिणां स्वयं किंचिद्व्याघस्यापराधी तेन वा तद्यवहारेण नारुहः

(४२) लोकस्य = लोकेस्मिन् (च)

परव्यवहारदर्शनमेव पराजितस्य निग्रहावसरोभवति न राजा एतच्चकरणदानादिष्वेव द्रष्टव्यं ये तुस्तेनसाहसिकादयः कण्टकस्थानीयास्तात्राजा स्वयमेवावगम्य गृह्णीयात् शेषंसमानं नाप्यस्य पुरुषइति अस्य राज्ञः पुरुषोधिकारीमनुष्यः ॥ ४३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नोत्पादयेदिति एतच्च ऋणादानादौ नतु साहसादावपि तत्रस्वयमप्यन्वेष्यत्वात् । प्रापितमन्येनेतिस्वयमृणादिदत्तमृणिनाऽदोयमानंराज्ञे यदा निवेद्येत तदा नग्रसेनोपेक्षेत नवाप्रापितमित्यपरःपाठः अन्येनान्यतरेण प्रापितं अनुपदर्शितप्रमाणं नग्रसेत् प्रासयेदन्यतरस्मै दापयेत् ॥ ४३ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रासङ्गिकमिदमभिधाय पुनः प्रकृतमाह नोत्पादयेदिति । राजा राजनियुक्तोवा धनलोभादिना कार्यमृणादिविवादंनोत्पादयेत् । तदाह कात्यायनः ॥ न राजा तु विव्त्वेन धनलोभेन वा पुनः । स्वयंकर्माणि कुर्वीत नराणामविवादिनाम् ॥ नचार्थिना प्रत्यर्थिना वाऽऽवेदितंविवादंधनादिलोभेनोपेक्षेत ॥ ४३ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमाह नेति । कार्यं धनलोभादिना ऋणादिविवादं नोत्पादयेन्नोत्थापयेत् अस्यराज्ञः । अनेननियुक्तः पुमान् । अन्येनोत्कोचादिना स्वयंवाग्रसेत् प्राप्तदत्तंवागृह्णीयात् अर्थग्रसित्वा कार्यार्थिनांकार्यंनोपेक्षेतेति । व्यवहारादन्येन प्रापितंवा नगृण्णीयात् राज्ञो यत्नात्प्राप्तनिध्यादेर्व्यवस्थोक्तेः ॥ ४३ ॥

(५) नन्दनः । परिभाषान्तरमाह नोत्पादयेदिति । कार्यंविवादपदं दण्डदशद्वन्धाहपेक्षयास्वयन्नोत्पादयेत् । अन्येन व्यवहारवता प्रापितमावेदितंव्यवहारंन ग्रसेन्ननिर्हरेत् ॥ ४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । राजा कार्यं नोत्पादयेत् । अस्य राज्ञः पुरुषः नोत्पादयेत् । च पुनः अन्येन वादिनावा प्रापितंमिवेदितं अर्थं कार्यं कथंचन न ग्रसेत् नोपेक्षेत ॥ ४३ ॥

यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम् ॥ नयेत्तथानुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥ ४४ ॥

(१) मेघातिथिः । यदुक्तंन स्वयंदृष्टापि राजा सहसा कंचिदाक्रमेत वा निगृह्णीयार्धन्मर्णायेतत्संभवति कथं पुनरेतदेवगन्तव्यं किंपरिहासकृतमेतदुपक्रोधान्यनुबन्धकृतमिति यतआह अनुमानेनैतज्ज्ञातव्यं यथा मृगयुर्व्याधोवृथा मृगंदष्टिपथातिक्रान्तछिद्रनिस्तृतरसृक्पातैःरवनिःस्यंदमानैः पदंमृगस्य नयत्यासादयत्येवं राजाऽनुमानेन परोक्षे प्रत्यक्षे वार्थकारणानिश्चिनुयात् । धर्मश्च कृतव्यवहारविषयस्तत्वावगमः । उक्तस्याप्यनुमानस्य पुनर्वचनंस्मृतिदाढ्यार्थम् ॥ ४४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यथेत्यनुमानव्यवहारदर्शनस्योक्तम् ॥ ४४ ॥

(३) कुल्लूकः । यथा मृगस्य शस्त्रहतस्य रुधिरपातैर्व्याधः पदंस्थानंप्राप्नोति तथानुमानेन दृष्टप्रमाणेन वा धर्मस्य तत्त्वंनिश्चिनुयात् ॥ ४४ ॥

(४) राघवानन्दः । परनिष्ठाधर्मज्ञानदृष्टान्तमाह यथेति । असृक्पातैर्गात्रात्पतितैर्मृगयुना घातितस्य मृगस्य पदमवस्थितिस्थलं नयेज्जानीयात्तथा । मृगयुर्व्याधः । अनुमानेन बाह्यैर्विभावादित्युक्तेन । पदं तत्वम् ॥ ४४ ॥

(५) नन्दनः । नकेवलंसाक्षादिभिरर्थोनिर्णेतव्यः किन्त्वनुमानेनापीत्याह यथानयत्यसृक्पातैरिति पदंनिर्णयम् ॥ ४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । दृष्टान्तमाह यथेति । मृगयुः लुब्धकः । मृगस्य असृक्पातैर्यथा पदं नयति तथाऽनुमानेन हेतुना धर्मस्य पदं नृपतिः नयेत्प्रापयेदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

सत्यमर्थं च संपश्येदात्मानमथ साक्षिणः ॥ देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः ॥ ४५ ॥

(१) मेधातिथिः । व्यवहारविधौ व्यवहारकर्मणि स्थितः प्रवृत्तोन केवलं व्यवहारानेव संपश्येद्यावेदतदपरं सत्यादि तत्र सत्यसंदर्शनं यस्याप्यर्थप्रत्यर्थनोरन्यतरेण शालीनतया परिपूर्णाक्षरनाभिहितं तथापि यदि राजा प्रमाणान्तरतः पूर्वोक्ताहानुमानादेव कथंचिदीदृशोयमर्थइति निश्चेतुं पारयेत् तदा तदाशयेनोपेक्षेत । अनेनैतन्नसर्वमुक्तमिति तदुक्तं ॥ छलं निरस्य भूतेषु व्यवहारं नयेन्नृपइति । अर्थस्य दर्शनमर्थशब्दो धनवचनप्रयोजनवचनो वा तत्र यदि महान्तमर्थमासादयेत्तदा त्यक्त्वाप्यन्यानि राजकार्याणि नोद्विजेत व्यवहारेक्षणं कुर्यादेव अथवा यदि कश्चिद्भूयात्साक्षिभिरर्थएतस्माद्गृहीतोऽन्येन वा सत्येन तत्र निरूपयितव्यं यदेतद्यवहारपदं यदि स्वल्पं संभवति धनग्रहणं अर्थगुरुसभ्याः साक्षिणश्च दैन्यंगतास्तदा संभावनीयं प्रमाणान्तराच्च निश्चेतव्यं एतच्चात्मानं साक्षिणं कृत्वा साधनीयं एतदुक्तं भवति कण्टकशोधनन्यायेन चारैश्चारयेत् अथवात्मानं संपश्येदात्मानो व्यवस्थां संपश्येत्कोशक्षयं महाकोशतां वा अस्मिन्पक्षे साक्षिणइति स्वतंत्रपदं देशस्य दर्शनं कचिदलोप्यर्थो महत्त्वमासादयति । महानपि योन्यत्र सत्कविल्लघुभवतीति एतद्देशस्य दर्शनमेवं कालोपि द्रष्टव्यः रूपव्यवहारस्तु स्वभावतो गुरुल्लघुतां पश्येदिति । अन्यैस्तु व्याख्यातं सत्यार्थयोः सारफलतां पश्येदात्मानं साक्षिणं कृत्वा एतदुक्तं भवत्यर्थात्सत्यं गुरुत्वेन महाप्रयोजनत्वाद्गुणोत्कर्षसाधनरूपतयाऽऽश्रयितव्यं अर्थस्त्यक्तव्योऽसारत्वात् देशः स्वर्गादिः सत्यसमाश्रयप्राप्यः कालश्चरन्तत्र वासः रूपं सुरसुंदरीणां मनोहरं एतदेव विपरीतं सत्यत्यागेन केवलार्थसमाश्रयणात् ॥ ४५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सत्यं को भागः सत्यइति । अर्थदण्डादिसिद्धं । आत्मानं राजानं पश्येत् । ततो राजवृत्तमनुगच्छेत् तथा साक्षिणो देशादींश्च संपश्येत् प्रयत्नेनानुसंदध्यादित्यर्थः देशमत्रायमाचारइति । कालमत्रैतद्योग्यमिति । रूपमर्थप्रभृतीनामाकारम् ॥ ४५ ॥

(३) कुल्लूकः । व्यवहारदर्शनप्रवृत्तोर राजा छलमपहाय सत्यं पश्येत् तथार्थं च । अर्शादित्वान्मत्वर्थयोऽच् । अर्थवन्तं गोहिरण्यादि धनविषयस्थं व्यवहारं पश्येत् न त्वहमनेनाक्षिणिकोचनेनोपहसितइत्यादि स्वल्पापराधं आत्मानं च तत्त्वनिर्यायेत् स्वर्गादिफलभागिनं साक्षिणः सत्यवादिनः देशं कालं च देशकालोचितं स्वरूपं व्यवहारस्वरूपं गुरुल्लघुतादिकं पश्येत् ॥ ४५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच सत्यमिति । व्यवहारविधौ तत्तत्कर्मणि व्यवस्थितो नृपतिः छलमपहाय सत्यं पश्येत् अर्थं हिरण्यादिविषयकव्यवहारम् आत्मानं च तत्त्वनिर्यायेन स्वर्गादिफलभागिनम् । साक्षिणो यथा दृष्टश्रुतार्थवादिनः । देशं वाराणस्यादिकम् । कालं दुर्भिक्षादिरूपं लघुगुरुभावादिकं च । पश्येदित्यनुषज्यते ॥ ४५ ॥

(५) नन्दनः । सत्यं संपश्येत् अस्मिन् व्यवहारोपवादिनोः किंप्रयोजनं भविष्यतीति पश्येत् साक्षिणः पश्येत् यथोक्तगुणानामपि साक्षिणारागद्वेषौ पश्येत् । इक्षितादिभिर्देशकालं पश्येत् । अस्मिन्देशेऽस्मिन्कालेऽयमर्थोऽयुज्यते न वेति पश्येत् । विवादविषयस्यार्थस्वरूपं च पश्येत् ॥ ४५ ॥

(६) रामचन्द्रः । अर्थं कार्यम् ॥ ४५ ॥

सद्भिराचरितं यत्स्याद्भार्मिकैश्च द्विजातिभिः ॥ तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥ ४६ ॥

(१) मेधातिथिः । सन्तः प्रतिषिद्धवर्जका धार्मिका विहितानुशायिनः यद्यप्येकएव शब्दउभयमर्थप्रतिपादयितुं शक्नोति तथापि भदापादानाद्विषयविभागेनैवं व्याख्यायत तैर्यदाचरितमनुपलभ्यमानश्रुतिस्मृतिवाक्यं तद्देशकुलजातीनां भक-

ल्पयेदनुष्ठापयेत् । अविरुद्धश्रुतिस्मृतिभिरुपलभ्यमानाभिर्यदुक्तं जातिजानपदान्धर्मानित्यत्र श्लोकेदेशकुलाद्याचारस्य प्रामाण्यतस्यानेन विशेषः कथ्यते आम्नायेनाविरोधितेन दृष्टार्थान्यपि ग्रामदेशराजकार्याणि शास्त्राविरुद्धान्यादरणीयानि न विरुद्धानि यथा कश्चिदेशऋणिकआत्मानंविक्रम्यधनंदाप्यते तच्च कर्मणापि सममित्यनेन विरुद्धं अन्यत्र श्लोकेन दर्शितम् । अन्यस्य चाचारस्य शिष्टसंवन्धितयैव प्रामाण्यमुक्तमाचारश्चैव साधूनामिति । नच तद्विरुद्धार्थसमाचरणेन साधुत्वमुपपद्यते तस्माच्चनादृष्टाय तद्विषयोयमुपदेशः । अन्यस्त्वाह देशान्तरेधार्मिकैः सद्भिर्द्विजैर्यदविरुद्धं श्रुत्यास्मृत्यन्तरेण वा कार्यते तद्देशान्तरेपि राजा प्रकल्पयेत् यथोद्दिष्टभयज्ञादयउदीच्येषु प्रसिद्धास्तेप्राच्यैर्दाक्षिणात्यैःप्रतीच्यैश्चानुष्ठेयाः कुतः आचाराद्विस्मृतिरनुमातव्या स्मृतेः श्रुतिः सा च यथैवमनुमीयत उदीच्यैरप्येतत्कर्तव्यमिति तत्र तद्वितस्य बहुष्वर्थेषु स्मरणात्तत्र जातस्तत्रसंभवस्ततआगतस्तमभिप्रस्थितः शेषइति चैतस्य लक्षणविकारोभयरूपत्वादप्येवमपि प्रतिपदमनुपातेषु तद्वितस्मरणान्नास्त्युदीच्योनाम यउदीच्यशब्देन निवर्त्येत ततश्च पुरुषमात्रेणैतत्कर्तव्यमित्यापतति देशसमाख्यानियतनिमित्तत्वभावेनानियामकत्वादप्येवंवाक्यमनुमीयते । उदीच्यांजातेन तद्देशवासिना वा तदपि व्यभिचारितवतोपि नान्यत्र करोति तन्निवास्यप्यन्यत्र जातो न करोत्येव । अथोद्देशाभिजनस्तन्निवासीवेत्यनित्यत्वादभिजननिवासयोस्तदपि न युक्तमेव नहि जातिगुणगोत्राणीवाभिजननिवासौ नित्यौ तस्मान्नित्यस्य नकस्यचिदनुष्ठातृणामवच्छेदकस्यानुपपत्तेः सर्वविषयाधर्मानदेशधर्मानामकेचनसन्ति अनेनैव न्यायेन कुलधर्मापि कथंतीर्हिदेशधर्माः कुलधर्माजातिधर्मादिति चस्मृतिकारैर्भेदेन व्यपदिश्यन्ते । उक्तं दृष्टार्था नियता व्यवस्था तत्र धर्मस्तस्यच नियमउपपद्यतइति उक्तम् । कुलचंगोत्रैकदेशः यस्तुरुक्ल्लगोत्रधर्मोयथा न वासिष्ठावैश्वामित्रमवधीरिति सनित्यत्वाद्गोत्रव्यपदेशस्य तान्यस्येति विरम्यते ॥४६॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सद्भिर्दोषरहितैर्देवादिभिः । तद्वस्तु प्रकल्पयेत् प्रकृष्टव्यवहारेषु कल्पयेत् । यदि देशाद्यविरोधि विरोधेतु तद्देशादिधर्मएव तद्देशजानाम् एवंसामान्यतोराजधर्माव्यवहाराऽनुगुणाऽऽत्ताः ॥ ४६ ॥

(३) कुल्लूकः । विद्वद्भिर्धर्मप्रधानैर्द्विजातिभिर्यदृश्यमानशारू मनुष्ठितं तद्देशकुलजात्यविरुद्धमादाय व्यवहारनिर्णयं प्रकल्पयेत् ॥ ४६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच सद्भिरिति । आचरितं शास्त्रद्वयमप्यनुष्ठितम् सद्भिरिति द्विजातीनां विशेषणं । शूद्रव्यावृत्त्यर्थम् । धार्मिकैः प्रतिषिद्धवर्जनपुरःसरं धर्मानुष्ठानृभिः । तद्देशकुलजातीनामविरुद्धमेव प्रकल्पयेत् प्रमाणं कुर्यात् कुलधर्माश्चेत्यत्रोक्तत्वात् ॥ ४६ ॥

(५) नन्दनः । तदनुरूपनिर्णयोपायपरिग्रहार्थमशारीयमपि सद्भिराचरितं धर्ममनुपालयेदित्याह सद्भिराचरितं यत्स्यादिति । स्वधर्मनिरता अभ्यात्मविदः सन्तो विरुद्धं विरुद्धं चेत्प्रकल्पयेदनुपालयेत् ॥ ४६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अविरुद्धं दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ ४६ ॥

अधमणार्थसिद्ध्यर्थमुत्तमर्णेन चोदितः ॥ दापयेद्द्विनिकस्यार्थमधमणाद्विभावितम् ॥ ४७ ॥

(१) मेधातिथिः । यः सर्वेषु व्यवहारपदेषु साधारणतदुक्तं विशेषापेक्षायामिदमाह सोपचयंकालान्तरे दास्यामीति योधनमन्यस्मादृण्हाति सोधमर्णः । यस्तु सोपचयंप्रत्यादास्यामीति प्रयुङ्क्ते सोत्तमर्णः सम्बन्धिशब्दावेतौ । अधमर्णस्यार्थः अर्थो धनप्रकरणाद्यदेवोत्तमर्णाय देयंतदेवोच्यते तस्य सिद्धिरुत्तमर्णप्रतिनिर्यणं द्वितीयोर्ध्वशब्दः प्रयोजनवचनः अयंसमुदायार्थः । उत्तमर्णेन यदा राजाचोदितो ज्ञापितो भवत्यधमर्णेन योगृहीतोर्थः समेसिद्ध्यतु दापयतु भवान् राजात्वधमर्णात्तदा दापयेद्

निकस्यार्थम् । धनमस्यास्तीति धनिकः उत्तमर्णएव च प्रसिध्या धनिकउच्यते । दापयेदिति संबन्धाच्चतुर्थी त्यक्ता सात्व-
पूर्णत्वात्संप्रदानभावस्य न कृता यथा घृतः पृष्ठं ददाति रजकस्य वस्त्रं ददातीति न ह्यत्र मुख्योददात्यर्थः इहाप्युभयोः सत्त्वस्य
भावादुभयोः स्वत्वाभावादपरिपूर्णोददातीत्यर्थः । किमुत्तमर्णवचनादेवासौ दापयितव्योनेत्याह विभावितमिति यदा निश्चि-
तेन प्रमाणेन धारयतीति प्रतिपद्यते । अथवा विभावितः स्वयंप्रतिपन्नोयतोविप्रतिपन्नस्य वक्ष्यत्यपन्हवेऽधमर्णस्येति । क-
थंपुनः स्वयंप्रतिपन्नोविभावितइत्युच्यते नैषदोषः विस्मरणे स्वहस्तलेख्यादिना स्वयंप्रतिपन्नश्च भवति विभावितश्चाप्रतिपन्न-
श्चजानानोपि मिथ्याप्रतिपन्नः ॥ ४७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ऋणदानमवतारयति अधमर्णेति । अधमर्णेन गृहीतोऽर्थोऽधमर्णार्थस्तस्योत्तमर्णसिद्ध्यर्थं
चोदितो राजा अधमर्णं दापयेत् । विभावितं प्रमाणेन ॥ ४७ ॥

(३) कुल्लूकः । एतत्सकलव्यवहारसाधारणपरिभाषात्मकमुक्तंसंप्रति ऋणादानमधिकृत्याह अधमर्णेति । अधमर्ण-
ार्थसिद्ध्यर्थं प्रयुक्तधनसिद्ध्यर्थं धनस्वामिना राजा बोधितो वक्ष्यमाणलेख्यादिप्रमाणप्रतिपादितं धनमुत्तमर्णस्याधमर्णं प्रदाप-
येत् अधमर्णादुत्तमर्णाय दापयेदित्यर्थः ॥ ४७ ॥

(४) राघवानन्दः । संप्रति ऋणविषयकव्यवहारमाह अधमर्णेति । अधमर्णार्थसिद्ध्यर्थं अधमर्णादर्थस्य सिद्धि-
रुत्तमर्णेन प्राप्तिस्तदर्थं चोदितः प्रार्थितो नृपः । मयैतस्माद्धनं प्राप्यते यथेति । विभावितंसंभावितं साक्ष्यादिना धनिकस्यो-
त्तमर्णस्य दापयेदित्यर्थः ॥ ४७ ॥

(५) नन्दनः । इदानीमाद्यमृणादानं नाम व्यवहारपदं प्रस्तूयते । अधमर्णेति ऋणग्राहकोऽधमर्णस्तेन गृहीतार्थस्य
लाभार्थमुत्तमर्णं ऋणप्रयोक्ता ॥ उत्तमर्णाधमर्णौ द्वौ प्रयोक्तृग्राहकौ क्रमादित्यमरः । तेनोत्तमर्णेन चोदितो राजा धनिकस्यो-
त्तमर्णस्यार्थमधमर्णेन दापयेत् । विभावितमुत्तमर्णेन लेख्यादिना साधितं वा तदर्थस्य विशेषणम् ॥ ४७ ॥

(६) रामचन्द्रः । उत्तमर्णेन धनिकेन चोदितो राजा अधमर्णगृहीतस्य अर्थस्य सिद्ध्यर्थं धनिकस्यार्थसाक्ष्यले-
ख्यादिभिः स्थिरीकृतं दापयेत् ॥ ४७ ॥

यैर्यैरुपायैरर्थं स्वं प्राप्नुयादुत्तमर्णिकः ॥ तैस्तैरुपायैः संगृह्य दापयेदधमर्णिकम् ॥ ४८ ॥

(१) मेधातिथिः । नेहाप्रामाण्यादुत्तमर्णाद्वाङ्मे भागं वक्ष्यत्यधमर्णाद्दिण्डं तत्र स्वभागनृष्णया राजानमुपायान्तरेण ध-
नमार्गणं धनिकानां कारयेयुरतस्तन्निवृत्त्यर्थमिदमुच्यते । यैर्यैर्वक्ष्यमाणैरुपायैः स्वधनं पूर्वप्रयुक्तमुत्तमर्णो लभेत तैस्तैरधमर्ण-
ं दापयेत् । संगृह्य स्थिरीकृत्य अनेनैवोपायेनैतस्मादेतल्लभ्यतइत्येतन्निश्चित्येत्यर्थः । अथवाऽनुकूलमुपसांत्वनं ग्रहः उत्तम-
र्णएव उत्तमर्णिकः उत्तमं च तदणंचोत्तमर्णं तदस्यास्तीत्युत्तमर्णिकः अतश्च निष्ठानाविति रूपं । एवमितरावपि सर्वधनादिषु प्र-
क्षेप्तव्यावन्त्यत्र वीरपुरुषकोग्रामइति वद्ब्रूव्रीहिणैव सामानाधिकरण्यास्य मत्वर्थे चोक्तार्थाविशेषेण समासः मत्वर्थीयश्च दु-
र्लभः वृद्धिलाभार्थप्रयोगविषयं धनमृणां द्वौ च तस्य संबन्धिनो प्रयोक्तृ गृहीता च प्रयोजकस्य च तदुत्तमं भवति स्वतन्त्रो ध-
नदाने प्रत्यादाने च । इतरस्य सोपचयदानाद्वह्यायामत्वाच्चाधमत्वं व्युत्पत्तिमात्रत्वे तदूह्यैव त्वेतौ प्रयोक्तृगृहीत्रौर्वाचको
के पुनस्तत्रोपायाइत्येतत्प्रदर्शनार्थं उत्तरश्लोकः ॥ ४८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वयमेवोत्तमर्णः शक्तो यथा कुर्यात्तथाह यैर्यैरिति । संगृह्य नियम्य दापयेदुत्तमर्णः ॥ ४८ ॥

(३) कुल्लूकः । कथं दापयेदित्याह यैर्यैरिति । यैर्वक्ष्यमाणैरुपायैः संप्रयुक्तमर्थमुत्तमर्णो लभेत तैस्तैरुपायैर्वशीकृत्य
तमथ दापयेत् ॥ ४८ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र यत्रमाधत्ते यैरिति । उत्तमर्णिकः उत्तमं देयत्वेन पूर्वयदणं तेन व्यवहरतीति । गृहीते-
न ऋणेनाधमर्णोनिरुष्टोयस्तमधमर्णिकं धनं दापयेद्वाजेतिशेषः ॥ ४८ ॥

(५) नन्दनः । उत्तमर्णिकइति स्वार्थे कः साधयेद्दापयेत् ॥ ४८ ॥

(६) रामचन्द्रः । तैस्तैरुपायैः अधमर्णिकं संगृह्य नियम्य दापयेदित्यर्थः ॥ ४८ ॥

धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च ॥ प्रयुक्तंसाधयेदर्थपञ्चमेन बलेन च ॥ ४९ ॥

(१) मेधातिथिः । तत्र धर्मस्कन्धकरीत्या स्तोकंस्तोकग्रहणमिदमद्य इदंश्वइदंपरश्वः यथाकुटुंबसंवाहोस्यैवंवयम-
पि तव कुटुंबभूताः संविभागयोग्याइत्यादि पठितप्रयोगोधर्मः यस्तु निःश्वसव्यवहारेण दापयितव्यः । अन्यत्र कर्णोदकव-
द्धनंदत्वा कृषिवाणिज्यादिना व्यवहारयितव्यं तत्रोत्पन्नं धनं तस्माद्गृहीतव्यम् । यस्तु व्यवहारो राजनिवेद्यस्तस्य सर्वोपायपरी-
क्षयेयोज्यत्वाद्वालयहणेन च गृहीतत्वात् । यस्तु साक्षान्नददाति विद्यमानधनोपि स छलेन दातव्यः केनचिदपदेशेन विवा-
होत्सवादिना कटकाद्याभरणगृहीत्वा न दातव्यं प्रावदनेन तद्धनं न दग्धम् । आचरितमभोजनगृहद्वारोपवेशनादि बलराजा-
धिकरणोपस्थानंतत्र राजा साम्राट्प्रच्छन्नं निगृह्य च प्रपीड्यदापयतीति ननुस्वगृहसंबन्धिधनादि बलेयतः प्रकृतीनां बलं राज-
नीतिः पठ्यते तस्मिन्नेव प्रसङ्गे उक्तासा अन्येतु राज्ञेवायमुपदेशइति वर्णयन्ति राजधर्मप्रकरणात् । राजा ज्ञापितउपायैरेनं-
दापयेत्पराजितं स्वयंप्रतिपन्नं च नतु सहसावष्टभ्य सर्वस्वं धनिने प्रतिपादनीयः यतउभयानुग्रहो राज्ञा कर्तव्यः सर्वस्वादाने-
चाधमर्णस्य कुटुंबोत्सादः स्यात्सोपि न युक्तः उक्तं हि ॥ नावसाद्यशनैर्दाप्यः काले काले यथोदयं । ब्राह्मणस्तु विशेषेण धर्म-
केसति राजनीति ॥ तस्मार्त्तिकचनवृद्ध्या संदापनीयः । कुटुंबादधिकं धनं संरुचः सर्वदापनीयः । सर्वासंभवे च कर्मणापि समं-
कुर्यादित्यन्यस्मिन्व्याख्याने छलाचारौ राजानमज्ञापयित्वा नकार्यौ ॥ ४९ ॥

(२) सर्वज्ञानाराधणः । धर्मेण परस्त्वानादाननियमजनितपरलोकफलादिकथनेन यथादिनियमेनेतिकेचित् । व्य-
वहारेण राजसन्निधौ । छलेन व्याजाद्वन्धकादियहणे । आचरितेन स्वयंप्रायोपवेशेन । बलेन गृहपतिरोधादिना ॥ ४९ ॥

(३) कुडूकः । तानुपायानाह धर्मेणेत्यादि । धर्मादिना प्रयुक्तमर्थसाधयेत्तत्र धर्मानाह बृहस्पतिः ॥ सुहृत्संबन्धिसं-
दिष्टैः साम्ना चानुगमेन च । प्रायेण वा ऋणीदाप्योधर्मेष्वुदाहृतः ॥ देये धनेऽधमर्णस्याविप्रतिपत्तौ व्यवहारेण । तथा
च ववक्ष्यति अर्थपव्ययमानं त्विति । मेधातिथिस्तु निःस्वोयः सव्यवहारेण दापयितव्यः । अन्यत्कर्मोपकरणं धनं दत्वा
कृषिवाणिज्यादिना व्यवहारयितव्यः । तदुत्पन्नं धनं तस्मात्तु गृह्णीयादित्याह छलादीनि त्रीण्याह बृहस्पतिः ॥ छद्मना या-
चितं चार्थमानीय ऋणिकाद्वली । अन्यादृतादिवाहृत्य दाप्यतेतत्र सोपधिः ॥ दारपुत्रपशून्हत्वा कृत्वा द्वारोपवेशनम् ।
यत्रार्थोदाप्यतेऽर्थस्त्वंतदाचरितमुच्यते ॥ बध्वा स्वगृहमानीय ताडनाद्यैरुपक्रमैः । ऋणिकोदाप्यते यत्र बलात्कारः प्रकी-
र्तितः ॥ ४९ ॥

(४) राघवानन्दः । स्वयं वा गृह्णीयात्तत्रोपायानाह धर्मेणेति । एतान्पञ्चलक्षयति बृहस्पतिः ॥ धर्मेणेति यथा ॥
सुहृत्संबन्धिसंदिष्टैः साम्नावानुनयेन च । प्रायेण वा ऋणीदाप्योधर्मेष्वुदाहृतइति ॥ व्यवहारेणेति । यथायतोदयं
विनिर्णीयऋणार्थं चैव गृह्यते ॥ तन्मूल्यमुत्तमर्णेन व्यवहारइति स्मृतः ॥ छलेनेति यथा ॥ छद्मना याचितं वार्थमानीय
ऋणिकाद्वनी । अन्यादृतादिवाहृत्य दाप्यते यत्र सोपधिरिति ॥ उपधिश्चलं । आचरितेनेति यथा ॥ दारपुत्रपशून्बध्वा

(४९) छलेनाचरितेन = स्थाने नाचरितेन (क)

कृत्या द्वारोपसेवनम् । यदणी दाप्यते स्वर्थं तदाचरितमुच्यते ॥ बलेनेति यथा ॥ बध्वात्मगृहमानीय ताडनाद्यैरुपक्रमैः । ऋणिकोदाप्यते यत्र बलात्कारः सकीर्तितइति बृहस्पत्युक्तधर्मादिना ॥ ४९ ॥

(५) नन्दनः । के ते पुनरुपायास्तानाह धर्मेणेति । धर्मेणाधमर्णायधर्मप्रदर्शनेन । व्यवहारेण व्यवहारबलप्रदर्शनेन । छलेनोत्तमर्णकरिष्यमाणसहस्राद्युपन्यासादिना । आचरितेन साधनेन प्रयुक्तमधमर्णस्योत्तमर्णेन प्रयुक्तमर्थसाधयेत् । एषामुपायानांपूर्वपूर्वाभावउत्तरोपग्राहः पाठक्रमात्सामर्थ्याच्च ॥ ४९ ॥

(६) रामचन्द्रः । उपायान् आह धर्मेणेति । धर्मेण धर्मप्रीतियुक्तेन वचसा धर्मोपदेशेन व्यवहारेण साक्ष्यलेख्यादिना छलेन उत्सवादिव्याजेन भूषणादिग्रहणेन आचरितेन अभोजनेन च पुनः पञ्चमेनबलेन निगडादिबन्धेन प्रयुक्तं अर्थं दत्तद्रव्यं साधयेत् ॥ ४९ ॥

यः स्वयंसाधयेदर्थमुत्तमर्णोऽधमर्णिकात् ॥ न सराज्ञाऽभियोक्तव्यः स्वकं संसाधयन्धनम् ॥ ५० ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तस्यैवार्थस्यस्पष्टीकरणार्थः श्लोकः न छलादिनोपायेन स्वेच्छयोत्तमर्णोधमर्णाद्धनंसंसाधयन् राजा किञ्चिद्वक्तव्यः । मामविज्ञाप्य किमित्यस्मादाभरणादिस्वधनसंशुध्यर्थव्याजेन छान्ना गृहीत्वा किंनास्मै प्रतिप्रयच्छसीति ॥ ५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नाभियोक्तव्यस्त्वयाबलंकृतमिति । स्वक्रमितिधार्यमाणार्थस्य स्वीयत्वसिद्धावेतदिति तात्पर्यम् ॥ ५० ॥

(३) कुल्लुकः । यउत्तमर्णः संप्रतिपन्नमर्थमधमर्णात्स्वयंबलादिना साधयति सस्वीयं धनंसम्यक्साधयन् अस्मास्वनिवेद्य किमिति बलादिकंकृतवानसीति न राज्ञानिषेद्धव्यः ॥ ५० ॥

(४) राघवानन्दः । ननु स्वयं बलात्कारकरणे राजदण्डशंका स्यात्तत्राह यइति । नाभियोक्तव्यः एनंकदर्थीकृत्य किमिति धनमस्मादृहीतमिति । तत्रहेतुः स्वकं संसाधयन्धनमिति ॥ ५० ॥

(५) नन्दनः । स्वयमेवस्वार्थसाधनमुत्तमर्णस्य शक्तौसत्यांदोषावहमित्याह यःस्वयंसाधयेदिति । अभियोक्तव्योदोषमारोपणीयः अत्र हेतुः स्वकंसंसाधयन्धनमिति संसाधयन्तीति हेत्वर्थे शत्रुप्रत्ययः ॥ ५० ॥

(६) रामचन्द्रः । सउत्तमर्णः स्वकंधनंसंसाधयन् राजा नाभियोक्तव्यः त्वया बलंकृतमिति नोपालम्भनीयः ॥ ५० ॥

अर्थोऽपव्ययमानंतु करणेन विभावितम् ॥ दापयेद्धनिकस्यार्थं दण्डलेशंच शक्तितः ॥ ५१ ॥

[यत्र तत्स्यात्कृतंयत्र करणंच न विद्यते । नचोपलम्भपूर्वोक्तस्तत्र दैवीक्रिया भवेत् ॥ १ ॥] +

(१) मेधातिथिः । सत्यपि विभावके प्रमाणे योन स्वयंप्रतिपद्यते न तस्य छलाद्युपायप्रयोगः कर्तव्यः किंति हि राजैव तेन ज्ञापयितव्यस्तत्र राज्ञाऽऽकारितेऽर्थं ऋणेपव्ययमानमपह्नुवानंनास्मै किञ्चनधारयामीति वदन्तंकारणेन साक्षिलेख्यभुक्त्यात्मकेन विभावितंधारयामीति प्रतिपादितंदापयेदुत्तमर्णाय धनदण्डलेशंच स्वल्पंदण्डंदण्डमात्रमित्यर्थः । अन्यत्र दशमभागंवक्ष्यति यस्तु तावद्दातुमशक्तः सोल्पमपि दशमाद्रागादण्डंदापयितव्यः । अथवा यः प्रमादात्कथंचिद्विस्मृ-

त्यापजानीतेतस्यायंयथा शक्तिदशमभागाल्पतोदण्डः । कारणंप्रमाणंत्रिविधं तदन्यैरेतद्भवतीति परिगणितं । यथाचाहुः ॥
यत्र नस्यात्कृतपत्रंसाक्षी चैव न विद्यते । नचोपलंभःपूर्वोक्तोदैवी तत्र क्रिया भवेदिति ॥ ५१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अर्थेविषये अपव्ययमानं संवृण्वानं निह्वानमित्यर्थः । पश्चाद्वनिकेन कारणेन विभावितमर्थदापयेद्राजा दण्डलेशंच यावता पुनरपह्वनंकुर्यात् । शक्तितोवित्तानुसारेण देयेप्रतिज्ञाते प्रथमंविवादंकृत्वा पश्चाद्राजसभायांयद्यनुमन्यते तदा शते पञ्चभागान्दण्ड्यः अथतत्राप्यपह्वनंकृत्वा व्यवहारात्तनयति तदा दशभागान् ॥ ५१ ॥

(३) कुल्लूकः । नाहमस्मै धारयामीति धनविषयेऽपह्वानमधमर्णकरणेन लेख्यसाक्षिदिव्यादिना प्रतिपादितमर्थमुत्तमर्णस्य राजा प्रदाष्येत् । दण्डलेशंच अपह्ववे तु द्विगुणमिति वक्ष्यमाणदशमभागदण्डान्यूनमपिदण्डपुरुषशक्त्या दापयेत् ॥ ५१ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच अर्थेति । अपव्ययमानं न धारयामीत्यपह्वानं । करणेन लेख्यादिना विभावितं निर्णीतं दापयेदर्थम् दण्डलेशंच अपह्ववे तु द्विगुणमिति वक्ष्यमाणदशमभागादण्डान्यूनम् ॥ ५१ ॥

(५) नन्दनः । उत्तमर्णेन दत्तेऽर्थे वादंकुर्वाणमधमर्णं । करणेन साधनेन लेखादिना । विभावितंसाधितं धनिकस्य कृत्स्नमर्थराजा दापयेत् । दण्डलेशंच स्वस्मैशक्तितोदण्डदापनं निर्द्धनविषयंगुणवद्विषयंवा । करणादिसाधितार्थदशमभागस्य दण्डत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् ॥ ५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अर्थे द्रव्ये अपव्ययमानं निह्वानम् । तु पुनः करणेनसाक्ष्यादिना पत्रेणवा विभावितंप्रकटीकृतं अर्थं धनिकस्य राजा दापयेत् । च पुनः शक्तितः शक्त्यनुसारेण अधमर्णस्य दण्डलेशः कार्यः ॥ ५१ ॥

अपह्ववेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य संसदि ॥ अभियोक्तादिशेद्देश्यंकरणंवान्यदुद्दिशेत् ॥ ५२ ॥

(१) मेधातिथिः । यदा राज्ञा प्राङ्निवाकेन वा संसदि व्यवहाराधिकरणादिदेशोत्तमर्णाय धनमिति उक्तस्यापह्वनोपलपोपलपोधर्मेण भवति तदाभियुक्तोधनस्य प्रयोक्तोत्तमर्णाय दिशेद्देशंसाक्षिणंप्रमाणभूतंनिर्दिशेत् अन्यद्वा कारणंलेख्यादि देशशब्देन लक्षणया धनप्रयोगप्रदेशवार्तिनांसाक्षिणामुपादानात् । कारणशब्दः सामान्यशब्दोपि गोबलीवर्दवत्साक्षिव्यतिरिक्तंलेख्यादिकारणमाचष्टे ततश्च कारणंवा समुद्दिशेदिति अस्याप्ययमेवार्थः अथवायमन्यः पाठः अभियुक्तोदिशेद्देशमिति अयंचार्थः यत्राधमर्णोदेहीत्युक्तः प्रतिजानीते सत्यमेव धनंप्रतिदत्तंयदसावभियोक्ताऽऽसीत्सएवाभियुक्तः संवृतः सचाभियुक्तः संदिशेद्देशंकस्मिन्देशे त्वया मे प्रतिदत्तकालं च निर्दिशेद्देशग्रहणस्य प्रदर्शनार्थत्वात्कारणंवासमुद्दिशेत् । अस्ति तावकंसेदुद्दिशेत्येवंब्रूयादथवा यदि समादेशानाहंसाक्ष्यादि तस्यैव प्रदर्शनंकारणंवा शब्दश्च शब्दस्य स्थाने ॥ ५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अधमर्णस्य देहिधनमस्मादिति सम्भ्यैरुक्तस्यापह्ववे तेन क्रियमाणेऽपलापेऽित्यर्थः । आदिशेत् ब्रूयात् देशं अत्रदेशे न त्वया गृहीतमिति । देशमिति कालादेरप्युपलक्षणम् । देशेऽप्युक्ते विप्रतिपत्तौ कारणं प्रमाणं दशादन्यत् समुद्दिशेत् ब्रूयात् ॥ ५२ ॥

(३) कुल्लूकः । उत्तमर्णस्य धनदेहीति सभायां प्राङ्निवाकेनोक्तस्याधमर्णस्य नास्मै धारयामीत्यपलापेसति अभियोक्ताऽर्थी देश्यधनप्रयोगदेशवार्तिनांसाक्षिणंनिर्दिशेत् । प्रायेण साक्षिभिरेव स्त्रीमूर्खादिसाधारणऋणनिर्णयात्प्राक्साक्ष्युपन्यासः । अन्यद्वा कारणंपत्रादि कथयेत् ॥ ५२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच अपह्वेति । संसदि सभायां उत्तमर्णेन देहीत्युक्ते नोधारयामीत्यधमर्णेन निह्वीकृतं तस्यैतत्पर्यः । अभियोक्तोत्तमर्णः । देशं धनप्रयोगदेशवर्तिनः साक्षिणः । करणं पत्रम् । अन्यत् ममधनेनेदंकीतंद्रव्यादि ॥ ५२ ॥

(५) नन्दनः । यदाधमर्णोयुक्तार्थापह्वकुर्वीत तदोत्तमर्णेन कर्तव्यमाह अपह्वेऽधमर्णस्येति । ऋणरूपेण यन्मया तव दत्तं तन्मे देहीत्युक्तस्याधमर्णस्यापह्वेऽर्थापह्वे सत्यभियोक्तोत्तमर्णोदेशदिशेत् अस्मिन्देशेऽस्मिन्कालेऽनेन प्रकारेण मयादत्तमिति देशकालादिकं ब्रूयात् । यदि तत्राप्यधमर्णोविप्रतिपद्येत ततः करणलेखादिकं समुद्दिशेत् ॥ ५२ ॥

(६) रामचन्द्रः । संसदि सभायां च देहीत्युक्तस्य अधमर्णस्य अपह्वेङ्गीकृते गोपिते सति अभियोक्ता उत्तमर्णः देशं साक्ष्यादिभ्यः आदिशेत् । च पुनः अन्यत्करणं प्रमाणान्तरं उद्दिशेद्दर्शयेत् ॥ ५२ ॥

अदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापह्वते च यः ॥ यश्चाधरोत्तरानर्थान्विगीतान्नावबुध्यते ॥ ५३ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तमेवाधमर्णेऽपह्ववाने धनिना राज्ञाज्ञापयितव्यः विज्ञापनाकर्तव्या अस्मिन्देशेऽस्मिन्कालेऽधनमियद्वेतनं मत्सकाशादृहीतं सच पृष्ठोभावयति नैतस्मिन्देशेऽहमभवंयेन धनग्रहणकाल उपदिष्टं तदा देशे दीयते । अथवा देशसाक्षिणो व्याख्यातास्तासाक्षिणो देशकालावसंभवतो निर्दिशति । निर्दिश्य देशादिकमपजानीते नैतन्मया निर्दिष्टमिति यश्चाधरोत्तरानर्थान्पौरस्त्यानौपरिष्ठांश्च विगीतान्विरुद्धानभिहितान्नावबुध्यते यद्वा पूर्वक्रमभेदं च न गतमात्मनो नानुसंधत्ते हीनः स इति निर्दिशेदिति सर्वत्र क्रियानुषङ्गो भविष्यतीति ॥ ५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अदेशं यत्र ऋणिकगमनं संभाव्यते तथा एकान्तादि । तथा उक्ता देशादि पश्चान्नमयैतदुक्तमित्यपह्वते । तथा अधरोत्तरान् पूर्वोत्तरवाक्यानि स्वान्येव यानि तदर्थान् विपरीतान् विरुद्धान् नबुध्यते ॥ ५३ ॥

(३) कुल्लूकः । अपदिश्येति असंभाष्य इति ब्रूहीत्यादि अदेश्यम् । यत्र देशेऽधमर्णस्य ऋणग्रहणकाले सर्वदा वस्थानं संभवतीति निर्दिश्य चादेशादिकं नैतन्मया निर्दिष्टमित्यपनयति यश्च पूर्वोक्तानर्थान् स्वार्थान् स्वोक्तान्विरुद्धान्वावगच्छति यश्च ममहस्तात्सुवर्णस्य पलमनेन गृहीतमिति निर्दिश्य मत्पुत्रहस्तादृहीतमित्येवमादिना यः पुनरपसरति यश्च सम्यक्प्रतिज्ञातमर्थकस्मात्त्वया राज्ञावसाक्षिकं दत्तमित्येवमादिप्राद्विवाकेन पृष्ठः सन्न समाधत्ते यश्च संभाषणानर्हनिर्जनादिदेशे साक्षिभिः सहान्योन्यं संभाषते यश्च भाषार्थस्थिरीकरणाय नितरामुच्यमानं प्राद्विवाकेन प्रश्नेच्छेत् यश्च निष्पतेत् उक्तांश्च व्यवहारान्पुराऽनाख्याय यथा स्थानात्स्थानांतरं गच्छेत् यश्च ब्रूहीत्युक्तेन किंचिद्ब्रवीति उक्तं साध्यं प्रमाणेन प्रतिपादयति पूर्वसाधनमपरं साध्यं तद्योन जानाति असाधनमेव साधनत्वेन निर्दिशति असाध्यमेव मानेन शशशृङ्गकृतं धनुर्दयमित्यादिसाध्यत्वेन निर्दिशति सतस्मात्साध्यादर्थान्दीयते ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच अदेश्यादिषट्श्लोकैरधमोत्तमर्णयोः पराजयहेतूनाह । अदेश्यं उत्तमर्णाद्यग्रहणकाले तद्देशवर्तिनमपि साक्षित्वेनोपदिशति वदत्युत्तमर्णः । तथा निर्दिश्य देशादिस्वरूपं पुनर्मया नोक्तमित्यपलपति । अर्थान् अधरोत्तरान् किंतद्वस्तिवति पृष्ठः पूर्वोत्तरविकलान् विगीतान् संख्यादिना स्वोक्तविरोधान्नावबुध्यते न जानाति उत्तमर्ण इति शेषः ॥ ५३ ॥

(५३) अदेश्यं = अदेश्यं (न०)

(५) नन्दनः । हीनलक्षणं पञ्चभिः श्लोकैराह अदयंयश्चेति । अदयंदानादानयोरयोग्यदेशकालादिकं निर्दिश्याप-
ह्नुते नैवमयोक्तमिति निर्दिष्टापह्नुते । विगीताद्विप्रतिपन्नान् सहीयतइति वक्ष्यमाणेन संबन्धः ॥ ५३ ॥

(६) रामचन्द्रः । पराजितस्य लक्षणमाह चतुर्भिः अदेश्यमिति । यः अधमर्णः अदेश्यं असाक्षिकं दिशति कथय-
ति । च पुनः अदेश्यं असाक्षिकं निर्दिश्य कथयित्वा अपह्नुते निह्नुते च पुनः अधरोत्तरानर्थान् पूर्वापरानर्थान् कार्याणि
विगीतान् विरुद्धान् नावबुध्यते न जानाति ॥ ५३ ॥

अपदिश्यापदेश्यं च पुनर्यस्त्वपधावति ॥ सम्यक्प्रणिहितंचार्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति ॥ ५४ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वेणार्थेनोक्तस्यार्थस्य निगमनमुत्तरेणानुक्तोर्थोऽप्युच्यते यदुक्तं ॥ अदेश्यंश्च दिशति निर्दि-
श्यापह्नुते च यइति ॥ स एवार्थोपदिशत्यस्याऽऽदेशेवापदेशादिदेश्यं कथयित्वा पुनः पश्चादवधावत्यपसरति नैतौ देश-
कालौ मम निश्चितौ यावत्सुदेशकालोवधारयति तावदयंमहमिति पश्चाद्ब्रवीति सोऽपि तस्मादर्थोऽस्तीत्युच्यते सम्यक्प्रणिहितंचार्-
थमनाकुलं निश्चितमुक्तं यदा पृच्छते तदानेनोक्तं तत्र किं ब्रवीषि केन वा प्रमाणेन त्वपक्षं साधयसीति पृष्टोऽन्येन श्रद्धयते सम्यक्-
प्रणिहितंचार्थमनाकुलं निश्चितमुक्तं कथान्तरं प्रस्तौति विचारावसानेन किल मेपराजयोऽभवतीति कालमुपक्षिपामीति तस्या
पिपराजयएव । अथवापदेशोऽव्याजस्तमपदेश्यापन्यस्य योऽपैत्यधुना मे महती पीडा समुत्पन्ना न शक्नोमि प्रतिवक्तुमलीका-
दिना वा प्रस्थितः सोऽपि जीयते ॥ ५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तथा बहुविधं अपदिश्य उक्त्वा पुनः स्वयमेवावधारणादयमेवात्र हेतुर्ग्राह्यइति । प्रणिहि-
तं विचारितम् ॥ ५४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच । अपेति । देश्येवोपदेश्यस्तमपदिश्योक्त्वा अपधावति पलायते । पुनर्बदति मद्धस्ता-
त्सुवर्णगृहीतमित्युक्त्वा मत्पुत्रहस्ताद्गृहीतमिति वा सोऽपि तस्मादर्थोऽस्तीत्युच्यते इत्यनुवादः । अपिच सम्यक्प्रणिहितं कस्मा-
त्त्वयेदमपहसितमिति प्राद्विवाकेन पृष्टः सन् नाभिनन्दति न समावृत्ते प्रमाणोपन्यासपुरःसरम् । ॥ ५४ ॥

(५) नन्दनः । अपदेश्यमपदिश्य वक्तव्यमुक्त्वा तत्साधने यः पुनरपधावति अपसरति । पूर्वस्वयमुपन्यस्तंसद-
स्यैः सम्यक्प्रणिहितमवधृतमर्थैः पृष्टः सन्नाभिनन्दति न सम्यक्प्रणयानुद्धमिति वदतिसोऽपि हीयतइति संबन्धः ॥ ५४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अपदिश्यापदेश्यं कार्याकार्यं न जानाति वाच्यावाच्यं वा न जानाति । पुनः यः पुनः धावति ।
स्थानात्स्थानान्तरंगच्छति । च पुनः सम्यक्प्रणिहितमर्थं सम्यक्प्रकारेण दत्तं द्रव्यं पृष्टः सन्नाभिनन्दति न कथयति ॥ ५४ ॥

असंभाष्ये साक्षिभिश्च देशे संभाषते मिथः ॥ निरुच्यमानं प्रश्नं च नेच्छेद्यश्चापि निष्पतेत् ॥ ५५ ॥

(१) मेधातिथिः । असंभाषणार्हे देशेऽपह्नुतादौ साक्षिभिः सह संभाषतएकाकी तद्देशशङ्कया निरुच्यमानं पृच्छ्य-
मानं निरुच्यमाणं वा प्रश्नविचारवस्तुनेच्छति किंचिद्राजकार्यमुद्दिश्य राजपुत्रमान्याद्यनुग्रहेण च काललाभं करोति यश्चापि

ऽऽअहसितम् = अपहसितम् (राघ० ४)

‡ पुरसरं = पुरःसरं सोऽपि हीयते (राघ० ४)

१ देश्येवोपदेश्यस्तमपदिश्योक्त्वा = अपदेश्यमपदिश्योक्त्वा (राघ० ४)

(५५) असंभाष्ये = असंभाष्ये (नं)

निष्पतेत् वक्ष्यमाणचक्रियापदंसहीयतइति यदेवोक्तं पुनर्यस्त्ववधावतीति सएवार्थः यश्चापि निष्पतेदिति पुनर्वचनेप्रयो-
जकमुक्तमत्यन्तापौनरुक्त्यमाभूदिति कश्चिद्विशेषआश्रयितव्यः ॥ ५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । असंभाष्ये संभाषानर्हे देशे एकान्तादौ । स्वकीयप्रश्नं पेरण निरुच्यमानमाकलय्य नेच्छे-
त्तदनिच्छाविभावकंकोलाहलादि कुर्यात् । निष्पतेत् सभातःपलायेत् ॥ ५५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यत् । असंभाष्ये संभाषानर्हे निर्जनादिदेशे साक्षिभिःसंभाषतेसोपि तस्मादर्थान्दीनः ।
यश्चापि निरुच्यमानं प्राङ्निवाकेन प्रश्नं नेच्छेदुत्तरंदातुम् । अथच निष्पतेत् नयुक्तंस्थातुमितिनिष्क्रामेत्सोपिहीनः । एतद्व-
योःसाधारणम् ॥ ५५ ॥

(५) नन्दनः । साक्षिभिरसंभाष्ये । मिथोदेशे रहस्यइति यावत् । निरुच्यमानंसृत्य विकल्पेनोच्यमानम् । प्रश्नपृ-
ष्ठमर्थम् । नेच्छेत्संवदेत् । निष्पतेत्सदसोपसरेत् । सोपि हीयतइतिसंबन्धः ॥ ५५ ॥

(६) रामचन्द्रः । असंभाष्येदेशे अवाच्येदेशे साक्षिभिर्मिथोयःसंभाषते । च पुनः निरुच्यमानं वाच्यमानं प्रश्न-
वानेच्छेत् न कथयति । च पुनः यः निष्पतेत् पलायते ॥ ५५ ॥

ब्रूहीत्युक्तश्च न ब्रूयादुक्तंच न विभावयेत् ॥ नच पूर्वापरं विद्यात्तस्मादर्थान्सहीयते ॥ ५६ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तार्थएव श्लोकोयं श्लोकान्तैरेर्द्धयते । पुनर्वचने च प्रयोजनमुक्तंबहुकृत्वापि पथ्यवेदितव्य-
मितिअक्षरार्थस्त्वार्थिना विश्लेषिते पूर्वपक्षे प्रतिवादी ब्रूहस्मिन्वस्तुनीति पृष्टोयदि न ब्रूयात्पुनःपुनः पृच्छ्यमानेऽपि योहि
सम्यगुत्तराभावादेव मे पराजयोभवति तूष्णींभूतस्य तु संशयएव न पराजयोभवतीत्यनया बुद्ध्या नोत्तरंदाति सोपि
जीयते वक्ष्यति चात्र कालावच्छेदनं चेत्त्रिपक्षात्प्रब्रूयादिति सद्योह्यारुष्टस्य पूर्वपक्षार्थानवबोधोधादुत्तराप्रतिपत्तेर्युक्तंका-
लहरणं अत्र च दिवसैः पञ्चभिर्दशभिर्द्वादशभिर्वैषद्वदत्तस्त्रिपक्षसमामिर्नित्यन्तंकालंतूष्णींभावएव यश्चातोर्धकः कालः
संस्थितोपि कच्चित्संवत्सरंप्रतीक्षेत प्रतिभावयेदिति न युक्तमादृत्यतोप्रतिभावे प्रतीक्षाकारणंसोसंवत्सरादूर्ध्वंभवतीति कि-
मित्यकारणं नचैषनियमः केन चित्प्रकारेण नावगम्यते प्रतिभानवतः संवत्सरेण प्रतिभाभवतीति तस्मात्तावन्त्येवाहान्यु-
पेक्षा युक्ता यावद्भिः पूर्वपक्षावधारणा भवत्युत्तरंच प्रतिभाति एतच्चाप्युक्तस्य मन्दधियोप्येतावन्मात्रैरहोभिर्भवतीति ना-
धिकंकालमुपेक्षणीयं पूर्वपाक्षिकस्य तु तदहरेव त्वार्थविनिवेशनंयुक्तं यतइदमेषामवधारयतीदंवानेन ममापकृतमिति
निश्चितंतस्य भवति त्वेच्छयाह्यसौ प्रवर्तते केवलंतस्मै त्वपक्षमावेदयते किमित्यनिश्चितः त्वार्थोभवति उत्तरपाक्षिकस्त्व-
विदितसंबन्धस्तदानीमेव राजपुरुषैरानीयमानः कथमिव त्वपरपक्षौ निश्चिनुयात् पक्षद्वयनिरूपणंहि तदस्य तदानीमे-
वापतति नान्यथोत्तरपाक्षिकोभवति तस्मात्पूर्वपाक्षिकस्य साध्ये वस्तुनि तदहः पूर्वपक्षसमामिर्द्वादिदिवसलाभोवोभाव-
पि चैतौ पक्षौ स्मृत्यन्तरपरिगृहीतौ तथाह्याह ॥ सुनिश्चितबलाधानः पूर्वपक्षी भवेत्सदा । दशाहंद्वादशाहंवा त्वपक्षंपरिशो-
धयेदिति ॥ तथेदमपरम् ॥ ततोर्थीलेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनं ॥ या तु संवत्सरपरीक्षा सा मूलासंभवादप्रमाणं नहि व्यवहा-
रस्मृतावष्टकादिवद्वेदमूलता शक्यते वक्तुरकार्यरूपत्वादर्थस्य प्रमाणान्तरविषयत्वे च तदसंभवः प्रतिपादितः । एषा पि-
तृपक्षोपेक्षा न सर्वत्र यतउक्तं ॥ साहसस्तेयपारुष्ये गोमिशपात्यये स्त्रियां । विवादयेत्सद्यएव कालोन्यत्रेच्छयास्मृतइति ॥
साहसादौ हि चिरमुपेक्षमाणे परमपरामुयात् अतः सद्योविवादोविधीयते । नचात्र स्मृत्यादयोनुक्तहेतवः संभवन्ति साह-
सादिकारणं हि तदानीमेव राजानंवेदयेत् तीव्रसंवेगता हि तत्र भवति वस्त्राद्युपहारेण तदुपेक्षायां रागशङ्का भवति साक्षि-

णस्तत्र यदृच्छया संनिहिता अपि भवन्ति ते हि देशान्तरङ्गतानामजात्यादिभिर्न विज्ञायन्ते ततः स्वाभाविकप्रमाणाभावः किंच ऋणादानादिषु कदाचिदितरेतरसंदधते न तत्र राज्ञोऽहस्तप्रक्षेपः प्रायेण च संशुद्धौ स्मृतिर्नयुज्यते तदा कियद्दत्तमिति । साहसकारी तु राजाऽवश्यं निग्रहीतव्य इतरेण संधीयमानोऽपि तस्मादृणादिषु कालहरणसाहसादिषु सद्य इति स्थितं तदुक्तं गहनत्वाद्दिवादानामसामर्थ्यात्स्मृतेरपि ॥ ऋणादिषु हरेत्कालं कामंतत्त्वबुभुत्सया ॥ यदा संकुलः पूर्वपक्षो भवति तदा गहनत्वान्न शक्यते ग्रहीतुमनाकुलो विलुप्तक्रमेऽपि गृहीतप्रतिवचनं कालमहत्वान्न शक्यते सर्वेण स्मृतमिति स्मृत्यन्तरस्यार्थः । उक्तंच न विभावयेत् साध्यं वस्तु निर्दिश्य न साधयति साधनस्याभावाद्दिपक्षाभावात् । नच पूर्वापरं विद्यात् उक्तमेतत् तस्मादर्थव्यवहारवस्तु न सहीयते पराजितो भवतीत्यर्थः ॥ ५६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । न ब्रूयात् चिन्तयन्नेव तिष्ठेत् । उक्तं स्वोक्तं न विभावयेत् नव्याकुर्यात् । नच पूर्वापरं एतत्प्राग्वाच्यमेतत्पश्चादिति जानीयात् । तस्मात् प्रक्रान्तादर्थान् ॥ ५६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच । ब्रूहीत्युक्तो न ब्रूयात् । वदतोऽवश्यं पराजय इति तूष्णीं तिष्ठेत् । न विभावयेत् । पूर्वापरं साध्यं न विद्यात् यथावस्तु न विजानीयात् । अर्थात् शशशृङ्गधनुर्भक्तोऽपि साध्यत्वेन निर्दिश्य तस्मादर्थव्यवहारवस्तुतोऽहीयते पराजितो भवतीति । एतदुत्तमणस्य ॥ ५६ ॥

(५) नन्दनः । न विभावयेत् पूर्वापरं नच विद्यात् । इदं पूर्वमुक्तमिति च न विद्यात् हीयते जीयते ॥ ५६ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्वंब्रूहीत्युक्तः सन्धो न ब्रूयात् । च पुनः उक्तं स्ववचनं न विभावयेत् । च पुनः पूर्वापरं कार्यं यो न विद्यात् स पुरुषस्तस्मादर्थव्यवहारवस्तुतोऽहीयते ॥ ५६ ॥

साक्षिणः सन्ति मेत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः ॥ धर्मस्थः कारणैरेतैर्हीनं तमपि निर्दिशेत् ॥ ५७ ॥

(१) मेधातिथिः । ज्ञातारः साक्षिणः पुरुषामसन्तीत्युक्त्वा यदोच्यते । कथयतामिति तदा तूष्णीकआस्ते न तान्देशनामजातिभिर्विशेषणैः कथयति तदा एतैः प्रत्येकं पूर्वमुक्तैः कारणैरिह हीनोऽसौ द्रष्टव्यः । इति धर्मस्थो धर्माधिकरणस्थः प्राङ्निवाको निर्दिशेन्न श्रितं ब्रूयाज्जितोयमिति । तथैव विवक्षितार्थकप्रमाणवृत्त्या पराजय एव स्वपक्षे साधनादावप्यभावानिश्चयश्च पुनः पुनरवसरेऽनुपन्यासात्कारणान्तरस्य चानुपन्यासेऽभावादिति । ज्ञातार इति तृन्तमेव तत्रेदमिति द्वितीयान्तं युज्यते । रवल्थं नृनामिति षष्ठीनिषेधात् हीनं तमिति द्वितीयान्तःपाठ इति शब्दप्रकारार्थो द्रष्टव्यः । एभिर्मुक्तैः प्रकारैरन्यैश्चैवैर्हीनं तं निर्दिशेत् यदा तु वाक्यार्थवचनमात्रं तदा हीनोऽसौ विवक्षितः वाक्यार्थस्य कर्मत्वाद् द्वितीयाया अभावः । एते पराजयहेतवः नत्वाकारेङ्गितादिवद्यभिचारणाः । यो हि पुनः पुनर्विचारावसरे न सन्निधीयते संनिहितो नोत्तरं प्रतिवक्ति न तत्र निश्चितमिदं भवति नास्य जयहेतुरस्तीति । यदि च सर्वदेवानुत्तरवादिनं पराजयेद्राजा ततोऽव्यवस्थामङ्ग आपद्यते पौर्वापर्यान्वयाधस्त्वङ्गितादिवद्द्रष्टव्यः । यः सर्वकालवाग्मी प्रगल्भं प्रतिपत्तिमांस्तस्येङ्गितादयो न्यथा भवन्तः पराजयहेतौ प्रमाणान्तरेणापि निश्चितेऽपि लिङ्गदर्शनस्थानीया उपोद्बलका भवन्ति ॥ ५७ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । मेत्युक्तेति छान्दसः सन्धिः । धर्मस्थः धर्मासनस्थो राजादिः । कारणैरेतैः प्राशुक्तैश्च तं वादिनं हीनं पराभियोगप्रामम ॥ ५७ ॥

* साध्यं = पूर्वसाधनं परं साध्यं (राघ० ४)

(५७) साक्षिणः = ज्ञातारः (क)

(५७) साक्षिणः सन्ति मे = सन्ति ज्ञातार इ (नं०)

(३) कुल्लूकः । साक्षिणोमम विद्यन्तइत्युक्त्वा तानिर्दिशेत्युक्तोयोननिर्दिशति तंपूर्वोक्तैरेभिः कारणैर्धर्मस्थः प्राद्वि-
वाकः पराजितंकथयेत् । ज्ञातारः सन्तिमेत्युक्त्वाइति वा पाठः । अत्रछान्दसमिकारस्य पररूपत्वम् ॥ ५७ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच साक्षिणइति । ज्ञातारइति पाठान्तरं । साक्षिणः सन्तिमे ममाप्यन्यसाक्षिणइति । मया-
नगृहीतमत्यर्थे तर्हि दिशानयेत्युक्तोनानयति । मेत्युक्तेत्यार्थः । धर्मस्थः प्राद्विवाकः कारणैरुक्तैः हीनं पराजितं निर्दिशेत्
जानीयात् । तमपीत्यपिशब्दादधमर्णमपि ॥ ५७ ॥

(५) नन्दनः । अविद्यमानलेख्यादिसाधनेऽर्थे ज्ञातारः साक्षिणः सन्तीत्युक्त्वा तान् ज्ञातृन् । दिश दशयेति सभ्यैरु-
क्तोऽनेन साक्ष्यनुदेशाख्येन हेतुना धर्मस्थो धर्मासनस्थः । प्रत्यर्थिदत्तोत्तरस्याभियोगस्याप्रतिवचने ॥ ५७ ॥

(६) रामचन्द्रः । ज्ञातारः मे ज्ञातारः सन्ति इति उक्त्वा आदिश कथय धर्मस्थः यः उक्तः सन् नादिशेत् नकथ-
येत् एतैः कारणैस्तमपि हीनं पराजितं निर्दिशेत्कथयेत् ॥ ५७ ॥

अभियोक्ता न चेद्ब्रूयाद्ध्योदण्ड्यश्च धर्मतः ॥ न चेन्निपक्षात्प्रब्रूयाद्धर्मप्रति पराजितः ॥ ५८ ॥

(१) मेधातिथिः । अभियोक्तार्थीकिंचन पुरुषमाहूय यदि व्यवहारपदं कथयति तदा निष्प्रयोजनाद्ध्योदण्ड्यः
श्च दण्डबन्धने दण्डपरिमाणे च गुणवत्ताप्रत्यर्थिन आह्वानेन च हानिमपेक्ष्य कल्पनीयानि अतस्तदहरेर्वार्थिनाविवदि-
तव्यं प्रत्यर्थीतु नचेन्निपक्षाद्ब्रूयादित्यर्थस्तदा नासौ दण्ड्योबन्धयितव्योवा किंतर्हीयता कालेनोत्तरे सत्यपराजितएव धर्म-
प्रति धर्मतएवायंपराजयोन छलमित्यर्थः । निपक्षादिति पात्रादिषु द्रष्टव्यस्तेनेकाराभावः अर्थतत्त्वमस्य लोकस्यास्माभिः
शङ्किरूपितम् ॥ ५८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नचेद्ब्रूयात् ज्ञातृन् साक्षिणः ज्ञातृपदंप्रमाणपरम् । वध्यस्ताडनादिनाअभियुक्तेनाप्रमाणे
वाच्ये विशेषमाह नचेदिति । निपक्षादर्वाङ् नचेत्साक्षिणोब्रूयात्तदा सः धर्मप्रति धर्मानपेक्ष्य पराजितोभवत्यतोवध्योद-
ण्ड्यश्चेत्यर्थाजातम् । एतच्च प्रत्यर्थिविषयम् । अर्थिना सद्यएव वाच्याः स्मृत्यन्तरात् ॥ ५८ ॥

(३) कुल्लूकः । योऽर्थीसन् राजस्थाने निवेद्य भाषायां न ब्रूयात्तदा विषयगौरवापेक्षया बध्योलघुनि विषये दण्ड्य-
श्चधर्मतः स्यात्प्रत्यर्थी पुनर्यदि पक्षत्रयमध्ये न ब्रूयात्तदा धर्मतएव पराजितः स्यात् नतुछलेन ॥ ५८ ॥

(४) राघवानन्दः । अभियोक्ता अर्थीसन् राजस्थाने निवेद्य राजपुरुषमानीय व्यवहारास्पदंभाषानब्रूयात् । वध्य-
इत्यादि विकल्पस्तु विषयगौरवाद्यपेक्षया । निपक्षात्पक्षत्रयमपि प्रत्यर्थीवा पुनर्न ब्रूयात् साक्षी वा न ब्रूयात् तदापराजित-
इति सोपिदण्डार्हः ॥ ५८ ॥

(५) नन्दनः । अभियोक्तांरंप्रति राज्ञः कर्तव्यमाह अभियोक्तानचेदिति । प्रत्यर्थिदत्तोत्तरोभियोक्ता ततउत्तरंनचेद्ब्रू-
याद्ध्योदण्ड्यः । दण्ड्योदण्डार्हः । तदुणापेक्षया विकल्पः । तत्रकालावधिरुत्तरार्द्धेनोक्तः । धर्मशब्दौ व्यवहारवचनौ
॥ ५८ ॥

(६) रामचन्द्रः । अभियोक्ता उत्तमर्णः नब्रूयात् सधर्मतोवध्योदण्ड्यश्च । प्रत्यर्थीचेद्धर्मप्रति निपक्षान्न ब्रूयात्स-
पराजितोऽज्ञेयः ॥ ५८ ॥

योयावन्निह्वीतार्थमिथ्यायावतिवा वदेत् ॥ तौ नृपेण सधर्मज्ञौ दाप्यौ तद्विगुणंदमम् ॥ ५९ ॥

(१) मेधातिथिः । येन पञ्चसहस्राणि दत्तानीति प्रमाणान्तरानिश्चितं लेख्यादौ तु करणे देशसमारोपितानि प्रमाणान्तरसंवत्सराख्यमिति निश्चित्येदमपश्यत्केवलेन लेख्यप्रमाणेन सर्वत्र प्रवर्तमानञ्चलव्यवहारीतिद्विगुणंदण्ड्यं यस्य तु विस्मृत्याप्यन्यथा प्रवृत्तिराशङ्क्यते तस्य दशकंशतमेवमितरस्यापि नतु सर्वापह्वे दशभागएकदेशापह्वे द्विगुणमिति किन्तुशाठ्यादन्यथा प्रतिपद्यमानौद्विगुणंदण्ड्यौ विस्मृतिदारिद्र्याभ्यांदण्डमुत्तरं योयावन्तमर्थमपह्वीतापजानीतेऽधमर्णो-मिथ्यायावति विपरीतंधनंवदेदुत्तमर्णः तावुत्तमर्णाधमर्णाविधर्मज्ञौद्विगुणंदमं तदित्यपह्व्यमानधनपरामर्शः यावदपह्वुत-ततोद्विगुणंदमोदण्डः अधर्मज्ञग्रहणाच्च लिङ्गानिश्चितञ्चलविषयोयंदण्डइत्युक्तम् ॥ ५९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्यन्ताभिनिवेशादिप्रवृत्तौ दण्डमाह योयावदिति । निह्वीत प्रत्यर्थिशोधितंमयेत्यादि । मिथ्या वदेत् महंधारयतइत्यर्थः ॥ ५९ ॥

(३) कुल्लूकः । यः प्रत्यर्थी यत्परिमाणधनमपनयत्यर्थावा यत्परिमाणधने मिथ्यावदति तावधार्मिकावपह्वुतमि-थ्योक्तधनाद्विगुणंदण्डरूपंदापनीयौ । अधर्मज्ञाविति वचनातज्ज्ञानपूर्वापह्ववमिथ्योक्तिविषयमिदम् । प्रमादादिनापलापमि-थ्यानियोगापह्वे द्विगुणमिति शतदशमभागंवदयति ॥ ५९ ॥

(४) राघवानन्दः । उत्तमर्णाधमर्णयोर्दण्डप्रकारमाह यइति । यः प्रत्यर्थी यावद्धनंनिह्वीत अर्थावा यावति परिमाणे मिथ्याभाषते तद्विगुणं तौदण्ड्याविन्वत्ययः । दमं धनदण्डम् ॥ ५९ ॥

(५) नन्दनः । विवादिनोर्मिथ्यावचने दण्डमाह योयावन्निह्वीतेति । यः प्रतिवादी यावद्यावन्तमेकदेशंरुत्संवार्थ-मपह्वीत । योवादी यावत्येकदेशे रुत्सु वार्थे मिथ्यावदेत्तद्विगुणंतिरोहितार्थाद्विगुणंदण्डंदाप्यौदण्डत्वेनदाप्यौ । अपि शब्दात्तिरोहितमर्थच ॥ ५९ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः अधमर्णः यावन्निह्वीतार्थं अर्थावा यावति मिथ्या वदेत्तावद्धर्मज्ञौ नृपेण तस्मात्कारणात्त-द्विगुणंदमंदाप्यौ दण्डनीयौ ॥ ५९ ॥

पृष्टोऽपव्ययमानस्तु कृतावस्थोधनैषिणा ॥ त्र्यवरैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसन्निधौ ॥ ६० ॥

(१) मेधातिथिः । यः कृतावस्थआहूतोभियुक्तोऽगृहीतप्रतिभूश्च राजसकाशे प्राद्विवाकेनान्यैर्वा पृच्छ्यते किमस्मै धारयसि नेति पृष्टः सन्पव्ययतेऽपह्वुते ह्वानोधनैषिणा स्वधनंपूर्वप्रयुक्तमात्मनःसाधयितुमिच्छता साक्षिभिर्भाव्योविप्र-तिपन्नः प्रतिपादयितव्यः । त्र्यवरैस्त्रय अवरेयेषांतेरुयवरैरवरमपचयातिशयमाह यद्यत्यन्तन्यूनास्तदा त्रयः स्युः अन्यथा त्रिभ्य ऊर्ध्वम् । नृपब्राह्मणसंनिधाविति ननु च तेषामेव धैर्यायः प्रारब्धस्तत्रतत्संनिधानएव साक्षिप्रश्नः प्राप्तः किमनेन नृपब्राह्मणसंनिधाविति नैवंप्रमाणपुरुषप्रेषणेनापि साक्षिप्रश्नउपपद्यतइति साक्षात्पृष्टव्यइति पुनर्वचनम् ॥ ६० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पृष्टः प्राद्विवाकेन किंधारयसि नवेति । अपव्ययमानोनिह्वानः । कृतावस्थः कृताव-स्थानः । त्रयोऽवराअल्पीयांसोयेषांसाक्षिणांतैः ॥ ६० ॥

(३) कुल्लूकः । धनार्थिनोत्तमर्णेन राजपुरुषापकर्षकृताह्वानः प्राद्विवाकेन पृष्टःसन् यदा न धारयामीत्यपह्वानो-भवति तदा नृपत्यधिकृतब्राह्मणसमक्षंत्र्यवरैः साक्षिभिः त्रयोवरान्यूनायेषांतैरर्थिना भावनीयः ॥ ६० ॥

(४) राघवानन्दः । किंच अपव्ययमानः सन् पृष्ठः प्राङ्निवाकेन कृतावस्थः राजपुरुषकृताव्धानः । च्यवरैः त्रयोऽवरान्यूनायेभ्यःसाक्षिभ्यः तैर्यथावत् तैर्वक्ष्यमाणविशेषणविशिष्टैःसाक्षिभिः धनैषिणोत्तमर्णेन भाव्यः ऋणवत्तया संभावनीयः सक्कणं दाप्यः इत्यध्याहार्यम् ॥ ६० ॥

(५) नन्दनः । वादिप्रतिज्ञातमर्थसम्भ्यैः पृष्ठस्तमर्थमपव्ययमानोपह्वानः । कृतावस्थोयथा नापसरति तथा सम्भ्यैः कृतावस्थानः प्रतिवादी धनैषिणा वादिना च्यवरैः साक्षिभिर्भावयितव्यः । प्रतिज्ञातार्थसाधनीयः ॥ ६० ॥

(६) रामचन्द्रः । धनैषिणा उत्तमर्णेन पृष्ठःसन् अपव्ययमानः निह्वानः कृतावस्थः कृतपीडः नृपब्राह्मणसन्निधौ च्यवरैःसाक्षिभिर्भावितव्यः ॥ ६० ॥

यादृशाधनिभिः कार्याव्यवहारेषु साक्षिणः ॥ तादृशान्संप्रवक्ष्यामि यथा वाच्यमृतंचतैः ॥ ६१ ॥

(१) मेधातिथिः । साक्षिलक्षणोपन्यासः श्लोकः यादृशाःसाक्षिणोयज्जातीयायदुणयुक्ताश्च धनिभिरुत्तमर्णैर्व्यवहारेषु धनप्रयोगादिषु कर्तव्यास्तादृशान्वक्ष्यमाणेन कथयिष्यामि यथा च वाच्यंवक्तव्यंपृष्ठैः सद्भिस्तैःपूर्वाह्णइत्यादि तमपि प्रकारंवक्ष्यामीति ॥ ६१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यथा यादृक्शपथादि कृत्वा । कृतं सत्यम् ॥ ६१ ॥

(३) कुल्लुकः । धनिभिरुत्तमर्णादिभिः ऋणादानादिव्यवहारेषुयथाविधाः साक्षिणः कर्तव्यास्तथाविधान्वदिष्यामि यथा च तैरपिसत्यंवक्तव्यंतमपि प्रकारंवक्ष्यामि ॥ ६१ ॥

(४) राघवानन्दः । साक्षिणइत्युक्तंतल्लक्षणमाह यादृशाइति द्वाभ्याम् । व्यवहारेष्वृणादिषु साक्षित्वेन कार्याः । कृतं सत्यं वाच्यं साक्षिभिर्यथेति तंच संप्रवक्ष्यामीत्यन्वयः ॥ ६१ ॥

(५) नन्दनः । धनिभिरव्यवहारिभिः । तैःसाक्षिभिः । यथा कृतंवाच्यंतथा च वक्ष्यामीति ॥ ६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । साक्षित्वरूपमाह तैः साक्षिभिः यथाकृतं सत्यं वाच्यम् ॥ ६१ ॥

गृहिणः पुत्रिणोमौलाः क्षत्रविट्शूद्रयोनयः ॥ अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये केचिदनापदि ॥ ६२ ॥

(१) मेधातिथिः । कृतदारपरिग्रहागृहिणः । गृहशब्दोदारेषु वर्तते तेहि त्वकलत्रपरिभवभयान्नकूटमाचरन्ति । आत्मनि केचिन्निरपेक्षाअभिभवन्ति अन्यदेशान्तरगमने नात्मानंरक्षयिष्यामइहैव च कचिदुभाभविष्यामोधनंमित्रंवार्जयामइत्यनया बुद्ध्याअनृतमपि वदन्तिकुटुम्बिनस्तुस्वकुटुम्बभयान्कवात्मानंनपरिरक्षिष्यामइति दूरंकृत्वा कुटुम्बस्य सापेक्षतया राजदण्डभयान्नान्यथा प्रवर्तन्ते । पुत्रिणइति पुत्रस्नेहात्पुत्रिणोपुत्रदारश्च साक्षिप्रश्नकाले साध्वाचारोपि कदाचिन्नसंनिहितोभवति सहि नैकस्मिन्देशे आस्थानवान् भवत्येवंमौलाअपि व्याख्येया मौलाजानपदास्तदेशाभिजनास्ते हि त्वजनज्ञातिमध्ये पापभीरुतया न मिथ्यावदन्ति । मूलंप्रतिष्ठा सा येषामस्ति तेमौलाअर्थकथनमेतत् तद्धितस्तु भावार्थएव कर्तव्यः योहि यत्रभावः सौपि तत्रास्तीत्यविरुद्धम् । क्षत्रविट्शूद्रयोनयः न ब्राह्मणः सर्वदाहस्याध्ययनाध्यापने विहिते अन्वहंवाग्निहोत्रहोमस्तत्र दूरस्थे राजन्यधर्मोमाभूदित्यसौ न कर्तव्यतयोपादीयते । यदृच्छयावगतार्थस्तुसाक्ष्यन्तराभावे गरीयसि कार्ये मुख्यतमः ससाक्षी तथा च ब्रूहीति ब्राह्मणंपृच्छेदिति साक्षिप्रश्नोभविष्यति योनिशब्दः प्रत्येकमभिसंब-

* राजपुरुष=राजपुरुषद्वारा (राघ० ४)

(६२) अर्थ्युक्ताः=अव्यङ्गाः (क)

ध्यते क्षत्रियो यो निरूपतिः कारणमस्यासौ क्षत्रयोनिः क्षत्रियजातीय इत्यर्थः । क्षत्रयोनिर्जन्मास्येति पञ्चमीतियोगविभागा-
त्समासोप्युक्तः । अर्थिना यदोक्तं भवत्येते मम साक्षिणः साक्षिकर्मणि योग्या भवन्ति ये तु स्वयमागताः साक्ष्यं ददति न ते
साक्षिणः । अनापद्यापत्साक्ष्यन्तराभाव इति केचित् तदयुक्तं विसंवादकत्वमसाक्षित्वे कारणं तत्संबन्धेन तानपैति न वयं-
ब्रूमः प्रतिषिद्धसाक्षिभ्यो विद्यमानानृताभिधानहेतवोर्द्धसंबन्धावास्यामवस्थायां प्रतिश्रूयन्ते किं तर्हि येषां कदाचिदाहूयमा-
नानां धर्मविरोधो भवति श्रोत्रियादीनां तेषामविद्यमानेष्वन्येष्वनुभूतार्थानामिदं प्रत्यनुज्ञानं पुनरमृतानाम् ॥ ६२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मौलास्तद्भागे परंपरयानिवसन्तः । अर्थ्युक्ताः अर्थिनोक्ताः न स्वयमेव साक्ष्येऽहमिति-
वादिनः ॥ ६२ ॥

(३) कुल्लूकः । कृतदारपरिग्रहाः पुत्रवन्तः तद्देशजाः क्षत्रियशूद्रवैश्यजातीयाः अर्थिनिर्दिष्टाः सन्तः साक्षित्वयो-
ग्या भवन्ति ते हि कृतपरिकरपुत्रभयात्तद्देशवासिनाविरोधाच्च नान्यथावदन्ति न तु ये केचिद्विद्वानादिव्यवहारेषु साक्षिणः
स्युः । आपदितु वाग्दण्डपारुष्यस्त्रीसंग्रहणादिषु कृत्यतिरिक्ताः साक्षिणो भवन्ति ॥ ६२ ॥

(४) राघवानन्दः । मौलास्तद्देशजाः अर्थ्युक्ता अर्थिना उभयेनोक्ताः अत्रार्थेयूयं साक्षिण इति तादृशाः साक्ष्यमर्ह-
न्ति दातु मिति शेषः । आपत्काले वक्ष्यमाणः ॥ ६२ ॥

(५) मन्दनः । गृहिणो भार्यावन्तः । मौलाः कुलश्रेणीप्रधानभूताः । अर्थ्युक्ता अर्थिना कार्यकाले सर्वेषु वर्णेषु रक्षि-
त्वेन भाविताः ॥ ६२ ॥

(६) रामचन्द्रः । गृहिण इति साक्षीश्रवणाद्दर्शनाद्भवति । ते साक्षिणः कीदृशाः गृहिणः गृहस्थाः पुत्रिणः मौलाः
वंशपरंपरायाताः ग्रामनिवासिनः क्षत्रविदूश्च योनयः अर्थ्युक्ताः अर्थिना उक्ताः अनापदि साक्षित्वमर्हन्ति आपदि कदा-
चित् प्रापयेत् ॥ ६२ ॥

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः ॥ सर्वधर्मविदोलुब्धा विपरीतास्तु वर्जयेत् ॥ ६३ ॥

(१) मेधातिथिः । आप्ता अविसंवादका यथा दृष्टार्थवादिनः येषां लोको विप्रलंभकत्वं संभावयति धर्मानुष्ठानपराये
ज्ञातारः सर्वधर्मज्ञा यदाचरन्ति श्रौतस्मार्तमाचारनिरुद्धं च सर्वधर्ममिह नरकः फलमिह स्वर्ग इत्येवं निरवशेषं जानन्ति ते स्मृतता-
भिधाने नरकं पश्यन्तो बिभ्यन्ति अलुब्धा उदारसत्त्वान्स्वल्पं धनं बहु मन्यन्ते एकैकस्य समस्तानि सर्वाणि विशेषणानि साक्षि-
क्रियायां गुणभूतत्वादुणे च साहित्यस्य विवक्षितत्वात् । सर्वेषु वर्णेष्विति सर्वकार्येष्वित्यर्थः न जातिनियमोस्तीत्युक्तं भव-
ति यत्पुनर्जातिव्यवस्थावचनं तदुपरिष्ठाद्वक्ष्यामः तदेतदुक्तं भवति सर्वैः कार्यभिः सर्ववर्णायथा संभवं साक्षिणः कर्तव्याः कार्येषु-
ऋणादानादिषु यथोक्तलक्षणाः । विपरीतास्तु वर्जयेत् यद्यपि विशिष्टेष्वभिहितेषु तद्विपरीतानां प्रसङ्ग एव नास्ति तथापि लौकि-
कोऽयं पर्युदासः । प्रायेण हि लौकिका अन्यविषयेऽन्ये तद्विपरीतनिषेधयन्ति तथा च भवन्ति वक्तारः क्रिया हि द्रव्यं विनयति ना-
द्रव्यमिति किंचा विसंवादकमिह प्रधानं साक्षिलक्षणं तच्च न विधिमुखेन शक्यावसानं किन्तु विसंवादकरणाभावमुखेन न ह्यविसं-
वादकत्वं प्रत्यक्षदृश्यं तद्विद्यथार्थाभिधानं श्रोत्रग्राह्यं च वस्तुनि कुतः प्रत्यक्षो यथार्थनिश्चयः प्रत्यक्षत्वे हि नैव साक्ष्यवगमो-
न्विष्यते न च सर्वत्र परोक्षे वस्तुनि शब्दावगम्ये प्रमाणान्तरसंभवः तस्माद्यानि भूयस्त्वेन मिथ्याभिधानकरणतया दृ-
ष्टानि न भावनिश्चयेनाविसंवादकत्वमनुमीयते अतस्तत्प्रदर्शनार्थं यमुपक्रमो विपरीतास्तु वर्जयेदिति ॥ ६३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आत्माः यथादृष्टवादितया गृहीतसंवादाः तथा सर्वविदः अलुब्धाश्च निश्चिताः आमत्वेऽपि कार्याः ॥ ६३ ॥

(३) कुल्लूकः । शत्रुविदूषद्रयोनयइत्युक्तत्वात्ततोब्राह्मणपरिग्रहार्थं सर्वेषु वर्णेष्वित्यभिधानं सर्ववर्णेषु मध्ये ये यथार्थावगतवादिनः सर्वधर्मज्ञालोभरहिताः ते साक्षिणः कर्तव्याः उक्तविपरीतांश्च वर्जयेत् ॥ ६३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच आमायथावगतवादिनः । सर्वधर्मविदो मन्वादिधर्मशास्त्रविदः । अलुब्धा इति च्छेदः ॥ ६३ ॥

(५) नन्दनः । कार्याः कार्येषु आमाधर्मनिश्चये प्रधानभूताः । अलुब्धाः रागद्वेषरहिताः । सर्वेषु धर्मेषु विद्वांसः । सर्वेषु विद्यमानावर्णविशेषानपेक्षयेति यावत् ॥ ६३ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वेषु वर्णेषु चतुर्षु सर्वेषु कार्येषु साक्षिणः कार्याः । कीदृशाः आमाः गृहीतसंवादाः । पुनः कीदृशाः सर्वधर्मविदः अलुब्धाः । ब्राह्मणस्य ब्राह्मणाः क्षत्रियस्य क्षत्रियाः एवमग्रे ॥ ६३ ॥

नार्थसंबन्धिनोनाम्नान सहाया न वैरिणः ॥ नदृष्टदोषाः कर्तव्यान् व्याध्यातान् दूषिताः ॥ ६४ ॥

(१) मेधातिथिः । तानीमानि संभाव्यमानमिथ्याभिधानकरणत्वेन पठ्यन्ते तत्रार्थसंबन्धिनोत्तमर्णाधमर्णाद्या-उत्तमर्णाह्यधमर्णवचनेन पराजीयमानास्तदानीमेव रोषावेशवशिताः स्तंभयन्ति धनं प्रत्यादातुमधमर्णमतोसौ संहितधनत्वाच्चित्तमनुवर्तमानः शक्यते तस्मादसौ न साक्षी उत्तमर्णोपनिर्धनेऽधमर्णे व्यवहारजयाच्च धनप्राप्तौ मह्यमयं प्रतिदास्यतीत्यनया बुद्ध्या कदाचित्तत्पक्षानुगुणं वक्तुं तिस्रोप्यसाक्षी अथवार्थः प्रयोजनं यस्य साक्षिणो विवादिभ्यां किंचित्प्रयोजनं साध्यं तेन वा तयोः स उपकारगतेनार्थेन समानफलद्वयवंप्रकारार्थसंबन्धिनोऽप्राप्तमित्रबान्धवतया कार्याभ्यन्तराः पितृव्यमातुलादयः सहायाः प्रतिभूतभृतयो वैरिणः प्रसिद्धादृष्टदोषा अन्यत्र कृतकौटसाक्ष्या अन्यद्वा प्रतिषिद्धमाचरितवन्तो व्याध्यातारोगपीडिताः न पुनरीषद्वेगिण इत्यार्त्तग्रहणं पीडितस्य हि क्रोधविस्मृत्यादयो मिथ्यावचनता च संभाव्यन्ते दूषिताः पातकिनोभ्यस्तोपपातकाश्च दृष्टदोषग्रहणन्तु तेषामेव कृतनिग्रहाणां परिग्रहार्थं हि राजनि भृतदण्डायाहितविनयत्वान्नसंप्रतिदूषिता भवन्ति ॥ ६४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अर्थसंबन्धिनस्तज्जयफलभागिनः । आमाः स्निग्धाः स्वस्य परस्य वा असाधारण्येन । सहायाः भृत्याः वक्तुः । दृष्टदोषाः दृष्टसाक्ष्यमिथ्याभिधानाः । दूषिताः अभिशस्ताः ॥ ६४ ॥

(३) कुल्लूकः । ऋणाद्यर्थसंबन्धिनोऽधमर्णाद्याः आप्राप्तमित्राणि सहायास्तत्परिचारकाः शत्रवः स्थानान्तरावगतकौटसाक्ष्याः रोगपीडिता महापातकादिदूषिताः साक्षिणो न कर्तव्याः । लोभरागद्वेषस्मृतिभ्रंशादीनामन्यथाभिधानहेतूनां संभवात् ॥ ६४ ॥

(४) राघवानन्दः । विपरीतान्वर्जयेदित्युक्तं तानाह नेति चतुर्भिः । अर्थसंबन्धिनः ऋणाद्यर्थसंबन्धिनः । आमाः पुत्रादयः । दृष्टदोषाः कूटसाक्षिणः । नव्याध्यातार्ताः कुष्ठैर्वाक्रान्ताः । दूषिताः महापातकादिना ॥ ६४ ॥

(५) नन्दनः । अर्थसंबन्धिनोवादिप्रतिवादिनोरन्यतरेण कृतोपकाराः । आप्ताएकतरस्मिन्पक्षेस्मिन्धाः । सहायाः सहचारिणः । दृष्टदोषाः पूर्वकौटसाक्ष्यादिरुतदूषिताः । अभिशस्ताः ॥ ६४ ॥

(६) रामचन्द्रः । निषिद्धानाह नेति । अर्थसंबन्धिनो न कार्याः । आप्ताः शक्तान् । अर्थसंबन्धिसहायान् । वैरिणः सहायानकार्याः । दृष्टदोषाः कुष्ठाद्यपस्मारसहितान् कर्तव्याः । व्याध्यातान् कर्तव्याः । दूषिताः अभिशस्तान् कार्याः ॥ ६४ ॥

न साक्षीनृपतिः कार्यो न कारुककुशीलवौ ॥ न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो न सङ्गेभ्योविनिर्गतः ॥ ६५ ॥

(१) मेधातिथिः । त्वमे साक्षी भविष्यसीति व्यवहारकृता धनविसर्गादिकाले साक्षित्वे नृपतिनाभ्येषितव्यः तस्य हि साक्ष्यंददतः पक्षपातनाशङ्केरन् प्रभुत्वादतोऽन्यतरस्य कार्यनाशः न च साक्षिधर्मेण प्रष्टुं युज्यते तद्देशवासी च यद्यपि लेखादिना संवादयेत्तथापि साक्षिधर्मसर्वेन कुर्यादिति तद्देशवासिनो राज्ञः समानकरणप्रतिषेधः । कारुकादीनां स्वकार्योपरोधशङ्कया संगत्या च ते जीवन्ति स्वभावश्चैष ज्ञानपदानां यत्स्वयं निश्चितवन्तोऽपि जीवामहे वयमिति जिताः साक्षिकादिभ्योरुप्यन्ति ततश्च सार्वलौकिकीसंगतिः कारुकादीनामुच्छिद्यते किंच प्रकृतिपरिलघुत्वात्तेषां वृत्तयश्चल्यितुमपि शक्यन्ते तथा च पक्षपातं भजेरन् श्रोत्रियस्य तु साक्षित्वे कर्तव्यता प्रतिषिध्यते राजवन्पुनरप्रत्ययितता नहि श्रोत्रियत्वं प्रामाण्यं विहन्ति जनयत्येव विशेषतः नहि श्रोत्रियत्वं विसंवादहेतुतयोपलब्धमेव मुत्तरत्रापि । कारुकाः शिल्पोपजीविनः सूपकारायस्कारादयः कुशीलवानटनर्तकगायनाद्याः श्रोत्रियो वेदपाठकोयः स्वाध्यायनतत्परः स इह गृह्यते अथवा श्रोत्रियत्वं कर्मानुष्ठानोपलक्षणार्थं तेनानुष्ठानपरस्य तद्विरोधतया प्रतिषेधः लिङ्गस्थो ब्रह्मचारी परिव्राजकपाखण्डलिङ्गधारिणस्तु कुशास्त्रवर्तित्वादेवान्ताः सङ्गेभ्योविनिर्गता वेदसंन्यासिनोगृहस्थाः सङ्गोलालसतया विषयोपभोगोदृष्टार्थकमार्म्भोवा ॥ ६५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नृपतिः तस्य । बहुव्यासकृत्वेनाऽस्मरणात् । एवं कारुकः शिल्पी । कुशीलवोनटः । श्रोत्रियो वेदाध्ययनपरः । लिङ्गस्थः परिव्राजकादिः । संगनिर्गतः सर्वदैकान्तसेवनादिशीलः ॥ ६५ ॥

(३) कुट्टूकः । प्रभुत्वात्साक्षिधर्मेण प्रष्टुमयोग्यत्वान्न राजा साक्षी कार्यः । कारुः सूपकारादिः कुशीलवोनटादिः तयोः स्वकर्मव्यग्रत्वात् । प्रायेण धनलोभवत्त्वाच्चासाक्षित्वम् । श्रोत्रियोऽप्यध्ययनाग्निहोत्रादिकर्मव्यग्रतया न साक्षी । लिङ्गस्थो ब्रह्मचारी सङ्गनिर्गतः परिव्राजकः तयोरपि स्वकर्मव्यग्रत्वाद्ब्रह्मनिष्ठत्वाच्चासाक्षित्वम् । श्रोत्रियग्रहणादध्ययनाग्निहोत्रादिव्यग्रतरब्राह्मणस्यानिषेधः ॥ ६५ ॥

(४) राघवानन्दः । एतेषू न साक्षिण इत्याह नेति । कारुकुशीलवानुक्तौ । राजादीनां स्वस्वकर्मव्यग्रतया अस्थिरचित्तत्वात् । न श्रोत्रियः अध्यापनाध्ययनाग्निहोत्रव्यग्रत्वात् । संगेभ्योविनिर्गतः संन्यासीति केचित् । कुटुम्बबहिष्कृतः मण्डलाच्च बहिष्कृत इति वा लिङ्गस्थपेदेन संन्यासिनो ग्रहणात् ॥ ६५ ॥

(५) नन्दनः । राज्ञः साक्षित्वे शपथादिना लाघवं संभवेदिति राज्ञः प्रतिषेधः । कारुः कर्मकरो रजकादिः । कुशीलवो गायकः । परिकरभूतत्वात्तयोर्नृपसदस्याह्वाने परकार्यविरोधः स्यादिति प्रतिषेधः । श्रोत्रियादीनां त्रयाणामाह्वाने धर्मपीडास्यादिति प्रतिषेधः । न पुनरेषामसत्यवचनत्वात् । लिङ्गस्थः संन्यासी । सङ्गेभ्योविनिर्गतो विरक्तः ॥ ६५ ॥

(६) रामचन्द्रः । नृपतिः राजा साक्षी न कार्यः । कारुकः करकर्ता कुशीलवौ कुत्सितं शीलं यस्य सः कुशीलः । न लिङ्गस्थः ब्रह्मचारी । सङ्गेभ्योविनिर्गतः संन्यासी न कार्यः ॥ ६५ ॥

नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर्न विकर्मकृत् ॥ न वृद्धो न शिशुर्नैकोनान्त्यो न विकलेन्द्रियः ॥ ६६ ॥

(१) मेधातिथिः । अध्यधीनशब्दोऽत्यन्तपरतंत्रगर्भदासादौ रुढ्या वर्तते अन्ये तु तुल्यसहितत्वादध्याधीनइति पठन्ति अध्यधीनोऽन्धकीकृतोऽनुशास्यः शिष्यपुत्रादिराचार्याधीनत्वात् । अथवा कुष्ठादिना कुत्सितकायः दस्युः श्रुतासवैतनिकः सद्युपादासयति कर्माणीति नैरुक्ते निरुक्तः । तस्य च दिवसश्रुतत्वान्नात्यन्तपारतन्त्र्यमस्तीति पृथगुपदेशः क्रियते कर्मजीवनत्वापत्तौ तथा विधानांजीविकोच्छेदः लघुवृत्तित्वाच्च लोभादिसंभवेनाप्रत्ययिततापि चौरस्य तु शब्दान्तरोपादानान्दस्युग्रहणेन ग्रहणं अकठिणत्वादयोवा दस्युः क्रूरचेष्टविकर्मकृच्छास्त्रविरुद्धयः कर्मकरोति यथा ब्राह्मणः क्षत्रियवृत्तिवैश्योवेत्यादि वृद्धोऽवयः परिणामादसंस्मृतिः शिशुर्बालोऽप्राप्तव्यवहारः एवं व्यवग्रहणेनैकस्याप्राप्तेः प्रतिषेधोऽद्वयोः कस्यांचिदवस्थायां सभ्यनुज्ञानार्थः यथा तृहस्ताचारोपत्रे यद्यपि तत्र तृतीयलेखको भवति तथापि लेखनमात्रस्य व्यापारो न साक्षित्वइति कस्यचिदियमाशङ्कस्यात् । अन्त्योर्बर्बरचण्डालादिः स्वधर्मादन्यत्र शूद्रयोनित्वेन प्राप्तस्य प्रतिषेधः विकलेन्द्रियोऽन्धबधिरादिः शरीरपीडयोपलब्धिविकलत्वाच्च ॥ ६६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अध्यधीनोऽन्यस्य गर्भदासः । वक्तव्योदुराचारत्वादिना गर्हितः । दस्युर्घातकः । विकर्मकृत् सूनादिः । नैकइति । अभावे द्वयोरपि ग्रहणम् । अन्त्योऽन्त्यजः ॥ ६६ ॥

(३) कुल्लूकः । अध्यधीनोऽत्यन्तपरतन्त्रोर्गर्भदासो न वक्तव्योऽविहितकर्मत्यागाल्लोकविगर्हितः । दस्युः क्रूरकर्मा नचौरौनापि तस्करइति वक्ष्यमाणत्वात् । विकर्मकृत् निषिद्धकर्मकारी एतेषां रागद्वेषादिसंभवात् । न वृद्धः प्रायेण स्मृतिभ्रंशसंभवात् । नबालोऽप्राप्तव्यवहारत्वात् । नैकोविनाशप्रवासशङ्कया तस्य व्यवहारैरिति विधानात् । अर्थप्रतिषेधसिद्धौ कस्याञ्चिदवस्थायां द्वयोरभ्यनुज्ञानार्थनिषेधवचनम् । अन्त्यश्चाण्डालादिः धर्मानभिज्ञातत्वात् । विकलेन्द्रियउपलब्धिवैकल्यान्साक्षीकार्यः ॥ ६६ ॥

(४) राघवानन्दः । एते सप्तदश न साक्षिणइत्याह नेतिद्वाभ्याम् । अध्यधीनः अत्यन्तपरतन्त्रः । गर्भदासोऽविचित्तत्वात् । वक्तव्येः सर्वलोकविगर्हितः वृद्धोऽत्यन्तवयसा । अन्त्यश्चाण्डालादिः । विकलेन्द्रियः बाधिर्यादियुक्तः ॥ ६६ ॥

(५) नन्दनः । अध्यधीनोऽत्यन्तपरतन्त्रः गर्भदासइतिकेचित् । वक्तव्योऽनिन्द्यः । दस्युर्हीनजातिः । अध्यधीनादीनामसाक्षित्वे कारणसत्यवाचकनियमाभावः । पूर्वसाक्षिणां व्यवहारमुक्तं अत्रैकत्वं प्रतिषिद्धं तेनायमर्थोऽगम्यते अधिकत्वमुक्तमः पक्षः । व्यवहृतं मध्यमः । द्वित्वमधमः । न कदाचिदप्येकमिति ॥ ६६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अध्यधीनो न गर्भदासः अत्यन्ताधीनः वक्तव्यः शिष्यपुत्रादिर्नकार्यः । दस्युर्घातको वा विकर्मकृत् । न वृद्धः न श्रुतिदासः नान्त्यः अन्त्यः शूद्रचाण्डालः ॥ ६६ ॥

नार्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृष्णोपपीडितः ॥ न श्रमार्तो न कामार्तो न क्रुद्धो नापि तस्करः ॥ ६७ ॥

(१) मेधातिथिः । आर्तोऽन्धनादिना रसेन मत्तो मद्यमत्तः क्षीबः अपस्मारगृहीतउन्मत्तपिशाचकीक्षुत्तृष्णोपपीडितोऽनुभुक्तापिपासाभ्यां व्यथितः श्रमः कायचेष्टाधिक्येन दूराध्वगमनयुद्धादिनोत्पन्नस्तेनार्तः पीडितः । कामः स्त्रीसङ्गा-

(६६) नाध्यधीनो=नान्याधीनो (क)

(१) वक्तव्यः सर्वलोक=वक्तव्यः विहितकर्मत्यागाल्लोकविगर्हितः । दस्युः क्रूरकर्मा न तस्करः तस्य नापि तस्करइदवक्ष्यमाणत्वात् । विकर्मकृत् निषिद्धकारी । एतेषां रागद्वेषादि संभवात् । सर्वलोक (न, श.)

भिलाषस्तेनाऽऽर्तोविप्रलंभोऽत्यन्तसंयोगोद्भावपि तावत्प्रत्ययौ वित्तोपप्लवात्तत्ससाधने चविप्रलंभाशङ्कया च । क्रुद्धोन्य-
स्मिन्नपि बहुतरक्रोधः सहिक्रोधेन व्यामचित्तत्वानयावदनुभवति नाप्यनुभूतंस्मरति । तस्करश्चौरः यद्यप्यसौविकर्म-
कृतथापि भेदोपादानाद्गोबलीवर्दन्यायोद्दृष्टव्यः ॥ ६७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नार्तइति । एतेचार्तत्वादयः साक्षिकरणकाले दोषाः । आर्तःशोकादिना । मत्तोमद्यादिना ।
उन्मत्तोवातादिना । तस्करः साक्ष्यकाले दृष्टपरार्थापहारः ॥ ६७ ॥

(३) क्रुद्धूकः । आर्तोबन्धुविनाशादिना मत्तोमद्यादिना उन्मत्तउत्क्षेपभूतावेशादिना क्षुधापिपासादिनापीडितः अ-
मार्तोवर्त्मगमनादिना स्मिन्नः कामार्तउत्पन्नक्रोधः चौरश्च न साक्षी कार्यइति सर्वत्रसंबध्यते । तत्रार्तादिर्बुद्धिवैकल्यात्
चौरस्त्वधार्मिकत्वात् ॥ ६७ ॥

(४) राघवानन्दः । आर्तोधनपुत्रादिनाशेन । मत्तोमद्यादिना । उन्मत्तोवातुलः । अमार्तोभारोद्ग्रहनादिना । तस्करः
चोरः । वृद्धादिक्रुद्धान्तानांप्रायेणस्मृतिलोपात् आर्ताद्यष्टसु स्मृतिलोपः प्रसिद्धः ॥ ६७ ॥

(५) नन्दनः । आर्तः पुत्रशोकादिपीडितः ॥ ६७ ॥

(६) रामचन्द्रः । नउन्मत्तो न ग्रहाभिभूतः ॥ ६७ ॥

स्त्रीणांसाक्ष्यंस्त्रियः कुर्युर्द्विजानांसदृशाद्विजाः ॥ शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥ ६८ ॥

(१) मेधातिथिः । यत्र पुमांसावार्थिप्रत्यर्थिनौ तत्र स्त्रीणांसाक्ष्यं नास्ति यत्र तु स्त्रिया सह पुंसः कार्यंस्त्रीणामे-
व चेतरेतरस्वलपंतत्र भवन्त्येव स्त्रियः साक्षिण्यः नचायंनियमः स्त्रीणांस्त्रियएव साक्ष्यंकुर्युर्नपुमांसः केवलंयुवतिविषये व्य-
वहारे क्वचिदेव स्त्रीणांसाक्ष्यं यतोऽस्थिरत्वादिति हेतुरुपात्तः भवन्ति काश्चन स्त्रियोब्रह्मवादिन्येव सत्यवादिन्यःस्थिरबु-
द्धयश्च । द्विजानांसदृशाद्विजाः यः प्रमाणतरोद्विजः सविसदृशशङ्क्यमानप्रमाणभावमपि दिशन्साक्ष्ये न श्रद्धेयवचनो-
भवति यतस्तथाभूतेन प्रमाणभूतएवदृष्टव्यः सहि तस्य सदृशः सदृशानां हि समानदेशः स्थानमितरेतरकार्यज्ञत्वंच सं-
भाव्यते इतरस्य तु तत्प्रदेशसन्निधिर्यत्नेन साध्यः सदृशत्वौचित्यात्सिद्धएव एवंहीनस्य हीनगुणोपि सदृशाद्गृहीतव्यो-
नतूत्कृष्टगुणो न ग्रहीतव्यः सादृश्यंजात्या शल्यादिना वा गुणेन क्रियया चाश्रुताध्ययनादिक्रिया समानशीलतया एतच्च ना-
तिशयिनि कार्ये द्रष्टव्यम् । नहि हीनगुणेषु प्रत्ययितता निश्चीयते अन्यानांचण्डालश्वपचादीनांतादृशाएवान्त्ययोन-
यः अन्तेभवान्त्या सायोनिरुत्पत्तिकारण्येषामिति विग्रहः प्रदर्शनंचैतत् येसमाजातिशिल्पशीलादिभिस्तेषामिहानुक्ता-
नामपि कुणिकारकुशीलवादीनांहेतोः समानत्वात् ॥ ६८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतदोषविरहे चाण्डालादयोपि ग्राह्याइत्येतदर्थंस्त्रीणामित्यादिप्रतिषेधः । द्विजाब्रह्मक्षत्रवि-
शोन्योन्यंकुर्युः । सदृशाइति नोत्तमानात्यधमाइत्यर्थः । सन्तोऽसंभावितदोषाः ॥ ६८ ॥

(३) क्रुद्धूकः । स्त्रीणामन्योन्यव्यवहारे ऋणादानादौ स्त्रियः साक्षिण्योभवन्ति । द्विजानांब्राह्मणक्षत्रियविशांस-
दृशाः सजातीयाः साक्षिणः स्युः । एवंशूद्रासाधवः शूद्राणाम् । चाण्डालादीनांचाण्डालादयः साक्षिणोभवेयुः । एतच्च स-
जातीयसाक्ष्यभिधानमुत्तलक्षणसजातीयसाक्षिसंभवेऽसंभवे विजातीया अपि साक्षिणोभवन्ति । अतएव याज्ञवल्क्यः ॥ य-
था जातियथावर्णं सर्वे सर्वेषु वा स्मृताः ॥ ६८ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तेषु प्रतिप्रसवतया व्यवस्थितिमाह स्त्रीणामिति । कुर्युः दद्युः । वर्णव्यवस्थितिमाह द्विजा-
नामिति । सन्तोद्विजशुश्रूषादिरताः ॥ ६८ ॥

(५) नन्दनः । बहुशुचयोपिचस्त्रियइति । जस्त्रीणांसाक्षित्वस्य वक्ष्यमाणस्यायमपवादः । सदृशाः सजातीयः ॥६८॥

(६) रामचन्द्रः । उक्तानाह स्त्रीणामिति । द्विजानां सदृशाः सवर्णाः द्विजाः । अन्त्यानांअन्त्ययोनयः ॥ ६८ ॥

अनुभावी तुयः कश्चिकुर्यात्साक्ष्यंविवादिनाम् ॥ अन्तर्वैश्मन्यरण्ये वा शरीरस्यापि चात्यये ॥६९॥

(१) मेधातिथिः । अन्तर्वैश्मनि यः कार्यमतर्कितोपनतावाग्दण्डपारुष्यसंग्रहस्तेयंसाहसादिरूपमरण्ये वा तादृशमेव शरीरेण च पीड्यमाने तत्कालदस्युभिरन्यैर्वादाय तत्कुतश्चिद्गृहीतं योवाधननिमित्तंप्रतिभूत्वेन स्थापितोनच साक्षिणोलभ्यते तावत्कालंनप्रतिपालयन्ति । अनुभावी साक्षाद्रष्टा यः कश्चिदिति न जातिनियमः सदृशंच तदा नास्तीत्याह अन्तर्वैश्मनीति विरलजनोपलक्षणार्थतेन शून्यदेवतायतनादीन्यपि विरलजनानि गृह्यन्ते तथाचारण्यग्रहणमस्यैवार्थस्य प्रदर्शनार्थम् । अन्ये तु शरीरस्यापि वात्ययइत्यन्यथा व्याख्यानयन्ति कार्यशरीरस्यातिपाते यः कश्चित्साक्षी यत्कार्यमनुष्ठीयमानमतिपतत्युत्तरकालमशक्यानुष्ठानंतत्र साक्षिणांजातिलिङ्गवयः सादृश्यकसंबन्धाभावादिनियमोनास्ति । एतदेवोत्तरेणदर्शयति ॥ ६९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनुभावी येन तत्कार्यप्रसंगादप्यनुभूतम् । यःकश्चिदधमोपि । अन्तर्वैश्मन्यरण्यइत्यसंभवत्पुरुषान्तरदेशोपलक्षणम् । शरीरस्यात्यये तत्साक्ष्यकरणे तदैव यदि मृत्युस्तदापीत्यर्थः ॥ ६९ ॥

(३) कुल्लूकः । गृहाभ्यन्तरेऽरण्यादौ वा चौरादिकृतोपद्रवे देहोपघाते वातताम्यादिकृते यः कश्चिदुपलभ्यते सवादिनोरेवसाक्षीभवति नतु ऋणादानादिवदुक्तलक्षणोपेतः ॥ ६९ ॥

(४) राघवानन्दः । विवादेसत्युक्तविधजनासंभवेनृमात्रंसाक्षीत्याह अनुभावीति । अन्वगन्वक्षं तत्र भावीवर्तमानः । शरीरस्यात्यये मृतौ साक्ष्यं कुर्यात् दद्यात् ॥ ६९ ॥

(५) नन्दनः । यथोक्तगुणसाक्ष्यभावे यः कश्चिदनुभावितापिसाक्षीत्याह अनुभाव्यपीति । अनुभावी अर्थानुसन्धायी । यः कश्चित्सजातीयोपि । अन्याये पीडायाम् ॥ ६९ ॥

(६) रामचन्द्रः । यःकश्चित् अनुभावीप्रसङ्गादपि येन तत्कार्यमनुभूतम् । शरीरस्यापि अत्यये नाशे उपस्थिते तस्य ॥ ६९ ॥

स्त्रियाप्यसंभवे कार्यं बालेन स्थविरेण वा ॥ शिष्येण बन्धुनावापि दासेन भृतकेन वा ॥ ७० ॥

(१) मेधातिथिः । स्त्रियेतिलिङ्गव्यत्ययउक्तः । बालेन स्थविरेणवेति वयोव्यत्ययः शिष्येणेत्यादिना संबन्धिनः प्रतिप्रसवएतच्च प्रदर्शनमेवंविधानांव्यभिचाराय तेन ज्ञातिसादृश्येऽपि नाद्रियेते । सुहृद्द्वैरिदोषादयस्तुनेष्यन्ते येषांकिंचिदसत्याभिधानकरणत्वंदृष्टंनपि व्यापकंतेन प्रतिप्रसूयन्ते येषान्तुबहुव्यापकंक्वचिदेव गुणातिशयंचेति व्यभिचरेत्ततः क्वचिदेव तत्साक्षिणउक्तंच ॥ एकः सहसाल्भ्येतनसौहार्दान्निशात्रवात् । नार्थसंबन्धतोवापि पुरुषोनृतमाचरेदिति ॥ असंभवेऽन्येषांसाक्षिणांस्त्रियापि कार्यसाक्ष्यमिति पूर्वश्लोकादनुषज्यते । शिष्येणेतिमौखसौवसंबन्धप्रदर्शनार्थमेतत् । बन्धुनेति अहार्योत्पत्तिकायानसंबन्धप्रतिप्रसवः सत्यपि संबन्धत्वे । योनातिप्रत्यासन्नः सगृह्यते तेन भ्रातृव्यमातुलश्वशुर्यादयोन साक्षिणः तथाविधे हि बन्धुशब्दोरुद्धः । दासेनेति सत्त्वामिसंबन्धउपलक्ष्यते न त्वाम्युपाध्यायोयाजकश्च सर्वविधे विषये साक्षिणः दासो-गर्भदासोभृतकोवैतनिकः ननुचासामर्थ्याद्वालादयः साक्षित्वेनिरस्ताः नह्येते साक्ष्यमवधारयितुंशक्नुवन्ति बुद्धेरस्थैर्यात्परिपाकादिभिर्दोषैस्तदापि प्रतिस्वमानसमञ्जसमिति नह्यपदि शक्तिरस्याविर्भवति योहि ब्रूयात्तेन वानवौदनः पक्तव्यः सत्याग्रौ तु पक्तव्यइति तादृगेतस्यात् नैषदोषएवमर्थमेवोत्तरश्लोकआरभ्यते ॥ ७० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अस्यप्रपञ्चः स्त्रियापीति । दासोगर्भदासः । भृतकः भृत्या परिकीतः ॥ ७० ॥

(३) कुहूकः । तदेवोदाहरणात्स्पष्टयति स्त्रियापीति । अन्तर्वैश्वादावुक्तसाक्ष्यभावे सति स्त्रीबालवृद्धशिष्यबन्धुदासकर्मकरा अपि साक्षिणः स्युः ॥ ७० ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च स्त्रियेति । रुयादिसप्तभिः कार्यं देयं साक्ष्यमिति शेषः ॥ ७० ॥

(५) नन्दनः । असंभवे यथोक्तगुणसाक्ष्यलाभे कार्यसाक्ष्यमिति शेषः । पूर्वप्रतिषिद्धानां शिष्यादीनां सह पाठादि-
हचायोग्यत्वमनुमीयते ॥ ७० ॥

बालवृद्धातुराणां च साक्ष्येषु वदतां मृषा ॥ जानीयादस्थिरां वाचमुत्सिक्तमनसां तथा ॥ ७१ ॥

(१) मेधातिथिः । अयमस्यार्थः नेहात्यन्ताप्रामाण्यरुद्धाभ्रान्तबुद्धयोर्बालादयोगृह्यन्ते येनानारभ्योर्थोपदिष्टः स्यात् किन्तु ये शक्नुवन्त्यवधारयितुं तदातिस्थिरचेतसस्तत्रानुज्ञायन्ते तेषां वचनमनुमाने परीक्ष्य यदि संबद्धवदन्ति नचाशङ्क्यमानदोषेण केन चित्संगतास्ततः प्रमाणतदाह तेषां मृषावदतामस्थिरां वाचं जानीयादेतदुक्तं भवति वाचोः स्थैर्येण मृषात्वं निश्चिनुयात् तत्र वाचोः स्थैर्यवचनानामितरेतरासंगतिः अस्फुटा परिपूर्णाक्षरत्वं एतच्च बालादीनामवस्थोपलक्षणार्थं ये वयसा व्याधिना वाप्यवस्थामियतींगता अन्यद्विवक्षन्तो न्यदुच्चारयन्ति तच्चाव्यक्तं तेषां साक्षिणः एतत्प्रत्यक्षवेद्यमसाक्षित्वकारणं अन्यत्तु रागद्वेषप्रबललोभादिसाधारणमनुमानतः परीक्ष्य तथाचोक्तमेव उत्सिक्तचेतसः प्रकृत्यैवोपप्लुता अधीर-
धियः ॥ ७१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बालादिषु कर्तव्यविशेषमाह बालेति । तत्र मिथ्याभिधानव्यभिचार्यस्थिरत्वादिकं वाचः
प्रतिसन्धेयम् । तदभावे तद्वचनेनाप्यर्थनिश्चयः संभवतोत्यर्थः । उत्सिक्तमनसामस्थिरचेतसाम् ॥ ७१ ॥

(३) कुहूकः । नन्वस्थिरबुद्धित्वादिना स्त्रीबालादीनां कथमत्रापि साक्षित्वमित्यत्राह बालवृद्धेति । बालवृद्धव्याधि-
तानामुपप्लुतमनसां च मत्तोन्मत्तादीनां साक्ष्येऽनृतवदतामस्थिरावाभवति अतस्तामनुमानेन जानीयात् । यथोक्तम् वा-
ग्भिर्विभावयेल्लैरिति ॥ ७१ ॥

(४) राघवानन्दः । बालादिसाक्षिषु प्रमाणान्तरं सहायं विधत्ते बालेति । जानीयादनुमानादिना । उत्सिक्तमनसां
कामाद्युपप्लुतमनसाम् ॥ ७१ ॥

(५) नन्दनः । आपदिषयसाक्षिपरिग्रहे राज्ञः कर्तव्यमाह बालवृद्धातुराणान्त्विति । सत्यासत्यरूपां वाचं राजा चि-
न्हैर्जानीयान्नोक्तिमात्रेण परिगृह्णीयात् । संख्यानां च गुणानां च साम्येद्विजोत्तमान्परिगृह्णीयात् ॥ ७१ ॥

(६) रामचन्द्रः । साक्ष्यं मृषा वदतां उत्सिक्तमनसां चञ्चलचित्तानां वाचमस्थिरां जानीयात् । बालः अप्रामाण्यव-
हारः । वृद्धः अशीतिवर्षः वृद्धग्रहणं वचनानिषिद्धानामन्येषामपि ॥ ७१ ॥

साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च ॥ वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥ ७२ ॥

(१) मेधातिथिः । सहोबलतदाश्रित्य यत्क्रियते तत्साहसं राजवल्लभेन महापक्षतया त्वशरीरबलेन बलवदा-
श्रयेण वा यदकार्यकरणं तत्साहसं यथा वरूपाटनाग्निदाहकरच्छेदाद्यन्यत्प्रसिद्धं अत्र साक्षिणो न परीक्ष्याः गृहिणः पुत्रि-
णइत्येवमादिरूपा परीक्षा तत्र प्रतिषिध्यते या तु व्यभिचारहेतुतया शङ्क्यते रागद्वेषधनलोभादिरूपा सा कर्तव्या रुद्ध-
मूलत्वादस्याः स्मृतेरित्युक्तम् ॥ ७२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नपरीक्षेत बालत्वादिना नत्यजेत् किंनु तत्रयुक्तरीत्या स्थैर्यादि प्रतिसंधेयम् ॥ ७२ ॥

(३) कुल्लूकः । गृहदाहादिषु साहसेष्वाचार्यस्त्रीसंग्रहणे वाग्दण्डपारुष्ये च गृहिणइत्युक्तसाक्षिपरीक्षा न कार्या । स्त्रीयाप्यसंभवे कार्यमित्यस्यैवायमुदाहरणप्रपञ्चः ॥ ७२ ॥

(४) राघवानन्दः । साहसादिषु साक्षी न परीक्षणीयइत्याह साहसेष्विति । साहसेषु गृहदासादिषु । सहो बलंते-
नायंभवतीति साहसः । संग्रहणे स्त्रीभोगादौ । वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये वाक्पारुष्ये धिगाद्युक्तौ दण्डपारुष्ये ताडनादौ
साक्ष्यन्तराभावान्नपरीक्ष्येत गृहिणःपुत्रिणइत्यादिधर्मेण ॥ ७२ ॥

(५) नन्दनः । संग्रहणंपरदारपरिग्रहः ॥ ७२ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वेषु चतुर्विधेषु साहसेषु साक्षीकार्यः । चतुर्विधत्वमाह । मनुष्यमारणं चौर्यं परदाराभिमर्शन-
म् । पारुष्यमुभयंचेति साहसंस्याच्चतुर्विधम् ॥ च पुनः स्तेयकर्मणि संग्रहणेषु रहसि क्रियमाणेसंग्रामे धार्यपारुष्यसाहसेषु
साक्षिणः कार्याः अत्रगुणरहितासाक्षिणोभवन्तीति भावः ॥ ७२ ॥

बहुत्वंपरिगृहीयात्साक्षिद्वैधे नराधिपः ॥ समेषु तु गुणोत्कृष्टान्गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान् ॥ ७३ ॥

(१) मेधातिथिः । यत्रभूमिभागादौ विप्रतिपत्तिर्द्वाभ्यां च भोगसाक्षिणोर्निर्दिष्टास्ते च केचिदर्थिनस्तत्र बहूनां-
वचनंग्राह्यं समसङ्ख्येषु तु ये गुणैरुत्कृष्टाबहुगुणाइति अथैकेन वा गुणेन दृष्टपुरुषार्थोपकारिणामतिशयेन युक्तगुणवतां-
समगुणानांभेदे जातिरादर्तव्या सर्वसाम्येशपथः अन्यद्वा समानं बहुत्वंपरिगृहीयाद्बहूनांवचनंप्रमाणीकुर्यात् । द्वैधंपर-
स्परविरुद्धाभिधानम् ॥ ७३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बहुत्वमिति यद्यन्येऽन्यथावदन्ति तद्विरोधेऽपि बहूनांवचोग्राह्यमित्यर्थः । द्विजोत्तमान्
ब्राह्मणान् ॥ ७३ ॥

(३) कुल्लूकः । साक्षिणांपरस्परविरुद्धानांबहुभिर्भेदुक्तंतेदेव निर्णयार्थत्वेन राजा गृहीयात् । समेषु तु विरुद्धार्थाभिधा-
यिषु गुणवतः प्रमाणीकुर्यात् । गुणवतमेव विप्रतिपत्तौद्विजोत्तमान् द्विजेषु येउत्तमाः क्रियावन्तइत्यर्थः । अतएव बृहस्प-
तिः ॥ गुणिद्वैधे क्रियायुक्ताइति ॥ ७३ ॥

(४) राघवानन्दः । यत्र परस्परं साक्षिणां विरुद्धभाषितया द्वैधं तत्र बहुभिरुक्तं ग्राह्यमित्याह बहुत्वमिति । समेतु
गुणोत्कृष्टान् गुणाधिकान् । द्विजोत्तमान् विशिष्टगुणवतोविप्रान् सम्यञ्चोबहवश्चेति न्यायात् ॥ ७३ ॥

(५) नन्दनः । अथसाक्षिद्वैधेबलाबलमाह बहुत्वमिति । विवादिनोःसाक्षित्वे द्वैधे साक्षिणांबहुत्वंपरिगृहीयात्
समेषु समसंख्येषु साक्षिषु ॥ ७३ ॥

(६) रामचन्द्रः । नराधिपःसाक्षिद्वैधे विविधे साक्षिबहुत्वं परिगृहीयात् । समेषु तुल्येषु गुणोत्कृष्टान् ॥ ७३ ॥

समक्षदर्शनात्साक्ष्यश्रवणाच्चैव सिध्यति ॥ तत्र सत्यंब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां नहीयेत ॥ ७४ ॥

१) मेधातिथिः । ननु चानुभावीतु यः कश्चिदित्यनेनोक्तमेवैतत्कथंचान्यथा सिद्धिराशङ्क्यते येनेदमुच्यते दर्शनश्र-
वणाभ्यां साक्षिसिद्धिरिति तत्रोच्यते साक्षी व्यवहारिष्यता कर्तव्यस्त्वमस्मत्साक्षी भविष्यसीत्युक्तं तत्र यएवंनोक्तः सन
प्राप्तोत्येवमर्थमिदमुच्यते यस्तत्र संनिहितः कथंचिदनुभवितात्वं स्मर्तुमर्हस्यावयोरिममर्थमित्येवमनुक्तेऽपि भवत्येव साक्षी
समक्षदर्शनात्साक्षादनुभवाच्छ्रवणाच्च साक्ष्यशब्दानुषङ्गः कर्तव्यः । यत्कुतश्चिदेकेन श्रूयते ततोऽन्येन तत्परंपराश्रुतंतेन परं-

पराश्रावी न साक्षी यथैतेनेदमकार्यकृतमिदमस्मैवा धारयतीति लोकप्रसिद्ध्यावगतम् । ननु प्रमाणतस्तत्र समक्षदर्शनं साक्षादनुभवनमर्थविषयमृणप्रयोगदण्डपारुष्यादि साक्षाद्दृष्टं चक्षुर्व्यापारेण वाक्पारुष्यंतथेदमस्मान्मया मृहीतमित्येवमादिविषयशब्दप्रापणं यद्यपि दृशिरुपलब्धिमात्रवचनस्तत्रापि वृत्तानुरोधितया श्रोत्रज्ञानं श्रवणभेदेनोपात्तं एतावच्चात्र विवक्षितं प्रमाणतोयेनानुभूतं ससाक्षी समक्षदर्शनं ग्रहणं च प्रमाणमात्रोपलक्षणार्थं तेनानुमानादिनाप्यनुभूतमेव अतआप्तागमाश्च तस्य प्रत्यक्षमपि प्रमाणम् । उत्तरस्तु श्लोकार्धेनैवादेव सत्यवचनस्य विहितत्वात् असत्यवादिनो धर्मार्थहानेश्च प्रमाणान्तरावगतत्वात् ॥ ७४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । समक्षदर्शनात् प्रत्यक्षतोदर्शनात् । श्रवणादाप्तवचनसंज्ञानात् । अर्थाहानिर्दण्डाभावात् ॥ ७४ ॥

(३) कुल्लूकः । गोविन्दराजस्तु गुणवतां विप्रतिपत्तौ द्विजोत्तमान् ब्राह्मणान् प्रमाणीकुर्यादित्याह समक्षेति । चक्षुर्ग्राहे साक्षा दर्शनात् श्रोत्रग्राहे श्रवणात् साक्ष्यं सिध्यति । तत्र साक्षी सत्यं वदन् धर्मार्थाभ्यां न मुच्यते । सत्यवचेन न धर्मोपपत्तेर्दण्डाभावे र्थहान्यभावात् ॥ ७४ ॥

(४) राघवानन्दः । साक्ष्यं हि यथा दृष्टश्रुताभिधानमिति प्रकटयन् साक्षिपदस्य यौगिकत्वमाह समक्षेति । अक्षमत्रेन्द्रियमात्रेण । तत्र श्रुत दृष्टस्पृष्टेऽर्थे । सत्यं दृष्टादिप्रतिपादकं ब्रुवन् वधादि । धर्मार्थाभ्यां धर्मतो न हीयते स्वर्गतो न हीयते अर्थतो न हीयते न श्रुतं दण्डं प्राप्नोति श्रुतादिमत्त्वात् ॥ ७४ ॥

(५) नन्दनः । साक्षिणां लक्षणं कर्तव्यं चाह समक्षदर्शनादिति ॥ ७४ ॥

(६) रामचन्द्रः । सार्धेनाह तत्रेति । तत्र सभायां सत्यं ब्रुवन् साक्षी स धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥ ७४ ॥

साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्यसंसदि ॥ अवाङ्मरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥ ७५ ॥

(१) मेधातिथिः । असत्याभिधाने साक्षिणां फलदर्शनार्थमिदं दृष्टश्रुतशब्द उपलब्धिपर्याय इत्युक्तं तस्मादन्यदनुपलब्धंतद्वीति आर्याः सभ्याः सत्कारिणस्तेषां संसदि सभायामवागधोमुखं नरकं याति यमयातनास्थानं गच्छति । प्रेत्य मृत्वा स्वर्गाच्च हीयते भ्रश्यति । यदप्यनेन स्वर्गोरोहणं कर्मकृतं तदपि कौटसाक्ष्यपापस्य गुरुत्वात् प्रतिबध्यते नतु स्वर्गस्य कर्मणः पापेनानेन नाशः स्वफलविधित्वात् कर्मणामन्यत्र प्रायश्चित्तेभ्यः । ॥ ७५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विब्रुवन् विशेषेण ब्रुवन् । नरकानुभवान्तेऽपि सुरुतनाशात् स्वर्गाद्धीयते न स्वर्गं प्राप्नोति ॥ ७५ ॥

(३) कुल्लूकः । साक्षी दृष्टश्रुतादन्यादृशं साधुसभायां वदन् धौमखोनरकं गच्छति परलोके च कर्मान्तरजन्यस्वर्गरूप फलादानेन पापेन हीयते ॥ ७५ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तवैपरीत्ये दण्डमाह साक्षीति । विब्रुवन् सुवर्णरूपमिति विरुद्धप्रकारकं वा ब्रुवन् । आर्यसंसदि विद्वद्ब्राह्मणसभायाम् । अवाङ्मुखः सन्नरकमभ्येति । न केवलमेवमपि तु हीयते स्वर्गाच्च तज्जनकशुभादृष्ट्यनरकेण प्रत्यन्तरितत्वात् स्वर्गहेतुधर्मनाशाद्वा ॥ ७५ ॥

(५) नन्दनः । तत्र दर्शनश्रवणयोर्विपर्यये दोषमाह साक्षी दृष्टश्रुतादिति स्वर्गान्पुण्यान्तराजितात् ॥ ७५ ॥

(६) रामचन्द्रः । साक्षी आर्यसंसदि दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन् अन्यथा ब्रुवन् अवाक्शिरानरकं एवैति प्रत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥ ७५ ॥

यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत शृणुयाद्वापि किंचन ॥ दृष्टस्तत्रापि तद्ब्रूयाद्यथादृष्टंयथाश्रुतम् ॥ ७६ ॥

(१) मेधातिथिः । ननु चोक्तंसमक्षदर्शनादित्यत्र यथावदभूतवचने नियुक्तस्यापि साक्ष्यमस्तीति तत्र किमनेन यत्रानिबद्धोपीति कोवा शेषउच्यते लेख्यारूढस्य व्यापारविशेषाद्युक्तं साक्षित्वंनपुनरनन्वारूढस्य आरोहणस्यानर्थक्यप्रसङ्गादुभयोः साक्षित्वे अतएतदाशङ्कामपनोत्तुमिदमुच्यते पूर्वस्तु श्लोकोयत्रानुक्ताः साक्षिणः अयन्तु यत्र ससाक्षिकंलेख्यं अनिबद्धोलेख्यमनारूढोपीत्यर्थः ईक्षणश्रवणे व्याख्याते शेषसुबोधम् ॥ ७६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनिबद्धोऽनधिकृतः । प्रसंगात्तत्रागतः ॥ ७६ ॥

(३) कुष्ठूकः । त्वमस्मिन्विषयेसाक्षी भवदित्येवमकृतोपि यत्किंचिद्व्यादानादि पश्यति वाक्पारुष्यादिकंवाशृणोति तत्रापि साक्षी सपृष्टःसन्त्यथोपलब्धकथयेत् । अयंत्वकृतसाक्षी सामान्येन मनुनोक्तः । अस्य ग्रामश्च प्राड्विवाकश्च राजाचैत्यादिना नारदादिभिः षाड्विध्यमुक्तम् ॥ ७६ ॥

(४) राघवानन्दः । दर्शनश्रवणमात्रं न साक्षिताप्रयोजकं किंतु तद्विशेषइत्याह यत्रेति । निबद्धस्त्वमस्मिन्विषये अवधानंकुर्वितिनियुक्तः तदभावेपि ब्रूयादेवेत्यन्वयः यथादृष्टं तमपिपृष्टःसन् ॥ ७६ ॥

(५) नन्दनः । साक्षित्वेनानिमन्त्रितोपि यादृच्छिकसाक्ष्यमर्हतीत्याह यत्रानिबद्धोऽपीति । यत्र विवादपदे अनिबद्धः साक्षित्वेनानिमन्त्रितः यादृच्छिकइति यावत् ॥ ७६ ॥

(६) रामचन्द्रः । यत्र साक्ष्ये अनिबद्धः सन् साक्षित्वेनानधिकृतः सकिंचन शृणुयात् वीक्ष्येतवा तत्रापि पृष्टः सतुतत्सत्यं यथाश्रुतंयथादृष्टंब्रूयात् ॥ ७६ ॥

एकोलुब्धस्तु साक्षीस्याद्वयः शुच्योपि न स्त्रियः ॥ स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वात्तु दोषैश्चान्येपि ये वृताः॥७७॥

(१) मेधातिथिः । एकस्य पुनः प्रतिषेधोलोभादिरहितस्य प्रतिप्रसवार्थः तेन सत्यवादितया निश्चितएकोपि साक्षी भवत्येव स्त्रियस्तु न कथंचित्साक्ष्यमर्हन्त्यल्पावबोधावाशुच्योपीति गुणवत्योपीत्यर्थः । अत्र हेतुः स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वादिति प्रकृतिरेषा स्त्रीणांयदुद्धेश्वपलत्वंगुणास्तु यत्नोपार्जिताअपि प्रमादालस्यादिनान्यतयान्यतः स्वाभाविकमस्थैर्यतिष्ठेदेव यथाऽऽमयाविनो घृतादिनोत्पत्तेः । अग्रे स्थैर्यं स्वल्पेनापि प्रमादे पुनः सहजामयावित्वानुवृत्तिरतो नया शङ्कया गुणवतीष्वपि तासु नाश्वासः यत्तु स्त्रियोप्यसंभवे कार्याइति तद्यत्र तत्क्षणादेव पृच्छयन्ते यत्रेयमाशङ्कान भवति केनचिदासांचलितंमनइति यत्र तु कालव्यवधानं तत्र जीयमानेन कदाचिदनुकूलास्ताइति न क्वचित् साक्ष्यदोषैश्चान्येऽपि ये वृत्ताः रोगादिभिर्दोषैर्ये स्त्रीभ्योन्येऽपि पुरुषावृत्ताआक्रान्तभूयिष्ठादोषानाम उक्तं रागादयः शास्त्रप्रतिषिद्धाः शङ्कामानव्यभिचारहेतवः यद्यपि केवलेन त्वशब्देनैवोक्तायेषां तथाप्यनुक्तपरिग्रहणार्थमिदमपुनरुक्तं सामान्यविशेषाभिधानं हि सर्वत्रग्रन्थकारानुमन्यन्ते । अन्येत्वकारप्रलेषेणालुब्धोप्येकोन साक्षी किंपुनर्लुब्धइत्येवमाचक्षते तथा द्वयोरभ्यनुज्ञानंभवति शुच्यइतीकारोदुर्लभोवोतोगुणवचनादिति विधानात् । रुदिकारादिति केचित्समर्थयन्ते ॥ ७७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एकोप्यलुब्धःपुमान् । शुच्योअलुब्धाअपि । दोषैश्चान्येपिपेवृताः अर्थसंबन्धित्वादिभिस्तेपि नबहवःसाक्षिणः । एकस्मिन्लुब्धे विपरीतवादिनि सति ॥ ७७ ॥

* अन्वयः=आहनिबद्धइति (राघ० ४)

(३) कुल्लूकः । एकोऽलुब्धइत्यत्राकारप्रश्लेषोद्गृह्यः । एकोपि साक्षी लोभादिरहितः स्यात् । अतएव व्यासः ॥ शुचिक्रियश्च धर्मज्ञः साक्षी यत्रानुभूतवाक् । प्रमाणमेकोपि भवेत्साहसेषु विशेषतः ॥ मेधातिथिगोविन्दराजाभ्यामेकोलुब्धस्त्वसाक्षीस्यादिति पठितंव्याख्यातं च । लोभात्मकः एकः साक्षी न भवति एवंचालुब्धोगुणवान्कस्यांचिदवस्थायामेकोपि भवतीति । स्त्रियः पुनरात्मशौचादियुक्तावद्व्योप्यस्थिरबुद्धित्वाट्टणादानाद्यैः पर्यालोचितव्यवहारे साक्षिण्येन भवन्ति अपर्यालोचिते तुस्तयवा ग्दण्डपारुष्यादौ स्त्रियाप्यसंभवे कार्यमिति साक्षित्वमुक्तम् । अन्येऽपि ये स्तेयादिदोषैर्व्याप्तास्तेऽपि पर्यालोचितव्यवहारे साक्षिणो न स्युः ॥ ७७ ॥

(४) राघवानन्दः । बहुष्वपि लोभाद्यनभिभूतः एकः साक्षीत्याह एकइति । अलुब्धइतिच्छेदः । शुच्योपि अपरपुत्रलोभान्निवृत्ता अपि तत्र हेतुः अस्थिरबुद्धिरादित्ये दोषदुष्टाः पुमांसस्ते नादरणीया इत्याह दोषैरिति । अतएव व्यासः ॥ शुचिक्रियश्च धर्मज्ञः साक्षी यत्रानुभूतवाक् । प्रमाणमेकोपि भवेत्सदृशेषु शेषतः इति ॥ शुचिक्रियः अर्थादिव्यवहारे शुचयः क्रियाः यस्यसः । धर्मज्ञपदेन यज्ञादिसत्क्रियस्योक्तेः अनुभूतवाक् त्वंअत्र साक्षीत्यादिकानुभूता वाग्येन सदित्यया सोक्त्यर्थः । गोविन्दराजस्तु लोभाभिभूतो न साक्षीति लुब्धस्त्वसाक्षीति पाठचक्रे ॥ ७७ ॥

(५) नन्दनः । पुनरपि साक्षिणानियममाह एकोबुधस्त्विति । येऽन्ये दोषैर्वृतास्तेऽप्यसाक्षिणइति वचनविपरिणामः ॥ ७७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अलुब्धः साक्षी स्यात् । शुच्योपि पावित्र्ययुक्ताः स्त्रियः बह्व्यः साक्ष्येन कार्याः । कस्मात् स्त्रीष्वेदरेस्थिरत्वात् । च पुनः अन्येपि ये पुरुषादोषैर्वृतावेष्टिताः ॥ ७७ ॥

स्वभावेनैव यद्व्युत्तद्वाह्यं व्यावहारिकम् ॥ अतो यदन्यद्विद्व्युर्धर्मार्थं तदपार्थक्यम् ॥ ७८ ॥

(१) मेधातिथिः । साक्षिणो यत् स्वभावेन व्यावहारिकं ब्रुवन्ति तद्वाह्यं यत् स्वभावाद्विचलिता धर्मार्थं ब्रूयुस्तदपार्थक्यमप्राप्तमित्यर्थः । यद्यथा दृष्टस्यार्थस्य वचनं स्वभावतो यत्स्वन्यथा माभूत्तस्य वचनं सस्वभावं यस्त्वन्यथा माभूत्तस्य तत्स्विनोमद्वचनेन तापइत्यनया बुद्ध्या तदपार्थक्यं यथा केनचिदावेदितं भवत्यनेनाह नाकुष्ठइत्यत्रापरेणापह्नते साक्षिण आहुः सत्यमाकुष्ठेनर्मणानतु रोषेणेति तत्राकुष्ठइत्येतत्साक्षिवचोप्राप्तं नर्मणेत्येतदुत्तरवादिनानुक्तत्वादपृष्टमुक्तमपि न ग्राह्यव्यावहारिकं व्यवहारगतमपगतप्रयोजनमपार्थक्यं अन्ये व्याचक्षते यदप्रगल्भादिति स्वलितं पदमुदाहरन्ति न तावता न तदनादेयं किन्तु स्वभावेषामुपलक्षितव्योनुमानेन । अमी अप्रागल्भ्यास्त्वलन्ति उक्तं सत्यामभिधायेति तत्तु मागुक्तं चाक्षरार्थइत्यपेक्षम् ॥ ७८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वभावेनाविचार्यैव द्राक् । व्यावहारिकं व्यवहारसंपादकम् । यदन्यत् पश्चादालोचनादिना अपार्थक्यं व्यर्थम् ॥ ७८ ॥

(३) कुल्लूकः । यत्साक्षिणोभयादिध्यतिरेकेण स्वभावाद्यद्व्युत्तद्व्यवहारनिर्णयार्थं ग्राह्यं यत्पुनः स्वाभाविकादन्यत्कुतोऽपि कारणाद्भवन्ति तद्धर्मविषये निष्प्रयोजनं तन्न ग्राह्यम् ॥ ७८ ॥

(४) राघवानन्दः । एवं तर्हि स्त्रीणां वाक्यं सर्वत्राश्रयेयं तत्राह स्वभावेनेति । अन्यथा भक्षणादिव्यवहारलोपापत्तिः । तत्रापि व्यावहारिकं न सदुपदेशादि विशिष्टमपि ब्रूयुः स्त्रीबुद्धिः प्रलयं करीत्युक्तेः । अतोऽपार्थक्यं शास्त्रदृष्ट्यभावेनापगतोऽर्थो धर्मरूपो यस्मात्तदपार्थक्यमतो मिथ्यात्वादश्रयेयम् ॥ ७८ ॥

(५) नन्दनः । स्वभावेन सत्येन । व्यावहारिकं व्यवहारोपयोगि । धर्मार्थव्यवहारार्थम् ॥ ७८ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्वभावेनैव यत् ब्रूयुः तत् व्यावहारिकं व्यवहारप्रवर्तकं ग्राह्यम् । अतः कारणात् अन्यधर्मार्थ-
विब्रूयुः तत् अपार्थक्यव्यर्थं स्यात् ॥ ७८ ॥

सभान्तः साक्षिणः प्राप्नोति प्रत्यर्थिसन्निधौ ॥ प्राङ्निवाकोनुयुज्जीत विधिना तेन सान्त्वयन् ॥ ७९ ॥

(१) मेधातिथिः । सभायामन्तः सभान्तः शौण्डादित्वात्समासः । व्यवहारदेशगता उभयोरार्थप्रत्यर्थिनोः सन्नि-
धानेऽनुयोक्तव्यावक्ष्यमाणेन विधिना सान्त्वयन् पुरुषं ब्रुवन्वाक्पारुष्येण हि प्राङ्निवाकाद्विभ्यतोऽप्रकृतिस्थानसर्वस्मरे-
युः संस्कारभ्रंशहेतुत्वाद्भयस्य प्राङ्निवाकोराज्ञा व्यवहारदर्शनाधिकृतोरुद्धयोच्यते । यद्यप्यत्र यथार्थो राजन्यपि संभव-
ति पृच्छति विविनक्तीति तथा च भेदेन प्रयोगदर्शनममात्यः प्राङ्निवाको वा यः कुर्यात्कार्यमन्यथेति पृच्छतीति प्राट् कि-
ञ्चिन्मच्छिश्रिदुश्रुमुवादीर्घोऽसंप्रसारणचेति । प्राङ्निवेशणं धर्मसंकटेषु विवेक्तीति विवारः कृत्यल्युटो बह्वलमिति कर्तरि घञ्
चजोः कुधिष्यतीति कुत्वं प्राट्चासौ विवाकश्च प्राङ्निवाकः ॥ ७९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनुयुज्जीत पृच्छेत् किमिदं जानीथेति ॥ ७९ ॥

(३) कुल्लूकः । सभामध्यं साक्षिणः संप्राप्तोऽर्थप्रत्यर्थिसमक्षराजाधिकृतो ब्राह्मणः प्रियोक्तिरचयन्वक्ष्यमाणप्रकारेण
पृच्छेत् ॥ ७९ ॥

(४) राघवानन्दः । साक्षिणः कथं प्रष्टव्या इत्याकांक्षायामाह सभान्तरिति । अनुयुज्जीत पृच्छेत् । अनेन वक्ष्य-
माणेन विधिना धर्मोपदेशेन सान्त्वयन् ॥ ७९ ॥

(५) नन्दनः । अथ साक्षिप्रश्नविधिमाह सभान्तः साक्षिण इति । प्राङ्निवाको व्यवहारनिर्णायकः ॥ ७९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनेन विधिना सभान्तः सभामध्ये अर्थप्रत्यर्थिसन्निधौ प्राप्तान् साक्षिणः सान्त्वयन् प्राङ्निवाकः
प्रकर्षेण विविनक्ति विचारयति सोनियुज्जीत आज्ञापयेत् । तत्राह ॥ विवादानुगतं दृष्ट्वा समेभ्यस्तत्प्रयत्नतः । विचारयति
येनासौ प्राङ्निवाकस्ततः स्मृतः ॥ ७९ ॥

यद्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिंश्चेष्टितं मिथः ॥ तद्वत् सर्वसत्येन युष्माकं सत्र साक्षिता ॥ ८० ॥

(१) मेधातिथिः । भवतामत्र प्राप्तं युष्मद्वचनाधीने सत्यानृते इत्यनेन प्रोत्साह्यन्ते साक्षिभूतेस्मिन् कार्ये इति
सामान्यनिर्देशेऽप्यखिलवस्तुसाक्ष्यं न सामर्थ्याद्दृष्टव्यं न ह्यश्रुतविशेषाः प्रश्नविषयं वेदितुमर्हन्तीति ॥ ८० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वेत्थ जानीथ ॥ ८० ॥

(३) कुल्लूकः । यद्वयोरार्थप्रत्यर्थिनोरनयोः परस्परमस्मिन् कार्ये चेष्टितं जानीथ तत्सर्वसत्येन कथय यतो युष्मा-
कमत्र साक्षित्वम् ॥ ८० ॥

(४) राघवानन्दः । तमेव विधिमाह यदिति । अनयोर्ार्थप्रत्यर्थिनोः । वेत्थ विजानीत । अस्मिन् व्यवहारे । युष्मा-
कं यत्रार्थे साक्षिता तदर्थजातं सत्येन ब्रूतेत्यन्वयः ॥ ८० ॥

(५) नन्दनः । अनेन वक्ष्यमाणेन विधिमाह यद्वयोरिति । वेत्थ जानीथ । मिथः अन्योन्यम् ॥ ८० ॥

सत्यंसाक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानामोति पुष्कलान् ॥ इहचानुत्तमांकीर्त्तिवागेषा ब्रह्मपूजिता ॥ ८१ ॥

[विक्रयाद्योधनं किंचिद्वृद्धीयात्कुलसंनिधौ । क्रमेणसविशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम् ॥ ११ ॥][†]

(१) मेधातिथिः । इतः प्रभृति सत्यार्थे साक्षिणामनुयोगविधिः । सत्यंवदन् लोकान्स्वर्गादिलक्षणाननिन्दितानर्हितानभिप्रेतफलभोगहेतुनलभते साक्षी । जातिवचनोवालोकशब्दः शुभे जन्मनि जायतइत्यर्थः । अस्मिंश्च जन्मनि कीर्तिः ख्यातिरनुत्तमा यस्याअन्यदुत्तमं प्रकृष्टं नास्ति तां लभते साधुसाधुवादभाजनेनास्मै दीयते वाक्सत्या सरस्वती ब्रह्मणा प्रजापतिना पूजिता ॥ ८१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्रह्मपूजिता ब्राह्मणाऽनुमोदिता ॥ ८१ ॥

(३) कुल्लूकः । साक्षी साक्ष्ये कर्मणि सत्यंवदन्सनुत्कृष्टान्ब्रह्मलोकादीन्प्राप्नोतिपुष्कलानिहलोकेषु चात्युत्कृष्टां ख्यातिलभते यस्मादेषा सत्यात्मिका वाक् चतुर्मुखेन पूजिता ॥ ८१ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रार्थवादमाह सत्यमिति । पुष्कलान् अप्रतिबद्धतया पूर्वादिष्टाकृष्टान् नचानेनास्य किंचित्पुण्यं परार्थे क्लिश्यन्तीति वक्ष्यमाणत्वात् । ब्रह्मपूजिता ब्रह्मणा सत्येन विशिष्टा यतः ॥ ८१ ॥

(५) नन्दनः । एषा वागेतत्सत्यवचनम् । ब्रह्मपूजिता वेदप्रशस्ता ॥ ८१ ॥

साक्ष्येऽनृतंवदन्पाशैर्बध्यते वारुणैर्भृशम् ॥ विवशः शतमाजातीस्तस्मात्साक्ष्यंवदेदृतम् ॥ ८२ ॥

[ब्राह्मणो वै मनुष्याणामादित्यस्तेजसां दिवि । शिरोवा सर्वगात्राणां धर्माणां सत्यमुत्तमम् ॥ १ ॥]^{*}

[नास्ति सत्यात्परोधर्मो नानृततात्पातकं परम् । साक्षिधर्मे विशेषेण तस्मात्सत्यं विशिष्यते ॥ २ ॥]^{*}

[एकमेवाद्वितीयं तु प्रब्रुवन्नावबुध्यते । सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥ ३ ॥]⁺

(१) मेधातिथिः । पूर्वेण दृष्टो नृतवचनबद्धइत्यर्थः । दृष्टशुभप्रदर्शनेन साक्षिणः प्रोत्साहिताः अनेन विपरीताभिधाने दुःखीत्पत्तिदर्शनं सत्यं वचनार्थमेवैतत् । साक्षिणः कर्मसाक्ष्यंतवान्यद्ब्रुवाणो वारुणैः पाशैर्बध्यते पीड्यते भृशमत्यर्थं विवशः परतन्त्रीकृतः सर्वचेष्टासु वाक्चक्षुर्गतास्त्वपि शतं तावज्जन्मानि वारुणपाशाघोराः सर्परज्जवो जलचराणि वा एतद्दोषपरिहारार्थं सत्यं वदेदिति विधिः । आजातीरिति नायं मर्यादा भिविध्योराब् तथासति पञ्चमीस्यात्तस्मादुपसर्गोऽयमनर्थकः प्रलंबइति यावत् द्वितीयाचेयं आवृत्तिश्चात्र गम्यते शतं जन्मान्यावर्तते उदाहरणगृहीतः ॥ ८२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शतं शतसंख्याः । अजातीरावृक्ष्या जन्मानि ॥ ८२ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मात्साक्षी मृषावाचं कथयन् वरुणसंबन्धिभिः पाशैः सर्परज्जुभिः जलोदरेण परतन्त्रि कृतः शतं जन्मानि यावदत्यर्थं पीड्यते तस्मात्साक्ष्ये सत्यं ब्रूयात् ॥ ८२ ॥

(४) राघवानन्दः । अन्यथावदनेन नरकप्राप्तिमाह साक्ष्यइति । विवशः परतन्त्रीकृतः । शतमाजातीर्जन्मशर्तु व्याप्य । कृतं यथाश्रुतदृष्टम् ॥ ८२ ॥

(५) नन्दनः । आप्रेत्य जायतइत्याजातिरिति जन्मकालो विवक्षितः । तेनात्यन्तसंयोगे द्वितीया ॥ ८२ ॥

† (क)

* (अ, ट, ड,) + (ट)

(६) रामचन्द्रः । साक्ष्येऽनृतं वदन्विवशः परवशः सन् शतमाजातीः शतजन्मानि भृशं वारुणैः पाशैर्बध्यते तस्मात्कारणात्साक्षी ऋतंसत्यं वदेत् ॥ ८२ ॥

सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते ॥ तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥ ८३ ॥

(१) मेधातिथिः । पूयते शुध्यत्यन्यत्मादपि पापान्मुच्यत इति यावत् शेषंगतार्थम् ॥ ८३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पूयते पूर्वकृतात्पापात् ॥ ८३ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मात्सत्येन पूर्वाजितादपि पापान्साक्षी मुच्यते धर्मश्चास्य सत्याभिधानेन वृद्धिमेति तस्मात्सर्ववर्णविषये साक्षिभिः सत्यं वक्तव्यम् ॥ ८३ ॥

(४) राघवानन्दः । लोकानामोतीत्युक्तं तत्र हेतुः सत्येनेति । पूयते तत्प्राप्तिप्रतिबन्धकादधर्मान्मुच्यते । अतएव तद्धर्मोऽप्रतिबन्धतया स्वफलं जनयतीत्याह वर्धत इति । अत आह सर्ववर्णेष्विति । निमित्तार्था समी अवच्छेदार्था वा संकरः । सर्ववर्णां विशिष्टैः साक्षिभिरिति ॥ ८३ ॥

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः ॥ भावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥ ८४ ॥

(१) मेधातिथिः । एष एवार्थो विस्पष्टीक्रियते उत्तरेण श्लोकेन ॥ ८४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आत्मा परमात्मा आत्मनः शरीरस्य जीवस्य च । साक्षी चेष्टितसाक्षात्कारी । गतिर्ज्ञानहेतुः । भावमंस्थाः आत्मना दृष्टस्य विपरीताभिधानात् ॥ ८४ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्माच्छुभाशुभकर्मप्रतिष्ठा । आत्मैवात्मनः शरणं तस्मादेवं स्वमात्मानं नराणां मध्यमादुत्तमं साक्षिणं सृष्ट्याभिधानेनावज्ञासीः ॥ ८४ ॥

(४) राघवानन्दः । तन्मिथ्यात्वापरिज्ञानात्कथं प्रत्ययैति साक्षी तत्राह आत्मेति त्रिभिः । आत्मा जीवः मिथ्योक्तमयेत्यनुसंधत्तेऽवश्यम् गतिर्गमनसाधनं तत्पुण्यादिना तत्तल्लोकावाप्तेः । भावमंस्थाः आत्मानं कथं पश्यन्तीति भावजानीहि । उत्तमं अत्यन्तविजनेपि साक्षात् द्रष्टृत्वात् ॥ ८४ ॥

(५) नन्दनः । आत्मा परमात्मा । आत्मनः शरीरिणः । आत्मानं परमात्मानं । नृणां शरीरिणाम् ॥ ८४ ॥

(६) रामचन्द्रः । आत्मनः जीवस्य आत्मैव परमात्मैव साक्षी । तथा आत्मनः जीवस्य गतिरात्मैव । तस्मात् आत्मानं भावमंस्थाः । नृणां उत्तमं साक्षिणं ज्ञेयः ॥ ८४ ॥

मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः ॥ तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति त्वस्यैवान्तरपुरुषः ॥ ८५ ॥

(१) मेधातिथिः । न शब्दो व्यवहितः पापकृतः कूटादिकारिण एव ज्ञानते न कश्चिदस्मान्पश्यतीति इतिकारेण मन्यते वाक्यार्थः कर्मेति प्रतिपाद्यते । न नः कश्चित्पश्यतीत्येष वाक्यार्थः तांस्तु देवावक्ष्यमाणाः पश्यन्ति त्वयंचान्तरात्मा तदुक्तमात्मैव ह्यात्मनः साक्षीति ननु कारणं पापाचारस्तस्य च कोन्यो द्रष्टा यावतात्मैव कर्ता शुभानां नवान्तरपुरुषो द्रष्टेति सत्यं तस्यैव देवतात्वमभ्यारोप्य कर्मकर्तृव्यपदेशोऽनृतनिवृत्त्यर्थं देवतारूपत्वं जानीषे तात्त्विकमात्मीयमान्तररूपं

(८५) त्वस्यैवा = त्वस्यैवा (फ, ग, च,)

‡ संकर = संकरा संकर (राघ० ४)

* आत्मानं = आत्मा (राघ० ४)

शारोरं तथा बाह्यमनात्मीयमसारमेतत्पौषार्थमादुष्कृतंकार्षीरिति प्रोत्साह्यते अतोमावमंस्थाः त्वमात्मानमावज्ञासीनृणां-
साक्षिणमुत्तमम् अन्योहि साक्षी अस्मिन्नेव लोकेयन्तुमृतस्यापि साक्षदृष्टाति तस्मादेतस्माद्भेतव्यम् । असत्यवादी
कदाचिन्मन्यते आत्मान्तरं प्रतिपन्नस्य किमेषमेद्रष्टापि करिष्यतीति तन्न गतिरात्मा तथात्मनः आत्मानमन्तरेणान्या-
गतिर्नास्ति नहिद्वावात्मानावेकस्य भवतः । अन्येतुमन्यन्ते परमात्मा साक्षी संसार्यात्मानोनियोज्याइति भेदः ॥ ८५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । देवा इन्द्रियस्थाः सूर्यादयः । आन्तरपुरुषः परमात्मा ॥ ८५ ॥

(३) कुल्लूकः । पापकारिण एवमन्यन्ते अस्मानधर्मप्रवृत्तान्न कश्चित्पश्यतीति तान्पुनर्वक्ष्यमाणा देवाः पश्यन्ति स्व-
स्यान्तरपुरुषः पश्यति ॥ ८५ ॥

(४) राघवानन्दः । तान्पापकृतः । आन्तरपुरुषः अन्तर्यामी ॥ ८५ ॥

(६) रामचन्द्रः । पापकृतं च नः अस्माकं न कश्चित् पश्यति इति वै मन्यन्ते ॥ ८५ ॥

द्यौर्भूमिरापोऽहं दयं चन्द्राकाराग्रियमानिलाः ॥ रात्रिः सन्ध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम् ॥ ८६ ॥

(१) मेधातिथिः । के पुनस्ते देवारहस्यतिप्रच्छन्नं पापमापन्नं पश्यन्त्यत आह दयशब्देन दययायतनो लि-
ङ्गपुरुष उच्यते देवादीनां दृष्टव्यं अचेतनेषु चैतन्यमारोप्यते । दर्शनान्तरे तु महाभूतानि देवतांशतया चेतनान्येव तथा च
पृथिवीभारावतरणाय ब्रह्माणमुपागमदिति वर्ण्यते सर्वगतत्वात्तेषां न किंचिदप्रत्ययमस्तीति सर्वशरीरिणां वृत्तं शीलं चात्मनः
कायगतं शुभमशुभं च जानते ॥ ८६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दयं मनः ॥ ८६ ॥

(३) कुल्लूकः । द्युलोकपृथिवीजलदयस्थजीवचन्द्रादित्याग्रियमवायुरात्रिसंध्याद्वयधर्माः सर्वशरीरिणां शुभाशुभ-
कर्मज्ञाः । दिवादीनां चाधिष्ठातृदेवतास्ति सा च शरीरिण्यैकत्रावस्थापिता तत्सर्वजानातीति आगमप्रामाण्याद्वेदान्तदर्शन-
तदङ्गीकृत्येदमुक्तम् ॥ ८६ ॥

(४) राघवानन्दः । एतेपि द्वादशजानन्तीत्याह द्यौरिति ॥ द्युभूम्यादीनामचेतनत्वेपि तदभिमानिव्यपदेशादिति
न्यायेन तदभिमानिनां साक्षित्वात् । यतश्चित्तं दयं वृत्तं जातं पुण्यं पापं वा जानन्तीति वृत्तज्ञा एव देवाः । पश्यन्ती-
त्यनुषज्यते ॥ ८६ ॥

(५) नन्दनः । के पुनस्ते देवा स्तानाह द्यौर्भूमिराप इति । दयं दयस्थः परमात्मा ॥ ८६ ॥

(६) रामचन्द्रः । वृत्तज्ञाः शुभाशुभज्ञाः ॥ ८६ ॥

देवब्राह्मणसान्निध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान् ॥ उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान्वा पूर्वाह्णे वै शुचिः शुचीन् ॥ ८७ ॥

(१) मेधातिथिः । देवादुर्गामार्तण्डादयः प्रतिमाकल्पिताः । शुचीन् कृतस्नानाचमनादिविधीन् । शुचिः प्रष्टापि त-
थाविध एव स्यात् । कृतमिति श्लोकपूरणार्थमेवार्थसिद्धमनूयते ॥ ८७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतत्सर्वश्रावयित्वाऽनन्तरं साक्ष्यं पृच्छेत् । कृतं सत्यम् ॥ ८७ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रतिमा देवता । ब्राह्मणसान्निधाने शुचीन् द्विजातिप्रभृतीन् प्राङ्मुखानुदङ्मुखान्वा स्वयंप्रयतः प्राद्विवाकः
पूर्वाह्णे काले याथातथ्यं साक्ष्यं पृच्छेत् ॥ ८७ ॥

(४) राघवानन्दः । साक्षिणः कुत्र किमुखान् कदाकीदृशान् कीदृशः पृच्छेदित्यपेक्षायामाह देवेति । देवादुर्गा-
दिप्रतिमाः । शुचीन्नुष्ठितस्नानाचमनादीन् । स्वयंच तथा शुचिः । कृतं श्लोकपूरणार्थम् । साक्ष्यं पृच्छेदित्यन्वयः ॥ ८७ ॥

(५) नन्दनः । देवोदेवताप्रतिमा ॥ ८७ ॥

ब्रूहीति ब्राह्मणंपृच्छेत्सत्यंब्रूहीति पार्थिवम् ॥ गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यंशूद्रंसर्वेस्तु पातकैः ॥ ८८ ॥

(१) मेधातिथिः । क पुनरिवतृतीया गोबीजकाञ्चनैरिति यदि तावत्पृच्छेदिति क्रियासंबन्धात्करणमुच्यते तदनुपपन्नं शब्दोहि तत्र करणमस्ति नैषदोषः यथागवादीनि प्रश्नकरणत्वे प्रतिपद्यतेतथाव्याख्येयम् । पातकैरित्युभयशेषोविज्ञेयः गोबीजकाञ्चनैः पातकैरिति तदयमर्थोभवति गोबीजकाञ्चनविषयैः पातकप्रदर्शनैः पृच्छेदिति गाढत्वा हत्वा वा यत्पातकंतद्भवति तवमिथ्यावदतइति प्रश्नवाक्यंपठितव्यम् । एवंवक्ष्यमाणैः पातकैः शूद्रंपृच्छेत् । पातकशब्दस्त्वपातकप्रदर्शनार्थेष्वभिधानेषु द्रष्टव्योमुख्यानांप्रश्नकरणत्वाभावादित्युक्तम् ॥ ८८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गोबीजकाञ्चनैरेतेषातेहार्नामिथ्योक्ताविति । एतैः पातकैर्वक्ष्यमाणैः ब्रह्मघ्नइत्यादिभिः । साक्षिणंप्रति कथितैः ॥ ८८ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्रूहीत्येवंशब्दमुच्चार्य ब्राह्मणंपृच्छेत् । सत्यंब्रूहीति पार्थिवंक्षत्रियंपृच्छेत् । गोबीजसुवर्णापहारे यत्पापंतद्भवतोऽनृताभिधाने स्यादित्येवंवैश्यम् । शूद्रंपुनः सर्वेर्वक्ष्यमाणपापैः संबध्यसेयदि मृषावदसीति पृच्छेत् ॥ ८८ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव व्यवस्थितप्रश्नप्रकारानाह । ब्रूहीति शब्दमुच्चार्य ब्राह्मणंपृच्छेत् सत्यमिति । शब्दं पार्थिवं क्षत्रियम् । वैश्यं गोबीजकाञ्चनापहारेण यत्पापंतत्तव स्यादिति शपथेनेति । यतआह पातकैरिति । वक्ष्यमाणसर्वपातकयुक्तोसीति शपथेनशूद्रम् ॥ ८८ ॥

(५) नन्दनः । पार्थिवंक्षत्रियम् । गोबीजकाञ्चनानि स्पर्शयित्वेत्यर्थः । सर्वैः पातकैः । अनृतवादिनस्तव सर्वाणि पातकानि संभवन्तीत्युक्त्वेत्यर्थः ॥ ८८ ॥

(६) रामचन्द्रः । गोवधेयत्पापं बीजापहारेयत्पापं काञ्चनापहारेयत्पापं तद्वैश्यस्य ॥ ८८ ॥

ब्रह्मघ्नोये स्मृतालोकाये च स्त्रीबालघातिनः ॥ मित्रद्रुहः रुतघ्नस्य ते ते स्युर्ब्रुवतोमृषा ॥ ८९ ॥

(१) मेधातिथिः । ब्राह्मणंहत्वा ये लोकानरकादिलक्षणाः प्राप्यन्ते तत्कारिभिस्ते तव भवन्ति मिथ्यावदतस्तस्मात्सत्यंब्रूहीत्यनुयोगः । यश्च मित्रद्रुहति ब्राह्मणादीन्सर्वस्वापहरणान्नाशयति । यश्च रुतमुपकारंविस्मृत्य तमेवोपकारंमपकरोति यः रुतघ्नस्य दुःखंतद्वामोति ॥ ८९ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणहन्तुः स्त्रीघातिनोबालघातिनश्च ये नरकादिलोकाङ्गभिः स्मृताः ये च मित्रद्रोहादिकारिणः ये चोपकर्तुरपकारिणस्ते तव मिथ्यावदतोभवेयुः ॥ ८९ ॥

(४) राघवानन्दः । पातकानांस्वरूपसत्त्वंनानार्थाविहमिति तत्फलपर्यवसायित्वमाह ब्रह्मघ्नेति । येस्मृताः शास्त्रप्रमाणकालोका भोगभूमयः ते तव शूद्रस्य साक्ष्ये मिथ्यावदतः स्युरित्येवं आवयेत् । एवमुत्तरत्र सर्वमेव आवयेदित्यावत् ॥ ८९ ॥

(५) नन्दनः । एतदेव विशदयति ब्रह्मघ्नइति ॥ ८९ ॥

(६) रामचन्द्रः । ते लोकाः तेमृषा ब्रुवतस्युः भवेयुः ॥ ८९ ॥

जन्मप्रभृतियत्किञ्चित्पुण्यंभद्र त्वया कृतम् ॥ तत्ते सर्वं शुनोगच्छेद्यदिब्रूयास्त्वमन्यथा ॥ ९० ॥

(१) मेधातिथिः । शुनोगच्छेन्निष्फलंस्याद्भवतइत्यर्थः । अन्येषु दोषप्रदर्शनार्थंश्वगमनवचनं यथा कृच्छ्रेण मह-
ता सुवर्णाद्युत्तमद्रव्यमर्जयित्वा शुचिप्रवाहेत्यजेत्तादृक्सुकृतंभवति ॥ ९० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भदेति । शूद्रसंबोधने ॥ ९० ॥

(३) कुल्लूकः । हे शुभाचारयत्त्वया जन्मतआरभ्य किञ्चित्सुकृतंरुतंतत्सर्वत्वदीयंकुक्कुरादिकंसंक्रामति यदि त्वमस-
त्यंब्रवीषि ॥ ९० ॥

(४) राघवानन्दः । शपथान्तरंतस्याह जन्मेति । भद्र हे मङ्गलाश्रय । शुनोगच्छेत् ते पुण्यफलस्य श्वा भोक्तेति
॥ ९० ॥

(५) नन्दनः । अन्यथा ऽसत्यम् ॥ ९० ॥

एकोहमस्मीत्यात्मानंयत्त्वंकल्याणमन्यसे ॥ नित्यंस्थितस्ते तृदयेषः पुण्यपापेक्षितामुनिः॥ ९१ ॥

(१) मेधातिथिः । पुण्यपापयोरीक्षता द्रष्टा मुनिस्तूष्णींभूतः कः ॥ ९१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायण । मुनिर्ज्ञानवान्परमात्मा ॥ ९१ ॥

(३) कुल्लूकः । हे भद्र एकएवाहमस्मि जीवात्मकइति यदात्मानंमन्यसे मैवंमंस्थाः यस्मादेवंपापानांपुण्यानांच
द्रष्टा मननान्मुनिः सर्वज्ञस्तवत्तदये परमात्मा नित्यमवस्थितः । तथा च श्रुतिः ॥ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं प-
रिषत्त्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ ९१ ॥

(४) राघवानन्दः । मिथ्यात्वसर्वदेवज्ञेयत्वमनुवदन् सत्यवादिनः सर्वतीर्थगमनफलवादेन तन्निषेधरूपस्तुतिमाह
एकोहमिति द्वाभ्याम् । मुनिर्मननादन्तर्यामी ईशः पुण्यपापयोर्ज्ञातैष हृदि स्थित्वात् ॥ ९१ ॥

(५) नन्दनः । यत्त्वंमन्यसे तस्य ते पुण्यपापेक्षिता पुण्यपापयोर्द्रष्टा । तदानीं मुनिर्मौनी ॥ ९१ ॥

(६) रामचन्द्रः । हे कल्याण ते तृदये पुण्यपापेक्षकः मुनिर्मननशीलः साक्षीस्थितः ईश्वरः ॥ ९१ ॥

यमोवैवस्वतो देवोयस्तवैष तृदिस्थितः ॥ तेन चेदविवादस्ते मागङ्गां माकुरुन्गमः ॥ ९२ ॥

(१) मेधातिथिः । कः पुनरसौ मुनिर्भयातिशयप्रदर्शनार्थमाह यथैष सर्वप्राणिनां देहधनाद्युच्छेदकारीयातनाभिश्च नि-
शुद्धीतेति श्रुतिपथमागतोभवतः सोऽयं तव तृदये वर्तते न विप्रकृष्टः सचापराधंमामेवंनयति माचैवंमनसि कथाएष आत्मा-
मदीयो मामुपेक्ष्यतइति न ह्येतस्य कश्चिदात्मीयस्तेन चेदविवादः सचेत्प्रसन्नः प्रत्ययिनः किंगङ्गागमनेन स्नानार्थिनः पा-
पशुद्धये किंकुरुक्षेत्रगमनेऽस्ति प्रयोजनं तत्फलं पापक्रमोपलक्षणार्थं ततः पुण्यंतदिहैवाविसंवादिनि परमात्मनि नहि पा-
पकारिणा आत्मा निर्विशङ्कोभवति किमेतः स्यादेतेनेति नास्तिकस्यापि किंकथिका भवत्येव गङ्गानदीपावयन्ती कुरुक्षे-
त्रंतु देशएव पावनः ॥ ९२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तृदिस्थितः पुण्यपापेक्षणार्थम् । अविवादस्तदर्शनाविरुद्धवादः । कुरुन् कुरुक्षेत्रम् । तद
विवादे च सर्वतीर्थफललाभइत्यर्थः ॥ ९२ ॥

(३) कुहूकः । सर्वसंयमनाद्यमः परमात्मा वैवस्वतइति दण्डधारित्वात् । देवनादेवः । यस्तवैषद्विदिति तिष्ठति तेन यथार्थकथने यदि तवाविवादः यदा त्वन्मनोगतमसावन्यज्जानाति त्वंचान्यथा कथयसि तदान्तर्यामिणा सह विप्रतिपत्तिः स्यात् । एवंचात्र सत्याभिधानेनैव निःपापः कृतकृत्योऽसि पापनिर्हरणार्थमा गङ्गां मा च कुरुक्षेत्रं यासीः । मनूक्तमेवात्र गङ्गाकुरुक्षेत्रयोः साम्यं मत्स्यपुराणे व्यासेन स्फुटीकृतं ॥ कुरुक्षेत्रसमागं गायत्रतत्रावगाहितेति । मेधातिथिगोविन्दराजौ तु विवस्वतः पुत्रो यो यमोदक्षिणदिक्पतिलोकतः कर्णगोचरीभूतत्वात्तवद्वये परिस्फुरति तेन सह यदि तवाधर्मकारित्वा द्विवादो नास्ति तदा मागङ्गां मा कुरुक्षेत्रं यासीरिति व्याचक्षते ॥ ९२ ॥

(४) राघवानन्दः । यमश्चासौ वैवस्वतश्च । तेन विज्ञातेनानेन विवादः संवादश्चेन्मागमः गङ्गादिकं मागच्छेत्यन्वयः । विसंवादश्चेत्पापाभीरोगङ्गादिगमनं वृथेति स्तुतिनिन्दे ॥ ९२ ॥

(५) नन्दनः । पश्चात्किं करिष्यतीति चेत्तत्राह यमो वैवस्वतइति देवो यस्तवैषद्विदिति स्थितः स वैवस्वतो यमो नान्यः । यमो भूत्वा त्वां धातयतीत्यभिप्रायः ॥ ९२ ॥

(६) रामचन्द्रः । वैवस्वतो यमो नियन्ता तेन यमेन सह अविवादः ते तव चेत्तर्हि गङ्गां स्नानार्थं मागमः कुरुक्षेत्रं मागमः मा गच्छ । आत्मैव शुद्धइत्यर्थः ॥ ९२ ॥

नग्नो मुण्डः कपालेन भिक्षार्थी क्षुत्पिपासितः ॥ अन्धः शत्रुकुलं गच्छेद्यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥ ९३ ॥

(१) मेधातिथिः । कपालशरावादिपात्रैकदेशः सुबोधम् ॥ ९३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कपालेन घटादिकर्परेण । एतावद्दुःखजनकं पापं भवेदित्यर्थः ॥ ९३ ॥

(३) कुहूकः । यः साक्ष्यमनृतं वदेत्सनग्ः कृतमुण्डनपरिभावोऽन्धः कर्परेणोपलक्षितः भिक्षार्थी शत्रुकुलं गच्छेत् ॥ ९३ ॥

(४) राघवानन्दः । अनृतवदने दृष्टरूपं दण्डान्तरमाह नग्ः इति त्रिभिः । मुण्डः कृतमुण्डनपरिभवः शत्रुगृहं भिक्षार्थी गच्छेदित्यन्वयः । य एवं दृश्यते सोऽनृतवदनफलभागित्युन्नेयः ॥ ९३ ॥

(५) नन्दनः । कपालं अलाबुपात्रम् ॥ ९३ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः पुरुषः साक्ष्यमनृतं वदेद्वदति स एवंविधः स्यात् नग्नो मुण्डः कपालीति ॥ ९३ ॥

अवाक्शिरास्तमस्यन्धे किल्बिषी नरकं व्रजेत् ॥ यः प्रश्रं वितथं ब्रूयात्पृष्टः सन्धर्मनिश्चये ॥ ९४ ॥

(१) मेधातिथिः । निमित्तं पृष्टो यो वितथमसत्यं वक्ति स तेन किल्बिषेन पापेन गृहीत ऊर्ध्वपादोऽधोमुखो महति गाढे तमसि नरकं यातनास्थानं तत्प्राप्नोतीत्यर्थः । अन्यस्मिन्स्तमसि किंचिद्दृश्यते तत्र तु न किंचिदेवेत्यन्धग्रहणम् ॥ ९४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्धे अन्धताहेतौ ॥ ९४ ॥

(३) कुहूकः । यो धर्मनिश्चयनिमित्तं पृष्टः सन्सत्यं ब्रूयात्स पापवान् । अधोमुखो महान्धकारे यो नरकस्तं गच्छति ॥ ९४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यत् अवागिति । सकिल्बिषी पापी अन्धेतमसि नरके अवाक्शिरा ऊर्ध्वपादः सन्

पतेदिति । विशिष्टधर्मनिश्चये कर्तव्ये अयमेव धर्मइति अविनयमधर्मइतिवितथमधर्मब्रूते इति । सोऽपि कूटसाक्षिवदधार्मिकः उक्तनरकपातीति शेषः ॥ ९४ ॥

(५) नन्दनः । प्रश्नपृष्ठसाक्ष्ये धर्मनिश्चये व्यवहारनिर्णये ॥ ९४ ॥

अन्धोमत्स्यानिवाश्राति सनरः कण्टकैः सह ॥ योभाषतेऽर्थवैकल्यमप्रत्यक्षं सभाङ्गतः ॥ ९५ ॥

(१) मेधातिथिः । अर्थवैकल्यं सत्यादपेतं भाषते यथा कण्टका असिता भक्षिता जनयन्ति न तादृशो मत्स्याः प्रीति-जनयन्ति । यदा धनलोभेन काचित्प्रीतिमात्रा भवति तथापि मोहदुःखं भवतीति सकण्टकमत्स्याशनोपमा ॥ ९५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मत्स्यानिवाश्राति कण्टकैरिति तत्र यथा आपाततः सुखं दुःखं तु महत्तथात्रेत्यर्थः । अर्थवैकल्यम् यथार्थयथाभवति । अप्रत्यक्षमचक्षुर्विषयम् ॥ ९५ ॥

(३) कुल्लूकः । यः सभां प्राप्तस्तत्त्वार्थस्यायथार्थस्याभिप्रायमनुपलब्धमुक्तोचादिसुखलेशेन कथयति सनरोऽन्धइव सकण्टकान् मत्स्यान् भक्षयति सुखबुद्ध्या प्रवृत्तो दुःखमेव महल्लभते ॥ ९५ ॥

(४) राघवानन्दः । अन्धस्य कण्टकैर्विशिष्टं मत्स्याशनं दुःखं दुरदृष्टजमिति तद्विदः प्रसिद्धमयमपि तादृशदुःख-भागित्युन्नेयः । कोऽयमेतादृशभाषतइत्यन्वयः । अर्थवैकल्यं अर्थस्य विकलता शून्यत्वं यत्र तत् । अप्रत्यक्षं प्रत्यक्षेतरं वचनः अनुपलब्धत्वा ॥ ९५ ॥

(५) नन्दनः । सभागतेऽर्थं आत्मनोऽप्रत्यक्षवैकल्यमर्थसद्भावं यो भाषते सनरइह जन्मन्यन्धो भूत्वा वृत्त्यभावात्कैवर्त्तादिवत्समुद्रादितरि वर्ति मत्स्योदरस्थैः कण्टकैः सह मत्स्यानिवाश्राति ॥ ९५ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः सभागतः सन्नर्थवैकल्यं अप्रत्यक्षं यथाभवति तथा अप्रत्यक्षं भाषते सनरः अन्धइव कण्टकैः सह मत्स्यानिवाश्राति ॥ ९५ ॥

यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभि शङ्कते ॥ तस्मिन् देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥ ९६ ॥

(१) मेधातिथिः । यस्य वदतः साक्षिणो विद्वान्सत्यानृते जानानः क्षेत्रज्ञोन्तर्यामी पुरुषो नाशङ्कते किमयं सत्यं वदत्यनृते वेत्येवं नाशङ्कते निश्चितमेवैष सत्यं वक्तीति यस्यात्मा निर्विशङ्कस्तस्मात्पुरुषान् आन्यं श्रेयांसं श्रेष्ठं प्रशस्ततमं पुरुषं देवान् जानते कः पुनरयं वेदिता कश्च ततोऽन्यथा शङ्किता एकएव ह्यात्मा रुप्रपन्नद्वारेण वाचमीरयन्वेदिता संपद्यते स एव तद्धर्म-ण किंकथं स्यादित्येवं रूपेणाशङ्काख्यानेन युज्यते तत्र भेदानुपपत्तिः सत्यमेतत् काल्पनिकेन भेदेनैव मुक्तं यथा हन्त्या-त्मानमात्मनेति ॥ ९६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्षेत्रज्ञः परमात्मा विशङ्कते विपरीतं शङ्कते ॥ ९६ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्य वदतः सर्वज्ञोन्तर्यामी किमयं सत्यं वदत्युतानृतेति न शङ्केत किन्तु सत्यमेवायं वदति निर्विशङ्कः संपद्यते तस्मादन्यं प्रशस्ततरं पुरुषं देवान् जानन्ति ॥ ९६ ॥

(४) राघवानन्दः । आत्मनो मिथ्यावादित्वेनाशङ्कितस्तौति यस्येति । क्षेत्रज्ञः क्षेत्रभासकः साक्ष्यतएव विद्वान्

(राघ० ४) चिन्हितपुस्तके ९६ । ९७ श्लोकोऽव्युत्क्रमौस्तः ।

१ आत्मनो प्रतिजानीते = आत्मनो मिथ्यावादित्वेनाशङ्कितं स्तौति यस्येति । यस्य वदतः सर्वज्ञोऽन्तर्यामी-किमयं सत्यं माह उतानृतेति न शङ्कते किन्तु सत्यमेवायं वदतीति निर्विशङ्कः संपद्यते । तस्मात्पुरुषादन्यं प्रशस्ततरं पुरुषं देवान् जानन्ति ॥ (न, श)

यस्यमिथ्यावदतः पुंसोसत्यमेववदति नाशङ्कते त्वयंवासत्यमेवोक्तमितिवा श्रेयांसंश्रेष्ठतरं भृगुर्हि प्रतिज्ञान्तरं प्रतिजानी-
ते ॥ ९६ ॥

(५) नन्दनः । वदतोयस्य वाक्यादिति शेषः । क्षेत्रज्ञः परमात्मा न तुष्यतीति ॥ ९६ ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्य वदतोविद्वान्नातिशङ्कते यस्य क्षेत्रज्ञोनातिशङ्कते ॥ ९६ ॥

यावतोबान्धवान्यस्मिन्हन्ति साक्ष्येऽनृतंवदन् ॥ तावतः संख्यया तस्मिन् शृणु सौम्यानुपूर्वशः ॥ ९७ ॥

[एवंसंबन्धनात्तस्मान्मुच्यते नियतावृतः । पशून्गोश्वपुरुषाणां हिरण्यं भूर्यथा क्रमम् ॥ १ ॥] ‡

(१) मेधातिथिः । द्रव्यविशेषानृताश्रयाः पापविशेषाः कूटसाक्षिणइत्येतत्प्रदर्शनार्थप्रकरणमारभ्यते तत्राय-
श्लोकः संबन्धोधनद्वारेणोपदिश्यमानआदरार्थः संपद्यते यदुल्लसितमिथउपदिश्यते तद्यथा कथंचिद्भवतीत्यवधारितग्रहणं
तिगुरु इदंत्वतिमहाप्रयोजनमवहितैः श्रोतव्यमिति । सौम्येति चैकवचनमनेकशिष्यसन्निधाने भृगावेव विवक्षितं यस्मिन्-
साक्ष्यइति व्यक्तिकरणसप्तमी यस्मिन्द्रव्यभेदभिन्ने व्यवहारे यत्साक्ष्यतत्र तन्निमित्तंयदनृतमित्येषा विषयसप्तमी अपरा यस्य
च भावनेति । अथवा द्रव्यभेदात्साक्ष्यभेदस्तत्र समानाधिकरणएव । तावतइति परिमाणे व्युत्पाद्यते तत्र यत्प्रभूतनिमित्तम-
पिपरिमाणंसंभाव्यते । शिशून्स्त्रियोवृद्धानित्यतोविशिनष्टि संक्षययेति । अनुपूर्वशइति सुखप्रतिपत्तयेऽनुपूर्वेण ह्यभिधोयमा-
नसुखेन प्रतीयते । आनुपूर्वीच सङ्ख्या गतात्राभिप्रेता तस्याएव वक्ष्यमाणत्वात्पञ्चपश्वेत्यादि ॥ ९७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बान्धवान् पूर्वपुरुषान् हन्ति नरकेपातयति । केचित्तु तावत्पुरुषहन्तृदोषोभवतीत्यस्यार्थ-
इत्याहुः ॥ ९७ ॥

(३) कुहूकः । यस्मिन्पश्वादिनिमित्ते साक्ष्येऽनृतंवदन्यत्संख्याकान्पित्रादिबान्धवान्नरके योजयति तत्संख्या-
कान्क्रमेण परिगणनया मयोच्यमानान्साधोशृणुअथवा यावतोबान्धवान्यस्मिन्हन्ति यावतांबान्धवानांहननफलंप्राप्नोति
तावत्संख्याकान् शृणु । पक्षद्वयेऽनृतनिन्दार्थमिदम् ॥ ९७ ॥

(४) राघवानन्दः । शृण्वितियावतइति । यस्मिन्पश्वादिहरणनिमित्ते बान्धवान्पित्रादीन्हन्त्युत्तमलोकात्पातयति
तिर्यग्योनिं प्रापयतिवा आत्मनोऽनाशोक्तेः तस्मिन्साक्ष्येकर्मणि तावतोबान्धवान्संख्यया संख्याविशिष्टत्वेन ॥ ९७ ॥

पञ्चपश्वनृतेहन्ति दशहन्ति गवानृते ॥ शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ ९८ ॥

(१) मेधातिथिः । पशुनिमित्तमनृतं शाकपार्थिववत्समासः पञ्चबान्धवांश्चानृतं हन्ति ततश्च तेषांनरकपातनंमा-
तापितरौ जायामिथुनंचापत्यमिति पञ्च कथंपुनरन्यकृतेनैनसान्यस्य फलं संसर्गादिति ब्रूमः तैरयंपरित्यज्यतइत्युक्तंभवति
अथवा तैर्हतैर्यत्पापतदस्य भवतीत्यन्नपि हन्तीत्युच्यते अदृष्टकार्यतुल्यत्वात् अर्थवादश्चायं न तत्कार्योपदेशस्तत्कार्यो-
पदेशे हि हिंसाप्रायश्चित्तीत्यात्कौटसाक्ष्यप्रायश्चित्तमेतद्भवति उत्तरोत्तरसङ्ख्यादिवृद्धिः प्रायश्चित्तगौरवार्था न पुनर्विवक्षि-
तैव तेनोत्तरोत्तरस्य गरीयः प्रायश्चित्तमित्युक्तंभवति । अयंपुरुषः कस्य दासइत्येवंसंशये यदनृतंतत्पुरुषानृतमुच्यते ॥ ९८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पञ्चनृते गवाद्यन्यपश्वर्थमनृते । सहस्रं पूर्वपूर्वपुरुषानेव ॥ ९८ ॥

(३) कुहूकः । पशुविषयेऽनृते पञ्चबान्धवान् नरके योजयति पञ्चानांबान्धवानांहननफलंप्राप्नोति । एवंदश गो-
विषये शत मश्वविषये सहस्रं पुरुषविषये संख्यागौरवंचेदंप्रायश्चित्तगौरवार्थम् ॥ ९८ ॥

(४) राघवानन्दः । तदेवाह पञ्चेतित्रिभिः । पञ्चसङ्ख्याकानुपितृन् । एवमुत्तरत्र । हननं तिर्यग्योनित्वप्राप्तिः । पश्वनृते पश्वर्थमिथ्याभाषणे । एवं सत्यत्रपशुत्वेन गवादीनांप्राप्तत्वेपुनर्वचनंप्रायश्चित्तगौरवार्थम् । पुरुषानृते मनुष्यविषयानृते ॥ ९८ ॥

(५) नन्दनः । पञ्चबान्धवानित्यनुवर्त्तते पशुरजादिः । पुरुषानृते अयंदासोदासोवात्येवमादिके हन्ति ॥ ९८ ॥

(६) रामचन्द्रः । पश्वनृते पशोःसाक्ष्येऽनृतंवदति सपञ्चपूर्वपुरुषान्हन्ति घातयति । यद्वा नरके योजयति पातयति । हनर्हि सागत्योरित्यस्य धातोरूपम् गत्यर्थे हन्ति इति ज्ञेयम् गवानृते दशपुरुषान्हन्ति नरके पातयति । अश्वानृते शतपुरुषान्हन्ति पातयति । सहस्रपुरुषानृतेहन्ति ॥ ९८ ॥

हन्तिजातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतंवदन् ॥ सर्वभूम्यनृते हन्ति मास्मभूम्यनृतं वदीः ॥ ९९ ॥

[पशुवत्क्षौद्रघृतयोर्यच्चान्यत्पशुसंभवम् ॥ गोवद्वस्त्रहिरण्येषु धान्यपुष्पफलेषु च ॥ अश्ववत्सर्वयानेषु खरोष्ट्रवतरादिषु ॥]†

(१) मेधातिथिः । कथंपुनरजातानामसति संसर्गे परकीयेन संयोगेनेदमुच्यते हन्ति जातानुजातांश्चेति उक्तमर्थवादोयमिति सर्वभूम्यनृतंवद मावादीः भूमिसंबन्ध्यसत्यं मावादीरित्यादरार्थमप्येतत्प्रत्यक्षंसंबोधनम् । कापुनरियंभूमिर्नाम यदेतत्पृथिवीगोलकंपर्वतावष्टंभनंसागरावधिप्रसिद्धंनत्वित्यत्याकः स्वामी कोवापहर्ता न सार्वभौमःकश्चिदस्ति तथा च गाथाभूमेः न मामर्त्यः कश्चन दातुमर्हति न कश्चित्सार्वभौमोस्तीत्यभिप्रायः । विश्वकर्मा भौवनमादिशद्विश्वकर्मभौमनेति पितृव्यपदेशेन स्वनाम्ना च राज्ञामच्चणंश्रुतंमयासौरन्तुमिच्छतीति वक्षाम्यहंसलिलस्य मध्ये मैवंसंकल्पंकृत्वैवंसंकल्पितवति सलिले मज्जामि सलिलमज्जनेन नैष्कल्यमन्नदानसंकल्पस्य गृहे यथा सलिले निक्षिप्तंनिष्फलमेवमेतदपीति मृषैवकश्यपाय सागरः तवैषसागरः प्रतिश्रवः प्रतिज्ञानंकश्यपाय ददामीति मोक्षः बंधस्तु सर्वसाधारणार्हा । सर्वजनोपभोग्या केवलंराजानोरक्षा निर्देशमात्रभाजइत्यभिप्रायः । अतएतावत्याभूमेर्नदानोपहारसंभवइति कुतोविवादः सत्यंयथैवायंभूमिशब्दोत्रवर्तते एवंक्षेत्रग्रामस्थण्डिलादावपि तत्र च संभवत्येव स्वाम्यंप्रत्यक्षस्यैव दानापहाराविति न किंचिदनुपपन्नं अपहारश्चास्यायादृशेन रूपेण गृहोर्देनवीरुद्विच्छेदः अतश्च यः परकीये क्षेत्रे चंक्रम्येत मृदोवा कश्चिदादद्यान्नासौ भूम्यपहारी । मीमांसकैरुक्तं न भूमिः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वादिति एकदेशवचनंच भूमिशब्दमधिकृत्य भगवानृकृष्णद्वैपायनोदानधर्मेषु पठितवान् ॥ परैरन्यनुमन्तव्योदानधर्मोऽनृषैर्भुवि । अक्षयोहि निधिर्ब्राह्मोविहितोयंमहीभृतामिति ॥ कृत्स्नगोलकाभिप्रायमेव नादेयत्वंभूमेर्विश्वजिति मीमांसकैरुक्तं न भूमिःस्यात्सर्वान्प्रत्यावशिष्टत्वादिति सर्वान्पुरुषान्प्रतिचंक्रमणादिद्योग्यतयातिशिष्टा भूमिः स्वामीकर्तुमशक्या कथंदीयतइत्यर्थः । अस्मिस्तु पक्षे ग्रामनगरादिविश्वजिति दातव्यं अन्ये तु पठन्ति अन्तरेण सदःपत्नीशालंच दक्षिणानयन्तीति भूमौ गुणविधेरस्यासंभवात्क्षेत्रादेरप्यन्नदानं वदन्तिचैकवचननिर्देशाच्छृणुसौम्येति साक्षिविषयमेवैतत्संबोधनंनशिष्यविषयम् । शूद्रेभिरस्तुपातकैरित्यतआरभ्य यावन्तोमध्यमपुरुषनिर्देशास्तेसर्वेषांपातकभूयस्त्वसमानाख्यातरूपाद्येकवाक्यत्वाच्छूद्राऽनुयोगार्थाः । अन्धःशत्रुगृहंगच्छेदित्यतआरभ्य सर्वसाक्षिविषयाअनुयोगाः आख्यातवैरूप्येन प्रकरणस्य विच्छेदात् मध्यमपुरुषे समानार्थक्रमत्वात्कर्तव्यो गच्छेदिति प्रथमपुरुषनिर्देशः पूर्वाधिकारनिवृत्त्यर्थः ॥ ९९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अजातान् पुत्रादीन् । अत्रापि सहस्रमित्यन्वयः । सर्वं सहस्रादप्यधिकम् ॥ ९९ ॥

(३) कुल्लूकः । हिरण्यार्थेऽनृतवदन् जातानजातांश्च पुत्रप्रभृतीन्नरके योजयति एषांहननफलंप्राप्नोति । भूमिविषये चानृतवदन्सर्वप्राणिनांहननफलंप्राप्नोति तस्माद्भूमिविषयेऽनृतमावदोरिति विशिष्याभिधानम् ॥ ९९ ॥

(४) राघवानन्दः । अजातानुत्तरकालीनान् । अर्थवादोयमिति मेधातिथिः । सर्वमिति अपरिमितदेयमितिवत्सहस्रादधिकं उक्तसङ्ख्यायाअन्तर्भावात् । एवं सर्वजातादीन् ॥ ९९ ॥

(५) नन्दनः । सर्वजगत् ॥ ९९ ॥

(६) रामचन्द्रः । हिरण्यार्थे । अनृतवदन् जातानजातांश्चहन्ति नरके योजयति । सहस्रमित्यनुवर्तते । न सहस्रजातान् सहस्रमुत्पद्यमानान्हन्ति ॥ ९९ ॥

अप्सु भूमिवदित्याहुः स्त्रीणांभोगे च मैथुने ॥ अञ्जेषु चैव रत्नेषु सर्वेष्वश्वमयेषु च ॥ १०० ॥

[पशुवत्क्षौद्रघृतयोर्यानिषु च तथाश्ववत् । गोवद्रजतवस्त्रेषु धान्ये ब्राह्मणवद्विधिः ॥ १] ॥+

(१) मेधातिथिः । मैथुनाख्ये केनेयंस्त्रीभुक्ता मैथुनधर्मेणेत्यञ्जेषु रत्नेषु मणयोरत्नानि मुक्ताद्याअश्वमयेषु वैदूर्यादिषु रत्नेष्विति संबध्यते । विविधान्येवरत्नानि जलजान्याश्वमनानि च । अतोरत्नग्रहणएव कर्तव्ये विशेषणद्वयोपादानंश्लोकपूरणार्थम् । अद्भ्योजातान्यञ्जानि । अश्वनोविकाराअश्वमयानि ॥ १०० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भूमिवत् भूम्यनृतवदोषः । स्त्रीणां भोगेमैथुने मैथुनरूपस्त्रीसंभोगविषयमिथ्योक्तौ अञ्जेषु रत्नेषु मुक्तादिषु । अश्वमयेषुरत्नेषुमाणिक्यादिषु ॥ १०० ॥

(३) कुल्लूकः । वैदूर्यादिष्वनृतवदतोभूमिवदोषमाहअप्स्विति । तडागकूपग्राहोदकविषयेऽनृते स्त्रीणांच मैथुनाख्योपभोगविषये अञ्जेषु च रत्नेषु च मुक्तादिषु पाषाणमयेषु वैदूर्यादिष्वनृते भूमिवदोषमाहुः ॥ १०० ॥

(४) राघवानन्दः । भोगे मैथुनधर्मेण । निजस्त्रियः न जाने इतिब्रूते जानन्नपि ॥ १०० ॥

(५) नन्दनः । उक्तमर्थं वस्त्वन्तरेष्वितिदिशति अप्सु अब्धिविषयेऽनृते । मैथुने भोगे मिथुनभोगविषयेऽनृते । अञ्जानि शङ्खमुक्तादिकम् ॥ १०० ॥

(६) रामचन्द्रः । अप्सु जलस्यानृते भूमिवत् भूमेर्यत्पापमुक्तंजलानृतइत्यर्थः । च पुनः स्त्रीणांभोगे मिथ्योक्तौ भूमिवत्पातकम् । च पुनः अञ्जेषु मौक्तिकादिषु भूमिवत् । च पुनः सर्वेष्वश्वमयेषु माणिक्यादिषु अनृतेभूमिवत् ॥ १०० ॥

एतान्दोषानवेक्ष्य त्वं सर्वाननृतभाषणे ॥ यथाश्रुतं यथादृष्टं सर्वमेवाञ्जसा वद ॥ १०१ ॥

(१) मेधातिथिः । ऊहापोहौवर्जयित्वा यथाश्रुतंचादृष्टतत्वेन ब्रूहि ॥ १०१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अञ्जसाशीघ्रम् ॥ १०१ ॥

(३) कुल्लूकः । एतान्सत्यभाषणदोषानधिगम्य दृष्टश्रुतानतिक्रमेण सर्वमेवाञ्जसा तत्त्वतोब्रूहि ॥ १०१ ॥

(४) राघवानन्दः । साक्षिवाचनमुपसंहरति एतानिति । ब्रह्मज्ञानित्यादि वेदेत्यन्तान् शूद्रायैव श्रावणीयं संदंश-
न्यायात् शूद्रवदाचरेदिति गोरक्षकादिषु शूद्रधर्मातिदेशाच्च ॥ १०१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अञ्जसा शीघ्रंवदेति ॥ १०१ ॥

+(च,ण,ज,ट,ड)

(१०१) सर्वम्=सत्यम् (इ)

गोरक्षकान्वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान् ॥ प्रेष्यान्वार्द्धुषिकांश्चैव विप्रान्शूद्रवदाचरेत् ॥ १०२ ॥

[ये प्यतीताः स्वधर्मभ्यः परपिण्डोपजीविनः । द्विजत्वमजिकांक्षन्तितांश्च शूद्रानिवाचरेत् ॥ १ ॥]+

(१) मेधातिथिः । कारवः शिल्पिनस्तक्षायस्कारसूपकारादयः कुशीलवानर्तकगायनाद्याः प्रेष्यान्जीविकार्थ-परस्थाज्ञाकारादासादिति प्रसिद्धाः वार्द्धुषिकावृष्युपजोविनः एते ब्राह्मणा अपि सन्तः प्रकरणात्साक्ष्ये शपथे च शूद्रवद-ष्ट्व्यानक्रियांतरे यथा शूद्रो न दानपुण्यादिना पृच्छ्यते साक्ष्ये शपथे चाग्निहरणादिना शोष्यते तद्वदेषोपि शपथोपयद्यपि पूर्वत्रापकृतस्थाप्युत्तरत्रानन्तर्यादौषवत्वात्प्रयतत्वात् प्रयतत्वेप्यानन्तर्यस्य संबन्धहेतुत्वादक्ष्यमाणस्यापि प्रत्यासत्या पूर्ववद्वयोसन्निपातात् शपथेऽपितुल्यम् ॥ १०२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गोरक्षकान् पशुपालनेन जीवतः । कारुन् सूपकारादिवृत्तीन् कुशीलवान् नटवृत्त्या प्रेष्यान् ब्राह्मणस्यादास्येऽपि स्वतःप्रतिपन्नदास्यान् । वार्द्धुषिकान् वृद्धिजीविनः । शूद्रवत् सर्वपातकैः पृच्छेदिति ॥ १०२ ॥

(३) कुल्लूकः । गोरक्षणजीविनोवाणिज्यजीविनः सूपकारादिकारुर्कर्मजीविनः दासकर्मजीविनः नटकर्मनृत्यगी-तादेजीविनः प्रतिषिद्धजीविनोब्राह्मणान् प्रकृतसाक्ष्यदर्शने शूद्रवत्पृच्छेत् ॥ १०२ ॥

(४) राघवानन्दः । वाक्यप्रकरणपैठितं पंचपञ्चनृतइत्याद्यधर्मज्ञातं द्विजानामपि भवत्येव । सर्वपातकादियुक्तं निरुष्टद्विजेऽपि वाचयेदित्याह गोरक्षेति ॥ १०२ ॥

(५) नन्दनः । गोरक्षकान्विप्रान् शूद्रवदाचरेत्सर्वैः पातकैर्ब्रूहीति ब्रूयादित्यर्थः ॥ १०२ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणान्प्रत्याह गोरक्षकानिति । पाशुपाल्यादिवृत्तिजीविनोविप्रान्त्साक्ष्ये शूद्रवत्पातकैः पृच्छे-त् ॥ १०२ ॥

तद्वदन्धर्मतोर्येषु जानन्नप्यन्यथा नरः ॥ न स्वर्गाच्च्यवते लोकाद्वैर्वावाचंवदन्ति ताम् ॥ १०३ ॥

(१) मेधातिथिः । तदन्यथापि वदन् स्वर्गाच्च्यति कूटमपि वदन् दुष्यतीत्यर्थः किंसर्वदैव नेत्याह धर्मतोर्येषु धर्मेण दयादिना निमित्तेनार्थेषु व्यवहारेषु । धर्मस्य च निमित्तत्वमुक्तमुत्तरश्लोके दर्शयिष्यति एतच्च न स्वमनीषिकयो-च्यते किंतुज्ञेतांवाचंवदन्ति अस्मात्पूर्वेऽविस्मृतारः का पुनर्देवी वाग्ययास्मिन्निमित्तेऽनृतंवदितव्यमित्येषा देवानांसंबन्धि-नीवाक् तांमन्वादयः श्रुत्वा वदन्तीति विशेषेऽनृतप्रशंसा । अन्यैस्तु पूर्वविधिशेषतयायंश्लोकोव्याख्यातस्तदेतद्वोरक्षका-दिष्वनुयोगवाक्येषु ब्राह्मणेषु भवितव्यमन्यथा ब्राह्मण एव कथंशूद्रवदनुयोगस्तथापि विद्वान्दुष्यतीति यतोमन्वादय-एवंविधांवाचंवदन्ति यथैते शूद्रवन्नाचरणीयादिति । ते च धर्माधर्मयोः प्रमाणतैश्च सत्यंवदितव्यं तच्च यथाविहितं तत्र स एव धर्मोयत्रवानृतंतत्रानृताभिधानमेव धर्मइति ॥ १०३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तत्साक्ष्यं धर्मतोधर्मार्थं जानन्नप्यन्यथावदन् स्वर्गान्नच्यवते यतस्तत्रानृतापि वाग्दैव्यै-वेति वदन्ति ॥ १०३ ॥

+ (ड) । (ट) चिन्हितपुस्तकेतु येप्यपेताः स्वकर्मभ्यः परकर्मोपजीविनः ॥ द्विजाधर्मविजानन्तस्तांश्च शूद्रवदाचरेदितिपाठः ।

* पठितं=प्रमितं (राघ० ४)

(३) कुल्लूकः । तदेतत्साक्ष्यमन्यथापि जानन्ननुष्योधर्मेण दयादिना व्यवहारेष्वन्यथा वदन्स्वर्गलोकान्भ्रश्यति यस्माद्यदेतन्निमित्तविशेषेणासत्याभिधानं तां देवसंबन्धिर्नावाचंमन्वादयोवदन्ति ॥ १०३ ॥

(४) राघवानन्दः । क्वचिदेतस्य प्रतिप्रसवमाह तद्वदन्निति द्वाभ्याम् । तत् साक्ष्यविषयभूतं सत्यं जानन्नप्यन्यथानब्रुवन्स्वर्गाच्च्यवते यतोऽसत्यामपि तांवाचं दैर्वावदन्त्येतानुद्धरिष्यामीति विजिगीषाहेतुत्वात् । धर्मतोदयादिना । अर्थेषु व्यवहारेषु ॥ १०३ ॥

(५) नन्दनः । अर्थेषु चातुर्वर्ण्यवधपर्यन्तेषु । अन्यथा जानन्नप्यन्यथा तदनृतं धर्मतोहेतोर्वदन्स्वर्गान्च्यवते । कुतः तांधर्मानुसारिणींवाचं देवीं सत्यां वदन्ति यतस्तस्माद्धर्माविरुद्धं चेदसत्यमपि साक्षिभिर्वक्तव्यं न धर्मविरुद्धं सत्यमिति ॥ १०३ ॥

(६) रामचन्द्रः । तद्वदन्निति सार्धेनाह । तत्साक्ष्यं धर्मतोर्थेषु वर्णिरक्षाद्यन्यतरधर्मार्थेषु जानन्नप्यन्यथावदन्नरः-स्वर्गान्च्यवते ॥ १०३ ॥

शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यत्र तौ भवेद्वधः ॥ तत्र वक्तव्यमनृतं तद्वि सत्याद्विशिष्यते ॥ १०४ ॥

(१) मेघानिधिः । तत्र नानृतं वदेदिति यः प्रतिषेधस्तस्य शूद्राद्विविधविषयतानेनोच्यते न पुनरनृतवदनं विधीयते तथा सति प्रतिषेधे नैकवाक्यता बाध्यते का पुनरत्र निमित्तश्रुतिस्तत्रेति तस्य वधविशेषणत्वान्न वधस्तस्याः मनोमित्रत्वानुपपत्तेरतश्च कृतेऽवधौ पश्चात्तद्विषयमतद्विषयं वानृतं वक्तव्यमित्यर्थः । आपतति तत्त्वनिष्ठं ननु च यत्रेति व्यवहारस्तुतिर्निर्दिश्यते पुनस्तत्रेति तदेव प्रतिनिर्दिश्यते ततश्च यस्मिन् व्यवहारे राजत्वात्क्रोधदण्डस्य चाशास्त्रीयत्वात्स्थितपरिमाणतया निश्चयाभावो न तस्यापि निमित्तत्वोपपत्तिरतः प्रतिषेधशेषतैव न्याय्या गौतमीये वनृतविध्याशङ्कापि नास्ति । नानृतवदने दोषो जीवनेनैतदधीनमित्येवमादिप्रतिषेधे सत्यानृतयोः कामचारप्रसङ्गे सत्यवचनेन निमित्तभावः प्रतिपद्यमानो न हि स्यात्सर्वभूतानीति प्रतिषेधव्यतिक्रमतया चानृतप्रतिपद्यत इति युक्तिमत्वेनेदं कृतं चेदसौ पृष्ठआचष्टे न पुनर्हन्ति अग्नश्च कथं हि सादोषेणानुषज्यते । अथ सत्यपि स्वातन्त्र्ये तद्वदनेन राज्ञाहन्यमानत्वात्तद्वेतुभावापत्या प्रयोजकत्वमिति चेत् न सर्वो हेतुः प्रयोजको धनेन कुलं विद्यया यश इति भवति विद्यया यशसो हेतुना प्रयोक्त्री । ननु चान्यएवायं लौकिकफलोत्पत्तिर्योग्यताहेतुलक्षणे हेतुभावोपि तु द्रव्यगुणायत्रापि क्रियाश्रूयन्तेऽग्निना पाक इति सापि स्वरूपेण सिद्धरूपाभिधानात्कृदन्तैर्भावस्य अन्यश्चायं शास्त्रीयकर्तव्यव्यापारस्य प्रयोजको हेतुर्ननु तत्प्रयोजकत्वमेवमित्यर्थं यदि तावत्प्रेषणाभ्येषणे आज्ञापार्थनारूपे प्रयोजकत्वं शोषयते ब्रीहीनातप इत्यादावचेतेनेषु णिजुत्पत्तिर्दुर्लभा ननु च परित्यक्तमेतद्व्याख्यातृभिः मुख्योपचरितक्रिय इति चेतनावद्वस्तूपचारे भिक्षावासयति कारीषोऽध्यायतीति न ह्यत्र चैतन्यकृत उपकारे ऽपि तु निश्चितत्वात्तदन्यस्य प्रयोजकस्य अध्ययनं हाचार्यविधिप्रयुक्तं कुर्वाणस्य शीतादिलक्षणप्रतिबन्धकमनुवदति कारीषे प्रयोजकत्वाद्धचारोपः । प्रेरकत्वाद्धि प्रयोजकमुच्यते तच्च चैतन्यस्य वायुजलादेरग्निकाष्ठादौ सुतरां दृश्यते तदा विधिप्रयोजकस्तुतिप्रयोक्तृभिः प्रेषणाद्यभावाद्गौणार्थशब्दास्युः । अथैतत्समर्थाचरणं प्रयोजकत्वं तच्च प्रयोजकस्य व्यापारानुगुणं प्रेषणादिव्यतिरिक्तक्रियान्तरावरणं संविधानाख्यं संविदधान एव हि कारयतीत्युच्यते यथा बुभुक्षमाणस्य कश्चित्पात्रमाहरत्यन्यो भक्तमुपनयति कस्य चिद्वधप्रवृत्तस्य कश्चिदायुधमर्पयत्यास्यो वध्यदोषाधिकरणे न वध्यं भेषक्ये वलक्षणः प्रपित्रादि रूपोद्धितः स व्यापारः

प्रयोज्यफलसिद्धावानुकूल्यं प्रतिपद्यमानस्तत्समर्थाचरणपक्षे प्रयोजकः । अस्मिन्पक्षे कारीषोपाध्यायौ तुल्यौ ग्रामुतः । अत्रापि यमन्तरेण क्रियाया अनिवृत्तिर्यस्य च कारकविशेषसंज्ञा न प्रवर्तन्तेसमुख्यः प्रयोजकः कर्ता अध्यापयितारंचान्तरेण कारीषोन शक्नोत्यध्ययनहेतुभावंप्रतिपत्तुं आचार्यस्तु तमन्तरेणापि शक्तएवेति गुणः कारीषः यत्र च करणादिभावे निश्चितहेतुमत्प्रत्ययदर्शनात्तत्रापि गौणार्थतैव यथा कश्चित्स्वल्पोनापि प्रयोजनेन दूरंग्रामंपुनः पुनर्गतवन्तं दृष्ट्वा ब्रवीत्यश्वो-गमयतिदेवदत्तमिति यत्र तु न कस्य चिदासत्तिविप्रकर्षावन्तरङ्गबहिरङ्गभावोवा गम्यते तत्र यावन्तस्तदानुकूल्यं प्रतिपद्यन्ते सर्वे ते प्रयोजकाः । ननु च कारकसंज्ञायामन्तरङ्गयोगोनास्तीति कोविशेषः कारीषोपाध्याययोः स्वप्रक्रियैव सा तत्र भवतांन वस्त्वाश्रया वस्त्वाश्रयौ च विधिप्रतिषेधौ इदमपि तत्र पठ्यते विवक्षातः करणकारकाणि भवन्तीति एवं च सति यत्राकर्तुरेव कर्तृत्वं कश्चिद्विषये तत्र कर्तृप्रत्ययविधिप्रतिषेधावापि स्यातां यथा पातकपरिगणनायामनुपठति क्रयविक्रयी संस्कर्ताचोपहर्ताचेति तस्मादन्वाख्यानसिध्यर्थानां तावकी सा व्यवस्थानवस्त्वधिष्ठानमर्थमवस्कन्दति अतएव व्याख्यातृभिस्तत्समर्थाचरणंचेद्वेतुमात्रे प्रसङ्गः ततश्च योपि कस्मै चिद्भोजनं ददाति सचौदरिकतया तिसौहित्येन व्यापद्येत प्रामांन्यं दातुर्वधकर्तृत्वमिति न च तत्प्रयुक्तं भवति क्रियान्तरेण ह्यसौ निश्चितो भोजनाख्यो प्रयोजको न वधोन वैष्यादिकथंचिन्निमित्तं भवति भवतु प्रयोजकत्वाभावात् कर्तृत्वं नास्तीति ब्रूमः । यस्य तु भूमिसुवर्णापहारादिना पराध्येत स च तदपहारमृत्युना कथंचिन्नि-येत किं तत्रापहर्तुरपहारदोषएवोभयवधेऽपि निमित्तिभावइति चिन्त्यं । किमत्र चिन्त्यते अव्यभिचारावगम्यत्वाद्धेतुहेतुमद्भावस्य न खङ्गप्रहारभोजनविच्छेदादेरिव भूम्यादिहरणस्य नियतनिमित्तत्वोपपत्तिः । कोयं नियमोऽभिप्रेतः यदि ह वा केचिन्निश्चयन्ते केचिन्नेति नियतो नियमो भवति पुरुषस्वभावभेदात् तदेवौषधं श्लेष्मिकोपहितं विपरीतमन्यस्येति सर्वेषामेव च भावानां देशकालस्वभावभेदसहकारिसापेक्षा शक्त्यन्तरप्रादुर्भावस्तदेव लक्षणं पुरुषवित्तसंततिसापेक्ष्यपि पासाहेतुप्राप्यन्तरसापेक्ष्यं तद्विच्छेदहेतुरिति एवमत्यन्तामर्षिणो मन्युमतः स्वहरणपरिभवादि मरणाय कल्पते । किं तव शक्यो निमित्तभावोपपत्तुं पेशलमानसस्य तूपेक्षैव तत्र । ये पुनर्मन्युपरीता अनशनश्वभ्रपतनविषभक्षणादिना परान्द्वारमुद्दिश्य श्रियेरन्तर्वायेष एव न्यायः । ननु चान्यस्यैव प्रसिद्धहेतुभावस्य विषभक्षणादेर्निमित्तस्य तत्र दर्शनान्न भूम्यादिहरणस्यापराधो हन्तृत्वमाभ्यासो नोपजनितमन्युमरणहेतोः प्रवर्तनं इति पारंपर्यन्तो निमित्तत्वमिति चेत् एवं सति पथ्योपदेशेनापि किंचिद्विजमाना आत्मानं व्यापादयन्ति ततश्च तत्रोपदेशो हन्तारः स्युः । तथा मत्सरिणः परद्रव्येष्वीर्ष्याशुष्यन्तो धनिषु दोषमाददीरन् । तथान्ये मूढमनसः प्रियान् पुत्रान् स्वामिनश्चानुश्रियन्ते तत्र प्रियादीनां हन्तृतापत्तिः । अपरे च रूपवत्स्त्रीदर्शनेन परिकल्गुमनसः स्रूयन्ते भज्यमाना दद्याश्च विवेकसूत्यात्मानस्तत्र शीलवत्यः स्त्रियो दुष्येयुः । तदेवेदमापतितमृतस्य ब्रह्महृत्येति सत्यमेवं यदि विधिप्रतिषेधविशेषो न स्यात् विहितोहितोपदेशः प्रतिषिद्धं स्वहरणादि तथा चाहुः । उपकारप्रवृत्तानां कथंचिद्विपर्यये न तत्र दोषः केषांचिद्वेषजामौषधी यथा अत्र न केवलं वैद्यादेरातुरोपकारार्थिनः प्रयुक्तौषधस्य कथंचिद्विपरीततयोपपत्तावदोषः किंतु अन्यस्यापि गवादेर्हति पट्टे निमग्नस्योद्धर्तृभुजाकर्षणाय यथाश्रमेण यदि व्यापत्तिर्न तत्रोद्धर्ता दुष्येदिति कथितं भवति एवं सर्वत्र योपि कस्मिंश्चित्स्वव्यापारानुष्ठानवति धनरूपातिशयसंपद्धति दृश्यमाने दन्द-ह्यते न तत्र प्रति कस्यचिच्छास्त्रार्थातिक्रमः निश्चितो हि निमित्ताभावः प्रतिषेधस्य विषयो भवितुमर्हति । न च प्राप्यन्तराश्रयिषु चैतसि केषु धर्मेषु प्रतिक्षणमन्यथा भवत्सु स्वभावविशेषावसायः । नहि शक्यमवसादितु मयमस्यारूपसंपदा व्यापद्यतइति न च निश्चिते प्रतिषेधविषये संभवत्यनिश्चितविषयता न्याय्या यत्र तर्हि कथंचिद्वर्णविपर्यय शरीरशोषणादिना कुतार्किकपठितास्यादपि निमित्तावगतिस्तत्र किं भ्रंशयितुं शीलं संयुज्यतां कामिनां भवतु वा पुरुषव्यापिनीति नैतदेवं नहीदृशी भवन्त्यपि

निमित्तता प्रतिषेधस्य विषयविध्यन्तरविरोधात् । अस्ति ह्यत्र व्यभिचारप्रतिषेधविधिः न वापि विध्यन्तरेणानवष्टब्धे-
विषये कृतावकाशाविधयोविरोधविध्यन्तरविषयमास्कंदितुमर्हन्ति । येऽपि मन्यन्ते रागलक्षणां प्रवृत्तिशीलसंरक्षणोपदे-
शोनिषेधति न शास्त्रलक्षणां तेन ग्राह्यानुभावतया नास्य तपस्विनोजीवितुं चेच्छेदिति प्राणोजिहीर्षया मुमूर्षुणा संप्रयुज्यते
नासौ व्यभिचारप्रतिषेधमतिक्रामेत् । यत्तु विध्यन्तरविषये न विध्यन्तरप्रवर्ततइति नैवायंविध्यन्तरस्यविषयोरगलक्षग-
त्वात् । ननु च प्रतिवृत्तावपिनैवशास्त्रमस्ति नियोगविधाविव व्यभिचारानुज्ञानंस्मृत्यभावात् । अथाप्रवृत्तौ कामयेत मारण-
मिति प्रतिषेधभयात्प्रवर्ततेसोऽपि प्रतिषेधोरागलक्षगामेव हिंसाप्रतिषेधयति नचासौ रागतो न प्रवर्ततेऽपि तु प्रतिषेधभ-
यात् या तु परोपकारतः प्रवृत्तिः सापि प्रतिषेधविषयपरिहारेण योपि किञ्चिद्यावदयमहमात्मानंहन्मीति हन्यान् तत्रा-
प्रयुक्ततोधातकत्वं व्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् ॥ १०४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यत्रान्यथावाच्यंतदाह शूद्रेति । ऋतोक्तौ सत्योक्तौ । ब्राह्मणस्य वधाभावेऽप्युग्रदण्डाद-
धार्मिकाद्राज्ञोवधःसंभवत्येव तत्रच प्रमादस्खलितादिकृतदोषविषयम् । बुद्धिपूर्वसाहसादौतु दृष्टे वधसंभवेपि सत्यंवाच्यम् ।
तथाच गौतमः ॥ नानृतवचने दोषोजीवनंचेतदधीनं नतु पापीयसोजीवनमिति ॥ एवंचात्र विषये राज्ञा साक्षिव्यतिरिक्त-
प्रमाणेनैव तत्त्वमन्वेष्यम् ॥ १०४ ॥

(३) कुट्टुकः । कपुनस्तदसत्यंवक्तव्यमित्यतआह शूद्रेति । यस्मिन्व्यवहारे सत्याभिधाने सति शूद्रवैश्यक्षत्रियब्रा-
ह्मणानांवधः संपद्यते तत्रासत्यंवक्तव्यंयस्माद्यस्मिन्विषयेऽनृतंयत्तत्प्राणरक्षणेन सत्याद्विशिष्यते एतच्च प्रमादस्खलिताधर्मवि-
षयत्वे नत्वत्यन्ताधार्मिकसंधिकारस्तेनादिविषये । तथा गौतमः ॥ नानृतवदने दोषोजीवनंचेतदधीनं नतु पापीयसोजी-
वनमिति । नच ॥ न जातुब्राह्मणंहन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितमिति मनुनैव वक्ष्यमाणत्वात् न ब्राह्मणवधप्रसक्तिरिति वाच्य
म् उग्रदण्डत्वाद्राज्ञः कथंचित्संभवात् । अत्र वचने शूद्रादिक्रमेणाभिधानंवधस्यामङ्गलत्वात् ॥ १०४ ॥

(४) राघवानन्दः । सावाकुत्रवाच्येत्यतआह यत्र ऋतोक्तौ सत्योक्तौ शूद्रविद्वक्षत्रियाणांवधोभवेत्तत्र वक्तव्यमनृ-
तं । तत्र हेतुः तद्धीति । तदनृतं । सत्येनधर्ममात्रमत्रतु विप्रादिरक्षा दृष्टार्थाऽहिंसाऽदृष्टार्थेति तद्व्ययमतोविशेषइतिभावः ।
शूद्रेतिक्रमवैपरीत्यं कूष्माण्डैरित्यापिप्रायश्चित्तचतुष्टयस्य सूचनार्थं अन्यथा तदसंभवात् ॥ १०४ ॥

(५) नन्दनः । अथ साक्षिगांकचित्सत्यवचनेऽपवादमाह शूद्रविडिति । उक्ते ऋतइति पदच्छेदः सन्धिकार्यमार्षम् ।
उक्तवार्त्तमिति वा पाठः । तत्र समानकर्तृत्वमार्षम् ॥ १०४ ॥

(६) रामचन्द्रः । यत्रसाक्ष्ये ऋतोक्तौ प्राणिनामनुष्याणांवधोभवेत् । तत्र योगीश्वरः ॥ प्राणिनांहि वधोयत्र तत्र
साक्ष्यनृतंवदेत् ॥ १०४ ॥

वाग्देवत्यैश्च चरुभिर्यजेरंस्ते सरस्वतीम् ॥ अनृतस्यैनसस्तस्य कुर्वाणानिष्कृतिपराम् ॥ १०५ ॥

(१) मेधातिथिः । वाक् चासौ देवता च सा वाग्देवता तदर्थं च चरवोवाग्देवत्यास्तण्डुलानातिपक्वाश्चरवस्तैर्यजे-
रन्निति बहुवचननिर्देशात् । चरुभिरिति बहुवचनं पुनरैकशोबहवश्चरवोनापि संहतानांवात्यस्तोमवद्यागोदेवश्चे
द्वर्षेद्बहवोब्राह्मणायजेरन्निति तद्बहुवचनं ननु कपिञ्जलैश्च त्रिभिर्यजेरंस्तदेतद्ब्राह्मणाद्यनुग्रहार्थमनृतमुक्तंभवति अनृत-

* सूचनार्थं=शूद्रादिक्रमसूचनार्थं (राघ०४)

मेवैनः पापमसत्याभिधानलक्षणा क्रिया यथा धर्मक्रियावतएवंसमानाधिकरणे षष्ठी येषान्तु क्रियाजन्यौ धर्माधर्मौ न क्रियैव तन्मतेऽनृतस्य यदेनइति वैय्यधिकरण्येऽनृतनिमित्तत्वादेनोनृतमुपचारतः समानाधिकरणेएव तस्य निष्कृतिः शोधनंपावनंप्रायश्चित्तमिति यावत् । पराप्रकृष्टा । ननु च कुतोत्रपापंयावतास्मिन्निमित्तानानृतवचने दोषइत्युक्तम् । केचिदाहुर्निवृत्तिस्तुमहाफलेति । अस्माच्छास्त्रात्तु यावज्जीवमनृतंमया न वक्तव्यमिति येन संकल्पितंतस्य मिथ्यासंकल्पदोषो-
माभूदिति प्रायश्चित्तमुच्यते गेहदाहवधाप्रतिषेधेऽपिनैमित्तिकंविधानमेनसोनिष्कृतिमित्यर्थवादः इदंताहि वाग्देवत्यैः स-
रस्वतीयजेरन् यदि वाग्देवत्यासरस्वतीकथमिष्यते अथवा सरस्वत्योरेकत्वेनैवंदेवताभावे शब्दावगम्यरूपत्वादेवताया-
भिन्नौ चेतौ वाक्सरस्वतीशब्दौ यथाग्रये जुहोतीति चोदितेन ज्वलनाय कृशानवे वा स्वाहेति हूयते वायवे निरूप्य जुहु-
याद्वायुर्वैप्राणइत्युक्तेऽपि न प्राणायेति हूयते सत्यंवागेवदेवतासामानाधिकरण्यादेवतार्थतद्धितः । सरस्वतीद्वितीयानिर्देश्यादे-
वता कर्मणि हि द्वितीया संप्रदानंचदेवता न कर्म कथंताहि सरस्वतीपदान्वयः अर्थवादोयमग्रयेजुहोत्यग्निर्वै सर्वादेवताइति
वागेव सरस्वती तथा प्रीतया सा प्रीता भवति । योगेन देवतावगम्यते कथमग्निर्यष्टव्यस्तथाग्नियजती-
त्यादि केचिदाहुर्देवतैः स्वतस्तत्र तत्र पूज्यन्तेदेवतपूजावचनोत्र यजिः पूजा च पूज्यमानकार्मिका तत्र युक्त्या द्वितीया
तथा च देवतापूजनंयेत्यादिस्मर्यते एतच्च नयुक्तं अस्मिन् हि पक्षे देवतात्वंमन्यते नूनंतव यागसंप्रदानंदेवतेति स्मरण-
विरोधः एषा च स्मृतिर्बलीयसी निरपेक्षत्वात् । पूर्वादेवताउद्दिश्याभ्येयाचयस्यै देवतायै हविर्गृहीतंस्यात्तामनसा ध्याये-
दिति तत्क्रियाकर्मत्वात्कर्मण्येव द्वितीया ॥ १०५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संभूयानेकैः साक्षिभिर्मिथ्याभिधानेपि स्वस्वाधिषु प्रत्येकमेकैकएवचरुः पृथक्पृथक्किर्वा-
प्यः । यदुक्तं याज्ञवल्क्येन ॥ तत्पावनाय निर्वाप्यश्चरुःसारस्वतइति ॥ अत्रच सरस्वत्येव देवता वाक्पदं तदुपलक्षक-
म् ॥ १०५ ॥

(३) कुहूकः । ते साक्षिणोऽनृताभिधायिनोवाग्देवताकैश्चरुभिः सरस्वतीयजेरन् तस्यानृताभिधानजनितपापस्य
प्रकृष्टांशुर्द्विकुर्वाणाः । साक्षिबहुत्वापेक्षंचेदम् नत्वेकस्यैव साक्षिणः कपिञ्जलन्यायेनचरुत्रयम् । यद्यपि वाग्देवताके चरौ
वाक्शब्देनैव देवतात्वंन सरस्वतीशब्देन विधिशब्दस्य मन्त्रत्वे भावः स्यादिति न्याया तत्थापि वाग्वैसरस्वतीति श्रुते
वाक्सरस्वत्योरेकार्थत्वात्सरस्वतीमित्युपसंहारः । अत्र प्रकरणे चेदंप्रायश्चित्ताभिधानंलाघवार्थम् । तत्र क्रियमाणे शूद्रविट्-
क्षत्रियब्राह्मणवधविषयानृतवादिनइत्यपि वक्तव्यंस्यात् ॥ १०५ ॥

(४) राघवानन्दः । अनृतवदनस्याकर्तव्यत्वंद्रष्टयन्नेवंविधेपि प्रायश्चित्तमाह वागितिद्वाभ्याम् । चतुर्भिश्चरुभिः च-
त्वारः शूद्रादयः ते साक्षिणः अनृतस्यैनसः । अनृतजन्यस्य पापस्य निष्कर्तिं शुद्धिं कुर्वाणाः सरस्वतीयजेरन्नित्यन्व-
यः ॥ १०५ ॥

(५) नन्दनः । एवमप्यसत्यवचने प्रायश्चित्तंश्लोकद्वयेनाह वाग्देवत्यैश्चेति । ते धर्महेतोरनृतवादिनः साक्षिणोनि-
ष्कर्तिप्रायश्चित्तम् ॥ १०५ ॥

(६) रामचन्द्रः । वाग्देवत्यैः सारस्वतैर्मन्त्रैः । एनसः पापस्य ॥ १०५ ॥

कूष्माण्डैर्वापि जुहुयाद्दृतमग्नौ यथाविधि ॥ उदित्यूचा वा वारुण्यातृचेनाद्देवतेन वा ॥ १०६ ॥

(१) मेघातिथिः । कूष्माण्डानाम मन्त्रायजुर्वेदपठ्यन्ते तैर्धृतमग्नौ जुहुयात् । जुहोतिश्च देवतामुद्दिश्य द्रव्यस्य त्यागः

आधारविशेषणे तत्रेहादावित्यधिकरणनिर्देशादनुवर्णिकी दैवता वेदितव्या येषु च मन्त्रेण देवताविशेषलिङ्गनियम्यते यथा देवकृतस्यैनसोवयजनमसीत्यादिषु तत्र प्रजापतिर्देवतेति याज्ञिकाः । अथवा यस्यान्यत्र देवतात्वंदृष्टं सहसंबन्धियावत् । तथा च निरुक्तकारोपि वा सा कामदेवतास्यादिति यद्यपि यज्ञस्य हविषोदेवता सम्यक्सम्यग्भावस्तथापि यजति श्रूयते द्रव्यमन्त्राः स्वयंतन्त्राः सत्यदैवतायां जुहोतीति रूपतदुत्तरेण जुहुयादिति व्याख्येयं तच्चायुक्तं तथाभिक्षारयेदिति वक्तव्यम् वयन्तु ब्रूमोदेवकृतस्यैनसोवयजनमसीत्यत्र कर्मैवावयजनमेवावयाजनमित्युच्यते अतस्तद्देवतासर्वत्र चमन्त्राभिधेयं वस्त्विति न देवतायां मन्त्रवर्णाभावः उदुत्तमं वरुणपाशमस्मदिति प्रतीके तल्लक्ष्यते । वारुणीग्रहणं चान्यस्याउत्तामंदंनुस्तोमाइत्युल्लशब्दप्रतीकायानिवृत्त्या च तत्रायनाद्देवतेन चेति तदेवदेवतैवदैवतं आपोदैवतमस्यतृचस्य तेनापोहिष्ठेत्यादिना अतश्चैकैकया भावादिकैकाहुतिः प्रत्येकशब्दवत्त्वेन समुदायाहुतिरेकेति घृतमग्राविति सर्वत्रानुषङ्गः यथा विधि यादृशः शिष्टसमाचारइत्यर्थः तेन च विधिहीनत्वादप्रामाण्यामिति कर्तव्यतायां परिसमूहनपर्युक्षणावोक्षणः सुवहोमाद्येतावन्मात्रमनुजानाति । वाशब्दाद्वैकल्पिकाः सर्वे एव ॥ १०६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । उदित्यृचा उदुत्तमं वरुणेत्यृचा जुहुयात् घृतमेव पापोत्कर्षापेक्षया सहस्रादप्यधिकं होतव्यम् । अल्पे तु सहस्रम् । तृचेनापोहिष्ठीयेन । गुणजात्याद्युत्कर्षापेक्षया च प्रायश्चित्तचतुष्कव्यवस्था । अत्र चाग्नाविति वचनात्पूर्वोक्तोवाग्दैवत्यश्वरुर्वैतानिकेष्वेवेति गम्यते ॥ १०६ ॥

(३) कुङ्कुमः । कूष्माण्डमन्त्राय जुर्वेदिकाय देवादेवहेडनमित्येवमादयः तैर्मन्त्रदेवतायै घृतमग्नौ जुहुयात् । यथाविधि परिस्तरणादित्वात्स्वधर्मेण स्वगृहोक्तेन । उदुत्तमं वरुणपाशमित्येतया वरुणदेवताकया आपोहिष्ठा इति तृचेन वाग्देवताकेन जुहुयात् । घृतमग्राविति सर्वत्रानुषङ्गः ॥ १०६ ॥

(४) राघवानन्दः । कूष्माण्डमन्त्राय जुर्वेदिकाः । यद्देवादेवहेडनं देवासश्चरुमावयं आदित्यास्तस्मान्माभ्युञ्जतर्तस्यर्तेनमामितस्वाहा आदित्येभ्य इदं नममेत्युद्देशत्यागो न मन्त्रान्तःपाती । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् । प्रयोगश्च महार्णवोक्तः । यथाविधि पर्युक्षणादिहोमधर्मेण स्वगृहोक्तेन । तदित्यृचा गायत्र्या तदादिकेत्युक्तत्वात् । उदुत्तमं वरुणपाशमित्येतया वारुण्या । अब्दैवतेन आपोहिष्ठेत्यनेन । अत्र यदि शूद्रः साक्ष्यं वक्ति सोऽपि ब्राह्मणद्वारा होमं कारयेत् । तदुक्तं याज्ञवल्क्येन ॥ वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यं नृतं वदेत् । तत्पावनाय निर्वाप्यश्चरुः सारस्वतो द्विजैरिति ॥ अत्र द्विजैरिति निर्देशाद्गुणमुख्यसाधारणं अन्यथा शूद्रो मिथ्यावदन्नेवं विषये न प्रत्यवेयात् । द्विजैरिति स्वरसात्तान्प्रत्येव नियमः शूद्रस्य तु दानादि ॥ १०६ ॥

(५) नन्दनः । उदित्यृचा उदुत्तमं वरुणेत्यृचेन । आपोहिष्ठेत्यादिना द्विजानामिदं प्रायश्चित्तं । शूद्रस्य तु स्मृत्यन्तरे प्रोक्तं शूद्रस्य द्वादशकस्य यासदानम् ॥ १०६ ॥

(६) रामचन्द्रः । कूष्माण्डैः मन्त्रैः यद्देवादेवहेडनमित्यादि मन्त्रैः । वारुण्याऋचा तृचेनाब्दैवतेन वा आपोहिष्ठेति तिसृभिः ॥ १०६ ॥

त्रिपक्षाद्ब्रुवन्साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः ॥ तदृणंप्रामुयात्सर्वदशबन्धंच सर्वतः ॥ १०७ ॥

(१) मेधातिथिः । पञ्चदशाहोरात्राणि पक्षः । त्रयाणां पक्षाणां समाहारो त्रिपक्षं आकारान्तोत्तरपदो द्विगुरिति स्त्रीत्वे प्राप्ते पात्रादिदर्शनात्प्रतिषेधः यद्येवं त्रिपक्षी न प्राप्नोति छान्दसस्तत्र लिङ्गव्यत्ययः ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी । त्रीन्पक्षान्योवदतीत्ययं साक्ष्यं न गदतीत्यगदोऽपीडितशरीरस्तत्सदृशंप्रामुयादित्यर्थः । दशबन्धंच दशमञ्च भागं दण्डनीयस्तस्माद्दणा-

दणादिष्वित्यादि ग्रहणेन सर्वव्यवहारोपक्रमः । द्वितीयमृणग्रहणमुपलक्षणार्थम् । यस्मिन्व्यवहारे साक्ष्यमित्यन्तकालं भवति पराजीयमानस्य बाधोससाक्षिणोबाढमित्युक्तं भवति । गदोरोगस्तत्समानप्रत्युत्थानहेतूपलक्षणार्थतेनात्र कुटुम्बोपद्रवधनिकोपरोधाद्यापि परीक्ष्यम् । बन्धशब्दः सङ्ख्यादिपरोदण्डविषये दशभाषवचनः । नरग्रहणं सर्वतोग्रहणं च श्लोकपूरणार्थम् । अन्येत्वाहुस्तदणंप्रामुयादित्यस्यायमर्थः । ऋणोपहरणलक्षणेन पापेन युज्येत । राज्ञे वाजीयमानस्य योदण्डस्ततोदशमं शं दद्यादिति दण्डतः पुनः पृच्छ्यते ॥ १०७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । त्रिपक्षात् त्रिपक्षपर्यन्तं साक्ष्यमवदन्धनिकाय तद्धनं दद्यात् । तथा दशबन्धं तत्तद्धनदशमभागं राज्ञे दण्डम् । बध्यत इति बन्धः दशानां भागानां संबन्धी बन्धः भागस्तदेकदेशो दशबन्धः । सर्वतः सर्वस्माद्विवादविषयधनात् । इदं च स्मरणार्थं त्रिपक्षदानम् । यदितु व्याध्याद्यभिभवात्तावतापि न स्मर्तुयोग्यस्तदा न दोष इत्येतदर्थमगद इति ॥ १०७ ॥

(३) कुल्लूकः । अव्याधितः साक्षी ऋणादानादिव्यवहारे त्रिपक्षपर्यंतं यदि साक्ष्यं न वदेत्तदा तद्विवादास्पदं सर्वमृणमुत्तमर्णस्य दद्यात्तस्य च सर्वस्य ऋणस्य दशमभागं राज्ञो दण्डं दद्यात् ॥ १०७ ॥

(४) राघवानन्दः । साक्ष्यदानावार्धिकुर्वन् तदुत्तरे दण्डमाह त्रिपक्षादिति । अगद इति छेदः । तथा भूत्वा यदि त्रिपक्षपर्यन्तं साक्ष्यं न ब्रूयात् तस्मात्साक्षिणः सर्वमृणंप्रामुयात् प्रापयेदुत्तमर्णम् । दशबन्धं दशमभागं आत्मानं प्रत्यपि नृपः । सर्वतः सर्वेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यः ॥ १०७ ॥

(५) नन्दनः । प्रामुयात् दण्डत्वेन राज्ञे देयात् । न केवलमेतावदेव किन्तु सर्वतः सर्वद्रव्येषु विवादविषयादन्यत्र द्रव्यान्तरेष्वपि दशबन्धं दशभागं दण्डंप्रामुयादित्यर्थः ॥ १०७ ॥

(६) रामचन्द्रः । साक्षी नरः ऋणादिषु साक्ष्यं जानन् अब्रुवन् न वदति तदा राज्ञा धनिने सर्वसंवृद्धिकमृणं दाप्यः । च पुनः दशबन्धं सर्वतः सर्वस्माद्विवादविषयाद्धनादशमभागं च दाप्यः ॥ १०७ ॥

यस्य दृश्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य साक्षिणः ॥ रोगोऽग्निज्ञातिमरणमृणं दाप्यो दमंचसः ॥ १०८ ॥

(१) मेधातिथिः । सप्ताहादिति पञ्चमीदर्शनादर्वागित्यध्याह्रियेत सप्तानां दिवसानामन्यतमस्मिन्नहनि यस्य साक्षिणो रोगादिदृश्यते समृषावादी दैवेन विभावितः पूर्वोक्तेन विधिना दापयितव्यः । रोगात्यन्तपीडाकरोऽग्निर्गोवाहनदहनः पुत्रादारादिप्रत्यासन्नज्ञातिमरणं तस्य कूटसाक्षित्वे लिङ्गम् ॥ १०८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उक्तदृष्ट्यै फलावधिरयम् । क्षुद्रेषु त्वर्वाक्चतुर्दशादित्यादि स्मृत्यन्तरोक्तः । एतच्च तत्मागनुपजातनिमित्तकृतं ग्राह्यम् । अग्निर्गृहादिदाहः ॥ १०८ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्य साक्षिण उक्तसाक्ष्यस्य सप्ताहमध्ये व्याध्यग्निदाहसन्निहितपुत्रादिज्ञातिमरणानामन्यतमं भवति दैवसूचितमिथ्याभिदोषत्वाद्दणमुत्तमर्णस्य दण्डं वा राज्ञा दाप्यः ॥ १०८ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तसाक्षिणां दृष्टरोगादिलिङ्गेन वैतथ्ये निश्चिते दण्ड्यतामाह यस्येति । ससाक्षी उत्तमर्णस्य ऋणं दमं दशमभागं दण्डरूपं राज्ञा दाप्य इति ॥ १०८ ॥

(५) नन्दनः । कूटसाक्षिपरिज्ञानोपायमाह यस्य दृश्येतेति । अग्निः गृहादिष्वग्निदाहः । रोगादिर्यस्य सप्ताहान्तर्दृश्यते स ऋणं दाप्यः ॥ १०८ ॥

(६) रामचन्द्रः । उक्तवाक्यस्य साक्षिणः रोगः अग्निः ज्ञातिमरणं वा दृश्येत तदा राज्ञा धनिने ऋणं धनं दाप्यः । अपुनः राज्ञा दमंचदाप्यः ॥ १०८ ॥

असाक्षिकेषु त्वर्थेषु मिथोविवदमानयोः ॥ अविन्दंस्तत्त्वतस्तत्त्यंशपथेनापि लम्भयेत् ॥ १०९ ॥

(१) मेधातिथिः । अविद्यमानाः साक्षिणोयेष्वर्थेषु व्यवहारेषु तेऽसाक्षिकाः तेषु सत्यमजानानोराजा तत्त्व-
तोलौकिकेनानुमानेनापीत्यर्थः । तत्र शपथेनापि वक्ष्यमाणेन दैवेनानुमानेन लम्भयेज्जानीयात् । श्राप्तिवचनोसामर्थ्या-
ज्जानात्यर्थः ॥ १०९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शपथेनात्मशिरःस्पर्शादिनापि तत्त्वं लम्भयेत् प्रापयेत् वादिनम् ॥ १०९ ॥

(३) कुल्लूकः । अविद्यमानसाक्षिकेषु व्यवहारेषु परस्परं विवदमानयोस्तत्त्वतश्छलादिव्यतिरेकेण सत्यमलभमानः
प्राङ्निवाकोवक्ष्यमाणेन शपथेन सत्यमुन्नयेत् ॥ १०९ ॥

(४) राघवानन्दः । असाक्षिकेकथंनिश्चयस्तत्राह असाक्षिकेत्विति । अविन्दंस्तत्त्यं सत्यतामलभमानः शपथेनापि
लम्भयेदुत्तरयेत् ॥ १०९ ॥

(५) नन्दनः । शपथविमुखः रुतशपथश्च रोगाद्यभिभूतौ पराजिताविति । शपथेनापि विप्रतिपन्नार्थनिर्णयोपा-
यः । शपथोनामयदीदंमयोक्तमेतदन्यथा चेत्पातकीस्यामित्यादिवचनंयदुक्तमृषिणा यद्यादुरीयदियातुधानइति ॥ १०९ ॥

(६) रामचन्द्रः । सत्यं तत्त्वतः अविदन् अजानन् राजा शपथेन लम्भयेत् प्रापयेत् ॥ १०९ ॥

महर्षिभिश्च देवैश्च कार्यार्थं शपथाः कृताः ॥ वसिष्ठश्चापि शपथंशेपेपैजवने नृपे ॥ ११० ॥

(१) मेधातिथिः । अर्थवादोयं पूर्वोक्तस्य शपथविधेर्महर्षिभिः समर्षिप्रभृतिभिः कार्यार्थसंदिग्धकार्यनिर्णयार्थ-
शपथाः कृताः अस्मिन्नर्थे च भगवतः कृष्णद्वैपायनस्याख्यानमुदाहर्तव्यं विशेषेषुतेष्वपहारितेष्वितरेतरं समर्षयः शेषिरे य
स्तेऽहरति पुष्करंसङ्मापापकृतो गतिगच्छेदित्यादिदेवैरिन्द्रप्रभृतिभिरिन्द्रोऽसहिल्यां प्रत्यभिशमः शापभयाद्बहुविधं शपथं च-
कार । वसिष्ठश्चेति पृथङ्निर्देशः प्राधान्यख्यापनार्थः शपथं कृतवानित्यर्थः । उपपदादेव विशेषावगतेः शपतिः करोत्यर्थमा-
त्रे वर्तते यथायज्ञं यजत इति स्वपोषं पुष्ट इति तथा शपथं शेप इति ज्ञेयम् । शेप उपलेभ इति लिटि प्रथमपुरुषात्मनेपदैकवचने
शेप इति रूपम् । पैजवनो राजा बभूवर्तास्मिन्काले विश्वामित्रेणाक्रुष्टो मण्डलमध्यगतः कामक्रोधाभ्यां संशोध्य चरणो घासुरो-
यातुधानोऽस्मीति शपथं गृहीतवान् विश्वामित्रेणोक्तस्तस्य राज्ञः समक्षमनेनैव तत्पुत्रशतमशितमेषहि रक्ष इति ततः स-
उवाच अद्यैव श्रियेयदि रक्षः स्यामित्यात्मन्यनिष्ठाशंसनमन्त्रः स शपथः पुत्रदारादिशिरस्पर्शने एतदनिष्ठाशंसनं शपथो म-
न्तव्यः ॥ ११० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । महर्षिभिर्देवैश्च विशस्तैन्यादौ शपथाः कृताः । कार्यार्थं कार्यनिर्णयार्थम् । अनेन पुत्र-
शतं भक्षितमिति विश्वामित्रेणोक्ते सुदासः पैजवनस्याग्रे वसिष्ठः शपथं चक्रे अद्यापुनीययदियातुधानोऽस्मीत्यादिभि-
र्ऋग्भिः ॥ ११० ॥

(३) कुल्लूकः । समर्षिभिर्देवैश्च इन्द्रादिभिः संदिग्धकार्यनिर्णयार्थं शपथाः कृताः वसिष्ठेन्यनेन पुत्रशतं भक्षित
मिति विश्वामित्रेणाक्रुष्टः स्वपरिशुद्धये पिजवनापत्ये सुदासि राजनि शपथं चकार । अनेकार्थत्वाद्भातूनां शपिरपि
करोत्यर्थः ॥ ११० ॥

(१०९) स्तत्त्वतः सत्यं . . . लम्भयेत् = स्तत्त्वतो धर्म . . . लम्भयेत् (च)

= स्तत्त्वतः कार्य . . . लम्भयेत् (ग)

अविदं = अवदं (ट, ठ) = अविदं (त, थ, ड)

(४) राघवानन्दः । शपथे सदाचारप्रमाणयति महर्षिभिश्चेति । हेपैजवनअनेन पुत्रशतंते भक्षितमित्यभिशास्तोवि-
श्वामित्रेण वसिष्ठः । पैजवने पिजवनस्यापत्ये सुदासि । शपथं शेपे चकार ॥ ११० ॥

(५) नन्दनः । कार्यार्थसंदिग्धस्यनिर्णयार्थकृतवान् । नृपेसन्निधौ ॥ ११० ॥

न वृथा शपथंकुर्यात्स्वल्पेऽप्यर्थे नरोबुधः ॥ वृथा हि शपथंकुर्वन्प्रेत्य चेह च नश्यति ॥ १११ ॥

(१) मेधातिथिः । मिथ्याशपथे फलाख्यानमेतत् वृथान्यथाऽसत्यमिति यावत् । तत्रापह्नियमाणसुवर्णादिद्रव्यजा-
त्यपेक्षोऽनृतशपथदोषोन्यथा शपथेत्वल्पेगरीयसि तु कार्ये गौरवादधिकतरोदोषोऽस्त्येव । प्रेत्य नाशोनरकमिहमहदयशः
प्रामाण्यान्तरत्वज्ञाते राजदण्डः ॥ १११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वृथा मिथ्या ॥ १११ ॥

(३) कुल्लूकः । स्वल्पेपि कार्ये न वृथा शपथंपण्डितः कुर्यात् । वृथाशपथंकुर्वन्परलोकइल्लोके नरकप्राप्त्याऽकीर्तिप्रा-
प्त्याच नाशंप्राप्नोति ॥ १११ ॥

(४) राघवानन्दः । अल्पकार्ये तंनिषेधति नेति ॥ सत्येनापि शपेद्यस्तु देवाग्निगुरुसन्निधौ । तस्य वैवस्वतोराजा
धर्मस्यार्थनिरुन्ततीति ॥ निंदाश्रवणात् शपथंनकुर्यादित्यर्थः । मिथ्याशपथकारिणोरोगादिदर्शनादैहिकानर्थः पापादामु-
ष्मिकइत्याह प्रेत्येति ॥ १११ ॥

(५) नन्दनः । शपथकारिणंप्रत्याह नवृथाशपथमिति । वृथाशपथंमिथ्याशपथम् । महत्त्वर्थेषु दोषातिशयः सू-
चितः । स्वल्पेप्यर्थइति शपथस्य क्वचित् ॥ १११ ॥

(६) रामचन्द्रः । बुधः पण्डितः ॥ १११ ॥

कामिनीषु विवाहेषु गवांभक्ष्ये तथेन्धने ॥ ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम् ॥ ११२ ॥

(१) मेधातिथिः । कामः प्रीतिविशेषोविशिष्टेन्द्रियस्पर्शजन्यः सयासु भवति पुरुषस्य नाकामिन्योभार्यावेश्या-
दयः तत्र यः शपथः कामसिध्यर्थोयथा नाहमन्यांकामयेप्राणेश्वरीमेत्वमित्याद्योयन्तुसंप्रयुज्यशपथइदंव्यादेयंदास्य-
इति तत्र भवत्येव दोषः शपथेविषयसममी ननिमित्तसममी तेन यस्यामेवैकाकिन्यां यथाप्यते तत्रोक्तरूपशपथे दोषः ।
निमित्तसमम्यांतु निमित्ते परद्रव्यापहारे दोषः स्यात् । अतश्च कामादशगुणपूर्वजनमित्यादिकंकरणडिधानंन युज्यते त-
थापि सहिनिमित्तानन्तरकृतेविवादोस्त्येव वृथा शपथदोषएव । एवंसर्वत्रविवाहेषु नत्वयान्या वोढव्या । अन्यस्यापि सुहृ-
दादेर्विवाहार्थमेवविधिरनृतमदोषः न पुनः प्रेत्य बहुदोषः । गवांभक्ष्ये गवांयवससिध्यर्थमयापहर्तव्यमेवापयितव्यं-
परस्य चातत्संबन्धिभिर्युक्तस्य वृथा साक्ष्ये शपमानस्य न दोषः एवमिन्धने । ब्राह्मणानामभ्युपपत्तिरनुग्रहः सर्ववर्णानु-
ग्रहेऽनुज्ञातमेव किमिहपुनर्बचनेन केचिदाहुः शपथोब्राह्मणेऽनुज्ञायते शूद्रादिषु त्वनृतमेतच्च न हि सत्याद्विशिष्यतइति व-
चनानैतदनृतमतोन तत्रहेवमुच्यते । तत्रत्यवधात्परित्राणमुक्तंसर्ववर्णविषयं अभ्युपपत्तिस्तु ब्राह्मणस्यैव साहि धनत्या-
भादिना संभवति सर्वतश्च परसंबन्धिषु क्रियास्त्वेवविधौशुशपथाभ्यनुज्ञानमुपायान्तरेण तत्सिध्यसंभवएव द्रष्टव्यम् ॥ ११२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कामिनीषु त्वमेव मे प्रियेत्यादौ । विवाहे विवाहान्तरकरणादौ प्रकारान्तराभावे । ग-

(११२) ब्राह्मणाभ्युपपत्तौच=ब्राह्मणस्यविपत्तौच (ड)

=ब्राह्मणस्यावपत्तौच (ट, ठ)

वार्थं ग्रासमपहत्य न हतमिति वचने । एवमग्निहोत्रार्थमिन्धनमपहत्य । ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ ब्राह्मणरक्षार्थम् ॥ ११२ ॥

(३) कुल्लूकः । वृथाशपथप्रतिप्रसवार्थमाह कामिनीष्विति । बहुभार्यस्य नान्यामहंकामये त्वमेव मत्प्रेयसीत्ये वंविशिष्टः सुरतलाभार्थकामिनीविषये विवाहविषये च मयान्या न वोढव्येत्यादौ । गवार्थंघासाद्युपहारे च । अग्नौ होमार्थं मिन्धनाद्युपहारे । ब्राह्मणरक्षार्थमङ्गीकृतधनादौ वृथा शपथे पापं न भवति ॥ ११२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच कामिनीष्विति । कामिनीषु सुरतलाभार्थत्वसदृशी मम प्रेयसी नास्तीति बहुभार्यस्य तथा विवाहार्थं त्वामृते नान्या वोढव्येति अधिकरणसमर्थौ । अग्न्यर्थमिन्धने । ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ ब्राह्मणार्थमङ्गीकृतधनादौ पातकंनिरुन्ततीत्यादिदोषोनास्तीत्याशयः ॥ ११२ ॥

(५) नन्दनः । प्रतिप्रसवमाह कामिनीष्विति । ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ ब्राह्मणरक्षणेपातकम् ॥ ११२ ॥

(६) रामचन्द्रः । कामिन्यादिषु शपथे कृते पातकं नास्ति । कामिनीषु त्वमे प्रियेति तथा विवाहेषु । गवांभक्ष्ये गोयासार्थं । तथा इन्धने होमार्थं । च पुनः ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ ब्राह्मणरक्षार्थं शपथेपातकं नास्ति ॥ ११२ ॥

सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः ॥ गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ११३ ॥

(१) मेधातिथिः । ननु च यद्यहमेवंकुर्यात्तदिदमनिष्टमामुयामिति संकीर्तनक्रियाशपथास्तत्र यः शाप्यते स एवं वाच्यते सत्येन शपे सत्यादिनिबन्धनोयधर्मोवा मे निष्फलः स्यादिति एवंचायुधानामपि करणत्वंवाहनानां च एतैरात्मानंशपतो न वा निष्फलानि स्युरिति । गोबीजकाञ्चनानिवैश्योहस्तेन स्पर्शयित्वाभिशापेदेतानि वा मेनिष्फलानि पूर्ववत् । शूद्रं सर्वैस्तु पातकैर्वैश्यमाणां पातकानि मे स्युरिति शूद्रोबाध्यते ॥ ११३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सत्येन सत्यंत्वया हतंभवति मिथ्योक्ताविति । वाहनायुधैः एतानि त्वया हतानि स्युरिति । एतच्च लघुकार्ये ॥ ११३ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणसत्यशब्दोच्चारणेन शापयेत् । क्षत्रियंवाहनायुधंमम निष्फलंस्यादित्येवम् । वैश्यं गोबीजकाञ्चनानि च ममनिष्फलानि स्युः । शूद्रं च सर्वाणि मे पातकानि स्युरित्येवंशापयेत् ॥ ११३ ॥

(४) राघवानन्दः । शपथेनापि लम्भयेदित्युक्तस्य शपथस्य चातुर्वर्ण्ये व्यवस्थितिमाह सत्येनेति । सत्यशब्दोच्चारणं शापयेत् शपथंकारयेदिति । यत्सत्यं तन्निष्फलं भवेदिति वा । एवंवाहनादिषु साक्षिवाचनेन स्पर्शस्योक्तत्वात् । ब्रह्मप्रदित्यादिवाक्योक्तैः पातकैरेतानि पातकानि ते स्युरिति शूद्रं शापयेदित्यनुषज्यते ॥ ११३ ॥

(५) नन्दनः । अथकेन पुनः प्रकरेण वर्णानांशपथः कारयितव्यइत्याह सत्येनशापयेदिति । शापयेच्छपथंकारयेद्राजा ॥ ११३ ॥

अग्निवाहारयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत् ॥ पुत्रदारस्य वाप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत्पृथक् ॥ ११४ ॥

(१) मेधातिथिः । अग्निवाहारयेदेनं हस्तेनाश्वत्थपर्णव्यवहितेन तयोः प्रदेशान्तरं समपदसंहितमित्यादिस्मृत्यन्तरानिपुणनत्वेऽन्वेष्ट्यं पारंपर्यप्रसिद्धेऽथैतदेवोच्यते । अप्सु जले निमज्जयेत्प्राङ्निवाकइत्यर्थः । पुत्रदारशिरांसि स्पर्शयेत् ॥ ११४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गुरुण्याह अग्निवेति ॥ ११४ ॥

(३) कुल्लूकः । कार्यगौरवलाघवापेक्षया अग्निमिति । अग्निसन्निभं पञ्चाशत्पलिकमष्टाङ्गुलमयः पिण्डं हस्तद्वयविन्यस्त

† यत्सत्यं=सत्यंवद । धर्मचरेति श्रुतेर्यत्सत्यं (न, श)

समाश्वत्थपत्रंशूद्रादिकंसप्तपदानि पितामहाद्युक्तविधानादाहारयेत् । जलौकादिरहितजले चैनंनिमज्जयेत् । अशेषेपि कर्तव्यता स्मृत्यन्तरे ज्ञेया । पुत्राणांदाराणांच पृथक्शिरस्येनंस्पर्शयेत् ॥ ११४ ॥

(४) राघवानन्दः । शपथेन द्रव्यालाभे परोक्षणमेवोचितमित्याह अग्निमिति । अग्निं सन्निभमयः पिण्डं पञ्चाशत्पलपरिमितमष्टाङ्गुलम् । एनं अधमर्णत्वेन संभाव्यमानम् । स्पर्शयेत् तेषां शिरसि हस्तं दापयेत् । पृथगिति पदं व्यवहारस्य गुरुलघुतया विकल्पसूचनार्थम् ॥ ११४ ॥

(५) नन्दनः । शूद्रं सच्छूद्रमसच्छूद्रं प्रत्याह अग्निं वाहारयेदिति । अग्निवर्णं प्रतप्तमयः पिण्डम् । वृत्तापेक्षया विकल्पः ॥ ११४ ॥

यमिद्धो न दहत्यग्निरापो नोन्मज्जयन्ति च ॥ न चार्त्तिमृच्छति क्षिप्रं सज्ञेयः शपथे शुचिः ॥ ११५ ॥

(१) मेधातिथिः । तप्ताय सपिण्डोऽनवद्यगृहीतो न दहति । आपश्च नोर्ध्वं ग्रावयन्ति सत्यशपथे केशादौ । न चार्त्तिमृच्छति पीडां न प्राप्नोति । रोगोऽग्निरित्यत्रोक्तं सशुद्धः शुचिर्निर्दोषः । क्षिप्रं चतुर्दशवाहान्यवधिः स्मृत्यन्तरात् ॥ ११५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । न चार्त्तिपुत्रादिशिरःस्पर्शकृते ॥ ११५ ॥

(३) कुडूकः । यंपदीमोऽग्निर्न दहति आपश्च यं नोर्ध्वं नयन्ति न चार्त्तिमेव महर्त्ता प्राप्नोति सशपथे विशुद्धो ज्ञेयः ॥ ११५ ॥

(४) राघवानन्दः । शपथस्य परीक्षणमाह यमिति । यमुक्तशपथकर्तारम् । इद्धः उत्तेजितः । आर्त्ति रोगघनक्षयपुत्रमरणादिकाम् । क्षिप्रं त्रिपक्षाभ्यन्तरे ॥ ११५ ॥

(५) नन्दनः । तत्र शुद्धस्य लक्षणमाह यमिद्धो न दहतीति । आर्त्तिं शरीरपुत्रदारादिपीडाम् । क्षिप्रं समाहात् । शपथेऽग्निहरणादिके ॥ ११५ ॥

(६) रामचन्द्रः । यंपुरुषं इद्धोऽग्निः स्पर्शनान्न दहति सशुचिर्ज्ञेयः । यः शपथे क्षिप्रमार्त्तिं न ऋच्छति न गच्छति सशुचिर्ज्ञेयः ॥ ११५ ॥

वत्सस्य ह्यभि शस्तस्य पुरा भ्रात्रा यवीयसा ॥ नाग्निर्ददाह रोमापि सत्येन जगतः स्पशः ॥ ११६ ॥

(१) मेधातिथिः । कथंपुनरग्निं धक्षयति आपो नोन्मज्जयिष्यन्ति न हि महाभूतानि विपरियन्ति स्वभावतो चैतन्यादिति पर्यनुयोगमाशङ्क्यार्थवादेनोक्तमर्थदृढीकरोति । यद्यप्ययमन्वयव्यतिरेकसमाधिगम्योर्थः प्रत्यक्षः शाब्दो वा तथापि धूर्तकल्पितेन्द्रजालवद्भ्रान्तिमहनादत्र मुखविभीषिकासञ्जनमात्रं फलशपथागोरणमिति मन्यमानो वैदिकं निदर्शनमुपन्यसेत् । भवन्ति प्रतिपत्तारोर्थागमेन पूर्ववृत्तदर्शनादृढतां प्रतिपद्यन्ते । वत्सो नाम काण्वऋषिरभवत्सच कनीयसा वैमात्रेण भ्रात्राभि शस्त आकुष्ठेन त्वमसि ब्राह्मणः शूद्रपुत्र इति सतंप्रत्युवाच सत्येनाग्निं प्रविशामि यदि न ब्राह्मण इति । तस्येदमुक्तवतः प्रविष्टस्य नाग्निर्ददाह रोमापि कथंसत्येन हेतुना कथमग्निः सत्यं जानातीति चेदत आह जगतः स्पशः गूढात्मा परकीयकृता कृतज्ञः स उच्यते सच चारः प्रणधिरिति च प्रसिद्धिः । अग्निर्हि भगवान्सर्वभूतान्तरचारी कृताकृतानां वेदिता । तथा च छान्दोग्ये ताण्डके प्रयोगो देवासुरसेनयोरभ्यन्तरे गौतममाश्रयन्ति गौतममिदं द्रव्येत्तत्र चाह इह नोभावान्स्पशश्चरत्त्वित्यादि । अर्थवाचि निदर्शनेऽपि पञ्चविंश ब्राह्मणमुदाहार्यं वत्सश्च ह वै मेधातिथिश्च काश्यपावास्तांतं वत्समेधातिथिराक्रोशद्ब्राह्मणो सीत्यादि तस्य हलमेव नौषदिति ननु च चौरा अपि न दहन्ते साधवोपि दह्यमाना दृश्यन्ते तत्कथं शपथे आश्वासः । उच्यते न दृश्येन व्यभिचारेण व्यवस्थेयमपनेतुं शक्यते । कादाचित्कत्वाद्यभिचारस्य प्रत्यक्षादिष्वपि प्रमाणेषु दृश्यत एव तादृशो व्यभिचारो न च

तानि न प्रमाणं अथ व्यभिचारवन्तिनैवप्रत्यक्षादिशब्दवाच्यानि यद्यभिचारितप्रत्यक्षंयत्प्रत्यक्षं न तद्यभिचरतीति वचनादि
हापि शक्यते तद्वक्तुं व्यभिचरतीत्यसौ शपथोयः शपथः सन व्यभिचरतीति कः पुनः शपथोयः समस्तेतिकर्तव्यता मात्रा-
द्यपग्रहण निरूपितकुहकःस्तंभनाभावः विपरीतोऽशपथः न तादृशस्य व्यभिचारोस्ति अथापि स्यात्तत्रापि प्राकृतस्य
कर्मणः फलविपाकोभवति निमित्तत्वाकृतापराधोपि पूर्वकृतेन गरीयसाशुभेन मुच्यते । अकृतापराधोजन्मान्तरदोषेण
निगृह्यते विचित्राहि कर्मणां फलपाकाभिव्यक्तिहेतवः सहस्रादेकोमिथ्यागृह्यते उत्सर्गतस्त्वमिथ्यात्वपुत्रेष्टिकारीर्यादिष्व
प्येतत्समानं तस्मात्साक्षिवच्छपथेऽति प्रत्येतव्यंतेऽपि हि कदाचिन्मिथ्यावदन्तो न भयप्रदर्शनमात्रमेतत् यस्यातोरुद्ध्या
शपथाउक्ताः सत्यं प्रतिष्ठतइति ॥ ११६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वत्सस्य ऋषेः । शूद्रोसीति वैमात्रेयेणभ्रात्राभिशास्तस्याग्निप्रविष्टस्यस्पशश्चरः
॥ ११६ ॥

(३) कुल्लूकः । अत्र प्रकृतमर्थवादमाह वत्सस्येति यस्मात्पूर्वकाले वत्सनाम्नऋषेर्न त्वं ब्राह्मणः शूद्रापत्यो
सीत्येवंकनीयसा वैमात्रेयेणाभिक्रुष्टस्य नैतदेवमिति सयथार्थमग्निं प्रविष्टस्याग्निःसर्वस्य जगतः शुभाशुभकर्तव्ये चारभूतः
सत्येनाहेतुना रोमैकमपि वह्निर्न दग्धवान् ॥ ११६ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र हेतुतया सदाचारमाह वत्सस्येति । हि यस्मात्पुरा वत्सनामऋषेर्न ब्राह्मणस्त्वं शूद्रापत्यो-
सीतिकनीयसा वैमात्रेयेनाक्रुष्टस्याग्निं प्रविष्टस्यापि नाग्निर्ददाहेति तस्मात्सत्यं शुचिं न दहत्यग्निः अथयदितस्याकर्ताभवति-
सनदहतेऽथ मुच्यतइत्यादिश्रुतेः । जगतःसर्वस्य कृतस्यशुभाशुभकर्तव्यस्यस्पशश्चरभूतइति । लेख्यसाक्षिणोरभावेश-
पथः । यथाह याज्ञवल्क्यः ॥ तुलाग्र्यापोविषंकोशोदिव्यानीह विशुद्धये । महाभियोगेष्वेतानि शीर्षकस्थेऽभियोक्तरि ॥
दिव्यग्राहिणि शीर्षकस्थे विद्यमानेऽभियोक्तरि ॥ रुच्यावान्यतरंकुर्यादपरोवर्तयेच्छिरः ॥ अपरोवादी वर्तयेच्छिरः
शारीरमर्थदण्डंवाअङ्गीकुर्यात् ॥ विनापिशीर्षकंकुर्याद्राजद्रोहे च पातके । राजभिःशङ्कितानांच निर्दिष्टानांच दस्युभिः ॥ आ-
त्मशुद्धिपराणांच दिव्यंदेयंशिरोविनेति पातके ब्रह्मवधाद्यभिशास्ते । इत्यधिकारनिर्णयः ॥ सचैलंस्नानमाहूय सूर्योदयउ-
पोषितं । कारयेत्सर्वदिव्यानि देवब्राह्मणसन्निधौ ॥ इति कर्तव्यता ॥ तुलास्त्रीबालवृद्धान्पङ्कुब्राह्मणरोगिणाम् । अग्निर्ज-
लंवा शूद्रस्य यवाःसप्तविषस्यवा ॥ इत्यधिकारिव्यवस्थितिः ॥ नासहस्राद्धरेदाग्निं नविषं नतुलां तथा । सहस्रपणान्यूने
विवादे ॥ नृपार्थेष्वभिशापेषु वहेयुः शुचयः सदा ॥ इत्यधिकारिनियमः ॥ तुलाधारणविद्वाद्भिरभियुक्तस्तुलाश्रितः । प्रति-
मानसमीभूतोलेखां कृत्वाऽवतारितः ॥ इति तुलामानम् ॥ त्वं तुले सत्यनामासि पुरा देवैर्विनिर्मिता । तत्सत्यं वद कल्या-
णि संशयान्मां विमोचय ॥ यद्यस्मि पापकृन्मातस्ततोमां त्वमधोनय । शुद्धश्चे द्रमयोर्ध्वं मां तुलामित्यभिमन्त्रयेत् ॥ ए-
होहि भगवन्धर्म अस्मिन्दिव्ये समाविश । सहितोलोकपालैश्च वत्सादित्यमरुद्गणैः ॥ धर्मो जयति नाधर्मः सत्यं जयति ना-
नृतम् । क्षमा जयति न क्रोधोविष्णुर्जयति नासुराः ॥ तुलितोयदि गच्छेत्सशुद्धः स्यान्तुसंशयः । समोवा हीयमानोवा
अविशुद्धोभवेन्नरः ॥ यद्यधोयात्यशुद्धः स्यात्तुलाभङ्गे च सर्वदा । नविशीर्यति शिष्यं चेदूर्ध्वं याति विशुद्ध्यति ॥ इति
तुलापरीक्षणम् ॥ करौ सुमृदितव्रीहैर्लक्षयित्वा ततो न्यसेत् । समाश्वत्थस्य पत्राणि तावत्सूत्रेण वेष्टयेत् ॥ त्वमग्रे स-
र्वभूतानामन्तश्चरसि पावक । साक्षिवत्पुण्यपापेभ्यो ब्रूहि सत्यं कवे मम ॥ इत्यग्न्यभिमन्त्रणम् ॥ तस्येत्युक्तवतोलोहं पञ्चा-
शत्पणिकं समम् । अग्निवर्णं न्यसेत्पिण्डं हस्तयोरुभयोरपि ॥ सतमादाय समैव मण्डलानि शनैर्व्रजेत् ॥ षोडशाङ्गुलकं

ज्ञेयं मण्डलं तावदन्तरम् । त्यक्ताग्निमृदितव्रीहिरदग्धः शुद्धिमाप्नुयात् ॥ अन्तरा पतिते पिण्डे संदेहे वा पुनर्हरेत् ॥ इत्यग्निपरीक्षणम् ॥ सत्येन माभिरक्षत्वं वरुणेत्यभिशान्यकम् ॥ कं जलमित्यर्थः ॥ नाभिदग्धोदकस्थस्य ग्रहीत्वोरु जलं विशेत् ॥ समकालमिषुं क्षिप्तमानीयान्योजवी नरः ॥ गते तस्मिन्निमग्नाङ्गं पश्येच्छुद्धिमवामुयात् ॥ इति जलपरीक्षणम् । इन्धुक्षेपसमकालं योगतः सचेदागत्य पश्येदित्यन्वयः ॥ त्वं विष ब्रह्मणः पुत्रः सत्यधर्मे व्यवस्थितः । त्रायस्वात्मादभीशापात्सत्येन भव मेऽमृतम् । एवमुक्त्वा विषं शार्ङ्गं भक्षयेद्धिमशैलजम् ॥ यस्य वेगैर्विना जोर्येच्छुभंतस्य विनिर्दिशेत् ॥ इति विषपरीक्षा । वेगैर्मूर्च्छाद्युपद्रवैः ॥ देवानुग्रान्समभ्यर्च्यतत्त्वानोदकमाहरेत् । संश्राव्य पावयेत्तस्माज्जलातु प्रसृतित्रयम् ॥ अर्वाक्चतुर्दशादह्नोयस्य नोराजदैविकम् ॥ व्यसनं जायते घोरं सशुद्धः स्थानसंशयः ॥ ‡ महापराधे निर्धर्मे कृतघ्ने क्लीबकुत्सिते । नास्तिकब्राह्म्यदासेषु कोशपानं विगर्हितम् ॥ इति कोशपरीक्षा ॥ तत्र ॥ पूर्वाह्णेऽग्निपरीक्षा स्यादपराह्णे घटोभवेत् ॥ मध्याह्ने तु जलं देयं धर्मतत्त्वमभीप्सता । दिवसस्य तु पूर्वाह्णे कोशशुद्धिर्विधीयते ॥ रात्रौ तु पश्चिमे यामे विषं देयं सुशीतलमितिपितामहोक्तेः ॥ परीक्षाकालः । घटस्तुला ॥ ११६ ॥

(५) नन्दनः । अत्र परकृतिरूपमर्थवादमाह वत्सस्यहीति । वत्सो नाम कश्चिद्विषः जगतःस्पृशः जगतश्चारः शुभानुसंधायीति यावत् । तथा चाग्निमतिमन्त्रवर्णः इहतो भगवाञ्जगतश्चारोस्त्विति । एवं वदता ब्राह्मणादीनामप्यग्निकरणादिकं सूचितम् ॥ ११६ ॥

(६) रामचन्द्रः । पुरा यवीयसा आत्रा वत्सस्य ऋषेः अभिशस्तस्य शूद्र इति निन्दितस्य सः अग्निः रोमापि न दाह ॥ ११६ ॥

यस्मिन्यस्मिन्निवादे तु कौटसाक्ष्यंकृतं भवेत् ॥ तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतंचाप्यकृतं भवेत् ॥ ११७ ॥

(१) मैधातिथिः । यस्मिन्व्यवहारे कूटसाक्षिभिर्व्यवहारः कृतः स्यात्स निवर्तयितव्यः । कृतंचाप्यकृतं भवेत् गृहीतधनौन्युत्तमर्णः प्रतिपादयितव्य इतरदण्डो गृहीतोपि त्याज्यो वाग्मात्रेण जितस्त्वमसीति निश्चिते कार्यं निवर्तत इत्युच्यते दण्डपर्यंतं कृतमपीति विशेषः । वीप्साश्लोकपूरणायाम् ॥ ११७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तत्कार्यं निवर्तेत पुनर्विचार्य कृतंचापि दण्डाय कृतं भवेत्पत्यर्पणीयमित्यर्थः ॥ ११७ ॥

(३) कुल्लुकः । यस्मिन्यस्मिन्व्यवहारे साक्षिभिरनृतमुक्तमिति निश्चितं भवेत्तत्कार्यमसमाप्तं प्राद्विवाकः पुनरपि निवर्तयेत् यदपि च दण्डसमाप्तिपर्यंतं तांतीतं तदपि पुनः परीक्षेत् ॥ ११७ ॥

(४) राघवानन्दः । कौटसाक्ष्यकृतमप्यकृतमित्याह यस्मिन्निति । निवर्तेतेत्यस्य विवरणं कृतमित्यादि ॥ ११७ ॥

(५) नन्दनः । कूटसाक्षिभिर्निर्णीतोप्यर्थो निवर्तत इत्याह यस्मिन्यस्मिन्निति ॥ ११७ ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्मिन्निवादे कौटसाक्ष्यं कपटेन साक्ष्यं भवेत् ॥ ११७ ॥

लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रास्क्रामात्क्रोधात्तथैव च ॥ अज्ञानाद्दालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥ ११८ ॥

(१) मैधातिथिः । कौटसाक्ष्यलोभादिनिमित्तं विषयकथनं दण्डविशेषभावार्थं वितथमसत्यं सर्वत्र पञ्चमीहित्वार्था ॥ ११८ ॥

(१) सर्वज्ञनारायणः । लोभोऽर्थलिप्सा । मोहोविपरीतज्ञानम् । कामः स्त्रीरागः । अज्ञानं तद्विषयस्फुटज्ञानाभावः । बालभावः साक्ष्ययोग्यवयोवस्थाभावः । वितथं मिथ्यासाक्ष्यमुच्यते लोकैः ॥ ११८ ॥

(२) कुल्लूकः । वक्ष्यमाणविशेषार्थलोभादीन्पृथक् निर्दिशति लोभेन विपरीतज्ञानेन भयेन लेहेन कामेन क्रोधेनाज्ञानेनानवधानेन साक्ष्यमसत्यमुच्यते ॥ ११८ ॥

(४) राघवानन्दः । कृतमप्यकृतमिति कस्मादिति तत्र हेतून्प्रदर्शयन्साक्ष्यभावमाह लोभादिति । मोहाद्वैचित्र्यात् सच त्रिविधो रोगादिकृतो धतूरादिकृतः प्रमादकृतश्च । भयादस्युत्पत्तिभ्यः । कामात्तदीयरूपादिषु भोग्यज्ञानादज्ञानाददृष्टश्रुतं जानामीत्यभिधानाद्बालभावादधर्माद्यज्ञानादिति ॥ ११८ ॥

(५) नन्दनः । कौटसाक्ष्ये कारणानि दण्डतारतम्यार्थमाह लोभान्मोहादिति । बालभावः ऊनषोडशवयस्कत्वम् ॥ ११८ ॥

(६) रामचन्द्रः । कामात् । स्त्रीरागात् अज्ञानात् स्फुटज्ञानाभावात् कृतं साक्ष्यं वितथं व्यर्थं उच्यते ॥ ११८ ॥
एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥ तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ११९ ॥

(१) मेधातिथिः । लोभाद्यो वितथं वक्ति ससहस्रं दण्डनीय इत्येवं प्रयोजना कर्तव्या ॥ ११९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्यतमे स्थाने अन्यतमनिमित्तं प्राप्य ॥ ११९ ॥

(३) कुल्लूकः । एषां लोभादीनां मध्यादन्यतमस्मिन्निमित्ते सति यो मिथ्यासाक्ष्यं कथयेत्तस्य दण्डविशेषाणि क्रमशो वदिष्यामि ॥ ११९ ॥

(४) राघवानन्दः । अत्रार्थे किं स्यात्तत्राह एषामिति । लोभादीनां मध्येऽन्यतमनिमित्ते स्थाने युक्तान् दण्डविशेषान्वक्ष्यामीत्यन्वयः ॥ ११९ ॥

(५) नन्दनः । स्थाने करणे ॥ ११९ ॥

(६) रामचन्द्रः । एषां लोभादीनां अन्येषां वा ॥ ११९ ॥

लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वतु साहसम् ॥ भयाद्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्रात्पूर्वचतुर्गुणम् ॥ १२० ॥

(१) मेधातिथिः । तत्र यः परस्माद्धनमुपादाय विपरीतं वक्ति तस्य लोभो हेतुः मोहाद्विचिन्तयतो यथार्थवादी यथादृष्टार्थवादी च केन चिच्चित्तसंक्षोभहेतुना प्रश्नकाले व्यारूढः सम्यक्प्रश्नार्थमनवधार्यास्मृतत्वाद्वा अन्यथा ब्रूयात्समोहादित्युच्यते । भयं त्रासो यदि भयेन सत्यवचनेनायं जीयेत तत्रायं कदाचित्ज्ञातिधनादिबाधया मां व्यापादयेदित्याशङ्कान्साहसमिति संख्येयविशेषावगतिर्वाक्यान्तरात्पणानामिति पूर्वतु साहसं प्रथमं पणानान्तु द्वे शते सार्ध इत्यादौ द्वौ मध्यमौ साहसाविति विपरिणामः पूर्वचतुर्गुणं सहस्रमेवेत्यर्थः । वृत्तानुरोधेन विचित्रया शब्दवृत्त्या स एवार्थः कथ्यते ॥ १२० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सहस्रं पणाः । पूर्वं प्रथमं साहसम् । द्वौ मध्यमौ मध्यमसाहसं द्विगुणम् ॥ १२० ॥

(३) कुल्लूकः । लोभेन मिथ्याभिधाने सति वक्ष्यमाणपणानां सहस्रं दण्ड्यः । मोहेन प्रथमं साहसं वक्ष्यमाणं भयेन च वक्ष्यमाणौ मध्यमसाहसौ मैत्रात्प्रथमसाहसं चतुर्गुणम् ॥ १२० ॥

(४) राघवानन्दः । तानेवाह द्वाभ्यां लोभादिति । सहस्रं पणानामिति शेषः । पूर्वं प्रथमपरिभाषितं सपञ्चाशच्छतद्वयम् । मध्यमो मध्यमः शतानि पञ्च तेन सहस्रम् । पूर्वचतुर्गुणं सहस्रद्वयम् ॥ १२० ॥

(५) नन्दनः । लोभात्कौटसाक्ष्ये कृते ताभ्रकार्षापणानांसहस्रदण्ड्यः । पूर्वसाहसंअध्यक्षशतद्वयं मध्यमौ मध्य-
मसाहसौ पञ्चशतानिमध्यमः साहसः तौद्वौसहस्रत्रयम् ॥ १२० ॥

(६) रामचन्द्रः । द्वाभ्यामाह लोभादिति । लोभादन्यथाकारी पुरुषः सहस्रं सहस्रपणान् दण्ड्यः । तु पुनः
मोहात् अन्यथाकारी पूर्वसाहसं पञ्चाशदधिकशतद्वयपणपरिमाणं पूर्वसाहससंज्ञं दण्ड्यः । मैथ्यात् पूर्वं प्रथमसाहसं
चतुर्गुणम् । तत्राह याज्ञवल्क्यः ॥ साशीतिःपणसाहसोदण्डउत्तमसाहसः । तदर्धमध्यमः प्रोक्तस्तदर्धमधमः स्मृतः ॥ प-
णानांसहस्रपणसहस्रं तत्परिमाणमस्येति पणसाहसः अशीत्या सहवर्ततइति साशीतिः अशीत्यधिकपणसहस्रप-
रिमितदण्डोयःसउत्तमसाहससंज्ञोवेदितव्यः ॥ १२० ॥

कामादशगुणपूर्वक्रोधात्तु त्रिगुणंपरम् ॥ अज्ञानाद्वेशते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु ॥ १२१ ॥

(१) मेधातिथिः । मन्मथः कामोयत्रस्त्रियोविवदन्ते तत्संबन्धान्यतरं कामयमानोऽनृतंवदति अर्धनृतीयानि सह-
स्राणि दण्ड्यते क्रोधान्निगुणंपरं प्रथमसाहसस्य प्रकृतत्वात्ततः परोवध्यः सर्वान्ते लौकविज्ञानादिति वा उत्तमएव परः
द्वेषः क्रोधः अज्ञानादिति योविपरीतंप्रथमंब्रूयाद्वाभ्या ननु प्रश्नकाले द्वे शते दमः प्रदर्शनमेव विपरीतनाभिधानंबालिश-
भावः अप्रामाद्विद्विष्यैर्यस्यायंबालिशोथव्यवहारतर्षदपक्रान्तबालभावस्य दण्डोन्यस्य त्वसाक्षितैव ॥ १२१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पूर्वं प्रथमसाहसं दशगुणम् । परमुत्तमसाहसं । द्वेशते पणानाम् ॥ १२१ ॥

(३) कुल्लूकः । स्त्रीसंभोगरूपकामानुरोधेन मिथ्यावदन्प्रथमसाहसंदशगुणंदण्ड्यः । क्रोधेन तु परमध्यमसाहसंत्रि-
गुणंवक्ष्यमाणम् । अज्ञानत्वाद्वेशते । बालिश्यादनवधानात्पणशतमेवदण्ड्यइति सर्वत्रानुषङ्गः ॥ १२१ ॥

(४) राघवानन्दः । कामेतिदशगुणं पूर्वं प्रथमसाहसं ततःपञ्चशताधिकसहस्रद्वयम् । त्रिगुणं परमुत्तमसाहसं तेन
* न सहस्रत्रयम् ॥ १२१ ॥

(५) नन्दनः । बालिश्याद्बाल्यात् ॥ १२१ ॥

(६) रामचन्द्रः । कामात् कामतः अन्यथाकारी पूर्वसाहसं पञ्चाशदधिकशतद्वयपणपरिमितं दशगुणंदण्ड्यः ।
क्रोधात्तु त्रिगुणं उत्तमसाहसंत्रिगुणं दण्ड्यः ॥ १२१ ॥

एतानाहुः कौटसाक्ष्ये प्रोक्तान्दण्डान्मनीषिभिः ॥ धर्मस्याव्यभिचारार्थमधर्मनिधमाय च ॥ १२२ ॥

(१) मेधातिथिः । उभयप्रयोजनोदण्डइति दर्शयत्यवश्यानुष्ठेयत्वावशात्त्राचारत्रिरूढा व्यवस्था धर्मस्तस्याव्यभि-
चारोऽनिवृत्तिरुच्यते ॥ १२२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अव्यभिचारार्थं सर्वथानिश्चयार्थम् ॥ १२२ ॥

(३) कुल्लूकः । सत्यरूपधर्मस्यापरिलोपार्थमसत्यरूपाधर्मस्य च वारणार्थमेतान्कौटसाक्ष्यविषये पूर्वैर्मुनिभिर्हक्ता-
नदण्डान्मन्वादयआहुः । एतच्च सकृत्कौटसाक्ष्ये ॥ १२२ ॥

(४) राघवानन्दः । अत्रार्थे मुन्यन्तरवाक्यं प्रमाणयति एतानिति । मुनिभिः प्रोक्तान्मन्वादयआहुः । तत्किम-
र्थं तत्राह धर्मस्येति । दण्डे कृते क्रीपि न स्वधर्माद्यभिचरेदित्याह । अव्यभिचारार्थमिति । अधर्मान्नियमनं निवृत्तिस्त-
स्मैच ॥ १२२ ॥

(५) नन्दनः । धर्मस्य सत्यस्य । अधर्मनिधनायासत्यस्य निवृत्तये ॥ १२२ ॥

(६) रामचन्द्रः । धर्मस्याव्यभिचारार्थं यथा धर्मस्य व्यभिचारः धर्मव्यतिक्रमः न भवेच्च पुनः अधर्मनियमा-
य पापापनुत्तर्यम् ॥ १२२ ॥

कौटसाक्ष्यन्तुकुर्वाणांस्त्रीन्वर्णान्धार्मिकोत्पः ॥ प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणन्तु विवासयेत् ॥ १२३ ॥

(१) मेधातिथिः । सरुदपराद्धानांपूर्वोदण्डः अभ्यासात्प्रवर्तमानानांदण्डयित्वा प्रवासनंराष्ट्रान्निष्कासनंमरणंवार्थ-
शास्त्रे प्रयोगदर्शनात्तद्रूपत्वाच्चदण्डविधेः । ब्राह्मणन्तुविवासयेत् वाससोपहरणंविवासनंगृहाभावोवाविवासंकरोति तत्क-
रोतीति णिचि णाविष्टवदिति टिलोपे रूपम् । त्रीन्वर्णानिति क्षत्रादयस्त्रयोब्राह्मणस्य दण्डान्तरविधानात् ॥ १२३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रवासयेत् त्वदेशात् । विवासयेत् प्रवासयेदेव न दण्डयेत् । गोविन्दराजस्तुदण्डयित्वा
नग्रीकुर्यादित्यस्यार्थमाह ॥ १२३ ॥

(३) कुहूकः । भूयोभूयःकौटसाक्ष्यकरणेतु कौटसाक्ष्यमिति क्षत्रियादीन् त्रीन्वर्णान्कौटसाक्ष्यात्पूर्वोक्तेन दण्डयि-
त्वा धार्मिकोराजा त्वराष्ट्राद्विवासयेत् ब्राह्मणन्तुधनदण्डव्यतिरेकेण त्वराष्ट्रान्निःसारयेत् ॥ न जातु ब्राह्मणंहन्यात्सर्वपापेष्व-
वस्थितम् । राष्ट्रादेनंबहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतमिति ॥ धनसहितनिर्वासनस्याभिधास्यमानत्वात् । गोविरन्दाजस्तु ब्राह्मणं-
पुनः पूर्वदण्डेन दण्डयित्वानग्रंकुर्यादितिव्याचष्टे । मेधातिथिस्तु ब्राह्मणस्य विवासस्त्वंवासोपहरणंगृहभङ्गोवेत्याचष्टे ॥ १२३ ॥

(४) राघवानन्दः । दण्डोत्तरकालीनंकृत्यमाह कौटेति । विवासयेत् दण्डंविना वासयेत् त्वराज्यादन्यत्र । तथाच
वक्ष्यति ॥ न जातु ब्राह्मणंहन्यात्सर्वपापेष्वपिस्थितम् । राष्ट्रादेनंबहिः कुर्यात् समग्रधनमक्षतमिति ॥ गोविन्दराजस्तु
दण्डंकृत्वा नग्रंकुर्यात् । मेधातिथिस्तु वस्त्रशून्यंगृहमिति । विवासनपदस्यान्यत्र वसतौ भूरिप्रयोगात्अनयोव्याख्या-
नमसाध्विति । कौटसाक्ष्याभ्यासपरंवक्ष्यन्निति केचित् ॥ १२३ ॥

(५) नन्दनः । ब्राह्मणंदण्डयित्वा विवासयेत् । प्रवासनंप्रमापणम् । विवासनन्तुदेशान्तरप्रापणम् । कुर्वाणानित्यने-
नबहुशः कौटसाक्ष्यकरणंसूचितम् ॥ १२३ ॥

(६) रामचन्द्रः । कौटेन कपटेन । ब्राह्मणं तुविवासयेत् ॥ १२३ ॥

दशस्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायंभुवोब्रवीत् ॥ त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतोब्राह्मणोब्रजेत् ॥ १२४ ॥

(१) मेधातिथिः । स्थानशब्दोविषयपर्यायः एतैः प्रदेशैः पीडयितव्यः । प्रत्यपराधशब्देन ब्राह्मणस्य धनदण्डवि-
धानादकृतत्वोपदेशः शरीरपीडापरिहारार्थःकल्पते सत्यपि धनस्य दशसङ्ख्यान्तर्भावे । वयन्तु ब्रूमः समग्रधनमक्षतमि-
त्यत्र धनपीडापि निषिद्धैव ब्राह्मणस्य तस्माद्यः सरुत्कथंचिदपराद्धःश्रुतशोभोजनयुक्तस्तस्य धनदण्डोपि नास्ति तथा
च गौतमस्तादृशमेव ब्राह्मणमधिकृत्य द्वौ लोके वृत्तव्रतावित्युपक्रम्य षड्भिः परिहार्यश्चेत्यादि ॥ १२४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्थानानि विषयान् ॥ १२४ ॥

(३) कुहूकः । हैरण्यगर्भमनुर्दशदण्डस्थानान्युक्तवान् यानि क्षत्रियादिवर्णत्रयविषये भवन्ति । ब्राह्मणः पुनर्म-
ह्यपराधेऽक्षतशरीरेदिशान्निःसार्यते ॥ १२४ ॥

(४) राघवानन्दः । धनदण्डप्रसंगेन दण्डान्तरंसंख्यंवक्ष्यन्ब्राह्मणस्य तदभावमाह दशेति । अक्षतोहीनोधना-
धैः ॥ १२४ ॥

(५) नन्दनः । ब्रजेद्विवसेत् ॥ १२४ ॥

(६) रामचन्द्रः । दण्डस्य अङ्गच्छेदरूपस्य दशस्थानानिस्युःअक्षतः अव्रणः ब्राह्मणोव्रजेत् गच्छेत् ॥ १२४ ॥

उपस्थमुदरंजिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् ॥ चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनदेहस्तथैव च ॥ १२५ ॥

(१) मेधातिथिः । उपस्थं प्रजनधर्मः स्त्रीपुंसयोरुद्देशमात्रमिदं विनियोगस्तूत्रत्र भविष्यति । यत्र च दण्डविशेषोना-
म्रातस्तत्र योयेनैवाङ्गेनापराद्धः सतत्रैव पीडयितव्यः । तत्रागम्यागमनउपस्थनिग्रहः चौर्यउदरस्याहारनिवृत्यादिना वा-
ग्दण्डपारुष्ये जिह्वाहस्तयोः पादबलेन व्यतिक्रामन्पादयोः विवृत्य विश्रब्धराजदारान्वोक्ष्यमाणश्चक्षुषोः अनुलेपनगन्धमा-
जिघ्रन्नासिकायां रहसि राजानंमन्त्रयमाणंकुड्यं पदान्तरितउपशृण्वक्कर्णयोः धने प्रसिद्धोदण्डः देहमारणंमहापातकनः
॥ १२५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उपस्थादीनाल्लेदनादिदण्डविषयत्वम् । धनस्य तु ग्रहं दण्डः । देहः कृत्स्नस्ताडनवधा-
दिदण्डविषयः ॥ १२५ ॥

(३) कुड्मूकः । लिङ्गादीन्येतानि दशदण्डस्थानानि अतस्तत्तदङ्गेनापराधे सत्यपराधलाघवगौरवापेक्षया त-
त्तदङ्गताडनवेदनादि कर्तव्यम् । अल्पापराधे यथाश्रुतं धनदण्डः । देहदण्डोमारणंमहापातकादौ ॥ १२५ ॥

(४) राघवानन्दः । तानेव दण्डानाह उपस्थमिति । एषां विच्छित्तिः कार्येत्यर्थः ॥ धनंचग्राहम् १२५ ॥

(५) नन्दनः । तान्येव दशस्थानान्याह उपस्थमुदरमिति । पञ्चमं स्थानमिति शेषः ॥ १२५ ॥

(६) रामचन्द्रः । दशस्थानान्याह उपस्थेति ॥ १२५ ॥

अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः ॥ सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥ १२६ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तानुक्तदण्ड्येष्वपराधेषु मातृका श्लोकोयं एतदर्थानुसारणेन सर्वदण्डकृमिः कर्तव्या तत्र
पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरनुबन्धः प्रवृत्तिकरणं वा अनुबध्यते प्रयुज्यते येन तस्मिन्कर्मणि तं परिज्ञाय किमयमात्मकुटुम्बक्षुद्व-
सायेन धर्मउत सङ्गेन वा अथमद्यतूतादिशौडतया तथा प्रमादाद्बुद्धिपूर्ववा परप्रयुक्तस्वेच्छया वेत्यादिरनुबन्धः । देशौ-
ग्रामारण्यग्रहजलजन्मप्रसवभूमादिः कालोनक्तंदिवादिः सुभिक्षदुर्भिक्षबाल्ययौवनादिशक्त्यशक्तीआढ्यत्वदारिद्र्येअपरा-
धोष्टादशानांपदानामन्यतमः एतत्सर्वपौर्वापर्येण निरूप्याथदण्डं पातयेत्कुर्याद्यथास्थितिः सांसारिकी न भ्रश्यतीति ॥ १२६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनुबन्धं पुनः पुनः करणम् । देशं ग्रामवनादि । कालं रात्र्यादि । सारं चित्तस्य गुरुताम् ।
अपराधं न्यूनाधिकम् ॥ १२६ ॥

(३) कुड्मूकः । पुनः पुनरिच्छातोऽपराधकरणमपेक्ष्य ग्रामारण्यादिचापराधस्थानं रात्र्यादिकं वाऽपराधस्यापेक्ष्य
सारं चापराधकारिणो धनशरीरादिसामर्थ्यमपराधंच गुरुलघुभावेन चालोक्य दण्डनीयेषु दण्डंकुर्यात् । एतच्चाभिहिता-
भिधास्यमानदण्डशेषभूतम् ॥ १२६ ॥

(४) राघवानन्दः । दण्ड्येषु राज्ञातावद्यत्नवता भाव्यमित्याह अनुबन्धमिति । अनुबन्धंसकृदसकृदाद्यपराधकार-
णम् । सारापराधौ अपराधकारिणो धनदेहादिसामर्थ्यं सारं अपराधंच लघुगुरुतया विज्ञाय । आलोच्येति क्वचित्पाठः विचा-
र्येति ॥ १२६ ॥

(१२६) अनुबन्धं = अपराधं (नं)

(५) नन्दनः । दण्डविधाने राज्ञा बोद्धव्यमाह अपराधमिति । सारासारदण्डस्य बलाबलम् ॥ १२६ ॥

अधर्मदण्डनलोके यशोघ्नकीर्तिनाशनम् ॥ अस्वर्ग्यं च परत्रापि तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ १२७ ॥

(१) मेधातिथिः । अधर्मप्रधानदण्डनं च पूर्वोक्तमनपेक्ष्येदं शास्त्रपाठमात्रेण राजेच्छया रागद्वेषादिभिर्वा तद्यशो-
नाशकं कीर्तेश्च विच्छेदकं स्वदेशे गुणख्यातिर्यशः देशान्तरे कीर्तिः जीवतो वा पुण्यशब्दो यशः ॥ १२७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यशोबहुभिः परैर्गुणानां ज्ञानम् । कीर्तिस्तत्कथनम् ॥ १२७ ॥

(३) कुल्लूकः । जीवतः ख्यातिर्यशः मृतस्य ख्यातिः कीर्तिः । यस्मादनुबन्धाद्यनपेक्ष्य दण्डनमिह लोके यशो-
नाशनं मृतस्य च कीर्तिनाशनं परलोके च धर्मान्तरार्जितस्वर्गप्रतिबन्धकं तस्मात्तत्परित्यजेत् ॥ १२७ ॥

(४) राघवानन्दः । वैपरोत्ये दोषमाह अधर्मेति द्वाभ्याम् । अधर्मेण दण्डनेऽयशो जीवति मृतेऽकीर्तिरित्यनयोः क-
थंचिद्भेद इति केचित् । यशो ज्ञातिप्रशंसा कीर्तिर्जनप्रशंसेति नृसिंहतापनीयभाष्ये अस्वर्ग्यमधर्मदण्डनेन पापोत्पत्तेः ॥ १२७ ॥

(५) नन्दनः । अदण्ड्यदण्डनमिति गुणवत्ताप्रसिद्धिर्यशः तत्कथनं कीर्तिः ॥ १२७ ॥

(६) रामचन्द्रः । लोके अधर्मदण्डनं जीवतः यशोघ्नं मृतस्य कीर्तिनाशनम् तत् अधर्मदण्डनं परिवर्जयेत् ॥ १२७ ॥
अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ॥ अयशो महदामोति नरकंचैव गच्छति ॥ १२८ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वश्लोकेऽनुबन्धादीनि निरूपणविधिविशेषः । अनेन त्वनपराधानां दण्डनं प्रतिषिध्यते साप-
राधानां च विधीयते । रुतार्थतां दण्डस्य मन्यमानो नुग्रहेण माहासीदिति ॥ १२८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अयशो यशोनाशम् ॥ १२८ ॥

(३) कुल्लूकः । राजा दण्डानर्हान् धनलोभादिना दण्डयन् दण्डार्हान् शत्रुनारोधादिनोत्सृजन् महतीं मख्यातिं प्राप्नोति
नरकंच व्रजति ॥ १२८ ॥

(४) राघवानन्दः । अस्वर्ग्यमित्यनेन स्वर्गायोग्यत्वमुक्तं न केवलमेतत्प्रत्युत नरकंचैवेतीत्याह अदण्ड्यानि-
ति ॥ १२८ ॥

(५) नन्दनः । दण्ड्या दण्डनेऽपि राज्ञा दोषमाह अदण्ड्यानि इति । अयशोऽस्मिं लोके परस्मिन्नरकम् ॥ १२८ ॥

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्विद्वदण्डं तदनंतरम् ॥ तृतीयं धनदण्डन्तु वधदण्डमतः परम् ॥ १२९ ॥

(१) मेधातिथिः । योगुणवानिषत्प्रथममेवापराद्धः स वाचा निर्भर्त्स्यते न साधुरुक्तवानसि मापुनरेवं कार्षीरिति
तथा विनीयमाने यदि न निवर्तते कार्यदोष इति वा प्रतिजानीयात्तदा धिग्धिगादिशब्दैः परुषवचनैः कुत्सार्थैः क्षिप्यते
ततोऽप्यनिवर्तमानो यथाशास्त्रं धनेन दण्डनीयस्तदप्यगणयन् नैश्वर्यादिना हंतव्यः वधदण्डश्च तदानीमङ्गच्छेदनाद्यपि न म-
रणमेव ॥ १२९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वाग्दण्डं ताडयत्तैर्नमित्युक्तं । प्रथमं कूटसाक्ष्यादौ प्रथमप्रवृत्तौ । धिग्दण्डं धिक्कमिति त-
दनन्तरं द्वितीये । तृतीये तृतीयवारकरणे । अतः परं चतुर्थवारापराधे वधदण्डमङ्गच्छेदम् ॥ १२९ ॥

(३) कुल्लूकः । न साधुरुक्तवानसि मैवं भूयः कार्षीः इत्येवं वाङ्मिर्भर्त्सनं प्रथमापराधगुणवतः कुर्यात् तथापि
यदि नोपशम्यति तदा धिक्कालममजीवनिस्ते पापस्य भूयादित्येवमादितस्य कार्यम् । तदापि यद्यसन्मार्गान् नि-

(१२७) अधर्मदण्डनं = अदण्ड्यदण्डनं (नं)

वर्त्तते तदा धनदण्डमस्य तृतीयंकुर्यात् । एवमपि चेन्नावतिष्ठते तदातः परंवधदण्डं ताडनाद्यङ्गच्छेदरूपंतस्य कुर्यान्नि मारणम् ॥ १२९ ॥

(४) राघवानन्दः । दण्डत्वेन देहपदं वाग्दण्डं उपलक्षयतीति कृत्वाह वाग्दण्डमिति । गुणवतो हि वाग्दण्डः सचैवं न साधुकृतं त्वयेत्यादिः प्रथमापराधे । तथापि न शाम्यतीति चेत् धिग्जन्मा त्वमिति द्वितीयः । वधदण्डं कर्णच्छेदादि प्रत्येकंकुर्यात् ॥ १२९ ॥

(५) नन्दनः । दण्डनक्रममाह वाग्दण्डमिति । वाग्दण्डं परुषभाषणम् । धिग्दण्डः सदोमभ्याक्षाचानिर्भर्त्स्य निष्कासनम् । धनदण्डः स्वर्णादानम् । वधदण्डः शरीरपीडनम् । कुत एतदुत्तरश्लोकानुगुण्यात् । एते दण्डाः क्रमादल्पतरेऽल्पे महति महत्तरे वापि प्रयोज्या अपराधे ॥ १२९ ॥

(६) रामचन्द्रः । वाग्दण्डं प्रथमंकुर्यात् । धिग्दण्डं धिक्कामित्येवं रूपं तदनन्तरम् । तृतीयं धनदण्डम् । वधदण्डं अङ्गच्छेदरूपम् ॥ १२९ ॥

वधेनापि यदा त्वेतान्निग्रहीतुं शक्नुयात् ॥ तदैषु सर्वमप्येतत्प्रयुजीत चतुष्टयम् ॥ १३० ॥

(१) मेधातिथिः । यत आह मारणं चेद्धधः किंतदन्यद्यन्न शक्यते कथंचैनं पापं निगृणीतेत्यादि परुषवाक्यपूर्वदुर्विनीतेषु धनदण्डवधौ समुच्चेतव्यौ कृतेपि शरीरदण्डे यदि नावतिष्ठते ततो न कृतनिग्रह इत्युत्सृजेदपितु सवधदण्डः कर्तव्यः । धनवधदण्डयोश्च पुनः प्रवृत्त्यर्थोयमारम्भः वाग्दण्डमृदुत्वात्कः पृच्छति धनेन च गृहीतस्य पुनर्वधो दृष्टोद्बुल्लिग्रन्थिभेदस्येति ॥ १३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सर्वमेवैतद्दशविधं दण्डं प्रागुक्तं वा दण्डादित्रयं च ॥ १३० ॥

(३) कुल्लूकः । यतो वक्ष्यति वधेनापि यदा त्वेतानिति । व्यस्तेनाङ्गच्छेदेनापि दण्ड्यान्वशे कर्तुं शक्नुयात्तदैतेषु सर्ववाग्दण्डादिचतुष्टयंकुर्यात् ॥ १३० ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तदण्डेन यदा न शाम्यन्ति तदा वाग्दण्डादिचतुष्टयं संप्रयोक्तव्यमित्याह वधेनेति । एतान् पापिनः । चतुष्टयमिति उपस्थादीनां वधदण्डत्वेन संग्रहात् ॥ १३० ॥

(५) नन्दनः । वधेन शरीरपीडनेन ॥ १३० ॥

(६) रामचन्द्रः । तत् तस्मात्कारणात् एषु चतुर्विधेषु दण्ड्येषु एतत्सर्वं चतुष्टयं प्रयुजीत ॥ १३० ॥

लोकसंव्यवहारार्थ्याः संज्ञाः प्रथिता भुवि ॥ ताम्ररूप्यसुर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १३१ ॥

(१) मेधातिथिः । ताम्रादीनां लिखादयः संज्ञाभुवि प्रसिद्धाः किंशास्त्रपरिभाषया तत्र बृद्धव्यवहारो गवादिशब्दवदित्यत आह लोकसंव्यवहारार्थं अर्थशब्दो विषयवचनस्तेन व्यवहारप्रसिद्धिराश्रिता भवति न तश्च गवादिशब्दतुल्यतया व्यवहारात् प्रसिद्धः किंशास्त्रोपदेशेन उच्यते नियमार्थ उपदेशो न्येषामपि परिमेयानामयस्कांस्यसुवर्णादीनामेताः संज्ञाः सन्ति तन्निवृत्त्यर्थः कचिद्देशे परिमाणे भेदोप्यस्ति तन्निवृत्त्यर्थश्च कचित्संबन्धतया नियम्यते । अथ चैवं संबन्धः क्रियते याः संज्ञाभुवि प्रथिता स्तालोकसंव्यवहारार्थं वक्ष्यामि सर्वस्य लोकस्याभिरेव संव्यवहारो यथा स्याद्दण्डादिनियोगस्याप्यन्यथा प्रसिद्धिः ॥ १३१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संव्यवहारार्थं दृष्टादृष्टव्यवहारसिद्ध्यर्थम् ॥ १३१ ॥

(३) कुल्लूकः । ताम्ररूप्यसुवर्णानांयाः पणादिसंज्ञाः ऋयविक्रयादिलोकव्यवहारार्थं पृथिव्यां प्रसिद्धास्तादण्डाद्युपयोगार्थं साकल्येन कथयिष्यामि ॥ १३१ ॥

(४) राघवानन्दः । धनदण्डस्य ताम्रपणसुवर्णादिभेदेन नानात्वात्तदण्डप्रसंगेन तत्परिमाणं प्रतिजानीते लोकेति । संज्ञाधर्मशास्त्रपरिभाषाः ॥ १३१ ॥

(५) नन्दनः । चतुष्टयं वा दण्डादिकं वक्ष्यमाणेषु धनदण्डादिकेष्वियत्तानियामिकामानसंज्ञा प्रस्तूयते लोकसंव्यवहारार्थमिति । संव्यवहारः ऋयविक्रयादिः ॥ १३१ ॥

(६) रामचन्द्रः । ताम्ररूप्यसुवर्णानां परिमाणमाह लोकेति । याः संज्ञाः प्रथिताः प्रसिद्धास्ताः संज्ञाः प्रवक्ष्यामि ॥ १३१ ॥

जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः ॥ प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥ १३२ ॥

(१) मेधातिथिः । इमं लोकं केचिन्नाधीयते त्रसरेणौ विप्रतिपत्या तावद्गवाक्षकुचिकाविवरप्रविष्टे सूर्ये योरेणुर्दृश्यते स त्रसरेणुः । अन्तरशब्दो विवरपर्यायः । प्रथमं तत्प्रमाणानामिति ॥ त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिख्यैकपरिमाणतः । ताराजसर्षपस्तिस्त्रस्ते त्रयो गौरसर्षपः ॥ ततोऽपचितपरिमाणाः न पुनरयं लिक्षाशब्दः स्वेदजक्षुद्रजन्तुवचनस्तास्तिस्त्रो लिक्षा एकोऽराजसर्षपाख्यपरिमाणपदार्थ एव योजनीयम् । ततश्च व्यभिचारयन्ति न यथोक्तपरिमाणार्थमेते शब्दावर्तन्त इति । यथा-चोपक्रान्तसंज्ञाः प्रवक्ष्यामि परिमाणमिति त्रसरेणुश्चार्थो नियतपरिमाणस्तेनैतत्सर्वं निश्चेयं शक्नुवन्ति च निपुणास्त्रसरेणून् सहर्तुमिति नानारम्यार्थोपदेशः । एतत्त्वर्णकाराभिमानसङ्ख्यास्मृतिरूपं निर्बाधं भवति ततएव वस्तुनिपुणतोऽवधारयितव्यम् ॥ १३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भानोरश्मौ । रजोऽदन्ते पुंसि । प्रमाणानां परिमाणानां मध्ये ॥ १३२ ॥

(३) कुल्लूकः । गवाक्षविवरप्रविष्टसूर्यरश्मिषु यत्सूक्ष्मं रजो दृश्यते तद्दृश्यमानपरिमाणानां प्रथमं त्रसरेणुं वदन्ति ॥ १३२ ॥

(४) राघवानन्दः । ता आह जालेति षड्विंशः । जालं गवाक्षं तदन्तरगे भानौ सूर्यकरे यत्सूर्यमरीचिस्थं सूक्ष्मं दृश्यते तत्प्रमाणानां परिमाणपरिच्छेदानां मध्ये प्रथमं यद्रजो धूलिः त्रसरेणुं त्रसरेणुसंज्ञकम् ॥ १३२ ॥

(५) नन्दनः । भानौ रविकिरणे ॥ १३२ ॥

(६) रामचन्द्रः । जालान्तरजः प्रमाणानां परिमाणानां प्रथमं त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥ १३२ ॥

त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः ॥ ताराजसर्षपस्तिस्त्रस्ते त्रयो गौरसर्षपः ॥ १३३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । लीक्षा यूकाडिम्बं । राजसर्षपो राजिका ॥ १३३ ॥

(३) कुल्लूकः । अष्टौ त्रसरेणवो लिक्षैका परिमाणेन ज्ञेया तास्तिस्त्रो लिक्षाराजसर्षपो ज्ञेयः ते राजसर्षपास्त्रयो गौरसर्षपो ज्ञेयः ॥ १३३ ॥

(१) यथोक्तपरिमाणार्थं = यथोक्तपरिमाणा यत्रादय इति ते निरस्ता भवन्ति न ह्यिवादीनामर्थानां परिमाणं कथमेतत् तर्ह्यथोक्तपरिमाणार्थं (आ आ)

(४) राघवानन्दः । लिक्षेति संज्ञान्तरमेवमुत्तरत्र । ताः लिक्षास्तिस्रः राजसर्षपः । ते त्रयो गौरसर्षप इत्यन्वयः ॥ १३३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अधौ त्रसरेणव एका लिक्षा तास्तिस्रः लिक्षाराजसर्षपः । ते त्रयो राजसर्षपा एको गौरसर्षपः ॥ १३३ ॥

सर्षपाः षट् यवो मध्यस्त्रियवंत्वेककृष्णलम् ॥ पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥ १३४ ॥

(१) मेघातिथिः । मध्यमशब्दोऽभ्रान्तिहेतुः परिमाणपरत्वे नात्यन्तमपि चितो नातिस्थूलः सर्षपपरिमाण इति मध्यग्रहणमर्थवत् संज्ञापरत्वे तु न किञ्चिन्मध्यमशब्देन यवशब्दसंज्ञात्वात् तदसत् नायंसंदर्भेयेन प्रत्ययव्यवप्रयोजनमुच्यते पद्यग्रन्थोऽयं तत्र संगमनार्थमपि वृत्तानुरोधा किञ्चिदुच्यते अस्ति चास्यान्वयः अनन्विताभिधानं हि वाक्यार्थविरोधान्न प्रमाणं न चावगताभिधानमपि । परिमाणभेदांस्त्रसरेणुशतमानादीनाद्यन्तानपेक्ष्य मध्यपठितत्वान्मध्योऽववाख्यः परिमाणविशेषः । पञ्चकृष्णला अस्मिन्सन्त्यत इति ठनाविति ठनृकर्तव्यः पञ्चकृष्णलिकः पञ्चकृष्णलक इति पाठे कबन्तो बहुव्रीहिः । ते कृष्णलाः षोडश एकः सुवर्णः ॥ १३४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मध्यो यवो नाति सूक्ष्मो नाति महान्वा ॥ १३४ ॥

(३) कुल्लूकः । गौरसर्षपाः षट् मध्योन स्थूलो नापि सूक्ष्मो यवो भवति त्रिभिर्वैः कृष्णलं रक्तिकेति प्रसिद्धं पञ्चभिः कृष्णलैर्माषः षोडश माषाः सुवर्णः स्यात् । पुल्लिङ्गश्चायं परिमाणवचनः ॥ १३४ ॥

(४) राघवानन्दः । यवो मध्यः स्थूलसूक्ष्मभिन्नः । त्रयीयवापरिच्छेदकायस्य तदेकं कृष्णलं । ते षोडश माषाः सुवर्ण इत्यन्वयः ॥ १३४ ॥

(५) नन्दनः । संव्यवहारेषु सूक्ष्मो मध्यमस्थूल इति त्रिविधो यव उक्तः अंशद्वयमयवस्य लक्षणमुक्तं सर्षपाषड्यवो मध्य इति ॥ १३४ ॥

(६) रामचन्द्रः । षट् सर्षपाः मध्यो यवः न स्थूली न सूक्ष्मः । त्रियवं त्रयीयवाः एकं कृष्णलम् पञ्चकृष्णलको माषः । ते माषाः षोडश एकः सुवर्णः ॥ १३४ ॥

पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश ॥ द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयोरौप्यमाषकः ॥ १३५ ॥

(१) मेघातिथिः । पलमिति संज्ञानिर्देशः सुवर्णमिति संज्ञी चत्वारः इति विशेषणं धरणमिति संज्ञादशपलानिति संज्ञी द्वे कृष्णले इति संज्ञा रूप्यमाषक इति समुदायसंज्ञामन्यन्ते । ननु रूप्यविषयमाषकनिर्देशे द्वे कृष्णले प्रतिपत्तव्ये इति प्रतिजानीते । प्रादेशानिश्चयः । समधृते तुलासूत्रके उन्मानादहीने यदि धार्येते प्रयोजनं मध्यशब्दवद्यतोऽसमयाद्धार्यमाणतया परिमाणानिश्चयः ॥ १३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पलानि दश सुवर्णस्य धरणम् ॥ १३५ ॥

(३) कुल्लूकः । चत्वारः सुवर्णाः पलं स्यात् दशपलानि धरणं कृष्णलद्वयं समं कृत्वा तुलया धृतं रूप्यमाषको बोद्धव्यः ॥ १३५ ॥

(४) राघवानन्दः । सुवर्णाश्चत्वारः पलं स्यात् । पलानि दश धरणं धरणसंज्ञकं परिमाणान्तरम् रूप्यमाषमानमाह द्वे इति । समधृते समं कृत्वा तुलयाऽवधृते ॥ १३५ ॥

(५) नन्दनः । उत्तरार्द्धेन रूप्यमानमुच्यते । समधृते सहोन्मिते ॥ १३५ ॥

(६) रामचन्द्रः । चत्वारःसुवर्णाः पलम् दश पलानि धरणसंज्ञं भवति । रूप्यपरिमाणमाह । द्वेरुष्णलं रूप्यमाषकः ॥ १३५ ॥

ते षोडशस्याद्धरणंपुराणश्चैव राजतः ॥ कार्षापणस्तुविज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः ॥ १३६ ॥

(१) मेधातिथिः । षोडशरूप्यमाषकारूप्यस्य धरणंभवति पुराणइति संज्ञान्तरम् । कार्षापणइति च द्वे संज्ञे ताम्रकर्षस्य कर्षाख्यश्च शब्दोलोकेतएव प्रसिद्धार्थइहगृह्यते व्यभिचारदर्शनासत्त्ववचनेन नरुष्णलादिवत्परिभाष्यते ॥ १३६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । राजतोरजतसंबन्धी । पुराणोद्धरणंचेतिमाषाः षोडश । कार्षिकः कर्षः ताम्रिकः ताम्रः । कार्षापणःपणश्चोच्यते । अत्रचानुक्ते सुवर्णमनाग्रहणात् कर्षः पलचतुर्थभागः पञ्चरुष्णलकः षोडशमाषात्मकोग्राह्यः ॥ १३६ ॥

(३) कुड्मूकः । ते षोडशरूप्यमाषकारौप्यधरणंपुराणश्च राजतोरजतसंबन्धी स्यात् । कार्षिकः ताम्रमयः कार्षापणः पणइति विज्ञेयः । कार्षिकश्च शास्त्रीयपलचतुर्थभागोबोद्धव्यः । अतएव पलंकर्षचतुष्टयमित्याभिधानिकाः ॥ १३६ ॥

(४) राघवानन्दः । राजतोरजतसंबन्धी । ते रूप्यमाषकाः षोडश धरणस्यात् राजतंधरणमस्यैव संज्ञान्तरं पुराणइति । पणमानमाह कार्षइति । कार्षिकः कर्षप्रमाणः सएव पणइति पणएव कार्षापणः । ताम्रिकःताम्रमयश्चेत्कार्षिके ताम्रिके पणइत्यभिधानात् ॥ १३६ ॥

(५) नन्दनः । ते रूप्यमाषकाः षोडशराजतंधरणम् । पुराणमनादिसिद्धं । उत्तरार्द्धेन ताम्रिकमानंसूच्यते माषषोडशकस्य कर्षइति संज्ञा लोकप्रसिद्धा कर्षेणमितः कार्षिकः ताम्रस्य विकारस्ताम्रिकःकर्षमिति । ताम्रीकृतःपणोत्रव्यवहारे-कार्षापणसंज्ञोज्ञेयःनतुलोकप्रसिद्धोरूप्यादिमानइत्यर्थः ॥ १३६ ॥

(६) रामचन्द्रः । तेषोडशमाषाः रजतः धरणं भवति । राजतः पुराणेतिसंज्ञो भवति । कर्षःस्यादशमाषिकइति निघण्टुः । पलचतुर्थांशकः कर्षकयोच्मानितः कार्षिकः ताम्रस्य विकारः ताम्रिकः कर्षसंमितताम्रविकारः ढब्बूकस्यार्थः ॥ १३६ ॥

धरणानि दशज्ञेयः शतमानस्तु राजतः ॥ चतुःसौवर्णिकोनिष्कोविज्ञेयस्तु प्रमाणतः ॥ १३७ ॥

(१) मेधातिथिः । शतमानइति संज्ञा दशानांधरणानां रजतशब्देन सुवर्णमप्युच्यते तेन रूप्यसुवर्णयोरियंसंज्ञा सुवर्णस्य समानन्तु शास्त्रान्तरात्परिमातव्यं तथा च विशेषयिष्यति शतमानंतुराजतमिति ॥ १३७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । राजतःशतमानोदशभिर्धरणैः । चतुर्भिःसुवर्णैर्निष्कः । सुवर्णस्यैव स्थूलयवैः रुष्णल-परिकल्पनायांव्यावहारिकनिष्कस्य षोडशांशः रुष्णलोभवतीति दानप्रकरणादौ व्यावहारिकी विशिष्टसंज्ञानिष्कस्य ॥ १३७ ॥

(३) कुड्मूकः । दशरूप्यधरणानि रौप्यशतमानोज्ञातव्यः । चतुर्भिः सुवर्णैर्निष्कः प्रमाणेन बोद्धव्यः ॥ १३७ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यत् धरणेति । धरणानि रौप्याणि दशशतमानइति मानान्तरम् । चतुःसौवर्णिकंच-तुर्भिःसुवर्णैःपरिमितः निष्कः पलंसुवर्णाश्चत्वारइतियाज्ञवल्क्योक्तेः ॥ १३७ ॥

(६) रामचन्द्रः । पणसंज्ञाः शतं भवन्ति राजतः रूप्यस्य दश धरणानि शतमानोज्ञेयः ॥ १३७ ॥

पणानां द्विशते साहस्रं प्रथमः साहसः स्मृतः ॥ मध्यमः पञ्चविज्ञेयः सहस्रं चोत्तमः ॥ १३८ ॥

(१) मेधातिथिः । मध्यमउत्तमइत्यत्र साहस्र पदानुषङ्गः कर्तव्यो मध्यमोत्तमशब्दावत्रकेवलावपि शास्त्रान्तरदृष्टावाभ्यां दण्डः । उत्तमइति तत्र शास्त्रसिद्ध्यासाचर्यात्साहसप्रतीयते । अवयवाः स्पष्टाः ॥ १३८ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । पणानां ताम्रकर्षाणां । प्रथमसाहसइत्यस्य दण्डादिप्रकरणेषु संज्ञा । मध्यमः पञ्चपञ्चशतानि । सहस्रं पणानाम् ॥ ऋणे देये प्रतिज्ञातइति श्लोकमत्र केचित्पठन्ति ॥ १३८ ॥

(३) कुल्लूकः । पञ्चाशदधिके द्वे पणशते प्रथमसाहसोमन्वादिभिः स्मृतः । पणपञ्चशतानि मध्यमः साहसो ज्ञेयः । पणसहस्रन्तूत्तमसाहसो ज्ञेयः ॥ १३८ ॥

(४) राघवानन्दः । मोहात्पूर्वतुसाहसमित्यत्र प्रथमसाहसादिपरिमाणमुक्तं तत्पारिभाषिकमिति ज्ञापयति पणानामिति । पञ्चाशदुत्तरशतद्वयाभ्यां प्रथमः । मध्यमः साहसः पणानां पञ्च शतानीति शेषः । एतन्माषकादिपरिमाणं लोकाप्रसिद्धमपि शास्त्रीयत्वेन विधेयमिति ॥ १३८ ॥

(५) नन्दनः । कार्षापणानामयं संज्ञाविशेषमाह पणानामिति । कार्षापणानां साहस्रं ऽर्धशतसहिते पञ्चाशत्सहितइत्यावत् । पञ्चशतानीति वचनविपरिणामः ॥ १३८ ॥

(६) रामचन्द्रः । पञ्चाशदधिकशतद्वयपरिमितः प्रथमसाहसः । मध्यमसाहसः पञ्चशतपरिमितः । सहस्रं चोत्तमः उत्तमसाहसो विज्ञेयः ॥ १३८ ॥

ऋणे देये प्रतिज्ञाते पञ्चकंशतमर्हति ॥ अपह्नवे तद्विगुणं तन्मनोरनुशासनम् ॥ १३९ ॥

(१) मेधातिथिः । यो राजसभायामानीतो धर्मेण ऋणदेयतया प्रतिजानीते सत्यमस्मै धारयामि सपञ्चकंशतमर्हति दण्डमिति शेषः । अनेन संकल्पितेन विंशतितमो भागो दण्ड्यते किमिति तत्सकाशमुत्तमर्णः प्रेषितो बहिरेव कस्मान् परितोषितइत्यतोनेन शास्त्रव्यतिक्रमेण । दण्डमर्हति यस्तु व्यतिक्रमान्तरं करोत्यपह्नते नाहमस्मै धारयामीति सतैः प्रतिपादितस्तद्विगुणं तस्मात्पञ्चकाद्विगुणं दशकंशतमित्यर्थः तन्मनोः प्रजापतेरनुशासनं सृष्टिकालप्रभृतिव्यवस्थानीतिरिति यावत् । अन्ये तु तच्छब्देन देयमेव प्रत्यवमृशन्ति यावत्तस्मै देयं तद्विगुणं तेन यावदणमित्यनेनैकवाक्यं भवति अन्यथा वाक्यभेदविषयविशेषानिर्देशादेकविषयत्वे विकल्पः प्रामोति सच न युक्तो द्विगुणस्यात्यन्तबहुत्वात् असत्यपि निर्देशे तस्य विषयो दर्शनंतस्य प्रत्यासन्नेषु पञ्चकमित्यर्थस्तस्यैवानुप्रत्यवमर्णो युक्तः ॥ १३९ ॥

(३) कुल्लूकः । मयोत्तमर्णस्य धनं देयमिति सभायामधमर्णेनोक्ते सत्यधमर्णः पणशतात्पञ्चपणाइत्येवं दण्डमर्हति । यदा तु सभायामपि न किंचिदस्मै धारयामीत्येवमपलपति तदा पणशतादशपणाइत्येवं दण्डमर्हतीत्येवं मनुस्मृतौ दण्डप्रकारः ॥ १३९ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रासंगिकमुक्त्वा प्रकृतं दण्डमाह ऋणइति । अधमर्णोत्तमर्णप्रति देयमिति सभायां प्रतिज्ञाते यदि न ददाति तदा पणानां तच्छतं प्रतिपणं पञ्चकं दण्डमर्हतीत्यर्थः । धारयामीत्यपह्नवे तद्विगुणं दशपणम् । एवं सहस्रादिष्वपि ज्ञेयम् ॥ १३९ ॥

(५) नन्दनः । इदानीमृणमप्रयच्छतो ऽधमर्णस्य दण्डमाह ऋणे देयइति । उत्तमर्णाभियोगानन्तरमधमर्णेन देये प्रति-

ज्ञाते । देयत्वेन संप्रतिपन्ने ऋणे सोधमर्णः पञ्चकंशतमर्हति । यस्माच्छतादेयत्वेन राज्ञे पञ्चकंदीयतेइति तत्पञ्चकं शतंत-
स्मिन्वृद्ध्यादीयते । संप्रतिपन्नादृणाद्विशतिभागदण्डइत्यर्थः । अपह्नवे ऋणस्यासंप्रतिपत्तौ तत्पञ्चकंज्ञाते ऋणदशभागद-
ण्डइति ॥ १३९ ॥

(६) रामचन्द्रः । ऋणे देये पञ्चशतंग्रहीतुमर्हति । अधमर्णेनापह्नवे कृते गोपिते तत्पञ्चशताद्विगुणंग्रहीतुमर्हति
॥ १३९ ॥

वसिष्ठविहितांष्टद्विसृजेद्वित्तविर्विद्धिनीम् ॥ अशीतिभागंगृहीयान्मासाद्वार्धुषिकः शते ॥ १४० ॥

(१) मेधातिथिः । अशीतीति विधेयनिर्देशः वसिष्ठविहितामित्यादिरर्थवादः वसिष्ठोभगवान्त्रिकालज्ञोलोभादि-
दोषरहितइति तांवृद्धिगृहीतवानतएषा प्रशस्ता धनंतया वृद्धिमुपैति नच लोभदोषोस्ति । सृजेत्प्रयुञ्जीत यदा धनंतदधमर्ण-
स्य तांवृद्धिधनप्रयोगकाले निर्दिशेत् । सर्वद्रव्येषु वस्त्रधान्यहिरण्यादिष्वेतदेव वृद्धिपरिमाणंसङ्ख्येयपरमेयादिष्वष्टगुणा
वृद्धिरित्यादिषु द्वैगुण्यापवादइति वक्ष्यामः ॥ १४० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अशीतिभागइति वसिष्ठविहिता वृद्धिः पणशतात्पञ्चकाकिण्यः । एतच्च सबन्धके स्पृ-
त्यन्तरदर्शनात् अनेनत्वेवाधाविति बन्धकावताराच्च ॥ १४० ॥

(३) कुल्लूकः । वसिष्ठेनोक्तांवृद्धिधर्म्यत्वाद्धनवृद्धिकरांवृद्धिजीवी गृहीयात् तामेव दर्शयति शतेप्रयुक्तेऽशीति-
भागप्रतिमासंवृद्धिगृहीयात् ॥ १४० ॥

(४) राघवानन्दः । ऋणप्रसंगेन तल्लभ्यपरिमाणमाह वसिष्ठेतित्रिभिः । सृजेत् गृहीयात् । अधमर्णोवा दद्यात् ।
शतइतिपणसुवर्णवस्त्रादिसाधरणधान्यादेर्वक्ष्यमाणत्वात् । वसिष्ठेत्यर्थवादोवृद्धेर्दोषापनुत्याइतिमेधातिथिः ॥ १४० ॥

(५) नन्दनः । सृजेत्कुर्यात् । वसिष्ठविहितादिभिरुत्तरार्धेनोच्यते ॥ १४० ॥

(६) रामचन्द्रः । वार्धुषिकः उत्तमर्णः शते शतसङ्ख्ये द्रव्ये मासात् अशीतिभागं अशीतितमभागं गृहीयात्
॥ १४० ॥

द्विकंशतंवागृहीयात्सतांधर्ममनुस्मरन् ॥ द्विकंशतंहिगृह्णानोन भवत्यर्थकिल्बिषी ॥ १४१ ॥

(१) मेधातिथिः । द्वौवृद्धिरास्मिन्शते दीयते द्विशता पूर्वयाऽजीवाता बहुकुटुम्बस्यायंद्विकशतविधिः मासमनुवर्त-
ते । सतामित्यादिरत्रायमर्थवादः । सतांधर्ममिति एषापि वृद्धिःसाधूनांधर्मः नैतया साधुत्वंहीयते नात्यन्तमर्थपरउच्यते
तद्दर्शयति न भवत्यर्थकिल्बिषी अन्यायेन परस्वग्रहणात्पापमर्थकिल्बिषंतदस्यास्तीत्यर्थकिल्बिषी ॥ १४१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अबन्धकेत्वाह द्विकमिति । पणानांशतात्पणद्वयमित्येतद्ब्राह्मणात् । अर्थकिल्बिषी परस्व-
ग्रहणदोषवान् ॥ १४१ ॥

(३) कुल्लूकः । साधूनामयंधर्मइति मन्यमानः पणशते प्रयुक्ते पणद्वयंवा प्रतिमासंगृहीयात् यस्माद्विकंशतंहि-
गृह्णानोवृद्धिधनग्रहणे किल्बिषी न भवति ॥ १४१ ॥

(४) राघवानन्दः । सबन्धकेशतंप्रत्यशीतिभागमेवाबन्धके द्विकमेव नाधिकमित्याह द्विकमिति । कार्यवशादपि
नभवत्यर्थकिल्बिषीयुक्तत्वात् ॥ १४१ ॥

(५) नन्दनः । संबन्धकविषयमेतदुक्तंपक्षद्वयंब्राह्मणविषयनान्यवर्णविषयमिति सूचयन्नाह द्विकमिति । द्विका-
दिषु पूर्ववत्कन्प्रत्ययः ॥ १४१ ॥

द्विकंत्रिकंचतुष्कंच पञ्चकंच शतंसमम् ॥ मासस्य द्दिगृहीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः ॥ १४२ ॥

(१) मेधातिथिः । ब्राह्मणादिवर्णक्रमेण चतुर्णां सकाशाद्विकादयश्चत्वारः कल्पयितव्या यथासङ्गत्वेन ग्राह्यतयानुज्ञायन्ते । समं पादेन वाऽर्धेन वाधिकं तदाधिकोपि सपादद्विकं सार्द्धद्विकमिति द्विकादिव्यपदेशस्यानिवृत्तेराशङ्कानिवारणार्थं समग्रहणं यथा मात्रान्यत्वेऽपि संज्ञान्तख्यपदेशं निवर्तयति इदमपि पूर्वेणाजीवतः कल्पान्तरस्य वा महते धर्माय गृहारम्भो राजा च नातिधार्मिकस्तत्रायं विधिः । येऽसाधुभ्योऽर्थमादायेति न्यायेन । समामिति पाठान्तरं संवत्सरं यावदेषा वृद्धिर्न परतोपि महत्वादिकत्वाद्वैगुण्यं स्यात् ॥ १४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतदेवानूद्य क्षत्रादिष्वह द्विकमिति । समं तन्न्यूनमधिकं वा ॥ १४२ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणादिवर्णानां क्रमेण द्विकंत्रिकंचतुष्कंचपञ्चकंचशतंसममितोनाधिकं मासस्य संबन्धिर्नोवृद्धिगृहीयात् । नन्वशीतिभागोलघुद्विकशतग्रहणं गुरु कथमिमौ ब्राह्मणस्य लघुगुरुकल्पौ विकल्पेता । अत्र मेधातिथिगोविन्दराजौ तु पूर्ववृद्ध्यानिर्वाहासंभवे द्विकशतपरिग्रह इति व्याचक्षाते । इदन्तुवदामः सबन्धकेष्वशीतिभागग्रहणं बन्धकरहिते तु द्विकशतवृद्धिपरिग्रहः । तदाह याज्ञवल्क्यः ॥ अशीतिभागोवृद्धिः स्यान्मासिमासिसबन्धके । वर्णक्रमाच्छतं द्वित्रिचतुः पञ्चकमन्यथा ॥ वेदान्तोद्गीतमहसोमनेर्व्याख्यानमाद्रिये । तद्विरुद्धं स्वबुद्ध्या च निबद्धमधुना तनैः ॥ १४२ ॥

(४) राघवानन्दः । निबन्धके तु चतुर्णां व्यवस्थितिमाह द्विकमिति ॥ अशीतिभागोवृद्धिः स्यान्मासिमासिसबन्धके । वर्णक्रमाच्छतं द्वित्रिचतुष्पञ्चकमन्यथा ॥ अन्यथा अबन्धक इति याज्ञवल्क्योक्तेः । अतो द्विकादिकमशक्तपरमिति व्याख्यानं त्वं श्रद्धेयमिति ॥ १४२ ॥

(५) नन्दनः । ब्राह्मणानां द्विकम् । क्षत्रियाणां त्रिकम् । वैश्यानां चतुष्कम् । शूद्राणां पञ्चकं शूद्रात्पञ्चकं मासस्य गृहीयादित्यर्थः ॥ १४२ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणेऽधमर्गे द्विकं शतं गृहीयात् । क्षत्रिये त्रिशतं । वैश्ये चतुष्कं । शूद्रे पञ्चकं । मासि मासीतिसर्वत्र संबध्यते । समं नन्यूनमधिकं । वर्णानामनुपूर्वशः क्रमेण ॥ १४२ ॥

न त्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीदृद्धिमाप्नुयात् ॥ न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः ॥ १४३ ॥

(१) मेधातिथिः । बहुधा प्रयोगो गृहीत्वाधिमन्यथा च आधिरपि द्विविधो गोप्यो भोग्यश्च भोग्योपि द्विविधः समयादुल्लभमानभोगः सरूपतो वा । आधिर्दोष्धी गौः पिहितसुवर्णादि तत्र भोग्यमाधिमधिकृत्येदमुच्यते न त्वेवाधौ सोपकार इति विविधसोपकारः क्षीरिणीगौः क्षेत्रारामादि च तस्मिन् भुज्यमाने कुसीदे भवा कौसीदी अनन्तरोक्ता वृद्धिस्तानामुयात् आधिन्तु भुञ्जानोनान्यां वृद्धिभेदो गोप्येऽप्याधौ कालसंरोधाच्चिरमवस्थानाद्विगुणीभूतेऽप्यमोक्षमाणे न निसर्गोऽस्ति न विक्रयः । अन्यत्र च विधिनार्पणं निसर्गः । अन्यत्र संक्रामितं द्विगुणीभूतमपि पुनर्वर्धत एव तथा च पठिष्यति सरुदाहतेति विक्रियः प्रसिद्धः सोपि न कर्तव्यः । किंतु स्यामवस्थायां कर्तव्यं । आधिभुञ्जीत यावद्विगुणं धनं प्रविष्टे ततो मोक्ष्य आधिस्तदुत्पन्ने प्रविष्टे द्विगुणे धने भोग्यस्तावदेव भोग्यस्तावदेयं भोग्यस्त्वाधिरस्य लाभं तिष्ठेद्यावद्वाधोन आगते तु बाधे कथंचिद्वनिकोदरिद्रतामुपगतस्तावन्मात्रशेषधनः सकञ्चित्कालं प्रतीक्ष्य राजनि निवेद्य विक्रीणीत बन्धं ततो विक्रयादुत्पन्नं द्विगुणमात्मनो बंधनं गृहीत्वा शेषं मध्यस्थहस्ते ऋणिकसात्कुर्यात् । ननु च ॥ आधिः प्रणश्ये द्विगुणे धने यदि न मोक्षयेदिति पठ्यते । एतदुत्तरत्र व्याख्यास्यामः । प्रणाश्यत्वान्न पूर्वस्वामिनः स्वाम्यहानिः प्रयोक्तुश्च स्वतापत्तिः यदि च निसर्गविक्रयौ नस्तः कीदृशमस्य स्वा-

भ्यमुच्यते तस्मात्प्रतिषेधसामर्थ्येन प्रणाशवचनप्रतिषिद्धभोगस्य भोगानुज्ञानार्थव्याख्यायते वस्त्रादिविषयं वा तस्य हि भज्यमानस्य प्रणाश एव न क्षेत्रादेरिव तिष्ठतः स्वरूपात्प्रच्यवमानस्य भोग्यता संभवति तेनैतत्स्मृतिव्यवस्थायां व्याख्येयं गौणौ चात्र प्रणाशनिसर्गो विक्रयप्रतिषेधस्तु मुख्य एव । न ह्यसौ गौणतया प्रतिपत्तुं शक्यते एतदेव प्रस्तुत्य न स्यातां विक्रयाधीने इति स्मृत्यन्तरं पठितमत इह निसर्गोन्यत्राधानं विक्रयसाहचर्यात् सदृशौ हि तौ केनचिदंशेन ॥ १४३ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । सोपकारे गोप्यादिनापि प्रसंगादुपकारसिद्धौ वृद्धिर्नग्राह्या । कौसीदीं कुसीदवृत्तिसंबन्धिनीम् । कालसंरोधात् कालातिक्रमेपि द्वैगुण्योर्ध्व आधेर्बन्धकद्रव्यस्य न निसर्गोदानमस्ति नच विक्रयोस्ति किंतु प्रतिरोधादिना धनस्यैव ग्रहणम् ॥ १४३ ॥

(३) कुल्लूकः । भूमिगोपनादौ भोगार्थबन्धके दत्ते धनप्रयोगभवामनन्तरोक्तां वृद्धिमुत्तमर्णेन लभते कालसंरोधाच्चिरकालावस्थानात् द्विगुणीभूतमूलधनप्रवेशेऽपि न निसर्गोऽन्यस्मैदानं नवान्यतो विक्रयः । मेधातिथिगोविन्दराजौ तु आधेश्चिरकालावस्थानेऽपि न निसर्गो नान्यत्र बन्धके नार्पणमिति व्याचक्षाते । अत्र तु सर्वदेशीयशिष्टाचारविरोधः बन्धकोक्तभूम्यादेरन्यत्राधीकरणसमाचारात् ॥ १४३ ॥

(४) राघवानन्दः । सबन्धकेऽशीतिभागइत्युक्तं तत्र द्रव्यविशेषे तदभावमाह नेति । आधौ गोभूमिदासादौ सोपकारि भोगार्थदत्ते तत्र भोग एव वृद्धिः । कौसीदीलभ्यइतिप्रसिद्धां नमुयादित्यन्वयः । तत्रैव बन्धकस्य विशेषमाह नेति । कालसंरोधात् चिरकालावस्थानात् द्विगुणीभूतमूलप्रवेशेवा । विसर्गोत्र स्वच्छन्देनान्यस्मै दानम् । नापि विक्रयः । तथाच याज्ञवल्क्यः ॥ आधिःप्रणश्येद्विगुणे धने यदि न मोच्यते । काले कालकृतोनश्येत्फलभोग्योन नश्यति ॥ एतावताकालेन ननीयतेचेत्तदैवतदितिकालकृतस्य वचनादेव सर्वस्वत्वहानिरित्यर्थः । फलभोग्यउक्ताधिरूपः ॥ १४३ ॥

(५) नन्दनः । अथाधिविषये वृद्धिप्रकारमाह नत्विति । ऋणप्रदानार्थमधमर्णादुत्तमर्णेन गृहीते बन्धआधिः तस्मिन्सोपकारे सत्ये च धेन्वनडुर्हादिरूपतया भोगक्षेमे सत्यपि योभोगानुज्ञापरस्परमाधिराहितः यस्य चाननुज्ञातभोगमन्तरेण वैगुण्यप्रसङ्गः तस्मिन्नाधौ भुक्तेस्तत्प्रपीत्यर्थः । कौसीदींऋणसंबन्धिनीसंरोधात् । सकालःसमामइत्यधमर्णायदद्यात् किन्तु यावदणलाभंभुञ्जीत । नचलब्धमृणमिति । विक्रोणीयादिति ॥ १४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । ननुतर्कै । वा पक्षान्तरे सोपकारे आधौ बन्धके कौसीदींवृद्धिमाभुयात् गृह्णीयात् विश्वासारथ्यआधीयतइतिआधिरितियावत् आधेः कालसंरोधात् कालातिक्रमात् ननिसर्गोस्ति । न दानं । न विक्रयः । तथायोगीश्वरः ॥ आधिःप्रणश्येद्विगुणोधनेयदिनमोच्यते । कालेकालकृतोनश्येत्फलभोग्योन नश्यति ॥ क्षेत्रारामादि फलभोग्यादि कदाचिदपि न नश्यति ॥ १४३ ॥

न भोक्तव्योबलादाधिर्भुञ्जानोवृद्धिमुत्सृजेत् ॥ मूल्येन तोषयेच्चैनमाधिस्तेनोन्यथा भवेत् ॥ १४४ ॥

(१) मेधातिथिः । ननु च प्रागप्येतदुक्तं नत्वेवाधाविति सत्यं यत्र यावत्येव वृद्धिस्तावानेव भोगः सपूर्वस्य विषयः यत्र तु महतीवृद्धिः स्वल्पोपभोगश्चेद्वलादिना भुञ्जानस्य सर्वेण सर्ववृद्धिहानिः यत्र क्षेत्रगवादिर्बन्धस्तद्भोगश्च वृद्धिसमितः चोपचितामपि वृद्धिं ददाति नच बन्धनं द्विगुणं तत्र कयाचिदतिमत्यात्यन्तमुक्तैव वृद्धिर्निश्चेतव्या यदि तु वस्त्रादिभुज्यमानं न स्यात्तत्र मूल्येन तोषयेदेनमाधातारमितरोपि वृद्धिर्लभते यतो न्यथा ददन्मूल्यमाधिस्तेनोभवेत् यज्जातीयमाधिभुक्त्वांस्तदपहारे योदण्डः स एव दाप्यस्तेनश्रौरः । अन्ये व्याचक्षन्ते बलाद्भुक्ते वृद्धिहानिर्भुञ्जीत तन्मूल्यतएव वा यदणि-

कस्य मूल्यंमूल्यहिरण्यंयत्रभुञ्जानउच्यते मा मे बन्धविजानीष्वमा भुङ्क्त्वकतिपयैरहोभिर्मोक्षयामि तथाप्युच्यमानोभुङ्क्त्व-
वंसेस्य विषयः ॥ १४४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शयनादिषु भुज्यमानेष्वव्यविनाशिषु बन्धकदात्रा यदि भोगनिषेधः कृतस्तदा नत-
द्भोक्तव्यं भोगे वृद्धित्यागः । यदातु वृद्धिरतिभूयसी तदा वृद्धिगृहीयात् । किंतु मूल्येन तोषयेत् । यावता तावद्भो-
गसिद्धिस्तद्देयम् ॥ १४४ ॥

(३) कुट्टूकः । गोप्याधिविषयंवचनमिदंस्त्रालङ्कारादिगोप्याधिर्बलान्न भोक्तव्यः भुञ्जानोवृद्धिमुत्सृजेत्पाङ्गुल्ये-
नात्रैनंतोषयेत् । यद्वा भोगेनासारतामाधौ नीते सारावस्थाधिमूल्यदानेन स्वामिनंतोषयेत् अन्यथा बन्धकचौरः स्या-
त् ॥ १४४ ॥

(४) राघवानन्दः । वस्त्रालंकारादेराधौ विशेषमाह [नभोक्तव्यइति] । नभोक्तव्यस्त्वयाधिरितिनिषेधे कृते बलाद्भु-
ञ्जानःउत्सृजेन्न गृणीयात् । प्रत्युत मूल्येन भोगेनासारतांगते तन्मूल्येन एनं पूर्वस्वामिनम् । अन्यथा तन्मूल्यस्यादाने
आधिस्तेनः उत्तमर्णोपि गोप्यबन्धविषयः ॥ १४४ ॥

(५) नन्दनः । भुञ्जानएनमधमर्णमूल्येन भुक्तेन फलेन तोषयेत् भुक्तफलमधमर्णाय दद्यादित्यर्थः । अथवा यदि
न तोषयेदाधिः स्तेनोभवेत् आधिश्चोरःस्यात् ॥ १४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । बलादाधिर्न भोक्तव्यः । भुञ्जानःसन्वृद्धिमुत्सृजेत् । भोगेनाधौ नष्टे व्यवहाराक्षमेएनमूल्येन
तोषयेत् । अन्यथा आधिस्तेनः चौरः भवेत् ॥ १४४ ॥

आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हतः ॥ अवहार्यौभवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ ॥ १४५ ॥

(१) मेघातिथिः । आधिरुक्तार्थः श्रुत्या भुज्यमानः उपनिधिस्तु शास्त्रान्तरवदन्तर्हितोव्याप्तः तौ चिरकालंन
स्थाप्यौ किंतर्हि प्राप्ते काले तौ मोक्षणीयौ । आधिमोक्षणकालोद्विगुणीभूतधनंतस्यातिक्रमस्तस्मिन्नपि कालेऽमोक्षः उप-
निधिरपि यावता कालेन नास्यावसरोभवति मदीयमेवैनद्भोक्ताहमिति समत्याहारकालः ततोधिकः कालः कालात्यय-
स्तन्मार्हतः सन कर्तव्यइत्यर्थः । हेतुमाह अवहार्यौभवेतान्ताविति अतोपि दीर्घकालमवस्थितावप्रत्यान्हीयमाणौ व्यव-
हार्याविति स्थितंतस्माद्विगुणीभूतधनेऽधिमोक्षणे प्रयतितव्यं सुखदुपदेशोयंतवेवाधाविति भूयसापि कालेनापहारः यतो-
वक्ष्यति आधिसीमाबालधनमिति अतस्तस्यैवायमनुवादः । अन्येत्वाधिविषयमुपदेशमिच्छन्ति योद्वेषेण द्विगुणीभूते धने
कालंक्षपति तत्रिलाभंधनंनाधिकंवर्द्धते । नचास्याधुनाऽन्यत्राधानविक्रयौस्तद्वद् वृद्धिमयंमालभतामित्यनेन मात्सर्येण
तत्रेदमुच्यतेऽवहार्यौभवेतान्ताविति अनया बुध्याऽमोक्षयतः स्वाम्यमस्य निवर्तते यस्तु कथंचिदसति धने न मोक्षयति
तस्य निसर्गविक्रयौ न स्तइति अद्यत्रापरोर्थोमुखेनोपेक्षयति परहस्तगतया शङ्क्योच्यतेऽवहार्यौभवेतामिति ॥ १४५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आधिग्रहणान्तरमल्पमूल्यापतौ तत्पूरकतया यत्नेनसह स्थाप्यते सउपनिधिः । का-
लात्ययं कालातिक्रमं नाशम् । अवहार्यौ स्वामिना आनेतव्यौ ॥ १४५ ॥

(३) कुट्टूकः । आधिर्बन्धकःउपनिधीयतइत्युपनिधिः श्रुत्याभोगार्थमर्पितंद्रव्यं नारदस्मृतिलक्षितौ च निक्षेपो-
पनिधी तावेवात्रोपनिधिशब्देन गृह्येते । एतावाभ्युपनिधी चिरकालावस्थितावपि न कालात्ययमर्हतः यदैव स्वामि-
ना प्रार्थितौ तदैव तस्यावहार्यौ समर्पणीयावित्यर्थः ॥ १४५ ॥

(४) राघवानन्दः । आधिप्रसंगेनउपनिधेःकालात्ययेऽपि दानविक्रयौ नरतइत्याह आधिरिति । आधिः बन्धकत्वेन

दत्तः उपनिधिः प्रीत्या भोगार्थमुपनीयमानोहारकुण्डलपात्रादिः कालेन चिरकालेनापि अत्ययं विनाशं धनिकान्नाहृतः किंच । अवहार्यौ समर्पणीयौ । स्वामिप्रार्थनेसति सुदीर्घकालेपि उपनिधिरिवाधिरपि न नश्यतीति वार्थः । नत्वेवाधा-
वित्यत्रात्ययाभावस्योक्तत्वात् ॥ १४५ ॥

(५) नन्दनः । आधिःप्रसिद्धः स्वामिनास्वीकर्त्रपेक्षामात्रेण भोगमनुज्ञाय निहितोर्थः उपनिधिः । तौ परिभाषि-
ते काले प्राप्तव्यौ न कालात्ययमर्हतः । कालोतीतश्चेत्तावपहाभ्यौ अपहाराहौ । दीर्घकालावस्थानात्परिग्रहीत्रा भुञ्जानेन
ममेदमित्यपहर्तुसुशकावित्यर्थः ॥ १४५ ॥

(६) रामचन्द्रः । आधिश्च उपनिधिश्च उभौ कालात्ययं चिरकालं न नाशनं अर्हतः । तौ आभ्युपनिधी
दीर्घकालस्थितौ अवहार्यौ प्रयत्नेननेतव्यौ भवेताम् ॥ असङ्ख्यातमविज्ञातं समुद्रं यन्निधीयते । तंजानीयादुपनिधिनिक्षे-
पं गणितंविदुः ॥ १४५ ॥

संप्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन ॥ धेनुरुष्ट्रोवहन्श्वोयश्च दम्यःप्रयुज्यते ॥ १४६ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रीतिरेवसंप्रीतिः तया हेतुभूतयोपभुज्यन्तेबान्धवादयस्ते न नश्यन्ति पूर्वस्वामिसंबन्धहान्याभो-
क्तुः सत्त्वापत्तिर्नाशः बान्धवादीनांप्रीत्या भुज्यमानानानं भवति । ननु च सर्वस्यैवोपनिधिर्भागेनापहारोनास्ति वक्ष्यति
निक्षेपोपनिधिश्चइति कोविशेषोबन्धादीनांउच्यते यत्र दशवर्षोभोगोनच स्वरूपनाशस्तत्र यत्किंचिदिति सामान्यवचनेन
प्रामेऽपहारे उपनिधेः प्रतिषेधः बन्धादीनांतूपनिधित्वमेव नास्त्यतः प्रतिषेधस्य नायंविषयइति स्यादाशङ्कानिमित्तोहि
धेनुशब्दोयदि परसंवत्सरे धेनुः स्यात् परतुपसर्गायदि गर्भमादध्याद्धेनुत्वमापद्येत तदा जनयेदाशङ्कामस्यैवेयं देवदत्तस्य
यतः प्रष्टौहीनभोग्या प्रीतिसंभोग्यश्चोपनिधिर्येन स्वकैर्भोग्यंपरिपाल्य पुनर्भुज्यमानंदष्टं पुनरुपनिधेरेतद्रूपंभोग्योऽपुन-
धिरसद्भावाद्भोग्यस्य च कीदृशगुणमुपनिधित्वं उपनिधेश्चासौ प्रतिषेधः तस्मादुपनिधिरूपातिक्रमादसति तस्मिन्प्रतिषे-
धेयत्वान्तरमुक्तम् । उष्ट्रादीनामपि दशवर्षाणि भुज्यमानामवस्थान्तरापत्तिः अतस्तत्रापि नोपनिधित्वम् । वहन्निति केचिद-
श्वविशेषणंमन्यन्ते । वृषस्यनायंविधिः अपरे तु गर्दभाश्वतरार्थमन्यन्ते । पुनरवसरोस्ति देहि मे वस्त्रंविनाशितंत्वया
तत्समेन मूल्येन संसाधयति ॥ १४६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एते दशवर्षोर्ध्वमपि न नश्यन्ति । धेनुर्दुह्यमाना गौः । वहन्नस्वोन्तवहन् । दम्योदम-
नीयोबलीवर्दीयःस्वयंदान्तःकृत्वा प्रयुज्यते हले ॥ १४६ ॥

(३) कुल्लूकः । यत्किंचिद्दशवर्षाणीत्यनन्तरंभोगेन स्वत्वहानिवक्ष्यति तदपवादार्थमिदम् । दृश्यमानागौरुष्ट्रोश्व-
श्ववहन् दमनार्थं च प्रयुक्तोबलीवर्दादिः एते प्रीत्याऽन्ये नतु भुज्यमानाः कदाचिदपि स्वामिनो न नश्यन्ति प्रदर्शनार्थ-
मिदंप्रीत्योपभुज्यमानं न नश्यतीति विवक्षितं सामान्योपक्रमंचेदंविशेषाभिधानमिति नपुंसकलिङ्गता ॥ १४६ ॥

(४) राघवानन्दः । यत्किंचिद्दशवर्षाणीतिभोगेनवक्ष्यमाणस्वत्वहानिर्बाधकमाह संप्रीत्येति । न नश्यन्ति स्वामि-
नः सत्त्वे दशवर्षाभ्यन्तरेऽकृतेपि निषेधे भुञ्जानस्यापि स्वत्वं जायतेऽतःस्वामिप्रार्थनायांदातव्याधेन्वादयश्चत्वारः ॥ चन्द्रे
कलङ्कःसुजने दरिद्रेतेतिवन्ननश्यन्तीत्यन्वयः । दुग्धार्थंधेनुर्वाहनार्थमुष्ट्रोश्वश्च दमनार्थमन्यद्वलीवर्दादि ॥ १४६ ॥

(५) नन्दनः । या धेनुर्दुह्यमाना गौर्वहन्नुष्ट्रोश्वोदम्योबलीवर्दः प्रयुज्यते तानिसर्वाण्याहितानि उपहितानि वा सम-
वृत्त्या भुज्यमानानि चिरकालावस्थानेऽपि नश्यन्ति परिग्रहीत्रा ममेदमिति नापहर्तुशक्यानीत्यर्थः ॥ १४६ ॥

(६) रामचन्द्रः । संप्रीत्या अनुज्ञया धेन्वादीनि भुज्यमानानि कदाचन ॥ १४६ ॥

यत्किंचिद्वशवर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी ॥ भुज्यमानं परैस्तूष्णीं सतल्लब्धुमर्हति ॥ १४७ ॥

(१) मेधातिथिः । यत्किंचिद्भुज्यमानमित्यवस्थितेन संबन्धोधनीति सन्निधानात्सामान्यनिर्देशोऽपि पुमानत्र धनोपेक्षणे प्रतीयते । यत्किंचिदिति दासोदासासारभाण्डादि सर्वग्राहयति नहि तल्लोकेऽत्यन्तं धनमिति प्रसिद्धं गोभू-
हिरण्याद्येव महार्धधनमिति प्रसिद्धतरं तेनायमत्र वाक्यार्थः यत्किंचिद्रव्यपरेण भुज्यमानं धनी धनत्वाभि दशवर्षाणि या-
वत्प्रेक्षते न किंचिद्वक्ति नराजनि व्यवहरति न कुलसमक्षं भोक्ता रं वदति मदीयमेतत्किमिति त्वया स्वयं भुज्यत इति सदश-
भ्यो वर्षेभ्य उत्तरकालेन तल्लब्धुं स्वीकर्तुमर्हति निवर्ततेऽस्य स्वमिति यावत् । प्रेक्षणेन ज्ञेयता मात्रमुच्यते न प्रत्यक्षतै-
व सन्निधाविति वक्ष्यामः न ज्ञातिसंबन्धिभिः तथाच स्मृत्यन्तरं ज्ञातिसंबन्धिभिर्विनेति ॥ संबन्धिबान्धवैश्चैव भुक्त्यजा-
तिभिस्तथा । न तद्गो गो निवर्तते भोगमन्यत्र कल्पयेत् तदयुक्तं । अव्यवस्थवं सति स्यात् के ज्ञातयः के वा संबन्धिन इति संब-
न्धमात्रग्रहणे न किंचिद्वावर्त्यतस्माद्येनान्यदीयं भुज्यते स एव भवति किन्तु तथा सति परशब्दो नुवादमात्रमनर्थः कस्यापि न
परव्यपदेशः सति रस्यते यथा भार्या पिता पुत्राविति तत्र ह्यस्मान्यपि व्यपदेशोऽस्त्यर्द्धो ह वा एष आत्मनो यज्जायाऽऽत्मा वै पुत्रना-
मासीति । तेन दम्पत्योः पितृपुत्रयोर्न भोगा भोगौ कारणं तेषामपि विभक्तधनानां भोगकाले प्राप्तेऽभोगा बाधक एव भार्या-
या अपि स्त्रीधने भर्तृसकाशाद्गृहोते बन्धेन पत्युर्भोगे नासिद्धिः साक्षात्त्यन्तपरवती नोभयोर्विभागोस्ति स्त्रीधनमपि तेनैव
तस्याः परिपालनीयं राज्ञा स्त्रीश्रोत्रियद्रव्यादन्यत्रेति च पठ्यते एवमनेन स्वामिन उपेक्षमाणस्य स्वाम्यहानिरुक्ता कस्य तर्हि
तत्संभवतीत्येवमर्थमुत्तरश्लोकः ॥ १४७ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । द्रव्यान्तरेष्वाह यत्किंचिदिति ॥ १४७ ॥

(३) कुल्लूकः । यत्किंचिद्धनजातं समक्षमेव प्रीत्यादिव्यतिरेकेण परैर्दशवर्षाणि भुज्यमानं स्वामी प्रेक्षते मा भुङ्क्ष्वे-
त्यादि प्रतिषेधात्किं न रचयति नासौ तल्लब्धुं योग्यो भवति तस्य तत्र स्वाम्यनिवर्तत इति भावः ॥ १४७ ॥

(४) राघवानन्दः । भूम्यतिरिक्तं यत्किंचित्कालनियमार्थं दशवर्षाणि भुज्यमानं कदापि मा भुङ्क्ष्वेति न निषिद्धं सध-
नी स्वामी नामुयादित्यन्वयः । अयमर्थः । प्रतिषेधभक्तयोः समानत्वेऽपि स्वत्वानुपादकत्वम् ॥ अनागमंतु यो भुङ्क्ते बहून्-
ब्दशतान्यपि । चोरदण्डेन तं पापं दण्डयेत्पृथिवीपतिरिति वचनात् ॥ आगमेन प्रमाणेन भोगीयाति विशुद्धतामिति कात्या-
यनोक्ते श्रुतिग्रहादि विना स्वत्वं नास्त्येव किंतु पूर्वभुक्तभूम्यादिफलं बहुमूल्यमपि पूर्वस्वामिना न प्राप्यते भूम्यादि प्रा-
प्यते । एवं च वक्ष्यमाणं भयं तद्व्यवहारेणेति भयं नष्टं तद्धनं किंतु तदुत्पन्नं बहुसस्यादि नष्टमित्यर्थः ॥ १४७ ॥

(५) नन्दनः । आहितमुपहितमिति यावत् । किंचिद्वस्तु दशवर्षाणि परैर्ग्रहीतृभिर्भुज्यमानं तूष्णीमासीनो धनी आघातो-
पानिधाता वा यः प्रेक्षते न तल्लब्धुमर्हति ॥ १४७ ॥

अजडश्चेदपोगण्डो विषये चास्य भुज्यते ॥ भयं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद्रव्यमर्हति ॥ १४८ ॥

(१) मेधातिथिः । न सतल्लब्धुमर्हतीत्यस्य शेषः अजडश्चेदपोगण्डे यदि जडः अप्रतिपत्तिमान् पोगण्डो बालः प्रा-
क्षोडशाद्वालः पोगण्ड इत्युच्यते एतच्च स्वधनसंरक्षणासामर्थ्यकारणानामन्येषामप्युपलक्षणार्थं मद्यद्यूतविशक्ततादीर्घरो-
गगृहीततातपः स्वाध्यायैकपरत्वं व्यवहारेष्वनैपुण्यं वागिन्द्रियाभावो बाधिर्यं यस्यैतेऽसामर्थ्यहेतवः सन्ति न तदीये धने भोक्तु-

बहुतरेणापि कालेन स्वत्वमापद्यते विषये चास्य भुज्यते अस्येति धनिनः प्रत्यवमर्शः विषयः काश्मीराणां काश्मीरपञ्चालानां पञ्चालादि भोक्ता च स्वामी चैकस्मिन्नेव देशेवसेत्तथापि शक्तिविहीनस्यायं व्यवहारः । अत्रापि व्याख्याने प्रपञ्चएवायं अजडापौगण्डग्रहणस्य प्रदर्शनव्याख्यानत्वात् तेन यस्य जानतः प्रज्ञानोपसंभाव्यते तदीयं धनं दशवर्षाणि भुञ्जानो भोक्तैर्वाहति तस्य तत्त्वमित्यवगन्तव्यम् । ननु च न भोगात्स्वत्वं युक्तं सत्वे सति भोगो युक्तः भोगाद्धि स्वत्वेऽव्यवस्था स्यात् । यश्चायमवधिर्दशवर्षाणीति स स्मृत्यन्तरेण न सर्वस्मिन् धन इष्यते किं तर्हि ॥ पश्यतोऽब्रुवतो भूमेर्हानिर्विंशतिवार्षिकीति । अन्ये तु विंशतिवार्षिकेणापि भोगेन स्वाम्यमनुमन्यन्ते एवं ह्याहुः ॥ अनागमं च यो भुङ्के बहून्व्यब्दशतान्यपि । तथा ॥ संभोगो यत्र दृश्यते न दृश्येतागमः क्वचित् । आगमः कारणतत्र न संभोग इति स्थितिः ॥ त्रिपुरुषभुक्तिवादिनस्तावदेवं पठन्ति ॥ यद्विनागममत्यन्तं भुक्तं पूर्वैस्त्रिभिर्भवेत् । न तच्छक्यमपाहर्तुं क्रमात्त्रिपुरुषागतम् ॥ अस्यायमर्थः । आगमो दानाद्यद्यसति तस्मिन् यद्भुक्तं पितृपितामहप्रपितामहैस्तच्चतुर्थस्य सिध्यति न तु विंशत्या वर्षैस्तत्रान्यत्रोक्तं ॥ आदौ तु कारणदानं मध्ये भुक्तिस्तु सागमा । अन्ते तु भुक्तिरैवैका प्रमाणस्थावरे भवेत् ॥ तृतीयस्य भोगात्सिद्धिर्न प्रथमद्वितीययोः पितृपितामहयोरस्यापि न विंशतिवर्षेर्भोगप्रमाणं अन्येत्वागमरहितस्य वर्षाशतिकस्यापि भोग्यस्याप्रामाण्यमनुमन्यन्ते तथा चाहुः ॥ अनागमंतु यो भुङ्के बहून्व्यब्दशतान्यपि । चौरदण्डेन तं पापं दण्डयेत्पृथिवीपतिः ॥ भोगकेवलतां यस्तु कीर्तयेन्नागमं क्वचित् । आगमः कारणतत्र न संभोग इति स्थितिः ॥ या तु बहून्व्यब्दशतानीति तदा भर्तृविषयमात्मीयमेव भोगम् । चिरकालत्वे हेतुमाह । तस्य पितृपितामहभोगेन विना न सिद्ध्यतीत्यर्थः । कथं पुनरेकस्यानेकादशतो भोगः पुरुषस्य नैष दोषः चिरकालप्रतिपादनपरत्ववचनाः शतं सहस्रमित्यादयः शब्दा यथा शतायुर्वै पुरुषः शतवीर्यः शतोन्द्र इति । एतदुक्तं भवति विंशतिवार्षिकाद्भोगादधिकदापि न प्रथमभोक्तुर्भोगात्स्वत्वसिद्धिरर्थात्पुत्रस्यापि न सिद्ध्यतीति न यथा श्रुतमेव । नहि बहुष्वद्दशतेष्वागमस्मरणं संभवति ततश्च चिरन्तनदेवाय तनवब्राह्मणमठग्रामाराजभिरपह्नयेरन् लेख्यशासनमपि राजाधिकृतलेखकलिखितमिति चिरन्तनेषु नैव प्रत्यभिज्ञायेत कूटशासनमपि संभाष्येत तस्माच्चिरन्तनो भोगः स्वत्वस्य दानाद्यारामसंभावनया ज्ञापकः भूतएव भुक्तिः प्रमाणमध्ये पठिता ॥ लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं स्मृतमिति । न तु स्वत्वकारणमध्ये सप्तविंशतागमादिति श्रुतशौर्यतपःकन्ये त्यादौ च । अथवा यत्र बलादिभोगकारणं संभाव्यते तद्विषयमेतत् । अनागममित्यादि त्वत्रैव प्रकरणे पठितम् ॥ याचितान्वाहितं न्यस्तं बलावष्टब्धयाचितम् । अप्रत्यक्षं च यद्भुक्तं षडेता न्यागमं विनेति ॥ न तु चाधिः सीमेत्यनेनैवायमर्थः सिद्ध उक्तस्य कालस्य त्रिपुरुषावबुद्धेः स एवार्थः । अयं तु तत उत्तरकालमपि निवृत्यर्थमारभते तथा च बहून्व्यब्दशतानीत्यत्र वचनमन्वाहितं यत्प्रकटमन्यथा प्रदर्शयन्तर्हितमन्यदवस्थाप्यते बन्धोपादत्तरात्रौ सन्धिभेदछलादिना बलावष्टब्धत्वं प्रसह्येति विशेषः । शिष्टं प्रसिद्धम् । यदि त्रिपुरुषाभुक्तिः प्रमाणं कस्तर्हि ॥ यदुक्तं पश्यतोऽब्रुवतो भूमेर्हानिर्विंशतिवार्षिकीत्यस्यार्थः केचिदाहुः कियन्तं कालं भुञ्जानस्य सति लेख्यदोषादौ सक्ताभियुक्तादिरुतत्वं क्रमाक्षरविलेपादसत्यनयाभ्यामधमर्ण उच्यते । संदिग्धरूपमपि लेख्यमियता कालेन निश्चीयते । अन्येत्वाहुर्नैव तामेव भूमिरकस्य बन्धायापयति तामेव चापरस्यैकस्याऽऽद्यं प्रमाणपरस्य पाश्चात्यं तत्र सत्यपि प्रामाण्यस्याद्यत्वे पाश्चात्योर्विंशतिवार्षिकोभोगो बलवानेतत्त्वमुक्तं येनैव स्वीकृतो बन्धस्तथैव सः आधिस्वीकरणासिद्धिरिति वचनात् स्वीकारश्च भूमेर्भोगाभिलाषेव तेनेदं विषये स्वल्पेनापि भोगमिति कालेन बन्धसिद्धिः । एतदेवाभिप्रेत्योक्तं ॥ विद्यमानेऽपि लिखिते जीवत्स्वपि हि साक्षिषु ॥ विशेषतः स्थावराणां यन्न भुक्तं न तस्थिरमिति । विशेषग्रहणं गवाश्वादावभुज्यमानेऽपि यतस्तेनावश्यं भोग्यास्तथाहि न विज्ञो गृह्णाति कीदृशो स्यात्ततो भोगः भूमिस्तु सर्वदा फलमेति भोगलाभमन्तरेण न बन्धत्वसिद्धिः ।

तत्रापि कथंचिदुपेक्ष्यमाणस्य तु यच्छतः प्रथमभोगकालएव यदि द्वितीयेनाऽऽधिग्राहकेण संनिकर्षादिना स्वीकृतः स्यादितरेण वाद्य प्रमाणवतादेशविप्रकर्षात्कार्यव्यासङ्गान्स्वीकृतस्तदाविचार्यते नेयतातदसिद्धिः । यदा तु गृहीताधिरेव समनन्तरं राज्ञा प्रव्राजितो महान्तं व्याधिमाससाद नवास्यान्योर्थरक्षाद्यधिकृतः कश्चिदस्ति सचिरेणाप्यागतः सिद्धावपि निरुपधिप्रमाणकाले लभतएव स्वीकृतमप्यन्येन । अन्ये तु भ्रातृणां न्यूनाधिकविभक्तानां पुनर्विभागः समीकरणार्थोक्तः । सर्वशतवर्षेभ्य ऊर्ध्वनास्तीत्येवमर्थमिदमाहुः । एतावन्मात्रफलत्वे तत्रैवाभिधानमुचितं सामान्याभिधानंतु प्रकरणोत्कर्षेणान्यविषयतामपि ज्ञापयति । अपरे तु खिलीभूता भूमिर्येन क्षेत्री कृता तत्र भूमिस्थानोपभोगोक्तः सचेदेतावन्ति वर्षाणि निगृहीतस्तथा सूत्रक्षेत्रयन्त्रैश्च स्वामीभूमित्वेन सच विषयइत्येवमाहुः । इह भवन्तस्त्वाहुयौ समानदेशौ समानसामर्थ्यौ समानत्वभावौ समानधनौ तत्प्रयोजनावपरस्परसंबन्धिनौ तयोरन्यतरस्येतरेण भुज्यमानमियन्तमवधिसमक्षमुपेक्षमाणस्यास्यैव स्थावरेषु स्वाम्यं किन्तु त्रिपुरुषभुक्तिविरोधात् । सर्वेण सर्वविरुद्धेहेते स्मातीते न किमपि कल्पनमर्हतीत्येनास्ति च स्वाम्यं नास्ति चेत् किंचिद्युज्यते ततएव व्यवस्था युक्ता । यद्यपि सत्वागमकारणानि बहूनि सन्ति दानविक्रयबन्धकारणादीनि तथाप्यनुपलभ्यमानकारणविशेषे विंशतिवार्षिकभोगेऽनन्तरादर्शितविषये बन्धरूपताभ्युपगन्तुं युक्ता चञ्चलं भोग्यं च त्वत्वंवस्त्वपचये तत्प्रत्याहन्तुं लभ्यते ततश्च त्रिपुरुषाभुक्तिः सर्वस्य स्वमापादयति दानविक्रयसंभावना यावत्येव सा वार्षिकी भविष्यति विंशतिवार्षिकेषु भोगे न किंचिदनुपपन्ना । यत्रोभावप्यागममन्तरेण भोगमात्रबलात्प्रवृत्तौ तत्र पूर्वोभोगश्चिरन्तनोपि विंशतिवर्षभोग्येन सांप्रतिकेन निरुपाधिना बाध्यते । दण्डपूर्विकयात्रागतइत्यत्कालोभोगः त्रिपुरुषागतायाभुक्तेर्बाधकइत्युक्तं भवति । भग्नं तद्यवहारेणेति व्यवहारग्रहणधर्मनिवृत्त्यर्थं तेन यदि कथंचिज्जानीते तदा जीयेत तदापि त्वनेनोपधिभोगज्ञापने प्रमाणं नास्ति तेन व्यवहरतो जीयन्ते तद्धर्मो नास्ति तादृशेन भोगेनापि हतइति तिष्ठत्वेतत् ॥ १४८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्रैव विशेषमाह अजडइति । अजडो विकलेन्द्रियः । अपौगण्डो बालः । विषयेतस्य पुनः पुनर्ज्ञानविषये । भग्नं विनष्टं पूर्वस्वामिनः । अन्यथा तु दशवर्षोर्ध्वमपि न नश्यतीत्यर्थः । व्यवहारेणेति वचनाद्धर्मतः पूर्वस्वामिनएवेति केचित् ॥ १४८ ॥

(३) कुल्लूकः । जडो बुद्धिविकलः । न्यूनषोडशवर्षः पौगण्डः । तथा च नारदः बालआषोडशाद्वर्षात्पौगण्डश्चापि शब्दितः ॥ सधनस्वामी यदि जडः पौगण्डश्च न भवति तदीयदर्शनविषये च तद्धनं भुज्यते तदा स्वामिनो व्यवहारेण नष्टं ततो भोक्तरेव तद्धनं भवति ॥ १४८ ॥

(४) राघवानन्दः । जडादेस्तदपि सस्यादिकं न नश्यतीत्याह अजडइति । जडो बुद्धिविकलस्तेन बालोपि गृहीतः सच बालआषोडशाद्वर्षात्पौगण्डश्चापि शब्दितइति नारदोक्तलक्षणभिन्नोऽपौगण्डः । धनी प्रेक्षतइत्यन्वयः । अस्येदशधनस्वामिनो विषये दर्शनविषये । भग्नं तद्यवहारेण धनस्वामिनो व्यवहारेण प्रनष्टम् । तथाह याज्ञवल्क्यः ॥ पश्यतोऽनुवतो भूमेर्हानिर्विंशतिवार्षिकी ॥ परेण भुज्यमानायाधनस्य दशवार्षिकीति ॥ १४८ ॥

(५) नन्दनः । उक्तार्थे विशेषमाह अजडश्चेदिति । आघातोपनीता ऽजडः समर्थः । अपौगण्डोऽबालश्चेत् । अस्यायातुरुपनिघातुर्विषये निवारणयोग्ये देशे यद्धुज्यते तद्धुज्यमानं व्यवहारेण भग्नं पराजितं स्यात् । तस्माद्धोक्ता तद्धनमर्हति न तु स्वामी एतदुक्तं भवति । अजडादिना सन्निधौ भोगात्सत्त्वहानिर्भवति न तु जडादीनामिति ॥ १४८ ॥

(६) रामचन्द्रः । अजडः स्पष्टवाक् बुद्धिविकलो न चेत् अपौगण्डः अपगतः पौगण्डो यस्य सः अपौगण्डः । पौ-

गण्डः दशमावधि । अस्यपूर्वस्वामिनः विषयेसमोपे भुज्यते तद्वस्तु व्यवहारेण भयं नष्टं भोक्तातद्धनमर्हति ॥ १४८ ॥
आधिः सीमा बालधनं निक्षेपोपनिधिः स्त्रियः ॥ राजस्वं श्रोत्रियस्वं च न भोगेन प्रणश्यति ॥ १४९ ॥

[यद्विनागममत्यन्तं भुक्तपूर्वस्त्रिभिर्भवेत् ॥ नतच्छक्यमपाहर्तुं क्रमाधिपुरुषागतम् ॥ १ ॥][†]

(१) मेधातिथिः । आधीयत इत्याधिर्बन्धकद्रव्यंगोभूहिरण्याद्युच्यते यच्चोत्तमर्णाद्धनमादोयत उपनिधिः शास्त्रान्तरेणान्तर्हितो न्यास उक्तः यदप्रदर्शितरूपसंचिह्नवस्त्रादिना पिहितं निक्षिप्यते प्रीतिभोग्यन्तु युक्तमुपनिधिशब्दवाच्यतस्य निक्षेपग्रहणेनैव गृहीतत्वात् । सीमा मर्यादा ग्रामादीनां बहुसाधारण्याद्धि तत्रोपेक्षा संभवति गृहादीनान्तु प्राकारपरिखादिरूपाद्विनिहस्तपरिमाणरूपा द्वयोः साधारणी याऽन्यतरे कथंचिदुपजीयमाना त्वल्पत्वाद्भोगस्य कश्चित्क्रियन्तकालमुपेक्ष्य तत्रापि दानादिसत्त्वापगमहेतुसंभावयतः अतस्तत्पुत्राः पौत्रावा रूढ्या चिन्हादिना प्रज्ञापितसीमत्वादाच्छिन्दन्त्येव । बालधनं दृष्टान्तार्थं पोगण्डशब्दस्य दर्शितत्वादित्युक्तम् । स्त्रियोदास्यः भार्यावा । नेतरस्याधनस्यापहारउक्तोधनस्य दशवर्षकीति । ननु च नेह धनमस्ति यत्किंचिदिति वस्तुमात्रनिर्देशोयं नैवंधनीति संबन्धेन विषयतैव यत्किंचिदिति सामान्यशब्दस्य प्रतीयते कएवमाह स्त्रियोधनमिति इत्थं विनियोज्ये द्रव्ये धनशब्दो वर्तते । अथात्मादेव स्त्रीधनात्स्वत्वमात्रोपलक्षणधनोपमानेन पुमांसोऽपि भोगेन दासाः स्वीक्रियन्तएव । राजस्वं देशेश्वराराजानस्तेषां धनं तेहि महाधनत्वादुच्चत्वात् न्वयं धनमन्विच्छन्तो विरुतभेदादिभिर्निधनीक्रियन्ते तदूनोपेक्षया श्रोत्रियधनाभियुक्तिः ॥ १४९ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । सीमा चिह्ननिर्णायिका । बालधनमिति पूर्वश्लोकव्यतिरेकः । स्त्रियोऽन्यपरिणीतादास्यश्च । आध्यादिकमबालधनमपि न नश्यतीत्येतदर्थं बालधनोक्तिः । प्रणश्यति भोक्तुः त्वं भवति ॥ १४९ ॥

(३) कुल्लूकः । बन्धोग्रामादिमर्यादा बालधनं निक्षेपः वासनस्थमनाख्याय समुद्रं यन्निधीयत इति नारदोक्त उपनिधिलक्षणः । दास्यादिस्त्रियोराजश्रोत्रियधनानि उक्तेन दशवर्षभोगेन न स्वामिनो नश्यन्ति न भोक्तुः स्वत्वं भजते ॥ १४९ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तार्थे प्रतिप्रसवमाह आधिरिति । आधिर्बन्धकत्वेन स्थापितः । आधिवनिक्षेपादिर्न नश्यतित्यन्वयः । आधेरवहार्यस्योक्तत्वात् । सीमा चतुर्विधावक्ष्यमाणा । बालधनं राजरक्षितातिरिक्तम् । निक्षेपः प्रसिद्धः । उपनिधिरत्र समुद्रं यन्निधीयते तत् । स्त्रियोदास्यादयः । राजस्वं करशुल्कादि । श्रोत्रियस्वं धनभूम्यादिमात्रम् । एषूत्पन्नं वृद्धिसस्यापत्याद्यपि न नश्यतीति भावः ॥ ४९ ॥

(५) नन्दनः । अस्यापवादमाह आधिस्सीमेति । सीमाक्षेत्रादिः । बालोऽसमर्थः । निक्षेपोऽक्रणार्थं परत्र निहितोऽर्थः । स्त्रियोदास्यो न भोगेन प्रणश्यति भोगेन भोक्तृत्वं न भवतीत्यर्थः । आधुपनिद्धयोः स्वामिना प्राप्तव्यकालात्प्राचीनभोगविषयोऽयमपवादोग्राहः । अन्यथा ॥ आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हत ॥ इत्यनेन विरोधप्रसङ्गः स्यादिति ॥ १४९ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्त्रियः दास्यः ॥ १४९ ॥

यः स्वामिनाऽननुज्ञातमार्धिभुङ्क्ते विचक्षणः ॥ तेनार्धवृद्धिर्भोक्तव्या तस्य भोगस्य निष्कृतिः ॥ १५० ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तं ॥ न भोक्तव्यं बलादार्धिभुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेदिति सर्वस्य हि ग्रहणमुच्यते तत्र निषिद्धोभोगे बलादार्धिभुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेदिति सर्वहारयत्येव वृद्धिमनभिहितप्रतिषेधनंतस्योपभुज्यमानोभोगेन चार्धिर्नश्यति । रूपवर्णालंकारादावर्द्धवृद्धित्यागोऽनेन श्लोकेनोच्यते । यत्तु नवंमहार्धमलङ्करणवस्त्रादिपरिधीयमानं नासितं तत्र न केवलं वृद्धिहानिर्यावद्धनं नष्टं तत्परिपीड्य मूलतः प्रविशतीति महत्तरैर्व्याख्यातम् । यज्वना तु व्याख्यातं न तत्र स्वामी व्यवहरति अध्यधीनश्च तत्राप्यधीनेन बन्धोदत्तः स्वामिना च दृष्टस्तत्र धारणकेन कस्मिंश्चिदवसरेऽप्यधीनः पृष्ठः प्रयोजनं मानेन बन्धेनास्ति तत्रोपनिधिर्न्यायेन तेनानुज्ञातः कालान्तरे भुञ्जानं यदि स्वामी पश्यंस्तदनुज्ञातं बन्धं क्षपितवान् सतीदृशे विषयेऽर्द्धवृद्धित्यागः तदयुक्तं यतस्तुल्यो व्यवहारः परस्परापेक्षः स्वामिभृत्ययोः तत्र तत्रान्यतरेणानुज्ञाते नायमनुज्ञातः प्रयुज्यते । अधर्मतः स्वामिश्च स्वार्थं स्वत्वमीदृशं विषये भवति अन्यथा बन्धयोददाती सोऽवश्यं स्वाम्येन अध्यधीनस्तु न स्वामी यद्येवंचौरस्तर्हि तस्मात्स्वामित्वाध्यारोपउपयोगे वाध्यधीने स्वाम्यनुज्ञाव्यवहाराद्ब्रह्मदत्तवदतः पूर्वएवार्थः । स्वामिग्रहणं पादपूरणार्थं । भुङ्क्तेऽविचक्षण इत्यकारः संहितया प्रश्लिष्टनिर्दिष्टो वेदितव्यः यस्याहस्ति बुद्धिर्वृद्धिर्मास्त्येवाधिकोलाभोवस्तुभोग इति सोविचक्षणः । नहि लोके शास्त्रवियोजनीया स्थितिः यदुभौ लाभश्च भोगश्च वृद्धिः स्यात्तेन सा वृद्धिर्भोक्तव्या निष्कृतिपरशुद्धिर्विनियम इति यावत् । अन्ये तु द्विगुणीभूतेऽप्यमोक्ष्यमाणे प्रतिषेधमिममिच्छन्ति तस्य हि स्वल्पोपराध इति वदन्तः प्रथमं तावदादावेव तैर्याज्ञवल्क्यवचनस्य विषयो देयआधिः प्रणश्येदिति ॥ १५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अननुज्ञातं अनुज्ञाविना न तु बलात् । एतच्च वृद्धेरल्पत्वे बहुत्वे तद्भोगोचितमूल्यदानं प्रतिषिद्धाधिभोगे प्रागुक्तम् ॥ १५० ॥

(३) कुल्लूकः । यो वृद्ध्या दत्तं बन्धं स्वाम्यनुज्ञाव्यतिरेकेण मूर्खो निहवेन भुङ्क्ते तेन तस्य भोगस्य संशुद्धयर्थमर्धवृद्धिर्भोक्तव्या बलभोगे न तु भोक्तव्ये बलादधिभुञ्जाने सति सर्ववृद्धित्याग एवोक्तः ॥ १५० ॥

(४) राघवानन्दः । अननुमत्याऽऽधिनिहवेन भुक्तवतोऽर्धवृद्धित्यागप्रायश्चित्तमाह य इति । तेनाविचक्षणेन न भोक्तव्यो बलादधिरित्यत्र निषेधमतिक्रम्य बलाद्भोजने सर्वावृद्धिस्त्याज्या अनिहवे अननुमत्याऽर्धमिति भेदः ॥ १५० ॥

(५) नन्दनः । अविचक्षणः वृद्धिहानिमजानन् ॥ १५० ॥

कुशीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहता ॥ धान्ये सदे लवे वास्ते नातिक्रामति पञ्चताम् ॥ १५१ ॥

(१) मेधातिथिः । लाभार्थो धनप्रयोगः कुशीदंतत्र वृद्धिः अथवा प्रयुज्यमानं प्रयोक्तृसंबन्धिधनमेव कुशीदम् । यदायं स्वल्पं दत्त्वाधिकं ग्रहीष्यामीति धनदीयते तत्कुशीदंतत्र वृद्धिः सा द्विगुणत्वं नातिक्रामति तावदुत्तमर्णेन वृद्धयर्थं धनं दत्तवता ऽधमणाद्ग्रहीतव्यं यावन्मूलधनं द्विगुणं प्रविष्टम् । ननु वृद्धेर्द्वैगुण्यं श्रूयते मूलेन सह त्रिगुणं प्राप्नोति नैवंगुणोऽवयव उच्यते सतावदवयविनमपेक्षते प्रकृतं च धनं अतः प्रयोगविषयस्य धनस्यानेन प्रकारेण द्वैगुण्यमुक्तं भवति तथा च स्मृत्यन्तरं चिरस्थाने द्वैगुण्यप्रयोगस्य मोक्ष्यआधिः सतदुत्पन्ने प्रविष्टे द्विगुणे धन इति । वृद्धिश्चानेकरूपा कार्षापणेषु प्रयुक्तेषु कार्षापणेषु वर्द्धते क्वचित्सन्ततिः स्त्रीपशूनां वेति संततिः क्वचिदाधिभोगः गोभूम्यादेः तत्रेदं द्वैगुण्यं संरूपवृद्धिविषयं केचिदाहुः । तत्र हि मुखं वृद्धेर्द्वैगुण्यं प्रतीयते संततौ न विज्ञायते किं सङ्ख्यास्य द्वैगुण्यमुत्परिमाणेनोन्मानता वेयमतो वेत्यादिनिश्चये पशूनां मूल्यादिमहार्धत्वं हस्त्यश्वादिषु क्रयविक्रयादौ दृश्यत एव महाप्रमाणा हि महार्धा भवन्ति ।

ननु च संततौ सारूप्यमस्त्येव गोः संततीर्गैरेव तत्र भेदोपन्यासो न युक्तो वृद्धिसरूपासंततिश्चेति उच्यते नैकजातीयत्वमात्रेण सारूप्यं भवति किन्तु वयः परिमाणादिसाम्येन अतो युक्तो भेदोपन्यासः । भोगलाभेऽपि कुतो द्वैगुण्यप्रतीतिरूपकाणि जनयतु गावः प्रयुज्यन्ते । गोभूम्यादिपयोयवसादयो यथा संभवं भुज्यन्ते तत्र कीदृशद्वैगुण्यं समाचारश्च कचिदृश्यते वर्षशतानि भूमिरामूलहिरण्यादानाद्भुज्यते । पठति च याज्ञवल्क्यः ॥ आधिश्च भुज्यते तावद्यावत्तन्न प्रदीयत इति । अत्रोच्यते वृद्धिमात्रेश्रूयमाणे द्वैगुण्यं कथं विशेषेव स्थाप्यते नहि स्तुत्या सामान्यप्रतिपत्तिर्भवन्तीति विना प्रमाणेन विशेषेऽवस्थातुमर्हति । यत्तु संततावनुपपन्नद्वैगुण्यमित्यवगमयन्नः क्रियतां मूलमर्षेण परिनिश्चितवता वृद्धिस्तत्सामान्या यतएव तज्जातानां भवति भूमिभागेऽपि यवसगोधूमादौ तत्पच्यमानस्यार्थतः शक्यतएव समत्वं निश्चेतुं उपकारवचनोपि गुणवदोस्ति कएवं सति समगुणो भवति कउपकारको भवतीति गम्यते अनेन यावन्मूल्यगोधान्यविनिमयादुत्पद्यते तावदेव चेत्तत्तत्तत्पन्ना वृद्धिस्तदा भवति समगुणत्वे परिमाणादिसाम्याभावेऽपि यस्तु कचित्समाचारो भवतैव परिद्धतः कचिद्ग्रहणं प्रयुज्जाने समाचारभ्रंशसंभवे स्मृतयो नित्यामिका अर्थवत्यः अक्षीणि मे दर्शनीयानि पादामे सुकुमारतरा इति दृष्टवियोगत्वाद्बहुवचनमिति चारभ्यते असति विप्रयोगदर्शने प्रत्याख्यायते उपसर्गपूर्वापर्यप्रयोगसिद्धयर्थमुक्तं नहि कश्चित्पचतीति प्रयोक्तव्ये पचति प्रेति प्रयुङ्कति वचनमपि ॥ आधिस्तु भुज्यते तावद्यावत्तन्न प्रदीयते ॥ यावद्दानात्तद्विगुणमप्रविष्टमित्यपि शक्यते नेतुं स्मृत्यन्तरैकवाक्यत्वाच्चैतदेव युक्तमध्यवसातुं उपपादितं चैतन्निपुणतो न्यत्र । सरुदाहिता सरुदित्यनेन व्यवस्थापितोद्गीकृतः पुनः पुनः प्रयोग इति यावत् आधानं स्थापनमुच्यते वचनव्यवस्थया च निरूपणं स्थापनमेव पुनः प्रयोगस्य द्विगुणीभूतधने आदीयमाने भवति यदा द्विगुणो हि वृद्धयर्थोत्तमर्णो धमर्णश्च तदीयेन धनेन महत्कार्यं करिष्यन्करणपरिवृत्तिकरोतीति या प्राक्तनी वृद्धिरियं वाद्यप्रभृतिवर्धत इति तदा द्विगुणभूतमपि पुनर्वर्धतएव पुरुषान्तरसंचारेण वा यदि द्विगुणीभूतधनिकस्योपयुज्यते तदाऽधमर्णोऽप्युच्यमानो न्यपुरुषददतमर्पयति एष तदयद्भिरहोभिर्दास्यतीति तत्र स्वहस्तं दीयमानं पुनर्वर्द्धते न चायं दानं प्रति प्रति प्रतिभूः किन्तु निक्षेपा दातैव एतत्तु ऋजुना पुरुषान्तरमसंक्रान्तमिति व्याख्यातं अथवा प्रागपि द्वैगुण्याद्यदा बन्धमन्यस्मै प्रत्यर्पयति दीनारेषु सलाभेषु द्वित्वे तस्या बन्धस्य एषतु धर्माक्षको बन्धस्य प्राग्बुद्धौ स्थितायां तस्मादहः प्रभृति पुनर्द्वैगुण्यमाप्नोति यदा तदीयं बन्धकं तदनुज्ञायोत्तमर्णो नान्यत्राधाय स्वधनं गृह्यते तदा वर्धत एष पुरुषान्तरसंचारः । उभयत्वाद्विगुणीभूते प्रयोक्ता धमर्णकेन प्रकारेणान्यस्माद्ग्रहणमनुज्ञाप्यते यदि वास्मादन्यद्गृह्यते ग्रहीता देशान्तरं गमिष्यन् कार्यान्तरेण चान्यत्र संचारयति ऋजुस्तु तस्मादेवाधमर्णादनव्रीकृते प्रयोगे द्विगुणाधिकां वृद्धिनेच्छति अत आह पुरुषान्तरमसंक्रान्ते पुनः क्रिया प्रयोजनं च वक्ष्यामः । ये तु व्याचक्षते या वृद्धिरुपचिता सांवत्सरी युगपत्सर्वे वा नीयन्ते तत्रायं विधिः या पुनः प्राग्दानापि सर्वा न दीयते तत्र द्विगुणादधिकग्रहणमपि तेषां शब्दो यथार्थो नान्याहित इति । सांवत्सरी तावदुपचिता ग्राह्या द्वितीयसंवत्सरे पुनरानयनमस्त्येवेति न कचिद्वैगुण्यनियमः स्यात् । अथ यो द्विगुणीभूतं सलाभं धनमानयति तत्राधिकनिषेधस्तु प्राग्द्वैगुण्यावृद्धिमात्रदायसमर्थो वृद्धिददाति मूलं तस्यापरिमितग्रहणमिति एतदपि न किंचित् । यः संवहति तस्यानुग्रहीत्याय्योनाधिकग्रहणं यस्तु राजा द्विगुणीभूतमपि कथंचिदाप्यते तस्याधिकमोक्षइत्येतदन्याय्यं न चाहितेन्यस्य शब्दस्यायमर्थः । अप्याहतेति पाठान्तरं तथापि सरुच्छब्देन निश्चितार्थो न्यायात्तुपरित्यक्तः स्वरुतश्च पाठः स्यान्न मानवी स्मृतिरित्युक्तैव व्यवस्था न्याय्या धान्यादिषु पञ्चतापञ्चगुणानां न्याय्येति । स्मृत्यन्तरे धान्ये चतुर्गुणोक्ता ॥ हिरण्यवस्त्रधान्यानां वृद्धिर्द्वित्रिचतुर्गुणेति तत्र व्यवस्था यदि दरिद्रभूतः प्रयोक्ता ग्रहीता च महाधनसंपन्न-

स्तेन धान्येन महान्तमर्थकृतवांस्तदा पञ्चगुणान्यथा चतुर्गुणा सा च फलंवार्षं धान्यस्य पृथगुपादानात् । मालव-
कउदीच्येषूणांविषयः प्रसिद्धः । वासोर्गर्द्भोष्ट्रबलीवर्दादिः ॥ १५१ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । कुसीदवृद्धिः कुसीदपदं वाणिज्यवृद्धिव्यवच्छेदार्थम् । सरुदाहिता मूल्यग्रहणकाल-
ग्राह्या वृद्धिः । यातु प्रत्यहप्रतिमासग्राह्या वृद्धिः सा वृद्धिर्ग्रहणानन्तरं पुनः पुनराधोयतइति न सरुदाहिता । तथा
यत्र सवृद्धिकमेव मूलधनं मूलतया स्थाप्यते सोप्येवमित्येतदुभयद्वैगुण्यमित्येव । धान्यइति एषु पञ्चगुणपर्यन्तं
याति नतु ततोधिकम् । सदे सस्ये नालिकेरादौ । लवः शराद्यस्त्रं ऊर्णति केचित् । वासे वाहनीये वृषादौ । एतच्चया
भोक्तव्यं भोगनिमित्तंचैतावेतावता कालेन वर्धतइति प्रयुक्ते । अशोतिभागवृद्धितोपि यदि सौहार्दादिना न्यूनापि वृ-
द्धिः स्थापिता सा ॥ १५१ ॥

(३) कुल्लूकः । वृद्ध्याधनप्रयोगः कुसीदं तत्र या वृद्धिः सरुदृहीता सा द्वैगुण्यनातिक्रमति मूलवृद्धिर्द्विगुणे-
व भवति प्रतिदिनप्रतिमासादिग्राहेति तात्पर्यम् । धान्ये पुनर्वृद्ध्यादिः प्रयुक्ते । सदे वृक्षफलेलूयतइति लवः ऊर्णा-
लोम तस्मिन्वाहनीयेचबलीवर्दादौप्रयुक्तेचिरेणापिकालेनमूलधान्यादिनासहपञ्चगुणतांनातिक्रमेदिति ॥ १५१ ॥

(४) राघवानन्दः । कुसीदीवृद्धिमित्युक्तं सा मूलेनसह द्वैगुण्यं नात्येतीत्याह कुसीदितिद्वाभ्याम् । कुसीदवृद्धिः
कुसीदंलभ्यमुच्यतइति । सरुदाहता प्रतिमासमग्राह्यासतीसरुदेकदा मूल्येनसह गृहमाणा द्वैगुण्यं नात्येतीत्यन्वयः । ततो-
धिकेसत्यपि मूलेन सह द्विगुणादूर्ध्वं प्राप्यतइति । प्रतिमासग्रहणंतु वर्णक्रमेण द्विकादिकमेवेतिभावः । धान्यादिचतुर्षु
विशेषमाह धान्यइति । सदे वृक्षफले । लवे छेदनयोग्ये ऊर्णादिलोम्नि वासे वहनीये उक्षादौ बहुकालेपि मूल्यधान्यादि-
ना सह पञ्चगुणतांनातिवर्तते ॥ १५१ ॥

(५) नन्दनः । द्रव्यविशेषे वृद्धिनियममाह कुसीदवृद्धिरिति वृद्धिकालमहत्वेऽपि द्वैगुण्यंमूल्यद्वैगुण्यंनात्येतिकु-
सीदं द्वैगुण्यात्परंवृद्ध्या न वर्धते धान्येमाषमुद्रादौ सदेतद्व्यतिरिक्ते रुषिफले इक्ष्वादौ यवव्रीहिशाल्यादौ तथाचोक्तं ॥ व्री-
हिशाल्यादिकंधान्यंश्रूयते च लवन्तुतदिति ॥ लवंक्षुमादिकमितिकेचित् । वासे बलीवर्दादौ । पञ्चतांपाञ्चगुण्यं पारिशेष्या-
दितरेषुद्वैगुण्यमवगन्तव्यम् । सरुदाहतेति विशेषणाद्विरोधनद्वैगुण्यात्ययानुज्ञा गम्यते ॥ १५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । कुसीदवृद्धिः द्विगुणा न अत्येति नातिक्रामति । कुसीदंवृद्धिजीविका द्रव्यंतुद्विगुणंस्मृतमि-
तिवाक्यात् । सरुत् आहतामूल्यग्रहणकाले गृह्याधान्ये पञ्चतांनातिक्रामति । शदोवृक्षमूलफलादि पञ्चतांपाञ्चगुणतां
नातिक्रामति नातिक्रामेत् । लवे चामरादौ पञ्चतां नातिक्रामति । वासे वाहनीये बलीवर्दादौ पञ्चतां नातिक्रामति ।
योगी ॥ वस्त्रधान्यहिरण्यानांचतुस्त्रिद्विगुणाःस्मृताः ॥ १५१ ॥

कृतानुसारादधिका व्यतिरिक्ता न सिध्यति ॥ कुसीदपथमाहुस्तंपञ्चकंशतमर्हति ॥ १५२ ॥

(१) मेधातिथिः । अनुसरन्त्यनुधावन्त्यनुवर्तन्ते सर्वएवार्थाएतमित्यनुसारः शास्त्रोदितः समाचारः सच विवि-
धोऽशोतिभागादिः पञ्चकशतपर्यन्तस्तस्मादधिका वृद्धिः कृता यावत्तथाधमर्णेनोत्तमर्णस्य न सिध्यति कुतोव्यतिरिक्ता
यतः शास्त्रवासेत्यर्थः । अर्थवादान्तरमाह कुसीदपथमाहुस्तमिति कुपुरुषायत्र सीदन्ति कुशीदंधर्मेण तद्धनिनोल्क्ष्यन्ते
कुशीदीनामयंपन्था मार्गेव्यवहारो न साधूनामिति निन्दा यस्यावश्यमधिका कर्तव्या महद्विकार्यमयंमदीयेन धनेन साध-
यतीति बुद्ध्या तदा वर्णविभागमनपेक्ष्यंपञ्चकंशतंग्रहीतुमर्हति लिप्सेदर्थ इदमुच्यते पाठान्तरंकृतानुसारादधिकेति

यस्याकिंचनस्य सतः खल्पा कृता तेनैव धनेनान्यथा वा महार्थतां प्राप्तस्तस्यानुसारादधिका क्रियमाणा न सिध्यति यः परंपञ्चकशतमर्हति ॥ १५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कृतानुसारात् तदनुसारात् अधिका शास्त्रीयत्वेपि न सिध्यति । एवमशीतिभागाधिकवृद्धिनियमेन ऋणं गृह्यते तदाशीतिभागादेः शास्त्रीया । आर्ततया तदधिकं शताद्यत्पञ्चकग्रहणं शूद्रउक्तं तच्चतुर्षु वर्णेषु ग्राह्यम् । नतु ततोव्यतिरिक्ता विशेषेणातिरिक्ता कृतत्वमात्रेण सिध्यति । एतच्च कुसीदपथं वृद्धिर्जीविवत्माद्दुरत्रैव वृद्धिकृतो दोष इत्यर्थः ॥ १५२ ॥

(३) कुल्लूकः । कृतानुसारादितिकृताया वृद्धिर्द्विकत्रिकमिति शास्त्रेण वर्णक्रमेणोक्ता तस्याः शास्त्रानुसारादधिका व्यतिरिक्ता कृता अतो न्या वृद्धिरकृतेत्यर्थः । किंतु कृताऽपि वृद्धिः वर्णक्रमेण द्विकत्रिकशतादिरूपैर्या मासे ग्राह्या । तथा च विष्णुः वृद्धिदद्युरकृताऽपि वत्सरातिक्रमेयथाभिहिता वर्णक्रमेण द्विकत्रिकादिनेत्यर्थः । किंत्वकृतवृद्धावपि विशेषान्तरमाह कुत्सितात्प्रसरत्ययंपन्थाइति कुसीदपथः अयमधमर्णोयच्छूद्रविषयोक्तंपञ्चकं शतं द्विजातेरपि गृह्णातीत्येवंकुत्सितः पन्थाः पूर्वोक्ताद्धर्म्यवृद्धिकरादपकृष्टइत्येवमन्वादय आहुः । इयंचाकृता वृद्धिरुद्धारविषये याचनादूर्ध्वबोद्धव्या । तदाह कात्यायनः ॥ प्रीतिदत्तं न वर्धेत यावन्न प्रतियाचितम् । याच्यमानं न दत्तंचेद्धर्धते पञ्चकं शतम् ॥ १५२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच वृध्येतमपि कृतानुसारादिति । अधिकाऽधिकत्वेन व्यतिरिक्ता या सा नसिध्यतीत्यन्वयः । मयैतद्देयमित्येवस्वीकृतंसिध्यतीत्यर्थः । अथवा अधिका बलात्कारेण द्विकादेकाधिकत्वेन कृतापि अतएव शास्त्रप्रतिपाद्यत्वेन व्यतिरिक्ता शास्त्रतो न सिध्यति । शूद्रे पञ्चगुणं यल्लभ्यमुक्तं तत्सर्वेषामधिकसंख्याव्यवच्छेदार्थमित्याह कुसीदपथमिति । कुत्सितात् शूद्रादधमणात् सीदति प्रसरत्ययंपन्थाइति तम् । अतीवनिरुद्धोहितां वृद्धिददातीति । शतपणंप्रति पञ्चपणान् दद्यादित्यर्थः । अकृतापि वृद्धिरस्ति । तथाचविष्णुः । वृद्धिदद्युरकृतामपि । वर्णानुक्रमेणोद्धारविषयेयं याचनादूर्ध्वम् । तथाच कात्यायनः ॥ प्रीतिदत्तं न वर्धेत यावन्नप्रतियाचितम् । याच्यमानं न दत्तंचेद्धर्धतेपञ्चकं शतमिति ॥ प्रीतिदत्तं परितोषाद्यर्थे दत्तं न वर्धते लभ्यं न यावदपियाचितम् । न दत्तंचेच्छतंप्रति पञ्चकंवर्धतइति कात्यायनवचनार्थः । १५२ ॥

(५) नन्दनः । लोकेन कृतानुसारात् । परिमाणादधिका शास्त्रोक्तादधिका च कुसीदवृद्धिरुभयानुमतेत्येतावता न सिध्यति तथाहि यत्पञ्चकः शतमर्हति तदेव कुसीदमर्हतीति तथादुराचार्याः । अनाधिकं अत्रापि पूर्ववत्कन्प्रत्ययः ॥ १५२ ॥

(६) रामचन्द्रः अनुसारात् कृतवृद्ध्यनुसारात् कृतावृद्धिः अधिका व्यतिरिक्ता पञ्चकोत्तरशतातिरिक्ता न सिध्यति ॥ १५२ ॥

नातिसांवत्सरीवृद्धिर्न चादृष्टांपुनर्हरेत् ॥ चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिता कायिका च या ॥ १५३ ॥

(*) वृद्धिः=वृद्धिर्द्विजातेरप्या (न, श)

(१५३) नचादृष्टांपुनर्हरेत् = नाभीष्टांपुनर्हरेत् (ख) = नचादिष्टांविनिर्हरेत् (क)

(१) मेधातिथिः । संवत्सरे भवा सांवत्सरी अतिक्रान्ता सांवत्सरी भवप्रत्ययार्थः सामर्थ्यादन्तर्भूतः अथवा संवत्सरमतिक्रान्ता अतिसंवत्सरेति प्राप्ते वृद्धीकारौ छन्दस्तुल्यत्वात्कर्तव्यौ येषांवृद्धिरनन्तरप्रक्रान्तपञ्चकंशतंसर्ववर्णविषया सा संवत्सरं यावद्गृहीतव्या नातीते संवत्सरे अथवा यावत्संवत्सरसंवत्सरोवर्णः न यावद्बुद्धिर्न मार्गणी अधमर्णेनापि संवत्सरादूर्ध्वनविलंबितव्यं विनिर्हरेद्विनिष्कृष्य त्वधनादारभ्योपनयेदित्यर्थः अर्वागपि संवत्सराद्या दीयते साप्यतिक्रान्तसंवत्सरैव । अथवा मासादारभ्य संवत्सरस्य यावद्बुद्धिः परिमाणतो निरूपितव्या मासेन यद्बुद्धते संवत्सरेण वेत्येवंप्रयोगः कर्तव्येन तु संवत्सरद्वयस्य लाभार्थं कदाचिच्चिरकालंप्राहयति किमे कतिपया मासिकेन लाभेन यदि द्वे वर्षे ततोधिकं वा गुणहासि तद्ग्रहणे एषा वेयता कालेन वृद्धिस्तत्रार्वाचीनमपि ददधमर्णे द्विसांवत्सरीयथा कालकृतांतदा दाप्येत एकांबुद्धिमनादेयानंदद्यान्नापि दापयेदिति । यथामासिकोवृद्धिः प्रथमे मासि द्वितीयएवान्हि शोधयन्दाप्यते तथा यदैवमभ्युपैति संवत्सरेण यद्बुद्धतइति तदा तथैव दाप्यते ननु तदधिककालकृता । न चादृष्टां विनिर्हरेत् शास्त्रे यामदृष्टां दशैकादशिकाद्यापञ्चकादधिका न तांगृहीयात् व्यतिरिक्ता न सिध्यतीत्यस्यैवायमनुवादइति केचित् । इदन्तु युक्तमदृष्टामनुपचितामित्यर्थः । यावद्बहुभिर्मासैर्न संहतीभूता तावन्नगृह्या दिवसवृद्धिर्मासवृद्धिः । ननु च मासस्य वृद्धिर्गृहीयादित्युक्तं परिमाणं मासिकं तद्बुद्धेर्न तु ग्रहणंचक्रवृद्धिः कायिकान्वयानामपि न विनिर्हरेदित्यनुषङ्गः । नैवाद्याद्यस्या धमर्णस्य प्रतिषेधस्तथापि सामर्थ्यादुत्तमर्णस्यैव द्रष्टव्यो धमर्णो ह्यतः किं करोति अथवा विनिर्हारो ग्रहणमेव तेनोत्तमर्णस्यैव शाब्दः प्रतिषेधः ननु च द्विकादिवृद्धिविधानाच्चक्रवृद्ध्यादीनां प्राप्तिरेव नास्ति किंप्रतिषेधानुषङ्गेन उच्यते अप्रामः प्रतिषेधः पाक्षिकी वृद्धिमनुमापयति यथाऽऽधानेन ब्रह्मसामाभिगायेदित्यविहितं सामगानं प्रतिषेधेनास्तोति ज्ञापयति तेनैता अपि प्रतिषेधद्वारेणाभ्यनुज्ञायन्ते । केषाञ्चिद्गुणव्यवहारिणांचक्रवृद्ध्यादयोपि भवन्ति तेन स्थलपथवारिपथिकावणिजोयथोक्तं ॥ कान्तरगास्तु दशकंसामुद्राविंशकंशतं । द्युर्वा स्वरुतांवृद्धिर्न सर्वा स्तु जातिष्विति ॥ कान्तरगादीनामेव स्वरुतासर्वजातिविषयासाधारणीवृद्धिर्न त्वन्येषांचक्रवृद्धिः स्मृत्यन्तरे पठिता वृद्धेर्वृद्धिश्चक्रवृद्धिः । अन्येतु चक्रवृद्ध्या गच्छादि तद्बुद्धिश्चक्रवृद्धिः तेषां यस्मिन्नहि चक्रं वर्तते तत्रैव वृद्धिः यदा तु नदीसंतारे महति नावाप्रयाणं तदा नास्ति वृद्धिरेव मन्येषामपि बलीवर्द्धादिवाहप्रयोक्तृणामीदृशी वृद्धिश्चक्रवृद्धिरुच्यते । कालवृद्धिः प्रतिमासन्तु कालिका । मासग्रहणमुपलक्षणार्थयाऽनुपचिता वृद्धिर्दिवसे दिवसे गृह्यते मासि मासि वा यस्याः कालेन प्रतीक्ष्यते अथ चैतस्मिन्काले यदि ददासि तदा द्विगुणीभवति धनमित्येकरूपा कालवृद्धिः कारिता इत्थं कृतां यावती वा परस्परोपकारापेक्षयोत्तमर्णाऽधमर्णौ कुरुतः एषापि दिग्वणिजामेव । अन्येषां तु व्यतिरिक्ता न सिध्यतीत्युक्तं पञ्चकंशतमर्हतीति हिरण्ये प्रयुक्ते वासांसि वृद्ध्या गृह्यन्ते तत्राधिलक्षणं द्रव्यं सा कारिता यथा भोगलाभे न्यासरूपविषये च स्यात् कायिका कायकर्मणा संशोद्ध्या कायजीविका चैषां क्रमेलकाचैवाधिकादीनाम् ॥ १५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अथ व्यवहारसिद्धा अप्यधर्महेतुतयाऽकर्तव्या वृद्धीराह नातिसंवत्सरीमिति । अतिसांवत्सरी संवत्सरमात्रेणातिक्रान्तामतिशयितां द्विगुणतांगताम् । तथा नादृष्टां सांहत्येन दर्शनायोग्यां प्रत्यहग्राह्यां विनिर्हरेत् गृहीयात् । तथा चक्रवृद्धिः वृद्धेरपिवृद्धिस्तानं गृहीयात् । कालवृद्धिः प्रतिमासं प्रदेया । कारिता द्विगुणादूर्ध्वं वृद्धिरशास्त्रीयत्वेपि तदूर्ध्वमपि मूल्यंवर्धतइति ऋणिकेनार्थितया कृता । कायिका यावन्न मूलमप्यते तावत्कायेन कलार्थं कार्यमिति । केचित्तु प्रथामान्तत्वादस्य पूर्वणानन्वयात्कर्तव्यमित्यस्यार्थस्यार्थइत्याहुः । तत्तुच्छम् । यच्छब्देनयेति पूर्वप्रक्रान्तप्रक्रियानुकर्षार्थेन त्वपास्तम् ॥ १५३ ॥

(३) कुट्टुकः । भूमैकस्मिन्मासि मासद्वये मासत्रये वागते तस्य वृद्धिविगणय्यैकदा दातव्येत्येवंविधनियमपूर्वकवृद्धिग्रहणमुत्तमर्णः संवत्सरपर्यन्तंकुर्यात् । नातिक्रान्ते संवत्सरे नियमस्य वृद्धिगृहीयात् नच शास्त्राददृष्टामुक्ताधर्म्यद्विकत्रिकशताद्यधिकांगृहीयात् । अधर्मत्वबोधनार्थोनिषेधः चक्रवृद्ध्यादिचतुष्टयीं चाशास्त्रीयां गृहीयात् । तासां स्वरूपमाह बृहस्पतिः ॥ कायिका कायसंयुक्ता मासग्राह्या च कालिका । वृद्धेर्वृद्धिश्चक्रवृद्धिः कारिता ऋणिना कृता । तत्र चक्रवृद्धिः स्वरूपेणैव गार्हिता कलावृद्धिस्तु द्विगुणाधिकग्रहणेन कायिकाचातिवाहदोहादिना कारिता ऋणिकेन याऽनापत्कालएवोत्तमर्णपीडया कृता । चतस्रोपिवृद्धीरशास्त्रीया न गृहीयात् । तथा च बृहस्पतिः ॥ भागोयद्विगुणादूर्ध्वचक्रवृद्धिश्च गृह्यते । पूर्णे च सोदयंपश्चाद्गार्धुष्यंतद्विगार्हंतम ॥ कात्यायनः ॥ ऋणिकेन कृता वृद्धिरधिका संप्रकल्पिता । आपत्कालकृता नित्यं दातव्या कारिता तथा ॥ अन्यथा कारिता वृद्धिर्न दातव्या कथंचन ॥ १५३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच त्वयैकस्मिन्मासि एवंदेयं द्वितीये तृतीये च तस्य वृद्धिविगणय्यैकदा दातव्येत्येवंविधनियमपूर्वकमुत्तमर्णः संवत्सरपर्यन्तंगृहीयात् अतोते संवत्सरे यां संगृहीयात्साऽतिसंवत्सरी ताम् । तथा अदृष्टं शास्त्रतः पञ्चकाद्यतिरिक्ताम् चक्रवृद्ध्यादिचतुष्टयमपि न ग्राह्यमित्याह नहरेत् नगृहीयात् । बृहस्पतिस्तांलक्षयतिस्म ॥ कायिका कायसंयुक्ता मासग्राह्या च कालिका । वृद्धेर्वृद्धिश्चक्रवृद्धिः कारिता ऋणिना कृतेति ॥ चक्रवृद्धिः स्वरूपेणैव गार्हिता । कालवृद्धिस्तु द्विगुणाधिका संवत्सरान्ते द्विकादिकामित्युक्तेः नातिसंवत्सरीमितिग्रहणेनाऽशास्त्रीया । कायिका च वाहदोहादिना । कारिका तु काले उत्तमर्णेन पीडया कृता अशास्त्रीया एता अपि न ग्राह्या इत्यभ्याहारः । तथा च बृहस्पतिः ॥ भागोयद्विगुणादूर्ध्वचक्रवृद्धिश्च गृह्यते । पूर्णे च सोदयंपश्चाद्गार्धुष्यंतद्विगार्हंतमिति ॥ पूर्णे ऋणतुल्ये सति सोदयं ततोधिकलभ्यंगृह्यते यत्तद्विगार्हंतमित्यन्वयः । कात्यायनोपि ॥ धनिकेन तु या वृद्धिरधिकां प्रकल्पिता । आपत्काले कृता नित्यं दातव्या कारिता तु सा ॥ अन्यथा कारिता वृद्धिर्न दातव्या कथंचन ॥ अधिकामंस्वेच्छया । अन्यथा अनापत्काले ॥ १५३ ॥

(५) नन्दनः । संवत्सरादूर्ध्वभवां वृद्धिं लोकशास्त्रयोर्दृष्टंचक्रवृद्ध्यादयो वृद्धयस्ताश्च न हरेत् न गृहीयात् । चक्रवृद्ध्यादयो बृहस्पतिना व्याख्याताः ॥ कायिका कर्मसंशोद्ध्या मासग्राह्या च कालिका । वृद्धेर्वृद्धिश्चक्रवृद्धिः कारिका ऋणिना कृतेति ॥ १५३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अतिसांवत्सरीं वृद्धिं न हरेत् न गृहीयात् च पुनः अभीष्टां वृद्धिं न हरेत् न गृहीयात् च पुनः या वृद्धेरपि वृद्धिः चक्रवृद्धिः प्रतिमासं देया । कारिता द्विगुणेन मूल्यमिति कारिता च पुनः कायिका कायमूल्यमिति योगीश्वरः ॥ वृद्धिवृद्धिश्चक्रवृद्धिः प्रतिमासंतु कालिका । इच्छाकृता कारिता स्यात्कायिका कायकर्मणि इति ॥ १५३ ॥

ऋणं दातुमशक्तोयः कर्तुमिच्छेत्पुनः क्रियाम् ॥ सदत्वा निर्जितां वृद्धिकरणं परिवर्तयेत् ॥ १५४ ॥

(१) मेघातिथिः । वृद्धिद्विगुणीभूतमृणधनपरिक्षया दातुमशक्तोयः सपुनः क्रियां कारयितव्यः करणं लेख्यसाक्ष्यादिपरिवर्तयितव्यः वृद्धितु दद्यात् निर्जितो यावतीगणनया भवतीत्यर्थः द्विगुणादधिकं न ग्राह्यमिति यदुक्तं तस्यायमपवादो जयो ह्ययं प्रयोग इति कुतः पुनः द्वैगुण्यापवादार्थता यावता नेह किंचिदीदृशं वचनमस्ति वृद्धिसहितं धनं वर्द्धते मूलधनं वा केवलं पुनः क्रियाश्रूयते सा च करणं परिवर्तयेदिति व्याख्यान्तरेण व्याख्याता यदि न वर्धते किमर्थं तर्हि

करणपरिवर्तनं उच्यते शान्तलाभे धनेऽदीयमाने यागहत्यादिसंभावना साक्षिणश्च दीर्घं गच्छति काले विस्मरेयुर्यथोक्तं ॥ यत्र कायोभवेद्येन कृतेपक्षादशाब्दिकी । विवादस्तत्र नैकः स्यात्साहसेषु विशेषतः ॥ तथा दशवर्षोपेक्षितमृणमसाध्यमिति । तथा च पूर्वं स्म व्याचक्षते । अयंच राज्ञ उपदेशः पीडितस्यानुग्रहः ॥ १५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ऋणं समूलांवृद्धिम् । पुनः क्रियां कलां दत्त्वा मूलस्य पुनर्वृद्धिर्नियमम् । निर्जितां तावत्कालेन संचिताम् । करणं यत्र साक्ष्यादिव्यवस्थां परिवर्तयेत् पुनः कुर्यात् ॥ १५४ ॥

(३) कुल्लूकः । योऽधमर्णोधनदानासामर्थ्यात्पुनर्लेख्यादिक्रियांकर्तुमिच्छेत्सन्निर्जितामुत्तमर्णः सत्यतया आत्मसात्कृतांवृद्धिं कृत्वा करणं लेख्यं पुनः कुर्यात् ॥ १५४ ॥

(४) राघवानन्दः । ऋणादृते जीवितुमसमर्थः पूर्वोत्तमर्णादृणान्तरं लिप्सुरेवं कुर्यादित्याह ऋणमिति । पुनः क्रियां ऋणान्तरम् निर्जितां मासिमासि लभ्यत्वेनानीतामुत्तमर्णश्रान्यां तांसंपूर्णीदत्त्वा करणं क्रियते लिख्यते ऋणमत्रेति पत्रान्तरं कुर्यादित्यर्थः ॥ १५४ ॥

(५) नन्दनः । पुनः क्रियां ऋणस्य पुनः स्वीकरणक्रियां । निर्जितामुत्तमर्णेन निर्जितामधमर्णेन तदानीं दातव्यमिति यावत् । करणमूल्यमात्रस्य ऋणस्य स्वीकरणं । परिवर्तयेत् अस्यां करणपरिवृत्तौ यावती संभवेद्दृष्टिस्तावती दातुमर्हति ॥ १५४ ॥

(६) रामचन्द्रः । सः निर्जितां तत्कालसञ्चितां कृतांवृद्धिं दत्त्वा यदन्यत् करणं यत्र साधनं परिवर्जयेत् । अन्यत्कारयेदित्यर्थः ॥ १५४ ॥

अदर्शयित्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत् ॥ यावती संभवेद्दृष्टिस्तावती दातुमर्हति ॥ १५५ ॥

(१) मेघातिथिः । अदर्शयित्वा हिरण्यमदत्त्वा हिरण्यं अदत्त्वा निर्धनत्वाद्दृष्टिहिरण्यं तत्रैव पुनः करणं परिवर्तयेत् साक्षिसमक्षमेवं ब्रूयादेतावन्मूलमस्मै धारयामि । एतावती च वृद्धिरिति यत्रैवारोपयेत् यावत्संवत्सरावृद्धिरिति तावद्द्व्याचक्षते पुनः करणे वृद्धिसहितमूलीभूते लघीयसी वृद्धिः कर्तव्या यावत्या वृद्ध्यानातिपीड्यते या प्रागासीत्तेतान्यूनित्यर्थः । यज्वासहायनारदीनां तु मते कार्किणीमात्रमपि शक्तः करणपरिवृत्तिकाले दापयितव्यः येन साक्षिशक्तश्रवणमात्रे साक्षित्वं वृद्धिं ददाति तत्समक्षमधमर्णोर्थसंबन्धोपि प्रत्यक्षीभवति यतः श्रवणाश्रवणे च कृता भविष्यन्ति ततश्चित्ततिष्ठति धने दशवर्षोपेक्षितमित्यादिव्यपश्वरो भविष्यति ॥ १५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतत्स्फोरयति अदर्शयित्वेति । मूलभूतहिरण्यधनिके अदर्शयित्वा अदत्त्वा क्रियां परिवर्तयित्वा यावती संभवेत्तावता कालेन वृद्धितामैव दातुमर्हति न तु मूलस्य पुनः स्थापनार्थमधिकं तेन देयमित्यर्थः ॥ १५५ ॥

(३) कुल्लूकः । यदि दैवगत्या वृद्धिहिरण्यमपि समये दातुं शक्नोति तदा तद्दृष्टीत्वा तत्रैव पुनः क्रियमाणे लेख्यादौ वृद्धिहिरण्यादिशेषमारोपयेत् । यत्प्रमाणं चक्रवृद्धिधनं तदानीं संभवति तदा तुमर्हति ॥ १५५ ॥

(४) राघवानन्दः । उत्तमर्णप्रत्युक्तलभ्यानासमर्थस्य लभ्यं पूर्वपत्रोपरि वर्धयेदित्याह अदर्शयित्वा आदौ लेख्यमदत्त्वा छेदनादिभयात् । तत्रैव लेख्ये हिरण्यं वृद्धिधनं दत्तावशिष्टं परिवर्तयेत्समारोपयेत् । अतएवाह यावतीत्यादि ॥ १५५ ॥

(५) नन्दनः । वृद्धेर्वृद्धिरिति नवक्तव्यमित्यर्थः ॥ ५५ ॥

(६) रामचन्द्रः । तत्रैव हिरण्यमदर्शयित्वा अदत्त्वा परिवर्तयेत् । तत्क्रियामितिशेषः । यावती वृद्धिः संभवेत्तावती-
वृद्धि अधमर्णः दातुमर्हति ॥ १५५ ॥

चक्रवृद्धिसमारूढोद्देशकालव्यवस्थितः ॥ अतिक्रामन्देशकालौ न तत्फलमवामुयात् ॥ १५६ ॥

(१) मेधातिथिः । वाराणसीयास्यामि तदीयं पुण्यं भाण्डं च हेतुरेषा च ते वृद्धिरिति तत्र यदि कान्तारन-
दीसंतरणराष्ट्रेष्ववादिना तदेशं गतस्ततोऽर्वाग्देशात्क्रियता लाभेन प्रवृत्त्या व्यावृत्तस्तदा यथा निरूपिता वृद्धिर्न दा-
प्यते यतस्तदेशं यावद्दहतांया वृद्धिरप्रामाणांसा कथंस्यात् दीर्घमध्वानंवहतांयुग्यानामहान्क्लेशः स्वामिनश्च तावन्त-
कालंरुतैववृद्धिर्युग्योपकारः शीघ्रंतु प्रति निवृत्तानांस्वामिनः पुनरन्यत्रोपकारणंसंपद्यतएव एषएवातिक्रमः एवंकालाति-
क्रमोमासमेव हन्तुंबलीवर्द्धयती तव वृद्धिरिति तत्र यदि पक्षात्प्रत्येति तत्र चक्रवृद्धिमधमर्णःसमारूढः प्रतिपन्नोद्गी-
रुतवानितियावत् । तस्यां वृद्धौद्देशकालौ व्यवस्थितौ यत्तया पूर्वोक्तेन प्रकारेण देशविशेषकालविशेषवा न निर्वि-
शेषणमेव रुतवान् सएवविधोधर्मस्तौ देशकालौ अतिक्रमोनप्रामुयात्तत्फलंवृद्ध्याख्यंनामुयान्भजेत नाद्यादित्यर्थः ॥१५६॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यदि चक्रवृद्धिः कार्या तदा मयात्र देशेऽत्रकाले शोधनीयेति यत्र व्यवस्था कृता स-
यदि ततोऽन्यत्रान्यदा च याचते तदा चक्रवृद्धिर्न लभ्यते अपितु अशीतिभागादिर्धर्म्यैवेत्यर्थः । तत्फलं चक्रवृद्धिलाभम्
॥ १५६ ॥

(३) कुल्लूकः । चक्रवृद्धिशब्देनात्र चक्रवच्छक्रादिभररूपा वृद्धिरभिमता । चक्रवृद्धिमाश्रितउत्तमर्णोद्देशकाल
व्यवस्थितः यदि वाराणसीपर्यन्तंलवणादिशकटेन वहामि तदा ममेदंयद्धनंदातव्यमिति वेतनरूपदेशव्यवस्थितिः । यदि
मासंयावद्दहामि तदा मासंयद्धनंदातव्यमितिकाल व्यवस्थितिः । एवमभ्युपगतदेशकालनियमस्यौ देशकालौ दैवादपूरयन्-
शकटादिना वहँल्लाभरूपफलंसकलंनप्राप्नोत्यपि तु ॥ १५६ ॥

(४) राघवानन्दः । वृद्धिप्रसंगेन देशकालमयादया नियमिता या भूतिःतदपूरणेन सर्वानाप्नोतीत्याह चक्रवृद्धि-
मिति । चक्रवृद्धियुक्कटेन वहनीयत्वात्कायिकावृद्धिसदृशत्वाच्च चक्रपदं बलीवर्द्धादेरुपलक्षणम् । देशकालव्यवस्थित-
इति वाराणसीपर्यन्तंवैतत्पूगादि शकटेन वहामि यदि तदा ममैतद्धनंभूतिरूपंदेयमिति देशव्यवस्थितिः यदि मासं प्राप-
यामि तदा ममैतद्धनंदातव्यंइति कालंव्यवस्थितिरेवंसमयारूढोवाहकोद्देशकालावतिक्रामन्पूरयन् तत्फलं संपूर्णोभूतिना-
प्नोति किंतु तन्निपुणैर्व्यवस्थितामेवप्राप्नोतीति भावः ॥ १५६ ॥

(६) रामचन्द्रः । देशकालव्यवस्थितः अस्मिन् देशे अस्मिन्कालेस्थितः सन् चक्रवृद्धिं समारूढः दातुमुद्यतः
अधमर्णः देशकालौ अतिक्रमन् तं कालं तं देशं अतिक्रामन् ग्रहीतुं नायाति मयादानन्तरं धनं धनिकः आमुयात् ॥ १५६ ॥

समुद्रयानकुशलादेशकालार्थदर्शिनः ॥ स्थापयन्ति तु यां वृद्धिसा तत्राधिगमं प्रति ॥ १५७ ॥

(१) मेधातिथिः किंतत्र नैवास्ति वृद्धिरथवा पञ्चकंशततेनेत्याह समुद्रयानग्रहणपात्रोपलक्षणार्थं स्थूलपथि-
कावारिपथिकाश्च वणिजोयांवृद्धिस्थापयन्ति सा तत्राधिगमनं प्रति निश्चयं प्रति सैव निश्चेतव्येत्यर्थः । देशकालार्थदर्शि-
नोऽस्मिन्प्रदेशइयानर्थलाभोऽस्मिन्नियानिति ये पश्यन्ति जानते नतु समुद्रयानएव च ये कुशलाः कर्णधारादयः । अन्ये
पूर्वश्लोकमेवंव्याचक्षते यदृच्छाभ्याहारेणाधमर्णेन या देशकालं चाश्रिता तांच प्राप्य तद्देशोदितंफलंलाभाख्यमन्यत्मादे-
शाद्यदि नामुयात्तदा कीदृशीतत्रवृद्धिरित्याकांक्षायामुत्तरश्लोकःचक्रवृद्धिग्रहणंकारितायाअपि प्रदर्शनार्थं लोभातिशयभा-

जावणिजांक्षयव्ययाय संविधिज्ञाः परस्परस्य यावद्विस्थापयेयुस्तांराजा प्रमाणी कुर्यात् । तत्राधिगमप्रतीति प्रतिःक-
मप्रवचनीयोधिगमस्य लक्षणत्वाल्लक्षणेत्थंभूताख्याने तद्युक्ते च द्वितीया ॥ १५७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । समुद्रेति । दुर्गोदेशः कालश्चाल्पोर्थस्तल्लभ्योबहुरिति जानन्तः समुद्रयानकुशलाःवर्त्म-
नोदुर्गत्वेन मूलनाशस्यापि संभवात् यामिति बहुलमपि वृद्धिकुर्वन्ति साधिगमप्रति अधिगमलाभप्रति ऋणिकेन
वाणिज्यफले प्राप्तेऽप्येव देया नान्यथा । अत्रावधिकवृद्धिग्रहणं समुद्रादौ प्रायिकींविपत्तिमनुसंधायेत्यतःसमुद्रयायिनां दै-
वाल्लाभाभावे वृद्धेरप्यदानमित्यर्थः । समुद्रेतिचैवविधाकारोदिरप्युपलक्षणम् ॥ १५७ ॥

(३) कुल्लूकः । स्थलपथजलपथयाने निपुणाद्येदेशपर्यन्तमित्यत्कालपर्यन्तमूलमाने सत्यतावाँल्लाभोगृहीतुंयुक्त
इत्येवंदेशलाभधनज्ञावणिगादयोयांवृद्धितथा विषये चावस्थापयन्ति सैव तत्र व्यवस्था तत्राधिगमधनप्राप्तिप्रति प्रमा-
णम् ॥ १५७ ॥

(४) राघवानन्दः । संप्रति वणिग्व्यवस्थितिमङ्गीकुर्वन्धर्मव्यवस्थितिमाह समुद्रेति । समुद्रयानकुशलाः स्थलप-
थजलपथगमननिपुणाः । एतावत्पर्यन्तमेतन्नयने एतावान् लाभोलब्धव्यइत्येवं यां वृद्धिं स्थापयन्ति सैव तत्र व्यवस्था
प्रमाणं अधिगमं धनप्राप्तिप्रति ॥ १५७ ॥

(५) नन्दनः । देशकालव्यवस्थितः अस्मिन्देशेऽस्मिन्काले ऋणंगृहीष्यामीति कृतव्यवस्थश्च वृद्धिसमारूढः समा-
तत्र स्थितोत्तमर्णस्तोदेशकालावतिक्रमंतत्फलंताश्च अभियुक्तपुरुषविशेषकल्पिता वृद्धिः कचिद्युक्तेत्याह समुद्रेति । स्थापय-
न्ति तत्र देशकाले । अधिगमंस्वीकारंप्रतिसावृद्धिस्यात्तैरेवोक्तांवृद्धिगृह्णीयादित्यर्थः ॥ १५७ ॥

(६) रामचन्द्रः । सावृत्तिश्च तत्र अधिगमं लाभं ॥ १५७ ॥

योयस्य प्रतिभूस्तिष्ठेद्दर्शनायेह मानवः ॥ अदर्शयन्सतंतस्य प्रयच्छेत्स्वधनादृणम् ॥ १५८ ॥

(१) मेधातिथिः । ऋणप्रयोगे द्विविधे विश्रंभः प्रतिभूराधिवां तत्र प्रतिभूपक्षइदमुच्यते । त्रिविधश्च प्रतिभूदर्शने-
प्रत्यये दाने च तत्र दर्शनप्रतिभुवमधिकृत्येदमाह यस्य दर्शनाय प्रतिभूस्तिष्ठेदमुष्मिन्प्रदेशे मयैषतव दर्शनीयः सतथा
कुर्वन्स्वधनात्तस्य ऋणयतेत प्रयत्नंकुर्याद्वातुमिति शेषः दद्यादिति यावत् ऋणग्रहणंव्यवहारवस्तुमात्रोपलक्षणार्थं तेन
यावन्तोऽर्थविषयाव्यवहारेभूत्वानुकंपयन्ते तद्वस्तुदद्यादर्शने नान्यतरेणाभियुक्तः वाक्पारुष्यसंग्रहणादौ येन परिभाषा क-
र्तव्या यदि न दर्शितंतदेतन्मयादातव्यं अकृतायान्तु परिभाषायां राजदण्डमेव दाप्यः शरीरे तुनिग्रहान्तंविऋयणं-
सुवर्णम् ॥ १५८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दर्शनायादीयमाने ऋणिकं दर्शयिष्यामीति । एतच्चोपलक्षणम् । अयमेतादृशोधनी पुत्री
आप्तश्चेत्यादिष्वर्थेषु मद्बचसा प्रत्ययः क्रियतामित्येवंप्रत्ययप्रतिभूरपि प्रत्ययविपर्यये प्रयच्छेदित्यपि द्रष्टव्यम् । दर्शने
प्रत्ययेच प्रतिभूत्वनिमित्तं यद्देयं तत्प्रतिभूरेव दद्यात् नतु तद्विक्रयग्राहिणोपि पुत्रादयः ॥ १५८ ॥

(३) कुल्लूकः । योमनुष्योयस्य दर्शनाय प्रतिभूस्तिष्ठेत् धनदानकाले ममायमधमर्णोदर्शनीयइति सतंतस्मिन्काल-
उत्तमर्णस्यादर्शयन् तद्धनंदातुंयतेत ॥ १५८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच लग्नकस्याधमर्णाद्यदर्शनेस्वधनादृणदानमाह यइति । यः प्रतिभूर्लग्नकः यस्याधमर्णा-
देर्दर्शनायतिष्ठेदिमंतुभ्यंदर्शयामीति सयदि तं नदर्शयेत्तदा स्वकीयधनात् ऋणादि दद्यादित्यर्थः ॥ १५८ ॥

(५) नन्दनः । अथप्रतिभूक्त्यमृणप्रसंगादाह योयस्येति । योयस्याधमर्णस्य समानवर्णस्तमधमर्णेतस्योत्तमर्णस्य ॥ १५८ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रतिभूत्वरूपमाह यदिति । योमानवः यस्य प्रतिभूर्दर्शनायतिष्ठति सःप्रतिभूः तंअधमर्णमदर्शयन्-
अप्रत्यक्षीकुर्वस्तस्याधमर्णस्य ऋणं त्वधनात्प्रयच्छेत् ॥ १५८ ॥

प्रातिभाव्यंवृथादानमाक्षिकंसौरिकंच यत् ॥ दण्डशुल्कावशेषंच न पुत्रोदातुमर्हति ॥ १५९ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रतिभुवः कर्म प्रातिभाव्यं प्रतिभुवा यत्कर्तव्यंपरणसंशोधनादि तत्प्रातिभाव्यं अर्हता योग्य-
ता सानेन प्रतिषिध्यते तस्यां च प्रतिषिद्धायामधिकारः प्रतिषेधः । अनधिकृतश्च न ददातीत्येवंन दातव्यमित्युक्तंभवति
सर्वत्रादृतौ क्रियापदे व्याख्यायते द्रष्टव्ये । कथंपुनः पुत्रस्य प्रातिभाव्यादिप्राप्तिर्हि तदणस्य पित्राऽगृहीतत्वात् नैष-
दोषः यद्येन दातव्यतयाङ्गीकृतंतदृहीतफलत्वादृहीतमेव तन्निश्चितस्वरूपत्वमापन्नाततः प्रतिषिध्यन्ते । वृथादानंपरिहा-
सादिनिमित्तंप्रतिश्रवणंकुरुकार्यमिदमपनिष्पन्नमिदंदास्यामीति निष्पादिते कार्ये पित्राऽदत्तंप्रतिश्रुते कथंचित्पुत्रेन दाप्य-
ते एवंपारितोषिकादिबन्दिपरिहासादिविषयंपंचाहममुष्माद्विजएतस्ययद्दापयेदिति तत्र तु मनुष्ये प्रेषिते कथंचिदातुमघ-
टितेऽसंनिधानाद्विजोन्वितोऽपि कारणाद्वृत्तान्तरे पितरि मृते पुत्रेन दाप्यते अक्षिनिमित्तमाक्षिकंसनिकायंयद्धार्यते ऽ-
न्यतोवा तत्प्रयोजनंयदृहीतमिति शक्यते ज्ञातुंतस्य प्रतिषेधः यः परित्यक्तबान्धवोक्षमालात्वेव शय्यासनविहारीप्रसिद्धः
क्रीडनकस्तदणमाक्षिकमिति मन्यन्ते ज्ञातुम् । सुरापाननिमित्तंसौरिकंसुराग्रहणंमद्योपलक्षणार्थेन यः पानशौण्डोत्यन्त-
मद्यपस्तदणप्रतिषेधः दण्डशुल्कयोरिव शेषः । यत्र पित्रा दण्डशःशुल्कशश्च कश्चिदत्तः परिपूर्णोदण्डशुल्कौ न दत्तौ ता-
दृशस्य प्रतिषेधः । यत्किंचित्पित्रादत्तंसतद्दाप्यते । स्मृत्यन्तरेऽप्यविशेषेणोक्तं प्रातिभाव्यवणिक्शुल्कमद्यद्यूतदण्डान पुत्रे-
ण दातव्यानभवेयुरिति तत्र विकल्पः महत्यपराधे महति च धने पैत्रिकेऽवशेषस्य प्रतिषेधः शुल्केऽप्येवं स्वल्पे तु सर्वस्य
॥ १५९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वृथादानं चारणादिषु । आक्षिकं द्यूतहारितम् । सौरिकं तत्पीतसुरामूल्यम् । दण्डावशि-
ष्टं परिणीतकन्यादिनिमित्तदत्तशुल्कावशिष्टं च दण्डशुल्कावशिष्टम् । अवशेषमित्युपलक्षणम् । सर्वमप्यदत्तमदेयमेव
॥ १५९ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रतिभूत्वेन यद्देयंनंतत्प्रातिभाव्यं वृथादानंपरिहासनिमित्तं पण्डादिभ्योदेयत्वेनपित्रांगीकृतंद्यूतनि-
मित्तंसुरानिमित्तंच दण्डंयद्देयंदण्डंशुल्कंघट्टादिदेयंतदवशेषंच पितृसंबन्धिनं पितरि मृते पुत्रोदातुंनार्हति ॥ १५९ ॥

(४) राघवानन्दः । पितृप्रतिश्रुतादि पुत्रैर्देयमिति सिद्धवत्कृत्य तददेयंसंकलयति प्रातिभाव्यमिति । प्रतिभुवा लग्न-
केन पित्रा यद्दर्शनादि प्रतिश्रुतंतत्प्रातिभाव्यं वृथादानं परिहासादिना मागधादिभ्यः प्रतिश्रुतं आक्षिकं द्यूतनिमित्तं सौरिकं
सुरानिमित्तं दण्डशुल्कावशेषं राजदण्डपण्यस्त्रीघट्टादिस्वीकृतशेषंच नपुत्रोदातुमर्हतीत्यन्वयः । प्रातिभाव्यमिवमधमर्णदर्श-
यामीतिप्रतिश्रुतस्यदर्शनंप्रतिभुवःपितुरदर्शनेन पुत्रस्तनदर्शयेत् ॥ १५९ ॥

(५) नन्दनः । तदभावे पुत्रेण देयमिति प्राप्तस्यापवादमाह प्रातिभाव्यमिति । वृथादानंधर्मरहितंगायकादिभ्योदे-
यम् । आक्षिकंद्यूतनिमित्तम् । सौरिकंसुरासंबन्धि ॥ १५९ ॥

(६) रामचन्द्रः । यत्प्रातिभाव्यंदर्शनंप्रातिभाव्यंतत् । वृथादानं धूर्तबन्दिमल्लादिभ्योयत्प्रतिज्ञातंतत्तद्वृथादानम् । च
पुनः आक्षिकंअक्षसंबन्धकृतंद्यूतकृतं । सौरिकं यत्सुरासंबन्धकृतंतत् । च पुनः दण्डशुल्कावशेषं पुत्रोदातुंनार्हति । योगी-

श्वरः॥ सुराकामद्यूतकृतं दण्डशुल्कावशिष्टकम् । वृथादानंतथैवेह पुत्रोदद्यान् पैतृकम् । पितृकृतमृणंपुत्रोनदद्यादित्यर्थः ॥ १५९ ॥

दर्शनप्रातिभाष्ये तु विधिः स्यात्पूर्वचोदितः ॥ दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ॥ १६० ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वश्लोके योविधिर्मया चोदितउक्तः यथा पुत्राणां भवति पैत्रिकंप्रातिभाष्यंतद्दर्शनप्रातिभाष्ये यद्येवंप्रत्ययप्रतिभुवः पुत्रादाप्यन्तामतआह दानप्रतिभुवि प्रेते दायादाः पुत्रादाप्यन्ते नान्यस्मिन् यद्येवंप्रथमोर्द्धश्लोकोनर्थकः दानप्रतिभुवःपुत्राणांसाधनानुक्ते सामर्थ्याद्यस्य प्रतिभुवोनास्ति पुत्राणांसंबन्धइति गम्यते । अथविस्पष्टार्थमुच्यते प्रत्ययग्रहणमपि कर्तव्यमितरथाप्रतिषेधदर्शनं ग्रहणादुभयपरिभ्रष्टस्य किंविधिभूतप्रतिषेधइति संशयःस्यात् नास्ति संशयः स्मृत्यन्तरे स्पष्टमुक्तत्वात् । दर्शनप्रतिभूर्यत्र मृतः प्रात्ययिकोवा । न तत्पुत्राऋणंदद्युर्दद्यानाय येस्थिताइति ॥ इहापि दानप्रतिभुवन्यस्य विधित्वादन्त्यत्राप्राप्तिः दर्शनग्रहणमुपलक्षणार्थंअनुवादेचोपलक्षणत्वमदोषः किंप्रयोजनमिति चेद्विचित्राश्लोकानांकृतिर्मानवी ॥ १६० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दर्शनेति प्रत्ययस्याप्युपलक्षणम् । दानप्रतिभूरेतेनादत्ते दास्यामीति नियम्यभूतः । दायादानृक्प्रतिहिणोऽनु पुत्रानेव ॥ १६० ॥

(३) कुल्लूकः । सुरानिमित्तंच यद्देयंदण्डंप्रातिभाष्यं पुत्रोदातुमर्हतीति योयंपूर्वोपदेशः सददर्शनप्रतिभुवः पितुर्देयोज्ञेयः दानप्रतिभुवि तु पितरि मृते पुत्रमृणंदापयेत् ॥ १६० ॥

(४) राघवानन्दः । प्रातिभाष्यं पुत्रोन दातुमर्हत्युक्तो दानप्रतिभुवि तूत्तमर्णस्य देयमिति प्रतिश्रुत्य मृतेपितरिपुत्रोपिदद्यादित्याह दायादानिति दापयेद्राजेतिशेषः । तथाह याज्ञवल्क्यः ॥ दर्शनप्रतिभूर्यत्र मृतः प्रात्ययिकोपि वा । नतत्पुत्राऋणं दद्युर्दद्यानाययः स्थितइति ॥ प्रात्ययिको यथा प्रत्ययोविश्वासः अस्मत्प्रत्ययेनास्मै धनं प्रयच्छतु भवाननायं त्वां वञ्चयिष्यति यतोऽमुकस्य पुत्रोयमिति प्रत्ययार्थं भवतीति दानप्रतिभूर्यथा यद्ययं ददाति तदाहमेव दास्यामीति ॥ १६० ॥

(५) नन्दनः । पूर्वचोदितः पुत्रेण देयमिति पूर्वश्लोकउक्तः ॥ १६० ॥

(६) रामचन्द्रः । दर्शनप्रातिभाष्ये दर्शयितुंप्रतिभुवि अहंदर्शयिष्यामीत्युक्तौ पूर्वनोदितोविधिःस्यात् । दानप्रतिभुवि मयाधनंदेयमित्युक्तेसतिप्रेतेमृते सति दयादान् पुत्रानपि दापयेत् पुत्रेभ्यःदापयेदित्यर्थः ॥ १६० ॥

अदातरि पुनर्दाता विज्ञातप्रकृतावृणम् ॥ पश्चात्प्रतिभुवि प्रेते परीप्सेत्केन हेतुना ॥ १६१ ॥

(१) मेधातिथिः । अनेन श्लोकोन संदिहानः भ्रंशकृत्वोत्तरेण निश्चाययति । संदेहहेतुश्लोकः पदद्वयेनादातरि विज्ञातप्रकृताविति समन्वयान्तानिसमानाधिकरणानिपदानिव्याख्यायन्ते अदातरि प्रतिभुवि प्रतिज्ञातप्रकृतौ न ऋणमनुत्तमर्णः केन हेतुना परीप्सेत लब्धुमिच्छेत्किंकेवलेनैवात्मव्यापारेण ततः प्रतिभुवः पुत्रमपि व्यापारयति कुतः संदेहउक्तमृतोदानप्रतिभूतज्ञातस्तादृशे मृते कस्तत्पुत्राणांसंबन्धः यतस्तु खलु विज्ञातप्रकृतिर्विज्ञातकारणः प्रतिभूत्वेन धनंगृहीत्वा स्थितइत्येतन्निश्चितमतोभवति बुद्धिरस्ति तत्पुत्राणांसंबन्धोयतस्तेन ऋणसंशुध्यर्थमस्यनिमृष्टमिति । पुनः शब्दः पूर्वस्माद्विशेषमाह यदि दानप्रतिभुवः पुत्राः संबन्ध्यन्ते यस्तर्ह्यदाता तस्मिन्मृतेदातोत्तमर्णः पश्चात्तत्तत्तत्कालमित्यर्थः । शेषव्याख्यातं परीप्सा प्राप्तीच्छा ॥ १६१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उक्तमुपपादयति अदातरीति । प्रतिभुव्यदातरि दानार्थमभूते विज्ञातप्रकृतौ प्रथममेव

दर्शनादिनियमकरणेन निश्चितादातृत्वभावे भेदे ऋणं दातोत्तमर्णः केनहेतुना तत्पुत्रादावर्थमीप्सेत यतएव दानार्थं नासौ प्रतिभूः कृतः पित्राच देयत्वेनाङ्गोक्तमेव दायदेन देयमतोन्यथा न देयमित्यर्थः ॥ १६१ ॥

(३) कुल्लूकः । अदातरि दानप्रतिभूवोन्यस्मिन्दर्शनप्रतिभूविप्रत्ययप्रतिभूवि वा विज्ञातप्रातिभाव्यकारणमूलशोधनोचितधनग्रहणं यस्य तस्मिन्मृते दातोत्तमर्णः पश्चात्केनहेतुना धनं प्राप्नुमिच्छेत् ॥ १६१ ॥

(४) राघवानन्दः । तर्हि दानप्रतिभूवदर्शनादिप्रतिभूवोपि पुत्रस्तद्व्यादित्याशङ्क्याह अदातरीति । दानप्रतिभूवोऽन्यस्मिन्दर्शनप्रतिभूवि प्रत्ययप्रतिभूविवापुनर्नष्टेभूते विज्ञातप्रकृतौ विज्ञाता प्रकृतिः प्रतिश्रुतप्रातिभाव्यकारणमपि दर्शयामीत्यादियस्यतस्मिन्मृते दातोत्तमर्णः परीप्सेत्केनहेतुना प्राप्नुमिच्छेत् । दर्शनादिप्रतिभूवो मृतत्वाददानप्रतिभूपुत्रेवचनाभावात् । विज्ञातप्रकृतेरिति कचित्पाठस्तदा दर्शयामीत्यादिप्रतिभूत्वेन विज्ञातः प्रकृतिः पितायेनतस्मात्तत्पुत्रात्केन हेतुना प्राप्नुयादित्यन्वयः । समासः स एव ॥ १६१ ॥

(५) नन्दनः । पुनरितिवाक्योपन्यासे अधमर्णे ऋणदातरि सति विज्ञातप्रकृतौ दातोत्तमर्णः केन हेतुना धनं परीप्सेत्कस्माद्धनंलभेतेति महर्षिप्रश्रसद्भावेनस्वयमुपन्यासोऽयं हेमहर्षयः एवंपृच्छतिचेदित्यर्थः ॥ १६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । तत्र प्रश्नमाह अदातरीति । दाता उत्तमर्णः दर्शनप्रत्ययप्रतिभूवि दानप्रतिभूव्यतिरिक्तेभेदेसति पुनः अदातृत्वेनविज्ञातात् नियतत्वेन पश्चात्प्रकृतरूपात् अधमर्णात् ऋणकेनहेतुना परीप्सेत् इच्छेत् ॥ १६१ ॥

निरादिष्टधनश्चेत्तु प्रतिभूः स्यादलं धनः ॥ स्वधनादेव तद्व्यान्निरादिष्टइति स्थितिः १६२ ॥

(१) मेधातिथिः । निरादिष्टंनिसृष्टंस्वधनादर्पितंभवलग्नकदंते धनंमत्तस्त्वया संशोधनीयं यद्यहंन दद्यामभवतः पर्याप्तधनं । यावद्धनमुत्तमर्णाय दातव्यंतावत्परिपूर्णंनिसृष्टं स्वल्पेतु निसृष्टे बहुनिसंशोधये न दापयितव्यः । पूर्वस्य प्रश्नस्योत्तरमिदं यद्यपि न दानप्रतिभूवश्च निरादिष्टस्तत्तत्पुत्रोदाप्यते स्वधनादेव तद्योनिरादिष्टपुत्रइति द्रष्टव्यं तस्यैव प्रकृतत्वात् साक्षात्प्रतिभूवस्तुप्रतिभूत्वादेव प्राप्तिरिति चेन्मैवं निरादेशेन नइति स्थितिरेषा शास्त्रमर्यादा विचारदेवावलंबनइति सिद्धयन्निरादिष्टोऽलंबनइति चैवमभिधानंतत्पद्यग्रन्थानुरोधेन ॥ १६२ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । तत्किमेवंसर्वत्रेत्याह निरादिष्टेति । दर्शनप्रत्ययप्रातिभाव्यकालएव संप्रत्ययार्थं यदि प्रतिभूर्द्धारिणिकेन निरादिष्टधनोदत्तधनः स्यात् । तच्च दत्तं तस्मै धनं धार्यमाणशोधनायालंपर्याप्तं यस्य सोऽलं धनः । तदा निरादिष्टोदत्तधनः सतस्मिन्द्रव्ये व्ययितेऽपि स्वधनादेवाकुर्यदद्यात् । तथाच तद्व्यादेरपि तदेयमेवेत्यर्थः । अलं धनमिति सर्वदानमपेक्ष्य अल्पेतु स्थापिते तावदेव शोधनीयं न सर्वधनंदेयम् ॥ १६२ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रतिभूवोमृतत्वात्तत्पुत्रस्य चादानप्रतिभूत्वेनादातृत्वादित्याशङ्क्याह निरादिष्टेति । असौ दर्शनप्रतिभूः प्रत्ययप्रतिभूर्वा यदिनिरादिष्टधनोऽधमर्णेन निसृष्टधनो यावता धनेनासौ प्रतिभूस्तच्छोधनपर्याप्तधनस्तदात्मधनादेव तद्धनं निरादिष्टोत्र निरादिष्ट धनपुत्रोऽलक्षणयोच्यते ऋणमुत्तमर्णाय दद्यादिति शास्त्रसंप्रदायः ॥ १६२ ॥

(४) राघवानन्दः । अधमर्णादिवामधनस्य पितुर्मरणेपि पुत्रः समर्थश्चेत्तद्व्यं दद्यादित्याह निरादिष्टेति । अधमर्णेन निरादिष्टं समर्पितं मरणादिकाले किंचिद्धनंयस्मै सनिरादिष्टधनः दर्शनप्रतिभूः प्रत्ययप्रतिभूर्वा अलं धनश्च पर्याप्तधनः यावति धने ऋणपरिशोधनंस्यात्तावद्धनः स्वधनाद्व्यं दद्यादिति । निरादिष्टधनइति प्रतिभूपुत्रोऽलक्षणाया । इति स्थितिः शास्त्र-

मर्यादान्तु बलात्कारः । अलंघनइति विशेषणात्परीप्सेत्केनहेतुनेतिन्यायाभावस्योक्तत्वात् च विज्ञातप्रकृतित्वेन धनलाभस्य सूचितत्वाच्चप्रकरणाद्यामादानपि दापयेतइत्यत्र दानप्रतिभूदायादस्यैववाग्रहणम् ॥ १६२ ॥

(५) नन्दनः । अत्रोत्तरत्वेनेदमाह निरादिष्टधनइति । निरादिष्टधनः पुत्रः परत्रवासंक्रामितधनः प्रतिभूर्मरणेन तिरोधानेन वाऽलक्षितोयदि स्यात्सनिरादिष्टः । प्रतिभूर्धनग्राही पुत्रावरोवा स्वधनदेव तद्वत्प्रमुक्तमर्णयि दद्यात् ॥ १६२ ॥

(६) रामचन्द्रः । तत्रोत्तरमाह निरादिष्टेति । प्रतिभूर्निरादिष्टधनः अधमर्णेनदत्तधनश्चेत्तर्हि अलंघनः उत्तमर्णाय दातुं गृहीतसंपूर्णधनस्यसनस्यात्सप्रतिभूः स्वधनाद्देयंतद्वत्तदद्यात् ॥ १६२ ॥

मत्तोन्मत्तार्त्ताध्यर्धनैर्बालेन स्थविरेण वा ॥ असंवद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिध्यति ॥ १६३ ॥

(१) मेधातिथिः । कार्यपर्यायोव्यवहारशब्दः यत्किंचिद्दानाधानविक्रयादिकार्यलेख्यादि च प्रमाणमेतैः कृतं तन्न सिध्यति कृतमप्यकृतं भवति । मत्तोन्मत्तौ विख्यातौ आर्त्ताधनबन्धुनाशादिपीडितः प्रत्युपस्थितभयश्च । यौगिकत्वाच्चत्तादिशब्दानां यावन्मदादियुक्तास्तावत्तत्प्रमाणमावस्थिकोयंप्रतिषेधः मदर्शनार्थंचैतदप्रकृतिस्यत्वमात्रस्य यथोक्तं कुर्यादप्रतिकर्तितगतः तदाप्रकृतमस्यादुरस्वतत्त्रेसहेतुतइति । अप्रकृतिस्यश्चोच्यते उपप्लुतबुद्धित्वकार्यविवेचने असमर्थः उक्तंच ॥ कामक्रोधाभियुक्तार्थोभयव्यसनपीडिताः । रागद्वेषपराश्चेति ज्ञेयास्त्वप्रकृतिगताइति ॥ कामादीनां द्वन्द्वकृत्वा पीडितशब्देनैतः पीडिताइति साधनंकृतेति तृतीयासमासः तेन पीडितस्य प्रतिषेधः सचायंसंप्रति मन्मथाधिष्ठस्त्रीपरिरम्भणादिपरीप्समानोभवति अभियुक्ताद्युतादिक्रियान्तरे दत्तावधानाः एते हि तत्र संसृजन्तः स्वामिनोपि स्वइत्यस्य प्रातिभावादिप्रक्रिया निश्चयस्यानवधानान्न प्रमाणं यतः क्रियान्तरावहिततया परेण पृच्छ्यमाना इदमस्मै दीयतामङ्गीकृत्वा प्रातिभाव्यमियति वस्तुनीदृशेऽनेन च प्रकारेणोच्यतइत्येवमादि निष्पुणतानावधारयन्ति प्रकृतिक्रियाविघ्नोवा माभूदस्मिन्निहस्थइत्यभिप्रायमभ्युपगच्छन्ति गच्छ त्वयद्ब्रवीषि तत्सर्वमनुष्ठीयतइति पारतन्त्र्यंवाङ्गीकुर्वन्ति तदुक्तं स्वतत्त्रसहेतुतइति येन हेतुनाऽस्वतत्त्रोऽप्रमाणसोस्य स्वतत्त्रस्यापि हेतुर्विद्यते यथाऽस्वतत्त्रः स्वमपि न विनियुक्ते एवमयमपि कामादिवशीकृतमर्थविवेककार्याणांच गुणदोषौ क्रियमाणावनधिगच्छन्स्वतत्त्रेण तुल्योभवति । आर्त्ताव्याख्यातः अभियुक्तविशब्दौ च धर्मवचनौ लक्षणया धर्मिपरौ विज्ञेयौ अभियोगोऽभियुक्तआतुरइति । व्यसनानि कामक्रोधसमुत्थितानि शृगयादीनि अभियुक्तव्यसन्यपि काश्चिद्विषयांतात्पर्येण कुर्वन्तुच्यते अव्यसन्यप्रवृत्तोऽपि तद्व्याख्यानरतः । अथवा कामक्रोधशब्दौ कामिनिक्रोधवतिवर्तेते अत्र पक्षेभयव्यसनशब्दौ कृतद्वन्द्वौ पीडितशब्देन संबध्यते अन्येतु स्वतत्त्राएव रागद्वेषाभ्यांपरीताव्यापारागः क्वचिदात्मीयेष्वभिषङ्गात्मात्मीयतया परिगृहीतस्य चित्संबन्धिनापि ध्यायतोवाभिषेतसिद्धौ मनसः परितोषोरागस्तद्विपरीतोद्वेषविषयः परिपथिन्यनात्मीयतया परिगृहीते तदस्वास्थ्यतद्विपर्ययात्परितुष्टिवृत्तिरित्येवमादिरूपौ रागद्वेषौ सर्वथास्य भावबुद्धिश्चलिता क्षणमपिविवक्षितकार्ये नावतिष्ठते अन्यद्वदन्तोऽन्यदाचरन्ति एवंप्रकृतिस्यः अन्यथा सर्वएव पुरुषाः कामादियुक्ताः जराजोर्णाक्षिशिरोरोगार्त्तमत्ताः प्रकृतिस्थाः स्युर्नचैवमभ्यधीनोर्गर्भदासः पुत्रशिष्यौ भार्या च यदापि रुद्ध्या गर्भदासएवाध्यधीनस्तथाप्यस्वतत्त्रोपलक्षणार्थत्वात्सर्वएव ते गृह्यन्ते । स्वधनदानादि स्वामिनमनुज्ञाप्य यत्कुर्वन्ति तत्सिध्यति तथाच नारदः ॥ यद्बालः कुरुते कार्यमस्वतत्त्रकृतंच यत् ॥ अकृतंतदिति प्राहुरिति ॥ अस्वतत्त्रः स्मृतः शिष्यआचार्येतु स्वतत्त्रता । अस्वतत्त्राः स्त्रियः पुत्रादासाद्यश्च परिग्रहः ॥ स्वतत्त्रस्तुगृही यस्यतस्य तत्स्यात्क्रमागतम् ॥ ननु यदि न स्वातन्त्र्यंस्त्रीणामुच्यते पुंसश्च स्वातन्त्र्यमेतदनुपपन्नं यतः साधारणं धनंकथमेकाकीमनुष्योभार्ययाऽननुज्ञातोदानविक्रयादिभ्यः प्रभवेदतइत्युक्तं ॥ स्त्रीकृतान्यप्रमाणानि का-

र्याण्याहुरनापदीति ॥ तथा कुले ज्येष्ठइत्युपक्रम्य तत्कृतः स्यात्कार्यज्ञातविक्रीतमिति धनसाधारणं हि पुरुषेऽपि स्त्रीवदस्वत-
 त्तयच्छब्दे स्वाम्यं पारतत्तयं चेति तद्विरुद्धमिव स्वामित्वस्येत्येताश्च व्यवस्थेति योज्यं भवति । पारतत्तयं परिविधेयताछादि-
 वार्तित्वं यदि च परतत्तयः परेच्छामन्तरेण विनियोक्तुं न लभते कीदृशमन्यस्वाम्यस्य अथ दानाधानविक्रये यत्र प्रकृतत्वाद-
 नीशाः स्वशरीरे परिभोगादौ यावदिच्छंस्वधर्मो विनियोज्यते परतत्तयमहाधानानां शास्त्रनिगृहीतात्मनां योनात्मोपभोगो भवेद्दाल-
 स्यस्वाम्यं पारतत्तये उपपन्नो यदा प्राप्तव्यवहारस्तदा शिष्यते एव पुत्रादावपि स्त्रियास्तु न कदाचिदपारतत्तयं ॥ बालया वा
 युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता । न स्वतत्तयेण कर्तव्यं कार्यं किंचिदिति स्थितिः ॥ स्वाम्यं पारतत्तये स्त्रीणामसमावेश उच्य-
 ते न पारतत्तयवचनेन स्त्रीणां स्वधनविनियोगनिषेधः क्रियते किंतु स्थाने दानाधानविक्रयादि वार्यते परतत्तयास्तैरासां स्था-
 ने निरूपणे येन हिताः स्वयं विवेक्तुमलमेषपात्रमर्हति । भूमिहरण्यादिप्रतिग्रहमनेन कन्यासंबन्धं कुर्यात् इदं द्रव्यमस्मात्कर्तुं
 विक्रेतुं वार्हसीत्येवमादितया ज्ञातव्यं अतो लेख्यादिकाले भर्त्राद्यनुमतिरुपयुज्यते केवलकृते कार्ये नाहं किंचिदविज्ञाते त्व-
 या विप्रलब्धास्तीति वचनस्यावसरत्वात् । भर्त्राद्यनुमतौ तु किंवक्ष्यति तदुक्तं ॥ एतान्यपि प्रमाणानि भर्ताद्यनुमन्यते । पु-
 त्रः पत्युरभावे वा राजाधिपतिपुत्रयोः ॥ अतिस्वातत्तयमपि नियमितं ॥ अनुशिष्टा विसर्गे च विक्रये विस्वरा मता ॥ अपिबु-
 द्धिपूर्वबालस्वलिते स्वामिना पत्न्यादयोनियोज्या अनुबन्धादिना ननु तैः स्वाम्यं विसर्गेऽपि ॥ सा सद्यः संनिरोद्धव्या त्वजे-
 द्वाकुलसंनिधाविति ॥ स्त्रीणामेव न पुंसः पारतत्तयं पतितस्याप्याप्रायश्चित्तसमाप्तेः प्रतीक्षणोपदेशो तो विक्रयोपि दासादीनां ग-
 रीयस्यामापदि कुत्रचिदस्ति तेषु स्वामिन इत्येतदपेक्ष्य भार्या शिष्यदासीनां यथास्वं पारतत्तयं धनसाधारण्यात् न भर्तुरनुज्ञा-
 प्यभार्यायायागादौ कचिदधिकार इति स्थितं यच्चेदपुत्राणां भर्तरि भ्रते वशोत्तिष्ठतु तथा ॥ जीवतोरस्वतत्तयः स्याज्जरयापि सम-
 न्वितः । तयोरपि पिता श्रेयो न भोवावीजिने मत इति पुत्राणां पारतत्तयम् । ननु चान्योन्यव्याहृतामतिनास्ति व्याघातः
 अनधिकारिणि पुत्रे बाले मातृपरतत्तया मातुस्तु पुत्रे पारतत्तयं मातृधनरक्षणं चोरादिदोषेभ्यः पुत्रस्यापि यत्पितरि पारत-
 त्तयंतदपृथक् तस्य तदग्रहे निवसेत् यदा तु पितृविभक्तधनं स्वयमर्पितवांस्तदा ॥ ऊर्ध्वन्तुषोडशाद्वर्षात्पुत्रं मित्रवदाचरेदिति ॥
 स्वातत्तयमेव बालोऽप्राप्तव्यवहारः षोडशवर्षात्प्राक् स्थविरो लुप्तस्मृतिनिराभिभूतो भीतव्यवहारः । यद्यन्ययंकस्यांचिद्वेला-
 यां प्रकृतिस्थोपि भवति तथापि न प्रमाणं प्रयात् यस्य तु भर्तुः स्त्री जनानां कार्यप्रतिबन्धेन वर्तते तथानुज्ञातमेतद्भव-
 ति असंबन्धः कृतः परार्थमनियुक्तो व्यवहार इति न भ्राता न पिता देवदत्ताय शतं धारयतीत्येवमादिवक्तुं न लभ्यते ।
 येतु भ्रातरः समानकार्याः सर्वे च तुल्यव्यवहारिणस्तेषामन्यतरेणापि गोपश्वादिविक्रयोगृहादिवन्धनप्रयोगादिच क्रियमाणं सि-
 ष्यति संबन्धित्वाय व्यवहारशब्दः सर्वव्यवहारग्रहणार्थः प्रकरणादणव्यवहार एव स्यात् ॥ १६३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आर्तः शोकादिना । अधीनो भृत्यः । अधिपदमीश्वरे वर्तते । बालेन षोडशवर्षेण । स्थ-
 विरेण लुप्तस्मृत्यादिना । कृत इत्यनुषङ्गः । असंबन्धेन स्वाम्यग्रहितेन परेण । व्यवहारः ऋणादानादिः । न सिष्यति न ल-
 भ्यो धनिकस्य ॥ १६३ ॥

(३) कुल्लूकः । मद्यादिना मत्तः उन्मत्तो व्याध्यादिपीडितोपहतास्वतंत्रबालवृद्धैरस्वतत्तयेन पितृभ्रातृनियुक्तादिव्य-
 तिरेकेण कृतः ऋणादानव्यवहारो न सिष्यति ॥ १६३ ॥

(४) राघवानन्दः । कृतोपि व्यवहारः कचिदसिद्ध इत्याह मत्त इति । मत्तो मद्यादिना उन्मत्तो वातादिना आर्तोरो-
 गादिना आभ्यधीनः कामादिपीडितः अभ्यधीनः सेवको वा स्थविरोऽत्यन्तवृद्धस्तैः कृतः । असंबन्धकृतः असंबन्धेन पित्रा
 ऽन्यविनियुक्तेन कृतश्च व्यवहारः ऋणादिविषयकः । मत्तादिभिः संबन्धिभिः कृतो न सिष्यतीति वार्तः ॥ १६३ ॥

(५) नन्दनः । कचित्कृतस्य निवर्तनीयत्वं त्रिभिः श्लोकैराह मतेति । आर्त्ताऽप्रतिक्रियपीडायुक्तः । असंबद्धो-
मृहक्षेत्रादिरहितः । आगन्तुकस्तेन कृतसंबन्धः । ऋणदानक्रयविक्रयादिकंसंव्यवहारो व्यवहारः । आर्त्तादिभिः सहकृतो-
संबन्धकृतश्च व्यवहारो न सिध्यतीति वर्तते ॥ १६३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अध्यधीनैः नित्यपराधीनैः । असंबद्धः स्वाम्यरहितः । एतैर्मत्तादिभिः कृतो व्यवहारो न सिध्य-
ति ॥ १६३ ॥

सत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यात्प्रतिष्ठिता ॥ बहिश्चेद्भाष्यते धर्मान्नियताद्यावहारिकात् ॥ १६४ ॥

(१) मेधातिथिः । कस्यचिदनुष्ठेयस्यार्थस्य प्रतिपादकः शब्दोभाषा सामान्येन भवति योर्थस्तथा प्रतिपाद्यते
सोनुष्ठेयः किं सर्वाविभाषा न सत्या नेत्याह बहिश्चेद्भर्मान्धर्मवाच्यं यदुच्यते शास्त्राचारविरुद्धं पञ्चकादिकावृद्धिः भार्या-
मृत्यविक्रयादिरन्वयिनः सर्वस्तदानीमित्येवमादि यद्यपि स्यात्प्रतिष्ठिताः पत्रलिखिताः प्रतिभुत्रोवा दत्तास्तथापि न सिध्य-
न्ति । व्यावहारिको धर्मो आचारनिरुद्धो नियतोऽनादिर्नैदानीतनः पूर्वशेषश्चेतत् । अस्वतन्त्राप्रकृतिस्यैः कृतं दानाद्यनिश्चित-
मिति न प्रमाणम् ॥ १६४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भाषा परिभाषा कलादिनियमस्य लेखादौ निरूढा न सत्या भवति व्यर्थं भवति यद्यपि
साक्ष्यादिमत्तया प्रतिष्ठिता दृढा स्यात्तथापि । यदि धर्माद्विहिर्भाष्यते तच्च । नियताद्यावहारिकात् देशादिव्यवहारसिद्धा-
दाचारात् ॥ १६४ ॥

(३) कुट्टूकः । इदं मयानुष्ठेयमित्येवमादिका भाषालेख्यादिना स्थिरीकृतापि यदि शास्त्रीयधर्मात्पारम्पर्यान्सद्यवहारा
च्च बहिर्भाष्यते सा सत्या न भवति तदर्थो नानुष्ठेयः ॥ १६४ ॥

(४) राघवानन्दः । भाषामात्रं न वस्तुसाधकमित्याह सत्येति । इदं मयानुष्ठेयमित्येवं स्थिरीकृतापि भाषा शास्त्रनि-
यमात्पारम्पर्यान्सत्यव्यवहाराद्वा बहिर्भूता स्वतन्त्रा तदाऽसिद्धैवेति पद्यस्यार्थः । तथाच ॥ प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं यथा चो-
दितमर्थिना । समामासतदर्थो होनामजात्यादिचिन्हितमिति ॥ भाषारूपमेतद्बहिर्भूतोऽशास्त्रीयः । तत्र लेख्यप्रकारे याज्ञव-
ल्क्यः ॥ यः कश्चिदर्थो निर्णीतः त्वरुच्या तु परस्परम् । लेख्यं तु साक्षिमत्कार्यं तस्मिन्धनिकपूर्वकम् ॥ समामासतदर्थो-
हर्नामजातित्वगोचरैः । सत्रह्यचारिकात्मीयपितृनामादिचिन्हितम् ॥ समामेऽर्थे ऋणी नाम त्वहस्तेन निवेशयेत् । म-
तं मेऽमुकपुत्रस्य यदत्रोपरिलेखितम् ॥ साक्षिणश्च त्वहस्तेन पितृनामादिपूर्वकम् । अत्राहममुकः साक्षो लिखेयुरिति ते
समाः ॥ ते सङ्ख्यातो गुणतश्च समाः कार्या इत्यर्थः ॥ अलिपिज्ञः ऋणी यः स्यात्लेखयेत्त्वमतं तु सः । साक्षी चेत्साक्षिणान्येन
सर्वसाक्षिसमीपगः ॥ साक्ष्यम्यलिपिज्ञश्चेत्सोपि सर्वसाक्षिसमीपगः सन् त्वनाम लेखयेदित्यर्थः ॥ उभयानुमतेनैतन्मयाहममुक-
मनुना । लिखितं ह्यमुकेनेति लेखकोन्ते ततो लिखेत् ॥ विनापि साक्षिभिरलेख्यं त्वहस्तलिखितं तु यत् ॥ तत्प्रमाणं स्मृ-
तं सर्वं बलोपधिरुतादते ॥ ऋणं लेख्यगतं देयं पुरुषैस्त्रिभिरेव च ॥ त्रिभिरित्यनेन प्रपौत्रादीनां न दानार्हत्वम् ॥ आधिस्तु
भुज्यते तावत्तयावत्तन्प्रदीयते ॥ न प्रदीयते बन्धकधनमित्यनेन बन्धकभूम्यादीनां प्रपौत्रादेरपि ग्राह्यतेत्यर्थः ॥ देशान्त-
रस्थे दुर्लेख्ये नष्टेऽपि लिखेत्तथा । भिन्ने दग्धे तथा छिन्ने लेख्यमन्यत्तु कारयेत् । दुर्लेख्ये उक्तवैपरीत्येऽपि लिखेत्
शोले भिन्ने द्वैधीभूते छिन्नेऽवयवश इति भेदः । किंच ॥ संदिग्धे लेख्यशुद्धिः स्यात्त्वहस्तलिखितादिभिः । युक्तिमा-
मिक्रियाचिह्नसंबन्धागमहेतुभिः । युक्तिरित्यादेरयमर्थः । धनवतोऽस्मादयं ग्रहीतुं योग्यः निर्धनत्वादिति युक्तिः । ग्रामि-
रेतावन् त्वत्तः प्राप्तम् क्रिया मद्धनेन वाटीयं क्रीता मद्धनेन मठोयं दत्त इति । चिह्नं मद्धनेन दुहितृविवाहः कारितः । आ-
गमो मयास्मान् तद्धनं प्रगृहीतं दत्तं च । तुभ्यमित्येतैर्हेतुभिः लेख्यशुद्धिः स्यादित्यन्वयः । किंच ॥ लेख्यस्य पृष्ठेऽभिलिखेद्-

त्वाद्वर्णिकोधनं । धनी वोपगतं दद्यात् त्वहस्तपरिचिह्नितम् ॥ दत्तवर्णं पाठयेत्लेख्यं शुल्भ्यै वान्यन्तु कारयेत् । साक्षि-
मच्च भवेद्यद्वा तद्दातव्यं ससाक्षिकमिति याज्ञवल्कीयवचनजातम् ॥ १६४ ॥

(८) नन्दनः । परस्परकृतसमयोभाषा । प्रतिष्ठिता साक्ष्यलेख्यादिरूपा यदि स्याद्धर्माद्धर्मशास्त्रभावात् । व्याव-
हारिकालोकव्यवहारभावाच्च । नियमात्समयात् बहिर्भाष्यते चेत्सत्यानुचिता कार्यनिष्पादनीसा न भवति । तस्य सत्य-
त्वं निवर्तनीयमित्यर्थः ॥ १६४ ॥

(६) रामचन्द्रः । भाषा परिभाषा सत्या न भवति यद्यपि प्रतिष्ठिता स्यात् लेख्यानिश्चिता लेख्यसाक्ष्यादिना-
स्यात् नियताद्यावहारिकात् चेत् धर्मादपेतातद्वहिः भाष्यते ॥ १६४ ॥

योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम् ॥ यत्र वाप्युपार्धपश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ॥ १६५ ॥

(१) मेधातिथिः । योगः छद्म तेन यदावापकबन्धकीकृतमिति एतच्च ज्ञायते असत्यकार्येण कृतं तद्राजा विनिव-
र्तयेत् कश्चिद्धनिकेनोपरुध्यमान आह न किञ्चिदस्तीति ननु क्षेत्रे स्थाण्डिलेवासोस्ति तदर्पयेत्यनया शङ्कया सुहृत्स्वज-
नायकस्मै चिदसावाधानी करोति तत आह तदन्यस्य मया बाधकीकृतमिति एतच्च ज्ञायते सत्यपि प्रकाशलेख्ये तस्य-
आधानृतायोगात् । यदि हि परमार्थतया धित्वेन कृतं कथमाधानैव भुङ्क्ते इति एवंविधयोगावापनप्रमाणीकृत्य धनिने क्षे-
त्रादि दापयितव्योऽधमर्णः यस्य चान्येनागमेन स्वाम्यधनदानकालागमन्तरेण करणं करोति तदपि योगावापनं तत्रा-
धमर्णायस्य वानेनागमेन स्वाम्यधनदण्डितः सत्यमागमकारयितव्यः एवं विक्रयादि योयेन महार्धज्ञो विक्रीणीति नैव मूल्ये
क्रेतुरादत्ते यच्चात्र तेह विक्रीतं मया तवेदमिति स उत्तरकालविक्रीतं त्वया ममेदमिति न लभते वक्तुं न चायं विक्रयानुशयो-
दशाहात्परेणापि निवर्तयेदिति यावामेन काययति पूर्वोक्ते पञ्चम्याङ्गनिमित्ते सति निमित्तान्तरे वा सति विक्रीतेन च
रूपादिभिः क्रयोपहर्तव्यव्यवहारे न दृश्यते न च रूपकादिसंचयशील इत्यादिना योगविक्रयाधिगमो योगदानप्रतिग्रहं य-
द्यपि दानप्रतिग्रहक्रिययोरन्यतरोपादानेनैवेतराक्षेपोऽन्यथा स्वरूपासिद्धेः तथापि क्रियाद्वयोपादानं वृत्तपूरणार्थम् । अथ वै-
कक्रियोपादाने तत्कारिण एव दण्डः स्यात् द्वितीयस्य सत्यपि तत्साधनत्वे शब्देनानुपादानादतोदातुः प्रतिग्रहीतुर्द्वयोर्दण्डा-
र्थभेदेनोपादानं तथा सति योगवन्नविक्रीतमित्यत्रापि क्रयादिद्वितीयक्रियोपादानकर्तव्यं स्मृत्यन्तराद्वा सामान्यशास्त्रा-
द्दानुपादाने पण्डः स्यात् । यच्चाप्युपार्धपश्येदिति यदुभयस्वामिकमन्यतरे प्रतिग्रहीत्रा सह संविदं कृत्वा दापयते एवमा-
दियोगदानप्रतिग्रहदानं च प्रतिग्रहश्चेति विगृह्य द्वन्द्वैकव्यवहारः । उपधिः छद्मनमन्यत्राप्येताभ्यः क्रियाभ्यः उपधिर्विधर्मः
यथा कश्चिद्धनिकेनोपावदियद्भिरहोभिर्दातव्यमिति प्रतिभुवं स्थापयसि तावत्त्वांस्त्यक्ष्यामीति तस्मिन्विषये कश्चि-
दुत्तमर्णेन सह संविदं करोति मासस्य प्रतिभुवं गृहाण यावदेनमुपपीडयामि बद्धेन ममापकृतं अहमस्य पीडार्थ एव प्रतिभूर्न
मया किञ्चिद्दातव्यमिति तत्रोत्तमर्णः प्रकाशमाह यद्यस्यास्ते प्रतिभूर्नास्ति कर्मादिकं न प्रार्थयसे नूनं जिहीर्षितं ते धनं समो-
हितः प्रत्याह नैतेन सह मम दृश्यो व्यवहारः प्रवृत्तपूर्व इति प्रतिभूः पुनराह भवानितवाहं प्रतिभूः सो निच्छन्पीडोपरोधादाहं
वणिज्याशिल्पारम्भादिक्रियैतद्यतिरेकिणो दर्शनीया उदाहरणमात्रदानमेवायं विक्रयः तदेतद्योगकृतं कार्यं यावत्किञ्चन त-
त्सर्वं राजा निवर्तयेद्राजाकृतमन्यकृतमादिशेन् प्रमाणीकुर्यात् कर्तारं कारयितारं च दण्डयेत् ॥ १६५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । योगः छद्म तेन कृतं आधमनमाधिस्थापनं तथा छद्मकृता विक्रयदानप्रतिग्रहाः । अ-
न्यत्र वा यत्रार्णग्रहणक्रयोपनिध्यादावप्युपार्धल्लपश्येत्तत्र कृतं लेख्यादिकमपि निवर्तयेत् ॥ १६५ ॥

(३) कुट्टुकः । योगशब्दश्छलवाची छलेन ये बन्धकविक्रयदानप्रतिग्रहाः क्रियन्ते न तत्त्वतोऽन्यत्रापि निक्षेपादौ यत्र छद्मजानीयात् वस्तुतोनिक्षेपादि न कृतं तत्सर्वं निवर्तेत ॥ १६५ ॥

(४) राघवानन्दः । छलादिविषयेऽप्यसिद्धिमाह योगेति । योगशब्दोयमत्र छलपर्यायोऽधमनोवञ्चकैस्तेन बन्धकादिचतुष्टयंकृतं निवर्तयेत् । अत्र निक्षेपादावुपाधि छद्म वा पश्येज्जानीयात्तदपि निवर्तयेत् । यद्वा साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः यथा ममेदं हिरण्यं हिरण्यत्वात् मद्धस्तगतहिरण्यवदिति तत्र त्वक्रीतत्वाद्युपाधिरूपं पश्येत्तदपि निवर्तयेन्मिथ्येति कृत्वा ॥ १६५ ॥

(५) नन्दनः । आधमनविक्रयादिप्रयोजनेभ्योलोकसिद्धेभ्यः प्रयोजनान्तरसंबन्धोयोगस्तदभिसंबन्धकृतमाधनयोगाधमनं यथा ज्ञातिभीतस्य गृहक्षेत्रादिकाधमनं एवंयोगविक्रययोगदानयोगप्रतिग्रहं यत्र पश्येदुपहितंचविनिवर्तयेद्वाजा ॥ १६५ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः पुरुषः गाधपरछलकारणं पश्येत् अनविक्रीतं अधिस्थानं योगदानप्रतिग्रहं योगः उपधिः दानं प्रतिग्रहः तं यत्रयोगेयत्रदानं यत्र प्रतिग्रहे उपधिपश्येत् यत्र कार्ये उपाधिकं परं पश्येत्तत्कार्यविनिवर्तयेत् ॥ १६५ ॥
ग्रहीता यदि नष्टः स्यात्कुटुम्बार्थं कृतोव्ययः ॥ दातव्यंबान्धवैस्तस्यात्प्रविभक्तैरपि स्वतः ॥ १६६ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तयेन गृहीतमृणंतेन प्रतिदातव्यं तदभावे पुत्रपौत्रस्तदभावे तद्व्यवहारी तत्तद्यतिरेकेनान्यस्य दानंप्रामाण्यतेऽत्र कचिद्विषये तदर्थमिदमुच्यते यद्गृहीतधनं सचेन्नष्टो मृतो देशान्तरंगतो वा कुटुम्बेन च कृताव्ययो दातव्यंबान्धवैस्तद्भातृपुत्रपितृव्यादिभिः प्रविभक्तैर्विभक्तधनैरपि स्वतः स्वधनादित्यर्थः । यत्तावद्भातरहमिति तेषां यदणमुप जातं तद्गृहमध्यादेव दीयते । तद्विष्टेऽस्य विभागः यथोक्तं ॥ पितृव्येणाविभक्तेन भ्रात्रा वा यदणंकृतं । मात्रा वा यत्कुटुम्बार्थं दद्युस्तत्सर्वमृक्षितइति ॥ अविभक्तानामन्यतमेन यत्कुटुम्बार्थमृणंकृतं तद्भातृपितृव्यतत्पुत्रादयः सर्वे दद्युर्न त्वकुटुम्बार्थमित्यर्थः अविभक्तग्रहणात्तेषामेव तथाविधमृणंसंभवेत् प्रायः नहि प्रविभक्तात्परकीयकुटुम्बकरणार्थमृणंगृह्णन्तो दृश्यन्ते प्रविभक्तिरपीत्याह अपिशब्दादविभक्तैश्च यदि श्रेद्भातृणां विभक्तानां स्वकुटुम्बभरणात्समकृत्वा प्रवसेदितरश्च महासत्त्वतया तदीयकुटुंबं विभ्रतीयास्तत्र विभक्तेनापि भ्रात्रा पितृव्येण यदणंकृतं तदितरो दद्यादेव देशान्तरागतः ॥ १६६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विभक्तेनाविभक्तेन वा भ्रात्रादिना कुटुम्बार्थं यः कृतोव्ययः सतत्र मृते तिष्ठद्भिर्दायादैर्देयइत्यर्थः । स्वतो धनात् मृतसंबन्धिनः स्वीयाद्वा ॥ १६६ ॥

(३) कुट्टुकः । ऋणग्रहीता यदि मृतः स्यात्तेन पूर्वविभक्ताविभक्तसर्वभ्रातृकुटुम्बसंवर्द्धनार्थं तदणव्ययः कृतस्तदा तदणविभक्तैरविभक्तैश्च स्वधनाद्दातव्यम् ॥ १६६ ॥

(४) राघवानन्दः । यदि ग्रहीता ऋणादेर्मृतस्तदा कागतिस्तत्राह ग्रहीतेति । ग्रहीताधमणोज्येष्ठभ्रात्रादिः । कुटुम्बार्थंकृतोव्ययस्तदणव्ययितम् । तदा स्वतः स्वकीयाद्धस्तात् । नष्टपदं प्रव्रज्याद्युपलक्षणम् ॥ पितरि श्रोषिते प्रेते व्यसनादियुतेषु वा । पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयं निन्दुवे साक्षिभाषितमितियाज्ञवल्क्योक्तेः ॥ पितृपदं ज्येष्ठाद्युपलक्षणम् । बान्धवैः पुत्राद्यैः ॥ १६६ ॥

(५) नन्दनः । ऋणस्य ग्रहीता नष्टो मृतस्तिरोहितो यदि स्यात् कुटुम्बे च ऋणस्य तस्य व्ययस्तेन कृतो यदि स्यात् बान्धवैर्भ्रातृभिर्देयस्तदणमविभक्तैर्भुक्तं पश्चात्प्रविभक्तैरपितैः स्वीकार्यादर्थान्तदणमुत्तमर्णाय दातव्यं स्यात् ॥ १६६ ॥

(६) रामचन्द्रः । यदि ग्रहीता स्वामीनष्टः स्यात् च पुनः कुटुम्बार्थे कृतो व्ययः तत्क्रणं बान्धवैः दातव्यम् विभक्तैः बान्धवैः स्वत्वधनान् दातव्यम् ॥ १६६ ॥

कुटुम्बार्थेऽध्यधीनोऽपि व्यवहारं यमाचरेत् ॥ स्वदेशे वा विदेशे वा तं ज्यायान् विचालयेत् ॥ १६७ ॥

(१) मेधातिथिः । तिष्ठन्तु तावद्वात्रादयः कुटुम्बार्थेऽध्यधीनोऽपि तु गृहक्रमभृत्योऽपि व्यवहारं ते वस्त्रादिविक्रयक्षेत्रस्थण्डिलादिप्रयोगकर्षणाय क्रग्व्यवहारं वा यमाचरेत् स्वदेशे वा सन्निहितस्य प्रेषितस्य च तं ज्ञात्वा गृहस्वामी न विचालयेदविचार्यैव साधु कृतमन्ये नुमन्यन्ते । अन्येतु पूर्वशेषोयमर्थवादो न विधिरित्याहुः तदुक्तं । न ह्यर्थवादताबीजं किंचिदस्ति विभज्यमानं शाकं क्षेत्रं यत्तच्छब्दाभिसंबन्धम् । अथ मत्तोन्मत्ता र्त्ताध्यधीनैस्वातन्त्र्यादध्यधीनस्य तत्कृतप्रमाणमिति । अकुटुम्बार्थे सन्निहिते च स्वामिनि न युक्तं कल्पयितुं अन्यथा कुटुम्बावसादस्यादतस्तद्भरणान्मके व्यापारे प्रमाणीभवति दैवाध्यधीनः ॥ १६७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अध्यधीनो भृत्यः । विदेशे स्वपरोक्षे । ज्यायानधिकृतः ॥ १६७ ॥

(३) कुल्लूकः । तद्देशस्थे देशान्तरस्थे वा स्वामिनि स्वामिसंबन्धिकुटुम्बव्ययनिमित्तं दासोऽपि यदृणादानादि कुर्यात्स्वामी तत्तथाप्नुमन्येत ॥ १६७ ॥

(४) राघवानन्दः । एवं कुटुम्बपोषणाय कनिष्ठादिग्रहीतमपि ज्यायसा देयमित्याह कुटुम्बेति । अध्यधीनः कनिष्ठादिः न विचालयेत् । न ददातीति न ब्रूयात् ॥ १६७ ॥

(५) नन्दनः । यस्य व्यवहारमाणादिप्रयोगो ज्यायान् स्वतंत्रो गृही न विचारयेत् ॥ १६७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अध्यधीनः गर्भदासः कुटुम्बार्थेऽप्यवहारं क्रणं आचरेत् करोति स्वदेशे वा तं क्रणं ज्यायान् ज्येष्ठः न विचारयेत् अन्यथा न कुर्यात् ॥ १६७ ॥

बलाद्दत्तं बलाद्भुक्तं बलाद्यच्चापि लेखितम् ॥ सर्वान्बलकृतानर्थान् कृतान् मनुरब्रवीत् ॥ १६८ ॥

(१) मेधातिथिः । यथा न बालः स्वतन्त्राप्रकृतिस्थौ पधिकृतं प्रमाणं तद्वद्बलकृतमपि सर्वान्बलकृतानर्थान् निवर्त्या नित्येव विधिः । भुक्तं दत्तं लेख्यं लेखितमित्युदाहरणमात्रं तत्र बलाद्दत्तं यदनुपयुज्यमानं क्षेत्रारामादि वाहनाय दीयते वृद्धिकामो वा यद्देवं देवादारोपयति वारवाहनमनिच्छतां गृहेषु मुख्यार्पणं पण्यमश्रुते लिखितमात्रकारणं सर्वानित्यन्यानप्येवं विधानार्थान् कार्याणीत्यर्थः । योगावापनमित्यत्र निपुणं दर्शितमत्रापि श्लोके समस्य योगबलशक्त्ये प्रक्षेपं पृथक् श्लोकद्वयकरणं विचित्रा श्लोकस्य कृतिर्मनोर्मत्तोन्मत्ताध्यधीनैर्बालवृद्धिर्वा बलात्कृतोऽसंविधिना योगो व्यवहारो न सिध्यतीति सिद्धयत्येव न मानवद्भवति ॥ १६८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बलात् बन्धनताडनादिना तद्भयेन वा । सर्वान् क्रयादीन् । अकृतान् निवर्तनीयान् ॥ १६८ ॥

(३) कुल्लूकः । बलाद्दत्तमप्रतिग्राहादि बलाद्भुक्तं भूम्यादि बलाद्लेखितं च क्ववृद्धिपत्रादि प्रदर्शनं चैतत्सर्वान्बलकृतान्व्यवहारान् निवर्तनीयान् मनुराह ॥ १६८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच बलादिति । बलादावश्यकर्तव्यतातिरेकात् दत्तं व्ययितं अप्रतिग्राहादि राजादिसहायाद्वा दत्तं दापितम् । भुक्तं निषिध्यमानं भूम्यादि । लेखितं च क्ववृद्ध्यादिपत्रम् सर्वान् । क्रयविक्रयादीन् अकृतान् मनुरब्रवीदित्यन्वयः । मत्ताद्यतिरिक्तविषयम् तदसिद्धस्योक्तत्वात् ॥ १६८ ॥

(५) नन्दनः । प्रमाणादिकंकुप्यदेव बलरुतंसर्वनिवर्तनीयमित्याह बलादितमिति । तदप्यरुतमनुरब्रवीत् । सर्वा-
नुक्तव्यतिरिक्तान्योऽर्थश्चास्मिन्प्रकरणे साक्षिप्रतिभुवोः परार्थेऽप्युक्तः । दण्डदशबन्धादिनाराज्ञोवृद्धिश्चोक्ता ॥ १६८ ॥

त्रयः परार्थे क्लिश्यन्ति साक्षिणः प्रतिभूः कुलम् ॥ चत्वारस्तूपचीयन्ते विप्रआढ्योव

णिङ्कृतपः ॥ १६९ ॥

(१) मेधातिथिः । परेणार्थ्यमाने साक्ष्यंप्रातिभाव्यं व्यवहारेणक्षणं च कर्तव्यं कुलादिभिर्नित्यमुपेत्य ह्यतः । अतः
स्वयंकुर्वन्तो न प्रमाणी भवन्ति अथवा परस्यार्थंकुर्वन्तः क्लेशमाप्नुवन्ति न ह्येषां त्वार्थगन्धोस्त्यतो बलान्नकारयितव्याः ।
कुलंवृद्ध युषाः परेण वार्थ्यमाना विप्रादय उपचीयन्ते अतो न ह्येतां निच्छन्विप्रमतिग्रहीतव्याः । अथवा परसंबन्धिनोऽर्थो-
योपचयो विप्रस्यातः स्वार्थप्रवृत्तिर्न परार्थेव तेन विप्रेण न बलात्तदनादाने प्रवर्तनीयं हतबलसाध्यदानमिति लोकप्रवादो न
दापयन्तं निषेधति तदिच्छन्तं दापयेत् याज्यातु बलं एवमाढ्यः कुशीदवृत्तिर्धनवानिव न प्रयोजनीयः किमिति कुशीदव्यव-
हारेऽन्यस्मै ददाति न महीति । अथवा तेन बलवतो न्यस्मिन्नेच्छन्ति तद्ययंकुर्वन् नमारोपयितव्यं यतः परेणार्थ्यमान उ-
पचीयते न बलान्नयुञ्जानः शास्त्रनिषेधात् एवं विप्रीकुसीदो धनवृद्धिं काम एव व्यवहारयति वणिक्पण्यजीवी नृपो राजापि
प्रयुक्तराजदण्डमाददान उपचीयते न तु बलादिप्रोत्साहनेन व्यवहारयन् तदुक्तं नोत्साहायेत्स्वयं कार्यमिति विप्रादीनां वि-
धिरनुवादो राजोदृष्टान्तार्थः । अथवा सर्वस्योदाहरणप्रपञ्चस्तथाप्येतनोऽपि ॥ १६९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कुलमविभक्ताज्ञातयोमृतस्य ज्ञातेरस्वस्याप्यृणशोधयन्तः । अतः साक्षित्वप्रतिभूत्वानाङ्गी-
कारेण कुलत्वं च विभागे निवर्तनीयमित्यर्थः । व्यवहारेण तद्दर्शनेन । चत्वारः उपचीयन्ते परधनं लभन्ते विप्रः प्राङ्घ्रि-
वाकः राज्ञः सकाशाद्धनप्राप्त्या । आढ्यो धनिको वृद्ध्या जीवनेन । वणिक् वाणिज्येन । नृपो राजा दण्डादिप्राप्त्या ॥ १६९ ॥

(३) कुङ्कूकः । साक्षिणः प्रतिभूः कुलं च धर्मार्थव्यवहारद्रष्टा त्रय एते परार्थेऽप्युक्तमनुभवन्ति तस्मात्त्वनेन साक्ष्यं
प्रातिभाव्यं व्यवहारैर्क्षणं च नाङ्गीकारयितव्याः चत्वारः पुनः ब्राह्मणोत्तमर्णवणिग्राजानः पदार्थदानफलोपादानः कृण्वन्त्या
र्पणविक्रयव्यवहारैर्क्षणरूपं कुर्वाणानोपचयं प्राप्नुवन्ति । तस्माद्विप्रो दातारमाढ्योऽधमर्णवणिक् क्रेतारं राजा व्यवहर्तारं बलेन
न प्रवर्तयेत् । पूर्वश्लोकाभिहितबलनिषेधस्यैवायं प्रपञ्चः ॥ १६९ ॥

(४) राघवानन्दः । बान्धवानपि दापयेदिति प्रसंगेन समानां परतः यथासंभवं क्लेशवृद्धीराह त्रय इति । तत्र
साक्षिप्रतिभूकुलानि क्लेशभाजि । तत्र साक्षिणां सत्योक्तौ न किञ्चित् अनृतोक्तौ कुलनाशाद्युक्तम् । प्रतिभूवः प्राति-
भाव्यदर्शनादौ न किञ्चित् तद्दर्शनादौ त्वधनव्ययैः । एवं कुलस्य कुपुत्रेण नाशः तस्मात् परतः क्लेशभाजस्तेन बला-
न्नप्रवर्तनीया इति भावः । प्रतिभूपदं निक्षेपधाद्युपलक्षकम् सोऽपि परार्थेऽप्युक्लियति निक्षेपधारणेन किञ्चित् तन्नाशे चा-
प्रतिष्ठा तद्दानमिति । परेभ्यो विप्रादीनां चतुर्णां प्रतिग्रहाणां दानानर्धविक्रियकरादिग्रहैरुपचय इति । तस्मात् विप्रेण दाता
आढ्येनाधमर्णः वणिजा क्रेता नृपेण कार्यार्थी च न बलात्प्रेरणीय इति भावः ॥ १६९ ॥

(५) नन्दनः । तत्र बलात्कारमाशङ्क्य परिहरति त्रय इति । कुलशब्देन कुलीनोभिप्रेतः तस्योपन्यासोदृष्टान्तार्थः ।
यथा कुलीनः परार्थे यतमानः क्लिश्यति एवं साक्षिप्रतिभुवाविति तस्मान्नात्र बलात्कारः कर्तव्य इत्यभिप्रायः । चत्वारः
परार्थ उपचीयन्ते वर्द्धन्ते । विप्रस्योपचयः परार्थेऽप्युक्तमनुभवन्ति तस्मात्त्वनेन साक्ष्यं प्रातिभाव्यं व्यवहारैर्क्षणं च नाङ्गीकारयितव्याः चत्वारः पुनः ब्राह्मणोत्तमर्णवणिग्राजानः पदार्थदानफलोपादानः कृण्वन्त्या
र्पणविक्रयव्यवहारैर्क्षणरूपं कुर्वाणानोपचयं प्राप्नुवन्ति । तस्माद्विप्रो दातारमाढ्योऽधमर्णवणिक् क्रेतारं राजा व्यवहर्तारं बलेन
न प्रवर्तयेत् । पूर्वश्लोकाभिहितबलनिषेधस्यैवायं प्रपञ्चः ॥ १६९ ॥

नात्मार्यः । प्रजावृद्धयर्थत्वात् । यथा विप्रादयः प्रजार्थमुपचीयन्तएवंनृपोऽपि परार्थमुपचीयतेनत्मादेतदर्थत्वात्प्रमंनव-
लादित्यभिप्रायः ॥ १६९ ॥

(६) रामचन्द्रः । कुलं अविभक्ताज्ञातयः । चत्वारः उपनीयन्ते जीवन्ति । विप्रः प्राङ्निवाकः । श्लाघ्यः दाना-
दिव्यवहारेण । नृपः राजा विवदमानानामितियोगीश्वरः ॥ १६९ ॥

अनादेयं नाददीत परिक्षीणोऽपि पार्थिवः ॥ न चादेयं समृद्धोऽपि सूक्ष्ममप्यर्थं नोत्सृजेत् ॥ १७० ॥

(१) मेधातिथिः । करदण्डशुल्कादिशास्त्रविहितं वर्जयित्वान्यत्पौरधनमनादेयं राज्ञा क्षीणकोशस्यापि । यत्तु शास्त्र-
न्यायागतरक्षानिर्वेशधनं तत्सूक्ष्मं काषापणमात्रमपि न त्यजेत् तदुक्तं ॥ वल्मीकपथवद्राजा कोशवृद्धितुकारयेदिति ॥ १७० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अतोयत्कर्तव्यं नृपेण तदाह अनादेयमिति । यतो धर्मतोऽपि परवित्तग्रहणेनोपचीयते नृ-
पस्तस्मादनादेयमशास्त्रीयं नाददीत ॥ १७० ॥

(३) कुल्लूकः । क्षीणधनोऽपि राजा नाग्राह्यमर्थं गृहीयात् समृद्धोऽपि त्वल्पमपि ग्राह्यं धनं न त्यजेत् ॥ १७० ॥

(४) राघवानन्दः । प्रजासेहेन राजाकरादिनव्यापादयेदितिसार्थवादमाह अनादेयमिति चतुर्भिः । अनादेयमन्या-
योपात्तं नाददीतैव । आदेयं न्यायोपात्तं सूक्ष्मं रजोमात्रं नोत्सृजेत् न त्यजेत् । परिक्षीणो धनादिभिः तैः समृद्धो वा ॥ १७० ॥

(५) नन्दनः । एवं बलात्कृतं सर्वराज्ञानिवर्तनीयमित्युक्तं अधुना स्वयमपि राज्ञा बलात्कारो नकार्य इत्याह अनादे-
यमिति । परिक्षीणोऽप्यसमृद्धोऽपि अनादेयमदण्ड्यस्यार्थं सूक्ष्ममपि बलान्नाददीत । समृद्धोऽपि दण्ड्यस्यार्थं सूक्ष्ममपि बलान्नो
त्सृजेत् ॥ १७० ॥

(६) रामचन्द्रः । द्वाभ्यामाह अनादेयमिति । परिक्षीणोऽपि पार्थिवः अनादेयमग्राह्यद्वयं नाददीत न गृहीयात् ।
च पुनः समृद्धोऽपि राजा सूक्ष्ममपि अर्थं अदेयम् अर्थं नोत्सृजेत् ॥ १७० ॥

अनादेयस्य चादानादादेयस्य च वर्जनात् ॥ दौर्बल्यं ख्याप्यते राज्ञः सप्रेत्येह च नश्यति ॥ १७१ ॥

(१) मेधातिथिः । अनादानाहमनादेयं अर्हेकृत्यस्तच्च दर्शितं दौर्बल्यं ख्याप्यते प्रकृतिभिरत्माभिरत्मान्दण्डयति स्ते-
नाटविकसामन्तादीन् शक्तो विजेतुमिति परे स्वशक्तिं प्रथयन्ति राष्ट्रे या अतस्तैरभिषेज्यमानो विरक्तप्रकृतिरिह नश्यति आदा-
नादिहप्रेत्य वा धर्मदण्डनात् ॥ १७१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनादेयादानाद्विद्रोयमिति लोकेऽख्यातिरधर्मश्च दौर्बल्यहेतुर्जायतेऽतः प्रेत्येह च नाशः ।
एवमादेयवर्जनादशक्तोऽयमित्यपकीर्तिः प्रजानामधर्मचरणेनाऽधर्मश्च ॥ १७१ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मात् अनादेयस्येति । अग्राह्यग्रहणाच्छास्त्रीयग्राह्यपरित्यागात् राज्ञः पौरैरसामर्थ्यं ख्याप्यते ततश्च
सप्रेत्याधर्मेण नरकादिभोगादिहाकीर्त्या विनश्यति ॥ १७१ ॥

(४) राघवानन्दः । ततः किं तत्राह अनादेयस्येति । ज्ञानतो वर्जनात् च धनस्य दौर्बल्यं ख्याप्यते गृह्यते । अयम-
र्थः । नीतिशास्त्रानभिज्ञोऽयं यतोऽनादेयमादत्तेऽपरिपूर्णधनोऽयमित्याक्रमणीयः यत आदेयमपि नादत्ते आदातुमसमर्थो वे-
ति । अनादेयस्यादानात्प्रेत्य नश्यति ॥ १७१ ॥

(५) नन्दनः । उक्तार्थाननुष्ठाने च दोषमाह अनादेयस्य चेति ॥ १७१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनादेयस्य अग्राह्यस्य आदानात्स्वीकारात् आदेयस्य स्वीकरणीयस्य चवर्जनात् परित्यागात् तस्य राज्ञोर्दोषल्यंस्थाप्यते । सः राजा प्रेत्यद्दहलोके नश्यति ॥ १७१ ॥

स्वादानाद्गर्णसंसर्गाच्चबलानांच रक्षणात् ॥ बलंसंजायते राज्ञः सप्रेत्येह च वर्धते ॥ १७२ ॥

(१) मेधातिथिः । स्वस्य न्यायप्राप्तस्यादानंशोभनंवाऽऽदानं भव्यमेवशोभनंवर्णयोरेव संसर्गः समानजातीयैर्वर्णसंसर्गः द्विष्टत्वात्संसर्गस्य च संबन्धिनोरश्रुतत्वाद्गर्णानांप्रस्तुतत्वात्तत्रैवापेक्षा युक्ता यस्तु वर्णानामवान्तरप्रभवे संसर्गानासौ वर्णानामेव संबन्धितया व्यपदेश्यंशक्यते । कश्चित्तुन कारंपठति वर्णसंसर्गादिति सर्वथा वर्णसंकरप्रतिषेधानुवादोयं दुर्बलानांबलवद्विद्वभिरभिभूयमानानां स्वैभ्यस्त्राणाद्धेतोः राज्ञेबलंसंजायते सम्यग्व्यवहारदर्शनंकर्तव्यंधर्मदण्डनंच न कर्तव्यमित्येतद्विशेषाः । पठिष्यन्ते श्लोकानामर्थवादाः ॥ १७२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आदानादुचितदण्डादियद्गृहणाद्धनबलम् । वर्णानामसंकरेण संसर्गात् संसर्जनात् दुर्लभरक्षणाच्च धर्मबलम् ॥ १७२ ॥

(३) कुल्लुकः । न्याय्यधनग्रहणाद्गर्णानांसंजातीयैः शास्त्रीयपरिणयनादिसंबन्धात् यद्वा वर्णसंसर्गाद्गर्णसंकरादित्यत्रापि रक्षणादिति योजनीयंप्रजानांदुर्बलानांबलवद्भ्योपिरक्षणात्सामर्थ्यमुपजायते नृपस्य ततश्चासाविहलोकपरलोकयोश्च वर्धते ॥ १७२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच आदानादिति । आदानात्धर्मसंसर्गादिति हेतुमद्भावे पञ्चम्यौ । न्यायोपात्तधनादिना धर्मवृद्धेःप्रेत्य वृद्धिः । इहापि वृद्धिः कीर्तिधनाभ्यां वर्णसंसर्गादितिकचित्पाठस्तदाऽऽदानादिह वृद्धिर्वर्णसंसर्गाच्छास्त्रीयपरिपालनेन प्रेत्य वृद्धिः । रक्षणाद्बलं चतुरङ्गबलवान्हि रक्षितुंसमर्थोजायते ज्ञायतेवा ॥ १७२ ॥

(५) नन्दनः । उक्तार्थानुष्ठाने फलमाह स्वादानादिति । स्वादानात्स्वस्य प्राप्तद्रव्यस्यादानाद्गृहणात् । वर्णसंश्लेषात्त्वर्णैः सह प्रीत्येति यावत् ॥ १७२ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्वंद्रव्यंतस्य आदानात् उपहितदण्डादियद्गृहणात् । वर्णसंसर्गात्सांकर्यराहित्यात् ॥ १७२ ॥

तस्माद्यमइव स्वामी स्वयंहित्वा प्रियाप्रिये ॥ वर्तेत याम्यया वृत्त्या जितक्रोधोजितेन्द्रियः ॥ १७३ ॥

(१) मेधातिथिः । तथाचैतदेवप्रपञ्चयति अयंसेवकआत्मीयोऽतः प्रियः न केवलंराष्ट्रासी यस्यैव राष्ट्रमेवावतिष्ठतेऽतोऽप्रियः तद्वदित्वा यमवत्प्रजासु तुल्यः परिपालने व्यवहारे च स्यात् ईदृशीहि यमस्य वृत्तिर्दृष्टा यमस्येत्यणोबाधकं तत्रौपसंख्यानिकंयकारामल्लन्ति कः पुनर्यमतुल्यतांभजति जितक्रोधोजितेन्द्रियः रागद्वेषौ जयेत्प्रसङ्गाख्यानेन ॥ १७३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रियाप्रिये मित्रत्वशत्रुत्वे । याम्यया वृत्त्या कर्मानुरूपसुखदुःखदाने । जितेन्द्रियोजितेन्द्रियजकामलोभः ॥ १७३ ॥

(३) कुल्लुकः । यतएवंतस्माद्यमेति । तस्माद्यमइव राजा वशीकृतक्रोधोजितेन्द्रियः स्वकीयेऽपि प्रियाप्रिये परित्यज्य यमस्य चेष्टया सर्वत्र साम्यरूपया वर्तेत ॥ १७३ ॥

(४) राघवानन्दः । उपसंहरति तस्मादिति । स्वामी राजा यमोहि यथाऽदृष्टानुरूपेण दण्डानुग्रहौ करोति न प्रत्यवैत्येवंराजाऽपि स्वारसिकक्रोधादिविर्वाजितोदृष्टापराधानुसारेण वर्तेतेत्यर्थः ॥ १७३ ॥

(५) नन्दनः । याम्यया समवर्त्ती ही यमः ॥ १७३ ॥

(६) रामचन्द्रः । तस्मात्कारणात् स्वामी राजा प्रियाप्रिये त्वयि हित्वा याम्ययावृत्त्या सकललोकसमदृष्ट्या मित्रमित्रेति हित्वा वर्तते । यथा यमः वर्तते ॥ १७३ ॥

यस्त्वधर्मेण कार्याणि मोहात्कुर्यान्नराधिपः ॥ अचिरात्तंदुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः ॥ १७४ ॥

(१) मेधातिथिः । अधर्मे यः कार्याणि कुरुते समोहादेवेह व्यामूढो धर्मजज्ञात् तस्येदं धर्मजफलं विरक्तप्रकृतितया वशे कुर्वन्ति शत्रवः विरक्ता हि प्रकृतयः क्रुद्धलुब्धभीतावमानिताः परैरुपजप्येरस्ततश्च बहुकृत्यवशे कुर्वन्ति दण्डयन्ति बन्धन्ति घ्नन्ति राष्ट्रमपहरन्ति चेत्येषवशीकारः ॥ १७४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मोहाद्धर्मो नास्तीति भ्रमात् ॥ १७४ ॥

(३) कुहूकः । यः पुनर्नृपतिर्लोभादिव्यवहारादधर्मेण व्यवहारदर्शनादीनि कार्याणि कुरुते तंदुष्टचित्तं प्रकृतिपौरविरागात्क्षिप्रमेव शत्रवो निगृह्णन्ति ॥ १७४ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तार्थवैपरीत्ये दण्डमाह यस्त्विति । अधर्मेण अयथाशास्त्रेण तत्र हेतुर्मोहात्कार्याणि दण्डशुल्कादीनि । सामन्ताद्यैर्दत्तहस्ताः शत्रवस्तं वशे कुर्वन्तीति शत्रुभयादप्यकार्यानि वर्तितव्यमिति भावः ॥ १७४ ॥

(५) नन्दनः । अधर्मेणासमवृत्त्या ॥ ॥

(६) रामचन्द्रः । यो महीपतिः मोही नास्तीति भ्रमात् अधर्मेण कार्याणि कुर्यात् शत्रवः तं राजानं अचिराद्वशे कुर्वन्ति ॥ १७४ ॥

कामक्रोधौ तु संयम्योऽर्थान्धर्मेण पश्यति ॥ प्रजास्तमनुवर्तन्ते समुद्रमिव सिन्धवः ॥ १७५ ॥

(१) मेधातिथिः । सिन्धवो नद्यो यथा समुद्रमाश्रयन्त्याश्रिताश्चानुरागिण्यस्तन्मन्यो वसन्ति न ततो निवर्तन्ते एवं कामक्रोधजयाद्राजानं प्रजाः समयोगक्षेमास्तन्मन्यः संपद्यन्ते ॥ १७५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अर्थमर्थसाधनं व्यवहारादि ॥ १७५ ॥

(३) कुहूकः । यो राजा रागद्वेषौ धर्मेण कार्याणि निरूपयति तं राजानं प्रजाभजन्ते समुद्रमिव नद्यः ता अपि तस्मान् नृपादनुवर्तिन्यस्तदेकताना भवन्तीति साम्यम् ॥ १७५ ॥

(४) राघवानन्दः । जितक्रोधइत्यर्थान् प्रजापालनादीन् धर्मेण यथाशास्त्रं दुरवग्राहत्वादयो राज्ञः समुद्रमित्यनेन सूचितं । तत्र दृष्टान्तमाह कामेति । कामक्रोधौ रागद्वेषौ संयम्य विहाय अयस्तम् । सिन्धवः स्यन्दनात् नद्यः गाम्भीर्याचलमर्यादत्त्वबोधरत्नाकरत्वम् ॥ १७५ ॥

(५) नन्दनः । अनुवर्तन्ते न भि ॥ १७५ ॥

(६) रामचन्द्रः । यो राजा धर्मे नि व्यवहारान् पश्यति ॥ १७५ ॥

यः साधयन्तं छन्देन वेदयेद्धरे ॥ सराज्ञा तच्चतुर्भागं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥ १७६ ॥

(१) मेधातिथिः । छन्द इच्छा तथा भूतं वा राजपुत्रैरावहयनेनार्हतराण्डापयितव्यः । यावत्तस्मै धारयति तत्र सर्वमृणं शतं चेद्धारयति पञ्चविंशतिर्दण्डनीयः शतं तस्य दाप्यः । एवं पञ्चविंशतिः न त्वियं भ्रान्तिः कर्तव्या शतं धनिकस्य धनिको हि तथा दण्डितः स्यान्नार्णिकः ॥ १७६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । साधयन्तं स्वेच्छन्देन स्वेच्छयाऽप्रतिरोधादिना राज्ञि वेदयेत् ज्ञापयेत् । देयधनचतुर्थ-
भागं ऋणचतुर्थभागं दण्ड्योधनिकाय धनं दाप्यः ॥ १७६ ॥

(३) कुल्लूकः । योऽधमर्णो राजवल्लभो ह्यमिति गर्वाद् उत्तमर्णस्वेच्छया धनं साधयन्तं नृपे निवेदयेत् सराज्ञा ऋणचतुर्थभा-
गं दण्ड्यः तस्य तद्धनं दापनीयम् ॥ १७६ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रकृतमाह यदिति । योऽधमर्णः छन्देन इच्छया तस्मात्स्वधनं साधयन्तं राजवल्लभो ह्यमि-
ति गर्वान् नृपे निवेदयेत् सराज्ञा चतुर्थांशं दण्ड्यः । धनिकस्यापि तद्धनं दापनीयम् प्रयुक्तं साधयेदर्थमित्यत्रोक्तो भियोगाभा-
वाद्दण्डइह तु दण्डइति पौनरुक्त्यम् ॥ १७६ ॥

(५) मन्दनः । प्रासङ्गिकं बलात्कारवर्जनं परिसमाप्य प्रकृतमेव ऋणदापनमुपक्रम्याह यः साधयन्तमिति । राजन्य-
निवेद्य छन्देन स्वेच्छया । स्वमर्थसंरोधनादिना साधयन्तं धनिकमुत्तमर्णमधमर्णो नृपे निवेदयेत् असावयमेवंमांवाधतइ-
ति सराज्ञा ऋणचतुर्भागं तस्मै दण्डं दाप्यः । तस्योत्तमर्णस्य तद्धनमृणं च दाप्यः ॥ १७६ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः अधमर्णः छन्देन स्वेच्छया साधयन्तं धनिकमुत्तमर्णो नृपे वेदयेत् सः राज्ञा ऋणचतुर्भा-
गं दण्डं तस्य उत्तमर्णस्य तद्धनं च दाप्यः ॥ १७६ ॥

कर्मणापि संमंकुर्याद्धनिकायाधमर्णिकः ॥ समो ब्रह्मजः ॥ दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छनैः ॥ १७७ ॥

(१) मेघातिथिः । निर्धनोधनेन निर्धनत्वान्मुच्यते किंति हि कर्मकारयितव्यः प्रेष्यत्वं ब्रजेत् यावता धनेन त-
त्कर्मकर्मकरः करोति तत्तस्य प्रविष्टं संपद्यपि कर्तव्यं कर्मकुर्वतश्च सलाभधने प्रविष्टे दास्याच्चोक्षः संमंकुर्यादुत्तमर्णो नान्त-
शुद्धे धनेनोत्तमाधमव्यवहारइत्यप्येके उत्तमर्णोऽपरीधमर्ण एतच्च कार्यते वर्जः समः समानजातीयोऽब्रह्मजातिर्हीनजातीयः
श्रेयांस्तुत्तमजातीयगुणाधिकी वा शनैः क्रमेण यथोत्पादं दद्यात् भारदे पथेति ॥ ब्राह्मणस्तु परिक्षीणो शनैर्दीर्घो यथा दश-
मिति ॥ अतो राज्ञा धनिकधनसंशुद्धयर्थं परिक्षीणो ब्राह्मणो न पीडयितव्यः उत्तमर्णश्च रक्षणीयः ॥ १७७ ॥

(३) कुल्लूकः । समानजातिरपुरुषजातिश्चाधमर्णो धनाभाके स वजात्यनुरूपकर्मकरणेनापि संमंकुर्यात् निवृ-
त्तोत्तमर्णाधमर्णव्यपदेशतया धनिकसममात्मानं कुर्यात् । समजातिरब्र-
ह्मस्तु दापयेदिति कात्यायनेन विशेषितत्वात् । श्रेयान्मुनिरुत्कृष्टजातिर्न
दद्यात् ॥ १७७ ॥

(४) राघवानन्दः । यद्यधमर्णो दातुमसमर्थस्तबकागतिस्तबाह-
जातिर्वाऽधमर्णिकः कर्मणा स्वजात्यनुरूपेण वेतनकृत्यादिना सममृण-
हीनजातिं परिक्षीणमृणार्थकर्म कारयेत् ॥ ब्राह्मणस्तु परिक्षीणः शनैर्द-
र्धनमेव दद्यात् न तु कर्मणा लौकिकेन संमंकुर्यात् विप्रस्य लौकिककर्मकर-
दोषः हीनजातिमित्यनेन क्षत्रियो वैश्यस्य शनैर्दद्यात् न तु कर्मकुर्व्यात् इत्ये-
क्षकं तेषां दद्युस्तेन न प्रकृतविरोधः ॥ १७७ ॥

(५) मन्दनः । ऋणप्रदानाशक्तस्याधमर्णस्य जातितारतम्यवशेन न
तिरपुरुषजातिश्चाधमर्णिको धनिका योत्तमर्णाय कर्मणापि संमंकुर्यात् ऋण-
स्तद्वगं शनैर्दद्यात् ॥ १७७ ॥

यः समः । उत्तमर्णतुल्यजातिः ततोऽपुरुष-
जातिः श्रेयांस्तु विप्रश्चित् शनैर्दद्यात् एवं ॥
गोदयमिति याज्ञवल्क्योक्तेः ॥ शनैः शनै-
स्य वक्ष्यमाणत्वात् । आर्विज्यादौ तु न-
। ब्राह्मणपदं राजसेवकगुणवत्त्वाद्युपल-

हरणमाह कर्मणापीति । समः समानजा-
तिः कर्मकुर्व्यादित्यर्थः । श्रेयान्मुनिरुत्कृष्टजाति-

(६) रामचन्द्रः । अधमर्णः कर्मणापि धनिकाय समं अनृणं कुर्यात् समः अन्योन्यसमः अवकृष्टजातिः हीन-
जातिश्च श्रेयांस्तु श्रेष्ठः तद्धनंशनैर्दद्यात् ॥ १७७ ॥

अनेन विधिना राजा मिथोविवदतानृणाम् ॥ साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्याणि समतानयेत् ॥ १७८ ॥

(१) मेघातिथिः । अनेनेति पूर्वोक्तप्रकारप्रत्ययमर्शः विधिना प्रकारेण साक्षिप्रत्ययः सिद्धशब्दः प्रत्येकमपि
संबध्यते साक्षिभिः सिद्धानि निर्णीतानि प्रत्ययः । अनुमानदैवी वा क्रिया कार्याणि न केवलमृणादानमन्यदपि समतंन
यदर्थिप्रत्यर्थिविप्रतिपत्तिमपाकुर्या दैक्यमन्यतउत्पादयेत् । उपसंहृतमृणादानंसमामोव्यवहारः । सर्वत्र जयपराजयप्रकाराणा-
मेवंरूपत्वात् । नहि साक्ष्यादिभ्यः कृते किंचिदुत्तरेषु विवादेषु प्रतिपत्तिनिरासनिमित्तं केवलं दंडविशेषस्तत्स्वरूपं च वक्तव्यमित्यु-
त्तरः प्रपञ्चः । कीदृशोस्वामिविक्रयः कीदृशोनुशयइति स्वरूपव्यवस्थाम्यते ॥ १७८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । साक्षिभिः प्रत्ययैः शपथैश्च सिद्धानि । समतां अविवादम् ॥ १७८ ॥

(३) कुल्लूकः । अनेन प्रोक्तप्रकारेण परस्परं विवदमानानामर्थिप्रत्यर्थिनां साक्ष्यादिममाणेन निर्णीतार्थानि कार्याणि
विप्रतिपत्तिखण्डनेन राजा समीकुर्यात् ॥ १७८ ॥

(४) राघवानन्दः । एतद्विवादाद् इति दिशति अनेनेति । साक्षिप्रत्ययसिद्धानि साक्षी प्रत्ययश्च लेख्यपूर्वकप्रतिग्रह
क्रयदिश्व ताभ्यां सिद्धानि निर्णीतानि समतामविवादं उक्तप्रकारेण ऋणादिशोधनं वा ॥ १७८ ॥

(५) नन्दनः । ऋणप्रदानोपसंहारमाह अनेनेति । अनेनोक्तेन प्रत्ययशपथहेतुभिर्वा कार्याणि व्यवहारान्समतान्न-
येद्विप्रतिपत्तिरहिताम् ॥ १७८ ॥

(६) रामचन्द्रः । साक्षिप्रत्ययः शपथः सिद्धानि कार्याणि समतां व्यवहारराहित्यं नयेत् प्रापयेत् ॥ १७८ ॥

कुलजे वृत्तसंपन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि ॥ महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद्बुधः ॥ १७९ ॥

(१) मेघातिथिः । प्रख्यातोभजनः कुलचयस्य पितृपितामहाविद्वांसो धार्मिकमहापरिग्रहाः स्वकुलांशानि गृहीत्वा
नाकार्ये प्रवर्तते स हि स्वल्पामपि गर्हणां सोढुमसमर्थः नितरां च निन्दन्ति जनाः वृत्तं शीलमाचारो जनापवादभीरुता स्वा-
भाविकं संपन्नं तद्युक्तः धर्मज्ञस्तु स्मृतिपुराणोतिहासाभ्याससंजाततदर्थविबोधः सत्यवादी बहुकृत्वः कार्येष्वदृष्टाकार्ये सं-
भाव्यमानो वृत्ताभिधानः महापक्षः सुदृढत्वजनराजामात्याद्यनुग्रहीतमहिमहत्त्वेन दुष्टराजाधिकारिणां गम्यो न भवति धनी-
स्वधनरक्षार्थमदृष्टभयाच्च न परद्रव्यापहारणे वर्तते अस्ति मे पर्याप्तधनं किं परकीयेन कथंचिज्ज्ञाते दण्ड्यः स्यामिति आ-
र्यो धर्मानुष्ठायी ऋजुप्रकृतिर्वा निक्षिप्यमाणं सुवर्णादिद्रव्यं कर्मसाधनेन धनोच्यते निक्षिपेद्रक्षार्थं स्थापयेद्बुधः एवं निक्षिप-
न्नाज्ञो भवति अन्यथा मूर्खः संपद्यते । सुदृढबुधोपदिशति दृष्टनायमदृष्टार्थोऽष्टकादिवदुपदेशः ईदृशि पुरुषे निक्षिप्तस्य न वि-
प्रत्ययो भवत्येव विधेन निक्षिप्तमनेनेति शङ्कान भवति यस्तु न अकितवपानशौण्डादिः स केनचिदाकृष्टोऽपि सत्पित्रास्य
हस्ते निक्षिप्तमया चेति न शङ्कास्पदं सुवर्णादिर्महतो धनस्य निक्षेपधारकइति काकणी मामिकेति युन्यमानो भवत्ये-
व ॥ १७९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ऋणादानम् निक्षेपमुपक्रमते कुलजइति । वृत्तमाचारः । महापक्षे बहुबन्धौ । आर्ये
उत्तमदेशजाते ॥ १७९ ॥

(३) कुल्लूकः । सत्कुलप्रसूते सदाचारवति धर्मवेदिनि सत्याभिधायिनि बहुपुत्रादिपरिजने ऋजुप्रकृतौ मनुष्ये व्यभिचाराभावानिक्षेपस्थापयेत् ॥ १७९ ॥

(४) राघवानन्दः । निक्षेपइत्युक्तं तद्विषयकमाह अष्टादशभिः तत्रादौ तदुचितस्थलमाहकुलजइति वृत्तसंपन्नेवृत्तं स्वाध्यायाचारादि तद्युक्ते महापक्षे पुत्रपौत्राद्युपेते आर्यैस्त्वच्छप्रकृतौ धनिनि स्थाप्यधनादधिकधनवति ॥ १७९ ॥

(६) रामचन्द्रः । कुलजे महापक्षे मातृपितृभ्यां शुद्धपक्षे एतादृशे निक्षेपं बुधोनिक्षिपेत् स्थापयेत् ॥ १७९ ॥

योयथा निक्षिपेद्वस्ते यमर्थ्यस्य मानवः ॥ सतथैव ग्रहीतव्योयथा दायस्तथा ग्रहः ॥ १८० ॥

(१) मेघातिथिः । यथेति यादृशेन प्रकारेण समुद्रममुद्रंससाक्षिकमित्येवमादिसतथैवेति सौर्थोनिक्षिप्तस्तथैव ग्रहीतव्योयथा दायोदीयते निक्षिप्यते तथा गृह्यते यत्रैतन्निश्चितंभवति सर्वकालमेवास्यहस्ते समुद्रयित्वा स्थापयति तत्र विप्रतिपत्तावमुद्रिते लब्धे धारणकांयदि ब्रवीति नैषमुद्रयति निक्षिप्य मे बलाद्रच्छति तत्रैवंशङ्कनस्पदंजीयते प्रमाणान्तरात्प्रायशोमुद्रणमन्यदा तु मुद्रानाशे कियदपहारितमिति परिमाणविशेषज्ञानाय प्रमाणान्तरं व्यापारणीयं राज्ञापह्नुवादेव सामान्यदण्डेन दण्डनीयः निक्षेपदण्डस्तु द्रव्यपरिमाणे निश्चिते द्वितीयः । ननुच सर्वापह्नवएवविभागितोजितएव युक्तः सत्यं यत्राविनाभावसिद्धयथा मुषिते ग्रामे देवदत्तो नियुज्यते त्वयान्यैश्चौरैः सद्धं मुष्मिन्लहनि संग्रामोहतइति सआह नैव तस्मिन्लहनि तंग्राममहमगमस्तत्र साक्षिभिरुक्तं दृष्टं तस्मिन्लहनि तत्र यन्मुष्टं तत्तु न दृष्टं तत्र देवदत्तेन मेषीप्यपह्नुतस्तदहग्रामसन्निधानसिद्धेः स्फुटे च कारणान्तरे सन्निधावनुपलभ्यमाने सन्निधानादेशदेशाच्चौरत्वमपि युक्तमनुमातुं इहतुप्रमादनष्टानानराणां मुद्रितनिक्षिप्तममुद्रितमेव नीयते । यथादायस्तथाग्रहः कोमेऽभियोगावसरइत्यनया बुद्ध्या संभवत्यपह्नवः नहि शक्नोत्यनुमातुं यथापि कथंचिदनुमापयेत्परिमाणन्तु न विना प्रमाणान्तरं निक्षिप्तवचनादेव सिध्यतीति युक्तोदिव्योदितोनिश्चयः सर्वथा यएकदेशान्तरेण न संभवति तत्रैवैकदेशपराजितइति निश्चयः ॥ १८० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यथानिक्षिपेत् मुद्रितममुद्रितं ससाक्षिकमसाक्षिकमित्यादि । यथादायइति पुनरस्यार्थस्य । कथनं लोकसिद्धिहेतुतया ॥ १८० ॥

(३) कुल्लूकः । योमनुष्योयेन प्रकारेण मुद्रारहितंसमुद्रं वा ससाक्षिकमसाक्षिकं वा यमर्थं सुवर्णादि यस्य हस्ते निक्षिपेत्सोऽर्थस्तेन निक्षेप्ता तथैव ग्राह्योयस्मात् येन प्रकारेण समर्पणं तेनैव प्रकारेण ग्रहणं न्याय्यं समुद्रस्थापितसुवर्णादेर्निक्षेप्ता स्वयमेव मुद्रांभित्वा यदा वदति ममेदंतुल्यित्वा समर्पयेत्यभिधानंदण्डाद्यर्थम् ॥ १८० ॥

(४) राघवानन्दः । तद्ग्रहणोपायमाह यदिति । योनिक्षेप्तायथायेन प्रकारेण मुद्रया संख्यया वा यमर्थं सुवर्णादिस्वरूपं यस्यहस्ते तत्र हेतुः यथादायः यथासमर्पणं तथाग्रहस्तथैव ग्रहणम् ॥ १८० ॥

(५) नन्दनः । यथारूपोयोऽर्थः सतथा रूपस्य हस्तात्तेन ग्राह्यः तथा हि यथा दायः स्थितस्तथा ग्राह्यः यथा दानंतथा ग्रहणं निक्षिप्तं द्रव्यं अविक्तं दद्यादित्यर्थः ॥ १८० ॥

(६) रामचन्द्रः । यथा दायः अंशः तथा ग्रहः गृहीतुं योग्योग्रहः निक्षेपः ॥ १८० ॥

योनिक्षेपं याच्यमानो निक्षेपमुर्न प्रयच्छति ॥ सयाच्यः प्राड्विवाकेन तन्निक्षेपमुरसन्निधौ ॥ १८१ ॥

(१) मेघातिथिः । याच्यइति एवमुपायो युक्तस्तथाह्यर्थसङ्गतिर्भवति साक्ष्यभावाद्दिव्येषु प्राप्तेषु वचनमिदं यथाचर्णादानादिषु साक्ष्यभावसमनन्तरमेव दिव्यानि दीयन्ते नतद्वदत्र किंतिर्हि चरैरस्य वृत्तमनुचारयेत् तत्र यदि पुनश्चार्थ-

माणोन कचिद्वृत्तेस्खलति तदा न शपथैरदर्शनीयः अथाप्यत्र प्रमाद्यति तदा निक्षेपहरणसंभावनापि युक्तैव तदा च दिव्यैः परिशोधनी न पुनरनेकनिक्षेपहरणेनापरनिक्षेपहरणसिध्यति कदाचिद्वरीयसा प्रयोजनेनैकमपदतंरुताप्रयोजनउत्पन्नानु- शयोवान्यस्य समर्पयति अतोयंश्लोकसंघातोऽज्ञातिनिक्षेपधारणकस्य शपथनिवृत्त्यर्थो न पुनः प्रमाणोपन्यासः नच प्रा- द्विवाकनिक्षेपहरणे राजदण्डवदनिश्चितापरनिक्षेपहरणोपि प्रथमाभियोक्तुर्दापयितुंयुक्तः अनिश्चितेहि हरणे दाप्येत यदि शा- स्त्रेण तदा निर्णयार्थव्यवहारशास्त्रस्यात् । ततश्चहेतुभिर्निर्णयः कर्तव्यइति विकल्पितस्तस्मान्न शास्त्रीयोयमर्थोनच लौकिको व्यवस्थितिः साक्ष्यभावइत्याद्युक्तेन प्रकारेणान्यपरतया नेया ॥ १८१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नप्रयच्छति मथमं लोभात् । निक्षेपसन्निधौ याच्यः ॥ १८१ ॥

(३) कुल्लूकः । अः पुरुषोदेहि मे निक्षिप्तं हि रण्यं यदि द्रव्यमित्येवं निक्षेपत्रा प्रार्थ्यमानस्तस्य यदा न समर्पयति तदा निक्षेपत्रा ज्ञापिते प्राद्विवाकेन तस्य निक्षेपसन्निधौ याचनीयः ॥ १८१ ॥

(४) राघवानन्दः । तस्योद्धरणप्रकारमाह यो निक्षेपमिति । स निक्षेपधारी प्राद्विवाकेन राजस्थापितेन पुंसा याच्योऽ- स्मैतदेहीति । असन्निधौ स्थलान्तरे ॥ १८१ ॥

(५) नन्दनः । असाक्षिकेषु निक्षेपेषु निक्षेपहारित्वेन शङ्किते प्रयोक्तव्यविधिंश्लोकद्वयेनाह यो निक्षेपमिति । प्रश्न- विविच्य ब्रुवतीति प्राद्विवाकः प्रधानसभ्यः ॥ १८१ ॥

(६) रामचन्द्रः । स प्राद्विवाकेन निक्षेपसन्निधौ तं निक्षेपं वाच्यः कथनीयः ॥ १८१ ॥

साक्ष्यभावे प्रणिधिभिर्वयोरूपसमन्वितैः ॥ अपदेशैश्च संन्यस्य हिरण्यंतस्य तत्त्वतः ॥ १८२ ॥

(१) मेधातिथिः । पदार्थयोजनामिदानीमनुसरामः स प्राद्विवाकेन तन्निक्षेपसन्निधौ येन रहसि स्थापितं साक्षिष्व- सत्सु निक्षेपा तस्य याचमानस्य धारणकीयमपह्नुते तत्त्वया किंचिन्निक्षिप्तमिति ततो निक्षेपा राजाज्ञापितो न निक्षेपधा- रिणोऽकारं दर्शयेत् किं तर्हि कुर्यात्प्रणिधिभिश्च हिरण्यमात्मीयं सुवर्णरूप्यं वा अन्यस्य निक्षिप्य याचितव्योर्थनीयः प्राद्विवाकेन प्राद्विवाकग्रहणं निर्णयाधिकृतपुरुषोपलक्षणार्थम् किं साक्षादेव याचितव्योनेत्याह प्रणिधिनां मुखेन यैरेव न्यस्तं वयोरूपसमन्वितैः वयसामन्विता येन बालान् भवन्ति तेषां हि परैः प्रेरितानां मद्भ्रान्तार्थो न्यासइति संभाव्यैत परिणतवयैभ्यस्तु नाशको भवति एवंप्रसमन्वयोरव्याख्येयः रूपमेव कस्य तादृशं भवति यस्य दर्शनादेव चापलं प्रतिभाति तथाच रूपमेतद्याचष्टे भगवन्वी- तरागतामिति तेनैव तदुक्तं भवति तादृशाः प्रणिधयः कर्तव्या येषां मद्भ्रान्तार्थो यमुपक्रमइति नाशङ्कते धारणकः अपदेशैः सव्याजैर्निक्षेपकारः राज्ञोपद्रवग्रामगमनादिभिरनेन हेतुना त्वयि संप्रति निक्षिपामीत्यनृतसंभवात्कारणकथनमपदेशः एत- च्च सर्वप्राद्विक्षेपसन्निधौ कर्तव्यम् ॥ १८२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निक्षेपविषयवदृष्टप्रमाणाभावात्कृत्स्नस्य निक्षेपानभ्युषगमादाह साक्ष्यभावइति । प्रणिधि- भिश्चरैः स्वीयैः वयसा वृद्धत्वादिना रूपेणच पालित्यादिना प्रामाणिकत्वाचितेनान्वितैः । प्राद्विवाकस्तस्य निक्षेपानभ्यु- पगमेतु निक्षेपान्तरं निदध्यात् । अपदेशैर्नास्य धनस्य रक्षकोत्साकं विद्यतइत्यादिव्याजोक्तिभिः । तत्त्वतो यथानिक्षेपः संप- द्यते तथेत्यर्थः ॥ १८२ ॥

(३) कुल्लूकः । किं कृत्वा किं याचनीयइत्याह साक्ष्येति । प्रथमनिक्षेपे साक्ष्यभावे स्वकीयसभ्यैश्चारपुरुषैरतिक्रान्त- बाल्यैः सौम्यादिभिर्नृपोपद्रवादिव्याजाभिधायिभिर्हिरण्यानि तत्त्वेन तत्र निक्षेपयित्वा तैरेव चारपुरुषैः स निक्षेपधारी प्रा- द्विवाकेन चारपुरुषनिक्षिप्तमुवर्णयाच्यः ॥ १८२ ॥

(४) राघवानन्दः । प्राङ्निवाकस्यापि प्रार्थनयाऽलब्धेऽप्युपायान्तरमाह साक्ष्यभावइतिद्वाम्याम् । प्रणिधिभिन्न-
रैः वयोरूपसमन्वितैः अतिक्रान्तशैशवसौम्याकृतिनिक्षेपधारिसमानवयः प्रभृतिभिः तेषुहि सख्यादिवशादतिगोच्यमपि
प्रकाश्यतइति । अपदेशैः राजामांहनिष्यति दण्डयिष्यतीत्यादिराजोपद्रवव्याजाभिधायिभिः । तत्त्वतोवस्तुतोहिरण्यं स-
न्यस्य निक्षेपयित्वा ॥ १८२ ॥

(५) नन्दनः । वयोरूपसमन्वितैः पूर्वनिक्षेपुर्वयोरूपसदृशैः प्रणिधिभिः करणैस्तत्कालोचितसंबन्धोवयोरूपसाद-
श्योपहेत्वन्तरेण निक्षेपप्रतिपादनशङ्कापरिहारार्थः । अपदेशोनिक्षेपनिधानार्थानुज्ञानार्थः । हिरण्यग्रहणं पूर्वनिक्षेपसजा-
तीयद्रव्योपलक्षणार्थम् ॥ १८२ ॥

(६) रामचन्द्रः । साक्ष्यभावे प्रणिधिभिः चारैः अपदेशैः व्याजैः संन्यस्य निक्षिप्य तत्त्वतः ॥ १८२ ॥

सयदि प्रतिपद्येत यथा न्यस्तं यथा कृतम् ॥ न तत्र विद्यते किंचिद्यत्परैरभियुज्यते ॥ १८३ ॥

(१) मेघातिथिः । एतेनात्माकोनः साक्ष्यभावान्निक्षेपोपहूयतइति यथा न्यस्तं यथा कृतमिति गूढागूढचिह्नकृतेन
भेदः अथवा गृहीतनिक्षेपुर्व्यापारभेदेन भेदः । यथाकृतं यथागृहीतं निर्विकल्पमवलंबं च गृहीतं तथैव प्रतिदातव्यं
प्रतिदाने यत्र कालग्रहणे न क्रियतइत्यर्थः ॥ १८३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यदित्वया ततोपदत्तं तद्गतमेव धनं त्वयात्माभिश्च ग्राह्यमित्युक्तः सयदि प्रतिपद्येत सं-
मतः स्यात् । यथा मुद्रादिना न्यस्तं तथाकृतं कण्टकादि । निक्षेपत्रोक्तं न तत्र विद्यतइति यदि तस्मिन्प्रत्यार्पितेपि परोममैतन्यून-
मित्यभियुक्ते तदभियोगादिकं तत्र न विद्यते तावतैव तच्छोधनमुक्तं मुद्रादेर्भावात् । नतु दण्डो नास्ति सापराधत्वात् ॥ १८३ ॥

(३) कुल्लूकः । सनिक्षेपधारी यथान्यस्तं समुद्रं वा यथाकृतं कटकमुकुटाद्याकारेण रचितं यदि तथैव प्रतिपद्येत स-
त्यमस्ति गृह्यतामिति तदा परेण पूर्वनिक्षेपत्रा प्राङ्निवाकवेदिना यन्निक्षेपमित्यभियुज्यते तत्र न किंचिदस्तीति ज्ञातव्यम् ॥ १८३ ॥

(४) राघवानन्दः । पश्चात्सयाच्यमानः निक्षेपधारी यथान्यस्तं समुद्रमसमुद्रं वा यथाकृतं यथाकारं कटका-
दिरूपं तद्विन्नं वा प्रतिपद्येत दातुमन्यते यदि तदा परैः पूर्वनिक्षेपैः यदभियुज्यते तन्न भवतीति ज्ञातव्यम् ॥ १८३ ॥

(५) नन्दनः । सनिक्षेपहारित्वेन शङ्कितः । परैः पूर्वनिक्षेपैः ॥ १८३ ॥

(६) रामचन्द्रः । सपुरुषः यत्र स्थापितः यदि प्रतिपद्येत अङ्गीकुर्यात् यथान्यस्तं यथाकृतं तत्र किंचिन्न विद्यते यत्
अन्यैर्निक्षेपेत् परैरभियुज्यते आरोप्यते ॥ १८३ ॥

तेषां दद्याद्यदि तु तद्विरण्यं यथा विधि ॥ उभौ निगृह्य दाप्यः स्यादिति धर्मस्य धारणा ॥ १८४ ॥

(१) मेघातिथिः । तेषांप्राङ्निवाकप्रयुक्तनिक्षेपमृणायदि द्रव्यनिक्षेपं दद्याद्यथाविधीति यथाकृतपदेन व्याख्यातं स-
धारणकोऽवष्टब्धस्य राजपुरुषैर्भयमर्थिने राजनिक्षेपं च दाप्यतइति धर्मस्य साधारणा व्यवस्था तात्पर्यमत्र व्याख्या-
तम् ॥ १८४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तेषां प्रणिधीनां अर्थनानन्तरं यदि न दद्यात्तद्विरण्यं तदोभयं निक्षेपद्वयं सनिगृह्य गृही-
त्वादाप्योदण्डमित्यर्थः । यदितु प्रणिधिदत्तं प्रत्यर्पयेत्तदा निश्चयानुत्पत्तेर्दिव्या क्रियेत्यर्थात्सिद्धम् ॥ १८४ ॥

(३) कुल्लूकः । तेषांचारपुरुषाणां यन्निक्षेपं हिरण्यं यथान्यस्तं यदि तन्न दद्यात्तदा द्वावपि निक्षेपौ ज्ञापकचारसंबन्धिनौ

संपीड्य दापनीयः स्यादित्येवंरूपो धर्मस्य धारणा निश्चयः । यो निक्षेपमित्यादि श्लोकचतुष्टयस्य चेदृश एव पाठक्रमो-
मेधातिथिभोजदेवादिभिर्निश्चितः गोविन्दराजेन तु साक्ष्यभावे प्रणिधिभिरिति श्लोकोऽन्त एव पठितः तदा च नार्थसङ्कतिः
न वा वृद्धाभ्यासादरः ॥ १८४ ॥

(४) राघवानन्दः । अपदेशैः स्थापितस्यापह्नवेदण्डमाह तेषामिति । तेषां प्रणिधीनां यथाविधि यथात्वरूपं यथा-
स्थापितं च न दद्यात्तदोभौ निक्षेपौ निक्षेपधारोदाप्यः ॥ १८४ ॥

(६) रामचन्द्रः । तेषां निक्षेपमृणां यद्विरण्यं तद्यथाविधि न दद्यात्तदा उभौ निक्षेपनिक्षेपारौ निगृह्य दाप्यइति
धर्मस्य धारणा मर्यादा ॥ १८४ ॥

निक्षेपोपनिधी नित्यं देयौ प्रत्यनन्तरे ॥ नश्यतो विनिपाते तावनिपाते त्वनाशिनौ ॥ १८५ ॥

(१) मेधातिथिः । उत्पत्यनन्तर उच्यते निक्षेपः पुत्रो भ्राता भार्या वा यस्य निक्षेपमुद्रं व्ये स्वाम्यमस्ति भार्याया-
स्तावत्स्वाम्यमुक्तमेव पुत्रस्यापि पैतामहे भ्रातुश्चैकधनस्य तत्र तेषां कश्चिद्व्यावनिक्षेपसंनिहिते देहिनाऽस्माकीनमेतदिति
तत्र कश्चिदनया बुद्ध्या दद्यात्साधारणमेतदेकेन निक्षेपमपरेण नीतमिति कोदोषइति अत उच्यते न देयौ निक्षेपोपनिधी
प्रत्यनन्तरे । अत्रैवार्थवादं हेतुसरूपमाह नश्यतो विनिपातेतौ विनिपातोऽन्यथात्वप्रत्यनन्तरस्य देशान्तरगमनादि तस्मिन्-
सति तौ ह्येते यदि तेन नीत्वा निक्षेपं दत्तं तदा तेन पर्यनुयुक्तस्य धारणकस्य किमुत्तरं तदीयेन भ्रात्रैतद्धनं साधारण-
स्वामिना नीतमिति नैतदुत्तरं यथा दायस्तथा ग्रहइत्युक्तं येनैव निक्षेपस्वामिनाऽस्वामिना वा तस्मा एव देयंतस्यैवाय-
प्रपञ्चः यदि तु प्रत्यनन्तरो विक्रियां गच्छेत्तदा तद्दानेऽपि न दोषस्तदाह अनिपाते त्वनाशिनौ तत्र हस्त्युत्तरं मानशत-
स्मादर्पयामि प्रत्यनन्तरेण नीते विनिपाते च तस्य निक्षेपमृयाचमानायस्वधनं दातव्यमिति श्लोकार्थः ॥ १८५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उपनिधिर्भाडादिस्थः समुद्रः । निक्षेपो निक्षेपस्त्वमुद्रः । उपनिधिपदं चायाचिताद्युपलक्षणम् ।
प्रत्यनन्तरे देशान्तरादिगते निक्षेपरि तत्पुत्रादौ । नश्यतः पुनर्देयौ भवतः । विनिपाते तस्य पुत्रादेर्मरणादिना निक्षेपनि-
क्षेपधनाप्रामौ । अनिपाते तत्प्रामौ अनाशिनौ प्रत्यर्पणीयौ केवलं त्वपुत्रे दत्तमिति विभाव्यमेव ॥ १८५ ॥

(३) कुम्भूकः । निक्षिप्यतइति निक्षेपः मुद्राङ्कितमगणितं वा यन्निधीयते स उपनिधिः ब्राह्मणपरिव्राजकवदुपदे-
शभेदः तौ निक्षेपोपनिधी निक्षेपर्युपनिधातरि जीवति प्रत्यनन्तरे तदीयपुत्रादौ तदनन्तरे तद्धनाधिकारिणि कदाचिन्
निक्षेपधारिणा देयौ यतस्तस्य पुत्रादेरपि पितुरसमर्पणविनाशे तौ निक्षेपोपनिधी नश्यतः । पुत्रादेः पितुश्च पुनरविनाशे-
समर्पणे च कदाचिदविनाशिनौ स्यातां तस्मादनर्थसंदेहान्न देयौ ॥ १८५ ॥

(४) राघवानन्दः । निक्षेपवदुपनिधेरप्युद्धरणबोधयन् तत्र कार्यान्तरं विधत्ते निक्षेपइति । निक्षिप्यते परस्मिन् यत्
तन्निक्षेपोद्रव्यमात्रं अङ्कितमगणितं वा । पुटस्थमुपनिधिः प्रत्ययार्थनिक्षेपोऽबन्धकइति भेदः । किंच निक्षेपरि अनिपाते
जीवति प्रत्यनन्तरे तत्पुत्रपौत्रादौ न देयौ तत्र हेतुर्नश्यतइति । कदाचिदैवात्पुत्रस्यान्यथाभावे निधेरसमर्पणाद्वा दत्तौ
नाशंगच्छतः । अतो निक्षेपधारिणा न देयौ । विनिपाते तु निक्षेपस्थापकेषु पुनस्तत्पुत्रादावधिकारिणि देयौ न तदाऽवि-
नाशिनावित्यन्वयः ॥ १८५ ॥

(५) नन्दनः । प्रत्यनन्तरे निक्षेपः प्रत्यासन्ने पुत्रादौ अत्र हेतुः नश्यतो विनिपाते ताविति । प्रत्यनन्तरस्य वि-

निपातेतौ निक्षेपोपनिधी अपिनश्येतां ततश्च निक्षेपः पुनरपि प्रतीपदेयौ स्यातां तस्मान्देयौ तौ प्रत्यनन्तरस्यविनिपातेऽनाशिनौ तस्मादादाय पुनरपि निक्षेपमिति प्रतिप्रदातुं शक्यौ ॥ १८५ ॥

(६) रामचन्द्रः । तौ निक्षेपोपनिधीप्रत्यनन्तरे पुत्रादौ नदेयौ तौविनिपाते यद्धस्तेदत्तं तन्परणे नश्यतः पुनर्देयौ भवतः अपाते अमरणे अनाशिनौ अदेयौ ॥ १८५ ॥

स्वयमेव तु योदद्यान्मृतस्य प्रत्यनन्तरे ॥ न सराज्ञा नियोक्तव्यो न निक्षेपश्च बन्धुभिः ॥ १८६ ॥

(१) मेधातिथिः । जीवतस्तस्मान्निक्षेपः प्रत्यनन्तरदानं नास्तीत्युक्तं मृतस्य तु यस्तद्वनमस्तीत्यविजानते स्वयंदद्यान् सव्यवहारलेखनादिक्लेशनीयोऽन्यदप्यस्ति न यदि तस्याभविष्यत्किमपि अत्राप्याशङ्क्य यदि न निवर्तेत महाधनोऽसावभून्चान्येन समंभुज्यते प्रमाणान्तरविचारणीयं विषादिभिः शपथैर्नार्दनीयः धत्कोशसत्यतण्डुलास्तु न विरुध्यन्ते विनाशकरोयः साक्ष्यभावः सद्वितीयोन्यासः सद्वापि द्रष्टव्यः ॥ १८६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मृते तु दातर्याह स्वयमिति । असाक्षिकं निक्षेपं पुत्रादिभिरज्ञातं यः स्वयं पुत्रादौ दद्यान्नासौ राज्ञा पुत्रादिनावा न्यूनत्वादशङ्क्याऽभियोज्यः । न्यूनत्वादिनिश्चये त्वभियोज्य एव ॥ १८६ ॥

(३) कुल्लूकः । निक्षेपमृतस्य निक्षेपधारी तद्वनाधिकारिणि पुत्रादौ तदनभ्यर्थितः स्वयमेव यः समर्पयति सराज्ञा निक्षेपः पुत्रादिभिर्वा न्यदपि त्वयि निक्षिप्तमस्तीति नाक्षेपव्यः ॥ १८६ ॥

(४) राघवानन्दः । अतएवाह स्वयमिति । स्वयमेव दद्याच्चेत्ततोऽन्यदस्तीति नाभियोक्तव्यः बन्धुभिश्च ॥ १८६ ॥

(५) नन्दनः । नाभियोक्तव्यः निक्षिप्तद्रव्यपरिमाणनं द्रष्टव्यम् ॥ १८६ ॥

(६) रामचन्द्रः । राज्ञा सननियोक्तव्यः अधिकं नारोपणीयः । निक्षेपः स्वबन्धुभिः न अभियोक्तव्यः ॥ १८६ ॥

अच्छलेनैव चान्विच्छेत्तमर्थं प्रीतिपूर्वकम् ॥ विचार्य तस्य वा वृत्तं साम्रैव परिसाधयेत् ॥ १८७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यदाच निक्षेपस्तत्र संभावितो न च स्वयं तेन दत्तस्तदाह अच्छलेनेति । तदीयप्रतिपन्नद्रव्यादेश्छादिना ग्रहणेन तद्द्वारार्थनयनितव्यम् । प्रीतिपूर्वकं भैर्यादिकरणपूर्वकं अन्विच्छेदनुसंदध्यात् । तथा तस्य वृत्तं चेष्टितं निक्षेपहरणानुरूपं अतिव्यग्राद्यापि तद्ग्रहणनियतं विचार्य तमेव साम्रा याचेत् । दण्डादिना तु साधने कथंचिन्मिथ्याभियोगे दण्डापातः ॥ १८७ ॥

(३) कुल्लूकः । यदि कथंचिद्भ्रान्तिः स्यात्तदा अच्छलेनैवेति । तत्रस्थे घनान्तरसद्भावलक्षणवाच्छलादिपरिहारेणैव प्रीतिपूर्वकं निश्चिनुयात् न तु झटिति दिव्यादिदानेन तस्य निक्षेपधारिणः शीलमवेक्ष्य धार्मिकोयमिति ज्ञात्वा सामप्रयोगेन निश्चिनुयात् ॥ १८७ ॥

(४) राघवानन्दः । निक्षेपनिक्षेपग्रहणे नियममाह अच्छलेनेति । अच्छलेन ऋजुमार्गेण तमर्थं स्थापितमर्थम् साम्रा स्वयमेव राजतः परिसाधने ग्रहणे अन्यथाधारिणः स्वतोलाभाद्यभावात्कोपि निक्षेपधारी न स्यादिति भावः ॥ १८७ ॥

(५) नन्दनः । निक्षेपप्रत्यादानविधिमाह अच्छलेनेति तमर्थनिक्षेपं प्रीतिपूर्वकं सौमनस्यपूर्वकम् । तस्य निक्षेपहर्तुः । वृत्तं शुभमशुभंवेति विचार्य साम्राप्रियाप्रियभाषणेन ॥ १८७ ॥

(१८६) न सराज्ञानियोक्तव्यो = सराज्ञानाभियोक्तव्यो (नं०)

(६) रामचन्द्रः । तमर्थं प्रीतिपूर्वकमच्छलेनान्विच्छेत् । तस्य वृत्तं अतिव्ययादिकं विचार्यसाग्रेव ॥ १८७ ॥

निक्षेपेष्वेषु सर्वेषु विधिः स्यात्त्वरिसाधने ॥ समुद्रे नामुयात्किंचिद्यदि तस्मान्न संहरेत् ॥ १८८ ॥

(१) मेधातिथिः । निक्षेपेषूपचयमानेष्वनन्तरोक्तोविधिः साक्ष्यभावइत्यादिः परमसाधनार्थोविज्ञेयः । निक्षेपेण दाप्येऽस्मिन्नाप्रयान्निक्षेपधारी तत्र धारणकस्य एवमूषकादिनाशेद्रष्टव्यं यदिदारुमये भाण्डे वस्त्रादिस्थापितंतीक्ष्णदशनैर्मूष-
कैर्दारुभित्वाभक्षेत न निक्षेपधारिणोदोषः । तत्रापि वासनपरिवेष्टितः स्थूलपोटलकोमुद्रितोयदि निक्षिप्येत यदा तदा येदारु-
भाण्डेनैवमान्ति तदा बहिर्मूषकादिभक्षितेऽपि हि न दोषः । यदि चैतन्निक्षेपमुज्जानंभवति धारकेण परिभाषितंन मम भाण्ड-
मन्यदस्ति चरित्रज्ञोवास्य निक्षेप्ता कदाचित्प्रत्यासन्नोभवति ॥ १८८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निक्षेपेषु निक्षेपेषु याचितान्वाहितनिक्षेपादिषु । समुद्रे मुद्रासहिते प्रत्यर्पिते नामुयात्
किंचिदपहरणशङ्कादि । तथा अमुद्रेपि यदि तस्मात्किंचित् नसंहरेत् नसंगृह्णीयात् ग्रहणव्यभिचारिभाण्डफलत्वादि न
कुर्यात् ॥ १८८ ॥

(३) कुल्लूकः । सर्वेषु निक्षेपेष्वपक्रियमाणेष्वेषसाक्ष्यभावेत्यादि पूर्वोक्तविधिनिर्णयसिद्धौ स्यात् । मुद्रितादौ पुनस्त-
स्य निक्षेपधारी यदि प्रतिमुद्रादिना न किमप्यपहरेत्तदा तस्मिन्नापि तेन किदूषणंप्रामुयात् ॥ १८८ ॥

(४) राघवानन्दः । उपसंहारव्याजेनावशिष्टंज्ञापयति निक्षेपेति । विधिः सामाद्यव्याजरूपः । समुद्रेप्रतिमुद्रादिधारी-
ततः स्थापितधनार्त्किंचिन्नाहरेत्तदा नदोषमवामुयादितिभावः ॥ १८८ ॥

(५) नन्दनः । सर्वेषु नीचादिविषयेष्वपि एषः पूर्वोक्तः ॥ १८८ ॥

(६) रामचन्द्रः । एषु सर्वेषु निक्षेपेषु समुद्रे मुद्रासहिते किंचित् अपहारणशङ्कादि नामुयात् ॥ १८८ ॥

चौरैर्हृतंजलेनोढमग्निना दग्धमेव वा ॥ न दद्याद्यदि तस्मात्सन संहरति किंचन ॥ १८९ ॥

(१) मेधातिथिः । चौरास्तुवेदिताअवेदितावा सुरङ्गभिदादिना यदि मुष्णीयुः कृतरक्षासंविधाने धारणिके
स्वामिनएव नाशः । जलेनोढमुदकेन देशान्तरंनीतम् ॥ १८९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चौरैरित्यादिराजैवोपघातोपलक्षणम् । किंचन अल्पमपियद्यसौ नसंहरति नगृह्णा-
ति । एतेनाल्पस्यापिहरणे निक्षेपो दैवादिनष्टोपि देयइत्युक्तम् । अत्रच यथाशक्तिरक्षणे क्रियमाणे दोषाभावउक्तोनत्व-
क्रियमाणेपीत्यर्थसिद्धत्वान्नोक्तम् ॥ १८९ ॥

(३) कुल्लूकः । चौरैर्मुषितं उदकेनदेशान्तरंप्रापितं अग्निना वा दग्धं निक्षेपनिक्षेपधारी न दद्यात् । यदि स्वयंतस्मा-
न्नकिंचिदप्यपहरति ॥ १८९ ॥

(४) राघवानन्दः । एवं चौरैरिति जलेनोढम् जलौघादिना स्थानान्तरंप्रापितम् । सनिक्षेपधारी नदद्यादेव ॥ १८९ ॥

(६) रामचन्द्रः । चौरैः हृतं जलेन ऊढं प्रवाहितं देशान्तरंप्रापितं अग्निना दग्धं नदद्यात् यदि तस्मात् द्रव्यात्
किंचिन्न संहरति न गृह्णाति । गृह्णाति चेत्तर्हि दद्यात् ॥ १८९ ॥

निक्षेपस्यापहर्त्तारमनिक्षेप्तामेव च ॥ सर्वैरुपायैरन्विच्छेच्छपथैश्चैव वैदिकैः ॥ १९० ॥

(१) मेधातिथिः । हरति योनिक्षिप्तमसाक्षिकंयोप्यपनीयनीत्वा वा याचते तमन्विच्छेत् अन्वेषणा तत्त्वपरिज्ञान-

यत्नः । सर्वप्रमाणव्यापारेणोपायाः प्रमाणान सामादयोवा तेन चलितवृत्तस्याप्रतिपाद्यमानस्य ताडनबन्धनाद्यपि महति धने चौरवत्तत्त्वप्रतिपत्त्यर्थप्रयोज्यं न तत्त्वानिश्चये निग्रहः । वैदिकग्रहणंस्तुत्यर्थम् ॥ १९० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनिक्षेमारमनिक्षिप्ययाचमानम् । उपायैश्चरादिभिः । अन्विच्छेत् जिज्ञासेत् । वैदिकैः वेदोक्तैरग्न्यादिभिः । श्रुतौहि सोनृतेनात्मानमबुद्धा यस्तमंपरशृंगुह्णाति सदस्यतइत्यादावग्नीनांतत्वप्राप्त्युपायता गम्यते ॥ १९० ॥

(३) कुल्लूकः । निक्षेपस्यापह्नोतारमनिक्षिप्य याचितारं सर्वैः सामादिभिः उपायैर्वैदिकैश्च शपथैरग्निहरणादिभिर्नृपोनिरूपयेत् ॥ १९० ॥

(४) राघवानन्दः । किंच असाक्षिके निक्षेपे तयोरपि शपथपर्यन्तं व्यापारमाह निक्षेपस्येति । अनिक्षेमारमनिक्षिप्यैव निक्षेमास्मीतियोब्रूयात्तम् । सर्वैः सामभेददानदण्डैः । तत्र साम तस्मिन् तत्स्त्रीपुत्रादिषुवा धर्मोपदेशपुरःसरं स्तुत्युक्तिः । भेदः त्वम्येवास्यनिक्षेपोनिक्षिप्तौस्तीति अन्यैरपि ज्ञायते कथंनदीयतेदानं तदर्धदातव्यमित्यादि । रूपादियद्यप्येवंसंभाषणीयं । दण्डः एतद्धनंचेनदीयतेतदातवच्छेदंविभास्यामि । शपथैरुक्तरूपैश्चान्विच्छेदित्यन्वयः ॥ १९० ॥

(५) नन्दनः । अनिक्षेमारं अनिक्षिप्तयाचितारम् । सर्वैरुक्तादन्यैः ॥ १९० ॥

(६) रामचन्द्रः । उपायैःसर्वैः अन्विच्छेत् परीप्सेत् ॥ १९० ॥

योनिक्षेपंनार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते ॥ तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ वा तत्समंदमम् ॥ १९१ ॥

(१) मेधातिथिः । निक्षिप्तमपह्नवानस्य निक्षिप्तयाचमानस्य दण्डोयं यावति धने मिथ्याप्रवर्तते तावदण्ड्यते ॥ १९१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चौरवच्छास्यौ साङ्गच्छेदादिना रत्नाद्यमहारे अल्पे तु दाप्यौचेति ॥ १९१ ॥

(३) कुल्लूकः । निक्षिप्तधनंयौन समर्पयति यश्चानिक्षिप्तमंभ्रयति तौ द्वौ सुवर्णमुक्तादौ महति विषये चौरवदण्ड्यौ । स्वल्पविषये तावदादौ तत्समंदण्डनीयौ ॥ १९१ ॥

(४) राघवानन्दः । मिथ्यात्वेनिर्णति तयोर्दण्डमाह यइति । विप्रादन्यौचैश्चौरवत्कायेन दण्डोपि विप्रौचैदाप्यावेव तत्समं यावतिनिक्षेपधने विवादस्तत्तुल्यम् ॥ १९१ ॥

(५) नन्दनः । दाप्यौ दण्ड्यौ ॥ १९१ ॥

(६) रामचन्द्रः । यो निक्षेपं न अर्पयति न ददाति यश्चानिक्षिप्य याचते तौ चौरवच्छास्यौ तत्समंदाप्यौ दण्डनीयौ ॥ १९१ ॥

निक्षेपस्यापह्नारितत्समंदापयेद्दमम् ॥ तथोपनिधिहृत्तरिमन्निशेषेण पार्थिवः ॥ १९२ ॥

(१) मेधातिथिः । चौरवच्छिष्टिः पूर्वोक्तौ तथा च शरीरनिग्रहस्तत्समधनवैकल्पिके जातिभेदेन ब्राह्मणादन्यत्र प्रदेशउक्तोनेन निवर्त्यते मुनिविधानेन चौरवच्छिष्टिर्वाग्दण्डधिद्रण्डादिरूपैव समुच्चीयते धनदण्डेन नाङ्गच्छेदादिरूपा न च ब्राह्मणस्यापि वैकल्पिके पूर्वेण शरीरदण्डे प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थपुनर्वचनयुक्तंसामान्येन ब्राह्मणस्य शरीरदण्डप्रतिषेधात् न जातुब्राह्मणहत्यादिति । उपनिधिः प्रीत्या यद्गुज्यतेऽविशेषेण द्रव्यजातिच नापेक्षते । अन्यैस्तुपनिधिः परिभाषितः सतत्रै-

व नेह परिभाषायाअकरणाछौकार्यएव ग्रहीतुंन्याय्यः वक्ष्यति च प्रतीन्योपनिहितस्य चेति ॥ १९२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्रच वर्णविशेषेण दण्डविशेषाशङ्कां निवारयति निक्षेपस्येति । उपनिधिपदं पूर्ववदुपलक्षणम् । अविशेषेण वर्णाविशेषेण ॥ १९२ ॥

(३) कुल्लूकः । निक्षेपापहारिणनिक्षिप्तसमधनदण्डयेत् । समशिष्टत्वादनिक्षिप्य याचितारमपि । नच पुनरुक्तिः म हृत्यपराधे ब्राह्मणेतरस्य चौरवदिति पूर्वश्लोकेन शारीरदण्डस्यापि प्रामौ तन्निवृत्त्यर्थमिदम् । दापयेदिति धनदण्डनियमात् । नचानेन पूर्वश्लोकवैयर्थ्यम् अस्य प्रथमापराधविषयत्वात्पूर्वोक्तं चान्यासे चौरोक्तमहासाहसादि धनदण्डावरोधकत्वात् । उपनिधिर्मुद्रादिचिह्नितनिहितधनम् तस्यापहर्तारं कथितविशेषणं राजा दण्डयेत् ॥ १९२ ॥

(४) राघवानन्दः । निक्षेपहर्तुर्दण्डं दृष्टान्तीकृत्योपनिधिहर्तुस्तमाह निक्षेपस्येति । तत्समं निक्षेपधनसमम् ॥ १९२ ॥

(५) नन्दनः । अविशेषेण वर्णविभागेन ॥ १९२ ॥

(६) रामचन्द्रः । तथा उपनिधिहर्तारं उपनिधिपदेन अन्वाहितयाचिते विवक्षिते ॥ १९२ ॥

उपधाभिश्च यः कश्चित्परद्रव्यं हरेन्नरः ॥ ससहायः सहंतव्यः प्रकाशं विविधैर्वधैः ॥ १९३ ॥

(१) मेधातिथिः । उपधाव्याजं छन्देन्यनर्थान्तरं तच्चानेकविधद्रव्यपरिवर्तकुंकुमदर्शयित्वा कुसुंभादिदानं तुलादिमानपरिवर्त्ताद्यास्तत्र चान्यविधिवक्ष्यतिनान्येन संसृष्टमित्यादि इहतु चित्रासमन्तरान्यत उपकारदर्शनं कन्यानुरागकथनमित्येवमादिगृह्यन्ते चौरास्त्वांमुष्णन्ति यद्यहंत्वां रक्षामि राजा तवात्यन्तं कुपितो मया तु बहुसमाहितं राजतस्तेनगराधिकारं दापय मे मुख्योपकारं करोमि पुत्रमित्रदुहितान्वयात्यन्तमनुरागिणीमद्वस्तिदमुपायनं प्रेषितवतीत्येवमाद्यनृतमुक्ताऽऽत्मीयमुपायनमासज्य बहुप्रतिनयन्ति तत्समक्षयं च राजनि तत्समेवाकार्यान्तरमुपांशुनिवेद्य कथयन्ति त्वदीयकार्यमुपक्रान्तमित्येवमाद्युपाधिभिः परद्रव्यं च भुञ्जते तेषामयं राजमार्गप्रकाशं विविधः कुठारशूलारोपणहस्तिपदमर्दनाद्यनेकोपायसाधनोवधउच्यते । अन्येतु प्रकरणानि क्षेपविषयमेवमाहुः तत्र हि प्रतिपद्यान्यत्र मयानिहितं सच न संनिहितः श्वआगच्छतीत्यसमर्पयन्हरतीति ॥ १९३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अतिप्रसिद्धनिक्षेपाच्छलेनापहारमाह उपधाभिरिति । ननिक्षिप्तमित्यादिछल्लोक्या निक्षेपादिपरद्रव्यं यो हरेत् । प्रकाशं लोकसाक्षिकं विविधैरङ्गुष्ठेदादिभिः सर्वैरेव । एतच्च भूयःकरणे ॥ १९३ ॥

(३) कुल्लूकः । राजा त्वयि रुष्टस्तस्मात्त्वारक्षामि मम धनं देहि । धनधान्यादिलोभोपकरणं वाऽनृतमभिधाय छन्दभिर्यः परद्रव्यं गृह्णाति स छन्दधनसहकारिसहितो बहुजनसमक्षं करचरणशिरश्छेदादिभिर्नानाप्रकारैर्वधोपायैः राजा हन्तव्यः ॥ १९३ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रासंगिकं परद्रव्याभिलाषितया मिथ्याभिलाषिणे दण्डमाह उपधाभिरिति । उपधाहि राजा त्वयि रुष्टस्तस्मात् त्वारक्षिष्यामि महमेतद्देहीति धनकन्यादिलाभार्थमभिधानमुपधातैः यः परद्रव्यं हरेत्सः ससहायः सत्यं अयं वक्तीति मिथ्याभिधानेन साहाय्यंगते न सह प्रकाशं बहुजनसमक्षं विविधैः शिरश्छेदादिनानाप्रकारैः ॥ १९३ ॥

(५) नन्दनः । उपधाभिः पञ्चविधाभिः ॥ १९३ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः कश्चिन्नरः परद्रव्यं उपधाभिः उपायैर्व्याजैर्हरेत् ॥ १९३ ॥

निक्षेपोयः कृतोयेन यावांश्च कुलसन्निधौ ॥ तावानेव सविज्ञेयोविब्रुवन्दण्डमर्हति ॥ १९४ ॥

(१) मेधातिथिः । यदिति निक्षिप्यमाणद्रव्यनिर्देशः यावानिति परिमाणस्य यथाह सुवर्णमेतस्य हस्ते मया निक्षिप्तकांस्यं ददाति शतं च स्थापितमर्घं ददाति सपृच्छ्यते किं रहस्युत कस्य चित्समक्षमिति भवेदाह कुलसंनिधौ कुलं साक्षिणस्तत्र ते पृष्टाय दाह्यस्ते देवसत्यं विब्रुवन्विरुद्धं ब्रुवाणो दण्ड्यते तत्रापि यदि ब्रूयात्साक्षिसमक्षं कथं तौ विनान्यत्स्थापितमिति अस्त्यत्र प्रमाणान्तरव्यापारणावसरः अयमपि श्लोको नाधिकविध्यर्थः ॥ १९४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सकृत्करणेन तूक्तम् । निक्षेपो निक्षेपादिः । कुलस्य ज्ञात्यादेः । यः सुवर्णादिः । विब्रुवन् मह्यमत्र रक्षणभागे देय इति वदन् ॥ १९४ ॥

(३) कुल्लूकः । यः सुवर्णादिर्यावत्परिमितोयेन साक्षिसमक्षं निक्षेपः कृतस्तत्र परिमाणादिविप्रतिपत्तौ साक्षिवचनात्तावानेव विज्ञातव्यः । विप्रतिपत्तिकुर्वन्प्येतदुक्तानुसारेण दण्डं दाम्यः ॥ १९४ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रकृतमनुवर्तयन् तत्र विशेषमाह निक्षेप इति । यदिति स्वरूपतः यावानिति सङ्ख्यातः कुलसंनिधौ स्थापनकाल यावन्तः साक्ष्यादयस्तावतां सन्निधौ विज्ञेय इति शेषः । तथोक्तेऽपि साक्षिभिः स्वयंसङ्ख्यायां विब्रुवन् विप्रतिपद्यमानो निक्षेपा दण्डमर्हतीत्यन्यः ॥ १९४ ॥

(५) नन्दनः । कृतः निक्षिप्तः । यावान् यत्परिमाणः । कुलसन्निधौ कुलीनाभिज्ञाने ब्रुवन् अयथावदन् ॥ १९४ ॥

(६) रामचन्द्रः । विब्रुवन् अन्यथा ब्रुवन् स दण्डं अर्हति ॥ १९४ ॥

मिथोदायः कृतोयेन गृहीतो मिथ एव वा ॥ मिथ एव प्रदातव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥ १९५ ॥

(१) मेधातिथिः । यो यथा निक्षिपेदित्यनेन निक्षिप्तविधिरयमुक्तोऽन्येषु कार्येष्वनेन प्रतिपद्यते ऋणादानोपनिधिविक्रयाद्यपि येन यादृशेन प्रकारेण कृतं तादृशेनैव प्रत्यर्पणीयं रहसि कृतस्य राजकुलं शमार्गणादिना प्रकाशनं कर्तव्यं तेन स्वहस्ते लेख्येन ऋणे गृहीते न राजकुलं शं दाम्यते उत्तमर्णधनं क्षपणीयं अनेनैव निक्षेपेऽपि सिद्धे तत्र पुनर्वचनं नित्यार्थं तेन निक्षेपादन्यत्र रहसि कृतस्यापि विप्रतिपत्त्या शङ्कायां प्रकाशप्रतिदानं कदाचिदस्ति । अथ वेहाप्रकाशकृतस्य प्रकाशीकरणं निषिध्यते तत्र त्वन्योऽर्थः समुद्रोऽसमुद्र इत्यादितेनापौनरुक्त्यं मिथः शब्दो रहसि विज्ञेयः अथवा परस्परं मिथः सर्वकार्यद्वाभ्यां संख्यादानादिपरमेव क्रियत इति पुनर्वचनं तृतीयप्रतिषेधार्थं दायशब्दः सामान्यशब्दो निक्षेपादन्या नपि विक्रयादीनाह ॥ १९५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कुलसंनिधावसाक्षिकमाह मिथ इति । मिथ एकान्ते । दायो निक्षेपदानम् । मिथो गृहीतो गृहीत्वापि न ज्ञापितो ग्रहीत्रा मिथ एव न साक्ष्यादिसंनिधौ । एतेन ग्रहणे साक्ष्यभावे प्रत्यर्पणेऽपि साक्षिणो नानुसंधेया इत्युक्तम् । यथा दायस्तथेति तु ससाक्षिके ससाक्षिक एवेति ॥ १९५ ॥

(३) कुल्लूकः । रहसि येन निक्षेपोऽपि तो निक्षेपधारिणा च रहस्येव गृहीतः स निक्षेपो रहस्येव प्रत्यर्पणीयः न प्रत्यर्पणे साक्ष्यपेक्षा यस्याद्येनैव प्रकारेण दानं तेनैव प्रकारेण प्रत्यर्पणं दातव्यमिति श्रवणान्निक्षेपधारिणोऽयं नियमविधिः । यो यथा निक्षिपेदस्त इति तु निक्षेपुर्नियमार्थं ग्रहीतव्य इति श्रवणात् अतो न पौनरुक्त्यम् ॥ १९५ ॥

(४) राघवानन्दः । निक्षेपधारिणो नियममाह मिथ इति । मिथः अन्योन्यं निक्षेपधारिणो रहसि निक्षेपः कृतश्चेद्रहस्येव याचितव्यो वा यथा दायः स्थापनं तथा ग्रहस्तेनैव प्रकारेणादानम् न तत्र साक्ष्यपेक्षेति भावः ॥ १९५ ॥

(५) नन्दनः । दायसमर्पणमिथः रहसिअसाक्षिक मितियावत् ॥ १९५ ॥

(६) रामचन्द्रः । तथा ग्रहः गृह्णातीतिग्रहः मिथएव ग्रहः ग्रहीतव्यः येन पुंसा मिथः एकांते दायः निक्षेपदानंरु-
तः यथा दायः तथा ग्रहः ग्रहणीयः ॥ १९५ ॥

निक्षिप्तस्य धनस्यैवंप्रीत्योपनिहितस्य च ॥ राजा विनिर्णयंकुर्यादक्षिण्वन्यासधारिणम् ॥ १९६ ॥

(१) मेघातिथिः । प्रकरणोपसंहारोऽनेन क्रियते प्रीत्योपनिहितस्य लेहेन किंचित्कालंभोगार्थंदत्तस्य न्यासोनिक्षे-
पस्तस्य धारणकोयथान पीड्यते तथानिर्णयः कर्तव्यइति । अक्षिण्वनपीडयन् द्वित्रश्लोकानिक्षेपकरणे विध्यर्थाः सर्व-
मन्यदन्त्यतः सिद्धंश्लोकार्द्धेनोक्तम् ॥ १९६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निक्षिप्तस्येति याचिताद्युपलक्षणम् । प्रीत्योपनिहितस्य यावद्वत्तदागमनं तावत्त्वया क्षी-
राद्यस्यागृह्णतामिति गवादेर्बन्धुत्वेन रक्षणार्थंस्थापितस्य । अक्षिण्वन प्रथमतएव दण्डेनार्हिसन् निक्षेपः ॥ १९६ ॥

(३) कुल्लूकः । राज्ञा निक्षिप्तस्य धनस्यामुद्रस्य मुद्रादियुतस्य वीषनिधिरूपस्य तथा प्रीत्या कतिचित्कालंभोगा
र्थमर्पितस्यानेनोक्तप्रकारेण न्यस्तधनधारिणमपीडयन्ननिर्णयंकुर्यात् ॥ १९६ ॥

(४) राघवानन्दः । नृपतेर्नियममाह निक्षिप्तस्येति । प्रीत्योपनिहितस्य प्रीत्यर्थं कंचित्कालं दत्तस्य अक्षिण्वन-
पीडयन् न्यासधारिणं साक्षीमैवं विधइतिभावः । इति निक्षेपप्रकरणम् ॥ १९६ ॥

(५) नन्दनः । उपसंहरति निक्षिप्तस्येति । विनिर्णयंप्रतिदानम् विवादपदंसमाप्तम् ॥ १९६ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रीत्या निक्षिप्तस्य च पुनः उपनिहितस्य राजा विनिर्णयं कुर्यात् न्यासधारिणं अक्षिण्वन
अपीडयन् ॥ १९६ ॥

विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसंमतः ॥ न तंनयेत साक्ष्यन्तु स्तेनमस्तेनमानिनम् ॥ १९७ ॥

(१) मेघातिथिः । अस्वामिविक्रयाख्यविवादपदमिदमनुक्रान्तं परस्य यद्व्यादिस्वंतच्चेदस्वामी तत्पुत्रादिरन्यो-
वा विक्रीणीते स्वामिनाननुज्ञातस्तंस्तेनचौरविद्यात् यद्यपि यस्तस्मात्क्रीणाति सतमस्तेनमन्यते नतंनयेत साक्ष्यन्तु तंपुरु-
षंनयेत न प्रापयेत्साक्ष्यंनकारयेत्साक्षिकरणे ननियोक्तव्यइत्यर्थः । यथा चौरस्तादृशएवासौ स्तेनत्वाच्च न साक्षित्व-
एव प्रतिषेधः किंतर्हि सर्वासुसाधुजनसाध्यासु क्रियासु परस्वमनुज्ञातेन विक्रोतंकेतुर्नस्वंभवतीति सिद्धेसाक्षिकर्मनिषे-
धद्वारेण प्रतिषेधोवैचित्र्यार्थः ॥ १९७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अस्वामिविक्रयमाह विक्रीणीतइति । न तं साक्ष्यन्तंनयेत् साक्षिसमीपंनयेत् तद्वचना-
द्विनैव निर्धारणासंभवे । एतेन महापराधत्वमस्य कथयति ॥ १९७ ॥

(३) कुल्लूकः । अस्वामी यः स्वामिना नाननुगतः परकीयंद्रव्यविक्रीणीते वस्तुतश्चौरमचौरमात्मानंमन्यमानं
तंसाक्षित्वं नकारयेन्नकुत्रचिदपि प्रमाणी कुर्यादित्यर्थः ॥ १९७ ॥

(४) राघवानन्दः । दण्डार्थमनुवदति विक्रीणीतइति । अस्वामी स्वाम्यसंमतश्च वस्तुतःस्तेनं तं साक्ष्यं साक्ष्य-
क्तिविषयं ननयेत । तदर्थं साक्ष्यनादरइतिभावः ॥ १९७ ॥

(५) नन्दनः । अस्वामिविक्रयमाह विक्रीणीतेपरस्येति । स्वाम्यसंमतः स्वामिनावनुज्ञातः । तंसाक्ष्यं नयेत
ससाक्षित्वयोग्यो न भवेत् । एवंनिन्योसावस्वामिविक्रयी तस्मादस्वामिविक्रयं कुर्यादिति ॥ १९७ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः अस्वामी परस्व त्वं द्रव्यं स्वाम्यसंमतः तं साक्ष्यं न नयेत् । अस्तेनमानिनंस्तेनञ्ज्ञेयम् ॥ १९७ ॥
अवहार्यो भवेच्चैव सान्वयः षट्शतदमम् ॥ निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥ १९८ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वेण साधुजनकर्तृकासु क्रियासु साक्ष्यादिवपि स्वामिक्रियकारिणामनर्हतोक्ता अनेन षट्-
शतोदण्ड उच्यते षट्कार्षापणशतान्यवहार्योदापयितव्योदण्ड इति यावत् । सान्वयोऽन्वयोऽनुगमनसंबन्धः सयस्यास्ति पु-
त्रभ्रात्रादिस्वामिनोनुगतसान्वयः सहस्रनुज्ञातोऽपि विक्रीणानोनस्फुटचोरोयतस्तस्यबुद्धिर्मदीयमवैतद्यत्पितुरिति तंप्रतीयमपि
संभावनाभवति तस्यैव विक्रीयमूल्यं ददाति यस्त्वत्यन्तासंबन्धः सनिरन्वयः । चौरकिल्बिषं निग्रहंऽनिःसंशयं प्राप्तः । अनप-
सरो यदि तद्वृंहतस्य नापमृतं भवति तदाऽनपसरश्चौरवदण्ड्यः यदि तु यद्वृहादेव केनचिद्वत्तं विक्रीतं वा तस्य तेन वाऽङ्गत्वा-
त्प्रतिगृहीतं प्रकाशनस्य विक्रेयद्रव्यस्यान्यतः क्रयः अपसरः क्रयादन्यः प्रतिग्रहादिरागमः एतदुक्तं भवति यदिति न तन्-
कुतश्च न क्रीतं नापि प्रतिगृहादिना लब्धं तदा चौरः ॥ १९८ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अवहार्योदण्ड्यः । सान्वयस्तद्रव्ययोग्यसंबन्धाभासवान् तथा तस्मिन्जीवति विभक्त-
ज्ञात्रादिः । निरन्वयोत्यन्तोदासीनः संबन्धाभासेनापिरहितः । तथा सान्वयोऽप्यनवसरोऽकालेऽदेशे च विक्रयंकुर्वन् चौ-
रकिल्बिषं चौरापराधं प्राप्तः स्यात् ॥ १९८ ॥

(३) कुम्भकः । एष परस्वविक्रयी यदि स्वामिनो भ्रात्रादिरूपत्वेन सान्वयः संबन्धी भवति तदा षट्पणशतान्यवहा-
र्योदण्डनीयः यदि पुनः स्वामिनः संबन्धी न भवति अनपसरश्च स्यात् । अपसरत्यनेनास्मात्सकाशाद्धनमित्यपसरः प्रति-
ग्रहक्रयादिः सयस्य स्वामिसंबन्धिपुत्रादिः सकाशान्नास्ति तदा चौरसंबन्धिपापं प्राप्नोति तद्वदण्डनीय इत्यर्थः ॥ १९८ ॥

(४) राघवानन्दः । न केवलमेव दण्डमप्याह अवेति । एष परस्वापहारी अवहार्योदण्डनीयः । सान्वयः स्वामिनो-
भ्रात्रादिरूपेण संबन्धी तदा षट्शतं । निरन्वयश्चेच्चौरकिल्बिषं सहस्रं दण्ड्य इत्यन्वयः । अनपसर इति विशेषणम् अप-
सरत्यनेन स्वामिनो धनमित्यपसरः प्रतिग्रहक्रयपिण्डादिः सयस्य संबन्धी नास्ति सोऽनपसरः ॥ १९८ ॥

(५) नन्दनः । अस्वामिविक्रयी सान्वयः सहायः पणानां षट्शतमपहार्यः । किल्बिषं दण्डम् । नावसरः अनुग्र-
हावसररहितः । निर्दयमेव चौरदण्डोदण्ड्य इति यावत् ॥ १९८ ॥

(६) रामचन्द्रः । एषः सान्वयः विभक्तभ्रात्रादिसंबन्धवान् अवहार्यः दण्ड्यः निरन्वयः अविभक्तभ्रात्रादिसं-
बन्धवान् अनवसरः चौरकिल्बिषं प्राप्तः स्यात् ॥ १९८ ॥

अस्वामिना कृतोयस्तु दायो विक्रय एव वा ॥ अकृतः स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथा स्थितिः ॥ १९९ ॥

[अनेन विधिना शास्ता कुर्वन् स्वामिविक्रयम् । अज्ञानाज्ज्ञानपूर्वन्तु चौरवदण्डमर्हति ॥ १ ॥]

(१) मेधातिथिः । न केवलमस्वामिसकाशाच्चक्रीतं तन्निश्चयति किं तर्हि प्रतिगृहीतमपि प्रतिग्रहेण प्रीत्या वा
दानं दायः सोऽपि न निश्चयति विक्रीणीते परस्येत्यनेन विज्ञेनुः प्रतिग्रहीतुश्चास्वाम्यमुच्यते । स्वामीरिव क्रयेत्यादिना
स्वाम्याशङ्कायां प्राप्तायां प्रतिषेधव्यवहार एव स्थितिर्नातिक्रमणीया ॥ १९९ ॥

(१९८) अनपसरः = अनवसरः (ख, ग) अवहार्यो भवेच्चैव = अपहार्यः स तु भवेत् (नं)

(१९९) दायो विक्रय एव वा = क्रयो विक्रय एव (ज, झ, ञ, ट, ड)

‡ (क, ख, ग, च, ण, ज, झ, ञ, ट, ड, ड, र, ल)

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्रयोपि त्वाम्यसंमत्या त्वाम्यर्थकृतोनिवर्त्यः । एवंविक्रयोप्यकृतो न त्वत्त्वनाशकः । यथा-
व्यवहारे स्थितिः सेयमुक्तेति शेषः ॥ १९९ ॥

[सर्वज्ञनारायणः । एषच सर्वोऽज्ञानकृतविषयोऽज्ञानेत्वन्यथेत्याह अनेनविधिनेति ॥ १ ॥]

(३) कुल्लूकः । अस्वामिना यत्कृतं यद्दत्तं विक्रीतं वा तदकृतमेव बोद्धव्यम् । व्यवहारे यथा मर्यादा तथा कृतं न
भवतीत्यर्थः ॥ १९९ ॥

(४) राघवानन्दः । क्रयाद्यसिद्धिमप्याह अस्वामिनेति । त्वत्त्वरहितेनद्रव्येण अन्यायोपात्तेन परद्रव्येण वा यः
क्रयः कृतः सोऽप्यस्वामिनाकृतः स्यादेव । तथावस्तुतोऽस्वाम्यास्पदीभूतस्य विक्रय ईत्यप्यविरोधः । व्यवहारे यथा
मर्यादा तथाकृतं न भवतीत्यर्थः ॥ १९९ ॥

(५) नन्दनः । क्रयविक्रयग्रहणं दानादीनामप्युपलक्षणार्थम् ॥ १९९ ॥

[नन्दनः । एतदेवविशदयति अनेनविधिनेति । अनेनविधिना षट्शतेन दण्डेन ॥ १ ॥]

(६) रामचन्द्रः । सः अकृतः विज्ञेयः व्यवहारे यथास्थितिः ॥ १९९ ॥

[रामचन्द्रः । अनेनेति । अनेन विधिनाऽस्वामिविक्रयकुर्वन्ज्ञानविज्ञानपूर्वकं वा शास्ता चौरवद्वधमर्हति ॥ १ ॥]

संभोगोदृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित् ॥ आगमः कारणंतत्र न संभोग इति स्थितिः ॥ २०० ॥

(१) मेधातिथिः । यस्मिन्वस्तुनि गोवस्तुहिरण्यक्षेत्रादावन्यस्य भोगोदृश्यते अन्यस्य च रिक्थप्रतिग्रहादिराग-
मः त्वाम्यापादकस्तत्रागमोऽबलवत्संभोगो भोग एव संभोगकारणं त्वाम्येतन्नेति स्थितिः एवमनादिव्यवस्था भोगमात्रेण त्वत्वं
यादृशेन च त्वत्वं तत्पुरस्ताद्याख्यातं । यत्किंचिद्दशवर्षाणीति वानेन विरोधस्तत्रैव परिहृतः ॥ २०० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एकस्य भोगोदृश्यते आगमश्च लेख्यादिर्न दृश्यते इतरस्य च आगमोदृश्यते तत्र यस्याग-
मस्तस्यैव न भोगिन इत्याह संभोग इति ॥ २०० ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मिन्वस्तुनि संभोगो विद्यते क्रयादिरूपस्त्वागमो नास्ति तत्र प्रथमपुरुषगोचर आगम एव प्रमाणं न
संभोग इति शास्त्रमर्यादा ॥ २०० ॥

(४) राघवानन्दः । आधिः सीमेत्यादिना पूर्वोक्ताभ्यादीनामष्टानां भोगेन न त्वत्वमित्युक्तं तर्हि केन स्यादित्याश-
ङ्कयामाह संभोग इति । आगमः प्रतिग्रह क्रयादिः कारणं तद्वत् दशवर्षोत्तरं भोगमात्रात्त्वत्वासिद्धेः भुक्तयसत्त्वे आगमो न
प्रमाणं किंतूभयम् । तथाह याज्ञवल्क्यः ॥ आगमोऽभ्यधिको भुक्तेर्विना पूर्वक्रमागतात् । आगमोऽबलवान्नैव भुक्तिस्तोकापि
यत्र नो इति पूर्वक्रमात् पित्रादित्रयभोगात् । अतएव नारदः ॥ आगमेन विशुद्धेन भोगोयाति प्रमाणताम् । अविशुद्धागमो-
भोगः प्रामाण्यं नाधिगच्छतीति आगमेन प्रतिग्रहादिनास्तोकापीति रहसि प्रतिग्रहे कृते साक्षिरहिते । प्रतिग्रहीतरि मृते-
त्वमृते वा स्तोकभोगरहितं पुत्रादयः प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ २०० ॥

(५) नन्दनः । नाष्टिकविप्रतिपत्तौ बलाबलमाह संभोगो यत्रेति । यत्र अस्वामिना विक्रीतेर्थे एकस्य संभोगोदृश्य-
ते तत्रागमः कारणं प्रमाणं न संभोगः अस्वामिविक्रयसाधर्म्यात् ॥ २०० ॥

(६) रामचन्द्रः । यत्र संभोगोदृश्येत आगमः साक्ष्यलेख्यप्रामिर्न दृश्येत ॥ २०० ॥

* इत्यप्य = इत्यन्यथा (राघ० २) = इत्यन्वया (न, श)

विक्रयाद्योधनं किंचिद्गृहीयात्कुलसन्निधौ ॥ क्रयेण सविशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम् ॥ २०१ ॥

(१) मेधातिथिः । यादृशेन क्रयेण स्वाम्यं भवति तदर्थं यति विक्रीणतेऽस्मिन् व्यवहारिण इति विक्रय आपणभूमिस्त-
तो यो गृहीयाद्धनं गवादिक्रीयमाणद्रव्यं मूल्यं वा सलभते न्यायतः क्रयउचितेन मूल्येनासंभाव्य पापपुरुषमेलककारपुरुष-
समूहस्य समक्षे गृहीतं लभते नापहारयति । अन्यथा स्वामिना तद्द्रव्यं प्रतिनीयतेऽस्य न्यायतो विक्रये किन्तु मूल्यं-
लभते तस्माद्यस्तस्य विक्रयी अन्यायतः क्रयेण तु दण्ड्यते मूल्यं च हारयति एतदुक्तं ॥ विक्रेतुर्दर्शनालुब्धः स्वामीद्रव्यं नृ-
पोदमं । क्रेता मूल्यमवाप्नोति तस्माद्यस्तस्य विक्रयी ॥ एष एवार्थस्तेन श्लोकेन प्रतिपाद्यते ॥ २०१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कुलं संघः सच स्वर्णकारादिर्माध्यस्थः । क्रयेण विशुद्धं विक्रेतरि संभाव्य तावद्वस्तुसं-
ज्ञावं तथा अमूल्यत्वादेशकालत्वादिक्रयाविशुद्धिरहितम् । अन्यथा स्वाम्यदर्शनेऽपि राज्ञ एव तदित्यर्थः ॥ २०१ ॥

(३) कुल्लूकः । विक्रीयतेऽस्मिन्निति विक्रयदेशो विक्रयः ततो यत्क्रेयधनं किंचिद्यवहर्तुसमूहसमक्षं क्रीयतेऽनेनति क्र-
यो मूल्यं तेन यस्माद्गृहीयात् अतो न्यायत एवास्वामिविक्रेतृसकाशात्क्रयणाद्विशुद्धं धनं लभते ॥ २०१ ॥

(४) राघवानन्दः । क्रयादिस्वत्वापादकमिति सनियममाह विक्रयादिति । विक्रयाद्विक्रेतुः धनं क्रेयम् क्रयेण
द्रव्येण क्रीणात्यनेनेति । कुलसन्निधौ हृद्वादिस्थितबहुजनसन्निधौ यो गृहीयात्तन् न्यायतो विशुद्धं धनं क्रेयद्रव्यं लभते विप्र-
तिपत्तावपि मूल्यं विक्रेतृसकाशालुभत इति भावः ॥ २०१ ॥

(५) नन्दनः । अस्वामिविक्रयमजानतः क्रेतुः दोषो नास्तीत्याह विक्रयाद्यदिति । यः क्रेता धनक्षेत्रादिकं क्रयेण
हेतुना विक्रेतुः सकाशाद्धनं मूल्यं लभते ॥ २०१ ॥

(६) रामचन्द्रः । कुलसन्निधौ यः किंचिद्यदि गृहीयात्तसः क्रयेण विशुद्धं देशकालोचितमूल्यं न्यायतो धनं ल-
भेत ॥ २०१ ॥

अथ मूलमनाहार्यप्रकाशक्रयशोधितः ॥ अदण्ड्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम् ॥ २०२ ॥

(१) मेधातिथिः । असंभाव्यपापात्तु पुरुषादित्यादि न्यायतः क्रयउक्तः स चेद्विक्रेता शक्य आहर्तुतदा पूर्वोक्तो वि-
धिः स्वामीद्रव्यमित्यादि अथ सविक्रयीगतोनेन क्रीतं स्वामिना चिन्हीकृतं तेन च मूलं विक्रेता पुरुष आहर्तुन शक्यते प्रका-
शजनसमक्षं प्रसिद्धये विक्रयभुवः क्रीतमतर्द्दृशेन क्रयेण शोधिते द्रव्यशुद्धः । क्रेताऽदण्ड्यो मुच्यते धनन्तु नाष्टिकं स्वामी-
ज्ञापितस्त्वं वा लभते । नष्टमन्वेषते नाष्टिकः नष्टमस्यास्तीत्येव हनिरुक्ते प्रज्ञादित्वात्स्वार्थिकोणकृतव्यः नष्टप्रयोजनमस्येति
वा तेनायं संक्षेपतः क्रये प्रकाशक्रयेतुदण्डो न स्याद्धननाशस्तु स्थित एव ॥ २०२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अस्वामिविक्रये तद्धनस्य मूलं विक्रेता यद्याहार्यस्तदा तमाहूय क्रेता शुच्यति । तदा-
हरणासंभवे तु प्रकाशक्रयेणोचितदेशकालससाक्षिकक्रयेण राज्ञा नदण्ड्यः । धनं तु मूल्यमदत्तैव नाष्टिको नष्टमूलद्रव्यो ल-
भेत । क्रयप्रकाशाभावे दण्डोऽपि ॥ २०२ ॥

(३) कुल्लूकः । अथ मूलमस्वामी विक्रेता मरणदेशांतरादिगमनादिना वाहर्तुं शक्यते प्रकाशक्रयेण चासौ निश्चि-
तस्तदा दण्डानर्ह एव क्रेता राज्ञा मुच्यते नष्टधनस्वामी च यदस्वामिना विक्रीतं द्रव्यं तत्क्रेतुर्हस्ताल्लभ्यते । अत्र च विषयोर्ध-
मूल्यं क्रेतुर्दत्त्वा स्वधनं स्वामिना ग्राह्यम् । तदाह बृहस्पतिः ॥ वणिग्वीथीपरिगतं विज्ञातराजपूरुषैः । अविज्ञाताश्रयात्क्रीतं-

विक्रेता यत्र वा मृतः ॥ स्वामी दत्तार्धमूल्यन्तु प्रगृहीयात्स्वकंधनम् । अर्धद्वयोरपहतंतत्र स्याद्यवहारतः ॥ २०२ ॥

(४) राघवानन्दः । कुलसन्निधौ क्रीतस्यापि नष्टधनस्वामिनोविप्रतिपत्तौ विशेषमाह अथेति । मूलं विक्रेतृरूपं अनाहार्यं देशादेशान्तरगमनात्साक्षात्कर्तुमशक्यं यदि तदा नाष्टिकः नास्ति कं धनं यस्य सनष्टधनः स्वीयधनं गृहीयात् केतात्वदण्ड्योयतः प्रकाशक्रयशोधितः प्रकाशे बहुजनसन्निधौ क्रीतत्वेन चोरत्वाद्याशङ्कानुत्पत्तेरिति पद्यार्थः । तथाच याज्ञवल्क्यः ॥ स्वलभेतान्यविक्रीतं केतुर्दोषोऽप्रकाशिते । हीनाद्रहोहीनमूल्ये वेलाहीनेच तस्करइति ॥ हीनादस्वामिनः । अन्युक्तिकंबहुमूल्यं निरुष्टाद्वाप्येतेषु केता तस्कर इवदण्ड्यइतियाज्ञवल्क्यार्थः । एवंकेतातु बृहस्पत्युक्तितोऽ अर्धमूल्यं प्राप्नोति । तथाच ॥ वणिग्वीथीपरिगतं विज्ञातराजपूरुषैः । अविज्ञाताश्रयात्क्रीतं विक्रेता यत्र वा मृतः ॥ स्वामी दत्तार्धमूल्यन्तु प्रगृहीयात्स्वकंधनम् । अर्धद्वयोरपि दहतंतत्र स्याद्यवहारतइति ॥ द्वयोः केतुस्वामिनोः दहतं नष्टमित्यर्थः । मूलमनाहार्यचेतत्राह याज्ञवल्क्यः ॥ विक्रेतुर्दर्शनाच्छुद्धिः स्वामी द्रव्यं नृपोदमम् । केता मूल्यमवामोति तस्माद्यस्तस्य विक्रीयति ॥ तस्य परधनस्येत्यर्थः । यत्र भूम्यादौ प्रतिग्रहीत्रोः पौर्वापर्यं तत्र पूर्वएव प्राप्नोति पूर्वा तुबलवत्तेरेति याज्ञवल्क्योक्तेः । पूर्वा प्रतिग्रहक्रियेत्यर्थः ॥ २०२ ॥

(५) नन्दनः । अथान्यशब्दोदयर्थः । मूलमनाहार्यविक्रेतुः सकाशान्नष्टं लभते ॥ २०२ ॥

(६) रामचन्द्रः । नाष्टिकः नष्टमूलद्रव्यः धनं लभते ॥ २०२ ॥

नान्यदन्येन संस्पृष्टरूपं विक्रयमर्हति ॥ नचासारं न च न्यूनं दूरेण तिरोहितम् ॥ २०३ ॥

(१) मेधातिथिः । अस्वामिविक्रयप्रसङ्गेनान्योऽपि विक्रये धर्मउच्यते नान्यकुंकुमादिद्रव्यंकुद्रव्येण तदाभासेन कुसुंभादिना संस्पृष्टविक्रेयं यत्वावचंचिरकालं भडिवस्थितत्वात् । प्राप्तविभावं जीर्णमजीर्णाभासं वस्त्रादि नचन्यूनंतुलामानादिना । दूरस्थितंग्रामे ममविद्यन्तेवासांसि गुडादिवा द्रव्यं तिरोहितं स्थगितं वस्त्रादिनांतर्हितं यस्य वा स्वरूपं केनचिद्रव्यरागेणान्तर्द्धयिते । पुराणं नववत्प्रतिभाति तत्तिरोहितं न विक्रेतव्यं इदं द्रव्यमीदृशं च प्रदर्श्य विक्रयः कर्त्तव्यः । अन्यथा कृतस्तु न कृतोदशाहादूर्ध्वमपि प्रत्यर्पणे न दोषः । अस्य दण्डस्येहानाम्नातत्वादुपधाभिरित्येष एव दण्डः प्रकरणभेदेन पठितत्वात् अस्वामिविक्रयदण्डइत्यन्ये ॥ २०३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विक्रयप्रसंगागतमन्यदपि प्रदर्शयति नान्यदिति । नान्यदन्येन विजातीयेन संस्पृष्टरूपं नाणकं विक्रयमर्हति विक्रीतमपि निवर्त्यमित्यर्थः । रूपपदं विक्रीतमात्रोपलक्षणम् । सावचं दुष्टमदुष्टमिति विक्रीतं । न्यूनं धरणलक्षणा समतां नीतम् । न दूरे दर्शनायोपस्थाने स्थितम् । न तत्रैवस्थितमपि वस्त्रादिति तिरोहितम् ॥ २०३ ॥

(३) कुड्डूकः । कुंकुमादिद्रव्यंकुसुंभादिना मिश्रीकृत्य न विक्रेतव्यं नचासारं सारमित्यभिधाय नच तुलादिना न्यूनं परोक्षावस्थितं नरागादिना स्थगितरूपं अत्रास्वामिविक्रयसादृश्यादस्वामिविक्रये दण्डएव स्यात् ॥ २०३ ॥

(४) राघवानन्दः । विक्रयप्रसंगेन द्रव्यान्तरमिश्रितं विक्रयमपि प्राप्तं तन्निषेधति नान्यदिति । रूपं कुड्डूमादि अन्येन कुसुंभादिना संस्पृष्टं मिश्रीकृतम् सावचं सारमित्युक्ताऽसारमन्यूनं परिमाणेन तत् । दूरे गृहं गत्वा ददामीति परोक्षावस्थितम् । तिरोहितं रागादिना । अत्राप्यर्धमूल्यं दण्डः । अविज्ञाताश्रयादिति पदेन सूचितत्वात् आश्रयपदस्य नानार्थत्वात् ॥ २०३ ॥

(५) नन्दनः । अन्येन संस्पृष्टमन्यद्रव्यं वस्तु कुंकुमादीनि विक्रयमर्हति । सावचं जरादिदोषदुष्टं वस्त्रादिकं न्यूनं परि-

भाषितेन परिमाणेन हीनम् । दूरेदुर्गमे देशान्तरे स्थिताः क्षेत्रादिकम् । तिरोहितनिस्त्रननापरीक्षं वर्णादीनिविक्रयमर्हति ॥ २०३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्यद्रव्यं अन्येन विजातीयद्रव्येण संस्पृष्टमिलितरूपं न विक्रयमर्हति । न सावद्यं नचन्यूनं दूरे वर्तमानं । तिरोहितं विक्रयं नार्हति ॥ २०३ ॥

अन्यांचेद्दर्शयित्वा न्यावोदुः कन्या प्रदीयते ॥ उभे तएकशुल्केन वहेदित्यब्रवीन्मनुः ॥ २०४ ॥

(१) मेधातिथिः । विक्रयप्रकारत्वाच्छुल्कादेर्यौयत्कन्याया अस्मिन्नवधौ धर्मउच्यते शुल्ककाले रूपवतीं दर्शयित्वा गृहीतशुल्कोस्यां रूपहीनां ददाति वयोहीनां च तस्योभेऽपि शुल्कदेनैकेन शुल्केन हर्तव्या कन्यानामेवायं धर्मो गवाश्वादिद्रव्याणान्त्वस्मिन्व्यतिक्रमेऽन्योविधिवर्क्ष्यते ॥ २०४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रदीयते शुल्केनानेनेति उन्मत्तादिदोषवत्यपि । प्रथमं दोषकथने दण्डो नास्ति नापि निवृत्तिः । एतच्च द्रव्यान्तरेपि द्रष्टव्यं न्यायसाम्यात् कन्यापदस्योपलक्षणत्वात् ॥ २०४ ॥

(३) कुल्लूकः । शुल्कदेयां शुल्कव्यवस्थाकाले निरवद्यां दर्शयित्वा यदि सावद्या वराय दीयते तदा द्वेऽपि कन्ये ते नैवैकेन शुल्केनासौ वरः परिणयेदिति मनुराह । शुल्कग्रहणपूर्वककन्यायादानस्य विक्रयरूपत्वादर्थक्रयविक्रयसाधर्म्येणा स्यात्त्राभिधानम् ॥ २०४ ॥

(४) राघवानन्दः । आर्षेयादिविवाहेषु कन्यायाः शुल्कं प्राप्तमनूद्य तत्र विशेषमाह अन्यांचेति । वोदुः विवाहोद्यतस्य । उभेते कन्ये । एकशुल्केन एकस्यायच्छुल्कं मूल्यं तेन । मनुब्रवीत् शास्त्रमर्यादेति ॥ २०४ ॥

(५) नन्दनः । अभिरूपां कन्यां शुल्ककृमिकाले दर्शयित्वाया कन्या तत्पित्रादिना वोदुः परिणेतुः प्रदीयते चेदेकशुल्केनाभिरूपा विषयपरिणितेन शुल्केन ते द्वेऽपि कन्ये सहोद्वहेदुपयच्छेत् ॥ २०४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अथ कन्यानिमित्तं किंचिदुच्यते अन्यांचेति । वोदुः परिणेतुः अन्यां दर्शयित्वा अन्या वाकन्या प्रदीयते ते कन्ये एकशुल्केन उद्वहेत् परिणयेत् इति मनुब्रवीत् ॥ २०४ ॥

नोन्मत्ता या न कुष्ठिन्या न चया स्पृष्टमैथुना ॥ पूर्वदोषानभिख्याप्य प्रदाता दण्डमर्हति ॥ २०५ ॥

(१) मेधातिथिः । उन्मत्तादिदोषान्कथयित्वा ददतोदण्डो नास्तीति प्रतिषेधद्वारेण कथयतोदण्डमाह नकेवलं शुल्केदेयाया अन्यस्यापि ब्राह्मादिविवाहेन विवाहविष्यमाणाय दत्ताऽप्यदत्ता भवति दण्डश्च प्रामुष्याच्चौरकिल्बिषमिति जानानस्य अजानतः प्रकृतत्वात् । उन्मत्तया कुष्ठिन्या ये कुष्ठोन्मत्तादयः या च स्पृष्टमैथुना तस्याश्च योदोषोमैथुनस्पर्शस्तान्दोषान्पूर्ववाक्प्रदानेनाख्याप्य प्रकाशयैतद्दोषाकन्येत्येवमुक्त्वा ददतो नास्ति दण्डइति पदयोजना ॥ २०५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यास्पृष्टमैथुना लब्धपुंयोया तस्यादाता । अभिख्याप्य प्रकाश्य । अस्वामिविक्रयः ॥ २०५ ॥

(३) कुल्लूकः । उन्मत्तायास्तथा कुष्ठवत्याया चानुभूतमैथुना तस्याब्राह्मणादिविवाहात्पूर्वमुन्मादादीन्दोषान्चरस्य कथयित्वा दण्डाहो न भवति तेनाकथने दण्डइति गम्यते । अस्तु दोषवतीं कन्यामिति वक्ष्यति ॥ २०५ ॥

(४) राघवानन्दः । कन्याप्रसंगेन ज्ञाततद्दोषाकथने दण्डइत्याह नेति । या स्पृष्टमैथुना स्पृष्टमनुभूतं मैथुनमुखं यथा स्मादिति शेषः । तासां पूर्वदोषान् अनभिख्याप्य अकथयित्वा तथा दाताचेदण्डं वक्ष्यमाणवतिपणानर्हतीत्यन्वयः ॥ २०५ ॥

(५) नन्दनः । दोषवत्याः कन्यायादोषप्रकाशय प्रदातुर्न दण्डइत्याह नोन्मत्तायाइति । कुष्ठिन्याश्च या स्पृष्टमैथुना तस्याश्च दोषानभिख्याप्य पूर्वप्रदानात्प्राक् । प्रदाता दण्डनार्हति । अनभिख्याप्य प्रदानादण्डमर्हतीत्यर्थः । सिद्धिमुन्मत्ता-
दिग्रहणंसर्वदोषाणांसर्वासामप्युपलक्षणार्थम् । अत्वामिविक्रयःसमाप्तः ॥ २०५ ॥

(६) रामचन्द्रः । उन्मत्ता या कुष्ठिन्या या स्पृष्टमैथुनापूर्वदोषान् अविख्याप्य अकथयित्वा एवंयःकन्यादाता सःदण्डमर्हति ॥ २०५ ॥

ऋत्विग्यदि दतोयज्ञे स्वकर्मपरिहापयेत् ॥ तस्य कर्मानुरूपेण देयोऽशः सह कर्तृभिः ॥ २०६ ॥

(१) मेघातिथिः । संभूयसमुत्थानस्य प्रक्रमोयं तत्र वैदिकंतावत्संभूयकार्यमुदाहरति यज्ञोज्योतिष्टोमादिः तत्र यागरूपानेकाङ्ककर्मनिर्वर्तनार्थमृत्विग्वृतस्त्वया ममेदंहौत्रंकर्तव्यमाध्वर्यवमौद्गात्रंचेति श्रौतेन विधिनानुश्रेयमित्युपगम
श्च प्रवर्तितः कथंचिदपाटवादिना सामिकृतांयत्परिहापयेत्यजेत्तदानींतस्य देयोदक्षिणांशः कर्मानुरूपेण यावतीतस्मि
न्कृतौ दक्षिणा तानिरूप्य चतुर्थेभागे कर्मणःकृते चतुर्थतृतीयइत्येतदारूप्यंसहकर्तृभिः कर्त्तातत्पुरुषाप्रधानात्त्वैजांहोत्र
द्गात्रादीनांप्रस्तोतृमैत्रावरुणप्रभृतयः ॥ २०६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संभूयसमुत्थानमाह ऋत्विगिति । परिहापयेत् व्याध्यादिना नसमापयेत् । सहकर्तृभिरन्यै-
स्तत्स्थानपूरणायस्थितैः ॥ २०६ ॥

(३) कुल्लूकः । अथसंभूयसमुत्थानमाह ऋत्विगिति । यज्ञे कृतवरणऋत्विग्यदि किंचित्कर्मकृत्वा व्याध्यादिना
कर्मत्यजति तदा तस्येतरऋत्विग्भिः पर्यालोच्य कृतानुसारेण दक्षिणांशोदेयः ॥ २०६ ॥

(४) राघवानन्दः । संभूय च समुत्थानमातिदेशिकंभविष्यतीतिकृत्वा दत्तस्थानपकर्माह ऋत्विगितिद्वादशभिः ।
तत्रादौ दक्षिणायादृष्टार्थतया भृतिरूपत्वंप्रकटयन्नाह ऋत्विगिति । स्वकर्माध्वर्यवादिकं हापयेत् त्यजेत् वृतः वरणं
नानतः व्याध्यादिना कर्तृभिःसह संमन्त्र्य तैस्तदीयकर्मसमापयद्भिःकर्मानुरूपोऽशोदेयः ॥ २०६ ॥

(५) नन्दनः । अथसंभूयसमुत्थानंप्रस्तौति ऋत्विग्यदीति । कर्मानुरूपेणांशोदेयः कर्मचतुर्थेऽंशे कृते दक्षिणाया-
श्चतुर्थोऽशोदेयइत्यादि । सहकर्तृभिः सहकारिभिः ऋत्विग्भिः ॥ २०६ ॥

(६) रामचन्द्रः । यदि ऋत्विग्यज्ञे वृतः स्वकर्म व्याध्यादिना परिहापयेत् त्यजेत् तस्यअन्यकर्तृभिःसहअन्य-
त्विग्भिःसह । तस्य कर्मानुरूपेण अंशोदेयः ॥ २०६ ॥

दक्षिणासु च दत्तासु स्वकर्मपरिहापयन् ॥ कृत्स्नमेव लभेतांशमन्येनैव चकारयेत् ॥ २०७ ॥

(१) मेघातिथिः । माध्यन्दिने सवने दक्षिणादीयन्तइति तदपरिष्ठात्कर्मत्यजतामप्रत्याहरणीयालभेत न प्रतीकं-
त्याजयेदित्यर्थः अन्यांभृतिदत्त्वाअन्येन पुरुषेण यजमानस्तत्कर्म समापयेत् ऋत्विग्भिः कर्त्तव्यंवरणाच्च ऋत्विजोभवन्ति
तच्च नियतकाले प्राक्कर्मणआरंभादतः ऋतुक्रियमाणंविगुणंभवति समाप्तिश्चापि कर्त्तव्येति विगुणंचैत्समापनीयमंगान्येव
तदन्यकर्तृकाणिकरिष्यामीति बुद्धिनिवृत्त्यर्थमुक्तमन्येनैवेति तावदेवविगुणंयदशक्यंशक्यंतु सर्वकर्त्तव्यं केचित्कारयेदिति
ऋत्विजौपि संबन्धमाहुः गृहीत्वा दक्षिणांवाधिकांदद्यात्त्वयंमशङ्कुवन्प्राग्दक्षिणाभ्यः शेषकर्मसमापने यजमानएवाऽ-
पिक्रियते ॥ २०७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्येनैव कारयेद्वत्विक्स्वकार्यशेषम् ॥ २०७ ॥

(३) कुल्लूकः । माध्यंदिनसवनादौ दक्षिणाकाले दक्षिणासु दत्तासु व्याध्यादिना कर्मपरित्यजन्तु शाख्यान् कृत्स्नमेव दक्षिणाभागं लभेत कर्मशेषं प्रकृतमन्येन कारयेत् ॥ २०७ ॥

(४) राघवानन्दः । तस्यैवामदक्षिणस्य विशेषमाह दक्षिणास्त्विति । स्वयं परित्यज्यान्त्येन कारयेच्चैकृत्स्नं लभेतान्यथा न संपूर्णं लभेतेतिभावः ॥ २०७ ॥

(५) नन्दनः । अस्यापवादमाह दक्षिणास्त्विति परिहापयन् त्यजन् प्रतिदद्यात् । अन्येन स्ववर्ज्यपुरुषेण स्वकर्मकारयेत् ॥ २०७ ॥

(६) रामचन्द्रः । कृत्स्नमेव अंशं लभेत । च पुनः अन्येन कर्म कारयेत् ॥ २०७ ॥

यस्मिन्कर्मणि यास्तु स्युरुक्ताः प्रत्यङ्गदक्षिणाः ॥ स एव ता आददीत भजेरन्सर्व एव वा ॥ २०८ ॥

(१) मेधातिथिः । इदमपरंप्रकृतोपयोगिवैदिकं कथ्यते वैदिकं कर्मणि सामस्त्येन दक्षिणा सा यत्नेन प्रतिपुरुषे विभागेन तस्य द्वादशशतदक्षिणेति तच्चातिदेशेन ऋत्वन्तराणि तद्विकाराण्यनुगच्छन्ति तत्रासूयादीनि तत्र च केषुचिद्वर्ज्यकर्मसु प्रतिपदमन्यादक्षिणाऽऽम्नाता पुरुषविशेषसंयोगेन हिरण्मये प्रकाशवदवयवइत्यादि ताः प्रत्यङ्गदक्षिणाः संपद्यन्ते किमध्वर्योश्चातुर्विधावादिकवद्ददातिसंबन्धः सर्वेषामृत्विजां दक्षिणाध्वर्यस्तु द्वारमात्रं उतताश्चैव सामान्याऽन्येषां प्रकृत-
एवांशः संशयोपन्यासार्थः श्लोकः । प्रतिपदं पुरुषविशेषाश्रयाऽङ्केषु दक्षिणाः प्रत्यङ्गदक्षिणाः । अथवा वीप्सायां प्रत्यङ्ग-
शब्दः अङ्गमङ्गमाश्रिताः प्रत्यङ्गाः स एषता आददीत मुख्य एव पुरुषस्य ददातिना संयोगे उत्तरकर्तृत्वाविशेषादन्येऽपि भजे-
रंलभेत् । प्रधानदक्षिणाया इव ॥ २०८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रत्यङ्गदक्षिणाः प्रतिस्वकर्मणां दक्षिणाः । स एव आददीत यमृत्विजं प्रति यथोच्यते । सर्वं भजे-
रन् यत्रातिविशेषानुक्तिः ॥ २०८ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मिन्कर्मण्याधानादावङ्गमङ्गप्रति या दक्षिणा यत्संबन्धेन श्रुताः स्युः स एव ता आददीत न तत्तद्भागमात्रं सर्वं विभज्य गृह्णीरन्निति संशयः ॥ २०८ ॥

(४) राघवानन्दः । दक्षिणाप्रसंगेन तद्विभागमाह यस्मिन्निति द्वान्याम् । आधानादौ प्रत्यङ्गदक्षिणाः अङ्गमङ्ग-
प्रतियामिन्नभिन्नकारिकादक्षिणायत्संबन्धेन श्रुताहौत्रमित्यादिना समाख्याताः स एवार्त्विक् ताः सर्वाः प्रामुयादुत सर्वे
वेतिसंशये । स एवेति तु पूर्वपक्षे ॥ २०८ ॥

(५) नन्दनः । स एव तस्य कर्मणः ॥ २०८ ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्मिन्कर्मणि याः प्रत्यङ्गकर्मदक्षिणा उक्ताः स्युस्तादक्षिणाः स एव पुरुष आददीत । सर्व एव वा भजे-
रन्वा ॥ २०८ ॥

रथं हरेत चाध्वर्युर्ब्रह्माधाने च वाजिनम् ॥ होता वापि हरेदश्वमुद्राता चाप्यनः क्रये ॥ २०९ ॥

(१) मेधातिथिः । पुरुषविशेषमुक्तास्तदर्थ एवेति निर्णयः एवं ददातिर्मुख्यार्थो भवति पुरुषसंयोगश्च नादृष्टार्थः रथ-
मध्वर्युराधाने हरेद्ब्रह्माच वाजिनं वेगवन्तमश्वं होतावा कासु चिच्छाखात्वाधान एतादक्षिणा अतः सोमक्रये यच्छ कटंतदुद्रातु-
स्तत्र शकटेऽन्यतरोऽनङ्गान्युक्तः स्यादन्यतरो वियुक्त इत्यपि पठ्यते तेन च सोमः क्रीत उपाह्रियते अन्येत्वपूर्वमन आहुर्न

सोमोपाहरणार्थेन हि क्रयेण शक्यते विशेषयितुं एवंतावत्पुरुषविशेषसंयोगिनीनामद्वदक्षिणानांविधिरुक्तः ॥ २०९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आद्यमुदाहरति रथमिति । आधाने अग्न्याधाने । अश्वंहोता ज्योतिष्टोमे । क्रये सोम-
क्रये ॥ २०९ ॥

(३) कुल्लूकः । अत्र सिद्धांतमाह रथमिति । केषांचिच्छाखिनामाधानेऽध्वर्यवे रथोदेयत्वेनाग्रायते । ब्रह्मणे वेगवा-
नश्वः होत्रे चाश्वः । उद्गात्रे सोमक्रयवहनशकटमतोव्यवस्थाम्नासामर्थ्याद्यादक्षिणा यत्संबन्धत्वेन श्रूयते सएव तामाद-
दीत ॥ २०९ ॥

(४) राघवानन्दः । व्यवस्थामाह रथमिति । आधाने कर्मणि । अनः शकटम् क्रये सोमक्रयार्थं यदनः वाजीभू-
त्वादेवानवहदिति श्रुतेरश्वविशेषवाजिनम् ॥ २०९ ॥

(५) नन्दनः । तत्रैवास्यविकल्पस्यापवादमाह । रथंहरेदिति ॥ २०९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अध्वर्युः रथं हरेत गृण्हीयात् । आधाने अग्न्याधाने ब्रह्मा वाजिनं हरेत् । होता ज्योतिष्टोमे अ-
श्वंहरेत् । च पुनः उद्गाता क्रये सोमक्रये अनः हरेत् । अनः शकटे मातारिश्वेत्यमरः ॥ २०९ ॥

सर्वेषामर्धिनोमुख्यास्तदर्धेनार्द्धिनोपरे ॥ तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थीशाश्च पादिनः ॥ २१० ॥

(१) मेधातिथिः । प्रधानदक्षिणानां सामान्यतः श्रुतानामिदानीं विभागमाह सर्वेषामृत्विजांये मुख्यास्तेऽर्धिनः या-
वतीतस्मिन्कतौ सामस्त्येन दक्षिणाग्राता तस्यास्तेऽर्द्धिनोऽर्द्धहराः सोमयागेषु हि षोडशार्त्विजस्तत्र चत्वारो मुख्याहोताध्व-
र्युर्ब्रह्मोद्गातेति तेषामर्धं तस्य द्वादशशतदक्षिणेति ततोर्ध्वषट्पञ्चाशन्तर्धिनोष्टाविंशत्यार्धिनस्तद्वन्तोऽपरे येषांतोनन्तरं वर-
णमाग्रातं मैत्रावरुणप्रतिप्रस्थातृब्राह्मणाच्छंसिप्रस्तोतास्तृतीयेन तृतीयांशाः अंशशब्दोऽर्धशब्देन समानार्थोऽर्धशब्दस्त्वना-
वश्यंसमप्रविभागएव किंचिन्न्यूनोऽधिकेऽपि सामीप्येन वर्तन्ते तेन तृतीयोभागः षट्पञ्चाशतः षोडशगृह्यन्ते एकैकस्य चत-
स्रोभवन्ति । समतृतीयं भागं प्रयच्छन्ति षट्पञ्चाशततृतीयं च होतुरच्छावाकोध्वर्यो नष्टाब्रह्मणोऽग्नीदुद्रातुः प्रतिहर्ता ये च पा-
दिनस्ते चतुर्थभागकर्मणः कुर्वन्तीति पादिनः चतुर्थे च स्थाने मैत्रावरुणस्थानान्ते चतुर्थीशाद्वादशसमुदाये पूर्ववत् एवंत-
शतेन दीक्षेन्महतीतत्रापि कृमिः कर्तव्यार्धिनो दीक्षयति पादिनो दीक्षयतीत्येवमादिभिः शब्दैः तत्र द्वादशक्रमविधिरेवान्य-
त्र श्रुतो व्यवहार इहापि तथैव रीत्या कृत इति ॥ २१० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । द्वितीयमुदाहरति सर्वेषामिति । शतंगावोऽग्निष्टोमे दक्षिणा तत्र यदर्धं तद्भागिनः सर्वेषां मुख्याः
होत्रध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातारः । अर्धमिति किंचिन्न्यूनं ग्राह्यं अष्टाचत्वारिंशद्वि वस्तुतोभवन्ति । अपरे चत्वारो मैत्रावरुणाद्या-
स्तद्भागार्धेऽर्धिनोऽर्धभागाः । तृतीयिनस्तृतीयास्तृतीयस्थाना अच्छावाकादयस्तृतीयिनो मुख्यदक्षिणास्तृतीयांशिनः ।
चतुर्थीशाश्चतुर्थस्थानभागिनो ग्रावस्तुदादयः पादिनः पादभागाः ॥ २१० ॥

(३) कुल्लूकः । संप्रतिपत्तिविधाने दक्षिणाविभागमाह सर्वेषामिति । तंशतेन दीक्षयतीति श्रूयते तत्र सर्वेषां षोडशाना
मृत्विजांमध्ये ये मुख्याकृत्विजो होत्रध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातारः समग्रदक्षिणायास्तेऽर्धहराः । अष्टचत्वारिंशद्गोभाजोभवन्ति अतएव
कात्यायनेन यद्वादशाद्येभ्य इति प्रत्येकं द्वादशगोदानं विहितम् । यद्यपि शतस्यार्धपञ्चाशद्भवति तथापीह न्यूनार्धग्रहणेनापी
मेऽर्धिन उच्यन्ते सामीप्यात् । अपरे मैत्रावरुणयोः प्रतिप्रस्थातृब्राह्मणाच्छंसिप्रस्तोतारस्ते मुख्यार्विगृहीतदक्षिणार्धग्रहणे
नार्धिन उच्यन्ते तृतीयिनोऽच्छावाक्त्रैश्वरीध्रप्रतिहर्तारस्ते मुख्यार्विगृहीतस्य तृतीयमंशं लभन्ते पादिनस्तु ग्रावस्तुदुन्नेतृपोतृसु-

ब्रह्मण्याएते मुख्यार्विक्कृहीतस्य चतुर्थमंशं लभन्ते एतच्च षट्षट्द्वितीयेभ्यश्चतस्रः चतस्रश्चतृतीयेभ्यस्तिस्रस्तिस्रश्चतुर्थेभ्य इति सूत्रयता कात्यायनेन स्फुटीकृतम् ॥ २१० ॥

(४) राघवानन्दः । तंशतेन दीक्षयन्तीत्यादिसंख्याश्रवणे विभागविशेषमाह सर्वेषामिति । सर्वेतिगवामितिशेषः सर्वेषां षोडशानामृत्विजां ये मुख्याऋत्विजोहोत्रध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातारः ते अर्धिनोऽष्टचत्वारिंशद्भागभागिनः अपरैर्मैत्रावरुणप्रस्थातृब्राह्मणाच्छंसिप्रस्तोतारः तदर्धिनः मुख्यार्विक्कृहीताष्टचत्वारिंशदर्थं । ततएवार्धिनश्चतुर्विंशतिभागभागिनः । तृतीयिनोच्छावाकनेष्टाअग्नीध्रप्रतिहर्तारस्तु मुख्यार्विक्कृहीततृतीयांशभागिनः । अतएव षोडशभागभाजः पादिनः ग्रावस्तुनेतृपोतृसुरापास्ते मुख्यार्विक्कचतुर्थांशः । अतएव द्वादशभागभाजः । इतिप्रत्येकं द्वादश मुख्येभ्यः षट् द्वितीयेभ्यश्चतस्रस्तृतीयेभ्यस्तिस्र इतरेभ्य इति कात्यायनसूत्रेणैव तत्स्पष्टीकृतम् । दक्षिणायाभृतिरूपत्वं दीक्षितमदीक्षितादक्षिणाभिः परिक्रीताऋत्विजोयाजयेयुरिति श्रुतिसिद्धम् गावोऽत्र स्त्रियः गावोवै देवमातर इति श्रुतेः । एवंसहस्रदक्षिणेन यजेतेत्यादावपि विभागउन्नेयः ॥ २१० ॥

(५) नन्दनः । सर्वेषां षोडशानामृत्विजांमध्येहोताध्वर्युरुद्गाताब्रह्मेत्येते मुखसंज्ञाश्चत्वारः समस्तायाः ऋतुदक्षिणायाद्विनोर्द्धभाजः स्युः । मैत्रावरुणः प्रतिप्रस्थाता प्रस्तोता ब्राह्मणाच्छंसीत्यपरेऽर्धिसंज्ञाश्चत्वारस्तदूर्ध्वेन मुख्यार्विक्कृभागार्द्धेन भागिनः स्युः । अच्छावाकोनेष्टाप्रतिहताग्नीध्र इत्येते तृतीयसंज्ञाश्चत्वारस्तृतीयांशामुख्यभागतृतीयभागभाजः स्युः । ग्रावस्तुदुन्नेता सुब्रह्मण्यः पोतेत्येते पादिनः संज्ञाश्चत्वारश्चतुर्थांशभाजः स्युः । तद्यथा दक्षिणांपञ्चविंशतिधा विभज्य प्रथमस्य चतुष्टयस्य द्वादशभागाः स्युः । द्वितीयस्य षट् । तृतीयस्य चत्वारः । चतुर्थस्य तृतीय इति प्रथमस्य सार्द्धद्वादशभागप्रामौ तस्यामपि यद्वादशभागकल्पना चतुष्टयानामन्येषां भागकल्पना या दुःशकतामाभूदिति सर्वेषामर्द्धिनोमुख्या इत्यत्रार्द्धिशब्दः । किञ्चिन्मन्यूनार्थवाचीमन्तव्य इति ॥ २१० ॥

संभूय स्वानिकर्माणि कुर्वद्भिरिहमानवैः ॥ अनेन विधियोगेन कर्तव्यांशप्रकल्पना ॥ २११ ॥

(१) मेधातिथिः । यथा यज्ञे बहूनि कर्माणि कायक्लेशकरैर्विदधदतिशयसाध्ये च नियुक्तोभूयसीदक्षिणांलभते न्यूनकर्मकारी तु न्यूनां तद्वल्लौकिकेषु गृहचैत्यादिकारिषु संभूय संदृत्य वर्षकिंस्थपतिसूत्रधारादिषु स्वसमयप्रसिद्धोयावानंशः सूत्रधारस्ययावान्स्थपतेस्तत्रानेन विधियोगेन विधिर्वैदिकोर्थस्तत्प्रसिद्धाव्यवस्था विधियोगवैदिक्या यज्ञगतया व्यवस्थयेत्यर्थः । एवंनाटकादिप्रेक्षायां नर्तनगायनवादकेषु भागप्रकृप्तिः यद्यपि सर्वे विद्वांसः सर्वकर्मानुष्ठानशक्ताश्च तथापि कर्मानुरूप्येण भागोन पुरुषानुरूप्येणेति संभूयसमुत्थानम् ॥ २११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वानि कर्माणि वाणिज्यादीनि । अनेन क्रमयोगेन विधिप्रकारसंबन्धेन श्रमानुरूपधनविभागेन मूलसाम्येपि तल्लाभविभागस्तदार्जनश्रमानुरूप एवेति । संभूयोत्थानम् ॥ २११ ॥

(३) कुल्लूकः । मिलित्वा गृहनिर्माणादीनि स्वकर्माणि लोके स्थपतिसूत्रधार्यादिभिश्च मनुष्यैः कुर्वद्भिरनेन यज्ञदक्षिणाविधिनाश्रयणेन विज्ञानव्यापाराद्यपेक्षया भागकल्पना कार्या ॥ २११ ॥

(४) राघवानन्दः । संभूयच समुत्थानमित्युक्तं तत्रातिदिशति समिति । इह लौकिके स्वार्ते च कर्मणि । एतद्दक्षिणाविभागः स्थपतिसूत्रधारादिभिः । अनेन मुख्यामुख्यानुरूपविभागेनेत्यन्वयः ॥ २११ ॥

(५) नन्दनः । एवमुक्तवैदिकीविषमांशकल्पनांलोकेऽन्यतिदिशति संभूयस्वामिकर्माणीति । वाणिज्यादिषु भागवैषम्यकल्पनंमूल्यप्रयत्नगुरुलाघवापेक्षया कल्पनीयमिति । इति संभूयसमुत्थानं समाप्तम् ॥ २११ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्वानिकर्माणि वाणिज्यादीनि कुर्वद्भिः मानवैःसंभूय मिलित्वा ॥ २११ ॥

धर्मार्थयेन दत्तंस्यात्कस्मै चिद्याचते धनम् ॥ पश्चाच्च न तथा तत्स्यान्नदेयंतस्य तद्भवेत् ॥ २१२ ॥

(१) मेधातिथिः । यः कश्चिदाह सान्तानिकोहंयियक्षुर्वा देहि मे किंचिदिति तस्मै यदि दत्तंभवेन विवाहकर्मणि प्रवर्तेत तद्धनंघृतेन वेश्याभिर्वा क्षपयेदित्यत्र वादिनि युज्जीत वृद्धिलाभकृष्यादौ न देयंतस्य तद्वत्तस्य दानप्रतिषेधोपपद्यते अतः प्रत्याहरणीयमिति वाक्यार्थः । अथवा नष्टान्तो गौणोव्याख्येयोदत्तप्रतिश्रुतनदेयंतथाच गौतमः ॥ प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंयुक्ताय न दद्यात् किंपुनरत्र युक्तमुभयमित्याह दत्तस्य प्रत्याहरणंप्रतिश्रुत्य वा दानं तथाच स्मृत्यन्तरउभयंपठितं आहेह नारदः ॥ कर्त्ताहमेतत्कर्मेति ॥ यद्वत्तस्यादविज्ञातमदत्तंतदपिस्मृतमिति ॥ प्रयोजनविशेषोद्देशेनयद्वत्तंस्मिन्ननिवर्त्यमाने स्ववस्थितमपि प्रतिग्रहीतृगृहादाहर्त्तव्यं दानस्योपक्रममात्रंतदानींसमर्पणंसमाप्तिस्तुनिर्वर्तप्रयोजनेति नारदस्यमतम् ॥ २१२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दत्तानपकर्माह धर्मार्थमिति । धर्मार्थं स्वधर्मसिद्ध्यर्थम् । न तथाधर्मार्थंभवति दानानर्हत्वादिना प्रतिग्रहीतुः । केचित्तु यागादिधर्मार्थं याचमानाय दत्तं तथा न भवति यदि तेन यागादि न करोतीति व्याचक्षते ॥ २१२ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानींदत्तानपकर्माह धर्मार्थमिति । येन यागादिकर्मार्थकस्मै चिद्याचमानाय धनंदत्तंप्रतिश्रुतंवा पश्चाच्च तद्धनमसौ यागार्थंन विनियुज्जीत तदा तद्वत्तमपि धनंग्राहंप्रतिश्रुतंच न देयं । यदाह गौतमः प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंयुक्ताय न दद्यात् ॥ २१२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच तवेदं यज्ञादिकर्म करिष्यामीतिकृत्वा याचते यद्वत्तं प्रतिश्रुतंवा सचेत्तत्कर्मनकरोति पुनस्तद्ग्राहमित्याह धर्मार्थमिति । न तथातत्स्यादत्तंनस्यात् अपितुदानस्यौपाधिकत्वात् उपाध्यभावेन स्वत्वापादनादित्यर्थः ॥ २१२ ॥

(५) नन्दनः । अथदत्तानपकर्मात्मकंविवादपदंश्लोकद्वयेनाह धर्मार्थयेनेति । कस्मै चिद्याचते धर्मार्थयेन धनंदत्तंस्यात्पश्चाच्चेन्न तथा तद्धर्मार्थेन मया दत्तमिति प्रदातानुशयादभियुक्तंचेदित्यर्थः तस्मै प्रदात्रे तेन प्रतिग्रहीत्रा तद्धनंनदेयं प्रदात्रानापहार्यमित्यर्थः ॥ २१२ ॥

(६) रामचन्द्रः । कस्मैचित्प्रभिक्षुकाय धनं याचतेधर्मार्थंदत्तं स्यात् पश्चाद्दत्तानन्तरं तद्धनं न तथा तत्स्यात् तस्य स्वामिनः न देयं पूर्वस्वामिना तस्यग्रहीतुःतद्भवेत्तद्विवादपरम् ॥ २१२ ॥

यदि संसाधयेत्तत्तु दर्पाल्लोभेन वा पुनः ॥ राज्ञा दाप्यः सुवर्णंस्यात्तस्य स्तेयस्यनिष्कृतिः ॥ २१३ ॥

(१) मेधातिथिः । संसाधनंराजनिवेदनादिना ऋणवत्प्रतिश्रुतस्य मार्गणंस्वीकृतस्य प्रतियाध्यमानस्य राजनिवेदनं अयंमहदंत्वा प्रतिजिहीर्षतीति सिद्धस्य दृढीकरणंसंसाधनमेतदेतदर्पाद्धोभेनेति कारणानुवादः । एवंकुर्वतोदण्डः सुवर्णः स्यात्तस्य स्तेयस्य निष्कृतिरितिचौरदण्डमाशङ्कमानंसुवर्णविषयआचौरशङ्कादि दत्तंकिल्लतेन तस्मै न स्वयंदत्तं कथमयंचौरः स्यादितिशङ्कानिवर्तयितुंस्तेयशब्दः प्रयुक्तः सत्यपि चौरत्वे वाचनिकः सुवर्णदण्डोऽन्यासु क्रियासु चौरवद्यवहर्त्तव्यः ॥ २१३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सुवर्णंदाप्यः शतम् ॥ २१३ ॥

(३) कुल्लूकः । यदि तद्वत्तमसौ गृहीत्वा लोभादहंकाराद्वा न त्यजति प्रतिश्रुतं वा धनं बलेन गृह्णाति तदा तस्य चौर्यपापस्य संशुद्ध्यर्थं राज्ञा स्वर्णदण्डं दापनीयो भवति ॥ २१३ ॥

(४) राघवानन्दः । याचयितुस्तदादाने दण्डमाह यदीति । संसाधयेत् प्रतिश्रुतं गृह्णीयात् । दत्तं न दद्याद्वा । अदाने हेतुः । दर्पेति । दर्पो राजपुत्रादि बलम् स्तेयस्येत्यनेन तस्य स्वामिनो धनं दापनीयम् । राज्ञा समुवर्णो दण्डत्वेन ग्राह्येत्यर्थः ॥ २१३ ॥

(५) नन्दनः । संसाधयेदनुतिष्ठेत् । तत्प्रतिग्रहणकाले प्रदात्रे निवेदितं धर्मविवाहयज्ञादिकं मानवः प्रतिग्रहीता स्वर्णप्रतिभाषितं पञ्चरुष्णालिको माषस्ते सुवर्णस्तुषोडशेति तद्वाप्यो दण्डरूपेण । अपद्व्यर्थे प्रतिपादनमर्थग्राममेव । इति दत्तानपाकर्मसमाप्तम् ॥ २१३ ॥

(६) रामचन्द्रः । दर्पाद्धोभेन वा पुनर्यदि तत्संधारयेत्तस्य स्तेयस्य निष्कृती राज्ञा सुवर्णं दाप्यः स्यात् दापनीयः स्यात् ॥ २१३ ॥

दत्तस्यैषोदिता धर्म्या यथा वदनपक्रिया ॥ अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम् ॥ २१४ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वणार्धेन पूर्वविवादोपसंहारउत्तरेण वक्ष्यमाणोपक्रमो दत्तस्यैवानपक्रियोदिता अपक्रियाक्रियापायस्तस्य न जाप्रतिषेधस्तदैवमुदितं भवति एषैव दाने स्थितिरिति यावत् । धर्मादनपेता धर्म्या कथं प्रतिश्रुत्याऽदीयमानो धर्मो न पश्यतीति नैषा शङ्का कर्तव्या एष एवात्र धर्मो यन्न दीयते दत्तं च प्रत्यादीयते । उदिता उक्ता यथावच्छब्दसमुदाय एव यथातथ्ये वर्तते सम्यङ्गिरूपितेत्यर्थः । अथ च यथाशब्दो योग्यतायां वर्तते तामर्हतीति वितिः कर्तव्यः । वेतनं श्रुतिस्तस्यानपक्रिया वेतनेन स्वकर्मकुर्वतां यो धर्मः सद्दानीमुच्यत इति प्रतिज्ञा ॥ २१४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धर्म्या न्याय्या । दत्ताप्रदानम् ॥ २१४ ॥

(३) कुल्लूकः । एतद्वत्तस्याप्रतिपादनं धर्मादपेतं तदुक्तं अतोऽनन्तरं श्रुतेरसमर्पणादिकं वक्ष्यामि ॥ २१४ ॥

(४) राघवानन्दः । दक्षिणामुपसंहरन् लौकिकश्रुतेरनपक्रियाप्रतिज्ञानीते दत्तस्येति । अपगच्छति धनमन्यं प्रत्येनेनेति अपक्रिया दानंतदभावोऽनपक्रिया पुनरादानम् ॥ २१४ ॥

(५) नन्दनः । अथ वेतनप्रदानमाह दत्तस्येष इति । अनपक्रिया अनपाकरणं प्रदानमिति यावत् ॥ २१४ ॥

(६) रामचन्द्रः । दत्तस्य यथावद्वत्तस्य अनपआदानंतस्य क्रिया उदिता ॥ २१४ ॥

भृतो नात्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोदितम् ॥ सदण्ड्यः रुष्णालान्यष्टौ न देयंचास्य बेनतम् ॥ २१५ ॥

(१) मेधातिथिः । उद्दिष्टेन मूल्येनोद्दिष्टं कर्म करोति सद्दह भृतोभिप्रेतः श्रुत्यकर्मविशेषेण स्वीकृतो भृत्यादेहि मे पञ्चरूपकाणीदन्ते कर्मकर्तास्मीयता कालेनेत्याभाष्यमविष्टः सचेत्कर्मनसमापयति रुष्णालानि सौवर्णानि ताम्ररजतयोर्वा कर्मस्वरूपमनुबन्धानि च ज्ञात्वा दण्ड्यते तानि रूपकाणि वेतनार्थकल्पितानि न लभेत यद्यनात्तो दर्पान्न करोति यथोदितकर्म व्याध्यादिनाऽपीडितस्त्र दर्पादकुर्वतो भृतिहानिर्दण्डनमतः स एव वक्तुं न लभते यावन्मयायासः कृतस्तदानुरूप्येण देहीति ऋत्विजामप्येवं दण्डकेचिदिच्छन्ति त्वेच्छया त्यजतां तदयुक्तं अत्र हि महाननर्थो यजमानस्य सामिकृत्ये यजमानेऽतो दण्डो महानत्रयुक्तः यजमानस्य च यत्नघ्नं दद्यापनीयं दीक्षोपसद्देवव्रतैः शरीरापचये समुत्थातव्यम् । अन्योऽयं शिल्पी कञ्चनकर्मणि प्रवर्तयति तडागखनने देवस्य गृहकरणेऽहन्ते समापयिता प्रवर्तकत्वेनेति पश्चान्नापसरेयतेन

त्वामिनः क्षयायासाः सर्वैसंवोढव्याभाण्डवाहवणिग्यायेन एषहि न्यायः कात्यायनेन सर्वत्रातिदिष्टः भाण्डवाहकदोषेणव-
णिजोयदिद्रव्यंनश्येत्तद्भाण्डवाहकोवेहेत् योप्यन्यः कस्यचित्कर्मणि धनमावर्ध्यार्धतोनिवर्तेतेति कात्यायनीये सूत्रे धनमा-
वर्ध्याऽऽसज्य धनव्ययंकारयित्वा यद्यर्द्धरुते निवर्तेत सोऽपि तद्वहेदित्यनुषङ्गः एवं योपि षाण्मास्यः सांवत्सरोवा यथो-
पपादककर्मकारी भक्तदासस्तस्याप्येषएव न्यायः । आह च नारदः ॥ कर्माकुर्वन्प्रतिश्रुत्य कार्योदत्त्वा श्रुतिबलात् ।
श्रुतिगृह्णातिकुर्वाणोद्विगुणंभृतिमावहेत् ॥ कालेऽपूर्णे त्यजन्कर्मभृतिनाशनमर्हति ॥ २१५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अथ वेतनानपकर्म । भृतइति । भृतःसन्ननार्तः पीडारहितोपि । वेतनं नदेयं रुतस्या-
प्येकदेशस्य यच्चदत्तं तदप्यादेयमित्यर्थः ॥ २१५ ॥

(३) कुल्लूकः । योभृतिपरिक्रीतोव्याध्यपीडितोयथानिरूपितकर्महंकारान्न कुर्यात्सकर्मनुरूपेण सुवर्णादिरुष्णला-
न्यष्टौ दण्डनोयः वेतनंचास्य न देयम् ॥ २१५ ॥

(४) राघवानन्दः । तमेवाह भृतइति । भृतिर्वेतनं तथा क्रीतोभृतः अनार्तोपि यदि नकुर्यात् । अष्टौरुष्णलानि
सभृत्योराज्ञादण्ड्यः । न तद्देयं नदापनीयं वेतनमिति च ॥ २१५ ॥

(५) नन्दनः । भृतोवेतनग्राही । अनार्तो व्याधिरहितः ॥ २१५ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनार्तःभृतःसन्दर्पाद्यथोदितकर्म योनिकुर्याद्यथोदितम् ॥ २१५ ॥

आर्त्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन्नयथाभाषितमादितः ॥ सदीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम् ॥ २१६ ॥

(१) मेघातिथिः । अनार्त्तस्य दण्डउक्तोभृतिहरणमार्त्तस्येदानीमुच्यते आर्त्त्याभृतोर्द्धरुतकर्म यदि हित्वा गच्छे-
त्स्वस्थः सन्पुनरागत्य यथोक्तमादौ ततः कुर्यात् बहुनापि कालेन पीडया मुक्तः प्रत्यागतः रुतकर्मशेषउपलभेतच वेत-
नम् ॥ २१६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आर्त्तोयदि मध्ये तदा स्वस्थःसन्न तत्कर्म कुर्यात् । सुदीर्घस्यापि कालस्य दीर्घेणापिका-
लेन कुर्यादित्यन्वयः ॥ २१६ ॥

(३) कुल्लूकः । यदा व्याध्यादिपीडया कर्म न करोति स्वस्थः सन्न्यादृग्भाषितंतादृक्कर्म कुर्यात् वेतनंच चिरकालाद-
पि लभेतैव ॥ २१६ ॥

(४) राघवानन्दः । आर्त्तश्चेत्तस्य कालविलम्बेन करणेन दोषइत्याह आर्त्तस्त्विति । तेन यथा भाषितं तादृक्कु-
र्यात् । आदितः आदौ । तद्वृत्तिधनम् ॥ २१६ ॥

(६) रामचन्द्रः । पूर्वआर्त्तः पश्चात्स्वस्थः सन्दीर्घस्य कालस्य आदितोयथा भाषितंकुर्यात् तद्वेतनंलभेत् ॥ २१६ ॥

यथोक्तमार्त्तः सुस्थोवा यस्तत्कर्म न कारयेत् ॥ न तस्य वेतनंदेयमल्पोनस्यापि कर्मणः ॥ २१७ ॥

(१) मेघातिथिः । अथवा त्वामिनोधारयत्यनेन च तत्कर्मकारितंस्यात्त्वांश्रुतिदत्त्वा तदा तत्सममसौ स्वस्थः कार-
यितव्यः अथापि त्वामी ब्रूयान्नमे किंचित्कर्तव्यमस्तीति तत्रापि रुतानुरूपेण लभेतैव यथोक्तमात्रम् ॥ २१७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यथोक्तमार्त्तं स्वस्थे वा यः प्रकारउक्तः । वेतनादानम् ॥ २१७ ॥

(३) कुल्लूकः । यत्कर्मयथाभाषितंपीडितोऽन्येन कारयेत् सुस्थोवा न कुर्यान्नापिकारयेत् तस्य किंचिच्छेषस्यापि
रुतस्य कर्मणोवेतनं देयम् ॥ २१७ ॥

(३) कुल्लूकः । यदि तद्वत्तमसौ गृहीत्वा लोभादहंकाराद्वा न त्यजति प्रतिश्रुतं वा धनं बलेन गृह्णाति तदा तस्य चौर्यपापस्य संशुद्ध्यर्थं राज्ञा स्वर्णदण्डं दापनीयो भवति ॥ २१३ ॥

(४) राघवानन्दः । याचयितुस्तदादाने दण्डमाह यदीति । संसाधयेत् प्रतिश्रुतं गृह्णीयात् । दत्तं न दद्याद्वा । अदाने हेतुः । दर्पेति । दर्पो राजपुत्रादि बलम् स्तेयस्येत्यनेन तस्य स्वामिनो धनं दापनीयम् । राज्ञा ससुवर्णोदण्डत्वेन ग्राह्येत्यर्थः ॥ २१३ ॥

(५) नन्दनः । संसाधयेदनुतिष्ठेत् । तत्प्रतिग्रहणकाले प्रदात्रे निवेदितं धर्मविवाहयज्ञादिकं मानवः प्रतिग्रहीता स्वर्णप्रतिभाषितं पञ्चकृष्णलिकोभाषस्तेसुवर्णस्तुषोडशेति तद्वाप्यो दण्डरूपेण । अपद्धतार्थे प्रतिपादनमर्थप्राप्तमेव । इति दत्तानपाकर्मसमाप्तम् ॥ २१३ ॥

(६) रामचन्द्रः । दर्पाद्भोभेन वा पुनर्यदि तत्संधारयेत्तस्य स्तेयस्य निष्कृती राज्ञा सुवर्णं दाप्यः स्यात् दापनीयः स्यात् ॥ २१३ ॥

दत्तस्यैषोदिता धर्म्या यथा वदनपक्रिया ॥ अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम् ॥ २१४ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वणार्धेन पूर्वविवादोपसंहारउत्तरेण वक्ष्यमाणोपक्रमोदत्तस्यैवानपक्रियोदिता अपक्रियाक्रियापायस्तस्य नञाप्रतिषेधस्तदैवमुदितं भवति एषैव दाने स्थितिरिति यावत् । धर्मादानपेता धर्म्या कथं प्रतिश्रुत्याऽदीयमानो धर्मो न पश्यतीति नैषा शङ्का कर्तव्या एष एवात्र धर्मो यन्न दीयते दत्तं च प्रत्यादीयते । उदिता उक्ता यथावच्छब्दसमुदाय एव याथातथ्ये वर्तते सम्यङ्गिरूपितेत्यर्थः । अथ च यथाशब्दो योग्यतायां वर्तते तामर्हतीति व्रतिः कर्तव्यः । वेतनं श्रुतिस्तस्यानपक्रिया वेतनेन स्वकर्मकुर्वतां यो धर्मः स इदानीमुच्यत इति प्रतिज्ञा ॥ २१४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धर्म्या न्याय्या । दत्ताप्रदानम् ॥ २१४ ॥

(३) कुल्लूकः । एतद्वत्तस्याप्रतिपादनं धर्मादपेतं तदुक्तं अतोऽनन्तरं भूतेरसमर्पणादिकं वक्ष्यामि ॥ २१४ ॥

(४) राघवानन्दः । दक्षिणामुपसंहरन् लौकिकभूतेरनपक्रियाप्रतिजानीते दत्तस्येति । अपगच्छति धनमन्यं प्रत्येनेनेति अपक्रिया दानं तदभावोऽनपक्रिया पुनरादानम् ॥ २१४ ॥

(५) नन्दनः । अथ वेतनप्रदानमाह दत्तस्येष इति । अनपक्रिया अनपाकरणं प्रदानमिति यावत् ॥ २१४ ॥

(६) रामचन्द्रः । दत्तस्य यथावद्वत्तस्य अनपआदानं तस्य क्रिया उदिता ॥ २१४ ॥

भृतो नात्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोदितम् ॥ सदण्ड्यः कृष्णलान्यष्टौ न देयं चास्य वेनतम् ॥ २१५ ॥

(१) मेधातिथिः । उद्दिष्टेन मूलधेनोर्द्विष्टं कर्म करोति स इह भृतोभिप्रेतः भृत्यकर्मविशेषेण स्वीकृतो भृत्यादेहि मे पञ्चरूपकाणीदन्ते कर्मकर्तास्मीयता कालेनेत्याभाष्यप्रविष्टः स चेत्कर्मनसमापयति कृष्णलानि सौवर्णानि तान्भरजतयोर्वा कर्मस्वरूपमनुबन्धानि च ज्ञात्वा दण्ड्यते तानि रूपकाणि वेतनार्थकल्पितानि न लभेत यद्यनार्तो दर्पान् करोति यथोदितकर्म व्याध्यादिनाऽपीडितस्य दर्पादकुर्वतो भृतिहानिर्दण्डनमतः स एव वक्तुं न लभते यावन्मयायासः कृतस्तदानुरूप्येण देहीति ऋत्विजामप्येवं दण्डकेचिदिच्छन्ति स्वेच्छया त्यजतां तदयुक्तं अत्र हि महाननर्थो यजमानस्य सामिकृत्ये यजमानेऽतो दण्डो महानत्रयुक्तः यजमानस्य च यन्नष्टं ददापनीयं दीक्षोपसंवेदवन्नतैः शरीरापचये समुत्थातव्यम् । अन्योऽयं शिल्पी कञ्चन कर्मणि प्रवर्तयति तडागखनने देवस्य गृहकरणेऽहन्ते समापयिता प्रवर्तकत्वेनेति पश्चालापसरेयतेन

स्वामिनः क्षयायासाः सर्वैसंवोढव्याभाण्डवाहवणिग्ध्यायेन एषहि न्यायः कात्यायनेन सर्वत्रातिदिष्टः भाण्डवाहकदोषेणव-
णिजोयदिद्रव्यं नश्येत्तद्भाण्डवाहकोवहेत् योप्यन्यः कस्यचित्कर्मणि धनमावर्ध्यार्धतोनिवर्तेतेति कात्यायनीये सूत्रे धनमा-
वध्याऽऽसज्य धनव्ययंकारयित्वा यद्यर्द्धकृते निवर्तेत सोऽपि तद्वहेदित्यनुषङ्गः एवं योपि षाण्मास्यः सांवत्सरोवा यथो-
पपादककर्मकारी भक्तदासस्तस्याप्येषएव न्यायः । आह च नारदः ॥ कर्माकुर्वन्प्रतिश्रुत्य कार्यादत्वा भृतिबलात् ।
भृतिगृह्णाति कुर्वाणोद्विगुणंभृतिमावहेत् ॥ कालेऽपूर्णे त्यजन्कर्मभृतिनाशनमर्हति ॥ २१५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अथ वेतनानपकर्म । भृतइति । भृतःसन्नान्तः पीडारहितोपि । वेतनं नदेयं कृतस्या-
प्येकदेशस्य यच्चदत्तं तदप्यादेयमित्यर्थः ॥ २१५ ॥

(३) कुल्लूकः । योभृतिपरिक्रीतोव्याव्यपीडितोयथानिरूपितं कर्माहंकारान्न कुर्यात्सकर्मनुरूपेण सुवर्णादिकृष्णला-
न्यद्यौ दण्डनीयः वेतनंचास्य न देयम् ॥ २१५ ॥

(४) राघवानन्दः । तमेवाह भृतइति । भृतिर्वेतनं तथा क्रीतोभृतः अनार्तोपि यदि नकुर्यात् । अष्टौकृष्णलानि
सभृत्योराज्ञादण्ड्यः । न तद्देयं नदापनीयं वेतनमिति च ॥ २१५ ॥

(५) नन्दनः । भृतोवेतनग्राही । अनार्तो व्याधिरहितः ॥ २१५ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनार्तःभृतःसन्दर्पाद्यथोदितं कर्म योनकुर्याद्यथोदितम् ॥ २१५ ॥

आर्त्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन्यथाभाषितमादितः ॥ सदीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम् ॥ २१६ ॥

(१) मेधातिथिः । अनार्त्तस्य दण्डउक्तोभृतिहरणमार्त्तस्येदानीमुच्यते आर्त्त्याभृतोर्द्धकृतं कर्म यदि हित्वा गच्छे-
त्स्वस्थः सन्पुनरागत्य यथोक्तमादौ ततः कुर्यात् बहुनापि कालेन पीडया मुक्तः प्रत्यागतः कृतकर्मशेषउपलभेतच वेत-
नम् ॥ २१६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आर्त्तोयदि मध्ये तदा स्वस्थःसन् तत्कर्म कुर्यात् । सुदीर्घस्यापि कालस्य दीर्घेणापिका-
लेन कुर्यादित्यन्वयः ॥ २१६ ॥

(३) कुल्लूकः । यदा व्याध्यादिपीडया कर्म न करोति स्वस्थः सन्याहंभाषितं तादृकं कर्म कुर्यात् वेतनंच चिरकालाद-
पि लभेतैव ॥ २१६ ॥

(४) राघवानन्दः । आर्त्तश्चेत्तस्य कालविलम्बेन करणेन दोषइत्याह आर्त्तस्त्विति । तेन यथा भाषितं तादृक्कु-
र्यात् । आदितः आदौ । तद्भृतिधनम् ॥ २१६ ॥

(६) रामचन्द्रः । पूर्वआर्तः पश्चात्स्वस्थः सन्दीर्घस्य कालस्य आदितोयथा भाषितंकुर्यात् तद्वेतनंलभेत् ॥ २१६ ॥

यथोक्तमार्त्तः सुस्थोवा यस्तत्कर्म न कारयेत् ॥ न तस्य वेतनं देयमल्पोनस्यापि कर्मणः ॥ २१७ ॥

(१) मेधातिथिः । अथवा स्वामिनोधारयत्यनेन च तत्कर्मकारितं स्यात्त्वांभृतिदत्त्वा तदा तत्सममसौ स्वस्थः कार-
यितव्यः अथापि स्वामी ब्रूयान्मे किंचित्कर्तव्यमस्तीति तत्रापि कृतानुरूपेण लभेतैव यथोक्तमात्रम् ॥ २१७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यथोक्तमार्त्तं स्वस्थे वा यः प्रकारउक्तः । वेतनादानम् ॥ २१७ ॥

(३) कुल्लूकः । यत्कर्म यथाभाषितं पीडितोऽन्येन कारयेत् सुस्थोवा न कुर्यान्नापि कारयेत् तस्य किंचिच्छेषस्यापि
कृतस्य कर्मणोवेतनं देयम् ॥ २१७ ॥

(४) राघवानन्दः । स्वीकृतासंपूरणेपि यथोक्तं वेतननदेयमित्याह यथेति । अल्पोनस्याल्पन्यूनस्यापिकर्मणः । स्वस्थोपि न वा कुर्यान्न संपूरये न्वाकारयेदन्येन ॥ २१७ ॥

(५) नन्दनः । कर्मणःवेतनंतस्य न देयमित्यन्वयः । इति वेतनानपक्रियोक्ता ॥ २१७ ॥

(६) रामचन्द्रः । आर्तःस्वस्थोवायः यथोक्तकर्म न कारयेत् अल्पोनस्य अल्पन्यूनस्य कर्मणः तस्य पुंसः वेतनं देयं ॥ २१७ ॥

एषधर्मोऽखिलेनोक्तोवेतनादानकर्मणः ॥ अत ऊर्ध्वंप्रवक्ष्यामि धर्मसमयभेदिनाम् ॥ २१८ ॥

(१) मेधातिथिः । वेतनादानकर्मणइति विवादपरस्यास्य नामधेयमेतत्तेन न चोद्यमेतत् । कथंवेतनस्यादानकर्मोक्त्यावता दानकर्माप्युक्तं तल्लभेतेव वेतनमिति नाम्नोहि येन केनचिदन्वितेन संबन्धिना नामता न विरुद्धा नहि यावन्तः सूत्रार्थास्ते सर्वे प्रवर्तन्ते तथाचाग्निहोत्रे यद्यप्यग्निप्रजापत्योर्होमस्तथाप्यग्निहोत्रमिति नामप्रवर्ततएव । तदुक्तं तत्रैवंस्थूणादर्शयाचसमानीचास्यादिति समयसिद्धिः संज्ञेतद्वदयावता ममुते निश्चितकर्तव्यमित्यभ्युपगमस्तंभिन्दन्ति व्यतिक्रामन्ति ते समयभेदिनः । संविदश्च व्यतिक्रमइति यदुद्दिष्टं तदिदानीमुच्यते पूर्वेणाद्धेन पूर्वप्रकरणोपसंहारोऽपरेणोद्दिष्टप्रकरणसूचनम् २१८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । समयभेदनमवतारयति एषइति । समयभेदिनां धर्मं नियतं दण्डम् ॥ २१८ ॥

(३) कुल्लुकः । एषा व्यवस्था वेतनादानाख्यकर्मणोनिःशेषेणोक्ता अतोऽनन्तरं संविद्यतिक्रमकारिणं दण्डादिव्यवस्थां विद्व्यामि ॥ २१८ ॥

(४) राघवानन्दः । श्रुतिमुपसंहरन् सविदश्च व्यतिक्रमं प्रतिजानीते एषइति । धर्मं दण्डादिव्यवस्थाम् । समयभेदिनामिदमस्माभिः परिहर्तव्यमिति निश्चयकारिणाम् ॥ २१८ ॥

(५) नन्दमः । अथसंविद्यतिक्रममाह एषधर्मोऽखिलेनेति । समयभेदिनांसंविद्यतिक्रमिणाम् ॥ २१८ ॥

(६) रामचन्द्रः । वेतनादानकर्मणः वेतनस्य आदानं स्वीकारः तस्य कर्मणः एषधर्मः अखिलेन उपायेन उक्तः तेषां समयभेदिनां धर्मं अत ऊर्ध्वंप्रवक्ष्यामि ॥ २१८ ॥

योपामदेशसंघानां कृत्वा सत्येन संविदम् ॥ विसंवदेन्नरोलोभात्तंराष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥ २१९ ॥

(१) मेधातिथिः । शालासमुदायोपामस्तन्निवासिनोमनुष्यागृह्यन्ते तेषामेव संविदः संभवात् एवंयामसमुदायोदेशसंघ एकधर्मानुगतानां नानादेशवासिनां नानाजातीयानामपि प्राणिनां समूहः यथाभिक्षूणांसंघोवणिजांसंघश्चातुर्विद्यानांसंघ इति । ग्रामादीनां यत्कार्यं यथा पारिग्रामिकैर्ग्रामोनोपहतः प्रायश्चित्तादीनि गोपचारे गाश्चारयन्ति उदकं च भित्त्वा नयन्ति तद्यदिवोमतदंग एव दोषान्कर्तुं न दक्ष एव नः प्रतिबध्नातां यदि तैः सह दण्डादण्डिर्भवति राजकुले वा व्यवहारसूत्रे सर्वे वयमेककार्यानीचेदुपेक्षामाह । तत्र ये संविदस्ते वेदकमिति प्राक्तनीग्रामस्थितिस्ते व्यतिक्रम्येत्येवंप्रोत्साह्य विसंवदेद्व्यल्लसैः सह सङ्गच्छेत् तत्त्वेषु बाह्याभ्यन्तरः स्यात्सराज्ञा त्वराष्ट्रान्निर्वासयितव्यो निष्कासयितव्यः । स्वविषयेऽस्य वस्तुन देयमेवं वणिग्भवब्राह्मणादिकार्य ईदृशेकृतसंविदत्तेन नातिक्रामितव्यमन्यत्कार्यग्रामाद्युपकारकं शास्त्राचारप्रसिद्धं पुराष्ट्राविरोधितत्संविद्यतिक्रमे दण्डोयं लोभादिति त्वेनोपकारगन्धेन परग्रामणीकृतेनास्वातन्त्र्यलोभः । अज्ञानात्तु विसंवादे मान्यस्य कल्पः ॥ २१९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ग्रामाणां ग्रामस्थानाम् । संविदत्रग्रामे एवंकर्तव्यमिति एवंदेशविशेषमादाय । तथा संघानां बौद्धादिसंघानाम् ॥ २१९ ॥

३) कुङ्कुमः । ग्रामदेशशब्दाभ्यां तद्वासिनोलक्ष्यन्ते । संघोवणिगादिसमूहः । इदमस्माभिः कर्त्तव्यपरिहार्यतामित्येवं रूपसंकेतं सत्यादिशपथेन कृत्वा तन्मध्ये योनरोलोभादिना निष्क्रामेत्तराजा राष्ट्रांनिर्वासयेत् ॥ २१९ ॥

(४) राघवानन्दः । तदेवाह यदितिद्वाभ्याम् । ग्रामदेशेति तत्रस्थयोर्ग्रहणम् । संघेति वणिगादिसमूहः । संविदं उक्तसंकेतम् । विसंवदेदतिक्रामेत् । विप्रवासयेद्दण्डपुरःसरम् । ब्राह्मणस्य न दण्डः केवलं ग्रामत्यागइति ॥ २१९ ॥

(५) नन्दनः । यो ग्रामदेशसंघानामिति त्रयस्परिमाणम् । संविद्यतिक्रमउक्तः ॥ २१९-२२१ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः पुरुषः ग्रामदेशसङ्घानां ग्रामाणां देशानां सङ्घानां समूहानां सत्येन शपथेन संविदं समयं । मर्यादां कृत्वा नरः लोभादिसंवदेदन्यथारदेत्तराष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥ २१९ ॥

निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम् ॥ चतुः सुवर्णान् षण्णिष्कांश्छतमानंच राजतम् ॥ २२० ॥

(१) मेघातिथिः । निगृह्यावष्टभ्य पीडयित्वा काललाभमकारयित्वा दण्ड्यः । चत्वारिसुवर्णानियेषानिष्काणां परिमाणं चतुःसुवर्णानिष्काः यद्यपि चतुःसुवर्णकोनिष्कइत्यत्रोक्तं तथापि शास्त्रान्तराच्छाब्दशतं सुवर्णानां निष्कमाहुर्महाधियइत्येवमादिपरिमाणान्तरं पश्येत् विशिष्टे संज्ञाकरणसामर्थ्यादेव लभ्यतइति चेत् पद्यग्रन्थत्वान्न दोषः । अन्येतुसहार्थे बहुव्रीहिं कृत्वा त्रीनदण्डानाहुः । चतुर्भिः सुवर्णैः सह षण्णिष्कादण्डनीयोदशनिष्काः प्रतिपादिता भवन्ति । बहुव्रीहिं सिद्ध्यर्थं सहार्थे कथंचिन्मत्वर्थो योजितव्यः नहि चित्राभिर्गोभिः सहितश्चित्रगुर्वेददत्तइति भवति । एते च त्रयोदण्डायदि च त्रिभिरेकइति कार्यापेक्षया योजनं निर्वासनदण्डेन विकल्पते दण्डोयम् ॥ २२० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चतुर्भिः सुवर्णैर्योनिष्कस्तान् षट्पलानीत्यर्थः । एतच्च दीनारादिनिष्कव्यवच्छेदार्थं विशेषणम् । शतमानमेकम् ॥ २२० ॥

(३) कुङ्कुमः । अथ चैनं संविद्यतिक्रमकारिणं निबोध्य चतुरः सुवर्णान् षण्णिष्कान् प्रत्येकं चतुः सुवर्णपरिमितान् राजतंच शतमानं विशत्यधिकरत्तिकाशतत्रयपरिमाणं त्रयमेतद्विषयलाघवगौरवापेक्षया समन्वितं व्यस्तं वाराजादण्डं दापयेत् ॥ २२० ॥

(४) राघवानन्दः । दण्डसंख्यामाह नीति । निगृह्य कारागारं प्रापयित्वा चतुःसौवर्णिकोनिष्कइत्युक्तेः चतुःसुवर्णानिति तु निष्कपदस्याभरणार्थव्यावृत्त्यर्थेन पशुमालभेत्याद्येकत्वस्येव षडित्युपादेयविशेषणमतः प्रत्येकं षण्णिष्कानां दण्डइति । शतमानं विशत्यधिकरत्तिकाशतत्रयं समस्तं व्यस्तं वा कार्यगौरवलाघवापेक्षया ॥ २२० ॥

(६) रामचन्द्रः । एवं समयव्यभिचारिणं समयभेत्तारं निगृह्य दण्डं दापयेत् । दण्डमाह चतुःसुवर्णान्वा दण्डयेत् । षण्णिष्कान् निष्कसुवर्णांश्चत्वारः इति षट्पलानि अथवा राजतः रूप्यस्य शतमानः । द्वात्रिंशत्कृष्णालं धरणं भवेत् धरणानि दश ज्ञेयः शतमान एवं कृष्णाला भवन्ति अष्टगुंजात्मको माषः तेषां चत्वारिंशत् माषप्रमाणं भवति ॥ २२० ॥

एतद्वण्डविधिं कुर्याद्भार्मिकः पृथिवीपतिः ॥ ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणाम् ॥ २२१ ॥

(१) मेघातिथिः । जातिसमूहेषु च नानाजातीयानां समानजातीयानां वा संघेषु तद्विषयो व्यभिचारो येषामित्यर्थः । प्रकरणोपसंहारः ॥ २२१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दण्डविधिं दण्डप्रकारम् । जातिर्ब्राह्मणादिः ॥ २२१ ॥

(३) कुङ्कुमः । ग्रामेषु ब्राह्मणजातिसमूहेषु संविद्यतिक्रमकारिणामेतद्वण्डविधिधर्मप्रधानो राजानुतिष्ठेत् ॥ २२१ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तदण्डविधिमन्यत्रातिदिशति एतमिति । ग्रामजातिसमूहेषु ग्रामस्य ब्राह्मणादिषु जातिसमूहेषु वणिगादिषु च ॥ २२१ ॥

(६) रामचन्द्रः । एवं धार्मिकः पृथिवीपतिः दण्डविधिं कुर्यात् ॥ २२१ ॥

क्रीत्वा विक्रीयवा किञ्चिद्यस्येहानुशयोभवेत् ॥ सोऽन्तर्दशाहात्तद्व्यन्दद्याच्चैवाददीतवा ॥ २२२ ॥

(१) मेधातिथिः । यद्रव्यप्रचुरक्रयविक्रयव्यवहारकाले न गच्छति न नश्यति मूलतश्चनापचीयते त्रपुताभ्रभाण्डादिस्थिरार्घतादृशस्यानुपभुक्तस्य दशाहमध्यआदानप्रत्यर्पणे यस्तु विरलक्रेतुरनुशयनं मया साधुरुक्तं यद्विक्रीतमिति तदा क्रेता तस्मैप्रतिपादयितव्यः एकस्थानवासिनांचैषकालोदेशान्तरवासिनां तात्कालिकीप्रतिनिवृत्तिः । केचिद्भूम्यादिविषयविधिमिममिच्छन्ति न वस्त्रादौ स्मृत्यन्तरे हि वणिक्पणने योविधिराम्नायते एवं हि नारदः पठति ॥ क्रीत्वामूल्येन यः पण्यं दुष्क्रीतमिति मन्यते । विक्रेतुः प्रतिदेयं तत्तस्मिन्नेवाह्वयविक्षतमिति ॥ द्वितीयेऽह्नि ददक्रेता मूल्यात्त्यंशांशमावहेत् । द्विगुणतत्तृतीयेऽह्नि परतः क्रेतुरेव तत् ॥ विक्रयार्थं यद्रव्यं तत्पण्यं यद्विक्रीयतदुत्पन्नेन द्रव्यान्तरक्रयादिना पुरुषो व्यवहरति जीविकाधनमर्जयितुं तथा पणभूमौ प्रसारितं च भवति वणिजा तत्रेह पण्यग्रहणात्कश्चिद्विशेषो विवक्षित इतरथा क्रीत्वा मूल्येन इत्येतावदवजातं कः पुनरसौ विशेषः उच्यते यक्रीतमपि पण्यत्वमजहद्वणिग्भिः क्रियते तर्हि विक्रयार्थमेव क्रीणन्ति तेषां वणिजामितरेतरक्रीणतां च नारदीयो विधिरन्येषां मानव इति केचित् किंपुनरत्र युक्तं पण्यधर्मादेर्व्यवस्थावानुसरणीया तथा चाश्वानां बलसंचारो हस्तिनामङ्गुशारो हणविक्रयविभावकमित्यादिना व्यवहारस्तेषु पण्येषु सिद्धो भवति । अविवक्षितमविनष्टमुपनिध्यादौ वस्त्रादेर्यावन्नात्र नाशस्तावतो मूल्यमुपनिधात्रे दीयते द्रव्यन्तु गृह्णातीह त्वीषन्नाशे सर्वमूल्यं देयं क्रेतुः ॥ २२२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्रयविक्रयानुशयमाह क्रीत्वेति । अनुशयः पश्चात्तापः ॥ २२२ ॥

(३) कुङ्कुमः । क्रीत्वा विक्रीयवा किञ्चिद्रव्यम् विनश्वररूपं स्थिरार्घभूमिताभ्रपट्टादि यस्य लोके पश्चात्तापो जायते न साधु मया क्रीतमिति सक्रीतं दशाहमध्ये प्रत्यर्पयेत् विक्रीतं वा गृह्णीयात् ॥ २२२ ॥

(४) राघवानन्दः । क्रयविक्रयानुशय इत्युक्तं तत्र क्रेतुविक्रेतोः पश्चात्तापाद्युत्पत्तौ दशाहाभ्यन्तरे निवर्त्ययोग्यतास्तीत्याह क्रीत्वेति । साधु मया न कृतमित्यनुतापोनुशयः । क्रीतं दद्याद्विक्रीतं च गृह्णीयादित्यर्थः ॥ २२२ ॥

(५) नन्दनः । अथ क्रयविक्रयानुशयमाह क्रीत्वा विक्रीयवेति । तद्रव्यं यन्मूल्यत्वेन क्रेत्रादत्तम् ॥ २२२ ॥

(६) रामचन्द्रः । किञ्चिद्वस्तु क्रीत्वा विक्रीय वा इह यस्य अनुशयः पश्चात्तापः भवेत्सः अन्तर्दशाहात्तद्व्यन्दद्यात् आददीत स्वीकुर्यात् ॥ २२२ ॥

परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत् ॥ आददानोददच्चैव राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥ २२३ ॥

[स्याच्चतुर्विंशतिपणे दण्डस्तस्य व्यतिक्रमे । पणस्य दशमे भागे दाप्यः स्यादति पातिनि ॥ १ ॥]

[क्रीत्वा विक्रीयवा पण्यमगृह्णन् ददतस्तथा । पणाद्वादशदाप्यश्च मनुष्याणां च वत्सरान् ॥ २ ॥]

[पणाद्वादशदाप्यः स्यात्प्रतिबोधे न चेद्भवेत् । पशूनामप्यनाख्याने त्रिपदादर्पणं भवेत् ॥ ३ ॥]

(१) मेधातिथिः । दशाहात्परतो न क्रेता यावतानुशयश्चापि विक्रेता यदि राजनिनिवेदयेत्ततः षट्शतानि दण्ड्यः

नद्यादिति नायमदृष्टार्थः प्रतिषेधः किंतिहि ज्ञायते स्थितिरीदृशी अन्विच्छेत्क्रेता दशाहादूर्ध्वनत्याजनीयोनापि विक्रेता ग्राह्यितव्यः अतश्च यदि साम्प्रोभयेच्छायां दानादानेस्यातां तत्र न कश्चिदोषः ॥ २२३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दशाहस्यपरेणेति बीजविषयम् । वस्त्रवासरत्नदोषपुरुषस्त्रीषु एकपञ्चसमन्यहमासार्धमासानामवधीनां स्मृत्यन्तरे उक्तत्वात् । नाददीत विक्रीतं वस्त्वादातुं न यतेत । शतानि पणानाम् ॥ २२३ ॥

(३) कुल्लूकः । दशाहादूर्ध्वक्रीतं न त्यजेत् नापि विक्रीतं विक्रयिकोबलेन दापयेत् । विक्रीतं बलेन गृह्णन्परित्यजन् राज्ञा षट्शतानि पणानदण्ड्यः ॥ २२३ ॥

(४) राघवानन्दः । दशाहादाधिक्ये तदुभयमनुचितमित्याह परेणेति शतानीति ताभिकपणानामिति शेषः । एवं सर्वत्र ॥ २२३ ॥

(५) नन्दनः । आददानोबलादृणहन्तददच्च षट्शतानि कार्षापणानां दण्ड्यः ॥ २२३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्यथाराज्ञा षट्शतानि पणान्नि दण्ड्यः ॥ २२३ ॥

यस्तु दोषवती कन्यामनाख्याय प्रयच्छति ॥ तस्य कुर्यान्नृपो दण्डं स्वयं षण्णवर्तिपणान् ॥ २२४ ॥

(१) मेधातिथिः । या कन्या दोषैर्युक्ता सा च दात्रा वराय नाख्यायते न प्रकाशयत एवमेव दीयते तत्र दातुर्दण्डो विदिते राज्ञा कार्यः । स्वयंग्रहणमादार्थम् । कन्यादोषाश्च धर्मप्रजासामर्थ्यविघातहेतवः । क्षयोव्याधिर्मेथुनसंबन्धश्च नोन्मत्तयेत्येतत्प्रकरणोक्तोदण्डोऽयं वा ॥ २२४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यस्त्विति पूर्वोक्तकन्याविक्रयविषयदण्डसामान्यस्य विशेषोक्तिरियमत्र तस्य संगतिसंभवात् । कुर्यात् दण्डम् । अर्थात् कन्यामपि प्रतिपादयेत् पूर्वोक्तशुल्कं वरोन दद्यात् ॥ २२४ ॥

(३) कुल्लूकः । नोन्मत्ताया इति सामान्येनोक्तं दण्डविशेषाभिधानार्थमिदं उन्मादादिदोषानकथयित्वा दोषवती कन्यां वराय यः प्रयच्छति तस्य राजा स्वयमादरेण षण्णवर्तिपणान्दण्डंकुर्यात् । अनुशयप्रसङ्गेनैतत्कन्यागतमुच्यते ॥ २२४ ॥

(४) राघवानन्दः । नोन्मत्ताया इत्यत्रोक्तदण्डस्य संख्यामाह यस्त्विति । दोषवतीमुक्तोन्मत्तादिदोषत्रययुक्ताम् ॥ २२४ ॥

(५) नन्दनः । अनुपक्रान्तमपि क्रयविक्रयसाधर्म्यात् कन्याप्रदानविषयं विवादमाह यस्तु दोषवतीमिति स्वयंकन्या भर्त्रादिभिरनिवेदितोऽपि ॥ २२४ ॥

(६) रामचन्द्रः । षण्णवर्तिपणान् नृपः स्वयंदण्डंकुर्यात् ॥ २२४ ॥

अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयाद्द्वेषेण मानवः ॥ स शतं प्रामुयाद्दण्डं तस्यादोषमदर्शयन् ॥ २२५ ॥

(१) मेधातिथिः । अकन्यावृत्तमेथुनसंबन्धेति यो वेदेत्तच्च दोषं न भावयेत्तदा शतं कार्षापणं दण्ड्यः । अन्ये मन्यन्तेऽल्पत्वाद्दण्डस्य महत्वाच्चक्रोशस्येति करणस्य च पदार्थविपर्यासकृत्वेन दर्शनादकन्येति शब्दस्वरूपविवक्षितं अकन्येयमित्येतेनैव शब्देनाक्रोशेत्तस्य शतंदण्डः कः पुनरत्र विशेषः उच्यते सद्दंवादी पृच्छ्यते कथमियमकन्येति सचेद्ब्रूयात् निर्लज्जा नृशंसाश्लीलवादिनी नैषकन्यानां धर्मएतच्च न साधयेत्तदा यंदण्डः कन्यागुणनिषेधोक्ते सति । अथवा कन्याशब्दप्रथमवयोवचनमाश्रित्य परोक्षे कस्यचित्स्वल्पा * वृद्धादत्ता यदि राजानं ज्ञापयेदभिरूपतमा कन्या मदीया प्रार्थ्यमाना-

* स्वल्पावृद्धादत्ता = दर्शयमानस्य ब्रूयात्कृता वल्पासौ स्वल्पावृद्धाबालावाकन्यादत्ता (आआ)

ऽनेन तस्यामभिलाषएवमुक्ताथ पराजितस्तत्र ग्रामकालायां यद्येवमुक्तं तदा पराजितस्यायं दण्डः ॥ २२५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अकन्याचेयं स्त्री किंतु क्लीबमिति ॥ २२५ ॥

(३) कुल्लूकः । नेयंकन्या क्षतयोनिरियमिति योमनुष्योद्वेषेण ब्रूयात्तस्याउक्तदोषमविभावयन्पणशतराजा दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ २२५ ॥

(४) राघवानन्दः । वाचादूषितकन्यस्य दण्डमाह । अकन्येयं कन्या केनापि क्षतयोनित्वादिति योब्रूयात् । दोषं क्षतयोनित्वादिकमदर्शयन्पणशतं दण्डमाभूयादित्यन्वयः ॥ २२५ ॥

(५) नन्दनः । अकन्या क्षतयोनिः । शतपणानाम् ॥ २२५ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः द्वेषेण कन्यां अकन्याइति ब्रूयात्तसः पणशतं दण्डं प्राभूयात् । किं कुर्वाणः तस्याः दोषं अदर्शयन् ॥ २२५ ॥

पाणिग्रहणिकामंत्राः कन्यास्त्वेव प्रतिष्ठिताः ॥ नाकन्यासु कचिन्नृणां लुप्तधर्मक्रियाहिताः ॥ २२६ ॥

(१) मेधातिथिः । पाणिग्रहणं विवाहोदारमन्त्राणां तत्र विद्यमानत्वात्सचाग्रिमयक्षतेत्येताभ्यां संबन्धेनासां विवाहे कर्तृत्वं दर्शयति । परमार्थतस्तु विवाहविधौ कन्यामुपयच्छेदिति विहितं तादृशमेवार्थमन्त्राभिवदन्ति न पुनर्मन्त्रेषु कन्याशब्दश्रवणात्कन्यानां विवाहमन्त्राणामविधायकत्वात् । एष एवार्थस्तद्विपरीतप्रतिषेधमुखेन दृढीक्रियते कन्यासु कचिन्नृणां । न कस्यांचिद्देदशाखायां मनुष्याणामकन्याविषयो विवाहः श्रुतः । लुप्तक्रियाः यासां धर्मोऽग्निहोत्रादावपत्योत्पादनविधौ चाधिकारो नास्त्यतस्तानविवाहाः अतः कन्यामकन्येति वदन्महता दण्डेन योजनीयइति पूर्वश्लोकादनन्तरमुच्यते अप्राप्तमैथुनास्त्री कन्योच्यते ॥ २२६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अकन्यातु यदि सा वस्तुतः स्यात्तदा त्याज्यैवेत्युपपादयति पाणिग्रहणिकाइति । कन्यास्त्वेव कन्याविषयाः । एवं नाकन्यासु क्लीबेषु ॥ २२६ ॥

(३) कुल्लूकः । युक्तश्चास्याकन्येति वादिनोदण्डोयस्मात् पाणिग्रहेति अर्यमणं देवं कन्याऽग्रिमयक्षतेत्येवमादयोत्रैवाहिकमनुष्याणामन्त्राः । कन्याशब्दश्रवणात्कन्यास्त्वेव व्यवस्थिता न कन्याविषये कचिच्छास्त्रे धर्मविवाहसिद्धये व्यवस्थिता असमवेतार्थत्वात् अतएवाह ताः क्षतयोनेवैवाहिकमन्त्रैः संस्क्रियमाणा अपि यस्मादपगतधर्मविवाहादिशालिन्यो भवन्ति नासौ धर्म्यो विवाहइत्यर्थः ननु क्षतयोनेवैवाहिकमन्त्रहोमादिनिषेधकमिदम् या गर्भिणी संस्क्रियते तथा वोढुः कन्या समुद्भवमिति क्षतयोनेरपि मनुनैव विवाहसंस्कारस्य वक्ष्यमाणत्वात् । देवत्वेन तु ॥ गान्धर्वेषु विवाहेषु पुनर्वैवाहिको विधिः ॥ कर्तव्यश्च त्रिभिर्वर्णैः समयेनाग्निसाक्षिकइति ॥ गान्धर्वेषु विवाहेषु होममन्त्रादिविधिरुक्तः । गान्धर्वश्रोपगमनपूर्वकोऽपि भवतितस्य क्षत्रियविषये सुधर्मत्वं मनुनोक्तं । अतः सामान्यविशेषन्यायादितरविषयोयं क्षतयोनिविवाहस्याधर्मत्वोपदेशः ॥ २२६ ॥

(४) राघवानन्दः । ननु कन्यात्वक्षतौ किं स्यात्तत्राह पाणीति । अर्यमणं नु देवं कन्या अग्रिमयक्षतेति मन्त्रलिङ्गमाश्रित्यावधारणमाह कन्यास्त्वेति । लुप्तधर्माक्रियाः अपगतविवाहादिक्रियाइति निन्दामात्रम् । अष्टवर्षा भवेत्कन्येति तत्कालावच्छिन्नकन्यादानतात्पर्यमन्यथा या गर्भिणी संस्क्रियते तथा वोढुः सुतमिति क्षतयोन्यधिकृता न स्यात् । अपिच गान्धर्वाभिरपैशाचानां क्षतयोनेरावश्यकत्वात् ॥ गान्धर्वेषु विवाहेषु पुनर्वैवाहिको विधिः । कर्तव्यश्च त्रिभिर्वर्णैः समयेना-

ग्रिसाक्षिकइति होममन्त्रविधेर्देवलोक्तत्वात् । अतएव गोत्रत्वप्राप्तिः । तदुक्तम् । एकत्वमागता यस्माच्चरुमन्त्राहुतिव्रतै-
रिति ॥ २२६ ॥

(५) नन्दनः । पाणिग्रहणविवाहस्तत्र भवाः पाणिग्रहणिकाः विवाहसाधनभूताइति यावत् ॥ २२६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अकन्यासु क्वचित् लुप्तधर्मक्रिया नृणां हितान् ॥ २२६ ॥

पाणिग्रहणिकामन्त्रानियतंदारलक्षणम् ॥ तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे ॥ २२७ ॥

(१) मेधातिथिः । दारा भार्या तस्यालक्षणनिमित्तं विवाहमन्त्रास्तैस्तत्र प्रयुक्तैर्विवाहाख्यः संस्कारो निर्वर्तते द्विजा-
तीनां पुनर्मन्त्रास्तत्र शूद्रस्य दारमसङ्कोनहि तस्य मन्त्राः सन्ति मन्त्रवर्जसर्वान्येति कर्तव्यतास्ति अतो विवाहाख्यसंस्कारोप-
लक्षणं मन्त्रास्तेषां मन्त्राणां निष्ठा समाप्तिः सप्तमे पदे विज्ञेया लाजहोममभिनिर्यत्यं त्रिःप्रदक्षिणमग्निमावर्त्य सप्तपदानि स्त्री प्रक्र-
म्यते इष एकपदी भवेत्यादियावत्सखासप्तपदी भवेति तस्मिन्प्रक्रान्ते कन्यायाः पदे कन्यापितुर्वोदुर्वानुशयो नास्ति उन्मादवत्यपि
भार्यैव न त्याज्या मैथुनवत्यास्तु नैवासौ विवाहः सत्यपि लाजहोमादाविति कर्तव्यतास्वरूपे न भार्यासा अतस्तत्र द्रव्या-
न्तरवदनुशयः यथाच शूद्रकर्तृकेणाधानेनाहवनीयो भवति सपिण्डायाश्च रुतेऽप्यग्निः संस्कारे विवाहत्वरूपत्वं तत्र तु प्रसिद्धम् ॥
संस्कारकरणादेकः प्रायश्चित्तीयते पुमान् । कन्या चान्यस्याप्यविवाहा वसिष्ठवचनात् । यदि प्रजनविधातारोगगृहीतामूढा
नत्यजति का तर्हि गतिः प्रत्यधिकारे अन्यामुद्वाहयिष्यति सद्यस्त्वग्निवादिनीतिवत् रुते तु जातपुत्रायामाधाने यदि
क्षयो व्याधिः स्यात्तथापि नैनामधिविन्देदधिवेदनिमित्तानां परिगणनात् तत्रापि यदि कामतस्तु प्रवृत्तानामित्येतत्प्रयोजकमिष्य-
ते न निवारयामस्तेनैव संक्षेपतः कन्यायां धर्मो यथान्येषां द्रव्याणां दशाहादूर्ध्वमपि साम्रा प्रत्यर्पणं नैवं कन्यानां रुतवि-
वाहानां शुल्कदेयानामपि प्राग्विवाहाद्रव्यान्तरधर्मः । या तु धर्माय दीयते तस्यानैवानुशयइति वचनात् तत्रापि ॥ दत्तामपि
हरेत्कन्यां ज्यायां श्रेष्ठरआत्रजेदित्यस्त्येवापहारआसप्तमपदात् सप्तमे तु पदे वरे दानानिवृत्तेर्गवादिद्रव्यदानवन्नास्त्यपहारः अथै-
व केन चित्कस्मै चिद्विदत्तायां न तयोरन्योन्येच्छयानुशयो दानादाने दानस्य तदानीमेव निवृत्तत्वात् । प्रतिगृहीतं चेद्वात्रे पुनः
मयच्छेत्तद्दानोत्तरमेव तस्यात्तत्पूर्वदाननिवृत्तिः । एवं सगुणयोः कन्यावरयोर्नान्योन्येच्छया त्यागोऽस्ति प्रागपि विवाहात् विवाहे
तु रुते दोषवत्या अपि नास्ति त्यागः कन्यायाः । स्पृष्टमैथुना या तु कन्यैव न भवत्यतोऽसौ त्यज्यते कन्यायायतो-
विवाहो विहितो विवाहश्चोपयोगस्थानीयो यथा परिभुक्तं वस्त्रमन्तर्दशाहमपि नैव विक्रेत्रेऽर्प्यते तथैव कन्या रुतविवाहा
पुनश्चायमर्थो निर्णेष्यते सकृत्कन्याप्रदीयतइत्यत्रान्तरे ॥ २२७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । किंच सप्तपदी गमनात्प्राग्दोषदर्शने कन्याया अशुल्काया अपि त्यागइत्युपपादयति पाणिग्र-
हणिकाइति । दारलक्षणं दारहेतुः । निष्ठा अनिवर्तमानोचिता समाप्तिः ॥ २२७ ॥

(३) कुम्भूकः । वैवाहिकामन्त्रानियतं निश्चितं भार्यात्वे निमित्तं मन्त्रैर्यथाशास्त्रप्रयुक्तैर्भार्यात्वेन निष्पत्तेः तेषां तु मन्त्रा-
णां सखा सप्तपदी भवेति मन्त्रेण कल्पनया सप्तमे दत्ते पदे भार्यात्वनिष्पत्तेः । शास्त्रज्ञैः निष्पत्तिर्विज्ञेया एवंच सप्तपदी दाना-
त्प्राग्भार्यात्वनिष्पत्तेः सत्यनुशये जज्ञानोर्ध्वम् ॥ २२७ ॥

(४) राघवानन्दः । पाणिग्रहस्य दृष्टतया तन्मन्त्राणां कोपयोगस्तत्राह पाणिग्रहेति । तेषां मन्त्राणां निष्ठा समाप्तिः
सप्तमे पदे सप्तमपदगमनेन कन्यायाः । अन्यथा विधितो दारत्वासिद्धेः सर्वधर्मलोपापत्तिरिति । एतेन सखासप्तपदी भवेति
मन्त्रेण कन्यायाः सप्तमपदगमनेन भार्यात्वस्यावधिकथनात्तदभ्यन्तरेऽनुशये सति त्याज्यत्वं सूचितम् ॥ २२७ ॥

(५) नन्दनः । कन्यायादारत्वे नियामकः पाणिग्रहणमन्त्रैः संस्कारस्तेषां निष्ठा तैर्मन्त्रैः संस्कारसंपत्तिः सममे पदे न प्रागिति । पाणिग्रहणमन्त्रसंस्कारोक्षतयोनीनामेव नान्यासामिति पाणिग्रहणिकादित्युक्तविशेषणम् ॥ २२७ ॥

(६) रामचन्द्रः । तेषां मन्त्राणां निष्ठा अवस्था वर्तनोचितासमाप्तिः सममे पदे विद्वद्भिर्विज्ञेया ॥ २२७ ॥

यस्मिन्यस्मिन्कृते कार्ये यस्येहानुशयो भवेत् ॥ तमनेन विधानेन धर्म्यं पथि निवेशयेत् ॥ २२८ ॥

(१) मेधातिथिः । न केवलं वणिजां पण्यधर्मो यं दशाहिको नुशयः किं तर्हि वेतनसंविद्वृद्धिप्रयोगादिषु यस्मिन्यस्मिन्नेति वीप्सयाऽऽशेषकार्यपरिग्रहोऽनेन विधानेन दशाहिकेन विधिना । धर्मादिनपेतो धर्म्यः पन्थामार्गः निवेशयेत्स्थापयेद्वाजा । अतिदेशो यंकृते कार्यइति प्रक्रान्ते पुनः सर्वेण सर्वनिवृत्तेः तत्र ह्यनुशयो भावः । सच निरूपिते स्थापिते बान्तरेऽनुशमस्य दशाहप्रतीक्षणम् । यत्र पुनर्वृद्धयर्थं धनं नीतमृत्विक्कादृत्तो वेतनं च यद्वत्तं कृतसमये विरोधआरब्धस्तत्र नायं धर्मः इति केचिन्निहि कृतमकृतं भवत्येतच्च न कृतं निवृत्तमुच्यते न प्रक्रान्तं न ह्ययमादिकर्मणि को न हि मुख्यार्थत्यागे कारणमस्ति यत्कृतं नाकृतं भवतीति कृतमपि तत्साध्यकार्यप्रतिषेधादकृतमेव यथा भुक्तं वा तमिति लौकिकेष्वपि पदार्थेषु शास्त्रावसेयव्यवस्थाकेषु शास्त्रतएव निवृत्त्यनिवृत्तीविज्ञेये अथापि वृत्ताः पदार्थास्तथापि प्रत्याहरणं विधीयते निष्पन्नेऽपि धनप्रयोगे स्वस्थाननीतेष्वपि रूपकेषु प्रत्यानयनकर्तव्यमन्यतरानुशयात् क्षयव्यययोः शास्त्रधर्मेण नीतेषु वीढव्यास्तथाच गृहोत्तमात्रेषु मासिकीं वृद्धिमिच्छन्ति यत्रैवं बन्धेषु भोक्तव्यइत्यन्तकालमित्येवमाद्यन्तर्दशाहमनुशयो निवर्त्यते । ऋत्विजान्तु वरणं विवाहइव कन्यानां संविदे दशाहादूर्ध्वं प्रवर्तितव्यमस्मिन् शास्त्रे सति ॥ २२८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवमन्येष्वपि द्वयेषु दोषदर्शनान्निवर्तनमूहमित्यतिदिशति यस्मिन्निति । धर्मे पथि निवेशयेत् क्रयप्रत्यावर्तनेन राजा ॥ २२८ ॥

(३) कुल्लूकः । न केवलं क्रयएव अन्यत्रापि यस्मिन् यस्मिन्संबन्धित्वेनादौ कार्ये यस्य पश्चात्तापी जायते तमनेन दशाहविधिना धर्मादिनपेते मार्गे नृपः स्थापयेत् ॥ २२८ ॥

(४) राघवानन्दः । क्रीत्वेत्यत्रोक्तं गृहीतस्य त्यागमन्यत्राप्यतिदिशन्नाह यस्मिन्निति । धर्म्यं दशाहाभ्यन्तरे सम्प्रदाभ्यन्तरे कन्यामपि निवेशयेत् पूर्वस्वामिन्यर्पयेदिति भावः ॥ २२८ ॥

(५) रामचन्द्रः । यस्य पुंसः इहकार्ये अनुशयः पश्चात्तापः भवेत् ॥ २२८ ॥

पशुषु स्वामिनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे ॥ विवादसंप्रवक्ष्यामि यथावद्धर्मतत्त्वतः ॥ २२९ ॥

(१) मेधातिथिः । गवादिपशुविषये व्यतिक्रमे स्वामिनां पालानां च गोपालादीनां यो विवादो गौस्त्वया मे नाशित्वा तां मे देहीति पालोपि विप्रतिपद्यते मदीयो दोषो नाभवदित्यत्र वादपदे यद्धर्मतत्त्वयादशी व्यवस्था तां यथावन्निपुणतो वक्ष्यामीत्यवधानार्थः पिण्डीकृतप्रकरणोपन्यासः ॥ २२९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वामिपालविवादप्रक्रमते पशुष्विति । पशुषु विषयेषु ॥ २२९ ॥

(३) कुल्लूकः । गवादिपशुविषये स्वामिनां पालानां व्यतिक्रमे जाते विवादसंभ्यग्धर्म्ययथा तथा व्यवस्थया वक्ष्यामि ॥ २२९ ॥

(४) राघवानन्दः । स्वामिपालयोस्त्रियुक्तं तमनुसरति पशुष्विति । यथावद्धर्मतत्त्वतः यथातथा व्यवस्थितयोः ॥ २२९ ॥

(५) नन्दनः । अथत्वामिपालयोर्वैवादमाह पशुषु त्वामिनांचैवेति ॥ २२९ ॥

(६) रामचन्द्रः । पशूनां त्वामिनां च पुनः पालानां गोपानां व्यतिक्रमे अपराधे यथा वद्वक्ष्यामि ॥ २२९ ॥

दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ त्वामिनि तद्गृहे ॥ योगक्षेमेऽन्यथाचेत्तु पालो वक्तव्यतामियात् ॥ २३० ॥

(१) मेघातिथिः । दिवा पशूनां योगक्षेमे दोषउत्पन्ने नष्टविनष्टमित्यादिके वक्ष्यमाणे पाले वक्तव्यता कुत्सनीयता तेन सदोषो निबोद्धव्यः । रात्रौ त्वामिनो दोषउद्धन्धनादि मृतानां गृहे त्वामिगृहे यदि पालेन प्रवेशिता भवन्ति अन्यथाचेत्तु यदि रात्रावपि पालेन न प्रवेशितोऽरण्यएव वर्तते तदा पालो दोषभाक् स्यात् एतदुक्तं भवति पालहस्तगता गावो यदा क्षेत्रे कस्यचित्सस्यं भक्षयन्ति केनचिद्वा हन्यन्ते तदा पालस्य अथ पालेन समर्पितास्तदा त्वामिनः । अयोगक्षेमे योगशब्दप्रयुक्तो लक्षणया यथान्वे चक्षुष्मानिति ॥ २३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वक्तव्यता पशूनामक्षेमे तत्कृतापचयवत्ता । तद्गृहे तद्गृहावस्थाने पशूनाम् । योगक्षेमे पशूनामप्रामाणांप्रापणं ग्रामरक्षणं च यदित्वन्यथा दिवारात्रौ च पालएवार्पितं तदा पालदोषः ॥ २३० ॥

(३) कुहूकः । दिवा पशूनां पालहस्तन्यस्तानां योगक्षेमविषये पालस्य गर्हणीयता । रात्रौ पुनः पालप्रत्यर्पितानां त्वामिगृहस्थितानां त्वामिनो दोषोऽन्यथा तु यदि रात्रावपि पालहस्तगता भवन्ति तत्र दोषउत्पन्ने पालएव गर्हणीयतां प्राप्नोति ॥ २३० ॥

(४) राघवानन्दः । तमेवाह दिवेति । वक्तव्यता गर्हणीयता योगक्षेमविषये योगोप्राप्तस्य प्रापणं क्षेमः ग्रामस्य परिपालनं तस्य न सति तद्गृह पालेन समर्पितत्वे अन्यथा पालेना समर्पितत्वे पालएव वक्तव्यः प्रायश्चित्ताद्यन्वितत्वेन इत्यन्वयः ॥ २३० ॥

(५) नन्दनः । वक्तव्यताऽपराधः । योगोयवसपानीयादिदानरूपः क्षेमोऽनिष्टनिवारणरूपः ॥ २३० ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्यथाचेत्पाले समर्पिता सर्वदा पालः वक्तव्यतां दोषभावितां इयात् ॥ २३० ॥

गोपः क्षीरभृतो यस्तु सदुह्या दशतो वराम् ॥ गोस्वाम्यनुमते भृत्यः सास्यात्पालेऽभृते भृतिः ॥ २३१ ॥

(१) मेघातिथिः । कोसौ योगक्षेमः अतः प्रपञ्चयति गांपाति गोपः गोपालकः सकदाचिद्भक्तादिना भ्रियते कदाचित्क्षीरेण तत्र क्षीरभृतो दशभ्यो वरान् श्रेष्ठान् अवरान्वा संहितायामकारप्रश्लेषाद्रक्षायामनुरूपकता यस्य नान्यदन्तं स एकस्या गोः क्षीरमादद्यात् । अनया कल्पनया न्यूनाधिकरक्षणे भृतिः कल्पयितव्या । एवं दोह्यादोह्यधेनुवत्सतरीदम्यवत्सकादिवारणे कचिन्निर्भागः क्षीरस्य कचिच्चतुर्भागः त्वामिभिः कल्पयितव्यः दिङ्मात्रप्रदर्शनार्थं श्लोकोयं । देशव्यवस्थात्वाश्रयणीया भृतिरित्युच्यते । ग्रामगोपालेन यदि गावस्त्यक्ता भवन्ति न तेन त्वामिनमनुज्ञाप्य दशमोगौर्दोह्येति भक्तभृतोऽपि क्षीरेण विनिमयस्येति बुद्ध्या दुहीत तन्निवृत्त्यर्थमुक्तं गोस्वाम्यनुमत इति त्वामिनोऽनुमतिमन्तरेण प्रवर्तमानो दण्ड्यः सानन्तरोक्ता अभृते भृतिर्भवेत् । क्षीरभृत एषा वृत्तिः भृत्यो भरणार्थं धर्माय प्रवृत्तोरक्षायामथवा स्वेच्छया दशम्या गोः क्षीरमाददानश्चोरः स्यात् अस्मिन्स्त्वनुज्ञाते भृतिस्तस्येयमिति न दोषः अत्रापि त्वामिनोऽनुमत्या दोष एवेति चेत्सत्यंतस्य तावता दण्डमात्रं नचौरो भवत्यास्मिन्स्तु चौरो निक्षेपहारी वा स्यात् । अयं श्लोक आदौ वक्तव्यः अतो नंतरः कचित्पद्यते ॥ २३१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्षीरभृतः क्षीरमात्रवेतनो योगोपालः सदुह्यादात्मा र्थम् । दशतो दशसु गोषु रक्षितासु तन्म-

(२३१) दुह्यात्=दद्यात् (रामचन्द्रः) गोस्वाम्यनुमते=गोस्वामिनिभृते (रामचन्द्रः)

ध्यतोवरामुत्तमाम् । गोस्वाम्यनुमतइति तदननुमत्या । मृत्यवष्टम्भेन दोहे दण्ड्यइत्यर्थः । क्षीरंदुहादिति च तत्तत्पशु-
विकारोपयोगोपलक्षणम् । तेनमेषादावूर्णादियहणेपि तत्पालकस्यायंभागक्रमइत्याह सास्यादिति ॥ २३१ ॥

(३) कुल्लूकः । योगोपालाख्योभृत्यः क्षीरेण न भक्तादिना त्वस्वाम्यनुज्ञया धर्षितोगोभ्यः श्रेष्ठामेकांगांभृत्यर्थदुहा-
त्साभक्तादिरहिते गोपाले भृतिः स्यात् । एवंचैकगवीक्षीरदानेन दशगाः पालयेदित्युक्तम् ॥ २३१ ॥

(४) राघवानन्दः । गवांपालस्य भृतिमाह गोपइति । गवां क्षीरमेव भृतं भृतिर्यस्य दशतोवरां दशभ्यःश्रेष्ठां गां
दुहात् त्वभृतिरित्या । अभृते भक्तादिभिः सा गोभृतिः स्यात्त्वार्थं दुहमानायादुग्धभृतिरितिभावः ॥ २३१ ॥

(५) नन्दनः । क्षीररूपभृतिग्राही क्षीरभृतः । दशतोवरंदशभ्योगोभ्यः पाल्यमानाभ्योदोसहेतुभूताभ्यः अवराभेकां-
गांगोस्वामिनानुज्ञातोदुहात् । जातस्य दशगोरक्षकस्य भृतिः ॥ २३१ ॥

(६) रामचन्द्रः । क्षीरभृतः क्षीरवेतनः गोपः दशतः अवरां ऊनां गोस्वामिनिभृते सःभृत्यःदद्यात् दशगवांमध्ये
वरां श्रेष्ठां अभृते । अकृतवेतनेपाले साभृतिः स्यात् ॥ २३१ ॥

नष्टंविनष्टंरुमिभिः श्वहृतंविषमे मृतम् ॥ हीनंपुरुषकारेण प्रदद्यात्पालएव तु ॥ २३२ ॥

(१) मेधातिथिः । नष्टंदृष्टिपथादपेतं न ज्ञायते कगतम् । विनष्टं रुमिभिः आरोहकनामानः रुमयोगवांप्रजनवर्त्म-
नानुभवविषय नाशयन्ति । त्वहृतंप्रदर्शनार्थमेतत् तेन गोमायुव्याघ्रादिहतानामेषैव स्थितिः । विषमेश्वभ्रदरीशिलादिसंकटा-
दौ मृतंप्रदद्यात्पालएव । हीनंपुरुषकारेण पुरुषव्यापारचपलस्य तद्वसन्निधानात् वृकनिवारणे दण्डादिना प्रवृत्तिस्तेनापेतं-
यदिस्यान्निग्रयमाणोव्याघ्रादिवारणे नैव समर्थःसहसैवोत्पत्य कश्चित्पशुर्वेगेन श्वभ्रंगच्छेदनुगच्छतापिनशक्यः प्रत्यावर्तयि-
तुं पालेदोषः ॥ २३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नष्टमदर्शनगतं रुमिभिर्विनष्टंविनाशितं विषमेमृतंनिम्नपातादिना यत्रतु पुरुषकारसंभवे
तदकरणं तत्पुरुषकारहीनं तं पालोदद्यात् ॥ २३२ ॥

(३) कुल्लूकः । नष्टंदृष्टिपथातीतंरुमिभिर्नाशितंश्वभिःखादितंइतंविवरादिपातमृतंप्रदर्शनंचैतत्पालसंबन्धिरक्षकाख्य-
पुरुषव्यापाररहितंमृतंपलायितंगवादि पशुपालएव तु स्वामिने दद्यात् ॥ २३२ ॥

(४) राघवानन्दः । भृतिभुजः पालस्य दण्डमाह नष्टमिति । नष्टं दृष्टिपथातीतं रुमिभिः सर्पादिभिर्विनष्टं मृतं
पुरुषकारेणहीनं चोरादिना क्लियमाणं नरक्षितं तादृशंपशुं दद्यात् ॥ २३२ ॥

(५) नन्दनः । नष्टमदृष्टंपशुमितिशेषः ॥ २३२ ॥

(६) रामचन्द्रः । पुरुषकारेण हीनं नष्टं पुरुषकरिसति यदितंनकरोति तंहि पालएव प्रदद्यात् ॥ २३२ ॥

विधुष्य तु त्वतंचौरैर्न पालोदातुमर्हति ॥ यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति ॥ २३३ ॥

(१) मेधातिथिः । विधुष्याऽऽधुष्य पटहांश्रौरैर्दंतंपशुपालो न दाप्यते निघोषकरणंच पालस्याशक्त्युपलक्षणार्थम् ।
यदि बहवश्चोराः प्रसह्यच मुष्णन्ति तदा पालोमुच्यते सोपि यदि ग्रामकालंतस्यामेव वेलायां स्वामिनः कथयति देशे य-
च स्वामी संनिहितः कथंविज्ञातस्तव अथवा निवासदेशे स्वामी न तत्र यद्यसावसंनिहितोऽपि भवति तथापि तत्स्थानी-
योभवति यो राजानमधिकारिणंवा ज्ञापयित्वा चौरानभिद्रवति । त्वस्येति राजनिवृत्त्यर्थं त्वौहि स्वामीत्वद्रव्यमोक्षणे
यत्कुरुते न तथा पालज्ञापितोराज्ञा दुष्करा च राजज्ञापनापालस्य अथ मुषित्वा गतेषु ज्ञापयेदुष्येदेव ॥ २३३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विधुष्य प्रकाश्य बलादिति यावत् । देशे समीपदेशे काले दिवसादौवा शंसति दूरदेशविषमकालादौत्वकथनेऽप्यदोषइत्यर्थः ॥ २३३ ॥

(३) कुङ्कुकः । चौरैः पुनः पटहादिविधुष्य त्वत्पालोदातुं नार्हति । विधुष्येति चौराणांबहुत्वं प्रबलत्वकथनपरम् । सन्निहिते देशे हरणकालानन्तरमेवात्मीयस्वामिनः कथयति ॥ २३३ ॥

(४) राघवानन्दः । एवंकर्मा पालोन दद्यादित्याह विधुष्येति । तेषां प्राबल्ये सतीत्यर्थः । यदीति देशकालनिश्चयार्थम् । देशे नदीतीरादौ काले प्रातरादौ हरणकालानन्तरमेव स्वस्य गवादेर्वृत्तं स्वामिनः प्रति शंसति कथयति स्वस्य युद्धादिकमिति वा ॥ २३३ ॥

(५) नन्दनः । विधुष्य ह्यियमाणं विख्याप्य त्वत्बलाद्धृतमिति यावत् ॥ २३३ ॥

(६) रामचन्द्रः । यदि देशे यस्मिन्देशे चौरैर्द्धतं अस्मिन्काले स्वामिनः स्वस्य द्रव्यस्य गवादेः हरणे सति सः न दातुं अर्हति ॥ २३३ ॥

कर्णौ चर्मचाम्बालांश्च बस्तिस्त्रायुंच रोचनाम् ॥ पशुषु स्वामिनांदद्यान्मृतेष्वङ्गानि दर्शयेत् ॥ २३४ ॥

(१) मेधातिथिः । आयुषः क्षयान्मृतेषु पशुषु स्वामिनः पर्णाद्यर्पणीयं गोरोचनांगवांश्चक्षुषु चूर्णं भवति बस्तिरङ्गविशेषः अङ्गाः कर्णादयः स्वामिविशेषज्ञानार्थं चिन्हानि तानपि दर्शयेत् । एवंपालस्य शुद्धिः । अङ्गदर्शनेन हि प्रत्यभिज्ञाभवत्ययं स पशुरिति ॥ २३४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वयंमृतेत्वाह कर्णाविति । बस्तिमूत्रपुटं । एतेषामन्यतमंदद्यात् । शृङ्गाणि च दर्शयेदिति विकल्पः । मृतेष्वङ्गानीति पाठे अङ्गान्यङ्गरूपाणि अङ्गान्तराणीत्यर्थः ॥ २३४ ॥

(३) कुङ्कुकः । स्वयंमृतेषु पशुषु कर्णचर्मलाङ्गूलप्रवालान्नाभेरधोभागस्त्रायुरोचनाः स्वामिनांदद्यात् अन्यानि च चिन्हानि शृङ्गखुरादीनि दर्शयेत् ॥ २३४ ॥

(४) राघवानन्दः । स्वयंमृतेषु पशुस्वामिने तदीयानेतान्प्रदर्शयन् दण्डभागित्याह कर्णाविति । बस्तिमधोदेशम् । अंगान्युक्तरिक्तानि शृङ्गखुरादीनि ॥ २३४ ॥

(५) नन्दनः । गवांमरणे गोपालेन कर्त्तव्यमाह कर्णौ चर्मैति । मृतेषु पशुष्वङ्गान्युक्तान्येव दर्शयेत्स्वामिने ॥ २३४ ॥

(६) रामचन्द्रः । पशौमृते पशोः अंगानि कर्णादीनि दर्शयेत् गोरोचनं तिलकादि ॥ २३४ ॥

अजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति ॥ यांप्रसह्य वृकोह्न्यात्पाले तत्किल्बिषं भवेत् ॥ २३५ ॥

(१) मेधातिथिः । अजा चाविका चाजाविकेऽविरेवाविकैडका एते वृकैः शृगालप्रभृतिभिः संरुद्धे अवष्टब्धे प्रथमपातएव हते अस्मिन्श्चान्तरे सत्याभोक्षणेऽहतत्वान्न च पालआयति मोक्षयितुमनायत्यनागच्छति पाले यत्तत्र प्रसह्य बलेनाभिभूय वृकोह्न्यात्पालस्य सदीषः स्वामिनोदापयितव्यः प्रायश्चित्तंचरेत् । गोर्महत्वाद्रोमायुना न शक्यते संरोद्धुमित्यजाविके इत्युच्यते न पुनस्तद्रूपमतश्च बालानांगोब्रत्सानामेष एव न्यायः ॥ २३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अजाविक इति वृकघातयोग्यतया गवागवादेस्तु व्याघ्रादेरेव भयं तत्र च पालस्य रक्षणाशर्केर्न दीषः । वृकैः संरुद्धे तदा च पालेऽन्यव्यासक्त्या तत्रागत्य क्षेममकुर्वति । किल्बिषमपराधः ॥ २३५ ॥

(३) कुल्लूकः । अजाश्राविकाश्राजाविकं गवाश्वप्रभृतौनिचेति द्वन्द्वैकवद्भावः तस्मिन्जाविके वृकैः परिवृते सति पाले नागच्छति यामजामेडकांवा वने वृकोहन्यात्सपालस्य दोषः स्यात् ॥ २३५ ॥

(४) राघवानन्दः । गोविषयकमुक्ताऽजादिविषयकमाह अजेतिद्वाभ्याम् । वृकैर्व्याघ्रैर्हन्तुंरुद्धे अनायति अनागच्छतिसतिदण्डोबहिःप्रायश्चित्तार्थम् । किल्बिषमिति तद्वधपापंपालस्येत्यर्थः ॥ २३५ ॥

(५) नन्दनः । वृकग्रहणं व्याघ्रादीनामप्युपलक्षणार्थं अनायत्यनागच्छति । यामजामविवा । अजाविकेति पुसां-पूर्वलक्षणमेतत् । तत्किल्बिषंतस्यवधोपराधः ॥ २३५ ॥

(६) रामचन्द्रः । अजःछागःआविकःअनायतिसति अनागच्छतिसति वृकःयान्प्रसस्य हन्यात् तत्किल्बिषंपाल भवेत् ॥ २३५ ॥

तासांचेदवरुद्धानांचरंतीनामिथोवने ॥ यामुत्प्लुत्य वृकोहन्यान् पालस्तत्र किल्बिषी ॥ २३६ ॥

(१) मेधातिथिः । अजाविकोपूर्वश्लोके जात्यपेक्षं द्विवचनं पशुशकुनिद्वन्द्वत्वाद्भिभाषितैकवद्भावः इह तु तासामिति व्यक्त्यपेक्षेण बहुवचने परामर्शः । अवरुद्धानां मिथेकत्रप्रदेशे स्थापितानांसंहतीभूतानांदिग्भ्योविदिग्भ्यश्च निरुद्धगमनानां वनेचरन्तीनां दृष्टिगोचराणांयदि कुतश्चनकुआत्संचारणोत्पातानात्तुक्रमेण निष्क्रम्य वृकोहन्यान्पालोदोषभाक् अशक्यंरूपेणैकवृक्षक्षुपशरवल्लोहहन्वनंनिर्विवरीकर्तुंछिद्रानुसारिणश्च वृकाः मिथोग्रहणाच्चातिदूरविप्रकृष्टासु वधेदोषएव पालहस्तगताःपशवस्तदुपेक्षायां यदि दोषमामुयुः सपालेनैव समाधेयइति एषप्रपञ्चः सुखावबोधार्थः ॥ २३६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अवरुद्धानामेकस्थानीकृत्य पालेन रक्ष्यमाणानाम् ॥ २३६ ॥

(३) कुल्लूकः । तासामजाविकानांपालेन नियमितानांसंधीभूय वनेचरन्तीनाम् यवाद्यदि कश्चित्कुतश्चिदुत्प्लुत्यालक्षितोयांकांचिद्वन्यान्पालस्तत्र दोषभाक् ॥ २३६ ॥

(४) राघवानन्दः । अवरुद्धानांपालेनप्राकारादिना रक्षार्थमागतेतुनदोषइत्याह तासामिति । यामिति लिङ्गमविवक्षितम् । तत्र तादृशे हते नकिल्बिषी दण्डं प्रायश्चित्तंवा नार्हति ॥ २३६ ॥

(५) नन्दनः । तासामजावीनामद्वये मिथोवने वनगहने ॥ २३६ ॥

धनुः शतंपरीहारोयामस्यस्यात्समन्ततः ॥ शम्यापातास्त्रयोवापि त्रिगुणोनगरस्य तु ॥ २३७ ॥

(१) मेधातिथिः । चतुर्हस्तंधनुस्तेषांशतंचत्वारिहस्तशतानि समंततश्चतसृषु दिक्षु यामस्य परीहारः कर्तव्यः । अनुमसस्या भूमिः पशूनांसुखप्रचारार्था कर्तव्या । दण्डयष्टिःसा बहुवेगेन प्रेरिता यत्र पतति ततः प्रदेशादुद्धृत्य पुनः पातयितव्या यावच्चिस्तस्य परिमाणोवा शम्यापातः परीहारः । त्रिगुणोनगरस्य ग्रामनगरे प्रसिद्धे शम्यायाः पाताः प्रेरितायविगसंस्कारक्षयोभूमौ स्थानादि ॥ २३७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धनुर्हस्तचतुष्कं तच्चतुःशतं महाग्रामस्य परीणाहेवेष्टनेन त्याज्या भूमिः । परीहारइति कचित्पाठः । शम्यापाताः क्षिमाःशम्यायावतितेत्रयस्तत्रिगुणोदेशः क्षुद्रग्रामस्य । एतयोर्द्वयोस्त्रैगुण्यं नगरस्य बृहत्क्षुद्रत्वापेक्षया विकल्पेन ॥ २३७ ॥

(३) कुल्लूकः । चतुर्हस्तोधनुः शम्यायष्टिः तस्याः पातः प्रक्षेपोग्रामसमीपे सर्वासु दिक्षु चत्वारिहस्तशतानि त्रीन्वा यष्टिप्रक्षेपान्यावत्पशुप्रचारार्थंसस्यवपनादिसंरोधपरीहारः कार्यः । नगरसमीपे पुनरयंत्रिगुणः कर्तव्यः ॥ २३७ ॥

(४) राघवानन्दः । ग्रामनगरयोर्निकटवर्तिनि सस्ये पशुभिर्भुक्तेपि पालोनदण्डभागनवरुद्धत्वात्सस्यस्येत्याह धनुरितिद्वाम्याम् । चतुर्हस्तोधनुः । शम्यापातः शमी यष्टिस्तस्याः आपातः प्रक्षेपः तेन धनुःशतेन शम्यापातैस्त्रिभिर्वा यावान्याप्योदेशस्तावतः परिहारः त्यागः सस्यशून्यतया कर्तव्यः । नगरस्यतु त्रिगुणः परिहारः कार्यइत्यन्वयः ॥ २३७ ॥

(५) नन्दनः । अथगोप्रचारभूमिपरिमाणमाह धनुःशतमिति । धनुःशतेनपरिमाणेनपरिवार्यतइति धनुःशतपरिवार्य-कोदेशः । शम्यास्मिन्पात्यतइति शम्यापातोदेशः त्रिगुणेधनुःशतत्रयपरिमाणानि । शम्यापातनवकपरिमाणोवा । क्षुद्रत्वम-हत्त्वापेक्षया विकल्पः ॥ २३७ ॥

(६) रामचन्द्रः । ग्रामस्य समन्ततोधनुःशतं धनुः चतुर्हस्तं परिणाहः अनुमसस्या भूमिः स्यात् यष्टिः यादण्डयष्टिः पातास्त्रयः दण्डः प्रक्षेपेण यत्र पतति तावन्नयंवा परिणाहः । तु पुनः नगरस्य त्रिगुणः परिणाहः नसस्यं विद्यते यस्यांसा असस्याभूमिः ॥ २३७ ॥

तत्रापरिवृतं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि ॥ न तत्र प्रणयेद्वृण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम् ॥ २३८ ॥

(१) मेधातिथिः । तत्र परीहारस्थाने क्षेत्रं कर्तव्यमथ कृतं कृताः कृताऽत्रक्षेत्रिण एवापराध्यन्ति न पशुपा-द्याः नहि पालकैकं पशुं हस्तबन्धेन नेतुं शक्नोति नच पशूनामन्यो निर्गमोस्ति ॥ २३८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तत्र परिणाहे । धान्यमिति पशुभक्ष्योपलक्षणम् विहिंस्युर्भक्षयेयुः ॥ २३८ ॥

(३) कुल्लूकः । तस्मिन्परिहारस्थाने यदि केन चिददत्तावृतिकं धान्यमुप्येततच्चैत्पशवो भक्षयेयुस्तत्र पशुपालानां नृ-पोदण्डं कुर्यात् ॥ २३८ ॥

(४) राघवानन्दः । अपावृतेतु नदण्डइत्याह तत्रेति । विहिंस्युर्भक्षयेयुर्विमर्दयेयुर्वा ॥ २३८ ॥

(५) नन्दनः । तत्र गोप्रचारदेशे अपरिवृतं वृतिरहितम् । तत्र वान्यर्हिसाविषये ॥ २३८ ॥

(६) रामचन्द्रः । तत्र परिणाहे अपरिवृतं अवैष्टितं धान्यं पशवो यदि विहिंस्युस्तत्रापराधेनृपतिः पशुरक्षिणां दण्डं प्रणयेत् ॥ २३८ ॥

वृतिरतत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रोन विलोकयेत् ॥ छिद्रं च वारयेत्सर्वं श्वसूकरमुखानुगम् ॥ २३९ ॥

(१) मेधातिथिः । कटकशाखादीनां प्रकारविन्यासः पशुप्रवेशवारणार्थः क्षेत्रारामादीनां वृतिरुच्यते याक्वचित्पार्णिके-तिप्रसिद्धावारणावृतिः । तस्याउन्नतिरियतीकर्तव्या ययोष्ट्रोनावलोकयति किमियं द्वितीया तृतीयार्थं यामुष्ट्रइति नेति ब्रूमः कथं तर्हि वृतिमुष्ट्रोन पश्यति महोत्सेधायाद्वितीयपार्श्वस्यादर्शनाददृष्टैव वृतिः । छिद्रं च विवरमावारयेत्सर्वम् । श्वसूकरमुखेन यदनुगम्यते तन्मुखं परिमाणं तथा कुर्याद्यथाश्वमुखं नमाति तन्मुखादप्यल्पछिद्रमित्यर्थः तथा कृतायां वृतौ ॥ २३९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रकुर्वीत धान्यस्वामो यामुष्ट्रइत्युच्चतोक्ता । श्वसूकरमुखं यन्नानुगच्छति तादृक्छिद्रं वारयेत् ॥ २३९ ॥

(३) कुल्लूकः । तत्र परिहारस्थाने क्षेत्रे वृत्तिकण्टकादिमयी तथाविधामुच्छ्रितां कुर्यात् यामपरपार्श्वे उष्ट्रोन विलो-कयेत्तस्यांच यत्किंचिच्छिद्रं श्वसूकरमुखप्रवेशयोग्यं तत्सर्वमावृणुयात् ॥ २३९ ॥

(४) राघवानन्दः । अपरिवृतमित्युक्तं तत्र किंरूपा वृतिर्देयेत्यपेक्षायामाह वृतिमिति । उष्ट्रावलोकपर्यन्तामुच्छ्रि-तां वृतिं कुर्यादिति । श्वदेर्मुखं यावत्प्रविशति तावदपि छिद्रं निरुन्ध्यादिति । अनेन खेटस्वर्वत्वादीनामप्यावृतत्वं सूचित-म् ॥ २३९ ॥

(५) नन्दनः । श्वसूकरमुखानुगं श्वसूकरमुखैरनुगम्यंमुप्रवेशम् ॥ २३९ ॥

(६) रामचन्द्रः । तत्र परिणाहे वृत्ति कण्टकवेष्टनं । यां वृत्तिमुष्टेनविलोकयेत् न पश्येत् । वापातान्तरंश्वशूक-
रमुखानुगंछिदंसर्ववारयेत् यत्रछिदे शुनः शूकरस्यतयोःमुखप्रवेशयोग्यं छिद्रस्यमुद्रणंकुर्यात् ॥ २३९ ॥

पथि क्षेत्रे परिवृते ग्रामान्तीयेऽथवा पुनः ॥ सपालः शतदण्डार्होविपालान् वारयेत्पशून् ॥ २४० ॥

(१) मेधातिथिः । परिवृते पथि क्षेत्रे ग्रामसमीपवर्तिनि च परीहारमध्यगते अन्तशब्दः समीपवचनोयदि भक्ष-
येत्पशुः सपालश्चस्यात्सन्निहिते पालः शतदण्डार्हः पशोर्दण्डासंभवात् पालेऽसन्निहितेऽपि गृहे यदा नाप्यसौपालः प्रसिद्धो न
पुनस्तत्प्रेषितोवारिकोरूपमात्रचेतनः विपालाः पशवोवारयितव्यादण्डादिना नतुदण्डनीयाः विपालाश्चोत्सृष्टवृषादयः अन्येषा-
न्तुविपालानांस्वामिनोदण्डोऽथवा परिवृतइति प्रश्लेषक्षेत्रसंबधाच्च गम्यमानः स्वामी सपालइत्यन्यपदार्थतया संबध्यते
सहपालेन क्षेत्रेकोदण्ड्यजभौ दण्ड्यौ पालः क्षेत्रिकश्च क्षेत्रिकस्तावत्किंलकमिति पथि क्षेत्रे वर्तते कृतवान् पालेनापि
वृत्तौ चसत्यां किंक्षेत्रंखादयितव्यंपालप्रमादादपि तौ वारयेत् तथागौतमः ॥ पथिक्षेत्रेऽनावृते पालक्षेत्रिकयोरिति । २४० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पथि परिवृते तथा क्षेत्रे तथाग्रामान्तीये प्रागुक्तग्रामान्तरपरिणाहेच परिवृते । ग्रामपदं
नगरस्याप्युपलक्षणम् । सपालः पशुः शतं पणान् दण्ड्यः । पशोर्दण्डः पालस्यैवार्थात् । विपालान् देवादिपशून् स्वयमेव
क्षेत्रस्वामी चारयेत् ॥ २४० ॥

(३) कुल्लूकः । वर्त्मसमीपग्रामसमीपवर्तिनि वा परीहारस्थे क्षेत्रे दत्तवृत्तौ सपालः पशुः पालानिवारितोद्वारादिना
कथंचित्प्रविष्टोयदा भक्षयति तदा पणशतंदण्ड्यः । पशोश्च दण्डासंभवात्पालएव दण्ड्यः । विपालान्पुनर्भक्षणप्रवृत्तान्क्षे-
त्ररक्षकोनिवारयेत् ॥ २४० ॥

(४) राघवानन्दः । परिवृतसस्यभोजिनां पालस्य भावाभावावाश्रित्याह पथीति । सपालः पशुः पालेन रक्षितः
स्तत्रापिपालस्यैव दण्डोनपशोः । वारयेत् भक्ष्ये प्रवृत्तान विपालानिति शेषः ॥ २४० ॥

(५) नन्दनः । परिवृते वृत्तियुक्ते धान्यविहिंस्युःपशवोयदीत्यनुषङ्गः । शतंपणशतं । विपालंगोपरहितं पशुंक्षेत्र-
स्वामी वारयेत् । न तत्र दोषः ॥ २४० ॥

(६) रामचन्द्रः । पथि क्षेत्रे मार्गसमीपक्षेत्रे कंटकैः परिकृते विपालान्चारयेत् तर्हि सपालः शतदण्डार्हः । वा
पुनः ग्रामान्तीये ग्रामसमीपे पशून्चारयेत् सदण्डार्हः ॥ २४० ॥

क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादपणमर्हति ॥ सर्वत्र तु सदोदेयः क्षेत्रिकस्येति धारणा ॥ २४१ ॥

(१) मेधातिथिः । पथिक्षेत्रग्रामान्तीयेभ्योऽन्यानि क्षेत्राणि तद्भक्षणे सपादपणोदण्डः ननु चात्र स्वल्पेन दण्डेन
भवितव्यं पातप्रमादासन्निहिते क्षेत्रे यन्तु पन्थानमतिक्रम्य क्षेत्रंवा हिग्रामंच तत्र महादण्डोयुक्तः किमिति गवांपालोगन्तु-
तत्र ददाति नैषदोषः यद्यत्र महादण्डोच्यते तदा प्रत्यहंप्रवेशनिर्गमैर्गवांभक्षयन्तीनांग्रामान्तक्षेत्राण्युत्सीदेयुर्दण्डान्तु महतो
बिभ्यतोयत्नेन रक्षन्ति अन्यत्र क्षेत्रिणोविशेषार्थाकथंचिन्नयति स्वल्पोदण्डः अत्रापि विपालानांवारणमेव सर्वत्र क्षेत्रस्वा-
मिनोगतफलदेये च ते परिमाणे कल्पिते । क्षेत्रमस्यास्तीति व्रीह्यादित्वाढक् इति धारणैषनिश्चयइत्यर्थः । सर्वत्र ग्रहणाच्च
विपालेऽपि पशौ क्षेत्रिकस्य गतलाभः । यद्यपि पशुशब्दः सामान्यशब्दोमहिन्यजात्युष्ट्रगर्दभादिषुवर्तते तथापि स्मृत्य-
न्तरदर्शनाद्गोष्वयंदण्डइति मन्यते तथा च गौतमः ॥ दशमहिषीष्वजाविषु द्वावित्याद्यन्यत्र कल्पना ॥ २४१ ॥

* विपालानिति=विपालान् क्षेत्रपालकेति (न, श,)

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्षेत्रेभ्यन्येषुनावृतेषु ग्रामदूरस्थक्षेत्रेषु । अयंच राजदण्डः । नष्टस्तु सदः सस्यं क्षेत्रिकस्य सर्वत्र पशुकृतापराधे देयः ॥ २४१ ॥

(३) कुल्लूकः । वर्त्मग्रामान्तव्यतिरिक्तेषु पशुभक्षयन्सपादंपणदण्डमर्हति अत्रापि पालएव दण्ड्यः । सर्वत्र क्षेत्रे पशुभक्षितफलंस्वामिने पालेन स्वामिनावा यथापराधंदातव्यमिति निश्चयः ॥ २४१ ॥

(४) राघवानन्दः । वर्त्मग्रामान्तव्यतिरिक्तक्षेत्रेषु दण्डन्यूनतामाह क्षेत्रेष्विति । एवंविधे पशुः पशुपालः पणं मूल्यं पणस्यपादंवासपादं माषचतुष्काधिकताम्रतोलकद्वयंसर्वत्र सपालैर्विपालैर्वाभक्षितसस्याय । क्षेत्रिगे सदः मूल्यं स्वा-
मिना पालेनवोक्तानुसारेण देयइति धारणा नियमः । नियमविशेषोयाज्ञवल्क्यात् ज्ञेयः । तथाहि ॥ माषानष्टौ तु महिषी सस्यघातस्य कारिणी । दण्डनीया तदर्धं तु गौस्तदर्धमजाविकम् ॥ भक्षयित्वोपविष्टानांयथोक्ताद्विगुणोदमः । सममेषां-
विवीतेऽपि खरोष्ट्रं महिषीसमम् ॥ यावत्सस्यं विनश्येत् तावत्क्षेत्री फलंलभेत् । गोपस्ताड्यस्तु गोमोतु पूर्वोक्तं दण्डमर्ह-
तोति ॥ विवीते वननिकटे । सपालेपि । धारणा नियमः ॥ २४१ ॥

(५) नन्दनः । अन्येषु क्षेत्रेषु वृतिरहितेषु गोप्रचारदेशव्यतिरिक्तेषु । पशुर्हिंस्यादित्यनुषज्यते वचनविपरिणामे न । सर्वत्र ग्रामान्तादौ । सदःकृषिफलं क्षेत्रिकाय क्षेत्रस्वामिने ॥ २४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्येषु क्षेत्रेषु सपादंपणदण्डं अर्हति । तु पुनः सर्वत्र सदः अन्नं क्षेत्रिकस्य देयः इति धारणा मर्यादा ॥ २४१ ॥

अनिर्दशाहांगं सूतां वृषान् देवपशूंस्तथा ॥ सपालान्वा विपालान्वा न दण्ड्यान्मनुरब्रवीत् ॥ २४२ ॥

(१) मेधातिथिः । अत्रापवादः गोग्रहणान्मनुष्यादिषु दोषः वृषाःसत्कारैर्देवपशवोदेवयागार्थंयजमानेन कल्पिताः प्रत्यासन्नयागाअथवेष्टकादिकूटस्थापिताहरिहरादीनांप्रकृतयोवोच्यन्ते तेषांपशवस्तानुद्दिश्य केनचिदुत्सृष्टास्तदाहस्य देवानांपशूनांच स्वस्वामिसंबंधस्य संभवात् देवायतनमण्डनानांचैषधर्मः नतु तत्पालकैर्वाहदोहाद्यर्थये देवगृहेषु धार्यन्ते यतः पालकाएव तेषांदेवानामर्थंविनियुज्यते अतस्तत्र पालकाएवस्वामिनोऽतोयुक्तः स्वामिनामन्येषांयोधर्मः सतत्राऽऽयतन-
मण्डनस्थः परिगृहीताऽव्यवधानेन देवपशुशुद्धिमुत्पादयन्ति । वृषोत्सर्गादिविधानोत्सृष्टावृषाःकैश्चित्परिगृह्यन्ते ततः सपा-
लाअथागृहीत्वा विपालाउभयेषामयदण्डः ॥ २४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनिर्दशाहां सूतां तस्याश्चारयितव्यत्वादुच्चततया रक्षणाशक्तेश्च सपालत्वेपि न दोषः । वृषानुत्सृष्टान् देवपशून् देवसंबन्धिनश्छागादीन् विपालानप्तेतान्दण्डयेत् देवस्वग्रहणपर्यवसानात् ॥ २४२ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रसूतांगमनिर्गतदशाहांतथा च चक्रशूर्लांकितोत्सृष्टवृषान् हरिहरादिप्रतिमासंबन्धिपशून्पालसहि-
तान्पालरहितान्वा सस्यभक्षणप्रवृत्तान्मनुरदण्ड्यानाह उत्सृष्टवृषाणामपि गर्भार्थंगोकुले पालैर्द्धारणात्सपालत्वसंभवः ॥ २४२ ॥

(४) राघवानन्दः । सपालेपि ग्रामदण्डाभावमाह अनिर्दशेति । वृषान् बद्धीषु गोषु रेतःसेकसमर्थान् । देवपशून् देवोद्देशेनोत्सृष्टान् । अत्र सदोपि न वाक्यभेदात् ॥ २४२ ॥

(५) नन्दनः । अनिर्दशाहामनतीतदशाहां न दण्ड्यान्दण्ड्यान् ॥ २४२ ॥

* सपालेपि=तत्र (न, श, राघ० २)

(६) रामचन्द्रः । दण्डस्यापवादमाह । गां अनिर्दशाहां सूतां प्रसूतां वृषान् वृषाउत्सृष्टपशवः तथा देवतोद्देशेन-
त्यक्तान् सपालान्वा अपालान्वा न दण्ड्यान्मनुरब्रवीत् ॥ २४२ ॥

क्षेत्रियस्यात्यये दण्डोभागादशगुणोभवेत् ॥ ततोऽर्धदण्डोभृत्यानामज्ञानात्क्षेत्रिकस्य तु ॥ २४३ ॥

(१) मेधातिथिः । क्षेत्रत्वामिनः स्वक्षेत्रेऽत्ययोऽतिक्रमोपराधोयदि भवेत्स्वरुतेऽकालेवापनंनिदानमयोग्यबीज-
वापः स्वपशुभिर्भक्षगंगिरणंवा विदितफलके प्रायशस्त्यादि तदा राज्ञोयावान्भागःआगच्छति तदशगुणदण्डनीयः अथ
तस्याज्ञातमेतत्प्रयुक्तैर्भृत्यैः क्षेत्रजागर्यानि युक्तैर्वाऽपराद्धतदार्धदण्डोभृत्यानामत्यये क्षेत्रिकस्य दण्डइति संबन्धः । क्षेत्रप्रस-
ङ्गादत्रेदमुक्तम् ॥ २४३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्षेत्राधिकृतस्यैव पशुभिः सस्यात्यये कृते राज्ञोप्राप्तत्वभागादशगुणोऽन्योपि भागोदण्ड-
त्वेन ग्राह्यः । क्षेत्रिकाज्ञाने पालमात्रदोषात्तन्नाशे ग्राह्यत्वभागात्पञ्चगुणोभागोभृत्यानांपालानांदण्डः । भृत्येनच क्षेत्रि-
काय सदोदेयस्तुल्यन्यायत्वात् ॥ २४३ ॥

(३) कुड्डूकः । क्षेत्रकर्षकस्यात्मपशुसस्यभक्षणेऽयथाकालंवपनादौ वाऽपराधे सति यावतोरज्यभागस्य तेन हानिः
कृता ततोदशगुणदण्डः स्यात् । क्षेत्रिकाविदिते भृत्यानामुक्तापराधे क्षेत्रिकस्यैव दशगुणार्धदण्डः । क्षेत्रसस्यप्रसङ्गाच्चेद-
मुक्तम् ॥ २४३ ॥

(४) राघवानन्दः । क्षेत्रदण्डप्रसंगेन कालापराधादौ दण्डमाह क्षेत्रिकस्येति । अत्यये कृषियोग्यकालात्यये
राजकीयभागस्य दशगुणः क्षेत्रिकस्य कृषिकस्य दण्डस्ततोर्धदण्डः पञ्चगुणः । क्षेत्रिकस्य क्षेत्रकर्मणः कृष्यादेः अज्ञानात्
भृत्यानाम् ॥ २४३ ॥

(५) नन्दनः । क्षेत्रिकस्याक्रमे दण्डमाह क्षेत्रिकस्येति । अत्ययेऽतिक्रमे क्षेत्रिकनिमित्ते सस्य घातइतियावत् ।
तस्य त्रिनष्टाद्भागादशगुणोदण्डोभवेत् । क्षेत्रस्याज्ञानादनुमत्या भृत्यानांसंबन्धिनामत्यये दशगुणार्धदण्डः पञ्चगुणदण्डो-
भवेत् ॥ २४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । क्षेत्रिकस्य अत्यये क्षेत्राधिपते रेव पशुभिः क्षेत्रनाशे कृते भागात् राजग्राह्यात् दशगुणःदण्डः
भवेत् राज्ञा ग्रहीतव्यः । क्षेत्रिकस्यतुअज्ञानात् । भृत्यानां पालानां ततोर्धदशभागार्धदण्डः ॥ २४३ ॥

एतद्विधानमातिष्ठेद्धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥ स्वामिनांच पशूनांच पालानांच व्यतिक्रमे ॥ २४४ ॥

(१) मेधातिथिः । सुबोधोयंश्लोकः ॥ २४४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पशूनांपशुभिर्व्यतिक्रमे तत्त्वामिनां तत्पालानांच विधानं दण्डप्रकारविशेषम् ॥ २४४ ॥

(३) कुड्डूकः । स्वामिनांपालानांचारक्षणादपराधे पशूनांच सस्यभक्षणरूपेव्यतिक्रमे धर्ममघानोभूपतिरेतत्पूर्वो-
क्तकर्तव्यमनुतिष्ठेत् ॥ २४४ ॥

(४) राघवानन्दः । उपसंहरति एतदिति । व्यतिक्रमे सस्यभक्षणादौ ॥ २४४ ॥

(५) नन्दनः । एतदुक्तंविधानम् ॥ २४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । धार्मिकःपृथिवीपतिः एतद्विधानं आतिष्ठेत् कुर्यात् ॥ २४४ ॥

सीमांप्रतिसमुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः ॥ ज्येष्ठे मासि नयेत्सीमांसुप्रकाशेषु सेतुषु ॥ २४५ ॥

(१) मेधातिथिः । सीमांप्रतिविवादे सीमानिमित्ते लक्षणेत्यभूतेति प्रतेःकर्मवचनीयत्वात् द्वितीयानिमित्तमपि लक्षणमिति शक्यते वक्तुं सीमा मर्यादा ग्रामादीनां विभागः परिमाणमियत्ता परिच्छेदनमिति यावत् ज्येष्ठे मासि नयेन्निर्णयः कर्तव्यः । मासविशेषनिर्णये हेतुमाह संप्रकाशेषु सेतवः सीमालिङ्गानि वक्ष्यमाणानि लोष्ठपाषाणविशेषजातीयसीमादाह-
तृगुंजादीनि प्रागस्मात्कालादनुस्थितेषु तृणेषु लोष्ठपाषाणयोरन्यस्याश्च भूमेर्न विशेषोलक्षितोयदा तत्र तृणानि न ज्ञाय-
न्ते तदा सीमेति निश्चीयते । एवंवल्लीस्थानादिष्वपि प्राग्वसंताद्वासंतिके दाहविशेषेन लक्ष्यते हत्वाभिधानात्तस्मिन्देशे
यदा व्ययते ततोमासात्कालहरणं कर्तुं नादेयमन्यदा तु लिङ्गाज्ञानार्थं कालापेक्षापि भवतीत्येतत्तात्पर्येषु ग्रहणे ॥ २४५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अथसीमा ॥ सीमांप्रतीति । नयेदुन्नयेत् । संप्रकाशेषु प्रकटेषु ॥ २४५ ॥

(३) कुल्लूकः । द्वयोर्ग्रामयोर्मर्यादांप्रतिविप्रतिपत्तावुत्पन्नायां ज्येष्ठे मासि ग्रीष्मरवितापसंशुष्कतृणत्वात्प्रकटीभूतेषु
सीमालिङ्गेषु राजा सीमानिश्चिनयात् ॥ २४५ ॥

(४) राघवानन्दः । सीमाविवादधर्मस्येत्युक्तं तन्निर्णयमाह सीमेत्यादिभिर्द्वाविंशत्या । तत्र सीमा चतुर्धा देशग्राम-
क्षेत्रगृहभेदेन तत्र तदुचितकालमाह सीमामिति । सेतुषु भेदकेषु सुप्रकाशेषूक्तस्थले तृणादीनां शोषदाहाम्याम् ॥ २४५ ॥

(५) नन्दनः । सीमाविवादमाह सीमामिति नयेत्प्रापयेत् । ज्येष्ठमासे सीमानयनविधेः कारणंतस्मिन्कालेसीमावि-
वादनिरणयहेतवः सेतवः सुप्रकाशाभवन्तीति ॥ २४५ ॥

(६) रामचन्द्रः । ज्येष्ठे मासि संप्रकाशेषु सेतुषु सीमां ग्रामयोः सीमां नयेत्प्रापयेत् ॥ २४५ ॥

सीमावृक्षांश्च कुर्वीतन्यग्रोधाश्वत्थार्किशुकान् ॥ शाल्मलीन्सालतालांश्च क्षीरिणश्चैव
पादपान् ॥ २४६ ॥

(१) मेधातिथिः । पादपावृक्षाः क्षीरिणोर्कोदुम्बरप्रभृतयः । एवंहि चिरस्थायित्वात्सीमादेशएव रोपयितव्यान ग्राम-
ममध्ये सीमादेशादन्यत्र क्रियमाणान निश्चायकाः स्युः ॥ २४६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यैरुहेतदभिधानाय सीमाचिह्नकरणप्रकारमाह सीमावृक्षानिति । सीमावृक्षान् सीमालि-
ङ्गवृक्षान् ॥ २४६ ॥

(३) कुल्लूकः । न्यग्रोधादीन्वृक्षान् क्षीरिणउदुम्बरादीन् चिरस्थायित्वात्सीमालिङ्गभूतान्कुर्वीत ॥ २४६ ॥

(४) राघवानन्दः । सीमाज्ञप्ते तदुचितवृक्षानाह सीमेतिद्वाभ्याम् । न्यग्रोधोवटः । किशुकः पलाशः । क्षीरिणः
उदुम्बरादीन् ॥ २४६ ॥

(५) नन्दनः । किशुकान्पलाशान् ॥ २४६ ॥

(६) रामचन्द्रः । किशुकान्पलाशान् च पुनः क्षीरिणः पादपान्कुर्वीत ॥ २४६ ॥

गुल्मान्वेणूंश्च विविधान् शमीवल्लीस्थलानि च ॥ शरान्कुञ्जकगुल्मांश्च तथा सीमा न
नश्यति ॥ २४७ ॥

(१) मेधातिथिः । उपच्छन्नानि चान्यानि कारयेत् शरान्मुक्तकुञ्जगुल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति । संहतप्रका-
ण्डावोरुधोगुल्मानि वेणवआरग्वधादयः बहुत्वाच्च विविधग्रहणं वल्योन्नततयः । दीर्घाकुरास्तृणजातयः रुत्रिमा शाङ्गलादि-

पिण्डिका कुब्जकस्य गुल्मत्वात्पृथगुपदेशआदरार्थः । करीषंशुष्कगोमयं अङ्गाराअग्निदग्धाः काशवयवाः पाषाणकठिना मृदः शर्करा कपालिकाशकलैकदेशः ॥ २४७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गुल्मान् बीजपूराद्यान् । शर्मी वृक्षविशेषम् । वल्ली चिरस्थायिनीं करञ्जादिलताम् । स्थलं च मृदादिना । कुब्जकगुल्मान् कुब्जकषण्डान् ॥ २४७ ॥

(३) कुङ्कुमः । गुल्मान्काण्डरहितान्वेणुंश्च प्रचुरकण्टकत्वाल्पकण्टकत्वादिभेदेन नानाप्रकारान्सीमावृक्षान्वल्लीं ताः स्थानानि रुत्रिमोन्नतभूभागान् शरान्कुब्जकगुल्मांश्च प्रचुराऽल्पभोगत्वेनादरार्थं पृथक् निर्दिष्टान्सीमालिङ्गभूतान्कुर्यात् । एवंरुते सीमा न नश्यति ॥ २४७ ॥

(४) राघवानन्दः । गुल्मान् बहुमूललताकारान् शतमूल्यादीन् । वल्ली लता । स्थलानि रुत्रिमोच्छ्रितभूमयः अत्यादरार्थं पुनर्गुल्मांश्चेति ॥ २४७ ॥

(६) रामचन्द्रः । गुल्मान् बीजपूरादीन् वल्ली करञ्जादिलता । स्थलानि सत्कूटादीनि ॥ २४७ ॥

तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च ॥ सीमासंधिषु कार्याणि देवतायतनानि च ॥ २४८ ॥

(१) मैधातिथिः । महंभांसितडागानि वाप्यः पुष्करिण्युदपानानि कूपप्रभृतीनि प्रस्रवणान्युदकस्यन्दाईषत्सवदुदकाभूप्रदेशाः । देवतायतनानि यक्षगृहकादीन्येतानि प्रकाशकानि नक्षेतानि त्वल्पेनायासेन नाशयितुं शक्यन्ते नाशयमानेषु च महान्प्रत्यवायोभवति । सर्वस्य चोदकार्थिनोदेवतादर्शनार्थिनश्च तत्र संनिधानात्सुज्ञातश्च साक्षिणांसीमासन्धिर्भवति अन्यानिप्रच्छन्नानिकरीषादीनि भवन्ति कारयेद्वाजा नवग्रामसंनिवेशे कृते निर्णयं एवंसीमा न कदाचिन्नश्यति अन्यथा तंप्रदेशंकश्चित्कर्षणेन नाशयेत् ॥ २४८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तडागानि पुष्करिण्यः । उदपानानि कूपाः । वाप्यः क्षुद्रपुष्करिण्यः । प्रस्रवणानि बहत्वातानि ॥ २४८ ॥

(३) कुङ्कुमः । तडागकूपदीर्घिकाजलनिर्गममार्गदेवगृहाणि सीमारूपेषु ग्रामद्वयसंधिस्थानेषु कर्त्तव्यानि । एतेषु सीमानिर्णयाय विख्याप्य कृतेषूदकार्थिजनाअपि श्रुतिपरंपरया चिरकालेऽपि साक्षिणीभवन्ति ॥ २४८ ॥

(४) राघवानन्दः । तस्यांतु महत्यां तडागाद्यपि कार्यमित्यादि तडागानीति । उदपानानि कूपाः । देवतायतनानि मण्डपादीनि । बहुजनप्रसिद्धता फलम् । तच्च देशसीम्नि तडागः कार्यः । ग्रामसीम्नि वापी । क्षेत्रसीम्नि कूपः । गृहसीमायां प्रस्रवणम् । जलसंचरणार्थमर्थतो व्यवस्था । तत्र ॥ पञ्चाशद्भिर्भवेत्कूपः शतहस्तातु वापिका । पुष्करिण्यस्तदर्धेनुयावद्धनुःशतद्वयम् ॥ तडागोष्टशतः प्रोक्तः सरस्तु चतुरस्रकम् इत्यधिकसंख्यावच्छेदार्थम् ॥ २४८ ॥

(५) नन्दनः । कुल्यगुल्मान् (इरण्डानात्तु) * वाप्यः दीर्घिकाः । प्रस्रवणानि (केणीकळ) * देवतायतनानि दुर्गाविनायकादिस्थानानि ॥ २४८ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रस्रवणानि बहुत्वामितानि ॥ २४८ ॥

उपच्छन्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत् ॥ सीमाज्ञाने नृणांवीक्ष्य नित्यंलोके विपर्ययम् ॥ २४९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उपच्छन्नानि मृन्मध्यनिहितानि ॥ २४९ ॥

(३) कुल्लूकः । सीमानिर्णयेसर्वदाऽस्मिंलोके मनुष्याणांविभ्रममज्ञानंद्वाऽभिहितव्यतिरिक्तानि गूढानि वक्ष्यमाणा
नि सीमाचिह्नानि कारयेत् ॥ २४९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच प्रयत्नतोप्युद्धरणासमर्थानि स्थायीनि गूढान्यपि कुर्युरित्याह उपेति । उपच्छन्नानि
गूढान्यपि कुर्युरिति ॥ २४९ ॥

(५) नन्दनः । लिङ्गानि चिह्नकरणे प्रयोजनमुत्तरार्द्धेनोच्यते विपर्ययविसंवादवीक्ष्य विगणय्य तत्परिहारार्थं
कारयेदिति ॥ २४९ ॥

(६) रामचन्द्रः । उपच्छन्नानि घृत्कूटवेष्टितानि लोके नित्यं विपर्ययं अन्यत्वं वक्ष्य सीमालिङ्गानि कार-
येत् ॥ २४९ ॥

अश्मनोऽस्थीनि गोवालांस्तुषान्भस्मकपालिकाः ॥ करीषमिष्टकांगारांश्छर्करावालु

कास्तथा ॥ २५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कपालिकाघटादिकर्परान् । शर्करागङ्गेष्टकाः ॥ २५० ॥

(३) कुल्लूकः । प्रस्तरास्थिगोवालुषभस्मकर्पटिकाशुष्कगोमयपक्वेष्टकाऽङ्गारपाषाणकर्परसिकताअन्यान्यप्येवंप्रका-
राणि कालाञ्जनकर्पासाऽस्थिप्रभृतीनि यानि चिरकालेनापि भूमिरात्मसानकरोति तानि ग्रामयोः संधिषु सीमायां भक्षि-
प्य कुम्भेष्वेतानि सीमान्तेषु निधापयेदिति बृहस्पतिवचनात् । स्थूलपाषाणव्यतिरिक्तानि कुम्भेषु कृत्वा प्रच्छन्नानि भूमौ-
निखाय धारयेत् ॥ २५० ॥ २५१ ॥

(४) राघवानन्दः । उपच्छन्नानीत्यस्य विवरणं अश्मनइतिद्वाभ्याम् । करीषं शुष्कगोमयम् । शर्कराः पाषाणक-
णिकाः ॥ २५० ॥

(५) नन्दनः । तान्येवच्छिन्नानि चिह्नान्याह अश्मनोस्थीनीति ॥ २५० ॥

यानि चैवंप्रकाराणि कालाद्भूमिर्नभक्षयेत् ॥ तानि संधिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत् ॥ २५१ ॥

(१) मेधातिथिः । गुल्मादीनामुपदेशः प्रदर्शनार्थोऽन्यपरिसंख्यार्थः खदिरसारकालाञ्जनाद्यानि शर्करा हि गुल्मादि-
कैवंप्रकारता अतआह कालाद्भूमिर्न भक्षयेत् भूमेर्भक्षणमुपमया त्वरूपोपादानं यथा भक्षितंभेदेन नोपलभ्यते तद्वद्भू-
मिसादादपत्रमिव तादृशंकुर्यात् ॥ २५१ ॥

(४) राघवानन्दः । सर्वत्रहेतुः कालादित्यादिः ॥ २५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । एवं यानि प्रकाराणि भूमिर्नकालान्तरे भक्षयेत् तानि सीमायासन्धिषु अप्रकाशानि कार-
येत् ॥ २५१ ॥

इतैर्लिङ्गैर्नयेत्सीमांराजा विवदमानयोः ॥ पूर्वभुक्त्या च सततमुदकस्यागमेन च ॥ २५२ ॥

(१) मेधातिथिः । उभयोर्ग्रामयोः शून्यात्तल्लिङ्गैर्निर्णयः वसतः पूर्वभुक्त्या सततमविलिन्नयाऽस्मर्यमाणावधिकया
नहि त्रिपुरुषभोगेन सहस्रत्र प्रतिषिद्धप्रामाण्यआधिःसीमेत्यत्र संभवति हि तत्रोपेक्षा बहुसाधारण्यात्सीमायाः यत्तु तत्र
सीमशब्दपठन्ति तेषांभुक्तैःसिद्धमेव प्रामाण्यं लिङ्गानांप्रामाण्यस्योक्तत्वात्प्रमाणान्तरनिवृत्तिराशङ्क्यतेति । पुनः कोयमुद

कागमः प्रामाण्येनोच्यते यथान्यानि लिङ्गानि नवसंनिवेशे क्रियन्ते तद्देवोदकप्रवाहोपि कर्तव्यः । अथवा ययोर्ग्रामयोः प्रदेशान्तरे स एवोदकागमो विभागहेतुः प्रदेशान्तरे च विप्रतिपत्तिस्तत्र स एव प्रमाणं अथवा महाग्रामविषयमेतत् नद्या अपर एकोवा वार एकग्रामस्तत्र न पारवारिणोक्तव्यं अस्मदीया भूमिरत्रापि विद्यत इति यदि नामान्यतरशून्यत्वादति क्रम्य न दातुस्तमपि तथापि न भोगः प्रमाणविभागः हेतुः स्वल्पेऽपहारे ॥ २५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उदकस्यागमेन यत्र ग्रामद्वयोदकमूर्च्छति तेनेत्यर्थः ॥ २५२ ॥

(३) कुल्लूकः । विवदमानयोर्ग्रामयोः प्रागुक्तैरैतैरुक्तचिन्हैराजा सीमामुनयेत् वसतोः पुनरविच्छिन्नया भुक्त्या सीमानिर्णयेन तु त्रिपुरुषादिकतया तस्याधिः सीमेति पर्युदस्तत्वात् । ग्रामद्वयसंधिस्थनद्यादिप्रवाहेण च पारावारग्रामयोः सीमानिश्चिन्यात् ॥ २५२ ॥

(४) राघवानन्दः । सीमानिर्णयः प्रायशो राजकृत्य इत्याह एतैरिति । पूर्वभुक्त्याऽनवच्छिन्नभुक्त्या । उदकस्यागमेन न ग्रामद्वयसंधिस्थनद्यादिप्रवाहेण ॥ २५२ ॥

(५) नन्दनः । एतैरुक्तैर्लिङ्गाभावपूर्वभुक्तयोदकस्यागमेनोदकस्यागमनमार्गेण ॥ २५२ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतैर्लिङ्गैः राजा सीमां नयेत् निर्द्धारयेत् च पुनः उदकस्यागमेन निम्नजलप्रवाहमार्गेण सीमा नेया ॥ २५२ ॥

यदिसंशय एव स्याद्विज्ञानामपि दर्शने ॥ साक्षिप्रत्यय एव स्यात्सीमावादविनिर्णयः ॥ २५३ ॥

(१) मेधातिथिः । कथंपुनर्लिङ्गेषु सत्सु संशयः यानि तावत्प्रच्छन्नानि तानि यदि केनचित्कथंचिदागम्य प्रच्छन्नमन्यत्र नीयेरन्नत्रैव निश्चयः स्यात् येऽपि प्रकाश्यान्यग्रोधादयस्तेऽपि न सीमायामेव रोहन्त्यन्यत्रापि जायन्तेऽतः संदेह आभासत्वात् यत्र पुनरियं संभावना नास्ति तत्र प्रमाणमेव लिङ्गानि साक्षिप्रत्ययः साक्षिहेतुकः साक्षिणः प्रत्ययो यत्रेति विनिश्चये तत्त्वाधिगमलिङ्गेवा सीमाविवादसाक्ष्यहेतुको निर्णय इति तात्पर्यम् ॥ २५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । लिङ्गानां लिङ्गतयोक्तानां वृक्षादीनां संशय एव वृक्षाद्यन्तरदर्शनादिना । साक्षिप्रत्ययः साक्षिकारणकः ॥ २५३ ॥

(३) कुल्लूकः । यदि प्रच्छन्नप्रकाशलिङ्गदर्शनेऽपि प्रच्छन्नांगारतुषादिकुम्भाअमी स्थानान्तरं नीत्वा निखातानायंसीमा तरुर्न्यग्रोधः सनष्ट इत्यादि समस्त एव यदि संदेहः स्यात्तदा साक्षिप्रमाण एव सीमाविवादिनिश्चयो भवेत् ॥ २५३ ॥

(४) राघवानन्दः । एवं कृतेपि संशये सति विधानान्तरमाह यदीति । लिङ्गानां वृक्षादीनां आधुनिका एते स्थानश्रष्टाश्चेति संशये साक्षिप्रत्ययः साक्षिप्रमाणकः सीमावादिनिर्णयः सीमा योवादो विप्रतिपत्तिः तस्य निर्णयो यस्मात् ॥ २५३ ॥

(५) नन्दनः । लिङ्गानां वृक्षाद्युदकागमान्तानां साक्षिप्रत्ययः साक्षिहेतुकः ॥ २५३ ॥

ग्रामीयककुलानां च समक्षं सीमां साक्षिणः ॥ प्रष्टव्याः सीमालिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः ॥ २५४ ॥

(१) मेधातिथिः । यद्यन्यसंख्यातपुरुषकोग्रामस्तथापि द्वौ विवादिनौ द्वयोर्ग्रामयोर्भवतस्तयोः समक्षमन्येषां च ग्रामेयककुलानां च ग्रामणिपुरुषसमूहानां समक्षं सीमां साक्षिणः प्रष्टव्याः साक्षिप्रश्नकाले सर्वे ग्रामीणैर्व्यवहारएकैरपि संनिहितैर्भवितव्यं नार्थिप्रत्यर्थनो रन्यतरो वक्तुं लभते एवं विमृष्टार्थं विवादे किमेते संनिधीयन्ते अथवा येऽन्ये सामन्तेभ्यो ग्रामेभ्यः

केचिद्वृद्धतमाः साक्ष्ये समुद्दिष्टास्तद्वामीणैरन्यैः संनिहितैर्भवितव्यं यतस्तैर्वृद्धेभ्यः श्रुतं भवति तत्समक्षं पृच्छयमानान विपर्ययन्ति वृद्धाः सीमालिङ्गानि यत्र लिङ्गान्युभयथा तत्र वृद्धेभ्यस्तानि निश्चित्य सीमन्येव साक्ष्यं पृच्छते कात्र सीमेति ॥ २५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ग्रामेयककुलानां ग्रामीणसमूहानां । विरुद्धानेकसीमलिङ्गदर्शनेन सीमलिङ्गानि प्रष्टव्याः कान्यत्र सीमालिङ्गानीति । विवादिनोः समक्षमित्यन्वयः ॥ २५४ ॥

(३) कुल्लूकः । ग्रामिकजनसमूहानां ग्रामद्वयस्थनियुक्तयोर्वादिप्रतिवादिनोश्च समक्षं सीमाविषये सीमालिङ्गसंदेहे लिङ्गानि साक्षिणः प्रष्टव्याः ॥ २५४ ॥

(४) राघवानन्दः । साक्षिप्रश्नोचितदेशमाह ग्रामेति । ग्रामेयककुलानां ग्रामीणजनसमूहानां कुलानां विप्र-
णांचेतिवा तयोः सीमद्वयसंबन्धिनोः समक्षं प्रष्टव्या इत्यन्वयः ॥ २५४ ॥

(५) नन्दनः । ग्रामीयकुलानां ग्रामवासिनांकुलानां तयोर्विवादिनोश्च समक्षम् ॥ २५४ ॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः समस्ता सीमि निश्चयम् ॥ निबध्नीयात्तथा सीमां सर्वांस्तान्श्चैव

नामतः २५५ ॥

(१) मेघातिथिः । ते साक्षिणो यथा यादृशं निश्चयं ब्रूयुः समस्ताः सर्व एव न पुनर्वाक्यभेदो न्याय्यो द्वैधे च बहूना-
मिति । निबध्नीयात्तत्र साक्षिणश्च नामविभागे साक्षिमात्रेण ॥ २५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । समस्तान्तु व्यस्ताः । तान्श्च निबन्धीयादेतत्साक्षिकैषासीमेति ॥ २५५ ॥

(३) कुल्लूकः । ते पृष्टाः साक्षिणः समस्तान् द्वैधेन सीमाविषयेण येन प्रकारेण निश्चयं ब्रूयुस्तेन प्रकारेणाविस्मरणार्थपत्रे
सीमालिखेत् तान्श्च सर्वानेव साक्षिणो नामविभागतोलिखेत् ॥ २५५ ॥

(४) राघवानन्दः । साक्षिप्रश्नाननु पुनः सीमाः कार्या इत्याह तदिति । समस्ता मिलिताः सर्वैकमत्येनेति यावत् ।
तथैव सीमाताम्रपट्टेषु लेख्येत्याह । निबध्नीयात् नामतः साक्षिणानामभिः सह ॥ २५५ ॥

(५) नन्दनः । निबध्नीयाच्छिलादिषु लिखेदमुनैव मुक्तममुनैव मुक्तमिति । सर्वांस्तान्श्च नामतो निबध्नीयात् ॥ २५५ ॥

(६) रामचन्द्रः । नामतः नामग्रहणात् । समन्ताद्भवाः सामन्ताः ॥ २५५ ॥

शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्वीस्रग्विणोरक्तवाससः ॥ सुकृतैः शापिताः स्वैः स्वैर्नयेयुस्ते समं

जसम् ॥ २५६ ॥

(१) मेघातिथिः । मूर्ध्नोर्वीपृथ्वीमृल्लोष्टकान् गृहीत्वा साक्षिणः सग्विणो यथासंभवं माल्यधरारक्तवर्णकुसुमधरार-
क्तवाससोलोहिताच्छादनायद्यस्य शुक्लस्य वर्णान्तरापादनेऽपि रज्ज्वर्तते भूयास्तु लोहितप्रयोगोरक्तो गौर्लोहित इति भयं भ-
ज्जनार्थंचैतत् लोहितवाससश्च सशूका भवन्ति । यदस्माकं सुकृतं किंचिदार्जितमस्ति तन्निरूपकमस्त्विति वाच्यं स्वैः स्वैरिति
लिप्सया विशेषनामाभियुक्तं तं कथयेयुस्तत्कस्यादानं तीर्थस्नानं चेत्यादि समंजसं क्रियाविशेषणं सत्यादनपेतं ऋजुधार्मिको-
यो मार्गस्तेन नयेयुः । समंजसमृजुस्पष्टमित्येकोऽर्थः सत्यव्यवहारश्च स्पष्टइत्युक्तं समंजसमिति ॥ २५६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उर्वीं वृत्तिकाखण्डम् । स्रग्विणोरक्तवाससः । एतच्च वास्तु पुरुषरूपमिति तद्रूपधारिभिः सी-
मानयनमुक्तम् । समंजसं यथार्थम् ॥ २५६ ॥

(३) कुड्मूकः । ते साक्षिणइति सामान्यश्रवणेऽपि रक्तस्रग्वाससः सीमानयेयुरिति याज्ञवल्क्यवचनादुक्तपुष्पमालाधारिणोलोहितवाससोमस्तके मृत्लोष्ठानि गृहीत्वा यदस्माकंसुकृतं तन्निष्फलं स्यादित्येवमात्मीयैः सुकृतैः शापिताः सन्तः तांसीमांयथाशक्तिनिर्णयेयुः ॥ २५६ ॥

(४) राघवानन्दः । साक्ष्यदानप्रकारमाह शिरोभिरिति । शिरोभिर्भूलोष्टादिति गृहीत्वा स्रग्विणः रक्तपुष्पस्रग्विणः रक्तवसनाः सीमां नयेयुः क्षितिधारिणइतियाज्ञवल्क्योक्तेः । सुकृतैः यदस्माकं सुकृतं तन्निष्फलं स्यादित्येवंप्रकारैरिति केचित् । वस्तुतस्तु ॥ सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः ॥ गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैरित्यत्रोक्तैः अन्यथा स्वैस्त्वैरित्यनुपपत्तिः । समञ्जसं सत्यम् ॥ २५६ ॥

(५) नन्दनः । उर्वीमृदम् ॥ २५६ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्वैःस्वैःशपथैः ॥ सत्येन शापयेत् विप्रंक्षत्रियं वाहनायुधैः । गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ते शिरोभिः ऊर्वीं गृहीत्वा मूर्धारोपितक्षितिखण्डाः स्रग्विणस्तेसमंजसंयथार्थं नयेयुः सीमांप्रापयेयुः ॥ २५६ ॥

यथोक्तेन नयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः ॥ विपरीतंनयन्तस्तु दाप्याः स्युर्द्विशतंदमम् ॥ २५७ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रमाणान्तरलिङ्गेभ्योन्यथासंभवभ्यः प्रत्ययितरपुरुषेभ्योमिध्यात्वे बध्यते प्रत्येकं द्विशतोदण्ड एकैकस्य साक्षित्वात्साक्षिणांचदण्डयत्वात् नहि व्यासज्जवदन्ति साक्षात्सत्यप्रधानाः साक्षिणः सत्यसाक्षिणः पूयन्ते अनृनाभिधानेन पापेन न संबध्यन्तइति । यथोक्तेन याथातथ्येन नहि शब्दात्मकस्य वचनस्यात्रावसरः प्रमाणान्तरसंवादमात्रमनेन लक्ष्यते अथवा यथाशास्त्रमुक्तेन सत्येनेति यावत् शास्त्रे हि सत्यंवक्तव्यमित्येवमुक्तमतोयथोक्तेन सत्येनेत्युक्तंभवति ॥ २५७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विपरीतंनयन्तः पश्चाल्लिङ्गान्तरेण समाहान्तर्बन्धुमरणादिनाच तद्विपर्ययनिश्चये द्विशतंपणान् प्रत्येकम् ॥ २५७ ॥

(३) कुड्मूकः । ते सत्यप्रधानाः साक्षिणः शास्त्रोक्तेन विधानेन निर्णयस्थानिष्पापाभवन्ति अतथ्येन तु निश्चिन्वन्तः प्रत्येकंपणशतद्वयंदण्डंदाप्याभवेयुः ॥ २५७ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैवार्थवादं प्रदर्शयन्विपरीते दण्डमाह यथेति । तात्रिकंपणशतद्वयं प्रत्येकमितिशेषः ॥ २५७ ॥

(५) नन्दनः । यथोक्तेन मार्गेण । सेतुंसीमानयन्तः स्थापयन्तस्त्रिपक्षादर्वाग्रोगाद्यभावे पूयन्ते । विपरीतंनयन्तस्त्रिपक्षादर्वाग्रोगादिदर्शनात् ॥ २५७ ॥

(६) रामचन्द्रः । विपरीतंनयन्तः अनयेन प्रापयन्तः द्विशतंदमं दण्डंदाप्याःस्युः ॥ २५७ ॥

साक्ष्यभावे तु चत्वारोग्रामाः सामन्तवासिनः ॥ सीमाविनिर्णयंकुर्युः प्रयताराजसन्निधौ ॥ २५८ ॥

(१) मेधातिथिः । ग्रामसामन्ताः सीमान्तरवासिनः प्रष्टव्याः तेषांवचने निश्चयंकुर्यात् प्रयता साक्षिधर्मेण शास्त्रान्तरेण । राजसन्निधाविति श्लोकपूरणं नतुसामन्ताःस्वेच्छया राजवन्निश्चिन्वन्ति ॥ २५८ ॥

(२५८) ग्रामाः सामन्तवासिनः=ग्रामसीमान्तवासिनः (ग, ण,)

(२) सर्वज्ञनारायणः । सीमान्तवासिनोमध्यभूतविवादविषयग्रामयोःपर्यन्तेषु निरन्तरवासिनः । प्रयातानियमिताः । साक्ष्युक्तप्रकारेणैव ॥ २५८ ॥

(३) कुल्लूकः । ग्रामद्वयसंबन्धिसीमाविवादसाक्ष्यभावे चतुर्दिशंसमन्तभावाः सामन्तास्तद्वासिनश्चत्वारोग्रामवासिनः साक्षिधर्मेण राजसमक्षंसीमानिर्णयंकुर्युः ॥ २५८ ॥

(४) राघवानन्दः । साक्ष्यभावे प्रकारान्तरमाह साक्ष्यभावइति ग्रामाः ग्रामस्थाः सामन्तवासिनः समन्तएव सामन्तः तत्र वासिनश्चतुर्दिशंवर्तमानाः ॥ २५८ ॥

(५) नन्दनः । समन्ताद्भवोदेवःसामन्तः ॥ २५८ ॥

सामन्तानामभावे तु मौलानांसीम्नि साक्षिणाम् ॥ इमानप्यनुयुज्जीत पुरुषान्वनगोचरान् ॥ २५९ ॥

(१) मेधातिथिः । सामन्तानांमौलानामिति विशेषणविशेष्यभावस्तुत्यर्थः ग्रामप्रविष्टास्तत्काले भवाउत्पत्तिसह-भुवोमौलाउच्यन्ते ते च सामन्तानित्यानित्यसंनिहितत्वात्तेषामप्यभावः कथंचिदुच्छन्नत्वात्तदास्तमेति तदेमानपि वक्ष्यमाणानपृच्छेत् अथवा मौलाअनुभाविनः सामन्ताव्याख्याताव्यवहर्तव्याः मौलानांपूर्वोक्तानांसद्भावे सामन्ताः प्रमाणंतदभाववनगोचरान्विनियुज्जीत निपुणतः पृच्छेत् ॥ २५९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सामन्तानामभावे तथा मौलानां मूलभूतानां साक्षिणामभावे । इमान् वक्ष्यमाणान् । एतच्च वनसमीपग्रामविषयम् ॥ २५९ ॥

(३) कुल्लूकः । साक्षिधर्मेण राजसमक्षमनुभवेन निर्णयमकुर्वतांग्रामवासिनांग्रामनिर्माणकालादारभ्य मौलानांपुरुषक्रमेण तद्ग्रामस्थानांसीमासाक्षिणामभावइमान्वक्ष्यमाणान्संनिहितवनचारिणः पृच्छेत् ॥ २५९ ॥

(४) राघवानन्दः । पूर्वोक्तानामभावे साक्ष्यन्तरमाह सामन्तानामिति । मौलानां ग्रामारम्भप्रभृतिपुत्रपौत्रतया तत्रैव कृतवसतीनां सामन्तानां मौलेत्यादिविशेषणद्वयम् । इमान्वक्ष्यमाणान् । जलारण्यवासिनः ॥ २५९ ॥

(५) नन्दनः । मौलानांप्रोक्तानांतदानीन्तनानां वा च्छेदरहितानामिमान्वक्ष्यमाणाननुयुज्जीत पृच्छेत् ॥ २५९ ॥

(६) रामचन्द्रः । सामन्तानांअभावे तु मौलाःमूले भवामौलाः तेषां सीम्नि साक्षिणांअभावेइमान् वनगोचरान् अपि साक्ष्येनियुज्जीत पृच्छेत् ॥ २५९ ॥

व्याधांश्लोकुनिकान्गोपान्कैवर्तान्मूलखानकान् ॥ व्यालयाहानुञ्छवत्तीनन्यांश्च

वनचारिणः ॥ २६० ॥

(१) मेधातिथिः । एते हि ग्रामवासिनस्तत्र वनानि भ्राम्यन्ति ग्राममध्ये नगच्छन्तः कदाचित्तद्वृत्तंविद्युस्तेहि तेन पथा गच्छन्तोविवादास्पदंप्रदेशंपूर्वकार्काश्चतुर्ष्वपुरुषान्कृषतोदृष्ट्वा पृच्छेयुः कोयंग्रामोयोभवद्भिः कृष्यतइति एवमादिना संभवति पूर्वानुभवः व्याधाभृगया जीविनस्तेषामपि वनाद्भृगुमनुधावतांभवति ग्रामसंबन्धः एवंशाकुनिकाः शाकुनिबन्धजीविनस्तदन्वेषणे ये सर्वान्ग्रामानागोचरयन्ति गोपानांगवांतृणविशेषज्ञानाय तत्र तत्र परिभ्राम्यन्ति कैवर्तादाशास्तडागखननादिजीविनस्तत्र तत्र गच्छन्ति क्रात्माकीनंकर्मोपयुज्यते मूलंवृक्षादिः खनयन्ति स्थूलकाशादेः व्यालग्रहाः सर्पग्राहिणः

(२५९) वनगोचरान्=धर्मगोचरान् (च)

जीविकार्थतेपि सर्पास्तन्तप्रदेशमन्विच्छन्त्यतः तेषामपि पारिग्रामिकैर्बहुभिः संबन्धः उञ्छवृत्तयोपि दरिद्राअनेकग्रामपर्य-
टनेन यात्रामात्रं निर्वर्तयन्ति अन्यांश्च फलकुसुमेन्धनार्थिनः ॥ २६० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । व्याधान् मृगवेधिनः । शाकुनिकाः शकुनघातजीविनः । गोपान् गोपालान् प्रायोये वन-
गताएव । मूलखानकान् मूलमुत्पाद्य विक्रीय जीवतः । उञ्छवृत्तीन् शिलोञ्छवृत्त्या वर्तमानान्द्विजान् तेषांप्रायः क्षेत्र-
वनगोचरत्वात् । अन्यांश्च शबरादीन् ॥ २६० ॥

(३) कुङ्कुमः । लुब्धकान्पक्षिवधजीविनः गोपालान्मत्स्यजीविनोमूलोत्पादनजीविनः सर्पग्राहिणः शिलोञ्छवृत्ती-
नान्यांश्च फलपुष्पेन्धनाद्यर्थंवनव्यवहारिणः पृच्छेत् । एतेहि स्वप्रयोजनार्थं तेन ग्रामेण सर्वदा वनंगच्छेयुस्तद्ग्रामसीमा-
भिज्ञाः संभवन्ति ॥ २६० ॥

(४) राघवानन्दः । तानवाहे व्याधानिति । व्याधान् लुब्धकान् । मूलखानकान् मूराणादिमूलोत्पादनेन जीविनः ।
व्यालग्राहान् सर्पान्वेषिणः । एतेहि मूलमृगालाद्यर्थं ग्रामाद्ग्रामं संचरन्तस्तद्ग्रामस्थैर्निवारिताः सीमां जानन्तीतिभावः ।
अन्यान्वनचारिणः फलाद्यर्थमिति केचित् । वस्तुतस्तु वनमत्र जलं सीमावधितडागादि जलचारिणः शम्बूकजलपुष्पाद्य-
र्थम् ॥ २६० ॥

(६) रामचन्द्रः । शाकुनिकान् पक्षिवधजीविनः । उञ्छवृत्तीन् अन्यांश्च शबरादीन् ॥ २६० ॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः सीमासन्धिषु लक्षणम् ॥ तत्तथा स्थापयेद्राजा धर्मेण ग्रामयोर्द्वयोः ॥ २६१ ॥

(१) मेधातिथिः । तेधर्मेणपृष्टादिति योजना सीमाश्च ताः सन्धयश्च सीमासन्धयः ग्रामद्वयसंयोगः सन्धिः सच
सीमैव लक्षणंज्ञापकम् ॥ २६१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इदमेवलक्षणं युक्तं नेदमिति यथा ब्रूयुः ॥ २६१ ॥

(३) कुङ्कुमः । ते व्याधादयःपृष्टाः सीमारूपेषु ग्रामसंधिषु येन प्रकारेण चिन्हंब्रूयुस्तत्तेनैव प्रकारेण राजा द्वयोर्ग्राम-
योः सीमां व्यवस्थापयेत् ॥ २६१ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तार्थवादोयं तदिति ॥ २६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । यद्वयोःमध्ये स्थापयेत् ॥ २६१ ॥

क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृहस्य च ॥ सामन्तप्रत्ययोज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ॥ २६२ ॥

(१) मेधातिथिः । आरामउद्यानभूमिः शाकवाटश्च सामन्तप्रमाणकत्वंनिश्चयः व्याधादिनिवृत्त्यर्थमिदमुच्यते सी-
मासेतुः सीमाबन्धः सीमाविभावार्थयथाबध्यते स्थाप्यते ॥ २६२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कूपस्य सीमाकूपस्य परितस्त्याज्योयोदेशस्तस्य सीमा । एवंतडागादौ । सामन्तप्रत्ययः
सामन्ताः समन्तवासिनः तद्धेतुकः सीमानिर्णयइतिशेषः । तथा सीमासुयेसेतवस्तेषामपि सीमानिर्णये कर्तव्ये ॥ २६२ ॥

(३) कुङ्कुमः । एकग्रामेऽपि क्षेत्रकूपतडागोद्यानगृहाणांसीमासेतुविवादे समस्तदेशवासिसाक्षिप्रमाणकएव । मर्यादा-
चिन्हनिश्चयोविज्ञेयोन व्याधादिप्रमाणकः ॥ २६२ ॥

(४) राघवानन्दः । ग्रामसीमायामुक्तनिर्णयप्रकारमन्यत्रातिदिशति क्षेत्रेति । तडागाद्युक्तलक्षणम् । आरामः

*परकीय=पूर्वभ्यःसामन्तानामधिकोदण्डः पृथक्पृथगित्यनुवादः उक्तत्वान्यायस्य क्षेत्रादिप्रातिवेश्यावश्यकंज्ञाता-
रोभवन्ति एषांदण्डमहत्त्वं सामन्तानान्तुपरकीय (आआ)

उपवनम् । सामन्तप्रत्ययः समन्ततोवर्त्मप्रद[र्श]नेनाहरन्पञ्चशतानुपतिदण्डयः सइत्यन्वयएवं मानानां ज्ञानपुरःसरं वा-
क्यमेव प्रमाणमित्यर्थः । न तु व्याधादीनां तत्र युक्त्यन्तरापेक्षणात् ॥ २६२ ॥

(५) नन्दनः । एवंग्रामयोः सीमाविनिर्णयमुक्ताक्षेत्रादीनामाह क्षेत्रकूपतटानामिति । सामन्ताः समन्ताद्वासिनः ॥ २६२ ॥

(६) रामचन्द्रः । क्षेत्रादि सीमासेत्विति विनिश्चयः । सामन्तप्रत्ययोज्ञेयः सामन्तादिभिर्यदुक्तं तत्प्रायोज्ञेयः ॥ २६२ ॥

सामन्ताश्चेन्मृषा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम् ॥ सर्वे पृथक्पृथग्दण्ड्याराज्ञा मध्यमसाहसम् ॥ २६३ ॥

(१) मेधातिथिः । पैरकीयसीमावेदनंनावश्यमिति द्विशतोदमोनुवर्त्यः तेन ग्रामसीमायां द्रष्टृणांसामन्तानांच
विशतः ये तु सामन्तशब्दमाश्रित्य ग्रामक्षेत्रादिसीमयोः सामन्तत्वानुल्लङ्घनदण्डत्वमाहुस्ते न्यायविरोधादुपेक्षणीयाः ॥ २६३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सेतावित्युपलक्षणं क्षेत्रादावपि ॥ २६३ ॥

(३) कुल्लूकः । सीमाचिन्हनिमित्तविवदमानानांमनुष्याणांयदि सामन्तादेशवासिनोमिथ्याब्रूयुस्तदा ते सर्वे प्रत्येकं-
राज्ञा मध्यमसाहसदण्डनीयाः एवंचासामन्तरूपाणांपूर्वोक्तद्विशतोदमोज्ञेयः ॥ २६३ ॥

(४) राघवानन्दः । तेषामिथ्याभाषित्वे दण्डमाह सामन्ताइति । मध्यमसाहसं पणानां पञ्चशतानि । सेतावित्यु-
पलक्षणं कूपादिचतुर्णाम् । सेतुर्मर्यादा सीमेतिपर्यायाः ॥ २६३ ॥

(५) नन्दनः । सेतौ सीमाविषये ॥ २६३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्यथा ब्रूयुः ते सर्वे राज्ञा मध्यमसाहसदण्ड्याः ॥ २६३ ॥

गृहंतडागमारामंक्षेत्रंवाभीषया हरन् ॥ शतानि पञ्चदण्ड्यः स्यादज्ञानाद्विशतोदमः ॥ २६४ ॥

(१) मेधातिथिः । क्षेत्रादि प्रसङ्गादिदमुच्यते सीमाग्रहणनिमित्तोपलक्षणार्थं अस्यैवैतन्निश्चितमित्येवंज्ञानतोहर-
तः पञ्चशतोदण्डः मध्यमसाहसे प्रकृते पञ्चशतग्रहणनिमित्तभेदे न्यूनाधिकदण्डार्थपूर्वत्र वा संख्यामेव विवक्षितामन्यन्ते
तेन व्यवहारंलेखयामि चौरैर्दोषयामीति भयप्रदर्शनेन हरति तस्यां दण्डोनिमित्तान्तरानुकल्पः ॥ २६४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भीषया भयोपदर्शनेन हरन् तत्सीमांलङ्घयन् । भीषयेति ज्ञानपूर्वकत्वोपलक्षणम् ॥ २६४ ॥

(३) कुल्लूकः । गृहंतडागोद्यानक्षेत्राणामन्यतममारणंबन्धनादिभयकथनपूर्वमाक्रम्य हरणे पञ्चपणशतानि दण्डनी-
यः स्यात्स्वत्वभ्रान्त्या हरतोद्वि शतोदमः ॥ २६४ ॥

(४) राघवानन्दः । गृहादीनां निर्णयप्रसंगेन तेषां हरणेपि दण्डमाह गृहमिति । भीषया भयप्रदर्शनेन । सचे-
द्विप्रः स्यादण्डार्हो नवधार्हः एतदर्थम् । उपधाभिस्तु यः कश्चित्परद्रव्यंहरेन्नरइत्यत्र वधउक्तोत्र दण्डविशेषइतिभेदः
॥ २६४ ॥

(६) रामचन्द्रः । गृहादिषु अन्यथा वदन् पञ्चशतानि दण्डयः ॥ २६४ ॥

सीमायामविषस्यायां स्वयंराजैव धर्मवित् ॥ प्रदिशेद्भूमिमेतेषामुपकारादिति स्थितिः ॥ २६५ ॥

[ध्वजिनी मत्सिनी चैव निधानी भयवर्जिता । राजशासननीता च सीमा पञ्चविधा स्मृताः ॥ १ ॥]†

(१) मेधातिथिः । अविषस्या निश्चेतुमशक्या लिङ्गसाक्ष्यभावात् राजैव स्वेच्छया भूमिप्रदिशेद्दद्यादियंवोभूमिरियं-

वइति धर्मवित्पक्षपातो नैव कस्य चित्कर्तव्यइति एतदाह उपकाराद्धेतोर्यया सीमया द्वावपि ग्रामौ समकरौ भवतः तेन यदि न्यूनापि कस्यचिद्भूमिः स्यात्क्षेत्रे चेतुस्रगुणं बहुत्पत्तिकंतदपेक्षः प्रदेशः ल्यब्लोपे पंचमी उपकारमपेक्ष्य । अथवैकेषां प्रदेशोदपरेषामनिश्चितामपहरेत् यदि विवादमत्तांसीमांयावद्वक्तुं न शक्ययादितरे च शक्तास्तदन्येभ्यः प्रदेशेन एवमात्मनो बहूनां च ग्रामीणानामुपकृतं भवति ॥ २६५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अविषहायां सर्वथा निर्णेतुमशक्यायाम् । प्रदिशेत् भूमिं उपकारान् तयायस्योपकारातिशयस्तस्मै ग्रामाय दद्यादित्यर्थः ॥ सीमानिर्णयः ॥ २६५ ॥

(३) कुट्टुकः । लिङ्गसाक्ष्याद्यभावे सीमायां परिच्छेत्तुमशक्यायां राजैव धर्मज्ञः पक्षपातरहितोग्रामद्वयमध्यवर्तिनीं विवादविषयां भूमिषामेव ग्रामवासिनामुपकारातिशयो भवति तद्यतिरेकेण च महाननिर्वाहस्तेषामेव दद्यादिति शास्त्रव्यवस्था ॥ २६५ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तोपायैर्यदा सीमाया अपरिच्छेद्यकर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुमर्थेन राजैव तत्कर्तव्यं तस्य भूमित्वादित्याह सीमायामिति । अविषहायां विचारं सोढुमशक्यायाम् । तं धर्मं न विचालयेदित्युक्तेः । ननु स्वतन्त्रो राजा कथं प्रवर्तते तत्राह प्रदिशेदिति । विवादसमाप्ते स्तेषामहानुपकारः स्यात् । स्थितिः पुण्यं परोपकारेणेति शास्त्रमर्यादा ॥ २६५ ॥

(६) रामचन्द्रः । सीमायां अविषहायां सर्वोपायैर्निश्चेत्तुमशक्यायां एतेषां स्वयं राजैव प्रदिशेत् निर्णाय प्रदद्यात् । योगीश्वरः । राजासीम्नः प्रवर्तिता ॥ २६५ ॥

एषोऽखिलेनाभिहितो धर्मः सीमाविनिर्णये ॥ अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वाक्पारुष्यविनिर्णयम् ॥ २६६ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वोपसंहारसंक्षेपोपन्यासः श्लोकार्थे दण्डवाचिक इत्युक्त्वा क्रमभेदोलाघवाद्वाक्पारुष्यस्यात्ततो दण्डव्यापारद्वन्द्वे चेतरेतरयोगाद्बलक्रमसमासार्थप्रतिपत्तेरैकस्थोभयार्थः प्रतिपादनादण्डशब्देन वार्थोप्युपात्तइति कः क्रमभेदः तथा च यथा यथासंख्यसूत्रारंभो महाभाष्यकारेण समर्थितः एतदेव दर्शनमाश्रित्य संज्ञासमासनिर्देशादिति ॥ २६६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एष इति वाक्पारुष्यं पश्चादुक्तमपिलघुत्वादेवाभिधातुमत ऊर्ध्वमिति ॥ २६६ ॥

(३) कुट्टुकः । एष सीमानिश्चयो धर्मो निःशेषोक्तः अत ऊर्ध्वं वाक्पारुष्यं वक्ष्यामि दण्डपारुष्याद्वाक्पारुष्यप्रवृत्तेः पूर्वमभिधानं अनुक्रमश्रुत्यान्तु पारुष्ये दण्डवाचिकइति दण्डशब्दस्याल्पस्वरत्वात् पूर्वनिर्देशः ॥ २६६ ॥

(४) राघवानन्दः । सीमानिर्णयमुपसंहरन् पारुष्ये दण्डवाचिक इत्युक्तं तत्र वाक्पारुष्यनिर्णयं प्रतिजानीते एष इति ॥ २६६ ॥

(५) नन्दनः । अथ वाक्पारुष्यनिर्णयं प्रस्तौति एषोऽखिलेनेति । नचात्रोद्देशक्रमत्यागः शङ्क्यः दण्डवाचिके इत्यत्र दण्डशब्दप्राथम्यस्याल्पाक्षरत्वप्रयुक्तपूर्वनिबन्धनत्वेनार्थक्रमस्याविवक्षितत्वादिति ॥ २६६ ॥

(६) रामचन्द्रः । एष सीमाविनिर्णयः धर्मः अखिलेन उपायेन अभिहितः उक्तः ॥ २६६ ॥

शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति ॥ वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति ॥ २६७ ॥

(१) मेधातिथिः । पुरुषवचनमाक्रोशः सबहुधाभृशं साश्लीलभाषणं तेन भणितो योऽभिशापः अकरणहन्ता वृषलभूयाः असदुःखोत्पादनं कन्याते गर्भिणीति तत्र द्वयोर्ब्राह्मणक्रोशे क्षत्रियावैश्ययोरयं दण्डः । अन्यत्र ॥ पतनीयेकृते क्षेपेदण्डो मध्यमसाहस इत्यादि स्मृत्यन्तरोक्तः । तस्य च वधताडने जिह्वाच्छेदनमारणादि सर्वआक्रोशभेदावेदितव्याः ॥ २६७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आक्रुश्य त्वं पापिष्ठोसीत्यादिना । अभ्यर्धशतं सार्धशतमल्पाक्षेपे । द्वेवेत्यतिशयिते । एते

सर्वे पणाः । वधस्ताडनम् ॥ २६७ ॥

(३) कुम्भूकः । द्विजस्य चौरैत्याक्षेपरूपंपरुषमुक्त्वा क्षत्रियः पणशतंदण्डमर्हति । एवंसार्द्धशतंद्वे वा शते लाघवगौरवापेक्षया वैश्यः । शूद्रोऽप्येवंब्राह्मणाक्रोशे ताडनादिरूपंवधमर्हति ॥ २६७ ॥

(४) राघवानन्दः । वाक्पारुष्यमतेत्वनुवदंस्तदुचितदण्डमाह शतमिति द्वादशभिः । अध्यर्धशतं अधि अधि-कमर्ध शतं यत्र तेन सार्धशतम् । द्वेतिगुणवद्ब्राह्मणापेक्षया । वधं ताडनादिरूपं हुंकाराद्यल्पाक्रोशे उत्तरत्र जिह्वाछे-दस्य वक्ष्यमाणत्वात् ॥ २६७ ॥

(५) नन्दनः । द्वे शते वा गुणदोषापेक्षा विकल्पः ॥ २६७ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्विजमाक्रुश्यवैश्योऽपप्यर्धशतंद्वेवा । शूद्रस्तु वधं ताडनं अर्हति ॥ २६७ ॥

पञ्चाशद्ब्राह्मणोदण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने ॥ वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशकोदमः ॥ २६८ ॥

(१) मेधातिथिः । अभिशंसनं सर्वप्रकारआक्रोशः पतनीयादन्यत्र सूत्रेदण्डान्तरविधानात् निमित्तसप्तमीचैषा वै-श्यइति दण्डविषयसप्तमी ब्राह्मणस्याक्रोशुराक्रुश्यमानस्य च दण्डउक्तः । क्षत्रियादीनां त्वितरेतरं स्मृत्यन्तरमन्वेषणीयं । तथा च गौतमः ब्राह्मणराजन्ययोः क्षत्रियवैश्ययोः परस्पराक्रोशे क्षत्रियश्चैक्ष्यमाक्रोशेत्पञ्चाशतंदण्ड्यः वैश्यः क्षत्रियंशतं एवं-क्षत्रियः शूद्रमाक्रोशेत्पञ्चविंशतिर्दण्ड्यः वैश्यः पञ्चाशतं शूद्रस्य तु तदा क्रोशे गुणापेक्षिकोदण्डोवक्ष्यते ॥ २६८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अभिशंसने आक्रोशे । वैश्ये आक्रुश्यमाने विप्रेण । एवंशूद्रइत्यत्रापि ॥ २६८ ॥

(३) कुम्भूकः । ब्राह्मणः क्षत्रियस्योक्तरूपाक्षेपे कृते पञ्चाशत्पणान्दण्ड्यः वैश्ये शूद्रे च यथोक्ताक्रोशे कृते पञ्च-विंशतिर्द्वादशपणाः क्रमेण ब्राह्मणस्य दण्डः स्यात् ॥ २६८ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रतिलोमतयोक्ताऽनुलोमतयाह पञ्चाशदिति । अभिशंसने स वैश्ये आक्रुष्टे । एवं शूद्रे ॥ २६८ ॥

(५) नन्दनः । अर्द्धपञ्चाशत् पञ्चविंशतिः ॥ २६८ ॥

समवर्णेद्विजातीनांद्वादशैव व्यतिक्रमे ॥ वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत् ॥ २६९ ॥

[विप्रक्षत्रियवत्कार्योदण्डोराजन्यवैश्ययोः ॥ वैश्यक्षत्रिययोः शूद्रे विप्रे यः क्षत्रशूद्रयोः ॥ १ ॥

समुत्कर्षापकर्षास्तु विप्रदण्डस्य कल्पना ॥ राजन्यवैश्यशूद्राणां धनवर्जमिति स्थितिः ॥ २ ॥]⁺

(१) मेधातिथिः । द्विजातिग्रहणमत्र समवर्णे द्वादश व्यतिक्रमे परस्पराक्रोशे दण्डः स च जातिचित्तबन्धुवयः कर्मविद्याभिर्विशेषानुपदेशात् तत्र समानजातीये चित्ताधिके द्विगुणं तस्मिन्नेव बन्धुत्वाधिके त्रिगुणं यावत्सर्वगुणानिर्गुण-स्य षड्गुणं वादा आक्रोशा अवचनीया अत्यन्तनृशंसामातृभगिनीभार्यादिगताः तदेव द्विगुणंदण्डपरिमाणं नपुंसकलिङ्गात्सर्व-शेषोऽयं समवर्णविषयएव अथवा तदेवशतमिति योजनं लिङ्गसामर्थ्याच्छतस्य च प्रथमश्लोके श्रुतत्वात् अतोऽवचनीये-षु समवर्णेष्वपि द्विशतोदमः लिङ्गोपपत्यर्थपरिमाणपदमश्रुतमध्याहर्तव्यं शते तु व्यवहितकल्पना ज्यायसी ॥ २६९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । समुत्कर्षइति । क्षत्रादीनामपि त्वावरवर्णेष्वक्रोशे विप्रस्येव दण्डकृमरित्यर्थः । द्विजाती-नां त्रयाणां व्यतिक्रमे आक्रोशे । अवचनीयेष्वश्लेषु त्वं त्वसृगामीत्यादिष्वाक्रोशमात्रतात्पर्येणोक्तेषु समवर्णेषु ॥ २६९ ॥

(३) कुल्लूकः । द्विजातीनांसमानजातिविषये यथोक्तोक्तोशे कृते द्वादशपणोदण्डः । अवचनीयेषु पुनराक्रोशवादिषु मातृभगिन्याद्यश्लीलरूपेषु तदेवेति नपुंसकनिर्देशात् शतब्राह्मणमाकुशयेत्यादिद्युक्तं तदेव द्विगुणं दण्डरूपं भवेत् ॥ २६९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच समिति । समवर्णे तुल्यजातीये व्यतिक्रमे यदि विप्रोविप्रमाक्षिपति । एवमुत्तरत्र । वा-
दिषु विशेषमाह वादिष्विति । अवचनीयेषु मातृभगिन्याद्यश्लीलेषु क्रोधावेशपुरःसरेषु ॥ २६९ ॥

(५) नन्दनः । व्यतिक्रमेऽल्पवाक्पारुष्ये ॥ यदिदं द्वादशेत्युक्तं तदेव द्विगुणं भवेत् ॥ २६९ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्विजातीनां व्यतिक्रमे द्विजस्य द्विजः क्षत्रियस्य क्षत्रियः वैश्यस्य वैश्यः शूद्रस्य शूद्रः व्य-
तिक्रमे द्वादशैव पणान्दण्ड्यः । व्यतिक्रमे द्विगुणं चतुर्विंशतिः पणाः ॥ २६९ ॥

एकजातिर्द्विजातीस्तु वाचा दारुणया क्षिपन् ॥ जिह्वायाः प्रामुयाच्छेदं जघन्यप्रभ

वोहि सः ॥ २७० ॥

(१) मेधातिथिः । एकजातिः शूद्रः सत्रैर्वर्णिकान्क्षिपन्नाक्रोशनदारुणया पातकादियोगिन्या वाचा नृशंसादिरू-
पया जिह्वाच्छेदं भते जघन्यप्रभव इति पादाभ्यां ब्राह्मणउत्पन्न इति हेत्वभिधानं प्रातिलोमानामपि ग्रहणार्थं तेन जघन्य-
प्रभवाएव नास्ति पञ्चम इति वर्णान्तरनिषेधात् ॥ २७० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एकजातिः शूद्रः । दारुणया अवचनीयया । जघन्यप्रभवोन्त्यजन्मा ॥ २७० ॥

(३) कुल्लूकः । शूद्रो द्विजातीन्पातकाभियोगिन्या वाचाकुशय जिह्वाच्छेदं भेतु यस्मादसौ पादाख्यान्निरुष्टाङ्गाजा-
तः ॥ २७० ॥

(४) राघवानन्दः । शूद्रकर्तृकत्रैर्वर्णिकाक्रोशे विशेषमाह एकेतिचतुर्भिः । एकजातिः शूद्रः एकैव जातिर्जन्मरू-
पा यस्येतिव्युत्पत्तेः । वाचादारुणयेति कस्त्वं रेयज्ञदत्तेत्यादिरूपया । जिह्वाच्छेदे हेतुः जघन्यप्रभवः पद्भ्यां शूद्रो अजायते-
तिपादजः ॥ २७० ॥

(५) नन्दनः । एकजातिरुपनयनानर्हः शूद्र इति यावत् ॥ २७० ॥

(६) रामचन्द्रः । एकजातिः शूद्रः द्विजातिब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां दारुणया वाचा क्षिपन् जिह्वायाः छेदं प्रामुयात् ।
सः द्विजातिः जघन्यस्य शूद्रस्य प्रभवः ॥ २७० ॥

नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः ॥ निक्षेप्योऽयोमयः शङ्कुज्वलन्नास्येदशाङ्गुलः ॥ २७१ ॥

(१) मेधातिथिः । अभिद्रोहआक्रोशः कुत्साबुद्धिर्ब्राह्मणक त्वमा मया स्पृद्धिष्ठा एवमन्यदपियोज्यं ग्रहणं ग्रहः नि-
रुपपदं नामगृह्णाति कुत्साप्रत्यययोगेन वा देवदत्तकेति अभिद्रोहेण क्रोधेनाभिद्रोहः क्रोधः निक्षेप्यः प्रक्षेप्यः शङ्कुः कीलकः
ज्वलन्निग्निना दीप्यमानोऽयोमयो लोहमयः ॥ २७१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नामग्रहं मैत्र इति । जातिग्रहं ब्राह्मण इति । अभिद्रोहेणाक्रोशाभिमानेन कुर्वतः शूद्रस्य ।
ज्वलन्निगतमः ॥ २७१ ॥

(३) कुल्लूकः । अभिद्रोहआक्रोशः ब्राह्मणादीनां रे त्वं यज्ञदत्तब्राह्मणापसद इत्याक्रोशेन नामजात्यादिग्रहणं कुर्व-
तो लोहकीलोऽग्निना प्रदीप्तो दशाङ्गुलो मुखेषु क्षेमव्यः ॥ २७१ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्राह्मणापसदइत्याद्याक्रोशेदण्डान्तरमाह नामेति । शङ्कुर्लोहकीलकंज्वलन्निग्निदीपः निखेयः प्रवेशनीयः ॥ २७१ ॥

(५) नन्दनः । नामजात्योर्ग्रहणं हेयज्ञशर्मन्ब्राह्मणेत्यादिकं एषां द्विजातीनां कुर्वत एकजातेः ॥ २७१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अमुकनामासित्वं अमुकजातिस्त्वं । अभिद्रोहेण आक्रोशाभिमानेन ग्रहं कलहं कुर्वतः यस्तस्य आस्ये मुखे अयोमयः शङ्कुः दशाङ्गुलः ज्वलन्स्थाप्यः ॥ २७१ ॥

धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः ॥ तप्तमासेचयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः ॥ २७२ ॥

(१) मेधातिथिः । अथ ते स्वधर्मइयंवात्रेति कर्तव्यता मैवंकार्षीः छांदसोसीत्येवमादिव्याकरणलेशज्ञानतया दुन्दुकत्वेन दर्पवन्तः शूद्रा उपदिशन्ति तेषामेषदण्डः यस्तु ब्राह्मणापाश्रयादेव व्युत्पन्नो विस्मृतं कथंचिद्देशकालविभागं स्मारयेत्पूर्वाह्नकालं नातिक्रामयेति क्रियतां दैवकर्मदेवांस्तर्पयौपवीतीभव माप्राचीनावीतं कार्षीरिति न दोषः । तप्तमग्निसंबन्धात्पीडाकरं आसेचयेत्क्षारयेत् युक्तं वक्त्रे मुखेनोपदेशकत्वात् श्रोत्रस्य कोपराधः प्रागसत्कर्तादिश्रवणम् ॥ २७२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धर्मोपदेशं प्रायश्चित्ताद्युपदेशम् । अस्य शूद्रस्य ॥ २७२ ॥

(३) कुल्लूकः । कथंचिद्धर्मलेशमवगम्यायंते धर्मोपदेशे इति ब्राह्मणस्याहङ्कारादुपदिशतोऽस्य शूद्रस्य मुखे कर्णयोश्च ज्वलत्तैलं राजा प्रक्षेपयेत् ॥ २७२ ॥

(४) राघवानन्दः । तस्यैव धर्मवक्तृत्वे दण्डान्तरमाह धर्मइति । दर्पेण धनविद्यादिजेन विप्राणां धर्मोपदेशं कुर्वतोऽस्य शूद्रस्य । तं धर्मं स्वयं श्रुत्वाऽनुज्ञास्यतीति कृत्वा श्रोत्रे ॥ २७२ ॥

(५) नन्दनः । अस्यैकजातेरित्येव ॥ २७२ ॥

(६) रामचन्द्रः । विप्राणां धर्मोपदेशं दर्पेण कुर्वतः अस्य शूद्रस्य वक्त्रे तप्ततैलं । च पुनः श्रोत्रे आसेचयेत्पार्थिवः ॥ २७२ ॥

श्रुतदेशं च जातिं च कर्मशारीरमेव च ॥ वितथेन ब्रुवन् दर्पाद्वाप्यः स्याद्विशतं दमम् ॥ २७३ ॥

(१) मेधातिथिः । सत्येन श्रुतेनैतदनेन सम्यक्श्रुतं इत्याह श्रुतमेव वा क्षिपति नैतत्संस्कारकं यदनेन श्रुतमिति ब्रह्मावर्तीयमभिजनाभिमानिनं वा ह्यकोयमित्याह एवंजात्यं ब्राह्मणं क्षत्रियोयमित्याह क्षत्रियं वा बान्धवतया ब्राह्मणइति कर्म स्नातकइति शरीरावयवे शारीरेऽव्यङ्गं दुश्चर्म इति वितथेन वितथमनृतं प्रकृत्यादिभ्य इति तृतीया । अथवायधर्मोवैतथ्यं तस्य वाच्यं प्रति कारणता युक्तैव । मदात्परावज्ञानं दर्पः अज्ञानात्परिहासतो वा न दोषः कस्यपुनरयं दण्डः सर्वेषामिति ब्रूमः शूद्राधिकाराच्छूद्रस्यैवेति परे । द्विजातिविषये वैतथ्ये ॥ २७३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शारीरं कर्म भारवहनादि वितथेन ब्रुवन् नत्वश्रुतादि । दर्पादभिमानात् । अश्रुताद्यभिमानेन ब्रुवन् द्विज एव दण्ड्यो न तु शूद्रस्तस्य तु वध एव ॥ २७३ ॥

(३) कुल्लूकः । समानजातिविषयमिदं दण्डलाघवं न तु शूद्रस्य द्विजात्याक्षेपविषयम् । नत्वयैतच्छ्रुतं भवान् तद्देशजातो न तवेयं जातिर्न तव शरीरसंस्कारमुपनयनादि कर्मकृतमित्यहङ्कारेण मिथ्या ब्रुवन् द्विशतं दण्डं दाप्यः स्यात् । वितथेनेति तृतीयाविधाने प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानमिति तृतीया ॥ २७३ ॥

(४) राघवानन्दः । समवर्णे आह श्रुतमिति । नत्वं द्विजातिर्न तवायमुचितो देश इत्येवं वितथेन वितथं ब्रुवन् शूद्रः-

शूद्रस्यैव ब्रुवन् । प्रकृत्यादिभ्यः उपसंख्यानमितितृतीया । अथवा स्वख्यात्यर्थदर्पात् मिथ्यावदच्छूद्रोदण्डनीयइत्याह श्रुत-
मिति । मयैतत्पुराणादिकं श्रुतं मम मध्यदेशेवसतिरतीव कुलीनोहमतीव सत्कर्मास्मि ममातीव चूडादिसंस्कारोवृत्तइति ।
अन्यथा वितथेनेत्यनुपपत्तेरिति ॥ २७३ ॥

(५) नन्दनः । सर्ववर्णानामविशेषेण दण्डमाह श्रुतदेशं चेति । देशंजन्मभूम्यादिकं । कर्मयज्ञादिकं । शारीरमुपनय-
नादिकं । वितथेनवैतथ्येन ॥ २७३ ॥

(६) रामचन्द्रः । तवश्रुतं तवदेशं तवजातिं तवशारीरकर्म भारवाहनादिकर्मवितथेन विथतत्वेन दर्पात् ब्रुवन्
द्विशतं दमं दाप्यः स्यात् ॥ २७३ ॥

काणं वाप्यथवा खञ्जमन्यं वापि तथाविधम् ॥ तथ्येनापि ब्रुवन् दाप्योदण्डं कार्षापणावरम् ॥ २७४ ॥

(१) मेधातिथिः । एकेनाक्ष्णाविकलः काणः खञ्जः पादविकलः तथाविधं कुर्णिविटपंतथ्येननासत्येनापि शब्दा-
द्वितथेन अकाणं च काणइत्युक्ते कार्षापणो वरोदण्डः अत्यन्ताल्पो यदि दण्डः कथंचिदनुग्राह्यतया युक्ते तदा कार्षापणो-
वरोदण्डः अन्यथा द्वौ त्रयः पञ्चवा पुरुषविशेषापेक्षयापि दण्ड्यः शूद्रः सर्वे वा पूर्ववत् ॥ २७४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्रुवन्काणस्त्वमित्यादिकमभिमानात् कार्षापणोत्यन्तावरो यत्र दण्डे तम् । अधिकसंभवेतु
ततोपि किंचिदधिकं दाप्यइत्यर्थः ॥ २७४ ॥

(६) कुहूकः । एकाक्षिविकलं पादविकलमन्यमपि वा तथाविधं हस्ताद्यङ्गविकलं सत्येनापि काणादिशब्देन ब्रुवन्त्य-
न्ताल्पं नदा कार्षापणं दण्डं दाप्यः ॥ २७४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यत् वस्तुतोद्गहीनस्य तथावदने दण्डमाह काणमिति । तथाविधं विरूपम् । तथ्ये-
नापीत्यत्रापरवधारणार्थत्वात्परिहासवारणाय । कार्षापणावरं पणादपि न्यूनं पुनः प्रसंगवारणाय ॥ २७४ ॥

(५) नन्दनः । तथाविधं विकलाङ्गशक्त्यपेक्षया परिणामनीयम् ॥ २७४ ॥

(६) रामचन्द्रः । काणादिकं तथ्येन ब्रुवन् कार्षापणां अवरं दण्डं दाप्यः कर्षपणं कार्षापणं अवरंतुच्छं ॥ २७४ ॥

मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम् ॥ आक्षारयञ्छतं दाप्यः पन्थानं चाददद्गुरोः ॥ २७५ ॥

(१) मेधातिथिः । आक्षारणं भेदनमनृतेन एषा ते माता न स्नेहवती द्वितीये पुत्रेऽत्यन्तवृष्णावती कनकमयमङ्गु-
लीयकरं हसि तस्मै दत्तवतीत्येवमाद्युक्त्वा भेदयति एवं पिता पुत्रौ जायापती भ्रातृगुरुशिष्यौ तनयग्रहणं द्वितीयसंबन्धप्र-
दर्शनार्थं । अन्यथा मातरमित्युक्ते मातरं पुत्राद्विन्दतोदण्डः स्यान् पुत्रं मातुः यद्यपि भेदनमुभयाधिष्ठानं तथापि यन्मुखेन क्रि-
यते स एव भेदयितव्यइति व्यवहारः । तत्रासति तनयग्रहणे प्रदर्शनार्थं यदैव मातरमाह तेनैषते पुत्रोऽभक्तो दुःशीलश्चेत्येव-
मादिना मातरमाक्षारयति तत्रैव स्यान् पुत्रं दर्शितम् । अन्ये तु चित्तकदर्थनोत्पादनमाक्षारणमाहुः प्रवक्ष्यामि धनं श्रुतं वा-
र्जयंतु तीर्थान्युपसेवितुं तत्प्रवासशङ्कया च मानसी वृष्णया पीडा भवति तथा न कर्तव्यं । यावद्गुरुवस्ते जीवेयुस्तावन्तान्यस-
माचरेन्तैरननुज्ञातइति च । यत्तु विद्वेषणादिना चित्ते खेदोत्पादनं तत्र शतान्मुच्यते प्रतिरोद्धागुरोरिति महत्त्वाद्दोषस्य ।
जायाया अनुकूलायाः पुत्रवत्याः करोत्यन्यं विवाहमित्येतदक्षारणं एवं गुणवतः पुत्रस्याकारणेऽन्यकरणं गुरोः सर्वप्रकारं पन्था-
नमत्यजतः शतं दण्डः ॥ २७५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अक्षारयन्लग्न्यमैथुनेनाभिशांसन् । जायासंनिधेर्जायाया एव मातरं पितरं चेति ग्राह्यम् । ते-
नात्र जायां प्रति तव माता त्वैरिणीत्यादिरभिशापो द्रष्टव्यः ॥ २७५ ॥

(३) कुष्ठूकः । आक्षारितः क्षारितोऽभिषमइत्याभिधानिकाः मात्रादीन्पातकादिनाऽभिषपगुरोश्च पन्थानमत्यजन्-
दण्ड्यः । भार्यादीनांगुरुलघुपापाभिषापेन दण्डसाम्यंसमाधेयम् । मेधातिथिस्तु आक्षारणंभेदनमित्युक्ता मातृपुत्रपित्रादी-
नांपरस्परभेदनकर्तुरयंदण्डविधिरितिव्याख्यातवान् ॥ २७५ ॥

(४) राघवानन्दः । मात्राद्यभिषमस्तुदण्डमाह मातरमिति । आक्षारयन् पातकादिना अभिषस्तं कुर्वन् शतं दा-
प्यः । तथा गुरोराचार्यस्य पन्थानमददन्नोदण्ड्यः । क्षारणमेतेषामन्योन्यवैमत्यं तत्कर्तुर्दण्डइतिमेधातिथिः ॥ २७५ ॥

(५) नन्दनः । आक्षारयन्वाक्पारुष्येण क्रोधयन्मातापितृगुरुज्येष्ठभ्रातृणामाक्षारणे सकृत्कृतेऽन्येषामसकृत्कृते दण्डः
अतुल्यकक्षित्वात् ॥ २७५ ॥

(६) रामचन्द्रः । मातरंवा पितरंवा जायांवा जायाशब्दसन्निधानात्तस्याएव पितरौ ग्राह्यौ भ्रातरं तनयं गुरुं
वाऽऽक्षारयन् अगम्यागमनेन निन्दन् सः शतंदाप्यः च पुनः गुरोःपन्थानं अददत् शतंदाप्यः ॥ २७५ ॥

ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यान्तुदण्डः कार्योविजानता ॥ ब्राह्मणे साहसः पूर्वः क्षत्रिये त्वेव मध्यमः ॥ २७६ ॥

(१) मेधातिथिः । ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां परस्पराक्रोशे कृते तयोरयंदण्डइत्येवमध्याहारेण योजना तादर्थ्यंचतुर्थी
वा तद्धिनयाय दण्डः कर्तव्यः पातकस्याक्रोशे कृते अयंदण्डोदुःखोत्पादनरूपे ॥ २७६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यामन्योन्यमाक्षारणे ॥ २७६ ॥

(३) कुष्ठूकः । ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां परस्परपतनीयाक्रोशे कृते दण्डशास्त्रज्ञेन राज्ञा दण्डः कार्यः दण्डमेव विशेषे-
णाह ब्राह्मणे क्षत्रियाक्रोशिनि प्रथमसाहसः कार्योब्राह्मणाक्रोशिनि पुनः क्षत्रिये मध्यमसाहसः ॥ २७६ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यामन्योन्यपतनीयाक्रोशे कृते दण्डमाह ब्राह्मणेति । विजानता दण्डशास्त्र-
ज्ञेन राज्ञा दण्डःकार्यः । तयोर्व्यवस्थानमाह । ब्राह्मणे क्षत्रियाक्रोशिनि पूर्वः सार्धशतत्रयम् । विप्राक्रोशिनिराजनि मध्य-
मः पञ्चशतानि ॥ २७६ ॥

(५) नन्दनः । वर्णानांस्वजातिविषये वाक्पारुष्यातिशये दण्डंश्लोकद्वयेनाह ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यान्त्विति । विजा-
नता राज्ञा । ब्राह्मण क्षत्रियाभ्यां वाक्पारुष्यातिशये कृते तयोर्दण्डौकार्यावित्यर्थः । तावत्तरार्द्धेनोक्तौ ॥ २७६ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यामन्योन्याक्षारणे पतनीये कृतः विजानता पुंसा दण्डःकार्यःपूर्वसाहसःप्रथम-
साहसः ॥ २७६ ॥

विट्शूद्रयोरेवमेव स्वजातिप्रतितत्त्वतः ॥ छेदवर्जप्रणयनंदण्डस्येति विनिश्चयः ॥ २७७ ॥

[पतितंपतितेत्युक्ता चौरंचौरैति वापुनः । वचनान्तुल्यदोषः स्यान्मिथ्याद्विदोषतां व्रजेत् ॥ १ ॥]†

(१) मेधातिथिः । एवमेव प्रथममध्यमौ साहसावित्यतिदिश्यते तेनैव क्रमेण वैश्यस्य शूद्राक्रोशे प्रथमः शूद्रस्य
वैश्याक्रोशे मध्यमः छेदवर्जदण्डस्य प्रणयनमिति । एकजातिर्द्विजातिमित्यनेन जिह्वाछेदंभ्रातृनिवर्तयति स्वजातिप्रतीतिः
नैवमन्तव्यंसमानजातीयप्रतीतिः किंतिह यात्रजातिरुपात्ता वैश्यशूद्राविति । स्वग्रहणश्लोकाभिप्रायं परस्पराक्रोशेयावत्स्व-

जातिमिति पूर्वत्रापि संबन्धनीयं प्रणयनं प्रवर्तनम् । क्षत्रियस्य वैश्यशूद्राक्षारणे प्रथमाहसाहसः एवं ब्राह्मणस्य वैश्यशूद्रयोः कल्पः ॥ २७७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विदुःशूद्रयोरेवमेवान्योन्याक्षारणे प्रथमो वैश्यस्य शूद्रस्य मध्यमः । तयोस्तु स्वस्वजात्याक्षारणे छेदवर्जं तत्तज्जात्युचितदण्डमात्रप्रणयनम् । तेनार्थाद्ब्राह्मणक्षत्रियाक्षारणे छेदएवेत्यर्थः ॥ २७७ ॥

[सर्वज्ञनारायणः । पतितमिति । पतितं पातकिनम् । उक्त्वा आक्रोशबुद्ध्या तुल्यदोषोऽतस्तुल्योदण्डः । एवं द्विदोषतां द्विगुणदोषतामित्यादि ॥ वाक्पारुष्यम् ॥ १ ॥]

(३) कुल्लूकः । वैश्यशूद्रयोरन्योन्यजातिप्रतिपतनीयाक्रोशे ब्राह्मणक्षत्रियवद्वैश्ये शूद्राक्रोशिनि प्रथमसाहसः शूद्रे वैश्याक्रोशिनि मध्यमसाहस इत्येवं रूपं दण्डस्य प्रणयनं जिह्वाच्छेदरहितं यथावत्कर्तव्यमिति शास्त्रनिश्चयः एवं चेकजातिद्विजातींस्त्विति प्रागुक्तजिह्वाच्छेदो वैश्ये निवारितो ब्राह्मणक्षत्रियाक्रोशविषय एवावतिष्ठते ॥ २७७ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तदण्डमन्यत्रातिदिशति विडिति । शूद्राक्रोशिनि वैश्ये प्रथमः । वैश्याक्रोशिनि शूद्रे मध्यमः । स्वजातिप्रतिपतितेऽन्यस्य जातिर्यदनन्तरं तत्त्वजातिस्तेन वैश्यः क्षत्रियमाकुशय प्रथमसाहसं दद्यात् । वैश्यमाकुशय शूद्रो मध्यमसाहसं दद्यात् । अन्यथा समवर्णे द्विजातीनामिति वैश्यस्य द्वादशस्योक्तत्वात्तत्त्वतः परिहासं विना छेदवर्जं जिह्वाच्छेदविना । अतो ब्राह्मणक्षत्रियाक्रोशिनि शूद्रे जिह्वाच्छेदः प्रथमोक्तः पर्याप्तः ॥ २७७ ॥

(५) नन्दनः । एवमेवेति मध्यमसाहसातिदेशः स्वजातिप्रतिवाक्पारुष्यइति शेषः । अपराद्धेऽपि स्वजातिप्रतीत्यनुषङ्गः । शूद्रस्येति च विपरिणामः तेनायमर्थः शूद्रस्य जिह्वाच्छेदवर्जनं दण्डप्रणयनं स्वजातिविषये न द्विजातिविषयइति ॥ २७७ ॥

(६) रामचन्द्रः । वैश्यशूद्रजातिप्रतिपतितत्त्वतः क्षेपेण वर्जयेत् । प्रणयनपरिहासवर्जं प्रणयनं दण्डस्य इति विनिश्चयः दण्डः कार्यः ॥ २७७ ॥

[रामचन्द्रः । पतितमिति । पतितं प्रति त्वंपतित इत्युक्त्वा चौरं प्रति त्वंचोर इत्युक्त्वा वाचनान्तत्तुल्यदोषः स्यात् ॥ १ ॥]

एषदण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः ॥ अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम् ॥ २७८ ॥

(१) मेधातिथिः । दण्डपारुष्यं दण्डेन दुःखोत्पादनं यथा क्रण्टकादेः पुरुषस्य स्पर्शः पीडाकर एव पीडाकरत्वसामान्यात्पारुष्यशब्दप्रयोगस्तत्र निर्णयो दण्डविशेषनिर्णयः । पूर्वप्रकरणोपसंहारोपन्यासार्थः श्लोकः ॥ २७८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तत्त्वतो धर्मतः ॥ २७८ ॥

(३) कुल्लूकः । एषोऽनन्तरोक्तो वाक्पारुष्यस्य यथावदण्डविधिरुक्तोऽनन्तरं ताडनदिर्दण्डपारुष्यस्य निर्णयं वक्ष्यामः ॥ २७८ ॥

(४) राघवानन्दः । वाक्पारुष्यदण्डमुपसंहरन् कायकृतहिंसने तं प्रतिजानीते एषइति ॥ २७८ ॥

येन केनचिदङ्गेन हिंस्याच्चेष्टमन्त्यजः ॥ छेत्तव्यं तत्ते देवास्य तन्मनोरनुशासनम् ॥ २७९ ॥

(१) मेधातिथिः । अन्त्यजः शूद्रश्चण्डालपर्यन्तः श्रेष्ठः त्रैवर्णिकः तंचेद्विद्विदङ्गेन केनचित्साक्षादण्डखड्गादिप्रहरणव्यवधानेन वा तदङ्गस्य छेत्तव्यं हिंसाया क्रोधेन प्रहरणं ताडनमिच्छया हस्ताद्युद्यम्य वेगेन निपातनं मारणमेव तत्त-

दिति वीप्सा अङ्गमिति छेत्तव्यमिति चैकत्वविवक्षामातिज्ञापितेनानेकेनाङ्गेन प्रहरणेऽनेकस्यैव छेदः । अनुशासनमुपदेशोपनुरुक्तैषा मर्यादा अनुशासनग्रहणंकारुणिकस्य राज्ञः प्रवृत्त्यर्थः ॥ २७९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । हिंस्यात् पीडयेत् । अन्त्यजः शूद्रः ॥ २७९ ॥

(३) कुल्लूकः । अन्त्यजः शूद्रोयेनकेनचित्करचरणादिनाङ्गेन साक्षादण्डादिनाऽव्यवहितेन द्विजातिं प्रहरेत्तदेवाङ्गमस्य छेत्तव्यमित्ययं मनोरूपदेशः मनुग्रहणमादरार्थम् ॥ २७९ ॥

(४) राघवानन्दः । तमेवाह येनेति द्वाविंशत्या । केनचित् पाण्याद्यन्यतमेन । अन्त्यजः शूद्रः ॥ २७९ ॥

(५) नन्दनः । अथदण्डवाक्पारुष्यमाह येनकेनचिदिति । श्रेयांसंस्वस्यपूर्ववर्णं अन्त्यजस्तस्मादपरवर्णः ॥ २७९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्त्यजः शूद्रः श्रेष्ठं विप्रं येनकेनचित् अंगेन हिंस्यात् करेणपादेनवा तत्तदेव अंगमस्य शूद्रस्य छेत्तव्यं तन्मनोऽनुशासनम् ॥ २७९ ॥

पाणिमुद्यम्य दण्डंवा पाणिच्छेदनमर्हति ॥ पादेन प्रहरन्कोपात्पादच्छेदनमर्हति ॥ २८० ॥

(१) मेधातिथिः । उद्यम्योत्क्षिप्यच कोपात्ताडनेच्छोस्तदङ्गमनिपातयतोऽस्यपाणिः छेत्तव्यः दण्डग्रहणंसमानपीडाकरस्य हिंसासाधनस्योपलक्षणार्थतेन मृदुशफादावन्योदण्डः । पादेन प्रहरन्निति अत्राप्युद्यम्येत्यपेक्षितव्यं अवगुरतोप्येष्वेव ॥ २८० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उद्यममात्रेत्वाह पाणिमिति । प्रहरन् प्रहारार्थमुद्यमं कुर्वन् प्रहरंश्च ॥ २८० ॥

(३) कुल्लूकः । अस्यैवोत्तरप्रपञ्चः पाणिमिति प्रहर्तुं पाणिं दण्डंवाद्यम्य पाणिच्छेदं लभते पादेन कोपात्प्रहरणे पादच्छेदं प्राप्नोति ॥ २८० ॥

(४) राघवानन्दः । येनेत्यस्य विवरणं पाणिमिति पञ्चभिः । दण्डः लगुडादिः । अस्थिभेदनपर्यन्तं कोपादित्यनुवर्तते तदभावे वाग्दण्डादिः ॥ २८० ॥

(५) नन्दनः । उक्तमर्थचतुर्भिः श्लोकैः प्रपञ्चयति । पाणिमुद्यम्येति पादेन प्रहरन्पादप्रहारहेतोः पादमुद्यम्येत्यर्थः ॥ २८० ॥

(६) रामचन्द्रः । पाणिं हस्तंवा उद्यम्य हिंस्यात्तर्हि पाणिच्छेदनं अर्हति ॥ २८० ॥

सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः ॥ कट्यांकताङ्गो निर्वास्यः स्फिचंवास्यावकर्तयेत् ॥ २८१ ॥

(१) मेधातिथिः । उत्कृष्टो ब्राह्मणो जातितोदौःशील्यादवकृष्टोऽपीतरेवर्णा औत्तरार्धेण परस्परापेक्षयोत्कृष्टाः स्वावकृष्टाश्च तत्राहावकृष्टजइति जनिना जन्मचोत्कर्षोपात्ततत्संनिधानादुत्कर्षोऽपि जन्मनैव जन्मना चनिरपेक्षोत्कर्षो ब्राह्मणस्य नापकर्षः तेन शूद्रस्यायं ब्राह्मणेन सहैकमासनमारुढवतोदण्डः । कटिः श्रोणी तत्र कृतचिह्नः अङ्गविधौ च सुधाकुम्कुमादिना चिह्नकरणमात्रमपि अयन्तु दण्डः रव्यापनार्थः । अतिक्रमाद्विभिद्युरिति तेन देशान्तरे यदनपायितच्चिह्नमायसोलेखनादुपदिश्यते तथाच वक्ष्यति उद्वेजनकरे दण्डे चिह्नयित्वेति राष्ट्राच्च निष्कास्यः स्फिक् श्रोण्येकदेशः सव्योदक्षिणश्च तंचावकर्तयेत् चिह्नेन विकल्पविधानात्तावन्मात्रच्छेदो न सर्वस्य स्फिजः अभिप्रेप्सुरितिव नेच्छामात्रेण किं तर्हि प्राप्तवतएव इच्छाया शक्यापह्नवत्वादण्डस्य च महत्त्वात् ॥ २८१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उत्कृष्टस्योत्तमजातेः । अपकृष्टः क्षत्रियादिः । कल्यामिति क्षत्रविशोः शूद्रस्यच तदुभय-
स्य हास्येच्छायाम् । स्फिचमिति शूद्रस्य ब्राह्मणहासेच्छायाम् ॥ २८१ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणेन सहासनोपविष्टः शूद्रः कल्यां तमलोहकृतचिन्होपदेशोनिर्वासनीयः स्फिचंवास्य यथा
न भ्रियते तथाछेदयेत् ॥ २८१ ॥

(४) राघवानन्दः । सहासनं सहोपवेशनम् । उत्कृष्टस्य द्विजातेः । रुताङ्गः कृतचिन्हः । निर्वास्योदेशादेव ।
स्फिचं कटिं यथा न भ्रियते तथा छेदयेत् ॥ २८१ ॥

(५) नन्दनः । गुणोदोषवशाद्विकल्पः ॥ २८१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अवकृष्टजः शूद्रः उत्कृष्टस्य महासनंअभिप्रेप्सुः ईप्सुःइच्छेत्सःशूद्रःकल्यां कटिप्रदेशे रुताङ्गः क-
तलाञ्छनः निर्वास्यः निष्कासनीयः । च पुनः अस्य स्फिचंअवकर्तयेत् ॥ २८१ ॥

अवनिष्ठीवतोदर्पाद्वावोष्ठौ छेदयेन्पुनः ॥ अवमूत्रयतोमेढ्रमवशार्धयतोगुदम् ॥ २८२ ॥

(१) मेघातिथिः । मूत्रेणावसिंचतोऽभिमुखंवातदवमानार्थक्षिपतोऽसत्यपिसंस्पर्शोऽवमनयति मूत्रेणेति । निष्कर्तव्यः
समानफलत्वादितस्यापिदण्डोयं निष्ठीवनंनासिकास्यश्रावस्यघ्राणेन क्षेपे नासापुटच्छेदः येनाङ्गेनेत्युक्तत्वात् । शार्धनकु-
त्सितोगुदशब्दः दर्पान् प्रमादात् ॥ २८२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अवनिष्ठीवतः उत्तमस्योपरिनिष्ठीवतः । एवमत्र मूत्रमुपरिमूत्रणम् । अवशार्धनं कुत्सितगु-
दशब्दकरणंतदुपरि ॥ २८२ ॥

(३) कुल्लूकः । दर्पेण श्लेष्मणा ब्राह्मणानपमानयतः शूद्रस्य राजा द्वावोष्ठौ छेदयेत् मूत्रप्रक्षेपेणापमानयतोमेढ्रं
शार्धनं कुत्सितोगुदशब्दःतेनावमानयतोदर्पान् प्रमादाद्दुद्वेदयेत् ॥ २८२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच । अवनिष्ठिवतोद्विजादौकफादीन्यस्यतः ओष्ठौ छेदयेदेव । मेढ्रं लिङ्गम् । अवशार्धनं
कुत्सितोगुदशब्दस्तत्कुर्वतः ॥ २८२ ॥

(६) रामचन्द्रः । दर्पात् अवनिष्ठीवतः द्विजोपरि निष्ठीवनंकुर्वतः द्वावोष्ठौछेदयेत् ॥ २८२ ॥

केशेषु गृह्णतोहस्तौ छेदयेदविचारयन् ॥ पादयोर्दाढिकायां च ग्रीवायांवृषणेषुच ॥ २८३ ॥

(१) मेघातिथिः । दर्पादित्यनुवर्तते परिभवबुध्याकेशेषु ब्राह्मणंगृह्णतः शूद्रस्य हस्तौ छेदयेत् । द्विवचनमेकेना-
पि द्वाभ्यांनुल्यपीडाकरउभयच्छेदनैकस्यैव दाढिकाश्मश्रु अन्यदपि यदङ्गंगृह्णमाणंग्रीवादितुल्यपीडाकरंतत्र सर्वथाप्यय-
मेव दण्डः अविचारयन्पीडाकियत्यस्य गृहीतस्य संजाता महतीत्त्वल्पावेति एतदनुबन्धश्लोकप्रामांविवरणंविचार्यते ग्रहण-
मात्रेदण्डः ॥ २८३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दाढिकायां श्मश्रुणि । एतत्सर्वमुत्तमेऽधमेन क्रियमाणम् ॥ २८३ ॥

(३) कुल्लूकः । दर्पादित्यनुवर्ततेऽहंकरेण केशेषु ब्राह्मणंगृह्णतः शूद्रस्य पीडाऽस्य जाता न जातावेत्यविचारयन्ह-
स्तौ छेदयेत् पादयोः श्मश्रुणि च ग्रीवायां वृषणे चार्हिसार्थंगृह्णतोहस्तद्वयच्छेदमेव कुर्यात् ॥ २८३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच केशेष्वाति । दाढिकायां श्मश्रुणि । हिंसार्थं पादादिचतुष्टये नरं गृह्यतोऽस्तौ छेदयेदित्यन्वयः । वृषणं फलकद्वयम् ॥ २८३ ॥

(५) नन्दनः । पादयोरित्यादिषु गृह्यतइत्येव ॥ २८३ ॥

त्वग्भेदकः शतदण्ड्योलोहितस्य च दर्शकः ॥ मांसभेत्ता तु षण्णिष्कान्प्रवास्यस्त्व

स्थिभेदकः ॥ २८४ ॥

(१) मेधातिथिः । द्विजातीनामयं परस्परपराधे शूद्रस्य तु शूद्रपराधे मन्यते यः केवलाभेवत्वचं भिन्धाद्विदारयेन्न लोहितदर्शयेत्तस्य शतदण्डः तावदेव लोहितदर्शने यद्यपि त्वग्भेदमन्तरेण न लोहितं दृश्यते तथाप्यधिकापराधादधिकदण्डे प्राप्ते शतवचननियमार्थं अन्येतु कर्णनासिकादेरपि स्रवतिशोणितं बहिस्त्वग्भेदेऽपि तदर्थमुच्यते इत्याहुस्तदयुक्तं अन्तर्भेदे हि महत्त्वान्महादण्डोयुक्तस्तस्माद्यत्रेषत्स्रवतिशोणितं तत्र शतं शिरोभेदे तु मांसवत् । निष्कशब्दः सुवर्णपरिमाणवाचीत्युक्तं प्रवास्योऽस्यां भेदकस्तत्प्रयोजक इति घञन्तेन समासं कृत्वा तं करोतीति पठितव्यः अस्थिभेदक इति प्रवासनसमर्थशास्त्रप्रवृत्त्या मारणं निर्वासनं वा दण्डविधौ स्वार्थशास्त्रश्रवणं दृश्यते तथाहि दशवस्त्रसंबन्धमिति बार्हस्पत्यौशनस्ये च प्रयोगः । निर्वासनं ब्राह्मणस्य नान्येषाम् ॥ २८४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । त्वग्भेदक इत्यादिसमावकृष्टविषयापराधकरणे । शतं पणान् । षट् निष्कान् दीनारान् । प्रवास्यो देशान् निर्वास्यो गृहीतसर्वस्वः । अस्थिभेदकोऽस्थिभङ्गप्रहारकृत् ॥ २८४ ॥

(३) कुल्लूकः । चर्ममात्रभेदकस्तमानजातिर्न शूद्रो ब्राह्मणस्य दण्डलाघवं पणशतदण्डनीयः तथा रक्तोत्पादकोऽपि पणशतमेव दण्ड्यः मांसभेदी षण्णिष्कान् दाप्यः अस्थिभेदकस्तु देशान् निर्वास्यः ॥ २८४ ॥

(४) राघवानन्दः । त्वग्भेदक इत्ययं श्लोकः शूद्रस्य समानजातिविषयो दण्डस्य लाघवादिति ॥ २८४ ॥

(५) नन्दनः । एवतावदसमजातिविषये दण्डमाह त्वग्भेदक इति । शतं पणानाम् ॥ २८४ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्वक्भेदको द्विजः शतदण्ड्यः । च पुनः शोणितस्य च दर्शकः दण्ड्यः । एषां संभेत्ता दण्ड्यः अस्तिभेदको गृहीतसर्वस्वः प्रवास्यः ॥ २८४ ॥

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथा यथा ॥ तथा तथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा ॥ २८५ ॥

(१) मेधातिथिः । वनस्पतिग्रहणं सर्वस्थावरप्रदर्शनार्थं फलपुष्पपत्रच्छायादिना महोपभोग्यस्य वृक्षस्य हिंसायां विनाशमाह समध्यमस्य मध्यमो निरुष्टस्य प्रथमस्तथा स्थानविशेषो द्रष्टव्यः पत्रच्छेदः फलच्छेदः शाखाच्छेद इति फलानामपि विशेषो महार्घतादुष्प्रापता तथा स्थानविशेषोऽपि द्रष्टव्यः सीम्ना चतुष्पथे तपोवन इति ॥ २८५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उपभोगो यथाधिकः कस्यचिच्छायामात्रेणान्यस्य पुष्पैरप्याग्नादेः फलैरपीत्यादि ॥ २८५ ॥

(३) कुल्लूकः । वृक्षाद्युद्भिदां सर्वेषां येन येन प्रकारेणोपभोगः फलपुष्पपत्रादिनोत्तममध्यमाधमरूपो भवति तथा तथा हिंसायामप्युत्तमसाहसादिदण्डो विधेय इति निश्चयः । तथा च विष्णुः फलोपभोगद्रुमच्छेदी तूतमसाहसं पुष्पोपभोगद्रुमच्छेदी मध्यमं वल्लीगुल्मलताच्छेदी कार्पापणशतं तृणच्छेद्येकं कार्पापणं च पण एव मनुनाप्युक्तो वेदितव्यः ॥ २८५ ॥

(४) राघवानन्दः । नृकायदण्डप्रसंगेन स्थावरस्यापि ॥ योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ॥ स्थानुमन्ये

संयन्तीति श्रुतेः ॥ तस्मात्पश्यन्ति पादपादितिस्मृतेस्तेषां कायाभिमानित्वेन हिंस्यत्वात्तत्कर्तुः प्रथमसाहसादिदण्डोज्ञेयइत्याह वनस्पतीनामिति । तथाच विष्णुः ॥ फलोपभोगद्रुमच्छेत्तातूत्तमसाहसं पुष्पोपभोगच्छेदी कार्षापणशतं तृणच्छेद्येकपणमिति । छेद्यत्र हिंसकः । धारणा शास्त्रमर्यादा ॥ २८५ ॥

(५) नन्दनः । वनस्पतीनां स्थावराणां हिंसायामुपभोगगुरुलाघवापेक्षया दण्डः कल्प्यः ॥ २८५ ॥

(६) रामचन्द्रः । हिंसायां छेदनेन इति सर्वत्र धारणा मर्यादा ॥ २८५ ॥

मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रवृत्ते सति ॥ यथायथामहदुःखं दण्डं कुर्यात्तथा तथा ॥ २८६ ॥

(१) मेधातिथिः । यदुक्तं त्वग्भेदक इति तस्य विशेषोऽयं असति मनुष्यग्रहणे प्राणिमात्रं हिंसाविषयत्वेऽथ श्लोकस्य महापशूनां क्षुद्राणां च पशुपक्षिमृगाणां तुल्यदण्डता मा भूदिति तदर्थमिदं यथा यथा महदुःखमिति त्वल्पे भेदने शोणिते च प्राणिनां महत्त्वादल्पत्वं प्रहारस्य शतादूनोऽपि दण्डमर्हति शतादभ्यधिकोऽपि अन्येतु महदुणां महति दुःखे दण्डवृद्धयर्थं नाल्पेऽपचयार्थं यथा श्रुतमेव तत्र दुःखाय प्रवृत्ते दुःखोत्पत्त्यर्थं प्रहारे प्रमादस्तु न वृद्धिः अनुबन्धः परिज्ञायते तस्यैव श्लोकद्वयमुदाहरणं भङ्ग्या व्याख्येयम् ॥ २८६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दुःखाय न मरणाय ॥ २८६ ॥

(३) कुल्लूकः । मनुष्याणां पशूनां पीडोत्पादनार्थं प्रहारे कृते सति यथायथा पीडाधिक्यं तथा तथा दण्डमप्यधिकं कुर्यात् । एवं च मर्मस्थानादौ त्वग्भेदनादिषु कृतेषु त्वग्भेदकः शतं दण्ड इत्युक्तादप्यधिको दण्डो दुःखविशेषापेक्षया कर्तव्यः ॥ २८६ ॥

(४) राघवानन्दः । मनुष्यादीनामपि दुःखतारतम्यादण्डतारतम्यमाह मनुष्याणामिति । प्रवृत्ते प्रहारे कृते ॥ २८६ ॥

(५) नन्दनः । मनुष्याणां पशूनां च मध्ये कस्मिंश्चिदुःखाय प्रवृत्ते सति दुःखतारतम्येन दण्डं कुर्यात् ॥ २८६ ॥

अङ्गावपीडनायां च व्रणशोणितयोस्तथा ॥ समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथापि वा ॥ २८७ ॥

(१) मेधातिथिः । अङ्गानामवपीडना दृढरज्वादिग्रहणसंबन्धिविश्लेषणादिना तत्र याचितधने पथ्यभिषगौषधादिमूल्येन प्रत्यापत्तिमायाति तावदपीडितस्य दाप्यः । एवं प्राणशोणितयोरवपीडनानामिति समस्तमपियोज्यं अथवा प्राणशोणितयोः समुत्थानव्ययं दाप्य इति संबन्धः सामर्थ्यापचितयोरिति लभ्यते समुत्थानं प्रकृत्यापत्तिः प्राणोबलं प्रहारेणास्वस्थस्य भोजनादृते कार्षाद्युपपत्तौ बलमपचीयते तत्राङ्गेऽनष्टे प्रत्यागते च यावद्वललाभस्तावत्तदुपयोगे यत्किंचिद्वृत्तेतैलादिदापनीयं एवं शोणिताद्युत्पत्तौ तद्बुर्बलीभूतस्य व्याध्यन्तरं वा प्राप्तस्याप्रकृतशरीरावस्थाप्राप्तेः समुत्थानव्ययं दाप्यः न चेत्तद्वृत्तिरिति तदा तच्च दण्डं परिपिण्ड्य सर्वराज्ञे दद्यात् ॥ २८७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अङ्गावपीडनमङ्गमङ्गः । व्रणोमांसभेदः । शोणितं त्वग्भेदेन रक्तोत्पादः । समुत्थानं संरोहणं । तद्यावता भवति भग्नादीनां तावत् भग्नाङ्गादिभ्यो दापनीयः । प्राणपदं व्रणपदस्थाने कचित्पृथ्यते तत्र प्राणोबलं तस्य समुत्थानं प्रागवस्थाप्राप्तिः । तथा सर्वदण्डं प्रागुक्तं यथायोग्यं दण्ड्यः । वेतिसमुच्चये ॥ २८७ ॥

(३) कुल्लूकः । अङ्गानां करचरणादीनां व्रणशोणितयोश्च पीडनायां सत्यां समुत्थानव्ययं यावता कालेन पूर्वावस्था-

(२८७) व्रणशोणितयोस्तथा=प्राणशोणितयो (ट, ठ, ड, त, थ)

प्राप्तिः समुत्थानसंबन्धोभवति तावत्कालेन पथ्यौषधादिना यावान्व्ययोभवति तमसौ दापनीयः अथ तंव्ययंपीडोत्पादको-
न दातुमिच्छति तदा यः समुत्थानव्ययोयश्च दण्डस्तमेनंदण्डत्वेन राज्ञा दाप्यः ॥ २८७ ॥

(४) राघवानन्दः । तेषामेव पीडाविशेषनिमित्तं दण्डविशेषमाह अङ्गेति अङ्गानां कर्चरणादीनाम् । प्राणे निश्वा-
सावरोधने रुते । समुत्थानव्ययं येन व्ययेनौषधादिना समुत्थातुमर्हति तं दातुनेच्छति तावदेवासौ दाप्यः त्वग्भेदकःशत-
मित्यनेनोक्तं सर्वतावदभावे सर्वस्वं देयमित्याह सर्वेति । एतत्तु वधमुद्दिश्य पीडामात्रइति पूर्वस्माद्भेदः ॥ २८७ ॥

(५) नन्दनः । अङ्गावपीडनायां कृतायां व्रणशोणितयोश्च कृतयोः समुत्थाननामावृत्यावर्तितंतदर्थं व्ययंसमुत्थानव्य-
यमपीडिताय राज्ञा विचिकित्सादिहेतोर्दाप्यः अपि च सर्वदण्डम् । अथवैतस्मिन्निमित्ते यावद्राज्ञः प्रदेयंदण्डात्मकंद्रव्यंता-
वत्पीडितायापि पीडकोदाप्यः ॥ २८७ ॥

द्रव्याणि हिंस्याद्योयस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोपि वा ॥ सतस्योत्पादयेत्तुष्टिराज्ञे दद्याच्च तत्समम् ॥ २८८ ॥

(१) मेधातिथिः । द्रव्याणि गृहोपकरणान्यन्यानि वानुक्तदण्डविशेषाणि शूर्पोलूखलघटस्थालीपिठरादीनि तेषां-
हिंसाप्राग्रूपनाशः सत्यपि कार्यक्षमात्वे ज्ञानतोऽज्ञानतइति प्रमादकृतेबुद्धिपूर्वचाविशेषेणाहिंसता तस्य द्रव्यस्वामिनोजन-
येत्परितोषतद्रूपान्यदानेन मूल्येन प्रणयेन वाराज्ञे तु द्रव्यमूल्यंद्रव्यंवादद्यात्अस्यक्वचिदपवादः ॥ २८८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । हिंस्यात् विनाशभङ्गादिना । तुष्टिमुत्पादयेत् वाचापि । तत्समं तन्मूल्येन तुल्यंदण्डम् ।
ज्ञानतोऽज्ञानतस्त्वर्थमित्यर्थसिद्धत्वान्नोक्तम् । तुष्ट्युत्पादनेतु न विशेषइति तदपेक्षया ज्ञानतोऽज्ञानतइत्युक्तम् ॥ २८८ ॥

(३) कुल्लूकः । द्रव्याण्यनुक्तविशेषदण्डानि कटकानि ताम्रघटादीनि योयस्य ज्ञानादज्ञानाद्वा नाशयेत्सतस्य द्र-
व्यान्तरादिना तुष्टिमुत्पादयेत् राज्ञश्च विनाशितद्रव्यसमंदण्डंदद्यात् ॥ २८८ ॥

(४) राघवानन्दः । द्रव्यनाशोपि हिंसाविशेषोऽतस्तत्रापि स्वामिनोमूल्यद्रव्यादिना तुष्टिं विदधदपि राजकीयदण्ड-
मर्हतीत्याह द्रव्याणीति । तुष्टिं प्रणिपातेन धनेन वा । राज्ञस्तु तत्समंनाशितद्रव्यमूल्यसमंदद्यात् ॥ २८८ ॥

(५) नन्दनः । द्रव्याणि वस्त्रादीनि तुष्टिमुत्पादयेत्तदा द्रव्यदानादिना । तत्समं हिंसितद्रव्यसमं अज्ञानतोहिंसायां-
तुष्टिज्ञानतोहिंसायांतुष्टिश्चराज्ञेतत्समंद्रव्यदानंच ॥ २८८ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्रव्याणि वस्तूनि योयस्य हिंस्यात् ज्ञानतः पूर्णदण्डः कार्यः । अज्ञानतः अज्ञानपूर्वके नाशे
अर्धदण्डः ॥ २८८ ॥

चर्मचार्मिकभाण्डेषु काष्ठलोष्ठमयेषु च ॥ मूल्यात्पञ्चगुणोदण्डः पुष्पमूलफलेषु च ॥ २८९ ॥

(१) मेधातिथिः । चर्मचार्मिकयोर्द्वंद्वं कृत्वा भाण्डपदेन विशेष्येण समासः अथवा चार्मिकभाण्डयोर्विशेषणसमा-
संकृत्वा चर्मशब्देन द्वन्द्वः चर्मविकाराच्चार्यिकाणि भाण्डानि कटिसूत्रवरत्रादीनि चर्माण्यविरुतानि गवादीनांअथवा चर्म-
भाण्डानि केवलचर्ममयानि चर्मावनद्धानि चार्मिकाणि काष्ठमयभाण्डान्युलूखलमुसलफलकादीनि लोष्ठोष्ठद्विकारः पाषाणा-
कृतिः पिण्डीभूता मृत्तन्मयानि त्वल्पपाकाधानादीनि तन्नाशने मूल्यात्पञ्चगुणोदण्डस्तुष्ट्युत्पत्तिश्च स्वामिनः स्थितै-
व ॥ २८९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पूर्वोक्तापवादस्थानमाह चर्मेति । चर्म स्वरूपतः । चार्मिकं चर्मनिर्मितंभाण्डम् । काष्ठ-
भाण्डेषु लोष्ठेन मृदा कृतेषुच भाण्डेषु नाशितेषु द्रव्यवतेमूल्यंदाप्यः । तथा मूल्यात्पञ्चगुणोत्पादयेत् ॥ २८९ ॥

(३) कुल्लूकः । चर्मणि चर्मघटितवरत्रादौ चर्मकाष्ठमृत्तिकानिर्मितेषु च भाण्डेषु पुष्पमूलफलेषु परस्य नाशितेषु मूल्यात्पञ्चगुणोदण्डोराज्ञोदेयः स्वामिनश्च तुष्टिरूपादनीयैव ॥ २८९ ॥

(४) राघवानन्दः । द्रव्यविशेषे तद्भेदमाह चर्मेति । चर्मणि तन्निर्मितेषु लोष्टोत्र मृत् तन्निर्मितेषु घटादिषु एतेषु नाशितेषु । स्वामिनस्तुष्ट्युत्पादोनुवर्तते ॥ २८९ ॥

(५) नन्दनः । चार्मिकभाण्डादिषु हिंसितेष्विति विपरिणामः । लोष्टमृत्पिण्डः चर्मादिभ्योन्यत्र पूर्वोक्तस्तत्समोदण्डः ॥ २८९ ॥

(६) रामचन्द्रः । चर्मादिभाण्डेषु नष्टेषु चर्मोस्यायंचार्मिकः मूल्यात्पञ्चगुणोदण्डः द्रव्यस्वामिने मूल्यपञ्चगुणोदेयम् ॥ २८९ ॥

यानस्य चैवयातुश्च यानस्वामिनएव च ॥ दशातिवर्तनान्याहुः शेषेदण्डोविधीयते ॥ २९० ॥

(१) मेधातिथिः । सत्यामपि हिंसायां कचिद्दीषोनास्तीत्येनदनेन प्रकरणेन प्रदर्शयते । यानंगच्छ्यादि यदारुह्य यान्ति पन्थानंतच्च गच्छ्यादिबलीवर्दगर्दभमहिषादिवाहंतएव वा गर्दभादयः पृष्टारोह्यायानानि । याता तदारुहः सारथ्यादिः यानस्वामीयस्य तत्त्वयानंतत्रैषांचक्रवेगादिभीरथ्याकर्षणयुक्तैर्वाश्वादिभिः कस्यचिद्रव्यस्य नाशोभरणंवा तत्र पशु-स्वामियानव्यतिक्रमन्याये प्राप्ते कदाचिद्यातुर्दोषः कदाचित्स्वामिनः कदाचिदुभयोः कदाचिन्कस्यचिदपीति योविशेषस्तत्र नोक्तइहैवेप्यते सउच्यते अतिक्रम्य हिंसादण्डंवर्तते नात्र दण्डोस्ति दण्डनिमित्तानि नभवन्तीति यावत् शेषेदण्डउक्तेभ्योनिमित्तेभ्यः । अन्यत्र तान्यपि वक्ष्यति ॥ २९० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यानस्य यद्यपि पश्वादेर्नदण्डस्तथापि शिबिकावाहकमनुष्यादिरूपस्यास्तीति यानग्रहणम् । यानुर्यापयितुर्नैतुःसारथ्यादेः । यानस्वामिनोऽधिकृतस्य । वक्ष्यमाणान्यतिवर्तनानि दण्डातिवृत्तेर्दण्डातिभावस्थानानि । अभिवर्तनानीति कचित्पाठः । तत्र दण्डार्थं निवर्तनं विरोधनंनास्तीत्यर्थः ॥ २९० ॥

(३) कुल्लूकः । यानस्य रथादेर्यातुः सारथ्यादेर्यानस्वामिनश्च यस्य तद्यानंतेषां छिन्ननास्यादीनि दशनिमित्तानि दण्डमतिक्रम्य वर्तन्ते एषु निमित्तेषु सत्सु प्राणिमारणे द्रव्यनाशे च प्रकृते यानस्वामिनांदण्डो न भवतीति मन्वादयआहुः । एतद्यतिरिक्तनिमित्ते च पुनर्दण्डोऽनुष्ठीयते ॥ २९० ॥

(४) राघवानन्दः । अत्रैव प्रतिप्रसवमाह यानस्येति । यानस्य रथशकटादेः । छिन्ननास्यादिदशनिमित्तिकान्दण्डानतिक्रामन्तीत्यतिवर्तनानि । नैतेषु निमित्तेषु दण्डः यातुः सारथेः तदारुहस्य यानस्वामिनश्च न स्यात् । तथा च वक्ष्यमाणानि दशनिमित्तानि वर्जयित्वा शेषे दण्डइत्यन्वयः ॥ २९० ॥

(५) नन्दनः । यानस्यशकटादेः यातुःसारथेः यानस्वामिनोयानारुहस्य च दशातिवर्तनान्याहुः दण्डविधानरहितानि दशातिक्रमणान्याहुरित्यर्थः । शेषइति वर्तने दण्डोविधीयते न तेषु दशस्त्विति ॥ २९० ॥

(६) रामचन्द्रः । यानादिकानां भग्नेसति दशातिवर्तनान्याहुः शेषस्थानेदण्डोविधीयते ॥ २९० ॥

छिन्ननास्ये भग्नयुगेतिर्यक्प्रतिमुखागते ॥ अक्षभङ्गेच यानस्य चक्रभङ्गेतथैव च ॥ २९१ ॥

(१) सर्वज्ञनारायणः । तान्याह छिन्ननास्यइति । वाहकाक्षादिरज्जुच्छेदे भङ्गे युगाकाष्ठस्य दैवादभिघातादिना तिर्यग्गते याने तथा प्रतिमुखागते प्रत्यावृत्त्यागते ॥ २९१ ॥

(३) कुल्लूकः । नासायां भवंनास्यं शरीरावयवत्वाद्यत् । साचेहबलीवर्दनासासंबन्धिनीरज्जुः छिन्ननास्यरज्जौ बलीवर्दादिके भग्नयुगाख्येकाष्टे रथादौ भूमिवैषम्यादिना तिरश्चीनंवा गते तथा चक्रान्तःप्रविष्टाक्षकाष्ठभङ्गयन्त्राणां चर्मबन्धनामांछेदने योक्त्रस्य पशुग्रीवारज्जौ रश्मिः प्रहरणस्य छेदनेऽपसरापसरेत्युच्चैः शब्दे सारथ्यादिना कृते च यानेन प्राणिर्हिंसाद्रव्यविनाशयोःकृतयोः सारथ्यादेर्दण्डोनास्तीति मनुराह ॥ २९१ ॥ २९२ ॥

(४) राघवानन्दः । तान्येवाह छिन्नेतिद्वाभ्याम् । छिन्ननास्ये नासायैतत्संबन्धिरज्जुद्रव्यं तस्मिन्बलीवर्दादिना छिन्ने । भग्नयुगे युगाख्ये रथकाष्टे भग्ने । तिर्यक्प्रतिमुखागते भूमिवैषम्यात्प्रतीचीनआगते । अक्षभङ्गे चक्रान्तःकाष्ठभक्षम् ॥ २९१ ॥

(५) नन्दनः । तान्येवातिवर्त्तनानि श्लोकद्वयेनाह छिन्ननास्यइति । छिन्ननास्येछिन्ननासिकारज्जौ याने सति यन्तारमतिक्रम्य तिर्यगागते प्रतिमुखमागते च ॥ २९१ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्वाभ्यामाह छिन्ननास्यइति ॥ २९१ ॥

छेदने चैव यन्त्राणां योक्त्ररश्म्योस्तथैव च ॥ आक्रन्देचाप्यपेहीति न दण्डमनुरब्रवीत् ॥ २९२ ॥

(१) मेधातिथिः । यत्रनास्ति दोषस्तानितावदाह नासायां भवंनास्यं शरीरावयवत्वाद्यत् नासिकापुठसंयोगिनी बलीवर्दानारज्जुरश्वानांखलीनंहस्तिनामङ्कुशस्तस्मिंछिन्ने वृद्धिते युगे चभग्ने रथाङ्गकाष्ठयुगंछिन्ननास्यमस्येतिबहुव्रीहिणा रथउच्यते पशुर्वा उभयोरपि साक्षात्पारंपर्येण संबन्धात् तिर्यक्प्रतिमुखागते याने तिरश्चीनंवा प्रतीचीनंवा कथंचिद्ब्रूवैषम्यात्पशुत्रासाद्वा यानाङ्गत्वे कंचिदपराध्येनदुष्येत् प्राजकोहि संमुखीनाञ्छक्तोरक्षितुं तिर्यक्प्रत्यवस्थितौ त्वदृश्यमानस्य कथंरक्षितुंप्रतिमुखागतंप्रत्यगावृत्तिः । अन्येतु तिर्यगागते हिंस्यमाने ऋजुगामिन्येनयानेन दोषमाहुः प्रतिमुखंचाभिमुखमन्यन्ते अभिमुखागतः किमिति चक्रिणंदष्टापन्थानंन ददाति । अक्षचक्रे रथाङ्गेप्रसिद्धे यन्त्राणि चर्मबन्धनानि शकटकाष्ठानां योक्त्रपशुग्रीवाकाष्ठरश्मिः प्रग्रहोहस्तवभ्रियुग्यानांसंचरणनियमनार्थः आक्रन्दउच्चैः शब्दोऽपेहीत्यपसरेत्यर्थः । * अविधेयेषु युग्येष्वपसरेति क्रोशतः प्राजकस्य पथोनातिक्रामन्यदिहिंस्यान् दोषः ॥ २९२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यन्त्राणां काष्ठसन्धिघटनानाम् । योक्त्रं युगादिबन्धनरज्जुः । रश्मिः अश्वापकर्षणरज्जुः । आक्रन्दे सारथिनान्येनवाक्रुष्टे । अशक्यनिवर्तनत्वेसतीदम् ॥ २९२ ॥

(४) राघवानन्दः । यन्त्राणां चर्मबन्धानाम् । योक्त्ररश्म्योः योक्त्रस्य पशुग्रीवास्थरज्जोः रश्मिः प्रग्रहस्यच छेदने । आक्रन्दे सारथ्यादिना अपेहीत्युक्ते । एतैर्हि प्राणिर्हिंसाद्रव्यविनाशयोःसत्त्वेपि सारथ्यादेर्न दण्डइतिमनुरब्रवीदित्यन्वयः ॥ २९२ ॥

(५) नन्दनः । योक्त्रस्य छेदने च यन्तुर्यान्त्वामिनोयानारुढानांवा दण्डमनुरब्रवीत् ॥ २९२ ॥

(६) रामचन्द्रः । चक्ररश्म्योःयुगबन्धनरज्जुः आक्रन्देतत्पृष्ठेइति अपेहि ॥ २९२ ॥

यत्रापवर्तते युगमवैगुण्यात्प्राजकस्य तु ॥ तत्र स्वामी भवेद्वृण्व्योर्हिंसायां द्विशतं दमम् ॥ २९३ ॥

(१) मेधातिथिः । प्राजकोयानसारथिस्तस्य वैगुण्यमशिक्षितत्वं ननु प्रमादः प्रमादे हि शिक्षितस्य स्वामिनेन दो-

* अविधेयेषु=इतिकरणोभाषापसिद्धतदर्थशब्दोच्चारणार्थोन्वयमेवशब्दप्रयोक्तव्यः अविधेयेषु (आभा)

षः तस्माद्धेतोर्यदि युग्यसहसापवर्तते स्पष्टमार्गहित्वा तिर्यक्पश्चाद्वा गच्छेद्वांचार्किचिन्नाशयेत्तत्र त्वामीदण्ड्यः । अशिक्षितः प्राजकः किमित्यारोपितः । मनुष्यमारणोक्षप्रमित्यादिवक्ष्यमाणेन प्राणिभेदेन द्रव्यभेदेन च दण्डान्तरविधानाद्विशत-
इतिविवक्षति दण्डनिमित्तमेतदित्येतावतैव वाक्यस्यार्थतत्त्वादुत्तरत्र न कश्चिदन्योर्थः श्रूयते येन वाक्यतत्र संख्याविधायकमित्युच्यते ॥ २९३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अपवर्तते व्यावर्ततेयुग्यरथादि । वैगुण्यादज्ञानात् । त्वामीदण्ड्यः तादृक्सारथिकरणात् । अङ्गभङ्गादिरूपायां हिंसायां भूतायां द्विशतपणान्दण्ड्योनान्यथा ॥ २९३ ॥

(३) कुल्लूकः । यत्र सारथेरकौशलाद्यानमन्यथा व्रजति तत्र हिंसायामशिक्षितसारथ्यनियोगत्वामी द्विशत-
दण्डंदाप्यः स्यात् ॥ २९३ ॥

(४) राघवानन्दः । एतदन्यत्र दण्डमाह यत्रेति । प्राजकस्य सारथेर्वैगुण्यादकौशलात् । युग्यरथशकटादि । तन्निमित्तार्हिंसायां त्वामीद्विशतं दण्ड्यइत्यन्वयः ॥ २९३ ॥

(५) नन्दनः । यत्र निमित्ते युग्ययानरथादिकंप्राजकस्य वैगुण्यात्सारथेरसामर्थ्यादपवर्तते विषमंप्रवर्तते तत्र निमित्ते मनुष्यपश्वादिहिंसायां द्विशतदमंत्वामी दण्ड्योभवेदनामप्राजकनियोगात् प्राजकस्य मनुष्यमारणे क्षिप्रवंचोरवदित्यादिश्लोकद्वये वक्ष्यमाणसर्वजनसामान्येति एवंदण्डइत्यवगन्तव्यम् ॥ २९३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अथ यत्र स्थानात् युग्यरथं ॥ युग्यपत्रंच धोरणं इत्यमरः ॥ प्राजकस्य सारथेः वैगुण्यात् अपवर्ततेतत्त्वामी दण्ड्यः भवेत् ॥ २९३ ॥

प्राजकश्चेद्भवेदामः प्राजकोदण्डमर्हति ॥ युग्यस्थाः प्राजकेऽनामे सर्वेदण्ड्याः शतंशतम् ॥ २९४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आमोविज्ञः प्राजकोदण्ड्यः त्वाम्यपराधाभावात् । तत्रानामेअज्ञे युग्यस्थानरथस्थाः सारथिपक्षपूरकतया विज्ञाताः त्वामिना नियुक्तास्ते दण्ड्याः । अनः त्वामी तेचसर्वे शतं प्रत्येकं दण्ड्याः ॥ २९४ ॥

(३) कुल्लूकः । यदि सारथिः कुशलः स्यात्तदा सारथिरेषोक्तद्विशतदमंवक्ष्यमाणंच मनुष्यमारणइत्यादिकंदण्डमर्हति न त्वामी अकुशलैतु तस्मिन्सारथित्वामिव्यतिरिक्ता अन्येपि यानारुढाअकुशलसारथिकयानारोहणात्सर्वेप्रत्येकंशतंशतंदण्ड्याः ॥ २९४ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव विधानान्तरमाह प्राजकश्चेति । आमोनिपुणो नैपुण्येत् प्राजकस्य । सर्वे त्वामिसारथि युग्यस्था अपि दण्डभाजः । युग्यं शकटादि । अकुशलसारथ्येनोढत्वात् शतंशतंप्रत्येकम् ॥ २९४ ॥

(५) नन्दनः । प्राजकआमश्चेन्मनुष्यपश्वादिहिंसायां प्राजकएवंदण्डमर्हति न त्वामी प्राजके त्वनामि न केवलं त्वाम्येव दण्ड्यः किन्तु युग्यस्थारथादिस्थाः सर्वेपिशतंशतंदण्ड्याः ॥ २९४ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्राजकः सारथिश्चेत् आमः निपुणः । युग्यस्थाः सारथिपक्षपूरकाः प्राजकेअनामेसति अनिपुणे सतिते सर्वेशतंदण्ड्याः ॥ २९४ ॥

सचेत्तु पथि संरुद्धः पशुभिर्वा रथेन वा ॥ प्रमापयेत्प्राणभृतस्तत्र दण्डोऽविचारितः ॥ २९५ ॥

(१) मेघातिथिः । उक्तोहिंसायांदमस्तत्र विशेषंवक्तुमिदमाह सप्राजकः पथिसंरुद्धोऽयजघनावसर्पिणा संरुद्धो निरुद्धगतिः पश्चात्स्थितेनाक्षिशितत्वात्प्रमादाद्वा वेगेन धुर्याश्चोदिताः पुनः स्थिरयतश्चेन्निकटोरयस्तेन च तस्य वेगनिरोधेक-

ते यदि पुरोरथस्थविगपातात्पशुभिरयुक्तैरश्वादिभिः रथेन रथावयवैर्वा प्राणिनोमनुष्यादीन्मारयेत् ततोदण्डस्य विचारोनास्ति स्थितएव दण्डः अथवाजव्रोत्पत्तिताश्वाः पथिसंरोधकसंमुखीनरथदर्शनेन बलाद्विधार्थमाणास्तियंग्गत्या गच्छेयुः पार्श्वकीयाः प्रत्यगवस्थितत्वात्तथा हन्युस्तत्र दण्डोविचारितोनास्ति प्राजके दोषाभावात् । अथवापथितोन स्थितोवर्तमानः संरुद्धोविधियमाणोऽथवा विचारितोविशेषेण विहितोविशेषितइति ॥ २९५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अशक्यविषयेतु हिंसायामाह सचेदिति । सयुग्यादिः । पशुभिर्हस्त्यादिभिः । उपलक्षणं चैतत् । प्रपातगमनोच्चारोहणतिर्यग्गमनादिनापीत्यशक्यप्रतीकारागन्तुनिमित्तवशादित्यर्थः । दण्डोऽविचारितोननिर्णीतोमुनिभिः नास्त्येवेत्यर्थः ॥ २९५ ॥

(३) कुङ्कुमः । सचेत्प्राजकःसंमुखागतैः प्रचुरगवादिभीरथान्तरेण वा संरुद्धः स्वरथगमनानवधानात्प्रत्यक्समपणाक्षमःसंकटेपि स्वरथतुरगान्प्रेरयन्तुरगैरथेन वा रथावयवैर्वा प्राणिनोव्यापादयति तत्राविचारितोदण्डः कर्त्तव्यएव ॥ २९५ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रकारान्तरेण दण्डमाह सचेदिति । पशुभिः गजादिभिः स्वरथसबन्धव्यतिरिक्तैः रथेन रथान्तरेणवा बद्धोगन्तुमशक्तःसम्परावृत्तत्वात् उक्तातिरिक्तपाश्चात्यात् । प्रमापयेत् हिंस्यात् । अकुशलोभूत्वा लोभायतो यतःप्रवृत्तः अतोदण्डार्हः । अविचारितः पूर्वं विचारोन कृतः केवलं किंतु दण्डोऽस्तीति ॥ २९५ ॥

(५) नन्दनः । योयंस्वामिप्राजकरथस्थानांदण्डउक्तस्तत्र प्राजकंप्रति नियममाह सचेत्त्विति । सआमोनोमोवा प्राजकः पथि पथिकैः संरुद्धः पशुभिः स्वरथवाहिभिर्बलीवर्द्धादिभीरथेन वा प्राणभृतः प्रमापयतिचेत्तत्र प्रमापणे दण्डः अविचारितोऽसंदिग्धः पुनस्तद्गयात्पथोपक्रमणनिमित्तरूपपतनादिहेतुकेप्रमापन्नइति ॥ २९५ ॥

(६) रामचन्द्रः । पशुभिः सःयुग्यादिना रथंपशुभिःपथि संरुद्धः प्राणभृतः प्रमापयेत् हन्यात् तत्र दण्डः अविचारितः मुनिभिः ॥ २९५ ॥

मनुष्यमारणे क्षिप्रंचौरवत्किल्बिषंभवेत् ॥ प्राणभृत्सुमहत्स्वर्धंगोगजोष्ट्रहयादिषु ॥ २९६ ॥

(१) मेघातिथिः । तादृशे प्राजके रथपशुभिर्मानुष्यश्चेन्मार्यते तदा चौरवत्तस्य किल्बिषंवादण्डः । यद्यपि चौरस्य वधः सर्वस्वहरणादयोदण्डास्तथापीह दण्डएव गृह्यते नवधः महत्स्वर्धमिति तत्रैवार्धसंभवात् सचोत्तमसाहसः कैश्चिदभ्युपगतोयतश्चक्षतेद्विशतोदमोऽतः प्रथमस्थानांमुख्यानामुत्तमोयुक्तइति प्राणभृतः प्राणवन्तोमनुष्यतिर्यक्पक्ष्यादयः । महत्सु महत्त्वंगवांप्रभावतोहस्त्यादीनांप्रमाणतः आदिग्रहणाद्गर्दभाश्वतरव्याघ्रादयश्च कथंचित्परिगृह्यन्ते वयन्तुक्रमः सहस्रमित्येवमवक्ष्यत् यद्यद्येवारवदण्डानामभिप्रेताअभविष्यन् तस्मादर्धग्रहणाद्विधामाभूद्धनदण्डास्तु सर्वस्वहरणादयः सर्वंचौरोक्ताः पुरुषापेक्षयातिदिश्यन्ते । ननु च मनुष्यमारणेकस्य चौरदण्डःस्यादितिव्यतिदेशोयुक्तः सप्रतिपदमनुष्यहनने विहितः सच पुरुषाणांकुलीनानामिति वधएव तत्र किमिति वाक्यान्तरगतार्धशब्दानुरोधिर्नैव व्याख्यायते वरमर्धस्यैव गुणितः कदाचिद्वृत्तिराश्रीयतां सत्यंयद्धर्मशब्दोमारणेन संबध्यमानोऽन्यथोपपद्यते नच चौरवदित्यस्यानुषङ्गागतस्यार्थान्तरवृत्तिः पूर्वापरवाक्ययोः शक्या ॥ २९६ ॥

(१) चक्षते=क्षुद्रकपशूनांतृतीयस्थानप्राप्तानां (आआ)

(२) मुख्यानां=मनुष्याणां (आआ)

(२) सर्वज्ञनारायणः । अथ लघुडादिना बुद्धिपूर्वं मारणे दण्डमाह मनुष्यमारणइति । प्राणभृत्सु महत्सु गवा-
दिषु अर्धं यस्य चौर्यं यावान्दण्डो धनकृतस्तदधम ॥ २९६ ॥

(३) कुल्लूकः । सरुदपराधेकीदृशइत्याह मनुष्येति । तत्र मनुष्यमारणे प्राजकस्यानवधानाद्यानेन कृतं शीघ्रमेव
चौरदण्डोत्तमसाहसं भवेन्नतु मारणरूपः प्राणभृत्सु महत्त्वर्द्धमिति श्रवणात् । गोगजादिषु महत्सु प्राणिषु मारितेषूत्तमसाह
सस्यार्द्धपञ्चशतपणोदण्डो भवेत् ॥ २९६ ॥

(४) राघवानन्दः । तादण्डव्यवस्थामाह मनुष्येतित्रिभिः । चौरवत् चोरश्चोत्तमसाहसं इत्युक्तेः । गवित्यादिचतुष्ट-
यविशेषणं प्राणभृतादेरर्धपञ्चशतानि ॥ २९६ ॥

(५) नन्दनः । एवंयानेन प्रमाणे दण्डउक्तः । अथ पारुष्येण मनुष्यपश्वदिमारणे दण्डं श्लोकत्रयेणाह मनुष्यमार-
णइति । किल्बिषदण्डः सचार्थविषयएव अर्थविषयसामर्थ्यात् चोरकिल्बिषमुत्तमसाहसः गवादीनां प्रभावतो महत्त्वम् ॥ २९६ ॥

क्षुद्रकाणां पशूनान्तु हिंसायां द्विशतोदमः ॥ पञ्चाशत्तु भवेद्वण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु ॥ २९७ ॥

(१) मेधातिथिः । अपठितपरिमाणाः क्षुद्रकास्तेच केचिद्वयस्ते वत्सकिशोरककलभादयः केचिज्जातिस्वभावतो-
ऽजैडकादयः तत्राजाविकानां पञ्चमाषान्वक्ष्यति परिशेषाणां गवादीनामेवायं दण्डोऽल्पपरिमाणानाम् । अशुभाः काकोलूकश्च
शृगालादयः पशुशब्दश्चतुष्पाजातिवचनः हिंसामात्रेण दण्डमिममिच्छन्ति न प्रकृतया न विधिहेतुं ब्रुवते तत्र दण्डो विचारि-
तइत्यनेनैव यानप्रकरणव्यवच्छिन्नं विचारितः समामविचारइत्यर्थः । इदानीमेतत्प्रकरणनिरपेक्षमुच्यतइति एवन्तु प्राण-
भृत्सु महत्त्वर्धमिति हस्तादिच्छेदो मारणमित्यर्धशब्दो नेयः स्मृत्यन्तरात् ॥ २९७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्षुद्रपशूनां मृगपक्ष्यादीनां द्विशतइत्युत्तमदण्डोपदर्शनमेतत् । तत्रतत्रतु क्षुद्रत्वे ह्यासः क्रमे-
णोक्तः । एतच्च परिगृहीतविषये । अपरिगृहीतेत्याह पञ्चाशत्त्विति । शुभेषु चित्रमृगशुकादिषु ॥ २९७ ॥

(३) कुल्लूकः । क्षुद्रकाणां पशूनां जातितो विशेषोपदिष्टे तेषां वनचरादीनां वयसा च किशोरादीनां मारणे द्विशतोदण्डः
स्यात् । शुभेषु मृगेषु रुरुषृषतादिषु पक्षिषु च शुक्रहंससारसादिषु पक्षिषु हतेषु पञ्चाशद्वण्डो भवेत् ॥ २९७ ॥

(४) राघवानन्दः । क्षुद्रकाणामित्युत्पार्थं कः रुरुषृषतादीनाम् । शुभेषु हंसपारावतसारसादिषु कृष्णसारादिषु द्वि-
शतोदमोन्यथाव्याधादीनामवृत्तिः स्यात् ॥ २९७ ॥

(५) नन्दनः । क्षुद्राणां मार्जारदीनां मृगपक्षिर्हिंसितेषु ॥ २९७ ॥

गर्दभाजाविकानान्तु दण्डः स्यात्पञ्चमाषिकः ॥ माषिकस्तु भवेद्वण्डः श्वसूकरनिपातने ॥ २९८ ॥

(१) मेधातिथिः । पञ्चमाषाः परिमाणमस्येति पाञ्चमाषिकः माषस्य च द्रव्यजातेरनुपादनाभ्यमकल्पनाया-
श्च न्याय्यत्वादौप्यस्य निर्देशोयमित्याहुः । हिरण्यन्तु युक्तमेवं तत्सममिति नापि बाधिकं भवति अनुबन्धाद्यपेक्षया तु द्रव्य-
जातिः कल्पयेति सिद्धान्तः ॥ २९८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पञ्चमाषिकः सुवर्णमाषाः पञ्च तन्निष्पाद्योमाषकः सुवर्णमाषकः तन्निष्पाद्याद्यः । सूक-
रोयाम्यः । वराहेत्वधिकम् ॥ २९८ ॥

* सरुदपराधे = रथसंकटापराधे (अ)

* अशुभाः = शुभाभ्यां पृष्ठादयः आकारतोऽलक्षणतश्च पक्षिणो हंसशुक्रसारिकादयः । अशुभाः ।

(३) कुल्लूकः । गर्दभछागेडकादीनांपुनर्मरणे पञ्चरूप्यमाषपरिमाणोदण्डः स्यात् । नचात्र हेरण्यामाषग्रहणमुत्तरोत्तरलघुदण्डाभिधानात् । श्वसूकरमारणेषु पुनारौप्यमाषपरिमाणोदण्डः स्यात् ॥ २९८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच गर्दभेति । अविर्मेघः । पञ्चमाषिकः पञ्च रूप्यमाषपरिमाणस्य दण्डस्य सतथा ॥ २९८ ॥

(५) नन्दनः । गर्दभाजाविकानानिपातने ॥ २९८ ॥

(६) रामचन्द्रः । अच्छागः अविकः रूप्यदण्डः ॥ २९८ ॥

भार्यापुत्रश्च दासश्च प्रेष्योभ्राता च सोदरः ॥ प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यूरज्वा वेणुदलेन वा ॥ २९९ ॥

(१) मेधातिथिः । प्राप्तापराधंप्राप्तापराधाअपराधोव्यतिक्रमः नीतिभ्रंशः सयदा तैः कृतोभवति तदा ताडयितव्याः ताडनमपि हिंसेत्युक्तंसा च न हिंस्याद्भूतानीति प्रतिषिद्धाऽपराधे निमित्ते भार्यादीनांप्रतिप्रसूयते संबन्धिशब्दाश्चेते यस्य भार्या यस्य दासः सतेनानुशासनीयः मार्गस्थापनोपायविधिः परश्चायंन ताडनविधिरेव वाग्दण्डाद्यपि कर्तव्यं अपराधानुरूपेण कदाचित्ताडनम् सोदरस्थाने कनीयान्पठितव्यः भ्राता तथानुजः सहि ज्येष्ठस्य पुत्रवत्ताडनार्हः वैमात्रे-योपि गुणवज्ज्येष्ठतत्त्वश्च सोप्युन्मार्गगामी ताडनादिपर्यन्तैरुपायैर्निवारणीयः । वेणुदलं वंशत्वक् एतदप्युपलक्षणं तथाविधानां मृदुपीडासाधनानां शिष्यादीनाम् ॥ २९९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भ्राता कनीयान् ॥ २९९ ॥

(३) कुल्लूकः । भार्यापुत्रादयः कृतापराधारज्वा वातिलघुवेणुशलाकया ताड्याभवेयुः शिक्षार्थं ताडनविधानादत्र दण्डापवादः ॥ २९९ ॥

(४) राघवानन्दः । ननुपितरमित्यभिशास्ति निषेधता । भार्यादीनामपराधे ताडनमपि निरस्तमतस्तेषां स्वातन्त्र्ये प्राप्ते ताडनसाधनं तदुचितस्थलान्यावेदयन्ताड्यत्वमाह भार्येति सार्धेन । तत्रत्यं तनयपदं भार्याद्युपलक्षणं तुल्यन्यायत्वात् । वेणुदलेन वेणोरेकांशेन ॥ २९९ ॥

(५) नन्दनः । अथ भार्यापुत्रादीनामनुशासनप्रकारमन्यथानुशंसने दण्डविधानार्थमाह भार्यापुत्रश्चेति ॥ २९९ ॥

(६) रामचन्द्रः । भार्यादयः प्राप्तापराधाः रज्ज्वा वेणुदलेनवा ताड्याः ताडनीयाः । सोदरः भ्राता च अन्यमातृजोन ॥ २९९ ॥

पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कथंचन ॥ अतो न्यथा तु प्रहरन्प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥ ३०० ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तताडनसाधनाभ्यामनेन प्रकारेण घ्नन्क्षादिषु लगुडादिभिर्वा चौरदण्डं न प्राप्नोति निन्दैषा नन्वयमेव दण्डः योन्यत्र हिंसायादण्डः सोत्र भवतीत्युक्तं भवति ॥ ३०० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चौरकिल्बिषं ताडितस्यामरणे स्तेयदण्डो मरणेतु भूयस्त्वमूहमित्यर्थः ॥ ३०० ॥

(३) कुल्लूकः । रज्ज्वादिभिरपि देहस्य पृष्ठदेशे ताडनीयाः नतु शिरसि । उक्तव्यतिरेकेण प्रहरणो वाग्दण्डधन-दण्डरूपश्चौरदण्डंप्राप्नुयात् ॥ ३०० ॥

(२९९) वा=च (क)

(२९९) प्रेष्यो = शिष्यो (ज, झ, अ, ड)

(३००) कथंचन = नवक्षसि (ट, ड,)

(४) राघवानन्दः । उक्तातिक्रमे दोषमाह अतइति । अतोऽन्यथापृष्ठादन्यत्र ॥ ३०० ॥

(५) नन्दनः । ताडनस्थानमाह पृष्ठतस्त्विति । अन्यथाऽनुशासने दण्डउत्तरार्द्धेनोच्यतइति दण्डपारुष्यनिर्णयः ॥ ३०० ॥

एषोऽखिलेनाभिहितोदण्डपारुष्यनिर्णयः ॥ स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिदण्डविनिर्णये ॥ ३०१ ॥

(१) मेधातिथिः । एषनिःशेषेणोक्तोदण्डपारुष्यनिर्णयोदण्डव्यवस्था दण्डशब्दोहि साधनोपलक्षकतयाविनयदाने-
विवक्षितार्थः नामधेयपूर्वपदंस्तेनस्य चौरस्य दण्डभेदानतः परंवक्ष्यामीत्युपसंहारोपन्यासार्थःश्लोकः ॥ ३०१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एषइति । स्तेनस्य स्तेनदोषे ॥ ३०१ ॥

(३) कुल्लूकः । एषदण्डपारुष्यनिर्णयोनिःशेषेणोक्तः अत ऊर्ध्वंचौरदण्डविनिर्णये विधानंवक्ष्यामि ॥ ३०१ ॥

(४) राघवानन्दः । कायदण्डमुपसंहरंस्तेनदण्डप्रतिजानीते एषइति । दण्डविनिर्णये दण्डार्थम् ॥ ३०१ ॥

(५) नन्दनः । अथ स्तेयनिर्णयप्रस्तौति एषोऽखिलोनेति अतः परंस्तेयसाहसयोरर्थोहि सात्मकत्वेनापृथग्भावमाश-
ङ्क्यभेदोपन्यासेनपरिहरति तस्मात्साहसन्त्वनवयवप्रसभं कर्म यत्कृतं । निरन्वयं भवेत्स्तेयंकृत्वापव्ययते च यत् । अन्वयो-
नुसारोऽनुमतिरिति यावत् तद्युक्तमन्वयवत् यत्कर्मकृतं तां योपहारः कृतस्तत्साहसं स्यात् येन केन चिदुपायेन त्वामिनोऽनुम-
तिमासाद्य परद्रव्यापहरणं साहसं स्यादित्यर्थः प्रसभं प्रसह्य यत्कृतं तच्च साहसं स्यात् अनुमतमपि यत्कर्मकृत्वापव्ययतेऽपह्नुते
पुरुषस्तच्च स्तेयं भवेदिति ॥ ३०१ ॥

परमं यत्नमातिष्ठेत्स्तेनानां निग्रहे नृपः ॥ स्तेनानां निग्रहादस्य यशोराष्ट्रं च वर्धते ॥ ३०२ ॥

(१) मेधातिथिः । कश्चित्करुणावानुकूलं हिंसाकर्मैति मन्यमानो न प्रवर्तते अतस्तत्प्रतिपत्त्यर्थं स्तेननिग्रहस्तुत्यर्थवा-
दः प्रक्रम्यते नात्र हिंसा दोषोऽस्ति प्रत्युत दृष्टोपकारहेतुत्वात्स्तेनहिंसैव श्रेयस्करी वेदतुल्यतां च ख्यापयितुमर्थादाभूयांस-
स्तत्र हि प्रायेण सर्वार्थवादकाविध्युद्देशादिति तत्प्रतीत्यनुसरणेन वैदिकोऽयमर्थइति प्रसिद्धिः । भवन्ति केचित्प्रतिपत्तारो-
ये स्तुतिभिरितितरां प्रवर्तन्ते परमं यत्नं प्रकृष्टमतिशयवत्तात्पर्यमाश्रयेच्चैरश्वारयेन साक्षात्प्राप्तां चातिप्रयत्नतः । स्तेनाश्चौराः
निग्रहोऽनियमनवधबन्धनादि एवं कृते यशः ख्यातिर्भवति निरुपद्रवोऽस्य राज्ञोऽदेशस्तेनानाभिभवन्ति निशादिवातुल्यात्तत्रे-
ति सर्वत्र स्थितं भवति राष्ट्रं वर्धते राष्ट्रजनपदस्तस्मिन्निवासिनश्च पुरुषाश्चौरैरनुपद्रूयमाणा वर्धन्ते श्रीभिः प्रमोदमाना बहुपर्यन्ते
देशान्तरस्था अपि निरुपद्रवराष्ट्रमाश्रयन्ते ततो वर्धते ॥ ३०२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निग्रहे दण्डने ॥ ३०२ ॥

(३) कुल्लूकः । चौराणां नियमने राजा परममुत्कृष्टं यत्नं कुर्यात् यस्मात्चौरनिग्रहाद्वाङ्गः ख्यातिर्निरुपद्रवतया राष्ट्रं-
वृद्धिमेति ॥ ३०२ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र दृष्टादृष्टदोषाननुसंधायिनो राज्ञः ततो निवृत्तिमाशंक्य दृष्टफलैः प्रलोभयन् तत्र यत्नाधिक्यं नो-
परममिति पञ्चभिः । तत्र सततं नृपइत्यन्तं दृष्टफलमतः परमदृष्टफलम् अस्य राज्ञः ॥ ३०२ ॥

(५) नन्दनः । राज्ञास्तेन निग्रहोऽवश्यः कार्यइत्यष्टभिः श्लोकैराह परमं यत्नमिति । अस्य राज्ञः ॥ ३०२ ॥

अभयस्य हि योदाता स पूज्यः सततं नृपः ॥ सत्रं हि वर्धते तस्य सदैवाभयदक्षिणम् ॥ ३०३ ॥

(१) मेधातिथिः । अभयंचौरादिभ्योधिकृतेभ्यश्चासदण्डनिवारणेन योददाति ससर्वदैव पूज्यो भवति त्वैरकथास्वपि-

राज्याच्युतोवनस्थोपि । सत्रं क्रतुविशेषो गवामयनादि तदस्य वर्धते निष्पद्यते सर्वाङ्गमुत्पन्नमेव गुणमित्येव तद्वर्धत इत्यनेनाहरहः सत्रफलप्राप्नोतीत्यर्थः । अभयदक्षिणा अन्येषु सत्रेषु दक्षिणा नास्ति इदन्तु सर्वेभ्योपि विशिष्टं यद्दक्षिणया वत्सगवाश्वादिभिर्येषु सन्ति तदरक्षातो राज्ञामधर्मो यावद्ये हरन्ति दक्षिणाविलक्षणेन्यथैवान्सत्रव्यतिरेकः ॥ ३०३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स एव पूज्यो न त्वन्यादृशः । सत्रं प्रजारक्षणरूपो यज्ञः । वर्धतेऽधिकफलतया ॥ ३०३ ॥

(३) कुल्लूकः । हिरवधारणे चौराणां नियमनेन योनृपतिः साधूनामभयं ददाति स एव पूज्यः पूर्वेषां श्लाघ्यो भवति । सत्रं गवायनादिक्रतुविशेषः यद्यस्मात्सत्रमिव सत्रं तदभयदानाच्चौरनिग्रहरूपाभयदक्षिणं सर्वदैवतस्य वृद्धिमेति अन्यद्धि नियतकालीनं नियतदक्षिणं च एतत्सर्वकालीनमभयदक्षिणं चेति वाक्यं व्यतिरेकालङ्कारः ॥ ३०३ ॥

(४) राघवानन्दः । अभयदक्षिणं साधूनामभयं दक्षिणात्वेन निरूपितं यत्र तादृशं सत्रम् । अर्थादस्युपवधः पशुसोमादिः ॥ ३०३ ॥

(५) नन्दनः । अभयस्य स्तेननिग्रहरूपस्य ॥ ३०३ ॥

(६) रामचनन्द्रः । यः नृपः अभयस्य दाता स सततं पूज्यः । सदैव तस्य अभयदक्षिणं सत्रं प्रजा । रक्षणरूपो यज्ञः प्रवर्तते ॥ ३०३ ॥

सर्वतो धर्मषड्भागे राज्ञो भवति रक्षतः ॥ अधर्मादपि षड्भागे भवत्यस्य हरक्षतः ॥ ३०४ ॥

(१) मेघातिथिः । प्रकाशाद्यज्ञादेः तथा ग्रामवासिभिः स्वरुताकृतधर्मषड्भागे राजालभते एवमधर्मादपि चौरैः प्रच्छन्नकृतद्राज्ञः षड्भागे भवति न केवलं स्तेनैर्येषु सन्ति तदरक्षातो राज्ञामधर्मो यावद्ये हरन्ति तेषामपि चौर्यभावेनाधर्मो दयस्तदंशेनापि राजानः संबध्यन्ते तानि गृह्णन्ति अदृष्टदोषनिवारणमपि रक्षाणां रक्षैव तत्राधिकृतस्य राज्ञस्तदकरणाद्युक्तः प्रस्यत्रायः । ननु नृपतिपरिक्रीतत्वाद्धर्मषड्भागमयुक्तम् उक्तं दीनानाथपरिव्रजितादयः सन्त्यकरप्रदाः परिपूर्णस्वधर्मपालनेकानुपपत्तिः ॥ ३०४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धर्मषड्भागः प्रजाभिः क्रियमाणस्य धर्मस्य यावान् षष्ठो भागस्तावान् धर्म इत्यर्थः ॥ ३०४ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रजारक्षतो राज्ञः सर्वस्य श्रुतिदातुर्वणिगादेर्भृत्यदातुश्च श्रोत्रियादेः सकाशाद्धर्मषड्भागे भवति अरक्षतश्चाधर्मादपि लोकेन कृतात् षड्भागः स्यात् तस्माद्यत्नतः स्तेननिग्रहेण राजा रक्षणं कुर्यात् । न च श्रुतिक्रीतत्वाद्वाज्ञो धर्मषड्भागो न युक्त इति वाच्यम् श्रुत्या धर्मषड्भागेन च परिक्रीतस्य शास्त्रीयत्वात् ॥ ३०४ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च सर्वत इति । रक्षतो रक्षां कुर्वाणस्य प्रजाभिरनुष्ठिताद्धर्मात् षड्भागः षष्ठांशो राज्ञः स्यादेव । अरक्षतोऽधर्मांशः ॥ ३०४ ॥

यदधीते यद्यजते यद्ददाति यदर्चति ॥ तस्य षड्भागभायाजा सम्यग्भवति रक्षणात् ॥ ३०५ ॥

(१) मेघातिथिः । यदुक्तं सर्वत इति तस्य च प्रपंचोऽयं अध्ययनादयो धर्मार्थतयान्यत्र प्रसिद्धरूपाश्च अर्चनं देवगुरुणां पूजनं तस्येति कर्मणोऽध्ययनादेः पदार्थस्येति योजनीयं क्रियायाः स्त्रीलिङ्गत्वात् षड्भाग इति यच्च कर्तुः पञ्चकर्मफलांशात् षष्ठो नृपतेः समग्रकर्मफलभोक्तृत्वस्याधिकारतः कर्तुं रवगतत्वात् अपि तु सम्यग्रहणात्त्वकर्मानुष्ठानात्तावन्मात्रं राज्ञः फलमुत्पद्यत इति नान्यकृतस्य शुभस्याशुभस्य वा अन्यत्र गमनं नाकर्तुः फलमस्तीति स्थितम् ॥ ३०५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अधीते लोकः । यदर्चति पुष्पादिनदिवादीन् ॥ ३०५ ॥

(३) कुल्लूकः । यः कश्चिजपयागदानदेवतार्चादीनि करोति तस्य राजा पालनेन षड्भागंप्राप्नोति ॥ ३०५ ॥

(४) राघवानन्दः । धर्मैत्युक्तं तमेवाह यदिति । यदधीते वेदादि यद्यजते यज्ञादि करोति यददाति यदर्चति पूजयति तस्याभ्ययनादिचतुष्टयस्य फलभाष्यक्षणाद्भवति राजेत्यन्वयः ॥ ३०५ ॥

(५) नन्दनः । उक्तमर्थप्रपञ्चयति यदधीतइति । अधीते कश्चिद्विषयवासीति शेषः तस्याभ्ययनादेर्धर्मस्य ॥ ३०५ ॥

रक्षन्धर्मेण भूतानि राजा बध्यांश्च घातयन् ॥ यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः ॥ ३०६ ॥

(१) मेधातिथिः । भूतानि स्थावरजङ्गमानि चौरैर्म्योरक्षन्वध्याश्च शास्त्रतोवधार्हास्तांश्च घातयेत् सहस्रशतदक्षिणानांपौण्डरीकादीनां क्रतूनां फलमन्वहं राजा प्राप्नोतीति स्तुतिः ॥ ३०६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यजेत बहुदक्षिणे यागफललाभात् ॥ ३०६ ॥

(३) कुल्लूकः । भूतानि सर्वाणि स्थावरजङ्गमादीनि यथा शास्त्रं दण्डप्रणयनरूपेण धर्मेण रक्षवध्यांश्च स्तेनादीन्ताडयन्प्रत्यहं लक्षगोदक्षिणैर्यज्ञैर्यजते तज्जन्यपुण्यंप्राप्नोतीति भावः ॥ ३०६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच रक्षन्निति । वध्यान्वधार्हाश्चोरादीन् । यज्ञैर्यज्ञवदृष्टादृष्टफलसाधनत्वाद्भक्ष्याः ॥ ३०६ ॥

(५) नन्दनः । भूतानि न्यायवर्तीनि ॥ ३०६ ॥

(६) रामचन्द्रः । एवं रक्षादि कुर्वन् राजा अहरहः यज्ञैर्यजते वा कीदृशैः । सहस्रशतदक्षिणैः ॥ ३०६ ॥

योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः ॥ प्रतिभागं च दण्डं च ससद्योनरकं व्रजेत् ॥ ३०७ ॥

(१) मेधातिथिः । बलिप्रभृतीनि राजग्राह्यकरनामानि देशभेदे सूत्रे माणवकवत्प्रसिद्धानि तत्र बलिर्धान्यादेः षष्ठो भागः करोद्रव्यादानं शुल्कं वणिक्प्राप्त्यभागः प्रतिभागफलभरणिकाद्युपायनं राजैतद्ब्रूवाति चौरैर्म्योन रक्षति ससद्य आयुः क्षयान्नरकं गच्छेत् गृहीत्वा राजभारं रक्षा कर्तव्या नरकायुः क्षयभयादिति श्लोकतात्पर्यम् ॥ ३०७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बलिं धान्यादिभागम् । करं तद्द्रव्यमनियतं देयं हिरण्यम् । शुल्कं तरादिदेयम् । प्रतिभोगं फलाद्युपायनमुपधौकितम् । प्रीतिभोगमिति क्वचित्पाठः । तत्र प्रीत्योपधौकितं फलादीत्यर्थः । दण्डमपराधनिमित्तग्राह्यम् ॥ ३०७ ॥

(३) कुल्लूकः । यो राजा रक्षामकुर्वन्बलिधान्यादेः षड्भागं ग्रामवासिभ्यः प्रतिमासं वा भाद्रपौषनियमेन ग्राह्यं शुल्कं स्थलजलपथादिना वणिज्याकारितैर्म्योनियतस्थानेषु द्रव्यानुसारेण ग्राह्यं दानमिति प्रसिद्धं प्रतिभागफलकुसुमशाकनृणाद्युपायनं प्रतिदिनग्राह्यं दण्डं व्यवहारादौ गृह्णाति समृतः सन्सद्यैव नरकं याति ॥ ३०७ ॥

(४) राघवानन्दः । तस्यैव स्वधर्मस्याकरणे दोषमाह यदिति त्रिभिः । बलिं धान्यादेः षड्भागम् । करं ग्रामवासिभ्यः प्रतिमासिकशुल्कं वणिगादेर्हृद्वृषट्पादिनियतस्थानेषु द्रव्यानुसारेण यत् ग्राह्यं तत् । प्रीतिभोगं पुष्पशाकाद्युपायनं प्रतिदिनं ग्राह्यम् । दण्डं व्यवहारादौ यतः ॥ ३०७ ॥

(५) नन्दनः । अरक्षन्निति पदं रत्नहारित्वेन यद्वाष्ट्रात्पशुधान्यादिकं विशिष्टमाच्छाद्य राज्ञा भुज्यते वस्तु तद्वलिरित्युच्यते शुल्कं पार्थिवैर्वणिगादिभिर्देयं प्रीतिभोगमुपायनादिकम् ॥ ३०७ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः राजा अरक्षन् बलिं धान्यादिषड्भागं आदत्ते यः करं गुल्मं दायादिकं आदत्ते यः शुल्कं तुरा-

(३०७) प्रतिभागं=प्रतिभोगं (क, च, घ, ण)

दिकं आदत्ते यः प्रीतिभोगं आदत्ते यः दण्डं फलहरणाद्युपायनं शिष्यै न्यायदण्डग्रहणं । अरक्षन् एवं आदत्ते सः सद्यः-
नरकं व्रजेत् ॥ ३०७ ॥

अरक्षितारं राजानं बलिषद्भागहारिणम् ॥ तमाहुः सर्वलोकस्य समयमलहारकम् ॥ ३०८ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्य शेषोयमर्थवादः न रक्षति आत्तोपजीविता प्रजानां राजभागग्रहणेन एतदेव स्पष्टयति
बलिषद्भागहारिणं तं तादृशं राजानमाहुः शिष्याः सर्वलोकस्य सर्वस्याः प्रजायाः समयं बलं पापं तस्य हारकं त्वीकतारं सर्वेण
प्रजापापेन दूष्यत इत्यर्थः ॥ ३०८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्तारमतिशयितकरग्रहेण खादकमिव । राजानमिति क्वचित्पाठः । सोऽनाकरः । बलिरूपो-
यो धान्यादेः षड्भागः षष्ठे भागस्तद्धारिणम् । मलं पापं पूर्वमरक्षणात्पापषष्ठभागित्वमुक्तम् । अत्र त्वत्त्वेनाधिकेन सर्वपा-
पग्रहणमिति । सर्वत्र चात्र तावत्पापान्तरकर्मान्तरोत्पत्तौ तात्पर्यं न तु तत्पापधर्मयोरेव प्रतिसंक्रमइत्यर्थो ग्राह्यः ॥ ३०८ ॥

(३) कुल्लूकः । यो राजा न रक्षति अथ च धान्यादिषड्भागं बलिरूपं गृह्णाति तं सर्वलोकानां सकलपापहारिणं मन्वा-
दयमाहुः ॥ ३०८ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तबल्यादिगृहीत्वाप्यरक्षितारं समयमलहारकं मन्वादयस्तमाहु रित्यन्वयः । अग्रं फलं तेन
सह वर्तते समयं फलदानोन्मुखस्य मलस्य हर्तारं सर्वेषां पापहर्तारं तथावानलसेनवक्षितव्यं आत्मनो हितं कुर्वतेत्यन्वयः
॥ ३०८ ॥

(५) नन्दनः । अत्र बलिशब्दः करवचनः ॥ ३०८ ॥

अनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुपकम् ॥ अरक्षितारमत्तारं नृपं विद्यादधोगतिम् ॥ ३०९ ॥

(१) मेधातिथिः । मर्यादा शास्त्रशिष्टसमाचारनिरूढा धर्मव्यवस्था या साऽनवेक्षिताऽतिक्रान्ता येन नास्ति पर-
लोको नास्ति दत्तं नास्ति हुतमिति नास्तिकः प्रथमोरागादिना त्यक्तधर्मो वस्तुविपरीतोऽतिनिश्चयः विलुम्पति हरति । धा-
न्यान्यसदृशैः प्रजानां तुल्योऽरक्षिता तमधोगतिं विद्यान् रकपतितमधोगतिं विद्यान् रकपतितमेवाचिरात् पाठांतरमसत्यं च
नृपंत्यजेत् अन्यदुक्तान्यत्करोति यस्तंत्यजेत्तद्विषयेनासीत् ॥ ३०९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मर्यादा धर्माधर्मव्यवस्था । नास्तिकं परलोकनास्तिकताज्ञानवन्तं । विप्रलुम्पकं विप्रा-
णां लोपकमपचयहेतुम् ॥ ३०९ ॥

(३) कुल्लूकः । लङ्घितशास्त्रमर्यादं परलोकाभावशालिनमनुचितदण्डादिना धनग्राहिणं रक्षणरहितं करबल्यादेर्भक्षिता-
रं राजानं नरकगामिनं जानीयात् ॥ ३०९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच । अनपेक्षितमर्यादं उल्लङ्घितशास्त्रमर्यादं विप्रलुम्पकं विप्रादपि धनहारिणं लुण्ठाकं अ-
त्तारं केवलं अधोगतिं नरकस्थमेव तं विद्यादित्यन्वयः ॥ ३०९ ॥

(५) नन्दनः । प्रलुम्पकं ब्राह्मणपरित्यागिनम् ॥ ३०९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनवेक्षिता मर्यादा येन तं अनवेक्षितमर्यादं पुनः कीदृशं नृपं विप्रलुम्पकं असद्वादादिना धना-

(३०९) नृपं विद्यादधोगतिं = असत्यं च नृपंत्यजेत् (मेधा) । धान्यानि = धनानि (आआ)

नालुम्पकं पुनःकीदृशं अन्तारं करादेर्भक्षितारं एतादृशं नृपमधोगतिविद्यात् । अधः नरके गतिर्यस्य सः अधागेति ॥ ३०९ ॥

अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायैर्निगृहीयात्प्रयत्नतः ॥ निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च ॥ ३१० ॥

(१) मेधातिथिः । अर्थवादैर्दृढीकृत्य निग्रहविधमिदानीं प्रस्तौति अधार्मिकप्रकरणाच्चौरतंत्रिभिर्नियमनप्रकारैर्निगृहीयानियच्छेत् न्यायोनियामकः निरोधनं राजदुर्गे बन्धनागारे चरणबन्धस्तत्रैव रज्जुनिगडादिभिः स्वातन्त्र्योत्पादनं विविधो-
बधस्तादनादारभ्य शरीरनाशनात् प्राणत्यागपर्यन्तनिर्देशादेव त्रित्वे लब्धे त्रिभिरिति वचनमन्येषामपि नियमनप्रकाराणां-
परिग्रहणार्थं तेन तप्ततैलसेकादयोपि परिगृहीता भवन्ति ॥ ३१० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । न्यायैः नियमैः । निरोधनेन कारागारे ॥ ३१० ॥

(३) कुल्लूकः । अधार्मिकचौरादिकमपराधापेक्षया त्रिभिरुपायैः प्रयत्नेन नियमयेत्तानाह कारागारप्रवेशनेन
निगडादिबन्धनेन करचरणछेदनादिना प्रकारहिंसेन ॥ ३१० ॥

(४) राघवानन्दः । अत्यौत्सुक्येन निग्रहोपायं प्रदर्शयन् राजानं स्तौति अधार्मिकमिति द्वाभ्याम् । तत्र निरोधः
कारागारप्रवेशः । बन्धनं निगडः ॥ ३१० ॥

(५) नन्दनः । एवंस्तेन निग्रहस्यावश्यकर्तव्यतां प्रतिपाद्य तन्निग्रहप्रकारमाह अधार्मिकमिति । विविधेन तत्तस्तेया-
नुरूपेण ॥ ३१० ॥

(६) रामचन्द्रः । अधार्मिकपुरुषं त्रिभिर्न्यायैः नियमैः सामदानादिभेदैः च पुनः केन उपायेन निरोधनेन नितरां-
रोधनेन ॥ ३१० ॥

निग्रहेण हि पापानां साधूनां संग्रहेण च ॥ द्विजातयइवेज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः ॥ ३११ ॥

(१) मेधातिथिः । [पापयुक्ताः पुरुषाः पापाः तेषां निग्रहः पूर्वोक्त्यथाशास्त्रवद्वर्तिनः साधवस्तेषां सङ्ग्रहो यथाश-
क्त्युपकारः तेन पूर्ववद्विपाप्मानो भवन्ति प्रायश्चित्तेन वेत्यर्थवादः । '] अपरोर्थवादोऽष्टकं पापानुत्पत्तिरेव पूतत्वं ब्राह्मणा इव
सततमिज्याभिः नित्यैर्महायज्ञादिभिः ॥ ३११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । द्विजातयोविशः ॥ ३११ ॥

(३) कुल्लूकः । पापशालिनां निग्रहेण साधूनां संग्रहेण द्विजातय इव महायज्ञादिभिः सर्वकालं नृपतयः पवित्री भव-
न्ति तस्मादधार्मिकान् निगृहीयात् साधून् श्वानुगृहीयात् ॥ ३११ ॥

(४) राघवानन्दः । ततः किं तत्राह । पापानां पापिनां निग्रहेण साधूनां परिपालनेन । द्विजातयः विप्रोत्तमाः
सर्वदा यज्वानो वानृपस्योभयसंभवेन दार्ष्टान्तिकत्वासिद्धिः ॥ ३११ ॥

(५) नन्दनः । स्तेनहिंसाराज्ज एव धर्मो नान्यस्येत्याह निग्रहेण चेति ॥ ३११ ॥

(६) रामचन्द्रः । एवं निग्रहादिना नृपाः सततं पूयन्ते इज्यादिभिः द्विजा इव ॥ ३११ ॥

क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिपतां कार्थिणान् नृणाम् ॥ बालवृद्धातुराणां च कुर्वता हितमात्मनः ॥ ३१२ ॥

(१) मेधातिथिः । कार्थिणोऽर्थप्रत्यर्था ज्ञातिसुहृदः कस्मिंश्चिद्व्यमाने यदि न सतांभावो वा राजा नापेक्षितुमि-
च्छेद्वा तदा क्षमायां बालादीनां कार्थिणामेव मात्मने हितं कृतं भवति क्षन्तव्यमित्येतद्विधमेवात्महितम् ॥ ३१२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रभुणा शक्तेनापि । कार्यिणां कार्यासिद्धेः । क्षिपतामप्रियंवदतांबालादीनामकार्यिणामपि ॥ ३१२ ॥

(३) कुल्लूकः । कार्यवतामर्थिप्रत्यर्थिनांदुःखेनाक्षेपोक्तिरचयतां तथा बालवृद्धव्याधितानामाक्षिपतांवक्ष्यमाण-
मात्मीयमुपकारमिच्छता प्रभुणा क्षमणीयम् ॥ ३१२ ॥

(४) राघवानन्दः । राज्ञः स्वतन्त्रस्यापि कार्यविशेषे अस्वातन्त्र्यं सार्थवादमाह क्षन्तव्यमिति द्वाभ्याम् । प्रभुणा
प्रतीकारसमर्थेनापि राज्ञा क्षिपतामाक्षेपं कुर्वतां कार्यिणामर्थिप्रत्यर्थिनां तथा बालादीनांच क्षन्तव्यमात्मनोहितं कुर्वतेत्य-
न्वयः । तेषामाक्षेपसहनमेवहितमिति भावः ॥ ३१२ ॥

(५) नन्दनः । स्तेनापहतद्रव्यैस्तद्रव्यप्रत्यानयनकालात्ययादिवतैर्जनैर्यत्पारुष्यमुच्यते तद्राज्ञाक्षन्तव्यमित्यभि-
प्रायेणाह क्षन्तव्यं प्रभुणेति । प्रभुणा क्षिपतांतेषां निग्रहाय प्रभुणापि ॥ ३१२ ॥

(६) रामचन्द्रः । कार्यिणां कार्यार्थिनानृणां क्षिपतां अप्रियंवदतां प्रभुणा क्षन्तव्यं बालादीनांहितं आत्मनःहितं-
कुर्वता ॥ ३१२ ॥

यः क्षिप्तोमर्षयत्यार्त्तैस्तेन स्वर्गे महीयते ॥ यस्त्वैश्वर्यान् क्षमते नरकं तेन गच्छति ॥ ३१३ ॥

(१) मेधातिथिः । आर्त्तैर्दण्ड्यमानतत्संबन्धिभिरधिक्षिप्तआक्रुष्टोयन्मर्षयति नक्रुध्यति तेन क्षमणेन स्वर्गे महीयते
कण्डादिरयं महत्त्वं प्राप्नोति स्वर्गोकोपेन तर्हि क्षमाकर्तव्या । अकामिनोयथाभ्यतआह यत्तु प्रभुरहमित्यभिमानेन न सहते
तेन नरकंप्राप्नोति । आर्त्तग्रहणंबालवृद्धयोरपि प्रदर्शनार्थं पूर्वशेषत्वादस्य ॥ ३१३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आर्त्तैः कार्यालाभादुःखितैः ॥ ३१३ ॥

(३) कुल्लूकः । दुःखितैराक्षिप्तः सहते यः स तेन स्वर्गलोके पूजां लभते प्रभुत्वदर्पान्न सहते यः स तेन नरकं ग-
च्छति ॥ ३१३ ॥

(४) राघवानन्दः । हितं व्यनक्ति यदिति । आर्त्तैः दुःखादिभिः पीडितैः आक्षिप्तोपि मर्षयति क्षमते तेन तितिक्षारू-
पेण स्वर्गे महीयतेऽक्षमायां नरकगच्छतीत्यन्वयः ॥ ३१३ ॥

(५) नन्दनः । तेन क्षेपणेन क्षान्तेन ॥ ३१३ ॥

(६) रामचन्द्रः । आर्त्तैः कार्यालाभादुःखितैः क्षिप्तः तिरस्कृतः सन् मर्षयति क्षमापयति ॥ ३१३ ॥

राजा स्तेनेन गंतव्यो मुक्तकेशेन धावता ॥ आचक्षाणेन तस्तेयमेव कर्मास्मि शाधि माम् ॥ ३१४ ॥

(१) मेधातिथिः । अविशेषोपादाने सुवर्णहारी स्तेनोदृष्टव्यः तस्यैव शास्त्रान्तरे गमनविधानात् न वेदनमागमन-
परं विधिशाल्मदण्डविधित्वात् । उक्तं हि स्तेनः स्यात्प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डनिर्णयइति अतो नुवादमगमस्यात्र राजसकाशं सुवर्ण-
चौरेण गंतव्यं मुक्तकेशेन धीमता वीर्यवता धावतेति पाठान्तरं आचक्षाणेन कथयता पृथि तत्पातकमेवं कर्मास्मि ब्राह्मण-
स्य मयेषत्सुवर्णदत्तमिति कुरु निग्रहं मे ॥ ३१४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । राजा स्तेनेनेत्यादिप्रायश्चित्तप्रकरणवाच्यार्थभिधानं । वधावश्यकर्तव्यतारूपराजधर्मकथ-
नार्थम् । स्तेनेन ब्राह्मणस्वर्णहारकेण । मुक्तकेशेनेति धावनेति च नियतं मरणरूपप्रायश्चित्ताङ्गम् । एवमुत्तराण्यपि । शीघ्रग-
त्या गच्छता धावता ॥ ३१४ ॥

(३) कुल्लूकः । यद्यपि सुवर्णस्तेयरुद्धिप्रइत्यादिना प्रायश्चित्तप्रकरणे वक्ष्यति तथापि सुवर्णस्तेनंप्रति राजदण्डरूप-
तामस्य दंडप्रकरणे दर्शयितुं पाठः ब्राह्मणसुवर्णस्य चौराणां मुक्तकेशेन वेगाद्रच्छता मया ब्राह्मणसुवर्णमपहतमिति ख्यापय-
तामुसलाख्यमायुधं खादिरमयं वा दण्डमुभयतस्तीक्ष्णां शार्क्तिलोहमयं वा दण्डं स्कन्धे गृहीत्वा राजसमीपंगच्छेत्ततो ब्राह्मणसुवर्ण-
हार्यहमतोऽनेन मुसलादिना मां व्यापादयेत्येवं राज्ञे वक्तव्यम् ॥ ३१४ ॥ ३१५ ॥

(४) राघवानन्दः । एवं स्तुतिनिन्दाभ्यां राजानमभिमुखीकृत्य स्तेनस्य कृत्यमाह राजेति त्रिभिः । आशु शुद्धि-
मिच्छता स्तेनेनाचक्षणेन स्तेयकर्मतिशेषः ॥ ३१४ ॥

(५) नन्दनः । स्तेनंप्रत्याह राजास्तेनेनेति । शाधिमाभित्यत्रेति करणं दृष्टव्यं इत्याचक्षणेनेति तस्यान्वयः ब्राह्मण-
सुवर्णापहरणविषयमेतत् ॥ ३१४ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्तेनेन सुवर्णस्तेनेन चौराणां समीपे गन्तव्यं । कीदृशेन स्तेनेन तत्स्तेयं राज्ञः आचक्षणेन
कथकेन एवं कर्माणां शाधि ॥ ३१४ ॥

स्कन्धेनादाय मुसलं लगुडं वापि खादिरम् ॥ शार्क्तचोभयतस्तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा ॥ ३१५ ॥

[गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम् । वधेन शुध्यते स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव वा ॥ १ ॥] :

(१) मेधातिथिः । वर्णानामनुक्रमेण मुसलादीनामुपदेशं मन्यन्ते तदयुक्तं वा शब्दो न समर्थितः स्यात् । नच
ब्राह्मणस्येदंप्रायश्चित्तमिच्छन्ति तत्प्रायश्चित्तेषु निरूपयिष्यामः । खादिरजातिर्लगुडएव न मुसलेनानुषक्तव्यः ॥ ३१५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । लगुडं दण्डं । उभयतस्तीक्ष्णां लोहभागखड्गधाराद्यवयववतीम् ॥ ३१५ ॥

(४) राघवानन्दः । स्वप्रहारीचितं दण्डाद्यादायैव गन्तव्यमित्याह स्कन्धेनेति । शक्तिं सदण्डां क्षुरिकाकारां ती-
क्ष्णां क्षुरधारोपमाम् ॥ ३१५ ॥

(५) नन्दनः । उभयतस्तीक्ष्णां उभयाग्रकृतधारामादाय गन्तव्यइति सर्वेण संबन्धः ॥ ३१५ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्कन्धेनेति द्वाभ्यामाह । मुसलादिकंगृहीत्वा आत्मानं घातयेत् ॥ ३१५ ॥

शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते ॥ अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्यामोति

क्विलिषम् ॥ ३१६ ॥

(१) मेधातिथिः । शासनान्मुसलादिभिः प्रहरणात्क्षत्रियादिः पापान्मुच्यते विमोक्षादुत्सर्गाद्रच्छान्तमिति ब्राह्म-
णस्तपसैवेति वधतपसी विहिते तत्र वधस्तावद्ब्राह्मणस्य नास्ति तपस्तु प्रायश्चित्तं नच तपश्छातो राजाभिगमनमस्ति तस्मा-
त्क्षत्रियादीनामेषां विमोक्षः । सच धनदण्डंगृहीत्वा । यत आह आशासित्वेत्यादि नच विमोक्षणशुद्धौ सत्यां राज्ञस्तदशासनादोषो-
पपत्तिः नच शासनमपि विहितं मोक्षोपि विहितस्तत्र यस्मिन्पक्षे शासनंतदपेक्षदोषवचनं पाक्षिकं हि तथा कल्पनं च वच-
नमनित्यवच्छ्रुतं पाक्षिकं युक्तकल्पयितुं । तथाच सामान्येन वसिष्ठादय आहुः । अधमेन स्वीयेन कृच्छति राजानमुत्सृजन्तं
सक्विलिषन्तंचेज्याद्यतो राजाऽघ्नन्धर्मेण न दुष्यति नायंकल्पोयुक्तः कचिदियं हिंसा प्रतिषिद्धा । नाहं स्याद्भूतानीति रागादिना-
पुरुषार्थतया प्राप्ता कचिद्विहिता क्रत्वर्थत्वेन यो दीक्षितो यदधीषोमीयमिति इयन्तु शासनविमोक्षणवञ्चना नहि नामप्रतिष-

द्वाद्युक्तौसति विधौ कथं प्रतिषेधो न हि स्यात्तूतानीति सामान्यतः प्रतिषेधो विधिविशेषमन्तरेण न शक्यो बंधितुं । अथोच्यते नैवायं प्रतिषेधस्य विषयः कर्मार्थत्वात् । कथं पुनरन्तरेण विधिकर्मार्थता शक्यावगन्तुं लोकतइति चेन्न लौकिकीवृत्तिः कथं तर्हि प्रतिषेधस्तत्रावतरेत् ननु प्रदाने प्रवृत्तिर्निरूप्यतां यदि तावद्वैदिकी प्रवृत्तिस्ततस्तदङ्गे हिंसायामपि ततएव एका हि प्रवृत्तिरन्तरङ्गप्रधानयोः अथ लिप्सातोङ्गेपितत्र प्रवृत्तिः सुतरां तर्हि हिंसेयं लौकिकी जीविकार्थिनो हि प्रजापोषणाधिकारनियमोन विधिस्तेनेयमङ्गस्थापि हिंसा मुख्येन तुल्यत्वात् प्रतिषेधविषयः । नच लौकिकमस्यानियतमङ्गत्वं नो हिंसा मन्तरेण प्रजापालनमशक्यं निरोधनादिनापि शक्यत्वात् नैष नियमः एकरूपाङ्गप्रधानयोः प्रवृत्तिरिति स्यान्नाश्रीषोमीययोरनेङ्गविशेषः स्यादतो लिप्सालक्षणे पिधानेऽहं विधिलक्षणमभ्युपेतव्यं नचैष हिंसाविधिः लक्षणा शक्याभ्युपगन्तुं स्वरूपकार्यलौकिकत्वात्पालनस्य हिंसायाश्च अथ विधिलक्षणा षोडशग्रहणवद्विकल्पितुमर्हति शासनवचनेन प्रतिषिद्धा अन्येतुमन्यन्ते द्वेष्टे वाक्ये शासनादिति स्तेनस्य बुद्धिरुच्यते । परेणार्धेन राज्ञस्तदशासने दोषः । तत्र यदि राजा शासनदोषमात्मीयमङ्गीकृत्य मुंचमुंचेतैवैनसः ब्राह्मणस्यापि स्वयमागतस्य वधः शुद्धिहेतुः लक्षंशास्त्रभृतामिति वचनात् शारीरोऽब्राह्मणदण्डः इति न राजा यदि प्रतिषेधातिक्रमेण हन्याद्ब्राह्मणः शुभ्येदेव अशासित्वा मुशलादिभिरहत्वा स्तेनस्य यत्पापं तेन युज्यते ॥ ३१६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । शासनात् तदन्यतरेणाभिधातात् । विमोक्षान् शासिष्यामीति मनसा राज्ञा त्यागात् । एतच्च क्षत्रियादीनामेव ब्राह्मणस्य तु प्रकारान्तरेणात्महननम् ॥ ३१६ ॥

(३) कुड्डूकः । सकृन्मुसलादिग्रहारेण प्राणपरित्याजेनान्मृतककल्पस्य जीवतोपि परित्यागाद्वा सचौरस्तस्मात्पापात्प्रमुच्यते । अतएव याज्ञवल्क्यः ॥ मृतकल्पः प्रहारार्त्तो जीवन्पि विशुध्यतीति । तंपुनः स्तेनं कर्णुणादिभिरहत्वा स्तेनस्य यत्पापं तद्राजा मामोति ॥ ३१६ ॥

(४) राघवानन्दः । ततः किं एवं शासनान्मृतो जीवन्वा उभयथा शुद्धः इत्याह शासनाद्वेति । स्तेयात् स्तेयजपात् । अशासित्वा तैर्दण्डादिभिरहत्वा किल्बिषं पापं सहस्रदंडं वा ॥ ३१६ ॥

(५) नन्दनः । शासनात्तेनानीतमुसलादिना ताडनरूपात् विमोक्षान्त्वाहं नि गच्छेत्यनुज्ञारूपात् स्तेयादोषात्तस्य शासनाद्वाजास्तेनस्यामोति किल्बिषं तस्मात्सः शासितव्यइति ॥ ३१६ ॥

(६) रामचन्द्रः । शासनाद्वा तमाशिष्यामीति मनसा राज्ञा त्यागाद्विमोक्षाद्वा स्तेनश्चौरः स्तेयात् कृतपापात् विमुच्यते । एतत्क्षत्रियाणामेव ॥ ३१६ ॥

अन्नादे भूणहमार्ष्टि पत्यौ भार्यापचारिणी ॥ गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनौ राजनि किल्बिम् ॥ ३१७ ॥

(१) मेघातिथिः । अन्नमत्तीत्यन्नादो भूणहा ब्रह्महा तदीयमन्नं यो भुङ्क्ते तस्मिन् ब्रह्महत्यापापं मार्ष्टि निरस्य श्लेषयति यथा मलिनं वरुमुदके मृज्यते तन्मलं तत्र संक्रामत्येवं अर्थवादश्चायं तस्य तत्पापमुत्पद्यते न पुनर्ब्रह्महणो विश्लेषः । पत्यौ भर्तारि भार्यापचारिणी जारिणी सचेत्क्षमते अत्रापि भर्तुं रूपाद्यते पापं तस्या अपैति गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च शिष्यः सूर्याभ्युदितादिभिरपराध्यतु गुरौ क्षममाणे तत्पापं प्राक्षपति एवं याज्येयाजकः सोऽपि गुरुरेवेत्यतो याजकग्रहणं कृतं एवं चौरौ राजनि नच द्राज्ञा निगृह्यते याज्योऽपि कर्मणि प्रवृत्ते विधिमुपक्रामति चेद्याजकवचनैनावतिष्ठते तदा त्याज्योऽपि पुनस्तस्य ताडनादिशिष्यवत्कर्तव्यं । अन्नादादिषु सर्वेष्वन्यत्र विधिरस्तीति नाबुद्धिरतोर्थवादोऽयम् ॥ ३१७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्नादे तदीयान्नभोक्तरि भ्रूणहा ब्रह्महा मार्ष्टि शोधयति । भ्रूणघ्नस्तेनपापस्यक्षयात्पापोत्पादाच्च । एवं पत्यौ भार्या व्यभिचारिणी संगृह्यमाणगुरावभ्यापकत्विजोः शिष्ययाज्यौ पापिष्ठौ । स्तेनोराजनीतितु प्रकृतम् ॥ ३१५ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्रह्महा यस्तत्संबन्धियोन्नमत्ति तस्मिन्नसौ स्वपापसंक्रामयति भ्रूणहान्नभोक्तुः पापंभवतीति एतदत्र विवक्षितं नतु ब्रह्मघ्नः पापंनश्यति तथा भार्या व्यभिचारिणीजारपार्तिक्षममाणे भर्त्तरि पापसंश्लेषयति शिष्यश्च संभ्याग्निकार्याद्यकरणजन्यं पापंगुरौ सहमानेन्यस्यति याज्यश्चविधिमतिक्रामन्याजके क्षममाणे पापनिःक्षिपति स्तेनश्च राजन्युपेक्षमाणे पापसमर्पयति तस्माद्वाङ्मा स्तेनोनिगृहीतव्यः ॥ ३१६ ॥

(४) राघवानन्दः । स्तेनस्य परस्य पापेन राजा तज्जातीयपापवान्भवतीति स्तेनदृष्टान्तेनाऽन्येषामपि परपापवत्त्वमाह अन्नादइति । अन्नादेतदन्नभोक्ता भ्रूणहा स्वकिल्बिषं मार्ष्टि संक्रामयतीत्यन्वयः । पतिपदमुपलक्षणं येन येन संगता तंतमपि । अतएवोक्तं निःश्वासाद्वात्रसंस्पर्शादित्यादिः । याज्यश्च याजकेतिशेषः । एतेनान्यपापेनान्यस्यापि तज्जातीयपापजन्यं विवक्षितम् नतु पापिनः पापनाशइति केचित् । तत्रदानेनाकार्यकारिणे नेतिवचनात् शुद्ध्यन्त्येव ते सर्वदा अन्यथा बहुवित्तव्ययायासप्रार्याश्चत्तादौ तादृशे कोपिनप्रवर्तेत अतएव योयस्यान्नसमश्नाति सतस्याश्नाति किल्बिषमितिसंगतम् । अत्र भ्रूणहेत्यादित्रयं सिद्धवत्कृत्य राजनि पापसंक्रान्तिरुक्ता अतश्चतुर्णां परस्परदृष्टान्तता तेन पापिनोऽन्नं न भोक्तव्यम् भार्यादिकंच शासनीयमितिभावः ॥ ३१७ ॥

(५) ननन्दः । उक्तमेवार्थदृष्टान्तेन द्रढयति । अन्नादेभ्रूणहेति योभ्रूणघ्नोन्नमत्ति तस्मिन्भ्रूणहा स्वकिल्बिषं शोधयति अपचारिणी व्यभिचारिणी एवंशासितरिराजनि किल्बिषंस्तेनोमार्ष्टि यतएवंतस्माद्वाङ्मा स्तेनः शासितव्यइति ॥ ३१७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्नादेअन्नभोक्तरि भ्रूणहापापंमार्ष्टि । मृजुशुद्धौइत्यस्य धातोरूपम् । अपचारिणी मर्यादाव्यभिचारिणी भार्या पत्यौ उपपार्तिक्षममाणे पापंमार्ष्टि । याज्योशिष्यः गुरौ पापंमार्ष्टि । अशास्तरि राजनि चौरःकिल्बिषम् राजनि ॥ ३१७ ॥

राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ॥ निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः

सुकृतिनोयथा ॥ ३१८ ॥

(१) मेधातिथिः । यदुक्तं पापकारिणोनिग्रहणे कर्मकृतोर्क्षन्तइति तत्स्फुटयति । वृत्तोविनिपातिते दण्डोयेषांराजभिस्ते कृत्वा पापानि कृतपापाराजनिग्रहेण निर्मलानिरस्तपापाभवन्ति । अपगते च पापे यदेषांस्वर्गारोहिकंकर्म तेन स्वर्गप्राप्नुवन्ति महद्भिपापंशुद्धस्य कर्मणः फलस्य प्रतिबन्धकं सुकृतिनोनित्यंसुकृतकर्मकारिणः यथा सत्री धार्मिकस्तद्वदसतामधर्मेनैवोत्पद्यतएषामुत्पन्नोनिग्रहणेन विना स्थितइति प्राक्प्रध्वंसाभावयोर्विशेषोमानवग्रहणानुप्रकरणाच्चौराणामेव । दण्डशब्दस्तु शरीरनिग्रहविषयो नहि प्रकरणमतिक्रामति धनदण्डोहि राजार्थः वृत्तिर्हि या राज्ञः शारीरे तु दण्डेदण्ड्यमानार्थता शक्यतेनिहोतुं त्वक्संस्कारोर्हिंसा अथेयंबुद्धिः पालनमेव हिंसामन्तरेण न निष्पाद्यते तत्स्वराजार्थमिति कुतोऽर्थमाणांर्थता मारणस्य अथ किंपालनपाल्यमानार्थदृष्टमेवापह्नयते नहि तद्विषयमुपादेयंराज्ञेव स्वरक्षार्थकरमुद्दिश्यभृत्याउपादीयन्ते अतः सुतरांरक्षोपयोगित्वे हिंसायां हिंस्यमानार्थता सिद्धिः कथंवाहिंसया विना न रक्षानिवृत्तिर्यदि तावदव-

मर्थनिगृह्यन्ते पुनरकार्यमावर्तयिष्यते तन्निबोधनादपि शक्यते नियंतुं अथ तानि गृहीत्वा तान्दृष्ट्वा भयादनेन प्रवर्तयिष्यतइति धनदण्डेनापि शक्यते दुःखमपितु हन्यमानेष्वपि सहस्रशः प्रवर्तन्ते तस्मादियं हिंस्यमानेष्वपि सहस्रशः प्रवर्तन्ते तस्मादियं हिंसा रक्षासती हिंस्यमानसंस्कारइति मन्तव्यं अतश्च कारणादिछेदने नियमोहस्त्यादिविधिश्रेदल्पेष्वेवादृष्टमाधास्यति राजार्थो भविष्यति तस्माच्छरीरदण्डे पापान्मुक्तिर्न धनदण्डइति स्थितं । तथा च महापातकिनां दत्तसर्वस्वानामसुप्रबेधितदण्डानां संव्यवहारपरिहारार्थमङ्कनं वक्ष्यति । यदि बन्धनदण्डेन शुभ्येयुः पुनरङ्कनमनर्थकं स्यात् अत्र त्वयमागतस्य नानीतस्य विशेषोयस्तेन एव विशेषो भवत्वित्सर्वं शारीरदण्डविषयम् ॥ ३१८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कृत्वा पापानि धृतदण्डादित्यन्वयः । स्वर्गमायान्तिपापक्षये पूर्वोपात्तधर्मेण ॥ ३१८ ॥

(३) कुल्लूकः । सुवर्णस्तेयादीनि पापानि कृत्वा पश्चाद्राजभिर्विहितदण्डामनुष्याः संतः प्रतिबन्धकदुरिताभावात्पूर्वार्जितपुण्यवशेन साधवः सुरुतकारिण इव स्वर्गं गच्छन्ति एवं प्रायश्चित्तवदण्डस्यापि पापक्षयहेतुत्वमुक्तम् ॥ ३१८ ॥

(४) राघवानन्दः । दण्डेन न केवलं पापान्मुक्तिरपितु स्वर्गाद्यपीत्याह राजभिरिति । पापनिर्मुक्तिमात्रमत्र विवक्षितं स्वर्गावामिस्तु पूर्वकृतसुरुतकर्मणः दुरदृष्टप्रतिबन्धरहितात् । न च पापिनः कुतः सुरुतमिति वाच्यम् । कदाचित्सुरुतं कर्म कूटस्थमिव तिष्ठतीति स्मृतेरनारब्धफलकर्मणः सत्त्वप्रतीतिः ॥ ३१८ ॥

(५) नन्दनः । पापकृतामपि श्रेयस्करो राजदण्डः तेनाप्यवश्यते दण्ड्या इत्याह राजभिर्धृतदण्डास्त्विति । न केवलं निर्मलत्वमेव किन्तु स्वर्गमायान्ति च ॥ ३१८ ॥

यस्तु रज्जुघटंकूपाद्वरेद्भिद्याच्च यः प्रपाम् ॥ सदण्डंप्राप्नुयान्माषंतच्च तस्मिन्समाहरेत् ॥ ३१९ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रपिबन्त्यस्यामिति प्रपा । जलाधारस्थावस्थानं द्रवतजलनिधानं वा माषस्य जातिर्न निर्दिष्टा समरुजाङ्गलानुपभेदा द्रष्टव्या । तच्च रज्ज्वादिसमाहरेद्भिद्यात्तस्मिन्स्थाने न राजनि ॥ ३१९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रपां जलशालां भिन्द्यात् तत्काष्ठादिहरेत् । माषं सुवर्णस्य । तस्मिन् कूपादौ तद्रज्ज्वादि ॥ ३१९ ॥

(३) कुल्लूकः । कूपसमीपे रज्जुघटयोर्जलोद्धारणाय धृतयोरज्जुघटं वा हरेत् यो वा पानीयदानगृहं विदारयेत्स सौवर्णमाषंदण्डंप्राप्नुयात् । अनिर्दिष्टं तु सौवर्णमाषंतत्र प्रकल्पयेदिति कात्यायनवचनात् । तच्च रज्ज्वादितस्मिन्कूपे समर्पयेत् ॥ ३१९ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रकृतं पुनर्दण्डमाह यस्त्विति । केनापि पुण्यवता कूपसमीपे स्थापितौ रज्जुघटौ कृतप्रपां वा हरेद्भानाशयेत् ससौवर्णमाषं दण्डं प्राप्नुयादित्यर्थः । तच्च रज्ज्वादिकं समाहरेत् । संपाद्य दद्यादिति ॥ ३१९ ॥

(५) नन्दनः । द्रव्यान्तराणां चोरयितारंप्रत्याह यस्तुरज्जुघटमिति । रज्जुश्च घटश्च रज्जुघटं हरेन्मुष्णीयात्ततश्च तस्मिन्कूपे कूपसमीपे समाहरेत्पुनरास्थापयेत्तस्मिन्स्थाने प्रतिसमादध्यादिति ॥ ३१९ ॥

(६) रामचन्द्रः । माषं सुवर्णस्य । तच्च रज्जुघटादि तस्मिन् कूपादिस्थाने समाहरेत् ॥ ३१९ ॥

धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः ॥ शेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥ ३२० ॥

(१) मेधातिथिः । कुंभशब्दः परिमाणविशेषे वर्तते न घटमात्रे । क्वचिद्विंशतिप्रस्थान्क्वचिद्वाविंशद्वाविंशतिरिति

* दित्यर्थः । तच्च = दित्यर्थः । तथाच कात्यायनः अनिर्दिष्टं तु सौवर्णमाषं तत्र प्रकल्पयेदिति (न, श)

देशभेदाद्यवस्था । दशभ्योधिकंहरतोवधविधिरुक्तार्थोऽनुबन्धादिना नियम्यते शेषेषु दशसु प्राकृतस्तत्तएकादशगुणोदण्डः त-
तस्य च तद्धनमिति सर्वत्र स्तेये योज्यं । धान्यं ब्रीहियवादिषमदशानीतिसम्यते ॥ ३२० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कुम्भः पलशतद्वयम् । वधस्ताडनादि । ब्राह्मणादिद्रव्येत्वङ्गच्छेदादिः । शेषे ततःप्राक् त-
स्य तद्धनं दाप्यद्वयुभयत्र ॥ ३२० ॥

(३) कुङ्कुमः । द्विपलशतंद्रोणोर्विंशतिद्रोणश्च कुम्भोदशसंख्येभ्यः कुम्भेभ्योऽधिकंधान्यंहरतोवधः सच हर्तृस्वामि-
गुणवत्तापेक्षया ताडनाङ्गच्छेदमारणात्मकोज्ञेयः । शेषे पुनरेकस्मादारभ्य दशकुम्भपर्यन्तहरणे निहृतैकादशगुणं दण्डं दाप्यः
स्वामिनापहतं दाप्यः ॥ ३२० ॥

(४) राघवानन्दः । धान्यहरणे दण्डमाह धान्यमिति । कुम्भेभ्यः द्विपलशतं द्रोणोर्विंशतिद्रोणश्च कुम्भः तेभ्यो-
धिकं हरतोवधः हर्तृगुणवत्तापेक्षया ताडनाङ्गच्छेदमारणात्मकः हिंसामात्रवाचित्वाद्वधस्य । शेषे दशकुम्भाभ्यन्तरे
एकादशगुणं तद्व्यापेक्षया । तस्य धान्यस्वामिनंतद्धनं तावद्धान्यम् ॥ ३२० ॥

(५) नन्दनः । कुसूलात्किञ्चिन्न्यूनं धान्यभाजनं कुम्भः दशभ्यः कुम्भेभ्योऽधिकं पुरुषस्य संवत्सरभोजनपर्यन्त-
धान्यग्रहणं ततोभ्यधिके हरणे दण्डः स्यात् । दशभ्यः कुम्भेभ्योऽन्यूनं हरणे तदादेकादशगुणं धान्यं हर्त्रा दण्डत्वेन दाप्यः ।
धान्यस्वामिने तद्धनं धान्यं च दाप्यं । ब्राह्मणधान्यहरणे क्षत्रियादीनामयमेव दण्डोऽवगन्तव्यः ॥ ३२० ॥

(६) रामचन्द्रः । अभ्यधिकंहरतःवधः ताडनादि । एतद्विषयम् क्षत्रियादावङ्गच्छेदइत्यर्थः । शेषेपि ततोऽन्यून-
राज्ञे एकादशगुणं दण्डं तस्य स्वामिनः तद्धनम् ॥ ३२० ॥

तथा धरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः ॥ सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम् ॥ ३२१ ॥

(१) मेधातिथिः । धरणं धरिमं तुला तेन मीयन्ते परिच्छिद्यन्ते तानि धरिममेयानि घृतादीनां द्रवाणां प्रस्थादिमे-
यतास्तीति कठिनानां परिमेयता भवतीति तदर्थमाह सुवर्णरजतादीनां आदिग्रहणादेव रजते लब्धे पुनरुपादानात्तुल्यग्रह-
णार्थात्पवालादीनि गृह्यन्ते न तुताश्लोहादीनि तेषां शतादूर्ध्वहरणे वधः । किंपुनरेतच्छतं पलानामुत्तमानां च वाससाम् ॥ ३२१ ॥
केचिदाहुः । केचिदाहुः पलानामिति । नन्वत्र विशेषो हन्तुरस्ति तस्माद्यस्मिन्देशधरिममानकाले यथासंख्यया व्यवहारः । श्रुत-
मिदं सुवर्णस्य क्वचित्तोलके क्वचित्पलेषु यथा देशव्यवस्था । उत्तमानां च वाससां कौशेयपट्टादीनामिति । नन्वत्र विशेषहेतुरस्ति
तस्मिन्यस्मिन् शतादभ्यधिके वधइत्यनुषङ्गः । अत्रापि शाकटिकयुगमेकमिति संख्यायते पुष्पपटाद्युपबर्हणन्त्वेकमेवेति
ननु च सुवर्णरजतादीनामित्येव सिद्धे परिमेयग्रहणमनर्थकं कर्पूराङ्कुरादीनां महार्घाणां ग्रहणार्थं । आदिग्रहणाद्धितै-
जसानि गृह्यन्ते । निष्कादिपरिमाणव्यपदेश्यानि वा नहि कर्पूरादीनां कर्षादिव्यपदेशोऽस्ति यद्यपि सुवर्णवद्रजतेऽपि शतसंख्या
तथापि प्रायश्चित्तभेदवद्दण्डभेदोपि युक्तो विषमसमीकरणस्य न्याय्यत्वादतोयावत्सुवर्णगतस्य मूल्यं तावदित्युक्ते गृहीते वधः
कर्पूरादीनां तु पलानामेव शतसंख्या ॥ ३२१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धरिमं तुला तन्मेयानां सुवर्णरजतव्यतिरिक्तानां ताम्रादीनां शतात् निष्कशतात् । एतच्च
षोडशमाषकरूपसुवर्णचतुष्टयरूपनिष्कव्यवस्थया ग्राह्यम् । अत्रापि वधो मारणं ब्राह्मणद्रव्यत्वे अन्यत्र त्वङ्गच्छेदादि । सुवर्णे-
ति । सुवर्णरजतोत्तमवाससामल्पानामपि हरणे वधएवेत्यर्थः ॥ ३२१ ॥

(३) कुङ्कुमः । यथा धान्येन वधउक्तस्तथा तुलापरिच्छेदानां सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससां पट्टादीनां पल-

शताधिकेऽपहतेवधः कर्त्तव्यएव विषयसमीकरणंचात्र देशकालापहर्तृद्रव्यस्वामिजातिगुणापेक्षया परिहरणीयं एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् ॥ ३२१ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तदण्डमन्यत्रातिदिशति तथेतिद्वाभ्याम् । धरिमेति धरणंतुला तेन परिच्छेद्यानां कार्पासादि-दिद्रव्याणां पलशताधिके अपहते वधः । तत्रापि देशकालहर्तृद्रव्यस्वामिजातिगुणापेक्षया ताडनाङ्गछेदनमारणादि ज्ञे-यम् ॥ ३२१ ॥

(६) रामचन्द्रः । धरधटनाभ्रादीनांतुलामेयानां शतातृनिष्कात् अभ्यधिकंहरतःवधः ताडनादि । सुवर्णादि हरतः अल्पानांहरणे वधः ॥ ३२१ ॥

पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते ॥ शेषे त्वेकादशगुणंमूल्याद्वण्डंप्रकल्पयेत् ॥ ३२२ ॥

(१) मेधातिथिः । सुबोधोयं मूल्यादिति नापहते द्रव्यंदेयं कचित्तज्जातीयनैव प्राप्यते अतोरूपकैर्धान्यादित्या-दिना वा निमेषम् ॥ ३२२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पञ्चाशतइतिताभ्रादिविषयम् । शेषे पञ्चाशतऊने ॥ ३२२ ॥

(३) कुल्लूकः । पूर्वोक्तानांपञ्चाशदूर्ध्वशतयावदपहारे कृते हस्तच्छेदनमन्वादिभिरभिहितं शेषेष्वेकपलादारभ्य पञ्चाशत्पलपर्यन्तापहारेऽपहृतधनादेकादशगुणदण्डंदाप्यः ॥ ३२२ ॥

(४) राघवानन्दः । एवमुक्तानां सुवर्णादीनां तोलकानां पञ्चाशत्पर्यन्तमपहृतस्य मूल्यादेकादशगुणो दण्डः पञ्चाशतोऽधिके हस्तछेदः ॥ ३२२ ॥

(५) नन्दनः । त्वर्णानां पञ्चाशतोभ्यधिके हरणे शेषे पञ्चाशतोन्यूने ॥ ३२२ ॥

(६) रामचन्द्रः । पञ्चाशतस्तु अधिके ताभ्रादि पञ्चाशतन्यूनेन ॥ ३२२ ॥

पुरुषाणांकुलीनानानारीणां च विशेषतः ॥ मुख्यानांचैव रत्नानांहरणे वधमर्हति ॥ ३२३ ॥

(१) मेधातिथिः । सत्कुले जाताविद्यादिगुणयोगिनः कुलीनाः नारीणांच विशेषतोगुणरूपसौभाग्यतः संपन्नाना-मित्यर्थः । चशब्दात्कुलीनानामित्येव परस्परापेक्षाणि नारीणांविशेषणानि मुख्यानि रत्नानि वज्रवैडूर्यमरकतप्रभृतीनि अत्रापि सुवर्णशततुल्यानीत्यपेक्ष्यमन्यथोत्तमत्वमापेक्षकमिति दण्डोन व्यवतिष्ठेत वधमर्हत्यनुवधाद्यपेक्षया सर्वत्रार्ह-त्यर्थोयोजनीयः । अकुलीनानामर्वाशिष्ठानाममुख्यानांच विशेषे त्वेकादशगुणइत्येव ॥ ३२३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वधः उत्कृष्टापकृष्टापेक्षया मारणाङ्गछेदादिः ॥ ३२३ ॥

(३) कुल्लूकः । महाकुलजातानांमनुष्याणांविशेषेण स्त्रीणांमहाकुलप्रसूतानांश्रेष्ठानांच रत्नानांवज्रवैडूर्यादीनामप-हारे वधमर्हति ॥ ३२३ ॥

(४) राघवानन्दः । मनुष्यरत्नविशेषयोरपहृतेअवश्यंवधइत्याह पुरुषाणामिति । नारीणां विशेषताकुलजानाम् । कर्पाञ्जलानितिवञ्चित्वं विवक्षितम् । मुख्यानां वज्रवैडूर्यादीनां रत्नानाम् ॥ ३२३ ॥

(५) नन्दनः । क्रियमाणहरणयोर्जातिगुणाद्यपेक्षया वधशब्दार्थः कल्पनीयः छेदनरूपोमारणरूपोवा ॥ ३२३ ॥

* अपहते=अपहृते (राघ २)

महापशूनांहरणे शस्त्राणामौषधस्य च ॥ कालमासाद्य कार्यंच दण्डंराजा प्रकल्पयेत् ॥ ३२४ ॥

(१) मेधातिथिः । महापशवोहस्त्यश्वादयस्तेषांहरणे कालकार्यापेक्षा दण्डप्रकृप्तिः ननु च सर्वत्रैव कालाद्यपेक्षोक्ता तथा च कालदेशवयशक्तोश्चिन्तयेद्दण्डकर्माणीति सत्यं विज्ञाते दण्डस्वरूपे न्यूनाधिकभावोऽनुबन्धाद्यपेक्षः यथा वधविधौ ताडनमारणादिकल्पनापेक्षया इहात्यन्तविलक्षणोदण्डः तथा हि विंशतिपणोपि खड्गशान्नोरुद्यतशस्त्रस्य सन्निधौ यदि ह्रियते तेन कार्यातिशयेन तेन च कालेन मारणंदण्डः अन्यदा द्विगुणैकादशगुणोवा तथौषधमलभ्यत्वेन महाप्रयोजनंतदुपयोगवेलायां ह्रियते लभ्यमानमपि काथाद्यपेक्षंकालातिक्रमणेन महदातुरस्य दुःखंजनयतीति तत्र महान्दण्डः अन्यदा तु स्वल्पइति नयनान्तरमन्तरेणेदंशवैषम्यंलभ्यते अन्यथा सएवैकश्लोकोदण्डविधौ पठितव्यःस्यात् तस्माद्वक्तव्यमिदंविग्रहकालेऽश्वादीनां राज्यापेक्षोदण्डः शस्त्राणाराजोपयोगिनांकदाचित्क्षमा कदाचिन्महान्दण्डः गोमहिष्यादीनांतु प्रजासंबन्धिनाराज्ञा कर्तव्यंकार्याएव यदश्वादिभिः कर्तव्यं तदप्यपेक्षाविग्रहोपि यदि पर्वतादौ भवति यत्र नातीवाश्वैः प्रयोजनंभवन्त्येव दण्डादयः कालमासाद्य ज्ञात्वा निरूप्य दण्डंकल्पयेत्सएवात्र भवति नशास्त्रम् ॥ ३२४ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । महापशूनामश्वादीनां हरणेवधः । शस्त्राणामौषधस्यच हरणे तदेकादशगुणमित्यादिः कार्यबहुत्वाल्पत्वमपेक्ष्य दण्डः । तथा शस्त्रादीनां युद्धकालादौ हरणे ततोद्विगुणमित्याद्युन्नेयमित्यर्थः ॥ ३२४ ॥

(३) कुट्टूकः । महतांपशूनांहस्त्यश्वादिगोमहिष्यादीनांतथा खड्गादीनांशस्त्राणांकल्याणघृतादेशौषधस्य च दुर्भिक्षादिरूपंकालंकार्यप्रयोजनंच सदसद्भिन्नियोगरूपंनिरूप्य राजा ताडनाङ्गच्छेदवधरूपंदण्डंप्रकल्पयेत् ॥ ३२४ ॥

(४) राघवानन्दः । पश्वादीनामपहारेऽङ्गच्छेदनादिदण्डमात्रमित्याह महेति । महापशूनां हस्त्यश्वानाम् । शस्त्राणां खड्गादीनाम् । औषधस्य कल्याणघृतादेः । कालं सुभिक्षदुर्भिक्षरूपम् । कार्यमासन्नंयुद्धरोगादि । आसाद्य विचार्य ॥ ३२४ ॥

(५) नन्दनः । महापशूनांहस्त्यश्वानां कालं दुर्भिक्षसुभिक्षादिकं कार्यमाह पशुभिरिदंकार्यंशस्त्रैरिदंकार्यमित्यादिकं आसाद्य निरूप्य दण्डं वधमेकादशगुणंवा राजा कल्पयेत् ॥ ३२४ ॥

(६) रामचन्द्रः । महापशूनां अश्वादीनांहरणे कालं युद्धादिसमयं आसाद्य कार्ययुद्धादिरूपंप्रकल्पयेत् च पुनः राजा दण्डं वाप्रकल्पयेत् ॥ ३२४ ॥

गोषु ब्राह्मणसंस्थासु छूरिकायाश्च भेदने ॥ पशूनांहरणे चैव सद्यः कार्योऽर्धपादिकः ॥ ३२५ ॥

(१) मेधातिथिः । ब्राह्मणसंस्था ब्राह्मणाश्रिता ब्राह्मणस्वामिकास्तासांहरणे षष्ठ्यर्थे सममी । पशूनांचाजैडकादीनां बहुवचनंसर्वत्रात्र विवक्षितं सद्यस्तत्क्षणादिविचार्य पादस्यार्धमर्धपादंतदस्यास्तीत्यर्धपादिकः तच्च संततंयदि पादार्धतेन छिद्यते तेनार्धपादच्छेदनंकर्तव्यमिति वाक्यार्थः खरिका ययागोरक्षैक्षेत्रादौ वाह्यते बलीवर्दः भेदने वाह्यमानायाः प्रतोदेन पीडोत्पादनंभेदनंवाहानामुपलक्षणार्थंव्याचक्षते पूर्वोऽवश्यंवाहयन्दुःखयति अवश्यमयंदण्डइत्येवान्ये पठन्ति अन्येतु पश्चाद्भागंचतुर्थंखरिकामाहुः खरिकेति या प्रसिद्धा पलायनशीला या पालोर्धपादिकः कार्यः अन्ये त्वधिकरणसमर्पितत्वा गोसंस्थदध्यादीन्यव्याहरन्ति तदयुक्तं श्रुतपदसंबन्धसंभवे कृतोव्याहारः ॥ ३२५ ॥

(३२५) छूरिका=खरिका (मे०) =स्थूरिका (सर्वज्ञ०, राघ०, नंदनः,)

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्राह्मणसंस्थासु ब्राह्मणसंबन्धिनीषु । स्थूरपृष्ठेनभारवोढा वृषः तद्भारः स्थूरिका तस्याभेदने पाठयित्वा तद्वतधान्यादेरपहारइत्यर्थः । पशूनां महिषादीनाम् । अर्धपादिकः छिन्नार्धपादद्वयः ॥ ३२५ ॥

(३) कुष्ठूकः । ब्राह्मणसंबन्धिनीनांगवामपहारे वन्ध्यायाश्च गोर्वाहनार्थनासाछेदने पशूनांचाजैडकानांदण्डभूयस्त्वाद्यागाद्यर्थानांहरणेऽनन्तरमेव छिन्नार्धपादिकः कार्यः ॥ ३२५ ॥

(४) राघवानन्दः । तद्विशेषेअर्धपादछेदोदण्डःस्यादित्याह गोष्विति । ब्राह्मणसंस्थासु तत्संबन्धिनीषु हरणइतिशेषः । भेदनेस्थूरिकायाः वन्ध्यागोर्वाहनार्थं नासिकायां । पशूनां अजाव्यादीनाम् ॥ ३२५ ॥

(५) नन्दनः । स्थूरिकानामपार्श्वेऽथतुरङ्गुलादूर्ध्वःप्रदेशः । ब्राह्मणगोस्थूरिकाभेदने च इतरेषांपशूनांहरणे च भेत्ता हर्त्तार्धपादिकः कार्यः ॥ ३२५ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणसंस्थासु संबन्धिनीषु गोषु पृष्ठे भारयोः प्रच्छूरिकायाःभेदने च पुनः पशूनां हरणे अर्धपादिकः दमःछिन्नार्धद्विपादिकःदमःकार्यः अर्धदण्डः कार्यः ॥ ३२५ ॥

सूत्रकार्पासकिण्वानांगोमयस्य गुडस्य च ॥ दध्नः क्षीरस्य तक्रस्य पानीयस्य तृणस्य च ॥ ३२६ ॥

(१) मेधातिथिः । सूत्रमूर्णासिणादि लवणानि सैधवविडलवणादीनि यच्चान्यत्पशुसंभवमामिषादिति अन्येषामपूपमोदकादीनां आदिशब्दःप्रकारे प्रकारःसादृश्यंतुल्यता सदृशकार्यकरणोपयोगादिरूपा तथा च सर्पिमण्डेभुखण्डशर्करा किलाट्कूर्चिकाद्याअपूपागृह्यन्ते पशुसंभवंराङ्गवाजिनाद्यपीच्छन्ति केचित् । आदिग्रहणात्प्रकृतिर्विकृतिरपि प्रकृतियच्चोभयोपादानंदध्नः क्षीरस्य चेति तदुदाहरणार्थं एवंसूत्रग्रहणेन सूत्रमयंवासोपि गृह्यते नलिकादीनांसत्यपि सूत्रमयत्वे पशुसंभवत्वउत्तमत्वादुत्तमानांचेत्त्वयमपवादविषयः प्रकृत्यन्तरे तैलशब्दः स्नेहवाचो न तिलविकारएव तेनातसीप्रियङ्गुपञ्चाङ्गुलतैलादयोपि गृह्यन्ते ॥ ३२६ ॥ ३२७ ॥ ३२८ ॥ ३२९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । किण्वं मद्यबीजम् ॥ ३२६ ॥

(३) कुष्ठूकः । ऊर्णादिसूत्रकार्पासिकस्य च किण्वस्य सुराबीजद्रव्यस्य च सूक्ष्मवेणुखण्डनिर्मितजलाहरणभांडादीनांयदप्यन्यत्पशुसंभवं च मृगचर्मखड्गशृङ्गाद्यन्येषामप्येवंविधानामसारप्रायाणांमनःशिलादीनांमद्यानांद्वादशानांपक्वानामामोदनव्यतिरिक्तानामप्यपूपमोदकादीनांच कार्पासादिशब्दार्थानांप्रसिद्धानांचापहारेकृतमूल्याद्विगुणोदण्डः कार्यः ॥ ३२६ ॥ ३२७ ॥ ३२८ ॥ ३२९ ॥

(४) राघवानन्दः । द्रव्यविशेषेषु तद्रव्यमूल्याद्विगुणं दण्डं दापयितुं षड्विंशतिं द्रव्यविशेषाननुवदति सूत्रेतिचतुर्भिः । किण्वानां सुराबीजानाम् । पानीयस्य पानार्थं संस्कृतस्य ॥ ३२६ ॥

(५) नन्दनः । किण्वंसुराप्रकृतिद्रव्यम् ॥ ३२६ ॥

(६) रामचन्द्रः । सूत्रादीनांहरणेदण्डमाह सूत्रेतिचतुर्भिः । किण्वानां मद्यबीजानाम् ॥ ३२६ ॥

वेणुवैदलभाण्डानालवणानांतथैव च ॥ मृन्मयानांच हरणे मृदोभस्मनएव च ॥ ३२७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वेणुभाण्डानां तथा वैदलभाण्डानां विदलीकृतान्यकाष्ठभाण्डानाम् ॥ ३२७ ॥

(४) राघवानन्दः । वैदलभाण्डानां स्थूलवेणुखण्डनिर्मितजलाहरणादिसमर्थानाम् । भस्मनः कदलीक्षारदेः ॥ ३२७ ॥

(५) नन्दनः । वैदल्वेत्रमयं भाण्डमुपकरणम् ॥ ३२७ ॥

(६) रामचन्द्रः । मृन्मयानां भाण्डानाम् ॥ ३२७ ॥

मत्स्यानांपक्षिणांचैव तैलस्य च घृतस्य च ॥ मांसस्य मधुनश्चैव यच्चान्यत्पशुसंभवम् ॥ ३२८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पशुसंभवं रोचनादि ॥ ३२८ ॥

(४) राघवानन्दः । पशुसंभवं चर्मचामरवर्मरज्जुगोरोचनाश्चक्रास्थिनिर्मितसंपुटकखट्वाभरणादिकम् । तस्यापि हरण-
इत्यनुषज्यते ॥ ३२८ ॥

(६) रामचन्द्रः । पशुसंभवं दुग्धादि ॥ ३२८ ॥

अन्येषांचैव मादीनामद्यानामोदनस्य च ॥ पक्वानानांच सर्वेषांतन्मूल्याद्विगुणोदमः ॥ ३२९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवमादीनां पक्वानानां व्यञ्जनानाम् । सर्वत्रात्र द्रव्यवते द्रव्यमूल्यमधिकं देयम् ॥ ३२९ ॥

(४) राघवानन्दः । एवमादीनां एवंविधानां पानकादिद्वादशानाम् । पक्वानानामोदनेतरशक्कुल्यादीनाम् ॥ ३२९ ॥

(५) नन्दनः । आद्यानां भक्ष्याणाम् ॥ ३२९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्येषां अजादीनां अद्यानां अदनीयानां च पुनः ओदनस्य भक्तस्य तन्मूल्यात् तद्वस्तुमूल्यात्
द्विगुणोदमः ॥ ३२९ ॥

पुष्पेषु हरिते धान्ये गुल्मवल्लीनगेषु च ॥ अन्येष्वपरिपूतेषु दण्डः स्यात्पञ्चरुष्णलः ॥ ३३० ॥

(१) मेधातिथिः । नवमालिकादीनि पुष्पाणि हरन्ति धान्यक्षेत्रस्थं नगावृक्षाः अन्येष्वपरिपूतेषु बहुवचनात्प-
रिपवनाय च धान्यक्षेत्रेष्वेव तुषपलालादिविमोक्षरूपयोः संभवादुत्तरश्लोके धान्यग्रहणमेवाकुर्यते । गुल्मादीनांहि सत्य-
पि पलाशे नापि सत्वे पुष्पाणांच परिपूतव्यवहारः । सममी हरणापेक्षा तत्त्वंपूर्वस्मादनुवर्तते अत्रपञ्चरुष्णलोदण्डः
रुष्णलानाद्रव्यजाः अल्पत्वमहत्त्वप्रयोजनापेक्षा सुवर्णस्येति पूर्वे ॥ ३३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । हरिते माषादौ शमीधान्ये धान्येशूकधान्ये । एष्वल्पेषु तथाऽपरिपूतेष्वपृथक्कृतबुसेषु
॥ ३३० ॥

(३) कुङ्कुमः । पुष्पेषु हरिते क्षेत्रस्थे धान्ये गुल्मलतावृक्षेषु परिवृतेषु अनपावृतवृक्षेषु वक्ष्यमाणश्लोके धान्यादिषु
निर्देशात्परिवपनसंभवाच्च धान्येषु अन्येषु समर्थपुरुषभारहार्येषु तृतेषु देशकालाद्यपेक्षया सुवर्णस्य रौप्यस्य वा पञ्चरुष्ण-
लमाषपरिमाणोदण्डः स्यात् ॥ ३३० ॥

(४) राघवानन्दः । पुष्पादिद्रव्यविशेषापरहरणे पञ्चरुष्णलकं दण्डं विदधदपि तान्यनुब्रूयति पुष्पेष्विति । हरिते
क्षेत्रस्थधान्ये गृहधान्येषूक्तत्वात् । अपरिपूतेष्वनुत्सादिततुषादिषु । सुवर्णमाषः पञ्चरुष्णलकोमाषइत्युक्तेः नतु रूप्यमाषकः
॥ ३३० ॥

(५) नन्दनः । धरिमतुला तेन मेयानामुन्मानयोग्यानांस्वर्णादीनामुत्तमवाससांहरणे पुष्पेषु हरितेनवेधान्येचपरि-
पूतेष्वशोधितपांसुषु धान्येष्वित्युत्तरश्लोकादपकर्षणीयम् ॥ ३३० ॥

* पानकादि = मद्य [१] नांपानकादि (राघ० २) = मनःशिलादीनां एवंविधानांमद्य [१] नांपानकादि (न, श)

३३०) अन्येष्व० = अल्पेष्व (क, ख, ग, च, ण, र)

(६) रामचन्द्रः । हरितेधान्ये माषादौ नगेषु वृक्षेषु अपरिपूतेषु अदूरीकृतबुसेषु ॥ ३३० ॥

परिपूतेषु धान्येषु शाकमूलफलेषु च ॥ निरन्वये शतदण्डः सान्वयेऽर्धशतदमः ॥ ३३१ ॥

(१) मेधातिथिः । मूलमिक्षुद्राक्षादि । निरन्वयेद्रव्यहरणे अन्वयोऽनुनयः त्वामिनः प्रीत्यादिप्रयोगः यत्त्वदीयं-
तन्मदीयमेवेत्यनया बुध्याहंप्रवृत्तोनचेदेवंतद्ग्राहणेत्येवमादिवचनंतद्यत्र न क्रियते तन्निरन्वयं साहसप्रकारवादिकोदण्डः
अन्वयेनसहसान्वयः येन सह कश्चिदपि संबन्धोनास्त्येकग्रामवासादिस्ततः शतदण्ड्यः खलस्थेषु धान्येष्वयंदण्डः तत्र हि
परिपूयते गृहस्थेषुत्वेकादशगुणः प्रागुक्तः ॥ ३३१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । परिपूतेष्वपास्तबुसेषु । शाकमूलफलेषु बहुमूल्यात्यन्तोपयुक्तेषु । निरन्वये तद्रव्यसंबन्ध-
योग्यतापादकज्ञानोपाधिकोन्वयोयस्तमभिधाय यत्र हरणं न भवति तत्र । तद्विपरीतं सान्वयम् ॥ ३३१ ॥

(३) कुड्मूकः । निष्पुलाकीकृतेषु वृक्षेषु धान्येषु शाकादिषु चापद्धतेषु अन्वयोद्रव्यत्वामिनांसंबन्धः येनसहकश्चिदपि
संबन्धोनास्त्येकग्रामवासादिस्तत्र शतदण्ड्यः सान्वये तु पञ्चाशत्पणोदेयः खलस्थेषु च धान्येष्वयंदण्डस्तत्र हि परिपूर्यते
गृहस्थेकादशगुणोदण्डः प्रागुक्तः ॥ ३३१ ॥

(४) राघवानन्दः । तद्विशेषेषु धान्यादिचतुष्टयेषु व्यवस्थया शतमर्धशतंवा दमं दापयन् तान् उद्दिशति परीति ।
परिपूतेषु यज्ञार्थसंस्कृतेषु अपसारिततुषेषुवा । निरन्वये संपूर्णदत्ते द्रव्यस्वामिना एकग्रामवासादिसंबन्धइतिकेचित्
॥ ३३१ ॥

(५) नन्दनः । अपद्धतेष्वित्येव निरन्वये निःशेषापहारेर्द्धशतम् ॥ ३३१ ॥

(६) रामचन्द्रः । परिपूतेषु धान्येषु दूरीकृतबुसेषु निरन्वये अनारक्षे निर्मले सान्वये रक्षासहिते वंशजे ॥ ३३१ ॥

स्यात्साहसंत्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम् ॥ निरन्वयंभवेत्स्तेयंत्तत्त्वापव्ययते च यत् ॥ ३३२ ॥

(१) मेधातिथिः । परद्रव्यापहरणंस्तेयमुच्यते धात्वर्थप्रसिद्ध्या चास्यैव कर्ता स्तेनः इहतु विशेषेणायंव्यवहार-
इष्यते तदर्थोयंश्लोकः नपरद्रव्यादानमात्रमृणादाननिक्षेपादिष्वपि स्तेयंदण्डप्रसङ्गात् संज्ञाभेदोदण्डभेदार्थः अपहृत्ययत्नेन
मया कृतमित्याह कर्मयत्कृतं परपीडाकरं वस्तूपाठनाग्निदाहद्रव्यापहरणादि अग्निदाहे यद्यपि द्रव्यापहरणं नास्ति तथापि-
चौर्यमेव रहसि करणादपह्नुवाच्चमन्यन्ते चौर्यैर्हि द्रव्यविशेषाश्रयोदण्डः सोत्र नस्यात् एवमर्थमेव स्तेयप्रकरणोत्कर्षणं-
स्तेयंप्रसभं कर्मेति कर्मग्रहणाद्रव्यापहारादन्यदप्येवंकृतंयुक्तंसाहसमेव कस्तर्ह्यग्निदाहादावप्रसभंकृते दण्डः कण्टकशुद्धौ-
वक्ष्यामः अतएवमन्विच्छेदसत्यपिद्रव्यापहरणे कण्टकशुद्धौदण्डमामनन्ति अन्यथाएवंवक्ष्यते ॥ ३३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उपकृमानि भोजनादिप्रयोजनार्थसञ्चितानि । आद्यं प्रथमसाहसं । अग्निं त्रेताग्निमाधाना-
दिसंस्कृतम् ॥ ३३२ ॥

(३) कुड्मूकः । यद्धान्यापहारादिकंकर्मद्रव्यत्वामिसमक्षंबलाद्धृतं तत्साहसं स्यात्सहोबलं तद्भवंसाहसमतइह स्तेयद-
ण्डोन कार्यः एतदर्थः स्तेयप्रकरणेऽस्यपाठः । यत्पुनः त्वामिपरोक्षापद्धतं तत्स्तेयं भवेत् यच्चत्तत्त्वाऽपहृते तदपि स्तेय-
मेव ॥ ३३२ ॥

(४) राघवानन्दः । स्तेयात्साहसंभिन्दन्नाह स्यादिति । साहसं सहोबलं तेन कृतम् । प्रसभं प्रभोः समक्षम् ।
अन्वयवत् पणानांशतार्थं दण्डः संख्यान्तरानुक्तेः । स्तेयं प्रभोःपरोक्षं दत्तंतन्निरन्वयंभवेत् तन्निरन्वयवत् शतदण्डार्हम् ।
दत्त्वा अपव्ययते अपहृते यत्र तत्र शतं दण्डइति ॥ ३३२ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रसभंकर्म प्रत्यक्षापहाररूपंकर्म निरन्वयं आरक्षवर्जितम् ॥ ३१२ ॥

यस्त्वेतान्युपकृमानि द्रव्याणि स्तेनयेन्नरः ॥ तमाद्यंदण्डयेद्राजा यश्चाग्निचोरयेद्गृहात् ॥ ३१३ ॥

(१) मेधातिथिः । एतानि सूत्रादीन्युपकृमानि प्रत्यासन्नदानोपभोगादिकार्यकालानि अथवा संस्कृतानि कृतसामर्थ्याधानानि तथा तदेव सूत्रंतन्तुवायहस्ते वायनार्थदत्तं किंचित्परिवर्त्यते एवं दधिमन्थनमरिचशर्करादिसंस्कृतं क्षारगृहमित्यादिसंस्कारस्तत्र शतदण्डः । आद्यमिति पाठे प्रथमसाहसः । अग्नीन्धनपरिगृहीतं शालाग्निहोत्रेत्यादिकं हेमन्ते वा सीतार्दितानांदरिद्राणामप्रणोतमध्यग्रेरूपकल्पनं पाककालः सीतादिनिवृत्त्यर्थं वा तापनकालोऽविशेषेणायमग्रेदण्डः स्वल्पस्य बहोरूपकृमस्य च सत्यापि सूत्रादिदण्डे आदिग्रहणेनाग्रेस्तन्मूल्यादिसंभवति क्रयविक्रयव्यवहाराप्रसिद्धेः यावतावेन्धनेनाग्निरपहतपरिमाणउत्पद्यते यावतीभिर्दक्षिणाभिस्तन्मूल्याद्विगुणोदण्डः संभवति शक्यते व्यपदेशुं तुष्ट्युत्पत्तिश्च स्वामिनः स्थितैव अतस्त्रेताग्निहरणे यावत्पुनराधाने गच्छति प्रायश्चित्तेष्टौ तावदग्निमते दातव्यः अतोयमग्रेदण्डः शालाप्रणीताग्निविषयएव स्वल्पत्वात् त्रेतायां तु तन्मूल्याद्विगुणइति तथा च सुलभेष्वधिकारनिवृत्तिमकुर्वत्सु यागाङ्गद्रव्येष्वपङ्क्तिममाणेषु कुशकरकाग्निहोत्रद्रव्याण्यपहरतोऽङ्गच्छेदः स्यादिति शङ्कः । अग्निषु तु भूतेष्वधिकारएव निवर्तते तत्र कथं महादण्डो न स्यात् ॥ ३१३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र साहसं सहसा अविविच्य दोषगुणौ यदि कृतं तदा स्तेयमपि तथैवेत्याशङ्कं प्रसंगादपनयति स्यादिति । नैवतावन्मात्रं साहसं किंतु प्रसभं हठात्त्वामिसमक्षं बलवदन्वयवदनुबन्धि उत्तरकालमपि यत्र न तद्रोष्यते साहसं तदित्यर्थः । निरन्वयं उत्तरकालनिह्वयत्नसहितं यच्च कृत्वा स्वामिनोऽपव्ययते तदैव निह्ववाय यतते तद्रव्याहरणं स्तेयम् । एवं च युद्धादिना यत्परस्वहरणं परमारणादि तत्साहसं निह्वयप्रयत्नवतातुयत्परस्वमादीयते तत् स्तेयमित्यर्थः । तथा अनिह्ववेन चायतकलहादिनिमित्तकं ताडनादि क्रियते तदण्डपारुष्यमित्युक्तम् ॥ ३१३ ॥

(३) कुट्टूकः । यः पुनरेतानि सूत्रादिद्रव्याण्युपभोगार्थंकृतसंस्काराणि मनुष्यश्चोरयेत् यश्च त्रेताग्निगृह्णाग्निवाऽग्निगृहाच्चोरयेत्तराजा प्रथमं साहसंदण्डयेदग्निस्वामिनश्चाधानोपक्षयोदातव्यः । गोविन्दराजस्तुलौकिकाग्निमपि चोरयतोदण्डइत्याह तदयुक्तमल्पापराधे गुरुदण्डस्यान्याय्यत्वात् ॥ ३१३ ॥

(४) राघवानन्दः । संप्रत्युक्तसूत्रादिद्रव्यापहारे प्रकारविशेषमुपक्षिपन्प्राथमिकंदण्डमाह यस्त्विति । उपकृमानि उपयोगार्थंकृतसंस्काराणि स्तेनयेत् चौर्यंकुर्यात् । तेषामाद्यं प्रथमसाहसम् । अग्निं गार्हपत्याग्निम् । गृहादग्निगृहात् ॥ ३१३ ॥

(५) नन्दनः । एतानि सूत्रकार्पासकिण्वादीनि उपकृमानि महाभोगार्थं स्तुतानि ॥ ३१३ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतान्युपकृमानि सूत्रादीनिद्रव्याण्यो नरः स्तेनयेत् चौर्येण गृह्णीयात् तंपुरुषं आद्यं प्रथमसाहसं राजादण्डयेत् च पुनः यः अग्निं वैतानाग्निं गृह्णीयात् चौर्येण नयेत्सोपि प्रथमसाहसं दण्ड्यः ॥ ३१३ ॥

येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते ॥ तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥ ३१४ ॥

(१) मेधातिथिः । भूयोभूयः प्रवृत्तस्यायंदण्डः योधनेन दण्डितोपि न मार्गेऽवतिष्ठते तस्य त्रिचतुर्दण्डितस्यानवतिष्ठमानस्य द्रव्यजातिपरिमाणानपेक्षः सन्विच्छेदाद्यनपेक्षचौर्यक्रियामसावाश्रितोऽङ्गच्छेदः । यस्य यस्याङ्गस्य बलमाश्रित्यावतिष्ठते स्तेनचौर्ये प्रवर्तते तत्तदस्य हरेच्छिन्द्यात् यथाकश्चित्पादबलमाश्रित्यावष्टभ्य पलायते नमामनुगंतुं कश्चिदपि शक्नोतीति तस्य पादच्छेदः अन्यः प्रसिद्धिभेदज्ञो हंतस्य हस्तच्छेदः प्रत्यादेशाय प्रतिरूपफलदर्शनाय स्वावष्टभेन साभिमानं

सक्रोधंसावज्ञान्यकरणंवा प्रत्यादेशोयएवंकरोति तस्य तस्याहमेवंकर्तेति व्याख्यानं प्रत्यादेशः ॥ ३३४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विचेष्टते विरुद्धं चेष्टते द्रव्यं हरति । हरेदपनयेदतिशयितापराधे । प्रत्यादेशायान्यस्यापि निषेधाय ॥ ३३४ ॥

(३) कुल्लूकः । येन येन अङ्गेन हस्तपादादिना येन प्रकारेण संधिच्छेदादिना चौरौमनुष्येषु विरुद्धं धनापहारादिकं चेष्टते तस्य तदेवाङ्गं प्रसङ्गनिवारणाय राजा छेदयेत् तत्र धनस्वाम्युत्कर्षापेक्षयाऽयमङ्गच्छेदः ॥ ३३४ ॥

(४) राघवानन्दः । येनाङ्गविशेषेण द्रव्यस्वामिनमनुरुन्धानोस्तेन येन तस्य तत्तदवयवच्छिन्नादित्याह येनेति । यथा यथावत् । अस्य चोरस्य । प्रत्यादेशाय पुनः प्रसंगवारणाय ॥ ३३४ ॥

(५) नन्दनः । अर्थदण्डे पुनरपि स्तेनयन्तं प्रत्याह येन येन यथेति । विचेष्टते स्तेनयति हरेच्छिन्नात् प्रत्यादेशाय प्रतिषेधाय अपुनरपराधयेतियावत् ॥ ३३४ ॥

(६) रामचन्द्रः । पार्थिवः प्रत्यादेशाय चौर्यनिराकरणाय एतस्य तदेव वस्तु हरेत् ॥ ३३४ ॥

पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः ॥ नादण्ड्योनामराज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥ ३३५ ॥

(१) मेधातिथिः । भार्यापुत्रः स्वकातनुरात्मीयं शरीरं कः पुनरात्मनोदण्डः प्रायश्चित्ततपोधनदानादिविचलितो धर्मः स्वकान्योयः स्वधर्मान्ननुतिष्ठति ससर्वोदण्डः ॥ ३३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पितेत्यादि येषां हिंसायां पापतिशयस्तेषामपि दण्ड्यान्तरवदण्डने न दोष इत्यर्थः ॥ ३३५ ॥

(३) कुल्लूकः । पित्राचार्यमित्रभ्रातृमातृपत्नीपुत्रपुरोहितानां मध्यात् स्वधर्मे योनावतिष्ठते सराज्ञोऽदण्डनीयो नास्त्यपि तु दण्डनीय एव ॥ ३३५ ॥

(४) राघवानन्दः । स्वपित्रादेस्तेयादिकर्तृत्वे राज्ञः कागतिस्तत्राह पितेत्यादि । स्वधर्मे न तिष्ठति स्वधर्मा द्युतः सोप्यवश्यं दण्ड्यः ॥ ३३५ ॥

(५) नन्दनः । पित्रादिष्वप्यपराधिषु राज्ञा दण्डोधारयितव्यः किं पुनरन्येष्वित्यभिप्रायेणाह पिताचार्य इति ॥ ३३५ ॥

(६) रामचन्द्रः । अदण्डानाह पितेति ॥ ३३५ ॥

कार्षापणं भवेदण्ड्योयत्रान्यः प्राकृतोजनः ॥ तत्र राजा भवेदण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥ ३३६ ॥

(१) मेधातिथिः । प्राकृतोजनः सामान्यपुरुषो यो नातिगुणसंयुक्तस्तस्य यत्र यस्मिन्पराधेयावान्दण्डस्तत्सहस्रगुणो-
राज्ञः कार्षापणग्रहणस्य दण्डपरिमाणोपलक्षणार्थत्वात् दण्डस्य चात्मानमपि नियम्य परोनियन्तुं शक्यत इति युक्तं प्रत्यपरा-
धे दण्डार्हत्वं महाधनत्वादल्पदण्डं विगणयेत् राजाधिकृतानां मन्त्रिपुरोहितादीनामनयैव कल्पनया न्यूनाधिकभावः धन-
दण्डश्च ब्राह्मणेभ्योऽप्सु प्रवेशेन वरुणाय वा योनावद्भक्ष्यति राज्ञां दण्डधरो हि सः ॥ ३३६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । किंबहुनाऽऽत्मापि दण्ड्य एवेत्याह कार्षापणमिति । तच्च द्रव्यं ब्राह्मणेभ्यो देयमिति ता-

(३३५) भार्यापुत्रः = भ्रातापुत्रः (च)

त्पर्यम् । प्राकृतः अधनइतिवाच्ये प्राकृतइत्यैश्वर्यापेक्षया राजामात्यादीनामप्यधिकदण्डत्वमुक्तम् । धारणा निश्चयः ॥ ३३६ ॥

(३) कुल्लूकः । यत्रापराधे राजव्यतिरिक्तोजनः कार्षापणंदण्डनीयोभवेत्तस्मिन्नपराधे राजा पणसहस्रदण्डनीयइति निश्चयः स्वार्थदण्डत्वप्सुप्रवेशेद्ब्राह्मणेभ्योवा दद्यात् ईशोदण्डस्य वारुणइति वक्ष्यमाणत्वात् ॥ ३३६ ॥

(४) राघवानन्दः । ननु नृपतेर्दण्डोनास्ति चेत्प्राप्तव्यभिचारादिवमस्तिचेत्कथंदण्ड्यस्तत्राह कार्षेति । यत्रापराधे प्राकृतः कार्षापणं दण्डमर्हतिस्मिनराजा सहस्रपणानां ब्राह्मणाय दद्यात् विद्वान्सर्वस्वमर्हतीत्युक्तेः ॥ ३३६ ॥

(५) नन्दनः । अथशक्तितारम्यतोदण्डतारतम्यमाह कार्षापणंभवेदिति । यत्रापराधे राजशब्दोयमाढ्यवचनः ॥ ३३६ ॥

(६) रामचन्द्रः । राजा उपलक्षणंधनिकस्य ॥ ३३६ ॥

अष्टापाद्यन्तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम् ॥ षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च ॥ ३३७ ॥

(१) मेघातिथिः । तद्दोषगुणविद्धिसइति हेत्वभिधानाद्विदुषांदण्डोयंयत्र खलजनएकंकार्षापणंदाप्यते तत्राविद्वान् शूद्रोऽष्टगुणामष्टभिः आपाद्यते संबध्यते । यत्किल्बिषपापंतदेवमुच्यते अष्टभिर्वाऽऽपाद्यतआह्न्यते गुण्यतइति यावदुभयथाप्यष्टगुणस्य वाचकोष्टापद्यशब्दएव तदेव द्विगुणंवैश्यस्य सहि साक्षादध्ययनज्ञानयोरपि कृतशूद्रस्तु कथंचिद्ब्राह्मणापात्रिततत्सङ्ख्या कियदपि ज्ञास्यति क्षत्रियस्तु रक्षाधिकारदोषेण समाने विद्वत्वे ततोपि द्विगुणंदण्ड्यते ब्राह्मणे तु दण्डविधौ ननृप्यति चतुःषष्टिशतमष्टविंशंवा शतमिति तस्यहि प्रवचनमुपदेष्टृत्वाधिकंच रक्षा ततोभवेत् । प्राकृतजनस्य तिर्यक्प्रख्यस्यापराधः अविद्वांसोऽगुणदोषानभिज्ञाअकार्ये प्रवर्तन्ते विद्वानपि तथैव चेद्वर्तेत हन्तहन्तजगत् तृतीयस्य शिक्षितुरभावाच्चतुक्तं द्वौ लोकौ धृतव्रतोराजा ब्राह्मणश्च बहुश्रुतइति राज्ञः पूर्वेण दण्डाधिक्यमनेन ब्राह्मणस्याधिक्यमात्राविधिश्चायं न यथाश्रुतसंख्याविधिः ब्राह्मणदण्डेऽनवस्थाश्रवणादयंवायंचेति नच विकल्पोयुक्तोव्यवस्थाहेतुत्वाभावात् तुल्यबलस्यैव विषयस्यानुपपत्तेः कोहि राजा द्विजगुणमुत्सृज्य चतुःषष्टिंहीन्यति यदि परमदृष्टार्थोदण्डे विकल्पउपपद्यते नचादृष्टार्थोयमित्युक्तं तथा च गौतमोविदुषोतिक्रमदण्डभूयस्त्वमित्याह तस्मादनवस्था विधित्वंव्याहन्ति । नचगुणापेक्षोविकल्पोयुक्तोऽनष्टादिश्लोकेनैव सिद्धत्वात् । अर्थवादाच्चात्रविध्यगतिः सचाधिक्यविधौ लब्धालंबनइति न यथाश्रुतपरिकल्पने विकल्पने समर्थः ॥ ३३७ ॥ ३३८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अष्टापाद्यमष्टगुणं यदपहृतंद्रव्यं तन्मूल्यादष्टगुणितोदण्डोप्राप्तइत्यर्थः । एतच्च प्रागुक्तप्रतिनियतदण्डरज्जुघटादिस्तेयव्यतिरेकेणकिंविषयस्यापराधस्याष्टगुणत्वं अष्टगुणदण्डापनोद्यतैव ॥ ३३७ ॥

(३) कुल्लूकः । तद्दोषगुणविद्धि सइति सर्वत्र संबध्यते यस्मिन्स्तेये योदण्डउक्तः सस्तेयगुणदोषज्ञस्य शूद्रस्याष्टभिरापाद्यते गुण्यतइत्यष्टगुणः कर्तव्यः षोडशगुणोऽगुणदोषज्ञस्य वैश्यस्य द्वात्रिंशद्गुणस्तथाविधक्षत्रियस्य चतुःषष्टिगुणोऽगुणदोषविदुषोब्राह्मणस्य शतगुणोवाऽष्टाविंशत्यधिकशतगुणोवा गुणातिशयापेक्षया ब्राह्मणस्यैव ॥ ३३७ ॥ ३३८ ॥

(४) राघवानन्दः । एवं स्तेयदोषानभिज्ञेषु चतुर्षु वर्णेषु साधारणं दण्डमुक्त्वा तद्विज्ञेषु तद्विशेषमाह अष्टेतिद्वाभ्याम् । अष्टापाद्यं अष्टाभिरापाद्यतेगुण्यतइत्यष्टापाद्यं यस्मिन् स्तेये योदण्डउक्तोमूर्खस्य शूद्रस्य तद्दोषज्ञस्यतदष्टगुणं किल्बिषं दण्डरूपम् । एवं षोडशद्वात्रिंशद्वैश्यक्षत्रिययोः ॥ ३३७ ॥

(५) नन्दनः । ज्ञानतारतम्यतश्च दण्डतारतम्यंश्लोकद्वयेनाह अष्टापाद्यन्तिवति । स्तेयेकृते आपाद्यमापादयितव्यंकि-

लिखं दण्डः शूद्रस्याष्टभवत्यपत्तद्व्याष्टगुणं भवतीत्यर्थः अज्ञत्वात् । वैश्ये तु षोडशगुणमल्पज्ञत्वात् । क्षत्रियस्य द्वा-
त्रिंशद्गुणं ज्ञत्वात् ॥ ३३७ ॥

(६) रामचन्द्रः । शूद्रस्य अष्टभिर्भागो ग्राह्यः भवति । वैश्यस्य षोडशभागः हरेत् किल्बिषं दण्डनिमित्तापराधम्
॥ ३३७ ॥

ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णवापि शतं भवेत् ॥ द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः ॥ ३३८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्राह्मणस्य पक्षत्रयं निर्गुणगुणवदतिगुणापेक्षया । अतएव तृतीये हेतुतया ज्ञानमुक्तम् ।
दोषः पापः गुणः पुण्यम् । केचित्तु दोषगुणित्वं सर्वविशेषणम् तथाच तदज्ञस्य शूद्रस्य स एवाष्टगुणः एवं क्षत्रियादेरपीत्या-
हुः । अन्येतु शूद्रादिपदानि राजसेवकशूद्रादिपराण्यत्र तेषामितरशूद्राद्यपेक्षया षष्टगुणत्वादित्याहुः ॥ ३३८ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्राह्मणस्य चतुःषष्ट्यादिविकल्पस्तपो विद्यादिक्रमापेक्षया । ब्राह्मणस्य दण्डाधिक्ये हेतु-
स्तद्दोषेत्यादि । अन्येषां तद्वत्त्वं विमोपदेशादिति भावः । विदुषि विप्रे चतुःषष्टिं तपोयुक्ते तस्मिन् शतं तपोश्रियुक्ते तस्मिन्
अष्टाविंशत्युत्तरशतमित्युन्नेयम् ॥ ३३८ ॥

(५) नन्दनः । ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिगुणं ज्ञतमत्वात् । ब्राह्मणविषये विज्ञानतारतम्याभिप्रायेणोक्तं पूर्णवापीत्यादि
तद्दोषगुणवित्तस्य स्तेयस्य करणंदोषोऽकरणंगुणइत्येवंवेत्ति । यद्वा गुणआवर्चनमुत्तरोत्तराधिक्यं वेत्तीति तद्दोषगुणविद्धि-
यस्मात्सब्राह्मणस्तस्मात्तस्य दण्डो देयइति । एवं हेतुवचनबलादेवैष ज्ञानवैषम्यप्रयुक्तो दण्डवैषम्यविधिः क्षत्रियादिष्वपि कल्प-
नीयः । अन्येत्वाहुः । किल्बिषेशब्दोऽयं दोषवचनः नार्थदण्डवचनः तत्र हेतुर्वाग्दण्डपारुष्ययोजात्युत्कर्षवशेन दण्डलाघवव-
चनमिति ॥ ३३८ ॥

वानस्पत्यं मूलफलं दार्वग्र्यर्थं तथैव च ॥ तृणं च गोभ्यो ग्रासार्थं मस्तेयं मनुरब्रवीत् ॥ ३३९ ॥

(१) मेधातिथिः । वनस्पतएव वानस्पत्यंवृक्षाः स्वार्थे प्रत्ययः ग्रासार्थं गृह्यमाणमस्तेयं वंशांकुरादिमूलफलं वनस्प-
तीनामन्यद्विससस्यादिसूत्रादिगणेऽग्रासार्थं मूलफलाहरणे दण्डोक्तः अस्तेयवचनंग्रासार्थमात्रार्थमक्षीणवृत्तेरपि कथंचिज्जा-
तलौल्यस्य स्मृत्यन्तरदर्शनात्त्वापरिवृत्तेश्च दण्डः । तथा च गौतमः पुष्पाणि स्ववदाददीत फलानि चापरिवृत्तानामिति दोषा-
र्थमाहिताग्रेरसंनिहिते वनस्पताबुद्ध्याग्रौ तद्धारणार्थं काष्ठमदोषं पालाशीर्वा समिधो दध्यात् अप्रचुरपलाशे च ग्रामे कथं-
स्यादित्यादिगृह्येरेन्न दोषः तृणं च गोभ्यः तादर्थ्यं चतुर्थी गोग्रहणात्प्रस्तारार्थं दोषएव येतु ग्रासार्थपदेन गवामभिसंबन्धमि-
च्छन्ति तेषां गोभ्यइति नोपपद्यते षष्ठीहि तत्प्रयुक्ता ॥ ३३९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वानस्पत्यं वनस्पतिवृक्षमात्रं तद्भवम् । तेनैष धीमात्रव्यवच्छेदः । एतच्चारण्यगतं अपरि-
वृत्तानामिति गौतमस्मरणात् । अपरिवृताऽपरिगृहीताऽन्नेष्टा । अग्र्यर्थं वैतानिकाग्र्यर्थम् । एवं च वृक्षास्तृणकाष्ठादीनि च गृ-
हाच्छादनाद्यर्थमरण्यादपि राजाऽननुमत्या नीतानि स्तेन्यनिमित्तान्येवेत्युक्तम् ॥ ३३९ ॥

(३) कुल्लूकः । वीरुद्धनस्पतीनां पुष्पाणि स्ववदाददीत फलानि चापरिवृत्तानामिति गौतमवचनात् अपरिवृत्तवानस्पत्या-
दीनां मूलफलं होमीयाग्र्यर्थं च दारु गोग्रासार्थं च तृणं परकीयमस्तेयं मनुराह तस्मान्न दण्डो नाप्यधर्मः ॥ ३३९ ॥

(३३८) गुणविद्धि सः = गुणवेदिनः (क)

(४) राघवानन्दः । उपसंहारस्य फलवादेन राज्ञोमहत्कार्यदण्डमित्यत्र सूचितस्य प्रतिप्रसवमाह वानस्पत्यमिति । वानस्पत्यं वनस्पत्युद्भवम् । ग्राम्येच्छया गोप्रचारोभूमीराजवशेनवा द्विजस्तृणैधःपुष्पाणि सर्वतः स्ववदाहरेदितियाज्ञवल्क्योक्तेः गोप्रचारः गोचरणार्थाभूमिः । स्ववदात्मयवत् । तथा गौतमोपि वीरुद्धनस्पतीनांच पुष्पाणि स्ववदाददीत फलानिचानृतानामिति ॥ ३३९ ॥

(५) नन्दनः । वनस्पतयोवृक्षवल्यादयस्तत्र भवः वानस्पत्योमूलफलादिरहितइतिशेषः अश्वर्थं गोभ्योगवाम् ॥ ३३९ ॥

(६) रामचन्द्रः । दारुकाष्ठंअश्वर्थं अस्तेयं मनुरब्रवीत् ॥ ३३९ ॥

योदत्तादायिनोहस्तालिप्सेत ब्राह्मणोधनम् ॥ याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥ ३४० ॥

(१) मेधातिथिः । अतिदेशोयं योब्राह्मणश्चौरानुपजीवति सचौरवदण्ड्यो याजनाध्यापनेनापि अपिः क्रियान्तरसूचकः स्तेनंप्रतिगृह्णतांक्षत्रियादीनामन्यथैव वार्तादित्वकर्मणा चोरंगृह्णतां ब्राह्मणग्रहणन्तु मया किलधर्मैर्णार्जितंयाजयतेत्यभिमाननिवृत्त्यर्थं अदत्तमादत्तेगृह्णातीत्यदत्तादायीचोरः लिप्सेत लब्धुमिच्छेदगृहीतास्वपि दक्षिणासु तत्संबन्धादेव चौरनिग्रहः ॥ ३४० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्तेनाद्याजनादिना द्रव्यग्रहणेपि स्तेनवदण्ड्येदित्याह यइति ॥ ३४० ॥

(३) कुल्लूकः । अदत्तादायिनश्चौरस्य हस्ताद्योब्राह्मणोयजनाध्यापनप्रतिग्रहैरपि परकीयधनंज्ञात्वा लब्धुमिच्छेत्सचौरवच्चौरतुल्योज्ञेयः अतः सइव दण्ड्यः ॥ ३४० ॥

(४) राघवानन्दः । याजनाद्युपायैरपि चोराद्धनमिच्छंस्तेनोभवतीत्याह यइति । अदत्तमादातुंशील्यस्य सोऽदत्तादायी तस्य यज्ञाद्यर्थधनस्वत्वानुत्पत्तेरितिभावः ॥ ३४० ॥

(५) नन्दनः । अदत्तादायीति स्तेनसाहसिकयोर्ग्रहणं हस्तात्सकाशान्केवलंप्रतिग्रहणं किन्तुयाजनाध्यापनेनापीति यथा स्तेनस्तथैव सः सोऽपि स्तेनवदण्ड्यइत्यर्थः ॥ ३४० ॥

(६) रामचन्द्रः । यः ब्राह्मणः अदत्तादायिनः स्तेनस्यहस्तात् धनंलिप्सेत याजनाध्यापनेन वा स्तेनान् लब्धधनद्विजःयथा स्तेनः चौरः तथैव स ब्राह्मणः । चौरद्रव्यस्य संग्रहात्संसर्गदोषीभवति ॥ ३४० ॥

द्विजोध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविक्षूद्रे च मूलके ॥ आददानः परक्षेत्रान्न दण्डंदातुमर्हति ॥ ३४१ ॥

(१) मेधातिथिः । द्विजग्रहणंशूद्रप्रतिषेधार्थं अध्वगोनैकग्रामवासी तत्रापि क्षीणवृत्तिः क्षीणपथ्योदनः द्वाविक्षूदण्डौ मूलके प्रदर्शनार्थंचैतत्परिमितहरीतकमुद्रादिशमीधान्यानां तथाच शमीत्रपुसयुग्यघासेषु चनाप्रतिषेधइति स्मृत्यन्तरं परक्षेत्रात्परकीयस्थानादित्यर्थः परिवृत्तादपि ॥ ३४१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आददानो अनुक्तापि ॥ ३४१ ॥

(३) कुल्लूकः । द्विजातिः पथिकः क्षीणपाथेयः द्वाविक्षूदण्डौ द्वे वा मूलके परकीयक्षेत्राद्रूद्धदण्डदानयोग्योऽन भवति ॥ ३४१ ॥

(४) राघवानन्दः । क्षीणवृत्तिपथिकद्विजातिर्द्रव्यविशेषे दण्डाभावमाह द्विजइति । मूलके मूलकं प्रसिद्धम् ॥ ३४१ ॥

(५) नन्दनः । इक्षुमूल्योर्ग्रहणंप्राणधारणार्थानां फलादीनामन्युपलक्षणार्थम् ॥ ३४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । इक्षुवैच पुनः द्वेमूलके ॥ ३४१ ॥

असन्दितानांसंदातासन्दितानांच मोक्षकः ॥ दासाश्वरथहर्ता च प्राप्तःस्याच्चौरकिल्बिषम् ॥ ३४२ ॥

(१) मेधातिथिः । पश्वादयोविमुक्तश्चङ्खलादिबन्धनामुस्तादियवभूयिष्ठेषु विजनेषु वार्यन्ते ततश्चेन्निद्रायति त्वामिनि पाले वा कश्चित्सन्दानवतः कुर्यात् । नूनंनिनीषत्यसाविति शङ्क्या चौरवदण्डयः यस्तुत्वामिगृहच्युतंयूथभ्रंशागतंवा रक्षितुमेव वा बध्नीयान् तस्य दोषएवंगवादीनामपि गले दामादि संजातएषएव दमः ये च संदिताः पादस्थश्चङ्खलादिना तेषामोक्षकः दासांश्च रहसि प्रोत्साह्य भक्तदासादीनपहरत्यहन्ते बहुददामि किमेतंभजसइति कुलीनानांहरणे वधउक्तः पुरुषाणामित्यत्रानेन दासामुच्यन्ते यद्येवतत्रैव कुलीनमुक्तमेवंप्रोत्साह्य नयनग्रहणं कर्तव्यं तत्प्रबलादिनाचौर्येणवेति अश्वरथहर्तेति अश्वानांरथानांच महापशूनामित्यत्र राजसंबन्धिनोऽश्वाइमे तुजनपदानांराजेच्छया दण्डः इह तु नियतोवधः । यद्यपि बह्वश्वोरदण्डास्तथापि स्मृत्यन्तरे ॥ बंदिग्राहांस्तथा वाजिकुञ्जराणांच हारिणः ॥ प्रसह्यघातिनश्चैव शूलमारोपयेत्तरानिति ॥ इहापि सामान्यतोयेन येनेत्युपक्रम्य तत्तदेव हरेदिति । अन्येत्वश्वयुक्तोरथइति सामान्यमन्यन्ते प्रदर्शनाच्चाश्वगोरथादीनां तत्र केवलानामश्वानांरथस्य च दण्डश्चिन्त्यः स्मृत्यन्तरे केवलानामश्वानांचौरदण्डस्योक्तत्वात् यद्यप्ययुक्तानामपि सिद्धोयेतु प्रोत्साह्यनयनंहरणमन्यन्ते तेषामश्वरथशब्देन रथकारोलक्ष्यते रथकर्तेति सच सर्वशिल्पार्थशिल्पिनांहरणे चौरदण्डः अश्वानामपि प्रोत्साहनंवडवादर्थनेन ॥ ३४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । असन्दितानामबद्धानां अत्त्वामिकतयोत्सृष्टानां संवाहनादिकर्ता सन्दाता । सन्दितामन्यपशूनां तद्विरोधाचरणबुद्ध्या मोक्षकः । दासाश्वरथहर्ता कथंचित्पतारणादिना तैःस्वकर्म कारयन् । तेन तदस्तेयेपि तत्कर्मस्तेयात्तस्तेयातिदेशः ॥ ३४२ ॥

(३) कुल्लूकः । अबद्धानामश्ववादीनांपरकीयानांयोदर्पेण बन्धयिता बद्धानांमन्दुरादौ मोचयिता योदासाश्वरथापहारी सचौरदण्डंप्राप्नुयात् सच गुरुलघ्वपराधानुसारेण मारणाङ्गच्छेदनधनाद्यपहाररूपोबोद्धव्यः ॥ ३४२ ॥

(४) राघवानन्दः । अस्तेयेष्वपि दण्डार्थं स्तेयमाह असन्दितानामिति । अनागस्वेनाऽवरोधानर्हपरकीयपशूनां दर्पात्सन्दाताऽवरोद्धा रुतागस्वेनाऽवरुद्धानां मोक्षयितेत्यन्वयः । दासादित्रयहर्ताच पणानांसहसंदण्डयः ॥ ३४२ ॥

(५) नन्दनः । असन्दितानां सन्धाता ॥ ३४२ ॥

(६) रामचन्द्रः । असन्दितानां अबद्धानां संदाता बंधकः च पुनः सन्दितानांमोक्षकः शृत्यहर्ता अश्वस्यहर्तासः चौरकिल्बिषं चौरस्येव किल्बिषं दण्डार्हःस्यात् ॥ ३४२ ॥

अनेन विधिना राजा कुर्वाणःस्तेन निग्रहम् ॥ यशोऽस्मिन्प्राप्नुयाल्लोके प्रेत्यचानुत्तमं
सुखम् ॥ ३४३ ॥

(१) मेधातिथिः । अनेनान्तरप्रक्रान्तेन मार्गेण चौरनिग्रहंकुर्वाणोयशः सकलजनसाधुवादोस्मिल्लोके यावज्जीवंप्रेत्य मृतस्यानुत्तमंस्वर्गाख्यंसुखमश्रुतइति प्रकरणोपसंहारोयम् ॥ ३४३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्तेयम् ॥ ३४३ ॥

(३) कुल्लूकः । अनेनोक्तविधानेन राजा चौरनियमनंकुर्वाणइहलोके ख्यातिपरलोके चोत्कृष्टसुखंप्राप्नुयात् ॥ ३४३ ॥

(४) राघवानन्दः । स्तेयनिग्रहाद्युपसंहरत्राजानं फलेन तत्रावर्जयति अनेनेति । सुखं प्रजारक्षणपुण्येन ॥ ३४३ ॥

ऐन्द्रंस्थानमभिप्रेत्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम् ॥ नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकंनरम् ॥ ३४४ ॥

(१) मेधातिथिः । सहोबलंतेन वर्तते साहिकः दृष्टादृष्टदोषानपरिगणय्य बलमात्रमाश्रित्य स्तेयहिंसासंग्रहणादि-परपीडाकरेषु वर्तमानः प्रकाशं पुरुषः साहसिकः तदुक्तंस्यात्साहसमिति नस्तेयादिभ्यः पदार्थान्तरंसाहसंकिन्तु प्रसह्य-करणान्येव साहसानिभवन्ति यद्यप्यग्निदाहवस्त्रपाठनादि सापि द्रव्यनाशात्मकत्वात्सिद्धैवेति तस्य निग्रहोनापेक्षते न विलंबेक्षणमपि यदागृहीतस्तदैव निगृहीतव्यः इन्द्रस्वामिकंस्थानंस्वर्गाख्यमैन्द्रंतदाभिमुख्येन प्राप्तुमिच्छन् । अथवास्वमेव राज्यपदमैन्द्रमिवगच्छन्विविचालित्वसामान्यं निग्राह्यनिग्रहेण हि प्रतापानुग्रहाभ्यां प्रजाअनुप्रवर्तन्ते तदुक्तं समुद्रमिवसि-न्धवइति यशोक्षयमव्ययं च द्वैधविशेष्यविशेषणे स्थानमव्ययंयशोक्षयमिति अथोभयेनापि यशोविशिष्यते क्षयोमात्रापच-यः व्ययोनिरन्वयविनाशः उभयमपि तत्रास्ति न मलिनीभवति यशोनकदाचिद्विच्छिद्यते भूतार्थवादस्तुतिरियम् ॥ ३४४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । साहसं प्रक्रमते ऐन्द्रमिति । अक्षयमनाशि । अव्ययमन्यूनम् ॥ ३४४ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानींसाहसमाह ऐन्द्रमिति सर्वाधिपत्यलक्षणपदंख्यातिंचाविनाशिनीमनुपक्षयांचातिशयेन प्रानु-मिच्छन् राजाबलेन गृहदाहधनग्रहणकारिणमनुष्यंक्षणमपि नोपेक्षेत ॥ ३४४ ॥

(४) राघवानन्दः । रुतलक्षणंसाहसिकं दण्डयितुं दृष्टादृष्टफलेन राजानं तत्रावर्जयति । ऐन्द्रमिति अक्षयंस्थानं कल्पादिवर्ति । अव्ययं यशइति ॥ ३४४ ॥

(५) नन्दनः । अथसाहसदण्डनविधिप्रस्तौति ऐन्द्रस्थानमिति । अक्षय्यं स्वरूपेण अव्ययं फलेन सहोबलन्तेन युक्तंसाहसं तस्य कर्त्ता साहसिकः परेषांप्रमापकइत्यर्थः तनोपेक्षेत ॥ ३४४ ॥

वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसितः ॥ साहसस्य नरः कर्त्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥ ३४५ ॥

(१) मेधातिथिः । अयमपराधवादीनिग्रहविधिः स्तुत्यर्थः वाचादुष्टोवाग्दुष्टस्तस्करश्चौरदण्डेनैव दण्ड्यःपारुष्य-कृत् दण्डः प्रहरणोपलक्षणार्थःत्रिभ्यएतेभ्योऽनन्तरातिक्रान्तेभ्यःपापकारिभ्योऽयमतिशयेन पापकृत्तमः ॥ ३४५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वाग्दुष्टोवाक्पारुष्यकृत् । दण्डेन हिंसकोदण्डपारुष्यकृत् ॥ ३४५ ॥

(३) कुल्लूकः । वाक्पारुष्यकृताचोराच्च दण्डपारुष्यकारिणश्च मनुष्यात्साहसकमनुष्योऽतिशयेन पापकारी बो-द्धव्यः ॥ ३४५ ॥

(४) राघवानन्दः । पारुष्यादिकर्तृभ्यस्त्रिभ्योपि पापकृदयमिति नोपेक्षणीयइत्याह वागिति । तस्करात् चोरात् । योदण्डेन हिंसकस्तस्मादपि ॥ ३४५ ॥

(५) नन्दनः । अस्य दूषणमाह वाग्दुष्टादिति । वाग्दुष्टस्तस्करश्च दण्डेन हिंसकश्च पापकृत्तः तेभ्यः साहसस्य कर्त्ता पापकृत्तमः तस्मात्तनोपेक्षेतेति ॥ ३४५ ॥

साहसे वर्तमानन्तु योमर्षयति पार्थिवः ॥ सविनाशं ब्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥ ३४६ ॥

(१) मेधातिथिः । अयमप्यर्थवादः साहसेस्थितंपुरुषंयोमर्षयति प्रकृत्यर्थेऽयंणिच्योमृष्यतिक्षमते सविनाशंप्रामो-ति द्वेष्यतां च प्रजासुप्रामोति द्वेष्यैश्चाभिभूयते ॥ ३४६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विनाशं साहसकारिणएव सकाशात् । विद्वेषं प्रजासु ॥ ३४६ ॥

(३) कुहूकः । योराजा साहसे प्रवर्तमानं क्षमते सपापकृत्यमुपेक्षणादधर्मबुद्ध्या विनश्यति अपक्रियमाणराष्ट्रतया जनविद्वेषं च गच्छति ॥ ३४६ ॥

(४) राघवानन्दः । राज्ञस्तत्त्यागोदृष्टानर्थावहश्चेत्याह साहसइति । विद्वेषं प्रजाभिः सह ॥ ३४६ ॥

(५) नन्दनः । उपेक्षणे दोषमाह साहसेवर्त्तमानं न्विति । विनाशं क्षीणकोशादित्वं विद्वेषलोकगर्हाम् ॥ ३४६ ॥

न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात् ॥ समुत्सृजेत्साहसिकान्सर्वभूतभयावहान् ॥ ३४७ ॥

(१) मेधातिथिः । अतआह पार्श्वतीयस्य कस्यचित्स्नेहहेतोरमात्यादिना प्रार्थ्यमानोन मृष्येत् अथवा स एवातिबहुधनं ददातीति नापेक्षेत । सर्वेषां भूतानां भयमावहन्ति साहसिकाः अयमप्यर्थवादः ॥ ३४७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मित्रकारणादेष मित्रं न विष्यतीति ॥ ३४७ ॥

(३) कुहूकः । मित्रवाक्येन बहुधनप्राप्त्या वा सर्वभूतभयजनकान्साहसिकान् राजा न त्यजेत् ॥ ३४७ ॥

(४) राघवानन्दः । लोभादिनाऽप्येते न क्षन्तव्या इत्याह नेति । अयं मित्रं भवतु मां नापकरोतु प्रत्यपकरिष्यतीति वा विपुलात्प्रचुरात् धनागमाद्धनलाभात् तान्विशिर्णाष्ट सर्वभूतभयावहानित्यनेन मामुपकरिष्यतीति निरस्तम् ॥ ३४७ ॥

(५) नन्दनः । उक्तमर्थं निगमयति न मित्रकारणाद्राजेति ॥ ३४७ ॥

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते ॥ द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥ ३४८ ॥

(१) मेधातिथिः । वैणवीं धारयेद्यष्टिमिति विधानादनुदितशस्त्रग्रहणाः श्रोत्रियाः सबलाविष्टं भवति च साहसिके बलातिशयधायी वशस्त्रमतः साहसिकत्वाच्छक्त्या शस्त्रग्रहणमप्राप्तं विधीयते शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यमिति एतावता वाक्यं विच्छिद्यते अवशिष्टं तु धर्मोऽप्यनेनाभिसंबध्यत इत्यतोऽप्येते वाक्ये ये त्वेतेष्वेव निमित्तेषु ग्रहणमिच्छन्ति नान्यदेति तेषामतर्कितोपनताततायीमुखपतितस्याशस्त्रस्य का गतिः नहि तेशस्त्रग्रहणतस्य प्रतिपालयन्ति अथैवं व्याख्यायते धर्मो यत्रोपरुध्यते विप्लवे कालकारिते राजानि व्यतिक्रान्ते संस्थायां प्रवृत्तायां शस्त्रग्राह्यं अन्यदा तु सौराज्ये राजैर्वरक्षतीति नहि प्रसार्य हस्तौ राजा प्रतिपुरुषमासितुं शक्नोति भवन्ति केचिदुरात्मानो ये राजपुरुषानपि शूरतमाभियुक्तान् बाधन्ते शस्त्रवतस्तु बिभ्यतीति सार्वकालिकं शस्त्रधारणं युक्तं किंपुनर्ग्रहणमात्रं विभीषिकाजननमात्रं नेत्याह धर्मोऽप्यनेन दुष्यतीति हिंसापर्यन्तोऽयमुपदेशः यत्त्वापस्तंबेनोक्तं न ब्राह्मणः परीक्षार्थमपि शस्त्रमाददीतेति असति यथाभिहते निमित्तआकर्षणस्य प्रतिषेधोऽन्यग्रहणस्य विकोशाहिपरीक्ष्यन्ते धर्मस्योपरोधो यदा यज्ञादीनां विनाशः कैश्चित्क्रियते वर्णानां विप्लवोऽव्यवस्थानं वर्णसंकरादि कार्यकालतरे राजमरणादौ तत्र स्वधनकुटुंबरक्षार्थं शस्त्रं ग्राह्यम् । अन्ये तु परार्थमप्यात्मनवसरे तथाच गौतमः दुर्बलं हिंसायां च विमोचने शक्तश्चेदिति उक्तं यज्ञविनासं करिष्यतीति शस्त्रग्रहणं निमित्तान्तरमाह आत्मनश्च परित्राणे परिः सर्वतो भावेशरीरभार्याधनपुत्ररक्षार्थं धर्मो न दुष्यति दक्षिणानां च संगरोऽवरोधः यद्ययज्ञार्थं कल्पिता दक्षिणाः कैश्चिदपह्नियेरंस्तदा तन्निमित्तं योद्धव्यं अन्यत्वेवमभिसंबध्नाति दक्षिणानां हेतोः संगरे यदुपरोधः प्रवृत्ते धर्मेऽप्रवृत्ते दक्षिणासंगरइति विशेषाणामभ्यवपत्तिपरिभवः । यत्र स्त्रियः साध्व्यो हठात्केनचिदुपगम्यन्ते हन्यन्ते वा एवं ब्राह्मणाः केनचिद्धन्यन्ते तत्र धनखड्गादिना न दुष्यति हिंसाप्रतिषेधातिक्रमोऽकृतो भवतीत्यर्थः असति प्रतिषेधे कामचारप्राप्तौ विध्यन्तरपर्यालोचनया गौतमवचनमनुध्यायमानेन दुर्बलं हिंसायां विमोचने शक्तश्चेदित्यवश्यं हनने प्रवर्तितव्यं अथ प्रतिहारशङ्का भवति तदा सर्वत एवात्मानं गोपायेदित्यपेक्षा ॥ ३४८ ॥ ३४९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । द्विजातिभिस्त्रिभिरपि ग्राह्यम् किमुत राज्ञेत्यर्थः । धर्मस्योपरोधे बलात्साहसिकैरधर्मप्रवर्तने ।

द्विजातीनां विष्टवउत्तमायास्त्रियाअधमेन योगात्संकरे कालकारिते नतु देशरुते । तेषां तत्प्रायत्वेन निवर्तनासंभवात् ॥ ३४८ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणादिभिस्त्रिभिर्वर्णैः स्वद्धाद्यायुधंगृहीतव्यं यस्मिन्काले वर्णानामाश्रमिणांच साहसकारादि-
भिर्धर्मः कर्तुं दीयते तथा त्रैवर्णिकानामराजकेषु राष्ट्रेषु परचक्रागमनादिकालजनिते स्त्रीसङ्गरादौ प्राप्ते तथात्मरक्षार्थद-
क्षिणाधनगवाद्यपहारनिमित्ते च संग्रामे स्त्रीब्राह्मणरक्षार्थं च धर्मयुद्धेनानन्यगतिकतया परान्हिसन्न दोषभाग्भवति परमार-
णेप्यत्र साहसदण्डेन कार्यः ॥ ३४८ ॥ ३४९ ॥

(४) राघवानन्दः । न केवलं राजाऽनुपेक्षणीयोऽयमपितु प्रजाभिरपीत्याह शस्त्रमिति । धर्मोयागादिः साहसिकै-
र्धनाद्यपहारनिमित्तं उपरुध्यते नश्यति विष्टवे परचक्राद्यागमननिमित्तस्त्रीव्यतिकरादौ च कालकारिते दुर्भिक्षादिकाले द-
स्युनिमित्ते विष्टवेवा एतेषु रक्षणार्थं द्विजातिभिरपि शस्त्रं ग्राह्यमित्यन्वयः ॥ ३४८ ॥

(५) नन्दनः । क्वचित्साहसिकत्वस्यापवादमाह शस्त्रद्विजातिभिरिति । यत्र विषये धर्मोपरुद्धयते तत्र शस्त्रद्विजन्मा-
दिभिर्घातं । शस्त्रेण द्विजातिभिर्धर्मोपरोधिवधः कर्तव्यो न तेन तेषांसाहसिकत्वमित्यभिप्रायः । विष्टवे मर्यादाभङ्गे कालका-
रितेदुर्भिक्षादियुक्तेन कालेन कारिते ॥ ३४८ ॥

(६) रामचन्द्रः । विष्टवे उत्तमस्त्रीणामधमपुंसःसंसर्गे ॥ ३४८ ॥

आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानांच सङ्गरे ॥ स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च धर्मधर्मेण न दुष्यति ॥ ३४९ ॥

(१) सर्वज्ञनारायणः । आत्मनःपरित्राणे प्राणरक्षणे । दक्षिणानां दक्षिणार्थं । तदपहारे केनचित्क्रियमाणे । संग-
रे युद्धे । स्त्रीविप्रयोरभ्युपपत्तौ प्राणरक्षणे । धर्मेण विषदिग्धशराद्यधार्मिकप्रकारत्यागेन ॥ ३४९ ॥

(४) राघवानन्दः । पूर्वस्मिन् श्लोके तस्यावरोधेन रक्षामात्रं विवक्षितमत्रतु तद्वधेनाप्यात्मादीनां रक्षणं सूचित
मित्याह आत्मनश्चेति । दक्षिणानां दक्षिणाद्यर्थेवा हरणनिमित्ते संगरे संग्रामे अभ्युपपत्तौ स्त्रीणां रक्षार्थं तान् व्रत
नाशयन्नपि धर्मेण न दुष्यति न पापीस्यादिति ॥ ३४९ ॥

(५) नन्दनः । आत्मनोदक्षिणानांच परित्राणे परित्राणार्थं संगरे युद्धेऽभ्यवपत्तौ रक्षणार्थधर्मेण हेतुना व्रतार्था-
र्थं न दुष्यति न साहसिकोभवतीत्यभिप्रायः ॥ ३४९ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्त्रीणां विप्रस्य अभ्युपपत्तौ प्राणरक्षणे ॥ ३४९ ॥

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ॥ आततायिनमायातंहन्यादेवाविचारयन् ॥ ३५० ॥

[अग्निदोगरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्रदारहरश्चैव षड्देते ह्याततायिनः ॥ १ ॥]⁺

[उद्यतासिर्विषाग्निभ्यां शापोद्यतकरस्तथा ॥ आथर्वणेन हन्ता च पिशुनश्चापि राजनि ॥ २ ॥][‡]

[भार्यारिक्थापहारी च रन्ध्रान्वेषणतत्परः । एवमाद्यान्विजानीयात्सर्वानेवाततायिनः ॥ ३ ॥]^{*}

(१) मेधातिथिः । आत्मपरित्राणार्थमविचारेण योद्धव्यंतदनुदर्शयति आतताय्यद्यतोयः शरीरधनदारपुत्रनाशे

(३४९) स्त्रीविप्रा=स्त्रीबाला (ग)

+ (क, ण) ‡ (क, ट, ठ) * (क, ट)

सर्वप्रकारमुद्यततममविधारयन्विचारयन्हन्यात् गुर्वादिग्रहणमर्थवादः । एतेपि हन्तव्याः किमुतान्यइति एतेषां त्वाततायि-
त्वेपि वधो नास्ति आचार्यच प्रवक्तारमित्यनेनापकारिणामपि वधो निषिद्धः गुरुमाततायिनमिति शक्यः संबन्धस्त-
था सत्याततायिविशेषणमेतत्ततो गुर्वादिव्यतिरिक्तस्याततायिनः प्रतिषेधः कुतः स्याद्वाक्यान्तराभावात् अथनातता-
यिवधे दोषइत्येतद्वाक्यान्तरं सामान्येनाभ्यनुज्ञापकमिति तदपि न विधिरश्रवणात् पूर्वशेषतयार्थवादत्वे प्रकृतवचनत्वा-
दिह भवतां स्त्वाद्गुर्यद्यथाततायिनमित्येव विधिरवशिष्टोर्थवादस्तथापि गुर्वादीनां वधानुज्ञानं यतो न्यदपकारित्वमन्यदातता-
यित्वं यो ह्यन्यांकांचनपोडां करोति न सर्वेण शरीरादिना स्तेयकारीतस्त्वाततायी । तथाच पठ्यते ॥ उद्यतासि विषाग्निभ्यां-
शापोद्यतकरस्तथा । आथर्वणेन हन्ताच पिशुनश्चापि राजतः ॥ भार्यातिक्रमकारीच रन्धान्वेषणतत्परः । एवमाद्या-
न्विजानीयात्सर्वानेवाततायिनः ॥ आयान्तमिति वचनादात्तशस्त्रो हन्तुमभिधावन्दारान्वाजिहीर्षहन्तव्यः कृते तु दोषे किमन्य-
त्करिष्यतीत्युपेक्षा इति ब्रुवते तदयुक्तं यतः प्रकाशमप्रकाशे चेति वक्ष्यति समानौ सेतौ करिष्यन्कृतवांश्च सृष्टश्चेदिति तस्मादा-
यान्तमित्यनुवादः कर्तुमागतं कृत्वा वागतमिति आततायित्वाच्चासौ हन्यते न च कृतवचनआतयित्वमुपैति नास्यात्मनोर-
क्षार्थएव वधआत्मनश्च परित्राणइति नेक्तम् ॥ ३५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्रात्मनः परित्राणे शस्त्रग्रहणमुक्तं तत्प्रपञ्चयति । आततायिनं हननप्रवृत्तं हन्यादेवाङ्ग-
छेदादिरुपघातेन न त्वत्यन्तं अन्यत्रगोब्राह्मणादिति गौतमस्मृतेः । आततायी तु ॥ अग्निदोगरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारापहारीच षडेते आततायिनइत्यादिना स्मृत्यन्तरउक्तम् । शस्त्रपाणिः शस्त्रेण घातयितुमायातः । यदभावे वृत्त्युच्छे-
दस्तेयौ । हिरण्यादिधनधान्याद्युत्पत्तिभूम्योर्धनक्षेत्रपदाभ्यां ग्रहणम् ॥ ३५० ॥

(३) कुट्टूकः । गुरुबालवृद्धबहुश्रुतब्राह्मणानामन्यतमं वधोद्यतमागच्छन्तं विद्यावृत्तादिभिरुत्कृष्टं पलायनादिभिर-
पि स्वनिस्तरणाशक्तौ निर्वाचनं हन्यात् । अतएवोशनाः ॥ गृहीतशस्त्रमाततायिनं हत्वा न दोषः । कात्यायनश्च भृगुशब्दोल्ले-
खेन मनूक्तश्लोकमेव व्यक्तं व्याख्यातवान् ॥ आततायिनिचोत्कृष्टे तपः स्वाध्यायजन्मतः ॥ वधस्तत्र तु नैव स्यात्पापं हीने
वधो भृगुः ॥ मेधातिथिगोविन्दराजौ तु स्त्रीविभ्राभ्युपपत्तौ च धन्धर्मेण न दुष्यतीति पूर्वस्यायमनुवादः गुर्वादिकमपि
हन्यात्किमुतान्यमपीति व्याचक्षाते ॥ ३५० ॥

(४) राघवानन्दः । एवमपि साहसिकतया गुर्वाद्युपस्थितौ किं कार्यं तत्राह गुरुवेति । स्वापेक्षया बहुश्रुतं बहु-
विद्यम् आततायिनम् ॥ अग्निदोगरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते आततायिनइत्युक्तलक्षणम्
॥ ३५० ॥

(५) नन्दनः । अत्राततायिशब्देन धर्मोपरोधकादयो विवक्षिताः स्मृत्यन्तरेऽग्निदोगरदइत्यादय उक्तास्तेऽपि परमा-
र्थतएवं संपद्यन्ते ॥ ३५० ॥

(६) रामचन्द्रः । आततायित्वरूपमाह ॥ अग्निदोगरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्रदारापहारीच षडेते आततायिनः ॥
अन्यच्च ॥ उद्यतासि विषाग्निभ्यां शापोद्यतकरस्तथा । आथर्वणेन हन्ताच पिशुनश्चापि राजनि ॥ भार्यातिक्रमकारीच छिद्रान्वे-
षणतत्परः । एवमाद्यान्विजानीयात्सर्वानेवाततायिनः ॥ अविचारयन्गुर्वादीन् हन्यात् त्यागं कुर्यात् न तु हिंसां कुर्यात् । हन
हिंसागत्योरित्यस्य धातोर्गत्यर्थता न हिंसार्थम् ॥ ३५० ॥

नाततायिवधे दोषोहन्तुर्भवतिकश्च न ॥ प्रकाशंवाऽप्रकाशंवा मन्युस्तमन्युमृच्छति ॥ ३५१ ॥

(१) मेधातिथिः । नकश्चनेति नाधर्मो न दण्डो न प्रायश्चित्तमिति प्रकाशंजनसमक्षमप्रकाशंविषादिदानेन येनकेनचिदुपायेन मन्युः क्रोधाभिमानिदेवतासौमन्युमृच्छति । नात्रहन्तृहन्तव्यभावोस्ति पुरुषयोरर्थआततायिक्रोधइतरेण हन्यतइत्यर्थवादोयं यथाप्रतिग्रहकामः कोमहंदादातु नाहंप्रतिग्रहीता नत्वंदाताततश्चकृतः प्रतिग्रहदोषोमामेवमत्रापीह साहसिकेदण्डेनाग्रातः सदण्डपारुष्येच द्रष्टव्यः इह त्वधिकतरोयतउक्तंविज्ञेयः पापकृतइति ॥ ३५१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । हन्तुर्वधकर्तुः । नकश्चन दोषोभवतीति ब्रह्महत्यादिकृतमपि पापं न तादृशं भवति । तथाहि प्रायश्चित्तमपि तत्राल्पमेव स्मृतिकारैर्निबद्धम् । प्रकाशं युद्धेन अप्रकाशमभिचारेण । मन्युः क्रोधः तज्जन्या हिंसोपलक्ष्यते । हन्तुर्हिंसा आततायिनोर्हिंसांप्रति ऋच्छति तत्परितुद्धा न फलंप्रसूते । तन्न कर्तरि पापंजनयति हिंसितेन हिंसाकरणादिति तात्पर्यम् ॥ साहसम् ॥ ३५१ ॥

(३) कुड्मूकः । जनसमक्षंरहसि वा वधोद्यतस्य मारणे हन्तुर्न कश्चिदप्यधर्मदण्डः प्रायश्चित्ताख्योदोषोभवति यस्माद्धन्तृगतोमन्युः क्रोधाभिमानिनी देवता हन्यमानगतंक्रोधंविवर्धयति । साहसे चापराधगौरवापेक्षया मारणाङ्गच्छेदनधनग्रहणादयोदण्डाः कार्याः ॥ ३५१ ॥

(४) राघवानन्दः । एवंकृते प्रायश्चित्तीनस्यात्तत्राह नेति । प्रकाशं जनानांसमक्षम् । अप्रकाशं रहसि । अदोषे महेतुर्मन्युरित्यादि मन्युः क्रोधाभिमानिनी देवता मृत्युं हन्यमानगतं क्रोधंऋच्छति । निवर्तयतीति अन्यायवधोहि क्रोधेनैव भवतीति क्रोधस्यैव कारणत्वं नहन्तुरितिभावः । अत्राप्यपराधलाघवगौरवाद्यपेक्षया पापस्य मारणताडनधनाद्यपहारादि । पलायनेऽसमर्थस्य ब्राह्मणस्यैवायं विधिः त्वपरवधे ब्रह्महत्यायास्तुल्यत्वात् । अतआहउशनाः ॥ गृहीतशस्त्रमाततायिनंहत्वा न दोषइति ॥ अतः कात्यायनः ॥ आततायिनि चोत्कृष्टे तपःस्वाध्यायजन्मनः । वधस्तत्र तु नैव स्यात्पापे हीने वधोभृगुरित्यादिइतिकेचित् ॥ मेधातिथिगोविन्दराजौतु स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौचघ्नन् धर्मेण नदुष्यतीति ॥ अस्थैवार्थवादरूपं श्लोकद्वयमित्याहुतुः । युक्तंचैतत् ॥ नहिंस्यात्सर्वभूतानीति निषेधकधर्मशास्त्रात् स्थेनवन्तीति शास्त्रं रागोपाधीति प्रतीकारसत्वे न कर्तव्योवधः । अतः धर्मशास्त्रादर्थशास्त्रं दुर्बलमित्याहुः ॥ ३५१ ॥

(५) नन्दनः । प्रकाशवधोयुद्धे शस्त्रादिकृतः अप्रकाशोविषाभिचारादिकृतः मन्युर्हन्तुर्मन्युः ॥ ३५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रकाशं युद्धादिना । प्रकटवापक्षान्तरे । अप्रकाशं अभिचारादिना । अप्रकटमन्युः तं मन्युं आततायिनं यस्य हिंसा ऋच्छति प्राप्नोति ॥ ३५१ ॥

परदाराभिर्मर्शेषु प्रवृत्तान्मृन्महीपतिः ॥ उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत् ॥ ३५२ ॥

(१) मेधातिथिः । विवाहसंस्कृतायांस्त्रियांदारशब्दोवर्तते आत्मनोन्यः परः अभिमर्शः संभोगआलिङ्गनारभ्य आलिङ्गनंजनद्वयसमवायभोगजन्यायाः प्रीतेः प्रवृत्तिः प्रारंभस्तनिवृत्त्यर्थदूतीसंप्रेषणादिना प्रोत्साहनं अथच संग्रहणमभिमर्शनंप्रचक्षते यमर्थपरभायागिमाने प्रवृत्तंपुरुषंज्ञात्वोद्वेजनकरैस्तीक्ष्णायैः शक्तिशूलादिभिरङ्कुयित्वा नासाछेदादिभिर्विवासयेत् सर्वत्रात्रविशेषदण्डस्योक्तत्वादस्यविषयभावोनसामान्यदण्डोयंकिंतर्हि पुनःपुनः प्रवृत्तौ । इदन्तु युक्तमलभ्यमानस्य विषयान्तरंप्रवासस्य धनदण्डस्य च कार्यभेदात्समुच्चयस्तथादर्शयिष्यामः ॥ ३५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दण्डैः शिशुच्छेदादिभिः ॥ ३५२ ॥

(३) कुम्भूकः । इदानींस्त्रीसंग्रहणमाह परदारैति । परदारसंभोगाय प्रवृत्तान्मनुष्यगणानुद्वेजनकरैर्दण्डैर्नासौष्ठकर्तना-
दिभिरङ्कयित्वा देशान्निःसारयेत् ॥ ३५२ ॥

(४) राघवानन्दः । परदाराभिरतस्य स्वजातौ दण्डमाह षट्त्रिंशता श्लोकैः परदारैति । नृनिति विशेषणाद्देवतिर्यञ्च
नदोषः । उद्वेगजनकैः नासौष्ठकर्तनादिभिः सर्वत्र । ब्राह्मणंतु विवासयेत् ॥ ३५२ ॥

(५) नन्दनः । दण्डैः शिशुच्छेदभगादिभिः ॥ ३५२ ॥

(६) रामचन्द्रः । महीपतिः परदाराभिमर्शं प्रवृत्तान्पुरुषान् हन्यात् । चपुनः दण्डैः शिशुच्छेदादिभिः ॥ ३५२ ॥

तत्समुत्थोहिलोकस्य जायते वर्णसंकरः ॥ येन मूलहरोऽधर्मः सर्वनाशाय कल्पते ॥ ३५३ ॥

(१) मेधातिथिः । समुत्थानमुत्पत्तिः ततः परदारागमनात्संकरोवान्तरवर्णरूपोजायते येनजातेनाधर्मोमूलस्य लोक-
स्य दिवः पतिता वृष्टिस्तांहरत्यधर्मः धर्मेहि सत्यादित्याज्जायते वृष्टिः नचसंकरेसत्यपि कारीरीयागोनापिपात्रेदानमतोदान-
यागहोमानांसस्योत्पत्तिहेतुभूतानामभावात्सर्वजगन्नाशसमर्थोभवति तस्मात्परदारिकाधर्ममूलवर्णसंकरः स्यादितिसस्यादिनि-
ष्पत्तिमूलांवावृष्टिरक्षन्प्रवासयेत् ॥ ३५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मूलहरोमूलभूतधर्महार्यधर्मः ॥ ३५३ ॥

(३) कुम्भूकः । यस्मात्परदाराभिगमनात्संभूतोवर्णस्य संकरः संपद्यते येन वर्णसंकरेण विशुद्धपत्नीकयजमाना-
भावात् अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठत्यस्याभावे सति वृष्ट्याख्यजगन्मूलविनाशोऽधर्मो जगन्नाशाय संपद्य-
ते ॥ ३५३ ॥

(४) राघवानन्दः । ननु तद्व्यस्य तथैवस्थाने किमिति दण्डनीयं तत्राह तदिति । वर्णसंकरोश्चद्वादिमिश्रणं । संक-
रोपि किं स्यात्तत्राह येनेति । अग्नौप्रास्ताहुतिभिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ॥ आदित्याज्जायतेवृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाइतिप्रजो-
त्पत्तिहेतुराहुतिः । साच संकरजेन हुतानफलतीतिमूलहरोऽधर्मः । तथाच भगवद्गीता ॥ स्त्रीषु दुष्टासुवार्ण्यं जायते वर्णसं-
करः । संकरोनरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ॥ पतन्ति पितरोक्षेपां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः इत्यादि । मूलं ब्राह्मण्यादिवा
॥ ३५३ ॥

(५) नन्दनः । दण्डप्रकर्षे हेतुमाह तत्समुत्थोहीति । तत्समुत्थः परदाराभिमर्शनसंभूतः येन वर्णसंकरेणाधर्मइतिपदं
मूलहरेर्धर्मस्य मूलहरः ॥ ३५३ ॥

(६) रामचन्द्रः । तत्समुत्थः असत्स्त्रीपुरुषसंयोगात् समुत्थः । वर्णसंकरः येन वर्णसङ्करेण मूलधर्मः तस्यहरः अध-
र्मः सर्वनाशाय कल्पते ॥ ३५३ ॥

परस्य पत्न्यापुरुषः संभाषांयोजयन्नहः ॥ पूर्वमाक्षारितोदोषैः प्रामुयात्पूर्वसाहसम् ॥ ३५४ ॥

(१) मेधातिथिः । संभाषः संभाषणंतमालपितुं कुर्वन्संग्रहणाद्देषितस्त्रीप्रार्थनादितिपूर्वमाक्षारितोऽभिसंभवामेव प-
त्न्यातस्यामुत्रादृष्टदोषः चपलउद्धातादौ निषिद्धसंभाषणइति केचित् कारणादन्यन्यपत्न्यासंभाषणंकुर्वन्प्रथमसाहसंदण्डप्रा-
मुयाद्वापयितव्यइत्यर्थः योस्वनाक्षारितोपि भाषेत कारणान्न दोषंप्रामुयात्किंचित् नहितस्यव्यतिक्रमः पूर्वस्यप्रत्युदारणमे
तत् ॥ ३५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संभाषांयोजयन् सत्यपि कारणे । पूर्वमाक्षारितः परपत्नीगमनेनाभिशास्तोयः संभावितपरदारगमनइत्यर्थः ॥ ३५४ ॥

(३) कुल्लूकः । तत्स्त्रीप्रार्थनादिदोषैः पूर्वमुत्पन्नाभिरपवादप्रार्थनाभिशापादिभिः पुरुषः उचितकारणव्यतिरेकेण परभार्यया संभाषणं कुर्वन्प्रथमसाहसं दण्डं प्राप्नुयात् ॥ ३५४ ॥

(४) राघवानन्दः । अदृष्टदोषमुक्त्वा दृष्टदोषनिवृत्त्यै दण्डमाह परस्येति । संभाषां मैथुनाङ्गतया परिहासादिरूपा । तदुक्तम् ॥ स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् । संकल्पोऽव्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च । इत्यङ्गानि । एतैर्दोषैः पूर्वमपि यः आक्षारितोऽनभिशास्तः स पूर्वसाहसं पणानां सार्धशतद्वयं प्राप्नुयात् दण्डं दद्यात् ॥ ३५४ ॥

(५) नन्दनः । आक्षारितः मैथुनप्रत्याकृष्टेः ॥ ३५४ ॥

(६) रामचन्द्रः । पुरुषः परस्य पत्न्यासह संभाषां रहोयोजयन् । पूर्वं आक्षारितः अभिशास्तः पूर्वसाहसं प्रथमसाहसं दण्डं प्राप्नुयात् ॥ ३५४ ॥

यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमभिभाषेत कारणात् ॥ न दोषंप्राप्नुयात्किञ्चिन्नहि तस्य व्यतिक्रमः ॥ ३५५ ॥

(१) मेधातिथिः । अनाक्षारितोऽप्यकारणात्संभाषयन्मिश्रयन्पूर्वदण्डभाक् ॥ ३५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनाक्षारितइत्यसंभावितपरदारगामित्वमिष्टम् । सोऽपि करणादावश्यकनिमित्तादेवाभिभाषेतान्यथातु पूर्ववदण्ड्यः ॥ ३५५ ॥

(३) कुल्लूकः । यः पुनः पूर्वतत्स्त्रीप्रार्थनाभिशापरहितः । केनचित्कारणेन जनसमक्षमभिभाषणं कुर्यान् स पुनर्दण्ड्यत्वादिदोषंप्राप्नुयात्तस्मान्न कश्चित्तस्यापराधोऽस्ति ॥ ३५५ ॥

(४) राघवानन्दः । संभाषणमात्रं न दण्डावहमित्याह यस्त्विति । कारणात् क्रयविक्रयभिक्षादिभ्यः । व्यतिक्रमोऽपराधः ॥ ३५५ ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्तु पूर्वं अनाक्षारितः अनभिशास्तः कारणात्परस्त्रियमभिभाषेत सार्कचिदोषं न प्राप्नुयात् । तस्य व्यतिक्रमः दण्डेन कार्यइत्यर्थः ॥ ३५५ ॥

परस्त्रियं यो भिषेदतीर्थेऽरण्ये वनेऽपि वा ॥ नदीनां वापि संभेदे ससंग्रहणमाप्नुयात् ॥ ३५६ ॥

(१) मेधातिथिः । परस्य पत्न्येति प्रकृते पुनः परस्त्रीग्रहणं मातृभगिनीगुरुपत्न्यादीनामप्रतिषेधार्थं नहि ताः सत्यपि परसंबन्धित्वे परस्त्रीव्यपदेश्यातीर्थमुच्यते । येन मार्गेण नदीतडागादिभ्योजलमानेतुमवतरन्ति सह विजनप्रायो भवति नानुदकार्थं न तत्र संनिधीयते सङ्केतस्थानं तादृशमत्र कल्पितायामवश्यमेव गन्तव्यमहमपि संनिधीयमानो नाशंक्यो भविष्यामीति उदकार्थं दिवा शौचाचारं वा करिष्यन्प्रतिपालयन्ति जनान् संस्यन्ते प्रदेशान्तरे तु किमत्रायं प्रतिपालयतीति शङ्का स्यादतस्तीर्थं प्रतिषेधः । अरण्यं हि ग्रामाद्विजने देशे गुल्मवृक्षलतादिगहनो वनवृक्षसंततो नदीनां संभेदः समागमः सोऽपि हि सङ्केतस्थानं ससंग्रहणं स्मृतं येन किञ्चित्संबन्धेन संबन्धितस्यावलम्ब्यमाख्यादिदानेनोपकारकरणं तद्वात्रोपक्रान्तं भोजनपानादिना केलिपरिहासो वक्रभणितादिना प्राप्नुयात् परस्त्रीकामत्वं संग्रहणम् । अतश्च यस्तत्र दण्डः सोऽस्य स्यादित्युक्तं भवति अनाक्षारि-

(३५६) ऽरण्ये=गृहे (ट)

(३५६) वनेपि वा=गृहेपि वा (ल)

तस्यापि सत्यपि कारणेऽयंप्रतिषेधः । यत्त्वापस्तंबेनोक्तनासंभाष्यस्त्रियमतिव्रजेदिति तदन्येषुसंनिहितेष्वेतच्छास्त्रज्ञेषु प्रकाशयेत्तच्छास्त्रं भगिनीनमस्तेइत्याद्यभिवादनमविलंबमानेन कर्तव्यम् ॥ ३५६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अभिवदेत् संभाषेत । तीर्थे जलावतारस्थाने । अरण्ये निर्जने एतच्च सर्वविशेषणम् । वनेऽटव्याम् । संभेदः संगमः एतच्च रमणीयैकान्तमात्रोपलक्षणम् । अत्रानाक्षारितस्यापि कारणादपि संभाषणे दण्डः । संग्रहणं समीचीनं ग्रहणं परस्त्रियआत्मीयताकरणं तत्र यउक्तोदण्डः । परस्यपत्न्येत्यत्र प्रथमसाहसस्तं प्राभुयादित्यर्थः ॥ ३५६ ॥

(३) कुड्डूकः । तीर्थाद्यरण्यवनादिकनिर्जनदेशोपलक्षणमात्रं यः पुरुषः परस्त्रियमुदकावतरणमार्गेऽरण्ये ग्रामाद्वह्निगुल्मलताकीर्णे निर्जने देशे वने बहुवृक्षसंतते नदीनांसङ्गमे पूर्वमनाक्षारितोपि कारणादपि संभाषेत ससंग्रहणंसहस्रपणदण्डवक्ष्यमाणंप्राभुयात् । सम्यग्गृह्यते ज्ञायते येन परस्त्रीसंभोगाभिलाषइति संग्रहणम् ॥ ३५६ ॥

(४) राघवानन्दः । स्थलविशेषेपि संभाषणं दण्डावहमित्याह परस्त्रियमिति । तीर्थे उदकाहरणादौ । अरण्ये महति । तदतिरिक्तविजने वने जले वा । गृहइति कचित्पाठः । तदा गोप्यस्थले । संभेदे संगमे नदीवेगकृतगव्हरेवा । संग्रहणं वक्ष्यमाणं संग्रहणोचितदण्डम् ॥ ३५६ ॥

(५) नन्दनः । अथस्त्रीसंग्रहणं प्रथमंतावत्तस्य लक्षणमाह परस्त्रीयोऽभिभाषेतेति । अरण्ये कान्तारे वने उपवने ॥ ३५६ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः स्त्रियं तीर्थे उदकावतरणमार्गे अभिवदेत् । नदीनांसंभेदे संगमे सपुरुषः संग्रहणं सम्यक् परस्त्रीग्रहणनिमित्तं दण्डः स्मृतः कथितः ॥ ३५६ ॥

उपचारक्रियाकेलिः स्पर्शोभूषणवाससाम् ॥ सहस्वद्व्यासनंचैव सर्वसंग्रहणंस्मृतम् ॥ ३५७ ॥

(१) मेधातिथिः । भूषणंहारकटकादि तदङ्गलभंतदीयमेतद्वेति ज्ञात्वा विनाप्रयोजनेनान्यगृहीतमपि स्पृश्यते एकस्यांखट्वायामसंसक्ताङ्गयोरपि सहासनंसर्वमेतत्तुल्यदण्डम् ॥ ३५७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उपचारक्रिया उद्धर्तनादि । भूषणवाससामङ्गस्थानाम् । संग्रहणं तावदण्डविषयः । अत्र तु व्यापाराधिक्येन द्वैगुण्यादि कल्म्यम् ॥ ३५७ ॥

(३) कुड्डूकः । स्रग्गन्धानुलेपनप्रेषणाद्युपचारकरणं केलिः परिहासालिङ्गनादिः अलङ्कारवस्त्राणांस्पर्शनमेकखट्वासनमित्येतत्सर्वसंग्रहणमन्वादिभिः स्मृतम् ॥ ३५७ ॥

(४) राघवानन्दः । संग्रहणान्याह उपचारेतिद्वाभ्याम् । उपचारक्रिया सक् सुगन्धानुलेपनकेशप्रसाधनजलक्षेपादि । केलिस्तदुचितपरिहासादिः । भूषणवाससांस्पर्शोऽन्योन्याकर्षणम् । सर्व संग्रहणं सम्यक् गृह्यते ज्ञायतेऽनेनति परस्त्रीषु संभोगाभिलाषइति ॥ ३५७ ॥

(५) नन्दनः । केलिर्नर्मक्रिया ॥ ३५७ ॥

(६) रामचन्द्रः । उपचारादि सर्व संग्रहणं दण्ड्यंदण्डार्हं स्मृतम् ॥ ३५७ ॥

स्त्रियंस्पृशेददेशे यः स्पृष्टोवा मर्षयेत्तया ॥ परस्परस्यानुमते सर्वसंग्रहणंस्मृतम् ॥ ३५८ ॥

[कामाभिपातिनीयातुनरंस्वयमुपव्रजेत् । राज्ञादास्येनियोज्यासाकृत्वातद्वोषघोषणम् ॥ १ ॥] +

(१) मेधातिथिः । प्रदेशस्पर्शस्य यत्र विनैव तत्स्पर्शानंगमनागमनादिसंस्थितिः महाजनसंकुले न दोषः यथा शरीरावयवोपि देशस्तत्र हस्तस्कंधस्पृष्टभाण्डावरोपणे तत्स्पर्शे न दोषः ओष्ठचिबुकस्तनादिषु दोषः तथा वा स्तनादिस्पर्शेनोत्पीडितोयदिकस्तत्सहतेभेदन्नकार्षीरित्यादिना प्रतिषेधति परस्परस्यानुमते मतिपूर्वमेतत्तस्मिन्कृते न दोषोऽयं न पुनः कर्मादौ खलंपुरुषकण्ठेऽवलंबतेपुरुषोवास्तनान्तरे स्त्रियंतद्धस्तगृहीतद्रव्यादानप्रवृत्ताशुल्केपतिष्यामीति कर्दमे पततीति निवेदनस्यापि नदुष्यताम् ॥ ३५८ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अदेशे स्तनश्रोण्यादौ । स्पृष्टस्तयाऽदेशे । परस्परस्यानुमते नत्वज्ञानेपि ॥ ३५८ ॥

(३) कुट्टुकः । यः स्मृष्टमनुचिते स्तनजघनादिदेशे स्त्रियंस्पृष्टेत्या वा वृषणादिके स्पृष्टः क्षमते तदाऽन्योन्याङ्गीकरणे सर्वसंग्रहणमन्वादिभिः स्मृतम् ॥ ३५८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच । अदेशे स्तनजघनादिदेशे । तयास्पृष्टो वृषणादिदेशे यदि तमर्षयेत् क्षमेत । तंवा सापि तदभिरुचिः । तदुभयमनुमते संभोगाभिलाषग्रहणं परिभाषितमिदंवा ॥ ३५८ ॥

(५) नन्दनः । अदेशे विविक्तदेशे अस्पृश्ये स्तनादौवा । अनुमते अनुज्ञायां परस्त्रीमिति संभेदे संगमे तीर्थादौ परस्त्रीसंभाषणं संग्रहणमित्यस्यार्थः ॥ ३५८ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः अदेशे स्तनकठ्यादौ स्त्रियंस्पृष्टे एतत्सर्वसंग्रहणंस्पृष्टं दण्डस्यग्रहणं स्मृतम् ॥ ३५८ ॥

अब्राह्मणः संग्रहणे प्राणान्तदण्डमर्हति ॥ चतुर्णामपि वर्णानां दारारक्ष्यतमाः सदा ॥ ३५९ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तसंग्रहस्वरूपदण्डइदानीमत्रोच्यते अब्राह्मणः क्षत्रियादिसंग्रहणे कृते चतुर्णामपि वर्णानांहीनोत्तमजातिभेदमनपेक्ष्य प्राणान्तप्राणत्याजने मारणे पर्यवसितंदण्डमर्हति कथंपुनर्ब्राह्मण्यां शूद्रायां च संगृहीतस्य समोदण्डः । अत्र हेतुःस्वरूपमर्थमाह दारारक्ष्यतमाः सदा । सर्वस्य कस्यचिद्वाज्ञा दाराधनशरीरेभ्योऽतिशयेन रक्ष्याः । तुल्ये हि सङ्करे शूद्रस्यापि कुलनाशः एतदुक्तंभवति वाचनिकोयमर्थोऽत्रहेतुर्वक्तव्यः कोसौ अत्र पूर्वव्याचख्युर्नसर्वस्मिन्संग्रहणे प्रागुक्तदण्डोऽयं किंतिहि मुख्ये स्पर्शविशेषे जन्यप्रीतिविशेषात्मके गमने कथं हि तीर्थादिष्वपि वदनंगमनंच समदण्डात्तूपपद्येयातां तस्मादब्राह्मणः शूद्रोऽधिजातिगमने ब्राह्मणे छेदाहो नान्यः नहि विषमसर्माकरणंन्याय्यमतःस्वप्रागुक्तेषु संग्रहणेष्वनुबन्धाद्यपेक्षया दण्डःकल्प्यः । यत्रैवंनिश्चितंगमनार्थेवायमुपकारः क्रियादिरूपक्रमस्तत्र मुख्यदण्डेव युक्तो न ह्यत्र वैषम्यमस्ति दृष्टचैतदप्यहत्वापीति यथेदमुक्तंयद्यत्राद्यंदण्डोमुख्ये संग्रहणे किंकरिष्यतीति नैवान्यन्मुख्यसंग्रहणमस्ति न ह्यस्य लौकिकः पदार्थोवधृतोयेन परश्वदस्वनुकारादौ प्रयुक्तइत्येवमस्यैवायंचा भवन्मुख्यसंग्रहणमन्यते । तत्र महान्दण्डः । प्रतिषिद्धपरस्त्रीगमनंशास्त्रमपयद्योज्यमितिचेत् उपकारादावपि प्रतिषेधवत् प्रतिषेधवद्भिः प्रायश्चित्तमपि तुल्यप्रसक्तमिति चेत्कानामेयमनिष्ठापतिः किन्तु प्रसज्येत यदासंग्रहणशब्देन तदुच्यते सिक्ते हि रेतसि गन्धेनाद्यभिधानंयत्र यादृशोदण्डस्तत्र तत्समानंदुःखंप्राप्तमतीस्मिन्विपर्ययेरेतःसैकनिमित्तंतच्छब्देनाभिधानात् । उपकारादिभिरादौकल्प्यंयदि च संलापादौ स्वल्पोदण्डः स्यात्तदा प्रवर्तेरन् तत्परस्त्रीसंलापादिभूतेनान्येनाभिवसता व्यादीपितमन्मथा स्मरशराकृष्यमाणा शरीरनिरपेक्षा राज्ञिग्रहंन गणयेयुःराज्यापोहानामेवतु निवृत्तौ गृहमाणेष्वप्रबन्धवृत्तौ रागे शक्यंनिराकरणं तस्मात्परस्त्रीमुपजापतामेव महान्दण्डोयुक्तः इहृत्स्वन्तग्रहणादादिभूतेनान्येन दण्डेन भवितव्यं न ह्यसत्यवादवन्नोभवति प्राणोऽन्तोयस्य प्राणान्तस्तावत्पातयितव्योयावत्माणेषु पतति न सर्वस्वग्रहणात् अङ्गछेदाद्यप्युक्तंभवति एकैकस्य च दण्डत्वमन्यत्र ज्ञातंसमु-

दायेदण्डआम्नातस्तेषु समहानन्यायोन्यजातीयः स्त्रीसंग्रहणेऽब्राह्मणस्य युक्तैव कल्पना न सर्वत्र तत्र कुलस्त्रीभिरनिच्छन्ती-
भिः सह रमतीभिः संगृह्यमाणस्य प्राणापहरणं सजातीयाभिरपि ॥ ३५९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संग्रहणे परदारमैथुने नतु संभाषादौ । ब्राह्मणस्यतु दण्डनमेवेत्यर्थः ॥ ३५९ ॥

(३) कुल्लूकः । अब्राह्मणोऽत्रशूद्रः दण्डभूयस्त्वात् । ब्राह्मण्यामनिच्छंत्यामुत्तमसंग्रहणंप्राणान्तदण्डंप्राप्नोति चतु-
र्णामपि ब्राह्मणादीनां वर्णानां धनपुत्रादीनामतिशयेन दाराः सर्वदा रक्षणीयाः तेन प्रसङ्गनिवृत्त्यर्थमुत्कृष्टसंग्रहणादपि सर्व-
वर्णैर्भार्यारक्षणीया ॥ ३५९ ॥

(४) राघवानन्दः । तदुचितं दण्डमाह अब्राह्मणइति । अब्राह्मणोऽत्रशूद्रोऽतिदण्डनात् । तेन हि संगता ब्राह्मणी
ब्राह्मण्यं जहातीति प्रायश्चित्तगौरवश्रवणात् । यतोहि सर्वैरेव परस्त्री काम्यते पुमात्रदूषकत्वादतः सारक्षणीयेत्याह चतुर्णा-
मिति । यतःश्रुतिः अप्रमत्तारक्षततन्तुमेनमिति स्त्रियंशिक्षयताम् ॥ ३५९ ॥

(५) नन्दनः । अब्राह्मणः क्षत्रियादिः संग्रहणे उत्तरोत्तरवर्णस्त्रीसंग्रहणे किमेवब्राह्मणस्य स्त्रीसंग्रहणमात्रेणापि
प्राणान्तिकोदण्डविधिरित्याशंकायामुक्तमुत्तरार्द्धं परस्त्रीसंभाषायामर्हानर्हदण्डविधानार्थम् ॥ ३५९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अब्राह्मणः परस्त्रियः संग्रहणे मैथुनादौ प्राणान्तदण्डंसः अर्हति अतिशयेनरक्ष्याः ॥ ३५९ ॥

भिक्षुकाबन्दिनश्चैव दीक्षिताः कारवस्तथा ॥ संभाषणंसहस्त्रीभिः कुर्युरप्रतिवारिताः ॥ ३६० ॥

(१) मेधातिथिः । भिक्षुकाभिक्षाजीविनोभिक्षायाचनारूपसंसंभाषणमवारितः कुर्युर्यदि त्वामिना न निषिद्धाः अ-
थवा नैते वारयितव्याः । बन्दिनःस्तावकाः दीक्षितायज्ञे भूतिवननार्थसंभाषेरन् । कारवः सूपकारादयस्ते तीर्थादिष्वपि
न निवार्याः ॥ ३६० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दीक्षिताः व्रतादिमध्यस्थाः ॥ ३६० ॥

(३) कुल्लूकः । भिक्षाजीविनः स्तुतिपाठकाः यज्ञार्थकृतदीक्षकाः सूपकारादयः भिक्षादिस्वकार्यार्थगृहिस्त्रीभिः
सह संभाषणमनिवारिताः कुर्युः एवंचैषांसंग्रहणाभावः ॥ ३६० ॥

(४) राघवानन्दः । केषांचित्परदारासंभाषणे देहयात्रादिकार्यानुत्पत्तेः प्रतिप्रसवतया तत्संभाषणमाह भिक्षुका-
इति । भिक्षवोब्रह्मचारिसंन्यासिनः भवति भिक्षादेहीति तद्विना भिक्षाऽलब्धेः । भूतिः बन्दिनः स्तुतिपाठकाः वदान्या त्वमसि
कमलनयने विष्णुमित्रस्यपुत्रीत्यादिनाऽभिमुखीकृत्य वस्त्रान्नादि प्रार्थयमानाः । दीक्षितायज्ञेवृताक्रत्वजः हविष्कदेही-
त्याह्वानं कुर्वन्ति हविष्कृद्यजमानपत्नीति । कारवः शूर्पकारादयः ॥ ३६० ॥

(५) नन्दनः । अप्रतिवारिताः स्त्रीबन्धुभिरनिषिद्धाश्चेत् ॥ ३६० ॥

(६) रामचन्द्रः । भिक्षुकादयःस्त्रीभिःसह प्रतिवारिताःसंभाषणंकुर्युः । दीक्षिताब्रह्मचारीव्रतस्थाः ॥ ३६० ॥

न संभाषांपरस्त्रीभिः प्रतिषिद्धः समाचरेत् निषिद्धोभाषमाणस्तु सुवर्णदण्डमर्हति ॥ ३६१ ॥

(१) मेधातिथिः । केचिद्भिक्षुकादीनांनिवारितानांसंभाषणे दण्डोयमिति मन्यन्ते तदसत् नैव ते निवार्याइत्युक्तं
कुतश्च भिक्षुकाणांसुवर्णोदण्डः तस्मात्कोपि प्रकाशमानाक्षारितोपि कथंविनिषिद्धगोत्वामिना समाचरन्सुवर्णदण्ड्यः ॥ ३६१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रतिषिद्धः भिक्षुकादिरपि । सुवर्णमेकम् ॥ ३६१ ॥

(३) कुल्लूकः । त्वामिना निषिद्धः स्त्रीभिः संभाषणं कुर्यात्प्रतिषिद्धः संभाषणमाचरन्राज्ञः षोडशभाषात्मकसुवर्ण-
दानयोग्योभवति ॥ ३६१ ॥

(४) राघवानन्दः । अप्रतिवारिताइत्युक्तं प्रतिवारणोत्तर संभाषणे तेषामपि दण्डमाह नेति सुवर्णं ॥ ३६१ ॥

(५) नन्दनः । प्रतिषिद्धः स्त्रीबन्धुभिः ॥ ३६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रतिषिद्धः भिक्षुकादिभिः अन्यः ॥ ३६१ ॥

नैषचारणदारेषु विधिर्नात्मोपजीविषु ॥ सज्जयन्ति हि ते नारीर्निगूढाश्चारयन्ति च ॥ ३६२ ॥

(१) मेधातिथिः । यः संभाषणप्रतिषेधउपकारक्रियाप्रतिषेधश्च नैषश्चारणदारेषु स्यात् चारणानटगायनाद्याः प्रेक्षण-
कारिणः तथा आत्मोपजीविषु वेषेण जीवत्सु ये दाराअथवाऽऽत्मजायैवार्धोहवाएषआत्मेति तांयउपजीवन्ति उत्कृष्टमाकारं-
सज्जयन्ति संश्लेषयन्ति ते चारणपुरुषेण निगूढाः प्रच्छन्मापणभूमौ प्रतिष्ठते गृहवेषत्वादेव ताः प्रसिद्धवेश्याभ्योभिद्यन्ते
वारयन्ति च तामैथुनं प्रवर्तयन्ति नेत्रभ्रूविलासपरिहासादिभिः पुरुषानाकर्षयन्ति तदनुज्ञानां सज्जनं वारणं संप्रयोगएव अथ-
वा स्वानारी जयति अन्त्याश्च स्त्रीभिश्चारयन्ति प्रवर्तयन्ति वैश्यात्वं कुट्टिनीत्वं च सुराणां कारयन्तीत्यर्थः ॥ ३६२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चारणानटदयः । ते चारणाः नारीः स्वदारान् निरूढानि ह्युत नटभार्यात्वादिस्वरूपाः चारय-
न्ति भ्रामयन्ति तत्र तत्र पुरुषलाभार्थमतस्तेषां तद्वृत्तित्वान्न दोषः ॥ ३६२ ॥

(३) कुल्लूकः । परस्त्रिययोर्भिवदेदित्यादिसंभाषणनिषेधविधिर्नटगायनादिदारेषु नास्ति तथा भार्या पुत्रः स्वका-
तनुरित्युक्तत्वात् भार्यैवात्माऽनयोपजीवन्ति धनलाभाय तस्याजारं क्षमन्ते ये तेषु नटादिव्यतिरिक्तेष्वपि ये दारास्तेष्वप्ये-
वं निषेधविधिर्नास्ति यस्माच्चारणा आत्मोपजीविनश्च परपुरुषानानीय तैः स्वभार्यासंश्लेषयन्ते स्वयमागतांश्च परपुरुषान्प्र-
च्छन्ना भूत्वा स्वाज्ञानं विभावयन्तो व्यवहारयन्ति ॥ ३६२ ॥

(४) राघवानन्दः । परदाररतानां स्त्रीविशेषे उक्तदण्डभावमाह नैष इति द्वाभ्याम् । एष उक्तदण्डविधिर्न पञ्चसु
परदारेषु चारणानटगायनादि आत्मोपजीविषु आत्माऽत्र आत्मभार्यातां भोगार्थं विक्रीय जीविनस्तेषु । तत्र दृष्टार्थतामाह सज्ज-
यन्तीति । सज्जयन्ति परपुरुषैः सह स्वस्त्रियः श्लेषयन्ति चारयन्ति स्वागतान्पुरुषान् निगूढाः स्वयं प्रच्छन्ना भूत्वा अज्ञानं
विभावयन्तो मैथुनादिना स्वपरस्त्रिया सह ॥ ३६२ ॥

(५) नन्दनः । चारणदारेषु रङ्गोपजीविनां दारेषु संभाषितेष्विति विपरिणामः एष पूर्वोक्तसवर्णदण्डविधिर्न स्यात्
आत्मोपजीविषु रूपाजीवासु वेश्यासु कस्य चिद्धारत्वेन स्थितास्वित्यर्थः । ते चारणानारीः पुरुषेषु सज्जयन्त्यभिसारय-
न्ति । एवं तेषां शोलं तस्मान्नैष दण्डविधिरिति ॥ ३६२ ॥

(६) रामचन्द्रः । एष विधिः आत्मोपजीविषु चारणदारेषु नटादिस्त्रीषु न कर्तव्यः ॥ ३६२ ॥

किञ्चिदेव तु दाप्यः स्यात्संभाषांताभिराचरन् ॥ प्रैष्यासु चैकभक्तासु रहः प्रव्रजितासु च ॥ ३६३ ॥

(१) मेधातिथिः । रहोऽप्रकाशं विजने देशे चारणनारीभिः संभाषं कुर्वन् किञ्चित्सुवर्णाद्यत्यन्तालपं सन्निशद्भागिकं जा-
तिप्रतिष्ठाने अपेक्ष्य दण्ड्यः यतो न परिपूर्णता सुवेशात्वं भर्तृभिरनुज्ञाताभिर्हि प्रणयन्ते तत्र भर्तृविज्ञानार्थं दूतीमुखेन व्यवह-
र्तव्यं न तु साक्षात्ताभिरस्वतन्त्रत्वात् प्रकाशन्तु नृत्यन्तीनां गायन्तीनां वा भिनयतालादिनिरूपणावसरे कीदृशमेतदित्यादिप्रश्न-
द्वारं संभाषणमनिषिद्धं प्रैष्यादास्यः समभिर्दासयोनिभिरुपनतता एकं भजन्ते एकभक्ता एके नावरुद्धा तत्रान्योप्यस्ति दण्डले-

शः किंपुनरयंदासीशब्दः संबन्धिशब्दोयएवयस्याः स्वामी तस्यैव दासीदासागृह्यन्ते साचेन्नावरुद्धान दोषः संग्रहणे अवरु-
द्ध्यामनेन दण्डउक्तः विभागेचैतन्निपुणंचालिङ्गिप्रच्छन्म ॥ ३६३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । किंचिद्दाप्यः शक्त्यनुरूपम् । रहःसंभाषमाचरन्तित्यन्वयः । एकभक्तास्वेकेन केनचिदवरु-
द्धासु । प्रव्रजितासु भिक्षुकीप्रभृतिषु ॥ ३६३ ॥

(३) कुल्लूकः । निर्जनदेशे चारणात्मोपजीविसत्रीभिः संभाषणं कुर्वन्स्वल्पदण्डलेशं राज्ञा दाप्यः तासामपि परदार-
त्वात् । तथा दासीभिरवरुद्धाभिर्बौद्धाभिर्ब्रह्मचारिणीभिः संभाषणं कुर्वन्किंचिद्दण्डमात्रं दाप्यः स्यात् ॥ ३६३ ॥

(४) राघवानन्दः । ताभिः सह व्यवहरन्पि किंचिद्दाप्यइत्याह किंचिदिति । स्त्रीपणं विना पुनः प्रसक्तिवारणाय
तासामपि परदारत्वात् । प्रेष्यासु दासीषु प्राकारावरुद्धासु । एकभक्तासु । भुजिष्यासु तदुक्तं याज्ञवल्क्येन ॥ अवरुद्धासु
दासीषु भुजिष्यासु तथैव च । गम्यास्वपि पुमान् दाप्यः पञ्चाशत्पणिकं दमं इति ॥ प्रव्रजितासु बौद्धादिव्रतब्रह्मचारिणीषु
नित्यं व्रजनशीलासु कुलयासु वा ॥ ३६३ ॥

(५) नन्दनः । ताभिश्चारणदारादिभिः सह रहस्संभाषामाचरन्तास्वेकपुरुषसक्तासु प्रेष्यासु पृच्छिप्रवर्तितासु च
संभाषामाचरन्किंचिद्दाप्यः ॥ ३६३ ॥

(६) रामचन्द्रः । एकभक्तासु पुनः प्रव्रजिताः बौद्धावृत्तिचारिण्यः ताभिः रहः संभाषां आचरन्किंचिदेव तु दाप्यः
स्यात् ॥ ३६३ ॥

योऽकामां दूषयेत्कन्यांससद्योवधमर्हति ॥ सकामां दूषयंस्तुल्यो न वधंप्राप्नुयान्नरः ॥ ३६४ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रासङ्गिकमिदं तुल्यः समानजातीयः सो निच्छन्तीं कुमारीं दूषयेत्कौमार्यादपच्यावयेत्स्त्रीपुरुषसंभो-
गेन सद्यस्तस्मिन्नेवाहन्यविलंबं हन्तव्यः सकामाया दूषणं नास्ति कुतो वधप्राप्तिः यच्चात्र भविष्यति तद्वक्ष्यामः । यद्यपि तुल्य-
वधइत्यवधेः श्रुतं वधेऽपि जात्यपेक्षायामवश्यं भाविन्यां प्रत्यासत्या संबध्यते ॥ ३६४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दूषयेच्चैथुनेन । एतच्च सजातिवैपि । तुल्यः सजातीयः न वधंप्राप्नुयाद्दण्डमात्रं तु प्राप्नुया-
देव ॥ ३६४ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्तुल्यजातिरनिच्छन्तीं कन्यां गच्छति स तत्क्षणादेव ब्राह्मणे तरोलिङ्गच्छेदनादिकं वधमर्हति
इच्छन्तीं पुनर्गच्छन्वधाहोमनुष्यो न भवति ॥ ३६४ ॥

(४) राघवानन्दः । पंचबाणोऽथितातिप्रसंगेन कन्यायाः अकामसकामाभ्यां दण्डं तदभावावाह यइति । वधं लिङ्ग-
च्छेदेन दूषणमत्र मैथुनपर्यन्तं । विप्रस्य वधाप्रसक्तेः । ब्राह्मणेतरतुल्यं तुल्यजातिः ॥ ३६४ ॥

(५) नन्दनः । यः सवर्णस्तुल्यवर्णः ॥ ३६४ ॥

(६) रामचन्द्रः । तुल्यः सजातीयः ॥ ३६४ ॥

कन्यां भजन्तीमुत्कृष्टं किंचिदपि दापयेत् ॥ जघन्यं सेवमानां तु संयतां वा सयेद्गृहे ॥ ३६५ ॥

(१) मेधातिथिः । जातिघनशीलविद्यानामन्यतमेनापि पितृकुलादुत्कृष्टं भजन्तीं प्रवर्तितमैथुनां किंचिद्दण्डयेत् क-
न्यायाः स्वातन्त्र्याभावात्तदक्षाधिकृतानां पित्रादीनां दण्डे प्राप्ते प्रतिषेधः । जघन्यं जात्यादिभिर्हीनं सेवमानां मैथुनायोत्कल्य-

न्ती संयतानिवृत्तक्रीडाविहारांकञ्चुकिभिरधिष्ठितांपितृगृहएव वासयेद्यावन्निवृत्ताभिलाषा संजाता अथ हीनजातीये निवृत्तप्रीतिविशेषा तदा आन्व्योछ्वासात्संयतैव तिष्ठेत् ॥ ३६५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नदापयेत् कन्यां पुरुषं च । संयतां बद्धाम् ॥ ३६५ ॥

(३) कुल्लूकः । कन्यासंभोगार्थमुत्कृष्टजातिपुरुषंसेवमानांस्त्वल्पमपि दण्डंनदापयेत् हीनजातिपुनः सेवमानांयत्ना-
त्स्थापयेत् यथा वा निवृत्तकामास्यात् ॥ ३६५ ॥

(४) राघवानन्दः । कन्याकर्तृकगमने उत्कृष्टतया दण्डाभावमाह कन्यामिति । उत्कृष्टाय तस्मै तांचेदद्यादित्यपे-
रर्थः । जघन्यं जातिन्यूनं सेवमानां संयतां वासयेत् गृहमानीय पुनःप्रसंगवारणाय ॥ ३६५ ॥

(५) नन्दनः । उत्कृष्टमुत्कृष्टवर्णं जघन्यमपकृष्टवर्णम् ॥ ३६५ ॥

(६) रामचन्द्रः । उत्कृष्टंउत्तमं विप्रपुरुषंभजन्तीं कन्यां किंचिद्दमपिनदापयेत् । जघन्यंशूद्रंसेवमानांकन्यां
संयतां अवरुद्धां गृहे वासयेत् ॥ ३६५ ॥

उत्तमांसेवमानस्तु जघन्योवधमर्हति ॥ शुल्कंदद्यात्सेवमानः समामिच्छेत्पिता यदि ॥ ३६६ ॥

(१) मेधातिथिः । अकामायादूषणे ब्राह्मणवर्जमविशेषेण हीनोत्तमानांवधएव दण्डइत्युक्तं सकामायादूषणे त्वि-
दमाहुः उत्तमारूपयौवनजात्याभिः जघन्योत्यन्तनिकृष्टोनातिसाम्येपि गुणैर्वध्यः सामांतु गच्छन्सकामांसशुल्कमासुरविवाह-
इव पित्रे दद्यात् नचेदिच्छति पिता तदा राज्ञे दण्डंतावतंतदनुचगान्धर्वौयंविवाहइति तत्र न युक्तोदण्डः केनोक्तंगान्धर्वे ना-
स्तिदण्डः अतएव नायंसतीधर्मः नचार्यविवाहः संस्कराभावात् यदपि शाकुन्तले व्यासवचनममत्तकमनग्रिकर्मिति तदुः-
खंतेन कामपीडितेनैवंकृतं नचेच्छासंयोगमात्रंविवाहः स्वीकरणोपायभेदादष्टौविवाहानपुनर्विवाहभेदात् वृत्तवरणंतत्र पुनः
कर्तव्यमेवमिति । अथवा ऋतुदर्शनोत्तरकालंगान्धर्वः प्रागृतोः शुल्कोदण्डोवा । अथकन्यायाः काप्रतिपत्तिः तस्माएवदेया
निवृत्ताभिलाषा चेत्काममन्यत्र प्रतिपद्या शुल्कग्रहणंचात्रापि सकृदुपभोगनिष्कृत्यर्थमस्त्येव वरश्चेन्निवृत्ताभिलाषोहठाद्वाह-
यितव्यः ॥ ३६६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उत्तमां स्वोत्तमजातिं कन्याम् । शुल्कं पित्रे मूल्यंदद्यात् । अनुमन्यते यदि तस्मै दातुमि-
च्छेत् अनिच्छयात्वन्यस्मैकन्यां दद्यात् ॥ ३६६ ॥

(३) कुल्लूकः । हीनजातिरुत्कृष्टामिच्छन्तीमनिच्छन्तींवागच्छत्यपेक्षयाऽङ्गच्छेदनमारणात्मकंवधमर्हतिसमानजा-
तीयांपुनरिच्छन्तींगच्छन्त्यदिपितामन्यतेतदापितुःशुल्कानुरूपमर्थवादद्यान्नचदंड्यःसाचकन्यातेनैववोढव्या ॥ ३६६ ॥

(४) राघवानन्दः । पुंनृकेत्वाह उत्तमामिति । उत्तमां उत्कृष्टजातिं जघन्योजातितोन्यूनःशूद्रोवधमङ्ग-
च्छेदनमारणादिकम् । क्षत्रियादिजातिः समानजातीयां सेवमानः शुल्कंदद्यात् । शुल्कदाने पितुरिच्छैव कारणमित्याह इ-
च्छेदिति । स्वार्थं कन्यार्थंवा । जघन्यांगृहीयादेव पितुरिच्छया । यद्व्यादिश्लोकत्रये एतस्योत्कृष्टरागोदृष्ट्यः अन्यथा
तत्कर्मणोरागंविनानुपपत्तेः ॥ ३६६ ॥

(५) नन्दनः । उत्तमामुत्कृष्टवर्णांसेवमानः शुल्कंदद्यात् कन्यापिता शुल्कमिच्छेद्यदि ॥ ३६६ ॥

(६) रामचन्द्रः । समां सवर्णांकन्यां सेवमानः यदि पिता शुल्कमिच्छेत्तर्हि दद्यात् ॥ ३६६ ॥

अभिषह्य तु यः कन्यांकुर्याद्वर्षेण मानवः ॥ तस्याशु कर्त्ये अङ्गुल्यौ दण्डं चार्हति षट्शतम् ॥ ३६७ ॥

(१) मेधातिथिः । यद्यपि सकामा कन्या पित्रायस्तुतस्याः सन्निहितास्ताननिच्छतोऽभिषह्याभिभूय वर्षेण बले-
न कः किंकर्तुमे शक्तः कन्यानुरागमात्राश्रितः कन्यांकुर्याद्वर्षेण अनेकार्थः करोतिः तस्याशुकन्याः च्छेतव्या अर्धाङ्गुलयः
षट्शतानि वादण्ड्यः अन्ये तु योऽकामान्दूषयेदित्यस्यैववध्यर्थस्योपसंहारोयम् ॥ ३६७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अभिषह्य प्रसह्य कन्यांकुर्यात् योनावङ्गुलोपक्षेपेण विवृतयोर्निकुर्यात् । कल्ये कर्त्ये ।
एतच्चाधमजातिपुरुषविषयम् । उत्तमसमयोराह दण्डमिति । चकारोवकारार्थे । एतच्च कन्यायाश्चाकामत्वे ॥ ३६७ ॥

(३) कुल्लूकः । योमनुष्यः प्रसह्यबलात्कारेण समानजातीयांगमनवर्जमहङ्कारेणाङ्गुलिप्रक्षेपमात्रेणैव नाशयेत्तस्य
शीघ्रमेवाङ्गुलिद्वयच्छेदः कर्तव्यः षट्पणशतानि चायं दण्ड्यः स्यात् ॥ ३६७ ॥

(४) राघवानन्दः । ऋतेमैथुनं कन्यादूषकस्य अङ्गुलिच्छेदरूपं दण्डमाह अभिषज्येति । अभिषज्य प्रसह्य क-
न्यामात्रं धनादेर्दण्डाङ्गुलिप्रवेशादिना विरोधिलक्षणया तामेव कन्यां क्षतयोर्न कुर्यादित्यर्थः । कन्यांकुर्यादिकुर्यादिति
मेधातिथिः । अङ्गुल्यौ तर्जन्यङ्गुष्ठौ ॥ ३६७ ॥

(५) नन्दनः । अविषह्याभार्यत्वेन सोढुमशक्यां अक्षतयोनिमिति यावत् अङ्गुल्योश्छेदनं योनिक्षतकरणत्वात्
॥ ३६७ ॥

(६) रामचन्द्रः । योमानवः अभिषह्य ह्यशु दर्वेण कन्यांकुर्यात् अङ्गुल्यादिना योनिविदारणंकुर्यात् तस्याशु
अङ्गुल्यौ कर्तनीये । वाषट्शतं दण्डं अर्हति ॥ ३६७ ॥

सकामांदूषयंस्तुल्योनाङ्गुलिच्छेदमाप्नुयात् ॥ द्विशतन्तुदमं दाप्यः प्रसङ्गविनिवृत्तये ॥ ३६८ ॥

(१) मेधातिथिः । ताडनात्प्रभृतिमारणयावद्वध्यर्थस्तत्रेमान्निरुष्टजातीयाश्चदूषयन्मायतेऽपित्वङ्गुलीद्वयस्यच्छे-
दः पूर्वस्यापि सकामविषयत्वात् अभिषह्यकरणे पूर्वदण्डोऽप्रकाशंचौर्यवद्विशतोऽङ्गुलीच्छेदवर्जितः अथकस्मिंश्चित्पुरुषेऽनुराग-
वतीकन्या तेनसंयुज्यमानाकन्यात्वनिवृत्तौ सकामा येन विकृतीक्रियतेतस्यायं दण्डः । अथहस्तस्पर्शमात्रमिहदूषणं-
प्रार्थनीयायाः कन्यायाहस्तस्पर्शः मयास्पृष्टांज्ञात्वान्यएतामर्थद्व्यतेन्यस्मिन्ननुरागिणीमन्यमानः ॥ ३६८ ॥

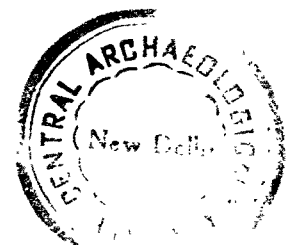
(२) सर्वज्ञनारायण । अन्यत्राह सकामामिति । दूषयन्ङ्गुलीप्रक्षेपेण । तुल्यः सजातिः ॥ ३६८ ॥

(३) कुल्लूकः । समानजातिरिच्छन्तीकन्यामङ्गुलिप्रक्षेपमात्रेण नाशयन्नाङ्गुलिच्छेदमामोति किंत्वितिप्रसक्ति-
निवारणाय द्विशतं दण्डं दाप्यः ॥ ३६८ ॥

(४) राघवानन्दः । रागस्य वैचित्र्यात्तथेच्छन्तीं दूषयन् दण्डभागिन्याह सकामामिति । प्रसंगविनिवृत्तये पुनः प्रस-
क्तिवारणाय तेनैव तामनुरन्य यः संभोगस्तन्निवृत्तयेच प्रतिलोमजाऽनुलोमजकन्यामात्रे धनदण्डमात्रमङ्गुलिप्रक्षेपाद्यैरधि-
कदूषणाभावात् ॥ ३६८ ॥

(५) नन्दनः । प्रसङ्गविनिवृत्तयेऽन्यत्र पुनरेवंकरणविनिवर्तनाय ॥ ३६८ ॥

(६) रामचन्द्रः । सकामां कन्यां दूषयमाणः अङ्गुलिच्छेदं नाप्नुयात् ॥ ३६८ ॥



कन्यैव कन्याया कुर्यात्तस्याः स्याद्विशतोदमः ॥ शुल्कं च द्विगुणं दद्याच्छिफाश्चै-
वामुयादश ॥ ३६९ ॥

(१) मेधातिथिः । बालभावाद्रूपादिद्वेषाद्वा कन्यैव कन्यानां नाशयेत्साद्विशतं दद्यात् शुल्कश्च त्रिगुणः किंपुनः शुल्कस्य परिमाणमेवामन्यद्रूपसौंदर्याद्यपेक्षं सौभाग्यापेक्षं च शिफारज्जुलताप्रहाराः ॥ ३६९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कन्या स्वयमन्यां कन्यां कुर्यात् अङ्गुलीप्रक्षेपेण । शुल्कं कन्याशुल्कं पित्रे स्पृष्टमैथुनताश-
ङ्क्याऽन्येनापरिणयनात् । शिफावृक्षजटाः दश दशकृत्वस्ताभिस्ताडनं प्रामुयात् ॥ ३६९ ॥

(३) कुल्लूकः । या कन्यैव परामङ्गुलिप्रक्षेपेण नाशयेत्तस्य विशतोदण्डः स्यात् कन्याशुल्कं च द्विगुणं कन्यापितुर्द-
द्यात् शिफाप्रहारांश्च दश प्रामुयात् ॥ ३६९ ॥

(४) राघवानन्दः । कन्यान्तरकृताङ्गुलिप्रक्षेपेपि दण्डमाह कन्यैवेति । कन्यां कुर्यात् कन्यात्वनाशन्यायस्यापि तु-
ल्यत्वात् । शुल्कं संवननमूल्यम् । पुंसः प्रीतिविशेषसंभवेपि कन्यायास्तदभावात्सान्निध्यविशेषाद्विश्वसनीयत्वाच्च दण्डवि-
शेषः । शिफाः शिखाप्रहागः ॥ ३६९ ॥

(५) नन्दनः । कुर्यादविषह्यामित्यनुवर्तते । येन शुल्केन तांपितादास्यति तन्निगुणं । दशशिखाश्चामुयात्तस्याः शि-
रसि दशशिखाश्चकारयेत् । शिफा इति वा पाठः । शिफा जटा ॥ ३६९ ॥

(६) रामचन्द्रः । या कन्यैव कन्यासंभोगेन कुर्यात्तस्याद्विशतोदमः स्यात् । शुल्कं च द्विगुणं दद्यात्पित्रे कन्यामूल्यं-
स्पृष्टमैथुना कन्यापरिणयत्वात् । शिफाश्चैवामुयादश दशामुयात् । चमुनः दशशिफाः आमुयादेव शिरसि दशशिफाः का-
र्या इत्यर्थः । शाखाशाले शिफाजडे इत्यमरः ॥ ३६९ ॥

या तु कन्यां प्रकुर्यात्स्त्री सा सद्यो मौण्ड्यमर्हति ॥ अङ्गुल्योरेव वा छेदं खरेणोद्वहनं तथा ॥ ३७० ॥

(१) मेधातिथिः । स्त्रियां कन्यानां कन्यालिङ्गनाशयन्त्यां मौण्ड्यं केशवपनं दण्डोऽङ्गुलिच्छेदो वा खरेणोद्वहनं केश-
च्छेदपक्षे कन्याजात्यादिभेदान्नियाम्यभेदात् त्रैवर्णिकस्त्रीणां ब्राह्मणादिभिरुपेक्षितं दण्डमिच्छन्ति मुद्राश्च कल्पयन्ति तेषां भा-
वादुपेक्षणीयाः ॥ ३७० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्त्री युवती । मौण्ड्यं ब्राह्मणी । खरेणोद्वहनं क्षत्रिया । इतरे अङ्गुलीच्छेदम् ॥ ३७० ॥

(३) कुल्लूकः । या पुनः कन्यामङ्गुलिप्रक्षेपेण स्त्रीनाशयेत्सा तत्क्षणादेव शिरोमुण्डनमनुबन्धापेक्षयाङ्गुल्योरेवच्छे-
दनं गर्दभेण च राजमार्गे वहनमर्हति ॥ ३७० ॥

(४) राघवानन्दः । योषित्कर्तृके ऽपितस्मिन्दण्डमाह यात्विति । श्लीषदमत्रक्रीबोपलक्षकं न्यायस्य तुल्यत्वात् । पू-
र्वेन कन्यापदं गोबलीवदन्यायेन दण्डविशेषार्थम् । मौण्ड्यं शिरोमुण्डनम् । विकल्पच्छेदतारतम्यापेक्षया । अत्रापि पूर्वो-
क्ताहेतवोऽधिकं तु द्वेषमात्रम् ॥ ३७० ॥

(५) नन्दनः । प्रकुर्यादविषह्यामित्येव ॥ ३७० ॥

(६) रामचन्द्रः । या तु युवती स्त्री कन्यां प्रकुर्यात् कन्यायाः संभोगं कुर्यात् सा स्त्री सद्यः मौण्ड्यं मुण्डस्य भावः मौ-
ण्ड्यं दण्डं अर्हति । तथा खरेण गर्दभेन उद्वहनम् च पुनः अङ्गुल्योऽच्छेदनं कर्तनम् ॥ ३७० ॥

भर्तारंलङ्घयेद्यातुस्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता ॥ तांश्वभिः स्वादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥ ३७१ ॥

(१) मेधातिथिः । लङ्घनं भर्तारमतिक्रम्यान्त्रगमनं तच्चेत्स्वीकरोति दर्पेण बहवोभेजातयोबलिनोद्रविणसंन्याः स्त्रीगुणोरूपसौभाग्यातिशयसंपन्न किमनेनाशीलरूपेणेत्येवदर्पेण ताःश्वभिःस्वादयेद्यावन्मृता । संस्थानदेशः बहवःसंस्थिता-
यत्रजनाश्चत्वरौ ॥ ३७१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । लङ्घयेदन्यपुरुषगमनेन पित्रादिज्ञातिदर्पिता स्त्रीणांगुणैश्च दर्पिता स्त्री । बलेति क्वचित्पाठः
तत्रापि बलं गुणएव । संस्थाने सभायां बहुसंस्थिते बहुभिरधिष्ठितायाम् ॥ ३७१ ॥

(३) कुल्लूकः । या स्त्री प्रबलधनिकपित्रादिबान्धवदर्पेणसौन्दर्यादिगुणदर्पेण च पतिपुरुषान्तरोपगमनाल्लङ्घयेत्तारा-
जा बहुजनाकीर्णे देशे श्वभिर्भक्षयेत् ॥ ३७१ ॥

(४) राघवानन्दः । स्त्रीसंगेन तस्याः प्रकारान्तरेण दण्डमाह । भर्तारमिति । भर्तारं लङ्घयेत् रतिविशेषलोभेन
त्यजेन्नाशयेद्वा । ननुतत्त्यागे जीवनं कुतइत्यत्राह । ज्ञातिः सत्कृतप्रचुरधनादियुक्तपित्रादिः गुणः सौन्दर्यं पुञ्जोषणादि
ताभ्यां गर्विता दर्पिता । तां श्वभिरेव स्वादयेत् । संस्थाने संस्थाप्यते मार्यतेऽत्रेति वधस्थले बहुसंस्थिते बहुजनाकीर्णे
तां दृष्ट्वा यथाऽन्याः न कुर्युरितिभावः ॥ ३७१ ॥

(५) नन्दनः । अथ स्त्रीणांव्यभिचारे दण्डमाह भर्तारंलङ्घयेदिति लङ्घयेद्यभिचरेत् ज्ञातिगुणदर्पिता ज्ञातिगुणेन
पित्रादिसकाशाल्लब्धस्त्रीधनादिगौरवेण स्त्रीगुणेन सौभाग्यसौन्दर्यादिना च गर्विता बहुसंस्थितेबहुभिर्जनैर्बृते संस्थाने व-
ध्यघातस्थाने अथवा बहुभिः पुरुषैरारुढे ऊरुमूलप्रदेशे ॥ ३७१ ॥

(६) रामचन्द्रः । बहुसंस्थिते स्थानेतांश्वभिः स्वादयेद्राजा ॥ ३७१ ॥

पुमांसंदाहयेत्पापंशयने तप्तआयसे ॥ अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥ ३७२ ॥

(१) मेधातिथिः । योसौपत्न्याजारःसआयसे लोहशयने तमेऽग्निसमेकृते दाहयितव्यः तत्रच शयनस्थितस्य का-
ष्ठानि वध्यघातिनोऽभ्यादध्युरपरिक्षिपेयुः यावत्काष्ठप्रहारैरग्निज्वालाभिभयनतापेनच मृतः ॥ ३७२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पुमांसं तस्याव्यभिचारप्रतियोगिनम् ॥ ३७२ ॥

(३) कुल्लूकः । अनन्तरोक्तंजारंपापकारिणंपुरुषमयोमयशयने प्रज्वलिते राजा दाहयेत्तत्र शयने वध्यघातिनः
काष्ठानि निक्षिपेयुर्यावत्पापकारी दग्धः स्यात् ॥ ३७२ ॥

(४) राघवानन्दः । तस्यउपपत्तेर्दण्डमाह पुमांसमिति । पापं पापिनमितिवक्तव्ये अत्यन्तपापख्यापनार्थम् ।
शयने अधोनिवेशनसाम्यात्तप्ते प्रज्वलिते । यथाऽर्धदग्धोनपलायतेतथा कुर्यादित्याह अभ्यादध्युरिति । तस्माद्देहो अ-
ब्राह्मणचेत् । ब्राह्मणंचेद्विवासयेदेव नजातु ब्राह्मणं हन्यादिति उदर्कनिषेधान् ॥ ३७२ ॥

(५) नन्दनः । ब्राह्मण्याःशूद्रगमनेऽयं दण्डः ब्राह्मण्यांदूषयितुः शूद्रस्य दण्डमाह पुमांसंदाहयेदिति । पुमांसंशूद्रंदाह-
येद्देहोतभस्मीक्रियेत ॥ ३७२ ॥

(६) रामचन्द्रः । काष्ठानि आज्येन अभ्यादध्युः अर्वांसिचेत् तत्र दह्येत पापकृत् ॥ ३७२ ॥

संवत्सराभिशास्तस्य दुष्टस्य द्विगुणोदमः ॥ ब्राह्मण्या सहसंवासे चाण्डाल्या तावदेव तु ॥ ३७३ ॥

(१) मेधातिथिः । अभिशस्तस्तत्पापकारीत्यभिशाब्दितः योयस्यां स्त्रियांसंगृहीतस्सोऽभिशास्तोदण्डितः सचेत्संव-

त्सरे पुनस्तस्यामेव संगृह्यते तदा तस्यैकवारमभिशास्तस्य संवत्सरे गते पुनर्दुष्टस्य द्विगुणोदण्डः संवत्सराभिशास्तस्येति समासपाठे कथंचिद्योजना ब्रात्यया सह संवासे तावदेव पुनर्दुष्टस्य नेति ब्रूमः तत्राप्युक्तमाधममध्यमानामनेकविधोदण्डः तत्रकोसाविह द्विगुणइति न ज्ञायते किंतिहि चण्डाल्यासंवासे यावदेव तावदेव ब्रात्ययेति सहसन्त्वन्त्यजस्तेयमिति ब्रातः पूगःसंधस्तेन चरितं पुंश्चलीकर्तव्यं अथब्रातमर्हतिब्रात्येत्यस्तेयकारांदण्डादिः काच शतमर्हति याऽनेकपुरुषोपभोग्या पुंश्चली सा हि पुरुषब्रातमर्हति अथवाऽनेकपुरुषस्वामिका ग्रामस्यदास्यसत्रमेव दास्यश्च ब्रात्याये तद्वदहीनाब्रात्यामन्यन्ते तेषां मतेन मुख्यः शब्दार्थः अयं हि ब्रात्यशब्दः स्मृतिकारैः सावित्रो पतितेषु प्रयुक्तः नच स्त्रीणांतत्संभवः अथ स्त्रीणांविवाहस्य तदापत्तिवचनादुपनयनं तद्धीनपुरुषवद्ब्रात्यागौस्तर्हि नमुख्यः यदिनामोपनयनशब्दोऽनुपनयने विवाहे प्रयुक्तस्तथाप्युपनयनहीनोब्रात्यइत्युक्तेन विवाहहीनइति प्रतीयते यथाऽसिंहोयंदेशइत्युक्तेन सिंहशब्दस्य माणवके प्रयुक्तस्यापि देशस्यामाणवकत्वंप्रतीयते अस्ति तत्र मुख्य इहासंभवइति चेन्नासंभवमात्रनिबन्धना गौणी प्रतीतिः किंतिहि संबन्धमपरमुपेक्ष्य भवेदुपनयनशब्दोविवाहे गौणः ब्रात्यशब्दस्तु गौणइति कोहेतुः गौणत्वेऽपि विवाहाभावनिबन्धनइति निरूपपदब्रात्यजापि काकाज्जातः काकः श्वेनाज्जातः श्वेनइति ब्रात्येति शङ्क्यते बहुसंबन्धप्रत्यासत्या हि तत्र रूपातिदेशप्रतिपत्तिः ब्रात्यभार्या तु सत्यपि संबन्धेन ब्रात्यशब्देन शक्याभिधातुं सोयमित्यभिसंबन्धे हि पुंयोगादाख्यायमिति तथा भवितव्यं तावतश्चायंभेदविवक्षायां तद्धितेनेति तस्माद्यदि गौणोब्रात्यशब्दोऽहीतव्यस्तज्जाताप्रत्येया अथशब्दार्थे ब्रातमर्हतीति विवाहश्रष्टातु न मुख्या न गौणीति नच विवाहकालः स्त्रीणानियतोयत्कालाद्ब्रष्टाब्रात्यास्युर्यदपि प्रागृतोर्विवाहा तदपि स्वयं वरस्य ऋतुमत्याविनातत् परेणाभ्यनुज्ञातएवकाममामरणांतचेदृहे कन्या ॥ ३७३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वस्तुतोदुष्टस्य लोकैरभिशास्तस्य संवत्सरपर्यन्तं तच्छोधनमकुर्वतस्तद्दोषार्हदण्डाद्विगुणोदमः । ब्रात्यया योषिदुपनयनस्थानीयविवाहकालेऽपरिणीतया कन्यया प्रवृत्तरजसा सकृत्संयोगे तेन ब्रात्यया सकृत्संबन्धमात्रेण तज्जातोयगमनदण्डाद्विगुणोदण्डइत्यपेक्षितम् । नतु संवत्सराभिशास्तस्येत्यत्राप्यन्वयः । प्रायश्चित्तंतु पृथगेवाचरणीयम् । एवंचाण्डाल्यापि संवासे तावदेवेति यावान्ब्रात्यया सह संवासे सर्वातिशयितोद्विगुणीभूतोदण्डस्तावानेव दण्डः । प्रायश्चित्तंत्वन्त्यजदेवेत्यर्थः ॥ ३७३ ॥

(३) कुङ्कुमः । परस्त्रीगमनेन दुष्टस्य पुंसोऽदण्डितस्य च संवत्सरातिक्रमेणाभिशास्तस्य पूर्वदण्डाद्विगुणोदमः कार्यः । तथा ब्रात्यजायागमने योदण्डः परिरूपितः चाण्डाल्यासह निर्देशाच्चाण्डालीगमनरूपः तथा चाण्डालीगमने योदण्डः सहसंत्वन्त्यजस्त्रियमिति संवत्सरे त्वतीते यदि तामेव ब्रात्यजायांतामेवचाण्डालींपुनर्गच्छति तदा द्विगुणः कर्तव्यः एतत्पूर्वस्यैवोदाहरणद्वयंब्रात्यजायागमनेऽपि चाण्डालीगमनदंडप्रदर्शनार्थं सर्वस्यैव तु पूर्वाभिशास्तदण्डितस्य संवत्सरातिक्रमे पुनस्तामेव गच्छतः पूर्वाद्विगुणोदण्डोबोद्धव्यः ॥ ३७३ ॥

(४) राघवानन्दः । ततोऽन्यत्र दण्डमात्रमेतस्यांपुनर्धृतस्यास्यापि संवत्सरान्ते गमने द्विगुणोदमइत्याहं समिति । कस्य गुण्यमित्यपेक्षायामाह ब्रात्ययेति । सहसंत्वन्त्यजस्त्रियमिति वचनाच्चाण्डाल्या गमने यत्राप्यश्रितं दण्डं तावदेव तु ब्रात्यागमने तद्वैगुण्यं पुनर्गमनइतिभावः ॥ ३७३ ॥

(५) नन्दनः । संवत्सराभिशास्तस्य अस्यां संवत्सरंगूढवर्त्तमानस्य पश्चात्परिज्ञातस्य दुष्टस्य पापकृतमस्य द्विगुणोदमउक्तेभ्यः स्त्रीसंग्रहणदण्डेभ्यः ब्रात्यया चण्डाल्या सह संवासे संगमे तावदेव द्वैगुण्यमेव दण्डस्य ॥ ३७३ ॥

(६) रामचन्द्रः । संवत्सरपर्यन्तं पापशोधनमकुर्वतः अभिशास्तस्योक्तदण्डाद्विगुणोदमः संवत्सरानन्तरं पुनर-

भिशस्तस्य पूर्वदृष्टस्य दण्डिनस्य द्विगुणोदण्डः ब्राह्म्यासहसंवासे अतिक्रान्तविवाहकाला प्रवृत्तरजा ब्राह्म्या तया सह संवासे संवत्सरेतुपुनः चाण्डाल्या सह संवासेतावानेवदण्डः ॥ ३७३ ॥

शूद्रोगुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन् ॥ अगुप्तमङ्गसर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते ॥ ३७४ ॥

(१) मेधातिथिः । शूद्राचाण्डालात् गुप्तं वर्णद्वैजातं द्विजातीनां स्त्रियः आवसन्मैथुनेन गच्छन् रक्षिता भर्तादिभिः स्व-
नियमेन दण्ड्यः कोदण्डइति चेदगुप्तांचेद्विज्ञेयं सर्वस्वी हीयते अङ्गं च सर्वस्वं तद्वत् केन हीयते प्रकृतत्वात्ताभ्यामेवान्यस्यानि-
र्देशाद्विशेषस्यानुपादानादपराधानन्तरमेवाङ्गगुप्तं चेद्विज्ञेयं सर्वेण हीयते नैकेनाङ्गेन यावच्छरीरेणापि हान्युद्देशेनाङ्गच्छेद-
न सर्वस्वहरणमरणान्युपदिष्टानि भवन्ति हानिरस्य कर्तव्येत्यर्थः तथाच गौतमः रूपाभिमने लिङ्गोद्धारं सर्वस्वहरणं च गुप्तां-
चेत् ॥ ३७४ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । द्वैजातं वर्णद्विजातित्रयस्य स्त्रियः । अगुप्ते बाह्याद्येकाङ्गकर्तनं सर्वस्वग्रहणं चेत्येकाङ्गसर्व-
स्वं तद्वानगुप्तैकाङ्गसर्वस्वी । सर्वेण शरीरेण हीयते वियोज्यते ॥ ३७४ ॥

(३) कुट्टुकः । भर्तादिभिरक्षितामरक्षितां वा द्विजातिस्त्रियं यदि शूद्रो गच्छेत्तदाऽरक्षितारक्षारहितां गच्छन् लिङ्गसर्व-
स्वाभ्यां वियोजनीयः । अत्राङ्गविशेषाश्रवणेऽप्यार्यरूपाभिमने लिङ्गोद्धारः सर्वस्वहरणं गुप्तांचेद्विज्ञेयं धोर्धकइति गौतमवचना-
ल्लिङ्गच्छेदः रक्षितांतु गच्छच्छरीरधनहीनः कर्तव्यः ॥ ३७४ ॥

(४) राघवानन्दः । गुप्ता गुप्तस्त्री भेदेन परदण्डं वदन्नादौ शूद्रविषयकं तमेवाह शूद्रइति । गुप्तं भर्तादिभिरक्षितं
भक्षणाच्छादनस्वगृहाद्यैः न रक्षितमगुप्तं द्वैजातं द्विजातिसंवन्धिवर्णस्त्रीरूपैः ॥ ३७४ ॥

(५) नन्दनः । द्वैजातं द्विजातिसंबन्धिनं वर्णमावसन् रक्षायुक्तां द्विजातिस्त्रियं गच्छन् । अत्र द्विजातिशब्दः क्षत्रिय-
वैश्यस्त्रीविषयो ब्राह्मण्या उक्तपूर्वत्वात् । अगुप्ते रक्षारहितद्विजातिस्त्रीगमने एकाङ्गसर्वस्वेन च हीयते एकाङ्गेन हस्तादिना
सर्वस्वेन च हीयते अगुप्तैकाङ्गेत्यत्र शाकल्यमतेन यकारलोपे कृते च्छन्दोनुसाराद्यकारलोपस्यासिद्धे त्वमनादृत्य वृद्धिविधा-
नं गुप्ते रक्षितद्विजातिस्त्रीगमने सर्वेणाङ्गेन सर्वस्वेन च हीयते ॥ ३७४ ॥

(६) रामचन्द्रः । शूद्रः द्विजातं क्षत्रियां वैश्यां वा गुप्तं अगुप्तं वा आवसन् अगुप्तं एकाङ्गच्छेदनं लिङ्गच्छेदेन सर्व-
स्वहरणं कार्यम् गुप्ते सर्वेण सर्वाङ्गच्छेदनं सर्वस्वेन हीयते एतत् ब्राह्मणीतरगुप्तासु क्षत्रियासु ॥ ३७४ ॥

वैश्यः सर्वस्वदण्डः स्यात्संवत्सरनिरोधतः ॥ सहस्रं क्षत्रियो दण्ड्यो मौण्ड्यं मूत्रेण चार्हति ॥ ३७५ ॥

(१) मेधातिथिः । वैश्यस्य सर्वस्वदण्डोक्तः इहतु साहचर्यात्सत्यपि द्विजातित्वे न वैश्यस्य समानजातीयागमे द-
ण्डोयं किं तर्हि ब्राह्मणक्षत्रिययोरेव एवं क्षत्रियस्य ब्राह्मणीगमने सहस्रं मौण्ड्यं च मूत्रेणोदकस्थाने गर्दभमूत्रं ग्रहीतव्यम् । अ-
न्ये व्याचक्षते अन्यस्यानुपादानात्समानजातीयएव संवत्सरनिरोधनेन दण्डाधिक्यं यदिसंवत्सरमवरुद्धं करोति ततो यं द-
ण्डः आद्यमेव तु व्याख्यानं न्याय्यं न च समहीनोत्तमानां कथं समदण्डत्वमिति वाच्यं यत उक्तं सर्वेषामेव वर्णानां दारारक्ष्यतमाः
सदेति ॥ ३७५ ॥

(३७४) अगुप्तमङ्गसर्वस्वैः = अगुप्तैकाङ्गसर्वस्वैः (न०)

* स्त्रीरूप = स्त्रीरूपमगुप्तमावसन् मैथुनेनोपभुञ्जानः अङ्गसर्वस्व प्रति हीयते । अङ्गमत्र लिङ्गम् । गुप्तमावसन् सर्वेण
शरीरेण धनेन च (राघ० २)

(२) सर्वज्ञनारायणः । संवत्सरनिरोधः संवत्सरबन्धनारेतस्य स्थापनंकृत्वा सर्वत्वंदण्ड्यइत्यर्थः । एतच्च ब्राह्मणीतरगुप्तागमने वैश्यस्य । मूत्रेणमुण्डनं नरमूत्रेणाद्रिशिरःकृत्वा मुण्डनम् ॥ ३७५ ॥

(३) कुल्लूकः । वैश्यस्यगुप्तब्राह्मणीगमने संवत्सरबन्धादनन्तरं सर्वस्वग्रहणरूपोदण्डः कार्यः क्षत्रियागमने तु वैश्य-श्च क्षत्रियमिति वक्ष्यति क्षत्रियोगुप्तब्राह्मणीगमने सहस्रदण्डनीयः खरमूत्रेण चास्य मुण्डनंकर्तव्यम् ॥ ३७५ ॥

(४) राघवानन्दः । वैश्यक्षत्रिययोगुप्तब्राह्मणीविषयकमाह वैश्य इति । अगुप्तामित्युत्तरस्वरसादुपगच्छेदित्यव-हार्यम् । संवत्सरबन्धनानन्तरं सर्वत्वं दण्ड्यो वैश्यः । क्षत्रियस्तु मूत्रेण श्वमूत्रेण सहस्रपणदण्डपुरःसरं मुण्डनमर्हतीत्य-न्वयः ॥ ३७५ ॥

(५) नन्दनः । निरोधतः कारागृहनिरुद्धः । इच्छन्त्यांब्राह्मण्यांवर्त्तमानयोरयंदण्डः ॥ ३७५ ॥

(६) रामचन्द्रः । वैश्यः संवत्सरनिरोधतः संवत्सरे कारागृहेनिरोध्यः सर्वत्वंदण्ड्यः सहस्रक्षत्रियः दंड्यः । च-पुनः नरस्य मूत्रेण मौड्यं मुण्डनंअर्हति ॥ ३७५ ॥

ब्राह्मणीयद्यगुप्तान्तु गच्छेतांवैश्यपार्थिवौ ॥ वैश्यंपञ्चशतंकुर्यात्क्षत्रियन्तु सहस्रिणम् ॥ ३७६ ॥

(१) मेधातिथिः । अगुप्ता व्याख्याता भ्रष्टशीलाऽनाथा च तद्रामने वैश्यंपञ्चशतंकुर्यात् करोतिः प्रकरणादण्डने वर्तते दण्ड्येदित्यर्थः । पञ्चशतान्यस्येति पञ्चशतः बहुव्रीहिर्मत्वर्थीयः तथा कर्तव्यंयथापञ्चाशतान्यस्य भवन्ति कियद-धिकंतत्तस्यापहर्तव्यमित्यथनेति क्रमः तथा सति यस्य पञ्चवै शतानिधनंवान्यूनंतस्यदण्डोन कश्चिदुक्तः स्यात् कस्तर्ह्यर्थः पञ्चशतंकुर्यादिति दण्डाधिकारादण्डंपञ्चशतसंबन्धिनंकुर्यादेवंसहस्रिणक्षत्रियमिति सहस्रमस्यास्ति दण्डोनगृहेधनम-ङ्गसर्वस्वीति व्याख्येयं तथाकर्तव्यंयथाङ्गसर्वत्वंच तस्य दण्डोभवति क्षत्रियस्याधिकोदण्डोरक्षाधिकृतोरक्षति तत्पुनः सएवापराध्यति ॥ ३७६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पञ्चशतंदण्डम् । क्षत्रियंसहस्रिणमिति । तस्य रक्षाधिकृतत्वादधिकोदण्डः । अन्येतु पञ्च-शतं पञ्चशतमात्रशेषवित्तम् । सहस्रिणं सहस्रमात्रशेषवित्तमित्याहुः ॥ ३७६ ॥

(३) कुल्लूकः । अरक्षितान्तुब्राह्मणीयदि वैश्यक्षत्रियौ गच्छतस्तदा वैश्यंपञ्चशतदण्ड्युक्तंकुर्यात्क्षत्रियंपुनः सहद-ण्डोपेतं वैश्ये चायंपञ्चशतदण्डः शूद्राभ्रमादिनानिर्गुणजातिमात्रोपजीविब्राह्मणीगमनविषयः तदितरब्राह्मणीगमने वैश्य-स्यापि सहस्रदण्डएव ॥ ३७६ ॥

(४) राघवानन्दः । अगुप्ताविषयकमाह ब्राह्मणीमिति । पञ्चशतं पञ्चशतानि दण्डनीयत्वेनास्य सन्तीतितादृशं वैश्यं कुर्यादेवं क्षत्रियं सहस्रिणम् । आदौक्षत्रियभुक्तामन्यथा न वैश्यस्य दण्डलघुता बहुपुंभोग्यत्वेन प्रायश्चित्तलघु-त्वादतोगच्छेतामिति साहित्यमुक्तम् । वैश्यं सहस्रिणमितिमेधातिथिः । शूद्राभ्रमादितिपञ्चशतमितिकुल्लूकः । धनदण्डमा-त्रमत्र ॥ ३७६ ॥

(५) नन्दनः । पञ्चशतंकुर्यात्पञ्चशतपणदण्ड्युक्तंकुर्यात् । क्षत्रिये दण्डभूयस्त्वंरक्षकत्वधर्मपरित्यागात् ॥ ३७६ ॥

उभावपि तु तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह ॥ विष्णुतौ शूद्रवदण्ड्यौ दग्धव्यौ वा कटाग्रिना ॥ ३७७ ॥

(१) मेधातिथिः । तावेव क्षत्रियवैश्यौ गुप्तया ब्राह्मण्या विष्णुतौ कृतमैथुनौमैथुनप्रवृत्तावेवविप्रशूद्रवदण्ड्यौ

गुमे सर्वेणहीयतइति । दग्धव्योवाकटाग्निना वाशब्दोवधप्रकारविकल्पे न वधविकल्पे नहि शूद्रगुमे वधादन्योदण्ड-
आम्नातः ॥ ३७७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शूद्रवदण्ड्यौ एकाङ्गच्छेदसर्वस्वग्रहणाभ्याम् । कटाग्निना शवाग्निना ॥ ३७७ ॥

(३) कुल्लूकः । तावेवोभावपि क्षत्रियवैश्यौ ब्राह्मण्यारक्षितया सह कृतमैथुनौ शूद्रवत्सर्वेण हीयेतइति दण्ड्यौ
यद्वाकटे नावेष्ट्य दग्धव्यौ तत्र वैश्यंलोहितदर्भैः क्षत्रियंशरपत्रैर्वा वेष्ट्यइति वसिष्ठोक्तोविशेषोग्राह्यः पूर्वसहस्रक्षत्रियोद-
ण्ड्योवैश्यः सर्व स्वमित्युक्तत्वादयंप्राणांतिकदण्डोगुणवद्ब्राह्मणीगमनविषयोबोद्धव्यः ॥ ३७७ ॥

(४) राघवानन्दः । गुमायांतु तस्यां समेत्य गमने शूद्रवदण्डेन विकल्पमाह उभावपीति । विष्णुतौ कृतमैथुनौ । शू-
द्रवच्छरीरसर्वत्वं वैश्यस्य क्षत्रियस्याङ्गसर्वस्वमितिभेदः । अगुणवद्ब्राह्मणीविषयकोदण्डः दाहस्तु गुणवत् ब्राह्मणीविषयः ।
कटाग्निना शरपत्रेण । तत्रापि लोहितदर्भैः संवेष्ट्य क्षत्रियः वैश्यस्तु शरपत्रैरितिवसिष्ठोक्तेः ॥ ३७७ ॥

(५) नन्दनः । विष्णुतौ व्यभिचारितौ ॥ ३७७ ॥

(६) रामचन्द्रः । उभौ वैश्यक्षत्रियौ विष्णुतौ कृताभिमानी तावेव ब्राह्मण्या गुमया सह श्मशाने कटाग्निना उभौ
दग्धव्यौ ॥ ३७७ ॥

सहस्रब्राह्मणोदण्ड्योगुमांविप्रांबलाद्वज्रं ॥ शतानि पञ्चदण्ड्यः स्यादिच्छन्त्यासहसङ्गतः ॥ ३७८ ॥

(१) मेधातिथिः । गुमा भ्रष्टशीलापि यदि केनचिदक्ष्यते पित्रा भ्रात्रा बन्धुभिर्वा तांहठाद्रच्छन्सहस्रब्राह्मणोदाप्यः
गुमा शीलवतीचेत्प्रवासनाह्वानेनाधिके अथापि शीलवत्यपि गुमशब्देनोच्यते तथापि सहस्रमात्राब्राह्मणोमुच्यते । अङ्कन-
प्रवासने सर्वत्रमुखीक्रियेते परदाराभिमर्शे ॥ ३७८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निर्गुणगुणवद्ब्राह्मणापेक्षया दण्डद्वयम् । बलादनिच्छन्तीम् । इच्छन्त्या गुमयैव ॥ ३७८ ॥

(३) कुल्लूकः । रक्षितांविप्रांब्राह्मणोबलेनोपगच्छन्सहस्रदण्ड्यः स्यात् इच्छन्त्या पुनः सरुचैथुने पञ्चशतानि
दण्डनीयोभवेत् ॥ ३७८ ॥

(४) राघवानन्दः । तादृशापराधे विप्रस्य दण्डमाह सहस्रमिति । बलादनिच्छतः । इच्छन्त्या ब्राह्मण्या ॥ ३७८ ॥

मौण्ड्यंप्राणान्तिकोदण्डोब्राह्मणस्य विधीयते ॥ इतरेषान्तु वर्णानांदण्डः प्राणान्तिकोभवेत् ॥ ३७९ ॥

(१) मेधातिथिः । यत्र क्षत्रियादीनांवधउक्तस्तत्रब्राह्मणस्य मौढ्यंयथाऽब्राह्मणः संग्रहणात्प्राणान्तदण्डमर्हति
तथातु पुमांसंदाहयेदिति प्राणानामन्तङ्गच्छति प्राणान्तंवा करोति प्राणान्तकः अन्येष्वपिदृश्यतइतिदण्डः । अन्ये तुप्राणान्ति-
कइतिपाठान्तरप्राणान्ते भवः प्राणान्तिकः अध्यात्मादित्वाष्टञ् इतरेषांब्राह्मणादन्येषांक्षत्रियादीनांवर्णानांप्राणान्तिकएव
श्रुतंमारणादिपूर्वमेव तदनन्तरमिदमुच्यते उच्यमानंमौण्ड्यंतच्छेषतया सहस्रदण्डोविधीयतइतिमन्यन्ते अन्यथा ब्राह्मणस्य
प्राणांतदण्डविधानात्कः प्रसङ्गोब्राह्मणस्य येनैवमुच्यतेमौढ्यंप्राणान्तिकइति पुमांसंदाहयेदिति सामान्यविधानप्रशक्त-
मिति चेत्तत्रैव कर्तव्यस्यात्तथाहिस्फुटंतद्विषयत्वंप्रतीयते ॥ ३७९ ॥

(३७८) दिच्छन्त्यासह=अगुमांसह (ख)

(३७९) प्राणान्तिकोभवेत्=प्राणान्तकोभवेत् (मेधा०)

=प्राणान्तगोभवेत् (मेधा०)

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्राणान्तिकदण्डस्थाने मुण्डनमेव कार्यमित्यर्थः ॥ ३७९ ॥

(३) कुष्ठूकः । ब्राह्मणस्य वधदण्डस्थाने शिरोमुण्डनदण्डः शास्त्रेणोपदिश्यते क्षत्रियादीनांपुनरुक्तेन घातेन दण्डोभवति ॥ ३७९ ॥

(४) राघवानन्दः । अन्येषां प्राणान्तिके दण्डे ब्राह्मणस्य मौण्ड्यविधत्ते मौण्ड्यमिति । जात्यन्तरस्य प्राणान्तिकोऽपराधे यत्रदण्डस्तत्र विप्रस्य मौण्ड्यमात्रमितिसार्वत्रिकः ॥ ३७९ ॥

(५) नन्दनः । ब्राह्मणस्य च वधाहं दण्डे प्राप्ते मौण्ड्यमेव न वधः इतरेषांवधएवेति ॥ ३७९ ॥

न जातु ब्राह्मणंहन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम् ॥ राष्ट्रादेनंबहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम् ॥ ३८० ॥

(१) मेधातिथिः । सर्वपापेष्वपि प्रकरणविधौ न केवलसंग्रहणे ब्राह्मणो न हन्यते यावदन्येष्वप्यपराधेषु । अपिशब्दोयुगपत्सर्वपापकार्यपिब्राह्मणो न जातुकदाचिद्धन्तव्यः किंतिहं तस्य पापकारिणः कर्तव्यं राष्ट्रादेनंविषयाद्ब्राह्मणंबहिः कुर्यान्निर्वासयेत् समग्रधनंसर्वस्वसहितं अक्षतमक्षतशरीरंधनमप्यस्यनापहर्तव्यं कथंतिहं दण्डोब्राह्मणस्य केचिदाहुर्निर्वासनेत्वाधीयमानंसधनंनिर्वास्य धनदण्डंप्रतिषेधति । अन्येतुसमग्रधनंदतसर्वस्वंकृत्वा निर्वास्यतइति मन्यन्ते ॥ ३८० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अक्षतमच्छिन्नाङ्गम् ॥ ३८० ॥

(३) कुष्ठूकः । ब्राह्मणंसर्वपापकारिणमपि कदाचिन् हन्यादपि तु सर्वस्वयुक्तमक्षतशरीरंराष्ट्रान्निर्वासयेत् ॥ ३८० ॥

(४) राघवानन्दः । ननु किमिति मौण्ड्यं तत्राह नेति । समग्रधनं समग्रधनयुक्तम् बहिर्निःसारणेधनं नयाहम् तदभावे धनं क्वचित् सहसंब्राह्मणइत्यत्रोक्तम् । अक्षतमित्यनुवादोऽक्षतशरीरमित्यर्थः ॥ ३८० ॥

(५) नन्दनः । न केवलंस्त्रीसंग्रहणएव किन्तु ब्रह्महत्यादिष्वपीत्युक्तंसर्वपापेष्वपीति ॥ ३८० ॥

(६) रामचन्द्रः । अक्षतं अव्याहतम् ॥ ३८० ॥

न ब्राह्मणवधाद्भूयाधर्मोविद्यते भुवि ॥ तस्मादस्य वधंराजामनसापि न चिन्तयेत् ॥ ३८१ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वशेषोयमर्थवादः नब्राह्मणवधादन्योबहुतरोऽधर्मोदुःखफलोस्ति । अन्यशब्दाध्याहारेण पञ्चमी तस्माद्धेतोरस्य ब्राह्मणस्य राजा मारणमङ्गच्छेदंवा मनसापि नेच्छेत् ॥ ३८१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भूयानातिशयितः ॥ ३८१ ॥

(३) कुष्ठूकः । ब्राह्मणवधान्महान्पृथिव्यामधर्मोनास्ति तस्माद्राजा सर्वपापकारिणोब्राह्मणस्य मनसापि वधंन चिन्तयेत् ॥ ३८१ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रार्थवादः नेति । भूयोनंधर्मो न विद्यते ब्रह्महत्याश्वमेधाभ्यां परंपुण्यपापयोरित्युक्तेः ॥ योब्राह्मणायावगुरित्यादिश्रुतेः । राजास्तेनेन गन्तव्यमिदमपि । विप्रातिरिक्तविषयम् ॥ ३८१ ॥

(५) नन्दनः । उक्तेऽर्थे हेतुमाह नब्राह्मणवधादिति ॥ ३८१ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणवधाद्भूयान् अधर्मः क्वचित् नविद्यते ॥ ३८१ ॥

वैश्यश्चेत्क्षत्रियांगुमांवैश्यांवा क्षत्रियोव्रजेत् ॥ योब्राह्मण्यामगुमायां तावुभौ दण्डमर्हतः ॥ ३८२ ॥

[क्षत्रियांचैववैश्यांचगुमांतुब्राह्मणोव्रजन् । नमूत्रमुण्डः कर्तव्योदाप्यस्तूतमसाहसम् ॥ १ ॥][†]

(१) मेधातिथिः । अगुमायाब्राह्मण्यागमने वैश्यः पञ्चशतंकुर्यात्क्षत्रियंसहस्रिणमिति तत्र वैश्यस्य पञ्चशतोयएव परिपालयति सएव चेन्नाशयति युक्तंतस्य दण्डमहत्त्वम् ॥ ३८२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । योब्राह्मण्यामगुमायां दण्डः पञ्चशतानि वैश्यस्य सहस्रं क्षत्रियस्य ॥ ३८२ ॥

[सर्वज्ञनारायणः । नमूत्रमुण्डइति । मौण्ड्यमत्रविधेयं तद्विधौच क्षत्रियवन्मूत्रेणतन्माभूदित्येतदर्थममूत्ररूपविशेषणनिषेधः । तथाच मूत्रार्द्रशिरस्त्वस्य विशेषणमात्रस्य निषेधोमुण्डना तु कर्तव्यैव ॥ १ ॥]

(३) कुहूकः । रक्षिताक्षत्रियां यदि वैश्यो गच्छेत्क्षत्रियो वा यदि रक्षितवैश्यांतदा तयोर्ब्राह्मण्यामगुमायां गमने यौदण्डावुक्तौ वैश्यपञ्चशतंकुर्यात्क्षत्रियन्तु सहस्रिणमिति द्वावेव दण्डौ वैश्यक्षत्रियोर्भवतः । अयंच वैश्यस्य रक्षितक्षत्रियागमने पञ्चशतरूपोदण्डोलघुत्वात् गुणवद्वैश्यस्य निर्गुणजातिमात्रोपजीविक्षत्रियायाः शूद्राभ्रान्त्यादिगमनविषयो बोद्धव्यः । क्षत्रियस्य रक्षितवैश्यायां ज्ञानतोयुक्तः सहस्रदण्डः ॥ ३८२ ॥

(४) राघवानन्दः । राजन्यवैश्ययोः परस्परस्य गुप्तस्त्रीगमने अगुमब्राह्मणीगमनवदण्डमाह वैश्यश्चेति । यो वैश्यः पञ्चशतं कुर्यात्क्षत्रियंतु सहस्रिणमित्यनेनोक्तः संख्याविशिष्टोदण्डस्तं विज्ञान्यावर्हतइत्यन्वयः । अत्रतु वैश्यस्या गुणवतोक्षत्रियत्वमात्रोपेतागमने लघुदण्डस्य शूद्राभ्रान्त्यागमनेन वा ॥ ३८२ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः दण्डः ब्राह्मण्यामगुमायां उक्तस्तमेव तावुभौ वैश्यक्षत्रियौ दण्डं अर्हतः ॥ ३८२ ॥

[रामचन्द्रः । क्षत्रियमिति । मूत्रदण्डः न कर्तव्यः मूत्रेण मुण्डनं कार्यं किंतु उत्तमसाहसं दाप्यः ॥ १ ॥]

सहस्रं ब्राह्मणोदण्डं दाप्योगुप्ते तु ते व्रजन् ॥ शूद्रायां क्षत्रियविशोः साहसो वै भवेद्धमः ॥ ३८३ ॥

(१) मेधातिथिः । गुप्ते क्षत्रियावैश्ये गच्छन् ब्राह्मणः सहस्रदण्ड्यः प्रवासनाङ्कने स्थिते एव शूद्रायागमने क्षत्रियवैश्ययोः साहसोदण्डः सहस्रमेव साहसं स्वार्थिकोण् सहस्रं वा दण्डेऽस्ति साहसोदण्डोत्रपदार्थः । मत्वर्थीयोण् ॥ ३८३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सहस्रं ब्राह्मणोदण्डं दाप्योगुप्ते तु ते व्रजन्निति अगुप्ते व्रजन् दाप्य एव न मुण्डनीय इत्यर्थः । शूद्रायां गुप्तायामगुमायां वा । वैश्यराजन्ये वैश्यां राजन्यांच पूर्वं तयोर्ब्राह्मणस्य सहस्रदण्डतोक्ता । एतत्तु शूद्रतुल्यवृत्तयोः योगेवेति ज्ञेयम् ॥ ३८३ ॥

(३) कुहूकः । क्षत्रियावैश्ये रक्षिते ब्राह्मणो व्रजन् सहस्रदण्डं दापनीयः शूद्रायां रक्षितायां क्षत्रियवैश्ययोर्गमने सहस्रमेव दण्डः स्यात् ॥ ३८३ ॥

(४) राघवानन्दः । विद्वक्षत्रिययोरक्षिततज्जातीये स्त्रियौ ब्राह्मणो गच्छन् सहस्रमित्याह सहस्रमित्यर्थेन । ते विद्वक्षत्रिययोषिते । वैश्यक्षत्रिययोरपि रक्षितशूद्रागमने सहस्रदण्डइत्याह शूद्रायामिति । गमनइति शेषः । तत्रापि पूर्वं क्षत्रियभुक्तायां वैश्यस्य गमने साहसः सहस्रपणनियतः ॥ ३८३ ॥

(५) नन्दनः । ते गुप्ते क्षत्रियवैश्यस्त्रियौ शूद्रायां गुप्तायामिति विपरिणामः ॥ ३८३ ॥

(६) रामचन्द्रः । ते क्षत्रियवैश्ये व्रजन् गुप्ते ब्राह्मणः सहस्रं दण्डं दाप्यः शूद्रायां गच्छतोः क्षत्रियविशोः साहसो दमः वैभवेत् ॥ ३८३ ॥

क्षत्रियायामगुमायां वैश्ये पञ्चशतंदमः ॥ मूत्रेण मौण्ड्यमिच्छेत् क्षत्रियोदण्डमेव वा ॥ ३८४ ॥

(१) मेधातिथिः । वैश्यस्य पञ्चशतानि दण्डः अगुमांच क्षत्रियां गच्छति क्षत्रियस्य सएव यदि वा मौण्ड्यमुण्डनमृच्छेत्प्राप्त्याद्दममूत्रेण एष एव वैश्यागमनउभयोर्दण्डः ॥ ३८४ ॥

(३) कुष्ठूकः । अरक्षितक्षत्रियागमने वैश्यस्य पञ्चशतानि दण्डः स्यात् क्षत्रियस्य त्वरक्षितागमने गर्दभमूत्रेण मुण्डनं पञ्चशतरूपं वा दण्डमा मुयात् ॥ ३८४ ॥

(४) राघवानन्दः । तयोरगुमक्षत्रियाविषये व्यवस्थितदण्डमाह क्षत्रियायामिति । वैश्ये पञ्चशतं दण्डः । मौण्ड्यमन्विच्छेत्क्षत्रियो दण्डमेव वा । वाशब्दात् मौण्ड्यं नान्विच्छेद्वा ॥ ३८४ ॥

(५) नन्दनः । व्रजतीति विपरिणामः ॥ ३८४ ॥

(६) रामचन्द्रः । क्षत्रियायां मूत्रेण मौण्ड्यं कृच्छेत् वापक्षान्तरं दण्डमेव गच्छेत् ॥ ३८४ ॥

अगुमे क्षत्रियावैश्ये शूद्रांब्राह्मणो व्रजन् ॥ शतानि पञ्चदण्ड्यः स्यात्सहस्रं त्वन्यजस्त्रियम् ॥ ३८५ ॥

[शूद्रोत्पन्नां शपापीयान्नवं मुच्येत किल्बिषात् । तेभ्यो दण्डात् तद्व्यंनकोशे संप्रवेशयेत् ॥ १ ॥

अयाजिकंतु तद्राजा दद्याद्भूतकवेतनम् ॥ यथा दण्डगतं वित्तं ब्राह्मणेभ्यस्तुलं भयेत् ॥ २ ॥

भार्यापुरोहितस्तेना ये चान्येतद्विधा द्विजाः ॥ ३ ॥] +

(१) मेधातिथिः । ब्राह्मणस्य क्षत्रियाद्यगुमास्त्रीगमनउभयोर्दण्डः । अन्त्यजश्चण्डालश्च पचादिस्तत्र सहस्रं तत्रायं सहस्रपणदण्डसंग्रहः । ब्राह्मणस्य चतुर्विंशति वर्णेषु गुमागमने सहस्रं श्रोत्रियदारेषु प्रवासनाङ्कने अन्यत्र प्रवासनमेव श्रोत्रियदारेषु प्रायश्चित्तमहत्वादेव कल्प्यते गुमागमने पञ्चशतानि प्रवासनाङ्कने यद्यप्यगुमापरदाराव्यपदेशो भवति विवाहसंस्कारे सति तथापि त्वैरिणीभर्तृत्वतामतिक्रान्ता अब्राह्मणस्य प्राणान्तो गुमागमने दण्डो बलात् सकामागमने साहसो दण्डः प्रवासनाङ्के गुमागमने वैश्यपञ्चशतं कुर्यात्क्षत्रियं सहस्रिणमिति ॥ ३८५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्त्यजात्यः । रजकचर्मरुन्धुर्दुर्बलैर्दण्डैर्दण्डैर्दण्डैः स्मृत्यन्तरोक्ताः ॥ एवं स्त्रीसंग्रहणान्तं समर्थितं उत्तरे चाध्याये शेषं वाच्यम् ॥ ३८५ ॥

(३) कुष्ठूकः । अरक्षिताक्षत्रियावैश्यां शूद्रां वा ब्राह्मणो गच्छन् पञ्चशतानि दण्ड्यः स्यात् । अन्ते भवोऽन्त्यजः यस्मादधमो नास्ति चाण्डालादिस्तस्य स्त्रियंगच्छन्सहस्रं दण्ड्यः ॥ ३८५ ॥

(४) राघवानन्दः । अगुमतिमृष्वपि ब्राह्मणं प्रति दण्डमाह अगुमइति । अन्त्यजस्त्रियं चण्डालादिजातिमिति अन्त्यजगुमागुमसाधारणविषयं चतुर्णां सन्निधेः प्रकरणस्य बलीयस्त्वात् ॥ ३८५ ॥

(५) नन्दनः । शूद्रां च अगुमिं च विपरिणामः ॥ ३८५ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्त्यजस्त्रियं ब्राह्मणो व्रजन्सहस्रं दण्ड्यः ॥ ३८५ ॥

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक् ॥ न साहसिकदण्डघ्नौ सराजा शक्रलोकभाक् ॥ ३८६ ॥

(१) मेधातिथिः । यस्य राज्ञः पुरे देशे राष्ट्रे स्तेनश्चौरौ नास्ति स शक्रस्येन्द्रस्य लोकं स्थानं भजते स्वर्गं प्राप्नोति । नान्यस्त्रीगमनमन्यस्य या स्त्री भार्यावरुद्धा पुनर्भूवा स्त्रीग्रहणमभार्याया अप्यसंबन्धिन्याः प्रतिषेधार्थं दुष्टवाक्त्रिविधस्याक्रोशस्य कर्ता साहसिकउक्तः दण्डेन हन्ति दण्डपारुष्यरुन् शक्रलोकभागिति सर्वत्रानुषङ्गः स्तेनादीनां शरीरसंग्रहशेषोयमर्थवादः ॥ ३८६ ॥

+ (ट, ठ)

(३८६) शक्रलोक=सत्यलोक (क)

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्रान्तरा उच्चावचाननूक्तान्कांश्चिद्राजधर्मान्प्रसंगादाह यस्येति । दुष्टवाक् दुष्टपारुष्य-
कृत् । दण्डघोदण्डपारुष्यकृत् ॥ ३८६ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्य राज्ञोराष्ट्रे चौरः परदारगामी परुषवादी गृहदाहादिसाहसकारी दण्डपारुष्यकर्ता च नास्ति
सराजा शक्रपुरंयाति ॥ ३८६ ॥

(४) राघवानन्दः । राजावश्यं स्तेनादिपञ्चसु दण्डपरोभवेदित्येतच्छक्यमाविष्कुर्वन्नाह यस्येतिद्वाभ्याम् । अ-
न्यस्त्रीगः पारदारिकः । सशक्रलोकभाक् मृत्वेतिशेषः ॥ ३८६ ॥

(५) नन्दनः । यएते वाक्पारुष्यदण्डपारुष्यस्तेयसाहसस्त्रीसंग्रहणरूपाः पञ्चदोषाउक्तास्तेषु प्रवर्तमानानानिग्र-
हेण राज्ञां फलमाह यस्यस्तेनइति । यस्य पुरे स्तेनोनास्ति दण्डभयाद्यस्य विषयेचोरोनास्ति । दण्डेन हन्तीति दण्डघ्नः
दण्डपारुष्यकृत् । पुरइति राष्ट्रस्याप्युपलक्षणम् ॥ ३८६ ॥

एतेषानिग्रहोराज्ञःपञ्चानांविषये स्वके ॥ साम्राज्यकृत्सजात्येषु लोके चैव यशस्करः ॥ ३८७ ॥

(१) मेघातिथिः । साम्राज्यपरः प्राणयितात्वात्तृयं सजातेषु समानस्यार्द्धिनोराजानःसजात्याअभिप्रेतास्तेषु मू-
र्द्धन्यधितिष्ठति तस्याज्ञाकराः संभवन्तीत्यर्थः लोके च यशस्करइत्युत्पादयन्ति उभयत्रापि निग्रहएव कर्ता हेतुत्वात् ज-
नमारकोयंक्रोधनइति वदन्त्यपि तुस्तुवन्ति ॥ ३८७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । साम्राज्यं समीचीनंराज्यम् । त्वजात्येषु मध्ये ॥ ३८७ ॥

(३) कुल्लूकः । एतेषांस्तेनादीनांपञ्चानांस्वराष्ट्रे निग्रहः समानजातीयेषु राजसु मध्ये राजा साम्राज्यकृदिह लोके
च यशस्करोभवति ॥ ३८७ ॥

(४) राघवानन्दः । पञ्चानां स्तेनादीनाम् । विषये राष्ट्रे । त्वजात्येषु राजसु मध्ये साम्राज्यकृत् एवंकुर्वन् चक्रवर्ती
स्यादितिभावः । यशस्करः लोके त्वानुरूपं यशोधत्ते ॥ ३८७ ॥

ऋत्विजंयस्यजेद्याज्योयाज्यंचात्विजंयजेद्यदि ॥ शक्तंकर्मण्यदुष्टंच तयोर्दण्डः शतंशतम् ॥ ३८८ ॥

(१) मेघातिथिः । यज्ञे कर्मकरऋत्विग्वोतोद्गात्रादिः यद्यपि वरणोत्तरकालमाप्रयोगसमामेस्तद्विपदेशस्तथाप्यत्र
कर्मणोरितरेतरत्यागे विधिरयं किंतीर्हा प्राग्वरणात् । भूतपूर्वगत्या ऋत्विग्व्यवहारः यः प्रयोगान्तरेवृत्तः सएवशक्तः प्रयोगा-
न्तरेऽपि वरितव्यः न केवलंपूर्ववृत्तस्यायमन्यायः किंतीर्हा तत्पित्रादिभिरपि तथाहि पूर्वोऽनुष्ठः स्वयंवृतइति नारदः नचाय-
मैकपुरुषिकोनियमः किंतीर्हा कुलधर्मोयं तथाच महाभारते संवत्समरुत्तीयेषु अपञ्चितंतेन यत्कुलाः पित्रादिभिर्ऋत्विजोवृ-
तास्तएव वरीतव्याः । याजनकानामप्येषएवविधितैरपि ते योजनीयाः ऋत्विजंकृतात्विज्यंतत्कुलीनंवाऽन्यंयोनवृणीत
यियक्षुरपि त्वन्ययाजकमर्थयेत् शक्तंकर्मणि यज्ञे प्रयोगज्ञमदुष्टमभिशंसनाद्वैकल्यादिभिर्दोषैरयुक्तमेवमीदृशएवविगर्थ-
मानोयदिनाङ्गीकुर्याद्याजकत्वं अदुष्टमेभिरेवदोषैरनाक्रान्तंयाज्यंशक्तंविद्वत्तया च तादृशे त्यागे तयोः शतंदण्डः ऋत्विक्श-
तंदाप्योयाज्यंत्यजन्याज्यऋत्विजं नकेवलमयमृत्विग्याज्यधर्मः शिष्याचार्ययोरपि । तथाच गौतमः । अथयाजकावृत्विगा-
चार्यौ पतनीयसेवायां चहेयावन्यत्र हानात्पततीति दातृसंप्रदानयोरपि प्रतिग्रहे केचिद्धर्ममिममिच्छन्ति ॥ ३८८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ऋत्विजमित्यादिसंविद्यतिक्रमशेषभूतमन्यत्र राज्ञाप्यृत्विङ्गत्याज्यइतिदर्शयितुंराजधर्मेभू-
क्तम् । ऋत्विजं परंपरयायातम् । शतं पणाः । पुनश्च पूर्ववत्परिग्रहइत्यपि ग्राह्यम् ॥ ३८८ ॥

(३) कुल्लूकः । योज्याज्यः ऋत्विजं कर्मानुष्ठानसमर्थमतिपातकादिदोषरहितमृत्विग्वा याज्यमदुष्टं त्यजति तयोः शतं शतं दण्डः कार्य इति दण्डप्रसङ्गादिदमुक्तम् ॥ ३८८ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रकृतमनुवर्तयन् दण्डार्थमनुवदति ऋत्विजमिति । याज्यो यजमानः शक्तं कर्मानुष्ठानदक्षिणादानयोः । अदुष्टपातकादिना । एतद्वयं याज्ययाजकयोर्विशेषणम् । शतमिति कर्तृभेदविवक्षया वीप्सा ॥ ३८८ ॥

(५) नन्दनः । प्रकीर्णकारण्यमनुद्विष्टमपि स्मृत्यन्तरप्रसिद्धं व्यवहारपदं प्रस्तौति ऋत्विजं यस्त्यजेदिति । कर्मणि यज्ञ-कर्मणि शक्तमिति ऋत्विग्विशेषणम् । अदुष्टमिति याज्यविशेषणम् ॥ ३८८ ॥

(६) रामचन्द्रः । याज्यो यजमानः कर्मणि शक्तं अदुष्टं ऋत्विजं त्यजेत् च पुनः यदि ऋत्विक् कर्मणि शक्तं कर्मस्थं याज्यं त्यजेत् तयोः ऋत्विक्याज्ययोः दण्डः शतं शतम् ॥ ३८८ ॥

न मातानपिता न स्त्री न पुत्रस्यागमर्हति ॥ त्यजन्नपतितानेतान् राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥ ३८९ ॥

(१) मेधातिथिः । माता न त्यागमर्हति न त्याज्या त्यागः स्वगृहान्निष्कासनं मातृवृत्तेः सक्ताया उपकारस्योपक्रियाया-मुदितायामकारणे एवं पित्रादीनामपि व्याख्येयं संबन्धे साहचर्यात् स्त्रीभार्येवाभिप्रेता । अपतितानामेषां त्यागो नास्ति । मातुस्तु न मातापुत्रं प्रतिपततीत्येक इति शातातपः । भार्यायाश्चापि त्यागः संभोगे गृहकार्यनिषेधः भक्तवस्त्रादिदानं तु न निषिध्यते योषित्सु पतितास्तपि ॥ वस्त्रान्मानदेयं च वसेयुः स्वगृहान्तिक इति पठ्यते ॥ ३८९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्त्री भार्या ॥ ३८९ ॥

(३) कुल्लूकः । मातृपितृभार्यापुत्रास्त्यागमपोषणशुश्रूषणाद्यकरणात्मकं नार्हन्ति तस्मादेतान्पातकादिरहितान्परित्यजन्नेकैकपरित्यागे राज्ञा षट्शतानि दण्ड्यः ॥ ३८९ ॥

(४) राघवानन्दः । रुयन्तरादिवशस्यापतितमात्रादेस्त्यक्तुर्दण्डमाह नेति । षट्शतानि पणानामित्यनुवर्तते ॥ ३८९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अपतितान् मात्रादीन् त्यजन्नराज्ञा षट्शतानि दण्ड्यः ॥ ३८९ ॥

आश्रमेषु द्विजातीनां कार्ये विवदतां मिथः ॥ न विब्रूयान् नृपो धर्मचिकीर्षन् हितमात्मनः ॥ ३९० ॥

(१) मेधातिथिः । वानप्रस्थादीनामश्रमवासिनाश्रमेषु कार्यधर्मसंकटरूपमयं शास्त्रार्थो नायमिति इतरेतरं विवदमानान् धर्मव्यवस्थां सहसा विब्रूयात्प्रभृतया निर्णयमन्येषामिव न कुर्यात्कथं तर्हि वक्ष्यमाणेन प्रकारेण एवमात्मने हितं कृतं भवति शास्त्रार्थत्यागो न भवतीत्यर्थः गृहस्थानां चाश्रमत्वेऽपि यथोक्त एव निर्णयप्रकारः कार्यधर्मसंशयात्मकविवादपदं आश्रमग्रहणाच्च विशिष्टविषयता व्याख्यायते ॥ ३९० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आश्रमेष्वश्रममध्ये कार्ये कर्तव्ये आश्रमधर्म इत्यर्थः । न विब्रूयात् न धर्मविपरीतमर्थं स्वापेक्षया स्थापयेत् ॥ ३९० ॥

(३) कुल्लूकः । द्विजातीनां गार्हस्थ्याद्याश्रमविषये कार्येऽयं शास्त्रार्थो नायं शास्त्रार्थ इति परस्परं जातविवादानां राजा स्वीयहितं चिकीर्षुरयं शास्त्रार्थ इति सदृशान्विशेषेण न ब्रूयात् ॥ ३९० ॥

(४) राघवानन्दः । दण्डप्रसंगेन पारिविकमयं स्मारयन् नृपं शिक्षयति आश्रमेऽपि तद्विद्वाभ्याम् । कार्ये गार्हस्थ्याश्रमधर्मविषये विवदतामयं शास्त्रार्थो नायमिति विपर्यासेऽयमेवेति विशेषेण न ब्रूयात् ॥ ३९० ॥

(५) नन्दनः । आश्रमेषु तपोवनेषु द्विजातीनां वानप्रस्थानाम् ॥ ३९० ॥

(६) रामचन्द्रः । आश्रमेषु चतुर्षु द्विजातीनां विवदतां सतामात्मनो हितंचिकीर्षन् नृपो न विब्रूयात् विपरीतं वदेत् ॥ ३९० ॥

यथार्हमेतान् अभ्यर्च्य ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ॥ सान्त्वेन प्रशमय्यादौ स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ३९१ ॥

(१) मेधातिथिः । यथा तत्कर्तव्यं तथेदानीमाह योयादृशीं पूजामर्हति गुणानुरूपेण तंतथैवाभ्यर्च्य ब्राह्मणैर्मन्त्रिपु-
रोहितादिभिः आचार्यसाहित्यधर्मप्रवचने वा तदा च ब्राह्मणाः सत्याविज्ञेयास्तैः सह स्वधर्मन्याय्यमर्थबोधयेत् सिद्धेमहत्त्वे
सभ्येभ्य उपदेशः प्राधान्यार्थस्तान्पुरस्कुर्यात् तथाहि न राज्ञः क्रुध्यन्ति शास्त्रेण प्रीतिस्तुतिवचनैः प्रथमं प्रथममप्यव्यपनी-
तक्रोधान्कृत्वा ततो ब्रूयात् ॥ ३९१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्राह्मणैः स्वकीयधर्मासनस्थैः । सान्त्वेन प्रशमय्य विवादं त्याजयित्वा स्वधर्मं तैरेव विचारं-
कारयित्वा प्रतिपादयेत् ज्ञापयेत् ॥ ३९१ ॥

(३) कुट्टुकः । योयादृशीं पूजामर्हति तंतथा पूजयित्वाऽन्यै ब्राह्मणैः सह प्रथमं प्रीत्याऽपगतकोपं कृत्वा तत एषां यः
स्वधर्मस्तं बोधयेत् ॥ ३९१ ॥

(४) राघवानन्दः । तर्हि किं कार्यमिति तत्राह यथेति । यथार्हं योयादृशीं पूजामर्हति तामनतिक्रम्याभ्यर्च्य कथमे-
वं विवदन्त इति सान्त्वेनेन प्रशमय्य गतकोपान्कृत्वा तेषां यः स्वधर्मस्तं ब्राह्मणैः सह प्रतिपादयेत् बोधयेत् ॥ ३९१ ॥

(५) नन्दनः । एतान्वानप्रस्थान् ब्राह्मणैः स्वपुरोहितादिभिः सान्त्वेन प्रशमय्य न दण्डेन स्वधर्ममविवादमविवा-
दोहितेषां स्वधर्मः ॥ ३९१ ॥

(६) रामचन्द्रः । सः पार्थिवः एतान् आश्रमादीन् ब्राह्मणैः सह सान्त्वयन् अभ्यर्च्य प्रशमय्य आदौ स्वधर्मं
स्वस्वधर्मं प्रतिपादयेत् स्वस्वाश्रमधर्मं स्थापयेत् ॥ ३९१ ॥

प्रातिवेश्यानुवेश्यौ च कल्याणे विंशतिद्विजे ॥ अर्हावभोजयन् विप्रो दण्डमर्हति माषकम् ॥ ३९२ ॥

(१) मेधातिथिः । विशन्त्यस्मिन्निति वेशो निवासस्तत्प्रतिगतः प्रातिवेश्यः पृष्ठगृहाभिमुखस्तत्र भवः प्रातिवेश्यः प्राग्दी-
र्घपठे स्वार्थिकोण एव भुवनवेश्यः पृष्ठतो वसन्तौ चेन्न भोजयेत् यदि स्वगृहमानीय कल्याणे विवाहाद्युत्सवे विंशतिमात्राय त्र-
द्विजाअन्ये भोज्यन्ते तदा माषकं सुवर्णं दण्डं दाप्यो हिरण्यमित्युत्तरत्र विशेषणादिहापि विज्ञायते । अर्हौ यदि तौ प्रातिवे-
श्यानुवेश्यौ योग्यौ भवतो न द्विषन्तौ नात्यन्तनिर्गुणौ ॥ ३९२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रातिवेश्यो निरन्तरगृहस्थः । अनुवेश्यस्तदनन्तरः । कल्याणे उत्सवे । विंशति ब्राह्मणाय-
त्र भोज्यन्ते तत्र । अर्हौ योग्यौ । विप्र इति वचनात्क्षत्रियस्य तादृग्ब्राह्मणभोजने न दोष इत्यर्थः । माषकं सुवर्णस्य
॥ ३९२ ॥

(३) कुट्टुकः । निरन्तरगृहवासी प्रातिवेश्यः तदनन्तरगृहवास्यनुवेश्यः यस्मिन्नुत्सवे विंशतिरन्ये ब्राह्मणा भोज्यन्ते
तत्र प्रातिवेश्यानुवेश्यौ प्रातिवेश्यब्राह्मणातिक्रमकारी चेति विष्णुवचनात् ब्राह्मणौ भोजनार्हावभोजयन् ब्राह्मण उत्तरत्र
हैरण्यादिग्रहणादिह रौप्यमाषं दण्डमर्हति ॥ ३९२ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्राह्मणान् दापिनो द्विजस्येतद्विशेषाभोजने दण्डमाह प्रातिवेश्येति । प्रातिवेश्यानुवेश्यौ स्वगृह-
निकटोपनिक्कटवासिनौ अर्हौ कुष्ठश्वित्रोपपातकाद्यदुष्टौ । कल्याणे उत्सवे स्वस्त्ययने वा । विंशतिद्विजे द्विजानां विंशतिर्भौ-

जनीयत्वेन यत्र तस्मिन् माषकं रौप्यमितिकेचित् । संदिग्धेषु वाक्यशेषादिति न्यायेन ह्यैरण्यमिति तु तत्रत्वंउत्तरवाक्यै-
ह्यैरण्यमिति श्रवणात् । विंशतिरिति न्यूनसंख्याव्यवच्छेदार्थम् । विप्रपदं चातुवर्ण्योपलक्षणम् ॥ ३९२ ॥

(५) नन्दनः । त्वगृहस्याभिमुखं गृहं प्रतिवेशः अभितः समीपस्थं गृहमनुवेशस्तत्रस्थौ प्रातिवेश्यानुवेश्यौ विंश-
तिद्विजे विंशतिद्विजभोजनयुक्ते कल्याणे उत्सवे ॥ ३९२ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रातिवेश्यानुवेश्यौ प्रातिवेश्यः पार्श्वगृहवर्ती अनुवेश्यः तत्पार्श्वगृहवर्ती तावहौ कल्याणे उत्स-
वे विंशतिब्राह्मणभोजने एतादृशे समये अहौ प्रातिवेश्यानुवेश्यौ विप्रः । अभोजयन् चेन्नभोजयेत्सः माषकं सुवर्णमा-
षकं दण्डं अर्हति ॥ ३९२ ॥

श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधुं भूतिकृत्येष्वभोजयन् ॥ तदन्नं द्विगुणं दाप्यो हिरण्यं चैव माषकम् ॥ ३९३ ॥

(१) मेधातिथिः । अप्रातिवेश्यार्थोयमारंभः स ब्रह्मचारिणामयं नियमः श्रोत्रियस्तादृशमेव श्रोत्रियं गुणवन्तं भूति-
कृत्येषु भूतिर्विभवस्तन्निमित्तेषु कार्येषु विभवे धनसंपत्तौ यानि क्रियन्ते गोष्ठीभोजनादीनि अथवा भूतिग्रहणंकृत्यविशेषणं भूति-
मन्तियानि कृत्यानि प्राचुर्येण प्रभूतया विवाहादीनि क्रियन्ते यत्र विंशतेरधिकनरा भोज्यन्ते तादृशेषूत्सवेषु अभोजयन्तदर्थ-
मन्नं भूतिकृत्येषु भोक्तव्यं तावद्विगुणं तस्मै दापयेद्वाज्ञेवा उभयं हिरण्यं माषकोवा ॥ ३९३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्रोत्रियमेकग्रामीणं भूतिकृत्येषु कल्याणेषु । तदर्थं दाप्यः श्रोत्रियाय माषकं राज्ञा
॥ ३९३ ॥

(३) कुल्लूकः । विद्याचारवांस्तथाविधमेव शुणवन्तं विभवकार्येषु विवाहादिषु प्रकृतत्वात् प्रातिवेश्यानुवेश्यावेव
भोजयन् तदन्नं भोजिताद्विगुणमन्नं दाप्यो हिरण्यमाषकं च राज्ञः ॥ ३९३ ॥

(४) राघवानन्दः । कदर्याय नदेर्यामित्यतः साधोरदाने दण्डमाह श्रोत्रिय इति । भूतिकृत्येषु विवाहादिषु श्रोत्रियं
दैवादुपनतं अभोजयन् नदत्तं तदन्नं तदपराधापनुत्तये तस्मै भोजननिर्वाहकद्रव्यद्विगुणं दाप्यः । राजा तु हैममाषिकं गृह्णी-
यादित्यर्थः । साधुमित्यधिकारित्वद्योतनाय विशेषणम् । तस्मादात्मज्ञं चर्चयेद्भूतिकाम इति श्रुतेः । साधुपदमात्मज्ञपरं वा
॥ ३९३ ॥

(५) नन्दनः । तदन्नं श्रोत्रियान्नं राज्ञा श्रोत्रियाय दाप्यं माषकं त्वस्मै दण्डत्वेनापेक्ष्यमाणं श्रोत्रियप्रत्याख्यानविष-
योयं दण्डविधिः ॥ ३९३ ॥

(६) रामचन्द्रः । भूतिकृत्येषु मङ्गलकार्येषु श्रोत्रियः श्रोत्रियमभोजयन् तदन्नं द्विगुणं दाप्यः । च पुनः अतिशया-
र्थं हिरण्यं माषकं दाप्यः ॥ ३९३ ॥

अन्धोजडः पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः ॥ श्रोत्रियेषूपकुर्वंश्च न दाप्याः केन चित्करमा ॥ ३९४ ॥

(१) मेधातिथिः । सप्तत्यास्थविरः प्रकृत्या विरूप इति वृत्तीया सप्ततिर्वर्षाणि यस्य जातस्य स एव मुच्यते । श्रोत्रि-
येषु वेदाध्यायिषूपकुर्वन्पादशुश्रूषादिनाकारुण्यमणावा एतेन कर्मवत्कारुण्यलिपिनो मासिमासीत्यादि दाप्याः क्षीणकोशेनापि दा-
तव्या इति केनचिद्ग्रहणम् ॥ ३९४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । जडः विकलवागादिः । पीठसर्पी पीठद्वयेन गच्छन्स्वप्नः । श्रोत्रियेषूपकुर्वन् तेषां परिच-
र्यापरः शूद्रादिः । करं निवासनिमित्तकम् ॥ ३९४ ॥

(३) कुल्लूकः । अन्धोबधिरः पङ्गुः संपूर्णसप्ततिवर्षः सप्तत्येति प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानमिति तृतीया । श्रोत्रियेषु धनधान्यशुश्रूषादिनोपकारकाः केनचिदपिक्षीणकोशेनापि राज्ञा त्वग्राह्याकरंनादापनीयाः ॥ ३९४ ॥

(४) राघवानन्दः । दण्डप्रसंगेन करादानं बुद्धिस्थं कचिन्निवर्तयति अन्धइति । जडोबधिरः पीठसर्पी पङ्गुः परायत्त गमनेन पीठवत्सर्पुशीलमस्येति सप्तत्यास्थविरः सप्तत्युत्तरवयाः एतांचतुरः शुश्रूषया धनैर्वोपकुर्वन्करंदाप्यइत्यन्वयः । श्रोत्रियेष्विति विषयसममी । केनचित्तराज्ञा करपददण्डशुल्कयोरुपलक्षणम् ॥ ३९४ ॥

(५) नन्दनः । पीठसर्पी पङ्गुः सप्तत्या वयसासप्तत्या अब्राह्मणाअप्येते करंनदाप्याः ॥ ३९४ ॥

(६) रामचन्द्रः । पीठसर्पी पीठद्वयं कराभ्यामादाय गच्छन् । सप्तत्या वयसा स्थविरः । च पुनःयः श्रोत्रियेषु उपकुर्वन् उपकारं करोति तेन केन चित् क्षीणकोशेनापि । करं निवासनिमित्तकम् दाप्याः ॥ ३९४ ॥

श्रोत्रियं व्याधितार्त्तौ च बालवृद्धावर्किचनम् ॥ महाकुलीनमार्थं च राजा संपूजयेत्सदा ॥ ३९५ ॥

(१) मेधातिथिः । संपूजनमनुग्रहः अनेकार्थत्वाद्धातूनां नहिबालादीनामन्यापूजोपपद्यते श्रोत्रियोऽत्र ब्राह्मणएवेति स्मरन्ति आर्त्तः प्रियवियोगादिना अर्किचनोदुर्गतः महाकुलीनः ख्यातिधनविद्याशौर्यादिगुणकुलेजातो महाकुलीनः आर्य-
ऋजुप्रकृतिरवक्रः एतेषां दानमानादिभिरनुग्रहः कर्तव्यः केचिदार्किचनमहाकुलीनविशेषणं व्याचक्षते ॥ ३९५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आर्त्तं शोकेन । अकिञ्चनं दरिद्रं । आर्यं आर्यप्रधानं । संपूजयेदर्थदानेन ॥ ३९५ ॥

(३) कुल्लूकः । विद्याचारवन्तब्राह्मणरोगिणपुत्रवियोगादिदुःखितं बालवृद्धदरिद्रमहाकुलप्रसूतोदारचरितान् राजा दानमानहितकरणैः संपूजयेत्सदा ॥ ३९५ ॥

(४) राघवानन्दः । न केवलमनादानं यदि ते निस्वास्तेभ्यः प्रत्युतान्धादिद्वादशेभ्यो दानमेवेत्याह श्रोत्रियइति । आर्त्तः पुत्रादिनाशेन । अकिञ्चनः निःस्वः । आर्योऽवक्रबुद्धिर्व्यवहारेपि ॥ ३९५ ॥

(५) नन्दनः । आर्त्तः पुत्रमरणादिना पुनर्वृद्धग्रहणमादरातिशयार्थं संपूजयेत्करंनदाद्यात् ॥ ३९५ ॥

(६) रामचन्द्रः । व्याधितः व्याधियुक्तः आर्त्तोऽज्वरादिना बालवृद्धौ बालान् वृद्धान् अकिञ्चनं निःस्वं आर्यं एतान् राजा पूजयेत् ॥ ३९५ ॥

शाल्मलीफलके श्लक्ष्णे नेनिज्यान्नेजकः शनैः ॥ न च वासांसि वासोभिर्निर्हरेन् च

वासयेत् ॥ ३९६ ॥

(१) मेधातिथिः । शाल्मलीनामवृक्षस्तद्विकारे फलके सहिप्रकृत्यैव दृढो भवति न च वाससोपि पातैरवयवा अस्य-
व्यवन्ते तेहि च्युता वासः पाटयेयुः न चायं जातिनियमो दृष्टो येनान्यदपि यत्काष्ठमेवंस्वभावंतत्फलकेन दोषः श्लक्ष्णेऽपरु-
षे च वासांस्यन्यदीयान्यन्यदीयैर्वासोभिर्निर्हरेत् बन्धोपरिवेष्ट्य तीर्थे प्रक्षालयितुं नयेत् बन्धनाद्वाससां विनाशो भाभूत्
अधिकं हि तानि पीडितानि भवन्ति न च वासयेत् अन्यदीयानि वासांस्यन्यस्मै प्रयच्छन्वसनार्थं न दद्यात् एतद्विवासनं वस्ते-
ऽपरस्तरं रजको वासयति अश्रुतत्वाद्दण्डस्य प्रकृतमाषकयोजना कर्तव्या ॥ ३९६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नेनिज्यात् क्षालयेत् । नेजकश्चैलनिर्णेजकः । निर्हरेत् परिवर्तयेत् । वासयेत् चिरं स्थाप-
येत् ॥ ३९६ ॥

(३) कुल्लूकः । शाल्मल्यादिवृक्षसंबन्धिफलकेऽपरुषे रजकः शनैः शनैर्वासंसि प्रक्षालयेन्परकीयैर्वस्त्रैरन्यवस्त्राणि
नयेत् न चान्यवासांस्यन्यपरिधानार्थं दद्यात् यद्येवं कुर्यात्तदाऽसौ दण्ड्यः स्यात् ॥ ३९६ ॥

(४) राघवानन्दः । दण्डार्थरजकतन्तुवायौ शिष्ययन्नाह शाल्मलीतिद्वय्याम् । फलके काष्ठमये श्लक्ष्णे मृदुनि-
नेनिज्यात् क्षालयेत् तत्रापि शनैर्ननिर्हरेत् न नयेत् । वासोभिः क्षाल्यमानैर्नवासयेदाच्छादयेदन्यं त्वं वा ॥ ३९६ ॥

(५) नन्दनः । वासोभिर्निर्हरेद्वासोभिर्निबध्यनिर्हरेत् । नचवासयेत्परान्नाच्छादयेत् ॥ ३९६ ॥

(६) रामचन्द्रः । नेजकः वस्त्रप्रक्षालकः शाल्मलीफलके श्लक्ष्णे शाल्मलीवृक्षस्य फलके पीठे श्लक्ष्णे वासांसि
शनैःशनैर्ननिज्यात्प्रक्षालयेत् । च पुनः वासोभिर्वासांसि न निर्हरेत् न परिवर्तयेत् च पुनः न वासयेत् न चिरंस्थापयेत् ।
अन्यस्मै परिधानाय भृतकेन नदद्यात् स्वयंच न परिदध्यात् ॥ ३९६ ॥

तन्तुवायोदशपलंदद्यादेकपलाधिकम् ॥ अतोऽन्यथा वर्तमानोदाप्योद्वादशकंदमम् ॥ ३९७ ॥

(१) मेधातिथिः । तन्तून्वयति तन्तुवायः कुविन्दः शाकटकादेः पटस्य कर्ता ससूत्रपलानि दशगृहीत्वा शाटकं-
यनैकपलाधिकं वस्त्रं दद्यात् अनया वृद्ध्या सर्वदद्यात् स्थूलसूक्ष्मादिवाससांरोमवतांच कल्पना कर्तव्या अन्यथा द्वादशप-
णोदण्डः वृद्धिदानेऽयदण्डोमूलच्छेदेतु सूत्राणि गणोक्तः एवंविंशति पलं यदि न ददाति वृद्धितदा द्विगुणोदण्डः एवंकल्पना-
कार्या त्रिगुणश्चतुर्गुण इत्यादि अन्येतु दण्डं राजभागमित्याहुः ॥ ३९७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तन्तूनां दशपलं गृहीतमेकपलाधिकं संमाय स्वामिने पटादीन्लतान्ययच्छेत् । एवं गणनयैव
सर्वत्र संख्यानम् । द्वादशकं तस्य तन्तोद्वादशं भागम् ॥ ३९७ ॥

(३) कुहूकः । तन्तुवायोवस्त्रनिर्माणार्थं दशपलानि सूत्रं गृहीत्वा पिष्टभक्ष्याद्यनुप्रवेशादेकादशपलवस्त्रं दद्याद्यदि त-
तोऽन्यूनं दद्यात्तदा द्वादशपणान् राजा दाप्यः स्वामिनश्चतुष्टिः कर्तव्यैव ॥ ३९७ ॥

(४) राघवानन्दः । पटाद्यर्थतन्तूनां दशपलग्रहणे एकादशपलपरिमितं वस्त्रं दद्यात् मण्डादिनाऽधिकांशस्य संभा-
व्यमानत्वात् । तदपि दानं स्वामितुष्टिपुरःसरम् । अन्यथा वर्तमानोऽदत्त पणानां द्वादश देयाराज्ञे स्वामिनि एकादशपलं च ।
अत्रोक्तं याज्ञवल्क्येन ॥ शते दशपला वृद्धिरौर्णे कार्पासिके तथा । मध्ये पञ्चपला सूत्रे सूक्ष्मे तु त्रिपलामता ॥ अधिका
ग्राह्यत्वेन ॥ कार्मिके रोमवद्धेतु त्रिंशद्भागः क्षयोमतः । नेदयः शिल्पिना ॥ न क्षयोनच वृद्धिस्तुकौशेये वाल्कलेषु च ॥
अग्नौ सुवर्णमक्षीणं द्विपलं रजतेशते ॥ अष्टौ तु त्रिपुसीसेषु ताम्रे पञ्चदशानितु ॥ एतद्विकारग्रहणकाले न्यूनं ग्राह्यम् ॥ ३९७ ॥

(५) नन्दनः । पटकतदशपलाद्दशभ्योलाभेभ्यः एकपलाधिकमेकमधिकं लभं राज्ञो दद्यात् द्वादशकं फलद्वादशभा-
गम् ॥ ३९७ ॥

(६) रामचन्द्रः । तन्तुवायायुतं नुसमार्पितं सूत्रं दशपलं सः तन्तुवायः एकाधिकं एकादशपलप्रमाणं पुनः दद्यात्
॥ ३९७ ॥

शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः ॥ कुर्युरर्घ्यथापण्यंततोर्विंशतिं नृपो हरेत् ॥ ३९८ ॥

(१) मेधातिथिः । येषु प्रदेशेषु शुल्कमादीयते तानि शुल्कस्थानानि च राजभिर्वणिग्भिः स्वप्रतिदेशनियतानि क-
ल्पितानि येषु स्थानेषु ये कुशलाः शौक्तिकाः ये धूर्तेर्न च शक्यन्ते वंचयितुं तथा सर्वेषां पण्यानामागमक्रयविक्रयसारसा-
दिविधिज्ञाविचक्षणास्तेर्भाण्डस्यागतस्यान्यदेशान्तरानीयमानस्य वार्धक्युर्युस्ततोर्विंशतिभागं राजा गृह्णीयात् किंपुनर्घक-
रणेनैतावदेव वक्तव्यं पण्यानां विंशतिभागमिति सत्यं यदा स्वरूपेण द्रव्यं राजा न गृह्णाति स्वरूपकान्युपयुज्यन्ते साट्कादीनि
विंशतिविंशतिभागः प्राग्विशतेर्न पाटनमन्तरेणोपपद्यत इत्येवमर्थमर्धकरणमविक्रेयाणामात्मोपयोगिनां नास्ति शुल्क इति

ज्ञापितुं यथापण्यएव कालानुरूप्येण न सर्वपण्यंसर्वदा विक्रीयतएकरूपेणार्धेण अतोदेशकालापेक्षया पण्यानामर्ध-
व्यवस्था न नियतोर्ध्वइति ॥ ३९८ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । शुल्कस्थानेषु पण्यविक्रयस्थानेषु । अर्घ्यं मूल्यं कुर्युर्व्यवस्थापयेयुः नियुक्ताः । विंशं
विंशतिभागैकभागं हरेदर्धकरणनिमित्तम् ॥ ३९८ ॥

(३) कुड्डूकः । स्थलजलपथव्यवहारतोरजग्रासोभागः शुल्कंतस्याऽवस्थानेषु ये कुशलाः तथा सर्वपण्यानांसा-
रासारज्ञास्ते पण्येषु यमर्धमूल्यमनुरूपंकुर्युः ततोलाभधनाद्विंशतिभागंराजा गृह्णीयात् ॥ ३९८ ॥

(४) राघवानन्दः । एवं राजकीय दण्डस्य राजसूयवत्प्राकरणिकत्वाच्छुल्कादेरपि तदन्तर्गतत्वं प्रकटयन्नाह ।
शुल्केति क्रयस्थानेषु जलस्थलव्यवहर्तृभ्योग्रासोभागः शुल्कः । अयंतु मूल्यनिर्णयनिमित्तः । सर्वपण्यविचक्षणाःत-
त्सारासारज्ञाः । अर्धमूल्यम् । यथापण्यं पण्यं विक्रयद्रव्यं तदनुरूपम् । ततोलाभधनात् विंशतिभागंहरेदित्यन्वयः ॥ ३९८ ॥

(५) नन्दनः । विचक्षणाः क्रयविक्रयविधौविवेकिनः यथा पण्यविक्रेयद्रव्यानुरूपमूल्यंकुर्युः कल्पयेयुः ततोविं-
शतिभागंनृपोहरेत् विक्रयार्थमापणमध्यआहृतंद्रव्यंसर्वदण्डत्वेनापहरेत् ॥ ३९८ ॥

(६) रामचन्द्रः । शुल्कस्थाने मौल्यस्थाने ततः लाभेसति विंशांशं नृपः हरेत् गृह्णीयात् ॥ ३९८ ॥
राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च ॥ तानि निर्हरतोलोभात्सर्वहारंहरेन्नृपः ॥ ३९९ ॥

(१) मेधातिथिः । राज्ञःसंबन्धितया प्रख्यातानि यानि भाण्डानि राजोपयोगितया यथाहस्तिनः काश्मीरेषु कुं-
कुमप्रायेषु पट्टोर्णादीनि प्रतीच्येष्वश्वादाक्षिणात्येषु मणिमुक्तादीनि यद्यस्यराज्ञोविषये सुलभमन्यत्र दुर्लभंतत्र तस्य प्रक्षा-
लनंभवति तेन हि राजानइतरेतरंसंदधते प्रतिषिद्धानि यानि राज्ञा मदीयादेशान्नैतदन्यत्रनेयं अत्रैवविक्रेयंयथा दुर्भिक्षे
धान्यमित्येवमादीनि लोभान्निर्हरतोदेशान्तरनयतोविक्रीणानस्य वा सर्वहारंहरेत्सर्वहरणंसर्वहारः अयंधनलोभान्नयतो-
दण्डः राजान्तरोपायनार्थत्वधिकतरः शारीरोपि दुर्गावरोधादिः ॥ ३९९ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । राज्ञोयोग्यान्येतानीति प्रसिद्धानि सिंहासनादीनि प्रतिषिद्धानि अन्यत्र विक्रेतुंराज्ञा ।
निर्हरतोऽन्यत्र नयतोवाणिजकस्य लोभादुचितमूल्याधिकेच्छया । सर्वहारं मूलमदत्वा तस्य सर्वस्वहरणं यथा स्यात्
॥ ३९९ ॥

(३) कुड्डूकः । राज्ञः संबन्धितया यानि विक्रेयद्रव्याणि प्रख्यातानि राजोपयोगीनि हस्त्यश्वादीनि च तद्देशो-
द्भवानि च प्रतिषिद्धानि च यथा दुर्भिक्षे धान्यदेशान्तरं नयमिति तानि लोभादेशान्तरंनयतोवाणिजः सर्वहरणंराजा
कुर्यात् ॥ ३९९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यत् राज्ञइति । प्रख्यातभाण्डानि राजयोग्यानिहस्त्यश्वमणिमुक्तादीनि प्रतिषिद्धानि
त्वयैतानि न विक्रेयाणीति तानि देशान्तरं नेतुः क्रेतुर्विक्रेतुर्वा मूल्यमदत्तैव सर्वहारंयथास्यात्तथा हरेदित्यन्वयः ॥ ३९९ ॥

(५) नन्दनः । राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि राज्ञेवोपभोक्तव्यत्वेन प्रख्यातद्रव्याणि प्रतिषिद्धानि शास्त्रेक्रयत्वेन
प्रतिषिद्धानि च निर्हरतोविक्रयार्थमाहरतःसकाशात्सर्वहारंहरेत् ॥ ३९९ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रख्यातभाण्डानि बहुमूल्यत्वे सति राजयोग्यानि । राजयोग्यानि तानिभाण्डानि लोभात् हरतः
गृह्णतः ॥ ३९९ ॥

शुल्कस्थानं परिहरन् काले क्रयविक्रयी ॥ मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम् ॥ ४०० ॥

(१) मेधातिथिः । क्रयविक्रयीवाणिज्यउच्यते शुल्कस्थानं परिहरन्नुत्पथेन गच्छन्काले वा रात्रौ शुल्काध्यक्षेषु गतेषु संख्याने मिथ्यावादीन्यूनकथयति गणनायां उपलक्षणं चैतत्संख्यानं तेन प्रच्छादनेष्वेव विधिः दाप्योऽष्टगुणमत्ययं दण्डोऽयमपह्नते तावदष्टगुणं यावान्वातस्यापह्नतस्योचितः शुल्कस्तमष्टगुणं दाप्यः आद्यमेव युक्तं अत्ययशब्दो हि तत्र समंजसः तद्धेतुत्वाद्वाच्ये । अन्ये त्वकाले क्रयविक्रयइति संबन्धं कुर्वन्ति अकालश्चागृहीते शुल्के रहसि वा प्रतिषेधो यम् ॥ ४०० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शुल्कं क्रयविक्रयराजग्राहो भागः । परिहरन् वत्सगमनादिना । अकाले रात्र्यादौ । शुल्कापचयार्थं मिथ्यावाद्यल्पतावादी । संख्याने विक्रेयद्रव्यसंख्यायां विषये । अत्ययं राज्ञोपचितं शुल्कम् ॥ ४०० ॥

(३) कुल्लूकः । शुल्कमोषणाद्योत्पथेन गच्छति अकाले रात्र्यादौ वा क्रयविक्रयं करोति शुल्कखण्डनार्थं विक्रेयद्रव्यस्याऽल्पां संख्यां वक्ति राजदेयमपलपितमष्टगुणं दण्डरूपतया दाप्यः ॥ ४०० ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यत् शुल्केति । शुल्कस्थानं हृदपट्टादिकं परिहरन् निह्वनन् क्रयाधिकारी अकाले क्रयविक्रयी मिथ्यावादी च संख्याने मूल्यसंख्यायां राजशुल्कादत्ययं अतिक्रम्यापन्नैरित्यपलपितं यावत्तदष्टगुणं सदाप्यत्ययः ॥ ४०० ॥

(५) नन्दनः । परिहरन् परिहृत्यान्यमार्गेण गच्छन्त्यदेयमतिक्रान्तं यदकाले विक्रीतं वा यावच्चक्रयविक्रये वञ्चितं यच्च संख्याने हतं तदत्ययमष्टगुणं दाप्यः ॥ ४०० ॥

(६) रामचन्द्रः । शुल्कस्थानं मौल्यस्थानं परिहरन् काले क्रयविक्रयं करोति च पुनः मूलसंख्यायां मिथ्यावादी अष्टगुणं शुल्कं कतिदूरादागतं कतिदूरागच्छन्त्यमिति दाप्यः ॥ ४०० ॥

आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ ॥ विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत् क्रयविक्रयौ ॥ ४०१ ॥

(१) मेधातिथिः । आपणभूमौ ये विक्रेतास्ते न त्वेच्छया मूल्यं कर्तुं लभेरनापि राजाक्रीणीयात्स्वरुचिरुतेन मूल्येन कथं तर्हीदमिदं निरूप्य आगमं किंप्रत्यागच्छति देशान्तरादुत्तनतथेयतो दूरादागच्छति एवं निर्गमस्थाने किंसंप्रत्येव विक्रयत उत तिष्ठति । संप्रति निष्क्रामतो द्रव्यस्य स्वल्पोपि लाभो महाफलस्तदुत्थितेन मूल्येन द्रव्यान्तराविषयेण पुनर्लाभो स्थानात् वृद्धिक्षयोऽप्यस्य वृद्धिस्तिष्ठति कीदृशो वा क्षयइत्येतत्सर्वपरीक्ष्य स्वदेशे क्रयविक्रयौ कारयेत् यथा न वणिजां पीडा भवति नापि क्रैतूणां तथार्थव्यवस्थापयेत् ॥ ४०१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आगममेतावता व्ययेनागमनमत्रैति । एवं निर्गमश्च कारात् स्थानमेतदवशिष्टं तिष्ठतीति । वृद्धिमेतावद्वर्धतइति । क्षयमानीयमानद्रव्यस्यैवापचयइतस्ततः पातैर्न ॥ ४०१ ॥

(३) कुल्लूकः । क्रयतो दूरादागतमिति देशान्तरीयद्रव्यस्यागमनं क्रयदूरं नीयतइति स्वदेशोद्भवस्य निर्गमं क्रयत्कालस्थितं क्रयमूल्यं लभतइति स्थितं तथा क्रयतो वृद्धिरित्येव कर्मकाराणां भक्ताच्छादनादिना क्रयानपक्षयइत्येवं विचार्य तथा वणिजां क्रैतूणां यथा पीडा न भवति तथा सर्वपण्यानां क्रयविक्रयौ कारयेत् ॥ ४०१ ॥

(४) राघवानन्दः । विक्रेतुरनुग्रहार्थमाह आगममिति । आगमं विदूरादानीतं निर्गमं स्वदेशाद्विदेशे नयनं स्थानं द्रव्यावस्थितकालवशात्परिमाणक्षयादि वृद्धिक्षयौ लाभालाभौ विचार्योक्तं ज्ञात्वा क्रयविक्रयौ कारयेद्वाजेति शेषः ॥ ४०१ ॥

(५) नन्दनः । आगममागमनमार्गं निर्गमं निर्गमनकालं उपक्षयरूपेण वणिजो हस्ताद्रव्यसंवासः स्थानम् ॥ ४०१ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वपण्यानां आगमं आगमस्थानं स्थापनस्थानंच तथा उभौ वृद्धिक्षयौ विचार्यक्रयविक्रयौ कारयेत् ॥ ४०१ ॥

पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे पक्षेऽथवागते ॥ कुर्वीत चैषांप्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥ ४०२ ॥

(१) मेधातिथिः । आगमनिर्गमनादेर्द्रव्यस्यानित्यत्वाद्दुपचयापचयवर्धस्यानेकरूपौ ततोर्घसंस्थापनं पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे प्रत्यक्षीकार्येन सरुत्कृतं मन्तव्यं नापि वणिजो विश्वसितव्याः किं तर्ही स्वयंप्रतिजागरणीयं यद्द्रव्यंचिरेण निष्कामति तत्र पक्षेऽर्घवेषणमन्यत्र पाञ्चरात्रिकम् ॥ ४०२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रत्यक्षमात्मगोचरम् । कालविकल्पः शङ्काल्पत्वाधिक्यापेक्षया ॥ ४०२ ॥

(३) कुल्लूकः । आगमनिर्गमोपाययोगादेः पण्यानामनियतत्वादस्थिरार्घादीनां पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे गते स्थिरप्रायार्घाणां पक्षे पक्षे गते वणिजामर्घविदांप्रत्यक्षं नृपतिरामपुरुषैर्व्यवस्थांकुर्यात् ॥ ४०२ ॥

(४) राघवानन्दः । राज्ञा क्रयादावपि तत्परेण भाव्यमित्याह पञ्चेति । स्थिरास्थिरार्थभेदेन पञ्चरात्रइत्यादिविकल्पः । तेषां वणिजामर्घस्थापनं तत्स्थानंप्रत्यक्षमामपुरुषैः कुर्यात् । यथाते विक्रीय न पलायन्तेऽपहुवते वा ॥ ४०२ ॥

(५) नन्दनः । अर्घसंस्थापनम् ॥ ४०२ ॥

(६) रामचन्द्रः । एषां पण्यवस्तूनां सर्वसंस्थापनं प्रत्यक्षं आत्मनः पुरतः नृपः कुर्वीत ॥ ४०२ ॥

तुलामानंप्रतीमानंसर्वंच स्यात्सुलक्षितम् ॥ षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥ ४०३ ॥

(१) मेधातिथिः । तुला प्रसिद्धमानंप्रस्थोद्गोणइत्यादि प्रतीमानंसुवर्णादीनांपरिच्छेदार्थयत्क्रियते सर्वतोभागे तत्सुलक्षितं राजचिन्हैरङ्कितं कार्यं स्वयंप्रत्यक्षेण परिच्छिद्य त्वमुद्रया परीक्षयेत् षट्सु षट्सु मासेषु पुनः परीक्षां कारयेदामैरधिकारिभिर्यथान विचालयन्तिकेचित् ॥ ४०३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तुलामानं कार्पासादितुलारूपमानम् । प्रतिमानं माषकादिप्रतिकृतप्रमाणम् । पार्थिवेन लक्षितं मुद्रितम् ॥ ४०३ ॥

(३) कुल्लूकः । तुलामानंसुवर्णादीनांपरिच्छेदार्थयत्क्रियते प्रतिमानंप्रस्थोद्गोणादि तत्सर्वस्वनिरूपितं यथास्यात् षट्सु षट्सु मासेषु गतेषु पुनस्तत्सर्वसम्यपुरुषैर्नृपतिः परीक्षयेत् ॥ ४०३ ॥

(४) राघवानन्दः । अत्रापि राज्ञा सावधानेन भाव्यमित्याह तुलेति । तुला कार्पासलवणादिपरिच्छेदिका मानं प्रस्थोद्गोणादि प्रतीमानं सुवर्णादीनां परिच्छेदार्थयन्निरूपितं सर्वं तत् सुलक्षितं त्वमुद्रामुद्रितं तुलादि धूर्तवणिजः कदाचित् न्यूनाधिकं कुर्वन्तीति कृत्वा परीक्षयेद्भयादिकं त्यक्त्वा पुनर्मुद्रयेत् षट्सु षट्सु इति वीप्साप्रत्यक्षाभिप्राया ॥ ४०३ ॥

(५) नन्दनः । मानंप्रस्थादिलक्षितं राजनामाङ्कनादिना ॥ ४०३ ॥

(६) रामचन्द्रः । तुलामानं तुलयामीयते तत् तुलामानं प्रतीमानं सुवर्णमानं सुलक्षितं स्यात् राज्ञोमुद्रादिनाऽङ्कितम् ॥ ४०३ ॥

पणं यानंतरे दाप्यंपौरुषोऽर्घपणंतरे ॥ पादंपशुश्च योषिञ्च पादार्धरिक्तकः पुमान् ॥ ४०४ ॥

(१) मेधातिथिः । नदीतीरे यानंगच्छीशकयादि तरेण पादं दाप्यं । भाण्डपूर्णानामुत्तरत्रोपदेशाद्विक्तभाण्डानां यानानां यानद्रव्यानयनार्थमुत्तार्यमाणानामयं राजभागः । पौरुषवाहोभारोद्रव्यानयनार्थमानीयमानोर्घपणं दाप्यः । पशुगौमहिष्यादिः

पादंस्त्रीचरिक्तकोन किंचिद्योगृहीतवान्भारंसपुमान्पादार्थदाप्यः रिक्तस्य पुंसोनदीलङ्घनसामर्थ्यासंभावनया लाघवादल्पमादानं स्त्रीअशक्तत्वात्स्वयंतरेण बहुदाप्यते तरे तरनिमित्तं ॥ ४०४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यानं शकटादि । पौरुषं पुरुषहार्योभारः । पादं पणस्य । पशुश्छागोमेघइत्यादिः । रिक्तकोभारशून्यः ॥ ४०४ ॥

(३) कुहूकः । भाण्डपूर्णानि यानानीतिवक्ष्यति तेन रिक्तशकटादियानन्तरविषये पणंदाप्यं एवंपुरुषभारोर्धपणंतरपण्यंदाप्यः । पशुश्च गवादिः पणचतुर्थभागं भाररहितोमनुष्यः पणाष्टभागंदापनीयः ॥ ४०४ ॥

(४) राघवानन्दः । नद्याद्युत्तरणे दाशादिद्वारा शुल्कविभागमाह पणमिति । तरे नद्याद्युत्तरणे कार्ये यानं रिक्तकंशकटादि प्रति पणं तरशुल्कं दाप्यमित्यन्वयः । एवमुत्तरत्र । पौरुषोमनुष्यवाह्यभारः तत्रार्धपणः । पशुयोषितोभारवहना प्रसिद्धेः प्रसिद्धौवा तस्मात्रमेव वचनबलात् । रिक्तकोवाह्यरहितः ॥ ४०४ ॥

(५) नन्दनः । यानंशकटादिकं तरे नावि पणंपणमितिकथंदाप्यंरिक्तथंशुल्कं पौरुषः पौरुषवाह्यभारःभारोऽर्द्धपणमित्तरिक्तथंदाप्यं पशुश्चयोषिच्चपादंपणपादंदाप्ये पुष्पान्पुरुषोनिर्भरः पादार्द्धपणपादार्द्धमित्तरिक्तथंदाप्यमितियावत् ॥ ४०४ ॥

(६) रामचन्द्रः । वाहनस्य नद्यां तरे तरणार्थं पणोदाप्यः पौरुषेतेरेऽर्धपणोदाप्यः । पशुर्योषिच्च पादम् । रिक्तकः वस्तुशून्यः पुमान्पादार्धम् । पणस्वरूपमाह ॥ वराटकानांशकद्वयं च सा काकिणी ताश्च पणश्चतस्रः ॥ वराटकानामश्रोतिः ८० पणइति लीलावत्याम् ॥ ४०४ ॥

भाण्डपूर्णानि यानानि तार्थदाप्यानि सारतः ॥ रिक्तभाण्डानि यार्त्किचित्पुमांसश्चापरि

च्छदाः ॥ ४०५ ॥

(१) मेधातिथिः । भाण्डद्रव्यं वस्त्रब्रीह्यादितेन पूर्णानि यानानि सारतस्तार्थतारार्थदाप्यानि यदि महाध्वंस्त्रादि तत्र बह्वारोपितंतदा बहुदाप्यानि अथ ब्रीह्यादिनानातिचारेण तदालं एवंनद्याः सुतरदुस्तरत्वेन कल्पना कर्तव्या । रिक्तभाण्डानि यानानि यार्त्किचित्पणपादानि भाण्डशब्दोत्रधनवचनः ये च परिच्छदाकोशतोऽपरिच्छेदास्ते न पादार्धमपि तु यार्त्किचित्तोधिकंन्यनंवा अत्रन शक्योनियमोऽतः कल्पनैव शास्त्रार्थः ॥ ४०५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भाण्डपूर्णानि पण्यद्रव्यपूर्णानि । रिक्तभाण्डानि चर्मभाण्डादीनि । अपरिच्छदाः परिकरशून्याः । अत्र यानादीनांदापनंतन्नेतृपुरुषदापनपरम् ॥ ४०५ ॥

(३) कुहूकः । पण्यद्रव्यपूर्णानि शकटादीनि द्रव्यगतोत्कर्षापेक्षयाऽऽतरंदाप्यानि द्रव्यरहितानिच गोनीकंबलादीनि यार्त्किचित्त्वल्पंतार्थदाप्यानि अपरिच्छदादरिद्राउक्तपदार्थदानापेक्षया यार्त्किचिदपनीयाः ॥ ४०५ ॥

(४) राघवानन्दः । भाण्डपूर्णानि विक्रयद्रव्यैःपूर्णानि भाण्डानि येषुतानि यानानि शकटादीनि । तार्थं तरशुल्कं पणद्वयादिकम् । सारतः द्रव्यस्य सारासारतः । रिक्तभाण्डानि घटादिशून्यत्वतन्त्राणि शून्ययानंप्रतिपणमात्रस्योक्तत्वात् । अपरिच्छदादरिद्राः प्रदानेऽप्यशक्ताः किंचिदाप्याइति ॥ ४०५ ॥

(५) नन्दनः । सारतः तार्थभाण्डसारुध्येण तार्थन्तरः भाण्डानि भाररहितानि यानानियार्त्किचिद्रव्यंतत्कालसन्निहितंतार्थदाप्यानि परिहितयार्त्किचित्ताम्बूलादिकंतार्थदाप्याः ॥ ४०५ ॥

(६) रामचन्द्रः । भाण्डपूर्णानि पण्यद्रव्यपूर्णानि यानानि तार्थं तरणार्थं सारतःवस्त्वनुसारतः दाप्यानि । रिक्त-

भाण्डानि यत्किञ्चिद्यत्किमपि देयं च पुनः अपरिच्छदाः वस्तुशून्याः पुमांसः यत्किञ्चिद्वाप्याः दातुयोग्याअर्हाः ॥ ४०५ ॥

दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत् ॥ नदीतीरेषु तद्विद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥ ४०६ ॥

(१) मेधातिथिः । पारावारोत्तारणे पूर्वदानं अयं नावाग्रामान्तरगमने दीर्घाध्वनि योजनादिपरिमाणेनागन्तव्ये यथादेशं यत्किञ्चिददेशे यत्किञ्चिदनाविकैः स्थापितं तदेव यथाकालं कालो वर्षादिबहूदकस्तत्रान्यन्मूल्यं स्वल्पोदकायां सरिति चिरेण ग्रामप्राप्तौ नाविकानामधिकतरायासवतामधिकमूल्यं तन्मूल्ये कारणे कार्यशब्दस्तरे भवेदिति यावद्यावद्दीर्घो देशस्तावत्तरपणो वर्धते एतच्च नदीतीरेषु विद्यात् । समुद्रे सागरे नास्ति तरलक्षणं न शक्यते लक्षयितुं कतियोजनानि नौर्व्यूढा येन तदनुसारेण मूल्यं कल्पन्ते न दनदीषु शक्यते ज्ञातुमयं पन्था योजनमात्रो द्वियोजन इति तत्र हि तत्र ग्रामाः परिमाणचिह्नं तत्रैकयोजने ऽध्वनि यन्मूल्यं द्विगुणं तद्वियोजने समुद्रे तु बहुवाह्या नौ न च मुष्टुशक्यते योजनादिपरिच्छेदः कर्तुमन्येवोक्तं समुद्रे नास्ति लक्षणमिति ॥ ४०६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यथादेशं क्रोशमात्रं नदीपात्रमित्याद्यनुरूपेण । यथाकालं मल्पवर्त्मत्वेपि स्रोतसा विलम्बादिना नदीतीरेषु तद्विद्यादिति । एतद्वयं नदीतीरेष्वेवेत्यर्थः । नास्ति लक्षणं नियामकं तत्र विलम्बादि न नियन्तुं शक्यमतस्तत्तरे ऽधिकग्रहोपि न दोषाय ॥ ४०६ ॥

(३) कुङ्कुमः । पूर्वपारावारे तरणार्थमुक्तमिदानीं नदीमार्गे दूराध्वनि गन्तव्ये प्रबलवेगस्थिरोदकनद्यादिदेशग्रीष्मवर्षादिकालापेक्षया तन्मूल्यं कल्पनीयं । एतच्च नदीतीरे बोद्धव्यं । समुद्रे तु वाताधीनपोतगमनत्वात्त्वायत्तत्वाभावे तरपण्यविशेषज्ञापकं नदीवद्वियोजनादिकं नास्ति ततस्तत्रोचितमेव तरपण्यं ग्राह्यम् ॥ ४०६ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च दीर्घेति । यथादेशं नौकया यदि दूरदेशं गच्छति कालं वा वर्षवातादियुक्तं तत्र तदनु रूपस्तरे देयः । समुद्रे देशपरिमाणाभावात् सर्वदा वाताक्रान्तत्वेन तदधीनगमनत्वाच्च नास्ति लक्षणम् योजनादिनियमितं तार्यमित्यत उचितमेव नौयायिभिः स्थापितं ग्राह्यमिति ॥ ४०६ ॥

(६) रामचन्द्रः । दीर्घाध्वनि दीर्घमार्गे यथादेशं क्रोशमात्रं नदी यात्रानुसारेण यथाकालं तरो भवेत् । सोऽत्र कृतविलम्बानुसारेण नदीतीरेषु नद्याः तरणेषु तरणं तरणप्रकारं ज्ञेयं । समुद्रे समुद्रतरणे लक्षणं नियमः नास्ति ॥ ४०६ ॥

गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः ॥ ब्राह्मणालिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं तरे ॥ ४०७ ॥

(१) मेधातिथिः । द्वाभ्यां मासाभ्यामृतुदर्शनस्य व्यक्तगर्भास्त्री भवति तस्या अनुग्राह्यत्वात्तरपणो न ग्राह्यः । प्रव्रजितश्चतुर्थश्रमी मुनिस्तापसः ब्राह्मणालिङ्गिनो ब्रह्मचारिणो ब्राह्मणग्रहणं विशेषणं तेन बाह्यप्रव्रज्यालिङ्गधारिणानैष विधिः तरप्रयोजनं तारिकं पणादि तरनिमित्तं न दाप्याः वृत्तानुरोधात्तारिकमिति सिद्धे तरग्रहणम् ॥ ४०७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मुनिर्वनस्थः । लिङ्गिनो ब्रह्मचारिणः । तारिकं तरशुल्कम् ॥ ४०७ ॥

(३) कुङ्कुमः । संजातगर्भा स्त्री मासद्वयाद्धर्वं तथा प्रव्रजितो भिक्षुर्मुनिर्वानप्रस्थो ब्राह्मणाश्च लिङ्गिनो ब्रह्मचारिणः तरमूल्यं तरे न दाप्याः ॥ ४०७ ॥

(४) राघवानन्दः । रिक्तपुरुषयोषितोस्तार्यत्वमुक्तं तद्विशेषे तन्निषेधति गर्भिणीति । द्विमासादिः विदितगर्भा । मुनिर्वानप्रस्थः । लिङ्गिनो ब्रह्मचारिणः प्रव्रजितपदेन संन्यासिनो ग्रहणात् ॥ ४०७ ॥

(५) जन्द्रनः । दीर्घाध्वन्यनेकदिनगन्तव्याध्वनि दैर्घ्यानुगुण्येन तरः शुल्कं पणं यानमित्यादिनोक्तस्य विषयमुक्त-

राद्धेन नियच्छति लक्षणं शुल्कनिर्णयम् । मुनिर्वानप्रस्थः लिङ्गिन्स्तीर्थयात्रादिपराः ब्राह्मणग्रहणेन सिद्धेऽपि प्रव्रजितग्रहणं क्षत्रियस्य क्वचित्सृष्ट्यन्तरे सन्यासो भवेदिति तारिकंतरः शुल्कम् ॥ ४०७ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रव्रजितः यतिः मुनिर्वानप्रस्थः लिङ्गिनोगैरिकादिना तरे कैवर्ते तारिकं मौल्यं न दाप्याः । न दातुं योग्याः ॥ ४०७ ॥

यन्नावि किञ्चिद्दाशानां विशीर्येतापराधतः ॥ तद्दाशैरेव दातव्यं समागम्य स्वर्तोशतः ॥ ४०८ ॥

(१) मेधातिथिः । नाव्यारोपितभाण्डंतरणिकायां यदि दाशानां नाविकानामपराधादावर्तमानजलेन प्रदेशेन नयतां वातस्थानं ज्ञात्वा दृढबन्धनजलप्रवेशमकुर्वतां व्यादिनहनीभिरयोमयीभिश्चर्मबन्धैः सूत्रबन्धैर्वा शिथिलीकृतवातां यदि भाण्डं विशीर्येत विनाश्येत तदा तैरेव दातव्यं स्वर्तोशतः स्वराजान्नभागाद्भाण्डस्वामिने समागम्य यावन्तो नाव्यारूढा दाशाः ॥ ४०८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दाशानामपराधत इति किञ्चिद्दण्डजो विशीर्येत नश्येत । स्वर्तोशतः स्वधनात् न राजधनात् ॥ ४०८ ॥

(३) कुल्लूकः । नौकारूढानां यत्किञ्चिन्नाविकापराधेन नष्टद्रव्यं तन्नाविकैरेव मिलित्वा यथा भागं दातव्यम् ॥ ४०८ ॥

(४) राघवानन्दः । नौयायिनां द्रव्यनाशे दाशानां दण्डमाह यदिति । दाशानामपराधतः पथिकस्य विशीर्येत नाशंगच्छति वस्त्रादिकं समागम्य मिलित्वा त्वांशतः स्वत्वांशैः दातव्यमित्यन्वयः ॥ ४०८ ॥

(५) नन्दनः । विशीर्येत जले पतेत् । समागम्य संहृत्य तद्दातव्यं विशीर्णद्रव्यप्रत्यर्पणम् ॥ ४०८ ॥

(६) रामचन्द्रः । यत्किञ्चित्सद्वस्तु दासानां कैवर्तानां अपराधतः नाविनौ कायां विशीर्येत जरयेद्वस्तु दासैरेव दातव्यं किञ्चित्वा त्वतः अंशतः समागम्य संगृह्य ॥ ४०८ ॥

एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः ॥ दाशापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः ॥ ४०९ ॥

(१) मेधातिथिः । नौभिर्यान्ति तच्छीला नौयायिनस्तेषामेषविधिरुक्तो यथा दाशापराधाद्वत्तभ्रष्टमुदके तद्द्युर्दैविके दोषउत्पाते वातादिना नौभङ्गे नास्ति नाविकानां द्रव्यनाशे निग्रहः एषस्थले भाण्डवाहकानां भारिकाणां वा न्यायः यद्यप्रमादेन प्रक्रामति भारिको गृहीतदण्डावलंबनो दृढबन्धोपरि भागो कस्माद्दृष्ट्या पथि कर्दमीकृते पतितस्य भाण्डं नश्येन्न भारिकस्य दोषः स्यात् ॥ ४०९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दैविके वात्यादिना द्रव्यनाशे । निग्रहो तद्द्रव्यग्रहः ॥ ४०९ ॥

(३) कुल्लूकः । नाविकापराधाद्युदके नष्टतन्नाविकैरेव दातव्यमिति पूर्वोक्तमनूदितं दैविके नास्ति निग्रह इति विधातुं नौयायिनामेव व्यवहारस्य निर्णयउक्तः । दैवोपजातवातादिना नौभङ्गेन धनादिनाशे नाविकानां दण्डः ॥ ४०९ ॥

(४) राघवानन्दः । दैवाद्व्यनाशे दाशोन दण्डभागित्याह एष इति । नौयायिनां नौकयागंतुशीलानाम् । निग्रहो दण्डादिः ॥ ४०९ ॥

(५) नन्दनः । एषः पूर्वोक्तश्लोकोक्तः दैविके क्रीतेऽपराधे निग्रहो नास्ति न प्रत्यर्पणम् ॥ ४०९ ॥

(६) रामचन्द्रः । दैविके वात्यादिकृतेनाशे निग्रहः दण्डः नास्ति ॥ ४०९ ॥

वाणिज्यं कारयेद्वैश्यं कुसीदं कृषिमेव च ॥ पशूनां रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम् ॥ ४१० ॥

(१) मेधातिथिः । इह केचिद्वाचक्षते अनिच्छन्तावपि वैश्यशूद्रौ बलादेव तानि कर्माणि कारयितव्यौ यतः पतयोः

स्वधर्मोऽयं सत्यपि दृष्टार्थत्वेऽदृष्टार्थता विद्यते नियमविधित्वादेवं च सति ब्राह्मणोऽपि हठात्प्रतिग्राहयितव्य इत्यापतति पक्ष-
एव दोषत्वेनायमुक्त इति चेदत्राप्येष एव पक्षस्तदयुक्तं सत्याधर्मार्थितायां शास्त्रतोऽनियमः न तु विधिबन्धनैव प्रवृत्तिर्यत्र स्वयं प्रयोज-
कमस्ति तत्र विधिः प्रयोक्तृत्वं नियमांशे तु विधेर्व्यापारः स चेदीदृशोऽनियमः वैश्यमेव कारयेद्वाणिज्यमन्यकुर्वाणमसत्यामापादिद-
ण्डयेत् एवं ब्राह्मणमेव प्रतिग्रहं तथा च प्रतिग्रहसमर्थोऽपि संतोषपरश्च स्यादित्यापद्यते यदपि श्रूयतेऽनिच्छतावपीति सौम्यवादः
शूद्रमेव दास्यमित्येवं सर्वत्र नियमरूपता द्रष्टव्या ॥ ४१० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कुसीदं वृद्धिजीवनम् । दास्यं मलोच्छिष्टापनयनादिकर्म ॥ ४१० ॥

(३) कुड्डूकः । वाणिज्यकुसीदरुषिपशुरक्षणानि वैश्यं कारयेत् । शूद्रं च राजा द्विजातीनां दास्यं कारयेत् । अकुर्वाणौ
वैश्यशूद्रौ राज्ञोदण्ड्यावित्येवमर्थोऽयमिहोपदेशः ॥ ४१० ॥

(४) राघवानन्दः । राजा हि धर्मस्य कारणमिति ज्ञापयंस्तस्य वैश्यादीनां स्वस्वधर्मप्रवर्तकत्वमाह वाणिज्य-
मिति । कुसीदं ॥ अशीतिभागो वृद्धिः स्यान्मासिमासिबन्धक इत्याद्युक्तलभ्यम् । शूद्रं दास्यं सेवां कारयेदित्यर्थः ॥ ४१० ॥

(५) नन्दनः । द्विजन्मनां त्रैवर्णिकानाम् ॥ ४१० ॥

(६) रामचन्द्रः । शूद्रं द्विजानां ऋणार्थं राजा दास्यं कारयेत् ॥ ४१० ॥

क्षत्रियंचैव वैश्यंच ब्राह्मणो वृत्तिकर्षितौ ॥ बिभृयादानृशंस्येन त्वानि कर्माणि कारयन् ॥ ४११ ॥

(१) मेधातिथिः । ब्राह्मणस्य च वृत्त्याकर्षितौ ब्राह्मणो बिभृयादन्नदानादिना क्षत्रियवैश्ययोर्भरणं कुर्यादानृशं-
स्येनानुकम्पया त्वानि कर्माणि कारयेत् । ब्राह्मणस्य यानि त्वानि समित्कुशोदकुंभाहरणादीनि अथवा क्षत्रियवैश्ययो-
र्यानि त्वानि क्षत्रियोग्रामरक्षादौ नियोक्तव्यो वैश्यः त्वरुषिपशुपाल्यादौ महाधनो यो ब्राह्मणो महापरिषच्च सामर्थ्यात्तस्यैष वि-
धिः त्वानि कर्माणीति वचनात् दास्यं कारयितव्यो गार्होतीच्छिष्टमार्जनादि ॥ ४११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । त्वानि कर्माण्यस्त्रधारणरुष्यादीनि ॥ ४११ ॥

(३) कुड्डूकः । ब्राह्मणः क्षत्रियवैश्यौ भृत्यभावेन पीडितौ करुणया त्वानि कर्माणि रक्षणरुष्यादीनि कारयन्त्या-
साच्छादनादिना पोषयेत् । एवं धनवान् ब्राह्मणस्तावपगतावबिभ्रन् राजा दण्डनीय इति प्रकरणसामर्थ्याद्भ्रम्यते ॥ ४११ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्राह्मणस्यानृशंस्यं वदन् विदुः क्षत्रिययोस्तत्पोष्यतामाह क्षत्रियमिति । त्वानि विप्रसंबन्धिरु-
ष्यादीनि ॥ ४११ ॥

(५) नन्दनः । त्वानि कर्माणि कारयन्तु दासकर्माणि तानि कारयतो दण्डविधानार्थोऽयमारम्भः ॥ ४११ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणो वृत्तिकर्षितौ क्षत्रियवैश्यौ आनृशंस्येन बिभृयात् त्वानि अस्त्रधारणरुष्यादीनि का-
रयेत् ॥ ४११ ॥

दास्यन्तु कारयँल्लोभाद्ब्राह्मणः संस्कृताद्विजान् ॥ अनिच्छतः प्राभवत्याद्राज्ञा दण्ड्यः

शतानि षट् ॥ ४१२ ॥

(१) मेधातिथिः । संस्कृता उपनीता यद्यपि द्विजग्रहणादेवैतल्लभ्यते तथापि त्रैवर्णिकजात्युपलक्षणार्थं न विज्ञायीति
यो ब्राह्मणः समानजातीयान् दास्यं पादधावनोच्छिष्टावकरणं संमार्जनादिकं रूपमनिच्छतः प्रभवतो वाचः प्राभवत्यं प्रभुत्वं शक्त्य-
तिशयोगतो बलादिना यः कारयति स षट्शतानि दण्ड्यः लोभादेतद्वेषादिभिस्त्वधिको दण्ड्यः । शत्रन्तस्य भवतेर्भावप्रत्य-

ये प्राभवत्यादिति रूपं प्रभुत्वेनेति वचनादुरोर्नदोषः अनिच्छतइति वचनादिच्छतामन्योदण्डः ॥ ४१२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रभुत्वेन शक्तत्वेन । प्राभवत्यादितक्वचित्पाठस्तत्रापि प्रभुत्वार्थत्वेन तन्नेयम् ॥ ४१२ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रभवतोभावः प्राभवत्यं ब्राह्मणः । कृतोपनयनान्द्विजातीननिच्छतः प्रभुत्वेन लोभाद्दास्यकर्मपाद-
धावनादिकारयन्मृशतानि दण्ड्यः ॥ ४१२ ॥

(४) राघवानन्दः । दास्यमनिच्छतोब्राह्मणस्य तत्कारणेदण्डमाह दास्यमिति । लोभात्कर्मदाक्षिण्यादिज्ञानस्यसं-
स्क्रुतानिति ब्राह्मणादीनां दास्यत्वे न दोषः । प्राभवत्यात् भवणेश्वर्यात् प्रभोर्भावः प्राभवत्यं तस्माद्दास्यं कारयन् ब्राह्मणान्
ब्राह्मणोपिदण्ड्यइति ॥ ४१२ ॥

(५) नन्दनः । एतान्क्षत्रियवैश्यान् । प्राभवत्वात्प्रभावेन समृद्ध्या ॥ ४१२ ॥

शूद्रन्तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा ॥ दास्यायैव हि सृष्टोसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा ॥ ४१३ ॥

(१) मेधातिथिः । क्रीतमक्रीतं भक्ताद्युपनतवंक्ष्यमाणस्य विधेरनुवादोयं दास्यायैवेत्यर्थवादः ॥ ४१३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अक्रीतं भक्तादिभृतम् ॥ ४१३ ॥

(३) कुल्लूकः । शूद्रं पुनर्भक्तादिभृतमभृतं वा दास्यं कारयेत् यस्मादसौ ब्राह्मणस्य दास्यायैव प्रजापतिना सृष्टः ॥
॥ ४१३ ॥

(४) राघवानन्दः । शूद्रस्तु भृतिदानादाने दासएवेत्याह शूद्रत्विति । असौ शूद्रस्त्रैर्वर्णिकस्य दास्याय दासोचित-
कर्मणे सृष्टोविशेषतोब्राह्मणस्यातस्तंदास्यंकारयेदेव ॥ ४१३ ॥

(५) नन्दनः । क्षत्रियंचैव वैश्यंचेत्यादिश्लोकत्रये ब्राह्मणशब्दस्त्रैर्वर्णिकोपलक्षणार्थः ॥ ४१३ ॥

(६) रामचन्द्रः । दास्यायैव दासस्यभावो दास्यम् ॥ ४१३ ॥

न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रोदास्याद्विमुच्यते ॥ निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदपोहति ॥ ४१४ ॥

(१) मेधातिथिः । यमाश्रितः समभिः दाशयोनिभिस्तेन निसृष्टोपि दास्यायैवेत्यर्थवादः न स्वामिनानिसृष्टोपि
किन्तुनिसर्गजंसहजंजातिसहभाविकंतस्माच्छूद्रोदास्यमपोहत्यपनयति यथा शूद्रजातिर्नतस्यापनेतुंशक्यैवंदास्यमपि अर्थ-
वादोयंयतोवक्ष्यति निमित्तविशेषे शूद्रस्य वादास्यान्मोक्षः ॥ ४१४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निसृष्टोदास्यान्मोचितः । दास्यात् दासकर्मकरणात् ॥ ४१४ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मादसौ ध्वजादृतत्वादिना दासत्वगतः सतेन त्यक्तः त्वदास्याभावेपि शूद्रोब्राह्मणस्य दास्या-
न्विमुच्यते तस्माद्दास्यंशूद्रस्य सहजंकः शूद्रत्वजातिमिवदास्यमपनयति अदृष्टार्थमप्यवश्यंशूद्रेण ब्राह्मणादिद्विजशुश्रूषा-
कर्तव्येत्येवपरमेतत् अन्यथा वक्ष्यमाणदास्यकरणपरिगणनमनर्थकंस्यात् ॥ ४१४ ॥

(४) राघवानन्दः । ननु स्वामिना त्यक्तस्य शूद्रस्य दास्यमस्ति न वा नास्तिचेत्प्राप्तं स्वातन्त्र्यं तत्राह नेति । निसृ-
ष्टोपि त्यक्तोपिदास्याविमुक्तौहेतुः निसर्गजमिति । अग्रेहृष्मप्रकाशवत्स्वाभाविकं तेनानर्घ्यादौ बलादपि शूद्राद्धनं ग्राह्यमि-
तिभावः ॥ ४१४ ॥

(५) नन्दनः । तस्य तद्दास्यंनिसर्गजं हि तद्दास्यंतस्मात् ॥ ४१४ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्वामिना निसृष्टः आज्ञमःशूद्रः दास्यात् दासभावात् न विमुच्यते । तत् दास्यं तस्य निसर्गजम् ।
तस्माद्दास्यभावात्तंशूद्रं कः पुरुषः अपोहति ॥ ४१४ ॥

ध्वजादतोभक्तदासोगृहजः क्रीतदत्रिमौ ॥ पैत्रिकोदण्डदासश्च समैते दासयोनयः ॥ ४१५ ॥

(१) मेधातिथिः । ध्वजग्रहणंवाहनोपलक्षणार्थं ध्वजिनीसेनोच्यते ततआदृतः संग्रामे जितः सन्दासीकृतः किं-
पुनरिदंक्षत्रियस्य वचनंयुद्धेजितः क्षत्रियोदासीभवति नेति ब्रूमः शूद्रस्यैव प्रकृतत्वात् दास्यायैवहिमृष्टोसाविति स्वामिनं-
जित्वा तदीयोदासआदृतः आहर्तुर्दास्यंप्रतिपद्यते ननुशूद्रस्य विशेषेणैव दास्यमुक्तंनिसर्गजंतत्तस्येति नैव तथासत्यव्यव-
स्थास्यात्कस्यासौ दासइति न विज्ञायते सर्वे हि त्रैवर्णिकास्तस्य दासाः पूर्वापरनरवतश्चानियमोऽविधित्वात् तस्य तु न
ते सर्वएवोत्तरेपरिचरेयुरिति क्षत्रियादीनामपिदास्यमस्ति तदसत् अन्यदास्यमन्यापरिचर्या निरुष्टकर्मकारित्वमप्यज्ञातस्य
दास्यंसर्वस्याप्रेषितस्याप्रतिबन्धः परिचर्यातु शरीरसंवाहनमर्थदारादिना नारदेनचैतत्प्रपञ्चितं । भक्तलाभार्थंदास्यंप्रतिपन्नो-
भक्तदासः । गृहे जातो गृहजोदास्यामुत्पन्नो गर्भदासः । क्रीतो मूल्येन स्वामिनः सकाशात् । दत्रिमः प्रीत्याऽदृष्टार्थं वा दत्तः । क्रमा-
गतः पैत्रिकः । अथ गृहजस्यास्य च कोविशेषो गृहजस्तदीयायामेव दास्यांजातः इतरस्तु क्रमागतः । दण्डदासो राज्ञे दण्डं दातु-
मशक्तो दासो क्रियते कर्मणापि समंकुर्यादित्यवर्णस्यापि दास्यमिच्छन्ति तदयुक्तं अन्यदास्यमन्यच्च तत्कर्मकारित्वं न चायं-
दण्डो येनान्तर्भवेत् न च दासयोनिपुरुषधारणमुक्तं केवलं कर्मणापीति तथा दासकर्माप्यस्ति ननु च धर्मोपनतोपि शूद्रो दासइ-
ष्यते तत्र कथं समदासयोनयः नैषदोषः न तस्योत्पत्तिकं दासत्वमिच्छाधीनत्वाद्धर्मार्थिनो न हि तस्य दानाधानक्रियायुज्यन्ते
क्रीतगृहजादिदासवत् एवंहुक्तं यथायथा हि सद्गुणमिति तेनैवं ब्रुवतैतत्प्रदर्शितं भवति न तस्य नित्यं दास्यां किं तर्हि फलविशे-
षार्थिनः ततश्चानिच्छतो दास्यमस्ति अतो यदि शूद्रो विद्यमानधनं स्वातन्त्र्येण जीवेद्वाङ्मनाद्यनपाश्रितत्वेन जातु दुष्येत् ॥ ४१५ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । ध्वजादतो युद्धजित इति कश्चित् । ध्वजलिङ्गं तेनादृतो वडवादृतापरनामा दासीसंबन्धाद्दा-
स्यंप्राप्तइतियावदिति तु युक्तम् । भक्तदासो दुर्भिक्ष्य भक्तदानेन दासीकृतः । गृहजो दासांजातः । दान्त्रिमो दत्तः केनचित् । पै-
तृकः पितृतोदायभागादागतः । दण्डदासो दण्डदेयस्य शोधनार्थं दास्यंयातः । प्रव्रज्यावसितो राज्ञो दासइत्येवं रूपो वा । दण्डार्थ-
दास्यादण्डदासः । दासरूपायोनयो जातयः ॥ ४१५ ॥

(३) कुल्लूकः । संग्रामस्वामिसकाशाज्जितो भक्तलोभाभ्युपगतदास्यो भक्तदासः तथा दासीपुत्रः मूल्येन क्रीतोऽन्येन
दत्तः पित्रादिक्रमागतो दण्डादिधनशुद्ध्यर्थं स्वीकृतदास्यभाव इत्येतानि समध्वजादृतत्वादीनि दासत्वकारणानि ॥ ४१५ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र कतिविधा दासा इत्यपेक्षायामाह ध्वजेति । ध्वजादृतः संग्रामे स्वामिसकाशाजितः ।
भक्तादिलोभेन दासत्वं गतो भक्तदासः । गृहजो दास्यांजातः । दत्रिमः अन्येन दत्तः । दण्डदासः दण्डादिधनशुद्ध्यै दास्यंग-
तः । दासयोनयः दासो दास्यं तस्य योनिः निमित्तं संग्रामजित्वादियेषु ते तथा ॥ ४१५ ॥

(५) नन्दनः । दास्यप्रसङ्गाद्दासभेदानाह ध्वजादृतइति । ध्वजशब्देनात्र युद्धमुपचर्यते ध्वजादृतो युद्धनिर्जितः । भ-
क्तदासोऽन्जदानेन स्वीकृतः । गृहजो दासीपुत्रः । क्रीतदत्रिमौ क्रयदानस्वीकृतौ । पैतृकः क्रमागतः दण्डदासः प्रव्रज्यावसितः
दासत्वं हि तस्य दण्डः धनाभावे न दण्डद्रव्यार्थं पित्रादिना दास्यप्रवेशितः स्वयं वा प्रविष्टइति केचित् ध्वजादृतादयो भाव-
प्रधानानिर्देशाः । एते ध्वजादृतत्वादयो दस्युयोनयः स्वकारणानि ॥ ४१५ ॥

(६) रामचन्द्रः । ध्वजादृतः युद्धजितः १ भक्तदासः २ गृहजः ३ क्रीतः ४ दत्तः ५ पैतृकः ६ पितृपितामहादा-
गतः दण्डदासः ७ समैते दासयोनयः ॥ ४१५ ॥

भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रयएवाधनाः स्मृताः ॥ यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥ ४१६ ॥

(१) मेधातिथिः । एते त्रयोऽर्जितधनाअप्यधनाः स्वामिनो धनं यत्किञ्चित्ते धनमर्जयन्ति तद्धनं तस्य त्वयस्य ते सत्वमापन्नाः भार्याधनं भर्तुः पितुः पुत्रस्य स्वामिनो दासस्य ननु च यद्येते निर्धनाः कथमेषां कर्मभिरधिकारस्तत्रेदं नोपपद्यते पुत्रौ चेदाहिताग्नौ स्यातां येभ्यः पिता दद्यात्तेभ्यः पुत्र इति दम्पत्योरपि सहजधर्मश्चरितव्यः । धर्मचार्ये च कामे च नातिचरितव्यात्वयेति । यदि च निर्धनः कोन्यार्थेऽनतिचारः शूद्रस्यापि पाकयज्ञैः स्वयं यजेतेति निर्धनत्वे विरुध्यते त्वच्छन्दः शूद्रविषयत्वेन विरोधो न भवेत् अस्ति तावद्दासानां त्वधने त्वाम्यं यदा त्वधनमिति व्यपदिश्यते न ह्यसति संबन्धे व्यपदेशः अर्जनं च स्वत्वं नापादयतीति विप्रतिषिद्धं तस्माद्विरुद्धमिदं यत्ते समधिगच्छन्ति न तत्तेषां स्वामिनि यथा कश्चिद्ब्रूयाद्यस्या अहं पुत्रः सा मम जननीति तादृगेतत् असति वा स्त्रीणां स्वाम्ये पत्न्यैवानुगमनं क्रियते पत्नीवैपारिणहस्येश इत्यादि श्रुतयो निरालम्बनाः स्युः अत्रोच्यते पारतन्त्र्यविधानमेतत् असत्यां भर्तुरनुज्ञायां न स्त्रीभिः स्वातन्त्र्येण यत्र क्वचिद्धनं विनियोक्तव्यं । अन्ये तु मन्यन्ते भार्यापुत्रग्रहणदासार्थं तस्य चैतद्धनमुत्तरार्थं आपदितासां धनग्रहणेन विचिकित्सितव्यं भर्तुरेव हि तत्स्वम् ॥ ४१६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अधिगच्छन्ति परकर्मकरणादिनापि ॥ ४१६ ॥

(३) कुल्लूकः । पुत्रभार्यादासास्त्रयोऽमी निर्धना एव मन्वादिभिः स्मृताः यस्माद्यद्धनं तेऽर्जयन्ति यस्य ते भार्यादयस्तस्य तद्धनं भवति एतच्च भार्यादीनां पारतन्त्र्यप्रदर्शनार्थं परमध्यग्यादेः षड्विधस्य स्त्रीधनस्य वक्ष्यमाणत्वाद्धनसाध्यादष्टार्थकर्मोपदेशार्थं च भार्यादीनां पत्न्यधिकरणे पत्न्यर्थेऽपि यागाधिकारस्योक्तत्वात् स्त्रीपुंसयोर्मध्य एकधने चानुमतिद्वारेण स्त्रिया अपि कर्तृत्वात् ॥ ४१६ ॥

(४) राघवानन्दः । दासप्रसंगेनान्ययोरपि धनात्स्वामित्वमाह भार्येति । एते त्रयो यत्समधिगच्छन्त्यर्जयन्ति यस्य संबन्धिनस्ते तस्यैव तेषां धनं तेन तस्मिन् जीवति तदनुज्ञां विना धनव्ययेनाधिकारः अनीशास्ते हि जीवतोरित्युक्तेः । पुत्रं प्रति स्वत्वं च पितुरुर्ध्वं हरेद्धनमित्युक्तेः । स्त्रियं प्रति तु स्वत्वं अध्यग्यध्यावाहनिकमित्यादिषट्प्रकारजं स्त्रीपुंसोर्मध्यगंधनमित्यादिसिद्धं न स्त्रीत्वात् तन्महतीत्यनधिकारात् । दासस्यापि जीवेत्कारुण्यकर्मभिरित्यादि वक्ष्यमाणं स्वत्वहेतुर्न कार्यो धनसंग्रह इत्यादि निषेधबलाच्च त्रयाणाम् स्वातन्त्र्यम् अस्वातन्त्र्यम् ॥ ४१६ ॥

(५) नन्दनः । अत्र भार्यापुत्रयोरधनत्वप्रसङ्गादुपन्यासः भार्यापुत्रदासभर्तृपितृस्वामिषु जीवत्वधनाः अजीवत्सु सधनाः स्मृत्यन्तरानुगुण्यात् यतएवंततः ॥ ४१६ ॥

(६) रामचन्द्रः । यद्व्यन्ते भार्यादयः समधिगच्छन्ति प्राप्नुवन्ति ॥ ४१६ ॥

विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद्रव्योपादानमाचरेत् ॥ न हि तस्यास्ति किञ्चित्स्वं भर्तृहार्यधनो हि सः ॥ ४१७ ॥

(१) मेधातिथिः । तथा च कश्चिदाह धर्मोपगतशूद्रविषयमिदं तदुक्तं विशेषप्रमाणाभावात् तस्मात्सर्वस्य दासः शूद्रस्तस्यैव प्रतिग्राह्यत्वमुच्यते विश्रब्धनिःशङ्कशूद्रधनकथं प्रतिगृह्णीयात्प्रतिषिद्धं हि तदित्येषा शङ्का कर्तव्या यतो न तस्य किञ्चिदर्थो यस्य निचयः स्यादित्युक्तं भवति स्वामी न ह्रियते धनस्य एतदेवार्जने तस्य प्रयोजनं स्वामी हीयतेऽतो विश्रब्धद्रव्योपादानद्रव्यग्रहणं कुर्यात्तेनोपनीयमानपि स्वगृहस्थमिव विनियुज्यते सति प्रयोजन एतद्युक्तं भवति अविद्यमानधनस्य दासाच्छूद्रात्प्रतिगृह्णीत इति दोषः ॥ ४१७ ॥

(१) योक्तव्यं = योक्तव्यं एवं पुत्रदास्यो रपि द्रष्टव्यम् (आआ)

(२) सर्वज्ञनारायणः । अतःशूद्रादासात् विस्रब्धं निःशङ्कं द्रव्यादानमाचरेत् । नतु शूद्रधनादिशङ्कया तद्धनत्यागः ॥ ४१७ ॥

(३) कुड्डूकः । निर्विचिकित्समेव प्रकृतादासशूद्राद्धनग्रहणंकुर्यात् ब्राह्मणोयतस्तस्य किञ्चिदपि त्वंनास्ति यस्माद्भर्तृप्राप्तधनोऽसौ एवंचापदि बलादपि दासाद्ब्राह्मणोधनंगृह्णन् राज्ञादण्डनीयइत्येवमर्थमेतदुच्यते ॥ ४१७ ॥

(४) राघवानन्दः । अत एवाह विस्रब्धमिति । विस्रब्धं कृतविश्वासं यथा स्यात्तथा शूद्रात्समविधदासात् द्रव्योपादानं द्रव्यादानं तमाचरेत् तत्र हेतुः भर्तृहार्यधनोहिसइति । भर्त्रर्थमेवाहार्यं जीवेत्कारुककर्मभिरित्यादिनोक्तं धनं यस्य सइत्यर्थः ॥ ४१७ ॥

(५) नन्दनः । विस्रब्धः शूद्रप्रतिग्रहः भयरहितब्राह्मणस्त्रैर्वर्णिकः ॥ ४१७ ॥

(६) रामचन्द्रः । विस्रब्धं निःशङ्कं तस्य शूद्रस्य किञ्चित्त्वं द्रव्यं नास्ति ॥ ४१७ ॥

वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत् ॥ तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदंजगत् ॥ ४१८ ॥

(१) मेधातिथिः । कर्मव्यतिक्रामन्तः क्षोभयेयुराकुलीकुर्युर्जगदस्ते प्रयत्नेन स्वकर्मभ्यश्चावयेदनल्पएवातिक्रामेभूयसा दण्डेन योजनीया वैश्याअपि बन्धनंनास्त्यपि धनशक्यः स्वधर्मः ॥ ४१८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कारयेद्राजा ॥ ४१८ ॥

(३) कुड्डूकः । वैश्यंरुष्यादीनि शूद्रंच द्विजातिशुश्रूषादीनि कर्माणि यत्नतोराजा कारयेद्यस्मात्तौ स्वकर्मभ्यश्च्युतावशास्त्रीयोपार्जितधनग्रहणमदादिना जगदाकुलीकुर्याताम् ॥ ४१८ ॥

(४) राघवानन्दः । विदूशूद्रौ स्वानिकर्माणि स्वामिनोः विप्रराजन्ययोः कर्माणि रुषिशुश्रूषादीनि कारयेद्राजा ब्राह्मणोवा स्वानीति कचित्पाठः । अन्यथादोषमाह तौहीति । स्वकर्मभ्यश्च्युतौ जगदिदं क्षोभयेताम् । वैश्यशूद्रौ धनवत्तया विप्रानधीनौ प्रचुरधनरुचितया गोरक्षारुष्याद्यकरणाजगन्नाशयेद्वैश्यः । शूद्रोपि शुश्रूषाद्यकरणेन विप्रकृतधर्मादावनुकूलत्वाजगन्नाशहेतुरिति ॥ ४१८ ॥

(५) नन्दनः । कारयेद्राजा ॥ ४१८ ॥

अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्वाहनानि च ॥ आयव्ययौ च नियतावाकरान्कोशमेव च ॥ ४१९ ॥

(१) मेधातिथिः । राजधर्माणामनुसन्धानार्थं कर्मान्ताः रुषिशुल्कस्थानादपवाहनम् हस्त्याद्यायव्ययमिदमस्यप्रविष्टमिदंनिर्यातमित्येवसततंगवेषणीयं आकराधातवःसुवर्णाद्युत्पादेभवन्ति भूमयः कोशोद्रव्यनिश्चलस्थानम् ॥ ४१९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कर्मान्तान् शस्त्रपातादिकर्मशालाः । आकरान् सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानानि ॥ ४१९ ॥

(३) कुड्डूकः । प्रत्यहंतदधिकृतद्वारेण प्रारब्धदृष्टादृष्टार्थकर्मणानिष्पत्तिनृपतिर्निरूपयेत्तथा हस्त्यश्वादीनि किमप्यप्रविष्टं किञ्चित्मिति सुवर्णरत्नोत्पत्तिस्थानानि भाण्डागारं चावेक्षेत व्यवहारदर्शनासक्तोऽपि राजा धर्मान्परित्यजेदिति दर्शयितुमुक्तस्यापि पुनर्वचनम् ॥ ४१९ ॥

(४) राघवानन्दः । राजधर्मान्प्रवक्ष्यामीत्युपक्रम्याध्यायद्वयसमाप्यं सार्थवादमुपसंहरति अहन्यहनीतिद्वाम्याम् ।

कर्मान्तिं प्रारब्धकर्मसमाप्तिं वाहनानि हस्त्यश्वादीनि आकरान् सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानानि कोशं धनागारं अवेक्षेत रक्ष-
णार्थमीक्षेतेत्यर्थः ॥ ४१९ ॥

(५) नन्दनः । कर्मान्तान्कर्मनिष्पत्तिं नियतौ राजशास्त्रसिद्धौ ॥ ४१९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अहन्यहनि राजा आयव्ययौ नियतौ आकरान् उत्पत्तिस्थानानि च पुनः कोशमेव वीक्षेत
पश्येत् ॥ ४१९ ॥ इति श्रीरामचन्द्रभट्टविरचितायां मनुभावार्थदीपिकायां न्यायप्रकरणे व्यवहारोनामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥ ७३ ॥

एवंसर्वानिमान्त्राजा व्यवहारान्समापयन् ॥ व्यपोह्य किल्बिषंसर्वंप्राप्नोति परमांगतिम् ॥ ४२० ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां [राजधर्मे व्यवहारनिर्णये सामान्यव्यवहारो नाम] †

अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥ ७३ ॥ ७३ ॥ ७३ ॥ ७३ ॥ ७३ ॥ ७३ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तेनप्रकारेणव्यवहारानृणादीन्समापयन्निर्णयावसानंकुर्वन्त्यत्किञ्चित्तत्सर्वमविज्ञातदोषतत्स-
र्वं व्यपोह्यापनुद्यपापं परमां गतिं मभिप्रेतां स्वर्गापवर्गभूमिंप्राप्नोति लभते ॥ ४२० ॥ इतिभट्टमेधातिथिस्वामिरुतेमनुभाष्ये-
ऽष्टमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥ ७३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बह्वर्थविषयत्वेनाध्यायस्य दीर्घत्वादतःपरमध्यायानुसंतानेऽतिदीर्घतास्यादित्यपर्यवसितएव
प्रतिज्ञानार्थेऽध्यायमुपसंहरति एवमिति । समापयन् संस्थानयन् व्यपोह्य निरुह्य । परमांगतिं ब्रह्मप्राप्तिलक्षणांमिति॥४२०॥
श्रीनारायणसर्वज्ञकृता वृत्तिर्ननुस्मृतेः । कुनिबन्धकृतव्याख्यामियं दूरे निरस्यते ॥ इति मन्वर्थनिबन्धे सर्वज्ञश्रीनारा-
यणकृतेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥ समाप्तश्चायंव्यवहारक्षमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥ ७३ ॥

(३) कुल्लूकः । एवमुक्तप्रकारेणैतान्सर्वानृणादानादीन्व्यवहारान् तत्त्वतोनिर्णयेनान्तंनयन्पापंसर्वमपह्नाय स्वर्गादि-
प्राप्तिरूपांमुक्तृष्टांगतिलभते ॥ ४२० ॥ इति श्रीकुल्लूकभट्टविरचितायां मन्वर्थमुक्तावल्यामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥ ७३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच । एव मुक्तानृणादिकानष्टादश समापयन् । समाप्तिपर्यन्तमनुतिष्ठन् । अतएवावश्य
कस्य करणात् । किल्बिषमननुष्ठानजं सर्वपापं व्यपोह्य त्यक्त्वा परमांगतिमवाप्नोतीत्यन्वयः ॥ ४२० ॥

इति श्रीराघवानन्दसरस्वतीविरचितायां मन्वर्थचन्द्रिकायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥ ७३ ॥

(५) नन्दनः । इमानुक्तान्यवहारानृणादानादीन्समापयन्त्यथाशास्त्रेनयन्निर्णयन्ब्रह्मलोके हरिश्चन्द्रानिवासस्थाने
॥ ४२० ॥ इतिमानवव्याख्याने नन्दनकृतेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥ ७३ ॥

[अथशक्तिविहीनः स्यात्कृणीकालविपर्ययात् ॥ प्रेक्ष्यश्वतमृणंदाप्यःकालेदेशेयथोदयं ॥१॥] †

[मेधातिथिः—यद्यधर्मणोदैवदोषान्निर्धनीभूतस्तदा न दुर्गाधानादिना राज्ञोपपीडयितव्यः किंतिर्हि कर्तव्यंयदास्य
कर्तव्यचिद्धनंभवेत्तदा यथासंभवंशनैर्दापयितव्यः । प्रेक्ष्यशक्तिधनवृत्तायुज्यतइत्यर्थः । दाप्यः उचितस्य वक्ष्यति कर्मणापि
समः कुर्यादिति । तस्मात्कारणपरिवृत्तौयदेवोक्तमस्माभिस्तदैवप्रयोजनम् ॥ १ ॥]

† (क)

(+) अयंक्षेपकः १५३ श्लोकनन्तरं पठितव्यः ।

॥ श्री ॥

॥ श्रीगणेशायनमः ॥

॥ अथ नवमोऽध्यायः प्रारभ्यते ॥



पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव धर्म्ये वर्त्मनि तिष्ठतोः ॥ संयोगे विप्रयोगे च धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥ १ ॥

(१) मेधातिथिः । स्त्रीसंग्रहणानन्तरं विवादपदनिर्देशः स्त्रीपुंभर्मोविभागश्चेति तदिदानीमुच्यते अत्यन्त [२० अक्षराणि] द्युपमृष्टेन भर्त्री कथंचिदपि बाध्यमानया तेन सह राजनि विवदितव्यमिति [२० अ०] विधेयव्यायानुवर्तिनि नद्वेषमत्सरादिमतिभार्यायां तथाच विशील [२१ अ०] ति तथाविधस्य पत्युरुपचर्योक्ता नभार्याप्रतिप्रभुत्वं उपचारश्च भृत्यवच्छुश्रूषापादसंवाहनादि [१० अ०] स्त्रीपुरुषशब्दौ च यद्यपि लिङ्गविशेषावच्छिन्नमनुष्यजातिवचनौ तथापीह संबन्धिनिजायापत्या [९ अ०] अस्त्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशमिति स्वग्रहणेन संबन्धितांलक्षयति वर्तमानप्रतिज्ञावचन [१ अ०] प्रयोजन [६ अ०] भर्तुः स्त्रियाश्च जायायाः संयोगएकत्रसंबन्धिनिधाने तथा विप्रयोगे प्रवासप्रायेण [५ अ०] धर्मे या वृत्तिः प्रसाधनंशरीररक्षा हि [२७ अ०] तान्वक्ष्यामि शाश्वतग्रहणश्रुतिः धर्म्ये वर्त्मनि तिष्ठतोरनुवादोऽन्याम्यः धर्मशास्त्राचारनिरुद्धो मार्गः ॥ १ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्रमप्राप्तस्त्रीपुंभर्ममवतारयति पुरुषस्येति । संयोगे गार्हस्थ्यकाले । विप्रयोगे पतिप्रवासवैधव्यादौ ॥ १ ॥

(३) कुड्मूकः । पुरुषस्य पत्न्याश्च धर्माय हि तेऽन्योन्याऽव्यभिचारिलक्षणे वर्त्मनि वर्तमानयोः संयुक्तवियुक्तयोश्च धर्मान्पारम्पर्यागतत्वेन नित्यान्वक्ष्यामि दंपत्योः परस्परधर्मव्यतिक्रमे सत्यन्यतरज्ञाने दण्डेनापि त्वंधर्मव्यवस्थानंराज्ञा कर्तव्यमिति व्यवहारमध्येऽस्योपदेशः ॥ १ ॥

(४) राघवानन्दः । स्त्रीपुंसौर्धर्मप्रतिजानीते पुरुषस्येति ॥ स्त्रीपुंभर्मोविभागश्च द्यूतमाव्हयमेवचइति व्यवहारमध्यपातित्वाद्राजकृत्येन संगतिरस्याध्यायस्य । धर्म्ये धर्मजनके धर्मादनपेतेवा वर्त्मनि धर्मोपाये । संयोगे त्वदेशस्थयोः । विप्रयोगे देशान्तरस्थयोः मृतौ वा । शाश्वतान् । वेदोक्तान् ॥ १ ॥

(५) नन्दनः । अथस्त्रीपुंसधर्मप्रस्तौति पुरुषस्येति । धर्मेऽन्योन्यव्यभिचाररहिते ॥ १ ॥

(६) रामचन्द्रः । धर्म्ये वर्त्मनि तिष्ठतोः दम्पत्योः ॥ १ ॥

अस्त्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ॥ विषयेषु च संज्जन्त्यः संस्थाप्या आ

त्मनोवशे ॥ २ ॥

(१) मेधातिथिः । स्वेच्छया स्त्रीणां धर्मार्थकामेषु व्यवहर्तुं न देयं यत्किंचन धनं धर्मादौ विनियुज्यते तत्र यथावयः स्वपुरुषाः पत्यादयोऽनुज्ञापनीयाः स्वपुरुषारक्षाधिगताः पितारक्षतीत्यादिनिर्दिष्टाः विषयेषु हिंसीतादिष्वन्यतः प्रसङ्गकुर्व-

न्त्यआत्मनोवशे स्थाप्यास्ततोनिवारणीयाः यद्यप्यस्वतत्त्वाइत्यनेनैव सर्वक्रियाविषयास्वातन्त्र्यनिवृत्तिरुपदिष्टा भवति तथापि पुनर्विषयव्यावृत्तिरुपदिष्टा भवति वचनं यत्नतः परिहारार्थमाविज्ञायी यत्नेभ्यएव परपुरुषसंपर्कादिभ्योनिवारणीयाः । गृहावस्थितास्तु मद्यपानादिसक्तानदुप्यन्ति चशब्देन तावदयं धर्मः पुरुषाणामुक्तः स्वातन्त्र्यं स्त्रीणां तावन्नदेयमर्थात् ताभिरपि स्वतत्त्वाभिर्न भवितव्यमित्युक्तं भवति । एवं च पुरुषस्य स्त्रियाश्चैवेति च शब्दइतरेतरविषययोर्ये स्त्रीपुंसयोर्धर्मास्तएवोच्यन्ते नतु यागादय इति समन्वयो भवति ॥ २ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पुरुषैः पतिभिः । विषयेषु गीतादिषु । आत्मनोवशे स्थाप्याः यथा न सज्जन्ते ॥ २ ॥

(३) कुल्लूकः । स्त्रीयैर्भर्त्रादिभिः सदास्त्रियः स्वाधीनाः कार्या अनिषिद्धेष्वपि रूपरसादिविषयेषु प्रसक्ताप्यात्मवशाः कार्याः ॥ २ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रादौ स्त्रियाः स्वातन्त्र्यनिषेधति अस्वतत्त्वाइति पंचभिः । पितृभ्रातृपुत्रादिभिः विषयेषु पुरुषान्तरस्पर्शसंभोगशब्दादिषु रसायनादिषु च संस्थयावशेरुत्वा दिवागृहकृत्येषु रात्रौ तु त्वनिकटे शयनादौ ॥ २ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्त्रैः पुरुषैः दिवानिशं अस्वतत्त्वाः स्त्रियः कार्याः । पुनः विषयेषु नृत्यगीतादिषु सज्जन्त्यः आसक्तिकुर्वन्त्यः स्त्रियः आत्मनोवशे च हि संस्थाप्याः ॥ २ ॥

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ॥ रक्षन्ति स्थविरे पुत्रान् स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ ३ ॥

(१) मेधातिथिः । रक्षानामानर्थप्रतीघातः अनर्थस्त्वनाचारवृत्तातिक्रमेणाप्रवृत्तिपरेण चान्यायतो धनहरणादिना परिभवस्तस्य प्रतीघातो निवारणं तत्पित्रादिभिः कर्तव्यं । रक्षतीति भवन्ति लिङ्गार्थे छान्दसत्वात्ततो रक्षेदिति विधेयप्रत्ययः । वयोविभागश्रवणं वाधिकतरदोषार्थं सर्वएव तु सर्वदा रक्षार्थमधिक्रियन्ते कौमारग्रहणं दानात्पूर्वकालोपलक्षणार्थं एवं यौवनं जीवद्भर्तृकायाः प्रदर्शनं अतश्च नित्यानुवाद एवायं यदा यदा यदधीना तदा तदा तेनावश्यं रक्षितव्या । तथा च जीवत्यपि भर्तरि पितुः पुत्रस्य चाधिकारस्तथा दर्शितं मानवे सर्व एते सर्वदा तत्संरक्षणमकुर्वतः कथ्यमानन्तु ग्रन्थगौरवं करोति ननु च बालया वा युवत्या वेत्यनेनोक्तमेवैतत् मैवमन्यदेव स्वातन्त्र्यमन्या च रक्षा तत्र च स्वातन्त्र्यमुपदिष्टमिह तु रक्षोच्यते तेन सर्वक्रियाविषयं अन्यतत्त्वाया अपि शक्योनेनार्थः प्रतिहन्तुं ननु चेहापि पठ्यते ॥ न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हतीत्युच्यते । नानेन सर्वक्रियाविषयमस्वातन्त्र्यं विधीयते । किं तर्हि नास्वतत्त्वान्यमनस्कता रवात्मसंरक्षणाय प्रभवति शक्तिविकलत्वात्स्वतः पञ्चमे तु वचनमस्वातन्त्र्यार्थमर्थान्तरस्य तत्रोक्तत्वात् ॥ ३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पितारक्षति कन्यादूषणादेः ॥ ३ ॥

(३) कुल्लूकः । पिता विवाहात्पूर्वस्त्रियं रक्षेत्पश्चाद्भर्ता तदभावे पुत्राः तस्मान्न स्त्री कस्यां चिदप्यवस्थायां स्वातन्त्र्यं भजेत् । भर्ता रक्षति यौवनइत्यादिप्रायिकमभर्तृपुत्रायाः सन्निहितायाः पित्रादिभिरपि रक्षणात् ॥ ३ ॥

(४) राघवानन्दः । रक्षितृव्यवस्थितिमाह पितेति । स्वातन्त्र्यं रक्षितृरहितत्वम् ॥ ३ ॥

(५) नन्दनः । रक्षति रक्षेत् स्थाविरेवाङ्गके ॥ ३ ॥

काले दाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन्पतिः ॥ मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ४ ॥

(४) वाच्यः = व्याप्यः (क, च)

(१) मेधातिथिः । दानकाले प्राप्ते यदि पिता न ददाति [८ अ०] यः कः पुनः कन्यायादानकालः अष्टमाद्वर्षा-
न्प्राप्तिप्रागृतोरिति स्मर्यते इहापि लिङ्गमस्ति [१८ अ०] तिः । अनुपगच्छन्नरमयन्भार्याभिर्निन्नः उपगमने कालश्च-
रितुंसद्रतस्यपर्ववर्ज्यमित्युक्तः ॥ ४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अदाता योग्याय । अनुपनयनं वाग्दत्तामपि परिणयनेनासंस्तुवन् । वाच्योगर्हया । उ-
च्यइतिपाठे देहीत्यादि राज्ञा नियोज्यः ॥ ४ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रदानकालेपिता तामददन्गर्ह्योभवति प्रदानप्रागृतोरिति गोतमवचनात् । ऋतोः प्राक्प्रदानकालः
पतिश्च ऋतुकाले पत्नीमगच्छन्गर्हणीयोभवति पत्यौ मृते मातरमरक्षन्पुत्रोनिन्द्यः स्यात् ॥ ४ ॥

(४) राघवानन्दः । रक्षितृणां तदकरणे गर्हतामाह कालइति । अदातेतिच्छेदः । वाच्यः गर्हणीयः । अनुपयन्-
तावृतावगच्छन् । अरक्षिता रक्षणप्रत्यकर्ता ॥ ४ ॥

(५) नन्दनः । अदातेतिपदच्छेदः याप्यः कुत्सितोदण्ड्यइति यावत् । अनुपयन्तुकालेऽनुपगच्छन् ॥ ४ ॥

(६) रामचन्द्रः । काले दशवर्षाभ्यन्तरेऽदाता पिता वाच्यः निन्द्यः । च पुनः पतिः अनुपयन् स्त्रियमगच्छन्
वाच्योनिन्द्यः । मृते भर्तरि मातुररक्षिता पुत्रोवाच्योनिन्द्यः ॥ ४ ॥

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियारक्ष्याविशेषतः ॥ द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥ ५ ॥

[भार्यायां रक्ष्यमाणायां प्रजा भवति रक्षिता ॥ प्रजायां रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षितः ॥ १ ॥]*

(१) मेधातिथिः । प्रसङ्गः कुसंपर्कोयया कयाचिदविज्ञातशीलया [८ अ०] ण बालेन वा गृहद्वारावस्थाना-
दिनोज्वलवेषपुरुषदर्शनशीलयेत्येवमादयउच्यन्तेऽर्थाच्चित्तचलने [९ अ०] क्षयत्वं चैषानैते क्लिप्ताक्षादोषरूपाः नहि
साक्षात्स्त्रीसंपर्कः स्त्रियोदोषरूपाः [१२ अ०] सूक्ष्मादित्युच्यते ततोरक्ष्याः निवारणीयाः विशेषतःप्रयत्नेन निवारणे
दारदः [१७ अ०] तश्च सर्वैस्तत्कुलीनैर्भ्रातृपितृव्यदेवराद्यैरक्षितव्याइति सिद्धंभवति न तत्रा [१४ अ०] ॥ ५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रसङ्गेभ्यः परपुरुषभाषणादिभ्यः ॥ ५ ॥

(३) कुल्लूकः । स्वल्पेभ्योऽपि दुःसङ्गेभ्योदौःशील्यसंपादकेभ्योविशेषेण स्त्रियोरक्षणीयाः किंपुनर्महद्भ्यः यस्मादु-
पेक्षितरक्षणाद्वयोः पितृभर्तृगणयोः संतापंदापयेयुः ॥ ५ ॥

(४) राघवानन्दः । इतोपि स्त्रियोरक्ष्याइत्याह सूक्ष्मेभ्यइति । प्रसङ्गेभ्यः दौःशील्यसंपादकेभ्योऽनुत्तगीतपरगृह्या-
नादिभ्यः । कुलयोः पतिपितृसंबन्धिनोः । शोकं जारादिदोषेण ॥ ५ ॥

(५) नन्दनः । सूक्ष्मेभ्योपिशुश्रूषादिभ्योपि ॥ ५ ॥

इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्ममुत्तमम् ॥ यतन्ते रक्षितुं भार्याभर्तारो दुर्बला अपि ॥ ६ ॥

(१) मेधातिथिः । चातुर्वर्ण्यस्य एष उत्तमो [१६ अ०] पश्यन्तो जानानाः दुर्बला अपि भर्तारो भार्यारक्षितुं य-
तेरन्यथं कुर्युः लिङ्गार्थे भवन्तीत्यतः [१५ अ०] वस्त्वनिजगुप्तोत्तमतरेयत्तत्रमणापरिवृत्तं बहिराविरोद्धिजातं वधूवपुरहो-
रतयेतिरागात् । अ [१० अ०] क्षाभाय कियंचिनियमेन वतिद्युमाना राजकुलममाश्रयादिनारक्षितव्या ॥ ६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इमं भार्यारक्षणरूपम् ॥ ६ ॥

(३) कुल्लूकः । सर्वेषांब्राह्मणादिवर्णानां भार्यारक्षणलक्षणधर्मवक्ष्यमाणश्लोकरीत्या सर्वधर्मैभ्य उत्कृष्टं जानन्तोऽन्धपङ्गुदयोपि भार्यारक्षितुं यतेरन् ॥ ६ ॥

(४) राघवानन्दः । अन्धपङ्गुक्लीबदरिद्रादिभिर्दुर्बलैरपि रक्षणोयास्ताइत्याह इममिति । पश्यन्तो जानन्तः । धर्म उत्तमं तत्प्रसूतत्वाद्ब्राह्मण्याद्युत्तमत्रयस्य ॥ ६ ॥

(५) नन्दनः । इमं धर्मं भार्यापरिरक्षणलक्षणम् ॥ ६ ॥

(६) रामचन्द्रः । इमं भार्यारक्षणरूपधर्मम् ॥ ६ ॥

स्यांप्रसूतिंचरित्रंच कुलमात्मानमेव च ॥ स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायारक्षन् हि रक्षति ॥ ७ ॥

(१) मेधातिथिः । न केवलं शास्त्रोपदेशादेव स्त्रीरक्षा कर्तव्या यावदिमानि बहूनि प्रयोजनानि प्रसूतिरपत्यं पुत्रदुहितृलक्षणं संकरोन भवतीत्यर्थः । चरित्रं शिष्टसमाचारः । कुलं पूर्वोक्तं कस्यापि सत्कुलस्य भ्रष्टशीलायां भार्यायां सर्वकुलमुपतिष्ठतीति न साध्यं स्त्रीयमेतेषामिति अथवा पितृपितामहादीनां संततिशुद्ध्यभावादौर्ध्वदेहिकस्यानिवृत्तेरक्षा स्यात् आत्मानं प्रसिद्धात्मनोपपतिनावश्यं हन्यते भार्ययैव वा विषादिना त्वंच धर्मव्यभिचारिण्या धर्मानधिकारात् अतो जायारक्षिता सर्वमेतद्भवति ॥ ७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रसूतिं पुत्रादि । चरित्रमाचारं । कुलं कुलस्थितिं । स्वधर्मं गार्हस्थ्यनियतम् ॥ ७ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्माद्भार्यारक्षितोरक्षणमसंकीर्णविशुद्धापत्योत्पादानेन त्वसंततिं तथा शिष्टसमाचारं पितृपितामहाद्यन्वयमात्मानविशुद्धसंताननिमित्तौर्ध्वदेहिकलाभेन स्वधर्मं च विशुद्धभार्यस्याधानादावप्यधिकाराद्रक्षति तस्मात्स्त्रियो रक्षितुं यतेतेति पूर्वस्य विशेषः ॥ ७ ॥

(४) राघवानन्दः । तद्रक्षणे अन्येपि सुरक्षिता इत्याह स्वामिति । प्रसूतिं सन्ततिं असंकीर्णविशुद्धापत्योत्पादनेन चरित्रं कुलपरंपरागतमाचारं न्यायोपात्तचित्तेन यच्चरितं श्राद्धतिथ्यादितस्त्रीतएव कुलं इति आत्मानं विशुद्धसंतानोत्पत्तौ नरकादेः स्वधर्मं अग्निहोत्रादिधर्मं च रक्षतीत्यन्वयः ॥ ७ ॥

(५) नन्दनः । प्रसूतिः सन्तानपरिवारादिः चरित्रमाचारः ॥ ७ ॥

(६) रामचन्द्रः । चरित्रमाचारं । त्वंधर्मं आश्रमधर्मम् ॥ ७ ॥

पतिर्भार्यासंप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ॥ जायायास्तद्विजाया त्वयदस्यां जायते पुनः ॥ ८ ॥

(१) मेधातिथिः । अर्थवादोयं न च प्रत्या [५ अ०] वेशदर्शनं अतः शरीरभारभूतशुक्रद्वारेण गुणवादतः प्रवेशो यमुच्यते । आत्मा वै पुत्रनामासीति एतदेव जायाशब्द [२ अ०] यवचनत्वे प्रवृत्तिनिमित्तं यतोऽस्यां पतिर्जायते अपत्यजन्मनिमित्ते जायाशब्दे जायस्यापि जायोच्यते ॥ ८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पतिर्जायते शुक्रजननात् ॥ ८ ॥

(३) कुल्लूकः । पतिः शुक्ररूपेण भार्यासंप्रविश्य गर्भमापाद्य तस्यां भार्यायां पुत्ररूपेण जायते । तथा च श्रुतिः आत्मा वै पुत्रनामासीति । जायायास्तदेव जाया त्वयतोऽस्यां पतिः पुनर्जायते तथा च बह्वचब्राह्मणं पतिर्भार्यासंप्रविशति गर्भो भूत्वेह मातरं तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः । ततश्चासौरक्षणीयेत्येतदर्थं नामनिर्वचनम् ॥ ८ ॥

(४) राघवानन्दः । जायापदं व्युत्पादयंस्तद्रक्षणेऽतीव यत्नमाविष्करोति पतिरितिद्वाभ्याम् । गर्भोभूत्वा तस्या-
आहुतेर्गर्भःसंभवति । तथा ॥ पतिर्जायांप्रविशति गर्भोभूत्वेह मातरम् । तस्यां पुनर्नवोभूत्वा दशमे मासि जायते । तज्जा-
याजायाभवतियदस्यांजायतेपुनरितिश्रुतेः ॥ पतिःपतीरेतोवच्छिन्नलिङ्गशरीरपरिवेष्टितं चैतन्यं भूतपञ्चकसहितं स्त्रीरजो-
युक्तं गर्भतामापद्यापत्यतया जायतइति । अत्र श्रुत्यन्तरम् ॥ सोऽकामयत् जाया मे स्यादथ प्रजायेयेति ॥ तथा ॥ अङ्गा-
दङ्गात्संभवसीति ॥ तथा ॥ आत्मा वै जायते पुत्रइत्यत्रचात्मपदं देहारम्भकभूतसाररेतःपरं लिङ्गदेहात्मनोरनादित्वेन ज-
न्मासंभवात् ॥ ८ ॥

(६) रामचन्द्रः । पतिः यस्मात् अस्यांजायायांपुनः जायते ॥ ८ ॥

यादृशंभजते हि स्त्री सुतंसूते तथाविधम् ॥ तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थंस्त्रियंरक्षेत्ययन्नतः ॥ ९ ॥

(१) मेधातिथिः । त्वांप्रसूतिमिति यदुक्तंतद्दर्शयति नचैवंमन्तव्यं यादृशंद्वितीयंपुरुषसेवेत सुतंसूते पुत्रंजनयति
तथाविधजातीयं नापि गुणसादृश्यमभिप्रेतयतः शूद्रादिजातस्य चण्डालादिजातिंच [२ अ०] मानजातीयजातस्या-
पिनैवतज्जातीयत्वं पत्नीष्वक्षतयोनिष्विति वचनात् गुणसादृश्येपि विशीलदरिद्रपतिकायाउत्कृ [२ अ०] नमनुज्ञातंस्यात्
यदात्वयमर्थवादस्तदा यादृशं तथाविधमित्यकुलानुरूपमिति नीयते ॥ ९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भजते संप्रयोगकाले न मनसा ध्यायति रक्षेन्नोव्यभिचारात् ॥ ९ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्माद्यादृशंपुरुषशास्त्रेण विहितंप्रतिषिद्धंवा तादृशशास्त्रोक्तपुरुषसेवनेनोत्कृष्टंनिषिद्धपुरुषसेवनेन च
निकृष्टंपुत्रंजनयति तस्मादपत्यविशुद्ध्यर्थंपत्नीयन्नतोरक्षेत् ॥ ९ ॥

(४) राघवानन्दः । यादृशं शास्त्रविहितं निषिद्धंवा पतिं भजते तथाविधं तज्जातिमेव । नहि मनुष्यादौः शूद्रा-
द्विप्रः । अतः प्रयत्नतः स्त्रियं रक्षेदित्यन्वयः ॥ ९ ॥

(६) रामचन्द्रः । यादृशं पुरुषं स्त्री ऋतुस्नानकालेभजते मनसापिसंगच्छेत् तादृशंसुतं सूते जनयति सूप्रसवणे ॥ ९ ॥

न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् ॥ एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥ १० ॥

(१) मेधातिथिः । वक्ष्यमाणोपायप्रशंसार्थः श्लोकः प्रसह्य बलेनावष्टभ्य शुद्धान्नावरोधादिना परपुरुषाधिध्या-
नादिना नशक्यारक्षितुं किंत्वैतैरुपाययोगैः शक्याः योगाः प्रयोगाउपायैः प्रयुज्यमानैरित्यर्थः ॥ १० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रसह्य बलात् । एतैर्वक्ष्यमाणैः ॥ १० ॥

(३) कुल्लूकः । कथंरक्षणीयेत्यतआहनेति । कश्चिद्वलात्संरोधादिनापि स्त्रियोरक्षितुं न शक्तस्तत्रापि व्यभिचारदर्श-
नात् किंत्वैतैर्वक्ष्यमाणैरक्षणोपायप्रयोगैस्तारक्षयितुंसमर्थाः ॥ १० ॥

(४) राघवानन्दः । उपायाभावात्तद्रक्षणमशक्यमित्याशङ्क्याशक्यत्वंस्वीकुर्वन्निवोपायमाह नेतिद्वाभ्याम् । प्र-
सह्य बलात् । एतैः औत्तरैः संग्रहणाद्यैः ॥ १० ॥

(५) नन्दनः । प्रसह्य परिरक्षितुमामपुरुषादिभिर्गृहाभ्यन्तरनिरोधनादिना रक्षितुमेतैर्वक्ष्यमाणैः ॥ १० ॥

(६) रामचन्द्रः । एतैः वक्ष्यमाणैरुपाययोगैः तु शक्याः ताः परिरक्षितुम् ॥ १० ॥

अर्थस्य सङ्ग्रहे चैनांव्यये चैव नियोजयेत् ॥ शौचे धर्मेऽन्नपक्त्त्यां च पारिणास्यस्य चेक्षणे ॥ ११ ॥

(१) मेधातिथिः । अर्थोऽधनं तस्य संग्रहः संख्यादिना परिच्छिद्यरक्षार्थवैश्वमनि निधानं रज्ज्वायसबन्धादिना सं-
यम्यस्थापनं मुद्राङ्कमित्येवमादि व्ययो विसर्गस्तस्यैव इदमेतावद्भक्तार्थमिदं च सूपाथमेतावच्छाकार्थमिति शौचं दर्पिष्ठरादिशु-
द्धिर्भूमिलेपनादिश्च धर्मआचमनोदकत्तर्पणादिदानं स्त्रीवासगृहकादौ बलिकुसुमविकारैर्देवार्चनं अन्नपक्तिः प्रसिद्धा पारिण-
स्यस्यासंदीखद्वादि तत्प्रत्यवेक्षणे नियोक्तव्या ॥ ११ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । शौचे गृहादिशोधने । धर्मे सायंबलिदानादौ । अन्नपक्त्त्यामन्नपाके । पारिणम्यमौपासना-
ग्नेः । पारिणस्य इति पाठे पारिणहोगृहबन्धहेतुः स एव पारिणहोगृहपरिकरस्तस्य तद्भाण्डादेरित्यर्थः ॥ ११ ॥

(३) कुल्लूकः । तानुपायानाह अर्थेति । धनस्य संग्रहणे विनियोगे च द्रव्यशरीरशुद्धौ भर्त्रग्निशुश्रूषादिकेऽन्नसाधने
पारिणास्यस्य गृहोपकरणस्य शय्यासनकुण्डकटाहादेरवेक्षण एनानि नियोजयेत् वेक्षणे अवआदिलोपः ॥ ११ ॥

(४) राघवानन्दः । अर्थस्य संग्रहणे रक्षणे व्ययेशास्त्राविरुद्धे शौचे द्रव्यशरीरादेः धर्मे आतिथ्यादिके अन्नपक्त्त्यां
तत्पाके पारिणास्यस्य गृहोपस्करणस्य शय्यासनकुण्डकटाहादेः ईक्षणे एतांस्त्रियं नियोजयेदित्यन्वयः । एतेषु परं व्यग्रचि-
त्तायाः परपुरुषाद्यभिलाषानुत्पत्तेः ॥ स्थानं नास्ति क्षणं नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नरः ॥ तेन त्वारद नारीणां सतीत्वमुप-
जायते इति पञ्चचूडोक्तेः ॥ ११ ॥

(५) नन्दनः । तानेवोपाययोगान्दर्शयति अर्थस्य संग्रहे चैनामिति । परितोनस्तत इति पारिणस्य तत्र भवं पारिणस्य प्राप्त-
नशयनादिकं अर्थसंग्रहणादिषु नियुक्ताः स्त्रियस्तदधिकारभ्रंशभयादात्मनाऽऽरक्षन्तीत्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

(६) रामचन्द्रः । एनांस्त्रियं अर्थस्य संग्रहे नियोजयेत् व्यये शौचे गृहशौचधनादौ धर्मे सायंबलिदानादौ च पुनः
अन्नपक्त्त्यां गृहस्य भाण्डादेः उपस्करस्य पारिणास्य औप [स] नाग्ने एतेषां अवेक्षणे नियोजयेत् ॥ ११ ॥

अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः ॥ आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥ १२ ॥

(१) मेधातिथिः । आप्तप्राप्तकाले तं कुर्वन्त्याप्तकारिणोऽवधानवन्त उच्यन्ते शुद्धान्ताधिकारिणः कश्चुकेन त्वे गृहे
रुद्धाश्चास्वतन्त्रीकृता यथेष्टविहारनिषेधेन रक्ष्यमाणानरक्षिता भवन्ति किंत्वात्मनाऽऽत्मानं रक्षन्ति ताः कथं रक्षन्ति यद्ये-
तेषु कार्येषु नियुज्यन्ते उक्तोपायप्रशंसा नोपायान्तरनिषेधः ॥ १२ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । निरौधं कृत्वा यारक्ष्यन्ते ता अरक्षिताः । आप्तकारिभिः यथार्थकारिभिः ॥ १२ ॥

(३) कुल्लूकः । आप्तश्च ते आज्ञाकारिणश्च तैः पुरुषैर्गृहे रुद्धाऽप्यरक्षिता भवन्ति यादुःशीलतया नात्मानं रक्षन्ति
यास्तु धर्मज्ञतयाऽऽत्मानमात्मना रक्षन्ति ता एव सुरक्षिता भवन्ति अतो धर्माधर्मफलस्वर्गनरकप्राप्त्याद्युपदेशेनासांसंयमः
कार्य इति मुख्यरक्षणोपायकथनपरमिदम् ॥ १२ ॥

(४) राघवानन्दः । एतैरपि तद्रक्षणाशक्तिं स्वीकुर्वन्निवृत्तास्तेव रक्षणधुरं निक्षिपति अरक्षिता इति । आप्तका-
रिभिः आप्तश्च ते कार्यकारिणश्च तैः रक्षिता अपि अरक्षिता इति स्वयं रक्षिताश्चेदात्मानं प्रति सुरक्षिता एवेति भावः ॥ १२ ॥

(११) संग्रहे = रक्षणे (च)

(११) व्यये चैव नियोजयेत् = गृहे कर्मणि योजयेत् (ग)

(११) पारिणास्यस्य = पारिणस्यस्य (च) = पारिणम्यस्य (सर्वज्ञ १)

(५) नन्दनः । एषएवोपाययोगोनतु बलात्कारइत्याह अरक्षिताइति । गृहे रुद्धागृहान्तरे गुमाअरक्षिताभवन्ति रक्षितानभवन्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥

पानंदुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ॥ स्वमोन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट् ॥ १३ ॥

(१) मेधातिथिः । अटनमापणभूमिषु शस्त्रशाकादिक्रयार्थदेवतायतनेषु च ज्ञातिकुलेबहून्यवस्थानमन्यगेहवासः नारीसंदूषणानि स्त्रीणामेते चित्तसंक्षोभहेतवः एते हि स्वशुरादिभयंजनापवादभयंच त्यजन्ति ॥ १३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पानं मद्यस्य । दुर्जनैरसतीभिःसंसर्गं । अटनमितस्ततोभ्रमणं । स्वमः सातत्येन तेन हि जागरादौ बुद्धिर्विपरिवर्तते ॥ १३ ॥

(३) कुल्लूकः । मद्यपानमसत्पुरुषसंसर्गः भर्त्रासह विरहः इतस्ततश्च भ्रमणमकालत्वापः परगृहनिवासइत्येतानि षट्स्त्रियाव्यभिचाराख्यदोषजनकानि तस्मादेतेभ्याएतारक्षणीयाः ॥ १३ ॥

(४) राघवानन्दः । ताभिरपि स्वरक्षणार्थं पानादिषट्कं वर्जनीयमित्याह पानमिति । पानं मद्यदेः । दुर्जनसंसर्गः पारदारिकसंसर्गः । पतिदेशात्स्थानान्तरावस्थानेनशयनादिना वियोगःविरहः । अटनं परगृहादौ । स्वमोऽकाले अहनि वा ॥ १३ ॥

(५) नन्दनः । तस्मात्पानादिभ्यः स्त्रियोरक्ष्याइत्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

(६) रामचन्द्रः । यानं उत्सवादिदर्शननिमित्तंगमनं दुर्जनसंसर्गः व्यभिचारिणीसंसर्गः पत्याविरहः भर्तृविरहः अटनं परिभ्रमणं अङ्गेत्त्वमः शयनं अन्यगेहवासः एतानिषट् नारीणांदूषणानि ॥ १३ ॥

नैतारूपंपरीक्षन्ते नासांवयसि संस्थितिः ॥ सुरूपंवा विरूपंवा पुमानित्येव भुञ्जते ॥ १४ ॥

(१) मेधातिथिः । नायमभिमानोवोढव्यः सुभगः स्वारुतिस्तर्गुणोहंमांहित्वा कथमन्यंकामयिष्यते यतो नैतादर्शनीयोयं पुरुषारुतिरयमित्येवविचारयन्ति पुमानयमित्येतावतैव भुञ्जते संयुज्यन्ते तेन ॥ १४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संस्थितिव्यवस्थितिः ॥ १४ ॥

(३) कुल्लूकः । नैताः कमनीयरूपंविचारयन्ति नचासांयौवनादिके वयस्यादरोभवति किन्तु सुरूपंकुरूपंवा पुमानित्येतावतैवतमुपभुञ्जते ॥ १४ ॥

(४) राघवानन्दः । ताभिः परपुरुषालोकनमपि न कार्यमित्याह नैताइति । रूपमङ्गसौष्टवम् वयःपञ्चविंशतिवर्षादिपुंसः । आसांच षोडशवर्षादि । तत्र हेतुः पुमानिति । भुञ्जते भोगायाभिमुखाःस्युः ॥ १४ ॥

(५) नन्दनः । स्त्रीणांदुःस्वभावमवश्यंरक्षणार्थमष्टभिःश्लोकैराह नैताइति । रूपंपुंसःकान्तिः ॥ १४ ॥

(६) रामचन्द्रः । एताः स्त्रियः रूपं न परीक्षन्ते ॥ १४ ॥

पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः ॥ रक्षितायत्नतोऽपीह भर्तृष्वेताविकुर्वन्ते ॥ १५ ॥

(१) मेधातिथिः । यस्मिन्कास्मिंश्चपुंसि दृष्टे धैर्याच्चलनंकथमनेनसंप्रयुज्येयेति रेतसोविकारः स्त्रीणांतत्पौंश्चल्यं अन्यत्रापि धर्मादौ कार्येऽस्थिरता चलचित्तत्वात् यएव द्वेष्ट्यः सएव स्पृहतिइति भ्रातृपुत्रादिर्योदृष्टस्तस्माएव कामुकत्वेन स्पृहयन्ति स्नेहोरागस्तृष्णाच भर्तरि पुत्रादौ मानविबद्धदयाभवन्ति एतैर्दीर्घैर्योगाद्विकुर्वन्ते विक्रिया भर्तृषु गच्छति तस्मात् ॥ १५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पौश्वल्यात्पुरुषेच्छुत्वात् चालचित्यात् अस्थिरबुद्धित्वात् ॥ १५ ॥

(३) कुल्लूकः । पुंसोदर्शने संभोगाद्यभिलाषशीलत्वाच्चित्तस्थैर्याभावात्स्वभावतः स्नेहरहितत्वाच्चैतायत्नेनापि लोके रक्षिताः सत्योव्यभिचाराश्रयणेन भर्तृषु विक्रियांगच्छन्ति ॥ १५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच ॥ विश्वासश्च न कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु चेति न्यायेन स्वरक्षणीयाइतिस्मरयन्नाह पौश्व-
ल्याचेति । पुंमात्रदर्शनेन मैथुनेच्छुत्वं तद्वत्तत्त्वनिस्नेहत्वानांस्वभावत्वात् । ननु मात्रादिशिक्षितामहोपापीयसो सृष्टि-
रित्याह भर्तृष्विति । पुरुषान्तराभिलाषितया विकुर्वते मारणादिविक्रियांकुर्वते ॥ १५ ॥

(५) नन्दनः । पुंश्वलन्तीति पुंश्वल्यः तद्भावः पौश्वल्यं परिचितपुंसः परित्यज्य नूतनां भजन्तइति यावत् । पौश्व-
ल्यादिति प्रत्येकसंबध्यते ॥ १५ ॥

(६) रामचन्द्रः । पौश्वल्यात् पुंश्वल्याभावः पौश्वल्यं तस्माच्चलचित्तस्य भावः चालचैत्यं तस्मात् चालचैत्यात् नि-
स्नेहस्वभावः नैस्नेह्यं तस्माद्ध्येतस्मात्स्वभावतः ॥ १५ ॥

एवंस्वभावंज्ञात्वासांप्रजापतिनिसर्गजम् ॥ परमंयत्नमातिष्ठेत्पुरुषोरक्षणंप्रति ॥ १६ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रजापतिर्हिरण्यगर्भस्तदीयेनिसर्गउत्पत्तिकाले जातं शिष्टंस्पष्टम् ॥ १६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रजापतिनिसर्गः प्रजापतिनाताद्वस्वभावस्य दानम् ॥ १६ ॥

(३) कुल्लूकः । एवंश्लोकद्वयोक्तमासांस्वभावंहिरण्यगर्भसृष्टिकालजनितंज्ञात्वा रक्षणार्थंप्रकटयन्पुरुषः कुर्यात् ॥
॥ १६ ॥

(४) राघवानन्दः । अतस्तारक्षणीयाइत्याह एवमिति । प्रजापतिनिसर्गजं प्रजापतिसृष्टिकालीनमनादिम् । अत-
स्तासारक्षणंप्रति यत्नमातिष्ठेदित्यन्वयः ॥ १६ ॥

(५) नन्दनः । प्रजापतिनिसर्गजंत्वायंभुवमनुप्राणजातम् ॥ १६ ॥

(६) रामचन्द्रः । आसां स्त्रीणाम् निसर्गजं विधातृसृष्टिकम् ॥ १६ ॥

शय्यासनमलङ्कारकामक्रोधमनार्जवं ॥ द्रोहभावंकुचर्यांच स्त्रीभ्योमनुरकल्पयत् ॥ १७ ॥

(१) मेधातिथिः । शय्याशयनंस्वप्नशीलत्वं । आसनमनभ्युत्थानशीलता । अलङ्कारः शीलमण्डनं । कामंपुरुषोपभोग-
स्वृहा । क्रोधोद्विषः । अनार्यतांस्निग्धेऽपि द्वेषोद्विष्टेऽपि स्नेहः आकारसंवरणनिर्द्धर्मताद्रोग्धृभावोद्रोग्धृत्वं भर्तृपित्रादेःपुरुषव्यस-
नीतयाऽधर्मात्मकत्वं भर्त्रादीनां । द्रोहःकर्त्तरितृचाभावशब्देन समासः । कुचर्या नीचपुरुषसेवनं । एषः स्वभावः स्त्रीणामनुना-
सर्गादौकल्पितः शय्यासनालङ्कारा द्रोहकुचर्ययोर्दृष्टान्तत्वेनोपदीयन्ते यथैते पदार्थाः स्वभावभूताअविचालिताएवंकुच-
र्यादयोपि ॥ १७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शय्यां उत्तमशयनम् । आसनं सततोपवेशनम् । अलङ्कारमलङ्कियाम् । अनार्यतामनु-
जुताम् । द्रोहभावं हिंसात्वम् । कुचर्यामिसदाचारम् । मनुरकल्पयदितिप्रजापतिनिसर्गविवरणम् ॥ १७ ॥

(३) कुल्लूकः । शयनोपवेशनालङ्कारणशीलत्वंकामक्रोधानार्जवपरहिंसाकुत्सिताचारत्वानिसर्गादौ मनुः स्त्रीभ्यः
कल्पितवान् तस्माद्यत्नतोरक्षणीयाः ॥ १७ ॥

(१७) अनार्जवम्=अनार्यताम् (ल, य, न, ब, र, भ)

(४) राघवानन्दः । ताश्च दानमानाभ्यां स्ववशमायान्तीत्येतन्मनुनैव प्रकाशितमित्याह शङ्घेति । कामोभैथुनेच्छा सोप्यष्टगुणः स्मृतः । द्रोहभावं स्वभर्तुरपि द्रोहाद्युपक्रमम् । कुचर्यां कुत्सितेकर्मणि रतिम् । एतावद्दानिसर्गजम् ॥ १७ ॥

(५) नन्दनः । शय्यां सुप्तिं आसनमुपवेशनं अलंकारमलंक्रियां द्रोहभावद्रोहक्रियां मनुः स्वायं भुवः स्त्रीभ्य आ-
दावकल्पयत ॥ १७ ॥

(६) रामचन्द्रः । शय्या शयनार्थं आसनम् ॥ १७ ॥

नास्ति स्त्रीणां क्रियामन्त्रैरिति धर्मे व्यवस्थितिः ॥ निरिन्द्रियास्त्वमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमि-

तिस्थितिः ॥ १८ ॥

(१) मेधातिथिः । केचिदेवं मन्यन्ते सत्यपि प्रमदाव्यभिचारे वैदिकेन जपेन रहस्यप्रायश्चित्तादिना शुद्धिमाप्स्य-
न्ति ततो नास्ति दोष इति तन्न नहि स्त्रीणां मन्त्रैः क्रियाजपोप्यस्ति येन वृत्तव्यतिक्रमेऽप्रख्यातैः स्वतएव वैदुष्याच्छुद्धि-
भामुवन्तितस्माद्यत्नतोरक्ष्यादित्येतच्छेषमेवैतत् अतो ये केचिदविहितमन्त्रे मन्त्रप्रतिषेधोयमिति वर्णयन्ति ततश्च यत्र स्त्रियः
कर्तृतया संबध्यन्ते सायं बलिहरणादौ तथा संस्कार्यतया चूडादिषु संप्रदानतया आद्धादौ तत्र सर्वत्र मन्त्रप्रतिषेधादमन्त्र-
कं स्त्रीणां आद्धादिकार्यमिति ते ते युक्तवादिनोऽन्यपरत्वादस्यार्थवादितया यदस्ति तदालम्बनन्यायेन विहितप्रतिषेधम-
न्त्रसंबन्धमन्त्रचूडासंस्कारापेक्षं व्याख्येयमेतत् अध्ययनाभावाच्च प्रायश्चित्तमन्त्रजपाभावः मेक्षया निरिन्द्रिया इन्द्रियवीर्य-
धैर्यप्रज्ञाबलादि तासां नास्त्यतो निच्छन्त्योपि कदाचित्पापाचारैर्बलेनाक्रम्यन्ते ततोरक्षितुं युक्ताः स्त्रियो वृत्तमिति शीलस्ने-
हत्वाऽस्थिरत्वादप्यद्वचनेन निन्द्यते ॥ १८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्रिया परिणयनप्राक्कालीनः संस्कारो गर्भाधानादिः । मन्त्रवत्संस्कारयोग्यतानिमित्तमन्त्रप्र-
काश्यपुल्लिङ्गरहिताः । अतएवामन्त्राः । स्थितिर्मर्यादा ॥ १८ ॥

(३) कुल्लूकः । जातकर्मादिक्रिया स्त्रीणां मन्त्रैर्नास्तीत्येषा शास्त्रमर्यादा व्यवस्थिता । ततश्च मन्त्रवत्संस्कारगणा-
भावान्न निष्पापान्तःकरणा इन्द्रियप्रमाणधर्मप्रमाणश्रुतिस्मृतिरहितत्वान्न धर्मज्ञा अमन्त्राः पापापनोदनमन्त्रजपरहितत्वान्न
जातेऽपि पापे तन्निर्णेजनाक्षमा अनृतवदशुभाः स्त्रिय इति शास्त्रमर्यादा तस्माद्यत्नतोरक्षणीया इत्यत्र तात्पर्यम् ॥ १८ ॥

(४) राघवानन्दः । तासां तु दौःशील्यं नानुयोज्यं चाण्डालादेरिव मन्त्रेण संस्काराभावादित्याह नास्तीति । क्रिया
नामकरणादिका विवाहस्तु समन्त्रक इत्युक्तेः । निरिन्द्रियाः इन्द्रियं प्रमाणं धर्मप्रमाणश्रुतिस्मृतिरहिताः । अनृतवदशुभाः
नित्यमनृतवादिन्योवा सूनृतवैदिकशब्दप्रयोक्तृत्वाभावात् ॥ १८ ॥

(५) नन्दनः । निरिन्द्रियाः ज्ञानरहिता इत्यर्थः अमन्त्रा अध्ययनबाह्याः ॥ १८ ॥

(६) रामचन्द्रः । निरिन्द्रियाः समन्त्रसंस्कारयोग्यतारहिताः ॥ १८ ॥

तथा च श्रुतयो बह्व्योनिगीतानि गमेष्वपि ॥ स्वालक्षण्यपरीक्षार्थं तासां शृणुत निष्कृतीः ॥ १९ ॥

(१) मेधातिथिः । स्वभावतोऽशुद्धहृदयाः स्त्रिय इत्यस्मिन्नर्थे वैदिकानि मन्त्रार्थवादरूपाणि वाक्यानि साक्षित्वेनो-
पन्यस्यति । तथाच यथामयोक्तं स्त्रियोऽनृतमिति तथैव निगमेषु वेदेषु श्रुतयः सन्ति । निगमशब्दो वेदपर्यायः दृष्टप्रयोगश्च ब-
भूथाततन्थेत्यादिनिगमे वेदार्थव्याख्यानाद्भवचनोप्यस्ति निगमनिरुक्तव्याकरणान्यङ्गानीति निरुक्ते हि प्रयोगो निगमा-

इमेभवन्तीति तस्येहश्रुतिग्रहणाद्वा वक्ष्यमाणोदाहरणाच्च संभवो ऽतोवेदवचनोनिगमशब्द इहगृह्यते समुदायावयवभेदा-
च्चाधाराधेयभावः तेषु निगमेषु श्रुतयएकादशभूतानि वाक्यानि निगीताअधीताः संशब्दिताः पठ्यन्तइति यावत् नित्यम-
वृत्ते च कालाविभागादिनिरुक्तः पाठान्तरनिगदाइति निगदामन्त्रविशेषाः श्रुतयोब्राह्मणवाक्यानि मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु चाय-
मर्थोदर्शितोयदनृतास्त्रियइति ब्रह्मस्ताः सतीत्यस्मिन्पक्षेऽध्याहारस्तासांश्रुतीनांयानिष्कतिरूपाव्यभिचारप्रायश्चित्तभूता-
स्ताःशृणुत किमर्थमुदाह्रियन्तइति चेत्स्वालक्षण्यपरीक्षार्थं स्वलक्षणंनित्यसंनिहितस्वभावस्तत्प्रतिपादनार्थमङ्गदकुण्डला-
दिलक्षणंतत्परिभूतमिदंस्वलक्षणंस्वभावइत्यर्थः एतदासीस्वलक्षणंयदव्यभिचारात्मकम् ॥ १९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्रुतयः श्रुतिभागाः । निगमेषु वेदेषु । स्वालक्षण्यस्य स्त्रीणांपौंश्वल्यादिस्वभावस्य परी-
क्षार्थं निश्चयार्थम् । तथाहि । इन्द्राद्वरंप्राथम्यमानाअपिकामनाविजनितोःसंभवामेत्याप्रसवंपुरुषसंसर्गमेव वृतवत्यइतिश्रु-
तिः । यद्येवंयत्नतोरक्षणेपि मनोव्यभिचारसंभवस्तस्य तर्हि कथंनिष्कतिरतआह । तासांस्त्रीणां निष्कृतिं तद्दोषशान्त्युपायं
शृणुत ॥ १९ ॥

(३) कुट्टूकः । व्यभिचारशीलत्वंस्त्रीणांस्वभावइत्युक्तंतत्र श्रुतिप्रमाणतयोपन्यस्यति तथा ब्रह्मण्यः श्रुतयोब्रह्मूनि
श्रुतिवाक्यानि नचैतद्विद्वोब्राह्मणास्मोऽब्राह्मणावेत्येवमादीनिनिगमेषुस्वालक्ष्यण्यंयदव्यभिचारशीलत्वंतत्परिज्ञानार्थंपठितानि
तासांश्रुतीनामध्येयानिष्कतिरूपाव्यभिचारप्रायश्चित्तभूतास्ताःश्रुतीः शृणुत एकस्याः श्रुतेर्वक्ष्यमाणत्वाच्छ्रुतिंशृणुतेत्यर्थः ।
सुपांसुपोभवन्तीति द्वितीयैकवचने बहुवचनम् ॥ १९ ॥

(४) राघवानन्दः । ननु किमिति स्त्रीणां व्यभिचारित्वादित्वारसिकं ब्रूत मात्रादिशिक्षतं कथंनस्यात् इति चेन्न
अनादिप्रवृत्तश्रुतिसिद्धनिष्कृतिकथनेन तस्याप्यनादित्वसिद्धिरित्याह यथाचेति । स्वालक्षण्यपरीक्षार्थं व्यभिचारित्वज्ञापना-
र्थम् । योब्राह्मणाचेत्येवमादयःश्रुतयस्तासां श्रुतीनां मध्ये निष्कर्तानिष्कृतिसाधनं श्रुतिं शृणुत ॥ १९ ॥

(५) नन्दनः । यथैतदुक्तंतथाच निगमेषु वेदेषु गदिताः श्रुतयोवाक्यानि स्वालक्षण्यपरीक्षार्थं सुशब्दोऽत्रबहुलवचनः
अलक्षणमलक्षणत्वंदुःस्वभावत्वंदोषबाहुल्यमिति यावत् परीक्षार्थंपरीक्षांकर्तुं तासांश्रुतीनामाकृतिसंनिवेशं । शृणुत ॥ १९ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्वलक्षणपरीक्षार्थं पौंश्वल्यादित्वपरिज्ञानायनिष्कृतीः शृणुत ॥ १९ ॥

यन्मे माता प्रलुलुभे विचरन्त्यपतिव्रता ॥ तन्मे रेतः पिता वृक्तामित्यस्यैतन्निर्दर्शनम् ॥ २० ॥

(१) मेधातिथिः । इति कारणान्तेन पादत्रयेण मन्त्रैकदेशोनुक्तः यन्मेमाताअपतिव्रतापत्युरन्यपुरुषे न कामश्चे-
तसापीति यस्याव्रतंनियमः सा पतिव्रता तद्विपरीताऽपतिव्रता विचरन्ती परगृहान्गच्छन्ती तत्रोज्वलवेषं दृष्ट्वा प्रलुलुभे लो-
भंस्पृहामन्यपुरुषंप्रतिकृतवती तत्पापंममोत्पत्त्या वा तत्पितुः संबन्धयद्देतः शुक्रंतद्वृद्धामपनुदतु तद्रेतसा सदोषोऽपमृज्यतां रे-
तइति षष्ठीस्थाने प्रथमा व्यत्ययेन अथवा रेतएव पितृत्वेन परिकल्पते अपरित्यक्तस्वलङ्घ्येव रेतसा सामानाधिकरण्य-
मनुभवति द्यौर्मपितेति यथा अथवा मातृबीज [मप्युच्यते तद्रेतःपिताजनकोवृद्धाशोधयतां दोषसपाद्यत्वंपितृबीज] प्रभावे-
न मातृदोषोपनुद्यतामित्यर्थः । अस्य व्याभिचारात्मकस्यैतन्निर्दर्शनंदृष्टान्तः सर्वे जपमानाएतंमन्त्रमुच्चारयन्ति यदि च सर्वाः
स्त्रियोदुष्टस्वभावास्ततोमन्त्रस्यनित्यवत्प्रयोगोपपत्तिरितरथा पाक्षिकःस्याच्चातुर्मास्येष्वयंमन्त्रोविनियुक्तः पाद्यानुमन्त्रणे च
श्राद्धे ॥ २० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अस्योक्तस्यार्थस्य निष्कर्तेर्निर्दर्शनं निश्चितं दर्शनं श्रुतौ कथमित्यत आह ध्यायतीति । पाणिग्राहस्यानिष्टं पुरुषान्तरयोगम् । तस्य व्यवभिचारस्य मानसस्य निह्नवोपनयः । श्राद्धे पुत्रेणानेन होमं कुर्वतोच्यते प्रा-
थ्यते तस्य निष्कर्तुर्भवत्विति ॥ यन्मे मातेति मन्त्रश्चानुष्टुबनुरोधात्किंचिदन्यथाकृत्वा पठितः । तथाहि । यन्मे माता प्रलुलोभ-
विचरन्त्यननुव्रता । तन्मेरेतः पिता वृद्धा मातुरन्यौवपद्यतामिति मन्त्रपाठः । तस्य चार्थो यन्मइति यत् मे मम मातुः पत्यननुव्र-
तंचरन्त्याः कुर्वत्यालोभात् रेतोरजोरूपं स्कन्तं तन्ममपितैव भजतां व्यवभिचारदोषो माभूदित्यर्थः । यस्तु तन्मनाः सन्मातुर-
भिभवितान्यः पत्युः सोवपद्यतामधः पतत्विति ॥ २० ॥ २१ ॥

(३) कुल्लुकः । कश्चित्पुत्रो मातुर्मानसव्यभिचारमवगम्य ब्रूते मनोवाक्कायकर्मभिः पतिव्यतिरिक्तं पुरुषं न काम-
यते सा पतिव्रता ततोऽन्याऽपतिव्रता मम माताऽपतिव्रता सती परगृहान्गच्छन्तीत्यलुलुभे परपुरुषं प्रतिसंजातलोभाऽभूत्तत्पुरु-
षसंकल्पदुष्टं मातुरजोरूपेरेतो मम पिता शोधयत्वित्यस्य स्त्रियाव्यभिचारशीलत्वस्यैतदिति करणान्तं मन्त्रपादत्रयं ज्ञापकं
अयंच मन्त्रश्चातुर्मास्यादिषु विनियुक्तः ॥ २० ॥

(४) राघवानन्दः । तामेवाह यदिति । यदित्यादि वृद्धा मित्यन्ता श्रुतिः । अस्या अर्थः । कश्चित्पुत्रो ब्रूते पतिं पाणि-
ग्राहं विना नान्यं वृणे इति व्रतं नियमो यस्य सा पतिव्रता तद्भिन्नाऽपतिव्रता मे माता विचरन्ती व्यवहरन्ती यत्पुरुषान्तरं
लुलुभे चकमे तेन कामेन यदुष्टं रेतो मातूरेतः पितामेतत् वृत्तां शोधयत्विति । अस्य स्त्रीव्यभिचारस्य एतदेषा श्रुतिः निर्दर्शनं
मानमिति पद्यार्थः ॥ २० ॥

(५) नन्दनः । श्रुतिमेकामुदाहरणार्थमाह यन्मे मातेति । पतिमननुव्रता चरती मे माता अन्यस्मात्पुंसो यद्रेतः प्रलुलोभ-
आदृतादधार तद्रेतो मे पिता वृत्तमातुः पाणिग्राहकः स्वीकरोतु मम पितैव तद्रेत आहितमस्त्वित्यर्थः । अथवा यच्छब्दो-
वृत्यर्थः ततो नयन्तः अस्य स्त्रीणां त्वालक्षण्यस्यैतद्वचनं निर्दर्शनं प्रमाणं एष मन्त्र उदाहरणमिति यावत् ॥ २० ॥

(६) रामचन्द्रः । यन्मे मातेति मन्त्रेण श्राद्धे होमं कुर्वाणे नोच्यते प्रकथ्यते अपतिव्रता मे माता यत् प्रचरन्ती
प्रलुलुभे तन्मेरेतः लोभादजोरूपं यद्रेतः स्कन्तं तद्रेतो मे पिता भजताम् ॥ २० ॥

ध्यायत्यनिष्टं यत्किंचित्पाणिग्राहस्य चेतसा ॥ तस्यैष व्यवभिचारस्य निह्नवः सम्यगुच्यते ॥ २१ ॥

(१) मेधातिथिः । पाणिग्राहो भर्ता तस्य चेतसा यदनिष्टमप्रियं परपुरुषसंपर्कादिकं स्त्रीचिन्तयति तस्य मानसस्य
व्यभिचारस्य निह्नवः शुद्धिरनेन मन्त्रेण कर्मणि नियुक्ते नोच्यते । प्रसङ्गान्मन्त्रप्रयोजनं दर्शितं । यद्यपि कर्मगुणतैव कर्माङ्ग-
मन्त्रप्रयोजनं तथापि जपादौ विनियोगान्मानसव्यभिचारनिवृत्त्यर्थताम्युच्यते ॥ २१ ॥

(३) कुल्लुकः । संप्रति मानसव्यभिचारप्रायश्चित्तरूपतामस्य मन्त्रस्याह ध्यायेति । भर्तुरप्रियं यत्किंचित्पुरुषान्तरग-
मनं स्त्रीमनसा चिन्तयति तस्य मानसस्य व्यभिचारस्यैष प्रकृतो मन्त्रः सम्यक्शोधनो मन्वादिभिरुच्यते मातेति श्रवणात्पु-
त्रस्यैवायं प्रायश्चित्तरूपो मन्त्रो न मातुः ॥ २१ ॥

(४) राघवानन्दः । श्लोकद्वयार्थं संकलयन्नाह ध्यायतीति । यत्पुरुषान्तरेण सहभोगं ध्यायति चेतसा तदेव
पाणिग्राहस्य त्वभर्तुरनिष्टम् तस्यैव व्यभिचारस्यानिष्टस्य एष मन्त्रपाठः पुत्रस्यायं निह्नवः प्रायश्चित्तं गम्यते मातुरित्यन्वयः
॥ २१ ॥

(५) नन्दनः । एषमन्त्रः निहवस्तिरस्करणमन्यथाकरणं प्रायश्चित्तमितियावत् ॥ २१ ॥

(६) रामचन्द्रः । निहवः अपहवः ॥ २१ ॥

यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथा विधि ॥ तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा ॥ २२ ॥

(१) मेधातिथिः । भार्यासंरक्षणकामेन दौःशील्यादात्मा रक्षितव्योनाप्येतयैव केवलया पापतोदुःशीलस्य भार्यापि तथाविधैर्भवति गुणवतःशीलवती यथा समुद्रेण निम्नगा नदी संयुज्यमाना क्षारोदका भवति मधुररसापि सती ॥ २२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यादृग्गुणेनपत्या परिणेत्रा । अतोनाधमायदेहीत्यर्थः । समुद्रेण निम्नगा क्षारोदतां यथा याति ॥ २२ ॥

(३) कुल्लूकः । यथारूपेण भर्त्रा साधुनाऽसाधुना वा स्त्रीविवाहविधिना संयुज्यते सा भर्तृसदृशगुणा भवति यथा समुद्रेण संयुज्यमानानदी स्वादूदकाऽपि क्षारजला जायते भर्तुरात्मसंयमनाख्यस्त्रीरक्षणोपायान्तरो देशार्थमिदम् ॥ २२ ॥

(४) राघवानन्दः । दुःशीलाय सुशीला न देया सुशीलायतु दुःशीलाऽपि देयेत्यत्र दृष्टार्थं सदृष्टान्तमाह यादृगितिद्विध्याम । यादृग्गुणेन साधुना असाधुनाभर्त्रा स्त्री संयुज्यते साऽपि स्त्री तादृग्गुणा सासाध्वी असाध्वीवा भवति । तत्र दृष्टान्तः निम्नगास्वादूदकापिगंगाद्याः क्षारोदेन समुद्रेण संगतास्तादृशादृष्टाः ॥ २२ ॥

(५) नन्दनः । एवंप्रतिनियतत्वभावाअपिस्त्रियः स्वगुणानुसारेण दंड्याः कर्तुंशक्याइत्याह यादृग्गुणेनेति ॥ २२ ॥

अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा ॥ शारङ्गीमन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥ २३ ॥

(१) मेधातिथिः । हीनजातीयाप्यक्षमाला वसिष्ठभार्यातत्संयोगादभ्यर्हणीयतांप्राप्ता शार्ङ्गीतिर्यज्जातिःचट्कामन्दपालेन मुनिना संयुक्ता तथैव पूज्याअतोहीनजातीयाः कनीयस्थोपि भूयोभर्तृवत्पूज्यास्तथाचोक्तं वयसिस्त्रियइति ॥ २३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अक्षमाला अरुंधती वसिष्ठेन महर्षिणा सम्यग्योगंगता । अधमयोनिजा चतुर्वर्णैतरकुलजा । शारङ्गीपक्षिणी । शार्ङ्गीति कचित्पाठः ॥ २३ ॥

(३) कुल्लूकः । अत्रोत्कर्षदृष्टान्तमाहअक्षेति अक्षमालाख्यानिरुष्टयोनिजा वसिष्ठेन परिणीता तथा चटका मन्दपालाख्येन ऋषिणा संगता पूज्यतांगता ॥ २३ ॥

(४) राघवानन्दः । अत्रेतिहासं प्रमाणयति अक्षेति । अधमयोनिजा चण्डाली अक्षमाला ऋषीणामनुरोधेनोढा वसिष्ठश्चण्डालीमुपयेमइतिश्रुतेः । शारङ्गी चटका मन्दपालेन ऋषिणोढा अभ्यर्हणीयतां पूज्यताम् ॥ २३ ॥

(५) नन्दनः । अत्रोदाहरणमाह अक्षमालेति ॥ २३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अक्षमाला अरुंधती । शार्ङ्गपक्षिणी मन्दपालेन ऋषिणा संगता अभ्यर्हणीयतांजगामइति महाभारते आदि पर्वणि ॥ २३ ॥

एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः ॥ उत्कर्षयोषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैःशुभैः ॥ २४ ॥

(१) मेधातिथिः । अवकृष्टा निरुष्टा प्रसूतिरुत्पत्तिर्यासांताअवकृष्टप्रसूतयः अन्याश्च गङ्गाकालीप्रभृतयः द्वयोः प्रकृतत्वादेताइति बहुवचनं च शब्देन तृतीयामाक्षिप्य द्विवचनंवा एते च ॥ २४ ॥

(२३) शारङ्गी=शार्ङ्गीच (क, ख, ग, च) = शार्ङ्गीव (मे०)

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतादिति पूज्यताभिप्रायेण बहुवचनम् । अन्याः सत्यवत्याद्याः । अत्रच पञ्चमाध्यायस्त्री-
धर्मोक्तस्य शब्दतोर्थतश्च पुनरुक्तिः पुरुषकार्यतया तत्रात्रतु स्त्रीकार्यं तत्परिग्राह्यम् ॥ २४ ॥

(३) कुल्लूकः । यद्यपि द्वे प्रकृते तथापि प्रदर्शनार्थत्वमनयोर्मत्वैतादिति बहुवचनं कृतं एताश्चान्याश्च सत्यवत्याद-
द्योनिकृष्टप्रसूतयः स्वभर्तृगुणैः प्रकृष्टैरस्मिँल्लोकउत्कृष्टतांप्राप्ताः ॥ २४ ॥

(४) राघवानन्दः । उपसंहरति एतादिति । अवकृष्टप्रसूतयः निष्कृष्टयोनयः उत्कर्षं जातितः ख्यातितो पति-
तश्च स्वैर्भर्तृगुणैरेव प्राप्ताइत्यन्वयः ॥ २४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अपकृष्टप्रसूतयः निकृष्टजातयः ॥ २४ ॥

एषोदिता लोकयात्रानित्यंस्त्रीपुंसयोः शुभा ॥ प्रेत्येह च सुखोदकान्प्रजाधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥

(१) मेधातिथिः । लोकयात्रा लोकवृत्तलोकाचारोलोकसिद्धमेतत् नायंविधिलक्षणोर्थोयदेवंशक्यते रक्षितुं नान्य-
थेति अपरिक्षिताभिश्च ताभिः प्रसूत्यादिदोषेभवतीति । इदानीं प्रजाधर्मान्निबोधत । कस्य प्रजा बीजिनोवाक्षेत्रिणोवेति
उदर्कआगामीकालः ससुखोयेषांसर्वेहि वस्त्ववसाने विरमन्ते तेतु नैवमिति प्रशंसा ननुच का सुखोदकता प्रजाधर्मस्य
या च प्रजास्याधीना स्त्रियश्च बहुभिर्दोषैरावृतत्वत्यागार्हाः ॥ २५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रजाधर्मान् प्रजोत्पादनार्थं धर्मान् ॥ २५ ॥

(३) कुल्लूकः । एषलोकाचारोजायापतिविषयः सदाशुभउक्तः इदानीमिहलोके परलोके चोत्तरकालशुभसुखहेतून्
किंक्षेत्रिणोऽपत्यमुत बीजिनइत्यादीन्प्रजाधर्मान् शृणुत ॥ २५ ॥

(४) राघवानन्दः । स्त्रीणां स्वाभाविकौपाधिकधर्मानुपसंहरन् तत्कार्यप्रजनप्रकारमाह एषेति । लोकयात्रा लो-
काचारपरंपरा । सुखोदकान् इह दृष्टसुखमुत्तरकालेपि तत्कृतसुकृतजं सुखं येभ्यस्तान् प्रजाधर्मान् प्रजैव धर्मस्तानुपुत्रेणा-
यंलोकः ॥ दशपूर्वापरान्वंश्यानात्मानंचैकविंशकम् । ब्राह्मीपुत्रः सुकृतकृत्तारयेत् । इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्योधर्महेतुत्वश्रवणा-
त्प्रजायाः ॥ २५ ॥

(५) नन्दनः । गार्हस्थ्यस्य स्त्रीनिबन्धनत्वात्स्त्रीणांसंमानेन रक्षणंकार्य्यनावमानेनेत्यभिप्रायेणाह एषोदितेति ॥ २५ ॥

(६) रामचन्द्रः । यात्रा चर्या ॥ २५ ॥

प्रजनार्थमहाभागाः पूजार्हागृहदीपयः ॥ स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्च न ॥ २६ ॥

(१) मेधातिथिः । नहि गृहे सर्वान्विभृयादित्येतन्निवृत्त्यर्थमाह । शक्यप्रतिविधानत्वाद्दोषाणांपूजार्हाः यदेतद्दोषप्र-
योजनंतन्नावज्ञानार्थपरिवर्जनार्थवाभिशस्तपतितादिच किंतिहि रक्षार्थदोषाणां नहि भिक्षुकाः सन्तीति स्थालीनाधिश्रियते
नचभृगाःसन्तीति यवानोप्यन्तइति प्रयोजनं गर्भग्रहणात्प्रभृत्यपत्यपरिपोषणपर्यन्तोव्यापारोऽभिप्रेतः तथाच वक्ष्येति ॥ उत्पा-
दनमपत्यस्य जातस्य परिपालनमिति । गृहेदीपयइव नहि गृहे सेवा स्त्रिभिर्विना काचिदस्तीति सुप्रसिद्धमेतत् सत्यपि
श्रीविभवे भार्यायामसत्यांसुदृत्त्वजनादिष्वागतेषु नगृहस्थाः प्रतिपुरुषंभोजनादिभिरावर्जयितुंसमर्थाः यथा दरिद्रे नभवति
शक्तिरतः स्त्रियाःश्रियश्च न विशेषोगृहेष्विति ॥ २६ ॥

(२४) अपकृष्ट = अवकृष्ट (मे०) (२६ गृहदीपयः=मेधिनः (च)

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रजनार्थं संतानार्थम् । महाभागामहाभाग्याः ॥ २६ ॥

(३) कुल्लूकः । यद्यप्यासारक्षणार्थं दोषाउक्तास्तथापि शक्यप्रतीकारत्वादिदोषाभावः । एतास्त्रियोमहोपकारा-
गर्भोत्पादनार्थं बहुकल्याणभाजनभूताः वस्त्रालङ्कारादिदानेन समानार्हाः स्वगृहेशोभाकारिण्यः स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु तुल्यरूपा-
नानयोर्विशेषो विद्यते यथानिःश्रीकगृहं न राजत्येवं निःस्त्रीकमिति ॥ २६ ॥

(४) राघवानन्दः । गर्भधारणपोषाभ्यां तेन मातागरीयसीति मानयन् स्त्रियं स्तौति प्रजनार्थमिति त्रिभिः । प्रजना-
र्थं प्रजनमपत्यं तस्मै । गृहदीप्तयः गृहस्य दीप्तिः शोभा याभ्यस्ता । स्त्रिय एव श्रियः श्रीहेतुत्वात् ॥ २६ ॥

(५) नन्दनः । नविशेषोस्ति स्त्रीणां श्रीणाञ्च ॥ २६ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रजनार्थं संतानार्थम् गेहेषु स्त्रियः श्रियः लक्ष्मीरूपाः पूजायोग्याः ॥ २६ ॥

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ॥ प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥ २७ ॥

(१) मेधातिथिः । अत्र स्थानीयस्य पूर्वश्लोकस्य भाष्यस्थाविमौ श्लोकौ स्त्रीनिबन्धननिमित्तमपत्योत्पादना-
दौ प्रत्यक्षमेतत् । लोकयात्रागृहागतानामन्नादिदानेनावर्जनमामन्त्रणनिमन्त्रणादि । अस्य प्रत्यर्थं सर्वस्मिन्नर्थे स्त्रीनिधनं ।
प्रत्यहमिति पाठः । प्रत्यक्षशब्दोन्तरङ्गवचनः अन्तरङ्गमित्यर्थः ॥ २७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उत्पादनमुत्पत्तेः कारणं स्त्री । परिपालनं रक्षा कारणभूता । प्रीत्यर्थं या लोकस्य या-
त्रा व्यवहारः संभोगस्तस्य निबन्धनं स्त्री प्रत्यक्षं न तु पक्षो धर्मादिवत् । प्रत्यर्थमिति पाठे प्रतिविषयमित्यर्थः ॥ २७ ॥

(३) कुल्लूकः । अपिच उत्पादेति अपत्यस्य जननं जातस्य परिपालनं प्रतिदिनं चातिथिमित्रभोजनादेर्लोकव्यव-
हारस्य प्रत्यक्षं भार्यैव निदानम् ॥ २७ ॥

(४) राघवानन्दः । तदेवाह उदिति । लोकयात्रायाः अतिथिबन्धुमित्रभोजनादेर्व्यवहारस्य स्त्रीनिबन्धनं स्त्रीहेतु-
रिति प्रत्यक्षम् ॥ २७ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रीत्यर्थं लोकयात्रा प्रियोक्तिसंभोगरूपलोकव्यवहारस्य प्रत्यक्षं स्त्री निबन्धनं निमित्तम् ॥ २७ ॥

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ॥ दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ॥ २८ ॥

(१) मेधातिथिः । प्राग्दर्शितार्थोऽयं श्लोकः ॥ २८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शुश्रूषोपचारः । रतिः कामसुखम् ॥ २८ ॥

(३) कुल्लूकः । अपत्योत्पादनमुक्तमप्येतदभ्यर्हितत्वज्ञापनार्थं पुनरभिधानम् । धर्मकार्याण्यग्निहोत्रादीनि परिच-
र्योत्कृष्टा रतिः पितृणामात्मनश्चापत्यजननादिना स्वर्गइत्येतत्सर्वं भार्याधीनम् ॥ २८ ॥

(४) राघवानन्दः । धर्मकार्याणि बल्यग्निहोत्रादीनि शुश्रूषा तिथ्यादीनां । रतिः स्त्रीसंपर्कजा प्रीतिः । स्वर्गे य-
त्कर्तव्यं तदनयासहेति श्रुतेः एतत्सर्वं दाराधीनमिति द्योतीहकारः ॥ २८ ॥

पतिर्या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ॥ सा भर्तृलोकानामोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥ २९ ॥

(१) मेधातिथिः । पञ्चमे श्लोकाविमौ व्याख्यातौ ॥ २९ ॥ ३० ॥

(२७) प्रत्यहम् = प्रीत्यर्थम् (ब, ल) = प्रत्यर्थं (मे०)

(२) सर्वज्ञनारायणः । अभिचरति मनोवाग्देहसंयतेति मनःप्रभृतिभिर्नव्यभिचरतीत्यर्थः । वाग्व्यभिचारः पर-
पुरुषादिप्रशंसा । कायेन तद्दीक्षणस्पर्शादि ॥ २९ ॥

(३) कुल्लूकः । या स्त्री मनोवाग्देहसंयता सतीति विशेषणोपादानसामर्थ्यान्मनोवाग्देहैरेव न व्यभिचरति सा भर्त्रा
सहार्जितान्स्वर्गादिलोकानामोति इहलोके विशिष्टैः साध्वीत्युच्यते ॥ २९ ॥

(४) राघवानन्दः । तां दृष्टादृष्टफलेन प्रलोभयन्निव व्यभिचारान्निवर्तयति पतिमिति । या वाङ्मनोदेहेषुसंयता
सती नातिक्रमते सा भर्तृलोकं स्वर्गादिकं प्राप्नोति साध्वी चेहोच्यते इतिशेषः ॥ २९ ॥

(५) नन्दनः । एवंस्त्रीषुपुरुषाणांकर्तव्यमुक्तमिदानींपुरुषेषुस्त्रीणामाह पतिमिति ॥ २९ ॥

(६) रामचन्द्रः । मनोवाक्कायकर्मभिः वाग्दण्डसंयता ॥ २९ ॥

व्यभिचारात्तुभर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् ॥ सृगालयोर्निचामोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥ ३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सृगालयोनिमिति महापातकभोग्यनरकाद्युपलक्षणम् । तदन्ते सृगालयोनिगमनात् पाप-
रोगैः क्षयादिभिः ॥ ३० ॥

(३) कुल्लूकः । पुरुषान्तरसंपर्कात्स्त्री लोके निन्द्यतांजन्मान्तरे च सृगालज्जातिंप्राप्नोति पापरोगादिभिश्च पीड्यते ।
पञ्चमाध्याये स्त्रीधर्मउक्तमप्येतच्छ्लोकद्वयंसदपत्यसंपत्यर्थत्वेन महाप्रयोजनतया पुनः पठितम् ॥ ३० ॥

(४) राघवानन्दः । विपक्षेदण्डमाह व्यभिचारादिति । व्यभिचारात् स्वभर्तारं व्यतीत्याभिमुख्येनान्यत्र मनोवाग्दे-
हानांचरणात् गतैः पापरोगैः कुष्ठादिभिः पीड्यते पीडितास्यात् ॥ ३० ॥

पुत्रंप्रत्युदितंसद्भिः पूर्वजैश्च महर्षिभिः ॥ विश्वजन्यमिमंपुण्यमुपन्यासंनिबोधत ॥ ३१ ॥

(१) मेधातिथिः । उपन्यासोविचार्यवस्तुप्रक्षेपः विचारोवा तंनिबोधत । पुत्रंप्रतिपुत्रमधिकृत्योदितमुक्तं सद्भिर्विद्व-
द्भिर्महर्षिभिश्च [विश्वजन्यं] सर्वेभ्योजनेभ्योहितं पुण्यंकल्याणकरं स्त्रीस्तुत्याव्यवधानात् प्रजाधर्मनिबोधतेत्यस्यार्थ-
स्यापि पुनरादरार्थमुपन्यासः उपन्यासंनिबोधतेति ॥ ३१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवंस्त्रीणांनियते यत्र कचिद्वैवाद्यभिचारस्तत्र यःपुत्रंप्रति बीजिनोऽपत्यंक्षेत्रिणोवेत्यपत्या-
र्थः उपन्यासस्तं शृणुत । सद्भिर्वर्तमानैः पूर्वजैरतीतैः । विश्वजन्यं विश्वजनहितम् ॥ ३१ ॥

(३) कुल्लूकः । पुत्रमधिकृत्य शिष्टैर्मन्वादिभिः पूर्वमुत्पन्नैश्च महर्षिभिरभिहितमिमंवक्ष्यमाणंसर्वजनहितंविचारंशृ-
णुत ॥ ३१ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रजननार्थमित्युक्तं तदेवाह पुत्रमिति । पुत्रमुद्दिश्योपन्यासं विचारं निबोधत शृणुत । विश्व-
जन्यं विश्वस्मै सर्वस्मैजनाय हितं पुण्यं पुण्यफलदम् ॥ ३१ ॥

(५) नन्दनः । इदानींबीजिनः किंपुत्रःक्षेत्रिणोवेत्येतन्निरूपयितुंप्रक्रमते पुत्रंप्रत्युदितमिति । विश्वजन्यंविश्वजन-
हितं । इमंवक्ष्यमाणम् ॥ ३१ ॥

(६) रामचन्द्रः । विश्वजन्यं सकलजनहितम् । उपन्यासं व्याख्यानम् ॥ ३१ ॥

भर्तुः पुत्रं विजानन्ति श्रुतिद्वैधं तु भर्तारि ॥ आहु रूपादकं केचिदपरे क्षेत्रिणं विदुः ॥ ३२ ॥

(१) मेधातिथिः । भर्तोद्बोधा विवाहसंस्कारेण संस्कृतोयेन या नारी तस्यां यस्तस्मादेव जातस्तं पुत्रं तस्य विजानन्त्यभ्युपगच्छन्ति सर्वे एव विद्वांसो नात्र विप्रतिपत्तिः सिद्धांतो यम् । श्रुतिद्वैधं तु कर्तारि यः कर्तेव केवलमुत्पादयिताऽन्यदीयक्षेत्रे न तूद्बोधा तत्र श्रुतिद्वैधमतभेदस्तदर्शयति आहुरूपादकमपत्यवन्तर्काच्चत् अपरे क्षेत्रिणो यस्य सा भार्या तस्यामनुत्पादकमपि एवमाचार्यविप्रतिपत्तेः संशयमुपन्यस्य कारणकथनेन तमेव समर्थयते ॥ ३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भर्तुर्भार्यावतः पाणिग्राहस्य पुत्रं सर्वं विजानन्ति । केचित्तु बीजिनः । श्रुतेद्वैधं श्रुतौ बीजिनः पुत्रइति दर्शनात् श्रुतिकृतं द्वैधं सन्देहः । तथाहि । न शेषोऽग्रे अन्यजातमस्तीत्यादिश्रुतैः । शेषः पुत्रः अन्येन जनितः पुत्रो नास्तीत्यस्या अर्थः । एतेन न क्षेत्रिणः किंतु जनकस्यैवेति गम्यते अतएव दर्शनात् केचिदुत्पादकमाहुरन्येतु न्यायवत्क्षेत्रिणमिति ॥ ३२ ॥

(३) कुड्मूकः । भर्तुः पुत्रो भवतीति मुनयो मन्यन्ते । भर्तारि द्विः प्रकारा श्रुतिर्वर्तते केचिदुत्पादकमवोदामपि भर्तारितेन पुत्रेण पुत्रिणमाहुः अन्येतु वोदामर्भारिरमनुत्पादकमप्यन्यजनितेन पुत्रेण पुत्रिणमाहुः ॥ ३२ ॥

(४) राघवानन्दः । विचारमेवाह भर्तुरिति । तत्र भर्तृत्वं द्विविधं श्रुतिद्वैविध्याद्बोद्धृत्वाऽबोद्धृत्वभेदात् । तत्राबोद्धृत्वेनापत्योत्पादकमपि भर्तारमाहुः । गर्भधारणात्पुत्रस्यानुत्पादकत्वेपि बोद्धृत्वेन तत्र वोदुःक्षेत्रसंबन्धात्पुत्रो भवेत् । तदुक्तं याज्ञवल्क्येन ॥ अनेन विधिना जातः क्षेत्रिणः संभवेत्सुतइति ॥ ३२ ॥

(५) नन्दनः । भर्तृशब्दः स्वामिवचनः भर्तारि श्रुतिद्वैविध्यं कर्तरीतिपाठेऽप्ययमेवार्थः उत्तरार्धेन द्वैविध्यमेवोच्यते उत्पादकं बीजिनं कर्तारं केचिदाहुः ॥ ३२ ॥

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् ॥ क्षेत्रबीजसमायोगात्संभवः सर्वदेहिनाम् ॥ ३३ ॥

(१) मेधातिथिः । क्षेत्रमिव क्षेत्रभूता नारी ब्रह्मादेरुत्पत्तिस्थानं भूमिभागः क्षेत्रंतत्तुल्या नारी यथा क्षेत्रे बीजमुमतं च विधियमाणं जायते एवं नार्यामपि निषिक्ते रेतो बीजभूत एव पुमान् अत्रापि भूतशब्द उपमायां तदीयं रेतो बीजं साक्षात्पुमान् तदधिकरणत्वात् तथावद्यपि दिश्यते समायोगः संबन्धआधाराधेयलक्षणस्ततः संभवउत्पत्तिः सर्वदेहिनां शरीरिणांचतुर्विधस्य भूतग्रामस्य स्वेदज्ञानामन्याकारशः क्षेत्रं बीजं त्वेदोऽतो युक्तः संशयः उभयमन्तरेण संभवानुपपत्तेः अपत्योत्पत्तौ उभयोर्व्यापारः विनिगमनाद्यावद्धेतुभावात्कस्य तदुभयोः अन्यथान्यतरस्येति सन्देहः सर्वस्य च प्रकरणस्यायमर्थो नानुमानपरिच्छेदोऽपत्यापत्यवद्भावः तथाच विभागश्लोके वक्ष्यामः ॥ ३३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवं च क्षेत्रसंबन्धात् क्षेत्रिणो बीजसंबन्धाद्बीजिन इत्युभयोरपि प्राप्तम् ॥ ३३ ॥

(३) कुड्मूकः । ब्रह्माद्युत्पत्तिस्थानं क्षेत्रंतत्तुल्या स्त्री मुनिभिः स्मृता पुरुषश्च ब्रह्मादिबीजतुल्यः स्मृतः यद्यपि रेतो बीजं तथापि तदधिकरणत्वात्पुरुषो बीजमिति व्यपदिश्यते क्षेत्रबीजसमायोगात्सर्वप्राणिनामुत्पत्तिः एवं चोभयोः कारणत्वस्याविशिष्टत्वाद्युक्ता विप्रतिपत्तिः कियत्संबन्धि क्षेत्रंतस्यापत्यमुत यदीयं बीजंतस्येति ॥ ३३ ॥

(४) राघवानन्दः । क्षेत्रिणमिति प्रसंगेन क्षेत्रबीजे व्याकुर्वंस्तयोः कृत्यमाह क्षेत्रेति । क्षेत्रवदुत्पादनपरिपालन कर्तृत्वात् क्षेत्रभूता । बीजं रेतः तदाश्रयत्वाद्बीजभूतः तत्र चेतनस्य रजोरेतः संयोगादचेतनस्य भूबीजसंयोगात् संभवः उत्पत्तिः ॥ ३३ ॥

(५) नन्दनः । द्वैविध्यैयुक्तिमाह क्षेत्रभूतास्पृतेति तस्माद्युक्तद्वैविध्यमिति ॥ ३३ ॥

विशिष्टंकुत्रचिद्वीजंस्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित् ॥ उभयन्तुसमंयत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते ॥ ३४ ॥

(१) मेधातिथिः । बीजस्य वैशिष्ट्यं व्यासक्रण्यशृङ्गादीनामहर्षीणां दृष्टं स्त्रीयोनिष्वेव क्षेत्रजादिपुत्रेषु धृतराष्ट्रादिषु ब्राह्मणाज्जाता अपि मातृजातयः क्षत्रियास्ते उभयंतुसमं एकत्वात्मिकमेकजातीयंसमंसा प्रसूतिः प्रशस्यते विप्रतिपत्त्यभावात् तदुक्तमेतद्भर्तुः पुत्रं विजानन्तीति ॥ ३४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । युक्त्यन्तरमाह विशिष्टमिति । बीजं बीजी पुरुषः विशिष्टं ब्राह्मण्यादिगुणवत् । अन्यतरविशिष्टत्वेन प्रजा विशिष्टा न भवति किंतु यत्रोभयं विशिष्टं स एव प्रसवः शस्यते उभयोः प्राधान्यात् । अतः क्षेत्रद्वारा क्षेत्रिणोप्यपत्यमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

(३) कुल्लूकः । क्वचिद्वीजं प्रधानं जातायेत्वनियुक्तायामिति न्यायेनोत्पन्नो बीजिनो बुध इव सोमस्य तथा व्यासक्रण्यशृङ्गादयो बीजिनामेव सृताः । क्वचित्क्षेत्रस्य प्राधान्यं यथायंतुलपजः प्रमीतस्येति वक्ष्यति । अतएव विचित्रवीर्यक्षेत्रे क्षत्रियायां ब्राह्मणोत्पादिता अपि धृतराष्ट्रादयः क्षत्रियाः क्षेत्रिण एव पुत्रा बभूवुः । यत्र पुनर्बीजयोऽन्योः साम्यं तत्र बोद्धेव जनयिता तदपत्यं प्रशस्तं भवति तत्र बीजप्रधान्यापेक्षंतावदाहुः ॥ ३४ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र तयोः प्राधान्यं भिन्दानः समे कार्ये प्रशंसति विशिष्टमिति । बीजस्य प्राधान्यं व्यासक्रण्यशृङ्गादौ तेनैषां ब्राह्मण्यमेवोत्कृष्टता । क्षेत्रस्य प्राधान्यं धृतराष्ट्रविदुरादौ क्षत्रियक्षेत्रत्वे । उभयं बीजयोऽन्यात्मकमनूढासजाती यपरिणयेन समं यत्र प्रसूतौ सा प्रसूतिरत्यंतं प्रशस्यत इत्यन्वयः ॥ ३४ ॥

(५) नन्दनः । स्वमतमाह विशिष्टंकुत्रचिदिति कुत्रचित्प्रसूतौ बीजं विशिष्टं न सर्वत्र । प्रसूतिः शिष्टा एवं स्थित उभयत्र समं एकजातीयम् ॥ ३४ ॥

बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते ॥ सर्वभूतप्रसूतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता ॥ ३५ ॥

(१) मेधातिथिः । एवमुपपादिते संशये बीजप्राधान्यपक्षं पूर्वपरिगृह्णाति तत्प्राधान्याद्यस्य बीजंतस्यापत्यंतस्य च प्राधान्यं ब्रह्मादेर्द्वैविध्यस्य क्षित्याद्यनेककारणत्वेऽपि तद्धर्मानुविधानदर्शनात् अतश्च स्फुटमदृष्टबीजानुविधानस्यापत्यस्य कार्यत्वाद्ब्रह्मादीनामिव तद्धर्मानुविधायित्वं युक्तमभ्युपगंतुं तथाहि सर्वत्र कार्ये एकरूप्यं न त्यक्तं भवति तथाच बीजे प्राधान्यं तद्दर्शयति सर्वभूतप्रसूतिर्हि सर्वेषां भूतानां प्रसूतिरुत्पत्तिर्बीजलक्षणलक्षिता बीजस्य यल्लक्षणं रूपवर्णसंस्थानादि तेन लक्षिता चिह्निता तद्रूपानुविधायिनी नियावत् ॥ ३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र पूर्वपक्षमाह बीजस्येति । बीजलक्षणलक्षिता बीजजातिप्रयुक्तनियतजातिः ॥ ३५ ॥

(३) कुल्लूकः । बीजक्षेत्रयोर्बीजं प्रधानमभिधीयते यस्मात्सर्वेषां भूतारब्धानां मुत्पत्तिर्बीजगतवर्णस्वरूपादिचिह्नैरूपलक्षिता दृश्यते ॥ ३५ ॥

(४) राघवानन्दः । भेदफलमाह बीजस्येति । बीजलक्षणलक्षिता बीजस्य लक्षणानि रूपसंस्थानार्थक्रियास्तैर्लक्षिता विशिष्टा दृश्यन्ते अतएवोपरिचरवसोरपत्यं मत्स्योदरी सत्यवती नाम ॥ ३५ ॥

(५) नन्दनः । अथ बीजमेव विशिष्टं षड्भिः श्लोकैराहु बीजस्य चैवेति । बीजस्य योन्याश्च द्वयोर्मध्ये बीजलक्षणलक्षिता बीजगुणेनैव दृष्टा ॥ ३५ ॥

यादृशंतूप्यते बीजक्षेत्रे कालोपपादिते ॥ तादृग्रोहति तत्तस्मिन्बीजंस्वैर्व्यञ्जितंगुणैः ॥ ३६ ॥

(१) मेधातिथिः । अनन्तरस्यैवार्थविस्तरत्वेन श्लोकोयंवत्कान्वयप्रदर्शनेन यादृशंशब्दस्यार्थव्याख्यास्यति ब्रीहयः शाल्यइत्यादिना कालोपपादिते कालेवर्षादौ वपनकालउत्पादिते रुष्टसमीक्षणादिना संस्कृते तादृग्रोहति जायते स्वैर्गुणैर्वर्णसंस्थानरसवीर्यादिभिर्गुणैर्व्यञ्जितं परिदृश्यरूपम् ॥ ३६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कालोपपादिते कालेनयुक्ते । एतेन कालवत्क्षेत्रस्यापि गुणतैवेत्युक्तम् । स्वैरसाधारणैर्गुणैरूपादिभिः ॥ ३६ ॥

(३) कुल्लूकः । यज्जातीयं बीजं ब्रीह्यादि ग्रीष्मादिकाले वर्षादिना संस्कृते क्षेत्रउप्यते तज्जातीयमेव तद्बीजमात्मीयैर्वर्णादिभिरुपलक्षितं तस्मिन् क्षेत्रे जायते ॥ ३६ ॥

(४) राघवानन्दः । एतदेव प्रत्यक्षयति यादृशमिति । कालोपपादिते तत्तत्सस्योचितकालयुक्ते । रोहत्यङ्कुरः संपद्यते तस्मिन्ङ्कुरे तादृशबीजावयवत्वल्पङ्कुरपत्रकाण्डादिपरंपरया । पुनस्तादृशं बीजं व्यञ्जितं स्वैर्गुणैः शाल्यादिगन्धरसैः जनयति भूर्न ॥ ३६ ॥

(५) नन्दनः । एतदेव विशदयति यादृशंतूप्यतइति । कालोपपादितकालेन संयोजितमपि महतापिकालेनेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते ॥ न च योनिगुणान्कांश्चिद्बीजं पुण्यति पुष्टिषु ॥ ३७ ॥

(१) मेधातिथिः । बीजगुणानुवृत्तिः पूर्वोक्तो अनेन क्षेत्रगुणानामभावमाह एषा भूमिर्भूतानां स्थावराणामोषधी-तृणगुल्मलतानां योनिः क्षेत्रमुच्यते न च तद्गुणास्तेषु भूतेषु केचन दृश्यन्ते नष्टदः पांसवो वा तत्रोपलभ्यन्ते बीजं पुष्पंति पुष्टिषु बीजशब्देनाङ्कुरनिर्गतब्रीह्यादिवचनो न मूलवचनस्तदपि हि पुनरुपभुक्तशेषमुप्यमानमपरस्मिन्वत्सरे भवत्येव बीजं तच्च पुण्यति नानुवर्तते पुष्ट्यङ्गं भूतायामनुवृत्तौ पुण्यतिर्वर्तमानः सकर्मकत्वं द्वितीयानिमित्तं योनिर्गुणान्प्राप्यति वा भजते पुष्टिषु तदवयवेषु निमित्तं पुण्यतिनानुवर्तते यदि पुण्यङ्काऽनुवृत्तिराख्यातेनोच्यते पुष्टिष्वित्यन्यार्थकं तस्मादेनेकार्थत्वाद्धातूनामन्यवचनमात्रएवाख्यातेनानुव्याख्येयः श्लोकपूरणार्थवापुष्टिष्विति कथंचित्पौनरुक्त्यं परिहार्यं सामान्यविशेषभावेन वान्वयोवक्तव्यः स्वपोषं पुष्टइति यथा ॥ ३७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पुष्टिष्वङ्कुरादिप्रादुर्भावेषु ॥ ३७ ॥

(३) कुल्लूकः । एवमन्वयप्रकारेण बीजप्राधान्यं प्रदर्श्य व्यतिरेकमुखेन दर्शयितुमाह इयमिति । हिरवधारणे इयमेव भूमिर्भूतारब्धानां तरुगुल्मलतादीनां नित्या योनिः कारणक्षेत्रात्मकं सर्वलोकैरुच्यते न च भूम्याख्ययोनिधर्मान्कांश्चिदपि मृत्स्वरूपत्वाद्बीजं स्वविकारेष्वङ्कुरकाण्डाद्यवस्थासु भजते भजत्यर्थत्वात्पुण्यतेः सकर्मता तस्माद्योनिगुणानुवर्तनाभावान्न क्षेत्रप्राधान्यम् ॥ ३७ ॥

(४) राघवानन्दः । एतदेव व्यनक्ति इयमिति । इयं प्रत्यक्षापि शाश्वती नित्या योनिरपि न स्वगुणान्पुण्यति । समर्पयति । पुष्टिषु वृक्षादिषु । बीजंतु त्वानुरूपाणि मरोहकाण्डपत्रपुष्पफलरसगन्धादीनि पुष्णाति पोषणेन प्रकटयति ॥ ३७ ॥

(५) नन्दनः । एतदेव व्यतिरेकमुखेन दर्शयति इयं भूमिर्हि भूतानामिति । शाश्वती चिरन्तनी । एतावता चिरेण कालेन भूमिगुणः किञ्चिद्बीजं न हि पुण्यति ॥ ३७ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वभूतिर्हिभूतानामितिपाठः । पुष्टिषु अङ्कुरादिप्रादुर्भावेषु ॥ ३७ ॥

भूमावप्येककेदारे कालोमानि कृषीवलैः ॥ नानारूपाणि जायन्ते बीजानीह स्वभावतः ॥ ३८ ॥

(१) मेधातिथिः । अनन्तरोक्तोर्थउदाहरणाद्याक्रियते एककेदारेऽपि परत्रयोजनीयः एकस्मिन्नपि क्षेत्रे भूमेः काले यस्यबीजस्य योवैककालस्तस्मिन्नुभनिकर्षकैर्भिन्नरूपाणि जायन्ते बीजानि स्वभावानुविधानादित्यर्थः । यदि च क्षेत्रे प्राधान्यस्यात्क्षेत्रस्यैकत्वात्सर्वार्ण्यैकरूपाणि स्युः ॥ ३८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भूमिगुणपोषणमुक्त्वा बीजगुणपुष्टिमाह भूमाविति । एककेदारइत्यत्यन्तमनुप्रयोगकथनम् । स्वभावतः त्वस्य योभावो धर्मः शालित्वादिस्तेन सदृशम् ॥ ३८ ॥

(३) कुल्लूकः । अपिचभूमाविति भूमावेकस्मिन्नपि केदारे कर्षकैर्वपनकालोमानि ब्रीहिमुद्रादीनि नानारूपाण्येव बीजस्वभावाज्जायन्ते नतु भूमेरेकत्वादिकरूपाणि भवन्ति ॥ ३८ ॥

(४) राघवानन्दः । तदेव दृष्टान्तेन स्वहस्तयति भूमावितिद्वाम्याम् । केदारे क्षेत्रे कृषीवलैः कर्षकैः कालोमानि तत्तद्बीजप्ररोहकालउमानि नानारूपाणि यवशाल्यादीनि जायन्ते कार्याकारेण परिणमन्ति । स्वभावतोबीजस्वभावेन ॥ ३८ ॥

(५) नन्दनः । बीजानां भूमिगुणपोषणे हेतुर्देशकालवैषम्यविरुद्धइति चेत्तत्राह भूमावपीति । एककेदारे समानेसंस्थाने संस्कृतक्षेत्रेऽपि । कालोमानि नानारूपाणि भिन्नजातीयानि स्वभावतः प्रकृत्यैव । इहास्मिँल्लोके जायन्ते एकमपि बीजस्वभावतो न व्यभिचरतीत्येतद्दर्शयितुमुक्तम् ॥ ३८ ॥

ब्रीहयः शालयोमुद्रास्तिलामाषास्तथा यवाः ॥ यथाबीजंप्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस्तथा ॥ ३९ ॥

(१) मेधातिथिः । तानि नानारूपत्वेन बीजानि दर्शयति । यथावा बीजस्वभावाभिपत्या सर्वत्र जात्याख्यायां बहुवचनम् ॥ ३९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शालयोहेमन्तपक्वधान्यानि । ब्रीहयस्तेभ्योऽन्यानि धान्यानि । लशुनीक्षवइति निन्दिता-निन्दितयोरुदाहरणम् ॥ ३९ ॥

(३) कुल्लूकः । तथाहि ब्रीहीति । ब्रीहयः षष्टिकाः शालयः कलमाद्याः तथामुद्रादयोबीजस्वभावानतिक्रमेण नानारूपाणि जायन्ते ॥ ३९ ॥

(४) राघवानन्दः । तदेवाह ब्रीहयइति । ब्रीहयः षष्टिकाद्याः । शालयः कलमाद्याः । लशुनानि स्थूलकन्ददुर्गन्धीनि ॥ ३९ ॥

(५) नन्दनः । नानाबीजानां नानारूपत्वमेवोदाहरति ब्रीहयःशालयइति ॥ ३९ ॥

अन्यदुमंजातमन्यदित्येतन्नोपपद्यते ॥ उप्यते यद्धि यद्बीजंतत्तदेव प्ररोहति ॥ ४० ॥

(१) मेधातिथिः । एषएवार्थः शब्दान्तरेण निगम्यते अन्यदुमंजातमन्यदित्यनेनोपपद्यते यद्धि यद्बीजंतदेव प्ररोहति मुद्गेषु ब्रीहयोजायन्तइत्येतन्नास्ति प्रतिषेधमुखेनोक्तस्य विधिमुखेन पुनः प्रतिपादनमुच्यते यद्धि यद्बीजम् ॥ ४० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्यदन्यजातीयम् । अतोबीजिनएव प्रजा न क्षेत्रिणइति समुदायार्थः ॥ ४० ॥

(३) कुल्लूकः । एवंच सति अन्यदिति । ब्रीहिरुमोमुद्रादिर्जायतइत्येतन्न संभवति यस्माद्यदेवबीजमुप्यते तत्तदेव जायतएवबीजगुणानुवर्तनात्क्षेत्रधर्मानुवृत्तेश्च ब्रीह्यादौ मनुष्येष्वपि बीजप्राधान्यम् ॥ ४० ॥

(४) राघवानन्दः । एतदेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां दृढयन्माह अन्यदिति । अन्यत् शाल्यादिबीजमुमं न यवाद्याकारेण स्यादिति व्यतिरेकः । अन्वयमाह यद्यदेवेति तत्तदेव शालिपरंपरायायदिनिश्चितमेव ॥ ४० ॥

(५) नन्दनः । उक्तमेवार्थनिगमयति अन्यदुपमिति । प्ररोहति प्रत्यक्षतः प्ररोहति । तस्मादुमादन्यद्रोहतोत्येतन्नोपपद्यतइति ॥ ४० ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्यत् उमंअन्यत्जातंतएतत्कर्म नउपपद्यते न संघटते । अन्यद्रुक्तंअन्यद्वान्तमितिन्यायो न संघटते ॥ ४० ॥

तत्प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना ॥ आयुष्कामेन वप्तव्यं जातुपरयोषिति ॥ ४१ ॥

(१) मेधातिथिः । एवंपूर्वपक्षेसिद्धान्तमाह क्षेत्रप्राधान्यमनेनोच्यते ननुच नात्रक्षेत्रप्राधान्याभिधायकंकिंचित्पदमस्ति केवलंपरक्षेत्रोपगमननिषेधःश्रूयते । वप्तव्यं जातुपरयोषिति परदारेषु बीजनिषेकोनकर्तव्यइत्यस्यार्थः । न पुनर्यस्य क्षेत्रंतस्यापत्यमित्यनेनोक्तंभवति सत्यं तथानश्यति वैक्षिप्तंबीजंपरपरिग्रहइत्यनेनैकवाक्यत्वात् दृष्टापत्यापहारलक्षणदोषनिमित्तोयंप्रतिषेधोनादृष्टार्थउपगमनप्रतिषेधः । सहि चतुर्थे विहतएव नहीदृशमनायुष्यमित्यादिना तस्मादन्यशेषतया प्रतिषेधश्रुतेरनन्तरेणैकवाक्यत्वादसतित्वात्तट्टे युक्ता क्षेत्रप्राधान्यप्रतिपादनपरता प्राज्ञेन सहजया प्रज्ञया विनीतेन पित्रादिभिरनुशिष्टेन ज्ञानविज्ञानवेदिना करणसाधनौज्ञानविज्ञानशब्दौ ज्ञानवेदाङ्गशास्त्राणि विज्ञानंतर्ककलादिविषयं । एतद्रुक्तंभवति यस्य काचिद्बुद्धिर्विद्यते तेनैवं कर्तव्यंयतः सर्वशास्त्रेष्वेवास्थितिः । यस्तु मूर्खस्तिर्यक्पण्यः सोत्रनाधिकृतएवेत्यनुवादोयं । आयुष्कामेनेति चातुर्थिकस्य प्रतिषेधस्य प्रत्यभिज्ञानार्थमेतत्तत्तश्च पृथक्प्रतिषेधशङ्कानिरस्ता भवति ॥ ४१ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । एवं पूर्वपक्षे उक्तीरुक्ता यद्यप्येवं तथापि लोके क्षेत्रिणएव फलसंबन्धदर्शनात् [स्वक्षेत्रद्वारा क्षेत्रिणएव प्रजेत्याह तत्प्राज्ञेनेति । तद्वीजं । प्राज्ञेन स्वतोबुद्धिमता । विनीतेन गुरुशिक्षितेन । ज्ञानं धर्मविषयाधीः] विज्ञानंलोकविषया तद्वेदी तत्रत्यभावात् ॥ ४१ ॥

(३) कुल्लूकः । संप्रतिक्षेत्रप्राधान्यमाह तदिति तद्वीजंसहजप्रज्ञावता पित्रादिभिरनुशिष्टेन ज्ञानवेदः एवंविज्ञानमपि तदङ्गादिशास्त्राणि तद्वेदिनाऽऽयुरिच्छता न कदाचित्परजायायां वपनीयम् ॥ ४१ ॥

(४) राघवानन्दः । दृष्टान्तजातस्य दार्ष्टान्तिके फलितमाह तदिति । तस्मादर्थेज्ञानविज्ञानवेदिना श्रुतिस्मृतिविदा । नवमव्यं रेतइतिशेषः । परयोषिति नियुक्तायामपि न वप्तव्यमित्युक्तम् ॥ ४१ ॥

(५) नन्दनः । एवं बीजप्राधान्यमुक्तमधुनाक्षेत्रप्राधान्यंचतुर्भिः श्लोकैराह तत्प्राज्ञेनेति । तद्वीजं । ज्ञानंलौकिकं । विज्ञानं शास्त्रजंप्रधानमितिरुक्त्वा परक्षेत्रेवप्तव्यं क्षेत्रस्वामित्वादित्यर्थः ॥ ४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । विनीतेन गुरुशिक्षितेन । विज्ञानवेदिना ज्ञानं धर्मविषयं विज्ञानं लोकविषयं तयोर्वेदिना ॥ ४१ ॥

अत्र गाथावायुगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ॥ यथा बीजं वप्तव्यंपुंसा परपरिग्रहे ॥ ४२ ॥

(१) मेधातिथिः । गाथाशब्दोवृत्तविशेषवचनः यथोक्तंपिङ्गलेन अत्रासिद्धंगाथेति अविगीताः परंपरागताः श्लोकाअन्युच्यंते तदेषापियङ्गगाथागीयतइत्युक्त्वा श्लोकाउत्तरत्रवेदे पठ्यन्ते यदस्यपूर्वमपरंतदस्येति वायुनागीताः पठिताः वायुभोक्ता पुराविदः पुराणकल्पान्तरवेदिनः परपरिग्रहेपरक्षेत्रे ॥ ४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । माभूदायुष्कामस्य कर्तव्यं किं ततोऽतआह अत्रेति ॥ ४२ ॥

(३) कुड्मूकः । अतीतकालज्ञाअस्मिन्नर्थे वायुप्रोक्तागाथाः छन्दोविशेषयुक्तानि वाक्यानि कथयन्ति यथा परपुरु-
षेण परपत्न्यां बीजेन वसव्यमिति ॥ ४२ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र सतांवाक्यं प्रमाणयति अत्रेति । गाथाः विगीतश्लोकाः । परपरिग्रहे परगृहीतदार-
रूपे ॥ ४२ ॥

(५) ननन्दनः । यथा येन हेतुना ॥ ४२ ॥

(६) रामचन्द्रः । परपरिग्रहे परस्त्रियां यथा न वसव्यम् ॥ ४२ ॥

नश्यतीषुर्यथाविद्धः स्वे विद्धमनुविध्यतः ॥ तथा नश्यति वै क्षिप्रं बीजं परपरिग्रहे ॥ ४३ ॥

(१) मेधातिथिः । तादृशनीगाथादर्शयति इषुः शरः सनश्यति खेच्छिद्रे अन्येनेष्वासेन विद्धंमृगमनुविध्यतः
[पूर्वस्य वेधकस्यात्रस्वाम्यं अथवाऽऽकाशे शरः क्षिमोलक्ष्यमन्तरेण नश्यति निष्फलो भवति विद्धं चानुविध्यतः] †
एवंपरस्त्रियंतेजोनिःक्षिप्तस्य बीजिनः क्षेत्रस्वामिनोपत्यं भवति ॥ ४३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्येन विद्धमनु पश्चाद्विध्यतः वृथाविध्यतः क्षिमोपीषुर्नश्यति । अन्येन पूर्वविद्धत्वेन
स्वीकृतत्वादिषु विद्धत्वेपि पक्षिणो मांसलाभोत्र पूर्वपरिग्रहीतुरेवेत्यर्थः । नश्यति निःफलं भवति ॥ ४३ ॥

(३) कुड्मूकः । यथान्येन विद्धंमृगरुणसारंतस्मिन्नेव छिद्रे पश्चादन्यस्य विध्यतआविद्धः क्षिप्तः शरो निष्फलो-
भवति पूर्वहृत्तैव हतत्वात्तस्यैव तन्मृगलाभात् एवंपरपत्न्यामुमं बीजं शीघ्रमेव निष्फलं भवति गर्भग्रहणानन्तरं क्षेत्रिणः सद्यः-
फललाभात् ॥ ४३ ॥

(४) राघवानन्दः । परक्षेत्रे बीजस्योत्तिर्वमुः फलाय न पर्यामेति दृष्टान्तगाथामाह नश्यतीति । विद्धं मृगमन्येन ।
स्वे तत्कर्तृच्छिद्रे । खमित्युपलक्षणम् । अनुविध्यतः पश्चात्ताडयतः इषुः शरो नश्यति मृगलाभायापर्याप्तः यतः पूर्वहन्तरे-
व सः शरमृगस्य विद्यमानत्वाद्धिद्रेषुर्नश्यति । पाश्चात्येन यथा सपशुर्न लभ्यते एवं गर्भो बीजिना न लभ्यतइत्यर्थः ॥ ४३ ॥

(५) नन्दनः । तामेव गाथामाह नश्यतीषुर्यथेति । खेविद्धं खेसंबद्धं वायुमिति यावत् वायुंलक्षीकृत्य विद्धोयुक्तः
इषुर्विध्यतः प्रहरतः पुरुषस्य यथा नश्यति निष्फलो भवति तथा नश्यति तत्फलं बीजिनो न भवति क्षेत्रिणो भवतीत्यर्थः ।
क्षेत्रं प्रथमपरिग्रहीतुरेवेति ॥ ४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । यथाक्षिप्तइषुर्बाणः खे अकाशे नश्यति निराधारत्वात् कीदृशः इषुर्विद्धंलक्षं अनुविध्यतः ॥ ४३ ॥

पृथोरपीमां पृथिवीं भार्यां पूर्वविदो विदुः ॥ स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहुः शल्यवतो मृगम् ॥ ४४ ॥

(१) मेधातिथिः । ईदृशोयं पुराणकृतो जायापतिलक्षणसंबन्धो यद्भिन्नावपि तावेकीकृताविव दर्शयति तथाहि
अनेकवर्षसहस्रातीतपृथुसंबन्धामही तेनैव व्यपदिश्यते पृथिवीति तस्मादन्यापि स्त्री यस्य भार्या तस्य पुत्रोऽनेनापिजा-
तः स्थाणुच्छेदस्य केदारंस्त्वमाहुः संबन्धान्तरस्याभावात् स्वस्वामिसंबन्धषष्ठीप्रतिपादयति स्थाणुर्गुच्छगुल्मलतादिप्ररूढो-
यत्र भवतितच्छिनत्ति यः स स्थाणुच्छेदः तस्य तत्क्षेत्रं येन प्ररूढगुल्मलतावीरुधः छित्त्वा भूमिः क्षेत्री कृता तत्र कर्षणवपः

नजातं फलंतस्यैव शल्यवतो मृगमाहुर्नित्यनुषज्यते बहूनां मृगमनुधावतामाखेदकार्यस्यैव संबन्धिशरशल्यं मृगे दृश्यते तस्य तमाहुः । प्रथमवेद्धश्च स भवतीत्युक्तं नश्यतीषुरित्यत्र ॥ ४४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यथा पृथोः परिग्रहानन्तरमनेकराजपरिग्रहीतार्थमपि पृथिवीं प्रथमपरिग्रहीतृत्वात् पृथो-स्तस्यैव नाम्ना पृथिवीति व्यपदिशन्ति तथा प्रथमपरिग्रहीतुरेव भार्याऽतो नन्तरं परिग्रहाद्वीजिनएव क्षेत्रं किं तस्या-दित्यपि नाशङ्कनीयमित्यर्थः । स्थाणुच्छेदस्य यः प्रथमं खिलभङ्गार्थं क्षेत्रे स्थाणुमुत्पादयति तस्य न द्वितीयपरिग्रहीतुः । केदारं क्षेत्रम् । शल्यवतो यस्य तोयेन विद्धो ननु तदनन्तरं मृगग्रहीतुः ॥ ४४ ॥

(३) कुल्लूकः । इमामपि पृथ्वीपृथुना पूर्वपरिग्रहीतृत्वात् अनेकराजसंबन्धेषु पृथो भार्यामित्यतीतज्ञानान्ति तस्मात् स्थाणुच्छिन्दन्ति स्थाणुच्छेदः कर्मण्यण्येन स्थाणुमुत्पादय क्षेत्रं कृतंतस्यैव तत्क्षेत्रं वदन्ति तथा शरादिशल्यं येन पूर्वमृगे क्षिप्तंतस्यैव तं मृगमाहुः एवंच पूर्वपरिग्रहीतुः स्वामित्वाद्दोदुरेवापत्यं भवति न जनयितुः ॥ ४४ ॥

(४) राघवानन्दः । अत्रार्थे पुरावृत्तं स्फुटयन्परयोषिति पुत्रार्थमाशासानस्य पुत्राशावैकल्यमाह पृथोरिति । अने-कराजसंबन्धित्वे भूमेः भुवः पृथ्वीति समाख्याबलात् । पृथोरेव भार्यामाहुः भुवः स्थाणुच्छेदस्य प्रथमतदुच्छेदकस्य के-दारं क्षेत्रं एवं शल्यवतः अग्रे मृगप्रतिशरं योजयितुः दृष्टान्तत्रये क्षेत्रिण एवापत्यम् ॥ ४४ ॥

(५) नन्दनः । तेन तत्र क्षिप्तमन्येन बीजं नश्यति तस्येत्यभिप्रायेणाह पृथोरपीमामिति । पूर्वविदः प्रथमं लब्धवतः पृथोरिमां पृथिवीमपि भार्यां विदुः । पूर्वविदइति स्थाणुच्छेदशल्यवतोरपि विशेषणं स्थाणुच्छेदः खिलीकृतक्षेत्रसंस्कृतां जायापत्योरभेदश्चायम् ॥ ४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्थाणुच्छेदस्य केदारं । भूमिस्थवृक्षच्छेदस्य क्षेत्रम् । च पुनः शल्यकर्तुः मृगं मृगयायां इति आहुः ॥ ४४ ॥

एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह ॥ विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्योभर्ता सा स्मृताङ्गना ॥ ४५ ॥

(१) मेधातिथिः । युक्तंच यस्य भार्या तस्यापत्यं यत्माद्भार्याया भर्तृश्रैकत्वमेव प्रजाप्यात्मभूतैव कथं वान्य-स्यात्मासोन्यस्य भवेत् एतावद्वृष्टमेतल्लोके शास्त्रज्ञाप्येवमेव विप्राः प्राहुरिति ॥ ४५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतावानेव तत्रयमेलकः परिणामः । तत्र प्रजातीपि जायान्तरङ्गमित्याह यो भर्तेति । प्रजा-वयवभूता जायाचात्मैवेत्यर्थः ॥ ४५ ॥

(३) कुल्लूकः । नैकः पुरुषो भवति अपि तु भार्या स्वदेहमपत्यानीत्येतत्परिणामएव पुरुषः तथाच वाजसनेयब्राह्म-णम् ॥ अर्द्धो ह वा एष आत्मनस्तस्माद्यज्जायां न विदते नैतावत्प्रजायते असर्वो हि तावद्भवति अथ यदैव जायां विदतेऽथ प्रजायते त-हिं सर्वो भवति । तथा चैतद्देवद्विदो विभावदन्ति यो भर्ता सैव भार्या स्मृतेति एवंच तस्यामुत्पादितं भर्तुरेवापत्यं भवतीति यतश्च-दपत्योरैक्यमतः ॥ ४५ ॥

(४) राघवानन्दः । आत्मैवेदमग्रआसीत् एकमेव सोकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेय अर्द्धो ह वा एष आत्मनो-यज्जाया आत्मावै पुत्रनामास इत्यादिश्रुतेरात्मनएव जायापत्यपतिव्रितय रूपत्वेन पूर्णत्वात्पुरुषत्वमित्याह एतावानिति । त्रिभिर्मिलित्वा यतः पुरुषत्वमतोपत्यंदंष्ट्येरेव । एतदेवाह तथेति । भर्तुरेवापत्याकारेण परिणामो जायोपादानकः । अङ्गा-य पुत्रार्थमानीयत इत्यङ्गना ॥ ४५ ॥

(५) नन्दनः । जायाजातस्य भर्तुरपत्यत्वप्रतिपादनार्थमाह एतावानेवेति । आत्मास्वयंपुरुषः जाया प्रजा इति च यदेतावानेव पुरुषः अत्र प्रमाणं माहुः विप्राइत्यादि इतरयोरुपन्यासोदष्टान्तार्थः ॥ ४५ ॥

(६) रामचन्द्रः । भर्तासातस्य अङ्गनास्मृताभर्तेव अङ्गनेति एतावानेवपुरुषः त्रितयसमुदायरूपः यत्तयस्मात्कारणात् जायास्त्री आत्मा प्रजा इति त्रयं तथाचपुनः विप्राएतत् आहुः ॥ ४५ ॥

न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते ॥ एवं धर्मविजानीमः प्राक्प्रजापतिनिर्मितम् ॥ ४६ ॥

(१) मेधातिथिः । अथ मन्येत धनादिदानेन क्रीत्वा स्वीयाः करिष्यन्ते परभार्यायांततोविनिवृत्ते दुःस्वाम्येतज्जा-
तोजनयितुः पुत्रोभवतीत्येतन्नयतो न शक्याभार्यात्वेन निष्कसहस्रैरप्यन्यदीयाः स्वत्वमानेतुं नापि भर्ता त्यक्ता प्रहीणद्र-
व्यतया प्रतिग्रहीतुः स्वत्वमापद्यते यतउद्देहेतेति कर्त्रभिप्रायक्रियाफलविषयादात्मनेपदाद्भिद्भान्नान्येव संस्कृताऽन्यस्य
भार्या भवति यथानाहवनीयादयथाधातुरन्यस्य क्रियादिनाऽऽहवनीयादिव्यपदेश्या निष्क्रयोविक्रयोविनिमयश्च विसर्ग-
स्त्यागस्ताभ्यां न मुच्यतेनभार्यात्वमस्यापैति ॥ ४६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निष्क्रयोविक्रयविनिमयौ । विसर्गः दानं । न मुच्यते पुनर्मूल्यं दत्त्वाग्रहीतुं लभ्यतइत्यर्थः ॥ ४६ ॥

(३) कुल्लूकः । निष्क्रयोविक्रयः विसर्गस्त्यागः नताभ्यां स्त्री भर्तुर्भार्यात्वादपैत्येवंपूर्वप्रजापतिना स्मृतं नित्यं धर्म-
मन्यामहे । एवं च क्रयादिनापि परस्त्रियमात्मसात्कृत्वा तदुत्पादितापत्यं क्षेत्रिण एव भवति न बीजिनः ॥ ४६ ॥

(४) राघवानन्दः । अतोविक्रयपरित्यागयोरपि भार्यात्वं नापैतीत्याह नेति । अस्यादानं विक्रयोवानास्ति अभि-
नत्वात्तस्याः । आत्मनोर्धं पत्नीनामेति श्रुतेरेवं युक्तत्वमपि नापैति । यस्य ते बीजतो जातास्तस्य ते नेतरस्य त्वित्युक्ते भार्या
पुत्रदानविक्रयस्मरणं राजादौ तदुद्भूतसेवादपरम् । प्रजापतिविनिर्मितमिति तत्र प्रमाणम् ॥ ४६ ॥

(६) रामचन्द्रः । निष्क्रयविसर्गाभ्यां विक्रयदानाभ्यां भर्तुः सकाशात् भार्या नमुच्यते ॥ ४६ ॥

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते ॥ सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतांसकृत् ॥ ४७ ॥

(१) मेधातिथिः । अयमनुशयविधावष्टमे व्याख्यातः विभागकाले हि समविषमांशभागिभः समविषमांशभागकेषु
परिकल्प्य विभागः कर्तव्यः तत्र कृते योविप्रतिपद्येततस्य प्रतिषेधार्थमिदं तत्रापि यद्यसावयथार्थतां कस्यचिदंशस्य प्रज्ञा-
पयेत्तदास्यैव पुनर्विभागः अथ बहुना कालेनायथाकृततां ब्रूयाद्यावदितः स्वेषु स्वेषु भागकेष्वन्यनिवेशशीर्णप्रतिसंस्कारा-
दिकृतं भवेद्वस्त्रहिरण्यादिचोपयुक्तं स्यात्तदा समतामात्रकरणे प्रभवति न पुनः सर्वसमवापविभागं अन्येतु क्लीबादीनामनर्हि-
तविभागकानां पश्चादभागहरत्वनिमित्तक्रीबत्वादिपरिज्ञानान्नास्ति भागोपहारइति सकृन्निपातप्रयोजनं वदन्ति । एवं द्वित्रिचतु-
र्भागहराणां यदृच्छया ये समतांप्रकल्पयेयुः पश्चादनुशयात्तात्प्राक्तनं व्यवस्थानमतिक्रम्यापहर्तुं भेरन् पतितस्य तु लब्धभा-
गस्याप्यपहारं वक्ष्यामि । सकृत्कन्याप्रदीयते यद्यपि चानेन वाग्दानोत्तरकालंप्रागपि विवाहाद्भर्तुः स्वतोच्यते तथापि द-
त्तामपि हरेत्कन्यातिषांतुनिष्ठाविज्ञेयाविद्वद्भिः समभेदइत्यादिपर्यालोचनया विशिष्टविषयतैव सा च व्याख्याता । सकृदा-
ह ददामीति गवाद्योहियेनैव रूपेणात्मनः स्वतेनैवान्यस्मा आपद्यन्ते कन्यातु दुहितृत्वेन स्वंसती भार्यात्वेनानिवृत्तस्वसंब-
न्धा दीयतइति पृथगुपन्यासः ननु चानिवर्तमाने पितुः स्वसंबन्धः कथं कन्यादानेन निवर्तते एतद्विदानस्य रूपं यदेकस्य संबन्धो-
निवर्ततेऽन्यस्योपजायतइति नैषदोषः द्वावत्रसंबन्धावपत्यापत्यवद्भावः स्वस्वामिसंबन्धश्च तत्रापत्यापत्यवद्भावो न निव-
र्तते इतरस्तु निवर्तते तथाच बाल्येपितुर्वशेतिष्ठेदिति पितुश्चात्र स्वाम्यनिवृत्तिमाह पाणिग्राहस्येति भर्तुस्तदुत्पत्तिम् ॥ ४७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अंशोदायादानांविभक्त्यर्थः सकृत्पतति सकृदेवनियम्यते यएकदानियतः सएवेति यथा तथा । सकृदेव कन्या प्रदीयते प्रकर्षेणहस्तोदकेनदीयते । किंबहुना कन्याददानीति वाङ्मात्रेणापि सकृदेवाह । वाग्दानमपियत्रादौ कृतं तस्यैव भार्या नतु दोषाभावे स्वेच्छयाऽनन्तरपित्राऽन्यस्मै प्रदाने तस्य भवतीत्यर्थः । केचित्सकृदाहदानीतिद्रव्यान्तरविषयमाहुः ॥ ४७ ॥

(३) कुल्लूकः । पित्रादिधनविभागोभ्रातृणांधर्मतः कृतः सकृदेव भवति न पुनरन्यथा क्रियतइति तथा कन्यापित्रादिना सकृदेकस्मै दत्ता न पुनरन्यस्मै दीयते एवंचान्येन पूर्वमन्यस्मै दत्तायां पश्चात्पित्रादिभिः प्राप्स्यायामपि जनितमपत्यंन बीजिनोभवतीत्येतदर्थमस्योपन्यासः तथा कन्यातोऽन्यस्मिन्नपि गवादिद्रव्ये सकृदेव ददानीत्याह न पुनस्तदन्यस्मै दीयतइति त्रीण्येतानि साधूनांसकृद्भवन्ति । यद्यपि कन्यादानस्य सकृत्करणंप्रकृतोपयुक्तंतथापि प्रसङ्गादंशादानयोरपि सकृत्ताभिधानंसकृदाह ददानीत्यनेनैव कन्यादानस्यापि सकृत्करणसिद्धौ प्रकृतोपयोगित्वादेव पृथगभिधानम् ॥ ४७ ॥

(४) राघवानन्दः । अतआह सकृदिति । अंशोविभागः सच भ्रातृणामेकवारमात्रं विभागाद्यनुष्ठानं न पुनरनुष्ठानं शास्त्रप्रमाणकमेवं कन्यादानं प्रतिश्रुतं चोत्सर्गतः । अन्यथा संसृष्टविभागे वाग्दत्ताया देवरपरिग्रहे दानोद्देश्यमृतावतिप्रसंगः ॥ ४७ ॥

(६) रामचन्द्रः । सकृत् एकवारम् । अंशः विभक्तदायभागः पतति सकृद्ददाति इति आह सतां एतानि त्रीणि सकृत् सकृत् ॥ ४७ ॥

यथा गोश्वोष्ट्रदासीषु महिष्यजाविकासु च ॥ नोत्पादकः प्रजाभागी तथैवान्याङ्गनास्वपि ॥ ४८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्यस्वामिकपश्वादिष्वित्यर्थः ॥ ४८ ॥

(३) कुल्लूकः । यथा गवादिषु परकीयेस्वात्मवृषभादिकेनियुज्य वत्सोत्पादकोन तद्भागी तथा परकीयभार्यास्वपि नोत्पादकः प्रजाभागो भवति ॥ ४८ ॥

(४) राघवानन्दः । ननु परयोषिति बीजवापिनएव फलं स्याद्वीजसारूप्यदर्शनादितिचैत्रलोके तथाऽदृष्टचरत्वादित्याह यथेति । उत्पादकः स्वामी परगवादिषट्सु स्ववृषादिकं नियोज्यापि न प्रजाभागी एवमन्याङ्गनास्वपि ॥ ४८ ॥

(५) नन्दनः । क्षेत्रप्राधान्यप्रतिपादकं क्षेत्रिणएव पुत्रो न बीजिनइत्येतान्दर्शनरूपपादयति यथागोश्वोष्ट्रदासीष्विति । अन्यगोश्वन्यदीयासु तथैवान्याङ्गनास्वपीति पूर्वेण संबन्धः ॥ ४८ ॥

येऽक्षेत्रिणोबीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिणः ॥ ते वै सस्यस्य जातस्य न लभन्ते फलं क्वचित् ॥ ४९ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रसिद्धमेवैतत् अक्षेत्रिणोबीजवन्तोव्रीह्यादिबीजस्वामिनः सस्यस्य मुद्रमाषादेर्जातस्य नलभन्तेफलं परक्षेत्रेचेदुत्पत्तिः ॥ ४९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ये क्षेत्रिणः क्षेत्रस्वामिनः । केवलं बीजवमारः । परक्षेत्रइति प्रवापिणइति दृष्टान्तः । यथेति पूरणीयम् ॥ ४९ ॥

(३) कुल्लूकः । क्षेत्रस्वामिनोयेन भवन्ति अथ बीजस्वामिनः सन्तः परक्षेत्रे बीजंवपन्ति ते तत्र क्षेत्रजातस्य धान्यादिः फलंक्वचिदपि देशे न लभन्तइति प्रकृतस्य दृष्टान्तः ॥ ४९ ॥

(४) राघवानन्दः । निगमयति । यइति अक्षेत्रिणइतिच्छेदः । येऽक्षेत्रिणः परदाररतास्तै सस्य- बीजानुरूप- तोनिर्णीतस्यापि फलं पिण्डादि न लभन्ते स्म ॥ ४९ ॥

(५) नन्दनः । अक्षेत्रिणइतिपदम् ॥ ४९ ॥

यदन्यगोषु वृषभोवत्सानां जनयेच्छतम् ॥ गोमिनामेव तेवत्सामोघंस्कंदितमार्षभम् ॥ ५० ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वेण स्थावरेषु धर्मः प्रसिद्धवदुदितोज्ञापितोवा अनेन तिर्यक्षु परिगृहीतेषु गवादिषु निदर्श्य-
ते अन्यदीयोवृषभोयद्यन्यगवीषु वत्सान्बहूनपि जनयेन्नवृषभस्वाम्येकमपि वृषभंलभेत सर्वएव ते वत्सागोमिनांगो-
स्वामिनां आर्षभमृषभसंबन्धिस्कंदितंबीजनिषेकोमोघंवृथानिष्फलम् ॥ ५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गोमिनां गोगवीमताम् । मोघं वृथा । वृषभस्य स्पन्दितं चेष्टितं मैथुनार्थं ॥ ५० ॥

(३) कुल्लूकः । यदन्यदीयगवीषु वृषभोवत्सशतमपि जनयेत्सर्वे ते वत्साः स्त्रीगवीस्वामिनोभवन्त्येव न वृषभत्वा-
मिनः वृषभस्य यच्छुक्रसेचनंतद्वृषभस्वामिनोनिष्फलमेव भवति यथा गोश्वोष्टैत्यनेनोत्पादकस्य प्रजाभागित्वं न भवतीत्ये-
तत्परत्वेन दृष्टान्तोक्तः अयन्तुक्षेत्रस्वामिनः प्रजाभागित्वंभवतीत्येतत्परत्वेनातो न पुनरुक्तिः ॥ ५० ॥

(४) राघवानन्दः । एतदेव दृष्टान्तान्तरेण दृढयति यदिति । गोमिनां स्त्रीगोस्वामिनाम् । गोपदमपश्वाद्युपल-
क्षकम् । स्कन्दितं शुक्रसेचनम् । आर्षभमृषभस्येदम् । मोघं स्वस्वामिफलाजनकम् ॥ ५० ॥

(५) नन्दनः । अन्यगोषु अन्यदीयगोषु ॥ ५० ॥

(६) रामचन्द्रः । गोमिनां गोस्वामिनाम् आर्षभंक्रषभाणामिदमार्षभं स्कन्दितं सदेतः ॥ ५० ॥

तथैवाक्षेत्रिणोबीजंपरक्षेत्रप्रवापिणः ॥ कुर्वन्ति क्षेत्रिणामर्थं बीजी लभते फलम् ॥ ५१ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्यनिर्देशोयं यथा गवादिषु स्थावरेषु चैवंमनुष्येष्वपि कुर्वन्ति क्षेत्रस्वामिनामर्थं प्रयोजन-
बीजकार्यं संपादयन्ति ॥ ५१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रकृते योजयति तथैवेति । बीजमिति विभक्तिव्यत्ययः बीजस्य परक्षेत्रे वापिणोवमारो-
क्षेत्रिणः । क्षेत्रिणां भार्यावतां । अर्थं फलम् ॥ ५१ ॥

(३) कुल्लूकः । यथा गवादिगर्भेषु तथैवापत्यरहिताः सन्तः परकीयभार्यायां ये बीजंवपन्ति ते क्षेत्रस्वामिनामे-
वापत्यलक्षणमर्थं कुर्वन्ति बीजसेक्ता त्वपत्याख्यंफलं लभते ॥ ५१ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र परीपकारमात्रंकृतइत्यत आह अर्थमिति । सपतिकायां स्त्रियां स्कन्दनं सन्दिग्धो
गर्भोऽसन्दिग्धोऽतिगूढोत्पन्नोपि क्षेत्रिणएवेतिभावः ॥ ५१ ॥

(५) नन्दनः । तथैव वृषभवत्फलं क्षेत्रिणोबीजवन्तः ॥ ५१ ॥

फलं त्वनभिसंधाय क्षेत्रिणां बीजिनांतथा ॥ प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्यो निर्गरीयसी ॥ ५२ ॥

(१) मेधातिथिः । अविशेषेणोक्तं क्षेत्रिणां फलं न बीजिनस्तस्यावशिष्टविषयत्वमाह अनभिसंधायेति अभिसंधानं-
बीजक्षेत्रिणोरितरेतरसंविद्यवस्थापनं नष्टाश्वदग्धरथवत् उभयोरावयोः फलमस्त्विति यत्र वचनव्यवस्था न भवति तत्र
क्षेत्रिणएव प्रत्यक्षोर्थो निश्चितफलप्रत्यक्षशब्देन निःसंदिग्धतामाह यतो बीजाद्यो निर्बलीयसी क्षेत्रमधिकबलं सत्यां तु
संविदि ॥ ५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । फलमनभिसंधायावयोस्तुल्यं फलमिति समयमकृत्वा बीजिनः प्रवृत्तौ क्षेत्रिणामेवार्थः फ-
लमिति प्रत्यक्षं लोकसिद्धम् । गरीयसी त्वत्त्वहेतुः ॥ ५२ ॥

(३) कुल्लूकः । यदस्यामुत्पत्स्यतेऽपत्यंतदावयोरुभयोरिवैवंयत्र नियमोन कृतस्तत्र निःसंदिग्धमेव क्षेत्रिणोऽपत्यं उक्तरीत्या बीजाक्षेत्रं बलवत् ॥ ५२ ॥

(४) राघवानन्दः । ननु न ते परोपकारार्थं यतन्ते किंतु कामात् सत्यं आर्थिकः स इत्याह फलमिति । अनभिसंधाय एतदपत्यमुभयोरित्यनियमे । बीजिनोरागमात्रोपाधिकत्वात् किंचयोनिर्गरीयसीत्युक्तम् । निगमयति योनिर्गरीयसीति । स्वक्षेत्रे बीजस्योत्कृष्टत्वेऽपि परक्षेत्रे स्कन्दनेऽतिवृत्ते तद्विशेषे विप्रतिपत्तेः क्षेत्रत्वेन सर्वत्रानुगमात्क्षेत्रस्यैव कारणत्वनिश्चितिरिति भावः ॥ ५२ ॥

(५) नन्दनः । क्षेत्रिणामित्यफलं बीजिनमित्यफलमित्यभिसंधाय परक्षेत्रप्रवापिण इत्यनुकर्षणं क्षेत्रिणामर्थं कुर्वन्तीति चास्यानुकर्षः प्रत्यक्षलोके कृषीवलैः क्रियमाणं दृश्यते तेन बीजाद्योनिर्बलीयसी ॥ ५२ ॥

(६) रामचन्द्रः । फलं अनभिसंधाय आवयोः समफलमिति समयमकृत्वा बीजात् योनिः गरीयसी ॥ ५२ ॥

क्रियाभ्युपगमात्त्वेतद्बीजार्थं यत्प्रदीयते ॥ तस्येह भागिनौ दृष्टौ बीजी क्षेत्रिक एव च ॥ ५३ ॥

(१) मेधातिथिः । अनभिसंधाय क्षेत्रिणः फलमुक्तमभिसंधाने किंबीजिनोभयोरिति संशयउभयोरित्याह क्रियाया अभ्युपगमोद्गीकरणमेवमेवैतदित्योनिश्चयः संविलक्षणः सा क्रियाभिप्रेता तामभ्युपगम्य बीजार्थं बीजकार्यफलनिष्पत्त्यर्थं यत्प्रदीयते सामर्थ्याद्बीजमिति गम्यते तस्येह द्वावपि भागिनौ ॥ ५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्रिया नियमस्तुल्यमावयोः फलमिति तामभ्युपगम्य यत्क्षेत्रं परस्मै दीयते बीजार्थं बीजवपनार्थम् ॥ ५३ ॥

(३) कुल्लूकः । यदत्रापत्यं भविष्यति तदावयोरेवेति नियम्यैतत्क्षेत्रं स्वामिना बीजवपनार्थं यद्बीजिनोदीयते तस्यापत्यस्य लोके बीजिक्षेत्रिणौ द्वावपि भागिनौ दृष्टौ ॥ ५३ ॥

(४) राघवानन्दः । अनभिसंधायेत्युक्तं तत्राभिसंधानपूर्वकंचेदुभयोरपीत्याह क्रियेति । क्रिया समयः यदत्रापत्यं भविष्यति तदावयो रूभयोर्भवेदिति नियम्यतत्क्षेत्रं स्वामिना बीजवपनार्थं यद्बीजिनोदीयते तस्यापत्यस्य लोके बीजिक्षेत्रिणौ द्वावपि भागिनौ दृष्टौ ॥ ५३ ॥

(५) नन्दनः । क्रियाभ्युपगमाद्बीजनिक्षेपक्रियाप्रतिक्षेत्रिणो बीजिनोनुज्ञानाद्यो बीजार्थो बीजरूपोर्थः प्रदीयते निक्षिप्यते तस्य बीजिक्षेत्रिकश्चेहलोके कृष्यारम्भफलभागिनौ दृष्टौ ॥ ५३ ॥

(६) रामचन्द्रः । क्रियाभ्युपगमात् समयकारणात् एतद्बीजार्थं यत्प्रदीयते तस्येह भागिनौ दृष्टौ बीजिक्षेत्री एव च ॥ ५३ ॥

ओघवाताद्धतं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति ॥ क्षेत्रिकस्यैव तद्बीजं न वप्ता लभते फलम् ॥ ५४ ॥

(१) मेधातिथिः । परक्षेत्रे वपुर्बीजवापउक्तस्तत्र मन्येत पुरुषापराधात्तस्य युक्तोपहारो नूनमतः क्षेत्रं जिहीर्षति नो चेत्किमिति परक्षेत्रे वपतीति येन तु स्वक्षेत्रे व्युत्पन्नो घवाताभ्यामन्यत्र नीतं तस्य कोपराधो यदि स्वं द्रव्यं हारयति तदर्थमाह ओघवाताद्धतं बीजं सर्वक्षेत्रप्राधान्यमित्यर्थः ओघोजलनिषेकः तेन वायुना चाद्धतं तस्य क्षेत्रे प्ररोहति तस्यैव तद्भवति एतेनैव सिद्धविशिष्टार्थेन बीजी लभते फलमिति ॥ ५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रत्यक्षमितिमागुक्तं लोकव्यवहारं दर्शयति ओघेति । ओघेनदीरयः ॥ ५४ ॥

(३) कुल्लूकः । यद्वीजं जलवेगवाताभ्यामन्यदीयक्षेत्रादानीतं यस्य क्षेत्रे जायते तत्क्षेत्रस्वामिन एव तद्वीजं भवति न तु येन बीजमुपसृतफलं लभते एवं च स्वभार्याभ्रमेणापरभार्यागमने ममायं पुत्रो भवितेत्यवगमेऽपि क्षेत्रिण एवापत्यमित्यनेन दर्शितम् ॥ ५४ ॥

(४) राघवानन्दः । आकृत्यादिभिर्निश्चयेऽपि नियमविना फलं क्षेत्रिकस्यैवेत्याह ओघेति । ओघेन स्रोतसा वातेन प्रबलेन वाहतेन प्रापितं बीजं प्ररोहति अङ्कुरयति । तद्वीजं बीजजफलं ज्ञेयं मानतः । न्यायोत्र गर्भधारणपोषणादिबाहुल्यम् ॥ ५४ ॥

(५) नन्दनः । अविद्यमानायां मिथः संविदिक्षेत्रिण एव फलमिति दृष्टान्तेनोपपादयति ओघवाताहतमिति । यस्य बीजमित्यन्वयः तद्वीजं क्षेत्रिकस्यैव । वमा बीजी ॥ ५४ ॥

(६) रामचन्द्रः । ओघः नदीप्रवाहः तेन हतं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति ॥ ५४ ॥

एषधर्मो गवाश्वस्य दास्युष्ट्राजाविकस्य च ॥ विहङ्गमहिषीणां च विज्ञेयः प्रसवंप्रति ॥ ५५ ॥

(१) मेधातिथिः । अपत्याधिकारात्तद्विषयतैव माविज्ञायीति गवाश्वादिग्रहणं यदि वा बीजफलव्यवहारस्य सस्यादिविषयतया प्रसिद्धतरस्तन्निवृत्त्यर्थमाह द्विपदांचतुष्पदां पक्षिणां स्थावराणां च सर्वत्रैषधर्मः एष इति । द्वयंप्रत्यवमृश्यते अनभिसंधाने यस्य क्षेत्रंतस्य फलमभिसंधाने चोभयोः उदाहरणार्थवानुगवाश्वादिग्रहणस्य श्वमार्जारादिष्वप्ययमेव न्यायस्तर्हि किमर्थं यद्यन्यगोष्विति प्रायेण गावः पुरुषाणां भवन्ति न तथा विहङ्गमादय इति प्रसिद्धेरनुवादोऽसौ । दास्यः समभिर्दास्योनिभिरुपगताः प्रसवः कायजन्म तंप्रति तत्रेत्यर्थः ॥ ५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रसवंप्रति प्रसवविषये ॥ ५५ ॥

(३) कुल्लूकः । एषैव व्यवस्था गवाश्वादीनां संततिप्रतिज्ञास्येत्याह यत्क्षेत्रस्वाम्येव गवाश्वादैः संततिस्वामी न तु वृषभादिस्वामी नियमे तु कृते सत्येतयोरेव संततिस्वाम्यम् ॥ ५५ ॥

(४) राघवानन्दः । यथागोश्चेत्याद्युक्तमुपसंहरति एष इति । विहङ्गः पक्षी । प्रसवमपत्यम् ॥ ५५ ॥

(५) नन्दनः । एवं गवाश्वादिष्वपीत्याह एषधर्म इति धर्मो न्यायः ॥ ५५ ॥

एतद्वः सारफल्गुत्वं बीजयोन्योः प्रकीर्तितम् ॥ अतः परंप्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥ ५६ ॥

(१) मेधातिथिः । सारः प्रधानं फल्गुसारं उपसंहारः पूर्वप्रकरणस्य उत्तरार्धेन वक्ष्यमाणसूचनं आपञ्जीवनस्थिति-हेतुभूतभोजनाच्छादनाभावः संतानविच्छेदश्च ॥ ५६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्रुतिस्तु नान्यज्जातः पुत्रोऽस्तीति परबीजप्रभवस्य सुतस्य परलोकानुपयोगित्वपरा न तु संबन्धाभावपरिति सारत्वं योनेः फल्गुत्वं बीजस्य । आपदि भर्तुरभावे सति त्वपतिजन्यसंतानासंभवे ॥ ५६ ॥

(३) कुल्लूकः । एतद्वीजयोन्योः प्राधान्याप्राधान्ययुष्माकमुक्तं अतोऽनन्तरं स्त्रीणां संतानाभावे यत्कर्तव्यं तद्वक्ष्यामि ॥ ५६ ॥

(४) राघवानन्दः । बीजक्षेत्रयोः प्राधान्याप्राधान्यमुपसंहरन् पुत्रशून्यायाः स्त्रियः स्वकुल्यादप्यपत्यमुत्पाद्यमित्याह एतदिति । सारफल्गुत्वं प्राधान्याप्राधान्यम् । आपदि पुत्रानुत्पत्तिदशायाम् । अन्यथा ॥ पतन्ति पितरीक्षेष्वां लुमपिण्डोदक-क्रिया इति स्मृतिः प्रत्यवायः ॥ ५६ ॥

(५) नन्दनः । आपत्सन्तानपरिक्षयः ॥ ५६ ॥

(६) रामचन्द्रः । फल्गुत्वं निःसारत्वम् आपदि भर्त्रभावे ॥ ५६ ॥

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्यायागुरुपत्न्यनुजस्य सा ॥ यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता ॥ ५७ ॥

(१) मेधातिथिः । श्लोकद्वयेन प्राकृतव्यवस्थामनुवदन्नापदिनियोगविधातुं ज्येष्ठोऽप्येजातः अनुजः पश्चाज्जातः कनीयान्यवीयाननुजएव ॥ ५७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्नुषा स्नुषावद्यवहर्तव्या ॥ ५७ ॥

(३) कुल्लूकः । ज्येष्ठस्य भ्रातुर्या भार्या सा कनिष्ठस्य भ्रातुर्गुरुपत्नीभवति कनिष्ठस्य च भ्रातुर्या भार्या सा ज्येष्ठभ्रातुः स्नुषामुनिभिः स्मृता ॥ ५७ ॥

(४) राघवानन्दः । एतदेवाविष्कुर्वन्वर्ज्यावर्ज्यत्वमाह भ्रातुरिति । यवीयसः कनिष्ठस्य गुरुपत्नी मातैव ज्येष्ठभ्राता समः पितुरित्युक्तेः । स्नुषा पुत्रपत्नीति ॥ ५७ ॥

(५) नन्दनः । वक्ष्यमाण आपद्धर्मोऽनापदि न कर्तव्यइति श्लोकद्वयेनाह भ्रातुर्ज्येष्ठस्येति । गुरुपत्नी ज्येष्ठस्य पितृसमत्वात् । स्नुषायवीयसः पुत्रसमत्वात् ॥ ५७ ॥

ज्येष्ठोयवीयवीयसोभार्यायवीयान्वाग्रजस्त्रियम् ॥ पतितौ भवतोगत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥ ५८ ॥

(१) मेधातिथिः । इतरेतरभार्यागमने ज्येष्ठानुजयोः पातित्यमनापदि सत्यपिनियोगे ॥ ५८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नियुक्तौ गुरुभिः । अनापदि संतत्यन्तरसंभवे ॥ ५८ ॥

(३) कुल्लूकः । ज्येष्ठकनिष्ठभ्रातरावितरेतरभार्यागत्वा संतानाभावाविना नियुक्तावपि पतितौ स्याताम् ॥ ५८ ॥

(४) राघवानन्दः । ततः किं तत्राह पतिताविति । पतिभोगवन्मैथुन्यभोगेच्छया नियुक्तावपि भवतः । अनापदि संभवत्पुत्रदशायाम् ॥ ५८ ॥

(५) नन्दनः । यतएव मतआह ज्येष्ठइति । पतितौ स्नुषागमनादुरुतल्पगमनाच्च । नियुक्तौ गुरुभिर्नियुक्तौ अनापदिसन्तानापरिक्षये ॥ ५८ ॥

देवराट्वा सर्पिडाट्वा स्त्रियासमम्यङ्गियुक्तया ॥ प्रजेप्सिताधिगन्तव्या संतानस्यपरिक्षये ॥ ५९ ॥

(१) मेधातिथिः । सर्वविशेषेण विशिष्टोऽनेन नियोगोविधीयते संतानस्य परिक्षये नियुक्तया देवरादिभ्यः सम्यक्प्रजोत्पादयितव्या यदुक्तं योषितांधर्ममापदीति सेयमापत्सन्तानपरिक्षयः संतानशब्देन पुत्रउच्यते दुहिता च पुत्रिका सा हि पितृवंशंतनोति नान्या तस्य परिक्षयोऽनुत्पत्तिरुत्पन्ननाशोवा पुत्रिकायाश्च करणं नहिस्त्रियाः केवलायांपुत्रिकायामन्यस्मिन्वा पुत्रप्रतिनिधावधिकारइति वक्ष्यामः नियुक्तोत्पादयेदनुज्ञातया गुरुभिः कुतः पुनः गुरुभिरिति स्मृत्यन्तरनिदर्शनात् अथवा नियोगशब्दादेव नियोगे हि गुरुसंबन्धीलोकोप्युच्यते नहि विशेषेण नियुक्तोऽध्यापयतीत्युच्यते आचार्येण नियुक्तः करोत्यनुवदति गुरवश्च श्वश्रूश्चशुरदेवरादयो भर्तृसंगोत्राद्रष्टव्याः न पित्रादयः । एतेनापत्येनापत्यवन्तस्तउच्यन्ते तर्हि विशेषेण येषांचोपकारस्तत्कृतऔर्ध्वदेहिकोभवति यद्येवंमातामहस्यापि दौहित्रोपकारोस्ति ततः पित्रा दुहिता नियोक्तव्येत्यापन्नं उक्तं येनापत्यवन्तउच्यन्ते देवरसपिण्डग्रहणत्वेन तद्वोत्राएव हृदयमागच्छन्ति महाभारतेच तत्र तत्र नियोक्तभावो भर्तृपक्षणामेवर्दिशतः अतएव भ्रातृपुत्रे सति ननियोगः कर्तव्यः । ये हि नियुक्तास्तेषामेव संतानोपकारः पुत्रजनिते

स्नेहे पत्योपकारमर्थयमाना अधिक्रियन्ते न मृतस्याधिकारोस्ति कथं तर्हि तस्यापत्यमिति व्यपदिश्यते कथंचित्पिण्डदाने स उपकरोति वचनादिति च ब्रूमः न ह्यपत्यमुत्पादयितव्यमित्येष विधिस्तेनानुष्ठित इति तथापि तदीये क्षेत्रे नियोगविधिजातेन पिण्डदानादिकर्तव्यमिति शास्त्रार्थः ततश्च तस्योपकारकमवगतं यथा चैतत्तथापुरस्तान्निपुणं वक्ष्यामः । देवरः पतिभ्राता स-
पिण्डः पत्यन्वयः स एव स्त्रियां स्मृत्यन्तरे जातिमात्राच्चेत्युक्तं भवति सम्यगिति घृताक्तादिनियमं वक्ष्यमाणमनुवदति प्रजे-
प्सिताधिगन्तव्याविधौ कृत्य ईप्सितशब्देन कार्याक्षमतामाह ततो दुहितर्यन्धबधिरादौ च जाते पुनर्नियोगो नुष्ठेयः ॥ ५९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । देवरात्पत्युः सोदरभ्रातुः तदभावे सपिण्डात् सपिण्डमात्रदेवरात्पतिसापत्नभ्रातुः मातुल-
पुत्रादेः सम्यक् घृताभ्यङ्गादि कृत्वा नियुक्त्या पत्या गुरुभिर्वा प्रजेप्सिता पुत्ररूपा नतु स्त्रीक्रीवरूपा । ततश्च पुत्रानुत्प-
त्तौ पुनः पुत्रार्थप्रवर्तनमुक्तम् ॥ ५९ ॥

(३) कुल्लूकः । संतानाभावे स्त्रियापत्यादिगुरुनियुक्त्या देवरादन्यस्माद्वा सपिण्डाद्वक्ष्यमाणघृताक्तादिनियमवत्पुरु-
षगमनेनेष्टाः प्रजाउत्पादयितव्याः । ईप्सितेत्यभिधानमर्थात्कार्याक्षमपुत्रोत्पत्तौ पुनर्गमनार्थम् ॥ ५९ ॥

(४) राघवानन्दः । उद्देश्यं समर्थयति देवराद्वेति । सम्यगव्याजेन ॥ अपुत्रांगुर्वनुज्ञातो देवरः पुत्रकाम्यया । सपिण्डो-
वा सगोत्रोवा घृताभ्यक्तकृतावियात् ॥ आगर्भसंभवात् गच्छेत्पतितस्त्वन्यथा भवेदिति याज्ञवल्क्यवचनादेकापत्यजननप-
र्यन्तं गन्तव्या । ईप्सितेति विशेषणात् षण्डादिव्यावृत्तिः ॥ ५९ ॥

(५) नन्दनः । अथ तमेवापद्धर्ममाह देवराद्वेति । नियुक्त्या गुरुभिः सन्तानस्य परिक्षये भर्तुरपुत्रत्वे ॥ ५९ ॥

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तोवाग्यतो निशि ॥ एकमुत्पादयेत्पुत्रं द्वितीयं कथंच न ॥ ६० ॥

(१) मेधातिथिः । विधवाग्रहणमतत्तङ्क्रीबादिनियोगोजीवत्पत्याअप्येष एव विधिः । यतो वक्ष्यति नियुक्तां यो विधि-
हित्वेति एतदेव तस्य प्रयोजनं नियमोत्रविषयाणां न नियमानामन्यथा विज्ञायेत प्रकृतत्वाद्विधवाया एव स्युः निशिप्रदी-
पाद्यालोकनिवृत्त्यर्थमेतत् वचनान्तरेण दिवोपगमनप्रतिषेधात् । अन्येत्वाहुः पुरुषार्थोसौ प्रतिषेधः कर्मार्थस्त्वयं तेनाह्निग-
मनेन क्षेत्रजमेकमुत्पादयेत्पुत्रं द्वितीयम् ॥ ६० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विधवायां प्रजोत्पादनसमर्थधवहीनायां प्रमीतस्य क्रीबस्य व्याधितस्य वेति स्मृतेः । न द्वि-
तीयमिति केषांचिन्मतम् ॥ ६० ॥

(३) कुल्लूकः । विधवायामित्यपत्योत्पादनयोग्यपत्यभावपरमिदं जीवत्यपि पत्यावयोग्यपत्यादिगुरुनियुक्तो घृ-
ताक्तसर्वगात्रोमौनीरात्रावेकपुत्रं जनयेन्न कथंचिद्वितीयम् ॥ ६० ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रेति कर्तव्यतामाह विधवायामिति । विधवा धवोऽत्रोभयलोकशोधकतयापतिः । तद्रहिताऽ-
तोऽधवंपदमपत्यजनकयोग्यपत्यभावपरं गुर्वनुज्ञातश्चत्वरसाद्वचनस्यापत्यतात्पर्यकत्वादतः षण्डस्य भार्याद्वारा पुत्रवत्ता
संगता । अनुज्ञापदं तादृशपुत्ररागोपलक्षणपरं अन्यथा गुर्वभावे संतानक्षतिः ॥ ६० ॥

(५) नन्दनः । व्यर्थं धवा च विधवा वैयर्थ्यं च पुत्रानुत्पादकत्वम् ॥ ६० ॥

(६) रामचन्द्रः । विधवायां स्मृत्या क्लेशेन व्याधितत्वेन वा प्रजोत्पादनार्थं अयोग्यभर्तृसहितायां यथा कुन्ती
पाण्डोः सभर्तृका ॥ ६० ॥

द्वितीयमेके प्रजनंमन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः ॥ अनिर्वृतंनियोगार्थं पश्यन्तो धर्मतस्तयोः ॥ ६१ ॥

(१) मेधातिथिः । अस्यप्रतिप्रसवः । द्वितीयः पुत्रइत्येकेषामंतं तद्विदः क्षेत्रजोत्पत्तिविधिज्ञाः अनिवृत्तंनियोगार्थं पश्यतो नियुक्तया प्रजोत्पाद [यितव्येत्य]^१ स्य विधिरेकस्योत्पादनेन संपात्तिमन्यन्ते । कस्तेषामभिप्रायः एकवचनमविवक्षितंमन्यन्ते द्रव्यप्रधानत्वात् कर्मणोगुणाभावादविवक्षाग्रहैकत्ववत् ननु चानुपात्तोपदेशेसत्यपि द्वितीयया द्रव्यप्राधान्यावगमे संख्यादिविशेषेण विवक्षा स्थितैव उद्बहेत द्विजोभार्यामिति लिङ्गादपत्यविधावेकत्वसंख्यातिक्रमोदशास्यां पुत्रानाधेहीति यदेवंनद्वित्वेवावस्थानं अस्यामेवाशङ्क्याद्वितीयइति वचनंअन्यनिवृत्त्यर्थमर्थवता तस्याप्ययमभिप्रायः औरसे न लिङ्गविवाहप्रकरणे तु मन्त्रपाठात् इहत्वेकत्वातिक्रमः अपुत्रएकपुत्रइति शिष्टप्रवादात् अथवाऽस्याएव स्मृतेर्द्वितीयपुत्रस्तुतिकल्पनात् धर्मतः शिष्टाचारतः ॥ ६१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अपरेषामंतमाह द्वितीयमिति । धर्मतो धर्मनिमित्तं यो नियोगस्तस्यार्थं नियोगप्रयोजनमनिर्वृत्तमनिष्पन्नं पश्यन्तः एकस्य पुत्रस्य बह्वपत्तितयाऽसत्कल्पत्वात् ॥ ६१ ॥

(३) कुल्लूकः । अन्ये पुनराचार्या नियोगात्पुत्रोत्पादनविधिज्ञाश्चपुत्रएकपुत्रइतिशिष्टप्रवादादनिष्पन्नंनियोगप्रयोजनंमन्यमानाः स्त्रीषु पुत्रोत्पादनाद्वितीयं धर्मतोमन्यन्ते ॥ ६१ ॥

(४) राघवानन्दः । अत्रार्थे मतभेदमाह द्वितीय मिति । नियोगः पुत्रोत्पादना । अनिवृत्तं अपुत्रएकपुत्रइति नियोगार्थं ननिर्वृत्तमिति मन्यमाना इति । तयोः नियुक्तयोः स्त्रीपुंसयोः ॥ ६१ ॥

(५) नन्दनः । तद्विद आपद्धर्मविदः अनिवृत्तमसंपूर्णं नियोगार्थं नियोगप्रयोजनम् ॥ ६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनिवृत्तं अनिष्पन्नम् । धर्मतः धर्मनिमित्तम् ॥ ६१ ॥

विधवायां नियोगार्थं निर्वृते तु यथाविधि ॥ गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम् ॥ ६२ ॥

(१) मेधातिथिः । [इहतुनियोगविषयोयत्रनियुज्यते]^१ सच संप्रयोगाभिर्मर्पर्यवसानउपगमनलक्षणस्तस्मिन्निवृत्ते पूर्वैव वृत्तिगुरुवत्स्नुषावज्ज्येष्ठस्य भार्यायां गुरुवद्यवीयसस्तुषावत्परस्परग्रहणात् स्नुषावद्वर्तेतस्त्री पुरुषे ज्येष्ठे देवरे गुरुवत् ॥ ६२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गुरुवत्पत्युज्ज्येष्ठः यदितु देवरः कनिष्ठस्तदापि गुरुवद्वर्तेत । भर्तृभार्येतियोज्यम् ॥ ६२ ॥

(३) कुल्लूकः । विधवादिकायां नियोगप्रयोजने गर्भधारणे यथा शास्त्रसंपन्ने सति ज्येष्ठोभ्राता कनिष्ठभ्रातृभार्या च परस्परंगुरुवत्स्नुषावच्च व्यवहरेताम् ॥ ६२ ॥

(४) राघवानन्दः । पुत्रोत्पादनानन्तरं पुनरुभयत्र न गन्तव्यमित्याह विधवायामिति । नियोगार्थं गर्भे जाते गुरुवत् ज्येष्ठोभ्राता स्यात् । तेन तद्भार्यायांकनीयसा न गन्तव्यमिति भावः । कनिष्ठभार्या च स्नुषावच्च स्यात् ॥ ६२ ॥

(५) नन्दनः । गुरुवद्रुरूपत्वायामिव स्नुषायामिव कनिष्ठज्येष्ठौ परस्परमेकैकं वर्तेयातामाचरेताम् ॥ ६२ ॥

नियुक्तौ यौ विधिहित्वा वर्तेयातान्तुक्रामतः ॥ तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ ॥ ६३ ॥

(१) मेधातिथिः । विधिघृताक्तइत्यादिस्तदतिक्रमेपातित्यं । नियुक्तोज्येष्ठस्नुषागः पुमान्गुरुतल्पगः कनीयान् ॥ ६३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विधिं वाग्यवचनादिनियमम् ॥ ६३ ॥

(३) कुल्लुकः । ज्येष्ठकनिष्ठभ्रातरौ यौ परस्परभार्यायां नियुक्तौ घृताक्तादिविधानंत्यक्त्वा स्वेच्छातोवर्तेयातां तौ सुषागगुरुदारगौ पतितौ भवेतां ॥ ६३ ॥

(४) राघवानन्दः । पूर्वं नियुक्तयोर्विधिमुक्त्वा कामतोगमनं निषेधति नियुक्ताविति । गुरुतल्पगाविति अनियुक्तद-
शायां ज्येष्ठकनिष्ठयोः अतिपातकित्वमहापातकित्वख्यापनंतदुचितप्रायश्चित्तप्रदर्शनार्थम् । यद्यप्यावश्यकत्वेनेतिकर्तव्य-
तापेक्षा तथाप्यत्र सैव विधेया तदकरणे रोधः पातित्यहेतुः पुत्रोत्पादनस्य रागावरोधात् । अतएव देवरपदं भ्रातृमात्रोप-
लक्षकं तथाच ज्येष्ठस्यापि व्यासस्य विचित्रवीर्यभार्यागमनं निदर्शनं संगच्छते । सपिण्डपदं तूत्कृष्टजातिपरं तेनेन्द्रादि-
भ्यः पाण्डवाद्युत्पत्तिः ॥ अपुत्रांगुर्वनुज्ञातोदेवरः पुत्रकाम्यया । सपिण्डोवा सगोत्रोवा घृताभ्यक्तक्रतावियात् ॥ आगर्भं
संभवाद्गच्छेदन्यथा पतितो भवेदिति संकलितोयाज्ञवल्क्येन पञ्चश्लोकार्थः ॥ ६३ ॥

(५) नन्दनः । यौ ज्येष्ठकनिष्ठौ विधिघृताभ्यक्तत्वादिकम् ॥ ६३ ॥

(६) रामचन्द्रः । यौ स्त्रीपुरुषौ नियुक्तौ विधिहित्वा घृताभ्यक्तादिविधानंहित्वा कामतोवर्तेयातां सुषागुरुतल्प-
गामी ॥ ६३ ॥

नान्यस्मिन्विधवानारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः ॥ अन्यस्मिन् हि नियुज्जानाधर्महन्तुः
सनातनम् ॥ ६४ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वेणविहितस्य नियोगस्य प्रतिषेधोयं तत्र केचिद्विधवाग्रहणान्मृतभर्तृकायाः प्रतिषेधः क्लीबे-
नतुपत्यादनियोक्तव्येति विधिप्रतिषेधौविभक्तविषयाविति प्रतिपन्नाः । अन्येतु विधिवाक्ये सन्तानविच्छेदस्य निमित्तश्रव-
णात्तस्य च क्लीबव्याधितयोर्भृतस्याप्युपपत्तिभेदः नचविध्यभावप्रतिषेधोप्यविशिष्टएव अपेतधवसंबन्धाविधवेत्युच्यते त-
त्तुल्यमुभयत्रापि अवश्यंचैतदेवंविज्ञेयमितरथा घृताभ्यक्तादिनियमोपि क्लीबेन नियुज्यमानायानस्यात् तत्रापिह्यामनन्तिवि-
धवायांनियुक्तश्च घृताक्तइति तस्माद्विहितस्याविशेषेण प्रतिषेधोप्यविशिष्टः । अतश्च विषयसमत्वे विधिनिषेधयोर्विकल्पः अ-
यंच नित्योऽपत्योत्पादनविधिर्नविकल्पएवकल्पते ग्रहणाग्रहणवत् यदांतु पुत्रेण जयतीत्येवमादिफलोत्पादनविधिस्तदाऽ-
सत्यपत्ये तत्कार्यस्यौर्ध्वदेहिकस्योपकारस्याभावाद्निष्फलयोः[कुतोविकल्पःसमानविषयौ विधिनिषेधावेकार्थं विकल्पेते ।
षोडशीग्रहणाग्रहणयो] रिति केचित् । उक्तमङ्गभूयस्त्वे फलभूयस्त्वं प्रधानकार्यसिद्धौत्वविशेषः तस्मादस्मिन्पक्षे पुत्रोपकारा-
भावमाह उपकारविशेषार्थेनास्य प्रवृत्तौ प्रतिषेधातिक्रमेण श्येनतुल्यता इदंत्वत्र निरूप्यंयोसौ नियुज्यते सकिमिति प्र[वर्त-
ते] नहि तस्यविधिरस्ति नियुक्तेनगन्तव्यमिति स्त्रियापुनर्विद्यते सम्यक्स्त्रियानियुक्तयेति नतु देवरदिषु प्रवर्तमानेषु स्त्रिया-
नियोगसिद्धिरित्यर्थः । तेषामपि वृद्धिस्तद्विधिना क्षेत्रजईप्सितइति वाच्यं । यतोरगतः प्रवृत्तिरुच्यते घृताक्तादिनियमविधान-
मनर्थकमितिचेन्नानर्थकंतथानियमैरुत्पन्नेक्षेत्रजव्यपदेशोनान्यइति । यदपि गुरुवचनंकर्तव्यमिति केचित्प्रवृत्तिनिबन्धनमा-
हुः । एवमिति सुरापानादिष्वपि गुर्विच्छयाप्रवृत्तिः प्राप्नोति नचासौ गुरुकार्येयः प्रवर्तयति ॥ गुरोरप्यवलम्बस्य कार्याकार्यम-
जानतः । उत्पत्त्यप्रतिपन्नस्य परित्यागोविधीयतइति स्मरणात् ॥ परित्यागश्च गुरुकार्यान्निवृत्तिः । एतेनैतदपि प्रत्युक्तंयन्नियमा-
तिक्रमपातित्यवचनंनियमपूर्विकांवृत्तिमनुजानाति तावुभौ पतितौ स्यातामिति । इतरथा सर्वप्रकारङ्गच्छतः पातित्यमिति वि-
शेषपातित्यमनुपपन्नं यतस्तन्केवलस्य पुंसः [श्रूयते] किंतर्हि स्त्रियाइति तस्याश्च पुत्रार्थिन्यानियोगोविहितस्तदपेक्ष्यंहव्य-
तिक्रमे पतितवचनंतावुभौ पतितौ स्यातामिति । असति व्यतिक्रमएकः पतितः पुमानेवातिक्रमे तु द्वावपीत्येवमपि लिङ्गा-

निगच्छन्त्येव तस्मादेवरादिविधिलक्षणः प्रवृत्तिः कथमिति वक्तव्यं । उच्यते व्यासादिदर्शनेनापत्यपिण्डदानद्वय क्षेत्रज्ञोपन्य-
र्थसपिण्डानांगुनियोगापेक्षा तदानापगमेनस्तुतिरस्तीत्यनुमन्तव्यं नहिमहात्मनारागलक्षणं प्रवृत्तिरभ्युपगन्तुं न्याय्या । य-
च्चोक्तं नियमातिक्रमे पतित [त्ववचनं]' लिङ्गमिति तदयुक्तं यतः पुंसः पतितत्वे पतितोत्पन्नस्याधिकाराभावादुत्पादनम-
र्थकतस्मादस्तिदेवरादिविधेराभासोयम् ॥ ६४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नान्यस्मिन् परिसोदरसपिण्डभ्रातृभ्याम् ॥ ६४ ॥

(३) कुल्लूकः । एवंनियोगमविधाय दूषयितुमाह नान्येति । ब्राह्मणादिभिर्विधवास्त्री भर्तुरन्यस्मिन् देवरादौ न नियो-
जनीया । स्त्रियमन्यस्मिन् नियुज्यानास्ते स्त्रीणामेकपतित्वधर्ममनादिसिद्धनाशयेयुः ॥ ६४ ॥

(४) राघवानन्दः । ननु विधवायां नियुक्त इति लिङ्गाद्विधवायाः पुनर्विवाहोपि स्यात् भोग्यतासंपादकत्वस्य तु-
ल्यन्यायत्वात् तत्राह नेति पञ्चभिः । नान्यस्मिन्नुक्तातिरिक्तेन नियोक्तव्या । कुतस्तत्राह अन्यस्मिन्निति । नियुज्यानाः
यथावत् पाणिग्रहमन्त्रविधिना तद्वैयं अन्यथा विधिनिषेधयोः परस्परविरोधः धर्ममेकपतित्वम् [द्रौपदीन्वर्जुनस्यैवसती-
कायव्यूहेनान्यान्यभोजयतीति भट्टोक्तं]' सनातनं वेदोक्त्यादौ ॥ ६४ ॥

(५) नन्दनः । योऽयं नियोग उक्तः सोर्वाचीनैर्दुरनुष्ठानस्तस्मात्सनातनुष्ठेय इति श्लोकपञ्चकेनाह नान्यस्मिन्विधवेति ।
अन्यस्मिन् भर्तुरन्यस्मिन् नियुज्याना द्विजातयः सनातनं वेदविहितं अनन्यनियोगरूपं धर्मं हन्युः ॥ ६४ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्विजातिभिः विधवानारी अन्यस्मिन्नियोगानधिकारिणि सपिण्डादौ न नियोक्तव्या ॥ ६४ ॥

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् ॥ न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥ ६५ ॥

(१) मेधातिथिः । उद्वाहनं कर्म तत्र ये मन्त्राः प्रयुज्यन्ते अर्यमणं नुदेवं कन्या अग्निमयक्षेतेत्यादयस्तथान्येपि तत्सं-
बन्धाः मयापत्याजरदष्टिरिति मयापत्याप्रजावतीति तत्र सर्वत्र वोढुर्वरयितुः स्वापत्यं भवतीत्याहुः । न तत्र श्रूयते मयाय-
न्नियुज्यसे ततो जनयेति मन्त्रग्रहणेनैतदर्थयति मन्त्रार्थवादा अपि नैवं विधाः सन्ति । दूरत एव तदर्थयति न विवाहविधा-
वुक्तं विधवावेदनं पुनः आवेदनं गमनमभिप्रेतमन्त्रे अथ विवाह एवेयं वा संयुज्यते विवाहयिष्यन्ति देवरो भ्रातृजायांततोऽयं नि-
योगो विवाहविहित एव न त्वत्र विवाहविधाविति पूर्वशेषोयमर्थवादः ॥ ६५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवमेतत्सर्वमृष्यन्तरमतमुक्त्वा स्वमतमाह नेति । न कीर्त्यते न मन्त्रलिङ्गाद्रम्यते । विवाह-
विधौ ब्राह्मणभागे ॥ ६५ ॥

(३) कुल्लूकः । अर्यमणं नुदेवमित्येवमादिषु विवाहप्रयोजनकेषु मन्त्रेषु क्वचिदपि शाखायां न नियोगः कथ्यते
न च विवाहविधायकशास्त्रेऽन्येन पुरुषेण सह पुनर्विवाह उक्तः ॥ ६५ ॥

(४) राघवानन्दः । अतएवाह नोद्वाहिकेष्विति । मन्त्रेषु अर्यमणं नुदेवमित्यादिषु विवाहविधौ ब्राह्मणदेवइत्यादौ ।
वेदनं विवाहः ॥ ६५ ॥

(५) नन्दनः । कुतः पुनः सनातनधर्मस्य वधो नियोगस्य वेदविहितत्वादित्याह नोद्वाहिकेषु मन्त्रेष्विति । विवाह-
विधौ विवाहविधायके मन्त्रब्राह्मणे विधवावेदनं विधवायाः पतिलाभः ॥ ६५ ॥

(६) रामचन्द्रः । विधवावेदनं विवाहः । विवाहविधौ विवाहप्रतिपादक ब्राह्मणभागे पुनः न उक्तम् ॥ ६५ ॥

अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः ॥ मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥ ६६ ॥

(१) मेधातिथिः । अयमप्यर्थवाद एव नियोगप्रतिषेधशेषः ये ऽविद्वांसः सम्यक्शास्त्रं न जानते तत्र व्यवहारिणो-
लिङ्गाद्यन्वयपरत्वं च न जानते तैरयं पशुधर्मः सचात्यन्तगर्हितो मनुष्याणामपि प्रोक्तः प्रवर्तितः सचेदानीं तन आदिवेनेरा-
ज्नि प्रशासति राष्ट्रपालयति ननु च लिङ्गानि नैव सन्तीत्युक्तं नैव मुद्गाहं केषु मत्तृषु तु सन्तीत्युक्तं । अन्यत्र तु दृश्यते कोवास
पुत्रो विधवे वदेवरं मयानुदोषो कणुते सधस्थ आइत्यादि । यथा विधवास्त्री देवरपतिमनुष्यं कुरुते समानशयन एव कोवामन-
स्त्विनौ कुरुते येन नागच्छतः को विशेषेण विवाहमत्तृषु सक्रिमपत्योत्पत्तिविध्यनुक्रमरूप इत्यभिप्रायः । अन्यैर्विद्वद्भिरिति
पठितं गर्हितो मनुष्याणां प्रोक्तः पशूनामेषधर्मो भ्रातृस्त्रीगमनं नाम सच प्रवृत्तो वेनस्य राज्ये ॥ ६६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अपि न विधवायावेदनं भर्तृलाभः पुनरित्युक्तं तर्हि कथं देवरोपगमाचारस्मृती इत्यत-
आह अयमिति । द्विजैर्बहुभिः गर्हितः पशुधर्मः पशूनामेव धर्मो गुरुस्त्रीसुषागमनं मनुष्याणामपि धर्मेण कैश्चिन्मुनिभिः
प्रोक्तो वेने पृथोऽपि तस्मिन् पापकर्मप्रवर्तके राजनि ॥ ६६ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मादयं पशुसंबन्धी मनुष्याणामपि व्यवहारो विद्वद्भिर्निन्दितः योयमधार्मिके वेने राज्ञि राज्यं
कुर्वाणे तेन कर्तव्यतया प्रोक्तः अतो विनादरं प्रवृत्तो यमादिमानिति निन्द्यते ॥ ६६ ॥

(४) राघवानन्दः । ननु विवाहफलं भोगो दृश्यत इति तत्राह अयमिति । पशुधर्मः पुनर्विवाहः मत्तृविनारागतस्त-
त्संभोगदर्शनेपि न शास्त्रीयः स इति । वेने राज्यं प्रशासतीत्यर्थवादमात्रम् एकमुत्पादयेत्पुत्रमिति विधिविरोधात् ॥ ६६ ॥

(५) नन्दनः । एवञ्चेत्किमुपज्ञोऽयं नियोगविधिरित्यत्राह अयं द्विजैर्हि ॥ पशुधर्मः तिर्यग्योनिभिरनुष्ठितोऽन्यायो
नियोगाख्यः ॥ ६६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अयं पशुधर्मः ॥ ६६ ॥

समहीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा ॥ वर्णानां संकरं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥ ६७ ॥

(१) मेधातिथिः । भुञ्जन्पालयन् कथं पुनर्वर्णसङ्करं प्रवर्तयन् राजर्षीणां प्रवरः उक्तं महीमखिलां भुनक्तियः महाराज-
त्वात्कामेन रागादलक्षणेनोपहता नाशिता चेतना चित्तस्थैर्यस्य सः ॥ ६७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । राजर्षिप्रवरो राजर्षीणां प्रवरो मूलभूतः । वर्णानां संकरमधर्म्यमैशुनम् ॥ ६७ ॥

(३) कुल्लूकः । सवेनो महीसमग्रं पूर्वपालयन् अतएव राजर्षिभ्रंशेन तु धार्मिकत्वात् कामोपहतबुद्धिर्भ्रातृभार्यागमन-
रूपं वर्णसंकरं प्रवर्तयत् ॥ ६७ ॥

(४) राघवानन्दः । सवेनः संकरत्वे हेतुः कामोपहतचेतनः । त्वयं सापत्यामपि नियुक्तवानिति विशेषः ॥ ६७ ॥

(५) नन्दनः । संकरं नियोगाख्यम् ॥ ६७ ॥

ततः प्रभृति यो मोहात्पमीतपतिकां स्त्रियम् ॥ नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥ ६८ ॥

(१) मेधातिथिः । अस्मष्टार्थोऽर्थवादः ॥ ६८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तदा प्रभृति नियोजयतीति तदा प्रभृति तु न गर्हन्तीति तं साधवो विगर्हन्ति ॥ ६८ ॥

(३) कुल्लूकः । वेनकालात्प्रभृति यो मृतभर्तृकादिस्त्रियं शास्त्रार्थाज्ञानादपत्यनिमित्तं देवरादौ नियोजयति तं साधवो निय-

तंगर्हयन्ते । अयंच स्वोक्तनियोगनिषेधः कलियुगविषयः तदाह बृहस्पतिः ॥ उक्तोनियोगोमुनिना निषिद्धः स्वयमेव तु । युगक्रमादशकयोयंकर्तुमन्यैर्विधानतः ॥ तपोज्ञानसमायुक्ताः कृतत्रेतायुगे नराः । द्वापरे च कलौ नृणां शक्तिहानिर्हि निर्मिता ॥ अनेकधा कृताः पुत्राऋषिभिश्च पुरातनैः । न शक्यन्ते ऽधुना कर्तुं शक्तिहीनैरिदंतनैः ॥ अतोयद्वोविन्दराजेन युगविशेषव्यवस्थामज्ञात्वा सर्वदैव संतानाभावं नियोगादनियोगपक्षः श्रेयानिति स्वमनीषया कल्पितं तन्मुनिव्याख्या विरोधान्नाद्रियामहे । प्रायशोमनुवाक्येषु मुनिव्याख्यानमेव हि नापराध्योस्मि विदुषांकाहंसर्वविदः कुधीः ॥ ६८ ॥

(४) राघवानन्दः । ततः किं तत्राह तदेति । प्रमीतपतिकां प्रमीतोर्हि सितः पतिर्यस्यास्तां पुत्रवतीमिति शेषः । योनियोजयत्यपत्यार्थेऽपत्योत्पादनाय तं विगर्हयन्तीत्यन्वयः । अपत्यार्थे विद्यमानपुत्रे सतीति । एषुवेदनश्रुत्यनुरोधेन यस्याग्निधेतइत्युत्तरस्वरसात् सकृत्प्रदीयते कन्याइत्यादिवचनबलात्पुनर्विवाहोनिषिद्धो नत्वपत्यार्थेनियोगइति । यत्तुबृहस्पतिः ॥ उक्तोनियोगोमनुना निषिद्धः स्वयमेव तु । युगह्रासादशकयोयं कर्तुमन्यैर्विधानतः ॥ तपोज्ञानसमायुक्ताः कृतत्रेतायुगे नराः । द्वापरे च कलौ नृणां शक्तिहानिर्हि निर्मिता ॥ अनेकधा कृताः पुत्राऋषिभिश्च पुरातनैः । न शक्यन्ते ऽधुना कर्तुं शक्तिहीनैश्चिरंतनैरिति ॥ तदन्यथा सिद्धं निषेधस्य पुनर्विवाहविषयत्वात् । पुत्रप्रयोजना भार्येति तात्पर्यम् । शास्त्रतात्पर्यादग्निषोमीयपशोरिवकचिदननुष्ठानस्य शास्त्रासंकोचकत्वाद्धोलाकाद्यननुष्ठानवदेकमुत्पादयेत् । पुत्रमिति नियोगविधेः प्राधान्येनार्थवादस्य न हि स्यात्सर्वाभूतानीतिवत् । स्तनाद्युपमर्दरागनिवर्तनेनान्यथासिद्धेर्गोविन्दराजव्याख्या गरीयसी । अन्यथासंतानकृतेर्दोषापत्तिः । यत्तु ॥ अग्निहोत्रं गवालभं संन्यासं पलपैतृकम् । देवरेण सुतोत्पत्तिः कलौ पञ्च विवर्जयेदिति ॥ तदनमूलम् । समूलत्वेवा लाभाख्यात्यादिरागिनां निवृत्तितात्पर्यकम् । अन्यथा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् ॥ यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोतीत्यादिश्रुतिविरोधश्चेतिदिक् । अतएव मेधातिथिर्देवराद्वेत्यादिसाधवइत्यन्ते ग्रन्थे षोडशग्रहणादिवद्विकल्पः नियोगतदभावयोः पित्राद्युद्धरणं फलं गन्तुश्च परमोपकारः तदाप्रभृत्ययंश्लोकोऽर्थवादएवेति ॥ ६८ ॥

(५) नन्दनः । नियोगनिन्दा च तदाप्रभृत्येवासीदित्याह तदा प्रभृतीति । सप्रकारसापवादश्च नियोगः पुनरेव प्रतिषिद्धः । तत्र मनोरयमभिप्रायइति बृहस्पतिना व्याख्यातं ॥ नियोगमुक्त्वा मनुनानिषिद्धः स्वयमेव तु ॥ युगह्रासादशकयोयं कर्तुमन्यैर्विधानतः । तपोज्ञानसमायुक्ताः कृतत्रेतायुगेनराः ॥ द्वापरे च कलौ नृणां शक्तिहानिर्हि निर्मिता । अनेकधा कृताः पुत्राऋषिभिश्च पुरातनैः ॥ न शक्यन्ते ऽधुना कर्तुं शक्तिहीनैरिदंतनैरिति ॥ ६८ ॥

(६) रामचन्द्रः । मृतभर्तृकांप्रत्याह तदेति । प्रमीतपतिकां मृतभर्तृकाम् ॥ ६८ ॥

यस्याग्निधेत कन्यायावांचा सत्ये कृते पतिः ॥ तामनेन विधानेन निजोविन्देत देवरः ॥ ६९ ॥

(१) मेधातिथिः । नियोगरूपत्वात्कन्यागतोयंधर्मउच्यते वाचासत्ये कृते वाग्दाने निवृत्त एकेन दत्ताऽपरेण प्रतिगृहीता तामनेन वक्ष्यमाणेन विधानेन निजसोदरोदेवरोविन्देत विवाहयेत् ॥ ६९ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । सर्वदैव कथं पुनर्देवरोपगमस्मृतीनांव्यवस्थेत्यतआह यस्याइति । वाग्दत्ताविषयमेव । परिणीतविषयतैय तद्धान्तेर्गृहीतमित्यर्थः । वाचा सत्यवचनेन सत्यंमयादातव्येयमिति सत्याङ्गीकारइत्यर्थः । अनेन विधानेन विवाहविधिना निजः पतिसोदरोदेवरोविन्देत ॥ ६९ ॥

(३) कुल्लूकः । नियोगप्रकरणत्वात्कन्यागतंविशेषमाह यस्याइति । यस्याः कन्यायावाग्दाने कृते सति भर्ता प्रियते तामनेन वक्ष्यमाणेनानुष्ठानेन भर्तुः सोदरभ्रातापरिणयेत् ॥ ६९ ॥

(४) राघवानन्दः । अतएव वाग्दत्ताविधितोदेवरैवग्राह्यत्वमाह यस्याइतिद्वाभ्याम् । सत्येकृतेवा अमुकस्य पौत्रा-

यामुकस्य पौत्रीमित्यादिवंशमुच्चार्यमांदातुं प्रतिजानइति प्रतिश्रुतेऽनेन वक्ष्यमाणेन विधिना ॥ ६९ ॥

(५) नन्दनः । अथ वाग्दत्तायां फ्र्यौ मृते कर्तव्यं श्लोकद्वयेनाह यस्याग्निधेतेति । अनेन वक्ष्यमाणेन निजः पत्युस्सोदरः ॥ ६९ ॥

(६) रामचन्द्रः । वाग्दानदत्ताप्रत्याह यस्येति । अनेनविधानेन विवाहविधानेन निजोदेवरःविन्देन विवाहयेत् ॥ ६९ ॥

यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम् ॥ मिथोभजेताप्रसवात्सरुत्सरुदृतादृतौ ॥ ७० ॥

(१) मेधातिथिः । यथाविधियथाशास्त्रवैवाह्योविधिस्तथा विवाहवाचनिकोयविवाहः । पुनर्भूश्च तथोच्यते नवा व्यूढापि सती [भार्या] भवति केवलंपरार्थोस्यावाचनिकोविवाहः । तथा च दर्शयति नदत्वा कस्य चित्कन्यांपुनरन्यस्य दीयत इति नासौ देवराय दीयतइत्यर्थः । अदत्ताचास्वभूताकथमिव भार्या भवेत् शुक्लवस्त्रानियमोगमनेऽन्यस्मिन्नपि नियोगे धर्मोयमिष्यते ॥ ७० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शुक्लवस्त्रां न रक्तवस्त्राम् । शुचिव्रतां सच्चरित्रवतीम् । आप्रसवात् प्रसवानन्तरं निवर्तेत । एतदपत्यं क्षेत्रिण एव तदपेक्षया च क्षेत्रिणोऽपत्यं देवराजातइति स्मृतिबुध्यतइति समुदायार्थः ॥ ७० ॥

(३) कुल्लूकः । सदेवरोविवाहविधिनैनां स्त्रीकृत्य शुक्लवस्त्रां कायवाङ्मनःशौचशालिनीभागभयहणाद्रहसि ऋतावृतावैकैकवारंगच्छेत् । एवं कन्यायानियोगप्रकारत्वाद्विवाहस्याग्रहाच्च गमनोपदेशाद्यस्मै वाग्दत्ता तस्यैव तदपत्यं भवति ॥ ७० ॥

(४) राघवानन्दः । यथाविधि विवाहविधिमतिक्रम्य । शुचिव्रतां कायवाङ्मनोभिरनन्यपराम् । मिथोभजेतां ऋतावृतां मैथुनेनेति शेषः । आप्रसवादितिलिङ्गादपत्यं यस्मै वाग्दत्ता तस्यैव न पुनर्देवरस्येति । ततः परं न गम्या सेतिभावः ॥ ७० ॥

(५) नन्दनः । अधिगम्य उदूह्य ॥ ७० ॥

(६) रामचन्द्रः । शुचिव्रतां सुचरिताम् ॥ ७० ॥

न दत्वा कस्यचित्कन्यांपुनर्दद्याद्विचक्षणः ॥ दत्वा पुनः प्रयच्छन् हि प्राप्नोति पुरुषानृतम् ॥ ७१ ॥

(१) मेधातिथिः । तेषां निष्ठातु विज्ञेया विद्वद्भिः सममे पदइति प्राग्विवाहान्मृते वरे दत्तायामपि पुनर्दानाशङ्कायां प्रतिषेधोयं । विशिष्टेतु पुनर्वचनं तथाविधायाः पुनर्भूरुक्ता नान्यस्मै दत्वा तस्मिन्मृतेऽन्यस्मै दद्यात्तथा कुर्वन्प्राप्नोति पुरुषानृतं मनुष्यहरणे यत्पापं तस्य भवति ॥ ७१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दत्वा ददानीत्युक्त्वा न दद्यादन्यस्मै । पुरुषानृतं पुरुषविषयानृतताभिधानम् ॥ ७१ ॥

(३) कुल्लूकः । कस्मैचिद्वाचा कन्यां दत्वा तस्मिन्मृते दानगुणदोषज्ञस्तामन्यस्मै न दद्यात् । यस्मादेकस्मै दत्वा यस्मै इदं पुरुषानृतं सहस्रमित्युक्तदोषं प्राप्नोति समपदीकरणस्याजातत्वाद्भार्यात्वानिष्पत्तेः पुनर्दानाशङ्कायामिदं वचनम् ॥ ७१ ॥

(४) राघवानन्दः । नान्यस्मिन्नित्याद्युपसंहरन् विषये दोषमाह न दत्त्वेति । वाग्दानेदानं भाक्तं दत्त्वाददत् प्राप्नोति पुरुषानृतं सहस्रं पुरुषानृतइत्युक्तत्वात् । अतएव दत्तामपि हरेत्कन्यां श्रैयांश्चेद्देव आग्रजेदित्यविधिना वाचा दत्ता दानाशंका ॥ ७१ ॥

(५) नन्दनः । अस्य देवरस्यैव दातव्यत्वे कारणमाह न दत्वा कस्यचिदिति । पुरुषविषयेऽयं दत्तो दत्तः क्रीतो क्रीतइ-

त्यादौ विवादे प्रोक्तमनृतं पुरुषानृतं पुरुषाणां सहस्रं पुरुषानृते हन्तीति पूर्वोक्तदोषप्रामोतीत्यर्थः ॥ ७१ ॥

(६) रामचन्द्रः । कस्य चिद्वरायकन्यादत्त्वा ददामीत्युक्ता पुनः अन्यस्मै न दद्यात् पुरुषानृतं पापं आप्नोति ॥ ७१ ॥

विधिवत्प्रतिगृह्णापि त्यजेत्कन्यांविगर्हिताम् ॥ व्याधितांविप्रदुष्टांवा छद्मना चोपपादिताम् ॥ ७२ ॥

(१) मेधातिथिः । विधिशाल्त्रं दहतीति विधीवत् यादृशः शास्त्रेण विधिरुक्तोद्भिरेव द्विजाग्र्याणामिति सच कैश्चिदुदकाधिकारः कन्याविषये स्मर्यते । तेन प्रतिगृह्णापि त्यजेत्कन्यांप्राग्विवाहाद्विगर्हितां दुर्लक्षामदृष्टपूर्वाप्रतिगृहीतां मनोज्ञामपि तथा निर्लज्जां बहुपुरुषभाषिणीं व्याधितां क्षयव्याधिगृहीतां प्रदुष्टारोगिण्यादिशब्दितामन्यगतभावीचत्यजेत् । क्षतयोनिं विप्रदुष्टां व्याचक्षते न ते सम्यङ्मन्यन्ते यदि तावत्पुरुषानुपभुक्तास्त्रीकन्यादिविकृता तदा नैव दुष्यति । अथ पुरुषसंयुक्ता तदा कन्यैव न भवति तत्र त्यजेत्कन्यामिति सामानाधिकारण्यानुपपत्तिः । उक्तश्च तस्यास्त्यागः छद्मना चोपपादितां न्यूनाधिकाङ्गीयाहेतुनियुक्ताऽकथितेषु स्वल्पेष्वपि दोषेषु कृतवरणापि त्याज्यैव ॥ ७२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विगर्हितां दुष्कुलत्वादिना । व्याधितामसाध्यव्याधिम् । विप्रदुष्टां पुरुषान्तरदूषिताम् । छद्मना श्वित्रादिदुष्टाभेव दोषं वस्त्रादिनावृत्य उपपादितां दत्ताम् । पूर्वाध्याये दोषवत्कन्यादातुर्दोषउक्तोन्नत्यक्तुर्दोषाभावः ॥ ७२ ॥

(३) कुल्लूकः । अद्भिरेव द्विजाग्र्याणामित्येवमादिविधिना प्रतिगृह्णापि कन्यावैधव्यलक्षणोपेतारोगिणीक्षतयोनित्वाद्यभिशापवतीमधिकाङ्क्षादिगोपनच्छद्मोपपादितां समपदीकरणात्प्राक्ज्ञातां त्यजेत्ततश्च तस्यागे दोषाभावइत्येतदर्थं न तु त्यागार्थम् ॥ ७२ ॥

(४) राघवानन्दः । दातुर्नियममभिधाय स्वीकर्तृनियमं संकोचयति विधिवदिति । विधिः शास्त्रं तत्पुरःसरं प्रतिगृह्णापि कन्यां विगर्हितां वैधव्यादिलक्षणोपेतां विप्रदुष्टां क्षतयोनित्वादिति शापवतीं छद्मनोपपादितां अधिकां गादि प्रच्छाद्य दत्तां समपदीगमनात्प्राक् त्यजेदूर्ध्वनत्यागः किंतु वस्त्राच्छादनादिना भर्तव्या ॥ पाणिग्रहणिकामन्त्राः पितृगोत्रापहारकाः इति ॥ तेषां निष्ठातु विज्ञेया विद्वद्भिः सममे पद इत्युक्तेः ॥ ७२ ॥

(५) नन्दनः । विगर्हितलक्षणां विप्रदुष्टां क्षतयोनिम् ॥ ७२ ॥

(६) रामचन्द्रः । निन्दितां प्रत्याह विधिवदिति । विगर्हितां दुष्कुलां व्याधितां अचिकित्स्यव्याधितां विप्रदुष्टां पुरुषान्तरसंसृष्टां छद्मना कुष्टादि व्याध्याच्छादनेन उपपादितां प्राप्ताम् ॥ ७२ ॥

यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्यायोपपादयेत् ॥ तस्य तद्वितथं कुर्यात्कन्यादातुर्दुरात्मनः ॥ ७३ ॥

(१) मेधातिथिः । कन्यादोषा उक्तास्ताननाख्यायानुक्ता प्रयच्छति ददाति तस्य तद्दानं वितथं निष्फलं कुर्यात्प्रत्यर्पणेन उक्तएवायमर्थः पूर्वश्लोकेनातिस्पष्टीकृतः ॥ ७३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तद्दानं वितथं गृहीतस्य पुनरग्रहणात् ॥ ७३ ॥

(३) कुल्लूकः । यः पुनर्दोषवतीं कन्यां दोषाननभिधाय ददाति तस्य कन्यादातुर्दुरात्मनो दानं तत्प्रत्यर्पणेन व्यर्थं कुर्यात् । एतदपि त्यागे दोषाभावकथनार्थम् ॥ ७३ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र दातुर्दोषप्रकटयन् त्यक्तुर्दोषाभावमाह यस्त्विति । अनाख्याय दोषमिति शेषः । वितथं प्रत्यर्पणेन व्यर्थम् । तेन त्यागे दोषो नास्तीति भावः ॥ ७३ ॥

(५) नन्दनः । वितथं विरुतं कुर्यात् पाणिग्राहकमनाख्यायेति विशेषणाद्दोषज्ञापितमभ्युपगम्य परिग्रहीत्रा न परित्याज्येति सूचितम् ॥ ७३ ॥

(६) रामचन्द्रः । तत् दानरूपं कार्यं वितथं निष्फलं कुर्यात् ॥ ७३ ॥

विधाय वृत्तिभार्यायाः प्रवसेत्कार्यवान्नरः ॥ अट्टित्कर्षिताहि स्त्री प्रदुष्येत्स्थितिमत्यपि ॥ ७४ ॥

(१) मेघातिथिः । यदा प्रवसेत्तदा भार्यायावृत्तिविधाय प्रवसेदिति [कृत्स्न]^१ विधिं विधायेत्येवमर्थदृष्टव्यं प्रवसन्भार्यायावृत्तिविदधीतेति तथा कुर्याद्यथास्यायावत्ववासंवृत्तिर्भवति शरीरस्थितिहेतुभोजनाच्छादनगृहोपकरणादि तां विधाय प्रवसेत्त्वदेशादेशान्तरंगच्छेत्कार्यवान्कार्यपुरुषार्थोदष्टोदष्टश्च अपृष्टो धर्मोदष्टावर्थकामौ । तथावक्ष्यति प्रोषितो धर्मकार्यार्थइत्यादिना अन्तरेणैतानि निमित्तानि भार्याहित्वा प्रवासो निषिध्यते । अवृत्तिकर्षिताहि दृष्टदोषप्रदर्शनमर्थवादः अवृत्त्या दरिद्रेण कर्षिता पीडिता प्रदुष्टे पुरुषान्तरसंपर्कादिना स्थितिमत्यपि स्थितिः कुलाचारस्तत्संपन्ना क्षुधावसरेदीना दोषमवामुयादयं भर्तारमाश्रित्य जीवतीति भाव्यतएतत् । संभावनायां लिङ् ॥ ७४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वृत्तिं प्राणवर्तनोपायम् । कार्यवान् प्रयोजनवान् । प्रदुष्येत धनलोभात्परपुरुषेण संयुज्येत । स्थितिमती वृत्तवती ॥ ७४ ॥

(३) कुल्लूकः । कार्ये सति मनुष्यः पत्न्याग्रासाच्छादनादिप्रकल्प्य देशान्तरंगच्छेत् यस्माद्ग्रासाद्यभावपीडिता स्त्री शीलवत्यपि पुरुषान्तरसंपर्कं भजेत् ॥ ७४ ॥

(४) राघवानन्दः । स्त्रीप्रसंगेन परलोकभीरुणा सर्वदा पत्नी पोष्येत्याह विधायेति । तत्र हेतुरवृत्तिकर्षितेति प्रदुष्येद्वस्त्रान्नलोभादिना परपुरुषं व्यभिचरेत् । अस्य दग्धोदरस्यार्थे कोन कुर्यादसांप्रतमितिन्यायात् स्थितिमती स्थिरा सापि प्रदुष्यतीति कैमुतिकम् ॥ ७४ ॥

(६) रामचन्द्रः । विधायेति प्रवासार्थमाह अवृत्तिकर्षिता स्त्री जीवनोपायरहिता ॥ ७४ ॥

विधाय प्रोषिते वृत्तिजीवेन्नियममास्थिता ॥ प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः ॥ ७५ ॥

(१) मेघातिथिः । नियमो यथा निहते भर्तरि परिग्रहप्रयाणादिनिषेधएवंप्रोषितेपि आस्थिता आश्रिता गृहीतवती अकृत्वा तु वृत्तिप्रोषिते शिल्पैर्जीवेतेति कर्तनजालिकाकरणादिना गर्हितानि वस्तूनि विजनादीनि एषएव विधवादीनां निजश्रमजन्यो वृत्त्युपायः ॥ ७५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नियमं मनोवाक्कायनियमम् । शिल्पैः सूत्रकर्तनाद्यैः । अगर्हितैर्देशान्तरभ्रमणाद्यसाध्यैः ॥ ७५ ॥

(३) कुल्लूकः । भक्ताच्छादनादिदत्त्वा पत्यौ देशान्तरंगते देहप्रसाधनपरगृहगमनरहिता जीवेत् अदत्त्वा पुनर्गते सूत्रनिर्माणादिभिरनिन्दितशिल्पेन जीवेत् ॥ ७५ ॥

(४) राघवानन्दः । वृत्तिमतीं शिक्षयन् तद्गहितायावृत्त्यन्तरमाह विधायेति । प्रोषिते विद्याद्यर्थे । नियमं परगृहोत्सवाद्यदर्शनम् । अविधाय वृत्तिमित्यनुषङ्गः । शिल्पैः सूत्रकर्तनाद्यैः ॥ ७५ ॥

(५) नन्दनः । अथप्रोषिते भर्तरि स्त्रियाकर्तव्यमाह विधायप्रोषितेति । प्रोषिते भर्तरि पत्यौ शिल्पैरगर्हितैः कर्त-
नावघातादिभिः ॥ ७५ ॥

(६) रामचन्द्रः । वृत्तिविधाय भर्तरि प्रोषिते गते सति नियममास्थिता जीवेत् । वृत्तिअविधायैव प्रोषिते भर्तरि-
अगर्हितैः शिल्पैःसूत्रकर्तनादिभिःजीवेत् ॥ ७५ ॥

प्रोषितो धर्मकार्यार्थप्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः ॥ विद्यार्थेष्व्यशोऽर्थवा कामार्थैर्त्रास्तु वत्सरान् ॥ ७६ ॥

(१) मेधातिथिः । यदुक्तं कार्यवान्प्रवसेदिति तानि कार्याणि दर्शयति तद्विशेषेण प्रतीक्षाकालभेदः परतस्त्विदं-
तया कर्तव्यमिति चोक्तं तत्र केचिदाहुः प्रकरणादगर्हितैर्जवेदिति तदयुक्तं प्रागस्मात्कालादगर्हितैरितीयां किंभियतां ह्यस्या-
आत्मत्यागइष्यते पुंसि च प्रतिषिद्धत्वात् तस्मात्प्रागप्यस्मात्प्रतीक्षणविधेरगर्हितैः शिल्पैरजीवन्तिगर्हितैर्जीवेत् । अन्येव्यभि-
चारमिच्छन्ति । तथाच स्मृत्यन्तरे ॥ नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लोबे च पतिते पतौ ॥ पञ्चत्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥ अन्ये-
प्याहुः । नास्याज्ञाने ब्रह्मचर्यमपनेतुं शक्यते स्त्रीधर्मेषु हि तदस्याविहितं तनुनामापि गृहीयात्पत्यैमेते परस्यत्विति । मृते भर्त-
रि नास्ति व्यभिचारः किमङ्गप्रोषिते पतिशब्दो हिपालनक्रियानिमित्तको ग्रामपतिः सेनायाः पतिरिति अतश्चास्मादबाधनैषा
भर्तृपरतंत्रा स्यात् अपित्वात्मनोजीवनार्थसैरधीकरणादिकर्मवदन्यमाश्रयेत तच्च यदा षण्मासभृत्या संवत्सरभृत्या वा क-
स्मिंश्चिदाश्रिते भर्ता यद्यागच्छेत्तदानीं तां चेद्वशीकुर्याद्वशीकर्तुं शक्यतां सत्यजत्वं भार्यामिति यावद्भवतिकालो न पूर्वः प्राक्पत्युरेव सा
पंचमेवावितमन्यत् । अन्येप्यर्थमिममाहुः पुर्वेतु पुनर्भूवत्तमिच्छन्ति या पत्या वा परित्यक्ता भवति यस्याः किल पतिरियन्तं-
कालं निहितवृत्तिको नागच्छति सा तेन त्यक्तैव भवति ततश्च यदि सा पुनर्भूधर्मेणान्येनोढा भवेत्तदा भर्ताऽभ्यागतो न किंचि
द्व्याप्तुनर्भवस्येयं भार्येति तदयुक्तं न निष्क्रयविसर्गाभ्यामिति तस्य श्लोकस्यार्थवत्त्वं दर्शयिष्यामः । धर्मश्च तत्कार्यचधर्म-
कार्यसौार्थः प्रयोजनप्रवासस्येति धर्मकार्यार्थकुतः न गृहस्थस्य धर्मार्थो दीर्घकालः प्रवासः अवश्यं ह्यस्यस्तेन परिचरणीयाः
पांचयज्ञिकमनुष्ठेयं । कुतो गन्तव्यं वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यष्टव्यमिति तीर्थस्नानादीन्यपि स्मार्तानि च श्रौताविरोधीन्यनुष्ठेया-
न्यसंविधाय प्रोषितस्य वा भवतीति येनोच्यते संविधायापि प्रवासआपवर्णः स्वयंपर्वणि जुहुयादृत्विजामेकतरकालइति-
युक्तं । अनाहिताग्नेस्तीर्थयात्रायां पांचयज्ञिकस्य तुल्यत्वेऽपि स्मार्तत्वे भार्यासहितस्योपपत्तेः न तत्त्यागे तीर्थगमनं युक्तं सु-
च्यते गुरुवचनेन यंगुरवोधमार्जने राजोपसेवारायां वा सुकार्याय प्रेषयन्ति सधर्मार्थप्रवासः । प्रायश्चित्तं वा तपो वनदेशभ्रमणे-
न अथवा भार्जनार्थमेव धर्मकार्यार्थमभिप्रेतं दरिद्रौ हुंकुतश्चिद्धनमर्जयिष्ये विद्यार्थं ननु स्नातस्य च भार्याधिगमः कृतविद्य-
स्य च स्नानं तत्र कुतः कृतविवाहस्य विद्यार्थिता दर्शितमेतत् ईषदवगतवेदार्थो विवाहेऽधिक्रियते । निश्चिते स्नानादौ नैतद्यु-
क्तं । कृतायां धर्मजिज्ञासायां स्नानं जिज्ञासा च विचारपूर्वकसंशयच्छेदननिश्चितार्था सत्यं नायं विधिर्विद्यार्थितायाः तथाच
सति धर्मकार्यार्थमित्यनेनैवावगता स्यात् उत्पन्नेप्यधिकारोपयोगिन्यवगमेऽभ्यासातिशयार्थविशेषार्थचान्यासु विद्यासु क्षि-
प्रंशौर्यशः ख्यापनार्थं ब्रह्मिः सविशेषविद्यात्वख्यापनार्थं । देशान्तरप्रवसने यशोहेतुः प्रवासः कामार्थरूपाजीवानुगमोऽभिप्रे-
ततरां भार्यामुद्घेदुं स्मृत्यन्तरे प्रसूताभेदेन च कालभेदः स्मर्यते तथा च विष्णुः अष्टौ विप्रसूताः षड्राजन्याः चतुरो वैश्या-
दिगुणं प्रसूतेति ॥ नशूद्राद्याः कालनियमः स्यात्संवत्सरमित्येकइति ॥ ७६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धर्मकार्यार्थं तीर्थयात्रादिधर्मप्रतिग्रहादिकार्यार्थम् । प्रतीक्ष्यस्तदृहावस्थानादिना । तदु-
र्ध्वं तु पत्युः संनिकर्षमेव गच्छेत् ऊर्ध्वं भर्तुः सकाशं गच्छेदिति विसिद्धस्मरणान् । यशोर्थमुद्राहादिना दिग्विजयाद्यर्थगतः । का-
मार्थं रूप्यन्तरप्राप्त्यर्थम् ॥ ७६ ॥

(३) कुल्लूकः । गुर्वाज्ञासेपादनादिधर्मकार्यनिमित्तं प्रोषितः पतिरष्टौ वर्षाणि पत्न्या प्रतीक्षणीयः ऊर्ध्वपतिसन्निधि-
गच्छेत् । तदाह वसिष्ठः ॥ प्रोषितपत्नीपञ्चवर्षाण्युपासीत ऊर्ध्वपतिसकाशंगच्छेदिति । विद्यार्थप्रोषितः षड्वर्षाणि प्रतीक्ष्यः
निजविद्याविभाजनेन यशोर्थमपि प्रोषितः पतिः षडेव । भार्यान्तरोपभोगार्थगतस्त्रीणि वर्षाणि ॥ ७६ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रोषितप्रसंगेन प्रयोजनं प्रदर्शयंस्तदुचितकालनियममाह प्रोषितइति । धर्मकार्यार्थं तीर्थाटनं
गुर्वाद्याज्ञार्थम् । प्रतीक्ष्यः स्त्रिया नरः पतिः तदूर्ध्वं पतिसमीपंगच्छेत् । समाः वत्सरान् । तदाह वसिष्ठः ॥ प्रोषितपत्नी प-
ञ्चवर्षाण्युपासीत ऊर्ध्वपञ्चभ्योभर्तुः सकाशंगच्छेदिति । अत्र पञ्चपदं न्यूनाधिकसंख्योपलक्षणार्थम् । कामार्थं पत्न्यन्तर-
निकटस्थितये ॥ ७६ ॥

(५) नन्दनः । प्रतीक्ष्योभार्ययेति शेषः ऊर्ध्वं भर्त्रन्तरपरिग्रहेन दोषोस्तीन्यभिप्रायः यत्तुभृतभर्तृकाणां ब्रह्मचर्यवच-
नं तत्फलतिशयकामानानान्यासामित्यविरोधः ॥ ७६ ॥

संवत्सरंप्रतीक्षेत द्विषन्तीयोषितंपतिः ॥ ऊर्ध्वसंवत्सरात्त्वेनांदायं हत्वा न संवसेत् ॥ ७७ ॥

(१) मेधातिथिः । द्वेयः पतिर्यस्यास्तां द्विषाणां एतेन तु सनिष्कासनंकुर्यात् समपूर्वस्य वसेरेनामिति च द्विती-
यानुपपत्तेर्वासयेदिति निर्भर्त्सयेत् पातकेऽपि तस्यानिष्कासनं नास्ति निरुन्ध्यादेकवेशमनीति वचनात् । प्रायश्चित्तेऽप्यस्मिन्नि-
मित्ते विनयाधानार्थोपहारइष्यते न सर्वेण सर्वआत्यन्तिकआच्छेदः ॥ ७७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उदीक्षेत प्रतीक्षेत । द्विषन्ती संभोगाद्यर्थमनुपस्थायिनीम् । दायं स्त्रीधनं त्वयंदत्तं संगृह्य
गृहीत्वा न संवसेत् त्यजेत् । जीवनंतु देयमेव ॥ ७७ ॥

(३) कुल्लूकः । पतिर्विषयसंजातद्वेषांस्त्रियंवर्षयावत्प्रतीक्षेततत ऊर्ध्वमपि द्विषन्तींस्वदत्तमलङ्कारादिधनं हत्वा नोपग-
च्छेत् ग्रासाच्छादनमात्रन्तु देयमेव ॥ ७७ ॥

(४) राघवानन्दः । संवत्सरादूर्ध्वमपि पतिं त्वरसतो द्विषत्याभरणमात्रं न भोगइत्याह संवत्सरमिति । दायं स्वद-
त्तमलंकारादिकं हत्वा ग्रासाच्छादनादिकं दद्यात् न संवसेत् । नोपगच्छेत् ॥ ७७ ॥

(५) नन्दनः । उदीक्षेत प्रतीक्षेत दायं भूषणादिकं न संवसेन्न संगच्छेत्तयासहेति शेषः ॥ ७७ ॥

(६) रामचन्द्रः । दायं त्वयंदत्तं हत्वा न संवसेत् त्यजेदित्यर्थः ॥ ७७ ॥

अतिक्रामेत्प्रमत्तया मत्तं रोगार्त्तमेव वा ॥ सात्रीन्मासान्परित्याज्या विभूषणपरिच्छदा ॥ ७८ ॥

(१) मेधातिथिः । अतिक्रमस्तदुपचर्यावज्ञानं पथ्यौषधादिष्वतत्परता न पुरुषान्तरसंचारः मासत्रयंपरित्यागश्च
संभोगस्यैव पूर्वत्वादेव हेतोः हारकठकादिविभूषणैर्वियुक्ताकर्तव्या अपरिच्छदापरिग्रहेण भाण्डकुण्डादिना दासीदानेन च
॥ ७८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अतिक्रामेत् तच्छासनं लङ्घयेत् ननु व्यभिचरेदित्यस्यार्थः । प्रमत्तं द्यूताद्यालुष्टमनसम् ।
मद्येन मत्तं । भूषणपरिच्छदादिना विरहिततत्त्वमापाद्य त्रीन्मासान्परित्याज्या तदूर्ध्वमुपादेया ॥ ७८ ॥

(३) कुल्लूकः । या स्त्री द्यूतादिप्रमादवन्तमदजनकपानादिना मत्तंव्याधितं वा शुश्रूषाद्यकरणे नावजानाति सा वि-
गतालङ्कारशय्यादिपरिच्छदा त्रीन्मासान् नोपगन्तव्या ॥ ७८ ॥

(४) राघवानन्दः । भर्तृशुश्रूषाद्यकरणे कंचित्कालं परित्यजेदित्याह अतीति । प्रमत्तं मानादिना । मत्तं मद्येन ।

(७७) द्विषन्ती=द्विषाणां (मे०)

रोगार्त्तं कुषाद्युपहतम् । साऽतिक्रामन्ती । अविभूषणेत्यादिच्छेदः । अतिक्रमणमत्र शुश्रूषाद्यकरणम् जारादिनातिक्रान्ता-
यावधाद्युक्तेः । तदुत्तरं स्वीकार्येतिशेषः ॥ ७८ ॥

(५) नन्दनः । उत्क्रामत्यतिवर्तते विभूषणपरिच्छेदा विगतभूषणादिपरिवर्हा त्रीन्मासान्परित्याज्या संगमादौ नो-
र्ध्वमिति ॥ ७८ ॥

(६) रामचन्द्रः । अतिक्रामेत् आङ्गातिक्रमेण । प्रमत्तं द्यूतासक्तम् । मत्तं मद्यपानेन ॥ ७८ ॥

उन्मत्तंपतितं क्लीबमबीजं पापरो गिणम् ॥ न त्यागोऽस्ति द्विषंत्याश्च न च दायापवर्तनम् ॥ ७९ ॥

(१) मेघातिथिः । क्लीबबीजशब्दौ नपुंसकमाहतुः भेदस्तु वातरेता अप्रवृत्तेन्द्रियोपरः यादृशयोद्वेष्टि तस्य नास्ति
निग्रहः पूर्वोक्तअपवर्तमानमपहारः प्रोषितप्रतिषिद्धानादयः स्मृत्यन्तरनिषिद्धाः ॥ ७९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उन्मत्तं वातादिना क्लीबं जन्मना अबीजमन्तरानष्टबीजं पापरोगाअपस्माराद्यास्तदाक्रान्तं
पतिं द्विषन्त्यानार्यान्त्यागोत्यन्तत्यागः नचदायापवर्तनं दायस्य स्त्रीधनस्यापहरणं नास्ति । तत्कालद्वेषिण्यपि सुस्थं न
परिग्राह्येत्यर्थः । द्विषाणायइतिक्वचित्पाठः ॥ ७९ ॥

(३) कुल्लूकः । वातादिक्षौभादप्रकृतिस्थंपतितमेकादशाध्याये वक्ष्यमाणंनपुंसकमबीजंवाध्यरेतस्त्वादिना बीजर-
हितंकुषाद्युपेतंच पतिमपरिचरन्त्यास्त्यागोन करणीयोनच धनग्रहणंकरणीयम् ॥ ७९ ॥

(४) राघवानन्दः । अचिकित्सितव्याध्यादौ पतिं द्विषाणाद्यान त्यागादीत्याह उन्मत्तमिति । अबीजं शुक्रहीनम् ।
एतादृशं पतिं द्विषन्त्याअपि नत्यागोनापि दायापवर्तनं ततोधनाद्यादानम् ॥ ७९ ॥

(५) नन्दनः । अस्यापवादविधिमाह उन्मत्तंपतितमिति । अबीजमशुल्कमपवर्तनमपहरणम् ॥ ७९ ॥

(६) रामचन्द्रः । उन्मत्तंवातादिना । अबीजं द्विषन्ती या अपचरन्ती । दायापवर्तनं न स्त्रीधनं ॥ ७९ ॥

मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूलला च या भवेत् ॥ व्याधिता वाधिवेत्तव्या हिंसाऽर्थघ्नी च सर्वदा ॥ ८० ॥

(१) मेघातिथिः । मद्यपासौ मद्यपानरता पत्तिः संस्कारगृहकार्यानुष्ठानासमर्था तत्परिजागरया सा परिवेदनाया-
मर्हति । या तु गुरुभिः प्रतिषेधमापद्यमाना तस्यादण्डंवक्ष्यति प्रतिषिद्धां पिबेदिति त्वयंनियमस्य त्वन्यनियमव्यतिक्रम-
वत्प्रायश्चित्तेन प्रत्यापत्तिर्युक्ता पुनरधिवेदनंच तथाच धर्मानुष्ठानप्रजोत्पत्तिगृहकार्योपघातनिमित्तान्यधिवेदननिमित्तानि
पठ्यन्ते । प्रतिकूलव्याधितार्थघ्नीति । ब्राह्मण्यास्तु शास्त्रेण प्रतिषिद्धमद्यायास्ततः पानप्रायश्चित्तमेव भूयः अतिप्रवृत्तौ पा-
तित्यंतुभ्रूणहन्त्रि हीनसेवायांस्त्रीपततीति परिसंख्यानान्मद्यपानेपातित्यमिति । तदेकादशे वक्ष्यामः । उक्तंच पञ्चमे असत्य
वृत्ताऽसाध्वाचारा भृत्येष्वसत्परुषवाक् बलिकर्मणां प्रागेवभुङ्क्ते दैवपिण्डयोर्ब्राह्मणभोजनादौ नश्रद्धावती अतिव्ययशीला
[भाण्डोपस्करणं न परिरक्षति अनल्पमूल्येन क्रीणाति हिंसानाकुलशङ्क्यास्यादैवातिताडणशीला] : ऽच्चाहिकस्य व्यय-
स्यापहन्त्री अधिवेदनं तस्याउपर्यन्याविवाहः ॥ ८० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । असत्यवृत्ता सदामिथ्यावादिनी प्रतिकूला प्रतिकूलचेष्टा हिंसा ताडनादिना सदाभृत्यादि-
हिंसाकारिणी अर्थघ्नी अप्रयोजकव्ययपरा अधिवेत्तव्या अधिवेदनं द्वितीयभार्यासंबन्धस्तेन प्रतियोगेनासंबन्धनीया ॥ ८० ॥

(३) कुल्लूकः । निषिद्धमद्यपानरता असाध्वाचारा भर्तुः प्रतिकूलाचरणशीला कुषादिव्याधियुक्ता भृत्यादिताडन-
शीला सततमतिव्ययकारिणी या भार्या भवेत्साधिवेत्तव्या । तस्यां सत्यामन्योविवाहः कार्यः ॥ ८० ॥

(४) राघवानन्दः । रुयन्तरसत्त्वेऽपि रुयन्तरमुद्देदित्याह मद्यपेतिद्वाभ्याम् । मद्यपा निषिद्धमद्यपा । असत्प्रवृत्ता असदाचारा असत्यभाषिणीवा । अधिवेत्तव्या सत्यामपि तस्याम् अधिवेदनं पूर्वामधितस्याउपरि रुयन्तरस्वपरिग्रहः तेन पूर्वोक्तसपत्निकास्यादतः ॥ रुतसापत्निकाभ्यूढाऽधिविन्नेत्यमरः ॥ हिंसा श्रुत्यादिताडनशोला । अर्थग्री अतिव्ययशीला व्ययेचामुक्तहस्तयेत्युक्तत्वात् ॥ ८० ॥

(५) नन्दनः । अथाधिवेत्तव्यामाह मद्यपेति यस्यां विद्यमानायामेवाधिकं अपरा वोढव्या भवति साधिवेत्तव्या ॥ ८० ॥

(६) रामचन्द्रः । स्त्रीणांत्यागे कारणमाह । मद्यपेति । मद्यपा असत्प्रवृत्ता सदाशृषावादिनी हिंसा ताडनादिहिंसाकारिणी व्याधिता अधिवेत्तव्या आसामुपरि अन्या विवाहितुं योग्या सदोषत्वात् ॥ ८० ॥

वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा ॥ एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥ ८१ ॥

(१) मेधातिथिः । अन्यासामप्यधिवेदनमाह तत्रवन्ध्याऽष्टमेऽब्देऽधिवेद्या दशमे तु मृतप्रजा नाधिवेदनेऽपत्योत्पत्त्यभावाद्विवन्ध्याया अनुष्ठानपरिपातनं स्यात् अपत्योत्पत्तिविधिराधानविधिश्च नापुत्रेह्याधानं श्रूयते एवंमृतप्रजायाः स्त्रीजनन्याः अप्रियवादिन्यास्तु दोषाभावेन नाधिवेदनेन सत्यां क्षमायां श्रमनियमः ॥ ८१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वन्ध्याष्टमद्वितीयोऽप्युक्ततायामष्टवर्षोपरि गर्भग्रहणाभावे प्रायशोगर्भग्रहणं नास्तीत्यादिशास्त्रान्तरसिद्धत्वभावनियमापेक्षयोक्तम् । एवंद्वादशाब्दानन्तरमपि मृतप्रजात्वानुवृत्तौ । एकादशोर्ध्वेच स्त्रीजन्यानुवृत्तौ । मृतप्रजात्वं स्त्रीप्रसूतिश्च न निवर्ततेति शास्त्रान्तरादेव सिद्धम् । सद्यइति तया गृहिण्या सद्यएव गृहकार्यासिद्धेः ॥ ८१ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रथमक्रतुमारभ्याविद्यमानप्रसूताऽष्टमे वर्षेऽधिवेदनीया मृतापत्यादशमे वर्षे स्त्रीजनन्येकादशे अप्रियवादिनी सद्यएव । यद्यपुत्राभवति पुत्रवत्यान्तुतस्यां धर्मप्रजासंपन्ने दारे नान्यांकुर्वीतान्यतरापायेतु कुर्वीतेत्यापस्तंबनिषेधादधिवेदनं कार्यम् ॥ ८१ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच वन्ध्येति । अष्टमे षोडशवर्षादिप्रसूतियोग्यकालापेक्षया । मृतप्रजा म्रियते प्रजामात्रं यस्याः सा । स्त्रीजननीरूपपत्यमात्रं यस्याः सा । सद्यस्त्वप्रियवादिनीति धर्मप्रजासुसंपन्ने दारे नान्यां कुर्वीतेत्याद्यापस्तंम्भवचनादप्रियवादित्वं धर्मपुत्रशून्याविषयम् ॥ ८१ ॥

(५) नन्दनः । अष्टमेऽब्दे युक्तान्प्रसवकालादारभ्याष्टमेऽब्दे ॥ ८१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अष्टमे अब्दे अधिवेद्या अन्याविवाहा ॥ ८१ ॥

या रोगिणीस्यान्तु हिता संपन्ना चैवशीलतः ॥ सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचित् ॥ ८२ ॥

(१) मेधातिथिः । भर्त्से हिता परिचर्यापरानुज्ञापनावमानयोरिह विधानयोः पूर्वासाभेतद्भावात् रोगिणीग्रहणं वन्ध्यास्त्रीजनन्यावपि लक्षयति प्रकृतत्वाविशेषादवमाननिमित्ताभावाच्च कर्हिचित्कदाचिदवमाननं शिष्यार्थपरिभाषणादि ॥ ८२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । हिता भर्तृहिता । अनुज्ञाप्य यद्यन्यनुमन्यते अननुमतौत्वननुज्ञाप्यैव ॥ ८२ ॥

(३) कुल्लूकः । या पुनर्व्याधिता सती पत्युस्नुकूला भवति शीघ्रवती च स्यात्तामनुज्ञाप्यान्योविबाहः कार्यः । कदाचिच्चासौ नावमाननीया ॥ ८२ ॥

(४) राघवानन्दः । साचेदनुकूलातदा तवैव सर्वमित्यादिस्तुत्या ततोधिवेदनार्थमनुमतिर्यास्येत्याह येति । हिता हितैषिणी । शीलतश्चरित्रेण ॥ ८२ ॥

(६) रामचन्द्रः । यारोहिणीस्यात् अष्टवर्षां च रोहिणीसा अनुज्ञाप्य अधिवेत्तव्या न अवमान्या ॥ ८२ ॥

अधिविन्ना तु या नारी निर्गच्छेद्गृहिता गृहात् ॥ सा सद्यः सन्निरोद्धव्या त्याज्या वा
कुलसन्निधौ ॥ ८३ ॥

(१) मेधातिथिः । क्रोधेनाधिवेदनहेतुना निर्गतायास्त्यागसन्निरोधौ विकल्पतोविधीयेतेननुयथोपपन्नहेतुना भोजनाच्छादनाभिताडनादिना तत्र मीत्या क्रोधावमार्जनंश्चश्रूभिः श्वशुरादिभिर्वापरिभाषणसन्निरोधोरक्षिपुरुषाधिष्ठानं त्यागोव्याख्यातः असंभोगः सहशय्यावर्जनं कुलंज्ञातयः तत्पितृपक्षाः स्वपक्षाश्च ॥ ८३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निर्गच्छेत् गृहान्तरंगच्छेत् । सन्निरोद्धव्या बन्धनेन । कुलस्य तत्पितृकुलस्य सन्निधौ ॥ ८३ ॥

(३) कुल्लूकः । या पुनः कृताधिवेदनास्त्री कुपिता निर्गच्छति सा तदहरेव रज्ज्वादिना बद्धा स्थापनीया आकोपनिवृत्तेः पित्रादिकुलसन्निधौ वात्याज्या ॥ ८३ ॥

(४) राघवानन्दः । कृतसपत्नीत्वज्ञानेन रुष्टांप्रत्याह अधिविन्नेति ॥ कृतसापत्निकाध्युद्धाऽधिविन्नेत्यमरः ॥ सन्निरोद्धव्या बन्धनादिना कुलसन्निधौ जनसमूहःकुलं ज्ञातिर्वा देशकालापेक्षया विकल्पः ॥ ८३ ॥

(५) नन्दनः । त्याज्या दुर्निरोधाचेत्यागविधानात् श्रौतस्मार्तकर्मणां तथा विनानुष्ठाने नास्ति विरोधः ॥ ८३ ॥

(६) रामचन्द्रः । या आधिविन्ना नारी रुषिता क्रोधयुक्ता सासद्यः सन्निरोद्धव्या आकोपनिवृत्तेः त्याज्या । कुलसन्निधौ तत्पित्रेवा ॥ ८३ ॥

प्रतिषिद्धापि चेद्या तु मद्यमभ्युदयेष्वपि ॥ प्रेक्षासमाजंगच्छेद्वा सा दण्ड्या कृष्णलानि षट् ॥ ८४ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रतिषेधे गुरुसंबन्धिव्ययंदण्डः क्षत्रियादिस्त्रीणां न शास्त्रीयो ब्राह्मणीनां नहि तत्र दण्डमात्रेण मोक्षः किर्तर्हिमहता नच तत्राभ्युदयेषु पानाशङ्का अप्रतिषिद्धमद्यानांतु नियमेनोत्सवसमागतानामादरवतीप्रवृत्तिर्दृश्यते । यांसम्यङ्निषेधत्यभ्युदयेष्वपीति दण्डश्चायं भर्त्रादीयते सत्यपि राजवृत्तित्वे स्त्रीणां भर्ताप्रभुरिति विज्ञायते अन्येषामपि परिग्रहवतांभृत्यादिविषये कियतिदण्डः स्वातन्त्र्येऽभ्युदयः पुत्रजन्मविवाहादयउत्सवाः प्रेक्षानयादिदर्शनं समाजो नितान्तमपि जनसमूहः तत्र कुतूहलिन्याअयंदण्डः ॥ ८४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मद्यं सुराव्यतिरिक्तम् । अभ्युदयेषूत्सवेषु । क्षत्रियादयो मद्यं पिबन्ति । प्रेक्षा नृत्यादिदर्शनस्थानं समाजः सभा ॥ ८४ ॥

(३) कुल्लूकः । या पुनः क्षत्रियादिका स्त्री भर्त्रादिनिवारिता विवाहाद्युत्सवेष्वपि निषिद्धमद्यं पिबेत् नृत्यादिस्थानजनसमूहौ वा गच्छेत् सा सुवर्णकृष्णलानि षट्स्ववहारप्रकरणाद्राज्ञा दण्डनीया ॥ ८४ ॥

(४) राघवानन्दः । अकार्यं निषिद्धायाः पुनः प्रवृत्तौ दण्डमाह प्रतिषिद्धेति । अपि कामोद्बोधसंभावनार्थम् । प्रेक्षासमाजौ नृत्यादिदिदृक्षुजनसमूहः प्रेक्षा । समाजः उत्सवार्थजनता तौ चेद्गच्छेत्तदा दण्ड्या राज्ञेति शेषः ॥ ८४ ॥

(५) नन्दनः । प्रतिषेद्धेति विशेषणादप्रतिषिद्धायां मद्यपानेऽल्पदोषः अपि शब्दग्रहणादभ्युदयेऽल्पतरः अभ्युदयउत्सवः अनभ्युदये प्रतिषिद्धायां भूयस्तरः ॥ ८४ ॥

(६) रामचन्द्रः । भर्ता प्रतिषिद्धा या स्त्री क्षत्रियादिका मद्यं सुराव्यतिरिक्तं अभ्युदयेपित्रेत् प्रेक्षासमाजे नृत्यस्थ-
लसभायांगच्छेत् सादण्ड्या रुग्णालानि गुंजाषट्परिमितं रजतम् ॥ ८४ ॥

यदि स्वाश्वापराश्चै व विन्देरन्योषितो द्विजाः ॥ तासां वर्णक्रमेण स्याज्ज्यैष्ठ्यं पूजा च वेश्म च ॥ ८५ ॥

(१) मेधातिथिः । कामतः प्रवृत्ता यदि समानजातीयाश्च विन्देरन्विवाहयेयुस्तासां वर्णक्रमेण जात्यनुरूपं ज्यैष्ठ्यं
न वयस्तोनच विवाहक्रमतः फलादि^१दाननिमित्ते पूजा प्रथमं ब्राह्मण्यास्ततः क्षत्रियावैश्ययोरित्येष वर्णक्रमः वेश्म प्रधानं-
गृहं तद्ब्राह्मण्याः सवर्णानां विवाहक्रमो निश्च^२लः स्मृतः ॥ ८५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वाः स्वजातीयाः । अवरा अधमजातीयाः । द्विजाविप्रादयः । वर्णक्रमेण न वयसा । ज्यै-
ष्ठ्यं ज्येष्ठासाध्यकर्मसंबन्धः । वेश्म सोत्कर्षम् ॥ ८५ ॥

(३) कुल्लूकः । यदि द्विजातयः स्वजातीया विजातीयाश्चोद्वहेयुस्तदा तासां द्विजातिक्रमेण वाक्समानदायविभागो-
त्कर्षार्थं ज्यैष्ठ्यं पूजा च वस्त्रालङ्कारादिदानेन गृहं च प्रधानं स्यात् ॥ ८५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच स्त्रीप्रसंगेन समानाऽसमानजातीयानामपि समानजातीया एव पूजावेश्मनी इति सहेतु-
माह यदीति । यदीत्यनुमितौ । स्वाः सजातीयाः अपराः विजातीयाः अनुविन्देरन् उद्वहेरन् । ज्यैष्ठ्यम् पूर्वं विप्रस्य वि-
प्रोद्वाहः तथा प्रथमं पूजा प्रधानं वेश्म एव क्षत्रियवैश्ययोरिति वर्णक्रमः हेतुरत्र विवाहनो ज्यैष्ठ्यम् ॥ ८५ ॥

(५) नन्दनः । स्वाः सवर्णाः अपरा असवर्णाः द्विजास्त्रैर्वर्णिकाः वर्णक्रमेण ज्यैष्ठ्यं स्यान्विवाहक्रमेण क्रमतस्तु
प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वरा इत्युक्तस्य क्रमस्थापवादादिना कृते भद्वेऽसत्ययमुपदेशः ॥ ८५ ॥

(६) रामचन्द्रः । यदि स्वाः सवर्णाः अपराश्चैव असवर्णाः द्विजाः योषितः विन्देरन् प्रामुष्युः तासां स्त्रीणां वर्णक्रमेण
ज्यैष्ठ्यं पूज्या पूजार्हा । वेश्मगृहादिकम् ॥ ८५ ॥

भर्तुः शरीरशुश्रूषा धर्मकार्यं च नैत्यकम् ॥ स्याच्चैव कुर्यात्सर्वेषां नास्वजातिः कथंच न ॥ ८६ ॥

(१) मेधातिथिः । शरीरशुश्रूषा भर्तृरुपयोगिपाकादिलक्षणा दानभोजनप्रतिजारणं स्वास्त्रैव कुर्यात् पृष्ठपादसंवाह-
ननिर्गोचनादौ त्वनियमः युगपत्सन्निधौ तु शरीरावयवक्रमो वर्णक्रमेण नैत्यकं धर्मकार्यं सायं त्वन्नस्येत्यादि अग्निशरणोपले-
पनाचमनोदकतर्पणदानादि अस्यानिन्दार्थवादः ॥ ८६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धर्मकार्यं यज्ञादि । नैत्यकं नित्यकर्तव्यं श्राद्धादि । नास्वजातिः स्वजातिसंभवे ॥ ८६ ॥

(३) कुल्लूकः । भर्तुर्देहपरिचर्यामन्नदानादिरूपान्धर्मकार्यं च भिक्षादानातिथिपरिवेषणहोमोयद्रव्योपकल्पनादि
प्रात्यहिकं सर्वेषां द्विजातीनां सजातिभार्यैव कुर्यान्न तु कदाचिद्विजातीयेति ॥ ८६ ॥

(४) राघवानन्दः । यज्ञादिसहकारित्वान्नादिपाकशुश्रूषादावपि सजातीया एवाधिकारइत्याह भर्तुरिति । स्वा-
स्त्रैव विप्रा । नैत्यकमिति विशेषणात्काम्येन्यासामपि प्रवेशः बहुसाध्यत्वात्तस्य ॥ ८६ ॥

(५) नन्दनः । धर्मकार्यं अग्निशरणालेपनादि ॥ ८६ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वेषां वर्णानां स्वाः स्वाः नैत्यकं नित्यं कर्म कुर्युः असजातिः अन्यजातिः न कथंचन ॥ ८६ ॥

यस्तु तत्कारयेन्मोहात्सजात्या स्थितयान्यया ॥ यथा ब्राह्मणचाण्डालः पूर्वदृष्टस्तथैव सप्तः ॥ ८७ ॥

(१) मेधातिथिः । यस्त्वेतत्कर्माऽन्ययाऽसमानजातीययाकारयेत्सजातीयायां स्थितायां ब्राह्मणएव सचण्डालः पूर्वस्माद्दृष्टः ॥ ८७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतत्स्फुटयति यस्त्विति । दृष्टपूर्वः पुराणे श्रुतः ॥ ८७ ॥

(३) कुल्लूकः । यः पुनः स्वजातीयया सन्निहितया देहशुश्रूषादिकं कर्तव्यं विजातीयया मौख्याकारयेत्सयथा ब्राह्मण्यां । शूद्राजातो ब्राह्मणचाण्डालस्तथैव पूर्वैर्ऋषिभिर्दृष्टइति पूर्वानुवादः ॥ ८७ ॥

(४) राघवानन्दः । असवर्णागुणमोहितप्रत्याह यस्त्विति । तत् शुश्रूषादिकं स्थितिरप्रयोजिकास्थितया सुस्थया अन्ययाऽसजात्या । ब्राह्मणचाण्डालः चातुर्वर्ण्यत्वेपि सति कुत्सिताचारत्वाच्चण्डालवदुपेक्ष्यः स इत्यर्थवादः । पूर्वदृष्टः पूर्वैर्मन्वादिभिः तथैव दृष्टः कथितः ॥ ८७ ॥

(५) नन्दनः । तच्छरीरशुश्रूषादिकं स्वजात्यास्थितया स्वजातेरन्यथा ब्राह्मणचाण्डालः कृच्छ्रलब्धायां ब्राह्मणजातौ तिष्ठन्नेव कर्मणा चण्डालः स्याद्यथा तथैव च पूर्वदृष्टः पूर्वैर्विद्वद्भिर्निरूपितः ॥ ८७ ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्तु पुरुषः सजात्या स्थितया स्त्रिया मोहात् अन्यया गृहकार्यं नैतिकंसहकारयेत्सः । ब्राह्मणः यथा चाण्डालः तथैवेति पूर्वदृष्टः प्राक्तनैर्मुनिभिर्दृष्टः ॥ ८७ ॥

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च ॥ अप्राप्तमपि तांतस्मै कन्यांदद्याद्यथाविधि ॥ ८८ ॥

[प्रयच्छेन्नग्निकांकन्यामृतुकालभयान्वितः* ॥ ऋतुमत्यां हि तिष्ठन्त्यामेनोदातारमृच्छति ॥ १॥]+

(१) मेधातिथिः । उत्कृष्टायाभिरूपायेति विशेषणविशेष्यभावः उत्कृष्टायाभिरूपतराय इत्यर्थः अथवोत्कृष्टाय जात्यादिभिरभिरूपायेति पृथग्विशेषणं रूपमाकृतिमाभिमुख्येन प्राप्नोति रूपस्वभाववचनोवा स्वभावः विद्वानप्यभिरूपउच्यते सदृशयजात्यादिभिर्वरोवोढा जामाताऽप्राप्तमप्ययोग्यामपि कामवशत्वेन वालामप्राप्तकौमारवयः स्मृत्यन्तरे नग्निकेत्युच्यते कामस्पृहायस्यानोत्पन्ना सा चाष्टवर्षा षड्वर्षावा नत्वत्यन्तबालैव तथाहि लिङ्गामष्टवर्षामिति इदमेव लिङ्गधर्मयुक्ते तामपि विवाहस्येति अन्यथा रागस्यैव प्रयोजकत्वे कुतोप्राप्तायाविवाहइत्याहुस्तदयुक्तं धनार्थिनोऽपि बालान् विवाहयन्ति नाशाल्मीयैव सर्वा प्रयुक्तिस्तृतीयेनिरूपिता ॥ ८८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उत्कृष्टायोत्तमजातीयाय । अप्राप्तमष्टवर्षन्यूनवयसमपि ॥ ८८ ॥

(३) कुल्लूकः । कुलाचारादिभिरुत्कृष्टाय सुरूपाय समानजातीयाय वरायाप्राप्तकालमपि विवाहयेदष्टवर्षामेवंधर्मो नहीयतइति दक्षस्मरणात् तस्मादपि कालात्प्रागपि कन्यांब्राह्मणविवाहविधिना दद्यात् ॥ ८८ ॥

(४) राघवानन्दः । कन्यायाः स्त्रीत्वेन विप्रदेरभ्यर्हितत्वेन च तत्प्रसंगमवलम्ब्य यादृग्गुणेनेत्युक्तं संस्मारयंस्तत्रैव नियमान्तरमाह उत्कृष्टायेतिद्वाम्याम् । कुलसौन्दर्यविद्याशीलबलादिविशेषणैर्युक्तायेतिभावः । अप्राप्तां कन्यात्वमितिशेषः अष्टवर्षाभवेद्वैरीत्युक्तेः ॥ ८८ ॥

(५) नन्दनः । अथकन्याप्रदानमाह उत्कृष्टायेति । अप्राप्तमपि वयोरूपादिभिरसदृशमपि ॥ ८८ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतादृशाय वराय प्राप्तां अष्टवर्षन्यूनवयस्कान्तांतस्मै कन्यां दद्यात् ॥ ८८ ॥

काममामरणान्तिष्ठेद्गृहे कन्यर्तुमत्यपि ॥ न चैवैनांप्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ ८९ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रागृतोः कन्यायान दानं ऋतुदर्शनेपि न दद्याद्यावद्गुणवान्वरोनप्राप्तः । गुणोविद्याशौर्यातिशयः [शोभनाकृतिर्वयोमहत्त्वोपेतता लोकशास्त्रनिषिद्धपरिवर्जनंकन्यायामनुरागइत्यादिः] ॥ ८९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ऋतुलङ्घनेनापि गुणवतएव देयेत्यर्थः ॥ ८९ ॥

(३) कुल्लूकः । संजातार्तवापि कन्या वरं मरणपर्यंतं पितृगृहे तिष्ठन्पुनरेनांविद्यागुणरहिताय कदाचित्पित्रादिर्दद्यात् ॥ ८९ ॥

(४) राघवानन्दः । ऋतुमती स्पष्टरजाः । उक्तचतुष्टयविशेषणान्यतरहीनाय न देयेत्युक्तदृष्टवरे तात्पर्यात् । अन्यथा अप्रयच्छंत्समामोति भ्रूणहत्यामृतावृतावितियाज्ञवल्क्यवचनविरोधः ॥ ८९ ॥

(६) रामचन्द्रः । एनां गुणहीनाय न प्रयच्छेत् दद्यात् ॥ ८९ ॥

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ॥ ऊर्ध्वन्तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशंपतिम् ॥ ९० ॥

(१) मेधातिथिः । रेतः ऋतुकालंतद्व्यपि त्रीणिवर्षाणितद्गृहे आसीत् । अतः परममुत्कृष्टाभावे सदृशंसमानजातीयं स्वयंवृणुयात् ॥ ९० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उदीक्षेत प्रतीक्षेत न ततःप्राक्स्वयंवरणमस्तीत्यर्थः । उपासीतेति क्वचित्पाठः । विन्देत स्वयन्नेनैव । सदृशमित्यधमव्यवच्छेदार्थम् ॥ ९० ॥

(३) कुल्लूकः । पित्रादिभिर्गुणवद्वारायादीयमाना कन्या संजातार्तवा सती त्रीणि वर्षाणि प्रतीक्षेत । वर्षत्रयाः पुनरुर्ध्वमधिकगुणवरालाभे समानजातिगुणंवरं स्वयंवृणीत ॥ ९० ॥

(४) राघवानन्दः । दातृणामेवाभावे तु स्वयंवरा स्यादित्याह त्रीणीति । उदीक्षेत सद्वरं दातारंवा प्रतीक्षेत । एतस्माद्वर्षत्रयात् । सदृशं सजार्तिं विन्देत वृणुयादित्यन्वयः ॥ ९० ॥

(५) नन्दनः । विन्देत स्वयंवृणीत ॥ ९० ॥

(६) रामचन्द्रः । ऋतुमती सती कुमारी त्रीणि वर्षाणि उदीक्षेत । एतस्मात्कालात् ऊर्ध्वं सदृशं बन्धूनामभावे वर्णयोग्यं पतिं विन्देत प्राप्नुयात् ॥ ९० ॥

अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद्यदि स्वयम् ॥ नैनः किंचिदवामोति न च यंसाऽधिगच्छति ॥ ९१ ॥

(१) मेधातिथिः । वर्षत्रयादूर्ध्वमदीयमाना यंभर्तारंवृणुते तस्य दोषोन कन्यायाः । पूर्वैर्नैव दोषाभावउक्ते त्रियमाणस्य दोषार्थमिदं ऋतुदर्शनं चद्वादशवर्षाणामिति स्मर्यते ॥ ९१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नैनः पापं पित्राननुमतिकृतं यंसाधिगच्छति सोपि नैनोरजस्वलापरिणयनादिकृतं प्राप्नोतीत्यनुषङ्गः ॥ ९१ ॥

(३) कुल्लूकः । पित्रादिभिरदीयमाना कुमारी यथोक्तकाले यदि भर्तारं स्वयंवृणुते तदा सा न किंचित्पापंप्राप्नोति न च तत्पतिः पापंप्राप्नोति ॥ ९१ ॥

(४) राघवानन्दः । कन्येच्छया पाणिग्रहणे कन्यातत्पत्योर्न पापाशङ्केत्याह अदीयमानेति । अदीयमाना पित्रादिभिः । पतिं निकृष्टमुत्कृष्टं । सापि यं गच्छति सोपि पापदण्डं न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ९१ ॥

(५) नन्दनः । यंसाधिगच्छति सच नैनः प्राप्नोति ॥ ९१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अदीयमाना बन्धुहीना यदि स्वयंभर्तारमधिगच्छेत्स्वयंवरंकुर्यात्सा एनःपार्पकिंचित्नआमो-
ति ॥ ९१ ॥

अलङ्कारंनाददीत पित्र्यंकन्या स्वयंवरा ॥ मातृकंभ्रातृदत्तंवा स्तेना स्याद्यदि तंहरेत् ॥ ९२ ॥

(१) मेधातिथिः । भ्रात्रादिभिर्यदादौ दत्तंस्वयंवरणाभिप्रायं तस्या अजानद्भिस्तदलङ्कारणतेषामेव प्रत्यर्पयेत्
यदि तु तथाविधायाएकंददाति तदा न त्यागः तेनास्मैनवयमेनांदास्यामइत्येवमभिप्रायं दूषणं तस्मिन्नन्यथात्वमापन्ने यु-
क्तं स्तेनः स्यादिति पुल्लिङ्गेन पाठान्तरं वरस्य चौरत्वमाहुस्तस्मात्तेन पित्रा नालङ्कारस्त्याजयितव्यः ॥ ९२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पित्र्यं परिणयनात्प्राग्दत्तम् । एवं भ्रातृकं भ्रातृदत्तं ॥ ९२ ॥

(३) कुट्टुकः । स्वयंवृतपतिका कन्या वरस्वीकरणात्पूर्वपितृमातृभ्रातृभिर्दत्तमलङ्कारंतेभ्यः समर्पयेत् । यदानांपर्ये-
त्तदा चौरास्यात् ॥ ९२ ॥

(४) राघवानन्दः । स्वयंवरातु पूर्वं पितृभ्रातृभ्योलब्धमपि धनं त्यक्त्वा पतिं भजेतेत्याह अलंकारमिति । पित्र्यं
मातृकमिति भूतपूर्वगत्या । तमलंकारम् । उक्तवैपरीत्ये दोषमाह स्तेनेति । ग्रहणे स्तेनत्वं यतः स्वयंवरा त्वदेहमात्रमा-
दाय वरं पतिं वृणीतेतस्याः पित्रादिधने नाधिकारः ॥ ९२ ॥

(६) रामचन्द्रः । यदि तं मातृभ्रातृदत्तं हरिंसा स्वयंवरकन्या स्तेना चौराया स्यात् ॥ ९२ ॥

पित्रे न दद्याच्छुल्कन्तु कन्यामृतुमर्तीहरन् ॥ सहि स्वाम्यादतिक्रामेदतूनांप्रतिरोधनात् ॥ ९३ ॥

(१) मेधातिथिः । शुल्कदेयायाऋतुमत्याः शुल्कनिरोधोयं सच स्वाम्यादतिक्रामेत् । बाल्ये पितुर्वशेतिष्ठेदित्युक्तं ।
वयोन्तरप्राप्तौ वेदयितुः पितुः स्वाम्यंनास्ति शुल्कदेयायाअपि हेतोः समानत्वान्पितुःस्वाम्यनिवृत्तिः अषक्रमणंनिवृत्तिः
प्रतिरोधनंप्रतिरोधे ऽपत्योत्पत्तिकार्यं केचिदाहुः अमानवोयंश्लोकः ॥ ९३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ऋतुमर्ती पित्रादीयमानामपि । अत्रहेतुः सचेति । सपिता स्वाम्याच्छुल्कहेतोरतिक्रामे-
दपगच्छेत् । ऋतूनांप्रतिरोधनादिति गर्भनिरोधनकृतंपापमपेक्षितम् ॥ ९३ ॥

(३) कुट्टुकः । ऋतुयुक्तांकन्यांवरः परिणयन्पित्रे शुल्कंन दद्यात् यस्मात्सपिता ऋतुकार्यापत्योत्पत्तिनिरोधात्क-
न्यायाः स्वामित्वाद्धीयते ॥ ९३ ॥

(४) राघवानन्दः । आर्षे गोमिश्रुनं द्विहितमपि ऋतुमत्यां निषेधमपि पित्रेति । सहि पिता स्वाम्यादतिक्रामे-
त्स्वाम्यात्प्रच्युतः । ऋतूनांप्रतिरोधनात् ऋतुजापत्यप्रतिरोधात् । ऋतुपर्यन्तं कन्यायाः कन्यात्वं पितुः स्वत्वंच यतः स्वयं-
वरा त्वदेहमात्रमादाय वरंवरयतीतिपित्राद्यनधीनत्वंबाल्ये पितुर्निर्देशेतिष्ठेदित्युक्तेर्दशवर्षादिकालस्य स्वत्वनिवर्तकत्वेवदतु-
कालस्यापि स्वत्वनिवर्तकत्वात् । [अष्टवर्षाभवेत्कन्यानव वर्षातुरोहिणी । दशवर्षाभवेद्वैरोअत ऊर्ध्वंरजस्वलेत्युक्तेः]*
॥ ९३ ॥

(५) नन्दनः । सः पिता ॥ ९३ ॥

(६) रामचन्द्रः । सः पिता ॥ ९३ ॥

त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां तृयां द्वादशवार्षिकीम् ॥ अष्टवर्षोऽष्टवर्षावा धर्मे सीदति सत्वरः ॥ ९४ ॥

(१) मेधातिथिः । इयता कालेन यवीयसी कन्यावोढव्या न पुनरेतावद्वयसएवविवाहइत्युपदेशार्थः । अथापि न यथाश्रुतवर्षसंख्यैव किंतिहि बहुना कालेनयवीयसी वोढव्या नहेतद्विवाहप्रकरणे श्रुतं येन संस्कार्यविशेषणत्वेन तदङ्गं दशादिवर्षापञ्चविंशत्यादिवर्षं च निवर्तयेत ननु च वाक्यान्तरस्थस्याप्यङ्गविधिर्भवत्येव सत्यमिह प्रकरणोत्कर्षेण पाठादाचार्यस्याभिप्रायान्तरमनुमीयते तथाशिष्टसमाचारः सुतस्य च पुनर्दारक्रियायां नैषकालः संभवतीति पुनर्दारक्रियांकुर्यादिति नोपपद्यते ॥ ९४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । त्रिंशद्वर्षइत्येतद्ब्रह्णान्तिकव्रतचरणपक्षे । धर्मे स्वकर्तव्ये गार्हस्थ्यधर्मे सीदति मन्दीभवतीति त्वराहेतुरुक्तः ॥ ९४ ॥

(३) कुड्मूकः । त्रिंशद्वर्षः पुमान् द्वादशवर्षवयस्कां मनोहारिणीं कन्यामुद्वहेत् । चतुर्विंशतिवर्षोवाऽष्टवर्षागार्हस्थ्यधर्मेवसादंगच्छति त्वरावान् एतच्च योग्यकालप्रदर्शनपरं नतु नियमार्थं प्रायेणैतावता कालेन गृहीतवेदोभवति त्रिभागवयस्का च कन्या बोढुर्यूनोयोग्येति गृहीतवेदश्चोपकुर्वाणकोगृहस्थाश्रमं प्रति न विलंबेति सत्वरइत्यस्यार्थः ॥ ९४ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्राह्मादिविवाहे वयःपरिमाणमनुक्तं विकल्पेनाह त्रिंशदिति । वहेद्द्वहेत् अष्टवर्षः उत्कटरागापेक्षया गार्हस्थ्यधर्मापेक्षयावा । अतएवाह धर्मेसीदतीति । उद्वहेत्सदृशो भार्यामित्यस्य शेषोयम् स्थानभ्रष्टः । जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीतेत्यादिश्रौताधानस्यापत्योत्तरकालीनत्वादधर्मोत्रावसध्याख्याग्निसाध्यः ॥ ९४ ॥

(५) नन्दनः । अष्टवर्षश्चतुर्विंशतिवर्षः धर्मेसीदतिसत्वरः अन्यकन्यांवहेत् ब्रह्मचर्यविप्लवसंभावनायां वयोवस्थानियमोनादरणीयइत्यस्यार्थः ॥ ९४ ॥

(६) रामचन्द्रः । धर्मेसीदतिसति रजोदर्शने समुपागतेसति सत्वरोभवेत् ॥ ९४ ॥

देवदत्तांपतिर्भार्याविन्दते नेच्छयात्मनः ॥ तां सार्धं बिभृथान्नित्यं देवानां प्रियमाचरन् ॥ ९५ ॥

(१) मेधातिथिः । साध्वी भार्या प्रातिकूल्याप्रियवादादिदोषयुक्तापि भर्त्रा न त्याज्येति श्लोकार्थः । अवशिष्टप्रशंसा यान्तुनिरुध्यादेकवेरमनीत्यसाध्व्याऽपि विहितं तत्सकृद्यभिचारे अभ्यासेतु त्यागएव नान्यथा तां सार्धं बिभृथान्नित्यं नेन किंचित्कृतं स्यात् । यदपि ॥ तृताधिकारामलिनांपिण्डमात्रोपजीविनां ॥ परिभूतामधःशम्यां वासयेद्यभिचारिणीं ॥ तच्च सत्यांशकौ पत्युरिच्छासा अनिच्छायां तु त्यागएव यच्चेदर्पितात्त्वपि वस्त्रान्नदानंदेयचेत्यादिवक्ष्यति तद्ब्रह्महत्यादिषु प्रायश्चित्तेषु भैक्ष्यभोजनारम्भेनिवासप्रामौ प्रतिषेधवचनमिति वक्ष्यामः सर्वथा तु पुनर्व्याभिचारिण्याभरणंनास्ति नचात्र त्यागः श्रुतोयेन संभोगविषयतया कल्पेत सोमोदददित्यादि मन्त्रार्थवादेभ्योदेवतानां दातृत्वं प्रतीयते । अथवा विवाहे देवताभार्या भवत्यत उच्यते देवदत्तामिति विन्देत नात्मन इच्छया यथान्यद्गोहिरण्याद्यापणभूमौ लभ्यते नेयं भार्या । अत उच्यते नेच्छयात्मन इति देवेभ्योहितं त्यक्तायां भार्यायां वैश्वदेवादिक्रियानिमित्ते नास्ति देवहितं अतस्तां द्विषाणां द्विषतीमपि बिभृथात् पातित्ये तामधिकारप्रामां पतिर्विन्देत ॥ ९५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । देवदत्तां देवेनाग्निना दत्ताम् । रयिचपुत्रांश्चादादग्निर्मसमथोऽमिति मन्त्रलिङ्गात् ॥ ९५ ॥

(३) कुड्मूकः । भगोर्यमा सविता पुरंधिर्मसंत्वा दुर्गार्हपत्याय देवा इत्यादिमन्त्रलिङ्गाद्यादेवैर्दत्ता भार्या तांपतिर्लभते नतु त्वेच्छया तांसतीं देवानां प्रियंकुर्वन् यासाच्छादनादिना सदा द्वेषाद्युपेतामपि पोषयेत् ॥ ९५ ॥

(४) राघवानन्दः । भगोर्यमादेवः सविता पुरंधिर्मसंत्वा दुर्गार्हपत्याय देवा इति मन्त्रलिङ्गात् भार्यायादेवदत्तात्वं

ख्यापयन्नुपस्थितायां श्रद्धातिशयविधत्ते देवदत्तामिति । विवाहोजन्ममरणंयदा यत्र च येन चेतिस्मारयन्नाह नेच्छयेति । द्वेषादिमत्यपि साध्वीति कृत्वा वस्त्रान्नादिना पोषयेदिति श्लोकार्थः ॥ ९५ ॥

(५) नन्दनः । अतोस्यावृत्तिर्विधातव्येत्याह देवदत्तामिति । देवदत्तां सोमगन्धर्वाग्निभिर्दत्तां प्रियमाचरन्प्रियाचरणहेतोः धर्मसाधारण्याच्च ॥ ९५ ॥

(६) रामचन्द्रः । देवदत्तां सोमादिभोगकाले दत्तां अथवा विवाहे देवदत्ता भार्या भवेति वा सोमोददद्रन्धर्वाय गन्धर्वोदददग्रयइति श्रुतेः ॥ ९५ ॥

प्रजनार्थंस्त्रियः सृष्टाः संतानार्थं च मानवाः ॥ तस्मात्सारधाणोधर्मः श्रुतौ पत्न्यासहोदितः ॥ ९६ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रजनं गर्भग्रहणं सन्तानो गर्भाधानं तस्माद्धेतोरपत्योत्पत्तेरुभयाधीनत्वाद्देहे स्त्रीपुंसयोः साधारणो धर्मः पत्न्यासहपुंसउक्तः अतः केवलस्याधिकाराभावात् । स्त्रियोद्वेष्ट्या अपि न त्याज्याः ॥ ९६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रजनार्थं गर्भप्रसवार्थम् । संतानार्थं बीजनिक्षेपेण संतानसिद्ध्यर्थं मानवाः ॥ ९६ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्माद्गर्भग्रहणार्थंस्त्रियः सृष्टा गर्भाधानार्थं च मनुष्यास्तस्माद्गर्भोत्पादनमेवानयोरभ्याधानादिरपि धर्मः पत्न्यासह साधारणः । क्षौमे वसानावग्नीनादधीयातामित्यादिवेदेऽभिहितस्तस्माद्भार्याविभूयादिति पूर्वोक्तस्य शेषः ॥ ९६ ॥

(४) राघवानन्दः । श्रद्धातिशयस्य प्रजोजनमाह प्रजनार्थमिति । प्रजनार्थं प्रजनं प्रजन्यतेनेनेति प्रजनं कामः तदर्थं तन्निवृत्त्यर्थं मशकार्थो धूमइतिवत् । संतानार्थं गर्भाधानार्थं मानवाः पुमांसश्च सृष्टाः मनुष्याणामेवमन्त्रतो गर्भाधानमिति सूचनार्थम् । क्षौमे वसानावग्नीनादधीयातामित्यादिश्रुत्युदितः पत्न्यासह साधारणो धर्मइत्यन्वयः । मानवाइति हे कृषयइतिवा ॥ ९६ ॥

(५) नन्दनः । भर्तव्येत्याह प्रजनार्थमिति । प्रजनार्थं गर्भधारणार्थं सन्तानार्थं बीजनिक्षेपणार्थं मानवाः पुरुषाः ॥ ९६ ॥

कन्यायां दत्तशुल्कायां भ्रियेत यदि शुल्कदः ॥ देवराय प्रदातव्या यदि कन्याऽनुमन्यते ॥ ९७ ॥

(१) मेधातिथिः । यस्याः पित्रादिभिर्गृहीतं शुल्कं च दत्ता केवलवचनेन देयत्वेन व्यवस्थिता अत्रान्तरे सचेन्नियेत तदाऽन्यद्रव्यवद्देवरेषु प्रजार्थेषु वा युधिष्ठिरादिवत् तदभावे सपिण्डेष्वतो विशेषार्थमिदमुच्यते देवराय प्रदातव्येति न सर्वेभ्यो भर्तृभ्रातृभ्योनापि सपिण्डेभ्यः कितर्हंकस्मै देवरायैव तत्रापि कन्याया अनुमतौ सत्यां अथासत्यां कन्यायाः शुल्कस्य च का प्रतिपत्तिः यदि कन्यायै रोचते ब्रह्मचर्यं तदा शुल्कं कन्यापितृपक्षाणामेव अथपत्यन्तरमर्थयते तदा प्राग्गृहीतं शुल्कं त्यक्त्वा अन्यस्मादादाय दीयते ॥ ९७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पुरुषार्थयद्यनुमन्यते अननुमते तु नान्यस्मै देया किंतु कन्यैव तिष्ठेदिति फलिष्यति ॥ ९७ ॥

(३) कुल्लूकः । कन्यायां दत्तशुल्कायां सत्यामसंजातविवाहायां यदि शुल्कदोषरो भ्रियते तदा देवराय पित्रादिभिर्वाऽसौ कन्या दातव्या यदि सा स्वीकरोति यस्याभ्रियतइति प्रागुक्तं नियोगरूपं इदन्तु शुल्कग्रहणविषयम् ॥ ९७ ॥

(४) राघवानन्दः । यस्याभ्रियेत कन्याया इत्यस्माद्विशेषं वक्तुमाह कन्यायामिति । वाग्दानशुल्कग्रहणाभ्यां वा भेदः । तथाच तस्याः स्वत्वनिवृत्तेरनुमतौ स्वयंवरा स्यान्तु बलाद्दानुं शक्येत्याहयदीति ॥ ९७ ॥

(५) नन्दनः । अनुमत्यभावेऽन्यस्मै देया सकृत्कन्यामदीयतइत्यस्यायमपवादः ॥ ९७ ॥

आददीत न शूद्रोपि शुल्कंदुहितरंददन् ॥ शुल्कंहि गृह्णन्कुरुते छन्नंदुहितृविक्रयम् ॥ ९८ ॥

(१) मेधातिथिः । इच्छातः शुल्कग्रहणे पूर्वेण विधिरुक्तः कस्य चित्ततएवाशङ्कस्याददोषंशुल्कग्रहणं शास्त्रेगृहीतशुल्कायाविशेषउक्तोयतोतदमामाशङ्कामपनेनुमाह आददीत न शूद्रोपि शुल्कमिति इच्छातः प्रवृत्तौ शास्त्रीयोनियमोनतुशास्त्रेण पदार्थस्यैव कर्तव्यतोक्ता यथामद्यपीतस्य प्रायश्चित्ते मद्यपानंशास्त्रेणानुज्ञातंभवति शुल्कसंज्ञेन यदेवोक्तंशुल्कंहि शुल्कलोभेनेति । येन तु विशेषेण पुनः पाठोऽसौप्रदर्शितएव ॥ ९८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र प्रसंगादर्थान्तरमाह आददीतेति । छन्नमपिशुल्कं प्रतिग्रहादिरूपेणापि छन्नना कन्याभिसंधिनाशुल्कंगृह्णन्दुहितृविक्रयंकुरुते ॥ ९८ ॥

(३) कुल्लूकः । शास्त्रानभिज्ञः शूद्रोपि पुत्राददच्छुल्कंन गृहीयार्त्तिकपुनः शास्त्रविद्विजातिः यस्माच्छुल्कंगृह्णन्गुमंदुहितृविक्रयंकुरुते न कन्यायाः पितेत्यनेन निषिद्धमपि शुल्कग्रहणंकन्यायामपि गृहीतशुल्कायां शास्त्रीयनियमदर्शनाच्छुल्कग्रहणे शास्त्रीयत्वशङ्कायांपुनस्तन्निषिध्यते ॥ ९८ ॥

(४) राघवानन्दः । शुल्कदइत्यनेन कन्याशुल्कं परमते प्रतिषेधति आददीतेति । सर्वांशी सर्वविक्रयीति सर्वविक्रयिणःशूद्रग्रहणमत्यन्तपातकसूचनार्थं तंदेशं पतितं मन्ये यत्रास्ते शुक्रविक्रयीतिस्मरणान् । छन्नं गुप्तं पापमावश्यकमितिभावः ॥ ९८ ॥

एतत्तु न परे चक्रुर्नापरे जातु साधवः ॥ यदन्यस्य प्रतिज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते ॥ ९९ ॥

(१) मेधातिथिः । तदुक्तंगृहीते शुल्केन कन्येच्छायां सत्यां मृतेतु शुल्कदेऽस्याअन्यत्रदानमिति तन्निषेधति । यदन्यस्य शुल्कदस्यानुज्ञया पुनरन्यस्मै दीयते पुनःशुल्कंगृहीत्वेति वरंस्वयंवरंतु कारयेत्कन्या एषएवार्थः ॥ ९९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अतोदेवरंप्रत्यननुमतायां कन्यायां नान्यस्मै सा देया । सोदरस्तु आतात्मैवेति गृहीतस्य शुल्कस्य तद्धनत्वात्तस्मै दीयमानायां कन्यायां दोषाभावइति तात्पर्यम् । अभ्यनुज्ञाय शुल्कग्रहणेनान्यस्मै प्रतिपद्य ॥ ९९ ॥

(३) कुल्लूकः । एतत्पुनः पूर्वं शिष्टान कदाचित्कृतवन्तोनाप्यपरे वर्तमानकालाः कुर्वन्ति यदन्यस्य कन्यामङ्गीकृत्य पुनरन्यस्मै दीयतइति एतच्च गृहीतशुल्ककन्यामदत्त्वा कस्य चित्कन्यायामिति तु गृहीतशुल्कविषयम् ॥ ९९ ॥

(४) राघवानन्दः । वाक्शुल्काभ्यांअस्मै प्रदाय देवरादन्यस्मै प्रदानं साधुकृत्याप्रसिद्धमित्याह एतदिति । अनपरे पूर्वे । देवरादतिरिक्तविषयमेतत् ॥ ९९ ॥

(५) नन्दनः । परे पुरातनाः अपरे नूतनाः अभ्यनुज्ञायप्रतिश्रुत्य ॥ ९९ ॥

(६) रामचन्द्रः । यत्तुया कन्या अन्यस्य अभ्यनुज्ञाय दास्यामीति उक्त्वा पुनः अन्यस्मै दीयते ॥ ९९ ॥

नानुशुश्रुमजात्वेतत्पूर्वेष्वपि हि जन्मसु ॥ शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छन्नंदुहितृविक्रयम् ॥ १०० ॥

(१) मेधातिथिः । न कुतश्चिदस्माभिः श्रुतं पूर्वेषु जन्मसु कल्पान्तरेष्वित्यर्थः ॥ १०० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । छन्नशुल्कग्रहेण दुहितृविक्रये प्रागुक्ते सदाचारविरोधं दर्शयति नानुशुश्रुमेति । पूर्वेषु जन्मसु लोकजन्मकालेषु कल्पेषु छन्नमपि नानुशुश्रुम किंपुनः स्पष्टम् ॥ १०० ॥

(९८) ददन्=ददत् (अ)

‡ अनपरे पूर्वे=अपरे वर्तमानकालीनाःपरेपूर्वे (न)

(३) कुल्लूकः । पूर्वकल्पेष्वप्येतद्वृत्तमिति कदाचिद्वयं श्रुतवन्तोयच्छुल्काभिधानेन मूल्येन कश्चित्साधुर्गुण्ड-
हितृविक्रयमकार्षादिति शुल्कनिषेधार्थवादः ॥ १०० ॥

(४) राघवानन्दः । न केवलं कृत्यविषयमपितु श्रवणपथं नावतीर्णमित्याह नेति । पूर्वेषुजन्मसु कल्पेषु मनोज्ञा-
तिस्मरत्वेऽविप्रतिपत्तेः कामबाणप्रपीडितायास्तादृश्याददीयमानायाभर्तारमधिगच्छेदिति गतिरुक्ता ॥ १०० ॥

(५) नन्दनः । जन्मसु सृष्टिकालान्तरेष्वितियावत् ॥ १०० ॥

अन्योन्यस्याव्यभिचारोभवेदामरणान्तिकः ॥ एषधर्मःसमासेनज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥ १०१ ॥

(१) मेधातिथिः । अविशेषेण वचनवित्या सर्वक्रियास्त्वव्यभिचारः । तथाचापस्तम्बः ॥ धर्मैचार्यं च कामे च नाभि-
चरितव्येति एतावच्च श्रेयोधर्मोर्थः कामः । तथाचोक्तं त्रिवर्गइति तुस्थितिरिति यच्चाहुरपरित्यागोऽत्राव्याभिचारइतरथा
स्त्रीवत्पुरुषस्यानेकाभार्यापरिणयनस्यात्तदयुक्तं । अस्तिपुरुषे वचनं कामतस्तुप्रवृत्तानां तथाबन्धाष्टमेऽधिवेत्तव्याइति नतु
स्त्रियाः तथाच लिङ्गान्तरस्यादेकस्य बह्वोजायाभवन्ति नैकस्याबहवः सहपतयइति । आमरणान्ते भव आमरणान्ति-
कः अन्यतरमरणेऽपि तस्यान्तोस्तीत्यर्थः । एषसंक्षेपेण स्त्रीपुंसयोः प्रकृष्टोर्धर्मोवेदितव्यः ॥ १०१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आमरणान्तिकोयावदुभयोर्मरणम् । परउत्तमः ॥ १०१ ॥

(३) कुल्लूकः । भार्यापत्योर्मरणान्तंयावद्धर्मार्थकामेषु परस्पराव्यभिचारः स्यादित्येव संक्षेपतः स्त्रीपुंसयोः प्रकृष्टो-
र्धर्मोज्ञातव्यस्तथा च सति ॥ १०१ ॥

(४) राघवानन्दः । स्त्रीपुंसयोरामरणं नक्वापि वियोगोयुक्तइति द्रढयन्नाह अन्योन्यस्येतिद्वाभ्याम् । एषोवक्ष्य-
माणः । परः उत्कृष्टो यतोव्यभिचारे ॥ संकरोनरकायैवेत्युक्तम् ॥ १०१ ॥

तथा नित्यंयतेयातांस्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ ॥ यथा नाभिचरेतान्तौ वियुक्तावितरेतरम् ॥ १०२ ॥

(१) मेधातिथिः । यतेयातां प्रयत्नवन्तोतथास्यातां यथेतेतरं परस्परं नातिचरेतां अतिचारोऽतिक्रमः धर्मार्थका-
मेष्वसहभावः कृतक्रियौ कृतविवाहादिसंस्कारौनियुक्तौ ततः परोपसंहारः श्लोकोयंनानुक्तार्थोपदेशकः ॥ १०२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कृतक्रियौ कृतनियमौ नातिचरेयातामिति । पुरुषोपि यथा परस्त्रियं न गच्छेदित्यर्थः
॥ १०२ ॥

(३) कुल्लूकः । स्त्रीपुंसौ कृतविवाहौ तथा सदा यत्नंकुर्यातां यथा धर्मार्थकामविषये वियुक्तौ परस्परं व्यभिचरे-
ताम् ॥ १०२ ॥

(४) राघवानन्दः । तदेवाह तथेति । यतक्रियौ यतचित्तौ ॥ १०२ ॥

(५) नन्दनः । कृतक्रियौ यतेयातांक्रियाभिर्यतेयातामित्यर्थः ॥ १०२ ॥

(६) रामचन्द्रः । नियुक्तौ धर्मार्थकामनियुक्तौ ॥ १०२ ॥

एषस्त्रीपुंसयोरुक्तोर्धर्मोवोरतिसंहितः ॥ आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागनिबोधत ॥ १०३ ॥

(१०२) वियुक्तौ=नियुक्तौ (राम०) (१०२) कृतक्रियौ=यतक्रियौ (राघ०)

(१०३) दायभागम्=दायधर्मम् (ज, झ, ञ, ट, ड, ढ, त)

(१) मेधातिथिः । पूर्वोक्तप्रकरणयोः संबन्धश्लोकोऽयं उक्तेषु स्त्रीपुंसयोश्चापत्योत्पत्तौ च दायधर्मस्य विभाग-
स्यावसरः ॥ १०३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अथ विभागवत्कुमारभते एषइति । रतिसंहितोरतिसंबन्धी रतेरपि न विरोधी । दायधर्मा-
न् दायमधिकृत्य विभागादिधर्मान् ॥ १०३ ॥

(३) कुल्लूकः । एषभार्यापत्योरन्योन्यानुरागयुक्तो धर्मोऽयुष्माकमुक्तः संतानाभावे चापत्यप्रामिश्रुता इदानीं दीयत-
इति दायः पित्रादिधनंतस्य विभागव्यवस्थां शृणुत ॥ १०३ ॥

(४) राघवानन्दः । उपसंहरति एषइति । रतिसंहितः परस्परानुरागयुक्तः । आपद्यपत्यप्रामिश्रत्वसुताभावे देवरा-
देरप्यपत्यावामिश्र । दायभागं दीयतइति दायः पित्रादिधनं तस्य भागो व्यवस्था ॥ १०३ ॥

(५) नन्दनः । आपद्यपत्यप्रामिर्देवरादिनियोगः । दायधर्मरिक्थपरिग्रहम् ॥ १०३ ॥

(६) रामचन्द्रः । ऐषतिसार्धेनाह । आपदि अपत्यप्रामिर्न पुनः दायधर्मन्निबोधत ॥ १०३ ॥

ऊर्ध्वपितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम् ॥ भजेरन्यैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥ १०४ ॥

(१) मेधातिथिः । भजेरनिति ग्रामकालतायां लिङ् तथा पञ्चमे प्रपञ्चितं अथवा यस्मिन् शयने संक्रामति ॥ १०४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पिता माता च पितरौ तयोः रिक्थं पैतृकम् । ऊर्ध्वं मरणात् । पितुर्मरणादूर्ध्वं पितुर्धनं
विभजनीयं मातुरुर्ध्वं मातृकमिति विभज्य ध्येयं स्मृत्यन्तरदर्शनात् । तत्र च मातृधनं दुहितृभाव एव पुत्रैर्याप्तम् । समे-
त्यैकत्रस्थित्वा । समं नतु मातृपितृधनयोर्विभागे अन्योन्यं विशेषः । अनीशाः विभागेऽस्वतन्त्राः तेन पित्रोरनुमत्या
जीवतोरपि तयोर्विभागइति लभ्यते ॥ १०४ ॥

(३) कुल्लूकः । भ्रातरोर्मिलित्वा पितृमरणादूर्ध्वपैतृकं मातृमरणादूर्ध्वमातृकं धनं समं कृत्वा विभजेरन् ज्येष्ठगोचर-
तथोद्धारस्य वक्ष्यमाणत्वात् । समभागोऽयं ज्येष्ठभ्रातयुद्धारमनिच्छति बोद्धव्यः । पित्रोर्मरणादूर्ध्वविभागहेतुमाह यस्मान्ने
पुत्रा जीवतोः पित्रोस्तदीयधने स्वामिनो भवन्ति मातुरपि प्रकृतत्वात् पैतृकमित्यनेन मातृकस्यापि ग्रहणं । अयं च पितृमर-
णानन्तरं विभागोजीवतः पितुरिच्छाभावे द्रष्टव्यः पितुरिच्छया जीवत्यपि तस्मिन् विभागः । तदाह याज्ञवल्क्यः ॥ विभाग-
चेत्पिता कुर्यादिच्छया विभजेत्सुतानिति ॥ १०४ ॥

(४) राघवानन्दः । तमेवाह ऊर्ध्वमिति । त्रिपञ्चाशता । ऊर्ध्वं मातापित्रोर्मरणात् । विभागे हेतुः अनीशाः । अस्वा-
मिनः जीवतोर्मातापित्रोः । तयोर्मरणं स्वत्वस्योत्पादकं व्यञ्जकं चोभयथापि ऊर्ध्वपदमुपलक्षणं पातित्यप्रव्रज्यादेः । स्व-
त्वध्वंसकत्वसाम्यात् । समं समभागं कुर्यादित्यपि पितुरिच्छापक्षे ॥ विभागचेत्पिता कुर्यादिच्छया विभजेत्सुतान् ॥ ज्येष्ठ-
वाश्रेष्ठभागेन सर्वे वा स्युः समांशिनः ॥ इति याज्ञवल्क्योक्तेस्तदिच्छैव कारणं न ज्यैष्ठ्यादिकम् ॥ १०४ ॥

(५) नन्दनः । समेत्य एकशोभूत्वा पैतृकं पितृसंबन्धि पितुरुर्ध्वं पैतृकं रिक्थं भजेरन्विभजेरन् मातुरुर्ध्वं मातृकं
जीवतोः पित्रोः ॥ १०४ ॥

(६) रामचन्द्रः । जीवतोर्मातापित्रोः ते पुत्राः अनीशाः ॥ १०४ ॥

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः ॥ शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरंतथा ॥ १०५ ॥

(१) सर्वज्ञनारायणः । ज्येष्ठ एवत्विति एतज्ज्येष्ठस्य गुणवत्त्वे अन्येषां च हीनवत्त्वे ॥ १०५ ॥

(३) कुल्लूकः । यदापुनर्ज्येष्ठो धार्मिको भवति तदा ज्येष्ठेति । ज्येष्ठ एव पितृसंबन्धिधनं गृहीयात्कनिष्ठाः पुनर्ज्येष्ठं भक्ता-
च्छादनाद्यर्थं पितरमिवोपजीवेयुः एवं सर्वेषां सहैवावस्थानम् ॥ १०५ ॥

(४) राघवानन्दः । धार्मिकज्येष्ठसत्त्वेत्वाह ज्येष्ठ इति षड्विः । शेषाः कनीयांसः । अन्नाच्छादनाद्यर्थं पुत्रायथा पित-
रमुपजीवेयुस्तथेत्यन्वयः ॥ १०५ ॥

(५) नन्दनः । पक्षान्तरमाह ज्येष्ठ एवेति ॥ १०५ ॥

ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः ॥ पितृणामनृणश्चैव सतस्मात्सर्वमर्हति ॥ १०६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पितृणामनृणस्तेनैव तदृणापगमात् । अयं पूर्वस्यार्थवादः ॥ १०६ ॥

(३) कुल्लूकः । उत्पन्नमात्रेण ज्येष्ठेन संस्काररहितेनापि मनुष्यः पुत्रवान्भवति । ततश्च नापुत्रस्य लोकोस्तीति-
श्रुतेः । पुण्यलोकाभावपरिहारो भवति । तथा प्रजयापितृभ्य इति श्रुतेः । पुत्रेण जातमात्रेण पितृणामनृणश्च स इति अतो-
ज्येष्ठ एव सर्वधनमर्हति पूर्वस्य अनुजास्तेन साम्रा वर्तेरन् ॥ १०६ ॥

(४) राघवानन्दः । ज्येष्ठस्य सर्वधनभुक्तौ हेतुमाह ज्येष्ठेनेति । अनृणः निस्तीर्णः ॥ जायमानौ वै ब्राह्मणस्त्रिभि-
र्ऋणवाजायत इति श्रुतेः पितुर्ऋणवतः श्रवणात् ॥ १०६ ॥

(५) नन्दनः । कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठस्य विशेषमाह ज्येष्ठेनेति ॥ १०६ ॥

(६) रामचन्द्रः । ज्येष्ठेनेति । सः पिता तस्मात्पुत्रात् अनृणः भवति च पुनः सर्वं अर्हति ॥ १०६ ॥

यस्मिन् नृणं संनयति येन चानन्त्यमश्रुते ॥ स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान्विदुः ॥ १०७ ॥

(१) मेधातिथिः । इतरानित्यर्थवादोऽयं यथाश्रुतितात्पर्यं श्रुतिग्रहणादिकनीयसामभागार्हतैव स्यात् । ततश्च
वक्ष्यमाणविरोधः ॥ १०७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आनन्त्यममृतत्वं उत्पादितपुत्रस्यैव मोक्षाश्रमाधिकारात् । धर्मजो धर्मार्थमुत्पादितः ।
कामजान् एकेनैव धर्मस्य सिद्धेः ॥ १०७ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मिन्नाते ऋणं शोधयति येन जातेनामृतत्वं प्राप्नोति । तथाच श्रुतिः ऋणमस्मिन्समुत्पन्नयत्यमृत-
त्वं च गच्छति पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखमिति स एव पितुर्धर्मेण हेतुना जातः पुत्रो भवति तेनैकेनैव ऋणा-
पनयनाद्युपकारस्य कृतत्वात् इतरांस्तु कामजान्मुनयोजानन्ति । ततश्च सर्वधनं गृहीयादित्यस्यैवायमपि विशेषः ॥ १०७ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैवार्थवादमाह यस्मिन्निति । यस्मिन् । प्रथमजे संनयति स्वर्णं समर्पयति ध्ययति । तथाच श्रु-
तिः ॥ ऋणमस्मिन्संनयत्यमृतत्वं च गच्छति पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखमिति ॥ धर्मजो धर्मार्थं जात इति ॥ १०७ ॥

(५) नन्दनः । क्वचित्कुले ज्येष्ठो गुणहीनः कनिष्ठो गुणवान्श्च दृश्यते तत्र किं प्रवर्तितव्यमित्यपेक्षायामाह यस्मिन्-
णमिति । ऋणं पितृभ्यः प्रदेयं पिण्डादिकं संनयति निक्षिपति येन यशस्विना संतानकरेणानन्त्यं मरणराहित्यमश्रुते स एव
पुत्रो धर्मजः धर्मार्थं जातः ज्येष्ठ इत्यर्थः । इतरान्निर्गुणान् ॥ १०७ ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्मिन्पुत्रे ऋणं त्रिविधं देवर्षिपितृभ्यः संनयति समार्पितव्यं । धर्मतः धर्मार्थं जातः ॥ १०७ ॥

पितेव पालयेत्पुत्रान्ज्येष्ठो भ्रातृन्धनीयसः ॥ पुत्रवच्चापि वर्तेरन्ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥ १०८ ॥

(१) मेधातिथिः । पुत्रवत्पालनीयान्तु बाला इति धनादिना गर्हणीयास्तदाह पुत्रवच्चापि वर्तेरन्निति ॥ १०८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पालयेदन्वस्त्रादिदानेन । धर्मतो धर्मापेक्षया ॥ १०८ ॥

(३) कुल्लूकः । ज्येष्ठो भ्राता विभागाभावेऽनुजान्भ्रातृभक्ताच्छादनादिभिः पितेव विभूयात् । अनुजाश्च भ्रातरः पुत्रा इव ज्येष्ठे भ्रातरि धर्माय वर्तेरन् ॥ १०८ ॥

(४) राघवानन्दः । ज्येष्ठस्येतरेषु वृत्तिं सदृष्टान्तां शिक्षयति पितेति । पालयेत् धर्मतो ज्येष्ठो ज्येष्ठधर्मेण । कनिष्ठधर्मेण च ते ज्येष्ठे वर्तेरन् यवीयांस इति शेषः ॥ १०८ ॥

(५) नन्दनः । वर्तेरन् यवीयांसः ॥ १०८ ॥

(६) रामचन्द्रः । यवीयसः कनिष्ठान् । ज्येष्ठे भ्रातरि कनिष्ठाः पुत्रवच्चापि वर्तेरन् ॥ १०८ ॥

ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः ॥ ज्येष्ठः पूज्यतमो लोके ज्येष्ठः सद्भिरगर्हितः ॥ १०९ ॥

(१) मेधातिथिः । अपरा मशंसा य एव गुणज्येष्ठः स वर्धयति कुलं अयमेव निर्गुणस्तत्कुलं विनाशयति शीलवति ज्येष्ठे कनीयांसोऽपि तथा वर्तन्ते तेऽपि गुणहीनाविवदन्ति ॥ १०९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ज्येष्ठ इति तस्मिन् सम्यग्ब्रूतावितरेषामन्यथा त्वेऽपि कुलं वर्धयति एवेत्यर्थः । पूज्यतमः कनिष्ठैः । सद्भिः शिष्टैः कनिष्ठैरगर्हितो न गर्हणीयः ॥ १०९ ॥

(३) कुल्लूकः । अकृतविभागो ज्येष्ठो यदि धार्मिको भवति तदानुजानामपि तदनुयायित्वेन धार्मिकत्वाज्ज्येष्ठः कुलं वर्द्धिनयति यद्यधार्मिको भवति तदाऽनुजानामपि तदनुयायित्वा ज्येष्ठः कुलं नाशयति । तथा गुणवाङ्मयेऽलोके पूज्यतमः साधुभिश्चागर्हितो भवति ॥ १०९ ॥

(४) राघवानन्दः । अत्राप्यर्थवादमाह ज्येष्ठ इति । ज्येष्ठो हि धार्मिकतयाऽन्यानपि धर्मशिक्षया कुलं वर्धयति । एवमधार्मिकोऽपि नाशयत्यधर्मोपसेवनेन ॥ यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन इति स्मृतेः ॥ १०९ ॥

(५) नन्दनः । ज्येष्ठ उक्तलक्षणः कुलं वर्द्धयतीति तरो नाशयति तस्मात्लोके पूज्यतमः सद्भिरगर्हितश्च तथाविधो ज्येष्ठो नान्यः ॥ १०९ ॥

योज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान्मातेव सपितेव सः ॥ अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात्संपूज्यस्तु बन्धुवत् ॥ ११० ॥

(१) मेधातिथिः । ज्येष्ठस्य वृत्तिः पुत्रे च स्नेहः कनीयांसोऽपि तथैव वर्तन्तेति पालनं शरीरधनेषु तदीयेषु स्ववदनुपेक्षाऽकार्येभ्यो निवर्तनं यस्त्वन्यथा वर्तते तत्र बन्धुवत्प्रत्युत्थानाभिवाद नैर्मातुलपितृव्यवत्संपूजा कर्तव्यान्यकरणविधेयतानुवृत्तिः ॥ ११० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तद्दर्शयति य इति । ज्येष्ठवृत्तिः ज्येष्ठोचितपोषणादिकारी ॥ ११० ॥

(३) कुल्लूकः । योज्येष्ठोऽनुजेषु भ्रातृषु पितृवद्भर्तेत सपितेव मातेवागर्हणीयो भवति यः पुनस्तथा न वर्तेत समातुलादिबन्धुवददर्शनीयः ॥ ११० ॥

(४) राघवानन्दः । ज्येष्ठस्यैव पालकत्वतदभावाभ्यां पूजायां दृष्टान्तद्वयमाह य इति । ज्येष्ठवृत्तिर्ज्येष्ठस्यैव वृत्तिः पालनादिर्यस्य सज्येष्ठवृत्तिः समातृपितृवत्पूज्य इत्यनुषज्यते । तद्विन्नोयः सः बन्धुवत् मातुलादिवत् ॥ ११० ॥

(५) नन्दनः । ज्येष्ठवृत्तिः पितृवत्पालनम् ॥ ११० ॥

एवंसह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया ॥ पृथग्विवर्धतेधर्मस्तस्माद्धर्म्यापृथक्क्रिया ॥ १११ ॥

(१) मेधातिथिः । त्वेच्छानियोज्यत्वाभावान्निरपेक्ष्यस्य द्रव्यसाध्येषु ज्योतिष्टोमादिष्वसंभवात्तत्सिद्धयर्थोयंन्या-
यप्राप्तोविभागउच्यते पृथग्वा धर्मकाम्ययेति न पुनरविभागादधर्मोविभागएवाग्निहोत्रादिवद्धर्मः ननु च धर्मानुष्ठानप्रतिब-
न्धहेतुत्वादधर्मतैवाविभागस्य नैषदोषः अधिकृतस्याननुष्ठानेप्रत्यवायः नचाविभक्तधनस्याधिकारोऽग्निमत्वाभावाद्दिभा-
गकालएवाग्निपरिग्रहस्य विहितत्वात् यस्तुजीवत्येव पितरि कृतविवाहस्तदैव च परिगृह्यताग्निस्तस्याधिकृतत्वान्नैवावि-
भागः सोपि यदि विच्युतः परिग्रहादन्यतोवा विहितानुष्ठानपर्याप्तधनस्तदा नैव सहवसन्प्रत्यवेयात् नहि विभागाविभाग-
योर्धर्मार्धतत्त्वरूपेणास्तीत्युक्तं ननु च भ्रातृणामविभक्तधनानामेकोधर्मः प्रवर्ततइति वचनादपत्योरिव सहानुष्ठाने प्राग्वि-
भागादस्त्येव धर्म व्यक्तः साधारण्याद्व्यस्य सर्वैः संभूय कर्तव्यमिति नैतदग्निहोत्राद्याहवनीयादिषुस्रग्निहोत्रादयः सं-
स्कारनिमित्ताश्चाहवनीयादयआत्मनेपददर्शनादन्यतरस्य संबन्धितांप्रतिपद्यन्ते परकीयेवाग्नौजुह्वतः प्रतिषेधदर्शनमस्ति
नान्यस्याग्निषु यजतेति न स्मार्तेष्वपि गृहेऽग्नौ विधानं गृहशब्दस्य विशिष्टोपादानादश्विचनत्वादेशएवन्त्यायः अतिथ्या-
दिभोजनदाने महायज्ञमभ्यपाठात् ॥ वैवाहिकेग्नौकुर्वतिगृहसंकर्मयथाविधि ॥ पञ्चयज्ञविधानंचेति गृह्यतएवाधिकारस्तेनैतद्व-
चनमेकोधर्मइतिश्रद्धपूर्तान्नादिमात्रंविज्ञेयम् ॥ १११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पृथग्वेति यदि धर्मोचिताभवन्ति । पृथग्विवर्धतइति भूयान्भवतीत्यर्थः । धर्म्या धर्म-
वती ॥ १११ ॥

(३) कुल्लूकः । एवमविभक्ताभ्रातरः सहसंवसेयुः यदि वा धर्मकामनया कृतविभागाः पृथग्वसेयुः यस्मात्पृथ-
गवस्थाने सति पृथक्पृथक्पञ्चमहायज्ञानुष्ठानधर्मस्तेषांवर्धते तस्माद्विभागक्रिया धर्मार्था । तथा च बृहस्पतिः ॥ एकपा-
केन वसतांपितृदेवद्विजार्चनम् । एकंभवेद्विभक्तानांतदेवस्याद्रूहे गृहे ॥ १११ ॥

(४) राघवानन्दः । एवं पितरुर्ध्वं सहवसतिमुक्त्वा सर्वेषां धार्मिकत्वे विभागमाह एवमिति पृथक्क्रिया विभाग-
क्रियाधर्म्या धर्मार्था न स्वातन्त्र्यार्था । अतआह धर्मकाम्यया [इति ॥ एकपाकेनवसतांपितृदेवद्विजार्चनम् । एकंभवेद्वि-
भक्तानांतदेवस्याद्रूहेगृहेइतिबृहस्पतिः]⁺ ॥ १११ ॥

(५) नन्दनः । वसेयुर्भ्रातरः ॥ १११ ॥

ज्येष्ठस्य विशउद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम् ॥ ततोऽर्धमध्यमस्य स्यात्तुरीयन्तुयवीयसः ॥ ११२ ॥

(१) मेधातिथिः । इयमुद्धारनियोगस्मृतिरतिक्रान्तकालविषया मत्वद्यत्वेनुष्ठेयं नियतकालत्वात्स्मृतोनामिति
केचित् । अनुष्ठेयत्वव्यपदेशोदीर्घसत्रवज्ज्ञानादभ्युदयोयथास्यादिति नहि दीर्घसत्रमद्यत्वे केचिदाहरमाणादृश्यन्ते अधी-
यते तु तदुपदेशं ब्राह्मणाः तथाचान्ये कलियुगे धर्मादित्युक्तंतेन देशनियमवत्कालनियमोपि धर्माणां द्रष्टव्यः नह्युदितोष-
र्मः सर्वत्रदेशेऽनुष्ठीयते तथाहि देशधर्मानियतदेशव्यवस्थिताउच्यन्ते अन्यथा सर्वानुष्ठाने नदेशव्यपदेश्यता धर्माणां तथाच
पठति अयं द्विजैर्हिर्विद्वद्विरित्यादि तस्मादुद्धारनियोगगोवधस्मृतयउपदिष्टानानुष्ठेयास्तदेतदपेशलं नह्येवंविधः कालनियमः
कचिदपि श्रूयते सायंप्रातपवादिनियमादन्यत्र यच्चान्ये कृतयुगे धर्मादिति तत्प्रथमएवध्याख्यातं । नह्युगभेदेन धर्मव्यव-
स्थाहेतुदेशनियमोपि प्राचीनप्रवणादिव्यतिरेकेण मध्यदेशः सर्वदेशकृतोनैवास्तीत्युक्तं । निजान् जनपदधर्मान्सद्विराचरि-

तानित्यत्र दीर्घसत्रैष्वद्यत्वेऽप्यनुष्ठानसंभवः संवत्सरशब्दस्त्वहःसु प्रथमएवदर्शितः । यत्तुनाद्यत्वे केचिदनुतिष्ठन्तोद्दश्यन्तइति उपदिष्टार्थस्य नित्यवदाम्नातस्यापि बहुभिः प्रकारैरनुष्ठानसाधनाशक्त्याफलानिच्छया वा नास्तिकतया वा यत्तुवेने राज्यं प्रशासति तदा प्रभृतिकं महापौर्वकालिकमनुष्ठानदर्शयतीत्यर्थवादोसौ न कालोपदेशः । ज्येष्ठस्य विंशः ज्येष्ठस्य मध्यद्रव्याद्वा विंशतितमोभागउद्धृत्य दातव्यएव मध्यमस्य तदर्धचत्वारिंशत्तमोभागः एवंकनिष्ठस्य तुरीयोऽज्येष्ठपेक्षयाऽशीतितमोभागः । एवमुद्धृते परिशिष्टं त्रिधाकर्तव्यंतत्र सर्वेभ्योद्रव्येभ्योयद्वरं श्रेष्ठं तज्ज्येष्ठस्यैव अथवा द्रव्येष्वपि परंवरमिति पाठः । उत्तमाधममध्यमानि यानि द्रव्यादीनि सन्ति [ततस्त] स्माद्यदेकं श्रेष्ठं तत्तस्यैव तदुक्तं भवति । यत्र गावोऽश्वावासन्ति एकः श्रेष्ठो ज्येष्ठस्य दातव्यो नद्रव्यान्तरेण मूल्येन वा स्वीकर्तव्यः त्रयाणां सर्वेषां गुणिनामयमुद्धारविधिगुणवतामुद्धारदर्शनात् ॥ ११२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ज्येष्ठस्येति मध्यकाद्धनाद्विंशतितमं भागं कृत्वोद्धृत्योद्धारवाशिष्टमध्योत्तमं किंचिदेव द्रव्यसहितं ज्येष्ठयाद्यमुद्धारमन्यौतु द्वौ तदनन्तरजाभ्यां क्रमाद्वत्वा शेषं समं कृत्वा विभाज्यमित्यर्थः । एतत्समगुणत्वे सर्वेषां भ्रातृणां च त्रित्वे ॥ ११२ ॥

(३) कुल्लूकः । उद्धृत्य तदुद्धारः ज्येष्ठस्याविभक्तसाधारणधनादुद्धृत्य विंशतितमोभागः सर्वद्रव्येभ्यश्च यच्छ्रेष्ठं दातव्यम् । मध्यमस्य चत्वारिंशत्तमोभागो देयः । कनिष्ठस्य पुनरशीतितमोभागो दातव्यः अवशिष्टं धनं समं कृत्वा विभजनीयम् ॥ ११२ ॥

(४) राघवानन्दः । सति ज्येष्ठे विभागप्रकारमावेदयति ज्येष्ठस्येति । विंशउद्धारः उद्धृत्यादौ दीयते ज्येष्ठप्रत्युद्धारः अविभक्तधेनभ्योर्विशोभागएवमुत्तरत्र सर्वद्रव्येभ्यः श्रेष्ठं द्रव्यंचोद्धृत्य मध्यमं प्रति चत्वारिंशद्भागंचोद्धृत्य कनिष्ठप्रत्यशीतिभागमुद्धृत्य शेषं समं विभजेयुः । विभज्यमाने द्रव्ये योग्ये ज्येष्ठः श्रेष्ठं गृह्णीयादिति भावः ॥ ११२ ॥

(५) नन्दनः । विभागपक्षे कर्तव्यमाह ज्येष्ठस्य विंशइति । सर्वद्रव्याद्विशो विंशतिभाग उद्धारो ज्येष्ठस्य स्यात् सर्वद्रव्याच्च यद्वरं तस्योद्धारः स्यात् । मध्यमस्य ततोर्धः परिशिष्टेभ्योऽकोनविंशतिभागेभ्यो ज्येष्ठोद्धारपरिमाणादर्धपरिमाण उद्धारः स्यात् । यवीयसस्ततस्तुरीयं परिशिष्टेभ्योऽर्धाष्टादशभागेभ्यो ज्येष्ठोद्धारपरिमाणस्तुरीयपरिमाण उद्धारः स्यात् ॥ ११२ ॥

(६) रामचन्द्रः । ज्येष्ठस्य वंशउद्धारः । च पुनः सर्वद्रव्याच्च यत्परं श्रेष्ठं तज्ज्येष्ठेनैव ग्राह्यम् । यवीयसः कनिष्ठस्य तुरीयं चतुर्थांशम् ॥ ११२ ॥

ज्येष्ठश्चैव कनिष्ठश्च संहरेतां यथोदितम् ॥ येऽन्ये ज्येष्ठकनिष्ठाभ्यां तेषां स्यान्मध्यमं धनम् ॥ ११३ ॥

(१) मेधातिथिः । त्रिभ्योधिकपुत्रस्य ज्येष्ठकनिष्ठयोर्गुणवतोऽथोक्तमुद्धृत्य बहूनामपि मध्यममध्यमानां गुणवतो मध्यमस्य यश्चत्वारिंशत्तमोभागउक्तोऽन्तरश्लोकैर्बहुभिरपि मध्यमैः संविभजनीयः समगुणानां तु मध्यमानां सर्वेषामेकैकस्य पूर्ववचनाच्चत्वारिंशत्तमोभागउक्तउद्धार्यस्तेषां स्यान्मध्यमं धनमिति उभयथा वचनं व्यज्यते मध्यममधनं यदनन्तरश्लोकैर्निर्दिष्टं तत्सर्वेषां समवायेन दातव्यं यदिवा प्रत्येकमेव ज्येष्ठकनिष्ठतामपेक्ष्य तत्र प्रथमपक्षोर्निर्गुणेषु युक्तस्तेन बहुधनार्हो द्वितीयो गुणवत्त्वेव ॥ ११३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यत्रानेके मध्यमाभ्रातरस्तत्राह ज्येष्ठइति । कनिष्ठः सर्वकनिष्ठः । संहरेतां गृह्णीयाताम् । तेषां स्यान्मध्यमं प्रत्येकं मध्यमस्य यदुक्तमुद्धारधनं तन्मध्यमाभ्रातृणां प्रत्येकमुद्धृत्योद्धृत्य देयमनेकत्वेऽपीत्यर्थः ॥ ११३ ॥

(३) कुट्टूकः । ज्येष्ठकनिष्ठौ पूर्वश्लोके यथोक्तमुद्धारंगृहीयातां ज्येष्ठकनिष्ठव्यतिरिक्ताये मध्यमास्तेषामेवान्तरज्येष्ठकनिष्ठतामनपेक्ष्य मध्यमस्योक्तचत्वारिंशद्भागः प्रत्येकं दातव्यः मध्यमानामवान्तरज्येष्ठकनिष्ठदेयभागेवैषम्यवारणार्थमिदम् ॥ ११३ ॥

(४) राघवानन्दः । पुत्राणां त्रित्वे विभागमुक्त्वा चतुष्टयादौ तद्विशेषमाह ज्येष्ठश्चेति । यथोदितं विंशत्यशीतिभागौ संहरेतां गृणीयाताम् । मध्यमं धनमिति स्वरसात्तयोर्मध्यवर्तिनां समतया देयमिति । तेषामवान्तरज्येष्ठकनिष्ठता नास्तीति भावः ॥ ११३ ॥

(५) नन्दनः । मध्यमानां बहुत्वे कथमुद्धारइत्यत्राह ज्येष्ठश्चैवेति । संहरेतां लभेयातां तेषां मध्यमानां मध्यमं ज्येष्ठकनिष्ठयोर्मध्यं एतदुक्तं भवति यथैकस्य मध्यमस्योद्धारपरिमाणमुक्तं तथा बहूनामपि प्रत्येकं स्यादिति ॥ ११३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्ये मध्यमाः तेषां मध्यमं धनम् ॥ ११३ ॥

सर्वेषां धनजातानामाददीताग्र्यमग्रजः ॥ यच्च सातिशयं किंचिद्दशतश्चामुयाद्वरम् ॥ ११४ ॥

(१) मेधातिथिः । आद्येनार्धश्लोकेन सर्वद्रव्याच्चयद्वरमित्युक्तमनुवदति जातशब्दो जातिपर्यायः प्रकारवचनो वा । अग्रजो ज्येष्ठः अग्र्यं श्रेष्ठं यच्च सातिशयमेकमपि वरूढमलङ्कारं वा दशतोदशावयवाद्वा न लभते वर्गे दशशब्दः अन्येतु त्वार्थे तसिंचाचक्ष्यते दशैव दशतोवरानिति बहुवचनं पठन्ति दशवरानाददीत अन्यस्तद्विशिष्टान्स्मरति दशतः पशूनामेकशफद्विपदानामिति ॥ ११४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ज्येष्ठस्यातिशयितगुणत्वमाह सर्वेषामिति । विभक्तेषु भागेषु मध्ये यः श्रेष्ठतमः सर्वेषामग्र्योभिरुचितो भागस्तज्येष्ठो गृहीयात् । तथा सर्वेषु विभागेषु यत्किंचिदेकं सातिशयं तद्गृहीयात् । तथा दशसु पशुषु विभजनीयेषु मध्ये एकउत्कृष्टः पशुः स्वभागाद्विहिर्याहः दशतश्च पशूनामिति गौतमस्मृतेः । एतच्चातिबहुगुणज्येष्ठातिहीनगुणकनिष्ठविषयम् ॥ ११४ ॥

(३) कुट्टूकः । सर्वेषां धनप्रकाराणां मध्याद्यच्छ्रेष्ठं धनं ज्येष्ठस्तद्धनं गृहीयात् सर्वद्रव्याच्च यद्वरमित्युक्तमनूदितसमुच्चयबोधनाय यच्चैकमपि प्रकृष्टं द्रव्यं विद्यते तदपि ज्येष्ठ एव गृहीयात् तथा दशतः पशूनामिति गौतमस्मरणात् । दशभ्योगवादिपशुभ्य एकैकं श्रेष्ठं ज्येष्ठो लभते इदंच यदि ज्येष्ठो गुणवानितरे निर्गुणास्तद्विषयं सर्वेषां समगुणत्वे तु ॥ ११४ ॥

(४) राघवानन्दः । यद्वरमित्युक्तं तद्गुणवत् ज्येष्ठविषये विशेषमाह सर्वेषामिति । सर्वेषां विभाज्यानाम् । दशतः दशभ्योगवादिपशुभ्य इति दशतः पशूनामिति गौतमोक्तेः संभवद्विषयम् ॥ ११४ ॥

(५) नन्दनः । तुल्यगुणभ्रातृविषयो यमुद्धारउक्तः अथ गुणविशिष्टज्येष्ठभ्रातृविषयउच्यते सर्वेषामिति सर्वेषां धनजातानां गोभूहिरण्यादीनामग्र्यमग्रजः आददीत सातिशयमुत्कर्षयुक्तं यत्किञ्चिद्भिभागानर्हं देवतादीनां प्रतिमादि तच्चाददीत ततो दशसु वरश्चामुयात् सर्वेषु दशधाकृतेष्वेकं भागमात्मनोऽश्वत्वेन प्रामुयादित्यर्थः ॥ ११४ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वेषां धनपातानां भागानां अग्र्यं श्रेष्ठं अग्रजः दशतः दशपशुभ्यः वरम् ॥ ११४ ॥

उद्धारो न दशस्वस्ति संपन्नानां स्वकर्मसु ॥ यत्किंचिदेव देयन्तु ज्यायसे मानवर्धनम् ॥ ११५ ॥

(१) मेधातिथिः । दशसु पशुषु यः पूर्वत्रोद्धारउच्यते सनास्ति ये भ्रातरः स्वकर्मसु श्रुताध्ययनादिषु संपन्नाविशेषतो दशस्विति चोपलक्षणं व्याख्यानयन्ति दशसु यत्र श्लोकउद्धारउक्तः स सर्व एव नास्ति कर्मसंबन्धात् किंतु तैरपि यत्किंचिदेवाधिकमुपानविधिमानवर्धनं पूजाकरं ज्येष्ठाय देयम् ॥ ११५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अल्पगुणत्वेज्येष्ठस्य कनिष्ठानां च त्वत्वाचारादिकर्मसंपत्त्यासमगुणत्वे आह उद्धारइति । पूर्वश्लोकोक्तदशवरोद्धारसहितमुद्धारसहितमुद्धारत्रयं दशस्वित्यनेनोपलक्षयति । त्वकर्मसंपन्नानां मध्यमानां दायविभागे यत्किंचिद्देयं किंचिदधिकं वस्त्वाकृष्यदेयं समानायेत्यर्थः ॥ ११५ ॥

(३) कुल्लूकः । दशतः प्रामुयाद्वरमिति योयमुद्धारउक्तः सोयमध्ययनादिकर्मसमृद्धानां भ्रातृणां ज्येष्ठस्य नास्ति तत्रापि यत्किंचिदस्य देयमिति द्रव्यपूजावृद्धिकरं ज्येष्ठाय देयं एवं च समगुणेषूद्धारप्रतिषेधदर्शनात्पूर्वत्रगुणोत्कर्षाविशेषापेक्षयोद्धारवैषम्यंबोद्धव्यम् ॥ ११५ ॥

(४) राघवानन्दः । सर्वेषां गुणवत्त्वे तु नाग्र्यप्राप्तिरग्रजस्येत्याह उद्धारइति दशसु दशभ्योयउद्धारउक्तः सनास्ति । त्वकर्मसु वेदाध्ययनादिषु । ज्येष्ठस्य सन्मानार्थं किंचिद्देयमित्याह यदिति । मानवर्धनं पूजार्थम् ॥ ११५ ॥

(५) नन्दनः । उद्धारपवादमाह उद्धारो न दशस्वस्तीति । त्वकर्मसु संपन्नानां दायविभागं ज्येष्ठस्य दशतश्चामुयात् मानवर्द्धनं सत्कारद्योतनम् ॥ ११५ ॥

(६) रामचन्द्रः । उद्धारो विभागः सातिशयितवस्तूनां उपलक्षणं संपन्नानां दशसु उद्धारो नास्ति । ज्यायसे अतिगुणज्येष्ठे भ्रातरि मानवर्धनं मानस्यवर्धनम् ॥ ११५ ॥

एवं समुद्धृतोद्धारे समानं शान्प्रकल्पयेत् ॥ उद्धारोऽनुद्धृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना ॥ ११६ ॥

(१) मेघातिथिः । समुद्धृते पृथक्कृतोद्धारोऽधिके भागेऽवशिष्टे धने समानं शान्प्रकल्पयेत् अनुद्धृते वक्ष्यमाणा भागकल्पना ॥ ११६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । समानं शानुद्धारशेषधने । उद्धारोऽनुद्धृते कथंचित् पित्रादेरनिच्छया अनपेक्षया वक्ष्यमाणा ॥ ११६ ॥

(३) कुल्लूकः । एवमुक्तप्रकारेण समुद्धृतविंशद्भागधिके धने समानभागान्भ्रातृणां कल्पयेत् विंशतितमभागादौ पुनरनुद्धृतइयं वक्ष्यमाणा भागकल्पना भवेत् ॥ ११६ ॥

(४) राघवानन्दः । उद्धारमुपसंहरन्तुः उद्धारो व्यवस्थितिर्जानीते एवमिति । समुद्धृतोद्धारोऽनुद्धृतावशिष्टे धने । उद्धारव्यवस्थितिरुक्ताऽनुद्धृते इयं वक्ष्यमाणा ॥ ११६ ॥

(५) नन्दनः । समुद्धृतोद्धारोऽखंडविभागमाह एवं समुद्धृतोद्धारइति । एवं समुद्धृतोद्धारोऽनुद्धृत्ये सति परिशिष्टं समानं शान्प्रकल्पयेत् । एषां भ्रातृणामियं वक्ष्यमाणा उद्धारोऽनुद्धृतइति वचनादुद्धारस्यानित्यता सूचिता ॥ ११६ ॥

(६) रामचन्द्रः । उद्धारोऽनुद्धृते तेषां इयं वक्ष्यमाणा लक्षणांशकल्पना स्यात् ॥ ११६ ॥

एकाधिकं हरेज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्धततोऽनुजः ॥ अंशमंशं वीयांसइति धर्मो व्यवस्थितः ॥ ११७ ॥

(१) मेघातिथिः । एकेनांशेनाधिकं त्वांशं हरेत्स्वीकुर्याद्वावंशौ प्रतिपद्येतेत्यर्थः ततोऽनुजस्तदनन्तरमध्यर्धमर्धद्वितीयं वीयांसस्तस्माद्वर्गाज्जाताः सर्वे सममंशनाधिकं किंचिन्नाल्पमित्यर्थः ॥ ११७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एकाधिकं द्वौ भागावित्यर्थः । ततोऽनन्तरः कनीयानध्यर्धं सार्धभागम् । इतरे समांशा इति गुणसाम्ये शेषाणाम् । गुणाधिक्ये त्वेतदपेक्ष्योन्नेयम् ॥ ११७ ॥

(३) कुल्लूकः । एकाधिकमंशं द्वावंशाविति यावज्ज्येष्ठपुत्रो गृह्णीयात् अधिकमर्धयत्रांशे सार्धमंशं ज्येष्ठादनन्तरजातो-

गृहीयात् कनिष्ठाः पुनरेकैकमंशंगृहीयुरिति व्यवस्थितो धर्मः इदन्तु ज्येष्ठतदनुजयोर्विद्यादिगुणवत्त्वापेक्षया कनिष्ठानां च निर्गुणत्वे बोद्धव्यं ज्येष्ठतदनुजयोरधिकदानदर्शनात् ॥ ११७ ॥

(४) राघवानन्दः । तामाह एकेति । एकाधिकं अंशद्वयं अध्यर्धं सार्धैकमंशं ज्येष्ठतदनुजयोर्विद्यादिभिर्ज्येष्ठत्वे कनीयसांविगुणत्वे ज्ञेयं तुल्यत्वे तूक्तं ततोनुजः ज्येष्ठादव्यवहितः ताभ्यामन्ये यावन्तः शेषाः पुत्रास्तावन्तः समभागाः स्युरिति ॥ ११७ ॥

(५) नन्दनः । एकाधिकं एकांशाधिकमंशद्वयमिति यावत् । ततोनुजः अध्यर्धमंशं अंशमंशमेकैकमंशं यवीयांसोऽहरेयुः गुणवत्तरज्येष्ठविषयमेतत् ॥ ११७ ॥

(६) रामचन्द्रः । एकाधिकं द्वावंशौ । ततोऽनुजः अर्धम । यवीयांसः अंशमंशम ॥ ११७ ॥
स्वेभ्योऽंशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भातरः पृथक् ॥ स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागंपतिताः स्युरदित्सवः ॥ ११८ ॥

(१) मेधातिथिः । कन्याशब्दः प्रायोऽनुदासु प्रयुज्यते कानीनपुत्रः स्मृत्यन्तरेचोपात्तानामिति पठ्यते अतोऽनुदायामयं भाग उच्यते स्वाभ्यः प्रजाभ्य इत्यपेक्षया स्वाभ्यो भ्रातरः कन्याभ्यश्चतुर्भागमंशं दद्युः स्वादंशात् । यत्र बन्धः कन्याः सन्ति तत्र समानजातीयभ्रातृपेक्षया चतुर्थांशे कल्पना कर्तव्या । तथाचायमर्थः त्रीनंशान्पुत्राददीत चतुर्थकन्येति यदपि कैश्चिदुक्तं महानुपकारः पितृकरणं कन्यानामदत्तानां येन जीवति पितरि तदिच्छया मूल्येनापि धनेन संस्क्रियन्ते मृतेष्वंशहरा इति तत्पुत्रेऽपि तुल्यवाचनिके चार्थे केयं नोदना अथाभिप्रायसमाचार उद्धारमात्रप्रयोजनं दानमित्याचारो दुर्बलः स्मृतेरिति । नवैकान्तिकः अनैकान्तिकत्वे च स्मृतितोयं नियमो युक्तः यदपीदं केनचिदुक्तमुद्धारमात्रप्रयोजनं देयं चतुर्थो भागो यथाश्रुतमिति च इदं वाच्यो नोद्वाहे परिमितधनदानमस्ति तस्य द्वादशशतं दक्षिणेति वत् केवलमाच्छाद्यालकृतां विवाहयेत् सौदायिकं वा स्यादद्यादिति श्रूयते अलङ्कारत्वं सुवर्णमणिमुक्ताप्रवालादिरनेकधाभिन्नमिति तत्र न ज्ञायते कियद्वा त्व्यं धनं कीदृशोवालङ्कार इत्यतश्च परिमाणार्थमेवेदं युक्तं स्वादंशाच्चतुर्भागमिति न चास्मिन्नर्थे शास्त्रविरोधो युक्तिविरोधावा स्मृत्यन्तराण्येवमेव पक्षमुपोद्बलयन्ति ॥ असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः ॥ भगिन्यश्च निजादंशाद्वत्त्वांशं तुरीयकमिति तथा ॥ आसंस्काराद्धरेद्भागं परतो बिभृयात्पतिरिति । अस्यायमर्थः यत्र त्वल्पं धनमस्ति भ्रातुर्भगिन्याश्च न चतुर्भागे कन्यायाभरणं भवति तत्र समभागं कन्याहरेदासंस्कारात् । परतस्तु स्मृत्यन्तराच्चतुर्भागं गृहीयात्स्वल्पमपि कथं तर्हि भरणमात्रं कुर्यादत उक्तं परतो बिभृयात्पतिरिति भ्रातृग्रहणं सोदर्यार्थं व्याचक्षते कोभिप्रायः भ्रातृशब्दो निरुपपदसोदर्य एव मुख्यया वृत्त्या वर्तते पृथक्त्वचनं च लिङ्ग्यस्यास्तु हि सौदर्यो नास्ति तस्या अयं दायः सौदायिकस्य प्राप्नोति वैमात्रेयो दास्यतीति चेन्नास्ति वचनान्तरे ददात्ययं भ्रातृशब्दा एकात्ममातृकाश्च गृह्यन्ते । पैतृष्वसेयादिषु तूपचाराद्वर्तत इति युक्तं एवमेकशब्दस्यानेकार्थत्वं नाभ्युपगतं भवति स्मृत्यन्तरसमाचारश्चेति श्रेयान् तत्र हि पठ्यते यच्छिष्टपितृदायेभ्यः प्रदानिकमिति नात्र भगिनीशब्दो भ्रातृशब्दो वा श्रूयते यत इयमाशङ्का स्यात् यत्तु पृथगिति तदैकैकस्यैव समूहः भागः सर्वाभ्य इत्येवमपि युज्यते यदप्युच्यते अददतां प्रत्यवायान्तु हृष्टाद्याप्यन्ते यत उच्यते पतिता स्युरदित्सव इति योहि यत्र यावत्त्यंशे स्वामी सहरेदित्युच्यते न पुनरनेनास्मै दातव्यमिति यथा वोच्यते भ्राता भ्रात्रे दद्यादिति चोच्यते न पुनरस्वामिभ्यः ॥ ११८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कन्याभ्योऽपुत्रीभ्यः । ब्राह्मणीपुत्रास्तत्कन्यायै क्षत्रियापुत्रास्तत्कन्याया इति क्रमेण स्वत्वांशचतुर्थभागं दत्त्वा भागत्रयं गृहीयुः । अत्र च कन्या बहुत्वेऽपि तदेव विभजनीयम् । बहुत्वे तु भ्रातृणां कन्याया एवैकत्वे एकस्य भ्रातुर्भागाच्चतुर्थो भागो यावांस्तावद्धनं स्वत्वांशेभ्य आरुण्य देयम् ॥ ११८ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राश्चत्वारोऽभ्रातरः स्वजात्यपेक्षया स्वेभ्यश्चतुरोऽंशान्हरेद्विप्रइत्यादिना वक्ष्यमाणेभ्योभागेभ्यः आत्मीयात्मीयाद्भागाच्चतुर्थभागं पृथक् कन्याभ्योऽनूढाभ्यो भगिनीभ्यः या यस्य सोदर्या भगिनी सतस्या-
एव संस्कारार्थमिति एवं दद्युः सोदर्याभावे विमातृजैरुत्कृष्टैरपकुष्टैरपि संस्कार्यैव । तथा च याज्ञवल्क्यः ॥ असंस्कृतास्तु-
संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः ॥ भगिन्यश्च निजादंशाद्दत्वांशं तु तुरीयकम् ॥ यदि भगिनी संस्कारार्थं चतुर्भागं दातुं नेच्छति
तदा पतिता भवेयुः एतेनैकजातीयवैमात्रेयबहुपुत्रभगिनीसद्भावेऽपि सोदर्यभगिनीभ्यश्चतुर्थभागदानमवगन्तव्यम् ॥ ११८ ॥

(४) राघवानन्दः । दुहितृसत्त्वे तु व्यवस्थामाह स्वेभ्य इति । त्वांशात्तुरीयो भागः स्वजातिस्वभगिनीनां संस्कारा-
र्थे देयः । तदुक्तं याज्ञवल्क्येन ॥ असंस्कृताश्च संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः ॥ भगिन्यश्च निजादंशाद्दत्वांशं तु तुरीयकम् ॥
विधा विभक्तये चतुर्भागास्तेषामेकं भ्रातरः पृथक्पृथग्भ्रातर इत्यर्थः । इदं त्वनेकमातृकाणां वक्ष्यमाणानाम् । तददाने
दण्डमाह पतिता इति ॥ ११८ ॥

(५) नन्दनः । विभक्ता भ्रातरः कन्याभ्यो वृत्ताभ्यो भगिनीभ्यः स्वेभ्योऽंशेभ्यः पृथक् प्रदद्युः कियता परिमाणेन
चतुर्भागं कुत एतत्त्वात् स्वादंशाच्चतुर्भागनियमात् अदित्सवः पतिताः स्युरिति प्रत्यवायदर्शनाच्च ॥ ११८ ॥

(६) रामचन्द्रः । कन्याप्रत्याह भ्रातरः स्वेभ्यः स्वेभ्योऽंशेभ्यः पृथक्पृथक् । कन्याभ्यः चतुर्भागप्रदद्युः । पतिता-
भ्रातरः अदित्सवः अभागार्हाः ॥ ११८ ॥

अजाविकं सैकशफं न जातु विषमं भजेत् ॥ अजाविकं तु विषमं ज्येष्ठस्यैव विधीयते ॥ ११९ ॥

(१) मेधातिथिः । एकशफमश्वाश्वतरगर्दभादयः विभागकाले समसंख्यया यद्विभक्तुमजाविकं न शक्यते ज्येष्ठस्यै-
व स्यान्न तदन्यद्रव्यांशपतेन समतानयेद्विक्रीतं वा ततस्तन्मूल्यं दापयेत् । अजाविकमिति पशुद्वन्द्वं वा धावेकवद्भावः ॥ ११९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विषमं तावद्भ्यो भ्रातृभ्यः एकैकत्वेन विभजनीयापर्याप्तं विक्रयादिना पदार्थान्तरीकृत्य
न विभजेत् किंतु ज्येष्ठस्यैव । अजाविकं तु विषममित्येकशफस्याप्यश्वादेरुपलक्षणम् ॥ ११९ ॥

(३) कुल्लूकः । एकशफाश्वादयः छागमेषादि एकाशफसहितं विभागकाले समं कृत्वा विभक्तुमशक्यं तन्न वि-
भजेत् किंतु ज्येष्ठस्यैव तत्स्यान्न तु तत्तुल्यद्रव्यान्तरदानेन समीकृत्य विक्रीय वा तन्मूल्यं विभजेत् । अजाविकमिति पशु-
द्वन्द्वद्विभाषैकवद्भावः ॥ ११९ ॥

(४) राघवानन्दः । पशुषु गुणवज्ज्येष्ठस्यैव विषमं भागं विदधत्तदन्येषां तदभावमाह अजेति । अजाविकं अजा-
श्वावयश्च तत्सैकशफं एकशफाश्वागर्दभादयः तैः सह वर्तमानं यावन्तः पुत्रास्तैरुक्तपशुषु समतया गृहीतेषु अधिकमूल्यं
कृत्वान विभजनीयम् । सज्येष्ठस्यैवेति भावः ॥ ११९ ॥

(५) नन्दनः । एकाधिकं हरेज्येष्ठइत्यादिनोक्तस्य विषमविभागस्य कचिद्विषयेऽपवादं श्लोकद्वयेनाह अजाविक-
मिति । एकशफमभिन्नखुरमश्वादिकं न विषमं भजेद्विभजेत् किंतु सममेव विभजेत् विषमसंख्यया विभक्तुमशक्यं यथा त्र-
याणां भ्रातृणामेकं द्वे चत्वारोत्यादि संख्याया ज्येष्ठस्यैव विधीयते । कालतो विभज्य भोगेन वा विक्रीय मूल्यं विभज्य वां-
शस्वीकुर्यादित्यर्थः ॥ ११९ ॥

यवायाञ्जैः भायार्यां पुत्रमुत्पादयेद्यदि ॥ समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ १२० ॥

(१) मेधातिथिः । ज्येष्ठस्य नियोगधर्मेण पितृव [त्सोदरेऽतिदे] 'शे प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थमुच्यते । समस्तत्र विभागः स्या-
त् न चोद्धारं न चैवाधिकं हरेज्येष्ठइति नापि यत्किंचिदेव देयमिति समः स्यात्केनोत्पादकेन पितृव्यकेण कनीयसा अनियु-

क्तासुतस्य त्वभागाहंतैव वक्ष्यते इदं च लिङ्गं भ्रातरिसहिते सत्यपि भ्रातृशब्दे भ्रातृपुत्रेणाप्यसति भ्रातरि [सह]^१ विभागः-
कर्तव्यः ॥ १२० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । समस्तत्र पितृद्वारा । तस्मान्नापि देवरजाय समो भागो देयोनतु पितृव्यैः सह तस्य वि-
भागे तस्य पितृव्यैश्चाज्येष्ठोद्धारः । एतेन यवीयसो भार्यायां ज्येष्ठेनापत्योत्पादने भागान्यूनतेत्यर्थादुक्तम् ॥ १२० ॥

(३) कुल्लूकः । कनिष्ठो यदि ज्येष्ठभ्रातृभार्यायां नियोगेन पुत्रं जनयेत्तदा तेन पितृव्येण सह तस्य क्षेत्रजस्य
समो विभागः स्यान्नतु पितृवत्सोद्धारो भवतीति विभागव्यवस्था नियता । अनियोगोत्पन्नस्यानंशित्वं वक्ष्यति यद्यपि समेत्य
भ्रातरः सममित्युक्तं तथाप्यस्मादेव लिङ्गात्पौत्रस्यापि मृतपितृकस्य पैतामहे धने पितृव्यवद्भिर्भागोस्तीति गम्यते ॥ १२० ॥

(४) राघवानन्दः । वक्ष्यमाणदशविधपुत्रेष्वौरसानां विभागमुक्त्वा क्षेत्रजे विशेषमाह यवीयानिति । ज्येष्ठभार्यायां
ज्येष्ठभ्रातुः पत्न्याम् । समस्तत्र विभागइत्येव धर्मः ॥ १२० ॥

(५) नन्दनः । पुत्रमिति जातावेकवचनं पुत्राविति पाठः । गुरुनियोगादुत्पादयेदिति व्याख्येयम् । इतरोनाशइति
वक्ष्यमाणत्वात्तत्र नियोगोत्पादिते ज्येष्ठे समो विभागः स्यात् ॥ १२० ॥

उपसर्जनं प्रधानस्य धर्मतो नोपपद्यते ॥ पिता प्रधानं प्रजने तस्माद्धर्मेण तं भजेत् १२१ ॥

(१) मेधातिथिः । उपसर्जनमप्रधानक्षेत्रक्षेत्रजस्य प्रधानस्यौरसस्य तुल्यइत्येतद्वाश्रित्य तद्धर्मतः शास्त्रतो न यु-
ज्यते औरसः किल पितृव्येष्ठांशं कृत्स्नं लभते अयंतु क्षेत्रजोऽप्रधानं तस्माद्धर्मेण तं भजेत् धर्मः पूर्वोक्ता भागकल्पना ननु चा-
यमपि ज्येष्ठः पुत्रो भवति किमत्यौरसवत् लभतेऽत आह पिता प्रधानं प्रजने । पिता जनकोत्राभिप्रेतः सप्रधानमपत्योत्पाद-
ने अयंचा प्रधानः कनीयसा जनितः उपसर्जनप्रधानस्य सममित्येवाहृत्य श्लोको गम्यते अर्थवादोऽयं पूर्वस्य ज्येष्ठांशनि-
षेधस्यार्थवादत्वाच्च प्रधानोपसर्जनशब्दोऽर्थवत्किंचिदालम्बनामाश्रित्य व्याख्या कर्तव्या । अन्ये पठन्ति तस्माद्धर्मेण तं-
त्यजेदिति तदयुक्तं सर्वत्र समभागस्योक्तत्वात् अर्थवादत्वाच्चास्य न विनिकल्पाशङ्का कार्या ॥ १२१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रधानस्य भ्रातृमध्ये ज्येष्ठस्य पितुः स्थाने उपसर्जनममुख्यः पुत्रो नोपपद्यते न युज्यते अ-
तो न ज्येष्ठोद्धारः । नचैवं भागो न देयो यस्मात् प्रजने संताने तत्र तत्पितैव ज्येष्ठतया प्रधानं तथा च तस्यानुकल्पिकः पुत्रः
संततिमध्ये साम्यसहायेऽतस्तमपि धर्मेण युक्तेन क्रमेण समभागेन भजेन्नन्यूनम् । तेन यत्र पितुराधान्यं तत्र न्यून-
तापीति पूर्वोक्तशेषः ॥ १२१ ॥

(३) कुल्लूकः । ज्येष्ठभ्रातुः क्षेत्रजः पुत्रोपि पितेव सोद्धारविभागी युक्तइतीमांशङ्कानिराकृत्य पूर्वोक्तमेव द्रढयति ।
अप्रधानक्षेत्रजः पुत्रः प्रधानस्य क्षेत्रिणः पितृधर्मेण सोद्धारविभागग्रहणरूपेण न संबध्यते । क्षेत्र्यपि पिता तद्वारेणापत्यो-
त्पादने प्रधानं तस्मात्पूर्वोक्तेनैव धर्मेण विभागव्यवस्थारूपेण पितृव्येण सह तं क्षेत्रजं विभजेदिति पूर्वस्यैव शेषः ॥ १२१ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र हेतुरपेत्यादि । अयमर्थः । प्रधानस्य ज्येष्ठभ्रातुः । यद्यप्युद्धारो नोपसर्जनता तस्मादवश्य-
मुद्धारो देयस्तथापि तस्य मरणादौ तत्क्षेत्रे कनिष्ठस्य यस्मादुपसर्जनत्वमेव पितुरेव जनने प्राधान्यात्तस्य चात्र कनिष्ठत्वा-
दतएव नोद्धारभागः पितुः समभागः पितृव्यैः सहेति तं क्षेत्रजं धर्मेणोत्पादकपित्ररूपेण नतु मात्ररूपेण ज्येष्ठता नास्ति हि
स्त्रियाइति वक्ष्यमाणो हेतुरिति भावः ॥ १२१ ॥

(५) नन्दनः । अत्र कारणमाह उपसर्जनमिति कनिष्ठप्रभावत्वादुपसर्जनमप्रधानं सपुत्रः प्रधानधर्मभाजनं न

(१) मे० ८, आ आ.

भवतीत्यर्थः । पिता प्रधानं प्रजने न माता तेन मातुः ज्येष्ठतया तस्य ज्यैष्ठ्यं नायाति तस्मात्पितुः प्राधान्याद्धर्मेण पूर्वश्लोकोक्तेन विधिना समं विभागं कनिष्ठप्रभवो भजेन ज्यैष्ठ्येन मातुरधिकम् ॥ १२१ ॥

(६) रामचन्द्रः । उपसर्जनं गौणम् ॥ १२१ ॥

पुत्रः कनिष्ठोज्येष्ठायां कनिष्ठायां च पूर्वजः ॥ कथं तत्र विभागः स्यादिति चेत्संशयो भवेत् ॥ १२२ ॥

(१) मेधातिथिः । ज्येष्ठा प्रथमोद्भा पश्चाद्बद्धा कनिष्ठा तयोर्जातानां किमातुरुद्भाहक्रमेण ज्यैष्ठ्यं स्यात्त्वजन्मक्रमेणेति संशयमुपन्यस्योत्तरत्र निर्णेष्यते संप्रतिपत्तुम् ॥ १२२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कनिष्ठोऽल्पवयाः ॥ १२२ ॥

(३) कुल्लूकः । यदि प्रथमोद्भायां कनीयान्पुत्रो जातः पश्चाद्बद्धायां च ज्येष्ठस्तदा तत्र कथं विभागो भवेदिति संशयो यदि स्यात्किमातुरुद्भाहक्रमेण पुत्रस्य ज्येष्ठत्वमुत्त्वजन्मक्रमेणेति तदाह ॥ १२२ ॥

(४) राघवानन्दः । बहुमातृकाणां पुत्राणां मातृविवाहक्रमेणैव ज्यैष्ठ्यम् उत सुतजन्मक्रमेणेति संदिग्धे पुत्र इति पूर्वजो ज्येष्ठ इति ॥ १२२ ॥

(५) नन्दनः । यत्र विषये ज्येष्ठायां कनिष्ठः पुत्रः कनिष्ठायां ज्येष्ठः पुत्रः कथं तत्र विभागः स्यात्किमातृज्यैष्ठ्येन विभागः किमपत्यजन्मना वेति संशयश्चेन्नोत्तरं वक्ष्यामीति शेषः ॥ १२२ ॥

(६) रामचन्द्रः । ज्येष्ठायां स्त्रियां कनिष्ठः पुत्रः च पुनः कनिष्ठायां स्त्रियां पूर्वजः ज्येष्ठः पुत्रः भवेत् । यद्वा ब्राह्मणस्य द्वे भार्ये ब्राह्मणी क्षत्रिया चेति ज्येष्ठायां ब्राह्मण्यां कनिष्ठः पुत्रः कनिष्ठायां क्षत्रियायां च पूर्वजः ज्येष्ठो भवेत् । ततो वैश्यायां क्षत्रियादिपुत्राणां स्वजातितः त्रिंशद्व्येकभागः स्युः इतियोगीश्वरः ॥ १२२ ॥

एकं वृषभमुद्धारं संहरेत् स पूर्वजः ॥ ततोऽपरेऽज्येष्ठवृषास्तदूनानां स्वमातृतः ॥ १२३ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्यां जातः पूर्वजः कनीयान् वृषभस्योक्तो भागवान् ततो वृषादन्ये ये वृषभा अज्येष्ठास्ते बहूनामेकशः कृत्वा देयाः अतश्च ज्यैष्ठिनेयस्यैतावदुक्तमधिकं यच्छ्रेष्ठो वृषो गुणमात्रेणाधिक्यं संख्यया तदूनानां तस्मात्पूर्वजादूनानां कियतामित्याह स्वमातृतः पुनर्मुख्यत्वोद्धत्वात्तेनात्र मातृज्यैष्ठ्यमाश्रितं भवति न जन्मतः ॥ १२३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एकं श्रेष्ठं उद्धारमधिकं स पूर्वजः कनिष्ठः पुत्रः । ततोऽन्ये ज्येष्ठवृषा ज्येष्ठग्राह्यवृषास्ते तदूनानां कनिष्ठिनेयाद्धीनवयसाम् । स्वमातृतः स्वमातृज्येष्ठत्वानुरूपेण यस्य माता ज्येष्ठा तस्याप्येको वृष उद्धारः किंतु पूर्ववृषाद्धीनः । एवं तद्धीनोऽन्येषां तस्मात्कनिष्ठासुतानामिति क्रमेणोद्धृत्य शेषं समांशं विभाज्यमित्यर्थः ॥ १२३ ॥

(३) कुल्लूकः । पूर्वस्यां जातः पूर्वजः इत्यापोः संज्ञाच्छन्दसोर्बहुलमिति च्छत्वम् । सकनिष्ठोऽप्येकं वृषभमुद्धारं गृह्णीयात्ततः श्रेष्ठवृषादन्ये ये संत्यग्याः श्रेष्ठवृषास्ते तस्माज्ज्यैष्ठिनेयान्मातृतऊनानां कनिष्ठेयानां प्रत्येकमेकैकशो भवन्तीति मातुरुद्भाहक्रमेण ज्यैष्ठ्यम् ॥ १२३ ॥

(४) राघवानन्दः । तन्निर्णयमाह एकमिति । पूर्वस्यां जातः इत्यापोः संज्ञाच्छन्दसोर्बहुलमिति च्छत्वः । अपरे ये पुत्रास्ते ज्येष्ठवृषान्यूनानां वृषास्ते भागत्वेन येषां सन्ति ते ज्येष्ठवृषाः एकैकशः । तत्र हेतुः तदुत्पन्नानां स्वस्वमातुरुत्तरकालोद्भाहेन तेषां न्यूनत्वात्कनिष्ठत्वमिति ॥ १२३ ॥

(५) नन्दनः । पूर्वजः कनिष्ठायां प्रथमजातः संहरेल्लभेत न परे तस्माद्वृषभादन्ये ये ज्येष्ठवृषास्ते ज्येष्ठस्य ज्यैष्ठिने-
यस्य वृषस्य बहुवचनाच्चवरास्तदूनानां ज्येष्ठान्मातृभ्योन्यूनानां त्वमातृतोऽशकल्पना न्यूनान्यूनतरा चेत्यर्थः ॥ १२३ ॥

(६) रामचन्द्रः । सपूर्वजः पूर्वस्यांजातः कनिष्ठापुत्रोवा ॥ १२३ ॥

ज्येष्ठस्तु जातोऽज्येष्ठायां हरेद्वृषभषोडशाः ॥ ततः स्वमातृतः शेषाभजेरन्निति धारणा ॥ १२४ ॥

(१) मेधातिथिः । उद्धारान्तरैकल्पिकमेषामुच्यते अज्येष्ठायां ज्येष्ठोजातः पंचदशगाहरेत् षोडशोवृषभोवृषभसं-
बन्धाद्भावोल्भ्यन्ते यथास्य गोर्द्वितीये नार्थइति अन्ये शेषागाहरेरन्त्वमातृतः यथैवैषामातागरीयसी कनीयसीमाहरेत्
अथवा ज्यैष्ठिनेयस्यायमुद्धारोधिकउच्यते पूर्वस्तु स्थितएव नात्रानडुत्पश्लेषः शेषाःकनीयांसःत्वमातृतोहरेरन् त्वमातृतइति
विविच्यते श्लोकद्वयस्यार्थवादत्वान्न विवेके यत्नः उपक्रममात्रमेतत् सिद्धान्तस्त्वयमुच्यते ॥ १२४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ज्येष्ठायां प्रथमोढायाम् । षोडशोवृषभोयासां पञ्चदशानां गवां तासांसंघं वृषभषोडशम् ।
ततइति ततोऽन्ये त्वमातृज्यैष्ठ्यक्रमेणैकैकंवृषभमुत्तममहीनक्रमेणगृह्णीयुः ॥ १२४ ॥

(३) कुड्डूकः । प्रथमोढायां पुनर्योजातोजन्मना च भ्रातृभ्योज्येष्ठः सवृषभः षोडशोयासांगवांतागृह्णीयात्पञ्चदश-
गाएकंवृषभमित्यर्थः । ततोऽनन्तर्येऽन्ये बह्वीभ्योजातास्ते त्वमातृभागतऊढज्येष्ठापेक्षया शेषाभागादिविभजेरन्निति निश्च-
यः ॥ १२४ ॥

(४) राघवानन्दः । ज्येष्ठायां जन्मतोपि ज्येष्ठस्तु वृषभैकोत्तराः पञ्चदश गाः प्रामुयादित्याह ज्येष्ठस्त्विति । त्वमा-
तृतः मातृद्वाहक्रमेण शेषाः कनिष्ठायां जाताः सवार्णायां भजेरन् भागमितिशेषः ॥ १२४ ॥

(५) नन्दनः । वृषभषोडशं वृषभषोडशकं धारणीयः ॥ १२४ ॥

(६) रामचन्द्रः । षोडशवृषभः षोडशी ॥ १२४ ॥

सदृशस्त्रीषु जातानांपुत्राणामविशेषतः ॥ न मातृतोऽज्यैष्ठ्यमस्ति जन्मतोऽज्यैष्ठ्यमुच्यते ॥ १२५ ॥

(१) मेधातिथिः । सदृशः समानजातीयः ॥ १२५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अभिवादनार्थक्रियांप्रतिविशेषमाह सदृशेति । वयोऽज्येष्ठएवाभिवादनदिविषयइत्यर्थः
॥ १२५ ॥

(३) कुड्डूकः । समानजातीयस्त्रीषु जातानांपुत्राणांजातिगतविशेषाभावे सति न मातृक्रमेण ज्यैष्ठ्यमृषिभिरुच्यते
जन्मज्येष्ठानान्तु पूर्वोक्तएव विंशतिभागादिरुद्धारोबोद्धव्यः । एवंच मातृज्यैष्ठ्यस्य विहितप्रतिषिद्धत्वात् षोडशीग्रहणाग्रहण-
वद्विकल्पः सच्च गुणवन्निर्गुणतया भ्रातृणांगुलघुत्वावगमाद्व्यवस्थितः । अतएव जन्मविद्यागुणज्येष्ठोऽन्यंशंदायादवामुयादिति
बृहस्पत्यादिभिर्जन्मज्येष्ठस्य विद्याद्युत्कर्षेणोद्धारोत्कर्षउक्तः निर्गुणस्यैकवृषभमिति मन्दगुणस्य वृषभषोडशाइति मातृज्यै-
ष्ठ्याश्रयणेनोद्धारोबोद्धव्यः । मातृज्यैष्ठ्यविधिं त्वनुवादमेधातिथिरवदत् । गोविंदराजस्त्वन्यमतंजगौ । न केवलंविभागे
जन्मज्यैष्ठ्यंकिन्तु ॥ १२५ ॥

(४) राघवानन्दः । पुत्रःकनिष्ठइत्यादिश्लोकत्रयेणैकदेशिमतेविभागमुक्त्वा स्वमते तूक्तविभागान्वक्तुं पुत्राणां

* जन्मज्येष्ठानान्तु पूर्वोक्तएवविंशतिभागादिरुद्धारोबोद्धव्यः=किन्तु जन्मक्रमेणैवातः कनिष्ठजोपि पूर्वोक्तमेव
विंशभागद्वंशादिकंगृह्णीयात् (अ)

जन्मतएव ज्यैष्ठ्यमाह सदशस्त्रीष्विति । लाघवात्सदशस्त्रीषु जन्मोत्कर्षउद्धारप्रयोजकोनतूद्वाहस्य यौगपद्यं क्रमिकत्वंचेति । मातृज्येष्ठत्वविधिनिषेधयोः पुत्रगतगुणवदगुणवत्त्वव्यवस्थितविकल्पेन समाधिरिति कुल्लूकः । मेधातिथिस्त्वर्थवादमाह । वस्तुतस्तु जन्मज्यैष्ठ्यमेव प्रयोजकम् ॥ १२५ ॥

(५) नन्दनः । इदंमातृतो ज्यैष्ठ्यं विभागविधावेव नान्यत्रेति श्लोकाभ्यामाह सदशस्त्रीष्विति । सदशस्त्रीषु सवर्णस्त्रीषु ॥ २५ ॥

जन्मज्येष्ठेन चाह्वानं सुब्रह्मण्यास्वपि स्मृतम् ॥ यमयोश्चैव गर्भेषु जन्मतोज्येष्ठता स्मृता ॥ १२६ ॥

(१) मेधातिथिः । अर्थवादोयं जन्मज्येष्ठतामभ्युपगमयति सुब्रह्मण्यानाममन्त्रोज्योतिष्टोमेच्छन्दोगैः प्रयुज्यत इन्द्राह्वनाय सुब्रह्मण्यो ३३ इन्द्रागच्छेत्यादिप्रयोगे बहुत्वाद्बहुवचनं तत्रेदमुच्यते प्रथमपुत्रेण पितरंव्यपदिश्यहूयते देवदत्तस्य पिता यजते जन्मनोज्यैष्ठ्यं मुख्यं अन्यत्र तु मातृविवाहसंबन्धादौर्गम्योर्गर्भएककालनिषिक्तयोरपि जन्मतोज्यैष्ठ्यम् ॥ १२६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्रौतेषिकर्मण्येवमाह जन्मज्येष्ठेनेति । अमुकशर्मणः पिता यजत इत्याकारमाह्वानम् । जन्मतोज्येष्ठेनेति युक्तिप्राप्तस्यैवानुवादः ॥ १२६ ॥

(३) कुल्लूकः । सुब्रह्मण्याख्योमन्त्रोज्योतिष्टोम इति इन्द्रस्याह्वानार्थं प्रयुज्यते तत्र प्रथमपुत्रेण पितरमुद्दिश्याह्वानं क्रियते अमुकपिता यजत इत्येवमृषिभिः स्मृतं तथा यमयोर्गर्भएककालनिषिक्तयोरपि जन्मक्रमेणैव ज्येष्ठता स्मृता । गर्भेष्विति बहुवचनं स्त्रीबहुत्वापेक्षया ॥ १२६ ॥

(४) राघवानन्दः । तच्च श्रुतिसिद्धमित्याह जन्मेति सुब्रह्मण्यासु ज्योतिष्टोमे इन्द्राह्वानार्थं सुब्रह्मण्याख्योमन्त्रोऽस्ति तत्र प्रथमजपुत्रेण पितरमुद्दिश्याह्वानं क्रियते अमुकपिता यजत इति । अतएव यमयोरपि प्रथमसेकजस्यैव ज्येष्ठतामाह यमेति । गर्भेषु जन्यत इति वचनान्निषेककाले प्रथमार्त्तस्यैव ज्येष्ठत्वं योनिनिःसरणापेक्षया तु कनिष्ठत्वेऽपि । अन्यथा गर्भेष्विति व्यर्थं बहुवचनं स्त्रीषु व्यक्त्यपेक्षया तेन मन्त्रद्वयं गर्भद्वयं यदा धत्ते तत्रापि पूर्वनिषिक्तस्यैव ज्येष्ठता नतु देवादष्टमासादिजातस्येति भावः ॥ १२६ ॥

(५) नन्दनः । सुब्रह्मण्यां सुब्रह्मण्याह्वाने एकगर्भेऽप्येककालनिषिक्तयोरपि सतोः ॥ १२६ ॥

(६) रामचन्द्रः । सुब्रह्मण्यासु क्रियासु सोमयागादौ कोयजति अमुकशर्मणः प्रपौत्रोयजति । च पुनः कः अमुकशर्मणः पौत्रोयजति । च पुनः अमुकशर्मणः पुत्रः प्रपुत्रः यजति च पुनः अमुकशर्मा यजति । च पुनः एवंविधक्रियासु जन्मज्येष्ठेन आह्वानं स्मृतं यतः सुब्रह्मण्यवेदाभ्यायिनां घोषा एवं भवन्ति । यमयोः निषिक्तयोः गर्भेषु जन्मतोज्येष्ठता स्मृता ॥ १२६ ॥

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ॥ यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरं ॥ १२७ ॥

[अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलं कृतां । अस्यां योजायते पुत्रः समे पुत्रो भवेदिति ॥ १ ॥] +

(१) मेधातिथिः । यदपत्यमस्यां जायेत तन्मेमहं स्वधाकरमौर्ध्वदेहिकस्य श्राद्धादिपुत्रकार्यलक्षणार्थः स्वधा शब्दो न त्वयमेवोच्चार्यः तथाच गौतमः पितोत्सृजेत्पुत्रिकामनपत्योऽग्निप्रजापतिं चेष्ट्वा स्मदर्थमपत्यमिति संवादाद्यभिसंबन्धमात्रा-

दियोगेन विनापि भवति पुत्रिका ननु संवादभावेन यद्यप्यभिसंबन्धे तदद्यात्कृतमुच्यते सुतवचनेन यावन्नज्ञापितस्ताव-
जामाताविप्रतिपद्येत कुर्वीत पुत्रिकामेषतस्याव्यपदेशः ॥ १२७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनेन वक्ष्यमाणेन । यदपत्यमित्यादिअभिधाय दद्यादिति शेषः । स्वधाकरं पुत्रकार्य-
श्राद्धादिपरम् ॥ १२७ ॥

(३) कुल्लूकः । अविद्यमानपुत्रोयदस्यामपत्यंजायेत तन्मम श्राद्धाद्यौर्ध्वदेहिककरंस्यादिति कन्यादानकाले जामा-
त्रासहसंप्रतिपत्तिरूपेण विधानेन दुहितरंपुत्रिकांकुर्यात् ॥ १२७ ॥

(४) राघवानन्दः । पुत्रिकापुत्रस्य भागं विधास्यन् तत्प्रकारमाह अपुत्रइति । उत्पन्नपुत्रेण भागयोग्या पुत्रिका ।
स्वधाकरं पिण्डादिदातृ । पुत्रिकापुत्रस्यत्वष्टकाश्राद्धे विशेषोयतोमातामहस्य मातामहादिश्राद्धं नास्ति दौहित्रस्यास्ती-
ति ॥ १२७ ॥

(५) नन्दनः । अथपुत्रिकायाः पुत्रस्य च दायप्राप्तिं विवक्षन्पुत्रिकाविधिंतावदाह अपुत्रोनेनेति । अनेनोत्तरार्द्धेन
वक्ष्यमाणेन विधिना संविद्वाक्येन पुत्रिकामिवार्थेकप्रत्ययः पुत्रानुकारिणीमित्यर्थः । स्वधाकरं पिण्डोदकप्रदानादिकरं
इति शब्दोन्ते द्रष्टव्यः ॥ १२७ ॥

अनेन तु विधानेन पुरा चक्रेथ पुत्रिकाः ॥ विद्वद्व्यर्थस्ववंशस्य स्वयंदक्षः प्रजापतिः ॥ १२८ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रजोत्पादनविधिज्ञः प्रजापतिर्दक्षः स एवोदाह्रियतेऽर्थवादोयंपरकृतिर्नाम ॥ १२८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्ववंशस्य स्वसपिण्डधारायाः ॥ १२८ ॥

(३) कुल्लूकः । अत्रपरप्रतिपत्तिरूपमनुवादमाह अनेनेति । दक्षः प्रजापतिः पुत्रोत्पादनविधिज्ञः स्ववंशवृद्धयर्थमने-
नोक्तविधानेन कृत्स्नादुहितरः पूर्वपुत्रिकाः स्वयंकृतवान् । कात्स्न्येऽथशब्दः ॥ १२८ ॥

(४) राघवानन्दः । अस्य निर्मूलत्वंधुनीते अनेनेति ॥ ॥

(५) नन्दनः । अस्यार्थवादंपरकृतिरूपं च श्लोकाभ्यामुदाहरति अनेनेति । अनेनोक्तेन प्रजाविज्ञोहि प्रजापतिः
सोप्येव स्वयंचक्रे इति ॥ १२८ ॥

ददौ सदश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश ॥ सोमाय राज्ञे सत्कृत्य प्रीतात्मा सप्तविंशतिम् ॥ १२९ ॥

(१) मेधातिथिः । सत्कृत्येति तदत्र विधीयते दशेत्यादिलिङ्गादानेकपुत्रिकाकरणमपीच्छन्ति ॥ १२९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दश पुत्रिकाः । प्रीतात्मा पुत्रजन्तुष्टिमान् ॥ १२९ ॥

(३) कुल्लूकः । सदक्षोभाविपुत्रिकापुत्रलाभेन प्रीतात्माऽलङ्कारादिना सत्कृत्य दशपुत्रिकाधर्माय त्रयोदशकश्यपाय
सप्तविंशतिचन्द्राय द्विजानामोषधीनांचराज्ञे दत्तवान् । सत्कारवचनमन्येषामपि पुत्रिकाकरणे लिङ्गम् । दशेत्यादिच बह्वी-
नामपि पुत्रिकाकरणज्ञापकम् ॥ १२९ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव पुरावृत्तं कथयति ददाविति । प्रीतात्मासदितिसर्वचानुषज्जते ॥ १२९ ॥

यथैवात्मा तथापुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ॥ तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्योधनं हरेत् ॥ १३० ॥

(१) मेधातिथिः । यदपत्यंभवेदस्यांतन्ममस्यादित्युक्तं अपत्यमृक्त्थभाक् अतः पितरि मृते पुत्रिकायाअनु-
त्पन्नपुत्रायाधनहरत्वमप्राप्तविधीयतेऽर्थवादेन तस्यामात्मनि पुत्रनिमित्तंतिष्ठन्त्या [मेवधनंनपुत्रोत्पत्तिस्तदीयाय युज्य-

ते अथवातस्यामात्मभूतायांपितृरूपायामिति] : पुत्रेण दुहितासमेति सामान्यवचनोदुहितृशब्दः प्रकरणात्पुत्रिकाविष-
योविज्ञेयः ॥ १३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तथाच सैव पुत्रिकाऽपुत्रस्य धनंहरति नान्यइत्याह यथेति ॥ १३० ॥

(३) कुल्लूकः । आत्मस्थानीयः पुत्रआत्मावैपुत्रनामासीति मन्त्रलिङ्गात्तत्समा च दुहिता तस्याअप्यङ्गेभ्यउत्पाद-
नात् अतस्तस्यां पुत्रिकायां पितुरात्मस्वरूपायां विद्यमानायामपुत्रस्य मृतस्य पितुर्धनंपुत्रिकाव्यतिरिक्तः कथमन्योहरेत् ॥
॥ १३० ॥

(४) राघवानन्दः । ततः किंनत्राह यथेति । तस्यामात्मनीति सामानाधिकरण्ये समम्यौ । आत्मावै जायते पुत्र
इतिश्रुतेर्दुहिताप्यात्मा तेन अपुत्रस्य पितुः पुत्रिका धनभाक् । तत्पुत्रश्च पौत्रस्थानीयः । अन्योऽज्ञात्यादिः ॥ १३० ॥

(५) नन्दनः । अथप्रकृतमेव दायविभागविधिमाह यथैवात्मेति । दुहिता पुत्रिका आत्मन्यात्मभूतायामन्योन्या-
त्मभूतोभ्रात्रादिर्धनं हरेल्लभेत ॥ १३० ॥

मातुस्तु यौतकंयत्स्यात्कुमारीभागएव सः ॥ दौहित्रएव च हरेदपुत्रस्याखिलंधनम् ॥ १३१ ॥

(१) मेधातिथिः । यौतकशब्दःपृथग्भावेन च स्त्रीधने तत्र हि तस्याएव केवलायाः स्वाम्यं अन्येतु सौदायक-
मेव तत्संबन्धस्त्रीधनंतत्रहि तस्याः स्वातन्त्र्यम् ॥ सौदायिकंधनप्राप्त्य स्त्रीणांस्वातन्त्र्यमिष्यते ॥ नभक्तभूषाद्युपयोगिनः आ-
न्वाहिकाद्भर्तृदत्ताद्धनादुपयुक्तशेषमेव युवत्या स्वीकृतंयौतकमाहुः । कुमारीभागएव कुमारीग्रहणा [दूनो]' स्ति एव-
कारस्यचप्रसिद्धानुवादकत्वात्प्रकरणबाधकत्वमतश्च पुत्रिकाकुमारीविषयमपियौतकं । एवंचगौतमः स्त्रीधनंतदपत्याना-
मित्युक्ताह दुहितृणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानांचेति । तत्राप्रतिष्ठितायाऊढा अनपत्या निधानाभर्तृगृहे याभिः प्रतिष्ठा नलब्धा
दौहित्रएवच हरेदपुत्रस्यानौरसपुत्रस्याखिलधनंहरेत् सतित्वौरसे यावानंशस्तंवक्ष्यति अत्रापि पुत्रिकापुत्रएव दौहित्रोन
सर्वत्र पूर्ववत्प्रकरणत्यागस्य यौतकविषयत्वएव प्रमाणसंभवात् ॥ १३१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यौतकं स्त्रीधनम् । कुमारीभागोऽपुत्रकन्याभागः सत्यपिपुत्रे सत्यामपिपुत्रिकायां तत्पुत्रे-
च । दौहित्रइति दौहित्रः पुत्रिकापुत्रः । अपुत्रस्य मातामहस्य अखिलम् । सतु ततः कुमारीभागकर्म । एतेनपुत्रिका-
विषयादन्यत्रापि मातुः स्त्रीधनं कुमारीणामेव तस्मिन्संगृहीते पितृवित्तात् स्वस्वांशचतुर्थभागदानंतासां न कर्तव्यम् । याज्ञ-
वल्क्यस्मृतौ चतुर्थांशदानस्य भगिनीसंस्कारत्वेन श्रवणात् तस्यच मातृयौतकेनैव सिद्धेरितियाहम् । पुत्रिकायांत्वकृता-
यामपुत्रस्य धनंपत्न्यभावएव दुहितृदौहित्रगामि ॥ १३१ ॥

(३) कुल्लूकः । मातुर्यद्धनंतत्तस्यां मृतायां कुमारीभागएव स्यान्न पुत्राणांतत्र भागः । कुमारी चानूढाभिप्रेता । त-
थागौतमः ॥ स्त्रीधनंदुहितृणामदत्तानामप्रतिष्ठितानांच अपुत्रस्य च मातामहस्य दौहित्रएव प्रकृतत्वात्पौत्रिकेयः समग्रंधनं
गृह्णीयात् ॥ १३१ ॥

(४) राघवानन्दः । मातामहेन स्वभार्यायै यदत्तं तत्कुमार्या पर्याप्तं तन्मातुरुर्ध्वतत्पुत्रएव तद्धरेदित्याह मातु-
स्त्विति । ननु पारितोषिके धने दातुः स्वत्वापरित्यागात्कथं तत्पुत्रस्तद्धरेत्तत्राह कुमारीभागइति । स्त्रीधनंतदपत्यानामि-
तिगौतमोक्तेः । नकेवलमेवमपितु मातामहस्यापि धनभागित्याह अपुत्रस्येति ॥ १३१ ॥

(५) नन्दनः । यौतकं मातुः पितृकुलप्राप्तं धनमसत्यपि पुत्रिका पुत्रे कुमार्या यौतकप्रामिरेव कारणसूचिता अपुत्रस्य पुत्रिकाकरणोत्तरकालंजातपुत्रस्य मातामहस्याखिलंधनं दौहित्रः पुत्रिकापुत्रएव हरेन्नपुत्रिका ॥ १३१ ॥

(६) रामचन्द्रः । यौतकं स्त्रीधनम् ॥ १३१ ॥

दौहित्रोऽखिलंरिक्थमपुत्रस्यपितुर्हरेत् ॥ सएव दद्याद्दौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च ॥ १३२ ॥

(१) मेधातिथिः । अपुत्रमातामहप्रमातामहाय पूर्वैणैव पौत्रिकेयदौहित्रस्याऽखिलंरिक्थहरत्वमुक्तमतोऽयंभ्यो-
कस्तदनुवादेन पिण्डदानविधानार्थं इतिकैश्चिद्वाख्यातं । हरेद्यदीति च ते पठन्ति यस्मिन्पक्षे सर्वहरेत्तस्मिन्नेव पक्षे दद्या-
द्मातुः समस्तत्र विभागः स्यादिति पक्षस्तदा दद्यादन्यथा योयतआददीत सतस्मै दद्यादित्यनेवैव पिण्डदानेन सिद्धे पुन-
र्वचनमनर्थकं अखिलरिक्थग्रहणानुवादश्चानर्थकएव तदयुक्तं । अपुत्रस्य पितुर्हरेदित्ययमेवार्थोवगीतश्चिरन्तनपाठः । पितृ-
शब्दश्च जनके प्रसिद्धतरोन मातामहे । अतश्च पुत्रिकायाभर्ता नतु तदन्यभार्यापुत्रपुत्रिका च पुत्रवती तदाऽनेनैव पुत्रेण
जातेन पिता पितामहश्चोभावपि पुत्रवन्तौ वेदितव्यौ । यदातु बीजीतरासु जातःपुत्रस्तदा पुत्रिकापुत्रः समानजातीयायामू-
ढायांजातोपि नैव बीजिनोरिक्थंहरेन्नापि पिण्डं दद्यात् अन्योहि जन्यजनकभावोन्यश्चापत्यापत्यवत्संबन्धः । अजनका-
अपि क्षेत्रजादिभिरपत्यवन्तोजनकाश्च विक्रीतापविद्धादिपितरोनीवाजीगर्तादयःपुत्रवन्तस्तथाचौरसलक्षणः स्वक्षेत्रइति
स्वग्रहणक्षेत्रंच पुत्रिकापितुरेव भर्ताहि तस्य चानुविधेयवरइति मातृकुलेस्वामी तस्मादेवंतद्वक्तव्यं यस्मिन्पक्षे विद्यमाना-
न्यपुत्रपुत्रिकाभर्ता पुत्रिकापुत्रश्चाखिलद्रव्यहारी तस्मिन्पक्षे अञ्जसाअयंप्रयुङ्क्तेति रुढायाअपि माथमिकात्संप्रयोगादनपग-
तमेवानुषज्येत । प्रायेण ह्यत्र शास्त्रे कन्याशब्दः पुमांसंप्रयोगमाचष्टे अर्थसंस्कारहीनेति तदपि न यतः प्रथममेव वचनमे-
वंस्मरणाभिप्रायेण तत्र संभवि प्रमाणान्तरवशाल्लक्षणया हिताइत्यत्र प्रतीयते । यथोक्तं ॥ पाणिग्रहणकामन्त्राः कन्यास्वे-
व प्रतिष्ठिताः । ताः कन्यास्वपितृणांहियाहिताइति । अत्र धर्मलोपवचनलङ्घात्पुरुषोपभुक्ताऽकन्येत्युच्यते तद्विपर्ययेणानुपभु-
क्ता कन्येति सर्वत्रैवमुख्यार्थमनुरूप्यक्रियमाणाधर्मालक्ष्यन्ते तेच न सर्वे किंतिहि यावतांप्रमाणमस्ति । तथाहि कानीनइति
पितुः स्वतासंस्काराभावश्च प्रतीयते केवले हि संस्काराभावेचोढा स्वैरिणी पुत्राः कानीनाः केवलायां च पितृस्वतालक्षणायां
पुत्रिकापुत्रोपि कानीनइति व्यपदिश्यते । तथोक्तेस्वदारतस्तुनियमातिक्रमः प्रामोतीति नह्यस्यायमर्थः स्वदारेभ्योन्यागन्त-
व्येति परस्त्रियंचकामयते नचापरां दारांस्तथा सत्यनेनैव गतत्वात्परदारप्रतिषेधोनर्थकःस्यात्किंतिहि स्वदारेषु रतिर्धारयि-
तव्या रतिभावनयाऽभ्यासात्प्रीत्यतिशयोत्पत्तेः [अक्षराणि ?] स्त्रियंच न कामयते नचापरान्दारांस्तथासति धर्मेभ्यो-
नहीयतइत्यनुवादोयं । अथवा स्वदारनिरतोपि पर्ववर्जनमेनांब्रजेयुरसौ सुषुभ्यैवमपत्यशेषएव परदाराप्रतिषेधोपि नास्ति ।
अनूढत्वात्केनचिद्धारव्यपदेशाभावात् किंपुनरपुत्रयुक्तमविवाहेति अष्टौहिविवाहास्ते च स्वीकारभेदेन ब्राह्मादिव्यपदेशभे-
दंप्रतिपद्यन्ते नचास्यास्वकरणंभर्तुरस्ति पितुरेव स्वत्वानतिवृत्तेः अत्रातृकायां च विवाहप्रतिषेधे पुत्रिकामविवाहान्दार्श-
यति यथा नाभ्रातृकामुपयच्छेत् तोकंस्त्रस्य तद्भवतीति प्राकरणिकश्चायंप्रतिषेधस्तदप्रतिषेधेषूपलभ्यमानमूत्क्रवात्प्रकरणा-
धीनोपि संस्कारत्वमपनुदति । तथाच शिष्टादर्शनीयकन्याभावे कपिलादिरूपामुपयच्छन्ति । तथाच स्वधर्मानुष्ठानमाचरन्ति
'क्षतयोन्यन्यपूर्वाभावोत्र समानप्रवरादिकयोढयापि कथंचिन्नपत्नीकार्यैकुर्वन्ति एतदर्थमेव कैश्चिन्नोद्धेहेकपिलामित्यत्र
दृष्टदोषोपवर्णनंप्राकरणिकत्वेपि सपिण्डादिप्रतिषेधस्य चैकरूप्यंमाविज्ञायीति कथंपुनः स्पृष्टिप्रतिषेधोभ्रातृकामुपयच्छेत्त-
स्मिन्नोद्धारशङ्का उच्यते अस्य प्रतिषेधस्य वाक्यशेषः श्रूयतेऽपत्यंस्त्रस्य तद्भवतीति अनेन ततश्चापत्योत्पत्तावेव पुत्रिका
नभार्या धर्मार्थमर्थकामयोस्त्वस्त्वेवसहाधिकारइति भवत्यपरिहारस्तु स्वकरणाभवादविवाहः ननु तस्मिन्पक्षे कानीनएव

पुत्रिकापुत्रः स्यान्नृसौ पितुः त्वस्यादसंस्कृतयोश्चापत्यमिति संस्कारपक्षे तु पितृसुतासंस्कारभावो न धर्मलक्षणप्रत्ययादन्य-
तरधर्माभावे कानीनाद्भिद्यत इत्युक्तं अत्रोच्यते नवयंपुत्रिकापुत्रस्य कानीनस्य लक्षणतदस्य नास्तीति ब्रूमः इदं हितस्य
लक्षणं ॥ पितृवेश्मनिकन्यातुयंपुत्रं जनयेद्रहः ॥ तं कानीनं वदेनाम्नावोदुः कन्यासमुद्भवमिति ॥ अस्य चार्थः य एवं लक्षणः
स इह शास्त्रे कानीनग्रहणे बु ग्रहीतव्यः । स च कस्यापत्यमित्यपेक्षायां वोदुः कन्यासमुद्भवमिति द्वितीयं वाक्यं । अथवा नेह
पदार्थो लक्ष्यते किं तर्हि संबन्धिता नियम्यते य एवं विधः कानीनस्तं वोदुः संबन्धिनं वदेदित्येकवाक्यतैव संबन्धिता च
पदार्थभेदे चाप्युपाधिभेदाद्भिद्यत एव रहः प्रकाशभेदेन चैव मातामहस्य अन्ये चाद्भुरिति पदार्थस्तु तदा कानीनशब्दस्य
शब्दार्थसंबन्धोऽवधित एवावगन्तव्यः ते चेदपत्यमात्रे कानीनं स्मरन्ति । भवतु पैतृके कानीने व्यवहारः । अन्ये तु स्मृतिमेव
विशेषनिष्ठा माहुः नहि कन्यापत्यमात्रे सर्वकानीनशब्दः प्रयुज्यते किं तर्हि मानवस्मृतिर्लक्ष्यते एतदप्यनुमन्यामहे निश्चिते
प्रयोगाभावेऽवशेषस्मरणेऽपि पुण्यसिद्ध्यादितद्विशेषावगतिः प्रयोगतो न्याय्यैव ॥ १३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । न केवलं मातामहस्य धनं हरेदपि तु पितुः बीजिनः स्वमातृभर्तुरप्यपुत्रस्य पुत्रान्तरशून्य-
स्य दौहित्रः पुत्रिकापुत्रो धनं हरेत् तद्बीजप्रभवत्वादस्य ज्ञात्यन्तरापेक्षयाऽन्तरङ्गत्वात् । पुत्रिकापुत्रनियमे च समे पुत्रइ-
त्यभिधानस्य न ममैव पुत्रइतीतरपुत्रत्वव्यवच्छेदने तात्पर्यं किंतु स्वपुत्रतायाम् । यदा सा वृक्थहरस्तदा स एव मातामहा-
य यथैकोद्दिष्टं तत्पितृपितामहौ चादाय पार्वणं यथा करोति तथा स्वबीजिनेऽपि कुर्यात् । पिण्डद्वयदानविधिः श्राद्धद्वय-
विधिपरः । घामुष्यायणस्य श्राद्धविधानं श्रुतौ श्रुतम् ॥ १३२ ॥

(३) कुट्टूकः । दौहित्रः प्रकृतत्वात्पौत्रिकेय एव तस्य मातामहधनग्रहणमनन्तरोक्तं जनकधनग्रहणं च पिण्डदाना-
र्थो यमारंभः पितृशब्दस्य तत्रैव प्रसिद्धत्वात् । अन्यस्य पौत्रिकेयः पुत्रान्तररहितस्य जनकस्य समग्रधनं गृह्णीयात् स एव
पितृमातामहाभ्यां द्वौ पिण्डौ दद्यात् । पिण्डदानं श्राद्धोपलक्षणार्थं पौत्रिकेयत्वेन जनकधनग्रहणपिण्डदानव्यामोहनिरा-
सार्थं वचनम् ॥ १३२ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव कैमुतिकन्यायमाह दौहित्रेति अपुत्रस्य पुत्रान्तररहितस्य त्वपितुर्मातामहस्य वा । अ-
त आह स इति । नास्य पितृमातामहपक्षे पिण्डदातृत्वं मातामहमातृपक्षे तु पिण्डदातृत्वमिति भावः । पितुः पुत्रान्तरासत्वे
त्वपितुर्धनस्य न्यायसिद्धत्वात् पिण्डदातृत्वं विधेयम् । पिण्डदानं श्राद्धोपलक्षणार्थम् ॥ १३२ ॥

(५) नन्दनः । दौहित्रोऽपि पुत्रिकापुत्रः सन्नपि अपुत्रस्य पुत्रान्तररहितस्य पितुः त्वजनकस्य रिक्थं हरेत् कस्मा-
द्विक्थहारित्वात् पिण्डं पित्रे त्वजनकाया पुत्राय पितामहाय च स एव दद्यात् ॥ १३२ ॥

पौत्रदौहित्रयोर्लोके न विशेषोऽस्ति धर्मतः ॥ तयोर्हि मातापितरौ संभूतौ तस्य देहतः ॥ १३३ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वशेषोयमर्थवादः कथमविशेषस्तयोर्हि मातापितराविति ॥ १३३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यदि पुत्रिकायां कृतायां पुत्रो जायते मातामहस्य तदा दुहितृपेक्षया पुत्रस्याभ्यर्हितत्वा-
दधिकभागतास्थित्या शङ्कानिवारयति पौत्रेति । मातापितरौ पिताचमाताचेत्यर्थः । अत्र च दुहितुः पुत्रस्थानीयत्वात्त-
स्याश्च स्त्रीत्वेन बहिरङ्गत्वात्त्वाम्योक्त्यसंभवात्पौत्रदौहित्रोपादानम् । तेन पुत्रतुल्यत्वात्पौत्रस्य तुल्यत्वाच्च दौहित्रस्य
पुत्रेण साम्यमित्युक्तम् ॥ १३३ ॥

(३) कुट्टूकः । पौत्रपौत्रिकेययोर्लोके धर्मकृत्ये न कश्चिद्विशेषोऽस्ति यस्मात्तयोर्मातापितरौ तस्य देहादुत्पन्नाविति
पूर्वस्यैवानुवादः ॥ १३३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच पौत्रेति । लोके धर्मकृत्ये धर्मतः शास्त्रानुसारेण तयोः पौत्रदौहित्रयोर्नविशेषोस्ति यतः तस्य पितुः देहतोमातापितरौतयोः संभूताविति समाधिकारितेतिभावः ॥ १३३ ॥

(५) नन्दनः । पुत्रिकायाः पुत्रस्य मातामहपिण्डप्रदत्वमुपपन्नमित्यभिप्रायेणाह पौत्रदौहित्रयोरिति । दौहित्रः पुत्रिकापुत्रः कार्य इहामुत्रच कर्तव्ये धर्मतोऽन्यायतः एवंन्यायउत्तरार्द्धेनोच्यते तस्य पुत्रदुहितृपितुर्देहतः तयोः पौत्रदौहित्रयोः मातापितरौ संजातौ पौत्रस्य पिता संभूतो दौहित्रस्य माता हि यस्मात्तस्मादविशेषोस्तीति ॥ १३३ ॥

(६) रामचन्द्रः । तयोः पौत्रदौहित्रयोः ॥ १३३ ॥

पुत्रिकायां कृतायान्तु यदि पुत्रोऽनुजायते ॥ समस्तत्र विभागः स्याज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥ १३४ ॥

(१) मेधातिथिः । समस्तत्रतुल्योविभागोजातेन पुत्रेण ज्येष्ठांशनिषेधः ज्येष्ठतानास्तिहिस्त्रियाः रिक्थभागएव ज्येष्ठता निषिध्यते नत्वस्यांगुरुवृत्तौ ॥ १३४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यद्येवंज्येष्ठत्वात्पुत्रिकापुत्रस्य ज्येष्ठस्य ज्येष्ठभागोदेयइत्यतआह पुत्रिकामिति । पुत्रोऽनुजायते मातामहस्य । ज्येष्ठता गुणविशेरुता विद्यादिगुणाभावान्नास्ति तद्वारातु पुत्रिकापुत्रस्यापि न ज्येष्ठताऽस्तीत्यर्थः ॥ १३४ ॥

(३) कुल्लूकः । कृतायां पुत्रिकायां यदि तत्कर्तुः पुत्रोऽनन्तरंजायते तदा तयोर्विभागकाले समोविभागोभवेत् नोद्धारः पुत्रिकायै देयः यस्माज्येष्ठयाअपि तस्याउद्धारविषये ज्येष्ठता नादरणीया ॥ १३४ ॥

(४) राघवानन्दः । कृतपुत्रिकोत्तरकालोत्पन्नपुत्रस्यापि तत्समविभागं वदन् तस्याज्येष्ठत्वनिषेधेनोद्धारभावमाह पुत्रिकायामिति । तस्यामातुर्ज्येष्ठत्वाभावेन तदौपाधिकपुत्रज्येष्ठत्वाभावादुद्धारभावः ॥ १३४ ॥

(५) नन्दनः । अनुजायते पुत्रिकाकरणात्पश्चाज्जायते स्त्रीग्रहणान्तदपत्यस्याप्युपलक्षणम् ॥ १३४ ॥

अपुत्रायां कृतायान्तु पुत्रिकायां कथंच न ॥ धनंतत्पुत्रिकाभर्ता हरेतैवाविचारयन् ॥ १३५ ॥

(१) मेधातिथिः । अत्वामिकान्यास्तुपुत्रिकायाभर्तुरप्राप्तधनसंबन्धउच्यते । अथ किं पुत्रिकाविवाहेन संस्क्रियते । उताहोन किंचन यदिसंस्क्रियते भार्येवासौभवति भार्याकरणोहि विवाहः । ततश्च तद्धनं [अ० ?] नसंस्तूयते कन्यागमनंप्राप्नोति स्वदारनिरतः सदेति नियमातिक्रमश्च यथेच्छसितथास्तु [अ० ?] ननुचास्मिन्पक्षे श्लोकोयमनर्थकः । नैष-
दोषः अपरिपूर्णत्वायार्थवत्त्वस्य यथैतदयमपत्यं न भर्तुस्तेन वेत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थोयुक्तएव श्लोकारम्भः । बहवश्चार्थवा-
दिनोमानवाः श्लोकाः अथवा पुनरस्तु न संस्क्रियतइति । न तु चास्मिन्पक्षे कन्यागमनं प्राप्नोति किंकृतं तथा विधायां जातोमातामहस्य पुत्रइतःसाध्यं गंतुर्विध्यर्थतिक्रमनिरूपणेन प्राकरणिकं नच तानि नामानि न पतनीयानि [अ० ३] किं पुनर्भावंकन्याशब्दार्थमत्वा चोदयति कन्याग्रहणं प्राप्नोतीति त्रिधाहि कन्याएकातावदप्रवृत्तपुंप्रयोगात्तथा [अ० ?] देव-
हिताः प्रथमे वयसि वर्तमानाच तत्र यदितावत्पुंसां संप्रयुक्ता येन कार्यमतः पिण्डदानं यदा तु बीजी सपुत्रः संपद्यते तदा सपुत्रिकापुत्रो नैवबीजिने पिण्डं दद्यात् नतु दौहित्र इत्युच्यते पौत्रिकेयइत्यर्थः यथा मातामहपक्षे पितुरपि योहरेत्तत्रापि सच दद्यादिति श्रूयते न पुनः पक्षान्तरेपि निषेधमनुमापयति पित्रे पितामहाय चेत्युभयोरप्रातत्वात् द्योतनं परिसङ्ख्येति अनुद्यमाने द्योतनमन्यस्माएवदद्यात्तद्युगपदुभाभ्यामनेनायमनुवादः यथैव पित्रे मातामहाय च एवं पितामहाय प्रपिताम-
हाय च तथैव च ततः पराभ्यां द्वाभ्याम् ॥ १३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धनं तथा जीवतोमृतस्य वा स्वपितुः प्राप्तम् ॥ १३५ ॥

(३) कुल्लूकः । अपुत्रायां पुत्रिकायां कथंच न मृतायां तदीयधनंतद्भर्तृवाविचारयन्गृहीयात्पुत्रिकायाः पुत्रसम-
त्वेनानपत्यस्य पत्नोरहितस्य मृतपुत्रस्य पितुर्धनग्रहणप्रसक्तौतन्निवारणार्थमिदंवचनम् ॥ १३५ ॥

(४) राघवानन्दः । अजातपुत्रा पुत्रिका भ्रियेतचेद्धनं तद्भर्तुरेवेत्याह अपुत्रायामिति । अविचारयन् पुत्रिकापुत्र-
स्य मातामहसंबन्धित्ववत्तद्धनंतस्येत्यनभिशङ्कः । पुत्रस्यैवान्यार्थत्वं नतु पत्न्याः अतोऽस्यतद्धनत्वत्वमिति भावः ॥ १३५ ॥

(५) नन्दनः । अपुत्रिकं भर्तृवाहरेण पुत्रिकापितृव्यादयः ॥ १३५ ॥

अकृतावा कृतावा पि यं विदेत्सदृशात्सुतम् ॥ पौत्रीमाताहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम् ॥ १३६ ॥

(१) मेधातिथिः । अधस्तनोपरितनवाक्यपर्यालोचनयापुत्रिकापुत्रविषयएवायमतिशयोक्त्या प्रतीयते । अकृताया
अपि दुहितुः पुत्रो मातामहधनभागित्युक्तं । किंपुनः कृताया इत्येवमन्यशेषत्वात्पुत्रिकायाविधिष्वनर्थक्यप्रसङ्गान्नदौहित्र-
स्य रिक्थप्राप्त्यर्थः । ननु च स्मृत्यन्तरे दौहित्रमात्रस्य दानाधिकारः श्रूयते मातामहानामप्येवमिति । इहापि करणंहित्वा
श्रुतिवाक्यसामर्थ्येन दौहित्रमात्रविषयतैव प्रतिपत्तुं न्याय्या दद्यात्पिण्डं हरेद्धनमिति । [तथापरमुक्तं दौहित्रो ह्यखिलं रिक्थमि-
त्यादि अत्रोच्यते यदुक्तं मातामहानामिति] तद्वद्वचनं किं व्यक्त्यपेक्ष्यमुत्तलक्षणया प्रमातामहाद्यभिप्रायेणव्यक्तिपक्ष
एकस्यैव मातामहस्य प्राप्नोति श्राद्धादिवत् तच्च सपिण्डीकरणे कृते विरुद्धं एवं ह्यहुरत ऊर्ध्वं त्रिभ्यो दद्यादिति । अथापि
पितुरन्यस्य सपिण्डीकरणमेव न करिष्यत इत्युच्यते तदपि निषेधाभावात् लक्षणयोः सन्निकर्षो विशेषाभावाल्लक्षणविशेषाप
रिज्ञानेऽनवगमत्वमेव स्मृत्यादिबलेन च कारणत्यागस्येति विरोधप्रसङ्गस्तन्निवेशोहि पदार्थप्रकरणादुत्कृष्यते द्वादशो
पसदोहीनस्येतिवत् । अकृतावेत्यस्य चान्यपरत्वमुक्तं । तस्मात्पौत्रिकेयविषयमेतत् ॥ १३६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अकृता पुत्रिकात्वेनापरिभाषिता । सदृशात् नोत्तमादधमाद्वा । कृतापुत्रोदद्यात्प्रथमपिण्डं-
सर्वदा स एव धनं हरेत्सदैव । अकृतापुत्रस्य पुत्रपत्नीदुहित्रभावएव ॥ १३६ ॥

(३) कुल्लूकः । अकृतावाकृतावेति पुत्रिकायाएव द्वैविध्यंतत्र यदपत्यं भवेदस्यां तन्ममस्यात्त्वधाकरमित्यभिधा-
य कन्यादानकाले वरानुमत्या या क्रियते सा कृताभिसन्धिमात्रकृतावाग्व्यवहारेण न कृता । तथा गौतमः अभिसन्धि-
मात्रात्पुत्रिकामे केषामिति । अतएव पुत्रिकाधर्मशङ्कयेति प्रागविवाहत्वमुक्तम् । पुत्रिकेव कृताऽकृतावा पुत्रसमानजाती-
याद्वोदरुपादयेत्तेन दौहित्रेण पौत्रकार्यकरणात्पौत्रिकेयवान्मातामहः पौत्री तथाचासौ तस्मै पिण्डं दद्यात् । गोविन्दराज-
स्त्वकृता वेत्यपुत्रिकैव दुहिता तत्पुत्रोपि मातामहधने पौत्रिकेयइव मातामहादिसत्त्वेऽप्यधिकारीत्याह । तन्न पुत्रिकायाः
पुत्रतुल्यत्वादपुत्रिकातत्पुत्रयोरतुल्यत्वेन तत्पुत्रयोस्तुल्यत्वायोग्यत्वादिति ॥ १३६ ॥

(४) राघवानन्दः । दौहित्रस्य धनहरणादौ पुत्रिकाकरणमुपलक्षणमित्याह अकृतेति । सदृशात् सजातीयान् भर्तुः
सुतं विन्देदुत्पादयेत् तेन मातामहः पौत्री स्वपुत्राभावेदतिशेषः ॥ १३६ ॥

(५) नन्दनः । पुत्रिकात्वेनाकृताया दुहिता तेन पौत्रीस्यादितिशेषः । पुनः सन्तानहीनाय मातामहाय पिण्डं दद्या-
त्तस्य धनं हरेत् ॥ १३६ ॥

पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते ॥ अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्यामोति विष्टपम् ॥ १३७ ॥

(१) मेधातिथिः । पुत्रेण जातेन तत्कृतेनोपकारेण लोकान्त्वर्गादीन्दशविशोकान् जयतिप्रामोति । तत्रोत्पद्यतइ-
तियावत् एवंपौत्रेणानन्त्यंतेष्वेव चिरन्तनकालमवस्थानंलभते । पौत्रस्य पुत्रेण ब्रध्नस्य विष्टपमादित्यलोकंप्रामोति ।
प्राकाश्यमश्नुते न केनचित्तमसा त्रियते ॥ १३७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । लोकानस्वर्गम् । आनन्त्यं तदेव चिरस्थितम् । ब्रध्नस्य हिरण्यगर्भात्मनः सूर्यस्य । वि-
ष्टपं लोकम् ॥ १३७ ॥

(३) कुल्लूकः । पुत्रेण जातेन स्वर्गादिलोकान्प्रामोतीति पौत्रेण तेष्वेव चिरकालमवतिष्ठते तदनन्तरंपुत्रस्य पौत्रे-
णादित्यलोकंप्रामोति । अस्य च दायभागप्रकरणेऽभिधानंपितुर्धने पत्न्यादिसद्भावेपि पुत्रस्य तदभावे पौत्रस्येत्येवंपुत्रसंता-
नाधिकारबोधनार्थम् ॥ १३७ ॥

(४) राघवानन्दः । पुत्रादीनां त्रयाणां जन्ममात्रतः फलभेदमाह पुत्रेणेति । पुत्रेणायंलोकइतिश्रुतेः । आनन्त्यं
पुत्रतः ग्रामलोकेष्वेव चिरकालावस्थानम् । ततएव ब्रध्नस्य रवेः विष्टपं लोकं प्रपौत्रेणाप्रामोतीत्यन्वयः ॥ १३७ ॥

(५) नन्दनः । अरुतायाः पुत्रस्य मातामहरिकथहरणेन पौत्रस्य तुल्यतामुपपादयिष्यन्निदन्तावच्छृणुतेत्याह
पुत्रेणेति । आनन्त्यंनशरहितत्वम् ॥ १३७ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्रध्नस्य सूर्यस्य विष्टपं लोकं आमोति ॥ भास्कराहस्करब्रध्नेत्यमरः ॥ १३७ ॥

पुन्नाम्नोनरकाद्यस्मान्नायते पितरंसुतः ॥ तस्मात्पुत्रइति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥ १३८ ॥

(१) मेधातिथिः । अपत्योत्पादनविधिशेषोयमर्थवादः । पुन्नामनरकंचतुर्विधभूतोत्पत्तिः पृथिव्यांव्यपदिश्यते तत-
स्त्रायते पुत्रोजातः देवयोनौ जातइत्यर्थः तस्माद्धेतोः पुत्रइति व्यपदिश्यते ॥ १३८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पुन्नाम्नोयत्रापुत्रैर्गन्तव्यम् ॥ १३८ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मात्पुन्नामधेयनरकात्सुतः पितरंत्रायते तस्मात्त्राणादात्मनैव ब्रह्मणा पुत्रइति प्रोक्तः । तस्मा-
न्महोपकारकत्वात्पुत्रस्य युक्तंतदीयपुंसंतानस्य दायभागित्वमिति पूर्वदाढ्यार्थमिदम् ॥ १३८ ॥

(४) राघवानन्दः । पुत्रपदस्यान्वर्थफलमाह पुमिति । स्वतः पुत्रपौत्रानपेक्षया सचकार्यविशेषः पुत्रस्यैवप्रोक्तः
स्वयंभुवेति तद्वचनमेवात्र प्रमाणमितिभावः ॥ १३८ ॥

(५) नन्दनः । नरकोदुःखंतस्य पुदिति नाम्नस्तस्मात्पितरं त्रायतइति पुत्रइति ॥ १३८ ॥

पौत्रदौहित्रयोर्लोकेविशेषोनोपपद्यते ॥ दौहित्रोपि सपुत्रैर्नसंतारयति पौत्रवत् ॥ १३९ ॥

(१) मेधातिथिः । अत्रापि दौहित्रः पुत्रिकापुत्रएवविज्ञेयः । दौहित्रोपि सपुत्रैर्नसंतारयति पौत्रवत् । अयमप्यर्थ-
वादएवविहितत्वादर्थस्य एतयोर्विशेषोनास्ति । एकस्य माताऽन्यकुलीनाऽपरस्य पिता तस्मादौहित्रोप्यमुत्रलोक एनंप्रेत-
सन्तंसततंसंतारयति नरकात्पूर्वस्मान् ॥ १३९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नन्वेवं दौहित्रेण पुन्नामनरकत्राणं नस्यादित्यतआह पौत्रेति । पौत्रवत् लोकानन्त्य-
हेतुतया ॥ १३९ ॥

(३) कुल्लूकः । दौहित्रः पुत्रिकापुत्रः पुत्रदौहित्रयोर्लोके कश्चिद्विशेषोन संभाव्यते यस्मादौहित्रोपि मातामहंप-

रलोके पौत्रवन्निस्तारयति । एतच्च पौत्रिकेयस्य पौत्रेण साम्यप्रतिपादनार्थं पुत्रिकाकरणानन्तरजातपुत्रेण सह धने तुल्य-
भागबोधनार्थम् ॥ १३९ ॥

(४) राघवानन्दः । पुत्रदौहित्रयोर्लोकइत्यत्रापूर्तिपूरयति पौत्रेति । संतारयतीति पूर्तिः । पौत्रेण पितामहान्तेभ्यो-
दीयते पिण्डादि तथाऽयमपि ददातीति भावः ॥ १३९ ॥

(५) नन्दनः । यथा पुत्रादिभिः पितुरभ्युदयस्तथा दौहित्रेणापीत्याह पौत्रदौहित्रयोरिति । यतएवमतोस्य माताम-
हरिक्थहारित्वमुपपन्नमिति प्रासङ्गिकम् ॥ १३९ ॥

मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेत्पुत्रिकासुतः ॥ द्वितीयन्तु पितुस्तस्यास्तृतीयंतत्पितुः पितुः ॥ १४० ॥

(१) मेधातिथिः । स एव दद्यात्पिण्डं च पित्रे मातामहाय चेत्यत्र पुत्रिकापुत्रपिण्डदानं मातामहप्रक्रममुक्तं । तस्माद-
यमपरः क्रमः पुत्रिकापुत्रपिण्डदानस्य मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेदित्येवमादि । द्वितीयन्तु तस्या एवेत्यनुमन्तव्यं हेतु पठ-
न्ति पितुस्तस्येति तत्प्रथमं पुत्रिकायै निरूप्य जनकाय निर्वपन्ति । न पितुः पितुरिति च जनकस्यैव पित्रे तृतीयमस्मिन्तु-
पक्षे मातामहाय पिण्डदानं नोक्तं स्यात् ॥ १४० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तत्र श्राद्धक्रममाह मातुरिति । मातुः प्रथमपिण्डस्ततो मातुः पितुस्ततो मातुः पितामहस्ये-
ति । एवं कृते यदि पितुरपि पुत्रान्तरं नास्ति तदा पितृपितामहतत्पितृणां दद्यादिति प्रागेवोक्तम् ॥ १४० ॥

(३) कुल्लूकः । पौत्रिकेयः प्रथमं मात्रे पिण्डं । द्वितीयं मातुः पित्रे । तृतीयं मातुः पितामहाय दद्यात् । पित्रादीनां तु
पित्रे मातामहाय चेत्युक्तत्वात्पितृक्रमेणैव पिण्डदानम् ॥ १४० ॥

(४) राघवानन्दः । पुत्रिकासुतस्यापूर्वपिण्डदानक्रममाह मातुरिति । तस्यामातुरित्युभयत्रान्वयः । तेन तस्याः
पितुः पितुः पितुः प्रमातामहस्य मातृतः पितामहेभ्यः पिण्डत्रयं दद्यादिति । पुत्रिकाकरणपक्षे मातामहस्य मातामहादित्रि-
भ्यो दद्यादन्वष्टकायामपि तथैवेति विशेषः ॥ १४० ॥

(५) नन्दनः । अकृतावाकृतावेति दुहितृपुत्रस्य दायं परिसमाप्य प्रकृतस्य पुत्रिकापुत्रस्य कर्तव्यमाह मातुः प्रथ-
मतइति । प्रथमतः प्रथमं पितुः तस्या इत्येव । मातुः पितामहस्येति यावत् ॥ १४० ॥

उपपन्नो गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु दन्निमः ॥ सहरेतैव तद्विक्रयं संप्राप्नोप्यन्यगोत्रतः ॥ १४१ ॥

(१) मेधातिथिः ॥ न भ्रातरो न पितरः पुत्रारिक्थहराः पितुरिति । सर्वपुत्राणां रिक्थहरत्वमुक्तं । सति त्वौरसे
प्रजीवनमात्रभाक्तं क्षेत्रजादीनां ॥ एकएवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः । शेषाणामानृशंस्यार्थप्रदद्यात्तु प्रजीवनमिति ॥
अतोऽस्ति सिद्धमेव दन्निमस्य रिक्थहरत्वं । इदन्तु वचनं सत्येवौरसे प्राप्त्यर्थमन्यथा न किंचिदनेन क्रियते कियांस्तु तस्य
भागइति विंशदंशाभावात्समऔरसेनेति केचित् । तदयुक्तं साम्येह्यभिधीयमाने यथैव पुत्रिकाप्रकरणे पठितमेवमत्राप्यपठि-
ष्यत् समस्तत्रविभागः स्यादिति तस्मात्क्षेत्रजवत्षष्ठाष्टमादिभागकल्पना कार्येत्युच्यते । अत्राप्यस्ति वक्तव्यं यथैव भागवि-
शेषोक्तः क्षेत्रजस्य षष्ठन्तु क्षेत्रजस्यांशमिति तथैव कृत्रिमेवक्ष्यति तस्मात्पुनर्वचने प्रयोजनं चिन्त्यं । उपाध्यायस्त्वाहा
पुनर्वचनाद्विशेषनिर्देशाभावाच्च क्षेत्रजान्यूनं कल्पना युक्ता न त्वभागता नापि समभागता न क्षेत्रजतुल्यतेति ॥ १४१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दन्निमो मातापितृदत्तः । यदि सर्वपुत्रगुणयुक्तस्तदा गोत्रान्तरे तद्विक्रयं पितृधनभागमन्य-
था सर्वमृकथं गृह्णीयात् । तेनामुख्यपुत्रोऽप्यतिशयितगुणवत्तायामुख्यपुत्रवत् भागहरइत्युक्तम् ॥ १४१ ॥

(३) कुल्लूकः । पुत्रारिक्थहराः पितुरेवेति द्वादशपुत्राणामेव ऋक्थहरत्वं वक्ष्यति दशापरे तु क्रमशइति औरसक्षे-

व्रजाभावे दत्तस्य पितृरिक्थहरत्वं प्राप्तमेव अतः सत्यप्यौरसपुत्रे दत्तकस्य सर्वगुणोपपन्नस्य पितृरिक्थभागप्राप्त्यर्थमिदं वचनं । यस्य दत्तकः पुत्रोऽध्ययनादिसर्वगुणोपपन्नो भवति सोऽन्यगोत्रादागतोऽपि सत्यप्यौरसे पितृरिक्थभागं गृह्णीयात् अत्रैकैवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुरित्यौरसस्य सर्वोत्कर्षाभिधानात्तेन नास्य समभागित्वं किन्तु क्षेत्रजोक्तषष्ठभागित्वमेवास्य न्याय्यम् । गोविन्दराजस्त्वौरसक्षेत्रजाभावे सर्वगुणोपपन्नस्यैव दत्तकस्य पितृरिक्थभागित्वार्थमिदं वचनमित्यवोचत्तन् । कृत्रिमादीनां निर्गुणानां पितृरिक्थभागित्वं दत्तकस्य तु तत्पूर्वपलितस्यापि सर्वगुणोपपन्नस्यैवेत्यन्याय्यत्वात् ॥ १४१ ॥

(४) राघवानन्दः । पुत्रारिक्थहराः पितुरिति द्वादशसुतानां वक्ष्यमाणानामेव रिक्थहरत्वमनुवदन् दन्निमस्य तदाह उपपन्न इति । अप्यन्यगोत्रत इत्यत्रापिशब्दात्त्वगोत्रतश्च । गुणैः विद्याविनयपितृश्रद्धादिपुत्रगुणैः । वक्ष्यमाणो दन्निमश्चौरस-क्षेत्रजाभावे रिक्थं संहरत् ॥ १४१ ॥

(५) नन्दनः । अथ दत्तपुत्रस्य दायमाह उपपन्न इति ॥ १४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । उपपन्न इति श्लोकद्वयस्य तात्पर्यम् । यस्मै दत्तो येन दत्तस्तयोरपि गोत्ररिक्थे हरेत्पुत्रोऽन्यगोत्र-जोऽपि जनयितुः गोत्ररिक्थानपहारित्वे अन्यगोत्रकृत्थानुगः पिण्डोजनयितुर्ददतः स्वधा व्यपैति उभयपितुः श्राद्धं दूरीक-रोति । उभावैकस्मिन्पित्रभेद इति साङ्गव्यायनसूत्रेण प्रतिग्रहीतृजनयित्रोः पिण्डयोर्विधानात् ततश्चोभयगोत्ररिक्थहरणपूर्व-कंपिण्डद्वयं देयमित्यर्थः ॥ १४१ ॥ १४२ ॥

गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद्दन्निमः कश्चित् ॥ गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा ॥ १४२ ॥

(१) मेधातिथिः । इतश्च भागहरत्वं दन्निमस्य तूक्तं यतो जनयितुः सकाशाद्गोत्रधनं न हरति वंशादपेतत्वात् गो-त्ररिक्थग्रहणाभावं च पिण्डमपि जनयित्रे न ददाति गोत्ररिक्थानुगाहि पिण्डो गोत्ररिक्थेऽनुगच्छति यदीये गोत्ररिक्थे गृह्येते तस्मै पिण्डोदकदानादौर्ध्वदेहिकक्रियते व्यपैतितस्मान्निवर्तते स्वधाकारसाधनं पिण्डश्राद्धादित्क्षयते तद्देते योन्य-स्मिन्त्वपुत्रं ददाति तस्मान्निवर्तते न तस्य कर्तव्यमित्यर्थः । एष एव न्यायः कृत्रिमादीनां सहोदापविद्ध्यामुष्यायणानामुभयो-पकारकत्वं अन्यैतु न हरेन्नहरयेदित्यन्तर्भावितण्यर्थव्याचक्षते तेनोभयस्यापि द्यामुष्यायणवदुपकर्तव्यमित्याहुः । उत्तर-स्तूपकारोपक्रमः तमेवंगमयन्ति यदि गोत्ररिक्थे न हरेत्पुत्रस्तदा तु व्याख्येयं न चैतदुक्तं न हर्तृन्तरभावे प्रमाणवत्कव्यम् ॥ १४२ ॥

(२) सर्वज्ञमारायणः । अत्र दन्निमस्य बीजधनसंबन्धीन कथंचिदित्याह गोत्रेति । अतएव नासौ द्यामुष्याय-णः प्रतिग्रहीतृगोत्रत्वात् । किन्तु देवरजपुत्रिकासुतावेव द्विपितृकत्वात् । गोत्ररिक्थानुगो गोत्रैकत्वे रिक्थहरणे च पिण्डदा-नमित्यर्थः । पुत्रं ददतस्तेन पुत्रेण कार्या स्वधा श्राद्धमपैति ॥ १४२ ॥

(३) कुल्लूकः । गोत्रधने जनकसंबन्धिनी दत्तकोन कदाचित्प्रामुष्यात् पिण्डश्च गोत्ररिक्थानुगामी यस्य गोत्ररि-क्थे भजते तस्यैव सपिण्डो दीयते तस्मात्पुत्रं ददती जनकस्य स्वधापिण्डश्राद्धादि तत्पुत्रकर्तृकं निवर्तते ॥ १४२ ॥

(४) राघवानन्दः । दन्निमः किं जनयितुर्गोत्रधनपिण्डसंबन्धी न वेति संशये सत्याह गोत्रेति । गोत्ररिक्थे वसुनि रिक्थमृक्थधनं वस्त्वित्यमरः । ते न प्राप्नोत्यतस्तद्वत्पिण्डोऽपि पितरं न गच्छति । तच्चेतुः गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो गोत्ररि-क्थनिमित्तः । ददती जनयितुः स्वधाऽवेति । स्वधेत्युपलक्षणं त्रिष्वप्यनधिकारीति भावः ॥ औरसक्षेत्रजाभावे दशपुत्राः प्रकीर्तिता इत्युक्तेस्तयोरभावे दन्निमो धनभागिति गोविन्दः । तयोः सत्वेऽपि धनभागदन्निमः । अन्यथा उपपन्न इत्यादिव्यर्थं विशेषणम् । अत आह मेधातिथिरिदं वचनं सत्यौरसे प्राप्त्यर्थमन्यथा न किंचिदनेन क्रियत इति ॥ १४२ ॥

(५) नन्दनः । दत्त्रिमोजनयितुरिति दत्त्रिमोजनयितुर्गोत्ररिक्थे न भजेन्न स्त्रीकुर्यात् किन्तु स्वयं यस्मै दत्तस्तस्य गोत्ररिक्थे हरेत् अत्र हेतुरपरार्द्धेनोच्यते गोत्ररिक्थेऽनुगच्छतीति । गोत्ररिक्थानुगः सगोत्ररिक्थहारी च पिण्डदोनान्य इत्यर्थः अतो ददतो जनयितुः स्वधापिण्डप्रदानादिकं व्यपैति ॥ १४२ ॥

अनियुक्तासुतश्चैव पुत्रिण्यामश्च देवरात् ॥ उभौ तौ नार्हतोभागंजारजातककामजौ ॥ १४३ ॥

(१) मेधातिथिः । अपुत्रे भर्तरि मृते पुत्रोत्पादने स्त्रियागुरुनियोगोपेक्षितव्यइत्युक्तंतस्यैवायमनुवादः । यागुरुभिरनियुक्ता पुत्रार्थिनी पुत्रमुत्पादयेत् क्षत्रं किलाहंभर्तुः क्षेत्रजश्च पुत्रस्तदर्थहरइत्यनया भ्रान्त्या सतस्यांसमुत्पन्नोनरिक्थहरः । यद्यपि क्षेत्रजादिविशिष्टेन विधिनोत्पन्नस्य शास्त्रे क्षेत्रजव्यपदेशात् नैवचास्य क्षेत्रजस्य रिक्थहरत्वमत्रवार्यते पिण्डदानंतु ननिषिध्यते । यद्यपि पतितोत्पन्नोभवति । नारदस्तु विशेषंस्मरति ॥ जातायेत्वनियुक्तयामेकेन बहुभिस्तथा । अरिक्थभाजस्ते सर्वे बीजिनामेवतेसुताः ॥ दद्युस्तेबीजिनेपिण्डमाताचेच्छुल्कतोद्धता । अशुल्कोपनतायांतुपिण्डदावोदुरेवतइति ॥ सुतवचनात्कृत्रिमादिवदुत्पत्तिविध्यभावात्पुत्रमध्येचापरिगणितत्वात् त्रैवर्णिकानांच बीजजाः प्रजीवनमात्रभागानरिक्थहराः यतोऽविशेषेण सर्वपुत्राणांभर्तरिभेतेस्मर्यते ऊर्ध्वमपि पितुःपुत्रोपकर्तव्यशिशुस्यधनस्य विभाज्यत्वाल्लभेरन्नेव प्रजीवनं एवमेवौरसादिपुत्रस्य सपिण्डबीजकाः प्रजीवनमात्रभागाःकर्तव्याः । रिक्थहरत्वंतु नास्ति परिगणितपुत्रविशेषोद्देशेनाश्रवणात् उक्तंचैतत् उक्तानांयद्येकरिक्थनौस्यातामिति । अत्रानेन चतुर्दशेनानियुक्तासूतादयइतरत्रानंशत्वाद्बीजिनोरिक्थंलभेरन्निति रिक्थंप्रजीवनपर्याप्तमेतद्विज्ञेयं उक्तत्वादस्याभागार्थएव दासीव भण्यते या समैतादासयोनयइति निरूपिता यासांप्रयोगार्थमवगन्तव्यं क्रियते तस्यांजातीनदासः सुतव्यपदेशाभावः शूद्रस्यापि तज्जाब्राह्मणादिवत्प्रजीवनभाजः । अन्यस्त्वाह नियतकर्मकराअपि दासाभवन्ति यथास्नापकः प्रसाधकः पाचकः पावकइति एवंकामतोप्यवरुद्धाभक्ताच्छादनेन पोष्यमाणादास्येभवन्ति । एवंपुत्रिण्याविद्यमाने पुत्र आमीदेवरान्नियुक्त्यापि कथंपुनः पुत्रवत्याभियोगः देवरएव कामार्थनियुक्तः पुत्रोत्पादनव्यपदेशेनेत्यभिप्रायः जारजातकत्वमुभयोः कामजत्वन्तु पुत्रवत्यां जातस्य आद्यार्थायांपुत्रार्थेव प्रवृत्तिर्न कामतोयेन ॥ १४३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नियोगापदोर्मिलितस्य देवरजस्य पुत्रत्वे निमित्तमाह अनियुक्तेति । असत्यपिपुत्रेनियोगादेवगुर्वादीनांप्रवर्तितव्यम् । एवं नियोगे सत्यपि स्वभृजे सुतेऽसत्येव सैवचापदित्युच्यते । जारजातककामजौ इत्युभयत्र । कामजः काममात्रोत्पादितः ॥ १४३ ॥

(३) कुल्लूकः । योगुर्वादिनियोगंविना जातीयश्च सपुत्राणानियोगेनापि देवरादेः कामादुत्पादितस्तावुभौ क्रमेण जारोत्पन्नकामाभिलाषजौ धनभागंनार्हतः ॥ १४३ ॥

(४) राघवानन्दः । निषेधप्रसंगेनान्यार्वापि भागित्वेन निषेधति अनियुक्तेति । अनियुक्ता अपुत्रा सती नियुक्तावांपुत्रवती । तत्र हेतुः जरिति । जारादुपपत्तेर्जातंजन्म यस्य सजारजातकः । कामाज्जातः कामजः पुत्रवत्यामातुःकामाज्जातः ॥ १४३ ॥

(५) नन्दनः । अथ क्षेत्रजानपि कांश्चिद्द्वयानर्हान् श्लोकत्रयेणाह अनियुक्तासुतइति । गुरुभिरनियुक्तायां देवराज्जातः सुतः नियुक्त्या तु पुत्रिण्या देवरादामश्च यथा संख्यं जारजातकामजातौ भागन्नार्हतः ॥ १४३ ॥

नियुक्तायामपि पुमान्नार्याक्षातोऽधिधानतः ॥ नैवार्हः पैतृकरिक्थंपतितोत्पादितोहि सः ॥ १४४ ॥

(१) मेधातिथिः । अविधानतः शुक्लवस्त्रादनियमत्यागोविधानाभावः सनार्हति रिक्थंनसौक्षेत्रजइत्यर्थः नियम-

त्यागेन देवरभ्रातृजाययोः पुत्रोत्पादने प्रवर्तमानयोर्युक्तपतितत्वं शास्त्रेण नियमितयोर्गमनानुज्ञानात् ॥ १४४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवं घृताभ्यङ्गादिनियमं विना पैतृकक्षेत्रिणो बीजिनो वा धनम् ॥ १४४ ॥

(३) कुड्मूकः । नियुक्तायामपि स्त्रियां घृताभ्यक्तत्वादिनियोगेति कर्तव्यतां विना पुत्रो जातः सक्षेत्रिकस्य पितुर्द्धनं लब्धुनार्हति यस्मादसौ पतितेनोत्पादितो नियुक्तौ यौ विधिहित्वेत्यनेन पतितस्योक्तत्वात् ॥ १४४ ॥

(४) राघवानन्दः । घृताभ्यक्तेति कर्तव्यताशून्येन विनियुक्तोत्पन्नोपि रिक्त्वा नर्हइत्याह नियुक्तायामपीति । नार्या स्त्रियाम् । अविधानत इति च्छेदः । पतितोत्पादितः विध्यतिक्रमेण पतितेन देवरेणोत्पन्नः ॥ १४४ ॥

(५) नन्दनः । अविधानतः घृताभ्यक्तत्वादिविधिराहित्येन ॥ १४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । पैतृकं क्षेत्रिकपितृसंबन्धि । सः नार्या विधानतः घृताभ्यक्तजातः ॥ १४४ ॥

हरेत्तत्र नियुक्तायाज्जातः पुत्रो यथौरसः ॥ क्षेत्रिकस्य तु तद्बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः ॥ १४५ ॥

(१) मेधातिथिः । यथौरसइत्येतदत्र विधीयते ज्येष्ठांशप्राप्त्यर्थमन्यदा नोच्यते अनेन विधानेन ज्येष्ठांशउद्धारक्षेत्रजस्य प्राप्यते ज्येष्ठभार्याजातस्यातश्च यत्पुत्रसमांशभाक्कमुपसर्जनं प्रधानस्येत्यनेन तस्यायमपवादः । उभयस्य च प्रामाण्यात् विकल्पितस्य च गुणापेक्षया व्यवस्थानेहान्यदस्य श्लोकस्य प्रयोजनमस्ति । प्रागुक्तत्वात् सर्वस्य क्षेत्रिकस्य क्षेत्रस्वामिनस्तद्बीजं तत्कार्यकरत्वात् प्रशंसयैवमुच्यते । अतएवाह धर्मतः धर्मेण शास्त्रीयया व्यवस्थया तत्र प्रमाणान्तरं दृश्येत रूपेण प्रसवः अपत्यार्थवादः श्लोकः ॥ १४५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यदा तु यथोक्तविधिना जनितः क्षेत्रजस्तदाह । हरेद्धनम् । यथौरसइति समभागसिद्ध्यर्थम् । तच्च क्षेत्रिकस्यैव यतो भ्रातृबीजमपि तस्यैव तद्बीजं विनियोगादतएव तस्यैव प्रसवोपीत्यर्थः ॥ १४५ ॥

(३) कुड्मूकः । तत्र नियुक्तायां योजातः क्षेत्रजः पुत्रऔरसइव धनं हरेत् यस्मात्तत्तस्य कारणभूतं बीजं तत्क्षेत्रस्वामिनएव तत्कार्यकरणत्वात् । अपत्यमपि च धर्मतस्तदीयं तद्यवीयान् ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पादयेद्यदीत्यनेन क्षेत्रजस्य पितामहधने पितृव्येन सह समभागस्य प्रोक्तत्वात् गुणवतः क्षेत्रजस्यौरसवत्त्वोद्धारभागप्राप्त्यर्थमिदमौरसतुल्यत्वाभिधानम् ॥ १४५ ॥

(४) राघवानन्दः । विधितः क्षेत्रजस्य धनहारित्वं सदृष्टान्तमाह हरेदिति । धर्मतो न्यायतः भूम्यादौ तथा निर्णीतत्वात् । क्षेत्रिकस्य तद्बीजं क्षेत्रान्तर्गतत्वात् । अतः प्रसवः पुत्रश्च ॥ १४५ ॥

(६) रामचन्द्रः । नियुक्तायां विधिपूर्वकमुत्पन्नः ॥ १४५ ॥

धनं यो बिभृयाद्भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव च ॥ सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम् ॥ १४६ ॥

(१) मेधातिथिः । विभक्तधनस्य भ्रातुरभावे विधिरयमुच्यते पूर्वस्तु सहवसत एतावान्पूर्वोत्तरयोर्विध्योर्विशेषः सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य नियोगधर्मेणेति व्याख्येयं न दद्यात्तस्यैव न पुनस्तदीयायै च मात्रे अनेनैव च दर्शेन स्त्रियो भरणार्हा न तु पतिधनैश्चर्यइति अन्यथैव वक्ष्यमाणत्वात्तस्यवचनं दद्यादिति ॥ १४६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बिभृयात् रक्षेत् । उत्पाद्योक्तविधिना दद्यात्तस्यैव न तु स्वयमप्यंशहरः ॥ १४६ ॥

(३) कुड्मूकः । यो मृतस्य भ्रातुः स्थावरजङ्गमधनं पत्न्यारक्षणाक्षमया समर्पितं रक्षेत्तां च पुष्णीयात् सनियोगधर्मेण तस्यामुत्पादितस्य भ्रातुरपत्यस्य दद्यात् । एतच्च धनं यो बिभृयाद्भ्रातुरित्यभिधानाद्बिभक्तभ्रातृविषयं यवीया ज्येष्ठभार्यायामिति समभागाभिधानात् ॥ १४६ ॥

(४) राघवानन्दः । अपत्यार्थे विनियुक्तविधवापत्यस्य धनहारित्वमाह धनमिति । चेति धनापेक्षया समुच्चये ।

तद्धनं विभक्तभ्रातुर्धनम् । अपत्याभावे तु साभर्तव्या न तु धनभाक् । ऋक्थं हरेतेत्यत्र श्लोके सह वसतो भ्रातुर्धनमौरसव
त्क्षेत्रजोपि प्रामुयादिति भावः ॥ १४६ ॥

(५) नन्दनः । तद्धनं तस्य मृतस्य भ्रातुर्धनम् ॥ १४६ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः मृतस्य भ्रातुः स्त्रियं धनं विभृयात् सः भ्रातुः क्षेत्रे अपत्यमुत्पाद्य तस्यैव । पुत्रस्य तद्धनं
भ्रातृसंबन्धि धनं दद्यात् ॥ १४६ ॥

या नियुक्तान्यतः पुत्रदेवराद्वाप्यवामुयात् ॥ तं कामजमरिक्थीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते ॥ १४७ ॥

(१) मेधातिथिः । अनियुक्तेन च प्रश्लेषोद्गृह्यः । पूर्वोक्तेन च विरोधे यतस्तथासत्यनर्थक इति चेदुक्तः पौन-
रुक्त्यपरिहारस्तत्र तु पूर्वानुमतमिच्छन्ति ततश्चेयं व्याख्या नियुक्तायामपि जातः पैतृकं रिक्थं नार्हति जारजमिति । यत्तु
उत्तरउच्यते यद्यपि नियोगात्प्रवर्तते न कामात्तथापि तत्र कामोवश्यभाव्युच्यते तं कामजमिति मिथ्योत्पन्नं यदर्थमु-
त्पादितस्तत्कार्यानर्हत्वादेवमुच्यते । एवं च पूर्वोक्तस्य भागार्हत्वस्य प्रतिषेधो यमतश्च विकल्पितं पाठे पुनः पाठान्न संगच्छे-
ततरामित्युपाध्यायः ॥ १४७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । या अनियुक्तेति विभाव्यभावोपलक्षणम् । यथान्यतो जातो जारजस्तथा देवरादपि जा-
त इति विशेषाभिधानार्थं पुनर्वचनम् । तेन देवरजन्यत्वमात्रेण विशेषेण शङ्कनीय इति तात्पर्यम् । मिथ्योत्पन्नं व्यर्थजातं
धर्मानधिकारिणमित्यर्थः ॥ १४७ ॥

(३) कुल्लूकः । या स्त्री गुर्वादिभिरनुज्ञाता देवराद्वाऽन्यतो वा सर्पिडात्पुत्रमुत्पादयेत्स यदि कामजो भवति तदा तम-
रिक्थभाजं मन्वादयो वदन्ति । अकामज एव रिक्थभागी । स च व्यादतो नारदेन ॥ मुखान्मुखं परिहरन्गात्रैर्गात्राण्यसंस्पृशन् ।
कुले तदवशेषे च संतानार्थं न कामत इति ॥ १४७ ॥

(४) राघवानन्दः । अनियुक्तासु तद्व्यस्योक्तदोषोयं मेति । अनियुक्तेति छेदः । अरिक्थीयं रिक्थसंबन्धिभिन्नम् ।
अकामजस्तु नारदवचनात् ज्ञेयः । तथा हि ॥ मुखान्मुखं परिहरन्गात्रैर्गात्राण्यसंस्पृशन् । कुले तदवशेषे च संतानार्थं न
कामत इति ॥ तल्लक्षणानाक्रान्तः कामज इति ध्येयम् ॥ १४७ ॥

(५) नन्दनः । गुरुभिर्नियुक्ता देवरादन्यतोऽदेवराद्वा हरेत् तन्त्विति तन्त्वरिक्थं नियुक्तायां देवरे सपिण्डे वा
॥ १४७ ॥

(६) रामचन्द्रः । या अनियुक्ता अरिक्थीयमभागार्होत्पन्नं वृथा जातम् ॥ १४७ ॥

एतद्विधानं विज्ञेयं विभागस्यैकयोनिषु ॥ बह्वीषु चैकजातानां नानास्त्रीषु निबोधत ॥ १४८ ॥

(१) मेधातिथिः । एकयोनिषु एकजातीयजानां सर्वहरत्वमेव नानास्त्रीषु नानाजातीयास्विदानीं व्याचक्षते । बह्वी-
ष्वित्यनुवादः । अन्ये तु विवक्षितं मन्यन्तेऽनेन नानाजातीयायां जातानां सर्वहरत्वमेव ॥ १४८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एकयोनिषु सर्ववर्णस्त्रीमात्रजनितेषु । एकजातानां एकेन जनितानां नानास्त्रीषु भर्तृभिन्ना
वर्णस्त्रीषु जातानाम् । बह्वीष्वित्युपलक्षणम् द्वयोरपि यथा ब्राह्मणस्य ब्राह्मणीक्षत्रिययोः पुत्रेष्विति ॥ १४८ ॥

(३) कुल्लूकः । समानजातीयासु भार्यास्वेकेन भर्ता जातानामेषां विभागविधिर्बोद्धव्यः । इदानीं नानाजातीयासु स्त्रीषु
बह्वीषून्पन्नानां पुत्राणां विभागं शृणुत ॥ १४८ ॥

(४) राघवानन्दः । एकजातीयस्त्रीजातानां विभागमुपसंहरन्विजातीयस्त्रीजातानां विभागं प्रतिजानीते एतदिति । एकयोनिषु समानजातीयाहु । एकजातानामेकपितृकाणाम् । नानास्त्रीषु विजातीयास्त्वित्यनुषज्यते ॥ १४८ ॥

(५) नन्दनः । एकयोनिष्वेकवर्णेषु एकजातानामेकेन पित्रा जातानां नानास्त्रीषु नानावर्णास्त्रीषु ॥ १४८ ॥

(६) रामचन्द्रः । एकयोनिषु सवर्णासु । बह्वीषु भिन्नवर्णासु एकजातानां एकेन जातानाम् ॥ १४८ ॥

ब्राह्मणस्यानुपूर्व्येण चतस्रस्तु यदि स्त्रियः ॥ तासांपुत्रेषु जातेषु विभागेऽयंविधिस्मृतः ॥ १४९ ॥

(१) मेधातिथिः । अनुपूर्वग्रहणंवृत्तीये दर्शितस्य क्रमस्यानुवादः अयमपि वक्ष्यमाणसंक्षेपप्रतिज्ञानार्थः ॥ १४९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आनुपूर्व्येण वर्णक्रमेण ॥ १४९ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणस्य यदि क्रमेण ब्राह्मण्याद्याश्चतस्रोभार्याभवेयुस्तदा तासांपुत्रेषूपन्नेष्वयंवक्ष्यमाणोविभागविधिर्मन्वादिभिर्भुक्तः ॥ १४९ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रादौ ब्राह्मणविषयकमाह ब्राह्मणस्येति । शूद्रायामननुमतिं सूचयति यदीति । विभागे कर्तव्ये अयंवक्ष्यमाणः ॥ १४९ ॥

(५) नन्दनः । अयं वक्ष्यमाणः ॥ १४९ ॥

कीनाशोगोवृषोयानमलङ्कारश्च वेश्म च ॥ विप्रस्यौद्धारिकंदेयमेकांशश्च प्रधानतः ॥ १५० ॥

(१) मेधातिथिः । एकस्यां तु विजातीयायां कदर्थेऽपिप्रयुज्यते । तस्येहासंभवादग्रहणं तथाच मन्त्रः इन्द्रासीत्सुरपतिः कीनाशाआसन्मरुतः यथासुतंकीनाशाअभियंतुवाहैरिति । यानंगच्छादिः । अलङ्कारः पितृधृताङ्गुलीयकादिः । वेश्म प्रधानं एकांशश्च यावन्तोऽशास्त्रतएकः प्रधानभूतस्तस्य दातव्यः । एतन्मध्यकादुद्धृत्य ज्येष्ठस्य शिष्टंवक्ष्यमाणकल्पनया विभजनीयम् ॥ १५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कीनाशः कर्षकः । गोवृषोगोषु रेतःसेकयोग्योक्तः । यानमेकं किंचिद्रथादि । अलङ्कारः पितुस्तस्यैव । वेश्मच । विप्रस्य विप्रपुत्रस्य । औद्धारिकमुद्धारः । तथा एकांशोयावानस्य विभज्यभागस्य त्र्यंशइत्यादिना वक्ष्यमाणस्य तृतीयांशस्तावानेकउद्धारभागः । प्रधानतोमुख्यधनादुत्क्रष्टादित्यर्थः ॥ १५० ॥

(३) कुल्लूकः । कीनाशः कर्षकोगवांसक्तोगोवृषोयानमश्वाद्यलङ्काराङ्गुलीयकादिवेश्मगृहं च प्रधानंयावन्तश्चांशास्तेष्वेकः प्रधानभूतोऽशइत्येतत् ब्राह्मणीपुत्रस्योद्धारार्थदेयमवशिष्टंवक्ष्यमाणरीत्या विभजनीयम् ॥ १५० ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रादौ सर्वद्रव्येभ्यः श्रेष्ठैर्कोशोब्राह्मण्यपत्याय देयइत्याह कीनाशइति । कीनाशः हालिकः । गोवृषः गोषु सेक्ता उक्षेति यावत् । यानमश्वादि । वेश्म प्रधानम् प्रधानतस्तस्यैव सर्वधर्मेषु प्राधान्यात् । औद्धारिकमुद्दारेण जयति । संभवद्विषयम् ॥ १५० ॥

(५) नन्दनः । कीनाशः कर्षकः एकांशश्च प्रधानद्रव्याणां संख्यासमं विभज्य तेष्वेकांशश्च विभज्य विप्रस्यौद्धारिकंदेयम् ॥ १५० ॥

(६) रामचन्द्रः । कीनाशः कर्षकः । गोवृषः गवांसेक्ता । अलङ्कारः पितुः । औद्धारिकः उद्धारः । विप्रस्य विप्रासु तस्यसर्वद्रव्यादुद्धृत्यैकांशःप्रधानतोदेयः ॥ १५० ॥

त्र्यंशंदायाद्धरेद्विप्रोद्वावंशौ क्षत्रियासुतः ॥ वैश्याजः सार्धमेवांशमंशंशूद्रासुतोहरेत् ॥ १५१ ॥

(१) मेधातिथिः । सत्यप्येकत्वश्रवणाद्विबहुष्वपि समांशेष्वेव कल्पना दर्शिता विषमसंख्येष्वकल्पना ॥ १५१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इतरत्सर्व सार्धसप्तभागां कृत्वाऽनया व्यवस्थया विभज्यमित्यर्थः । अभ्यर्थमेकमर्धाधिकम् । एतच्च यद्येकैकएव ब्राह्मण्यादिषु पुत्रस्तदा ॥ १५१ ॥

(३) कुल्लूकः । त्रीनंशान्ब्राह्मणो धनादृक्कीयात् द्वौ क्षत्रियापुत्रः सार्धवैश्यापुत्रः अंशंशूद्रासुतः । एवंच यत्र ब्राह्मणी-क्षत्रियापुत्रौ द्वावेव विद्येते तत्र पञ्चधाकृते धने त्रयोभागाब्राह्मणस्य द्वौक्षत्रियापुत्रस्य अनयैव दिशा ब्राह्मणीवैश्यापुत्रादौ द्विबहु पुत्रादौ च कल्पना कार्या ॥ १५१ ॥

(४) राघवानन्दः । तदनन्तरं सर्वद्रव्यं विभजनीयमित्यत्र प्रकारमाह त्र्यंशमिति । दायाद्विभजनीयद्रव्यात् । अभ्यर्थे अर्धाधिकमंशम् ॥ १५१ ॥

(५) नन्दनः । एवमुद्धरे च दत्ते परिशिष्टस्य विभागमाह त्र्यंशंदायाद्धरेदिति ॥ १५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । विप्रः विप्रासुतः ॥ १५१ ॥

सर्वं वा रिक्थजातं दशधा परिकल्प्य च ॥ धर्म्यं विभागं कुर्वीत विधिनाऽनेन धर्मवित् ॥ १५२ ॥

(१) मेधातिथिः । ऋक्थजातं धनरूपं धर्मप्रवचनाद्धर्म्यपूर्वोक्तं नानुमन्यते वक्ष्यमाणप्रतिज्ञाश्लोकात् ॥ १५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यदा तु सर्वासामनेके सुतास्तदाह सर्ववेति । अत्रपक्षे नोद्धारः । एतच्च समानेकपुत्रतायाम् ॥ १५२ ॥

(३) कुल्लूकः । यद्वा सर्वरिक्थप्रकारमनुद्धृतोद्धारं दशधा कृत्वा विभागधर्मज्ञो धर्मादनपेतं विभागमनेन वक्ष्यमाणविधिना कुर्वीत ॥ १५२ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव विकल्पमाह सर्वचेति द्वाभ्याम् । धर्म्यं । धर्मादनपेतम् ॥ १५२ ॥

(५) नन्दनः । पक्षान्तरमाह सर्वं वा रिक्थजातमिति । अनेन वक्ष्यमाणेन धर्मविदितिविशेषणेनास्य पक्षस्य मुख्यता सूचिता ॥ १५२ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनेन विधिना वक्ष्यमाणलक्षणेन ॥ १५२ ॥

चतुरोशान्हरेद्विप्रस्त्रीनंशान्क्षत्रियासुतः ॥ वैश्यापुत्रोहरेत् त्र्यंशमंशंशूद्रासुतोहरेत् ॥ १५३ ॥

(१) मेधातिथिः । इह विशेषेणापि क्षत्रियादिपुत्राणां भागश्रवणे स्मृत्यन्तरे विशिष्टायागमायाष्टमो भागविशेषः श्रूयते ॥ न प्रतिग्रहभूदेयाक्षत्रियासुतायवै । यद्यप्येषां पिता दद्यान्मृते विप्रासुतोहरेदिति ॥ प्रतिग्रहोपात्ता प्रतिग्रहभूः क्रयाद्युपात्ता याननिषेधस्तथान्यत्र पठ्यते ॥ शूद्रायां तु द्विजाज्जातो न भूमेर्भागमर्हतीति ॥ भूमिमात्रस्य शूद्रापुत्रे निषेधः । एतच्च यत्रान्यद्धनमस्ति तद्विषयं द्रष्टव्यं । अन्यथा दशमांशवचनमुपतिष्ठेत् धनान्तराभावे च जीविकैव न स्यात् । अहन्तु ब्रुवे भागदानं तु निषिध्यते । जीवितार्थत्वं चोपकल्पनमनिवारितमेव । कोविशेष इति चेत् द्वागपक्षे सर्वेण सर्वस्वरिक्थोत्पत्तौ दानविक्रयादिष्वपि युज्यते । इतरत्र नृपजीवनं तदुत्पन्नस्य ब्रीहोदनं च प्रजीवनं ब्राह्मणीपुत्रादेव शूद्रोलभ्यते । किंभूमिभागकल्पनया तथाचोक्तं लभते तद्वत्तिमूलमतेवासिविधिनेति सत्यं पितृधननिमित्तं तु तस्य प्रजीवनं कल्पयितव्यं । भागकाले च यदि न कल्पेत तदा द्विजातयोश्चात

रः कदाचिदसद्वृत्तयोनिमित्तान्तरतोवादानविक्रयादिनाऽपहरेयुः उच्छिद्येत । तदास्य जीवनविकल्पिते तु तदीयामनुज्ञामन्तरेण लभतेऽन्यत्रनियुक्तम् ॥ १५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चतसृणां विषमानेकपुत्रत्वे विप्रापुत्रलभ्यभागात्पादहीनः प्रत्येकः क्षत्रियासुतानामेवं वैश्यासुतानामर्थं शूद्रासुतानांपादइति यथाविधि भागः पतति तथा विभजनीयमित्यर्थाल्लभ्यते । यदातु ब्राह्मणीक्षत्रिययोरेवापत्यानि तदा समांशतां कृत्वा चतुरोशानित्यादि । यदातु ब्रह्मविजातीयभार्यात्रयपुत्रास्तदा नवांशान्कल्पयित्वा । एवं ब्राह्मणीवैश्याशूद्रापुत्रेषु सत्सु समांशान् । विप्राशूद्रापुत्रेषु सत्सु पञ्चेत्याद्युक्तम् । एवं क्षत्रियस्य क्षत्रविदशूद्रजातिभार्यात्रयपुत्रेषु सत्सु त्रयोद्वावेकांशइति षडंशादित्यादिव्यवस्थोहनीया ॥ १५३ ॥

(३) कुल्लूकः । चतुरोभागान्ब्राह्मणोगृह्णीयात् त्रीन्क्षत्रियापुत्रोद्वावैश्यापुत्रः एकंशूद्राजः । अत्रापि ब्राह्मणीक्षत्रियापुत्रसद्भावे समधाधने कृते चत्वारोभागाब्राह्मणस्य त्रयः क्षत्रियापुत्रस्य एवंब्राह्मणीवैश्यापुत्रादौ द्विवहुपुत्रेषु च कल्पना कार्या ॥ १५३ ॥

(४) राघवानन्दः । विधिमेवाह चतुरइति । एवं चतुर्णां विभागे जाते तत्र यस्य सजातीया बहवोद्वित्रावा भ्रातरः सतेभ्यः समतया विभजेदितिभावः [विकल्पस्याष्टदोषत्वादुणवद्ब्राह्मणीपुत्रभेदेनैववा व्यवस्थेति] ॥ १५३ ॥

यद्यपि स्यात्तुसत्पुत्रो दसत्पुत्रोपि वा भवेत् ॥ नाधिकं दशमादद्याच्छूद्रापुत्राय धर्मतः ॥ १५४ ॥

(१) मेघानिधिः । सपुत्रोविद्यमानपुत्रः ब्राह्मणीपुत्रएव वा विद्यमानोविषक्षितोनद्विजातिपुत्रमात्रमतश्चासति ब्राह्मणपुत्रे क्षत्रियवैश्ययोः सतोरप्यष्टमांशलभते केवलेच वैश्यपुत्रे तृतीयं अन्येत्वविशेषेण द्विजातिपुत्राभावे पुत्रपदेनोक्तइत्याहुः अस्मिन्पक्षे सपिण्डगामिदशमांशशेषधनं इयन्तुद्रष्टव्यवस्था बहुवचनयोगक्षेमे तदा दशमांशहरेच्छौद्रः । अथकतिपयजनजीवनपर्याप्ततदा शूद्रपुत्रस्यैव क्षत्रियादीनांसमानभावजातीयास्त्रीजातानांस्मृत्यन्तरेविधिर्दाशतः ॥ क्षत्रजास्त्रिद्वेकभागाविड्जाः स्युर्द्येकभागिनः ॥ क्षत्रियाजातास्वजातीयविजातीयासु शूद्रपर्यन्तासु वर्णक्रमेण ज्यादिभागहराः तदा तेन त्वधनंक्षत्रियस्य शूद्राः षष्ठमंशलभन्ते विशश्च तृतीयम् । अन्येत्वस्य श्लोकस्य सामर्थ्यमाहुः । शूद्रपुत्राय यदा ददाति तदानेन धनंसङ्कल्प्यदशोशोदातव्योनतदधिकः सत्यपि त्वातद्वये । यथावश्यति यदेवास्य पितादद्यादिति अस्मिन्पक्षे सपुत्रोदद्यादिति समानाधिकरणे पदे उपपन्नतरे इतरथायस्य सदसत्पुत्रः । पिता सदद्यादिति संबन्धोदुश्लिष्टः स्यात् । सपुत्रपदेनास्य पुत्रादेरभिधानं दद्यादिति जीवतः पुत्रसर्पिडादेः । ततश्च यदि क्षत्रियवैश्यापुत्रौ नस्तः केवलौ ब्राह्मणशूद्रौ तदा न शूद्रस्य दशमएवांशः किंतर्ह्यल्पनाधिकतरंधनंलभते यत्र दशगावः सन्ति तत्र चतस्रोब्राह्मणस्यैकाशूद्रस्य पञ्चक्षत्रियवैश्ययोः । यदातौ नस्तः तदा पञ्चगावस्तयैवकल्पनया ब्राह्मणशूद्राभ्यां विभजनीयाः । यदि सर्वाब्राह्मणआद्यान्चांशहरः स्यान्नचतुरंशहरस्तस्माच्चतुरोशान्हरेदिति चतुर्षु भ्रातृषु सत्सु कल्पना । शूद्रस्यापि दशमोशहरत्वंचतुर्ष्वेव द्वयोस्त्रिषु चतुर्षूभयोर्भागाधिक्यम् ॥ १५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सत्पुत्रइत्युत्तमस्त्रीजातपुत्रवान् पिता अपुत्रइतरवर्णपुत्ररहितः । नाधिकइति शूद्रापुत्राय दशमंभागं दत्त्वा शेषं पत्न्यादिभिर्याज्ञमितरपुत्राभावेपीत्यर्थः ॥ १५४ ॥

(३) कुल्लूकः । यदि ब्राह्मणोद्विजातिस्त्रीषु सर्वासु विद्यमानपुत्रः स्यादविद्यमानपुत्रोवा तथापि शूद्रापुत्रायानन्तराधिकारीयस्तेषु दशमभागादधिकधर्मतो न दद्यात् । एवंच शूद्रापुत्रविषये निषेधादविद्यमानसजातिपुत्रस्य क्षत्रियावैश्यापुत्रौ सर्वरिक्थहरौ स्याताम् ॥ १५४ ॥

(४) राघवानन्दः । पितुरिच्छया विभागेऽपि शूद्रापत्याय दशमोभागोदेयइति नियमयति यद्यपीति । सत्पुत्रः विद्यमानपुत्रः ब्राह्मण्यादिचतसृष्वपि यस्य ससत्पुत्रः । तास्वेवाविद्यमानः पुत्रोयस्य सोऽपुत्रइति । धर्ममनुरुध्य दशमांशादधिकं न दद्यादितिनियमः । अतएव याज्ञवल्क्यः ॥ चतुस्त्रिंशेकभागाः स्युर्वर्णशो ब्राह्मणात्मजाः ॥ क्षत्रजास्त्रिंशेकभागा विड्जा-स्युर्ध्वेकभागिन इति ॥ अत्र ब्राह्मणात्मजा ब्राह्मणा ब्राह्मण्यादिचतसृषु जाताः एवं क्षत्रजादिष्वित्यन्वयः ॥ १५४ ॥

(५) नन्दनः । सत्पुत्रः विद्यमानपुत्रः यद्यपि स्यात् । सपुत्रस्त्विति सम्यक्पाठः । नाधिकमंशं दशमांशाच्छूद्रापुत्राय दद्यात् ॥ १५४ ॥

(६) रामचन्द्रः । सत्पुत्रः विद्यमानब्राह्मणपुत्रः ॥ १५४ ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशांशूद्रापुत्रेण रिक्थभाक् ॥ यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धनं भवेत् ॥ १५५ ॥

(१) मेधातिथिः । न रिक्थभागद्विजातीनां शूद्रापुत्रः किंसदा नेत्याह । यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य पित्रा दशमांश-कल्पना कृता तदेव तत्तस्य तदधिकं पैतृकं नान्यल्लभते । तत्रापि शङ्केनोक्तं न शूद्रापुत्रोऽर्थभागी । यदेवास्य पिता दद्यात्स एव तस्य भागो गोमिथुनं त्वपरं दद्यात् विभागकाले भ्रातर इति वाक्यशेषः । अन्ये त्वनूढायाः शूद्रायाः पुत्रस्येवं विधिमिच्छन्ति । न ह्यत्र विवाहलिङ्गं किञ्चिदस्तीति । जातिविशेषवचनः शूद्राशब्दोऽतो यदेवास्य पिता दद्यात् अतो यदस्य प्रजीवनं पित्रा दत्तं तदेव दातव्यं । अथ तेन का विभागकल्पना कृता यावज्जीवं जीवनाय तदा तदेवास्य धनं भ्रातृभिः किञ्चिद्दातव्यं । यथा गौतमः शूद्रापुत्र प्रकरण एवाह अपरिग्रहीतास्वपि शुश्रूषा चेच्छभेत् वृत्तिमूलमन्तेवासिविधिनेति । तेषां भतेक्षत्रियवैश्ययोरनूढयोर्जातारिक्थहाराः प्राप्नुवन्ति तत्र च कियानंश इति न ज्ञायते यावानंश ऊढयोरिति चेत्तत्रापि नोढाग्रहणं न लिङ्गवचनं वास्ति । एक एव रैसः पुत्र इति धर्मपत्नीष्वोरसो न चानूढयोर्जातानामौरसलक्षणमस्ति उक्तं च अनियुक्ता सुतश्चैवेत्यादि अभ्रातृजाया विषयमेतत् । तत्र किल नियोगे विहितेऽनियुक्ता सुत इति प्रतिषेधेऽपि तद्विषया बुद्धिरुपजायते अत्राप्यस्ति तर्हि जातमात्रेऽपि तस्मात्प-रस्त्रीषु नियोगेन विनाऽनियुक्ता सु ताः सर्वेषां च तेषां प्रजीवनमुक्तम् ॥ १५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पितृदत्तं त्वधिकमपि लभ्यत एवेत्याह ब्राह्मणेति । न रिक्थभागदशमांशाधिकरिक्थभाक् । तदेव धनमधिकं लभ्यम् ॥ १५५ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां शूद्रापुत्रो धनभाक् न भवति किन्तु यदेव धनमस्मै पिता दद्यात्तदेव तस्य भवेत् एवं च पूर्वोक्तविभागनिषेधाद्विकल्पः सच गुणवद्गुणापेक्षः । अथवाऽनूढशूद्रापुत्रविषयोऽयं दशमभागनिषेधः ॥ १५५ ॥

(४) राघवानन्दः । पुत्रकर्तृकविभागे तु गुणहीनः शूद्रापुत्रो न दायभागित्याह ब्राह्मणेति । पितृतः प्राप्तधनस्य तस्य नांशोऽन्यथैकांश इत्युक्तम् । वस्तुतस्तु ज्येष्ठस्य विंश उद्धार इत्याद्युक्तगुणवद्विषयम् ॥ १५५ ॥

(५) नन्दनः । किमयं दशमोऽंशः शूद्रापुत्राय देयो नेत्याह ब्राह्मणक्षत्रियविशामिति ॥ १५५ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणेति अंशभाक् ब्राह्मणः पुत्रः निर्गुणः ॥ १५५ ॥

समवर्णासु ये जाताः सर्वे पुत्राद्विजन्मनाम् ॥ उद्धारं ज्यायसे दत्त्वा भजेरन्नितरे समम् ॥ १५६ ॥

(१) मेधातिथिः । वाशब्दो द्वितीयं विकल्पमन्तरेणानुपपद्यमानः प्रकृतमपेक्ष्य निराकाङ्क्षो भवति । समवर्णास्वसमवर्णासु वाशब्दस्यैव सर्वधनहरत्वं निषेधाद्विजातिविषयमेव विज्ञायते तेन ब्राह्मणस्यासति ब्राह्मणीपुत्रेक्षत्रियादिजाताः सर्वधनहरा भवन्तीत्युक्तं भवति । एवं क्षत्रियावैश्यापुत्रः न त्वयमर्थः । उद्धारं ज्यायसे दत्त्वा सर्वेऽसवर्णा जाताः समं सवर्णापुत्रैर्भ-

जेरन् प्रागुक्तैकांशापचयविरोधात् यद्यप्युक्तं निर्गुणेषु सवर्णापुत्रेषु गुणवत्स्वितरेषु युक्तमेव साम्यं । तथाप्युक्तं सवर्णापुत्रोऽन्यायवृत्तो न लभते केषामिति तदेतदसत् [जातेरत्यन्तमान्यत्वात्]^१ उत्पन्नोवार्थत्वाभ्यामन्याचार्या इति तेनेयमत्र व्याख्या । असत्सु सवर्णेष्वपि येयातास्तेपि जायांशमुद्धारेण सवर्णाद्विभजेरन् ॥ १५६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । समेति समवर्णमात्रपुत्रत्वे उद्धारोद्धारणं ज्येष्ठस्य विंशउद्धारइत्यादि नान्यथेत्यर्थः ॥ १५६ ॥

(३) कुल्लूकः । द्विजातीनां समानजातिभार्यासु ये पुत्रा जातास्ते सर्वे ज्येष्ठायोद्धारं दत्त्वाऽवशिष्टं समभागं कृत्वा ज्येष्ठेन सहान्ये विभजेरन् ॥ १५६ ॥

(४) राघवानन्दः । अयं त्वगुणवद्विषयइत्याह समेति । उद्धारं किंचिच्छ्रेष्ठद्रव्यम् ॥ १५६ ॥

(५) नन्दनः । अथपितृतोऽसवर्णानां मातृसवर्णानां विभागमाह समवर्णास्त्विति ॥ १५६ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्विजन्मनां ब्राह्मणक्षत्रियविशां सर्वद्रव्यात्वरं ज्यायसे वर्णश्रेष्ठाय उद्धारमुद्धृत्य दत्त्वा पश्चादितरे भ्रातरः समं भजेरन् ॥ १५६ ॥

शूद्रस्य तु सवर्णैव नान्या भार्याविधीयते ॥ तस्यां जाताः समांशाः स्युर्यदि पुत्रशतं भवेत् ॥ १५७ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रतिलोमाविवाहः शूद्रस्य नेष्यते उक्तानुवादोऽयं तस्यां जाताः समांशाः स्युरिति । पञ्चमस्य जात्यन्तरस्याभावादेवमुक्तं सवर्णैव तस्य भार्या नान्यास्तीति ॥ १५७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । समांशाः स्युर्नतूद्धारइत्यर्थः ॥ १५७ ॥

(३) कुल्लूकः । शूद्रस्य पुनः समानजातीयैव भार्योपदिश्यते नोत्कृष्टाऽवकृष्टा वा तस्यां च ये जातास्ते यदि पुत्रशतमपि तदा समभागा एव भवेयुस्तेनोद्धारः कस्यचिन् देयः ॥ १५७ ॥

(४) राघवानन्दः । शूद्रस्यासवर्णाभावमनुवदंस्तत्पुत्राणां सम एव विभागइत्याह शूद्रस्येति । पुत्रशतं भवेदिति केमुच्यम् ॥ १५७ ॥

(६) रामचन्द्रः । समांशाः स्युः सममंशगृह्णीयुः ॥ १५७ ॥

पुत्रान्द्वादशयानाह नृणां स्थायं भुवो मनुः ॥ तेषां षड्बन्धुदायादाः षड्दायादबान्धवाः ॥ १५८ ॥

(१) मेधातिथिः । वक्ष्यमाणसूत्रस्थानमेतत् बन्धुशब्दो बान्धवपर्यायः गोत्रहरादायहराश्च षडितरे विपरीताः यद्व तत्तन्तदुपरिष्ठान्निदर्शयिष्यते ॥ १५८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बन्धुदायादाः बन्धूनां पितृव्यादीनां पुत्रपत्नीदुहित्राद्यभावे दायस्य तद्धनस्यादातारः । उत्तरे तु न दायदादायग्राहकाः पितृव्यादीनां किंतु पुत्रपत्न्यादिविरहेपि तेषां गोत्रजादय एव धनहरानमी बन्धवस्तूदकदानाद्यधिकारिणो भवन्ति । अदायादा अबान्धवा एवेत्यस्यार्थः ॥ १५८ ॥

(३) कुल्लूकः । यान्द्वादशपुत्रान्द्वैरप्यगर्भो मनुराह तेषां मध्यादायाः षड्बान्धवा गोत्रदायादाश्च तस्माद्बान्धवत्वेन सपिण्डसमानोदकानां पिण्डोदकदानादिकुर्वन्त्यनतराभावे च गोत्रदायं गृह्णन्ति । पितृरिक्थभाक्तस्य पुत्ररिक्थहराः पितुरिति द्वादशविधपुत्राणामेव वक्ष्यमाणत्वात् उत्तरे षट् न गोत्रधनहरा भवन्ति बान्धवास्तु भवन्ति ततश्च बन्धुकार्यमुदकक्रियादिकुर्वन्ति । मेधातिथिस्तु षड्दायादबान्धवा इत्याद्युत्तरषड्भ्यसादायत्वमबान्धवत्वं चाह तन्न । बौधायनेन बन्धुत्वस्याभिहितत्वात् । तदाह ॥ कानीनं च सहोदं च क्रीतपौनर्भवंतथा ॥ त्वयंदन्तिनषाद च गोत्रभाजः प्रचक्षते । १५८ ॥

(१) आ आ

(४) राघवानन्दः । ते पुत्राः कतिविधेत्यपेक्षायांपूरयन् तेषु दायभाजमाह पुत्रानिति । बन्धुदायादाः गोत्रपिण्डोदकदानधनग्रहणप्रयोजनाः । अदायादबान्धवाः दायमंशं न लभन्तेऽथच बन्धुवदुदकदानेनोपकुर्वन्ति उदकमात्रप्रयोजनाइतिभावः ॥ १५८ ॥

(५) नन्दनः । एवमौरसानां सवर्णानां समवाये विभागउक्तइदानीमौरसानां क्षेत्रजादीनाश्च समवाये विभागविवक्षन्पुत्राणां द्वैविध्यन्तावदाह पुत्रानद्वादशयानिति । बन्धवोदायादश्च बन्धुदायादाः पिण्डप्रदाः सगोत्रबान्धवाः । अदायादबान्धवा इत्यत्र दायदत्तं बन्धुत्वश्च निषिध्यते नञ्जातिर्निषिध्यते दायदत्तमेवेति केचित् ॥ १५८ ॥

(६) रामचन्द्रः । तेषांयद्वबन्धुदायादाः बन्धुकृत्योदकदानादिकारिणः बन्धुदायादाः । षट् दायदबान्धवाः ॥ १५८ ॥
औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिमएव च ॥ गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायदाबान्धवाश्च षट् ॥ १५९ ॥

(१) मेधातिथिः । श्लोकद्वयेन संख्यानिर्देशोवर्गद्वयप्रदर्शनार्थः ॥ १५९ ॥ १६० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । औरसकानीनइति श्लोकावेतौ द्विभागार्थौ । अत्र पुत्रिकापुत्रस्यौरसतुल्यतया पृथगभिधानम् ॥ १५९ ॥ १६० ॥

(३) कुल्लूकः । औरसादयोवक्ष्यमाणाः षट् रिक्थभाजोबान्धवाश्च भवन्ति ॥ १५९ ॥

(४) राघवानन्दः । पुत्राणां द्वादशत्वं विभजन्दायादानाह औरसइतिद्व्याभ्याम् । एषां लक्षणानि वक्ष्यमाणानि । अत्रापि पूर्वषट्काभावे उत्तरोत्तरोगोत्ररिक्थभाक् । तथाच बौधायनः ॥ कानीनं च सहोढं च क्रीतं पौनर्भवं तथा ॥ स्वयं दत्तं निषादं च गोत्रभाजः प्रचक्षतइति ॥ अत्र गोत्रपदं रिक्थाद्युपलक्षणम् गोत्ररिक्थहराःपितुरित्येकवाक्यनिर्दिष्टत्वात् ॥ १५९ ॥ ॥ १६० ॥

(५) नन्दनः । पुत्रिकापुत्रस्य पौत्रतुल्यतया पुत्रैश्चनुपादानं क्षेत्रजशब्देन संगृहीतत्वाच्चेति ॥ १५९ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्वाभ्यामाह औरसेति । औरसः १ क्षेत्रजः २ दत्तः ३ कृत्रिमः ४ गूढोत्पन्नः ५ अपविद्धः ६ ॥ १५९ ॥

कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा ॥ स्वयंदत्तश्च शौद्रश्च षड्दायादबान्धवाः ॥ १६० ॥

(३) कुल्लूकः । कानीनादयोवक्ष्यमाणलक्षणाः षड्गोत्ररिक्थहरान् भवन्ति बान्धवाश्च भवन्तीति व्याख्यातम् ॥ १६० ॥

(६) रामचन्द्रः । कानीनः ७ सहोढः ८ क्रीतः ९ पौनर्भवः १० स्वयंदत्तः ११ शूद्रायामुत्पन्नः शौद्रः १२ षड्दायादबान्धवाः ॥ १६० ॥

यादृशंफलमाप्नोति कुप्लवैः संतरञ्जलम् ॥ तादृशंफलमाप्नोति कुपुत्रैः संतरंस्तमः ॥ १६१ ॥

(१) मेधातिथिः । क्षेत्रजादीनामौरसेन सहोपदेशात्तु नाशङ्का तन्निषेधार्थमिदं नतुल्यमौरसेनोपकारं कर्तुं शक्ताः कुपुत्राः क्षेत्रजादयः असत्यपि विशेषश्रवणे प्रकृतत्वादेवं व्याख्यानयन्ति । अन्ये तु कुपुत्रानभियुक्तास्तु तान्मन्यन्ते । एतदुक्तं भवति नैतेषु सत्सु पुत्रवानहमिति कृतिनमात्मानं मन्यन्ते किंतु औरसोत्पादने पुनरपि यज्वता भवितव्यं तमपारलौकिकं दुष्कृतकं मर्जन्दुःखमृणापाकरणनिमित्तं सप्रजयापितृभ्यइति ॥ १६१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कुप्लवैर्दूरप्लवनासमर्थैः प्लवैः गुणं पारगमनरूपं क्लेशेनाप्नोति । कुपुत्रैरमुख्यत्रैः तमोनरकं संतरता । एतेन नात्यन्तफलापेक्षेत्युक्तम् ॥ १६१ ॥

(३) कुल्लूकः । औरसेन सह क्षेत्रजादीनां पाठात्तुल्यत्वाद्वाङ्मातान्निरासार्थमाह यादशमिति । तृणादिनिर्मितकुत्सितोडुपादिभिरुदकंतरन्यथाविधं फलं प्राप्नोति तथा विधमेव कुपुत्रैः क्षेत्रजादिभिः पारलौकिकं दुःखं दुरुत्तरं प्राप्नोतीत्यनेन क्षेत्रजादीनां मुख्यैरसपुत्रवत्संपूर्णकार्यकरणक्षमत्वं भवतीति दर्शितम् ॥ १६१ ॥

(४) राघवानन्दः । सत्पुत्रेष्वेव यतितव्यमित्यर्थवादेन द्रढयति यादशमिति । कुल्लूकैस्तृणादिनिर्मितैः । फलं शीतादिकं दुःखं प्राप्नुवन्पि तीर्णो भवत्येवम् । तमः पिण्डोदकाद्यदानकृतनरकम् । कुपुत्रैर्दत्तं मुख्यं न भवतीति भावः ॥ १६१ ॥

(५) नन्दनः । कुपुत्राणां पित्रापकारित्वं दायादत्वप्रतिपत्त्यर्थमाह यादशं फलमिति । कुपुत्रैर्निर्गुणैरनियुक्तापुत्रादिभिश्च तमोनरकम् ॥ १६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । कुल्लूकैः कुत्सितप्लवैर्जलसंतरन्यादशंगुणं दुःखमामोति तादशंगुणं कुपुत्रैः तमः नरकं संतरन् तादशं गुणं दुःखं आमोति ॥ उडुपंतु प्लवः कोलइत्यमरः ॥ १६१ ॥

यद्येकरिक्थिनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ सुतौ ॥ यस्य यत्पैतृकरिक्थं सतद्ब्रह्मीत नेतरः ॥ १६२ ॥

(१) मेधातिथिः । क्लीबस्य प्रागुपात्ते क्षेत्रजे यत्तत्पजप्रमीतस्य व्याधितस्य वेति पश्चादौषधे कथंचित्क्लीबवत् निवृत्तौ संभवति तदीयमेवासौ रिक्थं लभेतेति जनयितुर्यदि नाम पितृव्यपदेशः स्यादपि जनको हेतुः तस्मादपि पुत्रः सुतोयमुपचारात्क्षेत्रजइत्युक्तस्तत्रौरसे बाले मातृधने गृहीते कथंचिदपचारिणः पुत्रमपत्यमुत्पादितं भवतीति न च तदा यत्तमेव प्रीत्यादिना धनं कृतं न चास्य सपिण्डाः सन्ति अस्यामवस्थायां यद्यस्य पित्र्यमुपपद्यते लिङ्गमनियुक्ता सुतादयोऽसत्सु सपिण्डेषु जनयितूरिक्थहरा भवतीति । अन्येतु व्याचक्षते सतिदायदेसमुत्पन्नः क्षेत्रजः स जनयितुर्लभते रिक्थं क्षेत्रिकात्सत्यौरसे उक्तश्च तस्य सत्यौरसे भागः औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितूरिक्थस्य भागिनाविति । तथा षष्ठन्तु क्षेत्रजस्यांशमिति एकहस्तस्थधनौ यथा च तौ भवतस्तथा दर्शयति ॥ १६२ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अविभक्ते भ्रातरि मृते तद्धनं गृहीत्वा तत्पत्न्यां देवरेण पुत्रउत्पादिते तस्यापि सपुत्रत्वे पश्चात्तस्मिन्मृते विभागे क्रियमाणे क्षेत्रजस्य क्षेत्राधिपस्य पितुर्भागमात्रं न तु बीजिधनादपि भागोस्तीत्यर्थः ॥ १६२ ॥

(३) कुल्लूकः ॥ अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः ॥ उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतइति याज्ञवल्क्योक्तविषये । यदा क्षेत्रिकस्य पितुः क्षेत्रजानन्तरमौरसः पुत्रो भवति तदा तावौरसक्षेत्रजावेकरिक्थिनौ एकस्य पितुर्यद्यपि रिक्थाहौ भवतस्तथापि यद्यस्य जनकसंबन्धिते देव सगृहीत्यान् क्षेत्रजः क्षेत्रिकपितुः । यत्तु वक्ष्यति ॥ षष्ठन्तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात् ॥ औरसो विभजन्दायमिति तत्पुत्रबहुलस्य । यत्तु याज्ञवल्क्येनोभयसंबन्धिरिक्थहरत्वमुक्तं तत्क्षेत्रिकपितुरौरसपुत्राभावे बोद्धव्यम् । मेधातिथिगोविन्दराजौ तु औरसमनियुक्तापुत्रं च विषयीकृत्ये मंश्लोकं व्याचक्षाते तन् । अनियुक्तापुत्रस्याक्षेत्रजत्वादनियुक्ता सुतश्चेत्यनेन तस्य रिक्थग्रहणनिषेधाद्येकरिक्थिनावित्यनन्वयाच्च ॥ १६२ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र यस्य विधितः क्षेत्रजादूर्ध्वमौरसो जातस्तस्य धनमौरस एव प्राप्नोतीत्याह यदीति । एक-
रिक्थिनावेकस्य पितुः नेतरः क्षेत्रजः । यस्तु ॥ अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः ॥ उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतइति याज्ञवल्क्यवचनात्तदौरसाभावविषयम् । भावे तु क्षेत्रिणः स्वभौरसो हरेत् । बीजिनः त्वं क्षेत्रज इति आह यस्य यदीति । यदि बीजिनो धनमस्ति न चेदौरसमनियुक्तापुत्रयोर्नियुक्तापुत्रस्य षष्ठांशस्य वक्ष्यमाणत्वादिति गोविन्दराजमेधतिथी ॥ १६२ ॥

(५) नन्दनः । एकरिक्थिनाविभक्तधनौ यत्र कुले भ्रात्रोरेकस्यौरसः पुत्रोऽपरस्य क्षेत्रजस्तौच भ्रातरौ विभक्तधनौ मृतौ विभक्तधनयोरपि मृतयोः पश्चात्पितामहोमृतस्तद्विषयमेतद्वचनम् ॥ १६२ ॥

(६) रामचन्द्रः । एकस्य रिक्थिनौ सुतौ स्यातां औरसक्षेत्रजयोः यस्यौरसस्य यत्पैतृकरिक्थं अंशः तत्स गृहीयात् नेतरः इतरः क्षेत्रजो न गृहीयात् ॥ १६२ ॥

एकएवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः ॥ शेषाणामानृशंस्यार्थप्रदद्यात्तु प्रजीवनम् ॥ १६३ ॥

(१) मेधातिथिः । सत्यौरसे क्षेत्रजादन्ये सर्वेऽदायादाः प्रजीवनमौरसाल्लभेरन् । आनृशंस्यमपापं अददत्पापमामोति ॥ १६३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एकएवेति इदमनेकविधपुत्रसद्भावे ॥ १६३ ॥

(३) कुल्लूकः । व्याध्यादिना प्रथमौरसपुत्राभावे क्षेत्रजादिषु कृतेषु पश्चादौषधादिना विगतव्याधेरौरसउत्पन्ने सतीदमुच्यते औरसएवैकः पुत्रः पितृधनस्वामी शेषाणां क्षेत्रजव्यतिरिक्तानां तस्य षष्ठंशादेर्वक्ष्यमाणत्वात् । पापसंबन्धपरिहारार्थं ग्रासाच्छादनं दद्यात् ॥ १६३ ॥

(४) राघवानन्दः । एतदेव द्रव्यन्नन्येषामपि क्षेत्रजं विना दत्तादीनां ग्रासाच्छादनमात्रमाह एकइति । वसुनो धनस्य । पित्र्यस्य पितृसंबन्धिनः । प्रजीवनं ग्रासाच्छादनादि ॥ १६३ ॥

(५) नन्दनः । एवन्तावत्पितृभेदे क्षेत्रजस्यापि दायमामिरुक्ता तदभेदे त्वौरसस्यैव दायप्रामिर्नान्येषामित्याह एकएवौरसः पुत्रइति । जीवनमेव प्रजीवनं अन्यतो लब्धवृत्तिना जीवना प्रदानेन दोषइति सूचितम् ॥ १६३ ॥

(६) रामचन्द्रः । एकएवौरसः पित्र्यस्य वसुनो द्रव्यस्य प्रभुः । शेषाणां क्षेत्रजादीनामानृशंस्यार्थं पापयोगपरिहारार्थप्रदद्यात् ॥ १६३ ॥

षष्ठन्तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात् ॥ औरसो विभजन्दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा ॥ १६४ ॥

(१) मेधातिथिः । ऋतादिपुत्रवत्प्रजीवनमात्रे ग्रामे क्षेत्रजस्य भागविकल्पो यमुच्यते सच गुणापेक्षः ॥ १६४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यदा त्वैकस्यां भार्यायामज्ञातगर्भायां भर्ता मृतः अन्याच पत्नी पुत्रार्थं देवरे नियुक्ता पुत्रमलभत पूर्वस्यांचौरसः पुत्रो जातस्तदा विभागमाह षष्ठंत्विति । षष्ठमनिर्गुणवत्त्वे गुणवत्त्वे तु पञ्चममिति ॥ १६४ ॥

(३) कुल्लूकः । औरसः पुत्रः पितृसंबन्धिदायं विभजन् क्षेत्रजस्य षष्ठमंशं पञ्चमं वा दद्यात् निर्गुणसगुणापेक्षश्चायं विकल्पः ॥ १६४ ॥

(४) राघवानन्दः । औरसानां परस्परं विभागे कर्तव्ये क्षेत्रजस्याप्यंशमाह षष्ठंत्विति । गुणवदगुणवद्भेदेन विकल्पः । एतन्तु बीजधनाग्रामौ तत्प्राप्तौ तु नांशभागित्युक्तं यद्यस्य पैतृकमित्यत्र ॥ १६४ ॥

(५) नन्दनः । आनृशंस्यार्थमिति सत्यौरसेयोयं शेषाणामभागउक्तस्तस्य क्षेत्रजविषयेऽपवादमाह षष्ठन्तु क्षेत्रजस्यांशमिति । विकल्पो गुणापेक्षः एवं क्षेत्रजस्य देयोंशउक्तः ॥ १६४ ॥

(६) रामचन्द्रः । औरसः पित्र्यं दायं विभजन् क्षेत्रजस्य षष्ठं वा पञ्चममेव वा ॥ १६४ ॥

(१६४) पित्र्यं=षष्ठं (ख, ग)

औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृरिक्थस्य भागिनौ ॥ दशापरे तु क्रमशोगोत्ररिक्थांशभागिनः ॥ १६५ ॥

(१) मेधातिथिः । आद्योयंश्लोकः पूर्वोक्तविध्यनुवादएव पुनर्विध्यन्तरमौरसेन साम्यक्षेत्रजस्य नेष्यते गोत्रभागिनोरिक्थांशभागिनश्च रिक्थांशः प्रजोवनसंमितइत्युक्तः । दत्तके च क्षेत्रजवत् । स्मृत्यन्तरमुदाहरन्ति क्रमशः औरसक्षेत्रजौ युगपद्भागहरावन्येषांतु पूर्वाभावउत्तरस्य भागहरत्वं यद्येषांषट्दायादाः षड्दायादाइति वर्गद्वयप्रतिभागेन दायादायादयोरनयोरिक्थवचनमनुपपन्नं । सत्यौरसेऽदायादाइति आद्याः षण्महोपकारादितरेषट् न्यूनाइति । आद्याऔरसादन्ये समानाफ लाएवमुत्तरेषट् ततोऽन्यूनाअवान्तरपेक्षयातुल्याएव न पूर्वोत्तरपठितानांभेदोस्ति ॥ १६५ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । पितृक्रक्थस्य पित्रार्जितधनस्य । अत्रौरसत्वेनपुत्रिकापुत्रोपि गृहीतः । दशापरइति गोत्ररिक्थं पितामहाद्युपात्तं ततोऽंशभागिनः नतु पित्रा स्वयमार्जितादंशदंशहारिणः । केचित्तु पितृक्रक्थस्य कृत्स्नस्य गोत्रभागिनः पितृगोत्रक्रक्थांशभागिनः स्वजीवमात्रोचितपितृक्रक्थांशभागिनइत्यर्थमाहुः ॥ १६५ ॥

(३) कुल्लूकः । औरसक्षेत्रजौ पुत्रावुक्तप्रकारेण पितृधनहरा स्यातामन्ये पुनर्दशदत्तकादयः पुत्रागोत्रभाजोभवन्ति । पूर्वाभावे परः परइत्येवंक्रमेण धनांशहराश्च ॥ १६५ ॥

(४) राघवानन्दः । तयोरुक्तप्रकारेण धनभाक्तमनुवदन् तयोरभावेऽन्येष्वपि दशसु पूर्वपूर्वाभावे उत्तरोत्तरोधनभागित्याह औरसेति । क्रमशः पूर्वपूर्वाभावे परःपरइति ॥ १६५ ॥

(५) नन्दनः । अथ दत्तकृत्रिमादीनामंशमाह औरसक्षेत्रजौपुत्राविति । पुत्राविति दशापरे दत्तकृत्रिमादयो-गोत्ररिक्थांशभागिनः गोत्रभागिनो रिक्थभागिनश्च रिक्थांशोजीवनमात्रं अन्येत्वाहुः पूर्वार्धेन क्षेत्रजस्यौरसतुल्यत्वं प्रतिपादितांशप्राप्त्यर्थं प्रतिपादितं उत्तरार्धेन दत्तादीनां रिक्थैकदेशभाक्त्वमिति ॥ १६५ ॥

(६) रामचन्द्रः । अपरेदशपुत्रादत्तकादयः क्रमशः गोरिक्थांशभागिनः पूर्वपूर्वाभावे परःपरोरिक्थभागी स्यात् ॥ १६५ ॥

स्वक्षेत्रे संस्कृतायान्तु स्वयमुत्पादयेद्वियम् ॥ तमौरसंविजानीयात्पुत्रप्रथमकल्पितम् ॥ १६६ ॥

(१) मेधातिथिः । आत्मीयवचनः स्वशब्देन समानजातीयतामाह । एतेन स्वयंसंस्कृतायां जातऔरसइतरथाऽसंस्कृतार्यानिवृत्तिपरः संस्कृतशब्दः संभाव्यते । ततश्चान्येन संस्कृतायामन्यऔरसः स्यात् उक्तार्थे च स्वशब्दे क्षत्रियादिपुत्रा अप्यौरसाभवन्ति तेषामन्यपुत्रलक्षणमस्ति अन्येतु प्राथमकल्पिकमौरसविशेषणंचतुरः । क्षत्रियापुत्रानौरसान्संपूर्णलक्षणा-न्मन्यन्ते । एवंतु व्याख्याने यथा स्वक्षेत्रे संस्कृतायामसंपूर्णलक्षणऔरसस्तच्चस्वेऽसंस्कृतायांप्राप्नोति किंपुनः क्षत्रियादीना-मौरसत्वेन पुत्रास्तावद्भवन्ति परिमितांशभाजश्च । अथोच्यते असत्यौरसक्षेत्रजादिलक्षणे द्वादशसंख्यानियमात्कथंपुत्रत्वमिति । अत्रोच्यते किमुलक्षणेन लोकतोव्यवहारप्रसिद्धेः तथाहि योयतोजातः सतस्य पुत्रइति लौकिकाव्यवहरन्ति । तथा च जनके कश्चित्पितृव्यवहारंकुर्वन्त्यो नेति बोध्यते नैषते पिता नहित्वमनेन जातइत्यन्वयव्यातिरेकाभ्यां जनकः पिता जन्यश्च पुत्रइत्येतदवगम्यते । विशेषव्यपदेशार्थस्तु लक्षणारम्भः येतुक्षेत्रजादिजनके वा पुत्रत्वमिति तत्कार्यनिबन्धनमप्युत्तरस्यापि कार्यविधानात्पुत्रत्वं पुत्रत्वस्य तन्निषेधान्नजातत्वमिति । तथाचैते प्रतिनिधयउच्यन्ते तैरत्रायंजन्मनिबन्धे हि पुत्रत्वे औरसपुनर्भवनियुक्तासुतानांविशेषो न स्याज्जन्मनस्तुल्यत्वात् किंच पुत्रकार्यकारणानैवकश्चिदपुत्रः स्यात् यस्तु लौकिकोव्यवहारः असौजनकेऽपि पितृव्यवहारादर्शनाह्यभिचारी तेन सत्यपि प्रयोगइन्द्रादिशब्दवल्लोकतोर्थातिशयाच्छा-स्त्रे चोत्पत्तिविधानाद्भार्यादिव्यवहारवत्पुत्रव्यवहारोवगन्तव्यः । तत्र च यदौरसस्य प्राथमकल्पिकत्ववचनंतत्र व्यवहारो-

वगन्तव्यः न व्यवहारे किंत्तुपकारेपि पितरूपकारेण दृष्टेयथौरसोभूयांसंशक्रीत्यपकर्तुमितिज्ञापयति । उपकारापचयोहि प्रायश्चित्तप्रतिनिधिव्यवहारः नक्षेप्रातिनिधिता संभवति प्रारब्धस्य कर्मणोद्गोपचारप्रतिनिधेर्नच पुत्रकर्मणिमोऽपत्योत्पादनकर्मणोगुणकर्मत्वात् तेन सत्येव क्षेत्रजेप्रतिनिधित्ववचनमौरसत्वप्रशंसार्थं । यथाऽपशवोवाऽन्येगोऽश्वेभ्यः पशवोगोऽश्वानिति पशूनामपशुत्ववचनंगवा [श्वानां] प्रशंसितुं यदा च योयदीयाद्विजाज्जातः सतस्य पुत्रइति तथा च दर्शितमहाभारते । द्वैपायनाज्जाताः पाण्डुधृतराष्ट्रविदुरादयोनेते व्यासपुत्रा इति व्यपदिश्यन्ते । अथस्वयंप्रयोजनंक्षत्रियादिपुत्राणामौरसत्वंतथोपपादितं । अथक्षत्रियापुत्रिकापुत्रत्वे द्वादशसंख्यातिरेकआमोति भवतु कोदोषः त्रयोदशोयंपुत्रोस्तुऔरसेन तुल्यफलत्वात् तद्गृहणमतस्तत्सान्ध्याच्च । तथाच स्मृत्यन्तरं ॥ तत्समः पुत्रिकासुतइति ॥ १६६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उक्तपुत्राणालक्षणाभ्याह स्वक्षेत्रइति । स्वक्षेत्रे स्वसवर्णक्षेत्रे संस्कृतायां स्वयंपरिणीतायाम् । प्राथमकल्पिकं मुख्यम् ॥ १६६ ॥

(३) कुल्लूकः । स्वभाषायां कन्यावस्थायामेव कृतविवाहसंस्कारायां यत्स्वयमुत्पादयेत्तपुत्रमौरसमुख्यंविद्यात् सवर्णायांसंस्कृतायामुत्पादितमौरसपुत्रंविद्यादितिबौधायनदर्शनात्सजातीयायामेव स्वयमुत्पादितऔरसोऽज्ञेयः ॥ १६६ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तौरसादीनां लक्षणमाह स्वक्षेत्रइतिचतुर्दशभिः । स्वयमुद्वाहितायामुरःसंश्लेषणजातत्वादौ रसः । क्षेत्रजेतदभावनारदेनोक्तोगात्रैर्गात्राप्यसंस्पृशन्नित्यादिना ॥ सवर्णायां संस्कृतायां स्वयमुत्पादितमौरसं जानीयादितिबौधायनदर्शनात्सजातीयोत्पन्नः औरसः । अत्र सवर्णापदं द्विजत्वादिजातिपरं अन्यथा क्षत्रियावैश्याशूद्रासुजातानां विप्रादित्रयपितृकाणामौरसत्वाभावेनापुत्रत्वापत्तिरिति । तत्र परं सजातीये मुख्यमौरसत्वमन्येषां गौणमितिभावः । स्वक्षेत्रइति क्षेत्रशब्दस्याजहल्लिङ्गता । प्राथमक कल्पिकं उत्सर्गतः सर्वत्राधिकारिणम् ॥ १६६ ॥

(५) नन्दनः । अथौरसादीनां लक्षणमाह स्वक्षेत्रे संस्कृतायान्त्विति । प्रथमकल्पितंप्रधानत्वेन कल्पितम् ॥ १६६ ॥

(६) रामचन्द्रः । औरसादीनांद्वादशानामुत्पत्तिमाह त्वेति स्वक्षेत्रे संस्कृतायामूढायांस्वयमुत्पादयेत् द्विजंतऔरसपुत्रं प्रथमकल्पितं पुत्रमुख्यंविजानीयात् ॥ १६६ ॥

यस्तत्पुत्रजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा ॥ स्वधर्मेण नियुक्तायां सपुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः ॥ १६७ ॥

(१) मेधातिथिः । व्याधितस्याप्रतीकारराजयक्ष्मादिव्याधितस्यअवशिष्टंस्पष्टम् ॥ १६७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तत्पुत्रं भार्या तस्यां सवर्णाद्वा देवराद्वा सपिण्डाद्वा जातः । स्वधर्मेण क्षेत्रजोत्पत्तिधर्मेण घृताभ्यङ्गादिना स्वपुत्रःक्षेत्रजः ॥ १६७ ॥

(३) कुल्लूकः । योषुतस्य नपुंसकस्य प्रसवविरोधिव्याध्युपेतस्यवा भार्यायां घृताक्तत्वादिनियोगधर्मेण गुरुनियुक्तायां जातः सक्षेत्रजः पुत्रोमन्वादिभिः स्मृतः ॥ १६७ ॥

(४) राघवानन्दः । क्षेत्रजं लक्षयति यइति । प्रमीतस्येति पतिताद्युपलक्षणम् क्लीबस्येत्यपत्यजनकत्वाभावपरं तेन पाण्डवाः संगताः । अत्रतु प्रयाजादिवत्प्राक्कर्मोविवक्षितस्तेन पूर्वपूर्वाभावे उत्तरीत्तरस्यैवाधिकारिता । क्षेत्रजः क्षेत्रमत्र पत्नी तत्रजातः ॥ १६७ ॥

(५) नन्दनः । तत्पुत्रस्तत्पुत्रेषु दारेषु जातः नियुक्तायामित्युक्तत्वादन्येन देवरेण सपिण्डेन वा जनितः ॥ १६७ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः तत्पुत्रः भार्यायांजातः स्वधर्मेण घृताभ्यङ्गेन नियुक्तायांसपुत्रः क्षेत्रजःस्मृतः ॥ १६७ ॥

माता पिता वा दद्यातां यमद्विः पुत्रमापदि ॥ सदृशंप्रीतिसंयुक्तंसज्ञेयोदत्रिमः सुतः ॥ १६८ ॥

(१) मेधातिथिः । चशब्दः पठितुंवायुक्तोमातापिताचेति ननुभयोरपत्यमन्यतरानिच्छांदातुंयुक्तं । अथापि वाशब्दः पठ्यते । तथाचोक्तं माता पिता वा दद्यात्तयोरपि पिताश्रेयानिति कार्यान्तरविनियोगविषयमेतत् ननु सत्त्वापत्तौ मातुःस्वमिति पितरिपुत्रंप्रतिदानृत्वंसत्यंपितृवृत्तिवचने अभावे बीजिनामितियोगविशेषविषयत्वात्सदृशमित्युक्तं । आहच वसिष्ठः न स्त्रीपुत्रंदद्यात्प्रतिगृह्णीयाच्चेति ॥ सदृशं ज्ञातितः किंतिर्हि कुलानुरूपैर्गुणैः क्षत्रियादिरपि ब्राह्मणस्य दत्तकोयुज्यते प्रीतियह्णलोभादिना प्रतिषेधार्थम् ॥ १६८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । माता पितर्यसति । अद्विरुदकपूर्वम् । आपदि स्वतस्तस्य रक्षणाशक्तौ ॥ १६८ ॥

(३) कुल्लूकः । शुक्रशोणितसंभवः पुरुषोमातापितृनिमित्तकस्तस्य प्रदानविक्रयपरित्यागेषु मातापितरौ प्रभवतइति वसिष्ठस्मरणात् । माता पिता वा परस्परानुज्ञया यंपुत्रंपरिग्रहीतुः समानजातीयंतस्यैव पुत्राभावनिमित्तायामापदि प्रीतियुक्तंनतुभयादिनोदकपूर्वंदद्यात्सदत्रिमाख्यः पुत्रोविज्ञेयः ॥ १६८ ॥

(४) राघवानन्दः । दत्रिमस्य रुत्रिमस्यच लक्षणमाह मातेतिद्वाभ्याम् । अद्विरित्यवश्यम् । आपदीति ग्रहीतुः संतानक्षयपरं दुर्भिक्ष्यादिपरंवादातुः । सदृशं जात्या प्रीतिसंयुक्तं न बलोपाधिकृतम् ॥ १६८ ॥

(५) नन्दनः । सदृशं सवर्णं आपदीति विशेषणादनापदि दत्तस्य न्यूनत्वं प्रीतिसंयुक्तमिति विशेषणाद्भयादिना दत्तस्य न्यूनताग्राह्या आपदत्र संतानपरिक्षयः प्रतिग्रहीतुः ॥ १६८ ॥

सदृशान्तु प्रकुर्याद्यंगुणदोषविचक्षणम् ॥ पुत्रपुत्रगुणैर्युक्तंसविज्ञेयश्च रुत्रिमः ॥ १६९ ॥

(१) मेधातिथिः । अत्रापि सदृशोगुणतएवविज्ञेयः सतु सदृशंसवर्णव्याचक्षते । तेषांसजातीयइति एषपाठोयुक्तो यद्ययमर्थोभिप्रेतः ननुजात्यासादृश्यमपि तुक्तमेव गुणदोषविचक्षणंकेचिदाहुस्तावन्न क्रियते यावन्मग्नमव्यवहारः नस्यसौ गुणदोषानूजानाति तथात्वेवंजानाति जातोयेन च संप्रति पुत्रतया भरणमे क्रियते तस्याप्यहंपुत्रइत्यभ्युपगतपुत्राभावात्तथैव ग्रहीतव्योऽपित्वन्यतरत्वे विशेषोनास्ति ॥ १६९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सदृशं सवर्णं गुणदोषविचक्षणं नतु बालं कुर्यात् त्वंममपुत्रइतिनियम्य । पुत्रगुणैर्वयोल्पत्वादिभिः । गुणदोषविचक्षणइतिक्वचित्पाठः तत्र कर्तुर्गुणदोषज्ञानोक्त्या पतितादित्वेन ज्ञात्वा यदि पुत्रं कुरुते तदा नासौ पुत्रइति विवक्षितम् ॥ १६९ ॥

(३) कुल्लूकः । यंपुनः समानजातीयंपित्रोः पारलौकिकश्राद्धादिकरणाकरणाभ्यां गुणदोषौ भवतइत्येवमादिज्ञं पुत्रगुणैश्च मातापित्रोराराधनादियुक्तंपुत्रंकुर्यात्सरुत्रिमाख्यः पुत्रोवाच्यः ॥ १६९ ॥

(४) राघवानन्दः । गुणदोषविचक्षणं अस्यैवाहइतिगुणादोषोजनैकपथयातितेति । पुत्रगुणैर्विधाविनय श्राद्धश्राद्धाद्यैः ॥ १६९ ॥

(६) रामचन्द्रः । यं गुणदोषविचारक्षमं पुत्रं पुत्रगुणैः पित्रादिशुश्रूषादिकैर्युक्तं । योगी रुत्रिमस्यात्स्वयंकृतइति ॥ १६९ ॥
उत्पद्यतेगृहे यस्य नच ज्ञायेत कस्य सः ॥ सगृहे गूढउत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः ॥ १७० ॥

(१) मेधातिथिः । नच ज्ञायेत माता यद्युद्गाह्या बहुशोगता वा तदा नज्ञायते का पूनस्तस्य जातिर्यतः पुर्वै-

क्तं अविज्ञातबीजिनो मातुः एतच्च यत्र हीनजातीयपुरुषशङ्कानास्ति तदा शङ्कायां हि प्रतिलोमसंभवः प्रतिलोमत्वान्न कचि-
त्पुरुषकार्याधिकारिणः ॥ १७० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गृहे पाणिग्राहस्य सवर्णैरनेकैर्ऋतुकाले संसर्गो निश्चितोऽपि व्यक्तिविशेषानिश्चयात्कस्या-
यं गर्भइत्यनिश्चयः । नत्वधमवर्णगमनसंदेहेऽपि । यस्य तल्पजो भार्यायां जातः ॥ १७० ॥

(३) कुल्लूकः । यस्य गृहेऽवस्थितायां भार्यायां पुत्रोत्पद्यते सजातीयोऽयं भवतीति ज्ञानेऽपि कस्मात्पुरुषविशेषा-
ज्जातोऽसाविति न ज्ञायते सगृहेऽप्रकाशमुत्पन्नस्तस्य पुत्रः स्याद्यदीयायां भार्यायां जातः ॥ १७० ॥

(४) राघवानन्दः । गूढोत्पन्नं लक्षयति उदिति । तस्मिन्जीवति गोलकइति बहुकालवशाद्यभिचारिण्यापल्यामाक-
त्यादिलिङ्गकोन्योत्पन्नः अयं त्वव्यक्तलिङ्गको गूढोत्पन्नइति भेदः गृहे भार्यायां स्वपत्न्याम् । सवालः गृहे गूढं रहस्युत्पन्नः
यस्य तल्पजस्तस्यैवसः [तल्पोऽत्रपतिः] ॥ १७० ॥

(५) नन्दनः । कस्यचिदन्वैतिकरणं द्रष्टव्यम् ॥ १७० ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्य तल्पजः भार्यायां जातः सतस्य स्यात् । योगी गृहे प्रच्छन्नोत्पन्नो गूढजः सुतः
स्मृतः ॥ १७० ॥

मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा ॥ यंपुत्रं परिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते ॥ १७१ ॥

(१) मेधातिथिः । बहुप्रजातया भरणसमर्थेनात्यन्तदुर्गत्या केनचिद्वादोषयोगेन मातापितृभक्तिहीनत्वादिना न
पुनः प्रत्यक्षत्वेन तस्य न कचिदेव पुत्रकार्यधिकारइति दर्शितं । अन्यत्वमप्यन्यतरेणोत्सर्गः परिग्रहः पुत्रबुद्ध्या न तु
तज्जीवितेच्छया च ॥ १७१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उत्सृष्टमन्यत्मा अदत्त्वा त्वरादिना परित्यक्तं तत्काले च तस्यापरिग्रहे रक्षणं संभवत्ये-
वेति निश्चित्य गृह्णीयात् । अयमपि सर्वएव ॥ १७१ ॥

(३) कुल्लूकः । मातापितृभ्यां त्यक्तं तयोरन्यतरमरणेनान्यतरेण वा त्यक्तं पुत्रं स्वीकुर्यात्सोऽपविद्धाख्यः पुत्र उच्यते
॥ १७१ ॥

(४) राघवानन्दः । अपविद्धं लक्षयति मातेति । ताभ्यामुत्सृष्टत्वादपविद्धत्वम् ॥ १७१ ॥

(५) नन्दनः । अयमपि सर्वएव ॥ १७१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्यतरेणापि पुंसां तयोर्मातापित्रोः सकाशात् उत्सृष्टं यंपुत्रं परिगृह्णीयात्सोऽपविद्ध उच्यते ।
योगी उत्सृष्टो गृह्णीते यस्तु सोऽपविद्धो भवेत्सुतः ॥ १७१ ॥

पितृवेश्मनि कन्या तु यंपुत्रं जनयेद्ब्रह्मः ॥ तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् ॥ १७२ ॥

(१) मेधातिथिः । अयं श्लोकः प्राक्स्वयंदत्तकृत्रिमापविद्धेषु अस्य च भागकल्पना प्राक्निरूपिता । प्रतिग्रहभूमिनि-
षेधश्च सत्यस्मिन्धनेन तावत् ॥ १७२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वोढुः विवाहयितुः पुत्रं तथा मातामहस्याप्यसौ सुतान्तराभावे ऋक्थहरः मातामहसुतो-
मतइति याज्ञवल्क्यवचनात् । एतदपि सवर्णोत्तमवर्णजनितस्य ज्ञाने ॥ १७२ ॥

(३) कुल्लूकः । पितृगृहे कन्यायंपुत्रमप्रकाशं जनयेत्तंकन्यापरिणेतुः पुत्रं नाम्ना कानीनं वदेत् ॥ १७२ ॥

(४) राघवानन्दः । कानीनमाह पितृति । वोढुः कन्याकाल एव जनितपुत्रामुद्वाहकस्य । कानीनः कन्यकाजा तोमातामहसुतोमतइति मातामहस्य पुत्राभावे तद्धनाद्यधिकारित्वपरमित्यन्यभेदं मनुवाक्यं विरुध्यते । यतो अरुता वारुतावेत्यनेनोद्वाहितासु तस्य धनहारित्वमिति भेदः ॥ १७२ ॥

(५) नन्दनः । वोढुस्तंपुत्रं विदुः न कन्यापितुः ॥ १७२ ॥

(६) रामचन्द्रः । तं कन्यासमुद्भवं पुत्रं वोढुः विवाहकर्तुः ज्ञेयं । योगी कानीनः कन्यकाजातः ॥ १७२ ॥

या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञातापि वा सती ॥ वोढुः सगर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते ॥ १७३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ज्ञाता गर्भिणीत्वेन । इदमपि पूर्ववत् ॥ १७३ ॥

(३) कुल्लूकः । या गर्भवती अज्ञातगर्भाज्ञातगर्भा वा परिणीयते सगर्भस्तस्यां जातः परिणेतुः पुत्रो भवति सहो-
ढ इति व्यपदिश्यते ॥ १७३ ॥

(४) राघवानन्दः । सहोढं लक्षयति चेति । ज्ञाता ज्ञातोवोर्गर्भिणीत्वेन सं संस्क्रियते पाणिग्रहणमन्तैः । अतः-
संस्क्रियमाणया कन्याया सहोढः प्राप्त इति सहोढः ॥ १७३ ॥

(५) नन्दनः । संस्क्रियते परिणीयते ॥ १७३ ॥

(६) रामचन्द्रः । या कन्या गर्भिणी संस्क्रियते विवाहादि संस्काराः क्रियन्ते ज्ञाताज्ञातापि वा सती सगर्भो वोढु-
र्भवति सहोढ इत्युच्यते । योगी गर्भे विनः सहोढः ॥ १७३ ॥

क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थमातापित्रोर्यमन्तिकात् ॥ सक्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोपि वा ॥ १७४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सदृशोऽसदृशः सवर्णो धर्मवर्णो वेत्यर्थः ॥ १७४ ॥

(३) कुल्लूकः । यः पुत्रार्थमातापित्रोः सकाशाद्यं क्रीणीयात् सक्रीतकस्तस्य पुत्रो भवति । क्रेतुर्गुणैस्तुल्यो हीनो भवेत्
तत्र जातितः सादृश्यवैसादृश्ये सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु मया विधिरिति याज्ञवल्क्येन । सर्वेषां भवे पुत्राणां सजातीय-
त्वाभिधानत्वेन मानवेऽपि क्रीतव्यतिरिक्ताः सर्वे पुत्राः सजातीया बोद्धव्याः ॥ १७४ ॥

(४) राघवानन्दः । क्रीतं लक्षयति क्रीणीयादिति । यद्यस्मात् । सदृशोऽसदृश इति गुणवानगुणवान्वा न तु विजा-
तीयः । सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु विधिर्येति याज्ञवल्क्योक्तेः ॥ १७४ ॥

(५) नन्दनः । अन्तिकात् सकाशात् ॥ १७४ ॥

(६) रामचन्द्रः । सक्रीतकः सुतस्तस्य मूल्यदातुः पुत्रः । सदृशः गुणैः सदृशोऽसदृशोपि वा क्रीतश्च ताभ्यां वि-
क्रीतः ॥ १७४ ॥

यापत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया ॥ उत्पादयेत् पुनर्भूत्वा सपौनर्भव उच्यते ॥ १७५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पुनर्भूत्वान्यस्य भार्या भूत्वा ॥ १७५ ॥

(३) कुल्लूकः । या भर्त्रा परित्यक्ता वृत्तभर्तृका वा स्वेच्छयाऽन्यस्य पुनर्भार्या भूत्वा यमुत्पादयेत् स उत्पादकस्य
पौनर्भवः पुत्र उच्यते ॥ १७५ ॥

(४) राघवानन्दः । पौनर्भवं लक्षयति चेति । स्वेच्छया पुनरन्यस्य भार्या भूत्वापुनर्वोदुर्भूत्वा विधवाभूत्वा यंपुत्रमुत्पादयेत्सपौनर्भवः उत्पादकस्येतिशेषः ॥ १७५ ॥

(५) नन्दनः । पुनर्भूत्वा पुनः कस्यचिद्भार्याभूत्वा ॥ १७५ ॥

(६) रामचन्द्रः । पुनर्भूत्वा अन्यस्य सवर्णस्य भार्या भूत्वा पुत्रमुत्पादयेत्सपौनर्भवउच्यते । योगी अक्षतायांक्ष-
तायां वा जातः पौनर्भवः सुतः ॥ १७५ ॥

सा चेदक्षतयोनिः स्याद्रतप्रत्यागतापि वा ॥ पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥ १७६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । पुनर्भूसंस्कारमाह साचेदिति । अक्षतयोनिः पत्या संस्कारमात्रं कृत्वा परित्यक्ता प्राप्त-
वैधव्यावा । गतप्रत्यागतातु पित्राऽन्यस्माअङ्गीकृता स्वेच्छया परिणयार्थमन्यंप्रति गत्वा तेन परिणीता पुनः पित्रभि-
मतंवरंप्रत्यागता अक्षतयोनिरेव । पौनर्भवेन यंगत्वा विश्रान्ता तेन पुनर्विवाहहोमादिसंस्कारंसार्हति । एतेन या क्षत-
योनिः पुनर्भूतसंस्कारार्हेत्युक्तम् । पुनर्भूतं तु उभयथापि । एतासूत्पन्नः पौनर्भवोबीजिनः सुतः ॥ १७६ ॥

(३) कुल्लूकः । सा स्त्री यद्यक्षतयोनिः सत्यन्यमाश्रयेत्तदा तेन पौनर्भवेन भर्त्रा पुनर्विवाहाख्यंसंस्कारमर्हति । यद्वा
कौमारंप्रतिमुत्सृज्यान्यमाश्रित्य पुनस्तमेव प्रत्यागता भवति तदा तेन कौमारेण भर्त्रा पुनर्विवाहाख्यंसंस्कारमर्हति ॥ १७६ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रासंगिकमाह साचेति । यंबालं विहाय गता पुनर्यौवने तमेव प्रत्यागताऽपिवायं प्रतिगता
वोभयोरपिपुनर्भवभर्तृत्वाद्वाभ्यामपि संस्कारमर्हति विवाहो चितम् । वाशब्दात्क्षतयोनिरपि क्षता क्षतजयुक्ता योनि र्य-
स्याः । ऋतुमती ॥ अक्षताच क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः । स्वैरिणी यापति हित्वा सवर्णं कामतः श्रेयेदिति याज्ञव-
ल्क्योक्तेः ॥ ज्ञातिधनगर्वात्स्वपतित्यागे श्वभक्षणं नतु कामतस्त्यागेकामस्य त्वाभाविकत्वाद्देनेन पूर्वापराविरोधः ॥ १७६ ॥

(५) नन्दनः । अक्षतयोन्याः पुनः संस्कारानर्हत्वं प्रसङ्गेनाह साचेदक्षतयोनिः स्यादिति । भर्तृगृहाद्रताप्रत्यागता
सत्यप्यक्षतयोनिश्चेत्पौनर्भवेन पुनर्भूपुत्रेण केनचिद्वरेण ॥ १७६ ॥

(६) रामचन्द्रः । सा पुनर्भूः । अक्षतयोनिः स्यात्गतप्रत्यागतापिवा परिणेतृगृहेगतातेनाक्षतयोनिः वासापौनर्भ-
वेन भर्त्रा पुनः संस्कारमर्हति ॥ १७६ ॥

मातापितृविहीनोयस्यक्तोवा स्यादकारणात् ॥ आत्मानंस्पर्शयेद्यस्मै स्वयंदत्तस्तुसंस्मृतः ॥ १७७ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अकारणात्पातित्यादित्यागकारणेषुअसत्सु । स्पर्शयेद्द्यात् तच्चोदकपूर्वमत्र । रुन्निमे-
तु तेन परियहमात्रमस्य सान्तत्येनेतिविशेषः ॥ १७७ ॥

(३) कुल्लूकः । योमृतमातापितृकस्त्यागोचितकारणंविना द्वेषादिना ताभ्यांत्यक्तोवाऽऽत्मानंयस्मै ददाति सत्स्व-
यंदत्ताख्यस्तस्य पुत्रोमन्वादिभिः स्मृतः ॥ १७७ ॥

(४) राघवानन्दः । स्वयंदत्तं लक्षयति मातेति । अकारणात् पातित्याद्यहेतोः । स्पर्शयेद्द्यात् । त्यक्तः पितृभ्या-
मितिशेषः । यस्मात्तात्मानं स्पर्शयेत्तस्यैव पुत्रःसइतिस्मृतः ॥ १७७ ॥

(५) नन्दनः । स्पर्शयेद्द्यात् ॥ १७७ ॥

(६) रामचन्द्रः । मातापितृविहीनः यः अकारणात्त्यक्तःयस्मैआत्मानं स्पर्शयेद्द्यात्सः स्वयंदत्तः स्मृतः ॥ १७७ ॥

यंब्राह्मणस्तु शूद्रायांकामादुत्पादयेत्सुतम् ॥ सपारयन्नेव शवस्तस्मात्पारशवः स्मृतः ॥ १७८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कामादिति शूद्राभिगमस्यकाममात्रपरत्वादुक्तम् । ब्राह्मणइति क्षत्रियस्याप्युपलक्षणम् । वैश्यस्य शूद्रापुत्रोपि ब्राह्मणस्येव क्षत्रियापुत्रः स्ववर्णसदृशएव । पारयन्नेव कर्मणे शक्तएवसन् शवोऽनधिकारी । एतेन ज्ञात्यन्तरासत्वेपि तस्य न पित्र्यधनहारित्वं किंतु संबन्धिनोपि ब्राह्मणस्यैवेत्युक्तम् ॥ १७८ ॥

(३) कुल्लूकः । विनास्वेषविधिः स्मृतइति याज्ञवल्क्यदर्शनात्परिणीतायामेव शूद्रायां ब्राह्मणः कामार्थपुत्रंजनयेत्सजीवन्नेव शवतुल्यइति पारशवः स्मृतः । यद्यप्ययंपित्रुपकारार्थंश्राद्धादिकरोत्येव तथाप्यसंपूर्णोपकारकत्वाच्चव्यपदेशः ॥ १७८ ॥

(४) राघवानन्दः । शौद्रं लक्षयति यमिति । शूद्रायां यथाविब्यूढायां । सपारयन् जीवन्नेव शवतुल्यत्वात्पारशवः । शूद्रापत्यस्य निन्दितत्वं सूचयति कामादिति । असंपूर्णोपकारत्वाद्वा ॥ १७८ ॥

(५) नन्दनः । पारयजीवयन् शवोमृतप्रायः पारशवोनाम निर्वचनमेतत् बीजगुणस्य श्रेष्ठ्येपि क्षेत्रदोषात्सजीवन्मृतकल्पइत्यर्थः कर्मानधिकारात् ॥ १७८ ॥

(६) रामचन्द्रः । यंसुतं शूद्रायांउत्पादयेत्कामतःसः पारयन्नेव कर्मसु शवएवशवः शवकल्पः तस्मात्पारशवः स्मृतः ॥ १७८ ॥

दास्यां वा दासदास्यां वा यः शूद्रस्य सुतोभवेत् ॥ सोनुज्ञातोहरेदंशमिति धर्मोव्यवस्थितः ॥ १७९ ॥

(१) मेधातिथिः । शूद्रस्यानूढायामनियुक्तायामपि जातः सुतएव । एवंयद्यपि दासस्य दासीत्यर्थेपि वचनात्तस्यां जातो न दासस्य दासस्वामिनः सोनुज्ञातःपित्रा सममंशमौरसेन हरेज्जीवितभागे क्रियमाणे अन्यथावा यदि ब्रूयादेषवः समां शइति यदा तु पिता नानुजानाति । तत्स्मृत्यंतरे पठितं ॥ जातोपि दास्यां शूद्रेण कामतोऽशहरोभवेत् । कामतोयावन्तमंशंपि तानुजानाति ॥ मृतेपितरि कुर्युस्तंभ्रातरस्त्वर्धभागिनं ॥ तंकुर्युः स्वांशापेक्षया आत्मनाद्वौद्वौ परिगृह्णीयुर्भागौ तस्यैकंदद्युः । अत्रा तृकोहरेत्सर्वं असत्स्वौरसेषु सर्वैरिक्थंसएव हरेद्यदिदौहित्रो न स्यात् । सति तस्मिन्नौरसवत्कल्पना । दौहित्रस्यान्यस्याश्रुतत्वात्तस्य च प्रकृतत्वेन बुद्धौ सन्निवेशात् ब्राह्मणादीनांतु दासीसुताः प्रजीवनमात्रभाजोनरिक्थभाजइति स्थितिः ॥ १७९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दास्यां शूद्रस्यानूढायां तथा शूद्रस्य योदासस्तस्यदास्यांप्रधानशूद्रेणोत्पादितोऽस्यापि शूद्रेभागेदयइति । तेनपित्राऽनुज्ञातोहरेदंशंनत्वननुज्ञातस्तुजीवनमात्रंहरेदिति । एतेन शूद्रस्य शूद्रायामपरिणीतायामप्युत्पन्नस्तस्यांयथाकथंचित्त्वाम्येसति पुत्रोभवति नतु परपरिग्रहेऽपीतिदर्शितंभवति । अतएव दास्यांदासदास्यावेत्युक्तम् ॥ १७९ ॥

(३) कुल्लूकः । ध्वजादुत्पाद्युक्तलक्षणायां दास्यां दाससंबन्धिन्यां वा दास्यां शूद्रस्य यः पुत्रो जायते सपित्राऽनुज्ञातपरिणीतापुत्रैः समोशभागोभवान्भवत्वित्यनुज्ञातस्तुल्यभागंलभतइति शास्त्रव्यवस्था नियता ॥ १७९ ॥

(४) राघवानन्दः । दास्यां ध्वजादुत्पाद्युक्तलक्षणाया तथाविधदासस्य भार्यायां वा दासदास्या अनुज्ञातःजीवतापित्रा परिणीताशूद्रापुत्रैःसममंशं हरेदितिधर्मोव्यवस्थितः ॥ न्यूनाधिकविभागानां धर्म्यः पितृकृतः स्मृतइति याज्ञवल्क्यो-

क्तेः ॥ पितरि ब्राह्मणे मृतेतु शूद्रापुत्रोऽन रिक्थभागित्युक्तेः । जीवत्यपि नाधिकं दशमादद्यात् शूद्रापुत्राय धर्मतइतिमनूक्तेः । दशमोऽथैव दौहित्रान्तरस्याभावेमातृकोहरेत्सर्वमित्युक्तेः ॥ १७९ ॥

(५) नन्दनः । अनुज्ञातःपित्रा अनुज्ञातइति विशेषणादननुज्ञातोऽन हरेत् ॥ १७९ ॥

(६) रामचन्द्रः । दास्यां शूद्रायामूढायांवा दासदास्यांवा शूद्रस्य योदासःस्तस्य या दासी तस्यांसपुत्रोऽनुज्ञातः अंशं हरेत् ॥ १७९ ॥

क्षेत्रजादीन्सुतानेतानेकादशयथोदितान् ॥ पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिणः ॥ १८० ॥

(१) मेधातिथिः । मुख्याभावे प्रतिनिधिः अतोऽसत्यौरसएते कर्तव्याइत्युक्तंभवति । एतेषांस्मृत्यन्तरेऽन्यादशः क्रम उक्तः । यथा गूढोत्पन्नःकैश्चित्पंचमोऽपरैःषष्ठइति । तत्र पाठक्रमोऽत्राङ्गमतएवानियमपाठप्रयोजनंचोत्तरत्रानङ्गत्वे दर्शयिष्यामः । क्रियालोपाद्धेतोः क्रियतेऽपत्यमुत्पादयितव्यमित्यस्य विधिलोपोमाभूदिति नित्योऽप्ययंविधिःसयथा कथंचिद्गृहस्थेन सं पाद्यस्तत्र मुख्यः कल्पऔरसस्तदसंपत्तावेतेकल्पाआश्रयितव्याः ॥ १८० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्षेत्रजादीन्सुतानुपुत्रिकापुत्रमपि । क्रियालोपादौर्ध्वदेहिकक्रियालोपोमाभूदितिबुध्येत्यर्थः ॥ १८० ॥

(३) कुल्लुकः । एतान्क्षेत्रजादीनेकादशपुत्रानुपुत्रोत्पादनविधिलोपः पुत्रकर्तव्यश्रद्धादिलोपश्च माभूदित्येवमर्थपुत्रप्रतिनिधिकांमुनयआहुः ॥ १८० ॥

(४) राघवानन्दः । सर्वहरेदिति खले वालीन्यायेनौरसातिरिक्तपुत्राणां प्रतिनिधित्वमाह क्षेत्रजादीनिति ॥ पुंसि मेदिः खले वाली न्यस्तं यत्पशुबन्धनइति सयथाअष्टाश्रीकरणरहितः पशुबन्धने नियुज्यतएवं पारशवादीनां पुत्रकार्ये नियोगेपि नोपनयनादिरितिन्यायार्थः ॥ १८० ॥

(५) नन्दनः । अथौरसस्य श्रेष्ठ्यंश्लोकद्वयेनाह क्षेत्रजादीन्सुतानिति । पुत्रप्रतिनिधीनाहुर्मुख्यान् क्रियालोपादुत्पादकक्रियायाअभावात् मुख्येसंभवत्यौरसे तत्प्रतिनिधिभिस्तत्कार्यं नकर्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ १८० ॥

(६) रामचन्द्रः । येतिप्रसङ्गात् औरसपुत्रप्रसङ्गात् एते पुत्राअन्यबीजजाअभिहिताः ते पुत्रायस्य बीजिनोभवन्ति तु पुनः इतरस्य ते सुताः क्षेत्रजादिवत्पुत्राः भवन्ति ॥ १८१ ॥

यएतेऽभिहिताः पुत्राः प्रसङ्गादन्यबीजजाः ॥ यस्य ते बीजतोजातास्तस्य ते नेतरस्य तु ॥ १८१ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वोक्तस्याभावे विधिप्रतिषेधोर्यामिति व्याचक्षते । यएतेऔरसाभावे प्रतिनिधयः कर्तव्यतया-उक्तास्ते नकर्तव्याः । यतस्तेऽन्यबीजजातास्तस्यैवते पुत्रानेतरस्य येन क्रियन्ते तस्य तेनभवन्तीत्यर्थः । अतश्च पूर्वेण विधिरनेन प्रतिषेधइति विकल्पः सच व्यवस्थितोरिक्थग्रहणे कानीनसहोदपुनर्भवगूढोत्पन्नान रिक्थभाजः दत्तकादयस्तु रिक्थभाजः असत्यौरसे कानीनादयश्च सत्यप्यौरसे न पितृधनहराः ग्रासाच्छादनभाजः । केवलंसत्यसतिचौरसे यतउक्तं ॥ सर्वेषामपि चन्याम्यंदातुंशक्यामनीषिणः । ग्रासाच्छादनमत्यन्तपतितोऽहददद्भवेत् ॥ सर्वेषामपि क्लीबादीनांच प्रकृतत्वेन दर्शितमिति अत्यन्तयावजीवमित्यर्थः । शरीरधारणार्थत्वाद्ग्रासाच्छादनस्य शून्यादेस्तदुपयोगिनः परिचारकस्यापि वेतनदानंविज्ञेयं नहन्धादेः परिचारकमन्तरेण जीवनसंभवः । येषांदारकरणंमतं तेषांसभार्याणांभरणंदातव्यंशक्नोति धनानुरूपेण भोजनवस्त्रादिदेयं पतितइत्यर्थवादः ॥ १८१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एते क्षेत्रजादयः प्रसंगादौरसपुत्रप्रसंगादुक्ताः यस्य बीजतोजातास्तस्य ते न भवन्ति । किञ्चित्तरस्ययस्य क्षेत्रं येनवा ऋयणादिकृतं तस्यैव भवन्तीत्यर्थः । केचित्तु यएते दत्त्रिमादयउक्तास्ते यदि दात्रादीनां क्षेत्रे तेभ्योन्यस्माज्जातास्तदा दात्रादिभिर्दत्ता अपि न प्रतिग्रहीत्रादीनां पुत्राः किंतु बीजिनएवेत्यस्यार्थइत्याहुः ॥१८१॥

(३) कुल्लूकः । यएते क्षेत्रजादयोऽन्यबीजोत्पन्नाः पुत्राऔरसपुत्रप्रसङ्गेनोक्तास्ते यद्वीजोत्पन्नास्तस्यैव पुत्राभवन्ति न क्षेत्रिकादेरिति सत्यौरसे पुत्रे पुत्रिकायां च सत्यां न ते कर्तव्याइत्येवंपरमिदमन्यबीजजाइत्येकादशपुत्रोपलक्षणात्थैवबीजजातावपि पौनर्भवशौद्रौन कर्तव्यौ । अतएव बृद्धबृहस्पतिः॥ आज्यंविना यथा तैलंसद्भिः प्रतिनिधिः स्मृतः ॥ तथैकादशपुत्रास्तु पुत्रिकौरसयोर्विना ॥ १८१ ॥

(४) राघवानन्दः । ननु तेषां पुत्रा इति कथं प्रतिनिधित्वं तत्राह यइति । अशास्त्रीयस्य प्रतिनिधित्वाभावं द्योतयितुं तेषां पुत्रोक्तिर्नतु ते वस्तुतः पुत्राभवन्ति कार्यातिदेशंविना न्यस्यान्यभावानुपपत्तेरितिभावः । अतएवाह यस्यत इत्यनेन जनकानां पुत्राभावे तएव श्राद्धादिकर्तारः । पौनर्भवशूद्रापत्ययोः स्वजातत्वेपि न मुख्यत्वम् । तथाच बृहस्पतिः ॥ आज्यंविना यथा तैलं सद्भिः प्रतिनिधीकृतम् ॥ तथैकादशपुत्रास्युःपुत्रिकौरसयोर्विनेति ॥ एकादशत्वंतु पुत्रिकापुत्रमादायपुत्रिकापुत्रोपि समयबन्धान्मातृद्वारौरसोन्यबीजजश्च । अतएवानयोरभावे उक्तदशपुत्राअर्थाधिकारिणइतिकुल्लूकः ॥ याज्ञवल्क्यस्तु ॥ पिण्डदोशहरश्चैषांपूर्वाभावे परःपर इत्युपक्रम्य पत्न्यादिकमाह तेन गौणमुख्यपुत्राभावे पत्न्यादीनामधिकारइतिसुष्ठु ॥ १८१ ॥

(५) नन्दनः । उत्पादकत्वं प्रतिपुत्रत्वं मुख्यमित्यतआह यएतइति ॥ १८१ ॥

(६) रामचन्द्रः । एकजातानां एकेनैकस्यांजनितानाम् ॥ १८२ ॥

भ्रातृणामेकजातानामेकश्चेत्पुत्रवान्भवेत् ॥ सर्वांस्तास्तेन पुत्रेण पुत्रिणोमनुरब्रवीत् ॥ १८२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एकजातानामिति एकेन जनितानां सापत्नानामपि । एवंच यदि भ्रातुरपत्योत्पादनशक्तिरस्ति तदा तत्पुत्रेणैवेतरस्य पुत्रवत्त्वाद्देवरगमनेन क्षेत्रजपुत्रकरणमयुक्तमनापदीति निषेधाद्युक्तंभवति ॥ १८२ ॥

(३) कुल्लूकः । भ्रातृणामेकमातापितृकाणामध्ये यद्येकः पुत्रवान्स्यादन्ये च पुत्ररहितास्तदा तैर्नैकपुत्रेण सर्वाभ्रातृन्सपुत्रान्मनुराह । ततश्च तस्मिन्सत्यन्ये पुत्रप्रतिनिधयोन् कर्तव्याः । सएव पिण्डदोशहरश्च भवतीत्यनेनोक्तं । एतच्च पत्नीदुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा तत्सुताइति याज्ञवल्क्यवचनाद्भ्रातृपर्यन्ताभावे बोद्धव्यम् ॥ १८२ ॥

(४) राघवानन्दः । भ्रातृपुत्रसत्त्वेक्षेत्रजादयः प्रतिनिधयोः कार्याइत्याह भ्रातृणामिति । एकजातानामेकपितृजातानाम् ॥ पत्नी दुहितरश्चैव पितरौभ्रातरस्तथा ॥ तत्सुतश्चेति याज्ञवल्क्योक्तेः ॥ भ्रातृपुत्रपर्यन्ताभावे प्रतिनिधिः कर्तुं योग्यइतिभावः ॥ १८२ ॥

(५) नन्दनः । अथद्वयेन पुत्रमतिदिशति भ्रातृणामिति । एकजातानामेकपितृमातृकाणां पुत्रवानौरसवान्सति भ्रातृपुत्रेण पुत्रिणोमनुरब्रवीत् ॥ १८२ ॥

सर्वासामेकपत्नीनामेका चेत्पुत्रिणी भवेत् ॥ सर्वास्तास्तेन पुत्रेण प्राह पुत्रवतीर्मनुः ॥ १८३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवमेकस्यां सपत्न्यां पुत्रवत्यामन्यस्यामनपत्ययामपि नियोगेन कार्यइत्याह सर्वासामिति ॥ १८३ ॥

(३) कुल्लूकः । एकपतिकानां सर्वासां स्त्रीणां मध्ये यद्येका पुत्रवती स्यात्तदा तेन पुत्रेण सर्वास्ताः पुत्रयुक्तामनु-
राह । ततश्च सपत्नीपुत्रे सति स्त्रिया न दत्तकादिपुत्राः कर्तव्या इत्येतदर्थमिदम् ॥ १८३ ॥

(४) राघवानन्दः । एवमेकपतिकानां मध्ये कस्याश्चित्पुत्रवत्त्वे दत्तकादिनान्यतमया कर्तव्यमिति नियमयितुमाह
सर्वासामिति । पुत्रवती पुत्रकार्यवती ॥ १८३ ॥

(५) नन्दनः । पुत्रिणी औरसपुत्रिणी पुत्रत्वातिदेशस्य प्रयोजनसत्त्वपि सोदरादिषु पूर्वोपदिष्टैरेव पुत्रैः सकलपु-
त्रकार्यलाभः ॥ १८३ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वासां एकपत्नीनां एकस्य भार्याणां मध्ये एका चेत्पुत्रिणी भवेत् ॥ १८३ ॥

श्रेयसः श्रेयसोलाभे पापीयान् रिक्थमर्हति ॥ बहवश्चेत्तु सदृशाः सर्वे रिक्थस्य भागिनः ॥ १८४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्रेयानुत्तमः । पापीयानपक्वतमः । तन्निषेधश्च औरसपुत्रिकाजक्षेत्रजगूढजकानीनपौन-
र्भवदत्तकक्रीतकृत्रिमस्वयंदत्तसहजोदजापविद्धानुक्रमेण परिगण्य याज्ञवल्क्येन पिण्डदोशहरश्चैषां पूर्वाभावे परः परइ-
ति विशेषतो विधानात्तद्वचनानुसारेण कर्तव्यः । अत्र तु क्रमपाठेन पूर्वपूर्वोत्कर्षइति आपादनार्थः क्रमपाठोत्त्वबन्धुदायाद-
बान्धवविवेकपरत्वादिति । सदृशा औरसा एव दत्तम एव त्वित्यादि ॥ १८४ ॥

(३) कुल्लूकः । औरसादीनां सर्वेषां पुत्राणां प्रकृतत्वादौरसादीनुपक्रम्य तेषां पूर्वः पूर्वः श्रेयान्स एव दायहरः सचा-
न्यान्विभृयादिति विष्णुवचनात् । औरसादीनां पुत्राणां पुर्वपूर्वाभावे परः परः रिक्थमर्हति पुर्वसद्भावे परसंवर्द्धनस एव कुर्यात्
एवंच सिद्धे शूद्रापुत्रस्य द्वादशपुत्रमध्ये पाठः क्षेत्रजादिसद्भावे धनानर्हत्त्वज्ञापनार्थत्वेन सार्थकः अन्यथा तु क्षत्रियावै-
श्यापुत्रवदौरसत्वात्क्षेत्रजादिसद्भावेपि धनं लभेत् पुर्वस्य परसंवर्द्धनमात्रं चापवादेतरविषये द्रष्टव्यं क्षेत्रजगुणवद्दत्तकपुत्रयोः
पञ्चमं षष्ठं वा भागमौरसोदद्यादिति विहितत्वात् । यदि तु समानरूपाः पौनर्भवादयो बहवः पुत्रास्तदा सर्वे एव विभज्य
रिक्थं गृहीयुः ॥ १८४ ॥

(४) राघवानन्दः । औरसानां मध्ये पुर्वः पुर्वः श्रेयस्तया ज्ञेयइत्याह श्रेयसइति । त्वजात्यपेक्षया श्रेयसः औरसादेः
तदलाभे तदभावे । पापीयान् क्षेत्रजादिः ॥ पिण्डदोशहरश्चैषां पूर्वाभावे परः परइति याज्ञवल्क्योक्तेः ॥ अतो विष्णुरप्याह ॥
औरसादीनां पुत्राणां पूर्वपूर्वाभावे परः परो रिक्थमर्हति ॥ पुर्वसद्भावे परस्य संवर्द्धनं स एव कुर्यादिति । संवर्द्धनं पोषणम् ।
बहवश्चेत्सदृशा ब्राह्मणत्वादिजात्या रिक्थस्य भागिनः पिण्डदाश्च । यदेकादशपुत्रेषु शूद्रापुत्रस्य औरसत्वेपि गणना जीर्वात्पितृद-
त्तदशमांशातिरिक्तांशाभावार्थाय देवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धनं भवेदिति दशमांशोपलक्षणम् । तथाच ॥ ब्राह्मणक्षत्रिय
विशां शूद्रापुत्रो न रिक्थभागित्युक्तिः संगता । अन्यथा विप्रजक्षत्रियावैश्यापुत्रयोस्तेषु गणना प्रसक्तिः स्यात् धनाहारित्वसत्त्वा
विशेषात् । अतएव शूद्रापत्यस्यांशाहारित्वं क्षेत्रजगुणवद्दत्तकयोरपि मुख्येन षष्ठांशादिदानमपि संगच्छते वचनादेव नात्र-
तर्कइति श्रेयसइत्यादावेकवचनमविवक्षितम् । तेषां पौनर्भवादीनां बहुत्वेपि भागहारित्वन्यायस्य तुल्यत्वमित्याह बहवश्चै-
दिति ॥ १८४ ॥

(५) नन्दनः । इदानीं पुत्राणामुक्तसंख्यानां दायप्राप्तिक्रममाह श्रेयसः श्रेयसोऽलाभइति श्रेयसो मुख्यस्य पापी-
यान्गौणपुत्रः ॥ १८४ ॥

(६) रामचन्द्रः । ज्येष्ठस्य श्रेयसोऽलाभे पापीयान् गुणादिनिरुष्टः रिक्तं भागं अर्हति । बहवश्चेत्सदृशाः समानवर्णाः ॥ १८४ ॥

न भ्रातरोन पितरः पुत्रारिक्थहराः पितुः ॥ पिता हरेदपुत्रस्य रिक्तंभ्रातरएव च ॥ १८५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पुत्राऔरसादयोद्विजातिजनितशूद्रापुत्रादन्ये । पिता हरेदविभक्तस्य । भ्रातरएववा पित्रनुमत्या । विभक्तत्वेतु पत्न्येव तदभावेतु दुहित्रादेर्याज्ञवल्क्योक्तेः ॥ १८५ ॥

(३) कुल्लूकः । न सोदरभ्रातरोन पितरः किन्त्वौरसाभावे क्षेत्रजादयोगौणपुत्राः पितृक्थहराभवन्तीत्यनेनोच्यते औरसस्य त्वेकएवौरसः पुत्रइत्यनेनैव सिद्धत्वात् । अविद्यमानमुख्यपुत्रस्य पत्नीदुहितरहितस्य च पिता धनंगृह्णीयात्तेषामातुश्चाभावे भ्रातरोधनंगृह्णीयुः एतच्चानन्तरंप्रपञ्चयिष्यामः ॥ १८५ ॥

(४) राघवानन्दः । औरसपुत्रिकापुत्रादीनामेव धनहारित्वं व्यतिरेकेणद्रव्यति नेति । उक्तपुत्राएव रिक्तथहराः स्मृताः न भ्रातरोनपितरइत्यन्वयः । पुत्राभावेपितेत्याह पितेति । पितृपदं पत्न्याद्युपलक्षणम् । पुत्रादिति श्रुतेः ॥ प्रमीतस्य पितुः पुत्रैः क्रिया कार्या प्रयत्नतइति शूलपाण्युक्तेः ॥ अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंसर्गदूषिता ॥ विप्राद्यभावे शूद्राजोप्यधिकारीति ॥ अतएव याज्ञवल्क्यः ॥ पत्नीदुहितरश्चैव पितरौभ्रातरस्तथा । तत्सुतागोत्रजाबन्धुः शिष्यः सब्रह्मचारिणः ॥ एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तरइति । अत्र च पाठएव क्रमःप्रयाजवद्विर्वाक्षितः । येषांपत्न्यादीनामध्ये पूर्वस्य पत्नीरूपस्याभावे परोदुहितेत्येवमन्वयः । बन्धुपदमाचार्योपलक्षकम् । यत्तु नपत्न्याधनहारित्वं स्त्रीणांतु जीवनंदद्यादितितत्तु दुःशीलाधार्मिकासत्त्विकायौवनस्थाविषयम् । अन्यथा ॥ अपुत्राशयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता ॥ पत्न्येव दद्यात्तत्पिण्डं कृत्स्नमंशं लभेत् चेतिबृहन्मनुवचनविरोधः ॥ यतिवानप्रस्थयोर्धनंतु ॥ वानप्रस्थयतिब्रह्मचारिणामृक्थभागिनः ॥ क्रमेणाचार्यसच्छिष्यधर्मभ्रात्रेकतीर्थिनइत्यत्र प्रतिलोभेनान्वयः ॥ १८५ ॥

(५) नन्दनः । दिष्टेषुच पुत्रेषु सत्सु न भ्रातरोन पितरोरिक्तथहराः पुत्राएव पितृरिक्तथहराः पिता हरेदपुत्रस्येति अपुत्रस्योपदिष्टपुत्ररहितस्य भ्रातरः सोदराः एवशब्देनापुत्रस्य रिक्तथहरणे भ्रातृणां पितृतोविशिष्टत्वं सूचितम् ॥ १८५ ॥

(६) रामचन्द्रः । पिताहरेत्अपुत्रस्यरिक्तं ॥ १८५ ॥

त्रयाणामुदकंकार्यंत्रिषु पिण्डः प्रवर्तते ॥ चतुर्थः संप्रदातैषांपञ्चमोनोपपद्यते ॥ १८६ ॥

[असुतास्तु पितुः पत्न्यः समानांशाः प्रकीर्तिताः । पितामहश्च ताः सर्वामातृकल्याः प्रकीर्तिताः ॥ १॥]†

(२) सर्वज्ञनारायणः । त्रयाणामिति पितृतत्पितृतत्पितृणां उदकंकार्यं नियमेन तथा पिण्डःपिण्डदानम् । पञ्चमोनोपपद्यतइत्यवश्यमुदकंपिण्डंच दाप्यम् ॥ १८६ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानींक्षेत्रजानामप्यपुत्रपितामहादिधनेऽप्यधिकारंदर्शयितुमाह त्रयाणामिति । त्रयाणांपित्रादीनामुदकदानंकार्यंत्रिभ्यएव च तेभ्यः पिण्डोदेयः चतुर्थश्च पिण्डोदकयोर्दाता पञ्चमस्यात्रसमन्धोनास्ति । तस्माद्युक्तोऽपुत्रपितामहइतिधने गौणपौत्राणामधिकारः औरसपुत्रपौत्रयोश्च पुत्रेण लोकान् जयतीत्यनेनैवात्र पितामहादिधनभागित्वमुक्तम् ॥ १८६ ॥

(४) राघवानन्दः । पितामहधनेऽप्येवमित्याह त्रयाणामिति । पितृपितामहप्रपितामहास्त्रयः । कार्यदशविधैः पुत्रैः

त्रिषु पितृषु देयत्वेन पिण्डः प्रवर्तते । चतुर्थः पुत्रादिः संप्रदाता पिण्डोदकयोः पञ्चमस्य पिण्डादिदातृत्वेन शास्त्राबोधितत्वान्नास्तिपञ्चमोनापि तस्य धनहारितेति । अनेन पितामहप्रपितामहयोरपि धनहारित्वं गौणपुत्राणामभावे इत्यसूचि ॥ १८६ ॥

(५) नन्दनः । न केवलमसति । पुत्रे भ्रात्रादीनां रिक्थहरत्वं किन्तु सतोश्च पौत्रप्रपौत्रयोः पुत्रतुल्यकर्मकर्तव्यत्वात्तयोरित्यभिप्रायेणाह त्रयाणामुदकमिति । त्रयाणां पितृपितामहप्रपितामहानामुदककर्तव्यं न ततोधिकानां त्रिषु पिण्डश्च प्रवर्तते विधीयते नाधिकेषु । एषां त्रयाणां पिण्डोदकयोः संप्रदाता चतुर्थः । पुत्रपौत्रप्रपौत्रलक्षणं प्रपितामहादारभ्यतस्य चतुर्थत्वं पञ्चमः संप्रदाता नोपपद्यते न शास्त्रेषु विधीयते । प्रेतस्य धनिनः पुत्रः पौत्रप्रपौत्रज्ञात्यन्तरेष्वप्युपकारकतमः तेन तेष्वसत्त्वेव भ्रात्रादयोरिक्थहरान्तु सत्सु ॥ १८६ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रयाणां पितृपितामहप्रपितामहानां उदकं तर्पणं कार्यम् त्रिषु पितामहप्रपितामहादिषु पिण्डः प्रवर्तते । चतुर्थः संप्रदाता । एषामध्ये पञ्चमो नोपपद्यते । लेपभाजश्चतुर्था द्याः ॥ १८६ ॥

अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत् ॥ अत ऊर्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा ॥ १८७ ॥

[हरेरनृत्विजोवापि न्यायवृत्ताश्च याः स्त्रियः ॥ १ ॥] *

(२) सर्वज्ञनारायणः । एषामध्ये सपिण्डानां मतो यो नन्तरो यथा पुत्रस्य पिता तस्य तत्पितेत्यादि । तस्य तस्य-तुतद्धनम् । असतितु पितरि पितामहस्य तदभावे तत्पितुरपि । अत्र च पितामहापेक्षया भ्रातृभ्रातृपुत्रस्य च सन्निकृष्टत्वात्पित्रभावे भ्राता तदभावे तत्सुतस्तदभावे पितामहादिर्योयः सन्निकृष्टस्तदभावे च समनोदकः सगोत्रो मातुलादिबन्धुरितिक्रमात्पूर्वपूर्वाभावे । एवं पितामहे वृत्ते तद्धनं पुत्रस्यैव धनं न पौत्रस्याधिकारः । यत्तु तत्र स्यात्सदृशं स्वाम्यमिति तत्पुत्रेच्छया विभजनीयं तदित्येतत्परम् । सकुल्यो मातुलादिबन्धुः । तदभावे चाचार्योपि शिष्यो वा यस्तदा प्रत्यासन्न इत्यर्थः ॥ १८७ ॥

(३) कुल्लूकः । अस्य सामान्यवचनस्योक्तौ रसादिसपिण्डमात्रविषयत्वे वैयर्थ्यात्तत्तत्श्रानुक्तपक्ष्यादिदायप्राप्त्यर्थमिदम् । सपिण्डमध्यात्सन्निकृष्टतरोयः सपिण्डः पुमानस्त्री वा तस्य मृतधनं भवति । तत्रैकैवोरसः पुत्रइत्युक्तत्वात्सा एव मृतधने स्वाधिकारी क्षेत्रजगुणवद्भक्तयोस्तु यथोक्तपञ्चमं भवत्वा भागं दद्यात् । कृत्रिमादिपुत्राणां संवर्धनमात्रं कुर्यात् । औरसाभावे पुत्रिका तत्पुत्रश्च दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनमित्युक्तत्वादौरसपुत्ररहित एव तत्रापुत्रो विवक्षितस्तदभावे क्षेत्रजादय एकादशपुत्राः क्रमेण पितृधनाधिकारिणः परिणीतशूद्रापुत्रस्तु दशमभागमात्राधिकारी नाधिकं दशमाद्याच्छूद्रापुत्रायेत्याद्युक्तत्वादशमभागावशिष्टं धनं सन्निकृष्टसपिण्डो गृह्णीयात्त्रयोदशविधपुत्राभावे पत्नी सर्वभर्तृधनभागिनी । यदाहया-ज्ञवल्क्यः ॥ पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा ॥ तत्सुतोगोत्रजो बन्धुः शिष्यस्स ब्रह्मचारिणः ॥ एषामभावे पूर्वस्य धनभ्रगुत्तरोत्तरः ॥ स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः ॥ बृहस्पतिरप्याह ॥ आम्नाये स्मृतितत्त्रे च लौकाचारे च च सूरिभिः ॥ शरीरार्थं स्मृता जाया पुण्या पुण्यफले समा ॥ यस्य नोपरता भार्या देहार्थं तस्य जीवति ॥ जीवत्यर्थं शरीरे तु कथमन्यः स्वमाप्नुयात् ॥ सकुल्यैर्विद्यमानैस्तु पितृमातृसनाभिभिः ॥ अपुत्रस्य प्रमीतस्य पत्नी तद्गाह्यारिणी ॥ पूर्वप्रमीताग्निहोत्रं मृते भर्तरि तद्धनम् ॥ विन्देत्पतिव्रता नारी धर्मेषु सनातनः ॥ जङ्गमं स्थावरं हेमकुप्यं धान्यमथांबरम् ॥ आदाय दापयेच्छ्राद्धं मासषाण्मासिकादिकम् ॥ पितृव्यगुरुदौहित्रान् भर्तृत्वस्त्रीयमातुलान् ॥ पुजयेत्कव्यपूर्ताभ्यां बृहन्नप्य-

तिथीस्त्रियः ॥ तत्सपिण्डाबान्धवावा ये तस्याः परिपन्थिनः ॥ हिंस्युर्धनानि तान्राजा चौरदण्डेन शासयेत् ॥ वृद्धमनुः ॥ अपुत्राशयनंभर्तुः पालयन्तीव्रते स्थिता ॥ पत्न्येवदद्यात्तपिण्डंकुत्समर्थलभेत् च ॥ यदुक्तम् स्त्रीणान्तु जीवन्दद्यादिति संवर्धनमात्रवचनं तद्दुःशीलाधार्मिकसविकारयौवनस्थपत्नीविषयं । अतोयन्मेधातिथिना पत्नोनामंशभागित्वंनिषिद्धमुक्तंतद-संबद्धम् पत्नीनामंशभागित्वंबृहस्पत्यादिसंमतम् । मेधातिथिर्निराकुर्वन्प्रीणाति सतांमनः । पत्न्यभावेऽप्यपुत्रिकादुहिता तदभावेपिता माता च तयोरभावे सोदर्यभ्राता तदभावे तत्सुतः । मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माताहरेद्धनमितिवक्ष्यमाणत्वा-त्पितृमाता तदभावेऽन्योपि सन्निकृष्टसपिण्डोमृतधनंगृह्णीयात् । तद्यथा पितामहसंतानेऽविद्यमाने प्रपितामहसंतानएव तदप्युक्तम् अत ऊर्ध्वंसपिण्डसन्तानाभावे समानोदकआचार्यः शिष्यश्च क्रमेण धनंगृह्णीयात् ॥ १८७ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तमुपसंहरन् सकुल्योर्धनहारित्वमाह अनन्तरेति । सपिण्डाद्याऔरसदुहितृजादनन्तराः प-त्नीप्रभृतयः पञ्च । तत्रापि ॥ सकुल्यैर्विद्यमानैस्तु पितृमातृसनाभिभिः ॥ अपुत्रस्य प्रमोतस्य पत्नी तद्भागहारिणी ॥ पूर्वप्रमो-ताऽग्निहोत्रं मृते भर्तरि तद्धनम् ॥ विन्देत्पतिव्रता नारी धर्मएव सनातनइतिबृहस्पत्युक्तेः । प्रथमतः पत्नीति । सकुल्यपदं ब-न्धोरप्युपलक्षणम् । शिष्यपदंतु तीर्थानाम् । सकुल्योर्हतीत्यध्याहार्यमेवमुत्तरत्रापि ॥ १८७ ॥

(५) नन्दनः । नच पुत्रपौत्रप्रपौत्राणां सत्यपि तुल्ये प्रेतोपकरणत्वे तुल्यवद्वायत्वं संभवेन्नापि तेषामभावे सपि-ण्डान्तराणां किन्तु पिण्डप्रत्यासत्तिक्रमेणैवेत्याह अनन्तरः सपिण्डादिति । प्रेतवचनोऽयं पिण्डशब्दस्तयोरभेदोपचारात् पि-ण्डादनन्तरः प्रत्यासन्नोयः सपिण्डस्तस्य धनं देयं भवेत् । द्विर्वचनं क्रमप्राप्त्यर्थं अत ऊर्ध्वमेभ्यः सपिण्डेभ्य ऊर्ध्वं सपिण्डा-भावइतियावत् । सकुल्यः समानोदकोरिक्थहरइत्यनुकर्षः तेषामभावआचार्यः तस्याभावे शिष्योरिक्थहरः स्यात् ॥ १८७ ॥

(६) रामचन्द्रः । सपिण्डात् अनन्तरः सन्निकृष्टः तस्य तस्य धनं भवेत् ॥ १८७ ॥

सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणारिक्थभागिनः ॥ त्रैविद्याः शुचयोदान्तास्तथा धर्मो न हीयते ॥ १८८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्राह्मणास्तद्ग्रामवासिनः । त्रैविद्यास्त्रयीवेदिनः । शुचयः स्वाचाराः । दान्ताः नियते-न्द्रियाः । एतच्च ब्राह्मणधनविषयमितरधनं राजगामि ॥ १८८ ॥

(३) कुल्लूकः । एषामभावइति वक्तव्ये सर्वेषामभावइति यदुक्तंतत्सब्रह्मचार्यादेरपि धनहारित्वार्थं । सर्वेषामभावे ब्राह्मणावेदप्रयाध्यायिनोबाह्यान्तरशौचयुक्ताजितेन्द्रियाधनहारिणोभवन्ति तएवच पिण्डदाः तथासति धनिनोमृतस्य श्राद्धादिधर्महानिर्न भवति ॥ १८८ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तानामभावेऽप्याह सर्वेषामिति । ब्राह्मणान्बिभिनष्टि त्रैविद्याइति । धर्मो न हीयते तैर्विभैः श्राद्धादिनिर्वाहात् । विधिप्रसंगतुल्यत्वादानुवादोऽयं ब्राह्मणधनहारित्वं नृपतेस्तदन्यधनहारित्वमर्थं अयमप्यनुवादस्तेनैव गतत्वादिति ॥ १८८ ॥

(५) नन्दनः । सर्वेषां पुंसां स्त्रीणाञ्च यथा कथञ्चित्संबन्धवताम् ॥ १८८ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रैविद्येति । तथा राज्ञां धर्मो न हीयते ॥ १८८ ॥

अहार्यब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः ॥ इतरेषांतु वर्णानां सर्वभावे हरेन्नृपः ॥ १८९ ॥

(३) सर्वज्ञनारायणः । तदेतदाह अहार्यमिति । सर्वाभावे शिष्यपर्यन्ताभावे ॥ १८९ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणसंबन्धधनं राज्ञा कदाचिद्ब्राह्ममिति शास्त्रमर्यादा । किन्तूक्तलक्षणब्राह्मणाभावे ब्राह्मणमात्रेभ्योपिदेयं । क्षत्रियादिधनं पुनः पूर्वोक्तरीकथहराभावे राजा गृह्णीयात् ॥ १८९ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्राह्मणधनं ब्राह्मणब्रुवेपि देयमित्याह अहार्यमिति । ब्राह्मणे धर्मतोऽधर्मतोवा साम्यस्त्वरसात् ॥ १८९ ॥

(६) रामचन्द्रः । सार्धेनाह इतरेति । इतरेषांतुवर्णानां क्षत्रियादीनाम् ॥ १८९ ॥

संस्थितस्यानपत्यस्य सगोत्रात्पुत्रमाहरेत् ॥ तत्र यद्वक्तव्यजातं स्यात्तत्तस्मिन्प्रतिपादये ॥ १९० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सगोत्राद्यदि तन्तुसन्तानमाहरेदनियुक्तापि स्त्री तदा गोलकत्वेपि तस्य ज्ञात्यन्तराभावे क्षेत्रपतिधनहारित्वमित्यर्थः । एतच्च शूद्रांप्रत्येवोच्यतइतिकेचित् । अतएव तन्मते गूढजकानीनसहोढजाअपि शूद्रस्यैव पुत्राभवन्ति नतु विमादीनामिति ॥ १९० ॥

(३) कुल्लूकः । अनपत्यस्य मृतस्य भार्या समानगोत्रात्पुंसो गुरुनियुक्ता सती नियोगधर्मेण पुत्रमुत्पादयेत्तस्मिन्मृतविषये यद्धनजातं भवेत्तत्तस्मिन्पुत्रे समर्पयेत् देवराद्वार्सपिंडाद्वैद्युक्तत्वात् । सगोत्रान्नियोगप्राप्त्यर्थं तज्जस्यचक्रकथभागित्वार्थमिदम् ॥ १९० ॥

(४) राघवानन्दः । देवराद्वार्सपिंडाद्वैद्युक्तमनुवदन्विधवाधनमुत्तरकालीनायापत्याय दापयन्नाह संस्थितस्येति । आहरेद्विधवाभूत्वा जनयेत् । तत्र अनपत्ये पतौ धनं योविधूयादित्यस्यैवानुवादोयं न्यायस्य तुल्यत्वात् । तत्र जनकोदद्यादत्र जननीदद्यादिति वा भेदः ॥ १९० ॥

(५) नन्दनः । एवमनपत्यधनस्य भ्रातृगामित्वमुक्तमधुना पक्षान्तरमाह संस्थितस्यानपत्यस्येति । अनपत्यस्य संस्थितस्य मृतस्य सगोत्रादेवरादेस्तं पुत्रमाहरेत्पुत्रमुत्पादयेत् पत्नीगुरुयोगादिति शेषः ॥ १९० ॥

(६) रामचन्द्रः । अनपत्यस्य संस्थितस्य मृतस्य सगोत्रात् तद्विधं आहरेत् । तत्रयत् रिक्त्यजातं स्यात् तत्तस्मै ॥ १९० ॥

द्वौ तु यौ विवदेयातां द्वाभ्यां जातौ स्त्रियाधने ॥ तयोर्यद्यस्य पित्र्यं स्यात्तत्सगृह्णीत नेतरः ॥ १९१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एकः स्वभर्तृजोऽन्योगोलकः पौनर्भवीवा उभयोश्च पत्योर्धनं मातरि स्थितं तदा स्वबोजिधनव्यवस्थया ग्राह्यमित्यर्थः । स्त्रियाजातौ धनेपित्र्ये विवदेयातामित्यर्थः । नेतरत् स्वमातृपत्यन्तरधनम् ॥ १९१ ॥

(३) कुल्लूकः । यद्येकरिक्त्यनौ स्यातामित्यौरसक्षेत्रजयोरुक्तमिदं त्वौरसपौनर्भवविषयं यदोत्पन्नौरसभर्तुर्मृतत्वात् बालापन्यतया स्वामिधनं स्वीकृत्य पौनर्भवेभर्तुः सकाशात्पुत्रान्तरं जनयेत् तस्यापि च पौनर्भवस्य भर्तुर्मृतत्वाद्विधवाहरान्तराभावाद्धनं गृहीतवती पश्चात्तौ द्वाभ्यां जातौ यदि विवदेयातां स्त्रीहस्तगतधने तदा तयोर्यस्य यज्जनकस्य धनं सतदेव गृह्णीयान्त्वन्यपितृजन्यजनकस्य ॥ १९१ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच यदिवासापत्या मृतभर्तृका धनमादाय पौनर्भवेन पुत्रान्तरं जनयित्वा यद्युभयोर्धनमादाय तिष्ठेत्तदा कस्य किं धनमित्यपेक्षायामाह द्वाविति । द्वावौरसपौनर्भवौ विवदेयातां धनमावाभ्यां ग्राह्यं पोषणतेकायै -

(१९०) सगोत्रात्पुत्रमाहरेत्=सगोत्रोवित्तमाहरेत् (क)

=त्वगोत्रस्तुहरेद्धनम् (ग)

मिति । नेतरः अन्यपैतृकमन्योन गृह्णीयादिति भावः । अथवा अभ्यावह्निकादिस्त्रीधनमात्रविषयम् अतएव स्त्रिया धनमिति समाख्या संगच्छते ॥ १९१ ॥

(५) नन्दनः । द्वाभ्यां पुरुषाभ्यां या सपुत्रा सधना भूत्वा पश्चात्पुनर्भूयपरस्मादपि पुत्रं जनयति तस्याः पुत्रयोरयं विभागः ॥ १९१ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्विपितृकस्य व्यवहारमाह द्वाविति । स्त्रियाधने स्त्रीधननिमित्तेयौ विवदेयातां कीदृशौ द्वौ द्वाभ्यां पितृभ्यां जातौ तयोः मातापित्रोः यत्पितृभ्यां तत्तस्य विद्यमानपितुः पुत्रः गृह्णीत इतरः पूर्वभर्तृजन्यः न गृह्णीत ॥ १९१ ॥

जनन्यां संस्थितायान्तु समंसर्वे सहोदराः ॥ भजेरन्मातृकरिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥ १९२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । समं नज्येष्टोद्धारेण । मातृकं मातुःस्त्रीधनव्यतिरिक्तधनम् । भगिन्योऽपुत्राः । सनाभयः सोदराः । केचित्तु स्त्रीधनेपि भ्रातृविभागमिच्छन्ति ॥ स्त्रीधनं स्यादपत्यानां दुहिता च तदंशिनी ॥ अप्रत्ताचेत्समूढा तु लाभसं- मानमात्रकमिति बृहस्पतिवचनात् । एवं चाप्रत्ताया भ्रातृभिः सह तुल्यविभागः । इतरस्यास्तु संमानमात्रदेयमिति । एतत्प- रमेव च स्त्रीधनं दुहितृगामीत्यादि ॥ १९२ ॥

(३) कुल्लूकः । मातरि मृतायां सोदर्यभ्रातरो भगिन्यश्च सोदर्या अनुदामातृधनं समं कृत्वा गृह्णीयुः । ऊढास्तु धनानु- रूपसंमानं लभन्ते । तदाह बृहस्पतिः ॥ स्त्रीधनं स्यादपत्यानां दुहिता च तदंशिनी ॥ अपुत्राचेत्समूढा तु लभते मानमात्रकम् ॥ ततश्चानुदामातृधनं सोदर्यानां मातृधनं भ्रात्रा स्वादंशाच्चतुर्थभागो देयः ॥ १९२ ॥

(४) राघवानन्दः । मातृसत्त्वे व्यवस्थोक्ता दैवादविभक्तदशायां सा मृताचेत्तदा कथं व्यवस्था तत्राह जनन्या- मिति । संस्थितायां मृतायाम् । सनाभयः नाभिरत्र कुक्षिः एकनाभिजाः । अनुदाम्यस्तु स्वांशेत्यत्र पितृसंबन्धिभ्रातृधने तुरीयांशभागित्वमनुदामातृधनं मातृधने तु समांशभाक्त्वमिति भेदः । अतएव बृहस्पतिः ॥ स्त्रीधनं स्यादपत्यानां दुहिता च तदं शिनीति ॥ अप्रत्ताचेत्समूढा तु लभते मानमात्रकम् ॥ १९२ ॥

(५) नन्दनः । एवं पैतृकस्य धनस्य विभागोक्तः इदानीं मातृकस्य धनस्याह जनन्यां संस्थितायामिति । सनाभ- यः सोदर्याः । भजेरन्संविभजेरन् । उद्धारो विषमविभागः स्यात् ॥ १९२ ॥

(६) रामचन्द्रः । भगिन्यश्च सनाभयः साक्षात्त्वमातृदुहितरः ॥ १९२ ॥

यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः ॥ मातामह्याधनार्त्तिकचित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥ १९३ ॥

(१) सर्वज्ञनारायणः । प्रत्तास्तु मृतास्तु ताभ्यः संमानार्थं यदेयं तत्तदुहितृभ्यः स्वेच्छया मातुर्लैर्देयमित्याह या- स्तामिति । प्रीतिपूर्वकं स्वेच्छया ॥ १९३ ॥

(२) कुल्लूकः । तासां दुहितृणां या अनुदामदुहितरस्ताभ्योपि मातामहीधनाद्यथा तासां पूजा भवति तथा प्रीत्या किं- चिद्दातव्यम् ॥ १९३ ॥

(४) राघवानन्दः । तासां दुहितृभ्योपि किंचिद्देयमित्याह या इति । प्रीतिपूर्वकं प्रीत्यर्थं न बलादिति ॥ १९३ ॥

(५) नन्दनः । तासां भगिनीनां किंचित्प्रदेयम् प्रीतिपूर्वकमिति वचनादवश्यं देयमिति सूचितम् ॥ १९३ ॥

(६) रामचन्द्रः । तासां दुहितरः स्युः तासां दौहित्रीणां यथार्हतो भागः ॥ १९३ ॥

अध्यग्र्याध्यावाहनिकंदत्तंच प्रीतिकर्माणि ॥ भ्रातृमातृपितृप्राप्तंषड्विधंस्त्रीधनंस्मृतम् ॥ १९४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अध्यग्नि होमविवाहकाले लब्धं यतःकुतश्चित् । तथा व्यावहारिकं पतिगृहनयनसमये-
लब्धम् । प्रीतिकर्मणि रतिकाले पत्या दत्तम् । तत्स्त्रीधनमित्युक्तम् । भ्रात्रादिभिस्तु यदाकदापि दत्तं स्त्रीधनम् ॥ १९४ ॥

(३) कुल्लूकः । अध्यग्नीत्यव्ययं विभक्तिसमीपेत्यादिना सूत्रेण समीपार्थेऽव्ययीभावः विवाहकालेऽग्निसन्निधौ
यत्पित्रादिदत्तं तदध्यग्निस्रीधनं । तदाह कात्यायनः ॥ विवाहकाले यत्स्त्रीभ्योदीयते त्यग्निसन्निधौ ॥ तदध्यग्निरुतंसद्भिः
स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ॥ यत्तु पितृगृहाद्भर्तृगृहं नीयमानया लब्धं तदध्यावाहनिकं । तथा च कात्यायनः ॥ यत्पुनर्लभते नारी
नीयमाना तु पैतृकात् ॥ अध्यावाहनिकं नाम तत्स्त्रीधनमुदाहृतम् ॥ यत्तु प्रीतिहेतुकर्मणि भर्त्रादिदत्तं तथा भ्रात्रा
पित्रा च समयान्तरे यदत्तं एवंपट्टप्रकारकं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥ १९४ ॥

(४) राघवानन्दः । ननु स्त्रीधनविभागोऽनुपपन्नस्तस्यान्यायोपात्तधनाभावादिति तत्राह अध्यग्नीति । अध्यग्नि-
विवाहकालेऽग्निसमीपे पित्रायदत्तं तत् । तथाच कात्यायनः ॥ विवाहकाले यत्स्त्रीभ्योदीयते ह्यग्निसन्निधौ ॥ तदध्यग्निरु-
तंसद्भिः स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ॥ तेनैवोक्तम् ॥ यत्पुनर्लभते नारी नीयमाना हि पैतृकात् ॥ अध्यावाहनिकं नाम स्त्री-
धनं परिकीर्तितम् ॥ दत्तं भर्त्रा प्रीतिकर्मणि रत्युत्सवादौ ॥ १९४ ॥

(५) नन्दनः । अथ स्त्रीधनलक्षणमाह अध्यग्र्याध्यावाहनिकमिति । अध्यग्निविवाहाग्निसमीपे यद्धनं स्त्रिया कुत-
श्चिद्विभज्यते तदध्यग्नि आहावनं पितृकुलाद्भर्तृकुलप्राप्तिः । आहवनसमयोपलब्धमाध्यावाहनिकं विभक्त्यर्थावधिषड्विधं प्रीति-
कर्मणि नमस्कारादौ श्वशुराभ्यान्दत्तं । तथाच कात्यायनः ॥ विवाहकाले यत्स्त्रीभ्योदीयते ह्यग्निसन्निधौ ॥ तदध्यग्निरुतंस-
म्यक् स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ॥ यत्पुनर्लभते नारी नीयमानापि पैतृकात् ॥ तन्नाम्नाध्यावाहनिकं स्त्रीधनं समुदाहृतम् ॥ प्रीति-
दत्तं हि यत्किञ्चिद्भ्रूवा वा श्वशुरेण वा ॥ पादवन्दनिकं यत्तल्लावण्यार्जितमुच्यते ॥ इति षड्विधा तत्स्त्रीधनादन्यत्स्त्रिया य-
ल्लब्धं भर्तृधनमेव नतु स्त्रीधनमित्यभिप्रायः ॥ १९४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अग्निमधि अध्यग्नि विवाहहोमकाले लब्धं यत्किञ्चित् अध्यावाहनिकं प्रतिग्रहाय समयेय लब्धं च
पुनः प्रीतिकर्मणि रतिकाले पत्या दत्तं ॥ भ्रातृमातृपितृप्राप्तंषड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥ १९४ ॥

अन्वाधेयं च यद्वत्तंपत्या प्रीतेन चैव यत् ॥ पत्यौ जीवति वृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत् ॥ १९५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्वाधेयं विवाहादुपरि भर्तृबन्धुभिर्दत्तम् । पत्याप्रीतेन रतिकालादन्यदा तदुभयं स्त्री-
धनत्वाभावेपि पत्यौ जीवति मृतायां अपत्यस्यैव । विशेषस्तु स्त्रीधनास्त्रीधनयोः स्त्रीधने दानादिस्वाम्यं स्त्रियानत्वन्यत्रे-
ति ॥ १९५ ॥

(३) कुल्लूकः । अन्वाधेयं व्याख्यातं कात्यायनेन ॥ विवाहात्परतोयत्तु लब्धं भर्तृकुले स्त्रिया ॥ अन्वाधेयं तदुक्तं तु
सर्वबन्धुकुले तथा ॥ विवाहादूर्ध्वं भर्तृकुले पितृकुले वा यत्स्त्रिया लब्धं भर्त्रा च प्रीतेन दत्तं यदध्यग्र्यादिपूर्वश्लोकउक्तं तद्भ-
र्तरी जीवति मृतायाः स्त्रियाः सर्वधनं तदपत्यानां भवति ॥ १९५ ॥

(४) राघवानन्दः । तर्हि स्त्रीधनापहारोऽपत्यानां प्राप्त इति चेन्न अपत्यानां स्त्रीधनस्य वाचनिकत्वादित्याह अन्वा-
धेयेति । अन्वाधेयं ॥ विवाहात्परतोयत्तु लब्धं भर्तृकुले स्त्रिया ॥ अन्वाधेयं तदुक्तं तु सर्वबन्धुकुलेतथेतिकात्यायनो-
क्तम् ॥ पत्यौ सति वृत्तायां भ्रातरोतिशेषः । प्रजायाः पुत्रादेः ॥ १९५ ॥

(५) नन्दनः । विवाहादनन्तरं भर्तुकुलाद्बन्धुकुलाद्वा आधीयते आदीयते तदन्वाधेयं । रूपसौन्दर्यादिप्रीतेन च भर्ता यदत्तं धनं जीवति पत्यौ वृत्तायां मृतायां प्रजायाः पुत्रस्य दुहितुर्वाभवेत् । अत्र कात्यायनः ॥ विवाहात्परतो यत्तु लब्धं भर्तुकुलात्स्त्रिया ॥ अन्वाधेयन्तदुक्तन्तु लब्धं बन्धुकुलात्तथेति ॥ १९५ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्वाधेयं भर्तुकुलेपुनर्लब्धं च पुनः भर्ताप्रीतेनयत्यस्मात्कारणात् यद्वस्तुदत्तरतिकालादन्यत्रप्रीतेन पत्या दत्तं वृत्तायाः मृतायाः मातुः प्रजाया दुहितृणां तद्धनंभवेत् ॥ १९५ ॥

ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्वसु ॥ अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते ॥ १९६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्राह्मादिविवाहेनोढाययद्धनं स्त्रीधनास्त्रीधनरूपं अप्रजायामनपत्यायांवृत्तायांभर्तुरेव प्रजायांतु सत्यां प्रजायाएव ॥ १९६ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मादिषु पञ्चसु विवाहेषूक्तलक्षणेषु यत्स्त्रियः षड्विधं धनं तदनपत्यायां मृतायां भर्तुरेव मन्वादिभिरिष्यते ॥ १९६ ॥

(४) राघवानन्दः । अनपत्यायास्तु धनं भर्तुरेवेत्याह ब्राह्मइति । उक्तब्राह्मविवाहादिपञ्चसु पित्रादिभ्योलब्धं भर्तुगामि ॥ १९६ ॥

(५) नन्दनः । ब्राह्मादिषु पञ्चसु विवाहेषु यद्धनं स्त्रियै दत्तमितिशेषः ॥ १९६ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्म (२) दैव (३) गान्धर्व (४) प्राजापत्येषु यद्धनंलब्धंअतीतायां मृतायां तद्धनं भर्तुरेवेष्यते ॥ १९६ ॥

यत्त्वस्याः स्याद्धनं दत्तं विवाहे आसुरादिषु ॥ अप्रजायामतीतायां मातापित्रोस्तदिष्यते ॥ १९७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मातापित्रोर्नभर्तुः ॥ १९७ ॥

(३) कुल्लूकः । यत्पुनः स्त्रिया आसुरराक्षसपैशाचेषूक्तलक्षणेषु विवाहेषु यत्स्त्रियाः षड्विधं धनमपि तदनपत्यायां मृतायां मातापित्रोरिष्यते ॥ १९७ ॥

(४) राघवानन्दः । तथा आसुरादिविवाहसंबन्धिधनंतु तत्पित्रोरेवेत्याह यदिति । अतीतायां मृतायामपि । एषु वचनस्य नातिभारइतिन्यायः ॥ १९७ ॥

(६) रामचन्द्रः । यत् आसुरादिषु विवाहेषु लब्धं तत्कन्यायाः मातापित्रोरिष्यते ॥ १९७ ॥

स्त्रियान्तु यद्वेद्वित्तं पित्रा दत्तं कथंचन ॥ ब्राह्मणी तद्धरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेत् ॥ १९८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पित्रा दत्तं स्त्रियाः पित्रा तद्ब्राह्मणीकन्या हरेन्तु भ्रातृणां विभागः । तदभावे तस्याः स्त्रिया अपत्यस्य । कन्येति दुहितृमात्रपरम् । एवं च ब्राह्मणपरिणीतक्षत्रियाधनमपि तत्पितृदत्तं ब्राह्मणकन्याया एवेत्युक्तं भवति ॥ १९८ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणस्य नानाजातीयासु स्त्रीषु क्षत्रियादिस्त्रियामनपत्यपतिकायां मृतायां तस्याः पितृदत्तं धनं सजातिविजातिसापत्यकन्यापुत्रसद्भावेपि ब्राह्मणी सापत्नेयी कन्या गृह्णीयात्तदभावे तदपत्यस्य तद्धनंभवेत् ॥ १९८ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्राह्मणपरिगृहीतानां क्षत्रियादितिसृणामनपत्यपतिकानां मृतानां ब्राह्मणी सापत्नेयी कन्यैव गृह्णीयात् तदभावे तदपत्यं तदभावे ब्राह्मणमात्रं न्यायस्य तुल्यत्वादित्याह न के स्त्रियास्त्विति । स्त्रीपदं विप्रपरिणता-विजातीयापरं सजातीयानां व्यवस्थोक्तेः । तदपत्यस्य ब्राह्मणीकन्यापुत्रस्येत्यर्थः ॥ १९८ ॥

(५) नन्दनः । कथञ्चनयेन केन चित्यकारेण ब्राह्मणी हरेन्क्षत्रियादिः ॥ १९८ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्त्रियामितिसापत्न्यपुत्रः हीनजातिस्तं प्रत्याह । स्त्रियाः क्षत्रियादिस्त्रियाः यद्वित्तं कथञ्चन विवाहे पित्रादत्तं तद्धनं ब्राह्मणकन्या या पूर्वं ब्राह्मणी विवाहिता हरेत् गृह्णीयात् । वापक्षान्तरम् । तस्या अपत्यस्य तद्धनं भवेत् ॥ १९८ ॥

न निर्हारिस्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद्बहुमध्यगात् ॥ स्वकादपि च वित्ताद्धि स्वस्य भर्तुरनाज्ञया ॥ १९९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निर्हारं स्वयमाकुर्यव्ययम् । कुटुम्बात् कुटुम्बपोषणार्थात् । बहुमध्यगात् बहुसाधारणधनात् । स्वकात् स्वस्यासाधारणधनादपि स्त्रीधनव्यतिरिक्तात् पत्यनुमतिविना न कुर्युः ॥ १९९ ॥

(३) कुल्लूकः । भ्रात्रादिबहुसाधारणात्कुटुम्बधनाद्भार्यादिभिः स्त्रीभीरबालङ्काराद्यर्थधनसंचयनं कर्तव्यं नापि च भर्तुराज्ञां विना भर्तृधनादपि कार्यं ततश्च नेदं स्त्रीधनम् ॥ १९९ ॥

(४) राघवानन्दः । वाचनिकातिरिक्तं धनं स्त्रियानेति वक्तुं साधारणधनेषु स्वाच्छन्धं निषेधति नेति । निर्हारं अलंकाराद्यर्थसंचयम् । बहुमध्यगात् देवरादिसाधारणात् । स्वभर्तुरनुज्ञां विना स्वकाद्भर्तृसंबन्धिधनादपि न संचिनुयादिति नैतादृशं स्त्रीधनमिति भावः ॥ १९९ ॥

(५) नन्दनः । अथ स्त्रीधनकृत्यमाह न निर्हारिस्त्रिय इति । पूर्वार्धोपन्यासोदष्टान्तार्थः । बहुमध्यगाद्बहुजनभोग्यात्कुटुम्बात् कुटुम्बशब्देन कुटुम्बार्थं भर्तृधनमभिप्रेतं निर्हारव्ययं यथा भर्तुरनाज्ञयाऽऽज्ञया विना न कुर्युः । तथा स्वकादपि च वित्तादिति ॥ १९९ ॥

(६) रामचन्द्रः । कुटुम्बात् मध्यगात् एकत्राविभक्तकुटुम्बात् स्त्रियः निर्हारं व्ययं स्वस्वभर्तुः अननुज्ञया न कुर्युः ॥ १९९ ॥

पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलङ्कारो धृतो भवेत् ॥ न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते ॥ २०० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पत्यौ जीवति धृतः पत्या तासां भूषणमात्रार्थं दत्तो वाऽदत्तस्तमपि तस्यां जीवन्त्यां न पुत्रा भजेरन् धृतायां तु भजेरन्नेव ॥ २०० ॥

(३) कुल्लूकः । भर्तरि जीवति तत्संमताभिर्योऽलङ्कारः स्त्रीभिर्धृतस्तस्मिन्धृते विभागकाले तं पुत्रादयो न भजेरन् भजमानाः पापिनो भवन्ति ॥ २०० ॥

(४) राघवानन्दः । अलंकारार्थं पत्या दत्तं तन्मृतौ देवरादयो विभजन्तः पापिनः स्युरित्याह पत्याविति । तमपि किञ्चिन्यूनाधिकनिमिच्चं गृह्णीयुरिति भावः ॥ २०० ॥

(५) नन्दनः । अलङ्कारस्य स्त्रीधनेष्वनुपदिष्टत्वाद्भर्तृधनत्वेन भर्त्राभावे दायादानां प्राप्पपवादार्थोऽयमारंभः ॥ २०० ॥

(६) रामचन्द्रः । स्त्रीभिः दायादाः पुत्राः । तं अलंकारम् । ते पुत्राः ॥ २०० ॥

अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धर्बाधरौ तथा ॥ उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥ २०१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अचिकित्स्यः क्लीबः । पतितो महापातकी प्रायश्चित्तात्पूर्वम् । बधिरोपि जात्या । उन्मत्तादयोऽचिकित्स्याः । जडोऽस्त्ववशकर्मेन्द्रियः । निरिन्द्रियाः स्पर्शग्रहणादिरहिताः कुणिमभृतयश्च ॥ २०१ ॥

(३) कुल्लूकः । नपुंसकपतितजात्यन्धश्रोत्रविकलोन्मत्तजडमूकाश्च ये च कुणिपङ्गवादयोविकलेन्द्रियास्ते पित्रादिधनहरान् भवन्ति किन्तुग्रासाच्छादनभागिनः ॥ २०१ ॥

(४) राघवानन्दः । ननु दद्यात्पिण्डं हरेद्धनमित्यादिषु पिण्डदातृत्वेन धनहारित्वस्य सामानाधिकरण्यश्रवणादन्धादेः कागतिरिति चेन्न ब्राह्मणं अनंशाविति द्वाभ्याम् जडो धर्मापितो निरुत्साहः । निरिन्द्रियाहस्तादिरहिताः ॥ २०१ ॥

(५) नन्दनः । निरिन्द्रियाः कर्मेन्द्रियरहिताः पङ्गवादयो निर्वार्याश्च ॥ २०१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनंशाविति अभाज्यानाह । अनंशौ अंशानामनर्हौ जात्यन्धबधिरौ । उन्मत्तः वातपित्तश्लेष्मसंनिपातकैर्ग्रहावेशलक्षणैः कम्पाद्यैरभिभूतः । जडः विकलान्तः करणोहितावधारणाक्षमः । च पुनः ये केचिन्निरिन्द्रियाः व्याध्यादिना निर्गतंन्द्रियं येषांते ॥ २०१ ॥

सर्वेषामपि तु न्याय्यं दातुं शक्त्या मनीषिणा ॥ ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यददद्भवेत् ॥ २०२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्यन्तमददत्सर्वथाऽददत्पतितो भवेदित्यन्वयः ॥ २०२ ॥

(३) कुल्लूकः । तदेवाह सर्वेषामिति । सर्वेषामेषां क्लीबादीनां शास्त्रेण ऋक्थहारिणा यावज्जीवं शक्त्या ग्रासाच्छादनं देयं । अददः पापी स्यात् ॥ २०२ ॥

(४) राघवानन्दः । एतेष्टौ भर्तव्याः । विपक्षेत्वाह अददत्पतितो भवेदिति । याज्ञवल्क्योप्याह ॥ क्लीबोऽथ पतिस्तज्जः पङ्कुरुन्मत्तकोजडः ॥ अन्धोचिकित्स्यरोगार्तो भर्तव्याश्च निरंशका इत्यादि ॥ २०२ ॥

(५) नन्दनः । सर्वेषां क्लीबादीनाम् ॥ २०२ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वेषां क्लीबादीनां ग्रासाच्छादनमत्यन्तमददत्पतितो भवेत् ॥ २०२ ॥

यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्क्लीबादीनां कथंचन ॥ तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति ॥ २०३ ॥

(१) मेघातिथिः । अर्थितासंप्रयोगेच्छारतिनिमित्तं तस्यां सत्यां विवहेत् तत्रोत्पन्नसंतानानामपत्यं पुत्रोद्बुद्धिः वा दायं रिक्थविभागमर्हति । दुहितुर्यावान्भागः प्रागुक्तः वान्तरेतास्तु यः क्लीबस्तस्य भवत्येव मैथुनेच्छा कुतः पुनस्तस्य जंतूत्पत्तिः उक्तंच तस्य यस्तल्पजः न प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्येति रागप्रयुक्तता वा तेन श्लोकेन विवाहस्य दर्शिता । धर्मप्रयुक्तत्वे ह्यनधिकृतानां कर्मसु कुतस्तेषां विवाहः आदिग्रहणंचोक्तविषये चरितार्थः । यदिहि आदिग्रहणासामर्थ्यात्सर्वेऽपि गृह्येऽन्यतः पतितोऽपि गृह्ये तस्य सर्वेऽपि गृह्येऽन्यतः पतितोऽपि स्मृतिविरोधेनेष्टं अथवा कृताध्ययनानां कृतविवाहानामुन्मत्तादिरूपे समुपजाते विधिरेशविज्ञेयः । ननु च कृतविवाहानां यद्यर्थिता तु दारैरिति नोपपद्यते नैतदेवं कृतविवाहानां जायार्थितायाः संभवात् पूर्वैस्तु धर्म्येऽपि विवाहेऽस्य प्रयोजनं दृष्टं ततश्च क्लीबस्य स्वार्तेष्वधिकारात्तदर्थो विवाहोऽसत्यामप्यर्थितायां युक्त एव । श्रौतेषु तु जातपुत्रस्याधानात्क्लीबस्य नाधिकारः यस्मिन् च प्रयोजकत्वं युक्तं तद्वर्धयितव्यम् ॥ २०३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अर्थितेच्छा तेन दारसंबन्धलक्षयति । क्लीबादीनामित्यतः पुण्यसंविज्ञानो बह्वुव्रीहिः । तत्र पतितस्यापि दारकर्मणामनर्हत्वादग्रहणं तेन जात्यन्धादीनां ग्रहणम् । तेषामुत्पन्नजन्तूनां उत्पन्नापत्यानाम् । तेन पूर्वधर्मैरपि भ्रातृभिः स्वभागादाकृष्य तत्पितृभागो देयः । क्लीबपतितयोः पूर्वपरिगृहीतदारत्वे तत्रच क्षेत्रजपुत्रोत्पत्तौ तस्य विभागप्रामिरिति प्रागेव सिद्धम् ॥ २०३ ॥

(३) कुल्लूकः । कथंचनेत्यभिधानात्क्लीबादयो विवाहानर्हा इति सूचितं यदि कथंचिदेषां विवाहेच्छा भवेत्तदा क्लीबस्य क्षेत्रजउत्पन्नेऽन्येषामुत्पन्नापत्यानामपत्यं धनभागमवति ॥ २०३ ॥

(४) राघवानन्दः । क्लीबादेरपत्योत्पत्तौ कागतिस्तत्राह यदीति । दारैः कृत्वा अर्धिता पुत्रादौ तदर्थं दारसंग्रहः । उत्पन्नतंतूनां प्राणधारणार्थं केवलमुत्पन्नानाम् । उत्पन्नजन्तूनामिति पाठे नियुक्तक्षेत्रादिना जनितपुत्राणाम् । एषां क्षेत्रजाद्यपत्यं दायमर्हतीत्यन्वयः ॥ २०३ ॥

(५) नन्दनः । उत्पन्नानां त्वयं क्लीवानामपि क्षेत्रोत्पन्नापत्यानाम् ॥ २०३ ॥

(६) रामचन्द्रः । तद्गुणसंविज्ञानोबहुब्रूहिः । क्लीबआदिर्येषां तेषां क्लीबादीनां दारैः स्त्रीभिर्यदि कथंचनार्थिता चेत् यदि तेषां क्लीबादीनामुत्पन्नतंतूनां पुत्राणाम् । क्लीबस्य क्षेत्रजः संभवत्येव अन्येषां औरसा अपि ॥ २०३ ॥

यत्किंचित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोधिगच्छति ॥ भागोयवीयासांतत्र यदि विद्यानुपालितः ॥ २०४ ॥

(१) मेधातिथिः । पितृक्रमागतान्मित्राद्राजामात्यपुरोहितादेर्वाक्षेत्राद्वाकयाचिद्युक्तयाऽधिकोत्पत्तिजनयेत्तत्सर्वेषां साधारणं नैवमन्तव्यं । मयैतद्बुद्ध्या पित्रा प्रागनुपार्जितं मयैतल्लब्धं ममैवैतदिति विद्यानुपालिन इति वचनाद्विद्याजीविनां शिल्पिकारुकप्रभृतीनामेष विधिर्वैद्यनटगायनादीनाम् ॥ २०४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ज्येष्ठो विभक्तः त्वयं विद्याप्रकर्षेणापि लब्धे धने ज्येष्ठो भागं दद्यात् । विद्यानुपालिनस्तद्विद्यानुकूलकुटुम्बावच्छर्चाकारिणः । ज्येष्ठ इति वचनात्कनिष्ठाजितेऽप्येवंभूतेषु न ज्येष्ठस्याधिकार इति दर्शितम् ॥ २०४ ॥

(३) कुल्लूकः । पितरि मृते सति भ्रातृभिः सहा विभक्तो ज्येष्ठः किंचित्त्वेन पौरुषेण धनं लभते ततो धनाद्विद्याभ्यासवतां कनिष्ठभ्रातृणां भागो भवति नेतरेषाम् ॥ २०४ ॥

(४) राघवानन्दः । मृते पितरि त्वपौरुषेणा विभक्तो ज्येष्ठो यदामुयात्तत्रापि कनीयसो भागिन इत्याह यदिति । ते यदि विद्यानुपालिनः विद्याभ्यासिनः । विद्यानुपालिनामिति कचित्पाठः ॥ २०४ ॥

(५) नन्दनः । धनस्य विद्यार्जितस्याविभाज्यत्वं वक्ष्यन् तस्य पुरस्तादपवादमाह यत्किंचिदिति । धनमत्र विद्यार्जितं विवक्षितं यदि विद्यानुपालिन इति लिङ्गादुत्तरश्लोकानुगुण्याच्च कनिष्ठा विद्याधिगते विद्या धने विद्यानुपालिनामपि ज्येष्ठानां न भागः । ज्येष्ठग्रहणाद्यवीयसामिति वचनाच्च ॥ २०४ ॥

(६) रामचन्द्रः । पितरि प्रेते यत्किंचिद्धनं ज्येष्ठः अधिगच्छति अविभक्तः सन् प्रामोति यदि विद्यानुपालितः ॥ २०४ ॥
अविद्यानान्तु सर्वेषामीहा तश्चेद्धनं भवेत् ॥ समस्तत्र विभागः स्यादपि च्य इति धारणा ॥ २०५ ॥

(१) मेधातिथिः । अविचारुषिवाणिज्या राजोपसेवादि तत्र ईष्यूनाधिकभावो न गणयितव्यः तत्रापि यदि केनचिदपि बह्वर्जितं तदाऽस्त्येव विभागता ज्येष्ठस्य तु ज्येष्ठांशनिषेधार्थं वचनं ईषदाधिक्ये तु सर्वेषां समांशकल्पना अपि च्येऽपि हेतुवचनादनपत्यधनस्याप्येष एव विधिः ॥ २०५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यदि सर्व एव निर्विद्याः ईहात इतस्ततो गमनेन पितृधनक्षतिं विना धनमर्जितवन्तः अविद्यानामिति । यदि सर्व एव निर्विद्याः यदितु पितृधनेन वाणिज्यादिनार्जितं धनं तदा ज्येष्ठोद्धारोऽदेय इत्याह अपि च्य इति ॥ २०५ ॥

(३) कुल्लूकः । सर्वेषां भ्रातृणां रुषिवाणिज्यादिचेष्टया यदि धनं स्यात्तदा पित्र्यवर्जिते तस्मिन् धने स्वार्जिते समो विभागः स्यान्न तद्धारः अपि च्य इति निश्चयः ॥ २०५ ॥

(४) राघवानन्दः । तद्ग्रहितानामपि धनाद्यर्थमीहमानानां समो भाग इत्याह अविद्यानां चेति । अपि च्ये पितृधनानि

रिक्ते तस्मिंस्तु सोद्धारादिविषमविभागउक्तइति । धारणा शास्त्रमर्यादा । तेन विद्वानभ्यासिनामनीहमानानांच न तादृग्धने भागइतिभावः ॥ २०५ ॥

(५) नन्दनः । ईहातः कृष्यादिचेष्टातः सर्वेऽपि यथासामर्थ्यहरन्ति चेत्सर्वोहि विभागः स्यान्नान्यथेति अपिच्येऽपितृकृते पितृकृतस्य तु विभागवैषम्यमभ्यनुज्ञातमेष अत्रईशनस्य धनस्य समविभागवचनात्पूर्वस्मिन् श्लोके यवीयसां विद्याधनेषु समन्वयमात्रमभिहितं नस्वाम्यमित्यवगन्तव्यम् ॥ २०५ ॥

(६) रामचन्द्रः । अविद्यानांसर्वेषां ईहातोवाणिज्यादिना चेद्धनंभवेत् समस्तत्र विभागःस्यात् अपिच्यइतिधारणा ॥ २०५ ॥

विद्याधनन्तु यद्यस्य तत्तस्यैव धनंभवेत् ॥ मैत्र्यमौद्वाहिकंचैव माधुपर्किकमेव च ॥ २०६ ॥

(१) मेधातिथिः । विद्यायाअभ्यापनादिना शिल्पकौशलेन वा तथा मित्रादर्जितमौद्वाहिकंचैव माधुपर्किकमार्त्विज्येन यदाप्येतदपि विद्याधनंभवति तथापि जायमानेन निमित्तेनोपादीयमानत्वाद्देन व्यपदिश्यते श्वशुरगृहलब्धमौद्वाहिकमपरे उद्वाहनिमित्तेन यतस्तल्लभ्यते ॥ २०६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विद्याधनं विद्ययाधनं एतच्च भ्रातृणां विद्यानुपालिनः तद्विद्यानुकूलपालित्वेपिज्येष्ठस्य कनिष्ठेनविद्यया लब्धे । मैत्रं मित्रात्प्राप्तम् । औद्वाहिकं भार्याबन्धुभ्योलब्धम् । माधुपर्किकं स्नातकत्वादिनार्हणार्थदक्षान्माधुपर्काल्लब्धम् ॥ २०६ ॥

(३) कुल्लूकः । विद्यामैत्रीविवाहार्जितमाधुपर्किकमधुपर्कदानकाले पूज्यतया यल्लब्धतस्यैवतस्याद्यार्त्विचित्पितरीत्युक्ताऽयमपवादः । विद्याधनंच व्यावृत्तकृत्यायनेन ॥ परभक्तप्रदानेन ग्रामाविद्यायदान्यतः । तथा प्राप्तंच विधिना विद्याप्राप्तंतदुच्यते ॥ उपन्यस्ते च यल्लब्धविद्यया षण्पूर्वकम् । विद्याधनन्तु तद्विद्याद्विभागे न विभज्यते ॥ शिष्यादार्त्विज्यतः प्रश्नात्संदिग्धप्रश्ननिर्णयात् । स्वज्ञानशंसनाद्वादाल्लब्धंभाष्ययनाच्च यत् ॥ विद्याधनन्तु तत्प्राहुर्विभागे न विभज्यते ॥ अतोयन्मेधातिथिगीविन्दराजाभ्यां माधुपर्किकमार्त्विज्यधनं व्याख्यातंतदयुक्तम् विद्याधनत्वात् ॥ २०६ ॥

(४) राघवानन्दः । अविभक्तैरपि विद्याद्युपार्जितं धनं न विभजनीयमित्याह विद्याधनमिति । शिष्यादार्त्विज्यतः प्रश्नात्संदिग्धप्रश्ननिर्णयात् ॥ अज्ञातशंसनाद्वादाल्लब्धंभाष्ययनाच्च यत् ॥ विद्याधनंतु तत्प्राहुर्विभागे न विभज्यतइतिकान्यायनोक्तेः ॥ विद्याधनंसप्तधाआर्त्विज्यतः आर्त्विज्यं कृत्वा । प्रश्नात्प्रश्नेन परितोष्य । अज्ञानशंसनात् खण्डनादज्ञानस्य । प्राष्ययनाद्विद्यार्जितगुणविशेषादित्यर्थः । मैत्रमित्रतो लब्धम् । माधुपर्किकं तत्संबन्धि राजतपात्रादि । तथाच याज्ञवल्क्यः ॥ पितृद्रव्याविरोधेन यदन्यत्स्वयमर्जितम् ॥ मैत्रमौद्वाहिकंचापिदायादानां न तद्भवेत् ॥ पितृद्रव्याविरोधेनेत्यस्यायमर्थः पित्राशरीरमात्रोद्धरितः सत्यद्धनं संचिनोति तत्कस्मैचिन्न देयं । नतुपितृद्रव्यमुपजीव्ययदार्जितमिति ॥ २०६ ॥

(५) नन्दनः । विद्याधनं प्रवचनशिल्पार्जितं । मैत्र्यं मित्रतो लब्धं । औद्वाहिकं विवाहकाले लब्धं । माधुपर्किकं मर्ककालेलब्धम् ॥ २०६ ॥

(६) रामचन्द्रः । मैत्र्यं मित्रात्प्राप्तम् । औद्वाहिकं परिवर्हम् । माधुपर्किकं मधुपर्ककाले प्राप्तम् ॥ २०६ ॥

भ्रातृणांयस्तु नेहेत धनशक्तः स्वकर्मणा ॥ सनिर्भाज्यः स्वकादंशात्किंचिद्वत्पोपजीवनम् ॥ २०७ ॥

(१) मेधातिथिः । ये भ्रातरः सहवसन्तिविद्यमानपितृधनाश्च कृष्यादिना व्यवहरन्ति तेषांयद्येकोनव्यवहरेत्तस्येधनिर्भाज्यतापठ्यते सनिर्भाज्यः स्वकादंशादिति भागान्नेतव्योऽपसारयितव्यः स्वकादंशाद्यावदधिकंतदीयाद्धनाद्यवहारे-

णोत्पन्नंतत्तस्य न दातव्यं नतुमूलधनस्य पैतृकस्यनिषेधः तत्रापि न सर्वेण सर्वनिर्भाज्यं किंचिदन्योपजीवनं क्लेशफलमात्मनोगृहीत्वा शिष्टमस्मैदातव्यम् । अथवानिर्भाज्यः पृथक्कार्यःसहवस्तुं नचेयंकदाचिदुत्तरकालशक्तिसाधारण्येन धनेनार्जितत्वात्समांशता तत्र भागकल्पना नारदेनदर्शिता तत्रवचनेनाद्वैतस्य निर्गतस्य भूयान्भागोगृह्यतेऽनुक्तस्य स्वल्प-इति ॥ २०७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भ्रातृणांमध्ये योनेहेतु नेच्छेत्तत्तं पित्र्यधनादंशउपजीवनंधनार्किकिंचिद्वत्वा निर्भाज्यो-विभक्तःकर्तव्योभ्रातृभिः स्वधनात् ॥ २०७ ॥

(३) कुल्लूकः । राजानुगमनादिकर्मणा योधनमर्जितुंशक्तोभ्रातृणांसाधारणंधननेच्छति सस्वीयादंशार्किकिंचिदुपजीवनंदत्वा भ्रातृभिः पृथक्कार्यः । तेन तत्पुत्रास्तत्र धने कालान्तरे न विवदन्ते ॥ २०७ ॥

(४) राघवानन्दः । यस्तुप्रकारान्तरेण जीवितुं शक्तोयदि नेहेतु नांशमिच्छेत्तस्मै किंचिद्वत्वा विभजेदित्याह भ्रातृणामिति । निर्भाज्यः [निर्गतभागःउपजीवनं तदपेक्षितम् ।] दानंतु तत्पुत्रादिदायनिवृत्त्यर्थमितिभावः ॥ २०७ ॥

(५) नन्दनः । निर्भाज्योऽभागः ॥ २०७ ॥

(६) रामचन्द्रः । भ्रातृणामितियोत्रस्वाधिकारीअलोभान्जिघृक्षतितंभत्याह । भ्रातृणां सकाशात् यः भ्राताधनंनईहेतु न स्वीकुर्यात् सः स्वकादंशात् निर्भाज्यः नितान्तंभाज्यःदापनीयः किंचिद्वत्त्वोपजीवनंकिंचित् असारंतस्मैदत्वा सः विभक्तःकर्तव्यः कीदृशः यः स्वकर्मणा । उद्यमोपार्जितद्रव्येण शक्तः पूर्णः ॥ २०७ ॥

अनुपघ्नन्पितृद्रव्यंश्रमेण यदुपार्जितम् ॥ स्वयमीहितलब्धंतन्नाकामोदातुमर्हति ॥ २०८ ॥

(१) मेघातिथिः । विद्यानिमित्तस्य स्वयमर्जितस्यादानमुक्तं अनेन व्यतिरिक्तस्य रुष्यादिलब्धस्यादातव्यतोच्यते ननुचायमेव श्लोकोनवक्तव्यः स्वयमीहितेन स्वयंचेष्टया यल्लब्धंतन्नाकामोदातुमर्हतीति किंविद्याधनादिश्लोकेन उच्यते मन्त्रेविवाहादौ न सर्वस्य स्वयमीहोपपत्तिरितिभेदेन व्यपदेशः ॥ २०८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्रमेणातिश्रमजन्यकर्मणा स्वयमीहितेन स्वमात्रोद्यमेन लब्धं नाकामोदातुमर्हति यात्र-दिच्छति तावत्किंचिद्व्याप्तुसमभागनियमः श्रमेणेत्युक्तत्वात् । अश्रमार्जिते प्रागुक्तः समभागः ॥ २०८ ॥

(३) कुल्लूकः । पितृधनानुपघातेन अरुष्यादिक्लेशादर्जयेत्तत्स्वचेष्टाप्राप्तमनिच्छन्भ्रातृभ्योदातुंनार्हति ॥ २०८ ॥

(४) राघवानन्दः । तन्मदद्युरित्याह अनुपघ्नन्ति । अनुपघ्नन् अनुपजीवन् । ईहितलब्धं विद्ययाप्राप्तं । तत्तुव्याख्यातं पूर्वयाज्ञवल्क्यव्याख्याकाले ॥ २०८ ॥

(५) नन्दनः । अनुपघ्नन्हिंसननपाश्रयन्निति वा श्रमेण रुष्यादिकर्मणा पूर्वत्र सर्वेषु यथासामर्थ्यमीहमानेषु भ्रातृषु समविभागउक्तइत्यत्राविरोधोनुसंधेयः ॥ २०८ ॥

(६) रामचन्द्रः । पितृद्रव्यंअनुपघ्नन्अव्ययंकुर्वन् स्वयमीहितलब्धं स्वव्यापारेण लब्धं यत् तत् अकामःसन् दातुंनार्हति ॥ २०८ ॥

पैतृकन्तु पिताद्रव्यमनवाप्तंयदामुयात् ॥ न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम् ॥ २०९ ॥

(१) मेघातिथिः । ग्रहणादन्यदर्थयन्पित्रा स्वयमर्जितं तदाकामो विभजनीयोऽधिकारप्राप्तैरपि पुत्रैः कःपुनर्जीव-

ति पितरि पुत्राणांविभागकालउच्यते यदा तावत्स्वयंपिता पुत्रान्विभजते तदीकं मातुर्निवृत्तेरजसीति जीवतिचेच्छतीति तथा पितर्यगतस्पृहे निवृत्ते वापिरमणइति अन्यथा तु यदैवप्राप्ताःपुत्राभवन्ति यतस्ते पितामहधनस्येशते । तथाचोक्तं ॥ भूर्यापितामहोपात्तानिबन्धोद्रव्यमेववा । तत्र स्यात्सदृशंस्वाम्यंपितुः पुत्रस्य चोभयोरिति ॥ सत्यपि च पुत्रस्य स्वाम्ये[यावद-प्राप्तास्तावत्] सर्वथा विशेषाभावात्सर्वेपितामहधनभाजः स्वत्वपूर्वकत्वाद्विभागस्य बन्धक्यादिक्रियासु पितृधनंजातपुत्रेण नियोक्तव्यं योगकुटुंबभरणादौ तु विनियोगोदर्शितः । आचारे सत्यपि चास्यामवस्थायांपुत्राणांस्वाम्ये पुत्रकामेन वाविभक्ताविति निन्दादर्शनाद्विभाजयन्तः पापाइत्यनुमीयते यथाऽसकृत्प्रतिग्रहेणभवतिस्वाम्यं दोषस्तु पुरुषस्य तेनान्वयागतमितीदृशमशुद्धमेव अतः संभवत्युपायान्तरे नपितार्थनीयः अधर्मोहि तथास्यात् । स्वयमर्जितमपि धनमधिकारप्राप्तान्गुणवतः पुत्रान् ज्ञात्वा विभक्तमेव । उक्तंच वयसि स्थितः पिता पुत्रान्विभजेत् ज्येष्ठश्रेष्ठानेतरान्समैरंशैरिति । नचैतत्पितामहधनविषयं । नहि तत्र पिता ज्येष्ठस्याधिकांशदानाय प्रभवति तुल्यत्वादुभयोः स्वाम्यस्य यत्विदं ॥ न्यूनाधिकविभक्तानांधर्म्यः पितृकृतःस्मृतइति ॥ तत्पितामहेपिस्वल्पया मात्रयेच्छन्ति यत्र न परिपूर्णभागद्वयंगृहीतंस्वयमर्जितविषये ह्यपवादएव स्यात् ॥ २०९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पैतृकं स्वपितृसंबन्धि अनवामं स्वोद्यमेनापि स्वपित्रा । प्रामुयात् महतायत्नेन । अकामो नविभजेन्विभजेत् । एवंच स्वयमतिप्रयत्नाऽनुपार्जितं पितृद्रव्यं पुत्राणामिच्छयापि विभजेदित्युक्तम् । ततःपरंच तत्रस्यात्सदृशंस्वाम्यमितियाज्ञवल्क्यवचनम् ॥ २०९ ॥

(३) कुल्लूकः । यत्पुनः पितृसंबन्धिधनंतेनासामर्थ्येनोपेक्षितत्वादनवामं पुत्रःस्वशक्त्या प्रामुयात्तत्स्वयमर्जितमनिच्छन्पुत्रैः सह न विभजेत् ॥ २०९ ॥

(४) राघवानन्दः । यद्धनं पितृपितामहादिसंबन्धि अथ केनापि बलवता न लब्धं पश्चात्पित्रालब्धं स्वयमर्जितं तदेव तदकामः पिता न पुत्रेभ्योविभजेदित्याह पैतृकमिति । याज्ञवल्क्योप्याह ॥ ऋमादभ्यागतं वित्तं दत्तमभ्युद्धरेत्तु यः ॥ दायादेभ्योन तद्दद्याद्विषया लब्धमेव च ॥ एतत्पुत्राणां समुत्थानकृतविभागे । स्वयंकृतविभागेतु ॥ विभागंचेत्पिता कुर्यादिच्छया विभजेत्सुतानिति ॥ दायादेभ्यः स्वपुत्रेभ्यः ॥ २०९ ॥

(५) नन्दनः । अनवाममन्यैरपदत्तत्वात्स्वयंपित्रा पूर्वप्रत्युत्पन्नं स्वयमामुयात्प्रत्यापद्यतभजेत् स्वयमर्जितत्वादित्यर्थः । एवंवदता पितामहादिधनस्य विभागकाले पित्रा पुत्रैः सह सममेवावश्यं विभाज्यमित्यर्थादुक्तंभवति ॥ २०९ ॥

(६) रामचन्द्रः । पैतृकं द्रव्यंपिता यत् अनवामंस्वपित्र्यंस्वपुत्रादिभिः अनवामं यत् प्रामुयात्स्वयमर्जितं अकामः सनतपुत्रैःसार्धेन भजेत् ॥ २०९ ॥

विभक्ताः सहजीवन्तोविभजेरन्पुनर्यदि ॥ समस्तत्र विभागस्याज्यैष्ठ्यंतत्र न विद्यते ॥ २१० ॥

(१) मेघातिथिः । स्पष्टार्थः श्लोकः विभागधर्मे विभागस्योद्धारप्रत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थस्वपित्र्यइति धारणेति वचनात् पित्र्यस्य सर्वधनस्योद्धारः इहतु भूतः सर्वगत्या पित्र्यनास्तीत्याशङ्क्यावचनम् ॥ २१० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विभक्ताः पूर्वं पुनर्धनंसंगृह्य जीवन्तोयदि पुनर्विभागंकुर्युः । समोनतु ज्येष्ठोद्धारदानम् । ज्यैष्ठ्यं ज्येष्ठलभ्यउद्धारः ॥ २१० ॥

(३) कुल्लूकः । पूर्वसोद्धारनिरुद्धारंवा विभक्ताभ्रातरः पश्चादेकोक्त्य धनसहजीवन्तोयदि पुनर्विभागकुर्वन्ति तदा तत्र समोविभागः कार्यः ज्येष्ठस्योद्धारो न देयः ॥ २१० ॥

(४) राघवानन्दः । प्रथमं पितृकृतविभागांस्तदुत्तरमेकीभूतान् संसृष्टिनः पुनरपि भागेच्छन्प्रत्याह विभक्ता इति । ज्येष्ठ्याभावतात्पर्यकमिति ॥ २१० ॥

(५) नन्दनः । अथ संसृष्टीनां विभागे विशेषमाह विभक्ताः सहजीवन्त इति विभजेरन्संसृष्टिभिः पुनरार्जितद्रव्यं ज्येष्ठ्यं ज्येष्ठेन दत्तो विभागातिशयः एवं वदता प्रथमविभागे ज्येष्ठस्य भागातिशयपक्ष एवादरणीय इति ॥ २१० ॥

(६) रामचन्द्रः । पूर्वविभक्ताः पश्चात्सहमिलित्वा जीवन्तो यदि पुनर्विभजेरन् ॥ २१० ॥

येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः ॥ श्रियेतान्यतरो वापि तस्य भागो न लुप्यते ॥ २११ ॥

(१) मेघातिथिः । येषां भ्रातृणां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा भ्रातांशप्रदानाद्धीयते अंशप्रदानं विभागकालः हीयते पादेत्याद्य विभागार्थं च हेतुमासादयेत् श्रियेत वा तस्यां भागो न लुप्यते तस्येयं प्रतिपत्तिः ॥ २११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । हीयेत विभागानन्तरोत्पन्नक्लेशादिना श्रियेतान्यतरो विभागानन्तरं तस्य भागो यः पूर्वव्यवस्थितः स न लुप्यते न सर्वोर्विभज्यलोप्यः ॥ २११ ॥

(३) कुल्लूकः । येषां भ्रातृणां मध्ये कश्चिद्विभागकाले म्रज्यादिना त्वांशाद्धीयेन्मृतो वा भवेत्तस्य भागो न लुप्येत ॥ २११ ॥

(४) राघवानन्दः । तथा विधेषु यदि कश्चित्प्रज्जेन्श्रियेत वा तदंशं सर्वं सहोदरा विभज्य गृह्णीयुरित्याह येषां मिति ह्याभ्याम् । न लुप्यते किंतु यथायोगं विभज्यत इत्याह सोदर्या इति । अनूढभगिन्याः अस्य तात्पर्यमाह याज्ञवल्क्यः ॥ संसृष्टिनस्तु संसृष्टी सोदरस्य तु सोदरः ॥ दद्याच्चापहरेदंशं जातस्य च मृतस्य च ॥ तत्रापि ॥ अन्यौदर्यस्तु संसृष्टी नान्यौदर्यो धनं हरेदिति ॥ संसृष्टी तु ॥ विभक्तो यः पुनः पित्रा भ्रात्रा चैकत्र संस्थितः ॥ पितृव्येनाथ वा प्रीत्या स तु संसृष्ट उच्यत इत्युक्तः । भगिन्योऽनूाश्रितस्य पुत्रपत्नीदुहितृपितृमात्रभावे ॥ २११ ॥ ॥ २१२ ॥

(५) नन्दनः । अंशप्रदानतो वा हीयेत दूरं प्रेषितत्वात् पतितो वा स्यात् ॥ २११ ॥

(६) रामचन्द्रः । येषां भ्रातृणां मध्ये ज्येष्ठः कनिष्ठो वा अंशः प्रदानतः हीयेत सन्यस्य यत्किंवादिना स्वयं भागं नामोतिशुद्धो वा अन्यतरः मध्यमः श्रियेत वा तस्य भागो न लुप्यते ॥ २११ ॥

सोदर्या विभजेरन्तं समेत्य सहिताः समम् ॥ भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ॥ २१२ ॥

(१) मेघातिथिः । सोदर्या भ्रातरो येषां संसृष्टार्थं गृह्णीयुः । भगिन्यश्च सनाभयः सोदर्या अपुत्रास्ता हि सनाभिव्यपदेश्याः प्रवृत्ताः पुनः प्रतिगोत्रभावमनुभवन्तीति न भ्रातृणां सनाभयः ये च संसृष्टा इति च शब्दो भगिनीं समुच्चिनोति त्वियमाशङ्ककर्तव्या । सोदर्या गृह्णीयुर्यश्च भ्रातरः संसृष्टा इति तथा सत्यसोदर्याणामपि संसृष्टानां भागः प्रसज्येत सन्येव सोदर्या असंसृष्टाः संसृष्टाश्च सोदर्या यत्र सन्ति तत्रोभयोरपि विभागेन विभागं गृह्णीयुः न चेदं विरुध्येत ॥ अन्यौदर्यस्तु संसृष्टी नान्यौदर्यं धनं हरेत् । असंसृष्टोपि वा दद्यात्सोदर्यो नान्यमात्रिकः ॥ अस्यायमर्थः सापत्नो भ्राता सत्यपि संसृष्टित्वेन गृह्णाति यदा सोदर्योऽसंसृष्टोऽपि विच्यते सोदर्याणां मध्याद्येन संसृष्टः स एव नान्यः सत्यपि सोदर्यत्वे । तदुक्तं ॥ संसृष्टिनस्तु संसृष्टी सोदर्यस्य तु सोदर इति ॥ यदा तु सोदरानैव सन्ति तदा धरेव सापत्नैः संसृष्टस्त एव गृह्णीयुर्न त्वितरे । सोदर्यविभक्तानां सहवसतां महानिकटमावसत्यपि सा-

न्निध्यं विशेषकार्यसामान्योत्थविभक्तानामपि विज्ञायतइत्याहुः तेन विभक्तानामप्यन्यतरप्रमेयसोदर्यएव गृह्योयान्नास्य भागः परिलुप्यते नचैतच्चोदनीयनैवास्य तदानीं भागउत्थितः परलोकोवा चिन्त्यते यतउक्तं समुत्पन्ने वाच्यः स्वामीति । अनीशास्ते हि जीवतोरिति ॥ २१२ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । यत्कार्यतदाह सोदर्याइति । संसृष्टिनः सोदराः सापत्नावा । सनाभयः सोदराः । तत्रच संसृष्टिसोदरसद्भावे तस्यैवतत् । तदभावेसापत्नस्यापि संसृष्टिनः तदभावे भगिनीनां सोदर्याणां तदभावे तद्भातृभ्रातृपुत्राणां तदभावेत्वसोदरादेरपि । एतच्च सर्वं पुत्रपत्नीदुहितृमातृपित्रभावे तत्सद्भावेतु तेषामेव । केचित्तु वचनद्वयमेतदप्राप्तविभागस्य क्षीरादेर्विभागाद्वाप्रागेव मृतस्य विभागकाले भागमाकुर्य सोदरादिभिर्ग्राह्यमित्येतत्परंव्याचक्षते । अपरेतु विभक्ताएव यदि पुनः संसृष्टास्तन्मध्ये एकस्य भ्रातुर्मरणे तद्भागव्यवस्था श्लोकद्वयेन दर्शितेत्याहुः ॥ २१२ ॥

(३) कुल्लूकः । किन्तु सोदर्याभ्रातरः समागम्य सहिताः भगिन्यश्च सोदर्यास्तमंशंसमंकृत्वा विभजेरन्सोदर्याणांसापत्न्यानामपि मध्यात् ये मिश्रीकृतधनत्वेनैकयोगक्षेमास्ते विभजेयुः समंसर्वसोदर्यासपत्न्यावा एतच्च पुत्रपत्नीपितृमात्रभावे द्रष्टव्यम् ॥ २१२ ॥

(५) नन्दनः । सोदर्याभ्रातरोविभागकाले सहिताभूत्वा समेत्यैकमत्यमुपागम्यतं प्रेषितप्रव्राजितादिभ्रातृभागं संविभजेरन् सोदराभावे संसृष्टास्तदभावेसनाभयोभगिन्यः समविभागविषयत्वादेवास्य संसृष्टिविभागोन्तरमुक्तः न पुनः संसृष्टिविषयत्वेन अपुत्रभ्रातृविभागविषयं चैतत्समृत्त्यन्तरानुगुण्यात् ॥ २१२ ॥

(६) रामचन्द्रः । सोदर्याः सहिताः समेत्यसमं भजेरन् येच सापत्नभ्रातरः संसृष्टाः चपुनःभगिन्यश्च सनाभयः सहोदरभगिन्यः समम् ॥ २१२ ॥

योज्येष्ठोविनिकुर्वीत लोभाद्भातृन्यवीयसः ॥ योज्येष्ठः स्यादभागश्चनियंतव्यश्च राजभिः ॥ २१३ ॥

(१) मेधानितिः । तत्र पितुरुर्ध्वसमन्तरमेव पुत्राणांस्वाम्यंदर्शयति विनिकारोराजपूजादिष्ववज्ञा परेधनेन वंचनं अज्येष्ठोबन्धुवत्पूज्यइत्युक्तं न सर्वेण सर्वे ज्येष्ठवृत्तिनिषेधोऽभागकत्वंच ज्येष्ठांशनिर्हृत्वनियन्तव्यमविशेषोपदेशात् वाग्दण्डधिग्दण्डाभ्यां धनंचार्थानुरूपेऽपराधे ॥ २१३ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । विनिकुर्वीत लुप्तभागानल्पगान्वाकर्तुंयतेत । अज्येष्ठोऽज्येष्ठोचिताभिवादानाद्यनर्हः । एवंच ज्येष्ठइत्यभिधानान्नकनिष्ठानांलुब्धत्वकरणेऽभागत्वमितिग्राह्यम् ॥ २१३ ॥

(३) कुल्लूकः । योज्येष्ठोभ्राता लोभात्कनीयसोभ्रातृत्वंचयेत्सज्येष्ठभ्रातृपूजाशून्यः सोद्धारभागरहितश्च राजदण्ड्यश्च स्यात् ॥ २१३ ॥

(४) राघवानन्दः । लोभादिना ज्येष्ठस्य कनीयस्यग्रे राजदण्डमाह यइति । विनिकुर्वीत निःसारयेत् । अज्येष्ठः ज्येष्ठत्वेन या पूजा तच्छून्यः । अभागः पितृधनाद्यपात्रम् ॥ २१३ ॥

(५) नन्दनः । एवंज्येष्ठस्य संसर्गादिविषये समविभागत्वमुक्तेदानींतस्य कचिद्विषयेऽभागत्वमाह योज्येष्ठोविनिकुर्वीतेति । विनिकुर्वीत निराकुर्वीतेति ॥ २१३ ॥

(६) रामचन्द्रः । योज्येष्ठोलोभाद्यवीयसोभ्रातृन् विनिकुर्वीत परिभवेत् सोऽज्येष्ठोऽज्येष्ठवत्पूजाहोर्न भवति । च पुनः अभागः अधिकांशहरोन ॥ २१३ ॥

सर्वएवविकर्मस्थानार्हन्ति भ्रातरोधनम् ॥ नचादत्वा कनिष्ठेभ्योज्येष्ठः कुर्वीत यौतकम् ॥ २१४ ॥

(१) मेधातिथिः । विकर्मस्थाः प्रतिषिद्धाचरणाः कुटुंबार्थं चानुतिष्ठमानानां तेषामन्येषां भ्रातृणां संबन्धुपविष्टस्था-
पयेद्यत्तेवक्ष्यन्ते कुतस्तद्वर्धनमिति तदा मूलदर्शयिष्यामीति तादृशवृद्धिसहितमपि सर्वेषामपि दापयेत् । यदि तु तस्मिन्नेव
काले भ्रातृणां दर्शयेदमधिकं दृश्यते तद्यथांशं गृहीताहमिति स्वतस्तत्पृथक्कृत्य वृद्धिनेष्यामीति तदा नास्ति तेषां भागस्त-
स्यैव न यौतकम् ॥ २१४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विकर्मस्थाः ब्राह्मणाः सन्तो गोरक्षणशूद्रसेवादिकुवृत्तिपराः । नचेति । यौतकं पित्रर्था-
दन्यत्कृतं पृथग्भूतं स्वार्थव्ययं पितृधनात्कनिष्ठेभ्यस्तावदत्त्वा न कुर्वीत । ज्येष्ठ इति तत्कुटुम्बव्ययचिन्ताकारिपरम्
॥ २१४ ॥

(३) कुल्लूकः । अपतिता अपि ये भ्रातरो द्यूतवेश्यासेवादिविकर्मासक्तास्ते ऋक्थनार्हन्ति । नच कनिष्ठेभ्योऽननु-
कल्प्य ज्येष्ठः साधारणधनादात्मा र्थमसाधारणधनं कुर्यात् ॥ २१४ ॥

(४) राघवानन्दः । विकर्मस्थानां जीवनमात्रं नांश इत्याह सर्व इति । विकर्मस्थाः । द्यूतपानाद्यासक्ता [द्यूते सं-
बन्धिने कथनमस्येति यौतकं सर्वसाधारणधनादात्मा र्थमसाधारणकरणमिति] ॥ ११४ ॥

(५) नन्दनः । विकर्मस्था विप्रतिषिद्धकर्मप्रधानाः कनिष्ठेभ्यो भागं दत्वा ज्येष्ठः स्वदुहितुः स्त्रीधनं न कुर्वीत । न
दद्यादशेषपितृधनग्राहिणा कनिष्ठेन समविभक्तेन ज्येष्ठेन भ्रातृसाधारणाद्धनात् दुहितृयौतकं देयं विभज्यत्वादंशदेवमिति
भावः ॥ २१४ ॥

(६) रामचन्द्रः । भ्रातरोधनविभागं नार्हन्ति । ज्येष्ठो यौतकं पित्रर्थात्पृथग्भूतं कनिष्ठेभ्योऽदत्त्वा न कुर्वीत ॥ २१४ ॥

भ्रातृणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत्सह ॥ न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात्कथंचन ॥ २१५ ॥

(१) मेधातिथिः । यदुक्तं ॥ न्यूनाधिकविभक्तानां धर्म्यः पितृकृतः स्मृत इति ॥ तेभ्योऽस्मिन्विषये प्रतिषेधः सहोत्थानं-
सर्वएव धनमर्जयन्तीत्यर्थः । कश्चित्कृष्यादिना कश्चित्प्रतिग्रहेण कश्चित्सेवया कश्चित्प्राप्तत्वं परिरक्षति यथोपयोगमसंनिहि-
तेषु विनियुक्ते तत्सर्वमेकीकृत्य समं विभजनीयं न स्नेहादिना कस्मैचित्पित्राधिकं देयम् ॥ २१५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सहोत्थानं संभूय वाणिज्यादिना वित्ताद्यर्जनम् । पिता अधिकायासादिकं ॥
देकस्य दृष्ट्वाऽधिकं न दद्यात् ॥ २१५ ॥

(३) कुल्लूकः । भ्रातृणां पित्रा सहावस्थितानामविभक्तानां यदि सहधनार्जनार्थमुत्थानं भवेन्नदा विभागकाले न
कस्य चित्पुत्रस्याधिकं पिता कदाचिद्दद्यात् ॥ २१५ ॥

(४) राघवानन्दः । न्यूनाधिकविभक्तानां धर्म्यः पितृकृतः स्मृत इति अस्यापवादकमाह भ्रातृणामिति । उत्थानं ध-
नादानं प्रतीच्छा । पितृकृत इति स्वयं यदा पुत्रान्विभजेत्तदा न्यूनाधिक्यमिति भावः ॥ २१५ ॥

(५) नन्दनः । सहोत्थानं संभूयार्जनं विषमं ज्येष्ठानामधिभागप्रदानेन विषमम् ॥ २१५ ॥

(६) रामचन्द्रः । यदि उत्थानं सह मिलित्वा धनार्जनं भवेत् पिता विषमं पुत्रभागं कथंचन न दद्यात् ॥ २१५ ॥

(२१५) यदुत्थानं = सहोत्थानं (नं)

१ (राघ० २)

ऊर्ध्वविभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम् ॥ संसृष्टास्तेन वा येस्युर्विभजेत सतैःसह ॥ २१६ ॥

(१) मेधातिथिः । विभागोत्तरकालंपित्रायद्विभागेद्वयंगृहीतंद्वावंशौप्रतिपद्येते तदेव सत्यां पितुरिच्छायां ग्रहीतव्यं । पितुरुर्ध्वं वा न तत्र भ्रातृभिर्वाच्यं किमित्ययंद्वावंशौ गृह्णातीति अथ च नास्ति पितुरिच्छा तदा समंच स्वसमोस्य भाग-
उद्धर्तव्यः पितुरुर्ध्वंसंसृष्टास्तेषामेव सपैतृकोशस्तदुत्थंदद्यादपरेषांत्वांशं जातस्यचमृतस्यचेति जातस्य संसृष्टिनएव दद्युः
पितुरुर्ध्वतदीयमंशंच तएवमेव विभक्ताःसहइत्यनयानुबुद्ध्या भगिन्याआप्रसवान्नैव विभागोस्तीतिवसिष्ठेन दर्शितम्
॥ २१६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पित्र्यमेव पितृभागमेव । एतेन विभागकाले पितुरपि भागोदर्शितः । यदितु विभागादूर्ध्वमर्धनेकेषां जन्म तदापि सएव भागोविभज्य तैर्ग्राह्यः । संसृष्टाइति यदिपुनः संसृष्टास्तेन सह कचिद्भातरःस्युस्तदा तद्धनान्तर्भावेन पितृधनं संसृष्टैः सह विभज्य ग्राह्यमित्यर्थः ॥ २१६ ॥

(३) कुल्लूकः । यदा जीवतैव पित्रा पुत्राणामिच्छया विभागः कृतस्तदा विभागादूर्ध्वजातः पुत्रः पितरि मृते पितृक्रकथमेव गृह्णीयात् येकृतविभागाः पित्रा सहपुनर्मिश्रीकृतधनास्तैः सहासौ पितरि मृते विभजेत् ॥ २१६ ॥

(४) राघवानन्दः । सर्वेषां पितृकृतविभागे तदुत्तरकालीनापत्यान्तरोत्पत्तौ कागतिस्तत्राह ऊर्ध्वमिति । मृतेपितरि पित्र्यं विभजनकाले यत्पितृभागं जीवतितु इच्छायाअनियतत्वेन येतेन पित्रासह संसृष्टास्तैः सह समंतं सपिता विभजेतेत्यन्वयः । तत्रच स्पष्टगर्भायां मातरि पितृभागाभावे मृते पितरि विभक्तैरप्यंशोदेयः । अस्पष्टगर्भायांतु प्रसूतिपर्यन्तं विभागाभावः । एवं पितामहधनं पौत्रे प्रतिषिद्धं पितुः स्वातन्त्र्यादितिष्येयंबृहस्पतिनोक्तेः ॥ २१६ ॥

(५) नन्दनः । पित्र्यमेवहरेत् पुनर्विभक्तं भ्रातृधनमंशसाम्याय विभज्य हरेत् । अस्यापवादउत्तरार्धेनोच्यते तेन पित्रा यैर्विभक्ताः संसृष्टास्तैः समंवा विभजेत् ॥ २१६ ॥

(६) रामचन्द्रः । तेन पित्रा सह ये संसृष्टाः स्युः भवेयुः तैः संसृष्टैःसह सः पिता विभजेत् ॥ २१६ ॥

पितृव्यस्यपुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् ॥ मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम् ॥ २१७ ॥

(१) मेधातिथिः । व्याख्यातोयंश्लोकः ॥ २१७ ॥

(२) सर्वज्ञनारयणः । पत्नीदुहितृभावे पुत्रस्य धनं पितृगामीति प्राक्सूचितं तत्र विशेषमाह अनपत्यस्येति । मातर्यपि वृत्तायां पश्चात्पितरि तद्गृहीतरि वृत्ते भ्रातृतत्सुतेष्वसत्सु तस्य वित्तान्तरोपार्जनासंभवेचायमनुग्रहउक्तः ॥ २१७ ॥

(३) कुल्लूकः । अनपत्यस्य पुत्रस्य धनंमाता गृह्णीयात्पूर्वपिता हरेदपुत्रस्य क्रकथमित्युक्तत्वात् । इह माता हरेदित्यादियाज्ञवल्क्येन पितरावित्येकशेषकरणात् । विष्णुना च अपुत्रस्य धनंपत्न्यभिगामि तदभावे दुहितृगामि तदभावे पितृगामीत्येकशेषस्यैव कृतत्वान्मातापितरौ विभज्य गृह्णीयाताम् । मातरि मृतायांपत्नीपितृभ्रातृभ्रातृजाभावे पितुर्माता धनंगृह्णीयात् ॥ २१७ ॥

(४) राघवानन्दः । अनपत्यस्य सूनोर्मृतस्य मातुर्धनमित्याह अनपत्यस्येति । माताहरेदिति गर्भधारणपोषाभ्यां नेभ्यो माता गरीयसीतिन्यायात् । मातरिमृतायांतु पितामही हरेत् पिता रिक्थंहरेदितियाज्ञवल्क्योक्तेः । मातापितामहौ गृ-

मातर्यपि=पुत्रपत्नीदुहितृरहितोपलक्षणमिदम् । मातैवाप्नुयान्पिता मात्रभावएवतुपितेत्यर्थः । मातर्यपोति मातर्यपि (सर्व०२)

ह्रीयातामित्युक्तंमनुना विष्णुनाच । अपुत्रस्य धनंपण्यभिगामितदभावे मातृगामि तदभावे पितृगामीतिवचनजातविरोधा द्विभज्य पितरौ गृह्णीयातामितिकुल्लूकः । मातापित्रोरयोगव्यवच्छेदमात्रं पत्नीगामित्वेपि संगतं त्रयाणां सत्त्वे त्रितयमधिकारीति । अन्याभावसहकृतविकल्पस्याभावादितितु तत्त्वम् । वृत्तायां मृतायाम् ॥ २१७ ॥

(५) नन्दनः । अनपत्यस्येत्युपलक्षणं पुत्रपौत्रप्रपौत्रभार्यादु हनुरहितस्येत्यर्थः ॥ २१७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनपत्यस्य पुत्रस्य पत्नी दुहिता वा माता पितरि सत्यपि दायमामुयात् ॥ मातर्यपिच वृत्तायां पितुर्माता धनं हरेत् ॥ २१७ ॥

ऋणे धने च सर्वस्मिन्प्रविभक्ते यथाविधि ॥ पश्चादृश्येतयत्किंचित्तत्सर्वसमतांनयेत् ॥ २१८ ॥

(१) मेधातिथिः । अविज्ञानान्यूनमधिकंवा विभक्तं परतो ज्ञातं समांशकीकर्तव्यं किंच विभागोत्तरकालं लब्धे नास्ति ज्येष्ठस्योद्धार इति ॥ २१८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पश्चादृश्येत पूर्वनिहृतं यत्किंचिदणवा तत्सर्वं समं विभाज्यं नतु निह्ववकर्तुरपराधाद्भागाभावः । ऋणइत्यभिधानेनच ऋणमप्यर्थविभागकाले अर्थाभावेवा ऋणमात्रमपि विभजनीयम् । तत्रच ज्येष्ठत्वादिना विशेषेनास्तीत्यर्थात्कथितम् ॥ २१८ ॥

(३) कुल्लूकः । ऋणे पित्रादिधार्यमाणे धने च तदीये सर्वस्मिन्यथाशास्त्रं विभक्ते सति पश्चादयत्किंचित्पैतृकमृणं धनंवा विभागकालेऽज्ञातमुपलभ्येत तत्सर्वं समं कृत्वा विभजनीयं नतु शोध्यं ग्राह्यं नवा ज्येष्ठस्योद्धारोदेयः ॥ २१८ ॥

(४) राघवानन्दः । यदि पित्रादिकृतमादेयं देयवर्णमस्ति तदा कथं विभागस्तत्राह ऋण इति । अणे देये वा सति सर्वस्मिन्धनेच विभक्ते यदि पश्चादणपरिज्ञातं तत्सर्वं समतामुपशमतां नयेच्छोधयेत् । सर्वमधमर्णेऽर्धमिः पृथगंसमं कृत्वा नयेदिति । दुहितरि धनान्वयत्वेपि न ऋणायान्वयः । अतएव याज्ञवल्क्यः ॥ विभजरेन्मुताः पित्र सर्वमृक्थमृणं समम् ॥ मातुर्दुहितरः शेषमृणात्ताभ्यऋतेऽन्वय इति ॥ मातुर्धनंतु दुहितरऋणादते भजेरन्नित्यर्थः ॥ २१८ ॥

(५) नन्दनः । यत्किञ्चित्कुत्रचित् ॥ २१८ ॥

(६) रामचन्द्रः । तत्सर्वं समतां समानतांनयेत् प्रापयेत् ॥ २१८ ॥

वस्त्रपत्रमलंकारं कृतान्मुदकं स्त्रियः ॥ योगक्षेमं प्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते ॥ २१९ ॥

(१) मेधातिथिः । वस्त्रपत्रालङ्कारकृतान्मुदकानामेकत्वं विवक्षितं पत्रं वाहनं गच्छीशकटादिअलङ्कारोद्गुलीयकादि वस्त्रं सममूल्यं नतु महार्धं । उदकं कूपवाप्यादि स्त्रियोदास्योयोगक्षेमं यतोयोगे क्षेमो भवति मन्त्रिपुरोहितामात्यवृद्धावास्तुचारादिभ्यस्तत्तोरक्षा भवति । स्मृत्यन्तरे च पठ्यते वास्तुनिविभागो न विद्यते । प्रचारं यत्र गावश्चरन्ति प्रवेत्तव्याह तेन यत्पैतृकनोक्तं न ह्यत्र धर्मातिक्रमः कश्चिदस्तीति तदनुपपन्नं दर्शयति अदृष्टासुहिते प्रतिषेधास्तदतिक्रमादधर्मो न स्यात् ॥ २१९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वस्त्रं तेन तेन परिहितमधिकत्वेनापि दृश्यमानम् । पत्रं वाहनं अश्वादि तेन तेन परिगृहीतम् । एवमलंकारोद्गुलीयादिः । कृतान् तत्तदुद्देशेन यत्सिद्धमन्नं विषयमपि । उदकं कूपादि । स्त्रियोभार्या एकस्यैका अन्यस्य द्वे एवं वैषम्येपि । योगक्षेमं योगो राजादिलभ्योनिबन्धादिः स्वयमुपात्तः क्षेमः रक्षोपायः प्राकारेष्टकादिः । प्रचारो वर्त्म । यत्तु ॥ कृतान् च कृतान्नेन परिवर्त्य विभज्यत इत्याद्युक्तं बृहस्पतिना तदतिप्रचुरकृतान्नादेरपि तन्मात्रधनैर्विभागः कार्य इत्येतत् ॥ २१९ ॥

(२१९) पत्रमलंकार=पात्रमलंकार (नं)

(३) कुल्लूकः । वस्त्रंवाहनमाभरणमविभागकाले यद्येनोपभुक्तं तत्तस्यैव न विभाज्यं । एतच्च नातिन्यूनाधिकमूल्यविषयं । यत्तु बहुमूल्यमाभरणादिकं तद्विभाज्यमेव । तद्विषयमेव विक्रीयवस्त्राभरणमिति बृहस्पतेर्विभागवचनं । कृतान्नमोदनसक्तादितन् विभजनीयं तत्रातिप्रचुरतरमूल्यं सक्तादितावन्मात्रमूल्यधनेन ॥ कृतान्नं चाकृतान्नेन परिवर्त्य विभज्यत इति बृहस्पतिवचनाद्विभाजनीयमेव । उदकं कूपादिगतं सर्वैरुपभोग्यमविभजनीयम् । स्त्रियोदास्याद्यास्तुल्यभागान् भवन्ति तान् विभाज्याः किन्तु तुल्यं कर्मकारयितव्याः । योगक्षेममन्त्रिपुरोहितादियोगक्षेमहेतुत्वात् । प्रचारोगवादीनां प्रचारमार्गः । एतत्सर्वमन्त्रादयोऽविभाज्यमाहुः ॥ २१९ ॥

(४) राघवानन्दः । न्यूनाधिकमूल्याभावे तु पित्रादिदत्तं यद्येन भुज्यते तत्तस्यैवेति दृष्टार्थतयाह वस्त्रमिति । पत्रमश्वदि । कृतान्नं अविभागकाले यद्येन भुक्तम् । उदकं कूपतडागादिस्थम् । स्त्रियोदास्यः । योगोऽलब्धलाभः लब्धस्य परिरक्षणं क्षेमः तयोः प्रचारं प्रचर्यते निर्वाह्यते येनेति तद्धेतुमन्त्रिपुरोहितादिः । एतान्यपि दत्तानि विभजनीयानि अत्यन्तमूल्ये विभजनीयानि विक्रीय वस्त्राभरणमिति बृहस्पत्युक्तेः दासदास्यस्तु समं कर्म कार्या इति भावः ॥ २१९ ॥

(५) नन्दनः । अथाविभाज्यमाह वस्त्रं पात्रमलङ्कारमिति । पात्रं उदपात्रं वस्त्रादीनि च त्वार्यभागवेलायां येन परिगृहीतानि विभागवेलायामुद्धारंतानि तस्मै देयानि द्रव्यान्तरे चोद्दिभज्यानि । उदकं कूपादिस्थं दायादैः सर्वैरुपभोज्यं न विभाज्यं । स्त्रियोभार्यात्वेन परिगृहीतादास्यादयस्तासां त्वत्वेन विभागप्रसक्तावप्यविभाज्यत्वमुच्यते । ऋणं वा धनं वा विभागात्पश्चात्कुत्रचिदृश्येतोभयमपि सर्वैर्विभक्ताः संविभजेरन्नित्यर्थः । योगक्षेम इति अप्राप्तप्रापणयोगः प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमः अत्र योगक्षेमशब्देन हेतवो विवक्षिताः योगहेतवो याज्याः शिष्यादयः क्षेमहेतवो द्वारग्रामपालादयः उभयहेतवो ग्रामपत्तनाधिपादयः । देवदेवस्थामनीयान् विभाज्याः । प्रचारः क्षेत्रारामादिप्रवेशयोग्यो मार्गः सोऽपि सर्वैः प्रचरितव्योऽनुभावायितव्येन विभ. ॥ २१९ ॥

(६) चन्द्रः । अविभाज्यमाह वस्त्रमिति । वस्त्रं पत्रं वाहनं अलंकारं मातुः कृतान्नं पक्वान्नं उदकं कूपादि स्त्रियः दास्यः । क्षेमौ अलब्धलाभयोगः लब्धस्य परिपालनं क्षेमः प्रचारं मार्गं जलवाहार्थं विभाज्यं प्रचक्षते ॥ २१९ ॥
अयमुक्तो विभागोऽपुत्राणां च क्रियाविधिः ॥ क्रमशः क्षेत्रजादीनां द्यूतधर्मनिबोधत ॥ २२० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । द्यूतवस्तुमुपक्रमते अयमिति । पुत्राणां क्षेत्रजादीनां क्रियाविधिः पुत्रत्वोत्पादनविधिः क्रमेण । द्यूतधर्मं निबोधतेत्यन्वयः ॥ २२० ॥

(३) कुल्लूकः । एषदायभागः पुत्राणां क्षेत्रजादीनां क्रमेण विभागकरणप्रकारो युष्माकमुक्तः । इदानीं द्यूतव्यवस्थां शृणुत ॥ २२० ॥

(४) राघवानन्दः । विभागप्रकरणमुपसंहरन् द्यूतं प्रतिजानीते अयमिति । पुत्राणामौरसादीनाम् । क्रियाविधिः मिण्डदानं च ॥ २२१ ॥

(६) रामचन्द्रः । विभागानन्तरं द्यूतधर्मान् निबोधत शृणुत ॥ २२० ॥

द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत् ॥ राजान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥ २२१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र च तुल्यविषयत्वात् समाह्वयमप्येकीकृत्य दर्शयति द्यूतमिति ॥ २२१ ॥

(३) कुल्लूकः । द्यूतसमाह्वयौ वक्ष्यमाणलक्षणौ । राजा स्वराष्ट्रान्निवर्तयेत् यस्मादेतौ द्वौ द्वौषौ राज्ञां राज्यविनाश-
कारिणौ ॥ २२१ ॥

(४) राघवानन्दः । द्यूतमेव सप्रतियोगि सदोषमाह द्यूतमिति द्वाभ्याम् । राज्यान्तकरणौ राज्यनाशकौ ॥ २२१ ॥

(५) नन्दनः । अत्र तावद्वाङ्मः कर्तव्यमाह द्यूतं समाह्वयश्चैवेति द्यूतं प्राणिद्यूतं कुकुटमेषादि ॥ २२१ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्यूतं समाह्वयं प्राणिद्यूतं राजा राष्ट्रात् निवारयेत् ॥ २२१ ॥

प्रकाशमेतत्तात्स्कर्ययद्देवनसमाह्वयो ॥ तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान्भवेत् ॥ २२२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रत्यक्षमनिहृतम् ॥ २२२ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रकटमेतच्चौर्ययत् द्यूतसमाह्वयौ तस्मात्तन्निवारणे राजा नित्यं यत्नयुक्तः स्यात् ॥ २२२ ॥

(४) राघवानन्दः । राज्ञाऽत्र प्रयत्नवता भाव्यमिति विवक्षन् दृष्टार्थवादमाह प्रकाशमिति । प्रकाशं द्यूतसमाह्वयद्र
हृत्सर्वजनसमक्षं तात्स्कर्यं चौर्यम् । अतस्तयोस्तत्कर्त्रोः प्रतीघाते नाशे ॥ २२२ ॥

(६) रामचन्द्रः । तात्स्कर्यं चौर्यम् । यद्देवनसमाह्वयौ नृपतिः तयोः प्रतीघाते नाशाय यत्नवान्भवेत् ॥ २२२ ॥

अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते ॥ प्राणिभिः क्रियते यस्तु सविज्ञेयः समाह्वयः ॥ २२३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । द्यूतं अप्राणिभिरक्षशलाकादिभिर्यत्क्रियते पण्येन क्रीडनम् । प्राणिभिर्मेषादिभिर्युद्धकर-
णेन यत्नेन नियम्य क्रीडनं तत्समाह्वयः ॥ २२३ ॥

(३) कुल्लूकः । अक्षशलाकादिभिरप्राणैर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते । यः पुनः प्राणिभिर्मेषकुक्कुटादिभिः पणपूर्व-
कं क्रियते तत्समाह्वयज्ञेयः लोकप्रसिद्धयोरप्यनयोर्लक्षणकथनं परिहारार्थम् ॥ २२३ ॥

(४) राघवानन्दः । तयोर्लक्षणमाह अप्राणिभिरिति । अप्राणिभिरक्षशलाकादिभिर्यत्क्रियते तत् द्यूतम् । प्राणिभि-
र्मेषकुक्कुटादिभिः यत्कर्म पणपुरःसरमिति शेषः ॥ २२३ ॥

(५) नन्दनः । द्यूतसमाह्वययोः करणतएव भेदेन स्वरूपतइत्यभिप्रायेणाह अप्राणिभिर्यदिति । अप्राणिभिर्दान्तशा-
र्ङ्गदारवर्मात्तिकैरक्षैः प्राणिभिः कृकवाकुमेषमहिषवर्त्यादिभिः ॥ २२३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अप्राणिभिः अक्षशलाकादिभिः श्रूयते तल्लोके द्यूतमुच्यते । प्राणिभिर्यस्तु क्रियते सः द्यूतः
समाह्वयः ॥ २२३ ॥

द्यूतसमाह्वयंचैव यः कुर्यात्कारयेत् वा ॥ तान्सर्वान्घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥ २२४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । घातयेत्ताडनादिना । द्विजलिङ्गिनो द्विजलिङ्गीपवीतादिधरान् ॥ २२४ ॥

(३) कुल्लूकः । द्यूतसमाह्वयौ यः कुर्यात् योवा सभिकः कारयेत्तेषामपराधापेक्षया राजा हस्तच्छेदादिवधं कुर्यात्
यज्ञोपवीतादिद्विजचिह्नधारिणः शूद्रान् हन्यात् ॥ २२४ ॥

(४) राघवानन्दः । निमित्तमनुवदनैमित्तिकमाह द्यूतमिति । कारयेत्सभिकः । घातयेत् अपराधानुरूपेण ह-
स्तच्छेदं कुर्यात् । तत्रैव ब्राह्मणत्वेन प्रतीयमाना अपि ये शूद्रास्तान् हन्यात् द्विजलिङ्गिन इति । एतेऽवश्यमनुपेक्ष्यतया दे-
शान्निःसारणीया इति भावः ॥ २२४ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्विजलिङ्गिनः शूद्रान् राजा घातयेत् ॥ २२४ ॥

कितवान्कुशीलवान्क्रूरान्पाषण्डस्थांश्च मानवान् ॥ विकर्मस्थान्शौण्डिकांश्च क्षिप्रं
निर्वासयेत्पुरात् ॥ २२५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कितवान् द्यूतसमाह्वयकर्तृन् । कुशीलवान् नटान् । केरानतिवक्रचेष्टितान् । पाषण्डान् बौ-
द्धादीन् । विकर्मस्थानधर्महेतुकर्मकर्तृन् । पतितानन्यजादीन् । शौण्डिकान् मद्यविक्रेतृन् । नवासयेत् बहिरेव वासयेत् ॥ २२५ ॥

(३) कुञ्जुकः । द्यूतादिसेविनोर्नर्तकगायकान्वेदविद्विषः श्रुतिस्मृतिबाह्यव्रतधारिणः अनापदि परकर्मजीविनः शौ-
ण्डिकान्मद्यकरान्मनुष्यान्क्षिप्रंराजा राष्ट्रांनिर्वासयेदिति कितवप्रसङ्गेनान्येषामप्यभिधानम् ॥ २२५ ॥

(४) राघवानन्दः । कितवान्दृष्टान्तीकृत्य प्रसंगेनान्यानपि संकलयति कितवानिति । कुशीलवान् नृत्यजीविनः ।
केरान्गायकान् । पाषण्डान् पाषण्डलिङ्गतद्भूतान् वेदविद्विषः विकर्मस्थान् । अनापद्यपि परधर्मरतान् । शौण्डिकान् तेहि
मद्यस्त्रीप्रदानेन धर्मप्रणाशात् सर्वानर्थकारिणः । मानवानिति तादृशानन्यानपि यद्वा कुशीलवादिदोषोमनुष्येष्वेव नगन्ध-
र्वादिष्वितिद्योतितम् ॥ २२५ ॥

(५) नन्दनः । कितवान्द्यूतवृत्तीन् । कुशीलवान्गायनवृत्तीन् । कैलान्केलिशीलान् । शौण्डिकान्मद्यपान् । पुरशब्दोरा-
ष्ट्रस्याप्युपलक्षणार्थः । कितवसधर्मत्वात् कुशीलवादीनामुपन्यासः प्रासङ्गिकः ॥ २२५ ॥

(६) रामचन्द्रः । कितवान् द्यूतवेदिनः । कुशीलवान् विषयशीलान् । चौरान् वक्रचेष्टान् । विकर्मस्थान् अधर्म-
स्थान् । हेतुकर्तृन् पानासक्तान् । एतान्किञ्चवादीन् पुरात्क्षिप्रं निर्वासयेत् ॥ २२५ ॥

एते राष्ट्रे वर्तमानाराज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः ॥ विकर्मक्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥ २२६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एते कितवादयः तथा प्रच्छन्नतस्करावेषान्तरधराश्चौराविकर्मक्रियया सज्जनेष्वपि द्यू-
तादिक्रियाप्रवर्तनेन बाधन्ते बाधां कुर्वन्ति । भद्रिकाः सद्गताः । अत्र कितवप्रसंगादप्युक्तम् ॥ २२६ ॥

(३) कुञ्जुकः । अत्रहेतुमाह एते इति । एते कितवादयोगूढचौराराज्ञोराष्ट्रेवसन्तो नित्यं वंचनात्मकक्रियया सज्जना-
न्पीडयन्ति ॥ २२६ ॥

(४) राघवानन्दः । अतएषां निरासे यत्नाधिक्यं सूचयति एतदिति वर्तमानाः स्वस्वकर्मणा विकर्मक्रियया विक-
र्मणा चौर्यादिना या क्रिया देहधारणादितया बाधन्ते साधुभिः संगमय्यस्वदोषैस्तान्द्रूषयन्तीतिभावः । भद्रिकाभद्रेण सा-
धुना धनपुत्रादिसूचककर्मणा जीवतीः ॥ २२६ ॥

(५) नन्दनः । भद्रिकाः सुशीलाः बाधन्ते दुःशीलाः कुर्वन्ति ॥ २२६ ॥

(६) रामचन्द्रः । भद्रिकाः सद्गताः प्रजाः विकर्मक्रियया वंचनादिक्रिया एते बाधन्ते ॥ २२६ ॥

द्यूतमेतत्पुराकल्पे दृष्टं वैरकरं महत् ॥ तस्माद्यूतं सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥ २२७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पुराकल्पे पुराणकथासु ॥ २२७ ॥

(२२५) क्रूरान्=चौरान् (ण, राम०) =कैलान् (नं) = केरान् (सर्व०)

* धर्मप्रणाशात् = धनग्रहणात् (राघ० २)

(३) कुट्टूकः । नेदानीमेव परं किन्तु पूर्वस्मिन्नपि कल्पे द्यूतमेतदतिशयेन वैरकरं दृष्टमतः प्राज्ञः परिहासार्थमपि तन्न सेवेत ॥ २२७ ॥

(४) राघवानन्दः । द्यूतस्यानर्थाविहत्वमैतिह्येनाह द्यूतमिति । पुराकल्पे संसारानादितया बलभद्रदन्तवक्रयुधिष्ठिरदुर्योधनादिकाले । हास्यार्थं कुतूहलार्थमपि । द्यूतपदं समाह्वयोपलक्षकम् धनत्कारित्ववैरकत्वहेतोरुभयसाधारण्यात् ॥ २२७ ॥

(५) नन्दनः । द्यूतस्य दोषमाह स्वयमपि राज्ञा द्यूतनकार्यमिति चाह द्यूतमेतत्पुराकल्पे दृष्टमिति । पुराकल्पे पूर्वस्मिन्काले वैरकरं दृष्टं नलयुधिष्ठिरादिषु ॥ २२७ ॥

प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तन्निषेवेत योनरः ॥ तस्य दण्डविकल्पः स्याद्यथेष्टं नृपतेस्तथा ॥ २२८ ॥

(१) मेधातिथिः । विविधः कल्पो विकल्पः समएव राज्ञोच्यते द्यूतधर्मनिबोधतेति तत आरभ्य द्वित्राः श्लोकाविधायकाः सर्वोप्यर्थवादः ॥ २२८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रकाशं कर्तव्यवृत्त्युत्पादनेन । यथेष्टं यस्य यथेच्छतिनृपस्तस्य तथा कार्योदण्डभेदः । नत्वत्र शास्त्रे दण्डो नियम्यत इत्यर्थः ॥ २२८ ॥

(३) कुट्टूकः । योमनुष्यस्तत् द्यूतगूढप्रकटं वा कृत्वा सेवेत तस्य यथा नृपतेरिच्छा भवति तथाविधोदण्डो भवति ॥ २२८ ॥

(४) राघवानन्दः । तस्मात्तत्कारी दण्डार्ह इत्याह प्रच्छन्नमिति । तत् द्यूतसमाह्वयप्रच्छन्नं । यथा स्यात्प्रकाशं वा स्यादिति । नृपतेरिच्छया दण्डो विधेय इत्यन्वयः । यद्वा पणो सहस्रं नृपतेरित्युक्तम् ॥ २२८ ॥

(५) नन्दनः । दण्डविकल्पः दण्डभेदोर्थहरणादिलक्षणः ॥ २२८ ॥

(६) रामचन्द्रः । तत् द्यूतं यः निषेवेत तस्य दण्डविकल्पः शतदण्डः स्यात् यथेष्टं नृपतेः तथावादण्डः ॥ २२८ ॥
क्षत्रविदृशूद्रयोनिस्तु दण्डं दातुमशक्नुवन् ॥ आनृण्यं कर्मणा गच्छेद्विप्रो दद्याच्छनैः शनैः ॥ २२९ ॥

(१) मेधातिथिः । क्षत्रियादयो निर्धनान् संबन्धेनावसादयितव्याः किंतिहि कर्मणा यद्यस्योचितं कर्म राजोपयोगि तेन दण्डधनसंशोधयितव्याः । ब्राह्मणस्तु कुटुंबानामविरोधेन शनैर्दान्यो बन्धताडनकर्मणि तस्य निषिध्यते । धनिकविषयः प्रागुक्तः श्लोकः दण्डविषयो यमपौनरुक्त्यम् ॥ २२९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आनृण्यं दण्डापक्रियाम् । कर्मणा गृहादिकर्मकरणेन ॥ २२९ ॥

(३) कुट्टूकः । इदानीं पराजितानां धनाभावे सतीदमाह क्षत्रेति । क्षत्रवैश्यशूद्रजातीयो निर्धनत्वेन दण्डं दातुमसमर्थस्तदुचितकर्मकरणेन दण्डशोधनं कुर्यात् । ब्राह्मणः पुनः यथा लाभक्रमेण दद्यान् कर्मकारयितव्यः ॥ २२९ ॥

(४) राघवानन्दः । दण्डं संकलयति क्षत्रेति षड्विंशतिः । ऋणदानासमर्थस्यैव दण्डस्य आनृण्यं शोधनं कर्मणा चेतनादिना गच्छेत्कुर्यात् । विप्रसु दद्यादेव तच्चापि शनैः ॥ २२९ ॥

(५) नन्दनः । विप्रः शनैरर्थं दद्यान्तु दण्डानृण्यं कर्मणा गच्छेत् ॥ २२९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनृणस्य भावं आनृण्यं कर्मण्या कर्मकरणेन विप्रः शनैः शनैर्दद्यात् ॥ २२९ ॥

सोनुशिष्टस्तु साक्षिभिर्यः प्रकीर्तितइति यत्रकचन राजसभाया अन्यत्रापि तीरितं चानुशिष्टं च व्यवहारपददण्डदशबन्धा-
द्यर्थं ननिवर्तयेदित्यर्थः ॥ २३३ ॥

(६) रामचन्द्रः । निर्णीतं शास्त्रविषयेनिर्धारितं धर्मतोनिर्णीतंच पुनः अनुशिष्टं कृतदण्डं च कार्यं दण्डपर्यन्तनीतं
यत्र कचन यद्भवेत्तत्कृतधर्मतोविद्यात् भूयस्तन्निर्णीतं न निवर्तयेत् न प्रवर्तयेत् ॥ २३३ ॥

अमात्याः प्राड्विवाकोवा यत्कुर्युः कार्यमन्यथा ॥ तत्स्वयंनृपतिः कुर्यात्तान्सहस्रंच
दण्डयेत् ॥ २३४ ॥

(१) मेघातिथिः । धनग्रहणसंबन्धेन पूर्वनिःस्वीकरणं अर्थतस्तु निमित्तान्तरेण प्रज्ञादिनाऽमात्योराजस्थानीयादि-
स्तंसहस्रंच दण्डयेत् । गर्गशतदण्डनवत्समुदायेन वाक्यपरिसमाप्तिः ॥ २३४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अमात्यः सेनापत्यादिः । अन्यथाकुर्युरुत्कोचादिना । कुर्याद्यवस्थापयेत् । सहस्रमि-
त्यल्पविषये सहस्रपणविवादे । अधिकैत्वधिकम् ॥ २३४ ॥

(३) कुहूकः । राजामात्याः प्राड्विवाकोवा व्यवहारक्षणे नियुक्तोयदसम्यग्यवहारनिर्णयंकुर्युस्तत्स्वयंराजा कुर्या-
त्पणसहस्रंच तान्दण्डयेत् । इदंचोत्कोचधनग्रहणेतरविषयं उत्कोचग्रहणे ये नियुक्तास्त्वित्युक्तत्वात् ॥ २३४ ॥

(४) राघवानन्दः । स्वरुतमनिवर्तयन्परकृतं निवर्तयेदेवेत्याह अमात्यइति । अन्यथाप्रमादमोहादिना । राज्ञा
नियुक्तः अमात्यः प्राड्विवाकोवा । प्रत्येकं पणसहस्रम् । दण्डः उत्कोचादिग्रहणनिमित्तः ॥ २३४ ॥

(५) नन्दनः । कुर्यान्निरूपयेत्सहस्रं पणानाम् ॥ २३४ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्राड्विवाकः विवादानुगतं पृच्छेत् सभ्यांस्तान् प्रतिवर्तते । विचारयति येनासौ प्राड्विवाकस्तु-
स्मृतः । अन्यथा कार्यं यः कुर्यात्तमन्यथाकारिणम् ॥ २३४ ॥

ब्रह्महा च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः ॥ एते सर्वे पृथक्ज्ञेयामहापातकिनोनराः ॥ २३५ ॥

(१) मेघातिथिः । सुरापोब्राह्मणएव महापातकी । तस्करोब्राह्मणसुवर्णापहारी । नराः कथिताः उक्तार्थकथनमुत्तरा-
र्थम् ॥ २३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सुरापः पैथीपाता क्षत्रियोवैश्यश्च विप्रोगौडीपैथीमाध्वीपाता । तस्करोब्राह्मणस्वर्णहर्ता ।
पृथगैकैकशः ॥ २३५ ॥

(३) कुहूकः । योमनुष्योब्राह्मणंहतवान्सब्रह्महा । सुरापोद्विजातिः पैथ्याः पाता ब्राह्मणश्च पैथी माध्वी गौडीनां ।
तस्करोब्राह्मणसुवर्णहारीमनुष्यः । यश्च कश्चिद्रूपत्नीगामीत्येते सर्वे प्रत्येकमहापातकिनोबोद्धव्याः ॥ २३५ ॥

(४) राघवानन्दः । द्वादशवार्षिकप्रायश्चित्तनिमित्ताधिकारिणोदेहादिदण्डार्थमनुवदति ब्रह्महेति । ब्राह्मणजात्यव-
च्छिन्नस्य हन्ता । सुरापः [गौडीमाध्वी] पैथीनां पाता विप्रः । तस्करोत्र ब्राह्मणसुवर्णहारीसाहचर्यात् । गुरुतल्पगः गुरो-
स्तल्पवदधस्तनत्वात्पत्नी तां गन्तुं शीलः । मनुष्याधिकारकंशास्त्रमित्याह एतेयदि नरास्तदा महापातकिनः नान्ये अतएव
देवादीनां पापंतव्यायश्चित्तभूतभाव्यर्थवादत्वेननयेनतु देवत्वतिर्यक्तदशायां ते स्तइतिभावः ॥ २३५ ॥

(५) नन्दनः । अथ महापातकिनोदण्डविवक्षयाह ब्रह्महाचेति । नरोब्राह्मणस्वर्णचोरः ॥ २३५ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्तेयी विप्रसुवर्णस्तेयी ॥ २३५ ॥

चतुर्णामपि चैतेषांप्रायश्चित्तमकुर्वताम् ॥ शारीरं धनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पयेत् ॥ २३६ ॥

(१) मेधातिथिः । ननु च सुरापो ब्राह्मण एव पातकी तस्य च शारीरसंयुक्तो गृह्यते पूर्वमनुपात्तोऽपि चतुःसंख्या साम-
र्थ्यात् अन्ये त्वं किनः शरीरमुक्तमित्याहुः तच्च ब्राह्मणस्याप्यस्ति अन्ये त्वपि शब्दात्पश्चानामयं दण्ड इत्याहुः चतुर्णामप्यपि-
शब्दात्पञ्चमस्यापि तत्संसर्गिणो ब्राह्मणस्य वधे पूर्वशरीरदण्ड उक्त एव स्त्री बाल ब्राह्मणघ्नांश्च हन्यादिति । अनेनान्तरशरीरात्समा-
ङ्कनमेवोच्यते धर्म्यमित्यपराधानुरूपेण गुरुतरलाघवं कार्यमित्यर्थः ॥ २३६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । शरीरयुक्तमङ्कनादि । धनसंयुक्तं सर्वस्वादानादि । नाङ्क्याराज्ञा ललाटेऽदितिललाटेऽप्राप्ताङ्कन-
निषेधात्तत्रैवाङ्कनम् ॥ २३६ ॥

(३) कुल्लूकः । चतुर्णामप्येषां महापातकिनां प्रायश्चित्तमकुर्वतां शारीरं धनग्रहणेन च धनसंबन्धमपराधानुसारेण
धर्मादनपेतं वक्ष्यमाणं दण्डं कुर्यात् ॥ २३६ ॥

(४) राघवानन्दः । चतुर्णामेषामपि प्रत्येकं संसर्गात्पातकी पञ्चमदतिशेषः नैमित्तिकमाह शारीरमिति ॥ २३६ ॥

(५) नन्दनः । संसर्गिणः पञ्चमस्य तत्तुल्यदण्डत्वाच्चतुर्णामित्युक्तम् ॥ २३६ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतेषां चतुर्णां प्रायश्चित्तं अकुर्वतां शरीरं धनसंयुक्तं धर्मं समानरूपं दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ २३६ ॥

गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः ॥ स्तेये च श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥ २३७ ॥

(१) मेधातिथिः । ललाटेऽङ्कनमप्रतिषेधविधौ नाङ्क्याराज्ञा ललाटेऽपि तच्छ्रवणात् ॥ २३७ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । भगो भगाकृतिः । सुराध्वजः सुराचिह्नस्यूतशौण्डिकगृहध्वजाकृतिः । अब्रह्मण्ये ब्रह्मह-
त्यायां अशिराः कबन्धः । ब्रह्महण्यशिरा इति क्वचित्पाठः ॥ २३७ ॥

(३) कुल्लूकः । नाङ्क्याराज्ञा ललाटेऽस्युः इति वक्ष्यमाणत्वाल्ललाटेऽप्यङ्कनस्थानमवगम्यते तत्र गुरुपत्नीगमने
यावज्जीवस्थायितमलोहेन ललाटे भगाकृतिं गुरुपत्नीगमनचिह्नं कार्यं । एवं सुरापाने कृते पातुर्दीर्घसुराध्वजाकारं । सुवर्णापहारे
सत्यपहर्तुः कुकुरपादरूपं कार्यं । ब्रह्महणि कबन्धः पुमान्कर्तव्यः ॥ २३७ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रादौ शारीरं दण्डमाह गुरुतल्पे भग इति । भगः गुरुतल्पस्य ललाटे भगाकृतिचिह्नं याव-
ज्जीवस्थायि कुर्यात्तमेन लोहेन । एवमुत्तरत्र । सुराध्वजः तस्मात्तु दीर्घा ध्वजाकारा रेखा श्वपदं शुनः पदाकारं । अ-
शिराः कबन्धः तदाकाररेखा ॥ २३७ ॥

(५) नन्दनः । अत्र भगादय एकरूपा विज्ञेयाः सुराध्वजः सुराकलशः अशिराः पुमान्कबन्धः ॥ २३७ ॥

(६) रामचन्द्रः । भगः भगाकारः । सुराध्वजः सुराध्वजरूपः । स्तेये श्वपदं पदसदृशम् । ब्रह्महणि अशिराः
पुमान् शिरः शून्यः पुमान्कार्यः ॥ २३७ ॥

असंभोज्या ह्यसंयाज्या असंपाठ्या विवाहिनः ॥ चरेयुः पृथिवीदीनाः सर्वधर्मबहिष्कृताः ॥ २३८ ॥

(२३८) ह्यसंयाज्यः = ह्यसंयोज्याः (नं०)

(२३८) असंपाठ्याः = असंपोष्याः (मे०)

(२३८) विवाहिनः = विवादिनः (नं०) विगर्हिताः (मे०)

(२३८) असंभोज्याः = असंपङ्क्याः (राम०)

(१) मेधातिथिः । सर्वधर्मग्रहणादेवासंभोजनादीनांसिद्धे प्रतिषेधे दोषगुरुत्वख्यापनार्थमेषामुपादानं । संभोगएकत्र-
ग्रसनंगीतादिश्रवणंच । संयोजनतेषामेवयोजनंवा एवंसंपाठोपिद्रष्टव्यः असंपाठ्याविगर्हिताइति असंपाठ्याश्च अविगर्हिना-
श्चेति द्वन्द्वः । दीनाइति सत्यपि स्वरत्वे तत्संबन्धिभिक्षादिभोजनेनपरयाऽवज्ञयाचवस्त्रखण्डादिवर्जनम् ॥ २३८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । असंभोज्याएकपङ्क्तिभोजनानर्हाः । असंयोज्याअयाज्याः । असंपाठ्याअध्यापनसंबन्धा-
नर्हाः । अविवाहिनोविवाहसंबन्धानर्हाः । चरेयुर्नैकत्र वसेयुः ॥ २३८ ॥

(३) कुल्लूकः । अन्नादिकनैते भोजयितव्याः नचैते याजनीयाः नाप्येतेऽध्यापनीयाः नाप्येतैः कन्यादानसं-
बन्धः कर्तव्यः एते च निर्धनत्वाद्याचनादिदैन्ययुक्ताः सर्वश्रौतादिकर्मवर्जिताः पृथिवीपर्धटेयुः ॥ २३८ ॥

(४) राघवानन्दः । नकेवलमेवमन्यदपीत्याह असंभोज्याइतिद्विभ्याम् । असंभोज्या सहभोजनाय नार्हन्त्येते ।
एवं असंयोज्यायाजनायनार्हाएते । एवं असंपाठ्याःपाठनायनार्हन्ति । अविवाहिनः विवाहोवैवाहिकोयौनसंबन्धस्तद्र-
हिताः । सर्वधर्मबहिष्कृताः त्वत्वाश्रमधर्मरहिताः ॥ २३८ ॥

(५) नन्दनः । असंभोज्या भोजनानर्हाः असंयोज्याःस्थानासनशयनादिषु सामीप्यानर्हाः असंपाठ्याः सहाध्यय-
नानर्हाः विवादिनः सहभाषणानर्हाः ॥ २३८ ॥

(६) रामचन्द्रः । गुरुतल्पगादयः सर्वधर्मबहिष्कृताः पृथिवीचरेयुः । असंपङ्क्त्यापङ्क्त्यनर्हाअसंयोज्याः यष्टुं अर्हान्
॥ २३८ ॥

ज्ञातिसंबन्धिभिस्त्वैते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः ॥ निर्दयानिर्नमस्कारास्तन्मनोरनुशासनम् ॥ २३९ ॥

(१) मेधातिथिः । कृतलक्षणाइतिनिश्चिते तत्कार्यकरत्वमित्यर्थः । व्याध्यादियोगेष्वेदु दया न कर्तव्या । ज्येष्ठा-
दिगुणदोषेपि चनैतेनमस्कार्याःप्रत्युत्थानादिभिः एषएववचनसामर्थ्याद्धर्मोविज्ञेयः ॥ २३९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कृतलक्षणाः कृताङ्गनाः । निर्दयाः दयायाअविषयाः । निर्नमस्काराअनमस्काराः
॥ २३९ ॥

(३) कुल्लूकः । ज्ञातिभिः संबन्धिभिर्मानुलचैरेते कृताङ्गास्त्यजनीयाः नचैषांदयाकार्या नाप्येतै नमस्कार्याइती-
यमनोराज्ञा ॥ २३९ ॥

(४) राघवानन्दः । [किंचज्ञातीति] कृतलक्षणाः [भगादिचिन्हाःनिर्दयाअहोब्रह्मणइतिरुत्वा] ॥ २३९ ॥

(५) नन्दनः । निर्दयानिर्नमस्काराः दयानमस्कारयोरविषयभूताः ॥ २३९ ॥

(६) रामचन्द्रः । एते ज्ञातिसंबन्धिभिः कृतलक्षणाः कृतचिन्हाः त्यक्तव्याः । निर्दयाः निर्गता दया येषांति । निर्न-
मस्काराः निर्गतानमस्कारायेषांति ॥ २३९ ॥

प्रायश्चित्तन्तुकुर्वाणाःसर्ववर्णायथौदितम् ॥ नाङ्ग्याराज्ञा ललाटे स्युर्दप्यास्तूत्तमसाहसम् ॥ २४० ॥

(१) मेधातिथिः । शूद्रादावन्यपूर्ववर्णास्तेषांप्रायश्चित्तंकुर्वतामङ्कनंनस्ति दण्डस्तूत्तमसाहसंपणसहसंदाप्यते ॥ २४० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पूर्वे प्रागुक्ताः क्षत्रादिवर्णास्त्रयः । दाप्याउत्तमसाहसं प्रायश्चित्ते कृतेऽपि ॥ २४० ॥

(३) कुल्लूकः । शास्त्रविहितंप्रायश्चित्तंपुनः कुर्वाणाब्राह्मणादयस्त्रयोवर्णाराज्ञा ललाटेऽङ्कनीयान भवेयुः उत्तमसाह-
संपुनर्दण्डनीयाः ॥ २४० ॥

(४) राघवानन्दः । [प्रायश्चित्तमकुर्वतामित्युक्तं तत्करणे तु न चिन्हादिकं कार्यमित्याह प्रायश्चित्तमिति । यथोदितमत्र वक्ष्यमाणत्वेन वेदोक्तं यथा]^१ भवत्येव वेदमूलत्वात्स्मृतेः । धनसंयुक्तमित्युक्तं तदाहोत्तमसाहसमिति । दण्डोत्रपुनः प्रसक्तिवारणाय ॥ २४० ॥

(५) नन्दनः । पूर्ववर्णास्त्रैर्वर्णिकाः अनेन ज्ञायते ललाटे कर्तव्यमङ्गनमिति ॥ २४० ॥

(६) रामचन्द्रः । पूर्ववर्णाश्चत्वारोगुरुतल्पगादयः यथोदितं कुर्वाणाराज्ञा ललाटे नांक्र्याः स्युः नरुतचिन्हा भवेयुः । क्षत्रियादिविषयं ॥ २४० ॥

आगस्तु ब्राह्मणस्यैव कार्यो मध्यमसाहसः ॥ विवास्योवा भवेद्राष्ट्रात्सद्रव्यः सपरिच्छदः ॥ २४१ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रायश्चित्तन्तु कुर्वाणा इत्येतदत्र नापेक्षते एतेषु ब्राह्मणहत्यादिष्वपराधेषु ब्राह्मणो मध्यमसाहसं दण्ड्यः । अकामत इत्युत्तरश्लोकादपकुर्यते दण्डयित्वा प्रायश्चित्तं कारयितव्यः सपरिच्छदः गुणवतो ब्राह्मणस्यानुग्राहस्यैतत् अकामं वाऽनिर्वास्यः ॥ २४१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । महापातकिनो मध्यमसाहसः कृतप्रायश्चित्तस्य ब्राह्मणस्य । अकृतप्रायश्चित्तस्तु निर्वास्यः । द्रव्यं धनं परिच्छेदो रथादिः ॥ २४१ ॥

(३) कुल्लूकः । इतरे कृतवन्तस्त्वित्युत्तरश्लोके श्रूयमाणमकामत इति चात्रापि योजनीयं तेनाकामत इत्येतेष्वपराधेषु गुणवतो ब्राह्मणस्य मध्यमसाहसो दण्डः कार्यः । पूर्वोक्तस्तूतमसाहसो निर्गुणस्य द्रष्टव्यः कामतस्तेष्वपराधेषु धनधान्यादिपरिच्छेदसहितो ब्राह्मणो देशान्निर्वास्यः ॥ २४१ ॥

(४) राघवानन्दः । विगुणेषु चतुर्षूतमसाहसमुक्त्वा गुणवत्त्वच्छानिच्छाभ्यां व्यवस्थापयन्नादौ ब्राह्मणस्य तदाह आगस्त्विति । आगस्तु पापेषु । मध्यमसाहसोऽकामतस्तदितरतो निर्वास्यः । तस्य तृणमात्रं न ग्राह्यमित्याह सपरिच्छद इति ॥ २४१ ॥

(५) नन्दनः । अथ महापातकिनामकृतप्रायश्चित्तानामङ्कितानामेव निमित्तविशेषं श्लोकद्वयेनाह आगस्तु ब्राह्मणस्यैव कार्य इति । आगस्तु पापेषु । अकामकृतविषयो मध्यमसाहसः कामकृतविषयं विवासनमिति व्याख्यातमुत्तरश्लोकानुगुण्यात् ॥ २४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । एषु आगस्तु गुरुतल्पगाद्यपराधेषु ब्राह्मणस्य मध्यमसाहसः दण्डः कार्यः । वा राष्ट्राद्वा विवास्यः निष्कास्यः सद्रव्यः सपरिच्छदः ॥ २४१ ॥

इतरे कृतवन्तस्तु पापान्येतान्यकामतः ॥ सर्वस्वहरमर्हन्ति कामतस्तु प्रवासनम् ॥ २४२ ॥

(१) मेधातिथिः । इतरे क्षत्रियादयो वर्णा एतानि पापानि महापातकान्यकामतोऽनिच्छया कृतवन्तः सर्वस्वहरणाः कार्याः केचित्प्रायश्चित्तमपि कुर्वतामेतदण्डपूर्वेण वैकल्पिकमिच्छन्ति कामतस्तेषां वधोक्तः शूद्रस्याकामतोऽङ्गनसर्वस्वहरणे कामतो वधः ॥ २४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इतरे क्षत्रादयः अकामतः कृतवन्तः प्रायश्चित्ताकरणे सर्वस्वहरणमात्रम् । कामतः कृतितूक्तप्रकारं प्रवासनमङ्गनादिसहितम् । एतच्चापारम्भविषयं आरम्भमहत्वेतु हन्यादित्युक्तम् ॥ २४२ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणादन्ये पुनः क्षत्रियादय एतानि पापान्यनिच्छन्तः कृतवन्तः सर्वस्वहरणमर्हन्ति । इदं च सर्वस्वहरणं पूर्वोक्तनोत्तमसाहसेन वृत्तापेक्षया व्यवस्थापनीयं इच्छया पुनरेषामेतेष्वपराधेषु प्रवासनं वधोर्हति ॥ प्रवासनं परासनं निमूदनं निर्हसनमिति । वधपर्यायं प्रवासनशब्दं पठन्त्याभिधानिकाः ॥ २४२ ॥

(४) राघवानन्दः । क्षत्रियादीनां त्वाह इतर इति । एतानि ब्रह्महत्यादीनि । कृतवतां सर्वस्वहारं सर्वस्वहरणमिदं मुत्तमसाहसेन सह विकल्पः ॥ प्रवासनं परासनं निमूदनं निर्हसनमिति वधपर्याय इति केचित् । तन्न राजकृतं दण्डचिह्नस्यापि द्वादशवार्षिकादिब्रतोपदेशान्मरणे तदसंभवादेवं विधे धनहारः प्रवासनं चेति ॥ २४२ ॥

(५) नन्दनः । इतरे क्षत्रियादयः ॥ २४२ ॥

(६) रामचन्द्रः । इतरे क्षत्रियादयः एतानि पापानि अकामतः कृतवन्तः सर्वस्वहारं अर्हन्ति । तु पुनः कामतः प्रवासनं प्रवासमेव मारणं अर्हन्ति ॥ २४२ ॥

नाददीत नृपः साधुर्महापातकिनो धनम् ॥ आददानस्तु तल्लोभात्तेन दोषेण लिप्यते ॥ २४३ ॥

(१) मेधातिथिः । ननु धनेन दण्डनं राज्ञो वृत्तिरिति स्थापितं कथमिह तद्धनस्याग्रहणं उक्तं राजनिर्धूतदण्डादित्यत्रान्तरे ॥ २४३ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । धनं दण्डरूपमपि ॥ २४३ ॥

(३) कुल्लूकः । धार्मिको राजा महापातकसंबन्धिधनं दण्डरूपं न गृह्णीयात् । लोभात्पुनस्तद्वृत्त्यमहापातकदोषेण संयुज्यते ॥ २४३ ॥

(४) राघवानन्दः । साधुराजा दण्डधनमेषां नात्मसात्कुर्यादित्याह नेति । दोषेण तत्तुल्यप्रायश्चित्तेन परलोकनाशेन वा लिप्यते संबध्यते पापेनेति क्वचित्पाठः ॥ २४३ ॥

(५) नन्दनः । धनदण्डरूपेण प्राप्तं नाददीत न स्वीकुर्यात् ॥ २४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । एवं विद्वाननुशासतु नेति । नृपः साधुर्यथामहापातकिनः सकाशाद्धनं दण्डधनं न आददीत कोशे न प्रवेशयेत् । तद्दण्डधनं लोभात् आददानः ॥ २४३ ॥

अप्सु प्रवेशयेत्तदण्डं वरुणायोपपादयेत् ॥ श्रुतवृत्तोपपन्ने वा ब्राह्मणे प्रतिपादयेत् ॥ २४४ ॥

(१) मेधातिथिः । वरुणायोपपादयेत् मनसा ध्यायन् अप्सु दद्यादप्सु निक्षिपेत् ब्राह्मणाय वा विद्याशीलसंपन्नाय दद्यात् ॥ २४४ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । उपपादयेत् दद्यात् । वृत्तमाचारः ॥ २४४ ॥

(३) कुल्लूकः । कार्त्तिकं दत्तधनस्य प्रतिपत्तिरित्येतदर्थमाह अप्स्विति । तद्दण्डधनं नद्यादिजले प्रक्षिपेद्वरुणाय दद्याच्छ्रुतवृत्तसंपन्नब्राह्मणाय वा दद्यात् ॥ २४४ ॥

(४) राघवानन्दः । तर्हि तर्त्तिककार्यमित्याह अप्स्विति ॥ २४४ ॥

(५) नन्दनः । तं दण्डं दण्डधनम् ॥ २४४ ॥

ईशोदण्डस्य वरुणो राज्ञां दण्डधरो हि सः ॥ ईशः सर्वस्य जगतो ब्राह्मणो वेदपारगः ॥ २४५ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्य प्रतिपत्तिविधेरर्थवादोऽयं महापातकिनं दण्डस्य वरुण ईष्टे यतो राज्ञां स दण्डधरो नेता ईशितेति यावत् एवं ब्राह्मणोऽपि तद्धनस्येशोनेन ग्राह्यः ॥ २४५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । राज्ञामपि दण्डधरः शास्तायतः ॥ २४५ ॥

(३) कुल्लूकः । महापातकिदण्डधनस्य वरुणः स्वामी यस्माद्राज्ञामपि दण्डधारित्वात्प्रभुः तथा ब्राह्मणः समस्तवे-
दाध्यायी सर्वस्य जगतः प्रभुः अतः प्रभुत्वात्तौ दण्डधनमर्हतः ॥ २४५ ॥

(४) राघवानन्दः । तद्धनस्य ब्राह्मणार्पणे ब्रीहियववद्विकल्पद्योतकार्थवादमाह ईशइति । वस्तुनस्तु वरुणाय
संकल्पविप्रायोपपादयेत् अतएव तद्धनस्वीकर्तुर्विप्रस्य प्रायश्चित्तमाह याज्ञवल्क्यः ॥ आदातुश्च विशुद्ध्यर्थमिष्टिवैश्वानरी
मतेति ॥ २४५ ॥

(५) नन्दनः । अत्र कारणमाह ईशोदण्डस्य वरुणोराज्ञामिति दण्डधरइत्येतद्ब्राह्मणेऽपि योजनीयं तस्मात्तद्धनराज्ञा
न स्वीकार्यं तयोरन्यतरस्मै तद्देयमिति ॥ २४५ ॥

यत्र वर्जयते राजा पापकृद्बोधनागमम् ॥ तत्र कालेन जायन्तेमानवादीर्घजीविनः ॥ २४६ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रसिद्धाविमावप्यर्थवादश्लोकौ कालेन जायन्तइति वर्तमानजन्म विवक्षितंजातंजनिष्यमाणश्च
विकृतिःकर्णाक्षविहानम् ॥ २४६ ॥ २४७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कालेन संपूर्णे गर्भे ॥ २४६ ॥

(३) कुल्लूकः । यत्र देशेप्रकृतंमहापातकिधनंराजा न गृह्णाति तत्र परिपूर्णेन कालेन मनुष्याउत्पद्यन्ते दीर्घायु-
षश्च भवन्ति । वैश्यानां च यथैव धान्यादि सस्यान्युमानि तथैव पृथक्प्रथक्जायन्ते अकाले न बालाभ्रियन्ते दीर्घजीविनइ-
त्युक्तेऽप्यादरार्थंबालानांपुनर्वचनंव्यङ्ग्यं च किंचिद्भूतमुत्पद्यते ॥ २४६ ॥ २४७ ॥

(४) राघवानन्दः । पापिनांधनस्यराज्ञामनात्मसात्करणे हेतुतयाऽर्थवादमाह यत्रेतिद्वाभ्याम् । वर्जयते नगृह्णी-
यात् । दीर्घजीविनः शतोर्ध्वजीविनः ॥ २४६ ॥

(५) नन्दनः । दण्डधनवर्जने राज्ञः फलं श्लोकद्वयेनाह यत्र वर्जयते राजेति । धनागमोदण्डधनस्वीकारः
॥ २४६ ॥

(६) रामचन्द्रः । पापकृद्भ्यः सकाशात् धनागमम् यत्र राजानं नवर्तयते ॥ २४६ ॥

निष्पद्यन्ते च सस्यानि यथोमानि विशांपृथक् ॥ बालाश्च न प्रमीयन्तेविकृतं च जायते ॥ २४७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बालानमीयन्तइति दीर्घजीवित्वस्य सार्वत्रिकत्वमुक्तम् । बालपदं गर्भपरमित्यन्ये । वि-
कृतं अन्धत्वपङ्कत्वादि ॥ २४७ ॥

(४) राघवानन्दः । निष्पद्यन्ते उत्पद्यन्ते । विशांवैश्यानाम् । नप्रमीयन्ते नभ्रियन्ते । विकृतं ॥ अतिवृष्टिर्
नावृष्टिः शलभामूषिकाः खगाः ॥ प्रत्यासन्नाश्चराजानः षडेते ईतयः स्मृताइति ॥ ईतयोदुर्भिक्षादिवा ॥ २४७ ॥

(५) नन्दनः । निष्पद्यन्ते फलन्ति ॥ २४७ ॥

(६) रामचन्द्रः । निरिति । तत्र राज्ञे देशे निष्पद्यन्ते ॥ २४७ ॥

ब्राह्मणान्बाधमानन्तु कामादवरवर्णजम् ॥ हन्याच्चित्रैर्वधोपायैरुद्वेजनकरैर्नृपः ॥ २४८ ॥

(१) मेधातिथिः । अवरवर्णजः शूद्रः बाधनंधनाद्याहरणंशिरश्छेदोऽङ्कल्पनं खड्गप्रहारकर्तृकाइत्याद्याः उद्वे-
जनकरैर्दीर्घकालपीडाकरैः ॥ २४८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बाधमानमत्यन्तदुःखोत्पादनेन । अवरवर्णजं शूद्रम् । चित्रैर्नानाविधैर्हस्तपादच्छेदादिभिः
॥ २४८ ॥

(३) कुट्टूकः । शरीरपीडाधनग्रहणादिना शूद्रमिच्छातोब्राह्मणान्बाधमानंछेदादिभिरुद्वेगकरैर्वधोपायैर्नृपोहन्यात् ॥
॥ २४८ ॥

(४) राघवानन्दः । ईशःसर्वस्य जगतइत्यनेन ब्राह्मणानां श्रेष्ठ्यमुक्तं । ते यैः शरीरधनादिभिःपीड्यन्तेतेहन्तव्या
इत्याह ब्राह्मणानिति । चित्रैर्वधोपायैः तिलशोहस्तच्छेदादिभिः ॥ २४८ ॥

(५) नन्दनः । दण्ड्यान्तरमाह ब्राह्मणान्बाधमानन्त्विति । अवरवर्णजंशूद्रम् ॥ २४८ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणान्बाधमानं बाध्यमानं नृप उद्वेजनकरैः वधोपायैः मुण्डनादिभिः उपायैः हन्यात्
ताडयेत् हर्षासागत्योरित्यस्यधातोरूपं । अवरजवर्णजं क्षत्रियादिवर्णजं चित्रैःविविधोपायैर्हन्यात् करचरणच्छेदनादिभिः
उपायैःनृपःहन्यात् ॥ २४८ ॥

यावानवध्यस्य वधे तावान्वध्यस्य मोक्षणे ॥ अधर्मोऽनृपतेर्दृष्टो धर्मस्तु विनियच्छतः ॥ २४९ ॥

(१) मेधातिथिः । अवध्यवधेयोदोषस्तत्तुल्योवध्यमोक्षणे राज्ञोऽप्रयुक्तेषु । अथ भागहरस्य धर्मानकुर्वतः प्रत्यव-
रोधेन वश्यंभवितव्यंकुर्वतस्तु न कदाचिददृष्टसिद्धिः । यस्त्वयं धर्मस्तुविनियच्छति एवमादिधर्मप्रवादः सर्वोसौत्वर्मानुष्ठाना-
नुशांसार्थोऽर्थवादः नियहोपसंस्कारार्थस्त्वयंवधोपदेशोऽतोयथाश्रुतिचित्रवधोपायैः कर्तव्यः । इष्टार्थेषु राज्यतत्त्वसिद्ध्यर्थमु-
पदेशेषु प्रवचनंयथादमंयोधांश्चहन्यादितियुक्तं तत्र दृष्टप्रयोजनत्वादुपदेशस्य न नियतोवधः । एवंच सत्युपायांतरेणापि व-
न्धनादिना विनियच्छतोदोषः ॥ २४९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विनियच्छतोदण्डयतोदण्ड्यम् ॥ २४९ ॥

(३) कुट्टूकः । अवध्यस्य वधे यावानधर्मोऽनृपतेः शास्त्रेण ज्ञातस्तावानेव वध्यस्य त्यागेपि यथा शास्त्रंदण्डन्तुकु-
र्वतो धर्मः स्यात्तस्मात्तंकुर्यात् ॥ २४९ ॥

(४) राघवानन्दः । वध्यस्योवधे दोषं सदृष्टान्तं कथयंस्तत्रयत्नमाधत्ते यावानिति । यावान् दृष्टादृष्टरूपः । दृष्टः
श्रुत्यादिभिः प्रमोतो वध्यस्य वधार्हस्यरक्षणे । विनियच्छतःयथाशास्त्रंदण्डयतः धर्मस्तावान्दृष्टइत्यन्वयः ॥ २४९ ॥

(५) नन्दनः । दण्डस्योपेक्षणे दोषगौरवमाह यावानवध्यस्य वधइति । अवध्यस्य ब्राह्मणस्य यावान्धर्मः । वि-
नियच्छतोदण्डयतः ॥ २४९ ॥

(६) रामचन्द्रः । नृपतेः यावानवध्यस्य वधेऽधर्मोऽदृष्टस्तावान्वध्यस्य वधार्हस्य मोक्षणेअधर्मोऽदृष्टः । तुपुनः
विनियच्छतः विनयं कुर्वतः ॥ २४९ ॥

उदितोयंविस्तरशोमिथोविवदमानयोः ॥ अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ॥ २५० ॥

(१) मेधातिथिः । सर्वव्यवहारोपसंहारार्थः श्लोकः ॥ २५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विवादमुपसंहरति उदितइति ॥ २५० ॥

(३) कुल्लूकः । अष्टादशक्रणादानादिषु व्यवहारपदेषु परस्परं विवदमानयोरर्थप्रत्यर्थिनोः कार्यनिर्णयोयं विस्तरेणोक्तः ॥ २५० ॥

(४) राघवानन्दः । अष्टादशव्यवहारानुपसंहरन् राजधर्मस्य परिशिष्टानाह उदितइति । उदितोऽष्टमाध्यायमारभ्य नियच्छतइत्यन्तैः । विवदमानयोरित्युपलक्षणव्यवहारमात्रस्य द्वित्रिसाध्यत्वात् मार्गेषु अतीवान्वेषणीयविषयेषु ॥ २५० ॥

(५) नन्दनः । उपसंहरति उदितोऽयं विस्तरशइति ॥ २५० ॥

(६) रामचन्द्रः । विस्तरशः विस्तरः ॥ २५० ॥

एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक् कुर्वन्महीपतिः ॥ देशानलब्धान् लिप्सेत लब्धांश्च परिपालयेत् ॥ २५१ ॥

(१) मेधातिथिः । अलब्धान् लिप्सेतेति संतोषपरेण न भवितव्यमित्यर्थः ॥ २५१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । राजकृत्यशेषमाह एवमिति ॥ २५१ ॥

(३) कुल्लूकः । अनेनोक्तप्रकारेण धर्मादनपेतान्यवहारानिर्णयन् राजा जनानुरागादलब्धा देशान् लब्धुमिच्छेद् लब्धांश्च सम्यक्पालयेदेवं सम्यगव्यवहारदर्शनस्यालब्धप्रदेशप्राप्त्यर्थत्वमुक्तम् ॥ २५१ ॥

(४) राघवानन्दः । महीपतित्वं द्योतयति देशानिति ॥ २५१ ॥

(५) नन्दनः । कुर्वन् लिप्सेत नाकुर्वन् ॥ २५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अलब्धान् अमात्यान् लिप्सेत ॥ २५१ ॥

सम्यङ् निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गं च शास्त्रतः ॥ कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ॥ २५२ ॥

(१) मेधातिथिः । देशनिवेशो दुर्गकरणं यत्सममाध्याये उक्तं तत्कृत्यं कण्टकोद्धरणं तेनापि राष्ट्ररक्षाक्रियते कण्टकशब्दः पीडाहेतुसामान्यात्तस्करादिषु प्रयुक्तः ॥ २५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निविष्टदेशो जनाभ्युषितदेशः । शास्त्रतः शास्त्रोक्तविधिना कण्टकानां क्षुद्रशत्रूणां तस्करादीनामुद्धरणे ॥ २५२ ॥

(३) कुल्लूकः । जाङ्गलसस्यसंपन्नमित्युक्तरीत्या सम्यगाश्रितदेशस्तत्र सममाध्यायोक्तप्रकारेण कृतदुर्गं शौरसाहसिकादिकण्टकनिराकरणे प्रकृष्टयत्नं सदा कुर्यात् ॥ २५२ ॥

(४) राघवानन्दः । जाङ्गलसस्यसंपन्नमित्याद्युक्तरीत्या सम्यङ् निविष्टदेशः धन्वदुर्गमित्यादिशास्त्रतः शास्त्रानुसारेण कृतदुर्गं च कण्टकाद्यूतसुवर्णकारादयस्तेषामुद्धरणमुन्मूलनं तत्र यत्नमातिष्ठेदित्यन्वयः ॥ २५२ ॥

(५) नन्दनः । अथ कण्टकशोधनमाह सम्यङ् निविष्टदेशस्त्विति । सतां बाधकाः कण्टकाः । उद्धरणं निराकरणम् ॥ २५२ ॥

(६) रामचन्द्रः । सम्यक् प्रकारेण निविष्टदेशः त्वस्य देशः कण्टकस्य उद्धरणे नित्यमुत्तमं यत्नं आतिष्ठेत् ॥ २५२ ॥ रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात् ॥ नरेन्द्रास्त्रिदिव्यान्ति प्रजापालनतत्पराः ॥ २५३ ॥

(१) मेधातिथिः । एतदेव दर्शयति आर्यवृत्तं शास्त्रनोदितं कर्तव्येतरानुष्ठाननिषेधस्तद्वृत्तं येषामुत्तरपदलोपी समासः ते च

दीनानाथश्रोत्रियाअकरशुल्कदागृह्यन्ते तद्रक्षणान्निविदिवगमनंयुक्तं । अन्येषां तु वृत्तिपरिक्रीतत्वादकरणे प्रत्यवायोयथो-
त्तरत्रवक्ष्यति स्वर्गाच्च परिहीयतइति रक्षानुवृत्तिनिष्कयणेन प्रत्यवायाभावमात्रेण तु स्वर्गः अथवा वृत्तिनियमापेक्षंत्रि-
दिवप्राप्तिवचनंयथोक्तंप्राक् अन्येषां तु दर्शनमर्थवादमात्रं राज्ञः स्वर्गवचनं अवृत्तिदपरिपालनेपि वृत्तिप्रयुक्तंस्वराजभागस्था-
नीयस्य तद्राज्ञोयथैव च शिल्पिजीविनः शिल्पिनोमासिमास्येकैककाम्यंकुर्युरिति वृत्त्यर्थशिल्पंकुर्वाणाराज्ञा कर्मकार्यन्ते-
करग्रहणाय एवराजापि वृत्तियुक्तः प्रजापालनप्रवृत्तौनित्यकर्मवदनार्यपरिपालनंकार्यते । शास्त्रेण यथैव हि कामश्रुतितोऽ-
भ्याहितो नित्यानुतिष्ठति न स्वर्गादिलाभाय नहि तानि फलार्थतया नोदितानि अथ च क्रियन्ते तद्वेदतद्विषयं अथोयावती
काचित्फलश्रुतिः सा सर्वार्थवादइति कोवरविष्णुत्वामी । यदत्र तत्त्वतदर्शितमधस्तात् ॥ २५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शोधनादनुसंधानात् ॥ २५३ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मात्साध्वाचाराणांरक्षणाच्चोरादीनांच शासनात्प्रजापालनोद्युक्तराजानः स्वर्गगच्छन्ति तस्मात्क-
ण्टकोद्धरणे यत्नेंकुर्यात् ॥ २५३ ॥

(४) राघवानन्दः । तेन किं तत्राह रक्षणादिति । आर्यवृत्तानां सदनुष्ठिताचाराणां रक्षणाद्रत्नभूमिदानादिना ।
कण्टकादीनां चोरादीनां शोधनान्निरसनात्ताभ्यांयःपुण्यराशिस्तेनदिवस्वर्गयान्ति ॥ २५३ ॥

(५) नन्दनः । अत्र फलमाह रक्षणादार्यवृत्तानामिति ॥ २५३ ॥

(६) रामचन्द्रः । आर्यवृत्तानां साधूनाम् ॥ २५३ ॥

अशासंस्तस्कारान्यस्तु बलिगृह्णाति पार्थिवः ॥ तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रंस्वर्गाच्च परिहीयते ॥ २५४ ॥

(१) मेधातिथिः । शासनंयथाशास्त्रंयथादिदण्डमन्तरेणतस्कराणांनिग्रहरक्षा नशक्यते अतोवृत्तिगृहीत्वा यस्त-
स्करवधाज्जुगुप्सते तस्योभयोदोषः इहराष्ट्रकृतोऽमुत्र स्वर्गपरिहानिः युक्ता च बलिपरिगृहीतस्य तन्निष्कृतिमकुर्वतोदोष-
वत्ता ॥ २५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रक्षुभ्यते द्वेषवद्भवति ॥ २५४ ॥

(३) कुल्लूकः । यथा पुनर्नृपतिश्चोरादीननिराकुर्वन्षट्पागाद्युक्तंकरं गृह्णाति तस्मैराष्ट्रासिनोजनाः कुप्यन्ति । कर्मान्त-
रार्जिताप्यस्य स्वर्गप्राप्तिरनेन दुष्कृतेन प्रतिबध्यते ॥ २५४ ॥

(४) राघवानन्दः । अन्येषांप्रजानांपालनेनसतः उक्ताकरणे दोषमाह अशेति । अशासदनिगृह्णन् । बलिकरशु-
ल्कादि । परिहीयते नृपतिः पापप्रतिबन्धात् ॥ २५४ ॥

(५) नन्दनः । विपर्ययेदोषमाह अशासंस्तस्कारान्यस्त्विति ॥ २५४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अशासन् अरक्षन् ॥ २५४ ॥

निर्भयन्तु भवेद्यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम् ॥ तस्य तद्वर्धते नित्यंसिद्ध्यमान इव द्रुमः ॥ २५५ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रसिद्धमेवैतच्छ्लोके तस्करधर्मविशेषतयाऽनूद्यते ॥ २५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निर्भयं कण्टकभयशून्यम् ॥ २५५ ॥

(२५५) निर्भयन्तु भवेद्यस्य=निर्भयं यस्यवसति (नं)

(३) कुङ्कुमः । यस्य राज्ञोबाहुवीर्याश्रयेण राष्ट्रं चौरादिभयरहितं भवति तस्य नित्यं तर्ह्यङ्गिगच्छति उदकसेकेनेव वृक्षः ॥ २५५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच निरिति । राष्ट्रं राष्ट्रस्थाः प्रजाः । यस्य बाहुबलाश्रितं सदित्यन्वयः ॥ २५५ ॥

(५) नन्दनः । कण्टकशोधने दृष्टफलं भूयिष्ठमित्याह निर्भयं यस्य वसतीति । वसति जीवति ॥ २५५ ॥

द्विविधांस्तस्करान्विद्यात्परद्रव्यापहारकान् ॥ प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः ॥ २५६ ॥

(१) मेधातिथिः । चाराः प्रच्छन्नाराष्ट्रे राजकृत्यज्ञानिनस्ते चक्षुषी इव यस्य सचारचक्षुः । प्राकाशस्तस्कराणां नातितस्करव्यवहारो यथालोकेऽन्येषामटवीरात्रिचराणामाप्तस्तैः सामान्योपादानं तद्वन्निग्रहार्थं क्रियते ॥ २५६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । परद्रव्यापहारिणस्तस्करांस्तस्करसंज्ञान् ॥ २५६ ॥

(३) कुङ्कुमः । चार एव चोरज्ञानहेतुत्वाच्चक्षुरिव यस्यासौ राजा चारैरेव प्रकटतया गूढतया द्विप्रकारान्यायेन परधनग्राहिणो जानीयात् ॥ २५६ ॥

(४) राघवानन्दः । पालनेन जलस्थानीयेन सिध्यमानमिव प्रकाशवं चकाः । समक्षं द्रव्यान्तरं मिश्रीकृत्य दुग्धघृततैलादिव्यवहारिणः । अप्रकाशा इत्यस्य व्याख्या ॥ २५६ ॥

(५) नन्दनः । के पुनः कण्टकास्तानाह द्विविधांस्तस्करानिति । चारचक्षुषा जानीयात् ॥ २५६ ॥

(६) रामचन्द्रः । तद्विधान् प्रकाशान् वणिक्प्रभृतीन् राजा विद्यात् ॥ २५६ ॥

प्रकाशवंचकास्तेषां नानापण्योपजीविनः ॥ प्रच्छन्नवञ्चकास्ते ये स्तेनादविकादयः ॥ २५७ ॥

(१) मेधातिथिः । तत्र ये ऋयार्थमानतुलादिना मुष्णन्ति द्रव्याणामागमस्थाननिर्गमनापेक्षार्थं कुर्वन्ति ते प्रकाशकाः [जवनिकाप्रच्छन्नायेरात्रेऽनुहरन्ति ते स्तेना आदविका] विज्ञेने प्रदेशे वसन्ति अपरे तु प्रसह्य हारिणो न केवलमेत एव कितर्हीमे चान्ये यान् धूर्ववक्ष्यामः ॥ २५७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नानापण्योपजीविनो मूल्यादिवञ्चनेन वञ्चका हेमकारादयः । तथोत्कोचिकादयो वक्ष्यमाणस्तेनाः संध्यादिकर्तारः । अटव्या आदविकाः अटव्यां गहनादौ द्रव्यापहर्तारः ॥ २५७ ॥

(३) कुङ्कुमः । तेषां पुनश्चौरादीनां मध्याद्येतुलाप्रतिमानोपचयापचयादिना हिरण्यादिपण्यविक्रयिणः । परधनमनुचितेन गृह्णन्ति ते प्रकाशवंचकाः स्तेनाश्चौराः सदिच्छेदादिना गुप्ताऽटव्याश्रयाश्च परधनं गृह्णन्ति ते प्रच्छन्नवंचकाः ॥ २५७ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रच्छन्नवञ्चका इति । स्तेना आदविकादयः स्तेनाः चौराः । अटव्यां चरतीत्यादविकोदस्युस्तदादयः । सन्धिरार्षः । क्वचित् स्तेना आदविकादय इति पाठः ॥ २५७ ॥

(६) रामचन्द्रः । ये स्तेनाः आदविकादयः अटवीं भ्रमन्तीत्यर्थः ॥ २५७ ॥

उत्कोचकाश्च औपधिकावञ्चकाः कितवास्तथा ॥ मङ्गलादेशादुत्ताश्वभद्राश्चेक्षणीकैः सह ॥ २५८ ॥

(१) मेधातिथिः । उत्कोचकार्येण कस्यचित्कार्येण कस्यचिद्राजामात्यादेः प्रवृत्तो ग्रहणातिकार्यसिद्धौ प्रवर्तते औपधिकाः छत्रव्यवहारिणः अन्यद्बुवन्नन्यदाचरन्ति प्रत्यक्षं प्रीतिं दर्शयित्वा हठोपकारे वर्तन्ते विनाप्यर्थग्रहणेन निमि-

त्तान्तरतः अन्यतोपरस्य कार्यसिद्धिमवश्यंविज्ञाय मयातवैतत्क्रियत इति परंगृह्णन्ति भीषिकाप्रदर्शनंवा उपधावनग्रहणार्थं सदादेविनइत्यर्थः । पृथगर्थेवा पादवञ्चकाविप्रलम्बकाः इदंकार्यवयमेवकरिष्यामस्तव नान्यत्रस्थाइत्युक्त्वा न कुर्वत उपेत्य नानाकारणनानाविधैरुपायैर्ग्रामिणान्मुञ्चन्ति शिवमाधवादयः शिवमादित्यंजीवन्ति मङ्गलादेशवृत्तायान्त्युपदेशिकाज्योतिषिकादयः अथवाएतांदेवतां त्वदर्थेनाहंभीणयामि दुर्गामार्तण्डंचेति तथाऽऽख्यानांधनमुपजीवन्ति अथवामङ्गले तथास्त्विति वादिनः आदेशवृत्ताः सर्वस्य करवर्धने अभद्राभद्राप्रेक्षणकाः प्रशंसिपुरुषलक्षणाः ॥ २५८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उत्कोचिकाउत्कोचग्राहिणः । औपधिकाः स्तुत्यादिकृतेनोपधेनछलेन गृह्णन्तः । वञ्चकवेषान्तरेण भ्रममुत्पाद्यदातारः । कितवाद्यूतकृतः । मङ्गलादेशोमङ्गलस्तुतिपाठः वृत्तं चरितं येषाम् । भद्रात्वरूपतामात्मनोविधाय रूपादिव्यामोहकाः । ईक्षणीकाः प्रेक्षणीयकर्तारोनयदयः ॥ २५८ ॥

(३) कुल्लूकः । किंच उत्कोचकाइति असम्यगिति उत्कोचकाये कार्यभ्योधनंगृहीत्वा कार्यमयुक्तं कुर्वन्ति औपधिकाभयदर्शनाद्ये धनमुपजीवन्ति वञ्चकाये सुवर्णादिद्रव्यंगृहीत्वाऽपद्रव्यप्रक्षेपेण वञ्चयन्ति । कितवाद्यूतसमाह्वयवेदिनः धनपुत्रलाभादिमङ्गलममत्वमादिश्य ये वर्तन्ते ते मङ्गलदेशवृत्ताः भद्राः कल्याणाकारप्रच्छन्नपापाये धनग्राहिणः ईक्षणिकाहस्तरखाद्यवलोकनेन शुभाशुभफलकथनजीविनः महामात्राहस्तिशिक्षाजीविनः चिकित्सकाः चिकित्साजीविनः असम्यक्कारिणइति महामात्रचिकित्सकविशेषणं शिल्पोपचारयुक्ताश्चित्रलेखाद्युपायजीविनस्तेप्यनुपजीव्यमानशिल्पोपायप्रोत्साहनेन धनंगृह्णन्ति । पण्यस्त्रियश्च परवशीकरणकुशलाइत्येवमादीन्प्रकाशंलोकवंचकान् चारैर्जानीयात् । अन्यानपि प्रच्छन्नचारिणः शूद्रादीन्ब्राह्मणादिवेषधारिणोऽधनग्राहिणोजानीयात् ॥ २५८ ॥ २५९ ॥ २६० ॥

(४) राघवानन्दः । किंच एतेति प्रकाशवञ्चकाइत्याह उदितिद्वाम्याम् । उत्कोचका कार्यभ्योधनंगृहीत्वाऽयुक्तकारिणः । औपधिका उपधिर्भयादिप्रदर्शनं तेनोपजीविनः । वञ्चकाः रसविद्धताम्रादि रजतादिरूपेण दर्शयित्वा सुवर्णादिकं ये गृह्णन्ति ते । कितवाः ये द्यूतसमाह्वयवेदिनः । मङ्गलादेशवृत्ताः धनपुत्रादिलाभसूचयन्तोऽधनग्राहिणः । भद्राः धनार्थं कल्याणाचरणेन प्रच्छन्नपापाः । ईक्षणिकाहस्तादिरेखाद्यवलोकनेन शुभाशुभफलशंसिनः ॥ २५८ ॥

(५) नन्दनः । उत्कोचका उत्कोचकजीविनः । औपधिकाः कूटतुलामानजीविनः । वञ्चकामायिनः । मङ्गलादेशवृत्तयोमङ्गलोपदेशपराः भद्राभद्रवेषधारिणः शुभाशुभवत्वेक्षणेन ये जीवन्ति त एैक्षणिकाः ॥ २५८ ॥

(६) रामचन्द्रः । उत्कोचकाः भयादिप्रदर्शनेन धनोपजीवकाः । आकरे ग्राहकाः औपधिकाः तुलादिकृतेनोपाधिना छलेन गृह्णन्तः । वंचकाः भ्रममुत्पाद्य गृह्णन्तः । कितवाद्यूतवेदिनः मङ्गलादेशवृत्ताश्चमङ्गलोपदेशकाः । भद्राकल्पनकाराः । प्रच्छन्नपापाः । प्रेक्षणिकैः हस्तादिप्रेक्षकैः ॥ २५८ ॥

असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः ॥ शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाः पण्ययोषितः ॥ २५९ ॥

(१) मेधातिथिः । महामात्रामन्त्रिपुरोहितादयोराजनिकटिकास्तेचेदसम्यक्कारिणः । चिकित्सकावैद्याः शिल्पोपचारयुक्ताः चित्रपत्रलेदरूपकारादयः उपचारउपायनमनुपयुज्यमानस्त्वशिल्पकौशलं दर्शयित्वानुष्ठायधनंनयन्ति । एवंपण्ययोषितो निपुणाश्चापकरिणास्तप्रीतिदर्शनेन असम्यक्कारिणइति सर्वत्रानुयुज्यते ॥ २५९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । महामात्राः अमात्याः राज्ञः तथा चिकित्सकाः भिषजः । असम्यक्कारिणोऽनुक्तकारि-

णः । शिल्पेयुक्ताश्चित्रकारादयः । उपकारयुक्ताः केशादिसंस्कर्तारः । निपुणाः स्वस्ववृत्तिकुशलाः । पण्ययोषितोवेश्याः ॥ २५९ ॥

(४) राघवानन्दः । महामात्राहस्तिशिक्षाजीविनः । महामात्रचिकित्सयोर्विशेषणमसम्यक्कारिणइति । ते हि गजा-
देरोगादिमत्त्रादिना संपाद्याऽसाध्यमित्याख्याप्य पुनःसाधयन्ति । शिल्पोपचारयुक्ताः विचित्रपत्रछेदादिनिपुणास्तेनैवबा-
लान्प्रोत्साहयन्तो धनं गृह्णन्ति । पण्ययोषितः स्तनजघनादिचालनेन काममुद्राव्य पुंश्रीकरणकुशलाः दूत्योवेश्यावा ॥ २५९ ॥

(५) नन्दनः । असम्यक्कारिणइति महामात्राणांचिकित्सकानांच विशेषणं शिल्पोपकारयुक्ताः छत्रतालवृन्ताद्युप-
कारकारिणः ॥ १५९ ॥

(६) रामचन्द्रः । महामात्राः हस्तिशिक्षकाः । वैद्याः । निपुणाः परपुरुषवशीकरणकुशलाः । पण्ययोषितः पण्यस्त्री
गृहं ॥ २५९ ॥

एवमादीन्विजानीयात्प्रकाशांल्लोककण्टकान् ॥ निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यलिङ्गिनः ॥ २६० ॥

(१) मेधातिथिः । एवमाद्यान शक्यन्ते धूर्तानां परद्रव्यापहाराणां प्रकारान्संख्यातुमित्याद्यग्रहणं तथाह्यशक्यं कथय-
न्ति अवधारयन्तीमनुरागिणीति याभृत्योभृत्यवदात्मानंदर्शयित्वा न यदिहिरण्यमृजुप्रकृतेर्न चार्थभृतस्त्वं ब्रह्मात्वं बृहस्पतिरि-
त्युक्ता मूर्खाद्यान्त्यन्ति देहि प्रसादेन कतिपयैर्वाहोभिः प्रत्यर्पयामीति सिद्धे प्रयोजने तनुतरो भवति प्रियवाद्यप्रियवादिसं-
पद्यते निगूढचारणस्तुल्यकर्मकारिभिर्विद्यापूर्वयेतत्कर्मकृतवन्तः अथवासंप्रत्येव तत्कर्मकार्यन्ते अन्तर्भावसिद्ध्यर्थं लब्धान्त-
रा आगत्य कथयिष्यन्ति ॥ २६० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विजानीयात् किमन्याम्यं कुर्वन्तीति । प्रकाशान् धनिनः समक्षं ग्रहीतृन् । निगूढकारि-
णो निहन्तेनाहर्तृन् । आर्यलिङ्गिनो ब्रह्मचर्यादिवेषान् ॥ २६० ॥

(४) राघवानन्दः । लोककण्टकान् कण्टकवदुःखहेतून् । आर्यलिङ्गिनः सन्यासादिवेषधारिणः ॥ २६० ॥

(६) रामचन्द्रः । अनार्यान् आर्यलिङ्गिनः विजानीयात् ॥ २६० ॥

तान्विदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्मकारिभिः ॥ चारैश्चानेकसंस्थानैः प्रोत्साद्य वशमानयेत् ॥ २६१ ॥

(१) मेधातिथिः । तथाद्यैरपि चारैस्तत्कर्मकारिभिरनेकसंस्थानैः ॥ २६१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सुचरितैः सम्यक्चरद्भिः तत्कर्मकारिभिश्चो रत्वेन तेष्व्वात्मानं प्रकाशयद्भिः गूढैश्चारैरने-
कसंस्थानैरनेकवेशैः प्रोत्साद्य चौर्यादिकरणे प्रवर्त्य वशमानयेत् गृह्णीयात् ॥ २६१ ॥

(३) कुल्लूकः । तानुक्तान्वञ्चकान्सभ्यैः प्रच्छन्नैस्तत्कर्मकारिभिर्वणिजांस्ते ये वणिग्भिरित्येवमादिभिः पुरुषैरे-
तद्यतिरिक्तैः सप्तमाध्यायोपदिष्टकापटिकादिभिश्चारैरनेकस्थानस्थैर्ज्ञात्वा प्रोत्साद्य स्ववशान्कुर्यात् ॥ २६१ ॥

(४) राघवानन्दः । अनेकसंस्थानैः सप्तमाध्यायोक्तकापटिकादिभिः । प्रोत्साद्य उत्साहं जनयित्वा । एषा वृत्ति-
स्त्याज्या रुषिवाणिज्यादिना धनोपार्जनं कुरुष्वमिति धनलोभेन सद्वात्तिनयेदिति भावः ॥ २६१ ॥

(५) नन्दनः । अनेकसंस्थानैर्नानावेषैः ॥ २६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । तानिति अनेकसंस्थानः नामरूपैः ॥ २६१ ॥

तेषां दोषानभिख्याप्य स्वेत्ये कर्मणि तत्त्वतः ॥ कुर्वीत शासनं राजा सम्यक्सारापराधतः ॥ २६२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दोषान् स्तेयादीनभिख्याप्य लोके लोकानुद्वेगार्थम् । स्वेत्येकर्मणि वित्तग्रहणघातनादौ कृते । सारापराधत इति मुषितवस्तुनः सारतां ज्ञात्वा सादृश्याच्चौरापराधं ज्ञात्वेत्यर्थः ॥ २६२ ॥

(३) कुल्लूकः । तेषां प्रकाशाप्रकाशतस्कराणां स्वकर्मणि चौर्यादौ ये पारमार्थिकादोषाः संधिच्छेदादयस्तान् लोके प्रख्याप्य तद्वतधनशरीरादिसामर्थ्यापेक्षया पराधापेक्षया च राजा दण्डं कुर्यात् ॥ २६२ ॥

(४) राघवानन्दः । स्वेत्ये कर्मणि ये दोषास्तान् लोके प्रचारं कृत्वाऽनुशासनं कुर्यादित्याह तेषामिति । सारापराधतः अपराधस्य सारः उत्कृष्टता कर्तृगतधनादिसामर्थ्यं वा तदनुरूपं शासनं कुर्वीतेत्यन्वयः ॥ २६२ ॥

(५) नन्दनः । सारापराधतः सारतश्चापराधतश्च ॥ २६२ ॥

(६) रामचन्द्रः । तेषां मिति सापराधतः ज्ञात्वा ज्ञातापराधतः अपराधानुसारेण ॥ २६२ ॥

न हि दण्डादृते शक्यः कर्तुं पापविनिग्रहः ॥ स्तेनानां पापबुद्धीनां निभृतं चरतां क्षितौ ॥ २६३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पापविनिग्रहः पापान्निवृत्तिः स्तेनानाम् ॥ २६३ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्माच्चौराणां पापाचरणबुद्धीनां विनीतवेषेण पृथिव्यां चरतां दण्डव्यतिरेकेण पापक्रियायां नियमं कर्तुं शक्यमत एषां दण्डं कुर्यात् ॥ २६३ ॥

(४) राघवानन्दः । नन्वेषां किमिति दण्डोपदेशः उपदेशेनैव विशिष्टत्वं स्यात्तत्राह नहीति । पापविनिग्रहः पापिनां विनिग्रहः । तत्र हेतुः पापबुद्धीनां पापरुचीनां अतएव निभृतं निहृत्य चरतां तत्तत्कारिणाम् ॥ २६३ ॥

(५) नन्दनः । पापविनिग्रहः पापात्कर्मणः प्रतिषेधः ॥ २६३ ॥

(६) रामचन्द्रः । नहीति । दण्डावकृते पापविनिग्रहः कर्तुं न हि शक्यः क्षितौ निभृतं गूढचरितं ॥ २६३ ॥

सभा प्रपापूपशालावेशमद्यान्विक्रयाः ॥ चतुष्पथ्याश्चैत्यवृक्षाः समाजा प्रेक्षाणानि च ॥ २६४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सभा मण्डपः । प्रपाजलशालाः । अपूपशालाः पूपविक्रयशालाः । वेशोवेश्याश्रयः । मद्यान्विक्रयाः तद्विक्रयस्थानानि । चैत्यवृक्षाग्रामादिप्रधानवृक्षाः । समाजोलोकमेलकः । प्रेक्ष्यां रङ्गः ॥ २६४ ॥

(३) कुल्लूकः । सभाग्रामनगरादौ नियतजनसमूहस्थानं प्रपाजलदानगृहमपूपविक्रयवेशमपण्यस्त्रीगृहमद्यान्विक्रयस्थानानि चतुष्पथाः प्रख्यातवृक्षमूलानि जनसमूहस्थानानि जीर्णवाटिकाश्रमवृक्षाः शिल्पगृहाणि शून्यगृहाण्यान्नादिवनानि वृक्षमोद्यानानि एवं प्रकारान्देशान्सैन्यैः पदातिसमूहैः स्थावरजङ्गमैः एकस्थानस्थितैः प्रचारिभिश्चान्यैश्चारीस्तस्करनिवारणार्थं चारयेत्प्रायेणैवं विधे देशेऽन्नपानस्त्रीसंभोगस्वप्रहर्त्राद्यन्वेषणार्थं तस्करा अवतिष्ठन्ते ॥ २६४ ॥ २६५ ॥ २६६ ॥

(४) राघवानन्दः । ते तर्हि क चरन्तीत्यपेक्षायामाह सभेतिद्वाभ्याम् । [प्रपावृद्धप्राण्युद्दिश्य प्रचुरतरन्त्यस्थलं ।] अपूपशालातद्देशम् । वेशः पण्यस्त्रीगृहम् । चैत्यवृक्षाः प्रख्यातवृक्षमूलानि । समाजाः जनसमूहस्थानानि प्रेक्षणं नृत्यगीतस्थानानि ॥ २६४ ॥

(५) नन्दनः । अथाप्रकाशतस्करपरिज्ञानोपायं प्रपञ्चयति सभाप्रपाऽपूपशालेति । अपूपशाला अपूपविक्रयशाला । मध्ययत्रप्रदेशे विक्रीयते समद्यविक्रयः एवमन्वविक्रयः प्रेक्षणानि वृत्तस्थानानि ॥ २६४ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रिभिराह सभेति । वेशः पण्यस्त्रोगृहम् । मद्यान्वविक्रयाः चैत्यवृक्षाः ग्रामेप्रख्यातवृक्षाः । मूल-प्रेक्षणानि ॥ २६४ ॥

जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च ॥ शून्यानि चाप्यगाराणि वनान्युपवनानि च ॥ २६५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अरण्यानि महाठव्यः । कारुकावेशनानिचित्रकारगृहाणि । वनं क्षुद्रारण्यम् । उपवनं गृहोद्यानम् ॥ २६५ ॥

(४) राघवानन्दः । जीर्णत्वानोपसर्पन्तिकेचन कारुकावेशनानिच कारुकानां पण्यस्थानानि तत्र स्थित्वा घनादि छिद्रानुसारिणश्चोराः स्युरितिभावः । अगाराणि गृहाणि । वनानिजलाहरणस्थलानि । उपवनानि रुत्रिमवनानि ॥ २६५ ॥

(५) नन्दनः । अरण्यानी महारण्यं । कारुकावेशनानि कर्मकरशिल्पकरणशालाः ॥ आवेशनं शिल्पशालेत्यमरः ॥ २६५ ॥

एवंविधान्नृपोदेशान्गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः ॥ तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत् ॥ २६६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गुल्मैर्निरोधेन रक्षकैः । स्थावरैः खातादिभिः । अनुचारयेत् लक्षयेत् ॥ २६६ ॥

(४) राघवानन्दः । ते कथमन्वेषणीयास्तत्राह एवमिति । गुल्मैः पत्तिभिः स्थावरैः स्थिरतरैः जङ्गमैः सर्वदा चरद्भिः चारैः कापटिकादिभिः अनुचारयेदहर्निशंचरेत् ॥ २६६ ॥

(५) नन्दनः । गुल्मैः व्यूहैः सैन्यकैः ॥ २६६ ॥

(६) रामचन्द्रः । नृपः एवंविधान्देशान् । गुल्मैः पत्तिसमूहैः स्थावरजंगमैः नियतदेशस्थैर्भ्रमणशीलैः तस्करप्रतिषेधार्थं एवंविधैः चारैः अनुचारयेत् ॥ २६६ ॥

तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवेदिभिः ॥ विद्यादुत्सादयेच्चैव निपुणैः पूर्वतस्करैः ॥ २६७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तत्सहायैस्तेषामेव तस्कराणां सहायतांगतैः । सम्यक्तेषामनुगतैः । नानाकर्मप्रवेदिभिः तत्कर्मप्रवेदिभिः । नानाकर्मप्रचारिभिरितिकचित्पाठः । उत्साहयेच्चौर्यकुर्मइत्युक्त्वा उद्यमंकारयेत् । पूर्वतस्करैः अन्यराष्ट्रे कृतचौर्यैः ॥ २६७ ॥

(३) कुल्लूकः । तेषांसाहाय्यं प्रतिपाद्यमानैस्तच्चरितानुवृत्तिभिः संधिच्छेदादिकर्मानुष्ठानवेदिभिः पूर्वचौरैश्चाररूपैश्चारमायानिपुणैस्तस्कराज्जानीयादुत्सादयेच्च ॥ २६७ ॥

(४) राघवानन्दः । ते कथं ज्ञेयास्तत्राह तत्सहायैरिति । तत्सहायैः तेषांसाहाय्यंगतैः समक्षं कदाचित्परद्रव्यहरणरूपैस्तैः साहसैर्वा नानाकर्मप्रवेदिभिः एवं भित्तिच्छेदः एवंप्रकारकच्छेदइत्येतदुपदेष्टृभिः पूर्वतस्करैः पूर्वतस्कराभूत्वा राज्ञश्चाररूपेण व्यवहरन्ति तैः विद्यात्तस्करानुत्साहयित्वाचोरत्वेनजानीयादितिभावः ॥ २६७ ॥

(५) नन्दनः । त्वानुगतैः आत्मवशैः पूर्वतस्करैः पूर्वस्मिन्काले वृत्तिकर्शिकत्वादिति स्युस्ततोमुष्णन्तोजीवन्तैः

(२६७) उत्सादयेत्=उत्साहयेत् (सर्व०)

(२६७) अरण्यानि=अरण्यानी (नं०)

(२६७) रनुगतैः=त्वानुगतैः (नं०)

कदाचिदारक्षपुरुषैर्गृहीतार्थवादिनःसामर्थ्यातिशयदर्शनेन राज्ञा कल्पितवेतनाश्वारकर्मणि नियुक्तायुक्तकारिणः ग्रामवि-
श्वासाः पुरुषाः पूर्वतस्करास्तैस्तांगूढतस्करान्विद्यात् । अहिरेवाहेः पादान्वेत्तीति न्यायेन उत्साहयेःसमवेतान्कर्तुम् ॥
॥ २६७ ॥

(६) रामचन्द्रः । विद्यात् एतैः लक्षणैः जानीयात् ॥ २६७ ॥

भक्ष्यभोज्योपदेशैश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः ॥ शौर्यकर्मपदेशैश्च कुर्युस्तेषांसमागमम् ॥ २६८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चौराविधाराप्रस्थापननयनोपायमाह भक्ष्येति । अत्र गत्वा भक्षयामइत्यादिछलैः । ब्रा-
ह्मणानां दर्शनैः ब्राह्मणदर्शयामीतिव्याजेनारण्याद्ग्रामनयनेन । शौर्यं ममेदंशयुद्धकौशलं कर्मचेदंशनाट्यादि करिण्यामि-
यामगत्वा तदागच्छेत्येतादृशैर्व्यपदेशैःसमागतंकुर्यात् । ग्रामादौ तत्रच गृह्णीयात् ॥ २६८ ॥

(३) कुल्लूकः । ते पूर्वचौराश्वरभूताआगच्छतास्मदृहङ्गच्छामस्तत्र मोदकपायसादीन्यश्रीमइत्येवंभक्ष्यभोज्यव्याजे-
नास्माकंदेशे ब्राह्मणोस्ति सोभिलषितार्थसिद्धिजानाति तंपश्यामइत्येवंब्राह्मणानां दर्शनैः कश्चिदेकएव बहुभिः सहयोत्स्यते
तंपश्यामइत्येवंशौर्यकर्मव्याजेन तेषांचौराणाराज्ञोदण्डधारकपुरुषाः समागमंकुर्युः ग्राहयेयुश्च ॥ २६८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच भक्ष्येति । भक्ष्यभोज्यापदेशैः । भक्ष्यं मोदकादि भोज्यं लेह्यं पेयं चोष्यंच तेषांअ-
नायासेन प्राप्तिव्यपदेशैरस्मदृहमागच्छाम एतान्यश्रीमइत्येवंव्यपदेशैः ब्राह्मणानांचदर्शनैरमुकस्मिन्देशे सर्वज्ञादिगुणसंप-
न्नोद्विजोस्ति तं दर्शयामीति शौर्यकर्मपदेशैश्च एकोभूत्वा बहुभिर्योत्स्येऽहमित्येवमादिव्यपदेशैश्च समागतानतिषां दण्ड-
धारकराजपुरुषैः समागमंकुर्युः संगृह्णीयुः ॥ २६८ ॥

(५) नन्दनः । तान्पुनः केनोपायेन समवेतान्कुर्युरित्यत्राह भक्ष्यभोज्यापदेशैश्चेति । दर्शनैर्दर्शनापदेशैः कुर्युः पूर्व-
तस्कराः तेषांगूढतस्कराणां समागमे राजपुरुषैर्यहणयोग्ये देशे ॥ २६८ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणानां सर्वोपायज्ञानां दर्शनैः ग्रामगत्वागच्छेतादृशैर्व्याजैःसमागमंकुर्यात् ॥ २६८ ॥

ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्च ये ॥ तान्प्रसह्य नृपो हन्यात्समित्रज्ञातिबान्धवान् ॥ २६९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नोपसर्पेयुर्जातशङ्कः । मूलप्रणिहिताः स्वराष्ट्रस्थितप्रकृत्यादिप्रेषिताः । प्रसह्य तत्रगत्वा
बलात् ॥ २६९ ॥

(३) कुल्लूकः । ये चौरास्तत्र भक्ष्यभोज्यादौ निग्रहणशङ्कया नोपसर्पन्ति ये च मूले राजनियुक्तपुराणचौरवर्गे
प्रणिहिताः सावधानभूताःतैः सहसङ्कर्तिभजन्ते तांश्चौरांस्तेभ्यएव ज्ञात्वा तदेकतापन्नमित्रपित्रादिज्ञातिस्वजनसहितान्बला-
दाक्रम्य राजा हन्यात् ॥ २६९ ॥

(४) राघवानन्दः । ये तत्र नोपसर्पेयुः भक्ष्यभोज्यलोभेनापि । मूलप्रणिहिताः राजनियुक्तचौरैः सावधानाःमूलतैः
रुतविमतयः ॥ २६९ ॥

(५) नन्दनः । तत्र समागमे ये यदृच्छयानोपसर्पेयुरिति प्रणिहिताप्रणिहितमूलाः ज्ञातकारणाः । अभक्ष्यभोज्या-
पदेशेनात्मवधंज्ञानन्तइति यावत् ॥ २६९ ॥

(६) रामचन्द्रः । ये तत्र समागमनोपसर्पेयुः येमूलप्रणिहिताराजनियुक्ताः पुराणचौरवर्गप्रणिहिताःत्रिभिराह स्व-
मित्रादीन् एतादृशान् नृपः प्रसह्य हन्यात् ॥ २६९ ॥

न होढेन विना चौरंघातयेद्धारमिकोत्पः ॥ सहोढंसोपकरणंघातयेदविचारयन् ॥ २७० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सहोढेन चोरितद्रव्येण दृष्टेनविनेत्यर्थः । एतेन चौर्यादिव्यभिचारिलिङ्गदर्शनमुपलभ्यते । नघातयेत् ग्रहमात्रेण । सहोढं चोरितद्रव्यवत्तयादृष्टम् । उपकरणं चौर्यसाहसादेः छुरिकादि । अविचारयन् अविलम्बेन ॥ २७० ॥

(३) कुल्लूकः । धार्मिकोराजा तत्तद्रव्यसंधिच्छेदोपकरणव्यतिरेकेणानिश्चितचौरभावं घातयेत्किन्तु तत्तद्रव्येण चौर्योपकरणेन च निश्चितचौरभावमविचारयन्घातयेत् ॥ २७० ॥

(४) राघवानन्दः । किंचनेति । होढेनापहतद्रव्येण विशिष्टं सहोढं तत्संयुक्तमितियावत् । सोपकरणं चौर्योपकरणयुक्तम् । अविचारयन्विलम्बमानः तत्क्षणादेवेति ॥ २७० ॥

(५) नन्दनः । होढेनापहतद्रव्येण सोपकरणंचौर्योपकरणयुक्तम् ॥ २७० ॥

(६) रामचन्द्रः । होढेन चौर्यचिह्नेनविना चौरं न हन्यात् । सहोढं सोपकरणं संधिच्छेदशस्त्रसहितम् ॥ २७० ॥ ग्रामेष्वपि च ये केचिच्चौराणांभक्तदायकाः ॥ भाण्डावकाशदाश्चैव सर्वास्तानपि घातयेत् ॥ २७१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भाण्डं मूलधनं शस्त्रादिक्रयणार्थम् । अवकाशः शयनादिस्थानम् । एतच्च चौरताज्ञाने-सति ॥ २७१ ॥

(३) कुल्लूकः । ग्रामादिष्वपि ये केचिच्चौराणांचौरत्वंज्ञात्वा भक्तदाः चौर्योपयुक्तभाण्डादिगृहावस्थानंये ददति तानपि नैरन्तर्याम्यपराधगोचरापेक्षया घातयेत् ॥ २७१ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच ग्रामेष्विति । भक्तदायकाः चोरादितिज्ञात्वापि । भाण्डावकाशदाः चौरैः परधनहरणार्थं भाण्डमपहतद्रव्यस्थलं तद्दायिनः । तानप्यविलम्बेन घातयेत् ॥ २७१ ॥

(६) रामचन्द्रः । भक्तदायकाः भाण्डावकाशदाः एतान् सर्वान् घातयेत् ॥ २७१ ॥

राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्सामन्तांश्चैव चोदितान् ॥ अभ्याघातेषु मध्यस्थान् शिष्याच्चौरानिवद्भुतम् ॥ २७२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कृतौ सामन्तान् समीपवासिनः । चोदितानाहूतान् । अभ्याघातेषु चौरैःक्रियमाणेषु घा-तेषु । मध्यस्थानुदासीनतया स्थितान् ॥ २७२ ॥

(३) कुल्लूकः । ये राष्ट्रेषु रक्षानियुक्ताये च सीमान्तवासिनोऋगः सन्तः चौर्योपदेशे मध्यस्थाभवन्ति ताश्चौरव-त्क्षिप्रंदण्डयेत् ॥ २७२ ॥

(४) राघवानन्दः । रक्षकोयत्रभक्षकइतिन्यायमाश्रित्याह राष्ट्रेष्विति । यथोदितान् सामन्तानपि चोराणांभाण्डावकाशदायिनः अभ्याघातेषु चोरादपहतद्रव्येषु चोरघातकेषुवा मध्यस्थान् चोरोपि नचोरोयमितिवादिनः द्रुतं शीघ्रं शिष्यान् दण्डादिना ॥ २७२ ॥

(५) नन्दनः । अभ्याघातेषु चोरादविकादिहिंसासु मध्यस्थानुपेक्षकान् ॥ २७२ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रिभिराह राष्ट्रेष्विति । उदितान् समृद्धान् समन्ताद्भवाः सामन्ताः ॥ संत्यक्तकास्तु सामन्तास्तत्सं-सक्तस्तथोत्तराः । आघातेषु आक्रोशेषु ॥ २७२ ॥

यश्चापि धर्मसमयात्प्रच्युतो धर्मजीवनः ॥ दण्डेनैव तमप्योषेत्स्वकाद्धर्माद्धि विच्युतम् ॥ २७३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धर्मजीवनो ब्राह्मणो धर्मसमयात् च्युतः स्वकर्तव्यभ्रष्टः दण्डेनैव तमप्योषेत् दण्डेन विवासनादिना तमप्योषेत् दहेदित्यर्थः ॥ २७३ ॥

(३) कुल्लूकः । याजनप्रतिग्रहादिनापरस्य यागदानादिधर्ममुत्पाद्य योजीवति सधर्मजीवनो ब्राह्मणः । सोऽपि यो धर्ममर्थादायाश्च्युतो भवति तमपि स्वधर्मात्परिभ्रष्टं दण्डेनोपतापयेत् ॥ २७३ ॥

(४) राघवानन्दः । त्वयं धर्माचरणहीनः धर्मजीवनः याजनादिनापरस्य यागदानादिधर्ममुत्पाद्य योजीवति तं स्वधर्मात्परिच्युतं चोषेत् शोषयेत् धनहान्यादिनापि ॥ २७३ ॥

(५) नन्दनः । धर्मसमयाद्धर्माधिकारात् धर्माधिकत्वख्यापनेन योजीवति सधर्मजीवनः । ओषेच्छिष्यात् । तस्य दण्डत्वे हेतुरुक्तः स्वकाद्धर्माद्धिविच्युतमिति । धर्मात्प्रच्युतो धार्मिकत्वख्यापनेन जीवंश्चो रतुल्यइत्यभिप्रायः ॥ २७३ ॥

(६) रामचन्द्रः । धर्मसमयात् यः प्रच्युतः धर्मजीवनः यः प्रतिग्रहादिना परस्य धर्ममुत्पादयति दण्डेनैव तमपि ओषेत् दहेत् । उषदाहे ॥ २७३ ॥

ग्रामघाते हिताभङ्गे पथिमोषाभिदर्शने ॥ शक्तितो नाभिधावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छदाः ॥ २७४ ॥

(१) मेधातिथिः । शक्तौ सत्यामालस्यादिना ते निर्वास्याः ये तु चौरैः कृतसंकेतास्तेषां पूर्वत्रयधुक्तो घातयेदिति । परिच्छदो गवाश्वादिः तदपि निर्वास्येनापहर्तव्यं नासत्परिच्छदः कर्तव्यो धनं तु हर्तव्यम् ॥ २७४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तदाभङ्गे सेत्वादिभङ्गे । हिताभङ्ग इति कचित्पाठः । हिता नदीमध्यसेतुः । पथि मोषादि चौर्यसाहसादि तेषां मर्षणे सहने ॥ २७४ ॥

(३) कुल्लूकः । ग्रामलुण्ठने तस्करादिभिः क्रियमाणे हिताभङ्गे जलसेतुभङ्गे जाते क्षेत्रोत्पन्नसस्य नाशने वृत्तिभङ्गे चेति मेधातिथिः । पथिचौरदर्शने तन्निकटवर्तिनो यथा शक्तितो ये रक्षां कुर्वन्ति ते शय्यागवाश्वादिपरिच्छदसहितादेशान् निर्वासनीयाः ॥ २७४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचैतान् ग्रामान्निःसारयेदित्याह ग्रामेति । ग्रामघाते ग्रामस्य लुण्ठने तस्करादिभिः क्रियमाणे । हिताभङ्गे जलसेतु भङ्गे सपरिच्छदाः गवाश्वादिपरिच्छदसहिताः । तेषामनिरासे तान्दृष्ट्वाऽन्येषां तथाभूतत्वेन लोकस्य सर्वनाशः स्यादिति भावः ॥ २७४ ॥

(५) नन्दनः । शक्ताग्रामघातसेतुभङ्गादिपरिहारेऽनभिधावन्तः ॥ २७४ ॥

(६) रामचन्द्रः । ग्रामघाते लुण्ठने । हिताभङ्गे उदकसेतुभङ्गे वृत्तिभङ्गे वा । पथि मोषाभिमर्शने मार्गे चौर्याभिमर्शने चौर्यस्वहरणे ॥ २७४ ॥

राज्ञः कोपापहर्तृश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान् ॥ घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां चोपजापकान् ॥ २७५ ॥

(१) मेधातिथिः । कोशो राज्ञां धनसंचयस्थानं तत्रापहर्तारोद्रव्यज्ञातिपरिमाणानपेक्षमेव वध्याः । ये च प्रातिकूल्येन वर्तन्ते यद्राज्ञां देशान्तरादानेतुमभिप्रेतं तद्देशदुर्लभमाजनेयाश्वादि प्राच्यानामुदीच्यानां कलिङ्गदेशीन्द्रहस्त्यादि

(२७४) मोषाभिदर्शने=मोषाभिमर्षणे (सर्व०)

तदानयनप्रतिबन्धे ये वर्तन्ते तथायानि मित्राणि तानिशत्रून्कुर्वते कृत्वाशत्रुभिः संयोजयन्ति अरीणामुपजापका प्रोत्सा-
हकास्तान्धातयेत् स्वतत्त्वप्रयोजनत्वान्नावश्यंघातनमित्युक्तम् ॥ २७५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रतिकूलेषु कर्मसु स्थितान् उद्युक्तान् । अरीणांसंबन्धिन उपजापकान् स्वप्रकृतिभेदकान् ॥ २७५ ॥

(३) कुल्लूकः । राज्ञोधनगृहाद्धनापहारिणस्तथा तदाज्ञाव्याघातकारिणः शत्रूणां च राज्ञा सहवैरिवृद्धिकारिणोऽप-
राधापेक्षया करचरणजिह्वाछेदनादिभिर्नानाप्रकारदण्डैर्घातयेत् ॥ २७५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचैतान्धातयेदेवेत्याह राज्ञ इति कोशापहर्तृन् धनगृहाद्धनापहारिणः । प्रतिकूलेष्ववस्थिता-
न् राज्ञ इति शेषः । उपजापकान् तत्पक्षपातिनोभूत्वा राज्ञश्छिद्रप्रकटकान् ॥ २७५ ॥

(५) नन्दनः । अरीणामुपजमृन्मित्राण्यरयोयथा भवेयुस्तथा भेदकानित्यर्थः कृतसन्धीनामरीणामुपजापकानि-
तिवा ॥ २७५ ॥

(६) रामचन्द्रः । उपयाजकान् शत्रूणाम् ॥ २७५ ॥

सन्धिच्छित्त्वा तु ये चौर्यरात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः ॥ तेषांछित्त्वा नृपोहस्तौ तीक्ष्णे शूले
निवेशयेत् ॥ २७६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संधिः गृहवास्तुगर्भः ॥ २७६ ॥

(३) कुल्लूकः । ये रात्रौ संधिच्छेदं कृत्वा परधनं तस्करामुष्णन्ति तेषां राजा हस्तद्वयंछित्त्वा तीक्ष्णे शूलेतानारोप-
येत् ॥ २७६ ॥

(४) राघवानन्दः । एषां शूलार्पणमेवेत्याह सन्धिमिति । सन्धिं भित्तिच्छेदम् । निवेशयेदारोपयेत् ॥ २७६ ॥

(५) नन्दनः । सन्धिः कपाटयन्त्रादिकम् ॥ २७६ ॥

अङ्गुलीग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे ॥ द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति ॥ २७७ ॥

(१) मेघातिथिः । ग्रन्थिं भिनत्तीति ग्रन्थिभेदः भेदनं मोक्षो ग्रन्थेर्वस्त्रप्रान्तादौ ग्रन्थिः यद्वा यद्व्यंगृहीतं तत्केन चि-
च्छलेन ग्रन्थिमवमोच्येनेति निषिन्ति ते ग्रन्थिभेदाः तेषां प्रथमायां प्रवृत्तावङ्गुलीनां छेदः द्वितीयस्यां प्रवृत्तौ हस्तचरणयो-
स्तृतीयस्यां मारणम् ॥ २७७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अङ्गुली अङ्गुष्ठतर्जन्यौ ग्रन्थिभेदस्य ग्रन्थिविरुद्धस्य सुवर्णादिहरतः प्रथमे ग्रहे प्रथमवारे ।
एवं द्वितीय इत्यादौ । एतेनान्यत्रापि पुनः पुनः करणे दण्डाधिक्यं द्रष्टव्यम् ॥ २७७ ॥

(३) कुल्लूकः । पटप्रान्तादिस्थितं सुवर्णादिकं ग्रन्थिमोक्षणेन यश्चोरयति सग्रन्थिभेदस्तस्य प्रथमे द्रव्यग्रहणेऽङ्गुली-
च्छेदयेत्तेचाङ्गुष्ठतर्जन्यौ ॥ उत्क्षेपकग्रन्थिभेदौ करसंदंशहीनकाविति याज्ञवल्क्यवचनात् । द्वितीये ग्रहणे हस्तपादौ छेद-
येत्तृतीये ग्रहणे वधार्हो भवति ॥ २७७ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच अङ्गुलीति । अङ्गुली अङ्गुष्ठतर्जन्यौ ॥ उत्क्षेपकग्रन्थिभेदौ करसंदंशहीनकाविति
याज्ञवल्क्योक्तेः । ग्रन्थिभेदस्य पटप्रान्तादिस्थितं सुवर्णादिद्रव्यं ग्रन्थिमोक्षणेन हरतः । प्रथमे ग्रहे एकवारद्रव्यग्रहणे व्य-
वस्थितविकल्पः ॥ २७७ ॥

(५) नन्दनः । अङ्गुला तर्जनीमध्यमे । ग्रन्थिभेदस्य सन्धिच्छेदकस्य । ग्रहे चौर्यइति यावत् । तृतीयादिषु कर्तव्यपूर्वोक्तं शूलारोपणं कर्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ २७७ ॥

(६) रामचन्द्रः । ग्रन्थिभेदस्यग्रन्थच्छेदस्यप्रथमेऽपराधे अङ्गुलीं छेदयेत् ॥ २७७ ॥

अग्निदानभक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान् ॥ संनिधातृंश्च मोषस्य हन्याच्चौरमिवेश्वरः ॥ २७८ ॥

(१) मेधातिथिः । सीतापनोदनाद्यर्थेऽग्निददति शस्त्रं कर्तारिकादि मोक्षस्य सन्निधातारः कर्तारः सर्वे चौरवत् ज्ञेयाः शस्त्रावकाशदग्रहणंप्रागुक्तमन्युपसंहारार्थमुच्यते ॥ २७८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अग्निदानं गृहदाहाद्यर्थतः करिष्यतीति ज्ञात्वापि । संनिधातृन् मोषस्थानसमीपेनेतृन् । मोषस्य चोरस्य ॥ २७८ ॥

(३) कुल्लूकः । ग्रन्थिभेदादिकारिणो विज्ञायाग्निभक्तशस्त्रावस्थानप्रदान्मुष्यतइति मोषश्चौरधनंतस्यावस्थापकान् चौरवद्वाजा निगृहीयात् ॥ २७८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच अग्निदानिति । भक्तं भक्तसंयुक्तंगरादादिदातृन् । शस्त्रावकाशदान् शस्त्रैः शरीरस्यावकाशदातृन् तच्छेदकान् । संनिधातृन् मोषस्य मुष्टस्य ज्ञात्वापि क्रयादिकारिणो वा भक्तदायकादीनामुक्तत्वात् । ईश्वरइत्यनेन समर्थः । सामन्ता अपि तथा कुर्युरिति ध्वनितम् ॥ २७८ ॥

(५) नन्दनः । मोषस्य मोषितद्रव्यस्य समोषसाधनस्य वा ॥ २७८ ॥

(६) रामचन्द्रः । मोषस्य मुषितस्य वस्तुनः सन्निधातृन् समीपवर्तिनः ईश्वरः चौरानिव शिष्यात् क्षिपेत् ॥ २७८ ॥

तडागभेदकंहन्यादप्सु शुद्धवधेन वा ॥ यद्वापि प्रतिसंस्क्रुर्याद्वाप्यस्तूक्ष्मसाहसम् ॥ २७९ ॥

(१) मेधातिथिः । तडागग्रहणमुपलक्षणार्थं नद्युदकहरणेऽप्ययं दोषइतिकेचित् । तदयुक्तं महान्हितडागभेदेनेऽपराधः त्वल्पीनदीभेदेनै तडागस्य हि वप्रभेदेनेनोदकेऽप्ययमेव विधिः ॥ २७९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तडागभेदकं तडागजलस्य बहिर्निःसारकं अप्सु मज्जयित्वा हन्यात् । शुद्धवधेन शिरश्छेदेन । यस्त्वङ्गुलीकरच्छेदादिकोवधः सोतिदुःखहेतुत्वादशुद्धवधः । एतत्कामतः । अकामेत्वाह तच्चापीति । तत्तडागादिविगुणीकृतं सम्यक्कृत्वोत्तमसाहसंदण्डंदद्यात् ॥ २७९ ॥

(३) कुल्लूकः । यः स्नानदानादिना जनोपकारकंतडागं सैतुभेदादिना विनाशयति तमप्सु मज्जनेन प्रकारान्तरेण वा हन्यात् । यद्वा यदि तडागंपुनः संस्क्रुर्यात्तदोत्तमसाहसंदण्डः ॥ २७९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच तडागेति । अप्सु निमज्जनेन मारणम् । शुद्धवधः शिरश्छेदः । तदाद्यपेक्षया वाशब्दः । अनेककोटिजीवनाशकत्वाद्द्वार्हः । प्रतिसंस्क्रुर्यात् पुनः संपादयेत् । यदि वा प्रतिसंस्क्रुर्यात् विषादिना द्रव्येन दूषयेत्तदा संस्क्रुर्यादिति । पणानां सहस्रमुत्तमोदण्डः ॥ २७९ ॥

(५) नन्दनः । शुद्धवधेन शस्त्रवधेन वधशब्देन नात्राङ्गुलीदोविवक्षितस्तद्भिन्नस्थानं प्रतिसंस्क्रुर्यात्प्रतिसमादध्यात् तदाकभेदकदोषतारतम्यापेक्षया विकल्पः ॥ २७९ ॥

(६) रामचन्द्रः । तच्चापि तत्तडागमपि प्रतिसंस्क्रुर्यात् संस्कारंतडागबन्धनरूपंकुर्यात् ॥ २७९ ॥

कोष्ठागारायुधागारदेवतागारभेदकान् ॥ हस्यश्वरथहर्तृश्च हन्यादेवाविचारयन् ॥ २८० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कोष्ठागारं राजगृहम् ॥ २८० ॥

(३) कुल्लूकः । राजसंज्ञविधान्यादि धनागारायुधगृहयोर्देवप्रतिमागृहस्य च बहुधनव्ययसाध्यस्य विनाशकान्ह-
स्त्यश्वरथस्य चापहर्तृन शीघ्रमेव हन्यात् । यत्तु संक्रमध्वजयष्टिदेवताप्रतिमाभेदिनः पञ्चशतदण्डंवक्ष्यति सोऽस्मादेवदेवता-
गारभेदकस्य वधविधानान्मन्मयपूजितोज्झितदेवताप्रतिमाविषयोत्र द्रष्टव्यः ॥ २८० ॥

(४) राघवानन्दः । किंचैतेऽवश्यं हन्तव्या इत्याह कोष्ठेति । कोष्ठागारं धनगृहं । भेदकान्केनापि प्रकारेण नाश-
कान् । अविचारयन्नित्यनेन सदस्यपि प्रश्नोत्तरकार्यः ॥ २८० ॥

(६) रामचन्द्रः । कोष्ठागारायुधागारदेवतागारभेदकान् ॥ २८० ॥

यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हरेत् ॥ आगमं वाप्यपांभिद्यात्सदाप्यः पूर्वसाहसम् ॥ २८१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । हरेत् त्वसमीपतडागं प्रति नयेत् । आगमं तडागेजलागमं रुन्ध्यात् । आगमं वाप्यपांभिद्या-
दिति कचित्पाठः । सदाप्यः तत्सम्यक्करणपूर्वम् ॥ २८१ ॥

(३) कुल्लूकः । यः पुनः प्रजार्थपूर्वकेन चित्कृतस्य तडागस्योदकमेव गृह्णाति कृत्स्नतडागोदकनाशने वधदण्डः प्राप्नु-
यिष्यति । योऽतः तडागस्योदकमपि न गृह्णाति स प्रथमसाहसं दण्ड्यः ॥ २८१ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच यस्त्विति । पूर्वनिविष्टस्य सर्वपाणिनाधारणस्य । कृतमुदकं स्वधान्याद्यर्थं हरेत् । आग-
ममागम्यतेऽनेनोदकमिति जलपूरणनिःसारणयोर्मार्गं भिद्यादोषयेद्वा । पूर्वसाहसं सार्धपणशतद्वयम् ॥ २८१ ॥

(५) नन्दनः । पूर्वनिविष्टस्य स्नापनार्थं पूर्वस्मिन्काले कल्पितस्य उदकं हरेत् ॥ २८१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अपां जलानां आगमं स्तीकारं त्वकीयत्वं पारंपर्यागतं यः भिन्द्यात् क्षेत्रादिसिञ्चनार्थसः पूर्वसाहसं
प्रतिसंस्कारानन्तरं दाप्यः ॥ २८१ ॥

समुत्सृजेद्राजमार्गे यस्त्वमेध्यमनापदि ॥ सद्धौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेत् ॥ २८२ ॥

(१) मेधातिथिः । राजमार्गे ग्रामनगरे रथ्यायाममेध्यं मूत्रपुरीषं समुत्सृजेदन्यतो वाऽऽनीय चण्डालादिर्निक्षिपेत् अ-
नापदि आपद्देगेनात्यर्थमुक्तं भवति चण्डालादेर्मूल्यं दत्त्वाऽपासयेत्त्वयं वाऽन्यासं भवे ॥ २८२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनापदि व्याध्याद्यभावे ॥ २८२ ॥

(३) कुल्लूकः । अनार्तः सन्योराजपथेषु पुरीषं कुर्यात्सकार्षापणद्वयं दण्डं दद्यात्सचामेध्यं शीघ्रमेवापसारयेत् ॥ २८२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच समुत्सृजेदिति । अनापदि व्याघ्रादिभयानुपस्थितौ आरोग्ये वा । कार्षापणौ ताभिक-
पणद्वयम् ॥ २८२ ॥

आपद्गतोऽथवा वृद्धागर्भिणी बाल एव वा ॥ परिभाषणमर्हन्ति तच्च शोध्यमिति स्थितिः ॥ २८३ ॥

(१) मेधातिथिः । आपद्गतः पूर्वोक्तः । वृद्धादयो मे बहिर्गमनं निर्गन्तुमशक्ता गृहस्थान् शोणितमपि कर्तुमित्याशंकयन्ते
मेध्यमपि व्यपदेष्टुं पुनरेवं कर्तव्यं पुनः करणे राजतोमहान्प्रत्यवायो भवति । क्रोधगर्भमीदृशवचनं परिभाषणं तच्च शोध्यमि-
ति राज उपदेशः यद्युत्सृष्टारो न ज्ञायन्ते तथाच रथ्याचण्डालादिभिरप्रासनीया ॥ २८३ ॥

(२८१) भिद्यात्=रुन्ध्यात् (सर्व०)

(२८२) दद्यात्=दण्ड्यः (च)

(२) सर्वज्ञनारायणः । परिभाषणं भर्त्सनम् । तच्चाभेध्यं शोध्यमपनेयम् ॥ २८३ ॥

(३) कुल्लूकः । व्याधितवृद्धगर्भिणीबालान दण्डनीयाः । किंतु ते पुनः किंरुतमिति परिभाषणीयाः तच्चाभेध्यंशो-
धनीयाइति शारुमर्यादा ॥ २८३ ॥

(४) राघवानन्दः । एते तु भर्त्स्याइत्याह आपदिति । परिभाषणं पुनर्माकुर्विति । तच्चाभेध्यम् ॥ २८३ ॥

(५) नन्दनः । परिभाषणं गर्हणं न द्वौ कार्षापणाविति ॥ २८३ ॥

(६) रामचन्द्रः । एते वृद्धादयः । परिभाषणं पुनः कार्यं इति ॥ २८३ ॥

चिकित्सकानांसर्वेषामिथ्याप्रचरतांदमः ॥ अमानुषेषु प्रथमोमानुषेषु तु मध्यमः ॥ २८४ ॥

(१) मेधातिथिः । चिकित्सकाभिषजस्तेषामिथ्याप्रचाराणामौषधदानमुभयथा संभवति । यदि वाऽविज्ञातशास्त्रप्र-
योगतयाशास्त्रे परिचितेऽपि वाऽनन्यरतयाऽर्थलिप्सयाऽमानुषेषु गवाश्वहस्त्यादिषु प्रथमःसाहसशब्दोनुषक्तव्यः । एवंमानु-
षेषु तु मध्यमइति तथाप्रचारेण यद्याश्वेव विपद्येत तदा महान्दण्डः कल्पनीयः ॥ २८४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मिथ्याप्रचरतामज्ञात्वोपचरताम् । अमानेषु गवादिषु । एतच्च तन्मरणाभावे तत्र दण्डा-
धिक्रियात् ॥ २८४ ॥

(३) कुल्लूकः । सर्वेषांकायशल्य्यादिभिषजांदुश्चिकित्सांकुर्वतांदण्डः कर्त्तव्यस्तत्र गवाश्वादिविषये दुश्चिकित्सायां
प्रथमसाहसदण्डोमानुषविषये पुनर्मध्यमसाहसः ॥ २८४ ॥

(४) राघवानन्दः । चिकित्सकानां कायशल्यरसायनादिभिर्दुर्भिषजामिमिथ्याप्रचरतां क्षणप्रतीकारं कुर्वताम् ।
अमानुषेषु गवाश्वादिषु प्रथमःसाहसःपणानांसार्धशतद्वयम् । मध्यमः पञ्चशतानि ॥ २८४ ॥

(५) नन्दनः । दमोऽमानुषेष्वश्वादिषु प्रथमः प्रथमसाहसः ॥ २८४ ॥

(६) रामचन्द्रः । मिथ्याउपचरतां अमानुषेप्रथमः पूर्वसाहसःदण्डःकार्यः ॥ २८४ ॥

संक्रमध्वजयष्टीनांप्रतिमानांच भेदकः ॥ प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वपञ्चदद्याच्छतानि च ॥ २८५ ॥

(१) मेधातिथिः । येन संक्रामन्तिमार्गेणावतरन्ति जलोपस्पर्शादिना निमित्तेन शुभ्रवासः संक्रमध्वजचिन्हंराजा-
मात्यादीनां देवायतनेषु च यष्टिः ईदृशे च प्रतिमानामिति व्याख्यातं । प्रतिकुर्यात्समदधीताप्रत्यापत्तिनयेत् ॥ २८५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ध्वजोदेवकुलादिध्वजः । यष्टिः ग्रामादिपताकायष्टिः । प्रतिमानां मनुष्यप्रतिरुतीनां । देव-
प्रतिमासु तु वधस्तदायतनभेदएव वधोक्तेः ॥ २८५ ॥

(३) कुल्लूकः । संक्रमोजलोपरिगमनार्थंकाष्ठशिलादिरूपोध्वजः चिन्हं राजद्वारादौ यष्टिःपुष्करिण्यादौ प्रतिमाश्च
शुद्धाष्टम्यादयस्तासांविनाशकः पञ्चशतपणान्दद्यात् तच्च विनाशितंसर्वपुनर्नवंकुर्यात् ॥ २८५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच संक्रमेति । संक्रमः जलोपरिगमनार्थं काष्ठशिलादिभिर्निर्मितं वर्त्म प्रतिमानांष्टम्यादि
शुद्धाणां स्थिरप्रतिमाभङ्गेवधस्योक्तत्वात् । ध्वजश्चिन्हंनृपद्वारादौ स्थितम् । यष्टिः पुष्करिण्यादौ स्थापिता काष्ठादिमयो ।
प्रतिकुर्यात् तच्चतुष्टयं नवं कुर्यात् ॥ २८५ ॥

(६) रामचन्द्रः । संक्रमः सोपानादिमार्गः । ध्वजयष्टीनां ध्वजः देवस्य राज्ञोवा चिन्हं यष्टिः इन्द्रदण्डयष्टिः तेषां
भेदकःचपुनःप्रतिमानां पूजारहितानां भेदकः । चपुनः तत्सर्वपूर्ववत्प्रतिकुर्यात् च पञ्चशतानि दद्यात् ॥ २८५ ॥

अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने तथा ॥ मणीनामपवेधे च दण्डः प्रथमसाहसः ॥ २८६ ॥

(१) मेधातिथिः । यानि त्वयमदुष्टानि द्रव्याणि लाभार्थं दूषयति तथा धान्यविक्रयी क्षेत्रे निर्दोषं धान्यमुत्तमं तृण-
बुसैर्योजयति कुंकुमादेश्च तेन कुंकुमादिना द्रव्यान्तरेणैकोकरणं मणयो मुक्तास्तेषां भेदनं द्विधाकरणं । अत्र वेधति भेदने विद्यते
अनेकार्थत्वाद्भातूनां विधे रूपा मेतत् । मणयो हीनमध्यमोत्कृष्टतमा भवन्ति तत्र दण्डकल्पना कर्तव्या मध्यमेषु मध्यम उत्त-
मेषूत्तमः ॥ २८६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अदूषितानां कुंकुमादीनां दूषणे ओषधादिना नाशेन भेदने । रत्नादेः असम्यक् वेधनेन ना-
शने ॥ २८६ ॥

(३) कुड्डूकः । अदुष्टद्रव्याणामपद्रव्यप्रक्षेपेण दूषणे मणीनां च माणिक्यादीनामभेदानां विदारणे वेध्यानामपि मु-
क्तादीनामनवस्थानवेधने प्रथमसाहसो दण्डः कार्यः । सर्वत्र परकीयद्रव्यनाशे द्रव्यान्तरदानादिना त्वामितुष्टिः कार्या ॥
॥ २८६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच एतन्निषु प्रत्येकं सार्धशतद्वयं दण्डइत्याह अदूषितानामिति । दूषणे अपद्रव्यप्रक्षेपणे ।
भेदने अभिन्नानां विदारणे । मणीनां मुक्तादीनां अपवेधे अस्थाने रन्ध्रकरणे ॥ २८६ ॥

(५) नन्दनः । अदूषितानां कांस्यादीनां चण्डालभोजनादिना दूषणे अपवेधेऽस्थानवेधे ॥ २८६ ॥

समैर्हि विषमं यस्तु चरेद्द्वैमूल्यतोपि वा ॥ समामुयाद्दमपूर्वनरो मध्यममेव वा ॥ २८७ ॥

(१) मेधातिथिः । येषां द्रव्याणां समत्वेन विनिमय उक्तो यथा तिलाधान्येन तत्सम इति । तत्र यदि विषममाचरति
व्यवहारार्थं तिलं दत्त्वा बहुधान्यं ब्रीह्यादिगृह्णीयादसति वा विनिमये मूल्यतः क्रयव्यवहारेण ब्रीह्यादिधान्येभ्योऽधिकेन मूल्येन
क्रीणाति अथवा कस्यचिदुत्तरीयमुपबर्हणमस्ति विक्रेतव्यं कस्यचिदन्तरे शाटकास्तत्र यस्योपबर्हणमस्ति तस्यान्तर उप-
युज्यन्ते उपबर्हणेन च ते सममूलास्तत्र तदीयां कार्यवत्तां ज्ञात्वा समत्वेन ददात्यधिकमूल्यं गृह्णाति स उच्यते समैर्विषमं चर-
ति मूल्येन तयोः केतुर्विक्रेतुश्च तौ दण्डौ चरति मूल्यत इत्येकार्थस्तथैव वा शब्दोत्पत्तिरपेक्षया पादपूरण एव प्रथममध्यमोक्तौ
क्रयविक्रयौ विकल्पितौ द्रव्यसारापेक्षया ॥ २८७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । समैर्ऋजुशीलैः विषमं वक्रं विचरेत् व्यवहारं कुर्यात् । मूल्यतो विषमं चरेत् अधिकं गृह्णीया-
त् । व्यवहारमात्रे पूर्वदमम् । मूल्यतो मध्यमम् ॥ २८७ ॥

(३) कुड्डूकः । समैः सममूल्यदातृभिः सहोत्कृष्टापकृष्टद्रव्यदानेन यो विषमं व्यं वहरति सममूल्यं द्रव्यं दत्त्वा यः क-
स्यचिद्बहुमूल्यं कस्यचिदल्पमूल्यमिति विषमं मूल्यं गृह्णाति सोऽनुबन्धविशेषापेक्षया प्रथमसाहसं मध्यमसाहसं वा दण्डं प्राप्नु-
यात् ॥ २८७ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच समैरिति । समैः सममूल्यदातृभिः विषमं न्यूनपरिमाणं दद्यात् मूल्यतो वाल्पं द्रव्यं प्रति
बहुमूल्यं गृह्णाति बहुमूल्यं वा त्वल्पमूल्येन गृह्णाति गृहीत्वा बहुमूल्येन तदेव विक्रीणीते तदा प्रथमं साहसं न्यूनमूल्येन
क्रयणे तु मध्यमं विकल्पः द्रव्यस्य सारासारापेक्षया वा ॥ २८७ ॥

(५) नन्दनः । समपण्ये मानतुलादिना यो विषमं चरेत् यो वा मूल्यतो विषमं चरेत् पूर्वदमं प्रथमं साहसम् ॥ २८७ ॥

(६) रामचन्द्रः । समैः ऋजुभिः विषमं कुर्यात् वैनिश्चयेन मूल्यतोपि वा विषमं अन्यथा मूल्यं कुर्यात् ॥ २८७ ॥

बन्धनानि च सर्वाणि राजा मार्गे निवेशयेत् ॥ दुःखितायत्र दृश्येरन्विकृताः पापकारिणः ॥ २८८ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रसिद्धे राजरथ्याप्रदेशे बन्धगृहाणि संनिवेशयेत्कुर्यात् दुःखितायत्र दृश्येरन्वित्यन्यत्रापि संनिवेशनंतत्प्रदेशभ्रमणंदर्शयति एतेनान्या अपि बन्धसंस्थानां पीडाः कर्तव्या इत्याह शरीरात्यन्तकार्शायवस्थांतरापत्या-
विकृता अभोजनेनेषद्रो जनादिना शेषं स्पष्टम् ॥ २८८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बन्धनानि बन्धनस्थानानि ॥ २८८ ॥

(३) कुट्टूकः । बन्धनगृहाणि सर्वजनदृश्ये राजमार्गे कुर्यात् यत्र निगडबन्धनाद्युपेताः क्षुत्तृष्णाभिभूतादीर्घकेश-
नखश्मश्रवः रुशाः पापकारिणो न्यैरकार्यकारिभिरकार्यनिवृत्त्यर्थं दृश्येरन् राजा गृहपुरादिसंबन्धिनः प्राकारस्य भेदकंत-
दीयानामेव परिखाणां पूरयितारंतद्रतानां द्वाराणां भञ्जकं शोभमेव देशान्निर्वासयेत् ॥ २८८ ॥ २८९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचैवं राज्ञा कार्यमित्याह बन्धनानांति । बन्धनानि निगडादीनि असत्कार्यिणां भयप्रदर्श-
नार्थम् । यत्र येषु । दुःखिताः क्षुधाद्यार्ताः विकृताः हस्तादिच्छेददीर्घकेशलोमनखश्मश्रवः दृश्येरन् साधुचरितैरपि ॥ २८८ ॥

(५) नन्दनः । पापकर्मणां पापनिवृत्त्युपायकारणमाह बन्धनानि च सर्वाणीति । बन्धनानि शृंखलादीनि यत्र बन्धना-
दिषु निमित्तेषु विकृताः ॥ २८८ ॥

(६) रामचन्द्रः । बन्धनानि बन्धनगृहाणि । यत्र राजमार्गे दुःखिताः दृश्येरन् विकृताकाराः ॥ २८८ ॥

प्राकारस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम् ॥ द्वाराणांचैव भङ्गारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥ २८९ ॥

[एतेनैव तु कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः । कर्माण्यारभमाणन्तु पुरुषं स्त्रीनिषेवते ॥ १ ॥] *

(१) मेधातिथिः । दुर्गतानां प्राकारादीनां विनाशने प्रवासनं दण्डः । परिखाभूभागाः स्वाताः ॥ २८९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । द्वाराणां द्वारगंलादीनाम् ॥ २८९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच प्राकारस्येति । परिखाः परितः सजलखाताः । ते चेत्स्थास्यन्ति पुनः करिष्यन्तीति कृ-
त्वा क्षिप्रं प्रवासनमिति ॥ २८९ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्वाराणां प्राकारादीनां ॥ २८९ ॥

अभिचारेषु सर्वेषु कर्तव्यो द्विशतोदमः ॥ मूलकर्मणि चानाम्नेः कृत्यासु विविधासु च ॥ २९० ॥

(१) मेधातिथिः । अदृष्टेनोपायेन मन्त्रादिशक्त्या मारणमभिचारस्तत्र प्रवृत्तानाममृतेऽभिचारणीये दण्डोऽयं अन-
भिवारणीयाभिचारेषु नैतावतामुच्यते तत्र मनुष्यमारणदण्डः सविज्ञेयः सर्वग्रहणलौकिकवैदिकयोरविशेषेण दण्डार्थः । वैदि-
काश्वेनादयः लौकिकाः पदपांशुग्रहणसूचीभेदनादयः मूलकर्मवशीकरणादि आमाः पौत्रभायदियस्ततोऽन्धेनामाः कृत्या-
अभिचारप्रकारा एव मन्त्रादिशक्त्या उच्चाटनसुत्तद्धुक्कुलादिविचित्रीकरणादिहेतवो भूताद्याधराः प्रसिद्धाः ॥ २९० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अभिचारेषु विद्वेषोच्चाटनादिषु । अनाम्ने असंबन्धिनि विषये । मूलकर्मणि सूनादिप्रयो-
गरूपवशीकरणकर्मणि । भत्रादौ तु संबन्धिनि वशीकरणे कृते न दोषः । अनामैरिति पाठेऽसंबन्धिभिरित्यर्थः । कृत्यासु रो-
गाद्युत्पत्तिमातृग्रहाद्युत्थापने ॥ २९० ॥

(२८९) अयं श्लोकः २८९ स्य प्रथमार्धस्य पश्चात् (८) चिह्नितपुस्तके दृश्यते । (१) भूताद्या=भूतविद्या (मे०८)

(३) कुङ्कुमः । अभिचारहोमादिषु शास्त्रीयेषु मारणोपायेषु लौकिकेषु च मूलनिखननपदपांशुग्रहणादिकृतैस्वतुत्प-
न्नमरणफलेषु द्विशतपणग्रहणरूपोदण्डः कर्तव्यः । मरणे तु मानुषमारणदण्डः । एवंमातापितृभार्यादिव्यतिरिक्तैरसत्यैर्वा-
मोक्ष धनग्रहणाद्यर्थवशीकरणे । तथा कृत्यासूच्चाटनापाटवादिहेतुषु क्रियमाणानु नानाप्रकारासु द्विशतपणदण्डएव क-
र्तव्यः ॥ २९० ॥

(४) राघवानन्दः । अभिचारेषु अभिचारहोमेषु श्येनसंशानादिषु । मूलकर्मणि वशीकरणाख्ये । अनामैरनिपुणैः
कृतेषु फलानुदयेतत्कृतृणां दण्डइतिवाक्यार्थः । कृत्यासूच्चाटनादिषु ॥ २९० ॥

(५) नन्दनः । अनामैऽनामविषये वशीकरणे कृत्यासु उच्चरादिप्रक्रियासु ॥ २९० ॥

(६) रामचन्द्रः । दमः मरणात् प्राक् मूलकर्मणि वशीकरणे सूनादिप्रयोगरूपवशीकर्मणि । अनामैःमातापितृभा-
र्याव्यतिरिक्तैः ॥ २९० ॥

अबीजविक्रयी चैव बीजोक्तृष्टातथैव च ॥ मर्यादाभेदकश्चैव विकृतं प्राप्नुयाद्बद्धम् ॥ २९१ ॥

(१) मेधातिथिः । अबीजं बीजमित्युक्त्वा विक्रीणीते स्वरूपलोपेन धान्यशाकादीनां बिजानि चिरप्रोषितानि क्षेत्रे-
प्ररोहन्ति न च तानि शक्यन्ते वन्ध्यानीति क्षेत्रात्तु बीजं यत्कर्षति शोभनं यद्बीजं क्षिप्रं प्ररोहति तदुत्कृष्य तदा भासं प्रति धान्या-
दिक्षिप्त्वा विक्रीणीते । अथवा न्युमं बीजं क्षेत्रादेवोद्धृत्य नयन्ति । मर्यादा शास्त्रदेशाचारानिरुद्धा स्थितिः । विकृतं कर्णनासादि-
कर्तनम् ॥ २९१ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अबीजविक्रयी बीजमेतदित्युक्त्वा । बीजस्योक्तृष्टा बीजकाले महर्घताकामोत्कर्षकारी ।
मर्यादायाग्रामादिसमयस्य भेदकः । विकृतं कुत्सितं नासाच्छेदादि ॥ २९१ ॥

(३) कुङ्कुमः । अबीजं बीजप्ररोहासमर्थं ब्रीह्यादि प्ररोहसमर्थमिति कृत्वा यो विक्रीणीते तथाप्यष्टमेव कतिपयो-
त्कृष्टप्रक्षेपेण सर्वमिदं सोत्कर्षमिति कृत्वा यो विक्रीणीते यश्च ग्रामनगरादिसीमां विनाशयति स विकृतनासाकरचरणकर्णा-
दिरूपवधं प्राप्नुयात् ॥ २९१ ॥

(४) राघवानन्दः । अपिचैते वधार्हा इत्याह अबीजेति द्वाभ्याम् । अबीजविक्रयी मूषिकाग्रातादिना दूषितान्यपि
बीजानि प्रशस्तानीति विख्याप्य विक्रयी । बीजोक्तृष्टा अपरुष्टं कतिचित्ततोत्कृष्टं प्रक्षिप्य विक्रयी । मर्यादाभेदकः मर्या-
दा ग्रामचतुष्टयावच्छेदिकासीमा तन्नाशकः । विकृतं नासाच्छेदादि ॥ २९१ ॥

(५) नन्दनः । अबीजविक्रयी बीजाभासविक्रयी बीजोक्तृष्टोत्तमानां बीजानामुद्धर्ता ॥ २९१ ॥

(६) रामचन्द्रः । बीजमेतदित्युक्त्वाऽबीजविक्रयी । तथैव बीजोक्तृष्टा अन्यद्रव्यमेलकः बीजमहार्घकर्ता ॥ २९१ ॥

सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः ॥ प्रवर्तमानमन्याये छेदयेत्पुत्रशः क्षुरैः ॥ २९२ ॥

(१) मेधातिथिः । यावन्तः केचन कण्टकाः पूर्वमुक्तास्तेषां पापतमः सुवर्णकारः यदि निर्धारणे षष्ठी कथं न निर्धा-
रणइति समासाभावः । तस्य च पापतमत्वं स्वल्पेनैवापहरणेन महत्तणुसोत्पत्तिर्ब्राह्मणस्वर्णापहरणे च महापातकमतस्तम-
न्याये प्रवर्तमानं छेदयेत्स्वण्डशः परिवर्तननुलान्तरतापच्छेदादिभिः । अपहरन्ति गृह्णते न चान्नह्रियमाणद्रव्यपरिमाणोऽपेक्षा
न स्वामिजात्यपेक्षा अभ्यासस्त्वपेक्ष्यतइति महत्त्वादण्डस्या । न्यायेतु प्रवृत्तौ धनदण्डेन क्षुरमांसलवच्छेदो विनिमातव्यः ।
शारीरनिग्रहे निगृह्यमाणानां पापमपैतीति प्रतिपादितम् ॥ २९२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सर्वेभ्यः कण्टकेभ्यः क्षुद्रशत्रुभ्यः पापिष्ठम ॥ २९२ ॥

(३) कुल्लूकः । सर्वकण्टकानांमध्येऽतिशयेन पापतमं सुवर्णकारं तुलाच्छन्नकषपरिवर्तापद्रव्यप्रक्षेपादिना हेमादिचौर्यैः प्रवर्तमानमनुबन्धापेक्षयाद्वाविशेषेण सर्वदेहंवा खण्डशश्छेदयेत् ॥ २९२ ॥

(४) राघवानन्दः । सर्वकण्टकानांमध्येऽतिशयेन पापतमं हेमकारं हेम्ना व्यवहर्तुंशीलमस्य । अन्याये चौर्यापद्रव्यादिमिश्रणे । लवशोलवंलवंकृत्वा ॥ २९२ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वकण्टकपापिष्ठं हेम्नः तुलार्थं लोहस्यकण्टकं तस्मिन्कण्टके माषकण्टके माषकृष्णलमन्यथाकारीतिपापिष्ठं हेमकारं त्वर्णकारं एवंअन्याये वर्तमानं लवशः खण्डशः क्षुरैः छेदयेत् ॥ २९२ ॥

सीताद्रव्यापहरणे शस्त्राणामौषधस्य च ॥ कालमासाद्य कार्यं च राजा दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ २९३ ॥

(१) मेधातिथिः । कृष्यमाणाभूमिः सीता तद्रव्याणि लाङ्गलकुदालकादीनि । तदपहरणे दण्डः प्रकल्प्यः । किं दृच्छयैव नेत्याह कालमासाद्य कार्यं च कर्षणकाले प्रत्यासन्ने महान्दण्डः । अरुष्टे च यदा तस्मिन्महतः फलस्य नाशस्तदा भूयानेव आसाद्याऽऽसन्नं ज्ञात्वेत्यर्थः । अन्यदा तु द्रव्यज्ञानाद्यनुरूपः एवं शस्त्राणां च खड्गादीनां युद्धकाले औषधस्य भेषजार्थमुपयोगकाले तेन चौषधेन तृतेनानुपयुक्तेन यद्यातुरस्य महती पीडा जायतेऽन्यच्च । तस्मिन्काले न लभ्यते तल्लभ्यमपि बाधकादिसंस्कारापेक्षया चिरणोपयोगार्थमेवमाद्यपेक्षा राजदण्डप्रकल्पनायै प्रभवेत् । शस्त्राणाराजोपकरणानां । अन्यथापि जनपदस्य भ्रातृव्यतस्कराशङ्किनस्तदामहादण्डः त्वस्ते त्वल्पः ॥ २९३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सीताद्रव्यंहलादि । शस्त्राणां औषधद्रव्याणाम् । शस्त्राणामिति क्वचित् । कालं कृषिसमयादि कार्यं दुर्भिक्षादिना बहुप्रयोजनतां ज्ञात्वा दण्डतास्तम्यं कुर्यात् ॥ २९३ ॥

(३) कुल्लूकः । कृष्यमाणभूमिद्रव्याणां हलकुदालादीनामपहरणे खड्गादीनां च शस्त्राणामौषधस्य च कल्याणघृतादेः चौर्यैः सत्युपयोगकालेतरकालापेक्षया प्रयोजनापेक्षया च राजा दण्डं कुर्यात् ॥ २९३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच केषुचिद्रव्येषु दण्डमात्रमित्याह सीतेति । सीताद्रव्यापहरणे लाङ्गलादीनां हरणे । औषधस्य कल्याणघृतादेः । कालं अपहतद्रव्याग्रामिकाले दुर्भिक्षादौ दुर्भिक्षादौ न दण्ड इति भावः ॥ २९३ ॥

(५) नन्दनः । सीताद्रव्याणि हल्युगयोग्यफालादीनि आसाद्य बुद्ध्वा कार्यं च गुर्विदमिति ॥ २९३ ॥

(६) रामचन्द्रः । सीताद्रव्यापहरणे हलादिद्रव्यापहारे शस्त्राणां औषधस्य अपहरणे कालं वर्षाकालं आसाद्य प्राप्य च पुनः कार्यं औषधस्य आसाद्य शस्त्रस्य कार्यं आसाद्य राजा दण्डयेत् ॥ २९३ ॥

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा ॥ समप्रकृतयोद्धेताः समाङ्गं राज्यमुच्यते ॥ २९४ ॥

(१) मेधातिथिः । समामायां कण्टकशुद्धौ केवलं राज्यतन्त्रोपयोगी राजधर्म उच्यते यथैतस्मिन्नुष्णीयमाने सज्यानाशः । एवं व्यवहारदर्शने कण्टकशुद्धौ वाक्रियमाणायां तुल्योराज्यानाशः । किंच महिषीकुमारराजवल्लभसेनाध्यक्षाश्रिताः प्रायेण भवन्ति कण्टकास्तान्कदाचिदनया बुद्ध्या नोद्धरेत् प्रकृतक्षोभशङ्कानयामहत्तममप्रयोजनं । सेनाध्यक्षेण सामन्तेन च किमनेन निगृहीतेन राष्ट्रापराधिना तदर्थमुच्यते । तुल्यं राष्ट्रं स्वाम्यादिति राज्यप्रकृतित्वेन तत्परिहर्तव्यं राष्ट्रततो दुर्बलान्केन चिदुपायेन वा योधयित्वा कण्टकशुद्धिकरिष्यामीति न सहसा प्रवर्तितव्यं अतः सममाध्यायोपदेशतोऽप्युक्त्यास्मिन्वधा-

(२९३) शस्त्राणां = शष्पाणां (सर्वे)

बुध्यते । स्वामी राजैव अमात्योमन्त्रिपुरोहितः सेनानी पुरनिवासनगरं राष्ट्रजनपदाः कोशोरूप्यसुवर्णरूपकादिधनसंचयः
हस्त्यश्वरथपादातदण्डः धर्मदंडादिव सुहृत्समानकार्यः यथोक्तं मित्रतस्मादनन्तरमिति एताराज्यस्य प्रकृतयः कारणमव-
यवायथाघटस्य कापालिनि । स्वभाववचनोवा प्रकृतिशब्दः एवं तदात्मकमेव राज्यसमस्तंक्षिप्तं अस्यैव भेदोविस्तारोद्भासम-
तिस्तत्रापि योज्योभेदः सउक्तएव ॥ २९४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वामी राजा । अमात्यामन्त्र्यादयः । पुरं दुर्गाभूतमात्मनःशिविरम् । राष्ट्रं जानपदोज-
नः । कोषोधनं । दण्डोदण्डप्रणयनजंतेजः । सन्मित्रं । प्रकृतयोवयवतया तत्समुदायरूपस्य राज्यस्योत्पादनादिसमस्तं
मिलितं अवयविस्थानीयं राज्यमुच्यते ॥ २९४ ॥

(३) कुल्लूकः । स्वामी राजा । अमात्योमन्त्र्यादिः । पुरंराज्ञः कृतदुर्गनिवासनगरं । राष्ट्रदेशः । कोशोवित्तनिचयः ।
दण्डोहस्त्यश्वरथपादातं । मित्रंत्रिविधंसप्तमाभ्यायोक्तमित्येताः सप्तप्रकृतयोऽङ्गानि सप्ताङ्गमिदंराज्यमित्युच्यते ॥ २९४ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रकृतिसंपन्नइत्यादौ कतिप्रकृतयइत्यपेक्षां पूरयन्नाह स्वामीति । स्वामी राजा । अमात्याः
प्रकृतयः । पुरं राजाधिवसतिः । राष्ट्रं देशः । कोषोधनम् । दण्डोहस्त्यश्वरथपादातमिति । अथवोत्तमसाहसादि हस्त्या-
दीनां राजन्यन्तर्गतत्वात् तंविना राजत्वानुपपत्तेः । सुहृत्सप्तमाभ्यायोक्तस्त्रिविधः दूतोवा ॥ २९४ ॥

(५) नन्दनः । एवंकण्टकशोधनमुक्तं । अथराजधर्मानुक्तशिष्टान्वक्तुमुपक्रमते स्वाम्यमात्याविति ॥ २९४ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्वामीमहोत्साहइत्युक्तलक्षणोमहीपतिः अमात्यामन्त्रिपुरोहितादयः पुरं समृद्धं राष्ट्रं दुर्गं धन्व-
दुर्गादि कोशः सुवर्णादिद्रव्यराशिः दण्डः हस्त्यश्वरथपत्तिलक्षणंचतुरङ्गबलं सुहृन्मित्राणि एताः सप्त प्रकृतयोराज्यस्य
अथवा समस्तं राज्यमुच्यते ॥ २९४ ॥

समानांप्रकृतीनांतु राज्यस्यासांयथाक्रमम् ॥ पूर्वपूर्वगुरुतरंजानीयाद्यसंनमहत् ॥ २९५ ॥

(१) भेधातिथिः । मित्रव्यसनात्स्वबलव्यसनंगरीयः सुवर्णसंपन्नोहिशक्नोति मित्रमनुगृह्णीयात् एवंदण्डः कोशना
शेहि दण्डोपि नश्यत्येव एवंकोशराष्ट्रं राष्ट्रनाशेहि कुतः कोशोत्पत्तिः पुनः राष्ट्राविनाशकार्यं पुरंयत्ततोरक्षितव्यं तत्रहि
सर्वावयवसाधनादिसंभवति पुरादमात्यप्रधानं प्रधानादमात्यनाशे सर्वनाशः ॥ २९५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सप्तमानांप्रकृतीनां द्वयोस्तिसृणांवा व्यसने पूर्वपूर्वं [प्रथमतश्चिकित्स्यं गुरुत्वादित्यर्थः]
॥ २९५ ॥

(३) कुल्लूकः । ततःकिमित्याह समेति । आसाराज्यप्रकृतीनांसमानांक्रमोक्तानामुत्तरस्याविनाशमपेक्ष्य पूर्वस्याःपूर्व-
स्याविनाशविषये गरीयोव्यसनंजानीयात् । तथा हि मित्रव्यसनात्स्वबलव्यसनंगरीयः संपन्नबलस्यैव मित्रानुग्रहे सामर्थ्यं ।
एवंबलात्कोशोगरीयान्कोशनाशे बलस्यापि नाशात्कोशाद्राष्ट्रंगरीयोराष्ट्रनाशे कुतः कोशोत्पत्तिः एवंराष्ट्रादुर्गनाशोपि दुर्गादे-
वयवसेन्धनादिसंपन्नाद्राज्यरक्षासिद्धिः दुर्गादमात्योगरीयान्प्रधानामात्यनाशे सर्वाङ्गवैकल्यात् अमात्यादप्यात्मा सर्वस्या-
त्मात्वात्तस्मादुत्तरापेक्षया पूर्वयत्ततोरक्षेत् ॥ २९५ ॥

(४) राघवानन्दः । भवतु राज्यंततःकितत्राह समेति । आसां प्रकृतीनां मध्ये सुहृद्यसनादण्डव्यसनं गरीमइ-
त्येवं पूर्वपूर्वं स्वाम्यन्तं बोद्धव्यम् ॥ २९५ ॥

(५) नन्दनः । व्यसनं वैकल्यं पुर्वं पूर्वं गुरुतरं सुहृद्यसनादण्डव्यसनं गुरुतरमित्यादि ॥ २९५ ॥

समाङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत् ॥ अन्योन्यगुणवैशेष्यान् किञ्चिदतिरिच्यते ॥ २९६ ॥

(१) मेधातिथिः । तथाचदृष्टान्तः विश्रब्धस्य त्रिदण्डवदित्यवष्टब्धस्यान्योन्यस्याधारभावेनैतदेवाह अन्योन्यगुणवैशेष्यात् परस्परस्योपकार्योपकारकभावेनैकैकस्य विशेषोपपत्तिर्भूमिबीजोदकसामग्र्योवकुञ्जरजनने तस्मात्सर्वेषां पूज्यताऽब्रवीच्यते । अस्त्येवात्र गुरुलघुभावः यत्तु न किञ्चिदतिरिच्यतइति तदनादरेण मित्रादिरक्षायां वर्तितव्यमित्येवंपरमेतत् । मित्रनाशोऽचिरेण राज्यनाशोयदा बलवतोपरोधोनतदानीमेवेत्यालंबनलघोयस्तया ॥ २९६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । [नचैवं तत्तदुत्तरप्रकृतिव्यसने नप्रतिकर्तव्यमेव त्वकार्ये सर्वप्राधान्यादित्याह समाङ्गस्येति । विष्टब्ध]^१ स्यान्न्योन्याधारतया । त्रिदण्डवदन्योन्यावष्टम्भगृहादिदण्डत्रयवत् । अन्योन्यगुणवैशिष्ट्यात् त्वस्त्वगुणेन सर्वासां वैशिष्ट्यात् नकिञ्चिद्यसनमतिरिच्यते अतितुच्छताजातिचारानर्हत्वंभवतीत्यर्थः ॥ २९६ ॥

(३) कुल्लूकः । उक्तसमाङ्गवतोलोके राष्ट्रस्य त्रिदण्डवदन्योन्यसंबन्धस्य परस्परविलक्षणोपकारणान् किञ्चिदङ्गमधिकंभवति यद्यपि पूर्वश्लोके पूर्वपूर्वाङ्गस्याधिक्यमुक्तं तथाप्येषामङ्गानां मध्यादन्यस्याङ्गसंबन्धिनमपकारमन्यदङ्गकर्तुं न शक्तिरितिस्मादुत्तरोत्तराङ्गमप्यपेक्षणीयमित्येवंपरीयमाधिक्यनिषेधः अत्र प्रसिद्धयतित्रिदण्डमेव दृष्टान्तः तद्धि चतुरङ्गुलगोवालवष्टनादन्योन्यसंबन्धं नच तन्मध्ये त्रिदण्डधारणशास्त्रार्थे कश्चिदण्डोधिकोभवति ॥ २९६ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च सप्तेति । सप्तत्वान्यादयोङ्गपरस्परसहकारि यस्य तस्य समाङ्गस्यविष्टब्धस्य विष्टम्भनरूपस्य अन्योन्यगुणवैशेष्यात् । अन्योन्येन गुणानां त्वान्यादीनां परस्परुपकारितालक्षणगुणवैशेष्यात् राज्यं स्यात् त्वान्यासङ्ग्ये तु नकिञ्चित्सिद्ध्येत् । यद्यप्यत्र पूर्वपूर्वं गुरुतरमित्युक्तं तथापि राज्यलक्षणकार्येन कस्यापि प्राधान्यमिति । अतएव दृष्टान्तः त्रिदण्डवत् तैहि भ्रम्यादौत्वतच्चापि घटधारणादौ न कस्यापि स्वातन्त्र्यमितिभावः ॥ २९६ ॥

(५) मन्दनः । त्रिदण्डवद्विष्टब्धस्य दण्डत्रयवदन्योन्यापाश्रयेणास्थितस्य नकिञ्चिदङ्गमतिरिच्यते सर्वाण्यङ्गानि तुल्यगुणानीत्यर्थः ॥ २९६ ॥

(६) रामचन्द्रः । विष्टब्धस्य अन्योन्यसापेक्षस्य त्रिदण्डवत् अन्योन्याधारभूतदण्डत्रयवत् राज्यस्य समानांप्रकृतोनां यथाक्रमंअन्योन्यगुणवैशिष्ट्यान् किञ्चिदतिरिच्यते ॥ २९६ ॥

तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गंविशिष्यते ॥ येन यत्साध्यते कार्यतत्तस्मिन् श्रेष्ठमुच्यते ॥ २९७ ॥

(१) मेधातिथिः । नास्ति तद्वस्तु यद्राज्ञोपयुज्यते भवति तत्कार्ययन्निरुद्धेन साध्यते न महता तस्मात्सर्वाः प्रकृतयोयन्ततः पालनीयाः । असद्विण्डीदिना न राष्ट्रंकर्तव्यं चोराद्युपद्रवेष्वथ यत्नतोरक्ष्यमिति तात्पर्यार्थः । अतः कण्टकशुद्धिशेषोयम् ॥ २९७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तदेवाह तेषुतेष्विति । तत्तन्मात्रसंपाद्येष्वित्यर्थः । येनयदिति पूर्वार्थार्थस्यैव स्फुटार्थप्रपञ्चनम् ॥ २९७ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मात्तेषु तेषु संपाद्येषु कार्येषु तत्तदङ्गस्यातिशयोभवति तत्कार्यमन्येन कर्तुमशक्तेः एवंच येनाङ्गेन कार्यसंपाद्यते तस्मिन्कार्ये तदेव प्रधानमुच्यते । ततश्चान्योन्यगुणविशेषादि यदुक्तं तदेवानेन स्फुटीकृतम् ॥ २९७ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव क्षितिसलिलबीजन्यायमाह तेष्विति । कृत्येषु साध्येषु विशिष्यते । प्रधानतयेतिशेषः ।

साधनायत्तत्वात्साध्यस्य तद्यथा अङ्कुरस्य बीजावयवंतूपादानमेवंराजा सर्वत्र प्रधानम् । यथा क्षितिर्ङ्कुरधारणे एवं पुरम् । सलिलं यथा तदुच्छूनतायामेव दण्डोरक्षाहेतुः । यथा पवनः परिणामहेतुतया वृद्धेर्हेतुरेवंकोशः । यथा तत्र तेजः परिपाकहेतुरेवमेवामात्यः एवमन्यत् ॥ २९७ ॥

(५) नन्दनः । अत्रहेतुमाह तेषुतेषुचेति तदङ्गतस्मिन्कार्ये ॥ २९७ ॥

(६) रामचन्द्रः । येनाङ्गेनयत्कार्यसाध्यते तदङ्गतस्मिन्कार्ये श्रेष्ठमुच्यते ॥ २९७ ॥

चारेणोत्साहयोगेन क्रिययैव च कर्मणाम् ॥ स्वशक्तिपरशक्तिच नित्यंविद्यान्महीपतिः ॥ २९८ ॥

(१) मेधातिथिः । परस्यात्मनश्च नित्यंशक्तिविद्यात् किमयन्नास्ति किंचमयिकर्तुंशक्तंकिंचाहमस्मिन्निति एतन्नित्यंवेदितव्यं । कथंचैतच्छक्यते वेदितुंचारेणसममाध्यायोक्तेन उत्साहयोगेन दानादिपरितोषिताउत्साहेन युज्यन्ते संपन्नकृष्यादिफलाश्चक्रिययैव च कर्मणा कर्माणि वा निवेशादीनि तदारभेन शक्तिमान् रिपुरवगम्यते तानि स्वार्थसंपत्कराणि ततः सामर्थ्योत्पत्तेः ॥ २९८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । परात्मनोः शत्रोःस्वस्यच स्वशक्तिं स्वामिगतांशक्तिं प्रभावोत्साहमन्त्रजां परशक्तिममात्यादिषडङ्गशक्तिं गताम् । चारेण चरेण । उत्साहयोगेनोद्यमदर्शनेन । कर्मणां कार्याणां क्रियया निष्पादनेन कर्मणांफलान्तरदर्शनरूपेणच विद्यात् अहमशक्तोऽन्योवेति ॥ २९८ ॥

(३) कुहूकः । सममाध्यायोक्तकापटिकादिना बलस्योत्साहयोगेन कर्मणांच हस्तिबन्धवणिक्पथादीनामनुष्ठानेन ज्ञातांशत्रोरात्मनश्च शक्तिराजा सदा जानीयात् ॥ २९८ ॥

(४) राघवानन्दः । संप्रति चारस्य कृत्यमाह चारेणेति । चारेणोत्साहयोगेन चाराणाम् कृतकार्याणां वस्त्रालंकारादिप्रसादेनोत्साहः तेषामेवच कार्यार्थं पुनःसंयोगश्चतेनपरशक्तिजानीयात् स्वशक्तितुल्यकर्मणां हस्तिबन्धशत्रुवशीकारादीनां क्रिययाऽनुष्ठानेन ॥ २९८ ॥

(५) नन्दनः । परात्मनोः शत्रोरात्मनश्च स्वशक्तिं स्वपरिकरशक्तिं परस्यान्यस्य मित्रादेः शक्तिच चारेणोत्साहयोगेन अतन्द्रितत्वेन कर्मणा क्रियया विद्यात् चारेणेत्यामवचनमत्रविवक्षितं उत्साहयोगेनेति प्रत्यक्षकर्मणां क्रिययेत्यनुमानम् ॥ २९८ ॥

(६) रामचन्द्रः । चारेण चारस्य प्रेषणेन उत्साहयोगेन उद्यमदर्शनेन पदातीनां क्रिययैव चपुनः कर्मणां वणिक्पथादीनां स्वशक्तिं पूर्वं पूर्वं अस्य राज्यस्य समानां प्रकृतीनां अवयवानां यथाक्रमं एवंपरात्मनः परः शत्रुः तस्य आत्मनः शक्तिं नित्यं विद्यात् ॥ २९८ ॥

पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च ॥ आरभेत ततः कार्यसंचिन्त्यगुरुलाघवम् ॥ २९९ ॥

(१) मेधातिथिः । पीडनानि नरकदुर्भिक्षपतादीनि । तथाऽवर्षादिवर्षपर्ययमूषिकशलभाशनिप्रभृतयः व्यसनानि कामक्रोधस्वप्नसंप्राप्तदैवविघटनयोपन्यासेन वा तथापि ननित्यमुत्साहेन भवितव्यं अथवानसंतोषिणा भवितव्यं । अथत्वावत्साहगुण्यचिन्ता अन्वाहिक्यै चायव्ययौ कया चिन्मात्रया गतौ च राष्ट्रवृत्तं प्रकृतिसमहीतंचरमुखादवधूतम् ॥ २९९ ॥

(२९८) विद्यान्महीपतिः=विद्यात्परात्मनोः (सर्व०)

(२) सर्वज्ञनारायणः । पीडनानि परपुरोपरोधनादीनि व्यसनानि राष्ट्रभङ्गामात्योपजापादीनि परस्य विद्यात् । गुरुलाघवं गुरुत्वलघुत्वे संचित्य कार्यमारभेत ॥ २९९ ॥

(३) कुल्लूकः । पीडनानि मारकादीनि कामक्रोधोद्भवानि दुःखानि च स्वपरचक्रगतानि तेषांच गुरुलघुभावंपर्यालोच्य सन्धिविग्रहादिकार्यमारभेत ॥ २९९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच पीडनानीति । पीडनानि परराष्ट्रे दुर्भिक्षमारणानि । व्यसनानि प्रकृतिक्रोधजादीनि । कार्यं सन्धिविग्रहादि बलवति शत्रौ सन्धिगुरुरप्यनुष्ठेयः स्वरक्षाहेतुत्वात् । क्षीणे तस्मिन्नानुष्ठेयः आपन्नकालत्वात् ॥ २९९ ॥

(५) नन्दनः । पीडनान्यात्मनः परकृतानि व्यसनानि द्यूतादीनि विद्यादित्यनुकुर्यते गुरुलाघवतः गौरवेण लाघवेन च विविच्य कर्तव्यंकुर्यात् ॥ २९९ ॥

(६) रामचन्द्रः । पुरोपरोधादीनि सर्वाणि व्यसनानि राष्ट्रभङ्गामात्योपायादीनि तथैव जानीयात् । ततः कार्यं सन्धिविग्रहादि गुरुलाघवं संचिन्त्य आरभेत ॥ २९९ ॥

आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः ॥ कर्माण्यारभमाणंहि पुरुषंश्रीर्निषेवते ॥ ३०० ॥

(१) मेधातिथिः । गीतादिविषयेषु भावेन व्यापारान्तरेण वा पुनः कर्माणि वेदितव्यानि पुरुषग्रहणंतिष्ठतुतावद्राजानोपि जनपदउद्योगश्रियोपचीयन्ते एतदुक्तमामृत्योः श्रियमन्विच्छेदिति ॥ ३०० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कर्माणि राज्यरक्षादीनि ॥ ३०० ॥

(३) कुल्लूकः । राजा स्वराज्यवृद्धिपरापचयनिमित्तानि कार्याणि कथंचिदिदंसंजातमिति छलान्यप्यारभ्यात्मना खिन्नः पुनः पुनस्तान्यारभेतैव यस्मात्कर्माणि सृज्यमानंपुरुषंश्रीर्नितरांसेवते तथा नाब्राह्मणे नानाश्रये श्रीरस्तोति प्ररोहितापि शोषमेति नच युगानुरूपेण कर्माणि फलन्तीति राज्ञोदासितव्यम् ॥ ३०० ॥

(४) राघवानन्दः । किंच नृपोन कृतार्थमन्यः स्यादित्याह आरभेतिति । श्रान्तः संजातफलोपि श्रान्तः खिन्नः असंपूर्णमिवात्मानंमन्यमानः । एवंविधं नृपतिं श्रीर्लक्ष्मीः निषेवते नितरांसेवते ॥ उद्योगिनंपुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मोरिति न्यायात् ॥ ३०० ॥

(६) रामचन्द्रः । श्रान्तः कर्मकरणेन ॥ ३०० ॥

कृतत्रेतायुगंचैव द्वापरंकलिरेव च ॥ राज्ञोवृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥ ३०१ ॥

(१) मेधातिथिः । इतश्च कर्मरंभपरेण भवितव्यं अनारंभीकलिः स्यात्सचमहान्दोषः नचैवंमन्तव्यंराज्ञा कलिर्नामविशेषतइतिहासप्रसिद्धेः कथमहंस्यामिति यतोराज्ञोवृत्तादितदुत्तरेण निर्दिश्यते ॥ ३०१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । राज्ञोवृत्तानि राजचरितान्येवैतानि ॥ ३०१ ॥

(३) कुल्लूकः । यतः कृतमिति । कृतत्रेताद्वापरकलयोराज्ञएव चेष्टितविशेषास्तैरेव सत्यादिविशेषप्रवृत्तेः । तस्माद्वाजैव कृतादियुगमभिधीयते ॥ ३०१ ॥

(४) राघवानन्दः । राजाहि कृतादिचतुष्टयस्य धर्मप्रवर्तकत्वेन तद्रूपमित्याह कृतमिति ॥ ३०१ ॥

(३००) श्रान्तः श्रान्तः=दान्तः शान्तः (ग)

(५) नन्दनः । राज्ञः कर्मणामारंभविशेषेणयुगविशेषोपीत्याह कृतंवेतायुगंचैवेति । राज्ञोवृत्तानि राज्ञः संबन्धीनि वृत्तानि ॥ ३०१ ॥

कलिः प्रसुप्तोभवति सजायद्वापरंयुगम् ॥ कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तुकृतंयुगम् ॥ ३०२ ॥

(१) मेधातिथिः । अनुष्ठानशीलः प्रसुप्तः कलिर्भवति । जानानश्चोत्कर्षाभ्युपायानातिष्ठन्सजायद्वापरंभवति । व्यवसितकर्मप्रयोगस्त्रेतायुगंभवति । विश्वस्य सर्वरूपाणि यथाशास्त्रं कर्मफलसंपादाकृतयुगंभवति ॥ ३०२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कथंतदित्यतआह कलिरिति । प्रसुप्तोऽनवेक्षितराज्यः तदा कलिदोषप्रवृत्तेः । जाग्रत् प्रतिसंधानमात्रं कुर्वत् । अभ्युदितउद्यतः । विचरन्निष्पादनार्थं कर्मणाम् । प्रत्वापादीनांकल्यादियुगतुल्यत्वात्प्रसुप्तादेस्तत्त्वमुक्तं ॥ ३०२ ॥

(३) कुल्लूकः । कीदृक्चेष्टितः कृतादियुगमित्यतआह कलिरिति । अज्ञानालस्यादिना यदा निरुद्यमोराजाभवति तदा कलिः स्यात् यदा ज्ञानान्पि नानुतिष्ठति तदा ह्यापरम् यदा कर्मानुष्ठानेऽवस्थितस्तदा त्रेता यथा शास्त्रं पुनः कर्माण्यनुतिष्ठन्विचरति तदा कृतयुगं तस्माद्राज्ञा कर्मानुष्ठानपरेण भाव्यमिति । अत्र तात्पर्यं नतु वास्तवकृतयुगाद्यपलापे ॥ ३०२ ॥

(४) राघवानन्दः । तदेव विवृणोति कलिरिति । प्रसुप्तः स्वापंगतः राजनि सुप्ते दुष्टानां भयात्कर्माद्यनुपस्थितिः । तस्मिञ्जाग्रतिसाधूनामभयदानादिपुण्योपस्थितिः तद्वापरम् । कर्मकर्तव्यम् । स्वाभिमुख्येनोद्यमी तदा यज्ञादिप्रवृत्तेस्त्रेता । विचरन् स्वराज्ये कण्टकाघातनायपर्यटन् कृतं सत्यं ध्यानास्पदं सर्वत्र निर्भयाद्ध्यानं कृतइत्युक्तेः ॥ ३०२ ॥

(५) नन्दनः । प्रसुप्तोनिष्कर्मा राज्ञा लोकस्य कलिर्भवति जाग्रत्कर्माण्यारब्धव्यानीत्यवगच्छन्कर्मस्वभ्युद्यतः कर्मसूक्तोव्यवसितइतियावत् । विचरन्कर्माणि कुर्वन् ॥ ३०२ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रसुप्तः अनपेक्षितराज्यः कलिर्भवति । सजाग्रत् प्रतिसन्धिमात्रपरः ह्यापरंभवति । कर्मसु अभ्युद्यतं उद्यमयुक्तं त्रेतायुगं भवति । विचरंस्तु व्यवहारं पश्यन् कृतयुगं भवति ॥ ३०२ ॥

इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च ॥ चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ॥ ३०३ ॥

(१) मेधातिथिः । तेजः शुक्रं कार्यसामर्थ्यमित्यर्थः ॥ ३०३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इन्द्रादीनां प्रत्येकं वृत्तानुवृत्तिं प्रागुक्तामपि वीवरीतुमनुवदति इन्द्रस्येति । तेजोवृत्तमिति तेजोबलं यथावृत्तं चरितम् ॥ ३०३ ॥

(३) कुल्लूकः । इन्द्रादिसंबन्धिनोवीर्यस्यानुरूपं चरितं राजानुतिष्ठेत्तथा च राजा कण्टकोद्धारेण प्रतापानुरागाभ्यां संयुक्तः स्यात् ॥ ३०३ ॥

(४) राघवानन्दः । न केवलमेवं किन्तु इन्द्रस्येति । तेजोवृत्तं तत्तदीयां प्रागल्भ्येन चेष्टाम् ॥ ३०३ ॥

(५) नन्दनः । तेजः प्रभावस्तदर्थं वृत्तं तेजोवृत्तम् ॥ ३०३ ॥

वार्षिकांश्चतुरोमासान्यश्चेन्द्रोऽग्निप्रवर्षति ॥ तथाभिवर्षेत्स्वराष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥ ३०४ ॥

(१) मेधातिथिः । नात्र प्रकरणे मासनियमोऽभिप्रेतः केवलंचतुर्षु मासेषु सन्ततवर्षा पर्जन्योभवति अतः सन्ततं स-

(३०३) तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् = तेषां वृत्तं नृपोहरेत् (च)

र्वकालंस्वराष्ट्रकामैः पूरयेदित्युक्तंभवति तथा कर्तव्यंयथा स्वराष्ट्रियाअनुरक्ताभवन्ति ॥ ३०४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कामैरपेक्षितदानैः ॥ ३०४ ॥

(३) कुल्लूकः । कथमिन्द्रादिचरितमनुतिष्ठेदित्याह वार्षिकेति । ऋतुसंवत्सरपक्षाश्रयणेनेदमुच्यते यथा श्रावणादी-
श्वतुरोमासानिन्द्रः सस्यादिसिद्धये वर्षन्त्येवमिन्द्रचरितमनुतिष्ठन्राजा स्वदेशायातसाधूनभिलषितार्थैः पूरयेत् ॥ ३०४ ॥

(४) राघवानन्दः । तदेवाह वार्षिकानित्यष्टभिः । कामैर्दानमानाद्यैः ॥ ३०४ ॥

(५) नन्दनः । कामैरपेक्षितभोगैः इन्द्रव्रतं चरन्निन्द्रव्रतमेतदित्यर्थः ॥ ३०४ ॥

अष्टौ मासान्यथादित्यस्तोयंहरति रश्मिभिः ॥ तथा हरेत्करंराष्ट्रानित्यमर्कव्रतंहि तत् ॥ ३०५ ॥

(१) मेधातिथिः । [स्तोकंस्तोकमपिरसमीषत्तापेनादत्तेयथादित्यस्तथाकरमादद्यादित्येषउपमार्थः] ॥ ३०५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तथाहरेत्करं क्रमेण ॥ ३०५ ॥

(३) कुल्लूकः । यथा सूर्योमार्गशीर्षाद्यष्टमासात्रश्मिभिस्तोकंस्तोकंरसमीषत्तापेनादत्ते तथा राजा शास्त्रीयकरानपी-
डया सदा राष्ट्रादृक्लीयात् यस्मादेतदस्यार्कव्रतम् ॥ ३०५ ॥

(४) राघवानन्दः । रश्मिस्थानीयैः करग्राहकचराद्यैः । हरेत् गृह्णीयात् ॥ ३०५ ॥

(५) नन्दनः । अष्टौ मासाः कार्तिकादयः ॥ ३०५ ॥

प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः ॥ तथाचारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥ ३०६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चारैश्चरद्वारा प्रवेष्टव्यं परराष्ट्रे ॥ ३०६ ॥

(३) कुल्लूकः । यथा प्राणाख्योवायुः सर्वजन्तुष्वन्तः प्रविश्य विचरत्येवंचारद्वारेण स्वपरमण्डलजालेषु चिकीर्षिता-
र्थज्ञानार्थमन्तः प्रवेष्टव्यम् यस्मादेतन्मारुतंचरितम् ॥ ३०६ ॥

(४) राघवानन्दः । चारैः उक्तकापटिकादिपञ्चविधैः । प्रवेष्टव्यं भद्राभद्रं ज्ञातव्यम् ॥ ३०६ ॥

यथा यमः प्रियद्वेष्यौ ग्रामे काले नियच्छति ॥ तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि

यमव्रम् ॥ ३०७ ॥

(१) मेधातिथिः । अपराधेन प्रियद्वेष्ययोर्निग्रहसमत्वेन वर्तितव्यम् ॥ ३०७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नियन्तव्याः ग्रामेकाले ॥ ३०७ ॥

(३) कुल्लूकः । यद्यपि यमस्य शत्रुमित्रे नस्तस्तथापि तन्निन्दकार्चकयोः शत्रुमित्रयोर्यथा यमः शत्रुमित्रमरणकाले
तुल्यवन्नियमयत्येवंराज्ञाऽपराधकालेरागद्वेषपरिहारेण प्रजाः प्रमापणीयाः यस्मादेतदस्य याम्यव्रतम् ॥ ३०७ ॥

(४) राघवानन्दः । यथा यमः प्रियद्वेष्यौ हित्वा प्रजाकृतानुरूपेण नियच्छति दण्डादि करोत्येवमसौ ॥ ३०७ ॥

(५) नन्दनः । सर्वेप्रियद्वेष्याः ॥ ३०७ ॥

(६) रामचन्द्रः । ग्रामे काले मरणकाले । नियच्छति नियमयति ॥ ३०७ ॥

वरुणेन यथा पाशैर्बद्धएवाभिदृश्यते ॥ तथा पापान्निगृह्णीयाद्व्रतमेतद्धि वारुणम् ॥ ३०८ ॥

(१) मेधातिथिः । अवशङ्किताएव कार्यकारिणोनियहीतव्यायथा न पलायन्ते ॥ ३०८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बद्धएवदृश्यते नतु बन्धनप्रामिकाले ज्ञायते ॥ ३०८ ॥

(३) कुक्षूकः । योवरुणस्य रज्जुभिर्वन्धयितुमिष्टः सद्यथा तेनाविशङ्कितः पार्श्वैर्बद्धएव लक्ष्यते तथा पापकारिणोऽ-
विशङ्कितानेव यावन् पारयन्तेतावच्छासयेत् यस्मादेतदस्य वारुणं व्रतम् ॥ ३०८ ॥

(४) राघवानन्दः । यथा वारुणैः पार्श्वैर्बद्धोनरकस्थः एवं साहसकादिभिर्गडैर्बद्धोदृश्येतेति ॥ ३०८ ॥

(५) नन्दनः । गृहीयान्निबन्धीयात् ॥ ३०८ ॥

(६) रामचन्द्रः । यथा पापं पापकारणं । निगृहीत गृहीयात् ॥ ३०८ ॥

परिपूर्णयथा चन्द्रं दृष्ट्वा तृप्यन्ति मानवाः ॥ तथा प्रकृतयोयस्मिन्सचान्द्रव्रतिको नृपः ॥ ३०९ ॥

(१) मेधातिथिः । अक्रोधनेन प्रसाधनालङ्कारवता प्रहृष्टवदनेन प्रजादर्शनकाले भवितव्यं । निर्वाता आपन्नपरिता-
पाभवन्तीत्यर्थः ॥ ३०९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रकृतयोयस्मिन्परिपूर्णे तृप्यन्तीत्यनुषङ्गः ॥ ३०९ ॥

(३) कुक्षूकः । यथा पूर्णेन्दुदर्शनेन मनुष्याहर्षमुत्पादयत्येवमात्यादयोयस्मिन्दृष्टे तुष्टिमुपगच्छन्ति सचन्द्राचार-
चारी नरेन्द्रः ॥ ३०९ ॥

(४) राघवानन्दः । यस्मिन्नाजनि तृष्टे प्रकृतयोतृप्यन्ति सराजा चान्द्रव्रतिकः ॥ ३०९ ॥

(५) नन्दनः । प्रकृतयइत्यमात्यादयः ॥ ३०९ ॥

(६) रामचन्द्रः । परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा तथा समाङ्गेन पूर्णराजानं दृष्ट्वा प्रकृतयोतृप्यन्ति ॥ ३०९ ॥

प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु ॥ दुष्टसामन्तर्हिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥ ३१० ॥

(१) मेधातिथिः । भृशमुद्वेजनीयोदुष्टइत्याग्नेयव्रतं । सामन्ता अमात्याएव बहुसाधनयुक्ताः ॥ ३१० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रतापयुक्तः तापकारी । तेजस्वी अधृष्यः । यथा दुष्टदिव्येऽग्निर्हिंस्ति तथा दुष्टानां सा-
मन्तानां राज्यसमीपवर्तिनां हिंस्रः ॥ ३१० ॥

(३) कुक्षूकः । पापकारिषु सदादण्डपातेन प्रचण्डोऽसहनः स्यात्तथा प्रतिकूलामात्यर्हिंसनशीलो भवेत् तदस्याग्नि-
सन्धिब्रतं स्मृतम् ॥ ३१० ॥

(४) राघवानन्दः । पापकर्मसु प्रतापयुक्तः स्यात् तेजस्वी च घृतकाञ्चनपरीक्षादौ दाहस्तद्वत् दुष्टसामन्तेषु हिंस्रो-
पि ॥ ३१० ॥

(६) रामचन्द्रः । दुष्टसामन्तः संसक्तकास्तु सामन्ताः ॥ ३१० ॥

यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम् ॥ तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥ ३११ ॥

(१) मेधातिथिः । धरा पृथ्वी तद्वद्दीनानाथाश्च वंशाश्च भरणीयाः ॥ ३११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । समं धारयेत् न त्वेकं परित्यज्यैकमेव । बिभ्रतः पुष्पतः ॥ ३११ ॥

(३) कुक्षूकः । यथा पृथिवी सर्वाण्युच्चावचानि स्थावरजङ्गमान्युत्कृष्टापकृष्टानि समं कृत्वा धारयते तद्वद्विद्वद्-
निकगुणवद्भूतानि तदितराणि च दीनानाथादिसर्वभूतानि रक्षणधनदानादिना सामान्येन धारयतः पृथिवीसंबन्धिब्रतं भ-
वति ॥ ३११ ॥

(४) राघवानन्दः । समं भूतानि प्रजाः बिभ्रतः पुष्पतो राज्ञः पार्थिवं व्रतं ज्ञेयम् ॥ ३११ ॥

(४) रामचन्द्रः । यथासर्वाणिभूतानि प्रदानादिनाबिभ्रतः पुष्पतः ॥ ३११ ॥

एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तो नित्यमतन्द्रितः ॥ स्तेनान् राजा निगृह्णीयात्स्वराष्ट्रे परएव च ॥ ३१२ ॥

(१) मेधातिथिः । उपसंहारः श्लोकः । एतैर्देवव्रतैरन्यैर्लौकिकतो वगम्यैः ॥ ३१२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतैः प्राग्व्यवधानेनोक्तैः । स्वराष्ट्रे स्वराष्ट्रस्थितान् । परएव च परराष्ट्रादागतान् ॥ ३१२ ॥

(३) कुल्लूकः । एतैरुक्तोपायैरन्यैश्चानुक्तैरपि स्वबुद्धिप्रयुक्तो राजाऽनलसः सन्स्वराष्ट्रे ये चौरावसन्ति ये च परराष्ट्रे-
वसन्तस्तद्देशमागत्य मुष्णन्ति तानुभयप्रकारान्निगृह्णीयात् । सौऽग्निर्भवति वायुश्चेत्यादिना पूर्वसिद्धवदुक्तमग्न्यादिरूपत्वं इह
तु तद्गुणत्यागेन स्फुटीकृतमित्युपनरुक्तिः ॥ ३१२ ॥

(४) राघवानन्दः । उपसंहरति एतैरिति । परे परराष्ट्रे जयादिनात्मसात्कृते तत्रत्यानपि स्तेनान्निगृह्णीयादित्यन्व-
यः ॥ ३१२ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्तेनान् चौरान् स्वराष्ट्रे स्थितान् परएव वा परराष्ट्रस्थितान् परराष्ट्रे स्थितान् गत्वा मुष्णतः
॥ ३१२ ॥

परामप्यापदं प्रामो ब्राह्मणान् प्रकोपयेत् ॥ तैस्तेनं कुपिता हन्युः सद्यः सबलवाहनम् ॥ ३१३ ॥

(१) मेधातिथिः । यः क्षोणकोशो बलीयसा च राज्ञा दण्ड्यते तथापि न ब्राह्मणधनमप्यापदि ग्रहीतव्यं न चाव-
ज्ञानादिना प्रकोपनीयाः ॥ ३१३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । न प्रकोपयेदर्थग्रहणादिना ॥ ३१३ ॥

(३) कुल्लूकः । कोशक्षयादिना प्रकृष्टमप्यापदं प्रामो राजा ब्राह्मणान् प्रकोपयेद्यस्मात्ते रुष्टाः सबलवाहनमेनं सद्यएव
शापाभिचाराभ्यां हन्युः ॥ ३१३ ॥

(४) राघवानन्दः । एवंविधस्यापि नृपते ब्राह्मणाधीनत्वं वक्तुं ब्राह्मणस्य नियहानुग्रहसामर्थ्यमाह परामित्या-
दिना ॥ ३१३ ॥

(६) रामचन्द्रः । हि निश्चयेन । ते ब्राह्मणाः एवं राजानम् ॥ ३१३ ॥

यैः कृतः सर्वभक्ष्योऽग्निरपेयश्च महोद्दधिः ॥ क्षयी चाप्यायितः सौमः कौन नश्येत्पकौप्य तान् ॥ ३१४ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रागुक्तार्थसिद्धये ब्राह्मणमाहात्म्यं इति हासं लोकप्रसिद्धमनुवदति एष्वर्थेष्वारुग्रानानि महाभार-
तादवगमयितव्यानि ॥ ३१४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सर्वभक्ष्योऽग्निर्भृगुणा कृतः । वड्वामुखो नामर्षिस्तेन मेरौ तपःकुर्वता समुद्रआहूतो नाग-
तस्तेन क्रोधादात्मगात्रोष्मणा समुद्रस्तिमितजलः कृतः प्रत्वेदप्रस्यन्दसदृशश्चास्य लवणभावोज्जितउक्तश्चापेयो भविष्य-
सीति भारते मोक्षधर्मोक्तम् । क्षयीकृत्वापश्चादाप्यायनेनोपायकथनेनाप्यायितश्चन्द्रोदक्षेपः ॥ ३१४ ॥

(३) कुल्लूकः । तथाहि यैरिति । यैर्ब्राह्मणैरभिशापेन सर्वभक्ष्योऽग्निः कृतः समुद्रश्चापेयजलश्चन्द्रश्च क्षययुक्तः प-
श्चात्पूरितस्तांकोपयित्वा कौन नश्येत् ॥ ३१४ ॥

(४) राघवानन्दः । भृगोः पत्नीयमित्युक्तेऽग्निनाऽसुरस्तां जहार तत्कृत्वा भृगुणा अमोघिः सर्वभक्षो भवेदिति ।

तथा मोक्षधर्मे नारायणीये कृष्णार्जुनसंवादे नारायणो लोकहितार्थं वडवामुखोनामार्षेः पुरा बभूव तस्य मेरौ तपस्तप्यतः समुद्राहूतोनागतस्तेनामर्षितेनात्रगात्रोष्मणा समुद्रः स्तिमितजलःकृतः त्वेदस्यन्दनसदृशश्चास्य लवणभावोजनितउक्त-
श्चापेयोभविष्यस्येवं त्वत्तोयंवडवामुखेयोऽग्निस्तेन पीयमानं मधुरं भविष्यतीत्यपेयोमहोदधिः समुद्रः । क्षयी यक्ष्मणायुक्तः ।
आप्यायितः पूरितः ॥ ३१४ ॥

(६) रामचन्द्रः । यैर्ब्राह्मणैः सोमः क्षयी आप्यायितः पूर्णतांप्रापितः तान् ब्राह्मणान् प्रकोप्य को न नश्येत् ॥ ३१४ ॥

लोकानन्यान्सृजेयुर्ये लोकपालांश्च कोपिताः ॥ देवान्कुर्युरदेवांश्च कः क्षिण्वंस्तान्स

मृधुयात् ॥ ३१५ ॥

(१) मेधातिथिः । क्षिणोति छादयति तदविशेषात्सृजतीनां क्षिण्वन्हि संक्षेपोऽप्युत्तमानामेवेति युधिष्ठिरेण गाण्डिवे
विक्षिप्ते व्यासमुनिना दर्शितम् ॥ ३१५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । लोकानन्यानि विश्वामित्रचरितम् । लोकपालानिति इन्द्रांतरसृष्ट्याद्युद्यमेन गरुडंसृजतां
वालखिल्यानां चरितम् । देवान्देवानिति वाय्वादीनांवृत्तम् । क्षिण्वन् दुःखजननदेव ॥ ३१५ ॥

(३) कुल्लूकः । किंच लोकानामिति । येस्वर्गादिलोकान्परानन्यांश्च लोकपालान्सृजन्तीति संभाव्यते देवांश्च शापेन
मानुषादीन्कुर्वन्ति तान्पीडयन्कः समृद्धिप्राप्नुयात् ॥ ३१५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच लोकेति । सृजेयुः विश्वामित्रादयः एवं देवानित्यपि माण्डव्यशापेन यमोपि विदुरतां-
गतः । क्षिण्वन् पीडयन् । समृधुयात् समृद्धिगच्छेत् ॥ ३१५ ॥

(५) नन्दनः । एतत्पद्यत्रयं राज्ञां वर्ज्यतमत्वकथनं लोकानन्यान्सृजेयुर्यदिति । क्षिण्वन्बाधमानः समृधुयात्सदीप-
येत् ॥ ३१५ ॥

(६) रामचन्द्रः । ये ब्राह्मणाः देवान् अदेवान् देवकार्यरहितान् कुर्युः । क्षिण्वन् पीडयन् ॥ ३१५ ॥

यानुपाश्रित्यतिष्ठन्ति लोकोदेवाश्च सर्वदा ॥ ब्रह्मचैव धनंयेषांकोर्हिस्यात्ताञ्जिजीविषुः ॥ ३१६ ॥

(१) मेधातिथिः । लोकास्त्रयः पृथिव्यादयः देवाआहुतिक्षरेण ब्राह्मणोपाश्रिताः अध्यापनाधिक्येन कर्मबहु-
त्वेन ब्राह्मणोदेवानामाश्रयोन तथा क्षत्रियवैश्यौ ॥ ३१६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यांत्समाश्रित्य यत्साध्यान्यज्ञानाश्रित्य । ब्रह्म वेदः ॥ ३१६ ॥

(३) कुल्लूकः । अपिच यानित्यादि । यान्ब्राह्मणान्यजनयाजनकर्तृकानाश्रित्याश्रौ प्रास्ताहुतिरिति न्यायेन पृथि-
व्यादिलोकोदेवाश्च स्थितिलभन्ते वेदएवच येषामभ्युदयसाधनतया याजनाध्यापनादिना धनोपायत्वाच्च ताञ्जीवितुमि-
च्छन्कोर्हिस्यात् ॥ ३१६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच यानिति । याजनाध्यापनकुशलान्ब्राह्मणानाश्रित्यैवापूर्वद्वारालोकांश्चतुर्दशभुवन्नानि
देवाइन्द्रादयश्च स्युरितिभावः ॥ ३१६ ॥

(५) नन्दनः । ब्रह्म वेदः ॥ ३१६ ॥

(६) रामचन्द्रः । यान् ब्राह्मणान् । येषां ब्राह्मणानाम् । ब्रह्म वेदः धनं ॥ ३१६ ॥

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणोदैवतं महत् ॥ प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्देवतं महत् ॥ ३१७ ॥

(१) मेधातिथिः । जातिमात्राश्रयाणामनवज्ञानं नविद्वत्तामपेक्षेत नादिक्रियास्त्रिव यथाचैतन्नपादतः कुर्यादित्यग्नौ ॥ ३१७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अविद्वानपि नतुविद्वानेव । प्रणीतोऽग्निः होमार्थमुद्धृतः ॥ ३१७ ॥

(३) कुट्टूकः । एवमर्ताह विद्वांसंब्राह्मणसेवेतेत्यत आह अविद्वानिति । यथाहितोऽनाहितोवाग्निर्महती देवतैवंमूर्खोविद्वांश्च प्रकृष्टा देवतेति ॥ ३१७ ॥

(४) राघवानन्दः । अहोर्किवक्तव्यमित्याह अविद्वानिति । दैवतं देवतावृन्दम् । प्रणीतः आहितः तद्भिन्नोऽप्रणीतः ॥ ३१७ ॥

(५) नन्दनः । वृत्तहीनोपि ब्राह्मणोन गर्हणीयइति श्लोकद्वयेनाह अविद्वांश्चैवविद्वांश्चेति ॥ ३१७ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रणीतः होमार्थमुद्धृतः समृद्धःकृतः । अप्रणीतः लौकिकः अनाहितः ॥ ३१७ ॥

श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावकोनैवदुष्यति ॥ हूयमानश्च यज्ञेषु भूयएवाभिवर्धते ॥ ३१८ ॥

(१) मेधातिथिः । गतार्थोयंदुराचारोप्यविज्ञेयइत्यर्थः ॥ ३१८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्मशानेष्वपिनदुष्यति नपापेयुज्यते यतःतज्जातीययज्ञेहूयमानोवर्धते नक्षत्रिस्ततोऽन्यस्ततोऽन्यत्र एकत्वाद्देवतायाः ॥ ३१८ ॥

(३) कुट्टूकः । यथाग्निर्महातेजाः श्मशानेशवदहन्कार्येपि नैव दुष्टोभवति किन्तु पुनरपि यज्ञेषु हूयमानोऽभिवर्धते ॥ ३१८ ॥

(४) राघवानन्दः । नैवदुष्यति ऋग्यादमग्निमित्यादिमन्त्रलिङ्गकादृष्टदोषेपि दृष्टदोषाभावान्निहि तदग्निर्दाहप्रकाशहीनः । हूयमानः होमेन संस्क्रियमाणोऽदृष्टदोषपरिहृत्य फलजनकतया वर्धतइतिभावः ॥ ३१८ ॥

(६) रामचन्द्रः । श्मशानेष्वपि वर्धते आहुतिभिः ॥ ३१८ ॥

एवंयद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु ॥ सर्वथा ब्रह्मणाः पूज्याः परमदैवतंहितत् ॥ ३१९ ॥

(१) मेधातिथिः । अनिष्टेषु प्रतिषिद्धेषु वर्तमानाष्टदूपक्रमैर्यथाशास्त्रंदण्डन्याससहसाऽऽक्रम्य वर्णान्तरवत् ॥ ३१९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनिष्टेषु लोकविद्विष्टेषु ॥ ३१९ ॥

(३) कुट्टूकः । एवंकुत्सितकर्मस्वपि सर्वेषु यद्यपि ब्राह्मणाः प्रवर्तन्ते तथापि सर्वप्रकारेण पूज्याः यस्मात्प्रकृष्टं तदैवतं स्तुत्यर्थत्वाच्चास्य न यथाश्रुतार्थविरोधः शङ्कनोयः ॥ ३१९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यत् । अनिष्टेषु कुत्सितकर्मसु देववृन्दादपि परमं दृष्टशापानुग्रहहेतुत्वात् धनमानादिना ॥ ३१९ ॥

(५) नन्दनः । अनिष्टेषु सतामसंमतेषु सर्वकर्मस्वितरजनकर्मसु ॥ ३१९ ॥

(६) रामचन्द्रः । तद्विजाःपरमं दैवतम् ॥ ३१९ ॥

क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान्प्रतिसर्वशः ॥ ब्रह्मैव सन्नियंतृस्यात्क्षत्रं हि ब्रह्मसंभवम् ॥ ३२० ॥

(१) मेधातिथिः । क्षत्रियस्य ब्राह्मणान्प्रतिबाधितुं प्रवृत्तस्य ब्राह्मणाएव सन्नियन्तारः श्रीमदावलिमावस्थाभङ्गेन

वर्तमानाः क्षत्रियाजपहोमादिशापादिना ब्राह्मणैर्मार्गे व्यवस्थाप्यन्ते अत्र हेतुः क्षत्रं ब्रह्मसंभवं ब्राह्मणजातेः सकाशात्क्षत्रियाणांसंभवः अत्रार्थवादएवायं ननु योयस्योत्पत्तिहेतुर्नासौ तस्य नाशकः ॥ ३२० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्राह्मणान्प्रतिप्रवृद्धस्यात्मनाभिभवितुंविप्रमिच्छतः ॥ ३२० ॥

(३) कुल्लुकः । क्षत्रियस्य ब्राह्मणान्प्रति सर्वथा पीडानुवृत्तस्य ब्राह्मणाएव शापाभिचारादिना सम्यङ्द्वियन्तारः यस्मात्क्षत्रियोब्राह्मणात्संभूतः ब्राह्मणबाहुप्रसूतत्वात् ॥ ३२० ॥

(४) राघवानन्दः । ब्राह्मणान्प्रति अतिवृद्धस्य क्षत्रियस्यापि ब्रह्मैव नियन्तु इत्यन्वयः । तत्र हेतुः ब्रह्म ब्राह्मणत्वजात्यवच्छिन्नोजीवः ततः संभवं सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्वल्लेति श्रुतेः । तदुत्तरभाविवाद्वा क्षत्रियस्य ॥ ३२० ॥

(५) नन्दनः । इतरैश्च ब्राह्मणोनातिक्रमणीयइत्याह क्षत्रस्येति अतिप्रवृत्तस्य लङ्घितशालूमर्यादस्य सन्नियन्तृस्यान्नियन्तुं शक्नुयात् कुतः क्षत्रं हि ब्रह्मसंभवम् ॥ ३२० ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्रह्मैव ब्राह्मणः संनियन्तु स्यात् क्षत्रस्य संनियन्ता स्यात् । क्षत्रं ब्रह्मसंभवं ब्राह्मणात् संभवो यस्यतं ब्रह्मसंभवम् ॥ ३२० ॥

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनोलोहमुत्थितम् ॥ तेषांसर्वत्रगन्तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ ३२१ ॥

(१) मेधातिथिः । केनैवं अद्भ्योऽपोषधिवनस्पतिभ्यएव जायतइत्येवमग्निरद्भ्यएवउत्पन्नस्तस्य सर्वगन्तेजः सर्वदाहं दहति तेजसाऽभिभवति अपः प्राप्य तदस्य तेजः शाम्यति अश्मनोलोहं खड्गादि तेन सर्वविदार्यते अश्मसंपातात्स्फुटति एवंक्षत्रियाः सर्वजिगीषवो विजयन्ते ब्राह्मणेषु चेदौद्भत्येन वर्तन्ते तदा विनश्यन्ति ॥ ३२१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अद्भ्योऽग्निरप्यन्तत्वात् । ब्रह्मतःक्षत्रं क्षत्रक्षयानन्तरं ब्राह्मणैः सह संभूय क्षत्रियाभिः पुत्राणां जननात् । अश्मन आकरस्थपाषाणकणेभ्यः । शाम्यति भाः प्राप्य संघर्षणे नश्यति ॥ ३२१ ॥

(३) कुल्लुकः । तथाच अद्भ्यइति । जलब्राह्मणपाषाणेभ्योऽग्निक्षत्रियशस्त्राणि जातानि तेषांसंबन्धितेजः सर्वत्र दहनाभिभवच्छेदनार्थककार्यं करोति स्वकारणेषु जलब्राह्मणपाषाणाख्येषु दहनाभिभवच्छेदनात्मककार्यं करोति ॥ ३२१ ॥

(४) राघवानन्दः । अतएवाह अद्भ्यइति । अयमर्थः । अग्न्यर्थमिन्धनं हि मथ्यमानं रसक्षयेऽग्निमभिव्यनक्ति ॥ अथार्णवस्य क्षुब्धस्य तस्मिन् भसिर्माथ्यते । कृष्णवर्त्मा समभवत् विभुर्वैश्वानरोऽविमान् ॥ इत्यब्जोऽग्निः पौष्करेश्रुतः । विद्युद्भवाग्नेः प्रत्यक्षजलजत्वम् । पाषाणोलोहबीजगर्भोऽभ्यायमानोलोहं व्यनक्ति तत्रासऽत्वे न ततः स्यादतोऽभिव्यक्त्यपेक्षयाश्मजत्वम् । क्षत्रियत्वानन्तर्यापेक्षया ब्राह्मणस्य मुखमासीद्वाहूराजन्यः कृतइति श्रुतेश्च ततः किंतवाह एषामिति । सर्वत्रगं सर्वद्रव्येषु दाहच्छेददण्डादिकर्तृत्वेन वर्तमानं तेजोऽग्नेर्दग्धत्वं लोहस्य तैर्दण्डं राज्ञोदण्डनंच स्वासु योनिषु जलहीरकविप्रेषुन विकरोति किंतु शाम्यति ब्राह्मणस्त्वक्षतोऽब्रजेदित्युक्तेः ॥ ३२१ ॥

(५) ननन्दः । एतदेवोपपादयति अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमिति । अद्भ्योऽग्निरिति च पौराणिकाः ब्रह्मतो ब्राह्मणतः ब्राह्मणाहि दक्षमरीच्यादयः स्रष्टारः तेषां मन्वादीनां सर्वत्र गन्तुं शक्तं तेजः शक्तिः स्वासु योनिषु शाम्यति क्षरते एतदुक्तं भवति अग्निः सर्वं दग्धुमीष्टे नापः क्षत्रियः सन्नियन्तुमीष्टे न ब्राह्मणं लोहं लोहं सर्वच्छेत्तुमीष्टे अग्निलोहयोरुपन्यासोदष्टान्तार्थः ॥ ३२१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अद्भ्यः जलेभ्यः अग्निर्भवति । ब्रह्मतः क्षत्रं जातम् अश्मनः लोहम् । तेषां ब्रह्मादीनां ॥ ३२१ ॥

नाब्रह्मक्षत्रमधोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते ॥ ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते ॥ ३२२ ॥

(१) मेधातिथिः । यत्क्षत्रियब्राह्मणरहितं राज्यं मन्त्रिपुरोहितादयो यत्र न ब्राह्मणास्तत्र कुतः समृद्धिः एवं ब्राह्मणा अपि राजोपाश्रिताः कुतः संपात्तिलभन्ते उभौ युक्तौ जगज्जयतः ब्रह्मक्षत्रशब्दौ ब्राह्मणक्षत्रियजातिवचनौ ॥ ३२२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संपृक्ते परस्परविरुद्धे वर्धते अवश्योद्भव्यरणोपस्थितौ ॥ ३२२ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणरहितक्षत्रियो वृद्धिर्न याति शान्तिकपौष्टिकव्यवहारे क्षणादिधर्मविरहात् । एवं क्षत्रियरहितोपि ब्राह्मणो न वर्तते रक्षाविना यागादिकर्मानिष्पत्तेः किंतु ब्राह्मणः क्षत्रियश्च परस्परसंबद्ध एवेह लोके परलोके च धर्मार्थ-
काममोक्षावाप्स्या वृद्धिमेति । दण्डप्रकरणे चैयं ब्राह्मणस्तुतिः ब्राह्मणानामपराधिनामपि लघुदण्डप्रयोगनियमार्था ॥ ३२२ ॥

(४) राघवानन्दः । इतश्च ब्राह्मणः श्रेष्ठ इत्याह नेति । याजनाद्याशंसाकर्तृतयाऽविद्यमानं ब्राह्मणजात्यवच्छिन्नं यस्य क्षत्रियस्य तत् न ऋधोति वृद्धिर्न गच्छति । नाक्षत्रं न विद्यते क्षत्रं याज्यपालकादितया यस्य तत् । संपृक्तं परस्पर-
कांक्षया संयुक्तम् ॥ ३२२ ॥

(६) रामचन्द्रः । अब्रह्म क्षत्रं न ऋधोति न वृद्धियाति । अक्षत्रं ब्रह्म न वर्धते । तस्माद्ब्रह्मक्षत्रं संप्रयुक्तं इह लोके
अमुत्र परलोके ॥ ३२२ ॥

दत्त्वा धनन्तु विप्रेभ्यः सर्वदण्डसमुत्थितम् ॥ पुत्रे राज्यं समासृज्य कुर्वीत प्रायणं रणे ॥ ३२३ ॥

(१) मेधातिथिः । यदा तु रजसाभिभूयेत कृतकृत्यः स्यात्तदा वसुनि धने सति सर्वदण्डसमुद्भूतं ब्राह्मणे-
भ्यो दद्यात् । महापातकिधनस्य वरुणाय प्रतिपादनमुक्तं न राज्ञा तद्गृहीतव्यं अन्यत्तु दण्डधनं राज्ञा दृष्टादृष्टकार्यार्थवादाद्बहुधन-
मस्ति प्रयाणकालश्च तदा सर्वस्यायं विनियोगः । अन्येतु दण्डग्रहणं करशुल्कादीनामपि प्रदर्शनार्थं व्याचक्षते तथा सति सर्व-
स्वदद्यादित्युक्तं भवति वाहनायुधभूमिपुरुषवर्जं सर्वदातव्यं एवमुक्तं व्याख्याने पुत्रे राज्यं समासाद्येति न घटते न हितस्य कोश-
स्य राजकरणसंभवः कुर्वीत प्रायणं रणे आत्मत्यागे संग्रामं कुर्यात् यदि कथंचिदन्त्यावस्थायां रणं नोपलभेत तदाभ्युदका
दिना शरीरं जहात् फलातिशयसंपत्तिस्तु रणे समासंजनमारोपणम् ॥ ३२३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । रणे प्रायणमन्यथा तुदैवकृतैरेव रोगादिभिरुभयथापि दत्त्वा धनमित्यादि तुल्यम् । प्राय-
णमात्रधर्मत्वात् ॥ ३२३ ॥

(३) कुल्लूकः । यदा तु विशिष्टदर्शनेनाचिकित्सव्याधिना वाऽऽसन्नमृत्युर्भवति तदा दत्त्वेति । महापातकिधनव्यति-
रिक्तविनियुक्तावशिष्टसर्वदण्डधनं ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वा पुत्रे राज्यं समर्प्याऽसन्नमृत्युः फलातिशयप्राप्तये संग्रामे प्राणत्यागं कुर्यात्
संग्रामासंभवे त्वनशनादिनापि ॥ ३२३ ॥

(४) राघवानन्दः । क्षत्रियस्य वीतरागस्य नृपतेः कार्यान्तरं विधत्ते दत्त्वेति । प्रायणं प्राणत्यागं रणे कुर्यादिति ।
वने इति क्वचित्पाठस्तदा वनवासं कुर्यादिति ॥ ३२३ ॥

(५) नन्दनः । अथ चरमे वयसि राज्ञः कर्तव्यमाह दत्त्वा धनन्तु विप्रेभ्य इति । प्रायणं मरणम् ॥ ३२३ ॥

(६) रामचन्द्रः । धनं महापातकादिव्यतिरिक्तं सर्वदण्डसमन्वितं व्युत्थितं प्रायणं प्रयाणम् ॥ ३२३ ॥

एवं चरन्सदा युक्तो राजधर्मेषु पार्थिवः ॥ हितेषु चैव लोकस्य सर्वान्भृत्यान्नियोजयेत् ॥ ३२४ ॥

(१) मेधातिथिः । एवं चरन् विहरन् राजधर्मेषु शास्त्रोपदिष्टेषु तदायुक्तस्तत्परः लोकेभ्यस्तत्परः लोकेभ्यः त्वराष्ट्री-
येभ्यो हितेषु सर्वान्भृत्यान्नियोजयेत् ॥ ३२४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । राजधर्मेषु व्यवहारदर्शनादिषु ॥ ३२४ ॥

(३) कुल्लूकः । एवमध्यायत्रयोक्तराजधर्मेषु व्यवहार्यमाणो राजा सर्वदा यत्नवान्प्रजाहितेषु सर्वान्भृत्यान्विनियोजयेत् ॥ ३२४ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रासमर्थस्य वृत्त्यन्तरं प्रदर्शयन् वैश्यशूद्रयोः कर्माह एवमिति द्वाभ्याम् । भृत्यान्मात्यान् । पार्थिव इति जात्यन्तरं चेत्पृथिवीपालकः । उक्तधर्मानुष्ठानमावश्यकं तस्यापि ॥ ३२४ ॥

(५) नन्दनः । युक्तो वहितः भृत्यान्धिकारिणः ॥ ३२४ ॥

एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः ॥ इमं कर्मविधिविद्यात्क्रमशो वैश्यशूद्रयोः ॥ ३२५ ॥

(१) मेधातिथिः । आद्येनानेन शूद्रेण कण्टकशुद्धिपर्यन्तो राजधर्म उपसंह्रियते द्वितीयेन वैश्यशूद्रयोरुपचारे चेत्युक्तमनुस्मारयन्ति ॥ ३२५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । राजधर्मानुपसंहृत्य वैश्यशूद्रयोर्धर्मावसाधारणौ क्रमप्राप्तावतारयति एष इति । इमं वक्ष्यमाणम् ॥ ३२५ ॥

(३) कुल्लूकः । एतद्वाङ्मयः कर्मानुष्ठानं पारंपर्यागततया नित्यं समग्रमुक्तं इदानीं वैश्यशूद्रयोः क्रमेण वक्ष्यमाणमिदं कर्मानुष्ठानं जानीयात् ॥ ३२५ ॥

(५) नन्दनः । इमं वक्ष्यमाणम् ॥ ३२५ ॥

(६) रामचन्द्रः । इमं वक्ष्यमाणलक्षणम् ॥ ३२५ ॥

वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा दारपरिग्रहम् ॥ वार्तायां नित्ययुक्तः स्यात्पशूनां चैव रक्षणे ॥ ३२६ ॥

(१) मेधातिथिः । कृतसंस्कार उपनीतः कृतविवाहश्च वार्तायां वक्ष्यमाणकालसमुदायो वार्ता तत्र नियुक्तः स्यात् यथा बार्हस्पत्ये वार्तासमुपदिष्टा ॥ ३२६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वार्तायां कृषौ ॥ ३२६ ॥

(३) कुल्लूकः । वैश्यः कृतोपनयनपर्यन्तसंस्कारो विवाहादिकं कृत्वा जीविकायां वक्ष्यमाणानां कृष्यादिकार्यार्थं पशुपालने च सदा समायुक्तः स्यात् पशुरक्षणस्य वार्तात्वेऽपि प्राधान्यख्यापनार्थं पृथग्विधानं तथा चोत्तरश्लोकाभ्यां प्राधान्यं दर्शयति ॥ ३२६ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रादौ वैश्यवृत्तीराह वैश्यस्त्विति ॥ ३२६ ॥

(५) नन्दनः । संस्काराजातकर्मादयोगोदानव्रतान्ताः वार्तायां कृषिगोरक्षवाणिज्यवार्धुष्येषु ॥ ३२६ ॥

(६) रामचन्द्रः । वैश्यस्तु वार्तायां कृष्यादौ नित्ययुक्तः स्यात् ॥ ३२६ ॥

प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिदेद पशून् ॥ ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिदेद प्रजाः ॥ ३२७ ॥

(१) मेधातिथिः । पशुरक्षणं वैश्यस्य न केवलं जीविका यैर्यावद्धर्माय प्रीतिं दर्शयत्यर्थवादेन । कथं पुनर्दृष्टे सत्यदृष्टमुक्तं प्रजापालनं नान्यमात्परिपालनीयं त्वयेति नियोगपरिदानं क्षत्रियस्य प्रजापालनेऽधिकारो निरूपितः ब्राह्मणस्य प्रायश्चित्तोपदेशादिना जपहोमादिना च आदित्याज्जायते वृष्टिरिति सर्वाधिकारः दृष्टान्तार्थं चैतत् तथैव धर्म एव वैश्यस्य पशुरक्षणादिः ॥ ३२७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । परिददौ रक्षणाय ददौ । ब्राह्मणाय पारलौकिकसिद्धयर्थम् ॥ ३२७ ॥

(३) कुल्लूकः । यत्माद्रह्मापशून्सृष्ट्वा रक्षणार्थवैश्याय दत्तवानतोवैश्येन रक्षणीयाः पशव इति पूर्वानुवादः प्रजाश्च सर्वाः सृष्ट्वा ब्राह्मणाय राज्ञे च रक्षणार्थदत्तवानिति प्रसङ्गादेतदुक्तम् ॥ ३२७ ॥

(४) राघवानन्दः । पशुरक्षणहेतुः प्रजापतिरिति । ब्राह्मणायेत्यादिनियतरक्षणे दृष्टान्तार्थः । ब्राह्मणक्षत्रिययोर्धर्म-
स्थोक्तत्वात् ॥ ३२७ ॥

(५) नन्दनः । वैश्येनावश्यं रक्षणीयाः पशव इत्याह प्रजापतिर्हिवैश्यायेति । परिदानं निक्षेपः उत्तरार्धोपन्यासो दृष्टा-
न्तार्थः ॥ ३२७ ॥

(६) रामचन्द्रः । वैश्यान्पशून् रक्षणाय ददे दत्तवान् । ब्राह्मणाय उपदेशार्थम् । राज्ञे क्षत्रियाय सर्वाः प्रजाः रक्षा-
र्थं ददे ॥ ३२७ ॥

न च वैश्यस्य कामः स्यान्नरक्षेयं पशूनि ॥ वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः कथंच न ॥ ३२८ ॥

(१) मेधातिथिः । ननु कोजीवितार्थकामः यदुक्तं यद्यप्यदृष्टं तदा दृष्टाश्रितमेव भोजने प्राङ्मुखतायामेव तत्र कथंचिदिदमुच्यते न च वैश्यस्य कामस्यादिति न ह्यबुद्ध्यमाणः प्रत्यवैति सत्यमेवं कृष्टाविकृष्टपाशुपाल्यमिति ज्ञापयितुं । क-
श्चिन्मन्यते सर्वाण्येतानि नियमार्थानि तुल्यफलानीति तत्र तुल्यफलत्वे च पक्षेऽकामोपि स्यात्कर्मान्तरकामयमानस्य-
यदा त्वन्येभ्योगुणवत्तरो यदा तदा तु तेनाजीवेन्न कर्मन्तरे प्रकृतिः अतएव तदालंबनोजीवेत् ॥ ३२८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कामः स्यादीदृगुद्यमः स्यात् । वैश्ये चेच्छत्युद्यमं कुर्वति नान्येन वर्णेन रक्ष्यास्तदभावे न
शूद्रेण रक्ष्या इत्यर्थः ॥ ३२८ ॥

(३) कुल्लूकः । पशुरक्षणं करोमीति वैश्येनेच्छा न कार्या अतः कृष्यादिवृत्तिसंभवेपि वैश्येन पशुरक्षणमवश्यं
करणीयं । वैश्ये च पशुरक्षणं कुर्वत्यन्यः पशुरक्षणं कारयितव्यः ॥ ३२८ ॥

(४) राघवानन्दः । वैश्यस्यावश्यकत्वमनुवदन् अनापद्धर्ममाह न चेति ॥ ३२८ ॥

मणिमुक्ताप्रवालानां लोहानां तांतवस्य च ॥ गंधानां च रसानां च विद्यादर्घबलाबलम् ॥ ३२९ ॥

(१) मेधातिथिः । लोहशब्देन ताम्रायस्कां स्यान्त्याह अर्घबलाबलं न्यूनताऽर्घस्य न्यूनताधिक्ये देशकालापेक्षे
कस्मिन्देशे इदं महार्घं कस्मिन्वाऽपचितार्घमेवं कालेऽपि ॥ ३२९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मणिरश्ममणिर्माणिक्यादिः । लोहानां हिरण्यादीनाम् । तान्तर्यं कौशेयादेः । अर्घ-
बलाबलं मूल्योत्कर्षापकर्षौ ॥ ३२९ ॥

(३) कुल्लूकः । किंच मणीति । मणिमुक्ताविद्रुमलोहवस्त्राणां गन्धानां कूर्पूरादीनां रसानां लवणादीनां उत्तममध्यमा-
नां देशकालापेक्षामूल्योत्कर्षापकर्षवैश्यः जानीयात् ॥ ३२९ ॥

(४) राघवानन्दः । न केवलं पशुसंरक्षणमेव वैश्यस्यान्यदपीत्याह मणीति । मणिमुक्तादीनाम् लोहानां सुवर्ण-
रजतादीनाम् । तान्तवस्य वस्त्रादेः । गन्धानां चन्दनकुङ्कुमादीनाम् । रसानां तैलादीनाम् । अर्घबलाबलं देशकालापे-
क्षं न्यूनाधिकमूल्यम् ॥ ३२९ ॥

(६) रामचन्द्रः । तान्तवस्य ॥ ३२९ ॥

बीजानामुमिविचस्यात्क्षेत्रदोषगुणस्य च ॥ मानयोगं च जानीयात्तुलायोगांश्च सर्वशः ॥ ३३० ॥

(१) मेधातिथिः । इदं बीजं विस्तृतमुच्यत इदं संहतमुच्यत इत्येनामुमिविद्यात् इदं बीजमस्मिन्क्षेत्रे प्ररोहतीदं इदं च बलवत्फलति एवमादयोगुणदोषाः द्रोणशूर्पाढकादयो मानविशेषास्तेषां योगाये हस्तेन मीयन्ते ॥ ३३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उमिविचस्यात् वापनकलादिविचस्यात् । क्षेत्रदोषगुणस्य वेदिता । मानयोगान् द्रोणादीन् । तुलायोगान् पलादीनि । योगपदेन यत्र यादृशमासनं बन्धस्तद्विद्यादित्युक्तम् ॥ ३३० ॥

(३) कुल्लूकः । बीजानां सर्वेषां वपनविधिज्ञः स्यात् इदं बीजमस्मिन्काले तत्र संहतं चोमं प्ररोहत्यस्मिन्नेत्येवं तथेदमूषरमिदं सस्यप्रदमित्यादि क्षेत्रदोषगुणज्ञश्च स्यात् । मानोपायांश्च प्रस्थद्रोणादीन् तुलोपायांश्च सर्वान् तत्त्वतो जानीयात् यथान्योन वञ्चयति ॥ ३३० ॥

(४) राघवानन्दः । अन्यदपि तत्कृत्यमाह बीजानामिति चतुर्भिः । उमिविद्वपनकालवित् इदं बीजमिदानीं प्ररोहति नेदमिदानीमिति ऊषरानूषरादि क्षेत्रदोषगुणयोर्ज्ञातेशेषः । मानयोगांश्च प्रस्थद्रोणाढकादीनि मानानि यैः परिमाणप्रकारैर्युज्यन्ते संभवन्ति तात्मानोपायान् । तदुक्तं सममेऽष्टमुष्टिरित्यादि । तुलायोगान् त्रसरेण्वादिपलान्तान् ॥ ३३० ॥

(५) नन्दनः । क्षेत्रबीजगुणस्य वेत्ता स्यादिति विपरिणामः ॥ ३३० ॥

(६) रामचन्द्रः । बीजानां उमिविचस्यात् वपनवित् मानयोगांश्च जानीयात् प्रस्थादींश्च प्रस्थाढकादयः ॥ ३३० ॥

सारासारं च भाण्डानां देशानां च गुणागुणान् ॥ लाभालाभं च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम् ॥ ३३१ ॥

(१) मेधातिथिः । भाण्डशब्देन विक्रेयं वस्त्राजिनान्युच्यन्ते तत्र सारासारता यत्कालान्तरे स्थितं च न नश्यति तत्सारं तदितरदसारं अस्मिन्देशे ब्रीहयोभूयांसेऽस्मिन्काले यवा अस्मिन्नोदश आचार ईदृशो जानपदानां स्वभाव एवमादयो देशे गुणागुणाः अनेन च यवसेनेदृशेन चलवणेनास्मिन्काले प्रयुक्तेन पशवो वर्धन्त इति ॥ ३३१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भाण्डानां विक्रयद्रव्याणाम् । देशानां देशान्तसणाम् । गुणागुणं लाभालाभहेतुत्वम् । लाभालाभं कालान्तरेण ॥ ३३१ ॥

(३) कुल्लूकः । इदमुत्कृष्टमेतदपकृष्टमित्येकजातीनामपि द्रव्याणां विशेषं जानीयात्तथा देशानां प्राक्पश्चिमादीनां क्व किमल्पमूल्यं किं बहुमूल्यं चेत्यादि देशगुणदोषौ बुध्येत विक्रेयद्रव्याणां चेतया कालेनेयानपचयोपचयोवेति विद्यात्तथाऽस्मिन्देशे कालेऽनेन च तृणोदक्यवादिना पशवो वर्धन्तेऽनेन क्षीयन्त इत्येतदपि जानीयात् ॥ ३३१ ॥

(४) राघवानन्दः । सारेति पक्कनिबिडादितारतम्येन स्थायित्वास्थायित्वे भाण्डानां मृन्मयादीनां एकजातीयानामपि । गुणागुणं लवणादिरसोत्पत्तिनिम्नोन्नतादिसत्त्वेन गौडादिदेशानाम् । पशूनां विवर्धनं वटकण्टकमाषतृणादिभक्षणीयद्रव्यम् ॥ ३३१ ॥

(५) नन्दनः । भाण्डानां द्रव्याणां देशानां क्षेत्रादीनाम् ॥ ३३१ ॥

शृत्यानां च भृतिविद्याद्वाषाश्च विविधानृणाम् ॥ द्रव्याणां स्थानयोगांश्च क्रयविक्रयमेव च ॥ ३३२ ॥

(१) मेधातिथिः । शृत्यादासाः प्रेष्ठ्यादयः गोपालजपालमहामात्राद्यास्तेषां च कियतीवृत्तिरिति विद्यात् मालव-

कमगधद्रविडादिदेशभाषाः एतद्देशाअस्मिन्नर्थदृशमुच्चारयन्ति इदंद्रव्यमेवंस्थाप्यतएवंसंवर्ततएवमान्नियतेऽनेन योज्यत इयताविक्रीयते ॥ ३३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भृत्यानांभृतिमेतयाभृत्यैतत्कर्ममासंकार्यमिति । भाषा दाक्षिणात्यादिभाषाभेदान् । द्रव्याणांस्थानयोगानत्रैतदुत्पद्यतइति । क्रयविक्रयमन्त्रास्यक्रयविक्रयाविति ॥ ३३२ ॥

(३) कुल्लूकः । गोपालमहीषपालादीनामिदमस्य देयमिति देशकालकर्मानुरूपवेतनंजानीयात् गौडदाक्षिणात्यादीनांच मनुष्याणानानाप्रकाराभाषाविक्रयाद्यर्थविद्यात्तथेदंद्रव्यमेवंस्थाप्यतेऽनेन च संयुक्तचिरंतिष्ठतीति बुध्येत तथेदंद्रव्यमस्मिन्देशे काले चेयता विक्रीयतइत्येतदपि जानीयात् ॥ ३३२ ॥

(४) राघवानन्दः । भृत्यानां कर्मकुर्वताम् । भाषाश्च क्रयविक्रयार्थं लङ्पाभ्यंगतैलादिरूपाः । नृणामुत्कलादिस्थानाम् । नृणामिति विशेषणाद्वेदस्मृत्यादावन्येषामप्यधिकारइति । स्थानयोगांश्च पूगलवङ्गादीनां स्थापनोचिनाद्रूक्षादीनि स्थानानि सुवर्णाद्याकरान्वा ॥ ३३२ ॥

(५) नन्दनः । स्थानयोगान्निधानोपायान् ॥ ३३२ ॥

(६) रामचन्द्रः । भृत्यानां भृतिवेतनं विद्यात् । द्रव्याणां स्थानयोगांश्च अत्रैदंवस्तूत्पद्यतइति ३३२ ॥

श्रीरामचन्द्र भट्टविरचितायां मनुभावार्थदीपिकायां नवमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ९ ॥

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ॥ दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः ॥ ३३३ ॥

(१) मेधातिथिः । बहु अन्नंदातव्यमित्यर्थः अन्यथा राज्ञादण्ड्यः एवमर्थमत्रोच्यते महाधनस्यचैतत् ॥ ३३३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्नमेवदद्यात् दद्यादेवात्नं रुषीवलतया बह्वन्तत्वात् ॥ ३३३ ॥

(३) कुल्लूकः । धर्मेण विक्रयादिनोक्तप्रकारेण धनवृद्धौ प्रकृष्टंयत्नंकुर्यात् हिरण्यादिदानमपेक्ष्यानमेव प्राणिभ्योविशेषेण दद्यात् ॥ ३३३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच । धर्मेण अशीतिभागौवृद्धिः स्यादित्यनेन धनवृद्धौयत्नंकुर्यात् । सर्वभूतानां क्षुधातानां रुष्यादिसंचितमन्नं दद्यात् । न तेषु क्लिश्यमानेषु अधिकलाभार्थं [अधमर्णस्यसुवर्णादिकं]^१ स्थापयेदित्यर्थः ॥ ३३३ ॥

(५) नन्दनः । सर्वभूतानांशूद्रादीनां दद्यादेवेत्यन्वयः ॥ ३३३ ॥

विप्राणांवेदविदुषांगृहस्थानांयशस्विनाम् ॥ शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैःश्रेयसः परः ॥ ३३४ ॥

(१) मेधातिथिः । यशस्विनामिति साध्वाचारोलक्ष्यते शुश्रूषापरिचर्यैव तस्य धर्मः परंश्रेयआवहति ॥ ३३४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शूद्रधर्माह विप्राणामिति । गृहस्थानामित्यन्यैर्भरणासंभवादित्युक्तम् । नैःश्रेयसोनिःश्रेयसहेतुः ॥ ३३४ ॥

(३) कुल्लूकः । शूद्रस्य पुनर्वेदविदांगृहस्थानांत्वधर्मानुष्ठानेन यशोयुक्तानां ब्राह्मणानांयापरिचर्या सैव प्रकृष्टस्वर्गादिश्रेयोहेतुर्धर्मः ॥ ३३४ ॥

(४) राघवानन्दः । उपसंहारव्याजेन शूद्रवृत्तिं क्रथयति विप्राणामिति द्वाभ्याम् । गृहस्थानामिति विशेषणादा-

१ एवमेवमूले । राघ० २ चिन्हितपुस्तके च ।

* विक्रयादिना=द्विकशतादिना (अ)

(२) राघ० ३

अमान्तेरेषु शुद्धापेक्षानिषेधः स्वयंदासास्तपस्विनइतिन्यायात् । तत्रापि न तपस्विनामितिभावः । यशस्विनां यशोर्थिनाम् ।
कदर्यशुश्रूषा भृत्यदुःखकरी नतु सुखकरी उदकेपि भक्ष्यालाभद्वेषादिना दुरदृष्टजदुःखरूपफलत्वात् ॥ ३३४ ॥

(५) नन्दनः । नैश्रेयसः निश्रेयसहेतुः ॥ ३३४ ॥

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्भृदुवागनहंकृतः ॥ ब्राह्मणाद्याश्रयोनित्यमुत्कृष्टांजातिमश्रुते ॥ ३३५ ॥

(१) मेधातिथिः । शुचिभृद्भारिशुभ्येन्द्रियसंयमनेन च उत्कृष्टात्त्रैवर्णिकान् शुश्रूषुर्भृदुवाङ्मतर्कादिशास्त्रगन्धितयापरु-
षभाषी उत्कृष्टां ब्राह्मणादिजातिमामोतीत्यर्थः स्पष्टमुक्तं प्रयोजनं पुनर्ब्राह्मणापाश्रयग्रहणात् अन्यानप्याश्रितस्यान्यशुश्रू-
षकस्यैतदविरोधेन धर्मएव ॥ ३३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शुचिरान्तरबाह्यशौचवान् । उत्कृष्टस्य ब्राह्मणस्य शुश्रूषुः ब्राह्मणायाश्रयः कंचिदेकं-
ब्राह्मणमाश्रित्यस्थितः । जातिमुल्लिखतां जन्मान्तरे वैश्यादिजातिताम् । उत्कर्षजातिनइतिकचित्पाठः ॥ ३३५ ॥

(३) कुल्लूकः । बाह्याभ्यन्तरशौचोपेतः स्वजात्यपेक्षयोत्कृष्टद्विजातिपरिचरणशीलोऽपरुषभाषी निरहङ्कारः प्राधा-
न्येन ब्राह्मणाश्रयस्तदभावे क्षत्रियवैश्याश्रयोपि स्वजातितत्कृष्टांजातिमामोति ॥ ३३५ ॥

(४) राघवानन्दः । उत्कृष्टशुश्रूषुः उत्कृष्टानां द्विजानां शुश्रूषुः । उच्छ्रितं सच्छ्रुताम् ॥ ३३५ ॥

(५) नन्दनः । उत्कृष्टशुश्रूषा पूर्वपूर्ववर्णपूजनम् ॥ ३३५ ॥

एषोऽनापदि वर्णानामुक्तः कर्मविधिः शुभः ॥ आपद्यपि हि यस्तेषांक्रमशस्तन्निबोधत ॥ ३३६ ॥

इतिमानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥ ॥ ७३ ॥ ॥ ७३ ॥

(१) मेधातिथिः । स्पष्टमुक्तंप्रयोजनं च ॥ ३३६ ॥

इतिभट्टवीरस्वामिसूनोर्भट्टमेधातिथिकृतौ मनुभाष्ये नवमोऽध्यायः समाप्तः ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यस्त्वेषांकर्मक्रमोवृत्तिक्रमश्च क्रमशोनिबोधत मध्येप्रसंगागतंकिंचिदुक्ताऽजीवंस्तुयथोक्ते-
नेत्यादिना वक्ष्यमाणः ॥ ३३६ ॥

श्रीनारायणसर्वज्ञोक्तंमन्वर्थनिबन्धनम् । वीक्ष्य धर्मान्वरात्रूत वेद्यंसर्वकृतेकृतम् ॥ १ ॥

इति श्रीसर्वज्ञनारायणकृतौ मन्वर्थविवृतौ नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥ समाप्तोऽयं समस्तव्यवहारणामापदांच निस्तारक-
न्नामाध्यायः ॥ ७३ ॥

(३) कुल्लूकः । एषवर्णानामनापदि चतुर्णामपि कर्मविधिर्धर्मोक्तः आपद्यपि यस्तेषांधर्मस्तंसंकीर्णश्रवणादूर्ध्व-
क्रमेणशृणुत ॥ ३३६ ॥

इतिश्रीकुल्लूकभट्टविरचितायां मन्वर्थमुक्तावल्यां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥ ॥ ७३ ॥

(४) राघवानन्दः । वृत्तवर्तिष्यमाणयोरध्याययोः संबन्धार्थमनापदधर्ममुपसंहरन्नापदधर्मं प्रतिजानीते एषइति
॥ ३३६ ॥

इति श्रीराघवानन्दसरस्वतीविरचितायां मन्वर्थचन्द्रिकायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥ ॥ ७३ ॥

(५) नन्दनः । एतद्वितीयादिभिरष्टाभिरध्यायैरुक्तं पूर्वयः कश्चिदापदधर्मोक्तः सोऽल्पकइत्यभिप्रेत्याह अनापदीति ।
शास्त्रानुक्रमान्युद्देशेनक्रमशोनिबोधत आपदधर्मतः पश्चाद्वक्ष्यमाणेनेत्यर्थः ॥ ३३६ ॥

इतिमानवधर्मानुशासनव्याख्याने श्रीनन्दनकृते नवमोऽध्यायः ॥

॥ श्री ॥

॥ श्रीगणेशायनमः ॥

॥ अथ दशमोऽध्यायः प्रारभ्यते ॥



अधीयीरस्त्रयोवर्णाः स्वकर्मस्थाद्विजातयः ॥ प्रब्रूयाद्ब्राह्मणस्त्वेषानेतराविति निश्चयः ॥ १ ॥

(१) मेधातिथिः । ग्रहणार्थत्रैवर्णिकानां स्वाध्यायविधिरुक्तो गृहीतस्य [वेदस्य वा]^१ विस्मरणमप्युक्तं सर्वाश्रमिणां स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्तथा नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत शास्त्रं प्रमुख्यया वृत्त्यैव शासनाद्विशास्त्रं प्रमाणान्तरानवगतविधिप्रतिपादनाच्च वेदएवेति तदेव शास्त्रमन्यत्र ग्रन्थसंदर्भसामान्याच्छास्त्रशब्दप्रयोगः तथा नियतो वेदमभ्यसेत् ब्रह्मोद्भूता वेदनिदेति । यस्तु ब्रह्मयज्ञः स एकेनापि सूक्तेन सामानुवाकेन खण्डेन कण्डिकाया वैक्यैव यावज्जीवमधीतया सिध्यति न तेन ब्रह्मस्मरणमाक्षिप्यते तदेवं निर्विषयत्वादस्य विधेरनुवादार्थतैव प्रब्रूयाद्ब्राह्मणस्त्वेषानेतराविति क्षत्रियवैश्ययोः प्रवचननिवर्तयितुम् । ननु चाध्यायनं ब्राह्मणस्येत्यादिना तयोस्तदप्रामेयम् । नैष दोषः वृत्तिकरणस्याश्रुतत्वात्तदर्थेव निवृत्तिः संभाव्यते धर्मार्थान्तु विद्यादानंतयोरप्यस्त्येवेत्याशङ्कानिवर्तयति अथास्ति सामान्येन निषेधः एवं तर्हि ज्ञातिलक्षणप्रसङ्गजननार्थसिद्धमेवोच्यते एवं च कृत्वाऽनुक्रमणीयः संबन्धो न हातव्योयमिति भविष्यति वैश्यशूद्रोपचारंच संकीर्णानांच संभवइति कश्चिदाह अध्यापनशब्दोच्चारणशिक्षणं प्रवचनंतु तदर्थं व्याख्यानमपि अतो भिन्नत्वान्नाध्यापननिवृत्त्या तदर्थं व्याख्याननिवृत्तिर्भवतीत्यतः पुनरुपदेशः । ननु च नात्र वेदशब्दोस्ति कुतस्तत्कर्मता अध्ययनक्रियया ऽलौकिकगद्यपद्यविषयमपीदमध्ययनमुच्यते तथा सत्यदृष्टार्थो विधिः स्यात् यतश्चाधिकारकल्पना प्रसज्येत मूलकल्पना च स्यात् तथा तु व्याख्यातं उपलब्धमूलैवेयं स्मृतिर्भवतीति नादृष्टमूलकल्पना प्रसङ्गः द्विजातयइति सिद्धे त्रयोवर्णाइति पादपूरणमेव स्वकर्मस्थाइति ॥ १ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्रीमहागणपतये नमः । चत्वारो वर्णा उक्तास्तद्धर्माश्च अथ क्रमप्राप्तं संकीर्णानां स्वरूपं तद्वृत्तयश्च वाच्याः तद्वृत्तिप्रसंगाच्च वर्णानामपि वृत्तिवक्ष्यते तत्र संकीर्णानामध्ययननिषेधार्थं वर्णत्रयस्यापि स्थितमध्ययनमाचक्षाणः प्रसंगादध्यापकमपि नियमयति अधीयीरन्निति । त्रित्वं शूद्रेण सह माभूदित्यत उक्तं द्विजातयइति । विकर्मस्थानां शौद्रवृत्त्या जीवतां माभूदित्यत उक्तं स्वकर्मस्थाइति । आपदि तु क्षत्रवैश्यकर्मापि विप्रस्य स्वकर्मैवेति ग्राह्यम् । अस्य निषेधार्थतां प्रवचननिषेधे दर्शयति नेतराविति ॥ १ ॥

(३) कुल्लूकः । वैश्यशूद्रधर्मानन्तरं संकीर्णानांच संभवमिति प्रतिज्ञातत्वात् तस्मिन्वाच्ये वर्णेभ्य एव संकीर्णानामुत्पत्तेः वर्णानुवादार्थं त्रैवर्णिकस्य प्रधानधर्ममध्ययनं ब्राह्मणस्य चाध्यापनमनुवदति । ब्राह्मणादयस्त्रयो वर्णा अध्ययनानुभूतस्वकर्मानुष्ठानतारोविदं पठेयुः । एषां पुनर्मध्ये ब्राह्मण एवाध्यापनं कुर्यान् क्षत्रियवैश्यावित्ययं निश्चयः । प्रब्रूयाद्ब्राह्मणः पुनस्त्वेवामित्यनेनैव क्षत्रियवैश्ययोराध्यापननिषेधसिद्धौ नेतराविति पुनर्निषेधवचनं प्रायश्चित्तगौरवार्थम् ॥ १ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रादौ आपद्धर्मं वक्तुमनापद्धर्मान्स्मारयति अधीयीरन्नितिषङ्गिः । स्वकर्मस्थाअग्निहोत्राद्य-
नुष्ठानेच्छवः एवाधीयीरन्तेनाध्ययनाख्यंसंस्कारसंस्कृतवेदार्थावबोधोनुष्ठानाङ्गवाध्ययनमात्रमितिभावः । तेषांमध्येब्राह्म-
णएव प्रब्रूयाद्धर्ममितिशेषः । इतरौ क्षत्रियवैश्यौ ॥ १ ॥

(५) नन्दनः । अथ शास्त्रानुक्रमण्युद्देशक्रमेण संकीर्णानां संभवंवक्ष्यंस्तत्प्रकृतिभूतानां चतुर्णां वर्णानामुत्कर्षापकर्षौ
तावदाह अधीयीरन्निति । निर्णयः अयमभिप्रायः द्विजातित्वाद्विधिविहितधर्मानुष्ठायित्वादध्ययनयोगाच्च त्रयोवर्णाः शूद्रा-
दुत्कृष्टाः ब्राह्मणस्त्वाचार्यत्वात्क्षत्रियवैश्याभ्यामुत्कृष्टइति ॥ १ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रयोवर्णाः अधीयीरन् पठेयुः । तेषां वर्णत्रयाणांब्राह्मणःप्रब्रूयात् न इतरौ नृपवैश्यौ न ॥१ ॥

सर्वेषांब्राह्मणोविद्यावृत्युपायान्यथाविधि ॥ प्रब्रूयादितरेभ्यश्च स्वयंचैव तथा भवेत् ॥ २ ॥

(१) मेधातिथिः । नचास्योपदिशेद्धर्ममिति नकश्चिद्धर्मोपदेशः शूद्रस्य कर्तव्यइत्युक्तंवृत्तिधर्माउपदेष्टव्याइति
तस्यापवादः वृत्तिः शरीरकुटुम्बस्थितिस्तदर्थोपायास्तान्विद्यात् । प्रब्रूयात्सर्वेभ्य इतरेभ्य इति बहुवचनंशूद्रावरोधार्थस्वयंच
तथा भवेद्यथोपदिष्टावृत्तिनियमाअनुष्ठेयाइत्यर्थः ॥ २ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्राह्मणोवृत्युपायान् धर्म्यान् जीवनोपायानध्यापनादीन् विद्यादिति ब्राह्मणस्य नियम्य-
ते नत्वन्यस्य निषिध्यते । तथाभवेत् तथाविहितवृत्त्या जीवेत् ॥ २ ॥

(३) कुल्लूकः । किंच सर्वेति । सर्वेषांवर्णानांजीवनोपायंयथाशास्त्रंब्राह्मणोजानीयात्तेभ्यश्चोपदिशेत्स्वयंच यथोक्त-
वन्नियममनुतिष्ठेत् ॥ २ ॥

(४) राघवानन्दः । वृत्युपायान्जीवनोपायान् । दण्डशुल्करुषिवाणिज्यादीन् । नकेवलमेवमित्याह स्वयंचेति ।
तथा स्वधर्मेण याजनाध्यापनप्रतिग्रहैर्जीवीतस्यादिति ॥ २ ॥

(५) नन्दनः । इतश्चापि ब्राह्मणउत्कृष्टइत्याह सर्वेषांब्राह्मणोविद्यादिति । सर्वेषांवर्णानांशास्त्रेषु विहितान्वृत्युपाया-
न्ब्राह्मणोविद्यादितरेभ्यश्च प्रब्रूयादुपदिशेत् तथा स्वयंच शास्त्रोक्तमाचरेन्नेतरः । तेनोत्कृष्टइतिभावः ॥ २ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणः सर्वेषां वृत्युपायान् विद्यात् ब्राह्मणस्वरूपोपादानवैशिष्ट्यात् तथा स्वयं वैभवेत् ॥ २ ॥
वैशेष्यात्प्रकृतिश्रैष्ठ्यान्नियमस्य च धारणात् ॥ संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानांब्राह्मणः प्रभुः ॥ ३ ॥

(१) मेधातिथिः । किंपुनः कारणंब्राह्मणएव प्रकृतत्वेनाऽधिक्रियते न पुनः क्षत्रियादयोपि यतएतच्छेषतया प्ररो-
चनंपठति वैशेष्याद्विशिष्टत्वादित्यर्थः गुणाधिक्यादिति यावत् तदिदानीमाधिक्यमाह प्रकृतिश्रैष्ठ्यादुत्तमाङ्गोद्भवादिदमुक्तं ।
प्रकृतिः कारणं नियमस्य च धारणान्मद्यपानप्रतिषेधादयमेव नियमोऽभिप्रेतः स्नातकव्रतानि वा वैणवधारणादीनि ब्राह्मण-
स्यैव संस्कारस्य च विशेषोद्दयङ्गमाभिरित्यादि [ग्रामएव] नियमोभिप्रेतः स्नातकव्रतानिच विशेषोद्दयङ्गमाभिरित्या-
देरुपनयनादेर्वाबालस्यैवविधानात् क्षत्रियवैश्ययोस्त्वतीतशैशवयोरेकादशतोऽतोहेतोर्वर्णानांब्राह्मणः प्रभुःशासिता ॥ ३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वैशेष्यात् जातवैशिष्ट्यात् प्रकृतेर्ब्रह्ममुखरूपोपादानस्य श्रैष्ठ्यात् । नियमस्य स्नातकव्र-
तादेः । संस्कारस्योपनयनादेरतिबाल्यकृतत्वादिना विशेषात् ॥ ३ ॥

(३) कुल्लूकः । अत्रानुवादः वैशेष्यादिति । जात्युत्कर्षात्प्रकृतिः कारणंहिरण्यगर्भोत्तमाङ्गरूपकारणोत्कर्षान्नियम्य-
तेऽनेनेति नियमोवेदस्तस्याध्ययनाध्यापनव्याख्यानादियुक्तसातिशयवेदधारणात् अतएव ब्राह्मणस्यैव धारणादिति साति-

शयवेदधारणेनैव ब्राह्मणोत्कर्षउक्तः । गोविन्दराजस्तुस्नातकव्रतानांधारणादिति व्याख्यातवान् तन्न क्षत्रियादिसाधारण्या-
त्संस्कारस्योपनयनाव्यस्य क्षत्रियाद्यपेक्षयाप्राधान्यविधाने विशेषाद्वर्णानामध्यापनवृत्त्युपदेशोब्राह्मणएवैश्वरः ॥ ३ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्राह्मणस्यैव धर्मवदने जात्युत्कर्षब्रह्ममुखजत्ववेदाध्यापकत्वसोमपातृत्वानि चत्वारि हेत-
वइत्याह वैशेष्यादिति । वैशेष्यात् । ज्यैष्ठ्यात् ब्रह्मवाइदमयआसीदितिश्रुतेः । प्रकृतिश्रैष्ठ्यात् प्रकृतिरुत्पत्तिस्थलम् ब्राह्म-
णोस्यमुखमासीदितिश्रुतेः । नियमस्य स्नातकव्रतकलापादेः । संस्कारस्य सोमपातृत्वसंन्यासित्वस्य ॥ ३ ॥

(५) नन्दनः । अन्यानपि हेतून्ब्राह्मणोत्कर्षसाधकानाह वैशेष्यादिति । प्रकृतिश्रैष्ठ्याद्ब्राह्मणउत्तमाद्ब्राह्मणस्य प्र-
कृतिः । तस्याः क्षत्रियादिप्रकृतिभ्योबाह्यादिभ्यः श्रैष्ठ्यात् । धारणादक्षणात् चतुर्षु हेतुषु प्रथमैव स्वरूपतउत्कर्षउक्तः द्वितीयेन
कारणतः तृतीयचतुर्थाभ्यां कर्मतइत्यनुसंधातव्यमिति ॥ ३ ॥

(६) रामचन्द्रः । वैशेष्यात् प्रकृतिश्रैष्ठ्यात् ब्राह्मणस्वरूपोपादानवैशिष्ट्यात् नियमस्य व्रतानां वेदस्य धारणात्
संस्कारस्य विशेषात् अतिबाल्ये उपनयनादि संस्कारविशेषात् ब्राह्मणोवर्णानांप्रभुः ॥ ३ ॥

ब्राह्मणः क्षत्रियोवैश्यस्त्रयोवर्णाद्विजातयः ॥ चतुर्थएकजातिस्तु शूद्रोनास्ति तुपञ्चमः ॥ ४ ॥

(१) मेधातिथिः । केपुनरमी वर्णानामनुष्यजातिवचनोद्वर्णशब्देनेत्याह चत्वारोवर्णाब्राह्मणाद्याः शूद्रपर्यन्ताः
अन्येतु ब्रह्मरक्षैवर्तादयः संकीर्णयोऽनयोयथा वदन्ते । तत्र चतुर्णांत्रयोद्विजातयउपनयनस्य तेषांविहितत्वात् एकजातिः
शूद्रोऽनहितस्योपनयनमस्ति उपनयनविधौ ब्राह्मणादिवर्णविशेषसंयोगात् । अष्टमे ब्राह्मणमुपनयतीतैकादशे राजन्यंद्वादशे
वैश्यमिति नर्कास्मिंश्चित्काले शूद्रं पठन्ति । ननु कालविशेषानुपादानादनियतकालंशूद्रोपनयनमस्तु भवेद्यद्यसंयुक्ता सामान्ये-
नोपनयनस्योत्पत्तिः स्यादेवस्त्ववर्णकालविशेषयुक्तोनिमित्तार्थः स्तुतयः स्युः नतु पृथगुत्पत्तिरस्यास्ति तत्कस्य प्रमाणस्य
सामर्थ्येनास्योपनयनमनियतकालंक्रियतां यद्येवंकितर्हनेनचतुर्थएकजातिरिति सत्यं आशङ्कामात्रनिवारणार्थमत्रवर्जतदु-
च्यतइति अमत्तकस्य नियतकालस्य प्राप्तिराशङ्क्यते । ननु च पाकयज्ञविधावेतद्वाक्यंतत्सन्निधौ श्रवणात्तत्रकृतार्थाना-
न्यत्र भवितुमर्हति अतएवाशङ्कामात्रमित्युक्तं परमार्थतस्तु व्यवहारनियमार्थमयंश्लोकः ॥ ४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतेद्विजातयोद्विजातिशब्दवाच्याः सावित्रीतोद्विजातिजन्मलाभात् । तथा चतुर्थोवर्ण-
एकजातिरेकमेवास्य जन्म मातुःसकाशात् पञ्चमोवर्णोनास्ति संकरजानामवर्णत्वात् । एतच्च तेषांवर्णप्राप्तिर्माभूदित्येतदर्थ-
मुक्तम् ॥ ४ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणादयस्त्रयोवर्णाद्विजास्तेषामुपनयनविधानात् शूद्रः पुनश्चतुर्थोवर्णएकजातिरुपनयनाभावा-
त्पञ्चमः पुनर्वर्णोनास्ति । संकीर्णजातीनांत्वश्वतरवच्चातापितृजातिव्यतिरिक्तजात्यन्तरत्वान्न वर्णत्वं । अयंच जात्यन्तरो-
पदेशः शास्त्रे संव्यवहरणार्थः ॥ ४ ॥

(४) राघवानन्दः । शूद्रस्तु चतुर्थएकजातिरित्यन्वयः । पञ्चमोऽनुलोमजोनास्तीति ॥ ४ ॥

(५) नन्दनः । उक्तमर्थनिगमयति ब्राह्मणः क्षत्रियोवैश्यइति । क्रमोपादानं ब्राह्मणाद्विजातेरपि क्षत्रियः किंचिदप-
कृष्टः क्षत्रियाद्वैश्यइति ज्ञापनार्थं शूद्रस्यैवजातित्वग्रहणं पृथगुपादानं चापकृष्टतमत्वख्यापनार्थं पञ्चमोनास्ति चत्वारएव
वर्णाइत्यर्थः ॥ ४ ॥

(६) रामचन्द्रः । चतुर्थएकजातिःशूद्रस्तु पुनः पञ्चमःनास्ति ॥ ४ ॥

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु ॥ आनुलोम्येन संभूताजात्या ज्ञेयास्तएव ते ॥ ५ ॥

(१) मेधातिथिः । के पुनरमी ब्राह्मणादयोनाम नक्षेषांपरस्परभेदः शक्यो वसातुं व्यक्त्यधीनाधिगमाहि जात-
योनच व्यक्तयः स्वावयवसन्निवेशविशेषावगमशून्याः शक्नुवन्ति तासांभेदमावेदयितुं नच ब्राह्मणक्षत्रियादीनांगवाश्वस्येव
वाऽऽकारभेदोस्ति येन रूपिसमवायाच्चाक्षुष्यः स्युः नापि विलीनघृततैलगन्धरसादिभेदेन क्रियान्तरगोचराः नापि शौचा-
चारपिङ्गलकेशत्वादिभिर्धर्मैः शक्यंभेदावसानास्तेषांसर्वत्र संकरोपलब्धेः व्यवहारश्च पुरुषाधीनोविप्रलंभभूयिष्ठत्वाच्च पुरुषा-
णांनान्ततोवस्तुसिद्धिरित्यतोजातिलक्षणमुच्यते सर्ववर्णेष्वेतल्लक्षणंजातेर्यत्तुल्यासु समानजातीयासु भर्तृसंभूतासु पत्नीषुढासु
जातास्तएव जात्याज्ञेयाः प्रायेण मातापित्रोर्या जातिः सैवापत्यस्योढायां जातस्य वेदितव्या संबन्धिशब्दत्वात्पत्नीग्रहणा-
स्यातोवोढापिता लभ्यते तेन येनैवोढा तनयस्तस्यामेव जातस्तदा तज्जातीयोभवति । अक्षतयोनिग्रहणंपुनर्विवाहसंस्का-
रेण पत्नीत्वमाशङ्कमानंनिवर्तयति । सहोढकानीनमातृणांच ननुच नैवैतासांविवाहसंस्कारोस्तिपाणिग्रहणिकामत्ताःकन्या-
स्त्वितिवचनात् यद्यपि वोढुः सगर्भोभवतीति विवाहश्रवणेनशास्त्रीयसंस्कारप्रतिपत्तिः ग्रामिमात्रवचनत्वात्तस्य नविहितव-
चनीयंप्रत्यभिज्ञानमस्ति तस्मात्स्वीकारमात्रे धातुर्वर्तते स्वीकर्तुरित्यर्थः पित्रादीन्वचयित्वा येनैव स्वीकृता तस्यैव सा भव-
ति ततः पुत्रश्चेति तस्यार्थः । पुनर्भूसंस्काराभावात् सा चेदक्षतयोनिः स्यादिति पठ्यते । गतप्रत्यागतायामपि पुनःपुनः
शब्दप्रत्यभिज्ञानाद्धेतुरुक्ता नच ताभिः सहाभिः सहाधिकारोस्ति यज्ञसंयोगेस्ति पत्नीशब्दः अतोक्षतयोनिशब्दोऽतिरिच्य-
ते अत्र पूर्वेपत्नीशब्दमपसार्यनारीष्विति पठन्ति तदपि न किंचित् केवले ह्यक्षतयोनिशब्देत्वसंस्कृतात्पि जातास्तज्जाती-
याः स्युः । पत्नीशब्दपाठेन शास्त्रीयेण विधिनाया संस्कृता भार्यात्वमापादिता सा गृह्यते । यांस्तु कुमार्यण्वोपगम्यन्ते भव-
न्ति ताअक्षतयोनयोनतुपत्न्यः तस्मादक्षतयोनिशब्दस्य प्रयोजनंवाच्यं उच्यते यत्तावदुक्तंनताः पत्न्योयज्ञसंयोगाभावादिति
यदि विवाहेरनुसएव यज्ञः स्यात्तत्रापिपूषवरुणार्यम्णामस्त्येवयागः समानार्थौ च यागयज्ञशब्दौ तस्मात्स्युरेवपत्न्यः अक-
न्यात्वादविवाह्यतयैव न पत्न्यइति युक्तंअतश्चानर्थक्येऽक्षतयोनिशब्दस्य प्रयोजनमुच्यते । दृश्यते लक्षणयाऽस्त्यपियज्ञसंयोगे
पत्नीशब्दः प्रयुज्यमानोलेकेरजकस्य पत्नी यथान्यत्रावरुद्धासु स्त्रीषु गृहिणी शब्दः सोपि भार्यावचनएव केनचिद्धर्मसाम्ये-
न तत्रापि प्रयुज्यते यद्यपि सतिमुख्ये लक्षणा न न्याम्या तथापि मन्दिधियांसुद्वद्धूत्वाशङ्कामात्रंनिवर्तयति किंनाम नाश-
ङ्क्यते मूढमतिभिः । आनुलोम्य ग्रहणमुत्तरार्थेऽपि तएवतइति पठन्ति तेषामपि सएवार्थस्तज्जातीयाइति । अत्रोच्यते किंप्र-
माण [मूलमेतत्स्मृतिकाराणांस्मरणमकार्यरूपत्वान्नधर्माधर्मोपदेशतुल्यंप्रमाणंतैरेवनास्तीत्युक्तंस्मृत्यन्तर] मूलत्वेऽन्धपरंपरा-
प्रसङ्गः प्रमाणश्लोकैर्दर्शितः । उच्यते वृद्धव्यवहारोमूलंसाधुत्वस्मृतिवत् ननु च पुरुषापराधोसावित्युक्तं अतएव नियामकाः
स्मृतयः फलवत्यः अभियुक्तस्मरणमन्यथेति न शक्यते वक्तुं शास्त्रस्थाः प्रसिद्धाः प्रमाणतराः संभवतिच तेषामनादिव्यव-
हारोमूलं एतत्स्मृतिसंस्कृतानांवावगताभिजनजातीयानांप्रत्यक्षमभ्युपपद्यतइति । केषांचिद्दर्शनं एतत्स्मृतिविवेके प्रपंचितं
ननु च स्मृत्यन्तरे नायंविशेषोस्ति ॥ सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः ॥ अनिन्देभ्यः विवाहेषु पुत्राः संतानवर्ध-
नाइति ॥ आद्येनार्धेनजातिर्लक्ष्यते उच्यते हि ब्राह्मादिविवाहजातानांसंतानवचनत्वात्तत्र सवर्णेभ्यः सवर्णास्त्विति नात्र
पत्नीशब्दोस्ति कथंनास्ति यावता विन्नास्त्वैषविधिः स्मृतइति मा वा भूदविशेषस्मृतेर्विशेषस्मृतिर्बलीयसी यद्दर्शनादर्शनं
बलीयोयतः केन विशेषेन दृष्टोऽपरेण दृष्टइतिसंभवत्येतत् अतोभियुक्तस्मरणंसंभवन्मूलतया प्रमाणं ननुचाव्याप्तेरलक्षणमेतत् ।
नहि सहोढकानीनपौनर्भवादीनामनेन ब्राह्मण्यंभवतिकुण्डगोलकयोः । क्षेत्रजस्य च अनभिप्रेतमेव तत्तेषामिति चेत्का त-

हितेषांजातिः कुण्डगोलकयोश्च असति ब्राह्मण्ये श्राद्धे प्राप्ताभावादनर्थको निषेधः स्यात्स्मृत्यन्तरविरोधश्च ॥ सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु मया विधिरिति ॥ किंच यदेवलक्षणतदेवलक्ष्यमनिर्ज्ञातलक्ष्यं भवति निर्ज्ञातलक्षणं । यथा कोदेवदत्त इति संशयेऽङ्गदी कुण्डली व्यूढोरस्कोवृत्तबाहुः । इह तु यथाकश्चित्ब्रूयात्कः काक इत्युक्ते काकाज्जात इत्युत्तरं तादृगेव कौब्राह्मणो यो ब्राह्मणाज्जात इति जनकेऽपि हि ब्राह्मण्यमप्रसिद्धमेव न्यायविरोधश्च सजातीयात्सजातीयायां जातः सलोके सजातीयो भवति यथागोर्गवि गारश्वो द्वैडवायामश्वः अत्रोच्यते यत्तावदुक्तं कातेषां जातिरिति किमन्यथा जात्या मनुष्यास्तावद्भवन्ति पुरुषधर्मैश्चाधिक्रियतेऽनुपात्तजातिविशेषैः पुत्रत्वाच्छ्राद्धादिभिश्च दाने च सर्वेषामधिकारः ननु च विशेषस्योपदेशेन विनाव्यवहारो न सिध्यति सर्वसाधारणत्वान्मनुष्यजातेऽसदेतत्सर्वस्यैव स्वसंज्ञाविशेषो विद्यते । प्रतिपुरुषदेवदत्तो यज्ञदत्त इति अथापि संबन्धव्यपदेशः कर्तव्य इति कानीनः सहोदइत्येतदुपदिश्यते सोऽपि चातुर्वर्ण्यं सद्भावात् सामान्यरूप एवेति चेदेवदत्तस्य कानीन इत्यादि जनकेन व्यपदेशः करिष्यते । तस्मादसंबन्धमेतदुच्यते व्यपदेशः कथमिति एवंतर्हि सर्व एव धर्माश्चातुर्वर्ण्यं प्रतिबोध्यन्ते अन्तरे प्रभवानां च तत्र बहुत्वं ब्राह्मणादिजातिचतुष्टयविषयं न चैतेषामप्येकजातिः सर्वजातिष्वेतस्य लक्षणस्य प्रवृत्तेः । यथैव ब्राह्मणादूढायां ब्राह्मण्यां जातो ब्राह्मण एव क्षत्रियादयोऽपि समजातीयमातृपितृजाताः सर्वविशेषाभावे च कुतः सामान्यं न हि शिशपादिसर्वविशेषाभावे वृक्षत्वसंभवः अन्तरप्रभवाश्चानुलोमप्रतिलोमास्तत्रानुलोमामातृजातीयाः प्रतिलोमास्तु धर्महीना अन्यत्राहिंसादिभ्यस्ते सर्वे स्वसंज्ञाभिर्विशेषतो निर्दिष्टाः न चैषां नामापि तत्रास्ति तत्र कतमे ते धर्माः [अमी अधिक्रियेरन् कचतद्वचनं यदेतानधिकुर्वीत । न हि कश्चिज्जातिविशेषः स्त्रीयो धर्मः] विधिरस्ति सर्ववर्णानामन्तरभावानांचेति शास्त्रादधिकृतत्वाच्च उच्यते यत्तावदाहिंसादिषु चातुर्वर्ण्यवचनं तन्नरमात्रोपलक्षणार्थमेव । सत्यपि प्रतिलोमाधिकारे मुख्यार्थवृत्तेः प्रत्युत सहचारिजात्यन्तरेण त्रित्वमेवलक्षयितुं क्षमं नान्तरावस्थातुमर्हति तत्रैव च वक्ष्यामः इदंचास्ति ॥ शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेष्वसजाः स्मृता इति । अपध्वंसोऽसंस्कारः सचाष्टविधः व्यभिचारेण वर्णानामित्यादिनोक्तः । व्यभिचारः परस्त्रीषु गमनं सजातीयासु अन्यद्वक्ष्यामस्तस्मादसत्यपि वर्णत्वे वाचनिक एव तेषामधिकारः । क्षत्रियस्य तु मातृजातीयत्वमेव लिङ्गदर्शनान् पुत्रोद्यामुष्यायणस्य संविधानादितिकर्तव्यताविशेषः श्रुतः अन्येष्वपि श्रौतेषु तस्य विधानान्तरं दृश्यते तस्मादेव ब्राह्मणादिजातीय एव समभागः स्वपितृव्येण तस्माद्धर्मेण तं भजेदिति न च यथोक्ते विधौ तदुक्तं तदाह्वयं शूद्रधर्मा धनस्य यज्ञार्थतायामुक्तायां कुतस्तस्य तावद्भागः । कुण्डगोलकौ क्षेत्रजावेव शिष्टसमाचारश्चैवमेव पाण्डुधृतराष्ट्रविदुराः क्षेत्रजाः सन्तो मातृजातीयाः अतो युक्तः श्राद्धे प्रतिषेधः । किंच पतितोऽपि तत्र प्रतिषिद्धो यस्य सर्वधर्मबहिष्कृतत्वात् प्राप्ताशङ्कैव नास्ति यत्तु सजातीयेष्वपि स्मृत्यन्तरं तदुक्तानुवादत्वाद्यथासंभवं व्याख्येयं कार्यपुत्रविषयतया वा यच्च निर्ज्ञातलक्षणं भवति । तत्किं ब्राह्मणार्थो नैवलोकप्रसिद्धः यत्र ब्राह्मणादिशब्दः प्रयुज्यत एवापध्वंसनिवृत्त्यर्थं च सच मातापित्रोरेतदेव जातिलक्षणं न चानवस्थानादित्वात् संसारस्य प्रस्तुतन्यायविरोधस्तु साक्षात् व्यवसायगम्यत्व आसां जातीनां स्यात् तासु स्मृतिलक्षणायथास्मरणं भवितुमर्हन्ति । यथा वा वसिष्ठादयः शब्दा अन्तरेणैवाद्यत्वं धर्ममनवच्छिन्नस्मृतिपारंपर्यैकैश्च विदितार्थेषु प्रयुज्यते भवन्ति व्यवहारहेतवो वसिष्ठब्राह्मणावासिष्ठाः शृण्वन्तीति तद्वदेतद्विष्टव्यं । यथा समाने ब्राह्मणत्वे केचिद्गवो वत्सा भारद्वाजा इत्यादिविशेषः स्मृत्येकप्रमाणः । तथैव समाने पुरुषत्वेऽमी ब्राह्मणाक्षत्रिया इत्यादिरूपपूजो व्यवहारः । यैरपि लिङ्गदर्शनत्वे जाबालश्रुतिरुक्ता सत्यकामो जाबालो मातरमपृच्छात्किं गोत्रो ह मर्माति सैवं प्रत्यब्रवीत् बह्वहं-

चरन्तीपरिचारिणीयौवने त्वामालभे नाहंतद्वेदेति स एवमुपश्रुत्य हारिद्रुमंतंगौतममियाय तंहोवाचब्रह्मचर्यंभवतोविवत्स्या-
मि स एवमुवाच किंगोत्रस्त्वमसीति सप्रत्युवाचापृच्छंमातरं सामाताप्रत्यब्रवीत् यौवनेत्वामित्यादि गौतमो न चैतद्ब्राह्मणो-
वक्तुमर्हति समिधंसोम्याहरोपत्वानेष्ये । अस्यायमर्थः बहुभिरहं यौवने पुंभिः संगताभूवं जाने केन जातोसीति । गौतम-
स्तु सत्यवचनान्निश्चिकाय ब्राह्मणेनार्यजातस्त्वतस्तमुपनिन्येऽतोमन्यामहे स्वैरिणीष्वप्यनूदासु समानजातीयाज्जातासु
तज्जातीयाभवन्ति तदेतन्नाकंचिद्यतेयौवने त्वामालभे यौवने किल न स्मृतिर्द्वीभवत्युत्कलिकाबहुलत्वाद्यौवने चेतसः । किंच
परिचारिणीपरिचारिकाहेतोः क्षुधापीडिता बहुविचरन्ती नैकस्मिंस्थाने ततोमे न स्मृतिरस्ति भर्तुः किंगोत्रमिति अतः स्तिमे-
तत्समानजातीयोदायां जातास्तज्जातीयाइति । गौतमस्यापि नततोवचनाद्ब्राह्मणोयमित्यवगमः प्रागेवासौ तंब्राह्मणइति वेद
• गोत्रंतु न वेद गोत्रप्रश्नेन चरणप्रश्नोवेदितव्यस्तत्रोपनयनभेदोऽस्ति न तु गोत्रभेदेनोपनयने प्रयोजनं । ननु यथा केचिदाहुः
जातिप्रश्नोयमाभिजात्याद्गोत्रेणैवजातिमवगमिष्यामि साक्षाज्जाति प्रश्ने हि मुखरता स्यात् ॥ ५ ॥

(१) सर्वज्ञनारायणः । वर्णेष्वित्युपलक्षणं संकीर्णेष्वपि । तुल्यासु सवर्णासु मूर्धावसिक्तत्वादिजातिसजातीयासु-
वा । पत्नीषु परिणीतासु नत्वेवमेवगृहीतासु । अतएव याज्ञवल्क्यो विन्नाखेषविधिरित्युपसंहारमाह । एतेन कुण्डगोलक-
योर्वर्णबाह्यतोक्ता । अतएव बौधायनः ॥ एतानर्थस्य विवाहानाहुरेतैः संस्कृताभिरुत्पन्नास्तज्जातीयाभवन्ति नान्यइति ।
व्यासश्च ॥ भार्याजाताः समानाः स्युः संकराः स्युरतो न्यथेति । देवलश्च ॥ द्वितीयेन तु यः पित्रा सवर्णायां प्रजायते । अववा-
टइति ख्यातः शूद्रजन्मा सजातितः । व्रतहीना असंस्कार्याः सवर्णास्त्वपि ये सुताः । उत्पादिताः सवर्णेन ब्राह्मणइति ब-
हिष्कृताः ॥ शूद्रजन्मेति त्रैवर्णाप्रवेश्यत्वाभिप्रायेणोक्तम् । शूद्रस्य नु जातोपि दास्यांशुद्रेणां शहरइत्यभिधानादनूढोत्पन्नो-
पि परिणीतभार्योत्पन्नसमएवातएवसशूद्रः । नच कुण्डगोलकयोरब्राह्मणत्वे ततएव श्राद्धाधिकाराच्छ्राद्धप्रकरणे त-
न्निषेधवैयर्थ्यमेवं स्यात् पंक्तिदूषकतया हि तेषां तत्राभिधानं तच्च ब्राह्मणभ्रमस्य तत्रसंभवात्प्रवेशे पंक्तेरेव दूषणा-
च्छ्राद्धवैयर्थ्यंभवतीत्येतदर्थमुक्तम् । तुल्यासु अक्षतयोनिषु परिणेतुरव्येनासंस्पृष्टासु । एतेन पौनर्भवस्याप्यब्राह्मण्यमुक्तम् ।
आनुलोम्येन वयस आनुलोम्येन वरापेक्षयाऽल्पवयसि कन्यायामुत्पन्नइत्यर्थः । तेनाधिकवयसः परिणीतायाः सवर्णाया-
अपि पुत्रो न ब्राह्मणइत्युक्तम् । अतएव यज्जातीयौ यज्जातापितरौ तज्जातीयाएव ॥ ५ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणादिषु वर्णेषु चतुर्वर्षि समानजातीयासु यथाशास्त्रं परिणीतास्वक्षतयोनिष्वानुलोम्येन
ब्राह्मणेन ब्राह्मण्यां क्षत्रियेण क्षत्रियायामित्यनेनानुक्रमेण ये जातास्ते मानापित्रोर्जात्यायुक्तास्तज्जातीयाएव ज्ञातव्याः ।
आनुलोम्यग्रहणंचात्र मन्दोपयुक्तमुत्तरलोकउपयोक्ष्यते गवाश्वादिवदवयवसन्निवेशस्य ब्राह्मणजात्यभिव्यञ्जकत्वाभा-
वादेतद्ब्राह्मणादिलक्षणमुक्तम् । अत्र च पत्नीग्रहणादन्यपत्नीजनितानां ब्राह्मणादिजातित्वम् । तथाचदेवलः । द्वितीयेन तु
यः पित्रा सवर्णायां प्रजायते । अववाटइति ख्यातः शूद्रधर्मा सजातितः ॥ व्रतहीनानां संस्कार्याः स्वतत्त्वास्त्वपि ये सुताः ।
उत्पादिताः सवर्णेन ब्राह्मणइव बहिष्कृताः ॥ व्यासः ॥ ये तु जाताः समानासु संस्कार्याः स्युरतो न्यथा ॥ याज्ञवल्क्योपि ॥
सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः ॥ इत्यभिधाय विन्नाखेषविधिः स्मृतइति ब्रुवाणः स्वपत्न्युत्पादितस्यैव ब्राह्मणा-
दिजातित्वं निश्चिकाय ॥ ५ ॥

(४) राघवानन्दः । अक्षतयोनिष्वितिविशेषणात् कानीनोदोद्विजत्वं गौणम् । आनुलोम्येन ब्राह्मण्यां ब्राह्मणा-
ज्जातः तथैव ब्राह्मणत्वजात्याविशिष्टः । एवं क्षत्रियविद्विशूद्रेषु ॥ ५ ॥

(५) नन्दनः । अथवर्णानां लक्षणमाह सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्विति । तुल्यासु अर्हासु सापिण्ड्यदोषरहितास्वि-

त्यर्थः । अक्षतयोनिष्वनन्यपूर्वासु आनुलोम्यमनिद्याविवाहास्तेषु संभूताये वर्णास्तेजात्यन्तराएव ज्ञेयाः ॥ ५ ॥

(६) रामचन्द्रः । अक्षतयोनिषु संभोगान्क्षतायोनयोयासांता अक्षतयोनयस्तासु आनुलोम्येन संभूताः वयसः आनुलोम्येन वरापेक्षयाहीनवयसि कन्यायां जाताः ते अनुलोमजाः ॥ ५ ॥

स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादितान्सुतान् ॥ सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान् ॥ ६ ॥

(१) मेधातिथिः । अनन्तरास्वव्यवहितास्वानुलोम्येन यउत्पन्नाः पुत्रास्ते सदृशज्ञेयाः नतु तज्जातीयाः यथा ब्राह्मणात्क्षत्रियायां क्षत्रियाद्वैश्यायां तेन सदृशाः नतु तएव । अत्र हेतुः मातृदोषविगर्हितान् तत्सदृशग्रहणान्मातृतउत्कृष्टान्पितृतोनिकृष्टान् । द्विजैरिति बहुवचननिर्देशान्मातृतश्च ग्रहणादानुलोम्येष्वेतत्संभवति प्रातिलोम्ये पितृतोयहणेन मातृतः पितुर्निकृष्टजातीयत्वात् । अत आनुलोम्यग्रहणपूर्वश्लोके यदुक्तमंतरार्थमिति तदिहानर्थकमतः परेषु श्लोकेषूपदिश्यते ॥ ६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनन्तरजातासु ब्राह्मणस्यक्षत्रियायां क्षत्रियस्यवैश्यायां वैश्यस्यशूद्रायाम् । द्विजैरित्यनुवादस्तेषामेवानन्तरजसंभवात् । सदृशान् पितुर्मातृश्व नतु सजातीयान् क्रमात्सृष्ट्यन्तरोक्तमूर्धावसिक्तमाहिष्यकरणसंज्ञान् । पितृमातृसादृश्याभिधानं ब्रह्मक्षत्रियवैश्याजातान् श्रेष्ठ्यार्थम् । मातृदोषेण मातृभिन्नजातीयत्वेन विगर्हितान् वर्णमध्यवहिष्कृतान् ॥ ६ ॥

(३) कुल्लूकः । आनुलोम्येनाव्यवहितवर्णजातीयासु भार्यासु द्विजातिभिर्ये उत्पादिताः पुत्राः यथा ब्राह्मणेन क्षत्रियायां क्षत्रियेण वैश्यायां वैश्येन शूद्रायां तान्मातुर्हीनजातीयत्वदोषाद्गर्हितान्पितृसदृशान्तु पितृसजातीयान्मन्वादय आहुः । पितृसदृशग्रहणान्मातृजातेरुत्कृष्टाः पितृजातितोनिकृष्टाज्ञेयाः एतेषांच नामानि मूर्धावसिक्तमाहिष्यकरणाख्यानि याज्ञवल्क्यादिभिरुक्तानि । वृत्तयश्चैषामुशनसोक्ताः हस्त्यश्वरथशिक्षाअस्त्रधारणंच मूर्द्धाभिषिक्तानां नृत्यगीतनक्षत्रजीवनंसस्यरक्षा च माहिष्याणां द्विजातिशुश्रूषा धनधान्याध्यक्षता राजसेवादुर्गातःपुररक्षा च पारशवोयकरणानामिति ॥ ६ ॥

(४) राघवानन्दः । स्वजातीयाव्यवहितजातीयासु ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यैरुत्पादितत्वान् ते द्विजातयइत्याह स्त्रीष्वितिसार्धेन । सदृशान् तद्भिन्नत्वेसति तद्गतभूयोधर्मशालिनः । अत आह मातृदोषविगर्हितान् मातुर्हीनजातित्वेन जात्यन्तरकर्मन्तरयुक्तत्वेन निन्दितान् मूर्धाभिषिक्तमाहिष्यकरणाख्यानितिशेषः ॥ ६ ॥

(५) नन्दनः । अथवर्णसंकरजातानाह स्त्रीष्वनन्तरजातास्त्विति । अनन्तरजातास्वनन्तरवर्णजातासु द्विजैरुत्पादिता ब्राह्मणेन क्षत्रियायां क्षत्रियेण वैश्यायां वैश्येन शूद्रयाश्चोत्पादितान्सुतान् सदृशान् एवकारो जात्यन्तरभ्रमनिवृत्त्यर्थः । भ्रमप्राप्तौ कारणत्वेनोक्तं मातृदोषविगर्हितानिति विशेषणं तथापि सदृशानित्यर्थः ऊढासुतविषयमेतन्मातृदोषमात्रस्यैवोपन्यासादनुद्वाहस्योभयदोषवत्त्वात् ॥ ६ ॥

अनन्तरासुजातानांविधिरेषसनातनः ॥ द्वेकान्तरासु जातानांधर्म्यविद्यादिमंविधिम् ॥ ७ ॥

(१) मेधातिथिः । आद्येनार्धश्लोकेनोक्तमर्थमनुवदति द्वितीयेन वक्ष्यमाणसंक्षेपः द्वेकान्तरा द्यन्तरा ब्राह्मणस्य शूद्रा एकान्तरा वैश्या नातीवश्लोकः सप्रयोजनः ॥ ७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । द्यन्तरासु त्वद्वितीयान्तरितासु त्वस्यानन्तरवर्णव्यतिरिक्तवर्णस्त्रीष्वितियावत् ब्राह्मण-

(७) द्वेकान्तरासु जातानां=द्यन्तरासु च जातानाम् (ख, च)

स्य वैश्यायांशूद्रायांच क्षत्रस्य शूद्रायाम् । धर्म्यं धर्मादनपेतं विधिं प्रकारम् । यद्यप्यग्रे संज्ञामात्रमुक्तं तथापि तत्संज्ञानुवादेनान्यत्रोक्तान्धर्मानभिप्रेत्य धर्ममित्युक्तम् ॥ ७ ॥

(३) कुल्लूकः । एषपारंपर्यागततया नित्योविधिरनन्तरजातिभार्योत्पन्नानामुक्तः । एकेन द्वाभ्यांच वर्णाभ्यां व्यवहितासूत्पन्नानां । यथा ब्राह्मणेन वैश्यायां क्षत्रियेण शूद्रायां ब्राह्मणेन शूद्रायामिवक्ष्यमाणधर्मादनपेतंविधिजानीयात् ॥७॥

(४) राघवानन्दः । अम्बष्ठादीनामुत्पत्तिमाह द्वीति । द्विश्चैकाचेति छेदः । ताम्यामेतासु जातानां विधिमुत्पत्ति इमं वक्ष्यमाणम् । तेनात्र विप्रस्यैकान्तरा क्षत्रिया तामपेक्ष्य वैश्या द्यन्तरा तांचापेक्ष्य शूद्रा च्यन्तरा इतितिस्रः । क्षत्रिया तु वैश्याद्यन्तरामपेक्ष्यैकान्तराशूद्राएवद्वे अतएव वक्ष्यति विप्रस्य त्रिषु वर्णेष्वित्यादि ॥ ७ ॥

(५) नन्दनः । एषविधिः पूर्वश्लोकाभ्यामुक्तोविधिः । द्यन्तरासु स्वानन्तरजातिभ्यां व्यवहितासु ब्राह्मणस्य वैश्यासु क्षत्रियस्य शूद्रास्त्वित्यर्थः । ब्राह्मणस्य रुयन्तरायाः शूद्रायाअप्युपलक्षणमेतत् इमंविधिंवक्ष्यमाणं वर्णातत्त्वंद्यन्तरच्यन्तरयोः ॥ ७ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्यन्तरासु ब्राह्मण [त] वैश्यायां शूद्रायांच । नृपकन्यायां वैश्ये उत्पन्ने शूद्रे उत्पन्ने सति उभौ अम्बष्ठौ भवतः । आत्मा विज्ञायते पुत्रइति ॥ ७ ॥

ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामंबष्ठोनामजायते ॥ निषादःशूद्रकन्यायांयः पारशवउच्यते ॥ ८ ॥

(१) मेधातिथिः । एकान्तरा ब्राह्मणस्य वैश्या तत्र जातोऽबधः । स्मृत्यन्तरे शृङ्गकण्ठइत्युक्तः । द्यन्तरायां शूद्रकन्यायां निषादः पारशवश्च निषादशब्दः प्रतिलोमजातीयेऽपि वर्तते । कन्याग्रहणस्त्रीमात्रोपलक्षणार्थमिति व्याचक्षते वैश्यस्त्रियामित्यर्थः । एवंसर्वत्रद्रष्टव्यम् ॥ ८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निषादसंज्ञायां मत्स्यघातकर्मता माभूदित्यस्य निषादान्तरत्वंद्योतयितुं पारशवसंज्ञानुवादः ॥ ८ ॥

(३) कुल्लूकः । कन्याग्रहणादत्रोढायामित्यभ्याहार्यं विनास्वेषविधिः स्मृतइति याज्ञवल्क्येन स्फुटीकृतत्वाच्च । ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामूढायामंबष्ठाख्योजायते । शूद्रकन्यायामूढायां निषादउत्पद्यते यतः संज्ञान्तरेण पारशवश्चोच्यते ॥ ८ ॥

(४) राघवानन्दः । वैश्यशूद्रयोर्नास्त्येव द्यन्तरजातिरित्याह ब्राह्मणादिति । यइति नवमाध्यायोक्तानुवादः ॥ ८ ॥

(५) नन्दनः । ब्राह्मणस्य संभूतावाह ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामिति । पारशवउच्यते पारशवनामा चेत्यर्थः ॥ ८ ॥

(६) रामचन्द्रः । शूद्रकन्यायां ब्राह्मणाज्जातोनिषादः यःपारशवइतिनामाउच्यते ॥ ८ ॥

क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां क्रूराचारविहारवान् ॥ क्षत्रशूद्रवपुर्जन्तुरुयोनामप्रजायते ॥ ९ ॥

(१) मेधातिथिः । आचारविहारौ कायचेष्टावाग्यापारश्च तावस्यक्रूरौ भवतः स्वभावानुवादोयं वपुः शब्दः स्वभाववचनएव उभयजातिसंभूतत्वाद्दुभयधर्माभवति ॥ ९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्रूरोहिंसआचारोवृत्तं तेन विहारःक्रीडा यस्य ॥ ९ ॥

(३) कुल्लूकः । क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायामूढायां क्रूरचेष्टः क्रूरकर्मरतिश्च क्षत्रशूद्रस्वभावउद्याख्यः पुत्रोजायते ॥ ९ ॥

(४) राघवानन्दः । क्षत्रियात्तूयजातेरुत्पत्तिरित्याह क्षत्रियादिति । शूद्रवपुः क्षत्रियः पिता शूद्रामाता ताभ्यां वपुर्यस्य सः ॥ विमान्मूर्धावसिक्तोहि क्षत्रियायांविशःस्त्रियाम् ॥ जातोऽबधस्तु शूद्रायां निषादः पारशवोपि वा ॥ वैश्याशू-

द्रयोस्तु राजन्यान्माहिष्योग्रौस्मृतौसुतौ ॥ वैश्यास्तु करणः शूद्रायां विन्नास्वेषविधिः स्मृतइति । याज्ञवल्क्योक्तेर्मूर्धा-
भिषिक्तमाहिष्यकरणानां क्षत्रविट्शूद्रकन्यासु विधिवद्भासु यथाक्रममन्तर्भावोच्चेयः ॥ ९ ॥

(५) नन्दनः । क्षत्रियस्य द्यन्तरायां जातमाह क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायामिति । क्षत्रियोत्पन्ननिमित्तैः क्रूराचारैः वि-
हारः कालक्षेपोयस्यास्ति सक्रूराचारविहारवान् ॥ ९ ॥

विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेर्वर्णयोर्द्वयोः ॥ वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन्पडेतेऽपसदाः स्मृताः ॥ १० ॥

(१) मेधातिथिः । अत्रत्रिपाद्यनुवादः चतुर्थस्तु पादोऽपसदाभिधानार्थः । एते त्रैवर्णिकानामेकान्तरद्यन्तरस्त्रीजा-
ताअपसदाएते वेदितव्याः । सदा पुत्रार्थफलदाअपशीर्णाः समानजातीयपुत्रापेक्षाया भिद्यन्ते ॥ १० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । षडेते अनन्तरद्यन्तरजाः प्रागुक्ताः । अपसदाः सदः सस्यं प्रजारूपं सापकृष्टानेनेत्यप-
सदइति नाम कृतम् ॥ १० ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणस्य क्षत्रियादिव्रयस्त्रीषु क्षत्रियस्य वैश्यादिवर्णद्वयोः स्त्रियोः वैश्यस्य च शूद्रायां वर्णत्र-
याणामेतेषु षट्पुत्राः सवर्णपुत्रकार्यापेक्षयाऽपसदाअवसन्नानिकृष्टाः स्युः ॥ १० ॥

(४) राघवानन्दः । अतएवाह विप्रस्येति । नृपतेर्द्वयोः वैश्याशूद्रयोः एकस्मिन् शूद्ररूपे शूद्रायां वैश्यात्करणाख्यः ।
अपसदाः निकृष्टजाः सवर्णापेक्षया ॥ १० ॥

(५) नन्दनः । अथ तासु तेभ्यश्चौर्यतोजातानाह विप्रस्य त्रिषु वर्णेष्विति । त्रिषु क्षत्रियादिषु । द्वयोर्वैश्यशूद्रयोः ।
एकस्मिन् शूद्रे । वर्णशब्देन वर्णस्त्रियोविवक्षिताः । सदशब्देन फलमुच्यते अपगतसदाअपसदाः सवर्णानन्तरापुत्रकार्यही-
नाइत्यर्थः ॥ १० ॥

(६) रामचन्द्रः । विप्रस्य कन्यायां त्रिषु [क्षत्रिय] वैश्यशूद्रेषु जातेषु सत्सु नृपतेः क्षत्रियस्य कन्यायां वर्णयोः
वैश्यशूद्रयोः नृपकन्यायां चैवं वैश्ये उत्पन्ने शूद्रे उत्पन्ने सति उभौ अपसदौ आत्माविज्ञायते पुत्र इति वैश्यस्यकन्यायां
वर्ण एकस्मिन् शूद्रे उत्पन्ने सति ॥ १० ॥

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सुतोभवति जातितः ॥ वैश्यान्मागधवैदेहौ राजविप्राङ्गनासुतौ ॥ ११ ॥

(१) मेधातिथिः । आनुलोम्ये पूर्वोविधिः प्रतिलोम्ये नत्वयमुच्यते कन्याग्रहणमुक्तार्थं वैश्यान्मागधवैदेहौ
यथासंख्येन राजस्त्रियां मागधः ब्राह्मण्यां वैदेहः ॥ ११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनुलोमजानुक्ता प्रतिलोमजानाह क्षत्रियादिति । राजाङ्गना क्षत्रस्त्री ॥ ११ ॥

(३) कुल्लूकः । एवमनुलोमानुक्ताप्रतिलोमानाह क्षत्रियादिति । अत्र विवाहासंभवात्कन्याग्रहणंस्त्रीमात्रप्रदर्शनार्थम्
अत्रैवं श्लोके राजविप्राङ्गनासुताविति ब्राह्मण्यां क्षत्रियाज्जात्यासूतनामा संजायते वैश्याद्यथाक्रमंक्षत्रियाब्राह्मण्योर्माग-
धवैदेहाख्यौ पुत्रौ भवतः एषांच वृत्तयोमनुनैवाभिधास्यन्ते ॥ ११ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रतिलोमजानाह क्षत्रियादितिद्वाभ्याम् । कन्याग्रहणं योषिन्मात्रपरम् ॥ ब्राह्मण्यां क्षत्रियस्यसू-
तोवैश्याद्वैदेहकस्तथा ॥ शूद्राज्जातस्तु चाण्डालःसर्वधर्मबाह्यकृतः ॥ क्षत्रिया मागधं वैश्याच्छूद्राक्षत्तारमेव च ॥ शूद्रादा-
योगवं वैश्याज्जनयामास वै सुतमिति ॥ याज्ञवल्क्यवचनमेवानयोर्व्याख्यानमिति विरम्यते । अङ्गेन त्वभोगायनीयतइत्य-
ङ्गना ॥ ११ ॥

(५) नन्दनः । एवमनुलोमजाउक्ताः अथप्रतिलोमजानाह क्षत्रियाद्विप्रकन्यायामिति ॥ ११ ॥

(६) रामचन्द्रः । क्षत्रियाद्विप्रकन्यायांजातः सूतः । वैश्याद्वाजकन्यायां मागधः वैतालिकोभवति । वैश्याद्विप्रकन्यायां वैदेहोनाम भवति ॥ ११ ॥

शूद्रादायोगवः क्षत्ता चण्डालश्चाधमोऽनृणाम् ॥ वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः ॥ १२ ॥

(१) मेधातिथिः । अत्रापि यथासंख्यमेव वैश्यराजन्यइति निर्देशे जातिपरेपि सामर्थ्यात्स्त्रीलिङ्गप्रतिपत्तिः । मृगक्षीरंकुक्कुट्याण्डइति यथा वृत्तानुरोधात्स्त्रीप्रत्ययोनकृतः ॥ १२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वैश्यराजन्यविप्रासु तज्जातीयस्त्रीषु क्रमादायोगवादयस्त्रयः । एषांच प्रतिलोमपरिणयनासंभवादपरिणीतास्तेव जन्म ॥ १२ ॥

(३) कुल्लूकः । शूद्राद्वैश्याक्षत्रियाब्राह्मणीषु क्रमेणायोगवः क्षत्ता नृणामधमश्चाण्डालश्च वर्णानांसंकरोधेषु जनयितव्येषु ते वर्णसंकराजायन्ते ॥ १२ ॥

(४) राघवानन्दः । शूद्राद्वैश्यक्षत्रियविप्रकन्यासु यथाक्रममायोगवक्षत्तृचण्डालाः स्युरितिभावः ॥ १२ ॥

(५) नन्दनः । राजन्यशब्दे छन्दोनुरोधात् स्त्रीप्रत्ययोनियुक्तः ॥ १२ ॥

(६) रामचन्द्रः । शूद्राद्वैश्यायामायोगवः । शूद्रात्क्षत्रियायांक्षत्ता । शूद्राद्ब्राह्मण्यांजातश्चाण्डालः । सर्वधर्मबहिष्कृतावैश्यराजन्यविप्रास्तेववर्णसंकराजायन्ते । विप्रान्मूर्धाभिषिक्तोहि क्षत्रियायां विशस्त्रियां । शूद्र्यानिषादोजातः । पाराशर्योपिवायोगी ॥ ब्राह्मण्यांक्षत्रियात्सूतोवैश्याद्वैदेहकःस्मृतः । शूद्राज्जातस्तु चाण्डालः । क्षत्रिया मागधंवैश्यात् ॥ शूद्रादायोगवं वैश्या जनयामास वै सुतम् ॥ वैश्याशूद्रयोस्तु राजन्याच्चाहिष्योग्रौ सुतौ स्मृतौ । वैश्यात्तु करणः शूद्र्यांविनास्वेषविधिःस्मृतः ॥ १२ ॥

एकान्तरे त्वानुलोम्यादंबष्ठोग्रौ यथास्मृतौ ॥ क्षत्तृवैदेहकौ तद्वत्प्रातिलोम्येपि जन्मनि ॥ १३ ॥

(१) मेधातिथिः । एकान्तरे वर्णे ब्राह्मणाद्वैश्यायाम्बष्ठः क्षत्रियाच्छूद्रायामुग्रः एतावानुलोम्येन एवमेकान्तरे प्रातिलोम्येन शूद्रात्क्षत्रियायां क्षत्ता वैश्याद्ब्राह्मण्यां वैदेहः तौ तुल्यौ भवनादिक्रियासु नत्वध्ययनादिषु । चण्डालएकः प्रतिलोमोऽस्पृश्यः यथा च दिवाकिर्तिरलोकेतत्स्पर्शएवंस्नानान्येषु प्रतिलोमेषु सूतमागधायोगवानामनन्तरजातानांचण्डालदण्डापूपिकायां सिद्धः स्पर्शादिसंबन्धः ॥ १३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विप्राद्वैश्यायां यथाम्बष्ठोयथावा क्षत्रियाच्छूद्रायामुग्रः पुत्रानुलोम्येन जातोऽप्यनन्तरस्त्रीजातपुत्रापेक्षया निन्दितस्तथा वैश्याद्विप्रायांजातोवैदेहः शूद्रात्क्षत्रियायां जातश्च क्षत्ता । अनन्तरप्रतिलोमजातापेक्षयैकान्तरितजातत्वान्निन्दितइत्यर्थः । यथास्मृतौ निन्दितावतिशेषः ॥ १३ ॥

(३) कुल्लूकः । एकान्तरेपि वर्णे ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायाम्बष्ठः क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायामुग्रः एतावानुलोम्येन यथास्पर्शाद्यहौ तद्वदेकान्तरे प्रतिलोमजननेपि शूद्रात्क्षत्रियायां क्षत्ता वैश्याद्ब्राह्मण्यां वैदेहः एतावपि स्पर्शादियोग्यौ विज्ञेयौ । एकान्तरोत्पन्नयोः स्पर्शाद्यनुज्ञानादनन्तरोत्पन्नानांसूतमागधायोगवानांस्पर्शादियोग्यत्वंसिद्धंभवति । अतश्चाण्डालएवैकः प्रतिलोमतः स्पर्शादौ निरस्यते ॥ १३ ॥

(४) राघवानन्दः । क्षत्तृवैदेहयोः स्पृश्यत्वं सदृष्टान्तमाह एकान्तरइति । त्वत्त्वजातितोभिन्नैकाजातिरन्तरा व्यवधानं यस्य जन्मनस्तस्मिन्नेकान्तरे जन्मनि यथानुलोमजावम्बष्ठोग्रौस्पृश्यावेवं शूद्रात्क्षत्रियाजः क्षत्ता वैश्याद्ब्राह्मणीजोवै-

देहश्च तुल्यौ स्पृश्यत्वादिना स्मृतावित्यन्वयः । वर्णसंकराणां मातृजातीयसंस्कारं प्रापयितुं तेषामनुवादः ॥ १३ ॥

(५) नन्दनः । उक्तमेवार्थं श्लोकत्रयेण प्रपञ्चयति एकान्तरेत्वानुलोम्यादिति । आनुलोम्यादेकान्तरे जन्मनि यथा ब्राह्मणाद्वैश्यायामंबष्ठः यथाक्षत्रियाच्छूद्रायामुग्रः यथा प्रतिलोम्येनैकान्तरे जन्मनि शूद्राक्षत्रियायां क्षता तथा वैश्याद्ब्राह्मण्यां वैदेहकः आयोगवश्च क्षताचण्डालश्चेतिप्रतिलोम्येन जायन्ते शूद्राद्वैश्यायामायोगवः क्षत्रियायां क्षता ब्राह्मण्यां चण्डालइत्यर्थः वैश्यान्मागधवैदेहौ क्षत्रियाद्ब्राह्मण्यां सूतइत्यर्थः परेऽन्ये एतेष्वपसदाइत्यर्थः ॥ १३ ॥

(६) रामचन्द्रः । एकेन अन्तरे आनुलोम्यात् ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायां अम्बष्ठः । तु पुनः शूद्रात् वैश्यायां आयोगवः । शूद्राक्षत्रियायां क्षता । शूद्राद्ब्राह्मण्यां अधमः एकेन अन्तरे राजन्यात् शूद्रायां जातः उग्रः अम्बष्ठोऽग्रीयथास्मृतौ भाषण-
स्पर्शयोग्यौक्षत्तृवैदेहिकौ प्रतिलोमेन जन्मनि तद्वत् भाषण स्पर्शयोग्यौ । क्षत्रियायां शूद्रात् क्षतारं जनयति ब्राह्मण्यां वै-
श्यात् वैदेहकः ॥ १३ ॥

पुत्रायेऽनन्तरस्त्रीजाः क्रमेणोक्ताद्विजन्मनाम् ॥ ताननन्तरनाम्नस्तु मातृदोषात्प्रचक्षते ॥ १४ ॥

(१) मेधातिथिः । यथा ब्राह्मणाक्षत्रियायां वैश्यायां च एवंक्षत्रियादुभयोस्ताननन्तरनाम्नः प्रचक्षते । अनन्तरा-
ऽनुलोमा या जातिः समाना तेषामातृजातीयाइत्यर्थः । अनन्तरग्रहणमविवक्षितमतएवाह मातृदोषादिति पितृजात्युत्कर्षेण
नोदुष्यन्ते । अतश्च सत्यपि वर्णसंकरत्वे वचनान्मातृजात्याः स्मृताः संस्कारास्तेषु कर्तव्याइत्युक्तं भवति तर्हि वद्वचनमन्तरेण
क्षत्रियादिसंस्कारास्तेषु लभ्यन्ते अश्वतरवजात्यन्तरत्वात् वचनेन तु मातृजातावुक्तायामदोषाः ॥ १४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनन्तरस्त्रीजाः विप्रस्यक्षत्रियायां क्षत्रस्यवैश्यायां वैश्यस्यशूद्रायाम् । अनन्तरनाम्नः
क्षत्रियादिनाम्नः प्रचक्षते मातृदोषात् । क्षत्रियादिमातृकत्वान्मातृजातिसाधारणो धर्मस्तेषामित्यर्थः । अनन्तरनाम्नइति ना-
मग्रहणान्नाममात्रं नजातिरिति दर्शितम् ॥ १४ ॥

(३) कुड्डूकः । मातृदोषादिति हेतूपन्यासात् अनन्तरग्रहणमनन्तरवच्चैकान्तरद्यन्तरप्रदर्शनार्थं ये द्विजातीनाम-
नन्तरैकान्तरद्यन्तरजातिस्त्रीष्वानुलोम्येनोत्पन्नाः पूर्वमुक्ताः पुत्रास्तान्हीनजातिमातृदोषान्मातृजातिव्यपदेश्यानाचक्षते ।
मातापितृव्यतिरिक्तसंकीर्णजातिव्यपदेशकथनमातृजातिसंस्कारादिधर्मप्राप्त्यर्थम् ॥ १४ ॥

(४) राघवानन्दः । पुनःस्पृश्यत्वार्थमनुलोमजात्यन्तरत्रयमाह पुत्राइति । द्विजन्मनामनन्तरासु स्त्रीषु उग्राम्ब-
ष्ठायोगवजातीयासु विप्राचैः पुत्राजायन्ते ते अनन्तरनाम्नः आवृतादिनामकजातियोगिनः । तत्संज्ञामातृजातिसंस्कारार्थं
तिमेधातिथिः ॥ १४ ॥

(५) नन्दनः । पक्षान्तरमाह पुत्रायेनन्तरस्त्रीजाइति । अनन्तरनाम्नोन्तरवर्णनाम्नः क्रमेण क्षत्रियवैश्यशूद्रनाम्नः
मातृजातीयानित्यर्थः ॥ १४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनन्तरस्त्रीजाये पुत्राअम्बष्ठोऽग्रीयक्षत्तृवैदेहकायोगवाः एते पुत्राः अनन्तरस्त्रीजाता अनन्तरना-
मानः ॥ १४ ॥

ब्राह्मणादुग्रकन्यायामातृतोनाम जायते ॥ आभीरोंऽबष्ठकन्यायामायोगव्यान्तुधिग्वणः ॥ १५ ॥

(१) मेधातिथिः । अयं निषादीर्मिल्लोकेन शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातोयः प्रागुक्तः किं तर्हि यः प्रतिलोमोवक्ष्यमाणः

(१४) नाम्नस्तु=जातास्तु (य)

प्रतिलोमाधिकाराप्रतिलोमादिपुल्कसाजातिः प्रसिद्धा । एवंशूद्रानिषाद्यांकुक्कुटकः ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥

(१) सर्वज्ञनारायणः । ब्राह्मणादिति अनुलोमविलोमसंकरस्त्रीभूतमवर्णजनितमेतत्कुलम् ॥ १५ ॥

(३) कुल्लूकः । क्षत्रियेण शूद्रायामुत्पन्नोऽया उया चासौ कन्याचेत्युग्रकन्या तस्यां ब्राह्मणादावृतनामा जायते । ब्राह्मणेन वैश्यायामुत्पन्ना अंबषा तस्यां ब्राह्मणादाभीराख्योजायते शूद्रेण वैश्यायामुत्पन्नाऽऽयोगवी तस्यां ब्राह्मणाद्धि-
ग्वणोजायते ॥ १५ ॥

(४) राघवानन्दः । ते एवावृताभीरधिग्वणजातयइत्याह ब्राह्मणादिति ॥ १५ ॥

(५) नन्दनः । अथान्यान्सङ्करजातानाह ब्राह्मणादुग्रकन्यायामिति ॥ १५ ॥

(६) रामचन्द्रः । आवृतोहस्तिपः । अम्बषकन्यायां विप्रात् आभीरः । आब्राह्मणात् आयोगव्याधिग्वणः ॥ १५ ॥

आयोगवश्च क्षत्ता च चण्डालश्चाधमोऽनृणाम् ॥ प्रातिलोम्येन जायन्ते शूद्रादपसदास्त्रयः ॥ १६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अयोगवइतिप्रागुक्तमातृकर्मणाधमःसर्वसंकरजेभ्योऽप्यधमः । शूद्राज्जाताएतइत्यर्थः । अयोगव्यांयोजातः कैवर्ताख्यः सोऽत्रनिषादजत्वानिषादः एवंवैश्यादित्यत्रापि ॥ १६ ॥

(३) कुल्लूकः । आयोगवः क्षत्ता चण्डालश्च मनुष्याणामधमइत्येते त्रयोव्युक्तमेण वैश्याक्ष त्रयाब्राह्मणीषु पुत्र-
कार्यादपगतास्त्रयः शूद्राजायन्ते । पुत्रकार्यक्षमत्वप्रतिपादनार्थमुक्तानामप्येषांपुनर्वचनं एवमुत्तरश्लोकउक्तानामपि ॥ १६ ॥

(४) राघवानन्दः । पुत्रकार्यविच्छेदाय षण्णां प्राप्तमपसदत्वमनुवदति आयोगवश्चेतिद्वाभ्याम् । अपत्यकार्यात्सी-
दन्तीत्यपसदाः ॥ १६ ॥

वैश्यान्मागधवैदेहौ क्षत्रियात्सूतएव तु ॥ प्रतीपमेते जायन्ते परेऽप्यपसदास्त्रयः ॥ १७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतेप्यपरे त्रयोऽपसदाअत्यन्तापकृष्टाइत्यर्थः ॥ १७ ॥

(३) कुल्लूकः । क्षत्रियाब्राह्मण्योमागधवैदेहौ क्षत्रियाद्ब्राह्मण्यां सूतइत्येवंप्रातिलोम्येनापरेपि त्रयः पुत्रकार्यादप-
जायन्ते ॥ १७ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रतीपंप्रातिकूल्यम् । संकरोनरकार्यैवेत्युक्तेःप्रातिलोम्यमेवात्रहेतुः ॥ १७ ॥

(६) रामचन्द्रः । वैश्यात्क्षत्रियायां मागधः । वैश्यात् विप्रकन्यायां वैदेहः । क्षत्रियात् विप्रकन्यायां सूतः भव-
ति । एते प्रतीपं विपरीतं जायन्ते ॥ १७ ॥

जातोनिषादाच्छूद्रायां जात्या भवति पुक्कसः ॥ शूद्राज्जातोनिषाद्यान्तु सवै कुक्कुटकः स्मृतः ॥ १८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निषादात् ब्राह्मणशूद्रापुत्रात् । एवंनिषाद्यामित्यपि ॥ १८ ॥

(३) कुल्लूकः । निषादाच्छूद्रायां जातोजात्या पुक्कसोभवति । निषाद्यां पुनः शूद्राद्योजातः सकुक्कुटकनामा स्मृतः
॥ १८ ॥

(४) राघवानन्दः । अन्यानपितथाविधानाह जातइतिद्वाभ्याम् ॥ १८ ॥

(६) रामचन्द्रः । क्षत्रियायांनिषादाज्जातो जात्या पुल्कसः भवति । निषाद्यांशूद्राज्जातःकुक्कुटकःस्मृतः ॥ १८ ॥

क्षत्तुर्जातस्तथोग्रायां श्वपाकइति कीर्त्यते ॥ वैदेहकेन त्वंबष्ठ्यामुत्पन्नोवेण उच्यते ॥ १९ ॥

(१) मेधातिथिः । अनुलोमाः स्त्रियः प्रतिलोमाः पुमांसस्तयोः संभवे श्वपाकवेनौ प्रतिलोमजातीयौ ॥ १९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्षत्तुजातइति पितृदोषात् ॥ १९ ॥

(३) कुल्लूकः । शूद्रेण वैश्यायां जातः क्षत्ता क्षत्रियेण शूद्रायां जाता उग्रा तेन तस्यां जातः श्वपाकइत्युच्यते । वैदेहकेनांबष्ठ्यां ब्राह्मणेन वैश्याजातायां वेणइति कथ्यते ॥ १९ ॥

(४) राघवानन्दः । वेणोबुरुडः ॥ १९ ॥

(६) रामचन्द्रः । उग्रायां उग्रजात्यांक्षत्तुःजातः श्वपाकः । आंबष्ठ्यांवैदेहकेन जातः वेणइति उच्यते ॥ १९ ॥

द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तु यान् ॥ तान्सावित्रीपरिभ्रष्टान्ब्रात्यानिति विनिर्दिशेत् ॥ २० ॥

(१) मेधातिथिः । नैते प्रतिलोमवर्णसंकरास्युरतोस्मिन्विधाबुच्यते द्विजातयोयान्सवर्णासु जनयन्ति ते वेदव्रताभवन्ति । अब्रह्मचारिणः सावित्रीपरिभ्रष्टा उपनयनहीनाश्च तदा ब्रात्याइति तान्निर्दिशेत् । अव्रताञ्जनयन्तीति नायंसंबन्धः नहि व्रतिनोऽव्रतावा जन्यन्ते जातानामुपनयनसंस्कारविधानात् उक्तब्रात्यलक्षणानुवादउत्तरविवक्षया यस्त्वयंपाठोऽव्रतायाञ्जनयन्ति तान्ब्रात्यान्विनिर्दिशेत्तदसत् उक्तब्रात्यलक्षणविरोधात् ॥ २० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सावित्रीपरिभ्रष्टाननुपदेश्यसावित्रीकान् । ब्रात्यनाम्नोवर्णब्राह्मणान् ॥ २० ॥

(३) कुल्लूकः । द्विजातयः सवर्णासु स्त्रीषु यान्पुत्रानुत्पादयन्ते ते चेदुपनयनाख्यव्रतहीनाभवन्ति तदा तानकृतोपनयनान्ब्रात्येत्यनया संज्ञया व्यपदिशेत् अत ऊर्ध्वत्रयोप्येतद्विद्युक्तमपि ब्रात्यलक्षणंप्रतिलोमजपुत्रवदस्याप्युपकाराक्षमपुत्रत्वंप्रदर्शनार्थमस्मिन्संकीर्णप्रकरणेऽनूदितम् ॥ २० ॥

(४) राघवानन्दः । ब्रात्यानामिवतज्जानामपिपुत्रकार्यनिवृत्त्यर्थं ब्रात्यत्वमाह द्विजातयइति । तेस्वयमव्रताः कालेऽप्राप्तोपनयनाः अनुलोमेनोद्वाहितास्वक्षतयोनिषुसवर्णास्त्वपिजनयन्तियान् तान् सावित्रीभ्रष्टत्वेनाव्रतानितिकृत्वा ब्रात्यान्निर्दिशेदित्यन्वयः ॥ २० ॥

(५) नन्दनः । अथत्रैवर्णिकानामनुपनीतानां जात्यन्तरत्वमाह द्विजातयस्सवर्णास्त्विति । यान्सुताञ्जनयन्ति तान्ब्रतानुपनीतान् अतएव सावित्रीपरिभ्रष्टान् ॥ २० ॥

(६) रामचन्द्रः । अव्रतान् अकृतयज्ञोपवीतान् सावित्रीपरिभ्रष्टान् ब्रात्यान् इति अभिनिर्दिशेत् कथयेत् ॥ २० ॥

ब्रात्यान्तु जायते विप्रात्पापात्मा भूर्जकण्टकः ॥ आवन्त्यवाटधानौ च पुष्पधः शैखएव च ॥ २१ ॥

(१) मेधातिथिः । स्ववर्णास्त्वपि पूर्वश्लोकादनुवर्त्यते इह स्त्रीजातेरनुपादानादवश्यंभावाच्च तदपेक्षायाः स्मृत्यन्तरे वैश्यायां ब्राह्मणाज्जातोभृजकण्टकः स्मर्यते अतोविशिनष्टि । पापात्मेति सप्तनुलोमत्वान्नपापात्मा अयंचासंस्कृतात्मनोब्रात्याज्जातो नधिकारित्वाद्युक्तंयन्निन्द्यते नच पर्यायशब्दादेशभेदेन प्रसिद्धप्रयोगभेदाः पूर्वैस्तुव्याख्यातंतत्पुत्रपौत्राणामेताआख्याभृजकण्टकोब्राह्मण्यां जातआवन्त्यश्चावन्त्यां तस्यामेव वाटधानो वाटधानात्पुष्पशेखरएवमुत्तरेष्वपि ॥ २१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्रात्याद्विप्रात् ब्रात्यायामेव विप्रायां सवर्णास्त्वित्यनुवृत्तेः तत्र भूर्जकण्टकः सवर्णयोरप-

(२१) पुष्पधःशैख=पुष्पशेखर (मे०)

त्यम् । भूर्जकण्टकस्त्रियां विप्राद्वात्यादावन्त्यः । आवन्त्यांवाढइत्यादिपूर्ववज्जातिस्त्रीषु ब्रात्येन विप्रेण जनिताविप्रजाः । ऋणादिष्वपि ब्रात्यक्षत्रियादिजनितेषु सुधन्वाचार्यादिषुच ब्रात्यवैश्यजनितेषूत्तमम् । आद्यस्य तज्जातीयस्त्रियामुत्तरेषांतु पूर्वपूर्वजातिस्त्रियां जन्मेति । पापात्मेतिविशेषणं निन्दार्थम् ॥ २१ ॥

(३) कुट्टूकः । ब्रात्याद्ब्राह्मणात्सवर्णास्त्रित्यनुवृत्तेर्ब्राह्मण्यां पापस्वभावो भूर्जकण्टको जायते । तथाऽऽवन्त्यवाढधानपुष्पधशैखाजायन्ते एकस्य चैतानि देशभेदप्रसिद्धानि नामानि ॥ २१ ॥

(४) राघवानन्दः । तेतु ब्रात्यास्त्रयस्तज्जातानाह ब्रात्यार्वितिविभिः । तत्र तथाविधब्राह्मणजाः पञ्च भूर्जकण्टकादयः । झल्लादयः सम क्षत्रियजाः । पञ्चवैश्यजाः । पञ्चेतिदेशसंज्ञाभिरेते प्रसिद्धा इति मेधातिथिः । देशभेदेनैकैकस्य नामानीतिकुट्टूकः अन्यथैकजात्यावर्णद्वयानुपपत्तेः ॥ २१ ॥ ॥ २२ ॥ ॥ २३ ॥

(५) नन्दनः । विप्रादिति विशेषणंब्रात्यत्वेऽप्यस्य विप्रत्वमूलच्छेदो नास्तीति सूचयितुं । असंस्कृतपितृजातः पापतर इत्यभिप्रायेणोक्तं पापात्मेति । पञ्चैते सजातिषूढासु स्त्रीषु जाता अपि संस्कारविप्रकर्षादुत्तरोत्तरमपकृष्टावृत्तितो देशतो वा भिन्नसंज्ञाविज्ञेयाः षष्ठादीनामवचनन्तु जात्यन्तरत्वेनाप्रसिद्धेः ॥ २१ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यजातीनां ब्रात्यजातिर्भवति उपनयनाभावात् । ब्रात्याद्विप्राद्विप्रकन्यायां भूर्जकण्टको नाम जातिर्जायते । भूर्जकण्टकः स्मृतः कण्टको ज्ञेयः आवन्त्यः ॥ २१ ॥

झल्लोमल्लश्च राजन्याद्वात्यान्निच्छिविरेव च ॥ नटश्च करणश्चैव खसोद्रविडएव च ॥ २२ ॥

(१) मेधातिथिः । एताभिः संज्ञाभिः प्रसिद्धा एव जातीयावेदितव्याः ॥ २२ ॥ ॥ २३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । और्णादयः सम राजन्याद्वात्यात् ॥ २२ ॥

(३) कुट्टूकः । क्षत्रियाद्वात्यात्सवर्णायां झल्लमल्लनिच्छिविनटकरणखसद्रविडाख्याजायन्ते एतान्यप्येकस्यैव नामानि ॥ २२ ॥

(५) नन्दनः । श्लोकद्वयमनेन व्याख्यातम् ॥ २२ ॥

(६) रामचन्द्रः । राजन्याद्वात्यात्क्षत्रियायां जातः झल्लनिच्छवः नटः करणः खसः द्रविडः ॥ २२ ॥

वैश्यात्तु जायते ब्रात्यात्सुधन्वाचार्यएव च ॥ कारुषश्च विजन्मा च मैत्रः सात्वतएव च ॥ २३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सुधन्वाचार्यादयः पञ्चवैश्याद्वात्यात् ॥ २३ ॥

(३) कुट्टूकः । वैश्यात्पुनर्ब्रात्यात्सवर्णायां सुधन्वाचार्यकारुषविजन्ममैत्रसात्वताख्याजायन्ते एकस्य चैतान्यपि नामानि ॥ २३ ॥

(६) रामचन्द्रः । वैश्याद्वात्याद्वैश्यायां जाताः सुधन्वादिसात्वतान्ताः ॥ २३ ॥

व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च ॥ स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसंकराः ॥ २४ ॥

(१) मेधातिथिः । व्यभिचारः परस्त्रीगमनं तस्मान्जातीयासु परकीयात्वनुलोमप्रतिलोमासूढात्वनूदासु च तात्स्यं अवेद्यावेदनमविवाहाविवाहः अविवाहाः त्वसृन्प्रादयस्तदयोऽन्यः । स्वकर्मणां त्याग उपनयनवेदग्रहणादीनां क्षत्रवृत्त्यादयोऽपि पुत्रपौत्रान्वयिन एवमुक्ताः केचित् ॥ २४ ॥

(३) सर्वज्ञनारायणः । व्यभिचारेण सवर्णायामेव परभार्यायां व्यभिचारेण कुण्डगोलकपौनर्भवाः । असवर्णा-

यांच यथा ब्राह्मण्याक्षत्रियस्य व्यभिचारात्सूतइति । अवेद्यावेदनेनाविवाहानामसवर्णानांसवर्णानामपिसगोत्रादीनांविवा-
हेमूर्धावसिक्तचाण्डालाद्याः । स्वकर्मणामुपनयनव्रतानां त्यागात् व्रात्यजाः । वर्णसंकराश्चातुर्वर्ण्यबाह्याः ॥ २४ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणादिवर्णानामन्योन्यस्त्रीगमनेन सगोत्रादिविवाहेनोपनयनरूपस्वकर्मत्यागेन वर्णसंकरोनाम
जायते अतोयुक्तमस्मिन्भकरणे व्रात्यानामभिधानम् ॥ २४ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रकारान्तरेणापि वर्णसंकरोभवतीति संक्षिप्याह व्यभिचारेणेति । विहाय विन्नास्वपतिमा-
भिमुख्येन कामुकम् । चरतीति स्वतन्त्रा या सा स्मृता व्यभिचारिणीतिव्यभिचारेण वर्णानामन्योन्यस्त्रीगमनेनेति दृष्टान्तार्थः ।
व्यतिषङ्गेनेतिमेधातिथिः । नियुक्तातिरिक्तपरस्त्रीगमनेनेत्यर्थः । अवेद्याः सगोत्राः सवर्णावा तासां विवाहेन । स्वकर्मणां
संध्यादीनां त्यागेन स्वकालाग्राप्तोपनयनैर्व्रात्यानां संकरत्वस्योक्तत्वात् ॥ २४ ॥

(५) नन्दनः । यदीदंसंस्काराभावे जात्यन्तरत्वमुक्तंतदनुपपन्नमित्याशङ्क्यदृष्टान्तेन स्थापयति व्यभिचारेण वर्णा-
नामिति । अवेद्याअविवाह्याः पुनर्भवादयस्तासांवेदनेन विवाहेन संकरोमातापित्रोरविद्याजातिप्राप्तिः । व्यभिचारेण वर्णाना-
मिति प्रसिद्धव्यभिचारोदृष्टान्तार्थः ॥ २४ ॥

(६) रामचन्द्रः । वर्णानांव्यभिचारेण च पुनः अवेद्यावेदनेन च अविवाह्याविवाहेन स्वकर्मणामुपनयनादीनांत्यागेन
वर्णसंकाराजायन्ते ॥ २४ ॥

संकीर्णयोनयोये तु प्रतिलोमानुलोमजाः ॥ अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २५ ॥

(१) मेधातिथिः । व्यतिषङ्गःसंबन्धइतरेतरमनुलोमानामनुलोमैःप्रतिलोमैश्चैवंप्रतिलोमानामन्यैः प्रतिलोमैरनुलोमैश्च
वक्ष्यमाणसंज्ञायैवचनम् ॥ २५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यउक्ताः प्रतिलोमानुलोमजास्तेपि यदा अन्योन्यं संकीर्णैरेव व्यवतिष्ठन्ते व्यभिचरन्ति ।
व्यतिषङ्गजत्वाद्यतिषक्ताव्रात्याः । तत्र ये जायन्ते तान्वक्ष्यामीत्यर्थः ॥ २५ ॥

(३) कुल्लूकः । ये संकीर्णयोनयः प्रतिलोमैरनुलोमैश्च परस्परसंबन्धाज्जायन्ते तान्विशेषेण वक्ष्यामि ॥ २५ ॥

(४) राघवानन्दः । पुनश्च सूतादीनां चण्डालातिरिक्तपञ्चानामनुलोमजत्वाद्यर्थमाह संकीर्णैतित्रिभिः । अनुलोम
जाइतिदृष्टान्तार्थम् । अन्योन्यव्यतिषक्ताः अन्योन्योन्यं परस्त्रीपुंभ्यः कामतोव्यतिषक्तेभ्योजाताः ॥ २५ ॥

(५) नन्दनः । एवंसंकीर्णपितृमातृकाः प्रायशः प्रतिलोमानुलोमाउक्ताइदानींसंकीर्णपितृमातृकान्प्रतिलोमजानुलो-
मजान्वक्ष्यामीत्याह संकीसंकीर्णयोनयइति । संकीर्णयोनयः संकीर्णभ्योजाताअन्योन्यव्यतिषक्ताः प्रतिलोमानुलोमजैः सं-
बन्धाः ॥ २५ ॥

(६) रामचन्द्रः । ये प्रतिलोमानुलोमजाः प्रतिलोमजानाह सूतवैदेहचाण्डालाः अनुलोमजाअम्बष्ठनिषादमाहिभ्यो-
धकरणाः षट् अन्योन्यव्यतिषक्ताः प्रतिलोमानुलोमानांपरस्परव्यभिचारयुक्ताः तान् ॥ २५ ॥

सूतवैदेहकश्चैव चण्डालश्च नराधमः ॥ मागधः क्षत्तृजातिश्च तथाऽयोगवएवच ॥ २६ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तलक्षणाएते प्रतिलोमाउत्तरार्धपुनरुपन्यस्यन्ते ॥ २६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सूतादयः प्रागुक्ताः ॥ २६ ॥

(३) कुल्लूकः । एते षडुक्तलक्षणाः सूतादयः उत्तरार्धमनूयन्ते ॥ २६ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रतिलोमजादपि नराधमः शुद्धस्यब्राह्मणीगमने महापातकित्वात्तस्याअपि तथात्वान् । चण्डालग्रहणं निवीतमनुष्याणामितिवद्यतिरेकमुखेन स्तुत्यर्थः ॥ २६ ॥

(५) नन्दनः । तत्र प्रतिलोमजैभ्यः प्रसूतान्वक्तुं प्रतिलोमजानुक्तंस्तावदनुक्रामति सूतोवैदेहकश्चैवेति । सूतोविप्रायां क्षत्रियाज्जातः वैदेहकस्तस्यामेव वैश्यात् चण्डालस्तस्यामेव शुद्रात् मागधः क्षत्रियायां वैश्यात् क्षत्ताजातिस्तस्यामेव शुद्रात् आयोगवोवैश्यायां शुद्राज्जातइति पूर्वमुक्तंहीत्यर्थः ॥ २६ ॥

(६) रामचन्द्रः । सूतइति द्वाभ्यामाह । ततः सूतः वैदेहकः चाण्डालःनराधमाः ज्ञेयाः मागधः क्षत्ता अयोगवएते षट् सदृशान्वर्णान् प्रतिलोमानुलोमयोनिषुजनयन्ति । प्रवरासु उत्तमासु चकारात् क्षत्रियपुत्रोमागधोब्राह्मण्यां अपरुष्टासु योनिषुमातृजात्यामातृसमानजातीयाः ॥ २६ ॥ २७ ॥

एते षट्सदृशान्वर्णाञ्जनयन्ति स्वयोनिषु ॥ मातृजात्यांप्रसूयन्ते प्रवरासु च योनिषु ॥ २७ ॥

(१) मेधातिथिः । एते सूतादयः प्रतिलोमाः स्वयोनिसदृशान् जनयन्ति तज्जातीयानित्यर्थः । तद्यथा सूतः सूतायां सूतमेव जनयति एवंचण्डालः चण्डालायां येच मातृजात्याः प्रसूयन्तेऽनुलोमामातृजातीयाये पूर्वमुक्तास्तानन्तरानाम्प्र-
इति तेऽपि स्वयोनिषु सदृशानेव जनयन्ति यथा ऽम्बष्ठोऽम्बष्ठांतथा वैश्यायामात्मनोहीनावैश्याञ्जनयन्ति मातृजातित्वस्यो-
क्तत्वात् । अन्ये पुनः पठन्ति मातृजातौ प्रसूयन्ते अर्थश्चायं वर्णयोनिषु आम्बष्ठदौ मातृजातौ च वैश्यायां सदृशानेव जन-
यन्ति । यद्यपि शुद्धवैश्येभ्यउत्क्रष्टाऽम्बष्ठदयस्तथापि साम्यमुच्यते वैश्यधर्मउभयेषामधिकारात् अनुलोमग्रहणंमातृजा-
ति [पदसामर्थ्याल्लिभ्यतेसत्यपिप्रतिलोमप्रत्यक्षमर्थकत्वेप्रसज्यतइति । प्रवरासुचयोनि]' षु प्रतिलोमागच्छन्तो जनयन्तिही-
नतरमित्येवंज्ञेयंक्षयमाणपर्यालोचनया दृष्टमयोगवादिभिः स्वजातीयासु जनिताअयोगवादिव्यपदेशंलभन्ते सदृशग्रहणंतु
प्रातिलोम्यंच सामान्येन हीनतरत्वंचावान्तरविशेषमनपेक्ष्य प्रयुक्तेनायमत्र वाक्यार्थः प्रतिलोमेभ्यः समानजातीयासूक्रष्ट-
जातीयासु च प्रतिलोमाएव भवन्ति ॥ २७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वयोनिषु सूतादिजातीयासु स्त्रीषु सदृशान् स्वसदृशधर्मणः । तथा मातृजात्यांसूतादिमा-
तृसमजातीयायां ब्राह्मण्यादिरूपायाम् । तथा मातृजातिषु प्रवरासुत्तमासु यथा क्षत्रियापुत्रोमागधोब्राह्मण्यामिति । स्व-
जातीयस्वमातृजातितदुत्क्रष्टजातियोगाच्चिविधोव्यभिचारः ॥ २७ ॥

(३) कुड्डूकः । एते पूर्वोक्ताः षट्प्रतिलोमजाः स्वयोनिषु सुतोत्पत्तिकुर्वन्ति । यथा शुद्धेण वैश्यायां जातआयोगवः
आयोगव्यामेव मातृजातौ वैश्यायां प्रवरासु क्षत्रियाब्राह्मणीयोनिषु चकारादपरुष्टायामपि शुद्धजातौ सर्वत्र सदृशान्वर्णा-
ञ्जनयन्ति सदृशत्वंच न पित्रपेक्षया किन्तु मातृजात्यादिषु चातुर्वर्ण्यस्त्रीष्वेव पितृतोधिकगर्हितपुत्रोत्पत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात्त-
त्सदृशान्पितृतोऽधिकगर्हितास्वजातावपि जनयन्तीत्येतावदेवाप्रामत्वाद्नेन विधीयते । किन्तु जघन्यवर्णेनोत्तमवर्णस्त्रीषु
जनितत्वात्क्रियादुष्टाआयोगवाद्याः प्रतिलोमजाः क्रियादुष्टाभ्यां च मातापितृभ्यां तुल्याभ्यामपि जनिते आयोगवादिपुत्रे
ब्रह्महन्तन्नन्तरजनितोब्रह्महन्तृमातापितृजनितवदधिकदुष्टएव न्याय्यः शुद्धब्राह्मणादिजातोयेन शुद्धब्राह्मण्यादिसजाती-
यायां जनितः पितृतुल्यएवोचितोननु क्रियादुष्टोभयजनितोऽपि ॥ २७ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच एते षट् सूतादयः स्वयोनिषु ब्राह्मणीक्षत्रियावैश्यासु सदृशान् सजातीयान् । एतदेव नि-
गमव्याजेन हेतून्दर्शयन्नाह मातृजात्यामिति । प्रवरासु स्वयोनिषु तत्तन्मातृजात्यवच्छिन्नासु प्रसूयन्ते यतः अतएव प्र-

तिलोमजास्तुकर्महीनाइतिगौतमवचनम् । अतएव मातृवद्वर्णसंस्कारइत्यपि संगच्छते । यथा शूद्रात् वैश्यायामायोगवएव मायोगव्यामेव मातृजातौ वैश्यायां प्रवरायामायोगवः यंसुतं जनयेत्सुतोवैश्यजात्युक्तसंस्कारार्हः । एवं शूद्रात्क्षत्रियाजः क्षत्ता क्षत्रियायां क्षत्रजातौयंजनयेत्सः क्षत्रियसंस्कारार्हः । वैश्यात्क्षत्रियाजोमागधः सच क्षत्रियायां यंजनयेत्सोपि क्षत्रियसंस्कारार्हः । एवं सूतवैदेहयोरपि । प्रवरास्वितिविशेषणाच्चण्डालस्यनसंस्कारइमिमेधातिथिः । पितृताधिकगार्हतांस्वजातावपि जनयन्तीत्येतावन्मात्रं विवक्षितमिति कुल्लूकः ॥ २७ ॥

(५) नन्दनः । ततः किमित्यपेक्षायामाह एतेषडिति । एते सूतादयः षट्सदृशान्सजातीयान्वर्णान् योनिषु सूतवैदेहिकीचण्डालीप्रभृतिषु जनयन्ति वर्णशब्दोमनुष्यावान्तरजातिमात्रवचनः मातृजात्यां स्वमातृजातिसदृशानेव जनयन्ति सूतवैदेहकचण्डालानां मातृजातिब्राह्मणजातिः मागधक्षत्रोर्मातृजातिः क्षत्रियजातिः आयोगवस्य मातृजातिर्वैश्यजातिः तासु जातिषु सदृशानेव जनयन्तीत्यर्थः किञ्चित्प्रवरासु च योनिष्वात्मनः प्रवरासु मातृजातिव्यतिरिक्तासु चातुर्वर्ण्यस्त्रीषु च सदृशानेव प्रसूयन्ते जनयन्ति । अनेन श्लोकेनैतदुक्तंभवति सूतः सूत्यां सूतमेव जनयति नान्यं एवंमातृजात्यां च ब्राह्मण्यां सूतमेव तदितरासु क्षत्रियवैश्यस्त्रीषु च सूतमेव एवंवैदेहकादयोपीति ॥ २७ ॥

यथा त्रयाणांवर्णानां द्वयोरात्मास्य जायते ॥ आनन्तर्यात्स्वयोन्यान्तु तथा बाह्येष्वपि क्रमात् ॥ २८ ॥

(१) मेधातिथिः । अस्य ब्राह्मणस्य त्रयाणांवर्णानामात्माजायते द्वयोर्वर्णयोः क्षत्रियवैश्ययोर्द्विजत्वंजायते तथास्वयोनौ एवंत्रयाणांवर्णानांब्राह्मणोद्विजान् जनयति एवंबाह्येष्वपि प्रतिलोम्येन वैश्यक्षत्रियाभ्यां क्षत्रियब्राह्मणोरात्माद्विजत्वंभवति सति च द्विजत्वे उपनयनकर्तव्यं वक्ष्यन्ति च एते षट्द्विजधर्माणइति एतावांस्तु विशेषः । अनुलोमतामातृजात्यामातृजातीया स्तुतिमात्रमिदंवक्ष्यामः ॥ २८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आनन्तर्यादनन्तरवर्णे आत्मजातिसदृशजातिमूर्धावसिक्तादिः । स्वयोन्यां स्ववर्णेचात्मजातीयएव । तथा बाह्येष्वपि । तथाहि मूर्धावसिक्तामूर्धावसिक्तायां तज्जातीयएव । ततएवत्वावन्त्यामात्मसदृशइत्यादिः । पारशव्यांतु ततोपि हीनजातिरेवमनुलोमजानपेक्ष्य प्रतिलोमजानामतिहीनत्वात्तेषां प्रतिलोमजानां स्वजातीयायामन्तरायां सदृशव्यवहितायां हीनतरमपत्यमिति ॥ २८ ॥

(३) कुल्लूकः । यथा त्रयाणांवर्णानांक्षत्रियवैश्यशूद्राणामभ्यात् द्वयोर्वर्णयोः क्षत्रियवैश्ययोर्गमने ब्राह्मणस्यानुलोम्यात् द्विजउत्पद्यते सजातीयायां च द्विजोजायते एवंबाह्येष्वपि क्षत्रियवैश्याभ्यां वैश्यक्षत्रियाभ्यां क्षत्रियाब्राह्मण्योर्जातेषूक्तर्षापक्रमोभवति शूद्रजातप्रतिलोमापेक्षया द्विजाद्युत्पन्नप्रतिलोमप्राशस्त्यार्थमिदम् । मेधातिथिस्तु द्विजत्वप्रतिपादकमेतदेषांवचनमुपनयनार्थमित्याह तन्न प्रतिलोमजास्तु धर्महीनाइति गौतमेन संस्कारनिषेधात् ॥ २८ ॥

(४) राघवानन्दः । एतेषामुत्कृष्टत्वं सदृष्टान्तं निगमयति यथेति । त्रयाणां विप्रादीनां मध्ये यथास्यब्राह्मणस्य स्वयोन्यामिवानुलोम्येन द्वयोः क्षत्रियावैश्ययोः आत्माद्विजउत्पद्यते एवंवैबाह्येषु वैश्यक्षत्रियाभ्यां क्षत्रियाब्राह्मण्योरात्मा द्विजउत्पद्यते एवं क्षत्रियवैश्ययोरपि । तेषु आयोगवादितिसृष्वपिब्राह्मण्यादिषु ॥ २८ ॥

(५) नन्दनः । एतदेवस्थापयति यथा त्रयाणां वर्णानामिति । त्रयाणां ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां अनन्तर्याऽनन्तरजातया स्वयोन्यां द्वयोरात्मा त्वस्ववर्णोयथा जायते तथा बाह्येष्वपि क्रमः प्रतिलोमानामपि तथा प्रकारः । एतदुक्तंभवति यथा वैदेहकः त्वस्यां ब्राह्मण्यां च वैदेहकं आयोगवः त्वस्यां क्षत्रियायां चायोगवं क्षत्ता त्वस्यां चण्डाल्यां च क्षत्तारंजनयतीति अनेन सिद्धवदनुदितेन दृष्टान्तेन ज्ञाप्यते ॥ २८ ॥

(६) रामचन्द्रः । यथेतिदृष्टान्तः । यथा त्रयाणां क्षत्रियादीनां स्वयोन्यामानन्तर्यात् द्वयोःक्षत्रियवैश्ययोरात्मैव जायते तद्यथा क्षत्रियात्क्षत्रियायां वैश्याद्वैश्यायां उत्तमासु योनिषु आत्मैव जायते पुत्रइति श्रुतेः । शूद्रायांइतितथा बाह्येषु आयोगवादिषु प्रतिलोमजेषु क्रमः ॥ २८ ॥

ते चापि बाह्यान्सुबहून्स्ततोप्यधिकदूषितान् ॥ परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान् ॥ २९ ॥

(१) मेधातिथिः । तेचाप्ययोगवादयः षट्बाह्यान् सुबहून् परस्परदारेषु जनयन्ति तद्यथायोगवः [क्षत्रियायांक्षत्रा-
योगव्यांपरस्परमात्मापेक्षयागर्हितान् जनयन्ति तद्यथायोगवःक्षत्रियायां]^१ मात्मनोबाह्यतरंजनयति ततोपि बाह्यतरं च-
ण्डालाभ्यः एवंसर्वत्र ॥ २९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तेदेतदाह ततोभ्यधिकदूषितानिति ॥ २९ ॥

(३) कुड्मूकः । ते चायोगवादयः षट्परस्परजातीयासु भार्यासु सुबहूनानुलोम्येऽप्यधिकदुष्टान्सत्क्रियाबहिर्भूता-
जनयन्ति । तद्यथाआयोगवः क्षत्तृजायायामात्मनोहीनतरंजनयति तथा क्षत्ताभ्यायोगव्यामात्मनोहीनतरमुत्पादयति एवम-
न्येष्वपि प्रतिलोमेषु द्रष्टव्यं ॥ २९ ॥

(४) राघवानन्दः । तेभ्योपि संकरजातीन्वक्तुमाह तइति । आयोगवादयस्ते अधिकदूषितान् पूर्वभ्योपिनिरु-
ष्टान् ॥ २९ ॥

(५) नन्दनः । अनन्तरासु जातानां पितृवर्णत्वमपि पक्षान्तरमिति तेचापि बाह्यानिति । ते सूतादिभ्यः प्रसूता अपि
ततोभ्यधिकदूषितान्स्वेभ्योहीनतमानतएव विगर्हितान्सुबहून्परस्परस्य दारेषु जनयन्ति स्वयोनिषु स्वानेव जनयन्ति पर-
स्परस्य दारेष्विव ॥ २९ ॥

(६) रामचन्द्रः । ते अयोगवादयः बाह्यान् वर्णबाह्यान् विगर्हितान् परस्परदारेषुजनयन्ति ॥ २९ ॥

यथैव शूद्रोब्राह्मण्यां बाह्यंजन्तुंप्रसूयते ॥ तथा बाह्यतरंबाह्यश्चातुर्वर्ण्ये प्रसूयते ॥ ३० ॥

(१) मेधातिथिः । एवंपरस्परगमने स्त्रीप्रतिलोमानांपूर्वेण बाह्यतरेण बाह्याजाताः । इदानींचातुर्वर्ण्यकथ्यते सूय-
तिर्जनिनात्यन्तसमानार्थोत्र प्रकरणे प्रयुक्तः प्रसूयते जनयतीत्यर्थः । तदुत्तर श्लोकेन निर्दिश्यते ॥ ३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तथा बाह्यतरं चाण्डालतोऽप्यधमम् । बाह्यात् चाण्डालात् । चातुर्वर्ण्ये चातुर्वर्ण्या स्त्री
प्रसूयते ॥ ३० ॥

(३) कुड्मूकः । यथा ब्राह्मण्यां शूद्रोऽपकृष्टचलण्डालाख्यंप्राणिनंप्रसूयते जनयत्येवंबाह्यश्चण्डालादिवर्णचतुष्टये च-
ण्डालादिभ्योप्यपकृष्टपुत्रंप्रसूयते ॥ ३० ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र दृष्टान्तमाह यथेति । बाह्यं बहिरेव वर्तमानं जन्तुं जन्ममरणमात्रशालिनम् । बाह्यश्चा-
ण्डालादिः धर्मादावनधिकारित्वात् ततोपिभिन्नसंकरान्तरम् । चातुर्वर्ण्ये चातुर्वर्णस्त्रीषु ॥ ३० ॥

(५) नन्दनः । वर्णजातानांसूतादिप्रतिलोमजानांच परस्परसङ्करउक्तः प्रतिलोमजप्रसूतानांजनकेभ्यः प्रतिलोम-
जेभ्योन्यूनतमत्वमुदाहरणविशेषेणव्यनक्ति यथैव शूद्रोब्राह्मण्यामिति । बाह्यजन्तुं चण्डालं बाह्यः सूतादिः चातुर्वर्ण्येचतुर्व-
र्णस्त्रीषु ॥ ३० ॥

(६) रामचन्द्रः । यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं जन्तुं निकृष्टं चाण्डालं प्रसूयते तथा बाह्यः आयोगवः बाह्यतरं अत्यन्तनिकृष्टं चतुर्वर्णेषु सृजते ॥ ३० ॥

प्रतिकूलं वर्त्तमानबाह्याबाह्यतरान्पुनः ॥ हीनाहीनान्प्रसूयन्ते वर्णान्पञ्चदशैव तु ॥ ३१ ॥

(१) मेधातिथिः । एकैकस्य तु वर्णस्य संकीर्णयोः न्यो भवन्ति कस्यचिदनुलोमाः कस्यचित्प्रतिलोमाः कस्यचिदनुलोमप्रतिलोमाः । ब्राह्मणस्यानुलोमाशूद्रस्य प्रतिलोमा एव क्षत्रियवैश्ययोः अनुलोमाः प्रतिलोमाः क्षत्रियस्य द्वावनुलोमौ एकः प्रतिलोमो वैश्यस्यैकोऽनुलोमो द्वौ प्रतिलोमौ एवमेते द्वादशानुलोमप्रतिलोमा एतेषामेकैकस्य चतुर्षु गच्छतश्चत्वारो भेदा भवन्ति ते च केचिद्धीना बाह्यतरास्तु सर्वे एव बाह्यतरत्वं मातापितृजातेर्विप्रकर्षः कर्मभ्यो हीनत्वात्तदेतदुदाहरणैः स्फुटोक्तिर्यते । प्रतिलोमांस्तावद्ब्रूहि त्वा वक्ष्यामः । अयोगवो वैश्यायां शूद्राज्जातः शूद्रायां वैश्यायां क्षत्रियायां ब्राह्मण्यां चतुरोजनयति सौयमात्मना सह पंचधाऽऽयोगवः । एवं क्षत्रियचण्डाला अपि एवं शूद्रास्त्रयः पंचकाः पंचदशधा भवन्ति । एवं वैश्याप्रभवौ द्वौ प्रतिलोमौ क्षत्रियायां मागधो ब्राह्मण्यां वैदेहकः शूद्रायामनुलोमस्तत्र यः शूद्रायां जातः स यदा चातुर्वर्ण्यं जनयति तदैष एव प्रकारः स यदा शूद्रांगच्छति तदा हीनतरो वर्णो जायते तदपेक्षया । एवं वैश्यांगच्छन् हीनतरं जनयति । एवं क्षत्रियायां ब्राह्मण्यां च केवलशूद्राज्जातोत्कृष्टा एवमित्यपेक्षावशाद्धीनांश्चाहीनांश्च एवं क्षत्रिये ब्राह्मणे च दृष्टव्यं ब्राह्मणस्य त्वयं विशेषोऽनुलोमा एव तस्य भवन्ति एवं चतुर्वर्णान्प्रत्येकं पंचदशधा भेदाः षष्टिः संपद्यन्तो मुख्याश्चत्वारो वर्णाः साचतुः षष्टिर्भवति । परस्परसंपर्कात्तेषामन्येऽनन्तभेदा भवन्ति । तदुक्तं तेचापि बाह्यांस्तु बहूनि प्रति कूलं शास्त्रव्यतिक्रमेण वर्तमाना मिथुनी भवन्ति हीनाहीनानित्येकं पदं अथवा हीनाः सन्तोऽहीनान्प्रसूयन्ते जनयन्तीत्यर्थः वर्णान्पञ्चदशैवेति नास्ति तु पंचम इति पंचमस्य वर्णाभावात्पंचदशस्तु वर्णत्वमुपचाराद्दृष्टव्यम् ॥ ३१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतत्प्रपञ्चयति प्रतिकूलमिति । बाह्यावर्णबाह्यास्तादृशानेव तथा हीना अत्यधमा हीनान् अत्यधमानेव प्रसूयन्ते । शूद्रात् ब्राह्मण्यादिषु चण्डालक्षत्रायोगवाख्यास्त्रयो हीना अधमा बाह्यवर्णाव्रात्याश्च प्रतिकूलं प्रतिलोमं वर्तमानाः शूद्रादिस्त्रीषु चतसृषु हीनान्ववान्यान्प्रसूयन्त इति प्रत्येकं चाण्डालादिभ्यश्चत्वारश्चत्वार इति तथा द्वादश । तथा त्वजातीयास्तु त्रीनि पञ्चदश बाह्यान् जनयन्ति । वर्णान्वर्णरूपतया न वस्तुतस्तदृशान् ॥ ३१ ॥

(३) कुल्लूकः । एतदेव विस्तारयति प्रतिकूलमिति । अत्र मेधातिथिगोविन्दराजयोर्व्याख्यानं चातुर्वर्ण्यबाह्याश्चण्डालक्षत्रायोगवाः शूद्रप्रभवास्त्रयश्चातुर्वर्ण्यं गच्छन्त आत्मनो हीनतरान्परस्परापेक्षया प्रकृष्टोत्कृष्टवर्णप्रभवत्वात्पञ्चदशवर्णान्संपादयन्ति । तद्यथा चण्डालः शूद्रायामात्मनो हीनतरं वैश्याक्षत्रिया ब्राह्मणीजातेभ्य उत्कृष्टं जनयति । एवं वैश्यायां ततोऽप्यपसदं क्षत्रियायां ब्राह्मणीजाता दुत्कृष्टं जनयति ततोऽपसदं क्षत्रियायां ब्राह्मणीजाता दुत्कृष्टं ततोऽपि हीनं ब्राह्मण्यां जनयति । एवं क्षत्रायोगवा अपि चातुर्वर्ण्यं चतुरश्वतुरोऽजनयत इत्येते शूद्रप्रभवचण्डालक्षत्रायोगवेभ्यः चातुर्वर्ण्यद्वादशप्रभेदा उत्पद्यन्ते आत्मना च चण्डालक्षत्रायोगवास्त्रय इत्येवं शूद्रप्रभवाः पञ्चदश उत्पद्यन्ते एवं वैश्यक्षत्रियब्राह्मणप्रभवाः प्रत्येकं पञ्चदश संभवन्ति एवं षष्टिश्चातुर्वर्ण्येन सह चतुःषष्टिप्रभेदा भवन्ति । ते तु परस्परगमनेन नानावर्णाञ्जनयन्तीति नैतन्मनोहरं । पूर्वश्लोके षण्णां प्रतिलोमजानां प्रकृतत्वात्तद्विस्तारकथनत्वाच्चास्य अत्रापि श्लोके प्रतिकूलं वर्त्तमाना इत्युपादानात्प्रतिलोमजमात्रविषयोऽयं श्लोको नानुलोमजविषयः । तथा च वैश्यक्षत्रियब्राह्मणप्रभवाश्च प्रत्येकं पञ्चदश संभवन्त्येवं षष्टिरिति न संगच्छते न च संभवात्रेणैवेयं षष्टिरुक्ता न दुष्टतया शूद्रप्रभवा योगवक्षत्तु चण्डाला एव चातुर्वर्ण्यसंतानोपेताः पञ्चदशगर्हिता इति वाच्यं । यतो वै-

(३१) पञ्चदशैव तु = पञ्चदशैव ते (नं)

श्यक्षत्रियाभ्यामपि प्रतिलोमतउत्पादितानां त्रयाणां हीनत्वाच्चैरपि चातुर्वर्ण्ये जनितानां गृहीतत्वस्य संभवात्तथा बाह्यतरं बाह्यश्चातुर्वर्ण्ये प्रसूयत इति मनुनैवानन्तरं स्फुटमुक्तत्वात् । युवाभ्यामपि तथैव व्याख्यातत्वाच्चातुर्वर्ण्येन सह चतुःषष्टिरितिसर्वथैवाप्रकृतम् । नहि संकीर्णप्रकरणे शुद्धचातुर्वर्ण्यगणनोचिता किंच वर्णान्पञ्चदशप्रसूयन्त इति श्रूयमाणद्वादशजनानुक्ता ते चात्मना चण्डालक्षत्रायोगवास्त्रयइत्येवंशूद्रप्रभवाः पञ्चदशेति न युक्तम् । अपि चात्मना सह पञ्चदशसंपादयन्तीति न संगच्छते असंपाद्यत्वादात्मनः पञ्चदशसंपद्यन्त इति च व्याख्यानेऽध्याहार एव दोषः तस्मादेवं व्याख्यायते प्रतिकूलवर्तमानाः प्रतिलोमजाः बाह्याद्विजप्रतिलोमजेभ्यो निरुद्धत्वात् । शूद्रप्रभवा योगवक्षत्रचण्डालास्त्रयः पूर्वश्लोकादनुवर्तमाने चातुर्वर्ण्ये त्वजातावेते षट्सदृशानित्यत्र सजात्युत्पन्नस्य पितृतोर्गृहीतत्वाभिधानात् आत्मापेक्षया बाह्यांतरान्प्रत्येकं पञ्चदशपुत्राञ्जनयन्ति तद्यथा आयोगवश्चातुर्वर्ण्यस्त्रीषु चायोगव्यामात्मनो निरुद्धान्पञ्चपुत्राञ्जनयन्ति एवंक्षत्रचण्डालावपि प्रत्येकं पञ्चपुत्राञ्जनयत इत्थं बाह्यास्त्रयः पञ्चदशपुत्राञ्जनयन्ति तथानुलोमजेभ्यो हीनावैश्यक्षत्रियप्रभवामागधवैदेहसूता आत्मापेक्षया हीनान्पूर्ववच्चातुर्वर्ण्यस्त्रीषु सजातौ प्रत्येकं पञ्चपुत्राञ्जनयन्तो हीना अपि त्रयः पञ्चदशैव पुत्राञ्जनयन्ति एवं त्रिंशदेते भवन्ति । अथवा बाह्यशब्दो हीनशब्दश्च षडेव प्रतिलोमजानाह । अत्र बाह्यश्चण्डालक्षत्रायोगववैदेहमागधसूताः षट्यथोत्तरमुत्कर्षान्प्रातिलोम्येन स्त्रीषु वर्तमाना बाह्यतरान्पञ्चदशैव पुत्राञ्जनयन्ति । तद्यथा चण्डालाः क्षत्रियादिषु पञ्चसु स्त्रीषु क्षत्रायोगव्यादिषु चतसृष्वयोगववैदेहादिसृषु वैदेहो मागधीसूत्योः मागधः सूत्यांसूतस्तु प्रतिलोमाभावात्प्रातिलोम्येन पञ्चदशैव पुत्राञ्जनयति पुनरिति निर्देशाद्धीनाः सूतादयश्चण्डालान्ताः षड्यथोत्तरमपकर्षात् आनुलोम्येनापि प्रतिलोमोक्तरीत्या स्वापेक्षया हीनान्पञ्चदशैव पुत्राञ्जनयन्त्येवं त्रिंशदेते भवन्ति ॥ ३१ ॥

(४) राघवानन्दः । ते बाह्याः कति इत्यपेक्षां पूरयति प्रेति । प्रतिकूलं प्रातिलोम्यम् बाह्याः सूतादयः षडेव हीनाः स्वयं हीनान् नव बाह्यतरान् । जनयन्तीति वर्णान् पञ्चदशैतेषु वर्णपदमुपचारात् ॥ ३१ ॥

(५) नन्दनः । प्रतिकूलं वर्तमाना असजातीयस्त्रीषु वर्तमानाः । हीना अनुलोमजेभ्योऽपकृष्टाः । बाह्याः प्रतिलोमजाः षट्सूतादयः हीनानात्मनोपकृष्टान् बाह्यतरान्बाह्यतरनाम्नः प्रसूयन्ते वर्णाः पञ्चदशैव ते ते बाह्यन्तरवर्णाः संकरजातयः प्रत्येकं सूतादिभिरुत्पादिताः पञ्चदशैव नाधिकाः असजातीयानां जनयितृणां पञ्चदशत्वात्तत्प्रसूतानां वर्णानां पञ्चदशत्वं ब्राह्मणप्रभृतयश्चतस्रः अनुलोमजास्त्रयः षट्प्रतिलोमजाश्च एवं षोडशजातिषु स्त्रीषूत्पादिताः सजातीयाः पञ्चदशैवेति सूतादयस्तावदासु षोडशस्त्रीषु त्वस्त्रीमन्तरेणासु पञ्चदशसु पञ्चदशवर्णाञ्जनयन्ति एवं वैदेहकादयोपि प्रत्येकमिति ॥ ३१ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रतिकूलं वर्तमानात् आनुलोम्येन वर्तमानान् बाह्यान्तरान्पुनः प्रसूयन्ते । हीना हीनान्प्रसूयन्ते वर्णान् वर्णभवत्वात् । वर्णान् पञ्चदशैवतु द्विजात्युत्पन्नशूद्रपुरुषजातानां त्रयाणां चातुर्वर्ण्यसंबन्धे द्वादश रूपतश्च त्रय इति पञ्चदश ॥ ३१ ॥

प्रसाधनोपचारज्ञमदासंदासजीवनम् ॥ सैरिन्ध्रवागुरावृत्तिसूते दस्युरयोगवे ॥ ३२ ॥

(१) मेघातिथिः । प्रसाधनं मण्डनमुपचारोऽनुवृत्तिः केशरचनाकंकुमचन्दनादिनाऽनुलेपनविच्छित्तिः पाणिपादविमर्दनं ग्रामिलाभकर्मकार्यक्षिप्रकारिताकार्याणामवसरमित्यादिविधिज्ञ एवमुच्यते । अदासंदास्यजीवनं वत्सरभृत्या [षण्मासभृत्या] च कंचनसेवते अथवैतद्विधिज्ञतया सर्वोपस्थापको भवति जीवनाय [मता] वागुरावृत्तिर्द्वितीयोऽयं वृत्त्युपायः वागु-

रारण्यपशुर्हिंसनं तच्चार्याणादैवपिच्यर्थं भुधार्थं च नतु व्याधवत्पशून्हत्वा मांसविक्रयेण जीवनं राजनियोगाद्बहुप्राणिवधोजी-
विकार्थः सैरन्ध्रनामानसूते उत्पादयति वर्णकः दस्युर्नामवक्ष्यमाणः अयोगवे जातिविशेषे सामर्थ्यात्स्त्रीत्वलाभः ॥ ३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्यानपि कांश्चिदुपलक्षणतया संकीर्णजान्ब्रूत्यासह दर्शयति प्रसाधनेति । प्रसाधनम-
लंकरणं । उपचारोगात्रसंवाहनादिः । अदासं दास्यानर्हं शूद्रस्यैवतदर्हत्वात् । दास्यजीवनं दासयोग्येन कर्मणा जीवन-
म् । सैरन्ध्रनामानम् । वागुरावृत्तिं पाशबन्धनवृत्तिम् । दस्युः प्रागुक्तपञ्चदशविधसंकरजात्यन्तरः । अयोगवेअयोगवस्त्रि-
याम् जातिवाचित्वात्स्त्रीलिङ्गनिर्देशः ॥ ३२ ॥

(३) कुल्लूकः । केशरचनादिः प्रसाधनस्तस्योपचारज्ञं अदासमुच्छिष्टभक्षणादिदासकर्मरहितमङ्गसंवाहनादिदास-
कर्मजीवनं पाशबन्धनेन मृगादिवधाख्यवृत्त्यन्तरजीवनंसौरिन्ध्रनामानं मुखबाहूरुपजानामिति श्लोके वक्ष्यमाणोदस्युरायो-
गवस्त्रोजातौ शूद्रेण वैश्यायामुत्पन्नायां जनयति तच्चास्य मृगादिमारणंदेवपित्रौषधार्थं वेदितव्यम् ॥ ३२ ॥

(४) राघवानन्दः । तानेव नवविवृणोति प्रसाधनेति । प्रसाधनोपचारज्ञं केशप्रसाधनादिनिपुणम् अदासं हिंसो-
पजीवित्वेपि दाशाङ्गिन् उच्छिष्टाभोजित्वात् । दास्यजीवनं दासकर्मणा जीवनवन्तम् । वागुरावृत्तिं वागुरा मृगबन्धनी
तया मृगघातिनम् । आयोगवे शूद्राद्वैश्याजन्यायाम् । दस्युर्वक्ष्यमाणः ॥ ३२ ॥

(५) नन्दनः । अपरमपि संकीर्णयोनिमाह प्रसाधनोपचारज्ञमिति । दस्युः प्रतिलोमः सूतादिः । अयोगवे आयोगव-
स्त्रियां वृत्तभङ्गपरिहारार्थं हत्वः । सैरन्ध्रनामानं प्रसाधनोपचारवृत्त्याजीवन्तं । अदासंकस्यचिदपि नदासभूतं । दस्यूनांबहु-
त्वात्सैरन्ध्राणामपि बहुत्वं वृत्तिभेदोपन्यासेन सूचितम् ॥ ३२ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रसाधनं अलंकरणमात्रं संवाहनादि उपचारज्ञं । अदास्यं दास्यानर्हमदास्यं । यत्जीवनं प्राणनं
आयोगवोदस्युः वागुरावृत्तिं पाशबन्धनवृत्तिं सूते ॥ ३२ ॥

मैत्रेयकन्तुवैदेहोमाधूकंसंप्रसूयते ॥ नृन्प्रशंसत्यजस्रं यो घण्टाताडोरुणोदये ॥ ३३ ॥

(१) मेधातिथिः । मैत्रेयकं नाम्नावर्णमायोगव्यां संप्रसूयते जनयति वैदेहनामा ब्राह्मण्यां वैश्याज्जातोयः पाठा-
न्तरमैत्रेयकमिति माधूकमुपमापदमेतत् । माधूककुसुमतुल्यं मधुरभाषित्वात् अथवा मधुकायतीति अन्येष्वपि दृश्यते इति तडः
अन्येषामपीति दीर्घः स्वार्थिकेन चादिवृद्धिस्तस्य वृत्तिः नृन्मनुष्यान्प्रशंसन्ति अतस्तत्सर्वदा बन्दाति यः कथ्यते । अरुणो-
दये प्रबोधकाले घण्टाताडयत्याहन्ति राज्ञामीश्वराणांचान्येषांप्रबोधाय आयोगव्यामेवायं जनयति प्रकृतत्वात् ॥ ३३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मैत्रेयकं मैत्रेयकनामानम् । माधुकं मधुरस्तुतिपाठकम् । सूते अयोगवस्त्रियामेव ।
घण्टाताडोघण्टावाद्यकारी ॥ ३३ ॥

(३) कुल्लूकः । वैश्याद्ब्राह्मण्यां जातो वैदेहः । प्रकृतायामायोगव्यां मैत्रेयाख्यं मधुरभाषिणं जनयति यः प्रातर्घण्टा-
माहृत्य राजप्रभृतीन्सततं वृत्त्यर्थं स्तौति ॥ ३३ ॥

(४) राघवानन्दः । मैत्रेति मैत्रेयकं माधुकं मधुरभाषिणं अयोगव्यां । नृन् राजादीन् । घण्टाताडः तत्ताडनशीलः ।
अरुणोदये प्रातः प्रातरेव तान्बोधयन्प्रशंसतीति । वैदेहो वैश्यात् ब्राह्मणीजः ॥ ३३ ॥

(५) नन्दनः । माधुरं मधुरभाषिणं सुतं प्रसूयते आयोगवइत्यनुवर्तते तस्य वृत्तिरुत्तरार्धेनोक्ता । घण्टां ताडयतीति
घण्टाताडः ॥ ३३ ॥

(६) रामचन्द्रः । वैदेहोमैत्रेयकनामानं तुपुनःमाधूकं मधुरस्तुतिपाठकमायोगव्यां संप्रसूते । अरुणोदयेयोनूनज-
संप्रशंसतिसंघण्टानादः भाषायांजागाइति प्रसिद्धः ॥ ३३ ॥

निषादोमार्गवंसूते दासंनौकर्मजीविनम् ॥ कैवर्त्तमिति यंप्राहुरार्यावर्त्तनिवासिनः ॥ ३४ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रतिलोमप्रकरणान्यः शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातोनिषादः पूर्वमुक्तः सद्गृह्यतेअपि तु दस्युवत्प्र-
तिलोमएवमार्गवंनामप्रतिलोमंसूते आयोगव्यामेव यस्येमेअपरे नामनीदासःकैवर्त्तइति आर्यावर्त्तः प्रसिद्धः तस्य वृत्तिर्नौ-
कर्मणा नौवाहनेन जीवति ॥ ३४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निषादः शूद्रायां विप्राज्जातः अयोगवस्त्रियामेव सूते । मार्गवं मार्गवनामानम् । दासं
दासापरनामानम् । अयोगवइत्यधिकारादेतावप्यायोगव्यामेव ॥ ३४ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणेन शूद्रायां जातोनिषादः प्रागुक्तायामायोगव्यां मार्गवंदासापरनामानंनौव्यवहारजीविनं-
जनयति आर्यावर्त्तदेशवासिनः कैवर्त्तशब्देन कीर्तयन्ति ॥ ३४ ॥

(४) राघवानन्दः । निषादोब्राह्मणात् शूद्रकन्याजः । मार्गवं मृगयुरिवहिंसाकर्मिणं । नौकर्मजीविनं नावोयत्कर्म
मत्स्यघातनोत्तारणदि तेन जीवितुंशीलम् । तस्यैव देशभेदेन नामान्तरं कैवर्त्तइति ॥ ३४ ॥

(५) नन्दनः । निषादः शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः पूर्वमुक्तः । मार्गवं मार्गवनामानं क्वचिद्दाशनामानं । सूते आयोगव-
इत्येव ॥ ३४ ॥

(६) रामचन्द्रः । निषादः आयोगव्यांमार्गवंसूते दासंनौकर्मजीविनं ॥ ३४ ॥

मृतवस्त्रभृत्सु नारीगर्हितान्नाशनासु च ॥ भवन्त्यायोगवीष्वेते जातिहीनाः पृथक्त्रयः ॥ ३५ ॥

(१) मेधातिथिः । येऽनन्तरउपदिष्टास्त्रये मार्गवपर्यन्ता स्तेषामातृजातिर्नोक्ता तत्प्रतिपादनार्थंयंश्लोकः आयो-
गवीषु स्त्रीष्वेते जायन्ते तासांच विशेषणं मृतवस्त्रभृत्सु शववासांसि परिदधतीष्वित्यर्थः अनार्याअस्पृश्याः गर्हितमुच्छि-
ष्टमांसादिचान्मश्रन्ति ॥ ३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्येपि त्रयस्तस्यामेव जायन्तइत्याह मृतेति । पूर्वार्धेनायोगवीनां धर्मउक्तः ॥ ३५ ॥

(३) कुल्लूकः । सैरिन्ध्रमैत्रेयमार्गवाहीनजातीयास्त्रयः मृतवस्त्रपरिधानासु क्रूरासूच्छिष्टादिभक्तान्नाशनायोगवीषु
पितृभेदाद्भिन्नाभवन्ति ॥ ३५ ॥

(४) राघवानन्दः । त्रयाणामेषामातृराह मृतेति । मृतवस्त्रभृत्सु तदेव वासोयासांतासु । गर्हितान्नाशनासु गर्हितं
लशुनमद्याद्यशनं यासां तासु । आयोगवीकन्यासु । पृथगितितासामेकजातीयत्वेपिपतीनांभिन्नजातीयत्वात् ॥ ३५ ॥

(५) नन्दनः । अनार्यासुकेनचित्कर्मदोषेण निन्द्यासु जातिहीनामातृकर्मदोषेण निरुष्टतमाः एतेउत्तरश्लोके वक्ष्य-
माणाः ॥ ३५ ॥

(६) रामचन्द्रः । मृतवत्सासु अनार्यासु अविवाहितासु गर्हितमन्नमश्रन्त्योऽनार्याःतासु योगी [श्वरः] ॥ कद-
र्यईदं चौराणां क्लीबरङ्गावतारिणाम् ॥ एतेगर्हिता एतासु आयोगवीषु एतेजातिहीनाःपृथक्त्रयोभवन्ति ॥ ३५ ॥

(३५) मृतवस्त्रभृत्सु नारी=मृतवत्सास्त्रनार्यासु (ख,)=मृतवस्त्रभृत्स्वनार्यासु (क, च, ण)

(३५) त्रयः=क्रियाः (य, ब, ल)

कारावरोनिषादात्तु चर्मकारः प्रसूयते ॥ वैदेहिकादन्धमेदौ बहिर्यामप्रतिश्रयौ ॥ ३६ ॥

(१) मेधातिथिः । उत्तरत्र वैदेह्यमेव जायन्तइत्येवकारकरणा ल्लिङ्गादिहापि वैदेह्यां निषादात्कारावरोना-
मजायतइति संबन्धप्रतीतिः वैदेहिकाद्वाधांधमेदौकस्यांस्त्रियां कारावरीनिषाद्यौ तयोरत्रसन्निधानात् वैदेह्यां च वैदेह्याभि-
नववर्णसंभवादिवं व्याख्यायते स्त्रीभेदे कस्माद्वर्णादेते द्वे जाती बहिर्यामं प्रतिश्रयोनिवासोययोः ॥ ३६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निषादादायोगव्यां कारावरनामा चर्मकारस्तद्वृत्तिः प्रसूयते प्रजायते । वैदेहकादायोग-
व्यामेव तत्र आन्ध्रोऽनन्यपूर्वायामन्यपूर्वायांतु मेदः ॥ ३६ ॥

(३) कुल्लूकः । वैदेह्यमेव जायतइत्युत्तरत्र श्रवणात् अत्राप्याशङ्क्यां सैव संबध्यते निषादाद्वैदेह्यां जातः
कारावराख्यश्चर्मच्छेदनकारीजायते अतएवौशनसे कारावाराणांचर्मच्छेदनाचरणमेव वृत्तित्वेनोक्तम् । वैदेहकसैरिन्धमे-
दाख्यौ ग्रामबहिर्वासिनौ अन्तरानिर्देशाद्वैदेहकेन च वैदेह्यां जातस्य गर्हितवैदेहकस्याप्युचितत्वात् । कारावरनिषाद-
जात्योश्चात्र श्लोके सन्निधानात्कारावरनिषादस्त्रियोरेव क्रमेण जायते ॥ ३६ ॥

(४) राघवानन्दः । वैदेह्यांकारावरादिषण्णामेवजन्मेतिवक्तुं पितृभेदमाह करेतिद्वाभ्याम् । निषादवैदेहकचण्डा-
लनिषादाश्चत्वारः पितरःकारारवान्धमेदाद्याःषट् पुत्रावैदेह्यामितिजात्येकवचनंचेतिपौलकस्यांशूद्रनिषादजातायांअत्रनव-
जातेरन्यद्विशेषणंसैरन्ध्रकःमैत्रेयकःमार्गवःकारारवः आन्ध्रमेदौ देशभेदेनैकएव पाण्डुसोपाकः आहितुण्डिकः सोपाकः अ-
न्त्यावसायीचैते नव सूतादयः षट्तेन पञ्चदश बाह्याबाह्यतरादिति व्याख्यायन्ते पञ्चदशशब्दस्वरसात् । कुल्लूकस्तु सूता-
दयः षडेतेसैरन्ध्रादयोनवेति पञ्चदश तथा अयोगवक्षत्तृचण्डालाश्चातुर्वर्ण्यस्त्रीषु स्वयोन्यांच पञ्च पञ्च जनयन्तीति एवं
दश पूर्वोक्ताश्च पञ्चदशेति त्रिशत् । मेधातिथिस्तु विप्रस्थानुलोम्येन त्रयः प्रतिलोमाभावान् क्षत्रियस्य ब्राह्मण्यामेकः
प्रतिलोमः अनुलोमद्वयं वैश्याशूद्रयोः वैश्यस्यच विप्राक्षत्रिययोः प्रतिलोमद्वयमनुलोमएकः शूद्रायां शूद्रस्यतु प्रतिलोमत्रयं
विप्राक्षत्रियवैश्याङ्गनासु अनुलोमाभावादिति द्वादश संकरास्तेषां मातृजातीयप्रतिलोमानुलोमासु पञ्चसु प्रत्येकं पञ्चपञ्चेति
षष्टिरेवं संकरादिति ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

(५) नन्दनः । तानेवत्रीनाह कारावरइति चर्मकारश्चर्मसंस्कारवृत्तिः । कारावरान्धमेदाः क्रमेण मृतवस्त्रभृत्त्वना-
र्यासु गर्हितान्नाशनास्वायोगवीषु जायन्तइति ॥ ३६ ॥

(६) रामचन्द्रः । निषादाद्वैदेह्यांकारावरोनाम चर्मकारः प्रसूयते वैदेहकादंधमेदौ भवतः ॥ ३६ ॥

चण्डालात्पाण्डुसोपाकस्त्वक्सारव्यवहारवान् ॥ आहिण्डिकोनिषादेन वैदेह्यमेव जायते ॥ ३७ ॥

(१) मेधातिथिः । चण्डालात् वैदेह्यापाण्डुसोपाकोनामवर्णोजायते । तस्य वृत्तिस्त्वक्सारव्यवहारत्वात् त्वक्सारो-
वेणुःतर्ध्वहारेण वंशक्रयविक्रयादिना कटा दिकरणेन वा जीवति निषादात्तस्यामेवाहिण्डिकस्तस्य वृत्तिरेषैवान्वेष्यावा ॥ ३७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चण्डालदायोगव्यामेव पाण्डुसोपाकः पाण्डुसोपाकनामा । त्वक्सारव्यवहारोवेणुविदलै-
र्जीवनम् । अत्रचान्धमेदयोर्मातापितृजात्यभेदादिकत्वंविवक्षतापूर्वत्रयइत्युक्तम् । निषादेन विप्रशूद्राजेन ॥ ३७ ॥

(३) कुल्लूकः । वैदेह्यां चण्डालात्पाण्डुसोपाकाख्योवेणुव्यवहारजीवी जायते । निषादेन च वैदेह्यमेवाहिण्डिका-

(३७) आहिण्डिकोनिषादेन वैदेह्यमेव=आहिण्डिकोनिषाद्यान्तु वैदेहेन (न)

स्थोजायते । अस्य च बन्धनस्थानेषु बाह्यसंरक्षणादाहिण्डिकानामित्यौशनसे वृत्तिरित्युक्ता समानमातापितृकत्वेऽपि कारावराहिण्डिकयोर्वृत्तिभेदसंश्रवणाद्यपदेशभेदः ॥ ३७ ॥

(५) नन्दनः ॥ आहिण्डिकोनिषाद्यान्तु वैदेहेनैव जायते इतिपाठः । त्वक्सारोवेणुवेत्रादिस्तस्य व्यवहारोविक्रय-
कर्म ॥ ३७ ॥

(६) रामचन्द्रः । चाण्डालाद्वैदेह्यां पाण्डुसोपाकनामा त्वक्सारव्यवहारवान् वेणुव्यवहारजीवी जायते । निषादेन-
वैदेह्यामाहिण्डिकोजायते ॥ ३७ ॥

चण्डालेन तु सोपाकोमूलव्यसनवृत्तिमान् ॥ पुक्कस्यां जायते पापः सदा सज्जनगर्हितः ॥ ३८ ॥

(१) मेधातिथिः । व्यसनंदुःखंतस्यमूलमारणंतद्वृत्तिर्वध्यमारणं राजादेशादनाथशववहनंतद्वत्वादियहणं प्रेतपिण्ड-
भोजनमित्येवमादिवृत्तिः । पुल्कस्यांचाण्डालेन जायते अथवा मूलादिवृक्षादीनांतद्यसनंविभागकरणंसा वृत्तिर्व्यवच्छिन्नेषु
वृक्षेषु यदनुवृत्तमूलंतदुद्धृत्य विक्रयादिना जीवति ॥ ३८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चण्डालेन पुल्कस्यां मूलव्यसनवृत्तिमान् मूलखननंकृत्वा तद्विक्रयणजीवनइत्यर्थः ॥ ३८ ॥

(३) कुङ्कुमः । शूद्रायां निषादेन जातायां पुक्कस्यां चण्डालेनजातः सोपाकाख्यः पापात्मा सर्वदा साधुभिर्नि-
न्दितोमारणोचितापराधस्य मूलवध्यः तस्य व्यसनंराजा देशेन मारणंतेन वृत्तिर्यस्य सजायते ॥ ३८ ॥

(५) नन्दनः । मूलव्यसनमौषधखननम् ॥ ३८ ॥

(६) रामचन्द्रः । चाण्डालेन सोपाकनामातथा पुल्कस्यांजायते । कीदृशः मूलव्यसनवृत्तिमान् मूलखननवृत्ति-
मारणोचितःयद्वा मूलं बध्यं तस्य व्यसनं राजादेशेन मारणंवा ॥ ३८ ॥

निषादस्त्री तु चण्डालात्पुत्रमन्त्यावसायिनम् ॥ श्मशानगोचरंसूते बाह्यानामपि गर्हितम् ॥ ३९ ॥

(१) मेधातिथिः । अन्त्यावसायिनंचण्डालमेव वदन्ति अथवा निषाद्यां चण्डालादुत्पन्नस्यान्तावसायीति नाम-
धेयं श्मशानगोचरंशवदहनादिवृत्तिराहारादीनि कर्माणि तैः प्रसिद्धैः सोपाकादिनामतया तज्जातीयएवसोऽतश्चाण्डालादपि
कुस्मिततरोविज्ञेयः । तदेतदानन्त्यात्संकराणांप्रदर्शनमात्रंकृतम् ॥ ३९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निषादस्त्री निषादजातीया स्त्री ॥ ३९ ॥

(३) कुङ्कुमः । निषादीचण्डालादन्त्यावसायिसंज्ञंचण्डालादिभ्यापि दुष्टतमंश्मशानवासिनंतद्वृत्तिच जनयति ॥ ३९ ॥

सङ्करे जातयस्त्वेताः पितृमातृप्रदर्शिताः ॥ प्रच्छन्नावा प्रकाशावा वेदितव्याः स्वकर्मभिः ॥ ४० ॥

(१) मेधातिथिः । यान्येतान्यनन्तरमुद्दिष्टानि त्वक्सारव्यवहारादीनि कर्माणि तैरप्रसिद्धाःसोपाकादिनामतयात-
जातीयवेदितव्याः पित्रामात्राच विभागेन दर्शिताः प्रच्छन्नावा प्रकाशावातज्जातीयावेदितव्याः । आयोगव्यांमात्राविभा-
गोनिषादाद्वैदेहिकादान्धमेदाविति पित्रा दर्शितोविभागः ॥ ४० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पितृमातृप्रदर्शिताः पितृमातृविशेषेण कथिताः । स्वकर्मभिर्गर्हितकर्मवर्तनशीलतया वेदित-
व्याः प्रच्छन्नाप्रच्छन्नाअपि ॥ ४० ॥

(३) कुङ्कुमः । वर्षसङ्करविषयएताजातयोयस्येयंजनयिष्ययंजनकः सएवंजातीय इत्येवं पितृमातृकथनपूर्वकंद-
र्शिताः तथा गूढाः प्रकटावा तज्जात्युदितकर्मानुष्ठानेन ज्ञातव्याः ॥ ४० ॥

(४) राघवानन्दः । संकीर्णप्रकरणमुपसंहरति संकरइति । पितृलोमातृतः कर्मभिर्वा विभाव्याइत्याह प्रच्छन्नावेति ॥ ४० ॥

(५) नन्दनः । पितृमातृविगर्हिताः पितृमातृदोषविगर्हिताः आसु जातिषु द्विजधर्मिणः ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रस्त्रीः जाताः अनुलोमजाइतियावत् द्विजधर्मिणोऽनन्तरं केवलं स्वजातिजानामेव द्विजधर्मित्वं किन्त्वनन्तरासु जातानामपि साकल्येन द्विजधर्मित्वमस्तीत्यर्थः । तत्र ब्राह्मणाब्राह्मण्याञ्जातस्य योद्विजधर्मस्स एव तस्मात्क्षत्रियायाञ्जातस्यापि एवमुत्तरयोरपियोज्यं वैश्याच्छूद्रायाञ्जातस्यानेन शूद्रेभ्योवैशिष्यमित्यवगन्तव्यम् ॥ ४० ॥

(६) रामचन्द्रः । संकरे एताजातयः पितृमातृप्रदर्शिताः पितृमातृपूर्वकंकथिताः । प्रच्छन्नावा प्रकाशावा स्वकर्मभिर्वेदितव्याः ॥ ४० ॥

सजातिजानन्तरजाः षट्सुताद्विजधर्मिणः ॥ शूद्राणान्तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः ॥ ४१ ॥

(१) मेधातिथिः । स्वजातीयास्त्रैर्वर्णिकेभ्यः समानजातीयास्तु जातास्ते द्विजधर्माण इत्येतत्सिद्धमेवानुच्यते अनन्तरजानांतुल्यता भिधानंतद्धर्मप्राप्त्यर्थं अनन्तरजाअनुलोमब्राह्मणात्क्षत्रियवैश्ययोः क्षत्रियाद्वैश्यायांजातास्तेपि द्विजधर्माण उपनेयाइत्यर्थः उपनीताश्च द्विजातिधर्मैः सर्वैरधिक्रियन्ते ननु च ताननन्तरनाम्नइति मातृजातीयत्वमेषामुक्तमेव ततश्च तज्जात्या समेषु धर्मेषु सिद्धएवाधिकारः सन्त्यमनन्तरनामइति नामग्रहणात्संज्ञैर्वैषां ननु जात्यतिदेशइति कस्यचिदाशङ्कास्यादतः स्पष्टार्थे षट्सुताद्विजधर्मिण इति वचनान्तरं धर्मिण इति शब्दस्य धर्मोर्धनीयः । ये पुनरपध्वंसजाः संकरजास्ते शूद्राणां सधर्माणः समानाचारास्तद्धर्मैरधिक्रियन्त इत्यर्थः । प्रतिलोमानांतु विशेषो वक्ष्यते अनन्तरग्रहणमनुलोमोपलक्षणार्थमेव तेन व्यवहितोऽपि ब्राह्मणाद्वैश्यायां जातो गृह्यते षट्संख्यातिरिक्तत्वात् शूद्रायां पारशवः ॥ ४१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनुलोमजेषु विशेषमाह स्वजातीति । ब्राह्मणस्य ब्राह्मण्यां अनन्तरयोश्च क्षत्रियावैश्ययोरिति त्रयः क्षत्रियस्य क्षत्रियावैश्ययोः द्वौ वैश्यस्य वैश्यायामेकइति षट् द्विजानांसुताः द्विजधर्मिणः पितृजातीयसदृशाः । अत्र स्वजातिग्रहणाद्व्यन्तरत्वेन योग्याः उपनयनादौ । अपरेत्वपध्वंसजाः संकरजाः शूद्रसधर्माणो न तथाविधसंस्काराद्यर्हाः ॥ ४१ ॥

(३) कुल्लूकः । द्विजातिसमानजातीयासु जातास्तथानुलोम्येनोत्पन्ना ब्राह्मणेन क्षत्रियावैश्ययोः क्षत्रियेण वैश्यायामेवं षट्पुत्राद्विजधर्मिण उपनेयाः ताननन्तरजास्त्विति यदुक्तं तज्जातिव्यपदेशार्थं संस्कारार्थमिति कस्य चिद्भ्रमः स्यात् अतएषां द्विजातिसंस्कारार्थमिदं वचनं ये पुनरन्ये द्विजात्युत्पन्ना अपि सूतादयः प्रतिलोमजास्ते शूद्रधर्माणो नैषामुपनयनमस्ति ॥ ४१ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र विप्रदिवत् करणान्तानां त्रयाणां द्विजवदाशौचोपनयानाद्यतिदिशन् आयोगवक्षत्तृचण्डालमागधैवेदहसूतानां षण्णां शूद्रवदाशौचादिप्रामिमाह सजातिजाइति । अपध्वंसजाइति पारिभाषिका आयोगवादयः ॥ ४१ ॥

(५) नन्दनः । सङ्कीर्णजातीनां परिज्ञानोपायं शूद्रधर्मिणश्चाह स्वजातिजानन्तरजाइति । ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः स्वजातिजाः अनन्तरवर्णजाताः अपध्वंसाः प्रतिलोमजातयः ॥ ४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्वजातिजाः षट्सुताः द्विजधर्मिणः द्विजधर्माः उपनेयाः । शूद्राणां सधर्माणः सर्वे अपि सजाः संकरजाः स्मृताः ॥ ४१ ॥

तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे ॥ उत्कर्षेचापकर्षेच मनुष्येष्विह जन्मतः ॥ ४२ ॥

(१) मेधातिथिः । तएतेऽनन्तरजाः तपःसामर्थ्येन बीजसामर्थ्येन युगेयुगे जन्मनिजन्मनि उत्कर्षमपकर्षेच गच्छन्ति तद्वक्ष्यामः शूद्रायां ब्राह्मणजातइत्यत्र ॥ ४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तपोबीजप्रभावेन तपसा जात्युत्कर्षार्थकृतेन बीजस्यच द्विजजातीयसंबन्धिनः प्रभावेन तेयोग्यतया व्यवहिता अपि द्विजधर्माणः युगेयुगे उत्तरोत्तरप्रसूतिषु क्रमान्मनुष्येषु जन्मतोजात्युत्कर्षप्रथमप्रथमजातितः-श्रेष्ठत्वमसत्कर्मकरणाच्चापकर्षशूद्रतोप्यधमांजातिर्यान्ति । युगपदं मातापितृयोगसाध्यतया तत्साध्यायांसंततौ वर्तते । एतेन ब्राह्मणात्क्षत्रियायां जातोमूर्धावसिक्तोमूर्धावसिक्तंविवाह्य स्वाचारादप्युक्तायां जनयति सततउत्कृष्टः । एवमुत्तरोत्तरंज्ञेयम् । एवं क्रमेण पञ्चमी प्रसूतिर्ब्राह्मणजातिरेव भवति । एकान्तरवर्णजानांतु सप्तमी प्रसूतिः । एवं क्षत्रियाद्वैश्यायां जातेऽपि । एतदुक्तं याज्ञवल्क्येन ॥ जात्युत्कर्षीयुगे ज्ञेयः पञ्चमे सममेपि वा । एवमसत्कर्मणां सद्विधानवत्पूर्वजात्युत्कर्षोपि द्रष्टव्यः ॥ ४२ ॥

(३) कुल्लूकः । सजातिजानन्तरजास्तपः प्रभावेण विश्वामित्रवद्वीजप्रभावेण ऋष्यशृङ्गादिवत्कृतत्रेतादौ मनुष्यमध्ये जात्युत्कर्षगच्छन्ति अपकर्षेच वक्ष्यमाणहेतुना यान्ति ॥ ४२ ॥

(४) राघवानन्दः । तपोबीजप्रभावैः सूतादीनामप्युत्कर्षोभवतीत्याह तपइति । युगे जन्मनि । तपःप्रभावेन विश्वामित्रवत् । बीजप्रभावेन ऋष्यशृङ्गवत् । अपकर्षः कर्मणांत्यागादिना ॥ ४२ ॥

(५) नन्दनः । एवंप्रतावद्वीजक्षेत्रवशाज्जातीनामुत्कर्षापकर्षौ वृत्ता विदानीहेत्वन्तरवशादप्याह तपोबीजप्रभावैश्चेति । ते ब्राह्मणादयोद्विजधर्मिणश्च वर्णास्तपएव बीजंतपोबीजंतपोबीजत्ववचनंजात्यन्तरोत्पादकत्वनिबन्धनं युगे युगे मिथुने मिथुने संताने सन्ताने पुत्रपौत्रादीष्वपीत्यर्थः । युगशब्दस्य सन्तानवचनत्वमुत्तरत्र व्यक्तीभविष्यति इहमनुष्येषु मध्ये जन्मतउत्कर्षमपकर्षेच गच्छति तस्मादुत्कर्षहेतुः सेव्योऽपकर्षहेतुस्त्याज्यइत्यभिप्रायः ॥ ४२ ॥

(६) रामचन्द्रः । युगेयुगे जन्मनिजन्मनि तपोबीजप्रभावैरुत्कर्षगच्छन्ति । जन्मतः जात्याइहमानुषेषु अपकर्ष नीचत्वं गच्छन्ति ॥ ४२ ॥

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ॥ वृषलत्वंगतालोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥ ४३ ॥

(१) मेधातिथिः । यदुक्तंत्वकर्मणांत्यागेनेति तस्यैवायंप्रपञ्चः । क्रियालोपोयत्र संस्कार्यतया संबध्यते तथोपनयनादिषु यत्र वा कर्तृतया यथानित्याग्निहोत्रसंध्योपासनादिषु तासांलोपउभयासामप्यननुष्ठानमतश्च न केवलमुपनयनसंस्काराभावेन जातिभ्रंशः । अपितूपनीतानांविहितक्रियात्यागेनापि तथाचाह शनकैरिति पुत्रपौत्रादिसंततेः प्रभृतिशूद्रत्वंनतु जातस्यैव उपनयनाभावेतु तस्यैव व्यपदेशान्तरंप्रवर्तते । यद्यपि सा जातिर्ननिवर्तते तत्पुत्रपौत्राणां भृज्जकण्टकादिजात्यन्तरमेव व्यपदेशहेतुकमपि ब्राह्मणातिक्रमेण ब्राह्मणविधिविहितातिक्रमेणेत्यर्थः । अथवा शास्त्रार्थसंशये प्रायश्चित्ते वा परिषद्गमनाभावः ॥ ४३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्रदृष्टान्तमाह शनकैरिति । शनकैः क्रमेण वृषलत्वं शूद्रत्वं गताः क्रियालोपात् तत्रहेत्याः प्रह्मणादर्शनम् ॥ ४३ ॥

(३) कुल्लूकः । इमावक्ष्यमाणाः क्षत्रियजातय उपनयनादिक्रियालोपेन ब्राह्मणानांच याजनाभ्यापनप्रायश्चित्ता-र्शिताः तथा गूवेन शनैः शनैर्लोके शूद्रतांप्राप्ताः ॥ ४३ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव कैमुतिकन्यायमाह शनैरितिद्वाभ्याम् । क्रियालोपेन उपनयनाद्यभावेन । ब्राह्मणादर्शनेन याजनाध्यापनप्रायश्चित्ताद्यर्थं तेषां दर्शनाभावेन ॥ ४३ ॥

(५) नन्दनः । तपोबीजप्रभावउत्कर्षहेतुत्वेनोक्तः कः पुनरपकर्षहेतुरत्रेत्यपेक्षायामाह शनैरिति । शनैः संताने संताने ब्राह्मणानामदर्शनात्क्रियालोपाद्ब्राह्मणादर्शननिमित्तात्क्रियालोपात् इमा उत्तरश्लोके वक्ष्यमाणाः ॥ ४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । लोके क्रियालोपात् सत्क्रियालोपात् इमाः क्षत्रियजातयः शनैः वृषलत्वं शूद्रतां ब्राह्मणादर्शनेन ब्राह्मत्वबोधित कर्मानुष्ठानेन ॥ ४३ ॥

पौण्ड्रकाश्चौड्रविडाः काम्बोजायवनाः शकाः ॥ पारदापद्धवाश्चीनाः किरातादरदाः खशाः ॥ ४४ ॥

(१) मेधातिथिः । पुण्ड्रकादयः शब्दाः परमार्थतोजनपदशब्दादहत्तु क्षत्रियेषु मुख्यास्तत्संबन्धत्वाज्जनपदेषु वर्तन्तइत्येतद्दर्शनमाश्रितं । यथालुग्विधौ तस्य निवासोजपदेष्टुगिति नतुयथालुग्योगाप्रख्यानादिति नैतेषु देशेषु बाहुल्येन चातुर्वर्ण्यमस्तीत्येतदालंबनं । वृषलत्ववचनं यदि वा पुण्ड्रादयः शब्दाः कथंचिद्देशसंबन्धेन विना दृश्यन्ते तदैतज्जातीयावेदितव्याः । महाभारतादौ क्षत्रियावर्ण्यन्ते तथाद्यत्वेऽप्येते क्षत्रियाएवेति कस्यचित् भ्रान्तिः स्यादतएवमुक्तमेते वृषलाइति येचैते दिगन्तवासिनः किरातवैनदरदादयस्तेषामप्रामरूपवेदेनानूद्यते नतमियान्तांतमियादिति ॥ ४४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तानाह पुण्ड्रकाइति ॥ ४४ ॥

(३) कुल्लूकः । पौण्ड्रादिदेशोद्भवाः संतः क्रियालोपादिना शूद्रत्वमापन्नाः ॥ ४४ ॥

(४) राघवानन्दः । पौण्ड्रकादय एकादश पतितक्षत्रियानरजातयः ॥ ४४ ॥

(५) नन्दनः । ताएव जातीरुदाहरति पौण्ड्रकाइति ॥ ४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । एते पौण्ड्रकादयः खशान्ता उक्ताः ॥ ४४ ॥

मुखबाहूरुपज्जानांयालोके जातयोबहिः ॥ म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥ ४५ ॥

(१) मेधातिथिः । असदविद्यमानार्थासाधुशब्दतयावाक् म्लेच्छोच्यते । यथाशबराणांकिरातानामन्येषांवान्त्यानां आर्यवाच आर्यावर्तनिवासिनस्तेचातुर्वर्ण्यादन्यजातीयत्वेन प्रसिद्धास्तदादस्यवउच्यन्ते । एतदुक्तंभवति न देशनिवासेन म्लेच्छवाक्संकरत्वे कारणमपि तु यथोक्तबर्बरादिशब्दप्रसिद्धिर्मुखादिजानां बहिष्क्रियते ब्राह्मणादिशब्दैरप्रसिद्धैरित्यर्थः ते सर्वे दस्यवउच्यन्ते ॥ ४५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उक्तमर्थसंक्षिप्याह मुखेति । पञ्चम्यर्थेषष्ठी । चतुर्भ्योर्वर्णेभ्योयेन्ये तेयदि म्लेच्छदेशस्थसया म्लेच्छवाचःस्युर्यदिवार्यदेशवासादार्यवाचस्तथापि दस्यवोऽपसदाएव ॥ ४५ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणक्षत्रियवश्यशूद्राणांक्रियालोपादिना याजातयोबाह्याजाताम्लेच्छभाषायुक्ताआर्यभाषोपेतावा तेदस्यवः सर्वे स्मृताः ॥ ४५ ॥

(४) राघवानन्दः । बाह्यानुलोमप्रतिलोमजानां त्रिंशतां कर्माणि वक्ष्यंस्ताननुवदति मुखेतिद्वाभ्याम् । मुखबाहूरुपज्जानां ब्रह्मक्षत्रियविदूशूद्राणां तेभ्यश्चतुर्भ्योर्बहिर्जातयस्ताः म्लेच्छवाचः म्लेच्छवत् भाषणानि येषांते ॥ ४५ ॥

(५) नन्दनः । अनुलोमजातीनांप्रतिलोमजानांच साधारणींसंज्ञामाह मुखबाहूरुपज्जानामिति । आर्यवाचः संस्कृतवाचः ॥ ४५ ॥

(४४) पल्हवाः=बाल्हिकाः (क)

(६) रामचन्द्रः । मुखबाहूरुपज्जानां चतुर्वर्णानां जातयः याः लोके बहिर्द्विजक्षेत्रवैश्यशूद्रात् अन्ये सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥ ४५ ॥

ये द्विजानामपसदाये चापध्वंसजाः स्मृताः ॥ ते निन्दितैर्वर्तयेयुर्द्विजानामेव कर्मभिः ॥ ४६ ॥

(१) मेधातिथिः । अपसदाऽनुलोमाः प्रतिलोमाः अपध्वंसजागोबलीवर्दवद्भेदः द्विजानामुपयोगिभिः प्रेष्यकर्मभिर्वर्तयेयुः आत्मानो निन्दितैः प्रेष्यकार्यत्वान्निन्दितानि ॥ ४६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । द्विजानामपसदाद्विजसधर्माणः षट् ये चापध्वंसजाः शूद्रसधर्माणः । निन्दितैर्द्विजानां कर्मभिः द्विजानां भृत्यतया तत्तदुशनः प्रभृति स्मृत्युक्तकर्म कुर्वन्तः ॥ ४६ ॥

(३) कुड्डूकः । ये द्विजानामानुलोम्येनोत्पन्नाः षडेतेऽपसदाः स्मृता इति तेषामपि पितृतो जघन्यत्वेनापसदशब्देन प्रागभिधानादपध्वंसजास्ते द्विजात्युपकारकैरेव निन्दितैर्वक्ष्यमाणैः कर्मभिर्जीवेयुः ॥ ४६ ॥

(४) राघवानन्दः । अपसदामूर्धाभिषिक्तादयः षट् । अपध्वंसजाः सूतादयः । सैरन्ध्रादीनां विशेषणेनैव कर्मलाभः । प्रायेण निन्दितैः द्विजातिषु प्रतिषिद्धैः द्विजानां द्विजात्यपेक्षितैः कर्मभिः ॥ ४६ ॥

(५) नन्दनः । अथ दस्यूनां साधारणीं वृत्तिमाह ये द्विजानामपसदा इति । अपसदाः चौर्यजाता अनुलोमजाः अभिषिक्तादयः । अपध्वंसजाः प्रतिलोमजाः सूतादयः अनुलोमजेष्वप्यनन्तराः पुत्रव्यतिरिक्ताऽम्बषादयश्च सजातीयेष्वपि कुण्डगोलकादयश्च द्विजानामेव कर्मभिर्द्विजार्थैरेव कर्मभिः चिकित्साश्वसारथ्यादिभिर्वर्तयेयुर्जीवेयुः ॥ ४६ ॥

(६) रामचन्द्रः । ये द्विजानां ब्राह्मणक्षत्रियविशां सकाशादपसदाः सूताम्बषावैदेहकमागधादयः ये अपध्वंसजाः ते निन्दितैः कर्मभिः सेवादिभिः द्विजानां कर्मभिः उपयोगिभिः वर्तेरन् ॥ ४६ ॥

सूतानामश्वसारथ्यमम्बष्ठानांचिकित्सनम् ॥ वैदेहकानां स्त्रीकार्यमागधानां वणिक्पथः ॥ ४७ ॥

(१) मेधातिथिः । तथा च वक्ष्यते स्त्रीकार्यमन्तःपुररक्षाकारित्वं वणिक्पथः स्थलपथवारिपथादिप्रसिद्धः ॥ ४७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तदेव कियदप्याह सूतानामिति । स्त्रीकार्यमन्तःपुररक्षा । वणिक्पथो वाणिज्यम् ॥ ४७ ॥

(३) कुड्डूकः । सूतानामश्वदमनयोजनादिरथसारथ्यजीवनार्थं अम्बष्ठानां रोगशान्त्यादिचिकित्सा वैदेहकानामन्तःपुररक्षणं मागधानां स्थलपथवाणिज्या ॥ ४७ ॥

(४) राघवानन्दः । तानि कर्माण्याह सूतानामिति दशभिः । चिकित्सितं भिषक्क्रिया स्त्रीकार्यमन्तःपुरादिरक्षा । वणिक्पथः नौयायित्वम् ॥ ४७ ॥

(५) नन्दनः । तेषां साधारणीं च वृत्तिमाह सूतानामश्वसारथ्यमिति । स्त्रीकार्यमन्तःपुरादिषु स्त्रीरक्षा । वणिक्पथो वाणिज्यम् ॥ ४७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अम्बष्ठानां शूद्रादम्बषाजाताः चिकित्सकं शास्त्रं वैद्यकं । स्त्रीकार्यं अन्तःपुररक्षणम् ॥ ४७ ॥

मत्स्यघातो निषादानां त्वष्टिस्त्वायोगवस्य च ॥ मेदान्धचुश्चुमद्रूनामारण्यपशुर्हिसनम् ॥ ४८ ॥

(१) मेधातिथिः । ताष्टिर्दारुतक्षणं तक्षकर्म ॥ ४८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निषादानां निषादजानां कैवर्तानां तेन कैवर्तपि निषादपदेनोच्यत इति दाशतम् । तथा च । जातो निषादाच्छूद्रायामित्यत्र निषादपदेन स एवोच्यत इति । त्वष्टिस्तक्षणं काष्ठादेः । चुश्चुमद्रू झल्लमल्लपदाम्यां प्रागुक्तौ ॥ ४८ ॥

(३) कुल्लूकः । निषादानामुक्तानामत्स्यवधः आयोगवस्य काष्ठतक्षणं मेदान्द्रूनामारण्यपशुमारणं चञ्चु-
र्मद्रुश्च वैदेहकबन्दिस्त्रियोर्ब्राह्मणेन जातौ बौधायनेनोक्तौ बोद्धव्यौ बन्दीस्त्रीच क्षत्रियेण शूद्रायामोघैव ग्राह्या ॥ ४८ ॥

(४) राघवानन्दः । त्वष्टिः काष्ठतक्षणम् । चञ्चुर्मद्रूवैदेहीमागध्यौ ब्राह्मणजौ बौधायनोक्तौ ॥ ४८ ॥

(५) नन्दनः । तष्टिस्तक्षणं चञ्चुर्मद्रूजातिविशेषौ शास्त्रान्तरप्रसिद्धिमाश्रित्योक्तौ अथवातद्विषयश्लोकोनूनलेख-
पराधाद्भट्टः ॥ ४८ ॥

(६) रामचन्द्रः । आयोगवस्य त्वष्टिस्तक्षणम् । मेदान्द्रुचुम्बद्रूनां आरण्यपशुजीवनम् ॥ ४८ ॥

क्षत्रुयपुक्कसानांतु बिलौकोवधबन्धनम् ॥ धिग्वणानांचर्मकार्यवेणानांभाण्डवादनम् ॥ ४९ ॥

(१) मेधातिथिः । बिलौकसोहिनकुलगर्गरादयस्तेषांवधबन्धनक्षत्रादीनांजीविका चर्मकार्यकवचादिसीवनमुपानह-
थनमित्येवमादि भाण्डवादनंमुरजार्धमुरजादीनाम् ॥ ४९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बिलौकसः सर्पाद्याः । भाण्डवादनं वाद्यभाण्डवादनम् ॥ ४९ ॥

(३) कुल्लूकः । क्षत्रादीनांबिलनिवासिगोधादिवधबन्धनं धिग्वणानां चर्मकरणंतद्विक्रयश्च चर्मकरणंतद्विक्रयश्च
जीवनंधिग्वणानामित्यौशनसदर्शनात् अतएव कारावरेभ्येषांवृत्तिच्छेदः वेणानांकांस्यमुरजादिवाद्यभाण्डवादनम् ॥ ४९ ॥

(४) राघवानन्दः । बिलौकोवधबन्धनं बिलौकोगोधाकूर्मादि । चर्मकार्यचर्मशोधनं पादुकादिनिर्माणं कारावर-
स्येति विशेषः । भाण्डं वादनभाण्डं कांस्यमुरजादि ॥ ४९ ॥

(५) नन्दनः । बिलौकोवधबन्धनं बिलौकसः श्वाविमूषिकगोधादयः कार्मार्यकर्मकारकृत्यंशस्त्रमार्जनम् ॥ ४९ ॥

(६) रामचन्द्रः । क्षत्ता उयः पुल्कसः बिलौकसर्पादीनां वधजीवनं सर्पान्बध्नाजीवन्ति ॥ ४९ ॥

चैत्यद्रुमश्मशानेषु शैलेषूपवनेषु च ॥ वसेयुरेते विज्ञानावर्तयन्तः स्वकर्मभिः ॥ ५० ॥

(१) मेधातिथिः । बहिर्यामनिवासिनः पर्वतलक्षणप्रदेशे निवसेद्यः विज्ञातोविज्ञातिचिन्हंविदुषां यद्यस्य कर्म-
विहितंसतेनैव जीवेत् उत्कृष्टकर्मसंकरंकर्तुं न लभते ॥ ५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एते सूतादयः विज्ञाताश्चिन्हिताः ॥ ५० ॥

(३) कुल्लूकः । ग्रामादिसमीपे ख्यातवृक्षश्चैत्यद्रुमस्तन्मूले श्मशानपर्वतवनसमीपेषु चामी प्रकाशकाः स्वकर्मभिर्जी-
वन्तोवसेयुः ॥ ५० ॥

(४) राघवानन्दः । किंच चैत्येति । स्वकर्मभिर्विज्ञाताश्चैत्यवृक्षादिषुवसेयुरित्यन्वयः ॥ ५० ॥

(५) नन्दनः । विज्ञातास्तेज्ञातयः वर्तयन्तः जीवन्तः ॥ ५० ॥

(६) रामचन्द्रः । स्वकर्मभिर्वर्तयन्तोऽविज्ञाताएते पौण्ड्रकादयःवसेयुः ॥ ५० ॥

चण्डालश्चपचानांतु बहिर्यामात्यतिश्रयः ॥ अपपात्राश्च कर्तव्याधनमेषांश्वगर्दभम् ॥ ५१ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रतिश्रयोनिवासस्तेषांग्रामान्निष्क्रान्तःस्यात् अपपात्राश्चिरवसानीयास्तैर्येषु पात्रेषुभुक्तं तानि
नसंस्कार्याणि त्यक्तव्यानि सौवर्णराजताभ्यामन्यानि तयोः शुद्धिविशेषाउक्ताः । अथवाऽवपात्राय तदीयेषु च शक्तेषु

* सोग्रैव=तदुक्त्यैव

पात्रेषुसक्तभक्तादिनदातव्यमेषेपात्रेऽन्यहस्तस्थेवादत्वात्पात्रंभूमौस्थितंतदृच्छीयुः भिन्नंवा पात्रमवपात्रंयथावक्ष्यति
भिन्नभाण्डे च भोज्यादि धनमेषांश्वगर्दभगवाश्वादि सुवर्णरजतादि धनत्वेन गृह्णीयुः ॥ ५१ ॥

सर्वज्ञनारायणः । चाण्डालश्चपचानांतु ग्राममलाद्याकर्षकर्तृकत्वाद्ग्रामाद्बहिरेवावस्थानम् । अवपात्राः पात्राद्भूताः तैःस्पृष्टं पात्रादि न स्पृश्यमित्यर्थः ॥ ५१ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रतिश्रयोनिवासः चण्डालश्चपचानान्तु ग्रामाद्बहिर्निवासःस्यात् पात्ररहिताः कर्तव्यायत्रलोहादि-
पात्रेतैर्भुक्तंतसंस्कृत्यापि न व्यवहर्तव्यं धनचैषांकुक्कुरखरं वृषभादि वासांसि च शववस्त्राणि भिन्नशरावादिषु चभोजनं
लौहवल्यादिचालङ्करणं सर्वदा च भ्रमणशीलत्वम् ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तः श्वपाकः श्वपचः तेषां प्रतिश्रयोनिवासः । अवपात्राः तैर्भुक्तानि पात्राणि संस्कृता-
न्यपि न व्यवहरणीयानि ॥ ५१ ॥

(५) नन्दनः । बहिर्यामान्निर्गतः अपपात्रा अपगतकांस्यादिपानभोजनपात्रामृण्मयपात्रादित्यर्थः ॥ ५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अपपात्राः अस्पृश्यपात्राः धातुमयपात्ररहिताः कर्तव्याः । एषां चाण्डालादीनां धनंश्वगर्दभम्
॥ ५१ ॥

वासांसि मृत्चेलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम् ॥ काष्णायसमलङ्कारः परिव्रज्याच नित्यशः ॥ ५२ ॥

(१) मेधातिथिः । सर्वकालंपरिव्रज्या नैकत्रस्थाने वसेयुः ॥ ५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । काष्णायसं लौहम् । परिव्रज्या सर्वतोभ्रमणमेकत्रानवस्थानम् ॥ ५२ ॥

(४) राघवानन्दः । अतएवाह भिन्नभाण्डेति । पृथक् पात्रे भोजनं देयम् । काष्णायसमलङ्कारःरुण्यायोलोह-
तद्विकारः प्रव्रज्या भ्रमणं न तेषांस्थिरनिकेतनम् । नित्यपदेन संन्यासीव्यावर्तितः दयार्थसर्वभूतानांवर्षास्वेकत्र संवसेदिति
संन्यासिनः स्थितिस्मरणात् ॥ ५२ ॥

(५) नन्दनः । परिव्रज्यादूरीपसर्पणम् ॥ ५२ ॥

(६) रामचन्द्रः । काष्णायसं लोहमयंपरिव्रज्या नित्यभ्रमणंपरिधानार्थं मृतानां चेलानिवासांसि ॥ ५२ ॥

न तैः समयमन्विच्छेत्पुरुषो धर्ममाचरन् ॥ व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह ॥ ५३ ॥

(१) मेधातिथिः । समयः संकेतएककार्यता संगतिरित्यनर्थान्तरं एकत्रस्थानासनविहारास्तैः सह नकर्तव्या इ-
त्यर्थः । विवाहोदारग्रहणादिः सोप्येवमेव ॥ ५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । समयं व्यवहारम् । व्यवहारः संभाषणेभाजनादिः ॥ ५३ ॥

(३) कुल्लूकः । धर्मानुष्ठानसमये चण्डालश्चपचैः सह दर्शनादिव्यवहारं कुर्यात् तेषांच ऋणदानग्रहणादिव्यव-
हारोपिवाहश्च समानजातीयैः सहान्योन्यंस्यात् ॥ ५३ ॥

(४) राघवानन्दः । योहि धर्ममाचरन् सतैः समयं दर्शनालापादि नान्विच्छेदित्यन्वयः । व्यवहारः ऋणः ॥ ५३ ॥

(५) नन्दनः । समयंसंगतं धर्ममाचरन्धार्मिकमिति यावत् मिथोन्योन्यव्यवहारः क्रयविक्रयौ ॥ ५३ ॥

(६) रामचन्द्रः । समयं व्यवहारं तैः सह नियच्छेत् ॥ ५३ ॥

अन्नमेषांपराधीनदेयस्याद्भिन्नभाजने ॥ रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च ॥ ५४ ॥

(१) मेधातिथिः । रात्राविति तत्साक्षादेषांनदातव्यं प्रेष्यैः कैश्चित्पूर्वोक्तेन प्रकारेण दापयितव्योरात्रौ स्पर्शा शङ्कयान्तर्ग्रामनगरचर्याप्रतिषेधः ॥ ५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्नं पक्वं पराधीनं परपाकसिद्धं नत्त्वयंगृहे निवसन्तः पचेयुरित्युर्थः । भिन्नभाजने भ्रमशरावादौ ॥ ५४ ॥

(३) कुल्लूकः । अन्नमेषांपरायत्तंकार्यसाक्षादेभ्योन देयंकिन्तु प्रेष्यैर्भिन्नपात्रे दातव्यम् तेच रात्रौ ग्रामनगरयोर्न पर्यट्युः ॥ ५४ ॥

(४) राघवानन्दः । पराधीनं परंपरया देयं तत्रापि भिन्नभाजने भग्नौ । रात्रौ नचरेयुः दस्युत्वात्तेषामितिभावः ॥ ५४ ॥

(५) नन्दनः । भिन्नभाण्डइत्येवसिद्धे भिन्नभाजनइति पुनर्वचनमादरातिशयार्थम् ॥ ५४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्नं एषां पराधीनं परपाकसिद्धं स्वसहायशूद्रद्वारादातव्यं वाभिन्नभाजने भिन्नशरावादौ ॥ ५४ ॥

दिवाचरेयुः कार्यार्थचिन्हिताराजशासनैः ॥ अबान्धवंशवंचैव निर्हरेयुरिति स्थितिः ॥ ५५ ॥

(१) मेधातिथिः । दिवाविचरन्तिकार्यार्थंक्रयविक्रयत्वकार्यसिद्ध्यर्थंराजकार्याय वा चरेयुर्नगरोत्सवप्रेक्षादिनिमित्तं तत्रापिच चिन्हिताराजशासनैरुपलक्षिता राजादिष्टैर्जादिचिन्हैर्वध्यवधशासनैर्वा परशुकुठारादिभिः स्कन्धारोपितैः ॥ ५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । राजशासनैः राज्ञा नियमितैश्चिन्हैः लोहाभरणवत्पिच्छादिभिः । निर्हरेयुः बहिर्नयेयुः ॥ ५५ ॥

(३) कुल्लूकः । दिवाग्रामादौ क्रयविक्रयादिकार्यार्थंराजाज्ञया चिन्हाङ्किताः सन्तः पर्यट्युः अनाथंच शवंग्रामा- निर्हरेयुरिति शास्त्रमर्यादा ॥ ५५ ॥

(४) राघवानन्दः । दिवसेचेच्चिन्हिताः लज्जयादिष्वङ्किताः । निर्हरेयुर्ग्रामात् ॥ ५५ ॥

वध्यांश्च हन्युः सततंयथाशास्त्रंनृपाज्ञया ॥ वध्यवासांसि गृहीयुः शय्याश्चाभरणानि च ॥ ५६ ॥

(१) मेधातिथिः । तथाचाह ॥ ५६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यथाशास्त्रं दण्डप्रकरणोक्तक्रमेण ॥ ५६ ॥

(३) कुल्लूकः । वध्यांश्च शास्त्रानतिक्रमेण शूलारोपणादिना सर्वदा राजाज्ञया हन्युः तद्वत्शय्यालङ्कारांश्च गृहीयुः ॥ ५६ ॥

(४) राघवानन्दः । वध्यान् वधाहन् । यथाशास्त्रं शूलारोपणादिना ॥ ५६ ॥

(५) नन्दनः । नृपाज्ञयायथाशास्त्रंयथाशासनंयथाज्ञमंहन्युः शय्याश्चाभरणानि च वध्यानामिति विपरिणामः ॥ ५६ ॥

वर्णापेतमविज्ञातंनरंकलुषयोनिजम् ॥ आर्यरूपमिवानार्यकर्मभिः स्वैर्विभावयेत् ॥ ५७ ॥

(१) मेधातिथिः । वर्णादपेतंचातुर्वर्ण्याद्विष्यं । अविज्ञातंसत्यां शङ्कायां जारजातंवक्ष्यमाणैः कर्मभिः स्वभावा

तिशयैश्च निश्चिनुयात् । हीनकर्मरतिः क्रूरकर्माच्च सत्यांशङ्कनायां कलुषयोनिजोजारजातोवेदितव्यः ॥ ५० ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । वर्णपितं वर्णभ्रष्टं वर्णचाक्षुषम् । अविज्ञातं तथाचनिश्चितम् । तथा कलुषयोनिजमनुरू-
पविवाहजातम् । अनार्यं वस्तुतः । कर्मभिर्वक्ष्यमाणैः स्वैः संकरजानांसाधारणैः ॥ ५० ॥

(३) कुल्लूकः । वर्णत्वादपेतमनुष्यसङ्करजातलोकतस्तथात्वेनाविज्ञातमतएवार्यसदृशंवस्तुतः पुनरनार्यनिन्दित-
योन्यनुरूपाभिश्चेष्टाभिर्वक्ष्यमाणाभिर्निश्चिनुयात् ॥ ५० ॥

(४) राघवानन्दः । देशान्तरादौ प्रच्छन्नाः कथंज्ञायेरन् तत्राह वर्णैतिषङ्गिः । वर्णपितं वर्णाच्चातुर्वर्ण्यादपेतंसं-
रतांगतम् विभावयेन्निश्चिनुयात् कृष्णवर्णादियुतंवा । आर्यरूपं दैवात्सुवर्णशोभनंवस्त्रादिधारिणं कर्मभिरपेयपानचौ-
र्याद्यैः ॥ ५० ॥

(५) नन्दनः । अन्यगूढोत्पन्नानांपरिज्ञानोपायमाहवर्णापेतमिति । वर्णापेतंचातुर्वर्ण्याद्विहितं कलुषयोनिजंसंकी-
र्णयोनिजंविभावयेदनुमिमीत ॥ ५० ॥

(६) रामचन्द्रः । वर्णापेतं वर्णभ्रष्टम् ॥ ५० ॥

अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता ॥ पुरुषव्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥ ५१ ॥

(१) मेधातिथिः । अनार्योद्वेषमत्सरप्रधानः स्वार्थपरः क्रूरो लोभहिंसापरः निःक्रियात्मा विहितक्रियावर्जितः
एतैः स्वभावैः कलुषयोनिता व्यज्यते ॥ ५१ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अनार्यता अनुजुता । निष्ठुरता अक्रियता । क्रूरताहिंसाता । निष्क्रियात्मता धर्मक्रि-
यावैमुख्यम् । कलुषयोनिजं वर्णपितंच ॥ ५१ ॥

(३) कुल्लूकः । निष्ठुरत्वपुरुषभाषित्वाहिंसत्वविहिताऽननुष्ठानृत्वानि सङ्करजातित्वमस्मिन्लोके प्रकटीकुर्वन्ति ॥
॥ ५१ ॥

(४) राघवानन्दः । कलुषयोनित्वव्यञ्जककर्माण्याह अनार्यतेति । निष्ठुरता पुरुषभाषिता । क्रूरता अनिमित्ताहिं-
सनं । निष्क्रियात्मता अशीतिन्यूनवत्त्वैपि क्रियारहितता । कलुषयोनिजं कलुष जात्यन्तरबीजाक्रान्ताजात्यन्तरा या
योनिस्ततो जातम् ॥ ५१ ॥

(५) नन्दनः । कानि पुनस्तानि कर्माणीत्यपेक्षायामाह अनार्यतेति । अनार्यता नास्तिकता निष्ठुरतानृशंसता क्रू-
रता स्वल्पापराधेऽपि प्रखरभावता निषिद्धात्मता सकलकर्मवर्जनशीलता व्यञ्जयन्ति अनुमापयन्ति अनार्यतादीनि सम-
स्तानि न पुनर्व्यस्तानि ॥ ५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । पुरुषपूर्वोक्तागुणाः व्यञ्जयन्ति । ईर्ष्यामत्सरप्रधानोऽनार्यः । स्वार्थपरोनिष्ठुरः । लोभहिंसापरः
क्रूरः । विहितक्रियारहितोनिष्क्रियः ॥ ५१ ॥

पिच्यंवा भजते शीलंमातुर्वोभयमेव वा ॥ न कथंचन दुर्योनिः प्रकृतिस्त्वनियच्छति ॥ ५२ ॥

(१) मेधातिथिः । दुर्योनिः संकीर्णजन्मा प्रकृतिस्वामात्मर्यिकारणं न नियमेन गृह्णाति ॥ ५२ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । पिच्यंमातुरुभयंवा न भजते किंतु स्वामेव संकरजातिप्रकृतिं प्रयच्छति प्रतिगृह्णातीति
• योज्यम् ॥ ५२ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मात् पित्र्यंवेति । असौ सङ्करजातोदुष्टयोनिः पितृसंबन्धिवदुष्टत्वभावत्वसेवते मातृसंबन्धिवोभय-
संबन्धिवान कदाचिदसावात्मकारणंगोपयितुंशक्नोति ॥ ५९ ॥

(४) राघवानन्दः । ननियच्छति स्वकारणमपह्नोतुंनशक्नोति ॥ ५९ ॥

(५) नन्दनः । लिङ्गान्तरमप्याह पितुर्वा भजतेशीलमिति । प्रकृतिकारणम् ॥ ५९ ॥

कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्याद्योनिसङ्करः ॥ सश्रयत्येव तच्छीलंनरोऽल्पमपि वा बहु ॥ ६० ॥

(१) मेधातिथिः । तस्य शीलंयेन जातो न तु यस्य क्षेत्रंसलोके प्रसिद्धः ॥ ६० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तदेव स्फुटयति कुलइति । योनिसंकरोऽसदृशयोनिर्सांकर्यम् । तच्छीलं संकरशीलम् ॥ ६० ॥

(३) कुल्लूकः । महाकुलप्रसूतस्यापि यस्य योनिसङ्करः प्रच्छन्नोभवति समनुष्योजनकत्वभावंस्तोकंप्रचुरंवा
सेवतएव ॥ ६० ॥

(४) राघवानन्दः । तदेव स्पष्टयति कुलेति । मुख्ये विप्रादिरूपे योनिसंकरः स्तोत्पादकयोनौ विजातीयरेतःप्रवे-
शात् तच्छीलं तयोः पितृमात्रोः स्वभावम् ॥ ६० ॥

(५) नन्दनः । एतदेव स्थिरीकरोति कुलेमुख्येऽपीति । तच्छीलंपितृमातृशीलं संश्रयति यथा परिज्ञातजन्मानोबा-
ह्याव्यवहारादिबाह्याएवमनुचितजन्मानोप्येतदित्यभिप्रायः ॥ ६० ॥

यत्र त्वेते परिध्वंसाज्जायन्ते वर्णदूषकाः ॥ राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रंक्षिप्रमेव विनश्यति ॥ ६१ ॥

(१) मेधातिथिः । तस्माद्दर्शनसंकरोराज्ञा परिवर्जनीयः राष्ट्रियाजानपदाः राष्ट्रममात्यादयः ॥ ६१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यत्रराष्ट्रे वर्णसंकरप्रवृत्त्या प्रथमं जायन्ते वर्णसंकराः संकरजाः । राष्ट्रियैः राष्ट्रजैः ॥ ६१ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मिन्राष्ट्रे वर्णसङ्करावर्णानांदूषकाजायन्ते तद्राष्ट्रंराष्ट्रावासिजनैः सह क्षीप्रमेव नाशमेति तस्मा-
द्राज्ञा वर्णानांसङ्करानिरसनीयः ॥ ६१ ॥

(४) राघवानन्दः । यत्रराष्ट्रेराष्ट्रियैः राष्ट्रनिवासिभिर्जनैः ॥ ६१ ॥

(५) नन्दनः । राष्ट्रे स्वस्मिन्वर्णसङ्करोराज्ञा परिहरणीयइत्यभिप्रायेणाह यत्रत्वतेपरिध्वंसाइति परिध्वंसाः संकर-
जन्मानः गूढोत्पन्नत्वादपरिज्ञानाद्ये वर्णास्तेस्सह संगच्छेरन्तेतान्दूषयन्तोति वर्णदूषकाः ॥ ६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । वर्णदूषकाः वर्णसंकरा जायन्ते ॥ ६१ ॥

ब्राह्मणार्थं गवार्थं वा देहत्यागोनुपस्कृतः ॥ स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानांसिद्धिकारणम् ॥ ६२ ॥

(१) मेधातिथिः । [अनुपस्कृतो धनमगृहीत्वा । अभ्यवपत्तिरनुग्रहः बाह्यानांप्रतिलोमानांसिद्धिकारणं] उत्कृष्ट-
जातौ जन्मसिद्धेः सिद्धिहेतुत्वमेवमुच्यते तादृशंजन्म लभन्ते यथाधिकृताभवन्ति स्वर्गादिप्राप्तिर्वा सिद्धिः ॥ ६२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनुपस्कृतः स्वकीयदृष्टकार्याभिसन्धिरूपोपस्कारशून्यः । स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ ब्राह्मणे-
तरवर्णयोरपि स्त्रीबालयोरुपरक्षार्थं देहत्यागः बाह्यानां प्रागुक्तानां सूतादीनां सिद्धिः स्वर्गगमनम् ॥ ६२ ॥

(३) कुल्लूकः । गोब्राह्मणस्त्रीबालानामन्यतरस्यापि परित्राणार्थंदुष्टप्रयोजनानपेक्षः प्राणत्यागः प्रतिलोमजानांस्वर्ग-
प्राप्तिकारणम् ॥ ६२ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च ब्राह्मणेति । देहत्यागोऽनुपस्कृतोऽलाभख्यातिपूजाद्यनाक्रान्तः स्त्रीबालाद्युपपत्तौ तेषामा-
मारणादिभ्योरक्षणञ्च बाह्यानां वर्णधर्मबहिष्कृतानां सिद्धिकारणं स्वर्गगमनहेतुः किल्बिषनाशहेतुर्वा ॥ ६२ ॥

(५) नन्दनः । अथबाह्यानां धर्मानाह ब्राह्मणार्थेति । अनुपस्कृतोऽर्थकामानुबन्धरहितः बाह्यवर्णाधर्मेष्वधिकृताः प्र-
तिलोमजाः ॥ ६२ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनुपस्कृतः स्वकीयदृष्टकार्याभिसंधिरूपोपस्कारशून्यः ब्राह्मणेष्वपि स्त्रीबालयोः अभ्युपपत्तौ
रक्षार्थं देहत्यागः बाह्यानां आयोगवादीनाम् ॥ ६२ ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः [श्राद्धकर्मातिथेयञ्च दानमस्तेयमार्जवम् ॥ प्रजनं स्वे-

षु दारेषु तथाचैवानुसूयता ॥ १ ॥]* एतंसामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ ६३ ॥

(१) मेधातिथिः । शौचं भृञ्जलादिबाह्यगतं [सामासिकं]^१ समस्तस्य सर्वमनुष्यभेदजातेरुक्तं न ब्राह्मणादिजाति
विभागेन व्याख्यातमन्यत् यद्यहिंसाप्रतिलोमानां धर्माः स्यात्कथंताह तदुक्तं ॥ मत्स्यघातो निषादानां बिलौकोवधबन्धन ।
क्षत्रादीनामरण्येयं पशुहिंसनमेव च ॥ केचिदाहुः ये जीविकाहेतुतया वध्यत्वेनोक्तास्ततोऽन्यत्राहिंसा । अन्ये मन्यन्ते अहिंसा-
स्तेषामभ्युदयसाधनहेतुत्वेन धर्मान्तु प्रतिषेधो हिंसायाः संमतइति । यथानमांसभक्षणे दोषइति वत् यद्यहिंसाधर्मस्तेषां कथं-
तर्हितैर्जीवितव्यं । यथा कुतश्चिदवगमस्तेषामुत्पन्नः हिंसानिवृत्तिर्नो धर्मायेति चेत्तदा को जीवितोपायः अन्याश्च वृत्तयः प्र-
तिवर्णनियता अभ्यापनादयस्तावदत्यन्तासंभवाद्ग्राभाः कृष्यादयोपि वैश्यनियताः शूद्रस्य सेवान्यावासाधारणीवृत्तिरस्ति ।
यथावर्तेरन्विद्याशिल्पमित्यत्र दर्शयिष्यामः । यदपीदमुच्यतेऽतिनिन्दितैर्वर्तयेयुर्द्विजानामेव कर्मभरितितत्र किमस्ति निन्दित-
तरमन्यदतो हिंसायाः न च मत्स्यघातो द्विजानामुपयुज्यते श्राद्धेऽतिथिभोजनादौ च कदाचित्कउपयोगो न सार्वकालिको-
जीविकाभावः तस्मान्नघातादिस्वतंत्रम् ॥ ६३ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अहिंसा हिंसानिवृत्तिः । अस्तेयं परद्रव्यानभिलाषः । शौचं मनःकायशौचम् । इन्द्रिय-
निग्रहः कामार्थतदप्रवर्तनम् । सामासिकं साधारणम् । बाह्यैः सह चातुर्वर्ण्यं चतुर्णां वर्णानाम् । बाह्यानामप्येतद्धर्मसाधन-
मित्यर्थः । अतएव याज्ञवल्क्यः सर्वेषां धर्मसाधनमित्याह ॥ ६३ ॥

(३) कुल्लूकः । हिंसात्यागो यथार्थाभिधानम् अन्यायेन परधनस्याग्रहणं भृञ्जलादिना विशुद्धिरिन्द्रियसंयमइत्येवं-
धर्मसंक्षेपतश्चातुर्वर्ण्यानुष्ठेयं मनुराह प्रकरणसामर्थ्यात्संकीर्णानामप्ययं धर्मो वेदितव्यः ॥ ६३ ॥

(४) राघवानन्दः । असाधारणं धर्ममुक्त्वा साधारणं धर्ममाह अहिंसेति । सत्यं यथोपलब्धाभिधानम् । चातुर्वर्ण्यं
इति दृष्टान्तार्थः अन्यथा प्रकरणबाधः । यथाऽयं धर्मश्चातुर्वर्ण्यं साधारणस्तथाऽपसदानामपीति भावः । अतएव बौद्धा अपि
तत्स्वीकुर्वन्ते सामासिकं समासवदने कोपसंग्राहकत्वादिति मेधातिथिः । यद्यपि वध्यघातनं बिलौक्यादि हिंसनं न युक्तं
तथापि प्रकारान्तरेण जीवितुं शक्तानां ततो निवृत्तिसिद्धेः करणं तदतिरिक्ता हिंसनचेति भावः ॥ ६३ ॥

(६) रामचन्द्रः । सामासिकं साधारणम् चातुर्वर्ण्यं मनुः अब्रवीत् ॥ ६३ ॥

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्यजायते ॥ अश्रेयान् श्रेयसी जातिं गच्छत्या सममाद्युगात् ॥ ६४ ॥

(१) मेधातिथिः । गर्भे गृह्णाति गर्भश्च श्रवणाज्जातइति पुल्लिङ्गनिर्देशे पित्र्यर्थं योगता विज्ञेया अतइदमुक्तं भवति

(६३) त्यमस्तेयम् = त्यमक्रोधः (क, च, ज, झ, ञ)

* (क, च)

(१) आ आ

शूद्रायांब्राह्मणात् या जाता कुमारी सा चेच्छ्रेयसा जात्युत्कर्षवता ब्राह्मणेनैव प्रजायते विवाहादि संस्कृताऽपत्योत्पत्तिहे-
तुसंबन्धमामोति तस्यामपि यदि कुमारीजायतेसा ब्राह्मणेनैव विवाह्यत एवमनया परंपरया सप्तमे पुरुषे ग्रामे ब्राह्मण्या-
यस्तत्र जायते तस्य भवति श्रेयसे सति । यद्यप्युत्कृष्टजातीयमात्रे वर्तते तथापीह ब्राह्मणपदसन्निधानादुत्तरत्र च शूद्रो-
ब्राह्मणतामेतीति वचनात् ब्राह्मण्यप्राप्तिः शूद्रवर्णस्य विज्ञेया । अनयैव कल्पनया पञ्चमे वैश्यायां जातस्य वर्णस्य तृतीये
क्षत्रियायामत्रापि स्त्रीतुत्कर्षः । एवं वैश्यस्य तृतीये क्षत्रियत्वं शूद्रायां जातायाः कुमार्यावैश्यान्तरेण संयोगे तृतीये जन्मनि
वैश्यत्वं क्षत्रियजातायाः शूद्रायाः पञ्चमे युगइति युगशब्दोजन्मवचनः आश्रयान्निर्कृष्टजातीयः श्रेयसीमुत्कृष्टजातिगच्छति
ग्रामोति आङ्गभिबिधौ एष एवार्थः ॥ ६४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यः पारशवउक्तः श्रेयसा श्रेष्ठवर्णेन सह प्रजायते श्रेष्ठायांपारशव्यामेव वृत्तादिमत्यामपत्यं
जनयति एवमासप्तमाद्युगादासप्तमात् उत्कर्षते सोत्कर्षमातापितृपरंपरया विच्छिद्यते स्वधर्मान्तरच्युतिस्तदाऽश्रेयानपि सप्त-
मे श्रेयसीं जातिं द्विजातितामामोति । तस्य सप्तमी संततिर्द्विजातितायाति । यदि मध्ये श्वश्रूतुल्यैरेव विवाहैरुत्पत्तिरित्य-
र्थः । युगशब्दोमातापित्रोर्युग्मतया तत्परः ॥ ६४ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानीं सर्ववर्णेषु तुल्यास्वित्युत्कृष्टक्षणव्यतिरेकेणापि ब्राह्मण्यादिदर्शयितुमाह शूद्रेति । शूद्रायां
ब्राह्मणाज्जातः पारशवाख्यो वर्णः प्रजायतइति सामर्थ्यात्स्त्रीरूपः स्यात् । सा यदि स्त्री ब्राह्मणेनोढा सती प्रसूयते सा
दुहितरमेव जनयति साप्यन्येन ब्राह्मणेनोढा सती दुहितरमेव जनयति साप्येवमेवंसप्तमे युगे जन्मनि सपारशवाख्यो-
वर्णो बीजप्राधान्याद्ब्राह्मण्यं ग्रामोति आसप्तमाद्युगादित्यभिधानान्सप्तमे जन्मनि ब्राह्मणः संपद्यतइत्यर्थः ॥ ६४ ॥

(४) राघवानन्दः । तपोबीजप्रभावैरित्युक्तेन्यूनं पूरयति शूद्रायामिति । जातइति पारशवाख्यो वर्णः सच स्त्रीरूपः ।
अन्यथा जातः प्रजायाइति पुनरुक्तिः । सा चेच्छ्रेयसा ब्राह्मणेनोढा श्रेयसीदुहितरं प्रजायते सूते स्त्रियं साप्यन्येन ब्राह्म-
णेन परिणीयते ततोप्यन्यादुहिता प्रजायते साप्यन्येन ब्राह्मणेनेत्थं सप्तमे पञ्चमे वा जन्मनि श्रेयसीं ब्राह्मण्यं ग्रामोतीत्य-
न्वयः ॥ ६४ ॥

(५) नन्दनः । अथानुलौमजसंतानानान्धर्मोत्कर्षवशेन प्रत्यपत्यं जात्युत्कर्षो भवतीत्याह शूद्रायां ब्राह्मणादिति ।
शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः पारशवः श्रेयसा प्रजायते चेद्धर्मेण युक्तो भवति चेत् अश्रेयानप्युत्कृष्टजातिरपि श्रेयसीमुत्कृष्टतरां जा-
तिमासप्तमाद्युगादासप्तमात्संतानाद्गच्छति एतदुक्तं भवति पारशवसंतानविच्छिन्नसंतानश्रेत्सप्तमादपत्यादारभ्य ब्रह्मत्वमा-
प्नोतिइति । यथाचाह बौधायनः निषादेन निषाच्छ्रमापञ्चमाज्जातिरपहन्ति शूद्रतांतमुपनयेत्षष्ठे याजयेत्तपोबीजप्रभावेनेत्या-
दिश्लोकस्यायं पञ्चः ॥ ६४ ॥

(६) रामचन्द्रः । शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः पारशवः श्रेयसा ब्राह्मणेन चेत् प्रजायते अश्रेयान् अहीनवर्णः श्रेयसीं
उत्कृष्टजातिं आसप्तमात् जन्मनः सप्तमपूरुषः ब्राह्मणो भवति तद्यथा याज्ञवल्क्यः ॥ मूर्धावसिक्तादयः यथा ब्राह्मणेन
शूद्रायामुत्पादिता निषादीसा ब्राह्मणेनोढादुहितरं कांचिज्जनयति सापि ब्राह्मणेनोढान्यामित्यनेन प्रकारेण षष्ठी स्मृतं
ब्राह्मणं जनयति । अंबष्ठी साप्यनेन प्रकारेण पंचमी षष्ठं ब्राह्मणं जनयति । मूर्धावसिक्ताप्यनेन प्रकारेण चतुर्थी पंचमं
ब्राह्मणमेव जनयति । उग्रा क्षत्रियोढा माहिष्याच [यथाक्रमं षष्ठं पंचमं] क्षत्रियं च जनयति । तथा करणी वैश्योढा
पंचमं वैश्यमित्येवमन्यत्राप्युहनीयम् ॥ ६४ ॥

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ॥ क्षत्रियाज्जातमेवंतु विद्याद्वैश्यात्तथैवच ॥ ६५ ॥

(१) मेधातिथिः । शूद्रो ब्राह्मणतामेतीत्युक्तोर्थः । ब्राह्मण एति शूद्रतां ब्रह्मणोत्र पारशवो ब्राह्मणजातो विज्ञेयः सचो-
क्तलक्षणशूद्रां यदि परिणयते तदा पकर्ष [जन्मनि]^१ प्रामोति तृतीय इति व्याचक्षते । एते यथोक्ते युगपरिवर्त उत्कर्षप्राप्तं यथा
संस्कारैः कर्मभिश्चाधिक्रियन्ते ॥ ६५ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । एतत्स्फोटयति शूद्र इति । शूद्रः शूद्रासंतानजः ब्राह्मणो ब्राह्मणसंतानजः । शूद्रतामेति य-
था तदप्येव क्षयति । क्षत्रियाद्वैश्याद्वा शूद्रायां जातोऽप्येवं सममे युगेतूत्कर्ष लभते । तथा मूर्धावसिक्तादीनां तत्तत्सदृशविवाह-
परंपरया पञ्चमपुरुषे प्रकृतिजातिलाभसिद्धिः ॥ ६५ ॥

(३) कुल्लूकः । एवं पूर्वश्लोकोक्तरीत्या शूद्रो ब्राह्मणतां याति ब्राह्मणश्च शूद्रतामेति ब्राह्मणात्र ब्राह्मणाच्छूद्रायामु-
त्पन्नः पारशवो ज्ञेयः स यदि पुमान्केवलशूद्रोद्वाहेन तस्यां पुमांसमेव जनयति सोऽपि केवलशूद्रोद्वाहेन परंपुमांसमेव जनयति
सोऽप्येवं तदा सब्राह्मणः सप्तमं जन्म प्राप्तः केवलशूद्रतां बीजनिकर्षात्क्रमेण प्रामोति । एवं क्षत्रियाद्वैश्याच्च शूद्रायां जातस्यो-
त्कर्षापकर्षौ जानीयात् । किन्तु जातेरपकर्षात् ॥ जात्युत्कर्षोऽयुगे ज्ञेयः सप्तमे पञ्चमेऽपि वेति ॥ याज्ञवल्क्यदर्शनाच्च क्षत्रिया-
जातस्य पञ्चमे जन्मन्युत्कर्षापकर्षौ बोद्धव्यौ । वैश्याजातस्य ततोऽप्युत्कर्षात् याज्ञवल्क्येनापि वाशब्देन पक्षान्तरस्य सं-
गृहीतत्वाद्बोद्धव्याख्यानुरोधाच्च तृतीयजन्मन्युत्कर्षापकर्षौ ज्ञेयौ अनेनैवेत्यायेन ब्राह्मणेन वैश्यायां जातस्य पञ्चमे जन्म-
न्युत्कर्षापकर्षौ क्षत्रियायां जातस्य तृतीये क्षत्रियेण वैश्यायां जातस्य तृतीय एव बोद्धव्यौ ॥ ६५ ॥

(४) राघवानन्दः । पूर्वोक्तमनुवदन् ब्राह्मणोऽप्येवं शूद्रां परिणीय शूद्रतां यातीत्याह शूद्र इत्यर्थेन । उक्तमर्थं क्षत्रि-
यवैश्ययोरिति दिशति क्षत्रियेत्यर्थेन । अतएवाह याज्ञवल्क्यः ॥ जात्युत्कर्षोऽयुगे ज्ञेयः सप्तमे पञ्चमेऽपि वा ॥ व्यत्यये
कर्मणां साम्यं पूर्ववच्चाधरोत्तरमिति ॥ युगे जन्मनि विप्रोद्वाशूद्रागर्भोऽपि श्रेष्ठः यतो निषादस्य पतिं याजयेदिति वेदे श्रूयते ।
स चेत् शूद्रायां पुत्रं सूते सपुत्रः शूद्रां परिणीय तत्र पुत्रं जनयत्येवं सप्तमावधौ तद्वंश्यस्य शूद्रत्वमेवं विप्रस्य क्षत्रियवैश्ययो-
रपीति याज्ञवल्क्यवचने व्यत्ययपदाशयः ॥ ६५ ॥

(५) नन्दनः । न केवलमनुलोमजानामेवायं न्यायः किन्तु प्रतिलोमजानापीत्याह शूद्रो ब्राह्मणतामिति । श्रेयसा चे-
त्यजायत इत्यनुकर्षः ब्राह्मणश्चैति शूद्रतामश्रेयसाचेत्यजायत इत्यभिप्रायः क्षत्रियाज्जातमुग्रनामानम् ॥ ६५ ॥

अनार्यायां समुत्पन्नो ब्राह्मणान्तु यदृच्छया ॥ ब्राह्मण्यामप्यनार्यान्तु श्रेयस्त्वं केति चेद्भवेत् ॥ ६६ ॥

(१) मेधातिथिः । किंशब्दः क्षेपे यदि बीजप्राधान्याद्धीन जार्तायासु जातामातृजातेरुत्कृष्टाः क्रमेण पितृजातितां प्रामु-
वन्ति । इदं तर्हि क्षेत्रप्राधान्येऽपि द्रष्टव्यं यथा क्षेत्रजः पुत्रोऽतश्च यथाऽनार्यायां शूद्रायां ब्राह्मणाज्जात उत्कृष्टो भवति यदृ-
च्छया यथा कथंचिदनुदायामपि एवं ब्राह्मण्यामनार्याच्छूद्राक्षेत्रप्राधान्येन श्रेयस्त्वं यथोक्तं कचित् [बीजं]^१ कचिन्नो निरि-
ति ॥ ६६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । प्रागेवोक्तं ब्राह्मणस्या ब्राह्मण्यं यत्र तद्विचार्य निर्धारयति अनार्यायामिति । सावित्रीपति-
तादिकन्यायां ब्राह्मणाच्छ्रेष्ठाय दृच्छया अबुद्धिपूर्वमपि । बुद्धिपूर्वे तु किं वाच्यमित्याशयः । ब्राह्मण्यामुत्तमायामनार्यात्प-
तितसावित्रीकदेः ॥ ६६ ॥

(३) कुल्लूकः । एकः शूद्रायां यदृच्छयाऽनूढायामपि ब्राह्मणादुत्पन्नोऽन्यश्च ब्राह्मण्यां शूद्राजातोद्वयोर्मध्ये कचो-
त्पन्नस्य श्रेयस्त्वमिति चेत्संशयः स्यात् संशयबीजं च यथाबीजोत्कर्षात् ब्राह्मणाच्छूद्रायां जातः साधुः शूद्रः एवंक्षेत्रो-
त्कर्षाद्ब्राह्मण्यामपि शूद्रेण जातः किमिति साधुःशूद्रौ न स्यात् ॥ ६६ ॥

(४) राघवानन्दः । अनूढाविशेषेणानुलोमप्रतिलोमजौ श्रेष्ठत्वाश्रेष्ठत्वेन संदिग्धेऽनार्यायामितिसंशय जनका-
नुरूपेण निर्णयमाह अनार्यायामिति त्रिभिः । अनार्यपदमत्र शूद्रपरं आर्यपदं तु ब्राह्मणपरमिति । यदृच्छयोद्वहनं विना
॥ ६६ ॥

(५) नन्दनः । अनार्यायां शूद्रायां ब्राह्मणब्राह्मणी शब्दौ द्विजात्युपलक्षणार्थौ यदृच्छया कामचारेणोत्पन्नः
कश्चिदनार्याच्छूद्राद्ब्राह्मण्यामुत्पन्नः कश्चित्तयोः श्रेयस्त्वं बीजोत्कर्षेण क्षेत्रोत्कर्षेण वा केन भवेत् अत्रेति शब्दोद्वेगः
भवेच्चेदित्यन्वयः चेदिति वा प्रश्नश्चेच्छृणुतेत्यभिप्रायः ॥ ६६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनार्यायां शूद्रायां अनूढायां यदृच्छया ब्राह्मणः समुत्पन्नः तु पुनः अनार्यात् शूद्राद्ब्राह्मण्यां
श्रेयस्त्वेउत्कृष्टत्वे कइति चेत् किंचन न भवेत् ॥ ६६ ॥

जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद्गुणैः ॥ जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्य इति निश्चयः ॥ ६७ ॥

(१) मेधातिथिः । नार्यास्त्रियामनार्यायां हीनजातीयायामार्याजातउत्कृष्टजातीयाद्ब्राह्मणादार्य एव भवेत् । किंब्रा-
ह्मणजातीयत्वेनेत्याह गुणैर्गुणतो गौण्यावृत्त्या पाकयज्ञाद्यधिकारमात्रेण वक्ष्यमाणानार्यापेक्षयाऽऽर्यइत्युच्यते अनार्याच्छू-
द्रादार्यायां ब्राह्मण्यां जातोऽनार्य एवैष निश्चयः एतदुक्तं भवति यावद्वचनमेव प्राधान्यमवतिष्ठते नानुमानेन शक्यमन्यत्प्रसं-
जयितुमतः समानजातीयागमनमेव युक्तं क्षेत्रप्राधान्यं क्षेत्रज एव मन्यत्र ॥ ६७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनार्यायां नार्यायामार्याजातः आर्य एव श्रेष्ठ एव बीजप्राधान्याद्भवेत् । गुणैर्यद्यार्यगुणैर्युज्य-
ते । यद्यार्यायामनार्याजातः सब्राह्मणोत्पन्नोपि शूद्रतुल्य इत्यर्थः ॥ ६७ ॥

(३) कुल्लूकः । तत्र निर्णयमाह जात इति । शूद्रायां स्त्रियां ब्राह्मणाजातः स्मृत्युक्तैः पाकयज्ञादिभिर्गुणैरनुष्ठीयमानै-
र्युक्तः प्रशस्यो भवति शूद्रेण पुनर्ब्राह्मण्यां जातः प्रतिलोमत उत्पन्नतया शूद्रधर्मेऽप्यनधिकारादप्रशस्य इति निश्चयः
न्यायप्राप्तोप्यर्थो वचनप्रामाण्यादत्र बोध्यते ॥ ६७ ॥

(४) राघवानन्दः । अनार्यायोषिति आर्याजात आर्य एव । तथा अनार्यादार्यायां जातोपि अनार्यः ॥ ६७ ॥

(५) नन्दनः । बीजमुत्कर्षहेतुर्न क्षेत्रमित्यस्यार्थः ॥ ६७ ॥

(६) रामचन्द्रः । नार्या स्त्रियां अनार्यायां इन्द्रियाजातः गुणैः पाकयज्ञादिभिः आर्यः द्विजः भवेत् । अनार्यायां
जातोपि अनार्यः शूद्रस्य पाकयज्ञानधिकारात् इति निश्चयः ॥ ६७ ॥

तावुं भावप्यसंस्कार्याविति धर्मो व्यवस्थितः ॥ वैगुण्याज्जन्मनः पूर्व उत्तरः प्रतिलोमतः ॥ ६८ ॥

(१) मेधातिथिः । एवं च कृत्वो भावपि चण्डालः पाराशवश्चासंस्कार्याविनुपनेयौ अत्र हेतुमन्निगदोर्थवादः वैगुण्या-
ज्जन्मतः पूर्वब्राह्मणाद्यः शूद्रायां जातः सत्यपि बीजप्राधान्ये विगुणमेतस्य जन्म योनिदोषात् उत्तरश्चण्डालः सप्रतिलोमो-
ऽत्यन्तप्रातिलोम्यात् सत्यपि क्षेत्रप्राधान्ये पितृदोषात् ॥ ६८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यद्यपि पूर्वस्य श्रेष्ठ्यं तथापि मातृदोषेण जन्मवैगुण्यात् पूर्वो न संस्कारार्हः उत्तरस्तु प्रा-

तिलोम्यात् क्षेत्रापेक्षया बीजस्यापकर्षादित्याह तावुभाविति । एतच्च पूर्वस्योपनयनादियोग्यत्वमार्थतोक्त्या प्रागुक्तापि पुनः संस्कारानर्हताभिधानान्नास्योपनयने उपनेतृदोषः । उपनीतत्वेपिच यज्ञादियोग्यत्वं नास्त्यतोऽप्राप्तयाजनं तद्याजनमिति दर्शयितुं संस्कारानर्हत्वमुक्तम् । अतएवाग्रे सर्वसंस्कारमिति विशेषयति ॥ ६८ ॥

(३) कुल्लूकः । पारशवचण्डालौ द्वावप्यनुपनेयाविति व्यवस्थिता शास्त्रमर्यादा । पूर्वः पारशवः शूद्राजातत्वेन जातिवैगुण्यादनुपनेयः प्रतिलोम्येन शूद्रेण ब्राह्मण्यां जातत्वादित्युत्तरत्वेनानुपनेयः ॥ ६८ ॥

(४) राघवानन्दः । तौ पारशवचण्डालौ असंस्कार्यौ उषनघनादिरहितौ । अत्र हेतुवैगुण्याज्जन्मनः । आविर्भावोऽस्याजनन्याः पूर्वः संस्कारानर्हः । उत्तरोपि संस्कारानर्हः प्रतिलोमतः पितुर्जातिमपेक्ष्येत्यन्वयः ॥ ६८ ॥

(५) नन्दनः । असंस्कार्यावनुपनेयौ पूर्वआर्यः जन्मनोवैगुण्यात्क्षेत्रासौष्ठवात् उत्तरः अनार्यः प्रतिलोम्यतोबीजासौष्ठवादिति यावत् ॥ ६८ ॥

(६) रामचन्द्रः । तौ उभौ पारशवचण्डालौ [अ] संस्कार्यौ वैगुण्याज्जन्मनः मातृदोषेणजातः पूर्वः अनुलोमजः असत् उत्तरः प्रतिलोमजः सन् असत् ॥ ६८ ॥

सुबीजंचैव सुक्षेत्रे जातंसंपद्यते यथा ॥ तथाऽऽर्याजातआर्यायां सर्वसंस्कारमर्हति ॥ ६९ ॥

(१) मेघातिथिः । पूर्वोक्तावसंस्कार्यौ स्वजातिजास्तुसंस्कार्यादित्युभयत्राप्यर्थवादः अतएतदेव स्थितं कचिद्बीजं कचिद्योनिरिति यथोपदेशात् एकान्तरपरिग्रहस्तुनयुक्तः ॥ ६९ ॥

(३) कुल्लूकः । यथा शोभनबीजं शोभनक्षेत्रे जातंसमृद्धं भवति एवं द्विजाते द्विजातिस्त्रियां सवर्णाधामानुलोम्येन च क्षत्रियावैश्ययोर्जातः सवर्णसंस्कारक्षत्रियवैश्यसंस्कारं च सर्वश्रौतस्मार्तं चार्हति । नच पारशवचण्डालाविति पूर्वोक्तद्वार्यार्थमेतत् ॥ ६९ ॥

(४) राघवानन्दः । सद्यष्टान्तं प्रतियोगितयाह सुबीजमिति । सुक्षेत्रे शोभनबीजमिव ब्राह्मणेनोढब्राह्मणीजः संस्कारार्हः [इत्यनुषादमात्रं सर्वसंस्कारान्तेऽस्यैव पारिव्राज्यं पारिव्राज्यदर्शनाच्चेति शंकरभगवदुक्तेः] ‡ ॥ ६९ ॥

(५) नन्दनः । कस्तर्हि संस्कारयोग्यइत्यपेक्षायामाह सुबीजमेव सुक्षेत्रइति ॥ ६९ ॥

(६) रामचन्द्रः । तथा आर्यात् आर्यायां ततः सच संस्कारं अर्हति ॥ ६९ ॥

बीजमेके प्रशंसन्ति क्षेत्रमन्ये मनीषिणः ॥ बीजक्षेत्रे तथैवान्ये तत्रेयन्तु व्यवस्थितिः ॥ ७० ॥

(१) मेघातिथिः । यथात्रयएतेपक्षास्तेषां कश्चित्पक्षः केनचित्परिगृहीतः केचिदाहुर्बीजमेव ज्यायस्तथाच ब्राह्मणाजातः क्षत्रियादिस्त्रिषु मातृजातितउत्कृष्टः । अन्ये पुनराहुः क्षेत्रश्रेष्ठयतः क्षेत्रियोयत्र क्षेत्रे जातः तज्जातीयो भवति तस्यैव च तदपत्यं । अपरे मन्यन्ते उभये बीजक्षेत्रे ज्याग्रसी तदुक्तं सुबीजंचैव सुक्षेत्रइति तदेतत्सर्वमारोचयमानआह तत्रेयंतु व्यवस्थितिः इयमत्र निरूप्यावस्थितिः ॥ ७० ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । बीजमेकइति विप्रतिपत्तेः संशयहेतोरभिधानम् ॥ ७० ॥

(३) कुल्लूकः । दर्शनान्तराण्युक्तस्यैवार्थस्य स्थैर्यार्थमाह बीजमिति । केचित्पण्डिताबीजंस्तुवन्ति हरिण्याद्युत्पन्न-

ऋष्यशृङ्गादिर्ब्रह्ममुनिवदशनात् । अपरे पुनः क्षेत्रंस्तुवन्ति क्षेत्रस्वामिपुत्रत्वदर्शनात् । अन्ये पुनर्बीजक्षेत्रे उभे अपि स्तुवन्ति सुबीजस्य सुक्षेत्रे समृद्धिदर्शनात् । एतस्मिन्मतभेदे वक्ष्यमाणेयं व्यवस्थाज्ञेया ॥ ७० ॥

(४) राघवानन्दः । [बीजप्राधान्यं] ‡ उक्तमपि स्मारयन्नाह बीजमिति त्रिभिः । मतभेदेनैवम् ॥ ७० ॥

(५) नन्दनः । इयं व्यवस्था ॥ ७० ॥

(६) रामचन्द्रः । एके बीजं ऋष्यशृङ्गादयो मनीषिणः क्षेत्रं वियोगपातादौ प्रशंसन्ति । तथा अन्यबीजक्षेत्रे इयं व्यवस्थितिः ॥ ७० ॥

अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति ॥ अबीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत् ॥ ७१ ॥

(१) मेधातिथिः । अक्षेत्रे ऊषरे उत्सृष्टमुपमपि बीजमन्तरैवादत्वेव फलं नश्यति अबीजकमयोग्यबीजकं वा क्षेत्रं स्थण्डिलमेव भवेत् केवलं ततो न फलं लभ्यत इत्यर्थः ॥ ७१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनिश्चये हेतुमाह अक्षेत्र इति । अन्तरैवाङ्कुरोत्पादात्मागेव ॥ ७१ ॥

(३) कुल्लूकः । ऊषरप्रदेशे बीजमुपमफलमददन्तराल एव विनश्यति शोभनमपि क्षेत्रं बीजरहितं स्थण्डिलमेव केवलं स्यात् न तु सस्यमुत्पद्यते तस्मात्प्रत्येकनिन्दया सुबीजं चैव सुक्षेत्र इति प्रागुक्तमुपमप्राधान्यमेवाभिहितम् ॥ ७१ ॥

(४) राघवानन्दः । अक्षेत्रे ऊषरादौ अन्तरा अङ्कुरमजनयित्वैव स्थण्डिलं सस्यानुत्पत्तिस्थलम् । मनुजपक्षे अन्तरालजातिर्भूत्वा विनश्यति संस्कारानर्हः । स्थण्डिलं योग्यपुत्राजनकम् ॥ ७१ ॥

(५) नन्दनः । अक्षेत्रे क्षेत्रं विनान्तरैव मध्य एव विनश्यति वस्तुन भविष्यति नापि प्ररोहति अबीजकं बीजं विनोभयमन्योन्यापेक्षमित्यर्थः ॥ ७१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अबीजकं क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत् ऊषरं भवेत् ॥ ७१ ॥

यस्माद्बीजप्रभावेण तिर्यग्जाऋषयोऽभवन् ॥ पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद्बीजप्रशस्यते ॥ ७२ ॥

(१) मेधातिथिः । पूजिताः सर्वेण केनचित्प्रणम्यन्ते प्रशस्ताः स्तुतिवचनैः स्तूयन्ते तस्माद्बीजं विशिष्यत इति बीजप्राधान्यवादिनस्तदेतदयुक्तमित्युक्तं तत्रेयं तु व्यवस्थितिरिति । अथवा बीजप्रभावेनेति न बीजप्राधान्यं दर्शितमपि तु दूषणमेव यदाशक्यन्ते बीजप्राधान्यान्मन्दपालादीनां तिर्यग्जाऋषय इति बीजप्राधान्यं दर्शनात् न तत्र बीजप्राधान्येन तदपत्यानामृषित्वमपि तु तपःश्रुतादिजेन प्रभावेन धर्मविशेषेण ॥ ७२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यद्येवं तथापि बीजस्यातिप्राधान्याद्बीजशुद्धिरेव ग्राह्येति त्वमतमुपसंहरति यस्मादिति । तिर्यग्जाऋष्यशृङ्गादयः पूजिता अभवन् । प्रशस्ताश्च ऋषयो ब्रह्मर्षयः ॥ ७२ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानीं बीजप्राधान्यपक्षे दृष्टान्तमाह यस्मादिति । यस्माद्बीजमाहात्म्येन तिर्यग्जातिहरिण्यादिजाता अपि ऋष्यशृङ्गादयो मुनिवदशनाः पूजिताश्चाभिवाद्यत्वादिना वेदज्ञानादिना प्रशस्तावाचा संस्तुतास्तस्माद्बीजप्रस्तूयते । एतच्च बीजप्राधान्यनिगमनं बीजयोन्योर्मध्ये बीजोत्कृष्टा जातिः प्रधानमित्येवंपरतया बोद्धव्यम् ॥ ७२ ॥

(४) राघवानन्दः । हरिण्यादिजाताऋष्यशृङ्गादयस्तिर्यग्जाः प्रशस्ताः अन्येषु सत्सु ऋषिषु दशरथयज्ञऋष्यशृङ्गाः प्रशस्त्यंगतः । तिर्यग्जोपि संस्क्रियते तज्जातेरपर्युदस्तत्वात् । न शूद्रे पातकं किंचिन्न च संस्कारमर्हतीति शूद्रजातेः पर्युदस्तत्वान्नपारशवादेः संस्कार इति भावः ॥ ७२ ॥

(५) नन्दनः । तथापि बीजप्रधानमित्याह यस्माद्बीजमिति । तिर्यग्जाः ऋष्यशृङ्गादयः ॥ ७२ ॥

अनार्यमार्यकर्माणमार्यचानार्यकर्मिणम् ॥ संप्रधार्याब्रवीद्धाता न समौ नासमाविति ॥ ७३ ॥

(१) मेधातिथिः । अनार्यः शूद्रः आर्यकर्माद्विजातिशुश्रूषादिरतः पाकयज्ञयाजीच देवद्विजनमस्कारपरः आर्यो-
ब्राह्मणादिः सोनार्यकर्माप्रतिषिद्धाचरणोविहितकर्मत्यागी तावुभौ संप्रधार्यतद्रुणत्वेनावगम्य तयोः किंकस्यचित्सातिश-
योगुणः कस्यश्चिद्धान्ते निरूपणबुद्धिःसंप्रधार्यधाताप्राजपतिर्मनुर्बुद्धा निरूप्याब्रवीत् नसमौ जातेर्गरीयस्या उत्कृष्टगुणोपि
शूद्रतुल्यः स्यात् पुनराह समौकिंजात्यातूत्कृष्टयापि बहुदोषावगृहीतस्यैतदुक्तंभवति न जातिबलमाश्रित्यनरोमाननी
योकिंतुगुणामाननीयाः न गुणहीनंजातिः परित्रातुमलं प्रायश्चित्तोपदेशवैयर्थ्यप्रसङ्गात् अनार्यायां समुत्पन्नइत्यत आरभ्य
यावदयंश्लोकोवर्णसङ्करनिन्दाकर्मप्रशंसार्थोनात्र किंचिद्विधीयते प्रतिषिध्यते वा नापूर्वार्थोज्ञाप्यते ऽभिलक्षणवत् तस्मा-
त्प्रशंसार्था एवैते ॥ ७३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यथा क्षेत्रविशेषोत्पन्नत्वेपि बीजदोषान्नश्रेष्ठत्वं तथा दुष्टकर्मकरणादपि नश्रेष्ठ्यमित्याह
अनार्यमिति । अनार्यं ब्राह्म्याद्युत्पन्नमार्यकर्माणंब्राह्मणकर्मकर्तारम् । तथा आर्यमब्राह्म्योत्पन्नमपि निन्दितकृष्यादिकर-
म् । न समौ ब्राह्मणैः सदृशौ दोषसद्भावात् । नासमौ नात्यन्तमपकृष्टौ ब्राह्मण्यभावात् । एवंचवृत्त्युत्कर्षे तेषामपि क्रमा-
दुत्कर्षइत्युक्तम् । अतएवापस्तम्बोयेषामपतितसावित्रीकाः पूर्वपुरुषाः केपि ज्ञायन्ते तेषामपि प्रायश्चित्तपूर्वकं संस्कारं
विहितवान् । एतदर्थमेव चार्यचानार्यकर्माणमित्यप्रकृतमप्युक्तम् ॥ ७३ ॥

(३) कुल्लूकः । शूद्रद्विजातिकर्मकारिणद्विजातिच शूद्रकर्मकारिणंब्रह्माविचार्य न समौ नासमावित्यवोचद्यतः
शूद्रोद्विजातिकर्मापि न द्विजातिसमः तस्यानधिकारिणोद्विजातिकर्माचरणेपि तत्साम्याभावात् एवंशूद्रकर्मापि द्विजातिः
न शूद्रसमः निषिद्धसेवनेन जात्युत्कर्षस्यानपायात् नाप्यसमौनिषिद्धाचरणेनोभयोः साम्यात् तस्माद्यद्यस्य विगर्हिततत्तेन
नकर्तव्यमिति संकरपर्यन्तवर्णधर्मोपदेशः ॥ ७३ ॥

(४) राघवानन्दः । अनधिकारिणा क्रियमाणं कर्म न फलायेति ज्ञापनार्थं चातुर्वर्ण्येषु प्रथमाध्यायाद्युक्ताः त्व-
धर्मवृत्तीः संस्मारयन्नापद्धर्ममाह अनार्येत्यध्यायसमाप्तेः । अनार्यं क्षत्रियादिभार्यकं आर्यकर्माणं याजनादिकर्तारं आर्यं
युद्धसेवादिकारिणं नसमौ कर्मणा जात्यन्तरानुत्पत्तेः नाऽसमौ उभयोर्निषिद्धाचरणस्य तुल्यत्वात् परधर्मोभयावहइत्युक्तेः
॥ ७३ ॥

(५) नन्दनः । अनार्यमद्विजातितोपकृष्टं आर्यकर्माणंगुणतोविशिष्टं न समौ नातिविषमावल्पान्तरावित्यर्थः ॥ ७३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनार्यं ब्राह्म्यादुपन्नं आर्यकर्माणं च पुनः आर्यमनार्यकर्मिणं धाता संप्रधार्य अवधार्य समौ
न असमौन इत्यब्रवीत् ॥ ७३ ॥

ब्राह्मणाब्रह्मयोनिस्थाये स्वकर्मण्यवस्थिताः ॥ ते सम्यगुपजीवेयुः षट्कर्माणि यथाक्रमम् ॥ ७४ ॥

(१) मेधातिथिः । आपद्धर्माणामुपोद्घातो योनिः कारणं ब्राह्मणाब्रह्मयोनिस्थास्ते षट्कर्माण्युपजीवेयुरनुतिष्ठेयुः
अनेकार्थाधातवोयथाक्रमंयथाविकारंयस्मिन्कर्मणि योधिकारीकानिचिद्विध्यर्थानि कानिचिद्दृष्टार्थानि ॥ ७४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्रह्मयोनिस्थाः ब्राह्मणमातापितृजन्याः सम्यक् कृत्स्नानि षट्कर्माणि उपजीवेयुरनुति-
ष्ठेयुः नतु ब्राह्म्यादयः तेषामध्ययनादावनधिकारात् । यथाक्रमं यथायोगम् ॥ ७४ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानीं ब्राह्मणानामापद्धर्मप्रतिपादयिष्यन्दिदमाह ब्राह्मणा इति । ये ब्राह्मणा ब्रह्ममामिकारणब्रह्मध्या-
ननिष्ठाः स्वकर्मानुष्ठाननिरताश्च ते षट्कर्माणि वक्ष्यमाणान्यध्यापनादीनि क्रमेण सम्यगनुतिष्ठेयुः ॥ ७४ ॥

(४) राघवानन्दः । विप्रस्य वृत्तीराह ब्राह्मणा इति चतुर्भिः । ब्राह्मणा ब्रह्मबुभूषवः । ब्रह्मयोनिस्था ब्रह्मयोनिजाः
॥ ७४ ॥

(५) नन्दनः । एवतावद्धर्माधिकारिणोवर्णाः सान्तरप्रभावाः सोत्कर्षापकर्षाः प्रतिपादिताः आपद्धर्मान्वक्तुमनाप-
द्धर्मपूर्वोक्तसंक्षिप्य समभिः श्लोकेरनुभाषते ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था इति । ब्रह्मयोनिर्धर्म इति यावत्तत्रस्थाः अथवा वेदस्य
योनित्वेन प्रवक्तृत्वेन स्थिताः यथाक्रममित्यस्यायमर्थः स्वयं नित्यं स्वाध्यायशीलः स्यादध्यापयेच्च स्वयं यजेद्याजयेच्च
स्वयंदद्यात्प्रतिगृह्णीयाच्चेति षट्कर्माणि वक्ष्यमाणानि सम्यगापत्कल्पेनोपजोवेयुरनुतिष्ठेयुः ॥ ७४ ॥

(६) रामचन्द्रः । ते यथाक्रमं द्विजाः षट्कर्माणि षट्कर्मणा उपजीवेयुः ॥ ७४ ॥

अध्यापनमध्ययनं याजनं याजनं तथा ॥ दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः ॥ ७५ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रथमेऽध्याये शास्त्रस्तुत्यर्थेषां पाठद्वहो विध्यर्थं यद्यपि तेषां केवलानां विधिरुक्तस्तथापीह सम-
स्य निर्दिश्यते सौहोर्देन विध्यन्तरसापेक्ष्यमेवेदं रूपं वचनाच्चैतेषां कर्मणामतो यथाविहितमनूय वक्ष्यमाणोर्थो विधीयते ॥ ७५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तान्येव षट्कर्माणि प्रथमाध्यायोक्तान्यपि स्मारयति अध्यापनमिति ॥ ७५ ॥

(३) कुल्लूकः । तानि कर्माण्याह अध्येति । अध्यापनाध्ययने साङ्गस्य वेदस्य तथा याजनयाजने दानप्रतिग्रहौ
चेत्येतानि षट्कर्माणि ब्राह्मणस्य वेदितव्यानि ॥ ७५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच अध्यापनमिति । दानं स्वस्वत्वध्वंसपुरःसरं परस्वत्वापत्तिफलकम् अग्रजन्मनोवि-
प्रस्य ॥ ७५ ॥

षण्णान्तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका ॥ याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥ ७६ ॥

(१) मेधातिथिः । कर्मत्रिकविभागस्पष्टप्रयोजनः एकत्रिकंदृष्टार्थमुपात्तं सामर्थ्यादन्यस्यादृष्टार्थता विशुद्धोऽपाप-
कर्मा एव शूद्रोऽपि विशुद्धः प्राप्नोति को भवतो मत्सरः स्मृत्यन्तरविरोधः प्राप्नोति प्रशस्तानां स्वकर्मसु द्विजातीनां ब्राह्मणो भुञ्जीत प्रति-
गृह्णीयाच्चेति एवंहि यथाऽविरोधो भवति तथा व्याख्येयं न ह्यविरोधे संभवति विरोधो न्याय्यः अपिचाऽनुवाद एवायं
राजतो धनमन्विच्छेदिति एवमादावस्यार्थस्य विहितत्वात् ॥ ७६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । जीविका जीवनोपायः । याजनाध्यापने शुद्धे अदुष्टे । विशुद्धः परिग्रहदोषरहितः ॥ ७६ ॥

(३) कुल्लूकः । अस्य ब्राह्मणस्यैषामध्यापनादीनां षण्णां कर्मणां मध्याद्याजनमध्यापनं विशुद्धप्रतिग्रहौ द्विजातिभ्यो-
धनं लिप्सेत् प्रशस्तेभ्यो द्विज इति वचननिर्देशाद्विजतिः प्रतिग्रह इत्येतानि त्रीणि कर्माणि जीवनार्थानि ज्ञेयानि ॥ ७६ ॥

(४) राघवानन्दः । षण्णां कर्मणां मध्ये जीविका जीवनहेतवः ॥ ७६ ॥

(५) नन्दनः । विशुद्धात्स्वकर्मनिरता त्वैवार्णिकात् ॥ ७६ ॥

त्रयोधर्मानिवर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियं प्रति ॥ अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ॥ ७७ ॥

(१) मेधातिथिः । जीविका कर्माण्येतानि क्षत्रियस्य न भवन्ति यानि त्वदृष्टार्थानीष्यध्ययनदानानि न विवर्तन्ते
वेदस्य च प्रकृतत्वादेतदध्यापनं निषिध्यते नतु धनुर्वेदशिल्पकलाविद्याः ॥ ७७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्राह्मणाब्राह्मणसंबन्धिनो धर्माः ॥ ७७ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणापेक्षया क्षत्रियस्याध्यापनयाजनप्रतिग्रहाख्यानि वृत्त्यर्थानि त्रीणि कर्माणि निवर्तन्ते अध्ययनयागदानानितु तस्यापि भवन्ति ॥ ७७ ॥

(४) राघवानन्दः । याजनादित्रयो ब्राह्मणात् ब्राह्मणं स्वधर्मित्वेन प्राप्य क्षत्रियं प्रति निवर्तन्त इत्यन्वयः ॥ ७७ ॥

(५) ननन्दः । ब्राह्मणानां ब्राह्मणसंबन्धिनो धर्माणामध्ये याजनाध्यापनप्रतिग्रहाः याजनाध्यापनप्रतिग्रहाणां रक्षा युद्धानामिव तेषां जीविकात्वेऽपि धर्मत्वेन वृत्त्यभावख्यापनार्थं धर्मा इत्युक्तम् ॥ ७७ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रयो धर्माः क्षत्रियं प्रति निवर्तन्ते अध्ययनं याजनं प्रतिग्रहः एतच्च त्रयम् ॥ ७७ ॥

वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरन्निति स्थितिः ॥ नतौ प्रतिहितान्धर्मान् मनुराह प्रजापतिः ॥ ७८ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वैतद्वाख्यातं तौ क्षत्रियवैश्यौ प्रत्येतेऽध्यापनादयो धर्मान् मनुना प्रजापतिना नोक्तान् स्मृता इत्यर्थः ॥ ७८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एते धर्मा अध्यापनादयस्त्रयः ॥ ७८ ॥

(३) कुल्लूकः । यथा क्षत्रियस्याध्यापनयाजनप्रतिग्रहानि वर्तन्ते तथा वैश्यस्यापीति शास्त्रव्यवस्था यस्मान्मनुः प्रजापतिः तौ क्षत्रियवैश्यौ प्रति तानि वृत्त्यर्थानि कर्माणि कर्तव्यत्वेन नोक्तवान् एवं वैश्यस्याप्यध्ययनयागदानानि भवन्ति ॥ ७८ ॥

(४) राघवानन्दः । एवं वैश्यं प्रतीति । तौ क्षत्रियवैश्यौ । तान्याजनादीन् ॥ ७८ ॥

(५) नन्दनः । एतौ क्षत्रियवैश्यौ तान् अध्यापनादीन् ॥ ७८ ॥

(६) रामचन्द्रः । तथैव वैश्यं प्रति तान् धर्मान् अध्ययनादीन् मनुः प्रजापतिर्नाह ॥ ७८ ॥

शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विशः ॥ आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः ॥ ७९ ॥

(१) मेधातिथिः । इदं तयोर्जीविकाकर्म शस्त्रं खड्गादि अस्त्रं तन्मन्त्राधनुर्वेदप्रसिद्धाः अयमप्युक्तानुवाद एव वणिक्पशुकृषिर्वा वणिक्कर्मन्तर्भावेन प्रयुक्तौ वणिज्यापशुपालनं च यद्यप्यध्ययनादि धर्माः सर्वेषां सन्ति तथापि प्राधान्यमेतेषाम् ॥ ७९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शस्त्रं खड्गादिकमुक्तं अस्त्रं शरादिकमुक्तं तद्धारणं न तत्साध्यं द्रव्यादिकं लक्षयति तदा जीव-
वनार्थं क्षत्रस्येत्यर्थः । वणिक् वाणिज्यं पशुः पाशुपाल्यं वणिक्पशुकृषीरिति प्रथमा बहुवचने पूर्वसवर्णेन छान्दसं रूप-
म् । एतच्च सर्वत्रयागोजीवनार्थम् । धर्मो धर्मसाधनम् । यजिर्यागः ॥ ७९ ॥

(३) कुल्लूकः । शस्त्रं खड्गादि अस्त्रं बाणादि एतद्धारणं प्रजारक्षणाय क्षत्रियस्य च वृत्त्यर्थम् । वाणिज्यपशुरक्षणकृ-
षिकर्माणि वैश्यस्य जीवनार्थानि धर्मार्थाः पुनरनयोर्दानाध्ययनयागा भवन्ति ॥ ७९ ॥

(४) राघवानन्दः । क्षत्रियवैश्ययोरसाधारणान्याह शस्त्रेति । शस्त्रं खड्गादि अस्त्रं तत्प्रेरकमन्त्रादि । आजीव-
नार्थं वृत्त्यर्थं वणिक् वाणिज्यं तेन सह पशुकृषी वा । धर्मस्तु दानादित्रयमित्यन्वयः । धर्मो धर्मार्थम् ॥ ७९ ॥

(५) नन्दनः । क्षत्रियवैश्ययोर्वृत्तिधर्मत्वाह शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्येति । शस्त्रमायुधरूपं शस्त्रास्त्रभरणेन तत्कार्याणि
रक्षायुद्धादीनि लक्षयन्ते । वणिग्वाणिज्यं पशुरक्षणं यजिर्यजनम् ॥ ७९ ॥

(६) रामचन्द्रः । क्षत्रस्य शस्त्रास्त्रभृत्त्वं शस्त्रं खड्गादिकं अस्त्रं शरादिकम् ॥ ७९ ॥

वेदाभ्यासो ब्रह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम् ॥ वार्ताकर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु ॥ ८० ॥

(१) मेधातिथिः । वेदाभ्यासो वृत्तिप्रकरणादभ्यापनं एवं विशिष्टानि स्वकर्मशास्त्रप्रवृत्तिकर्मस्वन्धेभ्योजीवनकर्मभ्य-
इमानि श्रेयस्करतराणि ॥ ८० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वेदाभ्यासः सदा जप्यपरता । वार्ताकर्म वार्ताया रुष्याऽर्जितेन धनेन कर्म दानयागकर्म
ननु वार्तारूपं तस्य कर्म जीविकात्वात् स्वाध्यायसमभिव्याहारयोगात् ॥ ८० ॥

(३) कुल्लूकः । वेदाभ्यासो वेदाभ्यापनं रक्षावार्ताभ्यां वृत्त्यर्थाभ्यासहोपदेशात् ब्रह्मणस्य प्रजारक्षणं क्षत्रियस्य
वाणिज्यं पाशुपाल्यं वैश्यस्य । एतान्येतेषां वृत्त्यर्थकर्मसु श्रेष्ठानि ॥ ८० ॥

(४) राघवानन्दः । किंच वेदेति । वेदाभ्यासरक्षावार्ताश्च द्विजानां यथाक्रममतीव प्रशस्ता इति भावः ॥ ८० ॥

(५) नन्दनः । वार्ताकर्म वाणिज्यकर्म ॥ ८० ॥

(६) रामचन्द्रः । रक्षणं प्रजायाः द्विजस्य वेदाभ्यासः वैश्यस्य वार्ताकर्म त्वकर्म त्वकर्मसु विशिष्टानि ॥ ८० ॥

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणस्वेन कर्मणा ॥ जीवेत्क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ॥ ८१ ॥

(१) मेधातिथिः । यदाऽस्य शरीरकुटुंबनित्यकर्मावसादो भवति न तेभ्यः ग्रामधनं भवति तदा यमजीवन्नित्यु-
च्यते यथोक्तेनाभ्यापनादिना तदा क्षत्रियवत् ग्रामनगररक्षादिना शास्त्रास्त्रधरणेन सति संभवे सर्वाधिपत्येन जीवेत् जीवति-
व्याख्यातार्थः शरीरमात्रसंधारणेन वर्तते किं तर्हि कुटुंबत्वकर्मनित्यकर्मावस्थितिमपि लक्षयति स ह्यस्य प्रत्यनन्तरोऽनन्त-
रएव प्रत्यनन्तरः हेतुवचनाद्यवहितनिवृत्तिः पापकारीत्ववृत्तिपरित्यागेऽपि नैवमन्तव्यं शास्त्रातिक्रमकृतस्तत्र न विशेषे वैश्य-
शूद्रेष्वपीति ॥ ८१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनापहृत्तिरुक्ताऽऽपहृत्तीः प्रस्तौति अजीवन्निति । प्रत्यनन्तरोऽनन्तरतः प्रतिनिधिः ॥ ८१ ॥

(३) कुल्लूकः । अधुनाऽऽपद्धर्माह अजीवन्निति । यथोक्तेनाभ्यापनादित्वकर्मणा ब्राह्मणो नित्यकर्मानुष्ठानकुटुंब-
संवर्धनपूर्वकमजीवन्क्षत्रियकर्मणा ग्रामनगररक्षादिना जीवेत् यस्मात्क्षत्रियधर्मोऽस्य सन्निरुद्धा वृत्तिः ॥ ८१ ॥

(४) राघवानन्दः । यथोक्तेन याजनाभ्यापनप्रतिग्रहेण । पूर्वस्य पूर्वस्य प्राशस्त्यार्थं प्रत्यनन्तरः प्रातिलोभ्यवृ-
त्तावप्यव्यवहितः संनिधेरपि मानत्वात् ॥ ८१ ॥

(५) नन्दनः । अथापद्धर्माह अजीवंस्त्विति ॥ ८१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अजीवंश्चेत् क्षत्रियधर्मेण जीवेत् सः क्षात्रधर्मः अस्य द्विजस्य प्रत्यनन्तर उक्तः ॥ ८१ ॥

उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ॥ कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ॥ ८२ ॥

(१) मेधातिथिः । तथाचाह उभाभ्यामप्यजीवंस्तु क्रमोऽनेन प्रदर्श्यते प्रथममनन्तरावृत्तिस्तदभावे व्यवहितेति
कृषिगोरक्षाग्रहणं वैश्ववृत्तिमात्रप्रदर्शनार्थं तथाच वणिग् व्यायामविक्रयप्रतिषेधं वक्ष्यति जीवेद्वैश्यस्य जीविकामिति सामा-
न्यविशेषभावेन क्रियायाः साध्यसाधनभावः प्रागुपपादितस्तत्र कृषिवाणिज्यकुशीदान्यनापद्यैवोक्तान्यभ्यापनादिवत् प्रभृतं-
कर्षणं स्मृतं सत्यानृतं तु वाणिज्यमिति तु केचिदाहुः कृषिवाणिज्ये वा स्वयंकृते कुसीदं चेत्युक्तं स्वयंकरणमत्राभ्यनुज्ञायते
यन्वभ्यापनादिवदिति साम्यमाशङ्कितमत्रैव परित्यक्तं यदि सर्वेषां रुष्यादयः समत्वेन स्युः कथमिदमुच्यते वणिक्पशुकुली-
विशआजीवनार्थं ब्राह्मणक्षत्रिययोरपि नाऽऽजीवनार्थस्तदा किंच ॥ याजनाभ्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रह इत्यत्र तान्यपि

समाख्यास्यत्तस्मादध्यापनादिनियमैर्जीवतः कृष्यादयः प्रतिषिद्धाएव यस्तुप्रकरणादन्यत्रैषामुपदेशः सतत्रैव प्रदर्शितप्रयोजनः ॥ ८२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उभाभ्यां स्वस्वानन्तरवृत्तिभ्याम् । जिज्ञासागोरक्षं कृष्यर्थगोरक्षणम् । कृषिरत्रास्वयंकृता ॥ ८२ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणउभाभ्यां स्ववृत्तिक्षत्रियवृत्तिभ्यामजीवन्केन प्रकारेण वर्तेतेति यदि संशयः स्यात्तदा कृषिपशुरक्षणे आश्रित्य वैश्यस्य वृत्तिमनुतिष्ठेत् कृषिगोरक्षग्रहणंवाणिज्यदर्शनार्थं । तथाच विक्रेयाणि वक्ष्यति स्वयंकृतं चेदंकृष्यादि ब्राह्मणापवृत्तिः अस्वयंकृतस्य ऋताष्टताभ्यां जीवेतेत्यनापद्येव विहितत्वात् ॥ ८२ ॥

(५) नन्दनः । उभाभ्यां धर्मक्षयधर्माभ्यामिति भवेच्चेदिति वः प्रश्नोभवेच्चेच्छृणुतेत्यर्थः । कृषिगोरक्षशब्दोवाणिज्यस्याप्युपलक्षणार्थः गोरक्षतीति गोरक्षस्तस्य कर्म गौरक्ष्यम् ॥ ८२ ॥

(६) रामचन्द्रः । उभाभ्यां ब्रह्मक्षत्रयोर्वृत्तिभ्यां अजीवंस्तुतदावैश्यजीवी कृषिपशुवृत्तिगोरक्षमास्थाय जीवेत् ॥ ८२ ॥

वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु ब्रह्मणः क्षत्रियोपि वा ॥ हिंसाप्रायांपराधीनांकृषियत्नेन वर्जयेत् ॥ ८३ ॥

(१) मेधातिथिः । कृषिनिन्देतरवैश्यवृत्तिस्तुत्यर्था न पुनस्तस्यामप्रतिषेधार्था तथाच सतिउपदेशोव्यर्थोस्यापद्यते ॥ ८३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वयंकृतायां दोषमाह वैश्यवृत्त्येति । पराधीनामनेकोपकरणसीतादिसंपाद्याम् ॥ ८३ ॥

(३) कुल्लूकः । संप्रतिकृष्यादेर्बलाबलमाह वैश्येति । ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा वैश्यवृत्त्यापि जीवन्भूमिजन्तुर्हिंसाबहुलां बलीवर्दादिपराधीनांकृषियत्नतस्त्यजेत् । अतः पशुपालनाद्यभावे कृषिः कार्येति द्रष्टव्यम् । क्षत्रियोपि वेत्युपादानात्क्षत्रियस्याप्यात्मीयवृत्त्यभावे वैश्यवृत्तिरस्तीत्यभिगम्यते ॥ ८३ ॥

(४) राघवानन्दः । वैश्यस्य जीविकामास्थापयेत्युक्तेः कृष्यादेः चतुष्टयस्य प्राप्तत्वेन कृषिमनूद्य निषेधति वैश्येति । हिंसाप्रायां हिंसा प्रायेण बाहुल्येन यत्र ताम् । पराधीनां हलवृष्टिकर्षकाद्यधीनाम् ॥ ८३ ॥

(५) नन्दनः । पराधीनां स्वयमेकेन कर्तुमशक्याम् ॥ ८३ ॥

(६) रामचन्द्रः । पराधीनां अनेकोपकरणसाध्यां कृषिं स्वयंकृतां वर्जयेत् ॥ ८३ ॥

कृषिसाध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्भिर्गर्हिता ॥ भूमिभूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ॥ ८४ ॥

(१) मेधातिथिः । कृषिलोकाः साध्वेव कर्मैति मन्यन्ते नतु तद्युक्तं कर्षतः पुरुषस्य बहुधान्यं भवति ततोतिथ्यादिभ्यो न्नदानेनोपकरोत्यतः साध्वी तथाचोक्तं नाकृष्यतोऽतिथिप्रियः कृषियत्नेन कुर्वीत मौर्व्यासर्वत्र यत्नतः । तथालाङ्गलंपवीरवं सुशेवंसुमतिस्सह उदितकृषतिगामावैप्रफर्व्यच पीवरीमित्यादि तेन सम्यक् मन्यन्ते साहि वृत्तिः सद्भिर्निन्द्यते कस्य हेतोर्भूमिहन्ति काष्ठमयोमुखंलाङ्गलां भूमिशयांश्च भूमौशेरते ये प्राणिनस्तृणजलूकादयस्तांश्च हन्ति ननु च भूमेः कीदृशंहननं हि सा प्राणिवत्काष्ठवत्पीडामनुभवति अनुभवन्तीतु सर्वविदारणं भूमेर्दोषवदिति ज्ञापयति ॥ ८४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भूमिं भूमिदेवताम् ॥ ८४ ॥

(३) कुल्लूकः । साध्विदंजीवनमिति कृषिकेचिन्मन्यन्ते सा पुनर्जीविका साधुभिर्निन्दिता यस्माद्धलकुद्दालादिलोहप्रान्तंकाष्ठंभूमिभूमिजन्तूश्च हन्ति ॥ ८४ ॥

(४) राघवानन्दः । तद्दोषसहिष्णुप्रत्याह कृषिमिति । भूमिशयान् प्राणिनः । अयोमुखं फलाकाराद्ययोमुखे यस्य तत् लाङ्गलमित्यर्थः । अतएव कुङ्कुमाद्यपि गृहीतम् ॥ ८४ ॥

(५) नन्दनः । हिंसाप्रायतांप्रश्नयति कृषिसाध्विति मन्यन्तइति । काष्ठकाष्ठमयं ह्लादिकं तेन वाणिज्याद्यभावे कृषिः कर्तव्येति सूचितम् ॥ ८४ ॥

(६) रामचन्द्रः । कृषिसाध्वितिमन्यन्ते सा वृत्तिः सद्भिर्विगर्हिता । अयोमुखं काष्ठं हि भूमिं भूमिशयान् जीवान् नृहन्ति ॥ ८४ ॥

इदन्तु वृत्तिवैकल्यात्त्यजतो धर्मनैपुणम् ॥ विट्पण्यमुद्धृतोद्धारं विक्रेयं वित्तवर्धनम् ॥ ८५ ॥

(१) मेधातिथिः । इदमिति वक्ष्यमाणस्य प्रतिनिदेशः विशः पण्यं विट्पण्यं वैश्यानां यद्विक्रयं तदपि वृत्तिवैकल्याद्भानाभावाद्ब्राह्मणेन विक्रेयं उद्धार्याणि द्रव्याण्युद्धारशब्देनोच्यन्ते उद्धृतोद्धारो यस्मिन् तदेवमुच्यते वक्ष्यमाणानि द्रव्याण्यत उद्धृत्यान्यानि विक्रेयाणि वित्तवर्धनमिति भावानुवादः वाणिज्यायां हि धनवृद्धिः प्रसिद्धा त्यजतो धर्मनैपुण्यं धर्मयानिष्ठास्तेन पण्यविक्रयोऽन कर्तव्यइति ज्ञापयति अतश्चेदमवगम्यते सर्वासां वैश्यवृत्तीनां गर्हिता कृषिः ततो गोरक्षादयः ॥ ८५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इदं वक्ष्यमाणं वित्तवैकल्याद्विज्ञाभावात् । धर्मनैपुणं धर्मवृत्तिं स्वजीविकां त्यजतो विप्रस्य क्षत्रियस्य च । विट्पण्यं वैश्यविक्रेतव्यं तद्वतोद्धारं त्यक्त्याज्यं त्यक्त्वा तत्त्यहेतुरसादिविक्रयमित्यर्थः ॥ ८५ ॥

(३) कुल्लुकः । ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य चात्मीयवृत्तेरसंभवे धर्मप्रति यथोक्तनिष्णातत्वं त्यजतो वैश्येन यद्विक्रेतव्यं द्रव्यजातं तद्वक्ष्यमाणवर्जनीयवर्जितं धनवृद्धिकरं विक्रेयं ॥ ८५ ॥

(४) राघवानन्दः । यज्वनः कुटुम्बिनो विप्रस्य वित्तवर्धनोपायमाह इदमिति । वृत्तिवैकल्याद्व्यवस्थाभावात् धर्मनैपुणं स्वधर्मनिष्ठां त्यजतो विप्रस्य त्रयमिदं विट्पण्यं वैश्येन यद्विक्रियते । तेन चर्मपादुकादिव्यावृत्तिः उद्धृतोद्धारं विक्रेयं विनिमेयं राजदण्डविशिष्टं कुसीदं च ॥ ८५ ॥

(५) नन्दनः । तथा वाणिज्यवृत्त्या नियममाह इदन्तु वृत्तिवैकल्यादिति । धर्मनैपुणमनापद्धर्मं वृत्तिवैकल्यात्त्यजतो विप्रस्य इदमिति वक्ष्यमाणं विपण्यं विक्रेयं वित्तवर्धनं लाभवर्धनं उद्धृतोद्धारो यस्मात्तदुद्धृतोद्धारमुद्धृतमुद्धार्यत्यजन्निषिद्धमिति यावत् ॥ ८५ ॥

(६) रामचन्द्रः । इदं धर्मनैपुण्यं वित्तवैकल्यात्त्यजतां विट्पण्यं वैश्यविक्रेयं उद्धृतोद्धारं परित्यक्ता विक्रेयं वित्तवर्धनम् ॥ ८५ ॥

सर्वान् रसानपोहेत कृतान्नं च तिलैः सह ॥ अश्मनोलवणं चैव पशवोये च मानुषाः ॥ ८६ ॥

(१) मेधातिथिः । मधुरादयः षड्रसाः तत्प्रधानानि द्रव्याणि गुडदाडिमकिराततित्तकादीनि प्रतिषिध्यन्ते न हिकेवलानां रसानां संभवः यद्यपि रसशब्देन स्वयं द्रव्ये शुक्लादिशब्दवद्वर्तते सामानाधिकरण्येन तथापि लक्षयति द्रव्यगंगायां घोषइति तथा अपोहेत त्यजेन्न विक्रीणीयादिति यावत् कृतान्नं सिद्धमन्नमोदनादितण्डुलादिचर्तिलैः सह तिला अपि न विक्रेया न तु पुनस्तिलकृतान्नयोः सहप्रयुक्तयोः प्रतिषेधः केवलयोरभ्यनुज्ञानं अश्मानः सर्वपाषाणाः लवणमपाषाणरूपमपि सैन्धवस्य

(८५) विक्रेयं = विज्ञेयं (भ)

पाषाणशब्देन ग्रहणं रसपक्षे लवणस्य नित्यार्थआरंभस्तेन मधुरादीनां पाक्षिकोविक्रयः पशवोद्याम्यारण्याः मानुषामनुष्याः ॥ ८६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तदेवाह सर्वानिति । रसान् पत्रकाशदिनिर्यासान् अपोहेत विक्रये त्यजेत् नविक्रीणीतेत्यर्थः । अश्मनः उपलान् । पशवश्छागाः । येचमानुषास्तानितिपूरणीयम् ॥ ८६ ॥

(३) कुल्लूकः । तानि वर्जनीयान्याह सर्वानिति । सर्वानचोद्यमानानधर्मान्यथा सिद्धार्थतिलपाषाणलवणपशुमनुष्यान्विक्रीणीत रसत्वेनैव लवणस्य निषेधसिद्धौ विशेषेण निषेधोदोषगौरवज्ञापनार्थः तच्च प्रायश्चित्तगौरवार्थमेव मन्यस्यापि पृथक्निषेधोव्याख्येयः ॥ ८६ ॥

(४) राघवानन्दः । प्राप्तं पण्यं परिसंख्याति रसानिति चतुर्भिः । अपोहेत् ब्राह्मणइति शेषः । रसान् सर्षपादिस्नेहान् । कृतानं पक्वानं । अश्मनः पाषाणतद्विकारान् । पशवोयेच मानुषागवाश्वादयः ॥ ८६ ॥

(५) नन्दनः । कानि पुनस्त्याज्यानि द्रव्याणीत्याह सर्वान् रसानिति । अपोहेत त्यजेन्विक्रीणीयात् ये पशवोयेच मानुषास्तानपि ॥ ८६ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वानिति चतुर्भिराह । सर्वान् रसान्विक्रये परित्यजेत् । कृतानं सिद्धानम् । पशवः छागादयः ॥ ८६ ॥

सर्वे च तान्तवंरक्तं शाणक्षौमाविकानि च ॥ अपिचेत्स्युररक्तानि फलमूले तथौषधीः ॥ ८७ ॥

(१) मेधातिथिः । तान्तवंतन्तुनिर्मितं वस्त्रपटवृहत्तिकादि रक्तं लोहितं लोहिते वर्णे रक्तशब्दः प्रसिद्धतरः तथाहि रक्तगौर्लोहितउच्यते यद्यपि शुक्लस्य वर्णान्तरापादनमपिरञ्जेरर्थः ॥ शाणक्षौमाजिनान्यरक्तान्यपि यतआह अपिचेत्स्युररक्तानि शिष्टप्रसिद्धम् ॥ ८७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तन्तुकृतं पटादि कुसुम्भादिरक्तम् । शाणं शणसूत्रकृतं आविक्रमविरोमकृतम् । अरक्तमप्येतन्नयम् । फलपदं क्रीतपण्यफलपरम् । अन्यस्यापस्तम्बेन क्रीतपण्यमेवहरेत् मुञ्जवल्कलैर्मूलफलैरिति विक्रेतव्यतया विधानात् । औषधीस्त्रिवृदाद्याः ॥ ८७ ॥

(३) कुल्लूकः । सर्वतन्तुनिर्मितं वस्त्रकुसुम्भादिरक्तं वर्जयेत् शणक्षुमातन्तुमयान्याविक्रमेभवानि च यद्यलोहितान्यपि भवेयुस्तथापि न विक्रीणीत तथा फलमूलगुडूच्यादीनि वर्जयेत् ॥ ८७ ॥

(४) राघवानन्दः । तान्तवं कार्पासजं रक्तंचेत शाणं शाणविकारः । क्षौमं क्षुमोद्भवम् । आविकं कम्बलादि । तान्तवे रक्ते प्रतिषेधः । शाणादिषु रक्तेष्वपीतिभावः फलमूले फलताम्बूलादि मूलेशुनादि औषधीरपक्वाः ॥ ८७ ॥

(५) नन्दनः । रक्तरागरुषितं शाणक्षौमाविकानि रक्तान्यपि चेत्स्युस्तान्यपोहेत ॥ ८७ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वं तान्तवं रक्तं रक्तवस्त्रं क्षौमविकारि अरक्तानि ॥ ८७ ॥

अपः शस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धाश्च सर्वशः ॥ क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान् ॥ ८८ ॥

(१) मेधातिथिः । शस्त्रं खड्गपाशादि गन्धास्तगरोशीरचन्दनादयोद्रव्यविशेषाः रसशब्दवेदतद्याख्येयं । क्षीरं रसविकारं स्थूलतरप्रसिद्धमतोमस्तुकिलाटोदश्विदादीन्यपि न विक्रेयानि दधिघृतग्रहणं प्राधान्यादुपात्तं मधुमधूच्छिष्टमेकदेश-

लोपादेवदत्तोदत्तइतिवत् स्मृत्यन्तरे हितप्रतिषिद्धं इह च क्षौद्रशब्देन सारघस्य निषिद्धत्वान्माध्वीकस्य च मद्यग्रहणेनोत्तरत्रप्रतिषेधात् । अन्येतु माध्वीकस्यैवाप्राप्तमद्यावस्थस्य प्रतिषेधार्थमधुशब्दवर्णयन्ति तदयुक्तं नायनिष्पीडितमृद्विकारसवचनः किंतिर्हि मद्यरूपतयैव वर्ततउभौमध्वासवक्षीवाविति प्रयोगदर्शनात् क्षीवतामद्यरुतैव गुडस्यरसत्वप्रतिषेधे निवृत्त्यर्थग्रहणं अन्येतु खण्डमत्स्यण्डिकादीनामनुज्ञानार्थं व्याचक्षते ॥ ८८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अपो जलं । शस्त्रं लोहं । गन्धान् चन्दनादीन् । क्षारं यवक्षारादि कचिक्क्षीरमित्यपि पाठः । क्षौद्रं मधुमधूच्छिष्टं दधीति कचित्पाठः । मज्जा जन्तूनामस्थिपीतसारआकृष्टः । गुडस्य तदाकारत्वेपि दृढतयाऽफलत्वशङ्कानिरसितुं पुनरुक्तिः ॥ ८८ ॥

(३) कुङ्कुमः । जललोहविषमांससोमक्षीरदधिघृततैलगुडदर्भान् तथा गन्धवन्तिसर्वाणि कपूरादीनि क्षौद्रमाक्षिकं मधुमधूच्छिष्टं सभ्रामरमधूच्छिष्टेति याज्ञवल्क्येन पठितवर्जयेत् ॥ ८८ ॥

(४) राघवानन्दः । शस्त्रं शृङ्गादिनिर्मितं लोहनिर्मितस्य लोहनिषेधेन निषिद्धत्वात् । विषं शैलजादि । सोमं सोमलताम । गन्धान् गुग्गुलादीन् । क्षौद्रं माक्षिकं मधुमधूच्छिष्टं सिक्थम् । अत्र ये पुनरुक्ताः पदार्थास्तेषु प्रायश्चित्ताधिक्यं ज्ञेयम् ॥ ८८ ॥

आरण्यांश्च पशून्सर्वान्दंष्ट्रिणश्च वयांसि च ॥ मयं नीलिं च लाक्षां च सर्वान्श्चैकशफांस्तथा ॥ ८९ ॥

[त्रपुसीसंतथालोहैतैजसानि च सर्वशः ॥ बालांश्चर्मतथास्थीनि सस्नायूनि च वर्जयेत् ॥ ९ ॥]*

(१) मेधातिथिः । आरण्यपशुशब्दौ गुडलवणेनैव व्याख्यातौ ग्राम्यपश्वनुज्ञानार्थं ग्राम्या अपि पशवोर्हि सायांसंयोगइति निषिद्धार्थः । दंष्ट्रिणः श्वशूकरादयः वयांसि पक्षिणः एकशफा अश्वा अश्वतरगर्दभादयः बहूनि तितथा शब्दस्थाने पठन्ति एकस्यविक्रये तथा न दोषः ॥ ८९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दंष्ट्रिणः कुक्कुराद्यान् ग्राम्यान् अपि । वयांसि पक्षिणः । नीलिं नीलीरागः ॥ ८९ ॥

(३) कुङ्कुमः । आरण्यान्सर्वान्पशून्हस्त्यादीन्दंष्ट्रिणः सिंहादीन् तथा पक्षिजलजन्तून्मद्यादीन् एकशफांश्चाश्वादीन् न विक्रीणीत ॥ ८९ ॥

(४) राघवानन्दः । दंष्ट्रिणः सूकरादीन् । वयांसि पक्षिणः । एकशफान् अश्वगर्दभादीन् ॥ ८९ ॥

(५) नन्दनः । दंष्ट्रिणोमार्जाररादयः एकशफा अश्वादयः ॥ ८९ ॥

[नन्दनः । तैजसानि कांस्यादीनि अस्थीनि गजदन्तादीनि अत्र सामान्यतोपि निषेधोविशेषतश्च निषेधोदोषातिशयप्रकाशनार्थः ॥ ९ ॥]

(६) रामचन्द्रः । आरण्यान्पशून् हस्त्यादीन् दंष्ट्रिणः सूकराद्यान् सर्वान् एतान् तथा एकशफान् वर्जयेत् ॥ ८९ ॥

काममुत्पाद्यकृष्यांतु स्वयमेव रुषीवलः ॥ विक्रीणीत तिलान् शूद्रान्धर्मार्थमचिरस्थितान् ॥ ९० ॥

(१) मेधातिथिः । रुतान् च तिलैः सहेति प्रतिषिद्धानां तिलानां स्वरूपप्रयोजनविशेषाश्रयः प्रतिप्रसवः शुद्धान्चिरस्थितानिति च स्वरूपविशेषः धर्मार्थमिति प्रयोजनविशेषः शुद्धाव्रीहादिभिरमिश्राः रुशराद्यर्थे मिश्राणां विक्रयासंभवः । अचिरस्थिताः अर्थादिकलाभमनपेक्ष्यस्वल्पमूल्यमद्यकालान्तरेणागामीबहुमूल्यं लभेयेत्येवं प्रतीक्षितव्यं अथवा शुद्धा अकृष्णाः

कृष्णतिलानां प्रतिषेधः अचिरस्थितं हि कृष्णं भवति कृष्णा उत्पाद्य क्रीत्वा न विक्रेयाः स्वयंकृष्या कृषीवत् इति प्रायिकोऽनुवादोनविवक्षितानि पदानि प्रतिग्रहाद्यर्जितानामप्यप्रतिषेधः धर्मप्रयोजनेयवतिलानविक्रीयन्ते इह च रूपकैर्गावोदक्षिणाद्यर्थ-त्वाभ्यायाग्निहोत्राद्यर्थक्रीयन्ते ब्राह्मादयो वादर्शपूर्णमासाद्यर्थसधर्मार्थो विक्रयः यस्य वा तिला एव दानादिधर्मायोपयुज्यन्ते भेषजतैलोपयोगे वा क्रेतुः सोप्येवमेव ॥ ९० ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । तिलान्विक्रीणीत हिरण्येनापि । शुद्धान् ब्रुसशून्यान् । धर्मार्थं क्रेता यदि दानाद्यर्थं क्रीणीते । अचिरस्थितान् लवनानन्तरमेव नतु लाभार्थं चिरंस्थापयित्वा । एवं च कृष्युत्पत्तिशुद्धत्वधर्मार्थत्वाचिरस्थत्वविशिष्टतिलविक्रयो ब्राह्मणस्याप्यापत्तिरिति दर्शितम् ॥ ९० ॥

(३) कुल्लूकः । कर्षकः स्वयमेव कर्षणेन तिलानुत्पाद्य द्रव्यान्तरेण मिश्रानुत्पत्त्यन्तरमेव नतु लाभार्थकालान्तरं प्रतीक्ष्य धर्मनिमित्तमिच्छतो विक्रीणीत निषिद्धस्य तिलविक्रयस्य धर्मार्थमयं प्रतिप्रसवः ॥ ९० ॥

(४) राघवानन्दः । तिलवाणिज्यं निषिद्धं कृष्युत्पत्तितिलान्प्रत्याह काममिति । शुद्धानन्यद्रव्यामिश्रितान् धर्मार्थं यज्ञादिकर्मनिमित्तं तदैव विक्रीणीत नतु लाभार्थं चिरं संचिनुयात् ॥ ९० ॥

(५) नन्दनः । तिलानां प्रतिप्रसवमाह काममुत्पाद्य कृष्यान्वति । शुद्धानिति विशेषणात्कृष्णानां प्रतिषेधः ॥ ९० ॥

(६) रामचन्द्रः । विक्रीणीत हिरण्येनापि ॥ ९० ॥

भोजनाभ्यञ्जनाद्यानाद्यदन्यत्कुरुते तिलैः ॥ कृमिभूतः श्वविष्टायां पितृभिः सह मज्जति ॥ ९१ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रकृततिलविशेषव्यतिरेकेण तिलविक्रयप्रतिषेधे विशेषोपमर्थवादः । ननु चोक्तप्रतिषेधानां दोषसूचनं फलतयैव संबध्यते तर्किकभोजनाभ्यञ्जनाद्यानाद्यदन्यत्कुरुते तिलैः कृमिभूतइत्ययमर्थवादइत्युच्यते असंभविनः फलस्य शास्त्रान्तरेण विरुद्धस्य च श्रवणादेव मुच्यते तथा पितृभिः सहेत्युच्यते न च तैः किंचिदपराद्धं सुकृतदुष्कृतयोः फलं हकृत्वगामी न च पितृणां कश्चिदपि कर्तृत्वमित्येतत्प्रागुक्तमेव किंच सद्यः पतति मांसेनेति पतितत्ववचनं परेषां पातित्यमिति नियमात् तस्मादस्ति किंचिदनिष्टमित्येतावन्मात्रं प्रतिषेधेन संबध्यते यथा श्रुतमेव युक्तं भोजनादिक्रियायत्र तद्व्यतिरेकेण यदन्यद्विक्रयस्थानादि तत्र तिलैः कुरुते स कृमिभूतप्राप्तोति यथोक्तेन दोषेण संयुज्यते ॥ ९१ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । यदन्यत्कुरुते विक्रयाद्यनापत्तौ ॥ ९१ ॥

(३) कुल्लूकः । भोजनाभ्यञ्जनाद्यतिरिक्तं यदन्यनिषिद्धं विक्रयादि तिलानां कुरुते तेन पितृभिः सह कृमिभूतप्राप्तः कुक्कुरपुत्रीषे मज्जति ॥ ९१ ॥

(४) राघवानन्दः । अत आह भोजनेति । अभ्यञ्जनं तैलादिना । दानपदं धर्मार्थतदर्थविक्रयोपलक्षकम् । अन्यत्र क्रयविक्रयादिनकर्तव्यमित्यत्र तात्पर्यं पितृभिः सहेति विरुद्धफलश्रवणात् सुकृतदुष्कृतयोः फलं कर्तव्येवेति नात्र पितृणामपराधः कश्चिदिति भवति ॥ ९१ ॥

(५) नन्दनः । कुरुते विप्रइति शेषः ॥ ९१ ॥

(६) रामचन्द्रः । भोजनान् अभ्यञ्जनात् दानान् तिलैः विक्रयं कुरुते सपुरुषः श्वविष्टायां कृमिभूतः पितृभिः सह मज्जति ॥ ९१ ॥

सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च ॥ ज्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥ ९२ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तार्थः ॥ ९२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पतति द्विजातिकर्मभ्योहीयते । एतदेव स्पष्टीकृतं शूद्रोभवतीति । व्यहेणेति त्रिविक्रय-
णमुपलक्ष्यते ॥ ९२ ॥

(३) कुल्लूकः । मांसलाक्षालवणविक्रयैर्ब्राह्मणस्तत्क्षणादेव पततीति दोषगौरवव्याख्यानार्थमेतत् पञ्चानामेवमहा-
पातकिनांपातित्यहेतूनांवक्ष्यमाणत्वात् क्षौरविक्रयात्त्यहेण शूद्रतांप्राप्नोति एतदपि दोषगौरवात्प्रायश्चित्तगौरवख्यापनार्थम्
॥ ९२ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तद्रव्येषुकानिचिदनुवदन् तद्विक्रये [दोषमाहसद्यदितिह्याभ्याम् । व्यहेणाव्यवहितेन] ॥ ९२ ॥

(५) नन्दनः । मांसेन विक्रीतेन ॥ ९२ ॥

इतरेषांतु पण्यानांविक्रयादिह कामतः ॥ ब्राह्मणः समरात्रेण वैश्यभावंनियच्छति ॥ ९३ ॥

(१) मेधातिथिः । कामतइतिवचनादनापदित्यनुमीयते गुरुलघुत्वदर्शनं मांसादीनांप्रायश्चित्तविशेषार्थगुरुणिगुरुणि-
लघुनिलघूनीतिवक्ष्यामः ॥ ९३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इतरेषामपण्यानांकृतान्नादीनांनिषिद्धानांकामतोऽकामतस्तु पापमात्रम् ॥ ९३ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणउक्तेभ्योमांसादिभ्योऽन्येषामतिषिद्धानांपण्यानामिच्छातोऽननु प्रमादाद्व्यान्तरसंश्लिष्टानां-
समरात्रविक्रयणेन वैश्यत्वंगच्छति ॥ ९३ ॥

(४) राघवानन्दः । [इतरेषां निषिद्धानां पण्यानां विक्रयिणां] ॥ ९३ ॥

(५) नन्दनः । अपण्यानामविक्रयाणां कामतः अनापदि ॥ ९३ ॥

(६) रामचन्द्रः । इतरेषां पण्यवस्तूनाम् ॥ ९३ ॥

रसारसैर्निमातव्यानत्वेव लवणंरसैः ॥ कृतान्नंचाकृतान्नेन तिलाधान्येन तत्समाः ॥ ९४ ॥

(१) मेधातिथिः । रसाः पूर्वोक्तास्तेरसैर्निमातव्याः मधुररसगुडादिदत्त्वा ऽऽम्लादिरसमामलक्यादिग्रहीतव्यं नकेव-
लंलवणंदत्त्वारसान्तरमदिद्यं पाठान्तरंलवणंतिरैरिति अस्मिन्पाठेतिरैरेवलवणस्यप्रतिषेधोनरसान्तरैः कृतान्नंसक्कोदनाद्यन्येन
पायसादिनानिमातव्यं तिलास्तुधान्येनब्रीह्यादिनातत्समाः प्रस्थंदत्त्वाप्रस्थएवग्रहीतव्योनार्थापेक्षयाधिकंवादेयं विनिमयो-
नामविक्रयएव क्रीणातिस्तद्रव्यविनिमयेपठ्यते नह्यितद्युक्तं विक्रये प्रकृतिविनिमयस्त्विति गौतमेनैवंदर्शितं एवंतर्हिप्रसिद्धे-
नरूपकादिनाद्रव्यार्पणविक्रयः तदन्यद्रव्यपरिवृत्तौविनिमयः ॥ ९४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । रसागुडादयोरसैर्निमातव्याः परिवर्तनेन ग्राह्याः । लाभप्रेप्सया इत्यन्नानवधारणेन ग्रहणं
विनिमयविक्रयस्त्वित्यावधारणेन लभेच्छयेति विशेषः । तत्र रसानारसैर्विनिमयः कार्योऽननु विक्रयः । लवणंतु मृन्नि-
र्यासत्रया रसभूतं विनिमेयमपि न रसैः । कृतान्नं सक्त्वाद्यकृतान्नेन यवादिना विनिमेयम् । ननु नेत्यत्रान्वितमप्रामा-
र्थनिषेधायोगात् । तिलाधान्येनेति त्वयंकृष्याद्युत्पादितत्वाद्यभावेपि धान्यैर्विनिमये नास्ति दोषइत्यर्थः । किंतु तत्समान
न्यूनाधिकाः ॥ ९४ ॥

(३) कुल्लूकः । रसागुडादयोरसैर्धृतादिभिः परिवर्तनीयाः लवणंपुनः रसान्तरेण न परिवर्तनीयं सिद्धान्नंचामान्नेन
परिवर्तनीयं तिलाधान्येन धान्यप्रस्थप्रस्थेनेत्येवंतत्समाः परिवर्तनीयाः ॥ ९४ ॥

(४) राघवानन्दः । [विप्रक्षत्रिययोः कृत्तरसादिपरिवर्तनेन दोषइति] वदन् वाचनिकप्रतिनिधीनाहरसाइति । अकृतान्नेनामेन ॥ ९४ ॥

(५) नन्दनः । अथ रसादीनां विक्रयोपायमाह रसारसैर्निमातव्याइति । रसारसैः कृतान्नं कृतान्नेन धान्येन तिला-
श्च निमातव्याव्यत्येतव्याः तत्समः समपरिमाणः लवणं रसैर्नतुनिमातव्यम् ॥ ९४ ॥

(६) रामचन्द्रः । रसैरसानिमातव्याः मानं परस्परं कर्तव्याः अन्यरसैः लवणं न । अकृतान्नेन कृतान्नं तिलाधान्येन
तत्समाः ॥ ९४ ॥

जीवेद्वेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयंगतः ॥ नत्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित् ॥ ९५ ॥

(१) मेधातिथिः । एतेन सर्वेणापि प्रतिषिद्धपण्यप्रतिप्रसवोयं राजन्यस्य न किंचित्तस्याविक्रेयवैश्यवत् किंतु स-
त्यपि स्ववृत्तित्यागेन ज्यायसीं ब्राह्मणवृत्तिकदाचिदप्यभिमन्येत इमां करोमीति चेत्तसि न कुर्यात् प्रतिकूलदैवमनय एतदाप-
दुपलक्षणार्थगतः प्राप्त आपद्रतइतियावत् ॥ ९५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतेन सर्वेण निषिद्धेनापि रसादिना विक्रीतेन अनयमवृत्तिम् । ज्यायसीं ब्राह्मणस्य वृत्तिं
प्रतिग्रहादि अभिमन्येत स्वीकुर्यात् ॥ ९५ ॥

(३) कुल्लूकः । क्षत्रियः आपद्रतः एतेनेत्यभिधाय सर्वेणेत्यभिधानात् ब्राह्मणगोचरतया निषिद्धेनापि रसादि-
विक्रयेण वैश्यवजीवेत् न पुनः कदाचिद्ब्राह्मणजीविकामाश्रयेत् न केवलं क्षत्रियः क्षत्रियवदन्योपि ॥ ९५ ॥

(४) राघवानन्दः । आपद्रतक्षत्रियस्य तु वैश्यवृत्तिमनुवदन् [विप्र] वृत्तिनिषेधति जीवेदिति । सर्वेण निषि-
द्धविक्रयेणापि अतएवास्य मांसादिविक्रयो न पातित्यहेतुः । अतस्तत्प्रकरणे ब्राह्मणपदम् । अनयमापदम् । ज्यायसीं
अध्यापनयाजनादिकाम् । अत्रप्रतिलोमपरिणयनवत्प्रतिलोमवृत्तिरपि निषिद्धा । यत्त्वापत्काले क्षत्रियादप्यध्ययनं अ-
ब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयतइति विप्रस्य तद्विप्राकांक्षाप्रयुक्तत्वान्तस्य जीविकाद्यर्थेति भावः ॥ ९५ ॥

(५) नन्दनः । अनयमापदं एतेन वाणिज्येन सर्वेण प्रतिषिद्धद्रव्यविक्रयेणापीत्यर्थः ज्यायसीं वृत्तिं ब्राह्मणवृत्तिम्
॥ ९५ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनयंगतः आपद्रतः ज्यायसीं विप्रसंबन्धिनीं वृत्तिं कर्हिचित् ॥ ९५ ॥

योलोभादधमोजात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः ॥ तं राजानिर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥ ९६ ॥

(१) मेधातिथिः । योजात्याऽधमोनिकृष्टः क्षत्रियादिः सत्यपि प्रकृतत्वे राजन्यस्य सर्वेषामयं ब्राह्मणवृत्तिप्रतिषेध-
एवमेवायं श्लोकः । उत्कृष्टो निरपेक्षो ब्राह्मण एव कर्मभिरध्ययनादिभिर्जीवति दण्डोयं सर्वस्वग्रहणप्रवासनैः ॥ ९६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवं वैश्यादेरपि क्षत्रधर्मग्रहीनिषिद्धइत्याह यइति ॥ ९६ ॥

(३) कुल्लूकः । योनिकृष्टजातिः संल्लोभादुत्कृष्टजातिविहितकर्मभिर्जीवेत्तराजा गृहीतसर्वस्वं कृत्वा तदानीमेव
देशान्निःसारयेत् ॥ ९६ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैवं दृष्टादृष्टार्थं सामान्योक्तिमाह यइति द्वाभ्याम् । जात्या क्षत्रियत्वादिना धमः । उत्कृष्ट-
कर्मभिः उत्कृष्टाः पूर्वपूर्वेण तेषां कर्मभिः । प्रवासयेत् बहिर्निर्वासयेत् ॥ ९६ ॥

(६) रामचन्द्रः । जात्या अधमः उत्कृष्टकर्मभिर्नजीवेत् ॥ ९६ ॥

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः ॥ परधर्मेण जीवन्हि सद्यः पतति जातितः ॥ ९७ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्य विधेर्निन्दार्थवादोऽयं यो यस्य विहितो धर्मो जात्याश्रयेण विगुणोऽप्यपरिपूर्णाङ्गोऽपि युक्तोऽनुष्ठानपरधर्मः सर्वाङ्गसंपूर्णोऽपि अत्र निन्दार्थवादः परधर्मेणेति ॥ ९७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र वैश्यवृत्तेरुक्तायावरमशुद्धात्यतिग्रहो विगुणो भूतापि स्ववृत्तिः स्ववृत्तितया प्रशस्तेत्यवतारयति वरमिति । पतति जातितः स्वान्तरजातितुल्यतां याति ॥ ९७ ॥

(३) कुल्लूकः । विगुणमपि स्वकर्मकर्तुं न्याय्यं न परकीयसंपूर्णमपि यस्माज्जात्यन्तरविहितकर्मणा जीवंस्तत्क्षणादेव स्वजातितः पततीति दोषो वर्जनार्थः ॥ ९७ ॥

(४) राघवानन्दः । पारक्यः परकीयः स्वनुष्ठितः साङ्गोऽपि न श्रेयान् । स्वधर्मो विगुणः श्रेयान् परधर्मो भयावह इति स्मृतेः । जातितः कर्मजात्यन्तरप्राप्त्या जात्यन्तरं जायते ततः साम्यादिति मनुभट्टोक्तेः ॥ ९७ ॥

(५) नन्दनः । वरशब्द उत्कृष्टवचनः ॥ ९७ ॥

वैश्यो जीवन् स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्तयेत् ॥ अनाचरन् कार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान् ॥ ९८ ॥

(१) मेधातिथिः । स्वधर्मेणा जीवतो वैश्यस्य शूद्रवृत्तिरनुज्ञायते पादधावनादिशुश्रूषया अनाचरन् कार्याणि उच्छिष्टापमार्जनाद्यकार्यं तत्परिहर्तव्यं शक्तिमान् निवर्तेतेति सर्वशेषः । अत्र केनचिदुक्तं सामर्थ्यात् ब्राह्मणक्षत्रिययोरप्येतदतिदिश्यते तत्रापरेण संदिह्यते कथं शूद्रवृत्तिं ब्राह्मणः कुर्यात् एवं हि श्रूयते । उत्कृष्टं चापकृष्टं च विधेते कर्मणी तयोः । मध्यमे कर्मणी हित्वा सर्वसाधारणे हिते ॥ इति तदुक्तं न त्वस्यायमर्थो ब्राह्मणस्य शूद्रवृत्तिरनुज्ञायते सामर्थ्यादिति किं तर्हि निवर्तेत च शक्तिमानिति यदस्माभिरुक्तं सर्वशेष इति ॥ ९८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अकार्याण्युच्छिष्टभक्षणादीनि । निवर्तेत शक्तिमान् यदि जीवन् शक्तः प्रकारान्तरेण तदा न कुर्यादित्यर्थः ॥ ९८ ॥

(३) कुल्लूकः । वैश्यः स्ववृत्त्या जीवितुमशक्नुवन् शूद्रवृत्त्यापि द्विजातिशुश्रूषयोच्छिष्टभोजनादीन्यकुर्वन् वर्तेत निस्तीर्णापत्क्रमशः शूद्रवृत्तितो निवर्तेत ॥ ९८ ॥

(४) राघवानन्दः । विप्रराजन्ययोरापद्धर्ममुक्त्वा वैश्यशूद्रयोरप्याह वैश्य इति त्रिभिः । अजीवन्निति च्छेदः । अकार्याणि उच्छिष्टभक्षणादीनि । निवर्तेत शूद्रवृत्तेः । शक्तिमान् लब्धस्ववृत्तिश्चेत् लब्धवृत्त्योर्विप्रक्षत्रिययोरपि निवृत्तिः प्रायश्चित्तपूर्विका शक्तिमानित्यनेन सूचिता ॥ ९८ ॥

(५) नन्दनः । अजीवन्निति पदं अकार्याण्यभक्ष्यभक्षणादीनि शक्तिमानापद्धिमुक्तः निवर्तेत शूद्रवृत्तितः ॥ ९८ ॥

(६) रामचन्द्रः । वैश्यः स्वधर्मेणा जीवन् शूद्रवृत्त्यापि वर्तयेत् अकार्याणि उच्छिष्टभक्षणादीनि न कुर्यात् शक्तिमानिस्तीर्णापत्क्रमशः शूद्रवृत्त्या निवर्तेत ॥ ९८ ॥

अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम् ॥ पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत् कारुण्यकर्मभिः ॥ ९९ ॥

(१) मेधातिथिः । कारुकाः शिल्पिनः सूदतन्तुवायादयस्तेषां कर्माणि पाकवयनादीनि प्रसिद्धानि तैर्जीवेत् पुत्रदारात्ययस्तद्गणनासमर्थता एतेन धनतन्त्रभगेन तस्यापदि विवाहादिकर्मणामेषां विधानान्निवृत्ताऽनुमीयते ॥ ९९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पुत्रदारात्ययंप्राप्तस्तेषांजीवनाभावेन कर्तुमशक्नुवन् । कारुकाणां विशिष्टकर्मकराणां चित्रकरादीनां कर्मभिः ॥ ९९ ॥

(३) कुल्लूकः । शूद्रः द्विजातिशुश्रूषां कर्तुमक्षमः क्षुद्रवसन्पुत्रकलत्रः सूपकारादिकर्मभिर्जीवेत् ॥ ९९ ॥

(४) राघवानन्दः । पुत्राद्यत्ययं नाशं ॥ ९९ ॥

(५) नन्दनः । शूद्रस्यापद्वृत्तिमाह अशक्नुवंस्तुशुश्रूषामिति । अशक्नुवन्वृत्तिहान्येति शेषः ॥ ९९ ॥

(६) रामचन्द्रः । पुत्रदारात्ययं प्राप्तः श्रुत्यभावेन जीवनम् ॥ ९९ ॥

यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः ॥ तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च ॥ १०० ॥

(१) मेधातिथिः । प्रचरितैरनुष्ठितैः शुश्रूष्यन्ते सेव्यन्ते । तदुपयोगीनि यानि कर्माणि शिल्पानि यद्यपि शिल्पमपि कारुकर्मैव तथापीह भेदेनोपादानात्तत्क्षकिवर्षकिप्रभृतयः कारवस्तेषां कर्माणि तक्षणवर्धनादीनि शिल्पानि यत्र छेदरूपकर्माण्यालेख्यानि ॥ १०० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शिल्पानि पटनिर्माणादीनि ॥ १०० ॥

(३) कुल्लूकः । पूर्वोक्तकारुकर्मविशेषाभिधानार्थमिदं यैः कर्मभिः कृतैर्द्विजातयः परिचर्यन्ते तानि च कर्माणि तक्षणादीनि शिल्पानि च चित्रलिखितादीनि नानाप्रकाराणि कुर्यात् ॥ १०० ॥

(४) राघवानन्दः । यैः कटघटनिर्माणैः सुरचितैः सुशुकृतैः शुश्रूष्यन्ते शुश्रूषामामुवन्ति । द्विजात्यपेक्षितकारुककर्माणि कुर्यादिति ॥ १०० ॥

(५) नन्दनः । कानि पुनस्तानि कारुकर्माणीत्याह यैः कर्मभिः सुचरितैरिति । शिल्पानि सुवर्णलोहच्छत्रादिकरणानि ॥ १०० ॥

वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन्ब्राह्मणः स्वे पथि स्थितः ॥ अवृत्तिकर्षितः सीदन्निमं धर्मं समाचरेत् ॥ १०१ ॥

(१) मेधातिथिः । अनातिष्ठन्निच्छयैतदुक्तं भवति क्षत्रवृत्त्यसंभवे यदि वा वैश्यवृत्तिमाचरेदसत्यतिग्रहं वा तुल्ये एते वृत्ती असत्यतिग्रहाक्षत्रवृत्तिः श्रेयसी अथवानातिष्ठन्वैश्यवृत्तिरसंभवे ततश्चासत्यतिग्रहो वैश्यवृत्तेर्हान्तरः स्वपथि स्थित इति ब्रुवन्नापद्वृत्तीनां समुच्चयोऽस्तीति ज्ञापयति अवृत्त्या कर्षितं सीदन्वसादंप्रामुयात् ॥ १०१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वरं स्वधर्मं इति यदुक्तं तत्स्फारयति वैश्येति । स्वपथि स्ववृत्तौ स्थित उद्यतः अतएव क्षत्रवृत्तिमप्यनातिष्ठन् । इमं वक्ष्यमाणम् ॥ १०१ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणो वृत्त्यभावपीडितोऽवसादं गच्छन् क्षत्रियवैश्यवृत्तिमनातिष्ठन् स्वधर्मो वरम् विगुण इत्युक्तत्वात् । स्ववृत्तविवर्तमान इमां वक्ष्यमाणां वृत्तिमनुतिष्ठेत् अतश्च विगुणप्रतिग्रहादिवृत्त्यसंभवे परवृत्त्या श्रयणं ज्ञेयम् ॥ १०१ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यत् वैश्यवृत्त्याऽपरितुष्यतो ब्राह्मणस्य स्ववृत्तौ स्वाच्छन्द्यमाह वैश्येति द्विभ्याम् । स्वपथि वेदाभ्यासादौ । इममसत्यतिग्रहाख्यम् ॥ १०१ ॥

(५) नन्दनः । अथ ब्राह्मणस्यापद्यप्यनाश्रितवृत्त्यन्तरस्य स्वधर्मनिरतस्य कर्तव्यमाह वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन्निति । स्वे पथि स्वधर्मे इमं वक्ष्यमाणम् ॥ १०१ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मण इति क्षत्रियस्याप्युपलक्षणम् । इमं वक्ष्यमाणलक्षणम् ॥ १०१ ॥

सर्वतः प्रतिगृहीयाद्ब्राह्मणस्त्वनयंगतः ॥ पवित्रं दुष्यतीत्येतद्धर्मतो नोपपद्यते ॥ १०२ ॥

(१) मेधातिथिः । सर्वत इति प्रतिग्राह्यजातिगुणानामपेक्षा न कर्तव्या अत्रापि हीनहीनतरहीनतमेषु क्रमेण पूर्वपूर्वाभावउत्तरोत्तरप्रामिरस्त्येव यथा क्षत्रवृत्त्यभावे वैश्यवृत्तिः पवित्रंगङ्गास्रोतस्तदमेध्यसंसर्गेण दुष्यति नदीवेगेन शुध्यतीत्युक्तं एवं ब्राह्मणोपीति ॥ १०२ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । पवित्रं वन्हादि । धर्मतो धर्मबलात् ॥ १०२ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मण आपदं प्रामः सर्वेभ्योपि निन्दिततमेभ्यः क्रमेण प्रतिग्रहं कुर्यात् अत्रार्थान्तरन्यासो नामालङ्कारः । यस्मात्पवित्रगङ्गादिरध्योदकादिना दुष्यतीत्येतच्छास्त्रस्थित्या नोपपद्यते ॥ १०२ ॥

(४) राघवानन्दः । अनयं मरणम् पवित्रं वेदाभ्यासेन सर्वदा पूतो विप्रः प्रकरणात्पवित्रं वन्हादिदृष्टान्तीवाधर्म तो धर्मशास्त्रात्स्वधर्मत्वाद्वा यत्पवित्रं तन्न दुष्यति न दुष्टमिति प्रमितम् ॥ १०२ ॥

(५) नन्दनः । सर्वतः अप्रतिग्राह्यादपि प्रतिगृहीयादिति याजनाध्यापनयोरप्युपलक्षणम् ॥ १०२ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनयंगतः आपद्रतः धर्मतः पवित्रं द्विजं न दुष्यति एतदुपपद्यते युक्तमेव ॥ १०२ ॥

नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात् ॥ दोषो भवति विप्राणां ज्वलनांबुसमाहि ते ॥ १०३ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वेणासत्प्रतिग्रहयुक्तोऽनेन याजनाध्यापने अनुज्ञायेति गर्हितादिति सिंहावलोकितवत्पूर्वाभ्या-
मभ्यभिसंबध्यते यथाग्निरापश्च सर्वत्र शुद्धा एव ब्राह्मणा अपीति मशंसा केचिदाहुः । असत्प्रतिग्रहवदसद्याजनाध्यापने अप्य-
नुज्ञायेते यद्यभविष्यतां तदा पूर्वश्लोक एवं प्रतिग्रहवदपठिष्यतां इहतु विधिप्रत्ययाभावाद्दोषो भवति । विप्राणामिति वर्तमानप्र-
त्ययेन सिद्धव्यपदेशादर्थवादताप्रतीतिः किंच प्रतिवचनतावदर्थवादः पूर्वेण सिद्धत्वात्तदेव वाक्यत्वापत्तेर्याजनाध्यापने
अप्येवं भवितुमर्हतः वयंतु ब्रूमोऽसंभवे सत्प्रतिग्रहस्य तत्रापि वृत्तिर्युक्ता यतः प्रभृतिः स्मर्यते यथा कथंचित्स आत्मानमुद्धरे-
दथप्रत्यवायेभ्यः कर्मार्थस्त्वापद्धर्मपाठः ॥ १०३ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । गर्हितादिति त्रिष्वन्वितम् । विप्राणां वेदविद्यावताम् । यथा ज्वलनोऽशुचीनपि दहनं
अपूरनद्यादिर्मलक्षालनं कुर्वन्नपि न दुष्यति ॥ १०३ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मात् नाध्यापनादिति । ब्राह्मणानामापदि गर्हिताध्यापनयाजनप्रतिग्रहैरधर्मो न भवति यस्मा-
त्त्वभावतः पवित्रत्वेनाग्न्युदकतुल्यास्ते ॥ १०३ ॥

(४) राघवानन्दः । अतएवाह नेति । यथा याजनाध्यापने दोषानापादके दृष्टान्तः ज्वलनेन ग्रीष्मात्पेन युक्तोर्क-
इव वेदाभ्यासेन युक्तो विप्रः प्रतिग्रहोपितथा विशुद्धाच्च प्रतिग्रह इत्यत्र विशुद्धपदं तदर्जितधनस्य फलसिद्धत्वार्थम् ॥ १०३ ॥

(५) नन्दनः । एतदेव स्थिरीकरोति नाध्यापनाद्याजनाच्चेति ॥ १०३ ॥

(६) रामचन्द्रः । ज्वलनार्कसमाहितः समीपे आपद्रतस्य दोषो न ॥ १०३ ॥

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्मत्ति यतस्ततः ॥ आकाशमिव पङ्केन न सपापेन लिप्यते ॥ १०४ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वेणासत्प्रतिग्रहयुक्तोऽनेन प्रतिग्रहदुष्टमन्मभ्यनुज्ञायते ततस्तत इति जातिकर्मात्तदपेक्षमत्र
स्वामिनमाह शेषार्थवादश्च ॥ १०४ ॥

(१०३) ज्वलनान्बु समाहिते = ज्वलनार्क समाहिते (च, ण) = ज्वलनार्क समाहितः (राम)

(२) सर्वज्ञनारायणः । किंपुनः प्रतिग्रहादिकुर्वन् ॥ १०४ ॥

(३) कुल्लूकः । यः प्राणात्ययंप्राप्तः प्रतिलोमजादन्मश्नाति सौंस्तरिक्षमिव कर्दमेन पापेन न संबध्यते ॥ १०४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच जीवितेति । यदिति सामान्यशब्दोपि ब्राह्मणविषयएव प्रकरणात् अन्येषां प्रतिग्रहनिषेधाच्च । अत्र अनदनीयोदनम् अवृत्तिकर्षितत्वं जीवितात्ययमिति लिङ्गत्रयं पवित्रमित्यादिदृष्टान्तद्वयं च लौकिकालौकिकं सर्वथाऽदोषतात्पर्यकम् ॥ १०४ ॥

(५) नन्दनः । सवर्त्रं भोजनमप्यस्यादृष्टमित्याह जीवितात्ययमापन्नइति ॥ १०४ ॥

(६) रामचन्द्रः । जीवितात्ययं आपन्नः जीवितस्य अत्ययं नाशं प्राप्तः सन् यतस्ततः प्रतिलोमजाताः यः अन्नं अन्ति भक्षयति ॥ १०४ ॥

अजीगर्तः सुतंहन्तुमुपासर्पद्भुक्षितः ॥ न चालिप्यत पापेन क्षुत्पतीकारमाचरन् ॥ १०५ ॥

(१) मेधातिथिः । अजीगर्तनामऋषिः सक्षुत्परिपीडितः पुत्रं सुतं शुनः । शेषनामानं हन्तुमुपासर्पत्पचक्रमे न चासौः कव्यादइतियुज्यते । शौनः शेषमाख्यानं बह्वचि सुप्रसिद्धं नात्र विस्तरआगमस्योपयुज्यते परमार्थस्तु प्रकृतिरूपोर्थवादएवं-सर्वएते द्रष्टव्याः ॥ १०५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सुतं शुनः शेषम् ॥ १०५ ॥

(३) कुल्लूकः । अत्र प्रकृतिरूपार्थवादमाह अजीगर्तइति ऋषिरजीगर्ताख्यो बुभूक्षितः सन् पुत्रं शुनः शेषनामानं स्वयं विक्रीतवान् यज्ञे गोशतलाभाय यज्ञयूपे बद्धा विशसिता भूत्वा हन्तुमचक्रमे न च क्षुत्पतीकारार्थं तथा कुर्वन् पापेन लिप्तः एतच्च बह्वचब्राह्मणे शुनः शेषाख्यानेषु व्यक्तमुक्तम् ॥ १०५ ॥

(४) राघवानन्दः । अत्रार्थे ऐतिह्यं प्रमाणयति अजीगर्तइति चतुर्भिः । सुतं शुनः शेषम् हन्तुं वरुणार्थं पुरुषमेव । उपासर्पद्विक्रीतस्य सुतस्य पुनर्हननार्थं गतवान् ॥ १०५ ॥

(५) नन्दनः । अत्र शिष्टाचारान्दर्शयति अजीगर्तः सुतंहन्तुमिति । आचरन्निति हेत्वर्थे शत्रुप्रत्ययः ॥ १०५ ॥

(६) रामचन्द्रः । अजीगर्तः ऋषिः । सुतं शुनः शेषं । दोषेण न अलिप्यत ॥ १०५ ॥

श्वमांसमिच्छन्नार्त्तोऽत्तुं धर्माधर्माविचक्षणः ॥ प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान् ॥ १०६ ॥

(१) मेधातिथिः । एवं वामदेवो नाम ऋषिः स आर्त्तः क्षुधा श्वमांसमत्तुं भक्षयितुमैच्छत् ॥ १०६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्वमांसमिच्छन्नार्त्तोऽत्तुमितीच्छामात्रेणापि पापोत्पत्तिं दर्शयति ॥ १०६ ॥

(३) कुल्लूकः । वामदेवाख्यऋषिर्धर्माधर्मज्ञः क्षुधार्त्तः प्राणत्राणार्थं श्वमांसं खादितुमिच्छन् दोषेण न लिप्तवान् ॥ १०६ ॥

(४) राघवानन्दः । श्वमांसं शुनोमांसं वामदेवोऽप्यत्तुमिच्छन् लिप्तवानित्यन्वयः ॥ १०६ ॥

(५) नन्दनः । न लिप्तवान् दोषेण स्पृष्टवान् ॥ १०६ ॥

(६) रामचन्द्रः । श्वमांसं वामदेवः क्षुधार्त्तोऽत्तुमिच्छन् पापेन न लिप्तवान् ॥ १०६ ॥

भरद्वाजः क्षुधार्त्तस्तु सपुत्रो विज्ञने वने ॥ बह्वीर्गाः प्रतिजग्राह वृधोऽस्तक्ष्णो महातपाः ॥ १०७ ॥

(१) मेधातिथिः । वृधो नाम तक्षा अप्रतिग्राहस्ततो बह्वीर्गा भरद्वाजो नाम ऋषिः प्रतिजग्राह ॥ १०७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बह्वीर्गा इति सतात्पर्यं विशेषणं एकैव गौः प्रतिग्राह्येति वचनात् । बृहत्तक्ष्णोरथकारात् ॥ १०७ ॥

(३) कुल्लूकः । भरद्वाजाख्योमुनिः महातपस्वी पुत्रसहितो निर्जने वनेऽरण्यउषित्वा क्षुत्पीडितो वृधुना म्रस्तक्ष्णो बन्नीर्गाः प्रतिगृहीतवान् ॥ १०७ ॥

(४) राघवानन्दः । वृधो वृधुनामकस्य तक्ष्णो आयोगवजातेः विजने निहृत्य प्रतिजग्राहेत्यन्वयः । अत्र हेतुः महातपा इति तेन संभवत्प्रकारान्तरे न कार्यं तदिति भावः ॥ १०७ ॥

(६) रामचन्द्रः । बृहत्तक्ष्णो राज्ञः प्रतिग्रहः ॥ १०७ ॥

क्षुधार्त्तश्चात्तुमभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम् ॥ चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः ॥ १०८ ॥

(१) मेधातिथिः । विश्वामित्रो नाम महामुनिः प्रसिद्धः । सकस्मिंश्चिदवसरे क्षुधादुःखेन श्वजाघनीं चण्डालहस्तादादायात्तुमभ्यागत आभिमुख्येनाध्यवसितः । न केवलं परिदुष्टेऽन्वेषोऽस्ति यावत्त्वभावदुष्टेऽपीति श्वजाघनीग्रहणं सर्वदोषदुष्टमप्यापदि भक्षयितव्यमिति श्लोकात्पर्यार्थः ॥ १०८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्वजाघनीं शुनः पुच्छमूलमांसम् ॥ १०८ ॥

(३) कुल्लूकः । ऋषिर्विश्वामित्रो धर्माधर्मज्ञः क्षुत्पीडितः चण्डालहस्तादृहीत्वा कुक्कुरजघनमांसं भक्षितुमध्यवसितवान् ॥ १०८ ॥

(४) राघवानन्दः । श्वजाघनीं शुनो जघनवर्तमानं मांसम् ॥ १०८ ॥

(५) नन्दनः । श्वजाघनीं श्वमांसं अत्तुं भक्षितुम् ॥ १०८ ॥

(६) रामचन्द्रः । क्षुधार्त्तो विश्वामित्रः श्वजाघनीं श्वपुच्छमूलमांसं अत्तुं अभ्यागात् ॥ १०८ ॥

प्रतिग्रहाद्याजोद्धा तथैवाध्यापनादपि ॥ प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः ॥ १०९ ॥

(१) मेधातिथिः । आपदीषद्गर्हितयो र्याजनाध्यापनयोः संभवेन गर्हितप्रतिग्रहे वर्तितव्यमिति श्लोकार्थः ॥ १०९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र पुनर्विशेषमाह प्रतिग्रहादिति ॥ १०९ ॥

(३) कुल्लूकः । गर्हितानामप्यध्यापनयाजनप्रतिग्रहाणामध्याद्वाह्नयस्यासत्प्रतिग्रहो निरुष्टः परलोके नरकहेतुः ततश्चापदि प्रथमं निन्दिताध्यापनयाजनयोः प्रवर्तितव्यं तदसंभवे त्वसत्प्रतिग्रह इत्येव परमेतत् ॥ १०९ ॥

(४) राघवानन्दः । याजनाध्यापने प्रतिग्रहात्प्राशस्त्ये इत्यनुवदति प्रतिग्रहादिति । प्रत्यवरः प्रति पूर्वं अपेक्ष्य वरो निरुष्टः प्रेत्य स्थितस्यापि नरकहेतुत्वात् ॥ १०९ ॥

(५) नन्दनः । याजनाध्यापनाभ्यामसत्प्रतिग्रहस्यावरत्वमाह प्रतिग्रहाद्याजनाच्चेति । प्रेत्य परलोके ॥ १०९ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रतिग्रहः प्रत्यवरः हीनहीनः ॥ १०९ ॥

याजनाध्यापने नित्यं क्रियते संस्कृतात्मनाम् ॥ प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्यन्त्यजन्मनः ॥ ११० ॥

(१) मेधातिथिः । अत्रैव हेतुरूपोर्थवादः । प्रवृत्तिरेवेदशी लोकस्य यदनुपनीतानाधीयते न च यजन्ते अतः सुश्रुर्त्तोऽपि न शूद्रयाजयिष्यत्यध्यापयिष्यति वा । दानंतु सार्ववार्णिकं प्रसिद्धं शूद्रादपि प्रतिग्रहः कर्तुं प्राप्नोत्यतः सप्रत्यवरः ॥ ११० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संस्कृतात्मनां द्विजानामेव संभवति न तु तस्य शूद्रे प्रसंगः । प्रतिग्रहस्तु प्रवर्तमानः शूद्रेऽपि प्रसज्यत एवेति युक्तेर्निन्दितत्वात् । न केवलं शूद्रात् किंतु अप्यन्त्यजन्मनः चण्डालात् ॥ ११० ॥

(११०) क्रियते = नियते (१)

(३) कुल्लूकः । अत्रहेतुमाह याजनेति । याजनाध्यापने आपद्यनापदि चोपनयनसंस्कृतात्मनां द्विजातीनामेव क्रियते प्रतिग्रहः पुनर्निरुष्टजातेः शूद्रादपि क्रियते तस्मादसौ ताभ्यां गर्हितः ॥ ११० ॥

(४) राघवानन्दः । अत्रहेतुमाह याजनेति । संस्कृतात्मनां वेदेनैव संस्कारो द्विजानाम् । शूद्रस्य याजनमपि प्रतिग्रहवन्निन्दितम् ॥ ११० ॥

(५) नन्दनः । अत्र कारणमाह याजनाध्यापने नित्यं क्रियेते संस्कृतात्मना त्रैविर्णिजानामेव नित्यमापद्यनापद्यपि क्रियते ॥ ११० ॥

(६) रामचन्द्रः । जन्मनः निरुष्टजातेः ॥ ११० ॥

जपहोमैरपैत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम् ॥ प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव च ॥ १११ ॥

(१) मेधातिथिः । जपेन होमेन चैनः पापमपैति विनश्यति । ते च वक्ष्यति प्रतिग्रहाद्यदेनस्तत्यागेन तस्य प्रतिग्रहस्य तपसा वक्ष्यमाणेन मासंगोष्ठे पयःपीत्वेत्यादि ॥ १११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । जपहोमैर्न तु तदुपात्तवित्तत्यागैरेव अतः सुशकप्रायश्चित्ततापि । त्यागेन प्रतिग्रहोपात्तवित्तस्य । तपसा चान्द्रायणादिना । तपसैवेति क्वचित्पाठः । तद्वित्तस्य त्यागासंभवे तपसापि भूयसाऽपैतीत्यर्थः ॥ १११ ॥

(३) कुल्लूकः । एनो ग्रहणादसत्प्रतिग्रहयाजनाध्यापनैर्यदुपपन्नं पापं तत्प्रायश्चित्तप्रकरणे वक्ष्यमाणक्रमेण जपहोमैर्नश्यति असत्प्रतिग्रहजनितं पुनः प्रतिगृहीतद्रव्यत्यागेन मासंगोष्ठे पयःपीत्वेत्येवमादिवक्ष्यमाणतपसाऽपगच्छति ॥ १११ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रायश्चित्तगौरवादपि ताभ्यां प्रतिग्रहोऽवरइत्याह जपेति । एनः पापम् त्यागेन तद्रव्यस्य । तपसा गोष्ठे पयःपीत्वेत्येवमादिवक्ष्यमाणेन ॥ १११ ॥

(५) नन्दनः । प्रतिग्रहस्तु दानस्य सर्वसाधारणत्वादन्यजन्मनः प्रतिलोमादपि क्रियते कर्तुं प्राप्नो भवति तेन प्रतिग्रहः प्रत्यवरइत्याह जपहोमैरपैत्येनइति । प्रायश्चित्तगौरवादप्यसत्प्रतिग्रहः प्रत्यवरइत्यर्थः ॥ १११ ॥

(६) रामचन्द्रः । तु पुनः त्यागेन प्रतिगृहीतवस्तुनः त्यागेन वा तपसैव गोष्ठे पयः पीत्वा वक्ष्यमाणतपसा ॥ १११ ॥

शिलोञ्छमप्याददीत विप्रोऽजीवन्यतस्ततः ॥ प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयास्ततोऽप्युञ्छः प्रशस्यते ॥ ११२ ॥

(१) मेधातिथिः । अस्याप्यनुषादोर्थवादमेवाह । महेतदन्त्याभ्ययत्परद्रव्यग्रहणं तत्र कदाचिदश्रूयमाणस्य ग्रहणेपीदं भवदुष्यतोऽप्येतावता प्रशस्यत्वमत्रभूयः प्रतिग्रहः समानजातीयः स एवायं प्रकर्षप्रत्यग्रहेतुर्भवति प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयानिति यतो निरुष्टमपेक्ष्योत्कृष्टवनिमित्तं प्रकर्षमनुभवति नहि भवति चण्डालाद्ब्राह्मणः श्रेयानतः शिलोञ्छयोरपि ग्रहणे प्रशस्यत्वग्रहणं तथापि शिलोञ्छः श्रेयः यद्यपि शिलोञ्छवृत्तिरित्यन्तोत्कृष्टोक्ता तथाप्यस्ति प्रतिग्रहेण किञ्चित्स्यात् [यतस्त] ऽत्राधिदेवतानिष्ठ [त] ऽभ्यागतं क्रियावैकल्यमसत्प्रतिग्रहेऽप्यात्मनि ग्रहउपपन्नेन कुर्वीतयमिति तत्रेतरसंनिहितद्रव्यस्याऽऽत्मनिग्रहोतः शिलोञ्छवृत्तिरपि न निरवद्या ततो युक्तं प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयानित्यादि ॥ ११२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शिलोञ्छमिति । जीवनासंभवे यतस्ततोऽपि चाण्डालादिक्षेत्रजादियतस्ततोऽपीत्यन्वयः । लूनशीर्णमनुज्जातं शिलमिति देवलः । तदेव स्वामिनात्यक्तं तदनुमतिविनैव गृह्यमाणमुञ्छः एकैककणादानमुञ्छः कश्चि-

शादानंतुशिलमित्यन्ये । तद्वृत्तिद्वयजीवनसंभवेसत्प्रतिग्रहोपि न कार्यः । तत्राप्युच्छेनजीवनसंभवेशिलं न ग्राह्यं तत्रोपरो-
धसंभवात् ॥ ११२ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणः स्ववृत्त्याऽजीवन्यतस्ततोपि शिलोच्छेदं गृहीयान्तु तत्संभवेऽसत्प्रतिग्रहंकुर्यात् यस्मादस-
त्प्रतिग्रहाच्छिलः प्रशस्तः मन्त्रर्यात्मकानेकधान्योन्नयनं शिलस्ततोप्युच्छेदः श्रेष्ठः एकैकधान्यादिगुडकोच्चयनमुच्छेदः ॥
॥ ११२ ॥

(४) राघवानन्दः । याजनादिभ्योपि शिलोच्छेदं प्रशस्ते इत्यनुवदंस्तयोरपि शिलादुच्छेदं प्रशस्ततरमित्याह शि-
लेति । उच्छेन जीवच्छिलं न कुर्यात् । शिलेन जीवन्ध्यापनं न कुर्यात् । अध्यापनेन जीवन्ध्याजनं न कुर्यात् । याजनेन जीव-
न्प्रतिग्रहं न कुर्यात् । तत्रापि विशुद्धेन जीवन्विशुद्धं न कुर्यादिति भावः ॥ ११२ ॥

(५) नन्दनः । कल्पान्तरमाह शिलोच्छेदमप्याददीति । अजीवन्निति पदं यतस्ततोविशिष्टाविशिष्टधनेभ्यः क्षेत्रस्व-
लादिषु शिलमुच्छेदवाददीत उत्तरार्धेन यतस्ततः प्रतिग्रहशिलोच्छेदानां विशेषउक्तः यतस्ततः प्रतिग्रहादन्यतः प्रतिग्रहाच्छि-
लः श्रेष्ठः ततोपि तस्मादपि एतौ शिलोच्छेदौ अदत्तादानविषयौ चतुर्थाध्यायोक्तावापद्धर्मवृत्त्यर्थौ उच्छेदधान्यशः आदानं
कणिशाद्यर्जनं शिलमिति ॥ ११२ ॥

(६) रामचन्द्रः । पूर्वं शिलोच्छेदं शिलंवा उच्छेत्वा यदाऽपर्याप्तं तदा यतस्ततः महापातकिनोपि उपपातकादिभ्यो-
पि गृहीयात् । ततः शिलात् उच्छेदः प्रशस्यते ॥ ११२ ॥

सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धनेवा पृथिवीपतिः ॥ याच्यः स्यात्स्नातकैर्विप्रैरदित्संस्यागमर्हति ॥ ११३ ॥

(१) मेधातिथिः । अत्र त्रीणि निमित्तानि राजप्रतिग्रहउच्यन्ते । सीदद्भिः कुटुंबावसादंप्रभैरापदीत्यर्थः । कुप्यमिच्छ-
द्भिः कुण्डलकटकाद्युष्णीषासनार्दि काञ्चनादि अन्यद्वाधनंगोहिरण्यादि यज्ञोपयोग्यन्यत्र वा निमित्तैः पृथिवीपतिर्याच्यो-
द्देशेऽश्वरोऽभ्यर्थयितव्यः । अत्र यदुक्तं न राज्ञः प्रतिगृहीयादिति सदुष्टराजविषयः प्रतिषेधोद्गृह्यः । तथाचोक्तं लुब्धस्योच्छा-
स्त्रवर्तनइति अदित्सन्नायाचितः सन्दातुं योनेच्छति सत्यागमर्हति तस्य विषये नवस्तव्यं अथवात्यागोहानिरन्यस्य चानि-
र्देशाद्धर्महानिप्राप्नोति ॥ ११३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सीदद्भिर्नाभावेन उच्छेदस्याप्यलभात् । तथा कुप्यं कांस्यताम्रादीच्छद्भिस्तदर्थभिः ।
तथा धनं बहुसुवर्णादिकोशमिच्छद्भिः । अजीवनदशायामतिरागौत्कल्येवा नृपतिर्याच्यो नान्यथेत्यर्थः । सच नृपोऽदित्स-
न्ब्राह्मणैरन्यैरपि त्याज्यः ॥ ११३ ॥

(३) कुल्लूकः । स्नातकैर्ब्राह्मणैर्धनाभावाद्धर्मार्थं कुटुंबावसादंगच्छद्भिः सुवर्णरजतव्यतिरिक्तं धान्यवस्त्रादिकुप्यं धनं-
यागाद्युपयुक्तं हिरण्याद्यन्यापत्प्रकरणात्क्षत्रियोप्युच्छास्त्रवर्तीयाचितव्यः स्यात् । यश्च दातुं नेच्छति कृपणत्वेनावधारितः
सत्याज्येन याचनीयइत्यर्थः । मेधातिथिगोविन्दराजौ तु त्यागमर्हतीति तस्य देशे नवस्तव्यमिति व्याचक्षाते ॥ ११३ ॥

(४) राघवानन्दः । स्नातकैर्हि राज्ञोपि धनं ग्राह्यमित्याह सीदद्भिरिति । बहुवचनलिङ्गाद्बहुतरकुटुम्बैः । कुप्यं
सुवर्णरजतव्यतिरिक्तं धान्यवस्त्रादि । धनपदं सुवर्णादिपरम् । पृथिवीपतिः राजा याच्यः आपत्प्रकरणत्वादुच्छास्त्रवर्त्यपि
अन्यथा धर्मजीवनयोर्हानावतीव पातकितेति भावः । अदित्सन्कार्पण्यात् । त्यागं तस्य राज्ञः देशस्य वा ॥ ११३ ॥

(५) नन्दनः । कुप्यं वस्त्रादिकं धनं हिरण्यादिकं त्यागं याजनादिषु नादेयत्वम् ॥ ११३ ॥

(६) रामचन्द्रः । सातकौर्वैः सीदद्भिः कुप्यं ताम्रादिधनं इच्छद्भिः पृथिवीपतिर्याच्यः स्यात् अदित्सन् अपयच्छन् तर्हि त्यागं अर्हति ब्राह्मणैरन्यैस्त्याज्यः तद्देशेन स्थातव्यम् ॥ ११३ ॥

अकृतं च कृताक्षेत्राद्वैरजाविकमेव च ॥ हिरण्यधान्यमन्नं च पूर्वपूर्वमदोषवत् ॥ ११४ ॥

(१) मेधातिथिः । अकृतमकृष्टक्षेत्रं प्रशस्यं अजाविकं च भवति परस्परविशेषउक्तार्थः श्लोकौ गम्यते ॥ ११४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अकृतं खिलं । कृतं परिकर्मितं । अन्नं पक्वं । कृतादकृतं । ततः क्रमेणाजादौ । तत्रापि पूर्वपूर्वं न दोषवत् परिग्रहेऽल्पदोषम् ॥ ११४ ॥

(३) कुल्लूकः । अकृतमनुमसस्यं क्षेत्रं तत्कृतादुमसस्यात्प्रतिग्रहे दोषरहितं तथा गोछागमेषहिरण्यधान्यसिद्धान्तानामध्यात्पूर्वपूर्वमदुष्टम् ततश्चैषां पूर्वपूर्वासंभवे परः परोक्षेयः ॥ ११४ ॥

(४) राघवानन्दः । ग्राह्येष्वेतेषु पूर्वपूर्वप्रशस्तिमाह अकृतेति । अकृतमनुमसस्यं क्षेत्रं ततोनीवारादेर्ग्रहणम् । कृतादुमसस्यात् । अन्नं सिद्धान्तम् । नात्र तर्कापेक्षा किमिव वचनं न करोतीति न्यायात् ॥ ११४ ॥

(५) नन्दनः । अथ ब्राह्मणस्य प्रतिग्रहे द्रव्यविशेषेषु दोषतारतम्यमाह अकृतश्च गृहक्षेत्रमिति पूर्व पूर्वमदोषकंपरस्मात्परस्मात्पूर्वपूर्वद्रव्यप्रतिग्रहेऽल्पदोषम् ॥ ११४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अकृतं अनुमसस्यं क्षेत्रात् कृतात् हलादिना पूर्वं अदोषभाक् ॥ ११४ ॥

समवित्तागमाधर्म्यादायोलाभः क्रयोजयः ॥ प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्यतिग्रहएव च ॥ ११५ ॥

(१) मेधातिथिः । दायोन्वयागतधनं लाभोनिध्यादेः पित्राद्यर्जिताद्धानिबन्धात्संविभागः यद्यपि तत्पित्रादिक्रमायातं तथापि नतदीयशब्देन शक्यमभिधातुं बहुसाधारण्यात् । तथाच निबन्धोद्भव्यमिति स्मृत्यन्तरेपठितं । अथत्रामित्राच्छुश्रुगृहाद्यायल्लब्धं प्रीत्या सलाभः क्रयः प्रसिद्धः जयः संग्रामे प्रयोगकर्मयोगौ कुसीदरुषिवाणिज्यान्यतश्च वर्णभेदेनैतेषां धर्म्यत्वं तत्राद्यास्त्रयः सर्वसाधारणाः । जयः क्षत्रियस्य प्रयोगकर्मयोगौ वैश्यस्य सत्यतिग्रहो ब्राह्मणस्य विशेषश्च वणोपि प्राग्दर्शनन्यायोविभागः । केचित्क्रयेविवदन्ते तन्नयुक्तं सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् । जयंयानबन्धेनापि केचिदिच्छन्ति सर्वविषयंतदयुक्तं द्यूतधनस्य स्मृत्यन्तरेष्वशुद्धित्ववचनात् पार्श्वकद्यूतेत्यत्र तथा परे प्रयोगमव्यापारमाहुः तथाहि प्रयोगोदृश्यते ज्ञानपूर्वप्रयोगइति तत्र शब्दस्य प्रयोगइति गम्यते तथाकर्मप्रयोगः कर्मप्रचारआवर्जनः ॥ ११५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धर्म्याधर्मानपेताः । दायः पित्रादिधनस्य विभागादिनालभ्यस्य प्राप्तिः । लाभोनिध्यादेरकस्माल्लाभः । क्रयोधनेन प्राक्स्थितेन भूम्यादेः परिग्रहः । जयोयुद्धोद्योगात्प्राप्तिः । प्रयोगः कलावाणिज्यादिना वर्धनम् । कर्मयोगः शिल्पादिकर्मकृत्वा श्रुतिग्रहः । सत्यतिग्रहः शुद्धाच्छुद्धस्य द्रव्यस्य तिलादिव्यतिरिक्तस्य प्रतिग्रहः । अत्राद्यास्त्रयः सर्वेषां वर्णानां ततः परे त्रयः क्षत्रविदूशूद्रणामेवं क्रमादन्योविप्रस्यैवेति ॥ ११५ ॥

(३) कुल्लूकः । दाय्याद्याः समधनागमाः । यथाधनाधिकारधर्मादनपेतास्तत्र दायोऽन्वयागतधनं । लाभोनिध्यादेः मैत्र्यहदिलब्धस्य च । क्रयः प्रसिद्धः । एते त्रयश्चतुर्णामपि वर्णानां धर्म्याः । जयधनं विजयत्वेन क्षत्रियस्य । धर्म्यः प्रयोगोवृद्ध्यादिधनस्य कर्मयोगश्च रुषिवाणिज्ये एतौ प्रयोगौ वैश्यस्य धर्म्यौ । सत्यतिग्रहो ब्राह्मणस्य धर्म्यः एवं चैतेषां धर्मत्ववचनादेनदभावेऽन्येष्वनापद्धिहितेषु वृत्तिकर्मसु प्रवर्तितव्यं तदभावे चापद्धिहितेषु प्रकृतेष्वित्येतदर्थमेतदिहोच्यते ॥ ११५ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रतिग्रहप्रसंगेन धनोपायान्तरमनुवदन्नुपसंहरति समेति । वित्तागमाधनस्य प्राप्त्युपायाः ध-

म्याधर्मादनपेताः । दायः पित्रादिधनादेर्विभजनम् । लाभो निध्यादेः । क्रयोस्त्वधनेन विनिमयेनवा । जयः द्यूतयुद्धाद्यैः । प्रयोगोवृद्धचर्थधनस्य । कर्मयोगः कृषिवाणिज्ये । अत्रदायलाभक्रयाश्चातुर्वर्ग्यस्य साधारणाः । जयः क्षत्रियस्यासाधारणः । प्रयोगकर्मयोगौवैश्यस्य । सत्प्रतिग्रहोब्राह्मणस्य । आपदि प्रतिग्रहशङ्कानिरासाय विवरणम् ॥ ११५ ॥

(५) नन्दनः । अथ ब्राह्मणस्यानापद्विषयास्तावदाह सप्तवित्तागमादिति । धर्म्याधर्मयुक्ता अनापद्विषयाइत्यर्थः । दायः प्रसिद्धः । लाभोनिध्यागमादिः । क्रयः क्षेत्रादिक्रयः । जयोवादिषुप्रतिवादिनिग्रहः । प्रयोगः अध्यापनं कर्मयोगो-याजनं सत्प्रतिग्रहोविशुद्धद्विजातिप्रतिग्रहः ॥ ११५ ॥

(६) रामचन्द्रः । दायः पित्र्यांशलाभः निध्यादेः प्राक्स्थितस्यभूम्यादेः परिग्रहः । जयोयुद्धयोगादेः प्राप्तिः । प्रयोगः कलावाणिज्यादिना वर्धनम् । कर्मयोगः शिल्पादिकर्म कृत्वा समैते धर्म्या वित्तागमाः वित्तस्यआगमोपायाः ॥ ११५ ॥

विद्या शिल्पंभृतिः सेवा गोरक्ष्यंविपणिः कृषिः ॥ धृतिर्भैक्ष्यंकुसीदंच दशजीवनहेतवः ॥ ११६ ॥

(१) मेधातिथिः । सवपुरुषाणामापदि वृत्तिरियमनुज्ञायते तत्र विद्या वेदविद्याव्यतिरेकेण वैद्यकतर्कभूतविषासन-विद्यासर्वेषांजीवनार्था न दुष्यति शिल्पंव्याख्यातं भृतिः प्रैष्यकत्वं सेवापरवृत्तानुवृत्तिवत् धृतिः संतोषः दृष्टान्तार्थचैतत् । अतोयथाविहितवृत्तिभावेनैते जीवनोपायाः संकीर्यन्ते पुरुषमात्रेविषयत्वात् ॥ ११६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विद्यादयोदश जीवनहेतवः प्राणधारणहेतवः धर्माधर्मसाधारणाः । विद्या विद्यातिशय-स्तेन प्रसादादिना धनलाभः । शिल्पं चित्रादिकौशलम् । भृतिः परप्रेषणंकृत्वा मासादिनियतभृतिः । सेवा चाटुकारेण नि-यतं धनप्राप्तिः । गोरक्षं पशुपालनंकृत्वा यथोक्तपशुभागग्रहणम् । वाणिज्यंकृषिः कर्षणम् । धृतिः प्राप्तेनाल्पेनापि सं-तोषः । भैक्ष्यं याश्चालब्धं । कुसीदं वृद्ध्याधान्यादिदानम् । सर्वमेतदापदि यथायोगं वर्णानां तत्र विप्रस्य सेवाश्ववृत्तिरि-त्यादिना सेवा निन्दिता ॥ ११६ ॥

(३) कुड्मूकः । आपत्प्रकरणाजीवनहेतवइति निर्देशात् एषामध्ये यया वृत्त्या यस्यानापदि नजीवनंतया तस्या-पद्यभ्यनुज्ञायते यथाब्राह्मणस्य भृतिसेवादि एवंशिल्पादावपि ज्ञेयम् । विद्यावेदविद्या व्यतिरिक्ता वैद्यतर्कविषापनयनादि-विद्या सर्वेषामापदि जीवनार्थेन दुष्यति शिल्पंगन्धरुक्त्यादिकरणं भृतिः प्रैष्यभावेन वेतनग्रहणं सेवा पराज्ञासंपादनं गोरक्ष्यंपशुपाल्यं विपणिर्वणिज्या कृषिः स्वयंकृता धृतिः संतोषः तस्मिन्सत्यल्पकेनापि जीव्यते भैक्ष्यंभिक्षासमूहः कुसीदंवृद्ध्याधनप्रयोगः स्वयंकृतोपिद्व्येभिर्दशभिरापदि जीवनीयम् ॥ ११६ ॥

(४) राघवानन्दः । अनापद्धर्मान् सक्षिप्योक्ता आपद्धर्मान्संक्षिपति विद्येति । विद्या तर्कनयादि वेदस्थानापद्धर्म-त्वात् । शिल्पं चित्रादिकृतिः । भृतिर्वेतनम् । सेवा परचित्ताराधनम् । विपणिर्वाणिज्यम् । धृतिःसंतोषः धनार्थव्याजे-नापि भृतिमते साधुरितिकृत्वा धनं प्रयच्छन्तो दृश्यन्ते अर्थस्य मूलं निरुतिः क्षमाचेत्युक्तेः । जीवनहेतवः जीवनप्रयो-ज्याः अतः सर्वपुरुषाणामापद्वृत्तिरिय मनुज्ञायतइति मेधातिथिः ॥ ११६ ॥

(५) नन्दनः । अथापद्विषयानर्थलाभानाह विद्याशिल्पंभृतिः सेवेति । विद्या नृत्यवादित्रादि । शिल्पंचित्रादिनि-र्माणं । भृतिर्भारोद्बहनं द्विजातिविषये । विपणिर्वाणिज्यं गिरिपर्वतप्ररूढफलमूलविक्रयः । कुसीदंवृद्धिप्रयोगः जीवनहेतव-आपदिजीवनमात्र हेतवोनत्वर्थार्जनहेतवः ॥ ११६ ॥

(६) रामचन्द्रः । श्रुतिः श्रुतकाध्यापनं विपणिः रुषिः धृतिः ग्रामेनाल्पेन संनोषः ॥ ११६ ॥

ब्राह्मणः क्षत्रियोवापि वृद्धिर्नैव प्रयोजयेत् ॥ कामंतु खलु धर्मार्थं दद्यात्पापीयसेऽल्पिकाम् ॥ ११७ ॥

(१) मेधातिथिः । धर्मार्थमिति पूर्वोक्तैवाऽऽपत्तिवृत्तिर्वैदितव्या पापीयसइति वचनाद्भार्मिकादल्पापि न ग्रही-
तव्या यदुक्तं अध्यापनतुल्यानि रुषिवाणिज्यकुसीदानि तदापद्रतेन ॥ ११७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कुसीदमिदानींब्राह्मणक्षत्रिययोरकर्तव्यतया दर्शयति ब्राह्मणइति । अत्यन्तापदि वृद्धिदा-
नमपि पापिष्ठेषु सूतादिष्वत्यन्तापकृष्टेषु कर्तव्यम् । तदापि नातिबहु किंत्वल्पमेव तच्च धर्मार्थं पञ्चमहायज्ञादिधर्मोद्देशे-
नेत्यर्थः ॥ ११७ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणः क्षत्रियोवापि वृद्ध्यादिधनमापद्यपि न प्रयुञ्जीत किन्तु निरुष्टकर्मणा धर्मार्थमनुकल्पितया
वृत्त्या प्रयुञ्जीत ॥ ११७ ॥

(४) राघवानन्दः । विप्रक्षत्रिययोरनापदि कुसीदाभावमनुवदन्नापदि तत्र लभ्याल्पतामाह ब्राह्मणइति । धर्मा-
द्यर्थं पापीयसेपापकर्मणे त्वस्मादधमवर्णायवा । आल्पिकां अल्पपरिमाणां अशीतिभागाम् वृद्धिम् ॥ ११७ ॥

(५) नन्दनः । कुसीदस्यात्रापदिजीवनमात्रत्वमुक्तं वित्तार्थस्तु कुसीदो न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्युक्तइत्याह ब्राह्म-
णः क्षत्रियोवापीति । पापीयसः शूद्रादेः अल्पिकामल्पवृद्धियुक्ताम् ॥ ११७ ॥

(६) रामचन्द्रः । वृद्धिं वृद्धिजीविकां । न प्रयोजयेत् धर्मार्थं पापीयसे निरुष्टकर्मणे कामं भैक्षिकं खलु दद्यात्
अल्पकं खल्पकलया ॥ ११७ ॥

चतुर्थमाददानोपि क्षत्रियोभागमापदि ॥ प्रजारक्षन्परंशक्त्या किल्बिषात्प्रतिमुच्यते ॥ ११८ ॥

(१) मेधातिथिः । राज्ञः क्षीणकोशस्य षड्भागग्रहणापवादश्चतुर्थभागोभ्यनुज्ञायते परिशिष्टोऽर्थवादः परमिति
क्रियाविशेषणपरया रक्षयेत्यर्थः ॥ ११८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यत्र धान्येष्टमोभागोग्राह्यस्तत्र आपदि कोशक्षये रक्षार्थंचतुर्थभागं गृह्णन् परमत्यर्थं रक्षां-
कुर्वन्पापादधिककरादानजन्यान्मुच्यते ॥ ११८ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानीं राज्ञामापद्र्ममाह चतुर्थमिति । राज्ञो धान्यादीनामष्टमइत्याद्युक्तंस आपदि धान्यादेश्चतुर्थमपि
भागं करार्थं गृह्णन्परया शक्त्या प्रजारक्षन्धिककरग्रहणपापेन न संबध्यते ॥ ११८ ॥

(४) राघवानन्दः । राजाप्यापदि धान्यादीनां चतुर्थमंशं गृहीत्वा प्रजाः पालयेदित्याह चतुर्थमिति । किल्बि-
षादधिकग्रहणजपापात् ॥ ११८ ॥

(५) नन्दनः । अथक्षत्रियस्यापदिकरादानप्रकारमाह चतुर्थमाददानोपीति । किल्बिषादादाननिमित्तात् ॥ ११८ ॥

(६) रामचन्द्रः । क्षत्रियः चतुर्थं भागं आपदि आददानोऽपि परः शक्तिपरया शक्त्या प्रजारक्षन् ॥ ११८ ॥

स्वधर्मो विजयस्तस्य नाहवे स्यात्पराङ्मुखः ॥ शस्त्रेण वैश्यान् रक्षित्वा धर्म्यमाहारयेद्वलिम् ॥ ११९ ॥

(१) मेधातिथिः । विजयशब्देन विजयफलयुक्तं स्वधर्मतया विधीयते तथाचाहवे न स्यात्पराङ्मुखः भयउप-

स्थिते पराङ्मुखोयुद्धेनस्यादित्यर्थः । अनेन प्रकारेण प्रजारक्षित्वा वैश्याद्वलिर्हारयितव्यः वैश्यामहाधनाभवन्ति ततस्तथा हरणेनियुक्ताः कृतापराधानहन्यन्ते ॥ ११९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विजयोयुद्धेपरिहिंसा स्वधर्मोऽसाधारणो धर्महेतुः अतो न तत्र दोषः । धर्म्यमनापदि वक्ष्यमाणम् ॥ ११९ ॥

(३) कुल्लूकः । कस्मात्पुनरापद्यपि राज्ञोपि रक्षणमुच्यते यस्मात्स्वधर्म इति राज्ञः शत्रुविजयः स्वधर्मो विजयफलं युद्धमित्यर्थः प्रजारक्षणप्रयुक्तस्य यदि कुतश्चिद्भयं स्यात्तदा स युद्धपराङ्मुखो भवेत् एवं च शस्त्रेण वैश्यान्दस्युभयोरक्षित्वा तेभ्यो धर्मादनपेतमाप्तपुरुषैर्बलिमाहारयेत् ॥ ११९ ॥

(४) राघवानन्दः । वैश्येतराणां भागमुक्त्वा राज्ञे वैश्यविषयकतद्विशेषमाह स्वधर्म इति सार्धेन । विजयान्वेषी न पराङ्मुखः स्यात् ११९ ॥

(५) नन्दनः । क्षत्रियस्य मुख्या वृत्तिरेषेति श्लोकाभ्यामाह स्वधर्मो विजयस्तस्येति । तस्य स्वधर्मो विजयः तस्मादाहवे पराङ्मुखो न स्यात् ॥ ११९ ॥

(६) रामचन्द्रः । धर्म्यं धर्माहं बलिं आरभेत ॥ ११९ ॥

धान्येऽष्टमं विशां शुल्कं विंशं कार्षापणावरम् ॥ कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा ॥ १२० ॥

(१) मेधातिथिः । धान्यव्यवहारिणः शूद्राः कर्म उपकरणमुपकारोपेक्षां न ते किञ्चिदपयितव्याः एवं शिल्पिनः कारवस्तदेवमुक्तं प्राक् शिल्पिनो मासिमासीत्यादि । अधिकभागग्रहणार्थोऽयं श्लोकः ॥ १२० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विशां वैश्यानामष्टमं शूद्राणां तु चतुर्थमेव शुल्कं भागम् । विंशत्कार्षापणमिति धान्यान्येषु विंशद्विंशतिकांशपणमूल्यं तादृशालाभे कार्षापणएकोराज्ञा ग्राह्य इत्यवरः पक्षः संभवेत्त्वधिकमपि ग्राह्यमित्यर्थः । कर्मोपकरणाः कर्मभिर्विश्वमुपकुर्वन्तस्तन्तुवायादयः शूद्राः कारवो वर्णबाह्यान् टचित्रकाराद्याः शिल्पिनश्च रथकाराद्यास्तेपि कर्म कृत्वा श्रुतिर्वेपि विंशतिकांशपणालाभे कार्षापणावरं शुल्कं दद्युरितिशेषः । विंशत्कार्षापणावरमितिकचित्पाठः ॥ १२० ॥

(३) कुल्लूकः । कोसौ बलिस्तमाह धान्य इति । धान्ये विशा उपचये वैश्यानामष्टमं भागं शुल्कमाहारयेत् । धान्यानां द्वादशोपि भागउक्तः आपद्ययमष्टम उच्यते अन्यन्तापदि प्रागुक्तश्चतुर्थो वेदितव्यः । तत्रापि विशां ग्राह्यं तथा हिरण्यादीनां कार्षापणान्तानां विंशतितमं भागं शुल्कं गृह्णीयात्तत्रापि पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा । पशुहिरण्ययोरित्यनापदि पञ्चाशद्भागउक्तः । आपद्ययं विशा उच्यते । तथा शूद्राः कारवः सूपकारादयः शिल्पिनः तक्षादयः कर्मणैवोपकुर्वन्ति न तु तेभ्य आपद्यपि करो-
ग्राह्य ॥ १२० ॥

(४) राघवानन्दः । धर्म्यं बलिमाह धान्य इति । अनापदि विशां धान्यानां द्वादशभागउक्तः हिरण्यादिकार्षापणा-
नां तु पञ्चाशद्भागः अत्र तु तेषां संकोचउक्तः धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वेत्युक्तत्वात् । तत्र विशां प्रति षष्ठांश-
ग्रहणे सपादाढकत्रयं द्वादशांशग्रहणे किञ्चिदधिकसार्धाढकं चतुर्थांशग्रहे त्वाढकपञ्चकम् । एवं च सुवर्णादिषु विशां प्रति
तोलकमन्यत्रैवम् । परिचारककारुशिल्पिनां तु विशेषमाह कर्मैति । कर्मोपकरणाः कर्मैव उपकरणकरोपेक्षां ते तथा तेषा-
मपि विशां प्रत्येकैकैः स्वकर्मणि प्रयोक्तव्योऽनापद्यपि ते करदा इत्यर्थः ॥ १२० ॥

(५) नन्दनः । विशां कार्षापणावरं यः शुल्को धान्यव्यतिरिक्तेषु विशो भागः पूर्वमुक्तः सपणः कार्षापणावरः कार्षा-

पणान्यूनतरश्चेन्मग्राहः । कर्मोपकरणाः कर्मोपकारिणः । करार्थकर्मैव शूद्रादीन्कारयेन्नार्थं दापयेदित्यर्थः ॥ १२० ॥

(६) रामचन्द्रः । धान्ये विशां अष्टमं शुल्कं अष्टमं भागं विशं अपरं वा कर्मोपकरणाः कर्मकर्तुं शूद्रायोग्याः ॥ १२० ॥

शूद्रस्तु वृत्तिमाकांक्षन्क्षत्रमाराधयेद्यदि ॥ धनिनंवाप्युपाराध्य वैश्यंशूद्रोजिजीविषेत् ॥ १२१ ॥

(१) मेधातिथिः । शूद्रस्तु वृत्तिमाकांक्षेतदा क्षत्रमाराधयेत् वृत्तिग्रहणाज्जीविकार्थमेवक्षत्रमाराधनं न धर्मार्थं ब्राह्मणाराधनंतूभयार्थमपीत्युक्तं भवति एवंधनिनंवैश्यमाराध्य जीवेत् ॥ १२१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यदि वृत्तिमाकांक्षन्भवेच्छूद्रस्तदा क्षत्रमाराधयेदित्यन्वयः ॥ १२१ ॥

(३) कुल्लुकः । शूद्रोब्राह्मणशुश्रूषयाऽजीवन्यदि वृत्तिमाकांक्षेतदा क्षत्रियंपरिचर्य तदभावे धनिनंवैश्यंपरिचर्य-
जोवितुमिच्छेत् । द्विजातिशुश्रूषणासामर्थ्ये तु प्रागुक्तानि कर्माणि कुर्यात् ॥ १२१ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्राह्मणशुश्रूषोः शूद्रस्य धनाकांक्षायां तदुपायमाह शूद्रास्त्विति । यदिवा धनिनं वैश्यमित्य-
न्वयः ॥ १२१ ॥

(५) नन्दनः । अथ शूद्रस्यापदि वृत्तिमाह शूद्रस्तुवृत्तिमाकांक्षेदिति । क्षत्रमाराधयेदपि क्षत्रमभ्याराधयेत् ॥ १२१ ॥

(६) रामचन्द्रः । शूद्रस्तु वृत्तिमाकांक्षन्क्षत्रमाराधयेत् । धनिनंवावैश्यं उपाराध्य जिजीविषेत् ॥ १२१ ॥

स्वर्गार्थमुभयार्थं वा विप्रानाराधयेत्तु सः ॥ जातब्राह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ १२२ ॥

(१) मेधातिथिः । आराधयेदित्युक्तं तदाह जातब्राह्मणशब्दस्य ब्राह्मणोयमिति यदस्यविशिष्टकर्मैवशब्दोभवति
तदासौ कृतकृत्यः कृतार्थोवेदितव्यः । अथवा जातब्राह्मणव्यपदेशस्येति व्याख्येयं ब्राह्मणश्रितोऽयमिति यदस्य व्यप-
देशोजायते ॥ १२२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । [उभयार्थं वृत्त्यर्थं स्वर्गार्थं च । विप्रानैवाभिवाचयेदितिक्वचित्पाठः ।]* अभिवाचनं से-
वा । जातब्राह्मणशब्दस्य ब्राह्मणदासोयमितिजातप्रसिद्धेः । सा ब्राह्मणदासत्वेन प्रसिद्धिः ॥ १२२ ॥

(३) कुल्लुकः । स्वर्गप्राप्त्यर्थंस्वर्गत्ववृत्तिलिप्सार्थं वा ब्राह्मणानेव शूद्रः परिचरेत् । तस्माज्जातोब्राह्मणाश्रितोयमिति
शब्दोयस्य शाकपार्थिवादित्वात्समासः । सास्य शूद्रस्य कृतकृत्यता तद्यपदेशतयाऽसौ कृतकृत्योभवति ॥ १२२ ॥

(४) राघवानन्दः । तस्य यद्यनापदि चेद्विजशुश्रूषणमेवोभयत्र सुखदमित्याह स्वर्गार्थमिति । सशूद्रः । उभयार्थ-
दृष्टार्थं जातब्राह्मणशब्दस्य जातो ब्राह्मणाश्रितोयमितिशब्दोयस्य सतथा तस्य शाकपार्थिवादित्वात्समासः । अतः सौ
शुश्रूषा तादृशीशब्दप्रवृत्तिर्वा कृतकृत्यता कर्तव्यपर्यन्तता दास्यायैव हि सृष्टोसौ ब्राह्मणस्येत्युक्तेः ॥ १२२ ॥

(५) नन्दनः । उभयार्थमैहिकपारत्रिकार्थमाराधये । जातब्राह्मणशब्दस्य दास्यादितिशेषः । ब्राह्मणाराधनेन ब्राह्म-
णवद्भवतीत्यर्थः ॥ १२२ ॥

(६) रामचन्द्रः । उभयार्थं स्वर्गार्थं भूमौसुखार्थं च शूद्रोजातब्राह्मणशब्दस्य जातब्राह्मणव्यपदेशस्येत्यर्थः । ब्राह्म-
णाश्रितोयमिति यदस्य व्यपदेशोजायते ब्राह्मणस्यदासोयं सासेवा अस्य शूद्रस्य कृतकृत्यता ॥ १२२ ॥

विप्रसैवैव शूद्रस्य विशिष्टकर्मकीर्त्यते ॥ यदतोऽन्यद्वि कुरुते तद्भवत्यस्य निष्फलम् ॥ १२३ ॥

(१) मेधातिथिः । ब्राह्मणशुश्रूषैव मुख्यः शूद्रस्य धर्मः ततोयदन्यद्वतोपवासादिकुरुते तदस्यनिष्फलं नतु दानपाकयज्ञादीनामस्य प्रतिषेधः प्रत्यक्षविधानात् इतरप्रतिषेधोब्राह्मणशुश्रूषास्तुत्यर्थः ॥ १२३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यदतोन्त्यदेतद्विनाकुरुते ॥ १२३ ॥

(३) कुल्लूकः । यतएवमतःविप्रेति । ब्राह्मणपरिचर्यैव शूद्रस्य कर्मान्तरेभ्यः प्रकृष्टकर्मशास्त्रेऽभिधीयते यस्मादेतच्चतिरिक्तंयदसौ कर्म कुरुते तदस्य निष्फलंभवतीति पूर्वस्तुत्यर्थनन्वन्यनिवृत्तये पाकयज्ञादीनामपि तस्य विहितत्वात् ॥ १२३ ॥

(४) राघवानन्दः । तामेवद्रव्यनन्यदस्य निषेधति विप्रसेवेति । निष्फलं दृष्टवनादिसंपत्तिरपि नपरलोकफलहेतुः ॥ १२३ ॥

(५) नन्दनः । एतदेव प्रपञ्चयति विप्रसेवैवशूद्रस्येति ॥ १२३ ॥

प्रकल्प्या तस्य तैर्वृत्तिः स्वकुटुम्बाद्यथार्हतः ॥ शक्तिचावेक्ष्य दाक्ष्यंच भृत्यानांच परिग्रहम् ॥ १२४ ॥

(१) मेधातिथिः । द्विजातीनामयं धर्मस्तस्य वृत्तिः कल्पनीया शुश्रूषमाणस्य स्वकुटुम्बादिति पुत्रवदसौपालनीयः आत्मीयांशक्तिमवेक्ष्य दाक्ष्यंच तस्य कार्येषु योगं भृत्यानांच पुत्रदाराणां तदीयानांपरिग्रहं कियंतोस्यभर्तव्याइत्येतदपेक्ष्य सर्वेषांभरणंकर्तव्यम् ॥ १२४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तैर्द्रव्यैःस्वकुटुम्बार्थधनात् । शक्तिं कर्मसु सामर्थ्यम् । दाक्ष्यमुत्साहम् । भृत्यानां भरणीयानां पुत्रादीनां परिग्रहमयतास्येतिविशिष्टसंख्याभरणीयत्वम् ॥ १२४ ॥

(३) कुल्लूकः । तस्य परिचारकशूद्रस्य परिचर्यासामर्थ्यकर्मोत्साहंपुत्रदारादिभर्तव्यपरिमाणंचावेक्ष्य तैर्ब्राह्मणैः स्वगृहादनुरूपजीविका कल्पनीया ॥ १२४ ॥

(४) राघवानन्दः । तादृशस्य शूद्रस्य विप्रदत्तदेहभरणमनुजानंस्तंनियमयति प्रकल्प्येतिद्वाभ्याम् । तैर्विप्रैः । वृत्तिर्वस्त्राच्छादनादिका । स्वकुटुम्बात् स्वगृहात् । यथार्हतः यद्यदर्हतं न तदतिक्रमतः । शक्तिं परिचर्यासामर्थ्यम् । दाक्ष्यं कर्मसामर्थ्यम् । परिग्रहं पुत्रादिसंख्याम् ॥ १२४ ॥

(५) नन्दनः । तैर्ब्राह्मणादिभिः भृत्यानांभर्तव्यानाम् ॥ १२४ ॥

(६) रामचन्द्रः । तैः द्विजैः स्वकुटुम्बात्तस्य यथार्हतोवृत्तिःप्रकल्प्या ॥ १२४ ॥

उच्छिष्टमन्नंदातव्यंजीर्णानि वसनानिच ॥ पुलाकाश्चैव धान्यानांजीर्णाश्चैवपरिच्छदाः ॥ १२५ ॥

(१) मेधातिथिः । उच्छिष्टशब्दोव्याख्यातार्थः अतिथ्यादिभुक्तशिष्टमाश्रिताय शूद्राय दातव्यं एवंवासांसि जीर्णानि धौतानि शुक्लानि पुलकाअसारधान्यान्येवंपरिच्छदाः शय्यासनादयः ॥ १२५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उच्छिष्टं पाकभाण्डावशिष्टं नतु भुक्तोच्छिष्टंनिषिद्धत्वात् । पुलाकाः तुच्छधान्यासारभूतानि धान्यानि विक्रीय जीवितुंजीर्णाः परिच्छदाः ॥ १२५ ॥

(३) कुल्लूकः । तस्मै मरुताश्रितशूद्राय भुक्तावशिष्टानंब्राह्मणैर्देयं । एवंच न शूद्रायगतिदद्यान्नोच्छिष्टमित्यनीश्रितशूद्रविषयमवतिष्ठते । तथाजीर्णवस्त्रासारधान्यजीर्णशय्यापरिच्छदाअस्मैदेयाः ॥ १२५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच उच्छिष्टमिति । जीर्णानि स्वभोगेन । पुलाकाः असारधान्यानि । परिच्छदाः शय्यासनादयोपि जीर्णाः न शूद्राय मार्तिदद्यादित्यादिकंत्वनाश्रितशूद्रविषयम् ॥ १२५ ॥

(५) नन्दनः । न शूद्रायमर्तिदद्यान्नोच्छिष्टमिति यदुक्तं तस्यापद्विषये प्रतिप्रसवो यदुच्छिष्टमन्दातव्यमिति । पुलाकास्तुच्छधान्यानि । परिच्छिदाआसनादयः ॥ १२५ ॥

(६) रामचन्द्रः । धान्यानांपुलाकाः असारधान्यानि चूर्णानि ॥ १२५ ॥

नशूद्रे पातकं किंचिन्नच संस्कारमर्हति ॥ नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम् ॥ १२६ ॥

(१) मेधातिथिः । सर्वोयमनुवादश्लोकः । यदस्याहत्यशृङ्गयाहिकया न प्रतिषिद्धं यथाहिंसास्तेयाद्यनादृतवर्णविशेषसामान्यशास्त्रप्रतिषिद्धं न तद्यतिक्रमादस्य पापमुत्पद्यते श्रुतमेवास्य शब्देन यथाहिंसास्तेयादिस्तत्रास्य भवत्येवदोषः नच संस्कारमुपनयनलक्षणमर्हति तदुक्तं त्रयोवर्णाद्विजातयइति । एवं नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति स्नानोपवासदेवतार्चनादौ नास्य नित्योधिकारोऽस्ति अकरणे न प्रत्यवैति न धर्मात्प्रतिषेधनं येषु स्नानोपवासव्रतादिषु नित्याधिकारो नास्त्यकरणे प्रत्यवायाभावोऽथनिषेधो नास्ति तादृशेभ्यो धर्मेभ्यो न प्रतिषेधः । नचेदशादस्य प्रतिषेधोऽतः शिष्टप्रतिषिद्धत्वादभ्युदयायास्य वेदितव्या ॥ सामान्यशास्त्रविहितं निवृत्तिस्तु महाफलेति ॥ अतो न धर्मात्प्रतिषेधनमिति यत्रारम्भः ॥ १२६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । पञ्चयज्ञादिकरणरूपाद्धर्मात्प्रतिषेधनम् ॥ १२६ ॥

(३) कुल्लूकः । लघुनादिभक्षणेन शूद्रे न किंचित्पातकं भवति नतु ब्रह्मवधादावपि अहिंसासत्यमित्यादेश्चातुर्वर्ण्यसाधारणत्वेन विहितत्वात् । नचाप्युपनयनादिसंस्कारमर्हति नास्याग्निहोत्रादिधर्मेऽधिकारोऽस्ति अविहितत्वात् । नच शूद्रविहितात्पाकयज्ञादिधर्मादस्य निषेधः । एवं चास्य सर्वस्य सिद्धार्थत्वादयं श्लोकउत्तरार्थोऽनुवादः ॥ १२६ ॥

(४) राघवानन्दः । शूद्रस्य विप्रसेवेति पुनः पुनर्द्रव्यन्प्राप्तमर्थवादतयाऽनुवदति नेति चतुर्भिः । पातकं सूनादिकृतं नतु विप्रवधादिकृतं अहिंसासत्यमस्तेयमित्यादिचातुर्वर्ण्यसाधारणस्योक्तत्वात् । न धर्मात्पञ्चयज्ञादेः ॥ १२६ ॥

(५) नन्दनः । पातकं विहितकर्मानुष्ठानप्राप्तः प्रत्यवायः शूद्रे नास्ति तस्याऽविहितधर्मत्वात् । संस्कारनिषेकादिकं श्रौते धर्मेऽधिकारो नास्ति धर्मात्पाकयज्ञादेः ॥ १२६ ॥

(६) रामचन्द्रः । शूद्रेऽभक्ष्यभक्षणेकृते किंचित्पातकं ॥ १२६ ॥

धर्मेऽसवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः ॥ मन्त्रवर्ज्येन दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥ १२७ ॥

(१) मेधातिथिः । एतदेवाह धर्ममाप्नुमिच्छन्तोऽभ्युदयकामाः सतां साधूनां धर्ममनुष्ठिताः समाश्रिताः मन्त्रवर्जेन दुष्यन्ति अतस्तानेकाहोपवासदेवतार्चनगुरुब्राह्मणनमस्कारादि सतां वृत्तमाचरन्तो न दुष्यन्ति प्रशंसाफलं प्राप्नुवन्ति न पुनरेतन्मन्त्रव्यं यानिसमन्त्रकाणि ब्राह्मणादीनां कर्माणि दर्शपौर्णमासादीनि तानि मन्त्रवर्जेशूद्रस्य न दुष्यन्तीति । यतः समन्त्रेषूपनेषु मन्त्ररहितेनानुष्ठानमशाब्दस्यात् मन्त्रवर्जमित्येतस्य दर्शितो विषयः । तथाच भगवानुव्यासः ॥ नचेह शूद्रः पततीति निश्चयोनचापि संस्कारमिहार्हतीति ॥ स्मृतिप्रयुक्तं तु न धर्ममश्रुते न चास्य धर्मे प्रतिषेधनं स्मृतमिति ॥ एतदपि यथाविहितानुवाद्येव । लघुनसुरापानादेर्न पतति संस्कारानर्हतीत्येव उक्तं चानुपनीतत्वाच्छ्रुतिविहितधर्माभावे स्मृतिविषये सामान्यविहिताधर्मा यथोक्तप्रकारास्तेनास्य प्रतिषिध्यन्ते । तथाच स्मृत्यन्तरं पाकयज्ञैः स्वयं यजेत अनुज्ञातोऽस्य नमस्कारो मन्त्र इति । ये पुनराहुः आवसथ्याधानपार्वणवैश्वदेवान्नपाकयज्ञादिषु शूद्राणां पाक्षिकोधिकारस्तेषामभिप्रायं न विद्मः आवसथ्याधानं तावद्दृशकारैराम्नातं वैवाणिकोद्देशेनैव मन्वादिभिश्च नैवाम्नातं तथा केवलं वैवाहिकाग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्मैति तत्र नैवाम्नातं कृतः शूद्रस्याधानं आथपाकयज्ञविधयाधानाक्षपस्तदपि न लौकिकाग्नौ वैश्वदेवो भविष्यति यावद्वचनं वाचनिकं

नान्यदाक्षेभुमलंविवाहाग्नावित्यत्र च प्रदर्शितं पार्वणशब्देन च यद्यामावास्यंश्राद्धमुच्यते तदभ्यनुजानीमः अष्टकापार्वण-
श्राद्धवैश्वदेवानांविहितत्वात् । अथ दर्शपौर्णमासौ तदपाकृतम् ॥ १२७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तदेवाह धर्मेऽसवइति । मंत्रवर्जनसोमयागादिकर्मइहकामयज्ञकरणे प्रशंसां प्राप्नुवन्ति ध-
र्मेच लभन्तइत्यपि द्रष्टव्यम् । पञ्चमहायज्ञकरणे न दोषइत्युक्तम् । सतांवृत्तमनुष्ठिताः सतांवृत्तं लक्ष्योक्त्योद्युक्ताः । प्रशंसां
सच्छुद्रताम् ॥ १२७ ॥

(३) कुल्लूकः । ये पुनः शूद्राः स्वधर्मवेदिनोधर्ममामिकामास्त्रैर्वर्णकानामाचारमनिषिद्धमाश्रितास्ते ॥ नमस्कारेण
मन्त्रेण पञ्चयज्ञान्हापयेदिति याज्ञवल्क्यवचनानमस्कारमन्त्रेण मन्त्रान्तररहितपञ्चयज्ञादिधर्मान्कुर्वाणान् प्रत्यवयन्ति
ख्यातिच लोकेलभन्ते ॥ १२७ ॥

(४) राघवानन्दः । अतएवाह धर्मेति । धर्मेच्छवोधर्मकर्तुकामाः । धर्मज्ञाः पुराणादिद्वारा धर्मानुष्ठानज्ञाः । त-
थाच याज्ञवल्क्यः ॥ नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान्हापयेत् ॥ सतांधर्मं ब्राह्मणाद्यनुष्ठितं पञ्चयज्ञादिरूपम् । मन्त्रवर्जं
नमोतिरिक्तमन्त्रवर्जम् ॥ १२७ ॥

(५) नन्दनः । यद्यप्येवंतथापि धर्मेऽसवोधर्मज्ञाः सतांवृत्तिनिषेकादिसंस्कारमन्त्रवर्जितमनुष्ठिताअनुष्ठितवन्तः शू-
द्रानदुष्यन्ति ॥ १२७ ॥

(६) रामचन्द्रः । धर्मेऽसवः धर्मज्ञाः मन्त्रवर्जं अध्ययनवर्जं न दुष्यन्ति ॥ १२७ ॥

यथा यथा हि सहृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः ॥ तथा तथेमंचामुंच लोकंप्रामोत्यनिन्दितः ॥ १२८ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तार्थःश्लोकः ॥ १२८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तत्रयुक्तिमाह यथेति । अनसूयकोऽद्विजद्वेष्टा ॥ १२८ ॥

(३) कुल्लूकः । परगुणानिन्दकः शूद्रोयथायथाद्विजात्याचारमनिषिद्धमनुतिष्ठति तथा तथा जनैरनिन्दितइह लोक-
उत्कृष्टः स्मृतः स्वर्गादिलोकंच प्रामोति ॥ १२८ ॥

(४) राघवानन्दः । अनिन्दितो [लोकैरितिशेषः] ॥ १२८ ॥

(५) नन्दनः । सहृत्तानुष्ठानस्य फलमाह यथायथाहिसहृत्तमिति ॥ १२८ ॥

(६) रामचन्द्रः । तथातथा इमं लोकं अमुं परलोकं अनिन्दितं प्रामोति ॥ १२८ ॥

शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्योऽधनसंचयः ॥ शूद्रोहिधनमासाद्य ब्राह्मणानेवबाधते ॥ १२९ ॥

(१) मेधातिथिः । शक्तेनापि कृष्यादिकर्मणा धनसंचयः शूद्रेण न कर्तव्यस्तत्रहेतुस्वरूपमर्थवादमाह शूद्रोऽधनं-
ब्रह्मासाद्य स्वीकृत्य ब्राह्मणानेव बाधते । का पुनर्ब्राह्मणानांबाधा महाधनत्वादत्यर्थं ब्राह्मणान्प्रतिग्राहयेत् शूद्रप्रतिग्रहश्च-
तेषांप्रतिषिद्धः तत्रनिमित्तभावमापद्यमानोदुष्येत् एतच्च न विहितंकुर्वतः कर्मदोषाशङ्का तस्माद्ब्राह्मणान्परिचरेदित्येषैव-
बाधा ॥ १२९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शक्तेनार्जनसमर्थेनापि ॥ १२९ ॥

(३) कुल्लूकः । धनार्जनसमर्थेनापि शूद्रेण पोष्यवर्गसंवर्धनपञ्चयज्ञाद्युचितादधिकबहुधनसंचयोन कर्तव्यः ।

यस्माच्छूद्रो धनं प्राप्य शास्त्रानभिज्ञत्वेन धनमदात् शुश्रूषायाश्चाकरणात् ब्राह्मणानेव पीडयतीत्युक्तस्यानुवादः ॥ १२९ ॥

(४) राघवानन्दः । शक्तेनापि तेन धनोद्यमो न कार्यः । तत्र हेतुः शूद्रो हीति । बाधते धनगर्वितः ॥ १२९ ॥

(६) रामचन्द्रः । शक्तेन समर्थेन ॥ १२९ ॥

एते चतुर्णां वर्णानामापद्धर्माः प्रकीर्तिताः ॥ यान्सम्यगनुतिष्ठन्तो ब्रजन्ति परमांगतिम् ॥ १३० ॥

(१) मेधातिथिः । सम्यगापद्धर्मानुष्ठानात्परमांगतिः प्राप्यते शरीररक्षणाद्विहितातिक्रमो न भवतीति युक्ताशुभफलप्राप्तिः नापद्धतेनासत्प्रतिग्रहादौ विचिकित्सितव्यमिति शास्त्रन्यायानुवादः ॥ १३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आपद्धर्माः प्रसंगायाताः । सम्यगापत्काल एव ॥ १३० ॥

(३) कुल्लूकः । अमी चतुर्णां वर्णानामापद्यनुष्ठेयाधर्मा उक्ता यान्सम्यगाचरन्तो विहितानुष्ठानान्निषिद्धानाचरणाच्च निष्पापतया ब्रह्मज्ञानलाभेन परमांगतिमोक्षलक्षणां लभते ॥ १३० ॥

(४) राघवानन्दः । उपसंहरति एतदिति । यानापद्धर्मान् । सम्यक् तत्कालानुरूपेण । परमां मोक्षाख्याम् । लब्धविप्रजन्मान इति शेषः ॥ १३० ॥

(५) नन्दनः । प्रकरणार्थं फलोपपादनेनोपसंहरति एते चतुर्णां वर्णानामिति ॥ १३० ॥

(६) रामचन्द्रः । चतुर्णां वर्णानां उक्तः चातुर्वर्ण्यः धर्मविधिः ॥ १३० ॥

इति श्रीरामचन्द्रविरचितटीकायां दशमोऽध्यायः

एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः ॥ अतः परंप्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम् ॥ १३१ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥ ॥ ७३ ॥ ॥ ७३ ॥

(१) मेधातिथिः । पाठादेव सिद्ध्यर्थोऽयमिति ॥ १३१ ॥

मान्याकापि मनुस्मृतिस्तदुचिता व्याख्या हि मेधातिथेः सालुप्तैव विधेर्वशात्कचिदपि प्राप्यं नयत्पुस्तकं ॥ क्षोणीन्द्रोमदनः सहारणसुतो देशान्तरादादृतं जीर्णोद्धारमचीकरत्ततस्तत्पुस्तकैर्लेखितैः ॥ इति श्रीभट्टवीरस्वामिसूनुमेधातिथिविरचिते मनुभाष्ये दशमोऽध्यायः ॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चातुर्वर्ण्यस्य तद्वत्स्य संकरस्य च । कीर्तितो दशभिरध्यायैः ॥ १३१ ॥

मनुवृत्तौ जातिविवेकापद्धर्माधिकारनामा दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥ ॥ ७३ ॥ ॥ ७३ ॥ ॥

(३) कुल्लूकः । अयं चतुर्णां वर्णानामाचारः समग्रः कथितः अत ऊर्ध्वं प्रायश्चित्तानुष्ठानं शुभमभिधास्यामि ॥ १३१ ॥

इति श्रीकुल्लूकभट्टविरचितायां मन्वर्थमुक्तावल्यां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

(४) राघवानन्दः । वृत्तवर्तिष्यमाणयोः संबन्धवक्तुं वृत्तमनूद्य वर्तिष्यमाणं प्रतिजानीते एष इति । शुभं शोभकम् वध्यघातकसंगतिः ॥ १३१ ॥ इति मन्वर्थचन्द्रिकायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥ ७३ ॥

(५) नन्दनः । पूर्वोक्तं सर्वमर्थमुपसंस्तृत्यार्थान्तरं प्रस्तौति एष धर्मविधिः कृत्स्न इति । उत्तरे अध्याये प्रायश्चित्तप्राधान्यस्य वक्ष्यमाणत्वात्सत्यप्यर्थान्तरं उपन्यासे प्रायश्चित्तं वक्ष्यामीत्युक्तम् ॥ १३१ ॥

इति श्रीनन्दनविरचिते मानवव्याख्याने दशमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

॥ श्रीगणेशायनमः ॥

॥ अथ एकादशोऽध्यायः प्रारभ्यते ॥



सान्तानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सर्ववेदसम् ॥ गुर्वर्थं पितृमात्रार्थं स्वाध्यायार्थं उपतापिनः ॥ १ ॥

(१) मेधातिथिः । श्लोकद्वयेन च वाक्यार्थसमाप्तिः स्नातकविशेषेण विशिष्टोदानार्थो विधीयते । सान्तनिकादिभ्यो धर्मार्थं भिक्ष्यमाणेभ्यो निःस्वेभ्यो विद्याविशेषेण दातव्यमिति । संप्रतिसंप्रदानविशेषणत्वे धर्मभिक्षुकशब्दस्याधिकारसंपादनमपि प्रतीयते एवं नैव विशिष्टायाश्चैव निमित्तमिति नैमित्तिकोदानाधिकारश्चोच्यते । संतानं प्रजाप्रयोजनमस्येति सान्तानिको विवाहार्थं भण्यते तत्र हि धनमुपयुज्यते भवति च पारंपर्येण संतानप्रयोजनः धर्मग्रहणात्कामतस्तु प्रवृत्तानामिति द्वितीयादि विवाहप्रवृत्तौ न नियमतो देयमिति । एवं यक्ष्यमाणो नित्ययज्ञाग्निप्रोमाद्यर्थो वृत्तिवचनं करोति सवेदितव्यः । अध्वगः क्षीणपथ्योदनः सार्ववेदसो विश्वजिति सर्वस्वं दक्षिणात्वेन दत्तवान् न तु प्रायश्चित्ताद्यर्थं । स्वाध्यायार्थं यद्यपि ब्रह्मचारिणोऽध्ययनं विहितं भिक्षाभोजनं च तथापि वस्त्रार्थोपयोगि धनं दातव्यं अथवा गृहीतवेदस्य तदर्थं जिज्ञासा भैक्षभुजोपि । उपतापीरोगो स्नातकग्रहणं प्रशंसार्थं गुर्वर्थं स्वाध्यायार्थं त्वंप्रायः स्नातकविषये विद्यते । ब्रह्मचारिणो गुर्वर्थं कर्तव्यमिति विहितं निश्चित्य निर्वचनेभ्यो विद्याविशेषतो बहुविधाय बहुस्वल्पविद्याया ल्पमिति । ननु च सर्वमेवेदमप्रकृतं प्रक्रियते एवं हि प्रतिज्ञातम् अतः परंप्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभमिति नैष दोष आश्रमधर्मत्वादस्य प्रकरणस्य प्रायश्चित्तानामनुत्पत्त्युपतया सहोपदेशस्तत्र प्रायश्चित्तनिमित्तत्वादस्यार्थस्य प्रथममभिधानं दानं देयमित्युक्तं दानशब्दश्च कर्मसाधनः किं तद्देयमित्यपेक्षायामुत्तरश्लोकः ॥ १ ॥ २ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रायश्चित्तप्रक्रमे सान्तानिकमिति । प्रायश्चित्तप्रक्रमेपि दानादेः प्रक्रमाभिधानं तदूपस्थायि प्रायश्चित्तस्य सद्भावात्तद्विशेषप्रतीत्यर्थम् । सान्तानिकं संतानार्थं विवाहार्थमिच्छन्तं धनार्थमागतम् । यक्ष्यमाणं यागार्थिनम् । अध्वगमध्वनि क्षीणवृत्तिम् । सार्ववेदसं तत्तत्कृतुविशेषेषु दत्तसर्वधनं वेदोदनम् । गुर्वर्थं गुरुदक्षिणादानार्थिनम् । स्वाध्यायार्थं जपसिद्धयर्थं वृत्त्यर्थम् । उपतापी रोगी ॥ १ ॥

(३) कुट्टुकः । नन्वतः परंप्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभमिति प्रायश्चित्तस्य वक्तव्यतया प्रतिज्ञातत्वात्सान्तानिकादिभ्यो देयमित्यादेः कः प्रस्ताव उच्यते दानेनाकार्यकारिण इति प्रागुक्तत्वाद्दानेन वधनिर्णयं कर्मादीनामशक्नुवन्नित्यादेश्च यक्ष्यमाणत्वात्प्रकृतप्रायश्चित्तात्मकदानपात्रोपन्यासः प्रकृतोपयुक्त एव । वर्णाश्रमधर्मादिव्यतिरिक्तप्रायश्चित्तादिनैमित्तिकधर्मकथनार्थत्वाच्चाध्यायस्यान्यस्यापि नैमित्तिकधर्मस्यात्रोपन्यासो युक्तः सन्तानप्रयोजनत्वाद्ब्रह्मस्य । सान्तानिको विवाहार्थं । यक्ष्यमाणोऽवश्यकर्तव्यज्योतिष्टोमादियागं चिकीर्षुः । अध्वगः पान्थः सर्ववेदसः कृतसर्वस्वदक्षिणविश्वजिह्वागः विद्यागुरोर्प्रासाच्छादनाद्यर्थः प्रयोजनं यस्य स गुर्वर्थः एवंपितृमात्रार्थावपि स्वाध्यायार्थं स्वाध्यायाध्ययनकालीनाच्छादनाद्यर्थं ब्रह्मचारी उपतापीरोगी एतान्नवब्राह्मणान्धर्मभिक्षाशीलान् स्नातकाञ्जानीयात् । एतेभ्यो निर्धनेभ्यो गोहिरण्यादिदीयत इति दानं विद्याविशेषानुरूपेण दद्यात् ॥ १ ॥ २ ॥

(४) राघवानन्दः । ननु प्रायश्चित्तप्रतिज्ञायां दानविचारोऽकाण्डताण्डवितइति चेन्न यतः दानेनाकार्यकारिणः अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि तरति ब्रह्महत्यां योश्चमेधेन यजते दानेन वधनिर्णोकमित्यादिवक्ष्यमाणवचनजातेन दानादेः प्रायश्चित्तान्तर्गतत्वेन तत्पात्राणि ज्ञापयन्नादौ दानमाह सान्तानिकमितिचतुर्भिः । सान्तानिकं प्रजार्थं विवाहोद्योगिनम् । यक्ष्यमाणं ज्योतिष्टोमादिकर्तारम् । अश्वगं तीर्थयात्रिणम् । सर्ववेदसं कृतसर्वस्वदक्षिणविश्वजिद्यागम् । गुर्वर्थं विद्यागुरोर्यासाच्छादनादि प्रयोजनं तदर्थं समावर्तनकालदक्षिणार्थं वा । पितृमात्रार्थं पितृमातृपोषणं प्रयोजनं यस्य तम् । स्वाध्यायार्थं तत्कालीनान्नाद्यर्थं उपतापीरोगी चतौ ॥ १ ॥

(५) नन्दनः । एवमापद्धर्माउक्ताः इदानीमापन्नेषु भिक्षितैरप्रत्याख्येयान्पात्रविशेषान् श्लोकत्रयेणाऽऽह सान्तानिकं यक्ष्यमाणमिति । सान्तानिकः सन्तानप्रयोजनः विवाहार्थीतयावत् । सर्ववेदसोदत्तसर्वस्वः । अर्थिशब्दोगुर्वर्थ्यादिभिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते गुर्वर्थार्थं पितृमात्रार्थार्थं स्वाध्यायार्थं वेदपारायणार्थं । उपतापीरोगी ॥ १ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्वाभ्यामाह सान्तानिकमिति । नैमित्तिकधर्माः कथ्यन्ते । सान्तानिकं विवाहार्थिनम् । यक्ष्यमाणं यागार्थिनम् । अश्वगम् अश्वनिक्षीणवृत्तिम् । सर्वस्वविश्वजितिसर्वस्वदातारम् । गुर्वर्थं पित्र्यार्थं स्वाध्यायार्थं विद्यार्थम् । उपतापी रोगी ॥ १ ॥

नवैतान्स्नातकान्विद्याद्वाह्मणान्धर्मभिक्षुकान् ॥ निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः ॥ २ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नवस्नातकान् सतो धर्मभिक्षुकान् दातुर्धर्महेतून् भिक्षमाणान् । विद्याविशेषतो विद्यानुरूपेण ॥ २ ॥

(४) राघवानन्दः । स्नातकान् स्नातको भविष्यदारः । धर्मभिक्षुकान् धर्मार्थमेव भिक्षयन्ति प्रतिगृह्णन्तीति सुस्थशरीरादेर्धर्महेतुत्वात् । दानं दीयतइति गोहिरण्यादि । विद्याविशेषतः विद्यानुसारेण । विद्याश्च वेदादीनि ॥ २ ॥

(५) नन्दनः । धर्मभिक्षुकान् धर्मार्थं भिक्षमाणान् एतेभ्यो भिक्षमाणेभ्यो दानं च संतानार्थं विद्याविशेषतोऽपि तारतम्याद्भिक्षितैर्देयमन्यथाप्रत्यवायइति ॥ २ ॥

(६) रामचन्द्रः । विद्याविशेषतः विद्यामानेन ॥ २ ॥

एतेभ्यो हि द्विजाग्रेभ्यो देयमन्नं सदक्षिणम् ॥ इतरेभ्यो बहिर्वेदिकृतान्नं देयमुच्यते ॥ ३ ॥

(१) मेधातिथिः । दक्षिणाशब्दोद्यपि कर्मकरसंयुक्ते संत्यागे वर्तते तथापि गोभूमिहिरण्यादिभाजनादन्यद्देयं द्रव्यमुच्यते तथापि लौकिकी प्रसिद्धिरिति इतरेभ्य एतद्यतिरिक्ताये भिक्षुकास्तेभ्यः कृतान्नं सिद्धमन्नं भोजनार्थं दातव्यं बहिर्वेदियज्ञादन्यत्रातिथिभ्यो दानं गृहस्थधर्मेषु यदेतत्तदेवानूद्यते ॥ ३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्नं सदक्षिणमन्नं दत्त्वा दक्षिणात्वेन धनं देयम् । बहिर्वेदि इतरेभ्यः एतद्वासेभ्यो बहिर्वेदि यज्ञाद्बहिः कृतमन्नं पक्वान्नमवश्यं देयम् । वेद्यां तु याचितं सर्वमेव देयमित्यर्थः ॥ ३ ॥

(३) कुल्लूकः । एतेभ्यो नवभ्यो ब्राह्मणश्रेष्ठेभ्योऽन्तर्वेदि सदक्षिणमन्नं दातव्यम् । एतद्यतिरिक्तेभ्यः पुनः सिद्धान्नं बहिर्वेदिदेयत्वेनोपदिश्यते धनदाने त्वनियमः ॥ ३ ॥

(४) राघवानन्दः । दीक्षितो न ददातीत्यस्य वेदस्य प्रतिप्रसवार्थमाह सदक्षिणमिति । दाने दृष्टलोभाद्यसंभवेन

स्पृतेः प्राचल्यादितिभावः । कृतान्नं सिद्धान्नम् तच्च प्राणिमात्रे सर्वदा देयमित्याह बहिर्वेदोति । अन्नस्य क्षुधितःपात्रमितिस्पृतेः ॥ ३ ॥

(५) नन्दनः । अपि बहिर्वेदि वेदेर्वहिरपि यज्ञादन्यत्रापि यावत् । दक्षिणांस्वर्गादिकसहितं देयमन्नं कृतमकृतंवादेयं इतरेभ्योब्राह्मणेभ्योकृतान्नमेवदेयं । बहिर्वेदिकृतान्नविधानादन्तर्वेदितेभ्योविकृतान्नमपि सूचितम् ॥ ३ ॥

(६) रामचन्द्रः । इतरेभ्यः नवभ्योभिक्षुकेभ्योऽन्ये ये तेभ्यः बहिर्वेदि यज्ञादहः ॥ ३ ॥

सर्वरत्नानि राजा तु यथार्हं प्रतिपादयेत् ॥ ब्राह्मणान्वेदविदुषोयज्ञार्थंचैव दक्षिणाम् ॥ ४ ॥

(१) मेधातिथिः । सर्ववर्णानांस्वर्गादिफलाय पुरुषार्थोपयोगिदानं विहितं । अयंतुराज्ञो नियमार्थमुपदेशोबहुधनेन राज्ञा सर्वरत्नानि मणिमुक्तादीनि यथार्हंविद्याकर्मानुरूपेण ब्राह्मणेभ्योदातव्यानि यज्ञार्थंच दक्षिणा काम्यकर्मसिद्धयेऽपीति पुनरुपदेशंप्रतिपादयेत्स्वीकारयेत् ग्राहयेदिति यावत् ॥ ४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्राह्मणान् प्रतिपादयेत् प्रतिग्राहयेत् । यज्ञार्थं तेषाम् ॥ ४ ॥

(३) कुल्लुकः । राजा पुनः सवरत्नानि मणिमुक्तादीनि यागोपयोग्यानि च दक्षिणार्थं धनं विद्यानुरूपेण वेदविदोब्राह्मणान्स्वीकारयेत् ॥ ४ ॥

(४) राघवानन्दः । राज्ञोविशेषमाह सर्वेति । प्रतिपादयेत् स्वीकारयेत् । यज्ञार्थं तेषामेव ॥ ४ ॥

(५) नन्दनः । सान्तानिकादिषुराज्ञा कर्तव्यमाह सर्वरत्नानि राजात्विति । ब्राह्मणान्सान्तानिकादीन्प्रतिपादयेद्वहिर्वेदित्यनुवर्तते सर्वरत्नानि प्रतिपादयेदित्येव सिद्धे दाने यज्ञार्थंचैव दक्षिणाइति पृथगुपन्यासोवक्ष्यमाणंप्रत्यादरातिशयार्थः ॥ ४ ॥

(६) रामचन्द्रः । यथार्हं प्रतिपादयेत् प्रतिग्राहयेत् ॥ ४ ॥

कृतदारोऽपरान्दारान्भिक्षित्वा योऽधिगच्छति ॥ रतिमात्रं फलं तस्य द्रव्यदातुस्तु सन्नतिः ॥ ५ ॥

(१) मेधातिथिः । कामतोद्धितीयादिविवाहप्रवृत्तौ भिक्षमाणस्यनिषेधोऽयं । रतिमात्रं फलमित्यादिरर्थवादोऽन यथाश्रुतमेवप्रतिपत्तव्यम् । अन्ये तु व्याचक्षते धर्मार्थसान्तानिकाय दातव्यं न कामप्रवृत्तायेति स एवायमर्थः । पुनरन्यथोच्यते सान्तानिकाय दातव्यं अयन्तुरतिक्रामो न सान्तानिकइत्यर्थः द्रव्यदातुर्हि सासंतर्तिर्न तस्येति ॥ ५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सांतानिकमिति यदुक्तं तत्र विशेषमाह कृतदारइति । कृतदारः प्राप्तधर्मप्रजासंपन्नदारः । द्रव्यदातुस्तु सन्नतिः फलेन हानिरस्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥

(३) कुल्लुकः । यः सभार्यः सन्तत्यर्थादिनिमित्तमन्तरेणापरान्दारान्भिक्षित्वा करोति तस्य रतिमात्रं फलं धनदातुः पुनस्तदुत्पन्नान्यपत्यानि भवन्तीति निन्दातिशयः । नैव विधेन धनं याचित्वाऽन्यो विवाहः कर्तव्यो नान्येव विधाय नियमतो धनं देयमिति ॥ ५ ॥

(४) राघवानन्दः । [सान्तानिकमित्युक्तं सचेत्]^१ कृतदारोऽपि यद्यपरान्दारान्धनं भिक्षित्वोद्धेत्तं भीषयन्नाह कृतदारइति । रतिमात्रं संभोगमात्रं निन्दामात्रम् द्रव्यदातुरिति तेन सतिसंभवे भिक्षया किञ्चिन्कार्यमितिभावः ॥ ५ ॥

(५) नन्दनः । अथसान्तानिकस्येतिकर्तव्यं प्रसङ्गादाह कृतदारोऽपरान्दारानिति । भिक्षित्वा अर्थम् ॥ ५ ॥

(६) रामचन्द्रः । कृतदारः प्राप्तधर्मप्रजासंपन्नदारः । अपरान् दारान् भिक्षित्वा यः अधिगच्छति ॥ ५ ॥

धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् ॥ वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गसमश्नुते ॥ ६ ॥

(३) कुल्लूकः । धनानि गोभूहिरण्यादीनि शक्त्यनतिक्रमेण ब्राह्मणेषु वेदज्ञेषु विविक्तेषु पुत्रकलत्राद्यवसक्तेषु प्रतिपादयेत्तद्वशाच्च स्वर्गप्राप्तिर्भवतीति ॥ ६ ॥

यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये ॥ अधिकं वापि विद्येत ससोमं पातुमर्हति ॥ ७ ॥

(१) मेधातिथिः । त्रीणि वर्षाणि यस्य पर्याप्तं भृत्यभरणाय धनंतत्रैवार्षिकंततोधिकं वा यस्यास्ति ससोमं पातुमर्हति श्रुतौ नित्यस्य सोमस्यावश्यकर्तव्यतयानुक्तत्वात् भृत्योपरोधेऽपि नैष निषेधः प्रवर्तते बलीयस्त्वाच्छ्रुतेरतश्छासो मविषयोऽयं निषेधः । ननु च सोमे धनं परिक्रयार्थमुपयुज्यते तस्य द्वादशशतं दक्षिणेति तत्र वृत्तिर्वर्धतेऽतश्च सोमे तत्र धनमुपयुज्यते नोच्यते यस्य त्रैवार्षिकमिति । ननु च वृत्तिधनमसति धनैर्नित्यवदस्तीति विद्यमानधनेनापि तत्कर्तव्यमेवेत्युच्यते । प्राशस्त्यकरदानशब्दो भक्तमात्रेयदिहिरण्यदानं सोमक्रयार्थमेवमादिनिवृत्तिः ॥ ७ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । भृत्याः भरणीया जायाद्याः । अधिकं वापीति वाकारः समुच्चये । त्रिवर्षभृत्यवृत्तये योग्यं त्रैवार्षिकं धनं स्थापयित्वा यद्यधिकं सामर्थ्यं पर्याप्तं तदैवेत्यर्थः ॥ ७ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्यावश्योप्यभरणार्थं वर्षत्रयपर्याप्तं तदधिकं वा भक्तादिभ्यां काम्यसोमयागं कर्तुमर्हति नित्यस्य पुनर्यथा कथंचिदवश्यकर्तव्यत्वान्नायं निषेधः । अतएव समान्ते सोमिकैर्मखैरिति नित्यविषयत्वमुक्तवान् ॥ ७ ॥

(४) राघवानन्दः । संभबद्धस्य यागदानयोः स्वेष्टसाधनत्वेन भृत्यादिपरिपीडनेनापि तत्कर्तव्यता ग्रामा तत्राह यस्येति चतुर्भिः । भृत्यवृत्तये तत्पोषणाय पर्याप्तं क्षमम् । यस्य त्रैवार्षिकं धनं ससोमं पातुमर्हतीति स्मृत्यन्तरात्सोमं काम्यं समान्ते सोमिकैर्मखैरिति नित्यस्यावश्यकर्तव्यतोक्तेः । वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेतेति श्रुतेर्नानेन निषेधो नित्यस्य श्रुतिबाधेन स्मृतेर्दुर्बलत्वात् ॥ ७ ॥

(५) नन्दनः । भिक्षित्वा वक्ष्यमाणस्यापि कर्तव्यं श्लोकद्वयेनाह यस्य त्रैवार्षिकं भक्तमिति । भृत्याभरणीयाः ॥ ७ ॥

(६) रामचन्द्रः । भक्तं अन्नं त्रिवर्षपर्यन्तं यः सोमं पातुं अर्हति ॥ ७ ॥

अतः स्वल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिबति द्विजः ॥ सपीतसोमपूर्वोपि न तस्याभोति तत्फलम् ॥ ८ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रतिषेधातिक्रमेणानधिकारिणः कुर्वतो न्यायसिद्धफलाभावो नानूद्यते फलग्रहणाच्च काम्यविषयता स्फुटतराप्रतीयते सपीतसोमपूर्वोपि अन्तेन प्रथमयज्ञस्यावश्यकर्तव्यतां दर्शयति सपीतत्वाद्यर्थवादोयं न पुनरपीतसोमस्य प्रतिषेधः ॥ ८ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । नफलमाप्नोति कथंचिन्मध्ये दुर्भिक्षादिना भृत्यनाशे प्रत्यवायाधिक्यादित्यर्थः ॥ ८ ॥

(३) कुल्लूकः । त्रैवार्षिकधनादल्पधने सति यः सोमयागं करोति तस्य प्रथमसोमयागो नित्योपि न संपन्नो भवति सुतर्पणद्वितीययागः काम्यः ॥ ८ ॥

(४) राघवानन्दः । अतो नियमयति अतइति । सः पीतः पूर्वयागशेषः सोमोयेन सः पूर्वकृतसोमस्यापि फलं न ग्रामोतीति निन्दा ॥ ८ ॥

(५) नन्दनः । अतस्त्रैवार्षिकाद्भक्ताद्यस्य पूर्वैरपीतसोमः सपीतसोमपूर्वः ॥ ८ ॥

(६) रामचन्द्रः । अतः त्रैवार्षिकात् धनान् अल्पीयसि द्रव्ये योद्विजः सोमं पिबति सः अपीतसोमः पीतस्य सोमस्य सोमपानस्य फलं न ग्रामोति ॥ ८ ॥

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि ॥ मध्वापातोविषास्वादः सधर्मप्रतिरूपकः ॥ ९ ॥

(१) मेधातिथिः । यः स्वजनो भृत्यामात्यमातृपितृपुत्रदारादिस्तस्मिन् दुःखजीविनि यः परजने यशोर्थं वदति तस्यासौ विषास्वादः आपाते सन्निपाते मधुरो यथा विषस्यास्वादः सन्निपातमधुरो विपाकविरसो मरणफलत्वादेवं तादृशं दानं यद्यपि संप्रतियशः सुखं जनयत्यमुत्र प्रत्यवायोत्पत्त्या विषास्वादसमं संपद्यते तदेवाह धर्मप्रतिरूपको सौ सदृशो न धर्मः शुक्तिरिव रजतज्ञानस्य ॥ ९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शक्तः स्वजनपोषणे । स्वजनान् भार्यादीन् विहाय कीर्त्याधिक्यादिबोधेन परजने दाता । आपाततो मधुभूतकीर्तिलाभान् मध्वापातः । विषास्वादो विषभक्षणं पापहेतुरूपानर्थहेतुत्वात् । धर्मप्रतिरूपको धर्मसदृशोऽधर्मः ॥ ९ ॥

(३) कुल्लूकः । यो बहुधनत्वादानशक्तः सन्वश्यं भ्रणीये पितृमात्रादिज्ञातिजने दौर्गत्या दुःखोपेते सति यशोर्थं मन्येभ्यो ददाति सतस्य दानविशेषो धर्मप्रतिरूपको न तु धर्म एव मध्वापातो मधुरोपक्रमः प्रथमं यशस्करत्वादि विषास्वादश्चान्ते नरकफलत्वात् तस्मादेतन्न कार्यम् ॥ ९ ॥

(४) राघवानन्दः । अत आह शक्तइति । दाता दानशीलो यः स परजने प्राणान्प्रदातुं शक्तोऽपि सति स्वजने दुःखिनि न दद्यादित्याह । मध्वापातः मधुवदापाततः कीर्तिसुखकरत्वात् विषास्वादः विषवदास्वादनीयं फलं यस्य सः उदर्के संतापादिदृष्टेः । विषमपि मारकत्वेऽप्यतिमधुरम् ॥ दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतमित्युक्तेः ॥ धर्मप्रतिरूपकः धर्माभासः ॥ ९ ॥

(५) नन्दनः । प्रासङ्गिकं समाप्य प्रकृतमेव सान्तानिकादिषु भिक्षुतैः कर्तव्यमुपसंक्रम्याह शक्तः परजने दातेति । शक्तः धनवान् । स्वजने स्वकुटुम्बे । मधु ईषत्पिबतीति मध्वापातः । विषं समं तात्त्वादयतीति विषास्वादः प्रभूतविषाशीतियावत् । सधर्मप्रतिरूपकः धर्मप्रतिरूपसहितः स्वजने दुःखजीविनि सान्तानिकानि सान्तानिकादिष्वपि दातुं धर्मोभूयानित्यर्थः ॥ ९ ॥

(६) रामचन्द्रः । शक्तः स्वजनपोषणसमर्थः स्वजने स्वभर्तव्ये दुःखजीविनि मध्वापीतः मधुरोपक्रमः विषास्वादः नरकदर्श [नम्] धर्मप्रतिरूपको धर्मसदृशोऽधर्मः ॥ ९ ॥

भृत्यानामुपरोधेन यत्करोत्यौर्ध्वदेहिकम् ॥ तद्भवत्यसुखोदकं जीवतश्च मृतस्य च ॥ १० ॥

[वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः ॥ अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्यामनुरब्रवीत् ॥ ११] †

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्य निन्दार्थवादोऽयं । भृत्या व्याख्याताः उपरोधो भक्तवस्त्रादिना यथोपयोगमाहरणं और्ध्वदेहिकं परलोकप्रयोजनमसुखोदकं मुदकं आगामीकालः सोऽस्य दानस्यासुखोदकं भवतीति प्रयोजनं सिद्धमेव ॥ १० ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । न केवलं कीर्त्यर्थदानादावेवमष्टबुद्ध्यापि करणे तथेत्याह भृत्यानामिति । उपरोधोवृत्तिसंकोचः । जीवतोऽसुखोदकं वृत्त्यभावेन भार्यादिनाशात् ॥ १० ॥

(३) कुल्लूकः । पुत्रदाराद्यवश्यभर्तव्यपीडनेन यत्पारलौकिकधर्मबुद्ध्या दानादिकरोति तस्य दातुर्जीवतोमृतस्य च तद्दानदुःखफलं भवतीति पूर्वकीर्त्यादिदृष्टार्थदानप्रतिषेधः अयं त्वदृष्टार्थदानप्रतिषेधः ॥ १० ॥

(४) राघवानन्दः । ततः किं तत्राह भृत्यानामिति । भृत्यानामुपरोधेन भरणीयानां पीडया । और्ध्वदेहिकं पारलौकिकम् । असुखोदकं इह भरणीयव्यग्रमनस्तया जीवतः मृतस्य तु अमुत्र फलराहित्येन च अतो भृत्यापीडया दृष्टादृष्टं दानादिकं कर्तव्यमिति भावः ॥ १० ॥

(५) नन्दनः । न केवलं दानमेव स्वजनोपरोधेन न कार्यं किन्तु सर्वोपि धर्मो न कार्य इत्याह भृत्यानामुपरोधेनेति । मरणादूर्ध्वं येन देहः प्राप्यते स ऊर्ध्वदेहस्तस्मै हितमौर्ध्वदेहिकं धर्ममिति यावत् ॥ १० ॥

(६) रामचन्द्रः । भृत्यानां जीवनोपरोधेन और्ध्वदेहिकं पारलौकिकं अस्य जीवतोमृतस्य वाऽसुखोदकं तद्वयं भवति ॥ १० ॥

यज्ञश्चेत्यतिरुद्धः स्यादेकेनाङ्गेन यज्वनः ॥ ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि ॥ ११ ॥

(१) मेघातिथिः । अत्राङ्गहरणान्नकेवलं सर्वासां दक्षिणानामसंपत्तौ वैश्यानामिदमाहरणं विधीयते । अपि च तस्मिन्पि पश्वादावाहरेदिति तत्स्वीकारोत्पत्तिमात्रमुच्यते नोपायविशेषः । अतश्च याज्वयाविनिमये चौर्येणैवापहर्तव्यं न च चौर्येण स्वाम्यनोत्पद्यत इत्युक्तं नैषदोषः इह स्वशब्देनैवोक्तं हर्तव्यमिति एवं चादं कर्तव्यं हीनकर्मण इति अयं वापहारः प्रागारब्धयागस्य सर्वाङ्गोपेतस्यैकाङ्गासंपत्तौ प्रारिप्स्यमानस्य वेति न विशेषहेतुरस्ति ब्राह्मणस्य विशेषेण निर्वचनात्क्षत्रियवैश्याोरप्यस्ति तदेकाङ्गग्रहणमस्मिन्निमित्ते ननु कः क्षत्रियो याचेदिति क्षत्रियस्यायाज्याप्रतिषिद्धा अत्यल्पमिदमुच्यते ब्राह्मणस्यापि चौर्येण निषिद्धतस्मात्तस्मिन्निमित्तेनास्त्यर्जनोपायनियमो धार्मिके सतीत्यनुवादोऽयं यो हि धर्मज्ञो राजा तस्मिन्निमित्ते चौर्यं विहतमिति अन्यस्य तु निगृहीतत्वात्कुतः प्रवृत्तिः । बहुपशुग्रहणं धनमात्रोपलक्षणार्थं कुतः कर्मयोगादन्यदपि दानादि न करोति सत्यमसोमपे कुटुंबादृहादित्यर्थः । गृहाद्धि चौर्येण दोषवत्तरमतस्तदनुज्ञायते न पुनरप्येवमेव न नियमोऽन्यतोपि यत्स्वलादेः संपद्यते तत्कर्तव्यमेव वक्ष्यति च स्वलात्क्षेत्रादगाराद्वेति ॥ ११ ॥ १२ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । यज्वनः क्षत्रियस्य विशेषेण तु ब्राह्मणस्य । एकेनाङ्गेनाप्राप्तेन आज्यस्य पशोर्वस्त्रादीनां वा दक्षिणानामन्यतमस्याभावेन प्रतिरुद्धः प्रतिबद्धः । धार्मिके सतीत्यधार्मिकस्य राज्ञो यज्ञसंपत्त्यनुरोधेन वैश्यधनापहरणानुपपत्तेरुक्तम् । ११ ॥

(३) कुल्लूकः । क्षत्रियादिर्यजमानस्य विशेषतो ब्राह्मणस्य यदि यज्ञइतराङ्गसंपत्तौ सत्यामेकेनाङ्गेनासंपूर्णः स्यात्तदा यो वैश्याबहुपश्व्यादिधनः पाकयज्ञादिरहितोऽसोमयाजी तस्य गृहात्तदङ्गोचितं द्रव्यं बलेन चौर्येण वा हरेत् । एतच्च धर्मप्रधाने सति राजनिकार्यसहि शास्त्रार्थमनुतिष्ठन्तं निगृह्णाति ॥ ११ ॥ १२ ॥

(४) राघवानन्दः । विहितदक्षिणा तु शूद्रादिप्रतिग्रहेणापि देयेत्याह यज्ञश्चेति पञ्चभिः । प्रतिरुद्धः असमाप्तकल्पः । एकेन दक्षिणारूपेण । धार्मिक इति विशेषणाद्वत्तादपि वैश्यादिभ्यो दक्षिणा ग्राह्येति शेषः । ब्राह्मणस्य विशेषेणेति विशेषणं दक्षिणार्थं क्षत्रियस्यापि भिक्षासूचकम् ॥ ११ ॥

(५) नन्दनः । अथ वर्षत्रयपर्याप्तभृत्यवृत्तिना वक्ष्यमाणेन किञ्चिन्मूलधनेन स्नातकेन निवेदितस्य कोशहीनस्य

राज्ञः कर्तव्यमाह यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धः स्यादिति । श्लोकद्वयमेकं वाक्यंसति राजनि दानशीले राजनि विद्यमानेऽपि एकेनाङ्के-
नैकाङ्गवैकल्येन यज्ञः प्रतिरुद्धश्चेद्विधितश्चेन राज्ञः कोशाभावादिति भावः ॥ ११ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्वाभ्यामाह यज्ञेति । यज्वनः यज्ञः एकेनांशेन प्रतिरुद्धः स्यात् ॥ ११ ॥

योवैश्यः स्याद्बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः ॥ कुटुम्बान्तस्यतद्रव्यमाहरेद्यज्ञसिद्धये ॥ १२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । हीनक्रतुरकृतपञ्चमहायज्ञः । असोमपः अपीतसोमः । एतेन सोमपस्य पञ्चयज्ञाकरणेपि
श्रेष्ठतोक्ता । तस्य वैश्यस्य कुटुम्बान् कुटुम्बार्थधनादारुण्यैकमंशं राजा ब्राह्मणाय दद्यात् ॥ १२ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च यदिति । कुटुम्बान् गृहादपि ग्राह्यम् । यज्ञसिद्धये यज्ञसमाप्तये । तद्रव्यं दक्षिणारूपमि-
ति भावः ॥ १२ ॥

(५) नन्दनः । हीनक्रतुः अनश्याधानादिकान्तस्य वैश्यस्य कुटुम्बाद्गृहाद्यज्ञसिद्धयएकाङ्गहीनयज्ञस्य समाप्तये या-
वताद्रव्येण सयज्ञः सिध्यति तावद्रव्यमाहरेत्प्रसहगृहीयात्सराजेति विपरिणामः । राजैव कर्ता न यज्वा कुतएतद्राज्ञएवा-
हरणबलोपपत्तेः महाभारतेऽप्यस्य वचनस्य चतुर्थः पादोयज्ञार्थपार्थिवोहरेदिति पठ्यते तेनापि राजैक कर्तव्याख्येयोनय-
ज्वेति ॥ १२ ॥

(६) रामचन्द्रः । धार्मिके राजनि सति । योवैश्योबहुपशुः हीनः क्रतुर्यस्य सः । सः असोमपः तस्य कुटुम्बान्
गृहात् तद्रव्यं यज्ञसिद्धये राजा आहरेत् स्वीकुर्यात् ॥ १२ ॥

आहरेत्रीणि वा द्वे वा कामंशूद्रस्य वेश्मनः ॥ नहि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः ॥ १३ ॥

(१) भेधातिथिः । वैश्यासंभवे शूद्रादप्यार्हतव्यं त्रीणिवाद्देवत्यङ्गमकरणादङ्गानि वेदितव्यानि । अत्रार्थवादो न हि
शूद्रस्येति । यद्यपि पूर्वमनेकोपायकृतमाहरणविहितं तथापि भिक्षणमत्र नास्ति न यज्ञार्थधनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेतेति ननु च स्मृत्य-
न्तरेऽविशेषेण शूद्रधनेन यागः प्रतिषिद्धः अस्योपदेशस्य सामर्थ्याच्छूद्रात्प्रतिगृहीतिति द्रष्टव्यम् । अन्येत्वाहुः ब्राह्मणेन
स्वीकृतत्वालैव तच्छूद्रधनमिति । यस्तु प्रतिषेधः स शूद्रस्य शान्तिकपौष्टिकादियेन धनेन करोति ऋत्विग्वत्तत्र द्रष्टव्यः इहतु-
भूतपूर्वगत्या शूद्रधनव्यपदेशोऽस्य स्यात् सांप्रतिकस्याभावे च सा ॥ १३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यदितुयज्ञाङ्गद्वयत्रयस्यासंपत्तिस्तदा शूद्रस्यैव तथाविधस्य धनादित्याह आहरेदिति ।
यज्ञेषु परिग्रहो यज्ञनिमित्तधनपरिग्रहो यज्ञार्थताधनस्य ॥ १३ ॥

(३) कुट्टुकः । यज्ञस्य द्विव्यङ्गवैकल्ये सति तानि त्रीणि चाङ्गानि द्वे वाङ्गे वैश्यादलाभे सति निर्विशङ्कं शूद्रस्य
गृहादलेन चौर्येण वा हरेत् यस्माच्छूद्रस्य कचिदपि यज्ञसंबन्धो नास्ति न यज्ञार्थधनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेतेति वक्ष्यमाणप्रतिषेधः
शूद्राद्याचनस्य नतु बलयहणादेः ॥ १३ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र च कैमुत्यमाह आहरेदिति गवाम् । कश्चिदिति यज्ञोद्देशेन न यज्ञार्थधनमित्यादिवचन-
विरोधात् तत्समाप्त्यर्थं न दोषः ॥ १३ ॥

(५) नन्दनः । वैश्याभावे राजा किंकुर्यादित्यपेक्षायामाह आहरेत्रीणि वा द्वेवेति । न केवलमङ्गराजा शूद्रस्य गृहा-
दाहरेत्किन्तु त्रिभिर्द्वैः यज्ञप्रतिग्रहे हेतुरुत्तरार्धेनोक्तः परिग्रहः संबन्धः ॥ १३ ॥

(६) रामचन्द्रः । शूद्रस्य त्रीणि यज्ञस्याङ्गानि द्वे वाङ्गे हीने भवतः तदास्य वेश्मनः आहरेत् । शूद्रादनादानं कुर्या-
त् । कश्चित् परिग्रहः संबन्धः शूद्रस्य यज्ञेषु नास्ति ॥ १३ ॥

योनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः ॥ तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥ १४ ॥

(१) मेधातिथिः । ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यामप्येवंविधाभ्यामाहर्तव्यमिति श्लोकार्थः । गोयहणं तावत्परिमाणधनोपलक्ष-
णार्थं अयज्जोऽसोमयाजी ॥ १४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्षत्रियादप्येवंभूतादिकमंशमानेतव्यमित्याह योनाहिताग्निरिति । अयज्वा असोमयाजी
॥ १४ ॥

(३) कुल्लूकः । योनाहिताग्निर्गोशतपरिमाणधनआहिताग्निर्वाऽसोमयाजी गोसहस्रपरिमितधनः द्वयोरपि गृहा-
भ्यांप्रकृतमङ्गद्वयं त्रयं वा शीघ्रसंपादयितुं ब्राह्मणेन द्वाभ्यामाहरेणीयं ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यामपि ब्राह्मणआहरेत् क्षत्रियस्य तु
अदस्युक्तियावद्ब्राह्मणत्वहरणं निषेधयिष्यति ॥ १४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच यदिति । शतगुः शतं विद्यमाना गावो यस्य । एवं सहस्रगुरपि । अयज्वा चेद्ब्राह्मणः क्षत्रि-
यो वा अविचारयन् द्वित्राणामाहरणे तेषां क्लेशाभावात् ॥ १४ ॥

(५) नन्दनः । शूद्राभावे च किंकुर्यादित्याह योनाहिताग्निः शतगुरिति । योनाहिताग्निः परिशेषात्क्षत्रियो ब्राह्मणश्च
आहरेद्गोधेत्रीण्यङ्गानि द्वाभ्यां चेद्दे सर्वैश्चेत्सर्वाणीत्युक्तम् ॥ १४ ॥

(६) रामचन्द्रः । योऽनाहिताग्निः शतगुः गोशब्दउपलक्षणं तावद्धनमुच्यते च पुनः यः अयज्वा असोमयाजी च
सहस्रगुः तयोः शतगुसहस्रग्वोः कुटुम्बाभ्यां त्रैवर्णिके अविचारयन् राजा आहरेत् ॥ १४ ॥

आदाननित्याच्चादातुराहरेदप्रयच्छतः ॥ तथा यशोस्य प्रथते धर्मश्चैव प्रवर्धते ॥ १५ ॥

(१) मेधातिथिः । अयंसर्ववर्णविषयः श्लोकः । आदाननित्योयः सर्वकालं रुषिप्रतिग्रहकुसीदादिभिर्धनमर्जयति न च
ददाति ततउपायान्तराण्याश्रयणीयानि आदातुरित्ययागशीलस्यापि द्रष्टव्यम् ॥ १५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अदातुरदानशीलादादाननित्यान्नित्यार्जकादप्रयच्छतः तदा तद्धनमददतोपि त्रैवर्णिकादो-
हरेत् । एकमङ्गद्वयं त्रयमित्यन्येषूक्तमतस्तु बह्वपि ग्राह्यम् । ब्राह्मणस्य त्वयज्वनोपि धनमनादयमिति वक्ष्यति । एतच्च
राजा त्वकोशे सत्यपि गृहीत्वा दद्यादिति ग्राह्यम् ॥ १५ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रतिग्रहादिना आदानं धनग्रहणं नित्यं यस्यासावादाननित्यः ब्राह्मणस्तस्मादिष्टापूर्तदानरहिताद्यज्ञा-
ङ्गद्वयत्रयार्थायां याचनायां कृतायामददतो बलेन चौर्येण वा हरेत् तथारुतेऽपहर्तुः ख्यातिः प्रकाशते धर्मश्च वृद्धिमेति
॥ १५ ॥

(४) राघवानन्दः । आदाननित्यात् प्रतिग्रहपरात् । अदातुः स्वरसतः । अप्रयच्छतः अनिषेधकात् । अस्याय-
ज्वनोयज्वनो वा । यशोऽमुकस्य धनेनात्मद्यागः समाप्त इति वर्धते परधर्मोत्पादकत्वोपकारात् ॥ १५ ॥

(५) नन्दनः । एवं कुर्वतो राज्ञः फलमाह आदाननित्याच्चादातुरिति । अदातुरित्यप्रयच्छतोदातुः कदर्यादितियावत्
तद्रव्यमाहरेत्तथा कुर्वतो राज्ञो यशः प्रथते ॥ १५ ॥

(६) रामचन्द्रः । आदातुः आददतः आदाननित्यात् प्रतिग्रहादिना नित्यात्स्वरुत्यात् अप्रयच्छतः आहरेत् स्वीकु-
र्यात् अस्य यशः प्रथते ॥ १५ ॥

तथैव सममे भक्ते भक्तानि षडनश्रता ॥ अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यंहीनकर्मणः ॥ १६ ॥

(१) मेधातिथिः । आत्मकुटुम्बावसादेपि पूर्ववत्परादानं कर्तव्यं अश्वस्तनग्रहणादेकदिनवृत्त्यर्थमेवानुजानाति नाधिकंहीनकर्मण इति कर्मार्थस्मृत्यन्तरे ॥ हीनादादेयमादौ स्यात्तदलाभे समादपि । असंभावे त्वाददीत विशिष्टादपि धार्मिकात् ॥ सममे भक्ते व्यहंयेन न भुक्तं चतुर्थे हनि प्रातर्भोजनार्थं परादाने प्रवर्तेत सायंप्रातर्भुञ्जीतेत्यहंन्यहनि भक्तद्वयं विहितम् ॥ १६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । व्यहमुपोषितेन चतुर्थदिनेप्युपवासशङ्कनयां तद्दिनमात्रपर्याप्तम् । हीनकर्मणः पतितोदरपि ॥ १६ ॥

(३) कुल्लूकः । सायंप्रातर्भोजनोपदेशाच्चिरात्रोपवासे वृत्ते चतुर्थेऽहनि प्रातः सममे भक्ते दानादिधर्मरहितादेकदिनपर्याप्तमर्थचौर्यादिना हर्तव्यम् ॥ १६ ॥

(४) राघवानन्दः । धर्मार्थस्थेव प्राणात्ययप्रायेपि ग्राह्यमित्याह तथैवेति द्वाभ्याम् । सममे चतुर्थेऽहनि प्रातर्भक्ष्ये एतत्स्पष्टयति भक्तानिषडिति । अनश्रताचतुर्वर्ष्येन अश्वस्तनविधानेन परदिनासंचयित्वेन हर्तव्यं चौर्यादिना । हीनकर्मणः कदर्यादपि ॥ १६ ॥

(५) नन्दनः । एवंयज्ञापदि राज्ञः कर्तव्यमुक्तमधुना क्षुत्पीडापदि पुरुषेण कर्तव्यमाह तथैव सममे भक्त इति । सममे भक्तानि षडनश्रता व्यहमभुञ्जानेन सममे भक्ते समस्यां भुक्तं चतुर्थेऽहनि हीनकर्मणः स्वस्माद्धीनकर्मणः पुरुषात् अश्वस्तननिधानाय श्वोभवं श्वस्तननिधानं न्यासः श्वस्तनश्चतनिधानंचेति श्वस्तननिधानं तदभावायाश्चस्तननिधानाय एवमापद्विषये परस्वहरणं यथोक्तं कुर्वन् राज्ञा न दण्ड्यः ॥ १६ ॥

(६) रामचन्द्रः । सममे भक्ते चतुर्थदिने षट्भक्तानि अन्नानि अनश्रता त्रीणि दिनानि अनश्रता हीनकर्मणः शूद्रात् अश्वस्तनविधानेन एकदिनपर्याप्तं अन्नादानं कर्तव्यम् ॥ १६ ॥

खलात्क्षेत्रादगाराद्वा यतोवाप्युपलभ्यते ॥ आख्यातव्यन्तु तत्तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति ॥ १७ ॥

(१) मेधातिथिः । यतोवापीति आरामादिरपि आख्यातव्यं पृच्छत इत्येव यदि पृच्छतीति वचनं न हठात्पुनः प्रेषणादिना प्रश्नसौ कारयितव्यः । अथवा पृच्छते धनस्त्वामिने यदि पृच्छति राजेति राजपुराय नीत एव विषयभेदो दर्शयितव्यः । तथाच गौतमः आचक्षीतराज्ञापृष्ट इति भक्तच्छेदे यज्ञप्रतिबन्धतः प्रकरणविशेषादुभयत्रार्थविधिर्ज्ञेयः ॥ १७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । खलादेरपि रक्षितात्स्वयमेवाहर्तव्यं प्रार्थनेन वा ग्राह्यम् । न तेनास्य पतितग्रहणदोषः । दिने वारह्व्यभोजननियमाद्भोजनद्वयं भवतीति व्यवस्थया सममे भक्त इत्युक्तम् । आख्यातव्यमिति तस्मै तथाऽन्यस्मा अपि अरक्षितादाने कुतः प्राप्तमिति पृष्टेन नाक्षेप्तव्यं तथाप्युत्तरित्यर्थः ॥ १७ ॥

(३) कुल्लूकः । धान्यादिमर्दनस्थानात्क्षेत्राद्वा गृहाद्वा यतोवाऽन्यस्मात्प्रदेशाद्धान्यं हीनकर्मसंबन्धि लभ्यते ततो हर्तव्यं यदि वासौ धनस्वामी पृच्छति किन्निमित्तं कृतमिति पृच्छते निमित्तं चौर्यादिवक्तव्यम् ॥ १७ ॥

(४) राघवानन्दः । हरणस्थलान्याह खलेति । खलात् प्राङ्गणान् । त्वया हतमेतदिति यदि पृच्छति तदा तस्मै पृच्छते मया हतमेतदिति वक्तव्यम् ॥ १७ ॥

(५) नन्दनः । अश्वस्तननिधानाय भक्तद्वयं कुतो हर्तव्यमित्यपेक्षायामाह खलात्क्षेत्रादगाराद्वेति । यतोवाप्युपलभ्यते ततो हर्तव्यमित्यनुषज्जनीयम् ॥ १७ ॥

(६) रामचन्द्रः । यतः स्थानात् ॥ १७ ॥

ब्राह्मणस्त्वं नहर्तव्यं क्षत्रियेण कदाचन ॥ दस्युनिष्क्रिययोस्तु स्वमजीवन्हर्तुमर्हति ॥ १८ ॥

(१) मेधातिथिः । क्षत्रियेणेति । क्षत्रियग्रहणं वैश्यशूद्रयोरपि प्रदर्शनार्थं । कदाचनेति महत्यामापदीत्यर्थः दस्युनिष्क्रिययोर्ब्राह्मणयोरेव दस्युस्तत्स्करोनिष्क्रियस्त्वकर्मानाश्रमी ॥ १८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दस्युः शूद्रः निष्क्रियौ क्षत्रियविशौ तेषां विजयमजीवन्क्षत्रियोरान्ता गृह्णीयात् ॥ १८ ॥

(३) कुल्लूकः । उक्तेष्वपि निमित्तेषु क्षत्रियेण ब्राह्मणस्य धनंततोपकृष्टत्वान्न हर्तव्यं समानन्यायतया तु वैश्यशूद्राभ्यामुत्कृष्टजातितो न हर्तव्यं प्रतिषिद्धकृद्ब्रह्मिहाननुष्ठायिनोः पुनर्ब्राह्मणक्षत्रिययोस्त्यन्तापदि क्षत्रियोहर्तुमर्हति ॥ १८ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र प्रतिप्रसवमाह ब्राह्मणेति । क्षत्रियेणेत्युपलक्षणं वैश्यशूद्रयोः दस्युनिष्क्रिययोः । अजीवन् वृत्त्यन्तराभावात् । निष्क्रियोधर्महीनः ॥ १८ ॥

(५) नन्दनः । तद्व्यंतस्मै स्वामिने जात्या स्वस्मादपकृष्टाद्धर्तव्यं नोत्कृष्टादित्याह ब्राह्मणस्त्वं नहर्तव्यमिति । ब्राह्मणक्षत्रियग्रहणमुत्कृष्टापकृष्टजात्युपलक्षणार्थं । अस्यापवादेनोत्तरार्धेनोक्तं दस्युः सहिसः निष्क्रियस्त्यक्तनिजधर्मक्रियः दस्युनिष्क्रिययोर्ब्राह्मणयोरिति विपरिणामः अजीवन्वृत्तिहीनः ॥ १८ ॥

(६) रामचन्द्रः । दस्यति यः सः दस्युः निष्क्रियः तत्स्करानाश्रमिणौ तयोः स्वंद्रव्यं क्षत्रियः अजीवन् हर्तुं स्वीकर्तुं अर्हति ॥ १८ ॥

योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः संप्रयच्छति ॥ सकृत्वा प्लवमात्मानं संतारयति तावुभौ ॥ १९ ॥

(१) मेधातिथिः । प्लवः समुद्रतरणः उभौ यस्यापहरति शेषोऽर्थवादः ॥ १९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आत्मानं प्लवं कृत्वा आत्मनस्तरणं संतारणं परस्येति दर्शयति । तथाच राजा दस्युनिष्क्रिययोर्द्रव्यगृहीत्वापि देयमित्यर्थः । तावुभाकित्यर्थलाभेन साधून्यांश्च तद्विचित्रिनियोगेन ॥ १९ ॥

(३) कुल्लूकः । योहीनकर्मादिभ्य उत्कृष्टेभ्योऽभिहितेष्वपि निमित्तेषूक्तानुरूपं यज्ञादिसाधनं कृत्वा साधुभ्य उत्कृष्टेभ्यः कृत्वा दिभ्यो धनं ददाति स यस्यापहरति तद्विरतिना शयति यस्यै तद्वदाति तद्वैर्गत्याभिधातादित्येवं द्वावप्यात्मानमुदुपकृत्वा दुःखान्मोचयति ॥ १९ ॥

(४) राघवानन्दः । चातुर्वर्ण्यस्य बलबुद्धिमतः उपायान्तरमाह यदिति । असाधुभ्योदस्त्वादभ्यः । साधुभ्यो यागादिशीलेभ्यः । उभौ दानप्रतियाहकौ । प्लवम प्लवस्थानीयम् ॥ १९ ॥

(५) नन्दनः । अपरमपि परस्त्वादानविषयमाह योऽसाधुभ्योऽर्थमादायेति । असाधुभ्योऽयज्ञशीलेभ्यः तावुभौ तानुभयान् ॥ १९ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः असाधुभ्योऽर्थं आदाय साधुभ्यः संप्रयच्छति सः क्षत्रियः आत्मानं प्लवं तरणसाधनं कृत्वा तौ उभौ असाधुसाधू संतारयति ॥ १९ ॥

यद्धनं यज्ञशीलानां देवस्त्वं तद्विदुर्बुधाः ॥ अयज्वनांतु यद्विज्जमासुरस्त्वं तदुच्यते ॥ २० ॥

(१) मेधातिथिः । अयमस्यार्थवादएव गुणवद्भ्योनापहर्तव्यं निर्गुणेभ्यस्तु न दोषः ॥ २० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यद्धनमित्यस्यैव शेषः ॥ २० ॥

(३) कुल्लूकः । यज्ञशीलानां यद्धनं तद्यागादौ विनियोगाद्देवत्वं विद्वांसो मन्यन्ते यागादिशून्यानां तु यद्व्यतद्धर्म-
विनियोगाभावादासुरत्वमुच्यते अतस्तदप्यपहृत्य यागसंपादनात्तदेवत्वं कर्तव्यम् ॥ २० ॥

(४) राघवानन्दः । यज्वाऽयज्वनोर्धनेषु देवासुरत्वद्विभारोपयति यदिति ॥ २० ॥

(५) नन्दनः । अत्रोपपत्तिमाह यद्धनं यज्ञशीलानामिति ॥ २० ॥

(६) रामचन्द्रः । देव च देवांशं । असुरांशं दैत्यांशम् ॥ २० ॥

न तस्मिन्धारयेद्वण्डं धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥ क्षत्रियस्य हि बालिश्याद्ब्राह्मणः सीदति क्षुधा ॥ २१ ॥

(१) मेधातिथिः । अस्मिन्निमित्ते शौरत्वेनानीतेभ्यो राज्ञा दण्डो न कर्तव्यो यतस्तस्यैव बालिश्यान्मौख्यान्क्षुधावसी-
दन्ति क्षुधेत्यविवक्षितमुभयोः प्रकरणादर्थवादत्वाच्च ॥ २१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तस्मिन्निति तत्पदं व्यवहितवाचि येनाश्वस्तनविधानेन त्रिरात्रोप [वासादिनाऽ] र्थ-
[हरणं] कृतं तस्मिन्नित्यर्थः । बालिश्यादज्ञानात् ॥ २१ ॥

(३) कुल्लूकः । तस्मिन्नुक्तनिमित्ते चौर्यवलात्कारकुर्वाणे धर्मप्रधानो राजा दण्डं न कुर्यात् यस्माद्ब्राह्मणमूढत्वाद्ब्राह्मणः
क्षुधावसादं प्राप्नोति ॥ २१ ॥

(४) राघवानन्दः । आरोपस्य फलमाह नेति । तस्मिन्नासुरधनहारिणि ब्राह्मणे । ब्राह्मणस्यान्यधनापहरणं क्षुधा-
सीदनं वा क्षत्रियस्यैवापराधइत्याह क्षत्रियस्येति ॥ २१ ॥

(६) रामचन्द्रः । तस्मिन्ब्राह्मणे क्षत्रियस्य बालिश्यात् ॥ २१ ॥

तस्य भृत्यजनं ज्ञात्वा त्वकुटुम्बान्महीपतिः ॥ श्रुतशीले च विज्ञाय वृत्तिधर्म्यां प्रकल्पयेत् ॥ २२ ॥

(१) मेधातिथिः । धर्म्यावृत्तिर्यया नित्यकर्मण्यपि संपद्यन्ते क्षीणकोशेनापि महिषीराजपुत्रादिकल्पिताद्याद्वि-
हिताच्च भनाच्च किंचिदवकृष्यदातव्यमिति त्वकुटुम्बादित्यादिनामहाधनस्यैव राज्ञोऽयं विधिः सर्वरत्नानीति वचनात् ॥ २२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तस्य ब्राह्मणस्य । कुटुम्बात् त्वकुटुम्बमभ्यांशकाद्धनात् । शीलं वृत्तम् । धर्म्या असदाना-
दिव्यतिरिक्ताम् ॥ २२ ॥

(३) कुल्लूकः । ततश्च तस्येति । तस्य ब्राह्मणस्यावश्यभरणीयपुत्रादिवर्गं ज्ञात्वा श्रुताचारोचिततदनुरूपां वृत्तिं स्वगृहा
द्राजा कल्पयेत् ॥ २२ ॥

(४) राघवानन्दः । अत आहतस्येति द्वाभ्याम् । भृत्यजनं पोष्यजनम् । त्वकुटुम्बादपि धर्म्या त्वधर्मोत्पत्तये हेतु-
भूताम् ॥ २२ ॥

(५) नन्दनः । तस्य ब्राह्मणस्य ॥ २२ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्वकुटुम्बात् गृहात् तस्य ब्राह्मणस्य श्रुतिशीले वेदाभ्यासरते ॥ २२ ॥

कल्पयित्वाऽस्य वृत्तिं च रक्षेदेनं समन्ततः ॥ राजा हि धर्मषड्भागं तस्मात्प्राप्नोति रक्षितात् ॥ २३ ॥

(१) मेधातिथिः । स्पष्टार्थोऽयं श्लोकः ॥ २३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वृत्तिं दानादिना । रक्षेच्चौरादेः ॥ २३ ॥

(३) कुल्लूकः । अस्य ब्रह्मणस्य जीविकांविधाय शत्रुचौरादेः सर्वतोरक्षयेत् यस्माद्ब्राह्मणाद्रक्षितान्तस्य धर्मषड्भागं प्राप्नोति ॥ २३ ॥

(४) राघवानन्दः । रक्षेत्ताम्रपट्टलिखितादिना ब्राह्मणरक्षणे परमलाभइत्याह राजेति । बलिषड्भागमिव रक्षितात्प्र-
जारुपात्तद्धर्मात् षड्भागमामोतीत्यन्वयः ॥ २३ ॥

(५) नन्दनः । समन्ततः सर्वापद्भ्यः फलंषड्भागं यत्पुण्यं प्रत्यहं क्रियते तस्य फलषड्भागम् ॥ २३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अस्य द्विजस्य वृत्तं कल्पयित्वा एनं द्विजं तस्मात् द्विजात् धर्मस्य षड्भागं आमोति ॥ २३ ॥

न यज्ञार्थं धनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेत कर्हिचित् ॥ यजमानो हि भिक्षित्वा चण्डालः प्रेत्य जायते ॥ २४ ॥

(१) मेधातिथिः । भिक्षणमत्र निषिध्यते अयाचितोपपन्नन्तु न दुष्यति तथाचोक्तं ॥ अयाचितोपपन्नानां द्रव्याणां यः
प्रतिग्रहः । विशिष्टलोकशास्त्राभ्यां तं विद्यादप्रतिग्रहमिति ॥ यज्ञार्थोऽयं प्रतिषेधो न तु भृत्यभरणे केचित्पूर्वशेषमेव मन्यन्ते । भिक्ष-
णे दोषदर्शनादुपायान्तरेणोक्तमादानम् ॥ २४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शूद्राद्रिक्षित्वा यजमानो यागं कुर्वाणः ॥ २४ ॥

(३) कुल्लूकः । यज्ञसिद्धये धनं ब्राह्मणः कदाचिन् शूद्राद्याचेत् यस्माच्छूद्राद्याचित्वा यज्ञकुर्वाणो मृतश्च गडाली भवति ।
अतो याचननिषेधाच्छूद्राद्याचितोपस्थितं यज्ञार्थमप्यविरुद्धम् ॥ २४ ॥

(४) राघवानन्दः । ननु दक्षिणार्थं गोत्रयादिवद्यागार्थमपि किञ्चिच्छूद्रात्प्रतिगृहीयात्तच्चाह नेति । दक्षिणायायागो
त्तरकालीनत्वाद्यागस्योद्देश्यत्वाभावात् यजमानो हि तेन धनेनेति शेषः ॥ २४ ॥

(५) नन्दनः । पुनर्यक्ष्यमाणं प्रत्याह न यज्ञार्थं धनमिति । अत्र हेतुस्तरार्थेनोक्तः यजमानः यजन् ॥ २४ ॥

यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वप्रयच्छति ॥ स याति भासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः ॥ २५ ॥

(१) मेधातिथिः । भिक्षितस्य यज्ञार्थपरिशेषितस्य कार्यान्तरायफलं काकता भासता प्राप्तिः ॥ २५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भिक्षित्वा द्विजेभ्योऽपि न प्रयच्छति तत्र यज्ञे न त्यजति ॥ २५ ॥

(३) कुल्लूकः । यज्ञसिद्धयर्थं धनं याचित्वा यो यज्ञे सर्वं न विनियुङ्के स शतं वर्षाणि भासत्वं काकत्वं वा प्राप्नोति ॥ २५ ॥

(४) राघवानन्दः । त्रैवर्णिकेभ्योऽपि यज्ञार्थं यावद्धनं गृहीतं कुतश्चिन्मिचित्तत्तदददन्पक्षिषु स्यादतस्तद्वश्यं यज्ञे
देयमिति सार्थवादमाह यज्ञंति । भासः परिक्षविशेषः । समाः अवदानव्याप्य ॥ २५ ॥

(५) नन्दनः । भिक्षितान्प्रतिग्राह्यान् भासोऽगृध्रविशेषः ॥ २५ ॥

(६) रामचन्द्रः । अर्थद्रव्यम् ॥ २५ ॥

देवस्त्वं ब्राह्मणस्त्वं वा लोभेनोपहिनस्ति यः ॥ स पापात्मा परे लोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति ॥ २६ ॥

(१) मेधातिथिः । यागशीलानां त्रयाणां वणिनां यद्विचिन्तते देवस्त्वं ब्राह्मणस्यायागशीलस्यापि यत्त्वं तद्ब्राह्मणत्वमिति एव-
मपि श्लोको मच्छत्येव अर्थवादश्लोकोऽसौ धनं यज्ञशीलानामिति न चौर्यादिशब्दवच्छब्दार्थपरिभाषापरोऽतो न्यथा व्या-
ख्यायते देवानुद्दिश्य यागादिक्रियार्थं धनं यदुत्सृष्टं तद्देवस्त्वं मुख्यस्य त्वत्त्वामिसं बन्धस्य देवानामसं भवान् । नहि देवताइच्छया
धनं नियुज्यते न च परिपालनव्यापारस्तासां दृश्यते त्वंच लोके तादृशमुच्यते तस्माद्देवोद्देशेन यदुत्तं नेदं मम देवताया इदमिति
तद्देवस्त्वं तच्च दर्शपूर्णमासादियागेष्वभ्यादिदेवताभ्यश्चोदितं शिष्टसमाचारप्रसिद्धयैव गौणोपायदुर्गायागादिषु । ननु चतुर्भुजादि-

प्रतिमासंबन्धिलोके देवस्वमुच्यते लोकप्रसिद्धश्चशब्दार्थः शास्त्रेग्रहीतुंन्याय्यः स्यादेवंयदिदेवस्वशब्दो निर्भागः प्रसिद्धिमुपेयात् देवानांस्वदेवस्वमित्यवयवप्रसिद्ध्या समुदायार्थः प्रकृष्टेनचवाक्यान्तरप्रकल्पना प्रमाणेनाप्यस्तिमुख्यंचतुर्भुजादीनां देवत्वं प्रतिमाव्यवहारेणैवापत्तं नच यद्युक्तलक्षणमस्ति अथसमाचारतोदेवत्वंभवतु स्वस्वामिभावस्तावन्नास्ति यथोक्तेन च प्रका-
रेण स्वव्यवहारोपपत्तिरिति शिष्टद्वितीये ॥ २६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । देवत्वं देवोद्देशेनोत्सृष्टं यज्वनांच धनम् ॥ २६ ॥

(३) कुहूकः । प्रतिमादिदेवतार्थमुत्सृष्टं धनं देवत्वं ब्राह्मणत्वं च योलोभादपहरति सपापत्वभावोजन्मान्तरे गृध्रोच्छि-
ष्टेन जीवति ॥ २६ ॥

(४) राघवानन्दः । यज्ञार्थेभिक्षितं देवत्वमिति ज्ञापयन्सदृष्टान्तनरकपातमाह । ब्राह्मणत्वमिति दृष्टान्तार्थम् ।
यथाहि विप्रधनं नरकोत्पादकं तथा देवत्वमपीति । तस्मादुभयं न ग्राह्यमिति ॥ २६ ॥

(५) नन्दनः । एतदेवोपपादयति देवत्वं ब्राह्मणत्वं चेति । यज्ञार्थयज्ञभिक्षितं देवत्वं ब्राह्मणत्वं चोपहिनस्त्यपहरति
सर्वप्रयच्छतीति यावत् उच्छिष्टजीवनं य उपयोगार्हद्रवोच्छेषणान् ॥ २६ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः लोभेन देवत्वं उपहिनस्ति नाशयति ॥ २६ ॥

इष्टिवैश्वानरी नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये ॥ कूपानां पशुसोमानां निष्कृत्यर्थमसंभवे ॥ २७ ॥

(१) मेधातिथिः । वैश्वानर्या इष्टे गृह्यस्मृतिभ्यः स्वरूपमवसातव्यंसमामे वर्षे द्वितीयवर्षस्य प्रवृत्तिरब्दपर्ययः । कूपो-
नां विहितानां पशुसोमानां नित्यानां षण्मास्यः सांवत्सरः पशुर्नित्यं वसन्ते सोमस्तेषामसंभवे घनाभावादिदोषेण निष्कृत्यर्थ-
नित्यस्याकरणे यो दोषस्तन्निवृत्त्यर्थं श्रुतेऽस्मिन्निमित्तेऽन्यकर्म समामनन्ति तत्र केचित्समुच्चयमन्यन्ते सत्यप्येककार्य-
त्वे प्रमाणभेदेन विधिना त्रतदयुक्तं तथाच ब्रह्महत्याप्रायश्चित्ते श्रौते स्मार्ते च स्वशब्देन विकल्पवक्ष्यति भिजिद्विश्वजिद्व्यां
चेति ॥ २७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इष्टिवैश्वानरीमिति पशुबन्धादिककरणाशक्तस्यानुकल्पो यागप्रसंगादुक्तः । कूपानां नि-
यतानामसंभवे घनाभावे न । निष्कृत्यर्थं प्रत्यवायानुत्पादार्थम् । पशुः पशुहविष्को यागः । सोमः सोमहविष्कः ॥ २७ ॥

(३) कुहूकः । समामे वर्षे द्वितीयवर्षस्य प्रवृत्तिरब्दपर्ययं चैत्रशुक्लादिवर्षप्रवृत्तिस्तत्र वर्षान्तरे वैश्वानरीमिष्टिवि-
हितसोमयागासंभवे तदकरणदोषनिर्हरणार्थं सर्वदा शूद्रादित उक्तधनग्रहणरूपमिष्टिकुर्यात् ॥ २७ ॥

(४) राघवानन्दः । यस्य त्रैवार्षिकमित्यत्र यागस्य कर्तव्यत्वां सामान्यतः प्रोक्तां विशेषे स्थापयति इष्टिमिति ।
मध्वापातइत्यादिनिन्दास्तु नित्यातिरिक्तविषयाः । अब्दपर्यये पूर्ववर्षसमापकोत्तरवर्षाद्यैत्रशुक्लप्रतिपदादिकाले कूपानां
आवश्यकत्वेन निष्कृत्यर्थं तदकरणपापनिवृत्त्यर्थम् ॥ २७ ॥

(५) नन्दनः । अथ पशुसोमयोः प्रत्यब्दं कर्तव्ययोरापदि प्रत्याग्रायमाह इष्टिवैश्वानरी चैवेति । नित्यमब्दं कूपानाम-
नुष्ठेयत्वेन विहितानां निष्कृत्यर्थं प्रत्याग्रायार्थं असंभवे द्रव्यासंभवे ॥ २७ ॥

(६) रामचन्द्रः । कूपानां नियतानां पशुसोमानां असंभवे अब्दपर्यये नित्यं वैश्वानरी इष्टिं प्रायश्चित्तार्थं निर्वपेत्
॥ २७ ॥

आपत्कल्पेन योधर्मकुरुते नापदि द्विजः ॥ सनामोति फलंतस्य परत्रेति विचारितम् ॥ २८ ॥

(१) मेधातिथिः । आपत्कल्पप्रतिनिधिवैश्वानरीवा विद्यमानधनयोगौणपक्षमाश्रयति तस्य नसोऽर्थः सिध्यति ॥ २८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नचैवं विभवेपि तन्मात्रेपि प्रत्यवायासंभवइत्याह आपत्कल्पेनेति ॥ २८ ॥

(३) कुल्लूकः । आपद्विहितेन विधिना योऽनापदि धर्मानुष्ठानं द्विजः कुरुते तस्य तत्परलोके निष्फलं भवतीति मन्वादिभिर्विचारितम् ॥ २८ ॥

(४) राघवानन्दः । तर्हि समर्थेनापि सैवेष्टिः कार्या कृतं पशुसोमैस्तत्राह आपदिति द्वाभ्याम् । आपत्कल्पेन प्रतिनिध्यादिना करोति तस्य कर्मणः फलं नामोति ॥ २८ ॥

(५) नन्दनः । संभवेतु मुख्यः कल्पएव कार्योनापत्कल्पइत्याह आपत्कल्पेन योधर्ममिति ॥ २८ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनापदि यः द्विजः आपत्कल्पेन आपत्कालसदृशेन व्यवहारेण धर्मकरोति तस्य धर्मस्य फलं नप्राप्नोति ॥ २८ ॥

विश्वेश्वदेवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ॥ आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः ॥ २९ ॥

(१) मेधातिथिः । एष एवार्थः आपदिप्रतिनिधिराश्रयितव्योनसंपदि ॥ २९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मरणाद्भीतैर्नासोमपोऽश्रयेतेत्यादिनिषिद्धोऽसोमपादिर्मरणभीतेः । विधेर्विहितस्य प्रतिनिधिः प्रतिरूपकः ॥ २९ ॥

(३) कुल्लूकः । विश्वेदेवाख्यैर्देवैः साध्यैश्च तथा महर्षिभिर्ब्राह्मणैर्मरणाद्भीतैरापत्सु मुख्यस्य विधेः सोमादेर्वैश्वानर्यादिः प्रतिनिधिरनुष्ठितोऽसौ मुख्यासंभवे कार्यः नतुमुख्यसंभवे ॥ २९ ॥

(४) राघवानन्दः । मरणादावश्यकानामकरणात्तज्जन्यनरकाद्वा भीतैस्तैः प्रतिनिधिः सोमाद्यभावे वैश्वानर्यादि च त्रयंसमुच्चयः ॥ २९ ॥

(५) नन्दनः । आपदित्वकरणादापत्कल्पएव श्रेयानिति परकतिरूपेणार्थवादेनाह विश्वेश्वदेवैरिति ॥ २९ ॥

(६) रामचन्द्रः । विधेर्विहितस्य पशुबन्धादिकर्मणः प्रतिनिधिः कृतः ॥ २९ ॥

प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते ॥ न सांपरायिकंतस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥ ३० ॥

(१) मेधातिथिः । अयमपि पूर्वशेषोऽर्थवादः । सांपरायिकं पारलौकिकम् ॥ ३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रभुः शक्तः । प्रथमकल्पस्य मुख्यस्य । अनुकल्पेन प्रतिनिध्यादिना । सांपरायिकं पारलौकिकम् ऐहिककीर्त्यादेस्तु लाभोभवत्येव ॥ ३० ॥

(३) कुल्लूकः । योमुख्यानुष्ठानसंपन्नः सन् आपद्विहितेन प्रतिनिधिनाऽनुष्ठानं करोति तस्य दुर्बुद्धेः पारलौकिकमभ्युदयरूपं प्रत्यवायपरिहारार्थं फलं न भवति आपत्कल्पेन योधर्ममित्यनेनोक्तमप्येतच्छास्त्रादरार्थं पुनरुच्यते ॥ ३० ॥

(४) राघवानन्दः । समर्थस्यापत्कल्पप्रवर्तने बाधकमाह प्रभुरिति । प्रभुर्मुख्यकरणे समर्थः । सांपरायिकं पारलौकिकम् ॥ ३० ॥

(५) नन्दनः । शक्तोमुख्यकल्पमेव कुर्यान्नानुकल्पमित्याह प्रभुः प्रथमकल्पस्येति । प्रभुः शक्तः प्रथमकल्पस्य मुख्यकल्पस्य सांपरायोविपत्ततउत्तारकं सांपरायिकं उक्तस्यार्थस्य पुनर्वचनमादरार्थम् ॥ ३० ॥

(६) रामचन्द्रः । शक्तः तस्य अनुकल्पकर्तुः सांपरायिकं पारलौकिकं फलं न विद्यते ॥ ३० ॥

न ब्राह्मणोवेदयेत किंचिद्राजनि धर्मवित् ॥ स्ववीर्येणैव तान् शिष्यान्मानवानपकारिणः ॥ ३१ ॥

(१) मेधातिथिः । निमित्तेऽभिचारो न दोषयेति श्लोकार्थः नत्वभिचारो विधीयते नच राजनि वेदनं प्रतिषिध्यते केवले सति निमित्तेऽभिचारितुं प्रवृत्तो राज्ञा न किंचिद्वक्तव्यः [तथा]^१ वक्ष्यति विधाता शासिता वक्तुं तस्मैनाकुशलं ब्रूयादिति राजेति प्रीतेऽभिहित्यादित्यपि । सत्यपि विधौ राजनि निवेदयेन् च प्रतिषेधउपसंहारश्लोकपर्यालोचनया तत्परमवतिष्ठते निमित्तानि चोक्तानि भार्यातिक्रमकारीचेत्यादीनि किंचित्पीडानिमित्तमनेन मे कृतमिति राज्ञे निवेदयेद्धर्मवित् अभिचारविधिज्ञः स्ववीर्येण मन्त्राभिशापाभ्यां तत्रैवोत्तरश्लोकार्थः ॥ ३१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र प्रसंगात्प्रायश्चित्तस्य वक्ष्यमाणस्य ब्राह्मणेन स्वशत्रावभिचारेण भार्यमाणे भाव्यो राज्ञे इवास्य शत्रुवधइत्याह न ब्राह्मण इति । वेदयेत निवेदयेत् ॥ ३१ ॥

(३) कुल्लूकः । धर्मज्ञो ब्राह्मणः किंचिदप्यपकृतं राज्ञः कथयेत् अपि तु स्वशक्त्यैव वक्ष्यमाणाभिचारादिनापकारिणो मनुष्यानि गृहीयात् ततश्च स्वकीयधर्मविरोधादपकृष्टपराधकरणे सत्यभिचारादि न दोषयेत्येवंपरमेतन्नत्वभिचारो विधीयते राजनि वेदनं वा निषिध्यते ॥ ३१ ॥

(४) राघवानन्दः । अदृष्टभये ब्राह्मणस्य तपएव साधनं दृष्टभयेतु किं स्यात्तत्राह नेति पञ्चभिः । वेदयेत न निवेदयेत् ममेदमपकृतमिति । स्ववीर्येण तपआदिना शिष्यानि गृहीयात् ॥ ३१ ॥

(५) नन्दनः । अथ शत्रुपीडापदि ब्राह्मणस्य कर्तव्यमाह न ब्राह्मणो वेदयेतेति । किञ्चिदपहरणम् ॥ ३१ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणः राजनि किंचित् स्ववीर्येणैव अभिचारं वर्तयन् न वेदयेत् न निवेदयेत् ॥ ३१ ॥

स्ववीर्याद्राजवीर्याच्च स्ववीर्यबलवत्तरम् ॥ तस्मात्स्वेनैव वीर्येण निगृहीयादरीन्द्रिजः ॥ ३२ ॥

(१) मेधातिथिः । राजा कदाचिदनिपुणतया न नियहेण प्रवर्तेत स्वतस्तु न कदाचिदुपेक्षेति स्ववीर्यबलीयः ॥ ३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बलवत्तरमधिकं प्रयत्नाधिक्यसंभवात् ॥ ३२ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मात्स्वसामर्थ्याद्राजसामर्थ्याच्च पराधीनराजसामर्थ्यापेक्षया स्वसामर्थ्यमेव स्वाधीनत्वाद्वलीयः तस्मात्स्वेन वीर्येणैव शत्रून् ब्राह्मणानि गृहीयात् ॥ ३२ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र हेतुः स्ववीर्यादिति । राजवीर्यस्य धनाद्युपाधिदर्शनात् ॥ ३२ ॥

(५) नन्दनः । अत्र हेतुमाह स्ववीर्याद्राजवीर्याच्चेति । द्विजः द्विजोत्तमः ॥ ३२ ॥

श्रुतीरथर्वाङ्महिसीः कुर्यादित्यविचारयन् ॥ वाक्शस्त्रवै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन्द्रिजः ॥ ३३ ॥

[तदस्त्रं सर्ववर्णानामनिवार्यं च शक्तिः । तपोवीर्यप्रभावेण अवध्या नपि बाधते ॥ १ ॥]^१

(१) मेधातिथिः । किं तत्त्ववीर्यमिति शङ्कानिवृत्त्यर्थोऽयं श्लोकः । श्रूयन्तइति श्रुतयः अथर्वणवेदे येऽभिचारप्रकाराः श्रुतास्ते कर्तव्या इत्यर्थः । बाहुल्येन तत्राभिचाराणां विधानात् अथर्वाङ्गिरसग्रहणं पुनरन्येषु वेदेष्वननुज्ञातं । अथवाऽभिचारश्रुतयोऽथर्वाङ्गिरसशब्दनोपात्ताः अथवाऽथर्वणशब्दाएवं विधेयार्थेऽप्युच्यन्ते यज्ञोऽथर्वणवित्काम्यइति ॥ ३३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः तच्छ्रुत्युक्तानि कर्माणि कुर्यात् इत्यनेन हेतुनेत्यर्थः । अभिचारयन्-
अभिचारप्रवर्तयन् ॥ ३३ ॥

(३) कुल्लूकः । तत्किं त्ववार्थमित्याह श्रुतीरिति । अथर्ववेदस्याङ्गिरसीर्दुष्टाभिचारश्रुतीरविचारयन्कुर्यात्तदर्थमभिचारमनुतिष्ठेदित्यर्थः यस्मादभिचारमन्त्रोच्चारणात्मिका ब्राह्मणस्य वागेव शस्त्रकार्यकरणाच्छस्त्रेण ब्राह्मणः शत्रून् हन्यान्तु-
शत्रुनियमाय राजा वाच्यः ॥ ३३ ॥

(४) राघवानन्दः । अथर्वाङ्गिरसीः अथर्ववेदअङ्गिरसादृष्टाभिचारश्रुतीः । अभिचारयन् अभिचाररीत्या तत्र हेतुः वाक्शस्त्रं तेन अरीन्पकारिणः ॥ ३३ ॥

(५) नन्दनः । हेत्वन्तरमप्याह श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीति । अभिचारितमभिचारितमभिचारं कुर्यादित्यथर्वशिरसि श्रुतिवाक्यमस्ति तेन युक्तं तदाश्रयणमिति तच्चाङ्गं सर्वशास्त्राणामिति तच्चाभिचारितं मातृरूपं शस्त्रं वाङ्मन्त्रस्तेन वाङ्मयेन शस्त्रेण ॥ ३३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अथर्वाङ्गिरसीः श्रुतीः अभिचारयन् । वाक्शस्त्रं आथर्वश्रुत्युपचाररूपं कुर्यात् ॥ ३३ ॥

क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः ॥ [तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्रामोति परमांगतिम् ॥] † धनेन वैश्यशूद्रौ तु जपहोमैर्द्विजोत्तमः ॥ ३४ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वशेष एव ॥ ३४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धनेन राज्ञे धनं दत्त्वा तेन स्ववैरिमारणेन ॥ ३४ ॥

(३) कुल्लूकः । क्षत्रियः स्वपौरुषेण शत्रुतः परिभवलक्षणमात्मन आपदं निस्तेरेत् वैश्यशूद्रौ पुनः प्रतिकर्त्रे धनदानेन ब्राह्मणस्त्वभिचारात्मकैर्जपहोमैः ॥ ३४ ॥

(४) राघवानन्दः । अत्रार्थे दृष्टान्तः क्षत्रियइत्यादि । प्रासंगिकमुपायपरं वा । जपहोमैरभिचारात्मकैः । विकल्पस्त्वरिगतगुणवत्त्वाद्यपेक्षया । एतेन क्षत्रियादीनां । न वाक्शस्त्रावरणमित्युक्तम् ॥ ३४ ॥

(५) नन्दनः । नेयं वर्णानामापदि प्रतीकारोपायव्यवस्थेत्याह क्षत्रियो बाहुवीर्येणेति ॥ ३४ ॥

(६) रामचन्द्रः । वैश्यशूद्रौ राज्ञे धनदानेन ॥ ३४ ॥

विधाता शासिता वक्ता मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ तस्मै नाकुशलं ब्रूयान् शुष्काङ्गिरमीरयेत् ॥ ३५ ॥

(१) मेधातिथिः । प्राग्व्याख्यातोयं तस्मै ब्राह्मणायाभिचरेण निगृह्यतामयमित्यकुशलं ब्रूयात् न शुष्काङ्गिरमीरयेत् वाग्दण्डधिग्दण्डयोरपि प्रतिषेधः । अथवा सर्वेषां वर्णानां ब्राह्मणः क्षोभयितव्यो यस्त्रयीविद्याप्रभावेण शक्तः स्वयं निग्रहीतुं

विधाता सृष्टान्यस्य राज्ञः शासितानियहीता वक्ता हितानतोमैत्रस्तस्मात्सर्वप्रशक्तियुक्तत्वान्दुर्बल्यमित्यवमन्तव्यः ॥ ३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विधाता यज्ञादिद्वारेण जगतःसृष्टा । शासिताऽधर्मस्य । वक्ताऽध्यापकः । मैत्रोऽर्हिसः । अतोबहूपकारकत्वादकुशलमयुक्तं हिंसादि न कुर्यात् । शुष्कांपर्युषिताम् ॥ ३५ ॥

(३) कुट्टूकः । विहितकर्मणामनुष्ठाता पुत्रशिष्यादीनां शास्ता प्रायश्चित्तादिधर्माणांवक्ता सर्वभूतमैत्रीप्रधानोब्राह्मणउच्यते । तस्मै निगृह्यतामयमित्येवमनिष्टं ब्रूयान्नापि साक्रोशावाचंवाग्दण्डधिग्दण्डरूपांतस्योच्चारयेत् ॥ ३५ ॥

(४) राघवानन्दः । अन्येषां विप्रापेक्षत्वं विप्रात् भीतिं च व्यञ्जयस्तस्यत्वन्धत्र नैरपेक्ष्यमाह विधातेति । विधाता कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुंसमर्थः । शासिता वाक्शस्त्राद्यैर्वक्ता धर्मादेः मैत्रोहितानुसंधाता । अकुशलं बोधत्सम् । शुष्कां शोकजननीं आक्रोशवाचकमिति यावत् ॥ ३५ ॥

(५) नन्दनः । तस्माद्ब्राह्मणोनावमन्तव्यइति प्रसङ्गादाह विधाताशासितावक्तेति । अभिचारादीनांविधाता शासिता कारयिता वक्ता उपदेष्टा मित्रस्यभावोमैत्री तद्वाच्यैः सर्वभूतहितः अकुशलमनिष्टं शुक्तं विरसम् ॥ ३५ ॥

(६) रामचन्द्रः । विधाता यज्ञादिद्वारेण जगतः सृष्टा । शासिता धर्मस्याध्यापकः । वक्ता हितानाम् तस्मै ब्राह्मणाय अकुशलं ब्रूयात् । न शुष्कां निष्ठुरां गिरं ईरयेत् ॥ ३५ ॥

नवै कन्या नयुवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः ॥ होता स्यादग्निहोत्रस्य नात्तोर्नासंस्कृतस्तथा ॥ ३६ ॥

(१) मेधातिथिः । अग्निहोत्रे ऋत्विग्वरणस्यसमाप्तानां जुहुयाद्वावयेद्वेति स्त्रीपुंसयोरविशेषेण क्षीरहोतृताप्रामौ-
कन्यायुवत्योः प्रतिषेधः । एवमाहुतिद्वयमात्रविधिज्ञस्याल्पविद्यस्य बालिशस्य वाप्राप्तिः प्रतिषिध्यते । आत्तोर्व्याधिना असं-
स्कृतोनुपनीतः एतच्चायुक्तं श्रौते ह्यग्निहोत्रे स्वयंपर्वणि जुहुयात् ऋत्विजामेकइतरेषांकालमिति समाचरन्ति नच स्त्रीणामा-
र्त्विज्यसंभवोतोगृह्याग्निविषये कन्यायुवत्योः प्रतिषेधोजातपुत्रायाः प्राप्स्येति वर्णयन्ति । तथाचान्येपि सूत्रकाराः कामंगृ-
ह्येऽग्नौ पत्नीजुहुयात्सायंप्रातर्होमाविति अन्येतु वैतानकुशलइति वचनाच्चेताग्निविषयमेवेदमन्यन्ते वितानो विहारः सच
श्रौतेष्वग्निषु संभवति नच तत्रस्यादीनांप्राप्तिर्नत्वविदुषां विशिष्टानामिव पुंसामार्त्विज्यविधानात् अतोऽग्निहोत्रग्रहणंसर्वकर्म-
णांहोतृग्रहणंच सर्वार्त्विजांप्रदर्शनार्थमतः श्रुत्यर्थानुवादमात्रमेषास्मृतिः ॥ ३६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यथा कन्यादयोहोतारस्तथा अविद्योऽतिबालोऽुःखाद्यार्त्तश्च न होतास्यादिति त्रितयद-
ष्टान्ततया त्रयाणां कन्यायुवत्यसंस्कृतानामभिधानम् । अतएवाग्रे तथैवोपसंहारः ॥ ३६ ॥

(३) कुट्टूकः । कन्याऽनूढा ऊढापि तरुणी तथाऽल्पाध्यायिमुख्यव्याध्यादिपीडितानुपनीताः श्रौतान्सायंप्रातर्होमान्
कुर्युः । हावयेदिति प्रसक्तवयंकन्यादीनांप्रतिषेधः ॥ ३६ ॥

(४) राघवानन्दः । विधेः प्रतिनिधिरित्युक्तेनासमर्थस्य नित्ये प्रारब्धे वा कर्मणि प्रतिनिधिः प्राप्तस्तं विशिनष्टि
नेति । कन्या युवतिश्च ऊढानूढे ॥ असामर्थ्ये शरीरस्य व्रतेच समुपस्थिते । कारयेद्धर्मपत्नीं वा पुत्रं वा विनयान्वितमिति ॥
स्वपत्न्याः प्रतिनिधित्वेन प्रापितत्वात् । बालिशोदिहमात्राहंबुद्धिरधीतवेदेवेदाङ्गोपि नास्तिकः अल्पविद्यनिरासेन मूर्खस्य
निरस्तत्वात् । आत्तोर्रोगी । असंस्कृतोऽनुपनीतइति प्राप्तपुत्रनिषेधार्थः ॥ ३६ ॥

(५) नन्दनः । आपद्यग्निहोत्रहोमोऽर्हणैर्वकर्तव्योनानर्हणेति । श्लोकद्वयेनाह नैवकन्यानयुवतीरिति । अल्पविद्यो-
ऽमन्त्रज्ञः असंस्कृतोऽनुपनीतः ॥ ३६ ॥

नरके हि पतन्त्येते जुह्वतः सच यस्य तत् ॥ तस्माद्वैतानकुशलोहोता स्याद्वेदपारगः ॥ ३७ ॥

(१) मेधातिथिः । एतेकन्यादयो जुह्वतो नरकं गच्छन्ति सच यजमानो हावयिता ॥ ३७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतेऽल्यविद्यादयो जुह्वतो होमकुर्वाणाः । यस्य तदग्निहोत्रम् । वैतानमग्निहोत्रकर्म तत्र कुशलः शक्तोऽबालत्वानात्तत्वाभ्याम् । वेदपारगोतिविद्यः ॥ ३७ ॥

(३) कुहूकः । एते कन्यादयो होमकुर्वाणानरकं गच्छन्ति यस्य तदग्निहोत्रप्रतिनिधिरूपेण कुर्वन्ति सोऽपि नरकं गच्छति तस्माच्छ्रौतकर्मप्रवीणः समस्तवेदाभ्यासी होता कार्यः ॥ ३७ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव निन्दाप्रदर्शयस्तद्यतिरिक्तान्द्रध्यति नरकमिति । तदग्निहोत्रं जुह्वतः कुर्वाणाः एते यस्य सोऽपि नरकं पतत्यतो वैतानकुशलः श्रौतकर्मकुशलः होता स्यादित्यन्वयः ॥ ३७ ॥

(५) नन्दनः । एते कन्यादयो यस्याहिताग्नेस्तदग्निहोत्रं सच नरके पतति ॥ ३७ ॥

(६) रामचन्द्रः । एते कन्यादयः । तत् अग्निहोत्रं यजमानः प्रतिनिधित्वेन होमं कुर्वाणः सः नरके पतति ॥ ३७ ॥

प्राजापत्यमदत्वा श्वमग्न्याधेयस्य दक्षिणाम् ॥ अनाहिताग्निर्भवति ब्राह्मणो विभवे सति ॥ ३८ ॥

(१) मेधातिथिः । अग्न्याधेयेऽश्वो दक्षिणा दातव्या प्राजापत्यग्रहणं स्तुत्यर्थं अथवा नात्युत्कृष्टो नातिनिरुष्टः प्राजापत्यः अथच लौकिकार्हदशेवस्तुनि प्रजापति शब्दमुदाहरन्ति विभवे सतीति वचनादसंपत्तावददद्भवत्यैवाहिताग्निः ॥ ३८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रजापतिः पञ्चाग्निरूपो विराट् तत्संबन्धिनं तन्निष्पत्त्यर्थत्वात् । अनाहिताग्निरित्याहवनीयाद्यसिद्धिरुक्ता ॥ ३८ ॥

(३) कुहूकः । आधाने प्राजापत्यमश्वं प्रजापतिदेवताकंधनसंपत्तौ सत्यां ब्राह्मणो दक्षिणामदत्वा कृतेऽप्याधानेऽनाहिताग्निर्भवति आधानफलं लभते तस्मादाधानेऽश्वं दक्षिणां दद्यात् ॥ ३८ ॥

(४) राघवानन्दः । समर्थस्यानुकल्पनिषेधेन दक्षिणाननुकल्पं प्राप्तमनूय तत्रैव विशेषमाह प्राजापत्यमिति । प्राजापत्यं प्रजापतिदेवताकं प्रजापतिर्विराट् सयथा अस्मदादिहिरण्यगर्भयोर्मध्यमएवं मध्यमपरिमाणोऽश्वो वा । विभवे सतीति विशेषणमत्र स्तुतिः । अनाहिताग्निरसंस्कृताग्निः ॥ ३८ ॥

(५) नन्दनः । आपद्यग्न्याधाने किञ्चिन्यूनापि दक्षिणा दातव्येति सूचितम् ॥ ३८ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्राजापत्यं प्रजापतिरूपो विराट् तत्संबन्धिनं अश्वं अग्न्याधेयस्य दक्षिणां अदत्वा अनाहिताग्निर्भवति ॥ ३८ ॥

पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्धधानोजितेन्द्रियः ॥ नत्वल्पदक्षिणैर्यज्ञैर्यजेतेह कथंचन ॥ ३९ ॥

(१) मेधातिथिः । यावती दक्षिणा विहिता ततोऽन्यूना दीयते यत्र सोऽल्पदक्षिणो यज्ञः परिक्रयः किल दक्षिणा स्वल्पेन चेत्परिक्रयेण कर्मकरोलभ्यते किमिति बहुदीयते लोकइवाहादीनां पणलभ्यं हि कः प्राज्ञः क्रीणाति दशभिः पणैर्द्वादशशतदानं तत्फलभूयस्त्वायेति मन्यमानस्य प्रतिषेधः । ये तु स्वल्पदक्षिणा उत्पत्यैव च सोमे दक्षिणेति क्रतुमन्तोन तन्निषिध्यते ॥ ३९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पुण्यान्यन्यानि जपादीनि ॥ ३९ ॥

(३) कुहूकः । श्रद्धावान्वशीकृतेन्द्रियः यज्ञव्यतिरिक्तानि तीर्थयात्रादीनि कर्माणि पुण्यानि कुर्वीत नतु शास्त्रोक्तदक्षिणातोऽल्पदक्षिणैर्यजेत परोपकारार्थत्वादक्षिणायाः स्वल्पेनापि ऋत्विगादिदोषनिषेधार्थमिदं वचनम् ॥ ३९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच पुण्यानीति । अन्यान्यल्पधनसाध्यानि अन्नदानादीनि ॥ ३९ ॥

(५) नन्दनः । अग्न्याधानएवानुकल्पदक्षिणा न यज्ञेष्वित्याह पुण्यान्यन्यानि कुर्वीतेति ॥ ३९ ॥

इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्तिप्रजाः पशून् ॥ हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नल्पधनो यजेत् ॥ ४० ॥

[अन्नहीनो देहेद्राष्ट्रं मन्त्रहीनस्तु ऋत्विजः । दीक्षितं दक्षिणाहीनो नास्ति यज्ञसमोरिपुः ॥ १ ॥]*

(१) मेधातिथिः । पूर्वविध्यतिक्रमेफलकथनम् ॥ ४० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यशः परैर्गुणज्ञानम् । कीर्तिः परैस्तत्कीर्तनम् ॥ ४० ॥

(३) कुहूकः । चक्षुरादीनोन्द्रियाणि जीवतः ख्यातिरूपं यशः स्वर्गायुषीमृतस्य ख्यातिरूपां कीर्तिमपत्यानि पशून् श्राल्पदक्षिणो यज्ञः नाशयति तस्मादल्पदक्षिणादानेन यागं न कुर्यात् ॥ ४० ॥

(४) राघवानन्दः । दक्षिणानुकल्पाभावं सार्थवादं निगमयति इन्द्रियाणीति । उक्तप्राजापत्याश्वद्वादशशतादि दक्षिणागुणसंख्याभावेऽसाङ्गत्वात्स्वर्गस्य हतिः इतरेषां ब्राह्मणापरितोषादिभिरिति भावः ॥ ४० ॥

(५) नन्दनः । अत्र हेतुमाह इन्द्रियाणियशः स्वर्गमिति ॥ ४० ॥

(६) रामचन्द्रः । अल्पदक्षिणः यज्ञः इन्द्रियादीनि हन्ति ॥ ४० ॥

अग्निहोत्र्यपविध्याग्नीन्ब्राह्मणः कामकारतः ॥ चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमं हि तत् ॥ ४१ ॥

(१) मेधातिथिः । अपविध्यत्यक्त्वा त्यागश्च नित्यानामग्निहोत्रादीनां अकरणमुद्घापनं च प्रसङ्गादत्र प्रकरणात्प्रायश्चित्तोपदिशोऽग्नीनि तिबहुवचननिर्देशात् गृह्याग्नित्यागे कल्पना कार्या वीरहत्यासमामिति श्रुतिर्वीरहावा एष देवानामिति कामकारवचनादकामत्यागे कल्पनैव ॥ ४१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चान्द्रायणं चरेत्तच्चरणानन्तरं पुनरादध्यादित्यर्थः । वीरहत्या पुत्रहत्या स्वयमुत्पादितत्वादग्नीनां वीर इति पुत्रनाम ॥ ४१ ॥

(३) कुहूकः । अग्निहोत्री ब्राह्मण इच्छातोषिषु सायंप्रातर्होमानकृत्वा मासं चान्द्रायणं चरेत् यस्माद्वीरः पुत्रः तस्य हत्या हननं तत्तुल्यमेतत्तथाच श्रुतिः वीरहावा एष देवानां भवतियोऽग्निमुद्घासयते अन्येतु मासमपविध्येति समर्थयन्ति ॥ ४१ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच अग्नीति । अपविध्य त्यक्त्वा । कामकारतः शास्त्रादृते । चान्द्रायणचरणे हेतुः वीरं वीरहत्या वीरो देवो ज्येष्ठपुत्रो वा तस्य हत्या हननं । तथाच श्रुतिः । वीरहावा एष देवानां योऽग्निमुद्घासयेदिति ॥ ४१ ॥

(५) नन्दनः । अनापद्यग्निहोत्रं परित्याज्यमित्याह अग्निहोत्र्यपविध्याग्नीनि । कामकारतोऽनापदीत्यर्थः । वीरहत्याऽयुध्यमानस्य क्षत्रियस्य वधः तदपिवेधनं कामकारत इति विशेषणादापदि दोषाभावः सूचितः ॥ ४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । कामकारतो अग्निहोत्री ब्राह्मणः अग्नीन् अपविध्य परित्यज्य मासं चान्द्रायणं चरेत् । वीरहत्यासमं पुत्रहत्यासमम् । व्रतं चरेत् । वीरहा वा एष देवानामिति श्रुतेः ॥ ४१ ॥

* दोषनिषेधार्थं=तोषसिद्धौ (अ)

† (अ, ट, ठ, ड, य, ल)

ये शूद्रादधिगम्यार्थमग्निहोत्रमुपासते ॥ ऋत्विजस्ते हि शूद्राणां ब्रह्मवादिषु गर्हिताः ॥ ४२ ॥

(१) मेधातिथिः । शूद्रादधिगतेनार्थेन प्रीत्यादिनाऽऽध्याधेयनकर्तव्यमिति व्याचक्षते नतु प्रवृत्तकर्मणो नित्यकर्मानुष्ठानप्रतिषिध्यते । तथाचोक्तं न शूद्राद्विहितानुष्ठानं करणीयमयाचितलाभेन नास्ति दोषः प्रवृत्तकर्मणस्तदर्थं तथाचासत्प्रतिग्रहादात्मवृत्तिरेका प्रतिषिद्धा नित्यानि कर्माण्यभ्यनुज्ञातान्यतः शूद्रधनेन प्रार्थितलब्धेन वाऽविशेषाभिधानसामर्थ्यादध्याधेयस्यैवास्य प्रतिषेधोयं विज्ञायते । यदि सर्वकर्मार्थोयं प्रतिषेधः स्यादनेनैव सिद्धत्वान्नभिक्षणं प्रतिषिध्येत न यज्ञार्थधनं शूद्रादिति अग्नीनां वृषलाभ्युपसेविनां लिङ्गात् ॥ ४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्रह्मवादिनो वेदवादिनः ॥ ४२ ॥

३) कुल्लूकः । ये शूद्रादधिगम्यार्थं प्राप्य सामान्याभिधानेन याचनेन वाऽर्थस्वीकृत्य वृषलाभ्युपसेविनामिति वक्ष्यमाणलिङ्गादाधानपूर्वकमग्निहोत्रमनुतिष्ठन्ति ते शूद्राणामेव याज्ञकान्तु तेषां तत्फलं भवति अतस्ते वेदवादिषु निन्दिताः ॥ ४२ ॥

(४) राघवानन्दः । पूर्वं न यज्ञार्थमित्यनेन शूद्रभिक्षितेन न यज्ञादिकं कर्तव्यमित्युक्तं संप्रति विधितया शूद्राग्निहोत्रोपासकान्प्रत्याह यदिति । अधिगम्य तवाग्निहोत्रं कर्तास्मीति धनमादाय ॥ ४२ ॥

(५) नन्दनः । आपद्यपि न शूद्रादग्निहोत्रार्थमतिग्रहः कार्य इत्याह श्लोकद्वयेन येशूद्रादधिगम्यार्थमिति ॥ ४२ ॥

(६) रामचन्द्रः । ये शूद्रात् अर्थं प्राप्य अग्निहोत्रं उपासते ॥ ४२ ॥

तेषां सततमज्ञानां वृषलाभ्युपसेविनां ॥ पदा मस्तकमाक्रम्य दाता दुर्गाणि संतरेत् ॥ ४३ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वविध्यतिक्रमे दोषाभिधाने निखिलप्रकरणमेतत् ॥ ४३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दाता सशूद्रः । तदेतत्सर्वमग्निहोत्रविषयप्रसंगादुक्तम् ॥ ४३ ॥

(३) कुल्लूकः । तेषां शूद्रधनाहिताग्निपरिचारिणां भूखाणां भूग्निपादंत्वा शूद्रस्तेन दानेन सततं परलोकैः दुःखेभ्यो निस्तरति नतु यजमानानां फलं भवति ॥ ४३ ॥

(४) राघवानन्दः । ततः किं तत्राह तेषामिति । पदा पादेन । दाता प्रतिनिध्यर्थधनस्य । दुर्गाण्यापदः ॥ ४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । वृषलानां द्रव्येणाभ्युपसेविनां मस्तकं पदा चरणेन अज्ञादीनां मस्तकं आक्रम्य दाता दुर्गाणि नरकान् संतरेत् ॥ ४३ ॥

अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ॥ प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ ४४ ॥

(१) मेधातिथिः । इदानीं प्रकृतान्येव प्रायश्चित्तानि कथ्यन्ते प्रथमं तावत्तेष्वधिकारं निरूपयति । कोत्राधिकारो विहितनित्यनयासंभ्योपासनाग्निहोत्रादियावज्जोवमग्निहोत्रं जुहुयादित्यादिभिः पदैर्ज्ञापितनित्यभावात् यदप्यनियतनिमित्तेऽशुचिः स्पर्शनादौ स्नानादितद्विहितमकुर्वन्प्रमादालस्यादिना तथानिन्दितं प्रतिषिद्धं सुरापानादि तदपि शास्त्रमतिक्रम्य सेवमानः प्रायश्चित्तीयते तदेतदुक्तं भवति नैमित्तिको यमधिकारी विहिताकरणात्प्रतिषिद्धसेवनाच्च प्रायश्चित्तं ननु च ग्रामकामस्य सांग्रहणीविहिता ततो ग्रामार्थिनः कथांचिदकरणे विहितातिक्रमः स्यात् यदि नाम ग्रामार्थी प्रत्यवेयात्तस्तत्कामोस्य यदा तु ग्रामकामयते तदा तस्य तद्विहितं भवति न चेत्प्रवर्तते विहितमतिक्रमेदतश्च प्रायश्चित्ते प्राप्त उच्यते ग्रामस्य स्वा-

मीस्यामिति फललिप्सया तस्य तत्र प्रवृत्तिर्नविधिलक्षणा शास्त्रं तु यागग्रामयोः साध्यसाधनसंबन्धावेदकमेव वस्तुतोय-
द्यपि तत्रापि कर्तव्यता प्रधानप्रसाधनोवाक्यार्थस्तथापि फलासिद्ध्यर्थमेव कर्तव्यताविधिरवगमयत्यतश्च नावगमकु-
र्वतः फलनिषिध्यते नपुनः प्रत्यवायोत्र प्रत्यवायस्तत्र च प्रायश्चित्तं ननु च नित्यानामकरणे प्रत्यवायोभवतीतिकुत-
यमवगतिः नस्तेवमग्निहोत्रादौ श्रूयते योन कुर्यात्सप्रत्यवेयात् श्रूयते वाक्यशेषेषु वेदिभ्यः परमाभवतीति सर्वत्रार्थ-
वादाः प्रत्यवायप्रदर्शनार्थाः सन्ति । अवश्यंचतेषामालंबनं वाच्यं नान्यथाविधिनैकवाक्यतां भजंति यत्रापि न श्रूयन्ते तत्रा-
पि विध्यनुग्रहार्था अर्थवादाः प्रकल्प्यन्ते किंचार्थवादौ विधेरेव प्रवर्तकत्वमन्यथानोपपद्यते । यावदप्रवृत्तौ प्रत्यवायप-
रिहारो न कल्पित एवं विधे एवार्थवृद्धयवहारे विधिः प्रवर्तते बाध्यते तु पुरुषप्रवर्तना रूढोसौ न च पुरुषा अपुरुषार्थप्रवर्तयितुं-
शक्यन्तेऽतः प्रवर्तकत्वविहितविधिर्मा भूदिति श्रुतिसिद्ध्यर्थकल्पनैषा । यद्यपि त्वर्गादिकल्पनानामपि तथार्थलाभस्तथापि
यावज्जीवादिपदविरोधात्प्रत्यवायपरिहारार्थतापिस्यात् । उक्तं ॥ भयाद्विद्यादशीपुंसां प्रवृत्तिरुपजायते ॥ न तादृशी भवेदत्र वि-
धिकोऽपि तैरपि ॥ तस्मादकुर्वन्विहितमिति नित्यं कर्मेति द्रष्टव्यं । ननु चाशुचिस्पर्शनादौ न नित्यावेदिकं चित्पदमस्ति याव-
ज्जीवमित्यादिवत् किमत्रान्येन पदेन निमित्तविशेषेयत् श्रुतंतस्य च तन्निमित्तेन कर्तव्यता नाम प्रतीयते नाधिकारान्तरं प्रत्य-
पेक्षा याजायते यदानि निमित्तसंविधानंतदाकर्तव्यमित्युपगमैर्नित्यतासिद्धिरग्निहोत्रादावपि न नित्यशब्दोऽस्ति निमित्य-
नित्यत्वात् । प्रसजन्नविदितत्वेऽपि विषयेषु संस्कृतान्नभोजनचन्दनानुलेपनादिषु तात्पर्यत आसेवाप्रसङ्गो विषयाभिलाषपरतेति
यावत् ननु चैतदपि प्रतिषिद्धमिन्द्रियैः सुखलुब्धेषु न प्रसज्येत कामतदिति स्नातकव्रताधिकारान्नायं प्रतिषेध इति मन्यते । व्रत-
शब्दाधिकारे हितव्रतप्रतिषेधकः संकल्पविशेषो हि मानसस्तत्रोपदिश्यत इदं मयानकर्तव्यमिति । अथ वा काश्चिदल्पप्रतिषेधेन तु-
ल्यतां मन्येत पदार्थस्तावदयं न निषिध्यत इति मन्यमानोऽतः समानीक्रियते अथ वा सामान्येतद्भूतस्यापि विशेषस्य पृथगुपदे-
शो दृष्टः प्राधान्यरूपापनार्थं यथा ब्राह्मणा आयाता वसिष्ठोऽप्यायात इति प्रायश्चित्तीयते प्रायश्चित्तशब्दो रूढिरूपेण विशिष्टेनै-
मित्तिके वर्तते तदेतीच्छतिवेति विनिमयः कर्तव्योऽव्यत्ययो बहुलमिति नर इति वचनंचातुर्वर्ण्याधिकारार्थम् ॥ ४४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवं प्रासंगिकं तत्तद्विधिं समर्थं प्रकृतं प्रायश्चित्तमुपक्रमते अकुर्वन्निति । विहितं नित्यं-
संध्योपासनादि न तु काम्यमपि । निन्दितं निषिद्धं परस्त्रीगमनकलञ्जभक्षणादि समाचरंस्तद्विषयं कायव्यापारं कुर्वन् ।
इन्द्रियार्थेषु तेष्वेव प्रसजन् मनसा व्याप्रियमाणः । एतेन निषिद्धविषयौ कायिकमानसव्यापारौ गृहीतौ । वाचिकोपि
व्यापारः प्रायिक एव । प्रायश्चित्तीयते प्रायश्चित्ताहो भवति ॥ ४४ ॥

(३) कुल्लूकः । नित्यं यद्विहितं सन्ध्योपासनादि नैमित्तिकं च शवस्पर्शादौ स्नानादि तदकुर्वन् तथा प्रतिषिद्धं हिंसाद्यनु-
तिष्ठन्नविहितनिषिद्धेष्वत्यन्तासक्तिं कुर्वन्नरो मनुष्यजातिमात्रं प्रायश्चित्तमर्हति नन्विन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत । काम इति
निषेधान्निन्दितपदेनैव प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेष्वित्यपि संगृहीतमतः पृथङ् न वक्तव्यं उच्यतेऽस्य स्नातकव्रतेषु पाठात्तत्र व्रतानी-
मानि * धारयेदित्युपक्रमान्नायं प्रतिषेधः किन्तु व्रतविधिः तस्मात्कुर्वन्विहितं कर्मेत्यनेनैव प्राप्तत्वात्पृथङ् न वक्तव्यमिति चेन्न
स्नातकेतरविषयत्वेनास्य सविषयत्वात् ॥ ४४ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रायश्चित्तार्थं तन्निमित्तान्यनुवदति अकुर्वन्निति । विहितमग्निहोत्रादि । निन्दितं ब्राह्मणप्रधा-
दि । प्रसजन् अत्यन्तं प्रसक्तिं कुर्वन् स्वदारेष्वनृतौ गच्छन् अरण्येष्वपि दिवा स्त्रीसंभोगत्रिचतुर्वारं भोजनादौ प्रायश्चित्तीयते
तदधिकारी च । [स्यात्पापं] विशोधकं कर्म प्रायश्चित्तं तदकरणे नरकः । तत्र याज्ञवल्क्यः ॥ विहितस्याननुष्ठाना-
न्निन्दितस्य च सेवनात् ॥ अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छतीति ॥ ४४ ॥

(५) नन्दनः । अथप्रायश्चित्तवक्तुंप्रायश्चित्तनिमित्तानि तावत्सामान्यतआह अकुर्वन्विहितकर्मैति । विहितंनित्य-
नैमित्तिकं । निन्दितंप्रतिषिद्धं । प्रसजन्प्रकर्षेण सङ्कुर्वन् ननुइन्द्रियार्थेषु नप्रसज्येत प्रसङ्गोपि निषिद्धएव तद्धि स्नातकब्रा-
ह्मणमात्रविषयमन्नरग्रहणं मनुष्यमात्राधिकारार्थम् ॥ ४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । विहितकर्म सन्ध्योपासनादि ॥ ४४ ॥

अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तंविदुर्बुधाः ॥ कामकारकृतेप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ४५ ॥

(१) मेधातिथिः । कामकारकृतेप्यतिक्रमे प्रायश्चित्तगौरवार्थमिदमुच्यते । अकामतः कृतइति प्रमादकृतेपापे शा-
स्त्रव्यतिक्रमे प्रायश्चित्तमाहुः कस्य पुनर्हेतोर्विधिःप्रतिशास्त्रमतिक्रम्याकार्यं प्रवर्तते सप्रायश्चित्तमाचरिष्यतइति । कांत्रवि-
शेषहेतुस्तस्मात्कामकृते दोषे प्रायश्चित्तंशास्त्रानर्थक्यमिति मन्यन्ते । एवंपूर्वपक्षभङ्गोपन्यस्यति कामकारकृतेऽपीति
शब्दात्कामतोऽकामतश्चकृते व्यतिक्रमे प्रायश्चित्तंकर्तव्यमितिशास्त्रार्थः । श्रुतिनिदर्शनादिति वैदिकलिङ्गनिदर्शनमुपह्वयब्राह्म-
णमुपकर्तव्यं । इन्द्रोयतीन्सालावृकेभ्यः प्रायच्छत् नच श्वभ्योदानंयतीनामकामतः संभवति उपह्वयंप्रायश्चित्तार्थप्रजापति-
रिन्द्रायप्रायच्छदिति स्पष्टार्थः ॥ ४५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रायश्चित्तं पापनिर्णोजकंतपोविदुषःकर्तव्यत्वेन । कामकारकृतेतु महापातके वैधमरणा-
न्निष्कृतिरन्यथातु भोगादेवेति केषांचिन्मतम् । तत्र स्वमतं प्रमाणदर्शनपूर्वकं दर्शयति कामकारेति । कामकारः कामपू-
र्वकः प्रयत्नः । तरतिमृत्युं तरतिब्रह्महत्यां योश्चमेधेन यजतइतिश्रुतिः । नचात्राकामकृता ब्रह्महत्या ग्राह्या । इन्द्रोयती-
न्सालावृकेभ्यः प्रायच्छत्तमश्लीलावागभ्यदत्सप्रजापतिमुपाधावत्तस्मात्तमुपह्वयंप्रायच्छदितिप्रक्रमान्चाज्ञानादेवात्रापि
हृत्येति प्रकल्प्यं यतीनां तपसोभयादेव । तेन ज्ञात्वा घातनस्य प्रकृतत्वादि [यदाचैवस्थितंतदाह अकामतइति । अ-
कामतोऽज्ञानेस्तप्यपि अग्रेमोहादित्युक्तः । वेदाभ्यासेन गायत्र्यादिजपेन । विप्रस्य जप्येनैवतुसंसिध्येद्ब्राह्मणइ]* त्युक्त-
त्वात् ॥ ४५ ॥

(३) कुल्लुकः । अबुद्धिकृते पापे प्रायश्चित्तंभवतीत्याहुः पण्डिताः एके पुनराचार्याः कामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं-
भवतीत्याहुः एतच्च पृथक्कृत्याभिधानंप्रायश्चित्तगौरवार्थंश्रुतिनिदर्शनादिति । इन्द्रोयतीन्सालावृकेभ्यः प्रायच्छत् तम-
श्लीलावागित्यवदत् सप्रजापतिमुपाधावत्तस्मात्तमुपह्वयंप्रायच्छदिति अस्यार्थः इन्द्रोयतीन्बुद्धिपूर्वकंश्वभ्योदत्तवान्सप्रायश्चि-
त्तार्थप्रजापतिसमीपमगमत्तस्मैप्रजापतिरुपह्वयारुख्यंकर्मप्रायश्चित्तंदत्तवान् । अतः कामकारकृतेप्यस्ति प्रायश्चित्तम् ॥ ४५ ॥

(४) राघवानन्दः । इच्छानिच्छाकृते पापे मतभेदं प्रदर्शयन्प्रायश्चित्तमाह अकामतइतिद्वाभ्याम् । श्रुतिनिदर्श-
नात् इन्द्रोयतीन्सालावृकेभ्यः प्रायच्छत्तमश्लीलावागभ्यवदत्सप्रजापतिमुपाधावत्तस्मादंद्रायैतमुपह्वयं प्रायच्छदितिश्रुतेः ।
सालावृकेभ्यःश्वभ्यः अश्लीलाब्रह्महासीत्येवंरूपा उपह्वयमश्वमेधरूपं प्रायश्चित्तं प्रायच्छदुपदिदेशेतिश्रुतेरर्थः । एके म-
न्वादयः ॥ ४५ ॥

(५) नन्दनः । अकामतोऽमतिपूर्वतः बुधाः सर्वे विद्वांसः एके कतिपये श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ४५ ॥

(६) रामचन्द्रः । एके आचार्याः कामकारकृते पापे प्रायश्चित्तं आहुः ॥ ४५ ॥

अकामतः कृतंपापंवेदाभ्यासेन शुध्यति ॥ कामतस्तु कृतंमोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥ ४६ ॥

(१) मेधातिथिः । किंपुनरेतानि प्रायश्चित्तानि निमित्तमात्रपर्यवसायीनि सन्ध्योपासनादिवदुत्कार्यपर्यन्तानि शारी-

रशौचवदुत्पन्नदोषनिर्घातार्थानि । तत्र केचिदाहुः नहि कर्मक्षीयते कार्यविरागित्वमेव धर्माधर्मयोः नहि कर्माणि स्वफल-
मदत्वा प्रलीयन्ते । तदुक्तं नहि कर्मक्षीयत इति तस्माद्योतिक्रमकारी सततो नरकफलं भुङ्क्तु एवं प्रायश्चित्तानि यदि न करोति तत-
स्तदतिक्रमात्प्रत्यवायान्तरोत्पत्तिः तदेतदयुक्तं नहि कर्मचरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्ध्यत इति स्वशब्देनैव शुद्ध्यर्थता
विहिता तथापि तैः रुतैरपोहेत पापं स्वयंकृतत्वात् यदप्युच्यते प्रतिषेधविधिना प्रतिषिध्यमानक्रियाकर्तुः प्रत्यवायभागि-
त्वमवगमितं न तस्य प्रायश्चित्तैर्मिथ्यात्वं शक्यते कर्तुं तदप्ययुक्तं । यतस्तेन दुःखहेतुता तस्यावगमिता प्रायश्चित्तेष्वपि तपो-
दानादि दुःखमस्त्येव अल्पेन तादात्मिकेन दुःखेनागामिनः संभाव्यमानस्य महतो दुःखस्य निवृत्तिर्युक्तैव यथा व्याधेस्तत्क-
टुकौषधदानलघ्वाहारादिना यथाव्यतिक्रमं कृत्वा कश्चित्स्वयमागत्य राजानि वेदनं करोत्येवं कर्मास्मीति सोऽर्द्धदण्डभाग्भवति ।
यस्तुराजपुरुषैर्हठादानीयेत सभूयोदण्ड्यते एवमुपदेशानामर्थवत्वासिद्धिरतः स्वयं कार्यविरोधित्वमस्य विहितत्वान्निष्क-
तिः प्रायश्चित्तमिति समाख्यातमपि तत्तदेव कृतदोषस्य निर्यातनमप्यकारणं निर्यातो निरुक्तिरिति उच्यते । एवं प्रायश्चित्तमपि
नास्याधिकारप्रतिप्रसवार्थं पंचानामेव पातकानामधिकारोपगमविहितत्वाद्द्विजातिकर्मभ्यो हानिः पतनमिति नचात्र वेदा-
भ्यासोऽकामतः कामतस्तप इति विषयविभागो बोद्धव्यः उभयार्थोभयत्रोपदर्शनार्थत्वात् । निमित्तोपदेशकरणे पठितत्वात्
ब्रह्महादादशेत्यादि प्रायश्चित्तानामुपक्रम्यमाणत्वात् । तस्मादकामतोलघुप्रायश्चित्तं कामतोगरीय इति श्लोके कस्य तात्पर्यं ननु-
चाकामतो नैव तस्य कर्तृत्वं बुद्धिपूर्वकुर्येति उच्यते यथा च लौकिको देवेन कार्यते किमयं करोतीति किंच लिप्सया यत्र प्रवृ-
त्तिस्तत्र प्रतिषेधः । कायोहि मद्यपः स्पृहयति सपिपासुं न कदर्थति मापासीः सुरामिति यस्तु जलार्थं जलबुद्ध्यद्यसुरां पोतवांस्त-
स्याजानतो नापराधो नहि तस्य सुरालिप्सया प्रवृत्तिः । अथोच्यते विधिलक्षणप्रवृत्तिर्न निषिध्यते सत्यं भवत्वर्थलक्षणान्तु
मध्ये तर्ह्युदकेन च सर्वस्यार्थलक्षणायाः प्रतिषेधः । केचिदाहुः प्रत्यवायपर्यन्तो विधिर्विषयभक्षणवन्निषेधशास्त्रार्थस्तेषामचो-
द्यमेतद्विषयविशेषेणोपात्तं ज्ञानतो ज्ञानतश्च मरणाय कल्पत एव एवं ब्रह्महत्यादयो पोति येषामपि कर्तव्यमिति वचनात् । क्रियते
न कर्तव्यमिति न क्रियते तेषामपि लौकिकक्रियया प्रवर्तमानस्य निषेधः प्रवर्तमानश्चोच्यते प्रवृत्तः कर्ता कर्तृत्वमबुद्धिपूर्व-
कमप्यस्ति कूलपततीति नचायं गौणकर्तृताभावः स्वतंत्रः कर्तेति हि स्मर्यते नेच्छया प्रवर्तते यः सकर्तेति किंचात्मा देव
वचनात्प्रमादकृतो दोषोऽस्ति प्रायश्चित्तमिति किमपरेण विकल्पितेन ॥ ४६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अन्येषां तु तत्स्थाने दानाद्येव । एतच्चानिदिष्टप्रायश्चित्तविशेषापविषयम् । मोहादज्ञाने-
नापि । कामतश्चोच्छ्रया कृतं पृथग्विधैः पराकादिप्रायश्चित्तैः । एतेन कामादेव प्रायश्चित्तं वृद्धिह्रासयोः कारणं न तु ज्ञाना-
ज्ञाने इति कथयति । यत्रापि च ज्ञानात्कृत्वा ब्रह्मज्ञानादैनैव द्वयमित्यादौ ज्ञानपदेनोल्लेखस्तत्रापि कामनाहेतुज्ञानमेवेष्टेन-
कामनैव लक्ष्यते कर्तृत्वप्रतिच ज्ञानात्कामनैव नेदीयसी ज्ञानमिच्छाप्रयत्न इति क्रमादतः सैवान्वयव्यतिरेकाभ्यां कर्तृत्वोक्त-
र्षापकर्षनिबन्धनप्रायश्चित्तवृद्धिह्रासहेतुः । न च ज्ञाने विषयविनिगमनापि शङ्क्या किंपापविशेषप्रयोजकीभूतब्राह्मणत्वा-
द्युपाधिज्ञानमिष्टमुत तद्वधपापहेतुत्वज्ञानमिति ॥ ४६ ॥

(३) कुल्लूकः । अनिच्छातः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुद्ध्यति नश्यति वेदाभ्यासेनेति कामकृतविषयप्रायश्चित्तापे-
क्षया लघुप्रायश्चित्तोपलक्षणार्थं प्रायश्चित्तांतराणामपि विधानाद्वागद्वेषादिव्यामूढतया पुनरनिच्छातः कृतं नानाप्रकारैः प्राय-
श्चित्तैर्विद्याधनतपोभिः शुद्ध्यतीति गुरुप्रायश्चित्तपरं अतः पूर्वोक्तस्यैवायं व्याकारः यद्यप्यधिकारनिरूपणं प्रकृतप्रायश्चित्त-
त्वं नंतरं वक्ष्यति तथाप्यज्ञानाल्लघुप्रायश्चित्ताधिकारी ज्ञानात् गुरुप्रायश्चित्तेऽधिक्रियत इति अधिकारिनिरूपणमेवेदम् ॥ ४६ ॥

(४) राघवानन्दः । पापं ब्रह्महत्यादि । वेदाभ्यासेन वक्ष्यमाणपावमान्याद्यभ्यासेन । पृथग्विधैः द्वादशवार्षिकाद्यैः ॥ ४६ ॥

(५) नन्दनः । मोहः कामक्रोधाद्यभिभवः ॥ ४६ ॥

(६) रामचन्द्रः । मोहात् रागादिव्यामूढतया । कामतस्तुतं एनः पृथग्विधैः प्रायश्चित्तैः अपैति ॥ ४६ ॥

प्रायश्चित्तीयतांप्राप्यदैवात्पूर्वकृतेन वा ॥ न संसर्गव्रजेत्सद्भिः प्रायश्चित्तेः कृते द्विजः ॥ ४७ ॥

[प्रायोनामतपः प्रोक्तंचित्तं निश्चय उच्यते । तपो निश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् १ ॥] †

(१) मेधातिथिः । दैवात्कीकृतात्ममादादित्यर्थः अन्येतु दैवशब्दस्थाने मोहादिति पठन्ति मोहादेवाकार्यक्रियते कोऽसमूर्खः शास्त्रं व्यतिक्रमिष्यति पूर्वकृतेन जन्मान्तरकृतेन चोपभुक्तफलेन कर्मणा विशेषेण कौनख्यादिलिङ्गाद्यनुमितेनैतदुक्तं भवति । इह जन्मकृते व्यतिक्रमे बुद्धिदर्शपूर्वमबुद्धिपूर्वैवा तथा जन्मान्तरकृतेऽपि लिङ्गानुमेयेकर्तव्यं किंपुनः कुनख्यादीनां प्रायश्चित्तं कृत्वा तिरस्त्रौ चान्द्रायणमिति सर्वप्रायश्चित्तानिवसिष्ठेन तु यस्य यल्लिङ्गतेन तदेव प्रायश्चित्तं केनचिदंशेन कर्तव्यमिति पठितमतश्चैव ते सर्वेऽकृतप्रायश्चित्तानसंसर्गसद्भिर्वर्जयेयुरध्ययनादिक्रिययैकस्थानादिरूपतया संसर्गो यद्भुभ-श्रयत्वादप्यन्तरप्रतिषेधेनोभयोरपिसिद्धिः प्रतिषेधस्तथापि सद्भिस्तैः संसर्गो न कर्तव्य इति पुनः प्रतिषिध्यते । उत्तरत्र कर्तृभेदादेकस्य हि प्रतिषेधे स एव प्रायश्चित्तीत्यान्वद्वितीयः । सत्यपि संसर्गेऽत उभयोः प्रायश्चित्तार्थमुभयत्र प्रतिषेधः । सतामसतां चातः श्यावदन्ति प्रभृतिभिरकृतप्रायश्चित्तैः शिष्टैः सह संसर्गो न कर्तव्यः ॥ ४७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रायश्चित्तीयतां जपपराकादिप्रायश्चित्तार्हताम् । दैवादिनिच्छया । पूर्वकृतेन पूर्वं स्वेच्छया कृतेन । अकृते प्रायश्चित्ते न संसर्गं सद्भिर्गच्छेत् तत्करणपरस्यापि पापोत्पादनेन पापाधिक्यापत्तेः ॥ ४७ ॥

(३) कुल्लूकः । दैवात्ममादादन्यशरीरकृतेन पूर्वजन्मार्जितदुष्कृतेन क्षयरोगादिभिः सूचितेन प्रायश्चित्तीयतांप्राप्यकृते प्रायश्चित्ते साधुभिः सह याजनादिना संसर्गं गच्छेत् ॥ ४७ ॥

(४) राघवानन्दः । निमित्तद्वैविध्यमनुवदंस्तद्वतोनियममाह प्रायश्चित्ति । प्रायश्चित्तीयतां प्रायश्चित्तनिमित्तब्रह्महत्यादिमताम् । दैवादनवधानात् । पूर्वकृतेन ऐहिकेन जन्मान्तरकृतेन कौनख्यादिव्यङ्ग्येन । अकृते प्रायश्चित्ते सद्भिर्दुष्टैः संसर्गं सबन्धं न व्रजेत् द्विज इत्युपलक्षणम् नरमात्रस्य ॥ ४७ ॥

(५) नन्दनः । प्रायश्चित्तस्य कर्तव्यत्वे कारणमाह प्रायश्चित्तीयतामिति । प्रायश्चित्तीयतांप्रायश्चित्तार्हतां दैवात्प्रायश्चित्तीयतां वक्ष्यमाणं रूपविपर्यययुक्तत्वमकृत इति पदं सद्भिः संसर्गेन व्रजेन्न संसर्गयोग्यः अयमभिप्रायः । केवलमाभिमिकप्रत्यवायपरिहारार्थं मेव प्रायश्चित्तं कर्तव्यम् ॥ ४७ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रायश्चित्तीयतांप्रायश्चित्तमिति यस्य सः प्रायश्चित्ती तस्य भावः प्रायश्चित्तीयताताम् । द्विजः अकृते प्रायश्चित्ते सद्भिः संसर्गेन व्रजेत् ॥ ४७ ॥

इह दुश्चरितैः केचित्केचित्पूर्वकृतैस्तथा ॥ प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरारूपविपर्ययम् ॥ ४८ ॥

(१) मेधातिथिः । एतदेवाह इह दुश्चरितैः केचिदस्मिन् जन्मनि प्रतिषिद्धाचरणैस्तथा पूर्वकृतैः कर्मभिरस्तथोक्तं प्राक्संज्ञानां रूपविपर्ययप्रपंचो दुष्कृतशेषे चिह्नरूपतोऽनुक्रम्यते ॥ ४८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इहेहजन्मनि । दुश्चरितैरुत्कटैः । रूपविपर्ययं कौनख्यादि लभन्ते । केचि त्पूर्वरुतैर्नरके-
ऽननुभूतैः ॥ ४८ ॥

(३) कुङ्कुमः । इहजन्मनि निषिद्धाचरणैः केचित्पूर्वजन्मरुतैर्दुष्टत्वभावामनुष्याः कौनख्यादिकं रूपविपर्ययं प्राप्नु-
वन्ति ॥ ४८ ॥

(४) राघवानन्दः । एतत्स्पष्टयति इहेति । अत्युत्कटैः पुण्यपापैरिहैव फलमभुतइत्युक्तेरिह जन्मन्यपि फलप्रदत्वं
कर्मणां पापः पापेनेति श्रुतेः । रूपपदं दुःखस्याप्युपलक्षकम् ॥ ४८ ॥

(५) नन्दनः । किन्तु ऐहिकसंसर्गयोग्यत्वार्थं प्रायश्चित्तकर्तव्यमितिकारणान्तरमाह इहदुश्चरितैरिति । अत्राप्युक्ते
प्रायश्चित्तइत्यनुषक्तव्यमित्यतोऽस्मिँल्लोके रूपविपर्ययं प्राप्नुवन्ति तस्मादपि प्रायश्चित्तादिकं कर्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ ४८ ॥

(६) रामचन्द्रः । दुरात्मानः रुतपापाः नराः पूर्वविपर्ययं प्राप्नुवन्ति ॥ ४८ ॥

सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापः श्यावदन्तताम् ॥ ब्रह्महा क्षयरोगित्वंदौश्चर्म्यंगुरुतल्पगः ॥ ४९ ॥

(१) मेधातिथिः । [क्षयोनामरोगराजयक्ष्मेतिवैद्यानां प्रसिद्धस्तेन तद्वा भवति ब्रह्महत्याविशेषेण गुरुस्त्रीगामी]*
दुश्चर्मकथितगन्धवाहिन्या नासिकया युक्तः पिशुनएवंसूचकोदुर्गन्धवाहास्यः ननुचसूचकः पिशुनएव सत्यमेकः कल्पयि-
त्वा परदोषानुप्रकाशयति अन्यस्तु सत्यानेवाविदितानिति भेदः । आतिरिक्त्यर्धकांगता । मिश्रकेयोद्रव्याण्यद्रव्यैस्तदाभा-
सैः संमर्दयति यथाकुंकुमकुसुमेनान्यैरन्यानि । आमयावीयस्य भुक्तमन्नं न सम्यक् जीर्यते । मौक्यं वा वैकल्यं यत्राप्रतिपत्तिमा-
नपत्नारी शिष्टं प्रसिद्धं । विरुताकृतयः आकृतिः संस्थानं विरुताऽमनोरमानिन्दितैषां कर्मविशेषेणेति एषां कर्मणां कुम्भीपा-
कयमयातनास्थानेषु फलतदनुभूतवतर्षच्छेषे । तस्मिन्कर्मण्युद्रिक्तेषु सुकृतेऽदत्तफले फलदानोन्मुखेदुष्कृतस्यासद्भावोतः
कर्मावशेषोपपत्तिः ॥ ४९ । ५० । ५१ । ५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । किंविशिष्टैरेतत्प्रपञ्चयति सुवर्णचौरइति । श्यावदन्तः कपिशदन्तः । दौश्चर्म्यमकोशल-
ङ्गत्वम् ॥ ४९ ॥

(३) कुङ्कुमः । ब्राह्मणसुवर्णचौरः कुत्सितनखत्वं प्राप्नोति निषिद्धसुरापः श्यावदन्ततां ब्रह्महाक्षयरोगित्वंगुरु-
भार्यागामी विकोपमेहनत्वं पिशुनो विद्यमानदोषाभिधायी दुर्गन्धिना सत्त्वं अविद्यमानदोषाभिधायको दुर्गन्धिमुखत्वं धान्य-
चौरोऽङ्गहीनत्वं धान्यादेरपद्रव्येण मिश्रणकर्ताऽतिरिक्ताङ्गत्वं अन्नचौरो मन्दानलत्वं अननुज्ञाताध्यायोमूकत्वं वस्त्रचौरः
श्वेतकुष्ठत्वम् अश्वचौरः खंजत्वं एवंबुद्धिवाक्चक्षुः श्रोत्रविकलाविकृतरूपाः सार्धविगर्हिताश्च प्राग्जन्मार्जितोपभुक्तदु-
ष्कृतशेषेणोत्पद्यन्ते ॥ दीपहर्ता भवेदन्धः काणो निर्वापकस्तथा । हिंसारुचिः सदारोगीवाताङ्गः पारदारिकः ॥ ४९ ॥ ५० ॥
॥ ५१ ॥ ५२ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र किं निमित्तं किं रूवैष्यमित्यत्राह सुवर्णैति त्रिभिः । कौनख्यं क्लिन्ननखता तेनैव तद-
पिहरणात् । श्यावदन्तता स्वभावतः श्यामदन्तता पानकाले सुरया तत्स्पष्टेः । क्षयरोगित्वं राजयक्ष्मयुक्तता । दौश्चर्म्यं
शश्रस्यविकारो अकोशलङ्गत्वं शिशनेन तत्कृतैश्च ॥ ४९ ॥

(५) नन्दनः । रूपविपर्ययप्राप्तिमेव चतुर्भिः श्लोकैर्दर्शयति सुवर्णचौरः कौनख्यमिति ॥ ४९ ॥

(६) रामचन्द्रः । तेन तेन स्वपापेन रूपविपर्ययमाह सुवर्णेति । सुवर्णचौरः विप्रसंबन्धिनः सुवर्णस्य चौरः कौनख्यं कुनखस्य भावं । गुरुतल्पगः दौश्वर्म्यं दुश्चर्मणः भावः तम् ॥ ४९ ॥

पिशुनः पौतिनासिक्यं सूचकः पूतिवक्त्रताम् ॥ धान्यचौरोऽङ्गहीनत्वं यातिरैत्यन्तु मिश्रकः ॥ ५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अतिरिक्तमङ्गाधिक्यम् आतिरेक्यमितिकचित्पाठः । मिश्रकोबुसादिना मिश्रीकृत्य धान्यविक्रेता ॥ ५० ॥

(४) राघवानन्दः । सतोदोषस्य वक्ता पिशुनः । असतस्तु सूचकः । आतिरेक्यमङ्गस्यैव । मिश्रकः धान्यस्येतेरेण यवादिना ॥ ५० ॥

(५) नन्दनः । आतिरेक्यमतिरिक्ताङ्गत्वं तत्तदाभासैर्द्वान्यादि मिश्रीकृत्य येन विक्रयादि क्रियते समिश्रकः ॥ ५० ॥

(६) रामचन्द्रः । पिशुनः अविद्यमानपरदोषप्रख्यापनशोलः पूतिनासिक्यं दुर्गन्धनासिकः सदोषसंकीर्तयित्वा मिश्रकः धान्यस्य अन्नादेर्द्रव्यस्यमेलकः आतिरेक्यं अङ्गाधिक्यं षडङ्गुल्यादि ॥ ५० ॥

अन्नहर्तामयावित्वं मौक्यं वागपहारकः ॥ वस्त्रापहारकः श्वैत्र्यपङ्गुतामश्वहारकः ॥ ५१ ॥

[दीपहर्ता भवेदन्धः काणोनिर्वापको भवेत् । हिंसया व्याधिभूयस्त्वमरोगित्वमहिंसया ॥ १ ॥*]

(२) सर्वज्ञनारायणः । आमयावित्वमग्रिमन्धम् । वागपहारकोन्यस्य पदरचनामात्मीयां ज्ञापयन् ॥ ५१ ॥

(४) राघवानन्दः । अन्नहर्ता पक्वान्नहर्ता आमयावित्वं मन्दानलताम् । मौक्यं मूकताम् । वागपहारकोत्सादे-
तन्नाधीतमिति मिथ्यावादी यस्तत्कृतं पुस्तकं त्वनाम्ना अङ्कयति सो वागपहारकः । श्वैत्र्यं श्वेतकुष्ठताम् । देहस्य कुत्सितार्थ-
तिष्ठतीतिकौनख्यादि [इतिद्वादशं सुवर्णचौरादयः प्रामुवन्तीत्यनुषज्जते] दीपहर्ता भवेदन्धः काणीनिर्वापको भवेत् ॥ हिंसा-
रतः सदारोगी षण्दश्च पारदारिकइतिकचित् [पाठः] ॥ ५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्नहर्ता अन्नस्यहर्ता आमरोगित्वम् । मौक्यं मूकस्य भावः । वागपहारकः पुस्तकापहारकः
श्वैत्र्यं श्वेतमण्डलकारकम् ॥ ५१ ॥

[रामचन्द्रः । तथा दीपहर्ता अन्धः । दीपनिर्वापकः काणः ॥ १ ॥]

एवंकर्मविशेषेण जायन्ते सद्विगर्हिताः ॥ जडमूकान्धबधिरा विकृताकृतयस्तथा ॥ ५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कर्माविशेषेण पूर्वमरणान्तरतः कर्माविशेषेणात्र जायन्ते भवन्ति । तथा पूर्वजन्मभुक्ताविशेषे-
ण जायन्ते उत्पद्यन्तइति व्याख्येयम् । जडोऽनायत्ताङ्कः ॥ ५२ ॥

(४) राघवानन्दः । उपसंहरति एवमिति । विकृताकृतयः जडादिविकृतरूपाः ॥ ५२ ॥

(५) नन्दनः । येयमुक्ता रूपविपर्ययप्राप्तिर्न तत्पापस्य प्रधानफलरौरवादिषु भुक्तशेषस्येत्याह एवंकर्मविशेषेति ।
सद्विगर्हिताः सत्संसर्गानर्हाः ॥ ५२ ॥

(५१) विशेषेण=विपाकेन (ण)

१ (ख, क, ग, ज, ट, ठ, ड, ण, य, ल,) * (क, ग, ज, ट, ठ, ड, ण, य, ल,)

(१) राघ० २

(६) रामचन्द्रः । सद्भिर्विगर्हिताः निन्द्याः ॥ ५२ ॥

चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये ॥ निन्द्यैर्हिलक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैः सह ॥ ५३ ॥

(१) मेधातिथिः । निन्द्यैर्हिलक्षणैः कुनखश्यावदन्तादिभिरनिष्कृतैः सह ॥ ५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनिष्कृतैः सोऽकृतप्रायश्चित्ताः ॥ ५३ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मादनिष्कृतमनाशितमेनोयैस्तेऽनिष्कृतैः सह अकृतप्रायश्चित्ताः परलोकोपभुक्तदुष्कृतशेषेण निन्द्यैर्लक्षणैः कुनखित्वादिभिर्युक्ता जायन्ते तस्माद्विशुद्धये पापनिर्हरणार्थं प्रायश्चित्तं सदा कर्तव्यं एवंभिन्ने जुहोतीति वन्ननै-
मित्तिकमात्रं प्रायश्चित्तं किं त्वनिष्कृतैः सह इत्युपादानात् तथा विशुद्धये चरितव्यमित्युपदेशात् पापक्षयार्थिन एवाधिकारः । त-
थाहि प्रायश्चित्तं हि चरितव्यमिति विधावधिकारापेक्षायां फलमात्रनिर्देशाद्वा त्रिसन्वत्यायेन श्रूयमाणमेव विशुद्धयदिति फल-
मधिकारिविशेषणं युक्तं । इममेवार्थं स्फुटयति याज्ञवल्क्यः ॥ विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात् । अनिग्रहाच्चेन्द्रि-
याणां नरः पतनमृच्छति ॥ तस्मात्तेनेह कर्तव्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये । पतनमृच्छति पापं प्राप्नोतीत्यर्थः । विशुद्धये पापविना-
शाय बहून्वर्षगणान्धोरान्नरकान्प्राप्य तत्क्षयात्संसारान्प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्वमानित्यादिना महापातक्यादीनां-
नरकादिप्राप्तिं वक्ष्यति नतनैमित्तिकमात्रत्वं प्रायश्चित्तानां संगच्छते । तस्माद्ब्रह्मवधादिजनितपापक्षयार्थिन एव प्रायश्चित्तवि-
धावधिकार इति ज्ञेयम् ॥ ५३ ॥

(४) राघवानन्दः । फलितमाह चरितव्यमिति । अनिष्कृतैः सह अकृतप्रायश्चित्ताः निन्दितैः कौनख्यादिलक्षणैः चिन्हैः युक्ता दृश्यन्ते । यतो महापातकिनोऽस्तैर्विशुद्धये प्रायश्चित्तं चरितव्यं कार्यमित्यन्वयः ॥ ५३ ॥

(५) नन्दनः । अकृतप्रायश्चित्तपापास्तैर्लक्षणैः कौनख्यादिभिर्युक्ता जायन्ते तस्मादपि प्रायश्चित्तं चरितव्यमिति ॥ ५३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनिष्कृतैः सह अकृतप्रायश्चित्ताः ॥ ५३ ॥

ब्रह्महत्यासुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ॥ महान्तिपातकान्याहुः संसर्गश्चापितैः सह ॥ ५४ ॥

(१) मेधातिथिः । गुर्वङ्गनागमः स्तेयं पतितसंश्रयः । सर्ववर्णानां महापातकानि सुरापानं ब्राह्मणस्यैव स्तेयं ब्राह्मण-
सुवर्णहरणं स्मृत्यन्तरात् ब्राह्मणसुवर्णापहरणे महापातकमिति । पातकशब्दः पातयतीति व्युत्पत्त्या सर्वव्यतिक्रमेषु वर्तते महा-
पातकेषूपपातकेषु च महच्छब्दो गुरुत्वप्रदर्शनार्थः तैश्च संयोगमेकैकेनापि । सच वक्ष्यति संवत्सरेण पततीत्यादिना ॥ ५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सुरापानं द्विजानाम् । स्तेयं ब्राह्मणस्वर्णस्य ब्राह्मणसुवर्णापहरणं महापातकमित्यापस्त-
म्बस्मृतेः । गुर्वङ्गना गुरुपत्नी अत्रोच्यते । संयोगमेकशय्यामन्नादिसंसर्गश्च तैश्चतुर्भिर्न तु सहसंसर्गिभिरिति । एतच्च संज्ञा-
करणं शास्त्रे व्यवहारलाघवाय । एवमग्रेपि ॥ ५४ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणप्राणवियोगफलको व्यापारो ब्रह्महत्या । सच साक्षादन्यवानियुज्य तथा गोहिरण्यग्रहणादि-
निमित्तकार्यकस्यापि तदुद्देशेन ब्राह्मणमरणे ब्रह्महत्या नन्वेवमिषुकारस्यापीषूपादनद्वारेण तथा वध्यस्यापि हन्तृगतम-
न्यूपादनद्वारा ब्रह्महत्या स्यात् । उच्यते शास्त्रतो यस्य ब्राह्मणहन्तृत्वं प्रतीयते स एव ब्रह्महन्ता । अतएव शातातपः ॥ गोभू-
हिरण्यग्रहणे स्त्रीसंबन्धकृतेऽपि वा । यमुद्दिश्य त्यजेत्याणांस्तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥ एवं चान्यान्यपि शास्त्रियाण्येव ब्रह्मवधनि-

मित्तानि ज्ञेयानि । तथा ॥ रागाद्वैषात्प्रमादाद्वा स्वतः परतएव वा । ब्राह्मणं घातयेद्यस्तु तमाहुर्ब्रह्मघातकमिति ॥ प्रयोजक-
स्यापि हन्तृत्वं शास्त्रीयम् । तथा निषिद्धसुरापानं ब्राह्मणसुवर्णहरणं गुरुभार्यागमनं गुरुरत्र पिता निषेकादीनि कर्माणीत्या-
दिना तस्य गुरुत्वेन विधानात् । एतैश्च सह संसर्गः संवत्सरेण पततीत्येतानि महापातकान्याहुः । महापातकसंज्ञा चैयं-
वक्ष्यमाणस्थोपपातकादिसंज्ञालघवार्थम् ॥ ५४ ॥

(४) राघवानन्दः । नवमाध्यायोक्तमहापातकान्यनुवदन्नुपपातकान्याह ब्रह्महेतिपञ्चभिः । ब्रह्महत्या ब्राह्मण-
प्राणवियोगफलकोव्यापारः ॥ आरुष्टस्ताडितोवापि धनैर्वाविप्रयोजितः । यमुद्दिश्य त्यज्जेत्याणं तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥ एवं
वृद्धशातातपोपि ॥ गोहरण्यादिग्रहणे स्त्रीसंबन्धकृतेपि चेति निमित्तीपादभागूभवेदित्युद्देश्ये संकोचः । तैः महापातकभिः
संसर्गोनिद्यादिति संबन्धोपि महापातकं प्राहुरित्यन्वयः ॥ ५४ ॥

(५) नन्दनः । अथनिन्दितचरणलक्षणान्सत्पथगामिनउक्ताथमहान्तिपातकानि प्रायश्चित्तविशेषोपदेशार्थमुपदि-
शति ब्रह्महत्यासुरापानमिति । अत्र सुरापानंब्राह्मणस्य महापातकं नान्यस्य । स्तेयंब्राह्मणसुवर्णस्तेयंकुतएतत्स्मृत्यन्तरानु-
रोधात् तैर्ब्राह्मणादिभिः संयोगग्रन्थाध्यापनयौनसंबन्धलक्षणव्यवहारः संयोगिनो ब्रह्महत्यादिभिस्तुल्यदोषास्तान्मन्तव्याः
संयुक्तसंयोगिनामपि पातित्यवचनात् ॥ ५४ ॥

(६) रामचन्द्रः । तैः सह ब्रह्महत्यादिचतुर्भिः कर्तृभिः संयोगी संसर्गयः कुरुते सः पञ्चमः ॥ ५४ ॥

अनृतं च समुत्कर्षे राजगामिच पैशुनम् ॥ गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्याया ॥ ५५ ॥

(१) मेधातिथिः । समुत्कर्षइति निमित्तसममी चर्मणिद्वीपिनहंतीतिवत् समुत्कर्षप्राप्स्यामीति यद्वृत्तमभिधीयते त-
द्ब्रह्महत्याया समं यत्र पूजातिशयोवासनातिशयो ब्राह्मणत्वेन श्रोत्रियत्वेन महाकुलीनतया वा प्राप्यते तत्रातपद्रूस्तपमात्मानमा-
वेदयति योवापात्रातिशयेन पुण्यस्कन्धोत्कर्षप्राप्तमिच्छति तस्यापात्रं पात्रमित्युच्यते । एवं विधेः समुत्कर्षेऽनृतं पुनः स्वल्पवस्तु-
नि अपेक्षायां सत्यपि समुत्कर्षव्यपदेशे पिशुनमलीकवदिति परच्छिद्रप्रकाशनं गुरोश्चालीकनिर्बन्धोऽसत्याभिधानेन चित्तसंक्षो-
भः । कन्यातेर्गर्भिणी इत्येवमादिना निष्प्रयोजनोद्देशः । राजकुलात्तेन सह विवादो निर्बन्धो नृतादिशंसनं वा । तथा च गौतमो-
गुरावनृताभिशंसनमिति पातकसमानि ॥ ५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । समुत्कर्षे अयं महापातकीत्युत्कर्षविषयेऽनृतम् । समुत्कर्षइत्युपलक्षणमपकर्षस्यापि ।
यथाऽयं महापातकीत्यपकर्षेऽनृतम् । तेन पापविषयसंदेहेऽनृत्यानिर्णयउक्तः । राजगामिपैशुनं राज्ञि गत्वाऽपकारकर-
णम् । अलीकनिर्बन्धोऽप्रियनिर्बन्धः ॥ ५५ ॥

(३) कुञ्जकः । जात्युत्कर्षनिमित्तमुत्कर्षभाषणं यथा ब्राह्मणोहमिति अब्राह्मणो ब्रवीति । राजनि वा स्तेनादीनां परे-
षां मरणफलकं दोषाभिधानं गुरोश्चानृताभिशंसनं । तथा च गौतमः गुरोरनृताभिशंसनमिति महापातकसमानीति । एतानि ब्र-
ह्महत्यासमानीति ॥ ५५ ॥

(४) राघवानन्दः । अनुपातकं लक्षयति अनृतमिति । समुत्कर्षे ब्राह्मणोहमित्यस्य ब्राह्मणस्य भाषणादौ । अ-
लीकनिर्बन्धः कन्यातेर्गर्भिणीत्यादिसत्याभिधानेन गुरोश्चित्तक्षोभइति मेधातिथिः अनृताभिशंसनं वा ॥ ५५ ॥

(५) नन्दनः । जात्या कर्मणा गुणेन वा स्वस्माद्वैशिष्ट्यमुत्कर्षः अलीकनिर्बन्धोऽनिष्टस्य पुनः करणं ब्रह्महत्याया
समानीति दोषातिशयख्यापनमेतत् ननु समत्वख्यापनम् ॥ ५५ ॥

(६) रामचन्द्रः । समुत्कर्षे समुत्कर्षो यस्यामिति यदनुत्तमधीयते निमित्ते सप्तमी निर्वन्धः असत्याभिधानेन चित्तसंशोभः राजगामि पैशुनपैशुनेन राज्ञि गत्वापकरणम् । गुरोः अलीकनिर्वन्धः अप्रियकरनिर्वन्धः ॥ ५५ ॥

ब्रह्मोज्झतावेदनिन्दाकौटसाक्ष्यं सुहृद्बधः ॥ गर्हितानाद्ययोज्जिग्धिः सुरापानसमानि षट् ॥ ५६ ॥

(१) मेधातिथिः । अधीतस्ववेदस्यानाभ्यासेन विस्मरणं ब्रह्मोज्झता नित्यस्वाध्यायविधेः त्यागोवा कूटसाक्षं समुत्कर्षादन्यच्चापि सुहृद्बधोभिन्नमारणं गर्हितानाद्ययोज्जिग्धितं शास्त्रप्रतिषिद्धं लशुनाद्यनाद्यममनस्तुष्टिदं तान्भोक्ष्यइति कल्प्ययुज्यते ॥ ५६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्रह्मोज्झता वेदस्यात्यन्तत्यागोऽनध्ययनम् । सुहृदोभिन्नस्यवधः । गर्हितानाद्ययोरिति गर्हितं संसर्गदुष्टचाण्डालान्नादि । अनाद्यं जात्यैवाभक्ष्यं लशुनादि । जग्धिर्भक्षणम् । एतत्पृथगेव द्वयं ग्राह्यम् ॥ ५६ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्रह्मणोधीतवेदस्यानाभ्यासेन विस्मरणमसच्छास्त्राश्रयणेन वेदकुत्सनं साक्ष्येषुषाभिधानं मित्रस्याब्राह्मणस्य वधः निषिद्धस्य लशुनादेर्भक्षणं अनाद्यस्य पुरीषादेरदनम् । मेधातिथिस्तु नभोक्ष्यतइति संकल्प्य यद्भुज्यते तदनाद्यमित्याचष्टे । एतानि सुरापानसमानि ॥ ५६ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्रह्मोज्झता अधीतवेदत्यागः । गर्हितानाद्ययोज्जिग्धिः गर्हितस्य निषिद्धस्य लशुनादेः अनाद्यस्य पुरीषादेः अनापदि भक्षणम् । समानि स्युः प्रायश्चित्तार्थं ततः किंचिन्मन्यूनानि प्रायश्चित्तानि ॥ ५६ ॥

(५) नन्दनः । ब्रह्मोज्झितं वेदत्यागः । गर्हितानं निषिद्धान्मुच्छिष्टादिगर्हितानं लशुनादिजग्धिभक्षणम् ॥ ५६ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्रह्मोज्झता असच्छास्त्राभ्यासेन वेदत्यागः । कौटसाक्ष्यं कपटेन यत्साक्ष्यं कृतम् । गर्हितानाद्ययोज्जिग्धिः संसर्गदोषः चाण्डालान्नादि संसर्गदोषः । लशुनादि अभिशस्ताद्यन्तलशुनादिभक्षणम् ॥ ५६ ॥

निक्षेपस्यापहरणं नराश्वरजतस्य च ॥ भूमिवज्रमणीनां च रुक्मस्तेयसमं स्मृतम् ॥ ५७ ॥

(१) मेधातिथिः । निक्षेपस्यासारद्रव्यस्यापि नरशब्दौजातिशब्दो नारीहरणेऽप्येतदेव योहिदुहितरं दत्त्वाऽसती नरदोषेऽन्यस्मै पुनर्ददाति तस्याप्येतदेव तदुक्तं प्राप्नोति पुरुषो नृतमिति ॥ ५७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निक्षेपस्य निक्षिप्तं नराश्वदिद्रव्यमपि तस्य तेन हरणं बलादपि ॥ ५७ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणसुर्वणव्यतिरिक्तनिक्षेपस्य हरणं तथा मनुष्यतुरगरूप्यभूमिहीरकमणीनां हरणं सुवर्णस्तेयतुल्यम् ॥ ५७ ॥

(४) राघवानन्दः । निक्षेपस्य सुवर्णातिरिक्तस्य निक्षेपादिसप्तकस्य प्रत्येकं हरणे रुक्मं सुवर्णं तदपहरणसममेवमेतत्तत्र ॥ ५७ ॥

(६) रामचन्द्रः । निक्षेपस्य अपहरणं अब्राह्मणसंबन्धिनः ॥ ५७ ॥

रेतः सेकः स्वयोनीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ॥ सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः ॥ ५८ ॥

(१) मेधातिथिः । स्वयोनयो भगिन्येकोदरसंभूताः कुमार्योऽनूढाः । अन्त्यजावर्बरस्त्रियः सख्युः सखामित्रं तस्यास्त्रियः स्त्रीग्रहणं न जायायामेव प्रतिषेधार्थं एवं पुत्रस्यान्यापि या अवरुद्धा मैथुनधर्मेण । वयंतु ब्रूमः सत्यपि ग्रहणे नोढानूढयोर्विषयसमीकरणस्य न्यायत्वात् समत्ववचनमेतन्न प्रायश्चित्तनिर्देशार्थं किं तर्हि गुरुत्वख्यापनपरमतश्च गुरुतरं प्रायश्चित्तं भवति । तथा चोक्तं एनसिगुरुणिगुरुणि लघुनिलघूनि यद्विज्ञेत्प्रायश्चित्तनिर्देशार्थं भविष्यत्प्रायश्चित्तनिर्देशप्रकरणएव वावक्ष्यते ॥ कौटसाक्ष्यमुह-

द्वधयोश्चेह सुरापानसमीकृतयोर्ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तातिदेशमुपरिष्ठान्कुर्यात् । गुरोश्चालीकनिर्बन्धइत्येतस्यचेहब्रह्महत्यासमीकृतस्य पुनरुपरिष्ठात् ब्रह्महत्याप्रायश्चित्ताभिधानात् तथाकुमार्यामितरेतः सेकस्य गुरुतल्पसमीकृतस्येह पुनस्तत्र गुरुतल्पप्रायश्चित्तविधानाद्गम्यते नेदंप्रायश्चित्तार्थं समीकरणमिति । अन्येतु मन्यन्ते भेदेन समीकरणगुरुत्वभावेपि वक्ष्यते । नत्याज्यमतःप्रायश्चित्तार्थानामेव सुरापानस्य समीकृतयोश्च कौटसाक्ष्यसुद्धधयोर्ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तनिर्देशोविकल्पार्थं । सुरापानप्रायश्चित्तेनास्यचातिदेशएवश्रूयते । समीकरणे तुविकल्पोनास्ति यथा हत्वागर्भमविज्ञातमिति ॥ ५८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । त्वयोन्यासु भगिनीषु । कुमारीष्वपरिणीतासु ब्राह्मणस्य कन्यासु । अन्त्यजासु चण्डाल्यादिषु । सख्युर्मित्रस्य स्त्रियाम् । तथा पुत्रस्य स्त्रियां सुषायाम् ॥ ५८ ॥

(३) कुड्मूकः । सोदर्यभगिनीकुमारीचण्डालीसखिपुत्रभार्यासु योरेतः सेकस्तंगुरुभार्यागमनसमानमाहुः एतेषांभेदेन समीकरणयद्येन समीकृतंतस्य तेन प्रायश्चित्तार्थं यत्कौटसाक्ष्यसुद्धधयोः सुरापानसमीकृतयोर्ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तंवक्ष्यतितद्विकल्पार्थं । यत्पुनर्गुरोर्लीकनिर्बन्धस्य ब्रह्महत्यासमीकृतस्य पुनरुपरिष्ठाद्ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तनिर्देशः । समीकृतानांन्यूनप्रायश्चित्तंभवतीति ज्ञापनार्थं तथाच लोके राजसमः सचिवइत्युक्ते सचिवस्य न्यूनतैव गम्यते अत्रौपदेशिकप्रायश्चित्तेभ्यः आतिदेशिकप्रायश्चित्तानांन्यूनप्रायश्चित्तंसमीकृतानांच ॥ ५८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच रेतइति । एवमुत्तरोत्तरंज्ञेयम् । अतएवाह ॥ अनुपातकिनस्त्वेते महापातकिनोयथा ॥ अश्वमेधेन शुध्यन्ति तीर्थाभिगमनेन चेति ॥ तीर्थाभिगमनमनुपातकिप्रायश्चित्तम् । त्वयोनीषुत्वस्य गन्तुर्योनीषूपादकत्वेन याअर्हन्तीति ताः स्त्रोदर्यासु । कुमारीषु ब्राह्मणकन्यासु । पुत्रस्यौरसातिरिक्तस्य तत्रातिपातकमित्येके । आसु प्रत्येकं योनिषु योरेतःसेकस्तं गुरुतल्पसमंविदुरित्यन्वयः । यत्तु मातृगमनदुहितृगमनसुषागमनमित्यतिपातकानीत्याह विदुरिति तद्यत्नगौरवार्थं यतोब्रह्महत्याश्वमेधाभ्यांनपरंपुण्यपापयोरित्यवधिकरणं स्मृतम् ॥ ५८ ॥

(५) नन्दनः । त्वयोन्यादिषुदुहित्रादिषु ॥ ५८ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्वयोनीषुभगिन्यादिषुरेतः सेकोरेतसःपातः । कुमारीषु अविवाहितासु सख्युः स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः ॥ ५८ ॥

गोवधोऽयाज्यसंयाज्यपारदार्यात्मविक्रयाः ॥ गुरुमातृपितृत्यागः स्वाध्यायाभ्यासोः सुतस्य च॥ ५९ ॥

(१) मेघातिथिः । इदानीमुपपातकान्याह । अयाज्याअविहृद्पातकिशूद्रादयस्तेषामसंयाज्यसंयाजनं भावेण्यच्छांदसः आत्मविक्रयंगवादिद्रव्यवदात्मनःपरविधेयकरणंदास्येनअन्येन अन्येतुपारदार्यमविक्रयमितिपठन्ति । अनुत्साहोनिराहारःस्वल्पएवोपघातेवसादाश्रयणं गुरोस्त्यागोयथावदनुवृत्तिरध्यापनसमर्थेऽध्यापयितर्युपाध्यायान्तराश्रयः । एवंमातापित्रोरपतितानांचैतेषांत्यागोदोषाय पतितानांविष्टएव स्वाध्यायाभ्यासोस्त्यागइतिसंबध्यतेस्वाध्यायस्त्यागश्चाहरहःस्वाध्यायमधीयीतेत्यस्यविधेरनुष्ठानं किमैकाहिकेमाससांवत्सरिकेवात्यागेव्यतिक्रमोयं अविशेषदैहिकेप्राप्नोतितदयुक्तं । एतस्य विधेर्नित्यत्वात् नित्यानांच व्यतिक्रमे प्रायश्चित्तांतरंवक्ष्यति । तस्माद्विस्मरणपर्यन्तस्त्यागोभिप्रेतः सब्रह्मोज्झतापदेनसुरापानेनसमीकृतस्तत्रविकल्पनार्थमेतत् । अस्यच लघुत्वात्तस्यगुरुत्वाच्चवस्थायां विकल्पोयोज्यः तत्रयोवैदिकएवान्यस्मिन्कर्मणियुक्ततयास्वाध्यायंजहाति तस्योपपातकत्वं । यस्तु भोगसेवयाऽर्थपरतया कलहशीलतया जहातितस्यसुरापानसमत्वं अग्रेस्त्वेकत्वविशिष्टस्येहोपादानाद्ब्रह्मस्येतिद्रष्टव्यं प्रागग्नीनितिबहुवचनाल्लौतानांग्रहणं । ननुच तत्रापि चान्द्रायणमुक्तमिहाप्युपपातकत्वात्तदेवात्रवाच्येनैषदोषः । उपपातकेष्वन्यान्यपिप्रायश्चित्तानि सन्ति । शक्त्यपेक्षया गुरुलघुभावोन्यूनाधिक-

भावोऽतो नित्यमार्थतत्रचान्द्रायणग्रहणम् । सुतस्य त्यागोऽभरणगृहानिष्काशनमशिशोःप्राप्तस्य चगुणवतः पातकिनस्तुन-
दोषः ॥ ५९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पारदार्यं परदारगमनम् । आत्मनोमूज्येन विक्रयः शूद्रादन्येषाम् । पारदार्यात्मविक्रय इ-
त्येकवचनच्छान्दसम् । गुर्वादीनामवृत्तीनां शक्तौ सत्यामपोषणं त्यागः । अत्र गुरुराचार्योऽभिप्रेतः पृथक्पितृग्रहणात् । स्वा-
ध्यायस्याधीतस्याभ्यासस्य त्यागोऽधीतविस्मरणम् । अग्रयस्त्रेताग्रयः ॥ ५९ ॥

(३) कुट्टूकः । इदानीमुपपातकान्याह गोहननं जातिकर्मदुष्टानां याजनं परपत्नी गमनं आत्मविक्रयः मातापितृगुरू-
णां च शुश्रूषाद्यकरणं सर्वदा ब्रह्मयज्ञत्यागः न वेदविस्मरणं ब्रह्मोज्झतेत्यनेनोक्तत्वात् अग्रे श्वं स्मार्तस्य त्यागः श्रौतानाम-
ग्निहोत्र्यपविध्याग्नीनित्युक्तत्वात् सुतस्य च संस्कारभरणाद्यकरणम् ॥ ५९ ॥

(४) राघवानन्दः । उपपातकमाह गोवध इत्यष्टभिः । तत्र गोवध उपपातकम् । अयाज्ये संयाज्येत्युपपातकमि-
त्येवान्ययोमलावहपर्यन्तम् । पारदार्यमनियुक्ते सति परस्त्रीगमनम् । आत्मविक्रयः अपत्यपत्न्योर्विक्रयः । त्यागोऽनिमित्तः ।
संन्यासादौ तु षण्णां । त्यागो यदहरेव विरजेदिति श्रुतिसिद्धः ॥ ५९ ॥

(५) नन्दनः । अथोपपातकान्यष्टभिः श्लोकैराह गोवधो याज्यसंयाज्यमिति । याजनानर्हस्य याजनमयाज्यसंयाज्यं
पारदार्यं परदारगमनं स्वाध्यायाग्रयोः सुतस्य च त्याग इत्यनुकर्षः स्वाध्यायो नित्याध्ययनम् ॥ ५९ ॥

(६) रामचन्द्रः । गोवधेत्यारभ्य त्रयोदशेन संबन्धः त्रयोदशभिराह गुरुमातृपितृत्यागः शुश्रूषाऽकरणम् ॥ ५९ ॥

परिवित्तितानुजेनूढे परिवेदनमेव च ॥ तयोर्दानं च कन्यायास्तयोरेव च याजनम् ॥ ६० ॥

(१) मेघातिथिः । अनुजः कनीयान् भ्राता तयोर्याजनं विवाहे दर्शपूर्णमासादौ वाऽऽर्त्विज्यम् ॥ ६० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । परिवित्तिता त्वस्मिन्नकृतदाराग्निपरिग्रहे कनिष्ठभ्रातुर्दारपरिग्रहो ज्येष्ठस्य दोषाय । तथा
अनुजेन परिवेदनं भ्रातरि ज्येष्ठेऽनूढे अनग्नौ वाग्निपरिग्रहः कनिष्ठस्य पापहेतुः । तयोस्ताभ्यां कन्यादातुः । एवं चाकृत-
प्रायश्चित्ताय परिवित्तयेऽपि दानं निषिद्धं लक्ष्यते । तयोर्याजनं अग्निहोत्रादावृत्तिक्तेन ॥ ६० ॥

(३) कुट्टूकः । कनीयसाऽऽदौ विवाहे कृते ज्येष्ठस्य परिवित्तित्वं भवति दाराग्निहोत्रसंयोग इत्यादिना प्रागुक्तं
कनिष्ठस्य परिवेत्तृत्वं तयोश्च कन्यायादानं तयोरेव विवाहहोमादियागेष्वाऽर्त्विज्यम् ॥ ६० ॥

(४) राघवानन्दः । परिज्येष्ठविहायानुजेनोढे न कृतविवाहे परिपश्चाद्यदि ज्येष्ठस्य वेदनं विवाहस्तदा तस्य ज्ये-
ष्ठस्य परिवित्तिता अतः कनिष्ठस्यापि परिवेत्तृत्वं दाराग्निहोत्रमित्यनेनोक्तम् । तयोस्तादृशज्येष्ठकनिष्ठयोः ॥ ६० ॥

(५) नन्दनः । अनुजेन ज्येष्ठस्य परिवित्तिता तदनुजस्य च परिवेदनं तयोः परिवित्तिपरिवेदोः ॥ ६० ॥

(६) रामचन्द्रः । तयोः परिवित्तिपरिवेदोः ॥ ६० ॥

कन्यायादूषणंचैव वार्धुष्यं व्रतलोपनम् ॥ तद्वागारामदाराणामपत्यस्य च विक्रयः ॥ ६१ ॥

(१) मेघातिथिः । कन्यायादूषणं नेयं कन्यापुरुषेणोपभुक्तेत्यध्यवसायेन प्रतिपादनं अङ्गुष्ठादिना वा प्रजननं धर्मभे-
दो मैथुनधर्मवर्जतत्रहि गुरुतल्पसाम्यमुक्तं । वार्धुष्यं वधनापदि धनप्रयोगेन वृत्तिग्रहणं । वासिष्ठे तु वृद्धेस्तु प्रयोक्ता धान्यानां वा-
र्धुष्यं तदुच्यते ॥ साच शास्त्रपरिभाषा नलौकिके वापदार्थे व्रतच्युतिरसिष्टप्रतिषिद्धेऽमुष्यगृहे न भोक्तव्यमुपवस्तव्यमेवं रूपः-
संकल्पो व्रतंततोयः संकल्पाच्चलति सा तस्य व्रतच्युतिः ननु व्रतमिति शास्त्रतो नियम उच्यते चोदितश्चेच्छास्त्रकृतः संकल्पस्ततो-

निवृत्तौ कःशास्त्रातिक्रमोविहितमकुर्वन्प्रायश्चित्तीयतइत्युक्तं । नचैतद्विहितं । उच्यते सत्यमिथ्यालक्षणआरंभः समामिस्तु-
शास्त्रीया यथासौंदर्यादीनांकाम्यानांकर्मणांलिप्सातःप्रवृत्तिः समामिस्तुशास्त्रीया अतीतायां फलेच्छायामवामे फले यथोक्तं-
तदर्थेवावशिष्टवर्जयेयुःप्राक्रमिकोयंकापुरुषइतिवदन्तः स्नातकव्रतानांत्वयन्तलघीयः प्रायश्चित्तप्रवक्ष्यते तेनेदंविक्लिप-
तुमर्हति अरामउद्यानोपवनादिस्मृत्यन्तरे सर्वभूमिरविक्रया ॥ ६१ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । कन्यादूषणमङ्गुल्यादिप्रवेशेन कन्यायाअकन्यात्वकरणम् । वार्धुष्यं वृद्ध्याजीवनं वि-
प्रक्षत्रिययोः । व्रतलोपनं परिगृहीतव्रतनियमभङ्गः । तडागादेरप्रतिष्ठितस्य स्वयंकृतस्य विक्रयः उत्सृष्टेष्वन्याभावात् ॥ ६१ ॥

(३) कुल्लूकः । कन्यायामैथुनवर्जमङ्गुलीप्रक्षेपादिनादूषणं । रेतःसेकपर्यन्तमैथुनेषु तु रेतःसेकः त्वयोनीषु कुमारी-
ष्वन्त्यजासु च इत्युक्तत्वात्प्रतिषिद्धवृद्धिजीवनं ब्रह्मचारिणौमैथुनंतडागोद्यानभार्यापत्यानांविक्रयः ॥ ६१ ॥

(४) राघवानन्दः । कन्यायादूषणं ब्राह्मणातिरिक्तकन्यायाः तत्र समत्वस्योक्तत्वात् । उपभोगातिरिक्तप्रकारा-
न्तरेण वा । प्रतिषिद्धवृद्धिजीवनं वार्धुष्यम् । व्रताच्युतिर्ब्रह्मचारिणौमैथुनम् । व्रतलोपनमितिकचित्पाठः ॥ ६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । कन्यायादूषणं अङ्गुल्यादिना योनिविदारणम् । व्रतलोपनं प्रतिगृहीतनियमभङ्गः ॥ ६१ ॥

व्रात्यता बान्धवत्यागोभृत्याध्यापनमेव च भृताच्चाध्ययनादानमपण्यानांच विक्रयः ॥ ६२ ॥

(१) मेधातिथिः । बान्धवाज्ञातयोऽसौदरादिभ्योऽन्येपि मातुलमातृष्वस्त्रेयादयः सतिविभवे तेष्यजीवन्तोभर्त-
व्याः तदुक्तंस्वजनेदुःखजीविनीति यद्येवंसुतस्येत्याद्यनर्थकंनानन्यार्थवचनं जालपादप्रतिषेधेहंसप्रतिषेधवत्तेनमात्रादि-
त्यागउपपातकमेव । इहतु लघीयइति भृत्याध्यापनंभृतकस्य सतीऽध्यापकत्वात् यश्च भृतकादधीते अपत्यानि दशमेउ-
क्तानि ॥ ६२ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । व्रात्यता काले साविश्यग्रहणं पितृपितामहयोः सोमपानाबान्धवानां पितृव्यादीनां श-
क्तौ त्यागोऽपांषणम् । भृतेन नियतमूल्यक्रीतेनाध्यापनमध्यापकस्य दोषः । अपण्यानामन्नादीनाम् ॥ ६२ ॥

(३) कुल्लूकः । यथाकालमनुपनयनंव्रात्यता । तथाचोक्तं ॥ अतऊर्ध्वत्रयोप्येते यथा कालमसंस्कृताःइति बान्ध-
वानांपितृव्यादीनामननुवृत्तिः । प्रतिनियतवेतनग्रहणपूर्वकमध्यापनं प्रतिनियतवेतनप्रदानपूर्वकमध्ययनंच अविक्लव्यादीनां-
तिलादीनांविक्रयः ॥ ६२ ॥

(४) राघवानन्दः । व्रात्यता षोडशवर्षादावप्यनुपनयनम् । बान्धवत्यागः पितृव्यादेस्त्यागः । भृत्यैव जीवतीति
भृतकोगुरुः तादृशस्याध्यापनं तस्यैवोपपातकहेतुः भृतात् भृतं वेतनं तेन पुष्टादध्ययनादानं वेदपाठः शिष्यस्योपातकम् ।
भृतेनियमपूर्वकत्वेदोषोऽन्यथा गुरुदक्षिणा न स्यात् [अपण्यानां रसादीनाम् ॥ ६२ ॥]

(५) नन्दनः । भृताध्यापनंपरेण भृतस्य भिक्षावृत्तेरध्यापनंभृत्याध्यापनं भृताच्चाध्ययनादानमध्यापनपरिसमाप्तेः
प्रागध्यापनमध्येऽन्येन धार्मिकेण शिष्येण वा भृताद्वेदस्य स्वीकारः । अपण्यानां विक्रयानर्ह्याणांद्रव्याणाम् ॥ ६२ ॥

सर्वाकरेष्वधीकारोमहायन्त्रप्रवर्तनम् ॥ हिंसौषधीनांरूपाजीवोऽभिचारोमूलकर्म च ॥ ६३ ॥

(१) मेधातिथिः । आकराःसुवर्णादिभूमयस्तत्राधिकारोराजनियोगेनाधिपतित्वंसर्वग्रहणादन्यदप्यर्थोत्पत्तिस्था-

नंगृह्यते तेन ग्रामनागरनियोगोव्यवहारदर्शनदण्डग्रहणादिनियोगएव एवमेवयत्त्राणिसेतुबन्धादीनिजलप्रवाहनियमार्था-
स्तेषामहतावर्धनं औषधीनामशुष्काणांहिसाच्छेदः स्त्रीणामाजीवःस्त्रियमुपजीव्यते स्त्रीधनेन शरीरकुटुंबधारणक्रियते
वोवेशस्त्रीप्रयोजनंवाऽभिचारोवैदिकेन शापादिनामन्त्रप्रयोगेन सेनादियागेन वा शत्रुमारणं मूलकर्मवशीकरणंमन्त्रा-
भार्यापण्यभादिक्रियैव ॥ ६३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आकरेषु सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानेषु अधिकारोव्यापारत्वम् । महायत्त्रं वराहादिमहाप्राणि-
हिंसार्थयत्त्रं तन्निर्माणम् । स्त्रिया भार्यया परगृहादिप्रेषितया जीवोवर्तनम् । अभिचारोहिंसार्थः श्येनादिः । मूलकर्म म-
न्त्रादिना वशीक्रिया ॥ ६३ ॥

(३) कुष्ठकः । सुवर्णाद्युत्पत्तिस्थानेषु राजाज्ञयाऽधिकारः महतांप्रवाहप्रतिबन्धहेतूनांसेतुबन्धादीनांप्रवर्तनं । औष-
धीनांजातिमात्रादीनांहिसनं । एतच्च ज्ञानपूर्वकाभ्यासक्रियायां प्रायश्चित्तगौरवात् यत्तूक्तृजानामौषधीनामित्यादिना व-
क्ष्यति तत्सकृद्धिसायां प्रायश्चित्तलाघवात् भार्यादिस्त्रीणांवेश्यात्वंकृत्वा तदुपजीवनं श्येनादियज्ञेनानपराद्धस्य मारणं म-
न्त्रौषधिना वशीकरणम् ॥ ६३ ॥

(४) राघवानन्दः । सर्वाकरेषु लवणाद्युत्पत्तिस्थलेषु । महायत्त्रं प्रवर्तनं उदकप्रतिबन्धकसेतूनां त्वभूम्याद्यर्थकर-
णं तत्रानेकजन्तुवधस्य संभवात् तिलादीनां पेषणीवा । औषधीनां मारणम् । रुयाजीवः परगृहसेवाद्यर्थं विक्रीतभार्यस्त-
थाऽवामधनेन जीवोजीवनं वायस्य । अभिचारोविप्रातिरिक्तस्य रोगाद्युत्पादनम् । मूलकर्म वशीकरणम् । ॥ ६३ ॥

(५) नन्दनः । महायत्त्रमिश्रयत्त्रादिकं हिंसोषधिरूपपाजीवः हिंसौषधीनां स्त्रीणां चोपजीवनं स्त्रियार्जितद्रव्यजी-
वनंचेत्यर्थः मूलकर्म वशीकरणम् ॥ ६३ ॥

(६) रामचन्द्रः । महायत्त्रप्रवर्तनं महावारादिसंबन्धनम् । हिंसौषधीनां आर्द्राणांहिसा । रुयाजीवः रूपयार्जितधन-
जीवनम् । मूलकर्म अभिनयोवशीकरणम् ॥ ६३ ॥

इन्धनार्थमशुष्काणांद्रुमाणामवपातनम् ॥ आत्मार्यं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनंतथा ॥ ६४ ॥

(१) मेधातिथिः । इन्धनाद्यर्थतुनदोषः अग्निशुद्धत्वाच्छुक्तसर्वसंभवेक्रियारंभः पाकारंभः आतुरत्वादेवात्मार्यंनभ-
वेदिति प्रतिषेधात् क्रियारंभएवंव्याख्यायते क्रियारंभेहि प्रायश्चित्तोपदेशादेव प्रतिषेधः कल्प्येत नक्षप्रतिषिद्धप्रायश्चि-
त्तंयुक्तंनिन्दितं च समाचरन्निति वचनात् अद्यपुनर्यत्प्रभाषितं तथासिद्धेर्प्रतिषेधेप्रायश्चित्तंविधीयते नकल्पतागौरवंभवति तेन
निन्दितान्नादनंतुर्गाहितान्नाद्यतः कुतएतद्विकल्पार्थमभ्यासेतत्प्रायश्चित्तमिदंतु सकृदेव प्रत्ययभेदोवा ॥ ६४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्रियारम्भः पिष्टकादिपाकारम्भः । निन्दितान्नं राजान्नादि ॥ ६४ ॥

(३) कुष्ठकः । पाकादिदृष्टप्रयोजनार्थमात्रमेव वृक्षच्छेदनं । अनातुरस्य देवपित्राद्युद्देशमन्तरेण पाकाद्यनुष्ठानं
निन्दितान्नस्य लशुनादेः सकृदनिच्छया भक्षणं इच्छापूर्वकाभ्यासभक्षणे पुनर्गाहितानाद्ययोजग्विधिरित्युक्तत्वात् ॥ ६४ ॥

(४) राघवानन्दः । अवपातनं छेदः बहुत्वमत्राविवक्षितम् । क्रियारम्भोवैश्वदेवाद्यर्थविना पाकारम्भः । निन्दि-
तान्नादनं कितवराजादिर्निन्दितः ॥ ६४ ॥

(५) नन्दनः । आत्मार्यक्रियारम्भोदेवतादिबहिष्कारेण स्वार्थपाकाद्यारम्भः निन्दितस्यान्नादनं निन्दितान्नाद-
नम् ॥ ६४ ॥

(६) रामचन्द्रः । क्रियारम्भः पाकक्रियारम्भः आत्मार्यम् । निन्दितस्यान्नस्य अदनं भक्षणम् ॥ ६४ ॥

अनाहिताग्निता स्तेयमृणानामनपक्रिया ॥ असच्छास्त्राधिगमनंकौशील्यस्य च क्रिया ॥ ६५ ॥

(१) मेधातिथिः । कृतविवाहस्य विदुषोद्रव्यसंपत्तौ जातपुत्रस्य वानाहिताग्निता साधिकाराविशेषान्नित्यश्रुत-
योनित्याधानस्य प्रयोजिकाइति स्मृतिकारोमन्यते । कथंपुनः श्रुतिप्रयुक्तमाधानंविहितंकस्यचित्प्रकरणे कथ्यते येनागमो-
प्युच्छिद्येतत्त्वतश्चप्रतीयमानाधिकारत्वादग्निनिष्पत्त्यर्थतया कुतोधिकारान्तरप्रयुक्तिरग्रयस्तावद्विनियुक्तायदाहवनीयेजुहो-
तीत्यादिना नचाधानेन विना तेषानिष्पत्तिरित्यतोऽग्निषु प्रयुक्तेषु तदपिप्रयुक्तमित्युच्यते । यद्येवमग्निनिष्पत्त्यर्थतदाहिता-
ग्निष्वधिकारोऽस्त्यग्निषु नाधिक्रियते नचाधानंनित्यंयावज्जीवादिविविधवदतः कथमनाहिताग्नितादोषोऽकुर्वन्विहितंकमैतिवि-
हिताकरणेप्रायश्चित्तंविहितमग्नीनादधीतेतिसत्यंविहितंन स्वर्गाय नाधिकारान्तरसंपत्तये किंतर्ह्यग्निनिष्पत्तये अग्ने-
श्चज्ञातप्रयोजनायस्यैतैः प्रयोजनंसतेनोपायेनार्जयति । अन्यस्तु नेति कातत्रविहिताकरणाशङ्कायेनप्रायश्चित्तीत्यात् ।
योहिमुवर्णनार्जयतिकथमसौ दुष्येत । उच्यते अस्मादेव वचनात्सत्यधिकारेऽग्रयोवश्यमर्जनीयाइति गम्यते स्तेयमुक्ते
योद्रव्येभ्योन्यस्य ऋणानांचतुर्भिर्ऋणैरित्येतच्छ्रुतेरनुष्ठानं असच्छास्त्राणि चार्वाकनिर्ग्रन्थाः यत्र नप्रमाणं न
वेदकर्मफलसंबद्धमापद्यते कौशील्यत्वं चारणत्वं नर्तनत्वं गायनत्वम् ॥ ६५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनाहिताग्निता धनसंभवे । स्तेयं वस्त्रादेः । ऋणानां धार्यमाणधनानाम् । असच्छास्त्रं
पाषण्डशास्त्रम् । कौशील्यस्यमाधस्य ॥ ६५ ॥

(३) कुड्डूकः । सत्यधिकारेऽभ्यनाधानं सुवर्णादन्यस्य सारद्रव्यस्यापहरणं । ऋणानांच ऋणैस्त्रिभिर्ऋणवान्नरो-
जायते तदनपकरणं । श्रुतिस्मृतिविरुद्धशास्त्रशिक्षणं नृत्यगीतवादित्रोपसेवनम् ॥ ६५ ॥

(४) राघवानन्दः । अनाहिताग्निता आवसथ्याख्याग्रिशून्यता । स्तेयं सुवर्णातिरिक्तधातोः । अनपक्रिया ऋ-
णोपरिशोधनम् । असच्छास्त्राधिगमनं श्रुतिस्मृतिविरुद्धार्थप्रतिपादकशास्त्राभ्यासः । कौशील्यस्य गीतनृत्यवाद्यादेः
क्रियाऽनुष्ठानम् ॥ ६५ ॥

(५) नन्दनः । ऋणानां शास्त्रसिद्धानां लोकप्रसिद्धानां वाऽनपक्रिया शक्तौसत्यामनपाकरणं कौशल्यंकुत्सितशी-
लत्वं व्यसनक्रिया रुयक्षादिप्रसङ्गः ॥ ६५ ॥

(६) रामचन्द्रः । सत्यधिकारेअनाहिताग्निता । असच्छास्त्राधिगमनं अभिचारप्रयोगः । कौशील्यसनाद्यस्य क्रि-
याकरणम् ॥ ६५ ॥

धात्यकुप्यपशुस्तेयमद्यपस्त्रीनिषेवणम् ॥ स्त्रीशूद्रवित्क्षत्रवधोनास्तिक्यंचोपपातकम् ॥ ६६ ॥

(१) मेधातिथिः । शणसप्तदशानि धान्यानि कुप्यंलोहताम्रादिमयंकुण्डपठाहादि ननुचाविशेषेण पूर्वश्लोकेस्ते-
यमुक्तंपरित्तमेतद्धंसप्रतिषेधवदिति । अथवा स्तेयंयदन्यस्मादुद्यमगृहीते संभवेनाशोध्यते नहिजातुस्तेयमिति लोकप्रसिद्धं-
यथाधैर्यादिनाजयकरणम् । मद्यपेति । ब्राह्मणस्य क्षत्रियादिस्त्रीनिषेधनंसहशयनंसंप्रयोगंवा स्त्रियावधोब्राह्मण्यार्वापि ना-
स्तिक्यंनास्तिपरलोकोनास्तिदत्तमित्याद्यभिनिवेशः ॥ ६६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कुप्यं ताम्रादि । पशुः गोव्यतिरिक्तचतुष्पदः । निषेवणं मैथुनम् । स्त्रीति ब्राह्मणस्त्रीसाधा-
रण्येन अन्यथा शूद्रादिपदेनैव तत्प्राप्तेस्त्रीपदव्यर्थस्यात् । नास्तिक्यं परलोकाभावनिश्रयः । उपपातकं पातकाद्धीनम् ।
अत्रच यस्यान्यत्रापि गुरुषु लघुवा पापेषु गणनं कृतं तत्र ज्ञानाज्ञानविशिष्टाविशिष्टपुरुषसंबन्धसरुद्धभ्यासापेक्षया त्वयं
व्यवस्थोक्ता ॥ ६६ ॥

(३) कुल्लूकः । धान्यताम्रलोहादेः पशूनां च चौर्यं द्विजातीनांपीतमद्यायाः स्त्रियागमनं स्त्रीशूद्रवैश्यक्षत्रियहननं अदृष्टार्थकर्माभावबुद्धिः एतत्प्रत्येकमुपपातकं बान्धवत्यागइत्यनेनैव मात्रादीनांत्यागप्राप्तौ । पृथग्वचननिन्दार्थं पितृव्या-
दिबान्धवत्यागेनावश्यमेव प्रायश्चित्तं भवति किंतु मात्रादित्यागप्रायश्चित्ताभ्यूनमपि भवति ॥ ६६ ॥

(४) राघवानन्दः । मद्यपस्त्रीनिषेधं निपीतमद्यायाः स्त्रियाः ब्राह्मण्यादेः सेवनं अन्त्यजस्त्रीनिषेधस्योक्तत्वात् । नास्तिक्यं नास्तिपरलोकइति बुद्धिः ॥ ६६ ॥

ब्राह्मणस्य रुजः कृत्याघ्रातिरग्रेयमद्ययोः ॥ जैह्वं च मैथुनं पुंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥ ६७ ॥

(१) मेधातिथिः । दण्डहस्तादिनाशरीरपीडाजननं रुजः कृत्यं किंपुनरग्रेयं नहि भक्षणं प्रतिषेधवत् घ्राणप्रतिषेधः क्वचिदस्ति नतु शक्यं विज्ञातुं यदभक्ष्यं तदग्रेयमिति घृतादेर्यागार्थमुपात्तस्याभक्षत्वमनाग्रेयत्वमुच्यते पूतिदुर्गन्धतया घ्राणं-
विकरति लशुनपलाण्डुपुरुषपुरीषादितदृश्यते मद्यसाहचर्याच्च यदभक्ष्यं तदेव विज्ञायते न पूतिदावादिजैह्वं कुटिलताऽप्रसन्नहृदय-
त्वं अन्यदुच्यतेऽन्यत्क्रियते हृदये चान्यत् ॥ ६७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । रुजः कृत्या घ्राणादिपीडाकरणम् । अग्रेयं लशुनादि मद्यं सुरा मद्येतयोरघ्राणं कामतः । जैह्वमनाजर्वमृजुषु पुंसि पुरुषमुखादौ मैथुनं शिश्रप्रक्षेपः । जातिभ्रंशकरं सजातीयेभ्योऽपचयकारीतियोगोरुद्धिश्च ॥ ६७ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणस्य दण्डहस्तादिना पीडा क्रिया यदतिशयदुर्गन्धितयाऽग्रेयं लशुनपुरीषादि तस्य मद्यस्य चाघ्राणं कुटिलत्वं वक्रता पुंसि च मुखौदौ मैथुनमित्येतत्प्रत्येकं जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥ ६७ ॥

(४) राघवानन्दः । जातिभ्रंशकरादिचतुष्टयस्य प्रायश्चित्तार्थं संग्राहे ब्राह्मणस्येति चतुर्भिः । रुजः पीडाघ्रातिर्गन्ध-
ग्रहणम् । अग्रेयमद्ययोरग्रेयपुरीषलशुनादि कामतः । जैह्वं कुटिलता । मैथुनं गुदादौ । अत्रापि प्रत्येकं जातिभ्रंशकरं स्मृतं
भन्वादिभिरेवमुत्तरम् ॥ ६७ ॥

(५) नन्दनः । उपपातकत्वेऽपि नैतानि तुल्यक्षयाणि मन्तव्यानि प्रायश्चित्तवैषम्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् । ब्राह्मणस्य रुजः कृत्यमिति । कृत्यं कृतिः योयस्यां जातौ जातः तस्य तस्याः प्रच्युतिर्जातिभ्रंशः ॥ ६७ ॥

(६) रामचन्द्रः । रुजः कृत्या हस्ते दण्डादिनारोगोत्पादनम् । रुजः रोगोत्पादकहस्तदण्डादिनाशरीरपीडाकरं । जैह्वं कुटिलता अप्रसन्नहृदयत्वं ॥ ६७ ॥

खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविक्रमस्तथा ॥ सङ्करीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥ ६८ ॥

(१) मेधातिथिः । मृगारूपपृषतादय आरण्याः इभोहस्ती सत्यपिमृगत्वे बाहुल्येन ग्रामवासित्वाद्ग्रहणं मीनोमत्स्यः
अहिः सर्पः ॥ ६८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । खरेभोमृगाहरिणाद्याः । षष्ठ्याः साकांक्षत्वाद्बधपदेनान्वयः । संकरीकरणं संकरजातीय-
तुल्यत्वरूपहीनताकरमत्यन्ताभ्यासादितियोगोरुद्धिश्च ॥ ६८ ॥

(३) कुल्लूकः । गर्हभतुरगोष्ट्रमृगहस्तिछागमेषमत्स्यसर्पमहिषाणां प्रत्येकं वधः सङ्करीकरणं ज्ञेयं ॥ ६८ ॥

(४) राघवानन्दः । एवं खरादिबशानां प्रत्येकं वधः संकरीकरणम् इभोहस्ती ॥ ६८ ॥

(६७) मुखौदौ = गुदादौ (अ)

(५) नन्दनः । संकीर्णयोनिजन्मकरंतत् ॥ ६८ ॥

(६) रामचन्द्रः । संकरस्तुल्यजातीयतुल्यत्वहीनता ॥ ६८ ॥

निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् ॥ अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् ॥ ६९ ॥

(१) मेधातिथिः । निन्दिताप्रतिग्राह्याः शूद्रायेपापकर्मण स्तेभ्यो धनादानं प्रतिग्रहेण पुनः प्रत्यादिष्टप्रतिग्रहस्य-
प्रतिषिद्धत्वात् ॥ ६९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निन्दितेभ्यः पतितादिभ्यः धनादानं विनाविप्रतिग्रहम् । वाणिज्यं शूद्रसेवा च विप्रक्ष-
त्रयोः । असत्यभाषणं साक्ष्यादिव्यतिरेकेणापि । अपात्रीकरणं दानानर्हताहेतुरित्येव गोरूढिश्च ॥ ६९ ॥

(३) कुल्लुकः । अप्रतिग्राह्यधनेभ्यः प्रतिग्रहो वाणिज्यं शूद्रस्य परिचर्याऽनृताभिधानमित्येतत्प्रत्येकमपात्री-
करणं ज्ञेयम् ॥ ६९ ॥

(४) राघवानन्दः । [अप्रतिग्राह्यधनेभ्यः प्रतिग्रहः वाणिज्यं शूद्रस्य परिचर्या अनृताभिधानमित्येतत्प्रत्येकमपा-
त्रीकरणं ज्ञेयम् ॥ ६९ ॥] ‡

(५) नन्दनः । अपात्रीकरणमपात्रीकरणत्वम् ॥ ६९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अपात्रीकरणं अपात्रहस्ते यदत्तं ॥ ६९ ॥

कृमिकीटवयो हत्या मद्यानुगतभोजनम् ॥ फलैधः कुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥ ७० ॥

(१) मेधातिथिः । कृमयोभूमिशरणाः क्षुद्रजन्तवः कीटास्तथाविधा एव किंचिदुपचितमूर्तयोऽपक्षाः सपक्षाश्च म-
क्षिकाशलभादयो वयांसि पक्षिणः शुकसारिकादयः मद्यानुगतं मद्येन संस्पृष्टं द्रव्यं चाचितं च अधैर्यं चेत्तसोऽस्थिरत्वं स्वल्पे-
प्युपघातेऽध्वंसः ॥ ७० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कृमयोमांसादिगता [यूकाद्याः कीटाः भूम्यादिगताः पिपीलिकाद्याः वयांसिपक्षिणः । म-
द्यानुगतं मद्यसन्निकर्षागतं घृता] † दि तस्य भोजनम् । फलैधः कुसुमस्तेयं स्वार्थं न देवताद्यर्थम् । अधैर्यं चापलम् ।
मलावहं पापावहमिति यो गोरूढिश्च ॥ ७० ॥

(३) कुल्लुकः । कृमयः क्षुद्रजन्तवस्तेभ्य ईषत्स्थूलाः कीटास्तेषां वधः पक्षिणां च मद्यानुगतं यद्भोज्यमपि शाकाद्येक-
त्रपिट्कादौ कृत्वा मद्येन सहानीतं तस्य भोजनम् । मेधातिथिस्तु मद्यानुगतं मद्यसंस्पृष्टमाह तन्न तत्र प्रायश्चित्तगौरवात् ।
फलकाष्ठपुष्पाणां च चौर्यं अल्पेऽपचयेऽप्यत्यन्तवैकृत्यं एतत्सर्वप्रत्येकं मलिनीकरणम् ॥ ७० ॥

(४) राघवानन्दः । मद्यानुगतभोजनं मद्यमनुगच्छति मद्यपात्रस्थितं मद्यैः सह गतं मद्यमनुगतं संयुक्तं यस्मिन्नि-
तिवा तस्य भोजनं एधः कुसुमयोर्भोगार्थं स्तेयं [अधैर्यं अत्यन्तक्लीबता एतत्सर्वमलावहमित्यन्वयः] ‡ ॥ ७० ॥

(५) नन्दनः । अधैर्यं च पलता मलापहं मलकरम् ॥ ७० ॥

(६) रामचन्द्रः । वयः पक्षी । मद्यानुगतभोजनं मद्यसन्निकर्षघृतादिभोजनम् ॥ ७० ॥

एतान्येनांसि सर्वाणि यथोक्तानि पृथक्पृथक् ॥ यैर्यैर्व्रतैरपोह्यन्ते तानि सम्यङ्निबोधत ॥ ७१ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रायश्चित्तनिमित्तान्युक्तानि संज्ञाभेदश्च प्रायश्चित्तभेदार्थः वक्ष्यमाणस्य संक्षेपवचनम् ॥ ७१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यथोक्तानियेन तानि तेन क्रमेण निबोधत । अत्रच क्वचित्क्वचिद्यवस्थापि वक्ष्यते यत्रु व्यवस्था नोक्ता तत्र सा कामधेनुदीपिकायामत्माभिः सम्यगुक्तेति ॥ ७१ ॥

(३) कुड्डूकः । एतानि ब्रह्महत्यादीनि सर्वाणि पापानि भेदेन यथोक्तानि यैर्यैर्व्रतैः प्रायश्चित्तरूपैर्नाश्यन्ते तानि यथावच्छृणुत ॥ ७१ ॥

(४) राघवानन्दः । निमित्तान्यनुवदनैमित्तिकं बाधं प्रतिजानीते एतानीति । ब्रह्महत्यादीनि पापानि येनभेदेनोक्तानि यैर्यैः प्रायश्चित्तरूपोहन्तेनाश्यन्ते तानि शृण्वते त्यन्वयः ॥ ७१ ॥

(५) नन्दनः । यथोक्तानि महापातकत्वेन जातिभ्रंशकरत्वेन संकीर्णकरणत्वेनापरिणत्वेन मलाघवत्वेन चोक्तानि ॥ ७१ ॥

(६) रामचन्द्रः । एनांसि पापानि । यैर्यैर्व्रतैरपोहन्तेतानि व्रतानि सम्यङ्निबोधत ॥ ७१ ॥

ब्रह्महाद्वादशसमाः कुटीरुत्वा वने वसेत् ॥ भैक्षाश्यात्मविशुद्ध्यर्थंरुत्वा शवशिरोध्वजम् ॥ ७२ ॥

(१) मेधातिथिः । तृणपर्णादिकृतोनिकेतोवर्षातपशीतत्राणादिहेतुर्गृहकुटीतिकथ्यते । समावर्षाणि भैक्षाशीति स्मृत्यन्तरेसमागारमनभिसंहितंचभैक्ष्यमुक्तं शवशिरोहतस्यान्यस्य वाध्वजे काष्ठादिमर्याशिःप्रतिकृतिमुद्यताधारयेदिति मन्यते नैवंशब्दोर्थवादः नहि तच्छवशिरोहत्युच्यते अन्योप्यत्रविधिर्भविष्यतिकृतवापनोनिवसेदित्यादि ॥ ७२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कुटी तृणपर्णादिकृतंगृहम् । भैक्षाशी ग्राममागत्य भिक्षांगृहीत्वा वने भुञ्जानः । शवस्य तस्यैवान्यस्थवा शिरः कपालं ध्वजं ब्रह्महचिह्नमग्रतःरुत्वा । अत्र सर्वत्र स्मृत्यन्तरोक्तमङ्गजातमुपहर्तव्यम् । एतदकामतोधाते ॥ ७२ ॥

(३) कुड्डूकः । योब्राह्मणंहतवान्सवने कुटीरुत्वा हतस्य शिरः कपालंतदभावेऽन्यस्यापि चिन्हंरुत्वाऽरण्ये भैक्षभुगात्मनः पापनिर्हरणाय द्वादशवर्षाणि वसेद्रतंकुर्यात् अत्रापि कृतवपनोनिवसेदिति वक्ष्यति मुन्यन्तरोक्ताअपि विशेषाग्राह्याः । तथाचयमः ॥ समागाराण्यपूर्वाणि यान्यसंकल्पितानि च ॥ संविशेत्तानि शनकैर्विधूमे भुक्तवज्जने ॥ भूणभेदेहि मेभिक्षामेनोविख्याप्य संचरेत् ॥ एककालंचरैर्द्वैश्यंतदलब्धोदकंपिबेत् ॥ अयंच द्वादक्षवार्षिकविधिः । ब्राह्मणस्याज्ञानकृतब्राह्मणवधे इयंविशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतोद्विजमिति वक्ष्यमाणत्वात् । क्षत्रियवैश्यशूद्राणान्तुक्रमेणैतद्वादशवार्षिकंद्विगुणांत्रिगुणंचतुर्गुणंच द्रष्टव्यम् । यथोक्तंभविष्यपुराणे ॥ द्विगुणाः क्षत्रियाणान्तु वैश्यानांत्रिगुणाः स्मृताः ॥ चतुर्गुणास्तु शूद्राणांपर्षडुक्तामहात्मनाम् ॥ पर्षडुच्यव्रतंश्रोक्तंशुद्धये पापकर्मणाम् ॥ यावद्भिर्ब्राह्मणैर्ब्राह्मणानांसभा ततोद्विगुणैः क्षत्रियाणां द्रष्टव्यव्यवहारदर्शनाद्यर्थासभा भवेत्त्रिगुणैर्वैश्यैर्वैश्यानांचतुर्भिः शूद्रैः शूद्राणामिति सभावच्च क्षत्रियादीनांत्रयाणांव्रतमपि द्विगुणांत्रिगुणंचतुर्गुणमित्यर्थः । एतानि च मनुक्तब्रह्मवधप्रायश्चित्तवचनानि गुणवत्कृतनिर्गुणब्राह्मणहननविषयत्वेन भविष्यपुराणे व्याख्यातानि । हन्ताचेष्टुणवान्वीरअकामान्निर्गुणोहतः ॥ कर्तव्यानि मनुक्तानि रुत्वा वैआश्वमेधिकम् ॥ ब्रह्महाद्वादशाब्दानिकुटीरुत्वावनेवसेत् ॥ गच्छेदवभृथंवापि अकामान्निर्गुणेहते ॥ जातिशक्तिगुणापेक्षंसकृद्बुद्धिरुतंतथा ॥ अनुबन्धादिविज्ञाय प्रायश्चित्तंप्रकल्पयेत् ॥ इति विश्वामित्रवचनात्प्रायश्चित्ताधिक्यमूहनीयम् । कामकृतेतु ब्राह्मणवधे द्विगुणंब्रह्मवधप्रायश्चित्तंचतुर्विंशतिवर्षतदाहाद्विराः ॥ अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं कामतः ॥ स्यात्त्वकामकृते यत्तुद्विगुणंबुद्धिपूर्वके ॥ ७२ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रादौ ब्रह्महत्यानिवर्तकमाह ब्रह्महेतिसप्तदशभिः । कुटीं तृणपर्णादिनिर्मिताम् । शवशिरोध्वजं तस्यैवान्यस्यवा शवस्यशिरःखट्वाङ्गादियुक्तं पाणौ विभ्रद्भिः क्षाशी स्याद्वादशाब्दान्व्याप्य । एतत्किमर्थं आत्मशुद्ध्यर्थमित्यर्थः । तथाच यमः ॥ समागाराण्यपूर्वाणि यान्यसंकल्पितानि च ॥ संविशेत्तानि शनकैर्विधूमे भुक्तवज्जने ॥ भूण-
घो देहि मे भिक्षामेनोविख्याप्य संचरेत् ॥ एककालं चरेद्भैक्ष्यं तदलब्धौ जलं पिबेदिति ॥ अत्र वक्ष्यमाणकेशवापन-
दिकं ज्ञेयम् । इदंत्वकामतोऽगुणवद्ब्राह्मणे । इयंच शुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतोद्विजमिति वक्ष्यमाणत्वात् । गुणवद्ब्राह्मणकृत-
वधे तु भविष्येत्कृतम् ॥ निहन्ता गुणवान्वीरअकामान्निर्गुणोहतः ॥ कर्तव्यानि मनूक्तानि त्यक्त्वा वै आश्वमेधिकमिति ॥
क्षत्रियवैश्यशूद्राणां तु द्विगुणत्रिगुणचतुर्गुणानि ॥ द्विगुणा क्षत्रियाणां तु वैश्यानां त्रिगुणा च सा ॥ चतुर्गुणा तु शूद्राणां पर्व-
दुक्ता महात्मनामिति ॥ परिषद्रूपं विश्वामित्रोप्याह ॥ जातिशक्तिगुणापेक्षं सत्तुद्धिरुतं तथा ॥ अनुबन्धादि विज्ञाय प्राय-
श्चित्तं प्रकल्पयेदिति ॥ कामकृतं तु विप्रस्यापि द्विगुणम् ॥ अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं न कामतः ॥ स्यात्त्वकामकृते
यद्धि द्विगुणं बुद्धिपूर्वकं इत्यङ्गिरसोक्तेरितिसार्वत्रिकम् ॥ ७२ ॥

(५) नन्दनः । आत्मविशुद्ध्यर्थं नलोकसंव्यवहार्यमात्रार्थं कृत्वा शवशिरोध्वजं शवशिरोध्वजं स्वरूपं लक्षणं कृत्वा
शवाहरणं जीवच्छिरस्वरूपतानिवृत्त्यर्थम् ॥ ७२ ॥

(६) रामचन्द्रः । शवः मृतः शवशिरः ध्वजं कृत्वा ॥ ७२ ॥

लक्ष्यं शस्त्रभृतां वास्याद्विदुषामिच्छयात्मनः ॥ प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः ॥ ७३ ॥

(१) मेधातिथिः । धानुष्कायत्र युद्धं कर्तुं लक्षं विध्यन्ति तत्र तद्भूतेन भवितव्यं अथवा संग्रामेऽन्यत्र युध्यमानानां-
शस्त्रप्रहाराः प्रतीप्सितव्याः आत्मानं इच्छयेति न प्रमादात्तदंतरंगतस्य सत्यपित्ववधेन शुद्धिः विदुषामित्यवजानते प्रायश्चि-
त्तोपदेशोयमिति अथवा धनुर्वेदज्ञानमग्नौ वाऽऽत्मानं क्षिपेत्समिद्धे त्रिरुत्थाय पुनः पतेत् ॥ ७३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कामतस्त्वाह लक्ष्यमिति । शस्त्रभृतां लक्ष्यं स्यात् मां शस्त्रेण घातयतेति । विदुषामयं ब्र-
ह्महेति जानताम् । इच्छयात्मनो न तु दैवात्तथावे पापमोक्षः । लक्ष्यं स्यादित्यनेन च तेनोपायेन मरणं विहितम् । प्रास्ये-
त् क्षिपेत् । त्रिरित्येकद्विवारेणामरणे त्रिरिति च संभवच्छरणहेतुवारोपलक्षणम् । यदा त्वेतन्न कर्तुं मुत्सहते तदा आपस्तम्बव-
चनानुसारेण यावज्जीवं ब्रह्महत्याव्रतं प्रागुक्तं चरेत् ॥ ७३ ॥

(३) कुल्लूकः । धनुःशराद्यायुधधारिणां ब्रह्मवधपापक्षयार्थमयं लक्ष्मीभूत इत्येवं जानतां त्वेच्छया बाणलक्ष्यभूतो-
वावतिष्ठेद्यावन्मृतो भूतकल्पो वा विशुद्ध्यैतदाह याज्ञवल्क्यः ॥ संग्रामे वा हतोलक्ष्यभूतः शुद्धिमवाप्नुयात् ॥ मृतकल्पः
प्रहारार्त्तो जीवन्नपि विशुद्ध्यति ॥ अग्नौ प्रदीपे वाऽधोमुखस्त्रीन्वारान् शरीरं प्रक्षिपेत् तथा प्रास्येत यथा श्रियेतेत्यापस्तं-
बवचनात् एवं प्रक्षिपेदतत्प्रायश्चित्तद्वयमनन्तरे वक्ष्यमाणं च यजेत् वाश्वमेधेनेत्येवं प्रायश्चित्तत्रयमिदं कामतः क्षत्रियस्य, ब्रा-
ह्मणवधविषयं मनुश्लोकमेव लिखित्वा यथाव्याख्यानं भविष्यपुराणे ॥ लक्ष्यं शस्त्रभृतां वास्याद्विदुषामिच्छयात्मनः ॥ प्रास्ये-
दात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः ॥ यजेत् वाश्वमेधेन क्षत्रियो विप्रघातकः ॥ प्रायश्चित्तत्रयं ह्येतत्क्षत्रियस्य प्रकी-
र्तितम् ॥ क्षत्रियो निर्गुणो धीरं ब्राह्मणं वेदपारगम् ॥ निहृत्य कामतो वीरलक्ष्यः शस्त्रभृतो भवेत् ॥ चतुर्वेदविदं धीरं ब्राह्मणं चा-
ग्निहोत्रिणम् ॥ निहृत्य कामादात्मानं क्षिपेदघ्नाववाक्शिराः ॥ निर्गुणं ब्राह्मणं हत्वा कामतो गुणवान्गुह ॥ यष्ट्वा वा अश्वमेधेन
क्षत्रियो योमहीपतिः ॥ ७३ ॥

(४) राघवानन्दः । कामतो वेदविद्ब्राह्मणवधे राजन्यस्याह लक्ष्यमिति । विदुषां ब्रह्महत्यापापक्षयार्थं स्वयं क्षत्रियो-

लक्ष्मीभूतइत्येवम् । एभ्योजीवन्पि शुध्येत् ॥ संग्रामे वा हतोलक्ष्यभूतः शुद्धिप्राप्तयात् ॥ मृतकल्पः प्रहारार्तो जीवन्पि विशुध्यतीति याज्ञवल्क्योक्तेः ॥ भविष्योक्तमपि ॥ प्रायश्चित्तत्रयं ह्येतत्क्षत्रियस्य प्रकीर्तितम् ॥ व्यवस्थितं च तत्रैव ॥ क्षत्रियो निर्गुणो धितं ब्राह्मणं वेदपारगम् । निहत्य कामतो वीर लक्ष्यं शस्त्रभृतां भवेत् ॥ चतुर्वेदविदं वीर ब्राह्मणं चाग्निहोत्रिणम् ॥ निहत्य कामतोऽत्मानं क्षिपेदग्नाववाक्शिराः ॥ निर्गुणं ब्राह्मणं हत्वा कामतो गुणवानह ॥ यजेत चाश्वमेधेन क्षत्रियो योमहोपतिः ॥ ७३ ॥

(५) नन्दनः । द्वादशाब्दव्रताशक्तौ कर्तव्यमाह लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्यादिति । आत्मन इच्छया त्वया स्वमिच्छति चेत् विदुषां धनुर्वेदभृताम् ॥ ७३ ॥

(६) रामचन्द्रः । विदुषां अयं ब्रह्महेति जानतां शस्त्रभृतां इच्छया लक्ष्यं वेध्यं स्यात् प्रास्येत् क्षिपेत् त्रिःत्रिंशद्वारान् क्षत्रियः अवाक्शिराः ॥ ७३ ॥

यजेत वाश्वमेधेन स्वर्जिता गोसवेन वा ॥ अभिजिद्विश्वजिद्वा वा त्रिवृताग्निष्टुतापि वा ॥ ७४ ॥

(१) मेधातिथिः । जनपदेश्वरस्याश्वमेधेऽधिकारस्तत्र हिरणादिप्राच्यादिगुभ्यः आहतं द्रव्यं दक्षणाविहिताये चानाहिताग्रयस्ते न यामेष्वधिक्रियन्ते न पुनस्तदर्थमेवाधानं कर्तव्यं कर्माणि हि प्रायश्चित्तार्थानि सांगानि न चांगमाधानम् ॥ ७४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्षत्रियस्य राज्ञो बुद्धिपूर्वकं अनपकृष्टवृत्तेः ब्राह्मणहननेऽश्वमेधः । ब्राह्मण [ब्रुव] हनने तु स्वर्जिदान्यतरयज्ञानुष्ठानम् । तत्रैव विषये चतुर्णामपि वर्णानाम् । स्वर्जिन्नामयागविशेषः । अभिजिद्विश्वजिद्भ्यामभिजिता विश्वजिता वेत्यर्थः । त्रिवृता त्रिवृत्स्तोमेन । अग्निष्टोमेनाग्निष्टुन्नाम्ना । अत्रापि व्यापारतारतम्याद्यपेक्षया बहुप्रयोगाल्पप्रयोगयज्ञविकल्पो दृष्टव्यः ॥ ७४ ॥

(३) कुल्लूकः । यजेत वाश्वमेधेनेत्यनन्तरं व्याख्यातं स्वर्जिता यागविशेषेण गोसवेन वाऽभिजिता विश्वजिता वा त्रिवृताऽग्निष्टुता वा याजयेत् एतानि चाज्ञानतो ब्रह्मवधे प्रायश्चित्तानि त्रैवर्णिकस्य विकल्पितानि । तदुक्तं भविष्यपुराणे ॥ स्वर्जितादे श्वयद्वीरकर्मणां पृतनापते ॥ अनुष्ठानं द्विजातीनां वधे ह्यमतिपूर्वके ॥ ७४ ॥

(४) राघवानन्दः । त्रैवर्णिकस्याज्ञानतः ब्राह्मणवधे साधारणमाह स्वर्जितेति पादयूनेन । स्वर्जिता बलवता गोसवेन ॥ स्वर्जितादेश्च षट्वीरकर्मणः पृतनायते ॥ अनुष्ठानं द्विजातीनां वधे त्वमतिपूर्वकः इति भविष्योक्तेः ॥ त्रिवृताग्निष्टुतेति अग्निष्टोमस्य विकृतिरेकाहोऽग्निष्टुत् सच । पृष्ठस्तोत्रत्रिवृद्युक्तत्वाच्च त्रिवृदिति कथ्यते । एतानि विकल्पितानि शक्त्यपेक्षया व्यवस्थितानि वा ॥ ७४ ॥

(५) नन्दनः । षडैते क्रतवः पापगौरवलाघवानुसारेण व्यवस्थापनीयाः एवमुत्तरेष्वपि विकल्पेषु कल्पनीयम् ॥ ७४ ॥

जपन्वान्यतमे वेदं योजनानां शतं व्रजेत् ॥ ब्रह्महत्यापनोदाय मितभुङ्क्ष्ये तन्द्रियः ॥ ७५ ॥

(१) मेधातिथिः । मितभुङ्क्ष्यावताननृष्यति नियतेन्द्रियो ब्रह्मचारी विषयेष्वगृध्रुः ॥ ७५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्राह्मणस्य ब्राह्मणब्रुवहननेऽकामकृते ॥ ७५ ॥

(३) कुल्लूकः । वेदानां मध्यादेकं वेदं जपन्त्सल्पाहारः संयतेन्द्रियो ब्रह्महत्यापापनिर्हरणाय योजनानां शतं गच्छेदेतदप्यज्ञानकृते जातिमात्रब्राह्मणवधे त्रैवर्णिकस्य प्रायश्चित्तं । तथाच भविष्यपुराणेऽयमेव श्लोकः पठितो व्याख्यातश्च ॥ जातिमात्रं यदा विप्रं हन्यादमतिपूर्वकम् ॥ वेदविच्चाग्निहोत्री च तदा तस्य भवेदिदम् ॥ ७५ ॥

(४) राघवानन्दः । जातिमात्रब्राह्मणवधेऽप्याह जपन्निति तथाच यमः ॥ जातिमात्रं यदा विप्रं हन्यादमतिपूर्व-

कम ॥ वेदविदग्निहोत्री च तदा तस्य भवेदिदम् ॥ जपन्वान्यतमं वेदं योजनानां शतं ब्रजेत् ॥ ब्रह्महत्यावनोदाय मि-
तभुङ्क्षियतेन्द्रियइति ॥ ७५ ॥

सर्वस्ववेदविदुषेब्राह्मणायोपपादयेत् ॥ धनंवाजीवनायालगृहंवासपरिच्छदम् ॥ ७६ ॥

(१) मेधातिथिः । यावत्किञ्चिद्गोहिरण्यादिकंतत्सर्वदातव्यं अत्रार्थवादोधनंहिजीवनायालमिति तावताधनेन
दत्तेनान्यस्मैजीवितंदत्तंभवतीत्येवसाम्यं गृहंवासः परिच्छदंपरिच्छदशब्देन यावत्किञ्चिद्गृहोपकरणं सर्पिस्तैलधान्यादि
कुण्डकटाहादिकुप्यशयनासनादि तत्सर्वगृह्यते ॥ ७६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सर्वस्वं सहस्रादूर्ध्वम् । धनंवाजीवनायालमितिनिमित्तमात्रेण जीवनाय सत्कुटुम्बस्य द्वि-
जस्य । गृहंवेत्यल्पवित्ततायाम् । सपरिच्छदं परिच्छदः उल्लेखनादिः ॥ ७६ ॥

(३) कुल्लूकः । सर्वस्वंवा वेदविदे ब्राह्मणाय दद्यात् यावद्धनंजीवनाय समर्थगृहंवा गृहोपयोगिधनधान्यादियुत-
मतः सर्वस्वंवा गृहवासपरिच्छदंदद्यात् । जीवनायालमिति वचनाज्जीवनपर्याप्तंसर्वस्वंगृहंवादद्यान् ततोऽल्पं एतच्चाज्ञान-
तोजातिमात्रब्राह्मणवधे ब्राह्मणस्य प्रायश्चित्तम् । तथा च भविष्यपुराणम् ॥ जातिमात्रंयदाहन्याद्ब्राह्मणं ब्राह्मणोगृह
वेदाभ्यासविहीनोवै धनवानग्निवर्जितः ॥ प्रायश्चित्तंतदा कुर्यादिदं पापविशुद्धये ॥ धनंवा जीवनायालगृहंवासपरिच्छदम् ॥
॥ ७६ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्राह्मणस्यैव जातिमात्रस्याज्ञानतः तद्वधेऽप्याह सर्वस्वमिति । अलं जीवनपर्यन्तस्थायि । त-
थोक्तं भविष्ये ॥ जातिमात्रं यदा हन्यात् ब्राह्मणोब्राह्मणं गृह ॥ वेदाभ्यासविहीनोवै धनवानग्निवर्जितः ॥ प्रायश्चित्तं
तदा कुर्यादिदं पापविशुद्धये ॥ धनं वा जीवनायालं गृहं वासपरिच्छदे सर्वस्ववावदेविदेब्राह्मणायोपपादयेदिति ॥ ७६ ॥

(५) नन्दनः । उपपादयेदद्यात् ॥ ७६ ॥

(६) रामचन्द्रः । जीवनायालं धनं जीवनपर्याप्तम् ॥ ७६ ॥

हविष्यभुग्वाऽनुसरेत्प्रतिस्रोतः सरस्वतीम् ॥ जपेद्धानियताहारस्त्रिवेदस्यसंहिताम् ॥ ७७ ॥

(१) मेधातिथिः । हविष्यंमुन्यन्नंनीवारादि ग्राम्यमपिपयोघृतादि । प्रतिस्रोतः स्रोतःस्रोतः प्रतियावन्तिसरस्व-
त्याः स्रोतांसितावन्यनुसरेत् । नियताहारआहारनिवृत्तिरुत्वावेदसंहितांसमन्त्रब्राह्मणकात्रिरावर्तते एतेषांप्रायश्चित्तानामि-
यमत्रव्यवस्था बुद्धिपूर्वेण ब्राह्मणमात्रवधे द्वादशवार्षिकंलक्ष्यंशस्त्रभृतामनेन विकल्पते । यद्यपि द्वादशवार्षिकेन मरणा-
न्तंतथापि दैवोपपत्तिपतितेऽन्तरामरणे सामिकृतेप्रायश्चित्तेशुद्धयभावात्प्रत्यवायोननिवर्तते द्वितीयेतु तदानीमेव निर्मुक्त-
पापाः शस्त्रहतोवाकदाचिन्म्रियेत अतएव आद्योपात्तप्रायश्चित्तमिच्छया विकल्पेन दातव्यं । अग्नौप्रवेशस्तुश्रोत्रियत्वा-
दिगुणयुक्ते तत्रापि सवनगुणेश्चोसन्तिब्रह्मघ्नस्त्रिरवस्थास्तस्यावसानंशस्त्रेणगात्राणांखण्डशोविदारणंसवनगतइति पठन्ति ।
नचप्राणान्तिकेषु द्वैगुण्यसंभवः नह्येकस्मिन्जन्मनिद्विर्मरणोपपत्तिस्तत्तुल्यपीडानुभवात्तस्यद्वैगुण्यं नचद्वादशवार्षिकंद्विगु-
णयुक्तंकोहिदेवसमश्रुतुर्विंशतिवर्षाणिप्रायश्चित्तंचरेत्संवत्सरशेषेहि मृतस्य सर्वनिष्फलंस्यात् अश्वमेधयागस्तुत्रैर्वैर्गिका-
नांसतिसंभवे पूर्वोक्तैर्विकल्पते । गोसवादयस्त्वबुद्धिपूर्वमहागुणवतिहन्तरिस्थुर्योजनश्रुतंष्ट्याचब्राह्मणजातीयमात्रवध-
वमुत्तराण्यपि त्रिवृताग्निधृतेतिसमानाधिकरणे एवस्वर्जितागोसवेनेति अभिजिद्विश्वजितौद्वेप्रायश्चित्ते ॥ ७७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । हविष्यभुग्वेति सर्वस्वदानेनविकल्पितम् । प्रतिस्रोतः प्रभासमारभ्य पृक्षसवणान्तं यत्र-

यत्र सरस्वती तत्रतत्र स्रोतोलक्ष्मीकृत्य तीरेण गमनम् । जपेद्वेति ब्राह्मणहत्यायाम् । संहितां मन्त्रभागमेकस्य वेदस्य ॥ ७७ ॥

(३) कुल्लूकः । नीवारादिहविष्यान्भोजीविख्यातप्रसरणादारभ्यापश्चिमोदधेःस्रोतः प्रतिसरस्वतीयायात् । एतच्च जातिमात्रब्राह्मणवधे ज्ञानपूर्वके । तथा भविष्यपुराणे ॥ जातिमात्रे हते विधे देवेन्द्रमतिपूर्वकम् ॥ हन्ता यदा वेदहीनो धनेन च भवेद्भूतः ॥ तदैतत्कल्पयेत्तस्य प्रायश्चित्तनिबोधमे ॥ हविष्यभुक्चरेत्तीरे प्रतिस्रोतः सरस्वतीम् ॥ अथ वा परिमिताहारस्त्री-
न्वारान्वेदसंहिताम् ॥ संहिताग्रहणात्पदक्रमव्युदासोऽत्रापि भविष्यपुराणीयोविशेषः ॥ जातिमात्रन्तु योहन्याद्विप्रंत्वमतिपूर्व-
कम् ॥ ब्राह्मणोऽत्यन्तगुणवान् तेनेदंपरिकल्पयेत् ॥ जपेद्धानियताहारस्त्रिवेदस्य संहिताम् ॥ ऋचोयजूंषिसामानि त्रैविद्या-
ख्यं सुरोत्तमम् ॥ ७७ ॥

(४) राघवानन्दः । ज्ञानतो जातिमात्रतद्वधे सगुणस्य निर्गुणस्य वा ब्राह्मणस्याह हविष्येति । तथाच भविष्ये ॥ जातिमात्रे हते विधे दैवादमतिपूर्वकम् ॥ हन्ता यदा वेदहीनो धनेन च भवेद्भूह ॥ तदा तत्कल्पयेत्तस्य प्रायश्चित्तं निबोधमे ॥ हविष्यभुक् चरेत्तीरे प्रतिस्रोतः सरस्वतीम् ॥ प्रतिस्रोतः समुद्रादिसंगममारभ्य प्रतिकूलतयानिःसरणदेशपर्यन्तंगच्छेदिति ॥ जातिमात्रन्तु योहन्यात् विप्रन्तु मतिपूर्वकम् ॥ ब्राह्मणोऽत्यन्तगुणवान् तदैतत्परिकल्पयेत् ॥ जपेद्धानियताहारस्त्रिऋत्वो-
वेदसंहिताम् ॥ ऋचोयजूंषि सामानि त्रैविद्याख्यां सुरोत्तमेति ॥ ७७ ॥

(५) नन्दनः । प्रतिस्रोतः प्रतिस्रोतसम् ॥ ७७ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रतिस्रोतः सरस्वतीं अनुसरेत् गच्छेत् ॥ ७७ ॥

कृतवापनोनिवसेद्ग्रामान्ते गोव्रजेपिवा ॥ आश्रमे वृक्षमूले वागोब्राह्मणहिते रतः ॥ ७८ ॥

(१) मेधातिथिः । द्वादशवार्षिकस्यायंविशेषः कश्चिद्वैकल्पिकधर्मउपदिश्यते कश्चिदपूर्ववचनः अपूर्वमाश्रमवृक्ष-
मूले वैकल्पिकमेववाकुटीस्थात् किमर्थपुनस्तत्रैव नोक्तप्रक्रान्तद्वादशवार्षिकस्य वक्ष्यमाणंयथास्यात्पृथक्प्रायश्चित्तमाभू-
दितिपूर्वैर्व्याख्यातंस्वतत्तद्व्यन्यस्मिन्प्रक्रान्तिऽन्यत्रप्राप्नोति प्रक्रान्तासमामौ दोषश्रवणात्पृथगधिकारात्पृथक्प्रयोगताऽ-
न्यस्यान्यतरप्रयोगः ॥ ७८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रायश्चित्तव्रतेषु साधारणधर्ममाह कृतवापनोनिवसेदिति । ग्रामान्ते ग्रामाद्वहिः ॥ ७८ ॥

(३) कुल्लूकः । इदानींसमामे द्वादशवर्षइत्युपदेशाद्वादशवार्षिकस्य विशेषमाह ॥ लूनकेशनखश्मश्रुर्गोब्राह्मणहितेरतः ॥ गोब्राह्मणोपकारान्कुर्वन्ग्रामसमीपे गोष्ठपुण्यदेशवृक्षमूलान्यतमे निवसेत् वने कुटीकृत्वेत्यस्य विकल्पार्थमिदम् ॥ ७८ ॥

(४) राघवानन्दः । द्वादशवार्षिकस्य विशेषानाह कृतवापनइति चतुर्भिः । कृतवापनोलूनकेशश्मश्रुरित्यपूर्ववि-
धिः । कृतवापस्थितिरितिकुत्रचिदर्थः ॥ सएव स्वाश्रमे पुण्ये कुटीकृत्वावने वसेदित्यस्योपलक्षणार्थत्वात् ॥ ७८ ॥

(५) नन्दनः । मतान्तरमाह कृतवापनोनिवसेदिति । कृतवापनोव्युप्तकेशश्मश्रुः ग्रामान्ते ग्रामसमीपे ॥ ७८ ॥

(६) रामचन्द्रः । कृतवापनः मुण्डः ॥ ७८ ॥

ब्राह्मणार्थं गवार्थं वा सयः प्राणान्परित्यजेत् ॥ मुच्यते ब्रह्महत्यायागोप्ता गोब्राह्मणस्य च ॥ ७९ ॥

(१) मेधातिथिः । अपरित्रायापि सम्यक्प्राणपरित्यागेनमुच्यतेपरीत्रायाप्राणत्यागेनापि ॥ ७९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र प्रारब्धव्रतस्यासमामेपि व्रते येन कर्मणा पापक्षयस्तदाह ब्राह्मणार्थइति ब्राह्मणार्थं

ब्राह्मणस्य प्राणरक्षार्थम् । एवं गवार्थे । सद्योमुच्यतइत्यन्वयः । एतच्च तत्प्राणरक्षोद्देशेन मरणे प्राणरक्षायामसिद्धाया-
मपि तथा तत्प्राणरक्षणेनामृतस्यापि शुद्धिरित्याह गोमेति ॥ ७९ ॥

(३) कुङ्कुम्भः । प्रक्रान्ते द्वादशवार्षिकेऽन्तराश्व्युदकहिंसकाद्याक्रान्तब्राह्मणस्य गोर्वापरित्रागार्थप्राणान्परित्यज-
न्ब्रह्महत्याया मुच्यते गोब्राह्मणंवाततः परित्रायामृतोप्यसमाप्तद्वादशवर्षाणि मुच्यते ॥ ७९ ॥

(४) राघवानन्दः । आरब्धद्वादशवार्षिकस्य विकल्पमाह ब्राह्मणार्थइतिद्विष्याम् । ब्राह्मणार्थ इति अश्व्युदकहिं-
साद्याक्रान्तयोगोब्राह्मणयोःकृते मरणेन तयोरक्षणेनवा व्यापृतोविमुच्यते ॥ ७९ ॥

(५) नन्दनः । परित्यक्तप्राणोरित्कप्राणोपिवा गोब्राह्मणगोमा ब्रह्महत्यायामुच्यते ॥ ७९ ॥

त्रिवारंप्रतिरोद्धा वा सर्वस्वमवजित्य वा ॥ विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणालाभेपिमुच्यते ॥ ८० ॥

(१) मेधातिथिः । प्रतिरोद्धा प्रवृत्तःशस्त्रेण क्षतोवा युद्धकरणेच्यवरैर्यदिन्यूनतदातिस्रआवृत्तयः कृत्युद्धेऽसौमु-
च्यते ऽपरित्रायमृतोपि सर्वत्वमवजित्येति ब्राह्मणादीनांचौरापहतं यदिप्रत्यानयति तदामुच्यते ब्राह्मणस्यवा तन्निमित्ते-
प्राणदाने ननुचोक्तंगोब्राह्मणस्येति सत्यंयुद्धेनान्येन वा शरीरव्यापारेण गांपङ्कलग्रादस्युभिर्वाह्यमानांब्राह्मणशत्रुभिश्चौ-
रैर्नद्यावापह्नियमाणंयदिमोक्षयति ततः शुध्यतीत्युक्तं । इहतु तेन्निमित्तग्रहणाद्यदि धनेपह्नियमाणेब्राह्मणोव्यामूढतयाऽऽत्मा-
नहन्ति निरपेक्षंचौरैर्युध्यते तत्र तत्समधनदानेन मामृथाअहंतइत्यद्धनंददामीति तमाश्वास्यइत्वामुच्यते ॥ ८० ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । प्रकारान्तरमाह च्यवरमिति । त्रयोऽवरायत्र तच्च्यवरं बहून्वारानित्यर्थः । प्रतिरोद्धा
गोब्राह्मणरक्षार्थकृतवैशसोऽशक्ततयाऽकृतरक्षोजीवन्नपि मुच्यते । सर्वस्वमिति । तथा ब्राह्मणसर्वस्वं चौरौह्नियमाणमवजि-
यानीय ब्राह्मणाय दत्त्वा । विप्रस्य सर्वस्वमित्यन्वयः । तन्निमित्ते विप्रसर्वस्वनिमित्ते प्राणालाभे मरणे वित्ताप्रामावपि मु-
च्यते असमाप्तव्रतोपि निष्पापोभवतीत्यर्थः ॥ ८० ॥

(३) कुङ्कुम्भः । स्तेनादिभिर्ब्राह्मणसर्वस्वेऽपह्नियमाणे तदानयनार्थनिर्व्याजंयथा शक्तिप्रयत्नंकुर्वन् तत्र त्रिवारा-
श्व्युद्धे प्रवर्त्तमानोनानीतेऽपि सर्वस्वे ब्रह्महत्यापापात्प्रमुच्यते अथवा प्रथमवारएव विप्रसर्वत्वमपहतंजित्वाऽर्पयति तथापि
मुच्यते यद्वा धनापहारकत्वेन स्वेनैव ब्राह्मणोयुद्धेन मरणे प्रवर्त्तते तदा यद्यप्यपहतसमधनदानेन तंजीवयतितदापि त-
न्निमित्ते तस्य प्राणालाभे ब्रह्महत्यापापान्मुच्यते एतदितरप्रकारान्तरेण तु रक्षणे गोमागोब्राह्मणस्य चैत्यपुनरुक्तिः ॥ ८० ॥

(४) राघवानन्दः । च्यवरमिति । विप्रस्य तं त्रयोऽवरानिरुष्टायत्मात्समुदायात्तं ब्राह्मणान् चतुरःपञ्चवा ।
सर्वमक्षीणं त्वंस्य तं अवजित्य दस्युभ्यः प्रतियोद्धा रक्षिता च । पुनस्तेभ्यः तन्निमित्तेतादृशनिमित्तेऽपि प्राणालाभेजी-
वति सति मुच्यते ब्रह्महत्यातइति । तन्निमित्ते धननिमित्ते मरणोद्यतस्य धनदानेन रक्षणान्मुच्यतइतिमेधातिथिः । पूर्वत्र
जीवरक्षणमत्रतु धनरक्षणवितिभेदः । तथाच याज्ञवल्क्यः ॥ ब्राह्मणस्य परित्राणाद्गवां द्वादशकस्य वा ॥ दीर्घतीव्राभय-
यस्तं ब्राह्मणं गामथापि वा ॥ दष्टा पथि निरातङ्गं कृत्वा वा ब्राह्महाशुचिः ॥ आनीय तस्य सर्वस्वं हतं घातितएववा ॥
तन्निमित्तं क्षतः शस्त्रैर्जीवन्नपि विशुध्यति ॥ ८० ॥

(५) नन्दनः । विप्रस्य परंप्रतिरोधः विप्रस्यापहतंधनंत्रिःप्रत्याहृत्य वा सर्वत्वमपि जित्य विप्रस्यापहतंसर्वस्वसकृ-

इष्यपहर्तृन् जित्वाप्रत्यादित्य विप्रस्य तन्निमित्तेप्रायश्चित्तनिमित्ते प्राणलाभे विप्रस्य व्याघ्रचौरादिभ्यः प्राप्तिवधंपरित्यजे-
त्यर्थः मुच्यते ब्रह्महत्यायादित्येव ॥ ८० ॥

(६) रामचन्द्रः । अथर्वं बहुवारम् । प्रतिरोधोवामरणे गोब्राह्मणरक्षणम् । सर्वस्वंपजित्य आनीय ब्राह्मणाय
इत्वा वा । तन्निमित्ते प्राणलाभेरुतवैशसः सर्वस्वनिमित्ते प्राणालाभे मरणे धनाप्राप्तावपि मुच्यते ॥ ८० ॥

एवंदृढव्रतोनित्यंब्रह्मचारी समाहितः ॥ समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यांव्यपोहति ॥ ८१ ॥

(१) मेधातिथिः । तस्माद्वचनादाद्यशेषमुक्त्वान्तविज्ञायते दृढव्रतइति । समाहितइतिच पादपूरणेपदे उपसंहारो-
पपूर्वस्य ॥ ८१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यदातु व्रतनिमित्तहेतुः ब्राह्मणरक्षादि न कृतं तदाह एवमिति । दृढव्रतः स्मृत्यन्तरसिद्ध-
सर्वनियमकारी । समाहितइष्टदेवतादिस्मरणवान् ॥ ८१ ॥

(३) कुट्टकः । एवमुक्तप्रकारेण सर्वदानियमोपहितः स्त्रीसंयोगादिशून्यः संभृतमनाः समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्मह-
त्यापापनाशयति एवंब्राह्मणार्थइत्यादिसर्वप्रक्रान्तद्वादशवार्षिकस्य बोद्धव्यम् ॥ ८१ ॥

(४) राघवानन्दः । उपसंहरति एवमिति । दृढव्रतः आस्तिक्यबुद्ध्याअचाल्यव्रतः । द्वादशवार्षिकस्योपसंहारदर्श-
नान्मध्येष्वपि पठ्यमानाः पक्षाएतस्यैवविकल्परूपाः षोडशीग्रहणवदिति तथाचजैमिनिसूत्रम् ॥ प्रायश्चित्तेषु चैकाध्यानिष्प-
न्नेनाभिसंयोगस्तस्मात्सर्वेषुनिर्घात्यः । प्रायश्चित्तेषु मध्ये एकैकशस्तस्य निष्पन्नेन पापेननिवर्तकतया संबन्धः ॥ कुतः
एकाध्यातुं एकार्थास्तु विकल्परन्निति न्यायादेकेन प्रायश्चित्तेनैकस्य पापस्य निरस्यतया अपराकांक्षाविरहात् अ-
न्यथाऽप्रवृत्तेरितिसूत्रार्थः । अतएव ॥ व्रतमध्ये मृगैर्वापि रोगैर्वाविनिषूदितः ॥ गोनिमित्तं द्विजार्थं वा प्राणान्वापि परित्य-
जेत् ॥ यद्वा दद्यात् द्विजेन्द्राय गवामयुतमुत्तमम् ॥ एतेष्वन्यतमं कृत्वा ब्रह्महा शुद्धिमाप्नुयादिति नारदोक्तमपि संगतमि-
ति । अतोऽन्यतममास्थायेति वक्ष्यति । प्राणान्तिकपक्षे तत्पुत्राद्यैस्तदन्त्येष्टिकरणादिकं फलमितिश्लोकतात्पर्यम् ॥ ८१ ॥

(५) नन्दनः । कृतवापनोनिवसेदित्यारभ्योक्तानानियमानामन्यतमनिमित्ताभावादकुर्वतः क्रियताकालेन ब्रह्म-
हत्यायामोक्षइत्यपेक्षायामाह एवंदृढव्रतोनित्यमिति । एवमिति कृतवापनइत्याद्यारभ्योक्तानानियमानांपरामर्शः समाहितः
गोब्राह्मणरक्षणएकाग्रचित्तः ॥ ८१ ॥

शिष्टा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे ॥ स्वमेनोऽवभृथस्नातो हयमेधे विमुच्यते ॥ ८२ ॥

(१) मेधातिथिः । चरमपक्षउच्यते शिष्टास्वमेनआत्मीयं दोषं भूमिदेवतानां ब्राह्मणानां नरदेवैः क्षत्रियैः समागमेऽ-
न्विजो ब्राह्मणः क्षत्रियो यजमान एवं कृताश्वमेधेऽवभृथस्नातो विमुच्यते द्वादशवार्षिकस्योपसंहृतत्वात्त्वतन्त्रमिदं वैकल्पिक-
मिच्छति । अन्ये इत्याहुर्वैकल्पिकानां मध्यउपदेशात्प्रक्रान्तद्वादशवार्षिकस्यैव गोब्राह्मणपरित्राणवत्समास्पृधमाहुर्न्यथा
सारस्वतेन पक्षे वा प्रसवणं प्राप्योत्थानमिति । वयन्तु ब्रूमउपसंहृतत्वादाज्यस्य वैकल्पिकमध्ये वा पाठादुभयरूपतास्य प्रक्रा-
न्तेऽपक्रान्ते च सतिसंभवे ॥ ८२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शिष्टा कथयित्वात्मनः पापम् । नरदेवैः राजभिः भूमिदेवानां ब्राह्मणानां समागमेऽश्वमेधा-
वभृथे स्नातो मुच्यते ब्रह्महत्याया ॥ ८२ ॥

(३) कुल्लूकः । अश्वमेधे ब्राह्मणानामृत्विजांक्षत्रियस्य यजमानस्य समागमेषु ब्रह्महत्यापापं शिष्टा निवेद्यावभृथ-
स्नातो ब्रह्महत्यापापान्मुच्यते द्वादशवार्षिकस्योपसंख्यतत्वात् स्वतन्त्रमेवेदं प्रायश्चित्तं । तथा च भविष्यपुराणे ॥ यदा तु गुण-
वान्विप्रो हत्वा विप्रं तु निर्गुणम् ॥ अकामतस्तदा गच्छेत्स्नानं चैवाश्वमेधिकम् । गोविंदराजस्तु अश्वमेधविर्वाजितसकलप्रा-
यश्चित्तशेषतः अस्य प्रकृतं द्वादशवार्षिकप्रायश्चित्तस्यांतराऽवभृथस्नाने तेनैव शुद्धिरित्याह तदयुक्तं भविष्यपुराणवचनविरोधान्
॥ ८२ ॥

(४) राघवानन्दः । गुणवतो नुमन्तुरनारद्व्रतस्य वा निर्गुणब्राह्मणवधे स्वतन्त्रं प्रायश्चित्तमाह शिष्टेति । शिष्टा नि-
वेद्य स्वमेनः इति शेषः । भूमिदेवानां विप्राणां हयमेधेऽश्वमेधयागे तत्रत्यानां नरदेवानां नृपाणां समागमे मेलने ॥ तथा च
भविष्ये ॥ यदा च गुणवान्विप्रो हत्वा द्विप्रं तु निर्गुणम् ॥ अकामतस्तदा गच्छेत्स्नानं चैवाश्वमेधिकमिति ॥ ८२ ॥

(५) नन्दनः । स्वमेनः शिष्टा विख्याप्य ॥ ८२ ॥

(६) रामचन्द्रः । शिष्टानिवेद्य अस्य एनः अवभृथस्नातो हयमेधे विमुच्यते ॥ ८२ ॥

धर्मस्य ब्राह्मणो मूलमग्रं राजन्य उच्यते ॥ तस्मात्समागमे तेषामेनो विख्याप्य शुध्यति ॥ ८३ ॥

(१) मेधातिथिः । यजमानं त्विजां ब्राह्मणक्षत्रियाणामश्वमेधसमागम एनो विख्यापनीयमित्यत्रार्थवादः ॥ ८३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्रोपपत्तिमाह धर्मस्येति । मूलं तदुपदेशेन धर्मप्रवृत्तेः । अग्रं राजन्यस्तेनार्तरक्षणेन वि-
स्तार्यते । मूलाग्राभ्यां वृक्षावरोधात्मधर्मावरोधात्कृत्स्नधर्मसंबन्धिजनसंसर्गादधर्मक्षय इत्यर्थः ॥ ८३ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्माद्ब्राह्मणो धर्मस्य कारणं ब्राह्मणेन धर्मोपदेशे कृते धर्मानुष्ठानाद्राजा तस्याग्रं शान्तं मन्वादिभिरुच्यते
ताभ्यां ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां समूलाग्रधर्मतरुनिष्पत्तेः तस्मात्तेषां समागमेऽश्वमेधे पापं निवेद्यावभृथस्नातः शुद्ध्यतीत्यस्यैव
विशेषः ॥ ८३ ॥

(४) राघवानन्दः । एतदेव सोपपत्तिकं द्रष्टव्यं धर्मस्येति । अग्रं आदिः विप्रो हि धर्ममुपदिशंस्तमुत्पादयति राजा
तमनुपालयत्यतस्ताभ्यां धर्मवृक्षस्य समग्रोत्पत्तिः । एनः पापं विख्याप्य शुध्यति ख्यापनेनानुतापनेनैतन्न ख्यापनस्या-
पि विशुद्धहेतुतोक्तेः ॥ ८३ ॥

(५) नन्दनः । विख्यापनस्य प्राधान्यमुपपादयति धर्मस्य ब्राह्मणो मूलमिति । मूलमुपदेशकत्वात् अप्रमनुष्ठापक-
त्वात् ॥ ८३ ॥

(६) रामचन्द्रः । तेषां ब्राह्मणक्षत्रियाणां समागमे एनः पापं विख्याप्य कथयिष्यति विशुध्यति ॥ ८३ ॥

ब्राह्मणः संभवेनैव देवानामपि दैवतम् ॥ प्रमाणं चैव लोकस्य ब्रह्मात्रैव हि कारणम् ॥ ८४ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रायश्चित्तापरिषद्संनकर्तव्यं परिषत्पूज्यस्तुविधिरनुष्ठेयः साचैवंरूपापरिषदेवमर्थः श्लोकोऽय-
मुत्तरश्च उत्पत्त्यैव ब्राह्मणो देवानामपि देवो लोकस्य प्रमाणं प्रत्ययितः प्रत्यक्दर्शनवत् न तदोयं वचनमपिशङ्कते कश्चित् अत्र-
कारणं ब्रह्मवेदस्तदर्थज्ञो ह्यदृष्टमुपदर्शयन् प्रमाणीक्रीयते ॥ ८४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्र प्रायश्चित्तज्ञानोपायमाह ब्राह्मण इति । संभवेनैवोत्पत्त्यैव संस्कारेष्वनुत्पन्नेष्वपि दे-
वानामपि दैवतमाराध्यः । प्रमाणं चैवलोकस्य धर्मनिश्चये । अत्र हेतुमाह ब्रह्मात्रैव हि कारणमिति । यतः कारणं धर्मनि-
श्चये ब्रह्मवेदस्तत्रैव नियमेनास्ति तत इत्यर्थः ॥ ८४ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणउत्पत्तिमात्रेणैव किंपुनः श्रुतादिभिर्देवानामपि पूज्यः सुतरांमनुष्याणांलोकस्य च प्रत्यक्ष-
वत्प्रमाणंतदुपदेशस्य प्रामाण्यात् यस्मात्तत्र वेदएव कारणवेदमूलकत्वादुपदेशस्य यतएवमतः ॥ ८४ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्राह्मणो धर्मस्य मूलमित्यत्रोपपत्त्यन्तरमाह ब्राह्मणइति । संभवेनोत्पत्तिमात्रेणैव । अपिशब्दान्म-
नुष्याणां सुतरां प्रमाणं तदुपदेशस्यैव धर्मजनकतया प्रमाणत्वात् नेतरे । ब्रह्म वेदः अत्रार्थे कारणं प्रमाणम् । ब्राह्मणै-
रुपदिश्यमानएव धर्मः फलजनकइति ॥ ८४ ॥

(५) नन्दनः । निमित्तविशेषेषु प्रायश्चित्तविशेषो ब्राह्मणनिर्णीतः कर्तव्यइति वक्तुंब्राह्मणस्य वैशिष्ट्यं तावदाह ब्राह्म-
णः सम्भवेनेति । दैवतं ईश्वरत्वाहः अनेन शक्त्यातिशयउक्तः प्रमाणं विश्रंभार्हमनेन ज्ञानातिशयेन ब्राह्मणा ब्राह्मण्यमेव
कारणं नान्यत् ॥ ८४ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणः संभवेनैव उत्पत्यैव । ब्रह्म वेदः । अत्रैव कारणं प्रमाणम् ॥ ८४ ॥

तेषां वेदविदो ब्रूयुस्त्रयोप्येनः सुनिष्कृतिम् ॥ सा तेषां पावनाय स्यात्पवित्रं विदुषां हि वाक् ॥ ८५ ॥

(१) मेधातिथिः । परिषद्मनं प्रायश्चित्तिनोऽनेन कथ्यते । तस्याश्च लक्षणं ब्राह्मणावेदविदस्त्रयः परिषदिति ननु च-
दशावरावापरिषदितिवक्ष्यति तथैकोपि वेदविद्धर्ममिति न दशसंख्यापुरुषाणामुपदिश्यते किं तर्हि गुणानां । तथा च त्रैविद्यो ह-
ेतुकस्तर्कीति गुणानामेव निर्देशः एकोपि वेदविदित्यनेन चैतत्प्रकटीकरोति हेतुकत्वादुणांतराभावेपिकेवलं नैव वेदेन वेदवित्परिष-
त्वं लभ्यते अयं तु श्लोकः संख्यानिर्देशार्थः अत्र यद्यपि वेदविदइत्युपात्तं हेतुकत्वादयोपि गुणागृह्यन्ते न ह्यन्यथा वेदवित्त्वं-
शिष्टपरिषद्लक्षणं । तत्रैव व्याख्यास्यामः यदि वेदवित्त्वं हेतुकत्वादिना विना भवति कथं तर्हीदमुक्तमेकोपि वेदविदिति
गुणान्तराभावेपि वेदवित्परिग्रहार्थमित्येतदपि । तत्रैव वक्ष्यामः अतः प्रायश्चित्तिना त्रयः समुदिताः प्रष्टव्याः एकस्य कदा-
चित्प्रमादोऽनवधानं स्यात् तथैतत्परिषद्मनं विदुषां पृथगर्थकर्तव्यमिति । तथा च पवित्रं विदुषां हि वाक् न च रहस्यप्राय-
श्चित्ताभावप्रसङ्गः यत्र कस्याप्यविदितं तद्रहस्यं विदितेतु परिषद्मनं । तथा चोक्तं ख्यापनेनानुतापेनेति तदेतदयुक्तं
कल्पनाविषयत्वादस्य शक्तिपापं चावेक्ष्य प्रायश्चित्तं विकल्पयेदिति अनुक्तनिष्कृतीनां प्रायश्चित्तं कल्पयेत्तत्र त्रिभिर्न्यायकल्पना-
कृता सा प्रमाणयितव्या ॥ ८५ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । ततः किमतमाह तेषामिति । त्रयोपि अत्यन्तालाभे तेषां पापिनां पावनाय प्रायश्चित्तज्ञाप-
नद्वारा । पवित्रं हीति हेतूक्त्या ब्राह्मणैर्बहुभिरुपदिष्टमेव कर्तव्यं नान्यथा पापक्षयइत्यर्थः । पवित्रं पावनी चेति दर्शनात् ।
द्यामित्यभ्याहार्यं । तेषां वेदविदइति क्वचित्पाठः ॥ ८५ ॥

(३) कुल्लूकः । तेषां विदुषां ब्राह्मणानां मध्ये वेदज्ञास्त्रयोपि किमुताधिकाः यत्पापनिर्हरणाय प्रायश्चित्तं ब्रूयुस्तत्पा-
पिनां विशुद्धये भवति यस्माद्विदुषां वाक्पापवियत्रो ततश्च प्रकाशप्रायश्चित्तार्थं विदुषामपि परिषदवश्यं कार्या रहस्यप्रायश्चित्ते
पुनरेतन्नास्ति रहस्यत्वविरोधात् ॥ ८५ ॥

(४) राघवानन्दः । एतदेव स्पष्टयति तेषामिति । तेषां चतुर्णां वर्णानां एनस्स जातेषु निष्कृतिं प्रायश्चित्तं ब्रूयुः सा
निष्कृतिः । अत्र हेतुः पवित्रमित्यादि । विदुषां त्रयाणां ब्राह्मणानां वाक् ज्ञानादिवत्पावनीति भावः । धर्मस्येत्यादि-श्लो-
कत्रयं परिषद्मनस्तुत्यर्थमिति मेधातिथिः ॥ ८५ ॥

(५) नन्दनः । ततः किमायातमित्यपेक्षायामाह तेषां वेदविदो ब्रूयुरिति । वेदविदो वेदार्थविदस्तेषां प्रायश्चित्तानाम्
॥ ८५ ॥

(६) रामचन्द्रः । तेषां पापिनां एनःसु निष्कृतिं त्रयोवेदविदोब्रूयुः । तेषां विदुषां सावाक् पावनाय पवित्रं स्यात् ॥ ८५ ॥

अतोऽन्यतममस्थाय विधिविप्रः समाहितः ॥ ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मवत्तया ॥ ८६ ॥

(१) मेधातिथिः । सर्वेषां ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तानामुपसंहारार्थः श्लोकोऽयं । विप्रग्रहणं चात्र सर्ववर्णप्रदर्शनार्थं । व्यपोहत्य पहरति आत्मवत्तयाऽऽत्मज्ञानतया शास्त्रार्थकृताभिविवेकआत्मवानित्युच्यते तस्यायमध्यवसायोऽन शास्त्रार्थमन्यथावर्तते ॥ ८६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्यतममिति तत्तदपनोद्यपापविशेषापेक्षया व्यवस्थितमित्यर्थः । विधिं प्रकारम् । विप्र इति प्राधान्यादुक्तं यथोक्तव्यवस्थया तु योज्यम् । आत्मवत्तया प्रयत्नवत्तया ॥ ८६ ॥

(३) कुल्लूकः । अस्मात्प्रायश्चित्तगणादन्यतमंप्रायश्चित्तं ब्राह्मणादिः संयतमना आश्रित्य प्रशस्तार्थतया ब्रह्महत्याकृतपापमपनुदति एतच्च ब्रह्मवधादिप्रायश्चित्तविधानं सकृत्पापकरणविषयं पापावृत्तौ त्वावर्त्तनीयं एनसि गुरुणि गुरुणिलघुनिलघूनीति गोतमस्मरणात् पूर्णैवानस्यनस्थान्तशुद्धहत्याव्रतंचरेदिति बहुमारणे प्रायश्चित्तबहुत्वस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च ॥ विधेः प्राथमिकादस्माद्वितीये द्विगुणं स्मृतम् ॥ तृतीये त्रिगुणं प्रोक्तमिति गोतमस्मरणात् गृहदाहादिना युगपदनेकब्राह्मणहनने तु भविष्यपुराणीयो विशेषः ॥ ब्राह्मणो ब्राह्मणं वीरब्राह्मणौ वा बहून्गुह ॥ निहत्य युगपद्दीरएकंप्राणान्तिकंचरेत् ॥ कामतस्तु यदा हन्याद्ब्राह्मणान्सुरसत्तम ॥ तदात्मानंदहेदग्नौ विधिना येन तच्छृणु ॥ एतच्चाज्ञानविषयं सर्वमेवैतत् । तथा ॥ अकामतो यदा हन्याद्ब्राह्मणान्ब्राह्मणोगुह ॥ चरेदग्ने तथाघोरे यावत्प्राणपरिक्षयम् ॥ एतच्चाज्ञानवधे । प्रकृतत्वाद्युपपन्नारणविषयं । क्रममारणेतु विधेः प्राथमिकादस्मादित्यावृत्तिविधायकं वेदवचनम् ॥ ८६ ॥

(४) राघवानन्दः । निमित्ततारतम्येनोक्तं नैमित्तिकतारतम्यमुपसंहरति अतइति । अन्यतमं ब्रह्महादादशेत्यादौ मध्ये । आत्मवत्तया अस्त्यात्मा परलोकभागिति दृढात्मबुद्ध्या न ह्यनात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्रुतइत्युक्तेः ॥ ८६ ॥

(५) नन्दनः । उक्तमर्थमुपसंहरति अतोऽन्यतममस्थायेति । अतएषां विधीनां विप्रशब्दः क्षत्रियवैश्ययोः स्मृत्युपलक्षणार्थः । केचिद्ब्राह्मणानामेव सर्वत्र प्रायश्चित्तानि विहितानि क्षत्रियादीनान्तु दण्डविशेषानुसारेणाहवनीयाइति मन्यन्ते ॥ ८६ ॥

हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतंचरेत् ॥ राजन्यवैश्यौ चेजानावात्रेयीमेव च स्त्रियम् ॥ ८७ ॥

[जन्मप्रभृति संस्कारैः संस्कृतामन्त्रवाचया । गभिर्णीत्वथवा स्यात्तामात्रेयींचविदुर्वुधाः ॥ १ ॥]

(१) मेधातिथिः । गर्भो ब्राह्मणजातीयत्वएवकेन गर्भस्य पातनं कारयेत् अविज्ञातमज्ञातस्त्रीपुरुषविशेषव्यञ्जनं उपज्ञाते यथायथं स्त्रीपुंसनिमित्तमेव कथंपुनः स्त्रियामहतायां गर्भस्य वधो भवति औषधादियोगेन गर्भस्य पातनं एतदेवैत्येकवचनात्प्राप्त्या सन्द्वादशवार्षिकमेवातिदिश्यतइत्याहुः अन्ये एतदिति शुद्धिकारणं सामान्यापेक्षायामतः सर्वप्रायश्चित्तातिदेशः । क्षत्रियवैश्यौ चेजानौ यजमानौ भूतकालता न विवक्षिता । स्मृत्यन्तरे सवनगतौ राजन्यवैश्याविति । अतश्च प्रारब्धसोमपानयोरेषां विधिर्न दर्शपूर्णमासादियजमानयोः लिङ्गदर्शनं तु यजमानमात्रयोर्भावितीति ब्राह्मणीभूयैव यजतइति आत्रेयीं स्त्रियमत्रिगोत्रजातां जातेरविशेषान् स्त्रीपुंसयोर्ब्राह्मणीनामपि प्राप्तावात्रेय्यावचनमन्यगोत्रनिवृत्त्यर्थमतो ब्राह्मण्या अप्यन्यस्यावध-

उपपातकमेव स्त्रीविद्वक्षत्रियवधइति । येतु स्त्रीसुद्वद्धइति तच्चातुर्वर्ण्यस्त्रीमात्रे अवमस्त्रीणामुपपातकं महापातकप्रायश्चित्ते-
विकल्पते भर्तृत्वगुणापेक्षोविकल्पोबुद्धिपूर्वाबुद्धिपूर्वकतश्च सस्तनपबालापत्ययोस्तदभावे बालानांदुःशके जीविते विजा-
तियायाअपि ब्राह्मणभार्यायाभर्तृद्वेषादनपराधिन्यानिमित्तान्तरतोवोपजाप्यमानायाः शीलंरक्षन्त्याअसंप्रयुज्यमानायावधः
एवमप्युत्प्रेक्षयास्त्रीसुद्वद्धधर्मित्यादेशादन्यत्रतु स्त्रीशूद्रेत्यात्रेभ्यांत्वविकल्पः । अन्येत्वात्रेयीं गर्भसाहचर्यादितुमतीमाहुः पत्यते
भ्रूणहात्रेयाश्चहन्तेति भ्रूणहाब्राह्मणवधकारी साच ब्राह्मण्येव अत्र कुक्ष्याववश्यं गर्भउल्लसत्तइत्यात्रेयी यद्यपीदृश्यांवृत्तौत-
द्धितोनस्मर्यते । प्रयोगानुसारेण तु भवतीति ॥ ८७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गर्भं ब्राह्मणेन ब्राह्मण्यामाहितमविज्ञातं पुनपुंसकस्त्रीवधाद्युक्तमेव । इंजानौ सोमेन ।
आत्रेयीमत्रिगोत्रां रजस्वलांच । तथाहि । ऋतुमतीमात्रेयोमाहुरिति गौतमः । अत्रिगोत्रांवा नारीमिति विष्णुः । साच-
ब्राह्मण्येव आत्रेयींब्राह्मणीमिति शङ्खस्मृतेः । व्रतमित्यभिधानात्कामतांपि हनने न मरणान्तं किंतु द्वादशवर्षिकमेव ।
अकामतस्तदर्धम् ॥ ८७ ॥

(३) कुड्मूकः । प्रकृतत्वाद्ब्राह्मणगर्भविषयंस्त्रीपुंनपुंसकत्वेनाविज्ञातंक्षत्रियंवैश्यंच यागप्रवृत्तंहत्वाऽऽत्रेयींचस्त्रियंब्रा-
ह्मणींतथात्रेयींच ब्राह्मणीमिति यमस्मरणात् । हत्वा ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तंकुर्यात् । आत्रेयीच रजस्वला ऋतुस्नातोच्यते रज-
स्वलाऋतुस्नातामात्रेयीमिति वसिष्ठस्मरणात् । एवंचानात्रेयी ब्राह्मणी वधे त्रैवर्षिकमुपपातकंयथोक्तंस्त्रीशूद्रविद्वक्षत्रवधइति
यत्तत्तरलोके कृत्वा चस्त्रीसुद्वद्धधर्मिति तदाहिताग्निब्राह्मणस्य ब्राह्मणी भार्याविषयम् । तथाचाद्विराः । आहिताग्नेर्ब्राह्मण-
स्य हत्वा पत्नीमर्निदिताम् ॥ ब्रह्महत्याव्रतंकुर्यादात्रेयीन्नस्तथैव च ॥ ८७ ॥

(४) राघवानन्दः । विप्रवधप्रायश्चित्तप्रसंगेन तदर्थमातिदेशिकब्रह्महत्यामाह । हत्वेतिद्वाभ्याम् । प्रकृतत्वाद्विप्र-
रेतोजंगर्भं स्त्रीपुंनपुंसकतयाऽज्ञातम् । इंजानौ यागार्थदोक्षितौ ॥ यागस्थक्षत्रविद्वघाते चरेद्ब्रह्महणोव्रतम् ॥ गर्भहा च
यथावर्णं तथात्रेयीनिषूदकइतियाज्ञवल्क्योक्तेः ॥ यथावर्णं एकगुणायुक्तभेदेन आत्रेयी रजस्वला रजस्वलाभृतुस्नाता मात्रे-
यीमिति वसिष्ठवचनात् । तथात्रेयींच ब्राह्मणीर्मितियमस्मृतेर्विप्रैवसा जातस्तु बादरायणइतिन्यायात् अत्रिगोत्रा वा ॥ ८७ ॥

(५) नन्दनः । अथ ब्रह्महत्याव्रतंकेषुचिन्मिन्मिन्तेष्वतिदिशति हत्वागर्भमविज्ञातमिति । अविज्ञातमविज्ञातस्त्रीपुंस-
विभागं । गर्भंब्राह्मणगर्भं । आत्रेयीं रजस्वलामविज्ञातामात्रेयीमाहुरिति वसिष्ठः रजस्वलामत्रिगोत्रजामिति वैष्णवंवचनम्
॥ ८७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अविज्ञातं गर्भस्त्रीपुंनपुंसकंहत्वा इंजानौ राजन्यवैश्यौ आत्रेयीं रजस्वलामत्रिगोत्रां ऋतुस्नातां
वात्रेयीमाहुः ॥ ८७ ॥

उक्त्वा चैवानृतंसाक्ष्ये प्रतिरुध्य गुस्तथा ॥ अपहृत्य च निःक्षेपंकृत्वा च स्त्रीसुद्वद्धधम् ॥ ८८ ॥

(१) मेधातिथिः । हिरण्यभूष्यादिसाक्ष्येतुवधादिसंशयेवाऽनृताभिधाने प्रायश्चित्तमेतत् अत्रहि दोषातिशयः श्रूयते
भञ्जतामित्याद्यन्यत्र गुरुदधुभावेन कल्पनाकार्या प्रतिरभ्येति यदुक्तमलीकनिर्बन्धइतितदेवेदप्रतिरंभः संरंभपूर्वकोगुरो-
रुपद्रवारंभः निक्षेपः अत्रापि दरिद्रस्य महतोधनवतोऽधमस्योतान्यस्यब्राह्मणजातीयस्येत्यादिकल्पना यत्रत्वेकमेव-
श्रूयतेतत्र यथाश्रुत्यैव भवितुमर्हतिकः कल्पनायाअवसरोनचकौटिल्यसाक्षिनिक्षेपयोर्लघुप्रायश्चित्तमस्ति । यदपिसुरापाने
तदपि तुल्यमनेन गरीयः श्रुताश्रुतविषयत्वंशाक्तिचावेक्षेतियत्सत्यप्यनुक्तनिष्कृतीनामितिश्रवणे ॥ ८८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । साक्ष्ये यत्रसत्यवचसि वर्णिनावधः । प्रतिरुध्यमिथ्याभिशापेन संयोज्यनिःक्षेपः ब्राह्मण-

स्यापि सुवर्णरूपं रजताद्यपि ब्राह्मणस्य । स्त्री स्वभार्याअत्रेष्टा अनात्रेयी यद्भार्यावधस्तूपवातकमेव ब्राह्मणोवधत्वेपि तथाचान्यत्र दर्शितम् । सुहृन्मित्रमब्राह्मणोपि तस्य वधम् ॥ ८८ ॥

(३) कुल्लूकः । हिरण्यभूम्यादियुक्तसाक्ष्येऽनृतमुक्त्वा गुरोश्च मिथ्याभिशापमुत्पाद्य निक्षेपं च ब्राह्मणसुवर्णादन्य-
द्रजतादिद्रव्यं क्षत्रियादेः सुवर्णमपि चापहत्य स्त्रीवधं च यथाव्याख्यातं कृत्वा मित्रं चाब्राह्मणं हत्वा ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तं कु-
र्यात् ॥ ८८ ॥

(४) राघवानन्दः । साक्ष्ये दातव्ये साक्ष्ये भूम्याद्यर्थे अन्यत्र प्राणायामाचमनयोर्विधानात् । प्रतिलभ्य मिथ्या-
भिशापमुत्पाद्य । प्रतिरुध्येति पाठे स एवार्थः । गुरुं ब्रह्मदम् । निक्षेपं ब्राह्मणसुवर्णातिरिक्तम् । स्त्रीसुहृद्वधं कृत्वा प्रायश्चि-
त्तंकुर्यादित्यध्याहारेणान्वयः । स्त्री आहिताग्नेर्ब्राह्मणी [ज्ञा] तव्यावा अंगिराः ॥ आहिताग्नेर्द्विजादयस्य हत्वा पत्नीमनि-
न्दिताम् ब्रह्महत्याव्रतं कुर्यादात्रेयीघ्नस्तथैवचेति ॥ सुहृन् यागस्थक्षत्रियवैश्यब्राह्मणमित्रम् ॥ ८८ ॥

(५) नन्दनः । गुरुं प्रति लभ्यगुरोः मातिकूल्यं कृत्वा स्त्रीभार्याएतदेव व्रतंचरेदित्यनुषङ्गः ॥ ८८ ॥

(६) रामचन्द्रः । गुरुं प्रतिरुध्यमिथ्याशयः ॥ ८८ ॥

इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम् ॥ कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥ ८९ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रमाप्य हत्वा निष्कृतिरिति प्रागयं व्याख्यातार्थः प्रायश्चित्तगौरवोपदेशपरः ॥ ८९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इयं विशुद्धिस्तदेहावच्छिन्नस्य देहिनो व्रतादिना शुद्धिः । न विधीयते निष्कृतिः तदेहाव-
च्छेदेन मरणेन तु भवत्येव ॥ ८९ ॥

(३) कुल्लूकः । एतत्प्रायश्चित्तं विशेषोपदेशमन्तरेणाकामतो ब्राह्मणवधेऽभिहितं कामतस्तु ब्राह्मणवधे नेयं निष्कृ-
तिः नैतत्प्रायश्चित्तं किन्त्वतो द्विगुणादिकरणात्मकमिति प्रायश्चित्तगौरवार्थं न तु प्रायश्चित्ताभावार्थं कामतस्तु कृतं मोहात्प्राय-
श्चित्तैः पृथग्विधैरिति पूर्वोक्तविरोधान् ॥ ८९ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्रह्महत्या निष्कृतिमुपसंहरति इयमिति । प्रमाप्य हत्वा । न विधीयत इति प्रायश्चित्तगौरवार्थं
निन्दाद्वैगुण्यस्योक्तत्वात् । इयमुक्त्वा द्वादशवार्षिकादिका । अत्रैव च कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैरित्युक्तम्-
न्यथा पूर्वापरविरोध इति । न च तद्विधातिरिक्तविषयकं संकोचे मानाभावात् ॥ ८९ ॥

(५) नन्दनः । उदिता ब्रह्महाद्वादशाब्देऽस्तीत्यादिनोक्ताः कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते इदं विशेषविषयं
कामकारेण्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥ कामतस्तु कृते मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैरित्येते ॥ सामान्यविषयेषां द्रोयतीनसालावृ-
केभ्यः प्रायश्चित्त्यादिकं धर्मप्रधानलोकोपकारकविशिष्टपुरुषविषयं न सार्वत्रिकमित्यविरोधो वगन्तव्यः ॥ ८९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अकामतः द्विजं प्रमाप्य हत्वा ॥ ८९ ॥

सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत् ॥ तया सकाये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः ॥ ९० ॥

(१) मेधातिथिः । द्विजश्रुतिर्ब्राह्मणार्थैव आह च स्मृत्यन्तरे ब्राह्मणस्य उष्णांवापित्रेयुः सुरामिति मोहादित्यनुवादो-
ग्निवर्णावर्णश्रुतिग्रहणं सामान्यलक्षणार्थमत एवाह काये निर्दग्धे मुच्यत इति ॥ ९० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सुरापानप्रायश्चित्तमाह सुरामिति । पैष्टीपाने त्रयाणां गौडीमाध्वीपानेतु विप्रस्येत्याशयेन
द्विज इत्युक्तम् । मोहात् रागात् न त्वज्ञानात् । निर्दग्ध इति मृत्युहेतुतां दर्शयति । अग्नीवर्णमग्नि स दशमौष्ण्येन । एतदुत्तरे-
ष्वपीत्यनुषज्यते ॥ ९० ॥

(३) कुट्टुकः । सुराशब्दः पैष्ठीमात्रे मुख्योनतु गौडीमाध्वपैष्ठीषु त्रितयानुगतैकरूपाभावात्प्रत्येकं च शक्तिकल्पने शक्तित्रयकल्पना गौरवप्रसङ्गात् गौड्यादिमदिरासु गुणवृत्त्यापि सुराशब्दप्रयोगोपपत्तेः । अतएव भविष्यपुराणे ॥ सुराच पैष्ठीमुख्योक्ता न तस्यास्त्वितरे समे ॥ पैष्ठ्याः पानेन चैतासांप्रायश्चित्तं निबोधत ॥ मनुनोक्तं महाबाहो समासव्यासयोगतः ॥ एतासामिति निर्द्धारणे षष्ठी । एतासां गौडीमाध्वपैष्ठीनां प्रकृतानां मध्ये पैष्ठीपाने मनुक्तं प्रायश्चित्तं । सुरां पीत्वा द्विजो मोहादिति निबोधतेत्यर्थः । मुख्यां सुरापैष्ठीरागादिव्यामूढतया द्विजो ब्राह्मणादिश्च पीत्वाऽग्निवर्णां सुरां पिबेत्तया सुरया शरीरे निर्दग्धे सति द्विजस्तस्मात्पापान्मुच्यते । एतच्च गुरुत्वात्कामकारकतु सुरापानविषयम् । तथा च बृहस्पतिः ॥ सुरापाने कामरुते ज्वलन्तीतां विनिःक्षिपेत् ॥ मुखे तया सनिर्दग्धो मृतः शुद्धिमवाप्नुयात् ॥ ९० ॥

(४) राघवानन्दः । सुरापानप्रायश्चित्तं सार्थवादमाह सुरां पीत्वेत्यष्टभिः । कामतस्तत्पाने मरणांतिकप्रायश्चित्तम् । तथा च बृहस्पतिः ॥ सुरापाने कामरुते ज्वलन्ती चैव तां मुखे ॥ क्षिपेत्तया सनिर्दग्धो मृतः शुद्धिमवाप्नुयादिति ॥ सुरापदमत्र पैष्ठ्यां मुख्यं अन्यत्रमादकयोगाद्गौणम् । अतएव भविष्ये ॥ सुराच पैष्ठी मुख्योक्ता न तस्यास्त्वितरे समे ॥ पैष्ठ्याः पानेतु चैतासां प्रायश्चित्तं निबोधतेति ॥ एतासां सुराणां मध्यं । सुरा वै मलमन्त्रानामिति वक्ष्यति अन्नानामिति लिङ्गात्पैष्ठीति ॥ ९० ॥

(५) नन्दनः । अमोहान्तिपूर्वकं एवं व्याख्याने स्मृत्यन्तराणि संगच्छन्ते अग्निवर्णमग्निस्पर्शां स्वकाये निर्दग्धे मरणे सति ॥ ९० ॥

(६) रामचन्द्रः । तया सुरया ॥ ९० ॥

गोमूत्रमग्निवर्णं वा पिबेदुदकमेव वा ॥ पयोघृतं वा मरणाद्गोशकृद्रसमेव वा ॥ ९१ ॥

(१) मेधातिथिः । अन्यतरप्रायश्चित्तमग्निवर्णं भवत्येव गोमूत्रादयो द्रव्यविशेषा अन्यप्रकारमरणानिवृत्त्यर्थाः सुराच पैष्ठीति विज्ञेया तां मुख्येत्युपचरन्ति अन्यत्र तु प्रयोगो गौणः कामतः पाने चैतत् । तथा च वक्ष्यति ॥ अज्ञानाद्गौरुणीं पीत्वा संस्कारेणैव शुध्यति । अग्निवर्णमत्यग्निस्पर्शमिति ज्ञातव्यं । तथा चाह मरणादिति । सुराच स्त्रीणामपि प्रतिषिद्धा उक्तं हि वासिष्ठेन ब्राह्मणी सुरापी भवति न तां देवाः पतिलोक्नर्याति । इहैव सा भ्रमति क्षीणपुण्यालोके प्रेत्यावाप्सु च जलभुग्भवति ॥ ९१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आमरणाद्यार्वाद्भिर्वरैर्मरणं भवति । गोशकृद्रसंनिष्पोज्य गृहीतम् । एतत्कामतः पापे । अकामतः स्मृत्यन्तरोक्तं ज्ञेयम् ॥ ९१ ॥

(३) कुट्टुकः । गोमूत्रजलगोक्षीरगव्यधृतगोमय रसानामन्यतममग्निस्पर्शकृत्वा यावन्मरणं पिबेत् ॥ ९१ ॥

(४) राघवानन्दः । आमरणादिति च्छेदः [कपिदेहेततः सुरापानजात् । तदभावे गोमूत्रादिपंच अग्निवर्णमिति पदानां विशेषणम्] ॥ ९१ ॥

(५) नन्दनः । उदकादीनामपि विशेषणमग्निवर्णमिति आमरणात्पिबेद्यथा गोमूत्रादीनामन्यतमस्य पानेन मरणं प्राप्नोति तथापि वेदति ॥ ९१ ॥

कणान्वा भक्षयेदब्दपिण्याकं वा सकृन्निशि ॥ सुरापानापनुत्यर्थं बालवासाजटीध्वजी ॥ ९२ ॥

(१) मेधातिथिः । इदं प्राणात्यय औषधार्थं अन्येन विहितस्यापि तस्य अज्ञानात्तु तमकृत्सहितः पुनः संस्कारो दर्श-

यिष्यते अन्येतुगौडीमाध्योरुपचरितसुराभावयोरिच्छन्ति । तथा च स्मृत्यन्तरे । असुरामद्यपानेचांदायणमभ्यसनीयं । सरुदितिकणपिण्याकयोरुभयोः शेषः निशायामवालमयं गौलेमाजालोमादिकृतंवासोजयेशिखयाऽन्यैर्वाकिशैर्ध्वजीमद्यघटिकादिनेति ॥ ९२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कणान् तण्डुलकणान् यवागूपत्कापिवेत् । पिण्याकं तिलकल्कं जलेनालोड्याब्दसकृन्निशि । चोरवासाइत्यादिचोभयगतम् । चीरं खण्डवस्त्रम् । ध्वजीं सुराभाण्डध्वजं पुरस्कृत्वा । एतच्च कामतउपलभ्यमानमधुसुरासंसृष्टजलपाने ॥ ९२ ॥

(३) कुल्लूकः । अथवा गौरीमादिकृतवासाजयवान्सुराभाजनचिह्नः सूक्ष्मतण्डुलावयवान् आरुष्टतैलतिलंवा रात्रावेकवारसंस्तरपर्यंतसुरापानपापनाशनार्थंभक्षयेत् । इदमनुद्धिपूर्वकममुख्यसुरापाने द्रष्टव्यं । नतु गुणान्तरवैकल्पिकलघुत्वात् ॥ ९२ ॥

(४) राघवानन्दः । अकामतःपैष्टीपानेकामतश्च गौडीमाध्योःपानआह कणानिति । कणान् तण्डुलस्य सूक्ष्मांस्तुषयुक्तावयवान् । पिण्याकंनिःसारिततैलतिलंवालवासाः गोवालनिर्मितवासाः । ध्वजी मद्यघटिका ध्वजरूपा यस्य सः ॥ ९२ ॥

(५) नन्दनः । अकामतः पाने प्रायश्चित्तमाह कणान्वाभक्षयेदब्दमिति । बालवासागोवालकृतवस्त्रधरः जयध्वजीसुराकलशचिह्नयुक्तश्च भूत्वाकणान्पिण्याकंवा सरुन्निशिसंवत्सरमिह भक्षयेत् ॥ ९२ ॥

(६) रामचन्द्रः । सुरापानस्य अपनुत्यर्थं बालवासाः प्रावारकम्बलादि ॥ ९२ ॥

सुरा वै मलमल्लनांपापमाच मलमुच्यते ॥ तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च नसुरांपिबेत् ॥ ९३ ॥

(१) मेधातिथिः । अन्नशब्दोयद्यप्यदनक्रियाकर्मणि व्युत्पाद्यते तथापि ब्रीह्यादिप्रभृतावैव भक्तसत्त्वपूपादौप्रसिद्धतरप्रयोगस्तथाचान्येन व्यञ्जनमिति भेदोपपत्तिः । अतः पिष्टविकारत्वात्सुरायाअन्नव्यपदेशेलब्धेऽन्नानांमलमिति निवारणोपपत्तौ पैष्ट्याः सुरायाः प्रतिषेधेल्लिङ्गमिदं लिङ्गत्रयाणांविर्णानांसंपद्यते ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यैरपिवर्णैः पैष्टीनपातव्या किंच सैव सुरामुख्या गौडीमाध्योः एवंयथासीधुमाध्वीकयोर्गुरुप्रायश्चित्तंनतथान्येषामरिष्टादीनांमद्यानां मलशब्दः पाप्मेतिव्याख्यातोनिन्दातिशयदर्शनार्थः सत्यपिप्रायश्चित्तप्रकरणे वाक्यान्नसुरापाननिषेधोयंभन्नवाक्यत्वाच्चनार्थवादः ॥ ९३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्नानांमलं अन्नानामशुद्धभागः । यच्चमलमशुद्धभागःसपाप्मा पापहेतुः । शुद्धस्तु स्वतएव पापत्वात्पिबन्नपि नाधिकपापवान्भवतीत्यर्थः । अन्नानामित्युक्तत्वादनपिष्टप्रभवत्वात्पेष्टेवत्रयाणांविर्णानानिषिद्धा ॥ ९३ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्मात्तण्डुलपिष्टसाध्यत्वात्सुराअन्नमलंमलशब्देनचपापमुच्यतेतस्माद्ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याःपैष्टींसुरांपिबेद्युक्त्यनेन प्रतिषेधेसति एतदतिक्रमे सुरांपीत्वेति प्रायश्चित्तं अन्नमलानुवादाच्च पैष्टीनिषेधएव स्फुटः त्रैवर्णिकस्य मनुनैर्वाक्तः ॥ ९३ ॥

(४) राघवानन्दः । त्रयाणां पैष्टीभक्षणाभावं सार्थवादं निगमयति सुरैति । मलपाप्मनोरेकपर्यायत्वेन तद्भुक् मलमुगेव ॥ ९३ ॥

(५) नन्दनः । सुरायाःपैष्ट्याः पाने त्रैवर्णिकैरेतत्प्रायश्चित्तकर्तव्यमित्यभिप्रायेणाह सुरावैमलमन्नानामिति । अन्नानामलमिति वचनसामर्थ्यात्पैष्टीगम्यते प्रतिषिध्यते चेति गम्यते ॥ ९३ ॥

(६) रामचन्द्रः । सुराअन्नानां मलपिष्टेन यत्कृतं ॥ ९३ ॥

गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ॥ यथैवैका तथा सर्वां पातव्या द्विजोत्तमैः ॥ ९४ ॥

(१) मेधातिथिः । गुडविकारोगौडीयेषामपोभुरसमेव मद्यतामापद्यते तेषामपिकारणे कार्योपचारेण गौडोव्यपदेशोनविरुद्धः । मधुनोविकारोमाध्वी मधुमाध्वीकंविकारवृत्त्यानसद्योजातस्यमृद्वीविकारस्यप्रतिषेधोयावन्मद्यावस्थामपामस्येतिदर्शयति अविकृतं हि मधुमाध्वीकमिच्छन्तीति स्मरति । यत्रापि मद्यशब्देन प्रतिषेधस्तत्राप्यनासादितमद्यपानशक्तियोगस्यनैवप्रतिषेधस्तस्य मद्यशब्देनानभिधानात् । यथाशुक्तशब्दोऽवस्थाविशेषधिति प्रवर्तते नाविशेषेण नहि तदेवामुतामनापन्नंशुक्तमित्युच्यते यथासएव गौर्वत्सावस्थायानबलीवर्दः किंच पिष्टोदकादिसंघातसंमृश्यान सुरा यावत्कालपरिवासेन मद्यशक्तिमापन्ना एवमिभुरसमृद्वीविकारयोर्द्रष्टव्यं अल्पायास्तर्हिपानं प्राप्नोति यावत्यामात्रया पीतान मद्यति प्रतिबन्धकद्रव्ययोगेनच नैषदोषोनायंमदोत्पत्तिप्रतिषेधः तथाकर्तव्यंयथामत्तःक्षीबोन भवतीति किंतर्हि यन्मदजननसमर्थशक्तियुक्तं तन्पातव्यमिति अल्पाया अपिसाशक्तिर्विद्यते यावतारुक्षमल्पप्राणंस्वल्पमपिमद्यंमद्यति स्निग्धंमहाप्राणं ब्रह्मपिनेति नैतावतामद्यशक्त्यभावःशक्योवक्तुंकार्याभावेन कारणभावान्मद्यानामपि नैवनिश्चीयते नहिमहत्काष्ठंमधुसमर्थस्याग्नेरेदाहकत्वमनुमीयते शुष्कवृत्तेन तादृशस्यैव दाहकत्वोपलंभात् । यदप्युक्तंद्रव्यान्तरेण शक्तिप्रतिबन्धकत्वेपानप्राप्तिरिति तदप्यचोद्यं नहि वृत्तेनतादृशस्यैव दाहेतदानींसा तस्यशक्तिर्नास्ति किंतु विद्यमानापि कार्यारंभप्रत्यसमर्था शक्तिसंभवश्च प्रतिहेतुर्नतेनित्यकार्यतद्रव्यान्तराणि शक्तिविनाशयन्ति अपितु कार्यारंभप्रतिबध्नन्ति तथाच तत्परिमाणाः रंभकद्रव्ययोगेपि पैत्तिकोमाद्यति नश्लैष्मिकोतोनुमीयते न तस्य विनाशस्तत्मान् भाविमद्यावस्थस्य प्रतिषेधोनापिप्राप्तावस्थाविशेषस्य प्रतिबन्धकाभावादिवत्तत्प्रतिषेधोयथाचौरः सवर्जनीयइति नोदश्वितोऽप्राप्तमभावस्य प्रतिषेधोमाध्वीति कथंयावतागुणेन माध्वीति भवितव्यंसंज्ञापूर्वकोविधिरनित्यइति परिहारः ज्ञापकंचास्याः परिभाषायाओरादिति वक्तव्ये गुणइति गुणग्रहणम् अत्रद्विजोत्तमग्रहणंच क्षत्रियवैश्ययोर्मद्यानुज्ञानार्थं । तथाचमहाभारते ॥ भारतानांयादवानांमद्यपानंतुवर्ष्यते ॥ उभौमध्वासवौक्षीबौदृष्टौमेकेशवार्जुनावित्युत्तरश्लोकादर्थवादएव । ननुच तथा सर्वाइति बहुवचनंकथंयावताएकमुपमानंद्वेउपमेये अन्नमलत्वंचात्रहेतुमन्निगदोर्थवादोमलंहेतुर्यथा शूर्पेण जुहोति तेनह्यन्नंक्रियतइति ॥ ९४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्राह्मणं प्रतिविशेषमाह गौडीति । गुडमवा तत्प्रकृतीभुरसजाच । माध्वी द्राक्षारसकृतेति केचित् । मधूकपुष्पेण मधुनावा कृता वाच्या त्रिविधा सुरा । यथैका सुरा पैष्टी त्रिभिर्वर्णैर्न पेया तथा सर्वा त्रिविधा द्विजोत्तमैः ब्राह्मणैरित्यर्थः ॥ ९४ ॥

(३) कुल्लूकः । यागुडेन कृता सा गौडी एवंपिष्टेन कृता पैष्टी मधुकवृक्षोमधुः तत्पुष्पैः कृता सा माध्वी एवंत्रिःप्रकारा सुरा जायते मुख्यसुरासाम्यनिबोधनमितरसुरापेक्षया ब्राह्मणस्य गौडीमाध्वीपाने प्रायश्चित्तगौरवार्थम् । यथावैका पैष्टी मुख्या सुरा पूर्वावाक्यनिषिद्धत्वात् त्रैवर्णिकस्यापेक्षया तथा पूर्वा गौडी माध्वी च द्विजोत्तमैर्न पातव्या ॥ ९४ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्राह्मणमित्युपसंहारात् विप्रस्य तु सुरात्रयमभक्ष्यमित्याह गौडीति । एका पैष्टी यथा ब्राह्मणं प्रति तथेतेरेतंप्रतिनिषिद्धतया तुल्ये । द्विजोत्तमैः विप्रैः ॥ ९४ ॥

(५) नन्दनः । ब्राह्मणस्य गौडीमाध्व्योरपि पाने प्रायश्चित्तमेतत्कर्तव्यमित्यभिप्रायेणाह गौडीमाध्वीच पैष्टीचेति । एकापूर्वश्लोके प्रतिषिद्धापैष्टी ॥ ९४ ॥

(६) रामचन्द्रः । गुडेन कृता गौडी । पिष्टस्यपैष्टी । माध्वी मधूकपुष्पस्य यथैव एका तथा सर्वा सुरा प्रकृतिद्रव्यं मदहेतुः ॥ ९४ ॥

यक्षरक्षः पिशाचान्नमद्यमांससुरासवम् ॥ तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्रता हविः ॥ ९५ ॥

(१) मेधातिथिः । यक्षादयोनिन्द्याः प्राणिनोभक्ष्याभक्ष्यविवेकशून्यामांसमभक्षयन् सुराचासवश्च सुरासवंजाते-
रप्राणिनामित्येकवद्भावः । आसवोत्रमद्यविशेषएव ईषन्मद्याद्भिन्नंगोबलीवर्द्धवदिहोपादानं देवानामश्रतादेवदेयानिहर्वाषिच-
रुपुरोडाशादीनिदर्शपूर्णमासोदितानिब्राह्मणस्याशितुंयुक्तानि नपिशाचाद्यन्नमद्यमांसादीनि ॥ ९५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नकेवलं सुरा ब्राह्मणानामपेया किंतु सुरावन्मद्यासवमांसानि क्षत्रियादिभक्ष्याण्यपि
ब्राह्मणस्याभक्षणीयान्याह यक्षइति । यक्षाः कुबेरानुचराः । राक्षसाः रावणाद्याः । पैशाचावेतालाद्याः । एतेन मद्या-
दीनां रजस्तमःप्रधानतोक्ता । तेन तदाहारता सत्त्वप्रधानस्य विप्रस्यायुक्तेत्यर्थः । मद्यंत्रिविधं सुरातोऽन्यन्मदहेतुः ।
आसवोमद्यसुराप्रकृतिद्रव्यजोमदहेतुः । देवानां सात्त्विकानां हविर्भक्ष्यमश्रताऽशितुं योग्येन ॥ ९५ ॥

(३) कुल्लूकः । मद्यमत्रनिषिद्धपैष्टीगौडीमाध्वीव्यतिरिक्तंनवविधंबोद्धव्यं । तान्याहपुलस्त्यः ॥ पानसद्राक्षमाध्वीकं-
खार्जूरंतालमैक्षवम् ॥ माध्वीकंटांकमार्दीकमैरेयंनारिकेरजम् ॥ सामान्यानि द्विजातीनामद्यान्येकादशैव च ॥ द्वादशानु-
सुरामद्यंसर्वेषामधमंस्मृतम् ॥ मांसंचप्रतिषिद्धंसुराच त्रिप्रकारा प्रोक्ता । असूयतइति आसवोमद्यानामवस्थाविशेषः सद्यः
कृतसंसाधनःसंजातमद्यस्वभावः । यमधिकृत्येदंपुलस्त्योक्तप्रायश्चित्तम् ॥ द्राक्षेक्षुटंकखर्जूरपनसादेश्वयोरसः ॥ सद्योजात-
न्तु पीत्वा तु व्यहाच्छुभ्येद्विजोत्तमः ॥ एवंमद्यादिचतुष्टयंयक्षरक्षःपिशाचसंबन्ध्यन्ततस्तद्ब्राह्मणेन देवानांहविर्भक्षयता
नाथितव्यम् निषिद्धायाः सुरायाइहोपादानंयक्षरक्षःपिशाचान्नतया निन्दार्थम् । अत्रकेचिद्देवानामश्रताहविरितिपुल्लि-
गनिर्देशाद्ब्राह्मणस्य पुंसएव मद्यप्रतिषेधो न स्त्रियाइत्याहुस्तदसत् ॥ पतिलोकंनसायातिब्राह्मणीयासुरापिबेत् । इहैव सा शु-
नी गृध्री सूकरी चोपजायते ॥ इति याज्ञवल्क्यादिस्मृतिविरोधात् ॥ ९५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच यक्षइति । मद्यंनवविधं सुराच त्रिविधा । तश्चाच पुलस्त्यः ॥ पानकं वार्क्षमाधूकं खा-
र्जूरं तालमैक्षवम् ॥ माक्षीकं टाङ्कमाध्वीकं मैरेयं नारिकेरजम् ॥ समानानि द्विजातीनामद्यान्ये कादशानि तु ॥ द्वादशानु-
तु सुरामद्यं सर्वेषां मध्यमं स्मृतमिति ॥ आसवं सद्यःकृतसंधानेन प्राप्तमद्यभावम् । एतत्सर्वंविप्राभक्ष्यम् । अनदनेहेतुर्दे-
वानांहविर्विज्ञावशिष्टमन्नमश्रन्ति ते । मांसमत्रामं यक्षरक्षइतिलिङ्गात् ॥ ९५ ॥

(५) नन्दनः । ब्राह्मणस्यमद्यवर्जनेयुक्तमाह यक्षरक्षइति । मद्यंमदकरं द्रव्यमासमित्त्वनतव्यप्रसङ्गादुक्तं सुरापैष्टी
आसवोमाध्वीगौडीच हविर्हविःशेषम् ॥ ९५ ॥

(६) रामचन्द्रः । यक्षरक्षः पिशाचान्नं कृतं मद्यादि हविः तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं न अदनीयम् ॥ ९५ ॥

अमेध्ये वापतेन्मत्तोवैदिकंवाप्युदाहरेत् ॥ अकार्यमन्यत्कुर्याद्वा ब्राह्मणोमदमोहितः ॥ ९६ ॥

(१) मेधातिथिः । अमेध्येपतन्तदेवान्नाशनवदर्थवादः । ननुच वैदिकोदाहरणंकथमकार्यं अत्रोच्यते तदपेक्षया-
ऽन्यदकार्यंकुर्यादिति कथंनकार्यं अशुचैर्वेदाक्षरोच्चारणप्रतिषेधात् ॥ ९६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मध्ये ब्राह्मणस्य दृष्टप्रत्यवाय मग्याह अमेध्यइति । वैदिकमुपाहरेत् उच्छिष्टादि काले ॥ ९६ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणोमद्यपानमदमूढबुद्धिः सन् अशुचौ वापतेद्वेदवाक्यं वोच्चारयेद्ब्रह्महत्याद्यकार्यं वा कुर्यादतस्ते-
नमद्यपानं कार्यमिति पूर्वस्यैवानुवादः ॥ ९६ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रैव दृष्टार्थतामाह अमेध्येतिद्वाभ्याम् । अवैदिकं म्लेच्छभाषितम् । अकार्यं त्वकन्यागमना-
दि । तत्र हेतु मर्ममोहितः मध्येन कृतवैचित्यः ॥ ९६ ॥

(५) नन्दनः । इतश्चापि ब्राह्मणस्य मद्यवर्ज्यमिति श्लोकद्वयेनाह अमेध्येवापतेत्यत इति । अमेध्येऽगम्यागमनादौ
वैदिकं वेदरहस्यमुदाहरेत् श्रवणानर्हेषु ॥ ९६ ॥

(६) रामचन्द्रः । मत्तः द्विजः अमेध्ये पुरीषादौ वापतेत् पक्षान्तरं वैदिकं वोदाहरेत् ॥ ९६ ॥

यस्य कायगतं ब्रह्म मध्येनाप्लाव्यते सकृत् ॥ तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च सगच्छति ॥ ९७ ॥

(१) मेधातिथिः । अधीतवेदब्रह्मसंस्काररूपेणावस्थितद्वयेनोच्यते तदपेक्षयाऽकार्यं कुर्यादिति तद्वयेमद्येनाप्ला-
विते सशूद्रतां गच्छति ब्राह्मण्यवचनं सर्वप्रकारमद्यनिषेधार्थं ब्राह्मणस्य क्षत्रियवैश्ययोः पैश्याएव निषेध इति दर्शयति ॥ ९७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्रह्म वेदः । शूद्रत्वं वर्णत्रयबाह्यत्वम् ॥ ९७ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्य ब्राह्मणस्य कायगतं ब्रह्म वेदः संस्काररूपेणावस्थितः एकदेहत्वात् जीवात्मैकवारमपि मध्ये-
नाप्लाव्यते तथाचैकवारमपि यो ब्राह्मणो मद्यपिबति ब्राह्मण्यं व्यपैति शूद्रतां समाप्नोति तस्मान्मद्यं सर्वथैव न पातव्यम् ॥ ९७ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्रह्म वेदः । शूद्रत्वं शूद्रवद्वेदाभ्यासादेर्बहिष्कृतत्वं पतितत्वादस्य शूद्रस्यापकृष्टत्वात् संभाष-
णादित्यागोपि ॥ ९७ ॥

(५) नन्दनः । ब्रह्म ब्राह्मण्यम् ॥ ९७ ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्य ब्राह्मणस्य कायगतं ब्रह्म मध्येनाप्लाव्यते सकृत् तस्य ब्राह्मणस्य ॥ ९७ ॥

एषा विचित्राभिहिता सुरापानस्य निष्कृतिः ॥ अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सुवर्णस्तेयनिष्कृतिम् ॥ ९८ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तप्रयोजनौ पूर्वोत्तरश्लोके ॥ ९८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विचित्रा स्मृत्यन्तरोक्ता निष्कृतिः । साहित्येन विविधा ॥ ९८ ॥

(३) कुल्लूकः । इदं सुरापानजनितपापस्य नानाप्रकारं प्रायश्चित्तमभिहितं तस्मात्परं ब्राह्मणसुवर्णहरणपापस्य नि-
ष्कृतिं वक्ष्यामि ॥ ९८ ॥

(४) राघवानन्दः । सुरापानां प्रायश्चित्तमुपसंहरन्त्सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तं प्रतिजानीते एषेति । विचित्रा [अग्निवर्णा-
मित्यादिर्ना] नानाप्रकारमद्यस्तस्यापि नानात्वात् ॥ ९८ ॥

(५) नन्दनः । विचित्रा विविधा ॥ ९८ ॥

(६) रामचन्द्रः । एषा निष्कृतिः पापानि विचित्राहरेत् ॥ ९८ ॥

सुवर्णस्तेयकृद्विप्रोराजानमभिगम्य तु ॥ स्वकर्मख्यापयन्ब्रूयान्मां भवाननुशास्त्विति ॥ ९९ ॥

(१) मेधातिथिः । ब्राह्मणसुवर्णस्तेयएतत्प्रायश्चित्तं विप्रग्रहणं सर्ववर्णप्रदर्शनार्थं क्षत्रियादीनामन्यस्य प्रायश्चित्तस्थासमाप्तानात् मामनुशास्तु निग्रहं करोतु राजा गत्वा च वक्तव्यः अत्र च राजशब्दो देशेश्वरवचनएवक्षत्रियजात्यपेक्षः ॥ ९८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सुवर्णस्तेयकृत् ब्राह्मणसंबन्धिपरिमितसुवर्णचोरः । विप्रइति न केवलं क्षत्रियादयो विप्रोपीत्यर्थः । एतच्च परमतमिति स्फुटीभविष्यति ॥ ९९ ॥

(३) कुट्टुकः ॥ अपहृत्य सुवर्णं तु ब्राह्मणस्य यतः स्वयमिति शातातपस्मरणात् ब्राह्मणसुवर्णचौरो ब्राह्मणोराजानं गत्वा ब्राह्मणसुवर्णापहारं स्वीयकर्मकथयन्ममनिग्रहं करोत्विति ब्रूयात् । ब्राह्मणग्रहणं मनुष्यमात्रप्रदर्शनार्थम् । प्रायश्चित्तीयं ते नरइति प्रकृतत्वात्क्षत्रियादीनां च प्रायश्चित्तान्तरानभिधानात् ॥ ९९ ॥

(४) राघवानन्दः । तदेवाह सुवर्णमिति त्रिभिः । सुवर्णस्तु ॥ पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडशेति ॥ तदेवाह विप्रइति ब्राह्मणेतरमात्रोपलक्षकम् प्रायश्चित्तीयते नरइत्युपक्रमात् न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्ववस्थितमित्युक्तेश्च ॥ ९९ ॥

(५) नन्दनः । सुवर्णं ब्राह्मणसुवर्णं विप्रग्रहणं क्षत्रियादीनामप्युपलक्षणार्थम् ॥ ९९ ॥

गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्वन्यात्तु तं स्वयम् ॥ वधेन शुध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव तु ॥ १०० ॥

(१) मेधातिथिः । मुशलं दण्डविशेषआयसोदारुमयो वा सकृत्स्वयमिति विवक्षितं वधेन शुध्यति सकृत्प्रहारेण वधो मरणफलो वा भवतु मावास्तु तादृशेन मुशलप्रहारेण शुद्धो भवति ब्राह्मणस्तु तपसा वक्ष्यमाणेन अत्रापि ब्राह्मणग्रहणमविवक्षितं तथा चोत्तरत्र द्विग्रहणं यद्यपि च कृष्णलग्रहणे महापातकं तथापि मरणान्तं प्रायश्चित्तं सुवर्णशतहरणे द्रष्टव्यं उक्तं दण्डप्रायश्चित्तं तु ल्यरूपेण तत्र चोक्तं शतादभ्यधिके वधइत्यतो वाक्कल्पनाकार्या यस्तु मरणात्पूतो भवतीति प्रायश्चित्तान्तरं तस्मिन् राजशस्त्रउदुंबरआदद्यात्तस्मात्तत्प्रमापयेन्मरणात्पूतो भवतीति विज्ञायते यदा क्षत्रियादिर्हन्तास्वामी च गुणवांस्तत्रैतद्विज्ञायते यदा तु मरणोद्यतस्तदास्यादिति प्रयोजने प्रयोजनापहारस्तदावाशिष्टनिष्कालको घृताक्तो गोमयादिना पातप्रभृतिः ॥ १०० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वधेन तेन घातेन मृतोऽमृतो वा । यत्तूक्तं विप्रोपीति । तन्निरस्यति ब्राह्मणइति । तपसा त्रतेनाऽकामकृतात् । कामकृतात्तु स्मृत्यन्तरोक्तमरणप्रकारोत्पादनरूपेण तपसेत्यर्थः । चेति पूर्वपक्षनिवृत्तौ ॥ १०० ॥

(३) कुट्टुकः । स्कन्धेनादाय मुसलमित्यादेरुक्तत्वात्तेनार्पितमुसलादिकं गृहीत्वा स्तेयकारिणं मनुष्यमेकवारं राजा स्वयं हन्यात् । स च स्तेनो वधेन मुसलाभिघातेन हतो मुक्तोपि वा शुचिरिति याज्ञवल्क्यस्मरणात् । मृतो वा मृतकल्पो वा जीवन् तस्मात्पापान्मुच्ये ब्राह्मणः पुनस्तपसैवैवेत्येवकारदर्शनात् । तथा च न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्ववस्थितमिति तपसैव शुध्यति अतएव मन्वर्थव्याख्यानपरे भविष्यपुराणे ॥ यदेतद्वचनं वीरब्राह्मणस्तपसैव वा । तत्रैव कारणाद्विद्वन्ब्राह्मणस्थ सुराधिप ॥ तपसैवेत्यनेनेह प्रतिषेधो वधस्य तु वाशब्दश्च क्षत्रियादीनामपि तपोविकल्पार्थः । ब्राह्मणस्य तु तपएवेति नियमो न तु ब्राह्मणस्यैव तपः । अतएव भविष्यपुराणे ॥ इतरेषामपि विभोतपोन प्रतिषिध्यतइति ॥ तदेव तपआह ॥ १०० ॥

(४) राघवानन्दः । अतएवाह तपसैवेति । शुध्यति जीवन् मृतो वा मृतकल्पो वा जीवंस्तस्मात्पमुच्यतइति याज्ञवल्क्योक्तेः । वाशब्दो गायत्रीजपविकल्पार्थः । तथा च चतुर्विंशतिमतम् ॥ गायत्र्यास्तु जपन्कोटिं ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥

लक्षाशीतिं जपेद्यस्तु सुरापानात्प्रमुच्यते ॥ पुनाति हेमहर्तारं गायत्र्यालक्षसप्ततिः । गायत्र्यालक्षषष्ठात् मुच्यते गुरुतल्पग इति ॥ गुरुतरत्वात्प्रकाशाविषयमिदम् जपतोनास्ति पातकमिति च ॥ १०० ॥

(५) नन्दनः । सकृद्धन्यादित्यस्यायमभिप्रायोव्याख्यातः स्मृत्यन्तरेण ॥ तस्मात्तुमुसलंगृह्णन्वथाप्राणेन भूपतिः । सकृद्धन्यान्मृतोवापि जीवन्नपि विशुध्यति ॥ मृते जीवति वा तस्मिन्पार्थिवोपि विशुध्यतीति । वा शब्देन ब्राह्मणस्य पक्षान्तरमुक्तं क्षत्रियादौ वधएव ॥ १०० ॥

(६) रामचन्द्रः । स्तेनः ब्राह्मणसुवर्णचौरः ॥ १०० ॥

तपसाऽपनुनुत्सुस्तुसुवर्णस्तेयजंमलम् ॥ चीरवासाद्विजोऽरण्येचरेद्ब्रह्महणोव्रतम् ॥ १०१ ॥

(१) मेधातिथिः । इति च द्वादशवार्षिकं धर्मानुवादात्तस्यैवातिदेशेन ब्रह्महत्यायाः प्रायश्चित्तान्तरं ब्रह्महणियद्व्रतमुक्तं तच्चरेदित्योजना । अपनुनुत्सुरपनेतुमिच्छुः शुद्धिचिकीर्षतीति यावत् ॥ १०१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्रह्महणिनिमित्ते यद्व्रतमुक्तं द्वादशवार्षिकादि तज्जातिशक्त्याद्यपेक्षया द्रव्यस्योत्तमाधमसंबन्धितया च यथायोगमुन्नेयमित्यर्थः ॥ १०१ ॥

(३) कुल्लूकः । तपसा स्वर्णस्तेयउत्पन्नं पापं द्विजो निर्हन्तुमिच्छन्नरण्यग्रहणात्प्राथम्याच्च ब्रह्महणि यद्व्रतमुक्तं तत्कुर्यात् । एतच्च द्वादशवार्षिकं क्लेशगौरवात्क्षत्रियादीनां मरणेन विकल्पितत्वाच्च ब्राह्मणसंबन्धिनः सुवर्णापहारे ॥ पञ्चकृष्णलकोमाषस्ते सुवर्णस्तुषोडशेति सुवर्णपरिमाणं द्रष्टव्यं ततो न्यूनस्य परिमाणापेक्षयामनूक्तपरिमाणस्य ग्रहीतुं न्याय्यत्वात् । यत्त्वधिकपरिमाणं भविष्यपुराणे श्रूयते तत्तथानुबन्धविशिष्टापहारे तथाविधप्रायश्चित्तविषयमेव । तथा भविष्यपुराणे ॥ क्षत्रियाद्यास्त्रयोवर्णानिर्गुणास्त्वघतत्पराः ॥ गुणाढ्यस्य तु विप्रस्य पञ्चनिष्कान्हरन्ति चेत् ॥ निष्कानेकादशतथा दग्ध्वात्मानं तु पावके ॥ शुष्येयुर्मरणाद्वीर चरेद्ब्रह्मात्मशुद्धये ॥ १०१ ॥

(४) राघवानन्दः । एतदेव तपः कथं कार्यमित्यपेक्षां पूरयति तपसेति । अपनुनुत्सुः खण्डयितुमिच्छुः । ब्रह्महणोव्रतमिति द्वादशाब्दसंख्यामुण्डनकुटीवासभैक्षचर्यमित्यतिदेशार्थं ननु तत्त्वरूपप्रदर्शनार्थम् । ब्राह्मणस्य निष्कचतुष्टयातिरिक्तसुवर्णापहारे क्षत्रियादीनां मरणमेव । तथाच भविष्ये ॥ क्षत्रियाद्यास्त्रयोवर्णानिर्गुणाद्यूततत्पराः ॥ गुणाढ्यस्य तु विप्रस्य पञ्चनिष्कान्हरन्ति चेत् ॥ निष्कानेकादशान्वापि दग्ध्वात्मानं तु पावके ॥ शुष्यन्ति मरणाद्वीरतन्निर्यात्यातु तस्य तदिति ॥ निर्यात्यातावत्सुवर्णस्य दानेन एकादशेत्यभ्युच्चयमात्रं ते यदि साधव इति ॥ १०१ ॥

(५) नन्दनः । अपनुनुत्सुरपनोदितुमिच्छन् ॥ १०१ ॥

(६) रामचन्द्रः । मलं पापं तपसाऽपनुनुत्सुः ब्रह्महणोव्रतं द्वादशवार्षिकादि व्रतंचरेत् ॥ १०१ ॥

एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः ॥ गुरुस्त्रीगमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥ १०२ ॥

(१) मेधातिथिः । ननु च वधेन शुध्यति स्तेनस्तपसाचेति द्वयस्य प्राक्तनत्वादेतैरिति बहुवचनं न सम्यक् एतदेव ज्ञापकं एष निःशेषोक्तानप्यनुक्तान्कल्पेतानुबन्धाद्यपेक्षया गुरुस्त्रीगमनप्रयोजनं गुरुस्त्रीगमनीयं निमित्तमपि प्रयोजनमुच्यते प्रयोजयति भवर्तयतीति ॥ १०२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गुरोः पितुः स्त्री गुरुस्त्री माता तद्गमनीयं तदभिगमनम् ॥ १०२ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणसुवर्णस्तेयजनितपापमेभिर्व्रतैर्द्विजो निर्हरेद्ब्रततपसोर्द्वयोरुक्तत्वात् । एतैरिति बहुवचनं संब-

न्धापेक्षया मनुक्तमपि प्रायश्चित्तकल्पनीयमिति ज्ञापनार्थम् । गुरुस्त्रीगमननिमित्तपुनः पापमेभिर्वक्ष्यमाणैः प्रायश्चित्तैर्नर्हरेत् ॥ १०२ ॥

(४) राघवानन्दः । सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तं मुपसंहरन्गुरुतल्पप्रायश्चित्तमाह एतैरितिपञ्चभिः । एतैरितिबहुवचनेन याज्ञवल्क्योक्तं व्रतमसूचि ॥ अनिवेद्य नृपे शुभ्येत्सुरापव्रतमाचरन् । आत्मतुल्यं सुवर्णं वा दद्याद्वा विप्रतुष्टिकृदिति ॥ गुरुस्त्रीगमनीयं तद्गायगमननिमित्तं पापम् । एभिः वक्ष्यमाणैः ॥ १०२ ॥

(५) नन्दनः । एतैरुक्तैर्व्रतैरिति बहुवचनग्रहणमतिदिष्टस्य ब्रह्महत्याव्रतस्य बहुत्वात् गुरुस्त्रीगमनीयं गुरुस्त्रीगमनभवं एभिर्वक्ष्यमाणैः ॥ १०२ ॥

(६) रामचन्द्रः । गुरुस्त्रीगमनेपापं एभिर्व्रतैः वक्ष्यमाणलक्षणैः अपनुदेत् दूरं कुर्यात् ॥ १०२ ॥

गुरुतल्प्यभिभाष्यैनस्तप्तेस्त्वप्यादयोमये ॥ सूर्मिंज्वलन्तींस्वाश्लिष्येन्मृत्युना सविशुध्यति ॥ १०३ ॥

(१) मेधातिथिः । गुरुतल्पगोगुरुतल्पीतिवा पाठः । तल्पीतिमत्वर्थीयेन विशिष्टएवस्त्रीपुंसयोः संसर्गउच्यते गुरुराचार्यः पिताचेति तल्पशब्दोदारवचनः आचार्याणीमत्वेदंप्रायश्चित्तमपरामातैव समानजातीयागमनइमानि त्रीणि प्रायश्चित्तानि कल्पते बुद्धिपूर्वचाभिभाष्येनः पापं विख्याप्य तप्ते शयनेऽग्निरुपशान्तिऽयोमये शयीत मृत्युना शुध्यतीति वचनात् तस्मास्त्रीप्रकृतिरयोमयीतामाश्लिष्येदालिङ्गयेत् ॥ १०३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गुरुतल्पो गुरुतल्पगः । अभिभाष्य कथयित्वा । अयोमये शयने तप्ते तापेन मृत्युहेतौ । सूर्मिं लोहप्रतिमाम् ॥ १०३ ॥

(३) कुल्लूकः । निषेकादीनि कर्माणीत्युक्तत्वादुरुः पिता तल्पं भार्या गुरुतल्पं गुरुभार्या तद्गामी गुरुभार्यागमनपापं विख्याप्य लोहमये तप्तशयने त्वप्यात् लोहमयीं स्त्रीप्रकृतिं कृत्वा ज्वलन्तीं मालिङ्ग्य मृत्युना सविशुद्धो भवति ॥ १०३ ॥

४) राघवानन्दः । तत्रादौ ज्ञानतः सवर्णादिगुरुपत्नीविषयरेतो विसर्गपर्यन्तं तावदाह गुर्विति द्वाभ्याम् । गुरुतल्पीतिमत्वर्थीयेन पाठेन संयोगविशेषः प्राप्यत इति मेधातिथिः । अभिभाष्य विख्याप्य । एनः पापम् । अयोमये शयने । सूर्मिं तादृशीं प्रकृतिं वा ज्वलन्तीं मङ्गाराकारां श्लिष्येदालिङ्गयेत् ॥ १०३ ॥

(५) नन्दनः । अयोमये तल्पइति शेषः सूर्मिं स्थूणाम् ॥ १०३ ॥

(६) रामचन्द्रः । गुरुतल्पी सभायां एनः अभिभाष्य उक्त्वा अयोमये तल्पे त्वप्यात् सूर्मिं ज्वलन्तीं लोहप्रतिमां आश्लिष्येत् । सः मृत्युना विशुध्यति ॥ १०३ ॥

स्वयं वा शिश्रुवृषणावुक्त्या धाय चाञ्जलौ ॥ नैर्ऋतीं दिशमातिष्ठेदनिपातादजिह्वगः ॥ १०४ ॥

(१) मेधातिथिः । उत्कर्तनेन कल्पेन शोधनं शस्त्राद्याक्षिमशक्तिः सर्वत्र सहकारिणी येन शक्येत छेत्तुं तस्मात्प्रार्थ्याल्लभ्यते प्रत्यगुद्गदक्षिणानैर्ऋतीं दिक् अजिह्वगोऽकुटिलगः श्वभ्रुकूपादि न परिहरेदित्यर्थः कुड्यादिषु प्रतियातनं हि तदापाताद्ब्रूचेदेव ॥ १०४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वृषणमण्डकोशः । आतिष्ठेत् गच्छेत् । आनिपातादामरणात् । अजिह्वगोजलाभ्यादिपरिहारार्थं वक्रगतिमकुर्वाणः ॥ १०४ ॥

(३) कुल्लूकः । आत्मनैव वा लिङ्गवृषणौ छित्वाञ्जलौ कृत्वा यावच्छरीरपातमवक्रगतिः सन्दक्षिणपश्चिमादिशङ्क-
च्छेत् । एवंचोक्तप्रायश्चित्तद्वयंगुरुत्वात्सवर्णगुरुभार्याविषयं । ज्ञानतोरेतोविसर्गपर्यन्तमैथुनविषयम् ॥ १०४ ॥

(४) राघवानन्दः । शिश्रं लिङ्गं वृषणौ मुक्तौ तत्रयं उक्तृत्य छित्वा आनिपातान् । मरणफलकनिपातपर्यन्तं
अजिह्वगः अकुटिलवर्त्माऽनुरोधी आतिष्ठेद्वच्छेदन्यदिन्वयः ॥ १०४ ॥

(५) नन्दनः । आनिपातादाशरीरपातात् अजिह्वगोयथोपनतमार्गगामी ॥ १०४ ॥

(६) रामचन्द्रः । शिश्रवृषणौ स्वयमुक्तृत्य छित्वाऽञ्जलावाधाय नैर्ऋतीदिशमातिष्ठेत् । अजिह्वगः जलाग्रिपरिहा-
रार्थं वक्रगतिमकुर्वाणः ॥ १०४ ॥

खट्वाङ्गीचीरवासा वा श्मश्रुलोविजने वने ॥ प्राजापत्यंचरेत्कुच्छ्रमब्दमेकंसमाहितः ॥ १०५ ॥

(१) मेधातिथिः । अबुद्धिपूर्वकं त्वभार्याभ्रान्त्यागमनइदंप्रायश्चित्तं द्विजातीयगमनेबुद्धिपूर्वकमपि ॥ १०५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वपितृभार्यान्तरस्यत्वनन्तरजातीयस्य कामाद्रमनआह खट्वाङ्गीति । खट्वाङ्गं खट्वायाद-
ण्डस्तच्चिन्हतया धार्यम् । अर्थाच्चित्त्वानन्तरानन्तरजातीयपितृभार्यागमनेस्यार्थम् ॥ १०५ ॥

(३) कुल्लूकः । खट्वाङ्गभृद्वस्त्रखण्डाच्छन्नोऽच्छिन्नकेशनखलोश्मश्रुधारी संयतमनानिर्जने वने वर्षमेकंप्राजाप-
त्यव्रतंचरेत् । एवंच वक्ष्यमाणप्रायश्चित्तलघुत्वात्त्वभार्यादिभ्रमेणाज्ञानविषयंबोद्धव्यम् ॥ १०५ ॥

(४) राघवानन्दः । त्वभार्यादिभ्रमेण अज्ञानात् गमनेत्वाह खट्वाङ्गीति । खट्वाङ्गी खट्वाङ्गः शूलं तद्युक्तः । चीरवासाः
धृतवस्त्रखण्डः । श्मश्रुलोऽकृतश्मश्रुः । प्राजापत्यं वक्ष्यमाणम् ॥ १०५ ॥

(५) नन्दनः । खट्वाङ्गं पृष्ठावंशास्थि ॥ १०५ ॥

चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यस्येन्नियतेन्द्रियः ॥ हविष्येण यवाग्वा वा गुरुतल्पापनुत्तये ॥ १०६ ॥

(१) मेधातिथिः । अतिदिष्टगुरुभावानां मातुलपितृव्यादीनां भार्यास्तद्रमनइदंप्रायश्चित्तं हविष्यंपयोमूलघृतादि
यवागूदवपेयादि चीरंवस्त्रखण्डं श्मश्रुलोरुद्वश्मश्रुः समानजातीयाया अपि व्यभिचारिण्यागमने लघ्वेवप्रायश्चित्तम् ॥ १०६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ब्राह्मणस्य शूद्रजातिस्वपितृभार्यागमनआह चान्द्रायणमिति । हविष्येण यवाग्वावेति
चान्द्रायणव्रताङ्गभोजनसाधनाभिधानम् । यवाग्वा यवरुतविलेप्या ॥ १०६ ॥

(३) कुल्लूकः । यद्वा गुरुभार्यागमनपापनिर्हरणायसंयतेन्द्रियः फलमूलादिना हविष्येण नीवारादिकृतयवाग्वा वा
त्रीन्मासांश्चान्द्रायणान्याचरेत् । एतच्च पूर्वोक्तादपि लघुत्वादसाध्वीमसवर्णां वा गुरुभार्यागच्छतोद्भूतव्यम् ॥ १०६ ॥

(४) राघवानन्दः । अतिदिष्टगुरुत्वानां मातुलपितृव्यादीनां सवर्णासाध्वीगमनविषयेत्वाह चान्द्रायणमिति । ए-
तया भक्षणीयं द्रव्यं विकल्पेनाहविष्येति ॥ १०६ ॥

(६) रामचन्द्रः । चान्द्रायणं हविष्येण यवाग्वा वा गोधूमचूर्णस्य गुरुतल्पी चान्द्रायणं चरेत् पापापनुत्तये ॥ १०६ ॥

एतैर्व्रतैरपोहेयुर्महापातकिनोमलम् ॥ उपपातकिनस्त्वेवमेभिर्नानाविधैर्व्रतैः ॥ १०७ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तवक्ष्यमाणसंक्षेपवचनोयम् ॥ १०७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । महापातकसमतयोक्तेषु प्रायश्चित्तमाह एतैर्व्रतैरिति । यदातु मरणान्तिकप्रायश्चित्तं किंतु-

[नरो] द्वादशवार्षिक्यादज्ञानतस्तु तदर्थमित्युन्नेयम् । महापातकिनोमहापातकिसमाः । तत्राप्यनृतचसमुत्कर्षइत्यादिनो-
क्तेषु गुरुलघुपापापेक्षया अनुबन्धाननुबन्धाद्यपेक्षया च पूर्वोक्तानि लघुगुरुप्रायश्चित्तानि यथायोगमुन्नेयानि । उपपात-
किनस्त्वेवंविधैर्नियमैरिमैरैर्मिर्वक्ष्यमाणैः ॥ १०७ ॥

(३) कुल्लूकः । एभिर्मुक्तैर्ब्रह्महत्यादिमहापातककारिणः पापनिर्हरेयुः । गोवधाद्युपपातककारिणः पुनर्वक्ष्यमा-
णप्रकारेणानेकरूपव्रतैः पापानि निर्हरेयुः ॥ १०७ ॥

(४) राघवानन्दः । महापातकिप्रायश्चित्तमुपसंहरन्नुपपातकप्रायश्चित्तमाह एतैरिति । एतैरुक्तैर्मलान्पापान्यपोहेयु-
र्नाशयेयुः । एतैः वक्ष्यमाणैः ॥ १०७ ॥

(५) नन्दनः । एतैरुक्तैरेभिर्वक्ष्यमाणैरत्रपतितैःसंसर्गिणांप्रायश्चित्तवचनंतैस्तैषामत्यन्ततुल्यताभ्रमावनोदनार्थमित्य-
वगन्तव्यम् ॥ १०७ ॥

(६) रामचन्द्रः । महापातकिनःमलान् एतैर्व्रतै रपोहेयुः ॥ १०७ ॥

उपपातकसंयुक्तोगोघ्नोमासंयवान्पिबेत् ॥ कृतवापोवसेद्रोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥ १०८ ॥

(१) मेधातिथिः । गोघ्नोगोघाती मूलविभुजाविदर्शनात्कः यवान्पिबेदिति यवसक्तुपानकेचिदाहुः अन्येतु प्रकृतिश-
ब्दःकार्येयवाग्वांप्रयुक्तोतोयवान्पिष्टपाययेदित्युक्तंभवति पूर्वस्मिन्पक्षेऽश्रुतोदकादिद्रवकल्पनाभवति नहि यवादुका-
दिनाविनापातुंशक्यन्ते इहतु लक्षणमात्रमश्रुतकल्पनायाश्चलध्वीलक्षणा कृतवपनः कृतमौण्ड्यः कैश्छेदवचनोवा गो-
ष्ठे यत्रगावआसते चर्मणातेनयेनगौर्हता अपित्वन्यस्यापि ॥ १०८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उपपातकसंयुक्तइति शरणागतत्वादिविशेषणवद्गौहत्यायामहापातकतुल्यत्वात्तद्यवच्छेदा-
र्थमुक्तम् । यवान्पिबेत् यवागूंकृत्वा मासं यवानश्रीयादित्यर्थः । कृतवापोमुण्डितः । तेन चर्मणा तस्यागोश्चर्मणा संवृतः
कृतोत्तरीयः ॥ १०८ ॥

(३) कुल्लूकः । अनेन विधिना यस्त्विति यावत्कुलकमुपपातकेयुक्तोगोघाती शिथिलयवागूरूपेण प्रथममासंयवा-
न्पिबेत् । सशिखंमुण्डितशिरालूनश्मश्रुस्तेन हृतगोचर्मणाच्छादितदेहोमासत्रयमेव गोष्ठे वसेत् । गोमूत्रेणाचरेत्स्नानंसंयतैर्द्रव्यः
कृत्रिमलवणवर्जितहविष्यमन्नमेकाहंभुक्त्वा द्वितीयेऽह्नि सार्यद्वितीयतृतीयमासावश्रीयात् । मासत्रयमेव दिवाप्रातस्तागाअनु-
गच्छेत्तासांच गवांसुरप्रहारादूर्ध्वमुत्थितंरजस्तिष्ठन्नास्वादयेत्कण्डूयनादिना ताः परिचर्य प्रणम्य च रात्रौ भित्त्यादिकम-
ननुवेष्ट्योपविष्टआसीत् । तथा शुचिर्विगतक्रोध उत्थितासु गोषु पश्चादुत्तिष्ठेदने च परिभ्रमन्तीषु पश्चात्ततः परिभ्रमेत् । उम-
विष्टासु गोषूपविशेत् । व्याधितांचौरव्याघ्रादिभयहेतुभिदाक्रान्तांपतितांकर्दमलग्नांवा यथाशक्तिमोचयेत् । तथोष्णे आदित्ये
तपति मेघेच वर्षति शीते चोपस्थिते मारुते चात्यर्थवातिगौर्ययथाशक्तिरक्षामकृत्वाऽऽत्मनस्त्राणं कुर्यात्तथाऽऽत्मनोऽन्ये-
षांवा गेहे क्षेत्रे खलेषु सस्यादिभक्षणंकुर्वन्तीवत्संच क्षीरंपिबन्तं कथयेत् । अनेनोक्तविधानेन योगोघ्नोगाः परिचरति सं-
गोवधजनितपापंत्रिभिर्मसैरपनुदति ॥ १०८ ॥ १०९ ॥ ११० ॥ १११ ॥ ११२ ॥ ११३ ॥ ११४ ॥ ११५ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रादौ गोवधविषयकमाह उपेतिनवभिः । मासंयवान्पिबेत् कृतवापोगोष्ठिवसेच्च । तेन तदा
येन तदलाभे तज्जातीयेन ॥ १०८ ॥

(५) नन्दनः । मांसपृथङ्मासंयवान्यवागूः कृतवापउमकेशश्मश्रुः तेन चर्मणा ॥ १०८ ॥

(६) रामचन्द्रः । यवान् गोमूत्रमिश्रितां यवागूं पिबेत् ॥ १०८ ॥

चतुर्थकालमश्रीयादक्षारलवणमितम् ॥ गोमूत्रेणाचरेत्स्नानंद्वौ मासौ नियतेन्द्रियः ॥ १०९ ॥

(१) मेधातिथिः । द्वौ मासावेकैकमाहारं भुक्त्वा द्वितीयेऽहनि सायमश्रीयात् । लवणविशेषेण क्षारग्रहणात्सैन्धवस्याप्रतिषेधः । स्वतन्त्रः क्षारप्रतिषेधो हि द्वन्द्वे सति स्यात् तत्र वचनप्रवृत्तिः पदद्वयस्य च लक्षणार्था युगपदधिकरणतायां द्वन्द्वः । स्थिते विशेषणसमासे विशिष्टस्यार्थस्य नानुज्ञासंबन्धः । मितं स्वल्पमित्यर्थः नयावतानृमिर्भवति शरीरस्थितिश्च जायते गोमूत्रस्नानं त्रिष्वपि कालेषु चतुर्थकालं द्वौ मासाविति संबन्धः । एवं स्मृत्यन्तरे ॥ कृतवपनो वसेद्वेष्टे चर्मणा तेन संवृतः ॥ द्वौ मासौ स्नानमप्यस्य गोमूत्रेण विधीयते ॥ पादशौचक्रियाकार्यमद्भिः कुर्वीत केवलं ॥ न चास्य द्वौ मासावित्यनेन संबन्धः संभवति स्नानग्रहणं पादपूरणार्थं स्नानकाले यदि पादाद्यशुद्धिर्भवत्यर्थात्तद्दुदकेनैव द्रव्यशुद्धिविधिना शोधनीयमत आचमनमपिशुद्ध्यर्थमुदकेनैव स्नानकालेऽन्यदा मृदाशुद्धिः सामुद्धारिक्रमेणैव कर्तव्या स्नानविधौ गोमूत्रश्रवणादाचमनादौ कः प्रसङ्गः स्नानेऽपि प्रायश्चित्ताङ्गेन शुद्ध्यर्थम् ॥ १०९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ततः परं द्वौ मासौ यवक्षारादिक्षारसैन्धवादिलवणवर्जितमन्नं मितमष्टग्रासनियमस्यात्यपकर्षेण परिमाणत्वात्तावन्नियतं चतुर्थकालं पूर्वदिने नक्ताशनोऽपरदिने उपोष्य द्वितीयदिने सायमश्रीयात् । प्रतिदिनं हि द्वौ द्वौ भोजनकालौ तत्कालत्रयमतिक्रम्यैवं भुक्तं भवति । गोमूत्रेण तन्मात्रेण । अत्र चर्मसंवृतत्वगोमूत्रस्नानाचरणायुक्तवक्ष्यमाणाङ्गजातं प्रथममासे द्वितीयादौ चोपसंहार्यम् ॥ १०९ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च चतुर्थेति । द्वौ मासौ गोमूत्रेण स्नानमाचरन् चतुर्थकालं चतुर्थभोजनमक्षारलवणात्रितमश्रीयात्कुर्यादित्यन्वयः त्रिभिर्मासैर्व्यपोहतीत्युपसंरात् ॥ १०९ ॥

(५) नन्दनः । मासयोर्द्वितीयतृतीययोः कर्तव्यमाह चतुर्थकालमश्रीयादिति । चतुर्थकालं चतुर्थकाल एकदिनमुपोष्य द्वितीये दिने सायमिति यावत् । क्षारं जिह्वाक्षरणरुद्धूषणसारभूतं ॥ १०९ ॥

(६) रामचन्द्रः । मितं परिमितं ॥ १०९ ॥

दिवानुगच्छेद्रास्तास्तु तिष्ठन् ऊर्ध्वं रजः पिबेत् ॥ शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत् ॥ ११० ॥

(१) मेधातिथिः । यासां गवां स्थाने वसति ताश्चरितुं गच्छन्तीः पश्चाद्गच्छेत् । तच्छब्देन प्रत्यवमर्शाद्यासां गृहे स्थितस्तासां अन्यासां गच्छन्तीनां भवत्यनुगमनं ताभिः समुत्थापितं रजोरेणु ऊर्ध्वं गच्छन् पिबेत् एवं तत्रैव ताभिः सह दिवसं विदित्य ताभिरेव सह पुनर्गोष्ठमागच्छेत् शुश्रूषित्वा कण्डूकर्षणरजोपनोदनेनोपगच्छन् नमस्कृत्य जानुशिरसाप्रणामं कृत्वा वीरासनो वसेत् भित्तिशय्यादावनिषद्य दुपविष्टस्यावस्थानं तद्दीरासनम् ॥ ११० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दिवानुगच्छेन्नाग्रे गच्छेत् । एतच्च यदा गावो गच्छन्ति तदैव । आगोवासंगोष्ठे वसेत् । दिवा च यदा तदा खुराघातादूर्ध्वमुत्क्षिप्तं रजः पिबेत् मुखवातेन वक्त्रे प्रवेशयेत् । शुश्रूषित्वा कण्डूयनादिना । वीरासनं वसेत् येनासनेनादावासीनस्तेनैवासनेन रात्रिं क्षपयेत् । एतच्च तिष्ठन्तीष्वपि गोषु ॥ ११० ॥

(४) राघवानन्दः । तेष्वेवेति कर्तव्यतामाह दिवेत्यादिपञ्चभिः । ऊर्ध्वं ऊर्ध्वगामि रजः पिबेदास्वादयेत् । रात्रौ तासां गवां सन्निधौ वीरासनं कृत्वा वसेन्निष्ठेदित्यन्वयः ॥ ११० ॥

(५) नन्दनः । रजःपिबेत् रजोगोधूलिरक्तास्योमुहुर्गोखुरोद्धूतंपवित्रम् ॥ ११० ॥

(६) रामचन्द्रः । दिवातुगाः अनुगच्छेत् तिष्ठन् ऊर्ध्वरजः गोसंबन्धिरजः पिबेत् ॥ ११० ॥

तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु ब्रजन्तीष्वप्यनुब्रजेत् ॥ आसीनासु तथासीनोनियतोवीतमत्सरः ॥ १११ ॥

(१) मेधातिथिः । तिष्ठन्तीत्येवमादिकोविधिर्यत्र काश्चित्तिष्ठन्ति काश्चिद्ब्रजन्ति काश्चिद्वाऽऽसते तत्र भूयसीनां धर्मसमाश्रयेत् । वीतोमत्सरोलोभोयस्येति प्रदर्शनार्थंचैतत् त्यक्तरागादिमनोदोषइतियावत् नियतेन्द्रियवचनान् ॥ १११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दिवाकर्तव्यमाह तिष्ठन्तीष्विति । आसीनासूपविष्टासु । नियतस्तपःस्वाध्यायादियावच्छक्यनियमवान् । मत्सरः क्रोधः ॥ १११ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच तिष्ठन्तीष्विति । आसीनासु शयानासु उपविष्टः सन् । वीतमत्सरः किमित्येवं कुर्वन्त्येतादित्यनुद्विग्नहृदयः ॥ १११ ॥

(५) नन्दनः । वीतमत्सरः तिष्ठन्तीषु गोष्विति विपरिणेतव्यम् ॥ १११ ॥

आतुरामभिशस्तांवा चौरव्याघ्रादिभिर्भयैः ॥ पतितांपङ्कलग्नांवा सर्वोपायैर्विमोचयेत् ॥ ११२ ॥

(१) मेधातिथिः । आतुरां व्याधितां अभिशस्तांगृहीतां भयैर्व्याघ्रादिनिमित्तैः सर्वेण सामर्थ्येन प्राणशब्देनोद्धासपवनएव अल्पप्राणैर्महाप्राणइति । स्थूलेबलवति च प्रयोगदर्शनात् तेन स्वयमशक्तेन सहायकोपादानेनाप्युद्धारः कर्तव्यः ॥ ११२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भयैर्भयसाधनैरभिषक्तांपराकृताम् । सर्वोपायैर्यावच्छक्तिः ॥ ११२ ॥

(४) राघवानन्दः । आतुरामौषधादिनासुखिर्नीकुर्यात् तथापि मृतायां न दोषः । तदुक्तम् ॥ औषधं सेहमाहारं दद्याद्गोब्राह्मणेषु यः ॥ दीयमाने विपत्तिः स्यान् सप्तापेन लिप्यतइति ॥ अभिशस्तां जीर्णतया त्वपोषकैः परित्यक्ताम् । पतितां चोरादिभयैः । पङ्कलग्नां च । सर्वप्राणैः प्राणसत्त्वेन तद्रक्षातो निवर्तेतेति भावः ॥ ११२ ॥

(५) नन्दनः । अभिशस्तांपीडितां भयैर्भयहेतुभिः ॥ ११२ ॥

(६) रामचन्द्रः । अभिशस्तां आक्रान्तां भयैः भयसाधनैः ॥ ११२ ॥

उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम् ॥ न कुर्वीतात्मनस्त्राणंगोरकृत्वा तु शक्तितः ॥ ११३ ॥

(१) मेधातिथिः । उष्णेन भृशं तपत्यादित्ये वर्षति पर्जन्ये शीते वा मारुते वाति वायौ भृशमिति ॥ ११३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उष्णे आतपे । वर्षति वृष्टिकाले । शीते शीतपीडासमये । मारुते भृशं वाति झञ्झावातादौ । अकृत्वा त्राणम् ॥ ११३ ॥

(४) राघवानन्दः । उष्णे सूर्याद्यातपे छत्रादिनात्मत्राणं न कुर्यात्तासामकृत्वा ॥ ११३ ॥

(५) नन्दनः । उष्णे आतपे ॥ ११३ ॥

आत्मनो यदि वान्येषां गृहे क्षेत्रेथवा खले ॥ जक्षयन्तीं न कथयेत्पिबन्तंचैव वत्सकम् ॥ ११४ ॥

(११२) भिशस्तां=भिषक्तां (ख, ग, च, ण)

(११३) सर्वोपायैः=सर्वप्राणैः (क, ख, ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ)

(१) मेधातिथिः । ब्रीह्यादिभक्षयन्तीगांनधारयेत् नचान्यानाचक्षीतनिवारणार्थं यदितु बभ्रीयादाशंक्यतेबाधे-
ति तृष्या तदा पूर्वोक्त करणेनदोषस्तदनुग्रहोविधीयतएवंपिबन्तं वत्सकमपि ॥ ११४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भक्षयन्तीं सस्यानि । पिबन्तं मातुःस्तन्यम् । नान्यस्मै तन्निवारणाय कथयेत् । धयन्त-
मितिकचित्पाठः ॥ ११४ ॥

(४) राघवानन्दः । भक्षयन्तीं सस्यमितिशेषः । दुग्धं पिबन्तं वत्सं च न कथयेत् ॥ ११४ ॥

(५) नन्दनः । भक्षयन्तीगां पिबन्तंस्तनम् ॥ ११४ ॥

अनेन विधिना यस्तु गोघ्नोगामनुगच्छति ॥ सगोहृत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥ ११५ ॥

(१) मेधातिथिः । दशगावोदेया एकोवृषभः शक्तौ चत्वारिब्रतान्यविद्यमाने गदितधने ततो न्यूनं सर्वस्वं देयं वेदविद्भ्यश्च
ति बहुशः द्वयोरेकस्मिन्वा वेदविद्ब्रह्मणं बहुत्वार्यमनुवादेवेदविदामेव पात्रतयोक्तत्वात् यत्तु स्मृत्यन्तरे दहनवाहनबन्धनदा
मपाशयोजनतैलौषधादियोगविपन्नांसशिखंवपनं कृत्वा प्राजापत्यं चरेत्ततश्चैलखण्डं दद्यादिति तस्य नातिप्रयत्नेनैतासु क्रियासु
प्रवर्तते । तस्य प्रमादजे पराधे प्रायश्चित्तमेतत् यतः ॥ यंत्रणे गोश्चिक्त्सायां गूढगर्भविमोचने ॥ यत्ने कृते विपत्तिः स्यात्प्रायश्चि-
त्तं न विद्यते ॥ औषधं स्नेहमाहारं दद्याद्ब्राह्मणेषु यः ॥ दीयमाने विपत्तिः स्यान्सपापेन लिप्यत इति सांवर्ते तथान्यासामासे च न
शुद्धिरुक्ता पंचगव्यं पिबेत् षष्ठे काले पयः समाप्ते ब्राह्मणां स्तर्पयेत् तिलधेनुं च दद्यात् तथान्यासं मासेन सक्तुयावकशाकपयो
दधिघृतं सकृदिति विकल्पानेतां न्वक्ष्यामि येन द्रव्येण यः प्रयोग आरब्धः स तेनैव समापनीयोन तु कस्मिंश्चिद्वह्निस्तुक्तवः क-
स्मिंश्चिदावकादीनीति ब्रीहिभिर्यजेत यवैर्वैति विकल्पतेपि द्रव्यद्वयेन ब्रीहिषूपपत्तेः स्वेच्छया चैतेषां वा विनाशे यवाउपादीय-
न्ते प्रतिनिधिनैव प्रयोगसमाप्तिस्तत्रापि गोदानं विहितं तथैतावन्त्येव तपांस्यतो वत्ससहितां गां दद्यादित्यत्रोक्तं गौतमीये च गावै-
श्यवदिति तत्र श्रोत्रियस्य यज्ञविदुषोऽप्यहितस्य दोग्ध्रां बहुक्षीरां बालवत्सानिर्धनस्य गां हत्वा गौतमीयं क्षेत्रारामादौ ब्रीह्यादिषु
च प्रविश्य तन्निवारणार्थं प्रदुते मामारयाम्येनामिति नमया बुद्ध्या कथं मृतायामिदमासितव्यं । तथाऽश्रोत्रियस्य जरत्या अक्षीरा-
याश्च बुद्धिपूर्ववधे त्रैमासिकं सर्वतो निर्गुणायानिर्गुणस्वामिकाया अबुद्धिपूर्ववधे प्राजापत्यं तस्या एव बुद्धिपूर्वमृतायां त्रैमासिक-
मिति ॥ ११५ ॥ ११६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गामनुगच्छति गवानुगमनसहितं व्रतं करोति ॥ ११५ ॥

(४) राघवानन्दः । उपसंहरति अनेनेति । विधिना उक्तेन ॥ ११५ ॥

वृषभैकादशागाश्च दद्यात्सु चरितव्रतः ॥ अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत् ॥ ११६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वृषभैकादशाः यासां गां वृषभैकादशः एकं वृषं दशस्त्रीगवीरितियावत् । अविद्यमान एता-
वद्विन्नाभावे ॥ ११६ ॥

(३) कुट्टकः । वृषभैकादशोयासां ताः सम्यगनुष्ठितप्रायश्चित्तोदद्यात् अविद्यमाने तावतिधने सर्वस्वं वेदज्ञेभ्यो-
ब्राह्मणेभ्यो दद्यात् ॥ ११६ ॥

(४) राघवानन्दः । वृषभैकादशाः वृषभः एकादशोयासु गोषु । चरितव्रतः कृतोपवासत्रयः । अत्र तु व्रतत्रयमेवो-
चितं मासत्रयसाध्यमेकं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहतीत्युपसंहाराद्ब्राह्मणधेनुविषयम् । तदितरधेनुविषयं च उपोषणत्रयपुरःसरं गवाभे-
कादशकदानम् । अज्ञानेन गोमात्रवधे तु सर्वस्वदानम् । दानव्रताद्यसमर्थस्य तु यत्यादेश्चान्द्रायणमेव । अतएव याज्ञव-

ल्वयोक्तविकल्पत्रयमपि संगच्छते । तथाहि ॥ पञ्चगव्यं पिबन्गोघ्नोमासमासीत संयतः ॥ गोष्ठिशयोगोनुगामी गोप्रदानेन शुध्यति ॥ रुच्छं चैवातिरुच्छं च चरेद्वापि समाहितः ॥ दद्याच्चिरात्रं वोपोष्य वृषभैकादशास्तु गा इति ॥ याज्ञवल्कीये मासपदमुपलक्षणं मासत्रयस्येति । अत्र शूलपाणिः ॥ मासत्रये द्वादशधेनवस्तेन षट्त्रिंशत्कार्षापणागवां दशकस्य दशकार्षापणावृषभस्य पञ्चकार्षापणास्तेनैकपञ्चाशत्पणा इत्येवं गोदानपर्यन्तमेकं व्रतमिति ॥ ११६ ॥

(५) नन्दनः । अविद्यमाने वृषभएकादशके ॥ ११६ ॥

(६) रामचन्द्रः । एकादशोवृषभोदश गाः ॥ ११६ ॥

एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः ॥ अवकीर्णवर्ज्यं शुद्धयर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥ ११७ ॥

(१) मेधातिथिः । एतदेवेति गोघातकप्रायश्चित्तसर्वेषूपपातकेष्वतिदिशति । वैकल्पिकं चान्द्रायणमप्युपपातकित्वे विशेषोपदेशान्नगोघ्नस्य चान्द्रायणमिच्छन्ति तेषामुपपातकित्ववचने गोघ्नस्य प्रयोजनं भृग्यम् ॥ ११७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतदेव व्रतं हतगोचर्मपरिधानमस्यासंभवात्तच्छून्यम् । उपपातकिनः पूर्वोक्ताः । एतत् ज्ञानतः । अज्ञानतस्त्वाह चान्द्रायणमिति । इदं च यत्र निष्कृतिर्विशेषतो नोक्ता तद्विषयम् । तत्रापि पापगुत्वापेक्षयाऽऽवृत्त्या योज्यम् ॥ ११७ ॥

(३) कुल्लूकः । अपरेतूपपातकिनो वक्ष्यमाणावकीर्णवर्जिताः पापनिर्हरणार्थमेतदेव गोवधप्रायश्चित्तं चान्द्रायणं वा लघुत्वात्कुर्युः चान्द्रायणन्तु लघुन्युपपातके जातिशक्तिगुणाद्यपेक्षया योजनीयम् ॥ ११७ ॥

(४) राघवानन्दः । उपपातकप्रायश्चित्तमुपसंहरन् अन्यत्रातिदिशति एतदेवेति । अपिना पयःपराकयोर्ग्रहणम् ॥ उपपातकशुद्धिः स्यादेवं चान्द्रायणं वा ॥ पयसावापि मासेन पराकेणापि वा पुनरितियाज्ञवल्क्योक्तेरिति मनूक्तेषु प्रायश्चित्तेषु उपपातकेषु त्रयाणां विकल्पेन प्रवेशः तथैकार्थास्तु विकल्परन्ति न्यायात् इति ॥ ११७ ॥

(५) नन्दनः । एतद्गोहृत्याव्रतं ॥ अवकीर्णो भवेद्ब्रह्मचारीतु योषितमितियाज्ञवल्क्यः । बुद्धिपूर्वविषयंगोव्रतमबुद्धिपूर्वविषयचान्द्रायणम् ॥ ११७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अवकीर्णसंज्ञं पुरुषं वर्जयित्वा ॥ ११७ ॥

अवकीर्णां तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे ॥ पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि ॥ ११८ ॥

(१) मेधातिथिः । अवकारोऽवकीर्णो ब्रह्मचारिणो व्रतनियमः स्त्रीसंयोगलक्षणः सोस्यास्तीत्यवकीर्णो वक्ष्यति कामतोरेतसः सेकमिति काणेन गर्दभेनेति सगुणद्रव्यनिर्देशः । चतुष्पथेनेति देशस्य निशीति कालस्य नैर्ऋतमिति देवताया पाकयज्ञविधानेनेति कर्तव्यताविधानं ननु च पशुयागाग्निष्टोमीयपशुयागाग्निष्टोमीयपशुमकृतयः सत्यं स एव पाकयज्ञप्रकृतिः सत्यधिकारेहि उक्तं च पशुरपि द्रवति पयोपि द्रवतीति पाकयज्ञाः पूर्णमासादयः ॥ ११८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अवकीर्णप्रायश्चित्तमाह अवकीर्णांति । पाकयज्ञसहचरितः पशुकल्पआश्वलायनगृह्णादवुक्तः । निशि रात्रौ । निर्ऋतिदेवताम् । एतच्चालौकिकाभावेव ॥ ११८ ॥

(३) कुल्लूकः । अवकीर्णो वक्ष्यमाणः काणेन गर्दभेन रात्रौ चतुष्पथे पाकयज्ञेन तत्त्रेण निर्ऋत्याख्यां देवतां यजेत् ॥ ११८ ॥

(४) राघवानन्दः । अवकीर्ण [वर्जमित्युक्तंतस्यप्रायश्चित्तमाह अवकीर्णीति षड्विंशः । पाकयज्ञविधानेन वैश्व-
देवविधानेन] १ ॥ ११८ ॥

(५) नन्दनः । काणेन गर्दभेन काणंगर्दभं पशुमालभ्य पाकयज्ञविधानेन पाकयज्ञप्रयोगेणस्मार्त्तनेत्यर्थः ॥ ११८ ॥

(६) रामचन्द्रः । अवकीर्णी क्षतव्रतः निर्ऋतिदेवतां पाकयज्ञविधानेन समपाकसंस्थाप्रकारेण काणेन गर्दभेन ए-
काक्षिगर्दभेन निशि यजेत् ॥ ११८ ॥

हुत्वाग्नौ विधिवद्धोमानंततश्चसमेत्यृचा ॥ वातेन्द्रगुरुवह्नीनां जुहुयात्सर्पिषाहुतीः ॥ ११९ ॥

(१) मेधातिथिः । अग्नौ यदा होममग्निहोमाश्च हृदयस्यायइति अतः समामेषु होमेषु मरुद्भ्य इन्द्राय बृहस्पत-
येऽग्नयेऽप्याहुतीर्जुहुयात् समित्यनया ॥ संमासिञ्चन्तु मरुतःसमिन्द्रःसंबृहस्पतिः ॥ संचायमग्निःसिञ्चतु प्रजया च धनेन च-
त्येतया जुहुयान्मात्तवर्णिकत्वात् । देवतानां श्लोके वातमरुच्छब्दौ मरुद्बृहस्पतिशब्दलक्षणावतो वातादिषु स्वाहाकारादौ
मरुद्बृहस्पतिशब्दौ प्रयोक्तव्यौ न वातगुरुशब्दौ ॥ ११९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विधिवन्नैर्ऋतदैवतमन्त्रैः । होमान् वपया मांसेन च प्रधानदेवतायै स्विष्टकृते चान्ततइति
तिस्र आहुतीः । तदन्ते संमासिञ्चन्तु मरुतः समिन्द्रः संबृहस्पतिरित्यृचा एतच्च प्रतिपाद्यादिदेवतानां धृतेनाहुतीराहुतित्र-
यं जुहुयात् ॥ ११९ ॥

(३) कुल्लूकः । ततो निर्ऋतयै गर्दभवपादिहोमान्यथावच्चतुष्पथे कृत्वा तदन्ते संमासिञ्चन्तु मरुतइत्येतया ऋचा
मारुतेन्द्रबृहस्पत्यग्नीनां धृतेनाहुतीर्जुहुयात् ॥ ११९ ॥

(४) राघवानन्दः । [होमान् गर्दभरसादिहोमान् । ते च] १ कामाय स्वाहा निर्ऋतये स्वाहा रक्षोदेवताभ्यः स्वाहे-
ति वसिष्ठस्मरणान् । समित्यृचा संमासिञ्चन्तु मरुतइत्येतयर्चा गुरुः बृहस्पतिः ॥ ११९ ॥

(५) नन्दनः । तत्र प्रधानहोममुपहोमांश्चाह हुत्वाग्नौ विधिवद्धोममिति । संततमविच्छिन्नधारं । समेत्यृचासममा-
सिञ्चन्त्वित्यृचा ॥ ११९ ॥

(६) रामचन्द्रः । विधिवदग्नौ हुत्वा होमान् अन्ततः पश्चात् समित्यृचा वातोवायुः इन्द्रः गुरुः बृहस्पतिः एषामाहु-
तीः सर्पिषा जुहुयात् ॥ ११९ ॥

कामतोरेतसः सेकंव्रतस्थस्य द्विजन्मनः ॥ अतिक्रमंव्रतस्याहुर्धर्मज्ञाब्रह्मवादिनः ॥ १२० ॥

(१) मेधातिथिः । अवकीर्णपदार्थनिरूपणमतश्चोपात्तव्रतातिरिक्तविषयएवं विज्ञायते व्रतस्यास्येति । ब्रह्मच-
र्याश्रमस्थस्येति स्मृत्यन्तरदर्शनाद्विज्ञेयं रेतःसेकस्त्वस्यैव विशेषतः प्रतिषिद्धोन्तरेणापि स्त्रीसंयोगं कामतःसेके विधिरय-
म ॥ १२० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्रान्तरा कामतइत्यवकीर्णलक्षणाभिधानं वातादिदैवतर्चाहोमस्तुतिं प्रस्तावयितुम् ।
व्रतं ब्रह्मचर्यवनस्थर्यातिवन्नियमपरिग्रहः चान्द्रायणादिव्रतंच तत्र स्थितस्य व्रतस्यातिक्रमम ॥ १२० ॥

(३) कुल्लूकः । अपसिद्धत्वादवकीर्णवतोलक्षणा माह कामतइति । इच्छातो द्विजः ॥ अवकीर्णी भवेद्भत्वा ब्रह्मचारी
च योषितमिति वचनात्स्त्रीयोनौ शुक्रोत्सर्गब्रह्मचर्यस्यातिक्रममवकीर्णरूपं सर्वज्ञावेदविदः प्राहुः ॥ १२० ॥

(४) राघवानन्दः । वादादीनामेवहोमोऽर्थवादः । कामतइत्यवकीर्णिलक्षणं ॥ अवकीर्णीभवेद्वत्वा ब्रह्मचारी तु योषितमिति याज्ञवल्क्योक्तेः ॥ १२० ॥

(५) नन्दनः । एतदकामतोरेतः सेकविषये प्रायश्चित्तमुक्तमथ कामतस्तु विशेषमाह कामतोरेतसः सेकमिति । अतिक्रमंलोपं व्रतस्य ब्रह्मचर्यस्य ॥ १२० ॥

(६) रामचन्द्रः । व्रतस्थस्य कामतः रेतसःसेकं रेतसः क्षरणम् ॥ १२० ॥

मारुतंपुरुहूतंच गुरुंपावकमेव च ॥ चतुरोव्रतिनोऽभ्येति ब्राह्मतेजोऽवकीर्णिनः ॥ १२१ ॥

(१) मेधातिथिः । आद्याहुतिरिति विधेरर्थवादोव्रतिनः सतवकीर्णिनः यत्ब्रह्मतेजोविविधविज्ञानोपार्जितं पुण्यंतद्देवतां देवतामुपैत्युपसंक्रामति तत्र लयंगच्छतीत्यावत् । व्रतिनोपैतीतिविवक्षितम् ॥ १२१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विकिरणाद्विक्षेपाद्व्रतस्थस्यावकीर्णीतियोगउक्तः । मारुतमितिप्रकृताहुतिस्तुत्युपयुक्तम् । गुरुं बृहस्पतिम् । ब्राह्मं वेदेन सहितं तेजः ॥ १२१ ॥

(३) कुल्लूकः । व्रतचारिणोवेदाध्ययननियमानुष्ठानजंतेजः तदवकीर्णिनः सतोमरुदिन्द्रबृहस्पतिपावकांश्चतुरः संक्रामति अतस्तेभ्यआज्याहुतीर्जुहुयात् इत्याज्याहुतेरयमनुवादः ॥ १२१ ॥

(४) राघवानन्दः । पुरुहूतं पुरुभिर्बहुभिर्हूयतेऽस्मादिति शक्तम् । ब्राह्मं वेदाध्ययनजम् ॥ १२१ ॥

(५) नन्दनः । व्रतिनोऽवकीर्णिनोब्राह्मतेजोमारुतादींश्चतुरोप्येति प्रविशति चतुर्थेत्याहुःब्रह्मवादिनइति श्रुतेः॥१२१॥

(६) रामचन्द्रः । अवकीर्णिनः व्रतिनः बाल्ये [ब्राह्मं ?] तेजः चतुरः मारुतादीनां देवानां सकाशमभ्येति॥१२१॥

एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाजिनम् ॥ सप्तागारांश्चरैर्द्वैक्षंस्वकर्मपरिकीर्तयन् ॥ १२२ ॥

(१) मेधातिथिः । वसित्वा आछाद्य स्वकर्मावकीर्णोत्सीत्येवम् ॥ १२२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रकृतकर्मशेषमाह एतस्मिन्निति । पूर्वोक्तंहोमं कृत्वा एतदब्दं कर्तव्यमित्यर्थः । गर्दभस्य हविरुत्पादनभूतस्याजिनंचर्म स्वकर्माधिकरणम् ॥ १२२ ॥

(३) कुल्लूकः । एतस्मिन्वकीर्णोख्येपापउत्पन्ने पूर्वोक्तगर्दभयागादि कृत्वा गर्दभचर्मपरिधायेति हारीतस्मरणात्स- गर्दभसंबन्धिचर्मप्रावृतोवकीर्ण्यहमिति स्वकर्मख्यापनंकुर्बन्समगृहाणि भैक्षंचरेत् ॥ १२२ ॥

(४) राघवानन्दः । गर्दभहोमोत्तरकृत्यमाह एतस्मिन्निति । एतस्मिन्वकीर्णिनिमित्ते । वसित्वा परिधाय । स्वकर्म- अवकीर्ण्यत्सीतिख्यापयन् ॥ १२२ ॥

(५) नन्दनः । एतस्मिन्नेनसि कामतःकृतेऽवकीर्णत्वे ॥ १२२ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतस्मिन् एनसि प्राप्ते सति गर्दभाजिनंगर्दभस्यचर्म ॥ १२२ ॥

तेभ्योलब्धेन भैक्षेण वर्तयन्नेककालिकम् ॥ उपस्पृशंस्त्रिषवणं त्वब्देन सविशुध्यति ॥ १२३ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रातर्मध्याह्नापराह्णेषूपस्पृशनस्नानंकुर्वन्संवत्सरेण पूतोभवति ॥ १२३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एककालिकं दिने एकवारम् । वर्तयन् भोजनेन प्राणस्थितिकुर्वन् । उपस्पृशनं स्नानंकुर्वन् ॥ १२३ ॥

(३) कुल्लूकः । तेभ्यः सप्तगृहेभ्योलब्धेन भैक्षेणैककालमाहारंकुर्वन्सायंप्रातर्मध्यदिनेषु च स्नानमाचरन्सोवकीर्णी- संवत्सरेणैव विशुध्यति ॥ १२३ ॥

(४) राघवानन्दः । उपस्पृशन् स्नानं कुर्वाण एव शुध्यतीति भावः ॥ १२३ ॥

(५) नन्दनः । तेभ्योऽगारेभ्यः वर्तयन् जीवन् ऐककालिकमिति स्वार्थे ठक्प्रत्ययः । उपस्पर्शनं स्नानम् ॥ १२३ ॥

(६) रामचन्द्रः । तेभ्यः सामागारेभ्यः । त्रिषवणं त्रिकालम् । उपस्पृशन् स्नानं कुर्वन् ॥ १२३ ॥

जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वान्यतममिच्छया ॥ चरेत्सान्तपनं कच्छं प्राजापत्यमनिच्छया ॥ १२४ ॥

(१) मेधातिथिः । सामान्युपपातकानि । अन्यतममित्यनुवादो न हि निमित्तानां समाहारसंभवः समुदायविवक्षायां न च कस्यचित्प्रायश्चित्तमुपदिशति । कोहि मनुष्यः सर्वाणि जातिभ्रंशकराण्यकार्याणि कुर्यात् । एकएवशब्दः प्रायश्चित्तानुदेशोऽशास्त्रतामसङ्गो न च साहित्यविवक्षान्युक्ता लक्षणत्वेन श्रवणात्पुरुषं प्रति निमित्तानामतः प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्त्यस्य पितापितामहः सोमं न पिबेदित्यन्यतरस्य पितुः पितामहस्य वा सोममपीतवतो भवत्येव पशुर्यथा सत्यप्युभयश्रवणे यद्युभयंहविरितियाच्यादित्यन्यतरहविर्विनाशेषि भवत्येव पंचशरावः । एवं सर्वप्रायश्चित्तेषु द्रष्टव्यम् । इच्छयेति विवक्षितमनिच्छयेति च प्राजापत्यसान्तपनयोः स्वरूपं वक्ष्यति ॥ १२४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । जातिभ्रंशकरं पूर्वोक्तम् । इच्छया कामतः । सांतपनं समाहसाध्यम् ॥ १२४ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणस्य रुजः कृत्वेत्यादि जातिभ्रंशकर्मोक्तं तन्मभ्यादन्यतमं कर्म विशेषं इच्छातः कृत्वा वक्ष्यमाणं सान्तपनं समाहसाध्यं कुर्यात् । अनिच्छातः पुनः कृत्वा प्राजापत्यं वक्ष्यमाणं चरेत् ॥ १२४ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तजातिभ्रंशकरमनूय प्रायश्चित्तमाह जातिभ्रंशेति । इच्छया कृत्वेत्यन्वयः सान्तपनादिव्रतज्ञातस्य लक्षणं वक्ष्यमाणम् । अनिच्छया तु प्राजापत्यं कल्लूम् ॥ १२४ ॥

(५) नन्दनः । जातिभ्रंशकरमिति । ब्राह्मणस्य रुजः कृत्वेत्याद्युत्कं कर्म ॥ १२४ ॥

(६) रामचन्द्रः । इच्छया सान्तपनं कच्छं अनिच्छया प्राजापत्यं कल्लूम् ॥ १२४ ॥

सङ्करापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम् ॥ मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्याद्यवकञ्च्यहम् ॥ १२५ ॥

(१) मेधातिथिः । सङ्करापात्रकृत्यासु मासं शोधनं पूर्वमुक्तेनेति । एवं सङ्करापात्रकृत्यास्त्विति संज्ञिभेदाद्बहुवचनम् । कृत्याशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । कृत्यं कारणम् । ऐन्दवो मासः चान्द्रायणी यावको यवविकारः पेयलेह्यादिः । अत्राविशेषश्रवणे पीच्छानिच्छयोर्गुरुलघुभावो विज्ञेयः ॥ १२५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संकरापात्रकृत्यासु संकरीकरणेषु [अपात्रीकरणेषु] च मासं क्रियमाणमैन्दवं चान्द्रायणं शोधनम् । मासमिति प्रायश्चित्तसौम्यकल्लूकस्यैन्दवपदेन परिग्रहशङ्कानिरासार्थम् । एतत्कामतः पूर्वोक्तं सांतपनम् । तप्तो यावकैः प्रसूतिमात्रं यवानां चूर्णं गोमूत्रे साधयित्वा तस्य तप्तस्य पानम् । एतदकामतः । कामतो द्विगुणम् ॥ १२५ ॥

(३) कुल्लूकः । खराश्वोष्ट्रेत्यादिना सङ्करापात्रकृत्यासु निन्दितेभ्यो धनादानमित्यादिना चापात्रीकरणान्युक्तानि तेषां मभ्यादन्यतममिच्छातः कृत्वा चान्द्रायणं मासं शुद्ध्ये कुर्यात् । रुमिकीटवयोहृत्येत्यादिना मलिनीकरणान्युक्तानि तन्मभ्यादेकमिच्छातः कृत्वा त्रिरात्रं यावत्कथितामशीयान् ॥ १२५ ॥

(४) राघवानन्दः । एवं संकरापात्रीकरणयोराह संकरेति । ऐन्दवं चान्द्रायणम् । यावको यवागूः सप्तमह्यहं भोक्तव्यः ॥ १२५ ॥

(५) नन्दनः । सङ्करीषु पात्रत्वकरणीषु च क्रियासु ऐन्दवंचान्द्रायणं मलिनीकरणीयेषु मलावहेषु तप्ततप्तकृच्छं च्यहंयावकमयावान्म ॥ १२५ ॥

(६) रामचन्द्रः । संकरः वर्णसंकरः अपात्रहस्ते दानकरणं कृत्यासु अभिचारादिक्रियासु ऐन्दवं चान्द्रायणं मासं मासपर्यन्तं कायशोधनम् । तु पुनः मलिनीकरणीये कर्मणि तप्तः तप्तकलः स्यात् च्यहं यावकः यावकाहारः ॥ १२५ ॥
तुरीयोब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः ॥ वैश्येऽष्टमांशोवृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः ॥ १२६ ॥

(१) मेधातिथिः । सवनगतयोरारजवैश्ययोर्ब्राह्मणसमुक्तं ब्रह्म ततोऽन्यत्र त्वधर्मानुष्ठानयोश्चतुर्थाष्टमविभागविधिः । तथाच वृत्तस्य ग्रहणंसर्वक्रियार्थम् । त्रीणि वर्षाणि क्षत्रियस्य सार्धवर्षवैश्यस्य नवमासान्शूद्रस्य । यत्तु स्त्रीशूद्रस्य वि-
द्वक्षत्रियवधइति तत्परित्यक्तत्वकर्मणोर्वैश्यवृत्तौवैश्यस्य वृत्तावेव वाऽधर्मस्थितयोः शूद्रस्य वृत्तद्विजशुश्रूषादि नमहायज्ञानु-
ष्ठानंचवृत्तशीलतिष्ठति गहने यथा समये त्वधर्मपराणांविधिवत्प्रायश्चित्तम् ॥ १२६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्षत्रादिहत्यासु प्रायश्चित्तमाह तुरीयइति । ब्रह्महत्यायाः ब्रह्महत्यादिप्रायश्चित्तस्य द्वादश-
वार्षिकादेः तुरीयश्चतुर्थभागः नतु मरणस्य तत्तुरीयभागासंभवात् तत्तदुपाधिविशेषादेव प्रायश्चित्तानामधिकाल्पत्वे । अत्रा-
पि क्षत्रियविशेषणतया वृत्तस्थपदमावर्तनीयम् । वैश्ये हतइतिशेषः । अष्टमांशोब्रह्मवधप्रायश्चित्तस्य । एवं षोडशइत्यत्रा-
पि शूद्रे वृत्तस्थे । अत्रच प्रायश्चित्तं विशेषतउपदिशतापि स्त्रीशूद्रविद्वक्षत्रवधइति क्षत्रादिवधानामुपपातकसंज्ञाकरणं तत्सं-
सर्गिणामुपपातकिसंसर्गितया कर्मानधिकाराभावज्ञापनार्थम् । महापातकत्वेऽपि तत्संसर्गस्य पातित्यहेतुत्वात् । द्विजा-
तिकर्मभ्योहानिःपतनमिति वचनात्प्रायश्चित्तात्सर्वकर्महानिः स्यादिति ॥ १२६ ॥

(३) कुड्मूकः । ब्रह्महत्यातुरीयोभागः त्रैवार्षिकरूपः द्वादशवार्षिकस्य चतुर्थोभागः । एतच्च प्रायश्चित्तंस्त्रीशूद्रविद्व-
क्षत्रवधइत्युपपातकत्वेनोपदिष्टं । त्रैवार्षिकत्वापेक्षया गुरुत्वाद्द्व्युत्पत्त्यक्षत्रियस्य कामतोवधे द्रष्टव्यं । वैश्ये साध्वाचारे का-
मतोहतेऽष्टमोभागः सार्धवार्षिकं व्रतं शूद्रे वृत्तस्थे कामतोहते नवमासिकं द्रष्टव्यम् ॥ १२६ ॥

(४) राघवानन्द । स्त्रीशूद्रक्षत्रियवधोनास्तिक्यंचोपपातकमित्युपपातकत्वेनोक्तानां विशेषतः प्रायश्चित्तमाह तुरी-
यइति । तुरीयस्त्रैवार्षिकः । अष्टमांशः सार्धसांवत्सरिकः । षोडशोऽशोनवमासिकः एतद्व्रतस्थक्षत्रियादीनां कामतोवधे । ब्रह्म
हत्यायाइति तद्धर्मभिक्षामुण्डनादिप्रायश्चित्तं वृत्तस्थइति त्रिष्वनुषज्जनात् ॥ १२६ ॥

(५) नन्दनः । क्षत्रियस्य वृत्तस्थस्येति विपरिणामः ॥ १२६ ॥

(६) रामचन्द्रः । इति क्षत्रियादिकर्मकर्तृकमित्यविरोधः । जातिमात्रक्षत्रियवधे वृत्तस्थक्षत्रियवधे ॥ १२६ ॥

अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः ॥ वृषभैकसहस्रागादद्यात्सुचरितव्रतः ॥ १२७ ॥

(१) मेधातिथिः । इदमपरंदानप्रायश्चित्तसंभवद्विषयः । तपोनास्तीति वक्ष्यति दानेन वधनिर्णयकमित्यादि । अ-
कामतइति नवविक्षिप्तमहत्त्वात्प्रायश्चित्तस्य । यदिवा सवनगतयोरेवाकामतइति कल्पनीयम् । वृषभैकोयासांसहस्रे ता-
वृषभैकसहस्राः ॥ १२७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यागस्थक्षत्रियविद्वधातेतुकामतोब्रह्महव्रतमुक्तमकामतस्तत्राह अकामतइति । वृषभ-
कोगावश्च स्त्रियः सहस्रमिति वृषभैकसहस्रागावः ॥ १२७ ॥

(३) कुल्लूकः । अबुद्धिपूर्वकंपुनः क्षत्रियंनिहत्य वृषभेणैकेनाधिकंसहस्रंयासांगवांताआत्मशुद्ध्यर्थं ब्राह्मणेभ्योदद्यात् ॥ १२७ ॥

(४) राघवानन्दः । तेषामेवाकामतोवधेऽप्याह अकामतइतिचतुर्भिः । द्विजोत्तमः द्विजउत्तमोयत्र समुदाये सतथा चातुर्वर्ण्यमित्यर्थः । वृषभैकावृषभएकोयासुगोषु एवमेकशतमित्यादिज्ञेयम् ॥ १२७ ॥

(५) नन्दनः । कामतोवधएतदुक्तमकामतस्त्वाह अकामतस्तु राजन्यमिति । ऋषभेणैकेनाधिकं सहस्रं यासांताऋषभैकसहस्रागाः ॥ १२७ ॥

अ्यब्दंचरेद्वा नियतोजटी ब्रह्महणोव्रतम् ॥ वसन्दूरतरे ग्रामादृक्षमूलनिकेतनः ॥ १२८ ॥

(१) मेधातिथिः । आद्योर्धःश्लोकस्तुरीयइतरस्यानुवादोजटीति चोरखट्वाङ्गधारणादिनिवृत्त्यर्थमिति केचित् । तदुक्तंतत्रैवतेधर्मास्तदीयतुरीयभागातिदेशोनान्येषांसत्यपि संभवे सरस्वतीपरिसर्पणादीनामिवप्रयोजनसत्त्वोपपत्तौदूरतइति-ग्रामान्निवृत्तिर्वृक्षमूले कुर्यादुक्त्वेति ॥ १२८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अ्यब्दंचरेदिति दानाशक्तौ । एवंच अ्यब्दब्रह्महव्रतप्रायश्चित्तस्य गोसहस्रदानानुकल्पत्वेनाभिधानात्स्वकल्पितगणनानुरोधेन यत्कैश्चिद्वादशवार्षिकव्रतानुकल्पत्वेन षष्ठ्यधिकगोशतत्रयदानं कैश्चित्त्वादशीत्यधिकगोशतदानंव्यवस्थापितं तद्भमादेवेति मन्तव्यम् ॥ १२८ ॥

(३) कुल्लूकः । यद्वा संयतोजयाग्रामाद्विप्रकृष्टवृक्षमूले रुतनिवासोब्रह्महणि यदुक्तंब्रह्महाद्वादशसमाइत्यादि तद्वर्षत्रयंकुर्यात् । नतु तुरीयोब्रह्महत्यायाइत्यनेन पुनरुक्तिर्वाच्या । जटी दूरतरे ग्रामादृक्षमूलनिकेतनइति वचनाद्यतिरिक्तशवशिरोध्वजधारणादिसकलधर्मनिवृत्त्यर्थत्वादस्य ग्रन्थस्याकामाधिकाराच्चेदमकामतः अतएवाङ्गलाघवाद्युचितम् ॥ १२८ ॥

(४) राघवानन्दः । दुर्वृत्तानां कामतोवधापेक्षया वा विकल्पः । अत्र जटीतिविशेषणात्पूर्वं मुण्डनं बोद्धव्यं । ब्रह्महत्यायाइत्यादिविशेषणं भैक्षचर्याशिरोध्वजादिधारणाद्यर्थे । अ्यब्दतुरीयांशयोःसमानत्वेऽपि मुण्डनादिभेदेन कामतोऽकामतइति ॥ १२८ ॥

एतदेव चरेदब्दंप्रायश्चित्तंद्विजोत्तमः ॥ प्रमाप्य वैश्यंवृत्तस्थंदद्याद्वैकशतंगवाम् ॥ १२९ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वत्राष्टमोःशः । अनेन द्वादशोविधीयते । अतुल्यत्वादब्दन्यूनगुणस्य विधिरयमिति विज्ञायते । ननुवृत्तस्थइतिश्रुतंसत्यंसंप्रतिवृत्तस्थोवधकाले प्राङ्निर्गुणइति । यस्तु सर्वदैव वृत्तस्थस्तस्य पूर्ववदितिज्ञेयम् ॥ १२९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतदेवेति सवनस्थवैश्यवधे । दद्याद्वैकशतंगवामिति वाकारः समुच्चयार्थः । व्रतान्ते एकवृषाधिकगोशतदानंकार्यमित्यर्थः । अन्यथाहि दानमुक्त्वा तदनुकल्पतया व्रतमुपदिश्येतेति युज्येत । त्रिवर्षानुकल्पसहस्रव्यवस्थाश्रयणेनच वार्षिकगोशतदानस्यासंगतिरेवेति । दद्याच्चैकशतमितिकचित्पाठः ॥ १२९ ॥

(३) कुल्लूकः । एतदेव द्वादशवार्षिकव्रतमकामतः साध्वाचारंवैश्यंनिहत्य वर्षभेकंब्राह्मणादिः कुर्यात् । एकाधिकंवा गोशतंदद्यात् ॥ १२९ ॥

(४) राघवानन्दः । एतदेवेति । जटादिधारणवृक्षमूलनिकेतनादिविशिष्टगोदानेनसह विकल्पितम् ॥ १२९ ॥

(५) नन्दनः । ऋषभेणैकाधिकंगवांशतं एतदेव प्रकृतम् ॥ १२९ ॥

एतदेव व्रतं कृत्स्नं षण्मासान् शूद्रहा चरेत् ॥ वृषभैकादशावापि दद्याद्विप्राय गाः सिताः ॥ १३० ॥

(१) मेधातिथिः । अत्रापि मासषट्कं न वक्तव्यं वृत्तस्थेतरभेदेन योज्यम् । यथाश्रुतसंख्यं च गोदानं सर्वत्र वैकल्पिकं द्विजोत्तमग्रहणं च प्रदर्शनार्थं सिता न वर्णतः किं तर्हि शुद्धिसामान्याद्याबहुक्षीराख्यपत्या अनष्टप्रजाश्च ॥ १३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवं वृत्तस्थशूद्रवधोक्तद्वादशवार्षिकब्रह्महव्रतषोडशांशचरणाशक्तौ । एतदेव व्रतमितिक-
चित्पाठः । तत्र वृत्तस्थशूद्रवधोक्तद्वादशवार्षिकब्रह्महव्रतषोडशांशचरणाशक्तौ । एतदेव व्रतमिति षण्मासव्रताचरणं वृषभा-
धिकदशगोदानसहितमत्रोपदिष्टम् । उभयोपधिकस्यैकस्य वृषभस्य दानविधानाद्वैशेष्यधिकएको वृषभो देय इति गम्यते । व-
सेदूरतर इत्यादिना च ग्रामान्तादिवासो वैकल्पिको ब्रह्महव्रतोक्तोऽत्र व्युद्ध्यते । जमीतित्वनुवादमात्रं शवशिरधारणाद्यङ्गान्त-
रनिवृत्त्यर्थम् । अत्र च द्विजोत्तम इत्यभिधानाद्ब्राह्मणस्यैव तद्रतमन्येषां स्वात्कृष्टवर्णहनेन भविष्ये बहुतराभिधानात्किंचि-
दाधिक्यमुन्नेयम् । सिता इति शूद्रवधप्रायश्चित्तोक्तत्वात्तत्रैवान्वितम् ॥ १३० ॥

(३) कुल्लूकः । एतदप्यकामतद्देवेव व्रतं शूद्रहा षण्मासं चरेत् । वृषभैकादशोयासांगवांताः शुक्लवर्णा ब्राह्मणाय
दद्यात् ॥ १३० ॥

(४) राघवानन्दः । वृत्तस्थशूद्रेऽप्येवमित्याह एतदेवेति ॥ १३० ॥

(५) रामचन्द्रः । वृषभैकादशोयासांगवांता वृषभैकादशगाः ॥ १३० ॥

मार्जारिनकुलौ हत्वा चाषमण्डूकमेव च ॥ श्वगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ १३१ ॥

(१) मेधातिथिः । अतिमहत्वात्प्रायश्चित्तस्य समुदायविधेः प्रायश्चित्तमेतत् । ननु चात्र साहित्यं न विवक्षितमित्यु-
क्तं यतो जातिभ्रंशकरादिषु कथंचित् एवं सर्वे चैकस्य हन्तार उपनयेयुः । अतिरिक्तसद्भावे न तन्निमित्तं स्यात् । अर्थान्तरमे-
वैतद्देशेनैव तच्छक्यते वक्तुं तेनावृत्तेन हन्ता । अधिकवधे त्वन्यद्भविष्यति नैतच्छूयते न्यूनं वधे च न स्यात् । पयःपिबेदि-
त्यादिप्रत्येकविधेन संबध्यते न समुदाये प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः समुदाये वा । अर्थान्तरे तु न चेत्स्थातुं लभ्यन्ते । यत्तावदुच्यते
साहित्यं न विवक्षितमिति तत्र न विवक्ष्यते यत्र प्रत्येकं संबन्धिवाच्यमर्थवद्यथा यस्य पितापितामहः सोमं न पिबेदिति यत्र पु-
नरविवक्ष्यमाणे वाच्यमेवानर्थकं तत्र तत्परिहारार्थं युक्ता विवक्षा यथा वक्ष्यति सहस्रस्य प्रमाणे पूर्णवानसीति अत्राविवक्षा-
यां सहस्रस्येति व्यर्थं स्यात् । एवं हि शास्त्रान्तरविरोधादतिमहत्त्वे युक्तैव विवक्षा । ननु च पदोपादानतायामपि लक्षणागतस्य वि-
शेषणस्याविवक्षैव यथा यस्योभयंहविरित्युभयशब्दार्थं तत्र तुल्यं अत्र हविरुभयमिति च पदद्वये वक्ष्यमाणे वाक्यभेदो हवि-
रत्रोभयवेति यत्रावस्थाभेदस्तत्र वाक्यभेदपरिहारार्थमावश्यं भेदोऽन्यतरस्मिन् व्यवहितो गुणो वा हातव्यो भवति । तथोभय-
शब्दे सर्वमस्ति । यच्छेदिति हविःशब्देन व्यवहितो भवति संख्यानुरूपत्वात् गुणानुवादकत्वात् संभवति । अविवक्षिते
च तस्मिन् परिशिष्टवाक्यमर्थवाद एव इह पुनः समुदायविवक्षायां सहस्रशब्दविवक्षायां वा कृत्स्नमेव वाक्यमनर्थकं तथा सैता-
वद्वाक्यं स्यात् । स्थानतां प्रमाणतां तथा स्यात् शूद्रहत्याव्रतमित्येतावद्वक्तव्यं स्यात्प्रमाणे शूद्रहत्येति एतावता मेवार्हसा संभवति ।
तथान्यदप्येवंजातीयकं विशेषणं न विवक्ष्यत समानन्यायत्वात् । फलदानं तु वृक्षाणामिति ततश्च सर्वमसमंजसं स्यात् । पौरुषे-
यं चेदं वाक्यं नैव वैदिकं वेदे च कस्य पुरुषस्य प्रयोगः किमर्थमनर्थकं प्रयुक्तमिति । इहतु बुद्धिपूर्वं प्रयोगे मात्रायामप्ययु-
क्तमानर्थक्ये तस्मात्साहित्यविवक्षाविशेषणविवक्षायुक्तैव यच्चोक्तं कथंचेदिति सर्वमेवेति च तत्राप्याखेटकमृगयादावदाहिनो-
वोपपाद्यतयैव यदप्युक्तमतिरिक्तसद्भावेन तन्निमित्तमिति तदप्ययुक्तं नत्वाधिक्ये पूर्वेषां नाशोन्यनेषु च तथैव कल्पना
कार्या ॥ १३१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चाषः त्वर्णकाकः शतपत्रः । शूद्रहत्याव्रतं कुर्याच्छूद्रवधंप्राप्यतमकृच्छ्रमितिसंबन्धोक्तम् । एतच्च कामकृते ॥ १३१ ॥

(३) कुल्लूकः । बिडालनकुलचाषभेककुरगोधापेचककाकानामेकैकं हत्वा शूद्रहत्याव्रतं स्त्रीशूद्रवधइत्युपपातकप्रायश्चित्तंगोवधव्रतंचान्द्रायणंचरेत् । नतु शूद्रे ज्ञेयस्तुषोडशेत्यादिप्रायश्चित्तं पापस्यलघुत्वात् चान्द्रायणमप्येतत्कामतोऽभ्यासादिविषये द्रष्टव्यम् ॥ १३१ ॥

(४) राघवानन्दः । मार्जारघृष्टानां कामतः प्रत्येकवधे षण्मासव्रतमाह मार्जरेति । चाषं शतपत्राख्यपक्षिणम् । चान्द्रायणमितिकेचित् । तत्र श्रुतस्यैव नियामकत्वादुपपातकत्वेन चान्द्रायणमिति विशेषतोनुक्तस्थलइतिभावः ॥ १३१ ॥

(५) नन्दनः । शूद्रहत्याव्रतंप्रत्येकंचरेदिति ॥ १३१ ॥

(६) रामचन्द्रः । चाषं त्वर्णकाकम् नीलकण्ठश्वागोधोलूकः शूद्रहत्याव्रतंकामकृतेतमकृच्छ्रंचरेत् ॥ १३१ ॥

पयःपिबेत्रिरात्रं वा योजनंवाऽध्वनोव्रजेत् ॥ उपस्पृशेत्स्रवन्त्यांवा सूक्तंवाब्देवतंजपेत् ॥ १३२ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रत्येकंवधेप्रायश्चित्तान्तरमुच्यते पयःक्षीरंप्रसिद्धतरत्वात्प्रयोगस्य नापः सत्यामप्युभयार्थतायां यथा पयसा जुहोति । यथैववराहशब्दोमेधे पर्वते सूकरे वर्तते प्रसिद्धतरसूकरेनपर्वतादिप्रवृत्तौसमानाधिकरण्यमपेक्ष्यतेवराहोहिमवान्वराहः पारियात्रइति । प्राकृतेच भोजनेभक्तादौ शरीरस्थित्यर्थप्राप्ते तत्स्थानेपयोविधीयमानमन्यदन्ननिवर्तयति । तपोरूपत्वाच्चैतदेव प्रतिपत्तुंयुक्तंतापयतिदुःखयतीति तपोऽतोयथा प्राणायामघृतप्राशनमितिनात्रपौरस्यभोजनंनिवर्त्यते । एवमिहनाचमनंनिवर्तयति योघृतप्राशनंभोजनान्तरनिमित्तंबाधतइतिनापःपयःपानेनविकल्पिताः । किंतिहिं उपस्पृशेत् स्रवन्त्यामिति पयःपानात्तद्रमणे अध्वगमनशब्दोक्तः । स्रवन्त्यांस्रवन्तिवचनात्तडागसरसोर्निवृत्तिः । अब्देवतंआपोहिष्ठेत्यादि ऋक्समुदायोक्तंपवमानसूक्तंस्मृत्यन्तरेषुकशरभोजनमेकार्थलोहदण्डंचदक्षिणेति । व्रजेन्नदेशान्तरप्रामिरित्येव किंतिहिंपदाभ्यांगमनम् ॥ १३२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अकामतस्त्वाह पयःपिबेदिति । पयः क्षीरमल्पम् । योजनंवाध्वनोव्रजेदिति भेषजार्थं तर्हिंसायाम् । क्षत्रियादीनां उपस्पृशेदितिद्वयम् । ब्राह्मणस्य उपस्पृशः स्नानम् । अब्देवतं आपोहिष्ठेतिवृचम् ॥ १३२ ॥

(३) कुल्लूकः । अबुद्धिपूर्वकंमार्जारादीनांवधे त्रिरात्रंक्षीरंपिबेत् । अथमन्दानलत्वादिना न समर्थः त्रिरात्रंप्रतियोजनमध्वनोव्रजेत् अत्राशक्तस्त्रिरात्रंनद्यांस्नायात् तत्राप्यक्षमस्त्रिरात्रमापोहिष्ठेत्यादिसूक्तंजपेत् यथोत्तरंलघुत्वात्पूर्वपूर्वासंभवउत्तरोत्तरपरिग्रहोनुवैकल्पिकः ॥ १३२ ॥

(४) राघवानन्दः । एषामकामतोवधे प्रायश्चित्तचतुष्टयमाह पयइति । तत्राप्यशक्तितोव्यवस्था न तु वैकल्पिकं उत्तरोत्तरस्य लघुत्वात् । पयोत्र दुग्धं हत्वाग्रहंपिबेत्क्षीरमितियाज्ञवल्क्योक्तेः । त्रिरात्रं व्रतचतुष्टयेप्यनुगतम् । स्रवन्त्यां पुण्यनद्याम् । अब्देवतं आपोहिष्ठेति ॥ १३२ ॥

(५) नन्दनः । असकृत्कृतविषयमेतत्सकृत्कृतविषयेप्याह पयः पिबेत्त्रिरात्रंवेति । अब्देवतं हिरण्यवर्णइत्यदिकम् ॥ १३२ ॥

(६) रामचन्द्रः । पयः दुग्धं त्रिरात्रंवा पिबेत् । अध्वनो योजनंत्रिरात्रं व्रजेत् । उपस्पृशेदिति भेषजार्थंन कूलायां क्षत्रियवैश्ययोः स्रवन्त्यां उपस्पृशेत् स्नायात् ॥ १३२ ॥

अभिकाष्णायसीदद्यात्सर्पहत्वा द्विजोत्तमः ॥ पलालभारकंषण्डे सैसकंचैकमाषकम् ॥ १३३ ॥

(१) मेधातिथिः । द्विजोत्तमग्रहणमतत्रं तीक्ष्णामायसीमभ्रंकाष्णायसीग्रहणंकाशदिनिवृत्त्यर्थंषण्डे नपुंसके तच्च-
तुर्विधं अरेतोवा सरंतोवाऽप्रवृतेइन्द्रियमुभयव्यञ्जनंवा सप्राणिमात्रसंबन्धेनैतत्प्रायश्चित्तंब्राह्मणस्य शूद्रस्य भेषस्य छाग-
स्यच ॥ १३३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अभ्रं खनित्रं काष्णायसीं सर्वलोहाम् । द्विजोत्तमइति विप्रोपीत्यर्थः । पलालभारकं भा-
ग्यतृणभारं पञ्चरुष्णलसीससहितम् । षण्डे नपुंसके मानुषएव ॥ १३३ ॥

(३) कुङ्कुमः । सर्पहत्वा ब्राह्मणाय तीक्ष्णायलोहदण्डं दद्यात् । नपुंसकं हत्वा पलालभारंसीसकंच माषकंब्राह्मणाय
दद्यात् ॥ १३३ ॥

(४) राघवानन्दः । वैधेतरहिंसायाः पापजनकत्वं ज्ञापयन् प्रायश्चित्तमाह अभ्रमिति द्वादशभिः ॥ अभ्रःस्त्री
काष्ठ कुद्दालः ॥ अभ्रस्तीक्ष्णकोणयुक्तातीक्ष्णामलोहदंडंच षण्डेहतेतच्चतुर्विधं रुत्रिमारुत्रिर्भोभयव्यञ्जनसंश्लेषेन्द्रियंचेति
मनुष्यादिसाधारणकर्मानधिकृतवाविशेषात् । माषकं माषपरिमितसीसकं पलालभारसहितम् । [विशुद्धिमतापितृजत्वे-
पिजातंतुवादरायणइत्यत्रस्त्रीपुंसोर्ग्रहणंनतुषंडस्यपुण्यपापयोर्वचनस्यैवप्रमाणत्वादिति]^१ ॥ १३३ ॥

(५) नन्दनः । अभ्रःकुद्दालकः पलालभारं दद्यादित्येव माषकंमाषपरिमाणम् ॥ १३३ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्पहत्वा काष्णायसीमभ्रं लोहदण्डं दद्यात् । षण्डे नपुंसके हस्ते धाम्यस्य पलालभारं दद्यात्
षान्यस्यपलालभारंपवारमिति । सैसकंमाषकं सीसस्य माषमात्रम् ॥ १३३ ॥

घृतकुम्भं वराहे तु तिलद्रोणं तु तित्तिरौ ॥ शुके द्विहायनं वत्सं क्रींचं हत्वा त्रिहायनम् ॥ १३४ ॥

(१) मेधातिथिः । वराहःसूकरस्तस्मिन्हते घृतघटं दद्यात् । चतुराढकद्रोणोहायनःहायनोवर्षवत्सोगोजातीयो-
वालः ॥ १३४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कुम्भः पलशतद्वयम् । द्रोणमष्टाविंशतिपलाधिकपलशतम् । द्विहायनं द्विवर्षं वत्सं गोः
॥ १३४ ॥

(३) कुङ्कुमः । सूकरे हते घृतपूर्णं घटंब्राह्मणाय दद्यात्तित्तिरिसंज्ञिनि पक्षिणि हते चतुराढकपरिमाणंतिलं
दद्यात् शुके हते द्विवर्षवत्सं क्रींचाख्यं पक्षिणंहत्वा त्रिवर्षवत्संब्राह्मणाय दद्यात् ॥ १३४ ॥

(४) राघवानन्दः । घृतकुम्भं मध्यमघटपूर्णघटम् । तिलद्रोणं द्रोणपरिमितंतिलं तित्तिरौ पक्षिणि हते । द्विहायनं
वत्सं घटद्वयसं गोवत्सं दद्यादित्यध्याहार्यम् । एवं त्रिहायनम् ॥ १३४ ॥

(५) नन्दनः । अत्रापि दद्यादित्यनुवर्तते द्विहायनमिति देववत्सरविशेषणम् ॥ १३४ ॥

(६) रामचन्द्रः । वराहेतु हते घृतकुम्भं कुम्भः पलशतरूपः । क्रींचं हत्वा त्रिहायनं वत्सं ॥ १३४ ॥

हत्वा हंसं बलाकांच बकं बर्हिणमेव च ॥ बानरं श्येनभासौ च स्पर्शयेद्ब्राह्मणाय गाम् ॥ १३५ ॥

(१) मेधातिथिः । हंसादयः पक्षिणो बानरोमर्कटः । स्पर्शयेद्दद्यात्प्रत्येकवधेचैतत्प्रायश्चित्तं इन्द्रानिर्देशादित्यु-
क्तम् ॥ १३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बलाका विशकण्ठी । बर्हिणं मयूरम् । मातं शतषत्राख्यपक्षिणम् । स्पर्शयेत् दद्यात् ॥ १३५ ॥

(३) कुल्लूकः । हंसबलाकामयूरवानरश्येनभासाख्यपक्षिणामन्यतमंहत्वा ब्राह्मणाय गां दद्यात् ॥ १३५ ॥

(४) राघवानन्दः । बर्हिणं मयूरं । स्पर्शयेद्दद्याद्वाधेनुम् ॥ १३५ ॥

(५) नन्दनः । स्पर्शयेत्प्रत्येकम् ॥ १३५ ॥

(६) रामचन्द्रः । हंसादीन्हत्वा ब्राह्मणाय गाः स्पर्शयेद्दद्यात् ॥ १३५ ॥

वासोदद्याद्द्वयंहत्वा पंचनीलान्वृषान्गजम् ॥ अजमेषावनङ्गाहंस्वरंहत्वैकहायनम् ॥ १३६ ॥

(१) मेधातिथिः । हयोश्वोगजोहस्ति अनङ्गान्पुंगवोऽजमेषवधे स्वरवधे । अनङ्गुत्साहचर्यादिकहायनोगो-
वत्सः ॥ १३६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वासः प्रकृष्टं हयं केनान्यपरिगृहीतम् । एवं गजमपि । अजमेषौ हत्वा अनङ्गाहमनोवहन-
भाक्तं वृषं दद्यात् । एकहायनं वत्सम् ॥ १३६ ॥

(३) कुल्लूकः । अश्वंहत्वा वस्त्रंदद्याद्धस्तिनंहत्वा पंचनीलान्वृषभान्दद्यात्प्रत्येकंछागमेषौ हत्वा वृषभंदद्याद्द्वैभं-
हत्वैकवर्षवत्संदद्यात् ॥ १३६ ॥

(४) राघवानन्दः । नीलान् नीलवर्णान्पञ्चगोवृषान्गजंहत्वादद्यादित्यन्वयः । अनङ्गाहं वृषं दद्यादित्यनुषङ्गः । एक-
हायनं वत्सम् ॥ १३६ ॥

(५) नन्दनः । एकहायनमनङ्गाहमित्यनुवर्तते ॥ १३६ ॥

(६) रामचन्द्रः । अजमेषौ हत्वा अनङ्गाहं । स्वरंहत्वा एकहायनं वत्सं दद्यात् ॥ १३६ ॥

ऋव्यादांस्तु मृगान्हत्वा धेनुंदद्यात्पयस्विनीम् ॥ अऋव्यादान्वत्सतरीमुष्ट्रंहत्वा तु कृष्णलम् ॥ १३७ ॥

(१) मेधातिथिः । ऋव्यादास्तरक्षुसिंहमृगादयः । अऋव्यादाः रुरुषदादयः । धेनुर्गेरिव । कृष्णलंविशिष्टपरिमाणं-
सुवर्णं दण्डाधिकारशारूपपरिभाषा । अन्यत्रलौकिकमेव शतकृष्णलंघृतमायुष्कामइति ॥ १३७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ऋव्यादान् मांसादान् मृगान् हिंस्रव्याघ्रादीन् । धेनुं सवत्सां पयस्विनीं बहुक्षीराम् । अ-
ऋव्यादान् मृगादीन् हरिणादीन् । वत्सतरीं द्विहायनीं गाम् । उष्ट्रमपरिगृहीतम् । कृष्णलं सुवर्णकृष्णलम् ॥ १३७ ॥

(३) कुल्लूकः । आममांसभक्षिणीमृगान्ध्याघ्रादीन्हत्वा बहुक्षीरांधेनुंदद्यात् आममांसभक्षकान्हरिणादीन्हत्वा प्रौढ-
वत्सिकांदद्यात् उष्ट्रंहत्वा सुवर्णकृष्णलंरत्निकांदद्यात् ॥ १३७ ॥

(४) राघवानन्दः । ऋव्यादान् व्याघ्रादीन् । पयस्विनीं प्रभूतदुग्धाम् । वत्सतरीं प्रौढवत्सिकाम् । कृष्णलं सुवर्ण-
स्य ॥ १३७ ॥

(५) नन्दनः । ऋव्यादान्मृगान्ध्याघ्रादीन् कृष्णलंकृष्णलपरिमाणंसुवर्णम् ॥ १३७ ॥

(६) रामचन्द्रः । ऋव्यादान् ध्याघ्रादीन् । मृगान् अऋव्यादान् कुरंगादीन् । वत्सतरीं धेनुं उष्ट्रं हत्वा कृष्णलं
सुवर्णस्य कृष्णलं सुवर्णस्य कृष्णलमात्रम् ॥ १३७ ॥

जिनकार्मुकवस्तावीन्पृथग्दद्याद्विशुद्धये ॥ चतुर्णामपि वर्णानां नारीर्हत्वाऽनवस्थिताः ॥ १३८ ॥

[वर्णानामानुपूर्व्येण त्रयाणामविशेषतः । अमत्याच प्रमाप्य स्त्रीशूद्रहत्याव्रतंचरेत् ॥ १॥] †

(१) मेधातिथिः । अनवस्थिताबहुभिःसंगच्छमाना वेश्यावृत्तमाचरन्त्योऽनवस्थिताभवन्ति । नपुनःशास्त्रातिक्रममात्रं तथासति न परपुरुषसंप्रयोगएव लभ्यते । वर्णक्रमेण जीनादिदानात् जीनंचर्मपुटमुटकाधारादिप्रयोजनं कार्मुकंधनुः बस्तःछागोऽविर्मेघः । पृथग्ग्रहणं लिङ्गादुक्तंसमुदाये प्रायश्चित्तमिति । केचिद्वेति पठन्ति तदयुक्तं हिंसाप्रकरणात् ॥ १३८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । जीनंचर्मपुटम् । कार्मुकं धनुः । बस्तश्छागः । अविर्मेघः । पृथक् क्रमादेकैकमारणे । अनवस्थिताः अनियताः अनियतवर्गगानारीः ॥ १३८ ॥

(३) कुड्डूकः । ब्राह्मणादिवर्णस्त्रियोलोभादुत्कृष्टापकृष्टपुरुषव्यभिचारिणीर्हत्वा ब्राह्मणादिक्रमेण चर्मपुटधनुश्छागमेघान् शुद्ध्यर्थं दद्यात् ॥ १३८ ॥

(४) राघवानन्दः । जीनं चर्मपुटम् । कार्मुकं धनुः । बस्तश्छागः । अविर्मेघः । अनवस्थिताः अनेकपुंड्रकाः । अकामतइति शेषः । तथाच याज्ञवल्क्यः ॥ दुर्वृत्ता ब्राह्मविदूक्षत्रशूद्रयोषाः प्रमाप्यतु । इति धनुर्बस्तमर्विक्रमादद्याद्विशुद्धये ॥ अत्र दुष्टास्त्रियं हत्वा शूद्रहत्याव्रतंचरेदिति ॥ १३८ ॥

(५) नन्दनः । अनवस्थिता अतिचारिणीः ॥ १३८ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनवस्थितां व्यभिचारिणीं हत्वा जीनंधृतजलाधारं चर्मकोशं ब्राह्मणीवधे दद्यात् । क्षत्रियायाः वधे कार्मुकं दद्यात् । वैश्यायाः वधे बस्तं छागं दद्यात् । शूद्रायाः वधे अविर्मेघात् अन्त आचामेत् ॥ १३८ ॥

दानेन वधनिर्णोकं सर्पादीनामशक्नुवन् ॥ एकैकशश्चरेत्कच्छं द्विजः पापापनुत्तये ॥ १३९ ॥

(१) मेधातिथिः । निर्णोकः शुद्धिः हिंसायां दानमुर्यामिति दर्शयति न च तस्यैकैकश इति लिङ्गात् केचित्समुदायेपीति । द्विज इत्यादिपादपूरणं अविशेषग्रहणे कच्छशब्दं प्राजापत्य इति स्मरन्ति ॥ १३९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दानेनेति सर्पादीनां न मार्जारादीनाम् । एकैकशः प्रत्येकम् । कच्छं प्राजापत्यं तस्यैव कच्छेषु प्रथमपाठात् । तथाच कार्णायसदानाभिसक्तावेकप्राजापत्यचरणमन्येषु मूल्योत्कर्षापकर्षापेक्षया प्राजापत्याधत्तद्वैगुण्यादि योज्यम् ॥ १३९ ॥

(३) कुड्डूकः । अभिप्रशृतीनामभावाद्दानेन सर्वपापनिर्हरणं कर्तुमसमर्थो ब्राह्मणादिः प्रत्येकंवधे कच्छं प्राथम्यात् प्राजापत्यं द्विजः पापनिर्हरणार्थंचरेत् । सर्पादयश्चाभ्रकार्णायसीदद्यादित्येवमारभ्यैतत्पर्यन्ता गृह्यन्ते ॥ १३९ ॥

(४) राघवानन्दः । सर्पादिस्त्रीपर्यन्तानामुक्तप्रायश्चित्ताशक्तौ प्रतिस्वं कच्छमेकं चरेदित्याह दानेनेति । द्विजो नरमात्रं छत्रिन्यायेन अतएवोपसंहारे वक्ष्यति ॥ एषा पापकृतामुक्ता चतुर्णामपि निष्कृतिरिति । कामतस्तु चान्द्रायणं एतच्च कामकृत इति वक्ष्यति ॥ १३९ ॥

(५) नन्दनः । वधनिर्णोकंवधपापशुद्धिम् ॥ १३९ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्पादिवधनिर्णोकं प्रायश्चित्तं दानेन कर्तुमशक्नुवन्तदा एकैकशः कच्छं द्विजः चरेत् ॥ १३९ ॥

अस्थिमतां तु सत्त्वानां सहस्रस्य प्रमाणे ॥ पूर्णे चानस्यनस्थानु शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ १४० ॥

(१) मेधातिथिः । त्वल्पशरीरत्वमिहास्थिमत्त्वमनस्थिसाहचर्यात् । अनःशकटस्तत्संख्यानमेतत् । उक्तार्थसत्येव ॥ १४० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अस्थन्वतां अस्थिमतां अनस्थिसाहचर्यात्क्षुद्रजन्तूनां ज्येष्ठकलासादीनां सहस्रस्य । अनस्थां पिपीलिकादीनां पूर्णेऽनसि शकटवासे भारे हते शूद्रहत्याव्रतं तप्तकलम् ॥ १४० ॥

(३) कुल्लूकः । अनस्थिसाहचर्यादस्थिमतां प्राणिनां कलासादीनां सहस्रस्य वधे शूद्रवधप्रायश्चित्तमौपदेशिकं-
कुर्यात् अस्थिरहितानां च मत्कुणादीनां शकटपरिमितानां वधे तदेव प्रायश्चित्तं कुर्यात् ॥ १४० ॥

(५) नन्दनः । अनस्थानां सत्त्वानां पूर्णेऽनस्यनस्थभिः सत्त्वैः प्रमापितैः पूर्णे शकटे पूर्णे पर्याप्तभार इति यावत् ॥ १४० ॥

(६) रामचन्द्रः । अस्थिमतां सत्त्वानां कलासादि पूर्णे चानसि शकटे प्रमाणे अनस्थां तु पुनः अनसि पूर्णे शूद्रहत्या व्रतं कलं चरेत् ॥ १४० ॥

किञ्चिदेव तु विप्राय दद्यादस्थिमतां वधे ॥ अनस्थां चैव हिंसायां प्राणायामेन शुष्यति ॥ १४१ ॥

(१) मेधातिथिः । किञ्चिदिति त्वल्पधनमुच्यते । परिमाणतः प्रयोजनो मूल्यतश्च पूर्वेषामेव प्रत्येकवध एतत् । अनु-
क्तनिष्कृतयश्चास्थिमन्तो ज्ञेयाः आत्मनिरीधः प्राणायामः मलिनीयेषु यत्कृमीकीटवयो ग्रहणं तदुपचितग्रहपरिमाणार्थं इदं तु ये
क्षुद्रमशकादयः ॥ १४१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अस्थिमतां सहस्रानवधे किञ्चिदद्यादिति पणो देय इति सुमन्तुवचनात्पणो देयः । अनस्था-
मिति शकटभारादूनवध एतत् ॥ १४१ ॥

(३) कुल्लूकः । अस्थिमतां क्षुद्रजन्तूनां कलासादीनां प्रत्येकं वधे किञ्चिदेव दद्यात् । अस्थिमतां वधे पणो देय इति सुम-
न्तुस्मरणात् किञ्चिदेवेति । पणो बोद्धव्यः अनस्थिमतां तु यूकामत्कुणादीनां प्रत्येकं वधे प्राणायामेन शुद्धो भवति । प्राणायामश्च ॥
सव्याहृतिकां सप्रणवां सावित्रीं शिरसा सह ॥ त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते इति वसिष्ठोक्तलक्षणो ग्राहः ॥ १४१ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च उक्तसर्पाद्यतिरिक्तानामल्पदेहानामस्थिमतां वधे किञ्चिदेव । अनस्थिमतां शकटान्यू-
ने प्राणायामः । तत्र प्राणायामलक्षणं वसिष्ठः प्राह ॥ सव्याहर्ति सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ॥ त्रिः पठेदायतप्राणः
प्राणायामः स उच्यते इति ॥ गायत्र्यनधिकारिणां मनसा । संन्यासिनां प्रणवेनैवेत्युक्तम् ॥ १४१ ॥

(५) नन्दनः । किञ्चिच्छब्देन मुख्यकमुच्यते इति व्याचक्षते ॥ अष्टमुष्टिर्भवेत् किञ्चिर्किञ्चिच्चत्वारिपुष्कलं ॥ पुष्क-
लानि च चत्वारि पूर्णपात्रं विधीयते इति ॥ १४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अस्थिमतां वधे किञ्चित् अष्टमुष्टि किञ्चिच्छेत् किञ्चिद्विप्राय दद्यात् ॥ १४१ ॥

फलदानां तु दक्षाणां छेदने जप्यमृक्शतम् ॥ गुल्मवर्जलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम् ॥ १४२ ॥

(१) मेधातिथिः । फलदा आश्रकण्टक्यादयः ऋक्शतं जपो द्विजानां शूद्रस्य तर्हि किञ्चिदाहुर्निधनार्थं मशुष्काणा-
मि त्युपपातकप्रायश्चित्तं न नातिमहत्त्वाद्यदि न तद्भवति किमर्थं तर्ह्युपपातकेषूपदेशो भूयो भूयः प्रवृत्तस्यादिति । तस्माच्छूद्र-
स्य द्वि रात्रि रात्रादीत्येव कल्पयेत् । गुल्मादयो व्याख्याताः लतावृक्षशाखाः ॥ १४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ऋक्शतं गायत्र्या ऋचः शतावृत्त्या जप इत्यर्थः । गुल्मा बीजपूराद्याः । वलयः कूष्माण्डा-

आः । लतावृक्षारोहिण्योवल्यः । वीरुत् दूरप्रसारिणी लता । पुष्पितानांचेति सर्वत्रान्वितम् । तथा फलदानामित्यपि ॥ १४२ ॥

(३) कुङ्कुमः । फलदानामाश्रादीनांवृक्षाणांगुल्मानांकुब्जकादीनांवल्लीनांगुडूच्यादीनांलतानांवृक्षशाखासक्तानांपुष्पितानांच वीरुधांकूष्माण्डादीनांप्रत्येकंछेदने पापप्रमोचनार्थंसावित्र्यादिकृत्क्षतंजपनीयं ॥ इन्धनार्थमशुष्काणांद्रुमाणामवपातनम् इत्यादेरुपपातकमध्ये पठितस्य गुरुप्रायश्चित्ताभिधानात् । इदंफलवृक्षादिछेदने लघुप्रायश्चित्तंसकृदबुद्धिपूर्वकविषयंवेदितव्यम् ॥ १४२ ॥

(४) राघवानन्दः । वृक्षादिवीरुदंतानां छेदेष्याह । ऋक्षतं ऋगत्र गायत्री । वीरुधां कूष्माण्डादीनाम् ॥ १४२ ॥

(५) नन्दनः । भक्ष्यफलदायिनांपुष्पितानांभोज्यपुष्पाणाम् ॥ १४२ ॥

(६) रामचन्द्रः । फलादिविरुद्धे हतानां ऋक्षतं गायत्रीसंजाप्यम् ॥ १४२ ॥

अन्नाद्यजानांसत्त्वानांरसजानांच सर्वशः ॥ फलपुष्पोद्भवानांच घृतप्राशोविशोधनम् ॥ १४३ ॥

(१) मेधातिथिः । अन्नाद्भक्तसक्त्वादेश्विरस्थिताद्यानिजायन्ते सत्त्वानि प्राणिनः । रसजानामितिगुंडोदश्रिदादिभ्य उदुंबरमशकादीनि फलपुष्पोद्भवानि । घृतप्राशः अशनप्रारंभेघृतपातव्यंप्रशब्दआदिकर्मणि तेननप्राकृतंभोजनंनिवर्तते । यथापयोव्रतादौतथाचैतेप्राणिनः क्षुद्रजन्तवोयेषांवधेप्राणायामउक्तस्तदपेक्षयोपवासोऽतिमहान् तस्मादाचमनवत् घृतप्राशनम् ॥ १४३ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अन्नाद्यभोदनादि । सत्त्वानांरुमीणाम् । रसोगुडादिस्तज्जानाम् । घृतप्राशोघृतमात्रेणैकैकदिनवर्तनं शकटमित्यन्तंवधे । अन्यथातु प्राणायामएव ॥ १४३ ॥

(३) कुङ्कुमः । अन्नादिषु जातानांगुडादिरसजातानांचोदुम्बरादिफलसंभवानांमधूकादिपुष्पोद्भवानांच सर्वप्राणिनांवधे घृतप्राशनंपापशोधनम् ॥ १४३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच अन्नेति । अन्नाद्यजानां धान्यादिषुजातानां सत्त्वानां प्राणिनाम् । घृतप्राशः दिनमेकं किंचिद् घृतमात्रप्राशनम् ॥ १४३ ॥

(५) नन्दनः । अन्नाद्यजानांवधइति शेषः ॥ १४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्नाद्यजानां सत्त्वानां ज्ञानानाम् ॥ १४३ ॥

कष्टजानामोषधीनांजातानांच स्वयंवने ॥ दृथालम्बेऽनुगच्छेद्वांदिनमेकंपयोव्रतः ॥ १४४ ॥

(१) मेधातिथिः । फालकुङ्कुमादिनायाःकृष्टेजायन्ते । याश्चस्वयंवने तासांवृथारंभेगवादिप्रयोजनेन विनाछेदनं गवामनुगमनं । दिनमेकंपरमहर्षायपरिचर्यते । पयोव्रतंभोजनान्तरनिवृत्तिः ॥ १४४ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । कष्टजानां कृष्या जनितानाम् । वृथा अग्निगवादिप्रयोजनंविना । आलम्बे हिंसायाम् । अनुगच्छेत् गोहत्याव्रतवत् । पयोव्रतः क्षीरमात्राहारः । ज्ञानात्कृतमुक्तक्रमेण । अज्ञानकृतंतदर्धेन ॥ १४४ ॥

(३) कुङ्कुमः । कर्षणपूर्वकजातानामौषधीनांपष्टिकादीनांवने च स्वयमुत्पन्नानांनीवारादीनांनिःप्रयोजनच्छेदने क्षीराहारः एष्वेकमहोगोरनुगमनंकुर्यात् ॥ १४४ ॥

(४) राघवानन्दः । कष्टजातानां कृषिजातानाम् । वने स्वयंजातानां नीवारादीनाम् । एतेषामुपपातकमकरणपठित

त्वेऽपि लघुप्रायश्चित्तं सकृदबुद्धिपूर्वविषयकमितिकेचित् । तन्नवाचनिकत्वात् । अतएव याज्ञवल्क्यः ॥ वृक्षगुल्मलतावी-
रुच्छेदेने जप्यमृक्षतमिति उपपातकप्रकरणपठनंतु निवृत्तितात्पर्यकमिति । अतएव वक्ष्यति ज्ञानाज्ञानकृतमिति ॥१४४॥

(५) नन्दनः । वृथालम्भोवृथाच्छेदकः पयोव्रतः क्षीरान्नः ॥ १४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । कृष्टजानां हृलेनोत्पादितानां ओषधीनां वृथालम्भे वृथाच्छेदे गां अनुगच्छेत् ॥ १४४ ॥

एतैर्व्रतैरपोह्यंस्यादेनोहिंसासमुद्भवम् ॥ ज्ञानाज्ञानकृतंकृत्स्नंशृणुतानाद्यभक्षणे ॥ १४५ ॥

(१) मेधातिथिः । हिंसासमुद्भवं हिंसात उत्पन्नमेनः पापमेतैरनन्तरोक्तैः प्रायश्चित्तैरपोह्यमपनोद्यं बुद्धिपूर्वकृतमबुद्धिपूर्-
वकृतं वा अनाद्यभक्षणेऽभक्ष्यभक्षणे यथा पापमपोह्यते तथा शृणुत ॥ १४५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आत्मनोऽमोक्षं शोध्यम् । अनाद्यस्याभक्ष्यस्य भक्षणे प्रायश्चित्तमितिशेषः ॥ १४५ ॥

(३) कुङ्कुकः । एभिस्तु प्रायश्चित्तौ हिंसाजनितपापं ज्ञानाज्ञानकृतं निर्हरणीयं । इदानीमभक्ष्यभक्षणप्रायश्चित्तं वक्ष्य-
माणं शृणुत ॥ १४५ ॥

(४) राघवानन्दः । हिंसाप्रायश्चित्तमुपसंहरन् अभक्ष्यभक्षणे तत्प्रतिजानीते एतैरिति षोडशभिः । ज्ञानाज्ञानकृतमे-
वापोह्यं नाशयम् । अनाद्यभक्षणे प्रायश्चित्तं शृण्वन्त्वित्यन्वयः ॥ १४५ ॥

(५) नन्दनः । एतैरुक्तैः अनाद्यमभक्ष्यम् ॥ १४५ ॥

अज्ञानाद्वारुणीपीत्वा संस्कारेणैव शुध्यति ॥ मतिपूर्वमनिर्देश्यं प्रणान्तिकमिति स्थितिः ॥ १४६ ॥

(१) मेधातिथिः । मेखलादीनां निषेधादुपनयनं विज्ञायते । ततश्च स्मृत्यन्तरात्तप्तमरुच्छसहितं एवं हि गौतमः अमत्या
मद्यपाने पयोघृतमुदकं वा युश्चेति च्यवहंतमातितमरुच्छत्रतोऽस्य संस्कारः । सुराचात्र नपैष्टीर्कितं हि गौडीमाध्वी कुत एतत्स्मृत्यन्त-
रदर्शनात् ॥ प्रमादान्मद्यमसुरांसकृत्पीत्वा द्विजोत्तमः । गोमूत्रयावकाहारोदशरात्रेण शुध्यति ॥ पैश्याश्च प्रमादपाने प्रत्यवायः
प्रायश्चित्तात् । व्रतविधितो विज्ञाय संवत्सरं कणभक्षश्चान्द्रायणाभ्यासो वा । मतिपूर्वतयोरपि पान एतदनिर्वक्ष्यं किं तर्हि येन प्राणा-
नामन्तो भवति किं तत्तत्र मुख्या या सुरोक्ता । अभ्यासे चैतद्दृष्टव्यं सकृत्पाने सुरापाने चान्द्रायणमाचरेदिति श्रेयमत्र व्यव-
स्थाबुद्धिपूर्वपैश्याः पाने प्राणान्तमेव तस्या एवाबुद्धिपूर्वसकृत्पाने कणभक्षणचान्द्रायणाभ्यासोऽबुद्धिपूर्वबुद्धिपूर्वच । अन्येषां तु
मद्यपानां बुद्धिपूर्वत्वे चान्द्रायणमभ्यसेदिति । अबुद्धिपूर्वसकृत्पाने तप्तमरुच्छसंस्कारगोमूत्रयावकद्रव्या । अबुद्धिपूर्वमसकृत्पा-
ने पैष्टीवत् ॥ १४६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वारुणीं गौडीं माध्वीं च क्षत्रियविशौ त्रिविधसुरेतरद्राक्षादिमद्यं च ब्राह्मणः पीत्वित्यर्थः ।
संस्कारेणैव पुनः संस्कारेणैव न तु तं विना तच्च गौतमोक्तमरुच्छप्रायश्चित्ताचरणं कृत्वा कार्यम् । मतिपूर्वमपि तत्पाने
प्राणान्तिकं प्रायश्चित्तमनिर्देश्यं नादेष्टव्यं किंतु स्मृत्यन्तरोक्तप्रायश्चित्तान्तरमेव संस्कारसहितं कार्यम् ॥ १४६ ॥

(३) कुङ्कुकः । महापातकप्रकरणव्यवधानेनास्याम्लानान्देदं मुख्यपैष्टीसुराविषयं वचनं किंतु तदितरविषयं । तत्र
यथाचैका तथा सर्वा गौडीमाध्वीमुख्यसुरासाम्यबोधनमितरमद्यापेक्षया ब्राह्मणस्य प्रायश्चित्तगौरवार्थमित्युक्तं तेनाबुद्धि-
पूर्वकं गौडीमाध्वीं च पीत्वा गौतमोक्तं तप्तमरुच्छं कृत्वा पुनः संस्कारेणैव शुध्यति । तथा च गौतमः अमत्यामद्यपाने पयो-

घृतमुदकंवायुं प्रत्यहं तमरुच्छ्रः ततोऽस्य संस्कारः इत्थमेव व्याख्यातं भविष्यपुराणे ॥ अकामतः कृते पाने गौडीमाध्योर्न-
राधिप ॥ तमरुच्छ्रविधानं स्याद्भोतमेन यथोदितम् ॥ बुद्धिपूर्वकन्तु पैष्टीतरमद्यपाने प्राणान्तिकमनिर्देश्यमिति शास्त्रमर्यादा ।
तथा गौडीमाध्योर्ज्ञानात्पाने मरणनिषेधादितरमद्यापेक्षया गुरुत्वाच्च मानवमेव कणान्वाभक्षयेदब्दमिति प्रायश्चित्तमुक्तं ।
अतएव गौडीमाध्योः कामतः पानानुवृत्तौ भविष्यपुराणे ॥ यद्वाऽस्मिन्नेव विषये मानवीयं प्रकल्पयेत् ॥ कणान्वा भक्षयेद-
ब्दपिण्याकंवा सरुन्निशि ॥ सुरापापापनुत्त्यर्थं बालवासाज्जदीध्वज्जीति पैष्टीगौडीमाध्वीव्यतिरिक्तपुलस्त्योक्तपानसादिनव-
विधमद्यस्य प्रत्येकपाने लघुत्वात्संस्कारमात्रमेव केवलमन्यद्वा लघुत्वात्प्रायश्चित्तं ब्राह्मणस्य युक्तम् बुद्धिपूर्वपानसादिम-
द्यपाने तु ॥ मतिपूर्वसुरापाने कृते वै ज्ञानतो गृह ॥ रुच्छ्रातिरुच्छ्रौ भवतः पुनः संस्कारएव हीति भविष्यपुराणीयमन्यद्वि-
विधं मुन्यन्तरोक्तम् ॥ १४६ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रादौ सुरापानादिविषयकमाह षड्भिः । वारुणीं पैष्यतिरिक्तां महापातकप्रकरणोल्लङ्घनात् ।
तदुक्तं गौतमेन गौडीमाध्योरमत्या पाने पयआदिच्यहं तमरुच्छ्रं कृत्वा पुनः संस्कारइति ॥ भविष्येत् ॥ अकामतः कृते
पाने गौडीमाध्योर्नराधिप ॥ तमरुच्छ्रविधानं स्याद्भोतमेन यथोदितमिति ॥ अत्र हेतुर्मतिपूर्वमिति । पैष्यतिरिक्तभक्षणे प्रा-
णान्तिकमनिर्देश्यं न प्रायश्चित्तत्वेन कथितमिति ॥ मत्यापाने त्वसुरयोः कृते वै ज्ञानतो गुरु ॥ रुच्छ्रातिरुच्छ्रौ भवतः पुनः
संस्कारमर्हतीति भविष्योक्तेः । असुरयोरनुदराकवदीषत्सुरयोगौडीमाध्योः ॥ १४६ ॥

(५) नन्दनः । संस्कारेणोपनयनेन मतिपूर्ववारुणीपानं अनिर्देश्यप्रायश्चित्तव्रतोपदेशेन वक्तुमशक्यं तेन प्राणान्ति-
कमिति प्राणान्तिकं प्रायश्चित्तं युक्तम् ॥ १४६ ॥

(६) रामचन्द्रः । वारुणीं पैष्टीं कुशवारि कथितोदकं च्यहं पिबेत् । मतिपूर्वं प्राणान्तिकं प्रायश्चित्तं अनिर्देश्यं
नादेष्टव्यं किंतु स्मृत्यन्तरोक्तं संस्कारसहितं प्रायश्चित्तं भवति ॥ १४६ ॥

अपः सुराभाजनस्थामद्यभाण्डस्थितास्तथा ॥ पञ्चरात्रं पिबेत्पीत्वा शङ्खपुष्पीश्रितं पयः ॥ १४७ ॥

(१) मेधातिथिः । यत्र सुरारसोऽनुभूयते तत्र तद्भाजनस्थानामपां पाने प्रायश्चित्तमेतत् । ननु च मद्यशब्दस्य
सामान्यशब्दत्वान्मद्यभाण्डस्थिता इत्येव सिद्धे अपः सुरेत्यादिनवक्तव्यं सत्यं यद्यपि सुरामद्ययोर्मद्यपानेऽत्यन्तप्रायश्चित्तभेदेन-
स्यात् सतितस्मिन्कल्पनायाश्चानुज्ञातत्वात् । सुराभाजनस्थानामधिकतरततोऽतः कल्पनावृत्त्यर्थं समप्रायश्चित्तवचनं पं-
चरात्रं शंखपुष्पीश्रितं पयो घृतयहणात्पयः क्षीरमेव क्षीरहविषं रेव घृतशब्दः । सुघृतशब्दः साधुः शंखपुष्पीनामौषधिस्तथा मू-
ष्टकथितं पंचाहानि पयः पातव्यम् ॥ १४७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उपलभ्यगन्धसुराभाण्डस्थजलपाने क्षत्रियविशोः ब्राह्मणस्य तु तादृक् मद्यभाण्डस्थजलपाने
शङ्खपुष्पीसंज्ञकौषधिसहितं यत्क्षीरं श्रितं तत्पानं पञ्चरात्रम् ॥ १४७ ॥

(३) कुल्लूकः । पैष्टीसुराभाण्डे तदितरमद्यभाण्डेऽवस्थिता अपः सुरारसगन्धवर्जिताः पीत्वा शंखपुष्पाख्यौषधिप्र-
क्षेपेण पक्वं क्षीरं नूतदकं शंखपुष्पीविपक्वेन च्यहं क्षीरेण वर्तयेदिति बोधाग्रनस्मरणात् । पञ्चरात्रं पिबेत् सुरामद्ययोः सर्वत्रैव
गुरुलघुप्रायश्चित्ताभिधानादिहापि ज्ञानाज्ञानादिप्रकारभेदेन विषयसमीकरणं समाधेयम् । वाचनिकमेव प्रायश्चित्तं साध्यमिति
मेधातिथिराह ॥ १४७ ॥

(४) राघवानन्दः । सुराभाजनस्था सुरात्र पैष्टी शङ्खपुष्पीश्रितं चोरिकाशङ्खपुष्पीस्यादित्यौषधिस्तस्या श्रुतं पक्वं क्षी-
रम् ॥ १४७ ॥

(५) नन्दनः । सुरा पैष्यादिर्मद्यमदकरद्रव्यम् ॥ १४७ ॥

(६) रामचन्द्रः । सुराभाजनस्थाः तथा मद्यभाण्डस्थिताः अपः पीत्वा शङ्खपुष्पीश्रितं कथितंपयः पञ्चरात्रं पिबेत् ॥ १४७ ॥

स्पृष्ट्वा दत्त्वा च मदिरां विधिवत्प्रतिगृह्य च ॥ शूद्रोच्छिष्टाश्च पीत्वापः कुशवारिपिबेन्न्यहम् ॥ १४८ ॥

(१) मेधातिथिः । विधिवत्प्रतिगृह्य स्वस्तिवाचनिकेन एवंदत्त्वेत्यपि ब्रीह्यादौ न दोषः । कुशोदर्यः ॥ १४८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मदिरां सुरां दत्त्वा शूद्रायापि पिबेत् कुशवारि । विधिवत्प्रतिगृह्य चेति जन्मान्तरे यत्प्राप्तुमिच्छति तस्य दानार्हत्वात्सुराप्राप्तिकामः सुरामपि विधिवद्ददाति युज्यते । तथा शूद्रपीतोच्छिष्टा अपः पीत्वा विधिवत्सातपनकुशोदकग्रहणमन्त्रेण संस्कृतं कुशमिश्रितं वारि ज्यहं पिबेदित्यर्थः ॥ १४८ ॥

(३) कुल्लूकः । सुरां स्पृष्ट्वा दत्त्वा च स्वस्तिवाचनपूर्वकं च प्रतिगृह्य शूद्रोच्छिष्टाश्चापः पीत्वा प्रतिगृह्येत्युपादानात् ब्राह्मणोदर्यकथितमुदकं ज्यहं पिबेत् ॥ १४८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच स्पृष्ट्वेति । स्पृष्ट्वा देवाद्यर्थं दत्त्वा परस्मै प्रतिगृह्य स्वस्तिपूर्वकम् । कुशवारिकुशोदकम् ॥ १४८ ॥

(५) नन्दनः । विधिवत्प्रतिगृह्य सौत्रामण्यादौ ॥ १४८ ॥

(६) रामचन्द्रः । ज्यहं कुशवारि कथितोदकं पिबेत् ॥ १४८ ॥

ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमाघ्राय सोमपः ॥ प्राणानप्सु त्रिरायम्य घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥ १४९ ॥

(१) मेधातिथिः । सुरापस्य गन्धमिति सुराया एव जाठरेणाग्निना धातुभिश्च संयोगेन गन्धमाघ्राणे लघीयः । भाण्डान्तरस्थितायाः प्रप्तिरघ्रायैव अन्येतुव्याचक्षते सुरापस्य ब्राह्मणस्य आघ्राणेऽप्येतदेव सोमप इति वचनाद्दर्शपूर्णमासयाजिनः कल्पेन । घृतं प्राश्येति अत्रापि न भोजनान्तरनिवृत्तिः सुराग्रहणान्नमद्यस्य ॥ १४९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गन्धं तत्पीतसुरागन्धम् । अप्सु जलान्तः प्राणानायम्याघमर्षणेन । त्रिः त्रिःपाठेन । घृतं घृतमात्रं तद्दिने । असोमपस्य प्राणायाममात्रम् ॥ १४९ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणः पुनः कृतसोमयागः सुरापस्य मुखसंवन्धिनं गन्धमाघ्रात्वा जलमध्ये प्राणायामत्रयं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुद्धो भवति ॥ १४९ ॥

(४) राघवानन्दः । सोमपः सोमोत्रयज्ञावशिष्टः सुरापस्य पुंसः ॥ १४९ ॥

(५) नन्दनः । प्राणानप्सु त्रिरायम्याप्सु निमज्ज्य त्रीन्प्राणायामान्कृत्वा ॥ १४९ ॥

(६) रामचन्द्रः । सोमपो ब्राह्मणः सुरापस्य गन्धमाघ्राय अप्सु त्रिः प्राणान् आयम्य घृतं प्राश्य विशुध्यति । असोमपस्य द्विजस्य प्राणायामात्रम् ॥ १४९ ॥

अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरासं स्पृष्टमेव च ॥ पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥ १५० ॥

(१) मेधातिथिः । विण्मूत्रग्रहणं रेतस उपलक्षणार्थं । स्मृत्यन्तरे पुरीषकुणपरेतसां प्राशने चैवमिति । किंजातीयविण्मूत्रप्राशन एतन्मनुष्याणामेव अन्येषां तु वक्ष्यामः । अत्रापि तमकुल्लूकं समुच्चीयते । दर्शितश्च हेतुः द्विजातय इति विवक्षितं शूद्रस्यान्यद्वक्ष्यामः अज्ञानादित्यनुवादः । कोहिज्ञात्वा विण्मूत्रमश्नीयात् यथामद्यपान एतदेवोक्तं मद्यं भुंक्ता चरेत्कुल्लूमिति यदितु संस्कारो भवति तदा वचनात्तुल्यमेव ॥ १५० ॥

(१) कुशोदकम् = कुशैः सह कथितमुदकम् (न)

(२) सर्वज्ञनारायणः । अज्ञानादपि किंपुनर्ज्ञानतः सुरासंस्पृष्टमनुपलभ्यमानगन्धम्र । पुनःसंस्कारः स्मृत्यन्तरोक्तप्रायश्चित्तान्तः । द्विजातयइत्यस्य ब्राह्मणमात्रपरतानिरासार्थं त्रयोवर्णाइति ॥ १५० ॥

(३) कुल्लूकः । विद्वराहादीनांवक्ष्यमाणत्वादबुद्धिपूर्वकमनुष्यसंबन्धिमूत्रंपुरीषंवा प्राश्य मद्यसुरासंस्पृष्टं च भक्तादिरसंवा प्राश्य द्विजातयस्त्रयोवर्णाः पुनरुपनयनमर्हन्ति ॥ १५० ॥

(४) राघवानन्दः । सुरासंस्पृष्टभक्षणेपि सुराभक्षणं भवत्येव । अत्र तादृशरसाद्यज्ञानं विवक्षितं अन्यथापूर्वापरविरोध इति प्राश्यभुक्तापुनःसंस्कारमर्हतीत्यन्वयः ॥ १५० ॥

(५) नन्दनः । सुरासंस्पृष्टद्रव्यमिति शेषः ॥ १५० ॥

(६) रामचन्द्रः । सुरासंस्पृष्टमेव ओदनादि । चकाराद्रेतःस्पर्शात् ॥ १५० ॥

वपनं मेखलादण्डोभैक्ष्यचर्याव्रतानि च ॥ निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनःसंस्कारकर्मणि ॥ १५१ ॥

(१) मेधातिथिः । व्रतानिवेदव्रतानि तदद्युक्तं ग्रहणार्थत्वात्तेषांकुतः प्राप्तिः तस्माद्यान्युपनयनकाले मादिवास्वाप्सीः सायंप्रातःसमिधमादध्याआचार्याधीनो भवत्येवमादीनि च व्रतानि निवर्तन्ते ॥ १५१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रसंगात्पुनःसंस्कारविधिमाह वपनमिति । व्रतानि वेदव्रतानि मधुमांसवर्जनादीनि च । तेन होममात्रं कार्यमित्यर्थः ॥ १५१ ॥

(३) कुल्लूकः । शिरोमुण्डनमेखलाधारणं दण्डधारणं भैक्षाणि व्रतानि च मधुमांसस्त्रीवर्जनयुतानि प्रायश्चित्तानि पुनरुपनयने द्विजातीनां भवन्ति ॥ १५१ ॥

(४) राघवानन्दः । संस्कारान्तर्गततया वपनादेस्तस्यापि प्राप्तौ प्रतिषेधति वपनमिति । व्रतानि मधुमांसादीनि [नवर्ज्यानि]* ॥ १५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । व्रतानि वेदाभ्यासादीनि निवर्तते ॥ १५१ ॥

अभोज्यानां तु भुक्त्वान्नं स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेव च ॥ जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च समरात्रं यवान्पिबेत् ॥ १५२ ॥

(१) मेधातिथिः । येषामन्नं भुज्यते तेऽभोज्याः पुरुषा अश्रोत्रियस्त्रीसंग्रामजीव्ययाज्ययाजकादयः । शूद्रजातिग्रहणादेवजातिनिर्देशात्स्त्रीग्रहणं लब्धसवर्णार्थं विज्ञेयं उच्छिष्टं तदास्पृष्टं यच्च नित्यमास्यं शुचिः स्त्रीणामिति तस्य विषयो दर्शितः । शूद्रोच्छिष्टानामपां पाने पूर्वत्र कुशवार्युक्तं इहतु समरात्रं यवानिति । अगामिकत्वादस्यार्थस्योभयत्र भक्ताद्युच्छिष्टभोजने दंष्ट्रव्यं अभक्ष्यं मांसं प्लवहं सचक्रवाकादीनां इदं तु बुद्धिपूर्वकमभ्यासभक्षणे द्रष्टव्यं अन्यत्र शेषेषूपवसेदहरिति । एतदेव पयः पीत्वा सूकरोष्ठादिभ्योऽन्यत्र तत्र प्रतिपदं प्रायश्चित्तान्तरास्मानात् । सक्तुपानं यवकपानं भवत्येव ॥ १५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अभोज्यानां राजादीनाम् । स्त्रियः सवर्णाया अभ्युच्छिष्टम् । शूद्रोच्छिष्टं चान्नम् । अभक्ष्यं मांसं जालपादादीनाम् । यवान् यवागूं पिबेत् स्मृत्यन्तरोक्तप्रसृतयावकविधिना । एतच्च कामतः कृतेऽनिन्दिताभ्यान्नाशने तु द्विगुणादि तत्र तत्रोक्तम् ॥ १५२ ॥

(३) कुल्लूकः । अभोज्यानां नान्नाश्रोत्रियकृते यज्ञे इत्याद्युक्तानामन्नं भुक्त्वा जलमिश्रितसक्तुरूपेण यवागूरूपेण वा यवान्पानयोग्यान्कृत्वा समरात्रं पिबेत् । अमुष्मिन्नेव विषये मत्या भुक्त्वा चरेत्कुच्छमिति चतुर्थाध्याये प्रायश्चित्तमुक्तं तेन

सह वैकल्पितं विकल्पश्च कर्तृशक्त्यपेक्षः तथाद्विजातिस्त्रीणामुच्छिष्टंशूद्रोच्छिष्टंवा भुक्तैतदेव कुर्यात्तथा ऋग्यादसूकरोष्ठा-
णामित्यादिना यद्विशेषप्रायश्चित्ततन्निषिद्धमांसंभुक्तेदमेव कुर्यात् ॥ १५२ ॥

(४) राघवानन्दः । कदन्मभक्षणविषयकमाह । अभोज्यानां नाश्रोत्रियहुतेयज्ञइत्यादिचतुर्थाध्यायोक्तानांविशे-
षतोऽनुक्तनिष्कृतीनांप्रायश्चित्तार्थमनुवादमात्रम् । अभक्ष्यं पूर्वंभक्षणीयत्वेन निषिद्धं विशेषतोनुक्तप्रायश्चित्तं च रुद्धाशक्त-
परंवा । यवान् सक्तून् ॥ १५२ ॥

(६) रामचन्द्रः । जग्ध्वा मांसं च पुनः अभक्ष्यं वस्तु जग्ध्वा सप्तरात्रं यवान् यवागूं पिबेत् ॥ १५२ ॥

शुक्तानि च कषायांश्च पीत्वा मेध्यान्यपि द्विजः ॥ तावद्भवत्यप्रयतोयावत्तन्न ब्रजत्यधः ॥ १५३ ॥

(१) मेधातिथिः । अमेध्यानिशुक्तानि दधिभक्ष्यं च शुक्तेष्वित्येतत्त्रयाभ्यनुज्ञानादन्नस्तुसत्यपिशुक्तत्वेभक्ष्यता-
याविहितत्वान्नैषविधिःपवित्रंहितदितिस्मरन्ति । कषायावैद्यकप्रसिद्धाअनेकौषधिसंयोगेन येकाध्यन्ते । अप्रयतोऽशुचि-
र्यावद्ब्रजत्यधः अधोगमनंजीर्णानांमूत्रपुरीषभागेन निष्क्रामणाद्यदिवापक्षाशयप्राप्तिः ॥ १५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शुक्तान्यतिकालादिनाम्लतांगतानि । कषायान् गुडूच्यादिकाथान् । मेध्यान्यपि सामान्य-
तोऽनिषिद्धान्यपि । अप्रयतःकर्मानधिकारी नाधोब्रजति पुरीषतां न याति ॥ १५३ ॥

(३) कुल्लूकः । यानि स्वभावतोमधुरादिरसानि कालयोगेनोदकपरिणामादिनाम्लभावंब्रजन्ति तानि शुक्तानि क-
षायान्विभीतकादीन् कथितान्यप्रतिषिद्धान्यपि पीत्वा यावन्नजीर्णानि भवन्ति तावदशुचिः पुरुषोभवति ॥ १५३ ॥

(४) राघवानन्दः । शुक्तानिहि स्वभावतोमधुराणि कालादाम्लतांगतानि । कषायाणि बिभीतकादिकाथांभांसि ।
अमेध्यानि लशुनादीनि तावदप्रयतोऽशुचिः ब्रजत्यधः अपानेन भूमौ निःसरतियावत् ॥ १५३ ॥

(५) नन्दनः । शुक्तानि कालातिपत्यास्त्ररसंपरित्यज्य रसान्तरापन्नानि द्रव्याणि अमेध्यानि लशुनादीनि ॥ १५३ ॥

(६) रामचन्द्रः । शुक्तानि कालेनाग्नीभूतानि कषायांश्च गुडूचीहरीतक्यादिकषायान् पीत्वा द्विजः तावदप्रयतो-
भवतिथावदधोन ब्रजति । परिपाकेन ॥ १५३ ॥

विद्वराहखरोष्ट्राणांगोमायोः कपिकाकयोः ॥ प्राश्यमूत्रपुरीषाणि द्विजश्चान्द्रायणंचरेत् ॥ १५४ ॥

(१) मेधातिथिः । विशेषानुपदेशादमत्यावातुल्यमेव च युक्तं लाघवकल्पनात् ॥ १५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गोमायोः सृगालस्य । अज्ञानात्प्राश्यविष्मूत्रमिति तु नरविष्मूत्राशनेपि तदुक्तं प्रायश्चित्ता-
न्तेकार्यम् । चान्द्रायणं कामतः ॥ १५४ ॥

(३) कुल्लूकः । ग्राम्यसूकरखरोष्ट्रशृगालवानरकाकानांमूत्रपुरीषवा द्विजातिर्भुक्त्वा चान्द्रायणंकुर्यात् । शोधनंयत्तुच्छ-
त्राकंविद्वराहंचेत्यनेन विद्वराहग्रामकुक्कुटयोर्बुद्धिपूर्वकभक्षणे पञ्चमाध्याये प्रायश्चित्तमुक्तंतदभ्यासविषये व्याख्यातं । इद-
न्त्वनभ्यासविषये तमरुच्छमित्यविरोधः ॥ १५४ ॥

(४) राघवानन्दः । विद्वराहोग्रामसूकरः । गोमायुः सृगालः । एषु प्रत्येकं चान्द्रायणम् ॥ १५४ ॥

(५) नन्दनः । पूर्वं सामान्येन मूत्रपुरीषप्राशनेषु पुनस्संस्कारउक्तस्तस्येदानींकिंचिदपवादमाह विद्वराहखरोष्ट्राणा-
मिति ॥ १५४ ॥

शुष्काणि भुक्त्वा मांसानि भौमानि कवकानि च ॥ अज्ञातंचैव सूनास्थमेतदेव व्रतंचरेत् ॥ १५५ ॥

(१) मेधातिथिः । शुष्काणिवल्लूरादीनि भौमानीति कोटरजातानामनिषेधार्थं अज्ञातंमेषस्यमहिषस्येतिप्रकृतेरज्ञानात् । सूनाघातस्थानंयत्रविक्रयार्थंपशवोहन्यन्तेऽतोऽन्यत्रस्थितस्य लघुप्रायश्चित्तम् । ननुसूनास्थद्वितिवचनादन्यत्रस्थितस्य प्रायश्चित्ताभावएवयुक्तः नैतदेवंसौनमित्यविशेषेण प्रतिषेधात् । प्रायश्चित्तेतुस्थग्रहणात्तदुत्थितस्य गुरुलघुभावोयुक्ततरस्तदेवचांद्रायणं ज्ञातेतुजातिविशेषेऽभ्यासे समरात्रंयावकपानं । शेषेषूपवसेदहरिति ॥ १५५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शुष्काणि नीरसानि । भौमानि भूम्युद्भूतानि कवकानि छत्राकानि । काष्ठछत्राके तु स्मृत्यन्तरोक्तमल्पप्रसृतप्रायश्चित्तम् । तथा अज्ञातमज्ञातप्रकृतिमांसम् । तथासूनास्थं प्राणिघातस्थानस्थमेव यत्क्रीतं लब्धभागंअंशं । एतदेव चान्द्रायणं कामतोभक्षणे ॥ १५५ ॥

(३) कुल्लूकः । वाय्वादिना शोषितानि मांसानि भुक्त्वा भूम्यादिप्रभवाणि छत्राकानि भुक्त्वा भूमिजंवा वृक्षजंवा छत्राकंभक्षयन्ति ये ब्रह्मघ्रास्तान्विजानीयादिति यमेन वृक्षस्यापि निषेधात् हरिणमांसंवा रासभमांसमिति भक्ष्याभक्ष्यतया यन्नज्ञातं तथा हिंसास्थानंसूना ततोयदानीतंतद्भुक्त्वा चान्द्रायणमेव कुर्यात् ॥ १५५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच शुष्काणीति । मांसपदंमत्स्योपलक्षकं भौमानि छत्राकादीनि । कवकानि वाक्षाणि ॥ भूमिजं वृक्षजं वापि छत्राकं भक्षयन्ति ॥ ब्रह्मघ्रास्तान्विजानीयादिति यमोक्तेः ॥ सूनास्थं व्याधविक्रीतम् एतदेव चान्द्रायणमेव ॥ ५५ ॥

(५) नन्दनः । विपरिणामः तद्वियोगादिकस्य प्राणिविशेषस्येदमित्यविज्ञातं सूनास्थंसूनास्थानस्थितंमांसंच एतद्व्रतंचान्द्रायणम् ॥ १५५ ॥

(६) रामचन्द्रः । सूनास्थं प्राणिहिंसास्थानस्थितं कवकानि छत्राकानि वर्जयेत् एतदेव व्रतं चान्द्रायणं चरेत् ॥ १५५ ॥

ऋव्यादसूकरोष्ट्राणांकुक्कुटानांच भक्षणे ॥ नरकाकरवराणांच तप्तकृच्छ्रंविशोधनम् ॥ १५६ ॥

(१) मेधातिथिः । चेतिपूर्वश्लोकोत्रारूप्यते तेनविद्वराहादीनांभक्षणएतदेव । द्वितीयेन शब्देन ऋव्यादानांविष्मूत्रप्राशने यदेवविद्वराहादीनां स्मृत्यन्तरेचनरमात्राधिकारेणहृद्विजग्रहणमविवक्षितंद्विजश्चांद्रायणमिति । एवमियद्विश्लोकीविडालकाकादन्यत्रापेक्षते अतश्चैतेषामप्युच्छिष्टप्राशनेविडालादिवत्ततोऽस्यांविश्लोक्यांसमुद्दिष्टं मूत्रपुरीषचसर्वेषांप्रतिषिद्धमतश्च यत्ऋव्यादानांमूत्रपुरीषप्राशनेतद्विडालादीनामपि ॥ १५६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ऋव्यादाः आममांसादाः व्याघ्रादयः कुक्कुटानां ग्राम्याणाम् । भक्षणे मांसस्य । तप्तकृच्छ्रं ज्ञानतः ॥ १५६ ॥

(३) कुल्लूकः । आममांसभक्षिणांग्राम्यसूकरोष्ट्राग्राम्यकुक्कुटानांतथामानुषकाकगर्दभानांप्रत्येकंबुद्धिपूर्वकंमांसभक्षणे वक्ष्यमाणंतप्तकृच्छ्रंप्रायश्चित्तंग्राम्यशूकरकुक्कुटयोर्बुद्धिपूर्वकभक्षणे पञ्चमाध्यायेपातित्यमुक्तं तदभ्यासविषये व्याख्यातं इदंतुनाभ्यासविषये तप्तकृच्छ्रमित्यविरोधः ॥ १५६ ॥

(४) राघवानन्दः । ऋव्यादः गृधादिः । अज्ञातमित्यन्वेति । खरान्तसप्तभक्षणे तप्तकृच्छ्रं पावनम् धीपूर्वभक्षणेतुविद्वराहकुक्कुटयोः पातित्यमितिभेदः ॥ १५६ ॥

(५) नन्दनः । भक्षणे मांसभक्षणे ॥ १५६ ॥

मासिकान्नंनुयोऽश्रीयादसमावर्तकोद्विजः ॥ सत्रीण्यहान्युपवसेदेकाहंचोदके वसेत् ॥ १५७ ॥

(१) मेधातिथिः । मासिकमेकोद्दिष्टश्राद्धं कृतेसपिण्डीकरणेप्रतिमासंतुवत्सरमितिआमावास्यस्यतुमासिकव्यपदेशेऽप्यनुज्ञातत्वात् । काममभ्यर्थितोऽश्रीयादितिकृतः प्रायश्चित्तं अन्येत्वभ्यर्थितस्यानुज्ञानादनभ्यर्थ्यमानस्योक्तमेवेत्याहुः । असमावर्तकोगुरुकुलेतिष्ठन्नर्थाद्ब्रह्मचार्युच्यते । ग्रहादन्यतरस्मिन्हन्त्युदके वसेत् ग्रहस्यैवबुद्धौस्थितत्वात्तर्हिचतुर्थमहस्तद्विषयः ॥ १५७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मासिकार्थं प्रेतश्राद्धार्थम् । क्वचिन्मासिकान्नमितिपाठः । तत्र मासिकश्राद्धार्थोद्दिष्टमित्यर्थः । असमावर्तकोद्विजोब्रह्मचारी । उदकेवसेदुपवाससबन्धित्वात्तत्रप्रथमदिने ॥ १५७ ॥

(३) कुल्लूकः । योब्रह्मचारी ब्राह्मणोमासिकश्राद्धसंबन्धेनमश्राति एतच्च सपिण्डीकरणात्पूर्वमेकोद्दिष्टश्राद्धार्थोपलक्षणंस्त्रिरात्रमुपवसेत्त्रिरात्रमभ्येकस्मिन्हनि जलमावसेत् ॥ १५७ ॥

(४) राघवानन्दः । मासिकान्नं प्रेतोद्देशेन मासिमासि क्रियमाणं श्राद्धम् । असमावृत्तिकः ब्रह्मचारी । एकाहेएव हृ दिनत्रयान्तर्गतम् ॥ १५७ ॥

(५) नन्दनः । आवर्तकोऽब्राह्मणचारी ॥ १५७ ॥

(६) रामचन्द्रः । मासिकस्यार्थं मासिकश्राद्धार्थम् योऽश्रीयात् असमावर्तकोद्विजः ॥ १५७ ॥
ब्रह्मचारी तु योऽश्रीयान्मधुमांसकथंचन ॥ सकृत्वा प्राकृतंकुच्छं व्रतशेषंसमापयेत् ॥ १५८ ॥

(१) मेधातिथिः । व्रतचारीप्रयुक्तोब्रह्मचर्याश्रमस्थएव । कथंचनापद्यपीत्यर्थः प्राणानामेवचात्ययइत्यापदिविधानात् । असतिदोषे नतन्निर्घातार्थमेतत्प्रायश्चित्तंकिंतर्हिनिमित्तमात्रपर्यवसायिवचनात्क्रियते । प्राकृतंप्राजापत्यंप्रकृतौभवं प्राकृतं सर्वकल्लाणांप्रकृतित्वादेवमुच्यते व्रतशेषंसमापयेत् ॥ १५८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । व्रतचारी ब्रह्मचारिवनस्थविधवाभिक्षुप्रभृतिः । कथंचनाज्ञानात् । प्राकृतं प्रकृतिः प्राजापत्यं तद्रूपं कुच्छम् । स्वार्थेऽण् । व्रतशेषं व्रतं निःशेषं कार्यम् ॥ १५८ ॥

(३) कुल्लूकः । योब्रह्मचारीमाक्षिकंमांसंवाऽनिच्छात्आपदि वा ऽद्यात्सप्राजापत्यंकृत्वा प्रारब्धब्रह्मचर्यव्रतशेषंसमापयेत् ॥ १५८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच ब्रह्मचारीति । प्राकृतं प्राजापत्यम् । व्रतशेषं प्रारब्धवेदाभ्ययनादि अकृतप्रायश्चित्तस्य वेदसमाप्तवनधिकारात् ॥ १५८ ॥

(५) नन्दनः । व्रतचारीब्रह्मचारी कथंचनाकामतोऽप्यप्राकृतंनिरूपपदंप्राजापत्यमितिधावत् व्रतविशेषंसमापयेद्ब्रह्मचर्यशेषंसमापनयोग्योभवेत् समावृत्तस्यापि व्रतस्थस्यमधुमांसभक्षणेप्रायश्चित्तमेतदितिकेचित् ॥ १५८ ॥

(६) रामचन्द्रः । व्रतचारीयो ऽज्ञानान्मधुमांसं प्राकृतंप्राजापत्यं कुच्छं कृत्वा ॥ १५८ ॥

विडालकाकारखृच्छिष्टंजग्ध्वा श्वनकुलस्य च ॥ केशकीटावपन्नंच पिवेद्ब्रह्मसुवर्चलाम् ॥ १५९ ॥

(१) मेधातिथिः । अकृतप्रायश्चित्तस्यावशिष्टव्रतसमाप्तवनधिकारमाह आखुर्मूषकः । अवपन्नमेतत्संपर्कसूषितं ब्रह्मसुवर्चलांपिष्टोदकेनसह पिवेदेकाहमविशेषात्तेनैवशास्त्रार्थस्यकृतत्वात् ॥ १५९ ॥

(१५७) असमावर्तको=असमावृत्तिको (राघ०)

(१५८) ब्रह्मचारी=व्रतचारी (नं०)

(१५९) ब्रह्मसुवर्चलां=ब्राह्मीसुवर्चलां (न, ल)

(२) सर्वज्ञनारायणः । केशकीटावपन्नं केशकीटसहसिद्धम् । ब्रह्मसुवर्चलां श्वेतसुवर्चलां तत्काथं जलपिबेदेकाहम् । एतत्स्वकाकोच्छिष्टाशनेऽकामरुते अन्येषु तु कामरुतेषु ॥ १५९ ॥

(३) कुल्लूकः । बिडालकाकमूषिककुङ्कुरनकुलानामुच्छिष्टकेशकीटरूपसंसर्गदुष्टं वाऽरुतमृत्क्षेपविशुद्धिकं ज्ञात्वा मुक्ता ब्रह्मसुवर्चलांकथितमुदकं पिबेत् ॥ १५९ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्राह्मीसुवर्चलां तत्कथितमुदकं श्वेतपुष्पा सूर्यप्रिया सुवर्चलेति भारते धृतत्वात् ॥ १५९ ॥

(५) नन्दनः । ब्रह्मसुवर्चलां ब्रह्मसुवर्चलारक्तपुष्पाश्च दृष्ट्वा ॥ १५९ ॥

(६) रामचन्द्रः । कीटकेशावपन्नं तत्सहस्रकं अन्नं ब्राह्मी सुवर्चलां पिबेत् ॥ १५९ ॥

अभोज्यमन्नं नात्तव्यमात्मनः शुद्धिमिच्छता ॥ अज्ञानभुक्तंतूत्तार्थं शोध्यं वाप्याशु शोधनैः ॥ १६० ॥

(१) मेधातिथिः । आद्योर्धःश्लोकोनुवादः अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थमित्येतद्विधीयते समनन्तरं वमितव्यमित्यर्थः । क्षिप्रं वाशोधनैः प्रायश्चित्तैः शोध्यं अन्येतुशोधनानि हरीतक्यादीनि रेचनाभ्याहुः । गौतमीये चेदमुदाहरन्ति । अभोज्यभोजने पुरीषाभाव इति तदेतदसाधकं उपवासेनापि निष्पुरीषत्वोपपत्तेस्तस्माद्वा न्तो यथाश्रुतप्रायश्चित्तमेव वेदितव्यम् ॥ १६० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संदिह्यमानभोज्यत्वमपि । अज्ञाने भुक्तं पश्चादभोज्यत्वेन ज्ञातं उत्तार्थं वमनेन । शोध्यं वाप्याशु नत्वतिचिरेण शोधनैः ब्रह्मसुवर्चलापानादिभिः । शोध्यं वाप्याशु शोधनैरिति पाठे वमनाशक्तौ बहुभिः शोधनैः शीघ्रं शोध्यमित्यर्थः ॥ १६० ॥

(३) कुल्लूकः । आत्मनः शुद्धिकामेन प्रतिषिद्धमन्नं नादनीयं । प्रमादात् भुक्तं वमितव्यं तदसंभवे प्रायश्चित्तैः क्षिप्रं शोधनीयं । वमनपक्षे तु लघुप्रायश्चित्तं भवत्येव ज्ञानतः पुनः पूर्वोक्तं प्रायश्चित्तम् ॥ १६० ॥

(४) राघवानन्दः । किंच अभोज्येति । शुद्धिं प्रायत्यं । दैवाद्भुक्तं चेत्पुनरुत्तार्थं । उद्धमितव्यं आशु शोधनैः प्राणायामादिभिः ॥ १६० ॥

(५) नन्दनः । प्रायश्चित्तं करिष्यामीति निश्चित्या भोज्यमन्नमदनीयत्वात्तव्यं तथा रूते प्रायश्चित्तगौरवमस्तीत्यभिप्रायेणोक्तमात्मनः शुद्धिमिच्छतेत्युद्धार्यमुद्गार्यं शोध्यं विरेच्यं शोधनैर्विरोचनद्रव्यैः ॥ १६० ॥

(६) रामचन्द्रः । नात्तव्यं न भक्षणीयम् । अज्ञातभुक्तंतूत्तार्थं वमितव्यम् ॥ १६० ॥

एषो नाद्यादनस्योक्तो ब्रतानां विविधो विधिः ॥ स्तेयदोषापहर्तृणां ब्रतानां श्रूयतां विधिः ॥ १६१ ॥

(१) मेधातिथिः । ब्रतानामनाद्यादनस्याभक्ष्यभक्षणस्य स्तेयं तद्दोषशमस्तमपहरन्ति यानि ब्रतानि तेषामिदानीं विधिर्हृच्यते ॥ १६१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्तेयदोषापहर्तृणां महापातकेतरस्तेयदोषहराणाम् ॥ १६१ ॥

(३) कुल्लूकः । अभक्ष्यभक्षणे यानि प्रायश्चित्तानि तेषामेतन्नानाप्रकारविधानमुक्तं स्तेयपापहारिणां विधानमधुना श्रूयताम् ॥ १६१ ॥

(४) राघवानन्दः । अभोज्यान् भक्षणप्रकरणमुपसंहरं स्तेयप्रायश्चित्तं प्रजितानीति एषेत्यष्टभिः । [स्तेयदोषापहर्तृणां स्तेयकृतदोषनाशकानां ब्रतानाम् । स्तेयमत्र सुवर्णनिक्षेपाभ्यामतिरिक्तद्रव्यहरणम् । तेषां विधिः प्रकारः] ॥ १६१ ॥

(५) नन्दनः । अनाद्यभक्ष्यम् ॥ १६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनाद्यदनस्य अभक्ष्यभक्षणस्य एषःविधिःउक्तः । अपहर्तॄणां अन्नाद्यवहराणां व्रतानां नियमानां स्तेयदोषविधिःश्रूयतां ॥ १६१ ॥

धान्यान्धनचौर्याणि कृत्वा कामाद्विजोत्तमः॥ स्वजातीयगृहादेव कच्छ्राब्देन विशुध्यति ॥ १६२ ॥

(१) मेधातिथिः । द्विजोत्तमग्रहणंप्रदर्शनार्थंक्षत्रियादीनामपि । द्विजोत्तमशब्दसन्निपाताच्चस्वजातीयगृहादिति ब्राह्मणगृहाद्विजायते तेनैतदुक्तंभवति सर्वएववर्णाब्राह्मणगृहात्धनंत्वाकच्छ्राब्देनशुध्येयुः । धनग्रहणात्सर्वस्मिन्धनेसिद्धे धान्यान्धनग्रहणंसिद्धान्यार्थं अल्पसाराणामन्यविधिवक्ष्यति अतःसारभूतप्रधानद्रव्यापहरणइदंविज्ञायते तेषांनहिपरस्परद्रव्यापहरणेब्राह्मणस्यतदीयधनापहारे कतरप्रायश्चित्तमुच्यते हिंसाप्रायश्चित्तवत्तुर्याष्टमादिभागकल्पनाकर्तव्या क्षत्रियस्य धने त्रीन् वैश्यस्य सार्धं शूद्रस्य द्वाविंशतिरात्रंवा किंचित्परिमाणे धान्येऽपत्ततेदशभ्यःकुंभेभ्यः किंचिदूनेमहत्त्वात्प्रायश्चित्तस्य धनमाप्यैवंकालंनकल्पनेतिविज्ञेयम् । कामादिति श्लोकपूरणंनह्यकामस्य परधनहरणसंभवः । धान्यंब्रीह्यादितदेवापत्ततमन्सिद्धमांसंच धान्यादीनांप्रत्येकंहरणेन्यद्वंकूलम् । केचिच्चसमुदायहरणे प्रायश्चित्तमिच्छन्ति गरीयोहेतत् ॥ १६२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्नंसिद्धान्तम् । धनं वृत्तिहेतु यथा ब्राह्मणानां निबन्धः क्षत्रवृत्तीनां शरादि वैश्यवृत्तीनां लाङ्गलादीनि । स्वजातीयगृहात् ब्राह्मणगृहात् । ब्राह्मणइत्यादिक्रमेण । कामतोत्यन्ताभ्यासेन करणे कच्छ्राब्देन वत्सरकृतैः प्राजापत्यैरेव ॥ १६२ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणोब्राह्मणगृहाद्धान्यभक्ताद्यन्नरूपाणि धनचौर्याणीच्छातः कृत्वा नत्वात्मीयभ्रान्त्या नीत्वा संवत्सरंप्राजापत्यव्रताचरणेन शुध्यति एतच्च देशकालद्रव्यपरिमाणत्वाभिगुणाद्यपेक्षया महत्त्वादिबोद्धव्यं एवमुत्तरत्रापि ॥ १६२ ॥

(४) राघवानन्दः । धान्यं ब्रीह्यादिः । अन्नं सिद्धान्तम् कच्छ्राब्देन कच्छ्रं च तदब्दं व्ययितेन । द्विजोत्तमइतिअन्योन्यतजातीयपरम् ॥ १६२ ॥

(५) नन्दनः । कामादनापदि अनेनापदिप्रायश्चित्तस्य लाघवंसूचितं कच्छ्राब्देन संवत्सरचरितेन कच्छ्रेण ॥ १६२ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्वजातीयगृहादेव चौर्याणिकृत्वा ॥ १६२ ॥

मनुष्याणांतु हरणे स्त्रीणांक्षेत्रगृहस्य च ॥ कूपवापीजलानांच शुद्धिश्चांद्रायणंस्मृतम् ॥ १६३ ॥

(१) मेधातिथिः । मनुष्याणांदासानांस्त्रीणांदासीनांक्षेत्रंभूभागोब्राह्मणादिधान्योत्पत्तिस्थानं कूपवाप्योर्जलशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । उद्धृतोदकस्येरणादिस्थस्यापहरणेतद्भवति । जलगृहणाच्छुष्कयोःकूपवाप्योर्विध्यन्तरं वापीखातः तडागेप्येवमेव ॥ १६३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मनुष्याणां पुंसाम् । कूपवापीजलानांपरकीयानां स्वक्षेत्रे सेकादिसिद्ध्यर्थं हरणे चान्द्रायणमज्ञानात् ॥ १६३ ॥

(३) कुल्लूकः । पुरुषस्त्रीक्षेत्रगृहाणामन्यतमहरणे कूपजलस्य वापीजलस्य वा समस्तस्य वा हरणे चान्द्रायणंप्रायश्चित्तमन्वादिभिः स्मृतम् ॥ १६३ ॥

(४) राघवानन्दः । कूपवापीजलानामिति स्वक्षेत्राद्यर्थम् । तडागानामितिपाठे तेषां । हरणं ममेदमिति मिथ्यात्वेन । शुध्यत्यनयेतिशुद्धिः ॥ १६३ ॥

(५) नन्दनः । मनुष्याणां दास्यादीनाम् ॥ १६३ ॥

(६) रामचन्द्रः । कूपवापीजलानां हरणं स्वक्षेत्रार्थम् ॥ १६३ ॥

द्रव्याणामल्पसाराणां स्तेयंकृत्वाऽन्यवेशमतः ॥ चरेत्सान्तपनंकृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्धये ॥ १६४ ॥

(१) मेधातिथिः । अल्पसाराणि न चिरमवतिष्ठन्ते । त्वल्पमूल्यानि च मृन्मयानि स्थालीपिष्टादीनि दारुमयानि द्रोणाढकादीन्ययोमयानि लेपनीकुद्मालकादीनि वेशमनीतिगृहस्थितापहारेभूयान्दोषः न तथा खलक्षेत्रादिगते । निर्यात्य दत्त्वा सर्वशेषश्रायं विशेषाभावात् । यत्र त्वपत्ततं दातुमशक्यं तत्र द्विगुणं प्रायश्चित्तम् ॥ १६४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अल्पसाराणामल्पोपायानां पलालादीनाम् । अन्यवेशमतोऽसमहीनवर्णगृहात् । सांतपनं द्य-
हसाध्यम् । तन्निर्यात्य तत्तं द्रव्यं स्वामिने समर्प्य तन्मूल्यद्वारापि ॥ १६४ ॥

(३) कुल्लूकः । द्रव्याणामल्पसाराणामल्पप्रयोजनानां चानुक्तप्रायश्चित्तविशेषाणां त्रपुसीसकादीनां परगृहाचार्यकृत्वा तदपत्ततं द्रव्यं स्वामिने दत्त्वा सांतपनंकृच्छ्रं प्रायश्चित्तं वक्ष्यमाणं चान्मशुद्धये कुर्यात्स्वामिनेऽपत्ततं द्रव्यं निर्यात्येति सर्वस्तेय-
श्रायश्चित्तशेषः ॥ १६४ ॥

(४) राघवानन्दः । अल्पसाराणां सीसकादीनाम् तन्निर्यात्यायदपत्ततं द्रव्यं तस्य स्वामिनं प्रति निर्यात्वा दानेन स्तेयप्रायश्चित्ताधिकारी सर्वत्रेतिज्ञेयम् ॥ १६४ ॥

(५) नन्दनः । द्रव्याणामल्पसाराणामल्पमूल्यानां तन्निर्यात्यातद्रव्यं प्रतिपाद्य अत्राल्पसाराणामिति विशेषणात्पूर्व-
त्रधान्यादिग्रहणं बहुसारविषयमित्यनुसन्धातव्यम् ॥ १६४ ॥

(६) रामचन्द्रः । तन्निर्यात्य तत्तं द्रव्यं स्वामिने दत्त्वा आत्मविशुद्ध्यर्थं सान्तपनंकृच्छ्रं चरेत् ॥ १६४ ॥

भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य च ॥ पुष्पमूलफलानां च पञ्चगव्यं विशोधनम् ॥ १६५ ॥

(१) मेधातिथिः । यानगच्छादि शय्याखट्वादि आसनबृत्त्यासं दीपट्टादि भक्षभोज्ययोः स्वरविशदतद्वैपरीत्येन भे-
दो विज्ञेयः । भक्ष्यं मोदकशङ्कुल्यादि भोज्यं यवाकादि पञ्चगव्यं प्रसिद्धं अत्राप्येकाहमेव ॥ १६५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भक्ष्यं फलादि । भोज्यं सक्त्वादि । यानं रथादि । फलोद्भवानां तैलादीनां पुष्पोद्भवादीनां
कुङ्कुमादीनां हरणे पञ्चगव्यं पञ्चगव्योपलक्षितं महासांतपनम् । एतच्चाज्ञानाद्धरणे ॥ १६५ ॥

(३) कुल्लूकः । भक्ष्यस्य मोदकादेर्भोज्यस्य पायसादेर्यानि स्य शकटादेः शय्याया आसनस्य च पुष्पमूलफलानां च
प्रत्येकमपहरणे पञ्चगव्यपानं विशोधनम् ॥ १६५ ॥

(४) राघवानन्दः । भक्ष्यस्य मोदकादेः । भोज्यस्य पायसादेः । भक्ष्यादिसप्तानां पञ्चगव्यं पञ्चगव्यपानंकृत्वा तदह-
रुपोषणम् । शोधनं प्रायश्चित्तम् ॥ १६५ ॥

(५) नन्दनः । इतः प्रभृतिनिर्यात्येत्यनुवर्तते पुष्पमूलफलानां आपहरणइति संबन्धनीयं पञ्चगव्यप्राशनम् ॥ १६५ ॥

(६) रामचन्द्रः । भक्ष्यं फलादि ॥ १६५ ॥

तृणाकाष्ठद्रुमाणां च शुष्कान्नस्य गुडस्य च ॥ चैलचर्ममिषाणां च त्रिरात्रं स्यादभोजनम् ॥ १६६ ॥

(१) मेधातिथिः । तृणादीनां पूर्वस्मात् यानादेरधिकहरणे प्रायश्चित्तमेतत् काष्ठमघटितं वंशः स्तंभादिद्रुमसाहचर्यात्

(१६४) निर्यात्य = निजित्य (राम०)

द्रुमोवृक्षः शुष्कान्ततण्डुलादिभ्रष्टयवावा गुडग्रहणंस्त्वविकारार्थतेनखण्डमत्स्यण्डिकादेर्ग्रहणंचैलंवस्त्रं बहूनामुत्तमानांच वास-
सांप्रागुक्तेन धनग्रहणेन कृच्छ्रादेश्चर्मकवचं मांसमामिषम् ॥ १६६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । द्रुमाणां जीवताम् । शुष्कान्तस्य तण्डुलादेः । त्रिरात्रमज्ञानाद्धरणे ॥ १६६ ॥

(३) कुच्छूकः । तृणकाष्ठवृक्षाणांशुष्कान्तस्य च तण्डुलादेर्वस्त्रचर्ममांसानांमध्यएकस्याप्यहरणे त्रिरात्रमुपवासंच-
रेत् ॥ १६६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच तृणेति । शुष्कान्तस्य पृथुकादेः । आमिषाणां मांसानाम् । तृगाद्यष्टानां हरण इतिशेषः ।
उपोषणत्रयम् ॥ १६६ ॥

(५) नन्दनः । अत्राप्यवहरणइत्येव ॥ १६६ ॥

(६) रामचन्द्रः । चैलचर्मामिषाणां हरणे त्रिरात्रं अभोजनम् ॥ १६६ ॥

मणिमुक्ताप्रवालानांताम्रस्य रजतस्य च ॥ अयः कांस्योपलानांच द्वादशाहंकणान्तता ॥ १६७ ॥

(१) मेधातिथिः । त्वल्पबहुत्वापेक्षयाच कालहासःसकृदावृत्तौच ॥ १६७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अयःपदंरूप्यताम्रकांस्येतरलोहग्रहणार्थम् । उपलः प्रस्तरः । कणान्तता कणास्तण्डुल-
सूक्ष्मावयवास्तन्मात्रान्तता । एतच्चानापदि अन्यत्राल्पहरणेकणानां नात्यल्पलक्षणम् ॥ १६७ ॥

(३) कुच्छूकः । मणिमुक्ताविद्रुमताम्ररूप्यलोहकांस्योपलानांच प्रत्येकमपहरणे द्वादशाहंतण्डुलकणभक्षणंकुर्यात्सर्व-
त्र चात्र सकृदभ्यासदेशकालद्रव्यस्वामिगुणादौशैक्त्यपेक्षया उत्कृष्टापकृष्टद्रव्यापहारिविषयसमीकरणंसमाधेयम् ॥ १६७ ॥

(४) राघवानन्दः । मण्याद्यष्टानां हरणे कणान्तता कणमेवान्नं भक्षणायं यस्यापहर्तुः सकणान्तः तस्य भावः
॥ १६७ ॥

(५) नन्दनः । अपहरणइत्येव कणान्तताकणभक्षणस्यादित्येव ॥ १६७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अयस्कान्तस्य उपलानां हरणे कणान्येवान्नं कणान्तं तस्य भावःकणान्तता तण्डुलसूक्ष्मा-
वयवास्तद्भुक् ॥ १६७ ॥

कार्पासकीटजोर्णानांद्दिशफैकशफस्य च ॥ पक्षिगन्धौषधीनांच रज्ज्वाश्चैव त्र्यहंपयः ॥ १६८ ॥

(१) मेधातिथिः । कीटजाः पट्टाः द्विशफागवादयः एकखुरा अश्वादयः पक्षिणः शुकश्येनादयः रज्जुकूपादे-
रुदकोदंचनी ॥ १६८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कार्पासजास्तन्तवः । कीटजाः कौशेयाद्याः । ऊर्गामेषादिरोमाणि द्विशफाअजाद्याः । ए-
कशफाः खराद्याः । गन्धाः कस्तूरिकादयः । औषध्यः औषधानि दशमूलादीनि । रज्जुः पटादिकृतः । एषामापद्यत्यल्पानां
हरणे त्र्यहं क्षीरं पयः पिबेदिति शेषः ॥ १६८ ॥

(३) कुच्छूकः । कार्पासकृमिकोशजोर्णानांवस्त्राणांद्दिशफैकशफस्य गोरश्वादेः पक्षिणांशुकादीनांगन्धानांच चंदन-
प्रभृतीनांरज्ज्वाश्च प्रत्येकंहरणे त्र्यहंक्षीराहारः स्यात् अत्रापि पूर्ववद्विषयसमीकरणपरिहारः स्वामिनश्चोत्कृष्टापकृष्टद्रव्य-
समर्पणादपि वचनादेकरूपप्रायश्चित्ताविरोधः ॥ १६८ ॥

(४) राघवानन्दः । कीटजं पट्टादिसूत्रं ऊर्णमिषलोमानि एषाम् । द्विशफोगवादिः एकशफोऽश्वादिः । द्विखुरइति पाठोऽप्यर्थः । कार्पासादिनवानामपहरणे प्रत्येकं त्र्यहं केवलं उदकपानं । कार्पासादिपदं तन्निर्मितवस्त्राद्युपलक्षकम् प्रायश्चित्ताकरणे श्वित्रादिरीगः ॥ १६८ ॥

(५) नन्दनः । रज्ज्वाश्वापहरणइत्येव पयःपानम् ॥ १६८ ॥

(६) रामचन्द्रः । कीटजोर्णानां कीटजतंतूनां क्षौमादीनां पक्षगन्धः सुगन्धः औषधीनां दशमूलादीनां रज्ज्वाहरणे त्र्यहं पयः पिबेत् ॥ १६८ ॥

एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः ॥ अगम्यागमनीयंतु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥ १६९ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तार्थः श्लोकः ॥ १६९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अगम्यागमनीयं महापातकैतरागम्यागमनसंबन्धि ॥ १६९ ॥

(३) कुल्लूकः । एतैरुक्तैः प्रायश्चित्तैः स्तेयजनितपापं द्विजातिरपानुदेत् । अगम्यागमननिमित्तं पुनरेभिर्वक्ष्यमाणैर्व्रतैर्निर्हरेत् ॥ १६९ ॥

(४) राघवानन्दः । अपहरणप्रकरणमुपसंहरन् अगम्यागमनप्रायश्चित्तमाह एतैरिति दशभिः । एभिर्वक्ष्यमाणैः ॥ १६९ ॥

(५) नन्दनः । एतैरुक्तैरेभिर्वक्ष्यमाणैः ॥ १६९ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतैर्व्रतैः स्तेयकृतं पापं अपोहेत नाशयेत् ॥ १६९ ॥

गुरुतल्पव्रतं कुर्याद्व्रतः सिद्ध्वा स्वयोनिषु ॥ सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ॥ १७० ॥

(१) मेधातिथिः । गुरुतल्पव्रतमित्यविशेषवचनेऽपि न तेन स्वयोन्यादिष्वित्येवमाद्यतिदिश्यते अपितु प्राजापत्यचरेऽवदमिति महापातकत्वात् न हि महापातकेभ्योन्यत्र मरणांतं प्रायश्चित्तमस्ति अभ्यासेतु स्यादिति । स्वयोनयो भागिन्यः सोदराः । सख्युः स्त्रीषु सुहृद्भार्यासु सुहृत्स्वमेवात्र कारणं न यौनादिविशेषः । नापिश्रोत्रियत्वादिगुणः एवं पुत्रस्य स्त्रीषु सुषास्वसमानजातीयास्वपिकुमारीषु पुत्रादिभिरदत्तासु स्वयं संग्रीत्यानुपनतास्वेतदेव बलाद्रमणे अत्रापि न सत्यपेक्षा यद्यप्यतिदेशे विशेषो नास्ति तथापि प्रायश्चित्तद्वयं स्यादिति दृष्टत्वात् । तथाच गुरुलघुभावाद्धीनजातीयासु रुच्छाब्दाच्चांद्रायणमासत्रयं लघीय आदेशं अन्त्यजाश्चाण्डालम्लेच्छादिस्त्रियः । चण्डालादिस्त्रीषु च स्मृत्यन्तरे ज्ञानाज्ञानरुतो विशेष उक्तोऽन्त्यावसायागमने रुच्छार्धममत्यासु द्वादशरात्रम् ॥ १७० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गुरुतल्पव्रतं द्वादशाब्दव्रतम् । स्वयोनिष्वेकयोनिषु सापत्न्यभागिनीषु । सख्युर्मित्रस्य । पुत्रस्य गृहजादेः । औरसादिपुत्रत्रयभार्यागमनं त्वतिपातकम् । कुमारीष्वपरिणीतासु । अन्त्यजासु चाण्डालीतरविलोमजश्च द्वादस्त्रीषु ॥ १७० ॥

(३) कुल्लूकः । स्वयोनिषु सोदर्यभागिनीषु तथा मित्रभार्यासु पुत्रपत्नीषु कुमारीषु चाण्डालीषु प्रत्येकं रेतः सिद्ध्वा गुरुद्वारागमनप्रायश्चित्तं कुर्यात् । अत्रापि ज्ञानाभ्यासाद्यनुबन्धापेक्षया मरणांतिकं अतएव ॥ रेतः सिद्ध्वा कुमारीषु चाण्डालीष्वन्त्यजासु च ॥ सर्पिहापत्यदारेषु प्राणत्यागो विधीयत इति यमेन मरणान्तिकमुपदिष्टं अज्ञानाच्चद्रुतम् ॥ १७० ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रादावनुपातकप्रायश्चित्तमाह गुरुतल्पेति । स्वयोनिषु सोदर्यासु । पुत्रस्वौरसस्य । कुमा-

रीषु ब्राह्मणजातासु । इदंतु ज्ञाताभ्यासापेक्षया ॥ रेतः सिक्का कुमारीषु त्वयोनिष्वन्त्यजासु च ॥ सपिण्डापत्यदारेषु प्राण-
त्यागोविधीयतइति यमवचनात् ॥ अज्ञानात्तु प्राजापत्यं चान्द्रायणं वा तथोक्तं खट्वाङ्गीत्यत्र ॥ प्राजापत्यं चरेत्कुलं समावा
गुरुतल्पगः ॥ चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यस्यन्वेदसंहितामिति याज्ञवल्क्यः ॥ १७० ॥

(५) नन्दनः । त्वयोनिषु त्वदुहितृषु स्त्रीषु सख्युस्त्रीषु पुत्रस्य च स्त्रीषु ॥ १७० ॥

(६) रामचन्द्रः । त्वयोनिषु भगिन्यादिषु रेतःसिक्का गुरुतल्पव्रतंकुर्यात् पुत्रस्य गूढजादेः स्त्रीषु अन्त्यजासु ॥ १७० ॥

पैतृष्वसेर्याभगिनीस्वस्त्रीयांमातुरेव च ॥ मातुश्च भ्रातुस्तनयांगत्वा चान्द्रायणंचरेत् ॥ १७१ ॥

(१) मेधातिथिः । पितृष्वसुर्दुहितापैत्रष्वसेर्याभगिनी । मातृष्वस्त्रीयामाष्वसुर्दुहिता । मातुश्च भ्रातुर्मातुल्लुहिता ।
आमस्यसोदर्यस्येत्यर्थः ॥ १७१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पितृष्वसुसुतां भगिनीम् । मातुः स्वसेर्यां मातुर्यां स्वसा तस्यादुहितरम् । मातुश्च यआ-
स्यसोदरोभ्राता तस्य सुतामितिशेषः । एताअपरिणीताअज्ञानाद्रत्वा चान्द्रायणम् ॥ १७१ ॥

(३) कुल्लूकः । पितृष्वसुर्मातृष्वसुश्च दुहितरंभगिनींमातुश्च सोदर्यभ्रातुर्दुहितरंसोदर्यभगिनीमिवनिषिद्धगमनांगत्वा
चान्द्रायणंकुर्यात् सकृदज्ञानव्यभिचरिता विषयमल्पत्वात् ॥ १७१ ॥

(४) राघवानन्दः । पैतृष्वसेर्यां पितृष्वसुर्दुहितरम् । तथा मातृष्वसुरपि मातुर्भ्रातुरामस्य सहोदरस्य दुहितरमि-
तिशेषः । अन्यथैतास्तिस्मृत्यनुपपत्तिः । त्वभगिनीमिवैताइत्यर्थः ॥ १७१ ॥

(५) नन्दनः । पैतृष्वसेर्यांपितृष्वसुः पुत्रीं स्वस्त्रीयां मातृष्वसुः पुत्रीं मातुर्भ्रातुर्मातुलस्यास्तां । दुहितरमेतास्तिस्मोगत्वा
चान्द्रायणञ्चरेत् । भगिनींतिस्मामिति तिसृणामेतासांधारणम् ॥ १७१ ॥

(६) रामचन्द्रः । पैतृष्वसेर्यां मातुः स्वस्त्रीयां मातुलस्यपत्नीं मातुः साक्षात् आमसोदरस्य अज्ञानात् गत्वा चा-
न्द्रायणं चरेत् ॥ १७१ ॥

एतास्तिस्मस्तु भार्यार्थे नोपयच्छेत्तुबुद्धिमान् ॥ ज्ञातित्वेनानुपेयास्ताः पततिह्युपयन्लधः ॥ १७२ ॥

(१) मेधातिथिः । ननुच सपिण्डाच्चैत्यनेनैवैतासामविवाहत्वे सिद्धे किमर्थमिदंनोपयच्छेतेति । केचिदाहुः । अ-
न्यासांपक्षेऽभ्यनुज्ञानार्थसपिण्डश्लोकेप्रतिषिद्धानांतदयुक्तं पततिह्युपयन्लधइतिप्रायश्चित्ताविशेषात् । एतस्मिंश्चप्रयोजने-
संभवतिसपिण्डश्लोकस्य पाक्षिकोबाधोयुक्तोऽगत्याहिविकल्पआश्रीयते । ज्ञातित्वेन बन्धुत्वेनेत्यर्थः । अनुपेयाअविवा-
हअगम्याश्च । उपयन्विवाहयन् अधः पततिनरकंप्राप्नोतितियावत् । अथवाज्ञातितोअश्रयतिहीनजातीयः संपद्यते । य-
द्यपिजातेर्जीवत्पिण्डानपायस्तथापि तत्कर्मानविकारादेवमुच्यते ॥ १७२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अथतासांस्वयंपरिणयननिषेधति एताइति । भार्यार्थेभार्यानिष्पाद्यकर्मार्थे नोपयच्छेत् नो
द्वहेत् । ज्ञातेयेन एकजीविना । चाज्ञातेयेनेतित्वन्धासामपि तादृशीनामपरिणयत्वार्थमुक्तम् । अधःपतति द्विजकर्मतो
हीयते । प्रायश्चित्तं तु स्मृत्यन्तरोक्तम् ॥ १७२ ॥

(३) कुल्लूकः । तिसृएताः पैतृष्वसेर्याद्याभार्यार्थे प्राज्ञोनोद्वहेत् ज्ञातित्वेन बान्धवत्वेन तानोपेतव्याः । यस्मादे-
ताउपयन्नुपगच्छन्नरकंयाति असापिण्डा च या मातुरित्यनेन निषेधसिद्धौ दाक्षिणात्याचारदर्शनेन निषेधदाढ्यार्थपुनर्वच-
नम् ॥ १७२ ॥

(४) राघवानन्दः । अतएवासांविवाहोपि निषिद्धइत्याह एताइति । ज्ञातेयोबन्धुजनतेत्यभिधानाद्बन्धवैः अनुपेयाः अविवाहाः ताउपयन्नुद्बन्धः पततोत्यन्वयः ॥ १७२ ॥

(५) नन्दनः । अविवाहाश्चैतास्तिस्रस्तुभार्यार्थइति । ज्ञायतेज्ञातित्वेन ॥ १७२ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतास्तिस्रः एताःकाः तत्रउच्यते पैतृष्वसेर्यां मातृष्वसारं मातुलानींसोदरस्यस्त्रीं अज्ञानाद्गत्वा चान्द्रायणंचरेत् बुद्धिमान् नउपयच्छेत् । ज्ञातित्वेन सापिण्डयेगताः अनुमेयाः । उपयन् गच्छन् अधःपतति ॥ १७२ ॥

अमानुषीषुपुरुषउदक्यायामयोनिषु ॥ रेतःसिक्काजलेचैव कृच्छ्रंसांतपनंचरेत् ॥ १७३ ॥

(१) मेधातिथिः । अमानुष्योवडवाद्याः गोरमानुषित्वेपि सखिसयोनिसगोत्राशिष्यभार्यासु स्त्रियांगविचगुरुतल्पसममेव । अवकरइतिविशेषविहितमेव । अनयोर्गुरुतल्पावकीर्णप्रायश्चित्तयोरबुद्धिपूर्वबुद्धिपूर्वभेदेन व्यवस्था । तल्पसंबन्धेनप्रसिद्धसंबन्धादत्रशास्त्रेगुरुतल्पमेवोच्यते । अवकरोऽवकीर्णीनिमित्तं निमित्तेचातिदिष्टेतत्कार्यातिदेशः । सखीचात्रयापुरुषवन्मैत्रीमागता नतुयासख्युःस्त्री नसत्रपुंयोगात्प्रवृत्तिः नचभार्यासंबन्धेन संबन्धोस्ति सयोनिपदेन व्यवधानात् । तथा चत्रसिष्ठेगुर्वीसखी नच पात्रांगत्वात्कृच्छ्रावदपात्रं नचपात्रकुमारी अनयोस्तूपस्थादन्यत्र । उदक्यायांच मासिकेन रजसाभिषुतोदक्या पायान्तरंपीत्वाधरंपुरुषइति उदक्यायामयोनिषु एकएवार्थः । अयोनिः स्त्रीलिङ्गादन्यत्रस्थानंतथान्येजलेखेचेतिपठन्ति । ननुचायोनिग्रहणादेवसिद्धंखइतिनपठितव्यं आकाशः खशब्देनोच्यते । योनेरन्यश्चसः नैषदोषः योनिशब्देन साहचर्यादन्यदङ्गमेवोच्यतइतिमन्यन्ते । जलेसाक्षात् ॥ १७३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अमानुषीषु वडवादिषु गवितु गविच तत्तुल्यमिति गुरुतल्पप्रायश्चित्तस्य गौतमेनोक्तत्वादधिकंप्रायश्चित्तम् । उदक्यायां रजस्वलायाम् । अयोनिषु योनिदेशादन्यत्र मुखादौ । जले जलमध्ये । सांतपनं कामतः ॥ १७३ ॥

(३) कुल्लूकः । अमानुषीषु वडवाद्यासु नगवि गोष्ववकीर्णीसंवत्सरंप्राजापत्यंचरेदिति शंखलिखितादिभिर्गुरुप्रायश्चित्ताभिधानात् । तथा रजस्वलायां योनितश्चान्यत्र स्त्रियां जले रेतः सेकंरुत्वा पुरुषः सान्तपनंकृच्छ्रंकुर्यात् ॥ १७३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच अमेति । अमानवोषु मेध्यादिषु गवातिरिक्तासु गोष्वकीर्णी संवत्सरं प्राजापत्यं चरेदितिशङ्कोक्तेः पुरुषइत्यनुवादमात्रम् । अयोनिषु गुदादिषु त्वस्त्रियाएव । केवले जले । कृच्छ्रं सान्तपनारूपं वक्ष्यमाणम् ॥ १७३ ॥

(६) रामचन्द्रः । न मानुषीषु च उदक्यासु उदक्यायां ॥ १७३ ॥

मैथुनंतुसमासेव्य पुंसि योषिति वा द्विजः ॥ गोयानेप्सु दिवा चैव सवासाःस्नानमाचरेत् ॥ १७४ ॥

(१) मेधातिथिः । मैथुनेषु समनन्तरंसवाससः स्नानंगोयानेगच्छ्यादावप्सुचापि ॥ १७४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पुंसि तस्य मुखादौ । योषिति त्वयोषित्यपि यदिगोयाने गोयुक्तरथादौ संविष्टायाम् । अप्सुयाने नौकायाम् । तथा दिवागमने । स्नानेनशुद्धिरकामतः । कामतस्तु प्रायश्चित्तं स्मृत्यन्तरोक्तम् ॥ १७४ ॥

(३) कुल्लूकः । यत्र देशेकापि पुरुषे मैथुनंसेवित्वा स्त्रियांगोयाने शकटादौ जले दिवाकाले मैथुनंच सेवित्वा सवस्त्रश्च स्नायात् ॥ १७४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच मैथुनमिति । गोयानेत्याद्यधिकरणम् पुंसिगुदादिषुयोषिति त्वयोनिष्विति ॥ १७४ ॥

(५) नन्दनः । पुंसि योषिति पुंसोयोषितश्चोपर्यन्यथासह मैथुनं समाप्येत्यर्थः । एवं गोधानामपि वियोज्यम् ॥ १७२ ॥

(६) रामचन्द्रः । पुंसि वा योषिति वा मैथुनं समासेव्य गत्वा गोयाने नौकायां मैथुनं दिवा चैव ॥ १७४ ॥

चंडालां त्यस्त्रियोगत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च ॥ पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यंतु गच्छति ॥ १७५ ॥

(१) मेधातिथिः । चण्डालाम्लेच्छादिगन्तवासिनस्तत्स्त्रीगमने प्रायश्चित्ततदन्नभोजने प्रतिग्रहे च पततीति वचनात्कृच्छ्राद्वादधिकं प्रायश्चित्तं पुनः पातित्यमेव भोजने । अभोज्यानां तु भुक्तान्नमिति [प्राप्ते वचनमिदं कृच्छ्राद्वा प्रायश्चित्तार्थमेवं प्रतिग्रहेऽपि मांसगोष्ठेपयइति प्राप्ते तदर्थमेव ज्ञानात्साम्यगिति]^१ कामक्रारुते प्रायश्चित्तविधानार्थोऽर्थवादोऽयं यत्स्मृत्यन्तरेऽद्वैतशब्देन ज्ञाताज्ञातयोः प्रायश्चित्तमुक्तं तच्च दर्शितमतः कुतोऽधिकप्रायश्चित्तार्थता भुक्त्वा चेति केन संबध्यते चाण्डालान्त्येत्यनेन । ननु च गुणीभूतमेतत् गुणीभूतस्याप्यपेक्षायां संबन्धो दर्शितः । भुक्त्वा कस्येत्याकांक्षायामन्यस्याश्रुतत्वात्साम्यवचनाच्च चाण्डालान्त्यानामेव संबन्धः अतो यमर्थो भवति चाण्डालस्त्र्यां स्त्र्यानामन्नमशित्वा तेभ्यः प्रतिगृह्य च स्त्रियंगत्वा सकृदमनात् प्रायश्चित्तं अभ्यासे तु साम्यमेव युक्तमनधिकारप्रायश्चित्तेन । यतः प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकेन भवितव्यं न च तान्यैकेन जन्मना शक्यन्तेऽनुष्ठानम् ॥ १७५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चाण्डालानां स्त्रियस्तथा तदन्ये अन्त्यावसायिनो बाह्याः सूताद्याः तेषां स्त्रियः सकृदपि गत्वा तथा तेषामेवान्नचिरकालं भुक्त्वा तेभ्यः प्रतिगृह्य चात्यन्ताभ्यासेन बहुधनं महापातकितुल्यो भवति । ज्ञानात् कामात् साम्यं च तज्जातिप्रवेशमत्यन्तान्नाशे न तत्र प्रायश्चित्तमित्यर्थः ॥ १७५ ॥

(३) कुल्लूकः । चण्डालस्यान्त्यजानां च म्लेच्छशबरादीनामज्ञानतो ब्राह्मणः स्त्रियोगत्वा तेषां चान्नं भुक्त्वा तेभ्यः प्रतिगृह्य पतति । पतितस्य प्रायश्चित्तं कुर्यात् एतच्च गुरुत्वाच्चाभ्यासतो भोजनप्रतिग्रहविषयम् । ज्ञानात् तेषां स्त्रीगमनं कृत्वा समानतां गच्छति एतच्च प्रायश्चित्तगौरवार्थम् ॥ १७५ ॥

(४) राघवानन्दः । चण्डालश्चान्त्योयवनादिस्तयोः स्त्रियं गत्वा संभोग्यत्वेन । गोविन्दराजस्तु पानाशनादूर्ध्वपतति याजनादिभिस्तु ततोऽर्वागिति । अन्येतु पानाशनादिभिरब्देन न तु सद्यः याजनादिभिस्तु सद्यः । तथा च देवलबौधायनौ ॥ याजनं योनिः संबन्धं स्वाध्यायं सहभोजनं ॥ कृत्वा सद्यः पतन्त्येते पतितेन समं नराः ॥ संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् याजनाध्यापनाद्यौ नान्नसद्यः शयनासनात् । भुक्त्वा तेषामन्नं प्रतिगृह्य तेषामेव सुवर्णादि पतति पतितप्रायश्चित्तं कुर्यात् अज्ञानतोऽभ्यस्य । ज्ञानतोऽभ्यासे तु साम्यमिति प्रायश्चित्तगौरवार्थम् । न ह्यन्यजातेरन्यजातित्वं वस्तुतो घटते ॥ १७५ ॥

(५) नन्दनः । अन्त्यः पुलकसादिभिर्भुक्त्या चण्डालादीनां भोजनं तेभ्य एव प्रत्यगृह्य गमनभोजनप्रतिग्रहेषु समुचितेऽप्येतदित्यत्र प्रायश्चित्तमूहम् ॥ १७५ ॥

(६) रामचन्द्रः । अज्ञानतः पतति असकृद्भोजनप्रतिग्रहौ कृत्वेत्यर्थः सकृद्विप्रः ज्ञानात्साम्यंगच्छति ॥ १७५ ॥

विप्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता निरुध्यादेकवेश्मनि ॥ यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेत द्रुम् ॥ १७६ ॥

(१) मेधातिथिः । विशेषेण प्रदुष्टानि रुन्ध्यात्पत्नीकार्येभ्यो निर्वतयेत् अर्थस्य संग्रहे चैनामित्यादिभ्यः । एकवेश्मनीति निगडबन्धे कर्तव्यानस्वैरं भर्तृगृहे विहर्तुलभेत तत्र निरुद्धां प्रायश्चित्तं कारयेत् किंपुनर्यत्पुंसः परदारेषु प्रायश्चित्तमुपपातकं ब्राह्मणस्य तत्समानहीनज्ञातो यासु पारदार्यमिति वर्णान्तराणां तदेव । उत्तमागमने तु द्विगुणं वैश्यस्य त्रिगुणं ब्राह्मण्यां क्षत्रिय-

स्य तथायंविशेषोद्वेपरदारेत्रीणिश्रोत्रियस्येति । शूद्रस्य ब्राह्मणीगमने महापातकप्रायश्चित्तं वैश्यस्य क्षत्रियागमनउपपा-
तकंद्विगुणत्रिगुणं केचित्तुत्तमागमने शूद्रस्य ब्राह्मणीवदिच्छन्ति प्रातिलोभ्येवधःपुंसामितिलिङ्गदर्शनात् । एतदुक्तं दण्डेऽपि
विशेषोदशितः । यथैवोत्तमागमनेपुंसांव्यवस्था तथैव स्त्रीणांहीनजातीयपुरुषसंपर्कयुवतिदोषेऽपि स्त्रीणामर्धप्रायश्चित्तं ॥
प्रायश्चित्ताद्धर्महन्तिस्त्रिगोरोगिणएवच ॥ बालश्रावोडशादर्षादशोतिपरतःपुमान् ॥ तथादृष्टव्यभिचारायांगमनेलघीयः स्त्रै-
रिण्यांवृषल्यामवकीर्णः सचैल्लानादुदकुंभंदद्याद्ब्राह्मणाय । वैश्यायांचतुर्थकालाहारोब्राह्मणंभोजयेत् क्षत्रियायांत्रिरात्रो-
पोषणंयवाटकंदद्यात् वैश्यवदित्यपिस्मर्यते । तद्वच्छूद्रभार्यायांद्रष्टव्यं ऋतौवागच्छतोर्भमादधतोवा ॥ ब्राह्मणक्षत्रियविशां-
स्त्रियःशूद्रेणसंगताः ॥ अप्रजाताविशुध्येयुःप्रायश्चित्तेननेतराः ॥ अथवायाएतानकेनचिदूहन्ते वैश्येनचरन्ति तद्रमनेऽस्ति-
प्रायश्चित्तंनेतिसंदेहः । कुतःसंशयः दारशब्दस्यसंस्कारशब्दत्वात् असतिविवाहे नताअस्यदाराइतिव्यपदेशमर्हन्ति पा-
रदार्यैचप्रायश्चित्तमतोनास्तीत्यवगच्छामः यतस्तु स्वदारनिरतइतिनियमोविहितोऽतोभवतीतिमन्यामहे । किंपुनरत्रयुक्तम-
स्तीति कुतोऽनियमस्यविहितत्वात् अकुर्वन्विहितमित्यादितदतिक्रमे प्रायश्चित्तस्मरणात् । माभूनामोपपातकंनतावताप्रा-
यश्चित्तार्थमुपपातकजातिभ्रंशकरादिपरिगणितं सामान्यंतुनिमित्तंसर्वत्राकुर्वन्विहितमित्यादि । उक्तंच प्राक्स्वैरिणीत्यादि ।
ननुच मृतभर्तृपक्षेण पितृपक्षेणवासंबद्धैवपरदारव्यपदेशया अधिकामविहारित्वात्स्वैरिण्यः । सत्यवैश्यास्वपित्वात्तत्र्या-
वलंबनःस्वैरिशब्दोनिरुध्यते अतश्चतासांसचैल्लानोदकुंभादिदानं । तत्रकेचिदाहुः व्रतमेतत्तस्य व्रतमित्युपक्रमस्य व्र-
तानीमानिधारयेदितिच यानिविहितानितानिस्नातकव्रतानि नसर्वपुरुषधर्मः ॥ १७६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विप्रदुष्टांविशेषेण महापातकादन्येन प्रायश्चित्तापनोद्यदोषपरपुरुषगमनेन प्रदुष्टां निरु-
न्ध्यात् गृहकर्मदिभ्योनिवर्तयेत् । एकवेश्मनि त्वनिवासगृहे भूयोव्यभिचारनिरासार्थम् । यत्पुंसस्तत्तदुपाधिविशेषनिब-
न्धनं परदारेषुगमने व्रतमुक्तं तदेनां चारयेत् । एतच्च सवर्णागमने । उत्तमाधमवर्णागमनेतु क्रमादल्पं महच्च प्रायश्चित्तं
स्मृत्यन्तरसिद्धं ग्राह्यम् ॥ १७६ ॥

(३) कुल्लूकः । विशेषेण प्रदुष्टामिच्छया व्यभिचारिणीमित्यर्थः । भर्ता निरुन्ध्यात्पत्नीकार्येभ्योनिवर्त्य निगडबद्धा-
मिवैकगृहे धारयेत् यच्च पुरुषस्य सजातीयपरदारगमने प्रायश्चित्तंतदेवैनांकारयेत्ततश्च स्त्रीणामर्धप्रदातव्यमिति यद्वसिष्ठा-
दिभिरुक्तंतदनिच्छया व्यभिचारे च कर्तव्यम् ॥ १७६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच विप्रेति । विप्रदुष्टामिच्छातोव्यभिचारिणीम् । एकेमुख्यान्यकेवलाइत्यभिधानादन्य
आत्मवेश्मनि । परदारेषु यद्वतं सजातीयेषु एनां व्यभिचारिणीं तद्वतं कारयेत् । तथाच विष्णुः । अविद्यमाने सर्वस्वमि-
त्युपक्रम्य एतदेवव्रतं कुर्युरुपपातकिनो नराइत्युपसंदृत्य स्त्रीणामर्धप्रदातव्यमित्याह अतः सर्वस्वार्थं व्रतम् ॥ १७६ ॥

(६) रामचन्द्रः । विप्रदुष्टां व्यभिचारिणीम् । यद्वतं पुंसःपरदारेषु तद्व्रतमेनां संचारयेत् ॥ १७६ ॥

सा चेत्पुनःप्रदुष्येत्तु सदृशेनोपयंत्रिता ॥ रुच्छं चांद्रायणंचैव तदस्याःपावनंस्मृतम् ॥ १७७ ॥

[ब्राह्मणक्षत्रियविशांस्त्रियः शूद्रेऽपसङ्गताः ॥ अप्रजाताविशुध्येयुः प्रायश्चित्तेन नेतराः ॥ १ ॥]⁺

(१) मेधातिथिः । प्रार्थितासमानजातीयेनपुनःसंसर्गंचांद्रायणमुपपातकत्वात्सिद्धं गोघ्ननिवृत्त्यर्थंपुनश्चांद्रायणविधा-
नंसाकल्यविधानार्थयावच्चैवमुक्तं ॥ मातामातृवसाश्वश्रूमातुलानि पितृवसा ॥ पितृव्यसखिशिष्यस्त्रीभगिनीतत्सखीरूपा ॥

दुहिताचार्यभार्याच सगोत्राशरणागता ॥ राज्ञीप्रव्रजितासाध्वीधात्रीवर्णोत्तमा चया ॥ अत्रसत्यप्यतिदेशेन तुल्यप्रायश्चित्तता दण्डविशेषदर्शनात् । तत्र मातर्युक्तमेव मातृष्वसृप्रभृतीनांदुहितृन्तानांरुच्छाब्दोऽवशिष्टानांचान्द्रायणाभ्यासस्तत्रयाउक्ता-
स्ताःसगोत्राउच्यन्ते तज्जातीयास्तेन व्यपदिश्यन्ते । उपायस्मैदत्तास्तद्गोत्रादित्युभयेनेत्याह उभयथालिङ्गदर्शनात् गोत्रवंशः
पित्रादिरभिजनः प्रबन्धाच्च पितृष्वसृग्रहणमनर्थकं असगोत्राहिसा अथयेनैकतांगतास्तद्भावमनुभवन्ति तदाभर्तृगोत्रव्यप-
देशार्हास्तस्मिन्पक्षे पितृव्यस्त्रीग्रहणमनर्थकं भवतिहि सा सगोत्रा नन्वियंकस्येति लिङ्गाभावादुभयोरपि युक्तासर्वेषान्तुद-
र्शनंभर्तृगोत्राः सगोत्राः यत्तु कैश्चिदुच्यते श्राद्धविधौतुकुर्वन्पैत्रिकंगोत्रमिति तत्तत्रैवास्ति अथवाप्यस्तिवचनात्तथाक्रियते
॥ १७७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । साचेत्पुनर्द्वितीयवारे प्रदुष्येत् सदृशेन सवर्णेन उपयन्त्रिता प्रापिता । एतेनाकामरु-
तामुपलक्षयति । रुच्छं प्राजापत्यं तथा चान्द्रायणं पूर्वोक्तप्रायश्चित्तकरणानन्तरमधिकंकार्यमित्यर्थः ॥ १७७ ॥

(३) कुल्लूकः । सा स्त्री सजातीयगमने सकृदुष्टा कृतप्रायश्चित्ता यदि पुनः सजातीयेनाभ्यर्चिता सती तद्रमनं-
कुर्यात्तदास्याः प्रायश्चित्तप्राजापत्यंरुच्छंचान्द्रायणंच मन्वादिभिः स्मृतम् ॥ १७७ ॥

(४) राघवानन्दः । साकृतप्रायश्चित्तापि । उपयन्त्रिता निरुद्धापि । पुनर्दुष्टाकुर्यात्तुल्लूचान्द्रायणे सकृदसकृदपेक्षे
॥ १७७ ॥

(५) नन्दनः । सदृशेन समानवर्णेन उपयन्त्रितोपहृता ॥ १७७ ॥

(६) रामचन्द्रः । सदृशेन सवर्णेन पुरासाचेत्पुनः उपयन्त्रिताप्रार्थिता ॥ १७७ ॥

यत्करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनाद्विजः ॥ तद्भैक्षभुग्जपन्नित्यन्त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति ॥ १७८ ॥

(१) मेधातिथिः । वृषल्यत्रचण्डाल्यभिप्रेता महत्त्वाद्विरभ्यासेचेदुद्धिपूर्वेद्रष्टव्यं अन्यथारुच्छाब्दएवंवा एकरात्रग्र-
हणात् । सर्वारान्त्रिंशयनस्य तथा सहगच्छतश्चैतद्विज्ञेयं । सेवनसंभोगः वृषलीशब्दोनिन्दया प्रयुक्तोनजातिशब्दे । यत्करोति
तत्पापंजनयति तत्त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति विनाशयति भैक्षाहारोजपन्नित्यविशेषचोदनायांभावी आहुपरंचनास्तीत्याहुः । अ-
न्येतु यथाश्राद्धमन्यानिमत्तब्राह्मणवाच्यानि नतुलौकिकंवाच्यमविशेषेणमत्तजपस्य शुद्ध्यर्थंविहितत्वाद्दक्षसंहितामि-
त्यादि यत्तु त्रिभिर्मासैः सेवित्वावृषलींशूद्रामेवाचक्षते तदप्ययुक्तंशूद्राविवाहस्याविहितत्वात् । त्वैरिण्याश्चलघुप्रायश्चित्त-
स्योपदेशादन्यस्याश्रोपपातकत्वादुत्तरमिदमयुक्तम् ॥ १७८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यत्करोतिपापम् । वृषली शूद्रा शूद्रायाःसेवनेद्विजइतिपुराणेवसिष्ठेनोक्तत्वाच्च । अत्रच
सेवमानइत्यत्रोत्पन्नगुणं गर्भाधानकारणं मैथुनमुक्तं वृषलीमभिप्रजातस्त्रीणिवर्षाणीतिस्मृत्यन्तरात् । भैक्षभुक् चतुर्थकालः
तिस्मृत्यन्तरात् । जपन् गायत्रीम् ॥ १७८ ॥

(३) कुल्लूकः । वृषल्यत्र चण्डालीप्रायश्चित्तगौरवात् चण्डालीगमने यदेकरात्रेण ब्राह्मणः पापमर्जयति तद्भैक्षाशी
नित्यंसावित्र्यादिकंजपन् त्रिभिर्वर्षैरपनुदति । तथाचापस्तम्बः यदेकरात्रेण करोति पापंरुष्णंवर्षंब्राह्मणः सेवमानः च-
तुर्थकालउदकआत्मजापीभैक्षचारीत्रिभिर्वर्षैस्तद्व्यपोहति पापम् । मेधातिथिस्तु इत्थमेव व्याख्यातवान् । गोविन्दराजस्तु
अक्रमपरिणीतशूद्रागमनप्रायश्चित्तमिदमाह ॥ १७८ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्चान्यदपि । वृषली गोष्ठी चाण्डाली प्रायश्चित्तगौरवात् । जपन् सावित्रीम् । तथाचाप स्तम्बः । यदेकरात्रेण करोति पापं कृष्णवर्णब्राह्मणः सेवमानः अम्भोधिवासे नचतुर्थभक्तस्त्रिभिर्वर्षैस्तदपहन्ति पापमिति ॥ गोविन्दराजेन तु अक्रमपरिणीतशूद्रागमनविषयकमुक्तं वृषलीफेनपीतस्येत्याद्यपि तथैव व्याख्यातम् ॥ १७८ ॥

(५) नन्दनः । यत्पापं आप्याअब्दैवत्य आपोहिष्ठेत्यादिकाः ॥ १७८ ॥

(६) रामचन्द्रः । वृषली सेवनं गर्भजनकं तन् भैक्ष्यभुक् चतुर्थकालेभिक्षान्नभुक् गायत्रीजपन्नित्यम् ॥ १७८ ॥

एषा पापकृतामुक्ता चतुर्णामपि निष्कृतिः ॥ पतितैः संप्रयुक्तानामिमाः शृणुत निष्कृतीः ॥ १७९ ॥

(१) मेधातिथिः । ऋज्वर्थः श्लोकः ॥ १७९ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । चतुर्णामपीत्यपिशब्दउपपातकसंग्रहाय । निष्कृतीनिष्कृतयुक्ताः ॥ १७९ ॥

(३) कुट्टुकः । इयं हिंसाऽभक्ष्यभक्षणस्तेयागम्यागमनकारिणांचतुर्णामपि पापकृतांविशुद्धिरुक्ता इदानींसाक्षात्पापकर्तृः सहसंसर्गिणामिमावक्ष्यमाणाः संशुद्धीः शृणुत ॥ १७९ ॥

(४) राघवानन्दः । अगम्यागमनप्रायश्चित्तमुपसंहरन्संसर्गजप्रायश्चित्तमाहृषेतित्रिभिः । निष्कृतिरुक्ता । संप्रयुक्तानां यौनादिसवन्धनां निष्कृतीः शृणुतेत्यन्वयः । तत्रद्वितीयेन पातित्यकारणं ज्ञापयन् संबन्धानुवदनं तृतीयेन प्रायश्चित्तव्यवस्थितिरितिभेदः ॥ १७९ ॥

(५) नन्दनः । चतुर्णावर्णानां विप्रादीनां पतितैरितैश्चतुर्भिः संसर्गिणां इमावक्ष्यमाणाः ॥ १७९ ॥

(६) रामचन्द्रः । एषानिष्कृतिः चतुर्णावर्णानांपापकृतांउक्ता । पतितैःसह युक्तानां इमाः वक्ष्यमाणलक्षणानिष्कृतीः शृणुत ॥ १७९ ॥

संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् ॥ याजनाध्यापनाद्यौनान्तु यानासनाशनात् ॥ १८० ॥

(१) मेधातिथिः । द्विजातिकर्मभ्योहानि पतत्यर्थः पततिअश्रयति हीयतेऽधिकारात् । पतिताश्चत्वारोब्राह्मणादयः । तैःसहाचरन् संवत्सरेण पतितोभवति तत्तुल्योभवतीत्यर्थः । किमाचरन् यानासनाशनसंलापगात्रस्पर्शादिना सहागमनमासनं तादृशमेव शय्यायामेकस्मिन्नासन आसनमेकपात्रे भोजनंयाजनाध्यापनाद्यौनाकृत्वाप्यविच्छेदः । किंयाजनादिभिर्नच पातित्यमथार्वाकंसंवत्सरादूर्ध्ववेत्येतद्वक्तव्यं स्मृत्यन्तरदर्शनादिभिः सद्योयाजनाध्यापनमिति द्वितीयान्तपाठोयुक्तः । आचरन्निति । शत्राहेत्वर्थस्यगमितत्वात् ॥ १८० ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । संवत्सरेण संवत्सरकृतेन सहाचरणेनेत्यर्थः । पतति पातकितुल्योभवति । सहाचरन् संसर्गेण प्रवर्तमानः । याजनाध्यापनादिति तंयाजयति तेनवा याज्यते एवं तमध्यापयति तेनवाध्याप्यते । तथा पति-तयास्त्रिया पतितेन पुंसा वा सह मैथुनेन पुमान् स्त्री वा संगृह्यतइत्यर्थः । केचित्तु ब्राह्मण्यौनांश्च संबन्धानिति विवाहे-पि यौनपदप्रयोगात्तस्याप्यत्र यौनपदेन संग्रहमिच्छन्ति तत्रच संवत्सरेणेति तत्कृत्वा अरुतप्रायश्चित्तस्य वासेनावस्था-नेनेत्यर्थः । नतुयानिति । सहयानसहासनाभ्यां सहाशनेनचैकपक्तिभोजनेन संवत्सरंक्रियमाणेन नपतति नतत्तुल्योभवति किंतु चतुरोवत्सरांस्तत्करणेनैवेत्यर्थः । चतुर्वत्सरनियमश्च बलाद्गृहीतोम्लेच्छाद्यैरित्यादिदेवलस्मृतिदर्शनादुन्नेयः ॥ १८० ॥

(३) कुट्टुकः । पतितेन सहसंसर्गमाचरन्नेकयानगमनएकासनोपवेशनएकपङ्क्तिभोजनरूपान्संसर्गानाचरन्संवत्सरेण पतति । नतु याजनाध्यापनाद्यौनात्संवत्सरेण पतति किंतुसद्यएवेत्यर्थः । अध्यापनमत्रोपनयनपूर्वकंसावित्रीश्रावणं । याज-

नादीनांच सद्यः पातित्यमाह देवलः ॥ याजनं योनि संबंधं स्वाध्यायं सह भोजनम् । कृत्वा सद्यः पतन्त्येते पतितेन न संशयः ॥ विष्णुः ॥ आसंवत्सरात्पतितपतितेन सहाचरन् ॥ सहयानासनाभ्यासाद्यौनात्तु सद्यएवहि ॥ बौधायनः ॥ संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् ॥ याजनाध्यापनाद्यौनात्सद्योन शयनासनादिति ॥ गोविन्दराजस्तु याजनादीनां त्रयाणां संवत्सरेण पातित्यहेतुत्वं सहासनादीनां लघुत्वान्न संवत्सरेण कितु तस्मादूर्ध्वमपीति व्याचष्टे अस्मदीयमनुव्याख्यामुनिव्याख्यानुसारिणी नैनां गोविन्दराजस्य कल्पनामनुरुद्धमे ॥ १८० ॥

(४) राघवानन्दः । नतु संवत्सरा [न्तरेपतति । तदा हतुर्देवलबौधायनौ ॥ याजनं योनि संबंधं स्वाध्यायं सह भोजनम् । कृत्वा सद्यः पतन्त्येते पतितेन समंनरादिति ।]^१ अत्र सह भोजनमेकपात्राभ्यासपरम् । एतत्समुदितानां प्रत्यहमभ्यासे । मनूक्तं त्वसमुदितान्तरायपरम् । अन्यथामनुविरोधे सर्वाः स्मृतयोऽप्रमाणम् ॥ १८० ॥

(५) नन्दनः । याजनादीनि संवत्सरमाचनपतति ॥ १८० ॥

(६) रामचन्द्रः । पतितेन सह यानाशनानि कुर्वन् संवत्सरेण पतितो भवति । याजनाध्यापनात् यौनात् विवाह-संबन्धात् संवत्सरेण न पतति किंतु सद्यएवपतति ॥ १८० ॥

योयेन पतितेनैषां संसर्गयाति मानवः ॥ सतस्यैव व्रतंकुर्यात्तत्संसर्गविशुद्धये ॥ १८१ ॥

(१) मेधातिथिः । यस्य पतितस्य यद्विहितं तत्प्रायश्चित्तंकुर्यात्तत्संसर्गस्य शुद्धये । एषामिति निर्धारणेषष्ठो । एषां पतितानां येन पतितेन यः संसर्गयाति पूर्वोक्तसंसर्गगच्छति सतस्यैव पतितस्य यद्विहितं प्रायश्चित्तं तत्कुर्यात् । तत्संसर्गाद्यो दोष-उत्पन्नस्तद्विशुद्धये तद्विनाशाय । अनुवादोऽयं श्लोकपूरणः । अथ यदिदमुच्यते पतितात्याग्यपतितात्यागीत्यादिनिन्दितकर्माभ्यासेन पतनं तत्र यदेतत्पतितत्ववचनं तत्किमुपदिश्यत आहोस्विदिति दिश्यते । यदि तावदुपदिश्यते पंचपातकानीति प्रसिद्धमूलं वाच्यं अथ पंचानुगमौपदेशिकमन्येषामातिदेशिकैर्व्यवहारे भेदेन कश्चिदर्थः । तान्येव प्रायश्चित्तानि तएव धर्मा यस्मा-उपदिश्यते अतिदेशेन व्यवहारेण कोऽर्थः । अत्रोच्यते न व्यवहाराः प्रयोजन एव भिद्यन्ते अपित्वन्यतोपि निमित्तादिह चास्ति-प्रमाणतो भेदः । यत्र पतितत्वमभिधाय द्विजातिकर्मभ्यो हानिः पतितस्योदककार्यमित्याद्यभिधीयते सकृत्त्वधर्माभिधानादु-पदेशः । यत्र तु तत्संबन्धवचनान्नामालिङ्गसंयोगाद्वा तद्धर्मप्राप्तिः सोऽतिदेशः । सूर्याग्निपदयोर्न हि सौर्गिकश्चिद्धर्मः श्रुतो येना-तिदेशे सत्ययं विशेषोऽस्ति निश्चीयते तदसत् यतः सूर्यादिशब्दस्यैव प्रभुता अकृतत्वाद्देवस्यायं पारुषेयोऽग्रन्थः पुरुषश्चास-ति भेदे किमिति व्यवहारं न वं प्रवर्तयति यातु प्रत्यक्षानुमानाभ्यां बाधकाभावात्सिद्धिः सात्र कदाचिदुपलभ्यते योप्यभ्यासः सो-पि द्विरावृत्तिस्तत्र ततः प्रवृत्तिः आवृत्तिशतेष्वभ्यासरूपतयैकएवति । लोके तावदावृत्तिमात्रमभ्यासः तत्र योपि द्विरपवादः यो-पिशतकृत्वः तौ द्वावपि प्रायश्चित्ते समौ स्यातां निन्दितं च कर्म प्रतिषिद्धं तत्र योपि द्विर्देवासुप्याद्योपि ग्रासकृद्द्वन्यात्तत्र निन्दितकर्माभ्यासेऽविशेषेण पतनप्राप्तिस्तस्माद्विचिन्त्यमेतत् किमत्र चिन्त्यते पंचानां तावत्पातकित्वं सर्वस्मृतिकारैरुच्यते । अन्येषां केषांचित्समत्वं तदुभयमपि बाधितुं तत्र विशेषो नास्तीति संकल्प इष्यते । शर्किचावेक्ष्य पापं चेति । न हि तस्य तत्स-दृशस्येति वा एकत्वं युक्तं गोर्गवयस्येव अथ केषांचिद्धर्मणां भेदः केषांचिदेकत्वे सादृश्यं भवति । तस्मात्तत्समानां पतित्वं भव-ति । अतः किंचिदूनं तत्समानां पतितप्रायश्चित्तं अधिकारागमेकैचिद्विशेषमाहुः । श्रौतेष्वधिकरो निवर्तते साक्षान्स्मार्तैषु । यदप्युक्तं द्विरावृत्तौ शतकृत्वश्चाभेदो न स्यादिति तत्राप्यभ्यासानां भेदः कथं तुल्यप्रत्यवायता । यदपि दिवास्वप्नगोवधयोर्निन्दि-तत्वाविशेषात्तदभ्यासे तुल्यं पतितत्वमिति कथमविशेषो निर्दायाय त्रार्थवादेषु प्रत्यवायविशेषः श्रूयते । प्रायश्चित्तबहुत्वं बाहु-

ल्येपि प्रतिषेधे तत्रायंविधिः । निन्दितकर्माभ्यासे पतनमिति नप्रतिषिद्धमात्रे तथाच पूर्णवानसीति सत्यपिनिन्दितकर्माभ्यासे नैवपातित्यमस्ति । १८१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संवत्सरादिना तत्साम्यापत्तौ प्रायश्चित्तमाह योयेनेति । येन यत्पातकवता संसर्गस्तत्साम्यापत्तिहेतुकालपर्यन्तं व्रतदानद्वादशवार्षिकादि नतु मरणमपि । अतः कामकृते संसर्गे येन यत्पातकिनापि संसृज्यते तत्तुल्योभवति । अकामतोऽर्धम् ॥ १८१ ॥

(३) कुड्डूकः । पतितशब्दोऽयं पापकारिवचनः सकलपापिनामविशेषपाठात् एषांपतितानांमध्ये योयेन पापकारिणा सह पूर्वोक्तसंसर्गकरोति सतस्यैव व्रतरूपंप्रायश्चित्तंकुर्यान्नतु मरणान्तिकमित्यभिहितं तदपि व्रतंसंसर्गिणाक्रियमाणंब्रह्मद्वादशसमाइत्यादिकंपादहीनकर्तव्यम् । तथा च व्यासः ॥ योयेन संसृजेद्वर्षसोपि तत्समतामियात् ॥ पादन्यूनंचरेत्सोपि तस्य तस्य व्रतं द्विजः ॥ १८१ ॥

(४) राघवानन्दः । तस्यैव ब्रह्महत्यादेः । व्रतं द्वादशवार्षिकादिकं ॥ १८१ ॥

(५) नन्दनः । तेषांपातकिनांमध्ये येन तस्य पतितस्यैव व्रतप्रायश्चित्तम् ॥ १८१ ॥

(६) रामचन्द्रः । एषां पतितानांमध्ये येन पतितेन संसर्गमानयति सः संसर्गी तस्यैव पतितस्य व्रतं कुर्यात् तस्य संसर्गस्य शुद्धये ॥ १८१ ॥

पतितस्योदकंकार्यंसपिण्डैर्बान्धवैर्वहिः ॥ निन्दितेऽहनि सायाह्ने ज्ञात्यृत्विगुरुसन्निधौ ॥ १८२ ॥

(१) मेघातिथिः । जीवतएवपतितस्यप्रायश्चित्तमनिच्छतोऽघटोदकदानंमृतस्येवकर्तव्यमुच्यते । सपिण्डाः सममपुरुषावधयः एकवंश्यास्ततोऽन्ये बान्धवाः सगोत्राश्चनिन्दितेऽहनि चतुर्दश्यादौ सायाह्नेऽस्तमितेरवौ ज्ञात्यृत्विक् ज्ञात्या दयःकर्तृणां तथापतितस्य ॥ १८२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पतितस्योदकं पातित्येन संबन्धात्प्रच्युतस्य पृथक्करणार्थं वैधं कर्म । बान्धवैः सपिण्डैः संबन्धिभिः । निन्दिते विष्ण्वादौ सायाह्नेऽपराह्णे । ज्ञातिः समानोदकादिः गुरुपाध्यायादिः पतितस्यतत्संनिधौ तैःसह संभूयेत्यर्थः ॥ १८२ ॥

(३) कुड्डूकः । महापातकिनेऽजीवतएव प्रेतस्योदकक्रियावक्ष्यमाणरीत्या सपिण्डैः समानोदकैश्च ग्रामाद्वहिर्गत्वा ज्ञातिकृत्विक्गुरुसन्निधाने रिक्तायां नवम्यां तिथौ दिनान्तेकर्तव्या ॥ १८२ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्संसर्गभिरूणां कर्तव्यमाह पतितस्येतिचतुर्भिः । जीवतएव संबन्धत्यागात्प्रेतस्य । निन्दिते नवम्यादितिथौ । सपिण्डैः पुत्रादिभिः ज्ञात्यादिसन्निधौ ॥ १८२ ॥

(५) नन्दनः । अथ पतितेषुसपिण्डैः कर्तव्यमाह पतितस्येति ॥ १८२ ॥

(६) रामचन्द्रः । सपिण्डाएकवंश्याः ततोऽन्येबान्धवाः निन्दिते वृष्यादियुक्ते पतितस्य निराकरणार्थमुदकंकार्यं कृत्विगुरुसंनिधौ ॥ १८२ ॥

दासीघटमपांपूर्णपर्यस्येतवत्पदा ॥ अहोरात्रमुपासीरन्शौचंबान्धवैः सह ॥ १८३ ॥

(१) मेघातिथिः । प्रेतवदिति कर्तव्यतोपदेशोऽयं दासीप्रेष्योदकुंमंपदापादेनपर्यस्येतक्षिपेदिदममुष्माइति । क्षिमेतस्मिन् अहोरात्रमाशौचंयुक्तं बान्धवैःसह तथासीरन्नेकव्रस्थाने निवसेयुस्तदहः । दासीग्रहणात्स्वयंकरणंनिषधति । यद्येवंज्ञात्यृत्विक्गुरुसन्निधावित्यस्वयंकरणपक्षेज्ञातीनां सपिण्डानांचकोविशेषोऽन्येनोच्यतेऽतएषांसंनिधानेनकर्तव्यमिति । यावतासर्व-

एवसन्निधानमात्रेणोपकुर्वन्ति तस्यासन्निपात्योपकारत्वात् । नैतदेवंसपिण्डादयः प्रयोजकत्वेनकर्तारः ज्ञात्यादयस्तु सन्निधाप्यन्ते केवलमदृष्टायेति ॥ १८३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । घटं पुराणं अग्नेनवमितिवक्ष्यमाणत्वात् । अपामशुद्धानाम् । पर्यस्येदावर्तयेत् । प्रेत्यवत् प्रेताहंजलदानवत् दक्षिणामुखत्वादिधर्मेण । प्रेतवदितिकचित्पाठः । तदा सव्येन स्मृत्यन्तरात् । आशौचं कर्मानधिकारम् । बान्धवैःसहेत्यत्र सपिण्डानामन्येषांच तुल्याशौचार्थम् ॥ १८३ ॥

(३) कुल्लूकः । सपिण्डसमानोदकप्रयुक्ता दास्युदकपूर्णघटंप्रेतवदिति दक्षिणाभिमुखीभूय पादेन क्षिपेत् यथासन्निरुदकोभवति तदनु ते सपिण्डाः समानोदकैः सहाहोरात्रमशौचमाचरेयुः ॥ १८३ ॥

(४) राघवानन्दः । पर्यवस्येत् पदा वामेन क्षिपेत् । प्रेतवदक्षिणाभिमुखा भूत्वेत्यर्थः । उपासीरन् कुर्युः । बान्धवैर्मर्तुलादिभिः १८३ ॥

(५) नन्दनः । प्रेतवत्प्रेतस्येव अनेन दक्षिणापवर्गादिर्कंगृह्यते उपासीरन्ङ्कीकुर्युः बान्धवाज्ञातयः ॥ १८३ ॥

(६) रामचन्द्रः अपांपूर्णं दासीघटं दास्याःशिरसिघटं आदाय प्रेतवत् प्रेताहंजलदानवत् पर्यस्येत् आवर्जयेत् । सादासीवेगेन ग्रामाद्वहिर्गत्वा तत्कुंभस्यजलेन तर्पणं बान्धवैःकार्यम् । योगीश्वरः ॥ दासीकुम्भंबहिर्ग्यामान्नियेरन्त्वबान्धवाः । पतितस्य बहिः कुर्युः सर्वकार्येषु चैव तम् ॥ बान्धवैःसहाहोरात्रमासीरन् ॥ १८३ ॥

निवर्तेरंश्च तस्मात्तु संभाषणसहासने ॥ दायाद्यस्य प्रदानंच यात्रा चैव हि लौकिकी ॥ १८४ ॥

(१) मेधातिथिः । कृतोदकेयथावर्तितव्यं तथेदानीमुच्यते संभाषणमितरेतरमुक्तिप्रत्युक्तिरूपोव्यवहारः दायाद्यंधनंतदपितस्मै नदातव्यलौकिकीयात्रासंगतयोः कुशलप्रश्नादिका विवाहादौ नैमित्ते गृहानयनंभोजनंचेत्येवमादि । ननुच संभाषणप्रतिषेधा देवैषुनिवृत्तिः सिद्धेवा । अभ्युत्थानासनत्यागस्यापि निवृत्तिरूपस्यसंभवात् । संभाषणंतुशब्दात्मकमेव ॥ १८४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । निवर्तेरन् निवर्तयेयुः । नकुर्वीतेतिकचित्पाठः । लौकिकीयात्रां तद्गृहगमनादि ॥ १८४ ॥

(३) कुल्लूकः । तस्मात्पतितात्सपिण्डादीनांसंभाषणमेकासनोपवेशनंच तस्मै ऋक्थप्रदानंसांवत्सरिकादौ निमन्त्रणादिरूपोलोकव्यवहारएतानि निवर्तेरन् ॥ १८४ ॥

(४) राघवानन्दः । दायाद्यस्यांशस्य । लौकिकी गुरुंपरिचरेदित्याद्युक्ता ॥ १८४ ॥

(५) नन्दनः । तस्मात्कृतोदकात्पतितात् आद्यशब्देन प्रेतपिण्डादिकमुच्यते ॥ १८४ ॥

ज्येष्ठता च निवर्तेत ज्येष्ठावाप्यंच यद्धनम् ॥ ज्येष्ठांशंप्राप्त्याच्चास्य यवीयान्गुणतोऽधिकः ॥ १८५ ॥

(१) मेधातिथिः । ज्येष्ठावाप्यंचयद्धसु अत्रापिचोद्यते दायाद्यदाननिषेधाज्येष्ठप्राप्त्यवसुनोधनस्य सिद्धएवनिषेधः । केचिदाहुर्गुणतोधिकस्ययवीयसस्तदंशप्राप्त्यर्थमनूद्यते । अन्येतुमन्यन्ते दायाद्यशब्देन धनमात्रमुच्यते नान्वयागतमेव तथाचाभिधानकोशेदायाद्यंधनमिष्यतइति । स्मर्यते अतोयं तस्मात्केनचिद्गुणत्वेनगृहीतंतेनापितन्मदातव्यंकिंताहिकर्तव्यंपुत्रभ्रात्रादिरिक्थहारिणामर्पणीयम् । अन्येतुमन्यन्ते अविभक्तधनानादायाद्यंधननिषेधः कृतेतु विभागउद्धारस्येवज्येष्ठांशस्यैवोच्छेदः । सत्त्वपिपुत्रेषूद्धारंवर्जयित्वाऽन्यस्यपुत्राएवेशते ॥ १८५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ज्येष्ठावाप्यस्याप्राप्तनिषेधानुवादस्तदव्यवहितकनिष्ठस्य तत्प्राप्त्यर्थः ॥ १८५ ॥

(३) कुल्लूकः । ज्येष्ठस्य यत्प्रत्युत्थानादिकं कार्यं तत्तस्य न कार्यं ज्येष्ठलभ्यं च तस्य विंशत्युद्धारादिकं धनं न देयं । यद्यपि ऋक्थप्रदानप्रतिषेधादेवाप्युद्धारप्रतिषेधः सिद्धस्तथापि यवीयसस्तत्प्राप्त्यर्थमनूद्यते तस्यैव ज्येष्ठस्य संबन्धिधनं सोद्धारांशं तदनुजोगुणाधिको लभते ॥ १८५ ॥

(४) राघवानन्दः । ज्येष्ठावाप्यंतमुद्धारमेतदनुवदन्मनुजस्य ज्येष्ठत्वविधानार्थम् ॥ १८५ ॥

(६) रामचन्द्रः । च पुनः ज्येष्ठावाप्यं च यद्वस्तु तत्प्राप्तोति ॥ १८५ ॥

प्रायश्चित्ते तु चरिते पूर्णकुम्भमपांनवम् ॥ तेनैव सार्धप्राप्त्येयुः स्नात्वा पुण्ये जलाशये ॥ १८६ ॥

(१) मेधातिथिः । कृतप्रायश्चित्तस्येदानीमुदकक्रियोच्यते तेनैव सार्धस्नात्वा जलाशये पुण्यस्रवन्त्यां महाह्रदे-
वाप्रभासमानसादौ वा तीर्थविशेषे कृतस्नानोऽपां कुम्भं न वंस्त्वयं प्राप्त्येयुः । कुम्भग्रहणाद्वासीग्रहणाच्चात्र पूर्वत्रोपयुक्तस्य क्रियासुकुं-
भस्य ग्रहणं उदकेन पूरयित्वा हरणमुक्तम् ॥ १८६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पतितस्वीकारविधिमाह प्रायश्चित्तेति । तेनैव कृतप्रायश्चित्तेन । जलाशये स्नात्वा प्रा-
प्त्येयुः क्षिपेयुः ॥ १८६ ॥

(३) कुल्लूकः । कृते पुनः पतितेन प्रायश्चित्ते सपिण्डसमानोदकास्तेनैव कृतप्रायश्चित्तेन सह पवित्रे जलाधारे
स्नात्वा जलपूर्णं न वंघटं प्रक्षिपेयुः । इह न वंघटग्रहणाद्वासीघटमित्यत्र कृतोपयोगिघटः प्रतीयते ॥ १८६ ॥

(४) राघवानन्दः । कृतप्रायश्चित्तं प्रति कर्तव्यमाह प्रायश्चित्तेति । प्राप्त्येयुः क्षिपेयुः पुत्राद्याः । अत्र नवमिति वि-
शेषणात्पूर्वं पुरातनं ज्ञेयम् ॥ १८६ ॥

(५) नन्दनः । तेन चीर्णप्रायश्चित्तेन प्राप्त्येयुः ज्ञातयः ॥ १८६ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रायश्चित्ते चरिते कृते पुण्ये जलाशये स्नात्वा अपां पूर्णं कुम्भं न वं आदाय तेनैव कृतप्रायश्चित्तेन
सार्धं प्राप्त्येयुः ॥ १८६ ॥

सत्त्वप्सु तं घटं प्रास्य प्रविश्य भवनं स्वकम् ॥ सर्वाणि ज्ञातिकार्याणि यथापूर्वं समाचरेत् ॥ १८७ ॥

(१) मेधातिथिः । पुनरसौ घटः प्रक्षेप्य इत्याह यात्त्वप्सु स्नातास्तास्त्रेव घटः प्रक्षेप्यः । ततस्तत्पुरस्कृत्य तदीयं
भवनं प्रविशेयुः । ततो यथापूर्वं संभोजनादीनि ज्ञातिकार्याणि प्रवर्तयेयुः । अन्येतु सकृत्प्रायश्चित्त इति संबध्नन्ति । घटप्राप्तं
तेनैव कर्तव्यमेषाचास्य पतितोदकक्रिया नान्यस्य त्याज्यस्य । त्यजेच्चेत्पितरं राजघातकं सुयाजकमित्यादेः ॥ १८७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ज्ञातिकार्याण्येकज्ञातिषु कर्तव्या न्यभिवादनादीनि ॥ १८७ ॥

(३) कुल्लूकः । सकृत्प्रायश्चित्तस्तत्पूर्वोक्तघटं जलमध्ये क्षिप्त्वा ततः स्वकीयभवनं प्रविश्य यथापूर्वं सर्वाणि ज्ञातिक-
र्माणि कुर्यात् ॥ १८७ ॥

(४) राघवानन्दः । ततः किं नु कुर्यादित्याह सत्विति । स्वकमित्युपलक्षणं दायादादेतदवाप्यानि सर्वाणि ज्ञाति
कार्याणि सह भक्षणादीनि समाचरेत्कुर्यात् ॥ १८७ ॥

(६) रामचन्द्रः । सः पुरुषस्तं घटमप्सु प्रास्य स्वकं भवनं प्रविश्य यथापूर्वं ज्ञातिकार्याणि समाचरेत् ॥ १८७ ॥

एतमेव विधिकुर्याद्योषित्सु पतितास्यपि ॥ वस्त्रान्नपानदेयंतु वसेयुश्च गृहान्तिके ॥ १८८ ॥

(१) मेधातिथिः । योषित्सु स्त्रीष्वपि पतितास्त्वेष एव विधिः पतिताः स्वकृतप्रायश्चित्तासु च ताभ्यस्तुरुतोदकाभ्यो-
पिवस्त्रान्नं दातव्यं दानग्रहणात् । वस्त्रान्ने शरीरस्थितिमात्रसंपादिनी दातव्येन भोगादयः । पानमौचित्यादुदकं तच्च प्राचुर्यादिद-
त्तमपिलभ्यते । वचनंतु परानुरोधादपि स्वांतस्त्रेण वानुमासं न देयं यादृशं च पानं तादृशे एव वस्त्रान्नेऽतो निरुष्टं वस्त्रं चान्नं दातव्यं ।
तथोक्तं ॥ दत्ताधिकारं मलिनां पिण्डपात्रोपजीविनीं ॥ परिभूतामधःशय्यां वा सयेद्यभिचारिणीं ॥ पातित्यहेतवश्च स्त्रीणां य-
वमनुष्यस्य यत्तु भूणहनिहीनवर्णसेवायां न च स्त्रीणामधिकं भूणहनीतितत्तुल्यतार्थं न तु परिसंख्यार्थं । तथा च याज्ञवल्क्यः ॥ नै-
वाभिगमनं गर्भपातनं भर्तृहंसनं ॥ विशेषपतनीयानि स्त्रीणामेतान्यपि ध्रुवं ॥ वसेयुः स्वगृहान्तिके प्रधानगृहान्निष्कास्य कुटी-
गृहे वासयितव्येत्यन्तिकग्रहणं । केचिदाहुः प्रायश्चित्तंतु कुर्वतीनामेतद्देयं न त्वन्यथा ॥ तदयुक्तं वस्त्रान्नदानव्यवहारस्य
तत्र योगत्वात् । प्रायश्चित्ते भिक्षाहारतापयोव्रतंचां द्रायणविधिश्चेत्यादि । न च भैक्षाहारताचानेन विवर्तयितुं शक्या वृत्तिवि-
धानेन चरितार्थत्वात् तस्माद्यस्याः प्रायश्चित्तेऽप्यनधिकारः शक्ततयातिपुष्टतया वा तस्या अपि वस्त्रादिदानं कर्तव्यमिति श्लोका-
र्थः ॥ १८८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गृहान्तिके वासः पुनः प्रापप्रसंगनिवृत्त्यर्थः ॥ १८८ ॥

(३) कुल्लूकः । स्त्रीष्वपि पतितास्त्वमेव पतितस्योदकं कार्यमित्यादिविधिभर्त्रादिसपिण्डसमानोदकवर्गः कुर्यात्
ग्रासाच्छादनानि पुनराभ्योदेयानि गृहसमीपे चासां वासार्थं कुटीर्दद्युः ॥ १८८ ॥

(४) राघवानन्दः । पुंस्युक्तं प्रकारं स्त्रीष्वतिदिशति एनमिति । स्त्रीणां प्रायश्चित्तमनिच्छन्तीनाम् । आवश्यकमाह
वस्त्रेत्यादि ॥ १८८ ॥

(५) नन्दनः । व्रतं दासीघटप्रासनादिकं कुर्यात् वसेयुर्योषितः ॥ १८८ ॥

(६) रामचन्द्रः । योषित्सु पतितासु एवमेव विधिं कुर्यात् ॥ १८८ ॥

एनस्त्रिभिरनिर्णिक्तैर्नार्थैर्किंचित्सहाचरेत् ॥ कृतनिर्णेजनांश्चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित् ॥ १८९ ॥

(१) मेधातिथिः । एनस्त्रिभिरः प्रकृतत्वात्पातकिनः तैरनिर्णिकैरशुद्धैरकृतप्रायश्चित्तैर्नार्थैः किंचिद्व्रणदानक्रयविक्रि-
ययाजनाद्युक्तं । निर्णेजनं शोधनं पापापनोदनं तस्मिन् कृते नैनां जुगुप्सेत कृतप्रायश्चित्तान् कुत्सयेत् ॥ १८९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनिर्णिकैरकृतप्रायश्चित्तैः । अर्थं कार्यं दानप्रतिग्रहादि ॥ १८९ ॥

(३) कुल्लूकः । पापकारिभिरकृतप्रायश्चित्तैः सह दानप्रतिग्रहादिकमर्थं किंचिन्नानुतिष्ठेत् कृतप्रायश्चित्तानैव कदा-
चिदपि पूर्वकृतपापत्वेन निन्देत् किंतु पूर्ववद्यवहरेत् ॥ १८९ ॥

(४) राघवानन्दः । अवार्थवादमाह एनस्त्रिभिरिति । अनिर्णिकैः अकृतप्रायश्चित्तैः । कृतनिर्णेजनान् चरितप्रा-
यश्चित्तान् ॥ १८९ ॥

(५) नन्दनः । अनिर्णिकैरकृतप्रायश्चित्तैः एनस्त्रिभिः पतितैः ॥ १८९ ॥

(६) रामचन्द्रः । एवं अभिर्व्रतैः अनिर्णिकैः अकृतप्रायश्चित्तैः ॥ १८९ ॥

(१८८) विधि = व्रतं (नं.)

बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मतः ॥ शरणागतहंतृश्च स्त्रीहंतृश्च न संवसेत् ॥ १९० ॥

(१) मेधातिथिः । शरणागतोयः शत्रुभिरभिहन्यमानो बलवतान्येन वोपदूयमानः परित्राणार्थं किंचिदन्यमभिधा-
वेत्त्रायत्वमिति एवं कृतदोषो विद्वानसमुपधावेदुद्धरमां देहि प्रायश्चित्तमिति शरणागतः । कृतघ्नः कृतमुपकारं विस्मृत्य यो-
ऽपकाराय ततो यो वा कृतोपकारं पुनर्विनाशयति तस्यैवोपकृतस्यापकार्य उद्यच्छति यद्यप्येषा शब्दव्युत्पत्तिस्तथापि लोक-
प्रसिद्धेर्यत्रोपकर्तुरपकारे वर्तते सकृतघ्नः । अत्र जातिर्नापेक्षते बालादिस्वरूपमेव कारणं स्त्रियोव्यभिचारिण्योपि यद्यपि-
तासां स्वल्पप्रायश्चित्तं तथापि वाचनिकः संवासः प्रतिषेधः । संवासः संगतिस्तदृहनिवासश्च ॥ १९० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कृतघ्नानुपकारहन्तृन् । धर्मतो धर्मचरणेन प्रायश्चित्तक्रियया । न संवत्सरं त्वसमीपे वास-
येत् ॥ १९० ॥

(३) कुल्लूकः । अस्यापवादमाह बालघ्नानिति । बालं यो हतवान् कृतोपकारमपकाराचरणेन यो विनाशितवान् प्राण-
रक्षार्थमागतं यो हतवान् स्त्रियं च यो व्यापादितवान् एतान्यथा वक्तव्यं प्रायश्चित्तानपि संसर्गितया न परिवसेत् ॥ १९० ॥

(४) राघवानन्दः । एनो हि द्विविधमेकमात्मगतं प्रायश्चित्तादिनाशयमपरं देहगतं यावद्देहस्थायि तत्रात्मगतस्य प्राय-
श्चित्तैर्निरासेपि देहागतस्यानिरासतां वाचनिकीमाह बालघ्नांश्चेति । कृतघ्नान् कृतोपकारहन्तृन् । धर्मतः धर्मशास्त्रोक्तप्राय-
श्चित्तेन व्यपगतात्मपापान् । न चैतदर्थवादमात्रमुक्तप्रकारान्तरेण स्वार्थपरत्वोपपत्तौ तस्य जघन्यत्वात् । शरणागतबा-
लस्त्रीहिंसकान् संपिबेत् एतैः सह पानादीन् कुर्यादित्यर्थः । चीर्णव्रतानपि सदा कृतघ्नसहितानि भानितियाज्ञवल्क्य संवादात् ।
अतएव वेन देहात्पापपुरुषनिर्गमनं देहस्य पापान्तरे लिङ्गमिति ॥ १९० ॥

(५) नन्दनः । विशुद्धानपि धर्मतः कृतप्रायश्चित्तानपि संवसेत् ॥ १९० ॥

(६) रामचन्द्रः । एतैः सह न संवसेत् ॥ १९० ॥

येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि ॥ तांश्चारयित्वा त्रीन्कच्छान्यथाविध्युपनाययेत् ॥ १९१ ॥

(१) मेधातिथिः । आषोडशा ब्राह्मणस्येत्यादिनोपनयनकालनियमः कृतः । तदतिक्रमे प्रायश्चित्तमिदं गर्भाष्टमात्म-
भृतियावत्षोडशवर्षब्राह्मणस्य सावित्रीनानूच्येत सावित्र्यनुवचनेनोपनयनाख्यसंस्कारोलक्ष्यते । अस्मिन्काले यद्युपनय-
नं न क्रियेत एवमाद्वाविंशतुक्षत्रियस्य आचतुर्विंशतेर्विशः । अत ऊर्ध्वं त्रीन्कच्छांश्चारयितव्यः । निरुपपदकच्छाश्रवणे प्राजा-
पत्यप्रत्ययइति स्मृतितत्त्वसिद्धिः । अन्येतु कच्छाति कच्छानाहुः । कच्छेषुकतेषूपनेतव्यायथाविधीत्यनुवादः ॥ १९१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यथाविधि स्वगृहोक्तप्रकारेण परमतेन स्वमतेनान्यसंपूर्णविधिनावानानूच्येतेत्यर्थः ।
कल्लान् प्राजापत्यानिति ॥ १९१ ॥

(३) कुल्लूकः । येषां ब्राह्मणक्षत्रियविशामानुक्लिप्तकालउपनयनं यथाशास्त्रं कृतवान् तान् प्राजापत्यत्रयं कारयित्वा
यथाशास्त्रमुपनयेत् । यत्तु याज्ञवल्क्यादिभिर्ब्राह्मणैस्तोमादिप्रायश्चित्तमुक्तं तेन सहास्य गुरुलघवमनुसंधाय जातिशक्त्याद्यपे-
क्षोर्विकल्पो मन्तव्यः ॥ १९१ ॥

(४) राघवानन्दः । संस्कारकाले त्रीणां द्विजानां प्रायश्चित्तानि दर्शयन् तेषामेवोपनयनाधिकारितामाह येषा-
मिति । नानूच्येत गुरोश्चारणानान्तरं माधीयीत ॥ १९१ ॥

(५) नन्दनः । अवृतानां प्रायश्चित्तमाह येषां द्विजानां सावित्रीति ॥ १९१ ॥

(६) रामचन्द्रः । तान् सावित्रीपतितान् कृच्छ्रान् चारयित्वा यथाविधि उपनाययेत् ॥ १९१ ॥

प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्मस्थास्तु ये द्विजाः ॥ ब्रह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत् ॥ १९२ ॥

(१) मेधातिथिः । विकर्मस्थायथाब्राह्मणाः शूद्रसेवाद्यभिरताः यस्य यत्कर्मजीविकाहेतुस्तया तत्तस्य विहितं कर्म । यस्य न विहितं तस्य तद्विकर्म । द्विजातीयस्य विहितं विजातीयस्य विकर्म । ब्रह्मणा परित्यक्ता उपनीता अप्यस्वीकृतवेदा अधीत्य वा वेदमुपविस्मरेयुस्तेषामप्येतत्कृच्छ्रत्रयं प्रायश्चित्तं चिकीर्षतीत्यनुवाद एवायं इच्छन्नेव यतः प्रवर्तते ॥ १९२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विकर्मस्था अविक्रम्य विक्रयिणः । ब्रह्मणा वेदेन त्यक्ताः उपनीता अप्यनधीतवेदाः । एतत्कृच्छ्रत्रयम् । इदं च विकर्मं त्यक्त्वा कर्तव्यम् तथा अनधीतवेदेन वेदमभ्येतुमधिकारार्थं कार्यम् ॥ १९२ ॥

(३) कुल्लूकः । ये प्रतिषिद्धशूद्रसेविनो द्विजास्ते चोपनीता अप्यनधीतवेदाः प्रायश्चित्तं कर्तुमिच्छन्ति तेषामप्येतत्प्राजापत्यादित्रयमुपदिशेत् ॥ १९२ ॥

(४) राघवानन्दः । शूद्रादिसेविनोपि कृतप्रायश्चित्तेन वेदाधिकारितां वदन्कृच्छ्रत्रयं तेषां प्रार्थयित्तमाह प्रेति । ब्रह्मणा च सावित्र्यादिवेदेन । एतत्कृच्छ्रत्रयम् ॥ १९२ ॥

(६) रामचन्द्रः । ये विकर्मक्रयविक्रयिणः तेषां एतत्प्राजापत्यत्रयं आदिशेत् ॥ १९२ ॥

यद्गर्हितेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणाधनम् ॥ तस्योत्सर्गेण शुद्ध्यन्ति जप्येन तपसैव च ॥ १९३ ॥

(१) मेधातिथिः । गर्हितेनेत्यविशेषेऽसत्यतिग्रहणेति द्रष्टव्यं उत्तरत्रविशेषविधेरुत्तमत्वेवोपदिश्यमानत्वात् । मुच्यतेऽसत्यतिग्रहादिति । उत्सर्गः त्यागो ममतानिवृत्तिर्दानेन वा । अनपेक्ष्यदृष्टमदृष्टं राजरथ्यादिषु त्यागे नादेयं ममयोगृह्णातिसगृह्णात्वित्याद्यभिधायक्षिपेत् । श्वभ्रेगर्तेनद्यादिषु वा जपतपसीवक्षत्युपदिष्टश्लोके । अन्येतु ब्राह्मणशब्दस्थाने वर्णशब्दं पठित्वैवं व्याचक्षते । यस्य वर्णस्य द्विजातेः शूद्रस्य वा धनार्जनोपायतया यत्प्रतिषिद्धं तत्तस्य गर्हितं यथा ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वर्द्धनैव प्रयोजयेदित्यादि तेन येऽर्जयन्ति धनं कर्मणा तस्योत्सर्गजपतपांसि त्रीणिसमुच्चितानि प्रायश्चित्तानि ब्राह्मणस्यासत्यतिग्रहोत्तरोविशेषविधिः ॥ १९३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यद्गर्हितेनेति दुष्टप्रतिग्रहादिना ननु चौर्येऽप्येतत् । उत्सर्गेण त्यागेन जपसहितेन तपःसहितेन वा जप्यानुक्तौ । जपोगायत्र्याः ॥ १९३ ॥

(३) कुल्लूकः । गर्हितेन कर्मणा निषिद्धदुष्टप्रतिग्रहादिना ब्राह्मणाय धनमर्जयन्ति तस्य धनस्य त्यागेन जपतपोभ्यां वक्ष्यमाणाभ्यां शुद्ध्यन्ति धनत्यागेन च प्रायश्चित्तविधानाद्बहुमूल्ये च करितुरगादावल्पमूल्ये च लौहादौ परिगृहीते तुल्यप्रायश्चित्ताभिधानमुपपन्नं एवमविक्रम्यविक्रयादावपि ॥ १९३ ॥

(४) राघवानन्दः । नीचप्रतिग्रहनिषिद्धक्रयविक्रयादिनोपार्जितद्रव्यं परित्यजतो जपतपोभ्यां शुद्धिरित्याह यदिति । उत्सर्गेण त्यागेन ॥ १९३ ॥

(५) नन्दनः । विकर्मस्थाः प्रतिषिद्धकर्मकृतः एतत्कृच्छ्रत्रयाचरणम् ॥ १९३ ॥

(६) रामचन्द्रः । गर्हितेन दुष्टप्रतिग्रहादिना कर्मणा ॥ १९३ ॥

जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः॥मासंगोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात्॥१९४

(१) मेधातिथिः । त्रीणि सावित्रीसहस्राणि प्रत्यहमिति केचिदाहुः । अन्येतु मासं त्रीण्यभिसंबध्नन्ति । अतश्च प्रत्यहमेकैकं शतं गोष्ठइति वासस्थानम् ॥ १९४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मासं पयः क्षीरं पीत्वा गोष्ठे तिष्ठन् गायत्र्यास्त्रिसहस्रं जप्त्वा । एतच्च जपसहितम् । जप-
मापदि ॥ १९४ ॥

(३) कुङ्कुमः । त्रीणि सावित्रीसहस्राणि जपित्वा गोष्ठे वा मासं क्षीराहारोऽसत्प्रतिग्रहजनितात्पापान्मुक्तो भवति
शुद्धप्रतिग्रहादावप्येतदेव प्रायश्चित्तं द्रव्यदोषेण च दानदोषेणामि प्रतिग्रहस्य गार्हितत्वाविशेषादिति ॥ १९४ ॥

(४) राघवानन्दः । जप्येनेत्युक्तं तन्न कस्य जपः को वानियमः कति वासं ख्येत्यपेक्षायामाह जपित्वेति चतुर्भिः ।
मासं व्याप्य दुग्धभक्षणं नियमः ॥ १९४ ॥

(५) नन्दनः । असत्प्रतिग्रहविशेषमाह जपित्वा त्रीणि सावित्र्या इति । मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहाद् ॥ १९४ ॥

(६) रामचन्द्रः । असत्प्रतिग्रहात् मुच्यते ॥ १९४ ॥

उपवासकृशान्तन्तु गोब्रजात्पुनरागतम् ॥ प्रणतं प्रतिपृच्छेयुः साम्यं सौम्येच्छसीति किम् ॥ १९५ ॥

(१) मेधातिथिः । काश्यपवचनात्स्वरूपं पयःपानमाह प्रणतं जानुभ्यां स्थितं भुवि ते विद्वांसो ब्राह्मणाः पृच्छेयुस्तं हे सौ-
म्येच्छसि सत्यमिति अथ पुनरपिशालमवगणय्य न प्रवर्तितव्यमसत्प्रतिग्रहलोभेनेति पृष्ठेन वा तेन वक्तव्यं सत्यमिति ॥ १९५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रतिग्रहे कामरुते प्रायश्चित्तेषु चीर्णेषु कथंचित्पापक्षयसंदेहे यथा निर्णयस्तत्प्रसंगाद्ब्राह्म
उपवासेति । उपवासैः प्रायश्चित्तार्थासक्तैः । तमिति कृतनिर्णेजनपरामर्शः । गोब्रजादिति प्रायश्चित्तदेशोपलक्षणम् ॥ १९५ ॥

(३) कुङ्कुमः । केवलक्षीराहारेणोत्तरभोजनव्यावृत्त्या कृशदेहं गोष्ठात्प्रत्यागतं प्रणतं न श्रीभूतकिमस्माभिः सह साम्य-
मिच्छसि पुनरसत्प्रतिग्रहं न करिष्यसीत्येवं धर्मब्राह्मणाः परिपृच्छेयुः ॥ १९५ ॥

(४) राघवानन्दः । पुनरागतं त्वगृहं प्रति । प्रणतं न श्रीभूतम् । किमस्माभिः सह साम्यमिच्छसि पुनरसत्प्रतिग्र-
हादिकं न करिष्यसीति ॥ १९५ ॥

(५) नन्दनः । तमसत्प्रतिग्रहाणि परिपृच्छेयुर्विप्राः साम्यमस्माभिः साम्यम् ॥ १९५ ॥

(६) रामचन्द्रः । तमसत्प्रतिग्रहाणि प्रायश्चित्ते चरिते उपवासाशक्तौ पापक्षयसन्देहे तत् ज्ञानोपायमाह हे सौम्य ।
अस्माभिः किं इच्छसीति ॥ १९५ ॥

सत्यमुक्त्वा तु विप्रेषु विकिरेद्यवसंगवाम् ॥ गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे कुर्युस्तस्य परिग्रहम् ॥ १९६ ॥

(१) मेधातिथिः । येन मार्गेण गावो विचरन्ति नदीप्रसवणादिजलपातुं तस्मिन् तीर्थे तरणप्रदेशे ते ब्राह्मणाः परिग्रह-
मस्य कुर्युस्ते हि हस्तारोपणेनान्तिकवेशमानयेयुः ॥ १९६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सत्यमुक्त्वा यत्पापं यच्च ब्रतं चीर्णम् । विकिरेद्भवामये । गोभिर्घासभक्षणेन तीर्थे व्यव-
हारवर्त्मनि । अन्यथा पुनः प्रायश्चित्ताचरणम् ॥ १९६ ॥

(३) कुङ्कुमः । सत्यमेतत्पुनरसत्प्रतिग्रहं न करिष्यामीत्येवं ब्राह्मणेषूक्त्वा घ्रासंगवांदद्यात् तस्मिन् व्यवसंभक्ष्यमाणे
देशे गोभिः पवित्रीकृतत्वात्तीर्थाभूते ब्राह्मणास्तस्य संव्यवहारे स्वीकारं कुर्युः ॥ १९६ ॥

(४) राघवानन्दः । एवमुक्तेस्तथं पुनरसत्प्रतिग्रहं न करिष्ये । यवसं घासं विकिरेत्तृगवांदद्यात् । तीर्थे गोष्ठे गोभिः शुद्धिर्व्यञ्जितव्येत्यर्थः । गवां यवसदानं शुद्धिपरीक्षणं नोत्तराप्रतिपत्तिः ताश्चेन्न भक्षयन्ति नो तदा शुद्धिरिति भावः ॥ १९६ ॥

(५) नन्दनः । एवं पृष्ठः किमपरः कुर्यादित्यपेक्षायामाह सत्यमुक्त्वा तु विप्रेभ्य इति । सत्यं प्रायश्चित्तं यथार्थं यवसं प्रासंगवां पुरतो विकिरेद्विक्षिपेत् गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे गोभिर्वा भक्षिते यवस इत्यर्थः तस्य प्रतिग्रहविप्राः कुर्युरभिक्षिते न कुर्युरिति ॥ १९६ ॥

(६) रामचन्द्रः । यवसं तृणम् । गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे च व्यवहारमार्गे तस्य परिग्रहं स्वीकारं कुर्युः ॥ १९६ ॥

ब्रात्यानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च ॥ अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥ १९७ ॥

(१) मेधातिथिः । ब्रात्याः सावित्रीपतितास्तेषां ब्रात्यानां ब्रात्यः स्तोमः क्रतुर्विहितस्तेन ये याजयन्ति आर्त्विज्येनोपदेष्टृत्वेन च परेषां मातापितृगुरुवर्जमन्त्यकर्मश्मशानादि । अभिचारं श्येननिधनादि । अहीने च द्विरात्रिकं कृच्छ्रैर्विशुध्यति । अन्येत्वाहुर्नायमभिचाराहीनयोर्यजमानस्य विधिः कस्यतर्हि क्रतुविजां । तथा च ब्रात्यानां याजनमितीदृश एवाधिकारः । यजमानस्य तु विधिलक्षणाप्रवृत्तिस्तस्याः प्रतिषेधाभावे कुतः प्रायश्चित्तं भवत्वहीने शास्त्रतः प्रवृत्तिः श्येनादौ तु कथं न हि शत्रून्मारयेदिति नोदनास्ति किं तर्हि यः शत्रोर्मारणं कामयते तेन तत्सिद्ध्यर्थं श्येनादिकर्तव्यं शत्रुमारणे च लिप्सा लक्षणाप्रवृत्तिः सा च निषिद्धा न हि स्यात्सर्वाभूतानीति । अहीनेष्वपि लिप्सा त एव प्रवृत्तिः । फलकामस्य हितत्राधिकारो भवति न तु फलकामना तत्र निषिद्धा । नापि काम्यमानार्थनिष्पादको व्यापारः । इहतूभयं निषिद्धं न हि स्यादिति मरणफलव्यापारेण प्रवर्तितव्यं तत्फलं च श्येनादेरेव इहतु नास्ति निषेधः । त्वर्गादिफलकर्मणः कर्तव्यमितिकेचिदाहुः । वाक्शस्त्रवैभ्राह्मणस्येत्यभिचारिणीयाऽभिचारोप्यनुज्ञायाम्नात एव । तुल्यावहीनाभिचारौ तत्र क्रतुविजामेव प्रायश्चित्तं युक्तं । ननु च काम्यान्त्यनिषिद्धानि कामात्मतानप्रशस्तेति यस्तस्य विषयः स तत्रैव व्याख्यातः । श्रुतिश्चाहीनतया याजनं कार्यमिति । अभिचारिणीयाभिचारे च यजमानस्यायुक्तं कथमाप्नातं ज्योतिषोभिचार्यन्ते । तद्विधिप्रायश्चित्तान्युक्तान्येव । अस्य च क्रतुविगवष्येऽभिचरणीयाभिचारे सविषयत्वाद्वैदिकेन जपहोमादिना शत्रोर्मारणमभिचारः ॥ १९७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । परेषामन्धूनामर्थाभिसंधिना । अन्त्यकर्म श्मशानकर्म । अहीनं द्विरात्रादि ॥ १९७ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्रात्यानाम त ऊर्ध्वत्रयोप्येतदित्युक्तानां ब्रात्यस्तोमादियाजनं कृत्वा पितृगुर्वादिव्यतिरिक्तानां च निषिद्धौर्ध्वदेहिकदाहश्राद्धादिकृत्वा अभिचारं च श्येनादिकर्मभिचारोऽनभिचारणीयस्य अहीनयागविशेषः । अहीनयजनमशुचिकरमिति श्रुतेः । त्रिरात्रादितस्य यजनं कृत्वा त्रिभिः कृच्छ्रैर्विशुध्यति ॥ १९७ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्राह्मणस्य सत्प्रतिग्रहो देहाद्यर्थः याजनाभ्यापनप्रतिग्रहैर्ब्राह्मणो धनमर्जयेदित्युक्तं तत्रासत्प्रतिग्रहे प्रायश्चित्तमुक्तं तथा विधयाजनेपि तदाह ब्रात्यानामिति । परेषां निषिद्धौर्ध्वदेहिकानां पतितादीनाम् । अन्त्यकर्मदाहादि । अहीनं त्रिरात्रादिसाध्यमभिचारं कारयित्वा कृत्वा वा ॥ १९७ ॥

(५) नन्दनः । अन्त्यकर्मदासकृत्यं परेषां सपिंडानां प्रेतकर्मवाहीनं कृत्वा द्विरात्रादिष्वार्त्विज्यं कृत्वा ॥ १९७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अपरेषां पित्राचार्यादि व्यतिरिक्तानां सपिंडानां अन्त्यकर्म श्मशानकर्म च अनभिचरणीयस्य अभिचारं अहीनयागविशेषं त्रिभिः कृच्छ्रैः शुध्येत् ॥ १९७ ॥

शरणागतं परित्यज्य वेदं विष्ठाप्य च द्विजः ॥ संवत्सरं यवाहारस्तत्पापमपसेधति ॥ १९८ ॥

(१) मेधातिथिः । द्विविधः शरणागतः प्रागुक्तस्तस्य परित्यागः प्रत्याख्यानं न सत्यांशक्तौ प्राक्तद्विचारितम् । वेदं विष्ठाप्य मध्यायाध्ययनं कृत्वाऽधिकारेणाधीयानस्य तु योगदानं किं पठसि नाशितं त्वयेति । अथवा धनहेतोः परीक्षास्थानेष्वनियुक्तेन पठ्यते स्मृतिश्च । दत्त्वानियोगं धनहेतोः पतितान्मनुरब्रवीत् ॥ १९८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शरणागतं परित्यज्य त्यक्त्वा विष्ठाप्यार्थान्तरपरत्वव्याख्यादिना । विसर्गानुस्वारादिवैकल्येन मिथ्यार्थं कृत्वा । यवाहारो यवान्नाहारः ॥ १९८ ॥

(३) कुष्ठूकः । शरणागतं परित्राणार्थमुपगतं शक्तः सन्नुपेक्षते द्विजातिरनध्याप्यं च वेदमध्याप्य तज्जनितं पापं संवत्सरं यवाहारोऽपनुदति ॥ १९८ ॥

(४) राघवानन्दः । महापातकादिभिन्नानां स्वातन्त्र्येण प्रातिस्विकं प्रायश्चित्तमाह शरणागतेत्यष्टभिः । शरणागतं शक्तः सन्परित्यज्य अशक्तत्वे न दोषः ॥ मृत्युर्बुद्धिमताऽपोहोयावद्बुद्धिबलोदयम् ॥ यद्यसौ न निर्वर्तेत नापराधोस्ति देहिनः इति श्रुकोक्तेः ॥ वेदं अनेभ्यासेन विष्ठाप्य विस्मृत्य कामतस्त्यागेऽनुपातकत्वोक्तेः । अपसेधति अपनुदति ॥ १९८ ॥

(५) नन्दनः । अनध्याप्याध्यापनं वेदविष्ठावनम् ॥ १९८ ॥

(६) रामचन्द्रः । वेदं विष्ठाप्य द्विजः अर्थान्तरव्याख्यानादिमिथ्यार्थमुक्त्वा अनध्यायेऽध्ययनं कृत्वा वा ॥ १९८ ॥

श्वसृगालखरैर्दष्टोग्राम्यैः ऋव्याद्भिरेव च ॥ नराश्वोष्ट्रवराहैश्च प्राणायामेन शुध्यति ॥ १९९ ॥

[शुनाघ्रातोपलीढस्य दन्तैर्विदलितस्य च । अद्भिः प्रक्षालनं प्रोक्तमग्निना चोपचूलनम् ॥ १९९ ॥ +]

(१) मेधातिथिः । दष्टोदन्तैर्दष्टाभिर्ग्राम्यैः ऋव्याद्भिर्माज्जरनकुलादिभिः ॥ १९९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अग्राम्यैः ऋव्याद्भिर्वृकादिभिः ॥ १९९ ॥

(३) कुष्ठूकः । कुकुरसृगालगर्दभनराश्ववराहाद्यैर्ग्राम्यैश्चाममांसादैर्माज्जरादिभिर्दष्टः प्राणायामेन शुध्यति ॥ १९९ ॥

(४) राघवानन्दः । ऋव्याद्भिः गृहमर्कटमाज्जरादिभिः । नरैः पुंश्चलीवराहैः काकैः । प्राणायामेन जले स्थित्वेति शेषः ॥ पुंश्चलीवानरखरैर्दष्टः श्वोष्ट्रादिवायसैः ॥ प्राणायामं जले कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यतीति याज्ञवल्क्योक्तेः ॥ १९९ ॥

(६) रामचन्द्रः । ऋव्याद्भिः वृकादिभिर्दष्टः ॥ १९९ ॥

षष्ठान्नकालता मासं संहिताजप एव वा ॥ होमाश्च साकलानित्यमपाङ्क्यानां विशोधनम् ॥ २०० ॥

(१) मेधातिथिः । अपाङ्क्यास्तृतीयाध्यायउक्ताः येषां प्रतिपदं प्रायश्चित्तमन्यत्रास्मात्तेषां मासं संहिताजपः शाकलहोमः षष्ठान्नकालताचेतिसमुच्चयः । काष्ठशलाकादिदेवकृतस्येत्यादिभिर्मन्त्रैर्हूयते स शाकलहोमः । नित्यग्रहणं समामेपि संहिताजपे पुनः पुनरावृत्त्यर्थं यावन्मासः पूर्णः ॥ २०० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । षष्ठान्नकालता एकभक्तपूर्वकदिनद्वयोपवासानन्तरं तृतीयदिनभोजनं मासपर्यन्तम् । संहिताजपः संहिता कस्याश्चिच्छाखायामन्त्रभागः । शाकलहोमादेवकृतस्येत्यादिमन्त्रैर्यज्ञाद्बृक्षशकलहोमाः । अपाङ्क्यायेस्तेन पतितक्लीबा इत्यादिनोक्ताः । तेषां मध्ये अनुक्तनिष्कृतीनां मिलितमेतच्चयं शोधनम् ॥ २०० ॥

(३) कुल्लूकः । अपाङ्ग्याः येस्तेनपतिताः क्लीबाइत्यादिनोक्तास्तेषांविशेषतोऽनुपदिष्टप्रायश्चित्तानांमासंयैहमभुक्त्वा तृतीयेऽङ्गिसायंभोजनंवेदसंहिताजपोदेवकृतस्यैनसोऽवयजनमसीत्यादिभिरष्टभिर्मन्त्रैर्होमः प्रत्येकंकार्यः । एतत्समुद्दिष्टपाप-
शोधनम् ॥ २०० ॥

(४) राघवानन्दः । किंच षष्ठेति । अपाङ्ग्यानां स्तेनपतितक्लीबाइत्यादिनोक्तानां पङ्क्त्यभोजिनांविशेषतोऽनुद्दिष्ट-
प्रायश्चित्तानां । षष्ठान्कालता षष्ठस्यान्स्थ भोजनीयस्य यः कालः सएव भोजनकालौयस्य सतथा तस्य भावः । दिन-
द्वयमभुक्त्वा तृतीयदिने सायं भोजनतेति संहिता वेदस्य । देवकृतस्यैनसोवयजनमसित्वाहेत्यादिकाः शाकलाहोमाः शाक-
लस्यतु येहोमाइत्यनेनोक्तावा ॥ २०० ॥

(५) नन्दनः । देवकृतस्यैनसइत्यादिमन्त्रकृताः शाकलाहोमाश्चशब्दात्समुच्चितानां प्रायश्चित्तत्वं अपाङ्ग्याः श्रा-
द्धप्रकरणेप्रोक्ताः ॥ २०० ॥

(६) रामचन्द्रः । षष्ठान्कालतामासं दिनद्वयमुपोष्य तृतीयदिने सायं भुञ्जते इति प्राप्तं होमाश्च शाकलाः । देव-
कृतस्यैनसइत्यादिमन्त्राः । अपाङ्ग्यानां अनुक्तप्रायश्चित्तानाम् । विशोधनम् ॥ २०० ॥

उष्ट्रयानंसमारुह्य खरयानन्तु कामतः ॥ स्नात्वा तु विप्रोदिग्वासाः प्राणायामेन शुध्यति ॥ २०१ ॥

(१) मेधातिथिः । उष्ट्रैर्युक्तंयानंगन्ध्यादि साक्षादुष्टादावारोहणमव्यवधानेनचाधिकतरंप्राणायामानामावृत्तिः ।
दिग्वासानग्नौनग्नौषनिर्हरणार्थपुनः सवासास्नानंरुत्वाप्राणायामःकर्तव्यः ॥ २०१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उष्ट्रयानमुष्ट्रयुक्तं तत्पृष्ठंवा यानम् । एवंखरयानम् । दिग्वासानग्नः । प्राणायामेन गायत्र्या
त्रिःपठितया ॥ २०१ ॥

(३) कुल्लूकः । उष्ट्रैर्युक्तंयानंशकरादि एवंखरयानमपि तत्कामतआरुह्याव्यवधानउष्ट्रखराभ्यां याने प्राणायामब-
हुत्वं नग्नश्च कामतः स्नानंरुत्वा प्राणायामेन शुद्धोभवति ॥ २०१ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच उष्ट्रयानमिति । दिग्वासादिगम्बरः प्राणायामपर्यन्तम् ॥ २०१ ॥

(६) रामचन्द्रः । दिग्वासानग्नः स्नात्वाचकारात् नग्नभोजनदिवास्त्रीगमनादिनिषेधः जलमध्ये प्राणायामेन शुध्य-
ति ॥ २०१ ॥

विनाद्भिरप्सु वाप्यार्तः शारीरंसन्निवेश्य च ॥ सचैलोतहिराप्सु गामालभ्य विशुध्यति ॥ २०२ ॥

(१) मेधातिथिः । विनाद्भिरसंनिहितात्स्वप्सुअदृष्टगोचरस्थात्स्वप्सु आर्तोविष्टयास्तब्धशरीरंमूत्रपुरीषोत्सर्गसन्निषे-
ध्यसचैलोयत्प्रावृत्तंवल्लेनसहितः । बहिर्ग्रामान्द्यादावाप्सुनिमज्ज्यततो गामालभ्यस्पृष्ट्वाशुध्यति ॥ २०२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विना अद्भिः शौचाद्भिः असन्निहितेशौचार्यजलइत्यर्थः । अप्सु जलमध्ये शारीरं मूत्रपु-
रीषोत्सर्गम् । आर्तः आपत्काले अनापदित्वन्यत्राप्यश्रितम् । आलभ्य स्पृष्ट्वा ॥ २०२ ॥

(३) कुल्लूकः । असन्निहितजलेजलमध्ये वा वेगात्तो मूत्रपुरीषंवा कृत्वा सवासाबहिर्ग्रामान्द्यादौ स्नात्वा गांच
स्पृष्ट्वा विशुद्धोभवति ॥ २०२ ॥

(४) राघवानन्दः । अद्भिर्मलक्षालनंविनाशारीरं विण्मूत्रादि सन्निवेश्यार्तोपिक्लिप्त्वा । बहिर्ग्रामान्द्यादौ । आलभ्य-
स्पृष्ट्वा ॥ २०२ ॥

(५) नन्दनः । आर्त्तआपन्नः शारीरंभूत्रादिकं अद्भिर्विनासंनिवेश्यजरहितं कृत्वा अप्सुवाशारीरं संनिवेश्योत्सृज्य बहिर्यामात् आर्त्तग्रहणात्तस्य प्रायश्चित्तगौरवं द्रष्टव्यम् ॥ २०२ ॥

(६) रामचन्द्रः । अद्भिर्विना अविहितैः शौचार्थजलैः शारीरं भूत्रपुरीषादि संनिषेव्य कृत्वा बहिः सचैलः आशु-
त्य स्नात्वा गामालभ्य विशुध्यति ॥ २०२ ॥

वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे ॥ स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥ २०३ ॥

(१) मेधातिथिः । वेदविहितानां दर्शपौर्णमासादीनां श्रौतानां स्नातानां च संभ्योपासनादीनां तान्यपि वेदोदितानि तन्मूलत्वात् स्मृतीनां स्नातकव्रतानि न जीर्णमलवद्वासा इत्यादीनि । तेषां लोप एकाहमुपवासः । श्रौतकर्मातिक्रमे यादृश्य उक्तास्ता-
नेन समुच्चीयन्ते ॥ २०३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वेदोदितानामिति । वेदोक्तनित्यसंभ्यादिकर्ममध्ये अनाभ्यातप्रायश्चित्तकर्मलोपे । स्नातकव्र-
तेषु वैणवीं धारयेद्यष्टिमित्यादिषु अनाभ्यातप्रायश्चित्तकर्मलोपे । अभोजनमेकरात्रमेव ॥ २०३ ॥

(३) कुल्लूकः । वेदविहितानां कर्मणामग्निहोत्रादीनामनुपदिष्टप्रायश्चित्तविशेषाणां च परिलोपे स्नातकव्रतानां चतुर्था-
भ्यायोक्तानामतिक्रमे सत्येकाहोपवासं प्रायश्चित्तंकुर्यात् ॥ २०३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच वेदेति । कर्मणां होमसंभ्यावन्दनादीनां । अतिक्रमे अकरणे कालतः स्वरूपतो वा ।
स्नातकव्रतं चतुर्थाभ्यायोक्तम् । अभोजनं तदहरोपवसनम् ॥ २०३ ॥

(५) नन्दनः । वेदोदितानामग्निहोत्रादीनां स्नातकव्रतानि पञ्चमहायज्ञादीनि ॥ २०३ ॥

हुङ्कारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वङ्कारं च गरीयसः ॥ स्नात्वाऽनश्नन्नहः शेषमभिवाद्य प्रसादयेत् ॥ २०४ ॥

(१) मेधातिथिः । सक्रोधाक्षेपे हुङ्कारेण हुङ्कुरुते तूष्णीमास्व हुं मा एव वादीरित्येवमादिष्वर्थक्रियासु तन्निषेधार्थं हुङ्का-
रकरणं ब्राह्मणस्य ज्येष्ठस्य समस्य कनीयसो वा शिष्यस्य पुत्रस्य वा तथा गरीयसस्त्वं कारमुक्त्वा त्वमेव मा त्वत्वं येदं कृतम् ।
एकवचनान्तयुष्मच्छब्दोच्चारणे प्रायश्चित्तमेतत् । प्रथमादिविभक्तिर्न विवक्षिता । तथा च समाचारो गुरौ युष्मास्वित्यादि बहु-
वचनं प्रयोक्तव्यमिति । स्नात्वा नश्नन् प्रातर्भक्त्यागः । उपसंग्रहणं कृत्वा प्रसाद्य क्रोधं त्याज्यित्वा सायमश्नीयात् ॥ २०४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गरीयसो गुरोरब्राह्मणस्यापि हुङ्कारं त्वं कारं चोक्त्वा तथाऽगरीयसोपि ब्राह्मणस्य तद्वयमु-
क्त्वा स्नात्वेत्यादि प्रायश्चित्तंकुर्यात् । अहः शेषमहोरात्रस्य शेषम् ॥ २०४ ॥

(३) कुल्लूकः । हुंतूष्णीं स्थीयतामित्याक्षेपं ब्राह्मणस्य कृत्वा त्वङ्कारं च विद्याद्यधिकस्योक्त्वाऽभिवादनकालादार-
भ्याहः शेषं यावत् स्नात्वा भोजननिवृत्तः पादोपग्रहणेनापगतक्रोधं कुर्यात् ॥ २०४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच हुङ्कारेति । गरीयसो गुरोः । अहः शेषं उपोषणं कृत्वेत्यर्थः । अभिवाद्य प्रणतिकृत्वा ।
प्रसादयेत्तदात्मनि प्रसादमुत्पादयेत् । तथा च याज्ञवल्क्यः ॥ गुरुं हुङ्कृत्य त्वं कृत्य विप्रं निर्जित्य वा दतः ॥ बभूवा वाससा-
क्षिप्रं प्रसाद्योपवसेद्दिनमिति ॥ २०४ ॥

(५) नन्दनः । प्रसादयेत् ब्राह्मणं गरीयांसश्च ॥ २०४ ॥

(६) रामचन्द्रः । गरीयसः ज्येष्ठस्य ॥ २०४ ॥

ताडयित्वा तृणेनापि कण्ठे वाबध्य वाससा॥ विवादे वा विनिर्जित्य प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥ २०५ ॥

(१) मेधातिथिः । तृणेनपीडाकरेणापिताडयित्वा प्रहृत्य वाससापिकण्ठेऽमृदुस्पर्शेन बद्धा । विवादेऽलौकिकेकलहे विनिर्जित्यप्रणिपत्य नम्रेणभूत्वाप्रसादयितव्यः । वादजल्पयोस्तुनायंविधिः ॥ २०५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वाससाकण्ठेबद्धासंपदात्रवात्वेयतत्कार्यचिररात्रादिनियतःलघुगुरुनियमातिक्रमापेक्षयायोन्यं अत्र प्रकृतयोर्ब्राह्मणगरीयसोः कर्मत्वेन ग्रहणम् ॥ २०५ ॥

(३) कुड्डूकः । प्राकृतं ब्राह्मणतृणेनापि ताडयित्वा कण्ठे वाबध्य वाससावा वाक्कलहेन जित्वा प्रणिपातेन प्रसादयेत् ॥ २०५ ॥

(५) नन्दनः । ताडयित्वा ब्राह्मणमित्येव ॥ २०५ ॥

अवगूर्यत्वब्दशतंसहस्रमभिहत्य च ॥ जिघांसया ब्राह्मणस्य नरकंप्रतिपद्यते ॥ २०६ ॥

(१) मेधातिथिः । अवगुरणप्रतिषेधोऽयं परिशिष्टोर्थवादोजिघांसयाहन्तुमिच्छयादण्डादिकमुद्यम्य संवत्सरशतंनरकेष्वास्ते । अभिहत्यप्रहारंदत्वा सहस्रसंवत्सराणांजिघांसयानपरिहासतः ॥ २०६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । जिघांसया मारणेच्छया । अवगूर्य दण्डाद्युद्यम्य । अभिहत्य दण्डादि निपात्य ॥ २०६ ॥

(३) कुड्डूकः । ब्राह्मणस्य हननेच्छया दण्डमुद्यम्य वर्षशतंनरकंप्राप्नोति दण्डादिना पुनः प्रहृत्य वर्षसहस्रंनरकंप्राप्नोति ॥ २०६ ॥

(४) राघवानन्दः । यो ब्राह्मणायावगुरेत्तं शतेन यातयादिति श्रुतिमाश्रित्य ब्राह्मणावगोरणादौ नरकं ज्ञापयन्प्रायश्चित्तमाह अवगूर्येति चतुर्भिः । अवगूर्य दण्डमुद्यम्य । अब्दशतं अब्दानांशतं अभिव्याप्य नरकंप्रतिपद्यते । एवमुत्तरत्र ॥ २०६ ॥

(५) नन्दनः । ब्राह्मणावगुरादिषु प्रायश्चित्तं वक्तुं तन्निमित्तं पापफलं तावत् श्लोकाभ्यामाह अवगूर्यत्वब्दशतमिति । अवगूर्यं प्रहर्तुं हस्तादिकमुद्धृत्य ॥ २०६ ॥

शोणितं यावतां पांसून् संगृह्णाति महीतले ॥ तावन्त्यब्दसहस्राणि तत्कर्ता नरके वसेत् ॥ २०७ ॥

(१) मेधातिथिः । ब्राह्मणस्य रुधिरदण्डादिप्रहारेण भूमौ पतितं यावत्पांशून् रजोवयवान् संगृह्णाति तावन्तिसंवत्सरसहस्राणि तस्य जनयितानरके ब्रजेद्देसेत् । अयमप्यर्थवादः ॥ २०७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संगृह्णाति संग्रहीतुं योग्यं भवति । द्विजन्मनो विप्रस्य । तत्कर्ता शोणितोत्पादकः ॥ २०७ ॥

(३) कुड्डूकः । ग्रहतस्य ब्राह्मणस्य रुधिरयावत्संख्याकारजः कणान्भूमौ पिण्डीकरोति तावत्संख्यकानि वर्षसहस्राणि तच्छोणितोत्पादको नरके वसेत् ॥ २०७ ॥

(४) राघवानन्दः । दण्डादिनोत्पादितं संगृह्णाति पिण्डीकरोति ॥ २०७ ॥

(५) नन्दनः । द्विजन्मनः द्विजीतमस्य ॥ २०७ ॥

अवगूर्यचरेत्कुच्छ्रमतिकुच्छ्रं निपातने ॥ कुच्छ्रातिकुच्छ्रौ कुर्वीत विप्रस्योत्पाद्य शोणितम् ॥ २०८ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वस्य प्रायश्चित्तमेतत् । ब्राह्मणरुजःकृत्वेति शोणितोत्पादनादन्यत्रैतत् यदिवा तेनेदं विकल्पते ॥ २०८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । फलमुक्त्वा प्रायश्चित्तमाह अवगूर्येति । कल्लं प्राजापत्यम् । कल्लातिरुच्छ्रौपूर्वाधोक्तौ ॥ २०८ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणस्य हननेच्छया दण्डाद्युद्यमने रुच्छ्रंकुर्यात् । दण्डादिप्रहारे दत्तेऽतिरुच्छ्रंवक्ष्यमाणंचरेत् । रुधिरमुत्पाद्य रुच्छ्रातिरुच्छ्रौ कुर्वीत ॥ २०८ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तेषु त्रिषु प्रायश्चित्तमाह अवगूर्येति । अवगूर्यं दण्डमुद्यम्य ॥ २०८ ॥

(५) नन्दनः । अत्र प्रायश्चित्तमाह अवगूर्यंचरेत्कच्छ्रमिति ॥ २०८ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणे अवगूर्यं दण्डं मुत्थाप्य कल्लं चरेत् ॥ २०८ ॥

अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये ॥ शक्तिचावेक्ष्य पापंच प्रायश्चित्तंप्रकल्पयेत् ॥ २०९ ॥

(१) मेधातिथिः । अनुक्तानिष्कृतयः प्रायश्चित्तानि येषां विकर्मणां यथाचाण्डालादिप्रतिलोमवधेतत्रकल्पयेत् । ननुचात्राप्युक्तं किंचिदेवतुविप्रायदद्यादस्थिमतां वध इति अनस्थिसाहचर्यात्क्षुद्रजन्तुप्रायास्तत्रास्थिमन्तोगृह्यन्ते । महाकायानांतु नैषविधिः । ननुचत्वारोवर्णानास्तिपंचमइतिशूद्रप्रभेदाएवंप्रतिलोमाः यदि नामपंचमोवर्णोनजातो नैतावताशूद्रैस्तैर्भवितव्यंतेषामपि लक्षणस्य नियतत्वात् समानजात्यामूढायांजातः शूद्रइति वर्णसंकरजाश्चेत्तस्मान्शूद्रहत्याप्रायश्चित्तं नापि किंचिदेवतुविप्रायेत्यन्यस्तत्रकल्पनाया अनवसरः । शक्तिः प्रायश्चित्तनस्तपसि तथाकिमयंतपसिसमर्थ उतदाने । पापंच हिंसायाविहितप्रायश्चित्तमेव अभक्ष्यभक्षणे तदेव । अथपापस्यगुरुलघुभावोपेक्षणीयः । ननुचगुरुलघुभावः पापस्य कथंज्ञायतेप्रायश्चित्तमहत्त्वादितिचेत् अनुक्तप्रायश्चित्तविषयेयंकल्पनासत्यमर्थवादेदोषातिशयश्रवणादुरुत्वात् तथाबुद्धिपूर्वानुक्ततेच किंचनेदमनुक्तनिष्कृतिविषयमेवप्रकल्पयेत् उक्तेपि कल्पनाकार्या कुतएतत् दण्डप्रायश्चित्तयोस्तुल्यत्वात् । दण्डेनचोक्तानुक्तविषयमनुज्ञायते । किंचैतस्मिन्व्यतिक्रमे गुरुलघूनामुपदेशात्तत्रावश्यंभावनीयाकल्पना अतउद्दिष्टानुद्दिष्टसर्वशेषोयम् ॥ २०९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रायश्चित्तं कल्लादि प्रकल्पयेत् त्वयंविद्वानुहेत् । एतच्च सर्वं महापातकादिप्रायश्चित्तजानं शुद्धिदीपिकायां विषयव्यवस्थयास्माभिः प्रपञ्चेनोक्तमतोत्र पदार्थमात्रं प्रकाशितमिति ॥ २०९ ॥

(३) कुल्लूकः । अनुक्तप्रायश्चित्तानां यथाप्रतिलोमवधादिकृतानां निर्हरणार्थं कर्तुः शरीरधनानि सामर्थ्यमवेक्ष्य पापंच ज्ञात्वा ज्ञानाज्ञानसंरुदावृत्त्यनुबन्धादिरूपेण प्रायश्चित्तंप्रकल्पयेत् ॥ २०९ ॥

(४) राघवानन्दः । निमित्तनैमित्तिकभावमुपसंहरन्प्रायश्चित्तस्वरूपं प्रतिजानीते अनुक्तेति द्वाभ्याम् । अनुक्तनिष्कृतीनामननुष्ठितप्रायश्चित्तानाम् प्रकल्पयेत्परिषदिति शेषः ॥ २०९ ॥

(५) नन्दनः । अनुक्तनिष्कृतीनामनुपदिष्टप्रायश्चित्तादीनाम् ॥ २०९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनुक्तनिष्कृतीनां अनुक्तप्रायश्चित्तानां पापविचार्य ॥ २०९ ॥

यैरभ्युपायैरेनांसि मानवोव्यपकर्षति ॥ तान्वोऽभ्युपायान्वक्ष्यामि देवर्षिपितृसेविताम् ॥ २१० ॥

(१) मेधातिथिः । ननुचोक्ताएवाभ्युपायाः इहचान्द्रायणं इहप्राजापत्यं इहद्वादशवार्षिकमिति । सत्यंसंज्ञामात्रेण निर्दिष्टा इहतु स्वरूपं सेतिकर्तव्यताकमुच्यते । उपायएवाभ्युपायः व्यपकर्षति अपमार्ष्टिदेवर्षीत्यादिः स्तुतिः । मानवग्रहणंसर्ववर्णार्थम् ॥ २१० ॥

परिमाणोपादानानि पराशरोक्तानि ॥ सायं द्वाविंशतिग्रासाः प्रातः षाड्विंशतिः स्मृताः ॥ अयाचिते चतुर्विंशत्परं चानशनं स्मृतम् ॥ कुकुटाण्डप्रमाणस्तुयावान्वा प्रविशेन्मुखम् ॥ एतं ग्रासं विजानीयाच्छुद्ध्यर्थं कायशोधनमिति ग्रासपरिमाणम् ॥ हविष्यान्ः प्रातराशःसायमाशस्तथैव च ॥ अयाचितं तथैवाद्यादुपवासरूपं भवेदिति हविष्यान्नादेर्यासोपादानद्रव्यम् ॥ २११ ॥

(५) नन्दनः । प्राजापत्याख्यं कच्छम् ॥ २११ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्राजापत्यमाह ज्यहमिति । प्रातरूपं नक्तं ज्यहं अयाचितं अद्यात् । ज्यहं परं नाश्रीयत् उपवास-त्रयं एवं द्वादशदिनसाध्यं एकं प्राजापत्यव्रतं चरन् द्विजः अयाचितानं परकीयानं प्रातःस्वकीयानस्य पाचनम् ॥ २११ ॥

गोमूत्रंगोमयं क्षीरं दधिसर्पिः कुशोदकम् ॥ एकरात्रोपवासश्च कच्छं सान्तपनं स्मृतम् ॥ २१२ ॥

(१) मेधातिथिः । गोमूत्रादीनां कुशोदकानां समाहारमाहुरेकस्मिन् हन्येकरात्रोपवासश्च ततोद्यहं सांतपनं । अन्येतु प्रत्यहमेकैकं भक्षयितव्यं संहतस्याश्रुतत्वात् अतः समाहानि सांतपनं द्वावप्येतौ पक्षौ स्मृत्यन्तरे परिगृहीतौ ॥ २१२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्षीरादित्रयमपि गोरेव । कुशोदकं कुशमिश्रजलम् । एतत्सर्वं मिलितमेकस्मिन् दिने प्राश्यो-त्तरेद्युरपवसेत् ॥ २१२ ॥

(३) कुल्लूकः । गोमूत्राद्येकीकृत्यैकैकस्मिन् हनि भक्षयेन्नान्यत्किंचिदद्यात् । अपरदिने चोपवासइत्येतत्सान्तपनं कच्छं स्मृतम् । यदा तु गोमूत्रादिषट्प्रत्येकं षट्दिनान्युपभुज्य समे दिने चोपवासस्तदा महासान्तपनं भवति । तथाच याज्ञवल्क्यः ॥ कुशोदकं च गोक्षीरं दधिमूत्रं शकृद्वृतम् ॥ जग्ध्वा परेद्युपवसेत् कच्छं सान्तपनं चरेत् ॥ पृथक् सान्तपनद्रव्यैः षडहः सोपवासिकः ॥ समाहेन तु कच्छोयं महासान्तपनं स्मृतम् ॥ २१२ ॥

(४) राघवानन्दः । सांतपनं लक्षयति गोमूत्रमिति । गोमूत्रादिषट्कं मिश्रयित्वा एकस्मिन् दिने भक्षयतोऽपरस्मिन् दिने उपवासेन सान्तपनं द्वाहः साध्यम् । एतदेव महासान्तपनं गोमूत्रादिषट्के प्रत्यहं भोजने एकोपवासश्च ॥ कुशोदकं तु गोक्षीरं दधि मूत्रं शकृत् घृतम् । जग्ध्वा परेद्युपवसेत् कच्छं सान्तपनं चरेत् ॥ पृथक् सान्तपनद्रव्यैः षडहः सोपवासिकः ॥ समाहेन तु कच्छोयं महासान्तपनः स्मृत इति याज्ञवल्क्योक्तेः ॥ २१२ ॥

(५) नन्दनः । षडङ्गानि षडहानि यथाक्रमं गोमूत्रादीनद्यात् ॥ २१२ ॥

(६) रामचन्द्रः । गोमूत्रादीन् षडप्येकीकृत्य पीत्वा आहारान्तररहितस्तिष्ठेत् परेद्युपवसेदिति दिनद्वयसाध्यः कच्छः ॥ २१२ ॥

एकैकं ग्रासमश्रीयत् त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत् ॥ ज्यहं चोपवसेदं त्यमतिकृच्छं चरन् द्विजः ॥ २१३ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्ववदिति प्राजापत्यविधिमतिदिशति एष्वेव काले चैकैकं ग्रासमश्रीयत् ॥ २१३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ज्यहानि त्रीणि पूर्ववत् ज्यहं प्रातरूपं सायं रूपं हमद्यादयाचितमिति ॥ २१३ ॥

(३) कुल्लूकः । अतिकृच्छं द्विजातिरनुतिष्ठन् प्रातः सायमयाचितादिरूपेणैकैकं ग्रासं त्र्यहाणि त्रीणि त्रीणि पूर्ववत् अन्य-च्च ज्यहं किञ्चिदुज्जीत ॥ २१३ ॥

(४) राघवानन्दः । अतिकृच्छं लक्षयति एकेति । ज्यहाणि त्रीणि नवदिनानि । पूर्ववत् प्रातः सायमयाचितमिति पूर्वोक्तवत् ग्रासमत्राणि पूर्णानि ॥ अयमेवातिकृच्छः स्यात्पाणिपूर्णान् भोजन इति याज्ञवल्क्योक्तेः ॥ २१३ ॥

(५) नन्दनः । व्यहाणित्रीणि नवदिनानीत्यर्थः पूर्ववत्प्राजापत्यवत् ॥ २१३ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रीणि व्यहाणि नवदिनानि च पूर्ववत्तु पुनः अन्यव्यहमुपवसेत् । एवं द्वादशदिनसाध्यमतिकृच्छ्रम् ॥ २१३ ॥

तमकृच्छ्रं चरन्विप्रोजलक्षीरघृतानिलान् ॥ प्रतिव्यहंपिबेदुष्णान्सकृत्स्नायी समाहितः ॥ २१४ ॥

[अपांपिबेच्च त्रिपलंपलमेकंच सर्पिषः । पयः पिबेत्तुत्रिपलं त्रिमात्रंचोक्तमानतः ॥ १ ॥][†]

(१) मेधातिथिः । तेष्वेवकालेषु जलादीनि यावतानातिवृत्तिर्भवति । क्वचित्परिमाणं पठ्यते । अपांपिबेत्तुत्रिपलंपलमेकंतुसर्पिषः ॥ पयःपिबेत्तुत्रिपलं त्रिपलंचोष्णमारुतं ॥ सकृत्स्नायीति त्रिरहः त्रिर्निशायामित्यस्यापवादः ॥ २१४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । जलादिचतुष्टयस्यैकैकं व्यहं व्यहंपिबेत् । तस्योष्णत्वमग्निसमीपे व्यजनादिनेत्पादितव्यम् ॥ २१४ ॥

(३) कुट्टुकः । तमकृच्छ्रं चरन्विजातिः व्यहमुष्णोदकं व्यहमुष्णक्षीरं व्यहमुष्णघृतं व्यहमुष्णवायुमेकवारं स्नानं कुर्वन्संयमवाप्तिबेत् । अत्र पराशरोक्तो विशेषः ॥ षट्पलं तु पिबेदम्भस्त्रिपलं तु पयः पिबेत् ॥ पलमेकंपिबेत्सर्पिस्तमकृच्छ्रं विधीयते ॥ २१४ ॥

(४) राघवानन्दः । तमकृच्छ्रं लक्षयति तमेति । प्रतिव्यहं प्रत्येकद्रव्यं क्रमेण व्यहंपिबेदित्यन्वयः । अनिलपदमेकरात्रोपवासपरम् । सकृत्पिबेत्सकृत्स्नायाच्चेत्यन्वयः ॥ तमक्षीरघृताम्बूनां प्रत्येकं प्रत्यहं पिबेत् ॥ एकरात्रोपवासश्च तमकृच्छ्रं यावकमिति याज्ञवल्क्योक्तेः । द्रव्यपरिमाणं तु ॥ षट्पलं तु पिबेदम्भस्त्रिपलं तु पयः पिबेत् ॥ पलमेकंपिबेत्सर्पिस्तमकृच्छ्रं विधीयतइति पराशरोक्तं सर्वत्र ॥ २१४ ॥

(६) रामचन्द्रः । दुग्धसर्पिरुदकानां तमानामेकैकं प्रतिदिवसंपिबेत् परेद्युः उपवसेत् । एवं दिवसचतुष्टय [त्रय] साध्यंतमकृच्छ्रम् ॥ २१४ ॥

यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम् ॥ पराकोनामकृच्छ्रोऽयंसर्वपापापनोदनः ॥ २१५ ॥

(१) मेधातिथिः । यतात्मनोऽसंयतेन्द्रियोगीतादिशब्दश्रवणेष्वनभिलाषी अप्रमत्तस्तत्परः । अर्थवादोऽयं सर्वकृच्छ्रेष्वस्य धर्मस्य विहितत्वात् ॥ २१५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यतात्मनोजितेन्द्रियस्य । अप्रमत्तस्य व्रताङ्गविस्मृतिशून्यस्य । एतच्च द्वयं पराके आवश्यकमङ्गमित्येतदर्थं साधारणमपि व्रताङ्गमुक्तम् ॥ २१५ ॥

(३) कुट्टुकः । विगतानवधानस्य संयतेन्द्रियस्य द्वादशाहमभोजनमेव पराकाख्यः कृच्छ्रः । सकृदावृत्तितारतम्येन गुरुलघुसमफलपापापनोदनः ॥ २१५ ॥

(४) राघवानन्दः । पराकं लक्षयति यतेति । यतात्मनोजितेन्द्रियस्य । सर्वपापनोदनइति गुरुतरानुक्तपापे प्रायश्चित्तातिदेशार्थम् ॥ २१५ ॥

(५) नन्दनः । पराकश्च उपवासवचः ॥ २१५ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्वादशाहं अभोजनं द्वादशाहोपवासेन पराकाख्यः भवति ॥ २१५ ॥

एकैकं द्वासायेत्पिण्डं रुष्णे शुक्ले च वर्धयेत् ॥ उपस्पृशं स्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥ २१६ ॥

(१) मेधातिथिः । चतुर्दश्यामुपोष्यत्वयं भूतायां पौर्णमास्यां पंचदश्यासानभ्रीयात् । ग्रासप्रमाणं चास्याधिकारेण ग्रासानुमंत्रणं च । आप्यायत्वसन्तेपयांसीति स्मृत्यन्तरोक्तो विधिरपेक्षितव्यः । एकशास्त्रत्वात्सर्वस्मृतीनामसतिविरोधे समग्रयोज्यविरोधे तु विकल्पः । प्रतिपदमारभ्यैकैकं ग्रासं दिवसे दिवसे द्वासायेत् प्रतिपदि चतुर्दशद्वितीयस्यां त्रयोदशेत्यादियावच्चतुर्दश्यामेको ग्रासो भवति ततोऽमावास्यायामुपोष्य प्रतिपद्येकं ग्रासमभ्रीयात् द्वितीयस्यां ह्येवमेकैकं वर्धयेद्यावत्पौर्णमास्यां पञ्चदश भवन्ति । उपस्पृशान् स्नानं कुर्वन् त्रिषवणं प्रातर्मध्यदिनापराह्नेषु त्रिर्निशायामिति निवर्तते विशेषविहितत्वात् ॥ २१६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एकैकमिति पौर्णमास्यां पञ्चदश्यासान्भुक्त्वा प्रतिपत्प्रभृत्यैकैकग्रासापचयः । अमावास्यायां मध्ये उपोष्य प्रतिपदादि एकद्विक्रमेण ग्रासवृद्ध्या पौर्णमास्यां पञ्चदश्यासा इत्यर्थः । पिण्डः ग्रासः ॥ २१६ ॥

(३) कुल्लूकः । सायंप्रातर्मध्याह्नेषु स्नानं कुर्वाणः पौर्णमास्यां पञ्चदश्यासानशित्वा ततः रुष्णप्रतिपत्क्रमेणैकैकग्रासं ह्वासयेत्तथा चतुर्दश्यामेको ग्रासः संपद्यते । ततोऽमावास्यायामुपोष्य शुक्लप्रतिपत्प्रभृतिभिरेकैकग्रासं वृद्धिर्नयेद्वै पौर्णमास्यां पञ्चदश्यासाः संपद्यन्ते । एतत्पिपीलिकामध्याख्यं चान्द्रायणं स्मृतम् ॥ २१६ ॥

(४) राघवानन्दः । चान्द्रायणस्य लक्षणमाह एकैकतिद्वाभ्याम् पौर्णमास्यां पञ्चदश्यासानशित्वा रुष्णपक्षप्रतिपत्क्रमेणैकैकग्रासं ह्वासयेदमावास्यायामुपोषणमेव । ततः शुक्लप्रतिपदारभ्य पौर्णमास्यन्तमेकैकक्रमेण पञ्चदश्यासान्वर्धयेदिति । पिपीलिकामध्याख्यमिदं रुष्णपक्षादिनियतम् ॥ २१६ ॥

(५) नन्दनः । अथ चान्द्रायणमाह एकैकमिति रुष्णे रुष्णपक्षे ॥ २१६ ॥

(६) रामचन्द्रः । शुक्ले एकं पिण्डं कवलं वर्धयेत् । च पुनः रुष्णे एकं पिण्डं ह्वासयेत् । त्रिषवणं त्रिकालस्नानं । वसिष्ठः ॥ एकैकं वर्धयेत्पिण्डं शुक्ले रुष्णे च ह्वासयेत् । इन्दुक्षये च भुञ्जीत एष चान्द्रायणो विधिः ॥ २१६ ॥

एतमेव विधिं कृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे ॥ शुक्लपक्षादिनियतश्चरंश्चान्द्रायणं व्रतम् ॥ २१७ ॥

(१) मेधातिथिः । यवमध्यमेऽमावास्यायामुपोष्य प्रतिपद्येको ग्रासः । द्वितीयस्यां द्वौ यावत् पौर्णमास्यां पंचदश पुनः प्रतिपदमारभ्य रुष्णपक्षे एकैकग्रासापचयो यावदमावास्यामुपवासः ॥ २१७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अमावास्यायाः प्रतिपदाद्येकैकग्रासवृद्ध्या पञ्चदश्यासान्पौर्णमास्यां भुक्त्वा एकैकापचयेन प्रतिपदादिषु दर्शे नोपवास इत्यर्थः ॥ २१७ ॥

(३) कुल्लूकः । एतमेव पिण्डं ह्वासवृद्धिं त्रिषवणस्नानात्मकं विधानं यवमध्याख्ये चान्द्रायणे शुक्लपक्षमादितः कृत्वा संयतेन्द्रियश्चान्द्रायणमनुतिष्ठन्नाचरेत् । ततश्च शुक्लप्रतिपदमारभ्यैकैकं पिण्डं वर्धयेत् । यथा पौर्णमास्यां पञ्चदश्यासाः संपद्यन्ते ततः रुष्णप्रतिपदमारभ्यैकैकं पिण्डं ह्वासयेद्यथाऽमावास्यायामुपवासो भवति ॥ २१७ ॥

(४) राघवानन्दः । शुक्लप्रतिपदारभ्य पौर्णमास्यन्तं पञ्चदश्यासान्वर्धयित्वा ततः रुष्णप्रतिपदारभ्यैकैकग्रासं ह्वासयित्वाऽमावास्यायामुपोषणमिति यवमध्याख्यम् ॥ तिथिवृद्ध्या चरेत्पिण्डान् शुक्ले सिखण्डसंमितान् ॥ एकैकं ह्वासयेत् रुष्णे पिण्डं चान्द्रायणं चरन्निति याज्ञवल्क्योक्तेः ॥ २१७ ॥

(५) नन्दनः । यवमध्याख्ये चान्द्रायणमाह एतमेवेति ॥ २१७ ॥

अष्टावष्टौ समश्रीयात्पिण्डान्मध्यंदिने स्थिते ॥ नियतात्मा हविष्याशी यतिचान्द्रायणंचरन्
॥ २१८ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रत्यहमासमष्टौग्रासान्कृष्णपक्षाद्वाऽऽरभ्य शुक्लपक्षाद्वा यतिचान्द्रायणंभवति । मध्यंदिने स्थिते प्रवृत्ते पूर्वाह्णपराह्णौवर्जयित्वेत्यर्थः । शिष्टंप्रसिद्धम् ॥ २१८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्रापि मासइतिवर्तते । हविष्याशीति सर्वव्रतसाधारणमप्यत्रोपदर्शितं अवश्यंकाप्युपचयदर्शनीयत्वात् ॥ २१८ ॥

(३) कुल्लूकः । यतिचान्द्रायणमनुतिष्ठन् शुक्लपक्षात्कृष्णपक्षाद्वाऽऽरभ्य मासमेकंसंयतेन्द्रियः प्रत्यहमष्टावष्टौग्रासान्मध्यंदिने भुञ्जेत । मध्यंदिनइति गृहस्थब्रह्मचारिणोः सायंभोजननिवृत्त्यर्थम् ॥ २१८ ॥

(४) राघवानन्दः । यतिचान्द्रायणत्वाद्वा अष्टाविति । कृष्णपक्षाच्छुक्लपक्षाद्वाऽऽरभ्य मासमेकंप्रत्यहमष्टौ ग्रासान्हविष्यान्स्यमध्यंदिनेऽश्रीयात् ॥ २१८ ॥

(५) नन्दनः । यतिचान्द्रायणमाह अष्टाविति हविष्यपिण्डानित्यन्वयः ॥ २१८ ॥

(६) रामचन्द्रः । यतिचान्द्रायणं चरेत् ॥ २१८ ॥

चतुरःप्रातरश्रीयात्पिण्डान्विप्रःसमाहितः ॥ चतुरोःस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणंस्मृतम् ॥ २१९ ॥

(१) मेधातिथिः । अत्रप्रातः शब्दोस्तमयसाहचर्यात्सूर्योदयप्रत्यासनं कालंलक्षयति अस्तमितेसूर्येप्रदोषइत्यर्थः ॥ २१९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चतुरइत्यत्रापि मासएवावधिः ॥ २१९ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रातश्चतुरोग्रासानश्रीयात् अस्तमिते च सूर्ये चतुरोग्रासान्भुञ्जीत एतच्छिशुचान्द्रायणंमुनिभिः स्मृतम् ॥ २१९ ॥

(४) राघवानन्दः । शिशुचान्द्रायणं लक्षयति चतुरिति । शिशुभोजनकाले प्रातस्त्रिघटिकौज्ञेयइतिस्मृतेः ॥ २१९ ॥

(५) नन्दनः । शिशुचान्द्रायणमाह चतुरइति ॥ २१९ ॥

(६) रामचन्द्रः । चतुरःपिण्डान्प्रातरश्रीयात् चतुरोऽस्तमिते सूर्ये एतच्छिशुचान्द्रायणंभवेत् ॥ २१९ ॥

यथा कथंचित्पिण्डानांतिस्त्रोऽशीतीः समाहितः ॥ मासेनाश्रन्हविष्यस्य चन्द्रस्यैति सलोकताम् ॥

॥ २२० ॥

(१) मेधातिथिः । कस्मिंश्चिद्विसे चतुरोग्रासान् कस्मिंश्चिद्वादशकस्मिंश्चिन्नाश्नाति यथाकथंचित्त्रिंशद्वात्रौपवृत्तिः । यदिकस्मिंश्चित्कस्मिंश्चित्षोडश अयंतुनियमःतिस्त्रोऽशीतीर्मासेनेतिद्वेशतेचत्वारिंशदधिके चंद्रलोकंप्राप्नोति ॥ २२० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एकैकदिनभोज्यग्रासनियमंविना चत्वारिंशदधिकशतद्वयमित्यर्थग्रासानां मासेन भोजनान् अपरंचान्द्रायणम् । पिपीलिकमध्येहि प्रथमे चान्द्रायणे पौर्णमास्यामारम्भे पञ्चदशग्रासाअधिकाभुक्तास्तैःसह तिस्रोऽशीतयोभवन्ति तदपेक्षयैव यतिशिशुचान्द्रायणयोरत्र ग्रासाशीतित्रयोपयोगः । यवमध्येतु पञ्चविंशत्यधिकग्रासशतद्वयमेव ॥ २२० ॥

(३) कुल्लूकः । नीवारादिहविष्यसंवन्धिनां प्रासानां द्विशते चत्वारिंशदधिके कदाचिद्दशकदाचित्पञ्चकदाचित्षोडशकदाचिदुपवासइत्येवमाद्यनियमेन यथा कथंचित्पिण्डान्मासेन संयतवान्भुञ्जानश्चन्द्रसलोकतां याति । एवं पापक्षयार्थमभ्युदयार्थंचेदमुक्तं । अतएव याज्ञवल्क्यः ॥ धर्मार्थयश्चरेदेतच्चन्द्रस्यैति सलोकतां ॥ कच्छूकच्छर्मकामस्तु महर्तोऽश्रियमामुयात् ॥ अतः प्राजापत्यादिकच्छूमस्यभ्युदयफलमिति याज्ञवल्क्येनोक्तम् ॥ २२० ॥

(४) राघवानन्दः । यथा कथंचित्कुल्लूपक्षंवारभ्य नत्वनियमेन व्रतस्य नियमरूपत्वात् । तिस्रोऽशीतीश्चत्वारिंशदधिकशतद्वयम् ॥ मेधातिथिस्त्वनियमपक्षः कदाचिच्चत्वारि कदाचिद्दशेति । चन्द्रस्यैतिसलोकतामित्यनेन चान्द्रायणस्य काम्यत्वमपि धर्मार्थं यश्चरेदेतच्चन्द्रस्यैति सलोकतामितिसंवादात् ॥ २२० ॥

(५) नन्दनः । पिण्डवृद्धिहासौभोजनकालनियमश्च पिण्डसंख्यानियमश्च नाश्रयणीयइति सूचितम् ॥ २२० ॥

(६) रामचन्द्रः । हविष्यं पिण्डानां तिस्रोऽशीतीः चत्वारिंशच्छतद्वयसङ्ख्याकं २४० मासेन अशनन् चन्द्रस्य सलोकतामेति । अष्टौ प्रत्यहमशीयादित्यर्थः । चत्वारिंशच्छतद्वयं इति ज्ञेयम् ॥ २२० ॥

एतद्बुद्धास्तथादित्यावसवश्वाचरन्व्रतम् ॥ सर्वाकुशलमोक्षाय मरुतश्च महर्षिभिः ॥ २२१ ॥

(१) मेधातिथिः । एतच्चान्द्रायणं व्रतं सर्वे देवाः समाचरुः सर्वेषामकुशलानां विमोक्षाय न केवलं यत्रैवोक्तमनुक्तेष्वपि दृश्यम् । तदुक्तं कल्लूकित्कल्लौचां द्रायणमिति सर्वप्रायश्चित्तानि । अत्रेदं संदिह्यते यदेतत्सर्वप्रायश्चित्तवचनं किं तत्त्रेण सर्वेषां शोधनमुत्तमयोगसिद्ध्यर्थेन प्रतिनिमित्तमावर्ततइति । उच्यते यद्यप्येतन्मार्ग्यनिमित्तावृत्तौ नैमित्तिकावृत्तिरिति तथापीदमनाम्ना तत्रतिपदप्रायश्चित्तनिमित्तेष्वसंविदितेषु कृतसंभावनायामाग्रायते । तत्रयेषां तावत्संभावनामात्रेण शुद्धिः क्रियते तथा संवत्सरस्यैकमपीति । तत्रनिमित्तस्यानिश्चितत्वादुपपत्तेः कुत आवृत्तिर्भवो यथा सुप्तस्य परिवर्तनैः शय्यागतसूक्ष्मप्राणिवधस्तथा नगरस्य रथ्यासुभ्राम्यतः परस्त्रीमुखसंदर्शनमागृहप्राप्तेरसकृत्संभवति तादृग्विषये तत्रभावएव युक्तः । दर्शितंचैतत् अस्थान्वतामित्यादौ समुदायवधेकंप्रायश्चित्तमिति । यानि च गरोयांसि पापानि तत्र सर्वत्र प्रायश्चित्तान्याम्नातानि । इदंच यथा प्रदर्शितएव विषये भवितुमर्हति महत्त्वाच्चानावृत्तौ न्यार्ग्यं तस्मात्संशितेष्वपि कथंचित्प्रायश्चित्तेषु निमित्तान् नरोत्पत्तौ युक्तएव तत्रभावः । तथाच तत्र धर्मएव न्यार्ग्यइति दर्शयति । यद्विवाच नक्तंचैव नश्चरुम यत्त्वपंतश्चरुम यज्जाग्रतश्चापियदिति च । वीन्सायां युगपदशेषपापवर्जनम् ॥ २२१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अकुशलं पापम् ॥ २२१ ॥

(३) कुल्लूकः । एतच्चान्द्रायणाख्यं व्रतं रुद्रादित्यवसुमरुतश्च महर्षिभिः सह सर्वपापनाशाय गुरुलघुपापापेक्षया सरुद्रावृत्तिप्रकारेण कृतवन्तः ॥ २२१ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तचान्द्रायणचतुष्टयेऽर्थवादमाह एतदिति । अत्र रुद्राद्याभाववृत्त्यपेक्षया तथाच । श्रुतिः । अग्निर्वा अकामयत अन्नादो देवानो मन्नादः स्यामिति ॥ सरुक्तिकाभ्योऽष्टकपालं निरवपत् सोऽग्निर्भवदित्यष्टकपालयागनिर्वापानन्तरं अग्निभावश्रुतेरिति । सर्वाकुशलमोक्षाय सर्वपापनिवृत्तये । पापोद्देश्यकव्रतानामपि नान्तरीयकामदत्वं न विरुद्धमिति । तथाच श्रुतिः ॥ यथाग्नेनिमित्ते छायागन्धावनुत्पद्येते एवं धर्मवचिन्वानस्यार्थकामौ प्रसिध्यतइति ॥ याज्ञवल्क्योपि ॥ धर्मार्थयश्चरेदेतच्चन्द्रस्यैति सलोकताम् ॥ कच्छूकच्छर्मकामस्तु महर्तोऽश्रियमामुयादिति ॥ २२१ ॥

(५) नन्दनः । एतच्छ्रुतिव्रतम् ॥ २२१ ॥

(६) रामचन्द्रः । रुद्रादयः सर्वे अकुशलमोक्षाय ॥ २२१ ॥

महाव्याहृतिभिर्होमः कर्तव्यः स्वयमन्वहम् ॥ अहिंसासत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत् ॥ २२२ ॥

(१) मेधातिथिः । अत्रवदन्ति सर्वेष्वेतेष्विति कर्तव्यतेयमुच्यते सर्वहोमेष्वज्यद्रव्यमनुपात्तेद्रव्यविशेषेर्दशितं स्वयं-
ग्रहणात्परकर्तृकतानि वर्तेत किंपुनरयं होमोलौकिकेऽग्नावनावसथ्यस्य भवति नेति विचार्यते । इदमेव तावद्विचार्य कुतोऽग्नौ होमः
प्रक्षेपावधिकस्त्यागोजुहोतेरर्थः । तत्र यस्मिन् कस्मिंश्चिदाधारे प्रक्षेपेण सिध्यत्येव होमः ततश्च स्थले जले वा प्रौवाक्रियतां होमो-
मृत्वाग्निमतस्तुनलौकिकेऽग्नौ होमः ग्राम्याग्नौ तस्य तद्धोमप्रतिषेधात् । समाचारादग्निसिद्धिरिति चेत् समाचार एव तर्ह्यन्विष्यतां गृ-
ह्यकारैस्तत्प्रणीताभ्यधिकारैः कृच्छ्रविधिषु होमआम्नातः । तद्दर्शनेनानावसथस्य प्रायश्चित्तेनाहोमकाः कृच्छ्राः । अभ्युदया-
र्थिनस्तु नैवानशिकस्य सन्ति सर्वांगोपसंहारेण फलसिद्धेरहिंसा शिष्यभृत्याद्यपि ताड्यन्ताडनीयं सत्यं नर्मणापि नानृतं
यदिवापुरुषार्थतया प्राप्तयोरङ्गत्वाय विधानं आर्जवमभूरता ॥ २२२ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । चान्द्रायणव्रतान्याह महाव्याहृतिभिरिति । तिसृभिः समस्ताभिरित्यर्थः । आज्यंहविर-
नादेश इति वचनादाज्येन होमः । आर्जवमवक्रताम् ॥ २२२ ॥

(३) कुल्लूकः । महाव्याहृतिभिर्भूभुवः त्वरेताभिः आज्यंहविरनदेशे जुहोतिषु विधीयत इति परिशिष्टवचनादा-
ज्येन प्रत्यहं होमं कुर्यात् अहिंसा सत्याक्रोधाकौटिल्यानि चानुतिष्ठेद्यप्येतानि पुरुषार्थतया विहितानि तथापि व्रताङ्गत-
यायमुपदेशः ॥ २२२ ॥

(४) राघवानन्दः । प्राजापत्यानां सर्वेषामुत्तराङ्गमाह व्याहृतीति चतुर्भिः । व्याहृत्यादिपञ्चकमाचरेदनुति-
ष्ठेत् ॥ २२२ ॥

(५) नन्दनः । अथ व्रतधर्मानाह महति ॥ २२२ ॥

(४) रामचन्द्रः । कृच्छ्रचान्द्रायणनियमानाह महाव्याहृतिरिति । महाव्याहृतिभिः समस्ताभिः अंभूः स्वाहा अंभुवः
स्वाहा अंत्वः स्वाहा आभिर्होमः कर्तव्यः ॥ २२२ ॥

त्रिरहस्त्रिर्निशायां च सवासा जलमाविशेत् ॥ स्त्रीशूद्रपतितांश्चैव नाभिभाषेत कर्हिचित् ॥ २२३ ॥

(१) मेधातिथिः । त्रिरह इति सवनेष्वनुसवनमुदकोपस्पर्शनमिति गौतमो निशायां पितृपुत्र्यामेषु महानिशां वर्जयि-
त्वा तदवधिनहि अस्ति स्नानकालः । यदेव वा सोयुगमाच्छादनार्थमौचित्यप्राप्तये नैव सहजलं प्रविशेदविशेदिति नोद्धृतोदकेने-
त्यर्थः । स्त्रियो ब्राह्मणीरपि नाभिभाषेत अन्यत्र मातृज्येष्ठभाग्न्यादिभ्यो भार्यया सह कर्मोपयोगी संलापो न निषिध्यते अन्य-
स्तु न कर्तव्य एव ॥ २२३ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । त्रिरहः आदिमध्यान्तेषु । एवं निशायाः । एतच्च न पिपीलिकमध्ये तत्र त्रिषवणोक्तेः ।
नापि यवमध्ये तत्र पूर्वधर्मातिदेशात् । तथा न तमकृच्छ्रे सकृत्स्नायीत्युक्तेः ॥ २२३ ॥

(३) कुल्लूकः । अहनि रात्रावादिमध्यावसानेषु स्नानार्थं सचैलोनद्यादिजलं प्रविशेत् । एतच्च पिपीलिकामध्ययवमध्य-
चान्द्रायणेतरचान्द्रायणविषयं । तयोरुपस्पर्शत्रिषवणमित्युक्तत्वात् स्त्रीशूद्रपतितैश्च सह यावद्व्रतकदाचित्संभाषणं कुर्यात्
॥ २२३ ॥

(४) राघवानन्दः । त्रिरह इति विप्ता । अन्हः प्रातःकाले निशायां सायंकाले मध्याह्ने च प्रत्यहं स्नानत्रयं कुर्यात् .

त । तेनन्यूनातिरिक्तसंख्याव्यवच्छेदः । सचेलत्वादिगुणविधिः । एतत्तुचान्द्रायणद्वयाङ्कमितिकेचित् । तत्र तमरुच्छ्रातिरि-
क्ते सर्वत्र ॥ कुर्यान्निषवणस्नायी रुच्छं चान्द्रायणं तथा ॥ पवित्राणि जपेत्पिण्डान्गायत्र्या चाभिमन्त्रयेदिति याज्ञव-
ल्क्योक्तेः ॥ पिण्डान् ग्रासान् तेष्वेवमित्युपसंहारदर्शनाच्च सन्निधेः प्रकरणस्य बलवत्वात् । अन्यथा सर्वशब्दपीडा स्या
त्सर्वव्रतशेषत्वात्स्नानस्य उपस्पृशस्त्रिषवणमितिवक्ष्यमाणमनुवादमात्रं यएवविद्वान्पौर्णमासीं यजतइतिवत् ॥ २२३ ॥

(५) नन्दनः । कर्हिचिदापद्यपि ॥ २२३ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रिः अह्नः त्रिः निशायां प्रातःसायं जलं आविशेत् स्नायादित्यर्थः ॥ २२३ ॥

स्थानासनाभ्यां विहरेदशक्तोऽधः शयीत वा ॥ ब्रह्मचारी व्रती चस्याद्गुरुदेवद्विजार्चकः ॥ २२४ ॥

(१) मेधातिथिः । उत्थितआसीनउपविष्टोऽथवा नक्चिन्निषीदेदशक्तावधःशयीत नपर्यङ्के । ब्रह्मचारीमैथुननि-
वृत्तः व्रती शिष्टाप्रतिषिद्धेषु नियमगृहीयादिदमयानकर्तव्यमिति गुर्वादीनामर्चाप्रणतेन स्रगनुलेपनाद्युपहर्तव्यम् ॥ २२४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्थानमुत्थितत्वम् । आसनमुपवेशनम् । विहरेत् कालंनयेत् । यथा गौतमः । तिष्ठेदहनि
रात्रावासीतेति । अधोभूमौ । ब्रह्मचार्यष्टाङ्कमैथुननिवृत्तः । व्रती मौञ्जीदण्डकमण्डलुरग्निकार्यचेति शङ्कोक्तव्रताङ्कारी
॥ २२४ ॥

(३) कुहूकः । अहनि रात्रौ चोत्थितआसीनः स्यान्नतु शयीत । असामर्थ्ये तु स्थण्डिले शयीत नखट्टादौ । ब्रह्म
चारीस्त्रीसंयोगरहितव्रतः व्रतीमौञ्जीदण्डादियुक्तः ॥ पालाशंधारयेदण्डंशुचिमौञ्जं च मेखलामिति यमस्मरणात् । गुरुदेवब्रा-
ह्मणानांचपूजकोभवेत् ॥ २२४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यत् स्थानेति । विहरेन्नशयीत शक्तःसन् । अशक्तःशयीतेतिभावः ॥ २२४ ॥

(५) नन्दनः । विहरेत्कालक्षेपंकुर्यात् ॥ २२४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अशक्तः अधः भूमौ शयीत ॥ २२४ ॥

सावित्रीच जपेन्नित्यंपवित्राणि च शक्तितः ॥ सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवंप्रायश्चित्तार्थमादृतः ॥ २२५ ॥

(१) मेधातिथिः । सावित्रीतत्सवितुरितिगायत्री सवितृदेवत्वाज्जपचोदनासु सावित्रीशब्देन तस्याः सर्वत्राधिकारः ।
पवित्राण्यधमर्षणपावमानीपुरुषसूक्तादीनि शुक्रियाध्यायाजनरौहिरणेयादीनि सामानि सर्वकृच्छ्रेषु आदृतोयत्नवान् । सर्व-
ष्वित्यादिश्लोकपूरणस्तथाविधस्यैवाधिकारात् ॥ २२५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । जपेन्नित्यं दिवा रात्रौच । पावनानि पवित्राण्यस्यवामीयादीनि । व्रतान्तरेष्वप्येतदिति
सर्वेष्विति । एवमुक्ताभुंजीत काम्येष्वपि प्राजापत्यादिषु तथा प्रायश्चित्तार्थेष्वपि कुर्यात् ॥ २२५ ॥

(३) कुहूकः । सावित्रीच सदा जपेत्पवित्राणि चाधमर्षणादीनि यथाशक्तिजपेत् । एतच्च यथाचान्द्रायणे तथा
प्राजापत्यादिकृच्छ्रेष्वपि यत्नवान्प्रायश्चित्तार्थमनुतिष्ठेत् ॥ २२५ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच सेति । पवित्राण्यधमर्षणादीनि आदृतः श्रद्धालुः प्रायश्चित्तार्थं तत्सहकारितया जपे-
दित्यन्वयः । अतएव न व्रतेषु शूद्रस्याधिकारः किंतुतपःशूद्रस्य सेवनमिति वक्ष्यति । अतएवोक्तम् । नशूद्रेपातकार्कचि-
त् । प्रातिस्विकपापानुरूपप्रायश्चित्तादर्शनान्नमोमंत्रजपोवा ॥ २२५ ॥

(५) नन्दनः । पवित्राणि पावमान्यादीनि ॥ २२५ ॥

(६) रामचन्द्रः । पवित्राणि शक्तितः अस्यवामीयादीन् मन्त्रान् जपेत् एवंसर्वेषुप्रायश्चित्तार्थमादृतः ॥ २२५ ॥

एतैर्द्विजातयः शोभ्याव्रतैराविष्कृतैर्नसः ॥ अनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रैर्होमैश्च शोधयेत् ॥ २२६ ॥

(१) मेधातिथिः । आविष्कृतं प्रकाशं लोकविदितमेतैः कर्तुं शोभ्याः । येतुरहस्यपापास्तेषां न कर्तव्य-
पांसि किं तर्हि मन्त्रैर्होमैश्च शोधयेत् । यदि तावत्यपरिषदः न नुरहस्येषु नास्ति परिषद्मनमाविष्कृतं न स्याद्दिदुषाहितत्राधि-
कारः उच्यते न प्रायश्चित्तमनागतं शोधयेदित्युच्यते अपितु शास्त्रव्याख्यानकाले शिष्याणामुपदेशादिदं रहस्येषु शोधनं बो-
द्धव्यमिति ॥ २२६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आविष्कृतैर्नसः प्रख्यातपापाः । अनाविष्कृतपापाः तत्पापहेतुकर्माविनाभूतव्यतिरिक्तै-
रज्ञातपापास्तान्मन्त्रैर्होमैश्च शोधनैः पावनतया विहितैः । एवं च परस्त्रीगमनादौ तत्क्रियाविनाभूतया परस्त्रिया तत्तज्ज्ञा-
नेपि न रहस्यत्वाभावः तदन्येन तु कर्तव्यव्यतिरिक्तेन ज्ञाते रहस्यत्वमपैति ॥ २२६ ॥

(३) कुल्लूकः । लोकविदितपापाद्विजातयः परिषदप्रायश्चित्तैर्वक्ष्यमाणपरिषदाशोधनीयाः । अप्रकाशितपापांस्तु
मानवाभ्यन्तैर्होमैश्च परिषदेव शोधयेत् । यद्यपि परिषदि निवेदने रहस्यत्वस्य नाशः तथाप्यमुकपापे कृते केनापि लोका-
विदिते किंप्रायश्चित्तस्यादिति सामान्यप्रश्ने न विरोधः ॥ २२६ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रकटपापिनां व्रतान्युपसंहरन् प्रच्छन्नपापस्य प्रायश्चित्तमुपदिशंस्तपःश्रेष्ठमाह एतैरित्येकविंश-
त्या । अनाविष्कृतपापान् स्त्रीपुंमिथुनातिरिक्ताविदितान् । एतस्य पापस्येदंप्रायश्चित्तमिति परोक्षवादेन पृष्ठापरिषत्पञ्चाद्यु-
पदेशेन शोधयेदिति शेषः ॥ २२६ ॥

(५) नन्दनः । याच्येतानि व्रतान्युपदिष्टानि तानि प्रकाशितानां प्रायश्चित्तमप्रकाशितानां जपहोमादय इत्याह एतै-
रिति ॥ २२६ ॥

(६) रामचन्द्रः । आविष्कृतैर्नसः लोकविदितैर्नसः एतैर्व्रतैर्द्विजातयः संशोभ्याः । तु पुनः अनाविष्कृतपापान्
रहस्याचरितपापान् मन्त्रैर्होमैः शोधयेत् ॥ २२६ ॥

ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च ॥ पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि ॥ २२७ ॥

(१) मेधातिथिः । विप्राणां विदितेष्वप्येवं कर्मास्तीति प्रकाशयेत् एतत्ख्यापनमनुतापः । तस्मात्तापेन धिक्कृमां-
महदकार्यमकरवमनार्थं नेदुष्कृतकारिणो जन्मन्येवमादिः चित्तपरिषेदः । अध्ययनं सावित्र्याजपोवेदपाठोवाहिसायामन्ध-
त्रासमर्थस्य तपसिदानं एतदाहेदानीं न चापदिति प्रक्रांततपसः आपदि पीडायामनिग्रहणेदानम् ॥ २२७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ख्यापनेन प्रकाशपापानां पुनः प्रकाशनेन । अनुतापेन रहस्ये प्रकाशे च । तपसा ना-
शकादिना । अध्ययनेन जपेन । आपदि तपोजपाशक्तौ दानेन ॥ २२७ ॥

(३) कुल्लूकः । पापकारी नरो लोकेषु निजपापकथनेन धिक्कृतमिति पापकारिणमिति पश्चात्तापेन शुध्यति । तपसा
चोग्ररूपेण सावित्रीजपादिना च पापान्मुच्यते । तपस्याशक्तो दानेन च पापान्मुक्तो भवति । ख्यापनं चेदं प्रकाशप्रायश्चित्ताङ्क-
भूतं रहस्यप्रायश्चित्ताङ्कं रहस्यत्वहानिप्रसङ्गात् । अनुतापश्च प्रकाशरहस्याङ्कमेव दानेनेति प्राजापत्यव्रत एकधेनुविध्वनात्
धेनुश्च पञ्चपुराणीया त्रिपुराणीया वेति एतेन ब्रह्महत्यानिमित्तके द्वादशवार्षिकव्रते मासि सार्धद्वयप्राजापत्यान् वत्सरे
त्रिंशद्धेनवो भवन्ति द्वादशभिर्वर्षैः षड्यधिकशतत्रयधेनवो भवन्तीति ॥ २२७ ॥

(४) राघवानन्दः । ख्यापनेन मधेदं कृतमितिकथनेन तत्कथने लोकावज्ञास्पदत्वात् पुनर्न प्रवर्ततइतिभावः । अनुतापेन धिगस्तु मामित्यनुशोचनेन । तथाच विष्णुपुराणम् ॥ कृते पापेऽनुतापोवै यस्य पुंसः प्रजायते ॥ प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं हरिसंस्मरणं परम् ॥ आपदिपूर्वोक्ताशक्तौदानेनैव ॥ २२७ ॥

(५) नन्दनः । अथोभयेषु पापेषु प्रायश्चित्तविशेषापद्धर्मानपरानाह ख्यापनेनेति । ख्यापनप्रकाशितपापविषयं सामर्थ्याद्विम्यते इतराण्युभयविषयाणि दानेनचापदीत्यापद्ग्रहणात्सर्वैः प्रायश्चित्तविशेषैर्दानस्यतुल्यार्थता नानुतापाद्विवर्गतेत्यस्यप्रपञ्चइति ॥ २२७ ॥

(६) रामचन्द्रः । ख्यापनेन पापानां कथनेन रहस्यस्यानुतापेन च पुनः तपसा वेदाध्ययनेन आपदिदानेन ॥ २२७ ॥

यथा यथा नरोऽधर्मस्त्वयंकृतवानुभाषते ॥ तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२८ ॥

(१) मेधातिथिः । ख्यापनविधेरर्थवादः । नरोऽधर्ममितिनजः प्रश्लेषो धर्मस्य त्वयं ख्यापनं निषिद्धं न गुणाः त्वयं वाच्याइति प्रकृतश्चाधर्म एव तेनाधर्मेणेति श्रूयत एव ॥ २२८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । ख्यापनस्य पापक्षयत्वं दृढयति तथायथेति ॥ २२८ ॥

(३) कुल्लूकः । यथा यथा त्वयंपापंकृत्वा नरोभाषते लोके ख्यापयति तथा तथा तेन पापेन सर्पइव जीर्णत्वचा मुच्यतइति ख्यापनविधेरनुवादः ॥ २२८ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र ख्यापनानुवादयोरर्थवादमाह यथेति त्रिभिः । तेनोक्तेन अधर्मेण त्वचेवाहिः ॥ २२८ ॥

(५) नन्दनः । अनुतापं श्लोकत्रयेण प्रपञ्चयति यथेति ॥ २२८ ॥

(६) रामचन्द्रः । नरः स्वयमधर्मकृत्वा अनुभाषते कथयति तथा तेनाधर्मेण मुच्यते कइव अहिः त्वचेव ॥ २२८ ॥

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गृह्णाति ॥ तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२९ ॥

(१) मेधातिथिः । शरीरमन्तरात्मैव नभूतात्मा पुण्यपापयोस्तदाश्रयात् । उपचाराद्धि आत्मनः शरीरशब्दोऽयं दृष्टव्यः । अनुतापार्थवादोऽयं गृह्णाख्याता ॥ २२९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अनुतापस्य पापनाशकर्ता दृढयति यथायथामनइति । शरीरं लिङ्गदेहः ॥ २२९ ॥

(३) कुल्लूकः । तस्य पापकारिणोऽमनो यथा यथा दुष्कृतं कर्म निन्दति तथा तथा शरीरं जीवात्मा तेनाधर्मेण मुक्तो भवति अयमनुतापानुवादइति ॥ २२९ ॥

(४) राघवानन्दः । पापकर्तुर्मनः पापं कर्म गृह्णाति शरीरं लिङ्गदेहम् ॥ २२९ ॥

(५) नन्दनः । निन्दत्यनुतपति शरीरमिति शरीरस्थ आत्मा लभ्यते शरीरीति साधुः पाठः ॥ २२९ ॥

कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्पमुच्यते ॥ नैवं कुर्यात्पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥ २३० ॥

(१) मेधातिथिः । निमित्तपर्यन्तमित्याहुस्तदयुक्तं संतापो मनःपरिखेदः प्रमाद्यैतन्मया कृतमित्येवं रूपः । निवृत्तिस्तु संकल्पो न कर्तव्यः पुनरितिक्रियाभेदं च दर्शयति कृत्वा प्रत्ययेन संतप्य निवर्ततेत्यतः प्रायश्चित्तवत्ख्यापनानुतापनिवृत्तयः प्रायश्चित्तिना कर्तव्याः । मयतः सिद्धिमाप्नोति ॥ २३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संतप्य संतापानन्तरं प्रायश्चित्तमल्पमपि चरित्वेति तात्पर्यम् । न केवलमुत्पन्नपापस्य नाशोऽनुत्पन्नस्याप्यनुत्पादः पश्चात्तापादित्याह नैवमिति । पूयते संभवदुत्पत्तिपापशून्यो भवति ॥ २३० ॥

(३) कुल्लूकः । पापं कृत्वा पश्चात्संतप्य तस्मात्पापान्मुच्यत इत्युक्तमपि नैव कुर्यात् पुनरित्येवमनूदितं । यदा तु पश्चात्तापो नैव पुनः करिष्यामीति एवं निवृत्तिरूपसंकल्पफलकः स्यात्तदा सुतरांतस्मात्पापात्पूतो भवतीति । एतच्च निवृत्तिसंकल्पस्य प्रकाशाप्रकाशप्रायश्चित्ताङ्गविधानार्थम् ॥ २३० ॥

(४) राघवानन्दः । न कुर्यामिति निवृत्त्या पूयते पुनरपि न प्रवर्तते ॥ २३० ॥

(६) रामचन्द्रः । च पुनः एवं पापं न कुर्यात् इति निवृत्त्या सः पूयते ॥ २३० ॥

एवंसंचिन्त्य मनसा प्रेत्य कर्मफलोदयम् ॥ मनोवाङ्मूर्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत् ॥ २३१ ॥

(१) मेधातिथिः । एवमितिकृत्स्नस्य विधिनिषेधसमूहस्य प्रत्यवमर्शः प्रेत्य कर्मफलोदयं शुभस्य कर्मणः स्वर्गादिकलावाभिरशुभस्य नरकोपपत्तिरुत्प्रेषादप्रायश्चित्ते प्रायश्चित्तं चातिदुःखरूपमेतन्मनसि संचिन्त्य शुभं कर्म समाचरेत् विहितं शुभं तत् तथा संकल्पमूलः कामो वाक्यार्थानियता इति च तस्माद्यद्यपि न हिंस्यादित्युद्यमनिपातनेदण्डादेः परदुःखोत्पादने उच्येते । तथाप्येवमादिशास्त्रपर्यालोचनयाध्यवसायादिनिषेधः । एवमभक्ष्यभक्षणादावपि द्रष्टव्यं यद्यपि भक्षणमात्रादन्नादिनिगमपर्यन्तं तथापि मानसोऽध्यवसायो निषिद्ध एव । एवमगम्यागमनेपि । यद्यपि हीन्द्रियसमापत्तिर्गमनं तथापि तदर्थं अध्यवसायो व्यापार एवमादिशास्त्रान्तरैर्निषिध्यते । यद्येवं हननभक्षणागम्यागमनेषु यत्प्रायश्चित्तं तदध्यवसायेऽपि प्राप्नोति नैष दोषः ब्राह्मणवधेतावदिष्टमेव अहत्वापीति वचनात् । अन्यत्र तु मुख्यस्यैव शब्दार्थस्य परिग्रहो न्याय्यः । प्रतिषेधे तूक्तशास्त्रपर्यालोचनया समनोव्यापारात्प्रभृति कायव्यापारपर्यन्तविषयोऽवतिष्ठते । यद्येवं निन्दितं समाचरन्निति प्रायश्चित्तनिमित्तोपदेशात्प्रतिषेधानुसारि प्रायश्चित्तं प्राप्नोति क एवमाह नास्ति प्रायश्चित्तमिति किंचितच्छब्दचोदितान् भवत्यन्यस्य लघुकल्प्यं तथा च सर्वप्रायश्चित्तानामेवमादिरपि विषयो न्याय्यः । कुतः पुनरयं विशेषो लभ्यते प्रतिषेधाध्यवसायादिति प्रायश्चित्तानितु शब्दार्थेष्वेव व्रतनियमधर्माश्च सर्वे संकल्पजा इति । अनेन विधिप्रतिषेधावेवोच्येते । व्रतानि विधिरूपाणि यमाः प्रतिषेधलक्षणास्तत्रैव चकृतार्थत्वाच्चैमिक्तिकेषु यावत्प्रवर्तितुमर्हन्ति अस्त्यप्रतिषेधसामान्यनिमित्तमतो भवति प्रायश्चित्तं न च परद्रव्येष्वभिध्यानमिति चात्रैवान्ते दर्शयिष्यामः ॥ २३१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवं संचिन्त्य प्रायश्चित्तम् । तथा प्रेत्य मरणानन्तरं कर्मफलस्य नरकादेरुदयम् । मूर्तिर्देहः ॥ २३१ ॥

(३) कुल्लूकः । एवं शुभाशुभानां कर्मणां परलोकइष्टानिष्टफलं मनसा विचार्य मनोवाक्कायैः शुभमेव सर्वकर्म कुर्यादिति फलत्वात् नाशुभं नरकादिदुःखहेतुत्वात् ॥ २३१ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच एवमिति प्रेत्य कर्मफलोदयं वक्ष्यमाणं यातनोत्थम् । मूर्तिभिर्देहैः शुभमेव समाचरेत् । अनुतिष्ठेत् ॥ २३१ ॥

(६) रामचन्द्रः । मनोवाङ्मूर्तिभिः मनोवाक्कायैः ॥ २३१ ॥

अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्मविगर्हितम् ॥ तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं समाचरेत् ॥ २३२ ॥

(१) मेधातिथिः । कृतप्रायश्चित्तस्यापि पुनरकार्यप्रवृत्तावधिकतरं प्रायश्चित्तमिति एवमर्थद्वितीयं समाचरेदिति ।

अथवानिवृत्तेरनन्तरोपदिष्टाया अर्थवादोद्वितीयं न समाचरितव्यमिति । व्रतं न हातव्यं तस्मादाद्यकृताद्यतिक्रमाद्विमुक्तिमिच्छन्-
मोक्षमिच्छन् पुनर्न कुर्यादतश्चैतदुक्तं भवति । कृतेऽपि प्रायश्चित्ते न विमुच्यते यदि पुनः समाचरति न च निष्कृतौ कृतायामकृताया-
मपि मोक्षोयुक्तोऽतो मुक्तस्य मुक्तिमन्विच्छन्निति नोपपद्यते तस्मादाधिक्याय पुनर्वचनम् ॥ २३२ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । द्वितीयं नाचरेत्पापं द्वितीयकरणेन पूर्वस्यापि बहुप्रायश्चित्तापनेयता भवतीत्यर्थः ॥ २३२ ॥

(३) कुल्लूकः । प्रमादादिच्छातोवा निषिद्धकर्मकृत्वा तस्मात्पापान्मुक्तिमिच्छन् पुनस्तन्न कुर्यात् एतच्च पुनः करणे
प्रायश्चित्तगौरवार्थम् । अतएव देवलः ॥ विधेः प्राथमिकादस्माद्वितीये द्विगुणं भवेदिति ॥ २३२ ॥

(४) राघवानन्दः । फलितमाह तस्मादिति । तस्मादज्ञानादि कृतादिशुद्धितस्मात्पूर्वाचितपापात् द्वितीयं तज्जातीयं
न समाचरेन्न कुर्यात् । किमुक्तिमिति क्वचित्पाठः । अतएव देवलः ॥ विधेः प्राथमिकादस्माद्वितीये द्विगुणं स्मृतम् ॥ तृतीये
त्रिगुणं प्रोक्तं चतुर्थे नास्ति निष्कृतिरिति ॥ २३२ ॥

(५) नन्दनः । यतएवमत आह अज्ञानादिति । द्वितीयं पुनरपीतियावत् ॥ २३२ ॥

(६) रामचन्द्रः । अज्ञानात् यदि वा ज्ञानात् तस्माद्विमुक्तिमिच्छन् द्वितीयं न समाचरेत् ॥ २३२ ॥

यस्मिन्कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम् ॥ तस्मिन्तावत्तपः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत् ॥ २३३ ॥

(१) मेधातिथिः । असत्यांचित्तशुद्धौ विहितातिरेककरणार्थमिदं दुष्कृतैकर्मण्यलाघवं कापि विचिकित्सायदि भ-
वति । ततः कृतेऽपि प्रायश्चित्तश्चात्मनः प्रसादोत्पत्तेरावर्तयितव्यम् । तपोग्रहणं दानादीनामपियथाविहितदर्शनार्थम् ॥ २३३ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । यस्मिन्कर्मणि प्रायश्चित्ते कृतेऽपि लाघवमक्षीणपापोऽस्तीति मतिः । तुष्टिकरं क्षीणपापोऽहमि-
ति बुद्धेर्जनकम् ॥ २३३ ॥

(३) कुल्लूकः । अस्य पापकारिणो यस्मिन्प्रायश्चित्ताख्ये कर्मण्यनुष्ठिते न चित्तस्य संतोषः स्यात्तस्मिन्तदेव प्राय-
श्चित्तं तावदावर्तयेद्यावन्मनसः संतोषः प्रसादः स्यात् ॥ २३३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच यस्मिन्निति । यस्मिन्प्रायश्चित्ताख्ये कृते । अलाघवमसंतोषः । तस्मिन्तदेव प्रायश्चित्तं
तावदावर्तयेद्यावन्मनसः प्रसादः स्यात् ॥ २३३ ॥

(५) नन्दनः । अथ तपः प्रपञ्चयति यस्मिन्निति अलाघवं गौरवं तुष्टिरितियावत् ॥ २३३ ॥

(६) रामचन्द्रः । यस्मिन्सुकृतेऽकर्मणि मनसः अलाघवं स्यात् चित्तस्य असंतोषः स्यात् तस्मिन्तावत्तपः
कुर्यात् । यावन्मनः तुष्टिकरं भवेत् यस्मिन्पापे कर्मणि कृते प्रायश्चित्ते निष्पापोऽहमित्यात्मनि लघुतामेति ॥ २३३ ॥

तपोमूलमिदं सर्वदैवमानुषकंसुखम् ॥ तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोन्तं वेददर्शिभिः ॥ २३४ ॥

(१) मेधातिथिः । मनुष्यलौके यत्सुखमाभिमानीकं जनपदैश्वर्यादि यच्चैहिकमरोगित्वादि यच्च सांसारिकं धनपुत्रा-
दि संपत् यथाभिमतकान्तादिविषयोपभोगलक्षणमैन्द्रियकं यच्च वेदेषु मनुष्याणां शतमानन्दाः स एक आजानदेवैष्वित्यादितस्य-
सर्वस्य तपोमूलं उत्पत्तिकारणं तपोमध्यमुत्पन्नस्य स्थितिर्मध्यावस्थाऽतो वसानंतदपेक्षयेति वेदविदां दर्शनं यथैव कर्माणि स्वर्ग-
ग्रामाद्यभिप्रेतफलसाधनान्येवं तपोविज्ञेयम् ॥ २३४ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । मूलं जन्महेतुः । दैवं देवानां सुखम् । मानुषकं मनुष्याणाम् । मध्यं स्थितिहेतुः । अन्तो-
नाशहेतुः वैषयिकसुखस्यापवर्गकारी । तत्रयं तपएवेत्यर्थः ॥ २३४ ॥

(३) कुङ्कुमः । यदेतत्सर्वदेवानां मनुष्याणां च सुखंतस्य तपः कारणं तपसैव च तस्य स्थितिः तपोऽन्तःप्रतिनियत-
विधिरेव देवादिसुखस्य तपसा जननादादिष्ठवेदार्थज्ञैरुक्तं उक्तप्राजापत्यादिप्रायश्चित्तात्मकतपः । प्रसङ्गेन चेदंवक्ष्यमाणं च
सर्वतपोमाहात्म्यकथनम् ॥ २३४ ॥

(४) राघवानन्दः । तपसोनासाध्यमित्यावेदयन्नाह तप इति । तपोमूलं तपएवोत्पत्तिहेतुः । मध्यं स्थितिहेतुः ।
अंतं विनाशहेतुः । आसुरतपसा दैवसुखस्य नाशदर्शनात् ॥ २३४ ॥

(६) रामचन्द्रः । बुधैः तपः मध्यं प्रोक्तं वेददर्शिभिः तपः अन्तं शरीरस्यान्ते तपः फलति ॥ २३४ ॥

ब्राह्मणस्य तपोज्ञानंतपःक्षत्रस्य रक्षणम् ॥ वैश्यस्य तु तपोवार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम् ॥ २३५ ॥

(१) मेधातिथिः । नैवमन्तव्यंतपसिसमर्थो तपसर्वफलसिद्धिमवाप्स्यामि विध्यतिशययोगाच्च । विहिताकरणेपि
न द्रव्येण कथं मेनुष्ठेयो धर्म इति यतो ब्राह्मणस्य तपोज्ञानं ज्ञानं वेदार्था बोधः तस्मिन् न सति न तत्फलसाधनमतो ज्ञानमेव तप उच्य-
ते । महत्यपि व्रतसिद्धिः तेन स्वधर्मो न हातव्य इत्येवमर्थोऽयं श्लोकः । ज्ञानग्रहणं स्वाध्यायग्रहणाध्ययनात्मभृतिसर्वस्वधर्माणां-
प्रदर्शनार्थमेवं तपःक्षत्रियस्येति । शूद्रस्य सेवनं द्विजातीनामिति शेषस्तत्सेवाया विहितत्वात् । अस्य चानुवादत्वात् ॥ २३५ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । ब्राह्मणस्य यत्ज्ञानमसाधारणाभ्युदयहेतुस्तदपि तपएव तपोमूलत्वात् । एवं रक्षणादा-
वपि । सेवनं सेवायां प्रवृत्तिः ॥ २३५ ॥

(३) कुङ्कुमः । ब्राह्मणस्य ब्रह्मचर्यात्मकवेदान्तावबोधनंतपो राजन्यस्य रक्षणंतपो वैश्यस्य रुषिवाणिज्यपाशु-
पाल्यादिकंतपः शूद्रस्य ब्राह्मणपरिचर्या प इति वर्णविशेषेणोत्कर्षबोधनार्थम् ॥ २३५ ॥

(४) राघवानन्दः । रुच्छ्र्वाद्यायणादेः तपःशब्दप्रसंगेन प्रतिनियतचातुर्वर्ण्यधर्मे तदतिदशानुशुद्रस्य सेवैव तप-
इति विधत्ते ब्राह्मणस्येति । ज्ञानं वेदतदर्थयोः । रक्षणं प्रजायाः । वार्ता रुषिवाणिज्यादिः । सेवनं द्विजानां शुश्रूषा ॥ २३५ ॥

(५) नन्दनः । ब्राह्मणादीनां ज्ञानादीनि यानि धर्मान्तरेभ्यः प्रधानत्वेनोपदिष्टानितानि तपएव ज्ञानादिभिः प्राप्यं-
फलंतपसा प्राप्यत इत्यर्थः ॥ २३५ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणस्य तपोज्ञानं तपोजन्यत्वात् । तपः क्षत्रस्य रक्षणं प्रजारक्षणरूपम् । वैश्यस्य वार्तायां
कारणं तपः । शूद्रस्य द्विजसेवनंतपः ॥ २३५ ॥

ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानिलाशनाः ॥ तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २३६ ॥

(१) मेधातिथिः । अतीन्द्रियज्ञानातिशयासादनमपि मुनीनां तपोबलेनैवेत्यर्थः । वाङ्मनःकायनियमात्संयतात्मानः
फलमूलेत्याहारनियमः । ईदृशेन तपसा त्रैलोक्यं प्रत्यक्षवत्पश्यन्ति ॥ २३६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । तपसा योगस्तेन प्रपश्यन्ति ॥ २३६ ॥

(३) कुङ्कुमः । ऋषयो वाङ्मनःकायनियमोपेताः फलमूलवायुभक्षाः तपसैव जङ्गमस्थावरसहितं पृथिव्यन्तरिक्ष-
स्वर्गात्मकं लोकत्रयमेकदेशस्थाः सन्तो निष्पापान्तःकरणाः प्रकर्षेण पश्यन्ति ॥ २३६ ॥

(४) राघवानन्दः । तपसः किं दुरापमस्तीत्यावेदयन् साश्चर्यमाह ऋषय इति नवभिः । संशितव्रतास्तपसा तनूकृत
पापाः । सचराचर स्थ.वरजङ्गमात्मकं त्रैलोक्यं एकदेशस्थ आर्षेण ज्ञानेन प्रत्यक्षीकुर्वन्ति ॥ २३६ ॥

(५) नन्दनः । तपसा त्रैलोक्यं प्रपश्यन्ति तपसा दिव्यज्ञानोभूत्वासर्वविदोभवन्तीत्यर्थः ॥ २३६ ॥

(६) रामचन्द्रः । ऋषयः फलमूलाशिनः ॥ २३६ ॥

औषधान्यगदोविद्यादैवी च विविधा स्थितिः ॥ तपसैव प्रसिद्धानि तपस्तेषां हि साधनम् ॥ २३७ ॥

(१) मेधातिथिः । औषधानिरसायनानि अगदाव्याभ्युपशमभेषजानि । विद्या भूतविशेषादिविषया दैवीस्थितिर-
णिमादिशक्तियोगोऽनेकप्रकारः ॥ २३७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । औषधानि भैषज्यानि । अगदाविषघ्नमत्तरूपाणि । विद्या वेदार्थज्ञानानि । दैवीस्थिति-
रिन्द्रत्वादिका । प्रसिध्यन्ति प्रकर्षेण सिध्यन्ति फलन्ति ॥ २३७ ॥

(३) कुष्ठकः । औषधानि व्याध्युपशमनहेतुकानि । अगदोगदाभावोनैरुज्यमितियावत् । विद्याब्रह्मधर्मचर्यात्मक-
वेदार्थज्ञानवेदसंबन्धिनी च नानारूपा स्वर्गादावस्थितिः । इत्येतानि तपसैव प्राप्यन्ते यस्मात्तपः एषां प्राप्तिमिच्छन् ॥ २३७ ॥

(४) राघवानन्दः । औषधानि महौषधिप्रभृतीनि । अगदः गदोरोगस्तन्निरसनं । सुश्रुतशास्त्रं तपसैव निर्मितम् ।
विद्याब्रह्मविद्या ॥ तपसाब्रह्म विजिज्ञासस्वेति श्रुतेः ॥ दैवीचन्द्रलोकादिसंस्थितिः चन्द्रस्यैतिसलोकतामित्युक्तेः । प्रकृष्टतयो-
त्पद्यन्तइत्याह प्रसिध्यन्तीति ॥ २३७ ॥

(५) नन्दनः । अगदोव्याधिरहितोविविधा दैवी स्थितिः विविधदैवताप्राप्तिः अत्र कारणत्वेनोक्तं तपस्तेषां हि साध-
नमिति । तेषामौषधादीनां साधनं साधकम् ॥ २३७ ॥

(६) रामचन्द्रः । औषधानि विषघ्नमत्तरूपाणि विद्या वेदार्थज्ञानं दैवी इन्द्रत्वादिका विविधा स्थितिर्मर्यादा ॥ २३७ ॥

यदुस्तरं यदुरापं यदुर्गं यच्च दुष्करम् ॥ सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ २३८ ॥

(१) मेधातिथिः । दुःखेन यत्तीर्यते तदुस्तरं व्याधिनिमित्तामहत्यापदतिबलेन शत्रूणां यदुपरोधः एतदपि तपस्वी-
नां सुसाध्यम् । कृच्छ्रेण यत्प्राप्यते तदुरापमाकाशगमनादि । दुर्गं मेघपृष्ठारोहणादि । दुष्करमभिशापवरदानादि । अन्यथा-
त्वकरणं यथा संवर्तस्यान्यदेवतासृष्टिः । सर्वमेव तपसा सिध्यति । श्लोकत्रयेण संयोगपृथक्कादभ्युदयार्थता कृच्छ्राणामु-
च्यते । ननु च प्रायश्चित्तानां प्रकृतत्वात् कृच्छ्रस्तुतिस्तच्छेषतयैव व्याख्या नाभ्युदयार्थिनो विधेयतया न च दुस्तरादयोऽर्थ-
वादतयानसंभवन्ति । एवंविधः महान्तः कृच्छ्रायदुस्तरमपि समुद्रादितिर्यते किं पुनर्दुष्प्रापनापनोत्स्यते । उच्यते गृह्यस्मृतिषु सा-
मविधौ चाननुक्रम्यैव प्रायश्चित्तानां कृच्छ्रविधिः समाम्नातः तत्र चानारभ्याधीतत्वाद्युक्तैवाभ्युदयार्थता । आह च अथैतान्-
कृच्छ्रांश्चरित्वा सर्वेषु वेदेषु ज्ञातो भवतीति । वेदेषु ज्ञातइत्यनेन नियमपूर्वकं वेदाध्ययनानुष्ठानाद्यफलं तत्सिद्धमाह । यस्तु नि-
ष्कलो ग्रहणार्थोऽध्ययनविधिः स एकवेदाध्ययनेनात्रापि संपद्यते । एवमनेकवेदाध्ययनं तु धर्मायैवेत्युक्तं वेदेषु ज्ञातइत्यनेनाशे-
षयागफलावामिमाह । यजमानो हि वेदैर्ज्ञायते यो ह्यर्थवादतया संभवति न प्रायश्चित्तानिदानभावं गच्छद्भिरिहापि स्वधर्मनिवृत्ति-
माशङ्कमानेन ब्राह्मणस्य तपोज्ञानमिति यदुक्तं तदभ्युदयार्थत्वे संभवति न प्रायश्चित्तानि पापप्रमोचनार्थानि काम्यानि फलसाध-
नानि तत्र भिन्नविषयत्वात् कुतः प्रायश्चित्तैर्निवृत्तिराशङ्क्यते । अभ्युदयार्थत्वे तु कृच्छ्राणामन्येषां च कर्मणां तुल्यत्वाद्युक्तानि वृ-
त्त्याशङ्क्य तथामहापातकिनश्चेति पापप्रमोचनार्थेऽपि चोच्यते यदुस्तरमित्यादिना । अभ्युदयार्थतेति भिन्ने एव ते वाक्ये तेन-
च प्रकरणस्य बाधो युक्त एव । तथा च द्वैपायनमुनिप्रभृतयस्तपःप्रभावाद्बुद्धीर्विचित्रास्तावक्ष्यन्ते तस्मात्सर्वफलानि तपांसि ।
न च यथासर्वार्थान्यपि वैदिकानि कर्माणि नियतफलानि सर्वभ्यो दर्शपूर्णमासौ सर्वभ्यो ज्योतिष्टोमइत्याधिकारात्तत्र सर्व-

त्रयान्येववेदेस्वर्गादीनि फलानि श्रुतानि तदपेक्षयैव सर्वार्थता नतुक्कथ्यतिशयातिभोगेनैवमिति किंताहिंयदुस्तरमित्यादिय-
थानिर्दिशतम् ॥ २३८ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । दुस्तरं समुद्रादि । दुरापं चिन्तामण्यादि । दुर्गं मेरुपृष्ठादि । दुष्करं लोकसृष्ट्यादि ॥ २३८ ॥

(३) कुङ्कुमः । यदुःखेन तीर्यते ग्रहदोषसूचितापदादि यदुःखेन प्राप्यते क्षत्रियादिना यथा विश्वामित्रेण । तेनैव
शरीरेण ब्राह्मण्यादि यदुःखेन गम्यते मेरुपृष्ठादि यदुःखेन क्रियते गोःप्रचुरदानादि तत्सर्वतपसासाधितुंशक्यते य-
स्मादिति दुष्करकार्यकरणं सर्वतपसा साध्यते तपोदुर्लघनशक्ति ॥ २३८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच यदिति । दुस्तरं ग्राह्यादिकृत्तानिष्टम् । दुरापं जात्यन्तरस्य जात्यन्तरप्राप्तिर्यथा विश्वा-
मित्रस्य ब्राह्मण्यावाप्तिः । दुर्गं गरुडस्यामृताहरणम् । दुष्करमगस्त्यस्य सिन्धुपानम् । उक्तं सर्वतपसा साध्यमिति न केवल-
मपितु तपोहस्तनुल्लङ्घनीयमित्याह तपोहीति । दुरतिक्रममतिक्रमशून्यम् ॥ २३८ ॥

(५) नन्दनः । शक्यंसाध्यं अत्रापि कारणत्वेनोक्तं तपोहिदुरतिक्रममिति । केनचिदपि तपोलङ्घयितुंशक्यमित्य-
र्थः ॥ २३८ ॥

(६) रामचन्द्रः । यत् दुस्तरं समुद्रादि । यत् दुरापं चिन्तामण्यादि । यत् दुर्गं मेरुपृष्ठादि । यत् दुष्करं लोकसृष्ट्या-
दि ॥ २३८ ॥

महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः ॥ तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्बिषान्ततः ॥ २३९ ॥

(१) मेधातिथिः । उक्तार्थमेतत् ॥ २३९ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । तपसैव मुच्यन्ते जपस्यापि भेदत्वात् ॥ २३९ ॥

(३) कुङ्कुमः । ब्रह्महत्यादिमहापातककारिणोऽन्यउपपातकाद्यकार्यकारिणः तपसैवोक्तरूपेणानुष्ठितेन तस्मात्पा-
पान्मुच्यन्ते उक्तस्यापि पुनर्वचनं प्रायश्चित्तस्तुत्यर्थं ॥ २३९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच महेति । शेषामहापातकिभिन्नाः । ततोमहापातकोपपातकादेः ॥ २३९ ॥

(५) नन्दनः । चतुर्णामेतेषांचत्वार्युदाहरणानि यथासंख्यंचतुर्भिः श्लोकैर्दर्शयति महापातकिनश्चैवेति । ततः कि-
ल्बिषान्मुच्यन्ते दुस्तरं तत्किल्बिषं तरति ॥ २३९ ॥

(६) रामचन्द्रः । महापातकिनोहि अकारिणः तपसैव ततः किल्बिषात् मुच्यन्ते ॥ २३९ ॥

कीटाश्चाहिपतङ्गाश्च पशवश्च वयांसि च ॥ स्थावराणि च भूतानि दिवंयान्ति तपोबलात् ॥ २४० ॥

(१) मेधातिथिः । तपस्तुतिरियं येन तपसा सर्वत्रगमनात्सर्वस्वर्गमासतइति । यथानधिकृता अपि कीटादयस्तपोब-
लाद्विवंगच्छन्ति किंपुनर्विद्वांसो ब्राह्मणा आलंबनं कीटादीनां जातिसहजदुःखं तदेव तपः तेन च क्षीणकल्मषाऽधिकारिजन्मा-
न्तरकृतेन सुकृतेन दिवंयान्ति ॥ २४० ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । श्वानोऽहयः । पतङ्गाश्च श्वाहिपतङ्गाश्च । पशवोगवाद्याः । तपोबलात् यजमानादिनिध-
नप्राप्तिरूपतपोबलात् ॥ २४० ॥

(३) कुङ्कुमः । कीटसर्पशलभपशुपक्षिणः स्थावराणि च वृक्षगुल्मादीनि भूतानि तपोमाहात्म्येन स्वर्गयान्ति इति-

(२४०) कीटाश्चाहि=कीटाश्वाहि (सर्वज्ञ०)

हासादौ कपोतोपाख्यानादिषु पक्षिणोप्यग्निप्रवेशादिकंतपस्तपन्तीति श्रूयते । कीटानां यजातिसहजंदुःखंतत्समंतपस्तेन च क्षीणकल्मषाविकारिणोजन्मान्तरकृतेन सुकृतेन दिवंयान्ति ॥ २४० ॥

(४) राघवानन्दः । निरुष्टस्याप्युत्कृष्टत्वं तपोमूलमित्याह कीटिति । कपोताख्यानादिष्वग्निप्रवेशादितपःश्रवणात् । पशवोगजेन्द्रादयः । वयांसि गरुडादयः । स्थावराः कल्पद्रुमादयः । वस्तुतस्तु कीटादीनां सहजं दुरदृष्टजन्यं दुःखमेव तपस्तेन प्रतीतमुत्तीर्य पूर्वार्जितपुण्यवशात्स्वर्गं यान्तीति तपसोऽर्थवादमात्रं तादृशशरीरे तपाद्यधिकाराभावादिति ॥ २४० ॥

(५) नन्दनः । दिवंयान्ति कीटादिभिर्दुरापाह्लास्तेपि तपसा दिवंप्राप्नुवन्ति । तथाहि महाभारते कीटाख्यानकपोताख्यानादिषु तिरश्चामपि तपसादिवप्राप्तिराख्यायते ॥ २४० ॥

(६) रामचन्द्रः । कीटादयः तपोबलात् यज्ञादि निधनप्राप्तिरूपतपोबलात् दिवंयान्ति ॥ १४० ॥

यार्त्किचिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्तिभिर्जनाः ॥ तत्सर्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः ॥ २४१ ॥

(१) मेधातिथिः । वाङ्मनःकायकृतस्य जपहोमाभ्यांशुद्धिः स्मर्यते तत्रतपसानिवृत्तिः स्यात् । अतइदमारभ्य-
तेतदपितपसानुच्यते ॥ २४१ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । तपोधनास्तपएवोद्दिश्य नतु धनाद्युद्दिश्यतपःकुर्वाणाः ॥ २४१ ॥

(३) कुङ्कुमः । यार्त्कित्पापमनोवाग्देहैर्मानवाः कुर्वन्ति तत्सर्वपापं निर्दहन्ति तपसैव तपोधना इति तपएव धनमिव रक्षणीयं येषां ते तपोधनाः ॥ २४१ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच यदिति । निर्दहन्ति फलाजनकतां संपादयन्ति । तपोधनाः तपएव दरिद्रस्य धनमिवोपादेयं येषां ते ॥ २४१ ॥

(५) नन्दनः । तदेनस्तपसा निर्णुदन्ति दुर्गपापं तपसा नाशयन्ति ॥ २४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । यार्त्किचित्पापमनोवाङ्मूर्तिभिः मनोवाक्कायकर्मभिः जनाः कुर्वन्ति तत्सर्वं निर्दहन्ति-
दूरीकुर्वन्ति ॥ १४१ ॥

तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य दिवौकसः ॥ इज्याश्च प्रतिगृह्णन्ति कामान्संवर्धयन्ति च ॥ २४२ ॥

(१) मेधातिथिः । काम्यकर्मारंभे पूर्वतपः कर्तव्यं तदपितावदनुच्यते । तथाचोक्तं प्रथमं चरित्वा शुचिः पूतः कर्म-
प्योभवति यत्र तावद्दीक्षोपशमनाद्यङ्कतत्रतदेव तपः एकस्तनं ब्रतमुपेत्युपयन्निति विहितं चेति तपएव । यत्रापिशान्तिकपौ
ष्टिकादौ गृहादिविषये तत्रापि पूर्वतपः कर्तव्यमिति श्लोकार्थः । ब्राह्मणग्रहणं योगाधिकृतकाममात्रप्रदर्शनार्थं । उक्तंच ॥
नातमतपसः पुंसो हविर्गृह्णन्ति देवताः ॥ नागृहीतहविष्यस्य कामः संपद्यते कच्चिन् ॥ यद्यपि न देवता तत्फलं तथापि यागस्य
देवतया विनाऽनिष्पत्तेर्देवताः संवर्धयन्तीत्युच्यते हविर्ग्रहीतृत्वं च न पुनर्देवतानां चत्वीकारः किं तर्हि संप्रदानतयोद्देशेऽनि-
राकरणम् ॥ २४२ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । तपसा दीक्षादिना । शुद्धस्य दिवौकसः । इज्याः यज्ञान् । प्रतिगृह्णन्ति वयमेभिः पूजिता-
इति मन्यन्ते ॥ २४२ ॥

(३) कुङ्कुमः । प्रायश्चित्ततपसा क्षीणपापस्य ब्राह्मणस्य यागे हवींषि देवाः प्रतिगृह्णन्त्यभिलषितार्थाश्च प्रयच्छ-
न्ति ॥ २४२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यदित्याह तपसेति । दिवौकसो देवाः इज्याः पूजायागाद्याः । कामान् भोगान् ॥ इष्टान् भोगान् हिवो देवादास्यन्ते यज्ञभाविताः इति गीतोक्तेः ॥ २४२ ॥

(५) नन्दनः । इज्या देवानां तोषणतेभ्यः कामावाप्तिश्च दुष्करन्तश्च तपसा शक्यत इति ॥ २४२ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्राह्मणस्य दिवौकसः इज्यायागादि प्रतिगृह्णन्ति च पुनः दिवौकसः कामान् संवर्धयन्ति ॥ २४२ ॥

प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवात्सृजत्यभुः ॥ तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ २४३ ॥

(१) मेधातिथिः । मनोर्येयं प्रतिष्ठाग्रन्थस्य सातपसः सामर्थ्यजैव अन्योपि योग्रन्थप्रतिष्ठाकामस्तेनापि तपःपूर्वकत्वाग्रन्थः प्रणेतव्यः ऋषीणामपि यत्तादृक् वेदाः प्रादुर्भवन्ति तत्तपसैव ॥ २४३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रजापतिर्ब्रह्मा । इदं शास्त्रं मानवम् ॥ २४३ ॥

(३) कुल्लूकः । हिरण्यगर्भः सकललोकोत्पत्तिस्थितिप्रलयप्रभुः । तपःकरणपूर्वकमेवेमं ग्रन्थमकरोत् तथैव ऋषयो बसिष्ठादयस्तपसैव मन्त्रब्राह्मणात्मकान् वेदान् प्राप्नुवन्तः ॥ २४३ ॥

(४) राघवानन्दः । प्रदीपवच्चातुर्वर्ण्यस्य चातुराश्रम्यस्य निषेकादिश्मशानान्तस्य क्रियाकलापस्यावभासकमपीदं शास्त्रं तपोरहितैर्मनसा दुःसंभाव्यमितितपसैवात्सृजदित्याह प्रजापतिरिति । सर्गादावृषयोपि सुमप्रबुद्धस्येव तपोबलादेव वेदानापुरित्याह तथैवेति । प्रपेदिरे प्रापुरितितपोमहीकरणम् ॥ २४३ ॥

(५) नन्दनः । तपसा दुष्करमपि कर्तुं शक्यमित्यत्र पुनरन्युदाहरति प्रजापतिरिदं सर्वमिति । इदं शास्त्रमिति च पठन्ति ॥ २४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । इदं शास्त्रं मानवं शास्त्रं तपसैव प्रभुः ब्रह्मा अत्सृजत् ॥ २४३ ॥

इत्येतत्तपसो देवामहाभाग्यं प्रचक्षते ॥ सर्वस्यास्य प्रपश्यन्तस्तपसः पुण्यमुत्तमम् ॥ २४४ ॥

[ब्रह्मचर्यं जपो होमः काले शुद्धाल्पभोजनं । अरागद्वेषलोभाश्च तप उक्तं स्वयं भुवा ॥ १ ॥]⁺

(१) मेधातिथिः । तपस्तुत्युपसंहारः । यदेतत्तपसो महाभाग्यमहाफलत्वमुक्तं तद्देवाः प्रचक्षते । न केवलं मनुष्या एव सर्वस्यास्येति जगन्निर्दर्शयति कृत्स्नस्य जगतः पुण्यमुद्भवं शुभजन्मतपसः सकाशात्पश्यन्तः ॥ २४४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सर्वस्य पूर्वोक्तकार्यस्य । उद्भवं जन्महेतुम् । तपसः सकाशात् परं पुण्यं पश्यन्तः ॥ २४४ ॥

(३) कुल्लूकः । सर्वस्यास्य जन्तोर्ग्रहणं भज्य तपसः प्रकाशादित्येवं देवाः प्रपश्यन्तः तपोमूलमिदं सर्वमित्यादितपोमहात्म्यं प्रवदन्ति ॥ २४४ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच देवादरत्वेनापि तपःप्राशस्त्यमामाह इत्येतदिति । सर्वस्य प्राणिमात्रस्य अस्य सुखतत्साधनवस्त्रमाल्यादयः तपसः सकाशादुद्भवमुत्पत्तिम् । पुण्यं दुःखाननुविद्धं पुण्योगन्धइत्यादि स्मृतेः ॥ धर्मात्सुखं च ज्ञानं चैति स्मृतेः । तदेवं पुण्यमुद्भवं प्रपश्यन्तस्तपसो भाग्यप्रवश्यकर्तव्यतया भजनीयत्वं प्राप्नुवन्त्येव ॥ २४४ ॥

(५) नन्दनः । सर्वस्यास्य प्रपञ्चस्य पुण्यं कल्याणमुत्तमं तपसा पश्यन्तस्तपोनिमित्तं पश्यन्तः ॥ २४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । इति एतत् देवाः तपसः महाभाग्यं प्रचक्षते ॥ २४४ ॥

[रामचन्द्रः । ब्रह्मचर्यादयः स्वयं भुवा तपः उक्तम् । रागश्च द्वेषश्च लोभश्च रागद्वेषलोभाः ते न विद्यन्ते ॥ १ ॥]⁺

(२४३) शास्त्रं = सर्वं (नं) + (क, ल)

वेदाभ्यासोऽन्वहंशक्त्या महायज्ञक्रियाक्षमा ॥ नाशयन्त्याशुपापानि महापातकजान्यपि ॥ २४५ ॥

(१) मेधातिथिः । वेदाभ्यासादीनानित्यानां कर्मणां पापप्रणोदनार्थताधिकारान्तरत्वेनोच्यते अनिर्दिष्टप्रायश्चित्ता-
नामप्रत्ययकृतानां प्रतिभूतानां चैतद्विज्ञायते अन्येत्वाहुर्देवोक्तं ब्राह्मणस्य तपोज्ञानमिति तपोविधानेन कर्मान्तरनिवृत्तिमाश-
ङ्कमानस्य वचनं इदमपितथैव विज्ञेयं अनुसंधानार्थं क्षमाग्रहणम् । सर्वात्मगुणप्रदर्शनार्थं महापातकान्यपीति । अपिशब्दा-
च्छ्रुतिः प्रतीयते न महापातकनिवृत्त्यर्थं तान्चाकस्मात्सप्रवर्तितइति तथाप्रदर्शितैर्विषयैर्विज्ञायते ॥ २४५ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । महायज्ञक्रिया वेदाभ्यासस्य तदन्तर्गतस्यापि पृथगुक्तिः । सर्वासंभवे वेदाभ्यासमात्रेण
संसिद्धिरित्येतदर्थम् ॥ २४५ ॥

(३) कुल्लूकः । यथाशक्तिप्रत्यहं वेदाध्ययनं पञ्चमहायज्ञानुष्ठानमपराधसहिष्णुत्वमित्येतानि महापातकजनिता-
न्यपि पापानि शीघ्रं नाशयन्ति किमुतान्यानि ॥ २४५ ॥

(४) राघवानन्दः । कृच्छ्रादावशक्तस्याप्येतन्नयं महापातकादिनाशहेतरित्याह वेदेति । महायज्ञावैश्वदेवादय-
स्तेषां क्रियानुष्ठानम् । क्षमा अपराधसहिष्णुता ॥ २४५ ॥

(५) नन्दनः । अथाध्ययनं पञ्चयति वेदाभ्यासोऽन्वहंशक्त्येति ॥ २४५ ॥

(६) रामचन्द्रः । पञ्चमहायज्ञक्रियाः क्षमायोग्याः ॥ २४५ ॥

यथैधस्तेजसा वह्निः प्रामं निर्दहति क्षणात् ॥ तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ॥ २४६ ॥

(१) मेधातिथिः । ज्ञानप्रशंसेयं विदुषः स्वल्पेन प्रायश्चित्तेन शुद्धिरित्यस्मिन् प्रकरणआज्ञायते । ज्ञानं च सरहस्यं-
वेदार्थविषयं ज्ञेयं प्रायश्चित्तविधिज्ञानं केवलं शुद्धये प्रयोगार्थत्वात् न ह्यन्यथाप्रयोगोपपत्तिः । यस्तु देवादिसत्तत्त्वविज्ञानं रह-
स्याधिकारज्ञानं च तस्याकामार्थत्वाद्युक्तं तद्धिताः पापनिष्क्रियाः आह च यथापुष्करपलाशआपोनश्लिष्यन्ति एवमेवं
विदिपापं कर्मनश्लिष्यतीति । एधोदाविन्धनं यथाशुष्कदारुचाग्रौक्षिप्तं क्षिप्रं दहते न विषा एवं ज्ञानमग्निरिव पापस्य दाहक-
त्वाद्दिनाशसामान्यादेवमुच्यते । वेदविदिति ज्ञानं विशिष्यते तेन तर्ककलाकाव्यादिज्ञानमपास्तं भवति ॥ २४६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । ज्ञानाग्निना वेदार्थानुचिन्तनेनाग्निनेव दुष्करप्रतिबन्धेन ॥ २४६ ॥

(३) कुल्लूकः । यथाग्निः काष्ठान्यासन्नानि क्षणेनैव तेजसा निःशेषं करोति तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं वेदार्थज्ञाना-
ह्मणोनाशयतीत्येतत्परमात्मज्ञानस्यैतत्पापक्षयोत्कर्षज्ञापनार्थमेतत् ॥ २४६ ॥

(४) राघवानन्दः । ज्ञानमेव पावनमविद्यानाशद्वारा समूलकापं कषति नान्यदित्याह यथेति । तथा च श्रुति-
स्मृती । सर्वे पाप्मानो तोनिवर्तन्ते ॥ भिद्यते तद्दयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ॥ क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्देहे परा-
वरे ॥ न ह वा एवं विदि किंचन पापं विद्यते यथा लोहो रजसा ध्वंसते ॥ यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुते तु ज्ञानाग्निः सर्वं
कर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यतइति ॥ एते श्रुतीकागोविन्दराजसंमता मेधातिथिसंमता-
इति । वस्तुतस्तु अनाविष्कृतपापानामित्यनेन गतार्थत्वात् ॥ २४६ ॥

(५) नन्दनः । ज्ञानाग्निना मन्त्रज्ञानाग्निना कुत एवं व्याख्यायते अस्य प्रकरणस्याध्ययनप्राधान्यात् ॥ २४६ ॥

(६) रामचन्द्रः । यथा एधान् काष्ठानि वह्निः तत्क्षणादहति तथा ॥ २४६ ॥

इत्येतदेनसामुक्तंप्रायश्चित्तं यथाविधि ॥ अत ऊर्ध्वं रहस्यानां प्रायश्चित्तं निबोधत ॥ २४७ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वोत्तरप्रकणाभिसंबन्धार्थः ॥ २४७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । रहस्यानामप्रकाशानां पापानाम् ॥ २४७ ॥

(३) कुल्लूकः । इत्येतद्ब्रह्महत्यादीनां पापानां प्रकाशानां प्रायश्चित्तं यथाविध्यभिहितं अत ऊर्ध्वमप्रकाशानां पापानां प्रायश्चित्तं शृणुत । अयं श्लोको गोविन्दराजेनालिखितः मेधातिथिना तु लिखित एव ॥ २४७ ॥

(४) राघवानन्दः । विस्पष्टपापानां प्रायश्चित्तमुपसंहरन्न रहस्यानां तत्प्रतिजानीते इतीति । एषाविधिः प्रकारः । एषामिति पाठे एषां रहस्यानाम् ॥ २४७ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतत् एनसां पापानां प्रायश्चित्तं उक्तं विशुद्धये उक्तं ॥ २४७ ॥

सव्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु षोडश ॥ अपि भ्रूणहणं मासात्पुनंत्यहरहः कृताः ॥ २४८ ॥

(१) मेधातिथिः । मुखनासिकासंचारीवायुः प्राणस्तस्यायामोनिरोधः सचोभयपथाप्राणप्रवृत्तेर्बाहिः क्रमतोऽपानप्रवृत्तेर्वायुद्वेचकारख्यप्रसिद्धं । व्याहृतयः सप्तप्रणवर्णकारो व्याहृतिभिः प्रणवेन च सह प्राणायामाः कर्तव्या इति षोडशेत्यावृत्तिसंख्यानं कीदृशः सहभावः केचिदाहुः प्राणायामं कृत्वा व्याहृतिः प्रणवजपः प्रत्यावृत्तिं कर्तव्यः । अन्ये त्वाहुः श्वासनिरोधकालेन व्यातव्याः । किं परिमाणः प्राणायामानां कालो यावता नानि महती श्वासनिरोधनपीडा जायते कुंभकरेचकपूरकाश्च प्राणायामाः स्मर्यन्ते । तेन श्वासनिरोधमात्रं यथाऽप्रमाणं नासिद्धेरिति । असाध्यतयैव परिमाणानामपि भ्रूणहनमपि शब्दात्तत्समेषु ॥ २४८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सव्याहृतीः सप्तप्रणववा इति एतदुपलक्षणं सावित्र्याः शिरसश्च । मासादिति च यावदब्दवचनमनुवर्तते । अनुक्तसंख्येषु च सूक्तादिषु प्रत्यहं शतमष्टोत्तरं जप्यम् । अनादेशेतु संख्यायाः शतमष्टोत्तरमिति सामान्यविधानात् ॥ २४८ ॥

(३) कुल्लूकः । सव्याहृतिसप्तप्रणवाः सावित्रीशिरोयुक्ताः पूरककुम्भकरेचकादिविधिना प्रत्यहं षोडशप्राणायामाः कृता मासाद्ब्रह्मघ्नमपि निष्पापं कुर्वन्ति । अपिशब्दादातिदेशिकब्रह्महत्याप्रायश्चित्ताधिकृतमपि एतच्च प्रायश्चित्तं द्विजातीनामेव न स्त्रीशूद्रादेर्मन्त्रानधिकारात् ॥ २४८ ॥

(४) राघवानन्दः । महापातकानुपपातकोपपातकेषु स्पष्टेषु मन्त्रहोमख्यापनानुतापयोर्ब्रताध्ययनदानवेदाभ्यासमहायज्ञक्षमाज्ञानानि सामान्यतो विषेष्टतश्च नाशकत्वेनोक्तानि इदानीं तेषां रहसिकृतानां प्रतिस्विकव्यवस्थितनाशसाधनान्याह सव्याहृतिमित्यष्टादशभिः । अपिनातिदेशिकपातकसंग्रहार्थः । मासान्मासावधि अहरहः कृताः प्रत्यहमभ्यस्यमानाः पुनन्ति भ्रूणहनं ब्रह्मघ्नं शोधयन्तीत्यन्वयः ॥ २४८ ॥

(६) रामचन्द्रः । सव्याहृतिकाः प्रणवाः षोडश प्राणायामाः अहरहः कृता अपि भ्रूणहनं मासात्पुनन्ति ॥ २४८ ॥

कौत्सं जप्त्वा पइत्येतद्वासिष्ठं च प्रतीत्यृचम् ॥ माहित्रं शुद्धवत्यश्च सुरापोपि विशुध्यति ॥ २४९ ॥

(१) मेधातिथिः । कुत्सेन ऋषिणा ऋषिप्रोक्तं कौत्समपनः शोशुचदधमित्यष्टर्चबहुचेपख्यते । वासिष्ठं च प्रतीत्यृचं नि-

(२४७) इत्येतदेनसामुक्तंप्रायश्चित्तं यथाविधि = इत्येषो विहितः कृत्स्नः प्रायश्चित्तस्यैव विधिः (राघ०)

(२४९) माहित्रं = माहेन्द्रं (ट, ड)

सक्रचःसमादतास्त्यूचं प्रतीतिसूक्तादिप्रतीकारार्थेचेति प्रतिस्तोमेभिरुषसंवशिष्टा इत्येतत् । माहेन्द्रं माहित्रीणामिति तृचमेव महितृशब्दोऽस्मिन्सूक्तेस्तीति विमुक्तदिप्रक्षेपात् । अक्रतुक्रचोयेतुमाहेन्द्रमिति पठन्ति तेषामहान्द्रोयओजसेत्यष्टचत्वारिंशतंपयःसूक्तमाहुः शुद्धवत्यश्चैतोन्विन्द्रंस्तवांशुद्धंशुद्धेनेति । अत्रापिशब्दस्तत्समानार्थः ॥ २४९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कौत्सं कुत्सदृष्टमपनःशोशुचदधमित्येतत्सूक्तम् । वसिष्ठदृष्टं प्रतिस्तोमेभिरितितृचंक्रक्चय-
म । माहेन्द्रं महान्द्रोयओजसेतितृचम् । माहित्रमितिक्वचित्पाठः । तत्र माहित्रीणामवोस्त्विति तृचं ग्राह्यम् । शुद्धवत्यः
शुद्धवतीः एतोन्विन्द्रमितितृचम् । एतत्सर्वं वक्ष्यमाणंच प्रत्येकमेव प्रायश्चित्तं नैकैकश्लोकोक्तं समुदितम् ॥ २४९ ॥

(३) कुहूकः । कौत्सेन ऋषिणा दृष्टं अपनः शोशुचदधमित्येतत्सूक्तं वसिष्ठेन ऋषिणादृष्टंच प्रतिस्तोमेभिरुषसंब-
शिष्टा इत्येवंक्रचं माहित्रं माहित्रीणामवोस्त्वित्येतत्सूक्तं शुद्धवत्य एतोन्विन्द्रंस्तवामशुद्धमित्येतास्तिरुक्रचः । प्रकृतंमासमहर-
हः षोडशकृत्वोपि जपित्वा सुरापोऽपि विशुध्यति अपिशब्दादातिदेशिकसुरापानप्रायश्चित्ताधिकृतोऽपि ॥ २४९ ॥

(४) राघवानन्दः । कौत्सं कुत्सनामर्षिणा दृष्टं । अपनःशोशुचदधमित्येतत्सूक्तम् । एवं वासिष्ठमपि प्रतिस्तोमे-
भिरुषसंवशिष्टमित्येतामृचम् । माहित्रं माहित्रीणामवोचमित्येतत्सूक्तम् । शुद्धवत्यः । एतोन्विन्द्रंस्तवामेति शुद्धंशुद्धेनेति ।
एतास्तिरुक्रचः । प्रकृतत्वान्मासादेर्मासंव्याप्य प्रतिदिनं षोडशकृत्वोजपित्वाशुध्यत्येव । अपिशब्दादातिदिष्टसुरापाना-
दिकृतोपि ॥ २४९ ॥

(५) नन्दनः । अपेत्येतदपनःशोशुचदधमित्यादिकंप्रतिस्तोमेभिरुषसंवशिष्टा इत्यादिकंवासिष्ठं तृचं माहित्रंसूक्तंम-
हित्रीणामवोस्त्वित्यादिकंशुद्धशब्दयुक्ताक्रचः शुद्धलिङ्गाएतानिन्द्रंस्तवाम इत्याद्याः ॥ २४९ ॥

(६) रामचन्द्रः । कौत्सं कुत्सदृष्टं अपनःशोशुचदधमित्येतत् जपेत् वासिष्ठं प्रतिस्तोमेभिरिति वसिष्ठदृष्टं तिसृणामृ-
चां समाहारसूचं इतिवा माहित्रं महान्द्रोयओजसेतितृचं एतोन्विन्द्रं स्तवामशुद्धमिति तृचं सुरापोपि विशुध्यति २४९
सकृज्जम्वास्य वामीयंशिवसंकल्पमेव च ॥ अपहत्य सुवर्णं तु क्षणाद्भवति निर्मलः ॥ २५० ॥

(१) मेघातिथिः । अत्रसकृत्ग्रहणात्पूर्वत्रपाठावृत्तिः प्रतीयते साच समाचारादन्यत्रदर्शनाच्च । त्रिजपित्वाधर्म-
णमित्यत्रापेक्षायामधिकृतेनसंबन्धः । अस्यवामशब्दोऽस्मिन्सूक्तेस्तीतिमतौच्छः सूक्तनाम्नोरिति । शब्दव्युत्पत्तिरस्य
वामस्य पलितस्य होतुरितिद्वापंचाशद्वचंसूक्तं शिवसंकल्पमपियज्जाग्रतोदूरमुपैतीतिवाजसनेषडूचम् ॥ २५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अस्यवामीयमस्यवामस्यपलितस्येत्यादि सरस्वन्तमवसेजोहवीमीत्यन्तम् । सकृत्सकृ-
त्यत्यहंजपित्वा । शिवसंकल्पं यज्जाग्रत इत्यादिषडूचम् । क्षणान्मासात् नतत्क्षणएव ॥ २५० ॥

(३) कुहूकः । ब्राह्मणसुवर्णमपहत्यस्यवामस्य पलितस्य एतत्सूक्तंप्रकृतत्वान्मासमेकंप्रत्यहमेकवारंजपित्वा
शिवसंकल्पच यज्जाग्रतोदूरमित्येतद्वाजसनेयकेयत्पठितंजपित्वा सुवर्णमपहत्य क्षिप्रमेव निष्पापोभवति ॥ २५० ॥

(४) राघवानन्दः । अस्यवामीयं अस्यवामस्येति द्विपञ्चाशत्सूक्तं । प्रकृतत्वान्मासमेकंसकृत्प्रत्यहमेकवारं जपि-
त्वा । शिवसंकल्पंच यज्जाग्रत इतिवाजसनेयपठितम् । एतद्वयं जपित्वा विप्रसुवर्णहर्ता निर्मलोनिष्पापः ॥ २५० ॥

(५) नन्दनः । अस्यवामीयं अस्य वामस्य पलितस्य होतुरित्यादिकं यज्जाग्रतोदूरमुपैतीत्यादिकंसूक्तंशिवसंकल्पेः
॥ २५० ॥

(६) रामचन्द्रः । सकृत् प्रत्यहं वामीयं च पुनः शिवसंकल्पं इतिद्वयंसुवर्णस्तेयी जप्त्वा तत्क्षणात् निर्मलो भवति
॥ २५० ॥

हविष्यन्तीयमभ्यस्य न तमंहइतीति च ॥ जपित्वा पौरुषं सूक्तं मुच्यते गुरुतल्पगः ॥ २५१ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रतीकार्थोद्वितीयइति इतिकरणः पदार्थविपर्यासकत् ततोमन्त्रस्वरूपग्रहणमिति त्रैत्यत्रलभ्यते । पौरुषं सहस्रशीर्षापुरुषइति षोडशर्चसूक्तम् ॥ २५१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । हविष्यन्तीयं हविष्याङ्गमजरमित्यादिब्राह्मणोहोतुरवरोनिषीदन्नित्यन्तम् । नतमंहोनदुरितमित्यष्टचर्म । इतीति च इतिवाइतिमेमनइतिसूक्तम् । पौरुषं सहस्रशीर्षेति ॥ २५१ ॥

(३) कुल्लूकः । हविष्यन्तमजरंस्वर्विदामैकोनविंशतिक्रचः नतमंहोनदुरितमित्यष्टौ इति वाइतिमेमनः शिवसंकल्प-इति च सूक्तं सहस्रशीर्षापुरुषइत्येतच्च षोडशर्चसूक्तं मासमेकं प्रत्यहमभ्यस्येति श्रवणात्प्रकृतत्वात् षोडशाभ्यासात् जपित्वा गुरुदारगः तस्मात्पापान्मुच्यते ॥ २५१ ॥

(४) राघवानन्दः । गुरुतल्पगस्याह हविष्यान्तीति । हविष्यान्तमजरमिति एकोनविंशतिक्रचः । न तमंहोनइति अष्टौ । हविष्यान्तमजरमिति मेधातिथिः । पौरुषं सहस्रशीर्षेति षोडशर्च शाखाभेदेन न्यूनाधिकमपि अत्रापि मासावच्छिन्नो जपः । अभ्यस्येति प्रत्यहं षोडशधा ॥ २५१ ॥

(५) नन्दनः । हविष्यान्तमजरंस्वर्विदामित्यादिकंहविष्यन्तीयं नतमंहोनदुरितमित्यादिकं नतमंहइतीति चैत्यत्रेति शब्देनेतिमेमनइत्यत्रस्य सूक्तस्य ग्रहणम् ॥ २५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । हविष्यन्तीयं अभ्यस्य जप्त्वा नतमंह इति जप्त्वा पौरुषं सूक्तं सहस्रशीर्षेति ॥ २५१ ॥

एनसांस्थूलसूक्ष्माणांचिकीर्षन्नपनोदनम् ॥ अवेत्यृचं जपेदब्दं यत्किंचेदमितीति वा ॥ २५२ ॥

(१) मेधातिथिः । अर्वाङ्महापातकेभ्य एनांसि स्थूलसूक्ष्माण्युच्यन्ते । उपपातकादीनितेषामपनोदनं चिकीर्षन्-वेत्यृचं जपेदब्दं अवेत्यवशब्देन प्रतीकेनावतेहेळोवरुणनमोभिरितिलक्ष्यते । पापप्रमोचनलङ्घत्वान्त्वत्तत्संदुर्हणायतइति यत्किंचेदवरुणदैव्येजनइति एषाम् ॥ २५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्थूलानिमहापातकादीनि । सूक्ष्माणि ज्ञातिविश्रंशकरादीनि । अवेत्यृचं अवतेहेळोवरुणेत्येकामृचम् । यत्किंचेदवरुणेत्येकचर्म । इतीति च तितथेत्यर्थः । नत्वेतदपि सूक्तप्रतीकग्रहणम् ॥ २५२ ॥

(३) कुल्लूकः । स्थूलानां पापानां महापातकानां सूक्ष्माणां चोपपातकादीनां निहरणं कर्तुमिच्छन् अवतेहेळोवरुणनमोभिरित्येतामृचं यत्किंचेदवरुणदैव्येजनेत्येतां च क्रचाम् इतिवाइतिमेमनइत्येतत्सूक्तं संबत्सरमेकवारंप्रत्यहं जपेत् ॥ २५२ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच एनसां स्थूलसूक्ष्माणां महापातकोपपातकानाम् । अवेत्यृचं अवते हेळोवरुणनमोभिरित्येतामृचं अब्दव्याप्य प्रत्यहमेकवारं जपित्वा अपनोदनं नाशं चिकीर्षुर्नाशयेदिति शेषः । यत्किंचेदवरुणदैव्येजनइति एतामृचं एतत्सूक्तं वा ॥ २५२ ॥

(५) नन्दनः । अथ सर्वपापसाधारणं ध्यानमाह एनसांस्थूलसूक्ष्माणामिति । अवेत्यृचं अवतेहेळोवरुणनमोभिरिति यत्किंचेदवरुणमितीत्यत्रेति शब्दानुषङ्गेन संबध्यते इतीति वेतीति वा इति मेमनइति सूक्तं वेत्यर्थः ॥ २५२ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्थूलसूक्ष्माणां एनसां महापातकादि जातिभ्रंशकरादीनां अपनोदनचिकीर्षन् अवेति अवते-
हेळोवरुणनमोभिरित्येकामृचं जपेत् अब्दं अब्दपर्यन्तं यत्किंचेदंवरुणेतितृचं ॥ २५२ ॥

प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यंभुक्त्वा चान्विगर्हितम् ॥ जपंस्तरत्समंदीयंपूयते मानवरुणहात् ॥ २५३ ॥

(१) मेधातिथिः । अप्रतिग्राह्यमद्यादि यदप्यप्रतिग्राह्यपापकर्मणः सुवर्णादितदग्राह्यमेव । विगर्हितमन्त्रचतुर्विधंस्व-
भावकालपरिग्रहसंसर्गदुष्टम् । तरत्समंदीधावति । पावमानीषुचतुष्टयम् ॥ २५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विगर्हितं लशुनादीनि । तरत्समंदीयं तरत्समंदीधावतीत्याद्यृक्चतुष्टयम् ॥ २५३ ॥

(३) कुल्लूकः । स्वरूपतोमहापातकिधनत्वादिना वा प्रतिग्राह्यप्रतिगृह्यचान्वंस्वभावकालप्रतिग्रहसंसर्गदुष्टंभुक्त्वा
तरत्समंदीधावतीत्येताऋचश्चतस्रो जपित्वा व्यहंतस्मात्पापान्मुष्यः पूतोभवति स्नानमर्यम्णामिति ऋक्त्रचंवा ॥ २५३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच प्रतीति । प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यंअप्रतिग्राह्यंस्वरूपतोमहापातकिधनंप्रतिगृह्य । अनाप-
त्कालेच गर्हितानादि भुक्त्वाच तरत्समंदीयं तरत्समंदीधावतीत्येताश्चतस्रऋचः ॥ २५३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अप्रतिग्राह्यंप्रतिगृह्य विगर्हितमन्त्रचतुष्टयम् । तरत्समंदीयं तरत्समंदीधावतीतिधारासुतस्यांधसः
तरत्समंदीधावतीतिऋचंजपन् व्यहन्मानवःपूयते ॥ २५३ ॥

सोमारौरुद्रंतुबह्वेनामासमभ्यस्य शुध्यति ॥ स्रवन्त्यामाचरन्स्नानमर्यम्णामिति च तृचम् ॥ २५४ ॥

(१) मेधातिथिः । सोमारुद्राधारयेथामस्त्रमिति चतस्रोयज्ञंचभरणानीन्द्रियंचेतिऋक् समासंवत्सरंचाद्धानइदंलिङ्गं
यदुक्तंचित्तत्रैणापिप्रायश्चित्तमस्तीति । स्रवन्त्यामितितडागसरसीनिवर्तेते ॥ २५४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सोमारौरुद्रं सोमारुद्राधारयेथामित्यूक्चतुष्टयम् । बह्वेनाबहुभुद्रपापः । अर्यम्णां अर्यम-
णंवरुणंमित्रंचेतितृचम् ॥ २५४ ॥

(३) कुल्लूकः । सोमारुद्राधारयेथामस्त्रयमिति चतस्रः अर्यमणंवरुणंमित्रंचेति ऋक्त्रयंनद्यांच स्नानंकृत्वा मास-
मेकमत्येकमभ्यस्य बहुपापोविशुध्यति बहुष्वपि पापेषु तत्रैकंप्रायश्चित्तकार्यमिति ज्ञापकमिदम् ॥ २५४ ॥

(४) राघवानन्दः । सोमारुद्रंतु सोमारुद्राधारायथामनसुर्यमितिचतस्रऋचः बह्वेनाः बहुपापयुक् प्रत्यहं षोडश-
धाभ्यस्य शुध्यतीत्यन्वयः । अर्यम्णमिति अर्यम्णंवरुणंमित्रंचेतिऋक्त्रयम् । स्रवन्त्यां गङ्गादिनद्याम् । अत्र मन्त्रयो-
र्विकल्पोजपस्नानंसाधारणम् ॥ २५४ ॥

(५) नन्दनः । सोमारौरुद्रंसोमारुद्रदेवत्यंसूक्तंसोमारुद्राधारयेथामस्त्रयमित्यादि बह्वेनाः बहुपापः अर्यम्णमृचंमायां-
तिवृषभस्तुविष्टानित्यादिकम् ॥ २५४ ॥

(६) रामचन्द्रः । सोमारौरुद्रं बह्वेनाः सोमारुद्राधारयेथामसुर्यमित्यूक्चतुष्टयं मासमभ्यस्य शुध्यति ॥ २५४ ॥

अब्दार्धमिन्द्रमित्येतदेनस्वी सप्तकंजपेत् ॥ अप्रशस्तंतु कृत्वाप्सु मासमासीत भैक्षभुक् ॥ २५५ ॥

(१) मेधातिथिः । इंद्रंमित्रंवरुणमग्निमित्येतत्सप्तकं षण्मासान् जपेदेनस्वीत्यविशेषात्सर्वेनसाम् अप्रशस्तंभैक्षुनं
तत्रपुरीषोत्सर्गोवातदप्सुकृत्वा मासंभैक्षाहारोभवेत् ॥ २५५ ॥

(२५५) अप्रशस्तं = अपकाशं (क, ख, ग)

(२) सर्वज्ञनारायणः । इन्द्रमित्रवरुणमग्निमृतयइत्यादिसप्तर्षेभ्यः कृतमेनः पापं यत्किञ्चित् ॥ २५५ ॥

(३) कुल्लूकः । एनस्वीत्यविशेषात्सर्वेष्वेव पापेषु इन्द्रमित्रवरुणमग्निमृतयइत्येताः सप्तर्षयः षण्मासं जपेत् । अप्रशस्तमूत्रपुरीषोत्सर्गादिकंजले कृत्वा मासं भैक्षभोजी भवेत् ॥ २५५ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च अब्दार्धमिति । इन्द्रमित्येताः सप्तर्षयः अशीत्युत्तरशतदिनानि प्रत्यहं जपेत् । एनस्वी मासं सर्वपापयुक्तः । अप्रशस्तं जलादौ मूत्रोत्सर्गादि कृत्वामितभुक् मासं व्याप्य गायत्रीमन्त्रस्यासीतेति ॥ २५५ ॥

(५) नन्दनः । इन्द्रमित्राथिनोबृहदित्यादिकमृचांसप्तर्षयः अप्रशस्तमलमूत्रादिकंकृत्वा ॥ २५५ ॥

(६) रामचन्द्रः । अब्दार्धं इन्द्रमित्रं वरुणमग्निमृतयइति ऋचं एनस्वी एनः विद्यते यस्यासौ एनस्वी जपेत् । अप्रकाशमेनः कृत्वा भैक्ष्यभुग्मासमासीत् ॥ २५५ ॥

मन्त्रैः शाकलहोमीयैरब्दं कृत्वा घृतं द्विजः ॥ सुगुर्वप्यपहन्त्येनोजम्वा वा नमइत्यृचम् ॥ २५६ ॥

(१) मेधातिथिः । देवकृतस्यैनसोवयजनमसीत्येवमादायोष्टौ मन्त्रैः शाकलहोमीयास्तैर्घृतमब्दं कृत्वा सुगुर्वप्यपहन्त्येनः सर्वमहापातकान्यपीत्यर्थः । जपित्वानमो रुद्राय तव सेकपार्दिन इत्येवं मन्त्रैः संवत्सरमेवमेतां सिद्धिमाप्नुयात् । अन्तरेणापि शाकलहोमं तदिदं वैकल्पिकं जपकर्मपूर्वेण शाकलमन्त्रहोमेन प्रायश्चित्तमन्येन वा जपित्वा वामनइत्यृचं सातु शिष्टेभ्यः सुगमयितव्यम् ॥ २५६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शाकलहोमीयैः देवकृतस्यैनसइत्यादिभिर्मन्त्रैरष्टभिरष्टाहुतीः प्रत्यहं जुहुयात् प्रत्यहं वाष्टौ उत्तरशतावृत्त्या । नमइत्यृचं नमआविवेश इत्यृचमब्दं जपेत् ॥ २५६ ॥

(३) कुल्लूकः । देवकृतस्येत्यादिभिः शाकलहोममन्त्रैः संवत्सरं घृतहोमंकृत्वा नमइन्द्रश्चेत्येतां वा ऋचं संवत्सरं जपित्वा महापातकमपि पापद्विजातिरपहन्ति ॥ २५६ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च मन्त्रैरिति । मन्त्रैर्देवकृतस्यैनसइत्यादिभिः शाकलहोमीयैः । द्विजस्त्रैर्वर्णिकः । नमइत्येतामृचं वा सुगुर्वपि महापातकमप्यपहन्तीत्यन्वयः । नमइत्यृचं वा जम्वापहन्ति ॥ २५६ ॥

(५) नन्दनः । नमइत्यृचं नमो मित्रस्य वरुणस्येत्यृचम् ॥ २५६ ॥

(६) रामचन्द्रः । शाकलहोमीयैर्मन्त्रैः देवकृतस्यैनसइत्यष्टभिः अब्दं अब्दपर्यन्तं घृतं कृत्वा सुषु गुरु सुगुरु अपि एनः अपहन्ति । वापक्षान्तरं नमइति उद्यं नमआविवास इति ऋचं जप्त्वा शुध्येत् ॥ २५६ ॥

महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेद्वाः समाहितः ॥ अभ्यस्याब्दं पावमानीर्भैक्षहारो विशुध्यति ॥ २५७ ॥

(१) मेधातिथिः । महापातकसंयुक्तइति पूर्वपदार्थसंख्याविशेषप्रतिपत्तिरनेनापीति गम्यते । एकैकस्य लघुनः प्रायश्चित्तविधानमनेकेनापियुक्तं पावमान्यः कृत्स्नमेव मण्डलं दशतयं त्वादिष्टयामदिष्टयेत्याभ्य यत्ने राजञ्छृतं हविरिति । पदनामगवामनुगमन गवामनुगमनानुब्रज्यामात्रं किं तर्हि परिचर्या सा च गोघ्नप्रायश्चित्तादनुसंधेया ॥ २५७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रायश्चित्तमाह महापातकेति । अब्दं प्रत्यहं गाश्ररणाय गच्छन्तीरनुगम्य समाहितमनाः प्रत्यहं पावमानीः त्वादिष्टयामदिष्टयेत्यादिकाः इन्द्रायेन्दोपरिस्रवेत्यन्ताः जपेत् भैक्ष्याहारइत्यर्थः ॥ २५७ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्रह्महत्यादिमहापातकयुक्तोभिक्षालब्धाहारोवर्षमेकंसंयतेन्द्रियोगवामनुगमनंकुर्वन्त्यः पावमानीर्वि-
द्यादिक्लृप्तोऽन्वहमभ्यामेन जपित्वा तस्मात्पापाद्विशुद्धोभवति ॥ २५७ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच महति । गाःअनुगच्छेत् शुश्रूषेत् । पावमानीः प्रसिद्धाः ॥ २५७ ॥

(६) रामचन्द्रः । गाअनुगच्छेत् चारणार्थम् । पावमानीः स्वादिष्टया मदिष्टयापवत्त्वसोमधारया इन्द्रायपातवेसुतः
इन्द्रायेन्दोपरिरुवेत्यन्ताः एताःक्लृप्तः अब्दमभ्यस्य भैक्षाहारोविशुध्यति ॥ २५७ ॥

अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य प्रयतोवेदसंहिताम् ॥ मुच्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोधितस्त्रिभिः ॥ २५८ ॥

(१) मेधातिथिः । महापातकसंयुक्तस्यैव प्रायश्चित्तान्तरमेतत् वेदसंहितामन्त्रब्राह्मणं षट्त्रिंशद्वात्रमुपोष्येति संहि-
तामरण्ये जपन्मुच्यते ॥ २५८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रथमं षट्त्रिंशदुपवासान्कृत्वा यस्यकस्यचिद्वेदस्य कस्याश्चिच्छाखायाः संहितामन्त्र-
भागमरण्ये त्रिर्जपित्वा सर्वैःपातकैर्महापातकैर्मुच्यते त्यज्यतइत्यर्थः ॥ २५८ ॥

(३) कुल्लूकः । त्रिभिः पराकैः पूतोमन्त्रब्राह्मणात्मिकांवेदसंहितामरण्ये वारत्रयमभ्यस्य वा प्रयतोबाह्याभ्यन्तर-
शौचयुक्तः सर्वैर्महापातकैर्मुच्यते ॥ २५८ ॥

(४) राघवानन्दः । पातकैः स्वयंकृतैः पराकैःशोधितः पूतःवेदसंहितां मन्त्रब्राह्मणात्मिकांत्रिरभ्यस्य मुच्यत-
इत्यन्वयः ॥ २५८ ॥

(६) रामचन्द्रः । अरण्ये वेदसंहितामभ्यस्य सर्वपातकैर्मुच्यते त्रिभिः पराकैःशोधितः ॥ २५८ ॥

अथ हन्तूपवसेद्युक्तस्त्रिरहोऽभ्युपयन्पः ॥ मुच्यते पातकैः सर्वैस्त्रिर्जपित्वाऽधमर्षणम् ॥ २५९ ॥

(१) मेधातिथिः । अपोभ्युपयन् जपित्वाधमर्षणमिति संबन्धः । अन्तश्चान्तर्जलजपसिद्धिरेवंस्मृत्यन्तरानुग्रहो-
धमर्षणमंत्रविशेषस्तृचउक्तः ॥ २५९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्रैव विषयेऽन्यदाह अथमिति । युक्तोनियतः । अथमुपवसन् प्रत्यहं त्रिषवणस्नानं
कुर्वन् स्नानान्ते ऋतंच सत्यंचेति त्रिर्जले निमग्नोजपन्नित्येवं अथहेन समविशत्यावृत्त्या जपंकुर्यादित्यर्थः ॥ २५९ ॥

(३) कुल्लूकः । त्रिरात्रमुपवसन्संयतः प्रत्यहं प्रातर्मध्याह्नसायंकालेषु स्नानंकुर्वन् त्रिषवणस्नानकालेव जले नि-
मज्ज्य ऋतंच सत्यंचेति सूक्तमधमर्षणं त्रिरावृत्तंजपित्वा सर्वैः पापैर्मुच्यते । तत्र गुरुलघुपापापेक्षया पुरुषशक्त्याद्यपेक्षया
चावर्तनीयम् ॥ २५९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचत्रीति । अभ्युपयन्पःत्रिकालस्नानं तत्कालेव त्रिवारंजप्त्वा पुरुषशक्त्यपेक्षया लघुपा-
पापेक्षयावा ॥ २५९ ॥

(५) नन्दनः । अहस्त्रिरपोभ्युपयन्प्रत्यहं त्रिषवणस्नानंकुर्वन् ॥ २५९ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः अथहन्तूपवसेत् तु पुनःत्रिः अह्नः अपः अभ्युपयन् उपस्पृशन् त्रिःत्रिवारं अधमर्षणं ऋतंच
सत्यंचाभीक्षात्पसोभ्यजायतेत्येवमादिसूक्तं जप्त्वा सर्वैःपातकैर्विमुच्यते ॥ २५९ ॥

यथाश्वमेधः ऋतुराट्सर्वपापापनोदनः ॥ तथाऽधमर्षणं सूक्तं सर्वपापापनोदनम् ॥ २६० ॥

(१) मेधातिथिः । स्तुत्यर्थः श्लोकः ॥ २६० ॥

(३) कुल्लूकः । यथाऽश्वमेधयागः सर्वयागश्रेष्ठः सर्वपापक्षयहेतुस्तथाऽधमर्षणसूक्तमपि सर्वपापक्षयहेतुरित्यधमर्षणसूक्तोत्कर्षः ॥ २६० ॥

(४) राघवानन्दः । अत्रार्थवादः यथेति ॥ २६० ॥

(६) रामचन्द्रः । यथा अधमर्षणं सूक्तं पापप्रणोदनम् ॥ २६० ॥

हत्वा लोकानपीमांस्त्रीनश्नन्नपि यतस्ततः ॥ ऋग्वेदंधारयन्विप्रानैनः प्राप्नोति किञ्चैन ॥ २६१ ॥

(१) मेधातिथिः । इयमपि स्तुतिः ऋग्वेदधारिणोरहस्यप्रायश्चित्तार्था । अन्येतु महापातकिसंयुक्तद्व्यारभ्यरहस्यार्थमपीच्छन्ति ॥ २६१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उक्तवक्ष्यमाणसंहिताजपेषु ऋक्संहिताजपस्य । प्राशस्त्यंकथयितुमृग्वेदमेव स्तौति हत्वापीति ॥ २६१ ॥

(३) कुल्लूकः । भूरादिलोकत्रयमपि हत्वा महापातक्यादीनामप्यन्नमश्नन् ऋग्वेदंधारयन्विप्रादिः न किञ्चित्पापंप्राप्नोति । ऋग्वेदं रहस्यप्रायश्चित्तार्थमुक्तंततश्चरहस्यपापे कृते ऋक्संहितामन्त्रब्राह्मणात्मिकामभ्यसेत् ॥ २६१ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च हत्वेति । लोकान् भुवादित्रयम् । ऋग्वेदं रहस्य प्रायश्चित्तार्थम् । एनः पापं पापफलं न भुङ्क्ते न स्तुतिमात्रम् ॥ २६१ ॥

(५) नन्दनः । धारयन् जपन् ॥ २६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रीनिमांल्लोकान् हत्वा यतस्ततः अनुलोमप्रतिलोमतः अश्नन्नपि विप्रः ऋग्वेदंधारयन्नेन किञ्चिन्प्राप्नोति ॥ २६१ ॥

ऋक्संहितांचिरभ्यस्य यजुषांवा समाहितः ॥ साम्नांवा सरहस्यानांसर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २६२ ॥

(१) मेधातिथिः । ऋगादिविशेषणात् ब्राह्मणनिवृत्तिः रहस्यानिसामान्यारण्यकाधीतानि ॥ २६२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संहिता मन्त्रभागः । यजुषामित्यत्रापि सरहस्येनान्वितम् । रहस्यमुपनिषद्भागः । साम्नांसंहितां तद्योनिंसंहितांसामगोतिम् ॥ २६२ ॥

(३) कुल्लूकः । तदाह ऋगिति । ऋक्संहितामन्त्रब्राह्मणात्मिकान्तुमन्त्रमात्रात्मिकामन्तरंवेदे त्रिवृतीति मन्त्रवर्णात् यजुषांवा मन्त्रब्राह्मणानांसंहितांसाम्नांवा ब्राह्मणोपनिषत्संहितांवारत्रयमभ्यस्य सर्वपापैः प्रमुक्तोभवति ॥ २६२ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च ऋगिति । ऋक्संहितां मन्त्रब्राह्मणात्मिकां तर्कोपनिषद्भागव्यतिरिक्तम् । एवं यजुर्वेदशतौ । सरहस्यानां रहस्यमारण्यकं तद्युक्तानाम् ॥ २६२ ॥

(६) रामचन्द्रः । ऋग्वेदादीनां त्रयाणांसंहितां अभ्यस्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २६२ ॥

यथा महाह्रदंप्राप्य क्षिमंलोष्टंविनश्यति ॥ तथा दुश्चरितंसर्ववेदे चिहति मज्जति ॥ २६३ ॥

(१) मेधातिथिः । व्यवयवस्त्रिवेदेकार्यत्वादवयवव्यवहारान् वेदोवेदान्तरस्यावयवः ॥ २६३ ॥

(३) कुल्लूकः । ऋगाद्यात्मना त्रिरावर्ततइति त्रिवृत् यथा महाह्रदं प्रविश्य लोष्टं विशीर्यते तथा सर्वदुश्चरितं त्रिवृत्ति वेदे विनश्यति ॥ २६३ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच यथेति । लोष्टं पांसुपिण्डम् । वेदे त्रिवृत्ति वेदत्रयाध्यायिनि । निमज्जति विनश्यति ॥ २६३ ॥

(५) नन्दनः । लोष्टं मृत्पिण्डम् ॥ २६३ ॥

ऋचोयजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च ॥ एषज्ञेयस्त्रिवृद्वेदो यो वेदैर्न स वेदवित् ॥ २६४ ॥

(१) मेधातिथिः । तन्मध्यव्यवदर्शयति आद्यानि मुख्यानीत्यर्थः । ब्राह्मणाध्यायानि च पठितानि । अथवा षडङ्गमिता-
नि विविधानि सामानि ग्राम्यारण्यविभागेन ॥ २६४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अन्यानि चेति यजुषामृग्यतिरिक्तानां तन्मध्यपठितानामृचां च संग्रहः । विविधान्यक्ष-
ररूपयोगिगीतात्मकसमरूपाणि यो वेदार्थतो ग्रन्थतश्च ॥ २६४ ॥

(३) कुल्लूकः । त्रिवृत्त्वमेवाह ऋचइति । ऋचऋद्धत्वाः यजूंषि यजुर्मत्तः सामानि बृहद्रथन्तरादीनि नानाप्रका-
राण्यन्यान् येषां त्रयाणां पृथक् पृथक् मन्त्रब्राह्मणान्येषां त्रिवृद्वेदो ज्ञातव्यो य एनं वेद स वेदवित् इति ॥ २६४ ॥

(४) राघवानन्दः । त्रिवृत्त्वमेवाह ऋचइति । अन्यानि गीतिसामभिन्नानि च । एनं वेदत्रयसमुदायम् ॥ २६४ ॥

(५) नन्दनः । कः पुनरिह त्रिवृद्वेदोभिप्रेतस्तमाह ऋचोयजूंषि चान्यानीति । ऋचोयजूंषि सामानि वेदः न ब्राह्मणानी-
त्यर्थः ॥ २६४ ॥

(६) रामचन्द्रः । ऋचोयजूंषिसामानि त्रिवृद्वेदः एनं वेदत्रयस्य अध्ययनं वेद स वेदवित् ॥ २६४ ॥

आद्यं यज्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन् प्रतिष्ठिता ॥ सगुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदो यस्तु वेद स वेदवित् ॥ २६५ ॥

[एषवोभिहितः कृत्स्नः प्रायश्चित्तस्य निर्णयः । निश्रेयसंधर्म विधि विप्रस्ये मं निबोधत ॥ १ ॥]⁺

[पृथग्ब्राह्मणकल्पाभ्यां सहि वेदस्त्रिवृत्स्मृतः ॥ २ ॥][†]

॥ इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां सं० एकादशोऽध्यायः ॥ ॥ ७३ ॥ ॥ ७३ ॥

(१) मेधातिथिः । व्यक्षरमक्षरत्रयसमाहारोऽङ्कारआद्यं ब्रह्मगुह्यं रहस्याधिकारे यथावदुपदिष्टत्वाच्छब्दब्रह्मरूप-
तयोपासनकर्मत्वेन विहितः परमात्मवाचकतया वा गुह्यो न तु ज्ञानाक्षरत्वेन सहिलोकप्रसिद्धो मित्यभ्युपगमस्त्रयीयस्मिन्नेषां सं-
कुचिता सर्वाणि वर्णानीत्येवमादि तस्योपासना पुरस्तादुक्तेति एवमोमित्येतदक्षरमुपासीतेति पूर्वश्लोके मन्त्रार्थवेदनेन वे-
दत्वमुक्तमनेन वेदान्तज्ञानं कर्मवेदनन्त्वध्ययनविध्याक्षिप्तमेवेति प्रसिद्धम् ॥ २६५ ॥

मान्याकापि मनुस्मृतिस्तदुचिता व्याख्या हि मेधातिथेः सालुमैव विधेर्वशात् क्वचिदपि प्राप्यं न यत्प्रस्तुतं ॥ क्षोणीं द्रोमदनः सहार-
णसुतो देशांतरादाह्वैर्जीर्णोद्धारमचीकृतस्ततस्तत्पुस्तकैर्लेखितैः ॥ इति श्रीभट्टवीरस्वामिसूनुभट्टमेधातिथिरचित एकाद-
शोऽध्यायः ॥

(१) सर्वज्ञनारायणः । आद्यं सर्ववेदादौ पाठ्यत्वादायम् । व्यक्षरं अकारोकारमकारैः । ब्रह्म तत्प्राप्यहेतुत्वा-
त् । प्रतिष्ठिता अन्तर्भूता तस्य तत्सारत्वात् । गुह्यो न कस्मैचित्कथनीयः । यो वेदैर्न उपास्यत्वेन ॥ २६५ ॥

सर्वज्ञनारायणकृतौ मन्वर्थविवृतौ प्रायश्चित्तविधिर्नामैकादशोऽध्यायः संपूर्णः ॥ ११ ॥ ७३ ॥ ॥

(३) कुल्लूकः । सर्ववेदानामाद्यं ब्रह्मवेदसारमकारोकारमकारात्मकत्वेन व्यक्षरं यत्र त्रयोवेदाः स्थिताः सोऽन्यस्त्रिवेदेदः प्रणवाख्योगुह्यो गोपनीयो वेदमन्त्रश्रेष्ठत्वात् परमार्थाभिधायकत्वात्परमार्थकत्वेन धारणजपाभ्यां मोक्षहेतुत्वाच्च यस्तत्त्वरूपतोऽर्थतश्च जानाति स वेदवित् ॥ प्रायश्चित्ते बहुमुनिमतालोचनाद्यन्मयोक्तंसद्वाख्यानं खलु मुनिगिरांतद्भजध्वंगुणज्ञाः ॥ नैतन्मेधातिथिरभिदधे नापि गोविन्दराजो व्याख्यातारो न जगुरपरेऽप्यन्यतो दुर्लभः ॥ २६५ ॥

इति श्रीकुल्लूकभट्टविरचितायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तवेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥ ७३ ॥

(४) राघवानन्दः । अतिरहस्यं त्रिवृदाह आद्यमिति । प्रणवं व्यक्षरम् । गुह्योऽध्यानजपाभ्यां मोक्षहेतुत्वादतिगोप्यः । त्रयी ऋगादिवेदत्रयम् । प्रतिष्ठितोपादेयत्वेनाङ्गीकारेण सर्वावाकसंतृण्णेति श्रुतेः । संतृण्णोपादानतया व्याप्तेत्यर्थः ॥ २६५ ॥

[राघवानन्दः । उपसंहरति एष इति । कर्मविधिं कामतः सुखदुःखजनकप्रकारम् । नैःश्रेयसं यथासंभवं वैराग्यादस्पृहां विना न मोक्ष इति साध्यसाधनसंगतिरुत्तराध्यायेन ॥ १ ॥]

इति श्रीराघवानन्दसरस्वतीविरचितायां मन्वर्थचन्द्रिकायामेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥ ७३ ॥

(५) नन्दनः । न केवलमृग्यजुस्सामविदेव वेदवित्किन्तु प्रणवविदपीत्याह आद्यं व्यक्षरमब्रह्मेति व्यक्षरमकारोकारमकारात्मकं यो वेदेन स वेदवित्प्रणवध्यायी भवतीत्यर्थः ॥ २६५ ॥

इति श्रीनन्दनाचार्यविरचिते मानवव्याख्यानएकादशोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

(६) रामचन्द्रः । यदाद्यं व्यक्षरं अकारोकारमकारात्मकं ब्रह्म यस्मिन् ब्रह्मणि त्रयी वेदत्रयी ऋग्यजुःसामान्तिका प्रतिष्ठिता स गुह्योऽन्यस्त्रिवेदेदः तं त्रिवृदात्मकं वेदं स वेदवित् ॥ २६५ ॥

इति श्रीरामचन्द्रभट्टविरचितायां मनुभावावर्धदीपिकायामेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥ ७३ ॥

॥ श्रीगणेशायनमः ॥

॥ अथ द्वादशोऽध्यायः प्रारभ्यते ॥

चातुर्वर्ण्यस्य कृत्स्नोऽयमुक्तो धर्मस्त्वयानघ ॥ कर्मणां फलनिर्वृत्तिं शंसनस्तत्त्वतः पराम् ॥ १ ॥

(१) मेधातिथिः । आद्योर्ध्वःश्लोकः शास्त्रार्थपरिसमाप्तिदर्शनेनाधिकाकांक्षानिवृत्त्यर्थः कृत्स्नग्रहणं सामान्यार्थं ए-
तावन्तः स्मार्ताधर्मायस्मिन् शास्त्रे रहस्यपर्यन्त उपदिष्टाश्च शिष्यमुखेनाचार्यस्यैव कृत्स्नकारिता शास्त्रस्य प्रतिपाद्यते न विव-
क्षिता नात्र शिष्याचार्यवस्तुतः प्रतिपत्तव्यं ग्रन्थकार एव ग्रन्थमेवं विभजति । धर्मशब्दश्च कर्तव्यतावचनो विधिप्रतिषेधसमूहमनु-
वदति तेन कर्मफलसंबन्धोऽनुक्तोऽपीत ऊर्ध्वं प्रतिपाद्यते कृत्स्नो धर्म उक्तस्त्वया विधिप्रतिषेधापेक्षया वचनमुपपन्नं भवति । क-
स्य पुनः कर्मणः फलसंबन्धो जिज्ञास्यते येनोच्यते कर्मणां फलनिर्वृत्तिं शंसति । यावता तावन्ति तावन् नित्यानि शास्त्रनोदितत्वा-
देव क्रियन्ते न तेषां फलमभिसंधेयं न हि तानि फलार्थानि यान्यतुल्यानि तत्रापि प्रतिकर्मण्यशः फलान्युक्तान्येव वारिदस्तु-
मिमांशेति स्वर्गायुश्चेत्यादीनि यत्रापि नोक्तमिव मन्येत तत्रापि स्वर्गादिसाधितमेव । यानि जातकर्मादीनि संस्कारकर्माणि
तानि संस्कार्यविशेषोक्तस्य क्रियाफलेनैव फलवन्ति नादृष्टमाकांक्षन्ति । यान्यपि नैमित्तिकानि द्रव्यशुद्ध्यादीनि चाण्डालस्प-
र्शनस्नानादीनि तान्यपि दृष्टप्रयोजनान्येव शुद्धये हि तानि क्रियन्ते अशुद्धेर्व्यवहारप्रतिषेधात् । प्रायश्चित्तानि चानन्तरमु-
क्तप्रयोजनान्येव अतो न विद्यः कस्य कर्मणां फलमभिजिज्ञास्यते । प्रतिषेधानां शरीरजैः कर्मदौषैः कृते तेषामेव वक्ष्यमाणत्वा-
त्तथा प्रतिषेधानुष्ठानमपि शास्त्रचोदितमेव । न च तत्र फलार्थत्वे हि न सर्वविषयोधिकारः स्यात् अर्थावाधिक्रियेत उच्यते
नैवात्र नादृशं फलमभिधीयते यत्काम्यते अनिष्टफलदर्शनमत्र क्रियते नैव तत्काम्यते नैव च कश्चिदनिष्टप्राप्तिमिच्छत्यतः सर्व-
विषयता सिद्धिः । यदप्युच्यते शास्त्राचोदितं प्रतिषेधानुष्ठानं क्रियते अत्यल्पमिदमुच्यते एवं तत्र नानुष्ठानमिति सर्वमेव शास्त्रनो-
दितं क्रियते किन्तु तच्छास्त्रं फलार्थिनः कस्यचित्कर्तव्यतां स्थापयति कस्यचिदन्तरेण फलनैमित्तिकत्वेन इहतु यावज्जीव-
मिव निमित्तश्रुतेरभावात्किमर्थं प्रतिषिद्धं न क्रियत इत्यपेक्षा प्रत्यवायश्च दृश्यते । जिघांसया ब्राह्मणस्य नरकं प्रतिपद्यते ननु च-
यत्प्रतिषिद्धं ब्राह्मणवधादि न तच्छास्त्रचोदितं शास्त्रनोदितस्य हि शास्त्रीयेण फलेन संबन्धो युक्तः यथा स्वर्गकामो यजेतेति शास्त्र-
तो ह्य्यागस्य कर्तव्यता प्रतिपत्तिरन्यतः इहतु द्वेषादिना लौकिको प्रवृत्तिरशास्त्रीया न चाशास्त्रीयस्य शास्त्रीयेण फलेन संबन्धो-
न्याय्यः । यदप्युक्तमुपेक्षायां प्रत्यवायः प्रदर्शित इति किमित्यत्राकांक्षा यावता द्विषन्तं प्रवर्तमानस्य न कर्तव्यमिति शास्त्रतो-
व गतिर्जायते तावता वाक्यार्थसमाप्तिः किमत्र पदमस्ति यदाकांक्षीत एतद्विविच्यमानं महान्तं ग्रन्थविस्तरमाक्षिपति । संक्षे-
पस्त्वयं न हि स्याद्भूतानीति प्रतिषेधविधेः प्रतिषेधो भावार्थः कर्तृकरण इति च श्रूयते । तत्र विधिस्तावन्नियोज्यविषयाकांक्षा
तत्र नियोज्यस्येयमवगतिर्भवति । भयैतत्कर्तव्यं नार्थस्तत्र नियुक्तः पुरुषनियोगरूपत्वाद्धिः सचात्र नियोज्यो लौकिकया द्वे-
षलक्षणया प्रवृत्त्यर्थेन प्रवर्तमानं हिंसास्वभावोपदेशेन समर्पितः यः स्नेच्छया हनने प्रवर्तते सहन्यादिति । न चैतेन युज्यते स-
हस्रविधो विषयः । न चेति शून्येषु भावार्थस्यान्यतः प्राप्तत्वात्पुरुषोपलक्षणत्वात्त्वेन विषयत्वेन विधेः संबन्धः । यश्चासौ नि-

यान्धः सनतीर्थत्वेन नियोज्यभावमात्मनः प्रतिपद्यते यावत्तद्विषयस्यप्रतिषिध्यमानस्य नानिष्टफलतामध्यवस्यति तथा-
हि लोके व्युत्पत्तिः । सभ्यायांगुलिर्देयेतिवदन्प्रतिषिद्धे तदतिक्रमेण तदनुष्ठीयमानमनर्थहेतुतया प्रतिपन्नतत्रलौकिकीव्यु-
त्पत्तिमवमृज्यहेत्वन्तरमुपन्यासमर्हति नचाश्रुताप्यनिष्टफलता प्रतिषेधसामर्थ्यात्कल्पयितुं युक्ता किंपुनर्यत्रश्रूयतएव न-
हिश्रुतस्योत्सर्गोन्याय्यः नचात्र वादमात्रोपलक्षकत्वंनरकादिफलश्रुतियुक्तमुक्तेन न्यायेन फलपेक्षान्वयःसकाशात् । किं-
चार्थवादाविधिविशेषाभवन्ति । नचेहकश्चिद्विधिःश्रुतःप्रकृतोवा कर्मफलसंबन्धस्यैव प्राधान्येन प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् ।
नह्यत्र कर्माणि विधीयन्ते अतश्चतेषांफलसंबन्धउच्यते । नचैतावता भवन्ति वाक्यशतान्यनर्थकानि भवन्त्वहन्तुस्मृति-
कारणतावदेतद्दर्शनं नह्यन्यथैतानि वाक्यानि व्याख्यातुंशक्यन्ते । अविधिशेषइहनास्ति गुणवादेनैतद्व्याख्यानं शास्त्रका-
राणामपि भ्रान्तिरितिचेन्नैवंवादिनआत्मनःप्रकर्षतोमहर्षीनवजानते । अधपापमनघेति संबोधननिष्कल्मषतया स्तुत्यर्थ-
शंसंतिवाग्यतोवर्तते ॥ १ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । श्रीगणेशायनमः । कर्मनिर्णययोगमुपक्रमते । चातुर्वर्ण्यस्येति मुनिप्रश्ननिबन्धनेनाकां-
क्षितत्वं वक्ष्यमाणस्य दर्शितम् । कर्मणां सुरुतदुष्कृतानां फलस्य निर्वृत्तिं निष्पत्तिम् ॥ १ ॥

(३) कुल्लूकः । हेपापरहित ब्राह्मणादिवर्णचतुष्टयस्य सान्तरप्रभवस्यायं धर्मस्त्वयोक्तः इदानीं कर्मणां शुभाशुभफ-
लप्राप्तिपरांजन्मान्तरप्रभवांपरमार्थरूपामस्माकंब्रूहीति महर्षयोऽगुमवोचन् ॥ १ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तेर्थे त्वमेधावित्वप्रकटनार्थं पृच्छन्ति चातुर्वर्ण्यस्येति । तत्प्रकटने हि गुरुणां विद्यादाने-
च्छा स्यादिति । फलनिर्वृत्तिं शुभाशुभफलप्राप्तिं शंस कथय तत्त्वतः परामुक्तिं च तत्त्वधीसाभ्याम् सतादृशःप्रतिज्ञाकारी
भृगुवाच इति त्वयं कथयति याज्ञवल्क्यंमुनिश्रेष्ठमितिवत् । मानवोमनोःशिष्यः ब्राह्मणत्वादस्य । कर्मयोगस्य कर्मैव
योगः पुंसःफलयोगिसाधनत्वादस्य कायादिसाध्यस्यः निर्णयं येन कायादिना यत्कर्मजन्यते येनभुज्यते यत्फलंचेति
॥ १ ॥ २ ॥

(५) नन्दनः । शाधि नस्त्वं ततः परं फलनिर्वृत्तिफलोदयम् ॥ १ ॥

(६) रामचन्द्रः । कर्मणां फलनिर्वृत्तिनिष्पत्तिं नः अस्माकं शंस कथय तत्त्वतः परांउत्कृष्टांनिर्वृत्तिं ॥ १ ॥

सतानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवोभृगुः ॥ अस्य सर्वस्य शृणुन कर्मयोगस्य निर्णयम् ॥ २ ॥

(१) मेधातिथिः । पृष्ठप्रतिवचनमेतत् यदहंपृष्ठः शृणु तत्कर्मणोयोगमितिसंबन्धः सचप्रकृतत्वात्फलैर्नैव विज्ञेयः
॥ २ ॥

(३) कुल्लूकः । सधर्मप्रधानोमनोरपत्यात्मा भृगुरस्य सर्वस्यकर्मसंबन्धस्य फलनिश्चयंशृणुतेति तान्महर्षीन्ब्रवीत् ॥ २ ॥

(५) नन्दनः । अस्यकर्मयोगस्य युक्तस्यकर्मानुष्ठानस्य निर्णयंफलविशेषानिर्णयम् ॥ २ ॥

(६) रामचन्द्रः । कर्मयोगस्य संबन्धस्य निर्णयंशृणुत ॥ २ ॥

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम् ॥ कर्मजागतयोनूणामुत्तमाधममध्यमाः ॥ ३ ॥

(१) मेधातिथिः । शुभस्य निर्देशोदृष्टान्ततयामनोवाग्यापारविध्यर्थोवा मनसोवाचोदेहाच्च संभवति कर्मशब्दो
नचेज्यामेवकायपरिस्पन्दे वर्तते किंतर्हि क्रियामात्रयोगभ्यानवचनात्मकेऽपि फलशब्दः प्रत्येकमभिसंबन्ध्यते । शुभमशुभ-

फलचनैर्विविधैश्चकायव्यापारसाधनादिवत्कर्मनुष्ठानाच्छुभाशुभफलप्राप्तिः अपितु मनोवाक्कायसंभवादप्येवमेव तस्मादपि त्रिविधात्कर्मणस्तुविधीयतेफलप्राप्तिः ॥ ३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । उत्तमा धर्मात् । अधमा पापात् । मिश्रा मध्यमा नात्युत्तमा नाधमा गतिः ॥ ३ ॥

(३) कुल्लूकः । मनोवाग्देहेतुकं कर्म विहितनिषिद्धरूपं सुखदुःखफलकं तज्जन्त्या एव मनुष्यतिर्यगादिभावेनोत्कृष्टमध्यमाधमापेक्षया मनुष्याणांगतयोजनान्तरप्राप्तयो भवन्ति । कर्मशब्दश्चात्र न कायचेष्टायामेव किन्तु ममेदंत्वमिति संकल्परूपयोगादिध्यानाचरणादावपि क्रियामात्रे वर्तते ॥ ३ ॥

(४) राघवानन्दः । तदेवाह शुभेति । शुभं सुखं दुःखाभावोवा अशुभं दुःखं तएवफले यस्य कर्मणस्तत्कर्मकर्मत्वमिन्द्रियमात्रजन्यत्वं तेन मन आदेः संग्रहः देहोपोन्द्रियाश्रयतया कर्महेतुर्नस्वरूपतोऽस्तदेहे व्यभिचारात् । उत्तमाधममध्यमाः देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपाः गतयोजनानि जातीर्वा ॥ ३ ॥

(५) नन्दनः । शुभमशुभफलंचेतिद्विविधं कर्मैत्युक्तं शुभाशुभकर्मैति । तस्याधिष्ठानं त्रिविधमनोवाग्देहसंभवमिति शुभफलमशुभफलंचप्रत्येकं त्रिविधमित्युक्तं उत्तमाधममध्यमा इति कर्मजागतयः कर्मफलानि ॥ ३ ॥

(६) रामचन्द्रः । मनोवाग्देहसंभवं शुभाशुभफलरूपम् ॥ ३ ॥

तस्येह त्रिविधस्यापि व्यधिष्ठानस्य देहिनः ॥ दशलक्षणयुक्तस्य मनोविद्यात्प्रवर्तकम् ॥ ४ ॥

(१) मेधातिथिः । ननुच दण्ड्यान्त्यजेत नहिंस्यादिति शुभमशुभंचते सर्वे कायव्यापारसाध्ये तदानेनात्मनः स्वत्वनिवृत्तिः परस्यच स्वत्वसंपादनंतच्च पूर्वदक्षिणेन हस्तेनेत्यादिविहितं यागोपि प्रयोगरूपोऽवभृथान्तः कायव्यापारनिर्वर्त्यो भवति एवं संपातदण्डाद्यविद्यातु कायिकतया प्रसिद्धैव तत्र कितत्कर्मयन्मनसः संभवत्यत आह अर्थस्यास्य मनोविद्यात्प्रवर्तकं मनसो हि व्यापाराः सर्वदर्शनादयः । नच त्रिष्वसस्तु भौतिको व्यापारः तथाहि प्रथमे तावन्मनसायमर्थसंपश्यत्ययमीदृश एव तस्य वस्तुनः सुखदुःखं वास्यकारणात् तत आयत्ते कथमेतन्मनः संपद्यते ततोऽध्यवस्यति संपादयाम्यतो नेदमिति तत्र उदरे क्रियाप्रधाने कायपरिस्पन्दरूपवाग्व्यवहारश्चातः सर्वस्य मनः प्रवर्तकं प्रेक्षापूर्वकारिणः अबुद्धिपूर्वन्तु नावश्यं सर्वदर्शनादयः पूर्वभावरूपस्य ताद्रूप्येण ग्रहणं यथा मेघवर्णसादृश्यात्पानकबुद्ध्या प्रवृत्तिः संतमासंभवात्तया परस्त्रीष्वन्यत्तु दैवोपनिपतितं यथा सुप्तस्य हस्तसंचारपार्श्वपरिवर्तनादिना मशकादिप्राणिवधस्तत्रापि कर्तृत्वमुपपादितं प्रायश्चित्तेषु प्रवृत्तिहेतुर्विविधस्य वाङ्मनःकायसाधनभेदेन व्यधिष्ठानस्योत्तमाधममध्यमगतिभेदेन दशलक्षणयुक्तस्य मनः कायकर्मणोः प्रत्येकं त्रैविध्यं वाङ्मयंचतुर्विधं एतानि दशलक्षणानि तान्युपरिष्ठाद्वक्ष्यति ॥ ४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । त्रिविधस्य गतिभेदात् व्यधिष्ठानस्य मनोवाक्कायानां कर्महेतूनामधिष्ठानस्याश्रयस्य देहिनः वक्ष्यमाणदशलक्षणयुक्तस्य मन एव प्रवर्तकं विद्यात् । वाग्देहयोरपि तद्विनाऽप्रवृत्तेः व्यापारविशेषापेक्षया प्रवर्तकमित्युक्तम् । यद्वा देहिन इति व्यधिकरणं देहिनः संबन्धि यत्कर्म तस्येत्यर्थः ॥ ४ ॥

(३) कुल्लूकः । तस्य देहिसंबन्धिनः कर्मण उत्कृष्टमध्यमाधमतया त्रिप्रकारस्यापि मनोवाक्कायाश्रितस्य वक्ष्यमाणदशलक्षणापेतस्य मन एव प्रवर्तकं जानीयात् । मनसा हि संकल्पितमुच्यते क्रियते च । तथा तैत्तिरीयीपनिषदि तस्माद्यत्पुरुषो मनसाऽभिगच्छति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोतीति ॥ ४ ॥

(४) राघवानन्दः । कतिसंख्यस्य कत्यधिष्ठानस्य कतिलक्षणस्य कतिप्रवर्त्यस्यैतागतयो भवन्तीत्यत आह तस्ये-

ति । तस्य देहिनो जीवस्य त्रिविधस्य सात्त्विकादिभेदभिनस्य देवादिभेदभिनस्य वा अधिष्ठानस्य मनोवाग्देहाधिष्ठानस्य तदाश्रितस्य वक्ष्यमाणपरद्रव्येष्वभिध्यानमित्यादिदशलक्षणयुक्तस्य दशविधकर्मण इतिव्यधिकरणे षष्ठ्यौ । मनः संकल्पविकल्पात्मकं प्रवर्तकं विद्यादित्यन्वयः । यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति कर्मणा चोपपादयतीति [स्मृतेः] मनःपूर्वकत्वात्कर्ममात्रस्य मनसा वा अग्रे संकल्प्याथवाचा व्याहरतीति श्रुतेः ॥ ४ ॥

(५) नन्दनः । त्रिविधस्योत्तमाधममध्यमस्य अधिष्ठानस्य मनोवाग्देहाश्रयस्य वक्ष्यमाणदशलक्षणयुक्तस्य कर्मणः प्रवर्तकं कर्म देहिनो मनसैव यन्मनसा ध्यायति तदेव वेदति करोति चेति ॥ ४ ॥

(६) रामचन्द्रः । इह तस्य देहिनः तत्संबन्धिप्रवर्तकं मनःविद्यान् कीदृशस्य तस्य त्रिविधस्य उत्तममध्यमाधमरूपस्य पुनः कीदृशस्य अधिष्ठानस्य मनोवाक्कायानामितिष्ठन् अस्य पुनः वक्ष्यमाणलक्षणमुक्तस्य ॥ ४ ॥

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् ॥ वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥ ५ ॥

(१) मेधातिथिः । अभिध्यानं नाम परद्रव्यविषयेर्ष्याबुद्ध्या परद्रव्याभिभवानुचिन्तनं कियदश्वगोधनं कियद्वाजाविक्रमिति च विभवोऽश्वाः धिगैवं कस्मादस्येयतीति सप्रसिद्धिः । अथ च कथं नाभैतस्यापहरेयमथ साधुर्भवति यद्येतस्यैतन्न भवति । अन्यत्वाद्दुरेतद्धनं समभिभवत्यनिष्टचिन्तनं परस्येत्यभिसंभवन्ति । परवधोपायचिन्तनं यदि श्रियते तन्ममोस्त्विति वा । ननु च परद्रव्याभिध्यानमीदृशमेवोक्तमनेनैव सिद्धेतदनर्थकं सामान्यशब्दोद्भूतं यदनिष्टमनभिप्रेतं परस्य तन्न चिन्तनीयं धननाशोऽपि परस्य नैवेष्टः एतद्भ्याच्च किंचन परस्येत्येतन्न व्याहरन्ति । अनिष्टं यत्प्रतिषिद्धं तद्वाचकं अस्मिन्नपि पक्षे परद्रव्याभिध्यानं प्राधान्याथमेव एवं वितथाभिनिवेशोऽपि । पूर्वपक्षार्थस्य सिद्धान्तत्वेन ग्रहणं विज्ञानवादादो विदांशमाश्रयं अनात्मताग्रहद्वयेवमादि । अन्येतु नित्यनिरामिषद्वेषमाहुः इयं च त्रिविधाऽकुशलमानसी प्रवृत्तिः अतो न्याकुशला अस्पृहा परस्वेषु दया सर्वसत्त्वेषु श्रद्धा धर्माद्यस्तित्वादिषु तथा च भगवान् व्यासः ॥ अनभिध्या परस्वेषु सर्वसत्त्वेषु सौहृदं ॥ धर्माणां फलमस्तीति त्रिविधं मनसा स्मरेत् ॥ ५ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । अभिध्यानं स्वाम्यननुमत्या आदातुं यत्नः । अनिष्टचिन्तनं पराभिघातचिन्तनम् । वितथाभिनिवेशोऽभिध्याग्रहः परलोको नास्ति नास्ति परलोक इत्यादि दृढप्रत्ययः ॥ ५ ॥

(३) कुल्लुकः । तानि दशलक्षणानि कर्माणि दर्शयितुमाह परद्रव्येति । कथं परधनमन्यायेन गृह्णामीत्येवं चिन्तनं मनसा ब्रह्मवधादिनिषिद्धाकांक्षा नास्ति परलोकः देह एवात्मन्यतद्ब्रह्म इत्येवं त्रिप्रकारमशुभफलमानसं कर्म । एतन्नयविपरीतबुद्धिश्च त्रिविधं शुभफलमानसं कर्म शुभाशुभफलं कर्मैतुभयस्यैव प्रक्रान्तत्वात् ॥ ५ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र मानसं कर्म संकलयति परेति । अभिध्यानं जिघृक्षा अनिष्टचिन्तनं ब्रह्मवधादिचिन्तनम् । वितथाभिनिवेशः नास्ति परलोक इति ॥ अनभिध्या परस्वेषु सर्वसत्त्वेषु सौहृदम् । धर्माणां फलमस्तीति त्रिविधं मनसा स्मरेदिति ॥ व्यासोक्तेः । एतद्विपरीतो मनोव्यापारो न रक्तेतुः ॥ ५ ॥

(५) नन्दनः । अभिध्यानं जिघृक्षा ॥ ५ ॥

(६) रामचन्द्रः । परद्रव्येषु मनसा अभिध्यानं मनसा अनिष्टचिन्तनं वितथाऽभिनिवेशः नास्ति परलोक इति ग्रहः एतन्न त्रिविधं कर्म मानसं मनसा कृतम् ॥ ५ ॥

पारुष्यमनृतंचैव पैशून्यंचापि सर्वशः ॥ असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयस्याञ्चतुर्विधम् ॥ ६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पारुष्यं परपीडाजनकीच्चारणम् । पैशून्यं परगुणासहिष्णुत्वेन तद्धीनतावचनम् । अनिबद्धप्रलापोमिथ्याभाषणम् ॥ ६ ॥

(३) कुल्लूकः । अप्रियाभिधानमसत्यभाषणंपरोक्षे परदूषणकथनंसत्यस्यापि राजदेशपौरवार्तादेर्निष्प्रयोजनवर्णनमित्येवंचतुःप्रकारमशुभफलंवाचिकं कर्म भवेत् । एतद्विपरीतंप्रियसत्यपरगुणाभिधानंश्रुतिपुराणादौ च राजादिचरितकथनं शुभफलम् ॥ ६ ॥

(४) राघवानन्दः । वाचनिकं संकलयति पारुष्यमिति । स्लेच्छपुत्रोसीत्यादि रुक्षभाषिता । अदृष्टाश्रुतभाषणमनृतम् । पैशून्यं परलुद्रप्रकटनम् । असंबद्धप्रलापश्च फलाहेतुः सत्यस्यापि राजपौरवार्तादेर्निष्प्रयोजनस्य वर्णनम् ॥ ६ ॥

(६) रामचन्द्रः । पारुष्यं ॥ पारुष्यमतिवादः स्यादित्यमरः । अनृतं पैशून्यं परगुणासहिष्णुत्वेन तद्धीनतापादनं । असंबद्धप्रलापः ॥ प्रलापोऽनर्थकं वच इत्यमरः । एतच्चतुर्विधं वाङ्मयं स्यात् ॥ ६ ॥

अदत्तानामुपादानंहिंसा चैवाविधानतः ॥ परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ७ ॥

(१) मेधातिथिः । शास्त्रीयाप्राधान्यतयास्यादत्तानामसद्ग्रहणं उपादानं दुष्टं चैव तथाकुमार्यादिपरदारादावपि विपरीतधर्मादानं परित्राणमिन्द्रियसंयमश्च । इदमनोवाग्देहभेदेन दशविधं भवति कुशलकुशलविभागेन विंशतिप्रकाराः ॥ ७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वाम्यदत्तानां धनानां स्वभोगसाधनत्वेन व्यापारणम् । भार्यायां न स्वामिसंबन्धोऽतः परदारोपसेवायाः पृथगुक्तिः । एवं चैते दशधर्महेतवः । एतदकरणसंकरपा अपि दशैव धर्महेतवोऽर्थादुक्ताः । ते च मानसवाचिकशारीरप्रतियोगित्वान्मानसादयः । अतएव प्रागुक्तं शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवमिति ॥ ७ ॥

(३) कुल्लूकः । अन्यायेन परस्वग्रहणमशास्त्रीयहिंसा परदारगमनमित्येवं त्रिःप्रकारमशुभफलं शारीरं कर्म एतद्विपरीतं त्रयं शुभफलम् ॥ ७ ॥

(४) राघवानन्दः । कायिकं संगृह्णाति अदत्तेति । उपादानं स्वीकारः तदन्यन्यायेन । हिंसा अशास्त्रीया । परदारोपसेवा भोग्यत्वेन परस्त्रीसमीपगमनम् ॥ ७ ॥

(५) जन्दनः । विधानतोहिंसा शास्त्रविहिताहिंसा एतद्वैपरीत्येन शुभस्य कर्मणोपि दशलक्षणत्वमर्थादुक्तमिति वेदितव्यम् ॥ ७ ॥

(६) रामचन्द्रः । अदत्तानां उपादानं स्वीकारः अविधानतः हिंसा चैव यस्त्रीयपशुहिंसायानिषिद्धत्वाभावात् । त्रिविधं शारीरं कर्म स्मृतम् ॥ ७ ॥

मानसं मनसैवाधमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम् ॥ वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥ ८ ॥

[त्रिविधं च शरीरेण वाचा चैव चतुर्विधम् ॥ मनसा त्रिविधं कर्म दशधर्मपथां त्यजेत् ॥ ९ ॥] *

(१) मेधातिथिः । परस्वमनस्तापोयेन जन्यते कर्मणा ततोमानसदुःखमाप्नोतीतिकेचित् । वयन्तुदूमो यन्निविधमानसमुक्तं ततो मनोदुःखमिरेवमुत्तरयोरपि ॥ ८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मनसा शोकाद्यनुभवेन । वाचा परप्रयुक्ताक्रोशादिना । कायेन व्याध्यङ्गच्छेदादिना । एवं पुण्येऽप्युत्तम ॥ ८ ॥

(३) कुल्लूकः । मनसा यत्सुकृतं दुष्कृतं वा कर्म कृतं तत्फलं सुखदुःखरूपमिह जन्मनि जन्मान्तरे वा मनसैवायमुपभुङ्क्ते । एववाचारकृतं शुभाशुभं वाग्द्वारेण मधुरगद्वदभाषित्वादिना शरीरं शुभाशुभं शरीरद्वारेण सूक्ष्मचन्दनादिप्रियोपभोगव्याधितत्वादिनानुभवति । तस्मात्प्रयत्नेन शारीरमानसवाचिकानि धर्मरहितानि च वर्जयेन् कुर्याच्च ॥ ८ ॥

(४) राघवानन्दः । मनआदिजनितकर्मफलभोगोपि मनआदिभिरित्याह मानसमिति । तूष्णींभूतस्यापि मनस्याकस्मिकं दुःखं सुखमप्येवं मानसं । वाचनिकं परोक्तपक्षादिवाक्योत्थं अग्निचन्दनादिजं कादिकम् ॥ ८ ॥

(५) नन्दनः । कर्मफलभीरौ रवादिषु भुक्तम् ॥ ८ ॥

(६) रामचन्द्रः । मानसं शुभाशुभं कर्म मनसोव्यभिचारेण कृतं कर्म अयं पुरुषः मनसैवोपभुङ्क्ते । वाचा कृतं शुभाशुभं सर्ववाचावचसं वोपभुङ्क्ते । तु पुनः कादिकं देहेन कृतं शुभाशुभं कायेनैवोपभुङ्क्ते ॥ ८ ॥

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ॥ वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ ९ ॥

[शुभैः प्रयोगैर्देवत्वं व्यामिश्रैर्मानुषो भवेत् ॥ अशुभैः केवलैश्चैव तिर्यग्योनिषु जायते ॥ १ ॥ *

वाग्दण्डो हन्ति विज्ञानं मनोदण्डः परांगतिम् ॥ कर्मदण्डस्तु लोकांस्त्रीन्हन्यादपरिरक्षितः ॥ २ ॥ †

वाग्दण्डोऽथ भवेन्मौनं मनोदण्डस्त्वनाशनम् ॥ शरीरस्य हि दण्डस्य प्राणायामो विधीयते ॥ ३ ॥ ‡

त्रिदण्डं धारयेद्योगी शरीरं तु वैणवम् ॥ वाचिकं कायिकं चैव मानसं च यथाविधि ॥ ४ ॥]

(१) मेधातिथिः । भूयस्त्वाभिप्रायमेतत् । माप्रेणैतासां जातीनामेतानि यथाविभागं निमित्तानि । न त्वर्यनि यमः तथा महापातकिनातिर्यक् पर्यटन्तीति वक्ष्यतीति पक्षिमृगग्रहणोतिर्यग्जातिमात्रमदर्शनार्थम् । मनोवाक्कायकर्मणामुत्तरोत्तरस्य गुरुत्वमदर्शनार्थं परम् ॥ ९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । शरीरजैः प्रचुरैः । एवमन्यत्र तद्विशेषैस्तु श्वशूकरखरोष्ट्राणामिति वक्ष्यति । अन्त्यजातितां चाण्डालत्वादिसम् ॥ ९ ॥

(३) कुल्लूकः । यद्यपि पापिष्ठानां शरीरवाचिकमानसिकान्येव त्रीणि पापानि संभवन्ति तथापि सद्यदि प्रायशोऽधर्ममेव सेवते धर्ममल्पमिति बाहुल्याभिप्रायेणेति व्याख्यातं बाहुल्येन शरीरकर्मजपापैर्युक्तः स्थावरत्वं मानुषः प्राप्नोति बाहुल्ये न वाकृतैः पक्षित्वं मृगत्वं वा बाहुल्येन मनसा कृतैश्चाण्डालादित्वं प्राप्नोति ॥ ९ ॥

(४) राघवानन्दः । कस्मात्कीदृशं फलमुत्पन्नमिति विवेचयन्नाह शरीरेति । तत्रादौ देहप्रधानैः स्थावरतां दुःस्वैक्यो नितरुगुल्लतात्वम् । एतत्त्वत्यन्ताभ्यासपरं अथाप्येकलहिन इत्यादिश्रुतौ ताच्छील्यप्रत्ययदर्शनात् । अन्त्यजातितां चाण्डालादियोनिं श्वयोनिं चाण्डालयोनिं चेति श्रुतेः । पूर्वाभ्यासे तथा ज्ञानाग्निना पापं कृत्स्नं दहति वेदविदित्युक्तं तत्तु ज्ञानं वैराग्यशमदमात्मानात्मविवेकसाध्यं तस्माच्छान्तोदान्तः परतः स्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येदिति श्रुतेः ।

तत्र वैराग्यार्थं गतयः स्थावरान्ताउपन्यस्ताः । संसारोतीव कष्टतरोयत्र जन्ममरणप्रवाहैरनिशमुहमानं बभ्रमीति स्था-
वरादियोनिषु प्राणभृन्मात्रमिति ॥ ९ ॥

(५) नन्दनः । शेषस्य कर्मणइहलोकेफलविशेषमाह शरीरजैरिति । पक्षिमृगग्रहणंतिर्यक्जातिप्रदर्शनार्थम् ॥ ९ ॥

(६) रामचन्द्रः । मनोवाक्कायकृतं कर्मणः फलमाह शररेति । मानसैः कर्मभिः अन्यजातितां याति ॥ ९ ॥

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च ॥ यस्यैते निहिताबुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥ १० ॥

(१) मेधातिथिः । दमनदण्डः वाचोदण्डः पारुष्याप्रवृत्तिरेवमुत्तरयोरपि । यस्यैतेदण्डाबुद्धौनिहितानैतन्मयाकर्त-
व्यमिति योनस्खलति सत्रिदण्डीत्युच्यते नत्वनार्योगुरुकाष्ठदण्डधारयति ॥ १० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वाग्दण्डोवाचाऽपापकरणम् । एवमुत्तरत्र । नियताव्यवस्थिताः । स उच्यते नतु वैणवद-
ण्डत्रयवत्तामात्रेण ॥ १० ॥

(३) कुल्लूकः । दमनदण्डः यस्य वाङ्मनः कायानांदण्डानिषिद्धाभिधानासत्संकल्पप्रतिषिद्धव्यापारयागेन बुद्धा-
ववस्थिताः सत्रिदण्डीत्युच्यते । नतु दण्डत्रयधारणमात्रेणेत्याभ्यन्तरदण्डत्रयप्रशंसा ॥ १० ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रादौ सार्थवादं दमं विधत्ते वागितिद्वाभ्याम् दण्डोदमोनियमनमिन्द्रियाणां विषयेभ्यः वा-
क्छब्दः कर्मेन्द्रियोपलक्षकः । कायशब्दोज्ञानेन्द्रियोपलक्षकः । वागादिविना कायेन कर्मान्तरादृष्टेः । निहिताः स्वस्ववि-
षयपरित्यागेनावस्थिताः कचिन्नियताइतिपाठः । सत्रिदण्डीति स्तूयते ॥ १० ॥

(६) रामचन्द्रः । वाग्दण्डः असद्वचनालापे अवधारणा मौनमित्यर्थः । अथानन्तरं मनोदण्डः विषयेषु निरी-
हत्वं । कर्मदण्डः शुभाशुभक्रियाशून्यत्वं । एते यस्य नियताः दण्डाबुधैः सत्रिदण्डीत्युच्यते ॥ १० ॥

त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः ॥ कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिंनियच्छति ॥ ११ ॥

(१) मेधातिथिः । त्रयाणांदण्डानांसमाहारस्त्रिदण्डं पात्रादिदर्शनादस्त्रियांभाषणात् । बुद्धौनिक्षिप्यबुद्धौकृत्वा सर्व-
भूतेष्वघातकत्वंचावस्थितं त्रिदण्डवानिहितं कामक्रोधयोःसंयमःसुसाधुस्ततःसिद्धिमोक्षाख्यांगच्छति प्राप्नोति । आध्या-
त्मिकत्वोपन्यासउपक्रमोयं कस्यपुनरेषासिद्धिः कस्यवान् अत्राविकारकर्मफलानांभोक्तृत्वंभस्मान्तंशरीरं नचततोऽन्यमु-
पलभामहे तेसर्वधर्माधर्मेष्वधिकारिपुरुषंदर्शयितुकामःप्रारभते ॥ ११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सर्वभूतेषु विषयेषु । कर्मत्रयप्रतियोगिकत्वादण्डत्रयमपि तद्विषयमुक्तम् । तन्निक्षि-
प्य । नियम्य आत्मनि व्यवस्थाप्य वाचिकादि ॥ ११ ॥

(३) कुल्लूकः । एवंनिषिद्धवागादीनांसर्वभूतगोचरतया दमनंकृत्वैतदमनार्थमेव कामक्रोधौ तु नियम्य ततोमो-
क्षावानिलक्षणांसिद्धिमनुष्योलभते ॥ ११ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्कथं तत्राह त्रीति । त्रिदण्डं निक्षिप्य भूतेषु पारुष्यादि कामक्रोधाविन्द्रियाणां भवतं [के]
भूतौच त्यक्त्वा सिद्धिं मोक्षावामिफलमात्मानात्मविवेचनां नियच्छति गच्छतीत्यन्वयः । कामक्रोधावितिद्वेषस्याप्युपलक्ष-
णम् ॥ इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थं रागद्वेषौ व्यवस्थितावित्युक्तेः । कामेन क्रोधस्य संग्रहः ॥ ११ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतच्चिदण्डं मानवः सर्वभूतेषु सर्वविषयेषु निक्षिप्य तु पुनः कामक्रोधौ संयम्य ततःसिद्धिं नियच्छति प्राप्नोति ॥ ११ ॥

योऽस्यात्मनः कारयिता तंक्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ॥ यः करोति तु कर्माणि सभूतात्मोच्यते बुधैः ॥ १२ ॥

(१) मेधातिथिः । अस्यशरीरस्यक्रियापरिस्पन्दात्मिकांक्रियांस्वयंप्रवर्तयिताप्रयत्नवशेनास्यकर्तृत्वंसंक्षेत्रज्ञः । अस्यात्मनइतिसमानाधिकरणेषष्ठी आत्मशब्दस्यशरीरे तस्याप्यात्मार्थत्वात् । यः करोतिपाणादिलक्षणंतज्जन्वोयःशरीराख्यः कर्ता सभूतात्मोच्यते पृथिव्यादिभूतसंघातोजघन्यत्वात् । भूतविकारआत्माभूतात्मा तथाचोक्तं द्वावात्मानावन्तरात्मना-शरीरात्मना ॥ १२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अस्यात्मनोदेहमनःप्रभृतिजडसमुदायस्य कारयिता प्रवर्तकः । क्षेत्रज्ञमस्यैवक्षेत्रस्य स्वाभेदेन ज्ञातारं चेतनमित्यर्थः । भूतात्मा भूतादिजडरूपआत्मा संसारप्रपञ्चस्यायतनकारी ॥ १२ ॥

(३) कुङ्कुमः । कोसौ सिद्धिमाप्नोतीत्यतआह यदिति । अस्य लोकसिद्धस्यात्मोपकारकत्वादात्मनः शरीराख्यस्य यः कर्मसु प्रवर्तयिता तंक्षेत्रज्ञंपण्डितावदन्ति । यः पुनरेषध्यापारान्करोति शरीराख्यः सपृथिव्यादिभूतारब्धत्वाद्भूतात्मैवेति पण्डितैरुच्यते ॥ १२ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्र सिद्धिप्रकारमाह यदितिद्वाभ्याम् । अस्यात्मनइतिव्यधिकरणे षष्ठ्यौ । अस्य प्रत्यक्षी भूतस्य स्थूलदेहस्य षाट्कौशिकस्यान्मयकोशस्य आत्मनोलिङ्गशरीरस्य च ज्ञानेन्द्रियपञ्चकर्मैन्द्रियपञ्चकप्राणपञ्चक-बुद्धिमनइति सप्तदशावयवस्य विज्ञानमयमनोमयप्राणमयेतिक्रोशत्रयात्मकस्य कारयिता संनिधानमात्रेण लोहस्यायस्का-न्तमणिरिव निर्व्यापारःसन्वर्तयितेव लोकैः संभाव्यमानस्तं क्षेत्रज्ञं शरीरद्वयद्रष्टारमाचक्षतइत्यन्वयः । तदुक्तम् महा-भारते ॥ महाभूतान्यहंकारोबुद्धिरव्यक्तमेव च ॥ इन्द्रियाणि दशैकंच पञ्चचेन्द्रियगोचराः ॥ इच्छा द्वेषःसुखंदुःखंसंघातश्चे-तेना धृतिः ॥ एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ एतद्योवेति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञमिति तद्विदइति ॥ अत्राव्यक्तं स्थूल-शरीरं महतःपरमव्यक्तमित्यत्र श्रुतेस्तथैव व्याख्यातत्वात् । अविद्याया इन्द्रियगोचराणां विषयाणां भूतकार्यत्वेन तदन-न्यत्वादिच्छादीनामपि शरीरकार्यतया तदन्तर्गतत्वात् ॥ एतस्माज्जायते प्राणोमनःसर्वेन्द्रियाणि च ॥ खंवायुर्ज्योतिरापञ्च पृथिवी विश्वधारिणीतिश्रुत्या बोधनात्तदतिरिक्तानामत्रैवान्तर्भावादिति । अस्यात्मनेनोक्तंस्थूलदेहं विशिनष्टि यदिति । भूतारब्धश्चात्मनोगमकत्वादात्मा च सचेति ॥ आत्मा यत्नोद्धृतिर्बुद्धिः स्वभावोद्भूतवर्णचेत्यभिधानात् । तदन्वयव्यतिरे-कसिद्धत्वात्कर्तृत्वादिभावाभावयोः । भूतात्मा शरीरं । तथाच मैत्रायणश्रुतिः ॥ अन्योवाअपरःकोयमात्माख्यइत्युपक्रम्य क्तमएषइति मध्ये पराश्वश्यास्तिखल्वन्योपरोभूतात्माख्योयोयं सितासितैःकर्मफलैरभिभूयमानः सदसद्योनिमापद्यत इत्यर्धाङ्गोर्ध्वावागतिं द्वद्वैरभिभूयमानः परिभ्रमतीत्यस्यापिव्याख्यानं । तत्रैव पञ्चतन्मात्राभूतशब्देनोच्यन्ते अथ पञ्च महाभूतानि भूतशब्देनोच्यन्ते अथ तेषां यत्समुदायं तच्छरीरमित्युक्तमथयोह खलु वावशरीरइत्युक्तं सभूतात्मैत्युक्तम् । तथैव श्वेताश्वतरेयःकर्ता सोयं भूतात्मा करणैः कारयितान्तःपुरुषइति ॥ १२ ॥

(५) नन्दनः । अथकर्मणः कारयितारं कर्तारिचाह योऽस्याऽऽत्मनः कारयितातमिति । आत्मनः शरीरकर्मैन्द्रिय-वर्गस्थेति यावत् क्रियाकारयिताक्रियासु प्रवर्तकः क्षेत्रज्ञंप्रचक्षतइति जीवात्माकारयितेत्यर्थः । यः कर्माणिकरोति सर्व-भूतात्मासकर्मैन्द्रियवर्गः कर्मणः कर्तृत्यर्थः ॥ १२ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः पुरुषः अस्य आत्मनःकारयिता जडसमुदायस्य । अस्यैव क्षेत्रस्य अभेदेनज्ञातारं चेतनं तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते । यः कर्माणि करोति सः भूतात्मा भूतादीनामात्मा बुद्धैरुच्यते ॥ १२ ॥

जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ॥ येन वेदयते सर्वसुखंदुःखंच जन्मसु ॥ १३ ॥

(१) मेधातिथिः । किंपुनरयंजीवोनामयावताक्षेत्रज्ञमेवजीवंमन्यन्ते द्वौचात्रोपलभ्येते शरीरमहंप्रत्ययविज्ञेयश्चान्तरात्मा ततोऽन्यःकश्चिज्जीवोनाम । केचित्तावदाहुः महदभिभूतसूक्ष्मपरिवेष्टितलिङ्गं यत्पश्यते संसरतिनानारूपंभोगभावैरधिवासितंलिङ्गमिति । येनेतिकरणत्वंच वेदनंप्रतितस्योपपद्यते तद्विस्थूलभूतानामाश्रयस्तस्यैवशरीराख्यबाह्यभूताश्रयत्वात् । शरीरेचसत्यात्मनः सुखदुःखभोक्तृत्वमतोयेनेतिकरणविभक्त्योच्यते । अन्यतु मन्यन्ते अन्तःकरणंमनोबुद्ध्यहंकाररूपंजीवस्तस्यचान्तःकरणसंज्ञत्वाद्युक्तएवकरणविभक्त्यानिर्देशःअन्तरात्मशब्दश्च तादर्थ्यादुक्तएव । सहशब्दस्याभोक्षप्रामेराप्रलयाच्च तदपियोगेन ॥ १३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । जीवसंज्ञश्चैतन्यप्रतिबिम्बप्रायोमहान्बुद्ध्यादिपदवाच्यः । सहजः संसारमवृत्तिदशायां जातः । येनोपायेन जनितम् ॥ १३ ॥

(३) कुङ्कुमः । जीवशब्दोऽयंमहत्परः येनेतिकरणविभक्तिनिर्देशात् उत्तरश्लोके च तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान्क्षेत्रज्ञएवचेति तच्छब्देन प्रत्यवमर्षात् शरीरक्षेत्रज्ञातिरिक्तोऽन्तः शरीरमात्माख्यत्वादाज्ञावाख्यः सर्वक्षेत्रज्ञानांसहजआत्मा तत्प्राप्तेस्तैस्तस्य विनियोगात् येनाहंकारेन्द्रियरूपतया परिणतेन कारणभूतेन क्षेत्रज्ञः प्रतिजन्मसुखंदुःखंचानुभवति ॥१३॥

(४) राघवानन्दः । आत्मनइत्यनेनोक्तं लिङ्गदेहं विशिनष्टि जीवसंज्ञइति । जीवः प्राणधारयितृत्वात् जीवोपाधित्वात् । सजीवोयत्पुनर्भव इत्यत्र श्रोधरस्वामिना तथैव व्याख्यातत्वात् । [अन्तरात्मा अन्तः शरीरं याव]' द्रुधिरं व्याप्नोतीति । अन्यःस्थूलशरीरचैतन्याभ्यांसहजश्चिदात्मनाऽविनाभूतोऽहंर्धोविषयः मरणादावविनाशी च । तदुक्तं गीतासु ॥ मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ येन लिङ्गदेहेन वेदयते भूतात्मेतिशेषः । तथाच नारायणी श्रुतिः ॥ अथ यथाग्निनायःपिण्डोवाभिभूतः कर्तृभिर्हृन्मनानोनानात्वमुपैति एवंवाचखल्वसौ भूतात्मान्तःपुरुषेणाभिभूतोऽगुणैर्हृन्मनानोनानात्वमुपैतीति । गुणैः फलैराकृष्यमाणं नानात्वं देवादिदेहाकार भूतात्मा तत्तादात्म्यापन्नावेदयतइतिभावः । वेदनामयश्च लिङ्गशरीरंमनइतिवेदान्तसिद्धान्तः । कामःसंकल्पोऽश्रद्धा । धृतिरतिह्रीर्भीधीत्येतत्सर्वमनइतिश्रुतेः । जन्मसु देवादियोनिषु । स्थूलशरीरे देवोहंमनुष्योहंपशुरहमितिवा लब्धाभिमानःसंक्रोतीतिस्थूलदेहस्यैव कर्तृतेत्युक्तम् ॥ १३ ॥

(५) नन्दनः । कर्मफलभोगसाधनमाह जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यइति । येनकरणभूतेन सुखदुःखंच क्षेत्रज्ञैरमोक्षादविनाभूतः क्षेत्रज्ञाधिष्ठानेनैव तस्य चैतन्यमित्युक्तं जीवसंज्ञइति जीवात्संज्ञाज्ञानयस्य सजीवसंज्ञः । १३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अन्यः देहाख्यः अन्तरात्मा जीवसंज्ञः सर्वदेहिनां सहजः येन जीवात्मना सर्वं सुखं दुःखंच जन्मसु वेदयते ज्ञापयते ॥ १३ ॥

तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान्क्षेत्रज्ञएव च ॥ उच्चावचेषु भूनेषु स्थितंतंव्याप्य तिष्ठतः ॥ १४ ॥

[उत्तमः पुरुषस्त्वन्यःपरमात्मेत्युदाहृतः ॥ योलोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्ययईश्वरः ॥ १ ॥] *

(१) मेधातिथिः । उच्चावचेषु बहुविधेषु नानारूपेषु भूतेषु सर्वेषु यःस्थितोऽप्याप्य तानि भूतानि तिष्ठतःसंश्रयतः ।

अतश्च सर्वकर्मकर्तृत्वं तिष्ठतेरनेकार्थत्वात् । कोसावच्चावचेषु भूतेषु व्याप्य स्थितः परमात्मा चेतनाचेतनजगत्परित्यक्तः परमानन्दरूपः परस्ताच्च प्रतिपादयिष्यते । भूतसंपृक्तौ भूतानि पञ्चमहान्ति येन वेदयत इत्युक्तक्षेत्रज्ञस्यात्मन इति । यथा व्याप्य पक्षेऽपि द्वितीयस्थितां तमिति संश्रयणं च तत्कारणत्वात् सर्वस्यास्य जगतः । कार्यं च कारणमाश्रयत्यतोऽपेक्षैव संश्रयणं तथा च । भगवान् व्यासः ॥ द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ॥ क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थो क्षर उच्यते ॥ क्षरशब्देन सर्वं चैतदुच्यते विचारप्रपञ्चरूपमक्षरं मकृतिकरणं कूटस्थशब्देन कारणरूपतया प्रलयेऽप्यविनाशान् । अथवा क्षरं शरीरमक्षरं क्षेत्रज्ञः । कूटस्थत्वं तु तस्याभेदप्रामेः कर्तृत्वभोक्तृत्वानिवृत्त्या ॥ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । योलोकत्रयमाविश्य विभर्त्य व्यय ईश्वरः ॥ १४ ॥

(२) सद्गङ्गानारायणः । भूतसंपृक्तौ भूतात्मनाऽमुक्तौ उच्चावचेषु नानाविधेषु भूतेषु प्राणिषु साक्षितया तिष्ठन्तं संततं परमा मानं व्याप्य स्वाभेदविषयेण मोहेनादृतं कृत्वा ॥ १४ ॥

(३) कुल्लूकः । तौ द्वौ महत्क्षेत्रज्ञौ पृथिव्यादिपञ्चभूतसंपृक्तौ वक्ष्यमाणं सर्वलोकवेदस्मृतिपुराणादिप्रसिद्धतया तमिति निर्दिष्टं परमात्मानमुत्कृष्टापकृष्टसत्त्वेषु व्यवस्थितमाश्रित्य तिष्ठतः ॥ १४ ॥

(४) राघवानन्दः । तल्लोभोपि अभ्यास एवेत्याह ताविति । भूतसंपृक्तौ अग्निहोत्रादिष्वाहुतितया क्षिप्यमाणं द्रवद्रव्यादिसारभूतपञ्चभूतैः संपृक्तौ सर्वेऽष्टौ महानिति बुद्धिस्तदुपलक्षितं लिङ्गशरीरं क्षेत्रज्ञजीवात्मानौ उच्चावचेषु देवत्वादिजात्याक्रान्तेषु सवभूतेषु भोगायनत्वेन स्थितं स्थूलदेहं व्याप्याध्यासमनुभूय भोक्तृतया तिष्ठत इत्यन्वयः । तथा च श्रुतिः । ता आपः पुरुषवचसो भवन्ति तद्यथा पेशस्करी पेशसोमात्रामपादायान्य नवतरं कल्याणतरं वा रूपं तनु इति । आरप्स्यमाणस्थूलशरीरमात्रोपादानपरम । ता आपः लिङ्गशरीरवेष्टनभूताः पुरुषवचसः पुरुषाकारशरीरमारभन्त इत्यर्थः । व्याससूत्रमपि ॥ तदन्तरप्रतिपत्तौ रहतिसं परिष्वक्तः प्रश्नरूपणाभ्यामिति देहान्तरप्रामौ तैर्भूतैः परिष्वक्त एव जीवो रहति गच्छतीति सूत्रार्थः । महानत्र लिङ्गदेह उक्तः । तथा चेश्वरकृष्णः सांख्यकृतः । महदादि सूक्ष्मपर्यन्तमिति व्याख्यातं च वाचस्पतिना महदहङ्कारैकादशेन्द्रियपञ्चतन्मात्रपर्यन्तमेषां समुदायः सूक्ष्मशरीरमिति । अथवा । उच्चावचेषु उच्चं देवादिशरीरं अवचं पश्वादिशरीरं तानि उच्चावचानि मनुष्यशरीराणि ध्यात्मकत्वात् तानितानि चेत्येकशेषादुच्चावचानि तेष्वेव स्थूलशरीरेषु भूतेषु पञ्चीकृतपञ्चभूतानन्देषु मध्ये स्थितं वर्तमानं तं जरायुजाद्यन्यतमदेहं व्याप्य तादात्म्याध्यासमनुभूय रुधिरदेशपर्यन्तं महान् क्षेत्रज्ञश्च तिष्ठत इति वाक्यार्थः । यद्वा तं परमात्मानं त्रिविधदेहलाभाय व्याप्यश्रित्य भोगाय तिष्ठतः पर्यवस्यतः तथा ॥ योनिमन्ये प्रपद्य ते शरीरत्वाय देहिनः ॥ स्थाणुमन्येनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतिमिति श्रुतेः ॥ १४ ॥

(५) नन्दनः । अन्यक्षेत्रज्ञाद्भूतात्मा चेन्द्रियवर्जयोक्षेत्रज्ञाधीनत्वमाह ता उभौ भूतसंपृक्ताविति । ता उभा विन्द्रियविवर्जौ भूतसंपृक्ता शरीरेण सङ्गच्छन्ते क्षेत्रज्ञश्च भूतसंपृक्त इति विपरिणामः । महत्त्वमेव व्यनक्ति उत्तरार्धेन । उच्चावचेषु स्थूलसूक्ष्मेषु शरीरेषु स्थितं तं क्षेत्रज्ञं तौ व्याप्य संश्रित्य तिष्ठतः तेनाधिष्ठितत्वात् तिष्ठत इत्यर्थः ॥ १४ ॥

(६) रामचन्द्रः । महान् महत्त्वं महदहंकाररूपः च पुनः क्षेत्रज्ञोपि एतावुभौ भूतसंयतौ संमितौ स्थितं तं परमानन्दरूपं व्याप्य तिष्ठतः ॥ १४ ॥

असंख्यामूर्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः ॥ उच्चावचानि भूतानि सततंचेष्टयन्ति याः ॥ १५ ॥

(१) मेघान्तिथिः । मूर्तिशब्देन यावत्कण्ठिद्वैतिकाकारणमिति शक्तिश्चतदुच्यते तदेतत्सर्वतस्य परमात्मनः शरीरात्प्रादुर्भवति । त्वभावएव तस्य शरीरं शिलापुत्रकस्य शरीरमिति वद्वेदेन व्यपदेशः । असंख्या अनन्ताः समुद्रादिवोर्मयो निष्पतन्ति प्रादुर्भवन्तीत्युक्तं ताभिः प्रादुर्भूताभिरिदं जगच्चेष्टे सक्रियं भवतीत्यर्थः । शरीरेन्द्रियविज्ञानैर्विना चेष्टाया अभावाच्चेष्टयतीत्युच्यते । अन्येतु शरीरतः प्रधानं च परमात्मनः शरीरं तदधीनप्रवृत्तित्वात् ॥ १५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मूर्तयोर्देहाः क्षेत्रज्ञरूपाः तस्य शरीरात्स्वरूपान्निष्पतन्ति । भूतानि सत्त्वानि यामूर्तयश्चेष्टयन्ति ॥ १५ ॥

(३) कुङ्कुमः । अस्य परमात्मनः शरीरादसङ्ख्यमूर्तयोजीवाः क्षेत्रज्ञशब्देनानन्तरमुक्तालिङ्गशरीरावच्छिन्नावेदान्तोक्तप्रकारेणाग्रेरिव स्फुलिङ्गानि सरन्ति । यामूर्तय उत्कृष्टा पृष्टा भूताग्निदेवरूपतया परिणतानि सर्वदा कर्मसु प्रेरयन्ति ॥ १५ ॥

(४) राघवानन्दः । एतस्योक्तशरीरद्वयस्य ज्ञाननाश्रयत्वद्योतनायेश विवर्ततामाह असंख्या इति । संख्यारहिता असंख्याः अनाद्यनन्तत्वात्संसारस्य मूर्तयः मूर्तिरूपाः पञ्चीकृतभूतकार्यत्वालिङ्गशरीरस्य तदवच्छिन्नात्मानोजीवाः तस्य सगुणब्रह्मणस्तदिति सर्वनाम सर्वं च ब्रह्म तस्य नाम तस्य शरीरतः अवच्छेदकत्वसाम्यादविद्याताः निष्पतन्ति जायन्ते । जायमानाश्चोच्चावचानि भूतानि चतुर्विधदेहानवाप्यैव चेष्टयन्ति कर्मसु प्रवर्तन्ते । तथा च श्रुतिः ॥ स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यशत्रेः क्षुद्रान्युस्फुलिङ्गाव्युच्चरन्त्येव मेतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे वेदाः सर्वाणि च भूतानि सर्वे एवात्मानो व्युत्स्रन्तीति ॥ याज्ञवल्क्योपि ॥ निश्चरन्ति यथा लोहपिण्डात्तस्मात्स्फुलिङ्गकाः ॥ सकाशादात्मनस्तद्वदात्मानः प्रभवन्ति हेति ॥ आपस्तम्बोपि ॥ तस्मात्कायात्प्रभवन्ति सर्वे समूलाः शाश्वतिकाः सन्त्येति स्वतस्त्वात्मनोजन्माभावान् । यद्वा ततो जाता यामूर्तयस्ताः सर्वभूतानि सर्वे जीवाः वेष्टयन्ति वेष्टवतीः कुर्वन्ति । यद्वा उच्चावचभूतानि जीवानुद्दिश्य मूर्तयः स्थूलदेहा जाता इत्यन्वयः । ताभ्योगामानयन्ताभ्योऽश्वमानयन्ताभ्यः पुरुषमानयदिति श्रुतेः ताभ्यो देवताशब्दवाच्याभ्य आत्मभ्योगवादिशरीरमनयदित्यर्थः ॥ १५ ॥

(५) नन्दनः । क्षेत्रज्ञस्योच्चावचभूतस्थितत्वमेवोपपादयति । असंख्यामूर्तयस्तस्येति तस्य क्षेत्रज्ञस्य शरीरतोऽसंख्यमूर्तिनिष्पादनहेतवोऽशानिष्पतन्ति बीजाद्विजप्रभवेनेत्यभिप्रायः । उच्चावचानि भूतानि शरीराणि याश्चेष्टयन्ति निष्पादयन्ति तेनास्योच्चावचभूतस्थितिरूपपन्नेति ॥ १५ ॥

(६) रामचन्द्रः । तस्य जीवस्य शरीरतः असङ्ख्यामूर्तयो निष्पतन्ति यामूर्तयश्चोच्चावचानि भूतानि सततंचेष्टयन्ति ॥ १५ ॥

पञ्चभ्यएव मात्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम् ॥ शरीरं यातनार्थं यमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम् ॥ १६ ॥

(१) मेघान्तिथिः । नात्र भूतानि पञ्चभ्यो भूतेभ्योऽन्यच्छरीरेभ्योत्पद्यते । एतदुक्तं भवति शुक्रशीणितमन्तरेणैव पञ्चभौतिकं शरीरमुत्पद्यते दुष्कृतीनां च पाञ्चभौतिकं शरीरं पण्यकृतान्तु तेजसाऽऽकाशमात्राणि भवन्ति । यथोक्तं वायुभूतः स्वमूर्तिमानिति । यातना पीडातिशयः यद्यतिदृढमलौकिकदुःखसहिष्णुः ॥ १६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मात्राभ्योभूतमात्राभ्यः ॥ १६ ॥

(३) कुल्लूकः । पञ्चभ्यएव पृथिव्यादिभूतेभ्योदुष्कृतकारिणांमनुष्याणांपीडानुभवप्रयोजकंजरायुजादिदेहव्यतिरिक्तदुःखसहिष्णुशरीरंपरलोके जायते ॥ १६ ॥

(४) राघवानन्दः । यातनाशरीरमपि तत्तदीयायिहोत्रादिषु क्षिप्यमाणसारभूतपञ्चभूतकार्यमित्याह पञ्चभ्यइति । अन्यतु देवतिर्यग्मनुष्यशरीरव्यतिरिक्तं जरायुजादिचतुर्विधभिन्नं वातान्येव भूतानि यमपुरुषादिभिरीक्षितानि यातनाशरीराकारेण विवर्तन्तइति ध्रुवं निश्चितमेव लिङ्गदेहमात्रेण यातनाभोगानुपपत्तेर्देहान्तरोपपत्तिः ध्रुवं कक्रचदारणादावपि यावद्यातनास्थायि वा ॥ १६ ॥

(५) नन्दनः । ननुमृतस्य नष्टशरीरस्य कुतः शरीरमुत्पद्यते येन रौरवादिप्रामिरित्यपेक्षायामाह पञ्चभ्यएवमात्राभ्यइति । पञ्चानामेव मात्राभ्यइति पञ्चानां महाभूतानांमात्राभ्यः अंशेभ्यः नृणांक्षेत्रज्ञानां दृढच्छेददाहादिभिरविनाश्यम् ॥ १६ ॥

(६) रामचन्द्रः । पञ्चभ्यएव मात्राभ्यः शब्दादिभ्यः दुष्कृतिनानृणां प्रेत्य यमस्य यातनाएवार्थोयस्य तद्यातनार्थीयं शरीरं अन्यदुत्पद्यते ॥ १६ ॥

तेनानुभूयतायामीः शरीरेणेह यातनाः ॥ तास्वेव भूतमात्रासु प्रलीयन्ते विभागशः ॥ १७ ॥

(१) मेधातिथिः । यमोनामदेवताविशेषोदुष्कृतिनानियहादिरुक्तदृष्टयायातना अस्य ताअनुभूयच्छेनपांचभौतिकेन शरीरेण तानि शरीराणि पुनःप्रलीयन्ते तासु सूक्ष्मासु भूतमात्रासु ॥ १७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रलीयन्ते यातनादेहजनकानि स्थूलभूतानि ॥ १७ ॥

(३) कुल्लूकः । तेन निर्गतेन शरीरेण तायमकारितायातनादुष्कृतिनोजीवाः सूक्ष्मानुभूतस्थूलशरीरनाशे तेष्वेवाम्भकभूतभागेषु यथास्वंप्रलीयन्ते तत्संयोगिनोभूत्वाऽवतिष्ठन्तइत्यर्थः ॥ १७ ॥

(४) राघवानन्दः । फलितमाह तेनेति । तेन यातनार्थसृष्टेन । भोगानन्तरं यातनाशरीरनाशे तेतु लिङ्गदेहावच्छिन्नाजीवास्तेष्वेव भूतेषु लिपन्तइव प्रतीयन्ते संयोगिनोभवन्तीति केचित् । वस्तुतस्तु यातनानुभवानन्तरं तदाम्भकाणि तत्त्वभागे लीयन्ते अतएवोक्तं विभागशः तथाच श्रुतिः । पृथिवीशरीरमित्यादि ॥ १७ ॥

(५) नन्दनः । क्षेत्रज्ञास्तेनशरीरेण यामीर्यमसंबन्धिनीस्तायातनाअनुभूय तास्वेव पञ्चभूतमात्रासु फलभोगान्ते तद्विनाशश्च न्यायसाम्याद्याख्यातावित्यनुसंधानव्यमिति ॥ १७ ॥

(६) रामचन्द्रः । ततः लिङ्गशरीरप्राप्पनन्तरं तायामीर्यातनाः शरीरेणानुभूय तास्वेव भूतमात्रासु विभागशः प्रलीयन्ते ॥ १७ ॥

सोऽनुभूयासुखोदकर्णान्दोषान्विषयसङ्गजान् ॥ व्यपेतकल्मषोभ्येति तावेवोभौ महौजसौ ॥ १८ ॥

(१) मेधातिथिः । विषयसङ्गात्प्रतिषिद्धविषयोपसेवनात्प्रतिषिद्धान् ततःसङ्गाच्च ये जातादोषाः पापनिर्मिताः । नरकादुःखान्यनुभूय तेन च दुःखोपभोगेन व्यपेतकल्मषोऽपहतपाप्माचेति । तावेवोभौ महौजसौ कावुभौमहाक्षेत्रज्ञाच्चतौः प्रकृतावनन्तरश्लोकेन च क्षेत्रज्ञएवानुभाविता सुखदुःखयोः सइति चतस्र्यैव परामर्शोऽतः क्षेत्रज्ञमभ्येतीतिप्रामं । तच्च विरुद्धसएवमाप्यः प्रापकश्च सत्यमौपचारिकोभेदोऽभिप्रेतः अभ्येतीत्ययमर्थः । एतावन्मात्रशेषोभवति यदुतक्षेत्रज्ञतयाप्राणादि-

संघात्मकेन महानिति व्यपदिष्टेन फलपुतावन्मात्रः परिशिष्यते । लिङ्गजीवश्च क्षेत्रज्ञः । अन्येतु महत्परमात्मानाविति व्याचक्षते । सुखोदकान्क्षीणेपापउत्तरकालसुखमनुभूयते प्रतिरंभिणि पापे त्वल्पेपि नसुखोत्पत्तिः यथास्वल्पेऽप्यजीर्णेन भोजनं सुखाय ॥ १८ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । समहाननुभूयेत्यसमानकर्तृत्वेपिङ्का । अनुभूय फलतः । दोषानधर्मान् । भोगेन क्षीयमाणपापस्तावुभौ जीवपरमात्मानौ महौजसौ महाप्रभावौ अभ्येति महदाख्योजोवोपाधिः प्रलयकाले ॥ १८ ॥

(३) कुष्ठकः । सशरीरोभूतसूक्ष्मादिलिङ्गशरीरावच्छिन्नोनिषिद्धशब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यविषयोपभोगजनितयमलोकदुःखाद्यनुभूयानन्तरंभोगादपहतपाप्मातावेष्ट महत्परमात्मानौ महावीर्यौ द्वावाश्रयति ॥ १८ ॥

(४) राघवानन्दः । अतएव स्थूलदेहे मष्ट लिङ्गात्मनोभोगान्तरं वक्तुकामआह सइति । सलिङ्गोपलक्षितोजीवः । सइत्यनेन तस्यैव परामर्शोयोग्यत्वात् सजीव इत्युत्तरे परामर्शात् ॥ पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यतइति भगवदुक्तेः । असुखोदकान् । उदर्कफलमसुखरूपं येषां दोषाणां पापानां ते तथा तान् विषयसंगमान् निषिद्धब्रह्मबधादिविषयनिमित्तकान् विषयासक्तिजान्वा अनुभूय भुक्ता व्यपेतकलमषः व्यपेतं कलमषं भोगेन यस्माल्लिङ्गावच्छिन्नादात्मनस्तेन देहेन कृतभोगस्यैवात्मनःस्थूलदेहनाशे अभ्येति अनुगच्छति शरीरान्तरारम्भाय नचेदमप्रामाणिकम् । तथा पेशस्कारः पेशसोमात्रामपादायान्यनवतरंरूपं तनुतएवमेवायमात्मेदंशरीरं निहत्याविद्यांमयित्वा अन्यनवतरं कल्याणतरंरूपं कुरुते पित्र्यंवा गान्धर्वंवा दैवंवा प्राजापत्यंवा । ब्राह्मंवान्येषांवा भूतानामिति श्रुतेः । अयमर्थः । यथा पेशस्कारीसुवर्णाभरणादिकृत् जीर्णकुण्डलादि । सुवर्णमादाय नूतनं कुरुते एवं लिङ्गोपलक्षितात्मापि पूर्वदेहं निहत्या भ्रियमाणं त्यक्त्वा अविद्यां जडतांमयित्वा तस्य देहस्य सारभूतमादाय शरीरान्तरं कुरुते । पित्र्यं पितृलोकभावादं समर्थइति । मातनादेहनाशे तौ महत्क्षेत्रज्ञौ महौजसौ महावेगौ यावन्मनःक्षिपेत्तावदादित्यंगच्छेदिति श्रुतेः । समर्थौवा ॥ १८ ॥

(५) नन्दनः । क्षेत्रज्ञस्य यातनाशरीरानांऽपि न कर्मविनाशइत्याह सोऽनुभूयासुखोदकानिति । सइति क्षेत्रज्ञानां जातावेकवचनेन परामर्शः । महौजसावक्षयवीर्यौ ताविन्द्रियवर्गावभ्येत्येव प्रामोत्येव न कदाचिदपि द्वौ विमुञ्चतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

(६) रामचन्द्रः । सजीवः व्यपेतकलमषः तावैवोभौ क्षराक्षरात्मकौ अभ्येति कीदृशौ तौ महौजसौ ॥ १८ ॥

तौ धर्मपश्यतस्तस्य पापंचातन्द्रितौ सह ॥ याभ्यां प्राप्नोति संपृक्तः प्रेत्येह च सुखासुखम् ॥ १९ ॥

(१) मेधातिथिः । ननुच यदि तौ महान्क्षेत्रज्ञश्च संबध्येते ततस्तस्य पश्यतइति तस्येतिकः संबध्यते जीवइति केचित् । उक्तंच सएवक्षेत्रज्ञः सएवजीवइति । अथलिङ्गं ननुच महच्छब्देन तदेवोक्तं अथान्तः प्रकरणंमहद्बुद्ध्यादि तत्रापिकः संबन्धोलिङ्गस्य धर्माधर्माभ्यां तद्विसूक्ष्मभूतरूपमेव । यथोक्तंतेषामिदन्तुसमानामित्यत्रान्तरे अतोमन्यामहे यदेवान्यैर्व्याख्यातमस्ति नश्लोकेतावेवोभाविता महत्परमात्मानौबुध्येते इति तदेवमुक्तंपश्यामः तथोर्हिदृष्टान्तउपपद्यते महतः करणस्य ततःकर्तृत्वोपचारात् । काष्ठानिपचन्तीति यथा तस्येति च क्षेत्रज्ञस्य परामर्शभेदोपपत्तिः । परमात्मनश्च क्षेत्रज्ञाश्रययोर्धर्माधर्मयोर्दृष्टान्तवचनं सर्वस्यसुखदुःखोपभोगस्य तद्धीनतास्थापनार्थं । यथोक्तं ॥ ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्त्वर्गवाश्वभ्रमेववा । प्रेरणाच धर्माधर्मनियमितेच्छैव । ननुच धर्माधर्मयोरिच्छाप्रतिनियन्तृत्वऐश्वर्यहीयते तथांशारीरके दर्शितं यथे-

(१) भावादिसंभोगादि (राघ० २)

ह राजा सेवानुरूपं ददाति न च तस्येश्वरत्वमपैत्यतो महत्परमात्मानौ पश्यत इति व्यपदिश्यते । तस्येति ज्ञेयज्ञानतदप्ययुक्त-
मुत्तरग्रन्थविरोधात् ताभ्यां प्राप्नोति संपृक्त इति नहि परमात्मना कस्यचित्संपर्कः संबन्ध उच्यते । न च परमात्मना कश्चित्सं-
बन्धोऽपि एव तर्ह्यथाभ्यामिति नैव महत्परमात्मानौ संबध्यते किं तर्हि धर्मः पापं च तयोरपि प्रकृतत्वात् । तौ धर्मपश्यतस्त-
स्य पापं चेति यदि महच्छब्देनान्तःकरणमुच्यते सुतरामनुपपत्तिः नहि परमात्मनो द्रष्टृत्वे कारणापेक्षा अधिकरणमेव हि बोधिप-
रमात्मस्वरूपमभ्येतितावेव चोभाति । कीदृशमेतदभिगमनं यदितद्भावापत्तिः सानैव कल्मषव्यपायमात्रसाध्या । अथ त-
त्प्राप्तिप्रवणभासापि नैव प्रलीनेषु भूतेष्वशरीरस्य भवति तस्मात्तौ धर्मपश्यतस्तस्यैवात्मन इति पूर्ववन्नेयम् ॥ १९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धर्मभुक्ताऽवशिष्टम् । धर्मपापदर्शनं चात्र तत्फलप्रकाश एव । पश्यतो ज्ञानस्य तदधीनत्वा-
त् । अतन्द्रितौ नित्यप्रकाशौ ॥ १९ ॥

(३) कुल्लूकः । तौ महत्परमात्मानावनलसौ तस्य जीवस्य धर्मभुक्तशेषं च पापं सह विचारयतो याभ्यां धर्माधर्मा-
भ्यां युक्तो जीवः परलोके हलोकयोः सुखदुःखे प्राप्नोति ॥ १९ ॥

(४) राघवानन्दः । न कर्मणालिप्यते पापकेन अनन्वागतं पापेनान्वागतं पुण्येनेति श्रुतेरात्मनोऽसंगत्वं ।
प्रतिपादयन् स्थूलदेहावच्छिन्नकर्तृत्वमनुवदन्नाह ताविति । तौ महाक्षेत्रज्ञौ यागादिजं धर्मं ब्रह्महत्यादिजं पापं सन्निधानेन
पश्यतः कारयतो वाधिष्ठानं स्थूलदेहं विना तददर्शनात् स्थूलदेहावच्छेदभेदमन्तरेणात्मनः पापाद्यकर्तृत्वात् तदवच्छेदेनैव
कर्तृत्वात् । तथाच श्रुतिः ॥ शरीरे पाप्मनो हित्वेति स्थूलदेहप्रसूतपापपुण्ये इत्यर्थः । याभ्यां महत्क्षेत्रज्ञाभ्यां संपृक्तस्तदभ्या-
सापन्नः सम्शुभाशुभफलं प्राप्नोति भुङ्क्ते ॥ १९ ॥

(५) मन्दनः । धर्मपापं च पश्यतः कर्तुमुद्युक्तस्य तस्य क्षेत्रज्ञस्य ताविन्द्रियवर्गावितन्द्रितौ जागरूकौ सहसंहते-
कारणे भवत इत्यर्थः । न केवलं कर्मकाल एव सह भवतः किंतु तत्फलभागकालेऽपीत्युत्तरार्धेन याभ्यामिन्द्रियवर्गाभ्याम्
॥ १९ ॥

(६) रामचन्द्रः । तौ क्षराक्षरात्मकौ तस्य धर्मं पापं तत्कृतौ भूयः पश्यतः याभ्यां क्षराक्षराभ्यां संपृक्तः प्रेत्ये-
ह च हिताहितं प्राप्नोति ॥ १९ ॥

यद्याचरति धर्मं स प्रायशोऽधर्ममल्पशः ॥ तैरेव चावृतो भूतैः स्वर्गे सुखमुपाश्रुते ॥ २० ॥

(१) मेधातिथिः । प्रायशो बाहुल्येन तैरेव भूतैर्महदाभिर्महाभूतपर्यन्तैः स्वर्गं सुखमाप्नोति ॥ २० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रायशो बाहुल्येन धर्मम् । तैरेव स्वर्गाय देहजनकैः ॥ २० ॥

(३) कुल्लूकः । स यदि जीवो मानुषदशायां बाहुल्येन धर्ममनुतिष्ठत्यल्पं चाधर्मं तदा तैरेव पृथिव्यादिभूतैः स्थूल-
शरीररूपतया परिणतैर्युक्तः स्वर्गं सुखमनुभवति ॥ २० ॥

(४) राघवानन्दः । आत्मानात्मानौ विविच्य तयोरभ्यासवशात् पापादिकर्तृत्वमित्युक्तं संप्रति प्राप्ताभ्यासमात्मा-
नमनुद्य धर्माधर्मात्पानल्पत्वापेक्षया स्वर्गनरकौ स्यातामित्याह यदीति ह्याभ्याम् । स लिङ्गदेहाभ्यासमापन्नश्चिदात्मा तैः
स्थूलदेहादारुण्य नीतैर्भूतैरावृतः परिष्वक्तः स्वर्गे पुण्यलोके उपाश्रुते भुङ्क्ते ॥ २० ॥

(५) मन्दनः । अथ क्षुधापापयोः किं प्रथममनुभूयत इत्यपेक्षयामाह यद्याचरति धर्मं स इति । स क्षेत्रज्ञः प्रायशः बहुलं
अल्पशः अल्पं तैः पूर्वोक्ताभिः पञ्चमहाभूतमात्राभिः पञ्चभूतारब्धशरीर इत्यर्थः ॥ २० ॥

(६) रामचन्द्रः । सजीवः पुरुषः यदि धर्मप्रायशः आचरति अल्पशः अधर्म आचरति तैरेव भूतैः सह स्वर्गाय देहजनकैः ॥ २० ॥

यदि तु प्रायशोधर्मसेवते धर्ममल्पशः ॥ तैर्भूतैः सपरित्यक्तोयामीः प्राप्नोति यातनाः ॥ २१ ॥

(१) मेधातिथिः । ननुचपंच भ्यएवमात्राभ्यः शरीरं दुष्कृतिनामित्युक्तं किमिदानीमुच्यते तैर्भूतैः परित्यक्त इति उच्यते न भौतिकं शरीरं नाप्यशरीरस्य यातनाः किं तर्हि अत्यन्तविलक्षणे ते मानुषशरीरेऽतो न्यान्येताङ्गिभृदुस्त्रिधसुकुमारशरीरारंभकाण्यत्यन्तविलक्षणादुःखाभिघातनिष्कृत्या परित्यक्त उच्यते यानि स्वर्गशरीराणि भक्ष्याणितैः परित्यक्तः ॥ २१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तैर्भूतैरैहिकस्वर्गाय देहजनकैः त्यक्तो मृत इत्यर्थः ॥ २१ ॥

(३) कुहूकः । यदिपुनः सजीवो मानुषदशायां बाहुल्येन पापमनुतिष्ठत्यल्पं च पुण्यं तदा तैरेव भूतैर्मानुषदेहरूपतया परिणतैस्त्यक्तो मृतः सन्नन्तरं पञ्चभ्यएव मात्राभ्य इत्युक्तरीत्या यातनानुभवोचितसंपातकठिनदेहोयामीः पीडा अनुभवति ॥ २१ ॥

(४) राघवानन्दः । अधर्मबाहुल्येत्वाह यदीति । धर्मादिकर्तृत्वावच्छेदकदेहजैः परित्यक्त इति नारकिदेहो मायिको भौतिकत्वेऽसिपत्रकुम्भीपाकाद्यनुपपत्तिः अथवा भूतैर्भूतारब्धैः पुष्कलैरिन्द्रियैर्नारकिन इन्द्रियसाकल्यानुपयुक्तत्वेन कादाचित्कत्वात् परिवर्जयेत् परिवर्जनार्थः अपरित्यक्त इत्यर्थो वा ॥ २१ ॥

(६) रामचन्द्रः । यामीः यातनाः प्राप्नोति ॥ २१ ॥

यामीस्तायातनाः प्राप्य सजीवो वीतकल्मषः ॥ तान्येव पञ्चभूतानि पुनरप्येति भागशः ॥ २२ ॥

(१) मेधातिथिः । प्राग्व्याख्यातोयं एतच्चान्यलोकचतुष्टयस्य तात्पर्यं यदि भूयानधर्मस्तदायाम्योयातनाः नतु स्वल्पेऽधर्मेऽस्मिन्नेव लोके सुखानुभवेन स्वर्गावाप्तिः ॥ २२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तान्येव तज्जातीयान्येवैहिकस्वर्गाय देहारंभकाणि भागशः प्रविभक्तानि पञ्चापि ॥ २२ ॥

(३) कुहूकः । सजीवो यमकारितास्ताः पीडास्तेन कठिनदेहेनानुभूय ततो भोगेनापहतपाप्मा तान्पञ्चजरायुजादिशरीरारंभकान्पृथिव्यादिभूतभागानधितिष्ठति मानुषादिशरीरं गृह्णातीत्यर्थः ॥ २२ ॥

(४) राघवानन्दः । सजीवो घटीयन्त्रवद्भ्रमतीत्याह यामीरिति । प्राप्य भुक्त्वा वीतकल्मषः तन्नरकप्रारंभकपापान्मुक्तः । अप्येति तानि नारकिशरीराच्छरीरान्तरारंभकाणि । पूर्वशरीरात् भागशः । भागं भागमवाप्य । स्थूलदेहान्तरार्थमभ्येत्थनुगच्छतीत्यन्वयः ॥ २२ ॥

(५) नन्दनः । अथनरकभुक्तावशिष्टदुष्कृतरय क्षेत्रज्ञस्य पुनरावृत्तिमाह यामीस्तायातनाः प्राप्येति जीवः क्षेत्रज्ञः तान्येव पञ्चभूतानि पुनरप्येति पुनरपि कर्मभूमौ जायत इत्यर्थः । एतेन स्वर्गभुक्तावशिष्टकृतस्यापि क्षेत्रज्ञस्यापि कर्मभूमिप्राप्तिर्यायसाम्यादुक्तेत्येव गन्तव्यम् ॥ २२ ॥

(६) रामचन्द्रः । जीवः ताः यामीः यमसंबन्धिनीः यातनाः प्राप्य तान्येव पञ्चमहाभूतानि पुनः भागशः अभ्येति ॥ २२ ॥

एतादृशस्य जीवस्य गतीः त्वेनैव चेतसा ॥ धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मनः ॥ २३ ॥

(१) मेधातिथिः । स्वल्पार्थोऽयं धर्मतोऽधर्मत इति नञः प्रश्लेषः । धर्माधर्मनिमित्ता जीवस्य क्षेत्रज्ञस्यात्मनः त्वेनैव चेतसा शास्त्रापामाण्यात्तदनुभवे कृत्स्नशास्त्रार्थफलोपसंहारः ॥ २३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धर्मतोऽगतिस्त्वर्गम् । अधर्मतश्च नरकम् ॥ २३ ॥

(३) कुल्लूकः । अस्य जीवस्यैताधर्माधर्महेतुकाः स्वर्गनरकाद्युपभोगोचितप्रियाप्रियदेहप्राप्तिरन्तःकरणे ज्ञात्वा धर्मानुष्ठाने मनः सदा सङ्गतं कुर्यात् ॥ २३ ॥

(४) राघवानन्दः । गतीरनुवदन्धर्ममेव कर्तव्यतयोपदिशति एतादृशेति । धर्माधर्माभ्यामेव गतयः स्वर्गे नरके च जीवस्य भवन्तीति प्रमाणतोऽदृष्ट्वा धर्मएव कर्तव्यतया मनोदेयमिति । तथाच श्रुतिः ॥ धर्मेण पापमपनुदति । धर्मात्सुखं च ज्ञानं चेति स्मृतिः ॥ श्रुतिस्मृत्योर्धर्मस्यैव ज्ञानादिहेतुत्वात् ॥ २३ ॥

(५) नन्दनः । यतएवमत आह एतान्दृशस्य जीवस्येति । धर्मे सदा मनोदध्यान्नाधर्म इत्यभिप्रायः ॥ २३ ॥

(६) रामचन्द्रः । धर्मतोऽधर्मतश्च जीवस्य एतागतीः त्वेनैव चेतसा दृष्ट्वा धर्मे मनः सदा दध्यात् ॥ २३ ॥

सत्त्वरजस्तमश्चैव त्रीन्विद्यादात्मनोगुणान् ॥ धैर्व्याप्येमान्स्थितोभावान्महान्सर्वानशेषतः ॥ २४ ॥

(१) मेधातिथिः । धर्माधर्मयोः कर्मकाण्डोपयोगित्तदुक्तं इदानीं विद्याकाण्डमारिप्सते । तत्र द्वैताश्रयमिव तावदंगार्थप्रक्रियते । सत्त्वादयस्त्रयगुणा आत्मनः नात्रात्मा जीवः किं तर्हीमहानेव । आत्मशब्दः स्वभाववचनो न प्रत्यक्त्ववचनः । निर्गुणो हि पुरुषः । अथवा भोग्यतया भोक्तरेवात्मनः संबन्धित्वेन व्यपदिश्यते । महानिति च प्रधानमेवोच्यते प्रत्यासत्तेः आद्याहिविक्रियोद्भूतिः प्रधानस्य महदाख्या यथा जीवन्त्यौ प्रमावस्थावाप्यत्र भवान् विकारानवस्थितः प्रकृतित्वात्सर्वविकाराणामिदमुच्यते ॥ २४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । आत्मनो महत्तत्त्वस्य भागभूता ॥ २४ ॥

(३) कुल्लूकः । सत्त्वरजस्तमांसि त्रीणि वक्ष्यमाणगुणलक्षणानि आत्मोपकारकत्वादात्मनो महतो गुणान् जानीयाधैर्व्याप्तो महानिमान्स्थावरजङ्गमरूपान्पदार्थानिःशेषेण व्याप्य स्थितः ॥ २४ ॥

(४) राघवानन्दः । ननु किमिति धर्ममेव नाचरेत् इति चेत् गुणपारतंत्र्यान्नाचरतीत्याह सत्त्वमिति । आत्मनः आत्मावच्छेदस्यान्तःकरणस्य गुणान् महत्तत्त्वाख्यस्य यैः सत्त्वादिभिः भावान् पदार्थान् प्राणिनोवा अत आह महान् लिङ्गशरीरप्रधानं बुद्धिः । अशेषतोऽनवशेषेण ॥ २४ ॥

(५) नन्दनः । अथ गुणतोऽपि कर्मनिवृत्तिविशेषं विवक्षन् गुणविभागं तावदाह सत्त्वरजस्तमश्चेति । आत्मनः महत्तत्त्वस्य तथाचोक्तं ॥ महामनोमतिश्चात्मा प्रबुद्धिः ख्यातिरीश्वर इति । यै गुणैरिमान्भावान्पदार्थान्महान्महत्तत्त्वम् ॥ २४ ॥

(६) रामचन्द्रः । सत्त्वरजस्तमांसि त्रीणि आत्मनः महत्तत्त्वस्य गुणान्विद्यात् । यैः सत्त्वरजस्तमोभिः महान् महत्तत्त्वमेव अशेषतः सर्वान्सात्त्विकादिभावान् व्याप्य स्थितः । तद्यथा सात्त्विकाहंकारराजसाहंकारस्तामसाहंकारश्चेति स्थितः । यद्वामहान् जीवः ॥ २४ ॥

यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते ॥ सतदा तद्गुणप्रायंतं करोति शरीरिणम् ॥ २५ ॥

(१) मेधातिथिः । यद्यपि सर्वत्रिगुणं तथापि यो यदा गुणः साकल्येन कान्तरन्येनातिरिच्यत आधिक्यं प्राप्नोति ।

पूर्वकर्मातिशयवशात्सतदा पुरुषस्य गुणान्तरमभिभवति अतः शरीरी तद्गुणप्रायोभवति तदीयमेव धर्ममादर्शयति गुणान्तरं-
जहातीव ॥ २५ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । साकल्येनान्येषु गुणेषु न्यूनेष्वशक्तेष्वयंपूर्णत्वेनातिरिच्यते । तद्गुणप्रायंतद्गुणसधर्मकव्यापा-
रम् ॥ २५ ॥

(३) कुट्टुकः । यद्यपि सर्वमेवेदं त्रिगुणंतथापि यत्र देहे येषां गुणानां मध्ये योगुणोयदा साकल्येनाधिकोभवति तदा
तद्गुणलक्षणबहुलंतदेहिनंकरोति ॥ २५ ॥

(४) राघवानन्दः । ननु गुणानां महदाश्रितत्वे कर्तुः किमायातं तत्राह यदिति । एषां गुणानां मध्ये देहे लिङ्गदेहे
अतिरिच्यते गुणद्वयमभिभूय योगुणः प्रधानः स्यात् । तद्गुणप्रायं तद्गुणरूपचेष्टाकारिगमः । शरीरिणं जीवम् । करोति जी-
वोपि तद्विरूपचेष्टा इति भावः ॥ २५ ॥

(५) नन्दनः । एषां सत्त्वादीनां मध्येऽतिरिच्यते इतरौ गुणावभिभूयोद्भवति तद्गुणप्रायंतद्गुणबहुलंकरोति सत्त्वस्य सा-
कल्यं ज्ञानसुखादिरूपाणां सामग्र्यं रजसस्तु रागद्वेषादिरूपाणां तमसस्तु प्रमादाज्ञानादिरूपाणाम् ॥ २५ ॥

(६) रामचन्द्रः । यदा एषां त्रयाणां मध्ये योगुणः साकल्येन देहे अनिरिच्यते देहं व्याप्य गुणः तिष्ठति तदा सः
सत्त्वादिगुणः तं पुरुषं तद्गुणप्रायं सात्त्विकेन सह वर्तते सः सात्त्विको भवति । एवमग्रे ऊह्यम् ॥ २५ ॥

सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम् ॥ एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥ २६ ॥

(१) मेधातिथिः । सामान्यमेतद्देशालक्षणं व्यापि सर्वप्राणिषु ज्ञानं वेदकं अज्ञानं मोहः उभयरूपता रजः रागद्वेषशब्दे-
नोभयधर्मयोगोऽच्यते । न यथा मदमूर्च्छाद्यवस्थात्वचैतन्न्यमेव नापि सम्यक्ज्ञानवशानामतिशयेन क्रोधो न चातिप्रसादः
तत्तद्भजोवपुःत्वभावः ॥ २६ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । सत्त्वं ज्ञानव्यापारम् । व्यापारसत्त्वयोरभेदविवक्षया सामानाधिकरण्यम् । एवमुत्तरत्र ।
एतत् ज्ञानादि । एतेषां सत्त्वादीनाम् । व्याप्तिमद्व्याप्तिकम् । वपुरिव वपुः ॥ २६ ॥

(३) कुट्टुकः । संप्रति सत्त्वादीनां लक्षणमाह सत्त्वमिति । यथार्थावभासो ज्ञानं तत्सत्त्वस्य लक्षणं एतद्विपरीतमज्ञानं-
तत्तमोलक्षणं विषादाभिलाषमानसकार्यरजोलक्षणं स्वरूपंतु सत्त्वरजस्तमसां प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकं । तथाच पशन्ति प्रीत्यप्री-
तिविषादात्मकाः प्रकाशवृत्तिनियमार्थाः अन्योन्याभिभवजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः एतच्चैषां स्वरूपमन्तरश्लोकत्रयेण
वक्ष्यति एतेषां सत्त्वादिगुणानामेतत् ज्ञानादि सर्वप्राणिव्यापकलक्षणम् ॥ २६ ॥

(४) राघवानन्दः । गुणाननूद्य तत्कार्यमाह सत्त्वमिति । सत्त्वं ज्ञानमिति कार्यकारणयोरभेदविवक्षया ॥ सत्त्वात्सं-
जायते ज्ञानमिति स्मृतिः । एवमुत्तरत्र अज्ञानमिति छेदः । सर्वभूताश्रितं पाञ्चभौतिकं वपुः अस्य देवादिरूपेण सात्त्विकादि-
भेदमिह ॥ २६ ॥

(५) नन्दनः । अथ गुणानां स्वरूपमाह सत्त्वमिति । ज्ञानं ज्ञानरूपं अज्ञानमज्ञानरूपं रागद्वेषौ रागद्वेषरूपौ एतेषां गुणा-
नां एतद्व्याप्तिमदेतद्व्याप्तिर्निकं वपुः सर्वभूताश्रितं सर्वप्राण्याश्रयम् ॥ २६ ॥

(६) रामचन्द्रः । सत्त्वं ज्ञानरूपं तमः अज्ञानं रागद्वेषौ रजसः भवतः एतेषां सत्त्वादीनां सर्वभूतान्येव आश्रयो
यस्य तत् सर्वभूताश्रितवपुः एतत् अज्ञानादेतस्य व्याप्तिमत् ॥ २६ ॥

तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत् ॥ प्रशान्तमिव शुद्धाभंसत्त्वं तदुपधारयेत् ॥ २७ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रीतिसंयुक्तं संवेदनं शुद्धाभं शुद्धमिवाभाति रजस्तमोभ्यामकलुषितं मदमानरागद्वेषलोभमोह-
भयशोकमात्सर्यदोषरहितं एवं सर्वमनुच्छेदाद्वैजवासनाया आब्रह्मप्राप्तिस्थितत्वादिषाचावस्था स्वसंवेद्यैव कस्यावैलायां भवेत्
॥ २७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रीतिः सुखं तत्संयुक्तं किञ्चित्प्रशान्तं क्रोधादिरजोगुणशून्यम् । शुद्धाभं शुद्धप्रवृत्तिमूलं
शून्यमाभासमानं च प्रकाशात्मकत्वात् । सत्त्वं सत्त्वज्ञम् ॥ २७ ॥

(३) कुष्ठूकः । तस्मिन्नात्मनि यत्संवेदनं प्रीतियुक्तं प्रत्यस्तमितक्लेशं प्रकाशरूपमनुभवेत् सत्त्वं जानीयात् ॥ २७ ॥

(४) राघवानन्दः । न केवलं ज्ञानादि तेषां कार्यं सुखाद्यपीत्याह तत्रेति त्रिभिः । प्रीतिसंयुक्तं प्रीत्यां सुखे संयुन-
क्तीति तद्विषयकं यत आत्मनिलक्षयेत् सुखं लब्ध्वा जन्तुरविचलद्भावतिष्ठते । एवं दुःखसंयुक्तम् । प्रशान्तं प्रत्यस्तमितक्लेशं
शुद्धाभं स्वच्छं तत्र तदा समुद्रिकंसत्त्वमवधारयेत् निश्चिनुयात् । एवमुत्तरत्र ॥ २७ ॥

(५) नन्दनः । आत्मनि मनसि शरीरे वा समस्तहेयविकारविधुरत्वात्प्रशान्तमिव समस्तदोषरहितत्वं शुद्धाभं शुद्ध-
मिव ॥ २७ ॥

(६) रामचन्द्रः । यतः प्रीतिसंयुक्तं प्रीतियुक्तं किञ्चिदात्मनिलक्षयेत् ॥ २७ ॥

यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ॥ तद्रजोप्रतिपंविद्यात्सततंहारि देहिनाम् ॥ २८ ॥

(१) मेधातिथिः । दुःखेन समायुक्तं संभिन्नं शुद्धं प्रीतिरूपं न भवत्यत उच्यतेऽप्रीतिकरं दुःखानुविद्धतया प्रीत्या न युक्तं
अप्रतिपमप्रत्यक्षं पारमार्थिकमेतद्रजसोरूपं भर्तृविषयेषु प्रवर्तकं स्पृहाजनकमित्यर्थः ॥ २८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अप्रीतिरधृतिः । हारि मनसः प्रवर्तकम् ॥ २८ ॥

(३) कुष्ठूकः । यत्पुनः संवेदनं दुःखानुविद्धमतएव सत्त्वशुद्धात्मप्रीतेरजनकं सर्वदा च शरीरिणां विषयस्पृहोत्पा-
दकं तत्त्वनिवारकत्वात्प्रतिपक्षं रजो जानीयात् ॥ २८ ॥

(४) राघवानन्दः । किञ्च यत्त्विति । अप्रतिपक्षं प्रतिघातरहितं सुचञ्चलत्वात् । चलंचरजइत्युक्तेः देहिनां देहिनं म-
नोवा हारि अन्तर्मुखत्वात्प्रच्याव्यविषयप्रवणकारि ॥ २८ ॥

(५) नन्दनः । हारि चित्तविक्षेपकरं अप्रतिपक्षमप्रतिहतम् ॥ २८ ॥

(६) रामचन्द्रः । अप्रत्यक्षं विद्यात् देहिनां सततं हारि एनसः प्रवर्तकं ॥ २८ ॥

यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् ॥ अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ २९ ॥

(१) मेधातिथिः । मोहो वैचित्त्यं युक्तयुक्तविवेकाभावः विषयआत्मास्वभावो यस्य । ननु चायमविषयोन्तरात्म-
त्वादेव तत्कथं विषयस्वभावो मोहविषयानुरागात् बुद्धिरिव एवमुच्यते विषयाद्वातीव बुद्धिस्तदात्मिकासंपद्यतइतिसंख्यात्रै-
गुण्यं न त्वन्तर्बहिस्तत्त्वानामविशब्दं अप्रतर्क्यं तदनुमानागोचरमविज्ञेयं अंतर्बहिःकरणानामगोचरइत्यर्थः ॥ २९ ॥

* तत्त्वनिवारकत्वात् = तद्विनिवारत्वात् (अ)

(२) सर्वज्ञनारायणः । अव्यक्तः अप्रकाशः विषयआत्मा च यत्र । अप्रतर्क्यं तर्कवृत्तिविषयशून्यं तर्कविज्ञानाभ्यां रहितमित्यर्थः ॥ २९ ॥

(३) कुङ्कुमः । यत्पुनः सदसद्विवेकशून्यं अस्फुटविषयाकारस्वभावमतर्कणीयस्वरूपमन्तःकरणबहिःकरणाभ्यां दुर्ज्ञाततत्तमोजानीयात् एषां च गुणानां स्वरूपकथनं सत्त्ववृत्त्यवस्थितौ यत्नवता भवितव्यमित्येतत्प्रयोजनकम् ॥ २९ ॥

(४) राघवानन्दः । मोहसंयुक्तं सदसद्विवेकरहितम् । अव्यक्तविषयात्मकं अस्फुटविषयस्वभावकं देहेन्द्रियाणां गुरुत्वाद्विषयोपि न रोचते । अतएवाप्रतर्क्यं अविज्ञेयं गुरुचरणकमेव तमइत्युक्तेः ॥ २९ ॥

(५) नन्दनः । अप्रतर्क्यमनुमानेन अविज्ञेयं प्रत्यक्षेण ॥ २९ ॥

(६) रामचन्द्रः । यत् मोहसंयुक्तं स्यात् मोहोदुराचारता युक्तायुक्तविवेकाभावः अव्यक्तं विषयात्मकं अप्रतर्क्यं तर्कासहं मनोऽगोचरं अविज्ञेयं अन्तर्बहिःकरणानामविज्ञेयं तमस्तु उपधारयेत् ॥ २९ ॥

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः ॥ अग्न्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ ३० ॥

(१) मेधातिथिः । त्रयाणामेषामासेव्यमानानां यत्फलमुत्पद्यत उत्तमाधममध्यमंतद्वक्तव्यतया प्रतिज्ञायते यस्मिन् गुणोद्विक्तैः पुरुषस्य स्वभावो भवति स उच्यते इति प्रतिज्ञा ॥ ३० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यः फलोदयोऽग्न्यो मुख्यः । मध्योऽल्पापकृष्टः । जघन्योऽतिसूक्ष्मः ॥ ३० ॥

(३) कुङ्कुमः । एतेषां सत्त्वादीनां त्रयाणामपि गुणानां यथाक्रममुत्तममध्यमाधमरूपैः फलोत्पादकस्तं विशेषेण वक्ष्यामि ॥ ३० ॥

(४) राघवानन्दः । गुणानां फलभेदं प्रतिजानीते त्रयाणामिति । फलोदयः फलोत्पादः । अग्न्यः श्रेष्ठः । जघन्योऽधमः । अशेषतः एकैकगुणस्य निरवशेषेण ॥ ३० ॥

(५) नन्दनः । अग्न्यः सत्त्वस्य मध्योरजसः जघन्यस्तमसः ॥ ३० ॥

(६) रामचन्द्रः । एतेषां त्रयाणां सत्त्वादिगुणानां यः फलोदयः अग्न्यः मध्यः जघन्यः कनिष्ठः तमशेषतः प्रवक्ष्यामि ॥ ३० ॥

वेदाभ्यासस्तपोज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥ धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥ ३१ ॥

(१) मेधातिथिः । तत्कस्येति संबन्धगुणलक्षणमित्येवं वक्तव्यतया प्रतिज्ञायते सात्त्विकमिति कथंचिद्योजयितव्यं गुणोलक्ष्यते येन तद्गुणलक्षणं तत्कस्येति सात्त्विकमिति संबन्धः । प्रयोजनं समुदायसंबन्ध्यवयवापि दृश्यन्ते तेनैतदुक्तं भवति-संबन्धस्य गुणस्यैतल्लक्षणं यथा देवदत्तस्य गुरुकुलं गुरुद्वारोपसर्जनीभूतोपि देवदत्तपदेन संबध्यते तद्वदेतत् द्रष्टव्यम् । पदार्थाव्याख्याताः ॥ ३१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सात्त्विकं सत्त्वजन्यम् । गुणस्य तस्यैव लक्षणं चिह्नम् । एवमुत्तरत्र ॥ ३१ ॥

(३) कुङ्कुमः । वेदाभ्यासः प्राजापत्याद्यनुष्ठानं शास्त्रार्थावबोधमृद्धार्यादिशौचमिन्द्रियसंयमोदानादिधर्मानुष्ठानमात्मध्यानपरता एतत्सत्त्वाख्यगुणस्य कार्यम् ॥ ३१ ॥

(४) राघवानन्दः । फलभेदेन सत्त्वादिगुणोद्विक्ततालिङ्गकमित्याह वेदेति त्रिभिः । ज्ञानं शास्त्रीयम् । शौचं बाह्याभ्यन्तरम् । तदुक्तम् ॥ षृजलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम् ॥ धर्मक्रिया नित्यनैमित्तिकाऽनुष्ठानम् । आ-

त्मचिन्ता वेदान्तविचारणा ॥ श्रोतव्योपमन्तव्यइतिश्रुतेः ॥ सात्त्विकमुद्रितसत्त्वकार्यम् । गुणस्य लक्षणं तैरुद्रितस्य सत्त्व-
गुणस्योदयो लक्ष्यते । एवं सर्वत्र ज्ञेयम् । पूर्वं सत्त्वादीनां ज्ञानादिकार्यं स्वरूपतोऽस्तीत्युक्तम् । तथा हे श्वरकृष्णः । श्रुत्य-
श्रुतिविषयात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्था इति । अत्रात्मपदं कार्यकारणयोरभेदविवक्षया दुःखाभावाविव्यावृत्त्यर्थमुक्तम्-
न्यथा ॥ सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव चेत्यादि विरुद्धम् ॥ ३१ ॥

(५) नन्दनः । आत्मचिन्ता शरीरात्मविवेकः सत्त्वरजस्तमसां फलं वक्ष्यामीति । प्रतिज्ञानं सात्त्विकं गुणलक्षणमित्येवं-
वदतोऽयमभिप्रायः ॥ ३१ ॥

(६) रामचन्द्रः । आत्मचिन्ता आत्मनः परमेश्वरस्य चिन्ता ॥ ३१ ॥

आरम्भरुचिता धैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ॥ विषयोपसेवा चाजसंराजसंगुणलक्षणम् ॥ ३२ ॥

(१) मेधातिथिः । कर्मणां काम्यानां दृष्टार्थानामदृष्टार्थानां चारंभरतिवृत्तारंभश्चैतत् राजसंलक्षणम् । अधैर्यमल्पेभ्युप-
घातहतौ चेतसोऽसमाश्वासोऽन्यग्रहणमुत्साहत्यागः । असत्कार्यलोकशास्त्रविरुद्धं तस्य परिग्रह आचरणम् । विषये संगोऽज-
संपुनः पुनः प्रवृत्तिः ॥ ३२ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । आरम्भरुचिता प्रवृत्तिरसिकता । अधैर्यमनुष्टिः । एवं तामसेपि ॥ ३२ ॥

(३) कुल्लूकः । फलार्थकर्मानुष्ठानशीलताऽल्पेऽप्यर्थे बैकुण्ठ्यनिषिद्धकर्माचरणमजसंशब्दादिविषयोपभोगइत्येतद्-
जोभिधानगुणस्य कार्यम् ॥ ३२ ॥

(४) राघवानन्दः । आरम्भरुचिता काम्यकर्मनिष्ठता कर्मसंगेन देहिनइत्युक्तेः । अधैर्यमल्पेभ्यनर्थमहर्षैकल्प-
म् । असत्कार्यपरिग्रहः निषिद्धाचरणम् ॥ ३२ ॥

(५) नन्दनः । आरम्भरुचिता कर्मपरता अधैर्यमितिपदम् ॥ ३२ ॥

(६) रामचन्द्रः । आरम्भरुचिता लोकशास्त्रविरुद्धता । अधैर्यं असत्कार्यपरिग्रहः स्वीकारः विषयाणां उपसे-
वा ॥ ३२ ॥

लोभः स्वमोऽधृतिः क्रौर्यनास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ॥ याचिष्णुता प्रमादश्च तामसंगुणलक्षणम् ॥ ३३ ॥

(१) मेधातिथिः । धनादिषु रागोलोभः क्रौर्यस्वल्पेऽपराधे वैरानुबन्धः नास्तिक्यप्रमादता भिन्नवृत्तिता शीलभ्रंशः
गणनं शिष्टविगर्हणा याचिष्णुता याचकत्वं तच्छीलता प्रमादोऽनवधानं धर्माद्विषयपरिहारेऽनादरः । स्वमोऽधृतिरिति गज-
प्रश्लेषः ॥ ३३ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । भिन्नवृत्तिता दुराचारता ॥ ३३ ॥

(३) कुल्लूकः । अधिकाधिकधनस्पृहा निद्रात्मता कातर्यपैशुन्यं परलोकाभावबुद्धिराचारपरिलोपः याचनशी-
लत्वं संभवेपि धर्माद्विषयवधानमित्येतत्तामसाभिधानस्य गुणस्य लक्षणम् ॥ ३३ ॥

(४) राघवानन्दः । अधृतिः कातर्यम् । क्रौर्यमरुपांलुता । नास्तिक्यं परलोकशून्यताधीः । भिन्नवृत्तिता आ-
चारपरित्यागः धर्मेष्वनाश्वासोवा ॥ ३३ ॥

(५) नन्दनः । अधृतिरितिपदम् ॥ ३३ ॥

(६) रामचन्द्रः । याचिष्णुता याचकस्य भावः ॥ ३३ ॥

त्रयाणामपि चैतेषांगुणानां त्रिषु तिष्ठताम् ॥ इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशोगुणलक्षणम् ॥ ३४ ॥

(१) मेधातिथिः । त्रिषु कालेषु साम्योपचयापचयेषु वोक्तमाधममध्यमेषु च फलोदयेष्विदमिति वक्ष्यमाणस्य निर्देशः ॥ ३४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । त्रयाणां वेदाभ्यासादीनां गुणानां वर्गाणाम् । त्रिषु गुणेषु प्रकृतिभूतेषु । सामासिकं समासः संक्षेपः तद्युक्तं गुणचिन्हम् ॥ ३४ ॥

(३) कुड्मूकः । एषां सत्त्वादीनां त्रयाणामपि गुणानां त्रिषु कालेषु भूतभविष्यद्वर्तमानेषु विद्यमानानामिदं वक्ष्यमाणसाक्षेपिकं क्रमेण गुणलक्षणं ज्ञातव्यम् ॥ ३४ ॥

(४) राघवानन्दः । संप्रति संक्षेपतोगुणोद्भक्तताज्ञानं संप्रति प्रतिजानीते त्रयाणामिति । त्रिषु भूतादिकालत्रयेषु । सामासिकं समासः संक्षेपः तत्रभवम् ॥ ३४ ॥

(५) नन्दनः । इदं वक्ष्यमाणत्रिषु जीवेषु सामासिकं संक्षिप्तम् ॥ ३४ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रयाणां वेदाभ्यासादीनां गुणजकार्याणां त्रिषु गुणयुक्तेषु सामासिकं समासेन कृतं सामासिकं क्रमशः गुणानां सत्त्वादीनां लक्षणं ज्ञेयम् ॥ ३४ ॥

यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति ॥ तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसंगुणलक्षणम् ॥ ३५ ॥

(१) मेधातिथिः । यदुक्तं त्रिष्विति कालनिर्देशस्तद्दर्शयति कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यन्निति च । कदाचिच्चिष्वपिकालेषु कदाचिदन्यतरस्मिन् । किमर्थमहमेवमकरं कथं शिष्टानामग्रतो भवामीति लज्जाचेतसि परिखेदः ॥ ३५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । लज्जतीति स्वतएव दुष्टत्वेनावधारितमित्यर्थः ॥ ३५ ॥

(३) कुड्मूकः । यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्च लज्जावान्भवति कालत्रये द्वयोरन्यत्रैवेति विवक्षितं तत्सर्वतमः कार्यत्वात्तमोभिधानं गुणलक्षणं शास्त्रविदा बोद्धव्यम् ॥ ३५ ॥

(४) राघवानन्दः । तद्यनक्ति यदिति त्रिभिः । लज्जते लोकावज्ञातः । विदुषा स्वानुभवं साक्षात्कुर्वता ॥ ३५ ॥

(५) नन्दनः । तमस्तावदाह यत्कर्मैति ॥ ३५ ॥

येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम् ॥ न च शोचत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयन्तु राजसम् ॥ ३६ ॥

(१) मेधातिथिः । लोके साधुवादोममैवं स्यादिति बुद्ध्या यद्यागतो धनानामाचरणं तच्च ख्यापनार्थं यथातीर्थकालेभ्योदानं राजनिस्पर्धयाजल्पः शूद्रेभ्यः शास्त्रव्याख्यानं पुष्कलमित्यनेनानुषंगित्वात्ख्यातेः सहायतामाह धर्मार्थप्रवर्तमानस्य यदि जनाः प्रकाशयन्ति तादृशो धर्मो न दोषाय तदुक्तं यथेक्षेहेतोरिति यथामहाभारताख्याने कृष्णद्वैपायनेनोक्तं ॥ यथेक्षुसक्तो युधिर्धर्मकोऽस्ति नृणामिव लीरपि संचरन्ते ॥ तथानरो धर्मपथेन संचरन्त्यश्वकामांश्च वसूनि चाश्रुते ॥ असंपत्तौ च कर्मफलानां न शोचति न दुःखमस्ति । अथवा कर्मणामसंपत्तौ ॥ ३६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । न शोचत्यतिशायितपुरुषाणां भावात् ॥ ३६ ॥

(३) कुल्लूकः । इह लोके महतीं ख्यातिं प्राप्नुयामित्येतदर्थमेव यो यत्कर्म करोति न परलोकार्थं न च तत्कर्मफलासंपत्तौ दुःखी भवति तद्वजः कार्यत्वाद्भजोगुणलक्षणं विज्ञेयम् ॥ ३६ ॥

(४) राघवानन्दः । इच्छति परलोकनिरपेक्षतयैवैहिकीं पुष्कलां परिपूर्णां ख्यातिं यशोर्थैर्धर्मसेवनमित्युक्तेः । न शोचति असंपत्तौ कर्मणो असिद्धावपि पुनः कर्मान्तरमारभते नतु शोकेन ततो निवर्तत इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

(५) नन्दनः । शोचति विरज्यति असंपत्तावनिष्पत्तौ ॥ ३६ ॥

(६) रामचन्द्रः । येन कर्मणा अस्मिन्लोके पुष्कलां ख्यातिमिच्छति च पुनः असंपत्तौ न शोचति तद्विज्ञेयं राजसम् ॥ ३६ ॥

यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन् ॥ येन तुष्यति चात्मास्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥ ३७ ॥

(१) मेधातिथिः । विस्पष्टेयम् ॥ ३७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सर्वेण प्रकारेण ज्ञातुं कर्तुमिच्छति ॥ ३७ ॥

(३) कुल्लूकः । यत्कर्मवेदार्थं सर्वात्मना ज्ञातुमिच्छति यच्च कर्माचरन्कालत्रयेऽपि न लज्जति येन येन कर्मणा स्यात्तनुष्टिर्जायते तत्सत्त्वाख्यस्य गुणस्य लक्षणं विज्ञेयम् ॥ ३७ ॥

(४) राघवानन्दः । सर्वेण सोपकरणं यद्देदार्थादि ज्ञातुमिच्छति ज्ञात्वा चानु [तिष्ठन्नलज्जते किंतु तुष्यति संतुष्ट-हृदयः स्यादित्यर्थः] ॥ ३७ ॥

(६) रामचन्द्रः । यत्सर्वेण कर्मणा ज्ञातुं कर्तुं यत् आचरन् न लज्जति येन कर्मणा अस्य आत्मा तुष्यति तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥ ३७ ॥

तमसोलक्षणं कामोरजसस्त्वर्थ उच्यते ॥ सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रेष्ठ्यमेवायथोत्तरम् ॥ ३८ ॥

(१) मेधातिथिः । ननु च कामेऽपि सुखमस्ति तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं तत्सत्त्वलक्षणमिति प्राप्तं कथं तमसोलक्षणं उच्यते मोहरूपं तमोत्रसंवेदनमस्ति तदपि सत्त्वस्यैवलक्षणं सत्यं ज्ञानमित्युक्तत्वात् । उच्यते नात्र भोक्तृभोग्यभावावस्थाभिप्रेता किं-तर्हिविषयगतस्पृहातिशयः । न च तस्यामवस्थायां सुखोत्पत्तिरव्यक्तविषयत्वं च विद्यते कामप्रधानस्य युक्तायुक्तविवेकशून्यत्वादस्त्येव मोहरूपता । ईदृशश्चात्र कामोभिप्रेतः न यदतौ शास्त्रार्थतया त्वदारेषु गमनौत्सुक्यम् ॥ ३८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । लक्षणं कार्यम् ॥ ३८ ॥

(३) कुल्लूकः । कामप्रधानता तमसोलक्षणं अर्थनिष्ठता रजसः धर्मप्रधानता सत्त्वस्य एषां च कामादीनामुत्तरोत्तरस्य श्रेष्ठत्वं कामादर्थः श्रेयान् अर्थमूलत्वात् कामस्य ताभ्यां च धर्मः तन्मूलत्वात्तयोः ॥ ३८ ॥

(४) राघवानन्दः । इतोऽपि संक्षिप्याह तमस इति । तमस उद्भूतस्य कामः रूपादिष्वतिप्रीतिः । एवमर्थधर्मयोः । यथाक्रममुत्तरोत्तरम् । अत्र चर्या किंचित्पौनरुक्त्यं तन्मदोषभाक् अध्यात्मकप्रकरणत्वात् गुणातिरिक्तस्यात्मनः कर्तृत्वाभावतात्पर्यकत्वाच्च । तदुक्तम् ॥ नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति । गुणेभ्यश्च परं वेति मद्भावं सोधि गच्छति ॥ गुणातीतः स उच्यत इति च ॥ ३८ ॥

(६) रामचन्द्रः । तमसः लक्षणम् । अर्थः रजसोलक्षणम् । धर्मः सत्त्वस्य लक्षणम् । येषां सत्त्वादीनां यथाक्रमं-
श्रेष्ठ्यम् ॥ ३८ ॥

येन यस्तु गुणेनैषांसंसारान्प्रतिपद्यते ॥ तान्समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥ ३९ ॥

(१) मेधातिथिः । एषांगुणानांमध्ये येन गुणेन यान्संसारान्पुरुषः प्रतिपद्यते । संसारशब्दो गतिवचनः यानि ज-
न्मानि प्रामोतीत्यर्थः । तदुत्तरत्रवक्ष्यत इति प्रतिज्ञाश्लोकः ॥ ३९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । संसारान् जातीः ॥ ३९ ॥

(३) कुल्लूकः । एषांसत्त्वादीनांगुणानांमध्ये येन गुणेन स्वकार्येण यागतीर्जावः प्रामोति ताः सर्वस्यास्य जगतः-
संक्षेपतः क्रमेण वक्ष्यामि ॥ ३९ ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तगुणकार्यरतानां प्रतिज्ञापूर्वकं गतीराह येनेति द्वाभ्याम् । एषामिति निर्धारणे तेन येन-
गुणेनयं संसारं प्रतिपद्यतेतं देवत्वादिरूपं वक्ष्यामीत्यन्वयः ॥ ३९ ॥

(५) नन्दनः । सर्वस्यास्य प्राणिजातस्य तान्संसारानित्यन्वयः ॥ ३९ ॥

(६) रामचन्द्रः । येन गुणेन यान् एषांसत्त्वादीनां गुणेन संसारात् यथा प्रपद्यते तान् गुणान् ॥ ३९ ॥

देवत्वं सात्त्विकायान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः ॥ तिर्यक्तं तामसानित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥ ४० ॥

(१) मेधातिथिः । सामान्येन गतिनिर्देशो गुणनिमित्तोऽयम् ॥ ४० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तिर्यक्तं पशुत्वम् ॥ ४० ॥

(३) कुल्लूकः । ये सत्त्ववृत्तावस्थितास्ते देवत्वं यान्ति । ये तु रजोवृत्त्यवस्थितास्ते मनुष्यत्वं । ये तमोवृत्तिस्था-
स्ते तिर्यक्तचेत्येषा त्रिविधा जन्मप्राप्तिः ॥ ४० ॥

(४) राघवानन्दः । तिर्यक्तं पक्षिमृगताम् ॥ ४० ॥

(६) रामचन्द्रः । इति एषां त्रिविधा गतिः ॥ ४० ॥

त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः ॥ अधमा मध्यमाग्याच कर्मविद्या विशेषतः ॥ ४१ ॥

(१) मेधातिथिः । एषा त्रिविधा गौणिकी सत्त्वादिगुणप्रयुक्ता प्रत्येकं पुनः त्रिविधोत्तमाधममध्यमभेदेनातो नव-
धासंपद्यते । कर्मविद्याविशेषाच्चानन्ताः कुशलाकुशलकर्मवशात् । बुद्धिपूर्वमयोगश्च कर्मणां च बहुभेदत्वात्तदिदमाह कर्मवि-
द्याविशेषत इति ॥ ४१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । त्रिविधा या उक्ता गौणिकी गुणनिमित्ता सा प्रत्येकं त्रिविधा । कर्म तामसादिरूपं विद्या
ज्ञानं तदपि भूतादिविषयतया तामसादिरूपम् ॥ ४१ ॥

(३) कुल्लूकः । या सत्त्वादिगुणत्रयनिमित्ता त्रिविधा जन्मान्तरप्राप्तिरुक्ता सा देशकालादिभेदेन संसारहेतुभूत-
कर्मभेदाज्ञानभेदाच्चाधममध्यमोत्तमभेदेन पुनस्त्रिविधा बोद्धव्या ॥ ४१ ॥

(४) राघवानन्दः । तागतीरथवातास्त्रिविधभेदभिन्ना इति ज्ञापयन्नाह त्रिविधेति । गौणिकी तमआदिगुणनि-
मित्ता कर्मविद्याविशेषतः परलोकं दयासन्तं जीवं विद्याकर्मवासनानामनुगते स्तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञाचेति श्रुतेरव-
गतत्वात् ॥ ४१ ॥

(५) नन्दनः । गौणकीगुणसंबन्धिनीकर्मविद्याविशेषतः कर्मविशेषतोज्ञानविशेषतश्च ॥ ४१ ॥

(६) रामचन्द्रः । गौणिकीगतिः त्रिविधा तु पुनः एषा गतिः त्रिविधा विज्ञेया एकैकस्य गुणस्य त्रिधा त्रिविधा । गतिः ज्ञेया एवं नवधा गतिः तद्यथा एकस्य गुणस्य त्रिविधा कर्मणः विद्या अधमा विद्या मध्यमाचपुनः । विशेषतः कर्मणःविद्या अध्या श्रेष्ठाएवं एकस्य त्रिविधा ॥ ४१ ॥

स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः ॥ पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः ॥ ४२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कृमयोमांसादिसंभवाः क्षुद्रजन्तवः । सरीसृपावृश्चिकाद्याः । पशवोगवाद्याः ॥ ४२ ॥

(३) कुल्लूकः । स्थावरावृक्षादयः कृमयः सूक्ष्माः प्राणिनस्तेभ्यर्हन्त्यथूलाः कीटाः तथामत्स्यसर्पकूर्मपशुमृगाश्चेत्येषा तमोनिमित्ता जघन्या गतिः ॥ ४२ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रादौ तामसस्यावान्तरभेदमाह स्थावराइतित्रिभिः । तस्मात्पश्यन्ति पादपाः स्थाणुमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वायदेहिनइतिश्रुतेः । स्थावरदेहोपि भोगार्थः । कृमयोमहीलताद्याः । कीटाः पिपीलिकाद्याः पशवः श्वादयः । जघन्या निरुष्टाः । तामसी उद्रिक्ततमोनिमित्ता । एवमुत्तरत्र ॥ ४२ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्थावराद्याः गामृगान्ताः जघन्या अधमा तामसी गतिः ॥ ४२ ॥

हस्तिनश्च तुरङ्गाश्च शूद्राम्लेच्छाश्च गर्हिताः ॥ सिंहाव्याघ्रावराहाश्च मध्यमातामसी गतिः ॥ ४३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । म्लेच्छाः शवराद्याः ॥ ४३ ॥

(३) कुल्लूकः । हस्त्यश्वशूद्राम्लेच्छसिंहव्याघ्रसूकरास्तमोगुणनिमित्ता मध्यमा गतिः गर्हिताइति म्लेच्छानांस्वरूपानुवादः ॥ ४३ ॥

(४) राघवानन्दः । तुरङ्गोश्वः तुरङ्गपदं गवामुपलक्षणम् । म्लेच्छायवनाः विगर्हितानिषादाद्याः ॥ ४३ ॥

(६) रामचन्द्रः । हस्त्यादिवराहान्ताः मध्यमा तामसी गतिः ॥ ४३ ॥

चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः ॥ रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूतमागतिः ॥ ४४ ॥

(१) मेधातिथिः । चारणाः कथकगायकस्त्रीसंयोजकादयः । सुपर्णाः पक्षिविशेषाः शूद्रागर्हिताइतिसंबन्धः । ये ब्राह्मणानवजानते ये च तद्वत्युपजीविनो ये च मदमानादियुक्ताहिंसाश्रौरादित्येवमादयोविगर्हिताः ॥ ४४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । चारणारङ्गाद्युपरि वृत्तिकारिणः । सुपर्णागरुडाद्याः । रक्षांसि ऋत्यादिविशेषाः कुम्भकर्णाद्याः । पिशाचाः पूतिमांसादिबीभत्सान्नादाः ॥ ४४ ॥

(३) कुल्लूकः । चारणानयादयः सुपर्णाः पक्षिणः छद्मना कर्मकारिणः पुरुषाराक्षसाः पिशाचाश्चेत्येषा तामसीषूतमागतिः ॥ ४४ ॥

(४) राघवानन्दः । चारणाः देवयोनिविशेषाः सुपर्णाः अरुणादयः ॥ ४४ ॥

(६) रामचन्द्रः । चारणादि पिशाचान्ताः तामसीषु उत्तमा गतिः ॥ ४४ ॥

झल्लामल्लानटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः ॥ द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्याराजसी गतिः ॥ ४५ ॥

(१) मेधातिथिः । झल्लामल्लाइति रङ्गावतारकास्तत्रमल्लाबाहुयोधिनः झल्लायष्टिप्रहारिणः परिहासजीविनोवा- ॥ ४५ ॥

(४५) झल्ला=तुष्टा (ग)=ऊषाक (क)

(२) सर्वज्ञनारायणः । झल्लोमल्लश्च राजन्याद्रात्यायाम् । कुवृत्तयः सेवादिकुवृत्तयः ॥ ४५ ॥

(३) कुल्लूकः । झल्लामल्लाः क्षत्रियाद्रात्यात्सवर्णायामुत्पन्नादशमाध्यायोक्ताज्ञेयातत्र झल्लायष्टिप्रहरणामल्लाबाहुयो धिनः रङ्गावतारकानटाः शस्त्रजीविद्व्यतपानप्रसक्ताश्च पुरुषाअधमा राजसीगतिर्ज्ञेया ॥ ४५ ॥

(४) राघवानन्दः । राजस्याभेदमाह । झल्लमल्लौ जातिसंकरौ मल्लायुद्धाचार्याः नटाः रङ्गावतारिणः । नर्तकाः ॥ ४५ ॥

(६) रामचन्द्रः । झल्लादिपानप्रसक्तान्ताः प्रथमा राजसी गतिः ॥ ४५ ॥

राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञांचैव पुरोहिताः ॥ वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसीगतिः ॥ ४६ ॥

(१) मेधातिथिः । राजानोजनपदेश्वरक्षत्रियास्तदनुजीविनः सामन्ताः । वादप्रधानाः शास्त्रार्थगह्नेष्वितरेतरं जल्पन्ति । युद्धप्रधानायोधकाः ॥ ४६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्षत्रियाः अराजानोपि ॥ ४६ ॥

(३) कुल्लूकः । राजानोऽभिषिक्ताजनपदेश्वराः तथाक्षत्रियाराजपुरोहिताश्च शास्त्रार्थकलहप्रियाश्च एषा राजसीगतिर्मध्यमा बोद्धव्या ॥ ४६ ॥

(४) राघवानन्दः । वादप्रसक्ताः शास्त्रार्थकलहिनः युद्धविशारदाः शूराः ॥ ४६ ॥

(६) रामचन्द्रः । दानयुद्धप्रधानाः दानदातृत्वप्रधानाः ॥ ४६ ॥

गन्धर्वागुह्यकायक्षाविबुधानुचराश्च ये ॥ तथैवाप्सरसः सर्वाराजसीषूतमागतिः ॥ ४७ ॥

(१) मेधातिथिः । गन्धर्वादयोदेवास्तेषामर्थवादेतिहासेभ्योभेदोविज्ञेयः । विबुधादेवास्तेषामनुचराः सिद्धविद्याधरादयः ॥ ४७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गुह्यकाः बालादिर्हिंसाकारिणोमायाप्रधानाः । यक्षाः धनरक्षाकारिणः ॥ ४७ ॥

(३) कुल्लूकः । गन्धर्वागुह्यकायक्षाजातिविशेषाः पुराणादिप्रसिद्धाः ये च देवानुयायिनोविद्याधरादयोऽप्सरसश्च देवगणिकाः सर्वाइत्येषा राजसीमध्यउत्कृष्टा गतिः ॥ ४७ ॥

(४) राघवानन्दः । गन्धर्वादयोदेवावान्तरयोनयः तदधीनाः गन्धर्वाश्चित्ररथादयः । गुह्यकाः धनरक्षकाः यक्षाः कुबेरादयः । अप्सरसः उर्वश्यादयः ॥ ४७ ॥

(६) रामचन्द्रः । विबुधाः सुराइत्यमरः ॥ ४७ ॥

तापसायतयोविप्राये च वैमानिकागणाः ॥ नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकीगतिः ॥ ४८ ॥

(१) मेधातिथिः । तापसास्तपःप्रधानावानप्रस्थादयः । यतयः परिव्राजकादयः अनेनच ज्ञापयतिनकेवलं जन्मोपपत्तिर्गतिजातस्य कर्माचरणादपि यतो न तापसादयः कतिचिज्जातिविशेषाः किं तर्हि कर्मनिमित्ता एते व्यपदेशाः । अन्येषु

(४६) प्रधानाः = प्रसक्ताः (राघ०)

(४६) वादयुद्ध=दानयुद्ध (ल)

(४६) वादयुद्धप्रधानाः=दानयुद्धप्रधानाः (राम०)

मन्यन्ते सन्तिमेरुनिवासिनःकेचिज्जनपदायतयोनामश्रूयन्ते इन्द्रोयतीन्सालावृकेभ्यःप्रायच्छदिति । विमानानियानविशेषाः पुष्पकादयस्तैश्चरन्तिवैमानिकाः अन्तरिक्षचराःकेचिद्देवयोनयः प्रथमानिकृष्टाः ॥ ४८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तापसाः वनस्थाः । यतयोलब्धज्ञानाभिक्षवः । वैमानिकाः स्वर्गिणोविमानेषु चरन्तः । दैत्याहिरण्यकशिपुप्रभृतयोये ऋष्यादास्तीक्ष्णस्वभावाः । सिद्धा इति पाठे विद्यासिद्धाः ॥ ४८ ॥

(३) कुहूकः । वानप्रस्थाभिक्षवोब्राह्मणाश्च अप्सरसोव्यतिरिक्तापुष्पकादिविमानचारिणोनक्षत्राणि दैत्याश्चेत्येषा सत्त्वनिमित्ताऽधमागतिः ॥ ४८ ॥

(४) राघवानन्दः । सात्त्विकभेदानाह तापसा इति । गणागणशश्चरणशीलास्तएव वैमानिका इति वणिजां व्यावृत्त्यर्थं तएव विश्वेदेवादयः । दैत्याः बलिप्रभृतयः ॥ ४८ ॥

यज्वानऋषयो देवा वेदा ज्योतीषि वत्सराः ॥ पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ॥ ४९ ॥

(१) मेधातिथिः । आनुपूर्विविशिष्टः शब्दो वेदः । ननु च गत्यधिकारेकः प्रसंगोऽचेतनानां अचेतनाश्च शब्दादयः अत्यल्पमिदमुच्यते शब्दादयोऽचेतना इति । सर्वेष्वेते देवादयः स्थावरान्ताः शरीरात्मानः तत्र सर्वशरीराणामचेतनादितच्छक्तिः केवलं पुरुषादिचेतन्यरूपिणी प्राप्यते निर्गुणश्च पुरुषस्तदधिष्ठितानि शरीराण्यचेतनान्यपि चेतनान्युच्यन्ते । अत एतदुक्तं भवति सत्त्वप्रधानो वेदस्तदभ्यासात्सात्त्विकी गतिः प्राप्यते न पुनः सत्त्वप्रधानस्य वेदत्वप्राप्तिः सात्त्विकी गतिरुच्यते । अन्येषां नुप्रदर्शनं सर्वक्षेत्रज्ञाः सन्त्यधिष्ठातारो वेदपुरुषावारुणो लोकेश्रूयन्ते ॥ ४९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यज्वानः फलाभिसंधिना यजमानाः । ऋषयो ज्ञानपराः । ज्योतीषि चन्द्रसूर्याद्याः । वत्सरा वत्सराधिष्ठात्री देवता ॥ ४९ ॥

(३) कुहूकः । यागशीलास्तर्षयो देवा वेदाभिमानिन्यश्च देवताविग्रहवत्य इति हासप्रसिद्धाः ज्योतीषि ध्रुवादीनि वत्सरा इति हासदृष्ट्या विग्रहवन्तः पितरः सोमपादयः साध्याश्च देवयोनिविशेषा इत्येषा सत्त्वनिमित्ता मध्यमा गतिः ॥ ४९ ॥

(४) राघवानन्दः । वेदास्तदभिमानिनः । तदुक्तं ग्रहाधिकरणे भट्टैः ॥ ऋग्वेदादिसमूहेषु क्षेत्रज्ञाये प्रतिष्ठिताः ॥ तेषां वायमभिप्रायः स्याद्विवक्षाविवक्षयोरिति ॥ एवं वत्सराः । ज्योतीषि नक्षत्रभिन्नान्यादित्यादीनि ॥ ४९ ॥

ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च ॥ उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥ ५० ॥

(१) मेधातिथिः । विश्वसृजो मरीच्यादयः प्रजापतयः । धर्मो वेदार्थः पूर्ववेदस्वरूपमुक्तमिदानीं तदर्थः स्वरूपार्थप्रधानतरद्व्युक्तं भवति । अथवा धर्मादयश्च विग्रहवत्त्वं पूर्ववद्वृष्ट्यं महानितिसंज्ञांतरं अव्यक्तं प्रधानप्रकृतिरित्येकोऽर्थः । ननु च सत्त्वाधिक्ये प्रधानस्य तद्विकारत्वाज्जगतः सर्वेषां विकाराणां सत्त्वाधिक्यं प्राप्तं ततश्च रजस्तमसोऽकुतोतिरेकः अतो यदुक्तं ॥ यो यदेषां गुणो देहे सा कल्येनातिरिच्यत इति तदनुपपन्नं उच्यते नैते देवपरं प्रधानरूपताप्राप्या किंति हि ये प्रकाराः सन्ति यदि प्राप्यो व्यक्तिभावो यदि वाऽदृष्टविधिर्यदि वानैवायं संख्येयः प्रधानेऽव्यक्तशब्दो वर्तते क्रियानिमित्तोऽयं नास्य व्यक्तित्वविद्यत इति अस्फुटप्रकाशत्वादव्यक्तं तथाच परमात्मनि वृत्तिर्भवति । महत्त्वं च तस्य विभुत्वादुपपद्यत एव । ननु च नैवास्य सात्त्विकी गतिः अगुणत्यागाचाप्येवं यदा हि नाहं न मम किंचिदिति मुक्ताहंकारममकारो भवति तदा ब्रह्मता भवतीति विज्ञायते । निदिध्यासनयेत् ब्रह्मप्राप्तिः किन्तु सत्त्वप्रधाना एव ज्ञानादितत्परा भवन्ति न तामसीराजसी चेति । एवं कृत्वोच्यत उत्तमात्सात्त्विकी-

गतिः अन्यौपक्षावनपपन्नौ । नहिप्रधानभावंप्राप्य काचित्पुरुषार्थसिद्धिः अचेतनंहितद्यपदिशन्त्यचैतन्यं स्थावरेभ्योपि य-
दधीनाहिमदमूर्च्छावस्थाः केचिदर्थयन्ते । दृष्टविधिस्तु नैव संभवत्यश्रुतत्वादात्मावारेद्रष्टव्यइति श्रुतितः प्रधानं द्रष्टव्यमिति तस्मा-
त्परमात्मविषयावेव महानव्यक्तइत्येतौ शब्दौ ॥ ५० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विश्वसृजो मरीच्याद्याः । अव्यक्तमहंकारः ॥ ५० ॥

(३) कुल्लूकः । चतुर्वदनो विश्वसृजश्च मरीच्यादयः धर्मो विग्रहवान्महान् अव्यक्तं च सांख्यमसिद्धं च तत्त्वद्वयं तद-
धिष्ठानं देवताद्वयमिह विवक्षितं अचेतनगुणत्रयमात्रस्योत्तमसात्त्विकगतिव्यानुपपत्तेः एतां चतुर्वदनाद्यात्मिकां सत्त्वं निमित्ता-
मुत्कृष्टां गतिपण्डितावदन्ति ॥ ५० ॥

(४) राघवानन्दः । ब्रह्मा हिरण्यगर्भः । विश्वसृजो मरीच्यादयः । अत्राचेतनत्वेन प्रसिद्धानां तदभिमानिदेव-
तापरत्वं तदभिमानिव्यपदेशादितिन्यायात् । नचाव्यक्तस्य जन्मासंभवइति वाच्यं यत्तत्सूक्ष्ममविज्ञेयमिति परं ब्रह्म प्रकृ-
त्यसह्यन्तरात्मा भूतानां क्षेत्रज्ञश्चेति कथ्यतेत्युक्ता ॥ तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम ॥ तथाव्यक्तं तु पुरुषे ब्रह्मनि-
ष्क्रिये संप्रलीयतइतिकार्यत्वस्मरणात् ॥ ५० ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्रह्मा विश्वसृजः मरीच्याद्याः । महात्महत्तत्त्वम् । अव्यक्तं प्रधानम् ॥ ५० ॥

एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिः प्रकारस्य कर्मणः ॥ त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौतिकः ॥ ५१ ॥

(१) मेधातिथिः । त्रिः प्रकारस्य वाङ्मनः कायसाधनस्य त्रिविधः सत्त्वादिगुणभेदेन पुनस्त्रिविधः उत्तमादिविशेष-
तोया अप्यत्र गतयो विशेषतो नुक्तास्ता अप्युक्तसादृश्यादन्तर्भावनीयाः । गुणप्रकरणोपसंहारउत्तरोपि श्लोको वक्ष्यमाणसूच-
कः ॥ ५१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । त्रिः प्रकारस्य तमोरजः सत्त्वजन्यतया । त्रिविधोपि पुनस्त्रिविधः । संसारः संसारिवर्गः स-
र्वभूतसंबन्धी ॥ ५१ ॥

(३) कुल्लूकः । एष मनोवाक्कायरूपत्रयभेदेन त्रिः प्रकारस्य कर्मणः सत्त्वरजस्तमोभेदेन त्रिविधः पुनः प्रथममध्य-
मोत्तमभेदेन त्रिविधः सर्वप्राणिगतः समयोगतिविशेषः कार्त्तर्येनोक्तः सार्वभौतिकइत्यभिधानात् अनुक्ता अप्यत्र गतयो-
द्रष्टव्याः उक्तगतयस्तु प्रदर्शनार्थाः ॥ ५१ ॥

(४) राघवानन्दः । गुणसर्गमुपसंहरति एष इति । त्रिः प्रकारस्य कायिकादिभेदभिन्नस्य सात्त्विकादिभेदभिन्नस्य
वा ॥ त्रिविधस्त्रिविधो नवविधः सात्त्विकादि तद्वाप्यभेदेन । सार्वभौमब्रह्मादिस्थावरा तप्राणभृत्संबन्धी ॥ ५१ ॥

(६) रामचन्द्रः । सात्त्विकादेः त्रिः प्रकारस्य कर्मणः त्रिविधस्त्रिविधः संसारः समुद्दिष्टः कीदृशः संसारः सार्वभौतिकः
सर्वभूतेषु प्राणिमात्रेषु जातः पंचभूतात्मको देहः ॥ ५१ ॥

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्थासेवनेन च ॥ पापान्संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥ ५२ ॥

(१) मेधातिथिः । इन्द्रियसंगोऽप्रतिषिद्धसेवनप्रदर्शनार्थः असेवनं धर्मस्य शिष्टाकरणं एतच्चाविदुषां भवत्यत आह-
विद्वांसो नराधमाः अतश्च परमात्संसारान् कुत्सितानि जन्मस्थानानि संयान्ति प्राप्नुवन्ति । तत्र प्रसिद्ध एव तावत्कर्मविपा-
कः प्रचक्ष्यते ॥ ५२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रसंगेन यथेच्छं विषयेषु प्रवृत्त्या । संसारानिन्दितान् ॥ ५२ ॥

(३) कुल्लूकः । इन्द्रियाणां विषयेषु प्रसङ्गेन निषिद्धाचरणेन च प्रायश्चित्तादिधर्मानुष्ठानेन मूढमनुष्यापसदाः कुन्तिता गतीः प्राप्नुवन्ति ॥ ५२ ॥

(४) राघवानन्दः । नरकप्राप्तौ हेतुद्वयं संक्षिपन्क्रमेण नरकप्राप्तीराह इन्द्रियाणामिति । प्रसंगेनातिप्रसक्त्या अविरुद्धविषयेष्वपि ब्राह्मणवधादिषु च धर्मस्यासेचनेन अधिकारसत्वेऽपि धर्मस्याकरणात्पापान् पापजन्यागतीस्ता एव संसारानित्यन्वयः ॥ ५२ ॥

(५) नन्दनः । इन्द्रियाणां विषयेष्वतिप्रसक्ता ॥ ५२ ॥

(६) रामचन्द्रः । इन्द्रियाणां प्रसंगेन विषयाणां प्रसक्त्या ॥ ५२ ॥

यांयांयोनिं तु जीवोयं येन येनेह कर्मणा ॥ क्रमशो याति लोकेऽस्मिन् तत्तत्सर्वं निबोधत ॥ ५३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्रमशो निबोधत ॥ ५३ ॥

(३) कुल्लूकः । अयं जीवो येन येन पापेन कर्मणेह लोके कृतेन यद्यज्जन्म प्राप्नोति तत्सर्वं क्रमेण शृणुत ॥ ५३ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रादाविन्द्रियप्रसंगेनेत्यस्य प्रतिज्ञापुरःसरं गतीराह यामिति समदशभिः ॥ ५३ ॥

(५) नन्दनः । एकमेव कर्म बह्वीः योनीः प्रापयतीत्युक्तं क्रमश इति ॥ ५३ ॥

बहून्वर्षगणान्घोरान्नरकान्प्राप्य तत्क्षयात् ॥ संसारान्प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्रिमासम् ॥ ५४ ॥

(१) मेधातिथिः । घोरान्नरकान् दुःखप्रसह्यन्वयथाघोरायातनास्थानानि नारकान् तत्क्षणाद्बुद्धरूपस्य कर्मणः फलोपभोगेनक्षयं ततर्षदवशिष्टकर्मणि संसारप्रतिपत्तिः । कथंपुनः सर्वकर्मतत्रैव न भुज्यते उक्तं इन्द्रियस्य कर्मणो नरकफलं नोपशान्तस्य कार्यविरोधित्वाच्च कर्मणां फलेनोपशमः तत्रयथैव च ज्वलितस्याग्रे र्दार्चिषो दाहो विनियोगो तपश्चादं भवस्थितस्यैव नरकेष्वपि द्रष्टव्यं अग्रेस्तु द्वे अवस्थे भवतः प्रशान्तताज्वाला च नरकस्तु एक रूप एव सर्वदा । उदार्चिष इवाग्नयः कर्माणि चोपचयापचयवन्त्यत उपचितस्य कर्मणो नरकोऽपचोयमानस्य ततोऽन्यत्रोपभुक्तिः तत्रयुक्तं ततः शेषेणेति ॥ ५४ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्रह्महत्यादिमहापातककारिणो बहून्वर्षमूहान्भयंकरान्नरकान्प्राप्य तदुपभोगक्षयाद्बुद्धतः शेषेण वक्ष्यमाणान् जन्मविशेषान्प्राप्नुवन्ति ॥ ५४ ॥

(४) राघवानन्दः । तामेवाह बहूनि । नरकान् । वक्ष्यमाणां स्तामिहादीन् प्राप्य तत्फलं बुक्त्वा संसारान् संसरणयोग्यजातीः । इमान् । वक्ष्यमाणसूकरादिकान् ॥ ५४ ॥

(५) नन्दनः । तत्क्षयान्नरकं प्राप्नुयन्ते इमान् वक्ष्यमाणान् ॥ ५४ ॥

(६) रामचन्द्रः । नरकादीन्प्राप्य तत्क्षयात् तत्कर्मणः भोगक्षयात् संसारान्प्रतिपद्यन्ते जन्मानि प्रतिपद्यन्ते इमान् वक्ष्यमाणलक्षणान् ॥ ५४ ॥

श्वंसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम् ॥ चण्डालपुच्छसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥ ५५ ॥

(३) कुल्लूकः । कुकुरसूकरगर्दभोष्ट्रगोच्छागमेषमृगपक्षिचण्डालानां पुच्छसानां च निषादेन शूद्रायां जातानां संबन्धिनीं जातिं ब्रह्महा प्राप्नोति तत्र पापशेषगौरवलाघवापेक्षया क्रमेण सर्वयौनिप्रामिर्बोद्धव्या एवमुत्तरत्राऽपि ॥ ५५ ॥

(४) राघवानन्दः । तानेवाहं श्वेति । दशजातिषु ब्रह्महा योनिं जन्मकृच्छति प्राप्नोति । तथाच श्रुतिः । श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं चेति ॥ ५५ ॥

रुमिकीटपतङ्गानां विड्भुजांचैव पक्षिणाम् ॥ हिंसाणांचैव सत्त्वानां सुरापो ब्राह्मणो ब्रजेत् ॥ ५६ ॥

(१) मेधातिथिः । विड्भुजावायसादयः । हिंसाणां व्याघ्रादीनाम् ॥ ५६ ॥

(३) कुल्लूकः । रुमिकीटशलभानां पुरीषभक्षिणां पक्षिणां हिंसनशीलानां च व्याघ्रादीनां प्राणिनां जातिं सुरापो ब्राह्मणो गच्छति ॥ ५६ ॥

(४) राघवानन्दः । पैर्घीपीत्वा विप्रो विड्भुजां कुकुटादीनां हिंसाणां सर्पवृश्चिकादीनां योनिं ब्रजेदित्यन्वयः । सुरा वै मलमन्त्रानामित्युक्तेः ॥ ५६ ॥

(५) नन्दनः । बहुशः रुमिकीटादियोनिः प्राप्नोतीत्युक्तं असकृदिति योनिमिच्छतीत्यनुषङ्गः एवमुत्तरत्र ॥ ५६ ॥

लूताहिसरटानां च तिरश्चां चाम्बुचारिणाम् ॥ हिंसाणां च पिशाचानां स्तेनो विप्रः सहस्रशः ॥ ५७ ॥

(३) कुल्लूकः । ऊर्णनाभसर्पकलसां जलचराणां च तिरश्चां कुम्भीरादीनां हिंसनशीलानां च योनिं सुवर्णहारी ब्राह्मणः सहस्रवारान्गमोति ॥ ५७ ॥

(४) राघवानन्दः । लूता ऊर्णनाभिः । अहिः सर्पः । सरटः काकः रुकलासो वा प्रसिद्धः । तिरश्चामित्यस्य विशेषणमम्बुचारिणामिति । हिंसाणानक्रादीनां ब्रह्मराक्षसानां वा । विप्रः चातुर्वर्ण्यः । विप्रग्रहणं कैमुत्यार्थं विप्रोपि यदा तदाऽन्येषां का कथेति । सहस्रशोजन्मानि ॥ ५७ ॥

(५) नन्दनः । सरटः रुकलासः । विप्रग्रहणेन स्तेयं ब्राह्मणक्षत्रियादिभ्योतिरिक्तफलमिति संकुचितम् ॥ ५७ ॥

(६) रामचन्द्रः । लूता मकरिका । अहिः सर्पः । लूतादीनां योनिषु स्तेनः सुवर्णस्तेनः विप्रः सहस्रशः सद्सकृत्वोजायते ॥ ५७ ॥

तृणगुल्मलतानां च क्रव्यादां दंष्ट्रिणामपि ॥ क्रूरकर्मरुतांचैव शतशो गुरुतल्पगः ॥ ५८ ॥

(१) मेधातिथिः । क्रूरकर्मरुताः परवधशीलाः ॥ ५८ ॥

(३) कुल्लूकः । तृणानां दूर्वादीनां गुल्मानामप्रकाण्डादीनां लतानां गुडूच्यादीनामममांसभक्षिणां गृध्रादीनां दंष्ट्रिणां सिंहादीनां क्रूरकर्मशालिनावधशीलानां च व्याघ्रादीनां जातिं शतवारान्गमोति मुरुदारगामी ॥ ५८ ॥

(४) राघवानन्दः । दंष्ट्रिणां व्याघ्रादीनाम् । अत्र श्वेत्यादिपञ्चचतुष्टयमेव भेदकं महापातकचतुष्टयफलस्य ॥ ५८ ॥

(६) रामचन्द्रः । तृणगुल्मलतानां संरूपतां गुरुतल्पगः प्राप्नोति । चंपुनः क्रव्यादादीनां योनिषु गुरुतल्पगः शतशः शतरुत्वः जायते ॥ ५८ ॥

(५९) भेतान्त्ये=भेत्यान्त्य (क, ण)

हिंसाभवन्ति क्रव्यादाः कृमयोऽभक्ष्यभक्षिणः ॥ परस्परादिनस्तेनाः प्रेताऽन्त्यस्त्रीनिषेविणः ॥ ५९ ॥

(१) मेधातिथिः । क्रव्यादागृध्रादयः । अभक्ष्यभक्षिणः कृमयः परस्परमदन्ति यथामहामार्जारोमार्जारं महामत्स्यः सूक्ष्ममत्स्यं नैकभेदमिव अन्त्यस्त्रीनिषेविणोवर्बरादयः ॥ ५९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवमभक्ष्यभक्षिणः कृमयः । एवं विप्रस्वर्गेतरस्तेनाः अन्योन्यभक्षिणोमत्स्याद्याः । गुस्त-
ल्लेतरान्यदारगमने प्रेताः । प्रेतान्त्येति संधिश्छान्दसः ॥ ५९ ॥

(३) कुल्लूकः । ये प्राणिवधशोलास्ते आममांसाशिनोमार्जारादयोभवन्ति । अभक्ष्यभक्षिणोये ते कृमयोजायन्ते । महापातकव्यतिरिक्ताश्चौरास्ते परस्परमांसस्यादिनोभवन्ति । ये चाण्डालादिस्त्रीगामिनस्ते प्रेताख्याः प्राणिविशेषाजायन्ते । प्रेतान्त्यस्त्रीनिषेविण इति छन्दः समानत्वात्स्मृतीनांसर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्त इति विसर्गलोपे च यद्वा यलोपे च सवर्णदीर्घः ॥ ५९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंचान्यदित्याह हिंसा इति । हिंसानराः क्रव्यादाः भवन्त्येवमभक्ष्यभक्षिणः कृमयः । स्तेनाः परस्परादिनः परस्परमत्तुशीलाः प्रेतान्त्येति सन्धिरार्षः । येन्यजगामिनस्ते प्रेताः इत्यन्वयः ॥ ५९ ॥

(५) नन्दनः । हिंसास्ते क्रव्यादायेऽभक्ष्यभक्षणादिनः येऽन्त्यस्त्रीनिषेवकास्ते परस्परादिनोमत्स्याभवन्ति ॥ ५९ ॥

(६) रामचन्द्रः । अभक्ष्यभक्षिणः पापाः क्रव्यमदन्ति क्रव्यादाः कृमयोभवन्ति । परस्परादिनः परस्परं अदन्ति-
ते परस्परादिनः अन्त्यस्त्रीनिषेविणः परस्परादीनां स्त्रीणां निषेविणः प्रेत्य हिंसाभवन्ति ॥ ५९ ॥

संयोगंपतितैर्गत्वा परस्यैव च योषितम् ॥ अपहृत्य च विप्रस्वंभवति ब्रह्मराक्षसः ॥ ६० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । परयोषिद्वमने ब्रह्मराक्षसतापि फलम् ॥ ६० ॥

(३) कुल्लूकः । यावत्कालीनपतितसंयोगेन पतितोभवति तावन्तं कालं ब्रह्महादिभिश्चतुर्भिः सह संसर्गं कृत्वा परेषां-
च स्त्रियंगत्वा ब्राह्मणसुवर्णादन्यदपहृत्यैकैकपापकारेण ब्रह्मराक्षसोभूतविशेषोभवति ॥ ६० ॥

(४) राघवानन्दः । किंच संयोगमिति । अपेति ब्राह्मणादिसंबन्धेन योषितं भोग्यतया । गत्वा चातुर्वर्ण्यो-
ब्रह्मराक्षसोभवतीत्यन्वयः ॥ ६० ॥

(५) नन्दनः । पतितसंसर्गिणां योन्यन्तरप्राप्तिमाह संयोगंपतितैर्गत्वेति ॥ ६० ॥

मणिमुक्ताप्रवालानि हत्वा लोभेन मानवः ॥ विविधानि च रत्नानि जायते हेमकर्तृषु ॥ ६१ ॥

(१) मेधातिथिः । हेमकर्तारः पक्षिणः ॥ ६१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मणयोमणिक्वयाद्याः स्थलजाः । रत्नान्युत्तमद्रव्याणि । हेमकर्तृषु स्वर्णकरिषु । हेमकर्ता
पक्षिविशेष इत्यन्ये ॥ ६१ ॥

(३) कुल्लूकः । मणीन्मणिक्वयादीनि मुक्ताविद्रुमौ च नानाविधानि च रत्नानि वैदूर्यहीरकादीनि लोभेन हत्वा
त्मीयभ्रमादिना सुवर्णकारयोनौ जायते केचित्तु हेमकारपक्षिणमाचक्षते ॥ ६१ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच मणीति । हेमकर्तृषु सुवर्णकार इति ख्यातेषु ॥ ६१ ॥

(६) रामचन्द्रः । मण्यादीनां तस्करः हेमकर्तृषु सुवर्णकारगृहेषु जायते पक्षिविशेषेषु वाजायते ॥ ६१ ॥

धान्यं हत्वा भवत्याखुः कांस्यं हंसो जलं प्लवः ॥ मधुदंशः पयः काकोरसंश्वा नकुलो घृतम् ॥ ६२ ॥

(१) मेधातिथिः । आखुः भूषकः ॥ ६२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्लवो जलकाकः । मधु हत्वा दंशः । पयः क्षीरं । रसं पारदम् ॥ ६२ ॥

(३) कुल्लूकः । धान्यमपहत्य भूषिको भवति । कांस्यं हत्वा हंसः । जलं हत्वा प्लवाख्यः पक्षी । माक्षिकं हत्वा दंशः । क्षीरं हत्वा काकः विशेषोपदिष्टगुडलवणादिव्यतिरिक्तमिक्ष्वादिरसं हत्वा श्वा भवति । घृतं हत्वा नकुलो भवति ॥ ६२ ॥

(४) राघवानन्दः । धान्यादिदशापहत्या ख्वादिदशजातयः स्युरित्याह धान्यमिति षड्विधः । कांस्यं कांस्यपात्रादि । मधुदंशः मक्षिकापयोदुग्धम् । रसमात्रादिजम् ॥ ६२ ॥

(५) नन्दनः । कांस्यं हत्वा हंसो भवति एवमुत्तरत्रान्वयः । पयः दुग्धं । रसंगुडादिकम् ॥ ६२ ॥

(६) रामचन्द्रः । धान्यं हत्वा आखुर्भवति । कांस्यं हत्वा हंसः । जलं हत्वा प्लवः जलकुक्कुटः । रसं पारदं हत्वा श्वा भवति । घृतं हत्वा नकुलो भवति ॥ ६२ ॥

मांसं गृध्रो वपां मद्गुस्तैलं तैलपकः खगः ॥ चीरीवाकस्तु लवणं बलाकाशकुनिर्दधि ॥ ६३ ॥

(१) सर्वज्ञनारायणः । वपां मेदः । तैलपकः तैलपायिकाख्यः पक्षी । चीरीवाको टिण्डीकीटः ॥ ६३ ॥

(३) कुल्लूकः । मांसं हत्वा गृध्रो भवति । वपां हत्वा मद्गुनामा जलचरो भवति । तैलं हत्वा तैलपायिकाख्यः पक्षी । लवणं हत्वा चीराख्य उच्चैस्तरः कीटः । दधि हत्वा बलाकाख्यः पक्षी जायते ॥ ६३ ॥

(४) राघवानन्दः । वपामिति पाठे वपा हृदयस्थश्वेतमांसविशेषः । मद्गुः बकविशेषः । चीरीवाकः उच्चैस्तरः कीटः । बलाकाशकुनिः दधिहत् ॥ ६३ ॥

(५) नन्दनः । हत्वेत्यनुषङ्गः तैलपकः खगः चिरीवाकः ॥ ६३ ॥

(६) रामचन्द्रः । वपां हत्वा मद्गुः ॥ मद्गुः कारण्डवः प्लव इत्यमरः । तैलं हत्वा तैलपायिकाख्यः पक्षी । चीरी लवणहारकः झिल्लीकीटकः । दधि हत्वा दान्यूहपक्षिणी बलाका ॥ ६३ ॥

कौशेयं तित्तिरिहत्वा क्षौमं हत्वा तु दर्दुरः ॥ कार्पासतान्तवं क्रौञ्चो गोधागां वाग्गुदो गुडम् ॥ ६४ ॥

(१) मेधातिथिः । दर्दुरः मंडूकस्तोकः ॥ ६४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्षौमं दुकूलम् । कार्पासकं कार्पासविधानं तान्तवं पटादि । वाग्गुदः पक्षिविशेषः ॥ ६४ ॥

(३) कुल्लूकः । कीटकोशनिर्मितं वस्त्रं हत्वा तित्तिरिर्नामा पक्षी भवति । क्षौमकृतं वस्त्रं हत्वा मण्डूकः । कार्पासमयं पटं हत्वा क्रौञ्चाख्यः प्राणी । गां हत्वा गोधा । गुडं हत्वा वाग्गुदनामा शकुनिर्भवति ॥ ६४ ॥

(४) राघवानन्दः । कौशेयं रुमिकोशोत्थं वस्त्रम् वाग्गुदस्तन्नामा शकुनीरात्रिचरः ॥ ६४ ॥

(५) नन्दनः । दर्दुरो मण्डूकः ॥ ६४ ॥

(६) रामचन्द्रः । दर्दुरः भेकः । गां हत्वा गोधा । गुडं हत्वा वाग्गुदो बकः ॥ ६४ ॥

छुच्छुन्दरिः श्रुभान्गन्धान्पत्रशाकान्तु बर्हिणः ॥ श्वावित्कृतान्त्रं विविधमकृतान्त्रं तु शल्यकः ॥ ६५ ॥

(१) मेधातिथिः । बर्हिणो मयूराः ॥ ६५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पत्रशाकं पत्ररूपंशाकम् । बर्हिणोमयूराः ॥ ६५ ॥

(३) कुल्लुकः । सुगन्धिद्रव्याणि कस्तूर्यादीनि तृत्वा लुच्छन्दरिर्भवति । वास्तूकादिपत्रशाकं तृत्वा मयूरः । सिद्धान्त-
मोदनसक्तादिनानाकारकं तृत्वा श्वाविधाख्यः प्राणी । अकृतान्तं ब्रीहियवादिकं तृत्वा शल्यकसंज्ञो जायते ॥ ६५ ॥

(४) राघवानन्दः । लुच्छन्दरिर्दुर्गन्धिमूपकविशेषः । बर्हिणोमयूराः श्वावित्सेधा । कृतान्तं सिद्धान्तम् ॥ ६५ ॥

(६) रामचन्द्रः । कृतान्तं तृत्वा श्वावित् । अकृतान्तं शल्यकः ॥ ६५ ॥

बको भवति तृत्वाग्निगृहकारीद्युपस्करम् ॥ रक्तानि तृत्वा वासांसि जायते जीवजीवकः ॥ ६६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । गृहकारी पक्षिभेदः ॥ ६६ ॥

(३) कुल्लुकः । अग्निं तृत्वा बकाख्यः पक्षी जायते । गृहोपयोगिशूर्पमुसलादि तृत्वा भित्त्यादिषु मृत्तिकादिगृहकारी
सपक्षः कीटो भवति । कुसुम्भादिरक्तानि वासांसि तृत्वा चकोराख्यः पक्षी जायते ॥ ६६ ॥

(४) राघवानन्दः । गृहकारी भूमौ खननेन छिद्रं कृत्वा तत्र कीटान्तरप्रवेशकः । उपस्करं गृहोपयोगिशूर्पमार्ज-
न्यादि । जीवजीवकः चकोरः ॥ ६६ ॥

(५) नन्दनः । उपस्करं गृहोपकरणम् ॥ ६६ ॥

(६) रामचन्द्रः । उपस्करं शूर्पमुसलादि तृत्वा गृहकारी पक्षिविशेषः ॥ ६६ ॥

लको नृगेभ्यो व्याघ्रोऽश्वफलमूलान्नु मर्कटः ॥ स्त्रीमृक्षः स्तोकको वारियानान्युष्ट्रः पशूनजः ॥ ६७ ॥

(१) मेधातिथिः । जलं प्लवदित्यत्र पानार्थमुदकं ज्ञेयं स्तोकको वारीत्यत्र धान्यसेकाद्यर्थं रसश्चाद्यं रसमाहुर्नृदिवाति-
रिक्तौषधादिद्रष्टव्यम् ॥ ६७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मृगेभ्यो मृगमिभं च । स्तोककः चातकः ॥ ६७ ॥

(३) कुल्लुकः । मृगं हस्तिनं वा तृत्वा वृकाख्यो हिंसः पशुर्भवति । घोटकं तृत्वा व्याघ्रो भवति । फलमूलं तृत्वा मर्क-
टो भवति । स्त्रियं तृत्वा भल्लूको भवति । पानार्थमुदकं तृत्वा चातकाख्यः पक्षी । यानानि शकटादीनि तृत्वोष्ट्रो भवति ।
पशूनुत्तेतरान् तृत्वा छागो भवति ॥ ६७ ॥

(४) राघवानन्दः । वृकः खलपव्याघ्रः । इभं हस्तिनम् । मर्कटः शाखा मृगः । ऋक्षो भल्लूकः । चातकः स्तोककः ।
वारि पानार्थम् ॥ ६७ ॥

(५) नन्दनः । मृगाख्येभ्यो मृगेभ्यः मृगो मृगजातिविशेषः अथवा मृगश्चेत् भाश्चेति मृगेभ्यः । स्तोककः चातकः । अत्र
वारिशब्देन पानीयमभिप्रेतम् ॥ ६७ ॥

(६) रामचन्द्रः । ऋक्षः प्रसिद्धः । अजः छागः । उष्ट्रान् उष्ट्रः ॥ ६७ ॥

यद्वा तद्वा परद्रव्यमपत्तय बलान्नरः ॥ अवश्यं याति तिर्यक्कं जग्ध्वा चैवाद्भुतं हविः ॥ ६८ ॥

(१) मेधातिथिः । नात्र तिरोहितमिवाकिंचिदस्ति ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अपत्तय अपह्वेन तृत्वा अद्भुतं हविः पुरोडाशादि यागात्प्राक् ॥ ६८ ॥

(६८) स्तोकको-चातको (८)

(३) कुल्लूकः । यत्किंचिदसारमपि परद्रव्यमिच्छातोमानुषोऽपहत्य पुरोडाशादिकंतु हविरहुतंभुक्ता निश्चिततिर्य-
क्तप्रामोति ॥ ६८ ॥

(४) राघवानन्दः । किंबहुनेत्याह यद्वेति । आहुतं देवार्थं च संचितं हविः पुरोडाशादि ॥ ६८ ॥

(५) नन्दनः । अहुतं होष्यमाणम् ॥ ६८ ॥

(६) रामचन्द्रः । यद्वातद्वा परद्रव्यमपहत्य तिर्यक्तं याति । अहुतं हविश्च जग्म्वा ॥ ६८ ॥

स्त्रियोप्येतेन कल्पेन तृत्वा दोषमवामुयुः ॥ एतेषामेव जन्तूनां भार्यात्वमुपयान्ति ताः ॥ ६९ ॥

(१) सर्वज्ञारायणः । एतेन कल्पेन एवंविधानेन वस्तूनीत्यर्थः । दस्यूनां शबरादीनाम् ॥ ६९ ॥

(३) कुल्लूकः । स्त्रियोप्येतेन प्रकारेणेच्छातः परस्वमपहत्य पापंप्राप्नुवन्ति तेन पापेनोक्तानां जन्तूनां भार्यात्वंप्रति-
पद्यन्ते ॥ ६९ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच स्त्रियद्वेति । कल्पेन प्रकारेण । अन्यथैषां स्त्रीणामाकस्मिकत्वापत्तिः । भार्यात्वं तद्गतो-
धारित्वम् ॥ ६९ ॥

(६) रामचन्द्रः । स्त्रियं तृत्वा एतेन कल्पेन यातेन दोषमवामुयुः । ताः स्त्रियः तृत्वा एतेषां जन्तूनां पत्नीत्वं या-
न्ति ६९ ॥

स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युतावर्णाक्षनापदि ॥ पापान्संसृत्य संसारान्प्रेष्यतां यान्ति शत्रुषु ॥ ७० ॥

(१) मेधातिथिः । ब्राह्मणोऽध्यापनादिजीविकाकर्मत्यागेन यदि क्षत्रियादिद्विजिमुपजीवेत् एवं क्षत्रियादयः स्वकर्मच्यु-
ताः पापान्संसारान्तिर्यग्योनीरनुभूय मनुष्यत्वे जाता दस्युषु चौरादिहिंसादिषु भृत्यभावं प्राप्नुवन्ति । अनापदीत्यनुवादः
आपदि विहितत्वाद्दोषाभावः ॥ ७० ॥

(३) कुल्लूकः । एवं निषिद्धाचरणफलान्यभिधायाधुना विहिता कणफलविपाकमाह । स्वेभ्य इति ब्राह्मणादयश्चत्वा-
रो वर्णा आपदविना पञ्चयज्ञादिकर्मत्यागिनो वक्ष्यमाणाः कुत्सिता योनीः प्राप्य ततो जन्मान्तरे शत्रुदासत्वं प्राप्नुवन्ति ॥ ७० ॥

(४) राघवानन्दः । अधुना धर्मस्यासेवनेन चेत्येतद्विवृण्वंस्तज्जन्त्यागतीराह स्वेभ्य इति । च्युताः स्वेच्छया अनाप-
द्यपि । संसृत्य भुक्ता । प्रेष्यतां दासत्वम् । दस्युषु संकरजातिषु जाताः सन्त इत्यर्थः ॥ ७० ॥

(५) नन्दनः । एवं प्रतिषिद्धसेवायां विपाक उक्तः अधुना विहिता कणविपाकमाह स्वेभ्यस्तेभ्यस्तु कर्मभ्येति । न प्रे-
ततां पशाचतां दस्युषु कर्लिगसिंहादिषु दस्युदेशेषु ॥ ७० ॥

(६) रामचन्द्रः । स्वेभ्यः कर्मभ्यः च्युताः वर्णाः ब्राह्मणादयः पापान्संसारान् जन्ममरणादीन् संसृत्य प्राप्य
दस्युषु शबरेषु प्रेष्यतां यान्ति ॥ ७० ॥

वान्ताश्च्युत्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात्स्वकाच्युतः ॥ अमेध्यकुणपाशी च क्षत्रियः कटपूतनः ॥ ७१ ॥

(१) मेधातिथिः । स्वकर्मच्युतानां पापगतयः प्रदर्श्यन्ते वान्तमश्नाति उत्कया चास्यं मुहं दहते । कुणपः शवशरीरं

(७०) यांति शत्रुषु = यांति दस्युषु (न, ब, भ, ल, र, नं०)

(७०) प्रेष्यतां = प्रेततां (नं०)

कूटपूतनः कुत्सितगंधानासिकास्यभवति कटपूतनइतिवापाठः । प्रकटःपूतनोनामपिशाचादिः सतुकश्चिदृश्योभूतविशेषः
श्मशानिकभूमिसेवी ॥ ७१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वांताशीत्यादि बहुतरस्वधर्मत्यागविषयम् । च्युतःस्वधर्मात् । अमेध्यकुणपोमानुषादिभ-
क्ष्यशवः । कटपूतनइति प्रेतभेदनाम ॥ ७१ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्राह्मणः स्वकर्मभ्रष्टश्छादितभुक् ज्वालामुखः प्रेतविशेषोजायते क्षत्रियः पुनर्नष्टकर्मापुरीषशवभोजी
कटपूतनाख्यः प्रेतविशेषोभवति ॥ ७१ ॥

(४) राघवावन्दः । तथैव चतुरोवर्णानांहारनामभेदेनाह वान्ताशीतिह्याभ्याम् । विच्युतइत्यनुवादः । वान्ताशी-
वान्तान्भोजी । नाम्नोल्कामुखः । एवं कुणपाशी कुणपः शवः तदाशी पुरीषगन्धभोजी वा । कटपूतनएतन्नामा ॥ ७१ ॥

(५) नन्दनः । च्युतः कर्मभ्रष्टोविप्रउल्कामुखोनामप्रेतोजायते तस्य तदानीं भोज्यनिर्देशोवान्ताशीति । स्वकर्मच्युतः
क्षत्रियः कटपूतनोनामप्रेतोभवति तस्यतदानींभोज्यनिर्देशोऽमेध्यकुणपाशीति ॥ ७१ ॥

(६) रामचन्द्रः । वान्ताशी उल्कामुखोनामप्रेतोभवति । च पुनः क्षत्रियः अमेध्यं कुणपं अश्नातीति कुणपः श-
वः कटपूतनः प्रेतभेदः कुत्सितगन्धनासिकोभवति ॥ ७१ ॥

मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतोवैश्योभवति पूयभुक् ॥ चैलाशकश्च भवति शूद्रोधर्मात्स्वकाच्युतः॥ ७२ ॥

(१) मेधातिथिः । मैत्राक्षिज्योतिकाइति शब्दान्तरं पिशाचवचनपूर्ववत् । अथवाभैत्राख्येज्योतिर्दृष्टावपीतिमैत्र-
मंगपायुःतदक्षिविवरंछिद्रम् । अन्येतूलूकमाहुः । मैत्रमादित्यलोकः अक्षंज्योतिः ऐन्द्रियकंदर्शनंसंज्ञादित्याल्लोके न पश्य-
ति ॥ ७२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । मैत्र्यार्थाख्योज्योतिषिकइतिप्रेतनाम । चैलाशकः चेलकीटकः ॥ ७२ ॥

(३) कुल्लूकः । वैश्योभ्रष्टकर्मा मैत्राक्षज्योतिकनामा पूयभक्षः प्रेतोजन्मान्तरेभवति । मित्रदेवताकत्वामैत्रः पायुस्त-
देवाक्षंकर्मेन्द्रियंतत्र ज्योतिर्यस्य समैत्राक्षज्योतिकः पृषोदरादित्वात् ज्योतिषः षकारलोपः । शूद्रः पुनर्भ्रष्टकर्माचैलाशका-
ख्यः प्रेतोभवति । चेलंवस्त्रंतत्संबन्धिनीयूकामश्नातीति चैलाशकः । गोविन्दराजस्तु चैलाशकाख्यः कीटश्चैलइत्युच्यते तद्भ-
क्षश्चैः संभवतीत्याह तदयुक्तं प्रेताख्यप्राणिविशेषप्रकरणान् ॥ ७२ ॥

(४) राघवानन्दः । मैत्राख्यज्योतिकमिति । शब्दान्तरं पिशाचवाचोतिमेधातिथिः । मैत्रं मित्रदेवताधिष्ठितं पाण्डि-
न्द्रियं तत्रैव ज्योतिर्ज्ञानं यस्यसइति अतएव पूयभुक् । पूयपदं पुरीषपरं तत्र तस्यैव संभाष्यमाणत्वात् चेलशकः चेलसं-
बन्धिनी यूकामश्नातीति तदाख्यां गतः ॥ ७२ ॥

(५) नन्दनः । स्वकर्मच्युतोवैश्योमैत्राक्षिद्योतनोनाम प्रेतोभवति तस्य तदानीं भोज्यनिर्देशः पूयभुगिति । चैलाश-
कनोनामकश्चित्तपेविशेषः तस्येदानीं भोज्यनिर्देशोनाम्नैव गम्यतइति नपृथगुक्तः चैलमश्नातीति चैलाशकः ॥ ७२ ॥

(६) रामचन्द्रः । वैश्यः मैत्राक्षज्योतिकसंज्ञःपूयभुक्भवति । शूद्रःस्वकाद्धर्मच्युतःचैलाशकः चेलकीटः भवति ॥ ७२ ॥

(७१) कटपूतनः=कूटपूतनः (मे०)

(७२) मैत्राक्षज्योतिकः=मैत्राक्षिद्योतनः (नं)

यथा यथा निषेवन्ते विषयान् विषयात्मकाः ॥ तथा तथा कुशलता तेषां तेषूपजायते ॥ ७३ ॥

(१) मेधातिथिः । भेदग्रहगृहीतानां पुत्रदाराभिष्वङ्गधनादिलोभे विषयसुखगंधमात्मभैकत्वपरिपन्थिविद्याप्रतिपक्ष-
भूतं निवर्तयितुं संसारस्वरूपमानुष्यकं जन्म यथास्थितमनूद्यते । सर्वस्य प्रसिद्धं यथायथा विषयेष्वभ्यासेन प्रवर्तन्ते । विषया-
त्मिका विषयलालसाः आत्मशब्देन प्रवृत्तस्य स्यात्तत्त्वभावतयैव भवतीत्याहुः । यस्तु कथंचित्सहितं भुङ्क्ते तस्य भोगादिना-
तत्स्मृत्युपपत्तावभिलाषो जायते । यस्त्वन्त्यन्तमेवाधरः सतद्भावनाया तदात्मत्वे च संपद्यते । तदिदमाह तथा तथा कुशलतेति
कुशलतापदं चेत्करसीभावोऽतश्च स न शक्नोति विषयान्परिहर्तुं ईदृश्येव प्रवृत्तिरशिष्टा प्रतिषिद्धेष्वपि । त्वदारगमनादिष्वाग-
मार्जितद्रव्योपपादकेन भोज्याविशेषेष्वपि प्रतिषिद्धा ॥ ७३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विषयात्मकाः विषयप्रवणबुद्धयः । कुशलता दृढसंस्कारता । तथा जरसातुरापि वि-
षयरागिण एव भवन्तीत्यर्थः ॥ ७३ ॥

(३) कुङ्कुमः । यथा यथा शब्दादिविषयान्विषयलोलुपानि तान्तं सेवन्ते तथा तथा विषयेष्वेव तेषां प्रावीण्यं भव-
तीति ततः ॥ ७३ ॥

(४) राघवानन्दः । इन्द्रियाणां प्रसंगेनेत्युक्तं तदुचितगतिजानि दुःखान्याह यथेति सप्तभिः । विषयात्मका
विषयैकदृष्टयः । कुशलता निपुणता ॥ ७३ ॥

(५) नन्दनः । पुनः कर्मविपाकमेव संक्षेपेणाह यथायथानिषेवन्त इति । तेषु विषयेषु कुशलता लालसता ॥ ७३ ॥

(६) रामचन्द्रः । तथा कुशलता दृढसंस्कारता तेषां विषयात्मनां तेषु विषयेषु वा तिर्यगादिषु वा जायते ॥ ७३ ॥

तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः ॥ संप्रामुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ॥ ७४ ॥

(१) मेधातिथिः । ततश्च तेषां पापानां प्रतिषिद्धानां कर्मणामभ्यासान्निन्दितकर्माभ्यासे पतनमिति तद्भवतु दुःखानि प-
श्यन्ति । तासु तासु कर्मिकीटादियोनिषु ॥ ७४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतदाह तेभ्यासादिति । कर्मणां तेषां विषयासादितकर्मरूपाणाम् ॥ ७४ ॥

(३) कुङ्कुमः । तेऽल्पधियस्तेषां निबद्धविषयोपभोगानामभ्यासतारतम्यात्तासु तासु गार्हितगार्हिततरगार्हिततमासु
तिर्यगादियोनिषु दुःखमनुभवन्ति ॥ ७४ ॥

(४) राघवानन्दः । अतएवाह तेऽभ्यासादिति । अभ्यासो हि कर्मणां कौशलमावहतीति न्यायः सूचितः । योनिषु
प्रेतनारकादिदेहेषु । अनेन विषयसंगिनां स्वधर्मच्युतिरावश्यकीति सूचितं ॥ ७४ ॥

(५) नन्दनः । अभ्यासात्पुनः पुनः करणात् अनेन सकृदापद्यं मत्या च कृतं पापं न दुःखप्राप्तिहेतुरिति सूचितम्
॥ ७४ ॥

(६) रामचन्द्रः । ते तेषां पापानां कर्मणां अभ्यासात् । अल्पबुद्धयः इह लोके तासु तासु योनिषु जन्मानि प्राप्नु-
वन्ति ॥ ७४ ॥

तामिस्रादिषु चोयेषु नरकेषु विवर्तनम् ॥ असिपत्रवनादीनि बन्धनच्छेदनानि च ॥ ७५ ॥

(१) मेधातिथिः । तामिस्रमन्धतामिस्रमित्याद्याः प्रागुक्तानरकास्तत्र विवर्तनमेकेन पार्श्वेनासित्वा पार्श्वान्तरेणाव-

तेन अबद्धस्योत्तानस्यवाखङ्गधारानिशितपत्रैर्वृक्षैर्बन्धनं भूमिर्वापत्रैरेव कदलीदलखंडवत् । तथाविधैर्मैत्रीदुष्कृतिना-
मंगच्छेदप्राप्तिः ॥ ७५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । विवर्तनं परिवर्तनम् । बन्धनमितिबध्यन्तेस्मिन्नित्यधिकरणे ल्युट् । एवंछेदनम् ॥ ७५ ॥

(३) कुल्लूकः । संप्रामुवन्तीति पूर्वश्लोकस्थमिहोत्तरत्रचानुवर्तते तामिसादिषु चतुर्थाध्यायोक्तेषु घोरपे नरकेषु-
दुःखानुभवंप्रामुवन्ति तथाऽसिपत्रवनादीनि बन्धनच्छेदनात्मकान्नरकान्प्रामुवन्ति ॥ ७५ ॥

(४) राघवानन्दः । तामिसादिषु । चतुर्थाध्यायोक्तेषु दुःखप्रायासुदुःखबहुलेष्वेकविंशतिषु । याज्ञवल्क्योप्याह ॥
तामिसं लोहशंकुं च महारौरवशाल्मली ॥ रौरवं कुड्मलं पूतिभृत्तिकं कालसूत्रकम् ॥ संधातं लोहितोदं च ऋजीषं संप्रता-
पनम् । महानरककाकोलं संजीवनमहापथम् ॥ अवीचिमन्धतामिसं कुम्भीपाकंचरौरवम् ॥ असिपत्रवनं चैव तपनं
चैकविंशकमिति विवर्तनमनिशंजन्म ॥ ७५ ॥

(६) रामचन्द्रः । तामिसेति विवर्तनं ॥ ७५ ॥

विविधाश्चैव सपीडाः काकोलूकैश्च भक्षणम् ॥ करम्भवालुकातापान्कुम्भीपाकांश्च दारुणान् ॥ ७६ ॥

(१) मेधातिथिः । करंभः कर्वमः । कुम्भीषुमक्षिमास्तेहितापेनाऽऽग्नेयेनान्नादिवत्पच्यन्ते ॥ ७६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कुम्भीस्थतैलपाकः कुम्भीपाकः ॥ ७६ ॥

(३) कुल्लूकः । विविधपीडनंकाकाद्यैर्भक्षणं तथा तमवालूकादीन्कुम्भीपाकादींश्च नरकान्दारुणान्प्रामुवन्ति ॥ ७६ ॥

(४) राघवानन्दः । करंभवालुकातापान् सुतमवालुकाजनिततापान् ॥ ७६ ॥

(५) नन्दनः । द्वाभ्यान्नरकप्रामिरुक्ता ॥ ७६ ॥

(६) रामचन्द्रः । कुम्भीस्थतैलपाकः ॥ ७६ ॥

संभवांश्च वियोनीषु दुःखप्रायासु नित्यशः ॥ शीतातपाभिघातांश्चविविधानि भयानि च ॥ ७७ ॥

(१) मेधातिथिः । वियोनयः तिर्यक्प्रेतपिशाचादयः । तत्रसंभवोजन्म दुःखबहुलासु ॥ ७७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अभिघातः पीडा ॥ ७७ ॥

(३) कुल्लूकः । संभवान् तिर्यगादिजातिषु नित्यंदुःखबहुलासूत्पत्तिप्रामुवन्ति । तत्र शीतातपादिपीडनादिना नाप्रका-
राणि च प्राभवन्ति ॥ ७७ ॥

(४) राघवानन्दः । वियोनिषुरुम्यादिषु ॥ ७७ ॥

असकृद्भवासेषु वासंजन्म च दारुणम् ॥ बन्धनानि च काष्ठानि परप्रेष्यत्वमेव च ॥ ७८ ॥

(१) मेधातिथिः । स्पष्टार्थः ॥ ७८ ॥

(३) कुल्लूकः । पुनः पुनर्गर्भस्थानेषु वासः समुत्पत्तिश्च योनियन्त्रादिभिर्दुःखावहां उत्पन्नाश्च शृङ्खलादिभिर्बन्ध-
नादिपीडामनुभवन्ति परदासत्वंच प्रामुवन्ति ॥ ७८ ॥

(४) राघवानन्दः । असकृद्भवासेषु भेकादिषु वासं वसतिम् ॥ ७८ ॥

बन्धुप्रियवियोगांश्च संवासंचैव दुर्जनैः ॥ द्रव्यार्जनंच नाशंच मित्रामित्रस्य चार्जनम् ॥ ७९ ॥

(१) मेधातिथिः । एतावन्पुत्कार्यौ ॥ ७९ ॥ ८० ॥

(३) कुड्डूकः । बान्धवैः सुहृद्भिः सह वियोगान् दुर्जनैश्च सहैकत्रावस्थानं धनार्जनप्रयासंधनविनाशं कष्टेन मित्रार्जनशत्रुप्रादुर्भावंप्राप्नुवन्ति च ॥ ७९ ॥

(४) राघवानन्दः । सहि दुर्जनैः सह कृतोत्तीव दुःखदः । नाशं द्रव्यस्येतिशेषः ॥ ७९ ॥

जरांचैवाप्रतीकारांब्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥ क्लेशांश्च विविधांस्तांस्तान्मृत्युमेव च दुर्जयम् ॥ ८० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । क्लेशान् द्वेषमोहान् मृत्युं च प्राप्नुवन्तीत्यन्वयः ॥ ८० ॥

(३) कुड्डूकः । जरांचाविद्यमानप्रतीकारांब्याधिभिश्चोपपीडनं क्षुत्पिपासादिना च नानाप्रकारान्क्लेशान्मृत्युं च दुर्वारं प्राप्नुवन्ति ॥ ८० ॥

(४) राघवानन्दः । क्लेशान् रागादीन् । तापान् आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकरूपान् दुःखहेतून् । प्राप्नुवन्तीत्यनुषज्यते ॥ ८० ॥

(५) नन्दनः । संभवाश्च वियोगाश्चिन्तित्यादिचतुर्भिः श्लोकैः पापविशेषैर्मर्त्यलोके दुःखप्राप्तिरुक्तेत्यनुसन्धेयं अत्र प्राप्नोतीत्यनुवर्तते ॥ ८० ॥

(६) रामचन्द्रः । क्लेशान् द्वेषमोहादीन् ॥ ८० ॥

यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्मनिषेवते ॥ तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्रुते ॥ ८१ ॥

(१) मेधातिथिः । सात्त्विकेन राजसेन वा भावेन यद्यत्कर्मनिषेवते सात्त्विकं राजसंतामसं वा शरीरेण तादृशेनैत्यर्थः । सत्त्वबहुलेन रजोबहुलेन तमोबहुलेन वा तत्तत्फलमुपाश्रुते । सात्त्विकं राजसंतामसं वा यतश्चैतदेवं रजस्तमोबहुलात्कर्मणोऽकुशलसंकल्पहेतोरनिष्टफलप्राप्तिः । अतस्तत्परिवर्जनेन कुशलसंकल्पकर्मणा भवितव्यम् ॥ ८१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यादृशेन भावेन सत्त्वाद्युत्कटेन । तादृशेन देवादिशरीरेण ॥ ८१ ॥

(३) कुड्डूकः । यथा विधेन सात्त्विकेन राजसेन तामसेन वा चेतसा यद्यत्कर्मस्नानदानयोगाद्यनुतिष्ठति तादृशेनैव शरीरेण सात्त्विकेन रजोधिकेन तमोधिकेन वा तत्तत्स्नानादिफलमुपभुङ्क्ते ॥ ८१ ॥

(४) राघवानन्दः । भावेन मनोवृत्तिरूपेण । यादृशेन सात्त्विकादिरूपेण । तादृशेन सात्त्विकभेदाभावेन । देवादिदेहेन । तदुक्तं योर्चितः प्रतिगृह्णाति योर्चितं च प्रयच्छतीति ॥ ८१ ॥

(५) नन्दनः । भावेन मनसा ॥ ८१ ॥

(६) रामचन्द्रः । यादृशेन भावेन सत्त्वादियुक्तेन यद्यत्कर्म निषेवते तादृशेन शरीरेण सत्त्वादियुक्तेन तत्तत्फलं उपाश्रुते ॥ ८१ ॥

एष सर्वः समुद्दिष्टः कर्मणां वः फलोदयः ॥ नैः श्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत ॥ ८२ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रतिषिद्धानां च कर्मणां यावत्फलोत्पत्तिस्तानि समुपदिष्टानि ततो वर्तितव्यम् । यतो दुःस्वानुबन्धी विषयसुखोपभोगोऽतस्ततो निवर्तन्ते । श्रेयसे कर्मविधौ मोक्षोपाये वक्ष्यमाणविद्याकाण्डउपदिष्टे स्थातव्यं तदिदानीं वक्ष्यामः ॥ ८२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । नैःश्रेयसकरं मोक्षहेतुम् ॥ ८२ ॥

(३) कुल्लूकः । एष्युष्माकंविहितप्रतिषिद्धानां कर्मणां सर्वः फलोदयउक्तः इदानीं ब्राह्मणस्य निःश्रेयसाय मोक्षाय हितं कर्मानुष्ठानमिदं शृणुत ॥ ८२ ॥

(४) राघवानन्दः । वैराग्यार्थमुक्तेन्द्रियप्रसक्तिजनितागतीरूपसंहरन्मोक्षोपयोगिः कर्म प्रतिजानीते एष इति पञ्च-
विंशत्या । नैःश्रेयसं निःश्रेयसस्य मोक्षस्य साधनम् ॥ ८२ ॥

(५) नन्दनः । श्रेयः पुरुषार्थः नितरां श्रेयोनिश्रेयसंतत्र भवं च नैःश्रेयसं अत्र पूर्वोक्तेषु श्रेयस्कारेष्वकर्मसु प्रकृष्टतर-
मित्यर्थः । विप्रग्रहणं क्षत्रियवैश्ययोरेष्युपलक्षणार्थम् ॥ ८२ ॥

(६) रामचन्द्रः । नैःश्रेयसं निःश्रेयसः भावः नैःश्रेयसं तं मोक्षसाधनम् ॥ ८२ ॥

वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणांच संयमः ॥ अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम् ॥ ८३ ॥

(१) मेधातिथिः । निःश्रेयसशब्देन न पुनः पुरुषार्थसिद्धिरुच्यते । अपितु निश्चितसुखदुःखानुबन्धः प्रीतिविशेषोपि ।
वेदाभ्यासादीनां तत्र तत्रोक्तानां पुनर्वचनमात्मज्ञानस्तुत्यर्थं ज्ञानवेदार्थविषयं उक्तार्थान्यन्यानि पदानि ॥ ८३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तपः प्राणायामादि । ज्ञानं ध्यानम् ॥ ८३ ॥

(३) कुल्लूकः । उपनिषदादेर्वेदस्य ग्रन्थतोऽर्थतश्चावर्तनं तपः कृच्छ्रादि ज्ञानं ब्रह्मविषयं इन्द्रियजयोऽविहित-
हिंसावर्जनं गुरुशुश्रूषेत्येतत्प्रकृष्टमौक्षसाधनम् ॥ ८३ ॥

(४) राघवानन्दः । वेदाभ्यासोऽर्थतः शब्दतश्च । तप एकाग्र्यं मनसः मनसश्चेन्द्रियाणांच एकाग्र्यं परमं तप इ-
त्युक्तेः । ज्ञानं ज्ञानार्थनित्यनैमित्तिककर्म देवयाजिनः श्रेयानात्मयाजीति श्रुतेः । देवयाजिनः फलार्थं आत्मयाजी अन्तः-
करणशुद्ध्यर्थं नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठाता श्रेष्ठः तथाच सूत्रम् । सर्वापेक्षा यज्ञादिश्रुतेरश्ववदिति । ज्ञाने जनयितव्ये सर्व-
ेषां कर्मणामपि तज्जनकतयापेक्षेति तमेतं वेदानुवचनेनेत्यादिश्रुतेरित्यर्थः । संयम इत्युपलक्षणनियमादेः । तथाच पतञ्जलेः
सूत्रम् । यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानीति । परं वेदाभ्यासादिकर्मभ्य इत्यन्वयः ॥ ८३ ॥

(५) नन्दनः । ज्ञानं धर्माधर्मज्ञानम् ॥ ८३ ॥

(६) रामचन्द्रः । वेदानां अभ्यासः १ तपः दानानि २ ज्ञानं ध्यानं ३ इन्द्रियाणांच संयमः ४ अहिंसा ५ गुरुसे-
वा च ६ नैःश्रेयसकरं परं ७ उत्कृष्टं ॥ ८३ ॥

सर्वेषामपि चैतेषां शुभानामिह कर्मणाम् ॥ किञ्चिच्छ्रेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति ॥ ८४ ॥

(१) सर्वज्ञनारायणः । सर्वेषामिति मुनीनां प्रश्नः । किञ्चिदिति किमित्यर्थः ॥ ८४ ॥

(३) कुल्लूकः । सर्वेषामप्येतेषां वेदाभ्यासादीनां शुभकर्मणामध्ये किञ्चित्कर्मातिशयेन मोक्षसाधनं स्यादिति वितर्क-
ऋषीणां जिज्ञासाविशेषादुत्तरश्लोकेन निर्णयमाह ॥ ८४ ॥

(४) राघवानन्दः । कर्मण आरादुपकारकत्वमित्युक्तेः स्यादाशङ्का ऋषीणाम् । शुभकर्मणां मध्ये कर्म पुरुषं-
प्रति न किञ्चित् जन्मप्रवाहानुच्छेदकत्वात् ॥ ८४ ॥

(५) नन्दनः । किं स्यादिति पृच्छेदथ चेदित्यर्थः ॥ ८४ ॥

(८४) किञ्चिच्छ्रेयस्करतरं = किं स्याच्छ्रेयस्करतरं (न०)

(६) रामचन्द्रः । सर्वेषां वेदाभ्यासादीनां कर्मणां पुरुषंप्रति किंनिश्रेयस करं परं कर्म सर्वेषां वेदानां कर्मफलसत्त्वानि यमात्कर्मसाध्यफलानां भस्मीभूतदेहादानसंभवात् इहव्यतिरिक्तात्मदर्शनार्थं श्रोतव्योमतव्योनिदिध्यासितव्य इत्यादिश्रुतीनामात्मज्ञानं मोक्षसाधनतरमपि कर्मैवचोत्तरमोमांसामतमाश्रित्य श्रेयस्तरमिति ॥ ८४ ॥

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ॥ तदग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥ ८५ ॥

(१) मेधातिथिः । द्विविधमात्रज्ञानं देहेन्द्रियबुद्ध्यादिव्यतिरिक्तस्य कर्तृभोक्तृत्वोपपत्तिरूपस्य । अहंप्रत्ययप्रमेयतयाऽऽत्मनि विषयप्रतीत्यन्तर्गतस्य जीवक्षेत्रविज्ञानात्मादिपर्यायस्य शरीरनाशेऽप्यनष्टानां कर्मफलानामौर्ध्वदेहिकानां भोक्तृत्वज्ञानं अपरं सर्वस्य जगतोजन्मादीनां परमात्मैककारणत्वेनित्यस्य सतएकस्याविद्यावासनोपहितनानारूपस्य तिर्यक्मनुष्यादिवेकत्वदर्शनं । आत्मावाअरेद्रष्टव्यः श्रोतव्योमन्तव्योनिदिध्यासितव्यइत्येवमादिश्रुतिभिरुपदर्शितस्वरूपस्य ज्ञानं । तत्रक्षेत्रज्ञपरिज्ञानं कर्मविधिषूपयुज्यते । असति हि देहादिव्यतिरिक्तेस्मिन्नौर्ध्वदेहिकानां भोक्तृफलानां स्वर्गकामादिचोदना अनार्थिकाः स्युरतस्तत्र न कश्चित्प्रवर्तेतातस्तत्कर्मानुष्ठानोपयोगि । यत्तु परमात्मैकत्वज्ञानतिरोधानोपसेनाभ्याससामर्थ्यनोपपद्यमानं शुद्धबुद्धमुक्तानन्दनित्याविनश्वरभावस्यात्मनः प्रकाशनं तत्रेदमुपपद्यते ॥ तदग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः इति अमृतं ततः गतेर्व्यापत्तितत इति विद्यानिर्देश आत्मविधायाः । क्षेत्रज्ञज्ञानं तु कर्मोपकारकत्वादमृतत्वाय कल्पते । अतो वेदान्तोपदिष्टस्य समस्तस्य द्वैताद्वैतविषयस्य सदात्मनोदर्शनं तदात्मज्ञानमभिप्रेतम् ॥ ८५ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । उत्तरं सर्वेषामिति । आत्मज्ञानं ध्यानम् । अग्र्यं मुख्यम् ॥ ८५ ॥

(३) कुट्टूकः । एषां वेदाभ्यासादीनां सर्वेषामपि मध्यउपनिषदुक्तपरमार्थज्ञानं प्रकृष्टं स्मृतं यस्मात्सर्वविद्यानां प्रधानम् । अत्रैव हेतुमाह यतो मोक्षस्तस्मात्प्राप्यते ॥ ८५ ॥

(४) राघवानन्दः । तत्रोत्तरं सर्वेषामिति । आत्मज्ञानं परं स्मृतमिति कर्मणोप्युद्देश्यं तं वेदेति श्रुतेः ॥ सर्वकर्मांस्खलमिति स्मृतेः ॥ तदग्र्यं श्रेष्ठउपासनाया अप्युद्देश्यम् जानीहि तत्र हेतुः प्राप्यते ह्यमृतं तस्यैव सर्वपुंवाञ्छास्पदत्वात् ॥ ८५ ॥

(५) नन्दनः । तच्छृणुतेत्याह सर्वेषामिति । पञ्चम्यर्थेषु आत्मज्ञानं परात्मज्ञानम् ॥ ८५ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वेषां कर्मणां मध्ये आत्मज्ञानं परमात्मनो ज्ञानं परं उत्कृष्टं स्मृतम् । तत् ज्ञानं सर्वविद्यानां सर्वतत्त्वज्ञानानां अग्र्यं मुख्यम् । ततः ज्ञानात् अमृतं मोक्षं प्राप्यते ॥ ८५ ॥

षण्णामेषां तु सर्वेषां कर्मणां प्रेत्य चेह च ॥ श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्मवैदिकम् ॥ ८६ ॥

(१) मेधातिथिः । वेदाभ्यासादीनि षट्कर्माणि श्रेयस्कराणि तेभ्यो निःश्रेयसकरत्वं वैदिकस्य ज्योतिष्टोमादेः कर्मणस्तेषु मोक्षत्वं प्रतिपद्यते । ननु च यदि तावत्पूर्वेषामिति निर्धारणेषु तदनुपपन्नं निर्धारणं हि समुदायभूतविशेषस्य केनचिद्धर्मेण तदैकविषयेण चोपपद्यमानस्यावान्तरेणासंभविना क्षत्रियोमनुष्याणां शूरतम इति मनुष्यजातौ क्षत्रियोऽप्यन्तर्भूतः स शूरतमत्वेन निर्धार्यते । अनुपदिष्टस्यानन्तरितस्य कुतो निर्धारणं न हि भवति न चेह प्राग्वैदिकं कर्मादिष्टं अथोच्यते अन्तर्वेदाभ्यासादीनि वैदिकान्येव कथमुद्दिष्टवैदिकं कर्म । यद्येवं सामान्यसामान्यास्तु तरामनिर्धारणं न हि भवति गवांगौरुत्पन्नक्षीरतमेति । यदि ह्यवैदिकानि चोद्दिष्टार्थान्यभविष्यंस्तत एवैतदपेक्षितवैदिकं श्रेयस्करमिति । किंच कानि तावदत्र वैदिकानि कर्माण्यभिप्रेतानि ।

(८६) सर्वेषां=पूर्वेषां (मे०)

यदितावत् ज्योतिष्टोमादीनि विशेषग्रहणे प्रमाणवत्कथ्यम् वेदाभ्यासादीनामवैदिकत्वात् । अथस्मार्तत्वान्नतानि वैदिकानि यान्येव प्रत्यक्षश्रुतिविहितानि तान्येववैदिकादीनि । नहिसर्वेवैदिकेषुकर्मसुवेदाभ्यासादीनामंगत्वेनतद्भावः एतच्चयद्वक्ष्यत्यन्तर्भवतिक्रमशः तस्मिन्क्रियाविधाविति तद्धितस्यनेति तर्ह्यग्निहोत्रादौतपोगुरुसंपाद्यंस्यात् अनेनतेनोक्तेननकश्चिदर्थः । वेदाभ्यासादीनामप्यनुष्ठेयान्यग्निहोत्रादीन्यपि तत्रनविद्यः कीदृशममोषांश्रेयस्करत्वंनापिसमानिफलानि येनफलस्योत्कर्षवत्तयैवमुच्यते यथागोदानात्त्वर्गस्य ज्योतिष्टोमाच्च दीर्घकालाद्यनुवृत्तता यथोक्तलोकवत्परिमाणवत्फलविशेषःस्यादिति । अत्रोच्यते यदुक्तंचैतेनोक्तेन नकश्चिदर्थइति तत्रकेचिदाहुः विरोधेस्मार्तेश्रौतेबाधकत्वज्ञापनार्थंवैदिकानांश्रेयस्करत्वेवचनं यथोक्तकल्पविरोधेविकल्पः अतुल्यायाःश्रुतेःस्मृत्याबाधइति ॥ श्रुतिद्वैधंतुयत्रस्यात्तत्रधर्मावुभौस्मृतौ । स्मृतिद्वैधेअनुवादस्मृतिरित्यर्थयुक्तंभवति अमुनैवावगतत्वाद्वाच्यमेतत् । विस्पष्टीकरणार्थमेवपुनरुच्यतइत्यदोषः । अथवान्योपितथार्थःसंभाव्याते शुद्धेचविकल्पवचनं ॥ स्मृतिद्वैधेनतद्विकल्पार्थेतेनायमर्थःस्मार्तेश्चोवैदिकानिबलीयांसि । वेदाभ्यासादिग्रहणंसर्वस्मार्तप्रदर्शनार्थंवृत्तानुरोधादेवंपठितं । वयंतुब्रूमोन्यायसिद्धोयमर्थोन्यायसिद्धस्यापिसौहार्देनाभिधानमनारभ्ययुक्तं इहात्मनोज्ञानंप्रतिपदंप्रच्यते तत्रकःप्रसंगोबाधात्तस्य स्मृतिकारानचस्ववाक्यानिस्ववाक्यैरेवप्रमाणयितुमर्हन्ति । अथोच्यते याज्ञवल्कीयायाःस्मृतेर्विधिस्तैरुच्यते नात्मीयायाःसमानता । यत्तावदात्मीयायामप्युक्तंभवत्यतःप्रकरणानुरोधाद्वेदाभ्यासादिपदंप्रथक्अग्निहोत्राद्युपदेशः । नेहात्मानंप्रतिज्ञायेदंप्रच्यते कथंचैतेर्व्याख्यातमिति आत्मज्ञानंश्रुतिपरत्वेनवेदाभ्यासादिभ्योवैदिकंयागादिकर्मश्रेष्ठमिति ततोभ्यात्मज्ञानमितरथान्यत्रप्रजायाअन्यदुच्यमानमन्यत्रास्तमन्यत्रपतितंस्यात् । अथवावैदिकंमनआत्मज्ञानमेवमर्थस्य वेदस्य तत्प्रतिपादनपरत्वादग्निहोत्राद्युपदेशोपधपानेवृद्ध्युपदेशवद्वालादिप्रवृत्त्यर्थः । यदिवाकर्मकाण्डेनशिष्टाःस्वाभाविकीमेनामनाद्यविद्यावासनाविषयासंगहेतुभूतामवधूयशाखाभ्यासवासनासामर्थ्यवशात्क्रमेणोपजातवैराग्यशिथिलीभूतदृढवृष्णारागग्रहणउत्तमाधिकारानुशासनेनियोज्यतांप्रतिपत्तुं समस्तमपिश्रुत्यादिष्टत्वमधिकारोपकारकत्वंकर्मकाण्डस्यविज्ञायतइतिब्रह्मवादिनः अतोवक्ष्यमाणनिवृत्त्याख्यकर्माभिप्रायमेतच्छ्रेयस्करतरंज्ञेयंसर्वथाकर्मवैदिकमिति । अथवा भेदोयदि सर्वेषामपि स्वमवदसत्यदर्शनद्वयेप्यात्मैकत्वज्ञानेश्रेयइत्यर्थः । स्ववेदाभ्यासादीनांभेदोपदेशादिनोद्यंतकर्तव्यम् । षष्ठीनोद्यंतुतैरेवसमाहितं बुद्ध्यारोपितान्तरेणपृथक्कोपपत्तयथामथुराःपाटलीपुत्रकेभ्यआढ्यतराइति तथासतीपंचमीस्यादितिचेत् अत्रापिप्रतिविहितंधर्माविशेषात् ॥ ८६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । षण्णामेषां वेदाभ्यासादीनांमध्ये यदेतैर्जन्यंश्रेयोपवर्गाख्यं प्रेत्येहच जीवन्मुक्तिभुक्तिकरंवैदिकंकर्म यज्ञादिकलानभिसन्धिना कृतम् ॥ ८६ ॥

(३) कुल्लूकः । एषांपुनः षण्णांपूर्वोक्तानांवेदाभ्यासादीनां कर्मणांमध्ये वैदिकंकर्म परमात्मज्ञानमैहिकामुष्मिकश्रेयस्करतरंज्ञातव्यं । पूर्वश्लोके मोक्षहेतुत्वमात्मज्ञानस्योक्तमिहवैहिकामुष्मिकश्रेयोन्तरहेतुत्वमुच्यतइत्यपौनरुक्त्यं । तथाहि प्रतीकोपासनानांसंशयोदयंनाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नोगतंतत्रास्य कामचारोभवति । गोविंदराजस्तु एषांपूर्वश्लोकांक्तानांवेदाभ्यासादीनांषण्णांकर्मणांभ्यात्स्मार्तकर्मपेक्षया वैदिकंकर्मसर्वदेहपरलोके सातिशयंसातिशयेन कीर्तिस्वर्गनिःश्रेयः साधनंज्ञेयमितिख्यातवान् तदयुक्तं । वेदाभ्यासादीनांषण्णामपि प्रत्येकंश्रुतिविहितत्वात्तेषु मध्ये स्मार्तपेक्षया किंचिदेवांकिंचिच्च नेति न संभवति ततश्च कथंनिर्धारणे षष्ठी तस्माद्यथोक्तैव व्याख्या ॥ ८६ ॥

(४) राघवानन्दः । षण्णां वेदाभ्यासादीनां कर्मणां कृतिसाध्यानां श्रेयस्करतरं निष्कामं नित्यादिकर्म कर्मणा शुद्धान्तःकरणस्यैव ज्ञानाधिकारात् ॥ श्रेयोहि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाध्यानं विशिष्यते ॥ ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छा-

न्तिरनन्तरम् । इति भगवतोक्तत्वात् ॥ नावेदविष्मनुतेतंबृहन्तमिति श्रुतेः । कर्म क्रियत इति व्युत्पत्त्या श्रवणमननादि तत्साध्याहं ब्रह्मास्मीति ज्ञानं वा अतएव वैदिकम् ॥ ८६ ॥

(५) नन्दनः । अपरमपिश्रेयस्करमाह षण्णामेषान्तुपूर्वेषामिति । वेदाभ्यासादीनां वैदिककर्माग्रिहोत्रादि ॥ ८६ ॥

(६) रामचन्द्रः । एषां षण्णां वेदाभ्यासादीनां सर्वेषां कर्मणां मध्ये फलं च पुनः इहलोके च फलं । वैदिकं कर्म सर्वदा श्रेयस्करतरं ज्ञेयम् ॥ ८६ ॥

वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः ॥ अन्तर्भवन्ति क्रमशस्तस्मिस्तस्मिन्क्रियाविधौ ॥ ८७ ॥

(१) मेधातिथिः । एतावद्वैदिककर्म ज्योतिष्टोमाद्याचक्षते तेषामेवैश्लोकयोजना क्रियाविधिः कर्मविधिवैदिककर्मयोगेकर्मप्रयोगेबहिः संपाद्यावस्थाः एतान्युपनिषद्देदाभ्यासादीन्यन्तर्भवन्ति तस्मिन्निति व्याप्यतया कचित्कस्यचित्समेषामन्तर्भावमाह कर्मयोगइत्युक्तेक्रियाविधिग्रहणंश्लोकपूरणार्थं क्रतुयज्ञेभ्यइतितद्वासोमयागभेदेनभेदोव्याख्येयः । तत्रवेदाभ्यासस्तावत्सत्रेऽन्तर्भवति यजमानमन्त्रेषु सर्वत्रोपयोगतः तपोदीक्षापदेशसोमयागेषु पयोमृतं ब्राह्मणस्येत्यादिज्ञानंसर्वत्रापिदुःखानधिकारादेवमिन्द्रयसंयमः भृत्यहगामिनःस्त्रियमपेयान्नमांसमश्रीयादिति । अहिंसानिरतारारित्रिप्राणभृतः प्राणेनाच्छिन्द्यादपिकृकलासस्येति गुरुसेवादेरित्यमप्रवृत्तिः । येतुनिवृत्तमेवकर्माद्गुस्तेषांवेदाभ्यासादीनामनुवृत्त्यर्थःश्लोकोऽन्तर्भवन्त्युपासनापरस्यापितेषामनुष्ठानादन्तर्भावः । तथाचोपनिषद्भ्यउपासकस्य प्रायश्चित्तनिर्देशः पापक्षपणार्थो नपुनः प्रतिविधानविकारएवोक्तोभवति अतोविहिताकरणेप्रतिषिद्धसेवने सतिप्रत्यवायएवतर्हि कुतोमोक्षः फलोपभोगेन जन्मान्तरोपात्तदुरितक्षयादकरणात्तच्चबुद्धिपूर्वमजानानस्य भ्रमादकृतस्य प्राणायामविद्याविशेषाभ्यासातिथ्येन कृतिनिष्कृतित्वात् निरुपाभ्यात्मस्वरूपसाक्षात्करणाच्च प्रथमतवेदयेत्तद्भावापत्तिर्मोक्षः । अतश्चब्रह्मनिष्ठापरेणापि वेदाभ्यासादीन्यनुष्ठेयानि । यस्य यस्यकर्मन्यासः श्रूयते सषष्ठे व्याख्यातः । वीप्सायाविधिर्रूपासनविधिरेव द्रष्टव्यः श्रोतव्यइत्यादिनोदितोबहुत्वाच्चोपासनाप्रकाराणांतस्मिस्तस्मिन्निति वीप्सायुज्यतएव । अतोब्राह्मणान्युपासीत यएषआदित्येहिरण्मयः पुरुषइति । सचएषआत्मापहतपाप्मेत्यादि । कचिदुपात्तबुद्ध्याध्यारोपितश्चोद्यते कचिद्धिरण्मयइत्यादौलक्षणयातस्यैवोपासना कचित्सर्वोपासनाधिपत्येननिष्कलंकमिवात्मनस्तस्यैवाधस्तात्सउपरिष्ठादितिचोदनाबहुत्वाद्दीप्सोपपत्तिः ॥ ८७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । सर्वाण्यन्तर्भवन्ति यस्मिन्क्रियमाणे एतान्यपि विनाभावितानि सिध्यन्तीत्यर्थः । तस्मिस्तस्मिन्निति यथा यज्ञे जपादिवेदाभ्यासः । तपोदीक्षानियमादौ । उद्गीथादिचिन्तनेन ध्यानम् । इतराणि च त्रीणि सर्वत्रानुसंततानि ॥ ८७ ॥

(३) कुट्टूकः । इदानीमैहिकामुष्मिकश्रेयःसाधनत्वमेवात्मज्ञानस्य स्पष्टयति वैदिके इति । वैदिके पुनः कर्मयोगे परमात्मोपासनारूपे सर्वाण्येतानि पूर्वश्लोकोक्तान्यैहिकामुष्मिकश्रेयांसि तस्मिन्नुपासनाविधौ क्रमशः संभवन्ति । अथवा सर्वाण्येतानीति वेदाभ्यासादीन्येव परामृष्यन्ते । परमात्मज्ञानेवेदाभ्यासादीनि तमेतवेदानुवचनेन विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेनेति श्रुतिविहिताङ्गत्वेनान्तर्भवन्ति ॥ ८७ ॥

(४) राघवानन्दः । अतएवाह वैदिकइति । वैदिके वेदैकसाध्ये ज्ञाने । अतएव कर्मयोगे कर्मणः परंपरया साधनतयायुज्यमानत्वात् अन्तर्भूतं कारणतया ॥ सर्वकर्माखिलंपार्थ ज्ञाने परिसमाप्यत, इत्यादिस्थितेः । कथमन्तर्भवन्ती-

त्याकांक्षायामाह तस्मिन्निति । क्रियामित्यादिकर्म विधीयते अस्मैअन्तःकरणशुद्धिरूपा यत्तदप्युपासना र्यैर्विधीयते । तेन च श्रवणादि तदपि । ज्ञानेपर्यवस्यतीति [क्रमशइत्यर्थः] ॥ ८४ ॥

(५) नन्दनः । वैदिककर्मणोवैशिष्ट्यकारणमाह वैदिकेकर्मयोगेहीति । कर्मयोगे कर्मानुष्ठाने एतानि वेदाभ्यासादीनि । श्रौतानांमन्त्रसाध्यत्वात्तेषु वेदाभ्यासस्यान्तर्भावः उपवासव्रतादिचोदना तपसोन्तर्भावः । अज्ञातस्यानुष्ठानासंभवाज्ज्ञानस्यान्तर्भावः । स्त्रीसङ्गवर्जनमौनादिविधानादिन्द्रियसंयमस्यान्तर्भावः तस्मादेतारात्रिप्राणभूतः प्राणान्निविच्छिन्द्यादितिविधानादहिसायामन्तर्भावः ऋत्विगाचार्यानुवर्तनाद्गुरुसेवायामन्तर्भावइति ॥ ८७ ॥

(६) रामचन्द्रः । वैदिके कर्मयोगे एतानि सर्वाणि कर्माणि अशेषतः अन्तर्मध्ये तस्मिन्क्रिया विधौ क्रमशः भवन्ति ॥ ८७ ॥

सुखाभ्युदयिकंचैव नैः श्रेयसिकमेव च ॥ प्रवृत्तंच निवृत्तंच द्विविधंकर्म वैदिकम् ॥ ८८ ॥

(१) मेधातिथिः । ननुच प्रवृत्तमेववैदिकंकर्मव्याख्यातं किमिदमुच्यते द्विविधमिति नैषदोषः प्राधान्यंतत्रनिवृत्तंवैदिकंव्याख्यातंनपुनरिष्टोत्रादीनि वैदिकंतु सर्वत्राविशिष्टंसुखमुपेत्योपपद्यते यदपिसुखाभ्युदयिकंसुखोदयः प्रयोजनमस्येतिवाऽन्वर्थोवाकर्तव्यः निःश्रेयसंप्रयोजनमस्येतिच केचनप्रवृत्तपदे यथासंख्यंपूर्ववत्संबन्धनीये ॥ ८८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । स्वर्गादिसुखं तद्रूपाभ्युदयोयत्र तत्सुखाभ्युदयिकंकर्म । प्रवृत्तं उत्तरोत्तरप्रवृत्तिहेतुत्वात् । निःश्रेयसजनकंतु निवृत्तं अत्यन्तनिवृत्तिहेतुत्वात् ॥ ८८ ॥

(३) कुल्लूकः । वैदिकंकर्मात्रं ज्योतिष्टोमादि प्रतीकोपासनादि च गृह्यते स्वर्गादिसुखप्राप्तिकरसंसारप्रवृत्तिहेतुत्वात्प्रवृत्ताख्यंवैदिकंकर्म । तथानिःश्रेयसंमोक्षस्तदर्थंकर्म नैःश्रेयसिकंसंसारनिवृत्तिहेतुत्वान्निवृत्ताख्यमित्येवंवैदिकंकर्म द्विप्रकारकंवेदितव्यम् ॥ ८८ ॥

(४) राघवानन्दः । नित्यनैमित्तिकानामेव कर्मणां ज्ञानहेतुत्वंवदन् काम्यंततोभिनत्ति सुखेति । सुखाभ्युदयिकंसुखंस्वर्गादि अभ्युदयं पशु पुत्रादि तयोः साधनं । प्रवृत्तं काम्यं निवृत्तं निष्कामं नित्यनैमित्तिकं तन्नैःश्रेयसिकं निःश्रेयसोमुक्तेस्तदर्थत्वात् ॥ ८८ ॥

(५) नन्दनः । सुखाभ्युदयस्तन्निमित्तंसुखाभ्युदयिकं निःश्रेयसंमोक्षस्तन्निमित्तंनैःश्रेयसिकंतयोर्यथाक्रमंसंज्ञे प्रवृत्तंनिवृत्तंचेति ॥ ८८ ॥

(६) रामचन्द्रः । सुखं आभ्युदयिकं ॥ ८८ ॥

इहचामुत्र वा काम्यंप्रवृत्तंकर्म कीर्त्यते ॥ निष्कामंज्ञानपूर्वन्तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥ ८९ ॥

[अकामोपहृतंनित्यंनिवृत्तंच विधीयते ॥ कामतस्तु कृतंकर्म प्रवृत्तमुपदिश्यते ॥ ९ ॥] †

(१) मेधातिथिः । इहकारीरिवैश्वानर्याद्यमुत्रज्योतिष्टोमादिकाम्यसंपादकंकर्म । काम्यतइतिकाम्यं फलस्य काम्यत्वात्साधनमपिकर्मकाम्यतएव । निष्कामंनित्यंज्ञातंपूर्वमुभयत्रशेषमविदुषोनाधिकारात् अनयोपिरहस्याधिकारिज्ञानमुपदिश्यते तदातदुभयशेषः । पूर्वशब्दश्चाद्यर्थलक्षयति ज्ञानमाद्यमुख्यंस्येतिविग्रहः योभिमुख्यः सलोकः पूर्वक्रियांप्रतिलभते । अतश्चैतदुक्तंभवति ज्ञानंप्रधानंप्रधानतोऽनुष्ठेयं वेदाभ्यासादितुशास्त्रमात्रया ॥ ८९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तद्विवृणोति इहचेति ॥ ८९ ॥

(३) कुल्लूकः । एतदेवस्पष्टयति इहेति । इह काम्यसाधनंवृद्धिहेतुकारियागादिरत्र स्वर्गादिफलसाधनं ज्योतिष्टोमादि यत्कामतया क्रियते तत्संसारप्रवृत्तिहेतुत्वात्प्रवृत्तमित्युच्यते दृष्टादृष्टफलकामनारहितं पुनर्ब्रह्मज्ञानाभ्यासपूर्वकं संसारनिवृत्तिहेतुत्वान्निवृत्तमित्युच्यते ॥ ८९ ॥

(४) राघवानन्दः । एतद्विभजते इहेति । इह काम्यं कारीर्यादि । अमुत्र ज्योतिष्टोमादि । निष्कामं तु ज्ञानपूर्वं ज्ञानस्य पूर्वं जनकतया वर्तमानत्वात् ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मण इति स्मृतेः ॥ ८९ ॥

(५) नन्दनः । ज्ञानं सर्वज्ञभूतेषु चात्मानमित्युत्तरत्र वक्ष्यमाणम् ॥ ८९ ॥

(६) रामचन्द्रः । इह लोके यत्काम्यं च पुनः अमुत्र परलोके निमित्तं यत्कर्म तत्कर्म प्रकृतं कीर्त्यते । तु पुनः ज्ञानपूर्वं कृतं यत्कर्म निष्कामं तन्निवृत्तिः उपदिश्यते कथ्यते ॥ ८९ ॥

प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम् ॥ निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्येत्येति पञ्च वै ॥ ९० ॥

(१) मेधातिथिः । ननु च काम्यं कर्म प्रवृत्तमित्युक्तं काम्यानि च कानिचित्त्वर्गफलानि कानिचिद्दिष्ट्या स्वर्गफलानि तदेव साम्यताफलं किञ्चिदिष्टं कर्मातः किमिदमुच्यते देवानामेति साम्यतामिति यान्यश्रुतफलानि विश्वजिदादीनि तान्यपि स्वकल्पस्वर्गफलान्यतो न विद्मः कर्मणा देवसाम्यताप्राप्तिः फलं न च शक्यं वक्तुं यानि फलवन्ति श्रुतानि तानि निष्कामेणानुष्ठेयानि । तथा चानुष्ठितानि वैदेवत्वफलानि संपद्यन्ते । श्रुतहानिरश्रुतपरिकल्पना च तथा स्यात् । काम्यमानं च वेदे फलं शांतग्रामकः स्वर्गकाम इति न वस्तुस्वाभाव्येन विषयभक्षणात् । अथो देवत्वादिप्राप्तिर्भवति न च काम्य इति विरुद्धमिति प्रतिषेधाधिकारेः स्वकामिनं कथमिति चेत् तथा भूतस्यैव तत्र फलत्वेनान्वयः न ह्यतिष्ठमानं काम्यं भवति अथ नित्यानां फलमितः कथ्यते नित्यताह नियावज्जीवादिकलैश्च तत्र नित्यफलमवगमितं अथा चाम्यं कल्प्यते प्रत्यवायपरिकरः कल्प्यतां तद्विकल्पकानां नित्यत्वेन विरुध्यते योऽप्युत्तरः श्लोकः प्रभूतान्यप्येति पञ्चधेति तथाप्यप्येति विमुच्यत इति विद्मः । अन्यत्राप्ययोलय उच्यते न चेह भूतेषु जीवस्य लय इष्यते अपितु ब्रह्मरूपापत्तये पठन्ति । अन्येऽपि व्याचक्षते न चातिक्रामति पञ्चभूतानि पाञ्चभौतिकं तस्य शरीरं भवति अपितु तेजोमूर्तिचान्वेति तदपि न किञ्चित् शरीराग्रहणं हि मोक्षः तच्च शरीरमेकं वा भवत्पाञ्चभौतिकं च को विशेषः संसरित्वेऽतो व्याख्येयोऽयं श्लोक उच्यते । यत्तावदुक्तं कस्य कर्मणो देवसाम्यताफलमिति नित्याकामफलत्वात् । कामानां च फलान्तरयागादिति तत्र ब्रूमः मानेन सर्वेषां वैदिकानां कर्मणामेतत्फलमुच्यते किं तर्हि निवृत्तस्य कर्मणो यत्फलं तत्र प्रवृत्तं किञ्च न विद्यते अथ न तत्फलमाप्यत इति तेनैतदुक्तं भवति कर्मकाण्डे यत्कर्तव्यतया वेदितं सास्यपरागतिर्देवत्वप्राप्तिर्न तु मोक्षः । यत्तुरहस्याधिकारोक्तं कर्म तदनावृत्तिहेतुस्तत्र कामयमानस्य फलं कल्पोपहतत्वात् कर्मबन्धहेतुः कर्मणा शेषतः दभावो यत्त्वफलदानार्थमधिकारिणः कार्यकारणमारभन्ते तथैव नित्यान्यव्यतिक्रियमाणानि प्रत्यवायहेतवो भवन्ति । तान्यपि शरीरमारभत एव । यद्येवं नित्यानिकरिष्यति काम्यानि प्रतिषिद्धानि च करिष्यति । तस्य शरीरारंभककर्माभावाद्धेत्वं भावेन मोक्षमवाप्स्यति । आत्मज्ञानस्योपभोगः यथोक्तं ॥ नित्यनैमित्तिके कुर्यात्प्रत्यवायजिहासया ॥ मोक्षहीनः प्रवर्तते तत्र काम्ययोरित्युक्तं गर्भवद्भिन्नं विद्यमानं तस्यैव विद्यया क्षयोऽस्ति । न चानुष्ठितयोगविद्याया ब्रह्मरूपापत्तिः एतदेवाभिप्रेत्योक्तं निष्कामं ज्ञानं पूर्वमिति तथा कामात्मतानप्रशस्ता समानक्रियस्य सामार्ष्ट्यस्तस्य भावः साम्यता देवैः समानगतिर्भवतीत्यर्थः । ये चापि भूतान्यप्येतीत्य-

प्ययंप्रतिव्यामोहःसोपिनयुक्तः विप्रलापनमप्ययउच्यते तुषारनिखिलप्रपंचोभवतीत्यर्थः । अभ्येतीत्यपिपाठेऽशरीरत्वमुक्तं भवति ॥ ९० ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । सार्ष्टितां सायुज्यतां समानाकारतामितियावत् । भूतान्यभ्येति लिङ्गदेहंजहाति ॥ ९० ॥

(३) कुङ्कुमः । प्रवृत्तकर्माभ्यासेन देवसमानगतित्वंतत्फलं कर्मणा प्राप्नोति । एतच्च प्रदर्शनार्थमन्यफलेन कर्मणा प्रवृत्तेन फलान्तरमपि प्राप्नोति । निवृत्तकर्माभ्यासेन पुनः शरीरारंभकानि पञ्चभूतान्यतिक्रामति मोक्षंप्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ९० ॥

(४) राघवानन्दः । अतएवाह प्रवृत्तमिति । सार्ष्टितां समानैश्वर्यम् साम्यतामितिकचित् । तावत्पर्यन्तमेव प्रवृत्तकर्मणां गतिः । भूतानि सकारणभूतभौतिकानि स्थूललिङ्गशरीरद्वयं । अत्येति नाशयति अभितोवोपादानतयाप्नोति भूतारभ्यत्वादुभयोः । यज्ज्ञानेनाज्ञाननाशद्वारेणेति शेषः । आरोपितस्य ज्ञाननाशयत्वेऽविप्रतिपत्तेः ॥ ९० ॥

(५) नन्दनः । साष्टाङ्गसायुज्यसाधर्मादितियावत् भूतात्ययोमुक्तिः ॥ ९० ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रवृत्तकर्म संसेव्य कृत्वा देवानां साम्यतां एति प्राप्नोति । तु पुनः निवृत्तं कर्म सेवमानः पञ्चभूतात्मकं लिङ्गदेहं प्राप्नोत्येव ॥ ९० ॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ॥ समंपश्यन् आत्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥ ९१ ॥

(१) मेधातिथिः । कथंपुनःप्रपंचःकर्तव्यइत्यतआह भूतशब्देनयार्त्तिकचित्स्थावरजंगमपुण्यप्राणितत्सर्वमुच्यते तत्रचात्मानंपश्येत् अहमिवैतजगदिति । तथाचश्रुतिः अहंवृक्षस्थरेरिवेति प्रतिषेधवद्देवावभासस्वपरव्यवहारंजहात् अयमहमेतन्मनेदंममेति अद्यतेवंध्यस्त्यक्तात्मात्मीयाभिनिवेशस्योज्झितस्वपरभेदस्यकेवलत्मेकत्वंभातिनस्वाराज्यदेवतार्थः । सर्वभूतानिचात्मनीति यदेवविकारप्रपंचरूपंजगत्तदेवतन्मयिस्थितं अहमेकःस्रष्टाकर्ताध्याताध्येयश्चेतिसंपद्यते । आत्मयाजी आत्मानमेवसर्वदेवतामयत्वेन योजयते मन्यते नास्त्यादित्योवा देवता अहमेवदेवतेत्येवंपश्यन्आत्मयाजी संपद्यते नपुनरात्मापदेशेन यागःकर्तव्यतया चोच्यते । केचिदाहुः नाग्नेयादिष्वग्न्यादयोदेवताआत्मत्वेनापि न वक्तव्याः । स्वाराज्यान् स्वे राज्ये भवाः स्वाराज्याः परमात्मवत्त्वतस्तत्संपद्यते त्वप्रकाशश्च भवति चंद्रादित्याद्यालोकमपेक्षतेन्द्रियाणिचक्षुरादीनि नान्तःकरणंमनआदितःपश्यन्तीतिच भावेतदुच्यते दर्शनमात्रंसकलबाह्याभ्यन्तरव्यापारतिरस्करणे तद्भावनापरस्यात् ॥ ९१ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । सर्वेषु इज्यमानदेवतासु आत्मानमिज्यत्वेन पश्यन् सर्वभूतात्मन्यात्मनीज्यमानेन सर्वभूतानीज्यन्तइति सममुभयत्रात्मानमिज्यमानं पश्यन्आत्मयाजी भवति सच स्वाराज्यंत्वतः सर्वाधिपत्यमधिगच्छति ॥ ९१ ॥

(३) कुङ्कुमः । सर्वभूतेषु स्थावरजङ्गमात्मकेष्वहमेवात्मरूपेणास्मि सर्वाणि भूतानि परमात्मपरिणामसिद्धानि ब्रह्मेव परमात्मन्यासतइति सामान्येन जानन्आत्मयाजी ब्रह्मार्पणन्यायेन ज्योतिष्टोमादिकुर्वन्त्वेन राजते प्रकाशतइति त्वराद् ब्रह्म तस्य भावः स्वाराज्यं ब्रह्मत्वंलभते मोक्षमाप्नोतीत्यर्थः । तथाच श्रुतिः सर्वस्वत्विदं ब्रह्मतज्जलानिति शान्तउपासीत तथायज्वेदमन्त्रः यस्तुसर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति सर्वभूतेषु चात्मानंततो न विजुगुप्सते ॥ ९१ ॥

(४) राघवानन्दः । आत्मज्ञानं परमित्युक्तं तत्कीदृशं किमधिकारिकं किंफलमिति संक्षिप्याह सर्वभूतेष्विति । सर्वभूतेष्वधिष्ठानतयानुभूत सर्वभूतानि चाधिष्ठेतया तस्मिन्नेवारोपितानीति । समंपश्यन्नितियोजना सर्वस्वत्विदं ब्रह्मेति श्रुतेः । आत्मयाजी आत्मान्तःकरणं तच्छुद्ध्यर्थं कर्मकारी तदधिकारिकंज्ञानमित्यधिकारिनिर्देशः । स्वाराज्यं मुक्तिरिति फलनिर्देशः । स्वेनैव राजते त्वराद् स्वप्रकाशमनन्यप्रकाशं ब्रह्म तस्य भावः स्वाराज्यम् ॥ ९१ ॥

(५) नन्दनः । निष्कामज्ञानपूर्वतन्निवृत्तिमुपदिश्यतइतीत्युक्तंकिन्तज्ज्ञानमित्यपेक्षायामाह सर्वभूतेषु चात्मानमिति । आत्मानं परमात्मानं आत्मनि परमात्मनि कुतएतत् श्रीभगवद्गीतायादर्शनात् ॥ योमांपश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति । तस्याहंनप्रणश्यामि सचमेनप्रणश्यति ॥ श्रुतिमूलानानित्यनैमित्तिकानांकर्मणांपरमात्मनिसमर्पणमात्मयाजित्वमेतदपि श्रीभगवद्गीतासूक्तं ॥ यतः प्रवृत्तिर्भूतानांयेन सर्वमिदंजगत् ॥ स्वकर्मणा समभ्यर्चसिद्धिविन्दति मानवइति । स्वराट्परमात्मा तस्य भावः स्वराज्यम् ॥ ९१ ॥

(६) रामचन्द्रः । आत्मयाजी आत्मानमेव सर्वदेवतामयत्वेन योजयते सः स्वराज्यं स्वर्लोकं गच्छति ॥ ९१ ॥

यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः ॥ आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च

यत्नवान् ॥ ९२ ॥

(१) मेधातिथिः । यथोक्तान्यपिकर्माणीति नानेनाग्निहोत्रादीनांकर्मणांपरिहानिर्विधीयते । अपित्वात्मज्ञानेयत्नवान्स्यादित्यात्मज्ञानाभ्यासोविधीयते कर्माणिपरिहायेतित्वालंबनंप्रशस्तदेवतायतनप्रदक्षिणमत्रगुरुगमनादीनि मुक्तोप्यात्मज्ञानमभ्यस्येन्नहिनित्यानांकर्मणांत्वेच्छयापरित्यागोस्तिपुरुषमेधादिषु विहिते नास्ति त्यागेनविना ॥ ९२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पूर्वमात्मज्ञानार्थयज्ञादीनामप्यनुष्ठेयत्वमुक्तमधुनात्वशक्तौ ध्यानजपेन्द्रियनिग्रहमात्रेपि तत्सिद्धिरित्याह यथोक्तान्यपीति । परिहाप्य परिहाय ॥ ९२ ॥

(३) कुञ्जकः । शास्त्रचोदितान्यप्यग्निहोत्रादीनि कर्माणि परित्यज्य ब्रह्मध्यानेन्द्रियजयप्रणवोपनिषदादिवेदाभ्यासेषु ब्राह्मणोयत्नं कुर्यात् एतच्चैषामोक्षोपायान्तरद्वयोपायत्वप्रदर्शनार्थंनत्वाग्निहोत्रादिपरित्यागपरत्वमुक्तम् ॥ ९२ ॥

(४) राघवानन्दः । स्वराज्यसाधनज्ञानस्य शमादिसहितं श्रवणमनननिदिध्यासनमेवासाधारणसाधनमित्याह यथेति । परिहाय असाधनत्वेन त्यक्त्वा शान्तोदान्तउपरतस्तिक्षुःसमाहितोभूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानंपश्येदिति । तथा ॥ न-कर्मणानप्रजयाधनेनत्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ॥ किमहंसाधुनाकरवं किमहंपापमकरवमिति ॥ त्यजधर्ममधर्मं च उभे-सत्याश्रुतेत्यजइत्यादिश्रुतेः ॥ आत्मध्याने मनननिदिध्यासनयोः मननंविना निदिध्यासनानुपपत्तेः । शमे शमदमोपरति-तितिक्षासु । वेदाभ्यासे उपक्रमादिनोपनिषदर्थनिर्धारणे श्रवणार्थापरपर्याये विचारे ॥ आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्योमन्त-व्यइतिश्रुतेः । उपक्रमादिभिरात्मज्ञानफलकतया श्रवणादेर्विधानात् । फलवान् ' आदरनैरन्तर्यदीर्घकालादियुक्तः स्यात् । आत्मज्ञाने इतिक्वचित्पाठे तदात्मज्ञाने जनयितव्ये शमादौ यत्नवान्स्यादित्यन्वयः ॥ ९२ ॥

(५) नन्दनः । अथनिश्रेयसफलानांकर्मणामन्योन्यविप्रतिषेधे कर्तव्यमाह यथोक्तान्यपीति । यथोक्तानि श्रेयस्क-रत्वेनीक्तानि शमे रागोपशमे तपसीति यावत् ॥ ९२ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्विजोत्तमः आत्मज्ञाने शमे शान्तौ मनः समावेश्य च पुनः वेदाभ्यासेन यत्नवान्भवेत् ॥ ९२ ॥

एतद्विजन्मसाफल्यंब्राह्मणस्य विशेषतः ॥ प्राप्यैतत्कृतकृत्योहि द्विजोभवति नान्यथा ॥ ९३ ॥

(१) मेधातिथिः । द्विजन्मनाभवति क्षत्रियवैश्ययोरप्यात्मज्ञानेऽधिकारंदशयति । यथाचराणकश्रुतिः ब्राह्मणस्य-विशेषतइति वेदाभ्यासइतिसंबन्धनीयं आत्मज्ञेनसमत्वेनाभ्यासितेनैवसंभवतः यदात्मज्ञानंप्राप्यकृतकृत्योद्विजोभवति पुरु-षार्थएतावतासमाप्यते नहिभोक्षादपरः पुरुषार्थोस्तीति । ननुच यदुक्तंसर्वात्मैकत्वेनायंपश्येत्प्रत्यक्षविरुद्धमिव प्रत्यक्षेण हि-

भिन्नाभावःप्रतिभाति तेन कथमेकत्वेन ग्राह्यः अनारभ्यस्वार्थ उपदिष्टः स्यात् कथं भिन्नमभिन्नं द्रष्टुं शक्यं न हि खरो गौरिव बुद्ध्या ग्रहीतुं शक्यः इन्द्रियदोषेणान्यत्रावभासरूपया प्रतीयते श्रुतिकारजताकारतया न तूपदेशतः । यो ह्युपदिशेत्तं हस्तिनं प्रतिपद्यते नासौ वचनफलमंजसा श्रुतीति ॥ ९३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतच्चयं जन्मसामग्र्यं जन्मनेभेदग्रहस्य संपूर्णप्रयोजनत्वम् । प्राप्यैतच्चयम् ॥ ९३ ॥

(३) कुष्ठकः । एतदात्मज्ञानवेदाभ्यासादि द्विजातेर्जन्मसाफल्यपादकत्वाज्जन्मनः साफल्यविशेषेण ब्राह्मणस्य यस्मादेतत्प्राप्य द्विजातिः कृतकृत्यो भवति न प्रकारान्तरेण ॥ ९३ ॥

(४) राघवानन्दः । यस्मिन् जन्मनि श्रवणादिसंपत्तिस्तऽजन्म महीकरोति एतदिति । अत्र हेतुः प्राप्येति । कृतकृत्यः कृतं आवश्यकं संसारनाशनं कृत्यं येन सः आत्मानं चेदतिश्रुतेः । एतद्धीति स्मृतेश्च । नान्यभेत्युपायशतेनापि तमेव विदित्वेति श्रुतेः । ब्राह्मणस्येति विशेषणात् संन्यासादात्मज्ञानादेव मुक्तिरिति मनोः संमतिः । अतएव ब्राह्मणाविविदिषन्तीत्यादिना विप्रदेहएव मुक्तिहेतुरन्यत्र परंपरयेति ॥ ९३ ॥

(५) नन्दनः । एतदात्मज्ञानादित्रयम् ॥ ९३ ॥

(६) रामचन्द्रः । द्विजन्मनां विप्रक्षत्रियविशां एतद्वेदाभ्यासादि अग्र्यं मुख्यं विशेषतो ब्राह्मणस्य ॥ ९३ ॥

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ॥ अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ ९४ ॥

(१) मेधातिथिः । रूपप्रत्ययो भवत्येवं वेदादिति चक्षुरित्युक्तं सनातनं शाश्वतं नित्यं अनेनापुरुषकृतत्वात् महापुरुषकृतत्वे हि तत्प्रामाण्यात् प्रमादोपीत्यत्र न प्रमाणमस्ति अतः पुरुषगतगुणदोषसदृशाद्वा विनिश्चयान्न तदभावात्पौरुषेयत्वेन वेदः प्रमाणं अतो वेदप्रामाण्यात् दृश्यार्थस्य न कश्चन विरोधः । ननु च यद्येवमुपदिशेदग्निना सिंचेदुदकेन चादीपयेत् किं न भवेद् विरोधः विषम उपन्यासस्तत्र हि दृष्ट्यापदार्थशक्त्या दृष्टएवार्थः कर्तव्यतयोपदिश्यते । तत्र प्रमाणान्तरगोचरत्वं तस्यार्थस्य तद्विपर्ययाद्युक्तं तदेतद्युतं इह तु विधिपरत्वात्वाच्यानां प्रमाणान्तराणां च विधिविषयत्वाभावात् सिद्धस्वरूपवस्तुगोचरत्वेनासत्येकविषयत्वे कुतो विरोधः इह ह्यनात्मभूतानामाभासतो भावान्महत्त्वेन दर्शनं विधीयते । स्वाराज्यफलायां तत्र यत्राधिकं भेददर्शनं तस्याभ्यासतः शक्यमन्यथा कर्तुं तथा हि रागादयश्चित्तधर्माभावनातिशययोगांगानां शक्यन्ते नित्यन्तुं द्वेष्ट्यमपि मैत्रादिना द्वेष्ट्यता बुद्धिर्निवर्तते इति सर्वस्थैतत्त्वसंबन्धं पृष्ट्वा भावनाया अविद्यमानवस्तुत्वाभाव्यमवभासते सामर्थ्यात् । तथा विप्रलंभे कामिनः सर्वत्र कार्मिनीव तपश्यन्ति किमंगं यत्र तात्त्विकमेकत्वमस्ति तत्कथं भेदेन विरुद्धत्वाद् अवभासते । त्वद्रूपा हि सर्वभावना साभिन्नाविद्यते ईदृशं चात्र दर्शनं समत्वेन विधीयते यत्र ममेतन्नेदं ममेति बुद्धेरनुपपत्तिः । यथोक्तं ममेति ह्यक्षरोष्ठं न्युर्न ममेति च शाश्वतमिति तस्मान्नास्ति विरोधः । पितृदेवमनुष्याणामित्यादीनि श्रुतिपदानि देवादयोऽपि रिध्यन्ति संयुक्तान्चेदकृते तीन्द्रियमर्थं पश्यन्ति श्रुतिमन्तरेऽज्ञातुमशक्यत्वात् । अप्रमेयं चाप्यनन्तत्वाद् द्वेदशाखानां अथवा प्रमातुं शक्यमर्थतो वेदांगं वेदाः ॥ ९४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अतर्क्यं तर्केणान्यथाऽसंभाव्यम् । अप्रमेयं प्रमाणान्तरेण विरोधिनान्यथाऽकल्प्यम् । वेदरूपं शास्त्रं सामकम् ॥ ९४ ॥

(३) कुष्ठकः । इदानीं वेदादेव ब्रह्मज्ञातव्यमिति प्रदर्शयितुं वेदप्रशंसामाह पितृदेवेति । पितृदेवमनुष्याणां ह्यव्यक्तव्यान् नदानेषु वेदएव चक्षुरिव चक्षुरनवरंतत्प्रमाणत्वादसन्निकृष्टफलकव्यदानादौ प्रमाणान्तरानवकाशात् अशक्यं च वेदशा-

स्वकर्तुमनेनापौरुषेयतोक्ता अप्रमेयं च मीमांसादिन्यायनिरपेक्षतयाऽनवगम्य मानप्रमेयमेवंव्यवस्था ततश्च मीमांसया व्याकरणाद्यङ्गैश्च सर्वब्रह्मात्मकं वेदार्थजानीयादिति व्यवस्थितम् ॥ ९४ ॥

(४) राघवानन्दः । तर्हि कृतं वेदान्ताभ्यासेन अनुमानादिनाप्यात्मज्ञानसिद्धेः तत्राह पित्रिति । वेदश्चक्षुरिति । असंदिग्धाऽविपर्यस्ताऽनधिगतफलवदात्मापरोक्षधीहेतुत्वात् । तन्त्वौपनिषदंपुरुषं पृच्छामीति श्रुतेः सनातनं नित्यं ब्रह्म-स्वयं भु इति श्रुतेश्च त्रिंशदुत्तरैकादशशतशास्त्रत्वात् वेदस्याशक्यमध्येतुं कर्तुं च तथा अप्रमेयं भेदाभेदसदसद्भेदादितात्पर्या-निरूपणादिति । वेदश्चासौ शास्त्रं चेति अनधिगताबाधितशासनात् । अथवा सनातनं नित्यं चर्मचक्षुर्हि जन्मान्तरे इहा-पि कदाचिद्भुष्यते इदं तु न तथा जन्मान्तरे विलुप्यते त्विद्याकर्मणा समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञाचेति श्रुतेः ॥ अनेकजन्मसं-सिद्धस्ततोयातिपरांगतिमिति स्मृतेश्च ॥ जन्मजन्म यदभ्यस्तं दानमभ्ययनं तप इत्युक्तेः । अशक्यं शक्तेरविषयः ब्रह्म तदप्र-तिपादकत्वात् । अप्रमेयं प्रमाबोधः फलं तदविषयकं ब्रह्म एतदप्रमेयं ध्रुवं ॥ यतोवाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहेति श्रु-तेः ॥ एवं भूतं ब्रह्मविषयं वेदशास्त्रं वेदेनैव शास्यते ज्ञाप्यते शक्त्या अबोधकत्वेऽपि जहदजहल्लक्षणया तत्त्वमस्यादिवा-क्योत्थाऽखण्डचैतन्यानन्दाकारवृत्तिविषयत्वेऽपि चैतन्यघनत्वेन वृत्तिप्रतिफलितबोधाविषयत्वादिति । तदुक्तम् ॥ फल-व्याप्यत्वमेवास्य शास्त्ररुद्धिर्निवारितम् । ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरिहेष्यते ॥ स्वयंप्रकाशमानत्वान्नाभास उपयुज्य-तइति स्थितिः । शास्त्रतात्पर्यं तन्त्वौपनिषदंपुरुषं पृच्छामि ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति एतदप्रमेयं भुवमित्यादिश्रुतीनां तत्रैव ता-त्पर्यात् । पदार्थसंग्रहे विस्तरग्रन्थगौरवभयादुपरम्यते ॥ ९४ ॥

(५) नन्दनः । आत्मज्ञानेन च शमेन च समानतावेदाभ्यासस्योक्ता तस्य युक्तमुपादयन्वेदस्य शास्त्रान्तरेभ्यो-विशेषमाह पितृदेवमनुष्याणामिति । पितृदेवमनुष्याश्चक्षुषैव सर्वानर्थान्वेदेन पश्यन्तीति पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुरित्युक्तं सकलकल्पमन्वन्तरानुयायित्वात्सनातनं अतर्क्यमीदृशमित्यध्यवसातुमशक्यमपौरुषेयत्वात् अप्रमेयमेतावदित्यध्यवसा-तुमशक्यमक्षयफलत्वात् ॥ ९४ ॥

(६) रामचन्द्रः । पितृदेवमनुष्याणां वेदः सनातनं चक्षुः अतर्क्यं तर्केणान्यथाऽसंभाष्यं अप्रमेयं प्रमाणान्तरेण विरो-धिनाऽन्यथाऽल्पं अनन्तशरीरवत्त्वात् ॥ ९४ ॥

यावेदबाह्याः स्मृतयोयाश्च काश्च कुदृष्टयः ॥ सर्वास्तानिष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥ ९५ ॥

(१) मेधातिथिः । पूर्वत्वपौरुषेयत्वेन वेदस्य प्रामाण्यमुक्तेदानां पौरुषेयाणां वेदानामप्रामाण्यं अथवेदबाह्यावेदवि-रुद्धावेदमूलाः श्रुतयोऽथसंक्षेपेनोदनाश्चैत्यवन्देनस्वर्गो भवतीत्याद्या निरर्थथशोभादिसिद्धांतप्रसिद्धाः । कुदृष्ट्या असत्तर्क-दर्शनानि वेदकर्तुः साधनमपूर्वदेवतादिनिराकरणमेवमाद्याः कुदृष्टयः सर्वास्तानिष्फलाः प्रेत्य प्रकर्षप्रान्य संनिरूपितहेतुदृष्टान्तः अंततो निष्फलयुक्तं अप्ययुक्तानामाभासरूपत्वात्ताश्च युक्तयोन्यवतिवर्त्मनि रात्रियति महाग्रंथविस्तारा भवन्ति संक्षेपरूपा-स्तथापौरुषेयाणामुपदेशेनाप्रामाण्ये पुरुषाणामतीन्द्रियार्थदर्शनशक्त्यभावात् शक्यमपिशक्तेरुद्देशिकस्य प्रमाणाभावात् । अयंसर्वज्ञस्तेनायमागमः प्रणितइति न किंचिदत्र प्रमाणं क्रमते । न विद्यमानेऽपि कर्तृपूर्वत्वे दृष्टार्थादृष्टकल्पनाप्रसंगस्तत्प्रमाणत्वे-देवतासिद्धिः अतस्तायुक्तयोर्व्यामोहमूला इत्यर्थः । अन्येतु व्याचक्षते प्रेत्यमत्यास्यतानिष्फलास्तानिष्ठास्तामसयोनिहेतु-त्वात् अस्मिन्पक्षेऽसमानकर्तृकत्वात्प्रेत्यतिदुर्लभत्वं निष्ठान्ताद्वासममीपठितव्याप्रेतइति ॥ ९५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वेदबाह्यावेदार्थविरोधिभ्यः श्रुतयः शब्दाः कुदृष्टयोवेदविरोधितया कुत्सितदृष्टयः प्रमाणा-भासान्यनुमानादीनि ऐहिकलौकिकभोगादिकफलसाधनत्वे दृश्यमानेऽपि निष्फलाः तमोनिष्ठाः मोहप्रभावाः ॥ ९५ ॥

(३) कुल्लूकः । याः स्मृतयो वेदमूलान् भवन्ति दृष्टार्थवाक्यानि चैत्यवन्दनात्त्वर्गो भवतीत्यादीनि यानि चासत्कर्म्ममूलानि देवताऽपूर्वादिनिराकरणात्मकानि वेदविरुद्धानि चार्वाकदर्शनानि सर्वाणि परलोके निष्फलानि यत्मान्तरकफलानि तानिमन्वादिभिः स्मृतानि ॥ ९५ ॥

(४) राघवानन्दः । ननु किमिति वेदगम्यमात्मतत्त्वं वेदबाह्यानामपि तत्प्रसिद्धेस्तत्राह यादिति । वेदबाह्यावेदार्थबहिष्कृताबौद्धाद्यागमाः याश्च कुदृष्टयः तेषां नैय्यायिकानांवा अनुमानजात्मविषयज्ञानानि ताः सर्वाः प्रेत्य निष्फलाः इहलोके व्याप्तादिबलात् वन्त्यादिसिद्धत्वेपि वेदैकसमधिगम्यात्मरूपादि सर्वधर्महीनब्रह्मस्वर्गापूर्वादौ तदभावात् । अतएव तमोनिष्ठास्तमोन्तरकं तन्निष्ठाभोग्यत्वेन तदेकशरणाः । तर्कितकर्माणः फलाजनकत्वेनाकरणादविशेषात् । स्मृतान्मन्वादिभिः ॥ ९५ ॥

(५) नन्दनः । कुदृष्टयः कुतर्कयुक्तानि शास्त्राणि ॥ ९५ ॥

(६) रामचन्द्रः । वेदबाह्याः स्मृतयः च पुनः याः काः कुदृष्टयः ताः सर्वाः प्रेत्य निष्फला भवन्ति । तास्तमोनिष्ठाः तमः प्रभावाः स्मृताः ॥ ९५ ॥

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतो न्यानि कानिचित् ॥ तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥ ९६ ॥

(१) मेघातिथिः । अतो वेदाद्यान्यन्यानि शासनानि तान्युत्पद्यन्ते विनश्यन्ति च । उत्पादविनाशित्वादनित्यानि वेदस्तुतद्विपर्ययानित्यः । अर्वाक्कालिकतयेदानीं तनेन पुरुषेण केनचित्कृतत्वादतो निष्फलान्यदृष्टस्य फलस्याभावात् यद्दिनामकेचिद्विप्रलम्भमोदकादिलक्षणं सिद्धेपि ॥ ९६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतद्विवृणोति उत्पद्यन्त इति । उत्पद्यन्ते केनचिदुत्पाद्यन्ते उत्सीदन्ति च । यानि शास्त्राणि । अर्वाक्कालिकतया वेदादनुत्पन्नादविनाशिनश्चार्वाचीनतया । निष्फलत्वे हेतुरनृतानीति ॥ ९६ ॥

(३) कुल्लूकः । एतदेव स्पष्टयति उत्पद्यन्त इति । यान्यतो वेदान्यमूलानि च कानिचिच्छास्त्राणि पौरुषेयत्वादुत्पद्यन्ते एवमाशुविनश्यन्ति तानि चेदानीं तनत्वान्निष्फलान्यसत्यरूपाणि च स्मृत्यादीनां तु वेदमूलत्वादेव प्रामाण्यम् ॥ ९६ ॥

(४) राघवानन्दः । अत्र हेतुः उत्पद्यन्त इति । उत्पद्यन्ते पुंमतिप्रभवत्वेनोर्ध्वमूर्ध्वपद्यन्ते । अन्यथान्यथा भवन्तीति । अतो वेदादार्वाक्कालीनतया आधुनिकपुरुषज्ञानजन्यतया पुंसां च मतेष्वैरुपस्थात् । अतएवाग्रे फलापर्यवसायितया निष्फलानि वेदार्थस्य धर्मादिरनैन्द्रियकत्वेन । योगजधर्मस्यापि वेदानुष्ठानजन्यत्वेनान्योन्याश्रयतया अयथार्थाविषयत्वात्फलासाधनत्वात् । न केवलमेव वेदमूलविकलतया स्वतो अनृतानि प्रतारकादि वाक्यवत् ॥ ९६ ॥

(५) नन्दनः । उत्पद्यन्ते दोषबहुत्वेषु कालेषु एवं वेदबाह्यानामनादतर्व्यत्वं प्रतिपादितम् ॥ ९६ ॥

(६) रामचन्द्रः । यानि कर्माणि उत्पद्यन्ते च पुनः विलीयन्ते अतः अन्यानि कानिचित् तानि अर्वाक्कालिकतया निष्फलानि ज्ञेयानि । च पुनः अनृतानि अनृतस्य रूपाणि ॥ ९६ ॥

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्च त्वारश्वाश्रमाः पृथक् ॥ भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥ ९७ ॥

(१) मेघातिथिः । इयमपि स्तुतिरेव चातुर्वर्ण्यवेदात्प्रसिध्यति अधिकारित्वेनार्वाक्ये वसन्ते ब्राह्मणोऽप्येराजन्य इत्यादि स्वरूपं तु व्यवहारावगम्यं सर्ववर्णेष्वनुत्पत्त्यादयत्र दर्शितं । त्रयो लोका इतः प्रदानं देवा उपजीवन्त्यनेन त्रै-

लोक्यस्थितिहेतुत्वं वेदस्य सिद्धमेव । वेदमूलत्वात्स्मृतोनां ता आश्रमोपिवेदावेदभूतमतीतं जन्मसुखदुःखादियच्च भवद्वर्तमानं यच्च भविष्यति तत्सर्वस्य वेदएव शरणीयम् ॥ ९७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । भव्यं भवत् । प्रसिध्यति जायते ॥ ९७ ॥

(३) कुङ्कुमः । ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीदित्यादिवेदादेव चातुर्वर्ण्यं प्रसिध्यति ब्राह्मणीभूतमातापितृजनितत्वमिति तदुपजीवितया स्वर्गादिलोकोपि वेदादेव प्रसिद्धः एवंब्रह्मचर्याद्याश्रमा अपि चत्वारो वेदमूलकत्वाद्देवादेव प्रसिध्यन्ति । किं बहुना यत्किंचिदतीतं वर्तमानं भविष्यं च तत् सर्वमग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगित्यादिन्यायेन वेदादेव प्रसिध्यति ॥ ९७ ॥

(४) राघवानन्दः । न केवलमात्मतत्त्वं । धर्मादि च वेदगम्यमपि तु सर्वमित्याह चातुर्वर्ण्यमिति द्वाभ्याम् । वेदेनैव चातुर्वर्ण्यश्रमादीनामितरेतरविभाजकत्वात् ॥ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्ब्राह्मणजन्मः ऊरुतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायतेति चातुर्वर्ण्यं । भूर्भुवःस्वरिति त्रयो लोकाः । ब्रह्मचर्यसमाप्य गृही भवेत् गृहीभूत्वा वनी भवेत् वनीभूत्वा प्रव्रजेदित्यादि श्रुते श्रुतारः आश्रमाः वेदादेव प्रसिध्यन्ति ज्ञायन्ते ॥ ९७ ॥

(५) नन्दनः । पुनरपि वेदस्य वैशिष्ट्यमेव प्रपञ्चयति चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोका इति । चातुर्वर्ण्यवेदात्प्रसिध्यति चतुर्वर्ण्यविभागो वेदादवगम्यते त्रयो लोका वेदात्प्रसिध्यन्ति वेदोक्तकर्मानुष्ठाने सिध्यन्ति । चत्वार आश्रमाश्च वेदात्प्रसिध्यन्ति चतुराश्रम्यविभागो वेदादवगम्यते भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वदेवतादवगम्यते ॥ ९७ ॥

(६) रामचन्द्रः । चातुर्वर्ण्यादि सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥ ९७ ॥

शब्दस्पर्शश्चरूपं च रसोगन्धश्च पञ्चमः ॥ वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः ॥ ९८ ॥

(१) मेधातिथिः । शब्दादीनां भोग्यत्वेन सुखसाधनानां वेदादेव प्रसिद्धिः । वैदिककर्मानुष्ठानाद्रीतादिशब्दोपपत्तिः तत्परित्यागाच्छ्रुतिकर्मशब्दश्रवणमतः शरीरारंभकाः शब्दादयस्ताभ्यां स्वविषयत्वेनोपतिष्ठमाना वेदाः प्रसिध्यन्तीत्येतदभिप्रायमेतन् पुनर्वेदउपादानकरणं अतः शरीरारंभकाः शब्दादयस्ताभ्यामेतदेवाह प्रसूतिगुणकर्मतः प्रसूतिः शब्दादीनामुत्पत्तिः तदर्थं गुणकर्मफलार्थत्वात्प्रधानकर्मचचित्रादिषु गुणधर्म इत्युक्तं । पाठान्तरं प्रसूतेर्गुणधर्मतः इति गुणाः सत्त्वादयस्तेषां धर्मो विपरिणामस्तस्य या प्रसूतिस्तस्यावस्थायाः प्रच्युतिस्तदुद्रेको विष्वग्भावश्च तत्र वेदएव हेतुरदृष्टनिमित्तत्वात् । वैचित्र्यपाठान्तराणि निष्प्रयोजनत्वान् लिख्यन्ते ॥ ९८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रसूतिः जन्महेतुः गुणउत्कटत्वादिः धर्मः सुरभित्वादिः । तृतीयार्थतसिः । एतैरुपलक्षितान् वेदादेव प्रसिध्यन्ति ज्ञायन्ते । एषामपि विवेको वेदाधीन इत्यर्थः ॥ ९८ ॥

(३) कुङ्कुमः । यद्दहलोके परलोके च शब्दादयो विषयाः प्रसूयन्ते प्रयुज्यन्ते एतैरिति प्रसूतयः प्रसूतयश्च गुणाश्चेति सत्त्वरजस्तमोः रूपास्तन्निबन्धनवैदिककर्महेतुत्वाद्देवादेव प्रसिध्यन्ति ॥ ९८ ॥

(४) राघवानन्दः । तस्मादक्षरात्महान्मतो वै अहंकारस्तस्मादेवाहंकारात्पञ्चतन्मात्राणि तेभ्यः पञ्चभूतानीति श्रुतेः । प्रसूतिगुणकर्मतः एषामपि प्रसिद्धिर्वेदादेव प्रसूतिरुत्पत्तिरुक्ता गुणाः आकाशादीनां शब्दादयः कर्म आकाशस्यावकाशादिवायोः शरीरधारणादितेजसः पाकादि जलस्य क्लेदनादि भूमेर्धारणादि । यद्वा प्रसूतिमात्रादि अन्नवृष्टस्य वैश्या माता विप्रः पितेत्यादि गुणाः सत्त्वादीनि तदनु रूपयाजनादीनि कर्म अग्निहोत्रादि तानि च ॥ ९८ ॥

(५) नन्दनः । प्रसूतिः शब्दादीनामुत्पत्तिस्थानं आकाशादिकं गुणास्तेषां शब्दादिकाः कर्म तेषां व्यापार इन्द्रियलक्षणादिकः एतैरुक्ताः शब्दादयो वेदादेव प्रसिध्यन्ति शब्दादीनां विविधाभेदाभोक्षधर्मेषु स्मर्यन्ते ॥ ९८ ॥

(६) रामचन्द्रः । शब्दादिपञ्च वेदादेव प्रसिध्यन्ति । प्रसूतिर्जन्महेतुः गुणः उत्कृष्टत्वादिः धर्मः । सुरभित्वादिः । तृतीयार्थे तसिः ॥ ९८ ॥

बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ॥ तस्मादेतत्परमन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥ ९९ ॥

(१) मेधातिथिः । तस्मादेतत्परमन्ये सर्वभूतभरणं च वेदशास्त्रस्य दर्शितं ब्राह्मणे तथा च हविरग्नौ हूयते सोमिरादित्यमुद्वयति तत्सूर्यो रश्मिभिर्वक्ष्यति तेनार्त्तिर्भवति ततो हवैनामुत्पत्तिस्थितिर्वैति हविर्जायत इति इहाप्युक्तम् ॥ अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठत इत्येवमादि । तस्मादेतत्परमन्ये पुरुषार्थकारणं यद्येवं कारणेन जन्तोरस्य धर्मानुशासनमेतस्मात्कारणात्तेषु यथा दर्शितोपपत्तिः । ननु च यद्यौपादानिकमर्थं किंतु द्वादयुक्तं लौकिकमर्थमिति उच्यते अनुष्ठानमस्य वैदिकं कार्यतुष्टत्वा-ल्लौकिकमेव ॥ ९९ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । बिभर्ति यज्ञादिकर्मस्वरूपोपदेशद्वारा वर्तमानं ततश्च वृष्ट्याद्युत्पत्तेरुक्तत्वात् । वेदशास्त्रं वेदरूपं शास्त्रम् । यस्य जन्तोः साधनमपवर्गसाधनं परं ध्यानं ध्येयादिति तदेतस्माद्वेदादेव । मन्ये जाने ॥ ९९ ॥

(३) कुल्लूकः । वेदशास्त्रं नित्यं सर्वभूतानि धारयति तथा च हविरग्नौ हूयते सोमिरादित्यमुपसर्पति तत्सूर्यो रश्मिभिर्वर्षति तेनान्नं भवति अथेह भूतानामुत्पत्तिस्थितिश्चेति हविर्जायत इति ब्राह्मणं । तस्माद्वेदशास्त्रमस्य जन्तोर्वैदिककर्माधिकारिपुरुषस्य प्रकृष्टपुरुषार्थसाधनं जानन्ति ॥ ९९ ॥

(४) राघवानन्दः । प्राणिमात्रस्य स्वर्गापवर्गयोः साधनं वेदप्रमाणकमिति संक्षिप्याह बिभर्ति । बिभर्ति यागादिद्वारा पुष्पाति । अस्य स्वर्गापवर्गादेः । जन्तोरिति व्यधिकरणे षष्ठी । एतद्वेदाख्यम् ॥ ९९ ॥

(५) नन्दनः । बिभर्ति पुष्पाति होमोद्देशेनेत्यभिप्रायः । तथाहि पूर्वमुक्तमग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगिति अस्य जन्तो-र्यत्परसाधनं तदेतद्वेदशास्त्रं मन्य इत्यन्वयः ॥ ९९ ॥

(६) रामचन्द्रः । यः सनातनं वेदशास्त्रं बिभर्ति सः सर्वशास्त्राणि बिभर्ति तस्मात्कारणादेतद्वेदशास्त्रं परं उत्कृष्टं मन्ये । यत् यतः अस्य वेदशास्त्रं धनम् ॥ ९९ ॥

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ॥ सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविद्वर्हति ॥ १०० ॥

(१) मेधातिथिः । अतिस्तुतिरियं दण्डनेतावदण्डनायका ग्रामनगरयोः कृताकृतप्रेक्षणनियुक्ताः सेनाहस्त्यश्वरथपादातंतस्याः पतिः राज्यं मण्डलेश्वरत्वं सर्वलोकाधिपत्यं सार्वभौमत्वम् ॥ १०० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । दण्डनेतृत्वं राजनियुक्त्या ॥ १०० ॥

(३) कुल्लूकः । सेनापत्यं राज्यं दण्डप्रणेतृत्वं सर्वभूम्याधिपत्यादीन्येतत्सर्वमुक्तप्रयोजनं वेदात्मकशारूङ्ग एवार्हति १००

(४) राघवानन्दः । राजन्यबन्धुर्न राज्याधिकारी अपितु वेदविदेवेत्याह सैनेति । सैनापत्यं चतुरङ्गसेनाध्यक्षताम् ॥ १०० ॥

(५) नन्दनः । यतएवमत आह सेनापत्यं च राज्यं चेति ॥ १०० ॥

(६) रामचन्द्रः । वेदशास्त्रवित्सैनापत्यादिकमर्हति ॥ १०० ॥

यथा जातबलोवह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान् ॥ तथा दहति वेदज्ञः कर्मजंदोषमात्मनः ॥ १०१ ॥

[न वेदबलमाश्रित्य पापकर्मरुचिर्भवेत् ॥ अज्ञानाच्च प्रमादाच्च दहते कर्मनेतरात् ॥ १ ॥] †

(१) मेधातिथिः । इयमपि पूर्ववत्स्पष्टापदयोजनाप्रसिद्धाश्वपदार्थाः ॥ १०१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । कर्मजं निषिद्धाचरणजम् ॥ १०१ ॥

(३) कुल्लूकः । यथावृद्धोयिरार्द्रानपि द्रुमान्दहत्येवंग्रन्थतोऽर्थतश्च वेदज्ञः प्रतिषिद्धाद्याचरणादिकर्मजनितं पापमात्मनो नाशयति एवं च न केवलं वेदः स्वर्गापवर्गादिहेतुः किंत्वहितनिवृत्तिहेतुरिति दर्शितः ॥ १०१ ॥

(४) राघवानन्दः । स एव कर्मदोषं विनाशयतीति सदृष्टान्तमाह यथेति । जातबलोवायुतृणाभ्याम् । ज्ञानाश्रित्युक्तेः ॥ १०१ ॥

(५) नन्दनः । न केवलं वेदशास्त्रविदो गुणातिशय एव किन्तु दोषहानिरपीत्याह यथा जातबलोवह्निरिति ॥ १०१ ॥

(६) रामचन्द्रः । आत्मनः कर्मजं दोषम् ॥ १०१ ॥

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥ इहैव लोके तिष्ठन्सब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १०२ ॥

(१) मेधातिथिः । ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभावाय ब्रह्मत्वप्राप्तये इत्यावत् । तत्रेति व्युत्थाय व्युत्क्रमेणापि यथोक्तं विद्वेषणाच्चाप्युत्थाय ब्राह्मणादिभिक्षाचर्यमनुवेद्यव्रजन्तीति ॥ १०२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । यत्र तत्र गार्हस्थौपि । इहैव लोके तिष्ठन्वर्तमानो ब्रह्मभूयाय जीवन्मुक्त्या ब्रह्मभावाय समर्थो भवति ॥ १०२ ॥

(३) कुल्लूकः । यस्तत्त्वतो वेदं तदर्थं च कर्म ब्रह्मात्मकं जानाति स नित्यनैमित्तिककर्मानुगृहीतब्रह्मज्ञानेन ब्रह्मचर्याद्याश्रमावस्थितोऽस्मिन्नेव लोके तिष्ठन्ब्रह्मत्वाय कल्पते ॥ १०२ ॥

(४) राघवानन्दः । न केवलमेवं जीवन्मुक्तः स एवेति । ब्रह्मभूयाय ब्रह्मत्वाय ॥ १०२ ॥

(५) नन्दनः । अर्थतत्त्वज्ञोऽर्थतत्त्वाध्यवसायी ॥ १०२ ॥

(६) रामचन्द्रः । ब्रह्मभूयाय कल्पते ब्रह्मरूपसमर्थो भवति ॥ १०२ ॥

अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः ॥ धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो

व्यवसायिनः ॥ १०३ ॥

(१) मेधातिथिः । अज्ञामूर्खा अनधीयाना न पुनर्विद्वान्ग्रन्थमात्राभिधायिनस्तेभ्यो धारिण इत्येतदमत्या परतां पूर्वोक्तानां प्रयत्नतः ग्रन्थस्येति तत्रापि संबध्यते ग्रन्थस्य धारिण इति । श्रेष्ठमेतेषां जपप्रतिग्रहादिष्वधिकारान् । ज्ञानिनस्तु सर्वत्राधिकृता इति श्रेष्ठतरा ज्ञानपूर्वजपादयोऽनुशीयमानाः फलातिशयदायिनो भवन्ति । तदुक्तं यदेव विद्यया करोति श्रेष्ठ-योपनिषदात्तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति अन्यवशानामनुष्ठातारो निर्वचिकित्साद्यानैतदन्यथेति शक्यते एतदपि स्तुत्यर्थमध्ययनमात्रेण वेदाः पुरुषाय प्रभवन्ति किंपुनस्तदर्थानैव ॥ १०३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अज्ञेभ्योऽत्यन्ताज्ञेभ्यः ग्रन्थिनः वेदरूपग्रन्थनाभ्येतारः । धारिणस्तदर्थज्ञाः सन्तोत्यन्तमनुस्मरन्ति । ज्ञानिनः आत्मतत्त्वनिश्चयवन्तः । अध्यवसायिनः तदनुरूपचिन्तनध्यानप्रवृत्ताः ॥ १०३ ॥

(३) कुल्लूकः । उभयोः प्रशस्यत्वे सत्यन्यतरातिशयविवक्षायां श्रेष्ठतीष्ठिनोविधानादीषदभ्ययनाअज्ञास्तेभ्योः समग्रग्रन्थाभ्येतारः श्रेष्ठास्तेभ्योऽधीतग्रन्थधारणसमर्थाः श्रेष्ठास्तेनग्रन्थिनः पठितविस्मृतग्रन्थाबोद्धव्याः धारिभ्योऽधीतग्रन्थार्थज्ञाः प्रकृष्टास्तेभ्योऽनुष्ठातारः ॥ १०३ ॥

(४) राघवानन्दः । इतरपर्युदासेन ब्रह्मविदः श्रेष्ठत्वमेव दृढयति अज्ञेभ्य इति । ग्रन्थिनः ग्रन्थमात्राभ्यासिनः । धारिणोभेधाविनः । ज्ञानिनः मीमांसापरिशीलनतोजातेन ज्ञानेन कर्मानुष्ठानिनः । व्यवसायिनः वेदान्तमीमांसाजनितज्ञानयोगिनः व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दनेत्युक्तेः ॥ कर्तृषु ब्रह्मवेदिन इत्यत्रापि तथैवोक्तेः ॥ १०३ ॥

(५) नन्दनः । अज्ञेभ्योऽनधीतवेदशास्त्रेभ्यः ग्रन्थिनोऽधीतविस्मृतवेदाः धारिणः पाठकारिणो ज्ञानिनो वेदार्थविदो व्यवसायरहिताः ॥ १०३ ॥

(६) रामचन्द्रः । अज्ञेभ्यः मूर्खेभ्यः ग्रन्थाविद्यन्ते येषां ते ग्रन्थिनः श्रेष्ठाः । ग्रन्थिभ्यः ग्रन्थपाठकेभ्यः ग्रन्थधारिणः वराउत्कृष्टाः । धारिभ्यः ज्ञानिनः श्रेष्ठाः । ज्ञानिभ्यः अध्यवसायिनः विचारज्ञाः श्रेष्ठाः ॥ १०३ ॥

तपोविद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम् ॥ तपसा किल्बिषंहन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ १०४ ॥

(१) मेधातिथिः । अनेनैतद्दर्शयति सत्यामपि विद्यायां नाक्षीणपापस्य मोक्षः सत्यपि कर्मक्षयेनासत्यामात्मविद्यायां अतोयदुक्तं ते तु भावेन मुच्यन्त इति तदसत् अमृतमपुनरावृत्तिर्येयं बलानंदरूपता ॥ १०४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तपोयज्ञानशानादिकर्म विद्यात्मज्ञानम् । निःश्रेयसं मोक्षस्तत्करम् । तपसाऽनभिसंधिकृतेन कल्मषं ज्ञानप्रतिषेधकम् । विद्यया ज्ञानेन अमृतं मोक्षम् ॥ १०४ ॥

(३) कुल्लूकः । तपः स्वधर्मवृत्तित्वमिति भारतदर्शनात् आश्रमविहितं कर्म आत्मज्ञानं च ब्राह्मणस्य मोक्षसाधनं तत्र तपसोऽवान्तरव्यापारमाह तपसा पापमपहन्ति ब्रह्मज्ञानेन मोक्षमामोति । तथाच श्रुतिः विद्यां चाविद्यां च यस्तीर्त्वा भयंसह अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया मृतमश्नुते विद्यातोऽन्यदविद्याकर्म मृत्युवद्दुःखसाधनत्वान्मृत्युः पापं श्रुत्यर्थं एवायं मनुना व्याख्यायोक्तः ॥ १०४ ॥

(४) राघवानन्दः । ब्रह्मत्वस्य ज्ञानकर्मसमुच्चयसाध्यत्वमाशङ्क्याह तप इति । तपोविद्या च निःश्रेयसकरमिति वाद्यभिमतं । यत्तत्सत्त्वं तत्र तपस आरादुपकारकत्वं । विद्यायाः कारणत्वमिति व्यवस्थां गृहाणेत्याह । तप इति । तपसः पापनाशकत्वं धर्मेण पापमपनुदतीति श्रुतिसिद्धम् । अन्यथा न कर्मणानप्रजयाधनेन त्यागेनेके अमृतत्वमानुः ॥ ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते ब्रह्मशाश्वतम् ॥ तमेव विदित्वातिमृत्युमेति । नान्यः पन्थाविद्यते यनाय इत्यादि श्रुतिशतविरोधः ॥ १०४ ॥

(५) नन्दनः । एवंप्रवृत्त्येस्कराणां मध्ये आत्मज्ञानं तपोवेदाभ्यासं च प्रधानमित्युक्तमिदानीं तेष्वप्यात्मज्ञानं तपश्च प्रधानमित्याह तपोविद्या च विप्रस्येति । विद्यात्मज्ञानं परमपितृत्वद्वारेण ॥ १०४ ॥

(६) रामचन्द्रः । विद्यया ज्ञानेन अमृतं मोक्षं अश्नुते ॥ १०४ ॥

प्रत्यक्षंचानुमानंच शास्त्रंच विविधागमम् ॥ त्रयंसुविदितंकार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ १०५ ॥

(१) मेधातिथिः । सुहृद्भूत्वोपदिशति लौकिकमर्थधर्मोवेदार्थस्तस्यशुद्धिर्विवरपूर्वकाशयनिराकरणेऽङ्गनिश्चित-
सिद्धांतव्यवस्थापनमतेतत्प्रत्यक्षादिप्रमाणनिश्चयेसतिभवाति । सुविदितेहि प्रत्यक्षेज्वालादिवैषम्येण प्रत्यभिज्ञायते शब्द-
नित्यत्वात्सिद्धिः यस्यतुसम्यक् नास्तिविवेकः सउभयोरविशेषेणप्रत्यक्षमध्यवसायःस्यात् ज्वालादिषुचानुमानेनोपरिदृष्टा-
शब्देऽपि तथासंभावयेत् तथा नित्यशब्दसमुदायात्मकोवेदःस्यात् । यस्यतुविहितानि कुशलप्रमाणेषु प्रशब्दोऽतद्ग्रहणनि-
बन्धनोनास्त्यभिज्ञानोमन्यमानोज्वालाविदुषोभेदग्रहणनिबन्धनमिवसितविशितंविशेषेणज्वालाबाधेनशब्देबाधसंभावयति ए-
वमनुमानमपि सुविवेचितंनभारतादिप्रमाणोपलक्षणत्वाच्च तेनशौर्यादिशास्त्रान्तेकर्मण्यतासिद्धिः । अनुविवेचितंननुमानं
सपक्षयोर्दर्शनादर्शनमात्रेणानुमानप्रवृत्तिमन्वानोवेदेषिकर्तारंकल्पयेत् यदातुनिपुणमतिर्भवति तत्तत्प्रयोजकस्यस्मात्तत्प्रत्यक्ष-
णयातस्यकर्तृत्वत्वकरणस्याभावादपौरुषेयत्वमध्यवस्यति । शास्त्रंच विविधागमंशास्त्रेविविधप्रतिषेधात्तस्यविविधोऽनेकप्र-
कारआगमोयत्रागम्यते स आगमः । बहुशास्त्रत्वाद्देदस्य श्रुतिस्मृतिभेदेनचविविधत्वमुक्तं सचायमर्थः त्वाध्यायविद्याक्षेपः
शुद्धभावेनोपदिष्टः सहिजिज्ञासाचनिश्चयावसानेन च प्रत्यक्षादिषु सम्यङ्निधिः स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेवेत्यदत्तंभवितुमर्हति । न-
हितच्छूद्रस्योच्छिष्टमितिशक्यंवक्तुं किंतेनतदुच्छिष्टमिति एवमादौसंदेहेतूच्छिष्टवचनंप्रमाणंकर्तव्यं यथायेशूद्रादयोविप्रां-
शास्त्रेषामयं धर्मसंदेहः शिष्टोपदिष्टमेवयुक्तंकर्तुं ततश्चन्यूनाधिकभावेन याकृताकल्पनासएवतत्रधर्मस्तेषामपितथोपदिशतां
नदोषः । यतआह सधर्मस्यादशंकितइति । अधर्मवृत्तेदोषधर्मेतुकापिचिकित्सा । तथागोत्रप्रवरसंदेहे कथंचस्मृतिविच्छेदे ब्राह्म-
णवचनात् गोत्रप्रवरसिद्धिः । तत्रचप्रवरसंदेहे सर्वेषामानवेसंशयइत्युक्तं । गोत्रसंशये तर्हि भविष्यति तत्रचगोत्रसंशयाभावेकुतः
प्रवरसंशयः प्रतिगोत्रप्रवराणांभेदेनपठितत्वात् उपपद्यएवमेतद्गोत्रनामधेयं प्रवराश्चभिन्नानानागोत्राणि तत्रसत्यपि प्रवरनि-
श्चये योत्रसंदेहउत्पद्यते ॥ १०५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । प्रत्यक्षमिन्द्रियज्ञानम् । अनुमानं लिङ्गजम् । शास्त्रं वेदरूपं शास्त्रं शब्दजम् । आगच्छ-
न्ति जायन्तइत्यागमाः स्मृतिपुराणार्थाः तैर्नानाविधैः सहितं सुविदितं सम्यक्कर्केणनिर्णीतं तत्त्वम् । धर्मस्य शुद्धिः स-
म्यक्ज्ञानम् ॥ १०५ ॥

(३) कुल्लूकः । धर्मस्य तत्त्वावबोधमिच्छता प्रत्यक्षमनुमानंच धर्मसाधनभूतद्रव्यगुणजातितत्त्वज्ञानाय शास्त्रंच
वेदमूलंस्मृत्यादिरूपंनानाप्रकारधर्मस्वरूपविज्ञानाय सुविदितंकर्तव्यंतदेवचप्रमाणत्रयमनोरभिमतं उपमानार्थापत्त्यादेभ्यानु-
मानान्तर्भावः ॥ १०५ ॥

(४) राघवानन्दः । धर्मादेः शास्त्रगम्यत्वमुक्तमनुवदंस्तत्सहकारितया प्रत्यक्षानुमाने आह प्रत्यक्षेति । प्रत्यक्षं
साधुमनस्तुष्यादि द्रव्यगुणब्राह्मण्यादि जात्यादिविषयकंवा अनुमानंपञ्चोमिथ्या दृश्यत्वात् शुक्तिरूप्यवत् । सुखं धर्मे-
कनियतमित्यादि व्यवयवं पञ्चावयववां शास्त्रं हितोपदेष्टु वेदाख्यं विविधागमं शब्दत्वावच्छिन्नं बौद्धवाक्येतरपुराणाद-
योर्विविधागमाः सहकारिणोयस्य तत् त्रयं प्रत्यक्षादि सुविदितंकार्यं मीमांसादिना प्रत्यक्षाभासशब्दाभासहेत्वाभासनिरा-
सेन त्वत्वविषयप्रतिष्ठितं कार्यम् । धर्मशुद्धिमभीप्सता धर्मपदं ब्रह्माप्युपलक्षयति जगद्विधारकत्वात् ॥ १०५ ॥

(५) नन्दनः । नैश्चयेसफलंकर्ममाह प्रत्यक्षमनुमानंचेति । विविधागमं बहुकर्तृकं सुविदितमवगतदोषबलाबल
म् ॥ १०५ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रत्यक्षानुमानंशास्त्रं च पुनः विविधागमं स्मृतिपुराणेतिहासादीनि अभीप्सता पुंसा त्रयंस्तुतरां विदितं कार्यम् ॥ १०५ ॥

आर्षधर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना ॥ यस्तर्केणानुसंधत्ते सधर्मवेद नेतरः ॥ १०६ ॥

(१) मेधातिथिः । ऋषिर्वेदस्तत्रभवः आर्षो धर्मापदेशो यो वैदिको यस्तर्केणानुमानान्तरेण युक्त्या निरूपयति सधर्म-
वेदेति पदयोजना तर्कऊहापोहान्तर्यसिद्धिः इदमत्रयुक्तमूहितुमिदमपोहितुं यदा सौर्यैकर्मणि निर्वापमन्त्रे देवस्य त्वासवितुः प्रस-
वेश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नयेत्वाजुष्टनिर्वपामीति प्रकृतितः प्रप्ते मन्त्रेऽग्निपदस्यार्थसमवायादपोहः सूर्यपदस्य च-
क्षेपः । अयंतर्को न विरुध्यते वेदेन योऽप्येवं मन्यते । सौर्यैकर्मण्यग्नेर्देवतायाः अभावादर्थे न च मन्त्राणां प्रयोज्यत्वादेकदेशोपशमे च
मंत्रत्वाभावात् कृत्स्नस्यैव मंत्रस्य लोपः एष वेदार्थविरोधी तर्कः । यदुच्चारणेन मन्त्राणामयं विधिः अयमर्थवादः अस्यात्र तात्पर्यं
ईदृश्युपेक्षायदत्रैतच्च मीमांसातो ज्ञायतेऽतो धर्मशुद्ध्यर्थं मीमांसावेदनमेतेन चोदितम् । अन्येतु व्याचक्षते तर्केणेति तर्कप्रधानाग्र-
थालौकिकप्रमाणस्वरूपेण परान्यायवैशेषिकलोकायतिका उच्यन्ते तत्र वेदविरुद्धानि बौद्धलोकायतिकनैर्ग्रथादीनि पर्यु-
दस्यन्ते तानि वेदविरुद्धानि तत्र प्रमाणं वेदः कपिलकणादक्रियामविरथतानि ग्रहान्तादिषु हि शब्दः प्रमाणं तथा चाक्षपादसूत्रं
भक्त्यक्षानुमानोपमा शब्दाः प्रमाणानि वैशेषिका अपितद्वचनानामाग्रायप्रामाण्यमित्याहुः अतस्तानि शास्त्राणि श्रोतव्यानीति च ।
तथा च महाभारते भगवता कृष्णैर्द्वैप्रायनेन दर्शितं ॥ श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याल्पबुद्धयः ॥ अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा सू-
क्ष्मार्थदर्शिनी ॥ अनुवाकहतेति तर्ककृतामप्युपपत्तिमाह केवलत्वादसत्तया तयेदमपरमुत कश्चिन्लोकायतिकान् ब्राह्मणा-
न्मार्तः सेवते ॥ अनर्थकुशला ह्येते मूर्खाः पण्डितमानिन इति ॥ अनेनासत्तर्कश्रवणं प्रसिद्धं पूर्वेण सत्तर्कानुज्ञानतदेव तदिति किंचित् ।
वेदः प्रामाण्यं वेदस्याहुरीश्वरप्रणेत्तृकतया न च तस्यास्ति संभवः न च तस्मिन्पक्षे वेदः प्रमाणं तस्य ह्यसावीश्वरः समयोपस्थापक-
एतेषु श्रूयमाणेषु प्रामाणिको विपरीतो भविष्येति जायते अतोऽसत्तर्का एव तेन च वैदिकस्य वाक्यावबोधे कस्यचिदप्युपयु-
ज्यते । तथा च सांख्यः सत्यविशुद्धिः क्षयातिशययुक्त इत्याहुः अक्षपादैर्पतदप्रामाण्यं मन्यते । तथा च याज्ञिकपूर्वपक्षे निर्धा-
रितं यदपिकेनचित्पठतं कर्म मीमांसावेद्यं तर्कभाषाभ्यामेवमभिधानं यथाश्रुति विज्ञायते देवा अस्माद्लोकादमुलोकमायं स्ता-
नृषयोन्वीयुस्तान्मनुष्या अब्रुवन् कथमथो भविष्यामः एभ्यः सर्वकर्म ऋषयः प्रयच्छन्त तस्माद्यत् ब्राह्मण उक्तं वास्तर्कयत्यार्थमेव-
तद्भवतीति श्रुतेरेषां यथोक्ततर्कपदार्थानुवादीनि ॥ १०६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतदेव स्पष्टयति आर्षमिति । आर्षमृषिप्रणीतं स्मृत्यादि धर्मोपदेशकत्वे हेतुत्वम् । वेद एव
शास्त्रं तदविरोधिना । अनुसंधत्ते वेदेन सह संघटयति ॥ १०६ ॥

(३) कुल्लूकः । ऋषिदृष्टत्वादा र्षवेदं धर्मोपदेशं च तन्मूलस्मृत्यादिकं यस्तदविरुद्धेन मीमांसादिन्यायेन विचारयति
सधर्मं जानाति नतु मीमांसानभिज्ञः धर्मे करणं वेदी मीमांसा चेति कर्तव्यता स्थानीया । तदुक्तं भट्टवार्तिककृता ॥ धर्मे प्रमी-
यमाणे हि वेदेन करणात्मना ॥ इति कर्तव्यता भागं मीमांसा पूरयिष्यति ॥ १०६ ॥

(४) राघवानन्दः । किंच आर्षमिति । ऋषिर्मन्त्रद्रष्टा मुनिस्तदुक्तो वेदः । धर्मोपदेशं धर्मशास्त्रं मन्वादि । तर्केण
मीमांसया पुराणन्यायमीमांसा इत्यादि मीमांसासंज्ञकस्तर्क इत्युक्तेः । अतएव ते सर्वे सर्वार्थेषु मीमांस्ये इति संगच्छते ।

अनुसंधत्ते विचारयति श्रुतिलिङ्गादिनोपक्रमादिना च संधत्ते । धर्मं ब्रह्मच वेदानिश्चिनोति । नेतरोबहिर्मुखइत्यन्वयः ॥ १०६ ॥

(५) नन्दनः । आर्षवेदपृषिभिःस्तुतत्वात्तथाचाह भगवान्वेदव्यासः ॥ युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदासेतिहासान्महर्षयः । लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञातास्वयंभुवाइति ॥ धर्मोपदेशं धर्मशास्त्रं वेदशास्त्राभ्यामविरोधो वेदशास्त्राविरोधः ॥ १०६ ॥

(६) रामचन्द्रः । सः धर्मं वेद जानाति इतरः न ॥ १०६ ॥

नैःश्रेयसमिदं कर्म यथोदितमशेषतः ॥ मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते ॥ १०७ ॥

(१) मेधातिथिः । वक्ष्यमाणार्थादारातिशयोत्पत्त्यर्थः श्लोकोऽयं श्रोत्रियसंबोधनार्थः । रहस्यंगुह्यम् ॥ १०७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतन्नैःश्रेयसं मानवस्य शास्त्रस्य निःश्रेयससाधनं कार्यम् ॥ १०७ ॥

(३) कुल्लूकः । एतन्निःश्रेयससाधनं कर्मनिःशेषेण यथावदुदितम् अत ऊर्ध्वमस्य मानवशास्त्रस्य रहस्यंगोपनी-यमिदं वक्ष्यमाणं शृणुत ॥ १०७ ॥

(४) राघवानन्दः । इदं तु शास्त्रं मोक्षोपयोगिकर्तव्यतात्पर्यकमित्याह नैःश्रेयसमिति । यथोदितं कर्मशेषतः साक्षात्परपरया वा नैःश्रेयसकरमेवेति । रहस्यमुपदिश्यत इत्यन्वयः ॥ १०७ ॥

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ॥ यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥ १०८ ॥

(१) मेधातिथिः । ननु चानाम्नातेषु कः संदेहः नोजानेनेह कथं स्यादिति चेत् यतो नैव तेषां तदुच्यते नेहेदृशमनाम्ना-तमभिप्रेतं किं तर्हि यत्सामान्यत आम्नातं विशेषतस्तु न ज्ञायते ननु च तत्रापि कः संदेहः सामान्यस्य विशेषमात्रापेक्षाद्येन केन-चित्सिद्धशास्त्रार्थयथाद्विराचमेदितिकुप्यस्यावरणादेयादिभेदेन भिन्नास्त्वप्सुताः काश्चिदुपादीयमानाः संपादयन्ति शास्त्रार्थं स-सत्यं यत्र प्रतिषेधश्रुतेर्न च वैशेषिकं प्रायश्चित्तमुपदिष्टं यत्रेदमुपदिश्यते यदा शूद्रोच्छिष्टं किंचित्पात्रंतदशुद्धंतत्संपर्कादिशुचि त-स्मिन्नकृतेशुद्धेयदिकेन चिद्भुक्तं स्यात्तदा किंप्रायश्चित्तमिति संदेहः । न च द्वयमपि प्रशंसेव ॥ १०८ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इदानीं मनुक्तस्य ग्रन्थस्य सतत्त्वं रहस्यं विगूढं तदुदीक्षते । अनाम्नातेषु विशेषत इति-चेद्भवेत्संशयः । शिष्टाः ब्राह्मणाः परिषद्भूताः ॥ १०८ ॥

(३) कुल्लूकः । अस्य शास्त्रस्यासमस्तधर्माभिधानमाशङ्क्यानया सामान्योक्त्या समयधर्मोपदेशकत्वं बोधयति । सामान्यविधिप्राप्तेषु विशेषेणानुपदिष्टेषु कथं कर्तव्यं स्यादिति यदि संशयो भवेत्तदा यं धर्मं वक्ष्यमाणलक्षणाः शिष्टा ब्राह्म-णान्ब्रूयुः स तत्र निश्चितो धर्मः स्यात् ॥ १०८ ॥

(४) राघवानन्दः । ननु वेदार्थस्यातीव दुरदगमत्वात्तेनास्पृष्टेषु धर्मेषु का गतिस्तत्राह अनाम्नातेति । ब्रूयुरयं धर्म-इति । सः अशङ्कितः फलाजनकत्वेन शङ्करहितः ॥ १०८ ॥

(५) नन्दनः । तदेवरहस्यं प्रश्नपूर्वकं व्याकरोति अनाम्नातेषु सर्वेष्विति ॥ १०८ ॥

(६) रामचन्द्रः । अनाम्नातेषु धर्मेषु अजातेषु सत्सु कथं स्यादिति भवेत् तत्राह यं धर्मं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः अशङ्कितः स्यात् ॥ १०८ ॥

धर्मेणाधिगतोऽयैस्तु वेदः सपरिवृंहणः ॥ ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ १०९ ॥

(१) मेधातिथिः । शिष्टलक्षणमनेन कथ्यते । ननु चार्थकामेष्वसत्त्वानामित्यत्रोक्तानामेव शिष्टलक्षणादन्योपित-

स्यतत्रार्थ आशंकितोऽतो न तस्य लक्षणपरतैव । यच्च विशिष्टेनोक्तं शिष्टः पुनरकामात्मेति तत्र विद्वत्तया श्रुतत्वात् यत्र परिपूर्णत्वादधिगतोऽर्थतश्च विदितः परिवृंहणानि । तथा च भगवान्व्यासः ॥ इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेदिति ॥ स्मृतयोप्येवंगृहीतार्था भवन्ति । ब्राह्मणग्रहणमनुवादस्तेषामपि धर्मप्रवचनाधिकारात् । श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः प्रत्यक्षहेतवश्च प्रत्यक्षहेतवः हेतुशब्देन प्रत्यक्षादन्याभिधानमुच्यते । श्रुतः प्रत्यक्षो हेतुश्च तेषां श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः एतदुक्तं भवति यथा प्रत्यक्षं निर्विवादप्रामाण्यमेव तादृशीं श्रुतिमन्यन्ते । यान्यपि हेतून् तानि प्रमाणानि तेषु विश्वसन्ति श्रुतिमेव तर्कमन्यन्ते हेतुशास्त्राश्रयणेन चेदं न प्रमाणीकुर्वन्ति । अथवा श्रुतेः प्रत्यक्षश्रुतेः प्रत्यक्षशब्दः श्रौते प्रत्यये प्रत्यक्षतुल्यत्वात्प्रयुक्तः । स च हेतुर्धर्माधर्मपरिज्ञानकारणं येषां त एव मुच्यन्ते ॥ १०९ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । शिष्टानेव लक्षयति धर्मेणेति । परिवृंहणं अङ्गधर्मशास्त्रपुराणादि । श्रुतेर्वेदस्य प्रत्यक्षं श्रोत्रप्रत्यक्षं तद्वेतवः अध्ययनसंप्रदायकर्तारः ॥ १०९ ॥

(३) कुल्लूकः । ब्रह्मचर्याद्युक्तधर्मेण यैरङ्गमीमांसाधर्मशास्त्रपुराणाद्युपबृंहितो वेदोऽधिगतस्ते ब्राह्मणाः श्रुतेः प्रत्यक्षीकरणे हेतवो ये श्रुतिपठित्वा तदर्थमुपदिशन्ति ते शिष्टा विज्ञेयाः ॥ १०९ ॥

(४) राघवानन्दः । तेषां शिष्टानां ब्राह्मणानां लक्षणमाह । धर्मेण ब्रह्मचर्यादिना । अधिगतोऽधीतः । सपरिवृंहणः व्याकरणादि [संयुक्तः] । श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः श्रुतिप्रत्यक्षानुमानानि हेतवः प्रमाणत्वेन धर्मादौ वर्तन्ते येषां शिष्टानां ते । श्रुतेः प्रत्यक्षकरणे हेतवो गर्भाधानादिसंस्कारावा ते तथोक्ताः ॥ १०९ ॥

(५) नन्दनः । केपुनः शिष्टा इत्यपेक्षायामाह धर्मेणाधिगतो यैस्त्विति । सपरिवृंहण इतिहासपुराणसहितो येषां श्रवणं प्रत्यक्षं च धर्मज्ञानवचनयोर्हेतुश्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ १०९ ॥

(६) रामचन्द्रः । यैः धर्मेण धर्मशास्त्रपुराणादिना वेदः अधिगतः प्राप्तः सपरिवृंहणः शिक्षाकल्पादिषडङ्गयुक्तः ते शिष्टा विज्ञेयाः ॥ १०९ ॥

दशावरा वा परिषद्यधर्मपरिकल्पयेत् ॥ च्यवरावापि वृत्तस्था तंधर्मन विचालयेत् ॥ ११० ॥

[पुराणं मानवो धर्मो साङ्गोपाङ्गचिकित्सकः ॥ आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥ ११ ॥]*

(१) मेघातिथिः । दशावरेयस्या दशावराः यदि बहवो न संनिधीयन्ते दशावश्यं संनिधातव्यास्तदभावे च्यवराः वृत्तस्थेतियदुक्तमर्थकामेष्वसक्तानामिति तस्यैवायमनुवादः । न चैषा पुरुषसंख्यापितु गुणसंख्या तथा च वक्ष्यत्येकोपिवेदविदिति एकस्य यतो गुणसमूहस्य बाहुल्येनासंभवात् पुरुषप्रधानतया संख्यायानिर्देशः कृतः तानीदानीं परिषत्त्वहेतुः ॥ ११० ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । दशसंख्यात्यन्तापरुष्टा यत्र सा दशावरा । वेति च्यवरामेक्षया विकल्पः । एवं च्यवरा वृत्तस्था त्वयमपि धर्मचारिणी कुर्यात् ॥ ११० ॥

(३) कुल्लूकः । यदि बहवः सन्तोऽवहितान भवन्ति तदा दशावरा च्यवराश्चेति वक्ष्यमाणलक्षणा यस्याः सां परिषत्तदभावे त्रयोऽवरा यस्याः सा वा सदाचाराय धर्मनिश्चिन्यात्तंधर्मत्वेन स्वीकुर्यान्निविसंवेदत् ॥ ११० ॥

(४) राघवानन्दः । उक्तब्राह्मणानां समूहः परिषदितिज्ञापयन् ब्राह्मणसंख्यां विकल्पेनाह दशेति । दशब्राह्मणा अवरा न्यूनसंख्यावच्छेदका यस्यां सा तथा । एवं च्यवरापि । वृत्तस्थाः वृत्तं जीवनं तद्युक्ताः वृत्तकर्षणालोभादिना धर्मच्युतेः संभाव्यमानत्वात् । न विचालयेदप्रमाणतया फलाहेतुशङ्कया वा ॥ ११० ॥

(५) नन्दनः । कतीनांविशिष्टानामुक्तिः धर्मसंक्षये किंप्रमाणमित्यपेक्षायामाह दशावरावा परिषदिति ॥ ११० ॥

(६) रामचन्द्रः । दशावरा दशभ्यःअवरान्यूना सा परिषत् यंधर्मं परिकल्पयेत् चपुनः व्यवरा त्रिभ्यः अवरा बृत्तस्था त्वधर्मं न विचालयेत् ॥ ११० ॥

त्रैविद्योहेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ॥ त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वं परिषत्स्याद्दशावरा ॥ १११ ॥

(१) मेधातिथिः । गुणान्दर्शयति पुरुषप्रधानेपि निर्देशे गुणपरतैव विज्ञेया । पूर्वोक्ताच्चेतो विषाणीवरुद्धान्प्रतिबालधिः सा प्राव निति गोत्रे लिप्सामिति । यस्त्रैविद्यो वेदत्रयस्याभ्येता तदर्थस्य च वेदिता अनुमानादिकुशलस्तर्की अयमूहापोहबुद्धियुक्तः । ननु च नैवं विदेवेदार्थवित्त्वमेव संभवतीत्युक्तं सत्यं परोपदेशादपि कस्यचिद्वाचनावतीवेदनमात्रा संभवत्यपि अतश्च प्रत्ययेन विनावेदार्थग्रहणार्थहेतुकेन भातीत्युक्तं एतेन निर्मुक्तो व्याख्यातः । धर्मपाठको मन्वादि स्मृतिश्रुतिशास्त्राणामभ्येता । त्रयश्चाश्रमिणो ह्येते ह्यनुष्ठानपराकुशलतरधर्मेषु भवन्ति पूर्वो ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुरित्येके तस्य हि ग्रामप्रवेशो ना निषिद्धो गौतमेन चेयमानुषीपठिता ॥ ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैखानस इति ॥ अन्यैत्वाहुः हिंसानुज्ञानास्तीति कथमसौ धर्माश्रयात्तस्मात्तापससकाशमन्यैः सह गंतव्यम् ॥ १११ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । त्रैविद्यइत्येकोपाध्यपेक्षमेकवचनं ऋग्यजुःसामार्थज्ञास्त्रयइत्यन्वयः । हेतुकः अनुमानज्ञः । तर्की मीमांसावाक्यार्थानुकूलतर्कज्ञः । नैरुक्तः पदार्थनिरुक्तिकुशलः । धर्मं भणयति धर्मभाणकः स्मृतिपुराणेतिहासज्ञः । त्रयश्चाश्रमिणो ब्रतिगृहस्थवनस्थाः पूर्वं परिव्राजकादन्ये । एतदभावे च व्यवराग्राह्याः ॥ १११ ॥

(३) कुल्लूकः । वेदत्रयसंबन्धशास्त्रात्रयाभ्येता श्रुतिस्मृत्यविरुद्धन्यायशास्त्रज्ञो मीमांसात्मकतर्कविनिरुक्तज्ञो मानवादिधर्मशास्त्रवेदी ब्रह्मचारी गृहस्थवानप्रस्थाइत्येषा दशावरा परिषत्स्यात् ॥ १११ ॥

(४) राघवानन्दः । परिषद्वयक्रमेण विवृणोति त्रैविद्यइति द्वाभ्याम् । त्रैविद्यः ऋग्यजुःसामानीति त्रयो विद्यास्तीति वेदत्रयशास्त्राभ्येतारः । हेतुकः तार्किकः हेतुः पञ्चावयवानुमानं तेनैव व्यवहरति । तर्की मीमांसकः । नैरुक्तः निरुक्तवेदाङ्गं तेन व्यवहरति तदुक्तम् । शिक्षाकल्पोध्याकरणं निरुक्तं छन्दोज्योतिषमिति । निरुक्तपदं षण्णामुपलक्षणम् । धर्मपाठकः मन्वादिधर्मशास्त्राध्यायी । आश्रमिणः पूर्वं ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थश्चैकैकशः ॥ १११ ॥

(५) नन्दनः । केपुनस्ते दशतानाह त्रैविद्यो हेतुकस्तर्कीति । त्रिवेदी त्रिविद्या यस्तामधीते वेत्ति वेति स त्रैविद्यः ऋग्वेदविद्यजुर्वेदवित्सामवेदविदश्चेति त्रयइत्यर्थः । हेतुकः हेतुभिरर्थनिर्णयेकुशलः तर्की ऊहापोहसमर्थः नैरुक्तः निरुक्तविन्नधर्मपाठको धर्मशास्त्राध्यायी आश्रमिण इति प्रशंसार्थे प्रत्ययः । ब्रह्मचर्येण सम्यगनुष्ठितेन गार्हस्थ्येन वानप्रस्थेन त्रयोपीति एते दशपुरुषा दशावरा परिषदिति ॥ १११ ॥

(६) रामचन्द्रः । त्रैविद्यः ऋग्यजुःसामपाठकः हेतुकः तर्कमीमांसार्थवाक्यानुकूलतत्त्वज्ञः नैरुक्तः पदार्थनिरुक्तिकुशलः धर्मपाठकः स्मृतिपुराणेतिहासज्ञः च पुनः पूर्वं त्रयः आश्रमिणः ब्रह्मचारिभृतयः एषा दशावरा परिषत् ॥ १११ ॥

ऋग्वेदविद्यजुर्वेदं सामवेदविदेव च ॥ व्यवरापरिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ११२ ॥

(१) मेधातिथिः । निरुक्तव्याकरणमीमांसाभिर्वेदार्थो ज्ञायते ते च सर्वे साधारणाः न हितत्रैकस्य वेदस्यार्थो ज्ञायते ऽन्यस्य नित्यमर्थप्रकारोऽस्ति । अथ ऋग्वेदादीत्यादिकथं भेदोपपत्तिः तथा तत्र गृहसूत्रभेदेन वेदमुक्तम् ॥ ११२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तानाह ऋग्वेदविदिति । तद्विदित्दर्थवित् ॥ ११२ ॥

(३) कुल्लूकः । ऋग्यजुःसामवेदशास्त्रानां येऽभ्येतारस्तदर्थज्ञाश्च त्रयः सा धर्मसंदेहनिरासार्थं व्यवरापरिषद्बोद्धव्या ॥ ११२ ॥

(४) राघवानन्दः । व्यवरात्रयः ऋग्वेदादिविदोऽवरायेषु धर्मानिर्णयकर्तृषु धर्मसंशयनिर्णये कर्तव्ये परिषत् ज्ञेया ॥ ११२ ॥

(६) रामचन्द्रः । ऋग्यजुः सामवेदवित् ॥ ११२ ॥

एकोपि वेदविद्वर्म्मयं व्यवस्येद्विजोत्तमः ॥ सविज्ञेयः परोधर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ ११३ ॥

(१) मेधातिथिः । व्यवस्येनिश्चित्य कथयेदित्यर्थः । नाज्ञानां मूर्खाणां अयुतैरप्युदितः । उत्तरः प्रागेव व्याख्यायते ॥ ११३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । वेदत्रयार्थवित् । विचक्षणस्तर्ककुशलः । नत्वज्ञानां वेदहेत्वादिज्ञानशून्यानाम् ॥ ११३ ॥

(३) कुल्लूकः । तदभावे एकोपीति । एकोऽपि वेदार्थधर्मज्ञो यं धर्मनिश्चिनूयात् प्रकृष्टो धर्मः संबोद्धव्यो न वेदानभिज्ञानां दशभिः सहस्रैरप्युक्तः वेदविच्छब्देऽयं वेदार्थधर्मज्ञपरः । एतच्च श्रेष्ठोपलक्षणं स्मृतिपुराणमीसां सान्यायशास्त्रज्ञोपि गुरुपरंपरोपदेशविच्छेयः । तथा ॥ केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः । युक्तिहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते ॥ तेन बहुस्मृतिज्ञोपि यदि सम्यक्प्रायश्चित्तादिधर्मजानाति तदा तेनाप्येकेन धर्मोक्तः प्रकृष्टो धर्मो ज्ञेयः । अतएव यमः ॥ एको द्वौ वा त्रयो वापि यद्वयुर्धर्मपाठकाः ॥ सधर्म इति विज्ञेयो नेतरेषां सहस्रशः ॥ ११३ ॥

(४) राघवानन्दः । एतेषामभावे वेदविदेकोपि धर्मवक्ता नाज्ञानां दशसहस्रमित्याह एक इति । व्यवस्येत् निश्चिनूयात् । अज्ञानामयुतैरुदितो न धर्म इत्यन्वयः ॥ ११३ ॥

(६) रामचन्द्रः । एकोपि वेदत्रयार्थवित् यं धर्मं व्यवस्येत् विचालयेत् स परोधर्मः अज्ञानामयुतैः यो धर्म उदितः स नकार्यः ॥ ११३ ॥

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ॥ सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं विद्यते ॥ ११४ ॥

(१) मेधातिथिः । अव्रतानामिति प्रागुक्त एवार्थोऽप्यतिरेकद्वारेण कथ्यते । व्रतिनो वेदाभ्यायिनः निश्चयं ब्रुवते तत्र न विचिकित्सितव्यं विद्वद्भिरविद्वद्भिर्वाऽतएव न लघुपरिकल्पो गुणतुल्यवद्विकल्पते ॥ ११४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अयुतैरित्युक्तं तत्स्पष्टयेति अव्रतानामिति । अव्रतानामचीर्णवेदव्रतानाम् । अमन्त्राणां मनधीतवेदानाम् । सहस्रशः सहस्रसंख्यया । परिषत्त्वं धर्मोपदेशकत्वम् ॥ ११४ ॥

(३) कुल्लूकः । सावित्र्यादिब्रह्मचारिव्रतरहितानां मन्त्रवेदाध्ययनरहितानां ब्राह्मणजातिमात्रधारिणां बहूनामपिमिलितानां परिषत्त्वं नास्ति धर्मनिर्णयसामर्थ्याभावात् ॥ ११४ ॥

(४) राघवानन्दः । व्रतमन्त्रविहीनानां ब्रह्मबन्धूनां न परिषत्त्वमित्याह अव्रतानामतपस्विनां अमन्त्राणां विदहीनानाम् ॥ ११४ ॥

(६) रामचन्द्रः । अव्रतानां अमन्त्राणां मन्त्रमात्रे रहितानां द्विजानां जातिमात्रोपजीविनां सहस्रशः समेतानां एतेऽपिमिलितानां परिषत्त्वं विद्यते ॥ ११४ ॥

यंवदन्ति तमोभूनामूर्वाधर्ममतद्विदः ॥ तत्पापंशतधा भूत्वा तद्वक्तृननुगच्छति ॥ ११५ ॥

(१) मेधातिथिः । वक्तृणामविदुषां दोषकथनम् ॥ ११५ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । तमोविपरीतज्ञानं उद्धृतास्तत्प्राप्ताः । मूर्खा अनधीतवेदाः । अतद्विदो धर्ममजानन्तः तद्धर्माभासकरणे यथोक्तधर्मपरित्यागेन यत्पापं तच्छतधा शतप्रकारं शतगुणमित्यर्थः । तद्वक्तृन् तद्धर्मान्वक्तृस्तानेव मूर्खान् ॥ ११५ ॥

(३) कुहूकः । तमोगुणबहुलामूर्खाः धर्मप्रमाणवेदार्थानभिज्ञा अतएव प्रश्नविषयधर्माविदः प्रायश्चित्तादिधर्मयंपुरुषंप्रत्युपदिशन्ति तदीयंपापंशतगुणं भूत्वा वाचकान्वहून्भजेत ॥ ११५ ॥

(४) राघवानन्दः । न केवलं परिषत्त्वाभावोऽपि तु तन्निर्णीतमनर्थवहमित्याह यमिति । तमोभूतास्तमसाऽविवेकेनाभिभूताः । तत्पापं कर्तुः पापं शतगुणं भूत्वा तद्वक्तृन्धर्मनिर्णयकर्तृननुगच्छति फलायेतिशेषः ॥ ११५ ॥

(६) रामचन्द्रः । तमोभूताः विपरीतज्ञानंप्राप्ताः यंधर्मं वदन्ति तत्पापं शतधा शतगुणितं भूत्वा तद्वक्तृननुगच्छति प्राप्नोति ॥ ११५ ॥

एतद्वोऽभिहितं सर्वनिःश्रेयसकरंपरम् ॥ अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमांगतिम् ॥ ११६ ॥

(१) मेधातिथिः । प्रतिज्ञानधर्मोपसंहारः श्लोकोऽयं धर्मान्नोवक्तुमर्हसीतियत्पृष्ठं महर्षीन् श्रूयतामिति यद्वक्तव्यतया प्रतिज्ञातं तत्सर्वं कथितमिति शारूपरिसमाप्तिमाह । ननु च परस्तादप्यस्ति शास्त्रं हंतव्यादिशास्त्रं साचविधितः श्रूयते तत्र विधिविषये कश्चिदितिकथमुच्यते शास्त्रमुपसंक्षिप्यत इति वक्तुं करोति प्राय उपसंहारः । परस्ताच्च कर्मशेषात्त्वप्रधाना शुद्धैव विद्योपदेशत इति निविरोधः । सर्वत्र श्रेयसी शास्त्रार्थधर्मलक्षणा विद्येत्युपसंख्ययाभिधाने प्रयोजनम् ॥ ११६ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अपच्युतः अत्यक्तोचमः ॥ ११६ ॥

(३) कुहूकः । एतन्निःश्रेयससाधकंप्रकृष्टं धर्मादिकं सर्वयुष्माकमभिहितं एतदनुतिष्ठन् ब्राह्मणादिः परमांगतिं स्वर्गापवर्गरूपां प्राप्नोति ॥ ११६ ॥

(४) राघवानन्दः । धर्मान्नोवक्तुमर्हसीतियत्पृष्ठं महर्षीन् श्रूयतामिति यत् प्रतिज्ञातं तत्सर्वं स्तोक्तं परमप्रकृतमुपसंहरन् धर्मस्य मोक्षफलत्वमाह एतदिति । अस्मान्मनूक्तानित्यनैमित्तिकाद्धर्मादप्रच्युतोऽपरिश्रष्टः परमां मोक्षाख्यां प्राप्नोत्येव । तदुक्तम् भगवता वासुदेवेन ॥ सर्वकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यत इति ॥ आरादुपकारकत्वेन ज्ञानहेतुत्वं कर्मणामित्युक्तं तन्न प्रसूतव्यम् ॥ ११६ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतद्वोयुष्माकं परनैः श्रेयसकरं गुह्यं धर्मजातं सर्वं अभिहितं कथितं अस्मादप्रच्युतः अत्यक्तधर्मः ॥ ११६ ॥

एवं स भगवान् देवलोकानां हितकाम्यया ॥ धर्मस्य परमं गुह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान् ॥ ११७ ॥

(१) मेधातिथिः । स भगवान्मनुरिदं शास्त्रं सर्वलोकहिताय प्रोक्तवानिति शृगुः शिष्यानाह अनेनाधिकाराकांक्षानिवर्तते । गुह्यं दध्यत्वं तदपि मनुर्मापुपदिश्य प्रकाशयाचक्रे ममापि यथागमं भवतां प्रकटीकृतमतिनिकायाधिकाकांक्षा ॥ ११७ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । धर्मगुह्यं सारम् ॥ ११७ ॥

(३) कुल्लूकः । स भगवानैश्वर्यादिसंयुक्तोद्योतनादेवोमनुरुक्तप्रकारेणोदंसर्वधर्मस्य परमार्थशुश्रूषुषिष्येभ्यः अगोपनीयंलोकहितेच्छया ममेदंसर्वमुक्तवानिति श्रुगुर्महर्षीनाह ॥ ११७ ॥

(४) राघवानन्दः । अस्य शास्त्रस्य स्वकपोलरचितत्वं व्यावर्तयितुं त्वगुरोर्वृत्तमाह एवमिति । इदमन्वाख्यं परमस्मृत्यन्तरेभ्यः श्रष्टं गुह्यमार्यसंरक्षणीयत्वाद्धर्मस्यवस्तु [तस्तु]' धर्मस्यानुष्ठीयमानस्येदमपरोक्षीभूतम् परमं परेण वेदान्तमानेन भीयते ब्रह्म अतएव गुह्यं यतः सर्वसर्वस्याधिष्ठानत्वे सति सर्वाविधिभूतं सर्वस्वत्विदं ब्रह्म तज्जलान् पुरुषान् परं किंचित्साकाशासा परागतिरिति श्रुतेः ॥ ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्यवस्य च ॥ शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य चेति भगवदुक्तेश्च ॥ ११७ ॥

(५) नन्दनः । अधीतधर्मशास्त्रस्यामपुरुषमूलत्वमाह एवं स भगवान्देव इति । एवं देवः स्वायम्भुवोमनुरनेनास्य ज्ञानातिशय उक्तः लोकानां हितकाम्यया कारुण्यमेवोपदेशकारणं नान्यदित्युक्तम् ॥ ११७ ॥

(६) रामचन्द्रः । धर्मस्य परमं गुह्यं धर्मं स्मृतं मम इदं सर्वं उक्तवान् ॥ ११७ ॥

सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः ॥ सर्वस्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥ ११८ ॥

(१) मेधातिथिः । सर्वजगत्सदसद्रूपमुत्पत्तिविनाशधर्मकं अथवा न्यः शशविषाणादिवत्तु यच्च नित्यमाकाशादिवत् सर्वमात्मनि संपश्येदात्मनि व्यवस्थितमुपासीत । संदर्शनार्थस्य स्पष्टार्थस्य साक्षात्करणपर्यन्तयोपासनया विज्ञायते । न हि सकृदर्शनेन साक्षात्कारः संभवति तथोपदिश्यते रहस्यशास्त्रं तत्रात्मध्यानायैतदुक्तं भवति श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति ध्यानपर्यन्तता संदर्शनेन दर्शनस्याप्यात्मध्यानं यथोपदिष्टज्ञानाभ्यासो विजातीयप्रत्ययान्तरितमुच्यते । अथवासामर्थ्यादभ्यासाक्षेपः यतः संस्कारकर्मणि च संस्कार्यैर्विशेषाधानेन संपन्नस्वार्थानि भवन्ति । यथा ब्रीहीनवहन्तीनि अश्रुतोपभ्यासतुषकणविप्रमोकफलेभ्यस्तत्संदर्शनेन हृदयार्थता स्यात् । तथा च कर्मविधित्वात् षष्ठिसंस्कारकर्मताहानिश्च । अतः संपश्येदिति ज्ञेयान्तरविषयज्ञाननिराकरणेन तदेकज्ञेयनिष्ठमनुब्रूयात् अत्रात्मनीति विवदन्ते कोयमात्मानाम यदि तावदयं विकरणक्षेत्रज्ञत उत्तरं विरुध्येत प्रशासितारं रुक्माभमिति । न हि कर्मत्वशरीरस्य मृत्योरुत्पत्तिः श्रूयते नैतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गीद्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत इति तस्मान्नेह प्रत्ययप्रमेय आत्मन्यपि संसारविधिः । अतो न्याकाचित्तस्य स्वरूपसिद्धिर्वक्तव्या । किंचैवं सति पश्येदिति आदिना बाह्यात्मनामभ्याधिभूताधिदैवभावेन व्यवस्थितो नामाभ्यात्ममुपसंहारः । शिष्येते च श्रौतमतोस्तरागः साधनतया कारणात्मना जितस्य संबन्धितां प्रतिपद्यते । ननु यः सर्वजगत्कारणपुरुषावच्छेदमुक्तं सदा प्रत्यात्मनि संपश्येदिति तत्र कीदृशमात्मनो दर्शनमात्मनीति वक्तव्यम् । अन्येतु मन्यन्ते शरीरात्मन एवैतत्संनिवेशं न युक्तं तस्य हि श्रोतृसंनिवेशेन तद्वत्तायुक्ता तत्रोच्यते आत्मशब्दस्तावत्परमात्मविषयतया दर्शितवाक्यान्तरसमन्वयप्रमाणः यत्र स्वरूपसिद्धिर्वक्तव्येति तत्र किमन्यच्छक्यं न वक्तुमन्यदतः श्रोतृत्वज्ञानविधेः तानि च वाक्यानि प्रतिशास्त्रं सर्वोपनिषद्भ्यो वगन्तव्यानि । प्रमाणान्तराणामप्येकत्वप्रतिपादनपरत्वादेव ग्राहिणः प्रत्यक्षस्य मिश्रैः कृत एव क्लेशः ॥ उक्तं च वाक्यपदीये न तदस्ति च तन्नाग्रीत्यादि ति ध्यवगम्यतां च शरीरावरकादवसातव्या । यदप्युक्तमसत्कथं दर्शयन्निति सचासच्चेत्ययमर्थः स्यात् सदिति विकारस्य ग्राम्यस्य निर्देशः असदिति प्रत्यक्षतैव सूक्ष्मतया क्षरावधारत्वात् । यदप्युक्तं नास्ति परमात्मनः श्रोत्रसंबन्ध इति किमत्र संबन्धिसर्वस्य जगत्स्थित्युत्पत्तिविनाशानां तत्कारणतयोपपादित्वात् यश्चायं संनिवेशविधिस्तस्यायमर्थः यावद्यत्किंचिद्देवदवभासते तत्सर्व-

मद्वैतिकत्वेप्रविलापयेत् । सर्वमात्मस्थमित्येतत्परमात्मनोविरतिसामान्येहेतुर्विद्यतइति । समाहितः समाधिर्नामचित्तवृत्ति-
निरोधोपायोयोगशास्त्रादागमयितव्यइत्यर्थः । नाधर्मेकुरुतेमर्तिबुद्धिश्चेतसोनिश्चलताभावः तावदभ्यसेद्यावद्वादिभिश्चेतोनाप-
ह्नियेतअतश्चयावत्कश्चिद्भेदकत्वेप्रतिविलापयेत् ॥ ११८ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । आत्मनि परमात्मनि स्थितं न ततोऽन्यत्र पश्येदित्यर्थः । सद्वर्तमानम् । असद्वर्तमानम् ।
समाहितोऽभ्यानस्थः । नाधर्मेमनःकुरुते रागद्वेषाभावात् ॥ ११८ ॥

(३) कुङ्कुमः । एवमुपसंख्यते महर्षीणां हितायोक्तमप्यात्मज्ञानं प्रकृतमोक्षोपकारकतया पृथक्कृत्याह सर्वमिति ।
सद्भावमसद्भावं सर्वं ब्राह्मणोजानन् ब्रह्मस्वरूपमात्मन्युपस्थितं तदात्मकमनन्यमनाभ्यानप्रकर्षेण साक्षात्कुर्यात् यस्मात्सर्वमा-
त्मत्वेन पश्यन्नागद्वेषाभावादधर्मे मनोऽन कुरुते ॥ ११८ ॥

(४) राघवानन्दः । एतदेवोपपादयतिअध्यारोपापवादाभ्यां सर्वमितिसप्तभिः । सर्वं सचित्कजगत् सत् स्थूलं
पृथिव्यादि असत् आकाशादि द्वेवावब्रह्मणोरुपेर्मूर्तैवामूर्तैवेति श्रुतेः । आत्मन्यध्यस्तमिति सं सम्यक् पश्येन्न तु यो-
षित्यग्निवत्पश्येत् । हि अधर्मे धारणाद्धर्मो ब्रह्म तद्भिन्ने अनात्मनि मनोऽन कुरुते आसक्तिं न कुर्यात् । अथवा अधा-
र्मिकोऽस्मीति न मन्येत धर्माधर्मयोस्तद्धेतोः कर्तृत्वादेरसत्त्वात् न साधुना कर्मणा वर्धते नोऽवासाधुना कनीयान् सर्वे पा-
प्मानोऽतो निवर्तन्ते । किमहं साधुना करवं किमहं पापमकरवमिति श्रुतेश्च ॥ ११८ ॥

(५) नन्दनः । अथ धर्मशास्त्रार्थोपदेशत्वेनोपदिष्टयोः परस्परमात्मज्ञानयोगयोरदरातिशयार्थं ज्ञानं तावत्पञ्च-
ति सर्वमात्मनिसंपश्येदिति । सदसत्कारणकार्यं शुभाशुभे वा सर्वमात्मनि संपश्येदात्मनिसर्वमाकाशे वा युमिव स्थितं पश्ये-
दित्यर्थः । नाधर्मे कुरुते मनइत्यनेन ज्ञानस्यानुषङ्गिकं फलमुक्तम् ॥ ११८ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वं आत्मनि परमात्मनि संपश्येत् । सच्चासच्च समाहितः ध्यानस्थः ॥ ११८ ॥

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ॥ आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥ ११९ ॥

(१) मेधातिथिः । सर्वत्रयागादिक्रियाः स्वर्गादयो देवता आत्मत्वेन द्रष्टव्याः । यो यमग्निर्देवता अग्नेरियमन्यात्मैवा-
सौ नान्योऽग्निर्देवतास्तीति । तदप्युक्तं एकआत्मा बहुधा श्रूयतइति यत्र युक्त एक एवाहमात्मा देवतेति तथा इन्द्रमिन्द्रवरुणमग्निमाहुः
एकं सद्भिर्बाहुधा वदन्ति बहुरूपपरमात्मनोऽन्यां देवतां पश्यन्ति । सतां परादादित्यनेन कर्मो गदेवतानामात्मदृष्टिर्विधीयते किं-
तर्हि न तस्य देवतादिकृत्यमस्ति । आत्मतयैव सर्वसिद्धिः कथं नार्थात्मनि जनयत्येषामिति कर्मयोगे कर्मफलसंबन्धः स आ-
त्मा तेषां निष्पादयति नान्या देवतानतद्रुणकमिति ॥ ११९ ॥

(२) सर्वज्ञानारायणः । एवं भूतनिश्चयहेतुभूतामुपसंहारभावनामाह आत्मैवेति । सर्वदेवताभ्योन्यदपि अवस्थि-
तमभेदेन । यस्मात्कर्मकर्तृत्वं योगकर्तृत्वं शरीरिणां जीवानामात्मा परमात्मा जनयतीति तदेतत्कर्तृत्वाधीनभावनागोचर-
मित्यनुचितयेदित्यर्थः ॥ ११९ ॥

(३) कुङ्कुमः । एतदेव स्पष्टयति आत्मैवेति । इन्द्राद्याः सर्वदेवताः परमात्मैव सर्वात्मत्वात् परमात्मनः सर्वजगदात्म-
न्येवावस्थितं परमात्मपरिणामत्वात् हिरवधारणार्थं । परमात्मैवैषां क्षेत्रज्ञादीनां कर्मसंबन्धं जनयति । तथा च श्रुतिः एष ह्येव
साधु कर्मकारयति यमूर्ध्वनिनीषति एष ह्येवासाधु कर्मकारयति यमधो निनीषतीति ॥ ११९ ॥

(४) राघवानन्दः । ननु कथंकर्तृत्वाद्यभावइतिचेदिन्द्रियगणस्य तदधिष्ठानदेवतागणस्यात्मन्यध्यस्ततया तन्मात्रत्वंयदातदाजीवस्यसुतरामकर्तृत्वादित्याह आत्मैवेति । एवशब्दोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थः । देवताशब्दोजगद्विवर्तपरः । अतएवाह सर्वमिति । अवस्थितमध्यस्तं चिदचित्तोर्वास्तवसंबन्धानिरूपणात् । जनयति अयस्कान्तमणिरिव स्वसंनिधानेन प्रवर्तयतीव [ध्यायतीवलेलायती] चेतिश्रुतेः । शरीरिणां स्थूलशरीरावच्छिन्नलिङ्गशरीरिणां ॥ विज्ञानयज्ञंतनुते ॥ कर्माणितनुतेपिचेतिश्रुतेः ॥ अन्वागत पुण्येनान्वागत पापेन असंगोक्षयंपुरुषः [केवलो] निर्गुणश्च न लिप्यते कर्मणा पापपंकेनेत्यात्मनोसंगत्वश्रुतेः ॥ ११९ ॥

(५) नन्दनः । सर्वादेवताआत्मैव सर्वदेवताः परमात्मनोविभूतिभूतानि सर्वमात्मन्यवस्थितंसर्वमात्मपरतन्त्रमित्यर्थः पारतन्त्र्यमेवोत्तरार्धेनोपपादितम् ॥ ११९ ॥

(६) रामचन्द्रः । सर्वादेवताः आत्मैव । सर्वमात्मनि अवस्थितम् । आत्मा परमात्मा एषां शरीरिणां जीवात्मनां कर्मयोगं कर्तृत्वं जनयति ॥ ११९ ॥

स्वसन्निवेशयेत्स्वेषु चेष्टनस्पर्शनेऽनिलम् ॥ पक्ति दृष्टयोः परंतेजः स्नेहेऽपोगांच मूर्तिषु ॥ १२० ॥

(१) मेधातिथिः । यान्येतानि नवच्छिद्राणि तेषु बाह्यमाकाशानियच्छेत् बाह्यमाकाशंतदेवतन्बाह्यंकिंचिदस्तीति । अनियतोवायुः तंसन्निवेशयेत् । चेष्टते स्पंदते तत्रकाचिच्छरीरावस्था हस्तपादाद्युक्तविहरणलक्षणायाश्चायंस्पर्शोवाय्वादिलक्षणस्तत्रवायुसंनिवेशयेत् । पक्तिर्जाठराग्रिकृता दृष्टिश्च कुशलोनिवेशयेत् सर्वतत्परंरक्षणमित्यात्मनावस्थितं स्नेहोमेदोमज्जादिरूपेसंनिवेशयेदिति वर्तते गां पृथिवीमूर्तिषुशरीरभागेषु एवंमहाभूतानामुपसंहारः इदानींदेवतानामाधानमुपसंहरिष्यते ॥ १२० ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । अत्राप्यशक्तस्य स्वशरीरएव सर्वदेवता सर्वभूतोपसंहारभावनां सुकरां चित्तस्थैर्यसिध्यर्थमाह स्वमिति । स्वं बाह्यमाकाशं त्वदेहच्छिद्रेषु संनिवेशयेदेकीभूतंभावयेत् । चेष्टनः शरीरभूतोवायुः स्पर्शनः स्पर्शज्ञानहेतुस्वगिन्द्रियं अनिलोबाह्यः । पक्तिरन्लमाककारी वह्निः । दृष्टिश्चक्षुस्तेजः । परं बाह्यम् । स्नेहे स्निग्धत्वहेतौ शरीरजले । अपोबाह्याः । गां पृथ्वीम् । मूर्तेषु कठिनावयवेषु ॥ १२० ॥

(३) कुहू ऋः । इदानींवक्ष्यमाणब्रह्मध्यानविशेषोपयोगितया दैहिकाकाशादिषु बाह्याकाशादीनांलयमाह स्वमिति । बाह्याकाशमुदराद्यवच्छिन्नशरीराकाशेषु लीनमेकत्वेन धारयेत् । तथाचेष्टास्पर्शकारणभूतदैहिकवायौ बाह्यवायुं और्द्व्यचाक्षुषतेजसारेणिसूर्ययोःप्रकटंतेजः दैहिकात्पुष्पु बाह्याअपः बाह्याःपृथिव्यादयःशरीरपार्थिवभागेषु ॥ १२० ॥

(४) राघवानन्दः । आरोपमुक्त्वाऽपवादप्रकारमाह स्वमिति । स्वं सकार्यपञ्चीकृतमाकाशं निवेशयेत् संहरेत् । स्वेषु अपञ्चीकृताकाशतत्कार्यश्रोत्रियेन्द्रियेषु विषयग्रहणार्थमिन्द्रियंतत्संहारेण तेषामपि संहरणं भवतीतिभावः । एवमुत्तरत्र । एवमाकाशं संतृत्यानिलं बाह्यवायुं तस्मिन् । स्पर्शनंनत्वचिचेष्टनेआन्तराणवायौ । पक्तिदृष्ट्योः पचनप्रकाशद्वययुजि जाठराग्रौ चक्षुषि च तेजीनिवेशयेदित्यनुषज्यते । स्नेहे शरीरस्थे रसनायांजलमिव अपोबाह्याः । मूर्तिषु शरीरस्थपृथिव्यां गां बाह्यपृथिवीम् ॥ १२० ॥

(५) नन्दनः । अथयोगंमपञ्चयति खंसनिवेशयेत्वेष्टिति । खेषु श्रोत्रादिषु शरीररन्ध्रेषु खमाकाशाभिमानिनीदेवतासंनिवेशयेत्तदात्मकतयाध्यायेदित्यर्थः । एवमुत्तरत्र निवेश्यत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्तदभिमानिनीदेवताइत्यवगन्तव्यं । चेष्टनस्पर्शनेपाणित्वगिन्द्रिययोःकर्मणी अनिलंवायुः । पक्तिर्जाठरोग्निस्तस्मिन्दष्टौचतेजःअग्निस्नेहे शरीरस्यस्निग्धत्वमूर्तिषुअस्थिषु गांभूमिम् ॥ १२० ॥

(६) रामचन्द्रः । खं बाह्याकाशं त्वेषु देहछिद्रेषु संनिवेशयेत् । चेष्टनः शरीरवायुसंस्पर्शने ज्ञानहेतुःअनिलं । बाह्यपक्तिदृष्टोः अन्नपाककरीवद्विपरं चक्षुषोर्बाह्यं तेजः । स्नेहेः अपः । गां पृथ्वीं मूर्तिषु ॥ १२० ॥

मनसीन्दुंदिशः श्रोत्रे क्रान्तेविष्णुंबलेहरम् ॥ वाच्यग्निमित्रमुत्सर्गे प्रजने च प्रजापतिम् ॥ १२१ ॥

(१) मेधातिथिः । योयमिन्दुश्चन्द्रमास्तंमनसिसंनिवेशयेत् नैषचन्द्रोगगनसंचारीकिंताहिमममनसिव्यवस्थितः । आश्वदिशःश्रोत्रेन्द्रियशक्तौ । ततोविष्णुंयोयत्राल्पमतिक्रामतिविष्णुरेक्रान्तेकर्मणासंनिविष्टः । एवंचतेहरहनुरेतोद्रागप्युत्थानंसचेन्द्रियावकाशःकालारुतिरिन्द्रियकर्मेवतत् । यंयंवागग्नेरवायमुत्सर्गोवाय्वाद्येर्मन्त्रैःपश्येत् । एवमध्यात्ममुपसंहृत्य सर्वपरमात्मनिपश्येत् । एवमात्मकोहेतुःपरमात्मनिष्यवस्थितोनाहंकश्चित्ततोभिन्नइति । एवमेषासर्वोपासनाकर्तव्या ॥ १२१ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । इन्दुश्चन्द्रः तस्य मनोदेवतात्वात् । एवमुत्तरेष्वपि देवतोपसंहारेषु । क्रान्ते गमनहेतौचरणे । बले सामर्थ्ये हरमीश्वरम् । उत्सर्गे पाप्विन्द्रिये प्रजापतिं ब्रह्माणम् ॥ १२१ ॥

(३) कुल्लूकः । मनसिचन्द्रश्चोत्रेदिशः पादेन्द्रियेविष्णुम्बले हरंवागिन्द्रियेऽग्निपाप्विन्द्रिये मित्रमुपस्थेन्द्रिये प्रजापतिं लीनमेकत्वेन भावयेत् । एवमाध्यात्मिकभूतादिकलीनमेकत्वेनभावयित्वा योयमग्न्यादीनांदेहिकादिनियमोयच्च कर्मणांफलंप्रतिनियतंतत्सर्वपरमात्माधीनं । तथा चैतस्य चक्षुरस्य प्रज्ञासनेगीस्तपयति । तथा भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमइति ॥ १२१ ॥

(४) राघवानन्दः । एवं स्थूलपृथिव्यादिपञ्चकस्य बाह्यस्य देहारम्भकेष्विन्द्रियपञ्चकेषु च लयमुक्त्वा इन्द्रियेषु तदधिष्ठातृदेवतालयमाह मनसीति । इन्द्रियानुग्राहकतया देवतासृष्टेस्तत्रैव लयः ॥ चन्द्रमामनसोजातश्चक्षुःसूर्योअजायतेतिश्रुतेः । क्रान्ते पादे । बले पाणौ हरिं इन्द्रं बलकर्माहिइन्द्रइतिश्रुतेः । हरमितिप्रमादपाठः । अहरमितिवा छेदेन हरतुल्यतया हरिर्विष्णुस्तत्पर्यायइन्द्रः । उत्सर्गे पायौ मित्रं मित्राख्यं सूर्यं । प्रजने लिङ्गे प्रजापतिं दक्षम् ॥ १२१ ॥

(५) नन्दनः । क्रान्ते पादे विष्णुंउपेन्द्रंहरिंइन्द्रं वाचि वागिन्द्रिये उत्सर्गेगुदे प्रजनने मेढ्रे अत्र निवेशयेदित्यनुषङ्गः ॥ १२१ ॥

(६) रामचन्द्रः । मनसिइन्दुं । दिशः श्रोत्रे । क्रान्ते विष्णुं । बले सामर्थ्ये हरं । वाचि अग्निं । मित्रं मित्रदैवतं उत्सर्गे । प्रजनने उपस्थेन्द्रिये प्रजापतिम् ॥ १२१ ॥

प्रशासितारंसर्वेषामणीयांसमणोरपि ॥ रुक्माभंस्वमधीगम्यंविद्यात्तंपुरुषंपरम् ॥ १२२ ॥

(१) मेधातिथिः । एवमेवाह प्रशासितारंनियंतारंसर्वेषांब्राह्मणादिशूद्रपर्यन्तानांयोयमग्न्यादीनामौष्ण्यादिस्वभावनिश्चयोयच्चभित्त्यादीनामनिशमन्तःपरमोजःजगतभ्रमणप्रकाशनादिस्वव्यापारोयश्चकर्मणांफलंप्रतिनियमः ससर्वस्तस्मिन्नियंतारसति । यदुक्तमेतस्यैवाक्षरस्यप्रशासनेगार्गीत्यादिना तथातत्सूर्यस्तपतिचयावद्वर्षतिचंद्रमाभयादग्निश्चवायुश्चमृत्युर्धावतिपञ्चमइति । अणीयांसमणोरपीति । यःकश्चिद्द्वारानिरतिशयवालाग्रशतभागादिस्तत्तेतृतीयांशपरिमाणकत्वमसुप्रतिपाद्यते ।

अस्थूलमंतश्चान्यादिसर्वधर्मप्रतिषेधात् किंताहिं कुशाग्रीयायाबुद्धेर्गम्यत्वात् एतदुक्तं भवति योनात्यन्तंकुशलो न च तदभ्यासेपरिष्वक्तः ॥ १२२ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । एवमुपसंहारे भावनया मनस एकाग्रत्वे सिद्धे यादृग्ध्येयं तदाह प्रशासितारमिति । रुक्माभं प्रकाशकं त्वमधीगम्यं त्वमे विषयाणां बाह्यानामात्मन्येवाध्यासादधिष्ठानतया सर्वत्र प्रकाशमानमहंकारावच्छिन्नं । पुरुषं पुरिलिङ्गशरीरे निषण्णं जीवात्मानं परंपरमात्मनं प्रशासितारं विश्वस्य परमेश्वरं अणोरतिसूक्ष्मादप्यणीयांसमतिसूक्ष्मं दुर्विज्ञानं विद्यात् भावयेदहंब्रह्मास्मीति जीवात्मपरमात्मनोः प्रत्यक्षपरोक्षयोस्तदुपाधिद्वयपरित्यागेनैक्यं चिन्तयेदित्यर्थः ॥ १२२ ॥

(३) कृच्छ्रकः । प्रशासितारं नियंतारं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य चेतनाचेतनस्य जातेः योयमग्न्यादीनामौष्ण्यादिनियमोयश्चादित्यादीनां भ्रमणादिनियमोयश्च कर्मणां फलप्रतिनियतमेतत्सर्वपरमात्माधीनं तथा चैतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासनेगार्गीत्याद्युपनिषदः तथा भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ॥ भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चम इति । तथा अणोरणीयांसं सर्वात्मत्वात्तथा च श्रुतिः ॥ बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ॥ भागोजीवेति विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥ रुक्माभं यद्यप्यशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययमित्याद्युपनिषदाख्यं परमात्मनो निषिद्धं तथाप्युपासनाविशेषे शुद्धसुवर्णाभम् अतएव येषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमय इत्यादिछान्दोग्योपनिषत् त्वमधीगम्यं दृष्टान्तोयम् त्वमधीसदृशज्ञानग्राह्यं तथा त्वमधीः चक्षुरादिबाह्येन्द्रियोपरमे मनोमात्रेण जन्यत एवमात्मधीरपि । अतएव व्यासः ॥ नैवासौ चक्षुषा ग्राह्यो न च शिष्टैरपीन्द्रियैः । मनसा तु प्रसन्नेन गृह्यते सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ एवंविधं परमात्मानमनुचिन्तयेत् ॥ १२२ ॥

(४) राघवानन्दः । एवं पिण्डमात्रावशेषं विचिन्त्य तदप्यात्मतां नयेदित्याह प्रेति ॥ योसावतीन्द्रियग्राहः सूक्ष्मोव्यक्तः सनातनः ॥ सर्वभूतमयोचिन्त्यः स एव स्वयमुद्भवावित्युपक्रमाधिष्ठानभूतमात्मानमनात्मनो निष्कृष्य विशिनष्टि प्रशासितारमिति । यत्तस्यैव प्रशासने गार्गीसूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत इति श्रुतेः । अनेन स्वभावाभावप्रधानपरमाण्वादिव्यावृत्तिस्तेषामचेतनत्वात् । अणीयांसं विष्णुत्वेपि निरवयवत्वात्सूक्ष्ममेतेन पृथिव्यादेः कारणत्वं निरस्तम् । रुक्माभं स्वप्रकाशं स्वयंज्योतिरिति श्रुतेः । रुक्माभं स्वप्रकाशं तेन नैयायिकमतस्य निरासः । त्वमधीगम्यं तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थनिर्विकल्पकधीग्राह्यमित्यनेन विज्ञानवादिमतं निरस्तं तेषां ग्राह्यग्राहकत्वाद्विज्ञानस्य । पुरुषं पूर्णं देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितत्वात् । एवं प्रकृतिरदृष्टं भूतान्येव वाजगत्कारणमिति सांख्यमीमांसकादिमतं निरस्तं । अतएव परं अविद्यातत्कार्ययोः अक्षरात्परतः पर इति श्रुतेः । तमहंब्रह्मेति विद्यात् तदात्मानमेवावेदहंब्रह्मास्मीति श्रुतेः । ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तोव्यज्रयन्निदमित्युपक्रमे कीर्तितं ब्रह्म सर्वदुःखैर्विनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावर्तित इति मध्येपि परामृष्टं प्रशासितारमित्यन्तेऽपि निर्दिष्टमत उपक्रमादिभिस्तत्रैव शास्त्रतात्पर्यमतः सर्वतच्छेषभूतमिति । तथा च श्रुतिः पुरुषान् परं किंचित्सा काशा सा परा गतिरिति ॥ १२२ ॥

(५) जन्दनः । एवमेताभिर्देवताभिर्न्यस्तशरीरस्य कर्तव्यमाह प्रशासितारं सर्वेषामिति । सर्वेषामन्तः प्रविश्य प्रशासितारमणीयांसमतिसूक्ष्मं त्वमधीगम्यं प्रपंचस्वमबुद्धिर्येषां तत्त्वमधीयस्ते रगम्यं नेयं परं पुरुषं परमात्मानं विद्यात् अभ्यासेत् ॥ १२२ ॥

(६) रामचन्द्रः । प्रशासितारं नियन्तारं अणीयांसं अतिसूक्ष्मं अणोरपि रुक्माभं प्रकाशकं त्वमधीगम्यं तं परं पुरुषं विद्यात् ॥ १२२ ॥

एतमेकेवदन्त्यग्निमनुमन्ये प्रजापतिम् ॥ इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्मशाश्वतम् ॥ १२३ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । किञ्चिद्यन्निरतिशयवस्तु तदप्यसावेवेति तदुपासनमप्यस्योपासनमित्याह एतमिति । अग्निमुखत्वाद्देवानांतदुपलक्षणार्थमस्याभिधानम् । जगत्पालनलब्धातिशयः सर्वेषांबलजीवनस्पन्दनाद्यसाधारणकर्मातिशय-लब्धप्रकर्षः प्राणोऽयमेव । एषुच यत्र यत्र येषामतिप्रकर्षधीः ते तंतमेवैवदन्ति । यथा श्रुति इद्रं मित्रं वरुणमग्निमित्यादि । अत्रोत्तरेणाग्निपदेनानन्तर्यमस्योच्यते । अपरे तत्त्वविदः । ब्रह्म विभुः शाश्वतं नित्यमाकाशादेरपि । नित्यानित्य-ज्ञान्यएवंवदन्तीत्युक्तिरत्रोपासकोपलक्षणार्था । तमेव प्रपञ्चरूपेण निष्प्रपञ्चरूपेणचोपासीतेत्यर्थः ॥ १२३ ॥

(३) कुड्डूकः । एतंच परमात्मानमग्नित्वेनैकेयाज्ञिकाउपासते तथा तमेकमग्निइत्यध्वर्यवउपासते । अन्ये पुनः स्रष्टृत्वात्स्रष्टृख्यप्रजापतिरूपतयोपासते एके पुनरैश्वर्ययोगादिन्द्ररूपतयोपासते । अपरे पुनः प्राणत्वेनोपासते सर्वाणि भूरादीनीमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिह्वतइत्यादिश्रुतिदर्शनात् । अपरे पुनरपगतप्रपञ्चात्मकंसच्चिदानन्दत्वरूपंपरमात्मानमुपासते । मूर्तामूर्तत्वरूपे च ब्रह्मणि सर्वाएवोपासनाश्रुतिप्रसिद्धाभवन्ति ॥ १२३ ॥

(४) राघवानन्दः । अमुमेवात्मानमाश्रित्य विवदन्ते वादिनइत्याह एतमिति । एतमपरोक्षीभूतमप्यात्मानमविद्यावशाच्चयीनिष्ठाअग्निं मन्यन्ते मनुं प्रजापतिमिति अन्ये धर्मं शास्त्रनिष्ठाः इन्द्र ईश्वरं नैयायिकाः । प्राणं हिरण्यगर्भमिति पातञ्जलाः । ब्रह्मेतिवेदान्तिनः । शाश्वतं शश्वत् निरन्तरं अविद्यातत्कार्यरहिततथैकरूपेण वर्तमानं निष्क्रियं निष्कलं शान्तमिति श्रुतेः । शब्दमात्रेविप्रतिपत्तिरर्थस्त्वेकएवेति ॥ १२३ ॥

(५) नन्दनः । ननुअन्यादयोपिध्येयत्वेन श्रूयन्तेतत्कथंपरः पुमानेव ध्यानत्वेनोच्यते अत्राह एतमेकेवदन्त्य-ग्निमिति । एतदुक्तंभवति तन्मत्त्रेष्वाग्न्यादिशब्द प्रतिपाद्यः परः परः पुमानेव नान्यइति एवंवदता पुरुषसूक्तानुसारेण मन्त्रान्तराणि योजयितव्यानिनतुतदनुसारेण पुरुषसूक्तमित्युक्तं भवति । तदुक्तंमहाभारते मोक्षधर्मे ॥ इदंपुरुषसूक्तंहि सर्ववेदेषु पठ्यते । ऋतंचसत्यञ्चप्रख्यातमृषिसिंहेनचिन्तितमिति ॥ १२३ ॥

(६) रामचन्द्रः । एतं अग्निं एके वदन्ति । अन्ये मनुं प्रजापतिम् । एके इन्द्रं । अपरे प्राणं प्राणवायुं । अपरे शाश्वतं ब्रह्म ॥ १२३ ॥

एषसर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः ॥ जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यंसंसारयति चक्रवत् ॥ १२४ ॥

(२) सर्वज्ञनारायणः । पञ्चभिर्मूर्तिभिः पृथिव्यादिभूतैः । वृद्धिकार्यजनकत्वंस्थितिरितियावत् । संसारयति आमेयति ॥ १२४ ॥

(३) कुड्डूकः । एषआत्मा सर्वान्प्राणिनः पञ्चभिः पृथिव्यादिभिर्महाभूतैः शरीरारम्भकैः परिगृह्य पूर्वजन्मार्जित-कर्मापैक्षयोत्पत्तिस्थितिविनाशैरथादिचक्रवदसकृदुपावर्तमानैरामोक्षात्संसारिणः करोति ॥ १२४ ॥

(४) राघवानन्दः । एषएवान्तर्यामित्वमनुभवतीत्याह एषइति पंचभिः अण्व्योमात्रादशार्धानामित्याद्युक्तेः मूर्तिभिः सच्चिच्छब्दवाच्यैः व्याप्य पटेषु तन्तुवत् जन्मवृद्धिक्षयैरुत्पत्तिस्थितिलयैः संसारयति । अनिशमावर्तयति नान्यो-तोस्ति द्रष्टा नान्योतोस्ति श्रोता नान्योतोस्तिमन्ता नान्योतोस्तिविज्ञातैषत आत्मान्तर्याम्यमृतइतिश्रुतेरिति ॥ १२४ ॥

(५) नन्दनः । एषपरः पुरुषइति पंचभिर्मूर्तिभिर्महाभूताख्यादिभिः ॥ १२४ ॥

(६) रामचन्द्रः । एषपुरुषः सर्वाणिभूतानि पञ्चभिर्मूर्तिभिः पृथिव्याऽदिपञ्चभिः व्याप्य जन्मवृद्धिक्षयैः नित्यं चक्रवत् संसारयति वर्तयति ॥ १२४ ॥

एवंयः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ॥ ससर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परंपदम् ॥ १२५ ॥

[चतुर्वेदसमंपुण्यमस्यशास्त्रस्य धारणात् । भूयोवाप्यतिरिच्येत पापनिर्यातनंमहत् ॥ १ ॥] *

(२) सर्वज्ञनारायणः । एतादृगनुचिन्तनफलमाह एवंयइति । सर्वभूतेष्वेकत्वेनात्मानं परमात्मानं प्रयत्नेन पश्यति ध्यायति । सर्वं परमात्मा सर्वरूपत्वात् तत्समतामीशित्वादिगुणैरेत्य जीवन्मुक्तेः पञ्चदेहाधायककर्मापाये देहद्वयरूपोपाधित्यागात्तदेव ब्रह्माभ्येति नित्यानन्दप्रकाशस्वरूपेणावतिष्ठतइत्यर्थः ॥ १२५ ॥

(३) कुहूकः । इदानींमोक्षत्वेनोक्तसर्वधर्मश्रेष्ठतया सर्वत्र परमात्मदर्शनमनुष्ठेयत्वेनोपसंहरति एवंयः सर्वभूतैष्विति । सर्वभूतेषु चात्मानमित्याद्युक्तप्रकारेण यः सर्वभूतेष्ववस्थितमात्मानमात्मना पश्यति सब्रह्मसाक्षात्कारात्परंश्रेष्ठपदं स्थानं ब्रह्मप्राप्नोति तत्रात्यन्तलीयते मुक्तोभवतोत्यर्थः ॥ १२५ ॥

(४) राघवानन्दः । [मोक्षस्य परमपुरुषार्थत्वं प्रदर्शयन् तत्रैवास्य शास्त्रस्य तात्पर्यमाह एवंयइति । पदंपद्यते ज्ञानेनैवाप्यते पदंब्रह्मतद्विष्णोः परमं पदमित्युक्तेः । आत्मना बुध्या अभ्येति तादात्म्यमाप्नोति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीति श्रुतेः] ॥ १२५ ॥

(५) नन्दनः । एवंप्रपञ्चितस्य परमात्मज्ञानस्य फलमाह एवंयः सर्वभूतैष्विति । आत्मना मनसा ब्रह्मपरंपुरुषम् ॥ १२५ ॥

(६) रामचन्द्रः । एवं यः सर्वभूतेषु आत्मनाऽऽत्मानं पश्यति सः सर्वसमतामेत्य सनातनंब्रह्माभ्येति प्राप्नोति ॥ १२५ ॥ इति श्रीरामचन्द्रभट्टविरचितायां मनुभाषार्थदीपिकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ ॥ ७ ॥ ॥ ७ ॥

इत्येतन्मानवंशास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन् द्विजः ॥ भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्रामुयाद्भूतिम् ॥ १२६ ॥

[मनुः स्वायंभुवोदेवः सर्वशास्त्रार्थपारगः । तस्यास्य निर्गतं धर्मविचार्य बहुविस्तरम् ॥ २ ॥

ये पठन्ति द्विजाः केचित्सर्वपापोपशान्तिदम् । ते गच्छन्ति परं स्थानं ब्रह्मणः सदा शाश्वतम् ॥ ३ ॥] †

इतिमानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥ समाप्तैषामनुसंहिता ॥ ७ ॥

(१) मेधातिथिः । इतिः शास्त्रसमाप्तिमाह पठन्भवत्याचारवान् अन्योऽध्याहार्यआचारो यथापठितशास्त्रान्तरात्स्व-
नुष्ठानं एवंविधश्रेष्ठवतियथेष्टां देवतादिलक्षणांगतिंब्रह्माभ्येति ब्रह्मभावमापद्यते । मैत्राद्यवभासेन रागद्वेषक्षयमनुवदति । अ-
नेनचाविजातीयप्रत्ययान्तरितात्मैकत्वज्ञानमनुष्ठेयमाह ॥ नहि विजातीयप्रत्ययोत्पत्तौ सर्वसंमतता भवति अंतश्चैतदुक्तं भव-
ति ॥ अहंमेतित्युक्तवाहंकारममकारस्य तदेकज्ञाननियततयानिरतिशयपरमानंदरूपं ब्रह्म प्राप्नोति । अनिष्टनिवृत्तिः शास्त्र-
प्रदर्शिताभिप्रेतप्रतिनियमेन च फलसिद्धिर्भवति इत्यर्थः ॥ १२६ ॥

इति श्रीभट्टवीरस्वामिसूनोर्भट्टमेधातिथिविरचिते मनुभाष्ये द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥ समाप्तं ॥ शुभं भवतु

(२) सर्वज्ञनारायणः । इत्येतदिति शास्त्राध्ययनफलस्य पूर्वप्रक्रान्तस्योपसंहारः । मानवं मनुना प्रथमं प्राप्तं भृगुणाच प्रोक्तं प्रकर्षेण मुनिषु प्रकाशितमित्यर्थः ॥ १२६ ॥

॥ एतस्मिन्भृगुभारतीविवरणे कैर्नामनारोपितं चेतश्चेतयिता न कश्चन पुनस्तत्त्वस्य तत्राजनि । अस्माभिस्तु गुरुपदेश-विशदप्रज्ञाप्रकर्षस्फुरद्धेतुर्हेतुगमैर्नमानवगिरां सर्वोऽयमाविष्कृतः ॥ इति श्रीसर्वज्ञनारायणकृतौ मन्वर्थनिबन्धे नैऋ-यसकर्मसंकीर्तननाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥ समाप्तमिदं मानवशास्त्रविवरणं सर्वज्ञप्रोक्तम् ॥ शिवप्रदमस्तु ॥

(३) कुल्लूकः । समाप्त्यर्थ इति शब्दः एतत्स्मृतिशास्त्रं भृगुणा प्रकर्षेणोक्तं द्विजातिः पठन्विहितानुष्ठाननिषिद्धवर्ज-नात्सदाचारवान्भवति यथाऽपेक्षितांच स्वर्गापवर्गादिरूपांगतिप्राप्त्यादिति ॥ १२६ ॥

सारासारवचः प्रपञ्चनविधौ मेधातिथेश्चातुरीस्तोक्तं वस्तुनिगूढमल्पवचनाद्गोविन्दराजोजगौ ॥ ग्रन्थेऽस्मिन् धरणाधर-स्य बहुशः स्वातन्त्र्यमेतावता स्पष्टमानवमर्थतत्त्वमखिलं वक्तुं कृतोऽयं श्रमः ॥ १ ॥ प्रायोमुनिभिर्विवृतं कथयत्येषामनुस्मृ-तेरर्थम् ॥ दशभिर्ग्रन्थसहस्रैः समदर्शयुता कृता वृत्तिः ॥ २ ॥ सेयं मया मानवधर्मशास्त्रे व्यधायि वृत्तिर्विदुषांहिताय ॥ दुर्बोधजातेर्दुरितक्षयाय भूयान्ततोमे जगतामधीशः ॥ ३ ॥ इति वीरेन्द्रिनन्दनावासीयदिवाकरात्मजश्रीमत्कुल्लूकभट्टविर-चितायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ द्वादशोऽध्यायः समाप्तः ॥ इति श्रीकुल्लूकभट्टविरचितामन्वर्थमुक्तावली समाप्ता ॥ ७ ॥ ॥ ७ ॥ ॥ ७ ॥ ॥ ७ ॥ ॥ ७ ॥

[(४) राघवानन्दः । एतच्छास्त्रस्य पठनफलं ज्ञापयन्नुपसंहरति इतीति । भृगुप्रोक्तमृषिभ्यो भृगुणैवपाठितं यथेष्टा-ख्यां स्वर्गाख्यां मोक्षाख्यां वा धर्मविद्वत्सविच्च ॥ १२६ ॥]

इयंकृतिः सरस्वत्याः पदकंजसमर्पिता ॥ विदुषाचित्तकुमुदशशिनीवमनोरमा ॥ मन्वर्थचंद्रिकाज्ञेयाराघवानंदनिर्मिता ॥ करोतुविदुषांप्रीतिविस्तरध्वांतवर्जनात् ॥ इति श्रीविश्वेश्वरभगवत्पादशिष्याद्वयभगवत्पादशिष्येण श्रीराघवानंदसरस्व-त्याविरचितमन्वर्थचंद्रिकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥ श्रीरामचंद्राय नमः ॥ ७ ॥ ॥ ७ ॥ ॥ ७ ॥

(५) नन्दनः । शास्त्राध्ययनस्य फलमाह इत्येतं मानवं शास्त्रमिति । यथेष्टांगतिमदामुयाद्यथैषां फलमवामोति ॥ १२६ ॥ इति श्रीभारद्वाजगोत्रतिलकेन श्रीलक्ष्मणविचक्षणानुजैन नन्दनसूरिणा विरचिते मानवव्याख्याने द्वादशोऽध्यायः ॥

* दश=शत (अ)

(१) राघ० २, न



प्रथमपरिशिष्टस्यानुक्रमणिका.

| | श्लोक संख्या. | | |
|--|---------------|----------|----------|
| | मनु | वृद्धमनु | बृहन्मनु |
| १ धर्मावधिसारः | १ | ० | ० |
| २ स्मृतिचन्द्रिका | ३२ | २८ | ० |
| ३ दानहेमाद्रिः | ११ | ५ | ० |
| ४ व्रतहेमाद्रिः | १ | ० | ० |
| ५ श्राद्धहेमाद्रिः | ३१ | ० | ० |
| ६ स्मृतिरत्नाकरः | ५३ | ४ | २ |
| ७ शुद्धकमलाकरः | १४ | ७ | १ |
| ८ पराशरमाधवः | ४७ | ८ | ४ |
| ९ निर्णयसिन्धुः | १६ | १६ | ४ |
| १० मिताक्षरायाज्ञवल्क्यस्मृतिटिका | १३ | ० | १ |
| ११ संस्कारकौस्तुभः | ६ | ० | ० |
| १२ प्रयोगरत्नम् | २ | ० | ० |
| १३ विवादभङ्गार्णवः | १७ | १ | ३ |
| १४ व्यवहारतत्त्वम् | १ | ० | ० |
| १५ दायक्रमसंग्रहः | २ | ० | ० |
| १६ दायतत्त्वम् | २ | ० | ० |
| १७ श्रीमद्भागवते श्रीधरस्वामिकृतटीकायाम् | १ | ० | ० |
| १८ शङ्करविजयः | २ | ० | ० |
| १९ संस्कारमयूखः | ५ | ० | ० |
| २० आचारमयूखः | ८ | ० | ० |
| २१ श्राद्धमयूखः | २ | २ | ० |
| २२ व्यवहारमयूखः | २ | १ | ० |
| २३ प्रायश्चित्तमयूखः | ७ | २ | १ |

॥ श्री ॥

॥ मनुस्मृतिप्रथमपरिशिष्टम् ॥

(हेमाद्रिमाधवादिभिर्मनूक्तत्वेन स्वीकृतेषुवचनेषुयानिसंप्रत्युपलब्धमुद्रितमनुस्मृतिपुस्तकेषुनोपलभ्यन्तेतान्यस्मिन्परिशिष्टे संकलितानि)

॥ धर्मान्वितसारः ॥

विवाहव्रतचूडासु मातायदिरजस्वला ॥ तस्याःशुद्धेःपरंकार्यमङ्गलमनुरब्रवीत् ॥ १ ॥

॥ स्मृतिचन्द्रिका ॥

व्यवहारकाण्डम्

यत्क्षमोमर्षयत्यात्तैस्तेनत्वर्गेमहीयते ॥ यत्त्वैश्वर्यान्क्षमतेनरकंतेनगच्छति ॥ १ ॥

अथवरैःसाक्षिभिर्भाव्यौनृपब्राह्मणसन्निधौ ॥ २ ॥

स्वभावेनैवयद्व्युस्तद्वाहं व्यावहारिकं ॥ यतोयदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थतदपार्थक्यम् ॥ ३ ॥

ऋत्विजःसमेवेतास्तुयथासत्रेनिमन्त्रिताः ॥ कुर्युर्यथार्हतःकर्मगृह्णीयुर्दक्षिणांतथा ॥ ४ ॥

विभागेतुर्कृतेकिंचित्सामान्यंयत्रदृश्यते ॥ नासौविभागोविज्ञेयःकर्तव्यःपुनरेवहि ॥ ५ ॥

विभागेयत्रसंदेहोदायादानांपरस्परं ॥ पुनर्विभागः कर्तव्यःपृथक्स्थानस्थितैरपि ॥ ६ ॥

आरंभकृत्सहायश्चदोषभाजौतदर्धतः ॥ ७ ॥

गायत्रीमातृसारोपिवनंविप्रःसुयत्नितः ॥ गायत्रीतश्चतुर्वेदीसर्वाशीसर्वविक्रयी ॥ ८ ॥

आसुराणांकुलेजाताजातिपूर्वपरिग्रहे ॥ तस्यादर्शनमात्रेणनिराशाःपितरोगताः ॥ ९ ॥

॥ आह्निकप्रकरणम् ॥

शिष्टाचारस्मृतिर्वेदास्त्रिविधंधर्मलक्षणम् ॥ १० ॥

धर्मव्यतिक्रमोवैहिमहतांसाहसंतथा ॥ तदन्वीक्ष्यप्रयुञ्जानःसीदत्येवरजोबलः ॥ ११ ॥

यथैववेदाध्ययनंधर्मशास्त्रमिदंतथा ॥ अध्येतव्यंब्राह्मणेननियमंस्वर्गमिच्छया ॥ १२ ॥

पुत्रजन्मनियत्नेचतथासंक्रमणेरवेः ॥ राहोश्चदर्शनेस्नानंप्रश्नस्तनान्यथानिशि ॥ १३ ॥

पुराकल्पेकुमारीणांमौञ्जीबन्धनमिष्यते ॥ अभ्यापनंचवेदानांसावित्रीवचनंतथा ॥ १४ ॥

पितापितृव्योभ्रातावाचैनामध्यापयेत्पुरः ॥ स्वगृहेचैवकन्यायाभैक्षचर्याविधीयते ॥ १५ ॥

वर्जयेदजिनंदण्डंजटाधारणमेवच ॥ १६ ॥

समतिक्रान्तकालाच्चपतिताःसर्वएवते ॥ नैवावधिपूर्ताविदापद्यपिचर्हिचित् ॥ १७ ॥

हस्तदत्तानुयाभिक्षालवणंव्यञ्जनानिच भुक्त्वाहशुचितांयातिदातास्वर्गंनगच्छति ॥ १८ ॥

(१) निर्णयसिन्धुः

(५) पराशरमाधवः । व्यवहारमयूखः । (११) स्मृतिरत्नाकरः ।

(३) पराशरमाधवः ।

(६) पराशरमाधवः

(१४) आभरकोशटीकायां पराशरमा-

(४) पराशरमाधवः

(८) श्राद्धहेमाद्रिः

धवेयमइत्युक्तम् ।

सायंप्रातर्द्विजातीनामशनंश्रुतिचोदितं ॥ नान्तराभोजनंकुर्यादग्निहोत्रसमोविधिः ॥ १९ ॥
 ऋषिदेवमनुष्याणांवेदःचक्षुःसनातनः ॥ २० ॥
 दशानांतुसहस्राणायुक्तानांधुर्यवाहिनां ॥ सुपात्रेविनियुक्तानांकन्याविद्याचतत्समम् ॥ २१ ॥
 शक्तध्वजनिपातेचउल्कापातेतथैवच ॥ अनध्यायस्त्रिरात्रंतुभूमिकम्पेतथैवच ॥ २२ ॥
 सामर्थ्ययनेऋग्यजुषिनाधीयीतकदाचन ॥ २३ ॥
 अस्वर्ग्यलोकविद्विष्टधर्ममप्याचरेन्नतु ॥ २४ ॥
 नाग्निहोत्रादिभिस्तत्स्याद्रक्षतोब्राह्मणस्यवा ॥ यत्कन्याविधिवद्दत्त्वाफलमामोतिमानवः ॥ २५ ॥
 कन्याद्वादशवर्षेयानप्रदत्तागृहेवसेत् ॥ भूणहत्यापितुस्तस्याःसाकन्यावरयेत्स्वयम् ॥ २६ ॥
 नष्टेमृतेप्रव्रजितेक्लीबेचपतितेपतौ ॥ पञ्चत्वापत्सुनारीणांपतिरन्योविधीयते ॥ २७ ॥
 अलाभेदेवखातानांसरसांसरितांतथा ॥ उद्धृत्यचतुरांषण्डान्पारक्येस्नानमाचरेत् ॥ २८ ॥
 अग्निवत्कपिलासत्रोराजाभिर्भुमहोदधिः ॥ दृष्टमात्रापुनन्त्येतत्स्मात्पश्येतनित्यशः ॥ २९ ॥
 तृणंवायदिवाकाष्ठं पुष्पंवायदिवाफलं ॥ अनापृष्टन्तुगृहानोहस्तच्छेदनमर्हति ॥ ३० ॥
 समर्घपण्यमाहृत्यमहार्घयःप्रयच्छति ॥ सवैवाधुर्षिकोनामयश्चबुध्याप्रयोजयते ॥ ३१ ॥
 ग्रासमात्रीभवेद्भिक्षाअग्रं ग्रासचतुष्टयं ॥ अग्रंचतुर्गणीकृत्यहंतकारोविधीयते ॥ ३२ ॥

दानहेमाद्रिः ॥

इष्टेयज्ञेयदीयतेदक्षिणादितदैष्टिकम् ॥ बहिर्वेदिचयद्दानंदीयतेतद्विपौर्तिकम् ॥ १ ॥
 स्वर्गायुर्भूतिकामेनतथापापोपशान्तये ॥ मुमुक्षुणाचदातव्यंब्राह्मणेभ्यस्तथान्वहम् ॥ २ ॥
 येव्यपेताःस्वकर्मभ्यःपरिण्डोपजीविनः ॥ द्विजत्वमभिकाङ्क्षन्तितांश्चशूद्रवदाचरेत् ॥ ३ ॥
 अव्रतात्पुनःपुनःपुनःपुनःपुनःपुनःपुनः ॥ तं ग्रामं दण्डयेद्राजाचौरभक्तप्रदोहिसः ॥ ४ ॥
 पात्रभूतोहियोविप्रःप्रतिगृह्यप्रतिग्रहम् ॥ असत्सुविनियुज्जीततस्यदेयंनार्कचन ॥ ५ ॥
 संचयंकुरुतेयश्चप्रतिगृह्यसमंततः ॥ धर्मार्थिनोपयुक्तेयोनंतंस्करमर्चयेत् ॥ ६ ॥
 नकुर्यात्कस्यचित्पीडांकर्मणामनसागिरा ॥ आचरन्निषेकन्तुर्कर्मण्यप्यन्यथाचरन् ॥ ७ ॥
 सन्ध्ययोरुभयोर्जप्येभोजनेदन्तधावने ॥ पितृकार्येचदैवेचतथामूत्रपुरीषयोः ॥ ८ ॥
 गुरुणांसन्निधौदानेयोगेचैवविशेषतः ॥ एषुमौनंसमातिष्ठन्त्वंगमोतिमानवः ॥ ९ ॥
 विष्णुः पराशरोदक्षः संवर्तव्यासहारिताः ॥ शातातपोवसिष्ठश्चयमापस्तंबगौतमाः ॥ १० ॥
 दवलेःशङ्खलिखितौभरद्वाजोशनोत्रयः ॥ शौनकोयाज्ञवल्क्यश्चदशाष्टौस्मृतिकारिणः ॥ ११ ॥

॥ व्रतहेमाद्रिः ॥

विहितस्याननुष्ठानमिन्द्रियाणामनियहः ॥ निषिद्धसेवनंनित्यंवर्जनीयंप्रयत्नतः ॥ १ ॥

-
- (१९) पराशरमाधवः । आचारमयूखः (२८) हेमाद्रिः । स्मृतिरत्नाकरः । (५) पराशरमाधवः
 (२४) मिताक्षरा । (२९) पराशरमाधवः । (६) पराशरमाधवः
 (२७) पराशरमाधवः (३२) पराशरमाधवः । आचारमयूखः

॥ श्राद्धहेमाद्रिः ॥

यत्किञ्चिन्मधुसंमिश्रं गोक्षीरघृतपायसं ॥ दत्तमक्षयमित्याहुः पितरस्त्वेव देवताः ॥ १ ॥
 अलाभे भिन्नकालानां नान्दी श्राद्धत्रयं ब्रुधः ॥ पूर्वद्युर्वैपकुर्वीत पूर्वाह्णे मातृपूर्वकम् ॥ २ ॥
 एकपिण्डकृतानां तु पृथक्त्वं नोपपद्यते ॥ सपिण्डीकरणादूर्ध्वमृते कृष्णचतुर्दशीम् ॥ ३ ॥
 कुर्वन् प्रतिपदि श्राद्धं सरूपानलभते सुतान् ॥ कन्यकां तु द्वितीयायां तृतीयायां तु त्रिदिनम् ॥ ४ ॥
 पशून् क्षुद्रांश्च तु र्थ्यान्तु पंचम्यां शोभनान् सुतान् ॥ षष्ठ्यां दूतं कृषिचापिसप्तम्यां लभते नरः ॥ ५ ॥
 अष्टम्यामपि वाणिज्यं लभते श्राद्धदः सदा ॥ नवम्यामेकखुरकं दशम्यां द्विखुरांस्तथा ॥ ६ ॥
 एकादश्यां तथा रौप्यं ब्रह्मवर्चस्विनः सुतान् ॥ द्वादश्यां जातरूपं च रजतं कुप्यमेव च ॥ ७ ॥
 ज्ञातिश्रेष्ठं त्रयोदश्यां चतुर्दश्यां तु सुप्रजाः ॥ प्रीयन्ते पितरश्चास्य येशस्त्रेण हतारणे ॥ ८ ॥
 पक्षत्यादि विनिर्दिष्टान्विपुला न्मनसः प्रियाः ॥ श्राद्धदः पंचदश्यां तु सर्वाङ्कामान्समश्नुते ॥ ९ ॥
 सर्ववायदिवाप्यर्थपादं वायदिवाक्षरं ॥ सकाशाद्यस्य गृह्णीयान्वितं तस्य गौरवम् ॥ १० ॥
 नानुग्राह्यो भवति न वणिग्गुणशीलवः ॥ न शूद्रवेषणं कुर्वन् स्तेयो न चिकित्सकः ॥ ११ ॥
 परपूर्वापतिधीरावदन्ति दधिषूपतिः ॥ द्विजोऽपे दधिषूश्चैव यस्य सैव कुटुम्बिनी ॥ १२ ॥
 यस्तयोरन्मम श्रातिसकुण्डाच्यवते द्विजः ॥ १३ ॥
 अतिथिपूजयेद्यस्तु श्रान्तं वा तदष्टमानसं ॥ सवृषंगो शतं तेन दत्तं स्यादिति मे मतिः ॥ १४ ॥
 येषामन्त्रं च नातिथिर्विप्राणां ब्रजते गृहात् ॥ ते वै खरत्वमुष्ट्रत्वमश्वत्वं प्रतिपेदिरे ॥ १५ ॥
 किं ब्राह्मणस्य पितरं किं वा पृच्छति मातरं ॥ श्रुतं चेदस्ति वेद्यं वा तन्मातापितरौ स्मृतौ ॥ १६ ॥
 अनर्हते यद्दत्ति न ददाति यदर्हते ॥ अर्हानर्हान् भिज्ज्ञानात्सोपि धर्मादहीयते ॥ १७ ॥
 परिच्युतेऽष्टवस्थानानि गन्ते वतच्छुचिः ॥ १८ ॥
 निमज्ज्य विप्रास्तदहर्वर्जयेन्मैथुनं क्षुरम् ॥ प्रमत्तानां च स्वाध्यायं क्रोधाशौचं तथानृतम् ॥ १९ ॥
 अभ्युष्णं सर्वमन्त्रं स्याद्भुञ्जीरंश्चैव वाग्यतः ॥ नवद्विजातयो ब्रूयुर्दाना पृष्टाहविर्गुणान् ॥ २० ॥
 उपासनाग्रौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि ॥ पञ्चयज्ञान् पत्तिश्च यच्चान्यदृह्यकृत्यकम् ॥ २१ ॥
 बह्वग्नयस्तु ये विप्रा ये वै काश्रय एव च ॥ तेषां सपिण्डनादूर्ध्वमेकोद्दिष्टं न पार्वणम् ॥ २२ ॥
 पूर्वाह्णैर्वैदिकं श्राद्धमपराह्णैः पार्वणम् ॥ एकोद्दिष्टं तु मध्याह्ने प्रातर्वृद्धिनिमित्तकम् ॥ २३ ॥
 पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं क्षीणे राजनिशस्यते ॥ वासरस्य तृतीयेऽशेनाति सन्ध्यासमीपतः ॥ २४ ॥
 यस्य चैव गृहे विप्रो वसेत्काश्चिदभोजितः ॥ न तस्य पितरो देवा हव्यं कव्यं च भुञ्जते ॥ २५ ॥
 अतिथिर्यस्य वै ग्रामे भिक्षमाणः प्रयत्नतः ॥ स चेन्निरसितस्तत्र ब्रह्महत्याविधीयते ॥ २६ ॥
 अपि शाकं पचानस्य शिलां ज्जलेनापि जीवतः ॥ स्वदेशे परदेशे वा नातिथिर्विमना भवेत् ॥ २७ ॥

यस्यमित्रप्रधानानिश्चाद्धानिचहवींषिच ॥ पितृषुदेवयज्ञेषुदातास्वर्गनगच्छति ॥ २८ ॥
 आद्धेनयःकुरुतेसंगतानिदेवयानेनपथासयाति ॥ विनिर्मुक्तं पिप्पलंबन्धतोवास्वर्गलोकाद्वाश्रयतिश्चाद्धमित्रः ॥ २९ ॥
 यत्रोषितं भवेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया ॥ यथाविधि नियुक्तश्च प्राणानामेव चात्यये ॥ ३० ॥
 यस्तु भक्षयते मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया ॥ सलोकेऽप्रियतां याति व्याधिभिश्चैव पीड्यते ॥ ३१ ॥

॥ स्मृतिरत्नाकरः ॥

यस्य धर्मध्वजो नित्यं स्वराड्ध्वज इवोत्थितः ॥ चरितानि च पापानि बैडालं नाम तं विदुः ॥ १ ॥
 रजकश्चर्मकारश्च नटो बुड्ढ एव च ॥ कैवर्तमेदं भिल्लाश्च समैतेऽन्त्यजजातयः ॥ २ ॥
 आत्मानं धर्मरुतं च पुत्रदारांश्च पीडयेत् ॥ लोभाद्यः पितरौ मोहात्सकदर्श इति स्मृतः ॥ ३ ॥
 यो र्थार्थमां द्विजेदद्यात्पटे चैव विधानतः ॥ अध्याये च धनं प्राहुर्वेदविभावकं बुधाः ॥ ४ ॥
 प्रख्यापनं नाध्ययनं प्रश्नपूर्वप्रतिग्रहः ॥ याजनाध्यापने वादः षड्विधो वेदविक्रयः ॥ ५ ॥
 स्वभावाद्यत्र विचरेत्कृष्णसारमृगो द्विजाः ॥ विज्ञेयो धार्मिको देशो स्तेच्छदेशस्ततः परः ॥ ६ ॥
 निवर्तकं हि पुरुषं निवर्तयति जन्मतः ॥ प्रवर्तकं हि सर्वत्र पुनरावृत्तिहेतुकं ॥ ७ ॥
 संसारभीरुभिस्तस्माद्वियुक्तं कामवर्जनम् ॥ विधिवत्कर्मकर्तव्यं ज्ञानेन सह सर्वदा ॥ ८ ॥
 न देहि नायतः शक्यं कर्तुं कर्माण्यशेषतः ॥ तस्मादा मरणाद्वैधं कर्तव्यं योगिना सदा ॥ ९ ॥
 अर्थकामेष्वसत्कानां धर्मे ज्ञानं विधीयते ॥ धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं प्रथमं श्रुतिः ॥ १० ॥
 हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हतास्त्वज्ञानिनः क्रियाः ॥ अपश्यन् नन्धकोदग्धः पश्यन् पिचपङ्कुकः ॥ ११ ॥
 नान्यचित्तश्चिरं तिष्ठेन्स्पृशेत्पाणिना शिरः ॥ न ब्रूयान् न दिशः पश्येद्विष्णुमूर्त्तौ त्सर्जने बुधः ॥ १२ ॥
 परस्य शोणितस्पर्शे रेतो विष्णुमूर्त्रजे तथा ॥ चतुर्णामपि वर्णानां द्वात्रिंशन्मृत्तिकाः स्मृताः ॥ १३ ॥
 दन्तवद्दन्तलप्रेषु जिह्वास्पर्शं शुचिर्न तु ॥ परिच्युतेष्ववस्थानानि गरेनैव तच्छुचिः ॥ १४ ॥
 त्रीन्पिण्डानथ वोद्धृत्य स्नायादापस्नुना सदा ॥ अन्यैरपि कृते कूपे सरोवाप्यादिके तथा ॥ १५ ॥
 तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायश्चित्तं न विद्यते ॥ १६ ॥
 नातुरो नारुणकरन्ताक्तान्ते च न भस्तले ॥ न परां भसिनाल्पे च नाशिरस्कः कथंचन ॥ १७ ॥
 गते देशान्तरं पत्यौ गन्धमाल्याञ्जनानि च ॥ दन्तकाष्ठं च तांबूलं बर्जयेद्वनितासती ॥ १८ ॥
 आराध्य देवमाराध्य बन्धून्प्यनुसृत्य च ॥ मुक्ताव्याधौ च न स्नायात्तैलेनापि निशास्वपि ॥ १९ ॥
 राहुदर्शनं संक्रान्तिविवाहात्त्ययवृद्धिषु ॥ स्नानदानादिकं कार्यं निशिकाम्यव्रतेषु च ॥ २० ॥
 पुच्छे बिडालं कंसपृष्ठास्नात्वा विप्रो विशुध्यति ॥ भोजने कर्मकाले च विधिरेष उदाहृतः ॥ २१ ॥
 प्रक्षाल्य पादौ हस्तौ च स्नात्वा न्तो वाग्यतः शुचिः ॥ तिथिवारादिकं श्रुत्वा सुसंकल्प्य यथाविधि ॥ २२ ॥
 नोपतिष्ठेत्तृणपूर्वमुपास्तेन च पश्चिमाम् ॥ स शुद्धवद्बहिष्कार्यः सर्वस्मात्साधुकर्मणः ॥ २३ ॥
 यस्य देशं न जानाति स्थानं त्रिपुरुषकुलम् ॥ कन्यादानं न मस्कारं श्राद्धं तस्य विवर्जयेत् ॥ २४ ॥

एवंसन्ध्यामुपास्याथपितरावग्रजान्गुरुन् ॥ त्रिवर्णपूर्वशिष्टांश्चपार्श्वस्थानमिवादयेत् ॥ २५ ॥
 अग्निहोत्रस्यशुश्रूषासन्ध्योपासनमेवच ॥ कार्यपत्न्याप्रतिदिनंबलिकर्मचनैत्यकम् ॥ २६ ॥
 मुख्यकालेव्यतिक्रान्तेगौणकालेतथाचरेत् ॥ २७ ॥
 आत्मशाखांपरित्यज्यपरशाखासुवर्तते ॥ नजातुपरशाखोक्तंबुधःकर्मसमाचरेत् ॥ २८ ॥
 समूलश्चभवेद्दर्भःपितृणांयज्ञकर्मणि ॥ मूलेनलोकाञ्जयतिशक्रस्यचमहात्मनः ॥ २९ ॥
 मातापितागुरुभ्राताप्रजादीनःसमाश्रितः ॥ अभ्यागतोऽतिथिश्चाग्निःपोष्यवर्गाउदाहृताः ॥ ३० ॥
 द्विजातिभ्योयथालिप्सेत्प्रकृष्टेभ्योविशेषतः ॥ अपिवाजातिमात्रेभ्योनतुशूद्रात्कथंचन ॥ ३१ ॥
 उत्कृष्टंवापरुष्टंवातयोःकर्मनविद्यते ॥ मध्यमेकर्मणीहित्वासर्वसाधारणेहिते ॥ ३२ ॥
 चणकब्रीहिगोधूमयवानांमुद्गमाषयोः ॥ अनिषिद्धोग्रहीतव्योमुष्टिरेकोध्वनिर्जितैः ॥ ३३ ॥
 त्रीण्याहुतिदानानिगावःपृथ्वीसरस्वती ॥ अतिदानंहिदानानांनस्तिदानंततोऽधिकम् ॥ ३४ ॥
 ज्ञानमत्तस्ययोदद्याद्विदशास्त्रसमुद्भवम् ॥ अपिदेवास्तमर्चन्तिभर्गब्रह्मदिवाकराः ॥ ३५ ॥
 पूर्वजन्मकृतंपापंव्याधिरूपेणबाधते ॥ तच्छान्तिरौषधैर्दानैर्जपहोमार्चनादिभिः ॥ ३६ ॥
 यत्तज्ज्ञात्वाद्विजोधर्मेपापनैवसमाचरेत् ॥ ३७ ॥
 गुरुणामध्यधिकेषोवेदिनन्दासुहृद्वधः ॥ ब्रह्महत्यासमंज्ञेयमधीतस्यचनाशनम् ॥ ३८ ॥
 तैलभेषजपानेतुऔषधार्थंप्रकल्पयेत् ॥ विषतैलेनगर्भाणांपुत्रतेनास्तिपातकम् ॥ ३९ ॥
 अतिबालामतिक्रुशामतिवृद्धामरोगिणीम् ॥ हत्वापूर्वविधानेनचरेच्चान्द्रायणंद्विजः ॥ ४० ॥
 एकवर्षेहतेवत्सेरुद्धपादोविधीयते ॥ अबुद्धिपूर्ववेशःस्यात्प्रभृतेनास्तिपातकम् ॥ ४१ ॥
 अग्निविद्युद्विपन्नानांप्रभृतेनास्तिपातकं ॥ यच्चित्तंगोचिकित्सार्थमूढगर्भातिपातने ॥ ४२ ॥
 यत्नेकृतेविपत्तिश्चेत्प्रायश्चित्तंसमाचरेत् ॥ गवाचपर्वतारोहेनदीतीरेतथैवच ॥ ४३ ॥
 प्रायश्चित्तंप्रकुर्वन्तिद्विजावेदपरायणाः ॥ ४४ ॥
 द्विजातीनामयंदेहोर्नभोगायप्रकल्पते ॥ इहंक्लेशायमहतेप्रेत्यानन्तमुखायच ॥ ४५ ॥
 यदातूपघातोच्छिष्टानियानिच ॥ शुध्यन्तिदशभिःक्षारैःश्वकाकोपहतानिच ॥ ४६ ॥
 बालैरनुमनुक्रान्तंनित्यंमेभ्यमितिस्थितिः ॥ ४७ ॥
 आपोहिष्ठादिमत्त्रेणमार्जयित्वायथाविधि ॥ आपःपुनन्तुमत्त्रेणजलेपीत्वासमाहितः ॥ ४८ ॥
 सुरभिमत्यासहालिङ्गैर्मार्जयित्वाध्वमुत्क्षिपेत् ॥ द्वौपादौसंपुटौकृत्वापाणिभ्यांपूरयेज्जलम् ॥ ४९ ॥
 रवैरभिमुखस्तिष्ठंस्त्रिरुर्ध्वंसन्ध्ययोःक्षिपेत् ॥ ५० ॥
 आर्द्रवासस्तुयःकुर्याज्जपहोमौप्रतिग्रहम् ॥ तत्सर्वंनिष्कलंविद्यादित्येवंमनुरब्रवीत् ॥ ५१ ॥
 धान्याःखादेन्नतुदिवादधिसक्तूंस्तथानिशि ॥ सर्वंचतिलसंबन्धनाद्यादस्तमयंप्रति ॥ ५२ ॥
 तिलाद्रदधिमिश्राणांतिलशाकानिनिस्वदन् ॥ ५३ ॥

॥ शूद्रकमलाकरः ॥

जपस्तपस्तोयसेवाप्रज्यामत्त्रसाधनम् ॥ देवतासाधनंचैवस्त्रीशूद्रपतनानिषट् ॥ १ ॥
 गृह्याग्नौतुपचेदन्लौकिकेवापिनित्यशः ॥ यस्मिन्नग्नौपचेदन्तस्मिन्होमोविधीयते ॥ २ ॥
 वैजिकादभिसंबन्धादनुरुन्ध्यादहंयहम् ॥ ३ ॥
 द्विजस्यमरणेशमविशुध्यतिदिनत्रयात् ॥ ४ ॥
 विप्रःशुध्यत्यपःस्पृष्टाक्षत्रियोवाहनायुधे ॥ वैश्यःप्रतोदरश्मीन्वायष्टिशूद्रःकृतक्रियः ॥ ५ ॥
 तस्माद्यत्नेनरक्ष्यास्ताभर्तव्यामनुरब्रवीत् ॥ ६ ॥
 ग्राम्यधर्मेचपत्न्यांचपरिग्राहस्यरक्षणे ॥ ७ ॥
 पत्यौजीवतियानारीउपोष्यव्रतचारिणी ॥ आयुष्यंहरतेभर्तुर्नरकंचैवगच्छति ॥ ८ ॥
 भर्तादैवंगुरुर्भर्ताधर्मतीर्थव्रतानिच ॥ तस्मात्सर्वपरित्यज्यपतिमेकंसमाचरेत् ॥ ९ ॥
 भुङ्क्तेभुक्तेपतौयातुत्वासीनाचापिवासिते ॥ विनिद्रितेविनिद्रातिसास्त्रीज्ञेयापतिव्रता ॥ १० ॥
 स्त्रियाःश्रुतौवाशास्त्रेवाप्रज्यानाभिधीयते ॥ प्रजाहितस्याःस्वोधर्मःसवर्णादितिधारणा ॥ ११ ॥
 अष्टाशीतिसहस्राणिमुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ॥ दिवंगतानिविप्राणामकृत्वाकुलसंततिम् ॥ १२ ॥
 ब्राह्मणाःक्षत्रियावैश्याःस्त्रावधेरूर्ध्वमद्वतः ॥ अकृतोपनयासर्वेवृषलाएवतेस्मृताः ॥ १३ ॥
 प्रायश्चित्ताचिकित्सांचज्योतिषधर्मनिर्णयम् ॥ दिनाशास्त्रेणयोब्रूयात्तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥ १४ ॥

॥ पराशरमाधवः ॥

प्रजापतिर्ह्यस्मिन्कालेराज्यमभूभुजत् ॥ धर्मेकतानाःपुरुषास्तदासन्सत्यवादिनः ॥ १ ॥
 तदानव्यवहारोऽभूदद्वेषोनापित्सरः ॥ नष्टेधर्मेमनुष्येषुव्यवहारःप्रवर्तते ॥ २ ॥
 द्विजान्विहायसंपश्येत्कार्याणिवृषलैःसह ॥ तस्यप्रक्षुभितंराष्ट्रंबलंकोशंचनश्यति ॥ ३ ॥
 संदिग्धेषुतुकार्येषुद्वयोर्विविदमानयोः ॥ दृष्टश्रुतानुभूतत्वात्साक्षिभ्योव्यक्तदर्शनम् ॥ ४ ॥
 ब्राह्मणावामनुष्याणामादित्यस्तेजसामिव ॥ शिरोवासर्वगान्त्राणांधर्माणांसत्यमुत्तमम् ॥ ५ ॥
 सत्यमेवपरंदानंसत्यमेवपरंतपः ॥ सत्यमेवपरोधर्मोलोकोत्तरमितिस्थितिः ॥ ६ ॥
 सत्येदेवाःसमुद्दिष्टामनुष्यास्त्वनृतंस्मृतं ॥ इहैवतस्येदेवत्वंयस्यसत्येस्थितामतिः ॥ ७ ॥
 नास्ति सत्यात्परोधर्मोनानृतात्प्रातकंपरम् ॥ साक्षिधर्मेविशेषेणसत्यमेववेदेनसः ॥ ८ ॥
 ऋत्विक्पुरोहितामात्याःपुत्राःसंबन्धिबान्धवाः ॥ धर्माद्विचलितादण्ड्यानिर्वास्थाराजभिःपुरात ॥ ९ ॥
 ऋणिकःसधनोयस्तुदौरात्म्यान्ममयच्छति ॥ राज्ञादापयितव्यःस्याद्रहीत्वाद्विगुणंततः ॥ १० ॥
 द्रव्यमत्त्वामिविक्रीतंमूल्याराज्ञेनिवेदितं ॥ तत्रविद्यतेदोषो नस्यात्तदुपविक्रमात् ॥ ११ ॥
 आर्त्तस्यकुर्यात्सच्छंसन्यथाभाषितमादितः ॥ सुदीर्घस्यापिकालस्यतल्लभेतेवचेतनाम् ॥ १२ ॥
 तएवदण्डपारुष्येव्याप्यादण्डायथाक्रमं ॥ १३ ॥

यःकुमारीमेषपशून्क्रक्षांश्चवृषभंतथा ॥ वाहयेत्साहसपूर्णप्रामुयादुत्तमंवधे ॥ १४ ॥
 महापापोपक्कारोमहापातकशंसकाः ॥ आमध्यमोत्तमादण्ड्यादद्युस्तेचयथाक्रमम् ॥ १५ ॥
 मध्यमोजातिपूगानांप्रथमोग्रामदेशयोः ॥ १६ ॥
 अन्त्याभिगमनेत्वङ्ग्याकबन्धेनप्रवासयेत् ॥ शूद्रस्तथाङ्ग्यएवस्यादण्ड्यःस्याद्रमनेवधः ॥ १७ ॥
 अयोनौगच्छतोयेषांपुरुषंवापिमोहतः ॥ चतुर्विंशतिकोदण्डस्तथाप्रव्रजितोहिसः ॥ १८ ॥
 यःकारणंपुरस्कृत्यव्रतचर्यानिषेवते ॥ पापव्रतेनसंल्लाद्यवैडालंनामतद्रतम् ॥ १९ ॥
 सहस्रगुणितंदानंभवेदत्तंयुगादिषु ॥ कर्मश्राद्धादिकंचैवतथामन्वन्तरादिषु ॥ २० ॥
 वृद्धौचमातापितरौसाध्वीभार्यासुतःशिशुः ॥ अप्यकार्यशतंकृत्वाभर्त्तव्यामनुरब्रवीत् ॥ २१ ॥
 दीपोत्सवचतुर्दश्यांकार्येतुयमतर्पणम् ॥ कृष्णांगारचतुर्दश्यामपिकार्येतथैववा ॥ २२ ॥
 यमावधर्मराजायमृत्यवेचान्तकायच ॥ वैवस्वतायकालायसर्वभूतक्षयायच ॥ २३ ॥
 औदुंबरायदध्रायनीलायपरमेष्ठिने ॥ वृकोदरायचित्रायचित्रगुमायतेनमः ॥ २४ ॥
 चन्द्रसूर्यग्रहेनाद्यादद्यात्सात्वाविमुक्तयोः ॥ अमुक्तयोरस्तगतयोर्दद्यात्सात्वापरेहनि ॥ २५ ॥
 उपस्थानेचयत्प्रोक्तंभिक्षार्थं ब्राह्मणेनहि ॥ तात्कालिकमितिल्यातंतदत्तव्यंमुमुक्षुणा ॥ २६ ॥
 सिद्धमन्नंभक्तजनैरानीतंयन्मठंप्रति ॥ उपपन्नंदित्याहुर्मुनयोभोक्षकाङ्क्षिणः ॥ २७ ॥
 उभयत्रदशाहानिकुलस्यान्नंभुज्यते ॥ दानंप्रतिग्रहोहोमःस्वाध्यायश्चनिवर्तते ॥ २८ ॥
 जातेकुमारेतदहःकामंकुर्यात्प्रतिग्रहम् ॥ हिरण्यधान्यगोवासास्तिलानांगुडसर्पिषाम् ॥ २९ ॥
 मातुलेश्वशुरमित्रेगुरौगुर्वङ्गनासुच ॥ आशौचंपक्षिणींरान्त्रिमृतामातामहीयदि ॥ ३० ॥
 श्वशुरयोश्चभगिन्यांचमातुलान्यांचमातुले ॥ ३१ ॥
 ग्राममध्येमृतोयावच्छवस्तिष्ठतिकस्यचित् ॥ ग्रामस्यत्रावदाशौचंनिर्गतेशुचितामियात् ॥ ३२ ॥
 ग्रामेश्वरेकुलपतौश्रोत्रियेचतपस्विनि ॥ शिष्येपञ्चत्वमापन्नेशुद्धिर्नक्षत्रदर्शनात् ॥ ३३ ॥
 तिस्रःकोट्योऽर्धकोटीचयानिरोमाणिमानुषे ॥ तावत्कालंबसेत्स्वर्गेभर्तारियानुगच्छति ॥ ३४ ॥
 उग्रात्तुजातःक्षत्तायांश्वपाकइतिकीर्त्यते ॥ ३५ ॥
 ब्राह्मणस्यरणहरेपूयशोणितसंभवे ॥ कृमिरुत्पद्यतेयस्तुप्रायश्चित्तंकथंभवेत् ॥ ३६ ॥
 गवांमूत्रपुरीषेणत्रिसंभ्यंस्नानमाचरेत् ॥ त्रिरात्रंपञ्चगव्याशीअधोनाभ्याविशुध्यति ॥ ३७ ॥
 नाभिकण्ठान्तरोद्धूतेव्रणेचोत्पद्यतेकृमिः ॥ षड्रात्रंतुतदाप्रोक्तंप्राजापत्यंक्षिरोव्रणे ॥ ३८ ॥
 विधेःप्रार्थमिकादस्माद्वितीयोद्विगुणंचरेत् ॥ तृतीयेत्रिगुणंचैवचतुर्थेनास्तिनिष्कृतिः ॥ ३९ ॥
 अपात्रीकरणंत्वातमकृच्छ्रेणशुध्यति ॥ शीतरुच्छ्रेणवाशुद्धिमहःसातपनेनवा ॥ ४० ॥

(१३) मिताक्षरा ।

(२१) मिताक्षरा । विवाहभङ्गार्णवः ।

(२२) निर्णयसिन्धुः । मदनपारिजातः । आचारमयूखः ।

(३५) इदं श्वपाकलक्षणं दशमाध्यायगतैकोनविंशतितमश्लो-
कोक्तलक्षणात् तथा चामरकोशोक्तलक्षणाद्भिन्नं वर्तते ।

(३६) मिताक्षरा । प्रायश्चित्तमयूखः

(३७) मिताक्षरा । प्रायश्चित्तमयूखः

(३८) मिताक्षरा । प्रायश्चित्तमयूखः

(३९) मिताक्षरा ।

श्रुतिपश्यन्तिमुनयःस्मरन्तिचतथास्मृतिम् ॥ तस्मात्प्रमाणमुभयंप्रमाणैःप्रापितंभुवि ॥ ४१ ॥
 वाक्याभावेतुसर्वेषांदेशदृष्टमनन्तयेत् ॥ ४२ ॥
 यस्यदेशस्ययोधर्मःप्रवृत्तःसार्वकालिकः ॥ श्रुतिस्मृत्यविरोधेनेदेशदृष्टःसउच्यते ॥ ४३ ॥
 देशपत्तनगोष्ठेषुपुरग्रामेषुवादिनाम् ॥ तेषांस्वसमयैर्धर्मःशासतोऽन्येषुतैःसह ॥ ४४ ॥
 लेख्यंयत्रनविद्येतनमुक्तिर्नचसाक्षिणः ॥ नचदिव्यावतारोस्तिप्रमाणंतत्रपार्थिवः ॥ ४५ ॥
 उभयाभ्यार्थितेनैवमयाहमुकसूनुना ॥ लिखितंहमुकेनेतिलेखकःस्वंतुतल्लिखेत् ॥ ४६ ॥
 शोधयेत्तच्छब्देनवेदयेद्धनिकंनृपे ॥ सराज्ञार्णचतुर्भागंदाप्यंतस्यचतुर्द्धनम् ॥ ४७ ॥

॥ निर्णयसिन्धुः ॥

पुष्पालङ्कारवस्त्राणिगन्धधूपानुलेपनम् ॥ उपवासेनदुष्यन्तिदन्तधावनमञ्जनम् ॥ १ ॥
 आदिष्टीनोदकंकुर्यादाव्रतस्यसमापनात् ॥ समाप्तेतूदकंकृत्वात्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥ २ ॥
 यदातुनैवकश्चित्स्यात्कन्याराजानमाहवेत् ॥ ३ ॥
 राज्ञस्तथासुरोवैश्येऽशूद्रेचान्यस्तुगर्हितः ॥ ४ ॥
 षण्ढान्धबधिरादीनांविवाहोस्तिथोचितम् ॥ विवाहासंभवेतेषांकनिष्ठोविवहेत्तदा ॥ ५ ॥
 वसवःपितरोज्ञेयारुद्राज्ञेयाःपितामहाः ॥ प्रपितामहास्तथादित्याःश्रुतिरेषासनातनी ॥ ६ ॥
 अविद्वान्प्रतिगृह्णानोभस्मीभवतिदारुवत् ॥ ७ ॥
 सर्वायासविनिर्मुक्तैःकामक्रोधविवाजितैः ॥ भवितव्यंभवद्भिर्नःश्वोभूतेऽश्रद्धकर्मणि ॥ ८ ॥
 दद्यान्निर्म्यःपरेभ्यस्तुजीवेचेत्त्रितयंयदि ॥ ९ ॥
 आशौचेचव्यतिक्रान्तेनामकर्मविधीयते ॥ १० ॥
 वृद्धःशौचमृतेलुमप्रत्याख्याताभिषक्क्रियः ॥ आत्मानंघातयेद्यस्तुभृग्वश्यनशनाम्बुभिः ॥ ११ ॥
 तस्यत्रिरात्रमाशौचंद्वितीयेत्वस्थिसंचयः ॥ तृतीयेतूदकंकृत्वाचतुर्थेऽश्रद्धमाचरेत् ॥ १२ ॥
 अस्वर्ग्याह्वाहुतिःसास्याच्छूद्रसंपर्कदूषिता ॥ १३ ॥
 ब्रह्मचर्यंचरेद्वापिप्रविशेद्वाहुताशनम् ॥ १४ ॥
 मातापित्रोरुपाध्यायाचार्ययोरौर्ध्वदेहिकम् ॥ कुर्वन्मातामहस्यापित्रतीनभ्रश्यतेव्रतात् ॥ १५ ॥
 इष्टिमायुष्मतींकुर्यादीप्सितांश्चक्रतूस्ततः ॥ १६ ॥

॥ मिताक्षरा ॥

अकामतस्त्वहोरात्रंशेषेषूपवसेदहः ॥१॥
 मानुषास्थिशवंविष्टरेतोमूत्रार्तवंवसा ॥ स्वेदाश्रुदूषिकाश्लेष्ममद्यंचामेध्यमुच्यते ॥ २ ॥
 विष्णोर्हव्यंचकव्यंचब्रूयाद्रक्षेतिचक्रमात् ॥ ३ ॥

सभासदश्रयेतत्रस्मृतिशास्त्रविदःस्थिताः ॥ यथालेख्यविधौतद्वत्स्वहस्तंदद्युरेवते ॥ ४ ॥
 निष्केतुसत्यवचनंद्विनिष्केपादलम्बनम् ॥ त्रिकादर्वाकृतुपुण्यस्यात्कोशपानमतःपरम् ॥ ५ ॥
 विभक्तावाविभक्तावासपिण्डाःस्थावरेसमाः ॥ एकोह्यनीशःसर्वत्रदानाधमनविक्रयः ॥ ६ ॥
 वाक्पाठ्येयएवोक्ताप्रतिलोमानुलोमतः ॥ ७ ॥
 ब्राह्मणस्यवधेभौण्ड्यंपुरान्निर्वासनाङ्कने ॥ ललाटेवाभिस्ताङ्कःप्रयाणंगर्दभेनतु ॥ ८ ॥
 सूतकेतुकुलस्यान्मदोषंमनुरब्रवीत् ॥ ९ ॥
 बहूनामेकार्याणांसर्वेषांशस्त्रधारिणाम् ॥ यद्येकोघातयेत्तत्रसर्वेतेघातकाःस्मृताः ॥ १० ॥
 ततोमुसलमादायसकृद्व्यात्तुतस्वयम् ॥ ११ ॥
 एतान्येवतथापेयान्येकैकंतुद्यहंद्यहम् ॥ अतिसांतपनंनामश्वपाकमपिशोधयेत् ॥ १२ ॥
 विद्वद्विभनृपस्त्रीणानेव्यतेकेशवापनम् ॥ ऋतेमहापातकिनोगोहन्तुश्चावकीर्णनः ॥ १३ ॥

॥ संस्कारकौस्तुभः ॥

सर्वदेशेषुपूर्वाह्णंमुख्यंस्यादुपनायनम् ॥ मध्याह्नेमध्यमंप्रोक्तमपराह्णेचगर्हितम् ॥ १ ॥
 विवाहेनाधिकारेणज्येष्ठकन्योत्थितायदा ॥ तदनुज्ञांविनाचापिकनिष्ठामुद्वहेत्तदा ॥ २ ॥
 शर्मदेवश्चविप्रस्यवर्मराजाचभूभुजः ॥ गुप्तोदत्तश्चवैश्यस्यदासःशूद्रस्यकारयेत् ॥ ३ ॥
 चाण्डालान्द्विजोभुक्तासम्यक्चान्द्रायणंचरेत् ॥ बुद्धिपूर्वतुरुच्छादंपुनः संस्कारमेवच ॥ ४ ॥
 प्रदोषपश्चिमौयामौवेदाभ्यासेनयोजयेत् ॥ यामद्वयंशयानस्तुब्रह्मभूयायकल्पते ॥ ५ ॥
 चत्वारोब्राह्मणस्याद्याःशस्तागान्धर्वराक्षसौ ॥ ६ ॥

॥ नारायणभट्टकृतप्रयोगरत्नम् ॥

जातकर्मादिसंस्काराःस्वकालेनभवन्तिचेत् ॥ चौलादर्वाक्प्रकुर्वीतप्रायश्चित्तादनन्तरम् ॥ १ ॥[†]
 लेखामात्रस्तुदृश्येतरश्मिभिस्तुसमन्वितः ॥ उदितंतुविजानीयात्तत्रहोमंप्रकल्पयेत् ॥ २ ॥*

॥ विवादभङ्गार्णवः ॥

भरणंपोष्यवर्गस्यप्रशस्तंस्वर्गसंधानम् ॥ नरकंपीडनेचास्यतस्माद्यत्नेनतंभरेत् ॥ १ ॥
 येजातायेप्यजाताश्चयेचगर्भेव्यवस्थिताः ॥ वृत्तिरेऽपिहिकाङ्क्षन्तिवृत्तिलोपोविगर्हितः ॥ २ ॥
 ऋणमस्मिन्सन्नयत्यमृतत्वंचविन्दति ॥ तेनचानृणतांयातिपितृणांजीवतांसुखम् ॥ ३ ॥
 पाण्मासिकेपिकालेतुभ्रान्तिःसंजायतेनृणाम् ॥ धात्राक्षराणिस्पृष्टानियत्रारूढान्यतःपुरा ॥ ४ ॥
 ब्राह्मणःक्षत्रियोवापिबुद्धिनैवप्रयोजयेत् ॥ कामीचखलुधर्मार्थदद्यात्पापीयसेऽल्पकम् ॥ ५ ॥
 धर्मार्थंब्राह्मणेदानंयशोर्थेतदनर्थकम् ॥ ६ ॥

सर्वत्रादायकं राजाहरेद्रत्नस्ववर्जितम् ॥ अदायकं तु ब्रह्मस्वं श्रोत्रियेभ्यः प्रदापयेत् ॥ ७ ॥
 विरोधेतु मिथस्तेषां व्यवहारो न सिध्यति ॥ ८ ॥
 ऋतुस्नाता तु याभार्याभर्तारं नोपगच्छति ॥ तां ग्राममध्ये विख्याप्य भूणर्घीं विनिवासयेत् ॥ ९ ॥
 स्वच्छन्दं गाचयानारीतस्यास्त्यागो विधीयते ॥ न चैव रूढीव धं कुर्यान्न चैवाङ्गविकर्तनम् ॥ १० ॥
 स्वच्छन्दं व्यभिचारिण्याविवस्वांस्त्यागमब्रवीत् ॥ न वधं न च वैरूप्यं बन्धं स्त्रीणां विवर्जयेत् ॥ ११ ॥
 दानात्प्रभृति यातुस्याद्यावदायुःपतिव्रता ॥ सा भर्तृलोकमामोति यथैवार्हन्धती तथा ॥ १२ ॥
 यल्लब्धं लाभकाले तु स्वजात्या कन्यया सह ॥ कन्यागतं तु तद्विद्याच्छुद्धं वृद्धिकरं स्मृतम् ॥ १३ ॥
 वैवाहिकं तु तद्विद्याद्भार्याया तस्मागतम् ॥ धनमेवं विधं सर्वं विज्ञेयं धर्मसाधनम् ॥ १४ ॥
 आरुह्य संशयं यत्र प्रसभं कर्म कुर्वते ॥ तस्मिन्कर्मणि तथैव प्रसादः स्वामिना कृतः ॥ १५ ॥
 तत्र लब्धं तु यत्किंचिद्धनं शौर्येण तद्भवेत् ॥ ध्वजादृतं भवेद्यच्च विभाज्यं नैव तत्स्मृतम् ॥ १६ ॥
 संग्रामादादृतं यत्तु विद्राव्यद्विपतां बलम् ॥ स्वाम्यर्थं जीवितं त्यक्त्वा तद्ध्वजादृतमुच्यते ॥ १७ ॥

॥ व्यवहारतत्त्वम् ॥

नाध्यापयति नाधीते स ब्राह्मणब्रुवः स्मृतः ॥ १ ॥

॥ दायक्रमसंग्रहः ॥

पतितस्तु सुतः क्लीबः पङ्कुश्चोन्मत्तकोजडः ॥ अन्धोऽचिकित्सरो गार्तो भर्तव्यास्ते निरंशकाः ॥ १ ॥
 सामान्यं पुत्रकन्याधिः सर्वस्वं न्याययाचितम् ॥ अदेयान्याहुरष्टैव यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम् ॥ २ ॥

॥ दायतत्त्वम् ॥

राजालब्ध्वानि धिदद्याद्विजेभ्योऽर्धं द्विजः पुनः ॥ विद्वानशेषमादद्यात्सर्वस्य प्रभुर्यतः ॥ १ ॥
 इतरेण निधौ लब्धे राजा षष्ठांशमाहरेत् ॥ अनिवेदितविज्ञातादाप्यस्तं दण्डमेव च ॥ २ ॥

श्रीमद्भागवते

३ स्कन्धे १ अध्याये ३६ श्लोक टीकार्या

येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः ॥ मयूराश्चित्रिता येन स ते वृत्तिविधास्यति ॥ १ ॥

॥ शङ्करविजये प्रथमप्रकरणे ॥

पूज्येषु सेवकानीचाः पुण्यमार्गक्रियानुगाः ॥ तत्तदेव पदं चापुर्थया जातिकुलस्थितिः ॥ १ ॥
 विप्राणां दैवतं शंभुः क्षत्रियाणां तु माधवः ॥ वैश्यानां तु भवेद्ब्रह्मा शूद्राणां गणनायकः ॥ २ ॥*

* ब्राह्मणेन शिवः शिवतत्त्वविदा सेवितव्यः । क्षत्रियादिना तु तत्तत्त्वविदेति निरवयवं मनुस्मृतेरितरथाकर्तुमशक्यत्वात् । परन्तु क्षीणे पुण्ये लघुधर्मतया क्लेशभाजि कलियुगे परस्पररागादिप्रस्तेषु ब्राह्मणादिषु सत्यज्ञानशून्येषु निगमाचारपरित्यक्तेषु लोकप्रवृत्तिः काचिदासीत् ॥ २ ॥

॥ मयूखाः ॥

॥ संस्कारमयूखः ॥

शूद्रोप्येवंविधः कार्यो विना मन्त्रेण संस्कृतः ॥ १ ॥

ततोऽन्वेषणं मासिषष्ठे कार्यं यथाविधि ॥ अष्टमे वाथ कर्तव्यं यदेष्टं मङ्गलं गृहे ॥ २ ॥

तिस्रो वणानि पूर्वेण द्वे तथैका यथाक्रमम् ॥ ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्याश्चाशूद्रजन्मनः ॥ ३ ॥

अथाग्न्योर्गृह्योर्गोसपत्नीभेदजातयोः ॥ सहाधिकारसिद्धयर्थं महं वक्ष्यामि शौनक ॥ ४ ॥

क्षुधितं तृषितं श्रान्तं बलीवर्दनं योजयेत् ॥ ५ ॥

॥ २ ॥ आचारमयूखः ॥

यस्मिन् देशे तु यत्तु यथा च यत्रैव मृत्तिका ॥ सैव तत्र प्रशस्ता स्यात्तया शौचं विधीयते ॥ १ ॥

मूत्रे तिस्रः पादयोस्तु हस्तयोस्तिस्र एव तु ॥ मृदः पञ्चदशामेध्ये हस्तादीनां विशेषतः ॥ २ ॥

नष्पीड्य स्नानवस्त्रं तु पश्चात्सन्ध्यां समाचरेत् ॥ अन्यथा कुरुते यस्तु स्नानं तस्याफलं भवेत् ॥ ३ ॥

असामर्थ्याच्छरीरस्य कालशक्त्याद्यपेक्षया ॥ मन्त्रस्नानादिकं प्रोक्तं मुनिभिः शौनकादिभिः ॥ ४ ॥

वस्त्रेणाच्छाद्य तु करं दक्षिणं यः सदा जपेत् ॥ तस्य तत्सफलं जप्यं तद्धीनमफलं स्मृतम् ॥ ५ ॥

भोजनं तु निःशेषं कुर्यात्प्राज्ञः कथं च न ॥ अन्यत्र दधिसक्ता ज्यपल्लक्षोरमध्वपः ॥ ६ ॥

स्त्रीणां च प्रेक्षणात्स्पर्शात् हास्यशृंगारभाषणात् ॥ स्पन्दते ब्रह्मचर्यं च न दोरुष्वृतुसंगमात् ॥ ७ ॥†

ऋतौ तु गर्भशंकित्वात् स्नानं मैथुनिनः स्मृतं ॥ अनृतौ तु यदा गच्छेच्छौचं मूत्रपुरीषवत् ॥ ८ ॥

॥ ४ ॥ श्राद्धमयूखः ॥

मुन्यन्नं ब्राह्मणस्योक्तं मांसं क्षत्रियवैश्ययोः ॥ मधुप्रधानं शूद्रस्य सर्वेषां चाविरोधियत् ॥ १ ॥

कृच्छ्रद्वादशरात्रेण मुच्यते कर्मणस्ततः ॥ तन्मा द्विद्वानैव दद्यान् यत्तु च ददापयेत् ॥ २ ॥

॥ ६ ॥ व्यवहारमयूखः ॥

इत्तक्रीतादिपुत्राणां बीजवापुः सपिण्डता ॥ पञ्चमी सप्तमी चैव गोत्रं तु पालकस्य च ॥ १ ॥

स्त्रीधनं स्यादपत्यानां दुहिता च तर्द्धिनी ॥ अप्रप्ता चेत्समूढा तु लभते मानमात्रकम् ॥ २ ॥

॥ १० ॥ प्रायश्चित्तमयूखः ॥

पतत्यर्धशरीरस्य भार्यायस्य सुरां पिबेत् ॥ पतितर्धशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥ १ ॥

यो यस्य हि स्याद्रव्याणि ज्ञानतो ऽ ज्ञानतो ऽ पिवा ॥ एतस्योत्पादयेत्तुष्टिराज्ञां दद्याच्च तत्समम् ॥ २ ॥

यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्व्रतम् ॥ ३ ॥

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधिः सर्पिः कुशोदकम् ॥ स्नात्वा पीत्वा च कृत्वा च रुमिदष्टः शुचिर्भवेत् ॥ ४ ॥

असत्यतिग्रहीतारस्तथैवायाज्ययाजकाः ॥ नक्षत्रैर्जावते यश्च सोऽन्धकारं प्रपद्यते ॥ ५ ॥

अठव्यामटमानस्य ब्राह्मणस्य विशेषतः ॥ प्रनष्टसलिले देशे कथं शुद्धिर्विधीयते ॥ ६ ॥

अपां दृष्ट्वैव विप्रस्तु कुर्याच्चैव सचैलकम् ॥ गायत्र्याष्टशतं जाप्यं स्नानमेतत्समाचरेत् ॥ ७ ॥

† समयमयूखः

देशकालंसमासाद्यावस्थानात्मनस्तथा ॥ धर्मशौचेवतिष्ठेत्तनकुर्याद्द्वेगधारणम् ॥ ८ ॥
 त्रिरात्रंवाप्युपवसेन्न्यहंत्रिःपर्वणीभवेत् ॥ तथैवाम्भसिनग्रस्तुत्रिःपठेदधमर्षणम् ॥ ९ ॥
 यदह्नाकुरुतेपापंकर्मणामनसागिरा ॥ आसीनःपश्चिमांसन्ध्यं प्राणायामैर्निहन्ति तैः ॥ १० ॥

॥ बृद्धमनुः ॥

॥ स्मृतिचन्द्रिका ॥

प्रतिश्रुत्यनकुर्याद्यःसकार्यःस्याद्वलादपि ॥ सचेन्नकुर्यात्तत्कर्मप्राप्त्याद्विशतंदमम् ॥ १ ॥
 पथिविक्रीयतद्भाण्डं वणिक्भृत्यंत्यजेद्यदि ॥ अथतस्यापिदेयंस्याद्भूतेरर्थलभेतसः ॥ २ ॥
 योभाटयित्वाशकटं नीत्वाचान्यत्रगच्छति ॥ भाटंनदद्याद्वाप्यःस्यादरूढस्यापिभाटकम् ॥ ३ ॥
 स्थापितांचैवमर्यादामुभयोर्ग्रामयोस्तथा ॥ अतिक्रामन्ति येपापास्तेदण्ड्याद्विशतंदमम् ॥ ४ ॥
 अपुत्राशयनंभर्तुःपालयन्तीव्रतेस्थिता ॥ पत्न्येवदद्यात्तत्पण्डंरुत्समंशंलभेतच ॥ ५ ॥
 कुर्यादनुपनीतोपिश्राद्धमेकोहियःसुतः ॥ पितृयज्ञाहुतिपाणौजुहुयाद्वाह्मणस्यसः ॥ ६ ॥
 यस्यामस्तरं विर्यातिपितरस्तामुपासते ॥ तिथितेभ्योयतोदत्तोह्यपराहःस्वयंभुवा ॥ ७ ॥
 मध्येवायदिवाप्यन्तेयत्रकन्यांरविर्व्रजेत् ॥ पक्षःसकालःसंपूर्णःश्राद्धं तत्रविधीयते ॥ ८ ॥
 ऋतुकालेनियुक्तोवानैवगच्छेत्स्त्रियंकचित् ॥ तत्रगच्छन्समाप्नोतिह्यनिष्ठंफलमेवच ॥ ९ ॥
 स्वयंघौतेनकर्तव्याःक्रियाधर्म्याविपश्चिता ॥ १० ॥
 समाहितोपलिभेतुद्धारिकुर्वीतमण्डले ॥ ननियुक्तःशिरोवर्ज्यंमाल्यंशिरसिवेष्टयेत् ॥ ११ ॥
 अनुष्ठितं तथादेवैर्मुनिभिर्यदनुष्ठितम् ॥ नानुष्ठितंमनुष्यैस्तदुक्तं कर्मसमाचरेत् ॥ १२ ॥
 खादिरस्यकरंजस्यकदंबस्यतथैवच ॥ अर्कस्यकरवीरस्यकुटजस्यविशेषतः ॥ १३ ॥
 पक्षादौचरवौषष्ट्यांरिक्तायांचतथातिथौ ॥ तैलेनाभ्यञ्जमानस्तुधनाभ्युष्याप्रहीयते ॥ १४ ॥
 अन्यायोपात्तवित्तस्यपतितस्यचवार्धुषेः ॥ नस्नायादुदपानेषुस्नात्वा रुच्छं समाचरेत् ॥ १५ ॥
 मृतेजन्मनिसंक्रान्तौश्राद्धेजन्मदिनेतथा ॥ अस्पृश्यस्पर्शनेचैव नस्नायादुष्णवारिणा ॥ १६ ॥
 संक्रान्त्यांभानुचारेचसमम्यांराहुदर्शने ॥ आरोग्यपुत्रेभिन्नार्थानस्नायादुष्णवारिणा ॥ १७ ॥
 सगोहृत्याकृतं पापंप्राप्नोत्येव न संशयः ॥ १८ ॥
 षडोङ्कारंजपन्विप्रो गायत्रीं मनसाशुचिः ॥ अनेकजन्मजैः पापैर्मुच्यते नात्र संशयः ॥ १९ ॥

(२) पराशरमाधवः । व्यवहारमयूखः

(८) निर्णयसिन्धुः । श्राद्धहेमाद्रिः

(५) शूद्रकमलाकरः । पराशरमाधवः । निर्णय
 सिन्धुः । मिताक्षरा

(९) श्राद्धहेमाद्रिः । पराशरमाधवः । निर्णयसिन्धुः ।

(११) निर्णयसिन्धुः

(६) पराशरमाधवः । निर्णयसिन्धुः ।

(१५) श्राद्धहेमाद्रिः । स्मृतिरत्नाकरः । मिताक्षरा ।

(७) श्राद्धहेमाद्रिः । निर्णयसिन्धुः

(१६) हेमाद्रिः । स्मृतिरत्नाकरः । निर्णयसिन्धुः । आचारमयूखः ।

तिस्रोव्याहृतयःपूर्वषडोङ्कारसमन्वितः ॥ पुनःसंदृत्यचौङ्कारमन्त्रस्याद्यन्तयोस्तथा ॥ २० ॥
 सौङ्कारचतुरावृत्त्यविज्ञेयासाशताक्षरा ॥ शताक्षरांसमावर्त्यसर्ववेदफलंलभेत् ॥ २१ ॥
 एतयाज्ञातयानित्यंवाङ्मयंविदितंभवेत् ॥ उपासितंभवेत्तेनविश्वंभुवनसप्तकम् ॥ २२ ॥
 यथायोधनहस्तेभ्योराज्यंगच्छतिधार्मिकः ॥ एंवतिलसमायुक्तंजलप्रेतेषुगच्छति ॥ २३ ॥
 एकैकस्यतिलैर्मिश्रानूर्त्नीसीन्कृत्वाजलाञ्जलिम् ॥ यावज्जीवकृतंपापंतत्क्षणादेवनश्यति ॥ २४ ॥
 इहजन्मकृतंपापमन्यजन्मकृतंचयत् ॥ अङ्गारकचतुर्दश्यांतर्पयंस्तद्यपोहति ॥ २५ ॥
 नपिबेन्चभुञ्जीतद्विजःसव्येनपाणिना ॥ नैकहस्तेनचजलंशूद्रेणार्वाजितंपिबेत् ॥ २६ ॥
 पिबतोयत्पतेत्तोयंभोजनेमुखनिःसृतं ॥ अभोज्यन्तद्भवेदन्नंभोक्ताभुञ्जीतकिल्बिषी ॥ २७ ॥
 पीतावशेषितंकृत्वाब्राह्मणःपुनरापिबेत् ॥ त्रिरात्रंतुव्रतंकुर्याद्दामहस्तेनवापुनः ॥ २८ ॥

॥ श्राद्धहेमाद्रिः ॥

श्रवणाश्विधनिष्ठाद्दानागदैवतमस्तके ॥ यद्यमारविवारेणव्यतीपातःसउच्यते ॥ १ ॥
 यश्चवाकुरुतेवाचंयश्चमीमांस्यतेऽध्वरं ॥ यश्चवेत्यात्मकैवल्यंपङ्क्तिपावनपावनाः ॥ २ ॥
 यांकांचित्सरितंप्राप्यकृष्णपक्षेचतुर्दशी ॥ यमुनायाविशेषेणब्राह्मणोऽनियतेन्द्रियः ॥ ३ ॥
 हिरण्यवैश्वदेवेतुदद्याद्वैदक्षिणांबुधः ॥ पित्रेतुरजतंदेयंशक्त्याभूमिगवादिकम् ॥ ४ ॥
 प्रोषितस्ययदाकालोगतश्चेद्वादशाद्विकः ॥ प्रामेत्रयोदशेवर्षेप्रेतकार्याणिकारयत् ॥ ५ ॥

॥ स्मृतिरत्नाकरः ॥

चण्डालादेस्तुसंस्पर्शवारुणंस्नानमेवहि ॥ इतराणितुचत्वारियथायोग्यंस्मृतानिह ॥ १ ॥
 मनुष्यतर्पणेचैवस्नानंवस्त्रादिपीडने ॥ निवीतीस्तूभयेविप्रस्तथामूत्रपुरीषयोः ॥ २ ॥
 वस्त्रंत्रिगुणितंयस्तुनिष्पीडयतिमूढधीः ॥ वृथास्नानंभवेत्तस्ययच्चैवादशमम्बुभिः ॥ ३ ॥
 और्ध्वपुण्ड्रोमृदाधार्योयतिनाचविशेषतः ॥ भस्मचन्दनगन्धादीन्वर्जयेद्यावदायुषा ॥ ४ ॥

॥ शूद्रकमलाकरः ॥

विधवाकारयेच्छ्राद्धंयथाकालमतन्द्रिता ॥ स्वभर्तृप्रभृतित्रिभ्यःस्वपितृभ्यस्तथैवच ॥ १ ॥

(२३) श्राद्धहेमाद्रिः ।

(२४) श्राद्धहेमाद्रिः ।

(२५) श्राद्धहेमाद्रिः । आचारमयूखः ।

(२६) शूद्रकमलाकरः । पराशरमाधवः ।

आचारमयूखः ।

(२७) पराशरमाधवः । आचारमयूखः ।

(२८) पराशरमाधवः । आचारमयूखः ।

(१) श्राद्धमयूखः

(६) निर्णयसिन्धुः । श्राद्धमयूखः ।

संस्थितेपक्षिणींरात्रिदौहित्रेभगिनीसुते ॥ संस्कृतेतुत्रिरात्रंस्यादितिधर्मोव्यवस्थितः ॥ २ ॥

पित्रोःस्वसरितद्वच्चपक्षिणीपक्षयन्निशाम ॥ ३ ॥

भगिन्यांसंस्कृतायांतुभ्रातर्यपिचसंस्कृते ॥ मित्रेजामातरिप्रेतेदौहित्रेभगिनीसुते ॥ ४ ॥

शालकेतत्सुतेचैवसद्यःस्नानेनशुध्यति ॥ ५ ॥

षण्दंतुब्राह्मणंहत्वाशूद्रहत्याव्रतंचरेत् ॥ ६ ॥

शूद्रकन्यांसमुत्पन्नोब्राह्मणेनतुसंस्कृतः ॥ अपरोनापितःप्रोक्तःशूद्रधर्माधिकोपिसः ॥ ७ ॥

॥ पराशरमाधवः ॥

यदितस्मिन्दाप्यमानेभवेन्मोषेतुसंशयः ॥ मुषितःशपथंदाप्योबन्धुभिर्वापिसाधयेत् ॥ १ ॥

नप्रातर्नप्रदोषश्चसन्ध्याकालोतिकालहि ॥ मुख्यकालेनुकल्पश्चसर्वस्मिन्कर्मणिस्मृतः ॥ २ ॥

पोत्वायोऽशनमश्रीयात्पात्रेदत्तमर्हितम् ॥ भार्याश्रुतकदासेभ्यर्च्छिष्टशेषयेत्ततः ॥ ३ ॥

अनिन्दन्भक्षयेन्नित्यंवाग्यतोन्मकुत्सयन् ॥ पञ्चग्रासान्महामौनंप्राणाद्याप्यायनंमहत् ॥ ४ ॥

महानद्यन्तरंयत्रगिरिर्वाव्यवधायकः ॥ वाचोयत्रविभिद्यन्तेतद्देशान्तरमुच्यते ॥ ५ ॥

पित्रोरुपशमेस्त्रीणामूढानांतुकथंभवेत् ॥ त्रिरात्रेणैवशुद्धिःस्यादित्याह भगवान्यमः ॥ ६ ॥

नभस्यस्यापरःपक्षोयत्रकन्यांव्रजेद्विः ॥ समहालयसंज्ञःस्याद्रजच्छायाह्वयस्तथा ॥ ७ ॥

समहस्तेनदण्डेनत्रिशदण्डनिवर्तनम् ॥ तान्येवदशगोचर्मदातापापैःप्रमुच्यते ॥ ८ ॥

॥ निर्णयसिन्धुः ॥

अर्धरात्रादधस्ताच्चेत्संक्रान्तियहणंतदा ॥ उपाकर्मनकुर्वीतपरतश्चेन्नदोषभाक् ॥ १ ॥

एकमातृजयोरेकवत्सेरपुरुषस्त्रियोः ॥ नसानक्रियांकुर्यान्मातृभेदेविधीयते ॥ २ ॥

पितापितामहौभ्राताज्ञातयोगोत्रजाग्रजाः ॥ उपायनेधिकारीस्यात्पूर्वाभावेपरःपरः ॥ ३ ॥

जीवन्यदिसमागच्छेद्धृतकुंभेनिमज्ज्यच ॥ उद्धृत्यस्नापयित्वास्यजातकर्मादिकारयेत् ॥ ४ ॥

समभ्यांभानुवारेचमातापित्रोर्धृतेहनि ॥ तिलैर्यस्तर्पणंकुर्यात्सभवेत्पितृघातकः ॥ ५ ॥

तैलाभ्यंगोनाकवारेनभौमेनोसंक्रान्तौवैधृतौविष्टिषष्ठ्योः ॥ पर्वस्वष्टम्यांचनेष्टःसङ्घःप्रोक्तान्मुक्तावासरेसूर्यसूनोः ॥ ६ ॥

लुषात्स्त्रीयतत्पुत्रज्ञातिसंबन्धिबान्धवाः ॥ पुत्राभावेतुकुर्वीरन्सपिण्डान्तंयथाविधि ॥ ७ ॥

श्राद्धकरिष्यन्कृत्वावाभुक्त्वावापिनिर्मात्रतः ॥ उपोष्यचतथाभुक्तानोपेयाञ्चक्रतावपि ॥ ८ ॥

निमत्तयविप्रांस्तदहर्वर्जयेच्चैथुनंक्षुरं ॥ प्रमत्तांचत्वाभ्यायंकोधशौचेतथानृतं ॥ ९ ॥

शू०क० (२) पराशरमाधवः । निर्णयसिन्धुः ।

शू०क० (३) पराशरमाधवः

शू०क० (४) पराशरमाधवे (बृहन्मनुः) निर्णयसिन्धुः

शू०क० (५) पराशरमाधवः । निर्णयसिन्धुः ।

प०मा० (४) आचारमयूखः

प०मा० (५) विवादभट्टार्णवः

प०मा० (६) निर्णयसिन्धुः

नि०सि० (१) प्रयोगपारिजातकः ।

नि०सि० (२) संस्कारकौस्तुभः ।

नि०सि० (४) हेमाद्रिः । आद्धमयूखः

नि०सि० (९) आद्धमयूखः

मृन्मयं दारुजं पात्रमयः पात्रं च यद्भवेत् ॥ राजतं दैविके कार्ये शिलापात्रं च वर्जयेत् ॥ १० ॥
 अमृतं मृतमाकर्ण्य कृतं तस्यौर्ध्वदेहिकं ॥ प्रायश्चित्तमसौ स्मार्तकृत्वा ग्रीनादधीत च ॥ ११ ॥
 द्वादशाहव्रतं चर्या त्रिरात्रमथ वास्यतु ॥ स्नात्वा द्वहेततां भार्यामन्यां वा तदभावतः ॥ १२ ॥
 अग्रीनाधाय विधिवद्वात्यस्तोमेन वायजेत् ॥ अथैन्द्राग्नेन पशुना गिरिं गत्वा च तत्र तु ॥ १३ ॥
 क्लीबाद्यानोदकं कुर्युस्तेनाव्रात्या विधर्मणः ॥ गर्भभर्तृद्रुहश्चैव सुराप्यश्चैव योषितः ॥ १४ ॥
 दशाहस्यान्तरो यस्य गङ्गातोयेऽस्थिमज्जति ॥ गयायां मरणं यादृक्तादृक्फलमवाप्नुयात् ॥ १५ ॥
 द्वादशे हनि विप्राणामाशौचान्ते च भूभुजां ॥ वैश्यानां तु त्रिपक्षादावथ वास्यात्सपिण्डनं ॥ १६ ॥

॥ विवादभङ्गार्णवः ॥

ब्रह्मदायागतां भूर्मेहरेयुर्ब्राह्मणीसुताः ॥ गृहं द्वितयः सर्वे तथा क्षत्रं क्रमागतं ॥ १ ॥

॥ श्राद्धमयूखः ॥

शुक्लाः समुन्नतः श्रेष्ठास्तथापद्योत्पलानितु ॥ गन्धरूपोपयुक्तानि क्रतुकालोद्भवानि च ॥ १ ॥
 जपादिकुसुमं रिण्ठीरूपिकासुकुरिण्टिका ॥ पुष्पाणि वर्जनीयानि श्राद्धे कर्मणि नित्यशः ॥ २ ॥

॥ व्यवहारमयूखः ॥

प्रमादान्नाशितं दाप्यः समहिद्रोहनाशितं ॥ नतु दाप्योद्धतं चोरैर्दग्धमूढं जलेन वा ॥ १ ॥

॥ प्रायश्चित्तमयूखः ॥

पतितान्त्यश्वपाकेन संसृष्टा चेद्रजस्त्वला ॥ तान्यहानिव्यतिक्रम्य प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥ १ ॥
 अथ मेऽह्नि त्रिरात्रं स्याद्वितीये घृहमेव तु ॥ अहोरात्रं तृतीयेऽह्नि चतुर्थेन क्तमेव च ॥ २ ॥

॥ बृहन्मनुः ॥

॥ स्मृतिरत्नाकरः ॥

त्रयोदश्यान्तु समस्यां चतुर्थ्यामर्धरात्रतः ॥ अर्वाक्नाभ्ययनं कुर्यादिच्छेत्तस्य परायणम् ॥ १ ॥
 रात्रौ यामद्वयादर्वाक्यदिपश्येन्नयोदशीम् ॥ सारात्रिः सर्वकर्मग्रीवाङ्कुराराधनं विना ॥ २ ॥

शूद्रकमलाकरः

जीवज्जातो यदिततो मृतः सूतकमेव तु ॥ सूतकं सकलमातुः पित्रादीनां त्रिरात्रकम् ॥ १ ॥

॥ पराशरमाधवः ॥

समानोदकभावस्तुनिवर्तेताचतुर्दश ॥ जन्मनामस्मृतेरेकेतत्परंगोत्रमुच्यते ॥ १ ॥
 आषाढीमर्वाधिकृत्वापञ्चमं पक्षमाश्रिताः ॥ काङ्क्षन्तिपितरः क्लिष्टा अन्नमप्यन्वहं जलम् ॥ २ ॥
 तस्मात्तत्रैव दातव्यं दत्तमन्यत्र निष्फलम् ॥ आषाढीमर्वाधिकृत्वायः पक्षः पञ्चमो भवेत् ॥ ३ ॥
 तत्र श्राद्धं प्रकुर्वीत कन्यास्थोऽर्को भवेन्नवा ॥ ४ ॥

॥ निर्णयसिन्धुः ॥

असंबन्धा भवेन्मातुः पिण्डेनैवोदकेन वा ॥ साविवाहाद्विजातीनां त्रिगोत्रान्तरिता च या ॥ १ ॥
 श्वश्रूद्रूपतिताश्चान्त्यामृताश्चेद्विजमन्दिरे ॥ शौचं तत्र प्रवक्ष्यामि मनुना भाषितं यथा ॥ २ ॥
 दशरात्राच्छुनिमृते मासाच्छूद्रे भवेच्छुचिः ॥ द्वाभ्यान्तु पतिते गेहमन्त्यो मासाश्चतुष्टयात् ॥ ३ ॥
 अत्यन्तं वर्जयेद्देहमित्येवं मनुरब्रवीत् ॥ ४ ॥

॥ मिताक्षराः ॥

दशाभ्यन्तरे बाले प्रसीतस्य बान्धवैः ॥ शावाशौचं न कर्तव्यं सूत्याशौचं विधीयते ॥ १ ॥

॥ विवादभङ्गार्णवः ॥

देशनामनदीभेदान्निकटेऽपि भवेद्यदि ॥ तत्तु देशान्तरं प्रोक्तं स्वयमेव स्वयं भुवा ॥ १ ॥
 दशरात्रेण यावार्तायत्र न श्रूयतेऽथवा ॥ गुरोः शिष्येऽपि पुत्रेऽपत्योः स्वामिश्रुत्ययोः ॥ २ ॥
 एकोदरे जीवति तु सापत्न्यो न लभेद्धनं ॥ स्थावरेऽप्येवमेव स्यात्तदभावेऽलभेत वै ॥ ३ ॥

॥ प्रायश्चित्तमयूखः ॥

मातुर्मातृगमनेऽपि तुर्मातृगमने तथा ॥ एतास्त्वकामतो गत्वा द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥ १ ॥

॥ समाप्तम् ॥

मेधातिथिपाठभेदाः

चिन्हानि

मे० १=मुद्रितपुस्तकम् ।

मे० २=वङ्गपुस्तकम् ।

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | मे० १ | मे० २ |
|---------|----------|----------------------------|--|
| | | अध्यायः १ | |
| १ | १४ | शास्त्रंकार्त्स्न्येन | शास्त्रकार्त्स्न्येनपर्या- लोचनावसेयोऽर्थोबु- द्धिगोचरमावहति । |
| | १६ | तत्तुक्तमपि | यत्तुक्तमपि । |
| | १७ | निश्चयोनास्तिना- स्तीति | निश्चयोऽस्तिनास्तीति । |
| | १८ | अर्थसंशयेऽपि | अर्थसंशयेपि । |
| | १९ | सिद्धौ | सिद्धेः । |
| | २० | सिद्धिः | सिद्धेः । |
| | २१ | चावेद्यते | चवेद्यते । |
| | २२ | चाव्युत्पन्न | चव्युत्पन्न । |
| | २३ | अनेकार्थवाद | नकार्थवाद । |
| | २४ | पुरुषार्थोपयोगी | पुरुषोपयोगी । |
| २ | ४ | अदिश | उपदिश । |
| | | अकृत्रिमप्रतिमत्वं | उत्पत्तिमप्रतिमत्वं । |
| | | प्रयोजनात् | प्रयोजनानुदर्शयन् । |
| | ४ | शब्दादितरैरविहिते | शब्दान्तिमैः । |
| | १० | त्यागेनयदृच्छया | त्यागेननयदृच्छया । |
| | ११ | नह्यकुशलः | नहिकुशलः । |
| | १२ | आसनेन | अथवा आसनेन |
| | १३ | विशेषणम् | विशेषणेन । |
| | | कुशलप्रश्नानुरूप | कुशलश्चानुरूप |
| | | अविक्षिप्त | अनिक्षिप्त । |
| | १५ | निवृत्तौ | प्रतिपत्तौ । |
| | | अनवधारणे | अवधारणे । |
| | २१ | तपोविशेषात् | तयोर्विशेषात् । |
| | २२ | वाक्यपक्षे | वाक्यपक्षे । |
| ५ | १६ | वीर्यादि भगशब्दः | वीर्यादिषु । |
| | | मनुः | मनोः |
| | १७ | चतिसृषु चतसृषु । | ज्ञातिषु जातिषु । |
| | | अवरोधार्थ | अवबोधार्थ । |
| | १९ | वैदेहिक | वैदेहक । |
| | २१ | ततज्जातीया | तेनतज्जातीया । |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | मे० १ | मे० २ |
|---------|----------|-------------------|-------------------------|
| ५ | २२ | धर्मादिना | धर्महीना । |
| ६ | ४ | लक्षणयोग्यतया | लक्षणयोग्यतया |
| | ५ | तत्तेन | तेन |
| | ७ | एवंचेत्यवन्दना- | एवंचेत्येवंहनना- |
| ६ | ७ | दावपि | दावपि |
| | | कतमे | कृताये |
| ७ | ६ | अभयसहस्र | अयंसहस्र |
| | | आहवनीयोपस्थाने | आहवनीयमुपतिष्ठते |
| | | | डेप्रत्यक्षएवावादयवि- |
| | | | धत्तेधेतथैवेतितीयया |
| | | | प्रत्यक्षस्यैवमत्तस्य । |
| | | | आहवनीयोपस्थाने |
| | ७ | दामि | ददामि |
| | १२ | कुमारिलपक्षः | कुशादिलून(वा)नून- |
| | | | पक्षः । (अस्पष्टम्) |
| | १३ | स्वयंभुवा | स्वयंभुवो । |
| | १८ | पाताः | याताः |
| | २० | अन्यतो | पातात् । |
| | २४ | अभिलष्य | अभिलक्ष्य |
| | २७ | भेदो | वेदो । |
| | २९ | महत्त्वस्यएतेन | महत्त्वख्यापनेन । |
| | ३० | नस्तस्य | यस्तस्य |
| ८ | १ | क्रियेति | क्रियते । |
| | | परिस्पन्दमान | परिस्पन्दमान |
| | ३ | पारमार्थिकोऽर्थो | पारमार्थिको |
| | ४ | सनतत्त्वार्थो | सएवचार्थो । |
| | ८ | प्रतीयमानैकवाक्य- | प्रतीयमानैककर्ताविभ्येत |
| | | ताबोधने | |
| | १३ | शक्तत्वमनुब्रूहि | शक्तिमनुब्रूहि । |
| ९ | ८ | शब्दत्वं | शब्दत्वं |
| | | चाविरुद्धं | चापिविरुद्धं । |
| | १० | समुयास्यते | समासङ्गः |
| | १३ | अत्रोच्यते | सोपपाद्यते |
| | १४ | अत्राहअत्रपरि- | तत्राहंकारमत्रप- |
| | | हरन्ति | रिहरति । |

| प्रश्नम् | पङ्क्तिः | मे० १ | मे० २ |
|----------|----------|--------------------|---------------------|
| ९ | १५ | अहंतैः | अहंसतैः । |
| १० | ५ | धर्माधर्म | धर्म |
| | १० | नकस्यचित् | कस्यचित् |
| | ११ | प्रकेतं | अप्रकेतं |
| ११-१२ | | सूक्ष्मेणाभूस्थूलं | सूक्ष्मेणअस्थूलं |
| | १५ | महाप्रलयेऽपि | महाप्रलयोऽपि |
| | १८ | प्रमाणसिद्धौ | प्रमाणशुद्धौ |
| १० | २५ | तदपिचालक्षणं | तदपिनालक्षणं |
| | २६ | तर्कयितुं | वर्णयितुं |
| | | तर्कप्रकारं | सर्वप्रकारं |
| | २८ | विज्ञेयं | अविज्ञेयं |
| | २९ | स्वभवत्तां | स्वमवृत्तीः |
| | ३० | निःसंबोध | संबोध |
| | " | प्रध्वस्त | प्रशान्त |
| १३ | ८ | यदात्तं | यदात्तु |
| १४ | ११ | आदित्या | आदित्याद्या |
| | ११ | इन्द्रियाणामत्ययो | इन्द्रियाणामतीतोय- |
| | | ऽतीन्द्रियम् | अतीन्द्रियम् |
| | १७ | परिकल्पानां | विकल्पानां |
| | | अभ्यासेऽपि | आभासेषु |
| | १९ | त्यप्यादिमत्वेऽन्त | नित्यत्वाभाविकत्वं |
| | | त्वाभावान् | त्यन्यथादिमत्वेऽन्त |
| | | | त्वाभावात् । |
| | १२ | शरीरः | शरीरश्चशरीरः |
| | | अत्यन्तं | असन्तं |
| | २३ | अभेदात् | भेदात् |
| २३-२४ | | एकत्वाद्विरोधिनी | एकत्वाविरोधिनी |
| | २४ | नततोऽभिपद्यन्ते | ततोऽभिपद्यन्ते |
| | २७ | एव | एवं |
| १५ | २५ | त्वाद्यत्तेन | त्वाद्पातेन |
| २६-२७ | | व्यापारेण | शरीरेण |
| १६ | २ | सङ्गचोद्या | संवेद्या |
| | " | प्रकृत | प्रकृति |
| १७ | २ | भवमृद्रूपं | द्रवद्रूपं |
| | ३ | अंशुसामान्यात् | शुद्धसामान्यात् |
| | | नागमिकः | चागमिकः |
| | ९ | अनिदं परेभ्यः | अनिन्द्यपारेभ्यः |
| | १० | धर्माभिधाने | धर्माभिधानम् |
| | ११ | संजातस्य | संज्ञातस्य |
| १८ | ९ | व्यवहारे | व्यवहारः |
| | १० | सभवेत् | सतावत् |

| प्रश्नम् | पङ्क्तिः | मे० १ | मे० २ |
|----------|----------|---------------------|-------------------------|
| १८ | ११ | वसिष्ठाभगवत- | वसिष्ठोभगवांस्तथा |
| | | स्तावभु | |
| | १२ | अस्य | तस्यास्य |
| १९ | ११ | नकार्योन | कार्ये |
| ११, १२ | | नित्ययुक्त-योगउ- | नित्यमुक्तमित्युक्तोयः |
| | | च्यते | सदसदात्मकंचसच्चा- |
| | | | सच्चसदसतीतेआत्मा |
| | | | त्वभावोयस्यतदेवमु- |
| | | | च्यते। कथंपुनरेकस्य- |
| | | | विरुद्धभावाभावरूपः |
| | | | धर्माद्वययोगउत्पत्तेः । |
| | १४ | पररूपेणासन्तः | पररूपाणामतः |
| | १६ | उपविष्टः | उपतिष्ठते |
| | १७ | अभिनयने | अभिनयेन |
| | १९ | यद्यबुद्धस्य | यथाबुद्धस्य |
| | २१ | त्वंकार्यं | सत्कार्यं |
| | | अहंकारस्य | अहंकारश्च |
| | २९ | यथेच्छं | यस्येच्छाम् |
| २० | ३ | कारणमव्यक्तं | क्रमेणेत्यक्तं |
| | ४ | प्रधानेषुलिङ्ग | प्रधानेषुलिङ्ग |
| | | समानां | सद्भावानां |
| | ५ | कार्यं | व्यापार |
| २२ | ६ | प्रधानात् | प्रधानादात्मनः |
| | ६, ७ | स्वस्माद्रूपात् | स्वस्वरूपात् |
| | ८ | कार्यं | स्वकार्यं |
| २३ | ४ | अनुरूपम् | अनुरूपत्वं |
| | ६ | इत्यादिनावक्ष्यन्ते | इत्यादिवक्ष्यते |
| | ६, ७ | नामच | नामानिच |
| २४ | १२ | अहंकारात् | अहंकारान् |
| | " | संहृत्य | संहृत्य |
| | १५ | चकारात् पाठः | चकारात्ममात्रास्त्वित्य |
| | | | त्रात्ममात्राभिरित्यु- |
| | | | क्तः पाठः |
| २५ | १४ | च | अ |
| | १५ | तस्य | तेभ्यः |
| | १८ | भुक्तइति | भुक्तमिति |
| २६ | १४ | कारणं | धारणंसरणं |
| | " | एकशः | एकत्र |
| २७ | १० | ननु | ननु |
| | १२ | अथयावत् | अव्ययात् |
| | " | संभूत | संभूत |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | मे० १ | मे० २ |
|---------|----------|-----------------------|------------------------|
| २७ | १३ | भूताद्ययं | भूतादव्ययाद्ययं |
| | " | विप्रकीर्णं | विप्रकर्णं |
| | १७ | स्वागतमात्रापेक्षत्वं | स्वगतमात्रापेक्षयाउत |
| २७ | १७ | प्रभुरिति | प्रकृतिरिति |
| २८ | ६ | एककर्मैन्द्रियाणि | एवंसकर्मैन्द्रियाणिततो |
| | ७ | यामूर्त्यर्थाः | मूर्त्यः |
| | ९ | चतानि | वचनानि |
| | १० | यदाद्यन्तवत् | यद्यतः |
| | ११ | जायत इति | यतइति |
| | १२ | पूरणः । वतेः | पूरणवतोः |
| | १४ | पूर्ण | पूर्व |
| ३० | ३१ | यथेन्द्रादयः | यथेन्द्राग्रयः |
| ३१ | १ | दर्शना । अतः | दर्शनाश्रयः |
| | २५ | अभावयत् | अधावयत् |
| | " | वर्णात्मा | वर्णात्मक |
| | " | नोपपद्यते | चोपपद्यते |
| | ३० | अन्यदर्शने | पदार्थदर्शने |
| | ३१ | ऋग्वेदेऽतोऽग्नेः | ऋग्वेदोऽग्नेः |
| ३२ | १ | वायुनावर्षदानेन | वायुना वर्धदानेन |
| | " | उर्क् | ऋक् |
| | " | वायुरेव | वायुरेववायोरेव |
| | २ | सर्वाः | ताः |
| | १८ | द्रव्यात्मा | द्रव्यात्मकः |
| | | प्रतानः | प्रधानः |
| ३३ | ५-६ | धर्मवच्छरीरधर्म | धर्मतच्छरीरधर्म |
| | ८ | कालकादिषु | कारकादिषु |
| | २५ | समर्थानवा | सामर्थ्यादिना |
| | २६ | एकत्वंच | एकंच |
| | २७ | त्यवेचयत् | व्ययेचयत् |
| | २७, २८ | विभागाय | विभागादयः |
| ३४ | २ | कर्माणां | धर्माणां |
| ३५ | ८ | तिर्यक्प्रेताषु | तिर्यगादिषु |
| | १० | सापेक्षस्य | सापेक्षं |
| | ११ | स्वकर्मणि | स्वरुतान्यपिकर्माणि |
| | १६ | क्षेत्रज्ञान् | क्षेत्रज्ञान् |
| | २२ | बलादिच्छोपजायते | बलादिवोपजायते |
| | २३ | यंतु | यत्तु |
| | २५ | परवधादौ | परवधादौसिंहादिकं |
| | २६ | रुनत्वात् | रुतानि |
| | २९ | प्रागभ्यासजात्यन्त | जात्यन्तरगतस्यप्राग |
| | | रगतस्यविस्मारयन्तिइति | भ्यासस्यविस्मरणम् |
| | " | एतदेवविस्तारयति | तेदेवविस्मारयति |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | मे० १ | मे० २ |
|---------|----------|---|--|
| ३६ | १५ | अनुरूप्यं | अनुरूपं |
| ३७ | १५, १६ | योब्राह्मणाय .. शेषेभ्यः | नैवंजानानःदृष्टस्तु व्या- पारस्तेनाप्यपेक्ष्यते यो- नामकार्यवशात् गुरुरेनं सतेनयातयेदितिवाक्य शेषेभ्यः |
| | १८ | अस्ति यातयेदितिवाक्यशेषेभ्योऽस्ति विहितंकम .. विशेषाः | विहितकर्मधर्मतया विशेषाः |
| | २० | कारणसंबन्धीनि | करणसंबद्धानि |
| ३८ | ५ | मुखाद्ब्राह्मणं | मुखाद्ब्राह्मणंबाहुभ्यांरा- जन्यंउरुभ्यां वैश्यं शूद्रं पादतइति तसिरपादानि कारणात्कार्यनिष्कृत्यत इवेतिभवत्यपापेसत्य- पादानत्वंआद्यकंचिद्ब्रा- ह्मणं |
| | ८ | पशुरुपरक्षतो | पशूनांरक्षातथा |
| | ९ | भ्रमणं | प्रयाणं |
| | २२ | तस्यैवेत्यन्ये | तस्यैवेत्पत्यो |
| | २२ | समुद्रतं | समुद्रतं |
| | २३ | पृथगेवतां | प्रथमातारताम् |
| | २४ | मैथुनेन | मिथुनेन |
| | २५ | कार्येष्वविभागात् | कार्यैविभागात् (अवग्रहोऽनवर्तते) |
| ३९ | १३ | तन्मध्येऽशुद्धि | जन्मशुद्धि |
| | " | सर्वशक्ति | ऐश्वर्यशक्ति |
| | १४ | तरीकरिष्यती | बरतिकरिष्यती |
| | १५ | श्रुतोऽपि | श्रुतेऽपि |
| | १६ | सत्यामपि | सृत्यमपि |
| | १६ | पारंपर्येणामस्तुतो | पारंपर्येणात्मस्तुतो |
| | " | २८ तान् | तान् इदानीं |
| ४० | ११ | एकं | एवं |
| ४० | १२, १३ | दे०..ही | देवताकार्यहि |
| | " | ३० छन्नकरणेन | छन्नना |
| ४१ | ३ | देववत् | एव |
| | १७ | पर्याया | पर्या |
| | १८ | सूक्ष्मदृश्यश्चवर्ष | तत्सदृश्यश्चवर्षधारा- |
| | | धारादिवत्प | दिवः |
| | १९ | संघाताआन्तरिक्षाः | संचयादान्तरिक्षाः |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | मे० १ | मे० २ |
|---------|----------|-------------------------|-------------------------|
| ४१ | २० | धनुराकारताऽधि- कास्य | धनुराकारतांवाकस्य |
| ४१ | २१ | भूम्यन्तरिक्ष | भोमान्तरिक्ष |
| | २१ | केतव | कुत |
| ४२ | ८ | सिंहव्याघ्रादयः | हिंसाव्याघ्रादयः |
| ४३ | २ | प्रकारप्रत्ययपरामर्शः | प्रकारपरामर्शः |
| | ३ | मुत्पत्तुं | मुत्पन्नं |
| | १८ | स्वभावतोहिंसम | स्वभावात्तादृशंवा |
| | | हिंसंवा | |
| | १९ | यत्रेदंयक्षरक्षादि | यथेदंजक्षतइत्यादि |
| | २० | क्षणाद्दक्षांसि | क्षणादक्षणाद्वारक्षांसि |
| ४४ | २८ | मग्न्ययादित्यादिताप | मग्न्यादिना |
| ४५ | ९ | उद्भिज्जाः | उद्भिज्जा |
| | ९ | जायन्ते | जायन्ते प्ररोहन्ति |
| ४६ | ३ | वृक्षेभ्यश्च | वृक्षेभ्यश्चौषधिभ्यश्च |
| | | अभिधानं | विधानानां |
| | ५ | स्तम्भे | स्तम्भं |
| | १८ | वाकंचित् | चोच्यं |
| ४७ | ३ | दुःखादि | दुःखात्मिकादि |
| | " | अधर्म | धर्म |
| ४८ | १७ | शताद्रष्टव्यः | शताद्रष्टव्यः |
| | १८ | अनन्ताः | असंख्याः |
| ४९ | १९ | सुस्थे | स्वस्थे |
| | २० | स्वस्थे | स्वास्थ्यं |
| | २२ | संबंधानुथवादेव | संबंधानुभवादेव |
| | ३२ | निवृत्तिः | अभिनिवृत्तिः |
| ५० | १५ | कुटुम्बभूतं | जगदु (वा'द्व') कं'पंच |
| | | | भूतम् |
| | १७ | चैतस्य | अचैतन्यात्प्रधानस्य |
| ५१ | ४ | मूर्तस्य | भूतस्य |
| | ७ | वास | वासि |
| | | नाम | नवा |
| | ८ | निरुपयोगिशरीरं | तदानीमुपभोगशरीरं |
| | १२ | तेच | तत्र |
| | " | भूतेन्द्रियवर्गः | बुद्धीन्द्रियवर्गः एकः |
| | १२ | तच्छरीरं | तदस्यशरीरं |
| १३.१४ | | अधिवासितं | अधिवासितं |
| ५२ | ३ | बीजं | जन्तोः |
| | ४ | संसृष्टः | तेनसंसृष्टः |
| ५३ | १५ | मनस्कतादिगुणः | मनस्कामादिगुणः |
| | " | अर्हैर्वातः | अवहितान् |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | मे० १ | मे० २ |
|---------|----------|-------------------------|--------------------------------|
| १७ | १७ | अध्ययनाविरा माय | अध्ययनादिभावाधि गमाय. |
| ५३ | १७ | एषचेदशोमहाम | एषाचेदशंमाहात्म्यम् |
| | ८ | मनुः | यत् |
| | " | उपाध्यायः | अभ्युपाध्यायः |
| ५४ | ६ | अध्यापयिष्यति | व्याख्यास्यति |
| | ७ | शास्त्रस्यैतदा | शास्त्रस्यतदा |
| ५४ | ८ | स्वभाव | प्रभावः |
| | १० | शास्त्रे | शास्त्रं |
| ५५ | ६, ७ | अथवा . . अन्वयेन | एकस्मिन्व्यवहारध- र्मान्वये |
| | ७ | तं | तेषां |
| | २७ | संपद्यन्ते | पठ्यन्ते |
| ५७ | ४ | नैसर्गिककर्म | नैसर्गिककम्प |
| | ५ | अविकृतं | व्यक्तं |
| | ७ | प्रभेषुभूतेषु | प्रत्येष |
| | २५ | मासयो | मासाख्ययोः |
| | " | पक्षाश्रितः | एताश्रितः |
| ५० | १५ | दिशि | हि |
| | १६ | हित्वा | हित्वासविता |
| | २९ | संनुध्यन्ते | संनुध्यन्ते |
| | " | प्रतिज्ञाकरणंतत्त्वज्ञा | प्रतिज्ञानंज्ञकरणा- |
| | | पनार्थम् | न्तरत्वज्ञापनार्थम् |
| ५९ | १ | वेदनाच्च | विज्ञानाच्च |
| ६० | ४ | शब्दस्य | शतशब्दस्य |
| | ६ | शतं | तत् |
| | २३ | युगं नाम | युग |
| ६१ | ८ | असंख्यया | संख्यया |
| ६१ | २० | स्तुत्याविधिप्रतिपत्तिः | श्रुत्याविचित्रप्रतिपत्तिः |
| ६२ | ८ | प्रत्येऽयंक्रमः | प्रत्येयपक्रमः |
| | १० | प्रागुक्तंमहानिति | प्रागुक्तक्रमहानिः |
| ६३ | २ | एषा | एषा |
| | " | उच्यते | उच्यतेविकुरुतेविशेष- |
| | | | षतःकरोति |
| | १७ | स्पर्शमात्रा | महतःस्पर्शनमात्रा |
| | १८ | वायुकर्मणः कम्पा- | वायुकर्मापेक्षविशेषो |
| | | क्षेपोर्ध्वाधस्तिर्यक् | द्वोर्ध्वाधस्तिर्यक् |
| | " | स्पन्दितं | स्पन्दितं |
| ६४ | १० | संसर्गात्तु | संसर्गानु |
| ६५ | १३ | नक्कीडा प्रयुक्तौ | तक्कीडाप्रयुक्तौ |
| | १४ | कौतुकेन | निष्प्रयोजना |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | मे० १ | मे० २ |
|---------|----------|-------------------------|--|
| ६६ | २ | दाता | दानं |
| | ४ | आख्यातेचोपसर्ग | आख्यातोपसर्ग |
| | ६ | किञ्चित् | नवेदवाक्यं किञ्चित् |
| ६६ | ६ | सकलं | सबलं |
| | ८ | विज्ञानार्थोवा | विद्याया अर्थस्य वा |
| | | अनुष्ठातुः | मनुष्यान् |
| | ३१ | तावदेव | वेद |
| ६७ | २१ | प्रमीयते | प्रमीयन्ते |
| | " | प्रियते | प्रमीयन्तेनाप्राप्यचतुर्थं वयः प्रमीयन्ते प्रियन्ते |
| | " | पूर्वत्र | पूर्ववत् |
| ६८ | २२ | पादशङ्कति | यादृशङ्कति |
| | १२ | ग्रन्थः | ग्रन्था |
| | १४ | प्रतीयते | विधीयते |
| | १६ | नामसु | मानेषु |
| | २० | अनुयुगफलन्तीति | चतुयुगफलतीति |
| ६९ | ३ | स्वभावभेदस्य | स्वभावात् |
| | " | यागादि | याग |
| ६९ | १७-१८ | सर्वाणि | सत्राणि |
| ७१ | २५-२६ | चित्तानुपालनं | तच्चित्तानुपालनम् |
| ७२ | २६ | उत्पत्ति | उद्भूति |
| ७३ | १५ | पितृनुद्दिश्यतत्कव्यं | पितृनुद्दिश्ययत्क्रियते तत्कव्यम् |
| | १५ | प्रतिप्रापणाय | प्रतिपादनाय |
| | १६ | प्रदानं | प्रदाने |
| ७४ | ५ | न्योस्त्यन्यतो | न्योस्ति अतो |
| | १५ | भावा | भवन्ति |
| | १८ | पूज्यतमा | पूज्यमाना |
| | १८ | सर्वेण | सर्वे |
| ७५ | ५ | बौद्धादिभिः कलुषी | बौद्धादिभिः कथंचित्कलुषी |
| | | क्रियन्ते | क्रियन्ते |
| | ६ | ब्रह्मस्वरूपं नन्दः | ब्रह्मस्वरूपपरिज्ञाने ब्रह्माक्षयानन्दः |
| | २४ | मुञ्जित्वा | अर्जित्वा |
| | २५ | श्रुतिः | स्तुतिः |
| ७७ | ५ | परपाकेनेति | परपाकइति |
| | " | त्वं | एवं |
| | ६ | स्वरुत्या | स्वरुस्या |
| | ७ | प्रभूतं | प्रभुत्वं |
| | १९ | सर्वस्याब्राह्मणश्रुतेः | सर्वस्यास्य ब्राह्मणस्तुतेः |
| २० | एष | | एवं |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | मे० १ | मे० २ |
|---------|----------|--------------------------------|---|
| ७८ | ४ | प्रवक्तव्य | प्रयोक्तव्यं |
| | ४, ५ | अयं .. एव | अयन्तु अनुवादएव |
| | ९ | विद्वत्तोपयोगिनी | तद्वतोपयोगिनी |
| | " | नसंपाठे | नसंपाते |
| | १० | लक्ष्यत | लभ्यत |
| | ११ | त्रैवर्णाधिकारं | त्रैवर्णिकार्थं |
| | २८ | परिपूर्णं .. यथा- शास्त्रं | परिपूर्णयमनियमादीनि यथाशास्त्रं |
| ७८ | २९ | विहिताति | विहितानि |
| | " | दोषैर्न | दोषैः पापैर्न |
| ७९ | ११ | नुपरितना | नुपरितता |
| | " | तदर्थस्य | तदर्थस्पर्ष्टार्थ |
| ८० | १ | प्रमोक्षाद्बुद्धिवि बुद्धिः | विमोक्षाद्बुद्धिसिद्धिः |
| | २ | यशः । निः | यशोभिः |
| | २ | श्रेयसं | श्रेयससर्व |
| | ४७ | साकल्येन | साकल्पेन |
| | " | रन्यनिरपेक्षतामाह | रन्यानिरपेक्षतामाह |
| | १९ | एवंहिसाकल्यं | एवंहिसाकल्यं |
| | २० | यदि | यत् |
| | " | गुणपदेन | गुणदोषपदेन |
| | २१ | वृत्त | व्रत |
| | " | चतुर्णाम् .. ल्यार्थम् | चतुर्णामेतदपिसाक- ल्यम् |
| | २१, २२ | सर्वस्येतो | सर्वइतो |
| ८१ | ५ | अतो | अस्त्यर्थे |
| | २०, २१ | वेद .. इत्युक्तम् | तदविहितकर्मानुष्ठानफ- लं नप्राप्नोति वेदविहितक- र्मफलं वेदफलमित्युक्तम् |
| | २१ | वैदिकानि | अविकलानि |
| | | अनुतिष्ठन्यच्चाचार | अनुतिष्ठन्ति यथाआ- चारेण |
| | २२ | यद्वदन्ति | यद्वदन्तिः |
| ८२ | ६-७ | आचारान् .. क्लेशकरं | आचारं दृष्ट्वा धर्मस्य मु- निर्भिर्गीतिः । प्राप्तिरिति क्लेशकरं |
| | ७ | तदापि | तदपि |
| | १८ | अतीन्द्रियः | ईदृशः |
| | १९ | नातिबहूनि | तानिबहूनि |
| | २० | तत्त्वभावभेदो | तत्त्वभावभेदो |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | मे०१ | मे०२ | पृष्ठम् | पङ्क्तिः | मे०१ | मे०२ |
|-----------|----------|-------------------------------|--|-----------|----------|-----------------------|-----------------------|
| ८२ | २१-२२ | ब्रह्मचारिणो...अ- नुष्ठानं | ब्रह्मचर्यायाब्रह्मचारि- णउपचर्यानुष्ठानं | १८६ | १७ | तस्यैषदोष | तस्यैषदोष |
| | २२ | एतत् | एष | २२१ | २१ | वर्तते | शास्त्रीयेषुवर्तते |
| | " | प्रमेयार्थः | प्रमेयोऽर्थः | २४४ | ९ | परप्रेषणेन | अनुचरप्रेषणेन |
| | २३ | ब्राह्मादीनां | ब्राह्मणादीनां | २५४ | २७ | एवं | यतएवं |
| | " | माद्युपायानां | माद्युपायानां | अध्यायः ३ | | | |
| | २४ | नकल्पो | कल्पो | २७५ | ९ | तावताभि | तस्यविधेस्तावताभि |
| | " | भृत्यादीनां | जात्यादीनां | २८८ | ७ | अभ्यनुज्ञायशू | तत्पुनरनुज्ञायशू |
| | २९ | तापसाय | तपसे | ३०२ | ७ | यदिकन्या | पस्परेच्छयायदिकन्या |
| | २८ | तापो | तापसो | ३२१ | २ | प्रतिषेधानुमानं | प्रतिषेधानुमानंशक्यं |
| | ३० | ऋणादीनां | ऋणादानादीनां | ३२४ | २६ | परिक्रियेत्यादि | परिक्रमेत्यादि |
| ८३ | १ | वियुक्तयोः | नियुक्तयोः | ३४३ | २० | पूर्वशेषत्वात् | सर्वशेषत्वात् |
| | | ऋक्थ | ऋत्स | ३४७ | १६ | यदिकश्चित् | यदिपत्युःकश्चित् |
| | २ | विधिः | धर्मविधिः | ३६२ | १ | प्रकरणे | श्राद्धप्रकरणे |
| | ४ | अजीवतां | जीवतां | ३७१ | ३ | अयेतु | अन्येतु |
| | ६ | त्रिविधं | विविधं | ३०० | २ | तस्मादाच्छिद्य | तत्रच्छिद्य |
| ८५ | २९ | साकल्याभिधानं | कल्प्याभिधानं | ४१६ | १५ | गुणान् भक्ष्य | गुणान्सर्वान् भक्ष्य |
| ८६ | १ | प्रतिषिद्धव्रतचर्या | बुद्धव्रतचर्या | ४२८ | २ | आद्यत्वंदानाभि | आर्घदानाभिप्रायेण |
| अध्यायः २ | | | | अध्यायः ४ | | | |
| ८७ | ५ | व्यवायाद्विस्मृत | व्यवहार्याद्विस्मृत | ४२९ | १० | साचब्राह्मणी | अतोबाह्मणी |
| " | २३ | तेषां | नातेषां | ४३२ | ३० | अत्रसंदिह्यते | अत्रविद्यते |
| ८८ | ७ | स्वाग्रहात् | स्वमोहात् | ४४६ | ६ | अस्त्वेवमाहिताग्ने | अपरेचएवमाहिताग्ने |
| ९४ | १२ | असाध्वाचारस्यापि | असाधारणाचारस्यापि | अध्यायः ४ | | | |
| ९८ | २४ | तत्राल्पतरांशः | तथान्यतरांशः | ४५० | ७ | स्वप्रकरणे | स्नातकप्रकरणे |
| १०५ | १८ | व्याघातं | व्याख्यातं | ४५० | ६ | हिंसैव | ईर्ष्यैव |
| १०९ | १० | तस्य | तत्र | ४५० | ९ | भविष्यति | वक्ष्यते |
| १११ | ९ | अनुष्ठानंतु | अर्थानुष्ठानंतु | ४५१ | १ | यथानरस्य | यथाआढ्यतर |
| १२३ | २६ | तत्रैव | तथैव | ४५१ | २९ | स्वत्वात् | खलात् |
| " | ३१ | चिरमधनोभूत्वा | चिरमन्यधनोभूत्वा | ४६३ | ११ | प्रत्यक्षं चैतदभ्यस्य | प्रत्यक्षं वेदमभ्यस्य |
| १२४ | १ | एभिर्विधीयन्ते | एभिर्वाक्यैर्विधीयन्ते | ४७२ | २ | बृक्षादीनामपि | ब्राह्मादीनामपि |
| १२५ | १३ | तदभिधानमेव | सर्वाभिधानमेव | ४८१ | ४ | प्राणपूजा | प्राणसंपीडा |
| १२७ | ५ | पुंसइत्यधिकृतत्वात् | पुंसइतिविवक्षितत्वात् | ४८१ | ४ | अस्मिन्नध्याये | अस्मिन्समये |
| १३६ | १६ | उपायत्वात् | उपादेयत्वात् | ५०८ | ५ | त्रिसंनिपाते | यथादिवारात्रिसंनिपाते |
| १५३ | १५ | येनकर्मणा | अध्यनकर्मणा | ५०८ | १० | शेषत्वाकालिकं | स्वयंतात्कालिकम् |
| १५५ | १५ | अन्यस्याश्रुतत्वात् | अन्यस्याप्रकृतत्वात् | ५२७ | १५ | वन्दनं | चन्दनं |
| १५७ | १२ | ॐकारविषयः | ॐकारवचनः | ५३९ | २८ | धर्मैस्थितान् | धर्मोपितान् |
| १६४ | २० | मंत्रज्ञानं | मंत्रजातं | ५४० | १८ | अबहुभाषिता | अबद्धभाषिता |
| १७९ | २८ | पूर्वविधि | सर्वविधि | ५५६ | २९ | वक्ष्यति | वर्जयति |
| १८३ | ६ | अविशेषेणेच्छन्ति | निततदष्टमेनिर्णीतं | ५६४ | १५ | नकालस्वभाव | नकामतःस्वभाव |

डाक्टरपीटरसनप्राप्तात्कुलूककृतमनुस्मृतिवृत्तिपुस्तकात् गृहीताः

पाठभेदाः

| पृष्ठम् पङ्क्तिः | कु० १ | कु० ५ | पृष्ठम् पङ्क्तिः | कु० १ | कु० ५ |
|------------------|-----------------|------------------------|------------------|---------------------|-------------------------|
| अध्यायः १ | | | | | |
| ३ १३ | सुजनैर्वन्द्ये | त्वजनैर्वर्ण्ये | १६ १० | अशद्वेन | अवृंहितम् |
| " | श्रीमत् | विप्रो | १७ १४ | प्रत्यक्षत्वात् | प्रत्यक्षबाधितत्वात् |
| १४ | विदुषां | जगतां | २३ २१ | तमसां | तमांसि |
| १५ | वाङ्मययुक्त्या | वाङ्मयाद्युक्तं | २७ २१ | प्रकृतीनां | प्रकृतानां |
| १६ | सुहृदस्तर्काः | त्वहृदयस्तर्कः समस्तो | २८ २५ | नेतदुक्तं | नेदमुक्तं |
| | समस्ताः स्थमे | स्तुमे | ३० ५ | शस्त्रं | शास्त्रं |
| १७ | यूयं | त्यर्थं | ३१ ९ | अनुमीयमानत्वात् | अनुष्णीयमानत्वात् |
| " | जाता | याता | ३२ ९ | आपीनस्था | आपीनस्तन |
| १९ | इह | अपि | ३४ ८ | पिपासाशोकमोहा- | सौहित्यादिभिः |
| २५ | नाभिहितस्य | नात्राभिहितस्य | | दिभिः | |
| २६ | महाजन | महाजनादि | " २३ | मानससृष्टि | मानसीयमुक्तावक्ष्यमा |
| २८ | तुयास्मृतिः सा- | यास्मृतिः सानप्रशस्यते | | | णासृष्टिः |
| | विनश्यति | | ३६ २ | आचरितवान् | कर्मसेवितवान् |
| ४ ४ | ईदृशस्य | तादृशस्य | ३७ २४ | हिंसादीनि | हिंसाहिंसादीनि |
| ५ | पूजयित्वा | प्रत्येकं पूजयित्वा | ३८ १४ | अथादित्यो | मुखादिभ्यो |
| " | पूजिताः | सत्कृता | " २८ | अर्धेनस्त्री | अर्धेनपुरुषो जातः अर्धे |
| ६ १२ | वीर्यस्य | धर्मस्य | | | ननारी |
| " | इतीङ्गना | इतीरिताः | " १९ | देवनिवास | देवनिकायान् देवनि- |
| ८ १८ | आग्निष्टोम | अग्निहोत्रादि | | | वास |
| " | वेदानां | वेदान्तानां | ४१ ७ | श्लोकद्वये | श्लोकत्रये |
| ९ १७ | अपरिच्छेद्यम् | अपरिच्छिन्नम् | ४५ ४ | पुत्तिका | मक्षिका |
| ९ १९ | फलितं | दर्शितम् | ४७ १२ | सत्त्वस्यापि भावान् | सत्त्वस्याविर्भावान् |
| २१ | वर्णयन्ति | वदन्ति | ४८ ५ | जन्ममरण | संसारेजन्ममरण |
| २३ | आज्ञया | अनुज्ञया | " २२ | त्यागरूप | यागरूपम् |
| २४ | निबद्धत्वात् | निबन्धान् | ४९ ११ | श्वासाहारादि | श्वासाहारविहारादि |
| ११ १०-११ | प्रयोजनत्वम् | प्रयोजनम् | ५६ २० | स्वाभाविकस्य उन्मेष | स्वाभाविकः कम्पउन्मे |
| २३ | प्रथमाध्यायं | प्रथमाध्याये | | स्य सहकारी | षस्तत्सहकारी |
| २५ | मदुक्तो | उक्तो | ५७ १६ | स्वमार्थ | स्वापार्थ |
| २६ | अध्यक्षेण | प्रत्यक्षेण | ५८ १ | पूर्वपक्षः | कृष्णः पक्षः |
| १३ १९ | सर्गतायनेषु | सर्गतायत्तेषु | ५९ ५ | ज्ञानार्थ | सिद्ध्यर्थ |
| १५ ६ | सएव | सएष | ६० १३ | एवं | एकं |
| | | | ६० २८ | द्वादश | द्वादशसहस्र |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | कु० १ | कु० ५ |
|---------|----------|---|--|
| ६१ | २६ | परिकल्पते | परिकल्पये |
| ६२ | १६ | पुराणे | वायुपुराणे |
| ६६ | १६, १७ | तस्यपादचतुष्टयेन सम्पूर्णत्वात्पादत्वेन निरूपिताः | एवप्रधान्यात्पादत्वेनरूपिताः |
| ६७ | २७ | चतुर्वर्षशतायुष्टं | चतुर्वर्षशतायुषःचतुर्वर्षशतायुष्य |
| ७१ | ८, ९ | वनितोषभोगादिषु | रतितोषभोगादिषु |
| " | १८ | वैश्यस्य | वैश्यस्यकर्माणि |
| ७३ | २२ | कव्येवहनाय | कव्यवाहनाय |
| ७४ | २३ | बुद्धिजीविनःसार्थ- निरर्थदेशो | जीविनस्वेष्टानिष्टो |
| ७५ | १२ | भोक्षलाभात् | भोक्षभागित्वात् |
| ७८ | १८ | ग्रहः | मदः |
| ८१ | १० | आत्मवान् | आत्मवान्आत्म- हितेच्छुः |
| ८६ | ८ | वणिगादीनाम् | वणिगादीनामसमस्तु श्लोकेषूक्तवानिति क्रि- यापदं |

अध्यायः २

| | | | |
|-----|--------|------------------------------------|-----------------------------------|
| ८८ | १८ | प्रकृष्ट | प्रथमाध्याये प्रकृष्ट |
| " | २४ | तान्त्रिकी | शाल्त्रिकी |
| " | ३१ | रूपेण | रूपेणकृतं |
| ९० | १५ | धर्म | कर्म |
| ९३ | १ | नियमयति | दर्शयति |
| " | ४ | च्छान्दोग्ये | बृहदारण्यके |
| १०१ | ४ | यश्चानुभव | यथार्थानुभव |
| " | २२ | स्मृतिः | स्मृतिशीले |
| " | २६ | गर्गः | गर्गव्यासः |
| १०२ | २४, २५ | सर्वज्ञानारब्ध | सर्वज्ञानाकर |
| १०८ | २५ | कर्म | धर्म |
| ११० | १६ | अत्र | अत्रहोमे |
| १११ | २६ | श्रवणे | श्रवणादौ |
| ११७ | ५ | यज्ञार्थत्वाददृष्टार्थ- त्वाच्च | यज्ञार्हत्वादुत्कृष्ट- त्वाच्च |
| ११८ | १ | उपलक्षकः | पञ्चानामुपलक्षकः |
| ११८ | १ | पुराणोक्ताः | पुराणेष्व्याख्याताः |
| १२२ | ४ | चरुहोमादिभिः | चतुर्होमादिभिः |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | कु० १ | कु० ५ |
|---------|----------|----------------------|--|
| १३५ | ४ | समत्वात् | संबन्धात् |
| १३६ | १ | मनुनोक्तं | बृहन्मनुनोक्तं |
| १३६ | २० | कार्यइति | कार्यःप्रमाणतइति |
| १३९ | २३ | उत्तरापरिग्रहः | उत्तरप्रतिग्रहः |
| १४३ | १० | आदिपुराणे | आदित्यपुराणे |
| " | ११ | प्रसीदेत् | प्रसादयेत् |
| " | १२ | आदिपुराणे | आदित्यपुराणे |
| " | २७ | फलश्रवणम् | फलश्रवणस्तुत्यर्थं |
| " | २८ | विषयत्वेनापि | विशेषत्वेनापि |
| १४५ | २९ | प्रयाणरूपत्वात् | अयोरूपत्वात् |
| " | " | तदीयः | तदीयःकार्यः |
| १४८ | ८ | कारणात् | कारणव्यतिरेकात् |
| १४९ | २ | कण्ठमप्राप्ता | कण्ठमध्यप्राप्ता |
| " | २८ | कण्ठादेव | कण्ठदेश |
| १५४ | २५ | गौतम | गौतम |
| १५५ | २४ | व्याकारः | व्यापारः |
| १५७ | ३ | अध्ययनं | अध्येष्यमाणं अध्यय- यनं |
| १६४ | ३ | शरीरस्यापि | लिङ्गशरीरस्यापि |
| " | २६ | सशिरस्कगायत्री | सशिरस्काव्याहृति गायत्री |
| " | ३० | मेधातिथिप्रभृतिभिः | मेधातिथिगोविंदराज- प्रभृतिभिः |
| १६४ | ३१ | बृद्धैर... पाठान्तरं | बृद्धैरपिनालिखितंयतः लिखन्पाठान्तरं |
| १६६ | २ | स्वरूपतो | स्वरूपतोब्रह्मरूपतो |
| " | ३ | प्रतिपादकत्वेन | ब्रह्मप्रतिपादकत्वेन |
| " | " | अनने | इत्यनेन |
| १७१ | १७ | यत्तेष्वेवहिजायते | ममैतेष्वेवजायते |
| १७४ | १६ | निवार्यते | अनिवार्य |
| १७६ | ३० | युज्यते | युज्यतइति |
| १८२ | १ | समूहाहरण | समिधाहरण |
| १८४ | १४ | तावत् | त्वाम् |
| १८५ | २२ | असूयकादि | असूयादि |
| १८५ | २३ | तथा | ते |
| १९० | १७ | स्वनामपरिकीर्तयेत् | स्वकीयनामविशेषमु- च्चारयेत् |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | कु० १ | कु० ५ |
|---------|----------|-----------------------------|---|
| १९७ | ३ | इत्यवोचत् | इतिवचनात् |
| २०४ | ५ | केवल | क्षत्रिय |
| २०६ | १७ | रुतवरणः | यःरुतशास्त्रीयवरणः |
| २११ | ६ | ब्रह्मश्रवणार्थं | ब्रह्मग्रहणार्थं |
| " | २० | विद्वान्पितृन्गौणान् | वृद्धान्पितृतुल्यान् |
| २१३ | १९ | वस्त्रादि | सुवर्णादि |
| २१४ | २५ | गव्यां | स्त्रीगव्यां |
| २२३ | २२ | पुनर्वायदत्विजो- यज्ञियं | पुनर्जायते ऋत्विज एनं गर्भं |
| २२५ | २० | वेदे | वेदेसावित्र्याम् |
| २२९ | २० | क्षौद्रं | मधुक्षौद्रं |
| " | २१ | गुडादीन् | लशुनादीन् |
| " | २२ | शुक्लानि | शुक्तानि |
| २३० | ६ | पणवादि | पणवादिवादनादि |
| २३१ | २८ | आचार्यस्य...स- पिण्डेषु | आचार्यस्यकुलेसआ- त्मपिण्डेषुसपिण्डेषुच |
| २३८ | १० | अभ्यर्थितो | श्राद्धे अभ्यर्थितो |
| " | " | तदार्थिः | तदापिच्येऋषिवत्ऋषिः |
| " | १३ | पश्यता | पठनात् |
| २३९ | ३ | पुनरुक्तेन | प्रसक्तमनेन |
| २४१ | २३ | यथा | यदा |
| " | " | तथा | तदा |
| २४३ | ११, १२ | शयानस्य | शय्यायां शयानस्य |
| २४५ | २६ | काष्ठादौ | शकटादौ |
| २५३ | ४ | मुण्डितमस्तकःशिरः केशो | मुण्डितमस्तकशिरः केशोवा |
| " | ६ | नास्तमियात् | नास्तमियात् नवाभ्यु- दियात् |
| " | ३० | सूर्यो | अज्ञानात् सूर्यो |
| २५८ | ८ | ध्यापनादि | ध्यापनख्यापनादि |
| २५९ | १६ | प्रदायकत्वात् | फलदातृत्वात् |
| " | " | जप | जन्य |
| २६३ | १८ | तथाऽज्ञानमेवोप क्रम्य | तच्चोक्तमोक्षमेवोपक्रम्य |
| २६६ | ३ | गुरौ | गुरौनवसेत् |
| २६७ | १८ | अपि | विहित |
| २६८ | ७, ८ | समुदितदानप्रदर्शना र्थच | समुचितदानप्रशंसार्थ मेव |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | कु० १ | कु० ५ |
|------------------|----------|---------------------------|--|
| २६८ | ८ | लघुहारीतः | हारीतः |
| " | ९ | असंभवे | अन्यासंभवे |
| " | २० | सपिण्डे | सन्निहितसपिण्डे |
| २६९ | २२ | ब्रह्मण्यांतकसलक्षणं | ब्रह्मण्यात्यंतिकलय लक्षणं |
| अध्यायः ३ | | | |
| २८० | १५ | पितृव्यादि | पितृवसादि |
| २८२ | १३ | कपिलकेशां | कपिलकेशांषडंगुल्या दिकां |
| २८४ | २५ | पुत्रिकाशंकया | पुत्रिकाधर्मशंकया |
| २८९ | १७, १८ | स्मृत्यनुमानात् | श्रुत्यनुमानात् |
| २९० | ९ | दैवेत्यनेन | दैवादीनि |
| २९९ | १७ | संभवत्यस्मादितिसं- भवः | संभवत्यस्मादितिसंभ- वःकामःसंभवायस्यस- कामसंभवः |
| ३०१ | २३ | अधमः | अष्टमः |
| ३०४ | ५ | सपरान् | समपरान् |
| ३०५ | ५ | दयादयः | दमादयः |
| ३०९ | ९ | प्रशस्तत्वात् | प्राप्तत्वात् |
| ३११ | ६ | दशसु | दशस्वपियुग्मासु |
| ३२२ | ८ | नविरुध्यते | अवगम्यते |
| ३२३ | २५ | जहातीत्यर्थः | जुहोतीत्यर्थःसर्वकाल- मपिगृहेवसनपंचसूना- पापैर्नसंबध्यते |
| ३२५ | ३० | यतो | यज्ञो |
| ३३२ | १९ | तथा | तद्यथा |
| " | २१ | संवादात् | दर्शनात् |
| ३३३ | ८ | इति.....क्षार्थः | इतिकरणंशद्वयस्वरूप विवक्षार्थ |
| ३३४ | ११ | नक्तम् | दिवानक्तम् |
| ३३५ | १४ | अन्यत् | अल्पम् |
| ३३७ | ५ | फलं | पुण्यफलम् |
| ३३९ | ९ | प्रक्षालनाद्युदकं | प्रक्षालनायजलं |
| ३४० | २ | चोन | च |
| ३४३ | १० | उपासना | उपासनम् |
| ३४५ | २६ | संबंधादुरोः | समत्वादुरोश्च |
| ३४६ | १२ | अतिश्रिधर्मेण | यदाअतिश्रिधर्मेण |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | कु० १ | कु० ५ |
|---------|----------|---------------------|---|
| ३४८ | ६ | कुमारीः | कुमारानुरोगिणो |
| ३४८ | ८ | अतिथिसमकालं | अतिथिभोजनसमकालं |
| " | २० | व्यतिक्रमस्य | व्यतिक्रमभोजनस्य |
| ३४९ | २३ | वासुदेवादि | वास्तुदेवादि |
| ३५० | १३ | केवलादीति | केवलान्नादीपापीभवति |
| ३५३ | १२ | मानसस्तु | मानसस्तुहोमः |
| ३६३ | १२ | यतएत | यतोयदेत |
| ३५४ | ४ | पिण्डपितृ | पितृपिण्ड |
| ३५६ | १८ | एकैकं | एकैकस्यैकैकं |
| ३५९ | ३ | यत्नतो | सततं |
| ३६९ | २४ | गणत्वात् | गणवृद्धित्वात् |
| ३७१ | ८ | प्रयत्नतः | परोक्षा |
| ३७२ | १६ | दुर्बलो | दुर्बालो |
| " | " | दुर्बालं | दुर्बलं |
| ३७२ | १९ | वाकरोति | वाग्रहणं करोति |
| ३७७ | २९ | कुष्ठी | कुष्ठी पाषरोगी |
| ३८० | १ | धर्मार्थौ | धर्मार्थ |
| ३८१ | ४ | नपुंसकस्योक्तत्वात् | नपुंसकत्वात् |
| " | १९ | अवश्यश्रुत्या | श्रुत्या |
| ३८२ | २० | वेदाग्नि | वेदाध्ययन |
| ३८३ | १६ | द्वय | द्वयंकव्यं |
| ३८६ | १६ | ते | तौ |
| " | " | जाताःकुण्डाद्या | जातौ कुण्डगोलकौ |
| " | " | व्यपदिष्टाः | व्यपदिष्टौ |
| " | १८ | कुर्वन्ति | कुरुतः |
| " | २८ | भोजनाहार्हान् | पक्तिभोजनाहार्हान् |
| ३८७ | २७ | पौर्तिकं | पैतृकं |
| ३९२ | २२ | उक्त | उत्कृष्ट |
| ३९७ | २७ | सोमपादयः | सोमसदादयः |
| ४०४ | २७ | देव | स्मृत्यन्तरादेव |
| " | २९ | काण्ड | कुश |
| ४१४ | १५ | प्रदेयविधिश्च | अग्रदेशे |
| ४२२ | २१ | निष्फलयति | निष्फलयति नात्मीय- मावश्यकत्वात् |
| ४३४ | ५ | कर्तव्यम् | वक्तव्यम् |
| ४३४ | २२ | उक्तप्रकारेण | त्रीस्तुतस्माद्धविःशेषा- दित्यादि प्रक्रियया |
| | | अध्यायः ४ | |
| ४४९ | १६ | कालमेव | कालपरमेव |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | कु० १ | कु० ५ |
|---------|----------|-----------------------------|---|
| ४७३ | १३ | अव्यभिचारात् | अतिव्यभिचारात् |
| ४८० | २८ | मुषेह | सुखेन |
| ५१४ | ४ | प्राणि | इदानीं तदतिरिक्तप्रति- ग्रहेष्यनध्यायमाह प्राणि |
| ५५७ | २० | त्युपहुष्टा | त्युहुष्टा |
| | | अध्यायः ५ | |
| ५९२ | १० | शस्तैःशुक्तान्वर्ज- येत् | यस्तैर्युक्तं तु वस्तु यत् |
| ५९४ | २ | आपदर्थगतप्रयोजनं भवति | स्वपदानुगतेप्रयोजन- संभवेसति |
| ५९९ | १९ | विशेषे | विषये |
| ६०० | २८ | ऋषिकर्तृकयज्ञेषुच | ऋषिकर्तृकयज्ञेषुब्रा- ह्मणक्षयिपक्षेषुच |
| ६०९ | ७ | सर्व | पूर्व |
| ६२४ | ४ | हीनंभवे | हीनतरे |
| ६३१ | १३ | सप्त | नव |
| ६४२ | ५ | दिनमात्रं | दिवारात्रं |
| ६५१ | २९ | आधिपत्यकारणं | आधिपत्यस्थानं |
| ६५६ | २४ | त्रिरात्रम् | त्रिरात्रमुपतिष्ठते |
| ६६६ | ११ | प्रोक्षणम् | तद्देशप्रक्षाल्यप्रोक्षणं स्पर्शनेतुप्रोक्षणमेव |
| ६७५ | २६ | कुक्कुरै | तस्माश्वभिरिति । कुक्कुरै |
| ६८६ | १५ | गतापि | गताद्वेपि |
| | | अध्यायः ६ | |
| ६९८ | ५ | तथा | तदातथा |
| " | ६ | रागतया | रागतयावावान- प्रस्थार्थ |
| " | " | वृक्षवल्कलं | वस्त्रखण्डंवा |
| ७०३ | १४ | मेध्यैर्यागाङ्गभूतैः | मेध्यैर्मैधोयागःतदहै |
| " | २४ | शेषान्मुपभुञ्जीत | शेषमात्मार्यमुपभुञ्जीत |
| ७०४ | २१ | वाही | वाल्ही |
| " | २५ | विशेषे | विषये |
| ७०५ | १० | निचय | संचयनियम |
| ७०६ | ८ | वन्धमन्त्रं | मुन्यन्त्रंभुञ्जीत |
| " | " | पाषाणेन | पाषाणेनैवनीवारादि |
| ७१२ | ९ | तस्मादेताः | शरीरावच्छिन्नजीव- स्यनिष्फलमपत्त्वार्थं माहारदीक्षाःसेविताः |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | कु० १ | कु० ५ |
|-----------|----------|---------------------------------|---|
| | | | तस्मादेताः |
| ७१४ | २४ | मरणाभावः | मरणकारणाभावः |
| ७१९ | २१ | दण्ड | कुश |
| ७२१ | १६ | कन्था | शवरणाद्यर्थैकाकिना |
| ७२३ | २८ | नवदेतकेवलंब्रह्म विषयांवदेत् | नवदेतु अन्येतु समविभ- क्त्यएववाक्प्रवृत्तेर्द्वारा- णिताभिर्विनावाक्या- निष्पत्तेः तांचवाचमस- त्यकार्यविषयानवदेत् नोच्चारयेत् किंतु सत्य- ब्रह्मविषयांवदेत् |
| ७२४ | १९ | आत्मनो | आत्मना |
| ७२५ | २० | भक्षणशौलैः | भिक्षाशौलैः |
| ७२६ | १५ | गृह्णन् | दत्त्वा |
| ७२७ | २२ | उत्सृष्ट | भोजनोच्छिष्ट |
| ७२९ | २८ | मनुष्याणां | मनुष्याणांगतीः |
| ७३२ | ६ | विरुद्धाचारदूषितो | विरुद्धालंकारभूषितो |
| ७३३ | १४ | प्राण | प्राणि |
| ७३४ | ११ | निर्देशात् | षष्ठीनिर्देशात् |
| ७३६ | ६ | एवंसति | एवंसतिप्राणायामैरिति |
| ७३७ | २१ | ततश्च | ततश्चसम्यग्दर्शनेति |
| " | २२ | तद्यथा | तथाचश्रुतिः । तद्यथा |
| ७३७ | २२ | पापपुण्यस्य | पापपुण्यसंबन्धस्य |
| " | २४ | श्रुतिः | श्रुतिःतद्यथा |
| ७४३ | २६ | सर्वसत्त्वात् | सर्वात्मत्वात् |
| " | २७ | ध्यानिकवि० माह | ध्यानिकशब्दात् ध्येय विश्लेषलाभेपरमात्मत्वे नाध्यात्मध्यानार्थमाह |
| ७४५ | २८ | उपाधि | उपाधिलिङ्ग |
| ७४६ | १५ | विहितादिकर्मयोगि नामसाधारणं | विहिताग्निहोत्रादिकर्म त्यागिनांकर्मयोगसा- धारणं |
| ७५० | १९ | सन्द | सनन्दन |
| ७५१ | २५ | उपनिषदाद्यर्थ | यतिः सदा |
| ७५६ | १४ | नान्यो | मुख्यो |
| " | १६ | वैश्यस्यापि | क्षत्रियस्यवैश्यधर्मवै श्यस्यापि |
| " | २८ | बलवद्भयात् | बलवद्भयभयात् |
| अध्यायः ७ | | | |
| ७६६ | २३ | जानाति | दण्डं करोति |
| ७६९ | ८ | बुद्धिपरेण | बुद्धिनाविषयपरेण |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | कु० १ | कु० ५ |
|---------|----------|------------------------|--|
| ७७३ | ११ | राजानो | बहवो राजानो |
| ७७५ | १७ | व्यसन | बलवद्भयसन |
| ७७९ | ३० | दुष्टं | कष्टतरं |
| ७८० | ४ | हयतिवाक्कृतम् | हतिवाक्कृतम् |
| " | १९ | मृत्युव्यसने | मुख्यमृत्युव्यसने |
| ७८२ | २९ | स्व | सु |
| ७८३ | १६ | अभिप्रायंसमस्तानां | अभिप्रायं दृष्ट्वा सभायांसं मस्तानां |
| ७८६ | ११ | सुख | मुख |
| ७८७ | ८ | संस्कृताद्युक्ति | संस्कृतप्राकृताद्युक्तिप्र त्युक्ति |
| ७८९ | १२ | बहु.....प्रचुर | इतिदेशविदोविदुः ॥ इदं द्यपितथाप्यत्रस- मोदकतृणादिदेशाज्ज्ञ लशब्देनाभिधीयतेतदेशं बहुधान्यादियुक्तं प्रचुर |
| ७९० | ६ | णेनइष्टकेन | णलोष्टकेन |
| ७९३ | ४ | पर्याप्तं | सुपर्याप्तंयथेप्सितं |
| " | " | अग्निशाला | अश्वशाला |
| ७९४ | २ | विधिना | वेदिनं |
| " | १४ | दद्यात् | धर्मार्थदद्यात् |
| " | २५ | सक्तैः | सन्धेयः |
| ७९५ | २७ | धनधान्येन | भोजनधनधान्यादिना |
| ७९६ | २७ | अग्नौ | किंचनस्कन्दतइति । अग्नौ |
| ८०६ | ११ | अस्त्रविद्या | योधादिगोचरमस्त्रविद्या |
| ८०८ | १३ | जले.....ग्रहणात् | जलनिर्लीनमतिचपलस्व- भावमत्स्यामाग्रहणात् |
| ८१९ | ११ | अपमर्दादिना | अपसर्गादिना |
| ८२० | १२ | चौरा | हिंसकचौरा |
| " | २१ | सच | यस्मात्संरक्ष्यमाणइ- ति । सच |
| ८२१ | ११ | भारिकादीन् | नाविकादीन् |
| ८२६ | ४ | एते | यस्मादेते |
| ८२६ | ५ | शुकादयो | शुकासारिकादयो |
| ८२७ | २० | रक्षार्थं | रक्षार्थधर्मरक्षार्थं |
| ८२९ | २ | पापे | स्वपरगोचरेपापे |
| " | १५ | चिन्तयेत् | चेष्टयेत् |
| ८३१ | २८ | मष्टानां | मष्टानांच |
| ८३४ | ८ | वैरविग्रहाचरणाद्या | विग्रहोवैरबला |
| " | २९ | इत्यविवक्षार्थम् | अरितविवक्षार्थम् |
| ८३९ | २७ | सामोपदाप्रदाना दिना | शनैःशनैःसामदानादिना |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | कु० १ | कु० ५ |
|------------------|----------|------------------------|--|
| ८४० | १९ | बलं | तदाबलं |
| ८४२ | २३ | अल्पानांबह्वानामपि | अल्पानामपि |
| ८४५ | २८ | मार्गशोधित | मार्गरोधि |
| " | २९ | सेना | सेनापति |
| ८४७ | ३० | शीघ्र | दीर्घ |
| ८५० | ११, १२ | त्रिधा | द्विधा |
| अध्यायः ८ | | | |
| ८६७ | ५ | सममो | राजधर्मविवरणोनाम सममो |
| ८७० | ५ | विवादे | विषयो |
| " | ८ | वक्ष्यमाणांसभां | वक्ष्यमाणक्षणाक्षितां सभां. |
| " | ९ | अर्थकरण | आत्मरक्षण |
| ८७४ | २५ | व्यवहारमार्गेषु | व्यवहारस्यमार्गेषु उपायेषु |
| ८७५ | २२ | अक्षादिक्रीडा | द्युतंअक्षादिक्रीडा आह्वयः |
| " | २३ | व्यवहार | लोकव्यवहार |
| ८७९ | २४ | पृष्ठः | प्रविष्टः |
| " | २५ | सद्यः | सभांगतः |
| " | २६ | ऋग्वेद | ऋग्वेव |
| ८८० | १३ | षष्ठी भवन्ति | धनलोभादन्यथावादि- नोवातत्रतएवसभासदः पापेनहताभवन्तिप्रेक्ष माणानामितिष |
| ८८१ | १४ | वृषलम् | वृषलमशकादित्वाद लोपः |
| ८८२ | १९ | ब्रजति | ब्रजतिअनियमकारि त्वात् |
| " | ३० | अर्थ्यादिकमेव | अर्थादन्यायिनमेव |
| ८८३ | २२ | संदिग्धार्थानाम् | संदिग्धात्मानं |
| " | २३ | नृपतेर्भवेत् | नृपतेर्धर्मप्रवक्ता |
| ८८६ | २ | विरोधो | दृष्टादृष्टविरोधो |
| ८८६ | २२ | गद्गदादिः | कंठगद्गदादिः |
| ८८७ | २७ | नभवति | भवति. |
| ८९२ | २१ | यत्त्वान्येपि | यात्त्वल्पेपि |
| ८९६ | २७ | धर्मान् | जातिधर्मान् |
| " | २८ | प्रतिनियत | कुलधर्मान् प्रतिनियत |
| ९०५ | २१, २२ | उक्ताश्च . . . गच्छेत् | नयुक्तंस्थानुमन्त्रयन्त्रेद- |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | कु० १ | कु० ५ |
|---------|----------|----------------------|--|
| | | | शोऽन्यायो व्यवहार- |
| | | | इत्यभिधाय ग्रामान्त |
| | | | रंगच्छेत् |
| ९०९ | २ | पररूपत्वम् | पूर्वरूपत्वम् |
| ९१२ | ९ | रुतपरिकरपुत्र | दारपुत्रपरिभव |
| ९१५ | १५ | अर्थ | अर्थात् |
| ९१८ | १८ | वाग्भिः | बाह्यैः |
| ९१९ | २ | आचार्य | चौर्य |
| ९१९ | २ | गृहिण | गृहिणःपुत्रिण |
| ९२२ | २६ | भाविकात् | त्वाभाविकादर्थान् |
| ९२९ | ५ | कारित्वात् | कारित्वाभावान् |
| ९३३ | २ | जाता . . प्रभृतीन् | जातान्पित्रादीनजातां- श्वपुत्रप्रभृतीन्हरण्या र्थेअनृतवादीन् |
| ९३३ | १६ | वैदू . . आह | प्रायश्चित्तगौरवार्थम् ॥९९॥ |
| ९३४ | ११ | प्रतिषिद्ध | प्रतिषिद्धवृत्ति |
| ९३७ | १४ | यस्मिन् | अस्मिन् |
| ९३९ | १५ | परिस्तरणादित्वा- | परिस्तरणादिहोमधर्मेण |
| | | त्त्वधर्मेण | |
| ९४१ | २७ | अपि | इह |
| ९४४ | १० | महती | पुत्रमरणादिनामहतीं पीडां |
| ९४७ | ३ | विशेषार्थ | दण्डविशेषार्थ |
| ९५० | १२ | वेदनादि | छेदनादि |
| ९६१ | २३ | दृश्यमाना | दुःसमाना |
| ९६६ | १७ | बन्धं | गाम्यबन्धं |
| ९७१ | ६ | भागो | भोगो |
| ९७३ | १६ | देशकालौ | देशकालौअतिक्रान्तौ |
| ९७४ | ८ | लाभ | काल |
| " | " | तथा | तथाविध |
| ९८४ | १७ | त्वनेन | बलेन |
| ९९३ | २० | वा | वसनस्थं |
| १००२ | १० | क्रयणाद्विशुद्धं धनं | मूल्यक्रयाद्विशुद्धंमूल्य धनंलभेत |
| १००४ | ११ | शुल्कदेयां | शुल्कदेयांकन्यां |
| १००४ | १२ | अर्थक्रयविक्रय | अत्वामिविक्रय |
| १००६ | १८ | आधानादौ | अभ्ययनादौ |
| १०१४ | १८ | क्रीत्वा | इदानींक्रयविक्रयानु श[य]माहक्रीत्वेति । क्रीत्वा |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | कु० १ | कु० ५ |
|---------|----------|----------------|-------------------------------------|
| १०१७ | २६ | कल्पनया | कन्याया |
| १०२० | ३ | क्षारेण | क्षारेणभृतो |
| १०३२ | १ | तेसाक्षिणः | तेसाक्षिणःस्रग्विणः |
| १०३३ | ४ | कुर्युः | कुर्युःप्रयताःप्रयत्नतः |
| १०५२ | ३ | सकृदपराधे | रथसंकटापराधः |
| १०८८ | २२ | गच्छत्यपेक्षया | गच्छन् जात्यपेक्षया |
| १०९३ | १२ | लिङ्गोद्धारः | संवत्सरबंधनादनन्तरं लिङ्गोद्धारः |
| १०९५ | ५ | कटेनावेष्ट्य | कठेनसंवेष्ट्य |
| १०९७ | ७ | अयंच | एवंच |

अध्यायः १०

| | | | |
|------|----|------------------------------|--|
| १२८८ | १८ | क्षत्रिया | वैश्यान् क्षत्रिया |
| १२८९ | ४ | वैश्यायां | क्षत्रियायां |
| " | ५ | वैदेहेकेन | वैदेहेकेनपुनर्वैश्यतो- ब्राह्मण्यांजातेन |
| १२९५ | २३ | एवंवैश्यायांततोप्यप- सदम् | एवमेववैश्यायांशूद्रा- जातादपकृष्टक्षत्रिया- ब्राह्मणीजाताभ्यामु- त्कृष्टजनयतिततोप्य- पसदम् |
| १३०३ | १४ | संतः | क्षत्रियाः सन्तः |
| १३०४ | ९ | ते | प्रतिलोमजास्ते |
| " | २० | रोगशान्त्यादि | कायशलयादि |
| " | २१ | वणिज्या | रक्षा |
| १३०४ | २ | सोगैव | तदुक्ताएव |
| १३२९ | २२ | अश्रुदक | अश्रुदक |
| १३३५ | २० | गंधयुक्त्यादिकरणं | लिखनादि |
| १३३६ | ८ | अनुकल्पिकया | अल्पिकया |

अध्यायः ११

| | | | |
|------|----|--|----------------------------|
| १३४३ | २४ | रोगी | राजरोगाद्यभिभूतः |
| " | २४ | निधनेभ्यो | निर्धनेभ्योयाचमानेभ्यो |
| १३६२ | ९ | आधान | अश्याधान |
| १३६३ | २५ | निन्दितपदेन | इन्द्रियग्रहणेनैव |
| १३६४ | २१ | दत्तवान् | खादितुंदत्तवान् |
| १३६६ | १७ | अन्यशरीर | एतच्छरीर |
| १३६७ | २१ | गुरुभार्यागामीवि- कोपमेहनत्वंपिशुनो | गुरुभार्यागामीदुश्चर्मत्वं |
| १३७३ | ६ | न्याह | न्याहगोवधइत्यादि |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | कु० १ | कु० ५ |
|---------|----------|-----------------------|---|
| १३८४ | ५, ६ | अथवा...संहिताम् | तथापरिमितहविष्या हारस्त्रीनवारान् वेदसं- हितां जपेत् |
| १३८४ | ३ | प्राणान् | निःसंदेहं |
| १३८८ | १२ | गोतमस्मरणात् | देवलवचनात् |
| " | १६ | वेदवचनं | देवलवचनं |
| १३९२ | ७ | तिलं | तिलकल्कं |
| " | ८ | गुणान्तर | मरणेन |
| १३९५ | १४ | एकदेहत्वात्...पा- | एकदेहद्वारामधेनसह तव्यम् युज्यते तस्यब्राह्मण्यं अपगच्छति शूद्रत्वंच सत्रजती त्ययमपिपू- र्वानुवादएव निन्दित यासांगवां याज्ञवल्क्यस्मरणात् रुजः...दि त्रैवार्षिकरूपः क्षत्रियवधेस्मृतः त्रैवा- र्षिकरूपः मासिकत्वापेक्षया हते षोडशभागं स्त्रीशूद्रविद्वक्षत्रिय अनेक अनवस्थिताएतत्पर्यन्ता अस्थि प्राणिनां...वधे प्राणिवधेप्राणायामेनशु- द्धिःसहस्रस्यवधे प्रतिव्यहं लघुत्वात् लघुत्वात् अबुद्धिविषये पुनः सर्वत्रैव भक्षिणां भक्षिणांप्राक्षिणांगृधा- दीनां श्राद्धार्थो श्राद्धान्नस्यो गुणादौशक्त्यापेक्षया, गुणदोगत्यापक्षयौ गन्धानां...प्रभृतीनां गन्धप्रधानानांचागुरुप्र- भृतीनांऔषधीनांचगं- इत्यादीनां |
| १४०० | २१ | कृत्रिम | निन्दित |
| १४०३ | २६ | यासां | यासांगवां |
| १४०५ | २९ | वचनान् | याज्ञवल्क्यस्मरणात् |
| १४०७ | १२ | रुजः...दि | साक्ष्याद्धि |
| १४०७ | १६ | त्रैवार्षिकरूपः | क्षत्रियवधेस्मृतः त्रैवा- र्षिकरूपः |
| " | १७ | वार्षिकत्वापेक्षया | मासिकत्वापेक्षया |
| " | १८ | हत | हते षोडशभागं |
| १४११ | ३ | स्त्रीशूद्र | स्त्रीशूद्रविद्वक्षत्रिय |
| १४१४ | ८ | लोभात् | अनेक |
| " | २३ | एतत्पर्यन्ता | अनवस्थिताएतत्पर्यन्ता |
| १४१५ | ६ | अनस्थि | अस्थि |
| " | " | प्राणिनां...वधे | प्राणिवधेप्राणायामेनशु- द्धिःसहस्रस्यवधे |
| १४१८ | १ | प्रत्यहं | प्रतिव्यहं |
| " | ६ | लघुत्वात् | लघुत्वात् अबुद्धिविषये पुनः |
| " | २७ | सर्वत्रैव | संक्षेपेन |
| १४२२ | २६ | भक्षिणां | भक्षिणांप्राक्षिणांगृधा- दीनां |
| १४२३ | ९ | श्राद्धार्थो | श्राद्धान्नस्यो |
| १४२७ | १५ | गुणादौशक्त्यापेक्षया, | गुणदोगत्यापक्षयौ |
| " | २७ | गन्धानां...प्रभृतीनां | गन्धप्रधानानांचागुरुप्र- भृतीनांऔषधीनांचगं- इत्यादीनां |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | कु० १ | कु० ५ |
|---------|----------|-----------------------------------|---|
| १४२८ | २८ | मरणान्तिकं | प्राणान्तिकं |
| १४३३ | ११ | मन्वादिभिः | शोधनंमन्वादिभिः |
| " | २७, २८ | चतुर्थकालः पापम् | अभोधिवंसेनचतुर्थ भक्तस्त्रिभिर्वर्षै स्तदपहन्तिपापमिति |
| १४३४ | ३१ | श्रावणं | पाठनं |
| १४४२ | ६ | जपित्वा | नियमवान्जपित्वा |
| १४४९ | २५ | ग्रासशोधनम् | कायशोधनम् |
| " | २६ | यथारात्रौतथादिवा ... कृतान्यथा | प्राजापत्योविधिः स्मृतः तथाचवसिष्ठः । हवि ष्यं प्रातराशी त्रीन्साय माशोतथैवच |
| १४५१ | २४ | विगतानवधान्यस्य | विगतात्माभिलाषस्य |
| " | २४ | गुरुलघुसमफल | लघुगुरुसकल |
| १४५२ | १० | क्रमेण | प्रभृति |
| १४५४ | १ | कदाचिद्दशकदा चित्पंच | कदाचित्पंचदश |
| १४५९ | २५ | हेतुत्वात् | फलत्वात् |
| १४६३ | ५ | गोः प्रचुरदानादि | शापवरदानादि |
| " | १८ | प्रायश्चित्तस्तुत्यर्थ | प्रायश्चित्ततपःस्तुत्यर्थ |
| १४६४ | १ | तत्सम | तत्संहननं |
| " | २ | आविकारिणो | अधिकारिणो |
| १४६५ | २२ | दुर्लभं | शुभं |
| १४६६ | २२ | एतत्पापक्षय | इतरपापक्षयसाधनापेक्ष या |
| १४६८ | ७ | कौत्सेन | कुत्सेन |
| १४७१ | १८ | पातकमपि | पातकजमपि |
| १४७२ | २ | विद्यादि | त्वादिष्ठयामदिष्ठ येत्याद्या |
| १४७३ | १३ | ऋग्वेदं | ऋग्वेदधारणस्तुतिः |
| १४७५ | २ | मन्त्र | त्रय |
| " | २ | धारण | ध्यान |
| " | २ | मुनि | मनु |

अध्यायः १२

| | | | |
|------|----|----------------------------|---------------------|
| १४७९ | ४ | न्याएव | न्यदेव |
| १४९३ | २१ | विषादाभिलाषमान- सकार्यं | विषयाभिलाषमात्सर्यं |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | कु० १ | कु० ५ |
|---------|----------|-----------------------------------|--|
| " | २२ | वृत्ति | प्रवृत्ति |
| १४९४ | १९ | तत्त्वनिवारकत्वात् | तत्तुर्दुर्निवारत्वात् |
| १५०१ | ११ | प्रियाश्च | प्रियायुद्धकुशलाश्च |
| १५०४ | २ | धर्मा | कर्मा |
| १५१२ | १४ | विविधः प्राप्नुवन्ति | अनेकप्रकाराः ऋकच पाठनादिनासंपीडाः काकोल्लादिभिः भक्ष- णं सुतमसिक्तादिभिस्ता पान्स्थाल्यामधीनीः- क्षय्यपाकांश्च दुःसहा- न्प्राप्नुवन्ति |
| " | २१, २२ | प्रकाराणि | प्रकाराणि भयानि |
| १५१६ | २६ | प्रतीकोः कामचा- रो भवति | प्रत्येकोपासनानां संश- योहनामउपास्तेयावग- तंतन्नास्यकामचारो- भवति सयत्रतमेववा- इनदिशेवस्ववेदनयत्र- बोद्धवोदित्योसार्तबहु- र्नैहिकार्मुष्मकानिच- फलानिश्चयन्ते किंचिदेकं श्रुतविहितं किंचिर्नेति |
| " | २९ | किंचिदेवं किंचि च्चेनेति | अयुक्ता असद्धर्मवक्तृन् शुश्रूषां शिष्येभ्यः नीयम् |
| १५१६ | २९ | यथोक्ता | जगतः |
| १५३५ | ७ | वाचकान्बहून् | अस्पृशरूपगन्धम् |
| १५३६ | १, २ | शुश्रूषां शिष्येभ्यः अगोपनीयम् | मन्वाख्य मोक्षहेतुत्वेन विस्तरात् |
| १५४० | ८ | जातेः | निगूढमल्पवचनात् |
| " | १२ | अस्पृशमरूपम् | निगूढकल्पवचसा, त्वे |
| १५४१ | ८ | स्रष्टाख्य | तत्त्वमर्थम् |
| १५४२ | ८ | मोक्षत्वेन | दुर्गाधनादेदधितो त्तरोभून्नाता |
| १५४३ | ८ | चानुरी | वारेन्द्र |
| " | " | निगूढमल्पवचनात् | |
| " | " | अस्मिन् | |
| " | ९ | अर्थतत्त्वम् | |
| १५४३ | ११ | दुर्बोधः भूयात् | |
| " | " | वारेन्द्र | |

राघवानन्दीयपाठभेदाः ॥

चिन्हानि

राघ० १= मुद्रितपुस्तकम्

राघ० २= बुन्दीमाहाराजपुस्तकालयस्थम्

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | रा० १ | रा० २ |
|---------|----------|------------------|---------------------------|
| ८ | २७ | विदित्वा | वित्वा |
| १३ | २५ | केवददं | केवान्यथातस्तन्नजा |
| १७ | २६ | ति | येतन्नतंनस्यात्तदं |
| २७ | २६ | यन् | पि |
| ३६ | २५ | चेति | जगन् |
| ३९ | ३ | शमाचारभेते | चेतिश्रुतेः |
| ४३ | २८ | अयूयुजन् | समन्वारभेते । |
| ४८ | २५ | उभयम् | असृजत |
| ५२ | १२ | ब्राह्म | उभयजम् |
| ६० | १४ | निरोधयन् | ब्राह्मक्षपाःह |
| ६१ | ३ | सदा | तिरोधयन् |
| ६६ | २२ | पायेन | तदा |
| ६८ | २१ | क्रियापरि | पायेनवतन्ते प्रवर्तन्तेइ- |
| ६९ | १९ | यस्य | तराणियुगानि |
| ७० | २ | धर्मविद्यादेशागम | याव |
| ७३ | २४ | मियते | यस्याहस्तत् |
| ७८ | २१ | देव | धनविद्यादेरागम |
| ८४ | २५ | मेधातिथिः | श्रियते |
| १०५ | २६ | पिण्यादीन् | देव |
| १०५ | २६ | ऋणादीनाम् | मेधातिथिःतन्मयतोवि- |
| १०६ | १ | अभीप्सितेति | द्यास्थानन्यनुक्रम्यशङ्के |
| १०९ | २ | परंतत्त्वम् | नाप्युक्तमेताः ब्राह्मणो |
| | | | धिकरुतेसचवृत्तिंदर्शय- |
| | | | तीतरेषां |
| | | | परानृपिवादीन् |
| | | | ऋणादीनांसंधिविग्रहा |
| | | | दीनांवा |

अध्यायः २

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | रा० १ | रा० २ |
|---------|----------|---------------------|---------------------------|
| १०९ | २० | प्रातः | प्रातः २ |
| १०९ | २१ | द्वाभ्यां | द्वाभ्यांतस्मादुभावपीति |
| १११ | ३० | अन्येषां | तदानीम् |
| ११२ | १५ | देवैः | देवैरग्रे |
| ११६ | ९ | विना | विनायस्मिन्देशेमृगःकृष्ट |
| १२० | १३ | प्रयुक्तैः | स्तस्मिन्धर्मान्यबोधत |
| १२२ | ८ | वेदाध्ययनेन | इतियाज्ञवल्क्योक्ते । |
| १३२ | ६ | ब्राह्म्या...संज्ञा | प्रयुक्तैःस्यंदनेपुंसवनमि |
| १३५ | ९ | बगइ | तिशेषोक्तेः । |
| १४४ | २४ | बहिष्कृतं | वेदाध्ययनेनयावच्छ |
| १५५ | २५ | वेदस्याध्ययन | कयेन |
| १६७ | १९ | मासादयः | ब्रा...संज्ञायतआर्यविग |
| १८० | १८ | भावः | हता |
| १८५ | ९ | अन्यतो | ततःकिंततआहनैतैरि- |
| २०९ | २८ | योग्यंवा | ति । ब्राह्मन् |
| २२३ | २७ | श्रुति | वावई |
| २२४ | ९ | उपनयनाख्ये | हविःकृतं |
| २२५ | २४ | वाचकत्वात् | वेदस्याध्ययनारंभेअव |
| | | | सानेत तस्यसमाप्तौ । |
| | | | मासादयःषोडशीकलाफ |
| | | | सएवोपांशुत्वेनानुष्ठितः |
| | | | शतगुणफलदःलतइत्यर्थः |
| | | | भावःअन्यथापंचयज्ञा |
| | | | भावः |
| | | | स्वतो |
| | | | योग्यता |
| | | | विधि |
| | | | उपनाख्येसाविध्यै- |
| | | | वप्रसूः |
| | | | वाचकत्वात्वेदेवेदग्रह |
| | | | णयोग्येउपनयनाख्ये |
| | | | अंसति |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | रा० १ | रा० २ |
|---------|----------|--------------------------|---|
| २२८ | १९ | नित्यंस्मात्वेत्यादिकान् | नित्यंस्मात्वेत्यादिकान् नाजसंस्मायादितिमु यन्नानपरांकालद्वया भिपेकाऽप्युधरणासु दंडवन्नियञ्जनमिति विष्णुवचनात् |
| २४७ | २१ | नमस्कारोत्थानादि | नमस्कारोत्थानादि आर्येषुब्राह्मणत्वेसत्य वक्रबुद्धिषु |
| २५७ | २३ | स्वासमार्गेभ्यु | स्वःस्वोदरः |
| २६३ | २४ | सिद्धौषधान् | सिद्धौषधादिदुष्कुला त्वस्मान्निर्दुष्कुलान् तुमेच्छात् |
| २६९ | ५ | स्थानासन | एतेषु आचार्यादिषु |
| | | अध्यायः ३ | |
| ३०७ | ३ | क्षत्रियविषय | क्षत्रियमाह |
| ३१७ | १५ | तत्र | यत्र |
| ३१९ | १९ | अनियत्तां | इयत्तां |
| ३३५ | २ | दक्षिणस्यां | दक्षिणस्यांदत्वा |
| ३३८ | ५ | विद्वत्प्रशंसा | विद्वदान्प्रशंसा |
| ३४४ | २९ | नात्म | नान् |
| ३४९ | २४ | वास्तुदेवादयः | हरिहरादयः (मूलपुस्तके 'वासुदेवादयः') |
| ३५१ | १६ | जायाताः परिवत्स रान् | संवत्सरान् संवत्सरं प- र्ययित्वा तत ऊर्ध्वमाग- तान् । परिसंवत्सरानि तिमेधातिथिः मातुलां तान् परिसंवत्सरान् |
| ३५३ | १५ | तथाच | तत्र |
| ३५९ | ५ | वेदाध्यायी | वेदाध्यायी छंदोमात्रा ध्यायी (इदंमूलपुस्त- केवर्तते) |
| ३६२ | ९ | ज्ञानोत्कृष्टाय | ज्ञानं वेदार्थज्ञानमुत्कृष्टं यस्य तस्मै ज्ञानोत्कृष्टाय |
| ३६९ | २६ | सप्त | सप्त |
| ३७४ | २४ | परिवित्तिः वक्ष्यते | परिवित्त्परिवित्ती वक्ष्यते |
| ३७७ | ६ | तैलार्थे | विक्रेयतैलार्थे |
| ३८८ | २७ | सप्तमी | तेभ्योदत्तं नष्टमिति शेषः एवमुत्तरत्र |
| ३९३ | १२ | आद्धप्रकारत्वात् | आद्धप्रकरणत्वात् |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | रा० १ | रा० २ |
|---------|----------|---------------------------------|---|
| ४०२ | १५ | प्रासङ्गिकस्य | प्राकरणीकस्य |
| " | १६ | पर्युक्षणादि | पर्युक्षणादि पूर्वमनुष्ठेय मित्यन्वयः |
| ४०३ | २४ | तत्पिच्यं | अत आह देवाद्यन्त मिति तत्पिच्यं |
| " | " | तु | नतु (इदंमूलपुस्तके- वर्तते) |
| ४०९ | ५ | अग्नौ | अपसव्यं अग्नौ (इदं- मूलपुस्तकेवर्तते) |
| " | " | संस्थ | संस्थपवित्रं (इदंमूल- पुस्तकेवर्तते) |
| " | २३ | शेषात् | शेषादन्नात् |
| " | २३ | विधिना | विधिनोदक्यादिदान योग्येन |
| ४१२ | ३१ | पितृस्थाने | पितृविप्रस्थानेन |
| ४१३ | २८ | दद्यात् | दद्यात्पिप्पलासस्याद्वय मानवादिति (अक्षरा- ण्यस्पष्टानि) |
| ४२५ | ५ | भूमिगतस्य | पात्रस्नानादेरुच्चरीप्रति यशिनहृक्तभूमिगतस्य (अस्पष्टान्यक्षराणि) |
| ४३१ | १३ | वाचनिकं तेन न कवि तादर इति | वाचनिकेन तकावतार इति (इदंमूलपुस्त- केवर्तते) |
| ४३२ | २१ | अविगीत | अविगीतोक्त |
| ४३३ | २३ | विसृज्यति | विसृज्येति द्वाभ्याम् (इदंमूलपुस्तकेवर्तते) |
| ४३५ | ९ | प्रतिपत्तिस्थानानि | प्रस्थानानि |
| " | १० | भोजनान् | ब्राह्मणभोजनान् (इदंमूलपुस्तकेवर्तते) |
| ४३७ | १० | निर्वर्त्य | नित्यस्य (इदंमूल- पुस्तकेवर्तते) |
| ४४१ | २७ | श्राद्धाच्च | श्राद्धाच्च |
| ४४३ | २७ | पितृतीर्थ | पितृतीर्थ (इदंमूल- पुस्तके इति भाति) |
| | | अध्यायः ४ | |
| ४५३ | ३ | दयलो | दयलो |
| ४६१ | २७ | सावेदाध्ययनस्य या काचिजीविका | सेतिविधासं [स्यं ?] मासलिगवैश्वदेवीजन |
| ४६२ | १६ | वेष | किंचवयस इतिवेष |
| ४६३ | १८ | नः | वा |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | रा० १ | रा० २ |
|---------|----------|--------------------------------|--|
| ४७२ | १७ | भूतानां | भृत्यानां (मूलपुस्तके इदमेव दृश्यते) |
| ४७७ | १४ | श्रुतेषु | तां वजयत इति (इद- मापमूलपुस्तके वर्तते) |
| " | " | प्रजा | प्रज्ञा |
| ४८० | २९ | त्यागः | त्यागः मूत्रोच्चारविदु- च्चारणं सह वर्तमानं |
| ४८१ | २६ | वातं | नात्र समासवातं (एतद्वयमपिमूलपुस्त- के इदमेव) |
| ४८२ | ११ | हाभ्यां | त्रिभिः |
| ४८५ | २३ | आक्रान्ते | आक्रान्ते प्रभुतया |
| ४९९ | २५, २६ | रूपणस्य वा | रूपणस्य वाराजस्य स्याप्युत्थितुवानूनो धर्मशास्त्रलघिनः |
| ५०५ | १७ | रुतं | छन्दःरुतं |
| ५०६ | ३१ | कालं | कालव्यापनं (मूलपु- स्तकेऽपि इदमेव) |
| ५१४ | २० | पर्यन्तं सर्वात् | पर्यन्तमितितन्निचिरंतु- यावन्निमित्तसत्त्वं (मूले पिबहुशः इदमेव वर्तते) |
| ५१५ | ११, १२ | निषिद्धकालं | निषेधावधिकालं |
| ५१७ | २५ | पितृपक्षपातित्वात् | प्रेतपक्षपातित्वात् |
| ५१८ | १३ | पठन | पावन |
| ५२३ | १४ | क्षत्रियादि | क्षत्रियादिकर्मकारकम् |
| ५२४ | १७ | दायाद | दायादब्रूयात् |
| " | १८ | नब्रूयात् | नब्रूयात् विप्रं न वैश्यं |
| ५२५ | २१ | स्वजपाद | स्वजत्वं सुपाद |
| ५४५ | ९ | छायास्वदासवर्गः | छायास्वच्छाया |
| ५५८ | ५ | वर्जयन्ति | वर्जयति |
| ५६३ | २८ | इति गोविन्दराजः .. तत्त्वम् | किंचय इति । पूयादि लोमसं दशनादत्र पूयादि भुज्जन्यलाभोऽन्यथा बाध इति गोविन्दराजः .. तत्त्वम् (इयं २२१ श्लोकस्य टीका) |
| ५७४ | २९ | फलप्रधानं | न फलप्रधानं |
| ५७५ | २२ | हीनान् .. संबन्धे | विप्रोपि प्रत्यवायेन अवरं हीनस्यादिपा- खण्डादिशास्त्रादिचम- त्यायोगमनं तेनावर- संबन्धेन |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | रा० १ | रा० २ |
|---------|----------|-----------------------|---|
| | | अध्यायः ५ | |
| ५८७ | २९ | शुद्ध | शुभ्र |
| ५९३ | ४ | त्वाष्ट्रम् | त्वष्ट्रे |
| ५९६ | २३ | आहतुः | आहतुः सर्वश इति स्वव स्यतु |
| ५९९ | ४ | प्रायश्चित्तं | प्रायश्चित्तं एवं विधोषो- षणे भोनद्वयनिवृत्ति- मात्रं |
| ६०० | ८ | कुर्वित्यनुजानाति | कृत्वानुज्ञायते |
| " | " | भृत्यानां | भृत्यादीनां |
| ६०१ | १ | लभेतेत्यादि | लभेतरस्यै [रात्रौ?] को- किलमित्यादि |
| ६०१ | २९ | अस्मिन् भक्ष्यं | स्मिन् |
| ६०३ | ८ | अशेषतः | किंचैतदिति अशेषतः |
| " | " | भक्ष्य | भक्ष्या भक्ष्य |
| ६०९ | २९ | ब्रह्मधारणं | ब्रह्मचारिणं |
| ६११ | ६ | बलि | बलिभोजन |
| ६११ | ६, ७ | आसक्त्या .. इत्युक्तं | आवश्यकपथंगकेश स्मार्तकर्मणि च ॥ ननु- वैदिकेषु पश्चादौ एका दशावदानवाधापत्तेः त- स्माद्यज्ञेव धोऽवध इत्यु- क्तिः [किंच?] किंच अप्रत- स्मृत्युदिते वधेतापदो ध- मित्याह यज्ञाध |
| २१३ | २ | कारकः | कारक उदके वलवादष्ट हेतुत्वात् |
| ६१४ | ३ | आत्मनः | आत्मानं |
| " | ४ | इत्युक्तं | इत्युक्तं हिंसायामर्थवाद (इदं मूलपुस्तके वर्तते) |
| ६१५ | ८ | प्रमाणक इति भावः | प्रमाणकेनापि परानुय हो धर्महेतुरगम्यागमन मिथ्योक्तौ च व्यभिचा रान्नापि पीडाधर्महेतुस्त पोदानादौ बाधात्तस्मा द्यथा व्यवहार इति भावः |
| " | २० | अहिंसकानि | किंचय इति । अहिंसकानि |
| ६१९ | २४ | तत्तुल्यफलैः | तद्योग्यैः |
| " | २५ | परिवर्जनान् | परिवर्जनात् न तु निवृत्ति मात्रादिति |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | रा० १ | रा० २ |
|------------------|----------|--------------------------|---|
| ६२० | ४ | अस्तीति | अश्रीति |
| ६२१ | ११ | फललाभसंभवात् | फलसंकल्पत् |
| ६२३ | १ | रुतचूड | सद्यःरुतचूडे |
| ६२४ | ८ | लक्षणमिदं | लक्षणार्थम् |
| " | १० | एवंचसाग्निः | पंचाग्निः |
| ६२७ | २ | निर्दिशति | अतिदिशति |
| ६२९ | २, ३ | उपस्पृश्य . . अन्यत्र | उपस्पृश्याचम्य |
| ६३० | १ | गोविन्दःत्रिरात्रैः | गोविन्दःचकारद्वयात्रि भिक्षिभिविशेषणात्रि- रात्रै |
| ६३४ | २१ | उक्तेः | उक्तेःतेषाममाल्योदकम् |
| ६४० | ९ | मरणंजननं | मरणेमरणंजननेजननं |
| ६४२ | ७ | चातुर्वर्ण्येन | चातुर्वर्ण्येस |
| ६४३ | ५ | विप्रःशुष्येदिति | विप्रवदिति (मूल- पुस्तकेईदृगेववर्तते) |
| ६५२ | २ | इन्द्रवदधिकृतं | इन्द्रवदशौचानधिकृता |
| " | २७ | प्रतैश्वर्यं | प्रजैश्वर्यं |
| " | २८ | प्रकृतिविकृतिसा- धारण | प्रजारक्षण |
| ६५५ | ४ | अपराङ्मुखयुद्धहत स्य | अपराङ्मुखस्यतद्धतस्य |
| ६५६ | ४ | त्रिभिः | त्रिभिःअसपिण्डेषुसपि ण्डेषुच |
| " | १३ | धर्मेणैव | बन्धुवदितिधर्मेणैव |
| ६५८ | २० | च | वा |
| ६६१ | १६ | स्वं | त्वं |
| ६६५ | १७ | वारिणैव | वारिणीवभक्षक्षारः |
| ६६९ | २३ | गर्दभादेः | नरादेः (न, श) |
| ६७३ | ८ | ब्राह्मणानामिति | ब्राह्मणानामितिकाष्ठा |
| ६८५ | | अण्वपि | उत्सवादिदर्शनमपि (इयं १४७ श्लोकस्य टीका) |
| ६८६ | ८ | पोषकाभावविषयम् | पोषोयम् |
| ६८८ | २३ | गच्छेदितिशेष | गच्छेदीत्यादावति प्रसक्तेरिदितिशेषः |
| अध्यायः ६ | | | |
| ६९८ | ७ | आत्मनो | किंचगृहस्थस्त्विति आत्मनो |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | रा० १ | रा० २ |
|------------------|----------|----------------------|---|
| ६९८ | २९ | निःसृत्य | ग्रामान्निःसृत्य |
| ७०४ | २७ | विशेषात् | विशेषणात् |
| ७०७ | १२ | कालिकः | वशद्वोत्रषट्क्यालिकोप- लक्षकइति |
| ७०८ | २३ | गतागतं | लुठन्गतागतं |
| ७१४ | ८ | मन्थेऽन्यतमया | मन्थेमरिष्यामीतिनिश्च येनाविगते शोकभये- यस्मात्सः अन्यतमया |
| ७२३ | ९ | देहनिमित्ततदक्षार्थं | वेदेनिमित्तभक्षार्थं |
| ७२४ | २ | वाक्प्रवर्तते | वाक्यवर्तते |
| ७२७ | २८ | प्रसिद्धं | प्रसिद्धतत्रतुभिक्षितनभि क्षेपेवि । तंशंखोक्तेर्भित- गृहपुनर्नतदगच्छेदिति |
| ७३२ | १२ | नाहमस्मि | नात्रास्मि |
| ७३४ | १९ | यथोदितइति | यथोदितइतिसावित्र्य भावान् |
| " | ३० | शेषः | शेषःदोषयदाद्रसाजपाप परं |
| ७३९ | २१ | मित्यर्थः | मित्यन्वयः |
| ७४० | ३ | त्यजेत् | त्यक्तं |
| ७४४ | २ | लक्ष्यते | लभ्यते |
| " | " | तात्पर्येणोक्तं | नास्वर्योस्मेक्तं |
| ७४६ | २ | प्रव्रजेदिति | प्रव्रजेदितिअतिःपाप्मा नवेहद्वयविहायत्पका- परं ब्रह्मभवेदित्यर्थम् |
| अध्यायः ७ | | | |
| ७६० | ३० | स्थापयितुस्तं | स्थापयितुं |
| ७६२ | २३ | अन्यथागामिषु | उत्पथगामिषु |
| ७६५ | १ | कस्यापीतिशेषः | कस्यापिस्वामिनःस्वा म्यनस्यादितिशेषः |
| " | ११ | रागादित्याह | रागादिमत्वादित्याह |
| ७६७ | २८ | कोपादृष्ट | कोपादि |
| ७७६ | १२ | कामजैःसन्निरुष्टः | क्रोधजैःसन्निरुष्टः |
| ७७८ | २४ | वेग | विरामूत्रवेग |
| ७७९ | ५ | द्रुततर | गुरुतर |
| ७८० | २४ | स्वर्ग | स्वर्गव्रजत्येव |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | रा० १ | रा० २ |
|---------|----------|--------------------------|------------------------------|
| ७८६ | १५ | प्राकृत | प्राकृतअहंद |
| ७८७ | १० | वधोद्यमेपि | वधोद्यमेपिप्रशस्यतेकर्त- |
| | | | व्यत्वेनेदृशः |
| ७८८ | ८ | प्रदर्शनेनचनचा- | प्रदर्शनेनभिद्यन्तेनचा |
| | | न्यथा | न्यथा |
| ७९० | १६ | शतमध्यमवध्यंसह | शतमवध्यसंहसमवध्यं |
| | | समध्यमवध्यं | |
| ७९१ | ११ | दुर्गाश्रयो | दुर्गाश्रितो |
| ७९३ | ६ | राज्ञीनाराज्ञःपुत्राणांच | राज्ञीराजतत्पुत्राणां |
| " | २२ | तैर्युक्तं | ताभ्यांयुक्तं |
| ७९४ | २७ | धान्यादीन्धनंच | धान्यादीनांभागंच |
| " | २८ | निविष्टः | निष्टः |
| ७९५ | १५ | कार्याणिकर्माणि | कार्याणि |
| ७९७ | १ | पततिनव्यथते | पततिनपुष्यति [शुष्य- |
| | | | ति ?] वाव्यथते |
| " | २ | प्रीत्युक्तेः | प्रीत्युत्पत्तेः |
| ८०० | २२ | आह्वेषु | आह्वेषुस्त्रीदूधत्तेयुष्य |
| | | | यिशत्र वोयत्र |
| " | २३ | प्राप्तेः | प्राप्तेःयुध्यमानापुरद्वन्तः |
| ८०३ | ५ | बुध्यति | युध्यति |
| ८०६ | १६ | अरेच्छिद्रानुसारी | परच्छिद्रानुसारी |
| ८०९ | ३ | उपक्रमैः | उपायैः |
| " | १३ | दण्डस्यकालमाह | दण्डंक्षिपन्माह |
| " | " | एतान्दण्डेन | एतान्चतुरोदण्डेन |
| ८१० | ११ | रक्षेत् | रक्षति |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | रा० १ | रा० २ |
|---------|----------|---------------------|-------------------------------|
| ८१० | २४ | आयुषःनक्षयति | आयुषःसबान्धवोन- |
| | | | क्षयति |
| ८१७ | २४ | याद्वा | याद्वेति |
| ८१८ | १६ | गंधवारिचरःअपां | गंधवारिचराणां |
| ८१९ | १९ | मेधातिथेः | मेधातिथेः । चर्मणांच- |
| | | | भीतपादुकानांच |
| ८२२ | २३ | आसने | खिन्नःआसने |
| ८२३ | १५ | षष्ठी | षष्ठीसभृत्यस्येतिसाम- |
| | | | र्थनंस्मृतितं |
| ८२४ | ५ | श्रौतंपुरोहितसाध्यं | श्रौतपुरोहितसाध्योक्तं |
| ८३६ | ७ | द्विविधः | एवंद्विविधः |
| " | ७ | पठितं व्याख्यातं | पठितःव्याख्यातः |
| ८३९ | ८ | कोशाद्यैः | कोशानुकूलग्रहतराद्यैः |
| ८४१ | ३ | चभीत्या | यद्भीत्या |
| " | २० | दिभिरिवानेनापि- | दिभिर्नोपकार्यो |
| | | कार्यो | |
| ८४२ | १० | बहुला | बहुली |
| " | २७ | पूर्वरुतं | पूर्वरुतं |
| ८४८ | ३ | वीर | कार |
| ८५२ | १२ | अरिषु | अरिपुरे |
| ८५९ | १८ | अरेरेव | अनेनेव |
| ८६४ | २६ | शुद्धाः | शुद्धाःस्पृशेयुर्भोगार्थं |
| | | | सुसमहिमाःसुष्टुविशेः |
| | | | सममाहिताःअर्पितादे |
| | | | हादयोयाभिस्ताः |
| ८६६ | २२ | संविशेत् | तूर्यघोषैर्भीताद्यैःप्रहर्षि- |
| | | | तःऋष्टःसंविशेत् |

राघवानन्दीयपाठभेदाः

चिन्हानि

राघ० १ = मुद्रितपुस्तकम्

राघ० ५ = माहाराजाकोमलकृष्णबाहादुराणां भाण्डारस्थम् ।

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | राघ० १ | राघ० ५ | पृष्ठम् | पङ्क्तिः | राघ० १ | राघ० ५ |
|---------|----------|-------------------|-------------------------|---------|----------|---------------------|----------------------------|
| | | अध्यायः १ | | | | | |
| ४ | १४ | धर्ममोक्षो | धर्मार्थमोक्षो | २०८ | २३ | आचार्याणां | तथाचस्तुतिमात्रमाचार्याणां |
| ६ | २१ | नोत्सभ्यम् | अतो नोत्सभ्यम् | २०९ | २९ | इति | इति त्रिभिः |
| १२ | ११ | सन्यासेन | समासेन | २१० | १९ | तर्कव्याकरण | तर्कप्रकरण |
| १३ | २७ | लक्षणमो | लक्षणमीक्षणमो | २१३ | ७ | तस्थैव | तथैव |
| ३४ | २७ | चैतन्यम् | सचैतन्यम् | २२१ | १४ | तथा | द्यथा |
| ३६ | २५ | संविज्ञानकर्मणि | तंविज्ञानकर्मणि | " | " | तपोविशेषैः | इत्यादितपोविशेषैः |
| ३९ | ५ | यातयन् | पातयन् | २२३ | ४ | अनधीतस्यवेदस्य | अनधीतवेदस्य |
| ४३ | ११ | स्वधारणीयेति | स्वविचारणीयेति | २२३ | ५ | द्विजस्यादौ | द्विजस्यादौ |
| " | १२ | मरीच्यादिभिः | एतैर्मरीच्यादिभिः | २२५ | २३ | मंत्रेण | विमोमन्त्रेण |
| ५९ | २५ | तस्येति | सन्ध्येति | २३८ | १५ | देवदैवत्ये | देवदैवत्येदेवतोद्देशेन |
| ६३ | १० | स्थूलाकारादि | स्थूलाकाशादि | | | | आद्धे |
| " | २५ | सूर्याशुमारुतैः | मूर्याग्निमारुतैः | २४३ | ११ | स्यात् | स्याद्भाषितमुक्तिः |
| ६५ | २१ | ब्रह्मणो | ईशस्य | २४४ | ४ | परिवादश्रवणे | परिवादादिश्रवणे |
| ६७ | ३० | फलन्ति | फलदाइति | २५४ | २२ | इति | इतिवा |
| ७० | १५ | पृथक्कर्मण्य | पृथक्धर्मण्य | २६२ | १४ | धर्ममाचरेत् | धर्मनाचरेत् |
| ७७ | २५ | निर्दोषेण | निर्दोषेण | २६८ | २१ | यस्तु | नैष्ठिकस्य |
| " | २६ | पूर्वसर्गानु | पूर्वपूर्वसर्गानु | | | अध्यायः ३ | |
| ८१ | १२ | सप्रमाणकं | संप्रतिसप्रमाणकं | २८३ | ४ | अमुकदासी | अन्नदासी |
| ८५ | ५ | प्रधा... र्थ | यन्नाधिक्यार्थ | २९४ | १६ | लाभे... पेतौ | चतुर्णाधर्माधर्मादनपेताः |
| | | अध्यायः २ | | | | | |
| १०६ | १ | इति | इत्युक्तं | ३०२ | १५ | नार्धादि | नार्थादि |
| " | २३ | वेदः | वेदइति | ३०३ | २० | प्रजात | नजात |
| १०९ | २ | तत्त्वम् | तत्त्वंमात्रातिरुत्वावा | ३०४ | २६ | वेदाध्ययनजवीर्य | वेदाध्ययनवीर्य |
| १११ | ३० | अन्येषां | तदानीं | ३१० | २५ | वर्जमाह | तत्रैववर्जमाह |
| ११२ | १५ | देवैरधिष्ठितं | देवैरग्रेऽधिष्ठितं | ३११ | २८ | रजसिस्त्री | शुक्रेस्त्री |
| १३० | २० | साधना भेदइत्यर्थः | साधना भेदवदिति | ३१४ | २८ | नियमविधौच | नियमनिरोधश्च |
| १४० | १६ | जुषदन्नेनसदन्नं | नकदन्नंसदन्नं | ३१७ | ६ | बान्धवादीनां | देवादीनां |
| | | प्रस्थाय | | ३१७ | ६ | विवाहादिषु | बान्धवानांविवाहादिषु |
| १६२ | १३ | नधरण्यादौ | नद्यारण्यादौ | ३२७ | २२ | सर्वान्नाधिकारार्था | सर्वनाधिकारार्था |
| १६६ | २९ | श्रेयस्त्वम् | श्रेष्ठत्वं | ३३७ | १९ | मात्रंवा | पात्रंवा |
| १७१ | १९ | तेषां | अर्भतेषां | | | | |
| " | " | तेन | तेनकामविषयात् | | | | |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | राघ० १ | राघ० ५ |
|---------|----------|-----------------------------|---|
| ३५१ | १६ | परि संवत्सरानुमधु पर्केण | परिसंवत्सरान्वर्जयि- त्वाततऊर्ध्वमागता- न्परिसंवत्सरानितिमे- धातिथिः । मातुलाना- न्तान्परिगतसंवत्सरो- येभ्यस्तान्परिसंवत्स- रानुमधुपर्केण |
| ३८७ | १५ | मन्धो | मधो |
| ३९९ | ७ | सोमपाः | एवंसोमपाः |
| ४०९ | ५ | अग्रौ | अपसव्यमग्रौ |
| " | " | परिपाटीक्रमम् | पूर्वपरिपाटीक्रमम् |
| " | २३ | शेषात् | शेषादन्नात् |
| ४२५ | ५ | भूमिगतस्य | पात्रस्थान्नादेरन्यतरा प्रतिपत्तिरुक्ता भूमिगतस्य |
| ४४१ | ११ | मधूत्कटेन | मधूत्कटेन |

अध्यायः ४

| | | | |
|-----|----|---------------------|--|
| ४५० | २० | तद्धर्मानाह | तत्रधर्मानाह |
| ४८० | २८ | मलत्याग | मलत्यागः भूत्रोच्चारंवि दुच्चारेणसहवर्तमानं उपानहादि |
| ४८८ | ९ | उपवीतादि | उपानहादि |
| ४८९ | ५ | लक्षणान्वितैः | विनीतैर्दान्तैर्लक्षणान्वितै |
| ४९१ | ८ | विग्रहं | विवादं |
| ५०९ | १३ | अध्यापनं हि | अध्ययनं हि |
| ५१४ | ७ | शेषः | शेषः । उक्तस्वाध्याय ज्ञानाज्ञानजदुष्टादुष्ट- निवृत्त्यर्थः. |
| ५४० | ५ | प्रभुद्रोहादिना | परद्रोहादिना |
| ५६१ | ३ | विरुद्धमर्थं | विश्रद्धमर्थं |
| ५७५ | ११ | उत्तमैरितिद्वाभ्यां | उत्तमैरिति त्रिभिः |

अध्यायः ५

| | | | |
|-----|----|-----------------|----------------|
| ६२३ | १ | रुतचूडे | सद्यःरुतचूडे |
| ६३४ | २० | एवंमतामहाचार्यं | एवमात्राचार्यं |
| ६३८ | १३ | सपिण्डभरणे | एतत्सपिण्डभरणे |
| ६३९ | २० | जातदन्त | अजातदन्त |
| ६४२ | ९ | लक्षणे | लक्षणेगुरौ |
| ६९१ | ९ | कामापि | कामादि |

अध्यायः ६

| | | | |
|-----|----|----------|-----------------|
| ७०३ | २ | तुरायण | उत्तरायण |
| ७०५ | २३ | पुष्पाणि | अन्यानिपुष्पाणि |
| ७०७ | २६ | वारमात्र | एकवारमात्र |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | राघ० १ | राघ० ५ |
|---------|----------|-------------|----------------------|
| ७२९ | १६ | तत्कारण | तत्करण |
| ७३० | १३ | किंचात्र | किंचामुत्र |
| ७३७ | १० | अहो कर्म | अहो कष्टकर्म |
| ७३९ | १९ | तदर्थ | एतदर्थ |
| ७४० | ३ | त्यजेत् अना | त्यजेत् त्यक्तव्यमना |
| ७४७ | २४ | अनुष्ठिताः | अनुष्ठिताः सन्तः |

अध्यायः ७

| | | | |
|-----|----|-------------------|-----------------------------------|
| ७६१ | १६ | अनुशासनं | अनुशासनं ज्ञेयं |
| ७६७ | २५ | कामेति | कामेति त्रिभिः । |
| ७७५ | ३० | दुःखमेवान्तोयेषां | दुःखमेव फलयेषां |
| ७७८ | २३ | किंचावश्यं | कामजेष्ववश्यं |
| ७८१ | २२ | मौलत्वेपि | मौलत्वेनापि |
| ७९८ | ६ | यस्यश्रुतफलमिति | यस्ययच्छ्रुतं तस्य तत्फ- लमिति |
| ८०३ | २५ | दन्तिनं | दन्तिनं गजं |
| ८०७ | २६ | गोपयेयुरिति | गोपयेयुरिति शेषः |
| ८०९ | १३ | दण्डस्य कालमाह | दण्डं क्षिपन्नाह |
| ८१६ | २ | निर्याणम् | निःसारम् |
| ८३१ | ९ | मूल | न्यूनं |
| ८४७ | ३१ | व्यूहे | व्यूहेषु |
| ८५८ | २२ | प्रसिद्धोपक्रमे | युद्धोपक्रमे |
| ८६५ | २२ | चर्मादीनि | वर्मादीनि |

अध्यायः ८

| | | | |
|------|----|--------------------------|--|
| ८८९ | १५ | नरक्षणीयं | रक्षणीयं |
| ९०८ | १० | पूर्वापरं | प्रमाणेन प्रतिपादयेत् पू- र्वापरं |
| ९०९ | ४ | मित्यर्थे | मित्युक्ते |
| ९१६ | ६ | आर्ताबन्धुविनाशा दिना | आर्तारोगेण |
| ९२६ | २० | यतश्चितं | एतत्पापं कृतमनेनेत्य- नुसंधत्तेयतश्चितं |
| ९५० | २६ | राज्ञातावत् | राज्ञाऽतीव |
| १०३० | ९ | पूर्वभक्त्या | देशाद्यन्तयोः पूर्वभक्त्या |
| १०६५ | १४ | तोलकानां | पलानां |
| १०७८ | १७ | स्त्रीणां | स्त्रीणां विप्रणां चर |
| १०८१ | १७ | शूद्रादि | विप्रशूद्रादि |
| १०८४ | १० | संभोगाभिलाषग्रहणं | संभोगाभिलाषिततया संग्रहणं |
| १०८६ | १ | सुवर्णं | सुवर्णमाषाः षोडश |
| १०९२ | २७ | गुण्यं | द्वे गुण्यं |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | राघ० १ | राघ० ५ | पृष्ठम् | पङ्क्तिः | राघ० १ | राघ० ५ |
|---------|----------|--------------------|---|---------|----------|-------------------------|---|
| १०९३ | १५ | स्त्रीरूप | स्त्रीरूपमगुप्तमावसनमै थुनेनोपभुञ्जानोऽङ्गसर्व स्वंप्रतिहीयते । अङ्गगु- प्तैतैर्हीनं । अङ्गमत्र- लिङ्गगुप्तमावसन्सर्वेण- शरीरेण धनेन च । | १२८५ | २९ | अङ्गेन | अङ्गेनपुंदेहेन |
| | | | विदूषद्वयोः प्रेरणायां ब्रा- ह्मणो राजा वाऽप्रमत्तः स्यादित्याह वैश्येति । | १२९७ | १० | हिंसोऽपजि | दासोऽपजि |
| | | | विदूषद्वौ | १३१७ | १५ | किंच अ | तान्येवाह अ |
| १११५ | १६ | विदूषद्वौ | | | | अध्यायः ११ | |
| | | | अध्यायः ९ | १३५३ | २३ | कुटुंबादपि | कुटुंबात्स्वगृहादपि |
| | | | अग्निहोत्रादिधर्मच | १३५६ | १७ | अकरणात् | कर्मणामकरणात् |
| ११२० | १९ | अग्निहोत्रादिधर्मच | अग्निहोत्रादिष्वजाति- षूक्तधर्मच | १३६१ | २३ | किंच अग्नीति । | कामतोऽग्निहोत्रत्या- गिनः प्रायश्चित्तमाह अग्नीति । |
| ११६० | ६ | गुणमोहितं | गुणशीलमोहितं | १३६८ | ६ | सतोदोषस्य | असतोदोषस्य |
| ११६६ | १५ | ० | प्रकृतमाह अन्ये इति | १३८४ | २७ | विशुध्यति | विमुच्यत इति |
| १२०७ | १४ | खलवालिन्या | खलेदारुन्या | १४०३ | २८ | चरितव्रत | तादृशसुचरितव्रत |
| १२५९ | २१ | दण्डव्यसनं | वाग्दण्डव्यसनं | १४१७ | ११ | अभक्ष्यभक्षणे | अन्नाद्यभक्षणे |
| | | | | | | अध्यायः १२ | |
| | | | | १५२३ | ३ | वेदान्ताभ्यासेन | वेदाभ्यासेन |
| | | | | | | इति राघवानन्दीयपाठभेदाः | |

नन्दनीयमानवव्याख्यानेपाठभेदाः ॥

चिन्हानि

नं० १=त्रावणकोर पत्तनातृश्री ० माहाराजभिःप्रेषितम् ।

नं० २=मद्रासपत्तनात् दीवाणबहादुररघुनाथरावकृतसंग्रहात्

| | | | | | | | | |
|---------|----------|---------------------------------|--|---------|----------|---------------------------|---|-------------------------------|
| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | नं० १ | नं० २ | पृष्ठम् | पङ्क्तिः | नं० १ | नं० २ | |
| | | अध्यायः १ | | | | अध्यायः २ | | |
| १२ | ३१ | प्रमाणत्रयागोचर- त्वान् | प्रमाणाभावात् | ३७ | १ | तत् | तत्कर्म | |
| १४ | १ | प्रेरकः | शोषकः | " | २८ | कदम्ब | केतकी | |
| १६ | २४ | तत्त्व | मादाभूतादिवृत्तौजाइ- तितत्त्व | ५० | २७।२८ | निजो | निःशेष | |
| " | २७ | तस्मादेवोपादानात् ...त्यर्थः | तस्मादेवोत्पन्नात्प्रज्ञा- नात्सद्व्याप्तीति विग- ण्येत्यर्थः | ७५ | १८ | वदता | विदित्वा | |
| १८ | १ | हेममयम् | हेममयम् अण्डमभवत् | ८५ | २७ | क्ष | क्षम | |
| १९ | ६ | तेन | यत्तेन | १०९ | ४ | संनिपाते | संपाते | |
| २१ | २५ | अखण्डखण्डाभ्यां | शकलाभ्यां | ११० | २० | समयाभ्युषते | समयाविदिते | |
| २६ | ५ | परामर्शः | सर्वभूतानां परामर्शः | " | " | अतएव | अयमेव | |
| २९ | ३ | पुरुषः | प्रथमः पुरुषः | ११२ | १८ | प्रशंसा | प्रसङ्गा | |
| " | ५ | भूतम् | उपादानम् | ११८ | १३ | परिज्ञानोपायः | धर्मपरिज्ञानोपायेन | |
| ३१ | १७ | आदि | अनादि | १२७ | २ | सीरभद्रादि | सुभद्रादि | |
| ३४ | ११ | व्यवेचयत् | संविचेचयेत् | १३१ | १८ | विंशत् | विंशब्दात् | |
| ३५ | २-३ | ० | दशार्थानांपञ्चानां पुरु- षाणामित्यनुषङ्गः पञ्च- भूतानामितियावत् अण्व्योमात्राः सूक्ष्मां- शास्ताभिः साकंताअ- न्योन्यसंभूयानुपूर्वशः क्रमेणबीजाद्वीजप्रवा- हाविच्छेदेनभूतजात- स्यविनश्वरत्वेकारण- मुपादानवैनश्वर्यमिति- सूचितंविनाशिन्यइति केचिदिमंश्लोकमुपरि- ष्टात्सप्तश्लोकानतीत्य पठन्तितल्लेखनप्रमादा- दित्यवगन्तव्यम् । [इ- दंनन्दनमतं अस्माभि- स्तुमूलपाठानुरोधेनस- प्तश्लोकानन्तरमेवलि- खितः] | १३८ | १८, १९ | केचिदेत | माहुः | केचिद्वैश्वंश्रमचर्याङ्गमाहुः |
| | | | | १४१ | २० | श्रियं | श्रियंश्रोनिमित्तं | |
| | | | | १४४ | १ | तत्रापि | अत्रापि | |
| | | | | १४८ | १४ | प्राङ्मुखोवा | प्रागुदङ्मुखोवा | |
| | | | | १४९ | ५ | जिह्मगताभिः | दृढताभिः | |
| | | | | १५१ | १६ | षोडशे | अथब्रह्मचारिणःकेशा- न्ताख्यंसंस्कारमाहके- शान्तइति | |
| | | | | १६० | ७ | वेदत्रय | प्रणववत् वेद | |
| | | | | १६३ | ३, ४ | सत्सुत्याज्यतां यातीति | ब्राह्म्यत्वात् साधुषुगर्हणां याति | |
| | | | | १७७ | ६ | कर्मान्तरम् | धर्मान्तरम् | |
| | | | | २०२ | २५ | वित्तादिमांश्च | विद्यादिमानवित्तादिमांश्च | |
| | | | | २२७ | २ | पुराणानि | पूर्वधृतानि | |
| | | | | २३३ | १७ | कथा | कथाविधिः | |
| | | | | २५७ | ९ | सामान्यात् | सामान्यात् प्रजापतेर्मूर्तिः पिता उत्पादत्वसामा- न्यात् । पृथिव्यामूर्ति- मूर्ता धरित्रित्वसामा- न्यात् । आत्मनःस्वा- मूर्तिर्भक्ता आत्मनः साधारणमूर्तिरेकक्षेत्र- त्वबीजत्वसामान्यात् । | |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | नं० १ | नं० २ |
|-----------|----------|----------|---|
| अध्यायः ३ | | | |
| २८३ | ६ | आर्द्रा | रुत्तिका |
| २९२ | ५ | आर्षात् | दैवात् |
| ३०२ | १७ | प्रदानं | प्रदानाङ्कं |
| ३०३ | २२ | ऊढा | ऊढादशापरानिति |
| ३५२ | १७ | स्थितिः | उपस्थितावपरिसंवत्स रादप्यागतौ स्थितिः |
| ३६१ | २४ | ज्ञानेति | ज्ञानेतियथारुधिरदिग्धं वस्तुरुधरेणशोधयितुं दुः शक्यमेवमविदुषापात्रेण तस्मात्ज्ञानोत्कृष्टायदेय मिति |
| ३७४ | १७ | देवलः | कात्यायनः |

अध्यायः ४

| | | | |
|-----|----|--------|---|
| ४५७ | ६ | ग्रहो | ग्रहोऽपि |
| ४६१ | १५ | त्वदार | व्रतान्याह इन्द्रियार्थ- ष्विति । त्वदार |

अध्यायः ५

| | | | |
|-----|---|---------------|-----------------------|
| ५९० | ९ | देवान्म | देवान्म ब्रीह्यादिकम् |
| ६६५ | २ | हेमरूप्यमिदम् | हेमरूप्यविषयोयम् |

अध्यायः ६

| | | | |
|-----|--------|-------------|--------------------|
| ७५७ | २१ | उक्तस्य | उक्तस्यार्थस्य |
| ७६२ | २४, २५ | वेदवित्त्वं | साङ्ख्यवेदवित्त्वं |
| ७६३ | १२ | कामानु | कार्यानु |

अध्यायः ७

| | | | |
|-----|---|-----------|----------|
| ७८३ | ७ | बलोत्कटम् | महीपतिम् |
|-----|---|-----------|----------|

अध्यायः ८

| | | | |
|-----|----|-------------|---------------------|
| ८८० | १८ | यत्र | यत्र सभायां |
| ९०७ | ९ | नसंवदेत् | नसत्यंवदेत् |
| ९१७ | १८ | अन्याये | अत्यये |
| ९४६ | ११ | शुभा | शुभाशुभा |
| ९४८ | २ | सहस्रत्रयम् | मध्यमसहस्रमित्यर्थः |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | नं० १ | नं० २ |
|---------|----------|-----------------------|---------------------------------------|
| ९६१ | ४ | प्रसिद्धः | व्याख्यातः |
| १०३३ | ७ | समन्ता न्तः | समन्ताद्भवादेशाः सामन्ता |
| १०३६ | २६ | पूर्वनिबन्धिन | पूर्वनिपातनिबन्धिन |
| १०४० | १८ | नीयम् | नियमः |
| १०४६ | ४ | करूप्यः | कार्यः |
| १०४९ | २५ | योक्त्रस्यछेदनेच | छेदनेयोक्त्रस्यछेदने रश्मिच्छेदनेच |
| १०५० | १३ | द्वये | त्रये |
| १०५२ | ८ | त्रये | द्वये |
| १०५४ | १० | स्तेय | स्तेनदण्ड |
| १०७३ | १२ | ज्ञतमत्वात् | ज्ञानतमत्वात् |
| १०८८ | २८ | वर्णा | समांसवर्णा |

अध्यायः ९

| | | | |
|------|----|---------------|---|
| ११३२ | १६ | क | भ |
| ११३६ | २४ | प्रधानं | बीजप्रधानं |
| " | " | परइत्यर्थः | परक्षेत्रेनवमव्यक्षेत्र- स्यात्त्वामित्वादित्यर्थः |
| ११७२ | २५ | गोभूहिरण्यादि | गोश्वमहिष्यादि |
| " | २६ | सर्वेषु | सर्वेषु धनेषु |
| " | " | आत्मनोऽंश | अत्मनोऽधिकांश |
| ११७५ | २८ | स्त्री | समी |
| ११८० | २० | विज्ञः | विधिज्ञः |
| ११९३ | १० | दत्ते | रुते |
| १२१० | १८ | दिष्टेषु | उपदिष्टेषु |
| १२२१ | २५ | सम | लब्धस्यसम |
| १२२३ | ६ | दत्तो | निमित्तो |
| १२२४ | १३ | विषयत्वेन | धनविषयत्वेन |
| १२४५ | २८ | वेषैः | चेष्टैः |
| १२७४ | २१ | दीनां | क्षेनामपि |

अध्यायः १०

| | | | |
|------|--------|--------------------------|---|
| १२८२ | ३१ | सापिण्ड्य र्थः | सापिण्ड्यादिसंबन्धर- हितास्वितियावत् |
| १२८३ | १ | पितृ | विप्र |
| १२९० | ९ | अन तया | आनन्तयामनन्तरजातायां |
| १२९३ | २८, २९ | सुबहून् | सुबहून् बाह्यान् |
| १२९४ | १५ | जा | जा |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | नं० १ | नं० २ |
|---------|----------|--------------------|---|
| १३०८ | ९ | न्य | थ |
| १३०८ | २३ | प्रखरभावता | तीव्रदण्डता |
| १३०९ | २० | राष्ट्रे | स्वराष्ट्रे |
| १३११ | २० | संतानानान् | संतानजानाम् |
| १३१७ | ५ | आप | अधुनातेषां आप |
| १३१८ | ३० | शास्त्रास्त्रभरणेन | अस्त्रमन्त्ररूपं शास्त्रास्त्र दर्शनेन |
| १३२० | ८ | धर्यक्षय | स्वधर्मक्षयि |
| १३२१ | १९ | त्यजतो | त्यजतो वाणिज्यं कुर्वतो |
| १३३० | २६ | स्पृष्टवान् | दृष्टवान् |
| १३३१ | १४ | श्वमांसं | श्वपच्छमांसं |
| १३४० | १९ | श्रौते | तेन श्रौते |

अध्यायः ११

| | | | |
|------|--------|--------------------|------------------------------------|
| १३४७ | २२, २३ | धर्मोभूयानित्यर्थः | धर्मलोपस्याद्धर्मोभव- तीत्यर्थः |
| १३६८ | २५ | प्रधानफलं | प्रधानं फलं किंतु |
| १३७७ | १९ | वैषम्यस्य | वैषम्यस्य |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | नं० १ | नं० २ |
|---------|----------|-------------|-----------------------|
| १३८८ | २० | आहवनीयाः | आहवनीयानि |
| १३९३ | २ | गम्यते | गम्यते निन्द्यते |
| १४०० | ३० | मां | मा |
| १४०० | ३० | मांसं | प्रथममांसं |
| १४०८ | २ | यावान्म | यवागूम |
| १४२३ | १२ | आ . . चारी | असमावर्तको ब्रह्मचारी |
| १४२९ | ४ | स्वदुहितृषु | स्वसृषु |
| १४४० | ३० | अवृत्तानां | अथवात्यानां |
| १४५१ | १ | वत् | व्रतवत् |

अध्यायः १२

| | | | |
|------|----|--------------------------------------|--|
| १४९१ | २५ | कृतस्यापि | मुकृतस्यापि |
| १४९७ | १२ | त्रिषु | नृषु |
| १५०५ | १६ | संकुचितम् | सूचितम् |
| १५४३ | २० | तिलकेन श्रीलक्ष्म- णविचक्षणानुजेन | लक्ष्मणात्मजेन श्रीवी- रमहाम्रियसखेन श्री- नन्दनेन |

मेधातिथिटीकाशुद्धिपत्रम्

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|------------------|----------|------------------|------------------------|
| अध्यायः १ | | | |
| १ | १५ | तत् | यत् |
| " | १६ | निश्चयोनास्ति | निश्चयोस्ति |
| ५ | २२ | धर्मादिना | धर्मादिहीना |
| ७ | २२ | द्विविधा | द्विविधो |
| १० | ९ | प्रकाशकेषु | प्रकाशेषु |
| " | १२ | भू | भु |
| " | १४ | तस्यामस्थायां | तस्यामवस्थायां |
| १३ | ८ | निर्वर्तयितं | निर्वर्तयितुं |
| १४ | १९ | त्यप्यादि | सत्यप्यादि |
| १५ | २५ | मिच्छन्नपाः | मिच्छन्नपः |
| " | २७ | व्यापारेण | व्यापारेण |
| १७ | ४ | शकलाभ्यां | सशकलाभ्यां |
| १८ | २७ | तायवस्थायनं | तायदस्यायनं |
| २० | ५ | निर्वर्तयेत् | निर्वर्तयेत् |
| २१ | १४ | पृथिवी | पृथिवीम् |
| २४ | १५ | चकारान्मात्रा | चकार मात्रा |
| २७ | १३ | द्ययं | द्ययं |
| २७ | " | किं | किं |
| २८ | १२ | वस्थाने | चस्थाने |
| २९ | १४ | कर्त्तव्यउदकं । | कर्त्तव्यः । उदकं |
| ३० | २१ | स्वभिरताः | स्वनिरताः |
| ३० | २२ | तंकर्मात्मानं | कर्मार्त्मानां च |
| ३० | २३ | देशां | देशो |
| ३० | २६ | वेनोस्तुनीति | वेनःस्तुनीति |
| ३० | २८ | निर्वर्तन | निर्वर्तन |
| ३० | ३० | कर्मऽश्रूयते | कर्मश्रूयते |
| ३१ | १ | दर्शना । अतश्च | दर्शनादतश्च |
| ३२ | १९ | संवत्सराद्या । न | संवत्सराद्यानक्षत्राणि |
| ३३ | २७ | त्यवेचयत् | व्यवेचयत् |
| ३९ | १४ | तरीकरिष्यति | तत्करिष्यति |
| ३९ | १६ | णाम | णात्म |
| ४० | ११ | सअ | सोऽ |
| ४२ | ७ | खापु | खाःपु |
| ४२ | २२ | पर्वतादिः | पर्वतादि |
| ४४ | २७ | जायते | जायन्ते |
| ४८ | १७ | शताद्रि | शताद्रि |
| ४९ | २१ | नुथवा | ० |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|----------------|------------------|
| ४९ | २२ | दान्निवर्तते | भेदान्निवर्तन्ते |
| ५१ | ३ | कर्म | कर्म |
| ५३ | १४ | व्यतअ | व्यतेअ |
| ५५ | ८ | स्वाः | स्वा |
| ५५ | ९ | प्रजा | प्रजाः |
| ५६ | १५ | कलात् | कलए |
| ५८ | १६ | उदति | उदेति |
| ५८ | २९ | सनुध्य | संबध्य |
| ६० | २२ | देच्छ्लोकाकस्य | देतच्छ्लोकोदकस्य |
| ६७ | २२ | वृद्धानु | वृद्धानु |
| " | " | सनाः | सना |
| ६८ | १८ | र्मणामःआ | र्मणामा |
| ७४ | १८ | ह्यणा | ह्यणाः |
| ८२ | २३ | प्राघु | प्राभ्यु |
| ८२ | २४ | नकल्पो | कल्पो |
| ८२ | २६ | थोर्थः | थार्थः |
| ८२ | २६ | पलांडादि | पलाण्डादि |
| ८३ | ३ | येभदा | यभेदा |
| ८६ | १ | दश | देश |

अध्यायः २

| | | | |
|----|----|-----------------|--------------------------|
| ८७ | ४ | बोता | बोधत |
| ८७ | १३ | कयतं | क्रियन्तं |
| ८७ | १७ | आत्मनियेभोगोपयो | आत्मनिभोगोपयोगे- |
| | | गात्परेण | वास्तुउपायान्तरेणस्व- |
| | | | रूपविज्ञानकुशलास्ते- |
| | | | चवेदार्थविदोविद्वांसो- |
| | | | नान्ये । यतोवेदादन्य- |
| | | | त्रधर्मप्रतियोगृहीतप्रा- |
| | | | मण्यास्तेविपरीतप्रमा- |
| | | | णप्रमेया |
| ९१ | ४ | कल्पाभि | कल्पोभि |
| ९१ | ८ | तरेभो | तरेभ्यो |
| ९२ | १८ | त्यर्थः | त्यर्थः |
| ९३ | ३० | मुलांतरं | मूलान्तरं |
| ९५ | ९ | कर्मदिकर्माणां | कर्मादिकर्मणां |
| ९५ | ११ | वेदर | वेदैर |
| ९५ | १२ | मन्त्रेवां. | मन्त्रैवां. |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|--------------------------|------------------------------|
| ९५ | १८ | कर्तव्य | कर्तव्यं |
| ९६ | २३ | विधिर्मां | विधिर्मां |
| ९७ | ७ | वैद्व | वैद्वै |
| ९९ | ८ | तांता | तांतां |
| १०० | ४ | तेनपरस्पर | तेनपरस्पर |
| १०० | २४ | त्वास्थ्यादौ | त्वास्थ्यदौ |
| १०३ | ३० | उत्तमना | उत्तमना |
| १०४ | १४ | स्मृतयः | स्मृतिः |
| १०४ | १५ | निबन्धानिभावप्रयो- जक | निबन्धानिबन्धावप्र- योजकौ |
| १०७ | ९ | लक्षणनि | लक्षणनि |
| ११० | २ | तीय | तीयं |
| ११० | ७ | दितयो । | दितयोः |
| १११ | ९ | वर्णस्या | वर्ण्यस्या |
| ११४ | १६ | त्यतोय | त्यतोयं |
| ११६ | १५ | कथं | कथनं |
| ११६ | २५ | श्रूयते | श्रूयते |
| ११६ | २७ | देशान | देशान् |
| ११७ | १ | सुभिक्षसुभिक्षे | सुभिक्षदुर्भिक्षे |
| १२० | २७ | चारी | चारि |
| १२२ | २२ | अपेक्ष्यते | अपेक्ष्यन्ते |
| १२२ | २२ | द्रष्टव्य | द्रव्य |
| १२२ | २३ | प्रातर्ददामि | प्रतेददामि |
| १२३ | ३१ | द्ययवा | दथवाऽ |
| १२४ | २१ | संतीतो | सन्तीति |
| १२४ | २१ | तिथयअ | तिथयोऽपु |
| १२५ | १३ | मांगल्य | मङ्गल्य |
| १२५ | १८ | द्यक्षर | द्यक्षरं |
| १२७ | ६ | स्त्रिभि | स्त्रीभि |
| १२७ | २९ | व्यभयं | व्यमयं |
| १२८ | १७ | विध्यायका | विधायका |
| १२९ | ५ | शब्दै | शब्देन |
| १२९ | ६ | तस्मिनो | तस्मिन्नौ |
| १२९ | ७ | कोण | कोण् |
| १३० | ३ | न्वयापरो | न्वयेपरं |
| १३० | ५ | परांच | परांचः |
| १३० | ८ | चेत | चैत |
| १३० | २५ | धिकार | धिकारे |
| १३० | २९ | जाति | जाती |
| १३१ | २ | ब्रह्मण | ब्राह्मण |
| १३७ | १३ | मूर्ध्व | मूर्ध |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|------------------------------------|----------------------------------|
| १३७ | २८ | सत्वचअ | सत्वचो |
| १४२ | १ | चारी | चारि |
| १४२ | ६, ७ | माचन | माचमन |
| १४३ | २ | ध्यानंयजन्ममतदर्थ- त्वंसंपूजयति | ध्यायन्यजन्मदर्थत्वं- संपूजसि |
| १४३ | २२ | विधो | विधौ |
| १४४ | ८ | पकल्प | प्रकल्प्यं |
| १४४ | ३० | नत्यशन | मन्यशन |
| १४५ | १ | नाशअ | नाशोना |
| १४६ | ११ | अंगलीनां | अङ्गुलीनां |
| १४६ | १३ | रघअं | रघोन्त |
| १४६ | १४ | तरल | तराल |
| १४७ | २३ | पठ्यतअशृ | पठ्यतेऽशृ |
| १४७ | २७ | भक्षमाणा | भक्ष्यमाणा |
| १४८ | २१ | अंततअंते | अन्ततोन्ते |
| १४८ | २६ | क्रमअवध्य | क्रमोवध्य |
| १४९ | १६ | एकाथार्त् | एकाथ्यात् |
| १५० | १६ | तअस्मा | तेऽस्मा |
| १५२ | १८ | शअत | शोत |
| १५३ | १५ | तदीदानीं | तदीदानीं |
| १५३ | २७ | अदित | आदित |
| १५४ | २१ | इततस्त | इतस्त |
| १५५ | ११ | वयवम | वयम |
| १५५ | १५ | प्रयते | प्रतीयते |
| १५६ | २ | व्यस्त | व्यत्यस्त |
| १५६ | २ | पायोव्य | पाण्योर्व्य |
| १५६ | ३ | पीडयासितव्यं | पीडयितव्यं |
| १५६ | २७ | अतंद्रितअ | अतन्द्रितोऽन |
| १५६ | २९ | यअतंद्रितः | योतन्द्रितः |
| १५६ | २९ | यंविधाः | यंविधः |
| १५८ | ४ | रेवमा | रेवमा |
| १६० | १२ | विधिअ | विधिःअ |
| १६० | १६ | गृहास्थ | गृहस्था |
| १६० | २२ | विधातव्या | विधातव्याः |
| १६० | २३ | व्यादतिनां | व्यादतीनां |
| १६० | २४ | व्यादती | व्यादति |
| १६० | २५ | व्यादती | व्यादति |
| १६० | २७ | जेप | जपे |
| १६० | ३० | द्वेवेदा | द्वेदा |
| १६१ | ४ | द्वती | द्वति |
| १६२ | ३ | विकल्पअ | विकल्पोऽथ |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|-------------|--------------|
| १६२ | ५ | मोक्षअनि | मोक्षोऽनि |
| १६३ | १० | देशअत | देशोऽत |
| १६८ | १७ | प्रतिसिद्ध | प्रतिषिद्धे |
| १७१ | २७ | श्वरेव | श्वरइव |
| १७२ | १२ | विषया | विषयाः |
| १७५ | २१ | ष्ठेत्पन् | ष्ठेज्जपन् |
| १७५ | २९ | र्मकअतो | कर्मकोतो |
| १७८ | १६ | देशअरण्यं | देशोऽरण्यं |
| १७८ | २० | साध्याया | स्वाध्याया |
| १८० | २ | ज्यांतऽ | ज्यान्तेऽ |
| १८१ | १ | प्रयप | पयःप्र |
| १८२ | १४ | शुद्धःअ | शुद्धोऽर्थ |
| १८८ | १५ | ततत्र | तत्र |
| १८९ | ४ | स्ययति | स्यायति |
| १९५ | २ | कालअ | कालेऽन्य |
| १९५ | २६ | याज्ञाति | याज्ञाति |
| १९७ | २९ | ददाति | ददाति |
| १९७ | ३० | भेदम | भेदंम |
| १९८ | १७ | ज्याब्द | ज्यब्द |
| १९८ | २७ | न्यूनः | न्यूनः |
| १९९ | २ | स्थनिर | स्थविर |
| १९९ | ४ | स्त्वैवैल्ल | स्त्वैवैतल्ल |
| २०० | १३ | यअभिवा | येऽभिवा |
| २०१ | ४ | नाम्नातं | नाम्नात |
| २०१ | ७ | मियसुन् | मीयसुन् |
| २०२ | ६ | तदाही । न | तदाहीन |
| २०२ | १२ | नस्यास्त | नस्यात्त |
| २०४ | १८ | मन्येतास्त | मन्येतात्त |
| २०५ | ९ | वृत्त्यर्थ | वृत्त्यर्थ |
| २०५ | ९ | वेदध्या | वेदमध्या |
| २०७ | ३ | णत्तिति | णत्ति |
| २०७ | १९ | क्षितअ | क्षितोत |
| २०९ | ४ | भाववो | भावोवि |
| २११ | १६ | त्याजुः | त्याजुहाव |
| २१२ | १ | वंतअने | वन्तोऽने |
| २१२ | १८ | मन्त्रद | मन्त्रदं |
| २१२ | १२ | देवानाप्यष | देवानामप्येष |
| २१२ | २४ | नूचान | नूचानः |
| २१२ | २६ | धर्म | धर्म |
| २१३ | २६ | यास्तं | यानस्तं |
| २१५ | २५ | मनामो | मवाभो |
| २१५ | २६ | मनसी | मनसे |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|---------------|-------------------|
| २१५ | २९ | गतअ | गतेऽभ्यु |
| २१६ | १८ | नरुंतु | नारुन्तु |
| २१८ | १३ | बोधोधि | बोधोऽधि |
| २१९ | १२ | अन्यैश्चकेवदा | अन्यथैकवेदा |
| २२० | ४ | पादानो | पादानात् |
| २२० | २३ | पयंतता | पर्यन्तता |
| २२० | २४ | दशस्य | दशस्व |
| २२० | ३१ | षडङ्गोः | षडङ्गो |
| २२१ | ४ | दीन्यगांगा | दीन्यङ्गा |
| २२२ | ४ | व्यामोमी | व्यामोती |
| २२३ | १३ | दीक्षायं | दीक्षायां |
| २२३ | १४ | तद्यपदेनि | तवपदेशनि |
| २२३ | १७ | योगीना | योगीना |
| २२४ | ३ | तत्रस्य | तस्य |
| २२५ | ७ | रक्षतेत | रक्षेत्त |
| २२७ | १९ | तानीदा | तानिदा |
| २३० | १ | धर्मावेते | धर्मावेतौ |
| २३१ | १२ | देवदेव | देव |
| २३२ | ९ | यअ | येअ |
| २३२ | १० | रअही | रोऽही |
| २३२ | २२ | गेहेभ्यअ | गेहेभ्योऽला |
| २३३ | २४ | प्रकारा | प्राकारा |
| २३५ | ५ | तपितु | तापितु |
| २३५ | २३ | वार्थोच्य | वाथउच्य |
| २३५ | २९ | र्थतं | र्थतां |
| २३६ | ११ | ह्यत्रा | ह्यत्र |
| २३६ | १५ | त्रैतच्चोदनीय | त्रैतच्चोदनीयं |
| २३६ | १९ | अपत्यत्ति | अपत्योत्पत्ति |
| २३६ | २५ | नैवैतादृशस्य | नैवैतादृशस्य |
| २३६ | २८ | मापद्यंतअ | मापद्यन्तेतो |
| २३७ | १ | श्यदेवते | श्यदेवते |
| २३७ | १ | व्याहार | व्यवहार |
| २३७ | ९ | छागमेषाया | छागमेषाजा |
| २३७ | १७ | वःस्ता | वस्ता |
| २३७ | १८ | स्तुत्यार्था | स्तुत्यार्था |
| २३७ | १९ | निर्देशा | निर्देशो |
| २३७ | २७ | येय | येद्य |
| २३९ | २२ | चिच्चित् | चित् |
| २४० | २ | तुर्वा | तुवा |
| २४१ | २० | पश्चाद्वावन् | पश्चाद्वावसतस्तथा |
| २४३ | १४ | न्यनः | न्यतः |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|--------------|-------------|
| २४३ | २५ | चयनं | चयन |
| २४६ | ७ | थितस्य | स्थितस्य |
| २४७ | ११ | लक्षते | लक्ष्यते |
| २४७ | ११ | तरमं | तरं |
| २४७ | २८ | णावतस्था | णावस्था |
| २४७ | ३० | जन्मवे | जन्मावे |
| २४८ | ४ | मेएव | मेव |
| २४९ | १ | निभिवा | त्थानाभि |
| २५१ | ७ | स्पर्शादिति | स्पर्शादि |
| २५१ | २० | विभेधेर | विधे |
| २५५ | ११ | जनकअव | जनकोऽव |
| २५५ | १२ | मःस्त्व | मस्त्व |
| २५५ | १८ | चारअवे | चारोऽवे |
| २५७ | २९ | वर्षात्तन्मा | वर्षात्त्मा |
| २५७ | २९ | योगः | योगः |
| २५९ | ३ | नोपरिका | नोपका |
| २६२ | ६ | अश्वाचै | अथचै |
| २६३ | ५ | श्रुतिरस्मृ | श्रुतिस्मृ |
| २६५ | २७ | अवा | वा |
| २६८ | ३० | चराणा | चरणा |

अध्यायः ३

| | | | |
|-----|----|----------------|--------------|
| २७१ | २३ | यनामर्था | यनमर्था |
| २७६ | १६ | नयस्य | नयनस्य |
| २७८ | २४ | स्यात्पु | स्यात्केपु |
| २७८ | २७ | द्रोत्र | गोत्रं |
| २८२ | ८ | णिर्म | णिनिर्म |
| २८३ | १६ | तर्ह्या | तर्ह्य |
| २८५ | १८ | ष्टिति | ष्टीति |
| २९७ | २८ | शब्दाए | शब्द |
| ३०१ | ५ | दोषाप्ता | दोषाःप्ता |
| ३०३ | ७ | निदेशात् | निर्देशात् |
| ३०४ | १८ | ख्यातिब्र | ख्यातिर्ब्र |
| ३११ | १६ | योगेनम | योगेनसम |
| ३१३ | ११ | रेषःशु | रेषशु |
| ३२१ | ३ | पदार्थस्याध्या | पदार्थसाध्या |
| ३२२ | २१ | श्रूयते | श्रूयन्ते |
| ३२३ | २१ | क्लिप् | क्लिप् |
| " | २१ | णिच् | णिच् |
| ३२६ | ११ | शेषोय | शेषोयं |
| ३२७ | १३ | ग्रहयोना | ग्रहयोरना |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|-----------------------|-------------------------------|
| ३३० | ५ | विश्वान्नेवा | विश्वान्देवा |
| ३३० | ६ | नत्वदन्या | नत्वन्या |
| " | २३ | देवेशब्दापि | देवशब्दोपि |
| ३४१ | १८ | भार्यामाग्री | भार्यायाअग्री |
| ३४२ | ११ | स्थेषदोषोत्पन्न | स्थेषदोषोत्पन्न |
| ३४५ | २१ | क्रियत्यु | क्रियद्वत्यु |
| ३४९ | १० | पत्युभार्या | पत्युभार्या |
| ३५० | ५ | पाकअति | पाकेऽतिथ्या |
| ३५० | २९ | अन्यथावि | अन्यथावि |
| ३५१ | ३१ | दिनोद | दितिनोद |
| ३५२ | ३ | मुधु | मधु |
| ३५२ | ४ | पूजजं | पूजयं |
| ३५३ | २४ | विशेषणो | विशेषणो |
| ३५६ | ९ | तरुयव | तन्यव |
| ३६४ | १२ | विधियते | विधीयते |
| ३६५ | १३ | मित्रयोऽ | भिन्नयोः |
| ३६६ | १८ | संग्रः | संग्रहः |
| ३६८ | १८ | स्तनिवृ | स्तनिवृ |
| " | २० | गृहेते | गृह्येते |
| " | २० | नैवा | नैव |
| ३६९ | १६ | निवृत्त्य | निवृत्त्य |
| " | १७ | थितअर्घ्या | प्रार्थितोर्घ्या |
| ३७० | २ | भिहितअमा | भिहितोऽमा |
| ३७२ | ५ | मन्येतदं | मन्येततदं |
| ३७३ | १ | धमार्थो | धर्मार्थो |
| ३७४ | ३ | वर्जेन | वर्जने |
| ३७५ | १३ | यदीय | यदिय |
| ३७५ | १६ | ध्यायंतरा | ध्यायान्तरा |
| ३७७ | १७ | प्रतिरोद्धा | प्रतिरोद्धा |
| ३७७ | २० | व्याधिगृही | व्याधिगृही |
| ३७९ | २६ | मूल्यनं | मूल्येन |
| ३८४ | १ | पृष्ठव्या | प्रष्ठव्या |
| ३९१ | ७ | मधीयानानये | मधीयानानये |
| ३९४ | ११ | द्विजा | द्विजाः |
| ३९७ | १० | निर्देशो | निर्देशे |
| ३९८ | २४ | सुपर्णाप | सुपर्णाःप |
| ४०१ | ५ | इत्येषःसृ | इत्येषसृ |
| ४०१ | १९ | सौहि | सौहि |
| ४०१ | २३ | अपरोक्षा | अपरःक्षा |
| ४०५ | १३ | पितृदेभ्यो | पितृभ्यो |
| ४०७ | २६ | अग्निरिदतिमन्त्रार्शत | अग्निरिदमि- तिमन्त्रार्शतः |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|------------|---------------|
| ४०८ | ४ | रूपतद्ध | रूपस्तद्धस्ते |
| ४०८ | २५ | विधीयते | वीधीयते |
| ४०९ | १३ | नोचते | नोच्यते |
| ४११ | ११ | पुनर्निन | पुनर्निन |
| ४१२ | २० | भोज्येत् | भोज्येत |
| ४१३ | ९ | पितृभ्यो | पितृभ्यां |
| ४२२ | ११ | व्याख्यान | व्याख्यात |
| " | १२ | व्यवक्षि | विवक्षि |
| ४२८ | ३१ | करणमा | करणमा |
| ४३० | १६ | कुर्यात् | कुर्यात् |
| ४३० | २६ | सुश्रु | सुश्रु |
| " | २८ | सुश्रि | सुश्रु |
| ४३२ | २९ | तद्विका | तद्विका |
| ४४२ | १७ | नवम्यास्ति | नवम्यस्ति |

अध्यायः ४

| | | | |
|-----|----|-------------------|-------------------|
| ४५५ | २३ | याचितया | याचिताया |
| ४६० | १७ | चितच | चितंच |
| ४६२ | ९ | उद्धत्य | औद्धत्य |
| ४६४ | १७ | प्रयीयते | प्रतीयते |
| ४६७ | ११ | श्रमणे | श्रवणे |
| ४६८ | ८ | अनायनांते | अयनान्ते |
| ४६९ | ४ | ध्वन्तव्याः | ध्वगंतव्याः |
| ४८४ | २४ | न्तीमपः | न्तीमपः |
| ४९२ | ८ | ष्वेतप्रसिद्धं | ष्वेतत्प्रसिद्धं |
| ४९४ | १६ | उच्छिष्टशब्दो | उच्छिष्टशब्दो |
| ४९६ | २५ | संश्लिष्टाभ्या | संश्लिष्टाभ्या |
| ५०० | १० | निषेध | निषेध |
| ५०९ | २५ | बहु | बहु |
| ५१० | ११ | उत्तरादौ | उत्तरादौ |
| ५१४ | २५ | पूर्वमुक्तम् | पूर्वमुक्तम् |
| ५२९ | ५ | रावृत्ति | रावृत्तिम् |
| ५२९ | ५ | लक्षतोऽसाधना | लक्षतोऽसाधना |
| ५३६ | २५ | लोकेद्यते | लोकेऽद्यते |
| ५४१ | ५ | मन्यामाऽनर्थ | मन्यमानोऽर्थ |
| ५४३ | २ | आश्रयागता | आश्रयागता |
| ५४६ | २० | श्व | श्व |
| ५८ | ४ | काम्य | काम्यं |
| ५ | १६ | होउक्तः | होमउक्तः |
| ५ | ४ | लक्षणान्संबन्धाना | लक्षणान्संबन्धाना |
| ६ | १८ | याच्या | याज्या |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|-------------------|-------------------|
| ५८० | २१ | च्छिल्ये | च्छिल्ये |
| ५८३ | २७ | प्रायश्चित्तैर्नि | प्रायश्चित्तैर्नि |

अध्यायः ५

| | | | |
|-----|----|--------------------|---------------------|
| ५८९ | २ | समाहारेद्वन्द्वः | समाहारोद्वन्द्वः |
| ५८९ | ७ | ममस्ति | समोऽस्ति |
| ५९२ | १८ | क्रव्याद | क्रव्यादा |
| ५९३ | २५ | रज्जुदालादयः | रज्ज्वालादयः |
| ६०२ | २४ | प्रतषेधे | प्रतिषेधे |
| ६०४ | २ | भक्षणाच्छास्त्रा | भक्षणाच्छास्त्रा |
| ६०४ | ३१ | च्छति | च्छति |
| ६०५ | ३ | तस्यैवाल्याद्य | तस्यैवाल्याद्य |
| ६०८ | ४ | मांसस्याएव | मांसस्यातएव |
| ६१७ | २३ | भवान्पाणिनिः | भगवान्पाणिनिः |
| ६२० | १८ | शिष्टाप्रतिषिद्धा | शिष्टाःप्रतिषिद्धा |
| ६२२ | २ | द्वालतर | द्वालेतर |
| ६२४ | २७ | यांमागन्तव्य | यामामन्तव्य |
| ६२५ | २ | ण्डयं | ण्डयं |
| ६२५ | १८ | पञ्चमै | पञ्चमै |
| ६२८ | ७ | विदधति | विदधाति |
| ६२८ | १० | लक्षणायासा | लक्षणायाःसा |
| ६४३ | २७ | पञ्चयविधानं | पञ्चयज्ञविधानं |
| ६४३ | २८ | नक्षत्रश्रय | नक्षत्राश्रय |
| ६४४ | ३१ | विधानातच्छब्देन | विधानातच्छब्देन |
| ६४५ | १ | संबन्धो | संबन्धो |
| ६४७ | १० | अनियुक्तासुतादयश्च | अनियुक्ताःसुतादयश्च |
| ६५५ | १३ | स्नानत्वा | स्नानत्वा |
| ६५५ | ३० | वस्तुपसंहारो | वस्तुपसंहारो |
| ६६१ | ३ | अथैताशुद्धयः | अथैताःशुद्धयः |
| ६६३ | ८ | नृहणं | नृग्रहणं |
| ६६६ | २३ | इर्भैः | इर्भैः |
| ६७६ | ५ | कृष्णतरः | कृष्णतरः |
| ६८१ | २३ | इत्यनुच्छिष्टं | इत्यनुच्छिष्टं |
| ६८२ | १९ | परानाचमयतः | परानाचामयतः |
| ६८५ | २२ | च्य | च्यं |
| ६८६ | २१ | येदिति | येति |
| ६९४ | २८ | धर्म | धर्म |

अध्यायः ६

| | | | |
|-----|----|----------------|----------------|
| ७०१ | २१ | तच्छौते | तच्छौते |
| ७०१ | २२ | तस्माच्छास्त्र | तस्माच्छास्त्र |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|----------------|----------------|
| ७०५ | ४ | षण्मासनि | षण्मासानि |
| ७१० | १४ | कुर्यात् | नकुर्यात् |
| ७२४ | ३० | दिव्यान्तरिक्ष | दिव्यान्तरिक्ष |
| ७२७ | १७ | सन्ना | सन्न |
| ७२९ | २४ | दमपरं | इदमपरं |
| ७३० | १९ | मनुद्दे | मनुद्दे |
| ७३७ | १६ | आनन्तरस्व | अनन्तरस्य |
| ७४१ | ३१ | उमजायते | उपजायते |

अध्यायः ७

| | | | |
|-----|--------|----------------|----------------|
| ७५९ | २७ | छेदन | छेदन |
| ७६४ | २९ | प्रावर्तिष्यत् | प्रावर्तिष्यत् |
| ७६५ | २० | अतस्तुति | अतःस्तुति |
| ७६८ | १८ | पपद | पद |
| ७७१ | ३ | धर्मच्युता | धर्मच्युता |
| ७७३ | ३० | वजनं | वर्जनं |
| ७७४ | १६ | सदिह्य | सदिह्य |
| " | २१ | सक्षोभो | संक्षोभो |
| ७७९ | १५ | भुयिष्ठा | भुयिष्ठा |
| ७८० | १४ | हरेत् | हरेताम् |
| " | १५, १६ | श्राभ्यास | श्राभ्यासः |
| ७८२ | १३ | युक्तोऽथ | युक्तोऽथ |
| " | १९ | दण्डइत्येव | दण्डइत्येव |
| " | २० | प्रवृत्ता | प्रवृत्ता |
| ७८३ | २४ | आधिक | आधिक |
| " | २५ | धार्मिक | धार्मिक |
| ७८५ | १ | अतन्दिता | अतन्दिता |
| " | १२ | द्युत्पत्ति | द्युत्पत्ति |
| " | १३ | भिरव | भीरव |
| ७८६ | २६ | स्मृति | स्मृतिः |
| ७८९ | २९ | धनुर्दुर्गम् | धन्वदुर्गम् |
| ७९१ | २ | धनुर्दुर्गा | धन्वदुर्गा |
| ७९२ | १५ | रूप | रूप्य |
| ७९९ | ३ | वय | वयः |
| " | २३ | युध्यमानाः | युध्यमानाः |
| ८०० | ४ | होत्रोद्गात्रा | होत्रोद्गात्रा |
| ८०४ | ६ | शमनं | शमन |
| ८०८ | ६, ७ | रक्षःपरः | रक्षापर |
| " | ८ | एव | एवं |
| ८१५ | १४ | निर्द्धवी | निर्धनी |
| ८१७ | १३ | क्रियते | क्रीयते |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-----------|----------|------------------|-----------------|
| ८२० | २५ | ब्राह्मणात्श्रो | ब्राह्मणाच्छ्रो |
| ८२२ | ३० | अथावा | अथवा |
| ८२८ | १७ | मन्त्रिणःस्सं | मन्त्रिणस्सं |
| ८४३ | २० | सम्यग्र | समक्प्र |
| ८४७ | १८ | व्युहो | व्यूहो |
| ८५० | ४ | स्तांश्चितांश्चै | स्तांश्चै |
| " | २२ | युध्येत | युध्येत |
| ८५१ | ६ | अध्यवस्ता | अध्यस्ता |
| " | १९, २० | तदुपशः | तदुपदेशः |
| ८५४ | ९ | निकार्य | निष्कार्य |
| " | १० | धनञ्जयः | धनञ्जय |
| ८५७ | २९ | प्रयच्छन्ति | प्रयच्छति |
| ८६१ | २३, २४ | सन्त्य | सन्त्य |
| ८६२ | ७ | जातानित्यर्थ | जातानीत्यर्थ |
| " | २१ | पथा | यथा |
| " | २२ | उपायो | उपाय |
| ८६३ | ७ | पुनराज्यार्थ | पुनाराज्यार्थ |
| ८६४ | ६ | नित्यो | नित्यं |
| ८६५ | २८ | निमेनापतितं | नियमेनापतितं |
| अध्यायः ८ | | | |
| ८६९ | ११ | प्रसङ्ग | प्रसङ्ग |
| ८७१ | १० | ततःश्रेणिषु | ततःश्रेणिषु |
| ८७१ | २३ | छे | छे |
| ८७३ | ८ | दातु | दातुः |
| ८७३ | २१ | न्यायकायकान्तरं | न्यायकान्तरं |
| ८७४ | १९ | विद्धानि | विरुद्धानि |
| ८७९ | १७ | शास्त्रान्याय | शास्त्रन्याय |
| ८८० | २४ | कर्तु | कर्तुं |
| ८८१ | २५ | नश्येन्त्यन्ते | नश्यन्त्यन्ते |
| ८८१ | २६ | तत्सर्व | तत्सर्व |
| ८८३ | १० | दृष्ट | दृष्ट |
| ८८३ | ११ | प्राप्तस्य | प्राप्तस्य |
| ८९० | ६ | भ्रष्ट | भ्रष्ट |
| ८९५ | ६ | प्रभूरसौ | प्रभुरसौ |
| ९०४ | १८ | वोपलापोपलापो | वोपलापो |
| ९०८ | २१ | णा | णा |
| ९११ | २२ | बुद्ध्या | बुद्ध्या |
| ९१६ | १ | तत्साधने | तत्साधने |
| ९१७ | ४ | नता | नतो |
| ९१७ | ६ | साक्षाद्दृष्टा | साक्षाद्दृष्टा |
| ९३१ | २५ | कार्योपदेशे | कार्योपदेशे |
| ९३२ | १५ | भौवनेति | भौवनेति |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|-------------------|-------------------|
| ९३२ | २६ | शूदेमभिस्तु | शूद्रमेभिस्तु |
| ९३४ | ७ | द्वयोऽसन्निपातात् | द्वयोऽसन्निपातात् |
| ९३६ | ६ | नपु | ननु |
| ९४० | २ | प्रत्युत्थानहेतू | प्रत्युत्थानहेतू |
| ९४४ | २४ | ऋषिरभवत् | ऋषिरभवत् |
| ९४९ | ५ | निष्कासनं | निष्काशनं |
| ९५९ | २७ | समितः | संमितः |
| ९६३ | ४ | बार्हति | वार्हति |
| ९६३ | ५ | दृश्यते | दृश्येत |
| ९६३ | १६ | द्व | ब्द |
| ९६७ | २० | मामो-ति | मामोति |
| ९६८ | २८ | कुशीदं | कुसीदं |
| ९६८ | २९ | कुशीदी | कुसीदी |
| ९७० | २० | कृणां | कृणां |
| ९७२ | १७ | हिरण्यमदत्वा- | हिरण्यमदत्वा |
| | | हिरण्यअदत्वा | |
| ९७३ | २६ | शत | शतं |
| ९७५ | १५ | कश्चिदत्तः | कश्चिदत्तः |
| ९७६ | २४ | श्लोकोन | श्लोकेन |
| ९७६ | २७ | प्रतिभूतज्जात | प्रतिभूतज्जात |
| ९७८ | २४ | परिपथि | परिपन्थि |
| ९७९ | १२ | ननु | ननु |
| ९८१ | १० | शङ्कया | शङ्कया |
| ९८१ | २१ | द्धानुपादाने | द्धानुपादाने |
| ९८५ | १९ | क्षाय्यते | ख्याय्यते |
| ९८६ | ७ | बलवद्विद्भि | बलवद्वि |
| ९९५ | ४ | मूषकादिनाशे | मूषकादिनानाशे |
| ९९६ | २७ | छिष्टि | च्छिष्टी |
| ९९८ | ३ | निक्षिप्त | निक्षिप्तं |
| ९९८ | २० | इत्यादितेना | इत्यादिस्तेना |
| १००२ | २ | अस्मिन्व्यवहारिण | अस्मिन्व्यवहारिण |
| १००६ | १५ | लभेरन् | लभेरन् |
| १००७ | १५ | तर्धिनो | तर्दार्धिनो |
| १०१२ | २८ | क्रमे | क्रमे |
| १०१६ | १३ | कन्यासु | नाकन्यासु |
| १०१७ | २१ | ईशाह | ईशाह |
| १०२२ | २२ | ग्रामस्य | ग्रामस्य |
| १०३० | ३ | शून्य | शून्य |
| १०३१ | २ | वृद्धाः | वृद्धाः |
| १०३३ | ९ | भावस्तुत्यर्थः | भावःस्तुत्यर्थः |
| १०३५ | १६ | सीमाग्रहण | सीमाग्रहणं |
| १०३८ | १२ | प्रभावाएव | प्रभावएव |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-----------|----------|------------------|------------------|
| १०३८ | २३ | स्पर्दिष्टा | स्पर्दिष्टा |
| १०३९ | २२ | अथवाय | अथवायं |
| १०४० | १० | अकाणच | अकाणच |
| १०४० | २२ | आत्तुगु | आतृगु |
| १०४१ | २७ | यात्र | यत्र |
| १०४१ | २७ | ग्रहण | ग्रहणं |
| १०४३ | १ | मातिज्ञापितेन | मतिज्ञापितेन |
| १०४७ | २४ | धार्मिकभाण्डयो | चार्षिकभाण्डयो |
| १०५२ | २५ | बाधिकं | वाधिकं |
| १०५५ | २८ | सम्यग्रह | सम्यग्रह |
| १०५६ | १५ | सूपे | रूपे |
| १०५८ | ३ | विध | विधि |
| १०५९ | १५ | यथाम्यत | यथाक्षम्यत |
| १०६० | १४ | मुशलेन | मुसलेन |
| १०६० | २२ | मुशलादिभिः | मुसलादिभिः |
| १०६४ | १ | तत्स्य | तस्य |
| १०६६ | ४ | कल्पनापेक्ष्या | कल्पनापेक्षा |
| १०७१ | १४ | भार्यापुत्रः | भार्यापुत्रः |
| १०७३ | १८ | वनस्पत | वनस्पतय |
| १०७८ | २९ | व्यद्यतो | व्युद्यतो |
| १०७९ | १० | आतयित्व | आततायित्व |
| १०८४ | १९ | वदनं | वंदनं |
| १०९० | १८ | दण्डोद्धलि | दण्डोद्धलि |
| १०९४ | १२ | अगुमा | गुमा |
| ११११ | १७ | मार्जनादि | मार्जनादिः |
| अध्यायः ९ | | | |
| १११७ | ८ | वक्षामि | वक्ष्यामि |
| १११८ | १५ | प्रतीघातो | प्रतिघातो |
| १११९ | २ | भार्याभिर्निघ्नः | भार्याभिर्निघ्नः |
| ११२२ | ४ | तर्पणादि | तर्पणादि |
| ११२४ | २२ | निर्द्धर्मता | निर्धर्मता |
| ११२६ | ४ | यदनृतास्त्रिय | यदनृताःस्त्रिय |
| " | ६ | एतदासीस्वलक्षणं | एतदासीस्वलक्षणं |
| " | २६ | वृद्धा | वृद्धां |
| " | २६, २७ | प्रभावेन | प्रभावेण |
| ११२९ | १० | दोषे | दोषो |
| " | २५ | वक्ष्येति | वक्ष्यते |
| ११३४ | ४ | गुणैर्व्यञ्जितं | गुणैर्व्यञ्जितम् |
| ११३५ | ५ | ण्येक | ण्येक |
| ११३६ | २८ | इत्युक्त्वा | इत्युक्त्वा |
| ११३७ | २६ | स्त्री | स्त्री |
| ११३९ | २५ | शयातात्माक्तनं | शयात्माक्तनं |
| ११४४ | २३ | त्सतान | त्सतान |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|-----------------------|----------------------|
| ११४४ | २८ | त्कृतऔर्ध्व | त्कृतौर्ध्व |
| " | ३० | पक्षणा | पक्षणा |
| ११४६ | १९ | स्तुषा | स्तुषा |
| ११४७ | ७५ | पत्यादनियोक्तव्येति | पत्यानियोक्तव्येति |
| " | २३ | देवरदिषु | देवरादिषु |
| ११४८ | १ | विधिलक्षणः प्रवृत्तिः | विधिलक्षणाप्रवृत्तिः |
| ११४९ | ६ | विशेषु | विशेषषु |
| ११५२ | ४ | विधिशास्त्रं | विधिःशास्त्रं |
| " | " | विधीवत् | विधिवत् |
| " | ५ | मदृष्टपूर्वा | मदृष्टपूर्वा |
| ११५४ | १४ | पूर्वेतु | पूर्वेतु |
| " | २३ | विद्यार्थिता | विद्यार्थिता |
| " | २७ | विप्रसृताः | विप्रसृताः |
| " | २८ | प्रसृतेति | प्रसृतेति |
| ११५८ | २० | पानाशङ्का | पानाशङ्का |
| ११६३ | २१ | जीविनां | जीविनां |
| ११६६ | ७ | वित्या | रीत्या |
| ११६९ | २१ | वर्तन्तेति | वर्तनादिति |
| ११७० | ११ | कुर्वति | कुर्वति |
| ११७२ | २९, ३० | विश्वन्तो | विशेषवन्तो |
| ११७७ | २६ | कुर्याद्वावशौ | कुर्याद्वावशौ |
| ११७४ | १० | अनृढासु | अनृढासु |
| ११७४ | १६ | द्यालकृतां | द्यालकृतां |
| " | २७ | पतितास्यु | पतिताःस्यु |
| ११८० | २२ | लिङ्गादानेक | लिङ्गादानेक |
| ११८२ | ३१ | स्वकरणाभावाद- | स्वकरणाभावादविवाहः |
| | | विवाहः | |
| ११८३ | १ | स्वः | स्वः |
| ११८४ | २० | कान्यास्तु | कन्यायास्तु |
| " | २९ | प्राप्तत्वात् | प्राप्तत्वात् |
| " | ३० | अनुद्यमाने | अनूद्यमाने |
| ११८९ | ६ | क्षेत्रं | क्षेत्रं |
| " | १३ | सूतादय | सुतादय |
| ११९० | १०, ११ | उद्धार | उद्धारः |
| ११९२ | १४ | मन्त्रः | मन्त्रः |
| ११९३ | २४ | क्षत्रिया | क्षत्रियायाः |
| " | २८ | शुद्धो | शुद्धो |
| " | २९ | मूलमते : | मूलमन्ते |
| ११९४ | १८ | द्वेक | द्वेक |
| " | " | क्षत्रियाजाता | क्षत्रियाजाताः |
| " | २१ | दुःखिष्ठः | दुःखिष्ठः |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|------------|----------|-------------------|------------------|
| ११९४ | २५ | दशमांशहरत्वं | दशमांशहरत्वं |
| ११९५ | ९ | रिक्थभाग | रिक्थभाग् |
| १२०० | २३ | संपूर्ण | संपूर्ण |
| " | ३० | समिचारी | समिचारी |
| १२०२ | १७ | तुक्त | तुक्त |
| " | २९ | पूर्व | पूर्व |
| १२२१ | ३ | वचनेनाद्गतस्य | वचनेनोद्गतस्य |
| १२२२ | १ | तदैकं | तदैकं |
| १२२५ | २ | भ्रातृणां | भ्रातृणां |
| " | ४ | भ्रातृणां | भ्रातृणां |
| " | २० | विनियुक्ते | विनियुक्ते |
| १२२७ | २४, २५ | यत्पैतृकेनोक्तं | यत्पैतृकेनोक्तं |
| १२४० | १५ | नवश्यं | नावश्यं |
| १२४२ | ६ | निस्त्यानुतिष्ठति | नित्यमनुतिष्ठति |
| १२४५ | १३ | प्रियवादि | प्रियवादी |
| १२५७ | १३ | कर्ण | कर्ण |
| १२६३ | ५ | फलसंपदा | फलसंपदा |
| १२६४ | १ | स्वराष्ट्रिया | स्वराष्ट्रिया |
| १२७३ | १६ | भूयांसे | भूयांसो |
| १२७५ | ५ | उत्कृष्टास्त्रै | उत्कृष्टास्त्रै |
| अध्यायः १० | | | |
| १२८० | ४ | चाक्षुष्यःस्युः | चाक्षुष्याःस्युः |
| १२८७ | १३ | तर्ह्येतद्वचन | तर्ह्येतद्वचन |
| १२८७ | १४ | दोषाः | दोषः |
| १२८९ | ९ | वुच्यते | वुच्यन्ते |
| १२९५ | ५ | लोमाशूद्रस्य | लोमाःशूद्रस्य |
| १२९५ | १० | क्ष्या | क्ष्य |
| १२९५ | १४ | तेषामन्ये | तेषामन्ये |
| १२९८ | १७ | स्त्रये | स्त्रयो |
| १३०४ | ३० | चुच् | चुच्च |
| १३१० | १० | धर्माः | धर्मः |
| १३१० | १० | कथंताह | कथंताह |
| १३१० | २९ | योगता | योग्यता |
| १३१४ | १३ | संस्कार्यौ | संस्कार्यौ |
| १३१६ | ३ | शुश्रूषादिरतः | शुश्रूषादितः |
| १३१८ | १९ | वणि | वाणक् |
| १३१९ | १५ | विशेषे | विशेषो |
| १३२० | २७ | लाङ्गलां | लाङ्गलं |
| १३२० | २८ | अनुभवन्तीतु | अनुभवन्तु |
| १३२१ | ८ | निर्देशः | निर्देशः |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|------------|----------|--------------------|--------------------|------------|----------|------------------|------------------|
| १३२१ | ८ | ज्ञाना | ज्ञाना | १४३४ | २१ | द्वितीयान्तपाठो | द्वितीयान्तःपाठो |
| अध्यायः ११ | | | | १४४३ | १४ | सर्वाभूतानि | सर्वभूतानि |
| १३४७ | ८ | वदति | ददाति | १४४८ | २८ | संज्ञामात्रेण | संज्ञामात्रेण |
| १३५० | १७ | आदातुः | अदातुः | १४५९ | ३० | प्रायश्चित्तमिति | प्रायश्चित्तमिति |
| १३५८ | २६ | तामय | नामय | १४६१ | ११ | वेदार्थाबोध | वेदार्थाबोधः |
| १३६३ | १७ | प्रायश्चित्तोपदिशो | प्रायश्चित्तोपदेशो | १४६२ | २३ | द्यफलं | द्यफलं |
| १३६३ | २ | फलासिद्ध्यर्थ | फलसिद्ध्यर्थ | १४३५ | २० | कृत्स्नस्य | कृत्स्नस्य |
| १३६३ | २ | कुर्वतः | कुर्वतः | १४७४ | ६ | तत्त्ववयवं | तत्त्ववयवं |
| १३६४ | ७ | कात्र | कौत्र | अध्यायः १२ | | | |
| १३६५ | ९ | निरुति | भिष्कृति | १४७७ | २३ | संक्षेप | संक्षेप |
| १३७१ | २७ | तस्या | तस्य | १४७८ | ५ | नचह | नचह |
| १३७१ | २८ | ग्रहणे | ग्रहणे | १४८५ | ८ | रात्मशब्दश्च | रात्माशब्दश्च |
| १३७२ | ४ | विकल्पार्थ | विकल्पार्थः | १४८६ | ६ | विभर्त्य | विभर्त्य |
| १३७३ | २९ | सिष्ट | शिष्ट | १४९२ | ३ | शास्त्रा | शास्त्र |
| १३७४ | १५ | अपत्यानि | अपण्यानि | १४९४ | २७ | बहिःसत्त्वानां | बहिःसत्त्वानां |
| १३७७ | ८ | अग्नेयं | अग्नेयं | १४९५ | २३ | वापि | वापि |
| १३७८ | ४ | कर्मणः | कर्मणः | १४९६ | १० | हेतौ | हेतौ |
| १३८० | १६ | आत्मानः | आत्मनः | १४९७ | २३ | कालेभ्यो | कालेभ्यो |
| १३८२ | ५ | परिच्छद | परिच्छद | १५०४ | १७ | विनियोगोतपश्च | विनियोगस्तपश्च |
| १३८७ | १४ | त्वंलभ्यते | त्वंलभ्यते | १५११ | १७ | पानां | पापानां |
| १३८९ | ३० | वैक्षेति | वैक्षेति | १५१८ | २७ | अनयोपि | अनयोरपि |
| १३९१ | २० | नयाति | नयन्ति | १५१९ | ११ | काम्यं | काम्यं |
| १३९२ | १८ | चान्येन | चान्नेन | १५२२ | २५ | रेखज्ञातुं | रेवंज्ञातुं |
| १३९५ | २१ | श्लोकै | श्लोकौ | १५२६ | २६ | उपनिषदात्तदेव | उपनिषदात्तदेव |
| १३९६ | २ | विप्रग्रहणं | विप्रग्रहणं | १५२९ | २ | विवर | विवरण |
| १३९६ | १८ | प्रायश्चित्तं | प्रायश्चित्तं | १५२९ | १६ | उपपद्यएव | उपपद्यतएव |
| १४०० | १३ | विभुजावि | विभुजादि | १५३० | ४ | धर्मापदेशो | धर्मापदेशो |
| १४१० | १५ | विधे | विधेः | १५३० | ४ | सधर्म | सधर्म |
| १४१५ | २८ | प्रवृत्तस्यादिति | प्रवृत्तःस्यादिति | १५३० | ५ | मूहितुमिद | मूहितुमिद |
| १४१६ | ११ | गुडोदश्विदादि | गुडोदश्विदादि | १५३६ | १६ | हन्तीति | हन्तीति |
| १४१७ | २१ | द्रव्या | द्रव्याणि | १५३६ | १६ | अश्रुतोपन्यास | अश्रुतोपन्यास |
| १४१८ | २१ | तरततो | तरस्ततो | १५३६ | २८ | संबन्धसर्वस्य | संबन्धिःसर्वस्य |
| १४२० | ११ | भवन्त्येव | भवत्येव | १५४२ | २२ | अन्योअध्याहार्य | अन्योअध्याहार्य |
| १४२० | २४ | दिन्योअन्यत्र | दिन्योन्यत्र | | | | |
| १४२६ | १८ | भक्षभोज्य | भक्ष्यभोज्य | | | | |
| १४२८ | १८ | भागिन्यः | भागिन्यः | | | | |

॥ समामानीमानि मेधातिथिरुते मनुशाण्ये शुद्धाशुद्धानि ॥

सर्वज्ञनारायणटीकाशुद्धिपत्रम्

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|-------------------|------------------|
| | | अध्यायः १ | |
| २९ | २६ | व्यवस्थापितवान् | व्यवस्थापितवान् |
| २९ | २६ | द्विपात्वादीनि | द्विपादत्वादीनि |
| ४२ | १० | पशून | पशून् |
| ७५ | ९ | संबन्धावैशिष्ट्यं | संबन्धवैशिष्ट्यं |
| ८३ | १० | शिष्यस्य | शिष्यस्य |

अध्यायः २

| | | | |
|-----|----|-----------------|-----------------|
| ११७ | २ | चैते | चैते |
| १२२ | ६ | सब्राह्मी | सब्राह्मी |
| १२४ | ३ | तदेव | तदेव |
| १२८ | ३ | चतुर्थे | चतुर्थे |
| १३२ | १ | षोडशा | षोडशा |
| १४३ | ९ | सन्तोषं | सन्तोषं |
| १४५ | ३ | शक्तिस्तुत्वा | शक्तित्वा |
| ७४ | १४ | प्रजा | प्रजा |
| १७४ | १५ | कृते | कृते |
| १९४ | १९ | नचे | नच |
| २२५ | १६ | कर्त्रन्तराभावे | कर्त्रन्तराभावे |

अध्यायः ३

| | | | |
|-----|----|-----------|----------|
| २७५ | २१ | क्रमेणैवा | क्रमेणैव |
| २८२ | ११ | कन्यानां | कन्यानां |
| २८३ | २३ | विवाहाः | विवाहाः |
| ३४७ | १७ | सत्कृत्य | प्रकृत्य |
| ३५९ | १ | कव्यं | कव्यं |
| ३६३ | ५ | गम्यते | गम्यते |
| ३६९ | २० | पिण्ड | पिण्डतो |
| ४०४ | २५ | स्नातात् | स्नातान् |

अध्यायः ४

| | | | |
|-----|----|-------------|-------------|
| ४५७ | २४ | अयनान्तायाः | अयनान्तीयाः |
| ४८० | ११ | संवीताङ्गो | संवीताङ्गो |
| ४८८ | १७ | अविनीतिः | अविनीतैः |
| ५०४ | १० | छन्दासि | छन्दांसि |
| ५२१ | २६ | निमित्तक | निमित्तक |
| ५४१ | २९ | प्रापाः | प्राप्ताः |
| ५८४ | ३ | दृष्टव्यम् | द्रष्टव्यम् |

अध्यायः ५

| | | | |
|-----|----|-------------------|------------------------|
| ५९३ | २५ | पृथङ्वेषधः | पृथङ्वेषधः |
| ६३९ | ९ | मातुलतत्तुल्यस्या | मातुलस्तत्तुल्यबालादिः |
| ६४५ | ५ | स्पर्ष्टारं | स्पर्ष्टारं |
| ६५९ | १८ | यतिनां | यतीनां |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|------------|--------------|
| | | अध्यायः ६ | |
| ७२० | ९ | अनेनेनियोग | अनेनेतिनियोग |
| ७२२ | ४ | नीवनकाल | जीवनकाल |
| ७३४ | ९ | शक्तावाह | शक्तावाह |
| ७४० | १७ | वृक्षवा | वृक्षवा |

अध्यायः ७

| | | | |
|-----|----|-----------------|-----------------|
| ७५७ | २७ | इतरेष्वप्येवं | इतरेष्वप्येवं |
| ७७३ | १० | रूपारिद्वर्गा | रूपारिषद्वर्गा |
| ७७९ | २४ | एतस्मिन्समके | एतस्मिन्समके |
| ८३७ | २ | प्रतिबन्धिभावेन | प्रतिबन्धिभावेन |

अध्यायः ८

| | | | |
|------|----|--------------|----------------|
| ८७७ | ८ | भयिष्ठ | भयिष्ठम् |
| ८७८ | २० | वेदस्यककेना | वेदस्यैकैकेना |
| ९१९ | १६ | बहूनां | बहूनां |
| ९५३ | २३ | लीक्षा | लिक्षा |
| ९९५ | २१ | दैवादिनष्टो | दैवादिनानष्टो |
| १००१ | ३ | ज्ञाने | ज्ञाने |
| १०२१ | २८ | गवागवादेस्तु | गवादेस्तु |
| १०५९ | २८ | कथमार्थम् | कथनार्थम् |
| १०७४ | २५ | अनुक्तापि | अनुक्तादपि |
| १०९४ | १ | बन्धनारेतस्य | बन्धनादेरेतस्य |

अध्यायः ९

| | | | |
|------|----|--------------|--------------|
| ११३२ | ८ | अस्याअर्थः | अस्यार्थः |
| ११३५ | १८ | लशुनी | लशुनानी |
| ११३८ | ५ | तस्यादित्यपि | तस्यादित्यपि |
| १२३३ | १९ | अनुशिष्ट | अनुशिष्टम् |
| १२३५ | ७ | नाङ्ग्या | नाङ्ग्या |
| १२५९ | २१ | ससमानां | समानां |
| १२६३ | २१ | वीवरितुं | विवरितुं |

अध्यायः १०

| | | | |
|------|----|-------------------|--------------------|
| १२९२ | १९ | धर्मणः | धर्मिणः |
| १२९९ | २६ | चाण्डालदायोगव्यां | चाण्डालादायोगव्यां |
| १३१६ | १४ | कर्माणमि | कर्मिणमि |

अध्यायः ११

| | | | |
|------|----|-------------|-------------|
| १३७६ | १३ | माघस्य | मागधस्य |
| १३८४ | १६ | अवजियानीय | अवजित्यानीय |
| १४०० | ३ | रिमैरेभिर्व | रिमैरेभिर्व |
| १४०४ | २७ | निर्कृति | निर्कृति |
| १४६४ | १२ | कुर्वाणाः | कुर्वाणः |

अध्यायः १२

| | | | |
|------|----|-------|--------|
| १४९६ | १२ | रतिता | रुचिता |
| १५३२ | ८ | बृहणं | बृंहणं |

॥ अथ कुल्लूकभट्टरुतायां मनुटीकायां शुद्धाशुद्धानि ॥

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|------------------|------------------|
| ४ | ६ | कस्यचिद्भूयात् | कस्यचिद्भूयात् |
| २३ | ११ | तत्त्वं | तत्त्व |
| " | १२ | न्याभि | न्यभि |
| " | १७ | ङ्भ्यः | ङ्भ्यः |
| " | २१ | सऽत्त्व | सत्त्व |
| २७ | २३ | नश्वर | नश्वरं |
| २८ | २२ | विशन्ति | विशन्ति |
| ३० | ४ | सृग्रम | सृजदग्र |
| " | " | पितृस्तिरः | पितृस्तिरः |
| ३२ | ६ | पौरुषेयत्व | पौरुषेयत्व |
| ३३ | १२ | ऽवाच | वाच |
| ६० | २८ | युगमिति | युगमिति |
| ६१ | ११ | ऽर्थानुवादः | ऽर्थानुवादः |
| ६४ | २,३ | गुणरूप | रूपगुण |
| ७२ | ५ | विहित्वात् | विहितत्वात् |
| ७३ | १ | क्षत्रियादिभ्यः | क्षत्रियादिभ्यः |
| " | २१ | कस्योत्तमाङ्गात् | कस्योत्तमाङ्गात् |
| ७७ | १३ | स्तुति | स्तुतिः |
| ८३ | २६ | तद्विशेषाणं | तद्विशेषाणां |
| " | " | लक्षणां | लक्षणं |
| ८५ | १२ | शूद्रोपचारं | शूद्रोपचारं |

अध्यायः २

| | | | |
|-----|--------|-----------|-------------|
| १०२ | २४ | पठ्यमान | पठ्यमान |
| १०५ | २४ | प्रतिकूल | प्रतिकूल |
| " | " | बभौ | निर्बभौ |
| ११० | १४ | वर्जितः | वर्जित |
| १२० | ११ | तद्विजाती | तद्विजाती |
| १४८ | ८ | उदङ्मुखो | उदङ्मुखो |
| १६१ | ८ | एतक्षर | एतदक्षर |
| १७६ | ३० | स्थानासन | स्थानासन |
| १७८ | २९ | याद्वर्ति | व्याद्वर्ति |
| १८२ | २३ | धर्मोण | धर्मेणा |
| १९१ | ३० | शद्वसिति | शद्वमिति |
| १९९ | १६ | र्थे | र्थे |
| २१५ | १४ | रज्ज्वा | रज्ज्वा |
| २१६ | ९ | वाङ्मनसो | वाङ्मनसे |
| " | २७ | आर्तः | आर्तः |
| २१७ | १५, १६ | मानस्या | मानस्या |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-----------|----------|-----------------|----------------|
| २२२ | १२ | तप्पत | तप्यत |
| २२९ | २२ | शुक्लानि | शुक्लानि |
| २३० | २१ | अक्षाक्रीडाः | आक्षादिक्रीडां |
| २४३ | ८ | चायादि | चार्यादि |
| २४२ | १० | तस्मिन् संश्रवे | तस्मिन्संश्रवे |
| २४६ | ३० | योनिष्वपि | योनिष्वपि |
| २५० | ३ | भुमाव | भूमाव |
| २५१ | २२ | अमुकर्मा | ऽमुकशर्मा |
| २६८ | ७ | दानं | दान |
| " | १९ | स्यायममुपदेशः | स्ययमुपदेशः |
| २६९ | २० | याज्जीव | यावज्जीव |
| अध्यायः ३ | | | |
| २७४ | ५ | मथर्वाणं | मथर्वणं |
| २८१ | २३ | व्याधय | व्याधयः |
| २८४ | ३१ | ताममि | तामपि |
| २८६ | १ | वश्यानां | वैश्यानां |
| २९९ | १८ | यदस्य | यदस्य |
| ३०३ | १७ | मोचनाथ | मोचनार्थ |
| ३०९ | ५ | ऋणवा | ऋणवान् |
| ३१४ | २१ | मत | मतं |
| ३१५ | १५ | कन्ययै | कन्यायै |
| ३१६ | १७ | त्याभि त्याभि | त्याभि |
| ३२३ | ९ | ऽध्यापन | ऽध्यापन |
| ३२७ | १९ | क्रियते | क्रियन्ते |
| ३२९ | २२ | मयनीयाग्नि | मयजनीयाग्नि |
| ३३२ | १८ | इन्द्रा | इन्द्र |
| ३३३ | ९ | न्याय्या | न्याय्य |
| ३४७ | १ | प्राप्ता | प्राप्तौ |
| ३५६ | १६ | पितामहानां | पितामहानां |
| " | १८ | नत्वेकं | नत्वेकं |
| ३५८ | ११ | स्ये | स्यै |
| ३६२ | १० | सङ्गा | सङ्ख्या |
| ३६९ | २३ | पुत्रादि | पित्रादि |
| " | " | ऽत्य | त्य |
| ३७२ | १७ | द्युत | द्यून |
| ३७४ | ११ | च्छग | छाग |
| " | १२ | च्छन्दोग | छन्दोग |
| ३८१ | १९ | मरण्य | मरण्य |
| ३८२ | २४ | मुत्प्राद्यै | मुत्प्राद्यैः |
| ३८६ | २९ | अत | अतः |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|------------------|------------------|
| ३९५ | १९ | स्त्रीपुंसधर्मेण | स्त्रीपुंसधर्मेण |
| ३९६ | १ | मन्तः | यन्तः |
| ४०३ | २१ | वारम् भा | वारम्भा |
| ४२२ | २ | तद्यर्थ | तद्यर्थ |
| ४३७ | ८ | देव | देवं |
| ४४६ | १४ | अग्न्य | अग्न्य |

अध्यायः ४

| | | | |
|-----|----|----------------|----------------|
| ४५२ | ३० | समह | समूह |
| ४५६ | २३ | उञ्छ | उञ्छ |
| ४८९ | ३ | अत्यर्थ | अत्यर्थ |
| ४९२ | १२ | तदस्तमिते | तदस्तमिते |
| ४९३ | २८ | निषादाच्छूद्रा | निषादाच्छूद्रा |
| ५३६ | ६ | वा* | वा |
| ५४१ | २० | दीक्षादिने | दीक्षादिना |
| ५५६ | २० | मन्न | मन्नं |
| ५५८ | २५ | भुञ्जीतेति | भुञ्जीतेति |
| ५५९ | २१ | उग्रोदारुण | उग्रोदारुण |
| ५६१ | १ | तुन्वायः | तन्तुवायः |
| ५६१ | २ | प्रवतते | प्रवर्तते |
| " | १५ | विश्वरूपः | विश्वरूपः |
| ५७४ | २६ | खरशरीरिण | खरशरीरिणं |

अध्यायः ५

| | | | |
|-----|----|-----------|---------------|
| ५८८ | १९ | तैत्तिरी | तैत्तिरीय |
| ६०५ | २० | दोष | दोषं |
| ६०९ | २७ | पशुर्भवति | पशुर्भवति |
| ६३ | ३ | बालमृत | बालमृतम् |
| " | ४ | लचयनं | संचयनं |
| ६३८ | २९ | संपिण्ड | संपिण्ड |
| ६४६ | ६ | स्पृत्वा | स्पृष्ट्वा |
| ६५३ | १३ | पार्थिवेण | पार्थिवेन |
| ६५६ | ३ | प्रेतषु | प्रेतेषु |
| ६५७ | २७ | अमुख्य | मुख्य |
| ६८८ | २० | यतः | यतः अनृताविति |

अध्यायः ६

| | | | |
|-----|----|---------------|--------------|
| ७०४ | २२ | मनुमैव | मनुनवै |
| " | ३१ | हि | लिह |
| ७०७ | ८ | भवेन्निरात्रः | भवेन्निरात्र |
| ७१७ | १७ | कव्रजति | कव्रजति |
| ७३४ | १३ | नासको | नासिको |
| " | २८ | ध्यायमना | ध्यायमाना |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|----------|--------------------|
| " | ३० | उभे | उभौ ब्रह्मेवैष=उभे |
| ७४५ | १२ | चेच्छाता | चेच्छता |

अध्यायः ७

| | | | |
|-----|----|----------------|----------------|
| ७५८ | १५ | ततश्च | ततश्चालइति |
| ७८८ | ६ | भिद्यंत | भिद्यन्ते |
| ८०४ | २३ | शत्रुन् | शत्रून् |
| " | ९ | निर्दातु | निर्दातु |
| " | २१ | धर्मैराजा | धर्मैराजा |
| ८१५ | २७ | बुद्धयः | बुद्धयः |
| ८१८ | ३ | वार्षिक | कार्षिक |
| ८१९ | ११ | ॥ १३१ ॥ | ॥ १३१ ॥ १३२ ॥ |
| ८३६ | १ | वक्ष्यमाणमार्ग | वक्ष्यमाणमार्ग |
| ८३६ | ५ | द्वैविध्यं | द्वैविध्यं |
| ८४७ | २७ | यायत् | यायात् |
| ८४८ | १४ | द्य | पद्य |
| ८५५ | ३१ | दानन | दानेन |
| ८६४ | ८ | योजयत् | योजयेत् |

अध्यायः ८

| | | | |
|-----|----|---------------|----------------------|
| ८७१ | २९ | पाणिमुद्ययेति | पाणिमुद्यम्येति |
| ८७७ | १० | मवलंब्य | मवलंब्य |
| ८८५ | ११ | पालेभ्यः | पालेभ्यः |
| ८८६ | १ | वैदिका | वैहिका |
| ८८९ | १० | परीहारः | परीहारः |
| ८९८ | ८ | वित्वेन | वर्शित्वेन |
| " | ३० | युक्तमर्थ | युक्तमर्थ |
| " | ३१ | तमर्थ | तमर्थ |
| ९१८ | १९ | भावयेल्लिङ्गै | भावयेल्लिङ्गै |
| ९१९ | २० | इति | इति । गोविन्दराजस्तु |

| | | | |
|-----|----|----------|----------|
| ९२० | ९ | गोविन्द | गोविन्द |
| ९२२ | २ | स्तय | स्तेय |
| ९२४ | ८ | सनु | सन्तु |
| " | ९ | वाक् | वाक् |
| ९३१ | १६ | निमित्ते | निमित्ते |
| ९३३ | २ | प्रभृती | प्रभृती |
| ९४२ | ९ | इलोके | इहलोके |
| ९४९ | १३ | पूर्व | पूर्व |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|---------------|---------------|
| ९५८ | ९ | विकल्पेताम् | विकल्पेताम् |
| ९६९ | ९ | विष्णु | विष्णुः |
| " | १२ | याचितम् | याचितम् |
| ९७१ | ५ | कला | काल |
| " | " | निर्जिता | निर्जिता |
| ९८४ | १८ | व्यवहारईक्षणं | व्यवहारेणक्षं |
| ९९४ | २२ | धनान्तर | धनान्तर |
| ९९४ | २२ | धना | धना |
| " | " | वाक्छल | वाक्छल |
| १००६ | १८ | धानादावङ्गं | धानादावङ्ग |
| " | १७ | षणिष्कान् | षणिष्कान् |
| " | ३० | विधि | विधि |
| १०१६ | १९ | देवं | नुदेवं |
| १०३८ | १ | यथोक्तो | यथोक्ता |
| १०५१ | ९ | यन्तु | यन्तु |
| १०५३ | २० | प्रहरणो | प्रहरणे |
| १०५६ | १ | देवतार्चा | देवतार्चा |
| १०९० | ७ | नाशयेत्तस्य | नाशयेत्तस्या |
| " | २० | सहस्रदण्डो | सहस्रदण्डो |
| ११०९ | २६ | दूर्ध्व | दूर्ध्व |

अध्यायः ९

| | | | |
|------|----|-------------|-------------|
| ११२० | १६ | रक्षितु | रक्षितुं |
| ११२३ | ९ | देतेभ्यः | देतेभ्यः |
| ११२६ | १२ | ब्राह्मणा | ब्राह्मणाः |
| " | १३ | च्छ्रुति | च्छ्रुति |
| ११२८ | ९ | पायान्तरो | पायान्तरोप |
| ११६८ | २० | समुत्पन्न | समुत्पन्न |
| " | २१ | चैजीव | चैजीव |
| ११७३ | २५ | पितृव्येन | पितृव्येण |
| ११९० | ३ | पितृर्द्धनं | पितृर्द्धनं |
| " | १८ | यवीयान् | यवीया |
| ११९६ | २७ | नतरा | नन्तरा |
| " | ३० | निषादं | निषादं |
| १२०५ | २४ | यस्मै | यस्मै |
| १२०८ | २१ | योन् | योन |
| १२१० | ६ | पितृक्थ | पितृक्थ |
| " | २९ | पुजये | पूजये |
| " | २४ | तस्यापि | तस्यापि |
| " | " | भर्तुर्मृत | भर्तुर्मृत |
| १२२४ | १० | योगक्षं | योगक्षे |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|-----------|---------|
| १२४१ | १० | लब्धा | लब्धान् |
| १२४९ | २२ | ताञ्चौर | ताञ्चौर |
| १२६० | ११ | शतिक्रोति | शक्नोति |
| १२६६ | ७ | मग्यादि | मग्यादि |

अध्यायः १०

| | | | |
|------|----|--------------|--------------|
| १२८८ | १२ | क्षत्रया | क्षत्रिया |
| १७९३ | २१ | ब्राह्मण | ब्राह्मण |
| १३०३ | १४ | सन्तः | सन्तः |
| " | " | वंश्य | वंश्य |
| १३१२ | ८ | ब्राह्मणात्र | ब्राह्मणोत्र |
| १३२४ | २२ | यदन्यनि | यदन्यनि |
| १३३० | १४ | बुभूक्षितः | बुभूक्षितः |
| १३३७ | २४ | ग्राह्य | ग्राह्यः |
| १३४२ | ९ | लभते | लभन्ते |

अध्यायः ११

| | | | |
|------|----|-----------------|-----------------|
| १३४५ | ११ | सर्व | सर्व |
| १३५४ | १२ | यज्ञ | यज्ञ |
| १३५८ | ६ | स्ववार्य | स्ववार्य |
| १३६३ | २४ | कामइति | कामतइति |
| १३६४ | २१ | स्वभ्यो | स्वभ्यो |
| १३७१ | २१ | निःक्षेप | निक्षेप |
| १३७७ | २७ | गर्दभ | गर्दभ |
| १३८४ | ४ | सप्राम | सप्राम |
| १३८४ | ४ | वर्षापि | वर्षापि |
| " | २२ | तमिन्नित्ते | तन्निमित्ते |
| १३९६ | २८ | तदेवतपआह | तदेव तपआह तपः |
| १३९७ | १२ | तपसा | सेति । तपसा |
| " | २४ | भिदाक्रान्तं | भिराक्रान्तं |
| १४१३ | १२ | गर्दभं | गर्दभं |
| १४२० | २८ | नाश्रोत्रिय | नाश्रोत्रिये |
| १४२९ | २८ | ष्वसेय्या | ष्वसेय्या |
| १४४७ | २४ | रुधिर | रुधिरं |
| १४६४ | १४ | यत्किञ्चित्पापं | यत्किञ्चित्पापं |
| १४६५ | २२ | प्रकाशा | सकाशा |
| १४६८ | २५ | दुर | दूर |
| १४७० | १८ | श्यामस्वर्ग | श्यामसुर्य |

अध्यायः १२

| | | | |
|------|---|------|------|
| १४८२ | ४ | एव | एवं |
| १४८७ | ८ | अस्य | तस्य |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|----------------|---------------|---------|----------|------------|------------|
| १४९४ | २८ | दुर्निवार | दुर्निवार | १५४५ | ७ | जेत | जते |
| १५०९ | १८ | विहिताकण | विहिताकरण | १५३८ | २३ | तेजसारे | तेजसोर |
| १५१४ | १४ | वर्जनं | वर्जनं | १५३९ | १६ | प्रज्ञासने | प्रशासने |
| १५२८ | ३ | अज्ञास्तेभ्योः | अज्ञास्तेभ्यः | १५४२ | ८ | भूतैष्विति | भूतेष्विति |
| १५३३ | १५ | संबन्ध | संबन्धि | | | | |

राघवानन्दटीकाशुद्धिपत्रम्

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|------------------|----------|-------------|-----------------|
| अध्यायः १ | | | |
| १२ | १६ | तीतिः | तीति |
| " | १८ | धर्म | धर्मा |
| " | १९ | विद्वांसोऽत | विद्वांसस्त |
| १८ | २४ | णा | णा |
| २३ | २७ | सर्वाणि | सर्वाणि |
| २५ | २८ | द्वेवा | द्वेवे |
| २७ | २६ | यन् | जगन् |
| ३३ | १५ | तश्चा | तपश्चा |
| " | " | माशा | माक्रोशा |
| ३९ | ३ | मयूयुजत् | मसृजत् |
| ४६ | ११ | पुष्पिन | पुष्पिणः |
| " | २६ | भृ | भृ |
| ५२ | १२ | सदा | तदा |
| ६९ | २७ | ष्टे | ष्टे |
| ७३ | २४ | देव | दैव |
| ७९ | १९ | पिच्यादीन् | परान्पिच्यादीन् |

अध्यायः २

| | | | |
|-----|----|--------------|---------------|
| १२० | १६ | लो | लु |
| १२४ | ८ | प्रागिति । | प्रागिति |
| १२६ | ४ | ता | तं |
| १३२ | २५ | ष्टौ | ष्टौ |
| १३९ | ९ | क्षा | क्षां |
| १८० | १६ | रूपा | रूपा |
| १९१ | १६ | तान्नं | तान्न |
| १९२ | ४ | आ | आ |
| २०१ | १९ | त्का | त्त्वा |
| २०६ | ४ | संस्कारा | संस्कारा |
| २१० | १९ | कला | कल्पा |
| २१३ | २२ | ज्ञानइत्यादि | ज्ञानतइत्यादि |
| २१४ | २ | देव | वेद |
| २१८ | १० | देवा | दैवा |
| २२१ | १३ | शिरस्य | शिरस्यं |
| २२३ | ५ | द्वै | द्वौ |
| २२५ | २१ | किंच | किंचनेति । |
| २३० | ८ | ङ्ग | ङ्गं |
| २४४ | २७ | गुरुत् । | गुरुं । न |
| २५० | ३ | किंच | किंचगुर्विति |
| २५५ | २७ | द्ध | द्धं |
| २५७ | २३ | भषु | षु |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|------------------|----------|---------------|------------------------------|
| अध्यायः ३ | | | |
| ३१९ | १९ | अनियतां | इयतां |
| ३२५ | १ | स्त्रा | स्त्रा |
| ३२८ | १३ | त | ते |
| ३३४ | ३० | पत्तका | पत्तवा |
| ३५९ | २५ | वेदाध्यायी | वेदाध्यायी छन्दोमात्राध्यायी |
| ३५९ | २५ | विदुष | विदुषः |
| ४०९ | ६ | सस्थं | संस्थपवित्रं |
| ४३१ | १३ | कंतेननकवितादर | केनतर्कावितार |
| ४३३ | २३ | विसृज्येति | विसृज्येतिद्वाभ्याम् |
| ४३५ | १० | भोजनात् | ब्राह्मणभोजनात् |
| ४३७ | १० | निर्वर्त्य | नित्यस्य |
| ४३९ | १३ | त्रि | त्रिः |

अध्यायः ४

| | | | |
|------------------|----|--------------|------------------------|
| ४५० | २० | अद्रोहेण | अद्रोहेणेति । अद्रोहेण |
| ४६२ | १६ | वेष | किंचवयसइति । वेष |
| ४८० | १८ | धार्य | धांय |
| ४९२ | १ | दद्यु | देद्यु |
| ५०५ | १७ | कृते | छन्दस्कृतं |
| ५१४ | २० | चोरे | चौरैरि |
| ५१५ | १३ | स्य | स्या |
| ५१६ | ७ | न्न | न्नं |
| " | २३ | म | म |
| ५१७ | २५ | देवत्यः | दैवत्यः |
| ५४० | २९ | सयमः | संयमः |
| ५४१ | २४ | पुत्राद्यर्थ | पुत्राद्यर्थ |
| ५५९ | २६ | द्युच्छि | द्युच्छिष्ट |
| ५६१ | ४ | भाया | भार्या |
| " | १६ | बरुडः | बुरुडः |
| ५६९ | १ | याश्चा | याज्वा |
| ५७१ | ६ | नाक | लोक |
| ५७४ | २९ | धर्ममि | धर्मे |
| ५७५ | १३ | द्य | ह्य |
| ५८२ | ५ | प्रायादेःत | प्रायादेः अत |
| " | २४ | संभा | संभा |
| ५८३ | ९ | आत्मने | आत्मनो |
| अध्यायः ५ | | | |
| ५८६ | १७ | विदित | विहित |
| ५८७ | २९ | शुद्ध | शुभ्र |
| ५८८ | २४ | भक्ष्य | भक्ष्यता |
| ५९३ | ४२ | दिष्टेति | दिष्टानिति |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|---------------------------------------|----------------------|
| ५९७ | ६ | भक्षेष्वापि | भक्ष्येष्वापि |
| ६०३ | ८ | आशेषतः | किंचैतदिति अशेषतः |
| ६१५ | २० | अहिंसकानि | किंचयदिति। अहिंसकानि |
| ६१९ | २४ | तुल्यफलैः | द्योग्यैः |
| ६२३ | १ | कृतचूडे | सद्यःकृतचूडे |
| ६२४ | ८ | लक्षणमिदं | लक्षणार्थं |
| ६३० | १ | [इयंपङ्क्तिरेतत्पृष्ठान्तेपठितव्या] | |
| ६३१ | १९ | च्छु | च्छु |
| " | २० | स्ना | स्ना |
| ६३२ | १५ | न | नै |
| " | " | त्रिरात्रै | त्रिरात्र |
| ६४२ | ७ | ण्येन | ण्ये स |
| " | ९ | तियइत्यु | त्यु |
| ६४४ | १८ | दिःशु | दिनांशु |
| ६५२ | २७ | प्रततैश्वर्य | प्रजैश्वर्य |
| ६६१ | १६ | कंब्रह्मखं | कंब्रह्माणं |
| ६६२ | ५ | वे | षड् |
| ६६५ | १५ | रीतिः | रैथानां रीतिः |
| ६७३ | २७ | ध्य | ध्येन |

(४) राघवानन्दः । अण्वपि उत्सवादिदर्शनमपि ॥ १४७ ॥

| | | | |
|-----|----|------|------------------|
| ६८१ | १० | किंच | किंचशुद्राणामिति |
| ६८७ | ४ | यया | ययासा |
| ६९५ | ६ | ज्य | त्तुज्य |

अध्यायः ६

| | | | |
|-----|----|-----------|----------------------------------|
| ६९८ | ७ | आत्मनो | { किंचगृहस्थस्त्विति । आत्मनो |
| " | २९ | निः सृत्य | ग्रामान्निः सृत्य |
| ७१० | ५ | श्वा | खा |
| ७१७ | ८ | धि | धी |
| ७२५ | १० | वार | वाद |
| ७४० | २३ | रूप | रूपा |

अध्यायः ७

| | | | |
|-----|----|--------------|--------------|
| ७५५ | १७ | अन्तेच | अन्ते न |
| ७५७ | ११ | शाः | शान् |
| ७६० | १ | पायत्व | पापत्व |
| " | १५ | राज्ञा | राज्ञो |
| " | " | दिकां | दिं |
| ७६६ | २४ | रूप | रूपं |
| ७७२ | १७ | वृद्धाश्चेति | वृद्धाश्चेति |
| ७७३ | २ | यात् | यात् इति |
| ७७६ | १२ | धर्म | काम |
| ७७७ | २० | अविज्ञातं | अविज्ञात |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|-------------|-----------------------------|
| ७८७ | २४ | यार्हति | यार्हति |
| ७९० | १६ | पृष्ठं | पृष्ठंवा |
| ७९१ | १२ | लोकतः | लोक |
| " | २६ | दुर्ग | दुर्ग |
| ७९२ | ९, १० | यईष | यतईष |
| " | १० | वाब | ब |
| ७९७ | १ | किंच | किंचनेति । |
| " | ३ | श्रुतेः | श्रुतेश्च |
| " | ४ | भाग | भग |
| ७९९ | १७ | शुश्रूषाया | शुश्रूषा |
| ८०२ | १४ | सन | सन |
| " | १४, १५ | कृतक्षतम् | कृतम् |
| ८०३ | ५ | प्रकरणादिति | प्रकरणात् |
| ८०९ | १३ | एतान्दण्डेन | एतान् चतुरः दण्डेन |
| ८१८ | १८ | आब्दि | आब्दि |
| ८२७ | ५ | यम | यम |
| ८२९ | २२ | राज्ञे | राज्ञे |
| ८३२ | २४ | पद्मिति | प्रीतीति |
| ८३५ | १४ | कर्म | कर्मा |
| ८३६ | ५ | मै | मै |
| " | १९ | मै | मै |
| ८३७ | २३ | मै | मै |
| ८३८ | १२ | च्च | न |
| ८४० | १० | गितुं | मितुं |
| ८४१ | ३ | बलिनं | बलिनं |
| ८४४ | ४ | गन्तव्यं | गन्तव्यं कथंवा प्रवेष्टव्यं |
| ८५१ | १३ | अग्रानीकषु | अग्रानीकेषु |
| ८५८ | २२ | प्रसिद्धो | युद्धो |

अध्यायः ८

| | | | |
|-----|----|--------------|--------------|
| ८७१ | ३० | मद्यये | द्यम्ये |
| ८७५ | २७ | वक्षते | वक्ष्यते |
| " | २५ | एतांस्ताति | एतान्स्तौति |
| ८८१ | १६ | स्यात्तत्राह | स्यात्तत्राह |
| ८८७ | १० | सृक्किणी | सृक्किणी |
| ८९५ | २ | स्थानिनां | स्थानानां |
| ८९८ | १० | मुक्त्वा | मुक्त्वा |
| ९०१ | १३ | विभवितं | विभावितं |
| " | २९ | श्रुलं | श्रुलं |
| ९०३ | " | कृत्या | कृत्वा |
| ९०९ | ३ | रम् | रम् |
| ९१० | १४ | न्वत्य | त्यन्व |
| " | २६ | बधि | न्धिब |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|------------|------------|
| ९१४ | २४ | पेदन | पदेन |
| ९२२ | ९ | शेषतः | विशेषतः |
| ९३७ | २० | त्यापि | त्यपि |
| ९४५ | १४ | येना | येणा |
| " | १८ | घनां | घानां |
| ९४६ | ६ | जलतु | जलात्तु |
| ९४७ | ६ | दस्य | दस्यु |
| ९५३ | २० | रुक्षं | सूक्ष्मं |
| ९५५ | ३० | वर्णः | वर्णैः |
| ९५८ | १३ | स्वान्मा | स्यान्मा |
| ९५९ | १३ | सिदी | सिदीं |
| " | १४ | वक्रयः | विक्रयः |
| " | १५ | द्वि | द्वि |
| ९६० | ३१ | नरत | नस्त |
| ९६५ | २० | तित्य | तीत्य |
| ९६९ | १४ | वृद्धेतमपि | वृद्धैतमपि |
| " | १७ | धमणात् | धमर्णात् |
| " | १८ | वृद्धिं | वृद्धि |
| " | १९ | कात्ययनः | कात्यायनः |
| ९७१ | ११ | गृही | गृही |
| ९७३ | १९ | ककटेन | कतशकटेन |
| ९७५ | २६ | प्रति | प्राति |
| ९७६ | १७ | यःस्थित | येस्थिता |
| " | " | भवान | भवान् |
| ९८७ | २१ | द्युक्त | द्युक्तं |
| ९८८ | ५ | च्छ | छ |
| ९९२ | २ | तेषु | तेषु |
| ९९७ | २७ | शिरच्छे | शिरश्छे |
| ९९८ | १० | यत् | यन् |
| " | ११ | काल | काले |
| ९९९ | १३ | धारिमं | धारिणं |
| " | २८ | येत | येत् |
| १००१ | २४ | आगमेन | आगमेन |
| १००८ | ७ | नेतृ | नेतृ |
| १०१० | १९ | प्रत्ये | प्रत्य |
| १०२२ | ३ | मुक्ता | मुक्त्वा |
| १०२४ | १८ | स्तत्रा | तत्रा |
| १०२५ | ८ | द्वि | द्वि |
| १०३४ | ९ | नवाहे | नेवाह |
| १०३६ | १२ | षाम | षाम |
| १०४० | १ | वदच्छूदो | वदच्छूदो |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-----------|----------|--------------|---------------|
| १०४९ | ६ | क्प्रा | क्प |
| १०६१ | १८ | ततःकि | ततःकिं |
| १०६५ | २६ | शेषता | शेषतः |
| १०६८ | ५ | खट्वा | खट्वा |
| १०६९ | ३० | हन् | हम् |
| १०७५ | ३० | सृखं | सुखं |
| १०८२ | ५ | रूपा | रूपां |
| १०८७ | २४ | च्छेदन | च्छेदनं |
| १०८८ | ६ | तांचे | तांच |
| १०९० | २४ | श्ली | श्री |
| १०९३ | १४ | परदण्डं | परदारदण्ड |
| " | २९ | सर्वस्व | सर्वस्वं |
| ११०० | २८ | पारत्रिक | पारत्रिक |
| " | " | ष्विति | ष्विति |
| ११०७ | २४ | येत | येत् |
| १११२ | ६ | भवऐश्वर्यात् | ऐश्वर्यात् |
| अध्यायः ९ | | | |
| ११२४ | ५ | च्छुत्वं | च्छुत्व |
| ११२७ | २७ | चेतसा | चेतसा |
| ११३० | ६ | मीः | मिः |
| ११३३ | १४ | क्षेत्रत्वे | क्षेत्रत्वे |
| " | २८ | श्यन्ते | श्यते |
| ११३४ | १० | स्वल्प | स्वल्पा |
| ११५० | १२ | ष्ठनास्य | ष्ठानस्य |
| " | १४ | गवालभं | गवालंभं |
| " | १५ | तदनमूलम् | तदमूलम् |
| " | " | गिनां | गिणां |
| ११५२ | १९ | पद | पदे |
| ११७० | १८ | क्रि | क्रि |
| ११७२ | ४ | त्का | त्त्वा |
| ११७३ | ८ | सम्मा | सम्मा |
| ११८३ | २१ | त्वात्प | त्वात्पि |
| ११९७ | १ | क्षायां | क्षां |
| " | " | माह | आह |
| १२०५ | १४ | त्वाद्वा | त्वात् द्वा |
| १२०६ | २८ | लक्षणाया | लक्षणायां |
| " | " | दासदास्या | दासदास्यां |
| १२०८ | ११ | पुत्रास्युः | पुत्राः स्युः |
| १२०९ | १९ | पूर्व पूर्वः | पूर्वः पूर्वः |
| " | २० | पूर्वा | पूर्वा |
| " | २१ | पूर्व | पूर्व |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|---------------|------------|
| १२१६ | २९ | तिसृणा | तिसृणा |
| " | ३० | नर्केस्त्रिया | स्त्रिया |
| १२३४ | १४ | अमात्यः | अमात्याः |
| १२३७ | १७ | आगस्त्रि | आगःस्त्रि |
| १२४७ | ८ | कानां | काणां |
| " | २६ | ष्ट | ष्ट |
| १२५२ | २५ | द्रव्येन | द्रव्येण |
| १२५७ | ६ | त्कर्तृणां | त्कर्तृणां |
| १२६९ | २२ | सऽत्वे | सत्त्वे |

अध्यायः १०

| | | | |
|------|----|------------|------------|
| १३०२ | १३ | प्रभावेन | प्रभावेण |
| " | १४ | प्रभावेन | प्रभावेण |
| १३०५ | ३ | काष्ठ | काष्ठ |
| १३०६ | १६ | लोहं | लोहं |
| १३०८ | १९ | निष्ठुरता | निष्ठुरता |
| १३१० | १ | तेषांमा | तेषां |
| १३२९ | ८ | दृष्टान्ती | दृष्टान्तो |
| १३३६ | ११ | द्यर्थ | द्यर्थ |

अध्यायः ११

| | | | |
|------|----|--------------------|----------------------|
| १३५५ | २३ | कर्तव्यसां | कर्तव्यतां |
| १३६० | ७ | दर्शयस्त | दर्शयस्त |
| " | १८ | विशेष | विशेष |
| १३६६ | २१ | संबन्धं | संबन्धं |
| १३६७ | २६ | रूवैप्य | वैरूप्य |
| " | २८ | शस्त्रस्य | शस्त्रस्य |
| १३६८ | १५ | सोवागप | सवागप |
| " | १७ | [पाठः] | [पाठः] |
| " | २३ | निःक्षेप | निक्षेप |
| १३७३ | ९ | { अयाज्येसंयाज्य } | { अयाज्यसंयाज्यमुप } |
| " | १० | न्ययो | न्ययो |
| १३७४ | २४ | दीनाम् | दीनाम्] |
| १३७५ | २८ | दिनिन्दित | दिनिन्दित |
| १३७९ | ६ | शृण्वते | शृणुते |
| १३८१ | ३ | धितं | धीतं |
| " | ४ | कामतोऽत्मा | कामत आत्मानं |
| " | " | वानह | वान्गुह |
| १३८१ | ८१ | षड्वीर | षड्वीर |
| १३८४ | २५ | रक्षणमिति | रक्षणमिति |
| १३८५ | १३ | ध्यानि | ध्यानि |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|-------------|-------------|
| १३९६ | १० | र्णामिति | र्णैति |
| १३९८ | ५ | तद्भागाय | तद्भागाय |
| १३९९ | ३ | आनिपातान् | आनिपातान् |
| १४०० | ६ | क्षैम | क्षैम |
| १४०१ | १६ | त्रितम | न्वितम |
| १४०४ | १ | गाष्ठे | गाष्ठे |
| १४०५ | १६ | रक्षदेवता | रक्षोदेवता |
| " | १७ | समासि | संमासि |
| " | १८ | संममा | संमा |
| १४०८ | २० | द्वत | द्वत् |
| १४१५ | २१ | हार्ते | हार्ति |
| १४१७ | २ | च्छेदे | च्छेद |
| १४१८ | ३० | स्तस्या | स्तया |
| १४२२ | १३ | घास्ता | घास्ता |
| " | १४ | ५५ | १५५ |
| १४२४ | २८ | प्रजितानीते | प्रतिजानीते |
| १४३० | २० | ष्वकीर्णी | ष्ववकीर्णी |
| १४३३ | २ | परीक्षण | परीक्षणं |
| १४४४ | ११ | अनेभ्या | अनभ्या |
| १४५० | १९ | द्युप | द्युरूप |
| १४५४ | २६ | देवानो | देवाना |
| १४५४ | २८ | धर्मवचि | धर्मचि |
| १४६० | ७ | वार्चि | वार्जि |
| " | ८ | द्वि | द्वि |
| १४६१ | १८ | शुद्र | शुद्र |
| " | ३० | दयन् | दयन् |
| १४६४ | ५ | मात्र | मात्रं |
| १४६६ | १० | हेतरि | हेतुरि |
| १४६७ | २२ | नुपपातको | नुपातको |

अध्यायः १२

| | | | |
|------|----|----------|----------|
| १४८१ | ८ | वर्णनम् | वर्णनम् |
| १४८४ | १८ | तेना | तना |
| " | २५ | द्वै | द्वै |
| १४८६ | १५ | न्य नव | न्यन्नवं |
| " | २३ | पद्यते | पद्यन्ते |
| १४८७ | १५ | न्युस्फु | व्युस्फु |
| १४८९ | १३ | न्यनव | न्यन्नव |
| " | १५ | त्का | त्वा |
| १४९६ | २ | सर्वत्र | सर्वत्र |
| १४९९ | २९ | इया | यिया |
| १५०३ | १० | तेत्यु | तइत्यु |
| " | २३ | रान्त | रान्त |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|----------|---------|
| १५०८ | २२ | र्थम् | र्थम् |
| १५१० | २३ | लशकः | लाशकः |
| १५१० | २४ | न्धिनी | न्धिनी |
| १५१४ | ४ | गिः | गि |
| १५१७ | २९ | प्यत | प्यते |
| १५२० | २८ | यूत | स्युतं |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|-----------|-----------|
| १५२२ | ७ | स्तऽज्ज | स्तज्ज |
| १५२९ | २५ | षयक | षयकं |
| १५३३ | १७ | द्वयं | द्वयं |
| १५३४ | २७ | परिषत्त्व | परिषत्त्व |
| १५३६ | ४ | श्रष्ठं | श्रष्ठं |

नन्दनकृतटीकाशुद्धिपत्रम्

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|--------------|--------------|
| | | अध्यायः १ | |
| २७ | ३१ | । | ० |
| ३७ | १ | ष्वी | ष्वी |
| ५० | २९ | स्वेना न्देन | स्वेनानन्देन |
| ६१ | ४ | साहसं | द्वादश साहसं |
| ६६ | २५ | शशा | शा |
| ७७ | ३० | दे | दं |
| ८५ | २५ | नो | मनो |

अध्यायः २

८९ ७ [दष्टिरोषात् नगृहीतः] एवं जगत्सृष्टिप्रलयौ शा-
स्त्रावतारश्चोक्ताः। इदानीं
धर्मस्य प्रतिपत्त्यपायाद्विलु-
प्तस्य लाघवेन प्रतिपत्त्य-
र्थलक्षणं तावदाह विद्व-
द्भिरिति। विद्वद्भिर्वेदार्थ-
विद्विरेक्षणादिभिः।

| | | | |
|-----|----|---------|------------|
| ११९ | २ | किल | किंतु |
| १३५ | १३ | ना | नां |
| १३६ | ७ | शणाविक | शणाविक |
| १३९ | २७ | मवं | मंव |
| १५० | ८ | तद | त |
| १५८ | २६ | मो | मो |
| १६२ | १५ | प्र | म |
| १६६ | ८ | वाच्य | वाच्यः |
| १८० | २० | यस | यस्य |
| १९६ | २४ | गुरुन् | गुरुन् |
| १९७ | ८ | १३१ | १३२ |
| २१४ | १६ | येथति | यथेति |
| २२१ | १७ | रुत्सः | रुत्सः |
| २२३ | ८ | वेदमने | वेदमन |
| २५६ | २४ | पुनरुच | कः पुनरत्र |
| २५७ | २५ | कैश्चिध | कैश्चिद्ध |
| २६० | २१ | रषो | रेषा |

अध्यायः ३

| | | | |
|-----|----|--------|-------|
| २८८ | १ | तुतु | तु |
| ३०५ | १० | ४० | ३९।४० |
| ३१८ | ३० | ६४ | ६३।६४ |
| ३१९ | ९ | त्त्रा | त्त्र |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|---------------|----------------------------|
| ३२९ | २७ | तृ | तृ |
| ४०१ | १६ | पेत | ० |
| ४१० | १८ | निव | निर्व |
| ४११ | २० | — | — |
| ४४४ | ३१ | (क ख, ण, ठ,) | (क, ख, ठ, ण, नं० १, नं० २) |

(टिप्पणिः) अध्यायः ४

| | | | |
|-----|----|--------|-------|
| ४६३ | ५ | पे | वे |
| ५७९ | २४ | तन्द्र | तंद्र |
| ५८३ | २१ | क्तः | क्तं |

अध्यायः ५

| | | | |
|-----|-------|-----------|--------------|
| ६३७ | १२ | नाना | ना |
| ६६५ | १५ | कृ | कृ |
| — | १९ | पूर्यहणम् | पुनर्ग्रहणम् |
| ६६६ | १५ | त्य | द्रव्य |
| ६८२ | ११।१२ | धिष्ठितं | धिष्ठितं |
| ६९३ | ८ | सापि | यापि |

अध्यायः ६

| | | | |
|-----|----|------|----------|
| ६९९ | १४ | अनैः | मुन्यनैः |
|-----|----|------|----------|

अध्यायः ७

| | | | |
|-----|----|-----------|-----------|
| ७६६ | २८ | शकन्तर्णो | शंकुकर्णो |
| ८३३ | ११ | द्वा | द्व |
| ८३६ | ९ | धे | धो |
| ८५८ | ११ | तु | तू |
| ८५८ | २४ | भि | न्धि |

अध्यायः ८

| | | | |
|-----|----|---------|-----------|
| ८८२ | ४ | मा | स्मा |
| ८८५ | २ | ष्टं | ष्टं |
| ९०६ | १ | यं | श्यं |
| ९१७ | १ | यं | शे |
| ९१७ | १ | ज | ० |
| ९१७ | १ | यः | याः |
| ९५४ | १५ | मयवस्य | मवयवस्य |
| ९६० | १२ | अयथा | अन्यथा |
| ९८२ | ७ | सबन्धो | संबन्धो |
| ९९४ | १५ | परिमाणं | परिमाणं न |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|-----------|-------------------|
| ९९९ | २९ | ण | णी |
| १०२६ | १७ | स्याक्रमे | स्यातिक्रमे |
| १०२९ | ५ | लिङ्गानि | लिङ्गानि चिन्हानि |
| १०४४ | ७ | गुणो | गुण |
| १०५० | १२ | प्रवंचो | प्रचौ |
| १०६८ | ११ | आ | अ |
| १०७० | २२ | महा | एवंनानिउप |
| १०८९ | १२ | र्य | र्या |
| १११६ | २१ | न्द्रा | न्द्रादि |

अध्यायः ९

| | | | |
|------|----|------------|---------------|
| ११५० | १९ | रय | रथ |
| " | २० | हि | वि |
| ११५६ | १६ | ल्लं | ल्लं |
| ११६० | २७ | शं | शीं |
| १२०० | १५ | स्थां | क्थां |
| " | " | क्थां | क्थां |
| १२०८ | २६ | तृ | तृ |
| १२१५ | १५ | भ्यान्द | भ्यांद |
| १२२० | २७ | पर्क | मधु पर्क |
| १२४५ | ६ | ह | हा |
| १२४८ | २७ | प्रणिहिताः | मूलप्रणिहिताः |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|------------|---------|
| | | अध्यायः १० | |
| १२५२ | १ | ला | ली |
| १२७९ | २८ | व | क |
| १२९० | २० | श्लो | श्लो |
| १२९१ | २३ | संकी | ० |

अध्यायः ११

| | | | |
|------|----|------|------|
| १३४८ | ९ | येन | यो |
| १३६१ | २५ | वीरह | वीर |
| १३७८ | २६ | प | व |
| १४०० | ८ | व | प |
| १४०४ | १९ | य | यं |
| १४०७ | २ | : | यः |
| " | १६ | त्कं | क्तं |
| १४६३ | २१ | ति | न्ति |
| १४६८ | २८ | आ | अ |

अध्यायः १२

| | | | |
|------|----|------------|------------|
| १५०४ | ७ | क्ता | क्त्या |
| १५२१ | ४ | जगत् | ततम् |
| " | " | स | त |
| १५२५ | १३ | देवता | वेदा |
| १५३३ | २३ | वानप्रस्थं | वानप्रस्थं |
| १५४१ | १५ | न्या | ग्न्या |

रामचन्द्रटीकाशुद्धिपत्रम्

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-----------|----------|-------------------|------------------|
| अध्यायः १ | | | |
| २२ | २७ | नाविरकरोत् | नाविष्करोत् |
| २६ | ८ | इन्द्रियाणि | इन्द्रियाणि |
| ३८ | २० | बाहुरुपादतः | बाहुरुपादतः |
| ६३ | १३ | शिक्षया | इच्छया |
| ६४ | २० | कीदशः | कोदशः |
| ६४ | २२ | एवा | एषा |
| अध्यायः २ | | | |
| १०३ | १ | उक्त | उक्तः |
| ११९ | ४ | शरीरस्य | शरीर |
| १५५ | २८ | सद्व्यय | संहत्य |
| १६९ | १२ | सम्यक् | सम्यक् |
| २१७ | २० | आवमानस्य | अवमानस्य |
| २१८ | ७ | तिरस्कारकर्ता | तिरस्कारकर्ता |
| २२७ | ५ | अस्ये | अस्य |
| २२७ | १८ | इमान | इमान् |
| २४२ | १८ | तिष्ठति | तिष्ठत |
| २४२ | ३० | शिष्यस्य | शिष्यस्य |
| २४५ | १६ | संश्रवे, निकटे | असंश्रवे, अनिकटे |
| २६७ | २३ | गुर्वर्थे | गुर्वर्थे |
| अध्यायः ३ | | | |
| २७४ | २५ | व्रतेन्तर्भवति | व्रतेऽन्तर्भवति |
| २८२ | १८ | कनकवर्णाः | कर्पलवर्णाः |
| ३०९ | २० | स्वदारान्निरतः | स्वदारन्निरतः |
| ३११ | ११ | गच्छेतः | गच्छतः |
| ३१६ | २३ | वर्द्धते | वर्धते |
| ३२० | २६ | वैवाहिकेऽग्रे | वैवाहिकेऽग्नौ |
| ३४० | २६ | गृहं | गृहं |
| ३४५ | ३ | पुनर्बलिहरेत् | पुनर्बलिहरेत् |
| ३४६ | १८ | गृह | गृहं |
| ३४७ | २६ | आगसान्त्सख्यादीन् | आगतान्सख्यादीन् |
| ३७० | २४ | यमातामहादयः | मातामहादयः |
| अध्यायः ४ | | | |
| ४५० | ३ | चतुर्भागं | चतुर्थभागं |
| ४५९ | ११ | दुःखमूल | दुःखमूलम् |
| ४६९ | १८ | नादिष्ठति | नानिष्ठति |
| ४७६ | २१ | मृदङ्गादीनि | मृदङ्गामादीनि |
| ४८० | ३० | योयथा | योयथा |
| ५५८ | ८ | कदर्यस्य | कदर्यस्य |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-----------|----------|---------------|--------------|
| ५७० | १३ | पिष्टप | विष्टपम् |
| ५७८ | २७ | निर्नुदेत् | निर्णुदेत् |
| ५७९ | १२ | भृत्यश्च | भृत्यांश्च |
| अध्यायः ५ | | | |
| ६२३ | ५ | घ | च |
| ६२९ | १२ | सबन्धः | संबन्धः |
| ६३८ | २० | दर्वीगूर्ध्व | दर्वीगूर्ध्व |
| ६४७ | ४ | एतद्वत्सरा | एतद्वत्सरा |
| ६४८ | २६ | वृथाजाता | वृथाजाताः |
| ६८४ | १८ | विरक्तं | विरिक्तः |
| अध्यायः ६ | | | |
| ७०३ | ६ | उत्तरायणम् | तुरायणम् |
| ७३१ | १३ | अवेक्षेत् | अवेक्षेत |
| ७३९ | ६ | इन्द्रियाणा | इन्द्रियाणा |
| अध्यायः ७ | | | |
| ७६३ | २१ | केपि | केऽपि |
| ७६७ | २ | कोपनत्वात् | कोपमत्वात् |
| ७८७ | २७ | आयतः | अयतः |
| ८१० | २६ | कर्षयति | कर्षयति |
| ८३१ | २० | क्रन्द | क्रन्द |
| ८४६ | ५ | शनैर्यायात् | शनैर्यायात् |
| ८५३ | १४ | भेदककृतं | भेदककृतं |
| अध्यायः ८ | | | |
| ८७८ | १४ | समै | सम्यै |
| ८८२ | ७ | सर्व | सर्व |
| ८८६ | ९ | अथादिहीनौ | अर्थादिहीनौ |
| ८९१ | २५ | सङ्ख्या | सङ्ख्या |
| ९२२ | १४ | रंस्थितत्वात् | रस्थितत्वात् |
| ९२३ | १७ | सान्त्वयन् | सान्त्वयन् |
| ९२७ | २८ | ब्रुवतस्युः | ब्रुवतःस्युः |
| ९६८ | २३ | वाह्ये | वाह्ये |
| ९७४ | १६ | वृत्ति | वृद्धि |
| ९९३ | ६ | उभौ | उभौ |
| १०१३ | ७ | रदेत्तं | वेदेत्तं |
| १०२२ | ७ | पालभवेत् | पालेभवेत् |
| १०२८ | २७ | सामितानि | सावितानि |
| १०२९ | ७ | वक्ष्य | वीक्ष्य |
| १०२९ | २४ | सीमाया | सीमायां |
| १०५८ | १ | अधागेतिः | अधोगतिः |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|----------|----------|
| १०६५ | ६ | धरधट | धरिर्धटः |
| ११०७ | २६ | तत | तत् |

अध्यायः ९

| | | | |
|------|----|-----------|------------|
| ११२२ | १७ | औपसनाग्ने | औपासनाग्ने |
| ११९७ | ७ | द्व | द |
| १२१५ | १९ | यलब्धच | यल्लब्धच |
| १२३० | २५ | क्रिया | क्रियया |
| १२३३ | १२ | लिखन | लेखन |
| १२५० | २४ | मर्शने | दर्शने |

अध्यायः १०

| | | | |
|------|---|---------|---------|
| १३०४ | १ | क्षेत्र | क्षत्र. |
|------|---|---------|---------|

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---------|----------|--------------|--------------|
| १३२२ | २५ | क्षौमाविकारि | क्षौमाविकानि |

अध्यायः ११

| | | | |
|------|----|------------|--------------|
| १३५३ | ५ | देवचं | देवस्त्वं |
| १३६६ | २६ | सं गे | संसर्गे |
| १३६९ | १७ | अनिकृतैनसः | अनिष्कृतैनसः |
| १३९५ | ९ | पक्षान्तर | पक्षान्तरे |
| १४७३ | ६ | अधमर्षणं | अवमर्षणं |

अध्यायः १२

| | | | |
|------|----|--------|--------|
| १४९२ | २७ | स्थितः | स्थितः |
|------|----|--------|--------|

